विश्व-इतिहास
की
झलक

विश्व-इतिहास की झलक

लेखक

जवाहरलाल नेहरू

अनुवादक

चंद्रगुप्त वार्ष्णेय

१९५२

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली।

दूसरी बार : १९५२
मूल्य
इक्कीस रुपये

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्रकाशक की ओर से

हम बड़े हर्ष के साथ पं० जवाहरलाल नेहरू की दूसरी बड़ी रचना 'विश्व-इतिहास की झलक' हिन्दी-जनता के सामने रख रहे है। अँग्रेजी में यह ग्रथ सन् १९३४ में प्रकाशित हो गया था। उसी समय हम इसे प्रकाशित करना चाहते थे; लेकिन उन दिनो एक तो पण्डितजी जेल में थे, दूसरे लखनऊ से इसके हिन्दी में प्रकाशन का आयोजन पण्डित वेकटेशनारायण तिवारी की देख-रेख में शुरू होगया था। इसलिए हमारा विचार अमल में न आ सका। बाद में 'मण्डल' अजमेर से दिल्ली आया और लखनऊ से 'झलक' का प्रकाशन अनियमित होकर सन् १९३५ के अन्त में लगभग बंद ही होगया।

सन् १९३६ में जब पण्डितजी विलायत से लौटे और कांग्रेस-कार्य-समिति के सिलसिले में दिल्ली आये तो उस समय उनकी 'आत्म-कहानी' के अग्रेजी में प्रकाशित होने की धूम थी। हमने पण्डितजी से 'आत्म-कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' दोनो को 'मण्डल' से प्रकाशित करने की इजाजत माँगी और पण्डितजी ने कृपापूर्वक देदी। फलत आज, लगभग सवा वर्ष बाद, 'मेरी कहानी' के दो संस्करण प्रकाशित करके 'झलक' को हिन्दी-जनता के सामने रख रहे है।

'झलक' में पण्डितजी के भिन्न-भिन्न जेलों से अपनी प्यारी पुत्री इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम लिखे पत्रो का सग्रह है। इन पत्रो मे पण्डितजी ने दुनिया के इतिहास और साम्राज्यो के उत्थान-पतन की कहानी बडी खूबी के साथ लिखी है। असल मे पण्डितजी ने बहुत दिन पहले कुछ पत्र इन्दिरा के नाम लिखे थे, जो 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुए थे। उनमे पण्डितजी ने सृष्टि के आरम्भ से प्राणी की उत्पत्ति और इतिहास-काल के शुरू तक का हाल बताया है। 'झलक' की कथा उसके बाद से आरम्भ होती है। लेकिन दोनो पुस्तकें एक-दूसरे की पूरक होते हुए भी अपने आप मे स्वतंत्र है।

अभीतक हम पण्डितजी को देश के एक महान् नेता के रूप में देखते आये है। लेकिन 'मेरी कहानी' और 'विश्व-इतिहास की झलक' ने दुनिया को बता दिया है कि पण्डितजी साहित्य-मर्मज्ञ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऊँचे विद्वान भी हैं। उनकी 'मेरी कहानी' जहाँ साहित्यिक प्रतिभा का नमूना है, वहाँ 'झलक' उनके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा इतिहास के गहरे ज्ञान का सागर है।

मूल पुस्तक सन् १९३३ के मध्य में खत्म हुई और सन् १९३४ में प्रकाशित हुई। इसलिए इसमें सन् १९३३ के मध्य तक की घटनाओ का ही जिक्र है। हमने पण्डितजी से निवेदन किया था कि वह एक-दो अध्याय और लिखकर पुस्तक को पूर्ण बना देने की कृपा करे। लेकिन राष्ट्रपति के पद-भार के कारण वह हमारी इस प्रार्थना को, इच्छा होते हुए भी, पूरा न कर सके।

सर्वश्री सीतलासहाय, शकरलाल वर्मा, रामनाथ 'सुमन', गोपीकृष्ण विजयवर्गीय, चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, मुकुटबिहारी वर्मा आदि मित्रो, साथियों और 'मण्डल' के हितैषियो का पूरा और हार्दिक सहयोग न होता तो यह ग्रन्थ इतने कम समय मे और इतनी अच्छी तरह प्रकाशित हो पाता, इसमे पूरा सन्देह है। अत 'मण्डल' की तरफ से इन सब महानुभावो का हम हृदय से आभार मानते है।

अपनी ओर से अनुवाद को शुद्ध और सही कराने का भरपूर प्रयत्न किया है। फिर भी मूल अग्रेजी के प्रवाह को हिन्दी में लाना कठिन बात है। इतने बडे ग्रंथ में भूलें भी रह जाना स्वाभाविक है। पाठको से प्रार्थना है कि अगर कोई त्रुटि उनकी निगाह में आवे तो उसपर हमारा ध्यान दिलाने की कृपा करें।

—मंत्री

पहले संस्करण का वक्तव्य]

दूसरे संस्करण का वक्तव्य

'झलक' के पहले संस्करण को समाप्त हुए बहुत दिन हो गये, परन्तु काग़ज आदि की युद्धजन्य कठिनाइयों के कारण हम इसका दूसरा सस्करण नही निकाल पाये। दूसरे 'झलक' का अनुवाद बहुत जल्दी में किया गया था और वह भी एक साथ कई मित्रो द्वारा। इसलिए अनुवाद की भूलें रह जाना स्वाभाविक ही था। भाषा में भी जगह-जगह पर विभिन्न अनुवादको की रुचि के अनुसार भेद हो गया था। अतः दूसरा संस्करण निकालने से पहले हमारी इच्छा थी कि उसका अनुवाद एक बार फिर देख लिया जाय और भाषा भी एकरस बना दी जाय। सौभाग्य से श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय बी० एस-सी, (संपादक, राष्ट्रदूत, जयपुर) ने इस कार्य की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेकर हमारा बोझ हलका कर दिया। उन्होंने बड़े परिश्रम से अनुवाद को मूल से मिलाकर सशोधन किया और यथा-सभव भाषा को भी एक साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। एक प्रकार से यह नया ही अनुवाद हो गया है।

मूल अग्रेज़ी पुस्तक के अन्तिम सस्करण मे पडितजी ने जो उपोद्‌घात और नई टिप्पणियाँ जोड़ी थी वे भी इस संस्करण मे शामिल कर दी गई हैं।

अंत में निर्देशिका (Index) भी दे दी गई है। इसे तैयार करने मे श्री कर्पूरचद्र कुलिश, (जयपुर) से बहुत सहायता मिली है। इसके लिए हम उनके बहुत आभारी है।

—मंत्री

अप्रैल १९५२]

भूमिका

चार बरस हुए मैंने इस किताब का लिखना देहरादून जेल मे खत्म किया था। उसके कुछ दिन बाद यह अंग्रेजी में छपी थी। मेरी इच्छा थी कि यह हिन्दी और उर्दू में भी निकले। उसका कुछ प्रबन्ध किया भी, लेकिन दुर्भाग्य से उसमें उस समय कामयाबी नहीं हुई। मैं फिर जेल चला गया।

अब मुझे खुशी है कि ये मेरे पत्र इन्दिरा के नाम देश की पोशाक में निकल रहे है। क़सूर तो मेरा है कि मैंने इनको शुरू में विदेशी लिबास पहनाया। मुझे कुछ आसानी हुई अंग्रेजी में लिखने में; क्योंकि उसमें लिखने का अभ्यास अधिक था और विषय भी ऐसा था, जिसमें ज्यादातर किताबें यूरोप की भाषाओ में हैं और उन्हींको मैंने पढ़ा था।

दुनिया के इतिहास पर किसीका भी कुछ लिखना हिम्मत का काम है। मेरे लिए यह जुर्रत करना तो एक अजीब बात थी, क्योकि मै न लेखक हूँ और न इतिहास के जाननेवालों में गिना जाता हूँ। कोई बड़ी पुस्तक लिखने का तो मेरा खयाल भी नही था। लेकिन जेल के लम्बे और अकेले दिनों में मैं कुछ करना चाहता था और मेरा ध्यान आजकल की दुनिया और उसके कठिन सवालो से भटककर पुराने जमाने में दौड़ता और फिरता था। क्या-क्या सबक़ यह पुराना इतिहास हमें सिखाता है? क्या रोशनी आजकल के अँधेरे में डालता है? क्या यह सब कोई सिलसिला है, कोई माने रखता है, या एक यह बेमाने खेल है जिसमें कोई क़ायदा-क़ानून नही, कोई मतलब नही, और सब बाते योंही इत्तफ़ाक़ से होती है? ये खयाल मेरे दिमाग़ को परेशान करते थे और इस परेशानी को दूर करने के लिए इतिहास को मैंने पढ़ा और आजकल की हालत को समझने की कोशिश की। दिमाग़ में बहते हुए विचारों को पकड़कर काग़ज़ पर लिखने से सोचने मे भी आसानी होती है और उनके नये-नये पहलू निकलते हैं। इसलिए मैंने लिखना शुरू किया। फिर इन्दिरा की याद ने मुझे उसकी तरफ खीचा और इस लिखने ने उसके नाम पत्रो का रूप धारण किया।

महीने गुज़रे—कुछ दिनों के लिए जेल से निकला, फिर वापस गया। सर्दी का मौसम खत्म हुआ, बसन्त आया, फिर गर्मी और बरसात। एक साल पूरा हुआ, दूसरा शुरू हुआ और फिर वही सर्दी, बसन्त, गर्मी और चौमासा। लिखने का सिलसिला जारी रहा और हलके-हलके मेरे लिखे हुए पत्रो का एक पहाड़-सा होगया। उसको देखकर मै भी हैरान होगया। इस तरह से, करीब-करीब इत्तफ़ाक़ से, यह मोटी पुस्तक बनी। इसमें हज़ार ऐब है, हज़ार कमियाँ; लेकिन फिर भी मं समझता हूँ कि इससे कुछ फ़ायदा भी हो सकता है। जो अंग्रेजो ने या यूरोप के लोगों ने ऐसी पुस्तकें लिखी है उनमें यूरोपीय दुनिया का अधिकतर हाल है, एशिया और पुराने इतिहास की चर्चा कम है। मैंने कोशिश की है कि एशिया का हाल ज्यादा दू। दोनो को सामने रखकर ही पूरी तस्वीर सामने आती है। वह तस्वीर चाहे कितनी ही नामुकम्मिल हो और उसमें ऐब और खराबियाँ हो, फिर भी वह पूरी तस्वीर है। मुझे इस बात का विश्वास है कि हम किसी एक देश का हाल नही समझ सकते, जबतक कि और देशों का हाल नही जानते। कोई एक देश औरों से अलग होकर न रहा है और न रह सकता है। आजकल की दुनिया में तो यह बात बिलकुल ज़ाहिर है और हम सब एक-दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं या गिरते हैं।

यूरोप की भाषाओं में बहुत सारी पुस्तकें दुनिया के इतिहास पर है, लेकिन हमारे देश की भाषाओं में इनकी बहुत कमी है। इसलिए मै खासतौर से यह चाहता था कि यह मेरी पुस्तक हिन्दी और उर्दू में निकले। गोकि इसमें ऐब और खराबियाँ है, और वे बहुत हैं, फिर भी यह इस कमी को कुछ पूरा करती है। हिन्दी में अब यह निकल रही है और मैं आशा करता हूँ कि जल्दी ही उर्दू में भी निकलेगी।

इसको लिखे कोई चार बरस हुए। दुनिया के इतिहास के लिए चार बरस क्या चीज़ हैं? लेकिन हम एक ऐसे अजीब ज़माने में पैदा हुए जबकि दुनिया की रफ़्तार तेज़ है और हम सब उसकी धारा में बहते जाते हैं। कोई कह नहीं सकता कि यह कहाँ पहुँचायगी। इन बरसों में क्रान्ति और इन्क़िलाब कितने देशों में होगये! अबिसिनिया की हत्या हुई। स्पेन में बढ़ती हुई आज़ादी को एक भयानक मुक़ाबला करना पड़ा और अभीतक यह एक ज़िन्दगी और मौत की कुश्ती जारी है। फ़िलस्तीन में हमारे अरब भाइयों का गला

घोटा जा रहा है। चीन के मशहूर शहर, जहाँ लाखो लोग रहते थे, मिट्टी के ढेर होगये और उस मिट्टी में बेशुमार पुरुष और स्त्री, लड़के और लड़कियाँ और बच्चे दबे पड़े है। साम्राज्यवाद और फेसिस्टवाद हर जगह हमला कर रहे है और दुनिया की नई उमगो को कुचलने की कोशिश कर रहे है। उसीके साथ समाजवाद और राष्ट्रीयता के विचार फैलते जाते है और वह इस मुकाबिले से हटते नही।

इस पुस्तक के आखिर में मैंने लडाई के साये का ज़िक्र किया है। इन चार बरसों में यह साया सारे देश मे फैल गया है और एक भयानक घटा हमे घेरे हुए है। दिन और रात इस लडाई की तैयारी सब देश कर रहे है और एक सवाल हरेक की जबान पर और चेहरे पर है। यह तूफान कब दुनिया पर छायगा और क्या-क्या मुसीबतें लायगा? क्या इसका नतीजा होगा—हमे लाभ या हानि?

मैं चाहता था कि इन चार बरसो का कुछ हाल लिखकर इस किताब के अन्तमे जोड दूं। लेकिन और कामो में इतना फँसा हूँ कि समय नही मिलता।

एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद करना कठिन काम है। कभी पूरा मतलब इस तरह से अदा नही हो सकता। फिर भी यह काम तो करना ही होता है। इस अनुवाद मे एक और कठिनाई हुई। हम सबकी इच्छा थी कि यह बीच की हिन्दुस्तानी भाषा मे हो, जो न कठिन हिन्दी हो, न कठिन उर्दू। हमे अपने देश में ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा को चालू करना है। शुरू-शुरू मे इसमें काफ़ी दिक्कतो का सामना करना पड़ता है और दोनो तरफ़ के साहित्यकार नाराज हो जाते है। ऐतराज होता है कि यह क्या दोगली चीज है—न हिन्दी, न उर्दू। साहित्य के प्रेमियों से मैं माफी माँगता हूँ, लेकिन मै समझता हूँ कि बीच के रास्ते पर चलकर हम एक मजबूत और जानदार साहित्य बना सकेगे। इस कोशिश मे गलतियाँ होंगी और कभी-कभी आँखो को और कानों को चोट लगेगी। लेकिन जल्दी ही समय आयगा जब हम इस नई चीज की, जो आम जनता से पैदा हो और उसी की तरफ देखे, शक्ति पहचानेगे और उसके बढाने मे लगेगे।

रेल मे।
२१-११-'३७

—जवाहरलाल नेहरू

विषय-सूची

विश्व-इतिहास की झलक

सालगिरह की चिट्ठी

इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम
उसके तेरहवें जन्मदिन पर—

सेण्ट्रल जेल, नैनी
२६ अक्तूबर, १९३०[1]

अपनी सालगिरह के दिन तुम बराबर उपहार और शुभ-कामनायें पाती रही हो। शुभ-कामनायें तो तुम्हें अब भी बहुत-सी मिलेंगी। लेकिन नैनी-जेल से मैं तुम्हारे लिए कौन-सा उपहार भेज सकता हूं? फिर मेरे उपहार वास्तविक या बहुत ठोस शकल के नहीं हो सकते। वे तो हवा के समान सूक्ष्म ही होंगे, जिनका मन और आत्मा से सम्बन्ध हो—जैसे उपहार शायद तुम्हें नेक परियाँ ही दे सकें और जिन्हें जेल की ऊँची दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

प्यारी बेटी, तुम जानती हो कि उपदेश देना और नेक सलाह बाँटना मुझे कितना नापसन्द है। जब कभी ऐसा करने को मेरा जी चाहता भी है तो मुझे हमेशा एक 'बहुत अक़लमन्द आदमी' की कहानी याद आ जाती है, जो मैंने एक बार पढ़ी थी। कभी शायद तुम खुद उस पुस्तक को पढ़ोगी, जिसमें यह कहानी लिखी है। तेरह सौ बरस हुए, एक मशहूर यात्री अनुभव और ज्ञान की खोज में चीन से भारत आया था। उसका नाम ह्यूएनत्सांग[2] था। उसकी ज्ञान की प्यास इतनी तेज़ थी कि वह अनेक खतरों का सामना करता, अनेक मुसीबतों और बाधाओं को झेलता और जीतता हुआ, उत्तर के रेगिस्तानों और पहाड़ों को पार करके इस देश में आया था। यहाँ नालन्दा[3] के महान् विश्व-विद्यालय में, जो उस समय के पाटलिपुत्र[4] और आज के पटना के नज़दीक था, इसने खुद पढ़ने और दूसरों को पढ़ाने में कई वर्ष बिताये। ह्यूएनत्सांग बहुत बड़ा विद्वान हो गया और उसे धर्माचार्य यानी बुद्ध धर्म के आचार्य की उपाधि दी गई। फिर वह सारे भारत में घूमा और इस महान् देश के उस ज़माने के लोगों का और उनके रस्म-रिवाजों का अध्ययन करता रहा। बाद को इसने अपनी यात्रा के बारे में एक किताब लिखी और जो कहानी मुझे याद आई है वह इसी किताब में है। कहानी यों है कि दक्षिण भारत का रहनेवाला एक आदमी कर्णसुवर्ण नाम के नगर में गया। यह कर्णसुवर्ण शहर उस ज़माने में बिहार के आजकल के भागलपुर शहर के आस-पास कहीं बसा हुआ था। इस किताब में लिखा है कि यह आदमी अपने पेट और कमर के चारों ओर ताँबेके पत्तर लपेटे रहता था और अपने सिर पर जलती

---

[1]इन्दिरा का जन्मदिन ईसाई पंचांग के हिसाब से १९ नवम्बर को पड़ता है, लेकिन विक्रमी संवत के अनुसार २६ अक्तूबर को मनाया गया था।

[2]ह्यूएनत्सांग—यह एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुक और चीनी यात्री था। इसका समय सन् ६०५ से ६६४ के लगभग माना जाता है। ६२९ में यह हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ। उन दिनों चीन में शाही हुक्म के अनुसार विदेश-यात्रा मना थी, इसलिए इसकी रवानगी का पता लगने पर इसकी गिरफ़्तारी की बड़ी कोशिश की गई; लेकिन बड़ी कठिनाइयों से यह वहाँ से निकल भागा और रास्ते में भी बहुत मुसीबतें झेलीं, यहाँ तक कि चार-पाँच दिन पानी तक को तरसता रहा। मगर यह घबराया नहीं और हिन्दुस्तान आ पहुँचा। इसने यहाँ से लौटने के बाद चीन, मध्यएशिया और भारत की तत्कालीन स्थिति का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन लिखा है।

[3]नालन्दा—यह मगध, आजकल के बिहार, के अन्तर्गत एक पुराना बौद्ध मठ और मशहूर विद्यापीठ था ज्ञान और धर्म का उपदेश देने के लिए यहाँ १०० विद्वान् बौद्ध पण्डित रहते थे। उनके अलावा लगभग दस हज़ार से ज़्यादा बालक और शिष्य यहाँ पर रहा करते थे। इसके जोड़ का विश्व-विद्यालय उस वक़्त दुनिया में दूसरा कोई न था।

[4]पाटलिपुत्र—पटना का पुराना नाम। यह मगध और गुप्त साम्राज्यों की राजधानी था।

हुई मशाल बांधकर चलता था। इस विचित्र भेष में, हाथ में डंडा लिये और अकड़ के साथ लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ यह शख्स इधर-उधर घूमा करता था। जब कोई उससे पूछता कि तुमने यह अजीब स्वांग क्यों बना रक्खा है, तो वह जवाब देता "मुझमें इतनी ज्यादा अक्ल है कि अगर मैं अपने पेट के चारों तरफ ताँबे की चादरें न बाँधे रहूँ तो डर है कि कहीं मेरा पेट फट न जाय। और क्योंकि मुझे सब तरफ दिखाई देनेवाले अज्ञानी आदमियों पर, जो अंधेरे में भटक रहे हैं, दया आती है, इसलिए मैं अपने सिर पर मशाल लेकर चलता हूँ।"

मुझे पूरा भरोसा है कि अक्ल की ज्यादती के कारण मेरे पेट के फट जाने का कोई अन्देशा नहीं है; इसलिए मुझे ताँबे की चादरें या जिरह-बख्तर पहनने की जरूरत नहीं है। बहरहाल, मुझे उम्मीद है कि मुझमें जो-कुछ भी अक्ल है, वह मेरे पेट में नहीं रहती। मेरी अक्ल चाहे जहाँ रहती हो, वहाँ और ज्यादा के लिए अब भी काफी जगह बाकी है, और इस बात का कोई अन्देशा नहीं कि अधिक के लिए वहाँ जगह ही न बचे। फिर जब मेरी अक्ल इतनी सीमित है तो मैं दूसरों के सामने अक़्लमन्द होने की शान कैसे गाँठ सकता हूँ और सबको नेक सलाहें कैसे बाँट सकता हूँ? इसलिए मेरा हमेशा से यह विश्वास रहा है कि यह जानने के लिए कि क्या सही है और क्या नहीं, क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए, सबसे अच्छा तरीक़ा यह नहीं है कि उपदेश दिया जाय; बल्कि यह है कि बात-चीत और चर्चा किया जाय क्योंकि अक्सर ऐसी चर्चाओं में से कुछ न कुछ सचाई निकल आती है। मुझे तो तुमसे बातचीत करना ही पसन्द रहा है और हमने आपस में बहुत-सी बातों पर चर्चाएँ की भी हैं। लेकिन दुनिया बहुत लम्बी-चौड़ी है और हमारी इस दुनिया के परे भी बहुत-सी आश्चर्यजनक और रहस्यभरी दुनिया हैं। इसलिए हममें से किसीको भी ह्यएनत्सांग की कहानी में बताये हुए बेवकूफ और घमण्डी आदमी की तरह इस बात से उकताना नहीं चाहिए और न यह खयाल ही करना चाहिए कि जितना सीखने लायक था वह सब हमने सीख लिया और अब हम बहुत अक़्लमन्द हो गये। और शायद इसी बात में अपनी भलाई है कि हम बहुत अक्लमन्द नहीं बन जाते, क्योंकि 'बहुत ही अक़्लमन्द लोग', अगर इस किस्म के लोग कहीं पाये भी जाते हों, जरूर इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि अब सीखने को कुछ भी बाकी नहीं रहा। नई बातों के सीखने और नई चीजों के खोज निकालने के आनन्द से—उस महान् साहस-पूर्ण कार्य के आनन्द से जिसे हममें से जो चाहे प्राप्त कर सकता है—वे जरूर वंचित रह जाते होंगे।

इसलिए उपदेश देना तो मेरा काम नहीं। तब फिर मैं करूँ क्या? चिट्ठी में बातचीत का काम तो निकल नहीं सकता। ज्यादा-से-ज्यादा उससे एक तरफ की बात प्रकट की जा सकती है। इसलिए अगर मेरी कोई बात तुम्हें उपदेश-सी जान पड़े, तो उसे कड़वा घूंट न समझना। तुम यही समझना कि मानो हम दोनों सचमुच बातचीत ही कर रहे हैं और इस बातचीत में मैंने तुम्हारे सामने विचार करने को कोई तजवीज रक्खी है।

इतिहास की किताबों में हम राष्ट्रों के जीवन में बीतनेवाले बड़े-बड़े जमानों का और उनके महान् पुरुषों और महिलाओं का हाल और उनके शानदार कारनामों की कहानियाँ पढ़ते ही रहते हैं। कभी-कभी हम सोचते-सोचते और सपने देखते-देखते यह खयाल करने लगते हैं कि मानो हम भी उसी पुराने जमाने में चले गये हैं और पुराने जमाने के उन वीरों और वीरांगनाओं के समान हम भी बहादुरी के काम कर रहे हैं। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले-पहल 'जीन द आर्क'[1] की कहानी पढ़ी थी, तो तुम कितनी मुग्ध हो गई थी

---

[1] जीन द आर्क—इसका जन्म सन् १४१२ ई० में फ़्रांस देश के एक किसान-जमींदार के घर में हुआ था। कहते हैं कि बचपन से ही इसके हृदय में 'दैवी सन्देश' आया करते थे और इसे विश्वास हो गया था कि फ़्रांस का उद्धार इसीके हाथों होगा। उस वक़्त फ़्रांस अंग्रेजों के आधीन था। एक बार जीन फ़्रांस के बादशाह चार्ल्स के पास जा पहुँची और उसे प्रभावित करके ४-५ हजार सेना के साथ मर्दाने लिबास में अंग्रेजों से लड़ने चल पड़ी। आर्लियंस की लड़ाई में इसने अंग्रेजों को मार भगाया और चार्ल्स को फ़्रांस की गद्दी पर बिठाया। पर चार्ल्स ने इसका साथ न दिया और बर्गण्डी के ड्यूक ने इसे युद्ध में पकड़कर अंग्रेजों के हाथ बेच दिया। अंग्रेजों ने इसे इन्क्वीजिशन (देखो फ़ुटनोट अध्याय ३५) के हवाले कर दिया और इन्क्विजिशन ने इसे काफ़िर और जादूगरनी क़रार देकर रूअन नगर में जिन्दा जलवा डाला। उस वक़्त इसकी उम्र ३० साल की थी। इसके २५ वर्ष बाद पोप ने इसे बेक़सूर बतलाया और बाद को यह जादूगरनी के बजाय साध्वी क़रार दी गई।

और तुम्हारे दिल में कितना हौसला पैदा हुआ था कि तुम भी उसीकी तरह कुछ काम करो ? साधारण मर्दों और औरतों में आमतौर पर साहस की भावना नहीं होती। वे तो अपनी रोज़ाना की दाल-रोटी की, अपने बाल-बच्चों की, घर-गिरिस्ती की झंझटों की और इसी तरह की दूसरी बातों की चिन्ता में फँसे रहते है। लेकिन एक समय आता है जब किसी बड़े उद्देश्य के लिए सारी जनता में उत्साह भर जाता है और उस वक्त सीधे-सादे मामूली स्त्री और पुरुष वीर बन जाते हैं, और इतिहास दिल को थर्रा देनेवाला और नया युग पैदा करनेवाला बन जाता है। महान् नेताओ मे कुछ ऐसी बाते होती हैं जो सारी जाति के लोगों में जान पैदा कर देती है और उनसे बड़े-बड़े काम करवा देती हैं।

वह वर्ष, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ, अर्थात् सन् १९१७, इतिहास का एक बहुत प्रसिद्ध वर्ष है। इसी वर्ष एक महान् नेता ने, जिसके हृदय मे गरीबो और दुखियों के लिए बहुत प्रेम और हमदर्दी थी, अपनी क़ौम के हाथो से ऐसा उच्च काम करवा लिया जो इतिहास मे अमर रहेगा। उसी महीने में, जिसमे तुम पैदा हुई, लेनिन ने उस महान् क्रान्ति को शुरू किया था, जिससे रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। और आज भारत मे एक दूसरे महान् नेता ने, जिसके हृदय मे मुसीबत के मारे और दुखी लोगो के लिए दर्द है और जो उनकी सहायता के लिए बेताब हो रहा है, हमारी कौम मे महान् प्रयत्न और उच्च बलिदान करने के लिए नई जान डाल दी है, जिससे हमारी कौम फिर आज़ाद हो जाय, और भूखे, गरीब और पीड़ित लोग अपने पर लदे हुए बोझ से छुटकारा पा जायँ। बापूजी,[1] जेल मे पडे है, लेकिन हिन्दुस्तान की करोडो जनता के दिलो मे उनके सदेश का जादू पैठ गया है और मर्द और औरते और छोटे-छोटे बच्चे तक अपने-अपने छोटे-छोटे और तग दायरो से निकलकर भारत की आज़ादी के सिपाही बन रहे है। भारत में आज हम इतिहास निर्माण कर रहे है। हम और तुम आज बडे खुशकिस्मत है कि ये सब बाते हमारी आँखो के सामने हो रही हैं, और इस महान् नाटक में हम भी कुछ हिस्सा ले रहे है।

इस महान् आन्दोलन मे हमारा रुख क्या रहेगा ? इसमे हम क्या भाग लेगे ? मै नही कह सकता कि हम लोगो के जिम्मे कौन-सा काम आयगा। लेकिन हमारे जिम्मे चाहे जो काम आ पड़े, हमें यह याद रखना चाहिए कि हम कोई ऐसी बात नही करेंगे जिससे हमारे उद्देश्यो पर कलक लगे और हमारे राष्ट्र की बदनामी हो। अगर हमे भारत के सिपाही होना है, तो हमको उसके गौरव का रक्षक बनना होगा और यह गौरव हमारे लिए एक पवित्र धरोहर होगी।

कभी-कभी हमें यह दुविधा हो सकती है, कि इस समय हमें क्या करना चाहिए ? सही क्या है और गलत क्या है, यह तय करना आसान काम नही होता। इसलिए जब कभी तुम्हे शक हो तो ऐसे समय के लिए मैं एक छोटी-सी कसौटी तुम्हे बताता हूँ। शायद इससे तुम्हे मदद मिलेगी। वह यह है कि कोई काम खुफिया तौर पर न करो, कोई काम ऐसा न करो जिसे तुम्हें दूसरो से छिपाने की इच्छा हो। क्योंकि छिपाने की इच्छा का मतलब यह होता है कि तुम डरती हो, और डरना बुरी बात है और तुम्हारी शान के खिलाफ़ है। तुम बहादुर बनो और बाक़ी चीजें तुम्हारे पास आप-ही-आप आती जायँगी। अगर तुम बहादुर हो तो तुम डरोगी नही, और कभी ऐसा काम न करोगी जिसके लिए दूसरो के सामने तुम्हे शर्म मालूम हो। तुम्हे मालूम है कि हमारी आज़ादी के आन्दोलन में, जो बापूजी की रहनुमाई मे चल रहा है, गुप्त तरीकों या लुक-छिप कर काम करने के लिए कोई स्थान नही है। हमे तो कोई चीज छिपानी ही नही है। जो कुछ हम कहते है या करते है उससे हम डरते नही। हम तो उजाले में और दिन-दहाड़े काम करते है। इसी तरह अपनी निजी ज़िन्दगी में भी हमे सूरज को अपना दोस्त बनाना चाहिए और रोशनी मे काम करना चाहिए। कोई बात छिपाकर या आँख बचाकर न करनी चाहिए। एकान्त तो अलबत्ता हमे चाहिए और वह स्वाभाविक भी है, लेकिन एकान्त और चीज़ है और पोशीदगी दूसरी चीज़ है। इसलिए, प्यारी बेटी, अगर तुम इस कसौटी को सामने रखकर काम करती रहोगी तो एक प्रकाशमान् बालिका बनोगी और चाहे जो घटनाएं तुम्हारे सामने आयें तुम निर्भय और शान्त रहोगी और तुम्हारे चेहरे पर शिकन तक न आयगी।

मैंने तुम्हे एक बड़ी लम्बी चिट्ठी लिख डाली। फिर भी बहुत-सी बाते रह गईं, जो मै तुमसे कहना चाहता हूँ। एक पत्र में इतनी सब बाते कहाँ समा सकती है ?

---

[1] महात्मा गांधी।

मैंने तुम्हें बताया है कि तुम बड़ी खुशक़िस्मत हो कि आज़ादी की बड़ी लड़ाई, जो हमारे देश में इस वक़्त चल रही है, तुम्हारी आँखों के सामने हो रही है। तुम्हारी एक बड़ी खुशक़िस्मती यह भी है कि तुम्हें एक बहुत बहादुर और दिलेर स्त्री 'ममी'¹ के रूप में मिली है। जब कभी तुम्हें कोई शक-शुबह हो, या कोई परेशानी सामने आये, तो उनसे बढ़कर मित्र तुम्हें दूसरा नहीं मिल सकता।

प्यारी नन्हीं, अब मैं तुमसे बिदा लेता हूँ, और मेरी यह कामना है कि तुम बड़ी होकर भारत की सेवा के लिए एक बहादुर सिपाही बनो। मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें पहुँचे।

: १ :

नये साल की भेंट

१ जनवरी, १९३१

क्या तुम्हे उन पत्रों² की याद है, जो दो साल से ज्यादा हुए मैंने तुम्हे लिखे थे? तब तुम मसूरी में थीं और मैं इलाहाबाद में। उस समय तुमने मुझे बताया था कि मेरे वे पत्र तुम्हे पसन्द आये थे। इसलिए, मैं अक्सर यह सोचता रहता हूँ कि पत्रों के इस सिलसिले को मैं क्यों न जारी रक्खूं और अपनी इस दुनिया के बारे में तुम्हें कुछ और बातें क्यों न बताऊँ? लेकिन मैं हिचकता रहा। संसार के बीते हुए जमाने की कहानी और उसके महापुरुषों और वीरांगनाओं और उनके महान् कार्यों का मनन करना बहुत दिलचस्प चीज है। इतिहास का पढ़ना अच्छा है, लेकिन उससे ज्यादा दिलचस्प और दिल लुभानेवाली बात इतिहास के निर्माण में मदद देना है। और तुम जानती ही हो कि हमारे देश में आज इतिहास का निर्माण हो रहा है। भारत का पिछला इतिहास बहुत ही पुराना है और प्राचीनता के कुहरे में खो गया है। इसमें अनेक दुःखद और अप्रिय युग भी पाये जाते हैं, जिनकी याद करके हमें शर्म आती है और ग्लानि होती है। लेकिन सभी बातों का लिहाज़ करते हुए हमारा पिछला जमाना बहुत उज्ज्वल है, जिसपर हम सही गर्व कर सकते हैं और जिसका खयाल करके हम खुशी हासिल कर सकते हैं। लेकिन आज हमें इतनी फ़ुरसत नहीं कि हम अतीत की याद करने बैठें। हमारे दिमाग में तो वह भविष्य, जिसका हम निर्माण कर रहे हैं, भरा पड़ा है, और वह वर्तमान है, जिसमें हमारा पूरा समय और हमारी पूरी शक्ति लग रही है।

यहाँ नैनी-जेल में मुझे इस बात का काफी समय मिल गया है कि मैं जो कुछ चाहूँ लिख-पढ़ सकूं। लेकिन मेरा मन भटकता रहता है और मैं उस महान संघर्ष के बारे में सोचता रहता हूँ, जो बाहर चल रहा है। मैं यह सोचता रहता हूँ कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं, और अगर मैं उनके बीच में होता तो क्या करता? वर्त-मान और भविष्य के विचारों में मैं इतना डूबा रहता हूँ कि बीते हुए जमाने पर ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं होती। लेकिन, साथ ही साथ, मैं यह भी महसूस करता रहा हूँ कि ऐसा सोचना मेरे लिए मुनासिब नहीं है। जब मैं बाहर के कामों में कोई हिस्सा ले नहीं सकता, तो उसकी फिक्र क्यों करूँ?

लेकिन असल वजह, जिससे मैं तुम्हें पत्र लिखना टालता रहा हूँ, दूसरी ही है। क्या चुपके से तुम्हारे कान में कह दूँ? तो लो सुनो। मुझे यह शक होने लगा है कि मैं इतना जानता भी हूँ या नहीं कि जो तुम्हें पढ़ा सकूँ। तुम इतनी तेजी से बढ़ रही हो और इतनी अक़्लमन्द लड़की साबित हो रही हो, कि जो कुछ मैंने स्कूल या कालेज में और उसके बाद पढ़ा-लिखा है, मुमकिन है वह तुम्हारे लिए काफी न हो और तुम्हे नीरस जँचे। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन बाद तुम शिक्षक का स्थान ले लो और मुझे कई नई-नई बात सिखाओ। जैसा मैंने तुम्हारे जन्मदिन वाले पिछले पत्र में तुम्हे लिखा था, मैं उस 'बहुत अक़्लमन्द आदमी' की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने पेट के चारों तरफ़ ताँबे की चादरें बाँधे फिरता था, ताकि कहीं अक़्ल की ज्यादती से उसका पेट न फट जाय।

---

¹ इन्दिरा की मा श्रीमती कमला नेहरू। ² ये 'पिताके पत्र पुत्रीके नाम' इस नामसे पुस्तक रूपमें छप चुके हैं।

जब तुम मसूरी में थीं तब दुनिया की शुरुआत के दिनों के बारे में कुछ लिखना मेरे लिए आसान था। उस जमाने के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञान पाया जाता है वह अनिश्चित और धुंधला-सा है। लेकिन जब हम उस बहुत पुराने जमाने से इस पार निकल आते हैं, तो इतिहास धीरे-धीरे शुरू होने लगने लगता है और मनुष्य-जाति दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में अपना विचित्र जीवन शुरू करती दिखाई देने लगती है। पर मनुष्य-जाति के इस जीवन को, जो कभी-कभी अक़्लमन्दी लिये हुए लेकिन ज्यादातर पागलपन और बेवक़ूफ़ी से भरा है, सिलसिलेवार पकड़ना आसान काम नहीं है। किताबों की मदद से कोशिश-भर की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में कोई पुस्तकालय नहीं है। इसलिए, मेरे बहुत चाहने पर भी, मुझे अन्देशा है कि मैं तुम्हें शायद दुनिया के इतिहास का सिलसिलेवार हाल न बता सकूँगा।

मुझे यह बहुत नापसन्द है कि लड़के और लड़कियाँ सिर्फ़ एक देश का इतिहास जानें और वह भी सिर्फ़ कुछ तारीखें और चन्द घटनाएें रटकर। इतिहास तो एक सिलसिलेवार मुकम्मिल चीज है, और जबतक तुम्हें यह मालूम न हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सो में क्या हुआ, तुम किसी एक देश का इतिहास समझ ही नही सकती। मुझे उम्मीद है कि इस भद्दे तरीक़ेसे, तुम इतिहास को एक या दो देशों तक ही सीमित रहकर न पढ़ोगी, बल्कि सारी दुनिया पर नजर दौड़ाओगी। हमेशा याद रक्खो कि अलग-अलग देशों के लोगों में इतना ज्यादा अन्तर नही होता जितना लोग समझते हैं। नक़शो और नक़शों की किताबों में मुल्क अलग-अलग रंगो में दिखाये जाते हैं। इसमें शक नही कि अलग-अलग देशों के रहनेवालों में कुछ भेद जरूर होता है, लेकिन उनमें समानता भी बहुत ज्यादा पाई जाती है। इसलिए हमें यही बात ध्यान में रखनी चाहिए और नकशो के रंग या राष्ट्रों की सीमा-रेखाएं देखकर भुलावे में नही पड़ना चाहिए।

मै तुम्हारे लिए अपनी पसन्द का इतिहास नही लिख सकता। इसके लिए तुम्हे दूसरी किताबें पढ़नी होगी। लेकिन मै तुम्हें बीते हुए जमाने के बारे मे, और उस जमाने के लोगो के बारे में कि जिन्होंने दुनिया के रगमच पर बड़े-बड़े काम किये है, समय-समय पर थोड़ा-बहुत लिखता रहूँगा।

मै नही कह सकता कि मेरी चिट्ठियाँ तुम्हारे लिए मनोरजक होगी और तुम्हारे दिल में कुतूहल पैदा करेगी या नही। सच तो यह है कि मै यह भी नही जानता कि ये चिट्ठियाँ तुम्हें कब मिलेंगी या कभी मिलेंगी भी या नही। कितनी विचित्र बात है कि हम एक-दूसरे से इतने नजदीक होते हुए भी इतनी दूर है! मसूरी में तुम मुझसे कई सौ मील के फासले पर थी, लेकिन तब मै जितनी दफा चाहता तुम्हें पत्र लिख सकता था, और जब कभी तुम्हे देखने को बहुत तबीयत चाहती तब जाकर मिल सकता था। लेकिन आजकल तुम जमना नदीके उस पार हो, और मै इस पार हूँ; एक-दूसरे से बहुत दूर नही। फिर भी नैनी-जेल की ऊँची दीवारोने हमें एक-दूसरे से एकदम अलग कर रक्खा है। पन्द्रह दिन मे मै एक पत्र लिख सकता हूँ और एक पा सकता हूँ; और पन्द्रह दिन मे २० मिनट की मुलाकात भी मुझे मिल सकती है। फिर भी मै इन बन्दिशो को अच्छा समझता हूँ। क्योंकि जो चीज हमें सस्ती मिल जाती है, हम अक्सर उसकी क़दर नही करते, और मै यह विश्वास करने लग गया हूँ कि कुछ दिन जेल में बिताना आदमी की शिक्षा का बहुत मुनासिब हिस्सा है। खुशकिस्मती की बात है कि हमारे देश के बीसो हजार आदमी आज इस तरह की शिक्षा पा रहे है!

मै नहीं जानता कि जब तुम्हें मेरे ये पत्र मिलेगे तुम इन्हें पसन्द करोगी या नही। लेकिन मैने अपनी ही खुशी के लिए इनका लिखना तय कर लिया है। इन पत्रो से तुम मेरे बहुत नजदीक आ जाती हो और मै तो यहाँतक महसूस करने लगता हूँ कि मानों मैने तुमसे बातें कर ली। वैसे तो मै तुम्हे अक्सर याद करता रहता हूँ, लेकिन आज तो सारे दिन तुम शायद ही मेरे चित्त से हटी होगी। आज नये साल का पहला दिन है। आज बड़े सवेरे जब मै बिस्तर पर लेटे-लेटे तारों को देख रहा था, तो मेरे दिल में पिछले महत्वपूर्ण वर्ष का खयाल हो आया। और साथ ही खयाल में आई उस साल की वे सब उम्मीदे, टीसें और खुशियें और वे सारे महान् और वीरताके काम जो इस सालमें किये गए। मुझे बापूजीका भी खयाल आया, जिन्होने यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे-बैठे अपने जादूभरे स्पर्श से हमारे बूढ़े देश को जवान और ताक़तवर बना दिया। और मुझे दादू[1] की भी याद आई, और दूसरो की भी। मुझे खास तौर से तुम्हारी ममी का और तुम्हारा खयाल आया। इसके बाद सुबह होनेपर खबर आई कि तुम्हारी ममी गिरफ़्तार करली गई और जेल

---

[1]इन्दिरा के बाबा पं० मोतीलाल नेहरू।

पहुँचा दी गई। मेरे लिए यह नये साल की एक सुन्दर भेंट है। इसकी उम्मीद तो बहुत दिन से की जा रही थी और मुझे इसमें कोई शक नहीं कि ममी बिलकुल प्रसन्न और सन्तुष्ट होंगी।

लेकिन तुम अपने आपको अकेली अनुभव कर रही होगी। पन्द्रह दिन में तुम एक दफा मुझसे और एक दफ़ा अपनी ममी से मिल सकोगी और हम दोनो के संदेसे एक-दूसरे को पहुँचा दिया करोगी। लेकिन मैं तो कलम और कागज़ लेकर बैठ जाया करूँगा और तुम्हारा ध्यान किया करूँगा। तब तुम चुपकेसे मेरे पास आ बैठेगी और हम एक-दूसरे से बहुत-सी चीजों के बारे में बातचीत करेंगे। हम गुज़रे हुए जमाने का स्वप्न देखेंगे और भविष्य को बीते हुए ज़माने से ज्यादा शानदार बनाने की तरकीबें सोचेंगे। इसलिए आओ, आज नये साल के दिन हम लोग इस बात का पक्का इरादा करें कि, इससे पहले कि यह वर्ष भी बूढ़ा होकर चल बसे, हम अपने उज्ज्वल भविष्य के सपनो को वर्तमान के नजदीक ले आयेंगे, और भारत के प्राचीन इतिहास में एक शानदार पन्ना और बढ़ा लेंगे।

: २ :

इतिहास से शिक्षा

५ जनवरी, १९३१

प्यारी बेटी, मै तुम्हें क्या लिखूं और किस जगह से शुरू करूँ? जब मैं पुराने जमाने का खयाल करता हूँ तो मेरी आंखो के सामने बहुत-सी तस्वीरें तेजी के साथ घूम जाती है। कुछ तस्वीरें ज्यादा देर तक ठहरती है, तो कुछ थोड़ी ही देर तक। वे मेरी पसन्द की चीजें है, और उनके बारे मे विचार करते-करते मैं उन्हीमें डूब जाता हूँ। बिलकुल अनजान में ही मैं पिछली घटनाओं से आजकल की घटनाओ का मुकाबिला करने लगता हूँ, और उनसे आगे के लिए नसीहत लेने की कोशिश करता हूँ। लेकिन आदमी का मन भी क्या अजीब खिचड़ी है, जिसमे ऐसे विचार भरे रहते है जिनका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नही होता और ऐसी तस्वीरें मौजूद रहती है जिन में कोई तरतीब नही पाई जाती—जैसे कोई ऐसी चित्रशाला हो, जहाँ तस्वीरो की सजावट में कोई व्यवस्था न रक्खी गई हो। लेकिन शायद इसमें हमी लोगो का सारा दोष नही है। हममें बहुत से आदमी अपने दिमाग में घटनाओ के क्रम को जरूर बेहतर तरीके से जमा सकते हैं। लेकिन कभी-कभी खुद घटनाएं इतनी अजीब होती हैं कि उन्हें किसी भी योजना के ढाँचे में ठीक तरह बिठा सकना मुश्किल हो जाता है।

मुझे खयाल पड़ता है कि मैंने तुम्हें एक दफा लिखा था कि इतिहास पढ़कर हमें यह सीखना चाहिए कि दुनिया ने कैसे आहिस्ता-आहिस्ता लेकिन निश्चित रूप से तरक्की की है। दुनिया के आरम्भ के सरल जीवों की जगह पर अधिक उन्नत और पेचीदा जीव कैसे आगये और कैसे सबसे अखीर मे जीवो का सिरताज आदमी पैदा हुआ और अपनी बुद्धि के जोर पर उसने कैसे दूसरो पर विजय पाई। बर्बरता मे निकलकर सभ्यता की ओर मनुष्य की प्रगति का हाल इतिहास का विषय माना गया है। मैंने अपने कुछ पत्रो में तुम्हे यह बताने की कोशिश की है कि सहयोग यानी मिल-जुलकर काम करने की भावना कैसे बढी और सबकी भलाई के लिए मिल-जुलकर काम करना हमारा आदर्श क्यो होना चाहिए? लेकिन कभी-कभी जब हम इतिहास के लम्बे जमानों पर नज़र डालते है, तो यह विश्वास करना मुश्किल होता है कि इस आदर्श ने बहुत ज्यादा तरक्की की है या हम लोग बहुत सभ्य या उन्नत हो गये हैं। सहयोग का अभाव आज भी बहुत काफी पाया जाता है। एक मुल्क या एक कौम दूसरे मुल्क और दूसरी क़ौम पर खुदगरजी से आक्रमण कर रहे है या उसे सता रहे है; एक आदमी दूसरे आदमी से बेजा फायदा उठा रहा है। अगर करोड़ो बरस की तरक्की के बाद भी हम इतने पिछड़े और अपूर्ण हैं, तो न जाने समझदार और वाजिब बात करने वाले आदमियो की तरह व्यवहार करना सीखने में हमें और कितने दिन लग जायँगे! कभी-कभी हम इतिहास के उन बीते हुए ज़मानो के बारे में पढ़ते है, जो हमारे जमाने से बेहतर मालूम होते हैं और अधिक संस्कृत और सभ्य भी जान पड़ते है। इससे हमें यह शक होने लगता है कि हमारी दुनिया आगे बढ रही है या पीछे हट रही है। गुज़रे

हुए जमाने में खुद हमारे देश में ही ऐसे उज्ज्वल युग जरूर बीते हैं जो हरहालत में वर्तमान से बहुत अच्छे थे।

यह सच है कि भारत, मिस्र, चीन, यूनान, वगैरा बहुत-से देशों के पुराने इतिहास में उज्ज्वल युग हुए हैं और इन मुल्कों में से बहुत से बाद में पिछड़ गये और गिर गये हैं। लेकिन फिर भी हमें हिम्मत न हारनी चाहिए। दुनिया एक बहुत बड़ी जगह है, और थोड़े वक्त के लिए किसी मुल्क के चढ़ाव और उतार का सारी दुनिया पर कोई ज्यादा असर नहीं पड़ता।

आजकल बहुत-से लोग हमारी महान् सभ्यता की और विज्ञान के चमत्कारों की डींग मारते रहते हैं। इसमें शक नहीं कि विज्ञान ने बहुत चमत्कार कर दिया है, और बड़े-बड़े वैज्ञानिक हर तरह इज्जत के योग्य हैं। लेकिन जो डींग मारते हैं वे अक्सर बड़े नहीं हुआ करते। दूसरे, यह बात भी याद रखनी चाहिए कि बहुत-सी बातों में आदमी ने दूसरे जीवों की बनिस्बत कुछ बहुत ज्यादा उन्नति नहीं की है। यह भी कहा जा सकता है कि कुछ बातों में कुछ जीव आदमी से अब भी श्रेष्ठ हैं। यह बात बेवकूफी की-सी मालूम पड़ सकती है और जो लोग ज्यादा नहीं जानते, वे इसकी हँसी भी उड़ा सकते हैं। लेकिन तुमने अभी मैटरलिंक की बनाई हुई 'शहद की मक्खी, दीमक और चींटी की जिन्दगी'[1] नाम की किताब पढ़ी ही है और इन जन्तुओं के सामाजिक संगठन का हाल पढ़कर तुम्हें जरूर ताज्जुब हुआ होगा। हम लोग इन जन्तुओं को सबसे नीचे दर्जे का जीव समझकर हिकारत की नजर से देखते हैं। लेकिन इन छोटे-छोटे जन्तुओं ने सहयोग और सार्वजनिक हित के लिए त्याग की कला आदमी की अपेक्षा कहीं ज्यादा सीख रक्खी है। जबसे मैंने दीमक का और अपने साथी के लिए उसके त्याग का हाल पढ़ा, मेरे दिल में इस जन्तु के लिए आदर का भाव पैदा हो गया है। अगर आपस के सहयोग को और समाज की भलाई के लिए त्याग को सभ्यता की कसौटी मानें, तो हम कह सकते हैं कि इस लिहाज से दीमक और चींटियाँ मनुष्य जाति से अच्छी हैं।

संस्कृत की हमारी एक पुरानी पुस्तक में एक श्लोक[2] है, जिसका अर्थ है, "कुल के लिए व्यक्ति को, समाज के लिए कुल को, देश के लिए समाज को और आत्मा के लिए सारी दुनिया को छोड़ देना चाहिए।" आत्मा क्या चीज है इसे हममें से न कोई समझता है और न बता सकता है और हरेक आदमी आत्मा का अर्थ अपने-अपने खयाल के मुताबिक अलग-अलग किया करता है। लेकिन संस्कृत का यह श्लोक हमें वही सहयोग की और सार्वजनिक हित के लिए त्याग करने की शिक्षा देता है। हम भारत के लोग असली महानता के इस राजमार्ग को बहुत दिनों तक भूले रहे, इसीलिए हमारा पतन हुआ। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि अब फिर हमें उसकी झलक दिखाई देने लगी है और सारे मुल्क में जागृति की लहर दौड़ रही है। यह देखकर कितना आश्चर्य होता है कि मर्द और औरतें, लड़के और लड़कियाँ, हँसते-हँसते भारत के हित के लिए आगे बढ़ रहे हैं और दर्द या मुसीबत की जरा भी परवा नहीं करते! उनका हँसना और खुश होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि एक महान् उद्देश्य के लिए सेवा करने का आनन्द उनको मिला है, और जो खुश किस्मत हैं उन्हें बलिदान होने का भी आनन्द प्राप्त होता है। आज हम भारत को आजाद करने की कोशिश कर रहे हैं। यह एक बड़ी बात है। लेकिन मनुष्य मात्र का हित इससे भी बड़ी चीज है। और क्योंकि हम यह महसूस करते हैं कि हमारा संग्राम मनुष्य-मात्र की तकलीफों और मुसीबतों को मिटाने के महान् संग्राम का एक हिस्सा है, हम भी इस बात पर खुशी मना सकते हैं कि हम दुनिया की प्रगति में मदद करके थोड़ा-बहुत अपना फर्ज अदा कर रहे हैं।

इस दरमियान तुम आनन्द-भवन में बैठी हो, ममी मलाका-जेल में बैठी हैं, और मैं नैनी-जेल में हूँ। हमें कभी-कभी एक-दूसरे की बुरी तरह याद आती है। क्यों, आती है या नहीं? लेकिन उस दिन की याद करो, जब हम तीनों फिर मिलेंगे। मैं उस दिन का उत्सुकता से इन्तजार करूँगा और उसका खयाल मेरे दिल को हलका करेगा और उसे उम्मीद से भर देगा।

---

[1] "Life of the Bee, the White Ant and the Ant'

[2] त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥—पञ्चतंत्र

: ३ :

'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद'

७ जनवरी, १९३१

प्रियदर्शिनी, आँखों को प्यारी, लेकिन जब आँखो से ओझल हो तो और भी प्यारी ! आज, जब मै यहाँ तुम्हें पत्र लिखने बैठा तो दूर के बादल की गरज जैसा कुछ हलका-सा शोर मुझे सुनाई दिया। पहले तो मुझे पता न चला कि यह आवाज़ कैसी है, लेकिन यह कुछ परिचित सी जान पड़ी और ऐसा मालूम हुआ कि उसके जवाब में मेरे हृदय से गूँज उठ रही है। धीरे-धीरे यह आवाज़ नज़दीक आती हुई और बढ़ती हुई मालूम देने लगी और थोड़ी ही देर में वह क्या है उसके बारे मे कोई शक नही रहा। 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद !' 'इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद !' इस जोश भरी ललकार से जेलखाना गूज उठा, और इसे सुनकर हम सब के दिल हरे हो गये। मै नहीं जानता कि ये कौन लोग थे—जो हमारे इस जगी नारे को हमसे इतनी नजदीक जेल के बाहर बुलन्द कर रहे थे—शहर के मर्द और औरतें थी या गाँवों के किसान लोग ? और न मैं यह जानता हूँ कि आज इसका कौन-सा मौका था ? लेकिन ये लोग चाहे जो हो, इन्होने हमारे दिलो के हौसले बढ़ा दिये और इनके अभिवादन का हम लोगो ने खामोश जवाब भेज दिया, जिसके साथ-साथ हमारी सारी शुभ-कामनायें भी थी।

सवाल यह होता है कि हम 'इन्किलाब ज़िन्दाबाद' क्यो पुकारते है ? हम क्रान्ति और परिवर्तन किस लिए चाहते है ? इसमें शक नही कि भारत मे आज बहुत परिवर्तन की ज़रूरत है। लेकिन वे सारे बडे परिवर्तन, जो हम चाहते है, हो भी जायें, और भारत को आज़ादी भी मिल जाय, तो भी हम निश्चल नही बैठ सकते। दुनिया की कोई भी चीज़, जिसमें जान है, बिना परिवर्तन के नही रहती। सारी कुदरत रोज़-ब-रोज़ और मिनट-मिनट पर बदलती रहती है। केवल मुर्दों की ही बढोतरी रुक जाती है, और वे निश्चल हो जाते हैं। ताज़ा पानी बहता रहता है और अगर कोई उसे रोक दे तो वह बध कर गन्दा हो जाता है। मनुष्य जाति की और राष्ट्र की ज़िन्दगी का भी यही हाल होता है। हम चाहे या न चाहें, बूढे होते जाते है। बच्चियाँ छोटी लड़कियाँ हो जाती हैं; छोटी लड़कियाँ बडी लडकियाँ हो जाती है, वे ही बाद में युवतियाँ और फिर बूढियाँ हो जाती है। हमें इन सब तब्दीलियो को बर्दाश्त करना पडता है। लेकिन बहुत से लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नही कि दुनिया बदलती रहती है। वे अपने दिमाग़ को बन्द रखते है और उसपर ताला डाल देते है और उसमें किसी नये ख़याल को घुसने नही देते। सोच-विचार करने की भावना से उन्हे जितना डर लगता है, उतना किसी दूसरी चीज़ से नही। नतीजा क्या होता है ? दुनिया तो फिर भी आगे-आगे बढती ही जाती है, और चूँकि वे और उन्हीके खयालो के दूसरे लोग बदलती हुई परिस्थितियो के मुताबिक अपने को नही ढालते, इसलिए समय-समय पर बड़े-बडे विस्फोट होते है, बडी-बड़ी क्रान्तियाँ हो जाती है—जैसी कि १४० वर्ष पहले फ़्रान्स में और आज से १३ वर्ष पहले रूस मे हुई थी। इसी तरह अपने देश में हम भी आज एक क्रान्ति के बीच से गुज़र रहे है। बेशक हम आजादी चाहते है; लेकिन हम इससे भी कुछ और ज्यादा चाहते हैं। हम तमाम बदबूदार गड्ढों को साफ़ कर डालना चाहते है और हरेक जगह ताजा और साफ़ पानी की धार पहुँचा देना चाहते है। हमारा फ़र्ज़ है कि हम अपने देश की गन्दगी, गरीबी और मुसी-बतों को निकाल फेंकें और जहाँ तक हो सके बहुत से आदमियो के दिमागो मे भरे हुए जालो को भी साफ़ कर दें, जिनकी वजह से कि वे लोग विचार नही कर पाते और उस महान् काम में, जो हमारे सामने है, सहयोग नहीं देते। यह एक बड़ा काम है और मुमकिन है इसके पूरा होने मे देर लगे। आओ, कम-से-कम एक धक्का लगाकर इसे आगे तो बढ़ा दें ! इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद !

हम अपनी क्रान्ति के दरवाजे पर खड़े हैं और यह नही जानते कि भविष्य में क्या होनेवाला है। लेकिन हमारी मेहनतों का फल बहुत काफी मात्रा में वर्तमान ने ही हमारे सामने ला रक्खा है। भारत की स्त्रियों को देखो कि वे कितने अभिमान के साथ लडाई में सबसे आगे बढ़ती जा रही है ! नम्र, लेकिन बहादुर और किसीसे न दबनेवाली, स्त्रियाँ देखो किस तरह दूसरो को आगे बढने का रास्ता बता रही हैं ? और कहाँ गया आज वह परदा, जिसने हमारी बहादुर और ख़ूबसूरत स्त्रियों को छिपा रक्खा था, और जो उनके और

उनके दशके लिए एक अभिशाप था ? क्या वह तेजी के साथ नही हट रहा कि अजायबघरों की आलमारियों में, जिनमें बीते जमाने की निशानियाँ रक्खी रहती है, जाकर अपनी जगह ले।

बच्चो को—लड़के और लड़कियों को—वानर-सेना और बाल-बालिका-सभाओ को भी देखो। इनमेंसे बहुत से बच्चो के माता-पिता ऐसे होंगे, जो शायद पहले कायरो और गुलामों की तरह आचरण करते रहे हो। लेकिन क्या अब कोई यह शक करने की हिम्मत कर सकता है कि हमारी पीढी के बच्चे गुलामी या कायरता को कभी भी बरदाश्त करेंगे ?

और इस तरह परिवर्त्तन का चक्र चल रहा है और जो नीचे थे वे ऊपर आ रहे है और जो ऊपर थे वे नीचे जा रहे है। हमारे देशमे भी इस चक्र के चलने का समय आगया है। लेकिन इस दफा हम लोगो ने इसे ऐसा धक्का दिया है कि अब कोई भी इसे रोक नही सकता।

इन्क़िलाब जिन्दाबाद !

: ४ :

एशिया और योरप

८ जनवरी, १९३१

मैंने अपने पिछले पत्र मे बताया था कि हरेक चीज बराबर तब्दील होती रहती है। इन तब्दीलियों की लिखत-रेकार्ड के सिवा दरअसल इतिहास और है भी क्या? अगर पुराने जमाने में बहुत कम तब्दीलियाँ हुई होती, तो इतिहास लिखने के लिए कुछ मसाला ही न मिलता।

स्कूल और कॉलेजो मे जो इतिहास पढ़ाया जाता है उसमे आम तौर पर कुछ ठीक बातें नही होतीं। दूसरो की बाबत तो मै जानता नही, अपने बारे में यह जरूर कह सकता हूँ कि स्कूल में मुझे बहुत कम इल्म हासिल हुआ। मैंने भारत के इतिहास के बारे में बहुत ही कम और इग्लैण्ड के इतिहास के बारे में कुछ थोडी-सी बातें स्कूल मे पढी। भारत का इतिहास भी जो-कुछ मैंने पढ़ा, वह ज्यादातर गलत या तोड़ा-मरोड़ा हुआ और ऐसे लोगो का लिखा हुआ था जो हमारे देश को नफ़रत की नजर से देखते थे। दूसरे देशो के इतिहास के बारे मे तो मेरा ज्ञान बहुत ही धुंधला था। कॉलेज छोडने के बाद ही मैंने कुछ असली इतिहास पढा। खुशकिस्मती से जेल की यात्राओं ने मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने का खासा मौका दिया।

अपनी कुछ पिछली चिट्ठियो में मै तुम्हें भारत की प्राचीन सभ्यता, द्रविड़ों, और आर्यों के आगमन के बारे में लिख चुका हूँ। मैंने आर्यों के आने के पहलेके जमाने का कोई हाल इन पत्रों में नही लिखा था, क्योंकि मुझे उसके बारे मे ज्यादा मालूम नही है। लेकिन तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि भारत मे इन पिछले वर्षों मे एक बहुत प्राचीन सभ्यता के चिह्न खोज निकाले गये है। ये चिह्न उत्तर-पश्चिम भारत में मोहेन-जो-दड़ो नाम की जगह के आस-पास पाये गए है। करीब पाँच हज़ार बरस पुराने इन खण्डहरों को लोगो ने खोदा और वहाँ प्राचीन मिस्र की-सी मोमियाई[1] भी मिली है। जरा खयाल तो करो, ये सब बातें हजारों वर्ष पुरानी, आर्यों के आने से बहुत पहले की हैं। योरप उस समय वीरान रहा होगा।

आज योरप मजबूत और ताकतवर है और वहाँ के रहनेवाले अपने को दुनियाभर में सबसे ज्यादा सभ्य और सुसंस्कृत समझते है। वे एशिया और उसके निवासियों को नफरत की नजर से देखते है, और एशिया के मुल्कों मे आकर जो कुछ यहाँ मिलता है, उसे झपट ले जाते हैं। जमाना कितना बदल गया है! आओ, हम एशिया और योरप पर जरा ग़ौर से नजर डालें। नकशों की किताब खोलो और देखो कि छोटासा योरप एशिया के विशाल महाद्वीप में किस तरह चिपका पड़ा है। यह एशिया की ही एक छोटी सी टाँग मालूम देती है। जब तुम इतिहास पढ़ोगी तो तुम्हें मालूम होगा कि लम्बे युगो और वर्षों तक उगपर एशिया का प्रभुत्व रह चुका है। एशिया के लोग बार-बार बाढ़ की तरह योरप में गये और विजयी हुए। इन लोगोंने योरप को उजाड़ा

[1] मोमियाई या ममी—मसाला लगाकर रक्खा गया मुर्दा।

भी और सभ्य भी बनाया। आर्य, शक, हूण, अरब, मंगोल और तुर्क, ये सब एशिया के किसी-न-किसी हिस्से से आये, और एशिया और योरप के सब हिस्सों में फैल गये। मालूम होता था कि एशिया इन्हें टिड्डी-दल की तरह बेशुमार तादाद में पैदा कर रहा है। सच तो यह है कि योरप बहुत दिनो तक एशिया का उपनिवेश रहा और आज के योरप की बहुत-सी जातियाँ एशिया से गये हुए इन हमला करने वालों की वशज हैं।

एशिया एक बड़े और भारी-भरकम देव की तरह नकशे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला पड़ा है। योरप छोटा-सा है। लेकिन इसका यह मतलब नही कि एशिया अपने विस्तार के कारण बड़ा है, या यह कि योरप ज्यादा ध्यान दिये जाने के योग्य नही है। किसी आदमी या देशके आकार से उसकी महानता का अन्दाज नही लगाया जा सकता। हम अच्छी तरह जानते है कि योरप सब महाद्वीपो से छोटा होने पर भी आज महान् बना हुआ है। हम यह भी हैं जानते कि योरप के अनेक देशो के इतिहास मे शानदार युग हुए है। इन देशो ने विज्ञान के बड़े-बड़े पडित पैदा किये, जिन्होने अपनी खोजों और आविष्कारो से मानवी सभ्यता को बहुत आगे बढाया और करोडो आदमियों और औरतो के लिए जिन्दगी आसान बना दी। इन देशों मे बडे-बड़े लेखक, विचारक, कलाकार, संगीतज्ञ और कर्मवीर पैदा हुए है। योरपकी महानताको स्वीकार न करना बेवकूफ़ी होगी।

लेकिन एशिया की महानता को भुला देना भी उसी तरह की बेवकूफी होगी। कभी-कभी हम योरप की तड़क-भड़क से प्रभावित होने लगते है और पुरानी बातो को भूल जाते है। हमे याद रखना चाहिए कि एशिया ने ही बड़े-बड़े मौलिक विचारक पैदा किये है, जिन्होंने दुनिया पर इतना प्रभाव डाला कि शायद ही किसी दूसरी जगह के किसी आदमी या किसी चीज ने डाला हो। ये है ससार के मुख्य धर्मो के महान् प्रवर्त्तक। हिन्दू धर्म, जो आजकल के बड़े मजहबों मे सबसे पुराना है, भारत की ही देन है। ऐसा ही उसका महान् भाई बौद्ध धर्म भी है, जो आज तमाम चीन, जापान, बरमा, तिब्बत और लका में फैला हुआ है। यहूदियो और ईसाइयो के धर्म भी एशियाई ही है, क्योकि इनका जन्म एशिया के पश्चिम किनारे पर फ़िलस्तीन[1] मे हुआ था। जोरास्ट्रियन धर्म, जो पारसियो का मजहब है, ईरान[2] मे शुरू हुआ। और तुम यह तो जानती ही हो कि इस्लाम के पैग़म्बर मुहम्मद अरब के मक्का में पैदा हुए थे। कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त,[3] ईसा, मुहम्मद, और चीन के महान् दार्शनिक कनफ्यूशस[4] और लाओ-त्जे[5] वग़ैरा एशिया के बड़े-बड़े विचारको के नामो से सफे-

---

[1]फ़िलस्तीन—इसे पैलस्टाइन भी कहते हैं। एशिया का एक प्राचीन देश है। पश्चिम देश के अाधीन रहने के बाद ईसा से ११०० वर्ष पूर्व यह फ़िलस्तीन जाति के अधिकार में आया। ईसा से पहले की नवीं सदी से छठी सदी तक असार और बाबुल के साम्राज्य इसे जीतते और फिर इससे हारते रहे। एक जमाने में यहूदियों ने यहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य क़ायम किया था। कभी यह मुसलमानों के भी ताबे में रहा। सन् १९१७-१८ से १९४८ तक यह अंग्रेजों के अधिकार में रहा। अब वहाँ अरबों और यहूदियों में झगड़ा चल रहा है। यह ईसाइयों और मुसलमानों दोनों की पवित्र भूमि है। संयुक्त राष्ट्रों की सभा ने इसके बटवारे का निश्चय किया है जिससे अरब लोग सहमत नहीं हैं।

[2]ईरान—एशियाका एक स्वतन्त्र देश है, ईसा से पूर्व ५५९ से ३३१ तक ईरानी सभ्यता बहुत उन्नत दशा में थी और सम्राट् डेरियस या दारा के जमाने से इसका साम्राज्य इतना विस्तृत और शक्तिशाली हो गया था कि यूनानियों को इसके डर के मारे नींद नहीं आती थी और योरप, अफ़्रीका और एशिया ईरानी सम्राट् के नाम से कांपते थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे इसका पतन होने लगा, और यूनानी विजेता सिकन्दर ने इस साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला।

[3]जरथुस्त—यह प्राचीन ईरानी मजहब के प्रवर्त्तक या पैग़म्बर थे। यह किस जमाने में हुए, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं लगता। लेकिन कुछ लोगों के खयाल में इनका समय ईसा से १००० वर्ष पहले का है। ईरानी शाहंशाह सीरियस के जमाने में इनका धर्म ईरान का खास धर्म हो गया था। यह भी एक आर्य-धर्म ही था। भारत के पारसी अब भी इसी मजहब को मानते हैं। इनके सिवा इस मजहब का मानने वाला दुनिया में अब कोई नहीं है। इनकी मुख्य धर्म-पुस्तक जेन्दावस्ता है।

[4]कनफ्यूशस—यह मशहूर चीनी दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक या पैग़म्बर था। ईसा से ५५१ वर्ष पहले इसका जन्म हुआ था और इसने अपना सारा जीवन अपने मुल्क की प्राचीन या पुरानी किताबों के इकट्ठा

कै-सफ़े भरे जा सकते हैं। इसी तरह एशिया के कर्मवीरों के नामों से भी पन्ने-के-पन्ने रंगे जा सकते हैं। कई और तरीक़ों से भी मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि हमारा यह बूढ़ा महाद्वीप प्राचीन काल में कितना महान् और सजीव रहा है।

देखो, ज़माना कितना बदल गया है! लेकिन अब भी वह हमारी आँखों के सामने ही फिर बदलता जा रहा है। इतिहास आमतौर पर धीरे-धीरे सदियों में अपना प्रभाव दिखाता है, हालांकि उसमे कभी-कभी तूफ़ानों और विस्फोटों के युग भी होते हैं। आज तो एशिया में ज़माना बहुत तेज़ी से आगे बढ रहा है और यह बूढ़ा महाद्वीप अपनी लम्बी नींद के बाद जाग उठा है। दुनिया की आँखें इस पर लगी हैं, क्योंकि सभी जानते हैं कि भविष्य के निर्माण में एशिया बहुत बडा हिस्सा लेनेवाला है।

: ५ :

पुरानी सभ्यताएँ और हमारी विरासत

९ जनवरी, १९३१

हिन्दी अखबार 'भारत' में, जो हमें हफ़्ते में दो बार बाहरी दुनिया की कुछ खबरें पहुंचाता रहता है, कल मैंने पढा कि तुम्हारी ममी के साथ मलाका-जेल मे ठीक व्यवहार नहीं किया जा रहा है और वह लखनऊ जेल भेजी जानेवाली है। इससे मुझे कुछ धक्का-सा लगा और मैं परेशान होने लगा। फिर सोचा कि शायद 'भारत' मे छपी अफ़वाह सही न हो। लेकिन इस सम्बन्ध में शक भी दुख देनेवाला है। अपनी तकलीफ़ो और मुसीबतो को सहना काफ़ी आसान है। इससे हरेक को फ़ायदा होता है, वरना हम लोग बहुत नाज़ुक बन जायें। लेकिन दूसरे लोगो की, जो हमे प्रिय हैं, मुसीबतो के बारे मे सोचना कोई बहुत आसान या तसल्ली देनेवाली बात नही है। इसलिए उस सन्देह के कारण, जो 'भारत' ने मेरे मन में पैदा कर दिया था, मैं ममी के बारे मे चिन्ता करने लगा। वह बहादुर है और शेरनी का-सा उसका दिल है, लेकिन वह शरीर से कमज़ोर है, और मैं नहीं चाहता कि उसका शरीर और कमज़ोर हो जाय। हम दिल के चाहे कितनेही मज़बूत क्यों न हो, अगर हमारे शरीर हमे जवाब दे बैठे तो हम क्या कर सकते है? अगर हम कोई काम अच्छी तरह करना चाहते है तो हमारे लिए तन्दुरुस्ती, ताकत और शरीरका तगडापन ज़रूरी है।

शायद यह अच्छा ही है कि ममी लखनऊ भेजी जा रही है। सम्भव है वह वहाँ ज्यादा आराम से और खुश रहे। लखनऊ-जेल मे उसे कुछ साथवालियाँ भी मिल जायँगी। मलाका मे वह शायद अकेली ही हो। फिर भी यहाँ इतना इतमीनान ज़रूर था कि वह दूर नहीं है; हमारी जेल मे सिर्फ चार-पाँच मील पर ही है। लेकिन यह बेवकूफ़ो का सा खयाल है। जब दो जेलो की ऊँची-ऊँची दीवारें बीच मे खडी है तो क्या पाँच मील और क्या एक सौ पचास मील, दोनो बराबर है।

आज यह जानकर बेहद खुशी हुई कि दादू इलाहाबाद वापस आ गये है और पहले से अच्छे है। यह जानकर और भी खुशी हुई कि वह ममी से मिलने मलाका-जेल गये थे। मुमकिन है तकदीर से कल तुम सब लोगों से मेरी मुलाकात हो जाय, क्योंकि कल मेरा 'मुलाकात का दिन' है और जेल में यह दिन एक बडा दिन माना जाता है। क़रीब दो महीने से मैंने दादू को नही देखा है। उम्मीद है कल उनसे मुलाकात होगी और मैं इतमीनान कर सकूंगा कि दरअसल वह अब पहले से अच्छे है। तुमसे तो मैं एक बडे लम्बे पखवाड़े के बाद मिलूंगा, और तुम मुझे अपना और अपनी ममी का हाल सुनाओगी।

करने, सम्पादन करने और छपाने में बिताया। ईसा से ४५८ वर्ष पहले इसकी मृत्यु हुई। चीन में अब भी इसका मजहब माननेवाले बहुत पाये जाते हैं। इसका चीनी नाम कुंग-फू-त्से है।

'लाओ-त्से—मशहूर चीनी वेदान्ती और पैग़म्बर था। यह कनफ़्यूशस के ज़माने में ही हुआ, और उसका विरोधी था। इसके माननेवाले भी चीन में बहुत हैं।

क्या खूब ! लिखने तो बैठा था पुराने इतिहास पर, लेकिन लिख रहा हूँ बेवकूफी की बातें। अच्छा, अब थोड़ी देर के लिए हम वर्त्तमान को भूल जायँ और दो-तीन हजार वर्ष पीछे लौट चलें।

मिस्र के और क्रीट[1] के प्राचीन नगर नोसास[2] के बारे में मैंने तुम्हें अपनी पहली चिट्ठियो मे कुछ लिखा था, और तुम्हें बताया था कि प्राचीन सभ्यता ने इन दोनों देशों में और उस मुल्क मे, जो आज इराक़[3] या मैसोपोटामिया कहलाता है, तथा चीन, भारत और यूनान में पहले-पहल जन्म लिया। यूनान शायद औरो से कुछ देर में सामने आया। इसलिए प्राचीनता के लिहाज से भारत की सभ्यता मिस्र, चीन और इराक़ की सभ्यताओ की बराबरी की है। प्राचीन यूनान की सभ्यता भी इन के मुक़ाबिले मे कम उम्र की है। इन पुरानी सभ्यताओं का क्या हाल हुआ ? नोसास खतम हो गया। सच तो यह है कि क़रीब तीन हजार बरस से उसका कोई नाम-निशान भी नही है। यूनान की बाद की सभ्यता के लोग यहाँ पहुँचे और उन्होने इसे नष्ट कर दिया। मिस्र की पुरानी सभ्यता कई हजार बरस के शानदार इतिहास के बाद समाप्त हो गई, और अल-अहराम[4], स्फिन्क्स[5], बडे-बड़े मन्दिरों के खंडहरों, मोमियाइयो और इसी तरह की दूसरी चीजों के अलावा वह अपना कोई निशान नहीं छोड गई। मिस्र का देश तो अब भी है और नील नदी पहले की तरह अब भी उसमें होकर बहती है, और दूसरे देशों की तरह वहाँ भी स्त्री और पुरुष रहते हैं, लेकिन इन नये आदमियों को इनके देश की पुरानी सभ्यता से जोडनेवाली कोई कड़ी नज़र नही आती।

इराक़ और ईरान—इन देशों मे कितने साम्राज्य फूले-फले और एक-दूसरे के बाद विस्मृति के गर्भ में समाते गये। इनमे सबसे पुराने साम्राज्यो के ही कुछ नाम लिये जायँ तो वे है: बाबुल[6],

---

[1]क्रीट—यह भूमध्यसागर के सबसे बड़े टापुओं में से एक है। प्राचीन सभ्यता में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। कला-कौशल में कुशलता पानेवाला यह सबसे पहला यूरोपीय देश है। यहाँका राजा माइनास बड़ा मशहूर शासक था और इतिहास का सबसे पहला राजा था, जिसके पास अपनी जल-सेना थी।

[2]नोसास—राजा माइनास के वक़्त में भूमध्यसागर के क्रीट नामक टापू की राजधानी था। यह बड़ा सम्पन्न और खुशहाल शहर था। मिट्टी का काम तो यहाँ खास तौर पर सुन्दर होता ही था, सोने-चाँदी का काम भी बहुत अच्छा होता था। यहाँके हथियार भी बहुत मशहूर थे।

[3]इराक़—फिरात और दजला नदियों के बीच के पूरे प्रान्त का नाम इराक़ है। यह देश प्राचीन सभ्यताओं में से कईयों का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है।

[4]अल-अहराम या पिरेमिड—मिस्र देश के पत्थर के विशाल स्तूप या मीनार, जिनके नीचे मिस्र के प्राचीन सम्राटों की क़ब्रें हैं। सबसे बड़ा पिरेमिड गिजेह नामक स्थान पर है। इसमें पत्थर की तेईस लाख चट्टानें लगी है, और एक-एक चट्टान का वजन ढाई-ढाई टन है। जिस जमाने में मशीनो का नाम तक न था, उस जमाने में लोगों ने कैसे ढाई-ढाई टन के तेईस लाख पत्थर एक-दूसरे पर चुनकर रख दिये, इस बात के समझने में बुद्धि चकरा जाती है।

[5]स्फिन्क्स—यूनान की कहानियों के अनुसार यह एक दानवी है, जिसका सिर स्त्री का-सा और धड़ पर-बार शेर का-सा है। गिजेह नामक जगह पर पिरेमिडों के पास इसकी एक बड़ी भारी मूर्ति है, जिसकी लम्बाई १८७ फ़ीट और ऊँचाई ६६ फीट है। उसका केवल सिर ही ३० फ़ीट लम्बा है, और मुँह की चौड़ाई १४ फ़ीट है।

[6]बाबुल—इराक़ के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। प्रथम बैबीलियन राजवंश की स्थापना ईसा से क़रीब २३०० साल पहले हुई थी। कई बार इसका उत्थान और पतन हुआ। ईसा से क़रीब ६२५ साल पहले, नाबोपोलासार नाम के खाल्दिया के सम्राट होने पर यह फिर आगे बढ़ने लगा, और उसके उत्तराधिकारी दूसरे नेबूखुदनेजर ने ईसा से पूर्व क़रीब ६०४ और ५६५ साल के बीच इस साम्राज्य को गौरव की सबसे ऊँची चोटी तक पहुँचा दिया था। लेकिन उसके बाद फिर उसका ऐसा पतन हुआ कि आगे कभी न उठा। इसकी राजधानी बाबुल एशिया का बहुत पुराना शहर था। आजकल के बग़दाद से क़रीब ६० मील दक्षिण की तरफ़, फ़िरात नदी के दोनों किनारों पर यह आबाद था। यहीं पर असूर और ईरानी साम्राज्यों की राजधानियाँ भी थीं। यहाँ के 'लटकते हुए उद्यान' संसार का एक आश्चर्य माने जाते थे।

असुर[1] और खाल्दिया[2]। बाबुल और निनीवे[3] इनके विशाल नगर थे। इंजील का पुराना हिस्सा तौरात[4] यहा के लोगों के ज़िक्र से भरा पड़ा है। इसके बाद भी प्राचीन इतिहास की इस भूमि में दूसरे साम्राज्य फूलें-फले और मुरझा गये। अलिफ़लैला की मायानगरी बग़दाद यही है। लेकिन साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहते हैं और बड़े-से-बड़े और अभिमानी-से-अभिमानी राजा और सम्राट दुनिया के रंग-मंच पर सिर्फ़ थोड़े ही अरसे के लिए अकड़ के साथ चल पाते हैं। पर सभ्यतायें कायम रह जाती हैं। लेकिन इराक़ और ईरान की पुरानी सभ्यतायें मिस्र की पुरानी सभ्यता की तरह बिलकुल ही ख़तम हो गईं।

अपने प्राचीन दिनों में यूनान सचमुच महान् था, और आज भी लोग उसकी शान शौकत का हाल अचरज के साथ पढ़ते हैं। आज भी हम उसकी संगमरमर की ख़ूबसूरत मूर्तिकला देखकर स्तम्भित और चकित हो जाते हैं, और उसके पुराने साहित्य के उस अंश को, जो बच गया है, श्रद्धा और आश्चर्य के साथ पढ़ते हैं। कहा जाता है, और ठीक ही कहा जाता है, कि मौजूदा योरप कई दृष्टि से यूनान का बच्चा है क्योंकि योरप पर यूनानी विचार और यूनानी तरीक़ों का गहरा असर पड़ा है। लेकिन वह शान जो यूनान की थी, अब कहाँ है? इस पुरानी सभ्यता को ग़ायब हुए अनेक युग बीत गये। उसकी जगह दूसरी तरह के तौर-तरीक़ों ने लेली और यूनान आज योरप के दक्षिण-पूरब में एक छोटा-सा मुल्कभर रह गया है।

मिस्र, नोसास, इराक और यूनान—ये सब ख़तम हो गये। इनकी सभ्यता की हस्ती भी बाबुल और निनीवे की तरह मिट गई। तो फिर इन पुरानी सभ्यताओं के साथी बाकी दो, चीन और भारत, का क्या हुआ? और देशों या मुल्कों की तरह इन दोनों देशों में भी साम्राज्य के बाद साम्राज्य कायम होते रहे। यहाँ भी भारी तादाद में हमले हुए, बरबादी और लूटमार हुई। बादशाहों के खानदान सैकड़ों बरसों तक राज करते रहे और फिर इनकी जगह पर दूसरे आ गये। भारत और चीन में ये सब बातें वैसे ही हुईं जैसे दूसरे देशों में। लेकिन सिवाय चीन और भारत के, किसी भी दूसरे देश में सभ्यता का असली सिलसिला कायम नहीं रहा। सारे परिवर्तनों, लड़ाइयों और हमलों के बावजूद इन देशों में पुरानी सभ्यता की धारा अटूट बहती आई है। यह सच है कि ये दोनों अपने पुराने रुतबे में बहुत नीचे गिर गये हैं और इनकी प्राचीन संस्कृतियों के ऊपर ढेर की ढेर गर्द और कहीं-कहीं गन्दगी, लम्बे अर्से से जमा होती गई है। लेकिन ये संस्कृतियाँ अभी तक कायम हैं और आज भी वही भारतीय सभ्यता, भारतीय जिन्दगी का आधार है। अब दुनिया में नई हालतें पैदा हो गई है, भाफ़ में चलनेवाले जहाजों, रेलों और बड़े-बड़े कारख़ानों ने दुनिया की सूरत ही बदल दी है। हो सकता है, बल्कि वास्तव में सम्भव है, कि वे भारत की भी काया-पलट करदे, जैसा कि वे कर भी रही हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति और सभ्यता, जो इतिहास के उदयकाल से लेकर लम्बे-लम्बे युगों को पार करती हुई वर्तमान काल तक चली आई है, के इस लम्बे विस्तार और सिलसिले का

---

[1]असुर—एशिया के एक प्राचीन साम्राज्य का नाम है। इसका विशाल साम्राज्य उन सबसे पहले साम्राज्यों में से एक है, जिनके ऐतिहासिक लेख मिलते हैं। अपने गौरव-काल में यह मिस्र से ईरानतक फैला हुआ था।

[2]खाल्दिया—एक अर्थ में यह बैबीलोनिया का एक प्रान्त था। ईरान की खाड़ी के ऊपर की तरफ़ अरब के रेगिस्तान से मिला हुआ फिरात नदी के निचले हिस्से के किनारों पर आबाद था। यहाँका निवासी नाबोपोलासार मीड जाति की मदद से बैबीलोनिया का सम्राट हुआ और उसीके उत्तराधिकारियों के ज़माने में बैबीलोनियन साम्राज्य अपने गौरव की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचा। इसलिए वह ज़माना खाल्दियन-बैबीलोनियन ज़माना कहलाता है।

[3]निनीवे—इसका दूसरा नाम नाइनस भी है। यह पुराने ज़माने का एक मशहूर शहर है और असीरियन साम्राज्य की राजधानी था। सम्राट् सेनकेरिब के ज़माने में इस शहर ने बड़ी तरक़्क़ी की थी और क़रीब दो सौ साल तक बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र बना रहा। यहाँ का पुस्तकालय अपने ज़माने में दुनिया-भर में मशहूर था। ईसा से पहले ६१२ में मीडों और बैबीलोनियनों ने मिलकर हमला किया और इस फलते-फूलते शहर को तहस-नहस कर डाला।

[4]Old Testament of the Bible.

खयाल दिलचस्प और बहुत कुछ आश्चर्यजनक है। एक अर्थ में भारत के हम लोग इन हजारों वर्षों के उत्तराधिकारी हैं। यह हो सकता है कि हम लोग उन प्राचीन लोगो के ठेठ वंशज हो. जो उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से होकर उस लहलहाते हुए मैदान में आये, जो ब्रह्मावर्त्त, आर्यावर्त, भारतवर्ष और बाद मे हिन्दुस्तान कहलाया। क्या तुम अपनी कल्पना में इन लोगो को पहाड़ी दर्रों से होकर नीचे के अनजान मुल्क में उतरते हुए नही देख सकतीं? बहादुरी और साहस की भावना से भरे हुए ये लोग, परिणामों की परवा न करते हुए, हिम्मत के साथ आगे बढ़ते चले गये। अगर मौत आई तो उन्होने उसकी परवा नहीं की। हँसते-हँसते उसे गले लगाया। लेकिन उन्हे जीवन से प्रेम था और वे जानते थे कि ज़िन्दगी का सुख भोगने का एक-मात्र तरीक़ा यह है कि आदमी निडर हो जाय। और हार और आफ़तोंसे परेशान न हो। क्योकि हार और आफ़त मे एक बात यह होती हैं कि वे निडर लोगो के पास नही फटकती। अपने उन प्राचीन पूर्वजों का खयाल तो करो, जो आगे बढते-बढते एक दम समुद्र की ओर शान के साथ बहती हुई पवित्र गंगा के किनारे आ पहुँचे। यह दृश्य देखकर उनका हृदय कितना आनन्दित हुआ होगा! और इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है कि इन लोगो ने गंगा के सामने आदर से अपना सिर झुका दिया हो और अपनी समृद्ध और मधुर भाषा में उसकी स्तुति की हो?

यह सोचकर सचमुच ताज्जुब होता है कि हम इन सब युगो के उत्तराधिकारी है। लेकिन हमें घमंड मे फूल न जाना चाहिए क्योंकि अगर हम युग-युगान्तरों के उत्तराधिकारी है तो उसकी अच्छाई और बुराई दोनो के है। और भारत में हमें मौजूदा विरासत में जो कुछ मिला है उसमे बहुत-सी बुराइयाँ हैं; बहुत-कुछ ऐसा है जिसने हमें दुनिया में नीचा गिराये रक्खा और हमारे महान् देश को सख्त गरीबी में डाल दिया और उसे दूसरों के हाथ का खिलौना बना दिया। लेकिन क्या हमने यह निश्चय नही कर लिया है कि यह हालत अब न रहने देंगे?

: ६ :

यूनानी

१० जनवरी, १९३१

तुममे से कोई भी आज हमसे मिलने नही आया और 'मुलाकात का दिन' कोरा ही रहा। इसमे निराशा हुई। मुलाकात टलने की जो वजह बताई गई, वह और भी चिन्ताजनक थी। हमे बताया गया कि दादू की तबीयत अच्छी नही है। बस इससे ज्यादा हमें कुछ और पता न चला। खैर जब मुझे यह मालूम हुआ कि आज मुलाकात न होगी, तो मैंने अपना चरखा उठाया और कुछ सूत काता। मेरा अनुभव है कि चरखा कातने और निवाड बुनने मे दिल को मजेदार शान्ति मिलती है। इसलिए जब कभी असमंजस में हो, तो कातने लगो।

अपने पिछले पत्र मे हमने यह देखा था कि योरप और एशिया, इन दोनो मे कितनी बाते एक-दूसरे से भिन्न है और कितनी एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। आओ, अब हम प्राचीन योरप पर, जैसा कि वह बतलाया जाता है, थोड़ी-सी नज़र डालें। बहुत दिनो तक भूमध्यसागर के चारो तरफ के देश ही योरप समझे जाते थे। हमें उस जमाने के योरप के उत्तरीय देशों का कोई हाल नहीं मिलता। भूमध्यसागर के देशो के रहने-वाले लोगों का खयाल था कि जर्मनी, इंग्लैण्ड और फ़्रान्स में जंगली और बर्बर जातियाँ रहा करती हैं। यहाँ-तक कि लोगो का खयाल है कि शुरू जमाने में सभ्यता भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्से तक ही सीमित थी। तुम जानती हो कि मिस्र (जो अफ़्रीका में है, योरप में नही) और नोसास ही पहले देश थे, जो आगे बढ़े। धीरे-धीरे आर्य लोग एशिया से पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और यूनान तथा आसपास के मुल्कों मे फैल गये। ये आर्य वही यूनानी हैं जिन्हें हम प्राचीन यूनानी कहते हैं और जिनकी तारीफ़ करते हैं। शुरू में मेरा खयाल है कि ये लोग उन आर्यों से बहुत भिन्न नहीं थे जो शायद इसके पहले भारत में उतर चुके थे। लेकिन बाद में धीरे-धीरे तब्दीलियाँ हुई होंगी और धीरे-धीरे आर्य-जाति की इन दोनों शाखाओं में दिन-ब-दिन ज्यादा फर्क होता गया। भारतीय आर्यों के ऊपर उससे भी पुरानी भारत की सभ्यता, यानी द्रविड़-सभ्यता, का और

शायद उस सभ्यता के बचे-खुचे हिस्से का बहुत असर पड़ा, जिसके खंडहर आज हमें मोहेन-जो-दड़ो में मिलते हैं। आर्यों और द्रविड़ों ने एक-दूसरे से बहुत-कुछ लिया और एक-दूसरे को बहुत कुछ दिया भी, और इस तरह इन्होंने मिलजुल कर भारत की एक मिलीजुली संस्कृति बनाई।

इसी प्रकार यूनानी आर्यों पर भी नोसास की उस पुरानी सभ्यता का बहुत ज्यादा असर पड़ा होगा जो कि यूनान की भूमि पर इनके आने के समय खूब जोरों से लहरा रही थी। इनके ऊपर इसका असर जरूर पड़ा, लेकिन इन्होंने नोसास को और उसकी सभ्यता के बाहरी रूप को नष्ट कर दिया और उसकी राख पर अपनी सभ्यता रची। हमें यह हर्गिज न भूलना चाहिए कि यूनानी आर्य और भारतीय आर्य, दोनो उस पुराने जमाने में बड़े सख्त और जाँ-बाज लड़ाके थे। ये बड़े जबरदस्त थे, और जिन नाजुक या अधिक सभ्य लोगों से इनका सामना हुआ उन्हें या तो इन्होंने हजम कर लिया या नष्ट कर डाला।

इसी तरह नोसास ईसा के पैदा होने के करीब एक हजार वर्ष पहले नष्ट हो चुका था, और नये यूनानियों ने यूनान मे और आसपास के टापुओ में अपना अधिकार जमा लिया था। ये लोग समुद्र के रास्ते एशिया कोचक[1] के पश्चिमी किनारे तथा दक्षिण-इटली और सिसली तक और दक्षिण-फ्रांस तक भी जा पहुँचे। फ्रांस में मारसाई नाम के शहर को इन्हींने ही बसाया था। लेकिन शायद इनके जाने के पहले ही वहाँ फिनिश लोगो की आबादी थी। तुम्हे याद होगा कि फिनिश जाति एशिया कोचक की मशहूर समुद्र-यात्री क़ौम थी, जो व्यापार की तलाश मे दूर-दूर तक धावा मारा करती थी। उस पुराने जमाने में ये लोग इग्लैण्ड तक पहुँच गये थे, जिन दिनो वह बिलकुल वहशी था, और जब जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य का जहाजी सफर जरूर खतरनाक रहा होगा।

यूनान के मुख्य प्रदेश मे एथेन्स, स्पारटा, थीब्स और कारिन्थ जैसे मशहूर शहर आबाद हो गये। यूनानियो के, जो उस वक्त हेलेन्स कहलाते थे, पुराने जमाने का हाल 'ईलियड' और 'ओडेसी' नाम के दो महाकाव्यो में बयान किया गया है। तुम्हें इन दोनो प्रसिद्ध महाकाव्यो का कुछ हाल मालूम ही है। ये दोनो महाकाव्य हमारे देश की रामायण और महाभारत की तरह के ग्रन्थ है। कहते है कि होमर ने, जो अन्धा था, ये काव्य लिखे है। 'ईलियड' मे यह किस्सा बयान किया गया है कि किस तरह सुन्दरी हेलन को पेरिस अपने शहर ट्राय मे भगा ले गया और किस तरह यूनान के राजाओं और सरदारो ने उसे छुड़ाने के लिए ट्राय के चारो तरफ घेरा डाला। और 'ओडेसी' ट्राय के घेरे से लौटते वक्त ओडेसियस या यूलीसस के भ्रमण की कहानी है। एशिया कोचक में, समुद्र-तट से बहुत नजदीक, ट्राय का यह छोटा शहर बसा था। आज इसका कोई निशान नही है और उसकी हस्ती मिटे बहुत जमाना हो गया, लेकिन कवि की प्रतिभा ने इसे अमर बना दिया है।

इधर हेलेन्स या यूनानी क़ौम तेजी के साथ, चन्द रोजा लेकिन शानदार जवानी पर पहुँच रही थी। उधर एक दूसरी ताकत का भीतर ही भीतर जन्म हो रहा था, जो बाद मे यूनान को जीत कर उसकी जगह कायम-मुकाम होने वाली थी। कहा जाता है कि इसी जमाने मे रोम की बुनियाद पडी। कई सौ बरसो तक इसने दुनिया के रगमच पर कोई महत्व का काम करके नही दिखाया। लेकिन ऐसे महान् शहर की स्थापना अवश्य ही उल्लेखनीय है, जो सदियों तक यूरोपीय संसारपर हावी रहा और जो 'ससार की स्वामिनी' और 'अमरपुरी' के नाम से मशहूर हुआ। रोम की स्थापना के बारे में अजीब-अजीब किस्से कहे जाते है। कहते है कि 'रेमस' और 'रोमुलस'[2] को, जिन्होने इस शहर की बुनियाद डाली थी, एक मादा भेड़िया उठा ले गई थी और उसीने उन्हे पाला था। शायद तुम्हें यह किस्सा मालूम है।

---

[1]एशिया कोचक या एशिया-माइनर—एशिया महाद्वीप के पश्चिम में एक प्रायद्वीप। यहाँ तुर्की का राज्य है।

[2]रोमुलस—रोम का संस्थापक और पहला सम्राट् था। रोमुलस और रेमस दो जुड़वाँ भाई थे। इन दोनों को उनके नाना एम्यूलियस ने एक डोंगी में रखकर टाइबर नदी में बहा दिया। डोंगी उस दलदल में जाकर रुक गई, जहाँ कि बाद को रोम आबाद हुआ। कहा जाता है कि यहाँ से एक मादा भेड़िया इनको उठाकर ले गई और इन्हें अपना दूध पिलाया और बाद को फोस्ट्यूलस नामक गड़रिये की स्त्री ने परवरिश की। बड़े होकर ये पेलेस्टाइन के युद्धप्रिय गड़रियों के एक गिरोह के सरदार बन गये। कुछ समय बीतने पर इनके नाना ने इन्हें पहचान लिया, जिसने अन्यायी एम्यूलियस को क़त्ल कर अल्बस के तख्त पर इनको

जिस जमाने में रोम की बुनियाद पड़ी, उसी जमाने में या कुछ अरसे पहले, प्राचीन दुनिया का एक दूसरा बड़ा शहर भी बसाया गया। इसका नाम कारथेज था और यह अफ्रीका के उत्तरी समुद्र-तट पर बसा था। फिनिश लोगों ने इसे बसाया था। यह शहर बढ़ते-बढ़ते एक बड़ी नौ-सेना-शक्तिवाला बन गया। रोम के साथ इसकी भयंकर होड़ चली और बहुतसी लड़ाइयां हुई। अन्त में रोम ने विजय पाई और कारथेज को बिलकुल नष्ट कर दिया।

आज की कहानी समाप्त करने के पहले फिलस्तीन के ऊपर अगर सरसरी नजर डाल लें तो अच्छा होगा। फिलस्तीन योरप में नही है और न इसका कोई ज्यादा ऐतिहासिक महत्व ही है। लेकिन बहुत से लोग इसके प्राचीन इतिहास में दिलचस्पी रखते है, क्योंकि इसका जिक्र तौरात मे पाया जाता है। इस कहानी का सम्बन्ध यहूदियो की कुछ जातियो से है, जो इस छोटेसे देश में रहती थी, और इसमें बताया गया है कि यहूदियो को अपने दोनो तरफ़ बसे हुए शक्तिशाली पड़ौसियो, बाबुल, असर और मिस्र से क्या-क्या झगड़े करने पड़े। अगर यह कहानी यहूदी और ईसाई मजहबो का हिस्सा न बन गई होती, तो शायद ही किसीको इसका पता चलता।

जिस समय नोसास नष्ट किया जा रहा था, फिलस्तीन के इसराइल प्रदेश पर सालूस[1] नाम के बादशाह का राज्य था। इसके बाद दाऊद[2] और फिर सुलेमान[3] हुआ जो अपनी अक़्लमन्दी के लिए बहुत मशहूर है। मैं इन तीन नामो का इसलिए जिक्र कर रहा हूँ कि तुमने इनके बारे में जरूर पढा या सुना होगा।

: ७ :

यूनान के नगर-राज्य

११ जनवरी, १९३१

मैने अपने पिछले पत्र मे यूनानियो या हेलेन्स का कुछ हाल लिखा था। आओ, हम फिर इनपर एक नजर डालें और इस बात के समझने की कोशिश करें कि ये लोग किस तरह के थे। जिन लोगो को या जिन चीजोंको हमने कभी नही देखा उनके बारे में सही और सच्चा ख़याल बनाना बहुत मुश्किल होता है। हम लोग अपनी आजकल की हालत और रहन-सहन के इतने आदी हो गये है कि एक बिलकुल दूसरी क़िस्म की दुनिया की कल्पना भी नही कर सकते। लेकिन प्राचीन दुनिया, चाहे वह भारत की हो, चीन की हो, या मिस्र की,

---

वापस बैठा दिया था। इन्होंने अब इस भूमिपर, जहाँकि इनका पालन-पोषण हुआ था, एक शहर बनाने का इरादा किया लेकिन कौन पहले शुरू करे इसपर झगड़ा हो गया, जिसमें रेमस मारा गया। रोमुलस ने रोम आबाद किया और अपनी शक्ति बढ़ाकर और अपने शत्रुओं को हराकर एक-छत्र राज्य करने लगा। बाद में वह एकाएक एक तूफ़ान में ग़ायब हो गया और अन्त में एक देवता की तरह से पूजा जाने लगा।

[1]सालूस—यहूदियों के देश इसराइल का पहला बादशाह था। इसका समय ईसा से क़रीब १०१० साल पहले है। इसने फिलस्तीन जाति को हराया और अमालेकाइट जाति का दमन किया। लेकिन अन्त में फिर फिलस्तीनों से हार गया और इसलिए आत्मग्लानि से अपनी ही तलवार पर गिरकर आत्म-हत्या कर ली।

[2]दाऊद—इसे डेविड भी कहते है। यह इसराइल का दूसरा बादशाह था। इसका समय ईसा से १०३० से लगाकर ९९० साल पहले तक है। जब बादशाह साल ने खुदकशी कर ली और फिलस्तीनों ने राजकुमार को मार डाला, तब यह राजा बनाया गया। कहा जाता है कि बाइबिल के पुराने अहदनामे का बहुत-सा हिस्सा इसीका लिखा है।

[3]सुलेमान—इसे सालोमन भी कहते है। इसराइल का यह तीसरा बादशाह था। इसके पास बहुत धन था इसलिए पुराने इतिहास में इसका राज्य शान-शौकत के लिए मशहूर है। इसके गीत और कविताएं भी प्रसिद्ध हैं और कहा जाता है कि यह बड़ा बुद्धिमान और इन्साफ़-पसन्द बादशाह था। इसकी अक़्लमन्दी की बहुत-सी कहानियां मशहूर है।

आजकल की दुनिया से बिलकुल निराली थी। ज्यादा-से-ज्यादा हम यही कर सकते है कि उनकी किताबो, इमारतों और बचे हुए दूसरे निशानों की मदद से अन्दाजा लगायें कि उस जमाने के लोग किस तरह के थे।

यूनान के बारे मे एक बात बड़ी दिलचस्प है। ऐसा लगता है कि यूनानी लोग बड़े-बड़े राज्य या साम्राज्य पसन्द नही करते थे। उन्हें छोटे-छोटे नगर-राज्य पसन्द थे, यानी उनका हरेक शहर एक स्वतंत्र राज्य हुआ करता था। ये राज्य छोटे-छोटे प्रजातन्त्र होते थे। बीच मे शहर होता था। और चारो तरफ़ कुछ खेत होते थे, जिनमे लोगो के लिए खाने की सामग्री मिला करती थी। तुम जानती ही हो कि प्रजातंत्र में कोई राजा नही होता। यूनान के ये नगर-राज्य बिना राजा के थे, और धनी नागरिक इन पर राज्य करते थे। साधारण आदमी को राज्य के मामलों में बोलने का कोई हक़ नही था। बहुत से गुलाम थे, जिन्हे राजकाज मे कोई अधिकार नही होता था, और औरतो को भी इस प्रकार का कोई हक़ नही था। इस तरह आबादी के सिर्फ़ एक हिस्से को इन शहरी राज्यो में नागरिकता का हक़ मिला हुआ था। और यही हिस्सा सार्वजनिक मामलो पर राय दे सकता था। इन नागरिको के लिए वोट देना कोई मुश्किल काम नही था, क्योंकि सब-के-सब एक ही जगह पर इकट्ठे किये जा सकते थे। यह इसलिए सम्भव था कि ये छोटे-छोटे नगर-राज्य थे किसी एक सरकार की मातहती मे कोई बडा देश नही था। भारतभर के, या बंगाल या उत्तर प्रदेश जैसे सिर्फ एक प्रदेश के ही वोटरो के एक जगह जमा होने की ज़रा कल्पना तो करो! ऐसा हो सकना बिलकुल ही असम्भव है। बाद को दूसरे देशो को भी इस कठिनाई का सामना करना पडा। तब इसके लिए 'प्रतिनिधि सरकार' का हल ढूँढ निकाला गया। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मामले का फैसला करने के लिए देशभर के सारे वोटरो को इकट्ठा करने के बजाय लोग अपने प्रतिनिधि चुन देते है, जो इकट्ठे होकर देश से सम्बन्ध रखनेवाले सार्वजनिक मामलो पर विचार करते है और देश के लिए क़ानून बनाते है। यह समझा जाता है कि साधारण वोटर इस तरह अपने देश की हुकूमत चलाने मे परोक्ष रूप से सहायता देता है।

लेकिन इस चीज़ का यूनान से कोई ताल्लुक नही। यूनान ने कभी नगर-राज्य से बडी कोई राजनैतिक इकाई बनाई ही नही। और इस तरह वह इस मुश्किल सवाल को टाल गया। हालाँकि यूनानी लोग, जैसा कि मै तुम्हे बता चुका हूँ, यूनानभर मे, और दक्षिण-इटली, सिसिली और भूमध्यसागर के दूसरे किनारो पर फैल गये थे, लेकिन इन लोगो ने अपने आधीन इन सब देशो में कोई साम्राज्य या एक सरकार बनाने की कोशिश नही की। जहाँ कही ये गये, वही इन्होने अपना अलग नगर-राज्य क़ायम कर लिया।

तुम देखोगी कि शुरू के ज़माने मे भारत मे भी, यूनान के नगर-राज्यो की तरह के ही छोटे-छोटे प्रजातंत्र और छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। लेकिन मालूम होता है वे बहुत दिनों तक क़ायम नही रहे और बड़े राज्यो मे समा गये। इस पर भी, बहुत समय तक, हमारी गाँवो की पचायतो के हाथो में बहुत बड़ी ताकत बनी रही। शायद पुराने आर्यों की पहली प्रेरणा यही होती थी, कि जहाँ-जहाँ जायें वहीं छोटे-छोटे नगर-राज्य बनायें। लेकिन भौगोलिक परिस्थितियो और अपने मे पुरानी सभ्यता के सम्पर्क ने इन्हे अपने इन विचारो को, उन देशो मे, जहाँ जाकर ये बसे, धीरे-धीरे छोडने पर मजबूर कर दिया। ईरान मे खासतौर से हम देखते है कि बडी-बडी सल्तनतें और साम्राज्य कायम हुए। भारत में भी बड़े-बडे राज्य स्थापित करने की ओर झुकाव रहा है। लेकिन यूनान मे नगर-राज्य बहुत दिनो तक कायम रहे, और उस वक्त तक बने रहे, जब तक कि एक इतिहास प्रसिद्ध यूनानी ने दुनिया को जीतने की सबसे पहली बार कोशिश की। इसका नाम था सिकन्दर महान। इसके बारे मे बाद को कुछ कहूँगा।

इस तरह यूनानी लोगो ने अपने छोटे-छोटे नगर-राज्यो को मिलाकर कोई बडा राज्य, बादशाहत या प्रजातत्र बनाना पसन्द नही किया। यही नही कि ये लोग एक-दूसरे से अलग और स्वतत्र रहे हो, बल्कि ये लोग क़रीब क़रीब हमेशा आपस में लड़ते भी रहे। इनमे आपस में बडी प्रतिस्पर्धा रहा करती थी, जिसका नतीजा अक्सर लड़ाई होता था।

फिर भी इन नगर-राज्यो को आपस मे बँधा रखनेवाली बहुत-सी समान-कड़ियाँ थी। इनकी भाषा एक थी, सस्कृति एक थी और मजहब एक था। इनके धर्म में अनेक देवी और देवता माने जाते थे और इनकी पौराणिक कथाए हिन्दुओ की पुरानी पौराणिक कथाओं की तरह बड़ी सुन्दर और प्रचुर थी। ये लोग सौन्दर्य के पुजारी थे। आज भी इनकी बनाई हुई संगमरमर और पत्थर की कुछ पुरानी मूर्तियाँ पाई जाती है, जो

बहुत ही सुंदर हैं। शरीर को स्वस्थ और सुन्दर बनाये रखने में इनकी बहुत रुचि थी और इसके लिए ये लोग खेल-कूद और दौड़ों की व्यवस्था करते रहते थे। यूनान के ओलिम्पिया नामक स्थान पर समय-समय पर इस तरह के खेल बड़े पैमाने पर हुआ करते थे और यूनान भर के लोग वहाँ जमा होते थे। तुमने सुना होगा कि ओलम्पिक खेल आज कल भी होते हैं। यह नाम ओलिम्पिया में होनेवाले पुराने यूनानी खेलों से लिया हुआ है, और अब उन खेलों के लिए इस्तैमाल किया जाता है जो भिन्न-भिन्न मुल्कों के बीच होते हैं और जिन में सर्वोत्तम खिलाड़ी चुने जाते हैं।

इस तरह यूनान के नगर-राज्य अलग-अलग रहते थे। पर खेलों में आपस में मिला करते थे और अक्सर आपस में लड़ा करते थे। लेकिन जब बाहर से एक बड़ा खतरा आता दिखाई दिया तो उसका मुकाबला करने के लिए वे सब एक हो गये। यह खतरा ईरानियों का हमला था, जिसके बारे में आगे चलकर लिखूंगा।

: ८ :

पश्चिमी एशिया के साम्राज्य

१३ जनवरी, १९३१

कल तुम सब लोगों से मुलाकात हो गई, यह अच्छा हुआ। लेकिन दादू को देखकर मुझे सदमा पहुँचा। वह बहुत कमज़ोर और बीमार मालूम पड़ते थे। उनकी देख-भाल अच्छी तरह करना और उन्हे फिर तन्दुरुस्त और बलवान बना देना। कल मैं तुमसे बात ही न कर सका। थोड़ी देर की मुलाकात मे कोई क्या कर सकता है ? बहुत अर्से से जो मुलाकाते और बातचीतें नही हुईं उनको मै इन पत्रो को लिख कर पूरी करने की कोशिश करता हूँ। लेकिन ये पत्र उनकी जगह नही ले सकते और इस तरह दिल को ज्यादा फुसलाया भी नही जा सकता। फिर भी, कभी-कभी फुसलाने का खेल भी फायदेमन्द होता है।

अच्छा, तो अब प्राचीन काल के लोगों की चर्चा फिर शुरू की जाय। हाल मे हम पुराने यूनानियो का ज़िक्र कर रहे थे। उस समय दूसरे मुल्कों की क्या हालत थी ? हमें योरप के दूसरे देशो के लिए परेशान होने की जरूरत नही। हमें, कम-से-कम मुझको, इन देशो के बारे मे कोई दिलचस्प बात नही मालूम। उस समय उत्तरी योरप की आबोहवा शायद बदल रही थी, जिसकी वजह से नई परिस्थिति जरूर पैदा हो गई होगी। शायद तुम्हें याद हो, लाखों-करोड़ो बरस पहले उत्तरी योरप और उत्तरी एशिया मे बहुत सख्त सरदी पड़ती थी। इस ज़माने को 'हिम-युग'[1] कहते हैं, जब बर्फ़ की विशाल नदियाँ मध्य-योरप तक फैली हुई थी। उस वक्त आदमी तो शायद पैदा ही नहीं हुआ था और अगर उसका अस्तित्व हो भी तो उसमें मानवता की बनिस्बत वहशीपन ज्यादा रहा होगा। तुम्हें अचरज होगा कि आज हम यह कैसे कह सकते है कि उस ज़माने में वहाँ हिम-नदियाँ हुआ करती थी। किताबो में तो उनका कोई ज़िक्र हो ही नही सकता, क्योंकि उस ज़माने में न तो किताबें थी और न किताबो के लिखने वाले। लेकिन मै उम्मीद करता हूँ कि तुम यह न भूली होगी कि प्रकृति की भी एक किताब होती है। वह अपना इतिहास अपने तरीके से चट्टानो और पत्थरो में लिखा करती है और इसे वहाँ जिसकी इच्छा हो वह पढ सकता है। इसे एक तरह की आत्म-कथा यानी खुद अपनी कहानी कहना चाहिए। बर्फ़ की नदियो मे एक बात यह होती है कि वे अपनी हस्ती के खास निशान छोड़ जाती हैं। एक बार तुम इन निशानों को पहचानना सीख लो, तो फिर बहुत आसानी से इनका पता लगा सकती हो। अगर तुम इन निशानों का अध्ययन करना चाहती हो, तो सिर्फ यह करना पड़ेगा कि आजकल की किसी हिम-नदी को, हिमालय में, आल्प्स पर या दूसरी जगह जाकर देख आओ। आल्प्स पर तुमने मान्ट ब्लान्क[2] के

---

[1]हिम-युग—हिम का मतलब बर्फ़ है, इसलिए इसे बर्फ़-युग भी कह सकते हैं। सृष्टि का यह सबसे पुराना युग है, और बर्फ़-युग इसलिए कहलाता है कि उस समय दुनिया के बहुतसे हिस्से बर्फ़ से ढके हुए थे। इस युग के चार काल हुए हैं, और चौथा काल ईसा से पचास हजार साल पहले का है।

[2]मान्ट ब्लाँक—यह स्विट्ज़रलैंड में आल्प्स पहाड़ों की सबसे ऊँची चोटी है।

आसपास बहुतसी हिम-नदियाँ देखी होंगी। लेकिन उस समय तुम्हें शायद किसीने इनके खास निशान नहीं बतलाये। काश्मीर में और हिमालय के दूसरे हिस्सों में भी बहुत-सी सुन्दर हिम-नदियाँ है। हम लोगो के लिए सबसे नजदीक पिंडारी हिम-नदी है, जो अल्मोड़े से हफ्ते भर की मंजिल पर है। जब मैं छोटा था—जितनी बड़ी तुम आज हो उससे भी छोटा—तो मैं एक बार इस हिम-नदी को देखने गया था और आज भी मुझे उसकी स्पष्ट याद बनी है।

इतिहास और गुजरे जमाने को छोड़कर मै हिम-नदियों और पिंडारीकी चर्चा में बह गया। मन को फुसलाने के खेल खेलने का यही नतीजा होता है। मै यह चाहता हूँ कि सम्भव हो तो तुमसे इस ढंग से बात करूँ, मानो तुम यहीं हो। और ऐसा करने के लिए हमें कभी-कभी हिम-नदियो और इसी तरह की दूसरी जगहो की कुछ खयाली सैर जरूर करनी चाहिए।

मैंने हिम-नदियो की चर्चा इसलिए शुरू कर दी कि बीच में हिम-युग का जिक्र आगया था। हम कह सकते है कि हिम-नदियाँ मध्य योरप और इग्लैण्ड तक उतर आई थी, क्योंकि इन देशो में अभी तक इनके खास निशान पाये जाते है। पुरानी चट्टानों पर ये निशान आज भी पाये जाते है और इससे हम खयाल कर सकते है कि उस वक्त मध्य और उत्तर योरप में बहुत ज्यादा सर्दी रही होगी। बाद को आब-हवा कुछ गर्म हुई और हिम-नदियाँ धीरे-धीरे पीछे खिसकती गईं। भूगर्भ-शास्त्री, अर्थात् पृथ्वी की रचना का इतिहास अध्ययन करने वाले, हमें बताते है कि सर्दी की इस लहर के बाद गर्मी की लहर आई और तब योरप आज से भी ज्यादा गर्म हो गया था। इस गरमी की वजह से योरप में घने जगल पैदा हो गये।

आर्य लोग घूमते-घूमते मध्य योरप तक जा पहुँचे। मालूम होता है उस वक्त उन्होंने वहाँ कोई खास उल्लेखनीय काम नही किया। इसलिए हम फिलहाल उन्हे भुला सकते है। यूनान और भूमध्यसागर के सभ्य लोग शायद उत्तर और मध्य योरप के इन लोगो को बर्बर ही समझते रहे। लेकिन ये बर्बर लोग अपने जगलो और गाँवो मे स्वस्थ और योद्धाओं की जिन्दगी गुजारते थे, और अनजान मे अपने को उस दिनके लिए तैयार कर रहे थे, जब इन्हे दक्षिण की अधिक सभ्य जातियो पर टूट पडना था और उनकी सरकारो को ढहा देना था। लेकिन यह बात बहुत समय बाद हुई और हमे आगे की बात का जिक्र अभी नहीं करना चाहिए।

अगर हमे उत्तरी-योरप के बारे में कुछ नही मालूम है, तो विशाल महाद्वीपों और जमीन के लम्बे-चौड़े प्रदेशो के बारे मे तो हम बिलकुल ही नही जानते। कहते है कि कोलम्बस ने अमरीका की खोज की, लेकिन इसका यह मतलब नही, जैसा अब हमे पता लगता जा रहा है, कि कोलम्बस के वहाँ पहुँचने से पहले इस देश में सभ्य लोग थे ही नही। कुछ भी हो, जिस जमाने की हम बात कर रहे है, उस समय के अमरीका के बारे में हम कुछ नही जानते। अफ्रीका के महाद्वीप के बारे मे भी हम कुछ नही जानते, लेकिन मिस्र का और भूमध्यसागर के किनारों का इसमें अपवाद करना होगा। इस जमाने में शायद मिस्र की महान् और प्राचीन सभ्यता पतन की तरफ जा रही थी। लेकिन, फिर भी यह उस जमाने मे बहुत उन्नत मुल्क था।

अब हमे यह देखना है कि एशिया में क्या हो रहा था। इस महाद्वीप मे, जैसा कि तुम जानती होगी, प्राचीन सभ्यता के तीन केन्द्र थे, इराक, भारत और चीन।

उस प्राचीन काल में भी इराक ईरान और एशिया कोचक में कितने ही साम्राज्य एक के बाद एक बनते और बिगडते रहे। यहाँ असुर, मीडियन[1], बाबुल और बाद को ईरानी साम्राज्य बने। हमे इस तफसील में जाने की जरूरत नही कि ये साम्राज्य आपस में कैसे लडते थे या कुछ दिन शान्तिपूर्वक साथ-साथ कैसे रहते थे, या इन्होंने एक-दूसरे को कैसे नष्ट किया। पश्चिमी एशिया के साम्राज्यो और यूनान के नगर-राज्यो के अन्तर पर तुमने गौर किया होगा। एशिया में बहुत शुरू के जमाने से ही बड़े राज्य या साम्राज्य के लिए जबर्दस्त ख्वाहिश पाई जाती थी। शायद इसका कारण इनकी पुरानी सभ्यता थी, या शायद कोई दूसरी वजह भी हो सकती है।

एक नाम सुनकर तुम्हें जरूर दिलचस्पी होगी। यह नाम कारूँ का है जो तुमने सुना होगा। "कारूँ

---

[1]मीडियन—ईसा के ७०० बरस पहले का एशिया का एक पुराना साम्राज्य जो कैस्पियन सागर के दक्षिण और ईरान के उत्तर था। ई० पू० ३३१ में सिकन्दर ने इसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। बाद में यूनानी लोगों के पतन के अनन्तर ईरानी साम्राज्य में मिला लिया गया और उसके बाद छिन्न-भिन्न हो गया।

का खजाना" एक मशहूर कहावत है। तुमने इस कारूँ के किस्से भी पढ़े होंगे कि यह कितना दौलतमन्द और घमंडी था और आखिरकार किस तरह ज़लील हुआ। क़ारूँ लिडिया का राजा था। यह देश एशिया के पश्चिमी तट पर था, जहाँ आज एशिया कोचक है। समुद्र के किनारे होने की वजह से यहाँ का व्यापार शायद खूब बढ़ा हुआ था। उसके ज़माने में कुरुश[1] की मातहती में ईरानी साम्राज्य तरक्की कर रहा था और ताक़तवर होता जाता था। कुरुश और क़ारूँ में मुठभेड़ हो गई और कुरुश ने कारूँ को हरा दिया। यूनानी इतिहास-लेखक हिरोदोत[2] ने इस पराजय की कहानी लिखी है और बताया है कि किस तरह मुसीबत पड़ने पर घमंडी क़ारूँ को अक्ल और समझ आई।

कुरुश के पास बहुत बड़ा साम्राज्य था जो शायद पूर्व में भारत तक फैला हुआ था। लेकिन उसके एक उत्तराधिकारी दारा के पास इससे भी बड़ा साम्राज्य था जिसमें मिस्र, मध्य-एशिया का कुछ भाग और सिन्ध नदी के पास का भारत का भी छोटा-सा हिस्सा शामिल था। कहा जाता है कि उसके इस भारतीय प्रान्त से सैकड़ों मन सुनहली रेत[3] उसे खिराज के तौर पर भेजी जाती थी। उस ज़माने में सिन्ध नदी के किनारे सुनहली रेत पाई जाती होगी। आजकल वहाँ इसका निशान भी नहीं मिलता। सच तो यह है कि इस प्रान्त का ज्यादातर हिस्सा आजकल ऊसर है। इससे जाहिर होता है कि यहाँ की आबो-हवा ज़रूर बदल गई है।

जब तुम इतिहास पढोगी और पुराने ज़माने की हालत का आजकल की हालत से मुकाबिला करोगी, तो एक बात जो तुम्हें सबसे ज्यादा दिलचस्प मालूम होगी वह है मध्य-एशिया में होनेवाला परिवर्तन। यह वही प्रदेश है जहाँ से बेशुमार कबीले—स्त्री और पुरुषों के दल के दल—बाहर निकले और फैलते-फैलते दूर-दूर तक के महाद्वीपों में पहुँच गये। यही जगह है जहाँ पुराने ज़माने में बड़े-बड़े और शक्तिशाली शहर थे—खूब घने बसे हुए और मालामाल—जिनकी तुलना आजकल की यूरोपीय राजधानियों से की जा सकती है और जो आजकल के कलकत्ते और बम्बई से कहीं बड़े थे। हर जगह बगीचे और हरियाली थी—और आबो-हवा सुखद और सम थी, अर्थात् न बहुत गर्म और न बहुत सर्द। यह प्रदेश ऐसा ही था। लेकिन अब हजारों वर्षों से यह बंजर और क़रीब-करीब रेगिस्तान हो गया है जहाँ आदमियों को रहने में बड़ी तकलीफ होती है। उस ज़माने के विशाल नगरों में से कुछ नगर—जैसे समरकन्द[4] और बुखारा—जिन के नाम से ही अनेक स्मृतियाँ जग उठती हैं, अब भी अपने दिन गिन रहे हैं। लेकिन अब तो ये अपने पुराने रूप की छाया-मात्र रह गये हैं।

लेकिन मैं फिर आगे की बात कहने लगा। उस पुराने ज़माने में, जिसकी चर्चा हम कर रहे हैं, न समरकन्द था न बुखारा। ये सब बाद में होनेवाली बातें थीं। उस वक्त तो ये भविष्य के गर्भ में छिपे थे और मध्य-एशिया की महानता और उसका पतन भी तब तक भविष्य की चीज़ थी।

: ६ :

पुरानी परम्परा का बोझ

१४ जनवरी, १९३१

जेल में मैंने अजीब आदतें पैदा करली हैं। उनमें से एक है बहुत सुबह, पौ फटने से भी पहले, उठना।

---

[1] क़ुरुश या साइरस—यह ईरानी साम्राज्यका प्रवर्तक सम्राट था। इस का समय ईसा से ६०० से लगाकर क़रीब ५२९ साल पहले तक है। यह बड़ा प्रतापी सम्राट् था, इसीलिए इसे 'महान्' की उपाधि मिली थी।

[2] हिरोदोत या हेरोडोटस—मशहूर यूनानी इतिहास-लेखक। इसका समय ईसा से क़रीब ४८४ से ४२४ साल पहले था। इसके इतिहास का मुख्य विषय ईरान और यूनान की लड़ाई थी, और उसमें उस ज़माने का अच्छा वर्णन है। इसे इतिहास का जन्मदाता अथवा पिता कहा जाता है।

[3] सुनहली रेत— कई नदियों के किनारे पाई जानेवाली रेत जिसमें से सोना निकाला जाता है।

[4] समरक़न्द—मध्यएशिया का एक मशहूर शहर है। इसका पुराना नाम माराकण्डा है। चौदहवीं सदी में यह मुस्लिम-एशिया का सांस्कृतिक केन्द्र था।

यह आदत मैंने पिछली गर्मियों से शुरू की क्योंकि मुझे यह देखना भला मालूम होता था कि उषा कैसे आती है और किस तरह धीरे-धीरे तारो की रोशनी को बुझा देती है। क्या तुमने कभी पौ फटने से पहले की चाँदनी देखी है और यह देखा है कि धीरे-धीरे यह तड़का दिन के रूप में कैसे बदल जाता है। मैंने चाँदनी और उषा की इस प्रतियोगिता को अक्सर देखा है, जिसमें उषा की हमेशा जीत रहती है। इस विचित्र मन्द-रोशनी में कभी-कभी यह बताना मुश्किल होजाता है कि यह चाँदनी है या आनेवाले दिन की रोशनी है। थोड़ीही देर के बाद कोई सन्देह बाक़ी नही रह जाता; दिन हो जाता है और फीका चन्द्रमा प्रतियोगिता में हारकर पीछे हट जाता है।

अपनी आदत के मुताबिक मै आज जब उठा तो तारे चमक रहे थे और तड़के से पहले हवा मे जो अजीब ताजगी होती है उससे कोई भी अन्दाजा लगा सकता था कि सुबह होनेवाली है। और ज्योही मै पढने बैठा कि दूर से आनेवाली आवाजो और गरगराहटों ने, जो बढ़ती ही जाती थी, प्रातःकाल की शान्ति को भग कर दिया। मुझे याद आगया कि आज संक्रान्ति यानी माघ मेले का पहला पर्व है, और यात्री लोग हजारो की तादाद में सगम में—जहाँ गंगा, यमुना और गुप्त सरस्वती मिलती है—स्नान करने जा रहे हैं। ये चलते-चलते गाते जाते थे, और कभी-कभी गगा-माता की जय पुकारते थे। 'गगा माई की जय!' इनकी यह आवाज नैनी-जेल की दीवारो को उलाँघ कर मेरे कानों में पहुँच रही थी। इन्हें सुनकर मुझे यह खयाल आगया कि देखो श्रद्धा में कितनी शक्ति है कि वह इन बेशुमार लोगों को नदी के किनारे खीच लाई है और ये लोग थोडी देर के लिए अपनी गरीबी और मुसीबतो को भूल गये हैं! और मै यह सोचने लगा कि देखो सैकडो और हजारो वर्षों से हर साल यात्री लोग किस तरह त्रिवेणी की यात्रा को आते हैं। आदमी पैदा हो और मर जायँ, सरकारे और साम्राज्य कुछ दिनो के लिए शान जमाले और फिर अतीत में गायब हो जायँ, लेकिन पुरानी परम्परा बराबर जारी रहती है और पुश्त के बाद पुश्त, उसके सामने सिर झुकाती रहती है। परम्परा मे बहुत-कुछ अच्छाई होती है, लेकिन बाज वक्त वह एक भयंकर बोझ बन जाती है, जिसकी वजह से हम लोगो की प्रगति मुश्किल हो जाती है। जो अटूट जजीर धुँधले और प्राचीन अतीत से हमारा सम्बन्ध जोडती है, उसकी कल्पना करने से और तेरहसौ वर्ष पहले के लिखे हुए इन मेलों के, जो उस समय भी पुरानी परम्परा से चले आ रहे थे, वृत्तान्त पढ़ने से चित्त मोहित हो जाता है। लेकिन इस जंजीर मे एक आदत यह है कि जब हम आगे बढना चाहते है तो यह हमारे पैरों मे लिपट जाती है और हमें इस परम्परा के शिकजे में कसकर कैदी जैसा बना देती है। यह सच है कि अपने अतीत से जोडनेवाली बहुत-सी लडियो को हमें कायम रखना पड़ेगा। लेकिन अगर यह परम्परा हमें आगे बढने से रोकने लगे तो हमें उसके कैदखाने को तोड़कर बाहर भी निकलना होगा।

पिछले तीन खतो में हमने यह कोशिश की है कि तीन हजार से लगाकर ढाई हजार बरस पहले के बीच के जमाने की दुनिया किस तरह की थी, इसकी एक तसवीर हमारे सामने खिच जाय। मैंने तारीखो का कोई जिक्र नही किया है। मुझे यह पसन्द नही है और न मै यह चाहता हूँ कि तुम तारीखो के झगड़े मे पड़ो। अलावा इसके, इस पुराने जमाने की घटनाओ की सही तारीखें जानना आसान भी नही है। बाद को कभी-कभी यह जरूरी हो सकता है कि कुछ तारीखे भी दे दी जायें और उन्हें याद रक्खा जाय, ताकि हमें घटनाओं को ठीक सिलसिलेवार याद रखने में मदद मिल सके। अभी तो हम प्राचीन ससार की रूप-रेखा ही खीचने की कोशिश कर रहे हैं।

यूनान, भूमध्यसागर, मिस्र, एशिया कोचक और ईरान की एक झलक हम देख चुके हैं। अब हम अपने देश की तरफ आते हैं। भारत के प्रारम्भिक इतिहास का अध्ययन करने में हमारे सामने एक बडी कठिनाई आजाती है। आदि-आर्य लोगो ने, जिन्हें अग्रेजी में इण्डो-एरियन कहते है, इतिहास लिखने की तरफ ध्यान ही नही दिया। हम अपने पिछले पत्रो में देख चुके है कि ये लोग बहुतसी बातो मे कितने बढे-चढे थे। इन लोगो के रचे हुए ग्रन्थ—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत वग़ैरा—ऐसे है जिन्हे महान् पुरुष ही लिख सकते थे। इन ग्रन्थो से और दूसरी सामग्री की मदद से हमे पुराने इतिहास का अध्ययन करने मे मदद मिलती है। इनसे हमें अपने पूर्वजो के रस्म-रिवाज और रहन-सहन और विचार करने के ढग का पता लग जाता है। लेकिन ये दरअसल इतिहास नहीं हैं। सस्कृत में वास्तविक इतिहास की अकेली किताब कश्मीर के इतिहास पर है, लेकिन वह बहुत बाद के जमाने की है। उसका नाम है राजतरगिणी। उसमें कश्मीर के

राजाओं का सिलसिलेवार हाल है और यह कल्हण की लिखी हुई है। तुम्हें यह जानकर खुशी होगी कि जिस तरह मैं तुम्हारे लिए ये पत्र लिख रहा हूँ, उसी तरह तुम्हारे रजीत फूफा[1] कश्मीर के इस महान इतिहास का संस्कृत से अनुवाद कर रहे है। वह करीब आधी किताब खतम कर चुके हैं। यह किताब बहुत बड़ी है। जब इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित होगा तब हम सब बड़े चाव के साथ इसे पढ़ेंगे, क्योंकि बदक़िस्मती से हममे से बहुतसे लोग इतनी सस्कृत नही जानते कि मूल पुस्तक को पढ़ सकें। हम इस पुस्तक को सिर्फ़ इसलिए नही पढ़ेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, बल्कि इसलिए भी कि इससे हमें पुराने ज़माने का बहुत-कुछ हाल मालूम होगा—खासकर कश्मीर का, जो कि तुम जानती हो, अपना पुराना वतन है।

जब आर्यों ने भारत में क़दम रक्खा, यह देश पहले ही सभ्य हो चुका था। दरअसल उत्तर-पश्चिम में मोहेन-जो-दड़ो के खडहरो से अब तो यह सही तौर पर मालूम पड़ता है कि आर्यों के आने के बहुत दिन पहले से इस देश में एक महान् सभ्यता मौजूद थी। लेकिन इसके बारे मे अभी तक हम कुछ ज्यादा नही जानते। मुमकिन है कुछ वर्षों के अन्दर ही जब हमारे पुरातत्ववेत्ता[2] वहाँ जो कुछ मिल सकता है उसे खोद निकालेंगे, तब हम उसके बारे में कुछ ज्यादा जान सकेंगे।

बहरहाल इसके अलावा भी यह ज़ाहिर है कि उस समय दक्षिण-भारत में, और शायद उत्तरी भारत में भी, द्रविड़ों की एक समृद्ध सभ्यता थी। इनकी भाषाए, जो आर्यों की सस्कृत से निकली हुई नही है, बहुत पुरानी हैं और इनमें बड़ा सुन्दर साहित्य पाया जाता है। इन भाषाओ के नाम है तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम। ये भाषाए दक्षिण-भारत में आजकल भी फूल-फल रही है। शायद तुम्हें मालूम होगा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) ने भारत के प्रान्त भाषाओ के आधार पर बनाये है, हालाँकि अंग्रेज़ सरकार ने ऐसा नहीं किया है। कांग्रेस का ढग बहुत अच्छा है क्योंकि इससे एक किस्म के लोग जो एक ही भाषा बोलते है, और जिनके रस्म-रिवाज आम तौर से एक ही तरह के है, एक प्रान्तीय क्षेत्र में आजाते है। दक्षिण में कांग्रेस के माने हुए सूबे ये है--उत्तरी मद्रास में आन्ध्र देश जहाँ तेलगू बोली जाती है, दक्षिणी-मद्रास में तमिलनाड जहाँ तामिल भाषा बोली जाती है; बम्बई प्रान्त के दक्षिण में कर्नाटक, जहाँ कन्नड भाषा बोली जाती है; और केरल, जो करीब-करीब मलाबार ही है, जहाँ मलयालम भाषा बोली जाती है। इसमें कोई शक नही कि भारत में आगे चलकर जब प्रान्तो की सीमाएं कायम की जायगी, तो प्रदेश की भाषा पर बहुत ध्यान दिया जायगा।

यहा पर मै भारत की भाषाओ के बारे मे ज़रा कुछ और कह दूं। योरप और दूसरे मुल्को के कुछ लोग समझते है कि भारत में सैकड़ो भाषाए बोली जाती है। यह बिलकुल बेहूदा बात है और ऐसा कहने वाला खुद अपना ही अज्ञान ज़ाहिर करता है। यह सच है कि भारत जैसे बडे मुल्क मे बहुतसी बोलियाँ है जो स्थान-भेद के मुताबिक किसी एक भाषा के अलग-अलग रूप है। यहाँ के पहाड़ी और दूसरे हिस्सो मे भी कितनी ही छोटी-मोटी जातियाँ है जिनकी अपनी-अपनी खास ज़बाने है। लेकिन अगर सारे भारत को एक साथ लिया जाय तो इन सबका कोई महत्व नही रह जाता। उनका महत्व सिर्फ मर्दुमशुमारी के खयाल से ही है। जैसा कि मेरा खयाल है, मैने अपने एक पिछले पत्र में लिखा है कि भारत की असली भाषाए दो परिवारो मे बाँटी जा सकती है—पहला परिवार द्रविड़ भाषा का है जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, और दूसरा भारतीय आर्य-जाति की भाषा का है। भारतीय आर्यों की मुख्य भाषा सस्कृत थी और भारत की सारी आर्य-भाषाए—हिन्दी, बगला, गुजराती और मराठी—सस्कृत से निकली हैं। इनके अलावा कुछ और भेद भी है। असाम मे असामी है, उडीसा या उत्कल में उड़िया बोली जाती है। उर्दू भी हिन्दी का ही एक भेद है। हिन्दुस्तानी शब्द का मतलब हिन्दी और उर्दू दोनो से है। इस तरह भारत की मुख्य भाषाए दस हैं—हिन्दुस्तानी, बगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम, उडिया, और असमी। इनमें से हिन्दुस्तानी, जो अपनी मातृभाषा है, सारे उत्तर-भारत में—पजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्यभारत मे—बोली जाती है। यह बहुत बडा हिस्सा है, जिसमे करीब पन्द्रह

---

[1] स्वर्गीय श्री रणजीत एस. पण्डित, श्रीमती विजयलक्ष्मी के पति तथा लेखक के बहनोई। ये भी उस समय जेल में थे। राजतरंगिणी का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

[2] पुरातत्ववेत्ता—पुराने ज़माने के खंडहरों और बाक़ी बचे निशानों का खास अध्ययन करनेवाले विद्वान।

करोड़ आदमी बसते हैं। इस प्रकार तुम देखोगी कि अभी भी पन्द्रह करोड़ आदमी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनो के साथ हिन्दुस्तानी बोलते है और तुम यह अच्छी तरह जानती ही हो कि भारत के ज्यादातर हिस्सों के लोग हिन्दुस्तानी समझते हैं। भारत के सब लोगोकी भाषा शायद यही बनेगी। लेकिन इसका यह मतलब हर्गिज नहीं है कि दूसरी मुख्य भाषायें, जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है, खतम हो जायें। बेशक ये प्रान्तीय भाषाओं की हैसियत से क़ायम रहेंगी, क्योंकि इनमें सुन्दर साहित्य पाया जाता है और किसी जाति की समुन्नत भाषा को छीन लेने की कोशिश किसी भी हालत में नही की जानी चाहिए। किसी कौम के विकास और उसके बच्चों की शिक्षा का एकमात्र साधन उसकी अपनी भाषा ही है। भारत में आज हरेक चीज उलट-पुलट हो रही है और हम आपस मे भी अंग्रेजी बहुत ज्यादा इस्तैमाल करते है। तुम्हें अंग्रेज़ी में पत्र लिखना मेरे लिए एक भद्दी बात है—फिर भी मैं ऐसा कर रहा हूँ। लेकिन मुझे उम्मीद है कि हम लोग जल्दी ही इस आदत से छुटकारा पा जायँगे।

: १० :

प्राचीन भारत के ग्राम-प्रजातंत्र

१५ जनवरी, १९३१

प्राचीन इतिहास का अपना निरीक्षण हम कैसे आगे बढावे ? मै हमेशा राजमार्ग छोड देता हूँ और इधर-उधर की पगडंडियो पर भटक जाता हूँ। पिछले पत्र में मै इस विषय पर पहुँच ही रहा था कि मैंने भारत की भाषाओ का मसला छेड दिया।

अच्छा, अब फिर प्राचीन भारत की चर्चा करें। तुम जानती हो कि जो देश आज अफगानिस्तान कहलाता है वह उस समय, और बाद मे भी बहुत वर्षो तक, भारत का एक हिस्सा था। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा गान्धार कहलाता था। सारे उत्तर में, सिन्ध और गगा के मैदान मे, आर्यों की बडी-बडी बस्तियाँ थी। बाहर से आये हुए ये आर्य लोग शायद इमारत बनानेकी कला अच्छी तरह जानते थे क्योंकि इनमे से बहुतसे ईरान और इराक की आर्यों की बस्तियों मे आये हुए होंगे, जहाँ उस समय भी बडे-बडे शहर बस गये थे। इन आर्य-बस्तियो के दर्मियान बहुत से जगल थे। खासकर उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच में तो एक बहुत बडा जगल था। यह सम्भव नही मालूम होता कि आर्य लोगो की कोई बडी तादाद इन जंगलो को पार करके दक्षिण मे बसने गई हो। हाँ, बहुत से व्यक्ति खोज और व्यापार करने तथा आर्य-सभ्यता और सस्कृति को फैलाने के लिए दक्षिण जरूर गये होगे। पौराणिक कथा यह है कि अगस्त्य ऋषि पहले आर्य थे जो दक्षिण गये और आर्य-धर्म तथा आर्य-सस्कृति का सन्देश दक्षिण तक ले गये।

उस समय भारत और विदेशों के बीच काफी व्यापार चलता था। विदेशी व्यापारी दक्षिण की काली मिर्चे, मोती और सोने के लालच से समुद्र पार करके यहाँ आते थे। यहां से शायद चावल भी बाहर जाता था। बाबुल के पुराने राजमहलों मे मलाबार का सागवान मिला है।

आर्योंने भारत में धीरे-धीरे अपनी ग्रामीण प्रणाली का विकास किया। इस प्रणाली मे कुछ पुरानी द्रविड-ग्राम-प्रथा का और कुछ आर्य विचारो का मेल-जोल था। ये गाँव करीब-करीब स्वतन्त्र होते थे और चुनी हुई पचायतें इनपर शासन करती थी। कई गाँवो या छोटे क़स्बो को मिलाकर उनपर एक राजा या सरदार राज करता था, जो कभी तो चुना हुआ होता था और कभी पुश्तैनी। अक्सर गाँवो के अनेक गिरोह एक-दूसरे से सहयोग करके सडकें, धर्मशालायें, सिंचाई के लिए नहरे, या इस प्रकारकी पचायती चीजें, जो सब लोगो के फायदे की होती थी, बनाया करते थे। यह भी मालूम होता है कि राजा यद्यपि राज्य का प्रमुख होता था लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता था। उसे आर्यों के कानूनो और प्रथाओ के मुताबिक़ चलना पडता था। उसकी प्रजा उसपर जुरमाना कर सकती थी और उसे गद्दी तक से उतार सकती थी। 'राजा ही राष्ट्र है' यह सिद्धान्त, जिसका मैंने अपने पुराने पत्रों में जिक्र किया था, यहाँ नही माना जाता

था। इस तरह आर्य बस्तियो में एक किस्म का लोकतंत्र पाया जाता था, यानी आर्य-प्रजा शासन पर कुछ हद तक नियन्त्रण रख सकती थी।

इन भारतीय आर्यों का यूनानी आर्यों से मुक़ाबिला करो। इन दोनों में बहुतसे अंतर थे लेकिन कितनी ही बातो में समानता भी थी। दोनो देशों में किसी-न-किसी रूप में लोकतंत्र था। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि यह लोकतंत्र सिर्फ़ आर्य-वंश के लोगों के ही लिए था। इनके गुलामों या उन लोगों के लिए जिन्हें इन्होंने नीच जाति का ठहरा दिया था, न लोकतन्त्र था, न आजादी। जाति-पाँति की प्रणाली और उसके आजकल जैसे बेशुमार भेद उस ज़माने में नही थे। उस समय तो भारतीय आर्यों मे समाज के चार भेद या वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, जो विद्वान्, पुरोहित और ऋषि-मुनि होते थे; क्षत्रिय जो राज्य करते थे; वैश्य, जो व्यापार करते थे; और शूद्र, जो मेहनत-मजदूरी करते थे और दस्तकार थे। इस तरह यह जाति-भेद पेशे के आधार पर था। सम्भव है, जाति-पाँति की प्रणाली एक हद तक इसलिए रक्खी गई हो कि आर्य लोग विजित क़ौम से अपने को अलग रखना चाहते थे। आर्य लोग काफी अभिमानी और घमण्डी थे और दूसरी जातियो को नीची निगाह से देखते थे। वे नही चाहते थे कि उनकी जाति के आदमी दूसरी जाति के लोगों से घुल-मिल जायें। जाति के लिए सस्कृत मे वर्ण शब्द आता है, जिसका अर्थ रग है। इससे यह भी जाहिर होता है कि बाहर से आनेवाले आर्य भारत के मूल निवासियो से गोरे थे।

इस प्रकार हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि एक तरफ तो आर्य लोगो ने श्रमिक वर्ग को दबा रक्खा था और उसे अपने लोकतत्र मे कोई हिस्सा नही देते थे, दूसरी तरफ उन्होने अपने लिए बहुत ज्यादा आज़ादी रक्खी थी। ये लोग इस बात को बिलकुल गवारा नही करते थे कि उनके राजा या शासक बेजा हरकतें करें। अगर कोई शासक बेजा हरकत करता था तो हटा दिया जाता था। आम तौर पर राजा क्षत्रिय होते थे, लेकिन कभी-कभी लडाइयो या अन्य सकटो के समय शूद्र या नीच-से-नीच जाति का आदमी भी, अगर इतना योग्य होता, तो राजगद्दी पा सकता था। इसके बाद आर्य लोगो का पतन हो गया और उनकी जाति-प्रणाली जड हो गई। आपस में बहुत से विभाग हो जाने की वजह से मुल्क कमजोर पड गया और नीचे गिर गया। ये लोग आज़ादी की अपनी पुरानी भावना को भी भूल गये, क्योंकि पुराने ज़माने मे यह कहा जाता था कि आर्य कभी भी दास नही बनाया जा सकता। आर्य नाम को कलकित करने के बजाय उसके लिए मर जाना कहीं ज्यादा अच्छा समझा जाता था।

आर्यों की बस्तियाँ, उनके कस्बे और गाँव बेतुके ढग से नही बसाये गये थे। वे नकशो के मुताबिक बसाये जाते थे, और तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि इन नकशो के तैयार करने मे रेखागणित मे बहुत मदद ली जाती थी। सच तो यह है कि वैदिक पूजाओ मे रेखागणित की शकले भी काम मे आती थी। आज भी अनेक हिन्दू घरों मे बहुतसी पूजाओ में ये शकलें काम आती है। तुम जानती हो कि मकानो और शहरो के बनाने की कला से रेखागणित का बहुत ज्यादा सम्बन्ध है।

सम्भव है शुरू में पुराने आर्यों के गाँव किलेबन्द छावनी के समान हुआ करते थे क्योंकि उस ज़माने मे हमलों का हमेशा डर रहा करता था। जब दुश्मनो के हमलो का डर नही रहा तब भी वही नकशा जारी रहा। यह नकशा चतुर्भुज आकार का होता था जिसमें चारों तरफ़ परकोटा होता था और इसमे चार बड और चार छोटे फाटक रक्खे जाते थे। परकोटे के अन्दर एक खास तरतीब मे सडके और मकान बनाये जाते थे। गाँव के बीच में पचायत-घर होता था जहाँ गाँव के बड़े-बूढे इकट्ठे होते थे। छोटे गाँवो मे पचायतघर के बजाय कोई एक बड़ा पेड ही हुआ करता था। हर साल गाँव के सब नागरिक इकट्ठे होकर अपनी पचायत चुनते थे।

बहुतसे विद्वान् लोग सादा जीवन बिताने और शान्ति के साथ अध्ययन या सेवाकार्य करने के लिए क़स्बो या गाँवों के आस-पास के जगलों में चले जाते थे। इनके पास विद्यार्थी लोग इकट्ठे हो जाते थे और धीरे-धीरे इन गुरुओं और विद्यार्थियो की नई बस्तियाँ बन गईं। हम इन बस्तियो को आजकल के विश्वविद्यालय कह सकते है। इन जगहो पर कोई सुन्दर इमारतें नही हुआ करती थी, लेकिन जिनको ज्ञान की तलाश होती थी वे बडी-बडी दूर से विद्याध्ययन के इन केन्द्रो मे आया करते थे।

आनन्द-भवन[1] के सामने भारद्वाज-आश्रम है। तुम इसे अच्छी तरह जानती हो। शायद तुम्हें यह भी

---

[1]प्रयाग में लेखक का मकान।

मालूम है कि भारद्वाज रामायण के पुराने जमाने के बहुत विद्वान् ऋषि माने गये हे। कहा जाता है कि रामचन्द्र अपने वनवास के समय में इनके यहाँ आये थे। यह भी कहा जाता है कि भारद्वाज के आश्रम में हजारो शिष्य और विद्यार्थी रहा करते थे। यहाँ एक अच्छा-खासा विश्वविद्यालय रहा होगा और भारद्वाज उसके आचार्य होंगे। उस जमाने में यह आश्रम गंगा के किनारे था। यह बहुत मुमकिन है, हालाँकि अब गंगा यहाँ से करीब एक मील दूर चली गई है। हमारे बगीचे की जमीन कही-कही बहुत रेतीली है और मुमकिन है कि यह हिस्सा उस जमाने में गगा की तलहटी में रहा हो।

ये प्रारम्भकाल के दिन भारत में आर्यों का एक महान् युग था। बदकिस्मती से इस युग का हमें कोई इतिहास नही मिलता और उस समय की जो बातें हमें मालूम है उनके लिए हमें ग़ैर-तवारीखी किताबों पर ही भरोसा करना पड़ता है। उस जमाने के राज्य और प्रजातन्त्र ये थे—दक्षिण-बिहार मे मगध, उत्तर-बिहार में विदेह, काशी, कोशल, जिसकी राजधानी अयोध्या थी; और पान्चाल, जो गगा और यमुना के बीच में था। पांचालों के देश में मथुरा और कान्यकुब्ज दो मुख्य शहर थे। ये शहर बाद के इतिहास में भी मशहूर रहे है और आज भी मौजूद है। कान्यकुब्ज अब कन्नौज कहलाता है और कानपुर के नजदीक हैं। उज्जैन भी प्राचीन शहर है, लेकिन आजकल यह ग्वालियर रियासत का एक छोटा कस्बा है। पाटलिपुत्र या पटना के नजदीक वैशाली नाम का नगर था। यह लिच्छवी वश के लोगो की राजधानी थी, जो भारत के शुरू-शुरू के इतिहास मे एक मशहूर वश है। यह राज्य प्रजातन्त्र था, इसमे प्रमुख आदमियो की एक सभा शासन करती थी। इनका एक चुना हुआ सभापति हुआ करता था, जिसे नायक कहते थे।

ज्यो-ज्यो जमाना गुजरा, बडे-बडे कस्बे और शहर बनते गये। व्यापार बढा और कारीगरो की कला और दस्तकारी ने भी उन्नति की। शहर बडे-बडे व्यापारिक केन्द्र हो गये। जगल के आश्रम, जहाँ विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यो के साथ रहा करते थे, बढकर बडे-बडे विश्व-विद्यालय बन गये। विद्या के इन केन्द्रो मे वे सब विषय पढाये जाते थे जिनका उस समय तक मनुष्य को ज्ञान था। ब्राह्मण युद्धकला भी सिखलाते थे। तुम्हे याद होगा कि महाभारत में पाण्डवो के गुरु द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे, जो उन्हें अन्य विषयों के अलावा युद्धकला की भी शिक्षा देते थे।

: ११ :

चीन के हज़ार बरस

१६ जनवरी, १९३१

बाहरी दुनिया मे एक ऐसी खबर मिली है जिससे तबियत मे परेशानी और दुःख होता है; लेकिन साथ ही उसे सुनकर हृदय गर्व और आनन्द से फूल उठता है। हम लोगो ने शोलापुरवालो की किस्मत का फैसला सुन लिया। इस खेदजनक समाचार के फैलने पर देशभर मे जो-कुछ हुआ उसका भी थोडा-बहुत हाल हमे मालूम होगया। जबकि हमारे नौजवान अपनी जान पर खेल रहे है और हजारों मर्द और औरतें निर्दय लाठी का मुकाबिला कर रहे है, मेरे लिए यहाँ चुपचाप बैठे रहना मुश्किल हो गया है। लेकिन इससे हमे अच्छी ट्रेनिंग मिल रही है। मेरा खयाल है कि हममे से हरेक स्त्री और पुरुष को अपने आपको कठिन-से-कठिन परीक्षा मे डालने के बहुत मौके मिलेगे। इस समय तो यह जानकर दिल को खुशी होती है कि हमारे लोग तकलीफो और मुसीबतो का सामना करने के लिए कैसी हिम्मत से आगे बढ रहे है और कैसे दुश्मन का हरेक नया हथियार और प्रहार इन लोगो को ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर और मुकाबिला करने के लिए अधिक-से-अधिक दृढ़ बना रहा है।

जब किसीका दिमाग इस तरह की ताजा खबर से भरा हो, तो उसके लिए दूसरी बातो का खयाल करना मुश्किल हो जाता है। लेकिन कोरी उधेड़बुन से भी कोई खास फ़ायदा नही होता, इसलिए अगर कोई ठोस काम करना हो तो हमें अपने मन को क़ाबू मे रखना चाहिए। इसलिए आओ, हम पुराने जमाने को लौट चलें और थोडी देर के लिए अपनी मौजूदा परेशानियो से दूर चलकर रहे।

आओ, अब हम प्राचीन इतिहास में भारत के भाई चीन की चर्चा करें। चीन मे और पूर्वी एशिया के जापान, कोरिया, हिन्द-चीन, स्याम, बरमा, वगैरा मुल्कों में आर्य जाति से हमें काम नही पड़ेगा। यहाँ तो उसके बजाय मंगोल जातियों से परिचय करना है।

पाँच हज़ार या कुछ ज्यादा वर्ष गुज़रे होंगे जब पश्चिम से चीन पर एक हमला हुआ था। हमला करनेवाली ये जातियाँ भी मध्य-एशिया मे आई थी और अपनी सभ्यता में ये अच्छी-खासी आगे बढ़ी हुई थी। ये लोग खेती करना जानते थे और भेड़-बकरियाँ और मवेशी पाला करते थे। ये लोग अच्छे-अच्छे मकान बनाना जानते थे और इनका समाज खूब उन्नत था। ये लोग ह्वांगहू नदी के पास, जिसे पीली नदी भी कहते है, बस गये और यहाँ इन्होने अपने राज्य का संगठन किया। सैकडों वर्षों तक ये चीनभर में फैलते रहे और अपने कला-कौशल और कारीगरी की उन्नति करते रहे। चीनी लोग ज्यादातर किसान थे और उनके सरदार असल में उसी तरह के कुलपति थे, जिनका मै अपने पुराने पत्रों में ज़िक्र कर चुका हूँ। छै या सात सौ वर्ष बाद, यानी अब से चार हज़ार से भी अधिक वर्ष पहले, याओ नाम का एक आदमी हुआ, जिसने अपनेको सम्राट् कहना शुरू किया। लेकिन इस उपाधि के होने पर भी उसकी स्थिति अधिकतर कुलपति की-सी ही थी, मिस्र या इराक़ के सम्राटो की-सी नही। चीनी लोग किसानो की तरह ही रहते रहे, और वहाँ कोई खास केन्द्रीय शासन नही बन पाया।

मैंने तुम्हें बताया है कि पहले किस तरह लोग अपने कुलपति चुना करते थे और आगे चलकर किस तरह यह पद मौरूसी हक़ बन गया। चीन मे हम इसकी शुरुआत होती देखते हैं। याओ का उत्तराधिकारी उसका लड़का नही हुआ, बल्कि उसने एक दूसरे आदमी को नामज़द कर दिया, जो उस समय मुल्क मे सबसे ज्यादा योग्य समझा जाता था।

लेकिन जल्दी ही यह पद मौरूसी हो गया, और कहा जाता है कि चार सौ वर्ष से ज्यादा तक हिस्या नाम के राजवंश ने चीन पर हुकूमत की। हिस्या वंश का आखिरी राजा बहुत जालिम था। नतीजा यह हुआ कि एक क्रान्ति हुई, जिसने उसे उखाड फेंका। इसके बाद शंग या चिन नाम का दूसरा राजवंश शासन करने लगा और इसका राज्य करीब ६५० वर्षों तक चला।

एक छोटेसे पैरा में, दो या तीन छोटे-छोटे जुम्लो में, मैंने चीन का एक हज़ार बरस से ज्यादा का इतिहास खतम कर लिया। क्या यह ताज्जुब की बात नहीं है कि इतिहास के इतने विस्तृत युगो को कोई इस तरह निबटा दे? लेकिन तुम्हे यह समझ लेना चाहिए कि मेरे छोटेसे पैरा की वजह से इन हजार या ग्यारहसौ वर्षों की लम्बाई कम नही होती। हम दिनो महीनो और सालो के ख्याल के आदी होगये है। तुम्हारे लिए तो सौ साल की भी स्पष्ट कल्पना कर सकना मुश्किल है। तुम्हें तो अपने तेरह बरस ही बहुत मालूम होते होगे। है न यह बात सच? और हरसाल तुम और भी बड़ी होती जाओगी। तब फिर तुम अपने दिमाग़ में इतिहास के एक हज़ार बरसो की कल्पना किस तरह कर सकती हो? यह एक बहुत लम्बा ज़माना है। एक पीढी के बाद दूसरी पीढ़ी आती है और चली जाती है। कस्बे बढकर बड़े-बडे शहर हो जाते है और फिर उजडकर मिट्टी में मिल जाते है और उनकी जगह दूसरे शहर बस जाते है। इतिहास के पिछले एक हज़ार वर्षों का ख़याल करो, तब शायद तुम्हें इस समय का कुछ बोध हो सके। पिछले एक हज़ार वर्षों में इस दुनिया में कितनी आश्चर्यजनक तब्दीलियाँ होगई हैं!

चीनका इतिहास, उसकी प्राचीन संस्कृति की लम्बी परम्परा और उसके एक-एक राजवंश, जो पाँचसौ से लेकर आठ-आठसौ वर्ष तक राज्य करते रहे, कितनी अद्भुत चीज़ें है!

इन ग्यारहसौ वर्षों में चीन की धीरे-धीरे उन्नति और विकास पर, जिन्हें मैंने एक पैरा मे ही निबटा दिया है, ज़रा गौर तो करो। धीरे-धीरे कुलपति की प्रथा टूटती गई और उसकी जगह केन्द्रीय शासन क़ायम होता गया तथा एक सुसंगठित राज्य सामने आगया। उस पुराने ज़माने में भी चीन के लोग लिखने की कला जानते थे। लेकिन, जैसा कि तुम जानती ही हो, चीनी लिपि हमारी या अंग्रेज़ी या फ़ांसीसी लिपि मे बिलकुल भिन्न हैं। इस लिपि में अक्षर नही है। यह संकेत या चित्रो द्वारा लिखी जाती है।

शंग के राज्यवंश को ६४० वर्ष राज्य करने के बाद एक क्रान्ति ने उखाड फेंका और चाऊ नामक एक नये राज्यवंश का अधिकार हुआ। इसने शंगों से ज्यादा दिनो तक अधिकार भोगा। इसकी हुकूमत ८३७ वर्ष तक कायम रही। चाऊ वंश के ज़माने मे ही चीन का राज्य अच्छी तरह से सगठित हुआ, और इसी

ज़माने में चीन में दो बड़े दार्शनिक कनफ़्यूशस और लाओ-त्ज़े पैदा हुए। इनकी कुछ चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

जब शैंग राजवंश निकाल फेंका गया, तब इसके कि-त्ज़े नामक एक उच्च अधिकारी ने चाऊ लोगों की नौकरी करने की बनिस्बत देश छोड़कर चले जाना अच्छा समझा। इसलिए वह अपने पाँच हज़ार अनुयायियो को साथ लेकर चीन से बाहर कोरिया को कूच कर गया। उसने इस मुल्क का नाम 'चोसन' यानी 'प्रातःकालीन शान्ति का देश' रक्खा। कोरिया या चोसन चीन के पूर्व में है, इसलिए कि-त्ज़े पूर्व दिशा में उगते हुए सूर्य की ओर गया। शायद उसने यह समझा हो कि वह पूर्व दिशा के अन्तिम देश में पहुच गया है और इसीलिए उसने इस देश को यह नाम दिया। ईसा से ग्यारहसौ वर्ष पहले से इसी कि-त्ज़े के साथ कोरिया का इतिहास शुरू होना है। कि-त्ज़े के साथ ही इस नये मुल्क में चीनी कला-कौशल, मकान बनाने की कला, कृषि और रेशम की कारीगरी आई। कि-त्ज़े के पीछे-पीछे और भी बहुतसे चीनी यहाँ आगये और उसके वशजो ने चोसन पर नौसौ से ज्यादा वर्षों तक राज्य किया।

लेकिन चोसन पूर्व दिशा का सबसे आख़िरी देश नही था। उसके पूर्व में, जैसाकि हम जानते हैं, जापान है। लेकिन हमें इस बातका कोई पता नही कि जब कि-त्ज़े चोसन गया तो जापान में क्या हो रहा था। जापान का इतिहास इतना पुराना नही है जितना चीन या कोरिया यानी चोसन का। जापानी लोगो का कहना है कि उनके पहले सम्राट् का नाम जिम्मूटिन्नू था और उसने ईसा से छै-सातसौ वर्ष पहले राज किया। इन लोगों का यह विश्वास है कि वह सूर्यदेवी से उत्पन्न हुआ था। सूर्य जापान में देवी माना जाता था। जापान के मौजूदा सम्राट् जिम्मूटिन्नू के असली वंशज माने जाते है। इसीलिए बहुतसे जापानी इन्हें भी सूर्य-वशी मानते है।

तुम जानती हो कि हमारे देश मे भी राजपूत लोग इसी तरह से सूर्य और चन्द्र से अपना नाता जोड़ते है। उनके सूर्यवशी और चन्द्रवशी दो मुख्य राजघराने प्रसिद्ध है। उदयपुर के महाराना सूर्यवंशियो के प्रमुख है और वह अपनी वशावली बहुत पुराने ज़माने से शुरू करते है। हमारे राजपूत लोग भी बहुत तारीफ़ के योग्य है। इनकी वीरता की और वीरोचित सुजनता की कहानियो का कोई अन्त नही।

: १२ :

पुरातन की पुकार

१९ जनवरी, १९३१

करीब ढाई हज़ार वर्ष पहले की पुरानी दुनिया की शायद जो हालत थी उस पर हम एक सरसरी नज़र डाल चुके। हमारा निरीक्षण बहुत सक्षिप्त और परिमित रहा। हमने सिर्फ ऐसे ही मुल्को की चर्चा की, जो ख़ासी तरक्क़ी कर चुके थे या जिनका थोडा-बहुत निश्चित इतिहास पाया जाता है। मिस्र की उस महान् सभ्यता का हम अभी ज़िक्र कर चुके है, जिसने अल-अहराम और स्फिन्क्स बनाये और बहुत-सी दूसरी ऐसी चीज़ें बनाई जिनकी चर्चा का यहाँ मौका नही है। जिस शुरू ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमे भी यह महान् सभ्यता अपने गौरव के दिन देख चुकी थी और पतन की ओर जा रही थी। नोसास भी अपनी आख़िरी घड़ियाँ गिन रहा था। चीनके उन लम्बे युगों की खोज भी हम कर चुके हैं, जिनमें कि वह बढते-बढ़ते एक विशाल केन्द्रीय साम्राज्य बन गया और वहाँ लिखने, रेशम बनाने और बहुत-सी दूसरी सुन्दर-सुन्दर कलाओका विकास हुआ। कोरिया और जापान की भी हमने एक झलक देख ली। भारत की उस पुरानी सभ्यता की ओर अभी हमने संकेत किया ही है, जिसे दर्शानेवाले चिह्न सिन्ध-नदी की घाटी के मोहेन-जो-दड़ो वाले खण्डहरो मे मिलते है। साथ ही विदेशो से व्यापार करनेवाली द्रविड़ सभ्यता और अन्त में आर्यों की ओर भी हम सकेत कर चुके हैं। उस ज़माने के आर्यों के रचे हुए वेद और उपनिषद् और रामायण तथा महाभारत की वीर-गाथाओं का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। यह भी हम बता चुके कि आर्य लोग उत्तर-भारत में कैसे फैल गये, दक्षिण में उनका प्रवेश कैसे हुआ और पुराने द्रविडों के सम्पर्क में आकर किस तरह उन्होने एक नई

सभ्यता और संस्कृति बनाई जिस में कुछ तो द्रविड़ बातें मिल गईं लेकिन जिसका अधिकतर हिस्सा उनका अपना था। खास तौर से हमने इनके ग्राम-संघो को लोकतंत्री आधारपर विकास करते और क़स्बों और शहरों के रूप में बढते देखा और जगल के आश्रमों को विश्वविद्यालय बनते भी देखा। इराक़ और इरान में हमने संक्षेप मे सिर्फ यह देखा कि किस तरह एक के बाद एक साम्राज्य उन्नति करता गया। इनमें सबसे पिछला, दारा का साम्राज्य, भारत मे सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। फ़िलस्तीन में हमने यहूदियों की एक झलक देखी। ये लोग यद्यपि तादाद में बहुत कम थे और दुनिया के एक छोटेसे कोने मे आबाद थे, फिर भी इन्होंने बहुत काफ़ी ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। दूसरे देशों के बड़े-बडे राजाओं के नाम मिट गये, लेकिन इनके राजा दाऊद और सुलेमान के नाम आज तक लिये जाते है, क्योकि उनका जिक्र इजीलमें आया है। फिर हमने यूनान में नोसास की पुरानी सभ्यता की राख पर आर्यो की नई सभ्यता को फूलते-फलते देखा। नगर-राज्य पैदा हुए और भूमध्यसागर के किनारो पर यूनानी उपनिवेश बन गये। रोम, जो आगे चलकर महान् होनेवाला था, और कारथेज, जो उसका कट्टर विरोधी था, इस समय इतिहास के क्षितिज पर उदय हो रहे थे।

इन सबकी हमने मामूली-सी झलक देखी है। उत्तरी-योरप और दक्षिण-पूर्व एशिया के मुल्को का भी थोड़ा-बहुत हाल मै तुम्हें बतला सकता था, लेकिन मै उन्हें छोड़ गया हूँ। उस शुरू के जमाने में भी दक्षिण-भारत के मल्लाह बंगाल की खाडी के उस पार मलाया प्राय-द्वीप और उसके दक्षिण के टापुओ तक बेधड़क आया-जाया करते थे। लेकिन हमें अपने विषयकी कोई सीमा निश्चित कर लेनी चाहिए वरना, हम कभी आगे नही बढ सकेंगे।

जिन देशो की हमने चर्चा की है, वे प्राचीन दुनिया के माने जाते है। लेकिन याद रहे कि उन दिनो दूर-दूर के मुल्को में आपस मे ज्यादा आमदरफ्त नही थी। व्यापार करने या दूसरे मतलब से साहसी मल्लाह समुद्र के जरिये तथा दूसरे लोग जमीन के रास्ते लम्बे-लम्बे सफर किया करते थे। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था, क्योकि उस समय की यात्राओ मे खतरा बहुत रहता था। लोगो को भूगोल की जानकारी बहुत कम थी। जमीन गोल नही बल्कि चपटी मानी जाती थी। मतलब यह कि नजदीक के मुल्कों के सिवा दूसरे मुल्को के बारे में लोग बहुत कम जानते थे। यूनान के रहनेवाले चीन और भारत म क़रीब-करीब अपरिचित थे, और चीन और भारतवालो को भूमध्यसागर के देशो का बहुत कम पता था।

अगर तुम्हे प्राचीन दुनिया का नकशा मिल सके तो उसे एक नजर देखो। पुराने जमाने के लेखको ने दुनिया के जो वर्णन लिखे और नकशे बनाये उनमे कुछ तो बडे मजेदार है। उन नकशो मे कई मुल्को की अजीब शक्ले दी गई है। प्राचीन कालके जो नक़शे आज कल बनाये गये है वे कही ज्यादा कामके है, इसलिए उस जमाने के बारे मे पढते वक्त इन्हें अक्सर देख लिया करना। नकशे से बहुत मदद मिलती है। बिना इसके इतिहास का असली चित्र हमारे खयालमे नही आ सकता। सच तो यह है कि अगर किसीको इतिहास पढ़ना है, तो जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा नकशे, या पुरानी इमारतो, खण्डहरो और उस जमाने की दूसरी निशानियो के जितने भी चित्र मिल सके, अपने पास रखने चाहिएँ। इन चित्रो से इतिहास की सूखी ठठरी पर माँस और चमडा चढ जाता है, और वह हमारे लिए एक जिन्दा चीज बन जाता है। इतिहास से अगर हम कुछ सीखना चहते हं तो यह जरूरी है कि घटनाओ का एक स्पष्ट और सिलसिलेवार कल्पना-चित्र हमारे दिमाग़ मे हो जिसस कि उसे पढते वक्त ऐसा लगे मानो वे घटनाए हमारी आँखो के सामने ही हो रही है। इतिहास को तो एक चित्ताकर्षक नाटक समझना चाहिए जो हमारे दिल को मोह लेता है—ऐसा नाटक, जो कभी-कभी सुखान्त, लेकिन ज्यादातर दु:खान्त रहा है और दुनिया जिसका रंगमंच, और गुजरे जमाने के महान् पुरुष और महिलाए जिसके पात्र हैं।

तसवीरों और नकशों की मदद से इतिहास के इस तमाशे की एक झलक हमारी आंखों के सामने आ जाती है, इसलिए ऐसा इन्तजाम होना चाहिए कि हरेक लडके और लड़की को ये आसानी से मिल सकें। लेकिन तसवीरों और नकशों से भी ज्यादा अच्छी चीज यह है कि पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले खण्ड-हरों और चिन्हों को खुद जाकर देखा जाय। इन सबको जाकर देख सकना मुमकिन नही क्योंकि ये सारी दुनिया में फैले हुए है। लेकिन अगर हम अपनी आँखें खुली रखें तो प्राचीन समय के कोई-न-कोई चिह्न ऐसे जरूर होंगे जिन्हें हम आसानी से देख सकें। बड़े-बड़े अजायब-घरो मे पुराने जमाने की ये छोटी-छोटी निशा-

नियाँ और यादगार संग्रह करके रक्खी जाती है। भारत में पुराने इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत काफ़ी निशानियाँ पाई जाती है, लेकिन बहुत प्राचीन काल की निशानियाँ बहुत ही कम है। मोहेन-जो-दडो और हडप्पा[1] ही शायद ऐसे दो उदाहरण हैं, जो अभी तक मिले है। सम्भव है कि पुराने जमाने की बहुत सी इमारतें गर्म आब-हवा की वजह से धीरे-धीरे ढह गई हो। लेकिन यह और भी ज्यादा मुमकिन है कि उनमें से बहुत सी अब भी जमीन के नीचे दबी पड़ी हों, और उन्हें खोद निकालने की जरूरत हो। जैसे-जैसे हम इन्हें खोदते जायँगे, और पुराने चिह्न और शिलालेख हमें मिलते जायँगे, वैसे-वैसे हमारे देश के पुराने इतिहास के पन्ने धीरे-धीरे हमारे सामने खुलते जायगे और पत्थर, ईंट और चूने के इन पन्नो में हम अत्यन्त प्राचीन काल के पूर्वजो के कारनामों का हाल पढ सकेंगे।

तुम दिल्ली गई हो और मौजूदा शहर के आस-पास कुछ पुरानी इमारतें और खण्डहर तुमने देखे है। जब कभी फिर तुम्हे इन इमारतो और खण्डहरो के देखने का मौका मिले, तुम पुराने जमाने की कल्पना करना और ये तुम्हें पुराने जमाने मे पहुँचा देंगी और तुम्हें इतना ज्यादा इतिहास बता देंगी जितना कोई किताब नही बता सकती। महाभारत के जमाने से लेकर आजतक लोग दिल्ली शहर में या इसके आस-पास रहते आये है। उन्होने इसके बहुत से नाम रक्खे, जैसे इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, तुगलकाबाद और शाहजहाँनाबाद। मुझे तो सब नाम मालूम भी नही। पुराने जमाने से यह कहावत चली आ रही है कि दिल्ली का शहर सात बार, सात अलग-अलग जगहो पर आबाद हुआ और यमुना नदी के मनमौजी बहाव की वजह से हमेशा अपनी जगह बदलता रहा। और अब हम इस देश के मौजूदा शासको के हुक्म से रायसीना या नई दिल्ली नामका आठवाँ शहर तैयार होते देख रहे है। दिल्ली में एक के बाद एक साम्राज्य फूलते-फलते और खतम होते रहे है।

या फिर तुम एक सबसे पुराने शहर बनारस या काशी चली जाओ, और कान लगाकर उसकी गुन-गुनाहट सुनो। वह तुम्हे अपने कल्पनातीत युग की कथा सुनायगा और बतायगा कि किस तरह साम्राज्यो का पतन होता रहा पर वह बना रहा, किस तरह गौतम बुद्ध अपना नया दैवी सन्देश लेकर वहाँ आये, और किस तरह युगो से करोड़ो नर-नारी शान्ति और तसल्ली पाने के लिए इसकी शरण में आते रहे। प्राचीन और बूढा, जर्जर, गन्दा, बदबूदार और फिर भी अत्यन्त सजीव और युगो की शक्ति से भरपूर यह बनारस है। काशी की यह नगरी अद्भुत और दिल को लुभानेवाली है, क्योकि इसकी आँखो में तुम भारत के अतीत को देख सकती हो और इसकी जलधारा की कलकल में सुदूर युगों की ध्वनि सुन सकती हो।

या, इससे भी नजदीक अपने ही शहर इलाहाबाद या प्रयाग के पुराने अशोक-स्तम्भ को देखने जाओ। अशोक की आज्ञा से उसपर खुदे हुए लेख को देखो, तो तुम्हे मानो दो हजार वर्षों की दूरी को पार करके आती हुई आवाज सुनाई देने लगेगी।

: १२ :

धन कहाँ जाता है ?

१८ जनवरी, १९३१

मैंने जो पत्र तुम्हें मसूरी भेजे थे, उनमें यह बताने की कोशिश की थी कि किस तरह मनुष्य समाज की उन्नति के साथ-साथ उसमें भिन्न-भिन्न वर्ग बनते गये। शुरू मे मनुष्यो को भोजन सामग्री तक तलाश करने में बडी मुसीबत होती थी। वे हररोज शिकार करते, गिरीदार और दूसरे फल जमा करते और खाने-पीने की चीजों की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह भटकते फिरते थे। धीरे-धीरे इनके कबीले बनने

---

[1]हड़प्पा—मांटगोमरी जिले (पंजाब) का एक बहुत प्राचीन गाँव है जो रावी नदी के दक्षिण किनारे पर कोट-कमालिया से १६ मील दक्षिण-पूर्व में है। अभी हाल में यहाँ से बहुत पुराने जमाने के खण्डहर खोद-कर निकाले गये है, जिनसे पता चलता है कि उस पुराने जमाने में भी भारत की सभ्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी।

लगे। असल में ये बड़े-बड़े कुटम्ब थे, जो साथ रहते और साथ-साथ शिकार करने जाते थे, क्योंकि अकेले रहने से एक साथ रहने में खतरा कम रहता था। इसके बाद एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ—खेती का आविष्कार। इसके कारण मनुष्य के जीवन में बड़ा जबर्दस्त अन्तर हो गया। लोगों को हमेशा शिकार करते रहने की बनिस्बत जमीन पर खेती करके खाने का सामान पैदा कर लेना कहीं ज्यादा आसान मालूम हुआ। जोतने, बोने और फ़सल काटने के लिए एक जगह बने रहना जरूरी था, इसलिए पहले की तरह वे इधर-उधर भटकते हुए नहीं रह सकते थे; उन्हें अपने खेतों के पास बसने को मजबूर होना पड़ता था। इस तरह गाँवों और क़स्बों की बुनियाद पड़ी।

खेती की वजह से और भी तब्दीलियाँ आ गईं। खेती से जो अनाज पैदा होता था, वह तुरन्त की जरूरत से कहीं ज्यादा होता था। इसलिए बचा हुआ या फालतू अनाज जमा किया जाने लगा। पुराने जमाने की शिकारी जिन्दगी की बनिस्बत लोगों की जिन्दगी ज्यादा पेचीदा हो गई। एक वर्ग तो खेतो पर तथा दूसरी जगह खेतीबाड़ी और मेहनत-मजदूरी करने लगा, और दूसरे ने प्रबन्ध और संगठन का काम अपने जिम्मे ले लिया। प्रबन्ध करनेवाले और संगठनकर्ता लोग धीरे-धीरे अधिक शक्तिशाली हो गये और मुखिया, शासक, राजा और सरदार बन बैठे। और क्योंकि उनके हाथ में शक्ति आगई इसलिए वे बाक़ी बचे हुए या फालतू अनाज में से ये अधिकतर हिस्सा अपने लिए रख लेने लगे। इस तरह ये लोग धनवान होते गये और खेतो में काम करनेवाले सिर्फ़ गुजारे भर के लिए पाने लगे। बाद में ऐसा भी वक़्त आया कि जब प्रबन्धक और संगठन-कर्ता इतने आलसी और अयोग्य हो गये कि संगठन का भी काम नहीं कर सकें। ये लोग कुछ भी काम नहीं करते थे, लेकिन इस बात की पूरी निगरानी रखते थे कि काम करनेवालो ने जो कुछ अनाज पैदा किया है, उसका बहुत काफ़ी हिस्सा अपने लिए ले लें। और इन्होंने यह अपनी धारणा बना ली कि बिना खुद कुछ काम-काज किये इस तरीके से दूसरो की मेहनत पर रहने का इन्हें पूरा-पूरा हक़ है।

इस प्रकार तुम देखोगी कि खेती के आने से मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा फर्क आ गया। भोजन प्राप्ति के साधनों में तरक़्क़ी करके, और उसका पाना आसान बनाकर, खेती ने समाज की सारी बुनियाद ही बदल दी। लोगो को इसकी वजह से फुरसत मिलने लगी। अनेक वर्ग पैदा हो गये। पर चूँकि सभी भोजन उपजाने मे नही लगे रहते थे इसलिए कुछ लोग दूसरे काम भी कर सकते थे। इससे कई किस्म की दस्तकारियाँ पैदा हो गईं और नये-नये पेशे बन गये। लेकिन शक्ति फिर भी संगठन करनेवाले वर्ग के हाथो मे ही रही।

बाद के जमानो के इतिहास में भी तुम्हे यही बात मिलेगी कि खाद्यपदार्थ और दूसरी जरूरी चीजें पैदा करने के नये तरीकों ने कितनी बड़ी-बड़ी तब्दीलियाँ पैदा की हैं। आदमियों को दूसरी बहुत-सी चीजों की भी उतनी ही जरूरत पड़ने लगी जितनी खाने की चीजों की। इसलिए जब-जब पैदावार के तरीको मे कोई बड़ी तब्दीली आई, समाज में भी उसके फलस्वरूप बड़ी तब्दीली पैदा हुई। सिर्फ एक उदाहरण देता हूँ। जब कारखानो, रेलो और जहाजो को चलाने में भाप का इस्तेमाल होने लगा तो पैदावार और वितरण के तरीक़ो में भी बहुत बड़ा फर्क पड़ गया। भाप के कारखानो में चीजें इतनी तेजी से बन सकती है कि कारीगर या दस्तकार अपने हाथो से या सादा औजारो से उसकी बराबरी कर ही नही सकते। बड़ी मशीन को असल में बड़ा-सा औजार समझना चाहिए। रेलो और भाप के जहाजो से अनाज और कारखानो में बनी हुई चीजों को दूर देशो तक जल्दी पहुँचने में मदद मिलती है। तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी वजह से सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो गया होगा।

खाने की और दूसरी चीजें पैदा करने के नये और तेज तरीक़े इतिहास मे समय-समय पर ईजाद होते रहे है। इससे तुम जरूर यह खयाल करोगी कि अगर पैदावार के लिए बेहतर तरीक़े काम में लाये जाते हैं तो माल भी उतना ही ज्यादा पैदा होता होगा। दुनिया मे धन बढ़ता होगा और हरेक आदमी का हिस्सा भी बढ जाता होगा। तुम्हारा ऐसा खयाल करना कुछ हद तक ठीक होगा और कुछ हद तक ग़लत। पैदावार के बेहतर तरीको ने संसार की दौलत जरूर बढा दी है लेकिन सवाल यह है कि दौलत बढ़ी तो संसार के कौन से हिस्से की बढ़ी? यह तो बिलकुल जाहिर है कि हमारे देश में अभी तक भी काफ़ी ग़रीबी और मुसीबत है ही, लेकिन इंग्लैण्ड जैसे धनवान देश में भी यही हाल है। इसकी क्या वजह है? दौलत आखिर जाती कहाँ है? यह अजीब-सी बात है कि दौलत तो दिन-ब-दिन ज्यादा पैदा की जा रही है, लेकिन ग़रीब लोग गरीब ही बने हुए हैं। कुछ देशों में इन ग़रीब लोगों ने थोड़ी-सी तरक़्क़ी की है,

लेकिन जो नई दौलत पैदा हो रही है उसके मुक़ाबले में वह न-कुछ के बराबर है। बहरहाल हम आसानी से पता लगा सकते हैं कि यह दौलत ज्यादातर किसके पास जाती है। यह उन लोगों के पास जाती है जो आम तौर पर प्रबन्धकर्त्ता या संगठनकर्त्ता होने के नाते इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि हरेक अच्छी चीज़ का बड़ा भाग इनके पल्ले पड़ता रहे। और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात तो यह है कि समाज में ऐसे वर्ग पैदा हो गये हैं जो दिखावे तक के लिए कोई काम नहीं करते लेकिन फिर भी दूसरों की मेहनत के फल का बड़ा भाग हड़प कर जाते हैं! और क्या तुम इस पर विश्वास करोगी कि इज्जत इन्हीं वर्गों की होती है; और कुछ बेवकूफ़ लोग समझते हैं कि अपनी रोजी के लिए मेहनत करना ज़लालत है! ऐसी उलटी-पलटी दशा है हमारी दुनिया की। फिर क्या ताज्जुब है कि खेत में मेहनत करनेवाला किसान और कारखाने में मजदूरी करनेवाला मजदूर ग़रीब है, हालाँकि दुनिया भर के खाद्य-पदार्थ और सम्पत्ति यही लोग पैदा करते हैं! हम अपने देश की आज़ादी की बातें करते हैं, लेकिन जबतक इस गड़बड़ी का अन्त नहीं होता और मेहनत करनेवाले को उसकी मेहनत का फल नहीं मिलता, इस आज़ादी की क्या क़ीमत हो सकती है? राजनीति और शासनकला पर, अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय सम्पत्ति के बटवारे पर बड़ी मोटी-मोटी किताबें लिखी गई है। विद्वान प्रोफ़ेसर लोग इन विषयों पर व्याख्यान देते रहते है। लेकिन इधर तो लोग बात-चीत और चर्चाओं में उलझ रहे है और उधर मेहनत करनेवाले तकलीफ़ें पा रहे हैं। दो सौ वर्ष हुए वाल्तेयर नाम के एक प्रसिद्ध फ़्रांसीसी ने राजनीतिज्ञों और इसी तरह के दूसरे लोगों के बारे में कहा था—"इन लोगों ने अपनी सुन्दर राजनीति में यह कला खोज निकाली है कि जो ज़मीन जोतकर दूसरों को जिन्दा रखने के साधन पैदा करते है उन्हें भूखा मार दिया जाय।"

फिर भी प्राचीन काल का मनुष्य उन्नति करता गया और धीरे-धीरे जंगली प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने लगा। उसने जंगल काटे, मकान बनाये और ज़मीन जोती। कहा जाता है कि मनुष्य ने किसी हद तक प्रकृति पर विजय पाई है। लोग प्रकृति को वश में करने की बातें करते है। यह तो बे-सर-पैर की बात है। यह कहना ज़्यादा सही है कि आदमी ने प्रकृति को समझना शुरू किया और जितना वह उसे समझता जाता है उतना ही वह उससे सहयोग करने के योग्य बन गया है और उसे अपने मतलब के लिए काम में ला सका है। पुराने ज़माने में आदमी प्रकृति से और उसकी विचित्र घटनाओं से डरता था। इनको समझने के बजाय यह उनकी पूजा करता था और शांति के लिए उन पर चढ़ावा चढ़ाता था, मानों प्रकृति कोई जंगली जानवर है जिसे संतुष्ट करने और बहलाने की ज़रूरत हो। इसलिए बादल की गरज, बिजली की कड़कड़ाहट और महामारियाँ उन्हें भयभीत कर देती थी और वे समझते थे कि ये उत्पात सिर्फ़ पूजा से ही रुक सकते है। बहुत-से सीधे-सादे लोग समझते हैं कि चन्द्रमा या सूर्य का ग्रहण कोई भयंकर आफ़त है। यह समझने की कोशिश करने के बजाय कि यह एक सीधी-सादी प्राकृतिक घटना है, लोग इसके बारे में फ़िजूल परेशान होते है, उपवास करते है और सूरज या चाँद की रक्षा के लिए जप-स्नान करते है। लेकिन सूरज और चाँद अपनी रक्षा के लिए काफ़ी समर्थ हैं और उनके बारे में परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं।

हमने सभ्यता और संस्कृति की उन्नति की भी कुछ चर्चा की है और हमने देखा है कि इसकी शुरुआत उस समय से हुई, जब लोग गाँवों और कस्बों में रहने के लिए बस गये। खाने का काफी सामान पा जाने की वजहसे लोगों को कुछ फ़ुरसत मिल गई और इस तरह खाने और शिकार करने के अलावा उन्हें दूसरी बातों पर भी ध्यान देने का मौक़ा मिल गया। विचार की उन्नति के साथ आमतौर पर कला-कौशल और संस्कृति का भी विकास होने लगा। जब आबादी बढ़ने लगी तो लोग एक-दूसरे से नज़दीक भी रहने लगे। ये एक दूसरे से बराबर मिलते-जुलते थे और इनका आपस में व्यापार-व्यवहार चलने लगा। जब लोग एक-दूसरे से नज़दीक रहते हैं तो उन्हें एक-दूसरे का लिहाज़ रखना भी ज़रूरी हो जाता है। उनके लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि कोई बात ऐसी न करें जो साथियों या पड़ोसियों को बुरी लगे वरना सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। किसी कुटुम्ब का उदाहरण लेलो। कुटुम्ब समाज का छोटा-सा टुकड़ा है। इसके व्यक्ति आनन्द से तभी रह सकते हैं, जब कुटुम्बके प्राणी आपसमें एक-दूसरेका लिहाज़ रक्खें। आम तौर पर यह कोई मुश्किल बात नहीं होती, क्योंकि कुटुम्ब के लोगों में प्रेम का सम्बन्ध होता है। फिर भी कभी-कभी हम एक-दूसरे का लिहाज़ करना भूल जाते हैं और यह ज़ाहिर कर देते हैं कि कुछ भी हो हम अभीतक बहुत

सुसंस्कृत या सभ्य नही हो पाये हैं। कुटुम्ब से आगे बढ़कर बड़े समुदाय में भी ठीक यही हाल होता है; चाहे हम अपने पड़ोसियों को लें, या अपने शहरके रहनेवालों को, या देशवासियों को या दूसरे मुल्को के लोगों को। इस तरह आबादी बढ़ जाने से सामाजिक जीवन बढा, और दूसरों का लिहाज़ करने और अपने पर संयम रखने की भावना भी बढी। संस्कृति और सभ्यता की परिभाषा मुश्किल है और मै इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नही। लेकिन सस्कृति की परिभाषा के अन्दर आनेवाली अनेक बातों में अपने ऊपर संयम, और दूसरों की सुविधा का ख़याल भी निस्संदेह एक बात है। अगर किसी आदमी में संयम नहीं पाया जाता और वह दूसरो की सुविधा का कोई ख़याल नही करता, तो हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह आदमी असभ्य है।

: १४ :

ईसा के पूर्व छठी सदी और मत-मतान्तर

२० जनवरी, १९३१

आओ, अब हम इतिहास की लम्बी सड़क पर आगे बढें। आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले, यानी दूसरे शब्दों मे ईसा से करीब छैसौ वर्ष पहले तककी एक बड़ी मंज़िल हम तय कर चुके है। लेकिन यह न समझना कि यह कोई निश्चित तारीख़ है। मै तो तुम्हे समय का एक मोटा अन्दाज़ दे रहा हूँ। हम देखते हैं कि भारत और चीन से लेकर ईरान और यूनान तक भिन्न-भिन्न देशो मे अनेक महा-पुरुष, बडे-बडे विचारक और धर्म-प्रवर्तक इसी युग में मिलते है। वे सब बिलकुल एक ही समय में नही हुए, लेकिन उनका समय एक-दूसरे से इतना नजदीक था कि ईसा से पहले की छठी सदी का यह ज़माना एक बडा रोचक युग बन गया है। ऐसा मालूम होता है कि उस समय सारी दुनिया में विचारो की एक लहर उठ रही थी—लोगों के दिलों में ज़माने की परिस्थिति से असन्तोष और कोई बेहतर चीज़ प्राप्त करने की लालसा उमड रही थी। याद रक्खो कि धर्मों के सस्थापक हमेशा किसी बेहतर चीज़ की खोज में रहते थे और अपने देश की जनता को सुधारने और ऊँचा उठाने और उसकी मुसीबतो को कम करने की कोशिश करते रहते थे। ऐसे लोग हमेशा क्रान्तिकारी रहे है और तत्कालीन समाज में फैली हुई बुराइयों पर हमला करने में ज़रा भी नही डरे है। जहाँ कही पुरानी परम्परा गलत रास्ते पर जाती हुई दिखाई दी, या उसके कारण आगे की उन्नति रुकती हुई मालूम पड़ी, कि उन्होने निडर होकर उस पर हमला किया और उसे मिटा दिया। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होने उच्च जीवन का एक नमूना पेश किया, जो असंख्य लोगों के लिए पीढ़ी-दर-पीढी एक आदर्श और प्रेरणा बना रहा।

भारत में, ईसा से पहले की उस छठी सदी में, बुद्ध और महावीर पैदा हुए; चीन में कनफ्यूशस और लाओ-त्से; ईरान में ज़रथुस्त या ज़ोरास्टर; और सामोस के यूनानी टापू में पाइथागोरस। तुमने पहले भी ये नाम सुने होगें, लेकिन शायद किसी दूसरे सिलसिले मे। स्कूल के साधारण लडके-लड़की पाइथागोरस को एक झंझट पैदा करनेवाला आदमी समझते है, जिसने रेखागणित का एक प्रमेय सिद्ध किया, जो अब इन बेचारो को सीखना पडता है! इस प्रमेय का सम्बन्ध एक समकोण त्रिभुज की भुजाओं पर के वर्ग-चतुर्भुजों से है। रेखागणित की किसी भी किताब में यह प्रमेय मिल सकता है। लेकिन रेखागणित सम्बन्धी खोज करने के अलावा पाइथागोरस एक महान् विचारक भी माना जाता है। हमें उसके बारे में बहुत कम मालूम है। कुछ लोगों को तो इसमें भी शक है कि इस नाम का कोई आदमी हुआ भी था या नही!

ईरान का जरथुस्त ज़ोरास्टर धर्म का सस्थापक कहा जाता है। लेकिन मुझे यह निश्चय नहीं है कि उसे इस धर्म का संस्थापक कहना कहाँतक ठीक है? शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसने ईरान के पुराने विचारों और मजहब को नई दिशा की ओर झुकाया और उन्हें नया रूप दिया। बहुत अर्से से यह धर्म ईरान से बिलकुल उठ-सा गया है। जो पारसी लोग बहुत अर्से पहले ईरानसे भारत चले आये, वे अपने साथ इस धर्म को भी लेते आये और तबसे बराबर उसीको मानते चले आते है।

चीन में इसी जमाने में दो महापुरुष हुए—कनफ्यूशस और लाओ-त्जे। साधारण अर्थों में इन दोनों में से किसी को भी धर्म-संस्थापक नहीं कह सकते। इन्होंने नीति और सामाजिक व्यवहार के नियम बनाये और यह बताया कि आदमी को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। लेकिन इनकी मृत्यु के बाद चीनमें इनकी यादगार में बहुत से मन्दिर बनाये गये और इनके ग्रन्थो का चीनी लोग वैसा ही आदर करते है जैसा हिन्दू वेदो का और ईसाई इंजील का। कनफ़्यूशस की शिक्षा का एक परिणाम यह हुआ कि उसने चीनियो को संसार में सबसे ज्यादा विनयशील, शिष्ट और सभ्य बना दिया।

भारत मे महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैन धर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हें दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड़ में रहते है और आजकल इनकी गणना हिन्दुओं में की जाती है। काठियावाड़ में और राजस्थान में आबू पहाड़ पर, इनके बड़े सुन्दर मन्दिर पाये जाते है। अहिंसा में इनकी बडी श्रद्धा है, और ये ऐसे कामो के बिलकुल खिलाफ़ है जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ पहुँचे। हाँ, इसी सिलसिले में तुमको यह जान कर दिलचस्पी होगी कि पाइथागोरस कट्टर निरामिष भोजी था। उसने अपने शिष्यो और चेलों के लिए भी यह नियम बना दिया था कि कोई माँस न खाय।

अब गौतम बुद्ध का हाल सुनो। जैसा कि तुम जानती हो, गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक राजवंश के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। प्राचीन जातक कथा में लिखा है कि महारानी माया "पूर्णचन्द्र की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ और स्थिर-निश्चयवाली और कमल के समान पवित्र हृदय वाली थी।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश-आराम में रक्खा, और यह कोशिश की कि दु:ख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यों से वह बिलकुल दूर रहे। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका—और कहा जाता है कि उन्होने एक कगाल, एक रोगी एक मुर्दा देखा जिनका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ। इसके बाद राजमहल में उन्हे जरा भी शान्ति नही रही और ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारों ओर घिरे रहते थे, यहाँ तक कि उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, दु:ख-तप्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता और इन दु:खो को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढती ही गई। यहाँ तक कि वह इस हालत को बर्दाश्त न कर सके और अन्त में एक रात वे चुपचाप अपने राजमहल और प्रियजनों को छोड़कर, जिन प्रश्नो ने उन्हें परेशान कर रक्खा था उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौड़ी दुनिया मे अकेले निकल पडे। इस समाधान की खोज मे उन्हे बहुत वक्त लगा और बहुत तक़लीफ़ें उठानी पड़ी। आखिर बहुत वर्षों बाद, गया मे एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हे 'बुधत्त्व' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड के नीचे वह बैठे थे वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया मे बसे हुए सारनाथ के, जो उस जमाने मे इसिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, 'हरिण क्षेत्र' में बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार शुरू किया। उन्होने 'सद्जीवन' का रास्ता बताया। देवताओ के नाम पर की जानेवाली पशु-बलि वगैरा की उन्होने निन्दा की और इस बात पर जोर दिया कि इन बलिदानों के बजाय मनुष्य को अपने क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे विचारों का बलिदान करना चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय, भारत में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था। लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊँचे आदर्शों से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण पुरोहितो ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजा-पाठ और अन्ध-विश्वास जारी कर दिये थे क्योकि पूजाए जितनी ज्यादा बढ़े पुरोहितो को उतना ही अधिक फायदा पहुँचता है। जाति का बन्धन बहुत कडा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और स्यानो से डरते थे। इन तरीक़ों से पुरोहितों ने जनता को अपनी मुट्ठी में कर रक्खा था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणो मे संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बड़े लोकप्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए और उन्होने पुरोहितो के इन अत्याचारो पर और पुराने वैदिक धर्म में जो खराबियाँ आगई थीं उन पर हमला बोल दिया। उन्होने शुद्ध जीवन बिताने और भले काम करने पर जोर दिया और पूजा-पाठ वग़ैरा का निषेध किया। उन्होंने बौद्ध-धर्म को मानने-वाले भिक्षु और भिक्षुणियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक धर्म के रूप में बौद्ध-धर्म का प्रचार भारत में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि यह कैसे फैला और फिर भारत में एक अलग धर्म के रूप में यह करीब-करीब मिट-सा गया। जहाँ लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहाँ अपनी जन्मभूमि भारत में यह फिर ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म में समा गया। लेकिन ब्राह्मण-धर्म पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ा और इसने हिन्दू-धर्म में से बहुत से अन्ध-विश्वास और पाखण्ड हटा दिये।

इस वक़्त दुनिया में बौद्ध-धर्म के माननेवालों की संख्या सबसे ज्यादा है। ईसाई, इस्लाम और हिंदू-धर्म भी ऐसे धर्म हैं जिनके माननेवाले दुनिया में दूसरोंसे ज्यादा हैं। इनके अलावा यहूदी, सिख, पारसी वग़ैरा दूसरे धर्म भी हैं। तमाम धर्मों और उनके संस्थापको ने दुनिया के इतिहास में बहुत बडा हिस्सा लिया है, इसलिए इतिहास पर ग़ौर करते समय इनकी उपेक्षा नही की जा सकती। लेकिन धर्मों के बारे में अपनी राय ज़ाहिर करने में मुझे कुछ दिक्क़त होती है। इसमें शक नहीं कि बड़े-बड़े धर्मों के सस्थापक दुनिया के महान-से-महान और ऊंचे-से-ऊचे पुरुष हुए हैं। लेकिन उनके शिष्य और बादके अनुयायी न तो महान् ही निकले और न भले ही। इतिहास में हम अक्सर देखते हैं जिस धर्म का मकसद हमें ऊँचा उठाना और बेहतर और नेक बनाना है, उसीने लोगो से जानवरों जैसा व्यवहार कराया है। लोगों में ज्ञान की रोशनी फैलाने के बजाय धर्म ने उन्हें अक्सर अंधेरे में रखने की कोशिश की, उदारचित्त बनाने के बजाय अक्सर लोगों को क्षुद्र-हृदय और दूसरों के प्रति असहिष्णु बना दिया। धर्म की ख़ातिर बडे-बड़े महान और सुन्दर काम किये गये है, लेकिन धर्मके ही नाम पर लाखों हत्यायें हुई हैं और हर तरह के सम्भव कुकर्म भी किये गए हैं।

ऐसी हालत में यह सवाल उठता है, कि धर्म के मामले में कोई क्या रुख इख्तियार करे? कुछ लोगों के लिए धर्म का मतलब है परलोक—उसे स्वर्ग, वैकुण्ठ या बहिश्त चाहे जो कुछ कहा जाय। स्वर्ग में जाने की लालसा से लोग धर्म का पालन करते हैं या कुछ दूसरी बातें करते है। यह देखकर मुझे ऐसे बालक का ख़याल आता है जो इनाम में जलेबी पाने के लालच से ऊधम नहीं मचाता। अगर कोई बच्चा हमेशा जलेबी की ही बात सोचा करे, तो तुम यह हर्गिज़ न मानोगी कि उसकी शिक्षा ठीक ढंग से हुई है। और उन लड़कों या लडकियों को तो तुम और भी कम पसन्द करोगी जो जलेबी की ख़ातिर सब कुछ करें। तब फिर हम ऐसे बड़े-बूढ़ों के बारे में क्या कहें, जो इस तरह सोचते और काम करते है? क्योंकि आख़िर जलेबी और स्वर्गके ख़याल में कोई ख़ास फ़र्क़ नही है। हममें थोड़ी-बहुत ख़ुदगर्ज़ी रहती है; लेकिन फिर भी हम अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देने की कोशिश करते हैं कि वे जहाँतक हो सके निस्वार्थ बनें। कुछ भी हो हमारे आदर्श बिलकुल स्वार्थ-रहित होने चाहिएँ ताकि हम अपने जीवनमें उन तक पहुँचने की कोशिश करते रहें।

हम सब सफलता चाहते हैं और अपने कर्मों का फल देखना चाहते हैं। यह स्वाभाविक ही है। लेकिन हमारा लक्ष्य क्या है? क्या हमें सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र करनी चाहिए, या सार्वजनिक हित की—यानी समाज, देश और मनुष्य-जाति की भलाई की? आख़िर इस सार्वजनिक हित में ही हमारी अपनी भलाई भी शामिल है। मेरा ख़याल है कि कुछ दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में संस्कृत के एक श्लोक का ज़िक्र किया था। इसका मतलब यह था कि व्यक्ति को कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब को जाति के लिए और जाति को देश के लिए क़ुर्बान कर देना चाहिए। यहाँ मैं संस्कृत के एक और श्लोक का भी अर्थ तुमको बताना चाहता हूं, जो भागवत में आया है। उसका अर्थ यह है:—

> "मुझे न तो अष्टसिद्धियों[1] के साथ स्वर्ग की इच्छा है और न जन्म और मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्ष पाने की ही कामना है। मेरी इच्छा तो यह है कि दुःखी जनों के दिलों में पैठ जाऊँ और उनका दुःख-दर्द अपने ऊपर लेलूं, जिससे वे पीड़ा से मुक्त हो जायें।"[2]

---

[1]सिद्धियाँ—आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व।

[2]इस सम्बन्ध में भागवत के ये श्लोक ध्यान में रखने योग्य हैं:—

एक धर्मवाला एक बात कहता है, दूसरे धर्मवाला दूसरी। और बहुत करके हरेक दूसरे को मूर्ख या धूर्त समझता है। इनमें सच्चा कौन है? चूंकि ये लोग ऐसी चीजों के बारे में बात-चीत करते हैं, जो न आंख से देखी जा सकती हैं और न सिद्ध की जा सकती हैं, इसलिए दलीलों से ऐसे मामलों को तय करना मुश्किल हो जाता है। दोनों के लिए यह हिमाक़त मालूम होती है कि ऐसे मामलों पर यक़ीन के साथ बातें करें और उन पर एक-दूसरे का सिर फोड़ें। हममें से ज्यादातर संकीर्ण विचारों के होते हैं और ज्यादा बुद्धिमान नहीं होते। तब हम यह सोचने का साहस कैसे कर सकते हैं कि हमें सारे सत्य का ज्ञान है और उसे हम अपने पड़ौसी के गले में जबरदस्ती उतार सकते है? यह मुमकिन हो सकता है कि हम सचाई पर हों, और यह भी मुमकिन है कि हमारा पड़ौसी भी सचाई पर हो। अगर तुम किसी पेड़ पर एक फूल देखो, तो उस फूल को तो पेड़ नही कहोगी न? उसी तरह दूसरे आदमी ने उस पेड़ की पत्तियाँ ही देखी और तीसरे ने सिर्फ़ उसका तना ही देखा, तो हरेक ने उस पेडका सिर्फ एक-एक हिस्सा ही देखा है। लेकिन उनमेंसे हरेक के लिए यह कितनी बेवक़ूफ़ी की बात होगी, कि वे इस बात का दावा करने लगें कि सिर्फ़ फूल, पत्ती या तना ही पेड़ है, और इसी पर एक-दूसरे से लड़ पड़ें?

मुझे परलोक में कोई दिलचस्पी नहीं है। मेरा दिमाग़ तो इन बातों से भरा हुआ है कि मैं इस दुनिया में क्या करूँ। और अगर इसमें मुझे अपना रास्ता साफ दिखाई दे जाय तो मेरे लिए काफी है। अगर इस लोक मे मुझे अपना फ़र्ज़ साफ़-साफ दीख जाता है, तो मुझे किसी दूसरे लोक की बिलकुल फ़िकर नही है।

ज्यो-ज्यों तुम बडी होती जाओगी, तुम्हें हर तरह के लोग मिलेंगे; धार्मिक लोग, धर्म का विरोध करने वाले लोग और ऐसे लोग जिन्हें न धर्म की परवाह है और न अधर्म की। बड़े-बडे गिरजे, और धार्मिक संस्थायें पडी हैं जिनके पास बहुत धन और शक्ति है। वे उनका कभी अच्छा उपयोग करते है और कभी बुरा। तुम्हें अत्यन्त श्रेष्ट और उदार आदमी मिलेंगे जो धार्मिक है और ऐसे धूर्त और बदमाश मिलेंगे जो धर्म की आड मे लोगों को लूटते है और धोखा देते हैं। तुम्हें इन सब बातो पर खुद सोचना होगा और अपने लिए खुद ही फैसला करना होगा। आदमी दूसरो से बहुत-कुछ सीख सकता है, लेकिन हर जरूरी बात उसे अपनी ही खोज और अपने ही अनुभव से प्राप्त करनी पड़ती है। कुछ सवाल ऐसे है जिनके उत्तर हर स्त्री-पुरुष को खुद अपने ही आप तलाश करने पड़ते हैं।

लेकिन निर्णय करने में जल्दबाजी नही करनी चाहिए। किसी भी बड़े या महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुँचने से पहले तुम्हें अपने आपको अभ्यास और शिक्षा के जरिये इस योग्य बनाना होगा। यह ठीक है कि आदमी को खुद ही सोचना चाहिए और निश्चय करना चाहिए; लेकिन इसके लिए उसमें उतनी ही योग्यता भी होनी चाहिए। तुम किसी दुध-मुँहे बच्चे से किसी बात का निर्णय करने के लिए कभी नही कहोगी! इसी तरह बहुत-से आदमी ऐसे हैं जो उम्र में तो बडे हो गये है लेकिन जहाँतक उनके मानसिक विकास का सवाल है वे क़रीब-क़रीब दुध-मुँहे बच्चे के समान हैं।

मेरा पत्र आज साधारण से कुछ ज्यादा लम्बा हो गया। मुमकिन है तुम्हें यह नीरस लगे। लेकिन इस विषय में मै कुछ कहना ही चाहता था। अगर आज कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो कोई बात नही, जल्दी ही तुम सब बातें समझने लगोगी।

कोनु स्यादुपायोऽत्र येनाहम् दुःखितात्मनाम्
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा।

अपहृत्यार्तिमार्तानाम् सुखं यदुपजायते
तस्य स्वर्गोऽपवर्गो वा कलां नार्हति षोडशीम्। —च्यवन ऋषि

× × × ×

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

—रंतिदेव

: १५ :

ईरान और यूनान

२१ जनवरी, १९३१

आज तुम्हारा पत्र आया और यह जान कर खुशी हुई कि ममी और तुम अच्छी तरह से हो। मै मनाता हूँ कि दादू का बुखार उतर जाय और उनकी परेशानियां दूर हो जायें। उन्होंने सारी जिन्दगी बहुत सख्त मेहनत की है और आज भी उन्हें आराम और शान्ति नही मिल पाती है।

मालूम होता है, तुमने पुस्तकालय से लेकर कई किताबे पढ डाली है और चाहती हो कि मैं दो-चार नाम और सुझा दू। लेकिन तुमने यह नही बताया कि तुमने कौन-कौन सी किताबें पढी है। किताबें पढने की आदत बहुत अच्छी है, लेकिन जो लोग बहुतसी किताबें जल्द-जल्द पढ डालते है उन्हें जरा सन्देह की नजर से देखता हूँ। उनपर यह शक होने लगता है कि ये लोग ठीक तौर से किताबे नही पढते। सिर्फ उनपर सरसरी नजर डाल जाते हैं और फिर दूसरे दिन सब कुछ भूल जाते है। अगर कोई किताब पढ़ने के क़ाबिल है तो उसे सावधानी से और अच्छी तरह पूरी-पूरी पढ़नी चाहिए। लेकिन बहुतसी किताबें ऐसी है जो पढने के काबिल ही नही है। अच्छी किताबो का चुनना कोई आसान काम नही है। तुम कह सकती हो कि तुमने जब हमारी अपनी लाइब्रेरी से किताबे चुनी है तो वे जरूर अच्छी होंगी, वरना हम उन्हे मगाते ही क्यो? खैर, अभी तो पढ़ती रहो। नैनी जेल से जो कुछ मदद मैं कर सकता हूँ, करता रहूँगा। कभी-कभी मै यह सोचता हूँ कि तुम्हारा शारीरिक और मानसिक विकास कितनी तेजी के साथ हो रहा है। मेरी कितनी इच्छा है कि मैं तुम्हारे पास होता! शायद जब तक ये चिट्ठियां तुम्हारे पास तक पहुँचेगी, तुम इतनी आगे बढ जाओगी कि तुम्हें इनकी जरूरत ही न रहे। मै समझता हूँ कि उस वक़्त तक चांद[1] इनको पढने के काबिल हो जायगी और इस तरह कोई-न-कोई तो ऐसा रहेगा ही जो इनकी क़द्र करे।

आओ, अब हम प्राचीन ईरान और यूनान को लौट चलें और थोडी देर के लिए उनकी आपस की लड़ाइयो पर विचार करें। अपने पिछले एक पत्र में हमने यूनान के नगर-राज्यो और ईरान के उस बडे साम्राज्य का जिक्र किया था जिसके सम्राट दारा को यूनानी लोग डेरियस कहते है। दारा का यह साम्राज्य बहुत बड़ा था—खाली विस्तार में ही नही बल्कि संगठन में भी। ठेठ एशिया-कोचक से लगाकर सिन्ध नदी तक यह फैला हुआ था। मिस्र और एशिया-कोचक के कुछ यूनानी शहर भी इसमें शामिल थे। इस विस्तृत साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक अच्छी-अच्छी सड़कें बनी हुई थी, जिनपर शाही डाक बराबर चलती रहती थी। दारा ने किसी न किसी वजह से यूनान के नगर-राज्यो को जीतने का निश्चय किया। और इस महायुद्ध की कई लड़ाइयाँ इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। इन लड़ाइयो का जो कुछ वर्णन हमें मिलता है वह यूनान के इतिहास-लेखक हिरोदोत का लिखा हुआ है। वह इन घटनाओ के थोड़े ही दिन बाद पैदा हुआ था। उसने यूनानियों के साथ पक्षपात जरूर किया है लेकिन उसका विवरण बहुत दिलचस्प है और इन पत्रो मे मै तुम्हारे लिए उसके लिखे इतिहास के कुछ हिस्से जरूर देना चाहूँगा।

यूनान पर ईरानियों का पहला हमला नाकामयाब रहा, क्योंकि ईरानियों की फौज को, कूच के रास्ते में बीमारी और रसद की कमी की वजह से बहुत मुसीबतें उठानी पड़ीं। वह यूनान तक पहुँच भी न सकी और उसे वापस लौट आना पड़ा। इसके बाद ईसा से ४९० बरस पहले ईरानियो का दूसरा हमला हुआ। इस बार ईरानी सेना खुश्की का रास्ता छोड़कर समुद्री रास्ते से आई और एथेन्स के नजदीक मैरैथन पर उसने अपना लंगर डाला। एथेन्स के निवासी इससे बहुत घबड़ा गये, क्योंकि ईरानी साम्राज्य की ताकत उन दिनों बहुत ज्यादा मशहूर थी। उन्होने डरकर अपने पुराने दुश्मन स्पार्टावालों से सुलह करनी चाही और दोनो ही के दुश्मन के खिलाफ़ उनसे मदद मांगी। लेकिन स्पार्टावालों के पहुँचने के पहले ही एथेन्सवालो ने ईरानी सेना को मार भगाया। यही मैरैथन की प्रसिद्ध लडाई है जो कि ईसा से ४९० बरस पहले हुई थी।

---

[1] इन्दिरा की छोटी फुफेरी बहन चन्द्रलेखा पण्डित

यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि एक छोटा-सा यूनानी नगर-राज्य एक बड़े साम्राज्य की सेना को हरा दे। लेकिन यह जितनी आश्चर्यजनक मालूम पड़ती है उतनी है नही। यूनानी लोग जहाँ अपने घर के नजदीक अपने देश के लिए लड रहे थे; वहाँ ईरानी सेना अपने देश से बहुत दूर थी और फिर वह साम्राज्य भरके दूर-दूर के हिस्सोंके सैनिकों से बनी हुई थी। वे लोग लडते जरूर थे, लेकिन इसलिए कि उन्हे तनख्वाहें मिलती थीं। यूनानको जीतनेमें उनको कोई खास दिलचस्पी नही थी। दूसरी तरफ एथेन्सवाले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। उन्हें अपनी आजादी खो देने से मरजाना कहीं ज्यादा पसन्द था, और जो लोग किसी उद्देश के लिए मरने को तैयार रहते है वे शायद ही कभी हराये जा सकते है।

इस तरह दारा मैरैथन मे हार गया। इसके बाद ईरान पहुँचने पर वह मर गया, और उसकी जगह क्षयार्श तख्त पर बैठा। उसे भी यूनान फतह करने की धुन सवार थी और उसने वहाँ भेजनेके लिए एक सेना तैयार की। यहाँ मैं तुम्हें हेरोदोट का वर्णन किया हुआ दिलचस्प हाल सुनाऊँगा।

अर्तवानस क्षयार्श का चाचा था। उसका खयाल था कि ईरानी सेना को यूनान ले जाने मे खतरा है, इसलिए उसने अपने भतीजे क्षयार्श को यह समझाने की कोशिश की कि वह यूनान से लड़ाई न छेड़े। हिरोदोत का कहना है कि क्षयार्श ने उसे नीचे लिखा जवाब दिया—

> "जो कुछ आप कहते हैं उसमें कुछ सचाई तो है, लेकिन आपको हर जगह खतरे का डर न करना चाहिए, और न हरेक जोखिम का खयाल ही करना ठीक है। अगर आप हरेक बात को एक ही तराजू से तौलेगे तो कुछ भी न कर पावेंगे। भावी आशकाओं की कल्पना से किसी खतरे का मुकाबिला न करने के बजाय आशावादी होकर आधी आपदाओं को सह लेना कही अच्छा है। अगर आप हर तजवीज पर एतराज तो करेंगे, लेकिन यह न बतलावेगे कि कौन-सा ठीक रास्ता इख्तियार करना चाहिए, तो आपको उतनी ही ज्यादा मुसीबत सहनी होगी, जितनी कि उन लोगो को, जिनका आप विरोध कर रहे है। तराजू के दोनों पलडे बराबर है। कोई आदमी निश्चयपूर्वक यह कैसे जान सकता है कि कौन-सा पलडा झुकेगा ? मनुष्य तो इसे नही जान सकता। लेकिन कामयाबी आमतौर पर उन्ही लोगो के साथ रहती है जो अपने निश्चयों पर अमल करते हैं, उनके साथ नही जो बुज़दिल होते हैं और फूंक-फूंक कर कदम रखते हैं। ईरान की सल्तनत कितनी बडी और ताकतवर हो गई है यह आप देखते हैं। अगर मेरे पूर्वाधिकारी आप ही की सी राय के होते या आप जैसे उनके सलाहकार होते तो आज हमारी सल्तनत जो इतनी बढी-चढी हैं, वैसी आप कभी न देख पाते। खतरे उठाकर ही उन लोगो ने हम लोगों की आज यह शान बना दी है। बड़ी चीजे बड़े खतरे उठाकर ही हासिल की जा सकती है।"

मैंने यह लम्बा उद्धरण इसलिए दिया है, कि इससे इस ईरानी बादशाह का चरित्र जितना स्पष्ट हमारे सामने आ जाता है, उतना किसी दूसरे वर्णन से नहीं। लेकिन बाद की घटनाओ ने अर्तवानुसकी सलाह ठीक सिद्ध कर दी और ईरानी सेना यूनान में हार गई। क्षयार्श हार जरूर गया, लेकिन उसके शब्दो में जो सचाई थी उसकी गूज अभी तक सुनाई देती है और उससे हम सबको शिक्षा मिलती है। आज जब हम बड़ी-बड़ी चीजे प्राप्त करने की कोशिश कर रहे है, हमे यह याद रखना चाहिए कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हमको भी बड़े-बड़े खतरों के बीच से गुजरना पड़ेगा। तभी हम अपने उद्देश्य तक पहुँच सकेंगे।

शाहंशाह क्षयार्श अपनी बड़ी सेना लेकर एशिया-कोचक पार कर गया और दर्रे दानियाल से, जो उसवक्त हैलैस्पौण्ट कहलाता था, उतरकर योरप पहुँचा। कहते है, रास्ते में क्षयार्श ट्राय नगर के खँडहरों को देखने गया था, जहाँ यूनान के शूर-वीरों ने पुराने जमाने में हेलन के लिए लड़ाई लड़ी थी। फौजको उस पार भेजने के लिए दर्रे दानियाल के ऊपर एक बड़ा पुल बनाया गया। और जब ईरान की सेना पार उतर रही थी तो पास की एक पहाड़ी की छोटी पर, संगमरमर के तख्त पर बैठकर, क्षयार्श ने उसपर नजर डाली।

> "और," हिरोदोत ने लिखा है, "सारे दर्रे को जहाजों से भरा हुआ देखकर और एबीडोस के समुद्र के किनारे और मैदानों को आदमियो से खचाखच भरा पाकर पहले तो क्षयार्श ने खुशी जाहिर की और फिर वह रोने लगा। उसके चाचा अर्तवानुस ने,

जिसने कि पहले यूनानियों पर चढ़ाई करने का खुला विरोध किया था, जब क्षयार्श को रोता हुआ देखा, तो उसने पूछा,'बादशाह, तू जो कुछ अभी कर रहा है और जो कुछ कर चुका, इन दोनों में कितना फ़र्क़ है ! अभी तो तू ने खुशी जाहिर की थी और अब तू आँसू गिरा रहा है।' क्षयार्श ने जवाब दिया, 'तुम्हारा कहना ठीक है लेकिन जब मैं गिनती कर चुका तो, यह देखकर कि जिन झुण्ड-के-झुण्ड आदमियों को हम यहाँ देख रहे हैं सौ साल के बाद उनमें से एक भी जिन्दा न रहेगा, मेरे हृदय में इस विचार से करुणा का समुद्र उमड़ आया कि इन्सान की जिन्दगी कितनी छोटी-सी है।"

इस तरह यह बड़ी सेना खुश्की के रास्ते आगे बढ़ी और जहाजी बेड़ा समुद्र के रास्ते इसके साथ-साथ चला। लेकिन समुद्र ने यूनानियों का साथ दिया। एक बड़ा तूफान आया, जिससे ईरानियो के बहुत से जहाज नष्ट हो गये। यूनानी लोग ईरान की बड़ी फौज देखकर डर गये थे; इसलिए उन्होंने फौरन अपने-आपसी झगड़ो को भुला दिया, और हमला करनेवालो के खिलाफ़ एक हो गये। यूनानी लोग पीछे हटते गये और थर्मापली नामक जगह पर उन्होंने ईरानियों को रोकने की कोशिश की। थर्मापली एक बहुत तंग रास्ता था, उसके एक तरफ़ पहाड़ था और दूसरी तरफ़ समुद्र, जिससे यहाँ थोड़े से आदमी भी दुश्मन की बड़ी फौज से मोरचा ले सकते थे। लियोनीडस को तीन सौ स्पार्टा-निवासियो के साथ मरते दम तक इस दर्रे की हिफाजत के लिए मुकर्रर किया गया। मैरैथन की लड़ाई से ठीक दस वर्ष बाद, भाग्य-निर्णय के इस दिन, इन वीरों ने अपने मुल्क की बड़ी खूबी से सेवा की। इन्होंने ईरानियों की फौज को रोक दिया और यूनान की बाकी सेना पीछे हटती गई। इस तंग घाटी में एक के बाद दूसरा योद्धा काम आता था, लेकिन जैसे ही एक मरता कि दूसरा उसकी जगह ले लेता था। इस तरह ईरानी सेना आगे नही बढ़ सकी। लियोनीडस और उसके तीन सौ साथी जब एक-एक करके थर्मापली में काम आ चुके तब कही ईरानी सेना आगे बढ पाई। यह बात ईसा के ४८० बरस पहले की है, यानी आज से २४१० बरस पहले। मगर आज भी इन लोगो के अदम्य साहस की याद करके हृदय में बिजली की सी लहर दौड़ जाती है। आज भी थर्मापली की यात्रा करने वाले डब-डबाती हुई आँखों से लियोनीडस और उसके साथियों के सन्देश को पत्थर पर खुदा हुआ पढ़ सकते है। सन्देश यह है—

"ओ राहगीर ! स्पार्टा को जाकर बताना कि उसका हुक्म माननेवाले हम लोग यहाँ पड़े हुए है।"[1]

मौतपर विजय पानेवाली हिम्मत अद्भुत होती है। लियोनीडस और थर्मापली अमर हो गये, और उससे दूर भारत में भी जब हम लोग इनकी याद करते है तो रोमाञ्च हो आता है। तब फिर यह कहना कठिन है कि हमारी भावनाएँ अपने उन देशवासियों, अपने पूर्वजों यानी भारत के नरों और नारियों के प्रति क्या है जिनसे हमारा लम्बा इतिहास भरा पड़ा है कि उन्होंने मुस्कराते हुए मौत का सामना किया और उसकी खिल्ली उड़ाई; मौत को अपमान और गुलामी से बेहतर समझा और जुल्म के सामने सिर झुकाने के बजाय उसको मिटाने के प्रयत्न में मर जाना ज्यादा अच्छा माना। चित्तौड़ और उसकी अनुपम कहानी का, राजपूत वीरों और वीरांगनाओं की आश्चर्यजनक बहादुरी का, जरा खयाल तो करो ! फिर आज-कल के जमाने पर भी नजर डालो और हमारे उन साथियो का खयाल करो जिनका खून हमारे खून की ही तरह गरम है, और जिन्होंने भारत की आजादी के लिए मौत का सामना करने से भी मुँह नही मोड़ा है।

थर्मापली ने ईरानी सेना को थोड़ी देर के लिए रोक जरूर लिया, लेकिन यह रोक बहुत देर काम नहीं आई। यूनानी लोग ईरानी सेना के मुक़ाबले में पीछे हटते गये और कुछ यूनानी शहरों ने हथियार भी डाल दिये। लेकिन गर्वीले एथेन्स-वासियों ने आत्म-समर्पण के बजाय यह ठीक समझा कि अपने प्यारे शहर को बरबाद होने के लिए छोड़कर वहाँ से चले जायँ। इसलिए सारी जनता शहर को खाली करके चली गई और ज्यादातर लोग जहाजों में बैठकर गये। ईरानी लोगों ने इस उजड़े हुए नगर में घुसकर उसे आग

---

[1] "Go tell to Sparta, thou that passest by,
That here obedient to their words we lie."

लगा दी। मगर यूनानी जल-सेना अभीतक हारी नहीं थी। इसलिए सैलेमिस[1] टापू के पास बहुत बड़ी लड़ाई हुई। ईरानी जहाज़ नष्ट कर दिये गये और इस आफ़त से बिलकुल निराश होकर क्षयार्श ईरान वापस लौट गया।

ईरान इसके बाद भी कुछ दिनों तक एक बड़ा साम्राज्य बना रहा। लेकिन मैरेथन और सैलेमिस की लड़ाई के बाद उसके पतन की शुरुआत हो गई थी। यह कैसे नष्ट हुआ, इस पर हम फिर विचार करेंगे। उस ज़माने में जो लोग रहे होंगे, उन्हें इस बड़े साम्राज्य को लड़खड़ाकर गिरते देखकर ज़रूर ताज्जुब हुआ होगा। हिरोदोत ने इस पर विचार करके बताया है कि उससे हमें क्या नसीहत मिलती है। उसका कहना है कि किसी भी राष्ट्र के इतिहास की तीन मंजिलें होती हैं। पहले सफलता, फिर उस सफलता के फलस्वरूप अन्याय और उद्दण्डता, और अन्त में इन बुराइयों के फलस्वरूप पतन।

: १६ :

यूनान का वैभव

२३ जनवरी, १९३१

ईरानियों पर यूनानियों की विजय के दो परिणाम हुए। ईरानी साम्राज्य धीरे-धीरे गिरने लगा और कमज़ोर होता गया। दूसरी तरफ़ यूनानी लोगों ने अपने इतिहास के शानदार युग में कदम रक्खा। राष्ट्र के जीवन में यह शान बहुत थोड़े दिन तक ही रही। कुल मिलाकर २०० बरस से ज्यादा नहीं ठहरी। उसका यह वैभव ईरान के या उसके पहले के दूसरे विशाल साम्राज्यों के जैसा नहीं था। बाद में महान् सिकन्दर पैदा हुआ और उसने कुछ दिनों के लिए अपनी विजयों से दुनिया को हैरत में डाल दिया। लेकिन इस समय हम उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम तो ईरान की लड़ाइयों और सिकन्दर के आगमन के बीच के ज़माने का ज़िक्र कर रहे हैं—उस ज़माने का, जो थर्मापली और सैलेमिस के बाद १५० बरस तक रहा।

ईरान के ख़तरे ने सारे यूनानियों को एक कर दिया था। लेकिन जब यह ख़तरा हट गया तो उनमें फिर फूट पैदा हो गई और वे थोड़े ही दिनों बाद आपस में झगड़ने लगे। ख़ासकर एथेन्स और स्पार्टा के नगर-राज्य एक-दूसरे के घोर प्रतिद्वन्द्वी थे। लेकिन हम उनके झगड़ों की चर्चा की झंझट में न पड़ेंगे। उनका कोई महत्व नहीं है। हमें सिर्फ़ इसलिए उनकी याद आती है कि उन दिनों दूसरी बातों में यूनान की महानता बहुत बढ़ी हुई थी।

उस ज़माने से सम्बन्ध रखनेवाली सिर्फ़ थोड़ी सी किताबें, कुछ मूर्तियां और कुछ खण्डहर ही अब हमें मिलते हैं। लेकिन ये थोड़ी-सी चीज़ें भी ऐसी हैं कि उन्हें देखकर हमारा दिल प्रशंसा से भर जाता है और यूनानी लोगों की अनेकांगी महानता पर हम ताज्जुब करने लगते हैं। इन सुन्दर मूर्तियों और इमारतों को बनानेवाले इनके दिमाग कितने उन्नत और हाथ कितने कुशल रहे होंगे। फीडियास उस ज़माने का मशहूर मूर्त्ति बनानेवाला था लेकिन उसके अलावा और भी अनेक मशहूर थे। इनके दुःखान्त और सुखान्त दोनों ही तरह के नाटक, अभी भी अपने ज़माने के सब से उत्तम नाटक माने जाते हैं। इस वक्त तो तुम्हारे लिए सोफोक्लीज़,[2] ऐस्किलस,[3]

---

[1]सैलेमिस—यूनान का प्रसिद्ध टापू। ५८० ई० पूर्व में इसके पास यूनानी और ईरानी जल-सेना की प्रसिद्ध लड़ाई हुई थी।

[2]साफ़ोक्लीज़—यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका समय ४९५ से ४०५ ई० पू० है। ४६८ ई० पू० में इसने अपने प्रतिद्वन्द्वी एस्किलस को हराकर इनाम पाया। तबसे ४९१ ई० पू० तक वह यूनान का कवि सम्राट् रहा।

[3]एस्किलस—एक प्रसिद्ध ग्रीक नाटककार। इसका जन्म ईसा से ५२५ साल पहले हुआ था। मैरेथन, सेलेमिस और प्लिटियो की लड़ाइयों में इसने हिस्सा लिया और दो बार इसे अपनी दो नाटकों पर, सर्वो-

यूरिपिडीज़[1] एरिस्टोफ़ेनीज़,[2] मैनेण्डर,[3] पिण्डार,[4] सैफ़ो,[5] और कुछ दूसरों के सिर्फ़ नाम ही दिये जा सकते हैं। लेकिन बड़ी होने पर तुम उनकी रचनाएँ पढ़ोगी और मुझे आशा है, कि तब तुम यूनान के उस वैभव का कुछ अन्दाज़ लगा सकोगी।

यूनानी इतिहास का यह ज़माना हमें यह चेतावनी देता है कि किसी देश के इतिहास को हम किस तरह से पढ़ें। अगर हम यूनानी राज्यों में होनेवाली टुच्ची लड़ाइयों और ओछेपन की दूसरी बातों पर ही ध्यान देते रहें तो हमें यूनानियों के बारे में क्या मालूम हो सकता है? अगर हम उनको समझना चाहते हैं, तो हमें उनके विचारों की तह तक पहुँचना पड़ेगा और समझना होगा कि वे क्या सोचा-विचारा करते थे और उन्होंने क्या-क्या किया है? असल महत्व की चीज़ तो किसी देश का आन्तरिक इतिहास होता है और यही वह चीज़ है, जिसने मौजूदा योरप को बहुत-सी बातों में पुरानी यूनानी संस्कृति का बच्चा बना दिया है।

यह बात भी अजीब और दिलचस्प है कि किस तरह क़ौमों की ज़िन्दगी में ऐसे शानदार युग आते हैं और चले जाते हैं। थोड़ी देर के लिए वे हरेक चीज़ को चमका देते हैं और उस ज़माने और उस देश के पुरुषों और स्त्रियों में कलापूर्ण वस्तुयें पैदा करने की योग्यता पैदा कर देते हैं। सारी जाति में एक नई प्रेरणा-सी दिखाई देने लगती है। हमारे देश में भी ऐसे युग हुए हैं। हमारे यहाँ इस तरह का सबसे पुराना युग, हमारी जानकारी में वह था, जब वेद, उपनिषद् और दूसरे ग्रन्थ लिखे गये। दुर्भाग्य से हमारे पास उस ज़माने का कोई लिखित इतिहास नहीं है। मुमकिन है, बहुत-सी सुन्दर और महान् रचनायें नष्ट हो गई हों या कहीं छिपी पड़ी हों और खोज करके निकाले जाने की राह देख रही हों। लेकिन फिर भी हमारे पास इतना मसाला ज़रूर है, जिससे यह बात साफ़ हो जाती है कि उस पुराने ज़माने के भारतीय बुद्धि और विचार में कितने बढ़े-चढ़े थे। बाद के भारतीय इतिहास में भी इस तरह के शानदार युग पाये जाते हैं और सभव है पुराने युगों में घूमते-घामते शायद हमारी इनसे भी भेंट हो जाय।

एथेन्स उस ज़माने में ख़ास तौर से मशहूर हो गया था। उसका नेता एक बड़ा भारी राजनीतिज्ञ था। इसका नाम पैरिक्लीज़ था और यह ३० बरस तक एथेन्स में हुकूमत करता रहा। उस ज़माने में एथेन्स बहुत ऊँचे दरजे का शहर बन गया था। सुन्दर-सुन्दर इमारतों से वह भरपूर था और बड़े-बड़े कलाकार और विचारक वहाँ रहते थे। आज भी वह पैरिक्लीज़ का एथेन्स कहा जाता है और हम पैरिक्लीज़ युग की चर्चा किया करते हैं।

हमारे इतिहास-लेखक मित्र हिरोदोत ने, जो करीब-करीब इन्हीं दिनों एथेन्स में रहता था, एथेन्स की

त्तम दुःखान्त नाटक पर दिया जानेवाला पुरस्कार मिला। कहा जाता है कि इसने कुल ७० दुखान्त नाटक लिखे, जिनमें ७ अब भी मौजूद हैं। क़रीब ७० बरस की उम्र में उसकी मृत्यु हुई।

[1]यूरीपिडीज़—यूनान का प्रसिद्ध दुखान्त नाटककार और कवि। इसका जन्म ईसा से ४८० वर्ष पूर्व हुआ था। यह नाटकों में आदर्श के बजाय वास्तविकता के वर्णन पर ज़ोर देता था। इसे अपने नाटकों पर इनाम मिला था। इसकी कविता बड़ी अच्छी है। यह उस समय के धर्म का मज़ाक़ उड़ाया करता था।

[2]एरिस्टोफ़ेनीज़—यह एथेन्स का प्रसिद्ध हंसोड़ कवि और नाटककार था। इसका समय क़रीब ४४५ से ३८० ईसा से पहले तक का है। इसके सुखान्त नाटकों से उस ज़माने की बहुत-सी बातों का पता चलता है और इसके शाब्दिक व्यंग चित्रों से उस समय के प्रधान व्यक्तियों का व्यक्तित्व आँखों के सामने खिंच जाता है।

[3]मैनेण्डर—यूनान के एथेन्स नगर-राज्य का सुखान्त नाटकों का प्रसिद्ध नाटककार और कवि। ई० पू० ३४२ में इसका जन्म हुआ और २९१ ई० पू० में पाइरियस के बन्दरगाह के पास के समुद्र में तैरता हुआ डूब गया।

[4]पिण्डार—यूनान के गीत-काव्य का सर्वोत्तम कवि। क़रीब ५५२ ई० पू० में इसका जन्म हुआ था। यूनानी राष्ट्रों और राजाओं में इसकी कविता की बड़ी मांग रहती थी। इसकी इपिस्सिया नामक कविता ही अब बाक़ी बची है, जो चार जिल्दों में है।

[5]सैफ़ो—यूनान की प्रसिद्ध कवियत्री। यह ५८० ई० पू० में हुई। कविता, फ़ैशन और प्रेम की यह अपने समय की रानी थी।

इस उन्नति पर विचार किया था और चूंकि हरेक बात का नैतिक विवेचन करना उसे बहुत पसन्द था, इसलिए उसने उससे एक नसीहत निकाली। अपने इतिहास में वह लिखता है :—

"एथेन्स की ताक़त बढी और यह इस बात का प्रमाण है—और ऐसे प्रमाण आपको सब जगह मिल सकते हैं—कि आजादी एक अच्छी चीज है। जब तक एथेन्सवासियों पर निरंकुश शासन होता था, वे अपने किसी भी पड़ोसी से लड़ाई में नहीं बढ़ पाये। लेकिन जब उन्होंने अपने यहाँ के निरंकुश शासकों को खतम कर डाला, तब वे अपने पडोसियो से बहुत आगे बढ गये। इससे जाहिर होता है कि गुलामी मे वे अपनी इच्छा से कोशिश नही करते थे, बल्कि अपने मालिक के स्वार्थ का काम समझकर मजदूरी-सी करते थे। लेकिन जब वे आजाद हो गये तो हरेक व्यक्ति अपनी इच्छा से, बडी लगन के साथ ज्यादा-से-ज्यादा काम करने लगा।"

मैंने उस ज़माने के कुछ महान आदमियो के नाम गिनाये है। लेकिन मैंने अभी तक वह नाम नही बताया, जो उस युग के ही नही, बल्कि किसी भी युग के सबसे महान व्यक्तियो की गिनती में आता है। उसका नाम है सुकरात[1]। यह तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज में रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज़ थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रो और जान-पहचान के लोगो से अक्सर कठिन समस्याओ पर चर्चाएं करता रहता था, ताकि बहस-मुबाहिसे मे शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, जिनमें सबसे महान अफलातून[2] था। अफलातून ने कई किताबें लिखी है, जो आज भी मिलती हैं। इन्ही किताबो से हमें उसके गुरु सुकरात का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ है कि सरकारें ऐसे आदमियो को पसन्द नही किया करती, जो हमेशा नई-नई खोज मे लगे रहते हों—वे सचाई की तलाश पसन्द नही करती। एथेन्स की सरकार को—यह पेरिक्लीज़ के ज़माने के थोडे दिन बाद की बात है—सुकरात का रग-ढग पसन्द नही आया। उस पर मुकदमा चलाया गया और उसे मौत की सजा दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगो से बहस-मुबाहिसा करना छोड़ दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे तो उसे छोड दिया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना फर्ज़ समझता था, उसे छोडने के बजाय उस जहर के प्याले को अच्छा समझा जिसे पीकर वह मर गया। मरते वक्त उसने अपने पर इलज़ाम लगानेवालो, न्यायाधीशो और एथेन्सवासियो को सम्बोधित करते हुए कहा :—

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हो कि मै सत्य की अपनी खोज को छोड दूं, तो मै यह कहूंगा कि ऐ एथेन्सवासियो! मै आप लोगो को धन्यवाद देता हूँ पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूंगा, जिसने, जैसा कि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है और जबतक मेरे दम-में-दम है, मै अपनी दार्शनिक चर्चा से बाज़ न आऊँगा। मै अपना यह तरीका बराबर जारी रक्खूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मै यही पूछूंगा—'क्या तुम्हे इस बात मे शर्म नही लगती कि तुमने अपना ध्यान धन और इज्जत के पीछे लगा रक्खा है और सचाई या ज्ञान की या अपनी आत्मा को उच्च बनाने की तुम्हें कोई चिन्ता नही है?' मै नही जानता कि मौत क्या चीज़ है। मुमकिन

---

[1] सुक़रात—इसे सॉक्रेटीज़ भी कहते हैं। यह यूनान देश के एथेन्स नगर-राज्य का मशहूर वेदान्ती था। इसका जन्म ४७९ ई० पू० में हुआ था। ३९९ ई० पू० में उस पर नौजवानों को बिगाड़ने और दूसरे देवताओं में विश्वास करने का जुर्म लगाया गया। लेकिन यह तो बहाना था। असली कारण तो राजनैतिक था। उसे मौत की सज़ा दी गई, और ज़हर का प्याला उसके पास भेजा गया, जिसे वह ख़ुशी से पी गया। आख़िरी दम तक वह अफ़लातून और अपने दूसरे शिष्यों से आत्मा की अमरता की चर्चा करता रहा। वह बड़ा विद्वान् था।

[2] अफ़लातून या प्लेटो—सुक़रात का भक्त और शिष्य था। वह ४२७ ईस्वी पूर्व में पैदा हुआ था और ३४७ ई० पूर्व में मर गया। उसने एथेन्स में एक विद्यालय स्थापित किया था जहां दर्शन और अध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी। उसने राजनीति पर कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें "प्रजातन्त्र" अधिक प्रसिद्ध है।

है, वह अच्छी चीज हो—मैं उससे नहीं डरता। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि अपनी जिम्मेदारी की जगह को छोड़कर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज को निश्चयपूर्वक बुरी जानता हूँ उससे उस चीज को, बेहतर समझता हूँ जो मुझे अच्छी दिखाई पड़े।"

अपनी जिन्दगी में सुक़रात ने सत्य और ज्ञान के प्रचार का काम किया। लेकिन इससे भी ज्यादा काम उसने अपनी मौत के द्वारा कर दिया।

आजकल तुम अक्सर समाजवाद और पूँजीवाद या अनेक दूसरी समस्याओं के बारे मे होनेवाली चर्चाओं और बहसो को पढ़ा या सुना करती होगी। दुनिया में बहुत-सी मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते है। अफ़लातून ने भी शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस जमाने में भी लोग इस बात पर विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सरकार को कैसे ढाला जाय जिससे चारों ओर ज्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफ़लातून बूढ़ा होने लगा, तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू[1]। वह महान् सिकन्दर का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। सुक़रात और अफलातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओ में नहीं उलझता था। वह ज्यादातर क़ुदरत की चीजों के निरीक्षण और उसके तौर-तरीक़ो के समझने में लगा रहता था। इसको प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

अब हमें अरस्तू के शिष्य महान् सिकन्दर की तरफ आजाना चाहिए और उसकी तेज जीवन-यात्रा पर नजर डालनी चाहिए। लेकिन यह कल होगा। आज मैंने बहुत काफी लिख डाला है।

आज वसन्त पंचमी है—वसन्त की शुरूआत है। सरदी का छोटा-सा मौसम बीत चुका और हवा का तीखापन जाता रहा। चिड़ियाँ अब ज्यादा तादाद में आने लगी हैं और अपने गानो से सारे दिन को गुंजान रखती है। और आज से ठीक पन्द्रह बरस पहले, आज ही के दिन, दिल्ली शहर मे, तुम्हारी ममी के साथ मेरी शादी हुई थी।

: १७ :

एक मशहूर विजेता : लेकिन घमण्डी युवक

२४ जनवरी, १९३१

अपने पिछले पत्र में, और उसके पहले भी मैंने तुम्हें सिकन्दर महान् के बारे में कुछ लिखा था। मेरा खयाल है कि मैंने उसे यूनानी बताया है। लेकिन ऐसा कहना एकदम सही न होगा। असल में वह मक़दूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। मक़दूनियावाले कई बातो में यूनानियों की तरह थे। उन्हें तुम यूनानियों के भाई-बन्द कह सकती हो। सिकन्दर का पिता फिलिप मक़दूनिया का बादशाह था। वह बहुत क़ाबिल था। उसने अपने छोटे से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान' कहलाता है और इतिहास में बहुत मशहूर है। लेकिन

---

[1]अरस्तू—यह अरिस्टाटल भी कहलाता है। यह एक प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता था। इसका जन्म ईसा से ३८४ साल पहले हुआ था। यह प्रसिद्ध दार्शनिक अफ़लातून का शिष्य और सिकन्दर महान् का गुरु था। इसमें असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता थी और पश्चिमी राजनीति, दर्शन और तर्क के विद्यार्थी को उसके ग्रन्थ अब भी लाजमी तौर पर पढ़ने पड़ते हैं। उसका 'राजनीति' नामक ग्रन्थ बड़ा प्रसिद्ध है।

उसने जो कर दिखाया इसकी बहुत कुछ वजह यह थी कि उसके पिता न पहले ही से उसके लिए ज़मीन तैयार कर रक्खी थी। सिकन्दर वास्तव में बड़ा आदमी था या नहीं, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मैं अपने अनुकरण करने लायक़ वीर उसे नहीं मानता। लेकिन थोड़ी ही ज़िन्दगी में उसने दो महाद्वीपों पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास में वह पहला विश्व-विजयी माना जाता है। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशों में सिकन्दर के नाम से वह अभी तक मशहूर है। असल में वह चाहे जैसा रहा हो, पर इतिहास ने उसके नाम को बड़ा शानदार बना दिया है। बीसियों शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमें से बहुत-से आजतक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का सिकन्दरिया है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ तब उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता द्वारा सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब हो रहा था। यूनानी लोग न तो फ़िलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को, लेकिन उनकी ताकत को देखकर वे लोग कुछ दब से गये थे। इसलिए सब यूनानियो ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फिलिप को, और बाद में सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होने इस नई ताक़त के सामने सिर झुका दिया जो उस समय पैदा हो रही थी। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नही माना और बगावत कर दी। इस पर सिकन्दर ने, उस पर बड़ी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके, उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत से नगर-निवासियों को कत्ल कर डाला और हज़ारो को गुलाम बनाकर बेंच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को और भयभीत कर दिया। सिकन्दर के जीवन में बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनायें ऐसी हैं, जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नज़रो में तारीफ़ के काबिल नही रह जाता। हमें उससे नफरत पैदा होती है और हम उससे दूर भागने की कोशिश करते हैं।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो क्षयार्श का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद में उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शाहंशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि क्षयार्श ने एथैन्स को जो जलाया था, उसीका यह बदला है।

फारसी भाषा में एक पुरानी किताब पाई जाती है जो फ़िरदौसी नामक कवि ने एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। उसे शाहनामा कहते हैं। वह ईरान के बादशाहो का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमें दारा और सिकन्दर की लड़ाइयो का बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने भारत से मदद माँगी। 'हवा की तरह तेज़ रफ्तार से चलनेवाला ऊँट-सवार' पुरु या पोरस के पास पहुँचा, जो उस वक़्त भारत के उत्तर-पश्चिम में राज्य करता था। लेकिन पोरस उसकी ज़रा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनों बाद उसे खुद ही सिकन्दर के हमले का मुकाबिला करना पड़ा। फिरदौसी के इस शाहनामे मे एक बड़ी दिलचस्प बात यह है कि उसमें भारत की तलवारों और कटारो का, ईरानी राजाओ और सरदारो द्वारा इस्तेमाल किये जाने का, बहुत काफ़ी ज़िक्र पाया जाता है। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के ज़माने में भी भारत में बढ़िया फ़ौलाद की तलवारें बनती थी, जिनकी विदेशी मुल्को में बड़ी क़दर थी।

सिकन्दर ईरान से आगे बढ़ता गया। उस इलाक़े को, जहां आज हेरात, काबुल और समरकन्द है, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुँच गया। वही पर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने सबसे पहले उसका मुक़ाबिला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा में पोरस बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नही जानते कि वह क्या था। कहते है कि पोरस ने बड़ी बहादुरी से मुकाबिला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नहीं हुआ। कहते हैं कि वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि उसे हराने के बाद भी उसने पोरस को उसकी गद्दी पर क़ायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियों के मातहत एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के खैबर के दर्रे को पार कर रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला[1] के रास्ते भारत में आया। आज भी तुम्हें इस पुराने शहर के खंडहर देखने को मिल सकते हैं। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ़ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं किया, और सिन्ध नदी की घाटी में से होकर वह वापस चला गया। यह एक दिलचस्प ख़याल है कि अगर सिकन्दर भारत के अन्दर के हिस्से की तरफ़ बढ़ा होता तो क्या हुआ होता। क्या उसकी विजय जारी रहती ? या भारतीय सेनाओं ने उसे शिकस्त दे दी होती ? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत मुमकिन था कि मध्य भारत के बड़े-बड़े राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी मज़बूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुँचने को मजबूर कर दिया। बरसों से घूमते-घूमते उसके सिपाही बहुत थक गये थे और ऊब गये थे। शायद भारतीय सिपाहियों के रण-कौशल का भी उनपर असर पड़ा और वे हार की जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की ज़िद की और सिकन्दर को राज़ी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फ़ौज को बहुत नुकसान पहुँचा। इसके बाद ही, ईसा से ३२३ साल पहले, सिकन्दर बाबल पहुँच-कर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृ-भूमि मक़दूनिया को फिर नहीं देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तेंतीस बरस की उम्र में मर गया। इस 'महान्' आदमी ने अपनी छोटी-सी ज़िन्दगी में क्या किया ? इसने कुछ शानदार लड़ाइयाँ जीतीं। बिला शक वह बहुत बड़ा सेनापति था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमण्डी भी था, और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपने को वह देवता के बराबर समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को क़त्ल कर दिया और बड़े-बड़े शहरों को, उनके रहनेवालों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में, अपने पीछे वह कोई भी ठोस चीज़—यहाँ तक कि अच्छी सड़कें भी—नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटने वाले तारे की तरह यह एकदम चमका और गायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद, उसके कुटुम्ब के लोगों ने एक-दूसरे को क़त्ल कर दिया और उसका महान् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में कुछ बाकी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर वह भारत को ही नहीं जीत सका था। चीन उस वक्त भी बहुत बड़ा राज्य था और सिकन्दर उसके नज़दीक तक भी नहीं पहुँच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद, उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बाँट लिया। मिस्र टालमी[2] के हिस्से में पड़ा। उसने वहाँ एक मज़बूत राज्य की नींव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और अपने विज्ञान, दर्शन और विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, ईराक और एशिया-कोचक का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्यूक के हिस्से में आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत

---

[1]तक्षशिला—ज़िला रावलपिण्डी (पंजाब) का एक अत्यन्त प्राचीन और प्रसिद्ध नगर। रामायण के ज़माने में यह गन्धर्वों की राजधानी थी और महाभारत के अनुसार यहीं जनमेजय ने अपना सर्पयज्ञ किया था। पहली सदी में यह नगर अमन्त्र नाम से भी मशहूर था। इस शहर के खण्डहर छः वर्गमील में फले हुए हैं और उनमें बहुत-से बौद्ध मन्दिर और स्तूप देखने में आते हैं। यहाँ का विश्वविद्यालय प्राचीन इतिहास में बड़ा मशहूर रहा है। उसमें शिक्षा पाने के लिए मध्य-एशिया और चीन तक से विद्यार्थी आया करते थे।

[2]टालमी—सिकन्दर का एक सेनापति था जो उसकी मृत्यु के पश्चात् ३०५ ई० पू० में मिस्र का सम्राट् बन बैठा। इसीने टालमी राजवंश चलाया, जो ३० ई० पू० तक राज्य करता रहा। इस सम्राट् का काल ३८३ ई० पू० से ३६७ ई० पू० तक है। इसने उत्तरी मिस्र में टालेमाय नामक एक प्रसिद्ध और शानदार शहर बसाया और एक पुस्तकालय और अजायबघर की योजना की।

के हिस्से पर अपना अधिकार क़ायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहाँ से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत में ईसा से पहले ३२६वे साल में आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था जिसका भारत पर कोई असर नही पडा। कुछ लोगों का खयाल है कि इस धावे ने भारतीयो और यूनानियों में रब्त-जब्त शुरू करने में मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों में आपस में आमदरफ्त थी और भारत का ईरान और यूनान तक से बराबर सम्पर्क जारी था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढा जरूर होगा और भारतीय और यूनानी दोनों सभ्यतायें कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल गई होगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डास' से बना है, और 'इण्डास' की उत्पत्ति इण्डस अर्थात् 'सिन्ध नदी' से हुई है।

सिकन्दर के धावे और उसकी मृत्यु से भारत में एक बहुत बड़े साम्राज्य—मौर्य्य साम्राज्य—की नीव पडी। भारत के इतिहास का यह एक बहुत शानदार युग है और इसके लिए हमे कुछ समय देना चाहिए।

: १८ :

चन्द्रगुप्त मौर्य्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र

२५ जनवरी, १९३१

अपने एक पत्र में मैंने मगध का जिक्र किया था। यह एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह बसा हुआ था, जहाँ आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना कहलाता है। जिस समय का हम जिक्र कर रहे है, उस वक्त मगध-देश पर नन्दवश का राज्य था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था उस समय पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर नन्दवश का एक राजा राज्य करता था। उस समय वहाँ चन्द्रगुप्त नाम का एक नवयुवक भी था जो शायद इस राजा का कोई रिश्तेदार था। मालूम होता है वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्वाकाक्षी था। नन्द राजाने उसे जरूरत से ज्यादा चालाक समझकर या उसके किसी काम से नाराज होकर उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियो से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान् और अनुभवी ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के न थे, जो भाग्य और होन-हार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग मे बड़ी-बड़ी और हौसले से भरी योजनायें थी, और वे आगे बढना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाणक्य के रूप में उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया था। ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है। वे अपने मौके की तलाश में थे।

जल्दी ही उनको मौका मिल गया। ज्योही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुँची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आगया। उसने आसपास के लोगो को उभाड़ा और उनकी मदद से यूनानियो की फौज पर, जिसे सिकन्दर छोड गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायको ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पूर्व अर्थात् सिकन्दर की मृत्यु के सिर्फ पाँच बरस बाद की बात है। इसी समय से मौर्य्यवश का राज्य शुरू होता है। यह साफ-साफ पता नही चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य्य' क्यो कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी माँ का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य्य कहलाया और कुछ का यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों का रखवाला था और मोर को सस्कृत मे मयूर कहते है। इस शब्द का

मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य्य के नाम से ही मशहूर है, ताकि एक दूसरे मशहूर चन्द्रगुप्त से, जो कई सौ वर्ष बाद भारत का बहुत बड़ा राजा हुआ है, इसके व्यक्तित्व को अलग किया जा सके।

महाभारत तथा दूसरी पुरानी किताबों और कथाओं मे हमें चक्रवर्ती राजाओं का जिक्र मिलता है, जिन्होंने सारे भारत पर राज्य किया। लेकिन हमे उस जमाने का ठीक हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते है कि भारत या भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह मुमकिन है कि उस वक़्त के जो क़िस्से चले आते हैं, उनमें पुराने राजाओं की शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया हो। जो कुछ भी हो, चन्द्रगुप्त मौर्य्य का साम्राज्य इतिहास में भारत के मजबूत और विस्तृत साम्राज्य की पहली मिसाल है। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था। यह भी साफ़ है कि ऐसा शासन और राज्य एकदम से पैदा नहीं हो गया होगा। बहुत दिनों से कई प्रवृत्तियाँ होती चली आई होंगी, छोटे-छोटे राज्य आपस में मिलते रहे होंगे और शासन-कला में उन्नति जारी रही होगी।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में, सिकन्दर के सेनापति सैल्यूक ने, जिसे विरासत में एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशो का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पारकर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था उसी रास्ते उसे अपना-सा मुँह लेकर लौट जाना पड़ा। यहाँ से कुछ प्राप्त करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात तक गांधार या अफ़गानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने सैल्यूक की लड़की से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफ़गानिस्तान के एक हिस्से में, काबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक, फैल गया। सिर्फ़ दक्षिण भारत उसके मातहत नहीं था। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सैल्यूक ने चन्द्रगुप्त के दरबार मे मेगस्थने को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थने ने उस जमाने का एक बड़ा दिलचस्प वर्णन लिखा है, जो अभी तक पाया जाता है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन भी हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा तफसीलवार हाल मिलता है। इस किताब का नाम है 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'। यह कौटिल्य और कोई नहीं, हमारा वही पुराना दोस्त चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है "सम्पत्ति का शास्त्र"।

इस अर्थशास्त्र में इतने विषय है, और इतनी विभिन्न बातो पर इसमे चर्चा की गई है कि तुमको उसके बारे में विस्तार से बता सकना मेरे लिए मुमकिन नहीं है। उसमे राजाओं के धर्म का, उसके मन्त्रियों और सलाहकारो के कर्त्तव्य का, राजपरिषद् का, शासन-विभागो का, वाणिज्य और व्यापार का, गाँव और क़स्बो के शासन का, क़ानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजों का, स्त्रियो के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पालन का, शादी और तलाक़ का, टैक्स का, खुश्की सेना और जलसेना का, लड़ाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती-बाड़ी का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्टों का और जेलों तक का जिक्र है! मै इस फ़ेहरिस्त को और भी बढा सकता हूँ लेकिन मै इस पत्र को कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्यायों के शीर्षकों से नही भरना चाहता।

जब राजा राजगद्दी पर बैठते समय जनता के हाथों से शासन का अधिकार पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पडती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी पडती थी "अगर मै तुम्हे सताऊँ तो मैं स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वञ्चित रहूँ।" इस पुस्तक में राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके मुताबिक राजा को जरूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तजार कर सकता है। "अगर राजा चुस्त होगा तो उसकी प्रजा भी उतनी ही चुस्त होगी।"

"अपनी प्रजा की खुशी में उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है;
जो बात उसे अच्छी लगे उसीको वह अच्छा न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे
उसीको वह भी अच्छा समझे।"

हमारी इस दुनिया से अब राजा-महाराजा उठते आ रहे हैं। जो इने-गिने बच गये है वे भी बहुत जल्द ग़ायब हो जायँगे। लेकिन यह एक ध्यान देने लायक़ बात है कि प्राचीन भारत में राज्याधिकार का मतलब जनता की सेवा था। उस समय राजाओं का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके

पास कोई निरंकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अत्याचार करता था तो जनता को हक था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा मुकर्रर कर दे। उन दिनो यही सिद्धान्त और आदर्श था। फिर भी उस समय बहुत से राजा ऐसे हुए जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होंने अपनी बेवकूफी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतों में फँसाया था।

अर्थशास्त्र में इस पुराने सिद्धान्त पर भी जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी गुलाम न बनाया जा सकेगा'[1] इससे जाहिर होता है कि उस जमाने में किसी न किसी तरह के गुलाम होते थे जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, या देश के रहनेवाले होंगे।[2] लेकिन जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध था इस बात पर पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि वे किसी भी हालत में गुलाम न बनाये जायँ।

मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गंगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चहारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकड़ो छोटे दरवाजे थे। मकान ज्यादातर लकड़ी के बने हुए थे और चूँकि आग लगने का डर रहता था इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तजाम था। खास-खास सड़कों पर पानी से भरे हजारो घड़े हमेशा रक्खे रहते थे। हरेक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर में पानी से भरे घड़े, सीढी, काँटा और दूसरी जरूरी चीजें रखनी पडती थी जिससे कि आग लगने पर बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरो के बारे में एक ऐसे नियम का जिक्र किया है जो तुम्हें बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सडक पर कूड़ा फेंकता था तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सड़क पर कीचड या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन कायदो पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर, सुथरे और साफ रहे होंगे। मै चाहता हूँ कि हमारी म्यूनिसिपैलिटियों मे भी इसी तरह के कुछ नियम बना दिये जायँ।

पाटलिपुत्र मे इन्तजाम करने के लिए एक म्यूनिसिपल कौंसिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमे तीस मेम्बर होते थे और पाँच-पाँच मेम्बरो की छ कमेटियाँ बनाई जाती थी। शहरी उद्योगो और दस्तकारियो का यात्रियो और तीर्थयात्रियो का, टैक्स के लिए मौतो और पैदायशो का, सामान तैयार करने का और दूसरी बातो का इन्तजाम इन्ही कमेटियो के हाथ मे रहता था। पूरी कौंसिल सफाई, आमद-खर्च, पानी की व्यवस्था, बाग-बगीचे और सार्वजनिक इमारतो का इन्तजाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पचायते और अपील सुनने के लिए अदालतें थी। अकाल-पीडितों की मदद का खास प्रबन्ध होता था। राज्य के सारे भण्डारों का आधा गल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा जमा करके रक्खा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य्य-साम्राज्य, जिसे बाईस सौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने सगठित किया था। मैंने अभी कौटिल्य और मेगस्थन की बयान की हुई कुछ बातो का जिक्र यहाँ किया है। इनसे ही तुम्हें मोटे तौर पर यह पता चल जायगा कि उत्तरी भारत की उस समय क्या हालत थी। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बड़े-बडे शहरो और हजारो कस्बों और गाँवो तक सारे देश में जीवन की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बड़ी बड़ी सडकें थी। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिम सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरे थी और उनकी देख-भाल के लिए एक खास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहो, घाटों, पुलो और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत से जहाजों और नौकाओ की देख-रेख किया करता था। जहाज समुद्र पार चीन और बर्मा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा से पहले २९६वें वर्ष में उसकी मृत्यु हुई। अपने अगले पत्र में हम मौर्य्य साम्राज्य की कहानी जारी रक्खेंगे।

---

[1] 'न त्वेवाऽऽर्यस्य दास भावः'—कौटिल्य

[2] 'म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा'—कौटिल्य

: १६ :

तीन महीने !

अेकोविया जहाज से—
२१ अप्रैल, १९३१

तुम्हें पत्र लिखे बहुत दिन हो गये। करीब तीन महीने—दु:ख, परेशानी और मुसीबत के तीन महीने—गुजर गये। भारत के और सबसे बढ़कर हमारे कुटुम्ब के, परिवर्तन के ये तीन महीने ! भारत ने फ़िलहाल सत्याग्रह-आन्दोलन रोक दिया है, लेकिन जो सवाल हमारे सामने हैं उनके हल करने में कोई आसानी पैदा नहीं हुई। और हमारे कुटुम्ब ने अपना प्यारा बुजुर्ग खो दिया जिसने हमे बल और स्फूर्ति दी थी, जिसकी आश्रयदायिनी देख-रेख में हम सब बड़े हुए और अपनी जन्मभूमि भारतमाता के प्रति शक्तिभर अपना फ़र्ज़ अदा करना सीखा।

नैनी-जेल का वह दिन मुझे कितनी अच्छी तरह याद है ! वह २६ जनवरी का दिन था और मैं हमेशा की तरह पुरानी बातों के बारे में तुम्हें पत्र लिखने बैठा था। उसके एक दिन पहले मैं तुम्हें चन्द्रगुप्त और उसके बनाये हुए मौर्य्य-साम्राज्य के बारे मे लिख चुका था। मैंने वादा किया था कि इस वर्णन को मैं जारी रक्खूंगा और उन लोगों का जो चन्द्रगुप्त के बाद हुए, और 'देवाना-प्रिय' अशोक महान् का, जो भारतीय आकाश में एक चमकदार सितारे की तरह चमका और अपना नाम अमर करके गायब हो गया, हाल बताऊँगा। और जब मैं अशोक की याद कर रहा था, मेरा मन घूम-फिरकर वर्तमान की ओर—२६ जनवरी पर आ पहुँचा, जिस दिन मैं कलम-दवात लेकर तुम्हें लिखने बैठा था। हम लोगों के लिए यह एक बहुत बड़ा दिन था, क्योंकि एक साल पहले इसी दिन हमने सारे भारत मे, शहरो और गाँवों मे, आजादी का दिन—पूर्ण स्वराज्य का दिन—मनाया था और हमारे देश के करोड़ों लोगोंने स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा की थी। तब से एक साल बीत गया—संघर्ष का, मुसीबतो का और विजय का एक साल—और एक बार फिर भारत उसी महान् दिन को मनाने जा रहा था। जब मैं नैनी जेल की ६ नम्बर की बैरक में बैठा हुआ था, मुझे उस दिन सारे देश मे होनेवाली सभाओं, जलूसो, लाठी-प्रहारो और गिरफ्तारियो का खयाल हो आया था। गर्व, प्रसन्नता और क्लेश के साथ मैं इन सब बातों का विचार कर ही रहा था कि मेरी कल्पना की धारा एकदम रुक गई। बाहर से खबर मिली कि दादू बहुत बीमार हैं और उनके पास जाने के लिए मैं फौरन ही छोड़ दिया जाऊँगा। चिन्ता के कारण मेरी विचार-धारा टूट गई और तुम्हें जो पत्र लिखना शुरू किया था उसे एक ओर रखकर नैनी-जेल से आनन्द भवन के लिए रवाना हो गया।

दादू की मृत्यु से पहले दस दिन मैं उनके साथ रहा। दस दिन तक हम उनके कष्ट और यातना को और मौत के फरिश्ते से उनकी वीरतापूर्ण लड़ाई को देखा किये। अपनी जिन्दगी मे उन्होंने बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ी और बहुत-सी विजय प्राप्त की। हार मानना तो वह जानते ही न थे और मौत को अपने सामने खड़ा हुआ देखकर भी वह उसके सामने डटे रहे। जब मैं उनकी इस आखिरी लड़ाई को देख रहा था, और जिन्हें मैं इतना प्यार करता था उन्हें मदद पहुँचाने मे अपनी बेबसी पर व्याकुल हो रहा था तो मुझे कुछ पंक्तियाँ, जो मैंने बहुत दिन हुए एडगर एलन पो की किसी कहानी मे पढी थी, याद आ गईं, जिनका अर्थ यह है—

> "मनुष्य खुद देवदूतो के सामने हार नही मानता और न वह मौत के सामने ही पूरी तरह सिर झुकाता है; अगर वह हार मानता है तो, अपनी क्षीण इच्छाशक्ति की कमजोरी की वजह से ही मानता है।"

६ फरवरी को सुबह वह हमें छोड़कर चल दिये। जिस झण्डे को वह इतना प्यार करते थे उसीमें उनका शरीर लपेटकर हम उन्हें लखनऊ से आनन्द-भवन ले आये। थोड़ी ही देर में वह जलकर मुट्ठी भर राख हो गया और गंगा इस अनमोल विभूति को समुद्र की ओर बहा ले गई।

लाखों आदमियो ने उनके लिए शोक मनाया लेकिन हम सब पर, जो उनके बच्चे हैं और जो उनके मांस और उनकी हड्डियों से बने है, कैसी बीती ! और उस नये आनन्द-भवन का, जो हम लोगों के समान ही उनका

बच्चा है, और जिसे उन्होंने इतने प्यार से और इतनी सावधानी से तैयार करवाया था, क्या हुआ ? वह अब सुनसान और वीरान हो गया, मानो उसकी जान निकल गई। और हम उसके बरामदो में, उन्हीं का बराबर खयाल करते हुए, जिन्होने इसे बनाया था, दबे पाँव चलते हैं कि कही उनकी शान्ति भंग न हो जाय।

हम उनके लिए शोक करते हैं और कदम-कदम पर उनकी कमी को महसूस करते हैं। दिन गुजरते जाते है, लेकिन न तो दु:ख कम होता दीखता है और न उनके विछोह की असह्यता ही कम होती दीखती है। लेकिन फिर मैं सोचता हूँ कि यह चीज़ उन्हे कभी पसन्द न आयेगी। उन्हे यह हरगिज़ पसन्द न होगा कि हम दु:ख से पस्त हो जायँ। वह तो यही चाहेगे कि जैसे उन्होंने अपनी तकलीफो का मुकाबला किया वैसे ही हम अपने रज का मुक़ाबला करे और उस पर विजय पाये। वह चाहेंगे कि जो काम उन्होने अधूरा छोडा है, उसे हम जारी रक्खें। फिर, जब काम हमे बुला रहा है और भारत की आज़ादी का मसला हमारी सेवाओ की माँग कर रहा है तब हम चुप कैसे बैठ सकते है और व्यर्थ के शोक के सामने कैसे सिर झुका सकते है ? इसी उद्देश्य के लिए उन्होने जान दी। इसीके लिए हम ज़िन्दा रहेंगे, कोशिश करेंगे, और अगर जरूरत हुई तो जान भी देगे। आखिर हम उनकी सन्तान है और हममे उनकी लगन, ताकत और दृढ़ विचार का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है।

इस समय जब मै ये सतरे लिख रहा हूँ नीले रग का अथाह अरब सागर मेरे सामने दूर तक फैला हुआ है और दूसरी तरफ, बहुत दूर के फ़ासले पर, भारत का किनारा है, जो हमसे छूटता जा रहा है। मैं इस सीमा-रहित और अपार विस्तार का खयाल करता हूँ और उसकी तुलना नैनी-जेल की ऊँची दीवारवाली छोटी-सी बैरक से करता हूँ, जहाँ से मैने तुम्हे पिछले पत्र लिखे थे। जहाँ समुद्र आकाश से मिलता-सा मालूम होता है वहाँ क्षितिज की रेखा साफ़-साफ मेरे सामने नजर आ रही है। लेकिन जेल में कैदी का क्षितिज तो उस दीवार की चोटी है जिससे वह घिरा रहता है। हममें से बहुत से, जो कल जेलों में थे, आज बाहर है और बाहर की आजाद हवा मे साँस ले सकते है। लेकिन हमारे बहुत से साथी अभी तक अपनी तग कोठ-रियों मे बन्द है और समुद्र, ज़मीन या क्षितिज के दर्शन से वंचित है। खुद भारत अभी तक जेल में है और उसे अभी आजादी मिलनी बाकी है। और अगर भारत आजाद नही है तो हमारी आज़ादी की क्या क़ीमत है ?

: २० :

अरब सागर

क्रैकोविया जहाज़
२२ अप्रैल, १९३१

यह कैसे संयोग की बात है कि हम इस क्रैकोविया जहाज़ पर बम्बई से लका जा रहे है ! मुझे अच्छी तरह याद है कि क़रीब चार बरस पहले मै किस तरह वेनिस मे इसके आने का इन्तज़ार कर रहा था। दादू इसी जहाज़ से आ रहे थे और मै स्वीज़रलैण्ड के बेक्स स्कूल में तुम्हे छोड़कर उनसे मिलने के लिए वेनिस गया था। फिर कुछ महीने बाद इसी क्रैकोविया जहाज से दादू योरप से भारत वापस लौटे थे और मै उनसे बम्बई मे मिला था। उस सफ़र के उनके कुछ साथी आज भी हमारे साथ है और ये सब दादू के बारे मे अपने बहुत से अनुभव सुनाते रहते है।

मैने तुम्हें कल के खत में पिछले तीन महीनो की बदलती हुई घटनाओं का हाल लिखा था। पिछले कुछ हफ़्तो में एक बात ऐसी हुई है जिसे मै चाहता हूँ कि तुम याद रक्खो; क्योंकि भारत उसे बहुत बरसो तक याद रक्खेगा। एक महीने से कम हुआ कानपुर शहर में भारत का एक बहादुर सिपाही गणेश शकर विद्यार्थी, चल बसा। वह उस समय मारे गये, जब वह दूसरों को बचाने की कोशिश कर रहे थे।

गणेशजी मेरे प्रिय दोस्त थे, एक बहुत ऊँचे तथा नि:स्वार्थ साथी थे, जिनके साथ काम करना सौभाग्य

की बात थी। पिछले महीने जब कानपुर में लोगों के सिर पर पागलपन सवार हुआ, और एक भारतीय दूसरे भारतीय को क़त्ल करने लगा, तो गणेशजी आग में कूद पड़े—अपने किसी देश-भाई से लड़ने के लिए नहीं—बल्कि उन्हें बचाने के लिए। उन्होंने सैकड़ों को बचाया, सिर्फ़ अपने को वह नहीं बचा सके। अपने बचाव की उन्होंने परवाह भी नहीं की और उनकी मौत उन्हीं के हाथों हुई, जिन्हें वह बचाना चाहते थे। कानपुर का और हमारे प्रान्त का एक हीरा लुट गया और हममें से बहुतेरे अपने एक प्रिय और बुद्धिमान मित्र से हाथ धो बैठे। लेकिन कितनी शानदार थी उनकी मौत! उन्होंने शान्त-मुद्रा और निर्भीकता के साथ गण्डों के पागलपन का मुक़ाबिला किया और ख़तरे और मौत के बीच भी उन्हें ख़याल था तो सिर्फ़ दूसरों को बचाने का!

तब्दीलियों के ये तीन महीने! समय के सागर में एक बूंद के समान और कौम की जिन्दगी में एक पल के समान! सिर्फ़ तीन हफ़्ते पहले मैं मोहेन-जो-दडो के खण्डहर देखने गया था, जो सिन्ध में, सिन्ध नदी की घाटी में हैं। उस समय तुम मेरे साथ नहीं थी। मैंने वहाँ एक बहुत बड़ा शहर जमीन के अन्दर से निकला हुआ देखा—ऐसा शहर जिसमें मजबूत ईंटों के मकान और लम्बी-चौड़ी सड़कें थीं और कहा जाता है कि जिसे बने पाँच हज़ार बरस हो गये। मैंने इस प्राचीन शहर में मिले हुए सुन्दर-सुन्दर ज़ेवर और मिट्टी के बरतन देखे। इन सबको देखते-देखते मुझे ऐसा मालूम होने लगा मानो चटकीले-भड़कीले कपड़े पहने हुए मर्द और औरतें इसकी सड़कों और गली-कूचों में आ-जा रहे हैं, बच्चे बच्चों के-से खेल खेल रहे हैं, माल से भरे बाज़ार गुलज़ार हो रहे हैं, लोग सौदा ले-दे रहे हैं और मन्दिरों की घंटियाँ बज रही हैं।

इन पाँच हज़ार वर्षों से भारत अपना जीवन कायम रखता आ रहा है और उसने बहुत-से परिवर्तन देखे हैं। मैं बाज़ वक़्त यह सोचने लगता हूँ कि क्या हमारी यह बूढ़ी भारतमाता, जो इतनी प्राचीन और फिर भी इतनी नौजवान और सुन्दर है, अपने बच्चों की बेसबरी पर, उनकी छोटी-मोटी परेशानियों पर, उनके हर्ष और शोक पर, जो दिन भर रहते हैं और फिर ख़तम हो जाते हैं, मुस्कराती न होगी?

: २१ :

छुट्टी के दिन और स्वप्न-यात्रा

२६ मार्च, १९३२

चौदह महीने हो चुके, जब मैंने तुम्हें नैनी-जेल से प्राचीन इतिहास के बारे में पत्र लिखे थे। इसके तीन महीने बाद पत्रों के उसी सिलसिले में मैंने अरब सागर से तुम्हें दो छोटे-छोटे पत्र और लिखे थे। उस वक़्त मैं क्रेकोविया जहाज पर लंका को सफ़र कर रहा था। जैसा कि मैंने लिखा था, विशाल समुद्र मेरे सामने दूर तक बिछा हुआ था। मेरी भूखी आँखें उसे निहार रही थीं और अघाती नहीं थीं। इसके बाद हम लंका पहुँचे और महीने भर तक बड़े आनन्द से छुट्टियाँ मनाईं और अपनी मुसीबतें और परेशानियाँ भूल जाने की कोशिश की। उस अत्यन्त सुन्दर द्वीप में हम ख़ूब घूमे और उसका अतुलित सौन्दर्य और वहाँ की प्रकृति की प्रचुरता देखकर आश्चर्य-चकित हो गये। कैंडी, नुवाराइलिया, और प्राचीन वैभव के चिन्हों और खंडहरों से भरपूर अनुरुद्धपुर आदि जहाँ-जहाँ हम गये, उन जगहों की याद करके कितना आनन्द आता है! लेकिन मुझे सबसे ज्यादा आनन्द तो आता है भूमध्य प्रदेश के उन ठण्डे जंगलों की याद करके जिनमें जीवन बिखरा पड़ता है, जिनकी हज़ारों आँखें हमें देखती हैं, अथवा पतले और बिल्कुल सीधे तनोंवाले सुन्दर सुपारी के वृक्षों की याद से, नारियल के असंख्य पेड़ों की सुध से, और ताल-वृक्षों की किनारीवाले तट के ध्यान से; जहाँ इस द्वीप की पन्नामणि के समान हरियाली समुद्र और आकाश की नीलिमाओं से मिलती है; जहाँ सागर-जल किनारे पर छलकता और हिलोरों से अठखेलियाँ करता है और वायु तालवृक्षों में होकर मर्मर ध्वनि करती हुई निकल जाती है।

बहुत दिन हुए तब इस भूमध्य प्रदेश में तुमने और मैंने पहली बार यात्रा की थी जिसकी याद करीब-क़रीब

जाती रही है, लेकिन वह एक नया अनुभव था। मुझे वहाँ जाने का आकर्षण नही था क्योंकि मै वहाँ की गर्मी से घबराता था। मुझे तो समुद्र, पहाड और सबसे ज्यादा बर्फ़ से ढकी हुई ऊँची चोटियाँ और हिम-नदियाँ अच्छी मालूम होती हैं। लेकिन लंका के इस थोड़े ही दिनो के निवास से मुझे गरम प्रदेश की मनोहरता और मोहकता का भी कुछ अनुभव हुआ। और मै यह लालसा लिये हुए वापस आया कि मौक़ा मिला तो इस प्रदेश में फिर कभी आऊँगा।

लंका में छुट्टी का हमारा एक महीना देखते-देखते खतम हो गया और हम समुद्र का लग भाग पार करके भारत के दक्षिणी नाके पर पहुँचे। क्या तुम्हें अपने कन्याकुमारी चलने की याद है? कहते है कि यहाँ कुमारिका देवी निवास करती और अपने देश की रक्षा करती है, और जिसे, हमारे नामों को तोड़-मरोड़कर भ्रष्ट करने में कुशल पश्चिम-निवासी 'केप कामोरिन' कहते है। उस वक्त वहाँ हम सचमुच भारतमाता के चरणो में ही बैठे थे, और वही हमने अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के समुद्रजलों का संगम देखा था और हमारे मन में यह कल्पना पैदा हुई थी मानो कि ये दोनो भारत की पूजा कर रहे है! उस स्थान पर अद्भुत शान्ति थी। यहाँ बैठे-बैठे मेरा मन भारत के दूसरे छोर पर कई हजार मील दूर दौड़ गया था, जहाँ हिमालय की चोटियाँ सदा-सर्वदा बर्फ का ताज पहने रहती है और जहाँ ऐसी ही शान्ति का साम्राज्य है। लेकिन इन दोनो के बीच मे तो काफी अशान्ति है, ग़रीबी है और मुसीबते है!

हम कन्याकुमारी से बिदा हुए और उत्तर की तरफ़ चले। त्रावणकोर और कोचीन होते हुए और मलाबार की समुद्री झीलो को पार करते हुए हम आगे बढे। ये सब स्थान कितने सुन्दर थे! हमारी नाव चाँदनी रात मे पेड़ो से छाये हुए किनारो के बीच में होकर कितनी शान्ति से बहती जाती थी, मानो हम लोग स्वप्न मे विचर रहे हो। इसके बाद हम लोग मैसूर, हैदराबाद और बम्बई होते हुए आखीर मे इलाहाबाद आ पहुँचे। यह नौ महीने पहले अर्थात् जून के महीने की बात है।

लेकिन आजकल तो हिन्दुस्तान मे जितने रास्ते है, वे सब हमे, आज या कल, एक ही जगह पहुँचा देते है। सारी यात्रायें चाहे वह स्वप्न की हो या असली, जेलखाने मे ही जाकर समाप्त होती है! और इसलिए मै फिर अपनी पुरानी परिचित दीवारो के अन्दर पहुँच गया, जहाँ सोचने के लिए और तुम्हें पत्र लिखने के लिए—चाहे वे तुम्हारे पास पहुँचे या न पहुँचे—बहुत वक्त मिलता है। लड़ाई फिर शुरू हो गई है और हमारे देशवासी, स्त्री और पुरुष, लडके और लडकियाँ, स्वतन्त्रता की लडाई के लिए और इस मुल्क को गरीबी की लानत से छुडाने के लिए, निकल पडे है। लेकिन स्वतन्त्रता ऐसी देवी है जो मुश्किल से खुश होती है। पुराने ज़माने की तरह आज भी यह अपने भक्तो से, आदमियो की क़ुर्बानी—नर-बलि चाहती है।

आज मुझे जेल मे आये पूरे तीन महीने हो गये। तीन महीने पहले, आज ही के दिन, यानी २६ दिसम्बर को, मै छठी बार गिरफ्तार किया गया था। पत्रो के इस सिलसिले को फिर से शुरू करने में मैने बहुत देर कर दी। लेकिन तुम जानती हो कि जब दिमाग वर्त्तमान की चिन्ताओ से भरा हुआ हो तो सुदूर अतीत के बारे में सोचना कितना मुश्किल हो जाता है। जेल मे पहुँचने के बाद जमने-जमाने और बाहर की घटनाओ की चिन्ता से पीछा छुड़ाने मे कुछ वक्त लग जाता है। अब मै तुम्हे बराबर पत्र लिखने की कोशिश करूँगा। लेकिन अब मैं एक दूसरी जेल में हूँ और यह तबदीली मेरे पसन्द की नही है। इससे मेरे काम में कुछ विघ्न पडता है। इस जेल मे मेरा क्षितिज पहले की सब जेलो से ज्यादा ऊँचा हो गया है। यहाँ मेरे सामने जो दीवार है उसका सम्बन्ध कम-से-कम ऊँचाई में तो जरूर चीन की दीवार से होना चाहिए! यह करीब २५ फ़ीट ऊँची है और हर रोज़ सुबह सूरज की किरणो को इसे पार करके हमारे पास तक पहुँचने में डेढ़ घंटा ज्यादा समय लग जाता है।

हमारा क्षितिज थोडी देर के लिए परिमित भले ही हो, लेकिन विशाल नीले समुद्र और पहाड़ों और रेगिस्तानो और दस महीने पहले, तुमने, तुम्हारी ममी ने और मैने जो स्वप्नयात्रा की और जो आज कल्पना की-सी बात हो गई है, इन सब की याद बहुत भली मालूम होती है।

: २२ :

जीविका के लिए मनुष्य का संघर्ष

२८ मार्च, १९३२

आओ, अब हम दुनिया के इतिहास के सिलसिले को, जहाँ से हमने उसे छोडा था, फिर शुरू करे और पुराने जमाने की कुछ झाँकियाँ देखने की कोशिश करे। यह एक उलझा हुआ जाल है जिसका सुलझाना मुश्किल है और इसके सारे हिस्सो पर एक साथ नजर डाल सकना और भी ज्यादा मुश्किल है। कभी-कभी हम स्वभाव से ही उसके किसी खास हिस्से मे उलझ जाते है और उसे जरूरत से ज्यादा महत्व देने लगते है। क़रीब-क़रीब सभी की यह भावना होती है कि अपने देश का, चाहे वह कोई-सा देश हो, इतिहास दूसरे देशों के इतिहास से ज्यादा शानदार और अध्ययन के अधिक योग्य है। इस प्रवृत्ति के खिलाफ़ मै एक बार पहले भी तुम्हें चेतावनी दे चुका हूँ, और आज फिर चेता देना चाहता हूँ। इस जाल में फँस जाना बहुत ही आसान है। सच तो यह है कि इसीसे बचाने के लिए मैने तुम्हे इन पत्रो का लिखना शुरू किया था। लेकिन फिर भी कभी-कभी में महसूस करता हूँ कि मै खुद वही गलती कर बैठता हूँ। लेकिन अगर खुद मेरी ही शिक्षा मे कसर है और जो इतिहास मुझे पढाया गया, वही ऊट-पटाग है तो इसमे मेरा क्या कसूर? इस कमी को पूरा करने के लिए मैने जेल के एकान्त मे विशेष अध्ययन करने की कोशिश की और उसमे मुझे शायद कुछ हदतक कामयाबी भी मिली है। लेकिन अपने मन की चित्रशाला में घटनाओ और व्यक्तियो की जिन तसवीरों को मैने अपने बचपन और जवानी के दिनो में लटकाया था उन्हे वहाँसे हटा नही सकता। और इतिहास सम्बन्धी मेरे दृष्टिकोण पर, जो अधूरे ज्ञान की वजह से वैसे ही काफी परिमित है, इन तसवीरो का भी असर पडता है। इसलिए जो कुछ मै लिखूंगा उसमे मुझसे गलतियाँ होगी। बहुत-सी बेमतलब बाते लिख जाऊँगा और कई बार बहुत-सी महत्वपूर्ण बातो का जिक्र तक करना भूल जाऊँगा। लेकिन ये पत्र इसलिए लिखे भी नही गये है कि वे इतिहास की पुस्तको की जगह ले ले। ये तो उस आपसी छोटी-सी बात-चीत की तरह है—कम-से-कम मै तो इन्हे ऐसा ही समझकर खुश होता हूँ—जो हम दोनो मे होती, अगर एक हजार मील का फ़ासला और कई ठोस दीवारे हम दोनो को जुदा न किये होती।

मै उन बहुत-मशहूर आदमियो के बारे मे तुम्हे लिखे बिना रह नही सकता जिनके शानदार कारनामो से इतिहास के पन्ने भरे हुए है। अपने ढग पर उनके खुद के हाल भी दिलचस्प है और उनसे हमें उस जमाने की हालत समझने में मदद मिलती है। लेकिन इतिहास सिर्फ बड़े-बड़े आदमियो, बादशाहो, सम्राटो या इसी तरह के दूसरे आदमियो के कारनामो का लेखा ही तो नही है। अगर ऐसा होता तो इतिहास का काम अभी तक खतम हो जाना चाहिए था, क्योकि बादशाह और शाहशाह दुनिया के रंगमच पर अब अकड़कर चलते हुए दिखाई नही देते। लेकिन जो स्त्री या पुरुष वास्तव में महान् है उन्हे अपनी विशेषता प्रकट करने के लिए किसी ताज या तख्त या हीरे-जवाहरात या खिताबो की जरूरत नही है। सिर्फ राजाओ और नवाबो को, जिनके अन्दर सिवाय राजाई या नवाबी के और कुछ भी नही होता, अपनी नग्नता छिपाने के लिए तरह-तरह की वर्दियाँ और राज-पोशाके पहननी पडती है। बदकिस्मती से इस जाहिरा दिखावे से हममे से बहुत से लोग धोखे मे फँस जाते है और "सिर पर ताज रखनेवाले नाम-मात्र के "राजा को राजा कहने" की ग़लती करते है।

इधर-उधर के कुछ इने-गिने व्यक्तियो का वर्णन वास्तविक इतिहास नही है। उसका विषय तो वे सब लोग है जिनसे राष्ट्र बनता है, जो मेहनत करते है और अपने परिश्रम से जीवन की जरूरतों और ऐशो-आराम की चीजे पैदा करते है, और जो हजारों ढंग से एक दूसरे पर असर डालते है। मनुष्य जाति का इस तरह का इतिहास सचमुच बड़ा चित्ताकर्षक होगा। उसमे विवरण होगा युगो से चले आते हुए मनुष्य जाति के प्रकृति और आग, पानी, हवा, आदि से, जंगली जानवरो और जगलो से सघर्ष का; और अन्त में उस कठिन सघर्ष का जो उसे अपनी ही जाति के कुछ ऐसे लोगों के खिलाफ करना पडा, जिन्होने अपने स्वार्थ के लिए उसे दबाये रखने की और उसका शोषण करने की कोशिश की है। इतिहास तो जीविका के

लिए मनुष्य के संघर्ष की कहानी है। और चूंकि जिन्दा रहने के लिए चन्द चीजें, जैसे भोजन, रहने की जगह, और ठंडे मुल्कों में कपड़े वग़ैरा जरूरी हैं, इसलिए जिन लोगों का जरूरत के इन सामानों पर अधिकार रहा, उन्होंने अपनी हुकूमत जमा ली। राजाओं और हाकिमो के हाथ में प्रभुता इसी वजह से रही है, कि जीविका के कुछ आवश्यक साधनों पर उनका अधिकार या नियन्त्रण था और इस नियन्त्रण ने उन्हें जनता को भूखों मारकर अपने वश में कर लेने की शक्ति दे दी। इसी वजह से हमें यह आश्चर्यजनक दृश्य देखने को मिलता है कि मुट्ठी भर आदमी बहुत बड़े जन-समुदाय को चूस रहे हैं; बहुत से आदमी बिना कुछ मेहनत किये ही रुपया कमा रहे है और बहुत बड़ी सख्या में ऐसे लोग है जो मिहनत करते है, लेकिन जिनकी कमाई बहुत कम है।

शुरू मे अकेले शिकार करनेवाला जगली आदमी धीरे-धीरे अपना कुटुम्ब बना लेता है। फिर परिवार के सब लोग मिलकर एक दूसरे के फ़ायदे के लिए मेहनत करते हैं। बहुत-से कुटुम्ब आपस में मिलकर गाँव बना लेते है, और बाद में कई गाँवो के मजदूर, व्यापारी और दस्तकार मिलकर अपने संघ बना लेते है। इस प्रकार धीरे-धीरे सामाजिक इकाई बढ़ने लगती है। शुरू मे व्यक्ति, एक जगली आदमी था। उस समय किसी तरह का कोई समाज नही था। उसके बाद कुटुम्ब के रूप मे उससे बड़ी इकाई सामने आती है। उसके बाद गाँव और फिर गाँवो का सघ बनता है। इस सामाजिक इकाई की वृद्धि क्यो हुई? इसलिए कि जीविका के लिए सघर्ष ने मनुष्य को उन्नति और सहयोग के लिए मजबूर कर दिया क्योकि सहयोग के साथ सबके सामान शत्रु से बचाव करना या उसपर हमला करना ज्यादा कारगर होता है बनिस्बत इसके कि सब अलग-अलग अपना बचाव करे या हमला करे। काम करने मे सहयोग इससे भी ज्यादा मददगार होता है। अकेले काम करने की बनिस्बत मिल-जुलकर काम करने से भोजन और दूसरी आवश्यक चीजें कही ज्यादा पैदा की जा सकती है। काम मे इस सहयोग के फल-स्वरूप आर्थिक इकाई का भी विकास होने लगा— जहाँ पहले एक जगली पुरुष अकेला अपनी रोज़ी की तलाश में जगलो मे शिकार करता फिरता था, वहाँ अब बड़े-बड़े समुदाय बन गये। बहुत मुमकिन है कि मनुष्य की आजीविका के इस सघर्ष के कारण आर्थिक इकाइयों मे जो बढोतरी होती गई उसीसे समाज और सामाजिक इकाई का विकास हुआ हो। इतिहास के लम्बे विस्तार मे हम देखते चले आ रहे हैं कि निरन्तर सघर्ष और मुसीबतो के दरमियान भी यह विकास बराबर जारी रहा है, हालाँकि कभी-कभी उलटी धारा भी बही है। लेकिन तुम यह न समझ बैठना कि इस उन्नति का यह मतलब है कि दुनिया बहुत आगे बढ गई है, या पहले से ज्यादा सुखी हो गई है। सम्भव है, पहले से आज उसकी हालत बेहतर हो। लेकिन पूर्णता से अभी वह बहुत दूर है और हर जगह काफी मुसीबत है।

जैसे-जैसे आर्थिक और सामाजिक इकाइयाँ बढती गईं, ज़िन्दगी भी और ज्यादा पेचीदा होती गई। व्यापार और तिजारत ने तरक्की की। भेंट की जगह चीज़ो की अदला-बदली शुरू हुई। और फिर सिक्के का चलन हुआ जिसने लेन-देन के सब व्यवहारो में बडा भारी अन्तर पैदा कर दिया। इससे व्यापार मे एकदम तरक्की हुई, क्योकि सोने और चाँदी के सिक्के के रूप मे दाम दिये जाने की वजह से व्यापार की अदला-बदली आसान हो गई। इसके बाद सिक्को का इस्तेमाल भी हमेशा जरूरी नही रहा और लोगो ने उनकी जगह उनके प्रतीक इस्तैमाल करने शुरू कर दिये। कागज का टुकडा, जिसपर अदायगी का वादा लिखा हुआ हो, सिक्के की बराबरी का समझा जाने लगा। इस प्रकार बैंक-नोटो और चेको का चलन शुरू हुआ। इसका मतलब हुआ कि व्यापार उधार या साख पर चलने लगा। साख या उधार के तरीके से व्यापार और तिजारत में और भी ज्यादा मदद मिलती है। तुम जानती ही हो कि आज-कल चेक और बैंक-नोटो का काफी इस्तेमाल होता है और समझदार आदमी अब अपने साथ सोने और चाँदी की थैलियाँ लिये नही फिरते।

इस तरह हम यह देखते है कि ज्यों-ज्यों धुंधले अतीत मे से इतिहास आगे बढता है, लोग उत्पत्ति बढाते जाते है और जुदे-जुदे धन्धे अपनाते जाते है, आपस में माल की अदला-बदली करते है और इस तरह व्यापार की उन्नति करते है। हम यह भी देखते हैं कि आवागमन के नये और बेहतर साधनो का विकास हुआ; खासकर पिछले सौ बरसो में, भाप के इंजन की ईजाद के बाद। ज्यों-ज्यो पैदावार बढ़ी, दुनिया की सम्पति बढ़ी और कम-से-कम कुछ आदमियों को ज्यादा फुरसत मिल गई। और इस तरह जिसे हम सभ्यता कहते है उसका विकास हुआ।

ये सब बातें हुईं। लोग आजकल के ज्ञानवान और उन्नति-शील युग की, अपनी आधुनिक सभ्यता, महान् संस्कृति और विज्ञान के चमत्कारों की, डींगें मारते है। लेकिन ग़रीब लोग अभी भी ग़रीब और दुखी बने हुए है, बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरे से लड़ते हैं और लाखो आदमियो की हत्या करते हैं, और हमारे देश जैसे बड़े-बड़े देशों पर विदेशी लोग हुकूमत करते है। ऐसी सभ्यता से क्या लाभ अगर हमे अपने ही घर में आजादी नसीब नही है? लेकिन अब हम जाग चुके है, और आगे बढने की कोशिश कर रहे है।

कितने सौभाग्य की बात है कि हम आज के इस हलचल के जमाने मे रह रहे है, जबकि हरेक आदमी महान् साहस पूर्ण कार्यों में हिस्सा ले सकता है और सिर्फ भारत को ही नही बल्कि सारी दुनिया को बदलती हुई देख सकता है! तुम बडी खुशक़िस्मत लडकी हो, कि तुम उसी साल और महीने मे पैदा हुईं जिसमें एक महान् क्रान्ति ने रूस में नया युग शुरू कर दिया। और आज तुम अपने ही देश में एक क्रान्ति देख रही हो और बहुत मुमकिन है कि जल्दी ही तुम इसमें हिस्सा लो। सारी दुनिया मे मुसीबत फैली हुई है और तब्दीली हो रही है। सुदूर-पूर्व में जापान चीन का गला घोट रहा है। पश्चिम में ही नही बल्कि सारी दुनिया में पुरानी प्रणाली लड़खड़ा रही है और धड़ाम से गिरने ही वाली है। संसार के राष्ट्र बाते तो निःशस्त्रीकरण की करते है लेकिन एक-दूसरे को सन्देह की नजर से देखते है और अपने को पूरी तरह हथियार-बन्द करते रहते हैं। पूंजीवाद की, जो इतने ज्यादा अर्से से दुनिया के ऊपर हावी रहा है, अब शाम होने आई है। जिस दिन यह खतम होगा, और खतम तो उसे जरूर होना ही पड़ेगा, वह अपने साथ बहुत-सी बुराइयों को भी लेता जायगा।

: २३ :

सिंहावलोकन

२९ मार्च, १९३२

प्राचीन युगों की अपनी यात्रा मे हम कहाँ तक आ पहुँचे है? हम मिस्र, भारत, चीन और नोसास के गुजरे दिनो की कुछ चर्चा पहले ही कर चुके है। हमने देखा कि मिस्र की प्राचीन और अद्भुत सभ्यता जिसने पिरेमिड बनाये, धीरे-धीरे जर्जर और दुर्बल हो गई और एक छायामात्र रह गई, जिसमे सिवाय ऊपरी बातो और प्रतीकों के असली जीवन-तत्व कुछ भी न बचा। हमने यह भी देखा कि यूनान के मुख्य हिस्से की कौम ने अपनी ही कौम के नोसास को नष्ट कर दिया। भारत और चीन के धुंधले और प्राचीन प्रारम्भिक काल पर भी हमने एक नजर डाली। हालाँकि जानकारी की काफी सामग्री न मिलने की वजह से हम उस विषय में ज्यादा नही जान सके लेकिन इतना हमने जरूर देखा, कि उस जमाने में भी इन स्थानो की सभ्यता कितनी सम्पन्न थी। हमने ताज्जुब के साथ यह भी देखा कि ये दोनो देश सास्कृतिक दृष्टि से अपने हजारो वर्ष पुराने अतीत के साथ अटूट कड़ियो से जुड़े हुए है। इराक़ में हमे उन साम्राज्यों की झलक मिली, जो एक के बाद एक थोड़े दिनों के लिए फूले-फले और बाद मे उसी रास्ते पर पहुँच गये, जिस पर चलकर सारे साम्राज्य नष्ट हो जाते है।

हमने जुदा-जुदा देशो के कई महान् विचारको का भी कुछ जिक्र किया है जो ईसा से पाँच-छ सौ बरस पहले पैदा हुए थे—भारत मे बुद्ध और महावीर, चीन मे कनफ्यूशियस और लाओ-त्जे, ईरान मे ज़रथुस्त और यूनान में पाइथागोरस। हमने देखा कि बुद्ध ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म के प्रचलित रूप पर और पुरोहिताई पर हमला किया था, क्योंकि उन्होंने देखा कि तरह-तरह के अन्धविश्वास और पूजा-पाठ के जरिये साधारण जनता को ठगा और मूंडा जा रहा था। उन्होंने जाति-प्रथा के खिलाफ आवाज़ उठाई और समानता का प्रचार किया।

इसके बाद फिर हम पश्चिम की ओर चले गये जहाँ एशिया और योरप एक-दूसरे से मिलते हैं। ईरान और यूनान की क़िस्मत पर नजर डालते हुए हमने देखा कि ईरान मे कैसे एक बडा साम्राज्य कायम हुआ और किस तरह 'शाहंशाह' दारा ने, उसे भारत मे सिन्ध तक बढ़ा दिया। किस तरह इस साम्राज्य ने

छोटे से यनान को निगल जाने की कोशिश की, लेकिन उसे यह देखकर हैरान हो जाना पड़ा कि किस तरह छोटी सी चीज भी उलटकर टक्कर मार सकती है और डटकर अपनी हिफ़ाजत कर सकती है। इसके बाद यूनान के इतिहास का वह छोटा-सा लेकिन शानदार जमाना आया, जिसके बारे में मैं तुम्हे कुछ बता चुका हूँ और जब वहाँ अनेक प्रतिभाशाली और महान् पुरुष पैदा हुए जिन्होंने अत्यन्त सुन्दर साहित्य और कला का निर्माण किया।

यूनान का यह सुवर्ण युग बहुत दिनो तक क़ायम नही रहा। मक़दूनिया के सिकन्दर ने अपनी विजयो से यूनान का नाम दूर-दूर मशहूर कर दिया; लेकिन उसके साथ ही यूनान की ऊँची संस्कृति धीरे-धीरे मुरझाने लगी। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को नष्ट कर दिया और विजेता बनकर भारत की सरहद को भी पार किया। इसमें शक नही कि वह बहुत बडा सेनापति था लेकिन पुराने जनश्रुति ने उसके नाम के साथ जो बेशुमार दन्तकथायें जोड़ दी है उनके कारण उसे इतनी शोहरत मिल गई है जितनी का कि वह किसी तरह पात्र नही था। सिर्फ अच्छे पढे-लिखे लोग ही सुकरात या अफ़लातून या फीडियस[1] या साफोक्लीज या यूनान के दूसरे महापुरुषों के बारे मे कुछ जानते है। लेकिन सिकन्दर का नाम किसने नही सुना ?

सिकन्दर ने जो कुछ किया वह दूसरो के मुकाबिले मे बहुत कम है। ईरानी साम्राज्य पुराना हो गया था और डगमगा रहा था और उसके बहुत दिनो तक टिके रहने की कोई सम्भावना नही थी। भारत मे सिकन्दर का आगमन एक मामूली छापा था, जिसका कोई महत्व नही था। अगर सिकन्दर ज्यादा दिन ज़िन्दा रहता तो मुमकिन है कुछ अधिक ठोस काम कर जाता। लेकिन वह जवानी में ही मर गया और तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकडे-टुकड़े हो गया। लेकिन उसका साम्राज्य भले ही कायम न रहा, उसका नाम अभी तक चला आता है।

सिकन्दर के पूर्वी धावे का एक बडा असर यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम के बीच नया सम्पर्क कायम हो गया। बहुत से यूनानी पूर्व की तरफ आये और पुराने शहरो में या अपने बनाये हुए नये उपनिवेशो मे बस गये। सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के बीच आपसी सम्पर्क और व्यापार चलता था। लेकिन उसके बाद यह और भी ज्यादा बढ गया।

सिकन्दर के हमलो का दूसरा मुमकिन असर, अगर यह खयाल सही हो, तो यूनानियो के लिए बडी कम्बख्ती का हुआ। कुछ लोगो का मत है कि उसके सैनिक अपने साथ इराक के दलदलो से मलेरिया के मच्छर यूनान के निचले प्रान्तो मे ले गये। इससे मलेरिया फैला और उसने यूनानी कौम को कमजोर और शक्तिहीन बना दिया। यूनानियो के पतन के कारणो में एक कारण यह भी बताया जाता है। लेकिन यह सिर्फ एक खयाली बात है और कोई नही कह सकता है कि इसमें सचाई कितनी है।

सिकन्दर का चन्दरोज़ा साम्राज्य खतम हो गया। लेकिन उसकी जगह कई छोटे-छोटे साम्राज्य पैदा हो गये। उनमे से एक मिस्र का साम्राज्य था, जो टालमी के अधिकार में था, और दूसरा पश्चिमी एशिया का सेल्यूक के मातहत था। टालमी और सेल्यूक दोनो सिकन्दर के सेनापति थे। सेल्यूक ने भारत पर कब्ज़ा करना चाहा लेकिन वह यह देखकर पछतायाँ कि भारत भी जोरदार जवाबी टक्कर दे सकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सारे उत्तरी और मध्य भारत पर अपना शक्तिशाली राज्य कायम कर लिया था। चन्द्रगुप्त, उसके प्रसिद्ध ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य, और उसकी लिखी हुई पुस्तक अर्थशास्त्र के बारे में मै अपने पिछले पत्रो मे कुछ हाल तुम्हे लिख चुका हूँ। सौभाग्य की बात है कि इस किताब से हमें आज से ढाई हजार बरस पहले के भारत का अच्छा हाल मालूम हो जाता है।

पिछले ज़माने का हमारा सिंहावलोकन पूरा हो गया और अब अगले पत्र मे मौर्य्य साम्राज्य और अशोक के बारे मे आगे का हाल लिखा जायगा। चौदह महीने से ऊपर हुए २५ जनवरी सन १९३१ ई० को, नैनी जेल से मैंने यह वादा किया था। उस वादे को मुझे अभी पूरा करना बाक़ी है।

---

[1]फ़ीडियस—यूनान देश का एक मशहूर शिल्पकार। इसका समय ईसा से ५ सौ वर्ष पहले बताया जाता है। ओलिम्पस पहाड़ पर इसने यूनानी देवता जुपिटर की एक मूर्ति बनाई थी। यह मूर्ति सोने और हाथी दांत की थी और उसकी गिनती दुनिया की सात अद्भुत चीज़ों में की जाती थी।

: २४ :

'देवानाम् प्रिय' अशोक

३० मार्च, १९३२

मुझे लगता है कि शायद मैं राजा-महाराजाओं की बुराई करने का जरूरत से ज्यादा आदी हो गया हूँ। मुझे इस वर्ग में कोई ऐसा गुण नही दिखाई देता जिसकी तारीफ या इज्जत करूँ। लेकिन अब हम एक ऐसे व्यक्ति का जिक्र करनेवाले है जो बादशाह और सम्राट् होते हुए भी महान् था और इज्जत के क़ाबिल था। वह था चन्द्रगुप्त मौर्य्य का पोता अशोक। एच० जी० वेल्स ने, जिनकी कुछ कहानियाँ तुमने पढी होगी, अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा'[1] नामक पुस्तक मे उसके बारे मे लिखा है—"इतिहास के पृष्ठो मे संसार के जिन लाखों सम्राटों, राज-राजेश्वरों, महाराजाधिराजो, श्रीमानो आदि के नाम भरे हुए है उनमे अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालाँकि उसने उसके सिद्धान्त को छोड दिया है—उसकी महानता की परम्परा को कायम रक्खा। आज अशोक का नाम श्रद्धा के साथ याद करनेवालो की संख्या उनसे कही ज्यादा है जिन्होने कान्सेन्टाइन या शार्लमेन[2] के नाम सुने हो।"

यह वास्तव मे बहुत ऊँचे दर्जे की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र था, और हरेक भारतीय का हृदय, भारत के इतिहास के इस युग पर विचार करने मे आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के करीब ३०० बरस पहले हुई। उसके बाद उसका लडका बिन्दुसार गद्दी पर बैठा जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया। यूनानी जगत् से उसने अपना सम्पर्क बनाये रक्खा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेल्यूक के लडके एण्टीओक और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील से रंगा करते थे। कहते है कि ये लोग अपनी मोमियाईयाँ भारत मलमल मे लपेटते थे। बिहार मे कुछ पुराने ज़माने के चिन्ह मिले है, जिनमे मालूम होता है कि मौर्य्य-युग के पहले भी वहाँ एक तरह का काँच बनाया जाता था।

तुम्हे यह बात दिलचस्प मालूम होगी कि मैगेस्थने ने, जो चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सजावट और सौन्दर्य बहुत पसन्द करते थे। उसने इस बात का खास तौर से जिक्र किया है कि लोग अपना क़द ऊँचा करने के लिए जूते पहनते थे! इससे मालूम होता है कि ऊँची एडी का जूता कोई हाल की ईजाद नही है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा से २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्य भारत मे लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाकी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य मे मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवें बरस मे कलिंग पर चढाई की। कलिंग भारत के दक्षिणी समुद्रतट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच का देश था। कलिंगवाले बडी बहादुरी से लडे, लेकिन आखिर में बहुत भयकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गये। इस लडाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर इतना गहरा असर किया कि उसे लड़ाई और उसके सब कामो से नफरत हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लडाई न लडेगा। दक्षिण के एक छोटे से टुकडे को छोड़कर करीब-करीब सारा भारत उसके कब्जे में था। इस छोटे से टुकड़े को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नही किया। एच० जी० वेल्स के लिखे मुताबिक़ इतिहास भर मे अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट् हुआ है जिसने विजय के बाद लड़ाई को त्याग दिया हो।

---

[1] Outline of History—H. G. Wells

[2] शार्लमेन—पवित्र रोमन-सम्राट् और फ़्रान्सीसी जाति का राजा था। इसका जन्म सन् ७४२ में हुआ था। इसके साम्राज्य में क़रीब सारा पश्चिमी योरप था। सन् ८१४ में इसकी मृत्यु हुई।

सौभाग्य से हमें खुद अशोक के ही शब्दों में ऐसे विवरण मिलते हैं जिनमें बतलाया गया है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरों और धातुपत्रों पर खुदी हुई बहुत-सी धर्मलिपियों में जनता और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। तुम जानती हो कि इलाहाबाद के किले मे अशोक का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे सूबे में इस तरह के और भी कई स्तम्भ है।

इन धर्मलिपियो में अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय में होनेवाली हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म के आचरण से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय प्राप्त करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। मै तुम्हारे लिए इन धर्मलिपियो में से दो-एक यहाँ देता हूँ। उन्हे पढकर मन मुग्ध हो जाता है और उनसे तुम्हें अशोक के भावो को समझने में मदद मिलेगी।

एक धर्मलिपि मे लिखा है—

> "धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता। डेढ लाख आदमी वहाँ से कैद करके लाये गये। एक लाख वहाँ कत्ल हुए और इससे कई गुना अधिक मर गये।
>
> "कलिंग-विजय के बाद से ही धर्मराज बडे उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार में जुट गये। उनके हृदय में कलिंग-विजय के लिए पश्चाताप शुरू हुआ क्योंकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने मे लोगों की हत्या, मृत्यु और उन्हे कैदी बना करके ले जाया जाना जरूरी हो जाता है। धर्मराज को इस बात पर बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।"

आगे चलकर इस धर्मलिपि मे लिखा है कि कलिग मे जितने आदमी मारे गये, या कैद हुए, उनका सौवें या हजारवे हिस्से का भी मारा जाना या कैद किया जाना अब अशोक को सहन नही होगा।

> "इसके सिवा अगर कोई धर्मराज के साथ बुराई करेगा तो वह उसे जहाँतक भी सहा जा सकेगा सहेंगे। अपने साम्राज्य की जगली जातियो पर भी धर्मराज कृपा-दृष्टि रखते है और चाहते है कि वे लोग शुद्ध भावना रखे, क्योंकि अगर वह ऐसा न करें तो उन्हे प्रायश्चित्त करना होगा। धर्मराज की इच्छा है कि समस्त जीवों की सुरक्षा हो और सब शान्तिपूर्वक सयम के साथ और प्रसन्न-चित्त रहें।"

इसके आगे अशोक बताता है कि धर्म से मनुष्यो का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमे बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नही बल्कि दूर-दूर के राज्यों मे भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन धर्मलिपियो मे बार-बार जिक्र आया है वह बौद्ध धर्म है। अशोक बडा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार मे शक्ति भर खूब कोशिश की; लेकिन इस काम में किसी तरह की जबरदस्ती या दवाव का नाम-निशान भी नही था। वह लोगो के दिलो को जीतकर ही उन्हें बौद्ध धर्मका अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारको मे ऐसे बहुत कम क्या बिल्कुल ही कम हुए है जो अशोक की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हो। लोगो को अपने धर्म में मिलाने के लिए धर्म-प्रचारको ने बल, आतंक और धोखेबाजी काम मे लाने में हिचकिचाहट नही की है। सारा इतिहास धार्मिक अत्याचारो और मजहबी लडाइयो से भरा पड़ा है और धर्म और ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है उतना शायद ही किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भारत के एक महान् सपूत ने, जो बहुत ही धार्मिक था और एक शक्तिशाली साम्राज्य का मालिक भी था, लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा मार्ग अपनाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवकूफ हो कि वह यह खयाल करे कि धर्म और विश्वास तलवार या संगीन के डर से लोगो के गले मे उतारे जा सकते हैं।

इस प्रकार देवताओ के प्रिय, या धर्मलिपियो के शब्दों में 'देवानाम् प्रिय', अशोक ने पश्चिम मे एशिया, अफरीका और योरप के राज्यो मे अपने सन्देश-बाहक और राजदूत भेजे। तुम्हे याद होगा कि उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा को लंका भेजा था और कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। तुम्हें याद है न कि अनुरुद्धपुर के मन्दिर में हम लोगो ने एक पीपल का पेड़ देखा था? कहते है कि यह वही पेड़ है जो उस पुरानी टहनी से जमकर बड़ा हुआ।

भारत में बौद्धधर्म बहुत तेज़ी से फैल गया। और चूँकि अशोक की दृष्टि में केवल मन्त्रों के जप और पूजा-पाठ और संस्कारों का नाम धर्म न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊँचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग़-बगीचे, अस्पताल, कुएँ, और सड़कें नज़र आने लगे। स्त्रियों की शिक्षा के लिए ख़ास इन्तज़ाम किया गया था। इस समय चार बड़े-बड़े विश्वविद्यालय थे, एक ठेठ उत्तर में पेशावर के पास, तक्षशिला में; दूसरा मथुरा मे, तीसरा मध्यभारत में उज्जैन में; और चौथा पटना के पास नालन्दा में। इन विश्व-विद्यालयों मे सिर्फ़ भारत के ही नही बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढने के लिए आते थे और वापस अपने देश को बुद्ध के उपदेशो का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश में बड़े-बड़े मठ बन गये थे, जो विहार कहलाते थे। मालूम होता है पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार, या जैसा कि आजकल पुकारा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा कि अकसर होता है इन विहारो मे से अध्ययन और विचार की साधना थोड़े ही दिनो मे जाती रही, और ये ऐसे स्थान बन गये जहाँ लोग एक ढर्रे में पड गये और पूजा-पाठ की लकीर पीटने लगे।

जीव-रक्षा के लिए अशोक के प्रेम का दायरा जानवरो तक के लिए बढ गया था। जानवरों के लिए ख़ास तौर से अस्पताल खोले गये थे, और पशु-बलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनो बातो मे अशोक हमारे ज़माने से भी कुछ आगे था। अफ़सोस की बात है कि जानवरो का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक ज़रूरी अंग माना जाता है, और जानवरो के इलाज का कोई इन्तज़ाम नही है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्धधर्म के प्रचार से लोगों मे मास न खाने का प्रचार होने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आम तौर पर माँस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के ज़माने मे माँस खाना और शराब पीना दोनो ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज्य किया और वह शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था। उसके शब्द हैं

> "हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाना खा रहा होऊँ या रनिवास मे होऊँ, अपने सोने के कमरे मे होऊँ या मन्त्रणा-गृह में होऊँ, अपनी गाडी मे बैठकर जाता होऊँ या महल के बाग मे होऊँ, सरकारी मुखबरो को चाहिए कि वे जनता के हाल-चाल की मुझे बराबर खबर देते रहें।" अगर कोई कठिनाई उठ खडी होती तो "चाहे जो समय या चाहे जो जगह हो" उसकी खबर तुरत उसे दी जानी ज़रूरी थी, क्योकि उसका कहना था कि "सार्वजनिक हित के लिए मुझे हरदम काम करना चाहिए।"

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध-भिक्षु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम चिह्न हमें मिलते है। लेकिन जो मिलते है वे ही, अभी तक की खोज के मुताबिक, भारत में आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे पुराने चिह्न है। इस वक्त हम मोहेन-जो-दडो के खँडहरो का ज़िक्र छोडे देते हैं। बनारस के पास सारनाथ में तुम अशोक का सुन्दर स्तम्भ देख सकती हो जिसके सिरे पर शेर बने हुए हैं।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाकी नही है। पन्द्रह सौ बरस पहले, यानी अशोक के छः सौ बरस बाद, फ़ाहियान[1] नाम का एक चीनी मुसाफिर पाटलिपुत्र आया था। उस समय यह नगर खूब उन्नत, मालदार और खुशहाल था लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खंडहर हो चुका था। इन खंडहरो ने ही फाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि यह राजमहल मनुष्यो का बनाया हुआ नही मालूम होता था।

बड़े भारी-भारी पत्थरों से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और अपनी कोई निशानी नहीं छोड़ गया,

---

[1]फ़ाहियान—एक चीनी बौद्ध यात्री था। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में भारत में आया था और ६ बरस तक यहाँ घूमता रहा। इसने उस ज़माने के भारतवर्ष का बहुत अच्छा वर्णन लिखा है। इसका समय ३७५ ई० है।

लेकिन अशोक की कीर्ति एशिया के महाद्वीप भर में आज भी जिन्दा है और उसकी धर्मलिपियों में ऐसी बातें लिखी हुई है जिनका भाव हम समझ सकते है और जिनकी क़ीमत हम पहचान सकते है। आज भी हम उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत लम्बा हो गया है और मुमकिन है तुम इससे ऊब जाओ। अशोक की एक धर्मलिपि से एक उद्धरण देकर मै इसे खतम करता हूँ :

> "सारे मत किसी-न-किसी अच्छाई के कारण आदरणीय है। दूसरे मतो का आदर करके आदमी अपने मत को ऊँचा उठाता है और साथ ही दूसरे लोगों के मतों की भी सेवा करता है।"

: २५ :

अशोक के ज़माने की दुनिया

३१ मार्च, १९३२

हम देख चुके है कि अशोक ने दूर-दूर के देशो में धर्म-प्रचारक और राजदूत भेजे थे और इन देशो से भारत का सम्पर्क और व्यापार बराबर जारी था। हाँ, जब मैं उस ज़माने के सम्पर्क या व्यापार का ज़िक्र करता हूँ तो तुम्हे यह बात जरूर खयाल में रखनी चाहिए कि वह आजकल का-सा बिलकुल नही था। अब तो रेल और जहाज़ और हवाई-जहाज से माल और मुसाफिरों का एक जगह से दूसरी जगह आना-जाना बहुत आसान हो गया है। लेकिन उस दूर के ज़माने सफ़र में बहुत खतरा रहता था और दिन भी बहुत लग जाते थे। इसलिए सिर्फ साहसी और तकलीफो को बर्दाश्त करने वाले लोग ही सफर किया करते थे। इस वजह से उस वक्त के और आज के व्यापार का किसी भी तरह मुक़ाबला नही हो सकता।

वे कौन-से 'दूर के देश' थे जिनका ज़िक्र अशोक ने किया? उसके समय की दुनिया कैसी थी? भूमध्य सागर के किनारे के देशो और मिस्र के सिवा हम उस वक़्त के अफरीका के बारे में कुछ भी नही जानते। हमें उत्तरी, मध्य और पूर्वी योरप या उत्तरी और मध्य एशिया के बारे में भी बहुत कम मालूम है। अमरीका के बारे मे भी हम कुछ नही जानते, लेकिन बहुत से लोग ऐसा समझते है कि अमरीका के महाद्वीपो में बहुत प्राचीन काल से काफी ऊँची सभ्यता पाई जाती थी। कहते है, बहुत दिनो बाद, ईसा की १५वी सदी में, कोलम्बस ने 'अमरीका को खोज निकाला'। लेकिन हमे पता चलता है कि उस समय भी दक्षिण अमरीका मे, पेरू मे और आस-पास के देशो मे बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता मौजूद थी। इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि ईसा के तीन सौ बरस पहले, जब भारत में अशोक हुआ, अमरीका में सभ्य लोग रहते हो और उन्होने अपने सुसगठित समाज बनाये हो। लेकिन इस बारे मे कोई प्रामाणिक बात नही मिलती, और अन्दाज लगाने मे कोई खास फ़ायदा नही। मै तो उनका ज़िक्र इसलिए कर रहा हूँ कि हम लोग अक्सर यही समझते है कि सभ्य लोग दुनिया के सिर्फ उन्ही हिस्सो मे रहते थे जिनके बारे में हम सुन चुके है या कुछ पढ़ चुके है। बहुत दिनों तक योरपवालो का यह खयाल बना रहा कि प्राचीन इतिहास का मतलब है सिर्फ यूनान, रोम और यहूदियो का इतिहास। इनके पुराने खयालो के मुताबिक सारी बाकी दुनिया उस वक़्त वीरान थी। बाद को जब उन्हीके विद्वानों और पुरातत्ववेत्ता लोगों ने उन्हें चीन, भारत और दूसरे देशों का हाल बताया तब उन्हें पता चला कि उनका ज्ञान कितना परिमित था। इसलिए-हमे सावधान रहना चाहिए और यह न समझ बैठना चाहिए कि जो कुछ हमारी इस दुनिया में हुआ है वह सब कुछ हमारे परिमित ज्ञान के दायरे के भीतर आ जाता है।

इस समय तो हम इतना ही कह सकते है कि अशोक के ज़माने के, यानी ईसा से पहले तीसरी सदी के, प्राचीन सभ्य संसार में मुख्यतया योरप और अफ़रीका के भूमध्यसागर के किनारो पर बसे हुए देश, पश्चिमी एशिया, चीन और भारत ही माने जाते थे। शायद पश्चिमी देशो और पश्चिमी एशिया तक से उस समय चीन का कोई सीधा सम्पर्क नही था और पश्चिम में चीन या कैथे के बारे में

बे-सिरपैर के ख़यालात फैले हुए थे। चीन और पश्चिम को मिलानेवाली कड़ी का काम भारत करता था।

हम देख चुके है कि सिकन्दर की मौत के बाद उसके साम्राज्य को उसके सेनापतियो ने आपस में बाँट लिया था। उसके तीन बड़े-बड़े हिस्से हुए (१) सेल्यूक के मातहत पश्चिमी एशिया, ईरान और इराक; (२) टालमी के मातहत मिस्र, और (३) एण्टीगोने के मातहत मकदूनिया। पहले दो राज्य बहुत दिनों तक क़ायम रहे। तुम्हे याद होगा कि सेल्यूक भारत का पड़ौसी था और उसने लालच में पड़कर भारत का कुछ हिस्सा अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहा था। लेकिन उसका पाला चन्द्रगुप्त से पड़ा जो उसके लिए सवा-सेर साबित हुआ और जिसने उसे पीछे हटाकर मुल्क का वह हिस्सा छीन लिया जो आजकल अफ़ग़ानिस्तान कहलाता है।

मकदूनिया का भाग्य इनसे कुछ बुरा साबित हुआ। गाल और दूसरी कौमो ने उस पर उत्तर से बार-बार हमला किया। उसका सिर्फ एक ही हिस्सा ऐसा था जो इन गाल लोगो का मुकाबला कर सका और आज़ाद रह सका। यह हिस्सा एशिया-कोचक मे परगेमम था जहाँ आज टर्की है। यह एक छोटा-सा यूनानी राज्य था; लेकिन सौ बरस से ज़्यादा तक वह यूनानी संस्कृति और कलाओ का केन्द्र बना रहा। वहाँ सुन्दर-सुन्दर इमारतें बनी, और पुस्तकालय और अजायबघर खुले। कुछ हद तक वह समुद्र के उस पार सिकन्दरिया की होड़ करने लगा था।

सिकन्दरिया मिस्र मे टालमी वंश के लोगो की राजधानी थी। यह एक बडा शहर हो गया था और प्राचीन दुनिया में बहुत मशहूर था। एथेन्स का गौरव बहुत कुछ घट चुका था और उसकी जगह सिकन्दरिया, धीरे-धीरे, यूनानी संस्कृति का केन्द्र बन गया। इसके विशाल पुस्तकालय और अजायबघर से आकर्षित होकर दूर-दूर देशो से बहुत-से विद्यार्थी यहाँ आते थे और दर्शन, गणित, धर्म, और बहुत-सी दूसरी समस्याओ का, जिनमे उस ज़माने के विद्वानों की बहुत रुचि थी, अध्ययन करते थे। उकलेदस[1] जिसका नाम तुम और स्कूल में पढनेवाले हरेक लड़के-लड़की को मालूम है, सिकन्दरिया का रहनेवाला था और अशोक का समकालीन था।

टालमी लोग, जैसा कि तुम जानती हो, यूनानी थे। लेकिन उन्होंने मिस्र के बहुत-से रस्म-रिवाजो को अपना लिया था, यहाँ तक कि मिस्र के कुछ पुराने देवताओ तक को वे पूजने लगे थे। पुराने यूनानियो के ज्यूपीटर, अपोलो और दूसरे देवी-देवता, जिनका होमर की वीरगाथाओ में जगह-जगह पर उसी तरह से उल्लेख है जैसे महाभारत मे वैदिक देवी-देवताओ का, या तो छोड़ दिये गये या उनके नाम बदलकर उन्हे दूसरे रूप दे दिये गये। आइसिस, ओसिरिस, और होरस आदि प्राचीन मिस्र के देवी-देवताओ और प्राचीन यूनान के देवी-देवताओ को मिलाकर घिल-मिल कर दिया गया और जनता के सामने पूजा के लिए नये देवी-देवता रख दिये गये। जब तक जनता को कोई-न-कोई देवता पूजने के लिए मिल जाता था, तब तक इस बात से किसी को क्या मतलब था कि वे किसके सामने सर झुकाते है, किसकी पूजा करते है और जिसकी पूजा करते है उसका नाम क्या है! उनके इन नये देवताओ मे सबसे मशहूर देवता सिरेपिस था।

सिकन्दरिया तिजारत का भी बहुत बडा केन्द्र था और सभ्य संसार के दूसरे देशो के व्यापारी वहाँ आते रहते थे। कहते है कि सिकन्दरिया में भारतीय व्यापारियो की भी एक बस्ती थी। हमे यह भी मालूम है कि सिकन्दरिया के व्यापारियों की एक बस्ती दक्षिण भारत मे मलाबार के समुद्री किनारे पर थी।

भूमध्यसागर के उस पार, मिस्र के नज़दीक, रोम था, जो इस समय तक बहुत महानता को पहुँच चुका था और जो भविष्य मे इससे भी अधिक महान् और शक्तिशाली होनेवाला था। उसके बिलकुल सामने अफ़रीका के किनारे पर कारथेज का शहर था जो रोम का प्रतिद्वन्द्वी और दुश्मन था। अगर हम प्राचीन दुनिया के बारे में कुछ जानना चाहते है तो हमे इनके इतिहास पर कुछ ज्यादा गौर करना पडेगा।

पूर्व में चीन उसी तरह महानता के दर्जे को पहुँच रहा था, जैसे पश्चिम मे रोम। अशोक के ज़माने की दुनिया की सही तसवीर सामने लाने के लिए हमे इस देश पर भी नज़र डालनी होगी।

---

[1] उक़लेदस या यूक्लिड—इसने रेखागणित के बहुतसे नियम और सिद्धान्त निकाले और उनपर एक ग्रन्थ लिखा। इसका समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है।

: २६ :

चिन् और हन्

३ अप्रैल, १९३२

पिछले साल मैंने नैनी जेल से जो पत्र तुम्हे लिखे थे, उनमें मैंने तुमको चीन के प्रारम्भ काल का, ह्वांग-हो नदी के किनारे वाली बस्तियों का, और हिस्या, शंग या इन और चाऊ नामक शुरू के राजवंशों का कुछ हाल लिखा था। मैंने यह भी बताया था कि उस लम्बे युग में चीन राज्य धीरे-धीरे कैसे बढ़ा और कैसे वहा एक केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। उसके बाद एक ऐसा लम्बा जमाना आया जब वहा नाममात्र के लिए अधिकार तो चाऊ राजवश का ही रहा, पर शासन के केन्द्रीकरण की गति रुक गई और गड़बड़ शुरू हो गई। देश के अलग-अलग क्षेत्रों के मामूली हाकिम एक तरह से स्वतत्र बन बैठे और आपसमे एक-दूसरे से लडने लगे। यह बद-किस्मती की हालत कई सौ बरस तक जारी रही। मालूम होता है कि चीन की हरेक बात सैकड़ो या हजारो बरसो से ही ताल्लुक रखती है। अन्त में एक स्थानीय हाकिम चिन् के सरदार ने प्राचीन और बीते हुए चाऊ राजवश को निकाल बाहर किया। चिन् की सन्तान चिन्-राजवंश कहलाती है और यह एक दिलचस्प बात है कि चीन का नाम इस चिन् शब्द से ही निकला है।

इस प्रकार चीनमे चिन लोगो का इतिहास, ईसा से २५५ वर्ष पहले शुरू हुआ। इससे १३ वर्ष पहले अशोक का राज्य भारत मे शुरू हो चुका था। यानी अब हम चीन में अशोक के समकालीन लोगो का जिक्र कर रहे है। चिन् राजवश के पहले तीन सम्राटो ने बहुत थोडे-थोड़े दिन राज्य किया। इसके बाद ईसासे २४६ वर्ष पूर्व चौथा सम्राट हुआ, जो अपने ढग का बहुत महत्वपूर्ण आदमी था। उसका नाम वाग-चैंग था, लेकिन बाद मे इसने अपना नाम शीह ह्वाग टी रख लिया और आमतौर पर वह इसी दूसरे नाम से मशहूर हैं। इसका अर्थ है 'पहला सम्राट'। जाहिर है कि उसे अपने ऊपर और अपने जमाने पर बड़ा घमड था और उसके दिल मे पुराने जमाने की जरा भी कदर न थी। असल में वह तो यह चाहता था कि लोग पुराने जमाने को भूल जायँ और यह समझने लगे कि इतिहास उसीसे शुरू होता है और वही महान पहला सम्राट है! उसे इस बात से कुछ मतलब न था कि उससे पहले दो हजार बरस से ज्यादा समय मे चीन मे एक के बाद एक सम्राट होते चले आये थे। वह तो देश से इन लोगों की याद तक मिटा देना चाहता था। सिर्फ़ पुराने सम्राटो के ही नही बल्कि पुराने जमाने के दूसरे सभी प्रसिद्ध पुरुषो तक के नाम वह भुलवा देना चाहता था। इसलिए यह हुक्म निकाला गया कि तमाम ऐसी किताबें, जिनमे पुराने जमाने का हाल हो, खासकर इतिहास की पुस्तकें और कनफ्यूशियस की महान् रचनायें, जला कर बिल्कुल नष्ट कर दी जायँ। सिर्फ वैद्यक की और विज्ञान की कुछ किताबो पर यह हुक्म लागू नही था। उसने अपने आज्ञा-पत्र में यह लिखा—

> "जो लोग प्राचीनता का हवाला देकर वर्तमान काल को नीचे दरजे का दिखाने की कोशिश करेंगे वे अपने रिश्तेदारो समेत क़त्ल कर दिये जायँगे।"

उसने अपनी इस बात पर अमल भी किया। सैकड़ो विद्वान्, जिन्होंने अपनी प्यारी किताबो को छिपाने की कोशिश की, जिन्दा दफन कर दिये। यह 'प्रथम सम्राट' कितना नेक, दयालु और खुश-मिजाज आदमी रहा होगा! मैं हमेशा उसे याद किया करता हूँ, और जब मै भारत के पुराने जमाने की जरूरत से ज्यादा तारीफ़ सुनता हूँ तो उस सम्राट के लिए मेरे दिल मे कुछ हमदर्दी भी पैदा हो जाती है। हमारे देश के कुछ लोग हमेशा गुजरे हुए जमाने परही नजर लगाये रहते है, उसी की महिमा गाते रहते है और उसीसे उत्साह और प्रेरणा पाने की उम्मीद करते रहते है। अगर अतीत हमें महान कामो के लिए उत्साह और प्रेरणा देता है, तो हम जरूर उसे उत्साह और प्रेरणा ले। लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर कोई आदमी या कोई कौम हमेशा पीछे की तरफ ही देखा करे तो उसकी तरक्की नही हो सकती। किसीने सच कहा है कि अगर आदमी पीछे चलने या हमेशा पीछे देखने के लिए बनाया गया होता तो उसकी आँखे उसके सर के पीछे होती। हम अपने अतीत पर जरूर ग़ौर करें, और उसमें जो कुछ तारीफ़ के क़ाबिल हो उसकी तारीफ़ भी करें, लेकिन हमारी निगाह हमेशा सामने रहनी चाहिए और हमारे क़दम हमेशा आगे बढ़ने चाहिए।

इसमें कोई शक़ नहीं कि शीह ह्वांग टी ने, पुरानी पुस्तकों को जलवाकर और उनके पढ़नेवालों को ज़िन्दा दफ़न कराके, एक वहशियाना काम किया। इसका यह नतीजा हुआ कि उसकी यह सारी कार्रवाई उसीके साथ खतम हो गयी। उसका इरादा यह था कि वह सबसे 'पहला सम्राट' माना जाय और उसके बाद उसका दूसरा उत्तराधिकारी हो, फिर तीसरा और इस तरह हमेशा तक उसके वंश का सिलसिला बना रहे। लेकिन हुआ यह कि चीन के सब राजवंशों में चिन् का वंश ही सबसे कम दिन कायम रहा। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इन राजवंशों में से बहुतों ने सैकड़ों बरसों तक राज्य किया और इनमें से एक, जो चिन् के पहले हुआ, ८६७ साल तक क़ायम रहा। लेकिन चिन् का महान राजवंश बढ़कर, सफलता प्राप्त कर और शक्तिशाली साम्राज्यपर शासन कर सिर्फ़ पचास वर्ष के थोड़े-से समय में ही कमजोर होकर नष्ट हो गया। शीह ह्वांग टी शक्तिशाली सम्राटों की श्रेणी में सबसे पहला सम्राट होना चाहता था। लेकिन ईसा से २०९ वर्ष पहले उसकी मृत्यु के तीन बरस बाद ही उसके वंश का खातमा हो गया और तुरन्त ही कनफ़्यूशियस के ग्रन्थ जहाँ-जहाँ छिपा रक्खे गये थे वहाँसे खोदकर निकाल लिये गये और उनका फिर पहलेकी तरह आदर होने लगा।

शासक की हैसियत से शीह ह्वांग टी चीन का एक सबसे शक्तिशाली शासक हुआ। उसने तमाम स्थानीय राजाओं की हेकड़ी को खतम कर दिया, सामन्तशाही का अन्त कर डाला, और एक मज़बूत केन्द्रीय शासनका संगठन किया। इसने सारे चीन और अनाम को जीत लिया। इसीने चीन की मशहूर दीवार का बनाना शुरू किया। यह एक बड़ा खर्चीला काम था। लेकिन मालूम होता है कि चीनियों ने अपनी हिफ़ाज़त के लिए एक बड़ी सेना बराबर क़ायम रखने के बजाय इस बड़ी दीवार पर, जो बाहर के दुश्मनों से उनकी हिफ़ाज़त करने के लिए बनाई जा रही थी, रुपया लगाना ज्यादा पसन्द किया। यह दीवार किसी बड़े हमलेको मुश्किल से रोक सकती थी, इसने सिर्फ़ इतना ही काम किया कि छोटे-छोटे छापों को रोक दिया। लेकिन इससे यह ज़ाहिर होता है कि चीनी लोग शान्ति पसन्द करते थे, और शक्तिशाली होते हुए भी सैनिक कीर्त्ति के लोलुप नहीं थे।

पहला सम्राट शीह ह्वांग टी मर गया और उस राजवंश में कोई दूसरा ऐसा नहीं निकला जो उसकी जगह लेता। लेकिन उसके ज़माने से सारा चीन एक सूत्र की परम्परा मे बंध गया।

इसके बाद एक दूसरा राजवंश हन्-वंश, सामने आया। यह वंश चार सौ वर्ष से ज्यादा रहा और इस वंश के प्रथम शासकों में एक सम्राज्ञी भी हुई। इसी वंश का छठा सम्राट वू-ती था, जोकि चीन के बड़े शक्तिशाली और मशहूर शासकों में गिना जाता है। इसने पचास बरससे ज्यादा राज्य किया। इसने तातारियों को हराया, जो उत्तर में बराबर छापे मारा करते थे। पूर्व में कोरिया से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक चीनी सम्राट का बोलबाला था और मध्य एशिया की सब जातियाँ उसे अपना प्रमुख शासक मानती थीं। अगर तुम एशिया का नकशा देखो तो उसके व्यापक प्रभाव और ईसा के पूर्व पहली और दूसरी सदी में चीन की शक्ति का कुछ अन्दाज़ लगा सकोगी। हम उस ज़माने के रोम की महानता के बारे में बहुत कुछ पढ़ते-सुनते हैं, और यह समझ बैठे हैं कि उस ज़माने के रोम ने सारी दुनिया को मात कर दिया था। रोम को 'संसार की स्वामिनी' कहा गया है। लेकिन, हालांकि रोम महान था और दिन-दिन महान होता जा रहा था, फिर भी चीन का साम्राज्य उससे कहीं ज्यादा फैला हुआ और शक्तिशाली था।

शायद वू-ती के ज़माने में ही चीन और रोम में आपसी सम्पर्क हुआ। पार्थव लोगों के ज़रिये इन दोनों देशों में व्यापार हुआ करता था। ये लोग जिस प्रदेश में रहा करते थे वह आज ईरान और इराक कहलाता है। लेकिन जब रोम और पार्थव में लड़ाई छिड़ी तो यह व्यापार रुक गया। रोम ने तब समुद्र के रास्ते चीन से सीधे तिजारत करने की कोशिश की और एक रोमन जहाज़ चीन पहुँच भी गया। लेकिन यह ईसा के बाद दूसरी सदी की बात है और अभी तो हम ईसा से पहले के ही ज़माने की बात कर रहे हैं।

हन् वंश के राज्यकाल में ही चीन में बौद्ध-धर्म आया। ईसाई सन् शुरू होने से पहले भी चीन में उसकी कुछ चर्चा होने लगी थी, लेकिन यह फैला कुछ समय बाद, जब उस वक्त के चीनी सम्राट ने, कहते हैं, एक आश्चर्यजनक स्वप्न में एक सोलह फुट लम्बा आदमी देखा, जिसके सर के चारों ओर चमकदार प्रभा-मंडल था। चूँकि उसे यह क्षणिक दृश्य पश्चिम की ओर दिखाई पड़ा था, इसलिए उसने उसी ओर दूत भेजे। ये दूत बुद्ध की मूर्त्ति और बौद्ध-ग्रन्थ लेकर वापस आये। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव भी चीन में पहुँचा; वहाँ से वह कोरिया में और कोरिया से जापान में फैल गया।

हन् युग में दो महत्वपूर्ण बातें ऐसी हुई जिनका ज़िक्र ज़रूरी है। इस समय लकड़ी के ठप्पों से छपाई की कला का आविष्कार हुआ। लेकिन क़रीब एक हज़ार वर्ष तक उसका ज्यादा उपयोग नहीं हुआ। फिर भी इस बात में चीन योरप से पाँच सौ बरस आगे था।

दूसरी महत्व की बात यह हुई कि इसी ज़माने में चीन में सरकारी नौकरियो के लिए परीक्षा की प्रथा शुरू हुई। लड़के और लड़कियाँ इम्तिहानो से घबराते हैं और मैं उनकी इस बात से हमदर्दी भी रखता हूँ। लेकिन उस ज़माने में सरकारी अफसरों की नियुक्त का यह तरीक़ा एक मार्के की बात थी। दूसरे मुल्को में अभी तक यह तरीक़ा रहा है कि सरकारी अफ़सर या तो ज्यादातर सिफ़ारिश से मुक़र्रर किये जाते थे या किसी खास वर्ग या जाति के लोगों में से। चीन में जो कोई इम्तिहान पास करता वही मुकर्रर किया जा सकता था। यह प्रणाली आदर्श नही कही जा सकती, क्योंकि कोई कनफ़्यूशियन शास्त्रो के इम्तिहान में पास हो जाय मगर फिर भी उसमें सरकारी अफ़सर बनने की योग्यता न हो। लेकिन रियायती और सिफ़ारिशी नियुक्ति से यह तरीक़ा कहीं बेहतर था और यह चीन में दो हज़ार बरस तक जारी रहा। अभी हाल ही मे इसका खातमा हुआ है।

: २७ :

रोम बनाम कार्थेज

५ अप्रैल, १९३२

अब हम सुदूर पूर्व से पश्चिम की ओर चलें और यह देखे कि रोम की तरक्की कैसे हुई। कहा जाता है कि रोम की बुनियाद ईसा के पहले आठवी सदी मे पड़ी थी। शुरू ज़माने के रोमन लोग जो शायद आर्यो के वशज थे, तबरेज़ नदी के पास की सात पहाडियो पर कुछ बस्तियाँ बसाये हुए थे। ये बस्तियाँ धीरे-धीरे बढकर शहर बन गईं और यह नगर-राज्य बढते-बढते इटली भर मे फैल गया। यहाँ तक कि यह सिसली के सामने वाले दक्षिणी सिरे पर मेसीना तक पहुँच गया।

तम शायद यूनान के नगर-राज्यो को न भूली होगी। जहाँ-जहाँ यूनानी गये, वहाँ-वहाँ वे नगर-राज्य का अपना यह खयाल भी साथ लेते गये और उन्होने भूमध्यसागर के किनारे को यूनानी उपनिवेशो और नगर-राज्यो से भर दिया। लेकिन इस वक्त हम रोम की इससे बिलकुल जुदी चीज़ का ज़िक्र कर रहे है। शुरू में शायद रोम भी यूनान के नगर-राज्य की तरह का ही रहा हो, लेकिन बहुत जल्द वह अपनी पड़ोसी जातियों को हराकर फैल गया। इस तरह रोमन राज्य का क्षेत्र बढने लगा और इटली का ज्यादातर हिस्सा उसमें आगया। इतना बड़ा क्षेत्र एक नगर-राज्य की तरह नही रह सकता था। इसके शासन का संचालन रोम से होता था और खुद रोम मे एक अजीब क़िस्म की सरकार थी। वहाँ न तो कोई बड़ा सम्राट् या राजा था और न आजकल की तरह का प्रजातत्र था। फिर भी वहाँ का शासन एक तरह से प्रजा-तन्त्री था, जिसपर ज़मीदार-वर्ग के कुछ अमीर कुटुम्बो का प्रभुत्व था। शासन का अधिकार सिनेट का माना जाता था—और इस सिनेट को दो चुने हुए आदमी नामजद करते थे, जो 'कौन्सल' कहलाते थे। बहुत दिनों तक तो सिर्फ अमीर लोग ही सिनेटर हो सकते थे। रोम की जनता दो वर्गों मे बँटी हुई थी, एक तो 'मुखिया' यानी मालदार अमीर, जो आम तौर पर ज़मीदार हुआ करते थे, दूसरे 'जन-वर्ग' जो मामूली नागरिक थे। रोमन राष्ट्र या प्रजातन्त्र के कई-सौ बरसों का इतिहास इन दो वर्गों के आपसी संघर्ष का इतिहास है। मुखिया लोगो के हाथ मे सारी हुकूमत थी, और जहाँ हुकूमत रहती है वही रुपया भी जाता है। जनवर्ग नीचे दबा हुआ वर्ग था, जिसके पास न ताक़त थी, न पैसा। जन-वर्ग के लोग हुकूमत हासिल करने के लिए लड़ते और सघर्ष करते रहे, और धीरे-धीरे कुछ टुकड़े उन्हें मिले भी। एक दिलचस्प बात यह है कि इस लम्बे सघर्ष मे जन-वर्ग के लोगों ने एक क़िस्म के असहयोग का कामयाबी के साथ प्रयोग किया। वे लोग दल बनाकर रोम शहर को छोड़कर निकल गये और एक नया शहर बसाकर वहाँ रहने लगे। इससे मुखिया लोग डर गये, क्योंकि जन-

वर्ग के बिना उनका काम चल ही नही सकता था। इसलिए उन्होने उनके साथ समझौता कर लिया और उन्हे कुछ छोटी-मोटी रियायते दे दी। धीरे-धीरे वे लोग ऊँचे ओहदो के भी हकदार समझे जाने लगे और सिनेट तक के मेम्बर होने लगे।

हम मुखिया-वर्ग और जन-वर्ग के सघर्ष की चर्चा करते है और यह समझते है कि इनके सिवा रोम मे किसी दूसरे वर्ग का कोई महत्व ही नही था। लेकिन इन दोनो वर्गों के अलावा वहाँ गुलामो की भी एक बहुत बड़ी तादाद थी, जिनको किसी तरह के अधिकार नही थे। ये लोग नागरिक नही माने जाते थे और इन्हें वोट देने का हक़ नही था। ये लोग तो गायो और कुत्तो की तरह अपने मालिको की व्यक्तिगत और निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। मालिक अपनी मरजी से इनको बेच सकता था और सजा दे सकता था। कुछ हालतो में इन्हे मुक्त भी कर दिया जा सकता था। मुक्त हुए गुलामो ने अपना एक अलग वर्ग बना लिया, जो मुक्त लोगो का वर्ग कहलाता था। प्राचीन काल में, पश्चिम मे, गुलामो की हमेशा बडी भारी माग रहती थी और इस माँग को पूरा करने के लिए गुलामो की बडी-बडी मडियाँ बन गई। मर्दो, औरतो और बच्चो तक को पकड़ने और उन्हे गुलाम बनाकर बेचने के लिए लोग दूर-दूर के देशो मे धावे मारा करते थे। प्राचीन मिस्र की तरह पुराने यूनान और रोम के वैभव और बादशाही शान की बुनियाद, चारो ओर फैली हुई गुलामी की प्रथा पर कायम थी।

क्या गुलामी की यह प्रथा उस समय भारत मे भी इसी तरह प्रचलित थी? बहुत करके नही ही थी चीन में भी यह प्रथा नही थी। इसका यह मतलब नही कि प्राचीन भारत तान या चीन मे गुलामी थी ही नही। यहाँ जो कुछ गुलामी थी वह बहुत-कुछ घरेलू क़िस्म की थी। कुछ घरेलू नौकर गुलाम समझे जाते थे। मालूम होता है भारत और चीन में गुलाम मजदूर नही हुआ करते थे, यानी ऐसे गुलाम नही होते थे जिनके झुड के झुड खेतो मे या दूसरी जगह काम पर लगाये जाते हो। इस तरह ये दोनो मुल्क गुलामी के उस पहलू से बचे रहे जो आदमी को सबसे ज्यादा नीचा गिराता है।

इस तरह रोम बढ़ा। मुखिया लोगो ने उससे फायदा उठाया और वे अधिकाधिक धनवान और मालामाल होते गये। साथ ही जन-वर्ग के लोग गरीब बने रहे और मुखिया लोगो से दबाये जाते रहे, और ये दोनो मुखिया और जन-वर्ग मिलकर गरीब गुलामो को दबाते रहे।

जब रोम की तरक्की हुई तब उसके शासन का ढग कैसा था? मै बता चुका हूँ कि हुकूमत सिनेट के हाथ मे थी, और दो चुने हुए कौन्सल सिनेट को नामजद किया करते थे। कौन्सलो को कौन चुनता था? उन्हे नागरिक वोटर चुनते थे। शुरू मे जब रोम एक छोटा-सा नगर-राज्य था सब नागरिक रोम मे या रोम के आस-पास रहते थे। तब लोगो का एक जगह इकट्ठा होना और वोट देना कोई मुश्किल बात नही थी। लेकिन रोम के बढने पर बहुत-से नागरिक ऐसे भी थे जो रोम से दूर रहने लगे, और उनके लिए वोट देने आना आसान काम नही था। उस वक्त आजकल के-से 'प्रतिनिधि शासन' का विकास या उस पर अमल नही हुआ था। तुम जानती हो कि आजकल हरेक हल्का या निर्वाचन-क्षेत्र राष्ट्रीय असेम्बली या पार्लमेण्ट या कांग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि चुनता है और इस तरह से एक छोटी-सी जमात के जरिये सारे राष्ट्र की नुमाइन्दगी हो जाती है। यह बात पुराने रोमन लोगो को नही सूझी थी, इसलिए वे लोग रोम मे ही वोटे डलवाते रहे हालाकि दूर के वोटरो के लिए वहाँ आकर वोट देना करीब-करीब असम्भव था। सच तो यह है कि दूर के वोटरो को पता ही नही रहता था कि कहाँ क्या हो रहा है। उस जमाने में न अखबार थे, न और छपी हुई किताबें थी और बहुत कम लोग पढ़-लिख सकते थे। इसलिए जो लोग रोम से दूर रहते थे, उनके लिए वोट देने का अधिकार अमली तौर पर किसी काम का न था। उनको राय देने का हक जरूर था, लेकिन फासले ने इस हक़ को बेकार बना दिया था।

इस लिए तुम देखोगी कि वास्तव मे चुनाव का और खास-खास बातो का फैसला करने का असली अधिकार रोम के ही वोटरो के हिस्से में था। वे लोग बिना छवे वाडो में जाकर वोट देते थे। इन वोटरों में बहुत-से गरीब जन-वर्ग के लोग होते थे। धनिक मुखिया जो ऊँचा ओहदा और हुकूमत चाहता था, इन गरीब लोगो को रिश्वत देकर उनके वोट खरीद लेता था। इस तरह रोमन चुनावों में उतनी ही रिश्वत और धोखेबाज़ी चला करती थी, जितनी कि कभी-कभी आजकल के चुनावो में चलती है।

जब इधर रोम इटली मे बढ रहा था, तब उधर उत्तरी अफ्रीका में कार्थेज की ताकत बढ रही थी। कार्थेज

निवासी फिनीशियन लोगों के वंशज थे, और उनमें जहाज चलाने और व्यापार करने की पुश्तैनी योग्यता पाई जाती थी। उनके यहाँ भी प्रजातंत्र था, लेकिन वह रोम से भी ज्यादा हद तक अमीरों का प्रजातंत्र था। यह एक नगर-प्रजातंत्र था, जिसमें गुलामों की तादाद बहुत अधिक थी।

शुरू दिनों में, रोम और कार्थेज के दरमियान, दक्षिण-इटली और मेसिना में यूनानी उपनिवेश थे। लेकिन रोम और कार्थेज यूनानियों को निकालने के लिए एक हो गये, और इस काम में कामयाब होने पर कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम इटली की दक्षिणी नोक तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज की मित्रता और युद्ध में एकता बहुत दिनों तक कायम न रह सकी। जल्दी ही इन दोनों में झगड़े होने लगे और भयकर प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। तग समुद्र के दोनों ओर आमने-सामने डटी हुई दो मजबूत ताकतों के लिए भूमध्यसागर काफी बड़ा न था। दोनों ही के हौसले बढ़े हुए थे। इधर रोम बढ़ रहा था, और उसमें नौजवानी का जोश और आत्मविश्वास था, उधर कार्थेज शुरू में शायद कल के छोकरे रोम को कुछ हिकारत की नजर से देखता था और अपनी समुद्री ताकत में पूरा भरोसा रखता था। सौ बरस से ज्यादा तक ये दोनों एक-दूसरे से लड़ते रहे, हालांकि बीच-बीच में कभी शान्ति भी हो जाती थी। लेकिन दोनों ही जगली जानवरों की तरह लड़े जिससे जनता तबाह हो गई। इनमें तीन लड़ाइयाँ हुईं जिन्हें 'प्यूनिक युद्ध' कहते हैं। पहला प्यूनिक युद्ध तेईस बरस तक यानी २६४ ई० पूर्व से २४१ ई० पूर्व तक चला। इस युद्ध में रोम की जीत हुई। बाईस बरस बाद दूसरा प्यूनिक युद्ध हुआ। इसमें कार्थेज ने हैनिबाल नामक एक सेनापति भेजा, जो इतिहास में बहुत मशहूर है। पन्द्रह बरस तक हैनिबाल ने रोम को सताया और रोमन लोगों को आतंकित किया। उसने बड़ी मारकाट के साथ रोमन सेनाओं को हराया—खासकर कैनी की लड़ाई में जो २१६ ई० पूर्व में हुई। यह सब उसने कार्थेज की मदद के बिना ही कर दिखाया, क्योंकि समुद्र पर रोमन लोगों का कब्जा होने की वजह से कार्थेज से उसका सम्बन्ध टूट-सा गया था। लेकिन हार और आफत को सहते हुए, और हैनिबाल का खतरा सिर पर बराबर रहते हुए भी, रोमन लोगों ने हिम्मत नहीं छोड़ी और अपने नफरत-भरे दुश्मन का बराबर मुकाबला करते रहे। हैनिबाल से खुले मैदान में लड़ने की हिम्मत तो उनमें थी नहीं, इसलिए वे खुली लड़ाइयों से बचते थे, और सिर्फ उसे तग करने और कार्थेज से आने-जाने का मार्ग काटने की कोशिश में रहते थे। रोमन सेनापति फेबियस खास तौर से खुली लड़ाइयों से बचना पसन्द करता था। दस बरस तक वह इसी तरह खुली लड़ाइयों को टालता रहा। मैंने उसका जिक्र इसलिए नहीं किया है कि वह कोई बड़ा आदमी था और उसका नाम याद रखने के काबिल है, बल्कि इसलिए कि अंग्रेजी जबान में उसके नाम पर एक शब्द 'फेबियन' बन गया है। 'फेबियन' चालें वे होती हैं जिन में किसी मामले को इस हद तक आगे नहीं बढ़ने दिया जाता, कि उसका दो टूक फैसला करना लाजमी हो जाय। इस नीति पर चलनेवाले लोग लड़ाई या सकट को टालते रहते हैं और धीरे-धीरे घुला-घुला कर अपना उद्देश्य हासिल करने की उम्मीद लगाये रहते हैं। इग्लैण्ड में एक फैबियन सोसाइटी है, जो समाजवाद में तो विश्वास करती है लेकिन जल्दबाजी और आकस्मिक परिवर्तन में विश्वास नहीं रखती।

हैनिबाल ने इटली के बहुत बड़े हिस्से को वीरान कर दिया, लेकिन रोम की लगातार कोशिश और दृढ़ता ने अन्त में विजय पाई। २०२ ई० पूर्व में जामा की लड़ाई में हैनिबाल हार गया। वह जगह-जगह भागता फिरा, लेकिन जहाँ वह गया वहीं रोमनों की अतृप्त घृणा उसके पीछे लगी रही। अंत में वह जहर खाकर मर गया।

रोम और कार्थेज में पचास बरस तक सुलह रही। कार्थेज काफी पस्त कर दिया गया था और रोम को ललकारने की उसमें बिलकुल हिम्मत नहीं रही थी। फिर भी रोम को सन्तोष नहीं हुआ और उसने कार्थेज को तीसरा प्यूनिक युद्ध करने के लिए मजबूर कर दिया। इस लड़ाई में बहुत भारी तादाद में लोग मारे गये और कार्थेज बिलकुल नष्ट हो गया। सचमुच, जिस जमीन पर किसी समय कार्थेज की अभिमानिनी नगरी—भूमध्यसागर की रानी—का आसन था, उस पर हल चलवा दिये गये।

: २८ :

रोमन प्रजातंत्र साम्राज्य बन गया

९ अप्रैल, १९३२

कार्थेज की आखिरी हार और तबाही के बाद रोम पश्चिमी दुनिया में सबसे ज्यादा ताकतवर हो गया और उसका कोई प्रतिद्वन्दी नही रहा। इससे पहले वह यूनानी राज्यों को फ़तह कर ही चुका था, अब उसने कार्थेज के प्रदेशों पर भी क़ब्जा कर लिया। इस तरह दूसरे प्यूनिक युद्ध के बाद स्पेन रोम की मातहती में आगया। फिर भी रोमन साम्राज्य मे अभी तक सिर्फ़ भूमध्यसागर के ही देश शामिल थे। सारा उत्तरी और मध्य-योरप रोम के अधिकार के बाहर था।

दूसरे मुल्को पर जीत का और लडाइयो में विजय का नतीजा यह हुआ कि रोम में धन और विलासिता बढ़ गई। जीते हुए मुल्को से सोने और गुलामो के ढेर-के-ढेर आने लगे। लेकिन ये चीजे जाती कहाँ थी ? मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि रोम का शासन सिनेट के हाथ मे था और उसमे धनिक वर्ग के अमीर कुटुम्ब हुआ करते थे। धनवान लोगो के इस गिरोह के हाथ मे रोमन प्रजातन्त्र और उसके जीवन की बागडोर थी। रोम की शक्ति और विस्तार की तरक्की के साथ-साथ इन लोगो की दौलत भी बढती गई। इस लिए जो धनवान थे, वे और भी ज्यादा धनवान होते गये और ग़रीब लोग गरीब ही बने रहे बल्कि और भी ज्यादा गरीब हो गये। गुलामो की आबादी बढ गई और एक तरफ विलासिता और दूसरी तरफ मुसीबत साथ-साथ बढने लगीं। जब कभी ऐसा होता है, तभी अक्सर गडबड़ हो जाया करती है। आश्चर्य की बात है कि आदमी कितना सहता है, लेकिन उसके बरदाश्त करने की भी एक हद होती है, और जब हद हो जाती है, तब अशाति फूट पड़ती है।

धनवान लोगों ने गरीबो को खेल-तमाशो और सरकसो के दंगलो से बहलाने की कोशिश की। इन में ग्लेडियेटर[1] लोग, केवल दर्शको के मनोरञ्जन के लिए एक-दूसरे के साथ लडने और मार डालने के लिए मजबूर किये जाते थे। गुलामो और लडाई के कैदियो की बहुत बड़ी तादाद, इस तरह मौत के घाट उतारी जाती थी। और मेरे ख़याल से इसे खेल कहा जाता था।

धीरे-धीरे रोम के राज्य में उपद्रव बढने लगे। बलवे होने थे, हत्याए होती थी और चुनावो मे रिश्वत और बेईमानी होती थी। गरीब और पददलित गुलामो तक ने स्पार्टेकस नाम के एक ग्लेडियेटर के नेतृत्व मे बलवा कर दिया। लेकिन ये लोग बेरहमी के साथ कुचल दिये गये। कहा जाता है कि रोम मे ऐपियन सडक पर छ: हजार गुलाम सूली पर चढा दिये गये।

धीरे-धीरे सेनापति लोग मौका परस्त और अधिक प्रभावशाली होते गये और सिनेट पर हावी होने लगे। घरेलू लडाई छिड गई और चारो तरफ तबाही होने लगी। प्रतिद्वन्द्वी सेनापति एक-दूसरे से लडने लगे। पूर्व में, पार्थिया (ईराक़) में ५३ ई० पू० मे कैरे की लडाई मे, रोमन फौज की बहुत बुरी हार हुई। पार्थिया वालों से लड़ने के लिए जो रोमन फ़ौज भेजी गई थी, उसे उन्होंने नष्ट कर दिया।

रोमन सेनापतियो की इस भीड़ मे दो नाम पाम्पी और जूलियस सीज़र, बहुत मशहूर हैं। तुम जानती हो कि सीज़र ने फ़ान्स को, जो उस समय गॉल कहलाता था, और ब्रिटेन को, जीत लिया था। पाम्पी पूर्व की तरफ़ गया और वहाँ उसे थोड़ी-बहुत कामयाबी भी मिली। लेकिन इन दोनों की आपस में बड़ी गहरी प्रतिद्वन्द्विता थी। दोनो ही महत्वाकाक्षी थे, और किसी प्रतिद्वन्द्वी को बरदाश्त नहीं कर सकते थे। बेचारा

---

[1] ग्लैडियेटर—प्राचीन रोम के उन पहलवानों का नाम, जो दूसरे योद्धाओं या जंगली जानवरों से अखाड़ों में लड़ते थे, और सारा रोम तमाशा देखता था। दूसरों का खून बहते हुए देखने के इच्छुक रोम निवासियों को ये खेल बड़े प्रिय थे।

सिनेट की कोई पूछ नही रही, हालाँकि दोनों जबानी तौर पर उसकी हुकूमत मानते थे। सीज़र ने पाम्पी को हरा दिया और इस तरह वह रोमन ससार का प्रमुख नेता बन गया। लेकिन रोम में प्रजातंत्र था, इसलिए सरकारी तौर पर सीज़र हर मामले में अपनी मनमानी नही कर सकता था। इसलिए यह कोशिश की गई कि उसको ताज पहना कर बादशाह या सम्राट बना दिया जाय। सीज़र इसके लिए बहुत कुछ राज़ी था। लेकिन रोम की पुरानी प्रजातन्त्री परम्परा के कारण उसे कुछ झिझक हुई। सचमुच, यह परम्परा उसके लिए इतनी मजबूत साबित हुई कि ब्रूटस और दूसरे लोगों ने उसे फोरमकी [1]सीढ़ियों पर ही छुरे भोंक कर मार डाला। तुमने शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' नाटक पढा होगा, जिसमें यह दृश्य दिया हुआ है।

जूलियस सीज़र ४४ ई० पू० में मारा गया, लेकिन उसकी मौत रोम के प्रजातन्त्र को न बचा सकी। सीज़र के दत्तक-पुत्र आक्टेवियन ने, जो उसके भाई का पोता था, और मित्र मार्क एण्टनी ने, सीज़र की हत्या का बदला लिया। इसके बाद बादशाहत वापस आई और आक्टेवियन प्रिन्सेप्स यानी राज्य का प्रमुख बना और प्रजातन्त्र खतम होगया। सिनेट क़ायम रहा, लेकिन उसके हाथ में कोई असली ताक़त नही रह गई।

आक्टेवियन जब प्रिन्सेप्स या प्रमुख बना, तो उसने अपना नाम और पद आगस्टस सीज़र रक्खा। उसके बाद उसके सब उत्तराधिकारी सीज़र कहलाते रहे। सीज़र शब्द का अर्थ ही वास्तव में सम्राट हो गया है। कैसर और ज़ार शब्द इसी 'सीज़र' शब्द से निकले हैं। बहुत दिनों से हिन्दुस्तानी भाषा मे भी क़ैसर शब्द इसी अर्थ में चालू हो गया है, जैसे 'कैसरे-रूम', 'कैसरे-हिन्द'। इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज को 'कैसरे-हिन्द' की उपाधि पर नाज था। जर्मन-कैसर खतम हो गया, इसी तरह आस्ट्रियन-कैसर, तुर्की-क़ैसर और रूसी-जार भी[2]।

इस तरह जूलियस सीज़र का नाम बादशाही शान और दबदबे का सूचक शब्द बन गया। अगर पाम्पी ने यूनान मे फारसैल्स की लड़ाई मे सीज़र को हरा दिया होता तो क्या हुआ होता? शायद पाम्पी प्रिन्सेप्स या सम्राट बना होता और पाम्पी का मतलब सम्राट् हो जाता। उस समय विलियम द्वितीय अपने को जर्मन पाम्पी कहते और किंग जार्ज पाम्पी-ए-हिन्द कहलाते होते।

रोमन राज्य के इस परिवर्त्तन काल मे, जब प्रजातंत्र बदलकर साम्राज्य बन रहा था, मिस्र में एक ऐसी स्त्री हुई जो अपने सौन्दर्य के लिए इतिहास मे मशहूर होनेवाली थी। उसका नाम क्लियोपेट्रा था। उसका चरित्र बेदाग नही है, लेकिन वह उन इनी-गिनी स्त्रियो मे से है, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होने अपनी खूबसूरती से इतिहास का रुख ही बदल दिया। जब जूलियस सीज़र मिस्र गया था, तब यह निरी लडकी ही थी। बाद मे मार्क एण्टनी से इसकी गहरी दोस्ती हो गई जिसका नतीजा अच्छा नही निकला। वास्तव मे क्लियोपेट्रा ने उसके साथ दगा किया और एक समुद्री महायुद्ध के दौरान मे वह उसे छोड़कर अपने जहाजो के साथ भाग गई। पैस्कल नाम के एक मशहूर फ्रान्सीसी लेखक ने, बहुत दिन हुए लिखा था—

"अगर क्लियोपेट्रा की नाक ज़रा छोटी होती तो दुनिया की सूरत बिलकुल बदल गई होती"

इस बात में कुछ अतिशयोक्ति है। क्लियोपेट्रा की नाक दूसरी किस्म की होती तो भी उससे दुनिया की हालत में बहुत ज्यादा फर्क न पड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन है कि मिस्र जाने के बाद से सीज़र अपने को बादशाह या सम्राट् या एक देवता-राजा समझने लगा हो। मिस्र मे प्रजातंत्र नही था बल्कि एक-तंत्री शासन था और राजा को सिर्फ़ सर्वोपरि ही नही बल्कि एक देवता की तरह माना जाता था। पुराने मिस्रियों की यही धारणा थी, और यूनान के टालमी लोगो ने, जो सिकन्दर की मौत के बाद मिस्र के शासक हुए, मिस्र के बहुत-से आचार-विचारो को अपना लिया था। क्लियोपेट्रा इसी टालमी वंश की थी और इसलिए यूनानी, या यों कहिए कि मकदूनिया की, राजकुमारी थी।

क्लियोपेट्रा के कारण बनी हो या नही, लेकिन मिस्रियों की यह धारणा कि राजा एक देवता है, रोम तक पहुँच गई, और वहाँ घर कर गई। जूलियस सीज़र की जिन्दगी में ही, जबकि प्रजातंत्र अपनी तरक्क़ी पर था, उसकी मूर्तियाँ बनने और पुजने लगी थीं। आगे चलकर हम देखेंगे कि रोम सम्राटो की पूजा कैसे जारी हो गई।

---

[1]फ़ोरम—वह इमारत जिसमें सिनेट की बैठकें हुआ करती थीं।

[2]अब इंग्लैंड के बादशाह की भी 'क़ैसरे-हिन्द' की उपाधि हटा दी गई है।

अब हम रोम के इतिहास मे एक महत्व के मोड़ पर, प्रजातत्र के अन्त तक, पहुँच गये है। सन् २७ ई० में आक्टेवियन, आगस्टस सीजरकी पदवी धारण कर प्रिन्सेप्स बना। रोम और उसके सम्राटों की इस कहानी की चर्चा हम आगे फिर करेंगे। तब तक हम प्रजातत्र के आखिरी दिनो मे रोम के मातहत राज्यो पर एक नजर दौडावे।

रोम इटली पर तो राज करता ही था, पश्चिम में स्पेन और गॉल (फ्रान्स) पर भी उसका क़ब्जा था। पूर्व मे यूनान और एशिया-कोचक, जहाँ तुम्हे याद होगा कि परगैमम नाम का यूनानी राज्य था, उसके क़ब्जे में थे। उत्तरी अफ्रीका मे मिस्र रोम का मित्र और रक्षित राज्य समझा जाता था। कार्थेज और भूमध्यसागर के देशो के कुछ दूसरे हिस्से भी रोम के मातहत थे। इस तरह उत्तर मे राइन नदी रोमन साम्राज्य की सरहद थी। जर्मनी और रूस और उत्तरी और मध्य योरप की सारी कौमे, रोमन साम्राज्य से बाहर थी। इराक़ के पूर्व का भी कोई देश उसके अधिकार मे नही था।

उस जमाने मे रोम बहुत महान् था। लेकिन योरप के बहुत से लोग, जो दूसरे देशो का इतिहास नही जानते, यह समझते है कि रोम ही सारी दुनिया का सिरताज था। यह बात असलियत से बहुत दूर है। तुम्हें याद होगा कि इसी जमाने में चीन मे महान् हन वश राज्य करता था और वह एशिया के तट से लेकर कैस्पियन सागर तक फैले हुए विशाल क्षेत्र का स्वामी था। इराक मे कारे की लडाई मे, जिसम रोमन लोग बुरी तरह हारे थे, मुमकिन है पार्थव लोगो को चीन के मगोलियो ने मदद दी हो।

लेकिन रोमन इतिहास, खासकर रोमन प्रजातत्र का इतिहास, योरपवालो को बहुत प्यारा है, क्योंकि वे रोम के पुराने राज्य को योरप के आधुनिक राष्ट्रो का पूर्वज मानते है, और यह बात किसी हद तक सही भी है। इसलिए इग्लैण्ड मे स्कूलो के विद्यार्थियो को, चाहे वे आधुनिक इतिहास जाने या न जाने, यूनान और रोम का इतिहास जरूर पढाया जाता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जूलिअस सीजर का लिखा हुआ, उसकी गॉल की चढाई का हाल, मूल लैटिन भाषा म मुझे पढाया गया था। सीज़र सिर्फ़ योद्धा ही नही था, बल्कि एक प्रभावशाली और सुन्दर लेखक भी था और उसका लिखा हुआ गॉल के युद्ध का वर्णन[1] आज भी योरप के हजारो स्कूलो में पढाया जाता है।

कुछ दिन हुए हमने अशोक के समय की दुनिया पर नजर डालनी शुरू की थी। हम इस सिंहावलोकन को खतम करके उससे बाहर चीन और योरप भी पहुंच गये। अब हम करीब-करीब ईसाई सन् की शुरुआत तक पहुँच गये है। इसलिए अब हमे फिर भारत लौटना पडेगा क्योकि अशोक की मृत्यु के बाद वहा बडी-बड़ी तब्दीलियाँ हुई और उत्तर और दक्षिण मे नये-नये साम्राज्य पैदा हो गये।

मैने यह कोशिश की है कि तुम सारी दुनिया के इतिहास को एक ही सिलसिलेवार चीज समझो। लेकिन, मुझे उम्मीद है, तुम्हे यह भी याद होगा कि शुरू के जमाने मे दूर-दूर के देशो का आपसी सम्पर्क बहुत ही परिमित था। रोम, जो कि कई बातो मे बहुत आगे बढा हुआ था, भूगोल और नकशो के बारे मे कुछ भी नही जानता था, और न इन विषयो का जानने की उसने कोई खास कोशिश ही की। आजकल के स्कूलो के लडको और लडकियो को भूगोल का जितना ज्ञान है, उतना रोम के बडे-बडे सेनापति और सिनेट के बुद्धिमान आदमियो को भी नही था, हालाकि वे लोग अपने को दुनिया का मालिक समझते थे। और जिस तरह ये लोग अपने को दुनिया का मालिक समझते थे, उसी तरह उनसे कई हजार मील दूर, एशिया के विशाल महाद्वीप के दूसरे सिरे पर, चीन के शासक भी अपने को ससार का स्वामी समझते थे।

[1] De Bello Gallico

: २९ :

दक्षिण भारत का उत्तर भारत पर छा जाना

१० अप्रैल, १९३२

सुदूर पूर्व मे चीन और पश्चिम मे रोम की लम्बी यात्रा के बाद हम फिर भारत वापस आते है। अशोक की मृत्युके बाद मौर्य साम्राज्य बहुत दिनो तक नही टिका। थोड़े ही वर्षोंमे वह मुरझा गया। उत्तर के सूबे उससे अलग हो गये और दक्षिण में आन्ध्रवालो की एक नई हुकूमत पैदा हुई। अशोक के वंशज करीब पचास वर्ष तक अपने अस्त होते हुए साम्राज्य पर राज्य करते रहे। अन्त मे पुष्यमित्र नाम के उनके एक ब्राह्मण सेनापति ने उनकी गद्दी छीन ली और खुद सम्राट बन बैठा। कहते है, उसके जमाने में ब्राह्मण-धर्म[1] की फिर से जागृति हुई। किसी हद तक बौद्ध भिक्षुओ पर अत्याचार भी हुए। लेकिन भारत का इतिहास पढने पर तुम देखोगी कि ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म पर बडी चतुराई से आक्रमण किया है। उसने उन्हे सताने के लिए किसी भोडी नीति से काम नही लिया। बौद्धो पर कुछ अत्याचार जरूर हुए, लेकिन इसका कारण बहुत करके राजनैतिक था, धार्मिक नही। बडे-बडे बौद्ध-संघ शक्तिशाली सस्थायें थी और बहुत-से शासक उनकी राजनैतिक शक्ति से डरते थे। इसलिए उन्होने उनको कमजोर करने की कोशिश की। बौद्ध-धर्म को उसकी जन्मभूमि मे निकाल बाहर करने मे ब्राह्मण-धर्म आखिर मे कामयाब रहा। उसने कई बाते बौध-धर्म से लेली और हजम करली, और उसे अपने घर मे स्थान देने की कोशिश भी की।

इस तरह नये ब्राह्मण-धर्म ने, न तो सिर्फ पुरानी बातो को ही फिर मे लाने की कोशिश की और न जो कुछ बौद्ध-धर्म ने किया था उसको बिल्कुल मटियामेट ही किया। ब्राह्मण-धर्म के पुराने नेता बहुत चतुर थे। बहुत पुराने जमाने से उनका यह तरीका चला आया था कि वे दूसरे धर्म के आचार-विचारो को अपने मे मिला लेते और उन्हे हजम कर लेते थे। आर्य लोग जब पहले-पहल भारत मे आये तब उन्होने द्रविडो की सस्कृति और रस्म-रिवाजो को बहुत अशो मे अपना लिया और अपने सारे इतिहास में वे जान-बूझकर या बेजाने लगातार इसी नीति का पालन करते आये है। बौद्ध-धर्म के साथ भी उन्होने यही किया और बुद्ध को अवतार[2] बना दिया, बहुत से हिन्दू अवतारो मे उन्हे भी एक स्थान दे दिया। इस तरह बुद्ध तो कायम रह, लोग उनकी पूजा और भक्ति करते रहे, लेकिन उनके विशेष सन्देश को जनता के सामने से चुपचाप हटा दिया गया और ब्राह्मण-धर्म या हिन्दू-धर्म कुछ छोटी-मोटी तबदीलियोके बाद अपने मामूली ढर्रे पर फिर चलने लगा। बौद्ध-धर्म को हिन्दू-धर्म का जामा पहनाने की क्रिया बहुत दिनो तक चलती रही। परन्तु अभी हम आगे की बात करने लगे है क्योकि अशोक की मृत्यु के बाद कई सौ बरस तक बौद्ध-धर्म भारत मे कायम रहा।

हमे इस बात पर ध्यान देने की जरूरत नही कि मगध मे एक दूसरे के बाद कौन-कौन से राजा और राजवंश आये और गये। अशोक के मरने के दो सौ वर्ष बाद तो मगध भारत के प्रमुख राज्य के पद को भी खो बैठा। लेकिन तब भी वह बौद्ध-सस्कृति का बहुत बडा केन्द्र बना रहा।

इस बीच में उत्तर और दक्षिण दोनो हिस्सो मे महत्वपूर्ण घटनाए हो रही थी। उत्तर मे मध्य-एशिया की कई जातियाँ, जैसे बाख्त्री, शक, मीदियन, तुर्क और कुशन, बराबर हमले कर रही थी। मेरा खयाल है मैंने तुम्हे एक बार लिखा था कि कैसे मध्य-एशिया कई खानाबदोश जातियो के पैदा होने और पनपने की भूमि रहा है, और उसके इतिहास मे ये लोग कितनी बार बाहर निकल कर सारे एशिया मे और योरप तक मे फैल गये। ईसा के २०० वर्ष पहले के समय मे भारत पर भी इस तरह के कई हमले हुए। लेकिन तुम्हे

---

[1] ब्राह्मण-धर्म से मतलब हिन्दूधर्म से है।

[2] निन्दसि यज्ञ विधे रह रह श्रुतिजातम्
सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत बुद्ध शरीर
जय जय देव हरे —गीतगोविन्द

यह याद रखना चाहिए, कि ये हमले महज़ लूट या विजय के लिए नहीं हुआ करते थे, बल्कि बसने के लिए ज़मीन की तलाश में हुआ करते थे। मध्य-एशिया की इन जातियो में से बहुत-सी खानाबदोश थी और जब उनकी तादाद बढ़ जाती थी, तो जिस ज़मीन में वे बसी होती थी वह उनके गुज़ारे के लिए नाकाफ़ी हो जाती थी। इसलिए उन्हें नई ज़मीन की तलाश में बाहर निकलना पडता था। इनके वहाँ से हटने का इससे भी ज्यादा ज़बर्दस्त एक कारण यह था कि उन्हें पीछे से ढकेला जाता था। एक बडा कबीला या गिरोह दूसरो पर हमला कर उन्हें वहाँ से निकाल बाहर करता था और इन निकाले हुओ को दूसरे देशो पर हमला करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस तरह भारत में जो लोग आक्रमणकारी के रूप में आये, वे ज्यादातर अपनी उपजाऊ-भूमि से भगाये हुए शरणार्थी थे। जब कभी चीनी साम्राज्य मे इतनी ताक़त हो जाती थी, जैसा कि हन्-वंश के ज़माने में हुआ, तब वह भी इन खानाबदोश जातियों को निकाल बाहर करता था और उन्हे नया घर तलाश करने के लिए मजबूर कर देता था।

तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि मध्य-एशिया की ये खानाबदोश जातियाँ भारत को बिल्कुल ही शत्रु-देश नहीं समझती थी। उन्हें म्लेच्छ यानी जगली ज़रूर कहा गया है, और सचमुच उस वक्त के भारत के मुक़ाबले में वे लोग उतने सभ्य थे भी नही। लेकिन उनमें ज्यादातर कट्टर बौद्ध थे, जो भारत को इज्जत की नज़र से देखते थे, क्योकि यही उनके धर्म का जन्म हुआ था।

पुष्यमित्र के ज़माने मे भी उत्तर-पश्चिम भारत पर बाख्त्री के मेनेन्द्र ने एक हमला किया था। मेनेन्द्र बौद्ध-धर्म का बड़ा भक्त था। भारत की सरहद के उस पार बाख्त्री प्रदेश था। यह प्रान्त सेल्यूक के साम्राज्य का एक हिस्सा था, लेकिन बाद मे स्वतत्र हो गया था। मेनेन्द्र का हमला नाकामयाब कर दिया गया, लेकिन काबुल और सिन्ध पर उसने कब्ज़ा कर ही लिया।

इसके बाद शक लोगो का हमला हुआ, जो इस देश में बहुत बड़ी तादाद मे आये और उत्तर और पश्चिम भारत में फैल गये। यह तुर्की खानाबदोशो का एक बड़ा कबीला था। कुशान नाम के एक दूसरे बडे कबीले ने उन्हे अपनी उपजाऊ भूमि से मार भगाया था। वहाँ से वे लोग बाख्त्री और पार्थव को रौंदते हुए धीरे-धीरे उत्तरी भारत में, खासकर पजाब, राजपूताना और काठियावाड़ मे जम गये। भारत ने उन्हें सभ्य बनाया, और उन लोगो ने अपनी घमक्कड़पन की आदतें छोड दी।

यह एक दिलचस्प बात है कि इन बाख्त्री और तुर्की शासकों का भारतीय आर्य-वर्ग के सामाजिक जीवन पर कुछ खास असर नही हुआ। खुद बौद्ध होने के कारण इन शासको ने बौद्ध धर्म-सस्थाओ का अनुकरण किया जो आर्यों के पुराने ग्राम-सघो की तरह लोकतत्री थी। इस तरह इन शासको की हुकूमत मे भी भारत केन्द्रीय-शासन के मातहत ग्रामीण प्रजातत्रो का एक समूह-सा बना रहा। इस ज़माने में भी तक्षशिला और मथुरा, बौद्ध शिक्षा के केन्द्र रहे, जहाँ चीन और पश्चिम एशिया से विद्यार्थी आते रहते थे।

लेकिन उत्तर-पश्चिम से लगातार हमलों का और मौर्य-राज्य का सगठन धीरे-धीरे टूट जाने का एक असर ज़रूर हुआ। दक्षिण-भारतीय राज्य पुरानी भारतीय-आर्य प्रणाली के ज्यादा सही नमूने बन गये। इस तरह भारतीय-आर्य शक्ति का केन्द्र हटकर दक्षिण पहुँच गया। इन हमलो के कारण शायद बहुतसे विद्वान लोग दक्षिण में जा बसे। आगे चल कर तुम देखोगी कि एक हज़ार वर्ष बाद जब मुसलमानो ने भारत पर हमला किया उस समय फिर वही बात हुई। आज भी दक्षिण-भारत पर विदेशी हमलों और सम्पर्क का उत्तर-भारत के मुक़ाबले बहुत कम असर पड़ा है। उत्तर-भारत के ज्यादातर निवासी एक ऐसी मिली-जुली संस्कृति में पले है जो हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियों का मेल है और जिसमें पश्चिम की भी कुछ पट लग गई है। हमारी भाषा भी, जिसे तुम हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी चाहे जो कहो, एक मिली-जुली भाषा है। लेकिन जैसा कि तुमने खुद देखा है, दक्षिण के ज्यादातर निवासी आज भी कट्टर हिन्दू हैं।

दक्षिण भारत सैकड़ो वर्षों से प्राचीन आर्य-संस्कृति को बचाने और क़ायम रखने की कोशिश करता रहा है और इस कोशिश में उसने अपने समाज को इतना कट्टर-पन्थी बना दिया है कि उसकी असहिष्णुता देखकर हैरत होती है। परकोटे में बन्द रहना बड़ा खतरनाक होता है। कभी-कभी वह बाहरी मुसीबत से भले ही बचाले और उत्पाती लोगो को अन्दर आने से रोक दे; लेकिन उसकी वजह से आदमी क़ैदी और गुलाम बन जाता है और उसे नामधारी पवित्रता और निर्भयता की क़ीमत अपनी आज़ादी को बेच कर चुकानी पड़ती है। और सबसे भयकर परकोटा वह है जो आदमी के दिमाग में पैदा हो जाता है, जिसकी वजह से

लोग किसी बुरी परम्परा को सिर्फ़ इसलिए नहीं छोड़ते कि वह पुरानी है और किसी नये विचार को इसलिए कबूल नहीं करते कि वह नवीन है।

लेकिन दक्षिण भारत ने यह सेवा सचमुच की कि उसने एक हज़ार वर्ष से भी ज्यादा समय तक भारतीय-आर्यों की सिर्फ़ धार्मिक परम्परा को ही नहीं बल्कि कला और राजनीति को भी कायम रखा। अगर तुम्हें पुरानी भारतीय कला का नमूना देखना हो तो इसके लिए तुम्हें दक्षिण भारत जाना होगा। राजनीति के बारे में यूनानी लेखक मेगस्थने ने लिखा है कि दक्षिण के राजाओं के अधिकारों पर लोक-सभाओं का अंकुश रहता था।

जब मगध-देश का पतन हुआ तो सिर्फ़ विद्वान लोग ही नहीं बल्कि कलाकार, शिल्पकार, कारीगर, और दस्तकार लोग भी दक्षिण चले गये। योरप और दक्षिण भारत के बीच काफ़ी व्यापार चलता था। मोती, हाथीदात, सोना, चावल, काली मिर्च, मोर और बन्दर तक बाबुल, मिस्र और यूनान, और बाद को रोम, भेजे जाया करते थे। इसके भी बहुत पहले सागवान की लकड़ी मलाबार के किनारे से खाल्दिया और बाबुल जाती थी। और यह सब व्यापार, या उसका ज्यादातर हिस्सा, भारतीय जहाजों के जरिये, जिन्हें द्रविड लोग खेते थे, हुआ करता था। इससे तुम्हें पता चल सकता है कि पुरानी दुनिया में दक्षिण भारत कितनी ऊँची स्थिति पर पहुँचा हुआ था। दक्षिण में रोमन सिक्के काफी तादाद में मिले हैं, और जैसा कि मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, मालाबार के समुद्री किनारे पर सिकन्दरिया निवासियों की बस्तियाँ थीं, और सिकन्दरिया में भारतीयों की।

अशोक के मरने के बाद ही दक्षिण का आन्ध्र देश स्वतंत्र हो गया। जैसा कि शायद तुम जानती हो, आन्ध्र आजकल कांग्रेस का एक प्रान्त है, जो भारत के पूर्वी समुद्र तट पर मद्रास के उत्तर में है। तेलगू आन्ध्र-देश की भाषा है। आन्ध्र की हुकूमत अशोक के बाद तेजी से बढती गई और दक्षिण में समुद्र के एक तट से दूसरे तट तक फैल गई।

दक्षिण के लोगों ने उपनिवेश बनाने के बड़े-बड़े प्रयत्न किये। लेकिन इनकी चर्चा बाद में करेंगे।

मैं ऊपर शक और सीदियन और दूसरी जातियों का ज़िक्र कर आया हूँ जिन्होंने भारत पर हमले किये और जो उत्तर में बस गईं। ये लोग भारत के अंग बन गये, और उत्तरी भारत में रहनेवाले हम लोग उनके भी उतने ही वंशज हैं जितने आर्यों के। खासकर बहादुर और सुडौल राजपूत और काठियावाड़ के मजबूत लोग तो उन्हींके वंशज हैं।

: ३० :

कुशानों का सरहदी साम्राज्य

११ अप्रैल, १९३२

मैंने पिछले पत्र में भारत पर शक और तुर्की लोगों के लगातार हमलों का ज़िक्र किया है। मैंने तुम्हें दक्षिण में आन्ध्रों के शक्तिशाली राज्य की तरक्की का भी हाल बताया है, जो बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक फैला हुआ था। शकों को कुशानों ने आगे ढकेल दिया था और कुछ दिन बाद कुशान खुद ही मैदान में आगये। ईसा के एक सदी पहले इन लोगों ने भारत की सरहद पर एक राज्य कायम किया और यही राज्य बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा साम्राज्य हो गया। यह कुशान साम्राज्य दक्षिण में बनारस और विन्ध्याचल तक, उत्तर में काशगर, यारकंद और खुतन तक, और पश्चिम में पार्थव और ईरान की सरहद तक फैला हुआ था। इस तरह उत्तर प्रदेश, पंजाब और कश्मीर समेत सारे उत्तर भारत पर और मध्य-एशिया के एक काफ़ी बड़े हिस्से पर कुशानों का शासन था। करीब तीन सौ वर्ष तक, ठीक उन्हीं दिनों जब कि आन्ध्र-राज्य दक्षिण भारत में फूल-फल रहा था, यह साम्राज्य कायम रहा। मालूम होता है कि पहले तो कुशानों की राजधानी काबुल थी, लेकिन बाद को बदल कर पेशावर हो गई थी, जो उस वक्त पुरुषपुर कहाता था, और आखीर तक वही कायम रही।

इस कुशान साम्राज्य की कई बातें बडी दिलचस्प हैं। यह बौद्धो का साम्राज्य था और उसके मशहूर शासकों में से एक शासक—सम्राट कनिष्क—बौद्ध-धर्म का बडा भक्त था। राजधानी पेशावर के पास तक्षशिला थी, जो बहुत दिन पहिले से बौद्ध-सस्कृति का केन्द्र थी। मैं शायद तुम्हे बता चुका हू कि कुशान लोग मगोलियन या उससे सम्बन्धित जाति के थे। कुशान राजधानी से मगोलिया के वतन को लोगो का आना-जाना बराबर होता रहा होगा, और यही से बौद्ध-शिक्षा और बौद्ध-सस्कृति चीन और मगोलिया गई होगी। इसी तरह पश्चिमी एशिया का भी बौद्ध विचारो से गहरा सम्पर्क हुआ होगा। सिकन्दर के जमाने से ही पश्चिमी एशिया यूनानियो की हुकूमत मे थे और बहुत से यूनानी अपने साथ अपनी सस्कृति वहाँ लाये थे। यूनानियो की यह एशियाई सस्कृति अब भारत की बौद्ध-सस्कृति से मिल-जुल गई।

इस तरह चीन और पश्चिमी एशिया पर भारत का असर पडा। लेकिन उसी तरह भारत पर भी इन देशो का असर पडा। पश्चिम मे यूनानी-रोमन दुनिया, पूर्व मे चीनी दुनिया दक्षिण मे भारतीय दुनिया से घिरा हुआ कुशान साम्राज्य एशिया की पीठ पर एक देव की तरह सवारी गाठे बैठा था। भारत और रोम, तथा भारत और चीन, दोनो के बीच यह आधे रास्ते की मजिल बना हुआ था।

अपनी इस बीच की स्थिति के कारण इस साम्राज्य ने भारत और रोम के बीच गहरा आपसी सम्बन्ध पैदा करने मे बहुत मदद पहुँचाई। कुशान युग का समय रोमन प्रजातन्त्र के आखिरी दिनों से, जब जूलियस सीजर जिन्दा था, शुरू होता है और रोमन साम्राज्य के शुरू के दो सौ साल तक चलता है। कहा जाता है कि कुशान सम्राट ने आगस्टस सीजर के यहाँ बडा भारी राजदूत-मडल भेजा था। इन दोनो देशो मे खुश्की और समुद्री रास्ते खूब व्यापार हुआ करता था। भारत मे रोम को इत्र, मसाले, रेशम, गुलबदन, मलमल, जरी के कपडे और जवाहरात भेजे जाते थे। प्लीनी नाम के एक रोमन लेखक ने इस बात की सख्त शिकायत की है कि रोम से भारत को सोना खिचा चला जाता था। उसका कहना है कि विलास की इन चीजो पर हर साल रोमन साम्राज्य के दस करोड सीस्तरसी[1] खर्च हो जाते हैं। यह रकम करीब डेढ करोड रुपये के बराबर होगी।

इस जमाने में बौद्ध-विहारों मे और बौद्ध-सघो की सभाओ मे बडे-बडे वाद-विवाद और शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दक्षिण और पश्चिम मे नये विचार या नई पोशाक मे पुराने विचार आते रहते थे। और बौद्ध उपदेशों की सादगी के ऊपर इनका धीरे-धीरे असर पड रहा था। परिवर्तन का यह सिलसिला यहा तक पहुँचा कि इसके फलस्वरूप बौद्ध-धर्म दो सम्प्रदायो—'महायान' और 'हीनयान'—मे बॅट गया। नई-नई व्याख्याओ और विचारो के साथ जब जीवन और धर्म मे सम्बन्ध रखनेवाले नजरिये मे तब्दीली हुई तब इन विचारो की छाया कला और शिल्प पर भी पडी। यह कहना आसान नही है कि ये तब्दीलियां कैसे आई। बौद्ध विचार-धारा को एक ही दिशा मे मोडनेवाले प्रभावो मे शायद दो मुख्य थे, एक ब्राह्मण-धर्म का और दूसरा यूनानी।

जैसाकि मैंने कई बार तुम्हे बताया है, बौद्ध-धर्म जात-पात, पुरोहिताई और कर्मकाण्ड के खिलाफ एक विद्रोह था। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा को नही मानते थे, उनका यह दावा नही था कि वह ईश्वर है और उनकी पूजा की जाय। वह तो केवल बुद्ध[2] थे। इस विचार-धारा के मुताबिक उस जमाने मे बुद्ध की मूर्तियां नही होती थी, और उस समय की इमारतो मे किसी तरह की मूर्तियाँ नही बनाई जाती थी। लेकिन ब्राह्मण लोग हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म के बीच का अन्तर मिटाना चाहते थे, और बौद्ध उपदेशो मे हिन्दू विचार और प्रतीक दाखिल करने की बराबर कोशिश करते रहते थे। उधर यूनान और रोम के कारीगर भी देवताओ की मूर्तियाँ बनाने के आदी थे। इसलिए धीरे-धीरे बौद्ध-मन्दिरो में मूर्तियो का दखल हो गया। शुरू मे जो मूर्तियां बनी, वे बुद्ध की नही बल्कि बोधि-सत्वो की थी, जो बौद्ध जातक-कथाओ के मुताबिक बुद्ध के पूर्व-अवतार माने जाते हैं। यह सिलसिला जारी रहा, यहाँ तक कि आखीर में बुद्ध की मूर्ति भी बनाली गई और उसकी पूजा होने लगी।

बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय ने इन परिवर्त्तनों का स्वागत किया। ब्राह्मण विचार-धारा के वह

---

[1] सीस्तरसी—एक रोमन सिक्का।

[2] बुद्ध का अर्थ है जागा हुआ, यानी जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया हो।

बहुत कुछ नजदीक था। कुशान सम्राट महायान मत के अनुयायी हो गये और उन्होंने उसके प्रचार मे मदद की। लेकिन उन्हे हीनयान और दूसरे धर्मों से कोई द्वेष न था। कहते है कि कनिष्क ने पारसी धर्म को भी प्रोत्साहन दिया था।

महायान और हीनयान की श्रेष्ठता के बारे में बड़े-बडे विद्वानो मे जो शास्त्रार्थ हुआ करते थे, उनके पढने से बडा मनोरजन होता है। इसके लिए सघ के बड़े-बडे सम्मेलन हुआ करते थे। कनिष्क ने काश्मीर मे सघ की एक बहुत बड़ी परिषद बुलाई थी। कई सौ वर्षों तक इस सवाल पर शास्त्रार्थ और मतभेद चलते रहे। महायान उत्तर भारत मे फला-फूला और हीनयान दक्षिण में, और अन्त मे इन दोनो ही को हिन्दू-धर्म ने हजम कर लिया। आजकल चीन, जापान और तिब्बत में महायान मत पाया जाता है, और लका और बर्मा मे हीनयान।

किसी जाति की कला वह शीशा है, जिसमे उसके भावो की सच्ची छाया दिखाई देती है। इसलिए जब शुरू के बौद्ध-विचारों की सरलता की जगह जटिल प्रतीको ने लेली, तब भारतीय कला भी ज्यादा जटिल और अलकारपूर्ण होती गई। खासतौर से उत्तर-पश्चिम मे गधार की महायान मूर्तिकला मे मूर्तियो और अलकारो की भरमार हो गई। हीनयान शिल्प भी इस नई हवा से अछूता न बचा। वह भी धीरे-धीरे अपने प्रारम्भिक ढग की सादगी और सयम खो बैठा और उसमें अलकारपूर्ण खुदाई और प्रतीको ने घर कर लिया।

उस जमाने की कुछ यादगारे आज भी मिलती है। अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बनी हुई सुन्दर तसवीरें उनमे सबसे ज्यादा दिलचस्प है। तुम पारसाल उन्हे देखते-देखते रह गई। अगर वहाँ जाने का तुम्हे फिर मौका मिले तो जरूर जाना।

अब हम कुशानो से विदा लेते है। लेकिन एक बात याद रखना। शक और दूसरी तुर्की जातियो की तरह कुशानो का भारत मे आना या उस पर राज्य करना ऐसा नही था जैसे कोई विदेशी एक हारे हुए मुल्क पर हुकूमत कर रहे हो। ये लोग भारत मे और भारत की जनता मे धर्म के बन्धन मे बधे हुए थे। इसके अलावा उन्होंने भारत के आर्यों की शासन-प्रणाली को भी अपना लिया था। और चूँकि इन लोगो ने अपनेको बहुत हद तक आर्य प्रणाली के अनुकूल बना लिया था इसलिए वे तीन सौ वर्षों तक उत्तर भारत पर हुकूमत करने मे सफल हुए।

: ३१ :

ईसा और ईसाई धर्म

१२ अप्रैल, १९३२

उत्तर-पश्चिम भारत के कुशान साम्राज्य और चीन के हन् वश की चर्चा करते-करते हम इतिहास की एक महत्वपूर्ण मजिल से आगे बढ आये। इसलिए यह जरूरी है कि हम उस पर वापस लौट चलें। अभी तक हम जो तारीखे देते थे, वे ईसा के पूर्व की थी। अब हम ईसवी सन् मे पहुँच गये है। यह सन्, जैसा कि इसके नाम से जाहिर है, ईसा के जन्म से या ईसा के माने हुए जन्मदिन से, शुरू होता है। वास्तव में ईसा का जन्म शायद इससे चार वर्ष पहले हुआ था। लेकिन उससे कोई ज्यादा फर्क नही पडता। ईसा के बाद होनेवाली घटनाओ की तारीखो के आगे ई० सन् लिखने का रिवाज हो गया है।'

ईसा, या यीशु की कथा इंजील के नये अहदनामे में दी हुई है और तुम्हे उसके बारे मे कुछ मालुम भी है। ईसा की इन जीवन-कथाओ में दिये हुए विवरणो मे उनकी जवानी के दिनो का कोई हाल नही दिया

'अंग्रेजी में ईसवी सन् के लिए A. D. या A. C. लिखा जाता है। A D. का अर्थ है Anno Domini यानी ईश्वर का वर्ष और A. C. का अर्थ है After Christ यानी ईसा के बाद। पुस्तक के लेखक A. C. लिखना पसन्द करते है। हिन्दी में सिर्फ़ ई० लिखा जाता है।

गया है। वह नासरत में पैदा हुए, गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस वर्ष से ज्यादा की उम्र में वह यरूशलम आये। इसके थोड़े ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उनपर मुक़द्दमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ़ नही मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहाँ गये थे। मध्य-एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशों में अभी तक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशो मे घूमे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। निश्चित तौर पर कुछ कहा नही जा सकता, लेकिन जिन विद्वानो ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नही मानते कि ईसा भारत या मध्य-एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हो तो यह कोई नामुमकिन बात भी नही कही जा सकती। उस जमाने मे भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, खासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय, ऐसा था कि दूर-दूर देशो के उत्साही विद्यार्थी खिचकर यहाँ आते थे, और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश मे यहाँ आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते है कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारो से पूरी-पूरी जानकारी थी। लेकिन बौद्ध-धर्म दूसरे मुल्को में काफ़ी प्रचलित था, और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

स्कूल का हरेक बच्चा जानता है कि धर्म के नाम पर मतभेद और घातक युद्ध हुए हैं। लेकिन ससार के मजहबो की शुरूआत पर गौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मजहबो के नज़रियो और सिद्धान्तो मे इतनी समानता है कि यह देख कर हैरत होती है कि लोग छोटी-छोटी और गैर जरूरी बातो के बारे मे झगड़ा करने की बेवकूफी क्यो करते है। पुराने सिद्धान्तो में नई-नई बातें जोड दी जाती है, और उनको इस तरह तोड़-मरोड दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्रचारक की जगह तगदिल और हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं। बहुत बार मजहब ने साम्राज्यवाद और राजनीति की दासी का-सा काम किया है। पुराने रोमन लोगो की तो यह नीति थी कि जनता की भलाई के लिए, या यो कहो कि उसे लूटने के लिए, उसमें अन्ध-विश्वास पैदा किया जाय, क्योंकि अन्ध-विश्वासी लोगो को दबाये रखना ज्यादा आसान होता है। अमीर वर्ग के रोमन लोग वैसे तो बड़ी ऊँची-ऊँची फिलासफी बघारते थे, लेकिन अमल में जिस चीज को वे अपने लिए अच्छी समझते थे, उसे जनता के लिए ठीक और हितकर नही मानते थे। बाद के जमाने के एक मशहूर इटालियन लेखक मैकियावेली ने राजनीति पर एक किताब लिखी है। उसका कहना है कि शासन के लिए मजहब जरूरी चीज है और कभी-कभी शासक का फर्ज़ हो जाता है कि वह ऐसे मजहब की हिमायत करे जिसे वह खुद झूठा समझता हो। इस जमाने मे भी हमारे सामने इस बात की बहुत सी मिसालें है कि साम्राज्यवाद ने मजहब की आड मे शिकार खेला है। इसलिए कार्ल मार्क्स का यह लिखना ताज्जुब की बात नही है कि "मजहब जनता की अफीम है।"

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी कौम थी और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के जमाने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आए। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा में, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होने उसे यहाँ तक बढा-चढा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक सुवर्णयुग बन गया, और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी कौम फिर महान और ताकतवर हो जायगी। वे लोग रोमन साम्राज्य-भर में और दूसरे मुल्कों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में मजबूती से बंधे रहे कि उनके वैभव के दिन आनेवाले है, और एक मसीहा उन्हें वह दिन दिखावेगा। बे-घरबार और आश्रयहीन, बेहद अत्याचार पीड़ित और सन्तप्त, और अकसर मौत का शिकार बनाये जानेवाले यहूदियो ने दो हजार वर्ष से ज्यादा तक अपना अस्तित्व किस तरह बचाये रक्खा, और सबने मिलकर किस तरह मुसीबतो का सामना किया, यह इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है।

यहूदी एक मसीहा का इन्तजार कर रहे थे, और शायद ईसा से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थीं। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा चालू तरीको और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ बग़ावत की बिलकुल नई बातें करते थे। खास तौर से वह अमीरों और उन पाखण्डियो के खिलाफ़ थे, जिन्होंने खास तरह की पूजा-पाठ और व्रतो को ही धर्म बना रक्खा था। धन-दौलत और कीर्त्ति की आशा

दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्पनिक स्वर्गीय-राज्य की खातिर लोगों से अपने घर की पूंजी तक भी त्याग देने को कहते थे। उनकी बातें रूपकों और कहानियों के तौर पर होती थीं, लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे, और ज़माने की हालत को सह नही सकते थे, और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी जो यहूदी चाहते थे। इसलिए उनमें से बहुत से लोग उनके खिलाफ हो गये और उनको पकड़कर रोमन अधिकारियो के सुपुर्द कर दिया।

मज़हबी मामलो मे रोमन लोग असहनशील नही थे, क्योंकि साम्राज्य मे सब मज़हबों को बर्दाश्त किया जाता था; यहाँ तक कि अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा कहता या गाली देता, तो उसे सज़ा दी जाती थी। टाइबेरियस नाम के एक रोमन सम्राट ने कहा था "अगर देवताओ का अपमान किया जाता है तो उन्हें खुद ही निबट लेने दो"। इसलिए जब रोमन गवर्नर पाण्टियस पाइलेट के सामने ईसा पेश किये गये, तो इस मामले के मज़हबी पहलू की उसे ज़रा भी चिन्ता न हुई होगी। ईसा को लोग एक राजनैतिक विद्रोही, और यहूदी लोग सामाजिक विद्रोही, समझते थे और यही जुर्म लगाकर उनपर मुक़दमा चलाया गया, और सज़ा दी गई, और गोलगोथा नामक जगह पर उन्हें सूली पर लटका दिया गया। यातना की इस घडी में उनके चुने हुए शिष्यो तक ने उन्हें छोड़ दिया और इस बात से भी इन्कार कर दिया कि वह उनके गुरू थे। इस विश्वासघात से उन्होने ईसा की पीडा को इतनी असह्य बना दिया, कि मरने से पहले उनके मुह से दिल को अजीब तौर पर हिला देनेवाले ये शब्द निकल पड़े:—

"मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तू ने मुझे क्यों त्याग दिया है?"

मृत्यु के समय ईसा जवान ही थे, उनकी उमर तीस वर्ष से कुछ ही ज्यादा थी। जब हम इजील की सुन्दर भाषा मे उनकी मौत की करुण-कहानी पढ़ते है तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगो मे ईसाई धर्म की जो तरक्की हुई, उसने करोडो के मन मे ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा कर दी; हालाँकि उन लोगों ने उनके उपदेशो पर बहुत कम अमल किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढाये गये थे, तब उनका नाम फिलस्तीन से बाहर के लोग ज्यादा नही जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे मे कुछ भी नही जानते थे, और पाण्टियस पाइलेट ने इस घटना को बिल्कुल ही महत्त्व नही दिया होगा।

ईसा के नज़दीकी अनुयायियो और शिष्यो ने डर के मारे उन्हें अपना कहने से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन ईसा की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉल नाम के एक नये अनुयायी ने, जिसने ईसा को खुद नही देखा था, अपनी समझ के मुताबिक ईसाई सिद्धान्तो का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत से लोगो का खयाल है कि जिस ईसाई धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के उपदेशो से बहुत भिन्न है। पॉल एक काबिल और विद्वान आदमी था, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं था। बहरहाल पॉल कामयाब हुआ और ईसाई मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगो ने शुरू मे इसे कोई महत्व नही दिया। उन्होंने समझा कि ईसाई भी यहूदियो की ही एक कोई शाख होगे। लेकिन ईसाइयो की जुर्रत बढने लगी, वे दूसरे तमाम धर्मों के कट्टर विरोधी बन गये और उन्होने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को और उनकी निगाह में ईसाइयो की तंग-खयाली को, समझ नही सके। इसलिए वे ईसाइयो को सनकी, लड़ाकू, असभ्य और इन्सानी तरक्की का विरोधी समझने लगे। ईसाइयत को वे लोग शायद एक धर्म की हैसियत से बरदाश्त करने को तैयार हो जाते, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से, उनका इन्कार करना, राजद्रोह समझा गया, और उसकी सज़ा मौत करार दी गई। ईसाई लोग आदमी और जानवर की कुश्तियो की भी कड़ी आलोचना करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि ईसाई सताये जाने लगे। उनकी जायदादें ज़ब्त की जाने लगी, और उन्हे शेरों का भोजन बनाया जाने लगा। तुमने इन ईसाई शहीदो के क़िस्से पढे होगे और शायद तुमने इनके सिनेमा-फिल्म भी देखे होगे। लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है, और ऐसी मौत में दर असल गौरव महसूस करने लगता है, तो उसे या उसके उसूल को दबाना नामुमकिन होता है। चुनाचे रोमन साम्राज्य ईसाई धर्म को दबाने में बिलकुल नाकामयाब रहा। उल्टे इस लड़ाई में ईसाई धर्म की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू में एक रोमन सम्राट खुद ईसाई हो गया और ईसाई धर्म रोमन-साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया। इस सम्राट का नाम कान्स्टेण्टाइन था, जिसने कुस्तुन्तुनिया नगर बसाया। इसका ज़िक्र हम बाद में करेंगे।

ज्यो-ज्यो ईसाई धर्म फैला, त्यो-त्यो ईसा के देवत्व के बारे मे जबर्दस्त लड़ाई-झगड़े पैदा हो गये। तुम्हें याद होगा कि मै तुम्हे बता चुका हूं कि गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नही किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह ईसा ने भी खुदाई का कोई दावा नही किया था। ईसा ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र है, उसका लाजिमी अर्थ यह नही है कि उन्होने खुदाई का या मनुष्यो से ऊपर होने का दावा किया था। लेकिन अपने महान पुरुषों को देवता का रूप दे देना और देवता के आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशो को छोड देना, मनुष्यजाति को ज्यादा पसन्द है। छः सौ साल बाद पैगम्बर मुहम्मद ने एक और बडा मजहब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणो से फायदा उठा कर उन्होने साफ-साफ और बार-बार यह कहा कि वह आदमी है, खुदा नही।

इस तरह ईसा के उपदेशो को समझने और उनपर अमल करने के बजाय, ईसाई लोग ईसा के देवत्व और ईसाई त्रिपुटी[1] के रूप के बारे मे तर्क-वितर्क और झगडे करने लगे। वे एक-दूसरे को काफिर कहने लगे, एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे। एक बार ईसाइयो के मुख्तलिफ सम्प्रदायो मे एक सयुक्त-शब्द के ऊपर बहुत जोरदार और भयकर झगडा हुआ। एक दल कहता था कि प्रार्थना मे होमो-आउज़न[2] शब्द इस्तेमाल किया जाना चाहिए, दूसरा होमोइ-आउज़न[3] इस्तेमाल करना चाहता था। इस मत-भेद का ईसा के देवत्व से सम्बन्ध था। इस सयुक्त-शब्द के पीछे बहुत लडाइयाँ हुई और बहुत-से आदमी मारे गये।

ज्यो-ज्यो ईसाई-सघ की ताकत बढती गई, त्यो-त्यो ये घरेलू झगडे बढते गये। ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो मे इसी तरह के कुछ झगडे पश्चिमी देशो में कुछ अर्से पहले तक होते रहे है।

तुम्हे यह जानकर ताज्जुब होगा कि इग्लैण्ड मे, या पश्चिमी योरप मे पहुँचने के बहुत पहले, और उस वक्त जब कि रोम तक मे वह तुच्छ और वर्जित सम्प्रदाय समझा जाता था, ईसाई धर्म भारत मे आ पहुँचा था। ईसा के मरने के करीब सौ साल के अदर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्टाचार का बर्त्ताव किया गया और उन्हे अपने नये मजहब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होने बहुत-से लोगो को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तब से आज तक दक्षिण भारत मे सब तरह के दिन गुजारते हुए रहते आये है। उनमे से बहुत लोग ईसाई-धर्म के पुराने सम्प्रदायो के अनुयायी है, जिनकी अब योरप मे हस्ती तक नही है। आजकल इनमे से कुछ के सदर-मुकाम एशिया-कोचक में है।

राजनैतिक दृष्टि से, आजकल ईसाई धर्म का बोलबाला है, क्योकि वह योरप की उन जातियो का धर्म है जिनकी दुनिया मे तूती बोलती है। लेकिन जब हम अहिंसा और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही ईसा की तुलना उनके आजकल के बकवादी अनुयायियो से करते है जो साम्राज्य-वाद, शस्त्रास्त्रो, युद्धो और धन की पूजा मे विश्वास करते है, तो यह खयाल तो हमे हैरत मे डाल देता है। ईसा का 'पर्वत का उपदेश'[4] और आजकल की योरप तथा अमरीका की ईसाइयत, इन दोनो मे कितनी हैरत भरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब की बात नही अगर बहुत से लोग यह सोचने लगे, कि आजकल पश्चिम मे अपने को ईसा के अनुयायी कहनेवाले अधिकाश लोगो के मुकाबिले मे बापू ईसा के उपदेशो के बहुत ज्यादा नजदीक है।

---

[1] **ईसाई त्रिपुटी** (Christian Trinity))—**पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा** (Father, Son and Holy Ghost)

[2] Homo-ousion

[3] Homoi-ousion

[4] Sermon on the Mount.

: ३२ :

रोमन साम्राज्य

२३ अप्रैल, १९३२

प्यारी बेटी, मैंने बहुत दिनो से तुम्हें पत्र नही लिखा। इलाहाबाद से आनेवाली खबरो ने मुझे बेचैन और रोमांचित कर दिया है। खासतौर से तुम्हारी बूढी दादी, डोल अम्मा की खबर ने। जब दुबली और कमज़ोर मा को पुलिस की लाठियो का सामना करना पड रहा है और उनको चोट सहनी पड रही है, तो जेल की अपनी इस कम तकलीफ की जिन्दगी पर झुझलाहट होती है। लेकिन मै नही चाहता कि मेरे विचार भावना के साथ बह जायं और मेरी कहानी के सिलसिले मे बाधा डाले।

अब हमें फिर रोम को लौट चलना चाहिए, जिसे पुरानी सस्कृत पुस्तको मे रोमक कहा गया है। तुम्हे याद होगा कि हम रोमन प्रजातन्त्र के अन्त की और रोमन साम्राज्य के आगमन की चर्चा कर रहे थे। जूलियस सीजर का गोद लिया हुआ लड़का आक्टेवियन, आगस्टस सीज़र के नाम से पहला बादशाह बन चुका था। वह अपने को बादशाह नही कहता था। इसकी वजह कुछ तो यह थी कि वह बादशाह की उपाधि को अपने रतबे की शान के काबिल नही समझता था, और दूसरे वह प्रजातन्त्र के ऊपरी ढगो को जारी रखना चाहता था। इसलिए उसने अपना खिताब 'इम्परेटर', यानी हुक्म देनेवाला, रक्खा था। इस तरह 'इम्परेटर' का खिताब सबसे ऊँचा समझा जाने लगा। और तुम शायद जानती हो कि अंग्रेजी का 'इम्परर' शब्द इसीसे निकला है। इस तरह रोम के पुराने साम्राज्य ने दो शब्द ऐसे दिये जिनकी लालसा और जिनका उपयोग करीब-करीब सारी दुनिया के बादशाह बहुत दिनो तक करते रहे। ये दो शब्द है—'इम्परर' और 'सीजर' या 'कैसर' या 'जार'। पहले यह समझा जाता था कि एक वक्त मे एक ही सम्राट हो सकता है, जोकि एक तरह से सारी दुनिया का हाकिम हो। रोम 'ससार की स्वामिनी' कहलाता था, और पश्चिम के लोग समझते थे कि सारी दुनिया रोम की छाया मे बसती है। यह बात दरअसल गलत थी और भूगोल और इतिहास के बारे मे लोगो का अज्ञान ही जाहिर करती थी। रोमन साम्राज्य ज्यादातर भूमध्यसागर के किनारो के देशो का साम्राज्य था, और इसकी सीमा पूर्व मे इराक से आगे कभी नही बढी। समय-समय पर चीन और भारत मे इससे कही ज्यादा शक्तिशाली, बडे और सुसस्कृत राज्य हुए है। फिर भी जहाँ तक पश्चिमी दुनिया से ताल्लुक था, उनके लिए रोम ही अकेला साम्राज्य था, और इसी खयाल से पुराने जमाने के लोगो की नजरो मे वह सार्वभौम साम्राज्य था। उस समय उसका बडा भारी दबदबा था।

रोम के बारे मे सबसे ज्यादा दिलचस्प बात यह है कि उसके पीछे दुनिया के ऊपर राज्य करने और दुनिया का सरताज बनने का भाव छिपा था। जब रोम का पतन हुआ तब भी इसी खयाल ने उसकी रक्षा की और उसे ताकत दी। और यह भाव तब भी कायम रहा जब रोम से उसका ताल्लुक बिल्कुल टूट गया। यहाँ तक कि खुद साम्राज्य भी विलीन होगया और उसकी छाया भर रह गई, किन्तु यह भाव तब भी बना ही रहा।

मुझे रोम के बारे मे या उसके उत्तराधिकारियो के बारे मे लिखते हुए कुछ दिक्कत मालूम होती है। क्या-क्या बाते तुम्हें बतलाई जाय, उनका छाटना और पसन्द करना आसान नही है। मुझे डर है कि इस बारे मे जो पुरानी किताबें मैंने पढी है, उनसे मेरे दिमाग में इधर-उधर की तसवीरो का कुछ ढेर-सा बन गया है। फिर जो कुछ मैंने पढा, ज्यादातर जेल मे पढा है। सच तो यह है कि अगर मै जेल न आया होता तो रोमन इतिहास की एक मशहूर किताब शायद कभी न पढ पाता। यह किताब इतनी बडी है कि दूसरे कामो के होते हुए इसे पूरी पढ जाने के लिए वक्त निकाल सकना मुश्किल है। इस किताब का नाम "रोमन साम्राज्य का पतन और अन्त"[1] है और इसका लेखक गिबन नामक एक अंग्रेज है। यह किताब करीब डेढ सौ वर्ष हुए, स्वीज़रलेण्ड में लेमन झील के किनारे बैठ कर लिखी गई थी। लेकिन आज भी इसके पढने मे रस आता है और मुझे तो इसका वर्णन, जो बड़ी लच्छेदार पर मीठी भाषा में लिखा हुआ है, उपन्यास से भी अधिक मनोरंजक लगा। करीब दस वर्ष हुए मैंने इसे लखनऊ जिला जेल मे पढा था। करीब-करीब एक महीना

---

[1] 'Decline and Fall of the Roman Empire' by Gibbon

तक गिबन का मेरा बड़ा नजदीक साथ रहा, और उसकी भाषा ने पुराने जमाने की जो तसवीरें मेरे सामने खींची, उनमें मैं लीन हो गया। लेकिन किताब खतम होने के कुछ ही पहले मुझे अचानक रिहा कर दिया गया। जादू टूट गया और फिर बचे हुए सौ पन्नो को पढ़ने और प्राचीन रोम और कुस्तुनतुनिया को लौट जाने को समय निकालने और दुबारा चित्त लगाने में मुझे कुछ दिक्कत हुई।

लेकिन यह बात दस वर्ष पुरानी है, और वास्तव मे मैंने जो कुछ पढा था उसका बहुत कुछ हिस्सा मै भूल गया हूँ। फिर भी दिमाग़ को भरने और उसे उलझन मे डालने के लिए बहुत-कुछ मौजूद है। और मैं नही चाहता कि मेरी उलझन तुम्हारे दिमाग को उलझन में डाल दे।

पहले हम पुराने युगो के रोमन साम्राज्य या साम्राज्यो पर एक नजर डाल लें। बाद मे शायद इन तसवीरोमें कुछ रग भरने की कोशिश की जायगी।

ईसाई सन् की शुरूआत में आगस्टस सीजर के साथ साम्राज्य शुरू होता है। कुछ दिनों तक सम्राट लोग सिनेट की इज्जत करते रहे; लेकिन बहुत जल्द प्रजातन्त्र के लगभग आखिरी निशान भी मिट गये। सम्राट ने सारी शक्ति अपने हाथ में लेली और वह पूरी तरह एक निरकुश राजा बन गया जिसे लोग देवता की तरह मानने लगे। जिन्दगी मे तो वह आधे-देवता की तरह पूजा जाता था, और मरने के बाद वह पूरा देवता बना दिया जाता था। उस जमाने के सभी लेखकों ने शुरू के अधिकतर सम्राटों, खासकर आगस्टस, में सारे गुणों का आरोप कर दिया है। ये लोग आगस्टस के युग को स्वर्ण-युग कहते हैं, जब सारी नेकियाँ फल-फूल रही थी, और भलो को इनाम तथा बुरों को सजा मिलती थी। जुल्मी शासको के मुल्को में लेखकों का यही ढग रहता है, क्योंकि जाहिर है कि शासक की तारीफ करने में फायदा रहता है। वर्जिल, ओविड, होरेस जैसे कुछ मशहूर लैटिन लेखक, जिनकी किताबे हमे स्कूल में पढनी पडी थीं, इसी जमाने मे हुए थे। यह मुमकिन है कि गृह-युद्धो और उन फ़िसादो के बाद, जो कि प्रजातन्त्र के आखिरी दिनो मे बराबर होते रहे, शान्ति और राहत का जमाना आने से लोगो को तसल्ली मिली हो, जिसमे व्यापार को और कुछ हद तक सभ्यता को फूलने-फलने का मौका मिल सकता था।

लेकिन यह सभ्यता कैसी थी? यह धनवान आदमियो की सभ्यता थी। लेकिन ये धनवान लोग प्राचीन यूनान के धनवानो की तरह कला-प्रिय और कुशाग्र-बुद्धि भी नही थे, बल्कि बहुत मामूली और मन्द-बुद्धि लोगो का एक जमघट था, जिनका खास काम मौजकी जिन्दगी बसर करना था। सारी दुनिया से ऐश-आराम और खाने-पीने की चीजे इनके लिए आती थी, और बडी शान-शौकत और तड़क-भडक दिखाई देती थी। इस क़िस्म के आदमियों की सख्या आज भी मौजूद है। एक तरफ तो शौकत और आडम्बर या और चमक-दमक वाले जुलूसो, सरकस के खेलो और ग्लेडियेटरो के मारे जाने का सिलसिला था। दूसरी तरफ इस ऐश्वर्य के पीछे जनता की तबाही छिपी थी। टैक्स बहुत बढे हुए थे, जिनका बोझ खास करके मामूली आदमियो पर पडता था और काम का बोझ बेशुमार गुलामो की पीठ पर था। रोम के इन बडे आदमियो ने चिकित्सा, दार्शनिक चर्चा और मनन तक के काम भी ज्यादातर यूनानी गुलामो के हवाले कर रक्खे थे। ये लोग अपने को जिस दुनिया का मालिक मानते थे उसके बारे मे ठीक बाते जानने की या शिक्षा का प्रचार करने की वे जरा भी कोशिश नही करते थे।

सम्राट के बाद सम्राट गद्दी पर बैठता गया। इन मे कोई बुरा था तो कोई बहुत ही बुरा था। धीरे-धीरे सारी ताकत फौज के हाथ में आगई और वह अपनी मरजी के मुताबिक सम्राटो को बनाने-बिगाड़ने लगी। हालत यहाँ तक बिगडी कि फौज की कृपा प्राप्त करने के लिए होड होने लगी और उसे रिश्वत देने के लिए जनता या हराये हुए देशो से जबरदस्ती रुपया वसूल किया जाने लगा। आमदनी का एक बहुत बड़ा वसीला गुलामो का व्यापार था और रोम की फ़ौजे पूर्व मे बाक़ायदा गुलामो को पकड़ने जाया करती थी। फ़ौज के साथ गुलामो के व्यापारी भी जाते थे, ताकि मौके पर गुलामों को खरीद सकें। डेलोस का टापू, जिसे प्राचीन यूनानी लोग पवित्र मानते थे, गुलामो की एक बडी मडी बन गई थी और यहा कभी-कभी दस हजार गुलाम एक दिन में बिक जाते थे। रोम के विशाल कोलोजियम[1] में एक लोकप्रिय सम्राट बारह-

---

[1]कोलोजियम—रोम का बहुत बड़ा अखाड़ा जो उस समय दुनिया में सबसे बड़ा माना जाता था। इसके खंडहर अब तक मौजूद हैं।

बारह सौ ग्लेडियेटरों का एक साथ प्रदर्शन किया करता था। इन अभागे गुलामों का काम था सम्राट और उसकी प्रजा के मनोरंजन के लिए मरना।

साम्राज्य के दिनों में रोमन सभ्यता इस तरह की थी। फिर भी हमारे मित्र गिबन ने लिखा है—"अगर किसी से कहा जाय कि तुम दुनिया के इतिहास का वह युग बताओ जब मनुष्य-समाज सबसे ज्यादा सुखी और खुशहाल रहा हो, तो बिना संकोच के वह उस युग का नाम लेगा जिसका समय डोमिशियन की मृत्यु से कामोडस के गद्दी पर बैठने तक था"—यानी सन् ९६ ई० से १८० ई० तक के दरमियान चौरासी वर्ष का ज़माना। गिबन कितना ही बड़ा विद्वान रहा हो, पर मेरा खयाल है कि जो कुछ उसने कहा है, उससे सहमत होने में बहुत लोग ज़रूर सकोच करेंगे। गिबन जब मनुष्य-जाति की बात करता है, तब उसका मतलब भूमध्यसागर के आसपास बसी दुनिया से ही है, क्योंकि भारत या चीन या प्राचीन मिस्र के बारे में उसकी जानकारी नही के बराबर थी।

लेकिन शायद मैं रोम के साथ कुछ ज्यादती कर रहा हूँ। रोमन राज्यो में थोड़ा-बहुत अन्दरूनी अमन-चैन होने की वजह से ज़रूर एक सुखदायी परिवर्तन हुआ होगा। सरहदों पर अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थी। लेकिन कम-से-कम शुरू के दिनो में साम्राज्य के भीतर 'रोमन शान्ति'[1] विराजती थी। जान-माल एक हद तक सुरक्षित थे, इसलिए व्यापार मे तरक्की हुई। रोमन-नागरिता के अधिकार सारी रोमन दुनिया को दे दिये गये थे, लेकिन यह याद रक्खो कि बेचारे गुलामो को इस अधिकार से कोई सरोकार नही था। यह भी याद रखने की बात है कि सारी शक्ति सम्राट के हाथो मे थी और नागरिको को कोई अधिकार नही थे। राजनीति पर किसी तरह की चर्चा सम्राट के खिलाफ़ गद्दारी समझी जाती थी। ऊँचे वर्ग के लोगो के लिए किसी हद तक एक-समान सरकार थी और एक कानून था। यह बात उन लोगो के लिए बहुत बड़े फायदे की रही होगी, जो पहले इससे भी ज्यादा जुल्मी हुकूमतों के मातहत मुसीबतें झेल चुके थे।

धीरे-धीरे रोमन लोग इतने आलसी या दूसरी बातो मे इतने अयोग्य हो गये कि खुद अपनी फौजो में भरती होकर लड़ने की ताकत भी उनमे न रही। गाँव के किसान अपने ऊपर लदे हुए बोझो की वजह से ज्यादा गरीब होते गये और यही हाल शहर के लोगो का भी हुआ। लेकिन सम्राट शहर के लोगो को खुश रखना चाहते थे, जिससे कि वे कोई झगड़ा-बखेड़ा खड़ा न करे। इसके लिए रोम के लोगो को मुफ्त रोटियाँ दी जाती थी, और उनके मनोरंजन के लिए सरकसो मे खेल-तमाशे भी मुफ्त मे दिखाये जाते थे। इस तरह उनका मिजाज खुश रक्खा जाता था। लेकिन ये मुफ्त की रोटियाँ सिर्फ चन्द जगहो मे ही बाटी जा सकती थी, और इसके लिए भी मिस्र वगैरा दूसरे मुल्को मे गुलामो को बेहद तबाही और मुसीबत उठानी पड़ती थी, क्योकि उनसे मुफ्त का आटा वसूल किया जाता था।

चूँकि रोमन लोग आसानी से फौज में भरती नही होते थे, इसलिए साम्राज्य के बाहर के लोग, जिन्हें 'बर्बर' कहा जाता था, सेना में भरती किये जाते थे। इस तरह रोम की सेनाओ में ज्यादातर वे लोग भर गये जो रोम के 'बर्बर' दुश्मनो के साथी या रिश्तेदार थे। सरहदों पर ये 'बर्बर' जातियाँ बराबर रोमनों को दबाती और घेरती जाती थी। ज्यो-ज्यो रोम कमज़ोर होता गया, 'बर्बर' लोग ज्यादा ताकतवर और उद्दण्ड होते नज़र आने लगे। पूर्व की तरफ से खास खतरा था। और चूँकि यह सरहद रोम से दूर थी, इसलिए इसकी रक्षा करना आसान नही था। आगस्टस सीज़र के तीन सौ वर्ष बाद, कान्स्टेण्टाइन नाम के एक सम्राट ने एक ऐसा महत्वपूर्ण क़दम उठाया, जिसका आगे चलकर बहुत ही व्यापक नतीजा निकला। वह साम्राज्य की राजधानी रोम से हटा कर पूर्व को ले गया। काला सागर और भूमध्यसागर के बीच, दर्रे दानियाल के किनारे पर बसे हुए बिज़ैण्टियम नामके पुराने शहर के पास, उसने एक नया शहर बसाया, जिसका नाम उसने अपने नाम पर कान्स्टेण्टिनोपुल[2] रक्खा। क़ुस्तुन्तुनिया, जिसे नया रोम भी कहते थे, रोमन साम्राज्य की राजधानी बन गया। आज भी एशिया के कई हिस्सो में क़ुस्तुन्तुनिया को रूम कहते हैं।

---

[1]Pax Romana

[2]क़ुस्तुन्तुनिया

: ३३ :

रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छायामात्र रह जाता है

२४ अप्रैल, १९३२

आज भी हम रोमन साम्राज्य का सिंहावलोकन जारी रक्खेंगे। ईसवी सन् की चौथी सदी के शुरू में, यानी सन् ३२६ ई० में, कान्स्टेण्टाइन ने पुराने बिजैण्टियम के नजदीक क़ुस्तुन्तुनिया शहर बसाया। और वह अपने साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से बहुत दूर दर दानियाल के किनारे पर बसे हुए इस नये रोम को ले आया। नक्शे पर एक नज़र डालो। तुम देखोगी कि कुस्तुन्तुनिया का यह नया शहर योरप के किनारे खड़ा महान शक्तिशाली एशिया की ओर झांक रहा है। यह दो महाद्वीपों को जोड़नेवाली एक कड़ी के समान है। खुश्की के और समुद्र के बहुतसे बड़े-बड़े तिजारती रास्ते इसीसे होकर गुज़रते थे। राजधानी या नगर के लिए यह बहुत अच्छे मौक़े की जगह है। कान्स्टेन्टाइन ने चुनाव तो अच्छा किया लेकिन इस राजधानी के परिवर्तन की उसे या उसके वारिसों को काफ़ी क़ीमत चुकानी पड़ी। जिस तरह पुराना रोम एशिया-कोचक पूर्वी हिस्सो से काफ़ी दूर पड़ता था, उसी तरह यह नई पूर्वी राजधानी भी ब्रिटेन और गाल जैसे पश्चिमी देशों से बहुत दूर पड़ती थी।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ समय तक तो दो सयुक्त सम्राट हुआ करते थे; एक रोम में रहता था और दूसरा कुस्तुन्तुनिया में। इसका नतीजा यह हुआ कि साम्राज्य के दो हिस्से हो गये—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। लेकिन पश्चिमी साम्राज्य, जिसकी राजधानी रोम थी, बहुत दिनो तक इस धक्के को बरदाश्त न कर सका। जिन लोगो को वह 'बर्बर' कहता था, उनसे वह अपनी रक्षा न कर सका। गोथ नाम का एक जर्मन कबीला आया और उसने रोम को लूट लिया। इसके बाद वाण्डाल और हूण आये और पश्चिमी साम्राज्य ढह गया। तुमने हूण शब्द का प्रयोग सुना होगा। यह बतलाने के लिए कि जर्मन लोग बहुत जालिम और जगली है, पिछले महायुद्ध मे अग्रेज लोग जर्मनो के लिए इस शब्द का आमतौर पर इस्तेमाल करते थे। पर सच्ची बात तो यह है कि लड़ाई के जमाने में हर आदमी का, या कुछ के सिवा हर आदमी का, दिमाग़ फिर जाता है, सभ्यता और शराफ़त के बारे मे उसने जो कुछ सीखा होता है, वह सब भूल जाता है, और निर्दयता तथा जगलीपन का व्यवहार करने लगता है। जर्मनो ने इसी तरह का व्यवहार किया और अग्रेजो तथा फ़ासीसियों ने भी। इस मामले में दोनों में कोई फर्क नही था।

हूण शब्द लानत-मलामत का एक भयकर शब्द बन गया है। यही हाल वाण्डाल शब्द का भी है। कदाचित् ये हूण लोग और वाडाल लोग बहुत असभ्य और निर्दयी थे, और इन्होने बहुत नुकसान पहुँचाया। लेकिन यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इनके बारे में जो कुछ हाल हमें मालूम होते है वह इनके दुश्मन रोमन लोगो के लिखे हुए है, और उनसे निष्पक्षता की उम्मीद नही की जा सकती। कुछ भी हो, गोथ, वाण्डाल और हूण लोगो ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य को बालू की दीवारकी तरह ढहा दिया। इन लोगो के इतनी आसानी से कामयाब हो जाने की एक वजह शायद यह थी कि रोमन साम्राज्य का किसान वर्ग उसकी मातहती में इतना ज्यादा तबाह था और उस पर टैक्स का तथा क़र्ज़े का इतना भारी बोझ था, कि वह किसी भी परिवर्तन का स्वागत करने को तैयार था। जैसे आज का गरीब भारतीय किसान अपनी भयकर ग़रीबी और तबाही में होनेवाला कोई भी परिवर्तन खुशी से कबूल कर लेगा।

इस तरह रोम का पश्चिमी साम्राज्य नष्ट हो गया। कुछ सदियो के बाद यह फिर दूसरी शक्ल में उठा। पूर्वी साम्राज्य किसी तरह क़ायम रहा; हालाँकि हूण और दूसरी कौमो के हमलो का मुक़ाबला करने में इसे बहुत मुश्किलें उठानी पडी। इन हमलो से अपनी रक्षा करने के अलावा अरबो, और बाद को तुर्कों, से बराबर लड़ाइयाँ लड़ते हुए भी यह साम्राज्य सदियो तक चलता रहा। ग्यारह सौ वर्षों के आश्चर्य-जनक अर्से तक यह बचा रहा। आखिरकार सन् १४५३ ई० में इसका पतन हो गया और कुस्तुन्तुनिया पर उस्मानिया तर्कों ने कब्ज़ा कर लिया। उस वक्त से आज तक करीब पाच सौ वर्षों से कुस्तुन्तुनिया या इस्ता-म्बूल तुर्कों के क़ब्ज़े में है। यहाँ से तुर्कों ने योरप पर बार-बार धावे किये और वे ठेठ वियेना की दीवारो तक जा

पहुँचे। बाद की सदियों में ये लोग धीरे-धीरे पीछे हटा दिये गये, और बारह वर्ष गुज़रे, महायुद्ध में हारने के बाद, क़ुस्तुन्तुनिया का शहर भी क़रीब-क़रीब तुर्कों के हाथ से निकल गया था। इस शहर पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा था और उन्होंने तुर्की सुलतान को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया था। लेकिन एक महान नेता, मुस्तफ़ा कमाल पाशा, अपनी क़ौम को बचाने के लिए आगे आया और एक बहादुराना संघर्ष के बाद वह सफल हुआ। आज टर्की एक प्रजातन्त्र है और सुलतान का पद हमेशा के लिए ख़तम हो गया है। कमाल पाशा इस प्रजा-तंत्र के प्रमुख है।[1] कुस्तुन्तुनिया, जो पन्द्रह-सौ वर्ष तक पूर्वीय रोमन साम्राज्य की और बादमें तुर्की साम्राज्य की राजधानी रहा है, अब भी तुर्की राज्य का एक हिस्सा है, लेकिन उसकी राजधानी नहीं है। तुर्कों ने इस शहर की साम्राज्य सम्बन्धी यादगारों से दूर रहना और यहाँ से बहुत दूर एशिया-कोचक में अंगोरा या अकारा को अपनी राजधानी बनाना ज्यादा मुनासिब समझा।

हमने क़रीब दो हज़ार वर्ष का ज़माना तेज़ी के साथ पार कर लिया है और क़ुस्तुन्तुनिया की स्थापना, इस नये शहर मे रोमन साम्राज्य की राजधानी का ले जाना, वग़ैरा एक के बाद एक होनेवाले परिवर्त्तनों पर सरसरी नज़र डाली है। लेकिन कान्स्टेन्टाइन ने एक नई बात और भी की। वह ईसाई हो गया, और चूँकि वह सम्राट था, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि ईसाई-धर्म साम्राज्य का राज-धर्म बन गया। ईसाइयत की हैसियत मे इस तब्दीली का एकबारगी आजाना और उसका एक त्रसित धर्म से सम्राट का धर्म बन जाना, एक बड़ी अजीब बात हुई होगी। लेकिन इस परिवर्त्तन से ईसाई-धर्म को उस समय ज्यादा फ़ायदा नहीं हुआ। ईसाइयो के मुख्तलिफ़ फ़िरक़ो में आपसी झगडे शुरू हो गये। आखिर में लातीनी और यूनानी दो फ़िरके टूट कर अलग हो गये। लातीनी फ़िरके का केन्द्र रोम था और रोम का बिशप इसका अध्यक्ष समझा जाता था। बाद में यही रोम का पोप हो गया। यूनानी फ़िरके का केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। लातीनी चर्च उत्तर और पश्चिम योरप मे फैल गया और रोमन कैथोलिक चर्च के नाम से मशहूर हुआ। यूनानी चर्च का नाम कट्टर चर्च[2] पड गया। पूर्वी रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद रूस ही ऐसा मुल्क था जिसमें कट्टर चर्च खास तौर पर फूला-फला। अब रूस मे बोलशेविज्म के कारण इस चर्च की, या किसी भी चर्च की, कोई सरकारी हैसियत नहीं है।

मैंने पूर्वी रोमन साम्राज्य का जिक्र किया है, लेकिन इसका रोम से कोई सम्बन्ध नही था। इस साम्राज्य की भाषा भी लातीनी नही बल्कि यूनानी थी। एक अर्थ मे इसे बहुत-कुछ सिकन्दर के यूनानी साम्राज्य का सिलसिला समझ सकते है। इस साम्राज्य का पश्चिमी योरप से भी कोई सम्पर्क नहीं था; हालाँकि बहुत दिनो तक इसने पश्चिमी देशो के इस हक़ को मंजूर नही किया कि वे इससे आज़ाद रहें। फिर भी पूर्वी साम्राज्य ने रोमन शब्द को नही छोड़ा, और यहा के लोग रोमन कहलाते रहे, गोया इस शब्द में कोई जादू रहा हो। इससे ज्यादा ताज्जुब की बात यह हुई कि रोम नगर ने, साम्राज्य की राजधानी के पद से गिर जाने पर भी, अपना रौब नही खोया; यहाँ तक कि जो बर्बर लोग इसे विजय करने के लिए आये उन्हें भी इस पर हाथ उठाने में झिझक-सी हुई और उन्होने इसके प्रति सम्मान का व्यवहार किया। वास्तव में बड़े नाम में और भावनाओ मे ऐसी ही शक्ति होती है!

साम्राज्य खोकर रोम ने एक नया साम्राज्य बनाना शुरू किया; लेकिन यह बिलकुल दूसरी किस्म का था। कहा जाता था कि ईसा के शिष्य पीटर रोम आये थे और वह यहाँ के पहले बिशप हुए। इससे बहुत-से ईसाइयों की नज़रो में यह शहर पवित्र बन गया और रोम का बिशप पद खास महत्व का हो गया। शुरू में रोम का बिशप दूसरे बिशपों की तरह ही होता था, लेकिन सम्राट के कुस्तुन्तुनिया चले जाने के बाद इस पद का महत्व बढ़ता गया। अब रोम में बिशप के ऊपर कोई न रहा और पीटर की गद्दी पर बैठनेवाले की हैसियत से रोम के बिशप का स्थान सबसे ऊँचा माना जाने लगा। बाद को ये पोप कहलाने लगे, और तुम जानती हो कि पोप आज भी बने हुए हैं और रोमन कैथोलिक चर्च के प्रमुख होते है।

यह ताज्जुब की बात है कि रोमन चर्च और यूनानी कट्टर चर्च के अलग होने की एक वजह मूर्ति-पूजा का स्थान था। रोमन चर्च ईसाई सन्तों की और खासकर ईसा की माता मेरी की मूर्तियों की पूजा को प्रोत्साहन देता था, लेकिन कट्टर चर्च इसका घोर विरोधी था।

---

[1] कमालपाशा की मृत्यु १९३९ ई० में हो गई।
[2] Orthodox Church

रोम पर उत्तरी क़ौमो के सरदारो का कई पुश्तो तक कब्जा और शासन रहा, लेकिन वे भी अक्सर कुस्तुन्तुनिया के सम्राट को अपना महाराजा मानते रहे। इस दरमियान रोम के बिशप की ताकत धर्माध्यक्ष के रूप में बढ़ती गई। यहाँ तक कि वह अपने को इतना ताकतवर महसूस करने लगा कि कुस्तुन्तुनिया के सम्राट को भी कुछ न समझे। जब मूर्ति-पूजा के सवाल पर झगड़ा हुआ तब पोप ने रोम को पूर्व से बिल्कुल अलग कर लिया। इस अर्से में बहुत सी ऐसी बातें हो गई थी, जिनका हम आगे ज़िक्र करेंगे। अरब में एक नया मजहब इस्लाम पैदा हो गया था और अरब लोग सारे उत्तरी अफ़्रीका और स्पेन को रौंद कर योरप के मर्मस्थल पर हमला कर रहे थे। उत्तर-पश्चिमी योरप मे नये राज्य कायम हो रहे थे और पूर्वी रोमन साम्राज्य पर अरबो के भयकर आक्रमण हो रहे थे।

पोप ने फ़्रैन्क लोगो के एक बडे नेता से मदद मागी। ये फ़्रैन्क उत्तर की एक जर्मन जाति के लोग थे। बाद को फ़्रैको के सरदार कार्ले या चार्ल्स को रोम मे सम्राट की गद्दी पर बिठाया गया। यह एक बिल्कुल ही नया साम्राज्य या राज्य था, लेकिन उन लोगो ने इसे रोमन साम्राज्य और बाद में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के ही नाम से पुकारा। वे रोमन के सिवाय किसी साम्राज्य की कल्पना ही नही कर सकते थे, और यद्यपि शार्लमेन या महान चार्ल्स का रोम से कोई सम्बन्ध नही था, फिर भी वह इम्परेटर, सीज़र और आगस्टस बन गया। इस नये साम्राज्य को पुराने साम्राज्य का एक सिलसिला समझा गया, लेकिन उसके नाम मे एक शब्द और जुड गया। अब वह 'पवित्र' हो गया। यह पवित्र इसलिए माना गया कि यह खास तौर से एक ईसाई साम्राज्य था और पोप इसका धर्म-पिता था।

इस जगह भावनाओ की विचित्र शक्ति का एक और सबूत मिलता है। मध्य-योरप का रहनेवाला एक फ़्रैन्क या जर्मन, रोमन सम्राट बन जाता है! इस 'पवित्र' साम्राज्य का अगला इतिहास और भी आश्चर्य-जनक है। साम्राज्य की हैसियत से यह बिल्कुल छाया मात्र रह गया था। पूर्व का रोमन साम्राज्य, जिसकी राजधानी कुस्तुन्तनिया थी, एक राज्य के रूप मे चलता रहा, पर पश्चिमी साम्राज्य समय-समय पर परिवर्तित, गायब और फिर प्रकट होता रहा। दरअसल यह साम्राज्य भूत की छाया की तरह था, जो सिर्फ ईसाई-चर्च और रोमन नाम की प्रतिष्ठा के बल पर खयाली दुनिया में चल रहा था। अब इसका अस्तित्व काल्पनिक रह गया था जिसमे वास्तविकता कुछ नही थी। किसी ने—मेरा खयाल है शायद वाल्तेयर ने—इस 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की परिभाषा करते हुए कहा था कि यह ऐसी चीज थी, जो न तो पवित्र थी, न रोमन थी और न साम्राज्य थी। जैसे किसी ने एक दफा इण्डियन सिविल सर्विस के बारे में, जिससे हम लोग इस देश में बद-किस्मती से अभी तक परेशान है, कहा था कि न तो यह इण्डियन (भारतीय) है, न सिविल (शिष्ट) है और न सर्विस (सेवा) है!

जो कुछ भी हो, पवित्र रोमन साम्राज्य का यह ढकोसला करीब एक हजार वर्ष तक नाम मात्र को चलता रहा और आज से करीब सौ वर्ष से कुछ ही ज्यादा हुए, नेपोलियन के ज़माने में, इसका हमेशा के लिए खातमा हो गया। यह अन्त भी कुछ मार्के का या आकर्षक नही हुआ। इसके अन्त पर किसी का ध्यान ही नही गया, क्योंकि वास्तव में बहुत दिनो से इसकी हस्ती ही नही थी। अन्त में इस भूत को दफन कर दिया गया। लेकिन हमेशा के लिए नही, क्योंकि कैसर और ज़ार वगैरा के रूपो मे, यह बार-बार प्रकट होता रहा। ये सब भी चौदह वर्ष हुए पिछले महायुद्ध मे दफना दिये गये।

: ३४ :

विश्व-राज्य की भावना

२५ अप्रैल, १९३२

मुझे लगता है कि मेरी इन चिट्ठियों से तुम बहुत बार ऊब जाती होगी और उलझन में पड जाती होगी। खासकर रोमन-साम्राज्य सम्बन्धी पिछले दो पत्रों ने तुम्हें मुश्किल में डाल दिया

होगा। हजारों वर्षों और हजारो मीलों को पार करते हुए कभी मैं पीछे चला गया हूँ और कभी आगे बढ़ गया हूँ। और इससे अगर तुम्हारे दिमाग में कुछ उलझन पैदा हो गई हो तो क़सूर मेरा ही है। पर हिम्मत मत हारो और आगे बढती चलो। अगर कही मेरी कोई बात तुम्हारी समझ मे न आवे तो तुम परेशान न होना बल्कि आगे बढती चलना। इन पत्रो का मकसद तुम्हें इतिहास पढ़ाना नही है बल्कि सिर्फ़ यह है कि तुम्हें उसकी झांकियाँ मिलती रहें और कुतूहल पैदा हो।

रोमन साम्राज्यों की चर्चा से तुम जरूर ऊब गई होगी। मै मजूर करता हू कि मै तो थक गया हूँ, लेकिन आज थोड़ी देर के लिए हम उन्हे और बरदाश्त कर ले, और फिर कुछ दिन के लिए इनसे छुट्टी लेलें।

तुम जानती हो कि आजकल राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की बहुत चर्चा होती रहती है। भारत मे आजकल हममें से क़रीब-क़रीब सभी गहरे राष्ट्रवादी है। इतिहास मे यह राष्ट्रीयता एक बिलकुल नई चीज है और इन पत्रों मे हम इस राष्ट्रीयता के जन्म और विकास का शायद कुछ अध्ययन कर सके। रोमन साम्राज्यो के ज़माने मे इस किस्म की कोई भावना नही पाई जाती थी। रोमन साम्राज्य सारी दुनिया पर हुकूमत करने-वाला एक बडा राज्य माना जाता था। आज तक कोई साम्राज्य या राज्य ऐसा नही हुआ जिसने सारी दुनिया पर हुकूमत की हो, लेकिन भूगोल के अज्ञान और दूर देशो के लिए आमदरफ्त के साधनो मे और सफ़र मे घोर कठिनाइयाँ होने की वजह से लोग पुराने ज़माने मे अक्सर यह समझ लेते थे कि ऐसा राज्य भी है। इसलिए रोमन राज्य के साम्राज्य बनने के पहले से ही योरप मे और भूमध्यसागर के आसपास के देशो मे, वह इसके सारे राज्यो पर हुकूमत करनेवाला एक सर्वोच्च राज्य माना जाता था। इसका रौब इतना ज्यादा था कि एशिया-कोचक, यूनानी राज्य के परगैमम को तथा मिस्र को, इन दोनो देशो के शासको ने खुद ही रोमन लोगो को भेट कर दिया। ये समझते थे कि रोम की सत्ता को सब क़बूल करते है, कोई उसका मुकाबला नही कर सकता। लेकिन जैसा कि मै लिख चुका हूँ, रोमन प्रजातन्त्र की हालत मे या साम्राज्य की हालत मे भूमध्यसागर के मुल्को के अलावा कही और शासन नही किया। उत्तर योरप के 'बर्बर' लोगो ने इसके आगे सर नही झुकाया, और रोम भी इनकी ज्यादा परवाह नही करता था। लेकिन रोम की सत्ता की हद जो भी रही हो, इसके पीछे एक विश्व-राज्य की भावना थी और इस भावना को पश्चिम मे उस ज़माने के अधिकाश लोगो ने अपना लिया था। रोमन साम्राज्य का इतने दिन ज़िन्दा रहने का यही कारण है। यहाँ तक कि उसकी असलियत निकल जाने पर भी उसका नाम और प्रताप बहुत बढा हुआ था।

एक बडे राज्य का पूरी दुनिया पर हुकूमत करने का खयाल रोम तक ही सीमित नही था। यह खयाल पुराने ज़माने मे चीन और भारत मे भी पाया जाता था। जैसा कि तुम्हे मालूम है, कैस्पियन समुद्र तक फैला हुआ चीनी राज्य बहुत बार रोमन साम्राज्य से ज्यादा लम्बा-चौडा रहा है। चीन का सम्राट 'स्वर्ग-पुत्र' कहलाता था और चीनी लोग उसे 'विश्व-सम्राट' समझते थे। यह सही है कि कुछ जगली कौमे और कुछ लोग ऐसे थे जो उत्पात करते रहते थे और सम्राट का हुक्म नही मानते थे। लेकिन वे 'बर्बर' समझे जाते थे, जिस तरह कि रोमन लोग उत्तर योरप के रहनेवालो को 'बर्बर' कहते थे।

इसी तरह भारत मे भी बहुत पुराने ज़माने से ही सारे ससार के 'चक्रवर्ती' राजाओ का जिक्र मिलता है। दुनिया के बारे मे उनकी कल्पना वास्तव में बहुत सीमित थी। खुद भारत ही इतना बडा मुल्क था कि वे सारी दुनिया इसीको समझते थे और यह खयाल करते थे कि भारत पर हुकूमत करनेवाला सारी दुनिया का सरताज है। बाहर के दूसरे लोगो को वे म्लेच्छ कहते थे। पुराने ज़माने से चली आने वाली कथाओ के अनुसार पौराणिक राजा भरत, जिसके नाम पर हमारा देश भारतवर्ष कहलाता है, ऐसा ही एक चक्रवर्ती राजा माना गया है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर और उसके भाइयो में इसी चक्रवर्ती पद के लिए युद्ध हुआ था। अश्वमेध यज्ञ ससार के प्रभुत्व के लिए एक ललकार थी और उसका एक चिह्न था। अशोक भी शायद शुरू में चक्रवर्ती राजा बनना चाहता था। लेकिन उसका दिल पश्चात्ताप से इतना भर गया कि उसने युद्ध करना ही छोड़ दिया। इसके बाद भी तुम्हे भारत मे गुप्तवंश के राजाओ की तरह कई ऐसे साम्राज्यवादी राजा मिलेंगे जिनकी इच्छा चक्रवर्ती बनने की थी।

तुम देखोगी कि पुराने ज़माने मे लोग विश्व-सम्राट और विश्व-राज्य की कल्पना अक्सर किया करते थे। इसके बहुत दिनो बाद राष्ट्रीयता आई और एक नये किस्म का साम्राज्यवाद पैदा हुआ। इन दोनो ने मिलकर दुनिया में काफी तबाही मचा दी। आजकल भी विश्व-राज्य की चर्चा होने लगी है। यह चर्चा

किसी महान साम्राज्य या चक्रवर्ती सम्राट से सम्बन्ध नही रखती बल्कि एक तरह का ऐसा विश्व-प्रजातन्त्र चाहती है जिसमें कोई राष्ट्र या जाति या वर्ग किसी दूसरे राष्ट्र या जाति या वर्ग का शोषण न कर सके। यह कहना मुश्किल है कि निकट भविष्य में इस क़िस्म की कोई चीज़ बनेगी या नही। लेकिन दुनिया की हालत बुरी है और इसकी बुराइयों को मिटाने का कोई दूसरा तरीक़ा दिखाई नही देता।

मैंने उत्तर योरप के 'बर्बरो' का बार-बार ज़िक्र किया है। यह शब्द मैंने इसलिए इस्तेमाल किया है कि रोमन लोगो ने इनका ज़िक्र इसी नाम से किया है। मध्य-एशिया के खानाबदोशों और दूसरे क़बीलोकी तरह ये लोग रोम या भारत में रहनेवाले अपने पड़ोसियो से निश्चय ही कम सभ्य थे। लेकिन ताक़त और तेज़ी इन लोगों में ज्यादा थी, क्योकि ये खुली हवा में ज़िन्दगी बसर करते थे। बाद में ये लोग ईसाई हो गये और जब इन्होने रोम को फ़तह कर लिया तब भी इन्होने उसके साथ औरो की तरह का सा व्यवहार नही किया। उत्तरी योरप की आजकल की क़ौमे, गोथ, फ्रैन्क, वग़ैरा, इन्ही 'बर्बर' जातियो की सन्तान हैं।

मैंने तुम्हें रोमन सम्राटो के नाम नही बताये। वहाँ बहुत से सम्राट हुए; पर कुछ को छोड़कर बाकी सब बहुत बुरे थे। कुछ तो निरे राक्षस ही थे। तुमने नीरो का नाम तो सुना ही होगा। लेकिन बहुत-से तो नीरो से भी ज्यादा खराब हुए हैं। आइरीन नाम की एक स्त्री ने सम्राज्ञी बनने के लिए अपने लड़के को जोकि सम्राट था, खुद क़तल कर दिया था। यह कुस्तुन्तुनिया की बात है।

रोम का एक सम्राट दूसरों के मुकाबले बहुत ऊँचा था। उसका नाम मार्कस ओरेलियस एन्टोनिनस था। कहा जाता है कि यह दार्शनिक था और उसकी एक किताब,[1] जिसमे उसके विचार और मनोभाव लिखे हुए हैं, पढने के क़ाबिल है। पर मार्कस ओरेलियस के लड़के ने, जो उसके बाद गद्दी पर बैठा, यह कमी पूरी कर दी। वह रोम के अत्यन्त धूर्त और बदमाश लोगों में गिना जाता है।

रोमन साम्राज्य के शुरू के तीन सौ बर्ष तक रोम पश्चिमी दुनिया का केन्द्र रहा। तब जरूर ही यह बहुत बडा शहर रहा होगा, जिसमे आलीशान इमारते रही होगी और जहाँ साम्राज्य के कोने-कोने से, और साम्राज्य के बाहर से भी, लोग आते रहे होगे। बहुत से जहाज़ दूर-दूर के मुल्को से नफ़ीस चीजें, खाने की दुर्लभ वस्तुएँ और क़ीमती चीज़ें यहाँ लाते थे। कहते हैं, हर साल एक सौ बीस जहाज़ो का बेडा लाल समुद्र के एक मिस्री बन्दरगाह से भारत जाता था। ये लोग ठीक उसी वक्त चलते थे जब बरसात की पुरबैया हवा चलती थी, जिससे इनको बहुत मदद मिलती थी। ये ज्यादातर दक्षिण भारत को जाते थे और कीमती माल लादकर फिर मौसमी हवा की मदद से मिस्र वापस आ जाते थे। मिस्र मे यह माल खुश्की और समुद्र के रास्ते से रोम भेज दिया जाता था।

लेकिन यह सब व्यापार ज्यादातर अमीरों के फायदे के लिए ही था। चन्द आदमियो के ऐश-आराम के पीछे अनेको की तबाही छिपी हुई थी। तीन सौ से ज्यादा वर्ष तक रोम पश्चिम मे सबका सरताज शहर बना रहा, और बाद में जब कुस्तुन्तुनिया बसा, तो वह भी इसके दबदबे का साझीदार बन गया। आश्चर्य की बात यह है कि इस लम्बे ज़माने में भी, विचार-जगत् में रोमने कोई ऐसी महान् बात पैदा न की जैसी यूनान ने बहुत कम अर्से में ही कर दिखाई थी। वास्तव में बहुत-सी बातो मे रोमन-सभ्यता यूनानी-सभ्यता की एक वृक्ष की छाया मालूम होती है। हाँ, लोगो का विचार है कि एक बात मे रोमन लोगो ने अच्छा रास्ता दिखाया, और वह है कानून। आज भी पश्चिम देशो मे वकीलो को रोमन कानून पढना पड़ता है, क्योकि कहा जाता है कि योरप में क़ानून का बहुत-सा हिस्सा रोमन कानून की हीं बुनियाद पर है।

ब्रिटिश साम्राज्य की रोमन साम्राज्य से अक्सर तुलना की जाती है। आमतौर पर अंग्रेज़ लोग ऐसा करते है, क्योकि उनको इसमें बहुत खुशी होती है। सारे साम्राज्य थोडे या बहुत एक ही तरह के होते हैं। ये बहुतो को चूसकर पनपते हैं। लेकिन रोमनो और अंग्रेज़ों मे एक बात मे बहुत ज्यादा समानता पाई जाती है, और वह यह कि दोनो मे कल्पना-शक्ति की बिलकुल कमी है! बनठन कर और अपने आप मे मस्त होकर और इस बात पर पूरा विश्वास करते हुए कि सारी दुनिया खासतौर से इन्ही के फ़ायदे के लिए बनाई गई है, ये लोग बिना किसी परेशानी या शक के अपनी ज़िन्दगी बसर करते है।

---

[1] श्री च० राजगोपालाचार्य द्वारा किया गया इसका रूपांतर 'आत्म चिंतन' के नाम से सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्राप्य है।

: ३५ :

पार्थव और सासानी

२६ अप्रैल, १९३२

अब हमें रोमन साम्राज्य और योरप को छोड़ कर दुनिया के दूसरे हिस्सों में चलना चाहिए। हमे यह देखना है इस दर्मियान एशिया में क्या हुआ और हमें भारत और चीन की कहानी का सिलसला भी जारी रखना है। अब दूसरे देश भी इतिहास के क्षितिज पर नजर आने लगे हैं। उनके बारे में भी हमें कुछ जानना होगा। सच तो यह है कि जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे इतनी ज्यादा जगहो के बारे मे इतना ज्यादा कहना जरूरी होगा कि मै कही घबरा कर यह काम ही न छोड़ दूँ।

मैंने अपने एक पत्र मे रोमन प्रजातन्त्र की सेनाओं की पार्थव मे कैरी की लडाई मे करारी हार का जिक्र किया था। उस वक्त मै यह बताने के लिए नहीं रुका था कि पार्थव लोग कौन थे और उन्होंने उस मुल्क मे, जहाँ आज ईरान और इराक बसे हुए है, कैसे एक राज्य कायम कर लिया था। तुम्हे याद होगा कि सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्युक और उसके वशज एक साम्राज्य पर हुकूमत करते थे, जो पश्चिम मे भारत से एशिया-कोचक तक फैला हुआ था। करीब तीन सौ वर्ष तक इनका बोलबाला रहा, जिसके बाद मध्य-एशिया के पार्थव नाम के एक कबीले ने, इन्हें मार भगाया। फारस या पार्थव कहलाने वाले देश के इन्ही पार्थव लोगो ने प्रजातत्र के आखरी दिनो मे रोमन सेना को हराया था और प्रजातंत्र के बाद कायम होनेवाला रोमन साम्राज्य इन पार्थव लोगो को पूरी तरह कभी नही हरा सका। ये लोग ढाई सौ वर्षों तक पार्थव पर हुकूमत करते रहे, और अन्त में एक आन्तरिक क्रान्ति के कारण इन्हे वहाँ से भागना पड़ा। ईरानी लोग खुद इन विदेशी शासको के खिलाफ़ बगावत कर बैठे और उनकी जगह पर अपनी कौम और अपने मजहब के एक बादशाह को बिठा दिया। इस बादशाह का नाम आर्दशेर प्रथम था और इसके वंश को सासानी वश कहते है। आर्दशेर जरथुस्त धर्म का कट्टर अनुयायी था। तुम्हें याद होगा कि यह पारसियों का मजहब है। आर्दशेर दूसरे मजहबो के प्रति सहनशील नही था। रोमन साम्राज्य और सासानियो में बराबर लडाइयाँ होती रहती थी। सासानियो ने एक रोमन सम्राट को भी गिरफ्तार कर लिया था। कई बार ईरानी फौजे करीब-करीब कुस्तुन्तुनिया पहुँच गई थी, और एक दफ़ा उन्होने मिस्र पर भी क़ब्जा कर लिया था। सासानी साम्राज्य पारसी धर्म के प्रति धार्मिक जोश के लिए खास तौर पर मशहूर है। जब सातवीं सदी में इस्लाम आया, तब उसने सासानी साम्राज्य और उसके राज-धर्म को खतम कर दिया। जरथुस्त धर्म को मानने वाले बहुत-से लोग इस परिवर्तन की वजह से और सताये जाने के डर से, अपना मुल्क छोड कर भारत आ गये। भारत ने इनका स्वागत किया, क्योंकि वह आश्रय लेनेके लिए आने वाले सब लोगों का इसी प्रकार स्वागत करता रहा है। भारत के पारसी इन्ही जरथुस्तियो की सन्तान है।

जुदे-जुदे धर्मों के साथ व्यवहार करने के मामले मे अगर हम भारत की दूसरे मुल्को से तुलना करते है तो एक अजीब और आश्चर्यजनक बात मालूम होती है। तुम देखोगी कि पुराने जमाने मे बहुत-सी जगहो पर, और खास कर योरप मे, जो लोग राजधर्म को नही मानते थे, उन्हें सताया जाता था। करीब-करीब हर जगह इस सम्बन्ध में जोर-जबरदस्ती हुआ करती थी। तुम योरप की भयकर 'इनक्विजिशन'[1] का और डाकन समझी जानेवाली औरतो के जलाये जाने का हाल पढोगी। लेकिन भारत में

---

[1]इनक्विजिशन—ईसाईधर्म के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के संरक्षण में स्थापित धार्मिक अदालत। इसका काम धार्मिक अविश्वास को रोकना और धर्म के सम्बन्ध में नये विचार फैलानेवालों को दण्ड देना था। पहले यह फ़्रांस में स्थापित हुई और बाद को इटली, स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी इत्यादि में भी फैल गई। मामूली-से-मामूली स्वतंत्र विचारों के लिए यह लोगों को जिन्दा जलवा देती थी। इसकी रोमांचकारी कथा 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा प्रकाशित 'नर-मेध' नामक पुस्तक में पढ़िए। उन्नीसवीं सदी में इस प्रथा का खातमा हुआ।

पुराने ज़माने में हर मज़हब को पूरी आज़ादी थी। हिन्दू और बौद्ध-धर्म का मामूली झगड़ा पश्चिमी देशों के धार्मिक मत-मतान्तरों के खूनी झगड़ों के मुकाबले में कुछ भी नहीं है। यह बात याद रखने लायक है, क्योंकि बदकिस्मती से हाल ही में हमारे यहाँ मज़हबी और साम्प्रदायिक फ़िसाद हो चुके है, और कुछ लोग, जिन्हें इतिहास का ठीक ज्ञान नहीं है, समझते है कि भारत में यह दशा युगों से चली आ रही है। यह बात बिल्कुल ग़लत है। ये दंगे फसाद तो हाल के ज़माने में पैदा हुए है। तुम्हें पता लगेगा कि इस्लाम की स्थापना के बाद सैकड़ों बर्षों तक मुसलमान लोग भारत के लगभग सभी हिस्सों में अपने पड़ोसियों के साथ बिल्कुल शांतिपूर्वक मिलजुल कर रहते थे। जब वे व्यापार के लिए आये तो इनका स्वागत किया गया और इनको यहीं बस जाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन यह तो मैं आगे की बात कहने लगा।

इस तरह भारत ने ज़रथुस्तों का स्वागत किया। कई सौ वर्ष पहले भारत ने बहुत से यहूदियों का भी स्वागत किया था जो रोम से, ईसाई सन की पहली सदी में, अत्याचार से त्रस्त होकर यहाँ भाग आये थे।

ईरान में सासानी शासन के ज़माने में शाम[1] देश के पामीर नाम की जगह में एक छोटा-सा रेगिस्तानी राज्य भी फूला-फला और कुछ दिन के लिए इसकी शान भी रही। शाम के रेगिस्तान के बीच में पामीर व्यापार की एक मंडी थी। इसके विशाल खंडहर, जो आज भी दिखाई देते हैं, इसकी आलीशान इमारतों की याद दिलाते हैं। एक बार ज़िनोबिया नाम की एक स्त्री भी इस राज्य की रानी हुई। लेकिन रोमन लोगों ने इसे हरा दिया और उसके साथ ऐसा सलूक जो वीरोचित नहीं किया था। वे उसे ज़ंजीरों में बाँधकर रोम ले गये।

ईसाई सन् के शुरू में शाम एक सुन्दर देश था। इंजील से हमें इसके बारे में कुछ बातें मालूम होती हैं। खराब और ज़ुल्मी शासन के होते हुए भी यहाँ बड़े-बड़े शहर थे और बहुत घनी आबादी थी, बड़ी-बड़ी नहरें थी और व्यापार भी खूब फैला हुआ था। लेकिन लगातार लड़ाइयों ने और बुरे शासन ने छः सौ वर्षों के अन्दर ही इसे करीब-करीब वीरान कर दिया। बड़े शहर उजड़ गये और पुरानी इमारतें खंडहर हो गईं।

अगर तुम हवाई जहाज़ में बैठकर भारत से योरप जाओ तो पामीर और बालबक के खंडहर तुम्हें रास्ते में पड़ेंगे। तुम्हें वह जगह भी दिखाई देगी जहाँ बाबुल बसा हुआ था, और बहुत-सी दूसरी जगहें भी देखोगी, जो इतिहास में मशहूर हैं, लेकिन जिनका नामोनिशान भी अब नहीं पाया जाता।

: ३६ :

दक्षिण भारत के उपनिवेश

२८ अप्रैल, १९३२

हम लोग दूर भटक गये। हमें अब फिर भारत की तरफ लौट चलना चाहिए और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उस समय इस मुल्क में हमारे पूर्वज क्या कर रहे थे। कुशानों के सरहदी साम्राज्य की चर्चा तुम्हें याद होगी। यह एक बहुत बड़ा बौद्ध साम्राज्य था, जिसमें पूरा उत्तरी भारत और मध्य एशिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी शामिल था। इसकी राजधानी पुरुषपुर थी, जिसे आजकल पेशावर कहते हैं। तुम्हें शायद यह भी याद होगा कि उस समय भारत के दक्षिण में एक बहुत बड़ी रियासत और थी जो एक तरफ के समुद्रतट से दूसरी तरफ के तट तक फैली हुई थी। यह आन्ध्रराज्य था। क़रीब तीन सौ साल तक कुशान और आन्ध्र राज्य खूब फूले-फले। लेकिन ईसा की तीसरी सदी के बीच में ये दोनों साम्राज्य खतम हो गये और कुछ समय के लिए भारत में छोटे-छोटे राज्यों का जाल बिछ गया। लेकिन सौ साल के अन्दर ही पाटलिपुत्र में एक दूसरा चन्द्रगुप्त पैदा हुआ, जिसने उग्र हिन्दू साम्राज्यवाद के युग की बुनियाद

---

[1]शाम—सीरिया का पुराना नाम।

डाली। पर इन गुप्त लोगों की चर्चा करने के पहले यह मुनासिब मालूम होता है कि हम दक्षिण भारत के उन महान साहसपूर्ण कार्यों के आरम्भ पर नजर डालें, जिनकी बदौलत पूर्वी दुनिया के सुदूर टापुओं में भारत की कला और सभ्यता जा पहुँची।

हिमालय और दो समुद्रों के बीच में भारत की जो शक्ल है, 'उसे तुम अच्छी तरह जानती हो। इसका उत्तरी हिस्सा समुद्र से बहुत दूर है। पुराने जमाने मे भारत के लोगो को सबसे ज्यादा चिन्ता उत्तरी सरहद की रही है, क्योकि इधर हो कर दुश्मन और हमला करनेवाले यहाँ आया करते थे। लेकिन भारत के पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में समुद्र के बहुत बडे-बडे किनारे है। दक्षिण की ओर भारत सकड़ा होता गया है, यहाँ तक कि कन्याकुमारी पर जाकर पूर्व और पश्चिम दोनो किनारे मिल जाते है। समुद्र के पास रहनेवाले ये लोग कुदरती तौर पर समुद्र से दिलचस्पी रखते थे और यह उम्मीद की जा सकती है कि उनमें से बहुत-से समुद्र यात्रा के अभ्यासी रहे होगे। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि बहुत ही पुराने जमाने से दक्षिण भारत का पश्चिमी दुनिया से बडा भारी व्यापार होता चला आया था। इसलिए यह जान कर कोई ताज्जुब नही होना चाहिए कि भारत मे शुरू से ही जहाज तैयार होते थे और यहाँ के रहने वाले तिजारत के लिए, या शायद साहस-पूर्ण खोजो के लिए, समुद्र पार जाया करते थे। खयाल किया जाता है कि गौतम बुद्ध के जमाने में विजय ने भारत से लका जाकर उसे जीत लिया। मेरा खयाल है कि अजन्टा की गुफाओ मे एक तसवीर है जिसमें विजय समुद्र पार कर लका जा रहा है और घोडे और हाथी जहाजो मे उस पार पहुँचाये जा रहे है। विजय ने लका को सिहल-द्वीप का नाम दिया था। सिहल शब्द सिह से निकला है और लका मे सिह की एक पुरानी कहानी भी प्रचलित है, लेकिन मै उसे भूल गया हूँ। मेरा खयाल है कि सीलोन नाम सिहल से बिगडकर बना है।

दक्षिण भारत मे लका जाने मे समुद्र का जो सकडा-सा टुकडा पडता है, उसे पार करना कोई बहुत जीवट का काम नही था। लेकिन हमे इस बात के बहुत काफी सबूत मिलते है कि भारत मे जहाज बनते थे, और बहुत लोग बगाल से गुजरात तक के समुद्रतट पर छिटके हुए भारतीय बदरगाहो से समुद्र पार जाया करते थे। नैनी जेलसे मैने चन्द्रगुप्त मौर्य के मशहूर मन्त्री चाणक्य के अर्थशास्त्र के बारे मे तुम्हे लिखा था। इस अर्थशास्त्र मे समुद्री सेना का कुछ वर्णन है। चन्द्रगुप्त के दरबार मे यूनानी राजदूत मेगस्थने ने भी इसका ज़िक्र किया है। इससे पता चलता है कि मौर्य-काल के शुरू मे भारत मे जहाज बनाने का उद्योग बहुत बढा-चढा था। और जाहिर है कि जहाज इस्तैमाल किये जाने के लिए ही बनाये जाते है। इसलिए बहुत लोग उन पर बैठकर समुद्रो को पार किया करते होगें। इन बातो को सोचकर और फिर यह सोचकर कि हमारे मुल्क मे आज भी कुछ लोग ऐसे है जो समुद्र-यात्रा से डरते है और उसे धर्म के खिलाफ समझते है, आश्चर्य होता है। ऐसे आदमियो को हम प्राचीन युग के प्रतीक भी नही कह सकते, क्योकि जैसा मैने बताया, पुराने जमाने के लोग कही ज्यादा समझदार थे। खुशकिस्मती से अब ऐसी अजीब भावनाए बहुत-कुछ दूर हो गई है और इने-गिने लोगो ही पर अब उनका असर है।

उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण भारत कुदरती तौर पर समुद्र की तरफ ज्यादा ध्यान देता था। विदेशी व्यापार ज्यादातर दक्षिण के साथ ही होता था और तामिल भाषा की कविताओ मे 'यवन, सुरा, कलश और दीपको के प्रसग भरे पडे है। 'यवन' शब्द खास तौर पर यूनान के रहनेवालो के लिए इस्तैमाल होता था, लेकिन मोटे तौर पर शायद यह सब विदेशियो के लिए लागू था। दूसरी और तीसरी सदियो के आन्ध्रदेश के सिक्को पर दो मस्तूलवाले बडे जहाज की तसवीर बनी है। इससे यह पता चलता है कि पुराने जमाने के आन्ध्र लोग जहाज बनाने और समुद्र के व्यापार मे कितनी दिलचस्पी रखते थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत ही ने इन साहस-पूर्ण कार्यों मे सबसे आगे कदम बढाया, जिनके फलस्वरूप पूर्व के तमाम टापुओ में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। इन औपनिवेशिक यात्राओ की शुरूआत ईसवी सन् की पहली सदी में हुई और कई सौ तक उनका वर्षों सिलसिला जारी रहा। मलाया, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया और बोर्नियो वगैरा सब जगह दक्षिण के लोग जाकर बस गये और अपने साथ भारतीय कला और सस्कृति ले गये। ब्रह्मदेश, स्याम और हिन्दी-चीन में भी भारतीयो की बडी-बडी बस्तियाँ थी। इन नई बस्तियो और नगरों के बहुत-से नाम भी भारत से लिये गये थे, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गान्धार। इतिहास की पुरानी बाते किस तरह बार-बार नये रूप मे आती रहती

हैं, यह एक अजीब बात है। अमरीका में जाकर बसनेवाले एँग्लो-सैक्सन लोगों ने भी ऐसा ही किया था और संयुक्त राष्ट्र अमरीका के शहर आज भी पुराने अंग्रेजी शहरों के नाम से प्रसिद्ध है। अमरीका के सबसे बड़े शहर न्यूयार्क का नाम भी उत्तरी इंग्लैण्ड के प्राचीन नगर 'यार्क' के नाम पर पड़ा।

इसमें शक नहीं कि नये उपनिवेश बसानेवाले ये भारतीय जहाँ-जहाँ गये, वहाँ के पुराने निवासियों के साथ इन्होंने बुरा बर्ताव किया, जैसा कि सभी नई बस्तियाँ बसानेवाले किया करते हैं। उन्होंने इन टापुओं के रहनेवालो को जरूर लूटा होगा और उनपर रोब जमाया होगा। लेकिन कुछ दिनों बाद ये लोग पुराने बाशिन्दो से मिल-जुल गये होगें क्योंकि भारत के साथ बराबर ताल्लुक कायम रखना मुश्किल था। पूर्व के इन टापुओं में हिन्दू राज्य और हिन्दू साम्राज्य कायम हुए। बाद में वहाँ बौद्ध शासक पहुँचे और हिन्दुओं और बौद्धो में प्रभुता के लिए रस्साकशी हुई। विशाल या बृहत्तर भारत के इतिहास की यह एक लम्बी और आकर्षक कहानी है। बडे-बडे खडहर हमे अभी तक उन आलीशान इमारतो और मन्दिरों की याद दिलाते हैं जो इन भारतीय उपनिवेशो के भूषण थे। काम्भोज, श्री विजय, अगकोर और मज्जापहित जैसे बड़े-बड़े नगर भारतीय निर्माताओं और कारीगरों ने वहाँ बनाये।

हिन्दू और बौद्ध राज्य इन टापुओ में करीब चौदह सौ वर्ष तक कायम रहे और प्रभुता के लिए आपस मे लडते रहे। कभी एक का अधिकार हो जाता तो कभी दूसरे का, और कभी-कभी वे एक-दूसरे को नष्ट भी कर देते थे। पन्द्रहवी सदी में मुसलमानो ने इन टापुओ पर कब्जा जमा लिया और उनके थोडे दिन बाद ही पुर्तगालवाले, स्पेनवाले, हालैण्डवाले और अग्रेज आये। सबके अखीर मे अमरीकावाले पहुँचे। चीनवाले तो इन टापुओ के हमेशा से ही नजदीकी पडोसी थे। ये कभी-कभी इनमे दखल देकर जीत लेते पर अक्सर उनके साथ दोस्तो की तरह रहते और दोनो में तोहफो की अदला-बदली हुआ करती। साथ-ही-साथ इनकी महान् सस्कृति और सभ्यता का असर भी उनपर बराबर पडता रहता था।

पूर्व के इन हिन्दू उपनिवेशो मे हमारे लिए दिलचस्पी की कितनी ही बाते है। सबसे ज्यादा मार्के की बात यह है कि जाहिरा तौर पर इन उपनिवेशो को बसाने की सगठित कोशिश उस जमाने की दक्षिण भारत की एक प्रमुख सरकार ने की थी। पहले-पहल बहुत-से खोज करनेवाले वहाँ अलग-अलग गये होगे; फिर जब व्यापार बढ़ा होगा, तब कुटुम्बके कुटुम्ब और लोगों के गिरोह अपने-अपने कामो से वहाँ गये होगे। कहा जाता है कि शुरू-शुरू मे जो लोग वहाँ जाकर बसे वे कलिग (उडीसा) और पूर्वी समुद्र-तट से वहाँ गये थे। शायद कुछ लोग बगाल से भी गये होगे। एक कहावत यह चली आती है कि कुछ गुजराती अपने देश से निकाले जानेपर इन टापुओ मे जाकर बस गये। मगर यह सब अन्दाज ही अन्दाज़ है। बसनेवालो की मुख्य धारा तामिल देश के दक्षिणी हिस्से पल्लव-प्रदेश से, जहाँ एक बडे पल्वल वश का शासन था, इन टापुओ में पहुंची। मालूम होता है इसी पल्लव सरकार ने मलाया मे नई बस्तियाँ बसाने का सगठित प्रयत्न किया। शायद उत्तर भारत से बहुत-से लोगो के दक्षिण में घुस आने के कारण वहाँ की आबादी पर दबाव पड़ा होगा। वजह कुछ भी हुई हो, भारत से बहुत दूर अलग-अलग बिखरे हुए टापुओ मे उपनिवेश बसाने की योजना समझ-बूझ कर बनाई गई थी, और इन सब जगहो मे एक ही साथ बस्तियाँ बसाने की शुरूआत हुई थी। ये उपनिवेश हिन्दी चीन, मलाया प्रायद्वीप, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा, वगैरा में थे। ये सब भारतीय नामवाले पल्लव उपनिवेश थे। हिन्दी-चीन वाली आबादी का नाम काम्भोज (जो आजकल कम्बोडिया कहलाता है) था। यह नाम गन्धार के, काबुल की घाटी में बसे हुए, काम्भोज से चल कर, इतनी दूर पहुँचा था।

चार या पाँच सौ साल तक ये बस्तियाँ हिन्दू धर्म को अपनाये रही, पर बाद में धीरे-धीरे सब जगह बौद्ध-धर्म फैल गया। बहुत दिन बाद इस्लाम पहुँचा और मलाया के एक हिस्से में फैल गया; बाकी हिस्सा बौद्ध ही बना रहा।

मलाया देश में साम्राज्य और राष्ट्र बनते-बिगड़ते रहे। लेकिन दक्षिण भारत की नये उपनिवेश बसाने की इन कोशिशों का असली नतीजा यह निकला कि दुनिया के इस हिस्से में भारतीय आर्य सभ्यता की नीव पड़ गई। कुछ हद तक मलाया के लोग आज भी हम लोगों की तरह इसी सभ्यता में पले है। उन लोगों

पर दूसरे असर भी पड़े हैं। चीन का असर खास तौर पर उल्लेखनीय है। मलेशिया[1] के जुदे-जुदे हिस्सो पर भारतीय और चीनी दो शक्तिशाली सभ्यताओं के असर की मिलावट पर ग़ौर करना बड़ा दिलचस्प है। कुछ पर तो भारतीय सभ्यता का असर ज्यादा है और कुछ में चीनी असर ज्यादा दिखाई देता है। मुख्य हिस्से पर, जिसमें ब्रह्म देश, स्याम, हिन्दी-चीन वग़ैरा है, चीनी असर बहुत ज्यादा है, लेकिन मलाया मे नही है। जावा, सुमात्रा और दूसरे टापुओ मे भारतीय असर ज्यादा दिखाई देता है जिस पर इस्लाम की नई क़लई भी चढी हुई है। लेकिन चीनी और भारतीय सस्कारों में कोई संघर्ष नही था। इन दोनो में बहुत फ़र्क़ था फिर भी दोनो ही बिना किसी दिक़्क़त के बराबर-बराबर अपना काम करते रहे। धर्म के लिहाज से तो वास्तव मे हिन्दू-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनो का ही स्रोत भारत था। धर्म के लिए चीन भी भारत का क़र्जदार था। मलेशिया की कला में भी भारत का असर सबसे ज्यादा था। हिन्दी-चीन में भी, जहाँ चीनी असर ज्यादा था, इमारत बनाने की कला बिलकुल भारतीय ही थी। चीन ने एशिया के इन देशो के शासन और मानव-जीवन सम्बन्धी लोगो के विचारो पर ज्यादा असर डाला। इसी लिए हिन्दी-चीन, ब्रह्मदेश और स्याम के लोगो में आज दिन भारतीयो की बनिस्बत चीनियो से ज्यादा नजदीकी समानता मालूम देती है। इसमें शक नही कि जाति-भेद के लिहाज से इनमे मगोल खून ज्यादा है और इसी वजह से, कुछ हदतक वे, चीनवालो से अधिक मिलते है।

जावा के बोरोबुदर मे आज भी भारतीय कारीगरो के बनाये हुये बड़े-बड़े बौद्ध-मन्दिरो के खण्डहर पाये जाते है। इन मन्दिरो की दीवारो पर बुद्ध के जीवन की पूरी कहानी खुदी हुई है और ये सिर्फ बुद्ध की ही नही, बल्कि उस जमाने की भारतीय कला की अनोखी यादगारे है।

भारतीय प्रभाव इससे भी और आगे फैला। वह फिलीपाइन और फारमूसा तक जा पहुँचा। ये दोनो देश कुछ समय तक श्रीविजय के हिन्दू राज्य सुमात्रा के भाग थे। उसके बहुत समय बाद फिलीपाइन पर स्पेन वालो की हुकूमत कायम हुई, और अब वह अमरीका के क़ब्जे मे है।[2] फिलीपाइन की राजधानी मनिला है। कुछ दिन हुए वहाँ व्यवस्थापक सभा की एक नई इमारत बनी थी। इसके सामने वाले दरवाज़े पर चार मूर्त्तियाँ खुदी है, जो फिलीपाइन की सभ्यता के चार खास स्रोतो को बताती है। ये मूर्त्तियाँ प्राचीन भारत के महान नीतिकार मनु की और चीन के फिलासफर लाओ-त्जे की है। और दो मूर्त्तियाँ ऐंग्लो-सैक्सन कानून और न्याय की और स्पेन की प्रतिनिधि है।

: ३७ :

गुप्त सम्राटों का हिन्दू साम्राज्यवाद

२९ अप्रैल, १९३१

इधर जब दक्षिण भारत के लोग विशाल समुद्रो को पार करके दूर-दूर जगहो पर बस्तियाँ और शहर बसा रहे थे, तब उधर उत्तर भारत में अजीब हलचल मची हुई थी। कुशान साम्राज्य अपनी शक्ति और महानता खो चुका था और दिन-दिन छोटा होते-होते मिटता जा रहा था। सारे उत्तर मे छोटे-छोटे राज्य बन गये थे, जिन पर बहुत-करके शक या सीदियन या तुर्की वश के लोग राज्य करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहाँ आये थे। मैंने तुम्हें बताया है कि ये लोग बौद्ध थे और भारत मे शत्रु के रूप मे हमला करने नही बल्कि बसने आये थे। मध्य-एशिया के दूसरे कबीले, जिन्हे चीनी राज्य आगे धकेल रहा था, पीछे से इनको जबरदस्ती खदेड़ रहे थे। भारत आकर इन लोगो ने भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रग-ढग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग

---

[1] मलेशिया—एशिया के दक्षिण-पूर्व भाग से आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ द्वीप-समूह जिसे ईस्ट इंडीज या मलाया द्वीप समूह कहते हैं।

[2] १९४६ ई० में अमरीका ने फिलीपाइन द्वीपों को आजाद कर दिया।

भारत को सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। कुशान लोगों ने भी बहुत हद तक भारतीय-आर्य परम्परा का अनुसरण किया था। यही वजह थी कि वे बहुत दिनो तक भारत मे ठहर सके और उसके बडे-बड़े हिस्सो पर शासन कर सके। वे भारतीय आर्यों की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जायें कि वे विदेशी है। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी भी हुई, लेकिन पूरे तौर पर नही, क्योंकि क्षत्रियो के दिल मे यह बात खास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनके ऊपर हुकमत कर रहे है। वे इस विदेशी राज्य की मातहती में तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढता गया और लोगो के दिलो मे क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन असन्तुष्ट लोगो को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झडे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त्त को आज़ाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। इस चन्द्रगुप्त को वह पहला चन्द्रगुप्त न समझना, जो अशोक का दादा था। इस आदमी का मौर्य्य वश से कोई ताल्लुक नही था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। उस समय तक अशोक के वश का नाम मिट चुका था। याद रक्खो कि इस समय हम ईसा के बाद चौथी सदी की शुरूआत मे, यानी सन् ३०८ ई० मे, पहुच गये है। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकाक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य्य राजाओ को अपनी तरफ़ मिलाने मे और उन सबका एक सघ कायम करने मे लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वश की कुमारदेवी से विवाह किया, और इस प्रकार इस जाति की सहायता प्राप्त कर ली। इस तरह होशियारी के साथ ज़मीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासको के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य जाति के ऊँचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियो ने छीन लिये थे, इस लडाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लडाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर कब्जा करने मे कामयाब हुआ जिसमे वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तर प्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त राजवश की शुरूआत हुई। यह वश करीब दो सौ वर्ष तक चलता रहा जबकि हूणो ने आकर इसे परेशान करना शुरू किया। कुछ हद तक यह जमाना जबरदस्त हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। तुर्की, पार्थव वगैरा अनार्य विदेशी शासक जड से उखाड फेंके गये और ज़बरदस्ती निकाल बाहर किये गये। इस प्रकार यहाँ हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते है। उच्चवर्ग के भारतीय-आर्य लोग अपनी कौम पर अभिमान करते थे और इन बर्बरो और म्लेच्छो को नफरत की निगाह से देखते थे। गुप्तो ने जिन भारतीय-आर्य राज्यो और राजाओ को जीता, उनके साथ रिआयत का बर्ताव किया, लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नही की गई।

चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा जबरदस्त लडाका था। वह बहुत बडा सेनापति था, और जब वह सम्राट् हुआ तो उसने सारे देश मे, यहाँ तक कि दक्षिण मे भी, सबको जीत कर अपनी विजय-पताका फहराई। इसने गुप्त साम्राज्य को इतना बढाया कि वह भारत के बहुत बडे हिस्से मे फैल गया। लेकिन दक्षिण मे इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुशान लोगो को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड दिया था।

समुद्रगुप्त का बेटा चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने काठियावाड और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनो से एक शक या तुर्की राजवश के शासन मे चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रक्खा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीज़र की तरह, बहुत से राजाओ की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

दिल्ली मे क़ुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट, जो तुमने देखी थी, उसकी तुम्हे याद है? कहते है कि विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया था। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त साम्राज्य का चिन्ह था।

गुप्त-युग भारत में हिन्दू साम्राज्यवाद का युग था। इस युग मे पुरानी आर्य-संस्कृति और सस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। यूनानी और मंगोलियन सस्कारों को, जो भारतीय

जीवन और संस्कृति में यूनानियों, कुशानो, वगैरा के जरिये आ गये थे, प्रोत्साहन नही दिया जाता था। बल्कि, असलियत तो यह है कि भारतीय-आर्य परम्पराओ पर जोर देकर इन्हे हर तरह नीचे गिराया जाता था। संस्कृत राज-भाषा थी; लेकिन उन दिनो भी वह जनता की आम भाषा नहीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो सस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। मगर हालाँकि सस्कृत उस जमाने की लोक-भाषा नही थी, फिर भी काफी प्रचलित थी। इस युग मे सस्कृत कविता, नाटक और भारतीय-आर्य कलाएँ खूब खिली। जिस महान युग में वेद और रामायण-महाभारत आदि महाकाव्य लिखे गये, उसके बाद सस्कृत साहित्य के इतिहास मे शायद इसी जमाने मे सबसे अधिक और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया। सस्कृत का अद्भुत कवि कालिदास इसी जमाने में हुआ। कहते है विक्रमादित्य का दरबार बडी चमक-दमक वाला था, जिसमें उसने उस समय के सबसे उत्तम लेखको और कलाकारो को जमा किया था। क्या तुमने उसके दरबार के नव-रत्नो के बारे में नही सुना है? कालिदास उन नव-रत्नो मे से एक था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह खयाल था कि उसके कट्टर भारतीय-आर्य दृष्टिकोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महा-काव्य मे रामचन्द्र की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज्यादा उपयुक्त साधन प्रस्तुत कर सकती है।

यह स्वाभाविक था कि गुप्त सम्राटो ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का जो पुनरुत्थान किया उसका बौद्ध-धर्म के बारे मे कोई अच्छा रुख नही था। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि यह आन्दोलन ऊँचे वर्ग का था और उसे सहायता देनेवाले क्षत्रिय सरदार थे, और बौद्ध-धर्म मे लोकतन्त्र की भावना अधिक थी। कुछ वजह यह थी कि बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुशानो और उत्तर-भारत के दूसरे विदेशी शासको से घनिष्ट सम्बन्ध था। लेकिन फिर भी बौद्ध-धर्म पर कोई जुल्म किया गया हो ऐसा नही मालूम होता। बौद्ध विहार कायम थे और तब भी बडी-बडी शिक्षा सस्थाये बनी हुई थी। गुप्त सम्राटो का लका के राजाओ के साथ मित्रता का सम्बन्ध था और लका मे बौद्ध-धर्म खूब फैला हुआ था। लका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-गुप्त के पास कीमती उपहार भेजे थे और उसने सिंहली विद्यार्थियो के लिए गया मे एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत मे बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे मिटने लगा। जैसा कि मै तुम्हें पहले बता चुका हूँ, यह हालत इसलिए नही पैदा हुई कि ब्राह्मणो ने या उस जमाने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दू-धर्म मे उसे धीरे-धीरे हजम कर लेने की ताकत थी।

इसी जमाने मे चीन का एक मशहूर यात्री भारत मे आया। यह ह्यूएनत्साग नही था जिसके बारे में मै तुम्हें लिख चुका हूँ बल्कि फा-ह्यान था। बौद्ध होने के कारण यह बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रन्थो की तलाश मे यहाँ आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे; न्याय का पालन उदा-रता से किया जाता था और मौत की सजा नही थी। गया वीरान और उजडा हुआ था, कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, खुशहाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और विशाल बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सडको पर धर्मशालाये थी, जहाँ मुसाफिर ठहर सकते थे और जहाँ सरकारी खर्च से खाना दिया जाता था। बडे-बडे नगरो मे खैराती दवाखाने थे।

भारत मे भ्रमण करने के बाद फा-ह्यान लका गया और वहाँ उसने दो वर्ष बिताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिग को भारत इतना पसन्द आया और बौद्ध भिक्खुओ की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पडा कि उसने यही रहने का निश्चय कर लिया। फा-ह्यान समुद्री रास्ते लका से चीन चला गया और रास्ते में बहुत-सी आपदायें झेलता हुआ वर्षों बाद अपने घर पहुँचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज्य किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज्य किया। फिर सन् ४५३ ई० मे स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पडा, जिसने अन्त में महान् गुप्त साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी। लेकिन इसके बारे मे मै अपने अगले पत्र मे लिखूंगा।

अजन्ता की गुफाओ की दीवारो पर बने हुए कई सर्वोत्तम चित्र और उनके बडे-बडे कमरे तथा उपा-सना-गृह गुप्त काल की कला के नमूने है। जब तुम उन्हें देखोगी तो तुम्हें पता चलेगा कि ये कितने अद्भुत हैं। बदकिस्मती से वहाँ के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे है, क्योकि मौसम की तब्दीलियो में वे बहुत वर्षों तक नही टिक सकते।

अब हमें यह देखना है कि जिस समय भारत में गुप्त सम्राटों का राज्य था उस वक्त दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या हो रहा था। चन्द्रगुप्त प्रथम क़ुस्तुन्तुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट् कान्स्टेन्टाइन महान का समकालीन था। उत्तरकाल के गुप्त सम्राटो के ज़माने में रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों में बँट चुका था और पश्चिमी साम्राज्य को अन्त मे उत्तर के 'बर्बरों' ने नष्ट कर दिया था। यानी जिस वक्त रोमन साम्राज्य कमजोर पड़ रहा था, भारत में एक बहुत शक्तिशाली राज्य था, जिसमें बड़े-बड़े सेनापति थे और जिसकी फौजें बडी बलवान थी। समुद्रगुप्त को कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते हैं। लेकिन महत्वाकाक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओ के बाहर के देशो को जीतने का विचार नही किया।

गुप्त युग जबरदस्त साम्राज्यवाद और देश-विजयो का जमाना था। लेकिन हरेक मुल्क के इतिहास में इस तरह के साम्राज्य युग अनेक बार आते है। और अन्त में जाकर इनका कुछ महत्व नही रहता। फिर भी गुप्त युग की विशेषता, जिसके कारण वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसमें कला और साहित्य का चमत्कारी पुनरुत्थान हुआ।

: ३८ :

हूणों का भारत में आना

४ मई, १९३२

उत्तर-पश्चिम के पहाडो के उस पार से भारत पर आनेवाला नया खतरा हूणो का था। मैंने अपने पिछले पत्र में रोमन साम्राज्य का ज़िक्र करते हुए हूणो के बारे मे लिखा था। योरप मे उनका सबसे बडा नेता एटिला था, जो बहुत वर्षों तक रोम और क़ुस्तुन्तुनिया को आतंकित करता रहा। इन्ही कबीलो के सजातीय हूण, जो सफेद हूण के नाम से मशहूर थे, करीब-करीब उसी समय भारत में आये थे। ये लोग भी मध्य-एशिया के खानाबदोश थे। बहुत दिनो से वे भारत की सरहदो पर मँडरा रहे थे और लोगो को बुरी तरह परेशान कर रहे थे। जैसे-जैसे उनकी तादाद बढती गई, और शायद इसलिए भी कि पीछे से दूसरे कबीले उन्हें खदेड़ रहे थे, उन्होने सगठित रूप से हमला शुरू कर दिया।

स्कन्दगुप्त को, जो गुप्तवंश का पाँचवाँ राजा था, हूणो के इस हमले का सामना करना पडा। उसने उन्हें हराकर पीछे ढकेल दिया। लेकिन बारह वर्ष बाद वे फिर आ धमके। धीरे-धीरे वे गन्धार और उत्तर भारत में फैल गये। उन्होने बौद्धो पर बड़े अत्याचार किये और हर तरह का आतंक फैलाया।

उनके खिलाफ लगातार लडाइयाँ होती रही होगी, लेकिन गुप्त-राजा उन्हे देश से निकाल न सके। हूणो के दल के दल भारत में आते रहे और वे मध्यभारत तक में फैल गये। उनका मुखिया तोरमान राजा बन बैठा। यह तो काफी बुरा था ही, लेकिन उसका उत्तराधिकारी, उसका पुत्र मिहिरगुल, तो बिलकुल ही जगली और शैतान की तरह बेरहम था। कल्हण ने अपने काश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि मिहिरगुल का एक दिल-बहलाव यह था कि वह ऊँचे कगारो से हाथियों को खड्ड मे ढकेलवाया करता था। अन्त मे उसके अत्याचारो से आर्यावर्त्त उत्तेजित हो उठा। गुप्त-वंश के बालादित्य और मध्य-भारत के राजा यशोधर्मन के नेतृत्व में आर्यों ने हूणों को हरा दिया और मिहिरगुल को गिरफ्तार कर लिया। लेकिन बालादित्य हूणो की तरह निर्दयी नही था बल्कि वीर था। उसने दया करके मिहिरगुल की जान बख्श दी और उसे देश से निकल जाने का आदेश दिया। मिहिरगुल जाकर काश्मीर में छिपा रहा और कुछ दिन बाद उसने दगाबाजी करके बालादित्य पर, जिसने उसके साथ इतनी उदारता दिखाई थी, हमला कर दिया।

लेकिन भारत में हूणो की ताकत बहुत जल्द कमज़ोर हो गई। फिर भी हूणों की बहुत-सी सन्तति भारत में रह गई और धीरे-धीरे आर्यों की आबादी में घुल-मिल गई। यह मुमकिन है कि मध्य-भारत और राजस्थान की कुछ राजपूत जातियों में इन सफ़ेद हूणों के खून का कुछ अंश हो।

हूणों ने उत्तर भारत में बहुत थोड़े समय, यानी पचास साल से भी कम, राज्य किया। इसके बाद वे शान्ति के साथ बस गये। लेकिन हूणों की लड़ाई और उनकी भयंकरता का भारत के आर्यों पर बहुत असर पड़ा। हूणों की जीवनचर्या और राज्य करने के तरीक़े आर्यों से बिल्कुल जुदे थे। आर्य जाति उस समय तक भी बहुत कुछ स्वतन्त्रता-प्रेमी थी। उनके राजाओं तक को लोकमत के सामने झुकना पड़ता था और उनकी देहाती पंचायतों के हाथों में बड़ी ताक़त थी। लेकिन हूणों के आने से, और यहाँ बसकर भारतीयों के साथ घुल-मिल जाने से, आर्य आदर्शों में कुछ फर्क आ गया और वे नीचे गिर गये।

महान् गुप्तवंश के अन्तिम सम्राट बालादित्य की सन् ५३० ई० में मृत्यु हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि शुद्ध हिन्दू वंश का यह सम्राट खुद बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक बौद्ध भिक्खु को अपना गुरु बनाया। गुप्त काल कृष्ण पूजा के फिर से प्रचलित होने के लिए खास तौर पर मशहूर है। लेकिन इतने पर भी बौद्ध-धर्म के साथ हिन्दुओं का कोई ज़ाहिरा झगड़ा नहीं था।

हम फिर देखते हैं कि गुप्त राज्य के २०० साल बाद उत्तर भारत में कई रियासतें बन गईं, जो किसी एक केन्द्रीय सत्ता के मातहत न थी। हाँ, दक्षिण भारत में एक बहुत बड़े राज्य का विकास होने लगा। पुलकेशिन नाम के एक राजा ने, जो रामचन्द्र का वंशज होने का दावा करता था, दक्षिण में एक साम्राज्य क़ायम किया, जो चालुक्य साम्राज्य के नाम से मशहूर है। दक्षिण के इन लोगों का पूर्वी द्वीप-समूहों की भारतीय बस्तियों के साथ ज़रूर ही घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा और भारत तथा इन टापुओं के बीच बराबर आवागमन होता रहा होगा। हमें यह भी पता चलता है कि भारतीय जहाज़ अक्सर माल भर कर ईरान ले जाया करते थे। चालुक्य राज्य ईरान के सासानी राज्य को राजदूत भेजा करते थे और वहाँ के राजदूत यहाँ आते थे। राजदूतों का इस तरह आना-जाना ईरान के मशहूर बादशाह खुसरो द्वितीय के ज़माने में खास तौर पर हुआ।

: ३६ :

विदेशी मंडियों पर भारत का क़ब्ज़ा

५ मई, १९३२

हम देखते है कि इतिहास के जिस पुराने युग की हम चर्चा कर रहे है उसमें एक हज़ार से भी ज्यादा वर्षों तक, पश्चिम मे योरप और पश्चिमी एशिया तक, और पूर्व में ठेठ चीन तक, भारत का व्यापार बराबर ज़ोरों के साथ चलता रहा। इसके क्या कारण थे ? सिर्फ़ यह नहीं कि उस ज़माने के भारतीय बड़े अच्छे नाविक और व्यापारी थे, जिसमें कोई भी शक नहीं; न यह कि वे बड़े कुशल कारीगर थे और उनकी कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इन सब कारणों ने मदद ज़रूर दी, लेकिन मालूम होता है कि भारत ने दूर-दूर की मंडियों पर जो क़ब्ज़ा जमाया था, उसका मुख्य कारण यह था कि उसने रसायन-शास्त्र मे, खासकर रंगसाज़ी मे, बड़ी तरक़्क़ी कर ली थी। मालूम होता है उस ज़माने के भारतवासियों ने कपड़ा रँगने के पक्के रंग तैयार करने के खास तरीके खोज निकाले थे। वे नील के पौधे से नीला रंग बनाने का खास तरीक़ा भी जानते थे। तुम देखोगी कि नील का 'इंडिगो' नाम ही 'इंडिया' से निकला है। यह भी मुमकिन है कि फ़ौलाद पर अच्छा पानी चढ़ाने और फ़ौलाद के बढ़िया औज़ार बनाने का तरीक़ा भी पुराने भारतवासियों को मालूम था। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें बताया था कि सिकन्दर के हमलों की पुरानी ईरानी कहानियों में जहाँ-कहीं अच्छी तलवार या कटार का ज़िक्र आया है, वहाँ यह भी कहा गया है कि वह भारत से आई थी।

चूँकि भारत दूसरे देशों के मुक़ाबिले में इन रंगों और दूसरी चीज़ों को ज्यादा अच्छी तरह बना सकता था, इसलिए यह एक स्वाभाविक बात थी कि वह दुनिया की मंडियों पर क़ब्ज़ा कर ले। जिस आदमी या मुल्क को दूसरे आदमी या मुल्क की बनिस्बत बढ़िया औज़ार या किसी चीज़ को बनाने का अच्छा और सस्ता तरीका मालूम है, वह आख़िर में दूसरे आदमी या मुल्क का धन्धा छीन लेगा जिसके पास न उतने

अच्छे औज़ार हैं, और न उतना अच्छा तरीका। और यही वजह है कि पिछले दो सौ वर्षों में योरप एशिया के मुकाबिले में इतना आगे बढ गया है। नई खोजो और आविष्कारो ने योरप को नये-नये और बलशाली औज़ार दिये और चीज़ो के बनाने के नये-नये तरीके बतलाये। इनकी मदद से उसने दुनिया की मंडियों पर कब्ज़ा कर लिया और मालदार तथा बलशाली हो गया। और भी दूसरे कारण थे जिन्होंने उसे मदद पहुँचाई। लेकिन फिलहाल तो मै इतना ही चाहता हूँ कि तुम यह विचार करो कि औज़ार कितने महत्व की चीज़ है। एक बार एक बडे आदमी ने कहा था कि मनुष्य औज़ार बनानेवाला प्राणी है। और शुरू के ज़माने से आज तक का मनुष्य जाति का इतिहास बराबर ज्यादा से ज्यादा कारगर औज़ार बनाने का इतिहास है। प्रस्तर युग के प्राचीन पत्थर के तीरो और हथौडो से लेकर आज की रेले, भाप के इजन और भारी मशीनें यही बतलाती है। सच तो यह है कि हमारे लगभग सभी कामो में औज़ारो की जरूरत पडती है। औज़ारो के बिना हमारी हालत क्या हो?

औज़ार एक अच्छी चीज़ है। इससे काम हलका हो जाता है। लेकिन औज़ार का बुरा इस्तैमाल भी किया जा सकता है। आरी एक काम की चीज़ है, लेकिन एक बच्चा उससे अपनेको चोट पहुँचा सकता है। हमारे उपयोग की चीज़ो मे चाकू एक सबमे ज्यादा काम की चीज़ है। हर स्काउट को चाकू रखना चाहिए। लेकिन एक नादान आदमी इसी चाकू से दूसरे की जान ले सकता है। इसमे बेचारे चाकू का कोई दोष नही है। कसूर तो उस आदमी का है, जो इस औज़ार का दुरुपयोग करता है।

इसी तरह, खुद अच्छी होते हुए भी, आधुनिक मशीनो का तरह-तरह से दुरुपयोग किया गया है, और आज भी किया जा रहा है। लोगो के काम के बोझ को हलका करने के बजाय मशीनो ने बहुत-करके उनकी जिन्दगी पहले से भी ज्यादा बुरी बना दी है। करोडो आदमियो को सुख और आराम पहुँचाने के बजाय, जैसाकि उसे असल मे करना चाहिए, उसने बहुतो को मुसीबत मे डाल दिया है। उसने सरकारो के हाथ मे इतनी ज्यादा ताकत दे दी है कि वे अपने युद्धो मे लाखो की हत्या कर सकती है।

लेकिन इसमें मशीन का कसूर नही, बल्कि उसके दुरुपयोग का है। अगर बडी-बडी मशीनो का नियन्त्रण ऐसे गैर-ज़िम्मेदार लोगो के हाथो मे न रहे, जो उससे सिर्फ अपने लिए रुपया पैदा करना चाहते है, बल्कि उनका नियन्त्रण जनता की ओर से और उसकी भलाई के लिए किया जाय, तो बहुत फर्क पड जाय।

इसलिए उन दिनो, आजकल की दशा के विपरीत, भारत माल तैयार करने के तरीको मे सारी दुनिया से आगे था। इसीलिए भारतीय कपडे, भारतीय रग और दूसरी चीज़े दूर-दूर के मुल्को मे जाती थी और वहाँ उनकी बडी चाह के साथ माँग थी। इस व्यापार से भारत मे बाहर का धन आता था। इस व्यापार के अलावा दक्षिण भारत मिर्च और दूसरे मसाले बाहर भेजता था। ये मसाले पूर्व के टापुओ से भी आते थे और भारत के रास्ते पश्चिम के देशो को जाते थे। रोम और पश्चिम के देशो मे मिर्च की बडी कीमत थी। कहा जाता है कि गोथो का एक सरदार एलैरिक, जिसने सन् ४१० ई० में रोम पर अधिकार किया था, ३०० पौंड काली मिर्च वहाँ से ले गया था। यह सब मिर्च या तो भारत से या भारत के रास्ते गई होगी।

: ४० :

देशों और सभ्यताओं के चढ़ाव-उतार

६ मई, १९३२

चीन का ज़िक्र किये हुए अब हमें बहुत दिन हो गये। आओ, हम फिर उधर लौट चलें, और चीन का हाल फिर शुरू करें और यह देखें कि जिस समय पश्चिम में रोम का पतन हो रहा था और भारत में, गुप्त सम्राटो के शासन में राष्ट्रीय पुनरुत्थान हो रहा था, उस वक़्त चीन में क्या घटनाएं घट रही थीं। रोम के उत्थान या पतन का असर चीन पर बहुत कम पड़ा। वे एक-दूसरे से बहुत ही दूर थे। लेकिन मैं

तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि चीनी राज्य द्वारा मध्य एशिया के कबीलों को पीछे ढकेलने का नतीजा कभी-कभी योरप और भारत के लिए बहुत बुरा होता था। ये कबीले और इनके खदेड़े हुए दूसरे कबीले पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ जाते थे। ये सल्तनतों और राज्यों को उलट-पलट देते थे और वहाँ गड़बड़ी फैला देते थे। इनमें से बहुत से कबीले पूर्वी योरप और भारत में बस भी गये।

लेकिन रोम और चीन में सीधा सम्बन्ध भी था। दोनों एक-दूसरे के यहाँ अपने राजदूत भेजते थे। चीनी किताबों से पता चलता है कि पहले-पहल सन १६६ ई० में रोम के सम्राट आन-टून ने चीन को अपना राजदूत-मंडल भेजा था। यह आन-टून वही मार्कस आरेलियस एण्टोनियस है, जिसका जिक्र मैं अपने एक पत्र में कर चुका हूँ।

योरप में रोम का पतन एक ज़बरदस्त घटना थी। यह सिर्फ एक शहर या एक साम्राज्य का पतन नहीं था। एक तरह से रोमन साम्राज्य तो कुस्तुन्तुनिया में बाद में भी बहुत दिनों तक चलता रहा और इस साम्राज्य का भूत योरप के सिर पर क़रीब-क़रीब चौदह सौ बर्ष तक मँडराता रहा। लेकिन रोम का पतन एक महान् युग का अन्त था। इससे यूनान और रोम की पुरानी दुनिया का खातमा हो गया। पश्चिम में रोम के खण्डहरो पर एक नई दुनिया, एक नई सभ्यता और एक नई संस्कृति जन्म ले रही थी। शब्द और वाक्य हमें भुलावे में डाल देते है और जब हम उन्ही शब्दो का प्रयोग दूसरी जगह देखते है तो हम समझने लगते है कि उनके माने भी वही होगे। रोम के पतन के बाद भी योरप रोम की ही बोली बोलता था; लेकिन उसके पीछे जो भाव थे और जो अर्थ थे वे बदल गये थे। लोग कहते है कि आज के योरप के मुल्क यूनान और रोम के बच्चे है, और यह किसी हद तक ठीक भी है। लेकिन फिर भी यह एक भ्रम में डाल देनेवाली बात है। क्योंकि योरप के देश एक ऐसे आदर्श के नमूने है जो यूनान और रोम के आदर्शों से बिल्कुल भिन्न है। रोम और युनान की पुरानी दुनिया बिल्कुल ही मिट गई। जो सभ्यता हज़ार वर्ष से भी ज्यादा समय मे बन पाई थी, वह पककर मुरझा गई। इसके बाद ही पश्चिमी योरप के अर्द्ध-सभ्य, अर्द्ध-बर्बर देश इतिहास मे पदार्पण करते है और धीरे-धीरे एक नई सभ्यता और एक नई सस्कृति का निर्माण करते है। उन्होने रोम से बहुत कुछ सीखा, बहुत-सी बातें उन्होंने पुरानी दुनिया से लीं। लेकिन सीखने का यह सिलसिला मुश्किल और मेहनत का था। सैकडो वर्षों तक मालूम होता था कि योरप में सभ्यता और सस्कृति नीद ले रही है। अज्ञान और धर्मान्धता का अन्धकार छा गया था। इसलिए इन सदियो को 'अन्धकार का युग' कहते है।

इसकी वजह क्या थी? दुनिया पीछे की ओर क्यो लौटे, और सदियो की मेहनत से इकट्ठा किया हुआ ज्ञान क्यो गायब हो जाय या भुला दिया जाय? ये बड़े सवाल है, जो हमारे महा-बुद्धिमानो को भी चक्कर में डाल देते है। मै उनका जवाब देने की कोशिश नही करूँगा। क्या यह ताज्जुब की बात नही है कि भारत जो कभी विचार और कर्म में इतना महान् था, इतनी बुरी तरह नीचे गिर जाय, और लम्बे युगो तक गुलाम देश बना रहे? या चीन, जिसका पुराना इतिहास इतना गौरवपूर्ण है, कभी खतम न होने वाले लड़ाई-झगडो का शिकार हो जाय? शायद युगो का ज्ञान और युगों की बुद्धि जिन्हें आदमी बूँद-बूँद करके इकट्ठा कर पाता है, मिट नही जाते। लेकिन किसी वजह से हमारी आँखें बन्द हो जाती है, और कभी-कभी हम कुछ भी नही देख पाते। खिड़की बन्द हो जाती है और अँधेरा छा जाता है। लेकिन बाहर और चारों तरफ़ रोशनी तब भी रहती है और अगर हम अपनी आँखों को या खिड़कियों को बन्द रक्खे तो इसका मतलब यह नही कि रोशनी ही ग़ायब हो गई।

कुछ लोगो का कहना है कि योरप के अन्धकार युग का कारण ईसाई धर्म था—वह धर्म नही जिसका ईसा ने प्रचार किया, बल्कि वह राजकीय ईसाई धर्म जो रोमन सम्राट कान्स्टेण्टाइन के ईसाई हो जाने पर पश्चिम में फैला। इन लोगो का कहना है कि चौथी सदी में कान्स्टेण्टाइन के ईसाई धर्म इख्तियार कर लेने से हज़ार वर्ष का एक नया युग शुरू हुआ, "जिसमें विवेक ज़ंजीरों में जकड़ दिया गया, विचार को ग़ुलाम बना दिया गया और विद्या ने कोई तरक्क़ी नही की।" इनकी वजह से न सिर्फ़ जुल्म, कटुता और असहिष्णुता ने ही जोर पकड़ा, बल्कि इससे लोगो के लिए विज्ञान या और बहुत-सी बातों में आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। धर्म-पुस्तकें अक्सर आगे बढ़ने में रुकावट बन जाती है। वे हमें बताती है कि जिस ज़माने में वे लिखी गई थी, उसमें दुनिया कैसी थी। वे हमें उस ज़माने के विचारों और रस्म-रिवाजों के बारे में बताती हैं।

उन विचारो और रस्म-रिवाजों के खिलाफ आवाज उठाने की किसी की हिम्मत नही होती, क्योंकि ये बातें धर्म-पुस्तक मे लिखी होती हैं। इसलिए, हालांकि दुनिया बिलकुल बदल जाती है, लेकिन हमें उन विचारों और रस्म-रिवाजो को बदली हुई हालतों के मुताबिक़ बनाने की छूट नहीं होती। नतीजा यह होता है कि हम जमाने के साथ बेमेल हो जाते हैं, और फिर गडबड पैदा हो जाती है।

इसलिए कुछ लोग योरप में अन्धकार-युग लाने के लिए ईसाइयत को दोषी ठहराते हैं। दूसरे लोग यह कहते है कि उस अन्धकार-युग में ज्ञान के दीपक को जलाये रखनेवाले ईसाइयत और ईसाई पादरी और पुजारी ही थे। उन्होंने कला और चित्रकारी को जीवित रखा, बेशकीमती किताबों की सावधानी से रक्षा की और उनकी नक़लें उतारी।

लोग इस तरह का तर्क करते है। शायद दोनों ही ठीक कहते हैं। लेकिन यह कहना कि रोम के पतन के बाद आने वाली सारी मुसीबतो की जिम्मेदारी ईसाइयत पर है, एक बेहूदा सी बात है। सच तो यह है कि रोम खुद उन बुराइयो की वजह से गिरा।

लेकिन मैं बहुत दूर चला गया। मैं तो तुम्हें यह बताना चाहता था कि जहाँ योरप में सामाजिक संगठन एकदम टूट गया और एकदम तब्दीली पैदा हो गई वहाँ चीन में या भारत तक में इस तरह का कोई आकस्मिक परिवर्तन नही हुआ। योरप में हम एक सभ्यता का अन्त और उस दूसरी सभ्यता की शुरुआत देखते है, जो धीरे-धीरे बढकर आज की सभ्यता की शक्ल को पहुँच गई है। चीन मे हम ऐसी ही ऊँचे दर्जे की सभ्यता और सस्कृति को इस तरह सिलसिला टूटे बिना जारी रहता पाते है। उतार-चढाव तो आया ही करते है। अच्छे युग और बुरे राजे-महाराजे आते और जाते रहते हैं और राजवश बदलते रहते हैं। लेकिन जो सस्कृति परम्परा से चली आती है, वह नही टूटती। जब चीन कई राज्यो मे छिन्न-भिन्न हो गया और घरू झगडों मे फँस गया, उस समय भी वहाँ कला और साहित्य फूलते-फलते रहे, मनोरम चित्रकारी होती रही, सुन्दर चीनी के बर्तन और बढिया इमारतें बनती रही। छपाई का उपयोग होने लगा। चाय पीने का फ़ैशन शुरू हुआ और कविता मे उसका गुणगान किया गया। इस प्रकार चीन मे हमे सौन्दर्य और कला-प्रियता की एक अटूट धारा दिखाई देती है, जो किसी ऊँची सभ्यता से ही पैदा हो सकती है।

यही हालत भारत में थी। यहाँ भी रोम की तरह कोई आकस्मिक परिवर्त्तन नही आया। यह ठीक है कि यहाँ भी अच्छे और बुरे दिन आये। सुन्दर साहित्यिक और कलामय रचनाओ के युग आये और विनाश और पतन के भी। लेकिन सभ्यता का सिलसिला एक तरह से जारी रहा। भारत की यह सभ्यता पूर्व के दूसरे देशो मे भी फैल गई। उसने उन जगलियो को भी हजम कर लिया और ज्ञान सिखाया जो इसे लूटने आये थे।

यह न समझना कि मैं पश्चिम को नीचा गिराकर भारत या चीन की बड़ाई कर रहा हूँ। आज भारत या चीन की हालत में कोई ऐसी बात नही है, जिसको लेकर कोई शान बघारता फिरे। अन्धे भी यह देख सकते है कि अपने प्राचीन गौरव के होते हुए भी आज ये दोनों देश दुनिया की जातियों के मुक़ाबले में बहुत नीचे दर्जे को पहुँच गये है। अगर उनकी पुरानी संस्कृति की धारा यकायक टूटी नही तो इसका यह अर्थ नही है कि इसमें कोई बुरे परिवर्त्तन भी नही हुए। अगर हम पहले ऊपर थे और आज नीचे गिरे हुए हैं, तो यह साफ है कि हम दुनिया मे नीची हालत पर आ गये है। हम अपनी सभ्यता की अटूट धारा पर खुश हो लें, लेकिन जब वह सभ्यता ही पक कर खतम हो गई, तो इसमें सन्तोष की कोई बात नही रहती। इससे तो शायद यही अच्छा होता कि प्राचीनता से हमारे सम्बन्ध यकायक टूटते रहते। ऐसे आकस्मिक परिवर्त्तन हमें झकझोर डालते और हमारे में नया जीवन और नई जीवनशक्ति फूँक देते। सम्भव है कि आज भारत में और दुनिया मे जो घटनाए घट रही हैं वे हमारे पुराने देश को आगे की ओर धक्का दे रही हों और उसे फिर जवानी और नई जिन्दगी से भर रही हो।

मालूम होता है कि पुराने जमाने में भारत में जो मजबूती और काम की लगन थी, उसकी बुनियाद ग्राम-प्रजातन्त्रों या स्वतन्त्र पचायतों के व्यापक संगठन में थी। आजकल की तरह उन दिनों बड़े-बड़े भू-स्वामी और बड़े-बड़े जमीदार नही थे। जमीन या तो देहाती समुदाय या पंचायतों की और या उसपर काम करनेवाले किसानों की हुआ करती थी। और इन पंचायतों के हाथ में बहुत ताक़त और अधिकार होते थे। इन पंचायतों को गाँव के लोग चुनते थे और इस तरह यह व्यवस्था लोकतन्त्री आधार पर बनी हुई थी।

राजा बदलते रहते थे और आपस में लड़ते भी रहते थे; लेकिन उन्होने इन ग्राम-संस्थाओं पर न तो कभी हाथ डाला, न उनके काम में कभी दखल दिया और न इन पंचायतों की आजादी छीनने की कोशिश की। और इस तरह जब साम्राज्यों का उलट-फेर होता रहा, तब भी इस ग्राम-संस्था पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था बिना ज्यादा रद्दोबदल के जारी रही। सम्भव है, हमलों, लड़ाइयों और राजाओं के बदलने की कहानियाँ हमें भ्रम में डाल दें, और हम यह सोचने लगें कि इन घटनाओं का असर तमाम जनता पर पड़ता रहा होगा। इसमें कोई शक नहीं कि जनता पर, खासकर उत्तर भारत में, कभी-कभी इनका असर पडा; लेकिन आमतौर पर यह कहा जा सकता है कि वे लोग इन बातों की परवा नही करते थे और राजाओं में हेर-फेर होते हुए भी, वे अपने कामों में लगे रहते थे।

भारत के समाज-संगठन को बहुत दिन तक मजबूत बनाये रखनेवाला दूसरा कारण वह वर्ण-व्यवस्था थी जो अपने मूलरूप में चली आ रही थी। उन दिनों जाति के नियम इतने सख्त नही थे, जितने कि वे बाद में हो गये, और न जाति सिर्फ पैदाइश पर निर्भर करती थी। इसने हजारो साल तक भारत की सामाजिक जिन्दगी को संगठित रक्खा, और इसका सिर्फ़ यही कारण था कि उसने परिवर्तन और विकास की गति को रोका नही बल्कि उसे आगे बढाया। धर्म और जीवन के मामले में पुराना भारतीय दृष्टि-कोण हमेशा उदारता, प्रयोग और परिवर्तन का स्वागत करता था। इसीसे उसे बल मिलता था। लेकिन बार-बार के हमलो और दूसरी मुसीबतों ने जाति-प्रथा को धीरे-धीरे निश्चल बना दिया, और इसके साथ-साथ भारत का सारा दृष्टिकोण भी निश्चल और बेलोच हो गया। यह सिलसिला जारी रहा, यहाँ तक कि भारत के लोग आज की दु:खदायी हालत को पहुँच गये और जाति-प्रथा हर तरह की तरक़्क़ी की दुश्मन बन बैठी। समाज के ढाँचे को बँधा रखने के बजाय जाति-प्रथा ने उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये हैं और हमे कमजोर बना दिया है और भाई को भाई के खिलाफ़ कर दिया है।

इस तरह वर्ण-व्यवस्था ने, पुराने जमाने में, भारत के समाज-संगठन को मजबूत बनाने में मदद दी। लेकिन ऐसा होते हुए भी इसमे गिरावट के बीज मौजूद थे। उसका आधार था असमानता और अन्याय को स्थायी बनाना, और ऐसी किसी भी कोशिश का अन्त में विफल हो जाना निश्चित था। असमानता और अन्याय के आधार पर या एक वर्ग या जमात द्वारा दूसरे वर्ग या जमात से बेजा फ़ायदा उठाने की नीति पर कोई अच्छा या मजबूत समाज नही बन सकता। चूँकि आज भी यह अनुचित शोषण मौजूद है, इसलिए हमें तमाम दुनिया में इतने ज्यादा कष्ट और दुःख दिखाई देते है। लेकिन अब सब जगह के लोग इसे महसूस करने लगे है और इससे छुटकारा पाने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं।

भारत की तरह चीन मे भी समाज-व्यवस्था की मजबूती गाँवों पर और उन लाखो किसानों पर निर्भर थी, जो जमीन के मालिक थे और उसे जोतते थे। वहाँ भी बड़े-बड़े जमीदार नही थे। धर्म में कभी रूढिवाद या असहिष्णुता नही आने दी गई। दुनिया की तमाम जातियों मे चीन वाले धर्म के मामलेमें शायद सबसे कम कट्टर-पन्थी रहे है और अब भी वैसे ही है।

फिर तुम्हें यह भी याद होगा कि भारत और चीन दोनों ही में मजदूरों की गुलामी की कोई प्रथा नही थी, जैसी यूनान में या रोम में या उससे भी पहले मिस्र में थी। कुछ घरेलू नौकर होते थे, जिनकी हालत गुलामो जैसी होती थी, लकिन समाज-व्यवस्था में इससे कोई फ़र्क़ नही पड़ता था। यह व्यवस्था बग़ैर उनके भी वैसी ही चलती रहती थी। लेकिन पुराने यूनान और रोम में ऐसा नही था। वहाँ तो गुलामों की बड़ी संख्या सामाजिक व्यवस्था का एक जरूरी अंग थी और सब काम का असली भार इन्हींके कन्धों पर था। और मिस्र में बिना इन गुलामों के ये बड़े-बड़े पिरेमिड कैसे बन पाते?

मैंने इस पत्र को चीन से शुरू किया था और इरादा किया था कि उसकी कहानी को जारी रक्खूँ। लकिन मैं दूसरे विषयों की ओर बहक गया, जो कि मेरे लिए कोई ग़ैर-मामूली बात नहीं है। शायद अबकी बार हम चीन को इस तरह न छोड़ें।

: ४१ :

तांग वंश के शासन में चीन की उन्नति

७ मई, १९३२

मैं चीन के हन्-वंश के बारे में तुम्हें बता चुका हूँ और यह भी बता चुका हूँ कि चीन मे बौद्ध-धर्म कैसे आया, छपाई की कला कब ईजाद हुई, और सरकारी अफ़सरों को चुनने के लिए इम्तिहान लेने का तरीक़ा कैसे शुरू हुआ। ईसा के बाद तीसरी सदी में हन् राजवंश खतम हो गया, और साम्राज्य तीन राज्यो में बँट गया। जिन्हें तीन महान् सल्तनत कहा जाता है उनमें बँटने का यह युग कई सौ वर्षों तक कायम रहा। अन्त में एक नये राजवंश ने, जिसे तांग वंश कहते है, चीन को फिर मिला दिया और उसे एक शक्तिशाली और संयुक्त राज्य बना दिया। यह सातवी सदी के शुरू की बात है।

लेकिन बँटवारे के इस युग में भी चीनी संस्कृति और कला उत्तर के तातारियो के हमलो के बावजूद भी क़ायम रही। बड़े-बड़े पुस्तकालयों और सुन्दर चित्रो का वर्णन हमें मिलता है। भारत सिर्फ अपने सुन्दर कपड़े और दूसरे माल ही नही, बल्कि अपने विचार, अपना धर्म और अपनी कला भी चीन को भेजता रहा। भारत से बहुत से बौद्ध प्रचारक चीन गये और वे अपने साथ भारतीय कला की परम्परा भी लेते गये। यह भी हो सकता है कि भारतीय कलाकार और कुशल कारीगर भी वहाँ गये हों। भारत से पहुँचने वाले बौद्ध-धर्म और नये विचारो का चीन पर बहुत असर पड़ा। बेशक चीन उस समय, और उसके पहले भी, एक बहुत ही सभ्य देश था। यह बात नही थी कि भारत के धर्म, विचार और कला किसी पिछड़े देश में पहुँचे हो, और उसपर काबिज हो गये हो। चीन में पहुँचकर इनको चीन की अपनी प्राचीन कला और विचार-पद्धति का सामना करना पड़ा था। दोनो के मेल का यह नतीजा हुआ कि एक नई चीज़ पैदा हुई, जो इन दोनो से भिन्न थी। इसमें बहुत कुछ भारत का हाथ था, लेकिन फिर भी उसका आधार चीनी था और वह चीनी साँचे में ढली हुई थी। इस तरह भारत से पहुँचने वाली विचार-धाराओ ने चीन के मानसिक और कला सम्बन्धी जीवन को एक नई स्फूर्ति और प्रेरणा दी।

इसी तरह बौद्ध-धर्म और भारतीय कला का सन्देश पूर्व में बहुत दूर तक, यानी कोरिया और जापान तक, कैसे पहुँचा, और इन देशो पर इसका क्या असर हुआ, इसका अध्ययन बहुत दिलचस्प है। हरेक मुल्क ने इसको अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल बना लिया। इस तरह, हालाँकि बौद्ध-धर्म चीन और जापान में फला-फूला, लेकिन हर मुल्क मे इसका पहलू जुदा है और इन दोनो देशो का बौद्ध-धर्म शायद उस बौद्ध-धर्म से बहुत कुछ भिन्न है, जो भारत से गया था। कला भी देश, काल और जाति के मुताबिक़ भिन्न होती है और बदलती रहती है। भारत मे हम लोग कौमी हैसियत से कला और सौन्दर्य दोनो को भूल गये है। यही नही कि बहुत दिनो से हमने अद्भुत सौन्दर्य की कोई चीज़ पैदा नही की, बल्कि हममें से बहुत से आदमी सुन्दर वस्तुओ की क़द्र करना भी भूल गये है। किसी गुलाम देश मे कला और सौन्दर्य पनप ही कैसे सकते है? गुलामी और बन्धन के अँधेरे मे ये मुरझा जाते हैं। लेकिन अब जब कि आज़ादी की झलक हमारी आँखों के सामने है, हमारी सौन्दर्य की भावना धीरे-धीरे जगने लगी है। जब आज़ादी आ जावेगी तब तुम इस मुल्क मे कला और सौन्दर्य का ज़बरदस्त पुनर्जीवन देखोगी और मुझे उम्मीद है कि तब हमारे घरों, हमारे नगरो और हमारे जीवन की कुरूपता एकदम हट जायगी। चीन और जापान भारत से ज्यादा भाग्यशाली रहे है और इन्होंने अब तक कला और सौन्दर्य की अपनी भावना को बहुत कुछ सुरक्षित रक्खा है।

ज्यो-ज्यो चीन में बौद्ध-धर्म फैला, भारतीय बौद्ध और भिक्षु वहाँ अधिक सख्या मे जाने लगे, और चीनी भिक्षु भारत और दूसरे देशो की यात्राएँ करने लगे। मैंने तुमसे फाह्यान का ज़िक्र किया है, और तुम ह्यूएनत्सांग को जानती हो। ये दोनो भारत आये थे। एक दूसरे चीनी भिक्षु ने, जिसका नाम हुई शेंग था, अपनी पूर्वी समुद्रो की यात्रा का बहुत दिलचस्प वर्णन लिखा है। यह सन् ४९९ ई० में चीन की राजधानी मे पहुँचा और इसने बताया कि वह फू सग नामक एक ऐसे मुल्क में गया था, जो चीन के पूर्व में कई हजार मील की दूरी पर है। चीन और जापान के पूर्व मे प्रशान्त महासागर है, और सम्भव है कि हुई

शेंग ने इस महासागर को पार किया हो। शायद वह मैक्सिको पहुँचा हो, क्योंकि मैक्सिको में उस वक्त भी एक पुरानी सभ्यता पाई जाती थी।

चीन में बौद्ध-धर्म के प्रसार से आकर्षित होकर भारत के बौद्ध-धर्म के प्रमुख धर्माध्यक्ष, जिनका नाम या उपाधि बोधि-धर्म थी, दक्षिण भारत से चीन में कैण्टन के लिए रवाना हुए। शायद भारत में बौद्ध-धर्म के धीरे-धीरे कमजोर हो जाने की वजह से उन्हें चीन जाने का विचार हुआ हो। सन ५२६ ई० में जब उन्होंने यह यात्रा की वह बूढ़े हो चुके थे। इसके साथ, और इनके बाद, और बहुत-से भिक्षु भी चीन गये। कहते हैं कि उस समय चीन के सिर्फ़ एक सूबे लो-यांग मे तीन हज़ार से भी ज्यादा भारतीय भिक्षु और दस हजार भारतीय कुटुम्ब रहते।

इसके बाद ही बौद्ध-धर्म भारत में एक बार फिर चमका, और बुद्ध की जन्म-भूमि होनेके कारण, तथा इस कारण भी कि यहा उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थ थे, यह देश धर्मपरायण बौद्धो को अपनी ओर खीचता रहा। लेकिन जान पडता है कि भारत मे बौद्ध-धर्म की शान जाती रही थी, और अब चीन प्रमुख बौद्ध देश हो गया था।

काओ-त्सू सम्राट् ने सन् ६१८ ई० में तांग राजवंश की नीव डाली। इसने न सिर्फ सारे चीन को ही एक किया बल्कि अपना अधिकार दक्षिणमें अनाम और कम्बोडिया तक के, और पश्चिम में ईरान तथा कैस्पियन सागर तक के, विस्तृत क्षेत्र में फैलाया। कोरिया का भी एक हिस्सा इस शक्तिशाली साम्राज्य में शामिल था। साम्राज्य की राजधानी सी-आन-फू नाम का शहर था, जो पूर्वी एशिया मे अपनी शान और संस्कृति के लिए मशहूर था। जापान से और दक्षिण कोरिया से, जो अभी तक आज़ाद था, राजदूत और प्रतिनिधि-मण्डल इसकी कला, तत्वज्ञान और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए आया करते थे।

ताग सम्राट विदेशी व्यापार और विदेशी यात्रियो को उत्साहित करते थे। चीन आने वाले या वहाँ आकर बसनेवाले विदेशियो के लिए खास कानून बनाये जाते थे। ताकि वे, जहा तक सम्भव हो, अपने ही मुल्कों के रस्म-रिवाज के अनुसार न्याय पा सकें। हमे पता चलता है कि सन् ३०० ई० के करीब दक्षिण चीन मे कैण्टन के पास अरब लोग खासतौर से आकर बसे थे। यह इस्लाम की शुरुआत से, यानी पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद के जन्म से, पहले की बात है। इन अरबो की मदद से समुद्र पार के देशो के साथ तिजारत मे तरक्की हुई। तिजारती माल लाने लेजाने का काम अरब और चीनी जहाज़ किया करते थे।

तुमको यह जानकर ताज्जुब होगा कि मर्दुमशुमारी, यानी आबादी जानने के लिए किसी मुल्क के आदमियो की गिनती की प्रथा, चीन मे बहुत पुराने ज़माने से चली आई है। कहते है कि बहुत पहले, सन् १५६ ई० में, चीन में एक मर्दुमशुमारी हुई थी। यह हन् वश के ज़माने में हुई होगी। गिनती एक-एक आदमी की नही बल्कि कुटुम्बो की की जाती थी। यह माना जाता था कि हरेक कुटुम्ब मे मोटे तौर से पाँच आदमी होते है। इस हिसाब के मुताबिक सन् १५६ ई० में चीन की आबादी करीब पांच करोड़ थी। मै मानता हूँ कि यह कोई बहुत ठीक तरीका नही है, लेकिन खयाल करने की बात यह है कि पश्चिम के लिए यह मर्दुमशुमारी एक नई चीज़ है। मेरा खयाल है कि क़रीब १५० वर्ष हुए जब अमरीका के संयुक्त राष्ट्र मे पहली मर्दुमशुमारी हुई थी।

ताग वंश के शुरू ज़माने में चीन मे दो और धर्म आये—एक ईसाईमत और दूसरा इस्लाम। ईसाई धर्म को वह सम्प्रदाय इस देश मे लाया जिसे काफ़िर करार देकर पश्चिम से निकाल दिया गया था। ये लोग नेस्टोरियन कहलाते थे। मैंने तुम्हे कुछ दिन हुए ईसाई मत-मतान्तरों के आपसी झगड़ो और लड़ाइयो का कुछ हाल लिखा था। इसी तरह के एक झगड़े का नतीजा यह हुआ कि रोम ने नेस्टोरियन लोगों को निकाल बाहर किया। लेकिन ये लोग चीन, ईरान और एशिया के कई दूसरे हिस्सों में फैल गये। ये लोग भारत भी आये थे और इन्हे कुछ कामयाबी भी मिली, लेकिन बाद में ईसाई धर्म की दूसरी शाखाओं ने और मुसलमानो ने इन्हें हज़म कर लिया, और अब उनका नाम-निशान भी बाकी नही है। लेकिन पारसाल जब हम दक्षिण भारत गये थे तो वहाँ एक जगह इन लोगों की छोटी-सी बस्ती देखकर मुझे बहुत ताज्जुब हुआ था। तुम्हें याद है न? इनके विशप ने हम लोगों को चाय पिलाई थी। वह बूढा आदमी बहुत खुश-मिज़ाज था।

ईसाई धर्म को चीन पहुँचते-पहुँचते कुछ दिन लग गये। लेकिन इस्लाम ज्यादा तेज़ी से आया।

वास्तव में इस्लाम नेस्टोरियन लोगों के आने के कुछ साल पहले और पैग़म्बर की जिन्दगी में ही वहाँ पहुँच गया था। चीन के सम्राट ने मुसलमान और नेस्टोरियन दोनों के राजदूत-मंडलो का बड़ी विनय के साथ स्वागत किया था, और उनकी बातो को ध्यान से सुना था। उसने उनके विचारो की क़द्र की और दोनो के साथ निष्पक्ष उदारताका व्यवहार किया। अरब लोगो को कैण्टन में मस्जिद बनाने की इजाज़त दी गई। यह मस्जिद अभी-तक मौजूद है, हालाँकि इसे बने तेरह सौ वर्ष हो गये। यह दुनिया की सबसे पुरानी मस्जिदो में से एक है।

इसी तरह तांग साम्राट ने ईसाई गिरजाघर और मठ बनाने की इजाजत दी। चीन के इस उदार बर्ताव में और उस ज़माने के योरप की असहिष्णुता में कितना बड़ा फर्क नज़र आता है!

कहते हैं कि अरबों ने काग़ज़ बनाने का हुनर चीनियो से सीखा और फिर योरप को सिखाया। सन् ७५१ ई० में मध्य एशिया के तुर्किस्तान में चीनियो और मुसलमान अरबो के दर्मियान एक लड़ाई हुई। अरबो ने कुछ चीनियो को क़ैद कर लिया और इन क़ैदियों ने अरबों को कागज़ बनाना सिखाया।

तांग वंश तीन सौ वर्ष यानी सन् १०७ ई० तक रहा। कुछ लोगो का ख़याल है कि यह तीन सौ वर्ष चीन का सबसे महान् युग है, जब केवल संस्कृति ही उँचे दर्जे पर नही थी बल्कि जनता भी सब तरह से बहुत सुखी थी। बहुत-सी बातें जो पश्चिम को बहुत दिनो बाद मालूम हुई, चीनियो को उस ज़माने में मालूम थी। काग़ज़ का ज़िक्र तो मैं कर ही चुका हूँ। दूसरी ऐसी ही चीज बारूद थी। चीनी बड़े अच्छे इंजीनियर भी हुआ करते थे। आम तौर से, और क़रीब-क़रीब हरेक बात में, ये लोग योरप से बहुत आगे बढे हुए थे। अगर ये लोग इतने आगे बढ़े हुए थे तो बाद में ये अगुआ क्यो नही बने रह सके, और विज्ञान तथा नये-नये आविष्कारो में उन्होंने योरप को राह क्यो नही दिखाई? योरप ने धीरे-धीरे इन्हे पकड़ लिया—जैसे कोई जवान किसी बुड्ढे को जा पकड़ता है—और कम से कम कुछ बातों में तो उनसे आगे बढ ही गया। क़ौमो के इतिहास में इस तरह की बातें क्यों हो जाती हैं, यह तत्वज्ञानियो के विचार के लिए एक कठिन सवाल है। चूंकि अभी तक तुम इस सवाल से परेशान होनेवाले तत्वज्ञानियो की तरह नही हो, इसलिए मुझे भी परेशान होने की कोई ज़रूरत नहीं है।

इस युग में चीन की महानता का कुदरती तौर पर एशिया के बाकी हिस्सों में बहुत असर पड़ा, जो कला और सभ्यता के मामले मे रहनुमाई के लिए चीन की तरफ़ देखते रहते थे। गुप्त साम्राज्य के बाद भारत का सितारा बहुत तेजी से नही चमक रहा था। जैसा हमेशा होता है, चीन मे उन्नति और सभ्यता के कारण लोग बहुत ज्यादा विलासी और आराम-पसन्द हो गये। राज्य-कार्य मे बेईमानी घुस गई और इसकी वजह से बहुत ज्यादा कर लगाना ज़रूरी हो गया। नतीजा यह हुआ कि लोगों ने तांग-वंश से तंग आकर उसे खतम कर दिया।

: ४२ :

चोसेन और दाई निपन

८ मई, १९३२

ज्यों-ज्यों हमारी दुनिया की कहानी आगे बढ़ती जायगी, नये-नये मुल्क हमारी निगाह मे आते जायँगे। इसलिए हमें कोरिया और जापान पर एक नज़र डाल लेनी चाहिए, जो चीन के नज़दीकी पड़ोसी हैं और बहुत सी बातों में चीनी सभ्यता की सन्तान हैं। ये देश एशिया के बिलकुल सिरे पर, सुदूरपूर्व में है, और इनके पार प्रशान्त महासागर फैला हुआ है। कुछ दिनो पहले तक अमरीका के महाद्वीप से इनका कोई सम्पर्क नही था; इनका एक मात्र सम्पर्क एशियाई महान् राष्ट्र चीन से ही था। उन्होने चीन से अथवा चीन के मार्फ़त ही धर्म, कला और सभ्यता हासिल की। कोरिया और जापान पर चीन का बहुत ऋण है, और थोड़ा-बहुत वे भारत के भी ऋणी हैं। लेकिन भारत से इन्होने जो कुछ पाया वह चीन के मार्फत और चीन की भावनाओं में रंगा हुआ ही पाया।

कोरिया और जापान दोनों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एशिया में या और जगह होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। घटनाओं के केन्द्र से ये दूर थे कुछ हद तक दोनो, खासकर जापान, खुशक़िस्मत थे। इसलिए मौजूदा जमाने से पहले तक के इनके इतिहास की हम बग़ैर किसी कठिनाई के उपेक्षा कर सकते हैं। ऐसा करने से एशिया के बाक़ी हिस्सों की घटनाओं को समझने में कोई ज्यादा फ़र्क़ न आयेगा। लेकिन यह जरूरी नहीं कि हम इन्हें बिल्कुल ही छोड़ दें जिस तरह कि हमने मलेशिया और पूर्वी टापुओं के पुराने इतिहास को भी नहीं छोड़ा। बेचारा छोटा-सा देश कोरिया आज बिलकुल भुला दिया गया है। जापान ने इसे हड़प लिया है और अपने साम्राज्य का एक हिस्सा बना लिया है। लेकिन कोरिया अब आजादी के सपने देखता है और स्वतंत्र होने के लिए छटपटाता है। आजकल जापान की बहुत चर्चा है और चीन पर उसके हमलों के समाचारों से अख़बार भरे रहते हैं। इस वक़्त भी, जब तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ, मचूरिया में एक तरह की लड़ाई छिड़ी हुई है। इसलिए अगर हम कोरिया और जापान का कुछ पिछला इतिहास जान लें तो अच्छा ही है। इससे हाल की बातें समझने में मदद मिलेगी।

पहली बात, जो हमें याद रखनी चाहिए, वह यह है, कि ये दोनों देश एक लम्बे जमाने तक दुनिया से अलग रहे हैं। वास्तव में जापान का सबसे अलग रहना और हमलों से बरी रहना उसके इतिहास की एक खास बात है। इसके सारे इतिहास में इस पर हमला करने की बहुत ही कम कोशिशें हुई और उनमे से एक भी कामयाब नही हुई। अभी तक इसकी सारी परेशानियाँ अन्दरूनी झगड़ो के कारण ही रही है। कुछ दिनो के लिए तो जापान ने अपने आपको सारी दुनिया से बिलकुल ही अलग कर लिया था। किसी जापानी का देशसे बाहर जाना या किसी विदेशी का, यहाँ तक कि चीनी का भी, जापान में पैर रखना बहुत मुश्किल बात थी। यह रोक इसलिए लगाई गई थी कि जापानी लोग अपने को योरप के विदेशियो से और ईसाई प्रचारको से बचाना चाहते थे। यह एक खतरनाक और मूर्खतापूर्ण काम था, क्योंकि इसका अर्थ था सारी क़ौम को कैदखाने मे बन्द कर देना और बाहर के अच्छे या बुरे प्रभावो से उसे वचित कर देना। पर बाद मे जापान ने एकदम से अपने दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दी, और योरप जो कुछ सिखा सकता था, उस सबको सीखने के लिए बेताबी से बाहर निकल पडा। और उसने यह सब इतनी अच्छी तरह सीखा कि एक या दो पुश्त में ही वह ऊपर से एक योरपीय देश के समान बन गया। और उसने उनकी बुरी आदतो की भी नकल कर ली! ये सब बाते पिछले सत्तर-अस्सी वर्षो मे हुई है।

कोरिया का इतिहास चीन के इतिहास के बहुत पीछे शुरू होता है और जापान का इतिहास कोरिया के भी बहुत दिन बाद। मैंने तुम्हे पारसाल अपने एक खतमें लिखा था कि की-त्से नामक एक निर्वासित चीनी ने, जिसे चीन में राजवश बदल जाने से असन्तोष था, अपने पाँच हजार साथियों के साथ पूर्व की तरफ कूच कर दिया था। वह कोरिया में जा बसा और इस देश का नाम उसने 'चोसेन' यानी 'प्रभात की शान्ति का देश' रख दिया। यह ईसा से ११२२ वर्ष पहले की बात है। की-त्से अपने साथ चीनी कला और कारीगरी, खेती की कला और रेशम बनाने का हुनर वहाँ ले गया। नौ सौ वर्ष से भी अधिक समय तक की-त्से के वशज चोसेन में राज करते रहे। चीन से निकले हुए लोग समय-समय पर चोसेन मे बसने के लिए आते रहे और चीन के साथ इसका अच्छा-खासा सम्पर्क बना रहा।

जब शी-ह्वांग-ती चीन का सम्राट था, तब चीनियो का एक बड़ा जत्था कोरिया आया था। तुम्हें शायद इस चीनी सम्राट का नाम याद होगा जो अशोक का समकालीन था। यह वही शख्स है, जिसने 'प्रथम सम्राट' की उपाधि ग्रहण की थी और सब पुराने ग्रन्थ जलवा दिये थे। शी-ह्वांग-ती के अत्याचारी तरीकों से तंग आकर बहुत से चीनियो ने कोरिया में आश्रय लिया और की-त्से के कमजोर वंशजो को मार भगाया। इसके बाद चोसेन कई छोटे राज्यों में बँट गया, और आठ सौ बर्ष से ज्यादा तक यही हालत बनी रही। ये राज्य अक्सर आपसमें लड़ा करते थे। एक दफ़ा इन राज्यों में से एक ने चीन की मदद मांगी। इस तरह की मदद माँगना खतरनाक ही हुआ करता है। मदद आई जरूर, लेकिन उसने वापस जाने से इनकार कर दिया! ताकतवर मुल्को का यही ढंग होता है। चीन वहाँ डट गया और उसने चोसेन के कुछ हिस्से को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चोसेन का बाक़ी हिस्सा भी कई सौ वर्षों तक चीन के ताग सम्राटो की मातहती क़बूल करता रहा।

सन् ९३५ ई० में चोसेन एक स्वतन्त्र संयुक्त राज्य बन गया। इस संयुक्त राज्य की स्थापना में

सफल होने वाला व्यक्ति वांग कीयन था और इसके उत्तराधिकारियों ने ४५० वर्ष तक इस राज्य पर शासन चलाया।

मैंने दो तीन पैरों में तुम्हें कोरिया के इतिहास के दो हजार वर्ष का हाल बता दिया! याद रखने की बात यह है कि कोरिया पर चीन का बहुत बड़ा ऋण है। लिखने की कला यहाँ चीन से आई। एक हजार वर्ष तक कोरियावालो ने चीनी लिपि का इस्तेमाल किया। तुम जानती हो कि चीन की लिपि में अक्षर नहीं, बल्कि विचारों शब्दों और वाक्यों के चिह्न होते है। इसके बाद कोरियावालो ने इस लिपि से एक खास लिपि निकाली जो उनकी भाषा के लिए ज्यादा उपयुक्त थी।

बौद्ध-धर्म चीन होकर यहाँ आया और कनफ्यूशियस की दार्शनिक विचार-धारा भी चीन से ही आई। भारत के कला सम्बन्धी संस्कार चीन होकर कोरिया और जापान पहुँचे। कोरिया ने कला के, खासकर मूर्ति-कला के, बहुत सुन्दर नमूने रचे। इनकी मकान बनाने की कला चीनियो से मिलती-जुलती थी। जहाज बनाने के काम में भी बड़ी तरक़्क़ी हुई। यहाँ तक कि एक बार कोरिया निवासियो के पास इतनी ताक़तवर जलसेना हो गई थी कि उन्होने उससे जापान पर हमला किया था।

कदाचित् मौजूदा जापानियो के पूर्वज कोरिया या चोसेन से ही आये थे। सम्भव है, इनमें से कुछ लोग दक्षिण से यानी मलेशिया से आये हों। तुम जानती हो कि जापानी लोग मंगोलियन जाति के हैं। जापान में अब भी कुछ लोग हैं, जिन्हें आइनस कहते है और जो जापान के आदिम निवासी समझे जाते हैं। ये लोग गोरे है, और इनके बदन पर बाल भी ज्यादा होते हैं। साधारण जापानियो से ये बिलकुल जुदे है। ये आइनस लोग टारू के उत्तरी हिस्से में धकेल दिये गये हैं।

सन् २०० ई० के क़रीब जिङ्गो नाम की एक सम्राज्ञी यामातो राज्य की शासक थी। यामातो जापान का या उसके उस हिस्से का असली नाम है, जहाँ ये प्रवासी आकर बसे थे। इस रानी का जिङ्गो नाम याद रखने की चीज़ है। जापान के एक प्राचीन शासक का यह नाम होना एक अनोखा संयोग है। अँग्रेज़ी ज़बान में जिङ्गो शब्द के एक खास मानी हो गये हैं। इसके मानी है डींग मारने और शेखी बघारनेवाला साम्राज्यवादी। या सिर्फ साम्राज्यवादी भी कह सकते हैं, क्योंकि हरेक साम्राज्यवादी थोडा-बहुत डींगी और शेखीबाज होता ही है। जापान भी आज साम्राज्यवाद या जिङ्गोवाद के इस रोग मे फँसा हुआ है और हाल ही मे इसने चीन और कोरिया के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। इसलिए जापान के पहले ऐतिहासिक शासक का नाम जिङ्गो होना एक मजेदार बात है।

यामातो ने कोरिया के साथ अपना घनिष्ट सम्बन्ध बनाये रक्खा और कोरिया के मार्फत ही यामातो में चीनी सभ्यता पहुँची। चीन की भाषा-लिपि भी सन् ४०० ई० के क़रीब कोरिया होकर वहाँ पहुँची थी, और इसी तरह बौद्ध-धर्म भी कोरिया से ही यहाँ आया था। सन् ५५२ ई० मे पकचे (कोरिया के तीन राज्यो में से एक राज्य) के शासक ने यामातो के शासक के पास बुद्ध की एक सोने की मूर्ति और कुछ बौद्ध धर्म-प्रचारक धर्म-ग्रन्थो के साथ भेजे थे।

जापान का पुराना धर्म शिन्टो था। शिन्टो चीनी शब्द है। इसके मानी है, 'देवताओ का मार्ग'। यह धर्म प्रकृति और पूर्वजो की पूजा का मेल-जोल था। इस धर्म मे परलोक या रहस्यो और गुत्थियो के झगड़े नही है। यह एक सैनिक-जाति का धर्म था। जापानी लोग चीनियों के इतने नजदीक और अपनी सभ्यता के लिए चीन के इतने ऋणी होते हुए भी चीनियों से बिलकुल भिन्न है। चीनी लोग स्वभाव से ही शान्तिप्रिय रहे हैं, और आज भी है। उनकी सारी सभ्यता और जीवन का दार्शनिक दृष्टिकोण शान्तिमय है। इसके खिलाफ जापानी एक लड़ाकू कौम रही है, और आज भी है। वहाँ सिपाही का असली गुण यह माना जाता है कि वह अपने नेता और अपने साथियों के प्रति वफ़ादार हो। जापानी लोगो में यह गुण बराबर रहा है, और उनकी शक्ति का कारण बहुत कुछ यही हैं। शिन्टो धर्म इसी गुण पर जोर देता था—"देवताओ का सम्मान करो, और उनके वंशजो के प्रति वफादार रहो"—और इसी लिए यह धर्म आज तक जापान मे जीवित है, और बौद्ध-धर्म के साथ-साथ पाया जाता है।

लेकिन क्या यह सद्गुण है? साथी या किसी अच्छे सिद्धान्त के प्रति वफ़ादार होना जरूर एक अच्छा गुण है। लेकिन शिन्टो या दूसरे धर्मों ने अक्सर लोगो की वफ़ादारी से बेजा फायदा उठाने की कोशिश की है, जिससे शासन करने वाले एक खास गिरोह को फ़ायदा पहुँचे। जापान, रोम वग़ैरा में यही सिखाया

जाता था कि अधिकारी की पूजा करो। तुम आगे चलकर देखोगी कि इसने हम लोगों को कितना नुक़सान पहुंचाया है।

नया बौद्ध-धर्म जब जापान में पहुँचा, तो पुराने शिन्टो धर्म से उसकी कुछ टक्कर हुई। लेकिन जल्दी ही दोनों साथ-साथ रहने लग गये, और आज तक रह रहे हैं। शिन्टो-धर्म अब भी बौद्ध-धर्म से ज्यादा लोकप्रिय है, और शासक-वर्ग इसे प्रोत्साहन भी देता है, क्योंकि यह वफादारी और फ़रमाबरदारी सिखाता है। बौद्ध-धर्म इससे कुछ खतरनाक है, क्योंकि उसका संस्थापक खुद विद्रोही था।

जापान का कला-इतिहास बौद्ध-धर्म के साथ शुरू होता है। तभी जापान या यामातो ने चीन के साथ सीधा सम्पर्क बढ़ाना शुरू किया। जापान से चीन को बराबर राजदूत-मंडल जाते रहते थे खासकर तांग युग में, जब कि चीन की राजधानी सी-आन-फू सारे पूर्वी एशिया में मशहूर थी। जापानियों यानी यामातो वालो ने खुद एक नई राजधानी नारा के नाम से क़ायम की और उसे सी-आन-फू की हू-ब-हू नक़ल बनाने का प्रयत्न किया। मालूम होता है जापानियों में दूसरों की नक़ल और अनुकरण करने की आश्चर्यजनक योग्यता हमेशा से रही है।

सारे जापानी इतिहास मे हम बड़े-बड़े खानदानों को एक-दूसरे का विरोध करते और अधिकार के लिए झगड़ते देखते है। दूसरी जगहों पर भी पुराने जमाने में तुम्हे ऐसी ही बाते मिलेंगी। इन खानदानो मे पुरानी कुल-भावना जमी हुई थी, इसलिए जापान का इतिहास एक तरह से खानदानो की आपसी होड़ की कहानी है। इनका सम्राट मिकाडो सर्वाधिकारी, निरंकुश, अर्ध-देवी और सूर्य का वंशज माना जाता है। शिन्टो-धर्म ने और पूर्वजों की पूजा की प्रथा ने जनता से सम्राट की निरंकुशता कबूल कराने मे बहुत मदद दी और उसे देश के शक्तिशाली लोगों का आज्ञाकारी बना दिया। लेकिन जापान में सम्राट खुद बहुत करके कठपुतली की तरह रहा है और उसके हाथ मे कोई असली ताक़त नही रही है। सारा अधिकार और सारी ताकत किसी बडे खानदान या कुल के हाथ मे रही है, जो राजाओ के विधाता थे और जो अपनी मरज़ी के मुताबिक राजा और सम्राट बनाया करते थे।

जापान के इतिहास मे जिस बडे खानदान ने सबसे पहले राज्य का नियन्त्रण किया वह सोगा खानदान था। जब इन लोगो ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया, तभी वह दरबारी और सरकारी धर्म बन गया। इस खानदान का एक बडा नेता शोतुकू तैशी जापानी इतिहास का एक महान् पुरुष हुआ है। यह एक सच्चा बौद्ध और श्रेष्ठ कलाकार था। चीन के कन्फ्यूशियन ग्रन्थों से इसने अपने विचार लिये थे और एक ऐसी सरकार बनाने की कोशिश की जिसकी बुनियाद सिर्फ बल पर नही, बल्कि नैतिकता पर रक्खी गई हो। जापान उन दिनो ऐसे खानदानों से भरा हुआ था, जिनके सरदार बिल्कुल स्वतंत्र थे। ये लोग आपस मे लडते थे और किसी की हुकूमत नही मानते थे। सम्राट अपनी लम्बी-चौड़ी उपाधि के होते हुए भी एक बड़ा खानदानी सरदार होता था। शोतुकू तैशी ने इस हालत को बदलने और केन्द्रीय सरकार को मजबूत बनाने की कोशिश शुरू कर दी। इसने बहुत से खानदानी सरदारों और अमीरों को 'ताबेदार' या सम्राट का मातहत बना दिया। यह सन् ६०० ई० के लगभग की बात है।

लेकिन शोतुकू तैशी की मृत्यु के बाद सोगा खानदान हटा दिया गया। थोडे दिन बाद एक दूसरा आदमी, जो जापानी इतिहास में बहुत मशहूर है, सामने आता है। इसका नाम काकातोमी नो कामातोरी था। इसने सरकार के संगठन में हर तरह के परिवर्त्तन किये और बहुत-से चीनी तौर-तरीके वैसे के वैसे अपना लिये। लेकिन उसने चीन की खास विशेषता की, यानी सरकारी अफसरों को मुक़र्रर करने की परीक्षा-प्रणाली की, नक़ल नही की। सम्राट की हैसियत अब एक कुल के सरदार से बहुत ऊँची हो गई और केन्द्रीय सरकार बहुत मजबूत हो गई।

इसी जमाने में नारा राजधानी बना। लेकिन यह राजधानी थोडे ही दिन रही। सन् ७९४ ई० मे क्योटो राजधानी बनाया गया और यहाँ क़रीब ग्यारह सौ वर्ष तक राजधानी रही। कुछ ही वर्ष हुए टोकियो ने उसकी जगह लेली है। टोकियो एक बहुत बड़ा आधुनिक शहर है, लेकिन वह क्योटो ही है जो हमे जापान की आत्मा का कुछ परिचय कराता है, क्योंकि उसके साथ एक हजार वर्ष की स्मृतियाँ जुडी हुई है।

काकातोमी नो कामातोरी फूजीवारा वंश का जन्मदाता हुआ। इस वंश ने जापानी इतिहास में

बहुत बड़ा भाग लिया है। इसने दो सौ वर्ष हुकूमत की, और यह सम्राटों को अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहा, और बहुत बार अपने कुल की लड़कियों से शादी करने के लिए उन्हें मजबूर करता रहा। इसे अन्य खानदानों के योग्य आदमियों का डर रहता था इसलिए उनसे पिंड छुड़ाने के लिए उन्हें जबर-दस्ती मठों में दाखिल करा दिया जाता था।

जब राजधानी नारा में थी तब चीन के सम्राट ने जापानी शासक के पास एक राजदूत भेजा और उसे 'ताई-नी-पुग-कोक का राजा' कहकर सम्बोधित किया। इसका मतलब होता है 'महान सूर्योदय का राज्य'। जापानी लोगों को यह नाम बहुत पसन्द आया। यामातो के मुकाबले यह कहीं ज्यादा शानदार था, इस लिए इन लोगों ने अपने देश का नाम 'दाई निपन' रक्खा, यानी 'सूर्योदय का देश'। अभी तक जापानियों का अपने देश के लिए यही नाम है। जापान शब्द 'निपन' शब्द से एक अजीब तरीके पर बिगड़ कर बना है। छः सौ वर्ष बाद एक महान् इटैलियन यात्री, मार्को पोलो, चीन गया। यह जापान तो नहीं गया, लेकिन इसने अपने यात्रा-विवरण में जापान का हाल लिखा है। इसने चीन में नी-पुग-कोक नाम सुना था। उसने अपनी किताब में इसे 'चिपनगो' लिखा। इसी शब्द से जापान शब्द निकला।

क्या मैंने तुम्हें बताया है, या तुम्हें मालूम है, कि हमारा देश इंडिया और हिन्दुस्तान क्यों कहलाने लगा? ये दोनों नाम इण्डस या सिन्धु नदी के नाम से निकले हैं, जो इस तरह 'हिन्दुस्तान की नदी' बन गई। सिन्धु से यूनानी लोगों ने हमारे देश को 'इण्डोस' कहा और 'इण्डोस' से 'इण्डिया' शब्द निकला। सिन्धु से ही ईरानियों ने हिन्दू शब्द बनाया और उसीसे हिन्दुस्तान बना।

: ४३ :

हर्षवर्धन और ह्यूएनत्सांग

११ मई, १९३२

अब हम फिर भारत वापस चलेंगे। हूणों की हार हो चुकी थी और वे पीछे हटा दिये गये थे। लेकिन बहुत-से हूण इधर-उधर कोनों में बचे रह गये थे। बालादित्य के बाद महान् गुप्त राज्य-वंश खतम होगया था, और उत्तर भारत में बहुत से राज्य और रियासतें कायम हो गई थीं। दक्षिण में पुलकेशिन ने चालुक्य-साम्राज्य कायम कर लिया था।

कानपुर से थोड़ी दूर कन्नौज नाम का छोटा-सा नगर है। कानपुर आज कल एक बड़ा शहर है। लेकिन वह अपने कारखानों और चिमनियों की वजह से बदसूरत हो गया है। कन्नौज एक मामूली जगह है, गाँव से कुछ ही बड़ा होगा। लेकिन जिस जमाने का ज़िक्र मैं कर रहा हूँ, उस जमाने में कन्नौज एक बड़ी राजधानी थी, और अपने कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के लिए मशहूर थी। कानपुर उस समय तक पैदा नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था।

कन्नौज नया नाम है। इसका असली नाम कान्यकुब्ज अर्थात् 'कुबड़ी लड़की' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने काल्पनिक अपमान से गुस्से में आकर एक राजा की सौ लड़कियों को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबड़ी हो गई थीं। उस समय से यह शहर, जहाँ ये लड़कियाँ रहती थीं, 'कुबड़ी लड़कियों का शहर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन संक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को क़ैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणों से लड़ने आया। उसने हूणों को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से खुद मारा गया। इस पर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकल कर पहाड़ों में जा छिपी थी, और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं कि वह भस्म होने जा रही थी कि हर्ष ने ढूंढ़ लिया और उसकी ज़िन्दगी बचा ली।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सज़ा दी। और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सजा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को बंगाल की खाड़ीसे अरब के समुद्र तक, और दक्षिण में विंध्य पर्वत तक, जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य साम्राज्य था और हर्ष को यहाँ रुकना पड़ा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह खुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार जमा हो गये, और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध-धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, भारत में बहुत कमजोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसको हज़म करते जा रहे थे। हर्ष भारत का आखिरी महान् बौद्ध सम्राट् हुआ है।

हर्ष के राज-काल में हमारा पुराना मित्र ह्यूएनत्सांग[1] भारत आया था और उसके यात्रा-वर्णन में, जो उसने भारत से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य-एशिया के उन मुल्कों का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत कुछ हाल मिलता है। ह्यूएनत्सांग एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानो की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था, और रास्ते मे उसने ताशक़न्द, समरक़न्द, बलख, खुतन, यारकन्द आदि कई मशहूर स्थानो की यात्रा की थी। वह सारे भारत में घूमा और शायद लंका भी गया था। इसकी किताब अनेक बातो का एक आश्चर्यजनक और चित्ताकर्षक कबाड़खाना है, जिसमे उन देशो का सच्चा दिग्दर्शन है, जहाँ-जहाँ ह्यूएनत्सांग गया था; भारत के भिन्न-भिन्न भागो के निवासियो के आश्चर्यजनक चरित्र-चित्रण है जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियाँ हैं जो ह्यूएनत्सांग ने यहाँ सुनी थी, और बुद्ध तथा बोधिसत्वो के चमत्कारी की अनेक कथाएं हैं। ह्यूएनत्सांग की लिखी, उस बड़े अकलमन्द आदमी की मजेदार कहानी, जो अपने पेट के चारो तरफ़ तांबे के पत्तर बांधे फिरता था, मै तुम्हे पहले ही बता चुका हूँ।

ह्यूएनत्सांग ने बहुत वर्ष भारत मे बिताये; खासकर नालन्दा के विश्व-विद्यालय मे, जो कि पाटलिपुत्र के पास था। कहते है कि नालन्दा में, जो मठ और विश्व-विद्यालय दोनो था, दस हजार विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। यह बौद्ध विद्या का बड़ा केन्द्र था और बनारस का, जो ब्राह्मण विद्या का केन्द्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था।

मैंने एक बार तुमसे कहा था कि भारत किसी जमाने मे 'इन्दु-देश' यानी चन्द्रमा का देश कहलाता था। ह्यूएनत्सांग भी इस बात का जिक्र करता है और बतलाता है कि यह नाम कितना उपयुक्त है। चीनी भाषा मे भी चन्द्रमा को 'इन-तू' कहते है। इसलिए अगर तुम चाहो तो अपना चीनी नाम[2] भी रख सकती हो!

ह्यूएनत्सांग सन् ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा शुरू की तो इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक मे लिखा है कि ह्यूएनत्सांग सुन्दर और लम्बा था। "उसका रंग मनोहर और आँखे चमकदार थी; चाल-ढाल गम्भीर और शानदार थी और उसके चेहरे से आकर्षण और तेज बरसते थे। . . . . उसमें पृथ्वी को चारों ओर घेरनेवाले विशाल समुद्र की-सी गम्भीरता थी, और जल मे पैदा होनेवाले कमल के समान शान्ति और सुषमा थी।"

बौद्ध-भिक्षु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी कठिन यात्रा पर चल पड़ा, हालाँकि चीनी सम्राट ने इसे इजाजत नही दी थी। इसने गोबी का रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइयाँ झेलकर तुरफान के राज्य में पहुँचा, जोकि इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ़ इसकी जान ही बाकी थी। तुरफान का रेगिस्तानी राज्य सभ्यता और संस्कृति का छोटा-सा एक अजीब नखलिस्तान[3] था। आज यह एक वीरान जगह है, जहाँ पुरातत्ववेत्ता और इतिहासवेत्ता पुराने खण्डहरों की तलाश में जमीन खोदते फिरते है। लेकिन सातवी सदी में जब ह्यूएनत्सांग यहाँ से गुजरा था, तुरफ़ान एक उच्च संस्कृति का और जीवन से

---

[1] ह्यूएनत्सांग—इसे लोग युवेन-चैंग, युआन-च्वांग या ह्वान-त्सांग के नाम से भी पुकारते हैं।

[2] इन्दिरा का प्यार का नाम 'इन्दु' है।

[3] नखलिस्तान—रेगिस्तान में हरी-भरी जगह।

भरा-पूरा देश था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और कुछ अंशों में योरप की संस्कृतियों का अजीब मेल पाया जाता था। यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था और संस्कृत के कारण भारतीयता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता था। फिर भी इस देश का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। खयाल हो सकता है कि यहाँ के निवासियों की भाषा मंगोलियन होगी। लेकिन इनकी भाषा मंगोलियन न होकर भारतीय-योरपीय थी, और योरप की केल्टिक[1] भाषाओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि यहाँ पत्थर की दीवारों पर जो चित्र हैं उनकी आकृतियाँ योरपीय ढांचे की हैं। पत्थर पर बने हुए बुद्ध और बोधि-सत्व, देवियों और देवताओं के ये चित्र बड़े ही सुन्दर हैं। देवियों की मूर्तियाँ या तो भारतीय पोशाक में हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी है। फ्रांसके कला मर्मज्ञ एम० ग्राउजे का कहना है कि "इन चित्रों में हिन्दू सुकुमारता, यूनानी भावव्यंजकता और चीनी कमनीयता का बहुत ही सुन्दर मेल पाया जाता है।"

तुरफ़ान अब भी है और तुम इसे नक़्शे में देख सकती हो। लेकिन अब यह कोई महत्व की जगह नहीं है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवीं सदी में, संस्कृति की भरपूर धारायें दूर-दूर के देशों से आकर इस जगह मिली, और मिलकर इनका एक सामजस्य पूर्ण नया रूप बन गया!

तुरफ़ान से हयूएनत्साग कूचा गया। यह उस ज़माने में मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार चमक-दमक वाली थी। और यहाँ के गायक तथा यहाँ की स्त्रियों की सुन्दरता खास तौर पर मशहूर थी। इस देश का धर्म और कला भारत की थी। ईरान ने इसे संस्कृति और व्यापारी माल दिया था और इसकी भाषा संस्कृत, पुरानी फारसी, लैटिन और केल्टिक से मिलती-जुलती थी। यह भी एक चित्ताकर्षक मिश्रण था!

इसके बाद वह तुर्कों के मुल्क से होकर गुज़रा जहाँ का राजा, 'महान् खान' जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज्य करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुँचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुड़ी हुई थी, क्योंकि करीब एक हज़ार वर्ष पहले सिकन्दर यहाँ से होकर गुज़रा था। फिर वह बलख गया और वहाँ से काबुल नदी की घाटी पार कर कश्मीर होता हुआ भारत में आया।

यह ज़माना चीन में ताग राज-वश के शुरू का था, जब चीन की राजधानी सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों से आगे था। इसलिए तुम्हें याद रखना चाहिए कि हयूएनत्साग बहुत ऊँची सभ्यता के इस देश से आया था, और तुलना करने में उसका आदर्श काफी ऊँचा रहा होगा। इसीलिए भारत की हालत के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और कीमती हैं। उसने भारतवासियों की और उनके शासन की बहुत तारीफ की है। वह कहता है—

> "हालाकि भारत के साधारण लोग स्वभाव में बेपरवाह होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज्ज़तवाले हैं। रुपये-पैसे के मामले में इनमें कोई मक्कारी नहीं पाई जाती और इन्साफ करने में ये दयाशील होते हैं। आचरण में न उनमें धोखेबाजी है, न विश्वासघात; और ये लोग अपनी बातो के और वादो के पक्के हैं। शासन के नियमों में इनका सिद्धान्तों पर आग्रह एक विशेषता रखता है और इनके व्यवहार में बहुत सज्जनता और मिठास है। अपराधियों और बागियों की तादाद यहाँ बहुत ही कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पड़ती है।
>
> वह आगे लिखता है—"चूँकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तों पर है इसलिए शासन विभाग पेचीदा नहीं है। . . . . .लोगों से बेगार नहीं ली जा सकती।"
>
> "इस तरह लोगों पर करों का बोझ बहुत हलका है और उनसे मामूली काम लिया

---

[1]केल्टिक (Celtic)—कई भाषाओं का एक समूह, जो इण्डो-यूरोपियन समूह से सम्बन्ध रखती है और अब प्रधानतः ब्रिटेनी वेल्स, पश्चिमी आयर्लेण्ड तथा स्काटलेण्ड के ऊँचे इलाक़ों में बोली जाती है। सिमरिक और गेथेलिक नामक इसकी दो शाखायें है। यह मध्यकाल में गद्य-पद्य के प्रचुर साहित्य से समृद्ध थी। रूप और भावों में आरंभिक केल्टिक बहुत-कुछ लेटिन और ग्रीक से मिलती-जुलती थी।

जाता हूँ। हरेक आदमी अपनी सांसारिक सम्पत्ति का शान्ति पूर्वक उपभोग करता है, और सभी लोग अपनी रोजी के लिए हल चलाते हैं। जो लोग सरकारी जमीन में खेती करते है, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। धन्धा करनेवाले व्यापारी अपने काम के लिए आजादी से इधर-उधर आ-जा सकते हैं।"

ह्यूएनत्साग ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था अच्छी थी और बच्चो की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली किताब खतम करने के बाद लड़के या लड़की को सात वर्ष की उम्र से ही पाचो शास्त्रो की पढ़ाई शुरू कर दी जाती थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ धर्म-पुस्तक समझा जाता है। लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। पाँच शास्त्र ये थे—(१) व्याकरण (२) कला-कौशल का विज्ञान (३) आयुर्वेद (४) न्याय और (५) दर्शन। इन विषयो की शिक्षा विश्वविद्यालयो में होती थी, और साधारण तौर पर तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत लोग इस उम्र तक न पढ़ सकते होगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्रारम्भिक शिक्षा काफी फैली हुई थी क्योकि सारे पुरोहित और साधु शिक्षक हुआ करते थे और इनकी कोई कमी नही थी। ह्यूएनत्साग पर भारतवासियो के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था। अपनी सारी किताब मे वह इस बात का जिक्र करता है।

उसने प्रयाग के बडे कुम्भ मेले का भी जिक्र किया है। जब तुम इस मेले को कभी फिर देखो तो तेरह सौ वर्ष पहले की ह्यूएनत्सांग की इस यात्रा का खयाल करना और यह सोचना कि उस समय भी यह मेला बहुत प्राचीन था और ठेठ वैदिक काल से चला आरहा था। इस प्राचीन परम्परा के मेले के मुक़ाबिले मे हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है जो हजारों वर्षों से लाखो यात्रियो को हर वर्ष गंगा और जमुना के सगमपर खीच लाता है।

ह्यूएनत्साग लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस शुद्ध हिन्दू मेले मे जाया करता था। उसकी तरफ से एक शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जाता था, जिसमें 'पच हिन्द' के सब गरीबो और मुहताजो को मले मे आकर उसका मेहमान होने के लिए निमन्त्रित किया जाता था। किसी सम्राट के लिए भी इस तरह का निमन्त्रण देना बडे हौसले का काम था। कहने की जरूरत नही कि बहुत-से आदमी आते थे और रोज क़रीब एक लाख आदमी हर्ष के यहाँ भोजन करते थे! इस मेले में हर पाँचवें वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी बचत, सोना, जेवर, रेशम वगैरा जो कुछ उसके पास होता था, सब बाट देता था। एक बार उसने अपना राज-मुकुट और कीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री मे, एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण हर्ष ने खाने के लिए जानवरों का मारा जाना बन्द कर दिया था। ब्राह्मणो-ने इस पर शायद ऐतराज नही किया, क्योकि बुद्ध के बाद से ये लोग अधिकाधिक निरामिषभोजी हो गये थे।

ह्यूएनत्साग की किताब में एक बड़ी मजेदार बात है, जो शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हो। वह लिखता है कि भारत मे जब कोई आदमी बीमार पड़ता था, तो वह तुरन्त सात दिन का लघन कर डालता था। बहुत लोग तो लघन के दौरान मे ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी फिर भी क़ायम रहती तो दवा लेते थे। उस जमाने में बीमार पडना अच्छी बात नही समझी जाती रही होगी, और न डाक्टर लोगों की ही ज्यादा माग रही होगी।

उस जमाने में भारत मे एक मार्के की बात यह थी कि शासक और सेनाधिकारी विद्वानों और शीलवानों की बहुत इज्जत करते थे। भारत में और चीन में इस बात की जानबूझ कर कोशिश की गई, और इसमे खूब सफलता भी हुई, कि विद्या और संस्कृति को इज्जत की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

भारत में बहुत वर्ष बिताने के बाद ह्यूएनत्साग फिर उत्तरी पहाड़ों को पार करता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में यह डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी क़ीमती किताबें बह गई। फिर भी वह हाथ से लिखी बहुत-सी किताबें अपने साथ ले गया था और बहुत सालों तक इन किताबों का

चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगा रहा। तांग सम्राट ने सी-आन-फू में उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर इससे अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

इसने तुर्कों का भी हाल लिखा है, जिन्हें इसने मध्य एशिया में देखा था। यह वह नई जाति थी, जो आगे चलकर पश्चिम की तरफ़ बढ़ कर बहुत-सी सल्तनतों को उलट-पुलट करनेवाली थी। इसने यह भी लिखा है कि सारे मध्य एशिया में बौद्ध विहार पाये जाते थे। सच तो यह है कि बौद्ध विहार ईरान, इराक़, ख़ुरासान, मोसल और ठेठ सीरिया की सरहद तक फैले हुए थे। ईरानियों के बारे में ह्यूएनत्सांग लिखता है—"ईरानी लोग विद्या पढ़ने की परवाह नहीं करते, बल्कि अपना सारा वक्त कला की चीज़ें बनाने में लगाते है। जो चीज़ें ये बनाते है, आस-पास के मुल्क उनकी बड़ी क़द्र करते हैं।"

उस ज़माने के यात्री अद्‌भुत होते थे। आजकल की अफ़रीका के अन्दर के मुल्कों की यात्रा या उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की यात्राएं तक भी पुराने ज़माने की इन महान् यात्राओं के मुकाबले में तुच्छ नज़र आती हैं। पहाड़ो और रेगिस्तनों को पार करते हुए और वर्षों अपने मित्रो और परिवार से बिछुड़े हुए ये लोग मंज़िल-दर-मंज़िल आगे बढ़ते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हें अपने घर की याद भी आती थी। लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को ज़बान पर नहीं लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हल्की-सी झलक हमें दी है। उसने लिखा है कि जब वह एक दूर देश में खड़ा था, उसे अपने घर की याद आई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुगयुन था और यह भारत में ह्यूएनत्साग स सौ वर्ष पहले आया था। वह गान्धार के पहाड़ी देश में था, जो भारत के उत्तर-पश्चिम में है। वह लिखता है कि "शीतल मन्द समीर, चिड़ियो के गीत, वसन्त ऋत के सौन्दर्य में सजे हुए पेड़, अनेक फूलो पर फुदकती हुई तितलियाँ—एक दूर देश मे इस मनोहर दृश्य को देखकर उस के मन में घर की याद लौट आई और इन विचारो ने उसे इतना उदास कर दिया कि वह बुरी तरह बीमार पड गया।

: ४४ :

दक्षिण भारत के अनेक राजा और शूरवीर तथा एक महापुरुष

१३ मई, १९३२

सम्राट् हर्ष की सन् ६४८ ई० मे मृत्यु हुई। लेकिन उसके मरने के पहले ही भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर बिलोचिस्तान में एक छोटा-सा बादल दिखाई देने लगा था। यह छोटा-सा बादल उस भारी तूफान का पूर्व चिह्न था, जो पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ़रीका और दक्षिणी योरप पर चढा आ रहा था। अरब मे एक नया पैग़म्बर हो गया था; उसका नाम मुहम्मद था। उसन एक नये धर्म का प्रचार किया, जिसे इस्लाम कहते है। अपने इस नये धर्म के जोश से भरे हुए और अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा रखते हुए, अरब निवासी मुल्को को जीतते हुए तेज़ीके साथ महाद्वीपों को पार करते चले जा रहे थे। यह एक आश्चर्यजनक करामात थी और हमें इस नई शक्ति पर गौर करना चाहिए, जिसने आकर इस दुनिया पर इतना असर डाला। लेकिन इस पर विचार करने से पहले हमे दक्षिण भारत का एक दौरा करना चाहिए, और यह जानने की कोशिश करनी चाहिए कि उन दिनो वहाँ की क्या हालत थी। हर्ष के समय में अरबी मुसलमान बिलोचिस्तान पहुँचे, और उन्होने थोड़े ही दिन बाद सिन्ध पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन वे वहीं रुक गये और अगले तीन सौ वर्ष तक भारत पर मुसलमानो का कोई नया हमला नही हुआ। और फिर जो हमला हुआ भी वह अरबो का काम नहीं था, बल्कि मध्य-एशिया के कुछ कबीलों का काम था, जो मुसलमान हो गये थे।

इसलिए हम दक्षिण की ओर चलते हैं। भारत के पश्चिम में और मध्य में चालुक्य साम्राज्य था। इसमें ज्यादातर महाराष्ट्र प्रदेश थे और इसकी राजधानी बदामी थी। ह्यूएनत्सांग महाराष्ट्रियों की और उनकी दिलेरी की तारीफ़ करता है। वह लिखता है कि ये लोग "युद्ध-प्रिय और अभिमानी प्रकृति-

वाले, उपकार के लिए कृतज्ञ, और अपकार का बदला लेनेवाले होते हैं।" चालुक्यों को उत्तर में हर्ष की, दक्षिण में पल्लवों की, और पूर्व में कलिंग की रोक-थाम करनी पड़ती थी। पर इनकी शक्ति बढ़ती गई और ये एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गये। लेकिन बाद में राष्ट्रकूटों ने उन्हें पीछे ढकेल दिया।

इस प्रकार दक्षिण भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य और राज्य फलते-फूलते रहे। कभी इनके पलड़े बराबर हो जाते, और कभी उनमें से कोई एक बढ़ कर दूसरे को दबा देता। पांड्य राज-वंश के समय में मदुरा संस्कृति का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ तमिल भाषा के कितने ही कवि और लेखक जमा हो गये थे। तमिल भाषा की कई प्राचीन पुस्तकें ईसवी सन् के शुरू की लिखी हुई हैं। पल्लवों के भी कभी शान के दिन थे। इनकी राजधानी काँचीपुर थी जिसे आजकल काँजीवरम् कहते हैं। मलेशिया की नई आबादी बसाने में बहुत कुछ इन्हीं का हाथ था।

इसके बाद चोल साम्राज्य शक्तिशाली हो गया और नवीं सदी के बीच के लगभग इसने दक्षिण भारत-पर प्रभुत्व जमा लिया। यह एक समुद्री राष्ट्र था, और इसके पास बहुत बड़ी जल-सेना थी, जिससे इसने बंगाल की खाड़ी और अरब-सागर पर प्रभुत्व क़ायम कर लिया था। इसका मुख्य बन्दरगाह कावेरीपट्टिनम् कावेरी नदी के मुहाने पर बसा था। विजयालय चोल साम्राज्य का पहला महान राजा था। चोल उत्तर की ओर फैलते गये पर अन्त में राष्ट्रकूटों ने उन्हें एकाएक हरा दिया। लेकिन राजराजा ने चोल राज-वंश को फिर से ताक़तवर बना कर उसकी खोई हुई शान फिर कायम कर दी। यह दसवीं सदी के अन्त की बात है, जब उत्तर भारत में मुसलमानो के हमले हो रहे थे। सुदूर उत्तर में जो घटनाएं हो रहीं थी, उनका प्रभाव राजराजा पर कुछ नही पड़ा, और वह अपने साम्राज्य को बढ़ाने की कोशिश में बराबर लगा रहा। उसने लंका को जीता, और चोलो ने वहां सत्तर वर्ष तक राज्य किया। राजराजा का पुत्र राजेन्द्र भी उसी की तरह ज़बर्दस्त और लड़ाकू था। उसने दक्षिण ब्रह्मदेश को जीता। इसके लिए वह अपने साथ लड़ाई के हाथियो को जहाज़ो मे लादकर ले गया था। उसने उत्तर भारत पर भी धावा मारा और बंगाल के राजा को हरा दिया। इस प्रकार चोल साम्राज्य बहुत विस्तृत हो गया। गुप्त साम्राज्य के बाद सबसे बड़ा साम्राज्य यही था। लेकिन यह बहुत दिन तक नही टिक सका। राजेन्द्र एक महान योद्धा था, लेकिन मालूम होता है कि वह बड़ा ज़ालिम था, और जिन राज्यो को उसने जीता, उनके दिलों को जीतने की उसने कोशिश नहीं की। राजेन्द्र ने सन् १०१३ ई० से १०४४ ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद बहुत से मातहत राजाओं की बगावत के कारण चोल साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया।

अपनी इन सैनिक सफलताओ के अलावा चोल लोग बहुत दिनों तक अपने समुद्री व्यापार के लिए मशहूर थे। उनके बनाये हुए सुन्दर सूती कपड़ो की बडी माँग थी। उनका बन्दरगाह कावेरीपट्टिनम् बड़े चहल-पहल का स्थान था। यहाँ दूर-दूर देशों से माल लेकर जहाज़ आते थे और यहाँ से माल ले जाते थे। वहाँ पर यवनो यानी यूनानियो की भी एक बस्ती थी। महाभारत में भी चोलो का ज़िक्र पाया जाता है।

मैंने दक्षिण भारत के कई सौ वर्षों का हाल संक्षेप में तुम्हें बताने की कोशिश की है। संक्षिप्त करने की इस कोशिश से शायद तुम घपले मे पड़ जाओगी। लेकिन हमारे पास इतना समय नही है कि हम अनेक राष्ट्रो और राजवंशो की भूल-भुलैयाँ में फँसते रहें। हमें तो सारे संसार पर विचार करना है और अगर उस के एक छोटे-से हिस्से में ही ज्यादा वक़्त गवा दें, फिर चाहे वह हिस्सा वही क्यो न हो जहाँ हम रहते है, तो हम बाकी हिस्सो का वर्णन कभी पूरा ही न कर सकेंगे।

लेकिन राजाओं और उनकी विजयों से भी अधिक महत्वपूर्ण उस समय की सभ्यता और कला का लेखा है। कला की दृष्टि से उत्तर भारत की बनिस्बत दक्षिण में बहुत ज्यादा अवशेष पाये जाते हैं। उत्तर की बहुत-सी यादगारे, इमारतें और पत्थर की मूर्तियाँ लड़ाइयों और मुसलमानी हमलों में नष्ट हो गईं। दक्षिण भारत में ये चीजें मुसलमानों के पहुँचने के बाद भी बच गईं। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उत्तर भारत की बहुत-सी सुन्दर यादगारें नष्ट कर दी गईं। जो मुसलमान उत्तर भारत मे आये,—और यहाँ यह याद रक्खो कि वे मध्य एशिया के निवासी थे न कि अरब के—उनमें अपने मज़हब के लिए जोश भरा था और वे मूर्तियों को नष्ट कर देना चाहते थे। लेकिन इन मूर्तियों के नष्ट हो जाने की शायद यह भी एक वजह थी कि पुराने मन्दिरों से क़िले और गढ़ों का काम लिया जाता था। दक्षिण के बहुत से मन्दिर अब भी क़िलों की तरह मालूम होते हैं, जहाँ लोग हमला होने पर अपना बचाव कर सकते हैं। इस तरह,

ये मन्दिर पूजा के अलावा और भी बहुत से कामों में आते थे। मन्दिरों में ही देहाती मदरसे होते थे। यही देहात के लोगों के मिलने-जुलने की जगह होती थी। यही पचायत घर या पार्लमेण्ट होता था, और अन्त में अगर ज़रूरत होती तो दुश्मनों से रक्षा करने के लिए भी यही मन्दिर गांव के निवासियोंके लिए क़िले का काम करते थे। इस तरह मन्दिरों के चारो तरफ़ देहात की सारी ज़िन्दगी चक्कर लगाया करती थी और यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी हालत में इन मन्दिरो के पुजारी और ब्राह्मण ही सबों पर प्रभाव रखते थे। लेकिन इस बात से कि इन मन्दिरों से कभी-कभी क़िलो का काम लिया जाता था, हम समझ सकते हैं कि मुसलमान हमलावार मन्दिरों को क्यों नष्ट कर देते थे।

इसी ज़माने का बना हुआ एक सुन्दर मन्दिर तँजौर मे है, जिसे चोल सम्राट राजराजाने बनवाया था। बदामी में भी बहुत सुन्दर मन्दिर है, और कांजीवरम् मे भी। लेकिन उस ज़माने की सबसे अद्भुत इमारत एलोरा का कैलाश मन्दिर है जो चट्टान में काटकर बनाने की कारीगरी का चमत्कार है। इस मन्दिर को बनाने का काम आठवी सदी के आख़िरी हिस्से में शुरू हुआ था। ताँबे की मूर्तियो के भी बहुत-से सुन्दर नमूने मिलते हैं। इनमें नटराज यानी शिव के ताडव-नृत्य की मूर्ति बहुत मशहूर है।

चोल-सम्राट राजेन्द्र प्रथम ने चोलापुर में सिंचाई के लिए नहरें निकालने का एक जबरदस्त बाँध बनवाया। यह बाँध ठोस चूने का था और सोलह मील लम्बा था। इस बाँध के बनने के सौ वर्ष बाद एक अरब यात्री अलबेरूनी वहाँ गया और इसे देखकर चकित हो गया। वह लिखता है—"हमारे देशवासी इसे देखकर ताज्जुब करते है। ऐसी कोई चीज़ बनाना तो दर किनार इसका वर्णन भी नही कर सकते।"

मैने इस पत्र मे कई राजाओ और राजवशो का ज़िक्र किया है, जिन्होने कुछ दिन तक शान का जीवन बिताया और फिर गायब और विस्मृत हो गये। लेकिन इसी समय दक्षिण भारत में एक बड़े अद्भत आदमी ने जन्म लिया, जिसने भारत की जिन्दगी में सारे राजा-महाराजाओं से भी ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया है। यह नवयुवक शकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। शायद वह आठवी सदी के अन्त मे पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अपूर्व प्रतिभाशाली व्यक्ति था। वह हिन्दू धर्म के, या हिन्दू धर्म के एक विशेष बौद्धिक रूप के, जिसे शैव मत कहते है, पुनरुद्धार मे लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्ध धर्म के विरुद्ध लड़ा। बौद्ध-सघ की तरह इसने भी सन्यासियो का सघ बनाया, जिसमे सब जाति के लोग शामिल हो सकते थे। उसने सन्यासियो के सघ के चार केन्द्र भारत के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारो कोनो मे स्थापित किये। उसने सारे भारत की यात्रा की, और जहाँ कही भी वह गया, सफल हुआ। वह एक विजेता के रूप मे बनारस आया। पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क मे जीतनेवाला विजेता था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहाँ सदा जमी रहनेवाली बर्फ़ की शुरूआत होती है, और वही उसका देहावसान हुआ। जब वह मरा उसकी उम्र केवल बत्तीस वर्ष या शायद इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शकराचार्य के कामो का लेखा अद्भुत है। बौद्ध-धर्म, जो उत्तर भारत से दक्षिण भगा दिया गया था, अब भारत से करीब-करीब गायब हो गया। हिन्दू-धर्म और शैव मत के नाम से प्रसिद्ध उसका एक रूप सारे देश मे फैल गया। शकर के ग्रन्थो, भाष्यो और तर्कों से सारे देश में एक बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ ब्राह्मणो ही का महान नेता नही बन गया, बल्कि मालूम होता है, उसने जन-साधारण के चित्त, को भी आकर्षित कर लिया। यह एक असाधारण बात मालूम होती है, कि कोई आदमी सिर्फ अपनी बद्धि के बल पर एक महान नेता बन जाय, और फिर करोड़ो आदमियो पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बड़े योद्धा और विजेता इतिहास मे विशेष स्थान पा जाते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते है या घृणा के पात्र, और कभी-कभी वे इतिहास पर भी प्रभाव डालते है। महान धार्मिक नेताओ ने करोड़ो के दिलो को हिला दिया है और उनमे जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सब कुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होने भावनाओं को अपील की है और उन्हें प्रभावित किया है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है उसका असर बहुत ज्यादा नही होता। बदकिस्मती से ज्यादातर लोग विचार नही करते; वे तो सिर्फ़ महसूस करते है और अपनी भावनाओं के अनुसार बर्ताव करते हैं। लेकिन शंकर की अपील मन और बुद्धि को और विवेक को ही होती थी। यह किसी पुरानी किताब मे लिखे रूढ़ मत को नही दुहराता था। उसका तर्क ठीक था या गलत, इसका विचार इस समय फ़िज़ूल है। दिलचस्पी की बात तो यह है कि उसने धार्मिक समस्याओ पर बौद्धिक दृष्टि से विचार किया। और इससे

भी ज्यादा दिलचस्प यह बात है कि इस तरीके को इख्तियार करने पर उसने सफलता पाई। इससे हमें उस समय के शासक वर्ग की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

शायद तुम्हें यह बात दिलचस्प मालूम हो कि हिन्दू दार्शनिकों में एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है। यानी जो कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत-से ऐसे आदमी हैं, खासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहाँ हमें इस प्रश्न की गहराई में जाने की जरूरत नही है। मतलब की बात यह है कि पुराने जमाने में भारत में विचार और प्रचार की कितनी स्वतन्त्रता थी। वह अन्तःकरण की स्वतंत्रता का युग था। यह बात योरप में अभी तक नहीं थी। और आज भी इस सम्बन्ध में कछ बन्दिशें हैं।

शंकर के छोटे-से किन्तु कठोर परिश्रम के जीवन से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास में लगातार स्वीकार की गई है। भूगोल की दृष्टि से, तुम जानती हो, भारत क़रीब-क़रीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से भारत में अक्सर विभेद रहा है, हालांकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय शासन में भी रहा। लेकिन संस्कृति के लिहाज से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराए, इसका धर्म, इसके वीर और वीरांगनायें, इसकी पौराणिक गाथायें, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देश भर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम पंचायतें, इसकी विचार-धारा, और इसका राजनैतिक सगठन, शुरू से एक ही चले आ रहे हैं। साधारण भारत-वासी की नजर में सारा भारत 'पुण्यभूमि' था और बाकी दुनिया अधिकतर म्लेच्छों का और बर्बरों का निवास-स्थान थी! इस प्रकार भारत में भारतीयता की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने देश के राज-नैतिक विभाजन की परवाह नही की, बल्कि उस पर विजय प्राप्त की। यह बात खास तौर से इसलिए हो सकी कि गावो के पचायती शासन की प्रथा कायम रही ऊपर चाहे जो तब्दीलियाँ क्यों न होती रही हो।

शकर का अपने सन्यासियो के मठों के लिए भारत के चारों कोनो को चुनना, इस बात का सबूत है कि वह भारत को सास्कृतिक इकाई समझता था। और उसके आन्दोलन की थोड़े ही समय में महान सफलता यह भी जाहिर करती है कि बौद्धिक और सांस्कृतिक धाराए कितनी तेज़ी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुच गईं।

शकर ने शैवमत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में खास तौर से फैला जहां ज्यादातर शिव के पुराने मन्दिर है। उत्तर में गुप्तो के जमाने मे वैष्णवधर्म का और कृष्ण की पूजा का फिर से बहुत प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनों सम्प्रदायो के मन्दिर एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है।

यह पत्र बहुत बडा हो गया। लेकिन मुझे अब भी मध्यकालीन भारत के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहना बाकी है। इसलिए यह काम दूसरे पत्र के लिए मुल्तवी कर देना ठीक होगा।

: ४५ :

मध्य-युग का भारत

१४ मई, १९३२

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुमसे अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री चाणक्य या कौटिल्य के बनाये हुए अर्थशास्त्र का ज़िक्र किया था। इस ग्रन्थ में उस ज़माने की शासन-प्रणाली और उस ज़माने के लोगों के बारे मे हर तरह की बातें लिखी है; मानो एक खिड़की खुल गई हो, जिसमें से हम ईसा के पूर्व की चौथी सदी के भारत की एक झाकी देख सकते हैं। ऐसी किताबें, जिनमें शासन की अन्दरूनी बातों का ब्यौरेवार वर्णन हो, बादशाहों और उनकी विजयों के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों से कही ज्यादा उपयोगी होती है।

एक दूसरी भी किताब है, जिससे मध्य-युग के भारत के बारे में हम कुछ अन्दाज लगा सकते है। यह शुक्राचार्य का नीतिसार है। यह पुस्तक इतनी उत्तम और सहायक नहीं, जितना कि अर्थशास्त्र। लेकिन

कुछ इसकी मदद से और कुछ दूसरे शिलालेखो और वर्णनो की मदद से, हम ईसा के बाद की नवी और दसवीं सदी की एक झाकी देखने की कोशिश करेंगे।

नीतिसार में लिखा है कि "न तो वर्ण से, और न कुलीनता से ब्राह्मण होने योग्य भावना पैदा होती है।" इसलिए इस ग्रन्थ के अनुसार जाति-भेद जन्म से नही, बल्कि योग्यता से होना चाहिए। एक दूसरी जगह इसमें लिखा है—"सरकारी नियुक्ति करते समय जाति या कुल का नही बल्कि कार्यदक्षता, चरित्र और योग्यताका विचार करना चाहिए।"राजा का फ़र्ज़ था कि वह खुद अपनी राय के अनुसार नहीं बल्कि जनता के बहुमत के अनुसार काम करे। "लोकमत राजा से भी ज्यादा शक्तिशाली है, जैसे बहुत-से रेशों की बनी हुई रस्सी शेर को भी घसीटने की सामर्थ्य रखती है।"

ये सब बड़े उत्तम सिद्धान्त है, और विचार रूप से आज भी अच्छे है। लेकिन सच बात यह है कि व्यवहार में ये हमारे बहुत ज्यादा काम नही आ सकते। माना कि क्षमता और योग्यता से आदमी ऊँचा उठ सकता है। लेकिन यह क्षमता और योग्यता हासिल कैसे करे? कोई लडका या लडकी भले ही काफी तेज़ हो और उचित शिक्षा तथा तैयारी के द्वारा चतुर और कुशल भी शायद बन जाय। लेकिन अगर पढ़ने-लिखने या सिखाने का कोई इन्तज़ाम ही न किया जाय तो बेचारा लडका या लडकी क्या करे?

इसी तरह लोकमत क्या है? किसका मत लोकमत समझा जाय? शायद नीतिसार का लेखक शूद्रो की बड़ी संख्या को कोई मत प्रकट करने का अधिकारी नही समझता था। इन लोगो का कोई महत्व नहीं था। शायद सिर्फ ऊँचे और शासक वर्ग के लोगो का मत ही लोकमत समझा जाता था।

फिर भी यह बात ध्यान देने लायक़ है कि पहले की तरह ही मध्य-युग के भारतीय राज-सगठन में राजाओं की निरकुशता या उनके दैवी अधिकार के लिए कोई स्थान नही था।

इसी किताब मे लिखा है कि उस समय सम्राट की एक राष्ट्र परिषद् होती थी। सडको, इमारतो, वग़ैरा के लिए और पार्कों और जगलो के लिए ऊंचे अफसर नियुक्त होते थे। कस्बो और गावो की व्यवस्था का सगठन था। पुलो, घाटो, धर्मशालाओ सड़को और सबसे महत्वपूर्ण चीज़ शहर और गांव की नालियो का वर्णन भी इस पुस्तक मे है।

गाँवो के मामलो मे गाँव की पचायतो को पूरा-पूरा इख्तियार था और सरकारी अफसर पचो की बडी इज्जत करते थे। पचायत ही खेती के लिए ज़मीने देती थी, लगान वसूल करती थी और गाँव की तरफ से सरकार को मालगुजारी अदा करती थी। इन सबके ऊपर शायद एक बडी पचायत या महासभा होती थी जो इन छोटी पचायतो की निगरानी करती थी और जरूरत पडने पर उनके मामलो मे दखल भी देती थी। इन पचायतो को अदालती इख्तियार भी हासिल थे। ये अदालतो की हैसियत से भी काम कर सकती थी और लोगों के मुकदमो का फैसला कर सकती थी।

दक्षिण भारत के पुराने शिलालेखो से पता लगता है कि पचो का चुनाव कैसे होता था, कौन-कौन लोग पच बन सकते थे और कौन-कौन नही। अगर कोई पच सार्वजनिक पैसे का हिसाब नही देता था, तो वह पच होने का हक खो बैठता था। दूसरा एक बहुत दिलचस्प कायदा यह था कि पंचो के नज़दीकी रिश्तेदार नौकरियाँ नही पा सकते थे। अगर यही कायदा अब भी हमारी कौंसिलो, असेम्बलियो और म्युनिसिपैलिटियों में लागू कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो! एक कमेटी के मेम्बरो में एक स्त्री का भी नाम आया है। इससे जाहिर होता है कि औरते भी पचायतो और उनकी कमेटियो की मेम्बर बन सकती थी।

पंचायतो के चुने हुए मेम्बरों में से कमेटियां बनाई जाती थी, और हरेक कमेटी साल भर के लिए होती थी। अगर कोई सदस्य बेजा हरकत करता था, तो वह फ़ौरन हटा दिया जाता था।

ग्रामीण स्वराज्य की यह प्रणाली आर्य शासन-व्यवस्था की बुनियाद थी। इसी की वजह से उसमें इतनी ताकत थी। गाँव की ये पचायते अपनी आजादी की रक्षा के लिए इतनी जागरूक थी कि यह क़ायदा बना दिया गया था कि बिना राजाज्ञा के कोई भी सिपाही किसी गांव में घुस नही सकता था। नीतिसार में लिखा है कि अगर प्रजा राजा से किसी सरकारी अफसर की शिकायत करे, तो राजा को "चाहिए कि वह अपनी प्रजा का पक्ष करे, न कि अपने अफ़सर का।" और अगर बहुत-से लोग किसी अफसर की शिकायत करें तो उस अफ़सर को बरखास्त कर देना चाहिए, क्योंकि नीतिसार में लिखा है "अधिकार का मद पीकर किसको

नशा नही होता ?" बुद्धिमानी की ये बातें खासकर आज हमारे देश के उन अफसरो पर लाग होती दिखाई देती हैं जो अपना काम ईमानदारी से नही करते और बुरा शासन करते है !

बड़े शहरों में जहाँ बहुत से दस्तकार और व्यापारी रहते थे, व्यापारियों और दस्तकारियों के संघ होते थे। यानी दस्तकारों के संघ होते थे, साहूकारों के संगठन होते थे और व्यापारियों की समितियाँ होती थीं। धार्मिक संस्थाएँ तो थी ही। इन सब संस्थाओं का अपने अन्दरूनी मामलो पर बहुत काफ़ी नियंत्रण रहता था।

राजा के लिए यह हिदायत थी कि जनता पर हलके कर लगावे, जिससे नुकसान न पहुँचे और उस पर भारी बोझ न पड जाय। राजा को टैक्स उस तरह वसूल करने चाहिएँ जैसे माला बनानेवाला जगल के पेडो से फूल और पत्तियाँ चुनता है, जलाकर कोयला बनाने वाले की तरह नही।

ऐसा टुकड़ों में बिखरा हुआ हाल हमें भारत के मध्य-युग के बारे में मिलता है। यह पता लगाना जरा मुश्किल है कि किताबों में नीति की जो बातें लिखी हुई हैं, उन पर किस हद तक अमल होता था। किताबों में ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों और आदर्शों की बाते लिखना बहुत आसान होता है, लेकिन जिन्दगी में उनपर अमल करना मुश्किल होता है। पर इन किताबों में हमें उस जमाने के लोगो के आदर्शों और विचारो को समझने में मदद मिलती है, चाहे वे इन पर पूरी तरह अमल न कर पा सके हो। हमें यह पता चलता है कि राजा और शासक निरंकुश तो होते ही थे; चुनी हुई पंचायते उनके अधिकारों पर नियंत्रण रखती थीं। हमें यह भी पता चलता है कि गावों और शहरो मे स्वशासन की प्रणाली काफी उन्नत थी, और केन्द्रीय सरकार उसमे कोई हस्तक्षेप नही करती थी।

लेकिन जब मै जनता की विचार-धारा की या स्वशासन की बात करता हूँ, तब इसका मतलब क्या है ? भारत का सारा सामाजिक ढाँचा जाति-भेद की प्रथा पर बना हुआ था। सिद्धान्त रूप से सम्भव हे, जाति व्यवस्था कटोर न रही हो और, जैसा कि नीतिसार मे लिखा है, गुण और कर्म के अनुसार मानी जाती रही हो। लेकिन व्यवहार मे इस सिद्धान्त के कुछ माने नही रह गये थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही दरअसल शासक वर्ग या शासक जातियाँ थी। कभी-कभी इनमे आपस मे प्रभुत्व के लिए लड़ाई होती थी। लेकिन ज्यादातर ये लोग मिल-जुल-कर राज्य करते थे, और एक-दूसरे का लिहाज रखते थे। पर दूसरी जातियों को ये दबाये रहते थे। धीरे-धीरे जब व्यापार-धंधे बढे, व्यापारी वर्ग धनवान और महत्वपूर्ण हो गया, और जब इसका महत्व बढा तो इसे कुछ रियायते और अधिकार मिल गये और इन्हें अपने संघों के अन्दरूनी मामलों की व्यवस्था करने की आजादी हासिल हो गई। लेकिन फिर भी इस वर्ग को राज्य सत्ता में कोई असली हिस्सा नही मिला। और बेचारे शूद्र तो बराबर सबसे नीच बने रहे। कुछ लोग इनमें से भी नीच समझे जाते थे।

कभी-कभी नीची जातियो के लोग भी ऊंचा स्थान प्राप्त करते थे। शूद्र राजा तक भी हुए हैं। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता था। सामाजिक व्यवस्था मे ऊँचे उठने का तरीक़ा ज्यादातर यह था कि कोई उपजाति सारी की सारी एक दर्जा ऊपर उठ जाती थी। नई कौमे पहले नीची जातियों में शामिल होकर हिन्दू धर्म में मिल जाती थी और फिर धीरे-धीरे ऊंची उठती जाती थी।

इस तरह तुम देखोगी कि भारत में हालाकि पश्चिम की तरह मजदूरों को गुलाम बनाकर रखने की प्रथा न थी, फिर भी हमारा सारा सामाजिक ढाचा दर्जों मे बंटा हुआ था, यानी एक के ऊपर एक वर्ग बने हुए थे। ऊपर के सब तबकों के लोग नीचे तबको के लोगों का बेजा तौर पर शोषण करते थे और उनका सारा बोझ इन्हे सहना पडता था। और ऊपर के लोग इन बेचारे नीचे के लोगों को शिक्षा का या कोई काम सीखने का मौका ही नही आने देते थे ताकि यह व्यवस्था बनी रहे और सारे अधिकार उन्ही के हाथ में क़ायम रहें। गाँव की पंचायतों मे शायद किसानों की कुछ चलती थी और इनकी उपेक्षा नही की जा सकती थी; लेकिन यह बहुत मुमकिन है कि कुछ होशियार ब्राह्मण इन पचायतों पर भी हावी रहे हों।

आर्यों की यह पुरानी राजनैतिक व्यवस्था तब से चली आती थी, जब उन्होंने भारत में क़दम रक्खा और द्रविड़ो के सम्पर्क में आये और यह उस मध्य-काल तक क़ायम रही, जिसका हम जिक्र कर रहे है। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि गिरावट और कमजोरी का सिलसिला जारी था। शायद यह व्यवस्था पुरानी हो रही थी, और शायद बाहर से होने वाले विदेशी हमलों ने इसे धीरे-धीरे घिस डाला।

तुम्हें यह जान कर दिलचस्पी होगी कि पुराने जमाने में भारत ने गणित में बड़ी उन्नति की थी

और उस समय के महान गणितज्ञों में लीलावती का भी नाम लिया जाता है। कहते हैं कि लीलावती और उसके पिता भास्कराचार्य ने, और शायद एक दूसरे व्यक्ति ब्रह्मगुप्त ने, पहले-पहल दशमलव की प्रणाली निकाली थी। बीजगणित भी भारत में ही निकला बताया जाता है। भारत से यह अरब में गया, और अरब से योरप पहुँचा। बीजगणित का अंग्रेजी नाम 'एलजब्रा' अरबी शब्द है।

: ४६ :

शानदार अंगकोर और श्रीविजय

१७ मई, १९३२

अब थोड़ी देर के लिए बृहत्तर भारत की सैर करे। बृहत्तर भारत उन उपनिवेशों और बस्तियों को कहते हैं जो दक्षिण भारत के लोगो ने मलेशिया और हिन्दी-चीन में जाकर स्थापित की। मै पहले बता चुका हूँ कि ये बस्तियाँ किस तरह समझ-बूझकर व्यवस्थित रूप से बसाई गई थी। ये कोई आप-ही-आप नही बन गई थी। कई जगह एक साथ विचार पूर्वक उपनिवेशो का बसाया जाना जाहिर करता है कि उस जमान में समुद्र यात्राएं खूब होती होंगी और समुद्री रास्तो पर काफी अधिकार रहा होगा। मैंने तुम्हें बताया है कि ये नई बस्तियाँ ईसवी सन की पहली और दूसरी सदी मे शुरू हुई। ये सब हिन्दू बस्तियाँ थी, और इनके नाम दक्षिण भारतीय ढंग पर रक्खे गये थे। कई सदियो के बाद यहाँ बौद्ध धर्म धीरे-धीरे फैला, और सारा मलेशिया हिन्दू से बौद्ध हो गया।

पहले हम हिन्दी-चीन को चलें। सबसे पुराने उपनिवेश का नाम चम्पा था, और यह अनाम प्रदेश में था। हमें पता चलता है कि ईसा की तीसरी सदी मे अनाम में पाण्डुरगम नाम का शहर बढ रहा था, और यही दो सौ वर्ष बाद काम्बोज का भी एक बडा शहर बसाया गया। इसमे पत्थर की बडी इमारते और मन्दिर थे। इन भारतीय नई बस्तियो मे सब जगहो पर बड़ी-बड़ी इमारते बन रही थी। इमारते बनानेवाले शिल्पकार और राजगीर भारत से समुद्र पार ले जाये गये होगे, और इन लोगो ने वहाँ इमारते बनाने में भारत की परम्पराओ को निभाया। मुख्तलिफ राज्यो और टापुओ में इमारते बनाने के मामले मे खूब होड़ चली और इस होड के फलस्वरूप ऊँचे दर्जे की कला का विकास हुआ।

इन उपनिवेशो में रहनेवाले लोग स्वभावत. समुद्र-यात्री थे। इन लोगो ने, या इनके पूर्वजो ने, यहाँ पहुँचने के लिए समुद्र तो पार किया ही था और वहाँ पहुचने पर फिर इनके चारो ओर समुद्र ही समुद्र था। समुद्र-यात्री लोग बहुत आसानी से व्यापार करने लगते है, इसलिए ये लोग भी व्यापारी और सौदागर हो गये और अपना सौदा बहुत-से टापुओ को पश्चिम में भारत को और पूर्व मे चीन को, ले जाते थे। इसलिए मलेशिया के बहुत से राज्यो पर व्यापारी वर्ग का अधिकार था। इन राज्यो मे आपस मे अक्सर सघर्ष होते रहते थे। बड़ी-बडी लड़ाइयाँ छिड़ जाती थी, और कत्लेआम भी हो जाते थे। कभी कोई हिन्दू-राज्य, किसी बौद्ध-राज्य के खिलाफ़ लडाई ठान देता था। लेकिन मालूम होता है उस जमाने मे बहुत-सी लड़ाइयो की वजह व्यापारिक होड रही होगी। जैसे आज-कल बडी-बड़ी शक्तियो मे अपने-अपने देश के बने माल को खपाने के लिए मडियो के लिए लड़ाइयाँ होती है।

लगभग तीन सौ वर्ष तक, यानी आठवी सदी तक, हिन्दी-चीन मे तीन अलग-अलग हिन्दू राज्य थे। नवी सदी में एक बहुत बडा राजा हुआ, जिसका नाम जयवर्मन् था। इसने इन राज्यो को एक कर दिया और एक बहुत बडा साम्राज्य क़ायम किया। यह शायद बौद्ध था। इसने अपनी राजधानी अगकोर को बनाना शुरू किया, और इसके उत्तराधिकारी यशोवर्मन ने उसे पूरा किया। यह काम्बोजी साम्राज्य क़रीब ४०० वर्ष तक क़ायम रहा। जैसा सब साम्राज्यो के बारे मे कहा जाता है, यह भी बडा ताक़तवर और शानदार साम्राज्य समझा जाता था। 'अगकोर थाम' का राजनगर सारे पूर्व में 'शानदार अगकोर' के नाम से मशहूर था। इसकी आबादी दस लाख से ऊपर थी, जो कैसरों के रोम से ज्यादा थी। इस के पास ही 'अगकोर-

वाट' का अद्‌भुत मन्दिर था। तेरहवी सदी में काम्बोज पर कई दिशाओं से हमला हुआ। अनामी लोगोंने पूर्व की ओर से आक्रमण किया, और पश्चिम की ओर से वहाँ की निवासी क़ौमों ने। उत्तर में शान लोगों को मगोलो ने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया था। इनके सामने भागने का कोई दूसरा रास्ता नही था, इसलिए इन्होंने काम्बोज पर हमला कर दिया। यह राज्य इस तरह, बराबर लड़ाई करते-करते और अपनी हिफ़ाज़त करते-करते, बिलकुल पस्त हो गया। फिर भी अंगकोर पूर्व का एक सबसे ज्यादा शानदार शहर बना रहा। सन् १२९७ ई० में, एक चीनी दूत ने, जो काम्बोज के राजा के दरबार मे भेजा गया था, अगकोर की अद्‌भुत इमारतो की बडी प्रशंसा की है।

लेकिन एकाएक अंगकोर पर एक भयंकर आफत आगई। सन् १३०० ई० के करीब कीचड़ जमा हो जाने से मीकाग नदी का मुहाना बन्द हो गया। नदी के पानी को बहने का रास्ता न मिलने से वह पीछे लौटकर इस विशाल शहर के चारो तरफ़ की ज़मीन मे भर गया जिससे सारे उपजाऊ खेत दलदल बनकर निकम्मे हो गये। शहर की बड़ी आबादी भूखो मरने लगी और शहर छोडकर दूसरी जगहो पर जाने के लिए मजबूर हो गई। इस तरह शानदार अंगकोर उजाड़ हो गया और उस पर जंगल छा गया। उसकी अद्‌भुत इमारतो मे कुछ दिनों तक तो जंगली जानवरो का वास रहा लेकिन अंत में जगलों ने महलो को खाक मे मिला दिया और अपना निष्कण्टक राज्य कायम कर लिया।

काम्बोज राज्य इस आफत के बाद बहुत दिनो तक जीवित नही रह सका। वह धीरे-धीरे नष्ट होते-होते केवल एक छोटा-सा प्रान्त रह गया जिस पर कभी अनाम हुकूमत करता था और कभी स्याम। लेकिन आज भी अगकोरवाट के विशाल मदिर के खण्डहर हमें बताते है कि कभी इस मन्दिर के पास एक शानदार और बाँका शहर बसा हुआ था, जहाँ दूर देशो के सौदागर अपना माल लेकर आते थे और जहाँ के निवासियो और कारीगरो की बनाई हुई नफीस चीजे दूसरे देशो को जाया करती थी।

हिन्दी-चीन से थोडी ही दूर समद्र के उस पार सुमात्रा का टापू था। यहाँ भी दक्षिण भारत के पल्लवों-ने ईसा की पहली और दूसरी सदी मे अपने नये उपनिवेश बसाये थे। ये बस्तियाँ धीरे-धीरे तरक्की कर गई। मलाया का प्रायद्वीप बहुत पहले ही सुमात्रा राज्य का हिस्सा बन गया था और उसके बाद बहुत दिनो तक सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप का इतिहास मिला-जुला रहा। श्रीविजय नाम का बड़ा शहर, जो सुमात्रा के पहाडो मे बसा हुआ है, इस राज्य की राजधानी थी। पालेबाग नदी के मुहाने पर इसका एक बन्दरगाह था। पाँचवी या छठी सदी में बौद्ध-धर्म सुमात्रा का प्रमुख धर्म बन गया। वास्तव मे सुमात्रा ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़े उत्साह से पहला कदम बढ़ाया और आखिर में यह हिन्दू मलेशिया के अधिकाश भाग को बौद्ध बनाने में सफल भी हुआ। इसीलिए सुमात्रा के इस साम्राज्य को 'श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य' कहते है।

श्रीविजय दिन-ब-दिन बढता ही गया, यहाँ तक कि उसके दायरे मे सुमात्रा और मलाया ही नही, बल्कि फ़िलीपाइन, बोर्नियो, सेलेबीज, जावा का आधा भाग, फारमूसा के टापू का आधा भाग (जो अब जापान के कब्जे में है) लका और कैण्टन के पास दक्षिण चीन का एक बन्दरगाह भी आ गया। शायद इस साम्राज्य मे भारत के दक्षिणी कोने पर लंका के सामने का एक बन्दरगाह भी शामिल था। तुम देखोगी कि श्रीविजय का साम्राज्य एक लबा चोडा साम्राज्य था जिसमें सारा मलेशिया शामिल था। इन भारतीय बस्तियो के रहने वालों के मुख्य धन्धे थे माल की अदला-बदली, व्यापार और जहाज़ बनाना। उस ज़माने के चीनी और अरब लेखकों ने उन बन्दरगाहो और उपनिवेशों की लम्बी फेहरिस्त दी है, जो सुमात्रा राज्य की मातहती में थे। यह फेहरिस्तें बढ़ती ही गई।

ब्रिटिश साम्राज्य आज सारी दुनिया मे फैला हुआ है। हर जगह उसके बन्दरगाह है और जहाजों के के लिए कोयला भरने के स्टेशन है, जैसे जिब्राल्टर, स्वेज़ नहर, जिस पर ज्यादातर अंग्रेजो का अधिकार है, अदन, कोलम्बो, सिंगापुर, हागकाग, वग़ैरा। अंग्रेज़ों की क़ौम पिछले तीन सौ वर्षों मे एक व्यापारी क़ौम रही है और इसका व्यापार तथा इसकी मज़बूती इसकी सामुद्रिक शक्ति पर निर्भर रही है। इसलिए इन लोगों को सारी दुनिया भर में सुविधाजनक फ़ासलो पर बन्दरगाहो और कोयला भरने के स्टेशनों की ज़रूरत रही है। श्रीविजय साम्राज्य भी व्यापार की बुनियाद पर बनी हुई एक सामुद्रिक शक्ति थी। इसलिए जहाँ उसे कदम रखने के लिए छोटी-सी भी जगह मिल गई वहीं उसने बन्दरगाह बना लिया। वास्तव में समात्रा-राज्य

की बस्तियों की एक खास बात यह थी कि वे सामरिक महत्व रखती थीं। यानी वे होशियारी के साथ ऐसी जगहों पर बसाई गई थीं जहाँ से आस-पास के समुद्रों पर क़ाबू रक्खा जा सके। कहीं-कहीं ये बस्तियाँ इस तरह जोड़े से बसाई गई थीं कि समुद्री ताक़त को बनाये रखने में एक दूसरी की मदद कर सकें।

इस प्रकार सिंगापुर, जो आज बहुत बडा शहर है, शुरू में सुमात्रा में आकर बसनेवालों की एक बस्ती थी। 'सिंहपुर': यह नाम बिलकुल भारतीय है। सिंगापुर के सामने, जलडमरूमध्य के उस पार, सुमात्रा के लोगो की एक दूसरी बस्ती भी थी। कभी-कभी ये लोग इस जलडमरूमध्य के बीच लोहे की जंजीर डाल देते थे और सब जहाजों का आना-जाना रोक देते थे, जब तक कि वे भारी चुगी न अदा कर देते।

इस तरह श्रीविजय का साम्राज्य ब्रिटिश साम्राज्य की ही तरह का था, हालाकि यह इससे बहुत छोटा जरूर था। लेकिन यह जितने दिनो तक क़ायम रहा उतने दिनो तक ब्रिटिश साम्राज्य के बने रहने की सम्भावना नही है। ग्यारहवीं सदी में यह साम्राज्य अपनी उन्नति की आखिरी सीढी पर था। यह करीब-क़रीब वही जमाना था जब दक्षिण भारत में चोल-साम्राज्य का बोलबाला था। लेकिन श्रीविजय का साम्राज्य चोल-साम्राज्य के बहुत समय बाद भी बना रहा। इन दोनो में बहुत समय तक मित्रता का सम्बन्ध रहा परन्तु दोनों ही लड़ाकू समुद्र-यात्री लोगो के राज्य थे जिनकी ताकतवर जल-सेनायें थीं तथा दूर-दूर के देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। इसलिए ग्यारहवी सदी के शुरू में इन दोनो मे संघर्ष पैदा हुआ और युद्ध ठन गया। चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने एक जहाजी बेड़ा भेजा जिसने श्रीविजय को परास्त कर दिया। लेकिन श्रीविजय ने जल्दी ही अपनी गिरी हुई हालत को सुधार लिया।

ग्यारहवी सदी के शुरू में चीनी सम्राट ने सुमात्राके राजा के लिए तांबे के कई घंटे उपहार मे भेजे थे। इसके बदले में सुमात्रा के राजा ने मोती, हाथीदाँत और संस्कृत की किताबें भेजी थी। एक पत्र भी भेजा था जो कहते है, सोने के पत्र पर 'भारतीय लिपि' मे लिखा गया था।

दूसरी सदी में अपने जन्म से लगाकर पाँचवी या छठवी सदी तक श्रीविजय फला-फूला। इसके बाद यह बौद्ध हो गया, और फिर धीरे-धीरे ग्यारहवी सदी तक बराबर तरक्की करता गया। इसके बाद भी तीन सौ वर्ष तक यह एक महान साम्राज्य बना रहा और मलेशिया के व्यापार-धन्धो पर इसका अधिकार बना रहा। अन्त में सन् १३७७ ई० में एक पुराने पल्लव उपनिवेश ने इसे हरा दिया।

मैं बता चुका हूँ कि श्रीविजय साम्राज्य लका से लगाकर चीन के कैण्टन नगर तक फैला हुआ था। इन दोनो के बीच के ज्यादातर टापू इस साम्राज्य में शामिल थे। लेकिन यह एक छोटे से टुकडे पर काबू न पा सका। यह जावा का पूर्वी हिस्सा था, जो एक स्वतन्त्र राज्य बना रहा। इसने हिन्दू धर्म को भी नही छोड़ा और बौद्ध बनने से इन्कार कर दिया। इस तरह जहाँ पश्चिमी जावा श्रीविजय की मातहती मे था वहाँ पूर्वी जावा स्वतन्त्र था। पूर्वी जावा का यह हिन्दू राज्य भी व्यापारी राज्य था और अपनी खुशहाली के लिए व्यापार पर आश्रित था। यह सिंगापुर को बडी लालच की नजर से देखता रहा होगा, क्योंकि मौके की जगह पर बसा होने के कारण सिंगापुर एक बहुत बडा व्यापारी केन्द्र हो गया था। इस तरह श्रीविजय और पूर्वी जावा मे लाग-डाट पैदा हुई और यह लाग-डांट बढकर कट्टर दुश्मनी के रूप मे बदल गई। बारहवी सदी से आगे जावा राज्य धीरे-धीरे श्रीविजय को दबाकर बढता रहा, यहांतक कि जैसा मैं लिख चुका हूँ, चौदहवी सदी में, यानी सन १३७७ ई० मे, इसने श्रीविजय को बिलकुल हरा दिया। यह लडाई बडी बेरहमी से लड़ी गई, और इसमें बड़ा विनाश हुआ। श्रीविजय और सिंगापुर, दोनो नगर तहस-नहस हो गये। इस प्रकार मलेशिया के दूसरे महान साम्राज्य—श्रीविजय साम्राज्य—का अन्त हुआ, और इसके खडहरो पर मज्जापहित का तीसरा साम्राज्य स्थापित हुआ।

पूर्वी जावा के निवासियो ने यद्यपि श्रीविजय के साथ लडाइयों में बहुत निर्दयता और क्रूरता दिखाई, फिर भी जावा में पाई गई उस जमाने की पुस्तको से मालूम होता है कि यह हिन्दू राज्य सभ्यता के बहुत ऊंचे शिखर तक पहुच चुका था। जिस बात में यह सबसे बढा-चढा था वह इमारतें बनाने की, खासकर मन्दिर बनाने की, कला थी। जावा में पाँच सौ से ज्यादा मन्दिर थे, और कहा जाता है कि इन मन्दिरो में कुछ ऐसे थे जो पत्थर के काम के दुनिया भर में ज्यादा सुन्दर और कलापूर्ण नमूने थे। इन बड़े-बड़े मन्दिरो मे से अधिकांश सातवी सदी से दसवी सदी, यानी सन् ६५० से ९५० ई० के बीच के समय में बने थे। इन विशाल मन्दिरोंको बनवाने के लिए जावा के लोगो ने भारत और आस-पास के

मुल्को से बहुत काफ़ी तादाद में होशियार राजगीर और कारीगर बुलाये होंगे। जावा और मज्जापहित के उतार-चढ़ाव का ज़िक्र में अगले पत्र मे करूंगा।

यहाँ मै यह भी बता दूं कि बोर्नियों और फिलीपाइन दोनों ने लिखने की कला शुरू के पल्लव उपनिवेशियों के मार्फ़त भारत से सीखी थी। बदक़िस्मती से फ़िलीपाइन की बहुत-सी पुरानी हस्त-लिखित किताबें स्पेनवालो ने नष्ट कर डाली।

यह भी याद रक्खो कि इन टापुओं में बहुत पुराने ज़माने से, इस्लाम के जन्म से भी बहुत पहले, अरबों की बस्तियाँ थी। ये लोग बड़े व्यापारी होते थे, और जहाँ कहीं व्यापार की गुंजायश होती वहाँ अरब लोग ज़रूर पहुंच जाते।

: ४७ :

रोम अन्धकारमें फिर गिरता है

१९ मई, १९३२

मैं अक्सर यह महसूस करता हूँ कि पुराने इतिहास की भूल-भुलैया में मै तुम्हे अच्छी तरह रास्ता नही दिखा सकता हूँ। मैं खुद ही रास्ता भूल जाता हूँ,फिर तुम्हें ठीक राह कैसे दिखा सकता हूँ ? लेकिन, फिर मै यह सोचता हूँ कि शायद मैं तुम्हे कुछ फायदा पहुँचा सकूँ, इसलिए इन पत्रों को जारी रखता हूँ। इसमें शक नही कि ये पत्र मेरी तो बहुत मदद करते है। प्यारी बेटी, जब मै इन्हें लिखने बैठता हूँ, और तुम्हारा खयाल करता हूँ, तो मै भूल जाता हूँ कि जहाँ मै बैठा हूँ, वहाँ साया मे भी तापमान ११२ डिग्री है और गरम लू चल रही है। और कभी-कभी तो मै यह भी भूल जाता हूँ कि मै बरेली के जिला जेल मे हूँ।

मेरे आखिरी पत्र ने तुम्हे मलेशिया मे चौदहवी सदी के ठेठ अन्त तक पहुँचा दिया था। लेकिन उत्तर भारत मे अभी हम राजा हर्ष के जमाने, यानी सातवी सदी, से आगे नही बढ सके है। और योरप में तो हमे अभी बहुत दिनो की कमी पूरी करनी है। सब जगहो पर वक़्त का एक ही पैमाना रखना बहुत मुश्किल है। मै ऐसा करने की कोशिश तो करता हूँ लेकिन कभी-कभी, जैसे अगकोर और श्रीविजय के मामले मे हुआ, मैं सैकडो वर्ष आगे बढ जाता हूँ, ताकि मै उनकी कहानी को पूरा कर सकूँ। लेकिन याद रक्खो कि जब काम्बोज के और श्रीविजय के साम्राज्य पूर्व मे फल-फूल रहे थे तब भारत, चीन और योरप मे तरह-तरह की तब्दीलियाँ हो रही थी। यह भी याद रक्खो कि मेरे पिछले पत्र में कुछ ही सफों में हिन्दी-चीन और मलेशिया का एक हजार वर्ष का इतिहास समाया हुआ है। एशिया और योरप के इतिहास की मुख्य धाराओं से ये मुल्क दूर पड़ जाते है, इसलिए इन पर ज्यादा ध्यान नही दिया जाता। लेकिन इनका इतिहास लम्बा और शानदार है। यह शान नई खोजो और सफलताओ मे, व्यापार मे, कला में, खासकर मकान बनाने की कला में, रही है। इसलिए इनका इतिहास अध्ययन करने के काबिल है। भारतवासियों के लिए तो इनकी कहानी खास दिलचस्पी की चीज है क्योकि उस ज़माने में ये करीब-करीब भारत के ही हिस्से थे। भारत के स्त्री-पुरुष पूर्वी समुद्र पार करके अपने साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, कला और धर्म वहाँ ले गये थे।

इस तरह यद्यपि हम मलेशिया में आगे बढ़ गये, पर असल में हम अभी तक सातवी सदी में ही है। हमें अभी अरब पहुँचना है और इस्लाम के आगमन पर, तथा उसकी वजह से योरप और एशिया में जो बडी-बड़ी तब्दीलियाँ हुई उन पर, ग़ौर करना है। इसके अलावा योरप की घटनाओं के सिलसिले पर भी हमें नजर डालना है।

अब हमे ज़रा पीछे चलकर योरप पर फिर एक नजर डाल लेनी चाहिए। तुम्हें याद होगा कि रोमन सम्राट कान्स्टेण्टाइन ने कुस्तुन्तुनिया का शहर बास्फ़ोरस के किनारे उस जगह बसाया था जहाँ बिज़ैण्टियम था। साम्राज्य की राजधानी पुराने रोम से उठाकर वह इस शहर को, यानी नये रोम को, ले आया था। इसके बाद ही रोमन साम्राज्य दो हिस्सों में बँट गया। पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी रोम और पूर्वी की

कुस्तुन्तुनिया हुई। पूर्वी साम्राज्य को बड़ी परेशानियाँ उठानी पड़ी, और बहुत से दुश्मनों का मुक़ाबला करना पड़ा। फिर भी ताज्जुब है कि यह सदियों तक यानी ११०० वर्षों तक, क़ायम रह सका, जब तक कि तुर्कों ने आकर इसका खातमा नहीं कर दिया।

पश्चिमी साम्राज्य की जिन्दगी इस क़िस्म की नही रही। बहुत दिनों तक पश्चिमी दुनिया पर हावी रह चुकने वाले रोम के राजनगर का और रोम के नाम का इतना ज्यादा रोब होते हुए भी यह साम्राज्य अजीब तेजी के साथ नीचे लोट गया। यह किसी भी उत्तरी क़ौम के हमलों का मुक़ाबला नही कर सका। एलरिक, जो गाथ जाति का था, इटली में घुस गया, और इसने सन् ४१० ई० मे रोम पर क़ब्जा कर लिया। इसके बाद वैण्डाल आये और उन्होने भी रोम को लूटा। वैण्डाल जर्मन जाति के थे। उन्होने फ्रांस और स्पेन को पार करके अफ़रीका में प्रवेश किया और वहाँ कार्थेज के खण्डहरो पर, अपना राज्य स्थापित किया। पुराने कार्थेज से इन लोगों ने समुद्र पार करके रोम पर क़ब्जा कर लिया। रोम पर कार्थेज की यह विजय ऐसी मालूम होती है, मानों प्यूनिक लड़ाइयो में रोम की विजय का इतने दिन बाद बदला लिया गया हो।

इसी ज़माने के लगभग हूण लोग, जो असल में मध्य एशिया या मगोलिया से आये थे, बड़े ताक़तवर हो गये थे। ये लोग खानाबदोश थे, और डैन्यूब नदी के पूर्व की तरफ और पूर्वी रोमन साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम में बस गये थे। अपने सरदार एटिला की मातहती मे इन्होंने बड़ा जोर बाधा और कुस्तुन्तुनियाँ के सम्राट और वहाँ की सरकार पर इनका खौफ हमेशा छाया रहता था। एटिला इनको धमकियाँ दिखाता रहता था और इनसे बड़ी-बड़ी रक़में ऐंठता रहता था। पूर्वी साम्राज्य को काफ़ी ज़लील करने के बाद एटिला ने पश्चिमी साम्राज्य पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने गॉल प्रदेश पर हमला किया और दक्षिणी फ़्रांस के बहुत-से शहर बरबाद कर दिये। शाही फ़ौज तो उसके मुक़ाबले में ठहर ही नही सकती थी। लेकिन वे जर्मन कौमें, जिन्हे रोमन लोग बर्बर कहते थे, हूणो के इस हमले से डर गईं, इसलिए फ्रैंक और गॉथ लोगो ने रोम की शाही फ़ौजों का साथ दिया। इन सबने मिलकर ट्राय की बड़ी लडाई मे हूणो का, जिनका सेनापति एटिला था, मुकाबिला किया। कहते है, इस लडाई में डेड लाख आदमी काम आये। एटिला हार गया और मगोलियन हूण पीछे हटा दिये गये। यह सन् ४५१ ई०की बात है। लेकिन हार जाने पर एटिला में युद्ध का जोश बाकी रह गया था। वह इटली पहुँचा और वहाँ उसने उत्तर के बहुत-से शहर लूटे और जला दिये। कुछ दिनो बाद ही वह मर गया। लेकिन हमेशा के लिए बेरहमी और क्रूरता की एक बदनामी छोड़ गया। आज भी एटिला हूण क्रूरता और पूर्ण विनाश का अवतार समझा जाता है। उसकी मृत्यु के बाद हूण ठंडे पड़ गये। वे खेतीबाडी करने लग गये, और दूसरी बहुत-सी जातियो मे मिल-जुल गये। तुम्हे खयाल होगा कि यह क़रीब-करीब वह ज़माना है, जब सफ़ेद हूण भारत मे आये थे।

इसके ४० वर्ष बाद थियोडोरिक, जो गाथ जाति का था, रोम का बादशाह हुआ और यही रोम के पश्चिमी साम्राज्य का अन्त था। थोडे दिनो बाद पूर्वी रोमन साम्राज्य के एक बादशाह ने, जिसका नाम जस्टीनियन था इस बात की कोशिश की कि इटली को अपने साम्राज्य मे मिला ले। इस कोशिश में वह सफल भी हुआ। उसने सिसली और इटली दोनों को जीत लिया। लेकिन कुछ ही समय बाद ये दोनो उसके हाथ से निकल गये, और पूर्वी साम्राज्य को अपनी ही जिन्दगी के लाले पड गये।

क्या शाही रोम और उसके साम्राज्य का इतनी जल्दी और इतनी आसानी से हरेक आक्रमण करने-वाली कौम के सामने पस्त हो जाना ताज्जुब की बात नही है? इससे कोई यही नतीजा निकालेगा कि रोम के अजर-पंजर ढीले पड़ गये थे, या वह बिलकुल खोखला था। कदाचित् यह बात सही है। बहुत लम्बे ज़माने तक रोम का रौब ही उसकी ताकत थी। उसके पुराने इतिहास से प्रभावित होकर लोग उसे सारी दुनिया का रहनुमा समझने लगे थे। इसलिए लोग उसकी इज्जत करते थे, और रोम का डर लोगो के दिलो मे करीब-क़रीब अन्ध-विश्वास की हद तक पहुँच गया था। इस तरह रोम ज़ाहिरा तौर पर साम्राज्य का शक्तिशाली स्वामी बना रहा, लेकिन असलियत मे उसके पीछे कोई ताक़त नही थी। बाहर से शान्ति थी और उसके थियेटरों में, बाजारों मे और अखाड़ो मे आदमियो की भीडें लगी रहती थी। लेकिन असल में वह निश्चित रूप में पतन की तरफ जा रहा था। इसकी वजह सिर्फ यही नहीं थी कि वह कमज़ोर था; बल्कि यह भी थी कि उसने जनता की गुलामी और मुसीबतो की बुनियाद पर अमीरो की सभ्यता का महल खड़ा किया था। मैंने तुम्हें अपने एक पत्र मे रोम के ग़रीबो की बगावत और उनके विद्रोह तथा ग़ुलामो की उस

बग़ावत का जो बड़ी क्रूरता से दबा दी गई थी, हाल लिखा था। इन बगावतों से जाहिर होता है कि रोम का सामाजिक ढांचा कितना सड़ा हुआ था। वह अन्दर ही अन्दर छिन्न-भिन्न हो रहा था। गॉथ आदि उत्तर की क़ौमों के हमलों ने इसमें एक धक्का और लगा दिया और इसी कारण उन्हें किसी मुक़ाबले का सामना नहीं करना पड़ा। रोमन किसान अपनी मुसीबतों से तंग आ गये थे और वे किसी भी तरह की तब्दीली का स्वागत करने के लिए तैयार थे। ग़रीब मजदूर और गुलाम तो और भी बदतर हालत में थे।

पश्चिम के रोमन साम्राज्य के खतम होते ही, पश्चिम की कई जातियाँ, गॉथ, फ्रैंक, वगैरा, आगे आईं, जिनके नाम गिनाकर मैं तुम्हें परेशान न करूँगा। ये लोग आजकल की पश्चिमी योरोपीय जातियों यानी जर्मन, फ़्रान्सीसी, इत्यादि, के पूर्वज थे। हम इन देशों को योरप में धीरे-धीरे बनता हुआ देखते हैं। साथ ही हम उस समय वहाँ एक बहुत नीचे दर्जे की सभ्यता पाते हैं। शाही रोम के खातमे के साथ साथ रोम की तड़क-भड़क और विलासिता का भी खातमा हो गया। और रोम की छिछली सभ्यता, जो घिसटती आ रही थी, एक दिन में गायब हो गई क्योंकि इसकी जड़ें तो पहले ही सूख चुकी थी। इस तरह हम सचमुच मनुष्य जाति के पीछे हटने का एक विचित्र उदाहरण देखते हैं। यही चीज हमें भारत, मिस्र, चीन, यूनान, रोम, और दूसरी जगहों पर देखने को मिलती है। परिश्रम के साथ ज्ञान और अनुभव का संग्रह होकर संस्कृति और सभ्यता बनती है और फिर एक दम गति रुक जाती है। यही नहीं कि गति रुक जाती हो, बल्कि पीछे लौटना शुरू हो जाता है। अतीत के ऊपर एक परदा-सा पड़ जाता है। हालाँकि कभी-कभी हमें उसकी झलक मिल जाती है, लेकिन ज्ञान और अनुभव के पहाड़ पर फिर से चढ़ना जरूरी हो जाता है। शायद हर मर्तबा लोग कुछ ऊपर बढ़ जाते हैं और आगे की चढ़ाई आसान हो जाती है, ठीक वैसे ही जिस तरह हिमालय की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट पर चढ़ाई करने के लिए टोली के बाद टोली आती है, और हर टोली अपने पहले वाली टोली के बनिस्बत चोटी के ज्यादा नजदीक पहुँचने में सफल होती है, और हो सकता है कि एक दिन इस चोटी पर पहुँचने में पूरी सफलता मिल जाय।

मतलब यह है कि योरप में हमें अन्धकार दिखाई देता है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है और लोगों की जिन्दगी असभ्य और बेढंगी हो जाती है। शिक्षा का करीब-क़रीब बिलकुल अभाव हो जाता है और लड़ाई के सिवा लोगों को कोई धन्धा या मनोरंजन नहीं रह जाता। सुकरात और अफलातून का जमाना बहुत पीछे गया मालूम होता है।

यह तो पश्चिमी साम्राज्य की बात हुई। आओ, अब पूर्वी साम्राज्य की ओर भी नज़र दौड़ायें। तुम्हें याद होगा कि कान्स्टेन्टाइन ने ईसाई धर्म को राज-धर्म बना दिया था। इसके एक उत्तराधिकारी सम्राट जूलियन ने ईसाई धर्म को मानने से इन्कार कर दिया। वह पुराने देवी-देवताओं की पूजा के मार्ग पर वापस जाना चाहता था। लेकिन वह सफल न हो सका क्योंकि पुराने देवी-देवताओं के दिन बीत चुके थे और ईसाई-धर्म उनके मुकाबले में ज्यादा ताकतवर था। जूलियन को ईसाई लोग 'क़ाफ़िर जूलियन' कहने लगे और इसी नाम से इतिहास में वह मशहूर है।

जुलियन के बाद एक दूसरा सम्राट हुआ, जो उससे बिलकुल दूसरी तरह का था। उसका नाम थियोडोसियस था और उसे 'महान्' कहा गया है। मेरे खयाल से उसे महान इसलिए कहा गया है कि वह देवी-देवताओं की पुरानी मूर्तियों और पुराने मन्दिरों को तोड़ने में महान् था। वह सिर्फ़ ग़ैर-ईसाइयों के ही ख़िलाफ नहीं था, बल्कि उन ईसाइयों का भी दुश्मन था, जो इसके मतानुसार कट्टर नहीं थे। कोई भी विचार या धर्म, जो उसे पसन्द न होता था, उसे वह सहन करने को तैयार नहीं था। थियोडोसियस ने थोड़े दिनों के लिए पूर्वी और पश्चिमी साम्राज्य को जोड़ दिया और वह दोनों का सम्राट बन गया। यह सन् ३९२ ई० की बात है, जब तक रोम पर बर्बरों का हमला नहीं हुआ था।

ईसाई धर्म बराबर फैलता गया। इसे अब ग़ैर-ईसाइयों से लड़ना बाक़ी नहीं रहा था। जो कुछ लड़ाई-झगड़े होते थे वह सब ईसाई सम्प्रदायों में आपस में ही हुआ करते थे। इन लोगों की असहिष्णुता को देखकर ताज्जुब होता है। सारे उत्तरी अफ़रीका, पश्चिमी एशिया, और योरप में भी, अनेक रण-क्षेत्रों में ईसाइयों ने, अपने ईसाई भाइयों को घूँसों, डंडों, और समझाने के इसी तरह के दूसरे 'नरम' साधनों के द्वारा सच्चा धर्म सिखाने की कोशिश की!

सन् ५२७ से ५६५ ई० तक जस्टीनियन कुस्तुन्तुनिया का सम्राट रहा। मैं पहले बता चुका हूँ कि

उसने गॉथ लोगो को इटली से निकाल दिया था और कुछ दिनों के लिए इटली और सिसली पूर्वी साम्राज्य के हिस्से बन गये थे। पर बाद में गॉथ लोगों ने इटली पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जस्टीनियन ने कुस्तुन्तनिया में सेंक्टा सोफ़िया का ख़ूबसूरत गिरजा बनाया जो आज तक बिज़ेण्टाईन गिरजो में एक बहुत ही ख़ूबसूरत गिरजा माना जाता है। इसने उस वक्त के तमाम क़ानूनो को एक जगह संग्रह कराया और योग्य वकीलो से उन्हे तरतीबवार जमवाया। पूर्वी रोमन साम्राज्य और उसके सम्राटों के बारे में कुछ भी जानने से बहुत पहले मुझे इस कानूनी किताब से जस्टीनियन का नाम मालूम हुआ। इस किताब का नाम 'इन्स्टीटयूट ग्राफ़ जस्टीनियन' है और मुझे यह पढनी पड़ी थी। हालाँकि जस्टीनियम ने कुस्तुन्तुनिया में एक यूनिवर्सिटी स्थापित की थी लेकिन उसने एथेन्स के दर्शनशास्त्र के पुराने स्कूल बन्द करा दिये थे जो अफ़लातून ने स्थापित किये थे, और जो करीब एक हज़ार वर्षसे चले आरहे थे। किसी भी रूढ़िवादी धर्म के लिए दर्शनशास्त्र एक खतरनाक चीज होती है, क्योंकि इसकी वजह से आदमी सोचने-विचारने लगता है।

अब हम छठी सदी तक आ पहुँचते है। हम देखते है कि धीरे-धीरे रोम और कुस्तुन्तुनिया एक दूसरे से दूर हो जाते है। रोम पर तो उत्तर की जर्मन कौमो का कब्ज़ा हो जाता है, और कुस्तन्तुनिया रोमन साम्राज्य कहलाने वाले यूनानी साम्राज्य का केन्द्र हो जाता है। रोम छिन्न-भिन्न होकर अपने उन विजेताओ की सभ्यता के नीचे दर्जे को पहुँच जाता है, जिन्हे वह अपनी शान के जमाने मे 'बर्बर' कहा करता था। कुस्तुन्तुनिया ने एक तरह से अपनी पुरानी मर्यादा कायम रक्खी, लेकिन वह भी सभ्यता के दर्जे मे नीचे गिर जाता है। ईसाई सम्प्रदाय प्रभुत्व के लिए आपस मे लड़ते है, और पूर्वी ईसाई-धर्म, जो तुर्किस्तान, चीन और हब्श[1] तक फैल गया था, कुस्तुन्तुनिया और रोम दोनो से कट जाता है। 'अन्धकार का युग' शुरू होता है। इस समय तक अगर कोई शिक्षा थी तो प्राचीन भाषाओ की, यानी यूनानी या पुरानी लैटिन की जिसे यूनानी से चेतना मिली। लेकिन ये पुरानी यूनानी किताबें, जिनमे देवी-देवताओ का वर्णन था और तत्वज्ञान की बाते थी, उस प्रारम्भिक ज़माने के नेक, श्रद्धालु और अनुदार ईसाइयो के लिए उचित साहित्य नहीं समझी जाती थी। इसलिए इनको पढने के लिए कोई प्रोत्साहन नही दिया जाता था। इस तरह विद्या की हानि हुई और कला के भी कई रूप भ्रष्ट हो गये।

लेकिन ईसाई धर्म ने विद्या और कला की रक्षा करने का भी कुछ प्रयत्न किया। बौद्ध सघो की तरह ईसाई मठ कायम हुए और तेज़ी से फैल गये। इन मठो मे कभी-कभी प्राचीन विद्या को आश्रय मिलता था। इन्ही मठो में उस नई कला का भी बीज बोया गया जो सदियो बाद अपने पूर्ण सौन्दर्य से प्रफुल्लित हुई। इन मठो के पादरियो ने विद्या और कला के चिराग की टिमटिमाहट को बुझने नही दिया। यह बुझने न देना ही इनकी सेवा है। लेकिन यह रोशनी एक छोटे दायरे मे ही बन्द थी, बाहर तो बिल्कुल अँधेरा था।

ईसाई धर्म के इस शुरू ज़माने मे हमे एक और आश्चर्य-जनक प्रवृत्ति दिखाई देती है। बहुत-से आदमी मजहबी जोश मे आकर रेगिस्तानो मे या एकान्त जगहो मे चले जाते थे, जहाँ आदमियो की बस्ती नही होती थी और वहा जंगली हालत मे रहते थे। ये लोग अपने आप को पीडा पहुँचाते थे, नहाते-धोते नही थे और अधिक से अधिक पीडा सहन करने की कोशिश करते थे। यह बात मिस्र मे खास तौर से पाई जाती थी, जहा इस क़िस्म के बहुत से फ़कीर रेगिस्तान में रहा करते थे। इनका शायद यह ख़याल था कि वे जितनी ही ज्यादा पीडा सहेंगे और जितना ही कम नहाये-धोयेंगे, उतने ही अधिक पवित्र हो जायँगे। एक फ़कीर तो कई वर्षों तक एक खम्भे के ऊपर बैठा रहा! धीरे-धीरे इस तरह के फकीरो का सिलसिला खतम हो गया, लेकिन बहुत दिनो तक अनेक श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास बना रहा कि किसी प्रकार के आनन्द का उपभोग करना पाप है। कष्ट-सहन के इस सिद्धान्त ने ईसाई धर्म की विचार-धारा को रग दिया था। योरप में आज इस तरह की कोई बात नही दिखाई देती! आज तो वहा यह हाल है कि हरेक आदमी इस बात पर उतारू है कि पागल की तरह इधर-उधर दौड़े और मौज-बहार की ज़िन्दगी गुज़ारे। अक्सर इस दौड़-धूप से अन्त में थकावट और उचाट पैदा हो जाती है, मज़ा नही हासिल होता।

पर भारत में आज भी हम कभी-कभी लोगो को वैसा ही बर्ताव करते देखते है जैसा कि मिस्र में

---

[1] हब्श-एबीसीनिया।

ये ईसाई फकीर किया करते थे। ये लोग अपना एक हाथ ऊपर उठाये रहते हैं यहां तक कि वह सूखकर बेकार हो जाता है, या लोहे की कीलों पर बैठे रहते हैं, या इसी तरह के अनेक बेमानी और बेवक़ूफी के काम करते है। मेरा खयाल यह है कि कुछ तो ऐसा इसलिए करते है कि नासमझ लोगों पर धाक जमाकर उनसे पैसे वसूल करें और कुछ लोगों की शायद यह भावना रहती है कि ऐसा करने से वे पवित्र हो जायँगे। गोया अपने शरीर को किसी अच्छे काम के लिए अयोग्य बना लेना भी कोई अच्छी बात हो सकती है!

यहां मझे बुद्ध की एक कहानी याद आती है, जिसके लिए मुझे फिर अपने पुराने मित्र ह्यू एनत्सांग का सहारा लेना पडता है। बुद्ध का एक नौजवान शिष्य तपस्या कर रहा था। बुद्ध ने उस से पूछा—"प्रिय युवक जब तुम दुनियादार थे, तब क्या वीणा बजाना जानते थे?" उसने कहा—"जी हां!" तब बुद्ध ने कहा—

> "अच्छा मै इससे एक उपमा देता हूँ। जिस वीणा के तार बहुत कसे होते है, उसमें स्वरो का उतार-चढ़ाव ठीक नही होता। जब तार ढीले होते हैं तो स्वरो में न संगति होती है, न मधुरता। लेकिन जब वीणा के तार न तो ज्यादा कसे होते है और न ज्यादा ढीले तब उनसे मधुर स्वर निकलने है। यही हाल शरीर का भी है। अगर इसके साथ कठोरता का व्यवहार किया जाता है तो यह थक जाता है और चित्त एकाग्र नही होता। अगर इसे बहुत अधिक आराम दिया जाता है तो वासनाएं बढने लगती हैं और इच्छाशक्ति कमज़ोर पड जाती है।"

: ४८ :

इस्लाम का उदय

२१ मई, १९३२

हमने कई देशोके इतिहास पर और अनेक साम्राज्यों और सल्तनतों के उत्थान व पतन पर विचार किया। लेकिन अरब देश या शाम का किस्सा अभी तक हमने नहीं छेड़ा सिवा इस ज़िक्र के कि इस देश के व्यापारी और नाविक दुनिया के दूर-दूर हिस्सो मे जाया करते थे। नकशे को देखो। अरब के पश्चिम मे मिस्र है, उत्तर में सीरिया और इराक है, पूर्व मे कुछ दूरी पर ईरान है और उत्तर-पश्चिम में कुछ दूर हटकर एशिया-कोचक और कुस्तुन्तुनिया है। यूनान भी दूर नही है और भारत भी बस समुद्र के उस पार दूसरी तरफ है। चीन और सुदूर पूर्व के मुल्को का अगर हम खयाल न करें, तो अरब देश पुरानी सभ्यताओ के लिहाज़ से बिल्कुल बीचों-बीच था। ईराक में दजला और फ़ुरात नदियों के किनारे बड़े-बडे शहर बस गये। इसी प्रकार मिस्र मे सिकन्दरिया, सीरिया में दमिश्क और एशिया-कोचक मे ऐण्टिओक जैसे बड़े-बड़े शहरो का जन्म हुआ। अरब लोग यात्रा-पसन्द और व्यापारी थे इसलिए वे इन शहरो को अक्सर जाया करते होगे। फिर भी इतिहास में अरब का कोई उल्लेखनीय भाग नही रहा। मालूम होता है कि इस देश की सभ्यता भी उतनी ऊँचे दर्जे की नही रही जितनी कि उसके आस-पास के देशो की। अरब ने न तो दूसरे देशो को जीतने की कोशिश की, और न उसको ही जीतना किसी के लिए आसान था।

अरब एक रेगिस्तानी मुल्क है, और रेगिस्तानो और पहाडो में पलने वाले लोग सख्त हो जाते है जिन्हे अपनी आज़ादी प्यारी होती है और जिन्हें आसानी से दबाया नही जा सकता। फिर अरब कोई उपजाऊ देश नही था, और इसमें कोई ऐसी चीज़ भी नही थी जो विदेशी विजेताओं या साम्राज्य-लिप्सा वालों को आकर्षित करती। इसमें बस सिर्फ दो छोटे-छोटे नगर थे, मक्का और यथरीब जो समुद्र के किनारे बसे हुए थे। बाकी रेगिस्तान के अन्दर रहने के स्थान थे और इस देश के लोग ज्यादातर बद्दू, यानी 'रेगिस्तान के रहनेवाले' थे। तेज़ ऊँट और खूबसूरत घोड़े इनके आठ पहर के साथी थे और अद्भुत सहनशक्ति के कारण गधा भी एक कीमती चीज़ और वफादार दोस्त समझा जाता था। किसी को गधे की उपमा देना प्रशंसा-सूचक समझा

जाता था; दूसरे मुल्कों की तरह कोई निन्दा-सूचक नहीं। सबब यह है कि रेगिस्तानी मुल्क में जिन्दगी बड़ी सख्त होती है और दूसरी जगहों की बनिस्बत वहाँ मजबूती और सहन-शक्ति कहीं ज्यादा कीमती गुण समझे जाते हैं।

रेगिस्तान के ये रहनेवाले, आत्माभिमानी, भावुक और झगड़ालू होते थे। ये क़बीले और खानदान बनाकर रहते थे, और दूसरे क़बीलो तथा खानदानो से झगडे किया करते थे, । साल मे एक बार ये लोग आपस में सुलह कर लेते थे और तीर्थ-यात्रा के लिए मक्का जाया करते थे, जहाँ इनके देवताओ की बहुत-सी मूर्तियाँ रहती थीं। सबसे ज्यादा वे एक बड़े भारी काले पत्थर[1] की पूजा करते थे, जिसका नाम 'काबा' था।

इन लोगों की जिन्दगी खानाबदोशों की जिन्दगी थी, और हर खानदान का सबसे बूढा आदमी कुलपति होता था। इनकी जिन्दगी उसी किस्म की थी, जैसी कि नागरिक जीवन और सभ्यता इख्तियार करने के पहले मध्य एशिया या दूसरी जगहो की आदिम जातियाँ बसर किया करती थी। अरब के चारो तरफ़ जितने बड़े-बड़े साम्राज्य बने, उन सबके शासन क्षेत्र में अक्सर अरब देश भी शामिल होता था। लेकिन यह मातहती नाम मात्र को थी। क्योंकि खानाबदोश रेगिस्तानी कौमो को दबा कर रखना या उनपर हुकूमत कोई आसान बात नही थी।

तुम्हे शायद याद होगा कि एक दफा सीरिया मे पालमीरा मे एक छोटी-सी अरब सल्तनत कायम हुई थी, और ईसवी सन् की तीसरी सदी में, थोडे दिनो के लिए इसका एक शानदार जमाना रहा था। लेकिन यह भी मुख्य अरब देश के बाहर थी। मतलब यह कि बद्दू लोग पुश्त-दर-पुश्त अपनी रेगिस्तानी जिन्दगी बिताते रहते थे। अरबी जहाज व्यापार के लिए बाहर जाते थे, और देश का जीवन बिना किसी तब्दीली के चलता रहता था। कुछ लोग ईसाई हो गये थे और कुछ यहूदी; लेकिन ज्यादातर लोग ३६० मूर्तियो के, और मक्का के संगे असवद के पूजने वाले ही बने रहे।

यह एक अजीब बात है, कि वह अरब कौम जो युगो से सोते हुओ की तरह जीवन बिता रही थी और जाहिरा तौर पर दूसरी जगहो की घटनाओ से बिलकुल अलग थी, एकदम से जाग पडी, और उसने इतनी ज्यादा तेजी दिखाई कि सारी दुनिया चकित हो गई और उसमे उथल-पुथल मच गई। अरब लोग एशिया योरप और अफ़रीका में तेजी के साथ कैसे फैल गये, और उन्होने एक ऊँचे दर्जे की संस्कृति और सभ्यता का किस प्रकार विकास किया, यह इतिहास मे एक चमत्कार की बात है।

जिस नई शक्ति या भावना ने अरबो को जगाया, उनमे आत्म-विश्वास और जोश भर दिया, वह इस्लाम था। इस मजहब को एक नये पैगम्बर, महम्मद ने, जो मक्का मे ५७० ई० मे पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मजहब के चलाने की कोई जल्दी नही थी। वह शान्ति की जिन्दगी गुजारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। वास्तव मे लोग उन्हे 'अल् अमीन' या अमानतवाला कहा करते थे। लेकिन जब उन्होने अपने नये मजहब का प्रचार शुरू किया, और खासकर जब वह मक्का की मूर्तियो की पूजा का विरोध करने लगे तो बहुत से लोगो ने उनके खिलाफ बडा हल्ला मचाया और आखिर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पड़ा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर जोर देते थे, कि ईश्वर सिर्फ एक है, और खुद मुहम्मद उसका रसूल है।

मक्का से अपने ही लोगो द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होने यथरीब मे अपने कुछ दोस्तो और सहायकों के यहाँ आश्रय लिया। मक्का से उनके इस कूच को अरबी जबान मे 'हिजरत' कहते है, और मुसलमानी सम्वत् उसी वक्त, यानी सन् ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सम्वत् चान्द्र-सम्वत् है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियो का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आज कल आम तौर पर प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम का होता है। हिजरी सम्वत् के महीने हर साल एक ही मौसम में नही पडते। हिजरी सम्वत् का एक महीना अगर इस साल जाड़े मे है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गर्मी में पड़ सकता है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम तब से शुरू हुआ, जब मुहम्मद मक्का से भागे, या उन्होने 'हिजरत' की, यानी सन् ६२२ ई० से। हालाँकि एक लिहाज से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यथरीब शहर

---

[1] संगे असवद।

ने मुहम्मद का स्वागत किया और इस उपलक्ष में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया। आज कल संक्षेप में इसको सिर्फ़ मदीना कहते है। मदीना के जिन लोगों ने मुहम्मद की मदद की थी वे 'अंसार' कहलाये। अंसार का मतलब है मददगार। इन मददगारो के वशज अपने इस खिताब पर अभिमान करते थे और अभी तक इसका इस्तैमाल करते हैं।

इस्लाम या अरबो की विजय के इतिहास पर विचार करने के पहले जरा चारों तरफ़ एक नजर डाल लें। हम अभी देख चुके है कि रोम खतम हो चुका था। पुरानी यूनानी-रोमन सभ्यता का अन्त हो गया था और इसका रचा हुआ सारा सामाजिक ढाँचा भी बिखर गया था। उत्तरी योरप की जंगली क़ौमें और क़बीले कुछ जोर पकड़ रहे थे। रोम से कुछ सीखने की कोशिश करते हुए ये लोग वास्तव में बिलकुल एक नये किस्म की सभ्यता बना रहे थे। लेकिन अभी इसकी शुरुआत ही थी और जाहिरा तौर पर दिखाई नही देती थी। इस तरह एक तरफ़ तो पुराने जमाने का अन्त हो चुका था, दूसरी ओर नये जमाने का जन्म नही हुआ था। इसलिए योरप में अँधेरा था। यह सही है कि योरप के पूर्वी सिरे पर पूर्वी रोमन साम्राज्य क़ायम था जो अब भी फूल-फल रहा था। क़ुस्तुन्तुनिया का शहर उस वक़्त भी बड़ा और शानदार था और योरप में सबसे बड़ा शहर माना जाता था। उसके खेल-घरो में खेल-तमाशे और सरकस हुआ करते थे और वहाँ बहुत तड़क-भड़क व दिखावट थी। फिर भी साम्राज्य कमजोर होता जा रहा था। ईरान के सासानियों के साथ इसकी बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थी। ईरान के खुसरो द्वितीय ने कुस्तुन्तुनिया से उसकी सल्तनत का कुछ हिस्सा छीन भी लिया था। और कहने को अरब देश पर भी उसका प्रभुत्व था। खुसरो ने मिस्र भी जीत लिया था, और ठेठ क़ुस्तुन्तुनिया तक पहुँच गया था। लेकिन हिरेक्लियस नामक यूनानी सम्राट ने इसे वहाँ हरा दिया। बाद मे खुसरो को उसके ही लडके कवाद ने मार डाला।

इस तरह तुम देखोगी कि पश्चिम में योरप और पूर्व मे ईरान, दोनों ही की हालत खराब थी। इसके अलावा ईसाई सम्प्रदायो में होनेवाले आपसी झगडो का कोई अन्त नही था। अफरीका में और पश्चिम मे जिस ईसाई-धर्म का प्रचार था, वह बडा भ्रष्ट और झगडालू था। ईरान में जरथुस्त धर्म राज-धर्म था और लोगो पर जबरदस्ती लादा जाता था। इसलिए योरप, अफरीका और ईरान के ज्यादातर लोगो के दिलो में उस समय के मजहबो के बारे मे आदर की भावना नही रही था। उन्ही दिनो, सातवीं सदी की शुरुआत मे, सारे योरप मे भयकर महामारियाँ फैल रही थीं, जिनके कारण लाखों आदमी मर रहे थे।

भारत मे इस समय हर्षवर्धन राज कर रहा था, और ह्युएनत्सांग भारत आया हुआ था। हर्ष के राजकाल में भारत एक शक्तिशाली देश था। लेकिन थोडे ही दिन बाद उत्तर भारत के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह कमजोर पड़ गया। दूर पूर्व के देश चीन मे इसी समय तंग राज-वश का आरम्भ हुआ था। सन् ६२७ ई० मे 'ताई-त्सुग' नाम का उनका एक सबसे बड़ा सम्राट् तख्त पर बैठा और उसके जमाने मे चीनी साम्राज्य पश्चिम मे कैस्पियन समुद्र तक फैल गया था। मध्य एशिया के ज्यादातर देशो ने उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली थी और उसे खिराज देते थे। पर शायद इस सारे विशाल साम्राज्य की कोई केन्द्रीय सरकार नही थी।

इस्लाम के उदय के समय एशियाई और योरोपीय दुनिया की यह हालत थी। चीन शक्तिशाली और मजबूत था, लेकिन वह बहुत दूर था। भारत भी, कम-से-कम कुछ दिनो तक तो, काफ़ी मजबूत था। लेकिन, जैसा हम आगे देखेंगे, भारत के साथ इस्लाम का बहुत दिनो तक कोई सघर्ष पैदा नही हुआ। योरप और अफरीका कमजोर और पस्त हो चुके थे।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मुहम्मद मक्का के स्वामी के रूप में ही वहाँ लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास यह पैगाम भेज चुके थे कि वे एक ईश्वर और उसके रसूल को मंजूर करें। कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् हिरेक्लियस के पास यह आदेश उस वक़्त पहुँचा था, जब वह सीरिया में ईरानियो के खिलाफ़ लड़ रहा था। ईरान के बादशाह के पास, और कहते हैं कि चीन के ताई-त्सुंग तक भी यह पैग़ाम पहुँचा था। इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आखिर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके पास हुक्म भेजने की जुरंत करता है। इन पैग़ामों के भेजने से ही हम कुछ अन्दाज लगा सकते हैं, कि मुहम्मद को अपने में और अपने मिशन में कितना जबर्दस्त विश्वास

था। इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उसने अपनी क़ौम में भर दिया, और इसीसे प्रेरणा और सान्त्वना प्राप्त करके रेगिस्तान के इन लोगों ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नहीं थी, उस समय की आधी दुनिया को जीत लिया।

विश्वास और ईमान खुद तो बड़ी चीजें थे ही। साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर हैं, इस बात का भी सन्देश दिया। इस प्रकार कुछ हद तक लोकतन्त्र का सिद्धान्त लोगों के सामने आया। उस ज़माने के भ्रष्ट ईसाई धर्म के मुकाबले में भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ अरबो पर ही नही, बल्कि जहाँ-जहाँ वे गये, उन अनेक देशों के निवासियो पर भी, बड़ा भारी असर डाला होगा।

मुहम्मद सन् ६३२ ई० में, हिजरत के दस वर्ष बाद, मर गये। उन्होंने अरब देश की आपस में लड़नेवाली अनेक जंगली क़ौमो को संगठित करके एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए जबरदस्त जोश भर दिया। इनके बाद इनके खानदान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफ़ा हुए। उत्तराधिकारी चुनने का यह काम आम सभा में सरसरी तौर के चुनाव से होता था। दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर खलीफा बनाये गये। यह दस वर्ष तक खलीफ़ा रहे।

अबूबकर और उमर महान् आदमी थे, जिन्होने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली। खलीफा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक सरदार, यानी बादशाह और पोप, दोनों थे। अपने ऊँचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढनेवाली ताकत के होते हुए भी, उन्होने अपने जीवन की सादगी नहीं छोड़ी, और ऐश-आराम और ऊपरी शान-शौकत से कतई इन्कार कर दिया। इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक जिन्दा चीज थी। लेकिन इनके मातहती हाकिम और अमीर लोग बहुत जल्द ऐश-आराम और शान-शौकत मे फँस गये। अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफसरों की लानत-मलामत की और उन्हें सजा दी, यहाँ तक कि इनकी फ़िज़ूल खर्ची पर आँसू भी बहाये, इसके बहुत से क़िस्से बयान किये जाते हैं। इनकी धारणा थी कि सीधे-सादे और कठोर रहन-सहन में ही इनकी ताकत है, और अगर इन्होने कुस्तुन्तुनिया और ईरान के बादशाही दरबारो का सा ऐश-आराम इख्तियार कर लिया, तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायँगे और उनका पतन हो जायगा।

अबूबकर और उमर का शासन बारह वर्ष रहा। लेकिन इस थोड़े से समय में ही अरबो ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासानी बादशाह दोनो को हरा दिया था। यहूदियो और ईसाइयो के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबो ने कब्जा कर लिया था, और सारा सीरिया, इराक़ और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य का हिस्सा बन चुका था।

: ४९ :

स्पेन से मंगोलिया तक अरबों की विजय

२३ मई, १९३२

दूसरे कुछ मजहबो के सस्थापको की तरह मुहम्मद भी उस समय की बहुत-सी सामाजिक प्रथाओं के विद्रोही थे। जिस मजहब का उन्होंने प्रचार किया, उसकी सादगी, सफ़ाई और लोकतन्त्र और समता की सुगन्ध ने आस-पास के देशो की जनता के दिलो को खीच लिया। निरकुश राजाओं ने और राजाओं की ही तरह निरंकुश और जालिम पुजारियो ने जनता को बहुत दिनो से पीस रक्खा था। लोग पुराने ढंगों से तंग आ गये थे और तब्दीली के लिए तैयार बैठे थे। इस्लाम ने यह तब्दीली उनके सामने रखी और इसका उन्होने स्वागत किया, क्योकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातो में बेहतर हो गई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयाँ खतम हो गईं। इस्लाम के साथ कोई ऐसी बड़ी सामाजिक क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण खतम हो गया होता। लेकिन जहाँ तक मुसलमानो का सम्बन्ध था यह शोषण वास्तव में कम हुआ और वे महसूस करने लगे कि वे सब एक ही महान बिरादरी के लोग हैं।

इस तरह अरब लोग जीत पर जीत हासिल करते हुए आगे बढ़ने लगे। अकसर ये लोग बगैर युद्ध किये ही जीत जाते थे। अपने रसूल की मृत्यु के पच्चीस वर्ष के अन्दर ही अरबों ने एक तरफ़ सारा ईरान, सीरिया, आरमीनिया और मध्य-एशिया का कुछ टुकड़ा और पश्चिम की तरफ़ मिस्र, और उत्तरी अफरीका का छोटा-सा टुकड़ा जीत लिया। मिस्र इन लोगों को सबसे ज्यादा आसानी से मिल गया, क्योंकि यह देश रोमन साम्राज्य के शोषण से और ईसाई सम्प्रदायों की आपसी लाग-डाँट से सबसे ज्यादा तकलीफ़ें उठा चुका था। कहते हैं कि अरबों ने सिकन्दरिया का मशहूर पुस्तकालय जला दिया था, लेकिन अब यह बात ग़लत समझी जाती है। अरब लोग पुस्तकों के इतने शौक़ीन थे कि ऐसा जंगलीपन नहीं कर सकते थे। मुमकिन है कि कुस्तुन्तुनिया का सम्राट् थियोडोसियस, जिसका कुछ जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ, पुस्तकालय को या उसके कुछ हिस्से को नष्ट करने का अपराधी रहा हो। पुस्तकालय का एक हिस्सा तो बहुत पहले जूलियस सीजर के जमाने मे, एक घेरे के वक्त बर्बाद हो चुका था। थियोडोसियस पुरानी गैर-मसीही यूनानी किताबो को, जिनमे पुरानी यूनानी गाथायें और तत्वज्ञान की बातें होती थी, पसन्द नही करता था। वह बड़ा श्रद्धालु ईसाई था। कहा जाता है कि वह अपने नहाने का पानी इन किताबो को जलाकर गरम किया करता था।

अरब लोग पूर्व और पश्चिम दोनो तरफ़ बढते ही चले गये। पूर्व में हेरात, काबुल और बलख इनके अधिकार मे आ गये और वे सिन्ध नदी और सिन्ध तक जा पहुँचे। लेकिन इसके आगे वे भारत में दाखिल नही हुए और कई सौ वर्षों तक भारत के राजाओ के साथ इनका बड़ा मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रहा। पश्चिम में ये लोग आगे बढ़ते ही गये। कहते हैं कि इनका सेनापति उक़बा उत्तरी अफरीका को पार करता हुआ एटलांटिक समुद्र तक, यानी उस देश के पश्चिमी किनारे पर पहुच गया था जिसे आज मोरक्को कहते है। यह रुकावट सामने आ जाने से उसको बड़ी निराशा हुई और वह अपने घोड़े को समुद्र में जितनी दूर वह जा सकता था ले गया और फिर उसने अल्लाह के सामने अफसोस जाहिर किया कि अब उस दिशा मे कोई देश नही रहा जिसे वह अल्लाह के नाम पर फ़तह करता!

मोरक्को और अफरीका से समुद्र के तग महाने को पार करके अरब लोग स्पेन और योरप मे दाखिल हुए। इस तग जलडमरूमध्य को पुराने यूनानी लोग 'हरकुलीज का स्तम्भ' कहते थे। अरब-सेनापति ने समुद्र को पार करके जिब्राल्टर मे लगर डाला था और यह नाम ही उस सेनापति की याद दिलाता है। उसका नाम तरीक था और जिब्राल्टर का असली नाम 'जबल-उत-तरीक' यानी तरीक की चट्टान है।

स्पेन को अरबो ने बहुत जल्द फतह कर लिया, और इसके बाद वे दक्षिणी फ़्रांस मे घुस पड़े। इस तरह मुहम्मद के मरने के बाद सौ वर्ष के अन्दर ही अरबो का साम्राज्य दक्षिण फ़ास और स्पेन से लेकर उत्तर अफरीका को पार करके स्वेज तक और आगे अरब, ईरान और मध्य एशिया को पार करके मगोलिया की सरहद तक फैल गया था। सिन्ध को छोड़कर भारत इस साम्राज्य से बाहर था। योरप पर अरब लोग दो तरफ से हमला कर रहे थे। एक तो कुस्तुन्तुनिया पर बिलकुल सीधा हमला था, और दूसरा अफ-रीका होकर फ़ास पर। दक्षिण फ़ास में अरबो की तादाद कम थी और वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर थे। इसलिए उनको अरब से ज्यादा मदद नही मिल सकती थी क्योकि उनका देश मध्य एशिया को फ़तह करने में उलझा हुआ था। फिर भी फ़ास पहुँचे हुए इन अरबों ने पश्चिमी योरप के लोगों को इतना भयभीत कर दिया कि इनका मुकाबला करने के लिए योरप में एक बहुत बडा गुट बनाया गया। इस गुट का नेता चार्ल्स मार्तें था और इसने फ़ास मे तूर की लड़ाई मे सन् ७३२ ई० में अरबो को हरा दिया। इस हार ने योरप को अरबों के पंजे से बचा दिया। एक इतिहास-लेखक ने लिखा है—"तूर के मैदान में अरबों ने सारी दुनिया का साम्राज्य ऐसे समय खो दिया, जब कि वह करीब-क़रीब इनकी मुट्ठी मे आ चुका था।" इसमे शक नही कि अगर अरब लोग तूर की लडाई मे सफल हुए होते, तो योरप का इतिहास बिलकुल ही बदल गया होता। योरप में इनकी गति को रोकने वाला और कोई भी नही था। ये लोग क़ुस्तुन्तुनिया तक आसानी से बढे चले गये होते, और इन्होंने पूर्वी रोमन साम्राज्य को और बीच की दूसरी रियासतो को ख़तम कर दिया होता। तब ईसाई धर्म के बजाय इस्लाम योरप का मजहब हो गया होता, और दूसरी तरह की भी बहुत-सी तब्दीलियाँ हुई होती। लेकिन यह सब तो कल्पना की उड़ान है। हुआ यह कि अरब लोग फ़ास में रोक दिये गये, और इसके बाद कई सौ वर्षों तक वे स्पेन में रहे, और वहाँ राज्य करते रहे।

स्पेन से मंगोलिया तक सारे देशों पर अरबों ने फतह पाई और रेगिस्तान के ये खानाबदोश एक शक्तिशाली साम्राज्य के अभिमानी शासक बन गये। लोग इन्हें सरासीन कहते थे। शायद यह शब्द 'सहरा नशीन' से बना हो, जिसका मतलब रेगिस्तान के रहनेवाले होता है। लेकिन इन सहरानशीनों ने बहुत जल्द विलासिता और शहर की ज़िन्दगी इख्तियार कर ली और इनके शहरों में बड़े-बड़े महल खड़े हो गये। दूर-दूर देशो में विजय प्राप्त कर लेने पर भी, इनकी आपस में झगड़ने की पुरानी आदत नहीं गई। अब तो वास्तव में झगड़ने के लिए कुछ सामान भी हो गया था, क्योंकि अरब देश के प्रमुख होने का मतलब था एक बड़े साम्राज्य की बागडोर हाथ में आ जाना। इसलिए खलीफा की जगह के लिए अक्सर झगड़े होते थे। इन छोटे-छोटे झगड़ो और पारिवारिक झगडों के कारण गृह-युद्ध हो गया। इन्ही झगड़ो की वजह से इस्लाम दो हिस्सों में बँट गया और दो सम्प्रदाय बन गये जो सुन्नी और शिया के नाम से आज तक मौजूद है।

पहले दो महान् खलीफ़ाओ—अबूबकर और उमर—के शासन के कुछ दिनो बाद ही गड़बड़ पैदा हो गई। मुहम्मद की लड़की फ़ातिमा के पति अली कुछ दिनो के लिए खलीफ़ा हुए, लेकिन झगड़ा बराबर जारी रहा। अली क़त्ल कर दिये गये और कुछ दिनो बाद उनके लड़के हुसेन सारे कुटुम्ब के साथ कर्बला के मैदान में मार डाले गये। कर्बला की इसी दुखान्त घटना की याद में मुसलमान और खासकर शिया लोग, हर साल मुहर्रम के महीने में मातम मनाया करते है।

खलीफ़ा लोग अब बिल्कुल निरंकुश बादशाह बन बैठे थे। खलीफ़ा के ओहदे का लोकतन्त्र या चुनाव से कोई सरोकार नही रहा था। उस ज़माने के और निरकुश राजाओ की तरह खलीफा भी था। कहने को खलीफा इस्लाम धर्म का प्रमुख यानी 'अमीरल-मोमिनीन'[1] भी माना जाता था। लेकिन कुछ खलीफा ऐसे भी हुए जिन्होंने इस्लाम का, जिसके कि वे मुख्य रक्षक समझे जाते थे, वास्तव में अपमान किया।

लगभग सौ वर्ष तक खलीफ़ा लोग मुहम्मद के वंश की एक शाखा में से होते रहे जो उम्मैया कहलाती थी। दमिश्क इनकी राजधानी थी और महलो, मस्जिदो, फ़व्वारो और बैठको की वजह से यह पुराना शहर बडा खूबसूरत बन गया था। दमिश्क के पानी के इन्तज़ाम की बडी शोहरत थी। इस ज़माने मे अरबो ने इमारतें बनाने की कला का एक खास नमूना निकाला जो सरासीनी के नामसे मशहूर हुआ। इस शैली में ज्यादा सजावट नही होती। यह सरल, शानदार और सुन्दर होती है,। यह शैली अरब और सीरिया के सुन्दर खजूरो की भावना को लेकर बनी थी। महराबें और खम्भे तथा मीनारें और गुम्बदें खजूर के कुंजो की मेहराबनुमा और गुम्बदनुमा शकलो की याद दिलाते हैं।

यह शैली भारत में भी आई। लेकिन इसपर भारत के संस्कारों का असर पड़ा और एक मिलवाँ शैली पैदा हो गई। सरासीनी इमारतो के कुछ सबसे सुन्दर नमूने स्पेन में अब तक पाये जाते हैं।

धन और साम्राज्य की वजह से विलासिता और विलासिता के खेल-तमाशो और कलाओ का जन्म हुआ। घुड़दौड़ अरबो के मनबहलाव का बहुत प्रिय साधन था। पोलो, शिकार और शतरंज भी इन्हें बहुत पसन्द थे। संगीत और खासकर गाना एक फैशन बन गया था जिसकी धुन सब पर सवार थी। दमिश्क की राजधानी गवैयो से और उनके संगतियो और पिछलगुओ से भरी पडी थी।

एक और बड़ी लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण तब्दीली धीरे-धीरे आ गई। यह तब्दीली स्त्रियो की स्थिति में आई। अरबो में औरतें बिल्कुल परदा नही करती थीं। इन्हे न तो अलहदा रक्खा जाता था, न छिपाया जाता था। वे बाहर निकलती थी, मस्जिदो और व्याख्यानो में जाया करती थी, और खुद भी व्याख्यान देती थी। लेकिन सफलता के नशे में अरब लोग उन दोनों पुराने साम्राज्यो, यानी पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य, के रिवाजो की नकल करने लगे, जो इनके इधर-उधर लगे हुए थे। अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को हरा दिया था, और ईरानी साम्राज्य को खतम कर डाला था लेकिन ये खुद इन साम्राज्यों की बहुत-सी बुरी आदतो के शिकार हो गये। कहा जाता है कि खासकर कुस्तुन्तुनिया और ईरान के प्रभाव से अरब लोगो ने स्त्रियो को परदे मे रखना शुरू किया। धीरे-धीरे हरम की प्रथा शुरू हुई, और समाज में मर्दों और औरतों का मिलना-जुलना आहिस्ता-आहिस्ता कम होने लगा। दुर्भाग्य से स्त्रियों का यह परदा इस्लामी समाज का अंग बन गया, और जब मुसलमान भारत में आये तो भारत ने भी यह बात उनसे

---

[1] ईमानवालों का सरदार।

सीख ली। यह सोचकर कि आज भी कुछ लोग इस जंगलीपन को बरदाश्त कर रहे है, मुझे हैरत होती है। जब कभी मैं बाहर की दुनिया से अलग की हुई परदे में रहनेवाली स्त्रियों का ख़याल करता हूँ तो मुझे हमेशा क़ैदख़ाना या चिड़िया-घर याद आ जाता है। कोई क़ौम, जिसकी आधी आबादी एक क़िस्म के क़ैदख़ाने में छिपाकर रक्खी गई हो, कैसे तरक़्क़ी कर सकती है?

सौभाग्य की बात है कि भारत तेज़ी से परदे को तोड़ रहा है। बहुत हद तक मुसलमान समाज ने भी इस भयानक बोझ से छुटकारा पा लिया है। तुर्की में कमाल पाशा ने इसे बिलकुल ख़तम कर दिया है और मिस्र मे यह बहुत तेजी के साथ गायब हो रहा है।

एक बात और कहकर मैं इस पत्र को ख़तम करूँगा। अरबों में, ख़ासकर अपनी जागृति की शुरूआत के दिनों में, अपने दीन के लिए बहुत जोश भरा हुआ था। फिर भी ये लोग तास्सुबी नही थे और उनकी इस धार्मिक उदारता की बहुत-सी मिसाले मिलती है। यरूशलम मे ख़लीफ़ा उमर ने इस बात पर काफ़ी ज़ोर दिया था।* स्पेन में ईसाइयो की काफ़ी आबादी थी, और उन लोगो को धर्म के मामले मे पूरी-पूरी आज़ादी थी। भारत में, सिन्ध के अलावा अरबों का राज्य कही नही रहा। लेकिन इस देश के साथ उनका काफी सम्पर्क रहा और आपसी सम्बन्ध बहुत मित्रतापूर्ण रहे। सच तो यह है कि इतिहास के इस युग की सबसे ज़्यादा उल्लेखनीय बात है अरब के मुसलमानों की उदारता और उसके विपरीत योरप के ईसाइयो की धार्मिक असहिष्णुता।

: ५० :

बग़दाद और हारूं-अल-रशीद

दूसरे देशो की चर्चा न करके हम आज भी अरबो की कहानी जारी रक्खेगे। जैसा मैंने अपने पिछले पत्र में बताया है, करीब १०० वर्ष तक ख़लीफ़ा लोग हज़रत मुहम्मद के वंश की उम्मैया शाख के हुआ करते थे। उनकी राजधानी दमिश्क थी, और उनकी हुकूमत मे मुसलमान अरबो ने इस्लाम का झडा दूर-दूर देशो तक पहुँचा दिया। एक तरफ़ तो अरब लोग दूर-दूर के मुल्को को जीतते थे और दूसरी तरफ अपने घर में ही लडते-झगडते रहते थे और अकसर आपस में गृह-युद्ध हुआ करते थे। आखिर मे मुहम्मद के वश के एक दूसरे घराने ने, जो उनके चचा अब्बास से पैदा हुआ था और अब्बासी कहलाता था, उम्मैया ख़ानदान को गद्दी से उतार दिया। अब्बासी लोग उम्मैयो के ज़ुल्म का बदला लेने के लिए आये थे, लेकिन फतह हासिल होने के बाद उन्होंने ज़ुल्म और हत्या मे उम्मैयो को भी मात कर दिया। उन्होंने उम्मैया लोगो को जहाँ भी पाया पकड़ लिया और उन्हें बेरहमी से मार डाला।

यही से सन् ७५० ई० में अब्बासी ख़लीफ़ाओ के शासन का लम्बा समय शुरू होता है। यह शुरुआत कुछ शुभ या मगलमय नही थी, फिर भी अरब इतिहास मे अब्बासी युग काफी उज्ज्वल युग समझा जाता है। इस ज़माने में उम्मैयो के समय के मुकाबले में बहुत बडी तब्दीलियाँ शुरू हो गई थी। अरब के गृह-युद्ध ने सारे अरब साम्राज्य को हिला दिया था। अब्बासी लोग अपने देश में तो जीत गये, लेकिन सुदूर स्पेन में अरब गवर्नर ने, जो उम्मैया था, अब्बासी ख़लीफ़ा को मानने से इन्कार कर दिया। उत्तर अफरीका या इफ़रीकिया की सूबेदारी बहुत जल्द स्वतन्त्र हो गई। मिस्र ने भी यही किया। उसने तो अपना एक दूसरा ख़लीफ़ा ही घोषित कर दिया। मिस्र तो इतना नज़दीक था, कि इसे धमकी दी जा सकती थी, और दबाया जा सकता था। और समय-समय पर ऐसा होता भी रहा। लेकिन इफ़रीकिया में कोई दख़ल नही दिया गया, और स्पेन तो इतनी दूर था कि उसके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई की ही नहीं जा सकती थी। इस तरह अब्बासियो के ख़लीफ़ा होने पर अरब साम्राज्य के टुकड़े हो गये। अब ख़लीफ़ा सारी इस्लामी दुनिया का प्रमुख नही रहा। और न 'अमीरुल मोमिनीन' ही रह गया। मुसलमानों में एकता नही रही और स्पेन के अरब और अब्बासी एक दूसरे से इतनी नफ़रत करते थे, कि जब एक पर आफत आती थी, तो दूसरा ख़ुशी मनाता था।

इन सब बातो के होते हुए भी अब्बासी खलीफा बहुत बड़े बादशाह हुए थे और साम्राज्यो के लिहाज से उनका साम्राज्य बहुत बड़ा था। वह पुराना ईमान और उत्साह, जिन्होंने पहाडों को जीता था और जो जंगल की आग की तरह फैल गये थे, अब नहीं दिखाई देते थे। सादगी बाक़ी नही रही थी, और न लोक-तन्त्र के ही चिन्ह रह गये थे। 'अमीरुल मोमिनीन' और ईरानी शाहंशाहों में, जिन्हें पहले के अरबों ने हराया था, या कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् में, कोई खास फ़र्क़ नही रह गया था। पैग़म्बर मुहम्मद के ज़माने के अरबों में एक अजीब ज़िन्दगी और ताक़त थी जो बादशाहों की सेनाओ की ताक़त से एक बिलकुल जुदी चीज़ थी। अपने ज़माने की दुनिया में उन्होने अपना सिक्का जमाया था और उनकी दुर्निवार विजय-यात्राओं के सामने सेनायें और बादशाह खाक मे मिल गये। जनता इन बादशाहों से तग आ गई थी, और अरब लोगो के आने से उसके दिल में, अच्छे दिनों की और सामाजिक क्रान्ति की आशा पैदा हो गई थी।

लेकिन अब हालत बदल गई थी। रेगिस्तान के लोग अब महलों में रहते थे और खजूरों की जगह बढ़िया से बढ़िया पकवान खाते थे। वे सोचते थे कि हम तो काफी आराम में है, फिर सामाजिक क्रान्ति या किसी तब्दीली की झंझट में क्यो फँसे? शान-शौकत में वे पुराने साम्राज्यों की होड करने की कोशिश करते थे, और उनके कई बुरे रस्म-रिवाज उन्होने अपना लिये। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ इनमें से एक बुरा रिवाज स्त्रियों का परदा था।

राजधानी दमिश्क से हटकर इराक में बगदाद चली गई। राजधानी की यह तब्दीली भी महत्त्व-पूर्ण थी, क्योंकि बगदाद ईरानी बादशाहो की गरमी के मौसम मे रहने की जगह था। और चूंकि दमिश्क के मुकाबिले वह योरप से दूर था इसलिए अब अब्बासियो की नज़र योरप के बनिस्बत एशिया की तरफ ज्यादा रहने लगी। क़ुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा करने की कोशिशें तो होती ही रही और यूरोपियन राष्ट्रो से अनेक लडा-इयाँ भी हुई, लेकिन ज्यादातर लडाइयाँ आत्म-रक्षा के लिए होती थी। देशो की विजय के दिन खतम हो चुके थे और अब्बासी खलीफ़ा अपने बचे हुए साम्राज्य को ही मज़बूत करने की कोशिश मे लग गये थे। स्पेन और अफ़रीका के निकल जाने पर भी यह साम्राज्य काफ़ी बडा था।

बग़दाद! तुम इसे भूल तो नही गई? और क्या हारूं-अल-रशीद और शहरज़ादी और अलिफलैला की अद्भुत कहानियाँ तुम्हें याद है? अब्बासी खलीफाओं के राज मे जो शहर बना वह अलिफलैला का ही शहर था। बगदाद एक लम्बा-चौडा शहर था, जिसमे महल, सरकारी दफ्तर, स्कूल, कालेज, बडी-बडी दूकाने, पार्क और बगीचे थे। यहाँ के सौदागर पूर्व और पश्चिम के देशो से बडा भारी व्यापार करते थे। ढेरों सरकारी अफ़सर साम्राज्य के दूर-दूर के हिस्सो से बराबर सम्पर्क बनाये रखते थे। सरकार अधिका-धिक पेचीदा होती जाती थी और उसके बहुत-से महकमे बन गये थे। साम्राज्य के कोने-कोने से राजधानी तक चिट्ठी-पत्री लाने-ले जाने का बहुत अच्छा इन्तज़ाम था। अस्पताल काफ़ी तादाद में थे। सारी दुनिया से लोग बगदाद देखने के लिए आया करते थे। विद्वान, विद्यार्थी और कलाकार खास तौर से आते थे, क्योंकि यह मशहूर था कि खलीफा सब विद्वानों और कलाकारो का स्वागत करता है।

खलीफा खुद गहरी विलासिता की ज़िन्दगी गुज़ारता था और गुलामो से घिरा रहता था। उसकी बेगमें हरम में रहती थी। हारू-अल-रशीद के ज़माने मे, यानी सन् ७८६ से ८०९ ई० तक, अब्बासी साम्राज्य अपनी ज़ाहिरा शान-शौकत की चोटी पर था। हारूं के दरबार में चीनी सम्राट् के यहाँ से और पश्चिम मे सम्राट शार्लमैन के यहाँ से, राजदूत मडल आये थे। स्पेन के अरबो को छोड़कर, बग़दाद और अब्बासी साम्राज्य के देश शासन की सारी कलाओं मे, व्यापार में और विद्या के विकास में, योरप से बहुत आगे बढे हुए थे।

अब्बासी युग हमारे लिए खास तौर से दिलचस्पी रखता है, क्योंकि इसी ज़माने में विज्ञान में नई दिल-चस्पी पैदा हुई थी। तुम जानती हो कि विज्ञान आजकल की दुनिया मे एक बहुत बडी चीज़ है और बहुत-सी बातों के लिए हम विज्ञान के आभारी है। विज्ञान का कार्य यह नही है कि सिर्फ हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाय और मनाता रहे कि घटनाएँ होती रहे। वह तो इस तलाश मे रहता है कि घटनाएँ क्यों होती हैं? विज्ञान प्रयोग करता रहता है और बार-बार कोशिश करता है। कभी असफल होता है और कभी सफल। और इस तरह धीरे-धीरे मनुष्य-मात्र के ज्ञान को बढ़ाता रहता है। आजकल की हमारी दुनिया प्राचीन या मध्य-कालीन दुनिया से बिलकुल जुदा तरह की है। यह बड़ी भिन्नता ज्यादातर विज्ञान की वजह से ही है क्योंकि आधुनिक ससार विज्ञान का ही बनाया हुआ है।

पुराने ज़माने के लोगों म मिस्र, चीन या भारत में हमें वैज्ञानिक तरीका नहीं दिखाई देता। प्राचीन यूनान में ज़रूर कुछ मात्रा में पाया जाता है। रोम में भी इसका अभाव था। लेकिन अरबों में खोज की वैज्ञानिक भावना पाई जाती थी, इसलिए अरबों को आजकल के विज्ञान का जन्मदाता कह सकते हैं। आयुर्वेद और गणित जैसे कुछ विषयों में इन्होंने भारत से बहुत कुछ सीखा था। भारतीय विद्वान और गणितज्ञ बड़ी तादाद में बग़दाद जाते थे। बहुत से अरबी विद्यार्थी उत्तर भारत में तक्षशिला जाया करते थे, जो कि उस समय तक एक बहुत बडा विश्वविद्यालय था, और आयुर्वेद की शिक्षा के लिए खास मशहूर था। आयुर्वेद की और दूसरे विषयों की संस्कृत किताबें, अरबी ज़बान में खासतौर से अनुवाद की गई थी। बहुत सी चीजें अरबों ने चीन से सीखी—जैसे काग़ज़ बनाना। लेकिन जो कुछ उन्होंने दूसरों से सीखा उसकी बुनियाद पर अपनी खोजें करके उन्होने और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण ईजादें की। पहले-पहल उन्होने ही दूरबीन और कुतुबनुमा बनाये। चिकित्सा में अरब के हकीम और जर्राह सारे योरप में मशहूर थे।

इन तमाम बौद्धिक हलचलो का मुख्य केन्द्र बग़दाद ही था। पश्चिम में अरबी स्पेन की राजधानी कोरडोवा भी इसी किस्म का केन्द्र था। अरबी दुनिया में इसी तरह के और भी कई विद्या के केन्द्र थे जहाँ बौद्धिक जीवन खूब उन्नति पर था; जैसे "विजयी" अल-काहिरा, बसरा, और कूफ़ा। लेकिन "इस्लाम की राजधानी, इराक़ की आँख, साम्राज्य की गद्दी और कला, संस्कृति तथा सौन्दर्य का केन्द्र" बगदाद इन सब मशहूर शहरो से बढा-चढा था। इसकी आबादी बीस लाख से ज्यादा थी और यह आजकल के कलकत्ता या बम्बई से काफी बडा था।

तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि मोज़ा और जुर्राब पहनने की आदत पहले-पहल बगदाद के अमीरो से ही शुरू हुई बतलाई जाती है। इन्हे 'मोज़ा' कहा जाता था और इनका भारतीय नाम इसी शब्द से निकला होगा। इसी तरह फ्रांसीसी शब्द 'शेमीज' यानी कुर्त्ता 'कमीज' से निकला है। 'क़मीज़' और 'मोज़ा' दोनो चीज़े अरबो से क़ुस्तुन्तुनिया के बिजेण्टाइनवालों ने ली और फिर वहाँ से ये योरप में पहुँची।

अरब लोग हमेशा से दूर-दूर की यात्रा करने वाले रहे हं। इन्होने अपनी लम्बी-लम्बी समुद्र-यात्राएँ जारी रक्खी और अफ़रीका मे, भारत के किनारो पर, मलेशिया मे, और चीन तक में अपनी बस्तियाँ कायम की। अलबेरूनी एक मशहूर अरब यात्री हो गया है जो भारत आया था, और वह भी ह्यूएनत्सांग की तरह अपने सफर का हाल लिखा हुआ छोड गया है।

अरब लोग इतिहास-लेखक भी थे, और इनकी ही किताबों और इतिहासों से हमें इनके बारे में बहुत-सी बाते मालूम होती हैं। हम सभी जानते हैं कि वे कितने सुन्दर क़िस्से और फ़साने लिख सकते थे। लाखो आदमियो ने अब्बासी खलीफ़ाओ का और उनके साम्राज्य का नाम तक नही सुना है, लेकिन 'अलिफ़ लैला व लैला' यानी 'एक हज़ार एक रातों' में बयान किये हुए रहस्य और फ़सानो के नगर बग़दाद को कौन नही जानता। कल्पना में बना हुआ साम्राज्य अक्सर भौतिक साम्राज्य से ज्यादा स्थायी और वास्तविक होता है।

हारूँ-अल-रशीद की मृत्यु के कुछ दिनो बाद अरब साम्राज्य पर आफत आई। दगे-फ़साद होने लगे और साम्राज्य के कई हिस्से अलग हो गये। सूबे के हाकिम मौरूसी शासक बन बैठे। खलीफा बराबर कमज़ोर होते गये। यहाँ तक कि एक ऐसा भी वक़्त आया जब खलीफा का राज्य सिर्फ बग़दाद शहर और आस-पास के चन्द गाँवो पर ही रह गया। एक खलीफा को तो उसी के सिपाहियों ने महल से बाहर घसीट कर क़त्ल कर डाला था। फिर थोड़े दिन के लिए कुछ ऐसे ज़ोरदार आदमी पैदा हुए, जो बग़दाद से बैठे-बैठे हुकूमत करने लगे, और जिन्होंने खलीफाओ को अपना मातहत बना लिया।

इस समय इस्लाम की एकता दूर के बीते हुए ज़माने की बात हो गई थी। मिस्र से लेकर मध्य एशिया के खुरासान तक, सभी जगह, अलग-अलग राज्य बन गये। दूर पूर्व से बहुत-सी खानाबदोश क़ौमें पश्चिम की तरफ़ बढने लगी। मध्य-एशिया के पुराने तुर्क लोग मुसलमान हो गये और उन्होंने आकर बगदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया। इनको सेलजुक़ तुर्क कहते हैं। इन्होंने क़ुस्तुन्तुनिया की बिज़ैण्टाइन सेना को पूरी तरह हराकर योरप को हैरत में डाल दिया। क्योंकि योरप के लोगों का खयाल था कि अरबों और मुसलमानो की ताक़त खतम हो चुकी है और वे लोग दिन-ब-दिन कमज़ोर होते जा रहे हैं। यह बात सच थी कि अरब लोग बहुत गिर चुके थे। लेकिन अब सेलजुक़ तुर्क इस्लाम का झंडा ऊँचा रखने और योरप को चुनौती देने के लिए मैदान में उतर आये थे।

हम आगे चलकर देखेंगे कि इस चुनौती को स्वीकार कर लिया गया, और मुसलमानों से लड़ने के लिए और अपने पवित्र शहर यरूशलम को फिर से जीतने के लिए योरप की ईसाई कौमों ने कई बार संगठित होकर जिहाद का झंडा उठाया। सौ वर्ष से ज्यादा तक सीरिया, फिलस्तीन और एशिया-कोचक में हुकूमत के लिए इस्लाम और ईसाइयत में लड़ाइयाँ हुईं। दोनों ने एक दूसरे की ताक़त नष्ट कर दी और इन देशों की चप्पा-चप्पा जमीन मनुष्यों के खून से तर कर दी। इन हिस्सों के खुशहाल शहरों की महानता और तिजारत खतम हो गई और हरे-भरे खेत अकसर वीरान कर दिये गये।

इसी तरह ये एक दूसरे से लड़ते रहे। इनकी लड़ाइयाँ खतम भी नहीं होने पाई थीं कि एशिया के एक दूर के देश मंगोलिया में 'दुनिया को हिलानेवाला' मुग़ल चंगेज़ खाँ पैदा हुआ। एशिया और योरप को तो इसने वास्तव में हिला दिया। इसने और इसके वंशजों ने बग़दाद और उसके साम्राज्य को हमेशा के लिए खतम कर दिया। जब मंगोल लोग बग़दाद के विशाल और मशहूर शहर का निपटारा कर चुके तो वहाँ सिर्फ़ मिट्टी और राख का ढेर रह गया था और उसके बीस लाख निवासियों में से ज्यादातर मर चुके थे। यह सन् १२५८ ई० की बात है।

बग़दाद अब फिर एक हरा-भरा शहर हो गया है और इराक की राजधानी है। लेकिन वह अपने पुराने स्वरूप की छाया-मात्र है क्योंकि मंगोलों की बरपा की हुई मौत और बरबादी के असर से यह कभी पनप न सका।

: ५१ :

उत्तरी भारत में—हर्ष से महमूद तक

१ जून, १९३२

अब हमें अरबों या सरासीनों की कहानी के सिलसिले को तोड़कर दूसरे देशों पर नजर डालनी चाहिए। जिस अर्से में अरब शक्तिशाली हुए, विजयी हुए, फैले और बाद में गिर गये, उस दर्मियान भारत, चीन और योरप के देशों में क्या हो रहा था? इसकी कुछ झलक हम पहले ही देख चुके हैं—चार्ल्स मार्टेल के सेनापतित्व में योरप की सम्मिलित सेनाओं द्वारा अरबों की फ़्रांस में तूर के युद्ध में पराजय, अरबों की मध्य-एशिया पर विजय और भारत में सिन्ध तक उनका आना। पहले ज़रा भारत की ओर चलें।

क़न्नौज का राजा हर्षवर्धन ६४८ ई० में मर गया और उसके मरने के साथ ही उत्तरी भारत का राजनैतिक पतन और भी साफ़-साफ़ दिखाई देने लगा। यह पतन कुछ समय पहले ही से चला आ रहा था और हिन्दू और बौद्धधर्म के संघर्ष ने इस गिरावट में मदद पहुँचाई। हर्ष के समय में ऊपर का ढंग शक्तिशाली दिखाई देता था, लेकिन यह दिखावा भी थोड़े ही दिन रहा। हर्ष के मरने के बाद उत्तर भारत में कई छोटी-छोटी रियासतें पैदा हो गईं जो कभी-कभी थोड़े समय के लिए गौरव प्राप्त कर लेती थीं और कभी-कभी आपस में लड़ा करती थीं। यह एक अजीब बात है कि हर्ष के मरने के तीन सौ वर्ष से भी ज्यादा समय तक इस देश में साहित्य और कला फूलते-फलते रहे, और सार्वजनिक उपभोग की कई बढ़िया चीजें बनीं। इसी ज़माने में भवभूति और राजशेखर जैसे कई प्रसिद्ध संस्कृत लेखक हुए और इसी समय में कई ऐसे राजा हुए जो राजनैतिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण नहीं थे, लेकिन इसलिए मशहूर हुए कि उनके राज्य में कला और विद्या ने तरक़्क़ी की। इनमें से राजा भोज तो आदर्श राजा का एक काल्पनिक नमूना ही बन गया है और आज भी उसकी गिनती ऐसे राजाओं में की जाती है।

लेकिन इन चमकों के होते हुए भी उत्तर भारत का पतन होता जा रहा था। दक्षिण भारत फिर से आगे बढ़ रहा था और उत्तर भारत पर रौब डालता जा रहा था। इस समय के दक्षिण भारत के बारे में मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में कुछ लिख चुका हूँ। उसमें मैंने चालुक्यों, पल्लवों, राष्ट्रकूटों और चोल साम्राज्य के बारे में लिखा था। मैं शंकराचार्य का भी जिक्र कर चुका हूँ जिन्होंने थोड़ी उम्र में

ही सारे देश के विद्वानों और बेपढ़ों, दोनों पर असर डालने में सफलता प्राप्त की और जो भारत में बौद्ध धर्म को क़रीब-क़रीब खतम कर देने में सफल हुए। कितनी विचित्र बात है कि जिस समय शंकराचार्य अपना काम कर रहे थे उसी समय एक नया मजहब भारत का दरवाजा खटखटा रहा था जो बाद में बडल्ले के साथ विजय प्राप्त करता हुआ भारत में घुसा और उस समय की व्यवस्था को चुनौती देने लगा।

अरब लोग बहुत जल्द, हर्ष के जीवनकाल में ही, भारत की सीमा पर आ पहुँचे थे। वे वहाँ कुछ समय के लिए रुक गये और बाद में उन्होंने सिंध को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। सन ७१० ई० में सत्रह साल के एक जवान लड़के मुहम्मद इब्न कासिम ने एक अरबी सेना लेकर सिन्ध की घाटी को पश्चिम पंजाब में मुलतान तक जीत लिया। भारत में अरबो की विजय का यही पूरा फैलाव था। मुमकिन है अगर उन्होंने सख्त कोशिश की होती तो वे इससे भी आगे बढ़ गये होते। यह काम कुछ मुश्किल भी न होता, क्योंकि उत्तर भारत बहुत कमजोर था। हालाँकि इन अरबो और आस-पास के राजाओ में अकसर लड़ाइयाँ हुआ करती थी, फिर भी मुल्क जीतने के लिए कोई संगठित यत्न नही किया गया। इसलिए राजनैतिक दृष्टि से अरबों की सिन्ध पर यह विजय कोई खास महत्त्व की बात नहीं थी। मुसलमानों ने भारत को इसके कई सौ वर्ष बाद जीता, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से अरबों और भारतवासियो के इस सम्पर्क का बहुत बडा असर हुआ।

अरबों का दक्षिण के भारतीय राजाओं, खासकर राष्ट्रकूटो, के साथ मित्रता का व्यवहार रहता था। बहुत-से अरब भारत के पश्चिमी किनारे पर बस गये थे और अपनी बस्तियों मे उन्होंने मस्जिदें बनवाई थी। अरब यात्री और सौदागर भारत के अनेक हिस्सों मे जाया करते थे। अरब विद्यार्थी उत्तर भारत के तक्षशिला विश्व-विद्यालय मे काफी तादाद में आते थे, जो खासकर आयुर्वेद की शिक्षा के लिए मशहूर था। कहते हैं कि हारूँ-अल-रशीद के ज़माने मे भारत के विद्वानो का बगदाद मे बडा आदर था और भारत के वैद्य अस्पतालो और आयुर्वेदिक पाठशालाओ की व्यवस्था करने के लिए बगदाद जाया करते थे। गणित और ज्योतिष की बहुत-सी सस्कृत किताबो का अरबी भाषा मे अनुवाद किया गया था।

इस तरह अरबो ने पुरानी भारतीय आर्य सस्कृति से बहुत-सी बातें ली थी। उन्होने ईरान की आर्य सस्कृति और यूनानी संस्कृति से भी बहुत कुछ सीखा था। अरब लोग करीब-करीब एक नई कौम की तरह थे, जो अपनी पूरी जवानी पर थी। उन्होने अपने चारों ओर जितनी पुरानी सभ्यताएं देखी, सबसे कुछ-न-कुछ सीखा और फायदा उठाया। और इन सबके आधार पर उन्होने एक अपनी ही चीज़ बनाई जिसे सरासीनी सस्कृति कहते है। संस्कृतियो के लिहाज़ से इस सस्कृति का जीवन थोडे दिनो तक ही रहा, लेकिन यह एक प्रकाशमान जीवन था, जो योरप के मध्य-युग के अन्धकार के परदे पर चमकता हुआ दिखाई देता है।

यह एक अजीब बात है कि अरब लोगों ने तो भारतीय-आर्य, ईरानी और यूनानी सस्कृतियो के सम्पर्क से फायदा उठाया, पर भारतीयो, ईरानियो और यूनानियो ने अरबो के सम्पर्क से ज्यादा फायदा नही उठाया। शायद इसकी वजह यह हो कि अरब जाति नई थी, और क्रियाशीलता व उत्साह से भरी हुई थी; लेकिन दूसरी जातियाँ पुरानी थी जो पुरानी लकीर पर चली जाती थी, और परिवर्तन की ज्यादा परवाह नही करती थी। यह एक मजेदार बात है कि उम्र का प्रभाव जिस तरह व्यक्तियो पर पड़ता है, उसी तरह राष्ट्रो और जातियो पर भी पडता है। उमर पाकर कौमो की रफ्तार धीमी पड जाती है, उनके मन और शरीर बेलोच हो जाते है, वे परिवर्तन से घबराने लगती है और रूढिवादी बन जाती है।

इसलिए अरबो के इस सम्पर्क से, जो कई सौ वर्षों तक रहा, भारत पर ज्यादा असर नही पड़ा, और न उसमे कोई खास तब्दीली ही पैदा हुई। लेकिन इस लम्बे समय मे नये धर्म इस्लाम के बारे में भारत को कुछ-न-कुछ जरूर जानकारी मिल गई होगी। अरब के मुसलमान आते और जाते रहे और मस्जिदें बनवाते रहे, कभी-कभी उन्होने अपने धर्म का प्रचार किया और कभी-कभी कुछ लोगो को मुसलमान भी बनाया। मालूम होता है कि उस समय इन बातो पर कोई आपत्ति नही की जाती थी और न हिन्दू धर्म और इस्लाम मे कोई झगडा या संघर्ष हुआ। यह बात ध्यान देने लायक है, क्योंकि बाद में इन दोनों धर्मों में संघर्ष और लड़ाई-झगड़े हुए ही। ग्यारहवीं सदी मे जब इस्लाम हाथ में तलवार लेकर, एक विजेता के रूप में, भारतमें दाखिल हुआ, तभी भीषण प्रतिक्रिया शुरू हुई और पुरानी सहनशीलता की जगह नफरत और संघर्ष ने ले ली।

यह तलवार चलानेवाला, जो आग और नर-संहार लेकर भारत में आया, गजनी का महमूद था। गजनी अब अफगानिस्तान में एक छोटा-सा क़स्बा रह गया है। दसवीं सदी में गजनी के इर्द-गिर्द एक राज्य बन गया था। मध्य-एशिया के राज्य नाममात्र को बगदाद के खलीफ़ा के अधीन थे, लेकिन, जैसा मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ, हारूँ-अल-रशीद के मरने के बाद खलीफा कमजोर हो गये, और एक समय आया जब खलीफ़ाओं का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित हो गया। यह उसी समय की बात है, जिसका हम जिक्र कर रहे हैं। सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की गुलाम ने सन् ९७५ ई० के लग-भग गजनी और कधार में अपना एक राज्य क़ायम कर लिया था। उसने भारत पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के खिलाफ़ काबुल की घाटी पर जा बढ़ा, पर वहाँ उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। यह एक तेजस्वी सेनापति और घुडसवारों की सेना का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी क़ैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर १७ हमले किये। इनमें से उसका केवल कश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाकी सब धावे सफल हुए, और सारे उत्तरी भारत पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुँचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख कैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा खजाना सोमनाथ मे मिला, क्योंकि वहाँ पर एक बहुत बडा मन्दिर था और सदियो की भेंट-पूजा वहाँ जमा थी। कहते हैं कि जब महमूद सोमनाथ के पास पहुँचा तो इस आशा में कि मूर्ति में कोई चमत्कार जरूर होगा, और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा, हजारो आदमियो ने उस मन्दिर में शरण ली। लेकिन भक्तो की कल्पनाओ के बाहर चमत्कार शायद ही कभी होते हों। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला, और उसे लूट लिया। पचास हजार आदमी उस चमत्कार की राह देखते-देखते नष्ट हो गये, जो प्रगट होनेवाला नही था।

महमूद सन् १०३० ई० में मर गया। उस समय सारा पजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बड़ा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम फैलाने के लिए आया। बहुत-से मुसलमान उसकी इज्जत और बहुत-से हिन्दू उससे घृणा करते है, लेकिन असल में वह मजहबी आदमी नही था। वह मुसलमान जरूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली बात यह थी कि वह एक सैनिक और प्रतिभाशाली सैनिक था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदकिस्मतीसे अक्सर सैनिक लोग किया करते है, और वह किसी भी धर्म का माननेवाला होता तो यही करता। यह ध्यान देने की बात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासको को भी धमकी दी थी और जब उन्होने उसकी अधीनता मजूर कर ली और उसे खिराज दिया तभी उसने उन्हे छोड़ा था। उसने बगदाद के खलीफा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरक़न्द माँगा था। इसलिए हमे महमूद को एक सफल सैनिक के अलावा और कोई दूसरी चीज समझने की आम गलती में न फँसना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारो और मेमारो को अपने साथ गजनी ले गया था, और वहाँ उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी जिसका नाम उसने 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रक्खा था। बग़ीचो का उसे बड़ा शौक था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमे दिखाई है, जिससे पता लगता है कि मथुरा उस समय कितना बडा शहर था। महमूद ने गजनी के अपने सूबेदार को एक खतमें लिखा था—"यहाँ एक हजार ऐसी इमारतें हैं जो मोमिनों के ईमान की तरह मजबूत हैं। यह मुमकिन नही कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना करोडों दीनार[1] खर्च किये पहुँचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फ़िरदौसी की किताब मे पढ़ते है। फिरदौसी फ़ारसी का महाकवि था और महमूद का समकालीन था। मुझे खयाल आता है कि पिछले साल एक पत्र में मैंने

[1] दीनार—सोने का एक सिक्का।

उसका और उसकी खास रचना 'शाहनामा' का ज़िक्र किया है। एक कथा है कि शाहनामा 'महमूद की आज्ञा से लिखा गया था और उसने फ़िरदौसी को फ़ी शेर एक सोने की दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है फ़िरदौसी सक्षेप में लिखने का क़ायल नहीं था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ लिखा, और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हज़ारों शेर ले गया, तो हालाँकि उसकी रचना की बहुत तारीफ़ की गई, लेकिन महमूद को अपने अविवेकपूर्ण वादे पर अफ़सोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम इनाम देने की कोशिश की। इसपर फ़िरदौसी बड़ा नाराज़ हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

हर्ष से महमूद तक हमने एक लम्बी छलाँग मारी है और साढ़े तीन सौ वर्षों से ज्यादा समय का भारतीय इतिहास कुछ ही पैरो में देख लिया है। मै समझता हूँ कि इस लम्बे युगके बारे में बहुत-कुछ दिलचस्प बातें लिखी जा सकती है। लेकिन मैं उनसे वाकिफ़ नहीं हूँ, इसलिए अक्लमन्दी की बात यही है कि मै इस बारे में चुप रह जाऊँ। मै तुम्हें भिन्न-भिन्न राजाओ और शासको के बारे में कुछ-न-कुछ बता सकता हूँ, जो एक दूसरे से लडे और जिन्होने उत्तरी भारत में कभी-कभी पाचाल जैसे बड़े-बडे राज्य भी क़ायम किये। क़न्नौज की मुसीबतो का भी हाल मै बता सकता हूँ कि किस प्रकार उसपर पहले कश्मीर के राजाओ ने फिर बगाल के राजा ने और बाद में दक्षिण के राष्ट्रकूटो ने हमले किये और उसपर क़ब्ज़ा किया। लेकिन इससे कोई फ़ायदा न होगा; तुम सिर्फ़ उलझन में फँस जाओगी।

यहाँ हम भारत के इतिहास के एक लम्बे अध्याय के आखीर तक आ पहुँचे है, और अब एक नया अध्याय शुरू होता है। इतिहास को अलग-अलग हिस्सो मे बाँटना मुश्किल होता है और अक्सर ग़लत भी। इतिहास बहती हुई नदी की तरह आगे बहता ही रहता है। फिर भी इसमे तब्दीलियाँ होती है, एक पहलू का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता दिखाई देता है। ये परिवर्तन यकायक नही होते; एक परिवर्तन पूरा होने नही पाता कि दूसरा शुरू हो जाता है। इसलिए जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, हम उसके इतिहास के अनन्त नाटक के एक अक तक पहुँच गये है। जिस युग को हिन्दू-युग कहा जाता है वह अब धीरे-धीरे खतम होता है। हिन्दू-आर्य सस्कृति, जो कई हजार वर्षों से फूलती-फलती चली आ रही थी, अब एक नई आनेवाली सस्कृति के सघर्ष मे आती है। लेकिन याद रखो कि यह तब्दीली यकायक नही हुई थी; धीरे-धीरे आई थी। इस्लाम उत्तर भारत में महमूद के साथ आया। दक्षिण भारत बहुत दिनो तक मुसलमानो की विजय से बचा रहा, और इसके बाद बगाल भी करीब दो सौ वर्षों से ऊपर इस्लाम के प्रभाव से बचा रहा। हम देखते है कि उत्तर में चित्तौड़, जो आगे इतिहास में अपनी जान पर खेल जानेवाली बहादुरी के लिए मशहूर होनेवाला था, राजपूत खापो के सगठन का केन्द्र बनने लगा था। लेकिन मुसलमानो की विजय का ज्वार निष्ठुर और निश्चित रूप से आगे बढ़ता ही गया और व्यक्तिगत वीरता उसे ज़रा भी न रोक सकी। इसमें कोई शक नही कि पुराना हिन्दू-आर्य भारत अवनति की ओर जा रहा था।

विदेशियों और विजेताओ को रोकने मे असमर्थ होने पर हिन्दू-आर्य संस्कृति ने आत्म-रक्षा की नीति पकड़ी। अपने को बचाने की कोशिश मे वह एक कोठरी मे बन्द होकर बैठ गई। उसने अपनी जाति-पाँति की प्रथा को, जिसमें अभीतक कुछ लोच बाक़ी था, ज्यादा कडी और जड़ बना दिया। उसने स्त्रियो की स्वाधीनता कम कर दी। ग्राम-पंचायतों की हालत भी धीरे-धीरे बदलकर बुरी हो गई। लेकिन इस हालत मे भी, जब कि वह एक अधिक क्रियाशील जाति के सामने गिर रही थी, उसने उन लोगो पर अपना असर डालने और उन्हें अपने साँचे में ढालने की कोशिश की। और इस आर्य-संस्कृति मे दूसरों की बातो को अपनाने और हज़म करने की इतनी ताकत थी कि, एक हद तक, इसने अपने विजेताओं के ऊपर भी सास्कृतिक विजय प्राप्त कर ली।

तुम्हे याद रखना चाहिए कि यह होड भारतीय आर्य-सभ्यता और ऊँचे दर्जे की सभ्यता वाले अरबो के बीच नही थी। यह होड तो सभ्य लेकिन पतनशील भारत और मध्य एशिया की उन अर्ध-सभ्य और अक्सर खानाबदोश क़ौमो के बीच थी जिन्होंने खुद ही उन्हीं दिनो इस्लाम ग्रहण किया था। बदक़िस्मती से भारत में इस्लाम का सम्बन्ध इस असभ्यता और महमूद के हमलो की बीभत्सता के साथ जोड़ दिया जिससे आपस की कटुता पैदा हो गई।

: ५२ :

योरप के देशों का निर्माण

३ जून, १९३२

प्यारी बेटी ! अब हम योरप की सैर करेंगे। पिछली बार जब हमने उसका जिक्र किया था तब उसकी हालत खराब थी। रोम का पतन, पश्चिमी योरप में सभ्यता का पतन था। कुस्तुन्तुनिया की सरकार के मातहत वाले हिस्से को छोडकर पूर्वी योरप मे इससे भी खराब हालत थी। एटिला नामक हूण ने इस महाद्वीप के बहुत बडे हिस्से को जलाकर तहस-नहस कर डाला था। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य, गिरावट पर होते हुए भी कायम रहा। इतना ही नही, कभी-कभी उसमे शक्ति के उफान भी आते रहते थे।

रोम के पतन ने पश्चिम को झंझोड दिया और उसके बाद वहाँ सब बाते नये तरीके से जमने लगीं। इनके जमने में बहुत दिन लग गये। फिर भी नया ढांचा जैसे-जैसे बनता जाता है, वह हमें कुछ हद तक नजर आने लगता है। कभी सन्तो और शान्ति-प्रिय लोगों की मदद पाकर, और कभी अपने सैनिक राजाओं की तलवार की ओर पर, ईसाई धर्म फैलने लगा। नये-नये राज्य पैदा हो गये। फ्रास बेलजियम और जर्मनी के एक भाग पर फ्रैंक लोगों ने, जिन्हें तुम फ्रैंच (फ्रांस निवासी) समझने की भूल न करना, क्लोविस नामक शासक के मातहत एक राज्य कायम किया। क्लोविस ने सन् ४८१ से ५११ ई० तक राज्य किया। यह राजवंश क्लोविस के बाबा के नाम से मेरोविजियन वंश कहलाता है। लेकिन इन राजाओं के ऊपर बहुत जल्द उन्हीके दरबार का एक अफसर हावी हो गया। यह राजमहल का 'मेयर' था। ये मेयर सर्व सत्ताधारी हो गये और इनका यह पद मौरूसी हो गया। असली शासक तो ये थे। राजा तो नाम के और कठपुतलियां मात्र थे।

चार्ल्स मार्टेल भी इन्हीं राजमहल के मेयरो मे से एक था, जिसने सन् ७३२ ई० में फ्रास में तूर की बड़ी लड़ाई में सरासीनों को हराया था। इस विजय से चार्ल्स मार्टेल ने सरासीनो की उस लहर को रोक दिया जो मुल्को को जीतती चली आ रही थी, और ईसाइयो की निगाह में उसने योरप को बचा लिया। इस जीत से उसकी इज्जत और शोहरत बहुत बढ़ गई। वह शत्रुओ से ईसाई राज्य की रक्षा करने वाला वीर माना जाने लगा। इन दिनों रोम के पोपो और कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो के आपसी सम्बन्ध अच्छे नही थे। इसलिए पोप लोग सहायता के लिए चार्ल्स मार्टेल का आसरा देखने लगे। चार्ल्स मार्टेल के लड़के पेपिन ने उस समय के कठपुतली राजा को गद्दी से उतारकर अपने को राजा घोषित करना निश्चय किया और पोप ने खुशी के साथ यह बात मान ली।

शार्लमेन पेपिन का लडका था। पोप के ऊपर फिर मुसीबत आई और उसने शार्लमेन को अपनी रक्षा के लिए बुलाया। शार्लमेन ने मदद की और पोप के दुश्मनों को भगा दिया और सन् ८०० ई० के बड़े दिन को गिरजे मे एक बडा उत्सव मनाया गया जिसमें पोप ने शार्लमेन को रोमन सम्राट का ताज पहना दिया। उसी दिन से पवित्र रोमन साम्राज्य शुरू हुआ, जिसकी बाबत मै तुम्हें पहले एक बार लिख चुका हूँ।

यह एक विचित्र साम्राज्य था, और इसका आगे का इतिहास तो और भी विचित्र है, क्योंकि वह धीरे-धीरे गायब हो जाता है जैसे 'एलिस इन दि वण्डरलैण्ड'[1] की चेशायर बिल्ली गायब होकर केवल अपनी मुस्कराहट छोड जाती है और उसके शरीर का कोई निशान नही रहता। लेकिन अभी यह आगे की बात है और हमें अभी से भविष्य में ताक-झांक करने की जरूरत नही।

---

[1] 'एलिस इन द वण्डरलैण्ड'—अंगरेजी की एक पुस्तक का नाम। आक्सफर्ड विश्व-विद्यालय के एक प्रोफ़ेसर ने, लुई केरोल के नाम से, एक मित्र की लड़कियों के विनोद के लिए, सन् १८६५ में इसे लिखा था। यह पुस्तक बड़ी रोचक है, और शायद ही कोई अंगरेजी जाननेवाला बालक या बालिका ऐसी हो, जिसने इसको न पढ़ा हो। इस पुस्तक में एलिस नाम की एक लड़की की आश्चर्यमय लोक की स्वप्न-यात्रा का वर्णन है।

यह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पुराने पश्चिमी रोमन साम्राज्य का सिलसिला नहीं था। यह एक अलग ही चीज़ थी। यह अपने ही साम्राज्य को एक मात्र साम्राज्य समझता था। इसका सम्राट, शायद पोप को छोड़कर, अपने को दुनिया में हरेक का स्वामी मानता था। सम्राट और पोप के बीच कई सदियों तक इस बात की लाग-डाँट रही थी कि दोनों में कौन बड़ा है। लेकिन यह भी अभी आगे की बात है। मजे-दार बात यह है कि यह साम्राज्य उस पुराने साम्राज्य का पुनर्जीवन माना जाता था, जो किसी समय सर्वो-परि था और जब रोम दुनिया का स्वामी माना जाता था। लेकिन इसके साथ ईसाइयत और ईसाई राज्य की एक नई भावना और जुड़ गई थी। इसलिए यह साम्राज्य "पवित्र" बन गया था। सम्राट को इस पृथ्वी पर ईश्वर का एक प्रतिनिधि समझा जाता था और यही बात पोपके लिए भी थी। एक राज-सम्बन्धी मामलों को निपटाता था, दूसरा आध्यात्मिक मामलों को। बहरहाल कुछ ऐसा ही विचार था; और मैं समझता हूँ कि इसी विचार-धारा के कारण योरप में राजाओं के दैवी अधिकार[1] का ख़याल पैदा हुआ। सम्राट 'धर्म का रक्षक' था। तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि इंग्लैण्ड का बादशाह अभी तक 'धर्म का रक्षक' कहा जाता है।

इस सम्राट की तुलना उस ख़लीफ़ा से करो जो अमीरुल मोमनीन कहलाता था। शुरू में ख़लीफ़ा वास्तव में सम्राट और पोप दोनों ही होता था। लेकिन बाद में, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी हैसियत नाम-मात्र की रह गई थी।

कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों ने पश्चिम के इस नये उठे हुए 'पवित्र रोमन साम्राज्य' को बिलकुल पसद नही किया। जिस समय शार्लमेन गद्दी पर बैठा, क़ुस्तुन्तुनिया में आइरीन नामक एक औरत सम्राज्ञी बन बैठी। आइरीन ऐसी स्त्री थी जिसने सम्राज्ञी बनने के लिए ख़ुद अपने ही लडके को मार डाला। उसके समय मे राज्य की हालत ख़राब थी। यह भी एक वजह थी, जिससे पोप को यह साहस हुआ कि शार्लमेन के सर पर ताज रखकर कुस्तुन्तुनिया से सम्बन्ध तोड ले।

शार्लमेन इस समय पश्चिमी ईसाई जगत् का अधिनायक था। वह पृथ्वी पर 'ईश्वर का प्रतिनिधि' था और एक पवित्र साम्राज्य का सम्राट् था। सुनने में ये शब्द कितने शानदार मालूम पड़ते है! लेकिन इनसे जनता को धोखा देने और उसे मंत्रमुग्ध कर देने का काम सध ही जाता है। ईश्वर और धर्म को अपना मददगार बना कर सत्ताधारियो ने बहुत बार दूसरो को बेवक़ूफ़ बनाने और अपनी ताकत बढाने की कोशिशें की है। राजा, सम्राट् और धर्माचार्य इस तरह औसत आदमी की नज़रो मे अज्ञात और अस्पष्ट प्राणी बन जाते है जो लोगो की निगाह में देवताओ की तरह और साधारण जीवन से भिन्न हो जाते है। इस रहस्य के कारण मनुष्य उनसे भय खाने लगता है। दरबारो के लम्बे-चौडे नियमो, शिष्टाचारों और रस्मो की तुलना मन्दिरो और गिरजो में होनेवाली पूजा के उतने ही लम्बे-चौड़े ढगो मे करो। दोनों में वही एक-से नमस्कार, कोर्निश और दडवत—जिसे चीनी लोग 'को-टो' करना कहते है। सत्ता के विभिन्न रूपो की यह पूजा बचपन से ही हमें सिखाई जाती है। यह भय की उपासना है, प्रेम की नही।

शार्लमेन बगदाद के हारूँ-अल-रशीद का समकालीन था। वह उससे पत्र-व्यवहार करता था। और ग़ौर करने की बात है कि उसने यह प्रस्ताव किया था कि वे दोनो मिलकर पूर्वी रोमन साम्राज्य और स्पेन के सरासीनो का मुक़ाबला करें। मालूम होता है इस प्रस्ताव का कोई फल नही निकला, लेकिन फिर भी इससे राजाओ और राजनीतिज्ञो के दिमाग की उधेड-बुन पर काफी रोशनी पडती है। एक ईसाई सत्ता और एक अरब-सत्ता के खिलाफ "पवित्र" सम्राट् ईसाई-जगत का अधिनायक बगदाद के ख़लीफा से मेल करे, इसकी कल्पना तो करो! तुम्हें याद होगा कि स्पेन के सरासीनो ने बगदाद के अब्बासी ख़लीफ़ाओ को मानने से इन्कार कर दिया था। वे आज़ाद हो गये थे और बगदाद उनसे जला-भुना बैठा था। लेकिन ये दोनो एक-दूसरे से इतने दूर थे कि लड़ नही सकते थे। कुस्तुन्तुनिया और शार्लमेन के आपसी सम्बन्ध भी कुछ अच्छे नही थे। लेकिन यहाँ भी फासले की वजह से लड़ाई नहीं हो पाई। बहरहाल यह प्रस्ताव किया गया था कि ईसाई और अरब दूसरी ईसाई सत्ता और दूसरी अरब सत्ता से लडने के लिए आपस मे मिल जायँ। राजाओं के मन मे असली नीयत यह होती थी कि किसी तरह अपनी शक्ति, अपना अधिकार और

---

[1] Divine Right of Kings.

अपनी सम्पत्ति बढ़ा लें। लेकिन इस नीयत के ऊपर ये लोग अक्सर धर्म का चोला चढ़ा देते थे। हर जगह ऐसा ही होता रहा है। भारत में हमने देखा है कि महमूद आया तो मजहब के नाम पर लेकिन उसने इस चीज़ से खूब फायदा उठाया। धर्म की दुहाई देकर लोगों ने बहुत कमाइयाँ की हैं।

लेकिन हरेक युग में लोगों के ख़यालात बदला करते हैं, और हमारे लिए बहुत दिन पहले के लोगों के कारनामों पर फ़ैसला देना मुश्किल है। यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए। बहुत सी बातें जो हमें स्पष्ट दिखाई देती हैं उस समय के लोगों को विचित्र मालूम होती होंगी और आज हमें उनके सोचने के ढग और उनकी आदतें अजीब मालूम होती हैं। एक तरफ जब लोग ऊँचे आदर्शों की, पवित्र साम्राज्य की, ईश्वर के प्रतिनिधि की और ईसा के स्थानापन्न पोप की बातें छाँटते थे, तब उधर पश्चिम में बहुत ही ख़राब हालत थी। शार्लमेन के शासन के कुछ ही दिन बाद इटली और रोम की दशा बहुत हीन हो गई थी। रोम में कुछ स्त्री और पुरुषों का एक घृणित गिरोह मनमानी करता था और पोपो को बनाता-बिगाड़ता रहता था।

दरअसल रोम के पतन के बाद पश्चिमी योरप मे फैलनेवाली सर्वव्यापी अशान्ति से लोगो के दिलो मे यह खयाल पैदा हो गया था कि अगर साम्राज्य फिर ज़िन्दा हो जाय तो हालत सुधर जायगी। बहुतो के लिए यह इज्ज़त का सवाल हो गया कि एक सम्राट् बनाया जाय। उस समय का एक पुराना लेखक लिखता है कि चार्ल्स को इसलिए सम्राट् बनया गया, कि "ग़ैर-ईसाई यह समझकर ईसाइयो का अपमान न करें कि ईसाइयो मे सम्राट् का नाम लुप्त हो गया है।"

शार्लमेन के साम्राज्य मे फ्रास, बेलजियम, हालैंड, स्वीजरलेंड, आधा जर्मनी और आधा इटली शामिल थे। इसके दक्षिण-पश्चिम मे स्पेन था, जो अरबो के अधीन था। उत्तर-पूरब में स्लाव और दूसरी क़ौमें थी। उत्तर में डेन और नार्थमेन थे। दक्षिण-पूरब मे बलगारियन और सरबियन लोग थे और उनके पर क़ुस्तुन्तुनिया के अधीन पूर्वी रोमन साम्राज्य था।

सन् ८१४ ई० मे शार्लमेन की मृत्यु के थोडे ही दिनो बाद साम्राज्य की सम्पत्ति के बँटवारे के लिए झगड़े उठ खडे हुए। उसके वशज, जो केर्लोविजियन (केरोलस, चार्ल्स का लैटिन रूप है) कहलाते थे, किसी काम के नही थे, जैसा कि उनमे से कुछ की उपाधियो से मालूम होता है। एक 'मोटा' कहलाता था, एक 'गंजा' एक 'दीनदार', आदि। शार्लमेन के साम्राज्य के विभाजन से अब हम जर्मनी और फ्रास को अपना अलग रूप धारण करता हुआ देखते हैं। सन् ८४३ ई० से जर्मनी का एक राष्ट्रके रूप मे जन्म माना जाता है और कहा जाता है कि सन् ९६२ से ९७३ ई० तक राज्य करनेवाले सम्राट् ओटो महान् ने जर्मनो को एक क़ौम की तरह सगठित किया। फ्रास पहले से ही ओटो के साम्राज्य का हिस्सा नही था। सन् ९८७ ई० में ह्यूकैपेट ने शक्तिहीन केर्लोविजियन राजाओ को निकाल दिया और फ़ास पर कब्ज़ा कर लिया। लेकिन यह क़ब्ज़ा पूरी तरह का नही था, क्योंकि फ्रास बडे-बडे इलाको मे बटा हुआ था, जो स्वतत्र सरदारोके अधीन थे और ये सरदार आपस मे अकसर लडा करते थे। लेकिन वे एक-दूसरेसे उतना नही डरते थे, जितना सम्राट और पोप से, और इन दोनो से मुकाबला करने के लिए सब मिल जाते थे। ह्यूकैपेट के समय से फ्रास की राष्ट्र के रूप मे शुरुआत हुई और इस आरम्भिक काल मे भी हमे फ्रास और जर्मनी की प्रतिद्वद्विता दिखाई देती है जो पिछले हज़ार वर्षों से ठेठ हमारे ज़माने तक चली आती है। अजीब बात है कि फ्रास और जर्मनी के समान दो सभ्य और अत्यन्त प्रतिभाशील पड़ोसी देश और राष्ट्र इस पुराने वैमनस्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पोषित करते रहे। लेकिन शायद इस में उनका उतना दोष नही है, जितना उन प्रणालियो का, जिनके नीचे वे रहते आये हैं।

क़रीब-क़रीब इसी समय रूस भी इतिहास के रंग-मच पर आता है। कहा जाता है कि उत्तर के रूरिक नामक एक व्यक्ति ने सन् ८५० ई० के लगभग रूसी राज्य की नींव डाली थी। इसी समय योरप के दक्षिण-पूर्व में बलगारियन लोग जमने लगे और धीरे-धीरे सरकश भी होने लगे। इसी प्रकार सरबियनों ने भी वहाँ जमना शुरू किया। मगयार या हँगेरियन और पोल लोग भी पवित्र रोमन साम्राज्य के और नये रूसके बीच में अपनी रियासतें बनाने लगे।

इसी दरमियान उत्तर-योरप से कुछ लोग पानी के रास्ते पश्चिमी और दक्षिणी देशों में आये। यहा आकर उन्होंने आगें लगाई, कत्ल किये और लूट-मार की। तुमने डेन और दूसरे नार्थमेनों के बारे में पढा होगा,

जो लूट-खसोट करने के लिए इंग्लैण्ड पहुँचे थे। ये नार्थमैन या नार्समैन जो नार्मन कहलाये, भूमध्यसागर में गये, अपने जहाजों को बड़ी-बड़ी नदियों के मार्ग मे अन्दर ले गये और जहाँ कहीं पहुँचे वहा डकैती, मार-काट और लूट-खसोट की। इटली में अराजकता थी और रोम की दशा बहुत बुरी थी। इन लोगो ने रोम को लूट लिया और कुस्तुन्तुनिया पर भी जा धमके। इन लुटेरों और डाकुओ ने फ्रांस के पश्चिमी हिस्से को, जहाँ नारमण्डी है, और दक्षिण इटली और सिसली पर, क़ब्ज़ा जमाया और धीरे-धीरे वहाँ बस गये और उन प्रदेशों के मालिक तथा अमीदार बन बैठे, जैसा कि लुटेरे समृद्धिशाली होने पर अक्सर किया करते हैं। फ्रांस के नारमंडी प्रांत में बसे हुए इन्हीं नार्मनों ने सन् १०६६ ई० में, विलियम के सेनापतित्व में, जो 'विजता' के नाम से मशहूर है, इग्लैण्ड को जीत लिया। इस तरह हम इग्लैण्ड की भी शक्ल बनते देखते है।

अब हम मोटे तौर पर योरप में ईसवी सन् के पहले हजार वर्षों के अन्त तक पहुँच गये है। इसी वक्त ग़जनी का महमूद भारत पर हमला कर रहा था और इसी समय के लगभग बगदाद के अब्बासी खलीफ़ाओ की ताकत छिन्न-भिन्न हो रही थी और पश्चिमी एशिया मे सेलजुक तुर्क इस्लाम को फिर से जगा रहे थे। स्पेन अब भी अरबों के मातहत था, लेकिन वे अपनी मातृभूमि अरबस्तान से बिलकुल कट गये थे और दरअसल उनका सम्बन्ध बगदाद के शासको के साथ अच्छा नहीं था। उत्तरी अफरीका क़रीब-क़रीब बगदाद से स्वतंत्र हो गया था। मिस्र में एक स्वतन्त्र सरकार ही नही बल्कि एक अलग खिलाफत भी कायम हो गई थी और कुछ समय के लिए मिस्र के खलीफा का उत्तरी अफरीका पर भी राज्य रहा था।

: ५३ :

सामन्त-प्रथा

४ जून, १९३२

अपने पिछले पत्र में हमने आज के जमाने के फ़ास जर्मनी, रूस और इग्लैण्ड की शुरूआत की एक झलक देखी थी। लेकिन यह न समझ बैठना कि उस जमाने के लोग इन देशो को उसी रूप में जानते थे जिसमें आज इन्हें हम जानते हैं। हम आज अग्रेज, फ्रान्सीसी, जर्मन, आदि राष्ट्रो का अलग-अलग विचार करते है और इन में से हरेक अपने देश को अपनी मातृभूमि या पितृ-भूमि की तरह मानता है। राष्ट्रीयता की यही भावना है जो आज-कल ससार में इतनी प्रकट हो रही है। भारत मे हमारी आजादी की लडाई हमारी 'राष्ट्रीय' लडाई है। लेकिन उस जमाने मे राष्ट्रीयता की यह भावना मौजूद नही थी। ईसाई-जगतकी कुछ भावना जरूर थी, यानी काफिरो और मुसलमानों से अलग ईसाइयो के एक समुदाय या समाजका होने की भावना थी। इसी तरह मुसलमानों का भी खयाल था, कि वे इस्लामी दुनिया के है और उनके अलावा बाकी जितने है काफ़िर है।

लेकिन ईसाई-जगत और इस्लाम की ये भावनाए बिलकुल अस्पष्ट थी और जनता की रोजाना जिन्दगी पर इनका कोई असर नहीं पडता था। खास-खास मौक़ो पर इन भावनाओं को उभाड़ कर लोगो के दिलो मे मजहबी जोश भरा जाता था, ताकि वे इस्लाम या ईसाई-धर्म के लिए लडने को तैयार हो जायें। राष्ट्रीयता के बजाय, आदमी-आदमी के बीच एक अजीब तरह का सम्बन्ध था। यह सामन्ती सम्बन्ध था, जो सामन्त प्रथा से पैदा हुआ था। रोम के पतन के बाद पश्चिम की पुरानी व्यवस्था तहस-नहस हो गई थी। हर जगह गडबड़, अराजकता, हिंसा और जबरदस्ती का बोलबाला था। जबर्दस्त लोग जो कुछ छीन सकते छीन लेते थे और जब तक कोई उनसे ज्यादा जबर्दस्त आदमी आकर उन्हे पछाड नही देता तबतक वे उस पर अपना अधिकार जमाये रहते थे। मजबूत गढियाँ बनाई जाती थी और इन गढ़ियों के स्वामी छापे मारने के लिए अपने दलो के साथ बाहर निकलते थे। ये गाँवों में लूट-मार करते थे, और कभी-कभी अपने ही जैसे गढ़ीवालो से युद्ध भी करते थे। नतीजा यह था कि गरीब किसान और जमीन पर काम करनेवाले मजदूरो को ही सबसे ज्यादा मुसीबतें उठानी पड़ती थी। इसी गड़बड़ से सामन्त प्रथा का जन्म हुआ था।

किसान संगठित नहीं थे और इन अकेले सरदारोंसे अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। इनकी रक्षा करने के लिए कोई ताक़तवर केन्द्रीय सरकार नहीं थी। इसलिए इस दुर्गति से बचने के लिए उन्होंने उत्तम उपाय यही देखा कि उन्हें लूटनेवाले इन गढ़-स्वामियों से समझौता कर ले। वे इस बात पर राजी हो गये कि उनके खेतों में जो कुछ पैदा हो उसका कुछ हिस्सा उन्हें दे दें तथा दूसरे रूप में भी उनकी कुछ सेवा करें, बशर्ते कि वे इन्हें लूटना और परेशान करना छोड़ दें और अपने वर्ग के दूसरे लोगों से भी इनकी रक्षा करें। इसी तरह छोटी गढ़ियों के सरदारों ने बड़े गढ़ों के सरदारों से समझौता कर लिया। लेकिन छोटा सरदार बड़े सरदार को खेत की कोई उपज नहीं दे सकता था, क्योंकि वह खुद किसान या नाज पैदा करनेवाला होता था। इसलिए वह सैनिक सहायता देने का वादा करता था यानी जरूरत पड़नेपर उसकी तरफ़ से लड़ने का वचन देता था। इसके एवज में बड़ा सरदार छोटे की रक्षा करता था और छोटा बड़े का आसामी हो जाता था। इसी तरह सीढ़ी-दर-सीढ़ी यह सिलसिला बड़े सरदारों और अमीरों तक चलता था और अन्त में इस सामन्ती ढाँचे के सिरमौर बादशाह तक पहुँच जाता था। लेकिन यह सिलसिला इससे भी और ऊपर चलता था। लोगो के लिए स्वर्ग में भी त्रिमूर्ति के रूप मे एक तरह की सामन्त प्रथा थी जिसका अधीश्वर खुदा था।

योरप में फैली हुई गड़बड में से यही सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे पैदा हुई। तुम्हें याद रखना चाहिए कि उस वक्त कोई वास्तविक केन्द्रीय सरकार नही थी; न तो पुलिसवाले थे और न इस किस्म की कोई दूसरी चीज थी। जमीन के किसी टुकड़े का मालिक, उसका तो शासक और स्वामी था ही लेकिन उस पर बसने वाले तमाम लोगों का भी शासक और सरदार होता था। यह एक किस्म का छोटा-मोटा राजा माना जाता था, जो उनकी सेवाओ और खेतो के लगान के बदले में उनकी रक्षा करनेवाला समझा जाता था। यह उन लोगो का आला सरदार कहलाता था और वे लोग उसकी रैयत या उसके ताबेदार समझे जाते थे। माना यह जाता था कि इसकी जमीन उस बडे सामन्त की दी हुई होती थी जिसका वह आसामी होता था और जिसे वह फ़ौजी सहायता देता था।

गिरजाघरों के कर्मचारी भी इस सामन्त प्रथा के अंग थे। वे धर्म-पुरोहित और सामन्ती सरदार दोनों थे। जर्मनी में तो करीब आधी जमीन और सम्पत्ति पादरी लोगो के हाथ में थी। पोप खुद एक बड़ा सामन्ती सरदार समझा जाता था।

तुम देखोगी कि इस सारी प्रणाली में सीढियाँ और दर्जे थे। बराबरी का कोई सवाल ही न था। ताबेदार आसामी सबसे नीचे होते थे और उन्हे ही इस सामाजिक ढाचे का—छोटे मालिकों, बडे सामन्तो और राजाओ का—सारा बोझ उठाना पडता था। गिरजो का, यानी छोटे से लगाकर बडे पादरियों का, सारा खर्च भी इन्हीं आदमियो को बरदाश्त करना पडता था। सामन्त लोग, चाहे छोटे हो या बडे, अन्न या और किसी क़िस्म की सम्पत्ति पैदा करने के लिए कोई परिश्रम नही करते थे। ऐसा करना उनकी शान के खिलाफ समझा जाता था। इन लोगों का खास धन्धा युद्ध था और जब कोई लडाई नही होती थी तो ये शिकार मे या नकली लडाइयों मे और टूर्नामेंटो मे वक्त गुजारते थे। यह अनपढ और अनगढ़ लोगो की एक ऐसी जमात थी जो सिवाय खाने-पीने और लडने के कोई और मनोरंजन के साधन नही जानती थी। इसलिए अन्न और जीवन की दूसरी जरूरतो को पैदा करने का सारा बोझ किसानो और दस्तकारो पर पडता था। इस सारी प्रणाली की चोटी पर बादशाह होता था, जो ईश्वर का जागीरदार माना जाता था।

सामन्त प्रथा के पीछे यही धारणा थी। सिद्धान्त रूप से इन सामन्तो का फ़र्ज था कि अपने आसामियो और ताबेदारो की रक्षा करें, पर व्यवहार मे ये अपनी मनमानी करते थे। बड़े सामन्तों का या बादशाह का इन पर कोई अंकुश नहीं था, और किसानो में इतनी ताकत नही थी कि इनकी मागो को पूरा करने से इन्कार करते। चूँकि ये लोग ज्यादा जबर्दस्त होते थे, इसलिए अपने ताबेदारो से ज्यादा से ज्यादा वसूल करते थे और उनके पास मुश्किल से इतना छोड़ते थे कि वे अपनी मुसीबत की जिन्दगी बिता सकें। जमीन के मालिको का यही ढंग हमेशा से हर देश मे रहा है। जमीन की मिल्कियत से लोग अमीर बन गये। लुटेरा सरदार जो जमीन दबा बैठता और गढ बना लेता अमीर माना जाता था और सब उसकी इज्जत करते थे। मिल्कियत की वजह से लोगो के हाथ में इख्तियार भी आ जाता है। और मालिको ने इस इख्तियार का उपयोग करके, अन्न पैदा करनेवाले किसानों से, या मजदूरो से जो कुछ वसूल किया जा सका, किया है। कानून भी जमीन के मालिको की मदद करता रहा है, क्योंकि कानून के बनानेवाले या तो वे खुद ही होते हैं या उनके यार-दोस्त।

और यही वजह है कि आज कुछ लोगों का यह खयाल है कि जमीन किसी व्यक्ति की मिलकियत नहीं होनी चाहिए बल्कि समाज की मिलकियत होनी चाहिए। अगर जमीन समाज की या राष्ट्र की सम्पत्ति हो तो इसका मतलब यह होगा कि जमीन उन सबकी है जो उस पर बसते हैं। और ऐसी हालत में न तो कोई उस जमीन पर दूसरों की कमाई खा सकेगा और न कोई बेजा फ़ायदा ही उठा सकेगा।

लेकिन ये विचार उस वक़्त तक लोगों के दिमाग़ में पैदा नहीं हुए थे। जिस ज़माने की हम बात कर रहे हैं उस ज़माने के लोग इस ढंग से नहीं सोचते थे। जनता मुसीबत में थी, लेकिन उसे अपनी मुश्किलों से छुटकारा पाने का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता था। इसलिए लोग बेचारे इन सब बातों को बरदाश्त करते थे और आशा रहित परिश्रम की ज़िन्दगी बिताते थे। आज्ञा-पालन की आदत उनमें कूट-कूट कर भर दी गई थी और एक दफ़ा जब ऐसा कर दिया जाता है तब लोग सब कुछ बरदाश्त करने लगते हैं। इस तरह हम एक ऐसा समाज बनता देखते हैं जिसमें एक तरफ़ तो सामन्ती सरदार और उनके पिछलगुए थे और दूसरी तरफ़ दीन-हीन लोग थे। सरदार के पक्के गढ़ के चारों तरफ़ आसामियों के मिट्टी या लकड़ी के झोपड़ों का जमघट होता था। दो किस्म की दुनियाएं थीं जो एक दूसरे से बिलकुल अलग थीं। एक तो मालिकों की दुनिया और दूसरी आसामियों की। शायद मालिक सरदार लोग अपने आसामियों को अपने मवेशियों से कुछ ही ऊँचा समझते थे।

कभी-कभी छोटे पादरी आसामियों को उनके मालिकों के अत्याचार से बचाने की कोशिश करते थे। लेकिन आमतौर पर पादरी लोग मालिकों का ही पक्ष लेते थे और सच तो यह है कि पादरी लोग खुद भी सामन्ती सरदार होते थे।

भारत में इस किस्म की सामन्त-प्रथा तो नहीं रही लेकिन यहाँ इससे कुछ मिलती-जुलती प्रथा पाई जाती है। हमारी देशी रियासतों में राजाओं, ठिकानेदारों और जागीरदारों ने बहुत-से सामन्ती रिवाज अब तक क़ायम रख छोड़े हैं। हालांकि भारत की जाति-व्यवस्था सामन्त-प्रथा से बिलकुल भिन्न है, पर इसने समाज को वर्गों में बाँट दिया है। चीन में, जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, कभी कोई निरंकुशता नहीं रही और न इस किस्म का कोई खास अधिकार प्राप्त वर्ग ही रहा। इम्तहानों की इनकी प्राचीन प्रणाली ने हरेक व्यक्ति के लिए ऊँचे से ऊँचे ओहदों का दरवाजा खोल रखा था। लेकिन व्यवहार में अलबत्ता बहुत-सी बंदिशें रही होंगी।

सामन्त-प्रथा में समानता या आज़ादी का कोई ख्याल नहीं था। अधिकार और कर्तव्य का कुछ खयाल जरूर था, यानी सामन्त का यह अधिकार था कि वह अपने आसामियों से सेवा और खेत की उपज का कुछ भाग वसूल करे और उनकी रक्षा करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। लेकिन अधिकार हमेशा याद रहते हैं और कर्त्तव्यों की ओर से लोग अक्सर आँखें मूँद लेते हैं। आज भी कुछ योरोपीय देशों में और भारत में बड़े-बड़े ज़मीदार पाये जाते हैं जो बिना हाथ-पैर हिलाये अपने किसानों से बड़ी-बड़ी रकमें लगान में वसूल करते हैं। लेकिन किसी जिम्मेदारी का खयाल तो ज़माना हुआ उन्होंने भुला दिया है।

ताज्जुब की बात है कि योरप की पुरानी बर्बर क़ौमों ने, जिन्हें अपनी आज़ादी इतनी प्यारी थी, धीरे-धीरे इस सामन्त प्रथा को कबूल कर लिया, जिसमें आज़ादी के लिए कोई जगह ही नहीं थी। पहले ये क़ौमें अपना प्रमुख चुना करती थीं और उस पर रोक-थाम रखती थीं। लेकिन अब चुनाव का कोई सवाल नहीं रह गया और सब जगह स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन हो गया। मैं नहीं कह सकता कि यह तब्दीली क्यों आई। मुमकिन है कि ईसाई धर्माचार्यों के फैलाये हुए सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र विरोधी विचारों के फैलने में मदद दी हो। राजा को पृथ्वी पर परमेश्वर का अंश माना जाने लगा और सर्वशक्तिमान के अंश से कौन हुज्जत करे और कौन उसकी हुक्म अदूली करे? इस सामन्त प्रथा में लोक और परलोक दोनों शामिल हो गये थे।

भारत में भी हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के प्राचीन आर्य-विचार धीरे-धीरे बदलने लगे। वे कमज़ोर होते गये और अन्त में लोग उन्हें बिल्कुल भूल गये। लेकिन, जैसा मैंने तुम्हें बताया है, मध्य-युग की शुरूआत में ये विचार कुछ हद तक पाये जाते थे। शुक्राचार्य के 'नीति-सार' से और दक्षिण भारत के शिलालेखों से यह बात ज़ाहिर होती है।

योरप में जो नई शकलें पैदा हो रही थीं उनके फलस्वरूप कुछ आज़ादी धीरे-धीरे फिर आने लगी।

सामन्तों और आसामियों, यानी जमीन के मालिकों और उस पर काम करने वालों के अलावा लोगों के और वर्ग भी थे, जैसे व्यापारी और कारीगर। अपना-अपना काम करनेवाले ये लोग सामन्त प्रणाली के अंग नहीं थे। अशांति के जमाने में व्यापार बिल्कुल कम होता था और कारीगरी को भी फूलने-फलने का मौक़ा नहीं मिलता था। लेकिन धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा और मिस्त्रियों और सौदागरों का महत्व बढ़ने लगा। वे धनवान हो गये और सामन्त तथा सरदार लोग इनके पास रुपया उधार लेनेके लिए जाने लगे। ये लोग रुपया तो उधार देते थे लेकिन बदले में सामन्तों को मजबूर करते थे कि वे इन्हें कुछ रियायतें दें। इन रियायतों से इनकी ताक़त बढ़ गई। इस तरह अब हम देखते हैं कि सामन्त के गढ के चारों तरफ़ आसामियो के झोंपड़ों के झुड के बजाय, छोटे-छोटे क़स्बे पैदा होने लगे जिनमें गिरजाघरो या पंचायत-घरों के चारो तरफ़ मकानात बनने लगे। सौदागर और दस्तकार अपने-अपने सघ या समितियाँ बनाने लगे और इन समितियों के दफ़्तर पंचायत-घर बन गये। यही बाद में टाउन-हाल कहलाने लगा। शायद तुम्हें लन्दन का गिल्ड हाल देखने की बात याद हो।

ये बढ़ते हुए शहर—कोलोन, फ्रेंकफुर्त, हैम्बर्ग, वग़ैरा सामन्त सरदारों की शक्ति के प्रतिद्वन्दी बन गये। इन शहरों में एक नया वर्ग यानी व्यापारी-वर्ग पैदा हो रहा था, जो अपने धन की ताकत पर अमीरों से भी टक्कर लेने लगा था। दोनों में एक लम्बा संघर्ष चला। अक्सर बादशाह अपने अमीरो और सामन्तों के प्रभाव से डरकर शहरों का साथ देते थे। लेकिन ये तो बहुत आगे की बाते है।

मैंने इस पत्र के शुरू में यह बताया था कि इस जमाने में राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी। लोग अपने प्रभु सामन्त के प्रति अपने कर्तव्य और अपनी वफादारी का ही विचार करते थे। उसी की सेवा करने की प्रतिज्ञा करते थे, देश की नही। उनके लिए बादशाह भी एक अस्पष्ट-सा व्यक्ति था, जो उन से बहुत दूर था। अगर कोई सामन्त बादशाह के खिलाफ बगावत करता तो यह बात उसी से सरोकार रखती थी। उसकी रैयत को तो उसके ही पीछे चलना पड़ता था। यह चीज़ राष्ट्रीय भावना से, जो बहुत दिन बाद पैदा हुई, बिलकुल भिन्न थी।

: ५४ :

चीन ख़ानाबदोशों को पश्चिम में खदेड़ देता है

५ जून, १९३२

मैंने बहुत दिनों से, क़रीब एक महीने से, तुम्हें चीन के और सुदूर पूर्वी देशों के बारे में कुछ नही लिखा। हम पश्चिमी एशिया, भारत और योरप की बहुत-सी तब्दीलियो की चर्चा कर चुके है। हमने अरबो को बहुत से देशो में फैलते और उन्हें जीतते देखा और योरप को फिर अन्धकार में गिरते तथा उससे बाहर निकलने की कोशिश करते भी देखा। इस दरमियान चीन अपने ढग पर चलता रहा और वास्तव में बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सातवीं और आठवी सदियो में, तंग राजाओं के शासन में, चीन शायद दुनिया का सबसे ज्यादा सभ्य, सुशहाल और सुशासित देश था। योरप की तो इस देश से तुलना ही नही की जा सकती थी, क्योंकि रोम के पतन के बाद योरप बहुत पिछड़ गया था। उत्तर भारत की हालत इस समय के ज्यादा-तर हिस्से में गिरावट की रही। इस बीच कभी-कभी शानदार जमाने भी आये—जैसे हर्ष के शासन-काल में, लेकिन कुल मिलाकर भारत गिरता ही जा रहा था। दक्षिण भारत अलबत्ता उत्तर से ज्यादा तेजस्वी था और समुद्र पार उसके उपनिवेश, श्रीविजय और अंगकोर, एक महान् युग में दाखिल हो रहे थे। कुछ बातों में इस जमाने के चीन का मुक़ाबला करने वाले अगर कोई राज्य थे तो वे बग़दाद और स्पेन के दोनो अरब राज्य थे। लेकिन ये दोनो राज्य भी कुछ ही जमाने तक अपनी शान की चोटी पर रहे। मगर दिलचस्प बात यह है कि राजगद्दी से उतारे हुए एक तंग सम्राट् ने अरबों से मदद की अपील की थी और इन्हीं की मदद से उसे अपना राज वापस मिला था।

इस प्रकार सभ्यता में चीन उस जमाने में सबसे आगे था और अगर वह उस समय के योरोपीय लोगों को आधे जंगलियों की श्रेणी में समझता हो तो यह कुछ वाजिब ही था। जितनी दुनिया उस समय मालूम थी उसमें चीन सबसे उन्नत था। 'जितनी दुनिया मालूम थी' यह वाक्य मै इसलिए इस्तेमाल करता हूँ कि मुझे नही मालूम उस समय अमरीका में क्या हो रहा था। इतना हमें जरूर पता चलता है कि मैक्सिको, पेरू और आस-पास के देशों में कई सदियों से सभ्यता चली आरही थी। कुछ बातो में ये हिस्से निराले तौर पर आगे बढे हुए थे, कुछ बातों में उतने ही ज्यादा पीछे थे। लेकिन मै इन सब चीजों के बारे में इतना कम जानता हूँ कि ज्यादा कहने की हिम्मत नही कर सकता। फिर भी मै चाहता हूँ कि तुम मैक्सिको और मध्य अमरीका और 'इनका'[1] के पेरू राज्य की 'मय' सभ्यता याद रखना। मुझसे ज्यादा विद्वान लोग शायद इनके बारे में कुछ जानने योग्य बातें तुम्हें बतावे। इतना मै जरूर स्वीकार करूंगा कि मै इनकी ओर बहुत आकर्षित हुआ हूँ लेकिन जितना मेरा आकर्षण है उतनी ही इस विषय की मेरी कम जानकारी भी है।

मै चाहता हूँ कि एक और बात भी तुम याद रखो। हम देख चुके है कि बहुत-सी खानाबदोश कौमें मध्य एशिया में पैदा हुई और देखा तो पश्चिम की ओर योरप चली गईं या नीचे भारत में उतर आईं। हूण, शक, तुर्क, और इसी तरह की बहुत-सी क़ौमें लहरो की तरह एक के बाद एक आती रहीं। सफेद हूण, जो भारत आये, और एटिला के हूण, जो योरप में थे, तुम्हें याद होंगे। सेलजूक़ तुर्क भी, जिन्होने बगदाद के साम्राज्य पर क़ब्जा किया था, मध्य एशिया से आये थे। इसके बाद तुर्कों की एक दूसरी शाख के लोग जिन्हे उस्मानी तुर्क कहा जाता है, आये। उन्होंने कस्तुन्तुनिया को आखिरी तौर पर जीत लिया और वे ठेठ विएना के दरवाजे तक पहुच गये। इसी मध्य एशिया या मगोलिया से भयंकर मगोल लोग भी आये जो विजय करते हुए योरप के ठेठ मध्य तक पहुँच गये और जिन्होने चीन को भी अपने शासन में ले लिया। इसी मंगोल वश के एक आदमी ने भारत मे एक राजवश और साम्राज्य की नीव डाली जिसमें कई मशहूर शासक पैदा हुए।

मध्य-एशिया और मगोलिया की इन खानाबदोश कौमो से चीन को बराबर लडना पडा। या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ये खानाबदोश लोग चीन को बराबर परेशान करते रहे और चीन को अपनी रक्षा के लिए मजबूर होना पडा। इन्ही कौमो से बचने के लिए चीन की 'बड़ी दीवार' बनाई गई थी। इसमें शक नही कि इस दीवार से कुछ फ़ायदा जरूर हुआ लेकिन हमलो से बचाने में यह कोई बहुत ज्यादा उपयोगी चीज नही साबित हुई। एक के बाद दूसरे सम्राट को इन खानाबदोश कौमों को पीछे खदेडना पडा और इन्हें इस तरह खदेड़ने मे ही चीनी साम्राज्य दूर पश्चिम मे कैस्पियन समुद्र तक फैल गया, जैसा कि मै तुम्हे बता चुका हूँ। चीनी लोगो मे साम्राज्य स्थापित करने की कोई ज्यादा लालसा नही थी। इनके सम्राटो मे से कुछ जरूर साम्राज्यवादी थे और दूसरे देशों को जीतने की महत्वाकांक्षा रखते थे। लेकिन और कौमो के मुकाबले में चीनी लोग शान्ति-प्रिय थे और ये लडाई या दूसरे मुल्कों को जीतना पसन्द नही करते थे। चीन में विद्वानो को सैनिको से हमेशा ज्यादा आदर और कीर्ति मिलते रहे है। इस पर भी अगर चीन का साम्राज्य कभी-कभी बहुत बढ गया तो उसकी वजह बहुत करके यह थी कि उत्तर और पश्चिम की ओर खानाबदोश क़ौमें बराबर कोचती रहती थी और हमले करती रहती थी जिससे चीन के लोग झुझला उठते थे। ताकतवर सम्राट् इन से हमेशा के लिए छुटकारा पा जाने के वास्ते इन्हें बहुत दूर पश्चिम की ओर खदेड़ दिया करते थे। इस ढंग से वे इस सवाल को हमेशा के लिए तो हल नही कर पाये लेकिन उन्हें कुछ राहत जरूर मिल गई।

पर यो चीन-निवासियो को जो राहत मिली, उसका खमियाजा अन्य मुल्को और क़ौमो को उठाना पड़ा। क्योंकि जिन खानाबदोशो को चीनी भगाते थे वे जाकर दूसरे देशो पर आक्रमण करते थे। इसी तरह ये खानाबदोश कौमे भारत आई और बार-बार योरप गईं। चीन के हन् सम्राटों ने हूणों तातारियों और दूसरे खानाबदोशो को अपने यहाँ से खदेड़ कर दूसरे देशों में पहुँचा दिया और ताग सम्राटो ने तुर्कों को योरप भिजवाया।

अभी तक तो चीनी लोग इन खानाबदोश क़ौमों से अपनी रक्षा करने में बहुत हद तक सफल रहे। लेकिन अब हम उस जमाने की चर्चा करेंगे जब वे इतने सफल नहीं रह सके।

---

[1]इनका (Inca)—दक्षिणी अमेरिका के पेरू नामक देश के प्राचीन शासकों की उपाधि। 'इनका' एक प्रकार के दैवी पुरुष माने जाते थे। पेरू में 'इनकाओं' ने लगभग तीन सौ वर्ष तक राज्य किया।

जैसा कि हमेशा राजवंशों का हर जगह हाल हुआ करता है, तांग वंश में धीरे-धीरे एक से एक ज्यादा निकम्मे शासक होते गये जिन में ऐयाशी के अलावा अपने पूर्वजों के कोई सद्गुण नही पाये जाते थे। राज्य भर में बेईमानी फैल गई और इसी के साथ-साथ भारी टैक्स लगा दिये गये जिनका बोझ ज्यादातर ग़रीब लोगो पर पड़ता था। असन्तोष बढ़ा और दसवी सदी के शुरू में यानी सन् ९०७ ई० में, यह राजवंश खतम हो गया।

लगभग पचास वर्ष तक छोटे-छोटे और अदना शासको का सिलसिला चलता रहा। लेकिन सन् ९६० ई० में चीन के एक और बड़े राजवंश की शुरूआत होती है। यह सुग राजवंश था जिसे काओ-त्सू ने स्थापित किया। लेकिन चीन की सरहदो पर और अन्दर देश में भी, झगडे जारी रहे। भारी लगानों का किसानों पर बहुत ज्यादा बोझ पडता था जिसके कारण वे नाराज़ थे। भारत की तरह चीन में भी ज़मीन का सारा बन्दोबस्त ऐसा था कि वह जनता पर बडा ज़बरदस्त बोझ डाल देता था और बिना इसे पूरी तरह बदले न तो शान्ति ही सभव थी और न तरक़्क़ी ही। लेकिन जड़ से ऊपर तक इस किस्म की तब्दीलियाँ करना हमेशा मुश्किल होता है। चोटी के लोगों को चालू प्रणाली में फायदा रहता है और जब किसी परिवर्त्तन की चर्चा होती है ये लोग बहुत शोर मचाने लगते हैं। लेकिन अगर परिवर्त्तन वक़्त पर नही किया जाता तो इसकी यह आदत है कि यह बिना बुलाए ही आजाता है और सारा मामला उलट देता है!

तांग राजवंश इसलिए खतम हो गया कि उसने जरूरी परिवर्तन नही किये। इसी वजह से सुग राजवश को भी लगातार परेशानियाँ रही। एक ऐसा आदमी पैदा हुआ जो सफल हो सकता था। इसका नाम वांग-आन-शीह था जो ग्यारहवी सदी में सुगों का प्रधान-मंत्री था। जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है, चीन का शासन कनफ्यूशियस के विचारों के अनुसार होता था। कनफ्यूशियस के शास्त्रो की परीक्षा सारे सरकारी अफसरो को पास करनी पड़ती थी और कनफ़्यूशियस के लिखे हुए आदेशो के खिलाफ जाने की कोई जुर्रत नही कर सकता था। वाँग-आन-शीह ने इन आदेशो की अवहेलना तो नही की, लेकिन उसने इनका एक निराला ही अर्थ लगाया। किसी कठिनाई मे बचने की ऐसी तरकीबें होशियार आदमी अक्सर किया करते हैं। वाँग के कुछ विचार बहुत हद तक आधुनिक ढग के थे। उसका सारा उद्देश्य यह था कि गरीबो के ऊपर से टैक्स का बोझ कम कर दे और धनवानो पर बढा दे, जो अदा कर सकते थे। इसने लगानो में कमी कर दी और किसानों को यह छूट दे दी कि अगर रुपये की सूरत में लगान देना उनके लिए मुश्किल पड़े तो वे अनाज या किसी दूसरी उपज की सूरत में लगान अदा कर दे। धनवानो पर इसने इन्कम टैक्स लगा दिया। यह टैक्स बिलकुल आधुनिक टैक्स समझा जाता है, लेकिन इसकी तजवीज चीन में हम नौ सौ वर्ष पहले पाते हैं। वाँग की यह भी तजवीज थी कि किसानों की सहायता के लिए सरकार उन्हें तक़ावी दिया करे, जिसे वे फसल पर वापस कर दें। दूसरी कठिनाई यह थी कि अनाज का भाव घटता-बढता रहता था। बाज़ार-भाव जब गिर जाता है तो गरीब किसानो को अपने खेतों की उपज की बहुत कम कीमत मिलती है। वे उसे बेच नही सकते फिर लगान देने के लिए या कोई चीज़ खरीदने के लिए पैसे कहाँ से लावे? वाग-आन-शी ने इस समस्या को हल करने की कोशिश की। उसने यह तजवीज़ की कि अनाज के भाव को बढ़ने-घटने से रोकने के लिए सरकार को ग़ल्ला खरीदना और बेचना चाहिए।

वाँग की यह भी तजवीज़ थी कि सरकारी कामो मे बेगार न ली जाय। जो आदमी काम करे उसे उसकी पूरी मजदूरी दी जाय। उसने स्थानीय रक्षक-सेना भी बनाई थी जिसे 'पाओ-चिया' कहते थे। लेकिन बदकिस्मती से वाग अपने ज़माने से बहुत आगे था, इसलिए कुछ समय बाद उसके सुधार खतम हो गये। सिर्फ़ उसकी रक्षक-सेना ही ८०० वर्ष से ऊपर क़ायम रही।

सुग लोगों में इतनी हिम्मत नही थी कि जो समस्याएं उनके सामने आई उनका मुकाबला कर सकते। इसलिए इन लोगो ने उन समस्याओ के आगे घुटने टेक दिये। उत्तर की जंगली क़ौमें, जिनको खितन कहते थे, इन्हे बहुत परेशान करती थी। इनको पीछे हटाने में अपने को असमर्थ पाकर सुग लोगो ने उत्तर-पश्चिम की एक जाति से, जिन्हे किन या 'सुनहरे तातारी' कहते थे, मदद मागी। 'किन' लोगों ने आकर खितन लोगो को मार भगाया लेकिन वे खुद वहाँ जम गये और हटने से इन्कार कर दिया। ताक़तवर से मदद माँगनेवाले कमज़ोर आदमी या कमजोर देश का अक्सर यही हाल हुआ करता है। किन लोग उत्तर चीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने पेकिंग को अपनी राजधानी बना ली। सुग लोग दक्षिण की ओर चले गये और ज्यो-

ज्यों किन बढ़ते गये वे पीछे हटते गये। इस तरह उत्तर चीन में तो किन साम्राज्य हो गया और दक्षिण में सुग साम्राज्य। इन सुगों को दक्षिणी सुग कहा गया है। सुग राजवंश उत्तर में सन् ९६० से ११२७ ई० तक रहा। दक्षिणी सुग दक्षिण चीन में इसके बाद भी १५० वर्ष तक राज्य करते रहे। अन्त में सन् १२६० ई० में मंगोलों ने आकर इन्हें खतम कर दिया। लेकिन चीन ने प्राचीन भारत की तरह इसका बदला लिया और मंगोलों को भी अपने अंदर मिलाकर और हज़म करके चीनी बना लिया।

इस तरह चीन खानाबदोश क़ौमों के सामने पस्त हो गया। लेकिन पस्त होते होते भी इसने उन खानाबदोशों को सभ्यता सिखाई; इसलिए चीन को इन क़ौमों से नुक़सान नहीं पहुंचा, जैसा एशिया और योरप के दूसरे हिस्सों में हुआ।

उत्तर और दक्षिण के सुग राजनैतिक दृष्टि से उतने ताकतवर नही थे जितने कि उनके पहले के ताग लोग। लेकिन सुगों ने तागों की महानता के युग की कला-सम्बन्धी परिपाटी क़ायम रखी, बल्कि उसकी उन्नति भी की। दक्षिण सुगो के राज्य में दक्षिण चीन में कला और कविता बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँची और बड़े सुन्दर चित्र बनाये गये। इन चित्रो में प्राकृतिक दृश्यों की विशेषता थी क्योंकि सुग कलाकार प्रकृति के उपासक थे। चीनी के बर्त्तन भी इस ज़माने में बनना शुरू हुए और कलाकारों के कुशल हाथो ने उन्हें सुन्दर बनाया। इन बर्त्तनो की बनावट दिन पर दिन ज्यादा सुन्दर और अद्भुत होती गयी, यहाँ तक कि २०० वर्ष बाद, मिंग राजाओ के समय में, चमत्कारी सुन्दरता के बर्त्तन बनने लगे। मिंग युग के बने हुए चीनी के कलश आज भी हृदय को आनन्दित करनेवाली दुर्लभ चीज़ समझे जाते है।

: ५५ :

जापान में शोगन का शासन

६ जून, १९३२

चीन से पीला समुद्र पार करके जापान पहुँचना बहुत आसान है, और अब जब कि हम जापान के इतने नजदीक पहुंच गये है, इस देश की सैर कर लेना ही मुनासिब होगा। तुम्हें जापान की पिछली बाते तो याद ही होगी। उस समय हमने देखा था कि बड़े-बड़े घराने पैदा हो रहे थे और प्रभुत्व के लिए लड रहे थे, और एक केन्द्रीय सरकार धीरे-धीरे प्रकट हो रही थी। सम्राट् जो पहले एक ताक़तवर और बड़े कुटुम्ब का सरदार था, अब केन्द्रीय सरकार का प्रमुख बन गया था। नारा नाम की राजधानी केन्द्रीय सत्ता के चिह्न के रूप में कायम की गई थी। इसके बाद राजधानी बदलकर क्योटो मे कर दी गई। चीन की शासन-प्रणाली की नक़ल की गई थी और कला, धर्म और राजनीति में जापान ने बहुत कुछ चीन से या चीन के जरिये से सीखा था। जापान का नाम 'दाई निपन' भी चीन से ही आया था।

हम यह भी देख चुके हैं कि फ़ूजीवारा नाम के एक वश ने सारी ताक़त अपने हाथ में कर ली थी, और वह सम्राट् को कठपुतली की तरह नचाता था। दो सौ वर्ष तक इसी तरह राज चलता रहा। आखिरकार सम्राटो ने बेबस होकर गद्दियाँ छोड़ दी और मठो में आसरा लिया। लेकिन साधु होने पर भी भूतपूर्व सम्राट् गद्दी पर बैठे हुए अपने पुत्र सम्राट् को सलाह-मशविरा देकर शासन के कामो में बहुत दखल देता था। इस तरीक़े से सम्राटों ने फ़ूजीवारा कुटुम्ब से पैदा होनेवाली अड़चन को किसी हद तक मिटाने की कोशिश की। हालाँकि काम करने का यह तरीक़ा बहुत पेचीदा था लेकिन फिर भी इससे फ़ूजीवारा वश की शक्ति बहुत कम हो गई। असली ताकत सम्राटों के हाथ मे होती थी, जो राजगद्दी छोड-छोड़ कर साधु बनते जाते थे। इसलिए इनको 'मठवासी सम्राट्' कहा गया है।

इस दरमियान दूसरी तब्दीलियाँ हुईं और बड़े-बड़े ज़मीदारों का, जो सैनिक भी थे, एक नया वर्ग भी पैदा हुआ। फ़ूजीवारों ने ही इन जमींदारों को बनाया था और इन्हें सरकारी टैक्स जमा करने के लिए मुकर्रर किया था। इनको 'दाइम्यो' कहते थे—जिसका अर्थ 'बड़ा नाम' है। अँग्रेजों के आने से पहले इसी किस्म

का एक वर्ग हमारे सूबे में भी पैदा हुआ। खासकर अवध के कमजोर बादशाह ने मालगुजारी वसूल करने वाले मुकर्रर किये थे। ये लोग अपनी छोटी-छोटी फ़ौजें रखते थे, ताकि उनकी मदद से जबरदस्ती वसूली कर सकें। जाहिर है कि वसूली का ज्यादातर हिस्सा ये लोग अपनी ही जेबो मे रख लिया करते थे। यही मालगुजारी वसूल करने वाले कुछ लोग बढ़कर बड़े-बड़े ताल्लुकेदार बन गये।

दाइम्यो लोग अपने हुजूरियों और अपनी छोटी-छोटी सेनाओं की मदद से बड़े ताक़तवर हो गये। वे आपस में लड़ते थे और क्योटो की केन्द्रीय सरकार की कोई परवाह नही करते थे। दाइम्यो के घरानों में दो घराने मुख्य थे—एक तायरा और दूसरा मिनामोतो। इन लोगो ने सन् ११५६ ई० मे फूजीवारो को दबाने में सम्राट की मदद की। लेकिन बाद में वे एक दूसरे पर हमले करने लगे। तायरा लोग जीत गये और इस इत्मीनान के लिए कि प्रतिद्वन्दी घराना भविष्य में उन्हे परेशान न करे, उन्होने मिनामोतो घरानेवालों को क़त्ल कर दिया। उन्होंने सभी प्रमुख मिनामोतो को मार डाला। सिर्फ़ चार बच्चो को छोड़ दिया जिनमें से एक बारह वर्ष का बालक योरीतोमो था। तायरा घराने ने मोनामोतो को खतम कर देने की कोशिश तो की लेकिन पूरी तरह नहीं की। यह लडका योरीतोमो, जिसे न-कुछ समझ कर छोड दिया गया था, बड़ा होकर तायरा घराने का कट्टर दुश्मन बन गया। उसके दिल मे बदला लेने की आग थी। वह अपनी अभिलाषा में सफल हुआ। उसने तायरा लोगो को राजधानी से निकाल दिया और एक समुद्री लड़ाई में उनको नहस-नहस कर दिया।

इसके बाद योरीतोमो ने सारी ताकत हथिया ली और सम्राट् ने उसे 'सी-ए ताई-शोगुन' की लम्बी-चौड़ी उपाधि दी, जिसका मतलब है 'बर्बरो को दमन करने वाला महान सेनापति'। यह सन् ११९२ ई० की बात है। यह उपाधि पुश्तैनी थी और इसके साथ शासन के पूरे अधिकार जुडे हुए थे। असली शासक शोगन ही होता था। इस तरह जापान मे शोगनशाही कायम हुई। इसका दौर बहुत दिनों तक, यानी करीब ७०० वर्ष, रहा और क़रीब-करीब मौजूदा ज़माने तक चला। लेकिन आधुनिक जापान अपने इस सामन्ती दायरे को तोड़ कर बाहर निकल आया।

लेकिन इसका यह मतलब नही है कि योरीतोमो के वशजो ने ही शोगुनो की हैसियत से ७०० वर्ष राज्य किया। जिन घरानो से शोगुन निकले थे उनमें कई तब्दीलियाँ हुई। गृह-युद्ध बराबर होते रहे लेकिन शोगनशाही, यानी शोगन का वास्तविक शासक होना और सम्राट् के नाम पर, जिसे कोई अधिकार नही होते थे, राज्य करना, इस लम्बे अर्से तक जारी रही। अक्सर ऐसा भी होता था कि शोगन भी नाम मात्र को रह जाता था और असली सत्ता कुछ हाकिमो के हाथ में होती थी।

राजधानी क्योटो के विलासितामय जीवन से योरीतोमो बहुत डरता था क्योकि उसकी यह धारणा थी कि आराम की जिन्दगी उसे और उसके साथियो को कमज़ोर बना देगी। इसलिए उसने कामाकुरा मे अपनी सैनिक राजधानी बनाई और इसलिए यह पहली शोगनशाही 'कामाकुरा शोगनशाही' कहलाती है। यह १३३३ ई० तक, यानी करीब १५० वर्ष रही। इस युग के अधिकाश भाग मे जापान मे शाति रही। बहुत वर्षों के गृह-युद्ध के बाद शाति का लोगों ने बहुत स्वागत किया और सम्पन्नता का युग शुरू हुआ। इस ज़माने मे जापान की हालत उस समय के योरप के किसी भी देश की हालत से कही बेहतर थी और इसका शासन भी ज्यादा अच्छा था। जापान चीन का योग्य शिष्य था, हालाँकि दोनो के दृष्टिकोणो मे बहुत फ़र्क था। जैसा मैंने बताया है, चीन स्वभाव से ही शान्तिप्रिय और सतोषी देश था। इसके विपरीत जापान एक उग्र सैनिक देश था। चीन में लोग सैनिको को बुरी निगाह से देखते थे और सिपहगिरी का पेशा कुछ इज्जतदार नहीं समझा जाता था। जापान में चोटी के आदमी सिपाही होते थे और सैनिक वीर या दाइम्यो उनका आदर्श था।

मतलब यह कि जापान ने चीन से बहुत-कुछ सीखा। लेकिन अपने ही तरीक़े से सीखा और उसने हरेक चीज को अपनी जातीय भावना के अनुरूप बनाने और ढालने की कोशिश की। चीन के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा और व्यापार भी चलता रहा, जो ज्यादातर चीनी जहाजो के जरिये होता था। तेरहवीं सदी के अन्त में यह सिलसिला एकदम से रुक गया क्योंकि मंगोल लोग चीन और कोरिया में पहुँच गये थे। मंगोलों ने जापान को भी जीतने की कोशिश की लेकिन पीछे हटा दिये गये। जिस तरह इन मंगोलों ने एशिया की काया-पलट कर दी और योरप को हिला दिया, उनका जापान पर कोई खास असर

न पड़ा। जापान अपने पुराने ढंग पर ही चलता रहा और बाहरी प्रभावो से पहले की अपेक्षा और भी दूर हो गया।

जापान के पुराने सरकारी इतिहास में एक कहानी है कि इस देश में कपास का पौधा पहले-पहल कैसे आया। कहते है कि कुछ भारतवासी, जिनका जहाज जापानी किनारे के नजदीक डूब गया था, सन् ७९९ ई० में कपास का बीज अपने साथ जापान ले गये थे।

चाय का पौधा इसके बाद आया। पहले-पहल यह पौधा नवी सदी की शुरूआत में पहुँचा था लेकिन उस समय यह चल नही पाया। सन् ११९१ ई० मे एक बौद्ध भिक्षु चीन से चाय के बीज लाया था; इसके बाद चाय बहुत जल्दी लोकप्रिय हो गई। चाय पीने की आदत से सुन्दर चीनी के बर्त्तनों की माग पैदा हुई। तेरहवीं सदी के आखीर में चीनी के बर्त्तन बनाने की कला सीखने के लिए एक जापानी कुम्हार चीन गया और वहा छै वर्ष रहा। वापस आने पर उसने चीनी के सुन्दर जापानी बर्त्तन बनाने शुरू किये। जापान मे आजकल चाय पीना एक ललित कला है, जिसके साथ एक लम्बा-चौडा शिष्टाचार जुड गया है। अगर कोई जापान जावे तो उसे सही ढग से चाय पीनी चाहिए वरना उसे कुछ वहशी समझा जायगा।

: ५६ :

मनुष्य की खोज

१० जून, १९३२

चार दिन हुए, मैंने तुम्हें बरेली जेल से पत्र भेजा था। उसी दिन शाम को मुझ से अपना असबाब इकट्ठा करके जेल से बाहर जाने को कहा गया—छूटने के लिए नही, बल्कि दूसरी जेल में भेजा जाने के लिए। इसलिए मैंने उस बैरक के अपने साथियो से बिदा ली, जहाँ मै ठीक चार महीने रहा था। मैंने उस बडी २४ फुट की ऊँची दीवार पर आखिरी नजर डाली, जिसकी छाया मे इतने दिन रहा था, और मै थोडी देर के लिए बाहर की दुनिया फिर देखने के वास्ते निकल पडा। हम दो आदमियो की बदली की जा रही थी। अधिकारी हमे बरेली स्टेशन नही ले गये, कि कही लोग हमे देख न ले, क्योकि हम लोग 'परदानशीन' हो गये थे और दूसरे लोग हमें देख नही सकते थे। मोटर से हमे पचास मील दूर वीरान जगल में एक छोटे से स्टेशन पर ले जाया गया। इस सैर के लिए मैंने मन ही मन धन्यवाद दिया, क्योकि कई महीनो के एकान्त के बाद रात की ठडी हवा का स्पर्श और हलके अधेरे मे आदमियो, जानवरों, और पेड़ो की तेज़ी से भागती हुई छायाए तबियत को बडी भली मालूम होती थी।

हम लोग देहरादून पहुँचाये जा रहे थे। बड़े तडके ही, सफर की आखिरी मजिल तक पहुँचने से पहले हमे रेल से उतार लिया गया और मोटर पर बिठा कर ले जाया गया, ताकि कही कोई हमें देख न ले।

और अब मै देहरादून की छोटी-सी जेल मे बैठा हूँ। यह बरेली से अच्छी जगह है। यहाँ उतनी गर्मी नही, और टेम्परेचर बरेली की तरह ११२° तक नही पहुँचता। हमारे चारो तरफ की दीवारें भी नीची है, और उनके पार दिखाई देनेवाले पेड ज्यादा हरे भरे है। दीवार के उस पार दूर पर एक खजूर के पेड की चोटी दिखाई देती है, इस दृश्य से मेरी तबीयत खुश हो जाती है और मुझे लका और मलाबार की याद आ जाती है। इन पेडो के परली तरफ कुछ ही मील के फासले पर पहाड़ है, और इन पहाडो की चोटी पर मसूरी बसा हुआ है। मैं पहाडो को नहीं देख सकता, क्योकि पेडो ने इनको छिपा रखा है, लेकिन इन पहाडो के नजदीक रहना और रात में यह कल्पना करना कि बहुत दूर मसूरी के चिराग टिमटिमा रहे है, अच्छा मालूम होता है।

चार वर्ष हुए—या तीन?—जब मैंने इन पत्रों का सिलसिला शुरू किया था, उस वक्त तुम मसूरी में थी। इन तीन या चार वर्षों में कितनी-कितनी बातें हो गई, और तुम कितनी बड़ी हो गई हो। रह-रहकर और कभी-कभी लम्बे अवकाशों के बाद मैंने इन खतों को जारी रखा है और ये ज्यादातर जेल में ही लिखे गये है। लेकिन जितना ही मै लिखता जाता हूँ उतना ही मै अपने लिखे को नापसन्द करता जाता हूँ; मुझे आशका

होने लगती है, कि कहीं ऐसा न हो कि ये पत्र तुम्हें दिलचस्प न लगें और कहीं तुम्हारे लिए बोझ बन जायें। ऐसी हालत में इन पत्रों को क्यों जारी रखूं ?

मैं चाहता था कि तुम्हारे सामने एक-एक करके पुराने जमाने की जीती-जागती तस्वीरें रखूं, ताकि तुम्हें यह भान हो सके कि हमारी यह दुनिया सीढ़ी-दर-सीढ़ी किस तरह बदली, कैसे विकसित और उन्नत हुई, और कैसे कभी-कभी पीछे हटती हुई नजर आई, तुम्हें दिखलाऊँ कि पुरानी सभ्यताएं कैसी थी और वे ज्वार-भाटे की तरह कैसे आगे बढ़ी और फिर पीछे हटी। तुम्हे महसूस कराऊ कि इतिहास की नदी, चक्कर, भँवर और दह बनाती हुई, किस प्रकार बराबर युग-युगान्तर से निरन्तर बहती चली आ रही है और अज्ञात समुद्र की तरफ़ दौड़ी चली जा रही है। मै चाहता था कि तुम्हें मनुष्य जाति के पैरो की लीक का परिचय कराऊं और इस लीक पर शुरू से लगाकर आज तक, यानी जब मनुष्य मानव नही बना था तब से आजतक जब कि वह प्रमाद और मूर्खता से अपनी महान सभ्यता पर घमंड करने लगा है, तुम्हे ले चलू। हम लोगो ने शुरू तो इसी तरह से किया था। तुम्हें याद होगा कि मसूरी मे हमने इस बात की चर्चा शुरू की थी, कि पहले-पहल आग और खेती का आविष्कार कैसे हुआ, लोग कस्बो में कैसे बसे और श्रम का बँटवारा कैसे हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यो हम आगे बढ़ते गये, त्यो-त्यो हम साम्राज्यो वग़ैरा में उलझते गये, और उस लीक को खो बैठे। अभी तक हम इतिहास की ऊपरी सतह पर ही चलते रहे है। मैंने तुम्हारे सामने पुरानी घटनाओं का एक ढाँचा ही रखा है। मै चाहता हूँ कि मुझे इस ढाचे पर मास और खून चढ़ाने की शक्ति प्राप्त हो जाय ताकि मै इसे तुम्हारे लिए सजीव और प्राणवान बना सकूं।

मगर मै जानता हूं कि मुझमे वह शक्ति नहीं है और तुम्हे घटनाओ के ढांचे मे जान फूंकने के इस चमत्कार को सफल बनाने के लिए अपनी ही कल्पना पर भरोसा करना पड़ेगा। फिर मैं तुम्हे ये पत्र क्यों लिखूं ? क्योंकि प्राचीन इतिहास की अनेक अच्छी किताबे तुम खुद ही पढ सकती हो। लेकिन इन शकाओं के बावजूद भी मैंने पत्रो का सिलसिला जारी रखा है और मेरा ख़याल है कि मै इसे आगे भी जारी रखूंगा। जो वादा मैंने तुमसे किया था वह मुझे याद है और इसे पूरा करने की मै कोशिश करूंगा। लेकिन इस वादे से भी ज्यादा वह आनन्द है जो मुझे तुम्हारी याद से उस वक्त मिलता है जब मै लिखने बैठता हूँ और कल्पना करता हूँ कि तुम मेरे पास बैठी हो और हम एक दूसरे से बातें कर रहे है।

जब से मानव लुढ़कता-पुढ़कता अपनी जंगली हालत से बाहर निकला तब से उसकी यात्रा का जिक्र मैंने ऊपर किया है। यह रास्ता लाखो वर्षों का रहा है, फिर भी अगर तुम पृथ्वी की कहानी और आदमी के उस पर जन्म लेने के पहले के युग-युगान्तरो से इसका मुकाबिला करो तो यह समय कितना कम है! लेकिन हमारे लिए उन तमाम बडे-बडे जानवरो के मुकाबले में, जो मनुष्य के पहले मौजूद थे, मनुष्य स्वभावत. अधिक दिलचस्पी रखता है। यह इसलिए कि मनुष्य अपने साथ एक नई चीज लाया जो शायद दूसरो में नही पाई जाती थी। यह थी बुद्धि और कौतूहल, यानी खोजने की और सीखने की इच्छा। इस प्रकार आदमी में खोज की धुन आदि से शुरू हुई। किसी छोटे बच्चे को देखो, वह अपने चारों ओर की नई और विचित्र दुनिया को कैसे देखता है; आदमियो को और दूसरी चीजो को वह कैसे पहचानने लगता है और कैसे सीखता है। किसी छोटी लड़की को देखो; अगर वह तन्दुरुस्त और चारों तरफ नज़र दौड़ाने वाली है तो वह कितनी ही बातो के बारे में कितने ही सवाल करेगी। इसी तरह इतिहास के प्रभात काल में, जब मानव का बचपन था और दुनिया नई और अद्भुत थी और उसके लिए कुछ डरावनी भी थी, उसने अपने चारों तरफ़ मामूली तौर पर और नज़र जमा कर देखा होगा और सवालात पूछे होगे। लेकिन वह अपने सिवा सवाल पूछता भी किससे ? कोई दूसरा जवाब देनेवाला नहीं था। हाँ, उसके पास एक छोटी-सी अजीब चीज थी—बुद्धि। उसकी मदद से, धीरे-धीरे और मुसीबतें उठाकर, वह अपने अनुभवों को जमा करता गया और उनसे ज्ञान हासिल करता गया। इस तरह शुरू के जमाने से आज तक मानव की खोज का सिलसिला चला आ रहा है। उसने बहुत-सी बातें मालूम करली है लेकिन बहुत-सी अभी मालूम करनी बाक़ी हैं। जैसे-जैसे वह अपनी खोज के रास्ते पर आगे बढ़ता है उसे लम्बे-चौड़े नये मैदान सामने फैले हुए मिलते है जो उसे बतलाते हैं कि वह अब भी अपनी खोज की आखिरी मजिल से—अगर आखिरी मंजिल कोई है—कितना दूर है।

मनुष्य की यह खोज क्या रही है और उसकी मंजिल क्या है ? हजारों वर्षों से आदमियों ने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की है। धर्म, दर्शन और विज्ञान, सब ने इन प्रश्नों पर विचार किया है और

बहुत-से जवाब दिये हैं। लेकिन इन जवाबों से मैं तुम्हें परेशान नहीं करूंगा, क्योंकि ज्यादातर जवाब मुझे मालूम ही नहीं हैं। देखा जाय तो धर्म ने अपने ढंग पर इन सवालो का पूरा जवाब देने की कोशिश की है। पर उसमें तर्क की गुंजायश नही रक्खी। बहुत करके धर्म ने बुद्धि की कोई परवाह नहीं की और अपने निर्णयों को हर तरह से जबरदस्ती मनवाने की कोशिश की है। विज्ञान संदिग्ध और शका-पूर्ण उत्तर देता है, क्योंकि विज्ञान का स्वभाव यह है कि वह हठ-धर्मी नहीं करता। वह प्रयोग और तर्क करता है और मनुष्य की बुद्धि का सहारा लेता है। यह कहने की जरूरत नही कि मै विज्ञान को और वैज्ञानिक ढंग को ही पसन्द करता हूँ।

यह सम्भव है कि हम मनुष्य की खोज के बारे में इन सवालों का जवाब निश्चय-पूर्वक न दे सकें। लेकिन इतना हम देखते है कि यह खोज दो ढंग पर चली है। मनुष्य ने अपने बाहर की वस्तुओं पर ग़ौर किया है और अपनी अन्तरात्मा पर भी; उसने प्रकृति को समझने की कोशिश की है और अपने आप को भी। यह खोज वास्तव मे एक ही है, क्योंकि आदमी खुद प्रकृति का अंश है। भारत और यूनान के पुराने तत्व-ज्ञानियों ने कहा है—"अपने को जानो"। और उपनिषदों में इस ज्ञान के लिए प्राचीन आर्य-भारतीयो के इन अद्भुत और निरन्तर प्रयत्नों का लेखा है। प्रकृति का दूसरा ज्ञान विज्ञान का खास विषय रहा है और इस दिशा में विज्ञान ने जो तरक्की की है उसका परिचय आधुनिक जगत को मिल रहा है। अब तो वास्तव मे विज्ञान अपने पख और भी आगे पसार रहा है और इन दोनों रास्तों की खोज को हाथ में ले रहा है और उनको आपस में जोड़ रहा है। एक ओर तो विज्ञान बहुत दूर के सितारों की आत्म-विश्वास के साथ खोज कर रहा है, और दूसरी ओर हमें उन निरन्तर गतिशील नन्ही-नन्ही चीजों, अर्थात् विद्युत्कणों का हाल भी बता रहा है जिनसे सारा पदार्थ बना है।

आदमी की बुद्धि ने उसे उसकी खोज की यात्रा में काफी दूर की मजिल तक पहुँचा दिया है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रकृति को समझना सीखता जाता है वैसे-वैसे वह उसका उपयोग करके उसे अपने फायदे के कामो मे लगाता जाता है और इस प्रकार उसने अधिक शक्ति हासिल कर ली है। लेकिन दुःख है कि इस नई शक्ति का उसने ठीक ढंग से इस्तैमाल नही किया बल्कि अकसर बेजा इस्तैमाल किया है। मनुष्य ने विज्ञान का ज्यादातर उपयोग ऐसे भयकर अस्त्र बनाने के लिए किया है जिनसे वह अपने ही भाइयों को मार रहा है और इतनी मेहनत से निर्माण की हुई सभ्यता को नष्ट कर रहा है।

: ५७ :

ईसा के बाद के पहले हज़ार वर्ष

अब यह मुनासिब मालूम होता है कि हम अपनी यात्रा की जिस मंजिल पर आ पहुँचे हैं वहाँ थोडी देर के लिए ठहर जायें और चारो तरफ नजर डाल ले। हम कितनी दूर आ पहुँचे है, इस समय कहां है और दुनिया की क्या हालत है? आओ हम अलादीन की जादुई कालीन पर बैठकर उस समय की दुनिया के मुख्तलिफ़ हिस्सो की कुछ सैर कर लें।

हम ईसाई सन् के पहले हज़ार वर्ष की यात्रा कर चुके है। कुछ देशों में हम ज़रा आगे बढ गये है और कही इस मंजिल से कुछ पीछे भी रह गये है।

हम देखते है कि एशिया में इस समय चीन सुग राजवंश के अधीन था। महान् तंग वश खत्म हो चुका था और सुगो को एक तरफ घरेलू झगडो का सामना करना पड़ रहा था और दूसरी तरफ़ उत्तर के बर्बर खितनों के विदेशी हमले का। डेढ़ सौ वर्ष तक उन्होंने मुक़ाबला किया, लेकिन फिर अपनी कमजोरी की वजह से उन्हें एक दूसरी वहशी कौम 'सुनहरे तातारों' या 'किन' लोगों से मदद माँगनी पड़ी। किन आये, लेकिन वहीं जम गये और बेचारे सुगों को खिसक कर दक्षिण चले जाना पड़ा, जहां दक्षिण सुगों के नाम से उन्होने डेढ़ सौ वर्ष तक और राज्य किया। इस बीच में वहा सुन्दर कलाओं, चित्रकारी और चीनी के बर्तन बनाने की कला की खूब उन्नति हुई।

कोरिया में आपस की फूट और संघर्ष के युग के बाद सन् ९३५ ई० में एक संयुक्त स्वतंत्र राज्य बना और यह बहुत दिनों, करीब साढ़े चार सौ वर्ष, क़ायम रहा। कोरिया ने चीन से अपनी सभ्यता, कला और शासन-पद्धति के बारे में बहुत कुछ सीखा। धर्म और थोड़ी बहुत कलाएं चीन होकर भारत से कोरिया और जापान को गईं। पूर्व में बहुत दूर पर स्थित जापान एशिया के संतरी की तरह दुनिया से बिलकुल अलग अपनी ज़िन्दगी कायम किये हुए था। फूजीवारा खानदान ने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली थी। उन्होंने सम्राट् को, जो अब एक कुल के सरदार से कुछ ज्यादा हैसियत वाले हो गये थे, पीछे डाल दिया था। इसके बाद शोगन आये।

मलेशिया में भारतीय उपनिवेश फूल-फल रहे थे। शानदार अंगकोर कम्बोज की राजधानी था और यह राज्य अपनी शक्ति और उन्नति की चोटी पर पहुँच गया था। सुमात्रा में श्रीविजय एक बौद्ध साम्राज्य की राजधानी थी। इस साम्राज्य का सब पूर्वी टापुओं पर अधिकार था, और इन टापुओं के साथ उसका बहुत बड़ा व्यापार चलता था। पूर्वी जावा में एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य था, जो बहुत जल्द उन्नति करके व्यापार और व्यापार से पैदा होनेवाले धन के लिए श्रीविजय से होड़ करते हुए उसके साथ भयंकर लड़ाई में उतरने वाला था। और, जैसा कि व्यापार के लिए आजकल की यूरोपियन क़ौमें करती है, इसने अन्त में श्रीविजय को जीत लिया और नष्ट कर डाला।

भारत में उत्तर और दक्षिण एक दूसरे से इतने अलग हो गये जितने कुछ दिनों से कभी नहीं रहे थे। उत्तर में महमूद ग़ज़नवी बार-बार धावे मार रहा था और विनाश और लूट-पाट कर रहा था। वह अपार धन लूट कर ले गया और उसने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिण में हम देखते है कि चोल साम्राज्य बढ रहा था और राजराजा तथा उसके लड़के राजेन्द्र के शासन में उसकी शक्ति दिन-दिन बढ़ रही थी। उन्होंने दक्षिण भारत पर अपना सिक्का जमा लिया था और उनकी जल-सेनायें अरब समुद्र और बंगाल की खाड़ी पर हावी हो रही थी। लंका, दक्षिण ब्रह्मदेश और बंगाल को जीतने के लिए भी उन्होंने धावे किये थे।

मध्य और पश्चिम एशिया में हम बग़दाद के अब्बासी साम्राज्य का कुछ बचा-खुचा वैभव देखते हैं। बग़दाद अभी तक फूल-फल रहा था और एक नये शासक वर्ग, यानी सेलजूक तुर्कों के शासन में उसकी ताकत बढ रही थी। लेकिन पुराना साम्राज्य कई राज्यों में बँट चुका था। इस्लाम अब एक साम्राज्य नहीं रह गया था बल्कि अब वह बहुत-से देशों और जातियों का केवल मज़हब रह गया था। अब्बासिया साम्राज्य के खंडहर से ग़ज़नी की सल्तनत पैदा हुई जिस पर महमूद ने राज्य किया और जहां से वह भारत पर झपट्टे मारता रहता था। हालांकि बग़दाद का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, लेकिन बग़दाद खुद अभी तक बहुत-बड़ा शहर बना हुआ था, और दूर-दूर के विद्वानों और कलाकारों को अपने यहाँ आकर्षित कर रहा था। मध्य एशिया में उस समय कई बड़े और मशहूर शहर उन्नति कर रहे थे, जैसे बुखारा, समरकन्द, बलख वगैरा। इन शहरों के बीच खूब व्यापार हुआ करता था और बड़े-बड़े कारवाँ व्यापार का माल एक शहर से दूसरे शहर को लाते ले जाते थे।

मंगोलिया में और उसके आस-पास खानाबदोशों की नई कौमों की तादाद और ताकत बढ रही थी। दो सौ वर्ष बाद ये सारे एशिया के ऊपर टूट पड़ने वाली थी। आज भी मध्य और पश्चिमी एशिया की मुख्य जातियाँ खानाबदोशों की जन्मभूमि इसी मध्य एशिया से आई हुई हैं। चीनियों ने इन्हें पश्चिम की तरफ खदेड़ दिया था और कुछ तो इन में से भारत की तरफ़ और कुछ योरप की तरफ फैल गईं थी। इसी समय पश्चिम की ओर खदेड़े गये सेलजूक तुर्कों ने बग़दाद के साम्राज्य का सितारा फिर बुलन्द किया, और कुस्तुन्तुनिया के पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण करके उसे हरा दिया।

यह तो एशिया की बात रही। लाल समुद्र के उस पार मिस्र था जो बग़दाद से बिलकुल आज़ाद था। मिस्र के मुसलमान शासक ने अपने को अलग खलीफा घोषित कर दिया था। उत्तरी अफरीका भी एक स्वतंत्र मुसलमानी राज्य था। जिब्राल्टर के जल-डमरूमध्य के उस पार स्पेन में भी एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य था जिसे क़ुर्तुबा या कार्डोवा की अमारत कहा गया है। इसके बारे में मैं तुम्हे आगे कुछ बताऊंगा। लेकिन इतना तो तुम जानती ही हो कि स्पेन ने शक्तिशाली अब्बासिया खलीफाओं की मातहती क़बूल नहीं की थी। उस समय से यह देश स्वतन्त्र ही था। फ्रांस को जीतने की इसकी कोशिश को चार्ल्स मार्टेल ने बहुत पहले

ही नाकामयाब कर दिया था। अब स्पेन के उत्तरी हिस्से के ईसाई राज्यों की बारी थी कि मुसलमानों पर हमला करें और ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रा इनका हौंसला भी बढ़ता गया। लेकिन जिस वक्त की बात हम कर रहे हैं, उस वक्त कारडोबा की अमारत एक बड़ा और उन्नतिशील राज्य था और सभ्यता और विज्ञान में योरप के और देशों से कहीं आगे था।

स्पेन को छोड़कर योरप कई ईसाई राज्यों में बँटा हुआ था। इस समय तक ईसाई धर्म सारे महाद्वीप में फैल चुका था और वीरों और देवी-देवताओं के पुराने मज़हब योरप से क़रीब-करीब ग़ायब हो चुके थे।

आज-कल के योरोपीय देशों की शक्लें बनने लगी थीं। सन् ९८७ ई० में ह्यू कैपेट की मातहती में फ़्रांसका नाम सामने आया। डेनमार्क का रहनेवाला कैन्यूट, जो समुद्र की लहरों को पीछे हटने का हुक्म देने के कारण मशहूर है, इंग्लैण्ड में सन् १०१६ ई० में राज्य करता था और पचास वर्ष बाद नारमंडी से 'विजेता' विलियम आया। जर्मनी पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन एक राष्ट्र बनता जा रहा था हालाँकि वह अभी तक बहुतेरी छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। रूस पूर्व की तरफ़ फैल रहा था और कुस्तुन्तुनिया को अपने जहाज़ों से अक्सर भयभीत किया करता था। यह उस आश्चर्य-जनक मोह और आकर्षण की शुरूआत थी जो कुस्तुन्तुनिया के लिए रूस के दिल में हमेशा रहा है। रूस को इस बड़े शहर को पाने की लालसा एक हज़ार वर्ष से लगी हुई है और उसे उम्मीद थी कि पहले महायुद्ध के खतम होने पर, यह शहर उसे मिल जायगा। लेकिन क्रान्ति ने एकदम आकर पुराने रूस के सारे मनसूबों को उलट-पुलट कर दिया।

नौ सौ वर्ष पुराने योरप के नकशे में तुम्हें पोलेण्ड और हंगरी भी मिलेंगे, जहाँ मगियार लोग रहा करते थे, और बलगारिया के और सर्ब लोगों के राज्य भी दिखाई देंगे। तुम इसमें पूर्वी रोमन साम्राज्य को भी पाओगी जिसे चारों ओर से अनेक दुश्मन घेरे हुए थे लेकिन वह अपने ढर्रे पर चला जा रहा था। रूसियों ने उस पर हमला किया, बलगारिया के लोगों ने उसको परेशान किया और नार्मन लोग समुद्र के रास्ते बराबर उसे दिक करते रहे। और अब सबसे ज्यादा खतरनाक सेलजूक तुर्क निकले जो उसकी जिन्दगी को ही खतम करना चाहते थे। लेकिन इन दुश्मनों और बहुत-सी दूसरी कठिनाइयों के बावजूद भी यह साम्राज्य अभी ४०० वर्ष तक खतम होनेवाला नहीं था। इस आश्चर्यजनक डटाव की कुछ वजह यह थी कि कुस्तुन्तुनिया की स्थिति बहुत दृढ़ थी। यह ऐसी अनुकूल जगह पर बसा था कि किसी दुश्मन के लिए इस पर कब्ज़ा करना मुश्किल था। कुछ वजह यह भी थी कि यूनानियों ने रक्षा का एक नया ढंग ईजाद किया था। इसका नाम 'यूनानी आग' था। यह कोई ऐसा मसाला था जो पानी के छूते ही जलने लगता था। इस यूनानी आग के ज़रिये से कुस्तुन्तुनिया के लोग बास्फोरस[1] को पार करके हमला करने की कोशिश करनेवाली फ़ौजों के जहाज़ों में आग लगाकर उन फौजों को तहस-नहस कर देते थे।

ईसवी सन् के १००० बरसों के बाद योरप का यह नक़शा था। उसी वक़्त नार्मन लोग अपने जहाज़ों में आ रहे थे और भूमध्य सागर के किनारे के शहरों को और समुद्र के जहाज़ों को लूट रहे थे। सफलता मिलने से ये वास्तव में शरीफ भी बनते गये। फ़्रांस में ये लोग उसके पश्चिमी हिस्से, नारमंडी, में बस गये थे। फ्रांस को अड्डा बनाकर उन्होंने इग्लैण्ड को जीत लिया था। सिसली का टापू उन्होंने मुसलमानों से छीन लिया और उसमें दक्षिण इटली को जोड़कर 'सिसीलिया' राज्य क़ायम कर दिया।

योरप के मध्य में, उत्तरी समुद्र से रोम तक, 'पवित्र रोमन साम्राज्य' पसरा हुआ था जिसमें बहुत सी रियासतें थीं और सबका प्रमुख एक सम्राट होता था। जर्मन सम्राट् और रोम के पोप के बीच प्रभुत्व के लिए बराबर खींच-तान बनी रहती थी। कभी सम्राट का पासा भारी रहता और कभी पोप का। लेकिन धीरे-धीरे पोपों की शक्ति बढ़ती गई। बहिष्कार यानी किसी आदमी को समाज से छेक कर न्याय से वंचित कर देने की धमकी का भयंकर हथियार पोपों के हाथ में था। पोप ने एक अभिमानी सम्राट् को तो इतना ज़लील किया कि उसे माफ़ी मांगने के लिए बर्फ़ में नंगे पांव पोप के पास जाना पड़ा था और कनौज़ा (इटली) में पोप के निवास स्थान के बाहर इसी तरह उस समय तक खड़े रहना पड़ा था, जबतक कि पोप ने मेहरबानी करके उसे अन्दर दाखिल होने की इजाज़त नहीं दी!

---

[1] बास्फोरस—दरें दानियाल का जल-डमरूमध्य

हम देख रहे हैं कि इस समय योरप के देश एक खास शक्ल लेने लगे थे। फिर भी वह आज के देशों से बिलकुल भिन्न थे—खासकर उनके निवासी तो भिन्न थे ही। ये लोग अपने को फ़ासीसी, अंग्रेज़ या जर्मन नहीं कहते होंगे। ग़रीब किसान बहुत मुसीबत में थे और अपने देश या भूगोल के बारे में कुछ नहीं जानते थे; सिर्फ़ इतना जानते थे कि हम अपने जागीरदार के चाकर हैं और हमें उसकी आज्ञा का पालन करना है। अगर सामन्तों से कोई पूछता कि तुम कौन हो तो वे यही जवाब देते कि हम किसी जगह के जागीरदार हैं और किसी बड़े जागीरदार के या बादशाह के ताबेदार हैं। यही सामन्तशाही थी जो सारे योरप में फैली हुई थी।

धीरे-धीरे जर्मनी में, और खासतौर से उत्तर इटली में, बड़े-बड़े शहर बढ़ने लगे। पेरिस उस वक्त भी एक मशहूर शहर था। ये शहर व्यापार और तिजारत के केन्द्र थे, और वहाँ बहुत धन इकट्ठा होता जाता था। ये शहर सामन्तों को पसन्द नहीं करते थे और इन दोनों के बीच हमेशा खींच-तान रहती थी। पर अन्त में पैसे की जीत हुई। सामन्तों और जागीरदारों को उधार देकर शहरों ने पैसे की मदद से रियायतें और सत्ता खरीदीं। और इस तरह शहरों में धीरे-धीरे एक नया वर्ग पैदा हो गया जिसकी इस सामतशाही से कभी नहीं पटी।

इस तरह हम देखते हैं कि योरप का समाज सामन्त पद्धति के ढंग पर बहुत सी तहों में बँट गया था और ईसाई धर्माधिकारी भी इस प्रणाली को अपनी स्वीकृति और अपना आशीर्वाद देते थे। राष्ट्रीयता की कोई भावना नहीं पाई जाती थी। लेकिन सारे योरप में, खासकर ऊँचे वर्ग में, ईसाई राज्य की भावना ज़रूर थी। यह एक ऐसी चीज़ थी जो योरप के ईसाई राष्ट्रों को एक सूत्र मे बाधती थी। पादरियों ने इस भावना के फैलाने में मदद की क्योंकि इससे उनका बल बढ़ता था और रोम के पोप की सत्ता मज़बूत होती थी जो उस वक्त पश्चिमी योरप में ईसाइयत का एकछत्र गुरू बन चुका था। तुम्हें याद होगा कि रोम पूर्वी रोमन साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया से अलग हो चुका था। कुस्तुन्तुनिया में ईसाइयों का वही पुराना कट्टर सम्प्रदाय चला आ रहा था और रूस ने भी अपना मज़हब यही से लिया। कुस्तुन्तुनिया के यूनानी लोग पोप को नहीं मानते थे।

लेकिन खतरे के मौक़े पर, जब कुस्तुन्तुनिया को दुश्मनों ने घेर लिया और खास कर सेलजूक तुर्कों ने इस पर हमला किया, तो वह अपने अभिमान और रोम के प्रति अपनी घृणा को भूल गया, और उसने मुसलमान विधर्मियों के खिलाफ़ पोप से मदद मागी। उस वक्त रोम में एक महान पोप हिल्डेब्रैण्ड था जो पोप ग्रेगरी सप्तम के नाम से गद्दी पर बैठा। इसी हिल्डेब्रैण्ड के सामने कनौज़ा मे अभिमानी जर्मन सम्राट् नगे पैर गिरती हुई बर्फ़ में हाज़िर हुआ था।

उस समय योरप के सारे ईसाइयों के दिलों में एक दूसरी घटना ने हलचल मचा दी थी। बहुत-से श्रद्धालु ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा के ठीक हज़ार वर्ष बाद दुनिया का एकदम अन्त हो जायगा। 'मिलेनियम'[1] लफ़्ज़ के मानी 'एक हज़ार वर्ष' है। यह शब्द दो लैटिन शब्दों से मिलकर बना है. 'मिले' यानी हज़ार और 'एनस' यानी साल। चूँकि एक हज़ार वर्ष के बाद दुनिया के अन्त की उम्मीद की जाती थी, इस लिए मिलेनियम शब्द का मतलब हो गया—एकदम तब्दीली होकर बेहतर दुनिया का बनाना। मैंने तुम्हें बताया है कि योरप में उस वक्त बड़ी तबाही थी और मिलेनियम की यह आशा बहुत से परेशान लोगों को शान्ति पहुँचाती थी। बहुत-से लोग अपनी ज़मीनें बेंच-बेंच कर फिलस्तीन चले गये ताकि जब दुनिया का अन्त हो तो उस समय वे अपनी 'पवित्र भूमि' में मौजूद रहें।

लेकिन दुनिया का अन्त नहीं हुआ और उन हज़ारों यात्रियों को, जो यरूशलम गये थे, तुर्कों ने बहुत परेशान किया और सताया। क्रोध और अपमान की भावना से भरे हुए ये लोग योरप लौटे और पवित्र भूमि में उठाई हुई मुसीबतों के किस्से सारे योरप में फैलाने लगे। खासकर एक मशहूर तीर्थयात्री, साधु पीटर, हाथ में लाठी लिये, चारों तरफ़ यही प्रचार करता फिरता था कि ईसाइयों के पवित्र नगर यरूशलम को मुसलमानों से छीन कर उद्धार करना चाहिए। ईसाई संसार में इस अन्याय के प्रति क्रोध और जोश बढ़ता गया और यह देख कर पोप ने इस आन्दोलन का नेतृत्व खुद करने का निश्चय किया।

इसी समय विधर्मियों के खिलाफ़ सहायता के लिए कुस्तुन्तुनिया से पुकार आई। मालूम होता था कि सारा ईसाई-संसार, रोमन और यूनानी दोनों, बढ़ते हुए तुर्कों के खिलाफ़ खड़ा हो गया है। सन् १०९५ ई०

---

[1] Millennium = Mille + annus

में पादरियो की एक बड़ी परिषद् में यह तय हुआ कि यरूशलम के पवित्र नगर के उद्धार के लिए मुसलमानो के विरुद्ध धर्म-युद्ध की घोषणा की जाय। इस तरह क्रूसेड की लड़ाई शुरू हुई, यानी इस्लाम के खिलाफ़ ईसाइयत की—हिलाल[1] के खिलाफ़ सलेब की।

: ५८ :

एशिया और योरप पर एक और नज़र

१२ जून, १९३२

हमने ईसा के बाद एक हजार वर्ष के अन्त तक की दुनिया का—यानी एशिया, योरप और अफरीका के कुछ हिस्सों का—संक्षिप्त सिंहावलोकन खतम कर दिया। लेकिन आओ, एक नजर और डाल लें।

पहले एशिया को लें। भारत और चीन की पुरानी सभ्यताएं चली आ रही थी और उन्नति कर रही थी। भारतीय संस्कृति मलेशिया और कम्बोडिया तक फैल गई थी, और वहां बहुत अच्छे फल उत्पन्न कर रही थी। चीनी संस्कृति कोरिया और जापान, और किसी हद तक मलेशिया, में भी फैली हुई थी। पश्चिमी एशिया में, अरबदेश, फिलस्तीन, सीरिया और इराक में अरबी संस्कृति का प्रसार था। ईरान मे पुरानी ईरानी और नई अरबी सभ्यता का सम्मिश्रण था। मध्य-एशिया के कुछ देशो ने भी इस ईरानी-अरबी संस्कृति के मिले-जुले रूप को इख्तियार कर लिया था, और उन पर भारत और चीन का भी असर पड़ा था। ये सब देश सभ्यता के ऊँचे दर्जे को पहुँच गये थे। व्यापार, विद्या और कलाओ की उन्नति हो रही थी, बड़े-बड़े शहरो की बहुतायत थी, और मशहूर विश्व-विद्यालयो में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। सिर्फ मंगोलिया और मध्य-एशिया के कुछ हिस्सो में और उत्तर में साइबेरिया में सभ्यता का तल कुछ नीचा था।

अब योरप को लो। एशिया के उन्नतिशील देशो के मुकाबले में यह पिछड़ा हुआ और आधा-जंगली था। यूनानी-रोमन सभ्यता पुराने ज़माने की सिर्फ यादगार रह गई थी। विद्या की क़द्र नही थी, कलाओ का भी ज्यादा प्रचार न था, और एशिया के मुकाबले व्यापार भी बहुत कम था। लेकिन दो जगह रोशनी नजर आती थी। एक तो अरबो के शासन मे स्पेन, अरबो के शानदार ज़माने की परम्परा को कायम रखे हुए था, दूसरा कुस्तुन्तुनिया था, जो धीरे-धीरे गिरावट की हालत मे भी, एशिया और योरप की सरहद पर, बहुत बड़ा और घनी आबादी का शहर था। योरप के ज्यादातर हिस्सो मे बार-बार गड़बड़ हुआ करती थी और सामन्तशाही के दौर-दौरे मे हरेक सरदार और सामन्त अपने मातहत इलाके का छोटा-मोटा बादशाह हुआ करता था। एक ऐसा समय आया कि पुराने रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम एक मामूली गाव के बराबर रह गया और उसके पुराने कोलोज़ियम में जंगली जानवर रहने लगे। लेकिन यह फिर बढ़ने लगा था।

इसलिए अगर तुम ईसा के १००० वर्ष बाद के योरप और एशिया का मुकाबिला करो तो एशिया का पलड़ा बहुत भारी निकलेगा।

आओ, अब एक नज़र और डाले, और मामलो की तह में जाकर देखने की कोशिश करे। हमें पता चलेगा कि ऊपर-से देखने वाले के खयाल से एशिया की हालत जितनी अच्छी थी, असल मे उतनी अच्छी नही थी। प्राचीन सभ्यता के दो जन्म-स्थान, भारत और चीन परेशानी में फंसे हुए थे। ये सिर्फ बाहर से होने वाले हमलो से ही परेशान नही थे, बल्कि इनसे भी ज़्यादा असलियत उन परेशानियो की थी जो इनकी अन्दरूनी जिन्दगी और ताकत को चूस रही थी। पश्चिम में अरबों के शानदार

---

[1] मुसलमानों का धर्म-चिन्ह, दूज का चाँद।

दिनो का अन्त हो रहा था। यह सच है कि सेलजूको की ताकत बढ रही थी, लेकिन उनका उदय सिर्फ़ उनके सैनिक गुणो की वजह से हो रहा था। भारतीय, चीनी, ईरानी या अरबों की तरह ये लोग एशिया की सभ्यता के प्रतिनिधि नही थे बल्कि एशिया के सैनिक गुणो के प्रतिनिधि थे। एशिया मे हर जगह पुरानी सभ्य जातियाँ सिमटती हुई दिखाई देती थी। वे अपना आत्म-विश्वास खो बैठी थी और अपने को बचाने की फिक्र में थी। मजबूत और शक्तिवान नई कौमे पैदा हुई जिन्होने एशिया की इन पुरानी जातियो पर विजय पाई और जो योरप की तरफ भी बढने लगी। लेकिन ये अपने साथ सभ्यता की कोई नई लहर नही लाईं और न इनसे सस्कृति को कोई नया प्रोत्साहन मिला। पुरानी जातियो ने धीरे-धीरे इन नई क़ौमो को सभ्य बनाया और वे अपने इन विजेताओ को हजम कर गईं।

इस तरह हम एशिया के ऊपर एक बडी तब्दीली आती हुई देखते है। पुरानी सभ्यताए कायम थी, ललित कलाए फूल-फल रही थी, विलासिता मे नज़ाकत मौजूद थी लेकिन सभ्यता की नाड़ी कमज़ोर पड रही थी और जिन्दगी की साँस धीरे-धीरे मन्द होती जा रही थी। ये सभ्यताए बहुत दिनो तक कायम रही। सिवा अरब के और मध्य-एशिया के, जब कि वहाँ मगोल लोग आये, कही दूसरी जगह न तो ये सभ्यताएं खतम हुईं, और न इनका सिलसिला ही टूटा। चीन और भारत की सभ्यताए धीरे-धीरे धुधली पड़ने लगी, और अन्त मे पुरानी सभ्यता का रूप चित्रकार की बनाई हुई तसवीर की तरह हो गया जो दूर से देखने में तो बहुत सुदर मालूम होती थी, लेकिन थी बे-जान। और नज़दीक से देखने पर मालूम होता था कि उसमे दीमक लग गई है।

साम्राज्यों की तरह सभ्यताओ का पतन भी, बाहर के दुश्मनो की ताकत की वजह से इतना नही होता, जितना अन्दरूनी कमज़ोरी और सडान की वजह से। रोम का अन्त बर्बरो की वजह से नही हुआ। बर्बरो ने तो सिर्फ़ एक ऐसी चीज़ को धराशायी किया था जो पहले ही मुर्दा थी। जिस समय रोम के हाथ और पाँव काटे गये, उससे कही पहले उसके दिल की धडकन बन्द हो चुकी थी। कुछ ऐसा ही सिलसिला हमें भारत, चीन और अरब मे भी दिखाई देता है। अरबी सभ्यता का अन्त उसके उदय के समान ही एकदम हुआ। भारत और चीन मे पतन का यह सिलसिला बहुत लम्बे अर्से तक चलता रहा और यह पता चलाना आसान नही है कि वह कहाँ खतम हुआ।

महमूद गज़नवी के भारत आने से बहुत पहले पतन का यह सिलसिला शुरू हो चुका था। लोगो के दिमाग़ो में तब्दीली आती हुई दिखाई देने लगी थी। नये विचार और नई चीज़े पैदा करने के बजाय भारत के लोग पुरानी बातो को दोहराने और उनकी नकल करने मे लग गये थे। उनकी बुद्धि अभी तक काफी तेज थी लेकिन वे अपना समय उन बातो का नया अर्थ लगाने मे और उनकी व्याख्या करने मे लगाते थे जो बहुत दिनो पहले कही और लिखी जा चुकी थी। ये लोग अभी तक आश्चर्य-जनक मूर्तियाँ बनाने का और खुदाई का काम करते थे, लेकिन ये सब चीज़े जरूरत से ज्यादा बारीकियो और सजावट से लदी हुई थी और कभी-कभी उनमे कुछ अजीब बेढगापन भी आ जाता था। मौलिकता का लोप हो चुका था और साहसपूर्ण तथा सुन्दर रचना की प्रवृत्ति भी लुप्त हो गई थी। धनवानो और खुशहालो मे तकल्लुफ, विलासिता और कला की कमनीयता चलती रही, लेकिन न तो आम जनता की मुसीबतो और मेहनत को कम करने के लिए कुछ किया गया और न उपज बढाने के लिए।

ये तमाम सभ्यता की शाम होने की निशानिया है। जब यह होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि सभ्यता की चेतना लोप हो रही है, क्योकि रचना ही जीवन का चिह्न है, दोहराना या नक़ल करना नही।

चीन और भारत मे उस समय कुछ इसी किस्म की प्रक्रियाए हो रही थी। लेकिन मेरे मतलब को समझने मे गलती न करना। मेरा मतलब यह नही है कि इनकी वजह से चीन या भारत की हस्ती मिट गई या वे असभ्यता के गड्ढे मे गिर पड़े। मेरा मतलब यह है कि चीन और भारत की रचनात्मक प्रवृत्ति को जो पुरानी प्रेरणा गये ज़माने मे मिलती थी, उसकी शक्ति अब खतम हो रही थी और उसमे नई जान नही पड रही थी। ये अपने को बदले हुए चौगिर्द के मुताबिक नही ढाल रहे थे बल्कि सिर्फ़ पुराने ढर्रे पर चल रहे थे। हर देश और सभ्यता की यही दशा होती है। महान रचनात्मक प्रयत्न और विकास के युग आते है और फिर पस्ती के ज़माने आते है। ताज्जुब की बात तो यह है कि चीन और भारत में यह पस्ती इतनी देर से आई और फिर भी ऐसा कभी नही हुआ कि ये पूरी तरह पस्त हो गये हो।

इस्लाम अपने साथ भारत में मानवी उन्नति की एक नई प्रेरणा लेकर आया। कुछ हद तक इसने पौष्टिक दवाई का काम किया। इसने भारत को हिला डाला, लेकिन दो कारणो से वह भारत को उतना फ़ायदा नही पहुचा सका, जितनी कि पहुचा सकता था। वह भारत में ग़लत तरीके से और बहुत देर से आया। महमूद गज़नवी के हमलों के कई सौ वर्ष पहले से मुसलमान धर्म-प्रचारक भारत भर में घूमते-फिरते थे और इनका स्वागत होता था। ये शान्ति के साथ आये थे और इनको कुछ कामयाबी भी मिली थी। इस्लाम के खिलाफ़ कोई भी कटु भावना नही थी। लेकिन महमूद अपने साथ तलवार और आग लेकर आया। और जिस ढंग से वह विजेता, लुटेरा और क़ातिल बनकर आया उससे भारत मे इस्लाम की कीर्त्ति को जितना धक्का पहुँचा उतना किसी दूसरी वजह से नही। यह ठीक है कि महमूद मज़हब की कुछ परवाह नहीं करता था और उसने उसी तरह मारकाट और लूटपाट की जिस तरह सब बडे विजेता किया करते है। लेकिन भारत मे इस्लाम पर इसके हमलो की छाया बहुत दिनो तक बनी रही और लोगो के लिए इस्लाम पर निष्पक्ष भाव से विचार करना मुश्किल हो गया, वरना दूसरी ही हालत होती।

यह एक वजह थी। दूसरी वजह यह थी कि इस्लाम देर में आया। वह अपनी शुरूआत के चार सौ वर्ष बाद यहाँ आया और इस लम्बे अर्से में यह कुछ पस्त हो चुका था और इसकी रचना-शक्ति बहुत कुछ बीत चुकी थी। अगर अरब लोग शुरू मे ही इस्लाम को लेकर भारत आये होते तो उन्नति-शील अरबी सस्कृति का पुरानी भारतीय सस्कृति से समिश्रण हो गया होता, और वे दोनो आपस मे एक-दूसरी पर असर डालती, जिसके परिणाम बड़े महान होते। तब दो सुसस्कृत जातियो का मेल हो गया होता, क्योकि अरब लोग धर्म के मामले मे बुद्धिवाद और सहिष्णुता के लिए मशहूर थे। दर असल एक ज़माने मे बगदाद मे एक क्लब था, जिसका सरक्षक ख़लीफा था और जहाँ हर मजहब के माननेवाले और लामजहब लोग जमा होते थे और सिर्फ़ बुद्धिवाद की दृष्टि से सब मसलो पर चर्चाए और बहस किया करते थे।

लेकिन अरब लोग भारत के अन्दर नही घुसे। वे सिन्ध मे आकर रुक गये और भारत पर उनका कुछ असर नही पडा। भारत में इस्लाम तुर्को और दूसरी कौमो के ज़रिये आया जिनमे अरबो की सी सहिष्णुता और सस्कृति नही थी, क्योकि ये लोग मुख्यत सैनिक थे।

लेकिन फिर भी उन्नति और रचनात्मक प्रयत्न की एक नई प्रेरणा भारत मे आई। यह नई प्रेरणा भारत मे नई जान डाल कर किस तरह खतम हो गई, इस पर हम आगे विचार करेगे।

अब भारतीय सभ्यता की कमज़ोरी का एक और नतीजा सामने आने लगा था। जब इस पर बाहर से हमला हुआ तो उस बढी चली आने वाली लहर से बचने के लिए इसने अपने चारो तरफ एक बाड लगा ली और अपने को उसमे कैद-सा कर लिया। यह भी कमजोरी और डर की एक निशानी थी और इस दवा ने रोग को और भी बढा दिया। असली बीमारी विदेशी हमला नही थी बल्कि कूप-मडूकपन थी। इस कूप-मडूकपन से सडन पैदा हुई और उन्नति के सारे रास्ते रुक गये। आगे चलकर हम देखेंगे कि चीन ने भी यही बात अपने तरीके से की और जापान ने भी ऐसा ही किया। किसी परकोटे मे बन्द समाज मे रहना कुछ खतरनाक बात है। उसमे रहकर हम पथरा जाते है और ताज़ी हवा और ताजे विचारो के आदी नही रह जाते। समाजो के लिए भी ताज़ी हवा उतनी ही जरूरी है जितनी व्यक्तियो के लिए।

यह तो एशिया की बात हुई। हमने देखा है कि योरप उस समय पिछडा हुआ था और झगडालू भी था। लेकिन इसकी तमाम गडबडी और असभ्यता के पीछे कम से कम इसमे क्रियाशीलता और चेतना पाई जाती थी। एशिया बहुत दिनो तक सिरमौर रहने के बाद पतन की तरफ जा रहा था, योरप उन्नति के लिए प्रयत्नशील था लेकिन एशिया की सभ्यता के दर्जे के पास तक पहुचने के लिए उसे अभी बहुत लम्बी मज़िल तय करनी बाक़ी थी।

आज योरप दुनिया पर हावी है, और एशिया आजादी की जद्दो-जहद मे तकलीफे उठा रहा है। लेकिन अगर तुम सतह के नीचे देखने की कोशिश करोगी तो तुम्हें एशिया मे नई चेतना, नई रचनात्मक भावना और नई ज़िन्दगी दिखाई देगी। एशिया अब फिर उठ रहा है, इसमें कोई शक नही, और योरप मे या, यो कहो, पश्चिमी योरप मे, उसकी महानता के बावजूद, पतन के कुछ चिह्न दिखाई दे रहे हैं। आज कोई बर्बर जाति

इतनी ताकतवर नहीं है जो योरप की सभ्यता को नष्ट कर दे। लेकिन कभी-कभी सभ्य जातियाँ खुद ही बर्बरों जैसी हरकतें करने लगती है, और जब ऐसा होता है तो सभ्यता खुद अपने को नष्ट कर देती है।

मैं एशिया और योरप की बातें कर रहा हूँ, लेकिन ये तो केवल भौगोलिक शब्द हैं। जो समस्याएं हमारे सामने हैं वे एशियाई या योरोपीय समस्याए नही है बल्कि सारे ससार की या मनुष्य-मात्र की समस्याए हैं। और जब तक हम सारे संसार की इन समस्याओ को हल नही कर डालते, तबतक गड़बड़ें चलती रहेंगी। इन समस्याओ के हल का अर्थ सिर्फ़ यही हो सकता है कि हर जगह ग़रीबी और मुसीबत का अन्त हो। मुमकिन है इसमें कुछ वक़्त लग जाय, लेकिन हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए, और इससे कम हरगिज़ नही होना चाहिए। तभी हम समता के आधार पर असली सभ्यता और सस्कृति कायम कर सकेंगे, जिसमें किसी देश या किसी वर्ग का शोषण न होगा। यह समाज नई रचना करनेवाला और उन्नतिशील होगा जो बदलते हुए ज़माने के अनुकूल अपने को ढालेगा और जिसकी बुनियाद सब लोगो के आपसी सहयोग पर होगी। और अतमें यह समाज सारे ससार में फैल जायगा। फिर यह खतरा न रहेगा कि इस प्रकारकी सभ्यता पुरानी सभ्यताओं की तरह नष्ट हो जाय या सड़ जाय।

इसलिए जब हम भारत की आज़ादी के लिए लड रहे है तो हमे यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य-मात्र की आज़ादी हमारा महान् लक्ष्य है, जिसमे हमारे राष्ट्र की आज़ादी के साथ दूसरे राष्ट्रो की आज़ादी भी शामिल है।

: ५६ :

अमरीका की 'मय' सभ्यता

१३ जून, १९३२

मै तुम से कहता आया हूँ कि इन पत्रो में मै ससार के इतिहास की रूप-रेखा खीचने की कोशिश कर रहा हूँ। लेकिन वास्तव में अभी तक यह एशिया. योरप और उत्तरी अफरीका का ही इतिहास है। अमरीका और आस्ट्रेलिया के बारे में मैंने अभी तक कुछ नही बताया। या अगर कुछ बताया भी है तो वह नही के ही बराबर है। लेकिन मै तुम्हे पहले ही आगाह कर चुका हूँ कि इस शुरू के ज़माने में भी अमरीका में एक सभ्यता थी। इस सभ्यता के बारे मे अधिक जानकारी नही मिलती है, और मै तो दरअसल बहुत ही कम जानता हूँ। फिर भी उसके बारे में तुम्हे कुछ बताने का लोभ मै नही दबा सकता, ताकि तुम यह समझने की आम गलती न कर बैठो कि कोलम्बस और दूसरे योरोपियनो के पहुँचने के पहले अमरीका केवल एक वहशी मुल्क था।

पाषाण युग[1] के बहुत पुराने ज़माने में, जब मनुष्य कही जमकर नही रहता था और शिकारी बना हुआ घूमता फिरता था, उत्तरी अमरीका और एशिया के बीच मे खुश्की रास्ता था। मनुष्यों के कितने ही गिरोह और कबीले अलास्का होकर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में आते-जाते रहे होगे। बाद में यातायात का यह रास्ता कट गया और अमरीका के लोगो ने धीरे-धीरे एक अपनी सभ्यता बना ली। याद रहे कि जहाँ तक पता चला है, अमरीका के लोगो को एशिया और योरप से जोडने वाला कोई साधन नही था। सोलहवी सदी तक, जब कि नई दुनिया की खोज की गई बतलाई जाती है, ऐसा कोई बयान नही पाया जाता कि योरप और एशिया का इस देश से किसी तरह का असर डालने वाला सम्पर्क रहा हो। अमरीका की यह दुनियाँ दूर और अलग थी—और इस पर योरप और एशिया की घटनाओ का कोई असर नही पड़ता था।

मालूम होता है कि अमरीका में सभ्यता के तीन खास केन्द्र थे : मैक्सिको, मध्य-अमरीका और

---

[1]पाषाणयुग—मनुष्य जाति का शुरू का समय जब मनुष्य सिर्फ़ पत्थर के औज़ार बनाना जानता था।

पेरू। यह ठीक तौर से मालूम नहीं है कि ये सभ्यताएं कब से शुरू हुईं। लेकिन मैक्सिको का पंचांग ईसवी सन् के लगभग ६१३ साल पहले से शुरू होता है। ईसवी सन् के शुरू के वर्षोंमें, दूसरी सदी के बाद, बहुत से शहर बढ़ चुके थे। पत्थर का काम, मिट्टी के बरतनों का काम, बुनाई और सुन्दर रंगाई का विकास हो चुका था। तांबा और सोना बहुतायत से मिलता था लेकिन लोहा तब तक नहीं पाया गया था। गृह-निर्माण कला की तरक्की हो रही थी और मकानों के बनाने में इन शहरों की आपस में होड़ चलती थी। एक खास तरह की और पेचीदा लिपि लिखी जाती थी। कला, खासकर मूर्तिकला, बहुत देखने में आती थी और इसकी सुन्दरता अपूर्व थी।

सभ्यता के इन क्षेत्रों में से हरेक मे कई राज्य थे। कई भाषाएं थी और इन भाषाओं मे काफी साहित्य भी था। शासन सुसगठित और मजबूत था और शहरों में एक सुसस्कृत और विचारक समाज था। इन राज्यों का क़ानून और आर्थिक व्यवस्था बहुत उन्नत थी। सन् ९६० ई० के लगभग उक्समल नगर की नीव डाली गई। कहा जाता है कि यह शहर बहुत जल्दी बढकर उस समय के एशिया के बडे शहरों की टक्कर का हो गया। इसके अलावा लैबुआ, मयपान, चाओ-मुल्तन वगैरा और भी बड़े-बडे नगर थे।

मध्य-अमरीका के तीन मुख्य राज्यों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जिसे मयपान-सघ कहते थे। यह ईसा से ठीक एक हज़ार वर्ष के आसपास की बात है, यानी उस ज़माने की जहाँ तक हम एशिया और योरप में आ पहुँचे हे। इस प्रकार यह साफ है कि ईसा के एक हज़ार वर्ष बाद मध्य-अमरीका में सभ्य राज्यों का एक शक्तिशाली सगठन था। लेकिन इसके सारे राज्यो पर और खुद मय सभ्यता पर पुरोहित लोग सवार थे। ज्योतिष सबसे प्रतिष्ठित विज्ञान समझा जाता था, और इस विज्ञान के ज्ञाता होने की वजह से पुरोहित लोग जनता की अज्ञानता से फायदा उठाते थे। इसी तरह भारत मे भी लाखो आदमी चन्द्र और सूर्य ग्रहणो के अवसरो पर उपवास करने और नहाने के लिए प्रवृत्त किये गये है।

मयपान का यह सघ सौ वर्ष से अधिक रहा। जान पडता है कि इसके बाद एक सामाजिक क्रान्ति हुई और सरहद की एक बाहरी ताकत ने दखल देना शुरू कर दिया। सन् ११९० ई० के लगभग मयपान नष्ट हो गया, लेकिन दूसरे शहर बने रहे। इसके बाद सौ वर्ष के अन्दर एक दूसरी जाति के लोग वहा आ गये। ये लोग मैक्सिको से आये थे और अजटेक कहलाते थे। इन लोगो ने चौदहवी सदी के शुरू में मय देश को जीत लिया और सन् १३२५ ई० के लगभग टेनोच्टिटलन नाम का नगर बसाया। जल्द ही यह सारे मैक्सिको की राजधानी और अजटेक साम्राज्य का केन्द्र बन गया। इस शहर की आबादी बहुत बड़ी थी।

अजटेक लोग एक सैनिक कौम थे। इन लोगो ने सैनिक बस्तियाँ बसाईं, छावनियाँ बनाईं और फौजी सड़को का जाल बिछा दिया। यहाँ तक कहा जाता है कि वे इतने चालाक थे कि अपने मातहत राज्य को आपस मे लडाते रहते थे। आपसी फूट के कारण उन पर राज्य करना ज्यादा आसान था। सारे साम्राज्यो की यह बहुत पुरानी नीति रही है। रोमवाले इसे 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति[1] कहते थे!

दूसरी बातो मे चतुर होते हुए भी अजटेक लोग धर्म के मामले मे पुरोहितो के बन्धन में जकड़े हुए थे, और इससे भी बुरी बात यह थी कि उनके मज़हब में आदमियो की क़ुरबानियाँ बहुत होती थीं। हर साल धर्म के नाम पर हज़ारों आदमी बडे खौफ़नाक तरीक़े से बलि चढ़ा दिये जाते थे।

लगभग दो सौ वर्षों तक अजटेक लोगो ने अपने साम्राज्य पर डडे के ज़ोर से कठोर शासन किया। साम्राज्य मे ज़ाहिरा सुरक्षा व शान्ति थी लेकिन जनता बेरहमी से निचोड़ी और लूटी जाती थी। जो राज्य इस तरह बना हो और इस तरह चलाया जाय, वह बहुत दिनो तक क़ायम नही रह सकता और यही हुआ भी। सोलहवी सदी के शुरू मे, यानी सन् १५१९ ई० में, जब अजटेक लोग अपनी शक्ति की सबसे ऊँची चोटी पर दिखाई देते, थे उनका साम्राज्य मुट्ठी भर लुटेरे और हौसलावर विदेशियो के हमले से भरभरा-कर गिर पड़ा! साम्राज्यो के पतन का यह एक बड़ा ही आश्चर्यजनक उदाहरण है। स्पेन-निवासी हर्नेन कोर्टे ने सिपाहियो की एक छोटी टुकडी की मदद से इस साम्राज्य को नष्ट कर दिया। कोर्टे बहादुर आदमी

[1] Divide et impera

था और उसमें काफ़ी साहस था। उसके पास दो चीज़ें थी, जिनसे उसे बड़ी मदद मिली : बन्दूकें और घोड़े। मालूम होता है कि मैक्सिको के साम्राज्य में घोड़े नही थे और बन्दूकें तो निश्चय ही नही थी। किन्तु अगर अज़टेक साम्राज्य की जड़ें खोखली न होतीं तो न तो कोर्टे की हिम्मत और न उसकी बन्दूकें और घोड़े ही किसी काम आते। इस राज्य का ऊपरी ढाँचा तो कायम था लेकिन अन्दर से खोखला हो चुका था, इसलिए इसे गिराने को ज़रासी ठोकर ही काफी थी। यह साम्राज्य जनता के शोषण की नीव पर बना था; इसलिए लोग उससे बहुत असतुष्ट थे। इसलिए जब उस पर हमला हुआ तो आम जनता साम्राज्यवादियो की इस हैरानी पर खुश हुई। और, जैसा कि अक्सर होता है, इसके साथ ही एक सामाजिक क्रान्ति भी हुई।

एक दफ़ा तो कोर्टे खदेड़ दिया गया और मुश्किल से वह अपनी जान बचा सका। लेकिन वह फिर लौटा और वहां के कुछ लोगो की मदद से उसने फतह पाई। इससे अज़टेक शासन का तो अन्त हुआ ही लेकिन मजेदार बात यह है कि साथ-ही-साथ मैक्सिको की सारी सभ्यता लडखडाकर गिर पडी और थोडे ही समय मे उस शाही और विशाल राजधानी टेनोच्टिटलन का निशान तक बाकी नही रहा। उसकी एक ईंट भी आज नही बची है। उसकी जगह पर स्पेनवालो ने एक गिरजा घर बनाया। मय सभ्यता के दूसरे बड़े शहर भी नष्ट हो गये और यूकेतान के जगलो ने उन्हे ढक लिया, यहाँ तक कि उनके नाम भी बाकी न रहे। बहुत से शहरो की स्मृति आजकल उनके पड़ौस के गाँवो के नामो में बाकी रह गई है। उनका सारा साहित्य भी नष्ट हो गया और केवल तीन किताबे बच रही है और उन्हे भी आज तक कोई पढ़ नही सका है।

मामूली तौर पर यह बताना कठिन है कि एक प्राचीन जाति और एक प्राचीन सभ्यता. जो करीब १५०० वर्षों तक क़ायम रही, योरप की नई जाति के सपर्क में आते ही एकाएक कैमे खतम हो गई। ऐसा मालूम होता है कि यह सम्पर्क एक बीमारी की तरह था। यानी एक नई महामारी थी जिसने उनका काम तमाम कर दिया। हालाकि कुछ बातो मे इनकी सभ्यता बहुत ऊँची थी लेकिन कुछ दूसरी बातो मे ये लोग बहुत पिछडे हुए थे। इतिहास के जुदा-जुदा युगो की ये लोग एक अजीब खिचड़ी थे।

दक्षिणी अमरीका के पेरू में सभ्यता का एक और केन्द्र था और इस देश मे 'इनका' का शासन था। यह एक प्रकार का दैवी राजा माना जाता था। यह अजीब बात है कि पेरू की इस सभ्यता का, कम-से-कम पिछले दिनों में, मैक्सिको की सभ्यता से बिल्कुल भी सम्पर्क नही था। दोनो सभ्यताए एक-दूसरी से बहुत दूर नही थी, फिर भी वे एक-दूसरी के बारे में कुछ नही जानती थी और सिर्फ इसी बात से यह साबित हो जाता है कि कुछ मामलो मे वे कितनी ज्यादा पिछडी हुई थी। मैक्सिको में कोर्टे के सफल होने के बाद ही, एक दूसरे स्पेन-निवासी ने पेरू राज्य का भी अत कर दिया। इसका नाम पिज़ारो था। इसने सन् १५३० ई० में आकर इनका को दगाबाजी से पकड़ लिया। दैवी राजा के पकडे जाने से ही लोग डर गये। पिज़ारो ने कुछ समय तक इनका के नाम पर शासन करने की कोशिश की और लोगो को दबाकर बहुत दौलत ऐंठी। बाद में यह आडम्बर खतम कर दिया गया और स्पेनवालो ने पेरू को अपने राज्य का एक हिस्सा बना लिया।

कोर्टे ने जब पहले-पहल टेनोच्टिटलन शहर देखा तो वह उसकी विशालता पर हक्का-बक्का रह गया। उसने योरप मे इस किस्म का कोई शहर नही देखा था।

मय और पेरू की कला के बहुत-से अवशेष मिले है और वे अमरीका के और खासकर मैक्सिको के अजायबघरो में देखे जा सकते हैं। इनमे एक सुदर कलामय परम्परा दिखाई देती है। कहा जाता है कि पेरू के सुनारो का काम बहुत ही ऊँचे दर्जे का है। पत्थर की मूर्तियो के भी कुछ नमूने मिले है, जिनमें साँपों की कुछ मूर्त्तियाँ खास तौर पर बहुत ही सुन्दर है। दूसरी मूर्त्तियाँ मानो बीभत्सकला के नमूने हैं और उन्हे देखकर सचमुच घृणा होती है।

: ६० :

मोहेन-जो-दड़ो की तरफ़ वापस छलांग

१४ जून, १९३२

मैंने अभी मोहेन-जो-दड़ो और सिन्ध घाटी की पुरानी भारतीय सभ्यता के बारे मे कुछ पढा है। एक नई महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें इस सभ्यता के बारे में वे सारी बातें, जो अभी तक मालूम हो सकी हैं, बयान की गई है। यह पुस्तक उन लोगों ने तैयार की है और लिखी है जिनकी देख-रेख में खुदाई का और खोद निकालने का काम था। इन लोगो ने गहराई तक खोदते-खोदते अपनी आँखो से शहर को, मानो पृथ्वी-माता के गर्भ से बाहर निकलते देखा है। मैंने अभी तक यह पुस्तक नही देखी है। मै चाहता हूँ कि वह मुझे यहाँ मिल जाती। लेकिन मैंने इसकी समालोचना पढी है और मै चाहता हूँ कि इसके कुछ उद्धरण तुम्हारे सामने भी रख दूं। सिन्ध-घाटी की यह सभ्यता एक अद्भुत वस्तु है और इसकी बाबत जितना ज्यादा मालूम होता है उतना ही आश्चर्य भी बढ़ता है। इसलिए मुझे आशा है कि यदि हम पिछले इतिहास के वर्णन को छोड़ कर इस पत्र मे पाँच हजार वर्ष पीछे कूद जायँ तो तुम्हे कुछ ऐतराज़ न होगा।

मोहेन-जो-दड़ो को लोग कम-से-कम इतना पुराना तो मानते ही है। जो मोहेन-जो-दडो हमें मिला है वह एक सुदर शहर था और एक सुसंस्कृत और सभ्य जातिका निवास स्थान था। इसके पीछे विकास का एक लम्बा युग जरूर होगा। यही बात इस पुस्तक से हमे मालूम होती है। सर जान मार्शल, जिसकी देख-रेख मे खोद निकालने का काम हो रहा है, लिखता है—

"एक बात, जो मोहेन-जो-दडो और हड़प्पा दोनो जगहों मे साफतौर पर और निर्विवाद रूप से दिखाई देती है, यह है कि जो सभ्यता इन दो स्थानों पर जाहिर हुई है वह नव-जात सभ्यता नही है। बल्कि युगो पुरानी और भारत की जमीन पर प्रौढता पाई हुई सभ्यता है, जिसके पीछे लाखो वर्षों का मानव प्रयत्न है। इसलिए अब आगे ईरान, इराक और मिस्र के साथ-साथ भारत की गणना भी सभ्यता के उन महत्वपूर्ण क्षेत्रों मे की जानी चाहिए, जहाँ सभ्यता का सिलसिला शुरू हुआ और बढा।"

मेरा खयाल है कि हड़प्पाके बारे मे मैंने तुम्हे अभी कुछ नही बताया है। यह एक दूसरा स्थान है, जहाँ मोहेन-जो-दडो से मिलते-जुलते पुराने खडहर खोदकर निकाले गये है। यह पश्चिमी पजाब मे है।

इस प्रकार हम देखते है कि सिन्ध घाटी मे हम न केवल ५००० वर्ष पहले बल्कि उससे भी हजारो वर्ष पहले पहुँच जाते है। यहाँ तक कि हम प्राचीनता के उस धुधले कोहरे में खो जाते है जब आदमी पहले-पहल घर बसाने लगा था। जिस समय मोहेन-जो-दड़ो की सभ्यता फूल-फल रही थी, उस समय भारत मे आर्य लोग नही आये थे। किंतु इसमे सदेह नही कि उस समय "भारत के दूसरे भाग नही तो कम-से-कम पजाब और सिन्ध एक उन्नत और निराली समानता वाली सभ्यता का उपभोग कर रहे थे। यह सभ्यता उस समय की इराक और मिस्र की सभ्यताओ से बहुत-कुछ मिलती-जुलती और कई बातों में उनसे भी श्रेष्ठ थी।"

मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई से यह प्राचीन और चित्ताकर्षक सभ्यता हमारे सामने प्रकट हो गई है। न जाने भारत-भूमि के नीचे दूसरे स्थानो पर कितना कुछ और दबा पड़ा है! मालूम होता है कि यह सभ्यता भारत के काफी हिस्से में फैली हुई थी और केवल मोहेन-जो-दड़ो और हड़प्पा तक ही सीमित नही थी। ये दोनो स्थान भी एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं।

यह वह युग था "जिसमे पत्थर के हथियारो और बर्तनो के साथ-साथ ताँबे और काँसे के हथियारो और बर्तनों का भी उपयोग होता था।" सर जान मार्शल ने सिन्ध घाटी के निवासियो के साथ उस समय के मिस्र और ईराक के लोगों की तुलना करके उनका भेद और सिन्ध घाटी के निवासियो की श्रेष्ठता बताई है। वह लिखता है—

"अगर सिर्फ़ कुछ ज़ाहिर बातो का ही ज़िक्र किया जाय तो पहली चीज़ यह है कि कपड़ा बनाने के लिए रुई का उपयोग इस युग में केवल भारत तक ही परिमित था। पश्चिमी जगत में रुई का उपयोग इसके दो-तीन हज़ार वर्ष बाद फैला। दूसरे, ऐतिहासिक युग के पहले मिस्र या ईराक़ या पश्चिमी एशिया के किसी भी भाग में हमें कोई ऐसी चीज़ नहीं मिलती जो मोहेन-जो-दड़ो के नागरिको के सुनिर्मित स्नानागारों और कुशादा मकानों की बराबरी कर सके। उन देशो में देवताओ के विशाल मन्दिरो तथा राजाओ के महलो और क़ब्रों के बनाने में बेशुमार दौलत और बुद्धि खर्च की जाती थी, लेकिन मालूम होता है बाक़ी जनता को मिट्टी की मामूली झोंपड़ियो पर ही सन्तोष करना पड़ता था। लेकिन सिन्ध घाटी में हमें इसका उलटा दृश्य मिलता है और यहाँ पर सबसे अच्छे मकान वे है जो नागरिकों के आराम के लिए बनाये गये थे।"

आगे वह फिर लिखता है—

"सिन्ध घाटी की कला और उसके धार्मिक दृष्टिकोण मे अपना एक निरालापन है और उन पर उसके विशेष गुण की छाप है। मेढ़ों, कुत्तों तथा दूसरे जानवरो के रंगीन मीनेवाले मिट्टी के खिलौनों की और कीमती पत्थर के ठप्पो पर नक़्क़ाशी की शैली ऐसी अनोखी है कि उसकी कुछ भी समानता उस ज़माने के किसी देश में अभी तक देखने में नहीं आई है। नक्काशी के सबसे बढ़िया नमूनो में—खासकर कूबदार और छोटे सींगों वाले सांड़ो में—कला के निराले विशाल दृष्णिकोण को और रेखा की तथा आकृति को ढालने की निराली कमनीयता को कही की भी नक्काशी कला मात नही कर सकती है। इसी प्रकार, हड़प्पाकी दो छोटी मानव-मूर्त्तियों में—जिन के चित्र प्लेट न० १० और ११ में दिये गये है—मूर्त्ति घड़ने की कला कोमलता की जिस पराकाष्ठा को पहुँची है उसका जोड़ यूनान के पौराणिक काल से पहले की कृतियो मे मिलना सम्भव नही है। सिन्ध के लोगो के धर्म में अवश्य बहुत-सी ऐसी बाते है जिसके समान बाते हमें दूसरे देशो मे मिल सकती है। यह बात पूर्व-ऐतिहासिक युग के हर धर्म पर और ऐतिहासिक युग के अधिकतर धर्मो पर लागू होती है। लेकिन सब बातो को मिलाकर देखने से इन लोगो के धर्म मे भारतीयता का विशेष गुण इतना स्पष्ट है कि उसमें तथा वर्तमान जीवित हिन्दू धर्म में कोई फर्क नही मालूम देता।"

काश मै हड़प्पा में पाई गई मूर्तियाँ, या कम-से-कम उनकी तसवीरे देख सकता। मुमकिन है कि किसी दिन हम और तुम हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ो साथ-साथ चलें और जी भर कर वहाँ के दृश्यो को देखे। लेकिन अभी तो हमारा यही ढर्रा चलता रहेगा—तुम्हारा पूना के स्कूल मे और मेरा अपने स्कूल में, जो देहरादून का डिस्ट्रिक्ट जेल कहलाता है।

: ६१ :

कॉरडोवा और ग्रैनैडा

१६ जून, १९३२

हमने एशिया और योरप में बहुत वर्षों की यात्रा कर ली है और ईसा से हज़ार वर्ष के अन्त तक पहुँच कर हमने एक बार पीछे फिर कर देखा है। लेकिन स्पेन के उस ज़माने का वर्णन हमारी इस कहानी से छूट गया है जब उसपर अरबो का क़ब्ज़ा था। इसलिए अब हमें एक बार और पीछे लौट कर उसे भी अपने इस चित्र में बैठाना चाहिए।

अगर तुम भूली न हो तो स्पेन के बारे मे थोड़ी-बहुत जानकारी तो तुम्हे है ही। सन् ७११ ई० में अरब-सेनापति समुद्र पारकर अफ़रीका से स्पेन पहुँचा। उसका नाम तरीक़ था और वह जिब्राल्टर (जबलुत्तरीक़, अर्थात् तरीक़ की पहाड़ी) पर उतरा था। दो साल के भीतर ही अरबो ने सारा स्पेन जीत लिया और कुछ दिनों बाद उन्होंने पुर्तगाल को भी अपने राज्य में मिला लिया। वे बराबर आगे बढ़ते गये; फ़्रांस में घुस गये और सारे दक्षिण में फैल गये। उनकी इस बढ़ती हुई ताक़त से फ्रैंक और दूसरी

जातियां बुरी तरह डर गईं और उन्होंने चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में मिल-जुल कर अरबो को रोकने की एक बहुत बड़ी कोशिश की। इसमें वे सफल हुईं और फ्रास में पाइतिये के पास तूर की लड़ाई मे फ्रैंकों ने अरबों को हरा दिया। यह बहुत करारी हार थी और इससे अरबो का योरप जीतने का स्वप्न खतम हो गया। इसके बाद बहुत बार अरबों और फ्रैंकों तथा फ्रांस की दूसरी ईसाई जातियों के बीच लड़ाइयां हुईं, कभी अरब जीते और फ्रास में घुस पड़े और कभी ये वापस स्पेन में खदेड़ दिये गये। शार्लमेन ने भी स्पेन मे अरबो पर हमला किया था लेकिन वह हार गया। बहुत दिनो तक हार-जीत का यह सिलसिला बना रहा और अरब लोग स्पेन में राज्य करते रहे; पर वे आगे न बढ सके।

इस प्रकार स्पेन उस बड़े साम्राज्य का अग बन गया जो अफ़रीका के एक सिरे से लगा कर ठेठ मंगोलिया की सरहद तक फैला हुआ था। लेकिन यह हालत बहुत दिनों तक कायम न रही। तुम्हें याद होगा कि अरब में गृह-युद्ध हुआ था और अब्बासियो ने उम्मैया खलीफ़ाओं को निकाल दिया था। स्पेन का अरबी गवर्नर उम्मैया था। उसने नये अब्बासी खलीफा को मानने से इन्कार कर दिया। इस तरह स्पेन अरब साम्राज्य से अलग हो गया और बगदाद का खलीफा बहुत दूर होने के कारण और अपने घरू झगड़ो में उलझा रहने के कारण इधर ध्यान नही दे सका। लेकिन बग़दाद और स्पेन के बीच लागडाट चलती रही और ये दोनो अरब राज्य मुसीबत के समय एक दूसरे की मदद करने के बजाय एक दूसरे की मुसीबतो पर खुशी मनाते थे।

स्पेन के अरबो का अपनी मातृ-भूमि से सम्बन्ध तोड़ने का फैसला किसी कदर जल्दबाजी का था। वे एक दूर देश मे एक विदेशी जनता के बीच मे थे और चारों ओर दुश्मनो से घिरे हुए थे। उनकी तादाद भी थोडी थी। मुसीबत व खतरे के मौके पर उनकी मदद करने वाला कोई नही था। लेकिन उन दिनो उनमे आत्म-विश्वास भरा हुआ था और वे इन खतरो की बिलकुल परवाह नही करते थे। सच तो यह है कि उत्तर की ईसाई जातियो के निरन्तर दबाव के बावजूद भी वे बहुत खूबी से डटे रहे और उन्होने अकेले ही ५०० वर्षों तक स्पेन के ज्यादातर हिस्से पर अपना प्रभुत्व कायम रखा। इसके बाद भी वे स्पेन के दक्षिण मे एक छोटी-सी रियासत मे २०० वर्षों तक अड़े रहे। इस तरह वे वास्तव मे बग़दाद के बडे साम्राज्य के खतम हो जाने के बाद तक बने रहे, और जब उन्होने स्पेन से अन्तिम विदा ली, उसके बहुत पहले ही बगदाद शहर मिट्टी मे मिल चुका था।

स्पेन के हिस्सो पर अरबो के शासन के ये ७००वर्ष अचम्भे में डालने वाले है। लेकिन मूरो के नाम से मशहूर, स्पेन के इन अरबों की उँचे दर्जे की सभ्यता और सस्कृति इससे भी ज्यादा दिलचस्पी की बात है। एक इतिहास लेखक ने अपने उत्साह की कुछ तरंग में आकर लिखा है—

> "मूर लोगो ने कॉरडोबा के उस अद्भुत साम्राज्य को संगठित किया था जो मध्यकाल का एक चमत्कार था। जब सारा योरप वहशियाना अज्ञान और लडाई-झगडो मे डूबा हुआ था, तब अकेले इसी राज्य ने विद्या और सभ्यता की मशाल को पश्चिमी दुनिया के लिए रोशन और चमकदार बनाये रखा।"

ठीक ५०० बरसो तक कुर्तुबा इस राज्य की राजधानी रहा। इसीको अग्रेजी मे कॉरडोबा, और कभी-कभी कॉरडोवा कहते है। मुझे लगता है कि मैं कभी-कभी एक ही नाम के कई हिज्जे करता रहता हूँ। लेकिन अब मै बराबर कॉरडोबा पर ही कायम रहूँगा। कॉरडोबा बहुत बड़ा शहर था जिसमें दस लाख आदमी रहते थे। यह बाग़-बागीचोवाला दस मील लम्बा शहर था जिसके उपनगर चौबीस मील तक फैले हुए थे। कहा जाता है कि इस नगर में साठ सजार महल और कोठियाँ थी, दो लाख छोटे मकान थे, अस्सी हजार दूकानें थी, ३७८०० मसजिदें थी और सात सौ सार्वजनिक हम्माम थे। इन आंकड़ों में कुछ अत्युक्ति हो सकती है, लेकिन इससे शहर की विशालता का कुछ अदाज लगाया जा सकता है। यहा अनेक पुस्तकालय थे, जिनमें अमीर का शाही पुस्तकालय मुख्य था। इसमें चार लाख किताबें थी। कॉरडोबा का विश्व-विद्यालय सारे योरप में और पश्चिमी एशिया तक में मशहूर था। गरीबो के लिए बहुत सी प्रारम्भिक पाठशालायें थी जिनमें उन्हे मुफ्त शिक्षा दी जाती थी। एक इतिहास-लेखक कहता है—

"स्पेन में क़रीब-क़रीब सभी लोग पढ़ना-लिखना जानते थे; जब कि ईसाई योरप में पादरियों को छोड़कर और सब लोग, यहाँ तक कि ऊँचे खानदानो के लोग भी, बिलकुल नाख्वांदे होते थे।"

ऐसा वह कॉरडोबा का नगर था जो दूसरे बड़े अरबी शहर बग़दाद का मुकाबला करता था। उसकी शोहरत सारे योरप में फैली हुई थी और दसवी सदी के एक जर्मन लेखक ने उसे "दुनिया का ज़ेवर" कहा है। उसके विश्व-विद्यालय में दूर-दूर के विद्यार्थी आते थे। अरबी दर्शन का असर पैरिस, आक्सफर्ड, आदि योरप के दूसरे बड़े विश्व-विद्यालयो और इटली के उत्तरी विश्व-विद्यालयो तक फैल गया। एवरोज़ या इब्नरश्द बारहवी सदी में कॉरडोबा का एक मशहूर दार्शनिक हुआ है। अपनी जिंदगी के आखिरी दिनों में वह स्पेन के अमीर से लड बैठा और देश से निकाल दिया गया। वह जाकर पेरिसमे बस गया।

योरप के दूसरे हिस्सों की तरह स्पेन मे भी एक तरह की सामन्त-प्रणाली थी। वहाँ भी बड़े-बड़े और शक्तिशाली सरदार पैदा हो गये थे, जिनसे स्पेन के राजा अमीर की अकसर लड़ाइयाँ होती रहती थी। अरब राज्य बाहरी हमलों से इतना कमजोर नही हुआ जितना घरेलू लड़ाई-झगडो से। इसी समय उत्तरी स्पेन में कुछ छोटी ईसाई रियासतो की ताकत बढ़ रही थी और वे अरबो को बराबर पीछे हटाती जा रही थी।

सन् १००० ई० के करीब अमीर का साम्राज्य लगभग सारे स्पेन पर फैला हुआ था। यहाँ तक कि इसमें दक्षिणी फ़ास का भी एक छोटा-सा हिस्सा शामिल था। लेकिन इसका पतन जल्दी ही हुआ और, जैसा कि अकसर होता है, इस पतन की जड़ में अन्दरूनी कमज़ोरी थी। कला, विलासिता और वीरता से युक्त अरबों की सुन्दर सभ्यता आखिर धनवानो की ही सभ्यता थी। भूखी ग़रीब जनता ने विद्रोह कर दिया और मजदूरों ने दंगे शुरू कर दिये। धीरे-धीरे यह घरेलू लड़ाई बढ़ती गई, एक के बाद एक सूबा आज़ाद होता गया और अन्त मे अरबो का स्पेन-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। हालाँकि अरबो की ताकत बिखर गई थी, फिर भी वे सन् १२३६ ई० तक बराबर राज्य करते रहे जब कैस्टाइल के ईसाई बादशाह ने कॉरडोबा को पूरी तरह फ़तह कर लिया।

अरब लोग दक्षिण की ओर खदेड दिये गये, फिर भी वे बराबर मुकाबला करते रहे। स्पेन के दक्षिण में उन्होने ग्रैनैडा नाम का छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया और वे वही डटे रहे। आकार की दृष्टि से यह राज्य बहुत छोटा था लेकिन यह अरबी सभ्यता का एक छोटा-सा नमूना बन गया। ग्रैनैडा का प्रसिद्ध अलहम्म्र अपने सुन्दर महराबो, खम्भो और अरबेस्को[1] के साथ अभी तक मौजूद है और उस पुराने जमाने की याद दिलाता है। इसका असली नाम अरबी भाषा में 'अल-हम्र' था, जिसके मानी है—'लाल महल'। अरबेस्क उस सुन्दर नक्काशी को कहते है जो इस्लाम से प्रभावित अरब और दूसरी इमारतो में पाई जाती है। इस्लाम में मनुष्यो या जानवरो के चित्र बनाना मना है। इसलिए मेमार लोग सजीली और पेचीदा रेखाकृतियाँ बनाने लगे। अक्सर महराबो वगैरा पर वे कुरान की अरबी आयतें नक्श करते और उनमे सुन्दर सजावट करते थे। अरबी लिपि एक बहावदार लिपि है जिसमें सजावट का काम आसानी से हो सकता है।

ग्रैनैडा का राज्य दो सौ वर्ष तक क़ायम रहा। इस जमाने मे स्पेन के ईसाई राज्य, ख़ासकर कैस्टाइल, उसे दबाते और तग करते रहे। कभी-कभी उसने कैस्टाइल को कर देना भी मजूर कर लिया। अगर स्पेन के ईसाई राज्यो मे आपसी फूट न होती तो शायद ग्रैनैडा का राज्य इतने दिनो तक क़ायम न रहता। लेकिन सन् १४६९ ई० में इनमें से दो मुख्य ईसाई राज्यों के शासको में, यानी फर्डीनेण्ड और आइ-ज़ाबेला में, विवाह हो गया। इससे कैस्टाइल, एरागोन और लियोन तीनों एक हो गये। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला ने ग्रैनैडा के अरब साम्राज्य का अन्त कर डाला। अरब कई वर्षों तक बहादुरी से लड़ते रहे, पर अन्त में वे ग्रैनैडा में चारो तरफ़ से घेर लिये गये। अख़ीर में सन् १४९२ ई० में भूख से तंग आकर उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया।

---

[1] अरबेस्क—स्पेन के अरबों अथवा 'मूरों' की अलंकृत चित्रकला या मूर्तिकला। इसमें पौधों एवं लताओं का चित्रण अधिक होता था।

बहुत से सरासीन या अरब स्पेन छोड़कर अफ़रीका चले गये। ग्रैनैडा के नजदीक शहर के सामने ही एक स्थान है जो आज दिन भी 'मूरो की अन्तिम आह'[1] के नाम से मशहूर है।

लेकिन बहुत-से अरब स्पेन में ही रह गये। इन अरबों के साथ जो सलूक हुआ, वह स्पेन के इतिहास का एक काला अध्याय है। उनके साथ बेरहमी की गई और उनको कत्ल किया गया और सहिष्णुता के जो वादे उनसे किये गये थे उन्हें बिलकुल भुला दिया गया। इसी समय स्पेन में 'इनक्विजिशन' की स्थापना हुई। रोमन पादरियो ने यह भयकर हथियार उन तमाम लोगों को कुचलने के लिए ईजाद किया था जो उनके सामने सर नही झुकाते थे। यहूदी लोग, जो सरासीनो के राज्य में सम्पन्न बन गये थे, अपना धर्म बदलने के लिए मजबूर किये जाने लगे और बहुतों को ज़िन्दा जला दिया गया। स्त्रियो और बच्चो तक को नही छोड़ा गया। एक इतिहासकार लिखता है कि "विधर्मियों यानी सरासीनों को हुक्म दिया गया कि वे अपनी नफीस पोशाक छोड़ दे और अपने विजेताओ के हैट और बिरजिस धारण कर लें; अपनी भाषा, अपने रस्म-रिवाज और सस्कार, यहाँ तक कि अपने नाम भी छोड़ दें; और स्पेनी भाषा बोले, स्पेनवालो की तरह ही बर्ताव करे और अपने नाम बदल कर स्पेन निवासी बन जायँ। इन जुल्मों के विरोध में विद्रोह और बलवे तो हुए लेकिन वे बेरहमी से कुचल दिये गये।

ऐसा मालूम होता है कि स्पेन के ईसाई नहाने-धोने के बहुत खिलाफ़ थे। शायद वे इसका विरोध सिर्फ इसलिए करते थे कि स्पेन के अरब लोग गुसल के बहुत शौक़ीन थे, और उन्होने सारे मुल्क में बड़े-बडे सार्वजनिक हम्माम बना दिये थे। ईसाई लोग यहाँ तक बढ गये, कि उन्होंने 'मूरों या अरबों के सुधार के लिए' हिदायते निकाली कि "अरब के पुरुष, उनकी स्त्रियाँ और दूसरा कोई, घर मे या और कही भी नहाने-धोने न पावे और उनके सब हम्माम गिराकर नष्ट कर दिये जायँ।"

नहाने-धोने के पाप के अलावा एक दूसरा भी भारी जुर्म मूरो पर यह लगाया गया कि वे धर्म के मामलो मे सहनशील होते है। यह एक बडी अजीब बात मालूम होती है, लेकिन सन् १६०२ ई० में वेलेंशिया के बडे पादरी ने सरासीनो को स्पेन से निकालने की सिफारिश करते हुए 'मूरो के कुफ्र और राजद्रोह' के बारे मे जो बयान तैयार किया था, उसमे उनपर लगाये गये जुर्मोंमे यह मुख्य है। इसका ज़िक्र करते हुए वह लिखता है "वे (लोग) तमाम मजहबी मामलो मे ईमान की आज़ादी की जितनी कद्र करते हैं उतनी किसी दूसरी चीज़ की नही करते और तुर्क वगैरा तमाम मुसलमान अपनी प्रजा को इस आज़ादी की पूरी छूट देते हैं।" इस तरह इन शब्दो में स्पेन के सरासीनो की बिना जाने कितनी अधिक तारीफ की गई है। और इसके मुकाबले मे स्पेन के ईसाइयो का दृष्टिकोण कितना विपरीत और अनुदार था!

लाखो सरासीन जबरदस्ती स्पेन से खदेड़ दिये गये। उनमें से ज्यादातर अफरीका और कुछ फ्रान्स चले गये। लेकिन तुम्हे यह याद रखना चाहिए कि अरब लोग स्पेन मे सात सौ वर्षों तक रह चुके थे, और इस लम्बे ज़माने मे स्पेन की जनता मे बहुत कुछ घुल-मिल गये थे। जड से तो वे अरब थे लेकिन धीरे-धीरे स्पेनवासी बन गये थे। शायद पिछले ज़माने के स्पेनवासी अरब लोग बगदाद के अरबो से बिलकुल भिन्न थे। आज भी स्पेन-जाति की नसो में अरबो का काफी खून है।

सरासीन लोग शासक की हैसियत से नही बल्कि बसने वालो की तरह दक्षिणी फ्रान्स और स्वीज़र-लैंड मे भी फैल गये थे। आज भी 'मिडी' के फ़ान्सीसियो में कभी-कभी अरबी बनावट का चेहरा नज़र आ जाता है।

इस तरह स्पेन से अरबो का राज्य ही नही बल्कि उनकी सभ्यता भी खतम हो गई। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, एशिया में इस सभ्यता का अन्त इससे भी पहले हो चुका था। इस सभ्यता ने बहुत-से देशो और सस्कृतियो पर अपना असर डाला और अपनी कितनी ही शानदार यादगारे छोड गईं। लेकिन बाद मे वह फिर अपने पैरो पर खडी न हो सकी।

सरासीनो के चले जाने के बाद फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला के शासन में स्पेन की ताकत बढती गई। कुछ ही दिनो बाद, अमरीका का पता लग जाने की वजह से, गहरा माल इसके हाथ लगा और कुछ समय के लिए स्पेन योरप में सबसे ज्यादा शक्तिशाली देश हो गया, और इसका दब-दबा दूसरे देशों पर छा

[1] El ultimo saspiro bel Moro.

गया। लेकिन इसका पतन भी तेजी के साथ हुआ और इसका महत्व नष्ट हो गया। जब योरप के दूसरे देश उन्नति करते रहे, स्पेन अपनी जगह पर सड़ता रहा और मध्य-युग के सपने देखता रहा। उसने यह महसूस नहीं किया कि तबसे दुनिया बहुत बदल गई थी। लेन पूल नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने स्पेन के सरासीनों के बारे में लिखा है—

> "सदियोतक स्पेन सभ्यता का केन्द्र—कला, विज्ञान, विद्या और हर तरह के सुसंस्कृत ज्ञान का घर रहा। तब तक योरप का कोई दूसरा देश मूरो के इस सुसंस्कृत राज्यकी समानता नहीं कर पाया। फर्डीनेण्ड और आइज़ाबेला की और चार्ल्स के साम्राज्य की थोडे दिनों की चमक-दमक मूरो के स्थायी बडप्पन को नही पा सकी। मूरोको निकाल बाहर किया गया; कुछ दिनो तक ईसाई स्पेन, चाँद की तरह उधार ली हुई रोशनी से चमकता रहा। इसके बाद ग्रहण लगा और उस अन्धेरे मे स्पेन आज तक जमीन पर पड़ा रेंग रहा है। मूरो की सच्ची यादगार हमे स्पेन के बिल्कुल वीरान उजाड़-खण्डों में दिखाई देती है, जहाँ किसी जमाने मे अरब लोग अगूर, जैतून और अनाज की लहलहाती फ़सले पैदा करते थे और उस मूर्ख और अज्ञान आबादी में मिलती है जहाँ कभी चतुरता और विद्याध्ययन का राज्य था; और यह यादगार उस जनता की आम जड़ता और गिरावट में मिलती है जो दूसरी क़ौमो के मुकाबले मे बहुत ही नीचे गिरी हुई है और इस जलालत के योग्य भी है।"

यह एक सख्त फैसला है। सालभर हुआ, स्पेन मे एक क्रान्ति हुई और वहाँ का राजा गद्दी से उतार दिया गया। अब वहाँ प्रजातन्त्र राज्य है। शायद यह नवजात प्रजातन्त्र तरक्की करे और स्पेन को फिरसे दूसरे देशो की बराबरी मे ले आवे।

: ६२ :

'क्रूसेड'

१९ जून, १९३२

हाल ही के एक पत्र मे मैंने पोप और उसकी चर्च कौंसिल का, मुसलमानो से यरूशलम छीनने के लिए धर्म-युद्ध की घोषणा का जिक्र किया था। सेलजूक तुर्कों की बढती हुई ताकत से योरप भयभीत हो गया था; खासकर कुस्तुन्तुनिया की सरकार, जिस पर सीधा खतरा था। यरूशलम और फ़िलस्तीन के ईसाई यात्रियों पर तुर्कों के अत्याचार की कहानियो ने योरप के लोगो मे उत्तेजना फैला दी थी और वे क्रोधित हो उठे थे। इसलिए 'धर्मयुद्ध' की घोषणा करदी गई। पोप और चर्च ने योरप के सारे ईसाइयो को आदेश दिया कि वे 'पवित्र' नगर के उद्धार के लिए सेनाए सजावे।

इस तरह सन् १०९५ ई० से ये 'क्रूसेड' या धर्म-युद्ध शुरू हुए और डेढ सौ वर्षों से ज्यादा समय तक ईसाइयत और इस्लाम में, सलेब और हिलाल में, लडाई जारी रही। बीच-बीच में काफ़ी वक्त तक लड़ाई रुकी भी रहती थी, लेकिन युद्ध की अवस्था बराबर बनी रही। ईसाई जिहादियो के दल के दल लडने के लिए और ज्यादातर उस 'पवित्र' देश में मरने के लिए जाते रहे। इन लम्बी लडाइयों से ईसाई जिहादियो को कोई वास्तविक नतीजा नही मिला। कुछ समय के लिए यरूशलम ईसाई जिहादियो के हाथ में आ गया, लेकिन बाद मे फिर वह तुर्कों के हाथ में चला गया और उन्ही के कब्जे में बना रहा। क्रूसेडो का खास नतीजा यह हुआ कि लाखो ईसाइयों और मुसलमानों को मुसीबते झेलनी पड़ी और मौत के घाट उतरना पड़ा और एशिया कोचक और फ़िलस्तीन की जमीन इन्सान के खून से तर हुई।

इन दिनो बग़दाद के साम्राज्य की क्या हालत थी? अभी तक अब्बासी खलीफ़ा ही उसके शासक बने हुए थे। अभी तक वे खलीफा, अमीरुल मोमनीन तो जरूर थे, लेकिन सिर्फ़ नाम के ही अमीर थे; उनके हाथ में कोई ताक़त न थी। हम देख चुके हैं कि उनका साम्राज्य किस तरह टुकड़े-टुकड़े हुआ और सूबों के

हाकिम कैसे स्वतन्त्र हो गये। महमूद ग़ज़नवी ने, जो एक शक्तिशाली बादशाह था और जिसने कई बार भारत पर चढ़ाई की थी, खलीफ़ा को धमकी दी थी कि अगर वह उसकी मर्जी के मुताबिक काम न करेगा तो नतीजा उसके हक़ में अच्छा न होगा। खास बग़दाद में भी असली मालिक तुर्क ही थे। इनके बाद तुर्कों की सेलजूक़ नाम की दूसरी शाखा आई। उन्होंने जल्दी ही अपनी सत्ता कायम करली और वे जीत पर जीत हासिल करते हुए कुस्तुन्तुनिया के दरवाज़े तक जा पहुँचे। लेकिन खलीफ़ा फिर भी बना रहा, हालाकि उसके हाथ में कोई राजनीतिक ताकत नही थी। उसने सेलजूक सरदारो को सुलतान की उपाधि दी और ये सुलतान राज्य करने लगे। इसलिए क्रूसेडों में भाग लेने वाले ईसाइयो को इन्ही सेलजूक सुलतानो और उनके अनुयायियो से लडना पड़ा था।

योरप में क्रूसेडों ने ईसाइयत को, यानी इस भावना को बढाया कि सब गैर-ईसाइयों के मुकाबले में ईसाइयो की अपनी अलग दुनिया है। योरप भर मे इसी एक भावना और उद्देश्य का दौर था कि 'काफिरो' के हाथो से 'पवित्र देश' का उद्धार होना चाहिए। इस समान उद्देश्य ने जनता में उत्साह भर दिया था और इस महान् कार्य के लिए कितने ही आदमी अपना घर-बार और धन-दौलत छोड कर चल दिये। बहुत-से लोग ऊँचे भावो से प्रेरित हो कर गये थे लेकिन बहुत-से पोप के इस वादे से आकर्षित हुए थे कि वहाँ जाने से उनके पाप माफ कर दिये जायँगे। क्रूसेडो के दूसरे भी कितने ही कारण थे। रोम हमेशा के लिए कुस्तुन्तुनिया का सरदार बन जाना चाहता था। तुम्हें याद होगा कि कुस्तुन्तुनिया और रोम के ईसाई सम्प्रदाय अलग-अलग थे। कुस्तुन्तुनिया वाले अपने को कट्टर सम्प्रदाय[1] का मानते थे। वे रोमन सम्प्रदाय से सख्त नफरत करते थे और पोप को कल का छोकरा समझते थे। पोप कुस्तुन्तुनिया का यह घमड चूर करके उसे अपने मातहत लाना चाहता था। काफिर तुर्कों के खिलाफ धर्म-युद्ध की आड में वह अपनी इस पुरानी लालसा को पूरा करना चाहता था। राजनीतिज्ञो का और अपने को शासन-विद्या में कुशल समझने वालो का यही ढग होता है। रोम और कुस्तुन्तुनिया का यह सघर्ष याद रखने लायक है क्योकि क्रूसेडों के दरमियान यह बराबर सामने आता रहा।

क्रूसेडो का दूसरा कारण व्यापारिक था। व्यापारी लोग, खास कर वेनिस और जिनेवा के उन्नतिशील बन्दरगाहो के व्यापारी, इन युद्धो को चाहते थे क्योकि इनका व्यापार घटता जा रहा था। वजह यह थी कि सेलजूक तुर्कों ने पूर्व के कई तिजारती रास्तो को बन्द कर दिया था।

लेकिन आम जनता तो इन कारणो से बिलकुल नावाकिफ थी। किसी ने उसे ये बाते नही बताई थी। राजनीतिज्ञ लोग आम तौर पर अपने असली कारणो को छिपा रखते है और धर्म, न्याय और सत्य वगैरा की लम्बी-चौडी दुहाई दिया करते है। क्रूसेडो के समय में यही बात थी और आज भी यही है। उस समय लोग उनकी बातो मे आ जाते थे और आज भी ज्यादातर लोग राजनीतिज्ञो की चिकनी-चुपडी बातो में आ जाते है।

इन कारणो से क्रूसेडो मे शामिल होने के लिए बहुत आदमी जमा हो गए। उनमे बहुत-से तो नेक और लगन वाले थे, लेकिन बहुत-से ऐसे भी थे जो भलमनसाहत से दूर थे और लूट-खसोट की उम्मीद ने ही उन्हे इस तरफ खीचा था। इस अजीब जमघट में पुण्यात्मा और धर्मात्मा लोग भी थे और समाज का वह कूड़ा-करकट भी था जो हर तरह के जुर्म कर सकता था। नेक काम समझ कर उसमें मदद पहुँचाने के लिए घर छोड़ कर जाने वाले इन जिहादियो ने, या उनमें से अधिकांश ने, दर असल नीच-से-नीच और महा-घृणित अपराध किये। बहुत-से तो रास्ते में लूट-मार और अन्य बुराइयो में ऐसे फँस गये कि फिलस्तीन के पास तक नही पहुँचे। कुछ ने रास्ते में यहूदियो को कत्ल करना शुरू कर दिया; कुछ ने अपने ईसाई भाइयो को ही कत्ल कर डाला। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि जिन ईसाई देशों से होकर ये लोग गुज़रे वहा के किसानों ने इनकी बदमाशियो से तग आकर इनका मुकाबला किया और इन पर हमला करके बहुतो को मार डाला और बाकी को भगा दिया।

आखिर में बुइलों के गॉदफ़े नामक एक नार्मन के नेतृत्व मे ये जिहादी फिलस्तीन पहुँच गये। इन्होंने यरूशलम जीत लिया और फिर वहाँ 'एक हफ्ते तक मारकाट मची'। हजारों लोग क़त्ल कर दिये गये। इस

[1] Orthodox Church.

घटना को अपनी आँखों से देखनेवाले एक फ़ासीसी ने लिखा है—"मसजिद की बरसाती के नीचे घुटने तक खून था, और घोड़ो की लगाम तक पहुँच जाता था।" गॉदफ़े यरूशलम का बादशाह बन गया।

सत्तर वर्ष बाद मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरूशलम को ईसाइयों से फिर छीन लिया। इससे योरप की जनता फिर उत्तेजित हो उठी और एक के बाद एक कई क्रूसेड हुए। इस बार योरप के कई बादशाह और सम्राट् खुद जिहाद मे शामिल हुए लेकिन उन्हे कोई सफलता न मिली। वे इस बात पर आपस में ही झगड़ते थे कि बड़ा कौन है, और एक दूसरे से ईर्षा रखते थे। ये क्रूसेड वीभत्स और निर्दयतापूर्ण लड़ाइयो की, और अक्सर साज़िशो और नीचतापूर्ण अपराधो की कहानी है। लेकिन कभी-कभी मानव प्रकृति के सद्गुणों ने इन बीभत्सताओ पर विजय पाई, और ऐसी घटनाए भी हुई जब दुश्मनो ने एक दूसरे के प्रति भलमनसाहत का और वीरोचित उदारता का बर्ताव किया। फिलस्तीन में बाहर से आये हुए इन राजाओ में इग्लैंड का 'शेरदिल' रिचर्ड भी था जो अपनी शारीरिक शक्ति और साहस के लिए मशहूर था। सलादीन भी बड़ा लड़ाका था और अपनी वीरोचित उदारता के लिए मशहूर था। सलादीन से लड़नेवाले जिहादी भी उसकी इस उदारता के क़ायल थे। कहते है कि एक बार रिचर्ड बहुत बीमार पड गया, उसे लू लग गई थी। जब सलादीन को इसकी ख़बर हुई तो उसने उसके पास पहाडो से ताज़ा बर्फ़ भिजवाने का इन्तज़ाम कर दिया। आजकल की तरह उन दिनो पानी को जमा कर नकली बर्फ नही बनाई जा सकती थी। इसलिए पहाडो से कुदरती बर्फ हरकारो के ज़रिये मगवाई जाती थी।

क्रूसेडो के समय की बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध है। शायद तुमने वाल्टर स्कॉट[1] का 'टेलिसमैन' नामक उपन्यास पढा होगा।

जिहादियो का एक जत्था कुस्तुन्तुनिया भी पहुँचा और उसने उस पर कब्ज़ा कर लिया। इसने पूर्वी साम्राज्य के यूनानी सम्राट् को मार भगाया और वहाँ लैटिन राज्य और रोमन कैथलिक चर्च की स्थापना की। इन लोगो ने कुस्तुन्तुनिया में भी भयकर मारकाट की और जिहादियो ने शहर का एक हिस्सा जला भी दिया। लेकिन यह लैटिन राज्य ज्यादा दिनो तक कायम न रह सका। पूर्वी रोमन साम्राज्य के यूनानी कमज़ोर होते हुए भी वापस लौटे और पचास साल से कुछ ही ज्यादा समय के अन्दर उन्होने लैटिनो को मार भगाया। कुस्तुन्तुनिया का पूर्वी साम्राज्य दो सौ वर्षों तक और बना रहा। अन्त मे सन १४५३ ई० में तुर्कों ने हमेशा के लिए उसे खतम कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया पर जिहादियो का यह कब्ज़ा पोप और रोमन चर्च की इस इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वे अपना प्रभाव कहाँ तक बढाना चाहते थे। हालांकि घबराहट के समय इस शहर के यूनानियो ने तुर्कों के खिलाफ़ रोम से सहायता माँगी थी, फिर भी उन्होने जिहादियो की कुछ भी मदद नही की। बल्कि वे उनसे सख्त नफरत करते थे।

लेकिन इन क्रूसेडो में सबसे भयकर वह था जो 'बच्चो का क्रूसेड' कहलाता है। बहुत बडी तादाद में बच्चो ने, खासकर फ़ान्स के और जर्मनी के कुछ बच्चों ने, जोश मे आकर अपने घरो को छोड़ दिया और फ़िलस्तीन जाने का निश्चय कर लिया। उनमे से कितने ही तो रास्ते मे ही मर गये और कितने ही खो गये। ज्यादातर बच्चे मार्सेल्स जा पहुँचे जहाँ उन बेचारो के साथ धोखा किया गया और बदमाशो ने उनके उत्साह से बेजा फ़ायदा उठाया। 'पवित्र' देश तक पहुँचा देने का बहाना बनाकर गुलामो को व्यापार करनेवाले इन्हें अपने जहाजों में बिठाकर मिस्र ले गये और वहाँ इन्हे गुलामी के लिए बेच दिया।

फ़िलस्तीन से लौटते समय इग्लैंड के बादशाह रिचर्ड को पूर्वी योरप मे उसके दुश्मनो ने पकड़ लिया और उसको छुडाने के लिए बहुत बड़ी रकम देनी पडी। फ़ान्स का एक राजा तो फिलस्तीन ही में गिरफ्तार कर लिया गया था और उसे भी रुपया देकर छुड़ाया गया। पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सम्राट, फ़्रेडरिक बारबरोसा, फ़िलस्तीन की एक नदी मे डूब गया। इधर ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, क्रूसेडों का आकर्षण कम होता गया। लोग इन युद्धो से उकता गये थे। यरूशलम मुसलमानो के ही हाथो मे

[1]स्कॉट—यह अंग्रेजी भाषा का बहुत मशहूर उपन्यास-लेखक और कवि हो गया है। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। १७७१ ई० में इसका जन्म हुआ था और १८३२ ई० में मृत्यु हुई।

बना रहा लेकिन योरप के राजाओं में और योरप की जनता में अब यरूशलम को छीनने के लिए अधिक जान और माल बरबाद करने का उत्साह नही रहा। इसके बाद लगभग ७०० वर्ष तक यरूशलम मुसलमानो के ही पास रहा। थोड़े ही दिन पहले, पिछले योरोपीय महायुद्ध के समय, सन् १९१८ ई० में, एक अंग्रेज सेनापति ने इसे तुर्कों से छीन लिया।

बाद के क्रूसेडो में एक क्रूसेड बड़ा ही दिलचस्प और ग़ैरमामूली था। दर असल पुराने अर्थ में तो यह क्रूसेड था ही नही। पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् फ़ेडरिक द्वितीय फिलस्तीन गया। वहाँ युद्ध करने के बजाय उसने मिस्र के सुलतान से भेंट की और दोनो में एक दोस्ताना समझौता हो गया। फ्रेडरिक असाधारण व्यक्ति था। उस ज़माने में, जब ज्यादातर बादशाह बे-पढे-लिखे होते थे, यह अरबी के अलावा कई भाषाए जानता था। वह 'जगत का आश्चर्य' करके मशहूर था। पोप की वह बिल्कुल परवाह नही करता था और इसलिए पोप ने उसे बहिष्कृत कर दिया, लेकिन उस पर इसका कोई असर न हुआ।

सारांश यह कि क्रूसेडो का कोई नतीजा नही निकला। पर इस लगातार लड़ाई ने सेलजूक तुर्कों को कमज़ोर कर दिया। लेकिन इससे भी ज्यादा सामन्त-प्रथा ने सेलजूक़ साम्राज्य की जड खोखली कर दी। बडे बडे सामन्त सरदार अपने को एक तरह से स्वतन्त्र मानने लगे। वे आपस में लडते रहते थे। कभी-कभी नौबत यहाँ तक पहुँचती थी कि वे एक दूसरे के खिलाफ ईसाइयों की सहायता माँगा करते थे। कभी-कभी जिहादी लोग तुर्कों की इसी अन्दरूनी कमज़ोरी का फ़ायदा उठाते थे। लेकिन जब कभी सलादीन की तरह कोई दबग सुलतान होता था तब इनकी नही चलती थी।

क्रूसेडो के बारे मे दूसरा मत भी है। यह नया मत जी० एम० ट्रेवेलियन नाम के एक अंग्रेज इतिहासकार ने (जिसे तुम गैरीबाल्डी वाली किताबो के लेखक के रूप मे जानती हो) पेश किया है। यह मत बड़ा दिलचस्प है। ट्रेवेलियन कहता है "क्रूसेड योरप की उस फिर से जागने वाली चेतना के सैनिक और धार्मिक पहलू थे जो उसे पूर्व की ओर जाने को प्रेरित कर रही थी। क्रूसेडो से योरप को यह जीत नही मिली कि 'पवित्र समाधि' हमेशा के लिए ईसाइयो के हाथ में आ गई हो या ईसाई जगत् में प्रभावकारक एकता पैदा हो गई हो। क्रूसेडो की कहानी तो इन बातो का एक लम्बा प्रतिवाद है। इन सब बातो के बजाय योरप मे ललित कलाएँ, कारीगरी, विलासिता, विज्ञान तथा बौद्धिक जिज्ञासा आई, यानी वे तमाम चीज़े आई जिनसे साधु पीटर को सख्त नफरत होती।"

सलादीन सन् ११९३ ई० में मर गया, और पुराने अरब साम्राज्य का जो कुछ भाग बच रहा था वह भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया के कई हिस्सो में, जो छोटे-छोटे सामन्त-सरदारो के कब्ज़े मे थे, उपद्रव होने लगे। अन्तिम क्रूसेड सन् १२४९ ई० हुआ। इसका नेता फ्रास का राजा लूई नवम था। वह हार गया और कैद कर लिया गया।

इसी बीच पूर्वी और मध्य एशिया में बडी-बडी घटनाएँ घट रही थी। चगेज़ खाँ नामक ताकतवर सरदार के नीचे मगोल आगे बढ रहे थे और पूर्वी क्षितिज पर काली घटा की तरह छा रहे थे। क्रूसेडो में लडनेवाले दोनो पक्ष, यानी ईसाई और मुसलमान, दोनो ही इस आने वाले हमले को एक समान डर की निगाह से देख रहे थे। चगेज़ और मगोलो का ज़िक्र हम आगे के किसी पत्र मे करेगे।

इस पत्र को खतम करने से पहले मै एक बात का ज़िक्र कर देना चाहता हूँ। मध्य-एशिया के बुखारा नामक शहर मे एक बहुत बडा अरब चिकित्सक रहता था जो एशिया और योरप दोनों में मशहूर था। उसका नाम इब्न सीना था, लेकिन योरप में वह 'एवीसेना' के नाम से ज्यादा मशहूर है। वह 'चिकित्सकों का राजा' कहा जाता था। क्रूसेडो के शुरू होने के पहले, सन् १०३७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

मैंने इब्न सीना के नाम का ज़िक्र उसकी शोहरत की वजह से किया है। लेकिन याद रखो कि इस सारे ज़माने मे, यहाँ तक कि जब अरब साम्राज्य का पतन हो रहा था तब भी, अरबी सभ्यता पश्चिमी एशिया में और मध्य-एशिया के एक हिस्से मे क़ायम रही। क्रूसेड वालों से लड़ाई मे मशगूल रहने पर भी सलादीन ने बहुत-से कालेज और अस्पताल बनवाये। लेकिन इस सभ्यता के यकायक और पूरी तरह खतम होने का दिन नज़दीक आ चुका था, क्योंकि पूरब से मंगोल बढ़े चले आरहे थे।

: ६३ :

क्रूसेडों के समय का योरप

२० जून, १९३२

पिछले पत्र में हम लोगों ने ग्यारहवी, बारहवी और तेरहवी सदियों में ईसाइयत और इस्लाम के संघर्ष का कुछ जिक्र किया था। ईसाई जगत की भावना योरप मे जोर पकड़ रही थी। इस समय तक ईसाई मत सारे योरप में फैल चुका था। पूर्वी योरप की रूसी वगैरा स्लाव जातियाँ सबसे पीछे इसमें शामिल हुईं। एक रोचक कथा प्रचलित है—मैं कह नही सकता कि वह कहाँ तक सच है—कि पुराने रूसी लोगो ने, ईसाई होने के पहले, अपना पुराना धर्म बदलने और एक नया धर्म ग्रहण करने के सवाल पर बहस की थी। जिन दो नये धर्मों के बारे में उन्होने सुन रक्खा था, वे ईसाई धर्म और इस्लाम थे। इसलिए, ठीक आजकल की प्रथा के अनुसार, रूसियो ने ऐसे देशों मे, जहाँ इन मतो के माननेवाले लोग थे, एक प्रतिनिधि-मंडल भेजा ताकि वह उनकी जाँच करके अपनी रिपोर्ट पेश करे। कहते है कि यह प्रतिनिधि-मण्डल पहले पश्चिमी-एशिया की कुछ जगहो में गया जहाँ इस्लाम धर्म का प्रचार था और बाद मे वह कुस्तुन्तुनिया पहुँचा। कुस्तुन्तुनिया में उन्होने जो कुछ देखा उससे वे चकित हो गये। कट्टर ईसाई सम्प्रदाय की पूजा-विधि में बड़ी शान-शौकत और तडक-भडक थी जिसके साथ सगीत और मधुर गायन भी था। पादरी लोग बढिया पोशाकें पहनकर आते थे और लोबान की धूप जला करती थी। उत्तर के सीधे-सादे और अर्धसभ्य आदमियो पर इस पूजा-विधि का जबरदस्त असर पडा। इस्लाम मे ऐसी तडक-भडक की कोई बात नहीं थी। इसलिए उन्होने ईसाई धर्म के पक्ष में अपना फैसला किया और लौटकर वैसी ही रिपोर्ट अपने राजा के सामने पेश की। इस पर रूस के राजा और उसकी प्रजा ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया, और चूंकि उन्होंने यह ईसाई धर्म कुस्तुन्तुनिया से लिया था इसलिए वे रोम के नही बल्कि 'कट्टर यूनानी सम्प्रदाय' के अनुयायी हुए। बाद मे भी, रूस ने रोम के पोप को कभी अपना धर्म गुरु नही माना।

रूस का यह धर्म-परिवर्तन क्रूसेडो के बहुत पहले हो चुका था। कहा जाता है कि एक समय बलगारिया वाले भी मुसलमान बनने के लिए कुछ-कुछ तैयार हो गये थे, लेकिन कुस्तुन्तुनिया का ही आकर्षण ज्यादा जोरदार साबित हुआ। उनके राजा ने एक बिज़ेण्टाइन राजकुमारी से शादी कर ली और ईसाई हो गया (तुम्हें याद होगा कि बिज़ेण्टियम कुस्तुन्तुनिया का ही पुराना नाम था)। इसी तरह दूसरे पड़ोसी मुल्कों ने भी ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था।

इन क्रूसेडो के समय योरप में क्या हो रहा था? तुम देख ही चुकी हो कि इन धर्म-युद्धो में शामिल होने के लिए कुछ बादशाह और सम्राट फिलस्तीन गये थे और उनमे से कई वहाँ आफत मे फँस गये थे। उधर पोप रोम में बैठा-बैठा 'विधर्मी' तुर्कों के खिलाफ़ 'पवित्र युद्ध' के लिए आज्ञाए और अपीलें जारी कर रहा था। शायद ये दिन वही थे, जब पोप की ताकत अपनी चोटी पर पहुच चुकी थी। मै तुम्हें बता चुका हूँ कि किस तरह एक घमण्डी सम्राट पोप से माफी माँगने के लिए उसके सामने हाज़िर होने के इन्तज़ार में कनौज़ा में नंगे पाँव बर्फ़ मे खडा रहा था। यह वही पोप ग्रेगोरी सप्तम था जिसका पहला नाम हिल्डेब्रैण्ड था और जिसने पोपो के चुनाव का एक नया तरीका जारी किया था। रोमन कैथलिक जगत् मे कार्डिनल लोग सबसे बड़े पादरी होते थे। इनका एक सघ बनाया गया जिसे 'पवित्र सघ'[1] कहते थे। यही सघ नये पोप को चुनता था। यह तरीक़ा सन् १०५९ ई० मे जारी किया गया था और कुछ फेर-बदल के साथ, आजतक चला आ रहा है। आजकल भी जब कोई पोप मर जाता है तब कार्डिनलो का सघ तुरन्त इकट्ठा होता है और कार्डिनल लोग एक तालाबंद कमरे मे बैठ जाते हैं। जब तक चुनाव खतम नही हो जाता तब तक न कोई उस कमरे के भीतर जा सकता है और न कोई उससे बाहर ही निकल सकता है। बहुत बार ऐसा हुआ है कि चुनाव मे सहमत न हो सकने के कारण वे घण्टो उसी बन्द कमरे में बैठे रहते हैं। पर वे बाहर नही आ सकते! इसलिए अन्त में वे एकमत होने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

---

[1]Holy College.

चुनाव होते ही सफ़ेद धुआँ उड़ाया जाता है ताकि बाहर इंतज़ार करती हुई भीड़ को समाचार मिल जाय।

जिस तरह पोप चुना जाता था, उसी तरह 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का सम्राट भी चुना जाने लगा। लेकिन उसका चुनाव बड़े सामन्त-सरदार करते थे। इनकी सख्या सात थी और वे 'निर्वाचक राजा'[1] कहलाते थे। इस तरह सम्राट हमेशा एक ही ख़ानदान से नही आ सकता था। लेकिन व्यवहार में अक़सर एक ख़ानदान लम्बे-लम्बे समय तक इन चुनावो में जीतता रहता था।

इस तरह हम देखते हैं कि बारहवी और तेरहवी सदियों मे साम्राज्य की बागडोर होहेन्स्टाफ़ेन वश के हाथ में थी। मेरा ख़याल है कि होहेन्स्टाफेन जर्मनी में कोई छोटा कस्बा या गाँव है। शुरू में यह कुटुम्ब इसी गाँव से आया था। इसलिए इस गाव के नाम पर ही उसका नाम पड गया। होहेन्स्टाफेन वश का फ़्रेडरिक प्रथम सन् ११५२ ई० मे सम्राट हुआ। वह आमतौर से फ़्रेडरिक बार्बरोसा कहलाता है। यह वही फ़्रेडरिक बार्बरोसा था जो क्रूसेडो में जाते समय रास्ते में डूब गया था। कहा जाता है कि रोमन साम्राज्य के इतिहास मे फ़्रेडरिक बार्बरोसा की हुकूमत सब से ज्यादा शानदार थी। जर्मन लोगो के लिए तो वह बहुत समय से एक आदर्श वीर और पौराणिक गाथाओ का व्यक्ति बन गया है और उसके बारे में कितनी ही काल्पनिक कहानिया प्रचलित हो गई है। कहते है कि वह किसी पहाड की गहरी गुफ़ा में सो रहा है और अनुकूल समय पर जाग कर अपने देशवासियो को बचाने के लिए बाहर निकलेगा।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा बहुत ज़ोरो के साथ पोप के खिलाफ लडता रहा लेकिन अन्त में पोप की ही विजय हुई और फ़्रेडरिक को उसके सामने सिर झुकाना पडा। वह एक निरकुश राजा था पर उसके बड़े सामन्त सरदार उसे बहुत तग करते रहते थे। इटली में बडे-बडे नगर बढ रहे थे; फ़्रेडरिक ने उनकी आज़ादी को कुचलने की कोशिश की लेकिन वह सफल नही हुआ। जर्मनीमे भी, ख़ास कर नदियों के किनारे, कोलोन, हैम्बर्ग, फ्रेंकफ़र्त, वग़ैरा बडे-बडे नगर बस रहे थे। लेकिन इनके बारे मे फ़्रेडरिक की नीति दूसरी थी। अमीरो और सामन्तो की ताकत कम करने की गरज़ से उसने इन स्वतन्त्र जर्मन नगरो की हिमायत की।

मैंने तुम्हे कई मौको पर बताया है कि राजा की गद्दी के बारे मे पुरानी भारतीय धारणा क्या थी? आर्यो के पुराने ज़माने से अशोक के समय तक, और 'अर्थशास्त्र' से लगाकर शुक्राचार्य के 'नीति-सार' तक, यह बात बार-बार कही गई है कि राजा को लोकमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। असली मालिक जनता ही होती है। भारतीय सिद्धान्त यही था, हालांकि अमल में दूसरे देशो के राजाओ की तरह भारत के राजा भी काफी स्वेच्छाचारी होते थे। इस पुरानी भारतीय धारणा की तुलना पुराने योरप की धारणा से करो। उन दिनो के वकीलो की राय मे सम्राट की सत्ता सर्वोपरि थी, उसकी मर्जी ही कानून थी। उनका कहना था कि "सम्राट पृथ्वी पर जीता-जागता कानून है।" फ्रेडरिक बार्बरोसा ख़ुद कहता था: "जनता का यह काम नही है कि वह राजाओ को कानून बतावे, उसका काम तो राजाओ का हुक्म मानना है।"

इसका मिलान चीनी धारणा से भी करो। वहाँ सम्राट या राजा 'स्वर्ग का पुत्र' जैसी लम्बी-चौडी उपाधियो से पुकारा जाता था, लेकिन इससे हमे धोखे में न पडना चाहिए। सिद्धान्त रूप से चीन के सम्राट की स्थिति योरप के सर्वसत्ताधीश सम्राट की हालत से बहुत भिन्न थी। एक पुराने चीनी लेखक मेग-त्सी ने लिखा है. "जनता देश का सबसे महत्वपूर्ण अग है, उसके बाद ज़मीन और फसल के उपयोगी देवताओं का दर्जा है और सबसे कम महत्व शासक का है।"

मतलब यह कि योरप मे सम्राट पृथ्वी पर सर्वसत्ताधीश माना जाता था और इसीसे राजाओं के ईश्वरीय अधिकार की भावना पैदा हुई। असल में तो वह भी सर्वसत्ताधीश माना जाने से बहुत दूर था। उसके सामन्ती सरदार काफी सरकश होते थे और धीरे-धीरे, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, नगरो में नये-नये वर्ग पैदा हो गये थे, और इन नगरो ने भी कुछ सत्ता हथिया ली थी। दूसरी ओर पोप भी पृथ्वी पर सर्वोपरि होने का दावा करता था। और फिर जहाँ दो सर्वसत्ताधीश मिले, वहाँ झगडा होना लाज़िमी है।

फ़्रेडरिक बार्बरोसा के पोते का नाम भी फ्रेडरिक था। वह थोडी ही उम्र में सम्राट बन गया और उसका नाम फ़्रेडरिक द्वितीय पड़ा। यह वही आदमी था जिसे 'ससार का आश्चर्य'[2] कहा गया है, और जिसने फ़िलस्तीन जाकर मिस्र के सुल्तान के साथ दोस्ताना बातचीत की थी। अपने दादा की तरह इसने भी

---

[1] Elector Princes. [2] Stupor Mundi.

पोप का मुक़ाबला किया और उसकी आज्ञा मानने से इन्कार किया। पोप ने उसे ईसाई धर्म से छेककर बदला निकाला। यह पोपों का एक पुराना और कारगर हथियार था लेकिन अब इसमें कुछ जंग लग रहा था। फ़्रेडरिक द्वितीय को पोप के गुस्से की ज़रा भी परवाह नहीं थी और साथ ही दुनिया भी बदल रही थी। फ़्रेडरिक ने योरप के सब राजाओं और शासकों के पास लम्बे-लम्बे पत्र भेजे जिनमें उसने बताया कि राजाओं के मामले में पोप को दखल देने की जरूरत नहीं है; पोप का काम तो धार्मिक और आध्यात्मिक मामलो की देख-रेख करना है, राजनीति में दखल देना नही। उसने पादरियो मे फैले हुए भ्रष्टाचार का भी वर्णन किया। इस तरह के वाद-विवाद में फ्रेडरिक ने पोपो को बुरी तरह पछाड दिया। उसके ये पत्र बड़े दिलचस्प हैं क्योंकि वे पोप और सम्राट के पुराने सघर्ष में आधुनिक भावना का सूत्रपात होने की पहली निशानी है।

फ़्रेडरिक द्वितीय धार्मिक मामलों मे बड़ा उदार था और अरबी और यहूदी दार्शनिक उसके दरबार में आया करते थे। कहा जाता है कि फ्रेडरिक के ही ज़रिये अरबी अक[1] और बीजगणित योरप में पहुंचे थे (तुम्हे याद होगा कि ये शुरू में भारत से अरब गये थे)। फ़्रेडरिक ने ही नेपल्स का विश्वविद्यालय और सैलर्नो के प्राचीन विश्वविद्यालय में चिकित्सा-शास्त्र का एक बडा स्कूल कायम किये थे।

फ़्रेडरिक द्वितीय ने सन् १२१२ से १२५० ई० तक राज्य किया। उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य पर से होहेन्स्टाफेन वंश का अधिकार जाता रहा। सच तो यह है कि उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य का ही करीब-क़रीब खात्मा हो गया। इटली अलग हो गया, जर्मनी के टुकडे-टुकडे हो गये और बहुत वर्षों तक भयानक उपद्रव मचा रहा। लुटेरे सरदार डाकू लूट-मार करते थे और उनको कोई रोकने वाला नही था। जर्मन राज्य के लिए पवित्र रोमन साम्राज्य का बोझ इतना भारी पडा कि वह उसे सहन नही कर सका। फ़्रास और इग्लैंड मे वहाँ के बादशाह धीरे-धीरे अपनी स्थिति मज़बूत कर रहे थे और उपद्रव मचानेवाले बड़े-बड़े सामन्ती सरदारो को कुचल रहे थे। जर्मनी का बादशाह सम्राट भी था और वह पोप से या इटली के शहरो से लडने ही मे इतना फँसा रहता था कि अपने यहाँ के अमीरो को दबा नही सकता था। जर्मनी के राजा को भले ही सब सम्राट न मानते हो, पर जर्मनी को यह गौरव मिला हुआ था। लेकिन इसकी कीमत उसे यह चुकानी पडी कि उसके घर में कमज़ोरी और फूट पैदा हो गई। जर्मनी के सयुक्त-राष्ट्र बनने के बहुत पहले ही फ़्रास और इग्लैंड ताकतवर हो गये थे। सैकडो वर्षों तक जर्मनी मे छोटे-छोटे राजा बने रहे। अभी करीब साठ ही वर्ष हुए जबकि जर्मनी सगठित हुआ लेकिन छोटे-छोटे बादशाह और राजा फिर भी बने रहे। सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध ने इस मजमे को खतम कर दिया।

फ्रेडरिक द्वितीय के बाद जर्मनी मे इतनी ज्यादा गड़बड रही कि तेईस साल तक कोई सम्राट ही नही चुना गया। सन् १२७३ ई० मे हैप्सबर्ग का काउण्ट रूडाल्फ सम्राट् चुना गया। अब हैप्सबर्ग का नया राजवंश सामने आया, जो साम्राज्य के साथ अन्त तक चिपका रहा। लेकिन सन् १९१४ ई० के महायुद्ध में यह राजवंश भी, शासक की हैसियत से, खतम हो गया। युद्ध के समय आस्ट्रिया-हंगरी का सम्राट् हैप्सबर्ग घराने का था, जिसका नाम फ्रांसिस जोज़ेफ था। वह बहुत बुड्ढा था और राजगद्दी पर बैठे हुए उसे साठ वर्ष से ज्यादा हो चुके थे। फ्रैंज़ फर्डिनेण्ड उसका भतीजा और उत्तराधिकारी था, जो सन् १९१४ ई० में बोसनिया (बालकन प्रायद्वीप) के सिराज़ेवो नामक नगर में अपनी पत्नी के साथ कत्ल कर दिया गया था। महायुद्ध का कारण यही हत्या थी। इस युद्ध ने बहुत-सी चीजो का खात्मा कर दिया, जिनमें हैप्सबर्ग का पुराना राजवश भी एक है।

पवित्र रोमन साम्राज्य के बारे में इतना काफ़ी है। इस साम्राज्य के पश्चिम मे फ़ास और इग्लैंड अक्सर आपस मे लड़ा करते थे, लेकिन इससे ज्यादा अपने ही बड़े-बड़े अमीरो से उनकी लड़ाइया चलती रहती थीं। जर्मनी के सम्राट या राजा की बनिस्बत फ़ास और इग्लैंड के बादशाह अपने अमीरों से लड़ने में ज्यादा सफल हुए; इसलिए इग्लैंड और फ्रांस और देशो के मुकाबले में ज्यादा ठोस बन गये और उनकी एकता ने उन्हें ताक़त दी।

---

[1] अरबी में अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं।

इसी समय इंग्लैंड में एक घटना हुई जिसके बारे में शायद तुमने पढा होगा। सन् १२१५ ई० में किंग जॉन ने मैग्नाकार्टा[1] पर दस्तखत किये। जॉन अपने भाई 'शेर-दिल' रिचर्ड के बाद गद्दी पर बैठा था। वह हर चीज हड़पना चाहता था लेकिन साथ ही साथ कमजोर भी था और उसकी हरकतों से सब लोग खिज उठे। अमीरों ने उसे टेम्स नदी के रनीमीड नाम के टापू में जा घेरा और तलवार के जोर से डरा-धमका कर मैग्नाकार्टा या 'महान् घोषणापत्र' पर उससे दस्तखत करवा लिये। इस में यह शर्त थी कि वह इग्लैंड के अमीरों और जनता के कुछ खास-खास अधिकारों का आदर करेगा। इग्लैंड की राजनैतिक स्वतन्त्रता की लम्बी लडाई में इसे पहला बडा क़दम कहना चाहिए। इसमें एक खास शर्त यह थी कि राजा किसी नागरिक की सम्पत्ति या उसकी आजादी में बिना उसके बराबरवालो की राय के दखल नही दे सकेगा। इसीसे जूरी[2] की प्रथा निकली है, जिसमे यह माना जाता है कि बराबर के लोग फ़ैसला देते हैं। इस तरह हम देखते है कि इंग्लैंड में बहुत पहले ही राजा के अधिकारो पर रोक लगा दी गई थी। पवित्र रोमन साम्राज्य में शासक को सर्वोपरि मानने का जो सिद्धान्त प्रचलित था, वह उस समय भी इग्लैंड में नही माना जाता था।

यह मजेदार बात है कि यह कानून, जो इग्लैंड में आज से ७०० बरस पहले बनाया गया था, सन् १९३२ ई० मे भी ब्रिटिश राज्य मे, भारत पर लागू नही है। यहाँ आज भी एक व्यक्ति यानी वाइसराय को आर्डीनेन्स निकालने, कानून बनाने और जनता की सम्पत्ति और स्वाधीनता छीन लेने के हक़ हासिल है।

मैग्नाकार्टा के थोडे ही दिनो बाद इग्लैंड में एक और मार्के की घटना हुई। धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय कौन्सिल का विकास होने लगा जिसमें मुख्तलिफ देहाती इलाक़ो और शहरो से योद्धा और नागरिक भेजे जाते थे। यह अग्रेजी पार्लमेण्ट की शुरूआत थी। योद्धाओ और नागरिको की सभा 'हाउस ऑफ कॉमन्स' कहलाई और अमीरो और पादरियो की सभा 'हाउस आफ लार्ड्स' कहलाई। शुरू-शुरू मे इस पार्लमेण्ट को नाममात्र के अधिकार थे पर धीरे-धीरे इसकी ताकत बढती गई। अखीर मे राजा और पार्लमेण्ट के बीच में इस बात पर अन्तिम लडाई हुई कि दोनो मे कौन बडा है। इस झगडे मे राजा का सिर उडा दिया गया और पार्लमेण्ट की प्रभुता सबने स्वीकार कर ली। लेकिन यह ताकत पार्लमेण्ट को क़रीब ४०० वर्षों बाद—अर्थात् सत्रहवी सदी मे जाकर मिली।

फ्रास मे भी एक कौन्सिल थी जो 'तीन वर्गों की कौन्सिल' कही जाती थी। लार्ड, चर्च और जनता, ये ही तीन वर्ग थे। जब कभी राजा की इच्छा होती थी, इस कौंसिल की बैठक हुआ करती थी; लेकिन इसकी बैठके बहुत कम होती थी और यह अग्रेजी पार्लमेण्ट की तरह अधिकार हासिल करने में सफल न होसकी। फ्रास मे भी राजाओ की शक्ति टूटने के पहले एक राजा को अपना सिर गँवाना पड़ा था।

पूर्व में अब भी यूनानियो का पूर्वी रोमन साम्राज्य चल रहा था। अपनी जिंदगी की शुरूआत से ही इसकी किसी-न-किसी से लडाई चलती रही और अक्सर ऐसा मालूम होता था कि यह खतम हुआ। फिर उसने पहले उत्तर की बर्बर जातियो के और बाद मे मुसलमानों के हमलो से अपनी जान बचा ली। इस साम्राज्य पर रूसियो, बलगारियो, अरबो, या सेलजूक़ तुर्कों के जितने हमले हुए उनमे ईसाई जिहादियो का हमला सबसे ज्यादा घातक और नुकसानदेह साबित हुआ। इन ईसाई योद्धाओ ने ईसाई क़ुस्तुन्तुनिया को जितना नुक़सान पहुँचाया, उतना किसी 'काफिर' ने नही पहुँचाया। इस आफ़त के बुरे असर से साम्राज्य और कुस्तुन्तुनिया का शहर फिर कभी नही पनप सका।

पश्चिमी योरप की दुनिया पूर्वी साम्राज्य के बारे मे बिलकुल अनजान थी। उसे उसकी बिल्कुल परवाह नही थी। उसे ईसाईयत की दुनिया का अग नही कहा जा सकता। उसकी भाषा यूनानी थी, जबकि पश्चिमी योरप के विद्वानो की भाषा लैटिन थी। देखा जाय तो इस गिरावट के जमाने में भी कुस्तुन्तुनिया में पश्चिम की बनिस्बत कही ज्यादा विद्या और साहित्य-चर्चा थी। लेकिन यह विद्या बुढ़ापे की विद्या थी जिसमे

---

[1] मैग्नाकार्टा (Magna Charta)—इंग्लैण्ड की स्वतन्त्रता का खरीता, जिसपर दस्तखत करने के लिए किंग जॉन को मजबूर होना पड़ा। इसमें नागरिक स्वतन्त्रता की कई महत्वपूर्ण बातें शामिल की गई थीं।

[2] बड़े मुक़दमों में न्यायाधीश के साथ कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति बैठते है जो गवाहियाँ पूरी हो जाने पर आपस में सलाह करके मुक़दमे के बारे में राय देते है। भारतमें क़त्ल के मुक़दमों में जूरी बैठते है।

न कोई ताक़त थी और न कोई नई रचना करने की शक्ति। पश्चिम में विद्या नहीं के बराबर थी लेकिन उसमें जवानी थी और नई बातें पैदा करने की शक्ति थी और थोड़े ही दिनो बाद यह ताकत खूबसूरत चीजो की रचना के रूप में खिल उठनेवाली थी।

पूर्वी साम्राज्य में, रोम की तरह सम्राट और पोप में सघर्ष नही था। वहाँ सम्राट सर्वोपरि था और पूरी तरह स्वेच्छाचारी था। किसी तरह की आजादी का सवाल ही नही था। राजगद्दी उसीके हिस्से में आती थी जो सब से ताकतवर होता था या सब से ज्यादा अविवेकी होता था। हत्या और छल से, खून-खराबी और जुल्म से, लोग राजगद्दी हासिल कर लेते थे और जनता भेड़-बकरियो की तरह उनके हुक्मों को मानती रहती थी। मालूम होता है उसे इस बात में कोई दिलचस्पी न थी कि कौन राज्य करता है।

पूर्वी साम्राज्य योरप के फाटक पर एक पहरेदार की तरह खड़ा था और एशियाई हमलो से उसकी रक्षा करता था। सैकड़ो वर्षों तक वह इसमें सफल होता रहा। अरब लोग कुस्तुन्तुनिया को नही ले सके। सेलजूक तुर्क भी, हालांकि वे उसके बहुत नजदीक पहुँच गये थे, उसे नही ले सके। मगोल भी इसके पास से होते हुए उत्तर रूस की तरफ निकल गये। अन्त में उस्मानी तुर्क आये और सन् १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया के शाही नगर का एक बड़ा माल उनके हाथ में आगया। इस नगर के पतन के साथ ही पूर्वी रोमन साम्राज्य का भी खातमा हो गया।

: ६४ :

योरप के नगरों का अभ्युदय

२१ जून, १९३२

क्रूसेडों का जमाना, योरप में श्रद्धा, सामूहिक आकाक्षा और विश्वास का महान जमाना था और जनता अपनी आये दिन की मुसीबतो से शान्ति पाने के लिए इसी श्रद्धा और आशा का सहारा लेती थी। उस समय विज्ञान नही था और विद्या भी बहुत कम थी क्योकि श्रद्धा के साथ विज्ञान और विद्या का मेल आसानी से नही बैठता। विद्या और ज्ञान लोगों मे सोचने और विचारने की ताकत पैदा करते हैं और सशय तथा तर्क-वितर्क श्रद्धा के साथ मुश्किल से मेल खाते हैं। विज्ञान का रास्ता जाँच-पड़ताल और प्रयोग का रास्ता है। लेकिन श्रद्धा इस रास्ते नही जाती। आगे चल कर हम देखेंगे कि किस तरह यह श्रद्धा कमजोर पड़ गई और सशय का उदय हुआ।

लेकिन अभी तो जिस जमाने का हम जिक्र कर रहे हैं, उस समय श्रद्धा का जोर था और रोमन चर्च 'ईमानवालो' का सरदार बनकर उनसे खूब फायदा उठाता था। न जाने कितने हजार 'ईमानवाले' फ़िलस्तीन में धर्म-युद्ध करने के लिए भेजे गये जो फिर लौट कर नही आये। पोप ने योरप की उस ईसाई जनता या समुदायो के खिलाफ भी धर्मयुद्ध की घोषणा करनी शुरू करदी, जो हर बात मे उसका हुक्म मानने को तैयार नही थे। पोप और चर्च ने 'डिस्पेन्सेशन' और 'इडलूजेन्स' बाँट कर और बेंच कर इस श्रद्धा से बेजा फ़ायदा उठाया। चर्चके किसी कानून या परिपाटी को भग करने की इजाजत को 'डिस्पेन्सेशन' कहते थे। इस तरह जिन कानूनो को चर्च खुद बनाता था उन्ही को खास मौकों पर तोड़ने की इजाजत भी वह दे देता था। ऐसे नियमो के लिए ज्यादा दिनो तक लोगो के दिलों में इज्जत कायम नही रह सकती थी। 'इडलूजेन्स' इस से भी बदतर चीज थी। रोमन चर्च के मुताबिक़ मृत्यु के बाद आत्मा 'परगेटरी' नामक लोक में जाती है जो स्वर्ग और नर्क के बीच मे कही पर है और जहाँ उसे इस दुनिया में किये हुए पापो के लिए यातना भोगनी पड़ती है। इसके बाद वही वह आत्मा स्वर्ग को जाती है। पोप रुपया लेकर लोगो को यह प्रतिज्ञा-पत्र दे देता था कि वे 'परगेटरी' से बचकर सीधे स्वर्ग पहुँच जायँगे। इस तरह चर्च भोले-भाले लोगों की श्रद्धा से फ़ायदा लूटता था और जिन अपराधो को वह पाप समझता था उनसे भी पैसा बनाता था। 'इडलूजेन्स' की

बिक्री का यह रिवाज क्रूसेडों के कुछ दिन बाद शुरू हुआ। इससे बड़ी बदनामी फैली और बहुत से कारणों में एक कारण यह भी था जिससे लोग रोमन चर्च के खिलाफ़ हो गये।

अजीब बात है कि सीधे-सादे श्रद्धावान लोग कितनी बातें बिना किसी नानुच के मान लेते हैं। यही वजह है कि कई देशों में धर्म सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा फायदे का रोजगार बन गया है। मन्दिरों के पुजारियों को देखो कि वे किस तरह भोले-भाले उपासकों को मूँड़ने की कोशिश करते है। गंगा के घाटों पर जाओ तो वहाँ तुम देखोगी कि पंडे कुछ धार्मिक कृत्य करने से तबतक इन्कार करते हैं, जबतक कि बेचारा देहाती इन्हें भेंट नहीं दे देता। कुटुम्ब में कुछ भी हो—चाहे जन्म हो, शादी हो या ग़मी हो, पुरोहित आ धमकता है और उसकी भेंट-पूजा करनी पड़ती है।

यह बात हर मजहब में है, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे ईसाई धर्म हो, चाहे इस्लाम हो, चाहे पारसी। हर मजहब का, श्रद्धालुओं की श्रद्धा से पैसा पैदा करने का अपना अलग तरीका होता है। हिन्दू धर्म के तरीके तो काफ़ी जाहिर है। कहा जाता है कि इस्लाम में पुरोहित नहीं होते और पुराने जमाने में उसके अनुयायियों को धार्मिक लूट-खसोट से बचाने में इस बात से थोड़ी-बहुत मदद भी मिली। लेकिन बाद में कुछ व्यक्ति और वर्ग पैदा हो गये जो अपने को धर्म के मामलों की खासतौर पर जानकारी रखनेवाले कहने लगे जैसे आलिम, मौलवी, मुल्ला वगैरा। इन लोगों ने सीधे-सादे दीनदार मुसलमानों पर अपना रोब जमा लिया और उनको मूँड़ना शुरू कर दिया। जहाँ लम्बी दाढ़ी, या चोटी, या तिलक, या फ़क़ीरी बाना, या सन्यासी का गेरुआ या पीला कपड़ा पवित्रता की सनद समझा जाता हो, वहाँ जनता पर धाक जमाना कोई मुश्किल काम नहीं है।

अगर तुम अमेरिका जाओ, जो आज-कल सबसे आगे बढ़ा हुआ मुल्क है, तो वहाँ भी देखोगी कि धर्म एक बहुत बड़ा उद्योग बन गया है, जो जनता के शोषण पर जी रहा है।

मैं मध्य युग और श्रद्धा के जमाने से बहुत दूर भटक गया हूँ। हमें उस जमाने की तरफ फिर वापस चलना चाहिए। हम इस श्रद्धा को मूर्त्त और रचनात्मक रूप धारण करते हुए पाते है। ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में इमारतों के निर्माण का एक बड़ा जमाना आया और सारे पश्चिमी योरप में बड़े-बड़े गिरजाघर खड़े हो गये। एक नई शिल्पकला का जन्म हुआ जैसी योरप में इसके पहले कभी नहीं दिखाई पड़ी थी। हिकमत-भरी तरकीब से भारी-भारी छतों का बोझ और दबाव इमारत के बाहर बने बड़े-बड़े पुश्तों पर डाल दिया गया है। भीतर नाजुक खम्भों को जाहिरा तौर पर ऊपर के भारी बोझ को सम्भाले हुए देख कर ताज्जुब होता है। इनके नोकदार मेहराब अरब शिल्पकला की नक़ल है। सारी इमारत से ऊपर आसमान तक पहुँचनेवाली मीनार होती है। भवन निर्माण की यह वह गॉथिक शैली है जो योरप में पैदा हुई और विकसी। इसमें आश्चर्यजनक सुन्दरता थी और यह एक उड़ान भरनेवाली श्रद्धा और आकांक्षा की अभिव्यक्ति मालूम देती थी। सचमुच यह श्रद्धा के उस जमाने को व्यक्त करती है। ऐसी इमारतें केवल वे शिल्पकार और कारीगर ही बना सकते हैं जिन्हें अपने काम में अनुराग हो और जो मिलकर किसी महान कार्य को पूरा करने में जुट गये हों।

पश्चिमी योरप में इस गॉथिक शैली का विकास एक अद्भुत बात है। अव्यवस्था, अराजकता, अज्ञान और असहिष्णुता के कीचड़ से यह एक खूबसूरत चीज़ पैदा हुई—मानो स्वर्ग की ओर जानेवाली प्रार्थना हो। फ्रांस, उत्तरी इटली, जर्मनी और इंग्लैंड में गॉथिक शैली के बड़े-बड़े गिरजे करीब-क़रीब एक ही साथ बने। यह कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि उनकी शुरूआत कैसे हुई, और न कोई उनके बनानेवालों के नाम ही जानता है। ये रचनायें सारी जनता की सम्मिलित इच्छा और मेहनत को व्यक्त करती हुई प्रतीत होती हैं, न कि किसी अकेले शिल्पकार की। इन गिरजों में दूसरी नई चीज़ उनकी खिड़कियों के रंगीन शीशे थे। इन खिड़कियों पर खूबसूरत रंगों में सुन्दर तस्वीरें बनी होती थीं और उनमें से होकर आनेवाली रोशनी इन इमारतों के गम्भीर और रोब डालनेवाले प्रभाव को बढ़ाती थी।

थोड़े दिन हुए मैंने अपने एक पत्र में योरप का मुक़ाबिला एशिया से किया था। हमने देखा था कि उस वक़्त एशिया संस्कृति और सभ्यता में योरप से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। फिर भी भारत में नई रचना का काम बहुत ज्यादा नहीं हो रहा था। मैं कह चुका हूँ कि नई रचना करना ही ज़िंदगी की निशानी है। अर्ध-सभ्य योरप में से पैदा होनेवाली यह गॉथिक शिल्पकला इस बातका सबूत है कि वहाँ काफ़ी ज़िंदगी थी। बदअमनी

और सभ्यता की पिछड़ी हुई स्थिति से पैदा होनेवाली कठिनाइयों के होते हुए भी यह ज़िन्दगी फूट निकली और उसने अपने को व्यक्त करने के तरीक़े तलाश कर लिये। गॉथिक इमारतें इसी अभिव्यक्ति का एक रूप हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि यही ज़िन्दगी चित्रकला, मूर्त्तिकला और साहसिक कार्यों से प्रेम के रूप में प्रगट हुई।

तुमने कुछ गॉथिक गिरजों को देखा है। कह नहीं सकता कि तुम्हें उनकी याद है या नहीं। तुमने जर्मनी में कोलोन का सुन्दर गिरजा देखा था। इटली के मिलान शहर में एक बहुत ख़ूबसूरत गॉथिक गिरजा है और इसी तरह का फ़्रांस में चारत्रे नामक जगह पर भी है। लेकिन मैं सबके नाम नहीं गिना सकता। ये गॉथिक गिरजे जर्मनी, फ़्रांस, इंग्लैंड और उत्तरी इटली में फैले हुए हैं। यह एक ताज्जुब की बात है कि ख़ास रोम में गॉथिक शैली की कोई मार्के की इमारत नहीं है।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों के इस बड़े निर्माण-युग में ग़ैर-गॉथिक शैली के गिरजे भी बनाये गये, जैसे पेरिस में नात्रदेम का और शायद वेनिस में सेन्ट मार्क का। सेन्ट मार्क, जिसे तुमने देखा है, बिजेण्टियन शैली का नमूना है। इसमें पच्चीकारी का बहुत सुन्दर काम है।

श्रद्धा का ज़माना ढल गया और इसके साथ गिरजों का बनना भी कम हो गया। लोगों का ध्यान दूसरी तरफ़, यानी व्यापार, रोज़गार और शहरी ज़िंदगी की तरफ़ चला गया। गिरजाघरों के बजाय टाउन-हाल बनने लगे। इस तरह हम पन्द्रहवीं सदी की शुरूआत से सुन्दर गॉथिक टाउन-हाल या पचायती भवन, उत्तर और पश्चिम योरप भर में फैले हुए देखते हैं। लन्दन में पार्लमेण्ट की इमारतें गॉथिक शैली की हैं लेकिन मैं यह नहीं जानता कि वे कब बनीं। इतना मुझे ख़याल है कि पहले की गॉथिक इमारतें जल गई थीं और उनके बाद गॉथिक शैली पर ही एक दूसरी इमारत बनाई गई।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के ये बड़े-बड़े गॉथिक गिरजे शहरों और क़स्बों में ही बने। पुराने शहर सचेत हो रहे थे और नये पैदा हो रहे थे। सारे योरप में तब्दीली हो रही थी और सभी जगह शहरी ज़िंदगी बाढ़ पर थी। रोमन साम्राज्य के पुराने ज़माने में भूमध्य सागर के किनारे चारों तरफ़ बड़े-बड़े शहर ज़रूर थे लेकिन जब रोम और यूनानी-रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, ये शहर भी उजड़ गये। सिवाय कुस्तुन्तुनिया के योरप में किसी बड़े शहर का नाम नहीं था। हाँ, स्पेन की बात जुदी थी जहाँ अरबों की हुकूमत थी। एशिया में भारत, चीन और अरबी दुनिया में इस समय बड़े-बड़े शहर मौजूद थे, लेकिन योरप में यह बात नहीं थी। मालूम होता है शहरों का सभ्यता और संस्कृति के साथ चोली-दामन का-सा सम्बन्ध है और योरप में रोमन व्यवस्था के टूट जाने के बहुत दिनों बाद तक इनमें से कोई भी चीज़ नहीं थी।

लेकिन अब नागरिक जीवन का फिर से उत्थान हो रहा था। इटली में ख़ास तौर से नये शहर पैदा हो रहे थे। ये सम्राट और पवित्र रोमन साम्राज्य की आँखों में खटकते थे क्योंकि ये इसके लिए तैयार नहीं थे कि उन्हें जो थोड़ी सी आज़ादी मिली हुई थी उसे छीन लिया जाय। इटली वग़ैरा में ये शहर व्यापारी और मध्यम वर्ग की बढ़ती हुई ताक़त के सबूत थे।

वेनिस, जिसका सारे एड्रियाटिक समुद्र पर रौब था, आज़ाद प्रजातंत्र हो गया था। इसकी चक्करदार गलियों की नहरों में समुद्र का पानी आता जाता है जिससे आज यह बड़ा ख़ूबसूरत हो गया है; लेकिन कहते हैं कि शहर बनने के पहले यहाँ दलदल की ज़मीन थी। जब हूण एटिला आग लगाता और मारकाट करता ऐक्वीलिया में आया तो कुछ लोग बचकर वेनिस की तराई की तरफ़ भाग गये। इन्हीं लोगों ने अपने हाथ से वेनिस का शहर बनाया, और चूँकि यह पूर्वी रोमन साम्राज्य और पश्चिमी रोमन साम्राज्य के बीच में पड़ता था इसलिए वे आज़ाद बने रहे। भारत और पूर्व के दूसरे मुल्कों के साथ वेनिस का व्यापार क़ायम हुआ और व्यापार के साथ ही दौलत भी आई। वेनिस ने अपनी जल-सेना बना ली और एक समुद्री ताक़त बन गया। यह धनवानों का प्रजातंत्र था, जिसमें एक अध्यक्ष हुआ करता था जो डॉजे कहलाता था। जब नेपोलियन विजेता बनकर सन् १७९७ ई० में वेनिस में दाख़िल हुआ, तब तक यह प्रजातंत्र क़ायम रहा। कहते हैं कि उस दिन डॉजे, जो बहुत बुड्ढा आदमी था, यकायक मर गया। वह वेनिस का आख़िरी डॉजे था।

इटली के दूसरी तरफ़ जिनेवा था। यह भी सामुद्रिक लोगों का एक बड़ा व्यापारी शहर था और वेनिस से होड़ करता था। इन दोनों शहरों के बीच में विश्व-विद्यालय वाला बोलोना था और पीसा, वेरोना और फ्लोरेंन्स के नगर थे। इस फ्लोरेंन्स में आगे चल कर बड़े बड़े कलाकार पैदा होने वाले थे और यह मशहूर मेडिसी

राजघराने के शासन में तेजी से चमकनेवाला था। उत्तर इटली में मिलान का शहर एक महत्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र हो चुका था और दक्षिण में नेपल्स भी बढ़ रहा था।

फ़्रांस में पेरिस, जिसे ह्यू कैपे ने अपनी राजधानी बनाया था, फ़्रांस की तरक़्क़ी के साथ तरक़्क़ी कर रहा था। पेरिस हमेशा से ही फ़्रांस का नाड़ी-केन्द्र और हृदय रहा है। दूसरे देशो की दूसरी राजधानियाँ रही हैं, लेकिन पिछले एक हजार वर्ष में फ़्रांस पर जितना पेरिस का प्रभाव रहा है, उतनी किसी राजधानी का किसी देश पर नहीं रहा। फ्रांस में दूसरे शहर भी मशहूर हुए--जैसे लियों, मार्सेल्स (यह बहुत पुराना बन्दरगाह था) ऑर्लियन्स, बोर्दो, बुलोन, वग़ैरा।

इटली की तरह जर्मनी मे भी स्वतंत्र शहरों की तरक़्क़ी, खास तौरपर १३ वी और १४ वी सदी में, बहुत मार्के की है। इन शहरो की आबादी बढ रही थी और ज्यों-ज्यो उनकी ताकत और दौलत बढती गई, उनके हौसले भी बढ़ते गये और उन्होने अमीरो से लडना शुरू कर दिया। सम्राट भी इनको प्रोत्साहन देता था क्योकि वह अमीरों को दबाये रखना चाहता था। इन शहरो ने अपनी हिफ़ाजत के लिए बड़ी-बड़ी व्यापारिक पचायते और संघ बना लिये। कभी-कभी ये पचायतें या संघ अमीरों की जवाबी पंचायतो के खिलाफ युद्ध को घोषणा कर देते थे। इन उन्नतिशील नगरो में से कुछ के नाम ये है--हैम्बर्ग, ब्रीमेन, कोलोन, फ़्रैंकफ़ुर्त, म्यूनिख, डैनजिग, न्यूरेम्बर्ग और ब्रेसलाउ।

निदरलैंड्स मे, जिसे आज हालैंड और बेलजियम कहते है, एण्टवर्प, ब्रूजेज़ और घेण्ट नाम के शहर थे; ये व्यापारिक शहर थे और इनका व्यापार बराबर बढ़ रहा था। इंग्लैण्ड में लन्दन जरूर था लेकिन वह विस्तार, तिजारत या दौलत में योरप के महत्वपूर्ण नगरो का मुक़ाबिला नही कर सकता था। आक्सफर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालय विद्या के केन्द्र की हैसियत से महत्वपूर्ण बनते जाते थे। योरप के पूर्व मे वियेना का शहर था, जो योरप के सबसे पुराने शहरो में से एक है। रूस मे मास्को, कीफ और नोवगोरॉड शहर थे।

ये नये शहर, या इनमें से ज्यादातर, पुराने तरीके के शाही नगरो से बिल्कुल अलग तरह के थे। योरप के इन बढनेवाले शहरो का महत्व किसी सम्राट या बादशाह की वजह से नही था बल्कि उस तिजारत के कारण था जिसकी लगाम इनके हाथ मे थी। इसलिए इनकी ताकत अमीरो से नहीं थी, बल्कि व्यापारी-वर्ग मे थी। ये व्यापारिक शहर थे। इसलिए शहरो की तरक्की का मतलब मानो बुर्जुआ यानी मध्यमवर्ग की तरक्क़ी हुआ। इस मध्यमवर्ग की, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, ताक़त बराबर बढती रही। यहाँ तक कि इसने बादशाहो और अमीरो को चुनौती दी और उनसे अधिकार छीन लिया। लेकिन यह बात तो उस ज़माने के बहुत दिनो बाद हुई है, जिसका जिक्र हम इस वक्त कर रहे है।

मैंने अभी कहा है कि शहर और सभ्यता अक्सर साथ-साथ चलते है। शहरो की बढोतरी के साथ विद्या भी बढती है और आजादी की भावना भी। देहात में रहने वाले लोग बहुत दूर-दूर बसे होते है और अक्सर बहुत ज्यादा अन्ध-विश्वासी हुआ करते है। वे तो मानो प्रकृति की दया पर ही जीवित रहते है। उन्हें सख्त मेहनत करनी पड़ती है; बहुत कम फुरसत मिलती है और वे अपने मालिको के हुक्म के खिलाफ चलने की हिम्मत नही कर सकते। शहरो मे लोग बड़ी तादाद में साथ-साथ रहते है। इन्हें ज्यादा सभ्य ज़िन्दगी बिताने का, विद्या हासिल करने का, चर्चाएं और आलोचना करने का, और विचार करने का मौका मिलता है।

इस तरह राजनैतिक सत्ता, जिसके नुमाइन्दे सामन्ती अमीर होते थे, और आध्यात्मिक सत्ता जिसका नुमाइन्दा चर्च था, दोनों के विरुद्ध आजादी की भावना बढ़ने लगी। श्रद्धा का ज़माना ढलने लगा और सशय की शुरूआत हुई। अब लोग चर्च और पोप की सत्ता को आँख बन्द करके मानने को तैयार नही थे। हमने देखा है कि सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय ने पोप के साथ कैसा सलूक किया था। आगे हम देखेंगे कि चुनौती देने की यह भावना किस तरह बढ़ती गई।

बारहवी सदी के बाद विद्या की भी फिर से तरक़्क़ी होने लगी। योरप में पढ़े-लिखों की आम जबान लातीनी थी और लोग ज्ञान की तलाश में एक विश्वविद्यालय से दूसरे को जाया करते थे। दान्ते अलीघेरी, जो इटली का बड़ा कवि हुआ है, सन् १२६५ ई० में पैदा हुआ था। पेट्रार्क, जो इटली का दूसरा बड़ा कवि था, सन् १३०४ ई० में पैदा हुआ था। थोड़े दिन बाद इंग्लैण्ड में चॉसर हुआ जो इस देश के शुरू के महान कवियो में गिना जाता है।

लेकिन विद्या की पुनर्जागृति से ज्यादा दिलचस्प चीज़ वैज्ञानिक भावना की हलकी शुरूआत थी। बाद

के वर्षों में योरपमें यह भावना बहुत बढ़ी। तुम्हें याद होगा, मैंने तुम्हे बताया था कि अरबो में यह भावना थी और इन लोगों ने कुछ हद तक इसके मुताबिक काम भी किया था। मध्य युग के योरप में खुले दिमाग़ से छानबीन करने की और प्रयोग करने की ऐसी भावना का पनपना मुश्किल था। ईसाई चर्च इसको सहन नहीं कर सकता था। लेकिन चर्च के बावजूद भी यह भावना प्रकट होने लगी। योरप में इस वक्त एक अंग्रेज में सबसे पहले यह वैज्ञानिक भावना उदय हुई। उसका नाम रोजर बेकन था। वह आक्सफर्ड में तेरहवीं सदी में रहता था।

: ६५ :

अफ़ग़ानों का भारत पर हमला

२३ जून, १९३२

कल तुम्हारे पत्र में खलल पड़ गया। जब लिखने बैठा तो मैं इस जेलको और यहाँ के अपने चौगिर्द को भूल गया और विचार की गति के साथ मध्य युगो की दुनिया में पहुँच गया। लेकिन उससे भी ज्यादा तेजी के साथ मैं मौजूदा वक़्त में खींच लाया गया और मुझे, किसी कदर तकलीफ के साथ, यह बात याद दिला दी गई कि मैं जेल में हूँ। मुझे यह बताया गया कि ऊपर से हुक्म आया है कि ममी, और दिद्दाजी' के साथ महीने भर तक मुलाक़ात न होने पायेगी। लेकिन ऐसा क्यो किया गया इसकी वजह मुझे नही बताई गई। दस दिन से वे देहरादून में ठहरी हुई हैं और मुलाकात की अगली बारी का इन्तिज़ार कर रही है, पर अब उनका ठहरना बिलकुल बेकार होगया और उन्हे वापस जाना होगा। यह है वह शराफ़त, जो हमारे साथ बरती जाती हैं। जो भी हो, हमें इसकी परवाह नही करनी चाहिए। ये तो रोजमर्रा की बातें हैं। हमे यह भूल न जाना चाहिए कि कैदखाना आखिर क़ैदखाना है।

इस कठोर चेतावनी के बाद मेरे लिए यह मुमकिन नही था कि मै वर्तमान को भूल कर गुजरे हुए ज़माने का खयाल करता। लेकिन रात भर के आराम के बाद मै अब कुछ ठीक हूँ, इसलिए फिर से शुरू करता हूँ।

अब हम भारत वापस लौट आवेंगे। बहुत दिनो तक हम इस मुल्क से दूर रहे। मध्य युगो के अँधेरे से बाहर निकलने के लिए जिस वक्त योरप कोशिश कर रहा था, जब योरप के लोग सामन्त प्रथा, चारो तरफ़ की बद-इंतजामी और कुशासन के बोझ से पिसे जारहे थे, जब पोप और सम्राट् एक-दूसरे से लड रहे थे और योरप के मुल्क शक्ल पकडते जा रहे थे, जब क्रूसेडो के बीच इस्लाम और ईसाइयत प्रभुत्व के लिए लड रहे थे; तब भारत में क्या हो रहा था?

मध्य युगो की शुरूआत के भारत की एक झलक हम देख चुके है। हम यह भी देख चुके हैं कि सुलतान महमूद ने उत्तर-पश्चिममे ग़ज़नी से उत्तरी भारत के हरे-भरे मैदानो पर झपट्टा मारा, लूटमार की और बरबादी की। महमूद के हमले, हालाँकि वे बड़े भयकर थे, भारत मे कोई बड़ी या ज्यादा दिनो तक टिकनेवाली तब्दीली पैदा नही कर सके। इनसे मुल्क को, खास कर उत्तरी हिस्से को, बड़ा धक्का पहुँचा। महमूद ग़ज़नवी ने बहुत-सी खूबसूरत इमारते और यादगारें नष्ट कर डाली। लेकिन उसके (ग़जनी) साम्राज्य मे सिर्फ़ सिन्ध और पंजाब का कुछ हिस्सा ही रह गया। उत्तर के बाक़ी हिस्से बहुत जल्द निकल गये। दक्षिण और बंगाल में तो इनकी हवा भी नही पहुँची। महमूद के बाद डेढ सौ से भी ज्यादा वर्षों तक न तो मुसलमानों ने कुछ फ़तह हासिल की और न इस्लाम ने ही ज्यादा तरक़्क़ी की।

बारहवीं सदी के आखीर में, सन् ११८६ ई० के करीब, उत्तर-पश्चिम से हमलो की एक नई लहर आई। अफ़ग़ानिस्तान में एक नया सरदार पैदा हुआ। उसने गजनी पर कब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवी साम्राज्य को खतम कर दिया। उसका नाम शहाबुद्दीन गोरी (गोर नाम के अफ़ग़ानिस्तान के एक छोटे-से

'इन्दिरा की दादी श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू।

क़सबे का रहनेवाला) था। शहाबुद्दीन लाहौर पर आ धमका और उस पर क़ब्ज़ा करके दिल्ली पर चढ़ आया। पृथ्वीराज चौहान उस वक़्त दिल्ली का राजा था; उसके झंडे के नीचे उत्तर भारत के बहुत-से सरदार शहाबुद्दीन के खिलाफ़ लड़े और उसे बुरी तरह हरा दिया। लेकिन यह जीत थोड़े ही दिनों की थी। शहाबुद्दीन दूसरे साल बहुत बड़ी फ़ौज लेकर वापस आया और इस बार उसने पृथ्वीराज को हरा दिया और उसे मार डाला।

पृथ्वीराज अभी तक एक लोकप्रिय वीर-नायक माना जाता है और उसके बारे में बहुत-सी गाथाएं और बहुत से गीत हैं। इनमें से सबसे मशहूर कथा कन्नौज के राजा जयचन्द की लड़की को उड़ा लेजाने की है। लेकिन इसकी उसे बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ी। इस झगड़े में उसके सबसे अधिक शूर-वीर योद्धाओं की जानें गईं और एक शक्तिशाली राजा की दुश्मनी उसने मोल ली। इसने आपसी फूट और लड़ाई के बीज बो दिये जिससे हमला करनेवाले की जीत का रास्ता आसान हो गया।

इस तरह सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन ने पहली बार बड़ी विजय हासिल की, जिसकी वजह से भारत में मुसलमानों की हुकूमत क़ायम हुई। धीरे-धीरे ये आक्रमणकारी पूर्व और दक्षिण की तरफ फैलने लगे। आगे के १५० वर्षों के अन्दर, यानी सन् १३४० ई० तक, मुसलमानों की हुकूमत दक्षिण के बड़े भाग पर फैल चुकी थी। इसके बाद दक्षिण में यह सिकुड़ने लगी। नये-नये राज्य पैदा हुए—कुछ मुसलमान और कुछ हिन्दू। इनमें विजयनगर का हिन्दू साम्राज्य ज़िक्र करने लायक है। दो सौ वर्षों तक इस्लाम ने किसी हद तक कुछ गंवाया ही। फिर जब सोलहवीं सदी के बीच में अकबर महान् पैदा हुआ तब कहीं यह क़रीब-क़रीब सारे भारत में फिर फैल गया।

मुसलमान आक्रमणकारियों के भारत में आने के बहुत से परिणाम हुए। याद रहे कि ये हमला करने वाले अफ़गान थे; अरब, ईरानी या पश्चिमी एशिया के सुसंस्कृत और उच्च कोटि के सभ्य मुसलमान न थे। सभ्यता की दृष्टि से अफ़गान भारतीयों के मुकाबले में पिछड़े हुए थे, लेकिन इनमें शक्ति भरी थी और ये उस वक्त के भारतवासियों से बहुत ज़्यादा जीवटदार थे। भारत तो बिल्कुल लकीर का फ़क़ीर बना हुआ था। उसमें तब्दीली और तरक़्क़ी की प्रवृत्ति कम होती जा रही थी। वह पुराने ढंगों से चिपका हुआ था और उनमें सुधार करने की कोशिश नहीं करता था। युद्ध के तौर-तरीकों में भी भारत पिछड़ा हुआ था और अफ़गान लोग कहीं ज़्यादा संगठित थे। इसलिए साहस और त्याग के होते हुए भी पुराना भारत मुसलमान आक्रमणकारियों के आगे परास्त हो गया।

शुरू में ये मुसलमान बड़े खूंख़ार और ज़ालिम थे। ये एक कठोर देश से आये थे, जहाँ 'नर्मी' की ज़्यादा क़द्र नहीं थी। इसके अलावा दूसरी बात यह थी कि वे एक नये जीते हुए मुल्क में थे और चारों तरफ़ दुश्मनों से घिरे हुए थे जो किसी भी वक़्त विद्रोह कर सकते थे। इन लोगों को बलवे का डर बराबर बना रहता होगा और डर से आदमी अक्सर भयंकर और ज़ालिम बन जाता है। इसलिए जनता को पस्त करने के लिए क़त्लेआम होते थे। यह मुसलमान द्वारा हिन्दू को उसके धर्म के कारण क़त्ल करने का सवाल नहीं था; बल्कि हारे हुओं की आत्मा को विदेशी विजेता द्वारा कुचल दिये जाने का सवाल था। इन ज़ालिमाना हरकतों का सबब बताने में मज़हब को करीब-करीब हमेशा ला घसीटा जाता है, लेकिन यह ठीक नहीं है। कभी-कभी मज़हब का बहाना ज़रूर लिया जाता था, लेकिन असली वजहें राजनैतिक और सामाजिक थीं। मध्य एशिया के लोग, जिन्होंने भारत पर हमला किया, ख़ुद अपने मुल्क में भी खूंख़ार और बेरहम थे और इस्लाम क़बूल करने के बहुत पहले उनकी यही हालत थी। नया मुल्क जीतने के बाद उसको क़ब्ज़े में रखने का सिर्फ़ एक ही तरीका उन्हें मालूम था, और वह था आतंक का तरीक़ा।

हम देखते हैं कि धीरे-धीरे भारत ने इन खूंख़ार लड़ाकुओं को नर्म बना दिया और उन्हें सभ्यता सिखा दी। वे महसूस करने लगे कि वे विदेशी आक्रमणकारी नहीं बल्कि भारतीय हैं। उन्होंने इस देश की स्त्रियों के साथ शादियाँ करनी शुरू कर दीं और आक्रमणकारियों और आक्रान्ताओं के बीच का भेद धीरे-धीरे कम होता गया।

तुम्हें यह जानकर कौतूहल होगा कि महमूद ग़ज़नवी, जिसने उत्तर भारत में सबसे ज़्यादा बरबादी मचाई और जो 'बुतपरस्तों' के खिलाफ़ मुसलमानों का रक्षक समझा जाता था, एक हिन्दू फ़ौज रखता था जिसका सेनापति तिलक नाम का एक हिन्दू था। वह तिलक और उसकी फ़ौज को ग़ज़नी ले गया और उसने

विद्रोही मुसलमानों को दबाने में उसका उपयोग किया। इस तरह तुम देखोगी कि नये मुल्कों को फ़तह करना ही महमूद का उद्देश्य था। जैसे भारत में वह अपने मुसलमान सिपाहियों की मदद से 'बुतपरस्तों' को क़त्ल करने के लिए तैयार था; ठीक वैसे ही मध्य एशिया में वह हिन्दू सिपाहियों की मदद से मुसलमानों को क़त्ल करने के लिए तैयार रहता था।

इस्लाम ने भारत को हिला डाला। इसने ऐसे समाज में जो बिल्कुल जड़ बनता जा रहा था, जीवन-शक्ति और उन्नति की प्रेरणा भर दी। उत्तर भारत की हिन्दू कला में, जिसमे गिरावट और गन्दगी आ चुकी थी और जो पुरानी नक़ल और बारीकियों से बोझल हो चुकी थी, परिवर्तन शुरू हो गया। एक नई कला का विकास हुआ जिसे भारतीय-मुस्लिम कला कह सकते है और जिसमें शक्ति और चेतनता थी। पुराने भारतीय मिस्त्रियों को मुसलमानो के लाये हुए नए विचारों से प्रेरणा मिली। मुस्लिम धर्म और जीवन के दृष्टिकोण की सादगी ने उस जमाने की इमारतो पर असर डाला और उनकी बनावट में फिर से सादगी और श्रेष्ठता पैदा कर दी।

मुस्लिम हमलों का पहला असर यहाँ के लोगों पर यह हुआ कि बहुत-से लोग दक्षिण चले गये। महमूद के हमलों और क़त्लेआम के बाद उत्तरी भारत के लोग बर्बरता पूर्ण बेरहमी और विनाश को इस्लाम का अग समझने लगे। इसलिए जब फिर हमला हुआ और उसका रोकना नामुमकिन हो गया तो कुशल शिल्पकारों और विद्वानो के झुण्ड के झुण्ड दक्षिण भारत में जा बसे। इससे दक्षिण भारत में आर्य सस्कृति को बड़ी ताक़त मिली।

दक्षिण भारत का कुछ हाल मै पहले तुम्हें बता चुका हूँ। मेने तुम्हें बताया था कि कैसे छठी सदी के बीच से लेकर दो सौ वर्ष तक पश्चिम और मध्य भारत (महाराष्ट्र देश) में चालुक्यो का बोलबाला था। ह्यूएनत्साग उस समय के राजा पुलकेशिन् द्वितीय से मिला था। बाद में राष्ट्रकूट आये, जिन्होने चालुक्यो को हरा दिया और आठवी सदी से दसवी सदी के अखीर तक, यानी २०० वर्ष तक, दक्षिण में धाक जमाये रक्खी। सिन्ध के अरब शासकों के साथ राष्ट्रकूटो का बड़ा अच्छा ताल्लुक़ था। उनके राज्य में बहुतेरे अरब व्यापारी और मुसाफ़िर आते थे। ऐसे ही एक मुसाफिर ने अपने यात्रा-वर्णन मे वहाँ का कुछ हाल लिखा है। उसने लिखा है कि राष्ट्रकूटो का उस समय (नवी सदी) का राजा ससार के चार सबसे बडे सम्राटो मे गिना जाता था। उसकी राय में बगदाद के खलीफा और चीन और रूम (कुस्तुन्तुनिया) के सम्राट ससार के अन्य तीन बड़े सम्राट थे। यह बयान दिलचस्प है, क्योकि इससे उस समय एशिया मे फैले लोकमत का हमें पता चलता है। किसी अरब मुसाफ़िर का राष्ट्रकूटो के राज्य का खलीफा के साम्राज्य से मुकाबिला करना, जबकि बगदाद अपनी शान और दबदबे की चोटी पर था, इस बात का सबूत है कि महाराष्ट्र का यह राज्य बहुत मजबूत और ताक़तवर रहा होगा।

दसवी सदी, यानी सन् ९७३ ई०, में राष्ट्रकूटो की जगह फिर चालुक्यों का राज्य हो गया और ये लोग २०० से भी ज्यादा वर्षों तक, यानी सन् ११९० ई०, तक राज्य करते रहे। एक चालुक्य राजा के बारे में एक लम्बी कविता मिलती है जिसमें कहा गया है कि उसकी स्त्री ने उसे स्वयवर में चुना था। आर्यों की इस पुरानी रस्म का इतने दिनो तक कायम रहना एक दिलचस्प बात है।

भारत मे सुदूर दक्षिण और पूर्व की तरफ़ तमिल देश था। यहाँ तीसरी सदी से नवी सदी तक, यानी क़रीब ६०० वर्षों तक, पल्लवो का राज्य रहा और छठी सदी के मध्य से लेकर २०० वर्षों तक ये दक्षिण पर हावी रहे। तुम्हें याद होगा कि इन्ही पल्लवो ने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों को बसाने के लिए बेड़े भेजे थे। पल्लव राज्य की राजधानी कांची या कांजीवरम् थी। यह उस वक़्त एक खूबसूरत शहर था और आज भी इसका बुद्धिमत्तापूर्ण शहरी नक्शा एक मार्के की चीज है।

पल्लवो की जगह पर दसवी सदी के शुरू में लडाकू चोल लोग आगये। मै तुम्हें राजराजा और राजेन्द्र के चोल-साम्राज्य के बारे में कुछ बता चुका हूँ, जिन्होंने बडे-बड़े जहाजी बेड़े बनवाये थे और लंका, बरमा और बंगाल जीतने के लिए निकले थे। उस समय की उनकी चुनी हुई ग्राम पंचायतों की प्रथा के बारे में जो जानकारी मिलती है वह और भी ज्यादा दिलचस्प है। इस प्रथा की बनावट नीचे से शुरू होती थी। गाँवों की पंचायतें जुदे-जुदे कामो की देख-रेख करने के लिए बहुत-सी कमेटियाँ चुनती थी और जिलों की पंचायतें भी चुनती थी। फिर ये जिले की पंचायतें सूबे की पंचायतें बनातीं। मैंने अक्सर इन

पत्रों में इस ग्राम-पंचायत-प्रणाली पर जोर दिया है, क्योंकि पुरानी आर्य राज्य-व्यवस्था इसी पर टिकी हुई थी।

जिस वक़्त उत्तरी भारत पर अफ़ग़ानों के हमले हो रहे थे, दक्षिण भारत में चोल लोगों का बोल-बाला था। कुछ दिन के बाद ये कमज़ोर पड़ने लगे और एक छोटा-सा राज्य, जो पहले इनकी मातहती में था, स्वतन्त्र हो गया और उसकी ताक़त बढ़ने लगी। यह पांड्यों का राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा थी और इसका बन्दरगाह कायल था। वेनिस का मशहूर यात्री मार्कोपोलो, जिसके बारे में मैं आगे फिर कुछ लिखूंगा, दो दफ़ा कायल गया था—एक दफ़ा सन् १२८८ ई० में और दूसरी दफ़ा सन् १२९३ ई० में। इसने लिखा है कि यह 'बहुत बड़ा और भव्य शहर' है, अरब और चीन के जहाज़ों से और व्यापार की हलचल से भरा रहता है। मार्को खुद चीन से जहाज़ पर आया था।

मार्को ने यह भी लिखा है कि भारत के पूर्वी समुद्र तट पर महीन से महीन मलमल बनती थी जो 'मकड़ी के जाले की तरह मालूम होती थी'। मार्को यह भी ज़िक्र करता है कि तैलगु देश, यानी मद्रास के उत्तर में पूर्वी किनारे की रानी रुद्रमणि नाम की एक महिला थी। इसने ४० वर्ष तक हुकूमत की। मार्को ने इसकी बड़ी तारीफ की है।

मार्को ने एक दूसरी दिलचस्प बात हमें यह बताई है कि अरब और ईरान से समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत में घोडे खूब आया करते थे। दक्षिण की आबहवा घोड़ों की नस्ल के लिए अच्छी नही थी। कहते है, भारत पर हमला करनेवाले मुसलमान इसीलिए बेहतर सिपाही होते थे कि उनके पास ज्यादा अच्छे घोड़े हुआ करते थे। एशिया की वे जगहे, जहाँ बढिया घोड़े पैदा होते हैं, मुसलमानो के ही क़ब्ज़े मे थी।

इस तरह तेरहवी सदी मे जब चोल राज्य का पतन हुआ, तब पाण्ड्य राज्य एक प्रमुख तमिल शक्ति था। चौदहवी सदी के शुरू मे, यानी सन् १३१० ई० में, मुसलमानों के हमले की फनी दक्षिण तक पहुँच गई। यह फनी पाड्य राज्य के अन्दर घुस गई और यह राज्य तेज़ी के साथ ढह गया।

मैंने इस पत्र मे दक्षिण भारत के इतिहास पर एक सरसरी नज़र डाली है और शायद, जो कुछ पहले कह चुका हूँ उसे दुहरा दिया है। लेकिन यह विषय कुछ चकराने वाला है और लोग-बाग पल्लव, चालुक्य और चोल वगैरा नामो की भूल-भुलैया में फंस जाते हैं। लेकिन अगर तुम सब पर एक साथ नज़र डालेगी तो इतिहास का यह मोटा ढाचा तुम्हारे दिमाग में ठीक बैठ जायगा। तुम्हें याद होगा कि दक्षिण के छोटे से सिरे को छोडकर अशोक सारे भारत पर, अफगानिस्तान पर और मध्य एशिया के एक हिस्से पर राज्य करता था। उसके बाद दक्षिण मे आन्ध्रों की ताकत बढी, जो ठेठ दक्षिण तक फैल गये और क़रीब ४०० वर्षों तक हुकूमत करते रहे। उसी वक़्त के करीब कुशन लोगो का सरहदी साम्राज्य उत्तर मे फैला हुआ था। जब तैलंगी आन्ध्रो का पतन हुआ तब पूर्वी समुद्र तट पर और दक्षिण मे तमिल पल्लव लोग बढ़े और इन्होने बहुत दिनो तक राज्य किया। इन लोगोंने मलेशिया मे बस्तियाँ बसाईं और ६०० वर्ष तक राज्य किया जिसके बाद चोलो के हाथ मे हुकूमत आई। चोलोने दूर-दूर के कितने ही मुल्क जीते और अपनी जल-सेनाओ से समुद्र को खूंद डाला। तीन सौ वर्ष बाद ये भी बिदा हुए और पाण्ड्य राज्य का प्रभाव बढा। इसकी राजधानी मदुरा सभ्यता का केन्द्र बन गई और कायल एक बड़ा व्यापारिक बन्दरगाह बन गया जिसका सम्बन्ध दूर-दूर देशों से स्थापित हुआ।

इतनी बात तो दक्षिण और पूर्व के बारे में हुई। पश्चिम में महाराष्ट्र देश मे चालुक्य, उनके बाद राष्ट्रकूट और राष्ट्रकूटों के बाद फिर चालुक्य हुए।

लेकिन ये तो सिर्फ़ नाम हैं। विचार करने की बात तो यह है कि ये राज्य कितने लम्बे-लम्बे युगों तक कायम रहे और सभ्यता के कितने ऊँचे दर्जे तक पहुँच गये। इन राज्यों में कोई अन्दरूनी ताक़त थी जिसकी वजह से योरप के राज्यों के मुक़ाबले इनमें अधिक पायेदारी और शक्ति थी। लेकिन उनका सामाजिक ढाचा पुराना हो चुका था और उसकी पायेदारी खतम हो चुकी थी। यह बहुत जल्द, चौदहवीं सदी की शुरुआत में जब मुस्लिम सेनाऐं दक्षिण की तरफ़ बढ़ी, लड़खड़ा कर गिर जानेवाला था।

: ६६ :

दिल्ली के गुलाम-वंशी बादशाह

२४ जून, १९३२

मैंने सुलतान महमूद गजनवी के बारे में तुम्हें बताया है और कवि फिरदौसी के बारेमें भी कुछ कहा है जिसने महमूद के कहने पर फ़ारसी भाषा में शाहनामा लिखा था। लेकिन मैंने तुम से अभी तक महमूद के जमाने के एक-दूसरे मशहूर आदमी के बारे में कुछ नहीं कहा जो महमूद के साथ पंजाब आया था। यह अलबेरूनी नामक विद्वान् और विद्याव्यसनी व्यक्ति था जो उस जमाने के खूंखार और कट्टर योद्धाओं की तरह बिल्कुल नहीं था। इसने सारे भारत का सफर किया और इस नये मुल्क और यहाँ के निवासियों को समझने की कोशिश की। इसमें भारतीय दृष्टिकोण की खूबियों को समझने की इतनी उत्सुकता थी कि इसने संस्कृत सीखी और हिन्दुओं की खास-खास किताबें खुद पढ़ी। इसने भारतीय दर्शनशास्त्र का और यहाँ के विज्ञान और कला की शिक्षा की परिपाटी का अध्ययन किया। भगवद्गीता तो इसे बहुत पसंद आई। यह दक्षिण के चोल राज्य में गया था और वहाँ सिंचाई की नहरों का इतना बड़ा इन्तज़ाम देखकर अचम्भे में रह गया। भारत में इसकी यात्राओं का लेखा पुराने जमाने के उन महान सफरनामों में गिना जाता है जो अभी तक उपलब्ध हैं। बरबादी, खूंरेज़ी और तास्सुब की दलदल के बीच यह धीरजवाला विद्याव्यसनी निरीक्षण करता हुआ, सीखता हुआ और यह जानने की कोशिश करता हुआ कि सत्य का मूल्य क्या है, अलग खड़ा नज़र आता है।

अफगान शहाबुद्दीन के बाद, जिसने पृथ्वीराज को हराया था, दिल्ली में गुलामवंशी बादशाह कहलानेवाले सुल्तानों का सिलसिला शुरू हुआ। उनमें सबसे पहला कुतुब-उद्दीन था। यह शहाबुद्दीन का गुलाम था लेकिन गुलाम भी ऊँचे पदों पर पहुँच सकते हैं और वह अपनी कोशिशों से दिल्ली का पहला सुल्तान बन गया। उसके बाद होनेवाले कुछ सुल्तान भी शुरू में गुलाम थे; इसीलिए यह गुलाम वंश कहलाता है। ये सब-के-सब बड़े खूंखार थे, और इमारतों व पुस्तकालयों का विनाश और आतंक फैलाना इनकी जीतों के साथ-साथ चलते थे। इन्हें इमारतें बनाने का भी शौक था और इनका झुकाव बड़ी-बड़ी इमारतें बनाने की तरफ़ था। कुतुब-उद्दीन ने कुतुब-मीनार बनवानी शुरू की। यह वही बड़ी मीनार है जो दिल्ली के पास है और जिसे तुम अच्छी तरह से जानती हो। उसके वारिस इल्तुतमिश ने इस मीनार को पूरा किया और उसीके पास ही कुछ सुन्दर महराब भी बनाये, जो अभी तक मौजूद हैं। इन इमारतों का करीब-करीब सारा मसाला पुरानी भारतीय इमारतों, खासकर मन्दिरों, में लिया गया था। राज-मिस्त्री तो सार भारत के ही थे लेकिन, जैसा मैंने तुमसे कहा है, मुसलमानों के साथ आये हुए नये विचारों का इन पर बहुत असर पड़ा था।

महमूद गजनवी और उसके बाद जिस किसीने भी भारत पर हमला किया वह ढेर-के-ढेर भारतीय कारीगरों और मिस्त्रियों को अपने साथ ले गया। इस तरह मध्य एशिया में भारतीय शिल्पकला का असर फैल गया।

बिहार और बंगाल को अफ़गानों ने बड़ी आसानी से जीत लिया। वे बड़े दिलेर थे और उन्होंने अचानक हमला करके बचाव करने वालों को सम्हलने का मौका नहीं दिया। दिलेरी अक्सर कामयाब हो जाती है। बंगाल की यह विजय हमारे लिए उतने ही अचम्भे की बात है जितनी अमेरिका में कोर्टे और पिज़ारों की फतहयाबियाँ।

इल्तुतमिश के ज़माने में ही, यानी सन् १२११ और १२३६ ई० के बीच में, भारत की सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह दल मंगोलों का था जिसका नेता चंगेज़खाँ था। चंगेज़खाँ अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ ठेठ सिन्ध नदी तक आ गया लेकिन यहीं रुक गया। भारत बच गया। इसके करीब २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी तैमूर, भारत में मारकाट और बरबादी लेकर आया। हालाँकि चंगेज यहाँ नहीं आया लेकिन बहुत से मंगोलों ने भारत पर छापा मारने और ठेठ लाहौर तक भी आ धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानों तक

को भी इतना डरा देते थे कि वे धन देकर उनसे अपना पिंड छुड़ाते थे। इनमें से हजारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

सुलतानों में रजिया नाम की एक औरत भी हुई है। यह इल्तुतमश की बेटी थी। मालूम होता है कि यह बड़ी बहादुर और क़ाबिल औरत थी, लेकिन अपने खूँखार अफ़ग़ान अमीरों से, और पंजाब पर हमला करने वाले उनसे भी खूँखार मंगोलों से, बहुत परेशान रहती थी।

गुलाम बादशाहों का सिलसिला सन् १२९० ई० में खतम हो गया। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी आया जिसने तख्तपर क़ब्ज़ा करने का यह नरम तरीक़ा अपनाया कि अपने चचाको, जो उसका ससुर भी था, मौत के घाट उतार दिया। और फिर उन सब मुस्लिम अमीरों को भी मरवा डाला जिनकी वफ़ादारी में उसे शक था। मंगोलों की साजिश से डरकर उसने यह हुक्म निकाला कि उसके राज्य में जितने भी मंगोल हों, सब क़त्ल कर दिये जायँ ताकि "उस नस्ल का एक भी आदमी दुनिया के पर्दे पर जिन्दा न बचे"। इस तरह बीस-तीस हज़ार मंगोल, जिनमें ज्यादातर तो बेगुनाह ही थे, क़त्ल कर डाले गये।

बार-बार इस तरह के हत्याकांडों का जिक्र करना मुझे अच्छा नहीं लगता और न इतिहास के विस्तृत दृष्टिकोण से ही इनका कोई ज्यादा महत्व है। फिर भी इनसे यह समझने में मदद मिलती है कि उस वक्त उत्तर भारत की हालत न तो स्थिर थी और न सभ्यता पूर्ण। कुछ हद तक बर्बरता की तरफ़ वापसी थी। एक तरफ तो इस्लाम भारत में कुछ प्रगतिशील तत्व लेकर आया लेकिन दूसरी तरफ मुस्लिम अफ़गान बर्बरता का बीज लेकर आये। बहुत-से लोग इन दोनों चीज़ों को मिला देते हैं, लेकिन इन दोनों का फ़र्क ध्यान में रखना चाहिए।

अलाउद्दीन दूसरों की तरह ताअस्सुबी था, लेकिन मालूम होता है कि भारत के इन मध्य-एशियाई शासकों का दृष्टिकोण अब बदल रहा था। वे अब भारत को अपना वतन समझने लग गये थे। अब वे यहाँ अजनबी नहीं रहे थे। अलाउद्दीन ने एक हिन्दू महिला से शादी की और उसके लड़के ने भी ऐसा ही किया। मालूम होता है अलाउद्दीन के जमाने में एक अच्छी शासन व्यवस्था कायम करने की कोशिश की गई। फौजों के आने-जाने के लिए सड़कें खास तौर से दुरुस्त रक्खी जाती थीं और अलाउद्दीन फौज पर खास तौर से ध्यान देता था। उसने अपनी फौज को बहुत ताक़तवर बना लिया और उसकी मदद से गुजरात और दक्षिण के बहुत बड़े हिस्से को जीत लिया। उसका सेनापति दक्षिण से बेशुमार दौलत अपने साथ लेकर लौटा। कहते हैं, वह पचास हज़ार मन सोना, बहुत से मोती और जवाहरात, बीस हज़ार घोड़े और ३१२ हाथी लेकर आया था।

वीर-गाथाओं तथा वीरता की भूमि चित्तौड़ में अब भी पहले का-सा साहस भरा था लेकिन उसका ढंग वही पुराना था और वह युद्ध के उन्हीं तरीकों से चिपटी हुई थी जो बेकार हो चुके थे, इसलिए अलाउद्दीन की कुशल सेना ने उसे पराभूत कर दिया। सन् १३०३ ई० में चित्तौड़ लूट लिया गया। लेकिन ऐसा होने से पहले ही किले के पुरुषों और स्त्रियों ने पुराने रिवाज का पालन करके भयंकर जौहर-व्रत कर डाला। इसके अनुसार जब पराजय सामने हो और दूसरा कोई चारा न रहा हो तो अन्तिम उपाय यही समझा जाता था कि पुरुषों को मैदान में आकर लड़ते हुए मर जाना और स्त्रियों को चिता में भस्म हो जाना बेहतर है। यह चीज़ बड़ी भयंकर थी खासकर स्त्रियों के लिए। अच्छा तो यह था कि स्त्रियाँ भी तलवार हाथ में लेकर निकल पड़ती और रणक्षेत्र में काम आती। लेकिन किसी भी सूरत में गुलामी और जिल्लत से मौत बेहतर थी, क्योंकि उस ज़माने में पराजय का मतलब यही होता था।

इधर भारत के रहनेवाले, यानी हिन्दू, धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे थे। पर तेज़ी से नहीं। कुछ लोगों ने अपना मजहब इसलिए बदल डाला कि इस्लाम उन्हें अच्छा लगा; कुछ लोगों ने डर के मारे ऐसा किया, और कुछ ने इसलिए कि जीतने वाले पक्ष की तरफ रहने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है। लेकिन इस धर्म-परिवर्तन का मुख्य कारण आर्थिक था। ग़ैर-मुस्लिमों को एक ख़ास टैक्स देना पड़ता था जो हर आदमी पर लगता था और जज़िया कहलाता था। ग़रीबों के ऊपर यह भारी बोझ था। बहुत-से तो सिर्फ इससे बचने के लिए अपना मज़हब बदलने पर राज़ी हो जाते थे। ऊँचे वर्ग के लोगों में दरबारी कृपा और ऊँचे पद प्राप्त करने की लालसा मुसलमान बनने के लिए ज़बरदस्त प्रेरणा थी। अलाउद्दीन का महान् सेनापति मलिक काफ़ूर, जिसने दक्षिण को जीता था, हिन्दू से मुसलमान हुआ था।

मैं तुम्हें दिल्ली के एक दूसरे सुलतान का हाल बताना चाहता हूँ। यह बड़ा ही अजीब व्यक्ति था। इसका नाम मुहम्मद-बिन-तुग़लक था। यह फ़ारसी और अरबी का बहुत बड़ा आलिम और कामिल था। इसने दर्शन और न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। इसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। यह बहादुर आदमी था और अपने ज़माने के लिहाज़ से विद्वत्ता का अनोखा नमूना और एक चमत्कार ही था। लेकिन आख़िर फिर भी यह नमूना क्रूरता का दानव था और मालूम होता है कि बिलकुल पागल था! वह अपने ही पिता को क़त्ल करके तख़्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बड़े ही अजीब थे। और उनका नाकामयाब होना क़ुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने का निश्चय किया कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम पर्चों में उसकी नीति पर नुक़्ताचीनी करने की गुस्ताख़ी की थी। उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदल कर दक्षिण के देवगिरि को ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रक्खा। मकान के मालिकों को कुछ मुआवज़ा दिया गया, और इसके बाद हरेक आदमी को, बिना किसी लिहाज़ के यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत लोग शहर छोड़कर चल दिये। कुछ छिप भी गए। जब इनका पता चला तो इन्हे बेरहमी के साथ सज़ा दी गई हालांकि इनमें से एक अन्धा था और दूसरा फालिज का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज़ का था। इस कूच में लोगों की क्या भयंकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने रास्ते में ही ख़तम हो गए होंगे इसका ख़याल तो करो।

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुग़लक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा लेकिन कामयाब न हो सका। एक आँखों देखनेवाले के शब्दों में उसने इसे बिलकुल वीराना बना दिया था। किसी बाग को एकदम बयाबान किया जा सकता है लेकिन बयाबान को फिर बाग बनाना आसान नहीं होता। अफरीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुलतान के साथ था, दिल्ली वापस आया और उसने लिखा है कि "यह शहर दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक है। जब हम इस शहर में दाखिल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया गया है। यह बिलकुल ख़ाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था, लेकिन "सब कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी मुकम्मिल थी कि शहर की इमारतों, महलों और नगरियों में कोई बिल्ली या कुत्ता तक बाकी नहीं रहा था"।

यह पागल पच्चीस वर्ष तक, यानी सन् १३५१ ई० तक सुलतान बनकर हुकूमत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासकों की कितनी धूर्तता, क्रूरता और अयोग्यता को बरदाश्त कर सकती है। लेकिन जनता की ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुग़लक अपने साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की स्कीमों ने और भारी टेक्सों ने देश को बरबाद कर दिया। अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी जिन्दगी में ही, सन् १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आज़ाद हो गए। बंगाल आज़ाद हो गया। दक्षिण में भी कई रियासतें पैदा हो गई। इनमें विजयनगर की रियासत मुख्य थी, जो सन् १३३६ ई० में क़ायम हुई और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण में एक बड़ी ताक़त बन गई।

दिल्ली के पास तुम अब भी तुग़लक़ाबाद के खँडहर देख सकती हो। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: ६७ :

चंगेज़खां एशिया और योरप को हिला देता है

२५ जून,१९३२

हाल के अपने कई पत्रो मे मैंने मगोलो का जिक्र किया है और यह बताया है कि उन्होने कितना आतंक फैलाया और कितनी बरबादी मचाई। चीन मे हमने मगोलो के आने के बाद ही सुग राजवश का किस्सा बंद कर दिया था। पश्चिम एशिया में भी हमारा उनका मुकाबला होता है और पुरानी व्यवस्था का वही अन्त हो जाता है। भारत में गुलाम बादशाह मंगोलों से बच गये लेकिन फिर भी इन्होने यहाँ काफी हलचल पैदा कर दी थी। मगोलिया के इन खानाबदोशों ने मानो सारे एशिया को पस्त कर डाला था। सिर्फ़ एशिया को ही नही बल्कि आधे योरप को भी। ये अद्‌भुत लोग कौन थे, जो एकदम फट पड़े और जिन्होने दुनिया को हैरत मे डाल दिया? शक, हूण, तुर्क और तातार, सभी मध्य एशिया के थे और इतिहास में नाम पैदा कर चुके थे। इनमे कुछ कौमे उस वक़्त भी मशहूर थी जैसे पश्चिमी ऐशिया में सेलजूक तुर्क, उत्तरी चीन वगैरा में तातारी। लेकिन मंगोलो ने अभी तक कुछ कारगुजारी नही दिखाई थी। पश्चिमी एशिया में शायद इनके बारे में कोई ज्यादा जानता भी नही था। इनमें मगोलिया के कई अनजान कबीलो के लोग थे और 'किन' तातारियो की मातहती मे थे जिन्होने उत्तर चीन जीता था।

मालूम होता था कि इनमे एकदम ही कहीं से शक्ति आ गई। इनके बिखरे हुए कबीले आपस मे मिल गए और उन्होने अपना एक नेता--खानमहान्--चुना और उसकी मातहती और हुक्मबरदारी की कसम खाई। उसके नेतृत्व मे इन्होने पेकिंग पर धावा मारा और 'किन' साम्राज्य को खतम कर दिया। ये लोग पश्चिम की ओर भी बढे और रास्ते मे जितने बडे-बड़े राज्य मिले सभी का सफ़ाया कर डाला। ये रूस पहुँचे और उसे परास्त कर दिया। बाद म इन लोगो ने बगदाद और उसके साम्राज्य का भी नामोनिशान मिटा दिया और ठेठ पोलैण्ड और मध्य योरप तक जा पहुँचे। इनको रोकनेवाला कोई नही था। भारत इनसे बच गया यह सिर्फ सयोग की बात थी। ज्वालामुखी जैसे इस विस्फोट पर योरप-एशिया के लोगो को जो हैरत हुई होगी उसकी कल्पना हम कर सकते हैं। ऐसा लगता था कि यह भूकम्प की तरह की कोई महान् प्राकृतिक दुर्घटना थी जिसके सामने मनुष्य की कोई हैसियत नही।

मगोलिया के ये खानाबदोश मर्द और औरत बडे मज़बूत थे। कष्ट झेलने की इन्हे आदत थी और ये लोग उत्तरी एशिया के लम्बे-चौड़े मैदानो मे तम्बुओ मे रहते थे। लेकिन इनका शारीरिक बल और कष्ट झेलने का महावरा इनके ज्यादा काम न आते अगर इन्होने एक सरदार न पैदा किया होता जो बडा अनोखा व्यक्ति था। यह वही व्यक्ति है जो चगेज़खा के नाम से मशहूर है। यह सन् ११५५ ई० मे पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमूचिन था। इसका पिता येगुसी-बगातुर इसको बच्चा ही छोड़ कर मर गया था। 'बगातुर' मगोल अमीरो का लोक-प्रिय नाम था। इसका मतलब है 'वीर' और मेरा खयाल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द इसीसे निकला है।

हालाँकि चगेज़ १० वर्ष का छोटा लड़का ही था और उसका कोई मददगार नही था फिर भी वह मेहनत करता चला गया और आखिर में कामयाब हुआ। वह कदम-क़दम आगे बढता गया यहाँ तक कि अंत में मंगोलों की बडी सभा 'कुरुलताई' ने अधिवेशन करके उसे अपना 'खान महान्' या 'कागन' या सम्राट चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज का नाम दिया जा चुका था।

'मंगोलों का गुप्त इतिहास' नाम की पुस्तक में, जो १३ वी सदी में लिखी गई थी और १४ वी सदी में चीन में प्रकाशित हुई, इस चुनाव का हाल इस तरह से बयान किया हुआ है–

> "इस तरह 'चीता' नामक सम्वत् में, जब नमदे के खीमों में रहनेवाली सारी पीढ़ियाँ एक अधिकारी की मातहती में मिल कर एक हो गईं, तब अनान नदी के निकास पर वे सब इकट्‌ठा हुए और 'नौ पैरो' पर अपने 'सफ़ेद झंडे' को खड़ा करके इन लोगो ने चगेज़ को 'कागन' की उपाधि प्रदान की।"

चगेज़ जब 'खान महान्' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नही थी और इस उम्र पर पहुँच कर ज्यादातर आदमी शांति और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए

तो यह विजय-यात्रा के जीवन की शुरुआत थी। यह गौर करने की बात है, क्योंकि ज्यादातर महान विजेताओं ने मुल्को को जीतने का काम जवानी में ही पूरा कर लिया है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज ने जवानी के जोश में एशिया को नहीं रौंद डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उस पर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

मंगोल लोग खानाबदोश थे। शहरों और शहरो के रग-ढंग से भी उन्हें नफरत थी। बहुत लोग समझते है कि चूंकि वे खानाबदोश थे इसलिए जंगली रहे होगे लेकिन यह खयाल ग़लत है। शहर की बहुत-सी कलाओं का उन्हें अलबत्ता ज्ञान नही था; लेकिन उन्होने जिन्दगी का अपना एक अलग तरीका ढाल लिया था और उनका संगठन बहुत गुथा हुआ था। लडाई के मैदान मे अगर उन्होने महान विजयें प्राप्त की तो संख्या अधिक होने के कारण नहीं बल्कि अनुशासन और संगठन के कारण। और इसका सबसे बडा कारण तो यह था कि उन्हें चंगेज जैसा जगमगाता सेनानी मिला था। इसमे कोई शक नही कि इतिहास मे चंगेज जैसा महान सैनिक प्रतिभावाला और सैनिक नेता दूसरा कोई नहीं हुआ है। सिकन्दर और सीज़र इसके सामने नाचीज़ नज़र आते है। चंगेज न सिर्फ़ खुद बहुत बड़ा सिपहसालार था बल्कि उसने अपने बहुत से फौजी अफ़सरो को तालीम देकर होशियार नायक बना दिया था। अपने वतनो से हजारो मील दूर होते हुए, दुश्मनो और विरोधी जनता से घिरे रहते हुए भी, वे अपने से ज्यादा तादाद की फ़ौजो से लड़कर उन पर विजय प्राप्त करते थे।

जिस वक़्त चंगेज एशिया और योरप मे डग भरता हुआ आया उस वक़्त इन देशों का क्या नकशा था? मंगोलिया के पूर्व और दक्षिण मे चीन दो टुकडो मे बँटा हुआ था। दक्षिण मे सुग साम्राज्य था जहाँ दक्षिणी सुगो का शासन था; उत्तर मे 'किन' या 'सुनहले तातारियो' का साम्राज्य था जिनकी राजधानी पेकिंग थी और जिन्होने सुगो को निकाल बाहर किया था, पश्चिम में गोबी के रेगिस्तान पर और उसके पार हिसिया या तगुतो का साम्राज्य था और ये भी खानाबदोश थे। भारत मे, दिल्ली मे, गुलाम खानदान के बादशाहो की हुकूमत थी। ईरान और इराक मे ठेठ भारत की सरहद तक फैला हुआ खारज़म या खीवा का महान् मुसलमानी राज्य था जिसकी राजधानी समरकन्द थी। इसके पश्चिम में सेलजूक थे और मिस्र और फ़िलस्तीन में सलादीन के वारिसो का राज्य था। बगदाद के इर्द-गिर्द, सेलजूको की सरपरस्ती मे खलीफा लोग राज करते थे।

यह वह ज़माना था जब बाद के क्रूसेड चल रहे थे। होहेनस्टाफ़ेन खान्दान का फ्रेडरिक द्वितीय, जिसे 'दुनिया का आश्चर्य' कहा गया है, पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। इंग्लैंड मे मैग्नाकार्टा और उसके बाद की घटनाओ का ज़माना था। फ्रास में लुई नवम राज्य करता था, जो क्रूसेडो मे गया था और वहाँ तुर्कों द्वारा पकड लिया गया था और जिसे फिर बहुत-सा धन देकर छुड़ाया गया था। पूर्वी योरप में रूस था, जो दो राज्यो मे बँटा हुआ था--उत्तर में नोवेगरॉड और दक्षिण में कीफ। रूस और रोमन साम्राज्य के दरमियान हगरी और पोलैंड थे। बिज़ेण्टाइन साम्राज्य अभी तक क़ुस्तुन्तुनिया के आस-पास गुलज़ार था।

चंगेज ने बडी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियाँ की। उसने अपनी फ़ौज को लडाई की तालीम दी। सबसे ज्यादा इसने अपने घोड़ो को सिखाया था और इस बात का खास इन्तज़ाम किया था कि एक घोड़ा मरने के बाद दूसरा घोडा तुरन्त सिपाहियो के पास पहुँच सके, क्योंकि खानाबदोशों के लिए घोड़ो से ज्यादा महत्व की चीज़ कोई नही है। इन सब तैयारियो के बाद उसने पूर्व की तरफ कूच किया और उत्तर चीन और मचूरिया के 'किन' साम्राज्य को क़रीब-करीब खतम कर दिया और पेकिंग पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुगो को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुगो ने 'किन' लोगो के खिलाफ़ उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नही समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज ने बाद मे तंगुतो को भी जीत लिया था।

इन विजयों के बाद चंगेज आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नही थी। वह खारज़म के शाह से मित्रता का सम्बन्ध रखना चाहता था लेकिन यह हो नहीं पाया। एक पुरानी कहावत है जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते है पहले उसे पागल

कर देते हैं ।[1] खारज़म का बादशाह अपनी ही बरबादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए जो कुछ मुमकिन था, उसने किया । उसके एक सूबे के हाकिम ने मंगोल सौदागरो को कत्ल कर दिया । चगेज़ फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह संदेश लेकर राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सज़ा दी जाय । लेकिन बवकूफ़ शाह इतना घमंडी था और अपने को इतना बड़ा समझता था कि उसने इन राजदूतो की बे-इज्ज़ती की और उनको मरवा डाला । चंगेज़ के लिए इसे बरदाश्त करना नामुमकिन था लेकिन उसने जल्दबाजी से काम नही लिया । उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ़ अपनी फ़ौज के साथ कूच का डका बजा दिया ।

इस कूच ने, जो सन् १२१९ ई० मे शुरू हुई, एशिया की और कुछ हदतक योरप की आँखे इस नये आतंक की तरफ खोल दी जो बड़े भारी बेलन की तरह शहरो और करोड़ो आदमियों को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था । खारज़म का साम्राज्य मिट गया । बुखारा का बडा शहर, जिसमें बहुत से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जला कर राख कर दिया गया । राजधानी समरकन्द बरबाद कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी में से सिर्फ ५० हज़ार लोग ज़िन्दा बचे । हिरात, बलख, और दूसरे बहुत से गुलज़ार शहर नष्ट कर दिये गये । करोडो आदमी मार डाले गये । जो कलाए और दस्तकारियाँ वर्षों से मध्य एशिया में फूल-फल रही थी गायब हो गई । ईरान और मध्य एशिया में सभ्य जीवन का खातमा सा हो गया । जहाँ से चगेज़ गुज़रा, वहाँ वीराना हो गया ।

खारज़म के बादशाह का लड़का जलालुद्दीन इस तूफान के खिलाफ बहादुरी से लड़ा । वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहाँ भी इस पर जोर का दबाव पडा तो कहते है कि वह घोडे पर बैठा हुआ, ३० फीट नीचे सिन्ध नदी में कूद पडा और तैरकर इस पार निकल आया । उसे दिल्ली दरबार मे आश्रय मिला । चगेज़ ने वहाँ तक उसका पीछा करना फिजूल समझा ।

सेल्जूक तुर्कों की और बगदाद की खुशकिस्मती थी कि चगेज ने इनको बिना छेडे छोड़ दिया और वह उत्तर मे रूस की तरफ बढ गया । उसने कीफ के ग्रेंड ड्यूक को हराकर क़ैद कर लिया । फिर वह हिसियो या तगुतो के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ लौट गया ।

चगेज़ सन् १२२७ ई० मे ७२ वर्ष की उम्र मे मर गया । उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व मे प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था । उसमे अब भी काफी तेजी थी और वह दिन-ब-दिन बढ ही रहा था । इसकी राजधानी अभी तक मगोलिया मे क़राकुरम नाम का छोटा-सा क़स्बा था । खानाबदोश होते हुए भी चगेज़ बडा ही योग्य सगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मत्री मुक़र्रर कर रखे थे । उसका इतनी तेज़ी के साथ जीता हुआ साम्राज्य उसके मरने पर टूटा नही ।

अरब और ईरानी इतिहास-लेखको की नज़र में चगेज़ एक दानव है । उसे इन्होने 'खुदा का कहर' कहा है । उसे बडा ज़ालिम आदमी वर्णन किया गया है । इसमे शक नही कि वह बडा ज़ालिम था, लेकिन उसके ज़माने के दूसरे बहुत-से शासको मे और उसमें कोई ज्यादा फ़र्क नही था । भारत में अफगान बादशाह, कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे । जब गज़नी पर अफगानो ने सन् ११५० ई० मे कब्ज़ा किया तो पुराने खून का बदला लेने के लिए इन लोगो ने उस शहर को लूटा और जला दिया । सात दिन तक "लूट-मार बरबादी और मार-काट जारी रही । जो मर्द मिला उसे कत्ल कर दिया गया । तमाम स्त्रियो और बच्चो को कैद कर लिया गया । महमूदी बादशाहो (यानी सुलतान महमूद के वंशजो) के महल और इमारते जिनका दुनिया मे कोई सानी नही था, नष्ट कर दिये गये ।" मुसलमानो का अपने बिरादर मुसलमानो के साथ यह सलूक था । इसके, और यहाँ भारत में जो कुछ अफ़गान बादशाहों ने किया उसके, और मध्य-एशिया और ईरान मे चगेज़ की विनाशपूर्ण कार्रवाई के, दर्जों मे कोई फ़र्क नही था । चगेज़ खारज़म से खास तौर पर नाराज़ था, क्योकि शाह ने उसके राजदूत को क़त्ल करवा दिया था । उसके लिए तो यह खूनी झगड़ा था । और जगहो पर भी चगेज़ ने खूब सत्यानाश किया था, लेकिन शायद उतना नही जितना मध्य एशिया मे ।

शहरो को यों बरबाद करने के पीछे चगेज़ की एक और भी भावना थी । उसमें खानाबदोशो की

---

[1]तुलसीदास ने भी कहा है

जाको प्रभु दारुन दुख देहीं, ताकी मति पहले हर लेहीं ।

तबियत थी और वह क़स्बों और शहरों से नफ़रत करता था। वह खुले मैदानों में रहना पसन्द करता था। एक दफा तो चंगेज़ को यह ख़याल हुआ कि चीन के तमाम शहर बरबाद कर दिये जायँ तो अच्छा होगा! लेकिन खुश-क़िस्मती कहिए कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका विचार था कि सभ्यता और खानाबदोशी की जिन्दगी को मिला दिया जाय। लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

चंगेज़ख़ाँ के नामसे तुम्हें शायद यह ख़याल हो कि वह मुसलमान था, लेकिन वह मुसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। मजहब के मामले में चंगेज बड़ा उदार था। उसका अपना मजहब अगर कुछ था तो शमावाद था, जिसमें 'अविनाशी नीले आकाश' की पूजा थी। वह चीन के ताओ धर्म के पंडितों से अक्सर खूब ज्ञान-चर्चा किया करता था। लेकिन वह खुद शमा मत पर ही क़ायम रहा और जब कठिनाई में होता तब आकाश का ही आश्रय लिया करता था।

तुमने इस पत्र के शुरू में पढ़ा होगा कि चंगेज़ को मंगोलों की सभा ने खान महान् 'चुना' था। यह सभा असल में सामन्तों की सभा थी, जनता की नहीं, और यों चंगेज़ इस फ़िरक़े का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा न था, और उसके तमाम अनुयायी भी उसीकी तरह थे। शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी भी कोई चीज होती है। सदेश ज़बानी भेजे जाते थे और आम तौर पर छन्द में रूपकों या कहावतों के रूप में होते थे। ताज्जुब तो यह है कि ज़बानी सदेशों से किस तरह इतने बड़े साम्राज्य का कारबार चलाया जाता था। जब चंगेज़ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है तो उसने फ़ौरन ही महसूस कर लिया कि यह बड़ी फायदेमन्द चीज़ है और उसने अपने पुत्रों और मुख्य सरदारों को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया था कि मंगोलों का पुराना रिवाजी क़ानून और उसकी अपनी उक्तियाँ भी लिख डाले जायँ। मुराद यह थी कि यह रिवाजी कानून सदा-सर्वदा के लिए 'अपरिवर्तनशील कानून' है, और कोई इसे भंग नहीं कर सकता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना जरूरी था। लेकिन यह 'अपरिवर्तनशील कानून' अब अप्राप्य है और आजकल के मंगोलों को न तो इसकी कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाकी रही है।

हरेक देश और हरेक मजहब का पुराना रिवाजी कानून और लिखित कानून होता है और हरेक समझता है कि यही 'अपरिवर्तनशील कानून' हमेशा क़ायम रहेगा। कभी-कभी इसे ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है और जो ज्ञान ईश्वर ने भेजा हो उसे परिवर्त्तनशील या क्षणिक नहीं माना जा सकता। लेकिन कानून तो तत्कालीन परिस्थिति के माफिक बनाये जाते है, और उनकी मंशा यह होती है कि उनकी मदद से हम अपनी उन्नति कर सकें। अगर परिस्थिति बदल जाती है तो पुराने क़ानून उसमें कैसे फिट हो सकते है? परिस्थिति के साथ कानूनों में भी परिवर्त्तन होना चाहिए; वरना ये लोहे की जंजीरों की तरह हमें जकड़ रखते है और दुनिया आगे बढ़ती चली जाती है। कोई भी कानून अपरिवर्तनशील नहीं हो सकता। यह जरूरी है कि उसका आधार ज्ञान पर हो, और ज्यों-ज्यों ज्ञान की उन्नति हो त्यों-त्यों क़ानून को भी उसके साथ उन्नति करनी चाहिए।

चंगेज़ख़ाँ के बारे में मैंने तुम्हें जितनी तफ़सील और जितनी बातें बताई है उतनी शायद जरूरी नहीं थी। लेकिन इस आदमी ने मुझे बहुत मोहित किया है। कितने ताज्जुब की बात है कि एक खानाबदोश जंगली क़ौम का यह खूँख़ार क्रूर, और हिंसक सामन्ती सरदार मेरे जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसक और नर्म आदमी को मोहित करे, जो शहरों में रहनेवाला और सामन्ती चीज़ से नफ़रत करने वाला है।

: ६८ :

मंगोलों का दुनिया पर दबदबा

२६ जून, १९३२

चंगेज़ ख़ाँ की मृत्यु के बाद उसका लड़का ओगताई 'ख़ानमहान' हुआ। चंगेज़ और उस ज़माने के मंगोलों के मुक़ाबले में वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था कि "हमारे

कागन चंगेज़ ने बड़ी मेहनत से हमारे शाही खानदान को बनाया है। अब वक़्त आ गया है कि हम अपने लोगों को शान्ति दें, खुशहाल बनावे और उनकी मुसीबतो को कम करें।" ओगताई किस तरह सामन्ती सरदार की हैसियत से अपने फ़िरके की बात सोचता था यह ध्यान देने की चीज़ है।

लेकिन विजय का युग खतम नही हुआ था और मगोलों में अभी तक शक्ति उबल रही थी। महान् सेनापति सबूताई के नेतृत्व में योरप पर दूसरी बार हमला हुआ। योरप की सेनाएं और सेनापति सबूताई के मुकाबले में नाचीज़ थे। शत्रु देशो के हालचाल लाने के लिए जासूस और अगाऊ मुखबिर भेजकर वह सावधानी के साथ ज़मीन तैयार कर लेता था। इसलिए आगे बढ़ने से पहले उसे उन देशों की राजनैतिक और सैनिक स्थिति की पूरी जानकारी रहती थी। युद्ध क्षेत्र में वह युद्ध कला का उस्ताद था और योरप के सेनापति उसके मुक़ाबले में नौसिखिये नजर आते थे। सबूताई सीधा रूस चला गया और उसने दक्षिण-पश्चिम में बगदाद और सेलजूको की शान्ति में बाधा नही पहुँचाई। छै वर्ष तक वह मास्को, कीफ, पौलैंड, हगरी और क्राकाऊ को लूटता-पाटता और नष्ट करता हुआ लगातार आगे बढता चला गया। सन् १२४१ ई० मे मध्य-योरप के निचले साइलेशिया में लिबनित्स नाम की जगह पर पोलैण्ड और जर्मनी की एक फ़ौज का बिलकुल सफाया कर दिया गया। मालूम होता था कि सारे योरप का फ़ैसला होने वाला है। मगोलो को रोकने वाला कोई नही दिखाई देता था। फ़्रेडरिक द्वितीय, जो 'ससार का चमत्कार' कहलाता था, मंगोलिया से निकल कर आये हुए इस असली चमत्कार के सामने जरूर डर के मारे पीला पड गया होगा। योरप के बादशाह और शासक लोग हक्का-बक्का हो रहे थे कि अचानक उन्हे राहत मिल गई जिसकी कोई आशा ही नही थी।

ओगताई की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के बारे में कुछ झगड़ा खड़ा हो गया। इसलिए योरप मे जो मगोल फ़ौजे थी वे अपराजित होती हुई भी पीछे लौट पड़ी और सन् १२४२ ई० मे पूर्व की ओर अपने वतन को चल दी। योरप की फिर जान मे जान आई।

इस दरमियान मगोल लोग चीन भर मे फैल चुके थे। और उत्तर मे 'किन' लोगो को और दक्षिण चीन मे सुगो को भी उन्होने बिलकुल खतम कर दिया था। सन् १२५२ ई० मे मगू 'खान महान' बना और उसने कुबलाई को चीन का गवर्नर मुकर्रर किया। कराकुरम मे, मगू के दरबार में, एशिया और योरप से लोगो की भीड की भीड़ आया करती थी। 'खान महान्' खानाबदोशो की तरह, अभीतक खीमो मे ही रहता था। लेकिन ये खीमे बहुत शानदार होते थे और वे महाद्वीपो की दौलत और लूट के माल से भरे रहते थे। सौदागर, खासकर मुसलमान, आते थे और मगोल लोग उनसे खूब माल खरीदते थे। ज्योतिषी, कारीगर, गणितज्ञ और वे लोग जो उस ज़माने के विज्ञान मे दखल रखते थे, खीमो के इस शहर में जमा हुआ करते थे। ऐसा लगता था कि मानो इस शहर का रौब सारी दुनिया पर छाया हुआ है। इस लम्बे-चौड़े मगोल साम्राज्य भर मे, एक हद तक, शाति और व्यवस्था थी। महाद्वीपो के बीच के कारवानी रास्ते इधर-उधर आने-जाने वाले लोगो से भरे रहते थे। यो, एशिया और योरप एक-दूसरे के अधिक सम्पर्क में आ गये थे।

और फिर क़राकुरम की ओर धर्म-प्रचारको की दौड मची हुई थी। उनमें से हरेक चाहता था कि ये संसार-विजेता खास उसीका धर्म क़बूल कर लें। जो मजहब इन सत्ताधारी लोगो को अपनी तरफ़ मिला लेने मे कामयाब होता वह खुद भी जरूर सर्वसत्ताधीश बन जाता और दूसरे तमाम मज़हबो पर विजय प्राप्त कर लेता। पोप ने रोम से अपने एलची भेजे; नस्टोरियन ईसाई आये, मुसलमान भी वहाँ पहुँचे और बौद्ध भी। मगोलो को कोई नया मज़हब क़बूल करने की जल्दी नही थी क्योकि वे लोग कोई घोर धार्मिक नही थे। कहते हैं कि एक बार 'खान महान' ने ईसाइयत क़बूल करने के विचार की तरफ कुछ अनुराग दिखाया था लेकिन वह पोप के दावों को बर्दाश्त करने को तैयार नही था। आखिर मगोल लोग उन्ही क्षेत्रो के मजहबो की धार में पड़ गए, जहाँ-जहाँ वे बस गये थे। चीन और मगोलिया के ज्यादातर मगोल बौद्ध हो गये; मध्य-एशिया के मुसलमान बन गये; और शायद रूस और हंगरी के कुछ मगोल ईसाई हो गये।

रोम के वैटिकन[1] में, पोप के पुस्तकालय में, अभी तक 'खान महान' (मगू) का पोप के नाम एक असली

---

[1]वैटिकन—रोममें पोप के महल, जो सुन्दर कारीगरी के नमूने हैं तथा जिनमें बड़ा भारी पुस्तकालय और संग्रहालय है।

पत्र रक्खा हुआ है। यह पत्र अरबी भाषा में है। मालूम होता है कि पोप ने ओगताई के मरने के बाद नये खान के पास, अपना एलची यह चेतावनी लेकर भेजा था कि वह योरप पर फिर हमला न करे। खान ने जवाब दिया था कि उसने योरप पर इसलिए हमला किया था कि योरपवासियों ने उसके साथ उचित बर्ताव नहीं किया था।

मंगू के ज़माने में विजय और विनाश की एक लहर फिर चली। उसका भाई हलाकू ईरान का गवर्नर था। बगदाद के खलीफ़ा की किसी बात पर खीझ कर उसने उसके पास एक संदेशा भेजा जिसमें उसकी वादाखिलाफ़ी पर उसे फटकारा और हिदायत की कि आगे से अपना ढंग ठीक रक्खे वरना अपना साम्राज्य खो बैठेगा। खलीफ़ा कोई बहुत अक्लमंद आदमी नहीं था और न वह तजुर्बे से फ़ायदा उठाना ही जानता था। उसने चुनौती भरा जवाब भेजा और बगदाद के लोगों की एक भीड़ ने मंगोल एलचियों की बेइज़्ज़ती भी की। इस पर हलाकू का मंगोल खून उबल पड़ा। तैश में आकर उसने बगदाद पर धावा बोल दिया और चालीस दिन के घेरे के बाद उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। अलिफ़ लैला के शहर बगदाद का यहीं अन्त हो गया और साम्राज्य के ५०० वर्ष में यहाँ जो बेशुमार खज़ाना इकट्ठा हो गया था वह भी खतम हुआ। खलीफ़ा और उसके बेटे और नज़दीकी रिश्तेदार मार डाले गये। यह हत्याकाण्ड हफ्तों तक जारी रहा, यहाँ तक कि दजला नदी का पानी मीलों तक खून से लाल हो गया। कहते हैं कि पन्द्रह लाख आदमी मारे गये। कला और साहित्य की बहुमूल्य वस्तुओं के संग्रह और पुस्तकालय सब नष्ट कर दिये गए। बगदाद बिलकुल बरबाद हो गया। पश्चिमी एशिया की प्राचीन सिंचाई की व्यवस्था, जो हजारों वर्ष पुरानी थी, हलाकू ने नष्ट कर दी।

यही हाल एलप्पो, एडिस्सा और दूसरे शहरों का हुआ। पश्चिमी एशिया पर रात का अंधेरा छा गया। उस ज़माने का एक इतिहासकार लिखता है कि यह "ज़माना विज्ञान और सद्गुणों के अकाल का था।" फिलस्तीन को भेजी गई एक मंगोल फौज को मिस्र के सुलतान बेबर ने हरा दिया। इस सुलतान का एक मजेदार उपनाम 'बन्दूकदार' था क्योंकि उसके पास बन्दूकचियों का एक फौजी दस्ता था। अब हम उस ज़माने तक पहुँच गये हैं जब तोप-बन्दूकों का इस्तेमाल शुरू हो गया था। चीन के लोग बहुत दिनों से बारूद बनाना जानते थे। मंगोलों ने ग़ालिबन इसे चीनियों से सीखा और मुमकिन है कि इन लोगों को बारूदी हथियारों की वजह से अपनी विजयों में सहायता मिली हो। मंगोलों के ज़रिये ही तोप-बन्दूक वग़ैरा बारूदी हथियार योरप में पहुंचे।

सन् १२५८ ई० में बगदाद की बरबादी ने आखिरी तौर पर बचे-खुचे अब्बासिया साम्राज्य का भी अन्त कर दिया। पश्चिमी एशिया में अरब की अपनी विशेष सभ्यता का यहीं अन्त हो गया। दूर दक्षिण स्पेन में ग्रेनाडा अभी तक अरब परम्परा पर चल रहा था। यह भी २०० वर्ष बाद खतम हो गया। खुद अरब देश का महत्त्व भी तेज़ी से घटता गया और वहाँ के लोगों ने इसके बाद इतिहास में कोई बड़ा हिस्सा नहीं लिया। ये लोग कुछ दिनों के बाद उस्मानी तुर्की साम्राज्य के अंग बन गये। सन् १९१४-१८ ई० के यूरोपीय महायुद्ध में, अंग्रेज़ों के उभाड़ने से, अरबों ने तुर्कों के खिलाफ विद्रोह किया था और उस वक्त से अरब क़रीब-क़रीब आज़ाद हैं।

दो वर्ष तक कोई खलीफ़ा नहीं रहा। इसके बाद मिस्र के सुलतान बेबर ने आखिरी अब्बासी खलीफ़ा के एक रिश्तेदार को खलीफ़ा नामज़द कर दिया। लेकिन उसके हाथ में कोई राजनैतिक सत्ता नहीं थी, वह सिर्फ़ धर्म-गुरु था। तीन सौ वर्ष बाद क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की सुलतान ने खलीफ़ा की यह उपाधि आखिरी उपाधिधारी से प्राप्त कर ली। तब से तुर्की सुलतान खलीफ़ा होते चले आये लेकिन कुछ ही साल हुए, मुस्तफ़ा कमालपाशा ने सुलतान और खलीफ़ा दोनों को खतम कर दिया।

मैं अपनी कहानी से भटक गया। 'खान महान' मंगू सन् १२३९ ई० में मर गया। मरने के पहले वह तिब्बत को जीत चुका था। उसके बाद चीन का गवर्नर कुबलाईखाँ 'खान महान' बना। कुबलाई बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसन्द था। इसलिए उसने अपनी राजधानी कराकुरम से हटाकर पेकिंग में क़ायम की और उसका नाम खानबालिक यानी 'खान का नगर' रक्खा। कुबलाई को चीन के मामलों में इतनी दिलचस्पी थी कि वह अपने बड़े साम्राज्य की तरफ से बेपरवाह हो गया और धीरे-धीरे बड़े-बड़े मंगोल गवर्नर आज़ाद हो गये।

कुबलाई ने चीन की विजय पूरी कर ली लेकिन इसका लड़ाइयों का ढंग पुराने मंगोल ढंग से बहुत भिन्न था। इसमें क्रूरता और बरबादी बहुत कम थी। चीन ने कुबलाई को पहले ही मुलायम कर दिया था और उसे सभ्य बना दिया था। चीनी लोगों ने भी इसे अपना लिया और उसके साथ अपने ही आदमी जैसा बर्ताव करने लगे। कुबलाई ने ही युआन वंश, जिसे कट्टर चीनी वंश कहना चाहिए, चलाया। उस ने टांकिंग, अनाम और बरमा अपने राज्य में मिला लिये। उसने जापान और मलेशिया को भी जीतने की कोशिश की लेकिन कामयाब नही हुआ, क्योंकि मंगोलो को समुद्र यात्रा की आदत नही थी और उनको जहाज़ बनाना भी नही आता था।

मंगूखां के शासन काल में, फ्रांस के बादशाह लुई नवम का राजदूत मंडल एक दिलचस्प संदेश लेकर आया था। लुई ने यह तजवीज़ की थी कि योरप की ईसाई ताकतें और मंगोल मिलकर मुसलमानो का मुकाबला करें। क्रूसेडो के जमाने में, जब वह कैद कर लिया गया था, तब बेचारे लुई को बहुत बुरे दिन देखने पड़े थे। लेकिन मंगोलो को ऐसी दोस्तियों में कोई दिलचस्पी नही थी और न उन्हे इसमे दिलचस्पी थी कि किसी मज़हब के लोगों पर सिर्फ इसीलिए हमला करें।

फिर वे योरप के छोटे-छोटे बादशाहो और राजाओं से क्यो और किसके खिलाफ़ दोस्ती करते? उन्हे पश्चिमी यूरोपीय राज्यो या मुसलमानी राज्यो के रण-कौशल से कोई डर नही था। यह तो इत्तिफ़ाक़ की बात थी कि पश्चिमी योरप इनसे बच गया था। सेलजूक तुर्कों ने इनके सामने सर झुका दिया था और इन्हे खिराज देते थे। सिर्फ़ मिस्र का सुलतान ही ऐसा था जिसने मंगोल फौज को हराया था लेकिन इसमे कोई शक नहीं कि अगर मंगोल सरगर्मी के साथ कोशिश करते तो उसे सीधा कर देते। एशिया और योरप के एक सिरे से दूसरे तक शक्तिशाली मंगोल साम्राज्य पसरा हुआ था। मंगोलो की विजयो के मुकाबले की इतिहास मे कोई चीज कभी नही हुई और न इतना विशाल साम्राज्य ही कभी हुआ। उस वक़्त तो मंगोल दर असल दुनिया के मालिक नजर आते होंगे। भारत उनसे बरी था सिर्फ़ इसलिए कि मंगोल उस तरफ गये ही नही थे। पश्चिमी योरप भी, जो करीब-क़रीब भारत के बराबर था, इस साम्राज्य से बाहर था। लेकिन ऐसा समझना चाहिए कि ये हिस्से भी मंगोलो की मेहरबानी पर जिन्दा थे और इनकी हस्ती तभी तक थी जब तक मंगोल इन्हे हज़म करने का इरादा नही करते थे। तेरहवी सदी में लोगो को ऐसा ही मालूम होता रहा होगा।

लेकिन मंगोलो की जबरदस्त शक्ति कुछ कम होती मालूम देने लगी और विजय करते चले जाने का जोश ठंडा पड़ने लगा। तुम्हे यह न भूलना चाहिए कि उस ज़माने मे लोग धीरे-धीरे या तो पैदल चलते थे या घोडो पर। सफ़र का इससे ज्यादा तेज़ कोई तरीका नही था। मंगोलिया में अपने घर से योरप मे साम्राज्य के पश्चिमी सरहद तक सफर करने में ही साल भर लग जाता था। विजय के लिए इनमे इतना उत्साह नही था कि वे अपने साम्राज्य मे से होकर इतनी जबरदस्त यात्राएं करते, जब कि लूटमार की कोई गुंजाइश न थी। इसके अलावा लडाई मे और लूटमार में बार-बार कामयाबियो की वजह से मंगोल सैनिको के पास लूट का खूब माल इकट्ठा हो गया था। बहुतों ने तो गुलाम भी रख लिये होंगे। इसलिए वे ठंडे पड गये और संजीदा और शान्तिमय जीवन मे पड़ गये। जिसे अपनी जरूरत की सब चीजें मिल गई हो वह सदा शान्ति और व्यवस्था ही पसन्द करने लगता है।

विशाल मंगोल साम्राज्य का शासन बडा मुश्किल काम रहा होगा। इसलिए ताज्जुब की बात नही कि यह छिन्न-भिन्न होने लगा। कुबलाई खाँ सन् १२९२ ई० में मरा। इसके बाद कोई 'खान महान' नही हुआ और साम्राज्य इन पाच बडे हिस्सो में बँट गया :–

१. चीन का साम्राज्य, जिसमें मंगोलिया, मंचूरिया और तिब्बत शामिल थे। यह मुख्य भाग था और कुबलाई के युआन राजवंश के लोगों के मातहत था;

२. 'सुनहले गिरोह' (यह मुग़लो का स्थानीय नाम था) का साम्राज्य। यह बिलकुल पश्चिम मे रूस, पोलैंड और हँगरी में था;

३. ईरान, इराक़ और मध्य-एशिया के एक हिस्से में इलखान साम्राज्य था। इसकी बुनियाद हलाकू ने डाली थी और सेलजूक तुर्क इसे खिराज देते थे;

४. मध्य एशिया में, तिब्बत के उत्तर में चगताई साम्राज्य था जिसे महान् तुर्की भी कहते थे;

५. मंगोलिया और 'सुनहले गिरोह' के बीच मंगोलों का साइबेरिया साम्राज्य था ।

हालाँकि विशाल मंगोलियन साम्राज्य के टुकड़े हो गये थे लेकिन उसके इन पाँचों भागों में से हरेक शक्तिशाली साम्राज्य था ।

: ६९ :

महान् यात्री मार्कोपोलो

२७ जून, १९३२

मैंने तुमसे क़राकुरम में 'ख़ान महान्' के दरबार का ज़िक्र किया है कि मंगोलो की कीर्त्ति और उनकी विजयो की मोहिनी से खिच कर कैसे सैकड़ो सौदागर, कारीगर, विद्वान और धर्म-प्रचारक वहाँ जमा होने लगे थे । ये लोग इसलिए भी आते थे कि मंगोल इनको प्रोत्साहन देते थे । ये मंगोल विचित्र आदमी थे, कुछ बातो में बड़े ही कार्य कुशल और कुछ बातो में बिलकुल बच्चों जैसे । इनकी खूँख्वारी और क्रूरता तक भी हौलनाक ज़रूर थी पर उसमें बचपने की लटक थी । और मेरे ख़याल से इन खूँख्वार रण-बाकुरो के इस बचपने के स्वभाव ने ही इन्हें इतना आकर्षक बना दिया है । कई सौ वर्ष बाद एक मंगोल, या मुग़ल ने, जिस नाम से ये भारत में मशहूर हुए, इस देश को जीता । इसका नाम बाबर था और इसकी माँ चंगेज़ख़ा के वंश की थी । भारत जीतने के बाद यह क़ाबुल और उत्तर की ठंडी-ठंडी हवाओ, फूलो, बगीचों और तरबूजों के लिए तरसता था । यह आनन्दी आदमी था और उसने अपने जो संस्मरण लिखे हैं उनमें तो वह बहुत इन्सानियत भरा और आकर्षक व्यक्ति ज़ाहिर होता है ।

मतलब यह कि मंगोल लोग अपने दरबार में विदेशो के यात्रियो को आने के लिए प्रोत्साहन देते थे । इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे । तुम्हें याद होगा, मैंने तुमको बताया था कि जैसे ही चंगेज़ख़ाँ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी भी कोई चीज़ है उसने फौरन उसका महत्व समझ लिया और अपने अफ़सरों को लिखना सीखने का हुक्म दिया था । इनके दिमाग खुले थे जिनमें सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरो से सीख सकते थे । कुबलाई खाँ, पेकिंग में बसने और शरीफ चीनी सम्राट बन जाने के बाद खास तौर में विदेशी यात्रियो को प्रोत्साहन देता था । उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे—ये दोनो भाई थे जिनमें एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मेफियो पोलो । ये लोग व्यापार की तलाश में ठेठ बुख़ारा तक पहुंच गये थे और वहाँ ईरान में हलाकू के पास भेजे हुए कुबलाई ख़ाँ के कुछ एलची इन्हे मिले । उन लोगो ने इन दोनों को कारवा में शामिल होने को राज़ी कर लिया और इस तरह ये 'ख़ान महान' के दरबार में पेकिंग पहुँचे ।

कुबलाई खाँ ने निकोलो और मैफ़ियो का अच्छा स्वागत किया । उन्होने खाँ को योरप, ईसाईधर्म और पोप के बारे में बताया । उसने इनकी बातो में बहुत दिलचस्पी ज़ाहिर की और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाई धर्म की तरफ़ झुक रहा है । उसने सन् १२६९ ई०में इन दोनो को योरप वापस भेजा और यह संदेश पोप से कहलाया कि सौ विद्वान, "सातो कलाओ को जानने वाले चतुर आदमी", जो ईसाई-धर्मको सिद्ध करने में समर्थ हो, उसके यहा भेजे जाय । लेकिन ये दोनो भाई जब योरप वापस पहुचे तो उस समय पोप और योरप दोनो की हालत बुरी थी । इस किस्म के सौ आदमी थे ही नही । दो वर्ष ठहर कर ये लोग दो ईसाई साधुओं को साथ लेकर वापस गये । लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि ये अपने साथ निकोलो के नौजवान लड़के मार्को को भी ले गये ।

तीनो पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और ख़ुश्की के रास्ते से इन्होने एशिया की पूरी लम्बाई तय की । कितना ज़बरदस्त सफ़र यह था ! अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय जिस पर पोलो गये थे तो क़रीब-क़रीब साल भर लग जायगा । पोलोओं ने कुछ हद तक ह्यूएनत्सांग का पुराना रास्ता पकड़ा था । वे फ़िलस्तीन होकर आरमीनिया आये और वहां से इराक और फिर ईरान की खाड़ी पहुंचे । यहां उन्हें भारत के व्यापारी मिले । ईरान पार करके वे बलख पहुँचे, और वहाँ से पहाड़ों को लाँघते हुए काशगर मे

खुतन, खुतन से लाप-नोर झील, जो चलती फिरती, झील कहलाती है। वहाँ से फिर रेगिस्तान पार करते हुए और चीन के खेतों में होते हुए पेकिंग पहुँचे। उनके पास एक शाही पासपोर्ट था; यह खुद खान महान की दी हुई सोने की तख्ती थी।

प्राचीन रोम के जमाने में, चीन और सीरिया के बीच कारवानो का यही पुराना रास्ता था। कुछ दिन हुए मैंने स्वीडन के मशहूर खोजी और यात्री स्वेन हेडेन का गोबी के रेगिस्तान पार करने का हाल पढा है। वह पेकिंग से पश्चिम की ओर चल कर रेगिस्तान पार करता हुआ और लाप-नोर झील के पास से निकलता हुआ खुतन और उसके आगे पहुँचा। उसके पास आजकल के जमाने की सारी सहूलियतें थी, फिर भी उसे सफ़र में बड़ी तकलीफ और परेशानी हुई। फिर ७०० और १३०० वर्ष पहले, जब पोलो और ह्यूएनत्साग इस रास्ते से गुजरे होगे तब सफ़र की क्या हालत रही होगी! स्वेन हेडेन ने एक दिलचस्प खोज की। उसने यह देखा कि लाप-नोर झील का स्थान बदल गया है। बहुत दिन हुए, चौथी सदी में, लाप-नोर में गिरने वाली तारिन नदी ने अपना बहाव बदल दिया था और रेगिस्तान की बालू ने कुछ ही दिनो में उसके खादर को पाट दिया था। लाउलन का पुराना शहर, जो वहाँ बसा था, बाहरी दुनिया से बिलकुल अलग कट गया और इसके निवासी शहर को बर्बादी के भरोसे छोड़कर चले गये। झील ने भी इस नदी की वजह से अपना मुक़ाम बदल दिया और यही हालत पुराने कारवानी और व्यापारी रास्ते की भी हुई। स्वेन हेडेन ने देखा कि हाल ही में, कुछ ही वर्ष हुए, तारिन नदी ने फिर अपना बहाव बदल दिया और अपने पुराने रास्ते पर चली गई। झील ने भी इसका अनुसरण किया। तारिन नदी फिर पुराने लाउलन नगर के खँडहरों के पास से होकर बह रही है और मुमकिन है कि वह पुराना रास्ता, जो १६०० वर्ष से बन्द था, फिर चलने लगे, लेकिन ऊँटों की जगह अब मोटरे दौडने लगें। इसी वजह से लाप-नोर को 'चलती-फिरती' झील कहते है। मैंने तारिन नदी और लाप-नोर के इधर-उधर भटकने का इसलिए ज़िक्र कर दिया कि तुम्हें यह अंदाज हो जाय कि जल प्रवाह किस तरह बडे-बडे क्षेत्रो को बदल देते है और इस तरह इतिहास पर प्रभाव डालते है। जैसा कि हम देख चुके है, पुराने जमाने मे मध्य-एशिया में बड़ी घनी आबादी थी और यहाँ के निवासियो की एक के बाद एक लहरे मुल्कों को जीतती हुई पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ बढ़ी थी। आजकल यह हिस्सा करीब-क़रीब वीरान है जिसमे शहर बहुत ही कम है और आबादी भी बिखरी हुई है। शायद उस वक्त यहाँ ज्यादा पानी रहा हो और इस वजह से यहां बड़ी आबादी की गुज़र संभव होती रही हो। जैसे-जैसे मौसम खुश्क होता गया और पानी कम पडता गया, आबादी भी कम होती गई और घटते-घटते बहुत थोडी रह गई।

इन लम्बी-लम्बी यात्राओ से एक फ़ायदा था। लोगो को नई भाषा या भाषाएं सीखने का समय मिल जाता था। तीनों पोलो को वेनिस मे पेकिग तक पहुँचते-पहुँचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय में मार्को को मगोल भाषा पर पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'खान-महान' का बहुत चहेता हो गया और उसने करीब सत्रह साल तक उसकी नौकरी की। वह गवर्नर बना दिया गया और सरकारी कामो पर चीन के विभिन्न प्रान्तों मे जाया करता था। हालाकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती थी और वे वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन खान की इजाज़त हासिल करना आसान नही था। आखिरकार उनको वापस जाने का मौक़ा मिल गया। ईरान में इलखान साम्राज्य के मगोल शासक की बीवी मर गई। यह कुबलाई का चचेरा भाई था। वह फिर शादी करना चाहता था लेकिन उसकी पहली स्त्री ने उससे यह वादा करा लिया था कि वह अपने फ़िरक़े के बाहर की किसी औरत से शादी न करेगा। इसलिए आरगोन ने (कुबलाई के चचेरेभाई का यही नाम था) एलचियो द्वारा कुबलाई खाँ के पास पेकिंग संदेशा भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने फिरक़े की एक योग्य स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलाई खाँ ने एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को पसंद किया और तीनों पोलों को उसके लश्कर के साथ कर दिया क्योंकि ये तजुर्बेकार राहगीर थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहाँ कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा में उस वक्त श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य ही लहलहा रहा था लेकिन इसका विस्तार घट रहा था। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। दक्षिण भारत में पाण्ड्य राज्य केगुलजार बंदरगाह कायल में मार्को पोलो के आने का जिक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत में काफ़ी दिन ठहरे। मालूम होता है कि इन्हें कोई जल्दी नहीं थी क्योंकि इन्हें ईरान

पहुँचते-पहुँचते दो वर्ष लग गये ! लेकिन इस दरमियान शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। उसके इन्तजार की हद हो गई थी। पर शायद उसकी मौत कोई बहुत बड़ा दुर्भाग्य साबित नहीं हुई। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने बाप की बनिस्बत उसकी उम्र के अधिक जोड़ का था।

पोलों ने राजकुमारी को तो वही छोड़ दिया और खुद कुस्तुन्तुनिया होते हुए आगे अपने वतन चले गए। सन् १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुँचे। किसी ने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं कि अपने पुराने दोस्तों और दूसरे लोगो पर सिक्का जमाने के लिए उन्होंने एक दावत दी और इस दावत के बीच में ही उन्होंने अपने फटे-पुराने और रुई भरे कपड़े उधेड़ डाले। फौरन ही क़ीमती जवाहिरात—हीरे, माणिक, पन्ने वगैरा—के ढेर के ढेर उनके कपड़ो मे से निकल पड़े और मेहमान हैरत मे आगये। फिर भी पोलो की कहानियों पर, चीन और भारत में उनकी आप-बीती पर बहुत कम लोगो ने यक़ीन किया। इन लोगों ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बाते कर रहे हैं। वेनिस के अपने छोटे-से प्रजातन्त्र के आदी होने के कारण इन्हें चीन और एशिया के दूसरे देशो के विस्तार और उनकी दौलत की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।

तीन वर्ष बाद, सन् १२९८ ई० में, वेनिस की जिनोआ शहर से लड़ाई ठन गई। ये दोनों समुद्री ताकतें थी और एक दूसरी की प्रतिद्वन्दी थी। दोनो में जबरदस्त समुद्री लड़ाई हुई। वेनिस के लोग हार गये और जिनोआ वालो ने उनके हजारो आदमियों को कैद कर लिया। इन कैदियो में हमारा दोस्त मार्को पोलो भी था। जिनोआ के क़ैदखाने में बैठे-बैठे मार्को पोलो ने अपनी यात्राओ का वर्णन लिखा, या यो कहिए, लिखाया। इस तरह 'मार्को पोलो की यात्रायें' नामक पुस्तक बनी। अच्छा काम करने के लिए जेलखाना कितनी उपयोगी जगह है !

इस सफ़रनामे में मार्को ने खास तौर से चीन का हाल लिखा है और उन अनेक यात्राओ का भी जिक्र किया है जो उसने चीन में की थी। उसने स्याम, जावा सुमात्रा, लका और दक्षिण भारत का भी कुछ हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन मे बड़े-बड़े बन्दरगाह थे, जहा पूर्व के तमाम देशो के जहाजो की भीड रहती थी और कोई-कोई जहाज तो इतने बडे होते थे कि उनमें ३०० या ४०० मल्लाह चला करते थे। उसने लिखा है "कि चीन एक हरा-भरा और खुशहाल देश था जिसमे अनेक शहर और कस्बे थे, यहा रेशमी और जरी के कपड़े और तरह-तरह के नफ़ीस ताफ़्ता बनते थे"; और "खुशनुमा अगूर की बेलो की क्यारियां और खेत और बाग़ थे", और तमाम रास्तो पर "मुसाफिरो के लिए बढिया सरायें थी"। उसने यह भी लिखा है कि शाही फरमानो को पहुँचाने के लिए हरकारो का खास इन्तजाम था। ये फरमान थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदले जाने वाले घोड़ो के जरिये चौबीस घटे मे ४०० मील का फ़ासला तय कर लेते थे, और यह दर असल बहुत अच्छी रफ्तार है। उसने बतलाया है कि चीन के लोग जलावन लकडी के बजाय काला पत्थर काम में लेते थे, जो जमीन से खोद कर निकाला जाता था। इससे साफ जाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खानें खोदते थे और जलावन के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलाई खाँ ने कागज का सिक्का भी जारी किया था, यानी कागज के नोट चलाये थे, जिनके बदले मे सोना देने का वायदा होता था, जैसा कि आजकल किया जाता है। यह बडी दिलचस्प बात है क्योकि इससे पता चलता है कि उसने साहूकारी का एक आधुनिक तरीक़ा काम मे लिया था। मार्को ने बयान किया है कि प्रेस्टर जॉन नाम के शासक की मातहती मे ईसाइयों की एक बस्ती चीन मे रहती थी। इस बात ने योरप के लोगो मे बडा कौतूहल और अचम्भा पैदा कर दिया था। शायद ये लोग मगोलिया के कुछ पुराने नैस्टोरियन रहे हो।

मार्को ने जापान, बरमा और भारत का भी हाल लिखा है: कुछ आखो देखा और कुछ कानो सुना। मार्को की कहानी यात्रा की एक अद्भुत कहानी थी और अब भी है। इसने छोटे-छोटे तंग देशो में बसने वाले और तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष मे फसे हुए योरप निवासियों की आखें खोल दीं और उन्हें इस लम्बी-चौड़ी दुनिया के विस्तार, धन तथा चमत्कारो का भान करा दिया। इससे उनकी कल्पना को उत्तेजना मिली, उनकी साहस-पूर्ण कार्य करने की भावना जागृत हुई और लालच से उनके मुह में पानी आ गया। इसने उन्हें और भी अधिक समुद्र-यात्राएं करने की प्रेरणा दी। योरप का उदय हो रहा था; उसकी नई सभ्यता अपने पैरों पर खड़ी हो रही थी और मध्य-काल की बंदिशो को तोडने की कोशिश कर रही थी। युवावस्था में पदार्पण करने वाले नौजवान की तरह योरप में शक्ति भर रही थी। समुद्र-यात्रा की इसी प्रेरणा ने और धन

की तथा जोखिम उठाने की अभिलाषा ने योरप वासियों को कुछ दिन बाद अमरीका पहुंचा दिया। वे लोग उत्तमाशा अन्तरीप का चक्कर काटते हुए प्रशांत महासागर, भारत, चीन और जापान पहुंच गये। समुद्र दुनिया का राजमार्ग बन गया और महाद्वीपों को पार करने वाले बड़े-बड़े कारवानी रास्तों का महत्व कम हो गया।

मार्को के चले आने के थोड़े दिन बाद ही 'खान महान' कुबलाई की मृत्यु हो गई। युआन राजवंश, जिसका यह सस्थापक था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नहीं टिका। मंगोलो की ताकत तेजी के साथ घटने लगी और विदेशियो के खिलाफ़ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के अन्दर ही मंगोल दक्षिण-चीन से निकाल दिये गए और नानकिंग में एक चीनी सम्राट बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, सन् १३६८ ई० में, युआन राजवश बिलकुल खतम हो गया और मगोल लोग चीन की बडी दीवार के उस-पार खदेड़ दिये गए। अब एक दूसरा चीनी राजवंश—ताईमिंग राजवंश—रंगमंच पर आया। इस वंश ने ३०० वर्ष के लम्बे अर्से तक चीन मे राज किया। यह ज़माना सुशासन, समृद्धि और सस्कृति का ज़माना समझा जाता है। दूसरे देशों को जीतने की या साम्राज्य बढाने की इन लोगो ने कोई कोशिश नही की।

चीन में मंगोल साम्राज्य के टूट जाने का नतीजा यह हुआ कि चीन और योरप की आमद-रफ़्त भी बन्द हो गई। खुश्की के रास्ते अब सुरक्षित नही रह गये थे और समुद्र के रास्तो का अभी इतना ज्यादा इस्तेमाल शुरू नही हुआ था।

: ७० :

रोमन चर्च की सरज़ोरी

२८ जून, १९३२

मैंने तुम्हे बताया है कि कुबलाईखाँ ने पोप को संदेशा भेजा था और कहलवाया था कि वह चीन को सौ विद्वान आदमी भेज दे। लेकिन पोप ने इस पर कुछ नही किया। उस वक़्त वह बुरी हालत मे था। अगर तुम्हें याद हो तो यह सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु के बाद का वह ज़माना था, जब कि सन् १२५० से १२७३ ई० तक कोई सम्राट ही नहीं था। उस वक़्त मध्य-योरप की बडी खतरनाक हालत थी। चारो तरफ गडबड़ थी और डाकू सरदार हर जगह लूट-पाट करते फिरते थे। सन् १२७३ ई० में हैप्सबर्ग का रूडोल्फ सम्राट बना लेकिन इससे हालत कुछ सुधरी नही। इटली भी साम्राज्य से निकल गया।

यहाँ इस समय केवल राजनैतिक अशान्ति ही नही थी बल्कि रोमन चर्चके दृष्टिकोण से तथा-कथित धार्मिक अशान्ति की भी शुरूआत हो रही थी। लोग उतने फ़र्माबरदार नही रह गये थे और न चर्च के हुक्मो का ही उतना पालन करते थे। लोग संशय करने लग गये थे और मजहबी मामलों में संशय खतरनाक चीज होती है। हम देख चुके है कि सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय पोप के साथ लापरवाही का बर्ताव करता था और बहिष्कृत कर दिये जाने की कुछ परवाह नही करता था। उसने पोप के साथ पत्रो के जरिये बहस भी शुरू कर दी थी जिसमें पोप को नीचा देखना पड़ा था। फ्रेडरिक की तरह योरप में उस वक़्त बहुत से सशयी लोग रहे होगे। बहुत लोग ऐसे भी थे जो चाहे चर्च या पोप के दावों में शका या आपत्ति न भी करते हो लेकिन जो चर्च के बडे आदमियो के भ्रष्टाचार और विलासी जीवन से सख्त नाराज थे।

क्रूसेड की लडाइयाँ बड़ी जिल्लत और फजीहत के साथ खतम हो रही थी। इनकी शुरूआत बडी उम्मीदों और बड़े जोशके साथ हुई थी, लेकिन ये कुछ भी कामयाबी हासिल न कर सकी और ऐसी नाकामया-बियों की हमेशा प्रतिक्रिया होती है; चर्च का जो रूप बन गया था उससे पूरी तरह संतुष्ट न होने के कारण लोग कुछ अनिश्चितपन से और धीरे-धीरे प्रकाश की खोज में दूसरी तरफ़ नजर दौड़ाने लगे। चर्च ने बदले में ज़ोर-जबरदस्ती शुरू कर दी और आतकवाद के साधनो से आदमियो के दिमागो के ऊपर क़ब्जा क़ायम रखना चाहा। उसे यह खयाल नही रहा कि आदमी का दिमाग़ बहुत नटखट होता है और पाशविक बल इसके खिलाफ बहुत ही कमजोर हथियार है। उसने कोशिश यह की कि व्यक्तियों और समूहो की

अन्तरात्मा की बेक़रारियों का गला घोंट दे। उसने संशय का जवाब तर्क और युक्ति से देने के बजाय डंडे और सूली से देने की कोशिश की।

सन् ११५५ ई० में ही इटली के लोकप्रिय और लगने वाले धर्मोपदेशक ब्रेशिया के आर्नोल्ड पर चर्च का गुस्सा उतरा। आर्नोल्ड पादरियों की विलासिता और भ्रष्टता के खिलाफ़ प्रचार करता था। उसे पकड़कर फाँसी पर लटका दिया गया और उसकी लाश को जला कर राख टाइबर नदी में फिकवा दी गई कि कहीं लोग उसे विभूति की तरह न रख लें। मरते दम तक आर्नोल्ड दृढ़ और शान्त रहा।

पोप इतने आगे बढ़ गये कि उन्होंने ईसाइयत के उन पूरे के पूरे गिरोहों और सम्प्रदायों को ही बहिष्कृत घोषित कर दिया जो धार्मिक विश्वास की छोटी-सी बात में भी मतभेद रखते थे या जो पादरियों की बहुत ज्यादा आलोचना करते थे। इन लोगों के खिलाफ़ बाक़ायदा धर्म-युद्ध की घोषणा कर दी जाती थी और इन पर हर तरह की घृणित क्रूरता और भीषणता का प्रयोग किया जाता था। दक्षिण-फ्रांस के तूलूज़ के अल्बिगियों या अल्बिजेंनियों को और वाल्डो नामक व्यक्ति के अनुयायी वाल्डेनियों को इसी तरह सताया गया।

इसी समय, या इससे कुछ पहले, इटली में एक आदमी रहता था, जो ईसाइयत के सबसे ज्यादा दिलकश व्यक्तियों में गिना जाता है। यह असीसी का फ़ासिस था। यह बड़ा धनवान आदमी था लेकिन इसने अपनी दौलत को छोड़कर गरीबी का व्रत लिया और बीमारों और गरीबों की सेवा के लिए दुनिया में निकल पड़ा। चूँकि कोढ़ी सबसे ज्यादा दुखी और निराश्रय थे इसलिए उनकी सेवा करना उसने अपना खास उद्देश्य बना लिया। उसने एक संघ चलाया, जो संत फ्रांसिस का संघ कहलाता है, और जो कुछ-कुछ बौद्ध संघ की तरह का है। वह एक जगह से दूसरी जगह प्रचार करता हुआ और लोगों की सेवा करता हुआ फिरता था और हजरत ईसा की तरह अपनी जिन्दगी बिताने की कोशिश करता था। हज़ारों आदमी इसके पास आते थे और उनमें से बहुत-से इसके शिष्य हो गये। जब क्रूसेड चल रहे थे तब यह मिस्र और फिलस्तीन भी गया था। हालाँकि वह ईसाई था लेकिन मुसलमान भी इस नेक और हर-दिल-अज़ीज़ व्यक्ति की इज्जत करते थे और उन्होंने उसके काम में किसी तरह की दस्तंदाजी नहीं की। यह सन् ११८१ से १२२६ ई० तक जीवित रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसके संघ की चर्च के ऊँचे पदाधिकारियों से टक्कर हो गई। शायद चर्च को यह पसन्द नहीं था कि गरीबी की ज़िंदगी पर इतना ज़ोर दिया जाय। यह प्रारम्भिक ईसाई सिद्धान्त उन लोगों के लिए बहुत छोटा हो गया था। सन् १३१८ ई० में फ़्रांसिसी संघ के चार साधुओं को काफ़िर करार दिया जाकर मार्सेल में जिन्दा जला दिया गया।

कुछ साल हुए, असीसी के छोटे-से शहर में संत फ़्रांसिस की यादगार में एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ था। मुझे याद नहीं पड़ता कि यह जलसा उस साल क्यों मनाया गया। शायद यह उसकी मृत्यु की सातवीं शताब्दी थी।

फ़्रांसिस के संघ की तरह, लेकिन भावना में उससे बिलकुल भिन्न, एक दूसरा संघ चर्च के अन्दर पैदा हुआ। इसका संस्थापक स्पेन निवासी सेण्ट डोमिनिक था, और यह डोमिनिकन संघ, कहलाता है। यह संघ उग्र और कट्टर था। इनके लिए ईमान को कायम रखने के महान कर्त्तव्य के सामने दुनिया की तमाम बातें हेच थी। अगर कोई सीधी तरह समझाने से नहीं माने तो फिर बल-प्रयोग किया जाय।

सन् १२३३ ई० में 'इनक्विज़िशन' क़ायम करके चर्च ने बाकायदा और सरकारी तौर पर धर्म में हिंसा का राज्य स्थापित कर दिया। यह एक क़िस्म की अदालत होती थी जो लोगों के ईमान की कट्टरता की जाँच करती थी और अगर इसकी राय में वे जाँच में पूरे नहीं उतरते तो मामूली तौर पर उन्हें जिन्दा जला दिये जाने की सजा दी जाती थी। 'काफ़िरों' को बाक़ायदा ढूढ-ढूढ कर पकड़ा जाता था और उनमें से सैकड़ों को ज़िन्दा जला दिया गया। ज़िन्दा जलाने से भी बदतर बात यह थी कि लोगों को अपना मत छोड़नेपर मजबूर करने के लिए उन्हें यातनाएँ दी जाती थीं। बहुतेरी ग़रीब अभागी औरतों पर डाकन होने का अपराध लगाया जाता था और वे जला दी जाती थी। लेकिन अक्सर यह बात, खास कर इंग्लैण्ड और स्काटलैंड में, उत्तेजित भीड़ करती थी; 'इनक्विज़िशन' के हुक्म से ऐसा नहीं होता था।

पोप ने एक 'धर्माज्ञा'[1] निकाली जिसमें हरेक आदमी को मुखबिर का काम करने का हुक्म दिया गया ! पोप ने रसायन के खिलाफ़ फ़तवा दे दिया और इसे शैतानी हुनर क़रार दिया। और मज़ा यह कि ये तमाम हिंसा और अत्याचार सच्चे विश्वास के साथ किये जाते थे। इनका विश्वास था कि किसी आदमी को जिन्दा जला कर वे उसकी आत्मा को और दूसरों की आत्माओ को पापों से बचा रहे हैं ! धर्मधाकारियों ने अक्सर अपनी बात दूसरो से जबर्दस्ती मनवाने की कोशिश की है, अपने विचार जबरदस्ती दूसरो के गले में उतारे है और समझते रहे हैं कि वे जनता की सेवा कर रहे है। ईश्वर के नाम पर इन्होने लोगो को मारा है और हत्याएं की हैं। और 'अमर आत्मा' को बचाने की बात करते हुए इन्होंने नाशवान शरीर को जला कर भस्म कर देने में संकोच नही किया है। मजहब का लेखा बड़ा खराब रहा है, पर निर्मम क्रूरता में 'इनक्विजिशन' को मात करनेवाली कोई चीज दुनिया में मेरे खयाल मे नहीं हुई। और फिर भी यह अचम्भे की बात है कि ऐसी हरकतों के लिए जिम्मेदार लोगो में से बहुतो ने यह काम अपने जाती फायदे के लिए नहीं बल्कि इस दृढ विश्वास से किया कि वे सही चीज़ कर रहे है।

जब पोप लोग योरप के ऊपर आतक का यह राज बरपा कर रहे थे तब उधर उनका वह प्रभुत्व कम होता जा रहा था जो उन्होने बादशाहो और सम्राटों के सरताज बन कर उनपर जमा रक्खा था। वे दिन लद गये थे जब वे किसी सम्राट को बहिष्कृत कर और धमकी देकर उसके घुटने टिकवा देते थे। जब पवित्र रोमन साम्राज्य की हालत खराब हो रही थी और कोई सम्राट नही था या सम्राट रोम से दूर रहता था, तब फ़ास का बादशाह पोपो के कामो में दखल देने लगा। सन् १३०३ ई० में पोप की किसी बात से बादशाह नाराज हो गया। उसने पोप के पास एक आदमी भेजा जिसने पोप के महल में ज़बरदस्ती घुसकर उसके सोने के कमरे में जाकर उसके मुंह पर उसका अपमान किया। पोप के साथ इस अपमान जनक व्यवहार को किसी देश ने नापसन्द नही किया। भला कनौजा में पोप से मिलने के लिए सम्राट के घंटों नगे पैर बर्फ मे खडे रहने की घटना की इससे तुलना तो करो !

कुछ साल बाद, सन् १३०९ ई० में, एक नया पोप जो फ़ासीसी था, फ़ासके आविन्यों नगर मे रहने लगा। पोप लोग यहाँ सन् १३७७ ई० तक, फ़ासीसी बादशाहो के प्रभाव में, रहते रहे। एक साल बाद सन् १३७८ ई० मे, पोप का चुनाव करनेवाले बड़े पादरियो के सघ में फूट पड़ गई। इसे 'महान् मतभेद' कहते है। दो दलो ने अपना-अपना पोप अलग चुन लिया। एक पोप तो रोम में रहने लगा और सम्राट और उत्तर-योरप के ज्यादातर देशो ने उसे मान लिया। दूसरा, जो विरोधी-पोप कहलाने लगा, आविन्यो में रहता था। और फ्रास का बादशाह तथा उसके कुछ मित्र बादशाह उसका समर्थन करते थे। चालीस वर्ष तक यह हालत रही और पोप तथा विरोधी-पोप एक दूसरे को कोसते और बहिष्कृत करते रहे। सन् १४१७ ई० मे समझौता हो गया और दोनों दलो ने मिलकर एक नया पोप चुना जो रोम में रहता था। लेकिन दोनों पोपो के बीच के इस भद्दे झगड़े का असर योरप के लोगो पर बहुत ज्यादा पड़ा होगा। जब पादरी लोग और इस संसार में अपने-आपको ईश्वर का प्रतिनिधि कहने वाले लोग, इस तरह की हरकतें करें तो लोग उनकी पवित्रता और नेक-नीयती में सदेह करने लगते है। इस तरह इस झगड़े ने लोगो को धार्मिक अधिकारियो की अधी फ़र्माबरदारी से बाहर निकाल फेंकने में बड़ी मदद दी। लेकिन अभी उनको इससे भी जोरदार झटके की जरूरत थी।

जिन लोगों ने ज्यादा खुले तौर पर चर्च की आलोचना करना शुरू किया उनमे वाइक्लिफ़ नामक एक अंग्रेज भी था। वह पादरी था और ऑक्सफर्ड में प्रोफ़ेसर था। यह इजील का अंग्रेजी में सबसे पहले तर्जुमा करने वाला मशहूर है। अपनी जिन्दगी में तो वह रोम के कोप से किसी तरह बच गया। लेकिन सन् १४१५ ई० में, मरने के ३१ वर्ष बाद, चर्च कौंसिल ने हुक्म दिया कि उसकी हड्डियां खोदकर जला दी जायँ ! और ऐसा ही किया गया।

हाला कि वाइक्लिफ़ की हड्डियों की बेहुरमती करके उन्हें जला दिया गया, मगर उसके विचारों को आसानी से नही दबाया जा सका और वे फैलने लगे। यहाँ तक कि वे बोहेमिया तक, जो अब चेकोस्लोवाकिया कहलाता है, पहुँच गये और उनका असर जॉन हॅस पर हुआ, जो बाद में प्रेग विश्व-विद्यालय का कुलपति हुआ।

---

[1]Edict of Faith.

पोप ने इसे इसके विचारों की वजह से बहिष्कृत कर दिया लेकिन उसके शहर में वे उसका कुछ नही बिगाड़ सके क्योंकि वह बहुत लोकप्रिय था। इसलिए उस पर एक चाल चली गई। सम्राट ने हिफ़ाजत के साथ पहुँचा देने का वादा करके उसे स्वीजरलैंड के कॉन्स्टैन्स नगर मे बुलवाया जहाँ चर्च कौन्सिल की बैठक हो रही थी। वह वहाँ गया। उससे कहा गया कि अपनी गलती कबूल कर ले लेकिन उसने कह दिया कि जबतक उसे क़ायल न कर दिया जाय तब तक वह ऐसा नही कर सकता। इसपर हिफ़ाजत के वादे के बावजूद उन्होंने उसे जिन्दा जला दिया। यह सन् १४१५ ई० की बात है। हुँस बड़ा बहादुर आदमी था और जिसे वह झूठ समझता था उसे मान लेने की बनिस्बत उसने यातनापूर्ण मृत्यु को बेहतर समझा। वह अन्तरात्मा की स्वतत्रता और भाषण की स्वतत्रता की वेदी पर शहीद हो गया। चेक लोग इसे अपना एक गाजीमर्द मानते है और चेकोस्लोवाकिया में इसकी यादगार आज तक मनाई जाती है।

जॉन हुँस की शहादत बेकार नही गई। इस चिनगारी ने बोहेमिया में उसके अनुयायियो मे विद्रोह की आग जला दी। पोप ने इन लोगो के खिलाफ़ क्रूसेड की घोषणा कर दी। क्रूसेड सस्ती चीज थी; उसमें कुछ खर्च नही होता था और ऐसे बदमाशो और मौक़ापरस्तों की कमी नही थी जो उनसे फ़ायदा उठाते थे। इन जिहादियो ने, जैसा कि एच० जी० वेल्स ने लिखा है, "बेगुनाह लोगो पर घोर बीभत्स अत्याचार किये।" लेकिन जब हुँस के अनुयायियो की फौज अपना कडखा गाती हुई सामने आई, तो ये जिहादी रफू चक्कर हो गये। जिस रास्ते से ये आये थे उसी रास्ते तेजी से वापस चले गये। जब तक बेगुनाह देहातियो को मारना और लूटना सम्भव था, इन जिहादियो ने खूब सैनिक जोश दिखाया, लेकिन सगठित सेना के आते ही वे भाग खड़े हुए।

इस तरह स्वेच्छाचारी और अपने खास विचारो को ही सही माननेवाले धर्म के खिलाफ बलवो और विद्रोहो का सिलसिला शुरू हुआ, जो आगे चलकर सारे योरप में फैले और जिन्होने उसे दो विरोधी दलो में बाँट दिया और जिन्होने आगे चल कर ईसाइयत के कैथलिक और प्रोटेस्टैन्ट नामक दो भाग कर दिये।

: ७१ :

एक-सत्तावाद के खिलाफ़ लड़ाई

३० जून, १९३२

मुझे डर है कि योरप के मजहबी सघर्ष के वर्णन तुम्हें बहुत नीरस मालूम हुए होगे। लेकिन ये बयान महत्वपूर्ण हैं क्योकि इनसे पता चलता है कि आज के योरप का विकास कैसे हुआ। वे हमे योरप को समझने में भी मदद देते हैं। मजहबी आजादी के लिए जो लडाई हम योरप में चौदहवी सदी में और उसके बाद बढ़ती हुई देखते है और राजनैतिक आजादी की लडाई, जो आगे आनेवाली थी, दरअसल एक ही सघर्ष के दो पहलू हैं। इसे सत्ता या सत्तावाद के खिलाफ संघर्ष कहना चाहिए। पवित्र रोमन साम्राज्य और पोपडम दोनो निरंकुश सत्ता के प्रतीक थे और मनुष्य की आत्मा को कुचलने की कोशिश करते थे। सम्राट का तो 'दैवी अधिकार' था और पोप का उससे भी अधिक था, और इसके बारे में शका करने या ऊपर से भेजी गई आज्ञाओ को न मानने का किसी को मजाज नही था। फरमाबरदारी ही बड़ा सद्गुण समझा जाता था। निजी विवेक का इस्तेमाल तक भी पाप माना जाता था। इस तरह अधी फ़रमाबरदारी और आजादी के बीच झगडे की जड़ बिल्कुल स्पष्ट हो गई थी। धार्मिक विश्वास की आजादी के लिए और, इसके बाद, राजनैतिक आजादी के लिए, योरप में कई सदियो तक जबर्दस्त लडाई लड़ी गई। बहुतसे उतार-चढ़ाव और बड़ी तकलीफें उठाने के बाद कुछ हद तक कामयाबी हासिल हुई। लेकिन ठीक उस वक़्त, जब लोग आजादी की मजिल पर पहुँच जाने की खुशियां मना रहे थे, उन्हें यह पता चला कि यह उनकी भूल थी। आर्थिक आजादी के बिना और जब तक ग़रीबी न मिटे, तब तक असली आजादी हो ही नही सकती। भूखे आदमी से कहना कि तुम आजाद हो, सिर्फ़ उसका उपहास करना है। इसलिए दूसरा क़दम आर्थिक आजादी की लड़ाई था और यह लडाई आज सारी दुनिया में लड़ी जा रही है। सिर्फ एक देश के बारे में यह कहा जा सकता है कि वहाँ आम तौर पर जनता ने आर्थिक आजादी हासिल कर ली है, और वह देश रूस है, या यों कहो कि सोवियट यूनियन है।

भारत में धार्मिक विश्वास की आजादी के लिए ऐसी कोई लड़ाई नहीं हुई क्योंकि मालूम होता है यहां शुरू से ही इस अधिकार पर कभी कोई पाबन्दी नहीं रही। लोगों को आज़ादी थी कि जो बात उन्हें पसन्द हो उसे मानें और किसी को मजबूर नहीं किया जाता था। लोगों के दिमागों पर असर डालने का तरीक़ा तर्क और शास्त्रार्थ था, डंडा और सूली नहीं। मुमकिन है कभी-कभी जब्र और हिंसा का भी उपयोग किया गया हो, लेकिन पुराने आर्य-मत में धार्मिक विश्वास का अधिकार स्वीकार किया जाता था। यह बात शायद अजीब मालूम होगी कि इसका परिणाम कोई बहुत अच्छा नहीं हुआ। इस तरह की उसूली आज़ादी के इतमीनान में लोग उसके बारे में काफी जागरूक नहीं रहे और धीरे-धीरे वे एक अवनति-प्राप्त धर्म के आचारों, आडम्बरों और अंध-विश्वासों में उलझते चले गये। उन्होंने एक धार्मिक विचारधारा बनाली जो उन्हें बहुत पीछे घसीट ले गयी और जिसने उन्हें धार्मिक सत्ता का गुलाम बना दिया। यह सत्ता किसी पोप की या किसी व्यक्ति की नहीं थी; बल्कि यह सत्ता धर्मशास्त्रों, रीतियों और परम्पराओं की थी। इस तरह जहाँ हम धार्मिक विश्वास की आजादी की दुहाई देते थे और उस पर नाज़ करते थे, वहां असल में हम इस आज़ादी से बहुत दूर थे और उन विचारों से जकड़े हुए थे जो पुराने ग्रन्थों ने और हमारी रीतियों ने हमारे दिलों में जमा रक्खे थे। सत्ता और सत्तावाद हम पर राज करता था और हमारे दिमागों का संचालन करता था। वे जंजीरें, जो कभी-कभी हमारे शरीरों को बांध देती हैं, काफ़ी बुरी होती है; लेकिन विचारों और संस्कारों की अदृश्य जंजीरें, जो हमारे दिमागों को जकड़ लेती हैं, उनसे कहीं ज्यादा बुरी होती है। ये जंजीरें खुद हमारी ही बनाई होती हैं, और हालांकि अक्सर हम उन्हें महसूस नहीं करते, लेकिन वे हमें अपने भयंकर शिकंजे में पकड़े रहती है।

भारत में मुसलमानों के हमलावर की हैसियत से आने के बाद मज़हबी मामलों में जोर-जबर्दस्ती का कुछ अंश दाखिल हो गया। असल में तो विजेताओं और विजितों के बीच लड़ाई एक राजनैतिक लड़ाई थी, लेकिन इसमें मज़हबी तत्व का रंग आ गया था और कभी-कभी धर्म के नाम पर ज़ुल्म भी हुए। लेकिन यह ख़याल करना भूल होगी कि इस्लाम ऐसे ज़ुल्मों का कायल था। सन् १६१० ई० में, जब बाकी बचे अरब लोग स्पेन से निकाल दिये गये थे, तब उनके साथ निकाले गये एक स्पेनी मुसलमान के दिये हुए भाषण का दिलचस्प वर्णन मिलता है। उसने इनक्विज़िशन का विरोध किया था और कहा था—

"क्या हमारे विजयी पुरखों ने कभी एक दफा भी ईसाइयत को स्पेन से नेस्तनाबूद करने की कोशिश की, जबकि वे आसानी से ऐसा कर सकते थे? क्या उन्होंने तुम्हारे बाप-दादों को यह छूट नहीं दी थी कि बंधन में रहते हुए भी वे अपनी धार्मिक रीतियों का आज़ादी से पालन करें?...अगर जबर्दस्ती तबलीग की कुछ घटनायें हो भी तो वे इतनी कम हैं कि बयान के काबिल नहीं हैं। ऐसा करने वाले सिर्फ वे ही होंगे जिनकी आंखोंमें खुदा और रसूल का डर नहीं था और जिन्होंने ऐसा करके इस्लाम के उन पाक उसूलों और शरीयत की बिल्कुल सीधी खिलाफ़वर्ज़ी की है जिन्हें कलमा शरीफ के योग्य अपने को समझने वाला कोई भी शख्स बिना तौहीन किये तोड़ नहीं सकता। मुसलमानों में तुम ईमान के मामले में मुख्तलिफ़ अकीदों के बाइस एक भी ऐसी खून की प्यासी बाक़ायदा अदालत नहीं बतला सकते जो तुम्हारी मलाऊन इनक्विज़िशन के सामने ठहर सके। यह सही है कि जो लोग हमारा मज़हब कबूल करना चाहते है, हम उनको गले लगाने के लिए हमेशा तैयार हैं; लेकिन कुरान मजीद में इस बात की इजाज़त नहीं है कि किसी के ज़मीर पर ज़ुल्म किया जाय।"

इस तरह, धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता, जो पुराने भारतीय जीवन के खास पहलू थे, किसी हद तक हममें से निकल गये। उधर योरप हमारे बराबर पहुँच गया; बल्कि लम्बी कशमकश के बाद इन्हीं सिद्धान्तों को कायम करने में वह हमसे आगे बढ़ गया। आज कभी-कभी भारत में मज़हबी झगड़े होते है; हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं और एक दूसरे को मारते है। यह सच है कि ऐसा कभी-कभी और कहीं-कहीं ही होता है, और हम लोग बहुत करके दोस्ती और शान्ति के साथ रहते हैं, क्योंकि हमारे असली हित एक ही हैं। किसी हिन्दू या मुसलमान का, मज़हब के नाम पर, अपने भाई से लड़ना शर्म की बात है। हमें इसे खतम कर देना चाहिए और हम ऐसा ज़रूर करेंगे। लेकिन महत्व की बात तो यह है कि हमें रीति, परम्परा और अंध-विश्वास की उस जटिल विचारधारा से बाहर निकलना है जिसने मज़हब के भेष में हमें जंजीरों से बांध रक्खा है।

धार्मिक सहिष्णुता की तरह राजनैतिक आजादी के मामले में भी भारत ने पहले काफ़ी अच्छी शुरुआत की थी। तुम्हें गाँवों के प्रजातंत्रों की याद होगी और यह भी याद होगा कि पहले-पहल राजा के अधिकार किस तरह सीमित माने जाते थे। योरप की तरह यहां यह नही माना जाता था कि राजा का कोई 'दैवी अधिकार' है। चूंकि हमारी सारी शासन व्यवस्था का आधार गांवो की स्वतत्रता थी, इसलिए लोग इस बात से बेपरवाह थे कि राजा कौन है। अगर उनकी स्थानीय आजादी उनके लिए सुरक्षित रहती थी तो उनको इससे क्या वास्ता था कि ऊपर कौन हाकिम है? लेकिन यह खयाल खतरनाक और बेवक़ूफ़ी का था। धीरे-धीरे ऊपर के हाकिम ने अपने अधिकार बढा लिये और गांव की आजादी पर बेजा दखल जमाया। फिर एक ज़माना आया कि इस देश में बिलकुल स्वेच्छाचारी और एकतत्री राजा होने लगे; गाँवो का स्वराज्य मिट गया और ऊपर से नीचे तक कही भी आजादी का नामो-निशान नही रहा।

: ७२ :

मध्य युग का अंत

१ जुलाई, १९३२

आओ, अब तेरहवी से पन्द्रहवी सदी तक के योरप पर फिर एक नजर डाल ले। यहाँ जबर-दस्त अशांति, हिंसा और लडाई-झगडा दिखाई देगा। भारत की हालत भी काफी खराब थी लेकिन अगर खयाल किया जाय तो योरप के मुकाबिले मे यहा शान्ति थी।

मगोल लोग योरप मे बारूद लाये और अब तोप बन्दूको का इस्तेमाल होने लगा था। बाद-शाहों ने इससे फायदा उठाकर अपने बागी सामन्ती अमीरो को कुचलना शुरू किया। इस काम मे उन्हे शहरो के नये व्यापारी वर्ग की भी मदद मिली। अमीरो की यह आदत थी कि वे खुद आपस मे ही छोटी-छोटी खानगी लड़ाइया लडा करते थे। इसकी वजह से वे कमजोर पड गये। लेकिन इससे गाव वालो को भी परेशानी रहती थी। जब बादशाहों की ताकत बढी तो उन्होंने इस आपसी लडाई को दबा दिया। कुछ जगहों पर गद्दी के दो विरोधी दावेदारो के बीच गृह-युद्ध हुए। जैसे इग्लैड मे दो खान-दानों मे झगड़ा हुआ—एक तरफ यार्क का खानदान, और दूसरी तरफ लेन्केस्टर का खानदान। इन दोनो दलो ने गुलाब को अपना निशान बनाया, एक ने सफेद गुलाब को और दूसरे ने लाल गुलाब को। इन लड़ाइयो को इसीलिए 'गुलाबो की लडाइयाँ'[1] कहा जाता है। इन गृह-युद्धो मे बहुत तादाद मे सामन्ती अमीर मारे गये। क्रूसेडो में भी बहुत-से काम आये थे। इस तरह धीरे-धीरे ये सामन्ती सरदार कब्जे मे आगये। लेकिन इसका मतलब यह न समझना चाहिए कि अधिकार अमीरो के हाथ से निकलकर जनता के हाथ में पहुँच गये। असल में ताकत बादशाह की बढी, आम लोग तो जैसे के तैसे ही रहे, सिवा इसके कि खानगी लड़ाइयों के कम हो जाने से इनकी हालत कुछ बेहतर जरूर हो गई। पर बादशाह और भी ज्यादा सत्ताधीश और स्वेच्छाचारी एकाधिपति बनता गया। बादशाह और नये व्यापारी वर्ग का संघर्ष अभी शुरू नही हुआ था।

युद्ध और कत्ले-आम से भी ज्यादा भयकर वह 'बडी प्लेग' थी जो योरप मे सन् १३४८ ई० के क़रीब फैली। यह महामारी सारे योरप में, रूस और ऐशिया कोचक से लेकर इग्लेंड तक फैल गई। फिर यह मिस्र, उत्तर-अफ्रीका और मध्य-एशिया में पहुची और वहाँ से पश्चिम की तरफ़ फैली। इसको 'काली मौत' कहते थे और यह लाखो को खा गई। इंग्लैंड की एक तिहाई आबादी खतम हो गई और चीन तथा दूसरे देशों की मृत्यु सख्या का तो कुछ ठिकाना ही नही था। ताज्जुब की बात है कि यह भारत में नही आई।

---

[1] The wars of the Roses.

इस भयानक आफ़त की वजह से आबादी बहुत घट गई और बहुत जगह तो जमीन जोतने के लिए काफी आदमी ही नही रहे। आदमियों की कमी की वजह से मजदूरो की मजूरी की दरें बढ़ने लगी। लेकिन पार्लमेण्टें जमींदारो और जायदाद के मालिकों के हाथ में थी। इन लोगो ने ऐसे क़ानून बनाये कि लोग पुरानी तुच्छ मजूरी पर काम करने और ज्यादा न माँगने के लिए मजबूर किये जा सकें। जब किसान और ग़रीब बरदाश्त की हद से बाहर कुचले और निचाड़े गये तब उन्होने विद्रोह कर दिया। सारे पश्चिमी योरप में किसानों के ये बलवे एक के बाद एक करके होते रहे। फ़ास में सन् १३५८ ई० मे किसानो का एक बलवा हुआ जो 'ज्हाकरी' के नाम से मशहूर है। इंग्लैंड में वैट टाइलर का बलवा हुआ जिसमें टाइलर, सन् १३८१ ई० मे, अंग्रेज बादशाह के सामने, मार दिया गया। ये बलवे अक्सर बडी बेरहमी के साथ दबा दिये गये। लेकिन समानता के नये विचार धीरे-धीरे फैल रहे थे। लोगो के दिलों में सवाल पैदा होने लगे कि जब दूसरो के पास धन है और हर चीज की इफरात है तो वे ही ग़रीब क्यों रहें और भूखे क्यों मरें? क्या वजह है कि कुछ लोग तो सरदार कहलाये और दूसरे गुलाम असामी रहें? कुछ के पास नफ़ीस कपड़े क्यो हों जब कि दूसरो के पास तन ढकने के लिए चिथड़े तक भी नही हैं? सत्ता के आगे सर झुकाने का पुराना खयाल, जिस पर सारी सामन्त-प्रथा की बुनियाद थी, ढह रहा था। इसलिए किसान लोग बार-बार सर उठाते थे। लेकिन वे कमजोर और असंगठित थे, इसलिए दबा दिये जाते थे। पर कुछ समय बाद वे फिर उठ खड़े होते थे।

इँग्लेण्ड और फ़ास के बीच क़रीब-क़रीब लगातार लडाई चलती रही। चौदहवी सदी के शुरू से पन्द्रहवीं सदी के मध्य तक, इन दोनो में युद्ध होता रहा जो 'सौ वर्ष का युद्ध' कहलाता है। फ़ास के पूर्व में बरगंडी था। यह एक शक्तिशाली रियासत थी और नाम-मात्र के लिए फ़ास के राजा की ताबेदार थी। लेकिन यह सरकश और झगडालू रियासत थी और अंग्रेजो ने, फ़ास के खिलाफ, इससे और दूसरी शक्तियों से साज़िश-सी कर ली थी। थोड़े दिनो के लिए फ़ास चारो ओर से घिर गया था। पश्चिमी फ़ास का काफी बडा हिस्सा बहुत दिनो तक अंग्रेजो के कब्जे मे रहा और इँग्लैंड का बादशाह अपने को फ़ास का बादशाह भी कहने लग गया था। जिस समय फ़ास की किस्मत का सितारा बहुत नीचे गिर गया था और उसके लिए कोई उम्मीद नही दिखाई देती थी। तब आशा और विजय एक नौजवान किसान लडकी के रूप में प्रगट हुई। तुम 'ओर्लियन्स की कुमारी' जीन द आर्क या जोन ऑफ आर्क के बारे मे तो थोडा-बहुत जानती ही हो। उसे तुमने अपनी आदर्श वीर महिला मान रक्खा है। उसने अपने पस्त-हिम्मत देशवासियो के दिल में विश्वास पैदा किया और उन्हे महान उद्योग करने की प्रेरणा दी और उसके नेतृत्व मे फ़ासीसियो ने अंग्रेजो को अपने देश से निकाल भगाया। लेकिन इसका इनाम उसे यह मिला कि 'इनक्विज़िशन' के सामने उस पर मुकदमा चला और उसे ज़िन्दा जला दी जाने की सज़ा दी गई। अंग्रेजो ने उसे पकड लिया और चर्च से उसके खिलाफ फतवा निकलवाया और फिर सन् १४३० ई० में रूआ नगर के चौराहे पर उसे जिन्दा जला दिया गया। बहुत वर्षों के बाद रोमन चर्च ने अपने फतवे को बदल कर पहले अपकार को मिटाने की कोशिश की, और बाद में तो फिर उसे 'संत' का दर्जा दे दिया गया!

जीन ने फ़ास को और अपनी पितृभूमि को विदेशियो से बचाने की आवाज़ उठाई। यह आवाज़ नये ढग की थी। उस वक्त लोगो में सामन्ती भावना इतनी भरी हुई थी कि वे राष्ट्रीयता का विचार ही नही कर सकते थे। इसलिए जीन जिस ढग से बात करती थी उससे उन्हें ताज्जुब होता था और उसकी बातें कोई समझता ही नही था। लेकिन जीन द आर्क के जमाने से फ़ांस में राष्ट्रीयता की हलकी-सी शुरूआत दिखाई देती है।

अंग्रेजो को अपने मुल्क से निकालने के बाद फ़ास के बादशाह ने बरगंडी की तरफ ध्यान दिया, जिसने उसे इतना परेशान कर रक्खा था। यह शक्तिशाली रियासत आखिरकार काबू में आगई, और सन् १४८३ ई० मे बरगडी फ़ासका इलाका बन गया। फ़ांस का बादशाह अब एक शक्तिशाली छत्रपति बन गया। उसने अपने सारे सामन्ती अमीरो को या तो कुचल दिया या काबू मे कर लिया। बरगंडी के फ़ास में मिल जाने से जर्मनी और फ़ास आमने-सामने आगये; इनकी सरहदें एक-दूसरी को छूने लगीं। लेकिन जहाँ फ़ास में एक मज़बूत केन्द्रीय बादशाहत थी, वहाँ जर्मनी कमजोर था और बहुत-सी रियासतो मे बँटा हुआ था।

इंग्लैंड भी स्काटलैंड को जीतने की कोशिश कर रहा था। यह भी एक लम्बा संघर्ष रहा है जिसमें

स्काटलैंड अक्सर इंग्लैंड के खिलाफ़ फ्रांस का पक्ष लेता रहा। सन् १३१४ ई० में स्काटलैंड वालों ने राबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में, बैनकबर्न की लडाई में अंग्रेजों को हरा दिया।

इससे भी पहले, बारहवीं सदी में, अंग्रेजों ने आयरलैंड को जीतने की कोशिशें शुरू की। इस बात को सात सौ वर्ष हो गये; तबसे अबतक आयरलैंड में कितनी ही लड़ाइयाँ हुई, कितने ही बलवे हुए और कितना आतंक और तहलका मचा। इस छोटे-से देश ने विदेशी प्रभुत्व को मानने से बराबर इन्कार किया और पीढ़ी दर पीढ़ी विद्रोह करके दुनिया के सामने ऐलान कर दिया कि वह सर नही झुकावेगा।

तेरहवी सदी में योरप के एक और छोटे-से राष्ट्र स्वीज़रलैंड ने अपनी आज़ादी के हक का दावा किया। यह पवित्र रोमन साम्राज्य का हिस्सा था और इस पर आस्ट्रिया का शासन था। तुमने विलियम टेल और उसके लड़के का किस्सा पढ़ा होगा, लेकिन यह किस्सा शायद सही नहीं है। पर इससे भी ज्यादा अजीब चीज़ है महान साम्राज्य के खिलाफ स्वीज़रलैंड के किसानो का विद्रोह और उनका उसके सामने सर झुकाने से इन्कार। पहले तीन ज़िलो ने बलवा किया और सन् १२९१ ई० में एक 'अमर संघ' कायम किया। दूसरे ज़िले भी उनमें शामिल हो गये और सन् १४९९ ई० में स्वीज़रलैंड स्वतंत्र प्रजातंत्र हो गया। यह अनेक ज़िलो का एक संघ था और इसे 'स्विस कॉन्फेडेरेशन' नाम दिया गया। तुम्हें याद होगा कि अगस्त की पहली तारीख को स्वीज़रलैंड में हम लोगो ने कई एक पहाड़ों की चोटियो पर होलियां जलती हुई देखी थीं। यह स्विस लोगों का राष्ट्रीय दिन था; यह उनकी क्रान्ति के उस जन्म-दिन की सालगिरह थी जिस दिन अलाव जला कर इशारा किया गया था कि आस्ट्रिया के शासक के खिलाफ बगावत की घडी आ गई है।

योरप के पूर्व में कुस्तुन्तुनिया म क्या हो रहा था? तुम्हे याद होगा कि लातीनी जिहादियो ने सन् १२०४ ई० में यूनानियो से यह शहर छीन लिया था। सन् १२६१ ई० मे यूनानियो ने इन लोगो को निकाल दिया और पूर्वी साम्राज्य फिर से कायम कर लिया। लेकिन एक दूसरा और ज्यादा बडा खतरा सामने आ रहा था।

जब मंगोल एशिया मे होते हुए आगे बढे थे तब पचास हज़ार उस्मानी तुर्क उनसे जान बचाकर भाग निकले थे। ये सेलजूक तुर्क नही थे। ये अपने को उस्मान नाम के पूर्वज का वंशज कहते थे, इसलिए उस्मानी तुर्क कहलाते थे। इन उस्मानियों ने पश्चिमी एशिया में सेलजूकों की शरण ली। जान पडता है कि ज्यो-ज्यो सेलजूक तुर्क कमज़ोर पड़ते गये, उस्मानियो की ताकत बढती गई। वे फैलते भी चले गये। कुस्तुन्तुनिया पर हमला करने के बजाय, जैसा कि उनके पहले बहुतो ने किया था, वे उसे रास्ते में छोड गये और सन् १३५३ ई० मे एशिया को पार कर योरप जा पहुचे। वहाँ वे तेज़ी से फैल गये। उन्होने बलगारिया और सर्बिया पर कब्ज़ा कर लिया और एड्रियानोपल को अपनी राजधानी बनाया। इस तरह से उस्मानी साम्राज्य कुस्तुन्तुनिया के दोनो तरफ, एशिया और योरप मे फैल गया। इसने कुस्तुन्तुनिया को चारो तरफ से घेर लिया मगर कुस्तुन्तुनिया शहर इसके बाहर ही रहा। हज़ार वर्ष पुराना अभिमानी पूर्वी रोमन साम्राज्य घटते-घटते बस अब इस शहर तक ही रह गया था। इससे ज्यादा कुछ नहीं। हालांकि तुर्क लोग पूर्वी साम्राज्य को तेज़ी के साथ हड़प करते जा रहे थे, फिर भी मालूम होता है सुलतानो और सम्राटो मे मित्रता बनी हुई थी और इन दोनो के खानदानो में आपसी शादी-विवाह भी होते रहते थे। आखिरकार सन् १४५३ ई० मे कुस्तुन्तुनिया पर भी तुर्कों का कब्ज़ा हो गया। अब हम सिर्फ उस्मानी तुर्कों का ज़िक्र करेंगे। सेलजूको का नाम अब बाकी नही रहा था।

हालांकि कुस्तुन्तुनिया के पतन की आशंका बहुत दिनो से की जारही थी, फिर भी यह ऐसी घटना थी जिसने योरप को हिला दिया, क्योंकि इसका मतलब यह था कि हज़ार वर्ष पुराना यूनानी पूर्वी साम्राज्य पूरी तरह समाप्त हो गया। इसका नतीजा यह भी था कि योरप पर मुसलमानो का दूसरा हमला हो। तुर्क लोग फैलते चले गये और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था कि वे सारे योरप को जीत लेंगे, लेकिन वे वियेना के दरवाज़ो पर रोक दिये गये।

सेण्ट सोफिया का बडा गिरजा, जिसे छठी सदी में सम्राट जस्टीनियन ने बनवाया था, बदल कर मसजिद कर दिया गया और उसका नाम आया सूफिया रख दिया गया। उसका खज़ाना भी कुछ लूटा गया। इसकी वजह से योरप मे कुछ उत्तेजना भी फैली लेकिन वह कुछ कर-धर नही सकता था। मगर सच तो यह है कि तुर्की सुल्तान कट्टर यूनानी चर्च के प्रति बहुत सहिष्णु रहे, यहाँ तक कि कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा करने के बाद सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने अपने को यूनानी चर्च का संरक्षक ही घोषित कर दिया। बाद के

एक सुल्तान ने, जो 'शानदार सुलेमान' के नाम से मशहूर है, अपने को पूर्वी सम्राटों का नुमाइन्दा मानकर 'सीजर' का खिताब इख्तियार कर लिया। पुरानी परम्परा की यह ताक़त होती है !

जान पड़ता है कि उस्मानी तुर्कों का कुस्तुन्तुनिया के यूनानियों ने कोई ज्यादा विरोध नहीं किया। उन्होंने देख लिया था कि पुराना साम्राज्य ढह रहा है। उन्होंने पोप से और पश्चिमी ईसाइयो से तुर्कों को बेहतर समझा। लातीनी जिहादियो का उन्हे बुरा तजुर्बा हो चुका था। कहते है कि सन् १४५३ ई० के कुस्तुन्तुनिया के आखिरी घेरे में, एक बिजेण्टाइन अमीर ने कहा था, "पोप के ताज से रसूल की पगड़ी अच्छी है"।

तुर्कों ने जाँनिसार नाम की एक विचित्र फ़ौज बनाई। वे छोटे-छोटे ईसाई लडको को, ईसाइयो से खिराज के रूप में ले लेते थे और उनको खास तालीम देते थे। छोटे-छोटे बच्चो को उनके माँ-बापो से अलहदा कर देना बेरहमी थी। लेकिन इन लडकों को इससे कुछ फायदा भी होता था, क्योकि उन्हे अच्छी तालीम दी जाती थी और वे एक तरह के सैनिक रईस बन जाते थे। जाँनिसारियों की यह फ़ौज उस्मानी सुल्तानो की ताकत का एक आधार बन गया। 'जाँनिसार' का मतलब है 'जान को निछावर करने वाला'।

इसी तरह, मिस्र में भी जाँनिसारियो के ढग की एक ममलूकों की फ़ौज बनाई गई। बाद में यह बहुत ताकतवर होगई और इसमे से कई लोग मिस्र के सुल्तान भी हुए।

मालूम होता है कि उस्मानी सुल्तानों ने कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा करने के बाद अपने से पहले के अधिकारियों की, यानी बिजेण्टाइन सम्राटो की, विलासिता और दुराचार की बहुत-सी बुरी आदतें भी ले ली। बिजेण्टाइन लोगो की भारी गिरी हुई साम्राज्य-प्रणाली ने इनको सब तरफ ढक लिया और धीरे-धीरे उनकी सारी ताकत निचोड ली। लेकिन कुछ दिनो तक ये ताकतवर बने रहे और ईसाई योरप उनसे डरता रहा। उन्होने मिस्र जीत लिया और अब्बासियो के कमजोर और शक्तिहीन नुमाइदे से उसका खलीफा का खिताब छीन लिया। उस वक्त से उस्मानी सुल्तान अपने को खलीफा भी कहते रहे, लेकिन कुछ वर्ष हुए मुस्तफा कमाल पाशा ने खिलाफ़त और सुल्तानियत दोनो को मिटा कर इस खिताब का अन्त कर दिया।

कुस्तुन्तुनिया के पतन की तारीख इतिहास की एक बड़ी तारीख है। इस दिन से एक युग का खातमा और दूसरे की शुरुआत मानी जाती है। मध्य युग खतम हो जाता है, 'अधकार युग' के हजार वर्ष समाप्त होते है, योरप में तेजी पैदा होती है और नई जिन्दगी और चेतना नजर आती है। इसे पुनर्जागरण,[1] यानी विद्या और कला के पुनर्जन्म की शुरुआत कहते है। जनता मानो लम्बी नीद से जागती है। लोग सदियो पार प्राचीन यूनान की तरफ फिर कर नजर डालते है, जब उसकी शान के दिन थे, और उससे स्फूर्ति प्राप्त करते है। जीवन के उस निराशा पूर्ण और उदासीन दृष्टिकोण के विरुद्ध, जिस पर चर्च जोर देता था, और मानव आत्मा को जकडने वाली जजीरो के विरुद्ध लोगो के दिमाग मे विद्रोह-सा उठ खड़ा होता है। पुराने यूनानियो का सौन्दर्य-प्रेम फिर प्रगट होता है और योरप चित्रकला और मूर्त्तिकला की सुन्दर कृतियो से खिल उठता है।

लेकिन कुस्तुन्तुनिया के पतन से ही ये सब बाते एकदम नही पैदा हो गईं। ऐसा खयाल करना बेहूदगी होगी। तुर्कों के इस शहर पर कब्जा कर लेने से परिवर्तन की गति में जरा-सी तेजी आगई, क्योकि बहुत से विद्वान और विद्या-व्यसनी लोग इसे छोड कर पश्चिम चल गये। वे अपने साथ इटली में यूनानी साहित्य का खजाना ठीक उस वक्त लेकर आये जब कि पश्चिम उसकी कद्र करने के लिए तैयार बैठा था। इस मानी मे कह सकते है कि कुस्तुन्तुनिया के पतन से रिनेसाँ की शुरुआत मे थोडी-सी मदद मिल गई।

लेकिन इस महान परिवर्त्तन का यह बहुत तुच्छ कारण था। पुराना यूनानी साहित्य और विचार मध्य-काल के इटली या पश्चिम के लिए कोई नई चीज नही थी। विश्वविद्यालयो में लोग अब भी इसका अध्ययन करते थे और विद्वान लोगों को इसकी जानकारी थी। लेकिन यह चीज कुछ गिने चुने आदमियो तक ही सीमित थी, और चूकि यह जीवन के प्रचलित दृष्टिकोण से मेल नही खाती थी, इसलिए इसका प्रचार नहीं हो पाता था। लोगो के मन में शका की शुरूआत होने से धीरे-धीरे जीवन के नये दृष्टिकोण की जमीन तैयार हुई। लोग जमाने की सूरत से असतुष्ट थे और ऐसी चीज की तलाश में थे जो उन्हे ज्यादा तसल्ली दे सके। जब वे शका और उत्सुकता की इस हालत में थे तो उनके दिमागो ने यूनान की पुरानी

---

[1] रिनेसाँ (Renaissance) -कला और साहित्य के पुनरुत्थान का युग।

ग़ैर-ईसाई फ़िलासफ़ी खोज निकाली और उसके साहित्य के रस को छक कर पिया। उन्हें जान पड़ा कि उनको बस इसी चीज़ की तलाश थी और इस खोज ने उनमें उत्साह भर दिया।

यह पुनर्जागरण पहले-पहल इटली में शुरू हुआ। बाद को फ़्रांस, इँग्लैंड वग़ैरा में प्रगट हुआ। यह सिर्फ़ यूनानी विचार और साहित्य की दुबारा खोज नहीं थी। यह इससे कहीं ज्यादा बड़ी और महान चीज़ थी। योरप में सतह के नीचे ही नीचे बहुत दिनों से जो प्रक्रिया चल रही थी उसीका यह ज़ाहिरा रूप था। यह भीतरी हलचल बहुत से रूपों में फूट कर निकलने वाली थी। पुनर्जागरण इन्हीं रूपों में से एक था।

: ७३ :

समुद्री रास्तों की खोज

३ जुलाई १९३२

अब हम योरप में उस मंजिल तक पहुँच गये हैं जब मध्यकालीन संसार टुकड़े-टुकड़े होना शुरू होता है और उसकी जगह एक नई व्यवस्था ले लेती है। लोग उस वक़्त की हालत से बेज़ार और नाखुश थे और इस भावना ने ही परिवर्तन और तरक्की को जन्म दिया। सामन्ती और मजहबी तौर-तरीके जिन वर्गों को निचोड़ते, वे सभी बेज़ार थे। हमने देखा है कि किसानों के विद्रोह होने लगे थे। लेकिन किसान बहुत पिछड़े हुए और कमज़ोर थे और बलवा करने पर भी कुछ हासिल न कर सके। उनके दिन अभी तक नहीं आये थे। असली संघर्ष पुराने सामन्त-वर्ग और नये जागृत मध्यम-वर्ग में था जिसकी ताक़त बढ़ रही थी। सामन्त-प्रथा का मतलब यह था कि धन की बुनियाद जमीन है या ज़मीन ही धन है। लेकिन अब एक नये क़िस्म का धन इकट्ठा होरहा था जो ज़मीन से पैदा नहीं होता था। यह धन उद्योगों में और तिजारत से आता था और नया मध्यम-वर्ग यानी बुर्जुआ वर्ग इससे फायदा उठाता था और इसी की वजह से उसकी ताकत बढ़ी थी। यह संघर्ष काफी दिनों का हो चुका था। अब हम यह देखते हैं कि इन दोनों दलों की हालत में अदला-बदली हो गई थी। हालां कि सामन्त-प्रथा अभी तक जारी थी, लेकिन उसे अब अपने बचाव की चिन्ता थी और मध्यम-वर्ग अपनी ताकत के भरोसे हमलावर हो रहा था। यह संघर्ष सैकड़ों बरसों तक जारी रहा और बुर्जुआ वर्ग की दिन-ब-दिन जीत होती गई। योरप के मुख़्तलिफ देशों में इस संघर्ष की जुदी-जुदी सूरत रही है। पूर्वी योरप में यह संघर्ष नहीं के बराबर था। पश्चिम में ही मध्यम-वर्ग सबसे पहले आगे आया।

पुरानी बन्दिशों के टूट जाने की वजह से कई दिशाओं में, जैसे—विज्ञान में, कला में, साहित्य में और शिल्पकारी में, तरक़्की हुई और नई-नई खोजें भी हुईं। जब मनुष्य की आत्मा अपने बन्धनों को तोड़ डालती है तो हमेशा यही होता है। वह विकसित हो जाती है और फैल जाती है। इसी तरह, जब हमारा देश आज़ाद होगा, हमारे देशवासियों का और हमारी प्रतिभा का विकास होकर सब तरफ फैलाव होगा।

ज्यों-ज्यों चर्च का क़ब्ज़ा ढीला पड़ा और वह कमज़ोर हुआ, लोग गिरजों पर कम ख़र्च करने लगे। बहुत जगहों पर खूबसूरत इमारतें बनीं। लेकिन ये टाउनहाल या इसी क़िस्म की दूसरी इमारतें थीं। गॉथिक शैली भी पीछे रह गई और एक नई शैली का विकास होने लगा।

ठीक इसी वक़्त, जब पश्चिमी योरप में नई ज़िन्दगी भर रही थी, पूर्व के सोने की तरफ लोगों का चित्त आकर्षित हुआ। मार्कोपोलो और दूसरे मुसाफिरों की कहानियों ने, जो भारत और चीन में सफ़र कर चुके थे, योरप की कल्पना को उत्तेजित किया और पूर्व की अथाह सम्पत्ति की इस प्रेरणा ने बहुतों को समुद्र यात्रा की ओर खींचा। इसी वक़्त क़ुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ। तुर्कों ने पूर्व जाने के खुश्की और समुद्री रास्तों पर कब्ज़ा कर रखा था और वे व्यापार को ज्यादा प्रोत्साहन नहीं देते थे। बड़े-बड़े सौदागर और व्यापारी इस से खिज उठे और साहसियों की नई जमात भी, जो पूर्व के सोने पर दाँत लगाये बैठी थी, झल्ला गई। इसलिए इन लोगों ने सुनहरे पूर्व तक पहुँचने के लिए नये रास्ते खोज निकालने की कोशिश की।

स्कूल का हरेक बालक जानता है कि ज़मीन गोल है और सूर्य के चारों तरफ घूमती है। हम लोगों के लिए यह बिलकुल ज़ाहिर बात है। लेकिन पुराने ज़माने में यह इतनी ज़ाहिर नहीं थी और जो लोग ऐसा

सोचने या कहने की जुर्रत करते थे उन्हें चर्च की नाराजगी का सामना करना पड़ता था। लेकिन चर्च का डर होते हुए भी दिन पर दिन और ज्यादा लोग मानने लगे कि जमीन गोल है। अगर गोल है तो पश्चिम की ओर जाने से भी चीन और भारत पहुँचना मुमकिन होना चाहिए, ऐसा कुछ लोग सोचते थे। कुछ अफ़रीका का चक्कर काट कर भारत पहुँचने की सोचते थे। याद रहे कि उस वक़्त स्वेज की नहर नहीं थी और जहाज भूमध्यसागर से लालसागर नही जा सकते थे। भूमध्यसागर और लालसागर के बीच माल और सौदागरी सामान खुश्की के रास्ते से, शायद ऊँटों पर लादकर, भेजे जाते थे, और दूसरी तरफ़ के जहाजो पर लादे जाते थे। यह ढंग सुविधा-जनक नही था। मिस्र और सीरिया पर तुर्कों का क़ब्जा होजाने से यह रास्ता और भी मुश्किल हो गया।

लेकिन भारत की दौलत लोगों को बराबर ललचाती और आकर्षित करती रही। खोज करने के लिए समुद्र-यात्रा में स्पेन और पुर्तगाल सबसे पहले आगे बढे। स्पेन उस वक़्त ग्रेनाडा से मूरो को सदा के लिए निकालने में लगा रहा था। एरेगान के फर्डिनेण्ड और कैस्टाइल की आइजाबेला के विवाह से ईसाई स्पेन संयुक्त हो गया था और सन् १४९२ ई० में ग्रनाडा अरबो के हाथ से जाता रहा। यह उस वक़्त की बात है जब योरप की दूसरी तरफ, तुर्कों को क़ुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किये हुए करीब पचास वर्ष हो चुके थे। स्पेन फौरन ही योरप की एक बडी ईसाई ताक़त बन गया।

पुर्तगालवालो ने पूर्व की तरफ जाने की कोशिश की; स्पेनवालों ने पश्चिम की तरफ़। सन् १४४५ ई० मे पुर्तगालियो ने वर्ड का अन्तरीप खोज निकाला। इसे सबसे पहली बडी मंजिल कहना चाहिए। यह अन्तरीप अफरीका का आखिरी पश्चिमी सिरा है। अफरीका के नक्शे को देखो। तुम्हे मालूम होगा कि अगर कोई योरप से जहाज के जरिये इस अन्तरीप को जाना चाहे तो उसे दक्षिण-पश्चिम जाना होगा। वर्ड अन्तरीप पहुँचकर फिर उसे घूमकर दक्षिण-पूर्व जाना होता है। इस अन्तरीप की खोज आशा की बड़ी किरन थी क्योंकि इससे लोगो को विश्वास हो गया कि अब वे अफरीका का चक्कर काट कर भारत पहुँच सकेंगे।

फिर भी अभी अफरीका का चक्कर काटने मे चालीस वर्ष की देर थी। सन् १४८६ ई० में बार्थोलोम्यू डायज ने, जो पुर्तगाली था, अफरीका की दक्षिणी नोक का चक्कर लगाया। यही नोक उत्तमाशा अन्तरीप[1] कहलाती है। कुछ ही बरसो के बाद एक दूसरा पुर्तगाली वास्को डि गामा, इस खोज से फायदा उठाकर उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ, भारत आया। वास्को डि गामा सन् १४९७ ई० मे मलाबार के किनारे कालीकट आ पहुँचा।

इस तरह भारत पहुँचने की दौड में पुर्तगालियों की जीत हुई। लेकिन इसी दरमियान दुनिया की दूसरी तरफ़ बडी-बडी घटनाए हो रही थी और स्पेन को उनसे फ़ायदा पहुँचनेवाला था। क्रिस्टोफर कोलम्बस सन् १४९२ ई० मे अमरीका की दुनिया मे जा पहुँचा। कोलम्बस जिनोआ का रहने वाला एक गरीब आदमी था। इस विश्वास पर कि दुनिया गोल है, वह पश्चिम की ओर जहाज ले जाकर जापान और भारत पहुँचना चाहता था। उसे यह खयाल नही हुआ कि यह सफर उसके अन्दाज से इतना ज्यादा लम्बा हो जायगा। वह एक दरबार से दूसरे दरबार में इस कोशिश में फिरा कि कोई राजा उसे इस खोजपूर्ण समुद्र-यात्रा के लिए मदद दे दे। आखिरकार स्पेन के फर्डिनेण्ड और आइजाबेला मदद देने को तैयार होगये और कोलम्बस अट्ठासी आदमियों और तीन छोटे जहाजों को लेकर रवाना हुआ। अज्ञात की ओर यह समुद्र-यात्रा असल में वीरता और साहस की यात्रा थी, क्योंकि कोई यह नही जानता था कि आगे क्या है। लेकिन कोलम्बस के दिल में विश्वास था और वह विश्वास सही साबित हुआ। उनसठ दिन की समुद्र-यात्रा के बाद वे किनारे लगे। कोलम्बस ने समझा कि यही भारत है। लेकिन असल मे यह वेस्ट-इण्डीज का एक टापू था। कोलम्बस कभी अमरीका के महाद्वीप में नही पहुँचा और मरते वक़्त तक उसका विश्वास था कि वह एशिया पहुँच गया। उसकी यह अजीब गलती आज तक कायम है। इन टापुओ को आजतक वेस्ट-इण्डीज कहते है और अमरीका के आदिम निवासियो को अब भी इंडियन या 'रेड इंडियन' कहते है।

कोलम्बस योरप वापस आया और दूसरे साल और ज्यादा जहाजो को लेकर फिर निकल पड़ा। लोगो ने समझा कि भारत का नया रास्ता मालूम हो गया। इससे योरप में काफी चहल-पहल मच गई।

---

[1]Cape of Good Hope.

इसके कुछ दिन बाद ही वास्को डि गामा ने पूर्वी यात्रा की जल्दी की और वह कालीकट पहुँचा। पूर्व और पश्चिम में नये देशों की खोज की खबर से योरप की बेकरारी बढ़ने लगी। इन नये देशों पर हुकूमत जमाने की इच्छा रखने वाले दो प्रतिद्वन्दी पुर्तगाल और स्पेन थे। इस मौके पर पोप ने दस्तदाजी की और स्पेनियों तथा पुर्तगालियों के बीच संघर्ष को रोकने के लिए उसने दूसरे के बिरते पर उदारता दिखाने का निश्चय किया। सन् १४९३ ई० में उसने एक 'बुल' (पोप की घोषणाओं और फतवों को किसी कारण 'बुल' कहते हैं) निकाला जो 'हदबन्दी का बुल' कहलाता है। उसने अजोर्स के पश्चिम १०० लीग[1] के फासले पर उत्तर से दक्षिण तक एक फ़र्ज़ी लकीर खींच दी और यह ऐलान कर दिया कि इस लकीर के पूर्व जितना गैर-ईसाई मुल्क है वह पुर्तगाल ले ले और इसके पश्चिम के मुल्क स्पेन ले ले। योरप को छोड़कर क़रीब-क़रीब सारी दुनिया का यह शानदार तोहफा था और इसे देने में पोप को कुछ भी खर्च न करना पड़ा! अजोर्स एटलाण्टिक महासागर के द्वीप हैं और उनके पश्चिम मे १०० लीग यानी ३०० मील के फासले पर रेखा खींचने से सारा उत्तर-अमरीका और दक्षिण-अमरीका का ज्यादातर हिस्सा पश्चिम मे पड जाता है। इस तरह से पोप ने दर असल अमरीका महाद्वीप स्पेन की नजर कर दिया और भारत, चीन, जापान और दूसरे पूर्वी देशों को और सारे अफरीका को पुर्तगाल की भेंट कर दिया!

पुर्तगालियों ने इस बडी रियासत पर कब्जा करना शुरू किया। यह कोई आसान बात नही थी। लेकिन वे कुछ आगे बढे और पूर्व की तरफ बढ़ते गये। सन् १५१० ई० मे वे गोवा पहुँचे; १५११ ई० मे मलाया प्रायद्वीप में मलक्का पहुँचे; इसके बाद ही जावा, और सन् १५७६ ई० मे चीन पहुँच गये। इसका मतलब यह नही है कि इन देशो पर उन्होने कब्जा कर लिया। कुछ जगहो पर उन्हें सिर्फ पाँव रखने को जगह मिल गई। किसी अगले पत्र में हम पूर्व मे इन लोगों की कारगुजारियो की चर्चा करेंगे।

पूर्व में पुर्तगालियो मे फर्डिनेण्ड मैगेलन नाम का एक आदमी था। वह अपने पुर्तगाली मालिको से लड़ पड़ा और योरप वापस जाकर स्पेन का नागरिक बन गया। उत्तमाशा अन्तरीप से होकर पूर्वी रास्ते से वह भारत और पूर्वी द्वीपो को जा चुका था। अब वह पश्चिमी रास्ते से अमरीका होकर इन देशो को जाना चाहता था। शायद उसको यह मालूम था कि जिस मुल्क का पता कोलम्बस ने लगाया था वह एशिया नही था। वास्तव में सन् १५७३ ई० में बलबोआ नाम का एक स्पेनी मध्य-अमरीका मे पनामा के पहाडो को पार करके प्रशान्त महासागर पहुँच गया था। किसी कारण से उसने इस समुद्र को दक्षिण समुद्र नाम दिया और इसके किनारे पर खडे होकर उसने दावा किया कि यह नया समुद्र और इसके किनारो के तमाम देश उसके स्वामी स्पेन के बादशाह की मिल्कियत है।

सन् १५१९ ई० में मैगेलन अपने पश्चिमी समुद्र सफर पर रवाना हुआ। यह सफर उसका सबसे महान सफर साबित होने वाला था। उसके साथ पांच जहाज और २७० आदमी थे। वह एटलाण्टिक महासागर पार करके दक्षिण-अमरीका पहुँचा और वहाँ से दक्षिण की तरफ सफर करते-करते वह आखिर में इस महाद्वीप के छोर तक पहुँच गया। उसका एक जहाज तो टूटकर नष्ट होगया और दूसरा उसे छोड कर भाग गया। सिर्फ़ तीन जहाज बचे। इन तीन जहाजो को लेकर वह दक्षिणी अमरीका के महाद्वीप और एक टापू के बीच के तंग जलडमरूमध्य को पार करके दूसरी तरफ के खुले समुद्र में जा निकला। इस समुद्र को उसने प्रशान्त महासागर नाम दिया क्योंकि अटलाण्टिक के मुकाबिले मे यह बहुत ज्यादा शान्त था। प्रशान्त महासागर तक पहुँचने में उसे १४ महीने लगे। जिस जलडमरूमध्य से वह गुज़रा था, वह अभी तक उसी के नाम पर 'मैगेलन का जलडमरूमध्य' कहलाता है।

आगे भी मैगेलन ने बहादुरी के साथ अपनी यात्रा उत्तर की तरफ और इसके बाद अज्ञात समुद्र में उत्तर-पश्चिम की तरफ जारी रक्खी। उसके सफर का यह हिस्सा सबसे ज्यादा भयकर था। कोई नही जानता था कि इसमें इतने दिन लग जायँगे। करीब-करीब चार महीने, और हिसाब से ठीक गिना जाय तो १०८ दिन, वे समुद्र के बीच बिना खाना-पानी के भटकते रहे। आखिरकार, बड़ी तकलीफें उठाने के बाद, वे फिलीपाइन द्वीप पहुँचे। वहाँ के लोगो ने उनके साथ दोस्ती का सलूक किया, उन्हे खाने-पीने का सामान दिया और उनके साथ तोहफ़ो की अदला-बदली की। लेकिन स्पेनवाले बदमिज़ाज और शान जमाने वाले

---

[1]लीग—क़रीब तीन मील के बराबर होता है।

थे। मैगेलन ने वहाँ के दो सरदारो की आपसी मामूली लड़ाई में भाग लिया और मारा गया। और भी बहुत से स्पेनियों को इन टापुओं के निवासियों ने मार डाला, क्योंकि उन्होंने शान गाठने का रुख अख़तियार किया था।

स्पेनी लोग मसाले के द्वीपो की तलाश में थे, जहाँ से कि क़ीमती गरम-मसाले आया करते थे। वे इन्हींकी तलाश में आगे बढ़ते गये। एक और जहाज़ को भी बेकार होने के कारण जला देना पडा; सिर्फ़ दो बाक़ी बचे। यह निश्चय हुआ कि इनमें से एक जहाज़ तो प्रशान्त महासागर होकर स्पेन वापस जाय और दूसरा उत्तमाशा अन्तरीप होकर। पहला जहाज़ तो बहुत दूर नही जा सका क्योकि उसे पुर्तगालियो ने पकड़ लिया। लेकिन दूसरा जहाज़, जिसका नाम 'विट्टोरिया' था, चुपचाप अफरीका का चक्कर काटता हुआ रवाना होने के ठीक तीन वर्ष बाद, सन् १५२२ ई० में, सिर्फ अठारह आदमियो के साथ स्पेन मे सेविले जा पहुँचा। यह सारी दुनिया का चक्कर लगाने वाला पहला जहाज़ था।

मैंने तुमसे 'विट्टोरिया' के सफर का सविस्तार हाल बताया है क्योकि यह समुद्री-यात्रा अद्भुत थी। आजकल हम बहुत आराम के साथ समुद्रों को पार कर लेते हे और बड़े जहाजो पर लम्बे-लम्बे सफर करते हैं। लेकिन इन शुरू के नाविको का ख़याल करो कि उन्होने हर तरह के ख़तरो और सकटों का सामना किया और अज्ञात मे गोते लगाकर अपने बाद के लोगो के लिए समुद्री रास्तों की खोज की। उस जमाने के स्पेनी और पुर्तगाली बडे घमण्डी, शानबाज़ और बेरहम थे, लेकिन वे अद्भुत रूप से बहादुर थे और साहस की भावना से भरे हुए थे।

जिस वक़्त मैगेलन दुनिया का चक्कर लगा रहा था, कोर्टे मैक्सिको के शहर में दाखिल हो रहा था और अज़टेक साम्राज्य को स्पेन के बादशाह के लिए फ़तह कर रहा था। मै तुम्हे इसके बारे मे और अमरीका की मय सभ्यता के बारे मे, थोड़ा पहले ही बता चुका हूँ। कोर्टे सन् १५१९ ई० मे मैक्सिको पहुँचा। पिज़ारो सन् १५३० ई० मे दक्षिण-अमरीका के 'इनका' साम्राज्य में (जहाँ अब पेरू है) पहुँचा। हिम्मत और दिलेरी से, बेरहमी और फरेब से और वहां के लोगो के अन्दरूनी झगड़ो से फायदा उठाकर कोर्टे और पिज़ारो दोनो पुराने साम्राज्यो का ख़ातमा करने मे सफल हो गए। लेकिन ये दोनों साम्राज्य पुराने ज़माने की चीज़ हो गये थे और कुछ हद तक बहुत दकियानूसी थे। इसलिए बालू की दीवार की तरह ये पहले ही धक्के मे गिर गये।

ये तलाश करने वाले और खोज करने वाले महान व्यक्ति जहाँ-जहाँ पहुँच चुके थे वहाँ-वहाँ उनके बाद लूटमार के लोभी मौका-परस्तो के दल के दल पहुँचने लगे। ख़ास कर स्पेनी अमरीका को तो इन लोगो ने बहुत नुक़सान पहुँचाया। यहाँ तक कि कोलम्बस के साथ भी इन लोगो ने बहुत बुरा बर्ताव किया। लेकिन साथ ही साथ पेरू और मैक्सिको से स्पेन को सोने और चाँदी की नदी बराबर बह रही थी। इन कीमती धातुओं की इतनी ज्यादा मात्रा स्पेन पहुची, कि उससे योरप की आखे चकाचौध हो गईं और स्पेन योरप की प्रभावशाली शक्ति बन गया। यह सोना और चाँदी योरप के दूसरे देशो को भी गया और इस तरह पूर्व की पैदावार ख़रीदने के लिए उनके पास बहुत ज्यादा दौलत हो गई।

पुर्तगाल और स्पेन की कामयाबी से दूसरे देशो के लोगो की इच्छाओं का जागृत होना स्वाभाविक ही था। इन देशो में फ्रांस, इग्लैंड, हालैण्ड और उत्तरी जर्मन शहर ख़ास तौर पर उल्लेखनीय हैं। पहले इन लोगो ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उत्तरी मार्ग से एशिया और अमरीका पहुँचने का, यानी नार्वे के उत्तर से होकर पूर्व जाने का और ग्रीनलैण्ड होकर पश्चिम जाने का, कोई रास्ता मिल जाय। लेकिन वे इसमें नाकामयाब रहे और उन्होने जाने हुए रास्तो को ही पकडा।

वह ज़माना भी क्या ही अद्भुत रहा होगा जबकि दुनिया सामने प्रगट होती हुई और अपने ख़जानों और चमत्कारो को ज़ाहिर करती हुई दिखाई देती थी! एक के बाद दूसरी नई खोजें हो रही थी और नये महाद्वीप, नये समुद्र, और अपार सम्पत्ति मानो अलादीन के जादू भरे मत्र "खुल जाओ सिम-सिम" का इन्तज़ार कर रही थी। उस हवा में ही इन साहस-भरे कामों के जादू की लहर चल रही होगी।

दुनिया अब सकड़ी हो गई है और इसमें खोज की गुंजाइश नहीं रही; कम-से-कम अभी तो ऐसा मालूम होता है। लेकिन ऐसा है नही, क्योंकि विज्ञान ने ज़बरदस्त नये दृश्य खोल डाले हे जिनका भेद मालूम करने की ज़रूरत है और साहसपूर्ण कामों की भी कोई कमी नही है—ख़ास कर आज के भारत में!

: ७४ :

मंगोल साम्राज्यों का विध्वंस

९ जुलाई, १९३२

मैंने तुम्हें बताया है कि मध्य युग कैसे गुजर गया, योरप में नई भावना कैसे जागृत हुई और नई चेतना-शक्ति कैसे आई, जो कितने ही रास्तों से फूट निकली। योरप में मानों क्रियाशीलता और रचनात्मक उद्योग की लहर दौड़ रही थी। वहाँ के निवासी सदियो तक कूप-मंडूकों की तरह अपने छोटे-छोटे देशों में पड़े रहने के बाद एकदम बाहर निकल पड़े और लम्बे-चौड़े समुद्रो को पार करके दुनिया के कोने-कोनेमें पहुँचने लगे। अपनी ताक़त में भरोसा रखते हुए वे फतहयाबी हासिल करते चले गये। इसी आत्मविश्वास ने उन्हें हिम्मत दी और उनसे अद्‌भुत काम कराये।

लेकिन तुम अचम्भा करती होगी कि यह अकस्मात तब्दीली कैसे पैदा हुई। तेरहवी सदी के बीच मे एशिया और योरप में मंगोलों का बोलबाला था। पूर्वी योरप उनके कब्जे मे था, पश्चिमी योरप इन महान और ज़ाहिरा अजेय योद्धाओ के आगे थर्राता था। खान महान के सिपाहसालार तक के मुकाबले मे योरप के बादशाहों और सम्राटों की क्या हस्ती थी?

दो सौ वर्ष बाद, कुस्तुन्तुनिया का शाही नगर और दक्षिण-पूर्वी योरप का काफी हिस्सा उस्मानी तुर्कों के कब्जे में आ गया था। मुसलमानो और ईसाइयो में ८००वर्ष की लडाई के बाद वह बडा तोहफा, जिसने अरबो और सेलजूक तुर्कों को लुभा कर खींचा था, उस्मानियो के हाथ मे आया। उस्मानी सुलतान इतने से संतुष्ट न हुए और पश्चिम पर ही नही बल्कि रोम पर भी लालच-भरी निगाहे डालने लगे। वे जर्मन (पवित्र रोमन) साम्राज्य और इटली पर जा धमके। हंगरी को जीत कर वे वियेना के दरवाजे और इटली की सरहद तक पहुँच गये। पूर्व में उन्होने बगदाद को अपने साम्राज्य मे मिला लिया और दक्षिण मे मिस्र को। सोलहवी सदी के मध्यमें सुलतान सुलेमान, जिसे 'शानदार' कह कर पुकारा जाता है, इस विशाल तुर्की साम्राज्य पर राज करता था। समुद्रो मे भी उसके जहाजी बेड़े सब पर हावी थे।

फिर यह तब्दीली कैसे हुई? योरप मगोलो के खतरे से कैसे बचा? तुर्की खतरे से उसने अपनी जान कैसे बचाई? कैसे उसने न सिर्फ अपनी ही जान बचाई बल्कि खुद दूसरो पर चढ़ दौड़ने लगा और दूसरो के लिए खतरा बन गया?

लेकिन योरप पर मगोलो का यह खतरा बहुत दिन नही रहा। वे खुद ही एक नये खान का चुनाव करने के लिए वापस चले गये और फिर लौट कर नही आये। पश्चिमी योरप उनके वतन मंगोलिया से बहुत दूर था। शायद इसने उन्हे इसलिए भी आकर्षित न किया हो कि यह घने जगलो का देश था और वे खूब खुले मैदानो और बीड़ की जमीनो पर रहने के आदी थे। बहरहाल पश्चिमी योरप मगोलो से बच गया— अपनी किसी बहादुरी की वजह से नही बल्कि मगोलो की लापरवाही और उनके दूसरे कामो में लगे रहने की वजह से। पूर्वी योरप में वे कुछ ज्यादा दिन रहे जब तक कि मंगोलो की शक्ति धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न न हो गई।

मै पहले ही बता चुका हूँ कि सन् १४५२ ई० में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया की विजय योरप के इतिहास में एक ऐसी घटना मानी जाती है जिससे उसके इतिहास का रुख ही बदल गया। सुभीते के लिए यह कह सकते है कि उस वक्त से मध्य युग खतम हुआ और नई भावना यानी रिनेसाँ का आना हुआ जो कितनी ही दिशाओ में फूली। इसी तरह सयोग से ठीक उसी वक़्त, जब तुर्क योरप पर चढे आ रहे थे, और तुर्कों की कामयाबी की काफी सम्भावना नजर आती थी, योरप अपने पावो पर खड़ा हो गया और उसने अपने अन्दर ताकत पैदा कर ली। तुर्क लोग पश्चिमी योरप में कुछ अरसे तक बढ़ते चले गये; और जब वे बढ़ रहे थे, योरप के खोजी नये-नये देशो और समुद्रो का पता लगा रहे थे और पृथ्वी के चारों तरफ चक्कर लगा रहे थे। सुलतान शानदार सुलेमान के जमाने में, जिसने सन् १५२० से १५६६ ई० तक राज किया, तुर्की साम्राज्य वियेना से बगदाद और काहिरा तक फैल गया। लेकिन इसके आगे वे नही बढ़ सके। तुर्क लोग यूनानियों के कुस्तुन्तुनिया की कमजोर और भ्रष्ट कर देने वाली परम्पराओ के शिकार हो रहे थे। इधर

योरप की ताक़त बढ़ती जाती थी; उधर तुर्क अपनी पुरानी शक्ति खो रहे थे और कमज़ोर पड़ते जा रहे थे।

पुराने ज़माने में भ्रमण करते-करते हमने देखा कि एशिया ने योरप पर बहुत बार हमले किये। योरप ने भी एशिया पर कुछ हमले किये लेकिन उनका कोई महत्व नही था। सिकन्दर एशिया पार करता हुआ भारत आया था लेकिन इससे कोई बडा असर नहीं पड़ा। रोमन लोग इराक के आगे कभी नही बढ़े। इसके विपरीत एशिया की कौमो ने शुरू ज़माने से ही योरप पर बारबार धावे किये। इन एशियाई हमलों मे योरप पर उस्मानी तुर्कों का हमला आखिरी था। हम देखते हैं कि धीरे-धीरे पलडा उलट जाता है और योरप हमलावर बनता जाता है। यह तब्दीली सोलहवी सदी के बीच के लगभग हुई समझनी चाहिए। अमरीका, जिसका पता हाल ही में चला था, योरप के सामने बहुत जल्द पस्त हो गया। लेकिन एशिया ज्यादा कठिन समस्या साबित हुई। दो सौ वर्ष तक योरप के लोग एशियाई महाद्वीप के अनेक हिस्सों में पैर जमाने की जगहें तलाश करते रहे और अठारहवी सदी के मध्य तक एशिया के कुछ हिस्सों पर हावी हो गये। यह बात ध्यान मे रखने की है, क्योंकि कुछ लोग, जो इतिहास नही जानते, समझते हैं कि योरप ने हमेशा एशिया पर राज किया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि योरप का यह नया जामा बहुत हाल का है और अब परदा बदलना शुरू भी हो गया है और यह जामा पुराना नज़र आने लगा है। पूर्व के तमाम देशो में नई भावनाएं जाग रही है और शक्तिशाली आन्दोलन, जिनका उद्देश्य आज़ादी हासिल करना है, योरप की प्रभुता को चुनौती दे रहे है और हिला रहे हैं। इन राष्ट्रीय भावनाओं से भी ज्यादा विस्तृत और गहरी समानता की समाजिक भावनाए है जो सारे साम्राज्यवाद और शोषण का खातमा कर देना चाहती है। भविष्य में यह सवाल कतई नही रहेगा कि एशिया पर योरप का प्रभुत्व हो, या योरप पर एशिया का, या एक देश द्वारा दूसरे का शोषण हो।

यह लम्बी भूमिका हो गई। अब हम फिर मगोलो की चर्चा करेंगे। कुछ देर उनके चढाव-उतार के साथ-साथ चलकर हमे देखना है कि उनकी क्या दशा हुई। तुम्हें याद होगा कि कुबलाईखाँ आखिरी खान महान था। सन् १२९२ ई० में उसकी मौत के बाद वह विशाल साम्राज्य, जो एशिया मे कोरिया से लेकर योरप में हगरी और पोलैंड तक फैला हुआ था, पाँच साम्राज्यों मे बँट गया। इन पाँचो साम्राज्यो मे हरेक वास्तव मे एक-एक बडा साम्राज्य था। मैंने अपने एक पिछले पत्र में इन पाचो के नाम दे दिये है।

इन पाचो में चीन का साम्राज्य मुख्य था, जिसमे मचूरिया, मगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अनाम, टाग-किंग, और बरमा का कुछ हिस्सा शामिल था। युवान खानदान, जो कुबलाई का वशज था, इस साम्राज्य का अधिकारी हुआ। लेकिन बहुत दिनों के लिए नही। बहुत जल्दी दक्षिण में इसके टुकडे टूट-टूटकर निकलने लगे और, जैसा मैंने तुम्हे बताया है, सन् १३६८ ई० में, कुबलाई के मरने के ठीक ७६ वर्ष बाद, यह खानदान खतम हो गया और मगोल लोग निकाल बाहर किये गये।

बहुत दूर पश्चिम में सुनहरे कबीले का साम्राज्य था। इन लोगो का क्या ही लुभावना नाम था! रूसी अमीरो ने कुबलाई की मृत्यु के बाद २०० वर्ष तक इन लोगो को खिराज दिया। इस ज़माने के आखीर में, यानी सन् १४८० ई० के लगभग, साम्राज्य किसी कदर कमज़ोर पड रहा था। और मास्को के ग्राड ड्यूक ने, जो रूसी अमीरो का प्रमुख बन बैठा था, खिराज देने से इन्कार कर दिया। इस ग्राड ड्यूक का नाम महान् आइवन था। रूस के उत्तर में नवगोरोड का पुराना प्रजातंत्र था, जिस पर व्यापारियो और सौदागरो का अधिकार था। आइवन ने इस प्रजातंत्र को हरा कर अपनी रियासत मे मिला लिया। इसी दरमियान कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के हाथ में पहुँच चुका था और पुराने सम्राटो का परिवार वहा से भगा दिया गया था। आइवन ने इस पुराने राज-घराने की एक लड़की से शादी करली और इस बात का दावा करने लगा कि वह उस राजवंश का है और पुराने बिजैण्टियम का वारिस है। रूसी साम्राज्य, जो सन् १९१७ ई० की क्रान्ति मे हमेशा के लिए खतम हो गया, इसी आइवन महान् की मातहती में, इस तरह शुरू हुआ। इसके पोते ने, जो बड़ा बेरहम था और इसीलिए 'भयंकर आइवन,' कहलाता था, 'ज़ार' की उपाधि धारण की जिसका अर्थ सीज़र या सम्राट होता था।

इस तरह मंगोल हमेशा के लिए योरप से बिदा हुए। सुनहरे क़बीले और मध्य एशिया के दूसरे मंगोल साम्राज्यों का क्या हुआ, इसके बारे में हमें अब ज्यादा मग़ज़पच्ची करने की जरूरत नही है।

दूसरे, मैं उनके बारे में ज्यादा जानता भी नहीं हूँ। लेकिन एक आदमी पर हमारा ध्यान जरूर जाता है।

यह आदमी तैमूर है, जो दूसरा चंगेजखां बनना चाहता था। वह चंगेज का वंशज होने का दावा करता था लेकिन असल में वह तुर्क था। वह लँगड़ा था, इसलिए तैमूरलंग कहलाता था। वह अपने बाप के बाद सन् १३६९ ई० में समरक़ंद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और क्रूरता की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा सिपहसालार था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य-एशिया के मंगोल लोग इस बीच में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर खुद भी मुसलमान था। लेकिन मुसलमानों से पाला पड़ने पर वह उनके साथ जरा भी मुलायमियत नहीं बरतता था। जहाँ-जहाँ वह पहुँचा उसने तबाही और बला और पूरी मुसीबत फैला दी। नर-मुंडों के बड़े-बड़े ढेर लगवाने में उसे खास मजा आता था। पूर्व में दिल्ली से लगाकर पश्चिम में एशिया-कोचक तक, उसने लाखों आदमी कत्ल करा डाले और उनके कटे सिरों को स्तूपों की शकल में जमवाया!

चंगेजखां और उसके मंगोल भी बेरहम और बरबादी करने वाले थे, पर वे अपने जमाने के दूसरे लोगों की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उनसे बहुत बुरा था। अनियन्त्रित और पैशाचिक क्रूरता में उसका मुक़ाबिला करने वाला कोई दूसरा नहीं। कहते हैं कि एक जगह उसने २००० जिंदा आदमियों की एक मीनार बनवाई और उन्हें ईंट और गारे से चुनवा दिया।

भारत की दौलत ने इस वहशी को आकर्षित किया। अपने सिपहसालारों और अमीरों को भारत पर हमला करने के लिए राज़ी करने में इसे कुछ कठिनाई हुई। समरकंद में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें अमीरों ने भारत जाने पर इसलिए ऐतराज किया कि वहां गर्मी बहुत पड़ती है। आखीर में तैमूर ने वादा किया कि वह भारत में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयेगा। उसने अपना वादा पूरा किया।

तुम्हें याद होगा कि उत्तर भारत में उस वक़्त मुसलमानी राज्य था। दिल्ली में एक सुलतान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी रियासत कमज़ोर थी और सरहद पर मंगोलों से बराबर लड़ाई करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मंगोलों की फ़ौज लेकर आया तो उसका कोई कड़ा मुक़ाबला नहीं हुआ और वह कत्लेआम करता और खोपड़ियों के स्तूप बनाता हुआ मज़े के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों क़त्ल किये गये। मालूम होता है उनमें कोई फ़र्क नहीं किया गया। जब ज्यादा क़ैदियों को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके कत्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख क़ैदी मार डाले गये। कहते हैं कि एक जगह हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की थी, यानी युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए बाहर निकल पड़े थे। लेकिन भीषणता की इस कहानी को दोहराते रहने की मेरी इच्छा नहीं है। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बड़े शहर को क़साईखाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकंद वापस लौट गया।

हालाँकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकंद में और मध्य-एशिया में दूसरी जगहों पर खूबसूरत इमारतें बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले के सुलतान महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरों, राजगीरों और होशियार मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हें अपने साथ ले गया। इनमें से जो सब से अच्छे राजगीर और कारीगर थे उन्हें उसने अपनी शाही नौकरी में रख लिया। बाकी को उसने पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरों में भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की कला की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारों तरफ़ अकाल और महामारी का राज था। दो महीने न कोई राजा था, न संगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहाँ रह गये थे। यहां तक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुक़र्रर किया था, वह भी मुलतान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक में तबाही और बरबादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ़ बढ़ा। अँगोरा में सन् १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बड़ी फौज के साथ इसका मुक़ाबला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नहीं चला और वह बासफोरस को पार न कर सका। इसलिए योरप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, सन् १४०५ ई० में, जबकि वह चीन की तरफ बढ़ रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो क़रीब-क़रीब सारे पश्चिमी एशिया में फैला हुआ था, गर्क़ हो गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे क़बीले इसे खिराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ़ उसकी अद्भुत सिपहसालारी तक ही सीमित थी। साइबेरिया के बर्फ़िस्तान में उसकी कुछ रण-यात्राएं असाधारण रही हैं। पर असल में वह एक जंगली खानाबदोश था; उसने न तो कोई संगठन बनाया और न चंगेज की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई क़ाबिल आदमी ही छोड़े। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खतम हो गया और सिर्फ़ बरबादी और क़त्लेआम की यादगार छोड़ गया। मध्य-एशिया में होकर जितने भी भाग्य-परीक्षक और विजेता गुज़रे हैं उनमें से चार के नाम लोगों को अभी तक याद हैं—सिकन्दर, सुलतान महमूद, चंगेज़खां और तैमूर।

उस्मानी तुर्कों को हराकर तैमूर ने उन्हें हिला डाला। लेकिन वे बहुत जल्द फिर पनप गये और पचास वर्ष के अन्दर, यानी सन् १४५३ ई० में, उन्होंने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा कर लिया।

अब हमें मध्य-एशिया से बिदा ले लेनी चाहिए। सभ्यता के नाप में वह छोटा पड़ जाता है और धुंधले पर्दे में छिप जाता है। अब वहां कोई ऐसी बात नहीं होती जिसपर हम ध्यान दें। सिर्फ़ पुरानी सभ्यताओं की यादगार बाकी रह जाती है, जिन्हें आदमी ने अपने हाथ से नष्ट कर दिया। प्रकृति भी उसके प्रति कठोर होगई और धीरे-धीरे वहां की आबहवा ज्यादा खुश्क होती गई जिससे लोगों का वहां बसना मुश्किल होता गया।

हमें मंगोलों से भी बिदा ले लेनी चाहिए; सिवाय उनकी एक शाखा के जो बाद में भारत आई और जिसने यहां एक बड़ा और मशहूर साम्राज्य कायम किया। लेकिन चंगेज़खां और उसके वंशजों का साम्राज्य बिखर गया। मंगोल फिर अपने छोटे-छोटे सरदारों और अपनी पुरानी कौमी आदतों को इख्तियार कर लेते हैं।

: ७५ :

भारत एक कठिन समस्या से जूझता है

१२ जुलाई, १९३२

मैं तैमूर और उसके कत्लेआम और नर-मुंडों के स्तूपों के बारे में लिख चुका हूं। यह सब कितनी वीभत्स और वहशियाना लगते मालूम होती हैं! हमारे इस सभ्य युग में ऐसी बात नहीं हो सकती। लेकिन यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हाल ही में हमने देखा है और सुना है कि हमारे ज़माने में भी क्या हो सकता है। चंगेज़खां और तैमूर द्वारा किया हुआ जान और माल का नुक़सान, हालांकि बहुत ज्यादा था, फिर भी वह सन् १९१४–१८ ई० के महायुद्ध में हुई बरबादी के मुक़ाबले में बिलकुल तुच्छ जँचता है। और मंगोलों की हरेक क्रूरता की बराबरी की भीषणता के नमूने आज-कल के ज़माने में भी मिल सकते हैं।

फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि चंगेज़ और तैमूर के ज़माने से आज हमने सैकड़ों बातों में तरक़्क़ी की है। यही नहीं कि आजकल की ज़िन्दगी कहीं ज्यादा जटिल बन गई है, बल्कि वह ज्यादा सम्पन्न भी है। और प्रकृति की बहुतेरी ताक़तें खोज निकाली गई हैं; उनको समझने की कोशिश की गई है और उन्हें इन्सान के फ़ायदे के लिए काम में लगाया गया है। इसमें शक नहीं कि दुनिया आज ज्यादा सभ्य और सुसंस्कृत है। फिर हम लड़ाई के ज़मानों में पुराना वहशीपन क्यों इख्तियार कर लेते हैं? इसकी वजह यह है कि लड़ाई खुद ही सभ्यता और संस्कृति का प्रतिवाद है। इसका सभ्यता और संस्कृति से सिर्फ़ इतना ही ताल्लुक है कि यह सभ्य दिमाग से फायदा उठाकर ज्यादा-से-ज्यादा ताक़तवर और खौफ़नाक हथियार तैयार और इस्तेमाल कराती है। जब लड़ाई होती है तो बहुत-से आदमी, जो इसमें फंसे होते हैं; अपने को जोश की

खौफ़नाक हालत में पहुँचा देते हैं; सभ्यता की सिखाई हुई बहुत-सी बातें भूल जाते है, सचाई और जिन्दगी की शराफतों को भुला देते हैं और हजारो वर्ष पुराने अपने वहशी पूर्वजो जैसे बन जाते है। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है कि लड़ाई जब कभी छिड़ती है तो खौफ़नाक चीज होती है !

अगर कोई अजनबी दूसरी दुनिया से इस दुनिया में लड़ाई के जमाने में आजाय तो वह क्या कहेगा ? मान लो कि उसने हमें सिर्फ़ लड़ाई के वक्त ही देखा, शान्ति के जमाने में नही। वह सिर्फ़ लड़ाई के आधार पर हमारे बारे में अपनी राय क़ायम करेगा और इस नतीजे पर पहुँचेगा कि हम लोग बेरहम, बेतरस और वहशी हैं; कभी-कभी त्याग और साहस दिखा देते है, लेकिन कुल मिलाकर देखा जाय तो हमारी जिन्दगी के कोई नजात देने वाले पहलू नही; सिर्फ़ एक ही सबसे बडा जुनून है कि एक दूसरे को मारें और नष्ट करें। वह हमारे बारे में ग़लत राय क़ायम करेगा और हमारी दुनिया के बारे मे बिगडा हुआ खयाल बना लेगा, क्योंकि वह एक खास मौक़े पर, जो हमारे कुछ ज्यादा अनुकूल नही, हमारा सिर्फ एक ही पहलू देखेगा।

इसी तरह अगर हम पुराने जमाने का भी सिर्फ युद्धो और नर-हत्याओ के रूप मे ही विचार करेंगे तो उसके बारे में हमारी राय ग़लत होगी। बदकिस्मती से युद्धो और नर-हत्याओ की तरफ हमारा ध्यान बहुत ज्यादा खिच जाता है। लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी बहुत कुछ नीरस होती है। इतिहास-लेखक इसके बारे मे क्या लिखें ? इसलिए इतिहास-लेखक किसी युद्ध या लडाई पर झपटता है और उसीको सबसे ज्यादा महत्व देता है। इसमें शक नही कि हम लडाइयो को न तो भूल सकते है और न उन्हे नजर-अन्दाज कर सकते है। लेकिन हमें उन्हें जरूरत से ज्यादा महत्व भी नही देना चाहिए। हमे पुराने जमाने पर मौजूदा जमाने के लिहाज से विचार करना चाहिए और उस जमाने के आदमियो के बारे मे आजकल के अपने लिहाज से सोचना चाहिए। तभी हमें उनकी ज्यादा इन्सानी झलक मिल सकेगी और हम महसूस करेंगे कि लोगों की रोजमर्रा की जिन्दगी और विचार ही असल में महत्व रखते है, कभी-कभी होने वाले युद्ध नही। इस बात को ध्यान मे रखना बहुत जरूरी है क्योकि तुम्हे इतिहास की किताबें इस तरह के युद्धो के वर्णनो से बहुत ज्यादा भरी मिलेंगी। मेरे ये पत्र भी अक्सर उसी तरफ बहक जाते है। असली वजह इसकी यह है कि पुराने जमाने के लोगो की रोजमर्रा की जिन्दगी के बारे मे लिखना मुश्किल है। मुझे इसके बारे मे काफी जानकारी नही है।

जैसा कि हमने देखा है, तैमूर भारत पर आनेवाली सबसे बुरी बलाओ मे एक था। जहा जहा वह गया वहा उसने अपनी भीषणता की जो निशानिया छोडी उनका विचार करने से रोगटे खडे हो जाते है। फिर भी दक्षिण भारत पर उसका ज़रा भी असर नही पडा था। यही बात पूर्वी, पश्चिमी और मध्य भारत के बारे मे भी थी। आजकल का उत्तर प्रदेश भी बहुत करके उससे बच गया था, सिवाय दिल्ली और मेरठ के नजदीक उत्तर के एक छोटे-से हिस्से के। दिल्ली शहर के अलावा पजाब ही ऐसा सूबा था जो तैमूर के हमले से सबसे ज्यादा बरबाद हुआ। पजाब में भी खास बरबादी उन लोगो की हुई जो तैमूर के रास्ते में पड़े। पंजाब के ज्यादातर लोग बिना विघ्न के अपने रोजमर्रा के कामो में लगे रहे। इसलिए हमे इस बात से होशियार रहना चाहिए कि हम इन युद्धो और हमलो के महत्व को जरूरत से ज्यादा न बढावें।

अब हमे चौदहवी और पन्द्रहवी सदियो के भारत पर नजर डालनी चाहिए। दिल्ली की सल्तनत सिकुड़ती जाती थी, यहाँ तक कि तैमूर के आने पर वह बिलकुल गायब हो गई। सारे भारत में बहुत-सी बड़ी-बड़ी आजाद रियासतें थी, जिनमें से ज्यादातर मुसलमानों की थी। लेकिन दक्षिण मे विजयनगर की एक शक्तिशाली हिन्दू रियासत थी। अब इस्लाम भारत के लिए कोई अजनबी या नवागन्तुक नही रह गया था; उसके पाँव यहाँ अच्छी तरह से जम गये थे। शुरू के अफगान हमलावरो और गुलाम बादशाहो की खूंख्वारी और क्रूरता ठंडी पड चुकी थी और मुसलमान बादशाह अब उतने ही भारतीय थे जितने कि हिंदू थे। उनका बाहरी मुल्को मे कोई रिश्ता नहीं रह गया था। विभिन्न रियासतो मे लडाइयाँ होती थी, लेकिन ये लड़ाइयाँ राजनैतिक थी, मजहबी नही। कभी-कभी कोई मुसलमान रियासत हिन्दू सिपाहियों का उपयोग करती थी और कोई हिन्दू रियासत मुसलमान सिपाहियो का। मुसलमान बादशाह अक्सर हिन्दू औरतो से शादी करते थे। अक्सर वे हिन्दुओ को वजीर बनाते थे और ऊँचे-ऊँचे ओहदे देते थे। विजेता और पराजित या शासक और शासित की कोई भावना नहीं रही थी। सच तो यह है कि ज्यादातर मुसलमान, जिनमे कुछ शासक भी थे, वे भारतीय थे जिन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया था। इनमें से बहुत-से तो इसलिए मुसलमान

बने थे कि उन पर दरबार की कृपा हो जाय या उन्हें कुछ आर्थिक लाभ हो जाय। मजहब बदल देने पर भी वे अपने पुराने बहुत से रस्म-रिवाजों को पकड़े हुए थे। कुछ मुसलमान शासकों ने लोगों को मुसलमान बनाने के लिए जबरदस्ती के तरीके अपनाये। लेकिन इसमें भी उद्देश्य ज्यादातर राजनैतिक था, क्योंकि यह समझा जाता था कि मुसलमान बनने पर लोग ज्यादा वफ़ादार प्रजा साबित होंगे। लेकिन मजहब बदलवाने में जबरदस्ती बहुत कारगर नहीं होती। आर्थिक तरीक़ा ज्यादा कारगर होता है। हरेक गैर-मुस्लिम को जज़िया नाम का टैक्स देना पड़ता था, इसलिए बहुत-से इससे बचने के लिए मुसलमान हो गये।

लेकिन ये सब बातें शहरों में हुईं। गाँवों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और लाखों देहाती अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। यह सही है कि अब सरकारी अफ़सरों ने गाँव की ज़िन्दगी में पहले से ज्यादा दखल देना शुरू कर दिया था। ग्राम-पंचायतों के पहले वाले अधिकार अब कम हो गये थे। फिर भी पंचायतों का सिलसिला जारी रहा। वे ग्रामीण जीवन की केन्द्र और रीढ़ थीं। समाजिक दृष्टि से और धर्म और रस्म-रिवाज के मामलों में गाँवों में बहुत ही कम परिवर्तन हुआ। तुम जानती हो कि भारत आज तक भी लाखों गाँवों का देश है। देखा जाय तो शहर और क़स्बे तो सिर्फ सतह के ही ऊपर बैठे हुए हैं; असली भारत हमेशा से ग्रामीण भारत रहा है और आज भी है। इस ग्रामीण भारत को इस्लाम ज्यादा नहीं बदल सका।

इस्लाम के आने से हिन्दू धर्म को दो तरह से धक्का लगा, और ताज्जुब तो यह है कि ये दोनों बातें एक दूसरे के विपरीत थीं। एक तरफ तो वह रूढ़िवादी बन गया; वह सख्त पड़ गया और हमले से बचने की कोशिश में मजबूत परकोटे के अन्दर घुस गया। जात-पाँत का बन्धन ज्यादा कठोर और अलगाव-पसन्द हो गया, परदा और स्त्रियों को बन्द करके रखना व्यापक हो गया। दूसरी तरफ जात-पाँत और बहुत अधिक पूजा-पाठ के खिलाफ एक अन्दरूनी विद्रोह सा पैदा हो गया। हिन्दू धर्म में सुधार के लिए बहुत-सी कोशिशें की गईं।

वास्तव में मारा इतिहास बताता है कि शुरू के जमाने से ही हिन्दू धर्म में सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को दूर करने की कोशिश की है। बुद्ध इनमें सबसे बड़े थे। मैंने शंकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीन सौ वर्ष बाद, ग्यारहवीं सदी में, एक और महान सुधारक पैदा हुए जो दक्षिण में चोल साम्राज्य के रहनेवाले थे और शंकर मत के प्रतिद्वन्दी मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे; रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत में फैल गया। मैंने तुम्हें बताया है कि सारे इतिहास में संस्कृति की दृष्टिसे भारत एक रहा है, राजनैतिक दृष्टि से चाहे इस देश में कितनी ही परस्पर लड़ने वाली रियासतें क्यों न रही हों। जब कोई भी महापुरुष पैदा हुआ या महान आन्दोलन उठा, वह राजनैतिक सीमाओं को पार करके सारे देश में फैल गया।

इस्लाम के भारत में जमने के बाद हिन्दुओं में और मुसलमानों में भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मजहबों के समान पहलुओं पर जोर देकर दोनों को नजदीक लाने की कोशिश करते थे और दोनों की रीतियों और आडम्बरों की निन्दा करते थे। इस तरह दोनों का संयोजन या यूं कहो कि सम्मिश्रण करने की कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योंकि दोनों तरफ बहुत वैमनस्य और तास्सुब था। लेकिन हम देखेंगे कि हर सदी में इस तरह की कोशिशें होती रहीं। यहाँ तक कि कुछ मुसलमान शासकों ने, और खासकर अकबर महान ने भी, इस तरह के संयोजन की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवीं सदी में दक्षिण में हुए, इस संयोजन का प्रचार करनेवाले सबसे पहले मशहूर धर्म गुरू थे। वह जात-पाँत के खिलाफ प्रचार करते थे और उसका बिल्कुल विचार नहीं करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोक-प्रिय हो गये। तुम शायद जानती होगी कि हिन्दी में उनके भजन आजकल उत्तर भारत के दूर-दूर के गावों तक में खूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू मुसलमान दोनों थे या दोनोंके बीच के थे और दोनों मजहबों के और सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे उनका शव एक चादर से ढक दिया गया। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफन करना चाहते थे। इस पर दोनों में वाद-विवाद और झगड़ा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई तो लोगों ने देखा

कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पड़े हुए थे। मुमकिन है कि यह कहानी बिलकुल काल्पनिक हो लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक दूसरे बड़े सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिक्ख पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिक्खों के दस गुरु हुए जिनमें आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक और नाम प्रसिद्ध है जिसका मैं यहाँ जिक्र करना चाहता हूँ। यह नाम चैतन्य का है जो सोलहवीं सदी में बंगाल के एक प्रसिद्ध विद्वान हुए और जिन्होंने यकायक यह निश्चय कर डाला कि उनका अध्ययन किसी काम का नहीं है। इसलिए उसे छोड़ कर उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया। वे एक महान भक्त बन गए और अपने शिष्यों को साथ लेकर सारे बंगाल में भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी स्थापित किया। बंगाल में आज भी उनका बहुत बड़ा प्रभाव नजर आता है।

यह तो हुई धार्मिक सुधार और संयोजन की बात। जीवन के दूसरे हिस्सों में भी इसी तरह का संयोजन, कभी जान में और ज्यादातर अनजान में, जारी था। एक नई संस्कृति, एक नई भवन-निर्माण कला और एक नई भाषा बन रही थी। लेकिन याद रक्खो कि ये सब गाँवों के बनिस्बत शहरों में, खासकर साम्राज्य की राजधानी दिल्ली में और सूबों और रियासतों की बड़ी राजधानियों में ज्यादा हो रहा था। सबसे ऊपर बादशाह इतना स्वेच्छाचारी था जितना पहले कभी भी न रहा होगा। पुराने भारतीय राजाओं की निरंकुशता को रोकने के लिए रिवाज और परम्परायें बनी हुई थीं। नये मुसलमान बादशाहों के लिए ऐसी भी कोई चीज़ न थी। यद्यपि सिद्धान्त रूप से इस्लाम में कहीं ज्यादा समता है और, जैसा कि हमने देखा है, गुलाम भी सुलतान बन सकता था, फिर भी बादशाहों की स्वेच्छाचारिता और निरंकुश सत्ता बढ़ने लगी। इसकी इससे ज्यादा हैरत में डालनेवाली मिसाल और क्या हो सकती है कि पागल तुगलक अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले गया?

गुलाम रखने का रिवाज भी, खासकर सुलतानों में, बहुत बढ़ गया था। युद्ध में गुलाम पकड़ने की खास तौर से कोशिश की जाती थी। इनमें भी शिल्पकारों की खास कदर की जाती थी। बाकी लोग सुलतान की गारद में भरती कर लिये जाते थे।

नालन्दा और तक्षशिला के महान् विश्व-विद्यालयों का क्या हुआ? इनका नाम-निशान बहुत पहले ही मिट चुका था। लेकिन नये किस्म के नये विश्वविद्यालय केन्द्र बहुत-से पैदा हो गये थे। ये 'टोल' कहलाते थे और उनमें पुरानी संस्कृत विद्या पढ़ाई जाती थी। लेकिन ये जमाने के अनुरूप नहीं थे। वे मानो गुज़रे जमाने में रहते थे और शायद प्रतिगामी भावना बनाये रखते थे। बनारस हमेशा से इस किस्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

मैंने ऊपर कबीर के हिन्दी भजनों का जिक्र किया है। मालूम होता है कि पन्द्रहवीं सदी में हिन्दी न सिर्फ जनता की बल्कि एक साहित्यिक भाषा भी बन गई थी। संस्कृत बहुत दिन पहले ही जीवित भाषा नहीं रही थी। यहाँ तक कि कालिदास और गुप्त राजाओं के जमाने में भी वह सिर्फ़ विद्वानों तक ही सीमित थी। साधारण लोग प्राकृत बोलते थे, जो संस्कृत का एक बदला हुआ रूप थी। धीरे-धीरे संस्कृत की दूसरी पुत्रियों—हिन्दी, बंगाली, मराठी और गुजराती—का विकास हुआ। बहुत-से मुसलमान लेखक और कवियों ने हिन्दी में रचनायें कीं। जौनपुर के एक मुसलमान बादशाह ने पंद्रहवीं सदी में महाभारत और भागवत का संस्कृत से बँगला में अनुवाद कराया था। दक्षिण के बीजापुर के मुसलमान शासकों के हिसाब-किताब मराठी में रक्खे जाते थे। इस तरह हम देखते हैं कि पंद्रहवीं सदी में ही संस्कृत से पैदा होने वाली ये भाषायें काफ़ी तरक्क़ी कर चुकी थीं। दक्षिण की द्रविड़ भाषायें—तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़—अलबत्ता इनसे कहीं पुरानी थीं।

मुसलमानी दरबार की ज़बान फ़ारसी थी। ज्यादातर पढ़े-लिखे आदमी, जिन्हें दरबारों से या सरकारी दफ़्तरों से कुछ भी सरोकार था, फ़ारसी पढ़ते थे। इस तरह बहुत-से हिन्दुओं ने फ़ारसी सीखी। धीरे-धीरे लश्करों और बाज़ारों में एक नई भाषा पैदा हो गई, जो उर्दू कहलाई; क्योंकि उर्दू 'लश्कर' को ही कहते हैं। असल में उर्दू कोई नई भाषा नहीं थी। यह हिन्दी ही थी जिसकी पोशाक ज़रा बदली हुई

थी; इसमें फ़ारसी के शब्द ज्यादा थे वरना थी यह हिन्दी ही। यह हिन्दी-उर्दू भाषा, या जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है हिन्दुस्तानी भाषा, सारे उत्तर और मध्य भारत में फैल गई। आज भी इसे मामूली फेर-फार से पन्द्रह करोड़ आदमी बोलते हैं और इससे कहीं ज्यादा लोग समझते हैं। इस तरह संख्या के लिहाज से यह दुनिया की एक मुख्य भाषा है।

भवन-निर्माण कला में नई-नई शैलियों का विकास हुआ। और दक्षिण के बीजापूर और विजयनगर में, गोलकुंडा में, अहमदाबाद में—जो उस समय एक बड़ा और खूबसूरत शहर था—और इलाहाबाद के नज़दीक जौनपुर में, बहुतेरी भव्य इमारतें बनी। क्या तुम्हें याद है कि हम हैदराबाद के पास गोलकुण्डा के पुराने खँडहरों को देखने गये थे? हम ने उस विशाल क़िले पर चढ़ कर देखा था कि नीचे पुराना शहर फैला हुआ है जिसके महल और बाजार आज निरे खंडहर हो गये हैं।

इस तरह जब राजा लोग आपस में लड रहे थे और एक दूसरे को नष्ट कर रहे थे, तब भारत में खामोश ताकतें सयोंजन का अनथक परिश्रम इसलिए कर रही थी कि भारत के निवासी आपस में मेलजोल से रहे और साथ जुड़ कर अपनी शक्तिया तरक्की और बेहतरी के लिए लगावें। सदियो के बाद उनको काफ़ी कामयाबी हासिल हुई। लेकिन उनका काम पूरा नही होने पाया था कि एक उलट-फेर फिर हुई और जिस रास्ते से हम आगे बढे थे उसी पर कुछ दूर वापस चले गये। हमें आज फिर उसी रास्ते पर चलना है और तमाम अच्छाइयो के सयोजन के लिए परिश्रम करना है। लेकिन इस बार इसकी बुनियाद ज्यादा पुख्ता लेनी होगी। इसका आधार आजादी और सामाजिक समता पर होना चाहिए और यह एक बेहतर ससार-व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। यह सयोजन तभी स्थायी हो सकता है।

धर्म और सस्कृति के संयोजन की इस समस्या ने भारत के बेहतर दिमाग को सैकडो वर्षों तक सलग्न रक्खा। भारत का दिमाग इसमे इतना डूबा रहा कि राजनैतिक और सामाजिक आज़ादी का खयाल ही जाता रहा। और जब योरप बीसियों विभिन्न दिशाओं में आगे बढता चला जा रहा था तब भारत जड-वत और महज़ जीता हुआ पिछडता जा रहा था।

मै तुम्हे बता चुका हूँ कि एक वक्त था जब विदेशी मडियों की बागडोर भारत के हाथ मे थी। इसकी वजह यह थी कि रसायन मे, रगो के बनाने मे और फौलाद पर पानी चढ़ाने में भारत ने बहुत तरक्की कर ली थी। इसके सिवा और भी बहुत-सी वजहे थी। भारत के जहाज़ दूर-दूर देशो को उसका सौदागरी सामान ले जाते थे। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे है, उससे बहुत पहले भारत के हाथ से यह चीज़ जाती रही थी। सोलहवी सदी में नदी वापस पूर्व की तरफ बहने लगी। शुरू में तो यह मामूली-सा झरना थी। लेकिन आगे चल कर यह बढते-बढते एक विशाल धारा बन गई।

: ७६ :

दक्षिण भारत के राज्य

१४ जुलाई, १९३२

आओ, भारत पर फिर एक नज़र डालें और रियासतों तथा साम्राज्यो के बदलते हुए दृश्य को देखे। ऐसा मालूम होता है मानो हम कोई महान और खतम न होने वाला चल-चित्र देख रहे हैं जिसमें एक के बाद दूसरी खामोश तसवीरें सामने आ रही हैं।

तुम्हें शायद खब्ती सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ की बात याद होगी और यह भी याद होगा कि दिल्ली को छिन्न-भिन्न करने में वह किस तरह सफल हुआ। दक्षिण के बड़े सूबे अलग हो गये और वहां नये राज्य बन गये। इन राज्यों में विजयनगर की हिन्दू रियासत और गुलबर्गा की मुसलमान रियासत मुख्य थी। पूर्व में गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल था, एक मुसलमान शासक की मातहती में आज़ाद हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी उसका भतीजा फ़ीरोज़शाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार

और रहमदिल था। लेकिन असहिष्णुता का अन्त नहीं हुआ था। फ़ीरोज़ एक कुशल शासक था और उसने अपने शासन में बहुत से सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबों को फिर से न पा सका, लेकिन साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था उसे उसने जरूर रोक दिया। उसे नये-नये शहर, महल, मसजिदें और बाग़ीचे बनाने का खास शौक़ था। दिल्ली के नजदीक फ़ीरोज़ाबाद और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट-फूट रही थी, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत गर्व था। और वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतों की, और मरम्मत कराई हुई पुरानी इमारतों की, एक लम्बी फेहरिस्त छोड़ गया है।

फ़ीरोज़शाह की माँ राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े सरदार की लड़की थी। कहते हैं कि उसके पिता ने पहले फ़ीरोज़ के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इस पर लड़ाई शुरू हुई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बरबाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है, तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपने को फ़ीरोज़शाह के पिता के हवाले करके इसे खतम कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फ़ीरोज़शाह में राजपूती खून था। तुम देखोगी कि मुसलमान शासकों और राजपूत स्त्रियों के बीच ऐसे अन्तर्जातीय विवाह अक्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एक जातीयता की भावना के विकास में जरूर मदद मिली होगी।

फ़ीरोज़शाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद सन् १३८८ ई० में मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढांचा, जिसे उसने जोड़ रक्खा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे शासकों की तूती बोलने लगी। अव्यवस्था और कमजोरी के इसी समय में फ़ीरोज़शाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने करीब-करीब मार ही डाला। धीरे-धीरे यह शहर फिर पनपा और पचास वर्ष बाद एक सुलतान की मातहती में एक केन्द्रीय सरकार की राजधानी फिर बन गया। लेकिन यह छोटी-सी रियासत थी और दक्षिण, पश्चिम और पूर्वी भारत के बड़े-बड़े राज्यों से उसका कोई मुकाबला नहीं था। सुलतान अफ़गान थे। वे बड़े नीचड़ लोग थे; यहाँ तक कि उन्हीं के अफ़गानी अमीर अन्त में उनसे ऊब गये और ग्लानि से भर कर उन्होंने एक विदेशी को अपने ऊपर राज्य करने के लिए यहाँ बुलाया। यह विदेशी बाबर था। बाबर मंगोल जाति का था जिसे अब हम भारत में बस जाने के बाद मुग़ल नाम से पुकारते हैं। वह तैमूर की पीढ़ी का था और उसकी माँ चँगेजखाँ के वंश की थी। उस समय वह काबुल का शासक था। उसने भारत आने का निमन्त्रण खुशी से मंजूर कर लिया। वास्तव में वह शायद बिना निमन्त्रण के ही आने वाला था। दिल्ली के नजदीक पानीपत के मैदान में, सन् १५२६ ई० में, बाबर ने भारत का साम्राज्य फतह कर लिया। एक विशाल साम्राज्य फिर पैदा हुआ, जिसे भारत का मुगल साम्राज्य कहते हैं। दिल्ली को फिर शोहरत मिली और वह साम्राज्य की राजधानी बन गई। लेकिन इस बात पर विचार करने के पहले हमें भारत के दूसरे हिस्सों पर नजर डालनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि इन डेढ़-सौ वर्षों में, जब दिल्ली का पतन हो रहा था, वहाँ क्या हो रहा था।

इस जमाने में भारत में छोटी-बड़ी बहुत-सी रियासतें थीं। नये स्थापित जौनपुर में, मुसलमानों की एक छोटी-सी रियासत थी जिस पर शरक़ी बादशाहों की हुकूमत थी। यह रियासत बड़ी या ताकतवर नहीं थी, और राजनैतिक दृष्टि से भी उसका कोई महत्व नहीं था। लेकिन पन्द्रहवीं सदी में करीब सौ वर्ष तक वह संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता का बड़ा भारी केन्द्र रही। जौनपुर के मुसलमानी कालेज सहिष्णुता के इन खयालों को फैला रहे थे और जौनपुर के एक शासक ने तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वह संयोजन स्थापित करने की कोशिश की थी, जिसका जिक्र मैं अपने पिछले खत में कर चुका हूँ। कला और नफ़ीस इमारतों, और इसी तरह हिन्दी और बंगाली जैसी देश की उन्नतिशील भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाता था। घोर असहिष्णुता के बीच जौनपुर की यह छोटी-सी और चंदरोज़ा रियासत विद्वत्ता, संस्कृति और सहिष्णुता के आश्रय-स्थान की तरह अलग खड़ी नजर आती है।

पूरब की तरफ़ ठेठ इलाहाबाद के नजदीक तक फैला हुआ गौड़ का विशाल राज्य था, जिसमें बिहार

और बंगाल शामिल थे। गौड का नगर एक बन्दरगाह था, जिसका भारत के समुद्री किनारे के शहरों के साथ समुद्र के ज़रिये यातायात संबंध था। मध्य भारत में, इलाहाबाद के पश्चिम में करीब-करीब गुजरात तक फैला हुआ मालवा का राज्य था, जिसकी राजधानी मांडू थी। यह शहर भी था और क़िला भी। इस मांडू में बहुत-सी सुन्दर और शानदार इमारतें बनीं जिनके खंडहरों को देखने के लिए अभी तक लोग जाते हैं।

मालवा के उत्तर-पश्चिम में राजपूताना था, जिसमें बहुत-सी राजपूत रियासतें थीं—खासकर चित्तौड। चित्तौड, मालवा और गुजरात में अक्सर लडाइयाँ हुआ करती थी। दोनो शक्तिशाली रियासतों के मुक़ाबिले में चित्तौड़ छोटी थी, लेकिन राजपूत लोग हमेशा बहादुर योद्धा रहे हैं। सख्या में कम होने पर भी कभी-कभी उनकी जीत हुई है। चित्तौड़ के राणा ने मालवा पर इस तरह की एक विजय के उपलक्ष में चित्तौड मे 'विजयस्तम्भ' नामकी एक सुन्दर मीनार बनवाई थी। माडू के सुलतान ने भी इससे होड़ करके मांडू में एक ऊँची मीनार बनवाई। चित्तौड की मीनार अभी तक क़ायम है; मांडू की मीनार नष्ट हो चुकी है।

मालवा के पश्चिम में गुजरात था। वहा एक जबरदस्त राज्य क़ायम हुआ और इसकी राजधानी अहमदाबाद जिसे सुलतान अहमदशाह ने बसाया था, लगभग दस लाख की आबादी का एक बडा शहर बन गया। इस शहर मे बडी खूबसूरत इमारते बनी और कहते है कि ३०० वर्ष तक, यानी पन्द्रहवी सदी से अठारहवी सदी तक, अहमदाबाद दुनिया के सबसे सुन्दर शहरो में गिना जाता था। यह एक विचित्र बात है कि इस शहर की बडी जामा मसजिद रानपुर के जैन मन्दिर से, जिसे चित्तौड़ के राणा ने इसी ज़माने में बनवाया था, बहुत मिलती है। इससे जाहिर होता है कि भारत के पुराने शिल्पकार नये विचारो से किस तरह प्रभावित हो रहे थे और एक नई शिल्प-कला को जन्म दे रहे थे। यहाँ फिर तुम्हे कला के क्षेत्र में वह सयोजन दिखाई देगा, जिसका जिक्र मै पहले कर चुका हूँ। आज भी अहमदाबाद मे इनमे से बहुत-सी सुन्दर पुरानी इमारतें मिलती है जिनमे पत्थर की खुदाई का अद्भुत काम है। लेकिन इन इमारतो के चारो तरफ जो नया औद्योगिक शहर बस गया है वह कोई खूबसूरत चीज़ नही है।

इसी समय के लगभग पुर्तगाली लोग भारत आये। तुम्हे याद ही होगा कि उत्तमाशा अन्तरीप का फेरा लगाकर वास्को दि गामा ही पहले-पहल भारत आया था। सन् १४९८ ई० में वह दक्षिण मे कालीकट पहुँचा। अलबत्ता इसके पहले भी बहुत-से योरपीय भारत आ चुके थे, लेकिन वे व्यापारी की हैसियत से या महज़ सैर करने के लिए आये थे। पुर्तगाली अब दूसरे ही खयाल से आये। इनमें अभिमान और आत्म-विश्वास भरा था और पोप ने पूर्वी दुनिया का दानपत्र इनके नाम लिख ही दिया था। ये लोग देश-विजय के इरादे से आये थे। शुरू मे इनकी तादाद कम थी लेकिन फिर जहाज़ पर जहाज आने लगे और इन्होने समुद्र तट के गोआ जैसे कुछ शहरो पर कब्ज़ा भी कर लिया। लेकिन पुर्तगाली लोग भारत में कुछ सफल न हो सके। वे देश के अन्दर कभी न घुस पाये, लेकिन भारत पर समुद्र के रास्ते आकर हमला करनेवाले पहले योरपीय यही थे। इनके बहुत दिन बाद फ़ान्सीसी और अंग्रेज़ आये। इस तरह समुद्री रास्ते खुल जाने पर भारत की सामुद्रिक कमज़ोरी ज़ाहिर हो गई। दक्षिण भारत के पुराने राज्य कमज़ोर पड़ गये थे और उनका ध्यान अन्दर से आनेवाले खतरो की तरफ ही लगा हुआ था।

गुजरात के सुलतानो ने समुद्र पर भी पुर्तगालियो का मुकाबला किया। उन्होंने उस्मानी तुर्कों से गठ-बधन करके पुर्तगाली जल-सेना को हरा दिया लेकिन बाद में पुर्तगाली जीत गये और समुद्र पर उनका कब्जा हो गया। उसी वक्त दिल्ली के मुग़ल बादशाहो के डर ने गुजरात के सुलतानो को पुर्तगालियो से सुलह करने पर मजबूर कर दिया, लेकिन पुर्तगालियो ने उन्हें धोखा दिया।

दक्षिण भारत में, चौदहवी सदी की शुरुआत में, दो बड़ी सल्तनतें उठ खडी हुई थी। एक गुलबर्गा, जिसे बहमनी सल्तनत कहते थे, और दूसरी उसके दक्षिण में विजयनगर। बहमनी सल्तनत सारे महाराष्ट्र क्षेत्र में और कर्नाटक के कुछ हिस्सो मे फैली हुई थी। यह डेढ़-सौ बरस से ज्यादा चली, लेकिन इसका इतिहास बहुत हेच है। जनता की बेहद मुसीबत के साथ-साथ असहिष्णुता, हिंसा, हत्या और सुलतानों और अमीरो की विलासिता का ज़ोर था। सोलहवी सदी की शुरुआत में अपनी घोर अयोग्यता की वजह से बहमनी सल्तनत ढह गई और उसके टुकडे होकर पाच सल्तनते बन गईं—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुडा, बीदर और बरार। इसी दरमियान विजयनगर की रियासत को बने क़रीब २०० वर्ष हो चुके थे और उस समय भी

वह खूब अच्छी हालत में थी। इन छै राज्यो के बीच अक्सर लड़ाइयां हुआ करती थी और हरेक रियासत दक्षिण का मालिक बनने की कोशिश करती थी। उनमें तरह-तरह के गठ-बंधन होते रहते थे जो बार-बार बदलते रहते थे। कभी कोई मुसलमान रियासत हिन्दू रियासत से लड़ती थी; कभी मुसलमान और हिन्दू रियासतें मिलकर किसी दूसरी मुसलमान रियासत से लड़ती थीं। यह सघर्ष निरे राजनैतिक थे और जब कभी कोई रियासत बहुत ज्यादा ताक़तवर होती मालूम पड़ती तो दूसरी रियासते उसके खिलाफ़ संगठित हो जाती थी। आखिर विजयनगर की ताकत और दौलत ने मुसलमान रियासतों को उसके विरुद्ध एक होने के लिए रुजू कर दिया और सन् १५६५ ई० मे, तलीकोट के युद्ध में वे इसे पूरी तरह कुचलने में सफल हो गईं। विजयनगर का साम्राज्य ढाई-सौ वर्ष बाद खतम होगया और यह विशाल और शानदार शहर बिलकुल नष्ट हो गया।

पर कुछ ही दिन बाद इन विजयी इत्तिहादी रियासतो मे फूट पड गई और वे आपस मे लड़ने लगी। और बहुत दिन न बीतने पाये थे कि उन सब पर दिल्ली के मुगल साम्राज्य की छाया पड गई। इनके लिए पुर्तगाली एक और मुसीबत थे जिन्होने सन् १५१० ई० मे गोआ पर कब्जा कर लिया। यह बीजापुर रियासत में था। उनका पैर उखाडने की हरचन्द कोशिशो के बावजूद भी वे गोआ मे डटे रहे और उनका नेता अलबुकर्क, जिसे 'पूर्व के वाइसराय' का शानदार खिताब था, क्रूरता की घृणित कार्रवाइयो में लग गया। पुर्तगालियों ने कत्ले-आम कर डाला और औरतो और बच्चो को भी नही बख्शा। तब से आज तक पुर्तगाली गोआ में बराबर बने रहे है।

इन दक्षिण रियासतो में, खासकर विजयनगर, गोलकुडा और बीजापुर मे, बड़ी सुन्दर इमारते बनी। गोलकुंडा तो अब खंडहर हो गया है; बीजापुर में अभी तक इनमे से बहुतसी सुन्दर इमारते मौजूद है; विजयनगर मिट्टी में मिला दिया गया और अब उसका नाम-निशान भी नही है। इसी जमाने मे हैदराबाद का शहर गोलकुडा के नजदीक बसाया गया। कहा जाता है कि बाद में दक्षिण के राजगीर और कारीगर उत्तर की तरफ चले गये और उन्होने आगरे का ताजमहल बनाने में मदद दी।

एक दूसरे के धर्मों के प्रति आमतौर पर उदारता के होते हुए भी कभी-कभी कट्टरता और असहिष्णुता फट पडती थी। लड़ाइयों मे अक्सर भयकर हत्याए और बरबादी हुआ करती थी। फिर भी याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि बीजापुर की मुसलमान रियासत में हिन्दू घुडसवार फौज थी, और विजयनगर की हिन्दू रियासत में कुछ मुसलमान सिपाही थे। मालूम होता है कि उस समय काफी ऊँचे पाये की सभ्यता थी। लेकिन यह सब रईसों का खेल था; खेत में काम करनेवाला मजदूर इससे बिलकुल अलग था। वह ग़रीब था, फिर भी जैसा हमेशा होता है, वह रईसो की घोर विलासिता का बोझ बरदाश्त करता था।

: ७७ :

विजयनगर

१५ जुलाई, १९३२

पिछले पत्र में दक्षिण के जिन राज्यों की चर्चा हमने की है, उनमे विजयनगर का इतिहास सबसे लम्बा है। ऐसा हुआ कि बहुत-से विदेशी यात्री वहाँ आये और इस राज्य और शहर का हाल लिख गये है। निकोलो कोण्टी नाम का एक इटालवी सन् १४२० ई० में आया था। हिरात का अब्दुर-रज्जाक मध्य-एशिया से खान महान के दरबार से सन् १४४३ ई० में आया था। पेईज नाम का एक पुर्तगाली सन् १५२२ ई० में इस शहर में आया, और इसी तरह और भी बहुत-से लोग आये। भारत का एक इतिहास भी है जिसमें दक्षिण भारत की रियासतों का, खासकर बीजापुर, का हाल है। यह इतिहास, जिस युग की हम चर्चा कर रहे हैं, उससे थोड़े ही दिन बाद अकबर के जमाने में, फ़रिश्ता ने फारसी में लिखा था। तत्कालीन इतिहास अक्सर पक्षपात और अतिशयोक्ति से भरे हुआ करते है, लेकिन उनसे मदद बहुत मिलती है। काश्मीर की

'राजतरंगिणी' को छोड़कर मुसलमानों के पहले के जमाने का कोई इतिहास नही मिलता। इसलिए फ़रिश्ता का इतिहास एक बिल्कुल नई चीज थी। इसके बाद औरों ने भी लिखा।

विदेशी यात्रियों ने विजयनगर के जो वर्णन लिखे है उनसे इस शहर की सही और निष्पक्ष तस्वीर हमारे सामने आजाती है। इनसे हमें जितनी बाते मालूम होती है उतनी उन खेदजनक युद्धों के वर्णनो से नही मालूम होती जो अक्सर हुआ करते थे। इसलिए मैं तुम्हें कुछ वे बातें बताऊँगा जो इन लोगों ने लिखी हैं।

विजयनगर की बुनियाद सन् १३३६ ई० के क़रीब पडी। यह शहर दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रदेश में था। चूकि यह हिन्दू राज्य था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि दक्षिण की मुसलमानी रियासतों से बहुत से शरणार्थी वहा आ पहुँचे। यह तेजी से बढने लगा। कुछ ही साल में इस राज्य ने दक्षिण मे अपना प्रभुत्व जमा लिया। और इसकी राजधानी पर उसकी दौलत और खूबसूरती की वजह से लोगो का ध्यान आकर्षित होने लगा। विजयनगर दक्षिण में सबसे प्रभावशाली राज्य बन गया।

फ़रिश्ता ने इसके महान ऐश्वर्य का ज़िक्र किया है और सन् १४०६ ई० मे, जब गुलबर्गा का एक मुसलमान बहमनी बादशाह विजयनगर की एक राजकुमारी से शादी करने वहा पहुचा, तब राजधानी की क्या हालत थी, इसका वर्णन किया है। फ़रिश्ता लिखता है कि सड़क के ऊपर छै मील तक ज़री, मखमल और इसी किस्म की कीमती चीजे बिछाई गई थी। धन की यह कितनी भयकर और लज्जा-जनक बरबादी थी!

सन् १४२० ई० में इटालवी निकोलो कॉण्टी आया। उसने लिखा है कि शहर का घेरा साठ मील का था। यह विस्तार इतना विशाल इसलिए था कि इसमें बहुत-से बगीचे थे। कॉण्टी की यह राय थी कि विजयनगर का शासक, जो राय कहलाता था, उस समय भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था।

इसके बाद मध्य-एशिया से अब्दुर-रज्जाक आया। विजयनगर जाते हुए इसने मंगलूर के पास एक अद्भुत मन्दिर देखा जो खालिस पीतल को गला कर ढाला गया था। वह १५ फुट ऊँचा था और उसकी कुर्सी ३० फुट लम्बी और ३० फुट चौडी थी। उत्तर की ओर आगे बेलूर में वह एक दूसरे मदिर को देखकर और भी हैरत में आ गया। उसने इस मदिर का वर्णन करने की कोशिश नही की क्योंकि उसे डर था कि अगर वह ऐसा करेगा तो लोग उसपर "अतिशयोक्ति का इलजाम लगावेंगे।" इसके बाद वह विजयनगर पहुँचा और इसके वर्णन मे तो वह अपने-आप को ही भूल गया है। उसने लिखा है—"यह शहर ऐसा है कि सारी दुनिया मे इसकी बराबरी की जगह न तो आँखो ने देखी, न कानों ने सुनी।" बाजारों के बारे मे वह लिखता है—"हरेक बाज़ार के सिरे पर ऊँचे मेहराबो की श्रेणी और शानदार दालान हैं, लेकिन राजा का महल इन सबसे ऊँचा है।" "बाज़ार बहुत लम्बे-चौडे है।. . .मीठी खुशबूदार ताजा फूल इस शहर में हरवक्त मिलते है और जीवन का आधार ही समझे जाते है, मानो इनके बिना लोग ज़िन्दा ही नही रह सकते। एक पेशे या दस्तकारी के व्यापारियो की दूकानें पास-पास है। जौहरी लोग अपने माणक, मोती, हीरे और पन्ने बाज़ार में खुले आम बेचते है।" अब्दुर-रज्ज़ाक ने आगे चलकर लिखा है कि "इस मनोहर इलाके मे, जिसमें राजा का महल है, बहुत-सी छोटी नदियाँ और धाराए है जो चमकदार और एक-समान कटे हुए पत्थरों की बनी नालियो में होकर बह रही है। यह देश इतना घना बसा हुआ है कि थोडी-सी जगह मे इसका अन्दाज़ लिख सकना नामुमकिन है।" और पद्रहवी सदी के मध्य मे आया हुआ मध्य-एशिया का यह यात्री विजयनगर के वैभव की प्रशंसा के पुल बाँधता हुआ इसी तरह लिखता चला गया है।

यह खयाल हो सकता है कि अब्दुर-रज्जाक बहुत-से बड़े-बड़े शहरो से परिचित नही था, इसलिए जब उसने विजयनगर को देखा तो वह हक्का-बक्का हो गया। लेकिन इसके बाद आने वाला यात्री काफी सफर किया हुआ था। यह पेईज नाम का पुर्तगाली सन् १५२२ ई० में आया था। यह ठीक वही समय था जब इटली पर रिनैसाँ का प्रभाव पड रहा था और इटली के शहरो में खूबसूरत इमारते खड़ी हो रही थी। पेईज़ को बहुत करके इटली के इन शहरो का पता था, इसलिए उसकी शहादत की बहुत कीमत है। उसने लिखा है कि विजयनगर का शहर "रोम के बराबर बडा है, देखने में बहुत सुन्दर मालूम होता है।" उसने इस शहर के अचम्भों का और इसकी अनेक झीलो, पानी के सोतों और फल के बग़ीचो की मनोहरता का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। उसने लिखा है कि यह शहर "दुनिया भर में सबसे भरा-पूरा है. . . . . क्योंकि इस शहर की हालत वैसी नहीं है जैसी दूसरे शहरों की होती है, जहाँ अक्सर ज़रूरी चीज़ों की और रसद की कमी पड़ जाया करती है, क्योंकि यहाँ हरेक चीज की इफ़रात है।" राजमहल में इसने एक कमरा

देखा था जो "सारा हाथी दांत का बना हुआ था। कमरे की दीवारों पर ऊपर से नीचे तक और छत की कड़ियों के खम्भों पर सारे के सारे हाथी दांत के गुलाब और कमल बने हुए थे। और ये सब इतनी खूबसूरती से बनाये गए थे कि इनसे बेहतर बन ही नहीं सकते थे। यह इतना कीमती और सुन्दर है कि इस तरह का दूसरा कहीं भी मुश्किल से मिलेगा।"

पेईज़ ने विजयनगर के तत्कालीन राजा का भी वर्णन किया है। यह दक्षिण भारत के इतिहास में एक महान राजा हुआ है और एक महान योद्धा, शत्रुओं पर दया दिखाने वाला, साहित्य का पोषक और लोकप्रिय तथा उदार शासक के रूप में उसकी कीर्ति दक्षिण में अभी तक बाकी है। इसका नाम कृष्णदेव राय था। इसने सन् १५०९ से १५२९ ई० तक, बीस वर्ष राज्य किया। पेईज़ ने उसकी लम्बाई, और शकल-सूरत और उसके गोरे रंग का भी बयान किया है। "यह राजा इतना भय-सचारक और सर्वगुण-सम्पन्न है जितना कि ज्यादा से ज्यादा कोई हो सकता है। यह खुशमिज़ाज और बड़ा विनोदी है। यह विदेशियों की इज्ज़त करना चाहता है, उनका आदरपूर्वक स्वागत करता है और, उनकी हालत चाहे जो हो, उनकी सारी घरू बातें पूछता है।" इस राजा की अनेक उपाधियां गिनाने के बाद पेईज़ लिखता है—"लेकिन सच तो यह है कि वह ऐसा बाँका और हर फ़न में उस्ताद है कि जो कुछ उसके पास है वह उसके जैसे आदमी के लिए कुछ भी नहीं है।"

वास्तव में कितनी ऊँची प्रशसा है यह! विजयनगर का साम्राज्य इस वक्त सारे दक्षिण में और पूर्वी समुद्री किनारे पर फैला हुआ था। इसके अन्दर मैसूर, त्रावणकोर और आजकल के मद्रास का सारा सूबा आ जाता था।

एक और भी चीज़ का मैं जिक्र करूंगा। सन् १४०० ई० के करीब शहर में अच्छा पानी लाने के लिए बहुत बड़ी नहरें बनाई गई थीं। एक नदी सारी की सारी बाँध से रोक दी गई थी और एक बड़ा तालाब बना दिया गया था। इसी जगह से १५ मील लम्बी नहर के ज़रिये, जो पहाड़ को काट कर बनाई गई थी, शहर को पानी जाता था।

विजयनगर ऐसा ही था। इसे अपनी दौलत और खूबसूरती पर नाज़ था और अपनी ताकत पर ज़रूरत से ज्यादा भरोसा था। किसी को यह खयाल भी नहीं था कि इस शहर और साम्राज्य का अन्त इतना नजदीक है। पेईज़ के आने के ४३ वर्ष बाद ही एकदम से खतरा पैदा हो गया। दक्षिण की दूसरी रियासतों ने ईर्ष्या के कारण विजयनगर के विरुद्ध एक गुट्ट बना लिया और इसे नष्ट करने का इरादा कर लिया। उस वक्त भी विजयनगर बेवकूफों की तरह अपनी ताकत के घमंड में रहा। पर जल्द ही उसका अन्त हो गया और इस अन्त की परिपूर्णता बड़ी भीषण थी।

जैसा मैंने तुम्हें बताया है, सन् १५६५ ई० में रियासतों के इस गुट्ट ने विजयनगर को हरा दिया। ज़बरदस्त नर-सहार हुआ और उसके बाद यह विशाल नगर लूट लिया गया। तमाम सुन्दर इमारतें, मंदिर और महल बरबाद कर दिये गये। निहायत नफीस पत्थर की खुदाई और मूर्तियां चकनाचूर कर डाली गईं और जितनी भी चीज़ें जलाई जा सकती थीं उनकी बड़ी-बड़ी होलियाँ जला दी गईं। यह शहर यहाँ तक बरबाद किया गया कि सिर्फ खंडहरों के ढेर बाकी रह गये। एक अंग्रेज़ इतिहासकार कहता है, "दुनिया के इतिहास में ऐसे शानदार शहर का सत्यानाश, और वह भी ऐसा अचानक, शायद कभी भी नहीं किया गया। वह शहर, जो एक दिन सब तरह से खुशहाल, दौलतमंद और परिश्रमी आबादी से घना हो रहा था, दूसरे ही दिन वहशियाना नर-सहार के दृश्यों और अवर्णनीय बीभत्सताओं के बीच दूसरों के कब्ज़े में आया, लूटा गया और खंडहर बना दिया गया।"

: ७८ :

मज्जापहित और मलक्का का मलेशिया साम्राज्य

१७ जुलाई, १९३२

हमने मलेशिया और पूर्वी द्वीपों की तरफ इधर बहुत कम ध्यान दिया है और इनके बारे में लिखे हुए बहुत दिन हो गये। मैंने उलट कर देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैंने अपने ४६ नम्बर के पत्र मे इनका हाल लिखा था। उस वक्त से अब तक इकत्तीस पत्र हो गये और अब हम ७८वे नम्बर तक आ पहुँचे है। सब देशों को साथ-साथ लेना मुश्किल काम है।

आज से ठीक दो महीने पहले मैंने जो कुछ तुम्हें लिखा था वह तुम्हे कुछ याद है? क्या कम्बोडिया, अंगकोर, सुमात्रा और श्रीविजय याद है? क्या तुम्हें याद है, कि हिन्दी चीन की पुरानी भारतीय बस्तिया कई सौ वर्षों के दौरान में किस तरह बढ कर एक बड़ी रियासत—काम्भोज का साम्राज्य—बन गई। और फिर प्रकृति का चक्र जो चला तो उसने इस नगर और साम्राज्य को कठोरता से और एकदम खतम कर दिया। यह सन् १३०० ई० के लगभग की बात है।

इसी काम्भोजी साम्राज्य की लगभग समकालीन एक दूसरी बडी रियासत समुद्र के उस पार सुमात्रा के टापू मे थी। लेकिन श्रीविजय, साम्राज्य बनाने की दौड़ मे कुछ देर बाद शामिल हुआ था और काम्भोज के बाद तक कायम रहा। इसका अन्त भी बहुत करके एकदम हुआ, लेकिन यह क़ुदरत का नही बल्कि आदमी का काम था। तीन सौ वर्षों तक श्रीविजय का बौद्ध साम्राज्य फूला-फला। पूर्व के लगभग सारे टापुओ पर उसका अधिकार था और कुछ दिन तो उसने भारत, लका और चीन में भी पैर रखने की जगह निकाल ली थी। यह व्यापारिक साम्राज्य था और तिजारत इसका खास काम था। लेकिन उसी समय जावा द्वीप के पूर्वी हिस्से मे एक और व्यापारिक साम्राज्य उठ खड़ा हुआ। यह एक हिन्दू राज्य था जिसने श्रीविजय के सामने सर झुकाने से इन्कार कर दिया।

नवी सदी के शुरू से चार सौ वर्ष तक पूर्वी जावा के इस राज्य को श्रीविजय की बढती हुई ताक़त का खतरा बना रहा। लेकिन यह अपनी आज़ादी कायम रखने में कामयाब रहा और साथ ही इसने आश्चर्य-जनक सख्या मे पत्थर के सुन्दर मन्दिर बनवाये। इन मन्दिरों मे सब से मशहूर बोरोबुदर के मन्दिर कहलाते है जो अभी तक मौजूद हैं और जिन्हे देखने के लिए अनेक यात्री जाते है। श्रीविजय के राज्य मे शामिल होने से बच जाने पर पूर्वी जावा खुद सरजोर हो गया और अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी श्रीविजय के लिए उलटा एक खतरा बन गया। दोनो व्यापारिक राज्य थे और दोनो के जहाज़ व्यापार के लिए समुद्रो को पार करते थे, इसलिए दोनो की आपस में अक्सर टक्कर होती रहती थी।

मेरा दिल चाहता है कि जावा और सुमात्रा की इस होड का जर्मनी और इंग्लैण्ड जैसी आजकल की ताकतो में चलने वाली होड से मुकाबिला करूँ। यह महसूस करके कि श्रीविजय को रोकने का और अपनी तिजारत को बढाने का सिर्फ एक ही उपाय है कि अपनी जलसेना को मजबूत किया जाय, जावा ने अपनी समुद्री ताकत खूब बढ़ा ली। बड़े-बड़े जंगी बेडे लडाई के लिए भेजे जाते थे, लेकिन वर्षों तक इनका मुक़ाबला दुश्मन से नही होता था। इस तरह जावा बढ़ता चला गया और दिन-दिन सरजोर होने लगा। तेरहवी सदी के अखीर में मज्जापहित नामक शहर बसाया गया और यह जावा के बढते हुए राज्य की राजधानी हो गया।

यह जावा राज्य इतना गुस्ताख और घमण्डी हो गया कि इसने खान महान कुबलाई के एलचियो को, जो खिराज लेने के लिए यहाँ भेजे गये थे, अपमानित तक कर डाला। यही नही कि खिराज न दिया हो, बल्कि एक एलची के माथे पर अपमानजनक सन्देशा गोद दिया गया। मंगोल खान के साथ इस तरह का खिलवाड़ करना बहुत ही खतरनाक और बेवकूफ़ी की बात थी। ऐसे ही अपमान के फलस्वरूप चंगेज़ के हाथो मध्य एशिया का विनाश हुआ था और बाद में हलाकू के हाथों बग़दाद का। फिर भी जावा के टापू-वाले छोटे से राज्य ने ऐसी जुर्रत की। लेकिन जावा की खुशकिस्मती थी कि मंगोल लोग बहुत कुछ ठंडे पड़ गए थे और उन्हें विजय की कोई इच्छा नही थी। समुद्री लड़ाई भी उन्हें बहुत पसन्द न थी; उन्हें

तो ठोस ज़मीन पर ज्यादा ताक़त मालूम होती थी। फिर भी कुबलाई ने जावा के अपराधी राजा को सज़ा देने के लिए फ़ौज भेजी। चीनियों ने जावानियों को हरा दिया और उनके राजा को मार डाला। लेकिन मालूम होता है उन्होंने ज्यादा नुक़सान नहीं किया। चीनी असर से मंगोलों में कितनी तब्दीली आगई थी!

देखा जाय तो वास्तव में इस चीनी हमले के फलस्वरूप जावा, जिसे अब हम मज्जापहित साम्राज्य कहेंगे, अन्त में और भी ज्यादा मजबूत हो गया। इसका कारण यह था कि चीनियों ने जावा में बन्दूकों का उपयोग जारी कर दिया और शायद इन बन्दूकों के उपयोग की ही वजह से मज्जापहित को आगे चल कर लड़ाइयों में कामयाबी हुई।

मज्जापहित का साम्राज्य फैलता गया। लेकिन यह कोई संयोग से बेढंगेपन से नहीं हुआ। यह साम्राज्यवादी विस्तार था जिसका संचालन राज्य की ओर से होता था और जिसे एक कुशल थल और जल सेना पूरा करती थी। विस्तार के इस ज़माने के कुछ हिस्से में महारानी सुहिता यहाँ की शासक थी। शासन व्यवस्था, मालूम होता है बहुत ही केन्द्रित और कारगर थी। पश्चिमी इतिहासकारों ने लिखा है कि कर लगाने की, चुंगी की राहदारी की और सरकारी आमदनी की प्रणाली आला दर्जे की थी। सरकार के विभिन्न महकमों में से कुछ ये थे—औपनिवेशिक विभाग, व्यापार विभाग, सार्वजनिक भलाई और सार्वजनिक-स्वास्थ्य का विभाग, गृह विभाग और युद्ध विभाग। एक सबसे ऊँची अदालत थी जिसमें दो अध्यक्ष और सात जज हुआ करते थे। मालूम होता है ब्राह्मण पुरोहितों को बहुत अख्तियार थे, लेकिन कहने को राजा इनपर अंकुश रखता था।

ये विभाग और इनमें से कुछ के नाम भी हमें कुछ हद तक कौटिल्य के अर्थशास्त्र की याद दिलाते हैं। लेकिन औपनिवेशिक विभाग नया था। राज्य के अन्दरूनी इन्तज़ाम से सम्बन्ध रखने वाले गृह विभाग का वज़ीर 'मन्त्री' कहलाता था। इससे ज़ाहिर होता है कि भारतीय परम्परायें और संस्कृति इन द्वीपों में दक्षिणी भारत के पल्लवों की पहली बस्ती बसने के १२०० वर्ष बाद तक कायम रही। यह तभी हो सकता था जब सम्पर्क बराबर बना रहा हो, और इसमें शक नहीं कि इस प्रकार का सम्पर्क व्यापार के ज़रिये बना हुआ था।

चूँकि मज्जापहित एक व्यापारिक साम्राज्य था इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि निर्यात और आयात के व्यापारों की व्यवस्था सावधानी के साथ की जाती। निर्यात उस व्यापार को कहते हैं, जिसमें माल विदेशों को भेजा जाता है और आयात उस व्यापार को कहते हैं जिसमें बाहर के देशों से अपने मुल्क में माल आता है। यह व्यापार खास तौर से भारत, चीन और उसके अपने उपनिवेशों से हुआ करता था। जब श्रीविजय से लड़ाई ठनी हुई थी तब उसके साथ या उसके उपनिवेशों के साथ, शान्तिपूर्ण व्यापार मुमकिन नहीं था।

जावा का राज्य कई सौ वर्षों तक रहा, लेकिन मज्जापहित साम्राज्य का महान युग सन् १३३५ से १३८० ई० तक, यानी ठीक ४५ वर्ष का था। इसी ज़माने में, सन् १३७७ ई० में, श्रीविजय पर अन्तिम-रूप से क़ब्ज़ा हुआ और वह नष्ट कर दिया गया। अनाम, स्याम और काम्भोज के साथ मज्जापहित की सन्धियाँ थीं।

मज्जापहित की राजनगरी बहुत सुन्दर और सम्पन्न थी। शहर के बीचों-बीच शिव का बहुत बड़ा मन्दिर था। इसके अलावा बहुत-सी शानदार इमारतें थीं। सच तो यह है कि मलेशिया के सारे भारतीय उपनिवेशों ने सुन्दर इमारतें बनाने में कमाल हासिल किया था। जावा में और भी बड़े-बड़े शहर और बन्दर-गाह थे।

यह साम्राज्यवादी राज्य अपने पुराने दुश्मन श्रीविजय के बाद ज्यादा दिन तक नहीं टिका। घरेलू लड़ाई शुरू हो गई और चीन से भी झगड़ा हो गया। नतीजा यह हुआ कि चीनी जहाज़ों का एक बड़ा बेड़ा जावा पर चढ़ आया। उपनिवेश धीरे-धीरे टूट-टूट कर अलग होते गये। सन् १४२६ ई० में बड़ा भारी अकाल पड़ा और दो वर्ष बाद मज्जापहित साम्राज्य नहीं रह गया। फिर भी यह एक स्वतन्त्र राज्य की हैसियत से पचास वर्ष और चलता रहा। इसके बाद मलक्का के मुसलमान राज्य ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इस तरह मलेशिया की पुरानी भारतीय बस्तियों से पैदा होने वाले साम्राज्यों में से तीसरा साम्राज्य खतम हुआ। अपने छोटे-छोटे पत्रों में हमने बड़े-बड़े युगों को निबटाया है। भारत के प्रवासी पहले-पहल

ईसाई सन् की शुरूआत के लगभग यहाँ आये थे और इस वक्त हम पन्द्रहवीं सदी का ज़िक्र कर रहे हैं। यानी हमने इन उपनिवेशों के इतिहास के १४०० वर्षों का सिंहावलोकन कर लिया है। हमने जिन तीन साम्राज्य-वादी राज्यों, यानी काम्भोज, श्रीविजय और मज्जापहित पर खास तौर से गौर किया है, उनमें से हरेक सैकड़ो वर्ष क़ायम रहा। इन लम्बे युगों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि इनसे इन राज्यों की पायेदारी और कार्यकुशलता का कुछ अन्दाज़ हो जाता है। सुन्दर इमारतो से उन्हें विशेष प्रेम था और व्यापार उनका मुख्य धन्धा था। वे भारतीय संस्कृति की परम्परा क़ायम रखे हुए थे और इसमें उन्होने चीनी संस्कृति के अनेक तत्वो को भी मधुरता से मिला लिया था।

तुम्हे यह याद होगा कि जिन तीन भारतीय उपनिवेशों का मैंने खासतौर पर ज़िक्र किया है, उनके अलावा और भी बस्तियाँ थी। लेकिन हम हरेक पर अलग-अलग ध्यान नही दे सकते; और न मै दो पड़ौसी देशो, यानी ब्रह्मा और स्याम, के बारे में ही कुछ ज्यादा कह सकता हूँ। इन दोनो देशो में भी बड़े ताकतवर राज्य बने और कला की प्रवृत्ति ने खूब जोर पकड़ा। दोनों में बौद्ध-धर्म फैला। ब्रह्मा पर मंगोलों ने एक बार हमला किया था लेकिन स्याम पर चीनवालों ने कभी हमला नही किया। लेकिन ब्रह्मा और स्याम दोनो अक्सर चीन को खिराज देते थे। यह इस किस्म की भेंट थी, जैसी कोई बा-अदब छोटा भाई बड़े भाई को पेश करे। इस खिराज के बदले छोटे भाई के पास चीन से कीमती तोहफे आते थे।

मगोलो का हमला होने के पहले ब्रह्मा की राजधानी पगान थी। यह शहर उत्तरी ब्रह्मा में था। यह शहर २०० वर्षों से ज्यादा राजधानी रहा। कहते है, यह शहर बड़ा खूबसूरत था और अंगकोर के अलावा कोई दूसरा शहर इसका मुक़ाबला नही कर सकता था। इसकी सबसे बढ़िया इमारत आनन्द मन्दिर था जो बौद्ध स्थापत्य-कला के दुनिया भर में सबसे खूबसूरत नमूनो में गिना जाता है। इसके अलावा और भी बहुत-सी शानदार इमारते थी। सच तो यह है कि आज पगान शहर के खँडहर तक भी सुन्दर है। पगान की शान का ज़माना ग्यारहवी से तेरहवी सदी तक था। इसके बाद कुछ दिन ब्रह्मा में कुछ झगड़ा और गडबड रही और उत्तरी ब्रह्मा दक्षिणी ब्रह्मा से अलग हो गया। सोलहवी सदी में दक्षिण मे एक बडा राजा पैदा हुआ और उसने ब्रह्मा को फिर एक कर दिया। उसकी राजधानी पेगू में थी, जो दक्षिण में है।

मुझे उम्मीद है कि ब्रह्मा और स्याम के इस सक्षिप्त और अचानक ज़िक्र से तुम उलझन में न पड़ोगी। हम मलेशिया और हिन्देशिया के इतिहास के एक अध्याय के अन्त तक पहुँच गए है और मै अपना सिंहाव-लोकन पूरा कर लेना चाहता हूँ। अभी तक इन हिस्सो पर राजनैतिक और सास्कृतिक जो भी मुख्य प्रभाव पड़े उनका उद्गम भारत और चीन था। जैसा कि मै तुम्हे बता चुका हूँ, एशिया महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी देशो, यानी ब्रह्मा स्याम और हिन्द-चीन पर चीन का ज्यादा प्रभाव पड़ा था। द्वीपो और मलाया प्रायद्वीप पर भारत का ज्यादा असर पडा था।

अब एक नया असर मैदान मे आता है। यह अरबो का लाया हुआ था। ब्रह्मा और स्याम तो इससे बच गये पर मलाया और टापू प्रभावित हो गये और थोड़े ही दिनो में एक मुसलमान साम्राज्य बनने लगा।

अरब व्यापारी इन टापुओ में हजार या अधिक वर्षों से आते थे और बसते गये थे, । लेकिन इनका सारा ध्यान अपने धन्धे में ही रहता था और ये किसी और मामले में हुकूमत के काम-काज मे दखल नही देते थे। चौदहवी सदी में अरबी धर्मोपदेशक अरब से यहाँ आये और उन्हें कामयाबी हुई, खास तौर से कुछ स्थानीय शासकों को मुसलमान बनाने मे।

इसी दरमियान राजनैतिक तब्दीलिया शुरू हो गई थी। मज्जापहित फैल रहा था और श्रीविजय को कुचल रहा था। जब श्रीविजय का पतन हुआ तो बहुत-से शरणार्थी भागकर मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण मे जा बसे। वहाँ उन्होने मलक्का नाम का शहर स्थापित किया। यह शहर और राज्य तेजी से बढे और सन् १४०० ई० में ही मलक्का एक बडा शहर हो गया था। मज्जापहित के जावानी लोगो को उनकी प्रजा के लोग पसन्द नही करते थे। जैसा आमतौर पर साम्राज्यवादियों का तरीका होता है, ये लोग ज़ालिम थे, इसलिए बहुत-से लोगों ने मज्जापहित मे रहने की बनिस्बत मलक्का के नये राज्य में जा बसना बेहतर समझा। स्याम भी इस वक्त कुछ ज्यादा सरज़ोर हो रहा था। इसलिए मलक्का बहुत-से लोगों का आश्रय स्थान बन गया। यहाँ मुसलमान और बौद्ध दोनों थे। यहाँ के शासक पहले तो बौद्ध थे लेकिन बाद में उन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया।

मलक्का के नये राज्य को एक तरफ़ जावा से और दूसरी तरफ स्याम से खतरा था। इसने टापुओं की दूसरी छोटी-छोटी मुसलमान रियासतों से दोस्ती और गठ-बन्धन करने की कोशिश की। इसने रक्षा के लिए चीन से भी मदद माँगी। उस वक़्त मिंग लोग, जो मंगोलो को हरा चुके थे, चीन में राज कर रहे थे। यह मार्के की बात है कि मलेशिया की छोटी-छोटी सब मुसलमान रियासतों ने एक साथ ही रक्षा के लिए चीन का मुह ताका। इससे जाहिर होता है कि इन्हे ताक़तवर दुश्मनो का कोई तुरन्त खतरा रहा होगा।

मलेशिया के देशो के प्रति चीन ने हमेशा से दोस्ताना पर रौबदार अलहदगी की नीति बरती। वह विजय के लिए उत्सुक नही था। उसका खयाल था कि इन देशो से उसे कोई लाभ नही प्राप्त हो सकता, लेकिन वह इन्हें अपनी सभ्यता सिखाने के लिए तैयार था। ऐसा लगता है कि मिंग सम्राट ने इस पुरानी नीति को बदलने का और इन देशो में ज्यादा दिलचस्पी लेने का निश्चय किया। लेकिन जान पडता है कि उसने जावा और स्याम की सरज़ोरी को पसद नही किया। इसलिए इनको रोकने और दूसरों पर चीन की ताक़त का सिक्का जमाने के इरादे से उसने एक विशाल जहाज़ी-बेड़ा जल सेनापति चेंग-हो की मातहती मे भेजा। इस बेडे में कई जहाज़ ४०० फुट लम्बाई के थे।

चेंग-हो कई बार आया-गया और उसने करीब-क़रीब सभी टापुओं—फिलिपाइन, जावा, सुमात्रा, मलाया प्रायद्वीप, वग़ैरा का दौरा किया। वह लका तक भी जा पहुँचा और उसे जीत कर उसके राजा को चीन पकड़ ले गया। अपने आखिरी धावे में वह ईरान की खाडी तक पहुँच गया था। पन्द्रहवी सदी की शुरूआत मे चेंग-हो की इन यात्राओ का उन सब देशो पर जबरदस्त असर पडा, जहा-जहां वह गया था। हिन्दू मज्जापहित और बौद्ध स्याम को दबाने के लिए उसने जान-बूझकर इस्लाम को प्रोत्साहन दिया और मलक्का की रियासत उसके विशाल बेड़े की छत्र-छाया मे बहुत मज़बूती से जम गई। इसमें शक नही कि चेंग-हो की नीयत ठेठ राजनैतिक थी और धर्म मे इसका कोई ताल्लुक न था। वह खुद बौद्ध था।

इस तरह मलक्का की रियासत मज्जापहित के विरोधियो की अगुआ बन गई। इसकी ताकत बढने लगी और इसने धीरे-धीरे जावा के उपनिवेशो पर कब्ज़ा कर लिया। सन् १४७८ ई० मे मज्जापहित शहर पर भी क़ब्ज़ा हो गया। फिर तो इस्लाम दरबार का और शहरो का मजहब बन गया। लेकिन देहात में, भारत की तरह, पुराने विश्वास और गाथाएं और रिवाज जारी रहे।

मलक्का का साम्राज्य श्रीविजय और मज्जापहित की तरह महान और दीर्घायु हो सकता था, लेकिन इसे मौका न मिला। इस बीच मे पुर्तगाली आ धमके और कुछ वर्षो के अन्दर, सन् १५११ ई० मे, इस पर उनका कब्ज़ा हो गया। इस तरह चौथे की जगह पाँचवे साम्राज्य ने ले ली और वह भी बहुत दिनो तक टिका न रहा। इतिहास मे पहली बार पूर्वी समुद्रो में योरप सरजोर और हावी हो गया।

: ७६ :

योरप पूर्वी एशिया को हड़पना शुरू करता है

१९ जुलाई, १९३२

हमने अपना आखिरी पत्र उस मौके पर खतम किया था, जब मलेशिया मे पुर्तगाली आगये थे। तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें कुछ दिन पहले बताया था कि समुद्र के रास्ते कैसे मालूम किये गये और पुर्तगाल और स्पेन के लोगों में पहले पूर्व पहुँचने के लिए कैसी दौड़-सी मची थी। पुर्तगाल पूर्व की तरफ गया और स्पेन पश्चिम की तरफ़। पुर्तगाल अफ़रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँच गया। स्पेन गलती से अमरीका से जा टकराया और बाद मे दक्षिण अमरीका का चक्कर काटकर मलेशिया पहुँचा। अब हम अपनी कुछ बातों के सिलसिले को जोड़कर मलेशिया की अपनी कहानी आगे बढ़ा सकते है।

शायद तुम्हें मालूम हो कि गरम मसाले (कालीमिर्च वगैरा) गरम आबहवा में, यानी भूमध्य रेखा के आस-पास के देशो मे, पैदा होते हे। योरप में मसाले बिलकुल नही पैदा होते। दक्षिण-भारत और लंका

में कुछ पैदा होते हैं, लेकिन ये मसाले ज्यादातर मलेशिया के द्वीपों से, जिन्हें मोलका कहते हैं, आते हैं। इन टापुओं को दर असल 'मसाले के टापू' कहते हैं। बहुत पुराने जमाने से योरप में इन मसालों की बहुत मांग थी और वे बराबर भेजे जाते थे। योरप पहुँचते-पहुँचते इनकी कीमत बहुत बढ़ जाती थी। रोमन जमाने में कालीमिर्चें सोने के भाव बिकती थी। हालाकि मसाले इतने क़ीमती होते थे और पश्चिम में उनकी इतनी मांग थी, लेकिन योरप इनके मँगाने का खुद कोई इन्तज़ाम नही करता था। बहुत दिनों तक मसाले का व्यापार भारतीयों के हाथ में था। फिर अरबों के हाथ में आगया। यह मसालों का ही आकर्षण था जिसने कि पुर्तगाल और स्पेन के लोगो को विपरीत दिशाओं में बढ़ते चले जाने के लिए खींचा और अन्त में उन्हें मलेशिया में लाकर मिला दिया। पुर्त्तगाली इस खोज में आगे रहे, क्योंकि स्पेन के लोग पूर्व जाते हुए रास्ते में अमरीका में फँस गये और वहाँ बहुत मुनाफ़ा उठाते रहे।

वास्को दि गामा उत्तमाशा अन्तरीप होता हुआ जब भारत पहुँचा उसके थोड़े ही दिन बाद बहुत-से पुर्त्तगाली जहाज इसी रास्ते आये और पूर्व की तरफ आगे बढ गये। उसी वक्त मसाले और दूसरी चीजो का व्यापार मलक्का के नये साम्राज्य के हाथ में था। इसलिए पुर्त्तगाली इस साम्राज्य से और सारे अरब व्यापारियो से सघर्ष मे आ गये। पुर्तगालियो के वाइसराय अलबुक़र्क़ ने सन् १५११ ई० मे मलक्का पर कब्ज़ा कर लिया और मुसलमानी तिजारत का खातमा कर दिया। योरप का व्यापार अब पुर्त्तगालियो के हाथ मे आगया और योरप मे इनकी राजधानी लिस्बन मसालो और दूसरे पूर्वी मालो को योरप मे वितरण करने वाली बडी व्यापारिक मडी बन गई।

यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि अलबुकर्क अरबो का तो बडा ज़ालिम और बेरहम दुश्मन था लेकिन वह पूर्व की दूसरी व्यापारिक जातियो के साथ दोस्ती रखने की कोशिश करता था। खास कर जितने चीनी उससे मिलते थे उन सब के साथ वह विशेष शिष्टता का बर्ताव करता था। इसका नतीजा यह हुआ कि पुर्त्तगालियो के बारे मे चीन मे बहुत अनुकूल समाचार पहुँचे। शायद अरबो के प्रति उसकी दुश्मनी की वजह यह थी कि अरब लोग पूर्वी व्यापार पर प्रभुत्व जमाये हुए थे।

इस दरमियान मसाले के टापुओ की तलाश जारी रही। मैगेलन, जिसने बाद मे प्रशात महासागर पार किया और दुनिया का चक्कर लगाया, उस जहाज़ी बेड़े मे शामिल था जिसने मोलका खोज निकाला था। साठ वर्ष से ऊपर योरप के साथ मसाले के व्यापार मे पुर्त्तगालियो का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रहा। फिर सन् १५६५ ई० मे स्पेन ने फ़िलीपाइन टापुओ पर कब्जा कर लिया और इस तरह पूर्वी समुद्र पर एक दूसरी योरपीय ताक़त का उदय हुआ। लेकिन स्पेन की वजह से पुर्त्तगालियो के व्यापार मे कोई फर्क नही पडा क्योकि स्पेन के लोग स्वभाव से व्यापारी नही थे। ये लोग पूर्व को अपने सैनिक और धर्मोपदेशक भेजते रहे। पुर्त्तगालियो का मसाले के व्यापार पर एकाधिपत्य हो गया। यहाँ तक कि ईरान और मिस्र को भी पुर्त्तगालियों के ही जरिये मसाले मगवाने पडते थे। ये लोग किसी दूसरे को मसाले के टापुओ से सीधा व्यापार करने तक की इजाज़त नही देते थे। इसलिए पुर्त्तगाल मालामाल हो गया, लेकिन उसने उपनिवेश बसाने की कोई कोशिश नही की। तुम जानती हो कि पुर्त्तगाल छोटा-सा देश है और उसके यहाँ बाहर भेजने के लिए काफी आदमी नही थे। इस छोटे-से देश ने १०० वर्षों तक, यानी सारी सोलहवी सदी में, पूर्व में जो कुछ किया, वह एक ताज्जुब की चीज़ है।

इस दरमियान स्पेन के लोग फिलिपाइन मे जमे रहे और उनसे जितना पैसा मुमकिन था उतना खीचने की कोशिश करते रहे। जबर्दस्ती खिराज लेने के अलावा इनका कोई दूसरा काम नही था। पूर्वी समुद्र मे सघर्ष बचाने के लिए उन्होने पुर्त्तगालियो से सुलह करली थी। स्पेन की सरकार फिलिपाइन वालों को स्पेनी अमरीका से व्यापार नही करने देती थी क्योकि उसे डर था कि मैक्सिको और पेरू का सोना और चाँदी खिचकर पूर्व में चला जायगा। साल भर मे सिर्फ एक जहाज आता-जाता था। इसको 'मनिल्ला गैलियन' कहते थे और तुम कल्पना कर सकती हो कि इसकी सालाना यात्रा की फिलिपाइन के स्पेनी लोग कितनी उत्सुकता के साथ बाट देखा करते होंगे। यह 'मनिल्ला गैलियन' २४० वर्ष तक अमेरिका और द्वीपों के बीच प्रशांत महासागर पार करके आया-जाया करता था।

स्पेन और पुर्त्तगाल की इन सफलताओं से योरप में दूसरी कौमें डाह से जली जा रही थी। जैसा कि हम आगे ज़िक्र करेंगे, उस वक़्त स्पेन योरप पर हावी था। इँगलैण्ड अव्वल दर्जे की ताकत नही था। निदर-

लैंड्स में, यानी हालैंड और बेलजियम के कुछ हिस्से में, स्पेन की हुकूमत के खिलाफ विद्रोह हो गया था। अंग्रेज लोग स्पेन से डाह के कारण डच¹ लोगों से हमदर्दी रखते थे। इसलिए उन्होंने चुपके-चुपके हालैण्ड की मदद की। इनके कुछ नाविक खुले समुद्रों में जहाजो पर डाके मारते हुए घूमा करते थे और अमरीका से आने-वाले खजाना-भरे स्पेनी जहाजों को पकड़ लेते थे। किसी क़दर जोखम भरी लेकिन मुनाफ़ेदार इस शिकार-बाजी का सरदार सर फ्रांन्सिस ड्रेक था और वह इसे 'स्पेन के बादशाह की डाढ़ी झुलसाना' कहा करता था।

सन् १५७७ ई० में ड्रेक पांच जहाजो को लेकर स्पेन के उपनिवेशो को लूटने के लिए निकला। लूट में तो वह कामयाब रहा लेकिन उसके चार जहाज डूब गये। उसका सिर्फ एक जहाज 'गोल्डन हिन्द' प्रशांत महासागर पहुँचा और इसीसे ड्रेक उत्तमाशा अतरीप होता हुआ इँग्लैण्ड वापिस आया। इस तरह उसने सारी दुनिया का चक्कर लगा लिया। मैगेलन के 'विक्टोरिया' के बाद 'गोल्डन हिन्द' ही दूसरा जहाज था जिसने पृथ्वी की परिक्रमा की। इस परिक्रमा मे तीन वर्ष लगे थे।

स्पेन के बादशाह की डाढी झुलसाना, बिना झगड़ा किये ज्यादा दिन जारी नही रह सका और इँग्लैण्ड और स्पेन के बीच बहुत जल्द लडाई ठन गई। डच तो स्पेन से पहले ही लड़ रहे थे। पुर्त्तगाल भी इस लड़ाई में फँस गया था क्योंकि कुछ वर्षो से स्पेन और पुर्त्तगाल पर एक ही बादशाह राज कर रहा था। इँग्लैण्ड ने जबर्दस्त खुश-किस्मती और दृढ निश्चय से इस युद्ध में सफलता प्राप्त करके योरप को अचम्भे में डाल दिया। तुम्हे याद होगा कि स्पेन ने इँग्लैण्ड को जीतने के लिए जो 'अजेय जगी जहाजी-बेड़ा' भेजा था वह ग़ारत हो गया था। लेकिन अभी तो हम पूर्व का जिक्र कर रहे हैं।

अग्रेजो और डचो दोनो ने दूर के पूर्वी देशो पर धावा बोल दिया और स्पेनियो और पुर्त्तगालियो पर हमला किया। स्पेन वाले सब फ़िलीपाइन मे जमा थे और उसकी आसानी से रक्षा कर सकते थे। लेकिन पुर्त्तगालियो को भारी नुकसान पहुँचा। उनका पूर्वी साम्राज्य लाल सागर से लगाकर मसाले के टापू मोलका तक ६००० मील फैला हुआ था। ये लोग ईरान की खाडी में अदन के पास, लका मे, और भारत के किनारे की कितनी ही जगहो में, और हाँ सारे पूर्वी टापुओ मे और मलाया मे जमे हुए थे। धीरे-धीरे इनका पूर्वी साम्राज्य इनके हाथ से जाता रहा। शहर के बाद शहर और बस्ती के बाद बस्ती या तो डचो के या अग्रेजों के पल्ले पडी। मलक्का भी सन् १६४१ ई० में जाता रहा। अगर बचा तो भारत मे और अन्यत्र दो-चार छोटी-छोटी चौकिया। पश्चिमी भारत में गोआ इनमें मुख्य है और पुर्त्तगाली वहाँ अभी तक बने हुए हैं। कुछ वर्ष पहले स्थापित हुए पुर्त्तगाली प्रजातन्त्र का यह एक हिस्सा माना जाता है। अकबर ने पुर्त्तगालियो से गोआ छीनना चाहा था, लेकिन वह भी कामयाब नही हुआ।

इस तरह अब पुर्त्तगाल पूर्वी इतिहास से बाहर हो जाता है। इस छोटे-से देश ने बहुत ही बडा कौर अपने मुह में रख लिया था। वह उसे निगल न सका बल्कि निगलने की कोशिश मे खुद ही अपनी ताकत गवाँ बैठा। स्पेन फिलिपाइन मे जमा रहा, लेकिन पूर्वी मामलो मे अब उसका कोई हिस्सा नहीं रहा। पूर्व के बहुमूल्य व्यापार पर अब इँग्लेण्ड और हॉलैण्ड का प्रभुत्व हो गया। इन दोनो देशो ने इस काम के लिए दो व्यापारिक कम्पनियाँ बनाकर पहले ही तैयारी कर ली थी। इँग्लैण्ड मे रानी एलिजाबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सन् १६०० ई० मे एक अधिकार-पत्र दिया था। दो वर्ष बाद डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी कायम हुई। ये दोनों कम्पनियाँ केवल व्यापार के लिए थीं। हालाँकि दोनो प्राइवेट कम्पनियाँ थी, लेकिन इन्हे अक्सर सरकारी मदद मिलती थी। इनकी सबसे ज्यादा तिजारती दिलचस्पी मलेशिया के मसाले के व्यापार से थी। भारत उस वक्त मुगल सम्राटो के मातहत एक ताक़तवर देश था, जिसे नाराज करना खतरे से खाली नही था।

डच और अंग्रेज अक्सर आपस मे भी लड़ पडते थे। आखिरकार अग्रेज पूर्वी द्वीपो से हट गये और भारत पर ज्यादा ध्यान देने लगे। विशाल मुगल साम्राज्य उस वक्त कमजोर पड़ रहा था। इसलिए साहसी विदेशियों को मौका मिल गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस तरह ये दुस्साहसी लोग इँग्लैण्ड और फ़्रांस से आये और उन्होने किस तरह साजिश और लड़ाई करके इस मिटते हुए साम्राज्य के हिस्सो पर क़ब्जा करने की कोशिश की।

---

¹हालैण्ड के निवासी डच कहलाते हैं।

: ८० :

चीन में शान्ति और समृद्धि का युग

२२ जुलाई, १९३२

इन्दु बेटी, मुझे मालूम हुआ कि तुम बीमार थीं और बहुत मुमकिन है अभी तक ठीक न हुई हो। जेल के अन्दर खबरों के पहुँचने में देर लग जाती है। मै तुम्हारी मदद के लिए यहाँ से कुछ भी नही कर सकता। तुम्हें अपनी खबरदारी खुद ही करनी पड़ेगी। लेकिन मैं तुम्हारी बहुत याद करता रहूंगा। अजीब बात है कि हम सब किस तरह बिखरे हुए हैं। तुम पूना में हो; ममी इलाहाबाद में बीमार है; और हममें से बाकी अलग-अलग जेलों में पड़े हैं!

कुछ दिनो से इन पत्रों के लिखने में मुझे कुछ दिक्कत मालूम होने लगी है। तुमसे बात-चीत करने का मन-बहलाव क़ायम रखना आसान नही था। मुझे खयाल आता है कि तुम पूना में बीमार पडी हो और किसे मालूम मै तुमको फिर कब देख सकूगा। हमारे मिलने के पहले न जाने कितने महीने या वर्ष और बीत जायँगे और इस दरमियान तुम कितनी बढ जाओगी!

लेकिन बहुत ज्यादा सोच-विचार करना, खास कर जेल में, अच्छा नहीं। मुझे अपनेको सम्हाल लेना चाहिए और थोड़ी देर के लिए आज को भूल कर गई कल का खयाल करना चाहिए।

हम लोग मलेशिया में थे और हमने वहाँ एक अजीब घटना घटती देखी। योरप एशिया में सरज़ोर होता जा रहा था। पुर्तगाली आये, फिर स्पेन के लोग आये और बाद को अंग्रेज़ और डच आये। लेकिन इन योरपीय लोगों की हरकते बहुत दिनों तक मलेशिया और टापुओं के अन्दर ही सीमित रही। पश्चिम की तरफ मुगलो की हुकूमत में ताकतवर भारत था। उत्तर मे चीन था, जो अपनी हिफ़ाज़त अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए भारत और चीन मे योरपीय लोगों ने कोई दखल नहीं दिया।

मलेशिया से चीन सिर्फ एक कदम पर है। अब हमें वहाँ चलना चाहिए। युआन राजवंश, जिसे मगोल कुबलाईखा ने चलाया था, खतम हो गया था। सन् १३६८ ई० में लोगो ने बग़ावत करके बची-खुची मंगोल फौजो को चीन की 'बडी दीवार' के उस पार खदेड दिया था। इस विद्रोह का नेता हुंग-वू था, जो एक गरीब मज़दूर का लडका था और जिसे कोई शिक्षा नही मिली थी। लेकिन ज़िन्दगी की बड़ी पाठशाला का वह बडा अच्छा विद्यार्थी था। यह बड़ा सफल नेता निकला और बादको बड़ा अक्लमन्द शासक हुआ। सम्राट होते हुए भी वह अहकार और अभिमान से फूल नही उठा बल्कि सारी ज़िन्दगी उसने इस बात को याद रखा कि वह एक गरीब का लडका है। इसने तीस वर्ष राज्य किया। लोग आज भी उसके शासन की याद इसलिए करते है कि उसने जन-साधारण की, जिनमे से वह उठा था, हालत सुधारने के लिए बराबर कोशिशें की। आखीर वक़्त तक उसने अपनी शुरू की ज़िन्दगी की सादगी कायम रखी।

हुग-वू नये मिग राजवश का पहला सम्राट था। उसका लड़का युग-लो भी बड़ा शासक हुआ है। वह सन् १४०२ से १४२४ ई० तक सम्राट रहा। लेकिन इन चीनी नामो से मै तुम्हें परेशान न करूँगा। बहुत-से अच्छे शासक हुए लेकिन, जैसा कि अक्सर होता है, बाद में पतन होने लगा। लेकिन हमें इन सम्राटों को भूल कर चीन के इतिहास के इस ज़माने पर ग़ौर करना चाहिए। यह बहुत ही रौशन ज़माना था और उसमें विशेष आकर्षण पाया जाता था। 'मिंग' के मानी ही 'रौशन' है। मिग खानदान २७६ वर्षों तक, यानी सन् १३६८ से १६४४ ई० तक चला। चीन के तमाम राजवंशों में यह राजवश सबसे ज्यादा चीनी नमूने का कहा जा सकता है। इनके ज़माने में चीनियों को अपनी प्रतिभा के विकास का पूरा मौका मिला। यह वह ज़माना था जब कि घरेलू और वैदेशिक शान्ति रही। वैदेशिक नीति में कोई उग्रता नही थी और न साम्राज्य बढाने का कोई साहस किया गया। पास-पड़ौस के मुल्को से दोस्ती थी। सिर्फ़ उत्तर में खानाबदोश तातारियों से कुछ खतरा था। बाक़ी की पूर्वी दुनिया के लिए चीन एक ऐसे बड़े भाई के बराबर था, जो चतुर, सम्पन्न और सुसंस्कृत था; जिसे अपनी श्रेष्ठता का खूब भान था; पर जो छोटे भाइयों की भलाई चाहता था और उन्हें अपनी सभ्यता और संस्कृति सिखाने और उस में हिस्सा देने के लिए तैयार था। और वे भी उसकी तरफ़ देखते थे। कुछ समय तक जापान ने भी चीन का प्रभुत्व माना और शोगन, जो

जापान पर शासन करता था, अपने को मिंग सम्राटो का अधीनस्थ कहता था। कोरिया से, सुमात्रा, जावा आदि हिन्देशियाई द्वीपों से और हिन्दी-चीन से, खिराज वसूल होता था।

युग-लो के राज-काल में ही जल-सेनापति चेंग-हो की मातहती में वह बड़ा सैनिक बेड़ा मलेशिया पर चढ़ाई करने गया था। तीस वर्ष तक चेंग-हो सारे पूर्वी समुद्रों का चक्कर लगाता रहा और ईरान की खाड़ी तक पहुँच गया। द्वीप-राज्यों को डराने की यह साम्राज्यवादी कोशिश जैसी नजर आती है। जाहिरा तौर से विजय का या किसी दूसरे फ़ायदे का कोई इरादा नही था। स्याम और मज्जापहित की बढती हुई ताक़त की वजह से शायद युग-लो ने यह चढ़ाई की हो। पर वजह चाहे जो रही हो, इस चढाई के बहुत बड़े नतीजे निकले। इसने मज्जापहित और स्याम की बाढ़ को रोक दिया; मलक्का के नये मुसलमानी राज्य को बढ़ावा दिया और चीनी संस्कृति को सारे इण्डोनेशिया और पूर्व में फैला दिया।

चूंकि चीन और पड़ोसी देशो में शान्ति और दोस्ती थी, इसलिए घरेलू मामलो पर ज्यादा ध्यान दिया जा सकता था। शासन अच्छा था और टैक्सों को कम करके किसानो का बोझ हलका कर दिया गया था। सड़कों, नहरों, जलमार्गों और तलाबों की हालत सुधारी गई। फसल की कमियो और अकालो का मुक़ाबला करने के लिए सार्वजनिक खत्तियाँ क़ायम की गईं। सरकार ने कागज़ी नोट चलाये और इस तरह से साख बढ़ाकर व्यापार की तरक़्क़ी और माल के विनिमय में सहूलियते पहुँचाईं। इन कागज़ी नोट का खूब चलन था और ७० फ़ीसदी टैक्स नोटों के रूप में अदा किये जा सकते थे।

इस जमाने का सास्कृतिक इतिहास और भी उल्लेखनीय है। चीनी लोग युगो से ज्यादा सुसस्कृत और कला-प्रिय रहे हैं। मिंग काल के अच्छे शासन और कला को दिये जाने वाले प्रोत्साहन से जनता की प्रतिभा जाग उठी। शानदार इमारते बनी, सुन्दर चित्रकारी हुई और मिग युग के चीनी के बर्तन तरहदार आकृतियो और सुन्दर कारीगरी के लिए मशहूर हैं। ये चित्रकारी उस महान चित्रकारी की टक्कर की थी जो इटली उन दिनो 'रिनैसाँ' की प्रेरणा में पैदा कर रहा था।

पन्द्रहवीं सदी के आखीर मे चीन दौलत, उद्योग-धधो और सभ्यता में योरप से बहुत आगे था। सारे मिंग काल में जितना आनन्द, और कला-सम्बन्धी जितनी प्रवृत्ति, चीन के लोगो मे थी उतनी योरप के किसी देश में या और कही भी नही थी। और याद रक्खो कि यह समय योरप के रिनैसाँ का समकालीन था।

कला की दृष्टि से मिंग काल की प्रसिद्धि की एक वजह यह भी है कि उस जमाने के नफीस कामों के अनेक नमूने आज भी मिलते हैं। उस जमाने की बड़ी-बडी यादगारे है, लकडी, और हाथी-दाँत और हरे पत्थर पर नक़्क़ाशी का बारीक काम है; और काँसे के कलश और चीनी का सामान है। मिंग काल के आखीर में खाकों की बन्दिश पर ज़रूरत से ज्यादा मेहनत की जाने लगी और इसने नक़्क़ाशी और चित्रकारी की सूरत कुछ बिगाड़ दी।

इसी जमाने मे पुर्तगाली जहाज़ पहले-पहल चीन आये। वे सन् १५१६ ई० में कैण्टन पहुँचे। अलबुक़र्क जिन चीनियो से मिलता था उनसे अच्छा बर्ताव करने के मामले मे बहुत सावधानी रखता था।

पुर्तगालियो के साथ ईसाई धर्मोपदेशक आये। इनमे सेंट फ़ासिस ज़ेवियर का नाम बहुत मशहूर है। वह भारत में बहुत दिनों तक रहा और कितने ही मिशन कालेज उसके नाम पर अभी तक क़ायम हैं। वह जापान भी गया था। ज़मीन पर उतरने की इजाजत मिलने के पहले ही एक चीनी बन्दरगाह पर उसकी मृत्यु हो गई। चीनी लोग ईसाई धर्मोपदेशको को प्रोत्साहन नही देते थे। पर दो जेज़ुयिट पादरियो ने बौद्ध विद्यार्थियो का वेष धारण करके कई वर्षों तक चीनी भाषा पढी। वे कनफ़्यूशियन धर्म के बड़े विद्वान् हो गये और उन्होंने वैज्ञानिकों के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त की। इनमे से एक का नाम मैटियो रिक्की था। वह बड़ा योग्य और प्रतिभाशाली विद्वान् था और इतना होशियार था कि उसने सम्राट् को भी अपने हाथ में कर लिया। बाद को उसने अपना असली रूप ज़ाहिर कर दिया और उसके प्रभाव से चीन में ईसाई धर्म की स्थिति बहुत अच्छी हो गई।

डच लोग सत्रहवीं सदी के शुरू में मकाओ पहुँचे। उन लोगो ने व्यापार करने की इजाजत माँगी लेकिन उनके और पुर्तगालियो के बीच बहुत वैमनस्य था, इसलिए पुर्तगालियो ने चीनियों को उनके विरुद्ध भड़काने की पूरी कोशिश की। उन्होंने चीनियो से कहा कि डच लोग खूंख्वार समुद्री डाकू होते है। इसलिए चीनियों ने इजाजत देने से इनकार कर दिया। कुछ वर्ष बाद डचो ने जावा के अपने शहर बटाविया से एक

बड़ा जंगी बेडा मकाओं भेजा। उन्होंने बेवक़ूफ़ी से मकाओ पर जबरदस्ती क़ब्ज़ा करने की कोशिश की लेकिन चीनियों और पुर्तगालियो के मुक़ाबले में वे ठहर नही सके।

डचो के पीछे-पीछे अंग्रेज़ भी पहुँचे लेकिन उन्हें भी कोई कामयाबी नही हासिल हुई। चीन के व्यापार में उनको मिंग काल के खतम होने पर कुछ हिस्सा मिला।

मिंग काल, दुनिया की तमाम अच्छी और बुरी चीजों की तरह, सत्रहवी सदी के मध्य में खतम हो गया। तातारियो का छोटा-सा बादल उत्तर में उठा और इतना बड़ा कि उसकी छाया चीन पर भी पड़ने लगी। तुम्हे 'किन' या सुनहले तातारियो की याद होगी। उन्होने सुगों को चीन के दक्षिण में भगा दिया था और बाद में वे खुद मंगोलो द्वारा खदेड़ दिये गए। इन्ही किन लोगो का भाई-बन्द एक नया कबीला उत्तर चीन में, जहाँ आज मंचूरिया है, मैदान में आगे आया। वे अपने को मचू कहते थे। यही मचू लोग अखीर में मिगों के उत्तराधिकारी हुए।

लेकिन अगर चीन प्रतिद्वन्दी दलो में बँटा हुआ न होता तो मचू लोगों को चीन के जीतने में बड़ी दिक्कत पड़ती। चीन, भारत, वग़ैरा लगभग हर देश में विदेशी हमलों के कामयाब होने की वजह देश की कमजोरी और वहाँ के लोगों की अन्दरूनी फूट रही है। इसी तरह चीन मे भी सारे देश मे झगडे-फ़िसाद रहते थे। शायद बाद के मिंग सम्राट् भ्रष्ट और अयोग्य थे या आर्थिक अवस्था ऐसी थी कि जिससे सामाजिक क्रान्ति हो जाय। मचुओ के खिलाफ सघर्ष भी बड़ा मँहगा पडा और बडा भारी बोझ हो गया। सब जगहों पर डाकू नेता पैदा हो गए और इनमें जो सबसे बड़ा था वह तो कुछ दिनों तक सम्राट् भी रहा। मचुओ के विरुद्ध मिंगो की सेना का नेता उनका सेनापति वू सान-क्वी था। वह इस मुश्किल में पड़ गया कि डाकू सम्राट् और मचुओ इन दोनो मे से किसे पसन्द करे। मूर्खता-वश, या शायद ग़द्दारी की नीयत से, उसने डाकू के खिलाफ मचुओ से मदद माँगी। मचुओ ने बडी खुशी के साथ मदद दी और हुआ यह कि वे पेकिंग मे जम गये। वू सान-क्वी को जब यह भरोसा हो गया कि मिगो का पक्ष ला-इलाज हो चुका है, तो वह उसे छोड भागा और विदेशी हमलावर मचुओ से जा मिला।

यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि यह वू सान-क्वी आज तक चीन में नफरत की निगाह से देखा जाता है और चीनी लोग इसे अपने देश के इतिहास मे सबसे बडा देशद्रोही समझते है। देश की रक्षा की जिम्मेदारी लेकर वह दुश्मन से जा मिला और इसने वास्तव में दक्षिणी सूबो को पराधीन बनाने मे दुश्मनो की मदद की। इसका इनाम उसे यह मिला कि मचुओ ने उसे उन्ही सूबो का वाइसराय बना दिया, जिन्हे उसने उनके लिए जीता था।

सन् १६५० ई० में मंचुओ ने कैण्टन नगर को भी जीत लिया और चीन की विजय पूरी हो गई। उनकी जीत की वजह शायद यह भी थी कि वे चीनियो से अच्छे लड़ाकू थे। शायद शांति और समृद्धि के बहुत ही लम्बे समय ने चीनी लोगो को सैनिक दृष्टि से कमजोर बना दिया था। लेकिन मचुओ की विजय की तेजी के और कारण भी थे। खास तौर पर यह कि वे चीनियो को खुश रखने में बड़ी होशियारी रखते थे। इससे पहले के जमाने मे तातारियो के हमले के साथ-साथ अक्सर क्रूरता और हत्याए होती थी। पर इस मौक़े पर चीनी अफसरो को मिलाने की हर तरह से कोशिश की गई और इन्ही लोगो को फिर उनके पदो पर नियुक्त कर दिया गया। इस प्रकार चीनी अफसर ऊँचे से ऊँचे ओहदो को सम्हाले हुए थे। शासन का पुराना तरीक़ा भी, जो मिगो के ज़माने में चलता था, बदला नही गया। प्रणाली वही नज़र आती थी पर उसे ऊपर से सचालन करने वाले हाथ बदल गये थे।

लेकिन दो महत्वपूर्ण बातें बतलाती थी कि चीनी लोग विदेशी हुकूमत के आधीन थे। महत्वपूर्ण केन्द्रो मे मचू फौजें तैनात कर दी गई थी और लम्बी चोटी रखने का मंचू रिवाज चीनियो पर, उनकी निशानी के तौर पर, लाद दिया गया था। हम में से ज्यादातर लोग हमेशा से यही खयाल करते आये है कि चीनियो के लम्बी चोटी होती है। लेकिन असल में यह रिवाज चीनियों का बिलकुल नहीं था। यह गुलामी का वैसा ही एक चिन्ह था जैसे अनेक चिन्ह आज कुछ भारतीय धारण करते है और उनके पीछे छिपी हुई शर्म और गिरावट को महसूस नही करते। अब चीनियो ने लम्बी चोटी रखना छोड़ दिया है।

इस तरह चीन का यह उज्ज्वल मिंग काल खतम हुआ। ताज्जुब होता है कि लगभग तीन सदियों के अच्छे शासन के बाद यह इतनी तेजी से गिर क्यों गया। अगर यह शासन इतना ही अच्छा था जितना कि माना

जाता है तो बलवे और अन्दरूनी झगड़े क्यों होते ? मंचूरिया से विदेशियों के हमले क्यों नहीं रोके जा सके ? शायद अखीर के दिनों में सरकार जालिम हो गई। और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की तरह जरूरत से ज्यादा हिफ़ाजत करने वाली सरकार ने क़ौम को कमजोर बना दिया हो। लाड़-प्यार बच्चों और राष्ट्रों दोनो के लिए अच्छा नही होता।

यह भी आश्चर्य की बात है कि संस्कृति के इतने ऊँचे दर्जे पर होता हुआ भी चीन उन दिनों विज्ञान, खोज आदि अन्य दिशाओं में आगे क्यों नही बढ़ा। योरप की कौमें उससे बहुत पीछे थी। फिर भी तुम देख सकती हो कि रिनैसा के जमाने में शक्ति और जीवट और खोज की भावनाएं उनमें उबल रही थी। इन दोनों की तुलना की जाय तो एक तो अधेड़ उम्र के सुसस्कृत आदमी की तरह था जो बिना हलचल का जीवन पसन्द करता हो, साहस के नये कामो मे जिसे उत्सुकता न हो और जो अपने दैनिक जीवन में गड़बड़ नहीं चाहता हो और जो कला और प्राचीन पुस्तको के पढने में लगा रहता हो; और दूसरा एक नौजवान लड़के की तरह था जो किसी क़दर अनगढ हो, लेकिन जिसमें शक्ति और कौतूहल की भावना भरी हो और जो हर जगह जीवट के कामो की तलाश मे रहता हो। चीन में महान सौन्दर्य है, लेकिन यह तीसरे पहर का या संध्या का शान्त सौन्दर्य है।

: ८१ :

जापान अपनेको बन्द कर लेता है

२३ जुलाई, १९३२

चीन से अब हम जापान भी जा सकते है और रास्ते में जरा देर के लिए कोरिया में ठहर सकते है। मंगोलो ने कोरिया में अपना अधिकार जमा ही रक्खा था। उन्होंने जापान पर भी हमला करने की कोशिश की, लेकिन कामयाबी नही हुई। कुबलाईखा ने कई जगी बेडे जापान भेजे लेकिन वे सब भगा दिये गये। मालूम होता है कि मगोलो को समुद्र कभी अनुकूल नही पडा। वे वास्तव में ज़मीन पर रहने वाले लोग थे। टापू होने की वजह से जापान उनकी पकड मे नही आया।

मगोलो के चीन से खदेड दिये जाने के थोड़े ही दिन बाद कोरिया मे एक क्रान्ति हुई और वे शासक, जिन्होंने मगोलो की अधीनता स्वीकार कर ली थी, निकाल दिये गए। इस विद्रोह का नेता ई-ताई-जो नाम का एक देशभक्त कोरियाई था। वह वहाँ का नया शासक बना और उसने एक राजवश क़ायम किया जो ५०० वर्षों से ज्यादा तक, यानी सन् १३९२ ई० से अभी कुछ ही वर्ष पहले तक, चला जब जापान ने कोरिया को अपने राज्य में मिला लिया। उस वक्त सिओल को राजधानी बनाया गया था और अभी तक वही है। हम कोरिया के इतिहास के इन ५०० वर्षों का वर्णन नहीं कर सकते। कोरिया, जो फिर चोसन कहलाने लगा था, क़रीब-करीब स्वतन्त्र मुल्क के तौर पर बना रहा, लेकिन था वह चीन की छत्रछाया में और अक्सर उसे खिराज भी देता था। जापान से कई लडाइयाँ हुईं और कुछ मौको पर कोरिया की जीत हुई, लेकिन आज दोनो का कोई मुकाबला नही। जापान एक विशाल और ताकतवर साम्राज्य है और साम्राज्यवादी शक्तियो में जो बुराइया पाई जाती है वे सब उसमे मौजूद है। बेचारा कोरिया इस साम्राज्य का एक छोटा-सा टुकडा है, जिसका जापानी लोग शासन और शोषण करते है और जो असहाय-सा पर बहादुरी के साथ अपनी आजादी के लिए लड़ रहा है। लेकिन यह तो हाल का इतिहास है और हम अभी बहुत पुराने जमाने की चर्चा कर रहे है।

तुम्हें याद होगा कि जापान में, बारहवी सदी के आखिरी हिस्से में, शोगन असली शासक हो गया था। सम्राट तो गुड्डे की तरह था। पहली शोगनशाही, जिसे 'कामाकुरा शोगनशाही' कहते है, क़रीब डेढ सौ वर्षों तक रही और उसने देश को सुयोग्य शासन-व्यवस्था और शान्ति दी। उसके बाद हस्ब मामूल शासक राजवंश का पतन शुरू हुआ और इसके साथ बदइन्तजामी, विलासिता और गृहयुद्ध आये। सम्राट् में, जो अपने अधिकारो को काम में लाना चाहता था, और शोगन में झगड़े हुए। सम्राट् नाकामयाब रहा और साथ-

ही-साथ पुरानी शोगनशाही भी खतम हो गई। सन् १३३८ ई० में शोगनों की एक नई शाखा का अधिकार हुआ। यह 'अशीकागा शोगनशाही' थी जो २३५ वर्ष तक राज करती रही। लेकिन यह संघर्ष और युद्ध का जमाना था। यह क़रीब-क़रीब चीन के मिंगों का समकालीन था। इस घराने के एक शोगन की बड़ी इच्छा थी कि मिंगों की सद्भावना प्राप्त करे और वह इस हद तक गया कि उसने अपने को मिंग सम्राट का ताबेदार क़बूल कर लिया। जापानी इतिहास-लेखक जापान के इस अपमान पर बहुत नाराज़ है और इस आदमी को बुरी तरह लानत देते है।

चीन के साथ स्वभावतः खूब दोस्ताना ताल्लुक थे और चीनी सस्कृति के बारे में, जो उस समय मिगो की छत्रछाया में खिल रही थी, एक नई दिलचस्पी पैदा हो गई। चीन की हरेक चीज़—चित्रकला, कविता, गृहनिर्माण शिल्प, दर्शन-शास्त्र और युद्ध विज्ञान तक का अध्ययन किया जाता था और प्रशंसा की जाती थी। इस ज़माने में दो मशहूर इमारते बनी। एक 'किनकाकूजी' यानी सोने का दालान और दूसरी 'जिन-काकूजी' यानी चाँदी का दालान।

कला के विकास और विलासिता के साथ-साथ किसानो पर बहुत ज्यादा मुसीबत थी। उनपर टैक्सो का बहुत भारी बोझ था और गृह-युद्धो का सारा भार ज्यादातर उन्ही पर पड़ता था। हालत दिन-पर-दिन खराब होती गई; यहाँ तक कि केन्द्रीय सरकार का कोई भी असर राजधानी के बाहर नही रह गया।

पुर्तगाली लोग सन् १५४२ ई० मे, इन लडाइयो के दौरान में, वहा पहुचे। याद रखने की दिलचस्प बात यह है कि जापान मे पहले-पहल बारूद के हथियार ये ही लोग ले गये थे। यह एक अजीब-सी बात मालूम होती है, क्योकि चीनी लोग बहुत समय पहले से ही इन हथियारों को जानते थे और योरप को इनका ज्ञान मगोलो की मारफत चीन से ही प्राप्त करना पड़ा था।

सौ वर्ष पुराने घरेलू युद्ध से जापान को अन्त मे तीन आदमियो ने बचाया। एक नोरबुनागा जो 'दाइम्यो' या अमीर था, दूसरा हिदेयोशी जो किसान था और तीसरा तोकूगावा आयेयासू जो बड़े अमीरो मे गिना जाता था। सोलहवी सदी के खतम होते-होते सारा जापान फिर एक सूत्र में बँध गया। किसान हिदेयोशी जापान के सबसे योग्य राजनीतिज्ञो मे गिना जाता है। लेकिन कहते है कि वह बहुत बदसूरत था—नाटे कद का और गुट्टा और बन्दर जैसे चेहरे वाला।

जापान को एक सूत्र मे बाँधने के बाद इन लोगों की समझ मे यह बात नही आई कि इतनी बड़ी फौज का क्या किया जाय। इसलिए कोई दूसरा काम न पाकर उन्होंने कोरिया पर धावा बोल दिया। लेकिन बहुत जल्द उनको पछताना पडा। कोरिया के लोगो ने जापान की जल-सेना को हरा दिया और दोनो देशो के बीच के जापान समुद्र को अधिकार में ले लिया। इस काम में उन्हे एक नये किस्म के जहाज़ से बहुत मदद मिली जिसकी छत कछुए की पीठ की तरह थी और जिस पर लोहे की चादरे जडी थी। इन जहाजो को 'कच्छप नौका' कहते थे। ये जहाज़ इच्छानुसार आगे-पीछे खेये जा सकते थे। इन नावों ने जापान के जगी जहाजो को नष्ट कर दिया।

ऊपर लिखा तीसरा आदमी तोकूगावा आयेयासू गृह-युद्ध से फायदा उठाने मे बहुत सफल रहा। यहाँ तक कि वह बडा मालदार हो गया और जापान के करीब सातवे हिस्से का मालिक हो गया। उसीने अपनी रियासत के बीचोबीच यैदो नाम का शहर बसाया। यही शहर बाद में टोकियो हो गया। सन् १६०३ ई० में आयेयासू शोगन बना और इस तरह तीसरी और आखिरी शोगनशाही 'तोकूगावा शोगनशाही' शुरू हुई जो २५० वर्ष से ज्यादा क़ायम रही।

इस बीच पुर्तगालियो का व्यापार छोटे पैमाने पर चल रहा था। क़रीब ५० वर्षों तक उनका कोई योरपीय प्रतिद्वन्द्वी नही था, क्योकि स्पेनवाले सन् १५९२ ई० में आये और डच और अग्रेज इसके भी बाद आये। मालूम होता है कि सेंट फ्रासिस जेवियर ने सन् १५४९ ई० मे इस देश में ईसाई धर्म की शुरूआत की। जेजुइट लोगों को प्रचार करने की इजाजत थी और उनको प्रोत्साहन भी दिया जाता था। असल में इसकी वजह राजनैतिक थी क्योकि बौद्ध बिहार षड्यन्त्रो के अड्डे समझे जाते थे। इस वजह से इन भिक्षुओ को दबाया जाता था और ईसाई धर्मोपदेशको के साथ रिआयत की जाती थी। लेकिन बहुत जल्द जापानियो ने महसूस कर लिया कि ये धर्मोपदेशक खतरनाक है। इस पर फ़ौरन ही उन्होंने अपनी नीति बदल दी और इनको बाहर निकालने की कोशिश करने लगे। सन् १५८७ ई० में ईसाइयों के खिलाफ़ एक राजाज्ञा निकाली

गई, जिसमें यह ऐलान किया गया कि जो ईसाई धर्मोपदेशक बीस दिन के अन्दर जापान से बाहर न चला जायगा, उसे मौत की सजा दी जायगी। यह आज्ञा व्यापारियों के खिलाफ नहीं थी। उसमें यह बता दिया गया था कि ईसाई व्यापारी रह सकते और व्यापार कर सकते हैं लेकिन अगर वे अपने जहाज में किसी धर्मोपदेशक को लायेंगे तो जहाज और माल दोनों जब्त कर लिये जायेंगे। यह आज्ञा शुद्ध राजनैतिक कारणों से ही जारी की गई थी। हिदेयोशी को खतरे की आशंका हुई। उसे लगा कि मुमकिन है ईसाई धर्मोपदेशक और उनके जरिये ईसाई बनाये हुए लोग राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक साबित हों। और उसका खयाल गलत नहीं था।

थोड़े ही दिनों बाद एक घटना ऐसी हुई जिससे हिदेयोशी को पूरा यकीन हो गया कि उसका भय सही था और उसे बहुत गुस्सा आया। तुम्हें याद होगा कि 'मनिल्ला गैलियन' जहाज साल में एक दफा फिलीपाइन और स्पेनी-अमेरिका के बीच आया-जाया करता था। झंझावात ने एक दफा इसे बहाकर जापानी किनारे पर ला पटका। स्पेनी कप्तान ने स्थानीय जापानियों को दुनिया का नक्शा दिखाकर और खास तौर से स्पेन के राजा का विस्तृत साम्राज्य बताकर उन्हें डराना चाहा। लोगों ने कप्तान से पूछा कि स्पेन ने इतना बड़ा साम्राज्य कैसे पाया। उसने जवाब दिया कि यह तो बड़ी आसान बात है। पहले ईसाई मिशनरी गये और जब वहाँ के बहुत से लोग ईसाई बन गये तो फौज भेजी गई कि नये ईसाइयों से मिलकर वह वहाँ की सरकार को उलट दे। जब इसकी खबर हिदेयोशी को पहुँची तो वह बहुत खुश नहीं हुआ। बल्कि ईसाई धर्मोपदेशकों के और भी ज्यादा खिलाफ़ हो गया। उसने 'मनिल्ला गैलियन' को तो जाने दिया लेकिन कुछ धर्मोपदेशकों और नये ईसाइयों को मरवा डाला।

जब आयेयासू शोगन हुआ तो वह विदेशियों से ज़्यादा दोस्ती करने लगा। विदेशी व्यापार बढ़ाने में उसे खास दिलचस्पी थी, खासकर अपने बन्दरगाह येदो के साथ। लेकिन आयेयासू की मृत्यु के बाद ईसाइयों पर अत्याचार फिर शुरू हो गया। उनके धर्मोपदेशक जबरदस्ती निकाल दिये गये और जो जापानी ईसाई हो गये थे उनको ईसाई धर्म छोड़ने पर मजबूर किया गया। जापानी लोग विदेशियों की राजनैतिक चालों से इतने डरे हुए थे कि व्यापार की नीति भी बदल दी गई। वे किसी भी तरह विदेशियों को देश से बाहर रखना चाहते थे।

जापानियों की इस प्रतिक्रिया को हम समझ सकते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि जापानी लोग इतनी कुशाग्र बुद्धि के थे कि उन्होंने साम्राज्यवाद के भेड़िये को मजहब की भेड़ की खाल में भी पहचान लिया, हालाँकि योरपीय लोगों से उनका कोई पाला नहीं पड़ा था। बाद के जमाने में दूसरे देशों में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए योरपीय राष्ट्रों ने किस तरह मजहब से बेजा फायदा उठाया, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं।

और अब इतिहास में एक निराली चीज़ शुरू हुई। यह थी जापान की दरवाजा-बन्दी। दूसरों से अलग रहने की और दूसरों को दूर रखने की नीति जान बूझ कर इख्तियार की गई और एक बार इख्तियार करने के बाद इसे अद्भुत खूबी के साथ निभाया गया। अंग्रेजों ने यह देखकर कि उन्हें पसंद नहीं किया जाता, सन् १६२३ ई० में जापान जाना बन्द कर दिया। साल भर बाद स्पेन के लोगों को, जिन्हें सबसे ज्यादा खतरनाक समझा जाता था, देश से निकाल दिया गया। यह कानून बना दिया गया कि व्यापार के लिए सिर्फ़ ग़ैर-ईसाई ही विदेश जा सकते हैं और वे भी फिलीपाइन नहीं जा सकते। अन्त में, क़रीब बारह वर्ष बाद, सन् १६३६ ई० में, जापान को मोहर-बन्द कर दिया गया। पुर्तगाली निकाल दिये गये, सारे जापानी, चाहे ईसाई हों या ग़ैर-ईसाई, किसी भी कारण से विदेश जाने से रोक दिये गये, और विदेश में रहने वाला कोई भी जापानी वापस जापान नहीं आ सकता था; अगर आता तो उसके लिए मौत की सज़ा थी! सिर्फ़ कुछ डच लोग रह गये, पर उनको भी सख्त हिदायत थी कि वे बन्दरगाहें न छोड़ें और न देश के अन्दर कदम रक्खें। सन् १६४१ ई० में ये डच भी नागासाकी बन्दरगाह के एक छोटे से द्वीप में हटा दिये गये जहाँ उन्हें बिल्कुल क़ैदियों की तरह रक्खा गया। इस तरह, सबसे पहले पुर्तगालियों के आने के ठीक निन्यानवें वर्ष बाद, जापान ने सारे वैदेशिक सम्पर्क तोड़ दिये और अपने को बंद कर लिया।

सन् १६४० ई० में एक पुर्तगाली जहाज़ राजदूत-मंडल को लेकर आया जिसने दुबारा व्यापार चालू करने का प्रस्ताव किया। लेकिन उनकी कौन सुनता था। जापानियों ने एलचियों को और जहाज़ के ज्यादातर मल्लाहों को मार डाला और कुछ मल्लाहों को जिन्दा छोड़ दिया ताकि वे वापस जाकर खबर दे दें।

दो सौ वर्ष से ज्यादा समय तक जापान का दुनिया से, और यहां तक कि अपने पड़ोसी चीन और कोरिया से भी, क़तई सम्पर्क नहीं रहा। उस द्वीप में रहने वाले कुछ डच और कभी-कभी आने वाला कोई चीनी, जिन पर कड़ी नजर रहती थी, बस बाहरी दुनिया से जोड़ने वाली येही कड़ियां थीं। सारी दुनिया से यह अलगाव बड़ी असाधारण चीज़ है। लिखित इतिहास के किसी भी काल में, और किसी भी देश में, इस तरह का दूसरा उदाहरण नहीं पाया जाता। रहस्यमय तिब्बत या मध्य अफरीका भी अपने पड़ोसियों से काफी राह-रस्म रखते थे। अपने को सब तरफ़ से अलहदा कर लेना बहुत खतरनाक चीज़ होती है, व्यक्ति के लिए भी और राष्ट्र के लिए भी। लेकिन जापान इस खतरे को पार कर गया; उसके यहाँ अंदरूनी शान्ति रही और उसने अपनी लम्बी लड़ाइयों का नुक़सान पूरा कर लिया। और अन्त में जब सन् १८५३ ई० में उसने अपना दरवाजा और अपनी खिड़कियाँ खोलीं तो एक और असाधारण काम करके दिखला दिया। वह तेजी के साथ आगे बढ़ा, उसने खोये हुए समय की पूर्ति कर ली, दौड़ कर योरपीय कौमों को पकड़ लिया और उन्हींकी चालों से उन्हें मात दे दी।

इतिहास की कोरी रूप-रेखा कितनी नीरस होती है और उसे पार करने वाली शकलें कितनी झीनी और निर्जीव नज़र आती हैं! फिर भी कभी-कभी जब हम पुराने ज़माने की कोई किताब पढ़ते हैं, तो मुर्दा भूतकाल में भी मानो ज़िन्दगी भर जाती है और रंग-मञ्च मानो हमारे बिल्कुल नजदीक आजाता है और उस पर जीते जागते, और प्रेम और घृणा के वशीभूत मानव डोलने लगते हैं। इन दिनों मैंने पुराने जापान की एक आकर्षक महिला श्रीमती मुरासाकी के बारे में पढ़ा है जिसे हुए सैकड़ों वर्ष गुज़र गये—जिन गृह-युद्धों का मैंने इस पत्र में ज़िक्र किया है उनसे बहुत पहले की बात है। इसने जापान के सम्राट् के दरबार में अपने जीवन का लम्बा वर्णन लिखा है। इस वर्णन के मज़ेदार पुट वाले और भीतरी भेदों तथा दरबारी तकल्लुफों की चर्चा से युक्त अंश जब मैंने पढ़े तो श्रीमती मुरासाकी की जीती जागती मूर्ति मेरे सामने आगई और पुराने जापान के दरबार के सीमित पर कलामय जीवन का स्पष्ट चित्र मुझे नज़र आने लगा।

: ८२ :

योरप में खलबली

४ अगस्त, १९३२

कई दिन हो गये, मैंने तुम्हें पत्र नहीं लिखे, मुझे लिखे हुए करीब दो हफ्ते तो ज़रूर हो गये होंगे। जेल-खाने में भी, बाहरी दुनिया के समान ही, आदमी के चित्त की हालत बदलती रहती है। पिछले दिनों इन पत्रों के लिखने में, जिन्हें सिवाय मेरे और कोई नहीं देखता, मेरी तबियत बिल्कुल नहीं लगी। ये पत्र नत्थी करके रख दिये गये हैं और आज से महीनों या वर्षों बाद उस वक़्त तक पड़े रहेंगे जब शायद तुम उन्हें देख पाओगी। आज से महीनों और बरसों बाद! जब हम फिर मिलेंगे और एक दूसरे को अच्छी तरह देखेंगे और मुझे यह देखकर हैरत होगी कि तुम कितनी बढ़ गई हो और बदल गई हो? उस वक़्त हमारे सामने चर्चा के लिए बहुत-सी बातें और करने के लिए बहुत से काम होंगे और तुम इन पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दोगी। उस वक़्त तक इन पत्रों का अच्छा खासा ढेर लग जायगा और मेरे जेल जीवन के कितने ही सौ घंटे इनमें बन्द हो चुके होंगे!

लेकिन फिर भी मैं इन पत्रों को जारी रखूंगा और लिखे हुए पत्रों के ढेर को बढ़ाता रहूँगा। शायद तुम्हें इनमें दिलचस्पी हो, मुझे तो दिलचस्पी है ही।

अब हमें एशिया पर आये कुछ समय हो गया है और हमने भारत में, मलेशिया में, चीन में और जापान में इसके इतिहास का सिलसिला पकड़ रखा है। हमने योरप को, ठीक उस वक़्त, जब वह जग रहा था और उसकी कहानी दिलचस्प हो रही थी, एकाएक छोड़ दिया था। वहां 'रिनैसां' यानी पुनर्जागरण हो रहा था, बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसका नया जन्म हो रहा था क्योंकि सोलहवीं सदी में जिस

योरप का विकास हम देखते हैं वह किसी पुराने युगांश की हूबहू नक़ल नहीं थी। यह नई चीज़ थी या अगर पुरानी चीज़ भी थी तो कम से कम उसका गिलाफ़ बिलकुल नया था।

योरप में हर जगह खलबली और बेचैनी दिखाई देती थी और परकोटे मे बन्द जगह फट कर बाहर निकल रही थी। सैकड़ो बर्षों से सामन्त-प्रथा पर डाले गये एक सामाजिक और आर्थिक ढांचे ने सारे योरप को ढक रक्खा था और उसे अपने शिकंजे में दबा रखा था। कुछ समय तक इस खोल ने बढ़ोतरी को रोके रक्खा। लेकिन अब यह खोल जगह-जगह तड़कने लगा था। कोलम्बस और वास्को डि गामा और समुद्री रास्तों के पहले खोजी इस खोल को तोड़ कर बाहर निकल पड़े और अमेरिका और पूर्व के देशो से आई हुई स्पेन और पुर्तगाल की अभूतपूर्व दौलत ने योरप को चौंधिया दिया और परिवर्तन की गति तेज़ कर दी। योरप अपने तग समुद्री दायरे से बाहर नजर डालने लगा और उसका खयाल दुनिया की तरफ दौडने लगा। संसारव्यापी व्यापार और हुकूमत की बड़ी-बडी सम्भावनायें सामने खुल गईं। मध्यमवर्ग दिन पर दिन ज्यादा ताक़तवर होने लगा और पश्चिमी योरप में सामन्त-प्रथा अधिकाधिक रुकावट बनने लगी।

सामन्त-प्रथा असामयिक हो चुकी थी। निर्लज्जता के साथ किसान-वर्ग का शोषण इस प्रथा का असली तत्व था। इसके अन्तर्गत बेगार, बिना मजूरी का काम और ज़मीदार को दी जाने वाली तरह-तरह की खास लागें और वसूलियाँ थी और यह ज़मीदार खुद ही न्यायाधीश होता था। किसानों की मुसीबते इतनी ज्यादा थी कि, जैसा कि हमने देखा है, किसानो के दगे और युद्ध अक्सर भडक उठा करते थे। ये किसान-युद्ध बढ़ने लगे और जल्दी-जल्दी होने लगे और इनके साथ-साथ योरप के बहुत से हिस्सो मे आर्थिक क्रान्ति हो गई जिसने सामन्त-प्रथा की जगह मध्यम-वर्ग का राज्य स्थापित कर दिया। इस क्रान्ति को लाने वाले ये ही किसान-विद्रोह थे।

लेकिन यह खयाल न करना कि ये तब्दीलियाँ फौरन हो गईं। इनमे बहुत दिन लगे और पचासो बरसों तक योरप में गृह-युद्ध जारी रहा। इन युद्धो की वजह मे वास्तव मे योरप का बहुत बडा हिस्सा तबाह हो गया। ये सिर्फ किसानो के युद्ध नही थे, बल्कि जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, प्रोटेस्टेण्टो और कैथलिको के धार्मिक युद्ध थे, आज़ादी के क़ौमी युद्ध थे—जैसे कि निदरलैण्ड्स में हुए—और बादशाह के निरकुश अधिकार के खिलाफ़ मध्यमवर्ग के विद्रोह थे। ये सब बाते बहुत चक्कर मे डालने वाली है। क्यो, है या नही? असल में ये हैं ही ऐसी चक्कर मे डालने वाली और पेचीदा। लेकिन अगर हम बडी-बडी घटनाओ और आन्दोलनो को नजर में रखें तो इस घपले मे से कुछ मतलब की बात निकाल सकते है।

याद रखने की पहली बात यह है कि किसान-वर्ग मे बडी तकलीफ और मुसीबत फैली हुई थी जिसके फलस्वरूप किसान-युद्ध हुए। याद रखने की दूसरी बात है मध्यमवर्ग का जन्म और पैदावार की शक्तियो की बढोतरी। चीज़ो के बनाने में मजदूरों का उपयोग बढा और व्यापार ज़्यादा चेता। तीसरी बात याद रखने की यह है कि चर्च सबसे बड़ा ज़मीदार था। उसका बहुत ज़बरदस्त निहित स्वार्थ था, इसलिए लाज़मी तौर पर वह अपनी भलाई इसीमें समझता था कि सामन्तशाही क़ायम रहे। वह ऐसी कोई तब्दीली नही चाहता था जिससे उसकी दौलत और जायदाद का बहुत बडा हिस्सा हाथ से निकल जाय। इसलिए जब रोम से धार्मिक विद्रोह उठा तो आर्थिक क्रान्ति के साथ उसका मेल मिल गया।

इस महान् आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ या उसके पीछे-पीछे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक, हर दिशा में तब्दीलियाँ होने लगी। अगर तुम सोलहवी और सत्रहवी सदी के योरप पर दूर से और काफी विस्तृत नजर डालो तो तुम्हारी समझ में आजायगा कि ये सारी प्रवृत्तियाँ, आन्दोलन और तब्दीलियाँ किस तरह आपस में गुथी हुई और सम्बन्धित थी। आमतौर पर इस ज़माने की तीन तहरीको पर ज़ोर दिया जाता है—'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण, 'रिफ़ॉर्मेशन' या सुधार, और 'रेवोल्यूशन' या क्रान्ति। लेकिन याद रखो कि इन सबके पीछे आर्थिक मुसीबत और हलचल थी जिसकी वजह से आर्थिक क्रान्ति पैदा हुई और सारी तब्दीलियो में यही सबसे महत्वपूर्ण थी।

'रिनैसाँ' असल में विद्या का पुनर्जन्म था, जिसमें कला, विज्ञान और साहित्य और योरपीय भाषाओं की तरक़्क़ी हुई। सुधार आन्दोलन रोमन चर्च के खिलाफ विद्रोह था। वह चर्च में फैले हुए भ्रष्टाचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह था; वह योरप के राजाओ का पोप के उन दावों के विरुद्ध भी विद्रोह था कि वह

उन सबके ऊपर है; और तीसरे वह धर्म को अन्दर से सुधारने की एक कोशिश, थी। क्रान्ति राजाओं पर अंकुश रखने और उनके अधिकारों को सीमित करने के लिए मध्यमवर्ग का राजनैतिक संघर्ष था।

इन सब आन्दोलनों के पीछे एक और कारण भी था—छपाई। तुम्हें याद होगा कि अरबों ने काग़ज़ बनाना चीनियों से सीखा था और योरप ने अरबों से सीखा। फिर भी सस्ता और काफ़ी मात्रा में काग़ज़ बनने मे बहुत दिन लग गये। पन्द्रहवीं सदी के अखीर में योरप के विभिन्न हिस्सों, हालैंड, इटली, इंग्लैंड, हंगरी वग़ैरा, में किताबें छपने लग गई थी। खयाल करो कि काग़ज़ और छपाई का प्रचार होने के पहले दुनिया किस तरह की रही होगी। आज हम लोग काग़ज़ और किताब और छपाई के इतने आदी हो गये है कि इन चीज़ो से रहित दुनिया की कल्पना भी करना बहुत मुश्किल है। छपी हुई किताबो के बिना अनेक आदमियों को लिखना-पढना तक भी सिखाना करीब-क़रीब नामुमकिन है। किताबो को बडी मेहनत से हाथ से नकल करना पड़े और वे बहुत थोड़े लोगो तक पहुँच सकें। पढाई ज्यादातर ज़बानी करनी पड़े और विद्यार्थियो को हर बात ज़बानी याद करनी पड़े। यह बात पुराने क़िस्म के मकतबो और पाठशालाओ मे अभीतक पाई जाती है।

काग़ज़ और छपाई के चलन से बहुत बडी तब्दीली पैदा हो गई। छपी हुई स्कूली और दूसरी किताबें प्रकाशित होने लगी। बहुत जल्दी ही पढने और लिखने वालो की सख्या बढ गई। जितना ही लोग ज्यादा पढते है, उतना ही ज्यादा सोचने लगते है (लेकिन यह बात विचारपूर्ण पुस्तको पर ही लागू होती है, आज कल जो ज्यादातर रद्दी किताबें निकल रही है उनके बारे मे नही)। और जितना ज्यादा आदमी सोचता है उतना ही ज्यादा वह मौजूदा हालात की छान-बीन करता है और उनकी आलोचना करता है। इसका नतीजा अक्सर यह होता है कि वर्तमान प्रणाली को लोग चुनौती देने लगते है। अज्ञान परिवर्तन से हमेशा डरता है। वह अज्ञात वस्तु से डरता है इसलिए लीक पर ही चलना पसद करता है, चाहे उसमें उसे कितनी ही मुसीबत क्यो न हो। अपने अन्धेपन मे वह गिरता पडता आगे चला जाता है। लेकिन सही अध्ययन से ज्ञान की कुछ मात्रा प्राप्त हो जाती है और आँखें कुछ खुल जाती है।

काग़ज और छपाई के ज़रिये आँखो के इस तरह खुल जाने की वजह से ही उन तमाम बडे आन्दोलनो को ज़बर्दस्त मदद मिली जिनका अभी हम ज़िक्र कर चुके है। पहले-पहल छपनेवाली किताबो में इजीलें थी और बहुत लोग जिन्होने अबतक इजील का सिर्फ लातीनी भाषान्तर सुना था और समझा न था, अब इसे अपनी ही ज़बान मे पढ़ सकते थे। इस पढने ने उन्हें अक्सर बहुत नुक्ताचीन बना दिया और पादरियो से कुछ आज़ाद कर दिया। स्कूली किताबें भी बहुत बड़ी तदाद मे छपने लगी। इससे आगे हम योरप की ज़बानो को तेज़ी के साथ तरक्की करते पाते है। अभी तक लातीनी भाषा ने उन्हें दबा रखा था।

इस ज़माने का योरप का इतिहास महान व्यक्तियों के नामो से भरा पडा है। उनसे हमारा बाद मे परिचय होगा। हमेशा, जब कभी कोई देश या महाद्वीप अपनी बढोतरी रोकने वाले खोल को तोड कर बाहर निकलता है तो वह कई दिशाओ में तीर की तरह आगे बढ जाता है! इस बात को हम योरप मे पाते है और इस युग के हिस्से का योरपीय इतिहास सब से ज्यादा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। क्योकि इसी समय में आर्थिक और दूसरे महान परिवर्त्तन हुए। भारत के या चीन के इसी युग के हिस्से के इतिहास का इसके साथ मुकाबला करो। जैसा मैंने तुमको बताया है, ये दोनो देश उस समय योरप से बहुत-सी बातो मे आगे थे। फिर भी भारत और चीन के इतिहासो में एक तरह की अकर्मण्यता है और उसीके मुकाबले मे इस युग के हिस्से के योरपीय इतिहास का रूप गतिशील है। भारत और चीन में महान शासक और महापुरुष हुए और ऊँचे दर्जे की सस्कृति थी, लेकिन जनता, खास तौर से भारत में, बिलकुल चेतनाहीन और क्रियाहीन दिखाई देती है। आम लोग शासको के परिवर्त्तन को बिना किसी आपत्ति के बर्दाश्त कर लेते थे। मालूम होता है कि उन्हें सधा लिया गया था और वे आज्ञापालन के इतने आदी हो गये थे कि हुकूमत को चुनौती देना उनके लिए असम्भव था। इसलिए उनका इतिहास, कहीं-कहीं दिलचस्प होते हुए भी, जन आन्दोलनों के इतिहास की बनिस्बत शासको और घटनाओ का लेखा ही अधिक है। मै यकीन के साथ नही कह सकता कि यह बात चीन के बारे मे कहाँ तक सही है, लेकिन भारत के मामले में तो दरअसल यह बात सैकडो बर्षों से सही होती रही है। और इस काल में भारत में आनेवाली तमाम बुराइयाँ हमारे देश-वासियो की इसी दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था का परिणाम है।

भारत में एक दूसरी प्रवृत्ति यह देखी जाती है कि लोग पीछे देखना चाहते है, आगे नही। हम उस ऊँचाइयों की तरफ़ देखते हैं जिन पर कभी बैठे थे; उन ऊँचाइयों की तरफ़ नही, जिस पर हम चढने की आशा रखते हैं। मतलब यह कि हमारे देशवासी गुज़रे हुए ज़माने के लिए अफ़सोस करते रहे और, आगे कदम बढाने के बजाय, जिस किसीने भी हुकुम चला दिया उसीकी आज्ञा का पालन करते रहे। आखीर में जाकर साम्राज्य अपनी ताक़त पर उतने नही टिके रहते जितने अपने अधीन लोगो की गुलाम मनोवृत्ति पर।

: ८३ :

'रिनैसाँ' या पुनर्जागरण

५ अगस्त, १९३२

उस हलचल और मुसीबत से, जो सारे योरप मे फैल रही थी, रिनैसाँ या पुनर्जागरण का सुन्दर फूल पैदा हुआ। पहले यह इटली की ज़मीन में उगा, लेकिन अपनी प्रेरणा और पुष्टि के लिए उसने सदियो को पार करके पुराने यूनान की तरफ देखा। यूनान से इसने सौन्दर्य का प्रेम सीखा और इस शारीरिक सौन्दर्य में इसने एक नई चीज जोड़ दी जो ज्यादा गहरी थी, जो मन से पैदा हुई थी और आत्मा से सम्बन्ध रखती थी। यह नागरिक उपज थी और उत्तर इटली के शहरो ने इसे आश्रय दिया। फ्लोरेन्स खास तौर से प्रारम्भिक 'रिनैसाँ' का घर था।

'तेरहवी और चौदहवी सदियो मे फ्लोरेन्स, इटालवी भाषा के दो महान् कवि, दान्ते और पेट्रार्क, पैदा कर चुका था। मध्य काल मे यह योरप की आर्थिक राजधानी बन गया था, जहाँ बडे-बडे महाजन इकट्ठा होते थे। यह मालदार और ऐसे लोगो का छोटा-सा लोकतन्त्र था, जिनकी बहुत तारीफ नही की जा सकती और जो खुद अपने महापुरुषो के साथ अक्सर बुरा बर्ताव करते थे। इस शहर को चचल फ्लोरेन्स कहा गया है। लेकिन महाजनों और अत्याचारी तथा निरकुश शासको के होते हुए भी इस शहर ने पन्द्रहवी सदी के उत्तरार्द्ध में तीन निराले आदमी पैदा किये--लिओनार्दो द विंची, माइकेल एजेलो और राफेल। ये तीनो बहुत महान् कलाकार और चित्रकार हुए है। लिओनार्दो और माइकेल एजेलो, दूसरी बातो मे भी महान् थे। माइकेल एजेलो अद्भुत मूर्तिकार था। ठोस सगमरमर से विशाल मूर्तियाँ गढकर निकालता था। वह बहुत बड़ा स्थापत्य शिल्पकार भी था और रोम के सेन्ट पीटर के विशाल गिरजे का नकशा मुख्यत. उसीने बनाया था। उसने बहुत लम्बी, करीब ९० वर्ष की उम्र पाई और अपने मरने के दिन तक वह सेन्ट पीटर के गिरजे मे जुटा रहा। वह दुखिया था और चीज़ों की गहराई मे घुसकर कुछ न कुछ तलाश किया करता था। वह हमेशा सोचता रहता था और हमेशा अद्भुत कामो की कोशिश में रहता था। एक बार उसने कहा था, "चित्रकारी दिमाग से की जाती है, हाथ से नही।"

इन तीनों में उम्र मे सबसे बडा लिओनार्दो था और कई बातो मे सबसे अद्भुत भी था। सच तो यह है कि वह अपने ज़माने का सबसे निराला आदमी था और याद रखो कि यह वह युग था कि जिसमे अनेक महापुरुष पैदा हुए। महान् चित्रकार और प्रतिमाकार तो वह था ही, पर साथ ही वह महान् विचारक और वैज्ञानिक भी था। हमेशा प्रयोग करता था, हमेशा बातो की तह मे पहुँचने की कोशिश करता था और यह जानने की फिक्र मे रहता था कि किसी बात की असली वजह क्या है। वह उन महान् वैज्ञानिको में से था जिन्होने शुरू-शुरू में आधुनिक विज्ञान की बुनियाद डाली थी। उसने कहा है-"कृपालु प्रकृति इस बात की कोशिश में रहती है,कि तुम दुनिया मे हर जगह कुछ-न-कुछ सीखो।" उसने जो कुछ पढ़ा था, खुद ही पढ़ा था। तीस वर्ष की उम्र में उसने लातीनी भाषा और गणित का अध्ययन शुरू किया। वह एक बडा इजीनियर भी हो गया और उसीने पहले-पहल इस बात का पता चलाया कि आदमी के शरीर में खून गर्दिश करता है। वह मनुष्य-शरीर की बनावट पर मोहित था। उसने कहा है-"बुरी आदतों और तंग विचार के असभ्य लोग मनुष्य-शरीर जैसे सुन्दर औज़ार और हड्डी-चमड़े के जटिल साधन के योग्य नहीं हैं। उन्हे तो खाना भरने और फिर उसे बाहर निकालने के लिए सिर्फ़ एक थैला चाहिए, क्योंकि वे लोग

प्रथ-प्रणाली के सिवा और कुछ नहीं है !" वह स्वयं शाकाहारी था और जानवरों से बड़ी मुहब्बत करता था। उसका एक दस्तूर यह था कि वह बाजार में पिंजरा-बन्द चिड़ियो को खरीद कर उन्हें उसी वक़्त छोड़ देता था।

उड्डीयन यानी हवा में उड़ने की कोशिश लिओनार्डो के कामो में सबसे ज्यादा हैरतअंगेज काम था। उसे कामयाबी तो नहीं मिली, लेकिन कामयाबी के रास्ते में वह काफ़ी बढ गया था। उसके सिद्धान्तो और प्रयोगों को आगे बढ़ाने वाला उसके बाद कोई दूसरी नहीं हुआ। अगर उसके बाद उसी की तरह के दो-तीन आदमी और हो गये होते तो शायद आजकल का हवाई जहाज आज से दो या तीन सौ वर्ष पहले ही ईजाद हो चुका होता। यह अद्भुत और विचित्र आदमी सन् १४५२ ई० में पैदा हुआ और सन् १५१९ ई० में मरा। कहते हैं कि उसका जीवन "प्रकृति के साथ वार्तालाप था।" वह हर वक़्त सवाल करता रहता और प्रयोगो के द्वारा उनके हल निकालने की कोशिश में लगा रहता। भविष्य को पकड़ने की कोशिश में वह सदा आगे बढता नजर आता था।

मैंने फ्लोरेंस के इन तीनो आदमियो का ज़िक्र किया है, खासकर लिओनार्दो का, क्योंकि वह मेरा मन-भावन है। साज़िशों और जालिम और दगाबाज शासको से भरा हुआ फ्लोरेन्स के प्रजातन्त्र का इतिहास कुछ ज्यादा चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद नही है। लेकिन फ्लोरेन्स की बहुत-सी बातों को माफ़ किया जा सकता है; यहाँ तक कि हम उसके सूदखोरो को भी दर गुज़र कर सकते हैं!—क्योंकि उसने अनेक महा-पुरुष पैदा किये। उसके इन महान् सुपुत्रो का साया उस पर अभी तक है. और जब कोई इस खूबसूरत शहर की सड़को पर होकर गुज़रता है या मध्यकालीन पुलो के नीचेसे बहती हुई मनोहर आर्नो को देखता है तो उसके ऊपर जादू-सा छा जाता है और गुज़रा ज़माना स्पष्ट और सजीव हो उठता है। दान्ते सामने से निकलता है और उसकी प्रेमिका बीआत्रिस अपने पीछे फूलो की हलकी-सी सुगध उड़ाती हुई गुज़र जाती है। लिओनार्दो तग गलियो में टहलता हुआ दिखाई देता है—विचारो में निमग्न और जीवन और प्रकृति के रहस्यो का ध्यान करता हुआ।

इस प्रकार रिनैसा इटली मे पन्द्रहवी सदी मे फूला-फला और वहाँ से धीरे-धीरे अन्य पश्चिमी देशो की तरफ फैल गया। महान् कलाकारो ने पत्थर और तसवीरी कपड़े में जान डालने की कोशिश की और योरप की चित्रशालाएं और संग्रहालय उनकी बनाई हुई तस्वीरो और मूर्तियो मे भरे पडे हैं। सोलहवी सदी के अखीर मे इटली का कलात्मक रिनैसा ढलने लगा। सत्रहवी सदी में हालैण्ड में महान् चित्रकार पैदा हुए। इनमें रैमब्रैण्ड सबसे ज्यादा मशहूर है। स्पेन में इसी समय वेलेस्क्वीज़ हुआ। लेकिन अब मै ज्यादा नामो का ज़िक्र नही करूगा। उनकी संख्या बहुत ज्यादा है। अगर तुमको महान् गुरु-चित्रकारों मे दिलचस्पी हो तो चित्रशालाओ मे जाकर उनकी रचनाओ को देखो। उनके नामो का कोई महत्व नहीं। जिस कला और सौन्दर्य को उन्होंने जन्म दिया वह ही हमारे लिए एक सन्देश है।

इस युगके हिस्से में, यानी पद्रहवी से सत्रहवी सदी तक, विज्ञान ने भी धीरे-धीरे आगे रास्ता बनाया और अपना स्थान प्राप्त कर लिया। चर्च से उसे सख्त लड़ाई करनी पडी क्योंकि चर्च यह नही चाहता था कि लोग विचार और प्रयोग करे। उसके खयाल में तो विश्व का केन्द्र पृथ्वी थी और सूरज पृथ्वी के चारो तरफ चक्कर लगाता था और तारे आसमान मे अपनी जगह पर जड़े हुए थे। जो कोई इसके विपरीत कहता, वह काफ़िर था और मजहबी अदालत उसे सजा दे सकती थी। इस पर भी कोपरनिकस नाम के एक पोलैण्ड-निवासी ने इस धारणा को गलत कहने का साहस किया और साबित किया कि ज़मीन सूरज के चारों तरफ़ घूमती है। इस तरह उसने विश्व के सबंध में आजकल के विचारो की बुनियाद रखी। उसका जीवन काल सन् १४७३ से १५४३ ई० था। किसी तरह वह अपने क्रान्तिकारी और विधर्मी मतों के लिए चर्च के गुस्से से बच गया। पर उसके बाद जो हुए, उनकी क़िस्मत इतनी अच्छी नही थी। गिओर्दानो ब्रूनो नाम के इटालवी को सन् १६०० ई० में रोम में चर्च ने इसलिए ज़िन्दा जलवा दिया कि वह इस बात पर ज़ोर देता था कि पृथ्वी सूरज के चारों तरफ घूमती है और सितारे खुद भी सूरज हैं। इसके समकालीन गैलीलियो को भी, जिसने दूरबीन ईजाद की थी, चर्च ने धमकी दी थी, लेकिन वह ब्रूनो की तरह बहादुर नही था और उसने अपनी बात वापस ले लेने में ही खैर समझी। इसलिए उसने चर्च के सामने अपनी ग़लती और बेवक़ूफी मान ली और कह

दिया कि वास्तव में पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और सूरज उसके चारों तरफ़ घूमता है। फिर भी उसे प्रायश्चित्त करने के लिए कुछ दिन क़ैदखाने में रहना पड़ा था।

सोलहवीं सदी के मशहूर वैज्ञानिकों में हारवे हुआ जिसने पूरी तौर से यह साबित कर दिया कि खून गर्दिश करता है। सत्रहवीं सदी में आइज़क न्यूटन हुआ जिसका नाम संसार के सब से महान वैज्ञानिकों में गिना जाता है और जो एक महान गणितज्ञ था। इसने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का, यानी इस बात का पता लगाया कि चीज़ें ज़मीन पर क्यों गिरती हैं। इस तरह उसने प्रकृति का एक और रहस्य खोल डाला।

इतनी बात, या इतनी थोड़ी-सी बात तो विज्ञान के बारे में हुई। इस युगके हिस्से में साहित्य भी आगे बढ़ा। सब जगह फैली हुई नई भावना ने तरुण योरपीय भाषाओं पर भी ज़बरदस्त असर डाला। ये भाषाएं कुछ दिन से प्रचलित थीं और हमने देखा है कि इटली ने महान कवि भी पैदा किये थे। इंग्लैण्ड में चॉसर[1] हुआ। लेकिन लातीन, जो विद्वानों की और चर्च की भाषा थी, इन सब पर हावी थी। ये गँवारू ज़बानें यानी 'वरनाक्यूलर' थीं। बहुत से लोग अभी तक अजीब तौर पर यह शब्द भारतीय भाषाओं के लिए इस्तैमाल करते हैं। इन भाषाओं में लिखना शान के खिलाफ़ समझा जाता था। लेकिन नई भावना ने, काग़ज़ और छपाई ने, इन भाषाओं को प्रोत्साहन दिया। इटालवी भाषा पहले-पहल मैदान में आई, फिर फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी और स्पेनी और सबसे आखिर में जर्मन। सोलहवीं सदी में फ़्रांस के कुछ नौजवान लेखकों ने पक्का इरादा कर लिया कि लातीन में न लिखकर अपनी भाषा में ही लिखेंगे, अपनी ही 'गँवारू ज़बान' की तरक्की करेंगे ताकि वह अच्छे-से-अच्छे साहित्य का उपयुक्त माध्यम बन सके।

इस तरह योरप की भाषाओं ने तरक्की की और वे समृद्ध और बलशाली हुईं, और उनका आज का सुन्दर रूप बना। मैं प्रसिद्ध लेखकों के ज्यादा नाम नहीं गिनाऊंगा, दो चार का ही ज़िक्र करूँगा। इंग्लैंड में सन् १५६४ से १६१६ ई० तक मशहूर नाटककार शेक्सपियर हुआ। उसके बाद ही सत्रहवीं सदी में 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' का रचयिता अन्धा कवि मिल्टन हुआ। फ्रांस में सत्रहवीं सदी में देकार्ते नाम का दार्शनिक और मॉलियर नाम का नाटककार हुआ। मॉलियर ने पेरिस के बड़े सरकारी नाटक गृह की स्थापना की। स्पेन में शेक्सपियर का समकालीन सरवेंटीज हुआ, जिसने 'डान क्विक्सोट' नामक पुस्तक की रचना की।

एक और नाम का भी मैं जिक्र करूंगा, उसकी महानता के कारण नहीं बल्कि इसलिए कि वह मशहूर है। यह नाम मैकियावेली का है, जो फ्लोरेन्स का रहने वाला था। वह पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों का मामूली राजनीतिज्ञ था लेकिन उसने 'प्रिन्स' नाम की एक किताब लिखी जो बहुत मशहूर हुई। इस किताब से उस ज़माने के राजाओं और राजनीतिज्ञों की मानसिक दशा की झलक मिल जाती है। मैकियावेली ने लिखा है कि सरकार के लिए मज़हब की जरूरत है, इसलिए नहीं कि जनता को सदाचारी बनावे, बल्कि इसलिए कि उसपर हुकूमत करने में मदद मिले और उसे दबा कर रखा जा सके। शासक का यह कर्तव्य भी हो सकता है कि वह ऐसे मज़हब का समर्थन करे जिसे वह झूठा समझता हो। मैकियावेली ने लिखा है: "राजा को जानना चाहिए कि एक ही साथ मनुष्य और पशु का, शेर और लोमड़ी का, नाटक कैसे खेला जा सकता है। उसे न तो अपने वादे का पालन करना चाहिए और न वह कर ही सकता है, जबकि वैसा करने से उसका नुक़सान होता हो . . . । मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि हमेशा ईमानदार होना बहुत हानिकर होता है, लेकिन इसके विपरीत खुदा-परस्त और दीनदार, दयावान और भक्त का स्वांग रचना लाभदायक है। नेकी का आडम्बर बनाए रखने से ज्यादा फ़ायदेमद और दूसरी चीज नहीं।"

क्यों, कितनी बुरी बात है! जो राजा जितना ही ज्यादा बदमाश उतना ही वह अच्छा! अगर औसत राजा के मन की योरप में उस वक़्त यह हालत थी तो वहाँ निरन्तर झगड़े बने रहना कोई ताज्जुब की बात नहीं। लेकिन इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है? आजकल की साम्राज्यवादी शक्तियां भी बहुत कुछ मैकियावेली के राजा की तरह ही बर्ताव करती हैं। सदाचार के आडम्बर के नीचे लालच, ज़ुल्म और बुरे से बुरा काम करने की प्रवृत्ति छिपी रहती है; सभ्यता के मुलायम दस्ताने में हैवान का खूनी पंजा छिपा रहता है।

---

[1] चॉसर—अंग्रेज़ी भाषा का आदि कवि। इसकी लिखी 'कैन्टरबरी टेल्स' बहुत मशहूर हैं। यह १३४० ई० में पैदा हुआ था और १४०० ई० में मरा।

: ८४ :

प्रोटेस्टेएटों की बग़ावत और किसानों की लड़ाई

८ अगस्त, १९३२

पन्द्रहवी सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के योरप के बारे में कई पत्र मैं लिख चुका हूँ। मध्य युग के गुज़रने, किसानो की महा मुसीबत, मध्यमवर्ग के उदय, और अमेरिका की ओर पूर्व जाने के समुद्री रास्तो की खोज, और योरप में कला, विज्ञान और भाषाओं की तरक़्क़ी के बारे में मैंने कुछ-न-कुछ तुमको बता दिया है। लेकिन तस्वीर की रूप-रेखा पूरी करने के लिए इस ज़माने की बाबत अभी बहुत कुछ कहना बाकी है। ध्यान रहे कि मेरे दो आख़िरी पत्र और वह पत्र जो मै समुद्री रास्तों के बारे में लिख चुका हूँ, यह पत्र जो लिख रहा हूँ और शायद आगे लिखे जानेवाले और भी एक-दो पत्र, ये सब योरप के इसी ज़माने से सम्बन्ध रखते हैं। हालांकि मैं भिन्न-भिन्न आन्दोलनो और प्रवृत्तियों के बारे में अलग-अलग लिख रहा हूँ लेकिन ये सब बातें क़रीब-करीब एक ही ज़माने मे हुईं और एक-दूसरी पर असर भी डालती रही।

'रिनैसाँ' के समय के पहले ही रोमन चर्च के ढांचे में खड़खड़ाहट होने लगी थी। योरप के राजा और जनता दोनों चर्च के भारी दबाव को महसूस करने लगे थे और असंतोष और शंका प्रगट करने लगे थे। तुम्हें याद होगा कि सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय की पोप से काफी झड़प हुई थी और उसने सामाजिक-बहिष्कार तक की भी कुछ परवा न की थी। शका और अवज्ञा के इन लक्षणो से रोम चिढ़ गया और उसने इस नई नास्तिकता को कुचल देने का फ़ैसला कर लिया। इसी इरादे से 'इनक्विज़िशन' स्थापित किया गया और सारे योरप मे, काफ़िर करार दिये गये अभागे आदमी, और डायने बतलाई गईं औरते, जला दी गईं। प्रेग के जॉन हस को चालबाज़ी से जला दिया गया; इसपर उसके बोहेमिया के अनुयायियो ने बग़ावत का झण्डा खडा कर दिया। रोमन चर्च के खिलाफ बगावत की इस नई भावना को 'इनक्विज़िशन' के सारे ख़ौफ भी दबा न सके। वह फैलती ही गई और इसमे शक नही कि इसके साथ किसानो का वह असन्तोष भी जुड़ गया जो बड़े ज़मीदार चर्च के विरुद्ध उनमे पैदा हो गया था। बहुत जगह राजाओ ने भी स्वार्थवश इस भावना को उकसाया। उनकी ईर्ष्या और लालच से भरी आँखें, चर्च की विशाल सम्पत्ति पर लगी हुई थी। इसी वक़्त किताबो और इजीलो की छपाई से भीतर-ही-भीतर सुलगती हुई आग और भी भडकी।

सोलहवी सदी की शुरुआत में, जर्मनी मे, मार्टिन लूथर पैदा हुआ जो आगे चलकर रोम के खिलाफ़ विद्रोह का एक महान नेता होने वाला था। वह एक ईसाई पादरी था। एक बार जब वह रोम गया तो वहाँ चर्च के भ्रष्टाचार और विलासिता ने उसके हृदय को ग्लानि से भर दिया। यह मतभेद बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि रोमन चर्च के दो टुकड़े हो गये और पश्चिमी योरप, धार्मिक और राजनैतिक दोनो मामलों में दो दलो में बँट गया। पूर्वी योरप और रूस का पुराना कट्टर यूनानी चर्च इस झगड़े से अलग ही रहा। जहाँ तक उसका ताल्लुक था वह ख़ुद रोम को ही सच्चे धर्म से बहुत दूर समझता था।

इस तरह 'प्रोटस्टेण्ट' विद्रोह शुरू हुआ। इसे प्रोटेस्टेण्ट इसलिए कहा गया कि यह रोमन चर्च के अनेक कट्टर उसूलो का 'प्रोटेस्ट' यानी विरोध करता था। तभी से पश्चिमी योरप में ईसाइयत के दो मुख्य भाग हो गये हैं—रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट भी कितने ही सम्प्रदायो में बँटे हुए है।

चर्च के विरुद्ध इस आन्दोलन को 'रिफ़ार्मेशन' कहते है। असल में यह चर्च के भ्रष्टाचार और चर्च की निरंकुश सत्ता, दोनो के खिलाफ़ जनता का विद्रोह था। इसके साथ ही बहुत से राजा यह चाहते थे कि पोप का उन पर हुक्म चलाना हमेशा के लिए ख़तम हो जाय। वे अपने राजनैतिक मामलो में पोप की दस्तदाज़ी से वहुत चिढ़े हुए थे। इसके अलावा रिफ़ार्मेशन का एक तीसरा पहलू भी था और वह यह कि चर्च के वफ़ादार अनुयायी चर्च की बुराइयों का भीतरी सुधार करने की कोशिश में थे।

शायद तुम्हें चर्च के दो संघो—फ़ांसिस्कन और डोमिनिकन—की याद होगी। सोलहवी सदी में, क़रीब-करीब उसी वक़्त, जब मार्टिन लूथर की ताक़त बढ़ रही थी, लोयोला निवासी इग्नेशियस नामक स्पेनी

ने चर्च का एक नया सघ स्थापित किया। उसने इसका नाम 'सोसायटी ग्रॉफ जीसस'[1] रखा ग्रौर इसके सदस्य जेजुइट कहलाये। इन जेजुइटों की चीन ग्रौर पूर्व की यात्राग्रों का जिक्र मैं कर चुका हूँ। यह 'जीसस-संघ' एक बड़ी निराली जमात थी। रोमन चर्च ग्रौर पोप की कारगर सेवा के लिए पूरा वक्त देने वाले ग्रादमी तैयार करना इसका उद्देश्य था। वह बड़ी सख्त तालीम देता था ग्रौर इसमें वह इतना कामयाब हुग्रा कि उसने चर्च के बड़े ही कुशल ग्रौर श्रद्धालु सेवक पैदा किये। ये सेवक लोग चर्च के प्रति इतने श्रद्धालु थे कि वे बिना कोई तर्क किये ग्रांख मीच कर उसकी ग्राज्ञाग्रो का पालन करते थे ग्रौर उन्होंने ग्रपना सब कुछ उसीके ग्रर्पण कर दिया था। चर्च के हित के लिए वे खुशी से ग्रपनी कुरबानी देने को तैयार रहते थे। उनके बारे में सचमुच यह मशहूर था कि चर्च की सेवा में उन्हें भले-बुरे का बिल्कुल विचार नही होता था। चर्च के हित में सब चीजें उचित ग्रौर क्षम्य थी।

यह निराली जमात रोमन चर्च की सबसे बड़ी मददगार साबित हुई। इन लोगों ने न सिर्फ चर्च का नाम ग्रौर संदेश ही दूर-दूर के देशो तक पहुँचाया बल्कि योरप में चर्च का ग्रादर्श ऊँचा उठा दिया। कुछ तो सुधार की ग्रन्दरूनी हलचल की वजह से, ग्रौर ज्यादातर प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह के खौफ से, रोम में भ्रष्टाचार बहुत कम हो गया। इस तरह 'रिफार्मेशन' ने चर्च को दो हिस्सो में बाँट दिया ग्रौर साथ ही कुछ हद तक उसका ग्रन्दरूनी सुधार भी कर दिया।

ज्यो-ज्यों प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह पनपा, योरप के कुछ राजा-महाराजाग्रो ने एक दल की हिमायत की, कुछ ने दूसरे की। इसका धार्मिक भावनाग्रो से कोई वास्ता नही था। यह तो ग्रधिकाश मे कूटनीति का मामला था ग्रौर इसके पीछे स्वार्थ की भावना थी। हैप्सबर्ग वश का चार्ल्स पचम उस समय पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट था। ग्रपने पिता ग्रौर दादा की शादी के फलस्वरूप, सयोग से विरासत मे उसे एक बड़ा साम्राज्य मिल गया था जिसमें ग्रास्ट्रिया, जर्मनी (नाम मात्र को), स्पेन, नेपल्स ग्रौर सिसली, निदरलैण्ड ग्रौर स्पेनी ग्रमरीका शामिल थे। उन दिनो शादी के जरिये, ग्रपने राज्य का विस्तार करने का यह तरीका योरप में ग्रच्छा चल निकला था। इसी वजह से, खुद किसी योग्य न होते हुए भी, चार्ल्स का ग्राधे योरप पर राज्य करने का सयोग बन गया ग्रौर कुछ दिन तो वह बहुत बड़ा ग्रादमी नजर ग्राने लगा था। उसने प्रोटेस्टेण्टो के खिलाफ पोप की मदद करने का फैसला किया। 'रिफार्मेशन' की कल्पना साम्राज्य की कल्पना से मेल नही खाती थी। लेकिन बहुत-से छोटे-छोटे जर्मन राजाग्रो ने प्रोटेस्टेण्टो का साथ दिया ग्रौर सारे जर्मनी मे रोमन ग्रौर लूथरन, दो दल बन गये। इसका स्वाभाविक नतीजा यह हुग्रा कि जर्मनी मे गृह-युद्ध छिड़ गया।

इग्लैण्ड मे बहु-विवाहित बादशाह हेनरी ग्रष्टम ने पोप के खिलाफ प्रोटेस्टेण्टो का, या यो कहो कि खुद ग्रपना, साथ दिया। उसकी ललचाई ग्रांखे चर्च की सम्पत्ति पर लगी हुई थी, इसलिए रोम से सम्बन्ध तोडकर उसने धर्मस्थानों, मठो ग्रौर गिरजो की सारी उपजाऊ जमीनें जब्त कर ली। पोप से सम्बन्ध तोड़ने का एक निजी कारण यह भी था कि वह ग्रपनी पत्नी को तलाक देकर दूसरी स्त्री से शादी करना चाहता था।

फ्रास मे कुछ ग्रजीब ही हालत थी। वहाँ बादशाह का प्रधान मत्री मशहूर कार्डिनल रिशेल्यू था ग्रौर राज्य का ग्रसली शासक वही था। रिशेल्यू ने फ्रास को रोम ग्रौर पोप के पक्ष मे रक्खा ग्रौर ग्रपने यहाँ प्रोटेस्टेण्टों का खूब दमन किया। लेकिन राजनीति की साजिशें ऐसी होती है कि उसीने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट मत को बढ़ावा दिया ताकि जर्मनी मे गृह-युद्ध हो जाय ग्रौर वह कमजोर ग्रौर छिन्न-भिन्न हो जाय। फ्रास ग्रौर जर्मनी की ग्रापसी दुश्मनी का सिलसिला योरप के इतिहास में एक धागे की तरह चला ग्रा रहा है।

लूथर जबरदस्त प्रोटेस्टेण्ट था ग्रौर उसने रोम की सत्ता का विरोध किया। लेकिन यह खयाल न कर लेना कि वह धर्म के मामले मे सहिष्णु था। वह उतना ही ग्रसहिष्णु था जितना पोप, जिससे वह लड़ रहा था। इसलिए 'रिफ़ार्मेशन' से योरप में कोई धार्मिक स्वतन्त्रता नही ग्राई। इसने एक नये ढंग के धर्मान्ध पैदा कर दिये—'प्यूरिटन'[2] ग्रौर कालविनिस्ट। कालविन प्रोटेस्टेण्ट ग्रान्दोलन के बाद के नेताग्रो

---

[1] जीसस क्राइस्ट यानी ईसामसीह।

[2] १६ वीं ग्रौर १७ वीं सदियों में इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेण्ट लोगों का एक समुदाय जो सादगी पर जोर देता था।

में से एक था। उसम संगठन करने का अच्छा माद्दा था और कुछ दिनों तक जेनेवा शहर की बागडोर उसके हाथ में रही। क्या तुम्हें जेनेवा के पार्क में 'रिफ़ार्मेशन' के उस बड़े स्मारक की याद है, जिसकी दूर-दूर तक फैली हुई दीवारो पर कालविन आदि की मूर्तियाँ हैं ? कालविन इतना असहिष्णु था कि उसने बहुत से लोगों को सिर्फ़ इसलिए जलवा दिया था कि वे उससे सहमत नही होते थे और स्वतत्र विचारक थे।

लूथर और प्रोटेस्टेण्टों की आम लोगो ने भी खूब मदद की क्योंकि उनमे रोमन चर्च के खिलाफ़ बडा जबर्दस्त असतोष था। जैसा मैं बतला चुका हूँ, किसान लोग बड़ी मुसीबत में थे और बार-बार दंगे होते थे। ये दंगे बढकर जर्मनी में बाक़ायदा किसान-युद्ध की सूरत में बदल गये। बेचारे ग़रीब किसान उस प्रणाली के खिलाफ़ उठ खड़ हुए जो उनको पीस रही थी और उन्होंने बहुत ही मामूली और न्यायोचित अधिकारो की माँग की—यानी यह कि दास प्रथा उठा दी जाय और उन्हें मछली मारने और शिकार करने के हक दिये जायँ। लेकिन इन मामूली हक़ो को भी नही माना गया और जर्मनी के सामन्तो ने हर तरह की बर्बरता से उन्हे कुचलने की कोशिश की। और उस महान् सुधारक लूथर का क्या रुख था ? क्या उसने ग़रीब किसानो का साथ दिया और उनकी न्यायोचित माँगो का समर्थन किया ? नही। बल्कि किसानो की इस माँग पर कि दास प्रथा तोड़ दी जाय उसने कहा—"इससे तो सब आदमी बराबर हो जायँगे और ईसा का आध्यात्मिक राज्य एक बाहरी सासारिक राज्य मे बदल जायगा। असभव ! पृथ्वी पर कोई राज्य लोगो की असमता के बगैर टिक नही सकता। कुछ को आज़ाद, दूसरो को गुलाम, कुछ को शासक, दूसरो को रिआया रहना ही पड़ेगा।" उसने किसानो को अभिशाप दिया और उनकी बरबादी का आदेश दिया। "इसलिए जो लोग भी ऐसा कर सकते हो वे उनको (किसानो को) खुल्लम खुल्ला या गुप्त रूप से काट डालें; क़त्ल कर डाले और छुरो से भोक दें और समझ ले कि एक बागी से बढ़कर जहरीला, घृणित और निपट पिशाच कोई नही है। तुम उसे मार डालो, जैसे तुम पागल कुत्ते को मार डालते हो। अगर तुम उस पर टूट नही पडोगे तो वह तुम पर और सारे देश पर टूट पड़ेगा।" एक धार्मिक नेता और सुधारक के मुह से निकलने वाले ये कैसे सुन्दर शब्द हैं !

इन सब बातो से साफ हो जाता है कि स्वतन्त्रता और मुक्ति की सारी बाते सिर्फ ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए थी, जनता के लिए नही। करीब-करीब हरेक युग में आम जनता की ज़िन्दगी जानवरो से कुछ ज्यादा अच्छी नही रही है। लूथर के मुताबिक़ उनकी यह ज़िन्दगी बनी रहनी चाहिए क्योंकि विधाता का ऐसा ही विधान है। रोम के खिलाफ प्रोटेस्टेण्ट विद्रोह का सबसे बडा कारण जनता की आर्थिक मुसीबत थी। उसने इसे अपने साथ लेकर अपना मतलब बनाया। लेकिन जब यह आशका होने लगी कि कही ये गुलाम किसान बहुत आगे न बढ जायँ और अपनी गुलामी से छुटकारा न प्राप्त कर ले—(यह छोटी सी बात काफी थी)—तो प्रोटेस्टेण्ट नेता उनको कुचलने के लिए सामन्तो से मिल गये। जनता के दिन अभी दूर थे। नया ज़माना, जो उदय हो रहा था, मध्यमवर्ग के लोगो का ज़माना था। सोलहवी और सत्रहवी सदियो के सघर्षों और युद्धो के बीच, इस वर्ग को, अनिवार्य रूप से, सीढ़ी दर सीढी ऊपर चढता हुआ देखा जा सकता है।

जहाँ कही भी यह बढता हुआ मध्यमवर्ग काफी शक्तिमान् था, वहाँ-वहाँ प्रोटेस्टेण्ट मत फैल गया। प्रोटेस्टेण्टो के भी कई वर्ग और सम्प्रदाय थे। इंग्लैण्ड में बादशाह खुद चर्च का प्रधान—'धर्म का रक्षक' बन गया और व्यवहार मे चर्च का रूप चर्च नही रहा बल्कि वह सरकार का एक महकमा बन गया। तब से इंग्लैण्ड का चर्च वैसा ही चला आ रहा है।

दूसरे मुल्को में, खास तौर से जर्मनी, स्वीज़रलैण्ड और निदरलैण्ड्स में, अन्य सम्प्रदायों का महत्व बढ़ा। कालविन मत खूब फैला, क्योंकि वह मध्यमवर्ग के विकास से मेल खाता था। धार्मिक मामलो में कालविन भयकर रूप से असहिष्णु था। गैर-ईसाइयों पर तरह-तरह के जुल्म किये जाते थे और उनको जला दिया जाता था और श्रद्धालुओं पर कठोर अनुशासन था। लेकिन व्यापार के मामलों में, रोमन उपदेश के विपरीत उसका उपदेश बढते हुए उद्योग-धधो और व्यापार के ज्यादा अनुकूल था। व्यापार के मुनाफो को आशीर्वाद दिया जाता था और लेन-देन को प्रोत्साहन दिया जाता था। इस तरह नये मध्यमवर्ग ने पुराने धर्म का यह नया सस्करण अंगीकार कर लिया और वह पूरे आत्म-संतोष के साथ धन कमाने में लग गया। उन्होंने सामन्त सरदारो के खिलाफ़ अपनी लड़ाई मे जनता का उपयोग कर लिया था। अब, सरदारो पर विजय प्राप्त करने के बाद, उन्होंने जनता को धता बताई, या उसकी छाती पर चढ़ बैठे।

लेकिन अब भी मध्यमवर्ग को अनेक बाधाओं का सामना करना बाकी था। अभी बादशाह उनके रास्ते का कांटा था। बादशाह ने सामन्तों से लड़ने में शहर के लोगों का साथ दिया था। अब सामन्तों के शक्तिहीन हो जाने पर बादशाह की ताक़त बहुत बढ़ गई और वह मानो परिस्थिति का स्वामी बन गया। उसके और मध्यमवर्गों के बीच का संघर्ष अभी शुरू नहीं हुआ था।

: ८५ :

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के योरप में तानाशाही

२६ अगस्त, १९३२

मैं फिर बड़ा लापरवाह हो गया। इन पत्रों को लिखे हुए मुझे बहुत समय हो गया है। यहां मुझसे न तो कोई जवाब तलब करने वाला है और न कोई बढ़ावा ही देने वाला है। इसीलिए मैं अक्सर ढीला पड़ जाता हूँ और दूसरे कामों में लग जाता हूँ। अगर हम साथ होते तो शायद यह बात न होती। क्यों ठीक है न? लेकिन अगर तुम और मैं एक दूसरे से बात-चीत कर सकते तो मुझे इन पत्रों के लिखने की जरूरत ही क्यों पड़ती?

पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें योरप के उस जमाने का हाल लिखा था जबकि वहां बड़ी उथल-पुथल थी और बड़ा परिवर्त्तन हो रहा था। उन पत्रों में सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के महत्वपूर्ण परिवर्त्तनों का ज़िक्र किया गया था। ये परिवर्त्तन उस आर्थिक क्रांति के साथ या बाद में आये जिसने मध्य-युग का ख़ात्मा करके मध्यमवर्ग को ऊपर चढ़ा दिया था। आख़िरी पत्र में मैंने पश्चिमी योरप के ईसाई साम्राज्य के टूटने और दो फ़िरकों, प्रोटेस्टेण्ट और रोमन कैथलिक, में बँट जाने का ज़िक्र किया था। इन दोनों फ़िरकों की धार्मिक लड़ाई का ख़ास मैदान जर्मनी बना हुआ था, क्योंकि वहां दोनों दल करीब-करीब बराबर की जोड़ के थे। पश्चिमी योरप के दूसरे देश भी कुछ हद तक इस संघर्ष में उलझे हुए थे। लेकिन इंग्लैण्ड योरप के इस धार्मिक संघर्ष से अलग रहा। अपने बादशाह हेनरी अष्टम के राज्य में इस देश ने बिना किसी अन्दरूनी गड़बड़ के रोम से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और अपना निजी चर्च स्थापित कर लिया जो कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट चर्चों के बीच का था। हेनरी मज़हब की कुछ भी परवाह नहीं करता था। उसे चर्च की जमीनों की ज़रूरत थी, वह उसने लेली। वह दूसरी शादी करना चाहता था सो वह भी उसने करली। इस तरह रिफ़ार्मेशन का मुख्य परिणाम यह हुआ कि राजा और बादशाह पोप की लगाम से बरी हो गये।

जिस वक्त 'रिनैसाँ' और 'रिफार्मेशन' के ये आन्दोलन और आर्थिक उथल-पुथल योरप के नक़शे को बदल रहे थे उस वक़्त वहां की राजनैतिक पृष्ठ-भूमि कैसी थी? सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में योरप का नक़शा किस तरह का था? इन दो सौ वर्षों में योरप का नक़शा दरअसल बदलता जा रहा था। इस-लिए हमें सोलहवीं सदी के शुरू के नक़शे पर ग़ौर करना चाहिए।

दक्षिण-पूर्व में तुर्क लोग कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा जमाये हुए थे और उनका साम्राज्य हंगरी की तरफ़ बढ़ रहा था। दक्षिण-पश्चिमी कोने में अरब विजेताओं के वंशज मुस्लिम सरासीन लोग, ग्रेनेडा से खदेड़े जा चुके थे और स्पेन, फर्डिनेण्ड तथा आइज़ाबेला के सम्मिलित शासन में, एक ईसाई ताक़त बनकर उठ चुका था। स्पेन में ईसाइयों और मुसल्मानों की सदियों की मुठभेड़ ने स्पेन-निवासियों को अपने कैथलिक मज़हब से दिली जोश और कट्टरता के साथ चिपके रहने को मजबूर कर दिया था। स्पेन में ही भयंकर 'इनक्विज़िशन' की स्थापना हुई। अमरीका की खोज की मोहिनी और वहां से आने वाली दौलत के प्रभाव से स्पेन योरप की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेने लगा था।

नक़शे पर फिर निगाह दौड़ाओ। इंग्लैण्ड और फ़्रांस लगभग वैसे ही थे जैसे कि वे आज हैं। नक़शे के बीच में एक साम्राज्य है जो बहुत-सी जर्मन रियासतों में बँटा हुआ है; जिन में से हरेक क़रीब-क़रीब स्वतंत्र थी। राजाओं, ड्यूकों, पादरियों, निर्वाचकों, वग़ैरा के मातहत छोटी-छोटी रियासतों का यह अजीब जमघट था। इसमें ख़ास सुविधाएं उपयोग करने वाले कुछ नगर भी थे और उत्तर के व्यापारिक नगरों ने मिलकर

एक संघ भी बना लिया था। फिर स्वीजरलैंड का प्रजातन्त्र था जो असल में तो स्वतंत्र था लेकिन अभी तक बाकायदा स्वतंत्र माना नहीं गया था। वेनिस का प्रजातन्त्र और उत्तर इटली के और भी कई नगर-प्रजातन्त्र थे। रोम के चारों ओर पोप की जमींदारी थी, जो पोप की रियासत कहलाती थी। इसके दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। पूर्व में, जर्मन साम्राज्य और रूस के बीच में, पोलैंड था और हंगरी का बड़ा राज्य था जिसपर उस्मानी तुर्कों की छाया पड़ रही थी। दूर-पूर्व में रूस था जो 'सुनहले फिरक़े' के मंगोलों के चंगुल से निकलकर एक नया शक्तिशाली राज्य बन रहा था। उत्तर और पश्चिम में कुछ और भी देश थे।

सोलहवीं सदी के शुरू में योरप का यह नक़शा था। सन् १५२० ई० में चार्ल्स पंचम बादशाह हुआ। यह हैप्सबर्ग ख़ानदान का था और, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, स्पेन तथा नेपल्स और सिसिली के राज्यों और निदरलैण्ड्स की विरासत इसके हाथ लग गई। यह एक अजीब बात है कि कुछ बादशाहों की शादियों की वजह से योरप के बहुत-से देशों और राष्ट्रों के स्वामी ही बदल गये। करोड़ों जनता और बड़े-बड़े देश केवल विरासत में मिल गये। कहीं-कहीं वे दहेजों में दिये गये। बम्बई का टापू इसी तरह इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय को उसकी स्त्री ब्रैगेंजा (पुर्तगाल) की कैथराइन के साथ दहेज में मिला था। इसलिए चतुराई के साथ शादियाँ करके हैप्सबर्गों ने एक साम्राज्य इकट्ठा कर लिया और चार्ल्स पंचम इसका अधिकारी हुआ। यह एक बहुत साधारण आदमी था और ख़ासतौर पर इसलिए मशहूर था कि वह ख़ूब खाता था। लेकिन उस वक़्त तो अपने बड़े साम्राज्य के कारण वह योरप में बड़ा भारी-भरकम जँच रहा था।

जिस साल चार्ल्स सम्राट् हुआ, उसी साल सुलेमान उस्मानी साम्राज्य का स्वामी हुआ। इसके ज़माने में यह साम्राज्य सभी ओर, और ख़ास कर पूर्वी योरप की ओर फैला। तुर्क लोग ठेठ वियेना के दरवाज़ों तक पहुँच गये मगर इस सुन्दर पुराने शहर को जीतने में ज़रा-सी कसर रह गई। लेकिन हैप्सबर्ग सम्राट् उनके रोब में आगया और उसने सुलेमान को कर के रूप में धन देकर उससे पिंड छुड़ाना ही ठीक समझा। पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट् का तुर्की के सुल्तान को कर देना ज़रा ग़ौर करने की बात है। सुलेमान 'प्रतापी सुलेमान' के नाम से मशहूर है। उसने सम्राट् का ख़िताब अपने आप ले लिया क्योंकि वह अपने आपको पूर्वी बिज़ेण्टाइन सीज़रों का प्रतिनिधि समझता था।

सुलेमान के समय में क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनाने का काम बड़े ज़ोरों से हुआ और बहुत-सी सुन्दर मसजिदें बनवाई गईं। इटली में कलाओं का जैसा पुनर्जीवन हो रहा था वैसा ही पूर्व में भी होता हुआ नज़र आरहा था। यह कलात्मक प्रवृत्ति सिर्फ़ क़ुस्तुन्तुनिया में ही नहीं थी बल्कि ईरान और मध्य-एशिया के ख़ुरासान में भी बड़े सुन्दर चित्र बनाये जारहे थे।

हम देख चुके हैं कि किस तरह उत्तर-पश्चिम से बाबर ने आकर भारत में एक नया राजघराना क़ायम किया। यह सन् १५५६ ई० की बात है, जब चार्ल्स पंचम योरप में सम्राट् था और सुलेमान क़ुस्तुन्तुनिया में राज कर रहा था। बाबर और उसके प्रकाशमान वंशजों के बारे में हमें आगे बहुत-कुछ कहना है। यहाँ तो सिर्फ़ यह बात ध्यान में रखने की है कि बाबर ख़ुद 'रिनेसाँ' के ढंग का राजा था। हालाँकि वह उस वक़्त के योरपीय नमूनों से कहीं अच्छा था। था तो वह भाग्य-परीक्षा के लिए निकल पड़ने वाला, पर फिर भी वीर योद्धा था, जिसे साहित्य और कला का व्यसन था। उस समय इटली में भी ऐसे राजा थे जो इसी तरह के भाग्य-परीक्षक और साहित्य और कला के प्रेमी थे और जिनके छोटे-छोटे दरबारों में ऊपरी तड़क-भड़क थी। फ्लोरेंस का मेडीची वंश और बोर्जिया लोग उस समय मशहूर थे। लेकिन इटली के ये राजा लोग, और उस वक़्त योरप के भी ज़्यादातर राजा, मैकियावैली के सच्चे अनुयायी थे। ये धर्म-अधर्म का विचार न करनेवाले, साज़िश करनेवाले और स्वेच्छाचारी थे और अपने विरोधियों के लिए ज़हर का प्याला और क़ातिल का छुरा भी इस्तेमाल करते थे। शूरवीर बाबर की इस गिरोह से तुलना करना वैसा ही अनुचित है, जैसा इनके टुच्चे राजदरबारों की दिल्ली या आगरे के मुग़ल सम्राटों—अकबर, शाहजहाँ, वग़ैरा—के दरबार से तुलना करना बेमेल बात है। कहा जाता है कि ये मुग़ल दरबार बड़े शानदार थे और शायद इतनी दौलत और शान-शौक़त वाले दरबार कभी रहे ही नहीं।

योरप का ज़िक्र करते-करते हम, अनजाने ही भारत की बातों को ले बैठे। लेकिन मैं तुम्हें यह जतलाना चाहता था कि योरपीय 'रिनेसाँ' के समय भारत और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। उस समय तुर्की, ईरान,

मध्य-एशिया और भारत में भी कला प्रवृत्ति जागृत हो रही थी। चीन में मिंग राजाओं का शान्तिमय और सुखमय जमाना था जब कि कला की वस्तुओं का उत्पादन बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचा हुआ था। लेकिन रिनेसाँ-काल की यह सारी कला, शायद चीन को छोड़कर, बहुत-कुछ दरबारी कला थी। यह जनता की कला न थी। इटली में कुछ महान कलाकारों के बाद, जिनमें से कइयों के नाम मैं लिख चुका हूँ, पिछले रिनेसाँ-युग की कला बिल्कुल नीचे दर्जे की और मामूली बन गई।

इस तरह सोलहवीं सदी का योरप कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट राजाओं के बीच बँटा हुआ था। उस वक़्त राजाओं की गिनती थी, रैयत की नहीं। इटली, आस्ट्रिया, फ्रांस, और स्पेन कैथलिक थे; जर्मनी आधा कैथलिक और आधा प्रोटेस्टेण्ट था; इंग्लैंड सिर्फ़ इसलिए प्रोटेस्टेण्ट था कि उसके बादशाह की ऐसी मर्जी थी। और चूंकि इंग्लैंड प्रोटेस्टेण्ट था इसलिए आयर्लैण्ड के लिए कैथलिक बने रहने की यह काफ़ी वजह थी, क्योंकि इंग्लैंड उसे जीतने और तंग करने की कोशिश करता था। लेकिन यह कहना सिर्फ़ एक हद तक ही सही है कि प्रजा का मजहब किसी गिनती में न था। अन्त में जाकर जनता के मजहब का भी असर पड़ा और इसके कारण बहुत-सी लड़ाइयाँ और क्रान्तियाँ हुईं। धार्मिक पहलू को राजनैतिक या आर्थिक पहलुओं से अलग करना मुश्किल है। मेरे खयाल से, मैं तुम्हें पहले ही यह बतला चुका हूँ कि रोम के खिलाफ़ प्रोटेस्टेण्टों की बगावत खास तौर पर वहीं हुई जहाँ नया व्यापारी-वर्ग ज़ोर पकड़ रहा था। इससे हम समझ सकते हैं कि धर्म और व्यापार के बीच कुछ सम्बन्ध था। इसी तरह बहुत-से राजा लोग धार्मिक-सुधार आन्दोलन से इसलिए डरते थे कि कहीं इसकी आड़ में अन्दरूनी क्रान्ति न फैल जाय और उनका तख्ता न उलट दिया जाय। अगर कोई आदमी पोप की धार्मिक सत्ता के विरुद्ध आवाज़ उठाने की हिम्मत कर सकता था तो फिर यह भी सम्भव था कि वह बादशाह या राजा की सत्ता को भी मानने से इंकार कर दे। बादशाहों के लिए यह मन्तव्य बड़ा खतरनाक था। वे अभी तक राजाओं के शासन करने के दैवी अधिकार को ही पकड़े बैठे थे। प्रोटेस्टेण्ट राजा भी इस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार न थे।

फिर भी, बावजूद रिफ़ार्मेशन के, योरप में बादशाहों का बोलबाला था और योरप में वे पूर्ण सत्ताधारी थे। पहले कभी वे इतने निरकुश न थे, क्योंकि बड़े-बड़े सामन्ती अमीर उन पर लगाम लगाते रहते थे और अक्सर उनकी सत्ता को भी मानने से इन्कार कर देते थे। व्यापारी और मध्यमवर्ग के लोग इन सरदारों से खुश न थे और न बादशाह ही इनको पसंद करता था। इसलिए व्यापारी वर्ग और कृषक वर्ग की मदद से बादशाह ने सामन्ती अमीरों को कुचल दिया और खुद पूर्ण सत्ताधारी बन बैठा। हालाँकि मध्यमवर्ग ने अपनी शक्ति और अपना महत्व बहुत बढ़ा लिये थे, मगर अभी वह इतना ताक़तवर नहीं हुआ था कि बादशाह के कामों में दखल दे सके। लेकिन थोड़े ही अर्से के बाद मध्यमवर्ग के लोग बादशाह के बहुत से कामों का विरोध करने लगे। खासकर उन्होंने बार-बार लगाये जानेवाले भारी करों का और धर्म में हस्तक्षेप का विरोध किया। बादशाह को ये बातें बिल्कुल अच्छी न लगीं। वह इस बात से चिढ़ गया कि इन लोगों ने उसके किसी भी काम का विरोध करने का दुस्साहस किया। इसलिए उसने इनको जेल में ठूंस दिया और दूसरी सजायें भी दीं। उन दिनों बिना कानून-कायदे के लोगों को जेल में डाल दिया जाता था, जैसा कि आजकल भारत में हो रहा है, क्योंकि हम अंग्रेज सरकार के आगे सर झुकाने से इन्कार करते हैं। बादशाह व्यापार में भी दखल देता था। इससे हालत और भी बिगड़ती गई और बादशाह का विरोध करने की प्रवृति बढ़ने लगी। बादशाहों की तानाशाही के विरुद्ध मध्यमवर्ग की यह अधिकारों की लड़ाई सदियों तक चलती रही और इसे खतम हुए ज्यादा अर्सा नहीं हुआ। कई बादशाहों के सर उड़ा दिये जाने के बाद कहीं जाकर बादशाहों के दैवी अधिकार का खयाल हमेशा के लिए दफन कर दिया गया और बादशाहों का दिमाग़ दुरुस्त कर दिया गया। कुछ देशों में यह जीत जल्दी हो गई और कुछ में देर से। आगे के पत्रों में हम इस लड़ाई के उतार-चढ़ाव का जिक्र करेंगे।

लेकिन सोलहवीं सदी में योरप में लगभग सब जगह बादशाह की धाक थी—पूरे तौर पर नहीं बल्कि क़रीब क़रीब। तुम्हें याद होगा कि स्वीजरलैण्ड के गरीब पहाड़ी किसानों ने हैप्सबर्ग के बादशाह को चुनौती देने की हिम्मत दिखलाई थी और अपनी आजादी हासिल करली थी। इस तरह निरंकुशता और तानाशाही के योरपीय समुद्र में स्वीजरलैण्ड का छोटा-सा कृषक प्रजातन्त्र एक टापू के समान था जिसमें बादशाहों के लिए कोई जगह न थी।

जल्द ही एक दूसरे देश—निदरलैण्ड्स—में भी मामले ने तूल पकड़ा और जनता और धर्म की स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी गई और जीत ली गई। यह एक छोटा-सा देश है, लेकिन यह लड़ाई बड़ी जबरदस्त थी, क्योंकि यह उस जमाने में योरप की सबसे जबरदस्त शक्ति—स्पेन—के खिलाफ़ लड़ी गई थी। इस तरह निदरलैण्ड्स ने योरप को रास्ता बतलाया। इसके बाद इंग्लैण्ड में भी जनता की आजादी के लिए एक लड़ाई हुई, जिसमें एक बादशाह को अपने सिर गवांना पड़ा और उस वक्त की पार्लमेंट की जीत हुई। इस तरह निदरलैण्ड्स और इंग्लैंड ने तानाशाही के विरुद्ध मध्यमवर्ग की लड़ाई में सबसे आगे कदम बढाया। और चूंकि इन मुल्कों में मध्यमवर्ग की जीत हुई इसलिए नई परिस्थितियो का फायदा उठाकर ये और देशो से आगे बढ़ गये। दोनों ने, आगे चलकर, शक्तिशाली जहाज़ी बेड़े बनाये; दोनों ने दूर-दूर देशों से व्यापार कायम किया और दोनो ने एशिया में साम्राज्य की नीव रक्खी।

इन पत्रो में हमने अभी तक इंग्लैण्ड के बारे में ज्यादा नही लिखा है। लिखने के लिए कुछ था भी नही; क्योंकि इंग्लैण्ड योरप का कोई ज्यादा महत्त्वपूर्ण देश नही था। लेकिन अब एक परिवर्तन आता है और, जैसा कि आगे बतलाया जायगा, इंग्लैंड बडी तेजी के साथ आगे बढता है। हम 'मैग्नाचार्टा', पार्लमेण्ट की शुरूआत, किसानो के असंतोष और विभिन्न शाही खानदानों के आपसी युद्धों का जिक्र कर चुके हैं। इन युद्धो में बादशाहों के हाथ से खून और हत्यायें आम तौर पर हुई। सामन्ती अमीरो की एक बहुत बड़ी सख्या लडाइयो में काम आई, जिससे उनका बल बहुत घट गया। टयूडरों का नया राजवंश गद्दी पर बैठा जिन्होने तानाशाही का खूब अभिनय किया। आठवां हेनरी टयूडर था और उसकी लड़की एलिजाबेथ भी टयूडर थी।

सम्राट चार्ल्स पंचम के बाद साम्राज्य के टुकडे-टुकड़े हो गये। स्पेन और निदरलैण्ड्स उसके पुत्र फिलिप द्वितीय के हिस्से में आये। उस वक़्त सबसे ताकतवर बादशाहत होने की वजह से स्पेन सारे योरप के ऊपर सिर उठाये हुए था। तुम्हे याद होगा कि पेरू और मैक्सिको उसके कब्जे में थे और अमरीका से सोने की नदी उसके पास चली आ रही थी। लेकिन कोलम्बस, कोर्टे और पिज़ारो के बावजूद भी स्पेन नई परिस्थितियो से फायदा नही उठा सका। व्यापार मे उसे कोई दिलचस्पी नही थी। उसे अगर परवा थी तो ऐसे धर्म की जो बड़ा ही कट्टर और क्रूर था। सारे देश मे इनक्विज़िशन की तूती बोलती थी और काफ़िर कहे जानेवालो को भयकर यन्त्रणाए दी जाती थी। समय-समय पर बडे आम जलसे किये जाते थे और इन 'काफ़िर' स्त्री-पुरुषो के झुंड-के-झुंड बादशाह, शाही खानदान, राजदूतो और हजारो मनुष्यो के सामने बडी-बड़ी चिताओ पर जिन्दा जला दिये जाते थे। ये सार्वजनिक अग्नि-दाह धार्मिक कृत्य कहलाते थे। ये बाते आज कितनी भयकर और खूंखार मालूम पड़ती है। पर इस जमाने का योरप का इतिहास हिंसा, बीभत्स और बर्बरता पूर्ण क्रूरता और धार्मिक कट्टरता से इस कदर भरा हुआ है कि उसपर विश्वास करना मुश्किल है।

स्पेन का साम्राज्य ज्यादा दिनों तक न टिक सका। छोटे-से हालैण्ड की वीरतापूर्ण लड़ाई ने उसे बिल्कुल हिला डाला। कुछ दिनों बाद, सन् १५८८ ई० मे, इंग्लैण्ड को जीतने की कोशिश बिल्कुल बेकार गई और स्पेन की फ़ौजो को ले जानेवाला 'अजेय आर्मेडा' इंग्लैण्ड तक पहुँच भी न सका। समुद्री तूफान ने उसे तहस-नहस कर डाला। इसमे ताज्जुब की कोई बात नही है, क्योंकि 'आर्मेडा' की कमान करने वाला व्यक्ति समुद्र या जहाज़ों के बारे में कुछ भी नही जानता था। वास्तव में उसने बादशाह फ़िलिप द्वितीय के पास जाकर यह प्रार्थना भी की थी कि उसे इस काम का भार न सौंपा जाय क्योंकि उसे समुद्री लड़ाई के दाव-पेंच का कुछ भी ज्ञान न था और न वह अच्छा नाविक ही था। लेकिन बादशाह ने जवाब दिया कि स्पेन के जहाज़ी बेड़े का संचालन तो खुद खुदा करेगा।

इस तरह धीरे-धीरे स्पेन का साम्राज्य गायब होता गया। चार्ल्स पंचम के जमाने में यह कहा जाता था कि उसके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। यही कहावत आजकल के एक अभिमानी और मद में चूर साम्राज्य के बारे में भी अक्सर दोहराई जाती है।

: ८६ :

निदरलैण्ड्स की आज़ादी की लड़ाई

२७ अगस्त, १९३२

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बतलाया था कि सोलहवीं सदी में क़रीब-क़रीब सारे योरप में बादशाहों का कितना प्रभुत्व हो गया था। इग्लैण्ड में टयूडर थे और स्पेन और आस्ट्रिया में हैप्सबर्ग थे। रूस, जर्मनी और इटली के ज्यादातर हिस्सों में निरकुश स्वेच्छाचारी राजा थे। इस तरह व्यक्तिगत राज्यशासन चलाने वाले बादशाह का फ्रांस शायद एक नमूना था जहा सारा साम्राज्य बादशाह की क़रीब-क़रीब व्यक्तिगत जायदाद समझा जाता था। कार्डिनल रिशलू नाम के एक बड़े योग्य मत्री ने फ्रांस और उसकी बादशाहत को मज़बूत बनाने में बड़ी मदद की। फ्रास का हमेशा यह खयाल रहा है कि उसकी ताकत और सुरक्षा जर्मनी की कमज़ोरी में है। इसलिए रिशलू ने, जो खुद एक कैथलिक पादरी था और फ्रास में प्रोटेस्टेण्टों को बड़ी बेरहमी से कुचल रहा था, जर्मनी में प्रोटेस्टेण्टो को उलटा उकसाया। ऐसा करने का उद्देश्य यह था कि जर्मनी में अन्दरूनी लड़ाई-झगड़े और अशान्ति बढे, जिससे वह कमज़ोर हो जाय। यह नीति सफल भी खूब हुई। जैसा कि आगे जिक्र किया जायगा, जर्मनी में बहुत ही बुरा गृह-युद्ध हुआ, जिसने देश का सत्यानाश कर दिया।

फ्रांस में भी सत्रहवी सदी के बीच में गृह-युद्ध हुआ, जो फ्रांस का युद्ध कहलाता है। लेकिन बादशाह ने अमीरों और व्यापारियों दोनो को कुचल दिया। अमीरो के हाथ में कुछ ताकत तो रह ही नही गई थी, लेकिन अपनी तरफ़ मिलाये रखने के लिए बादशाह ने उन्हे बहुत-सी सहूलियते देदी। उनको टैक्सो से क़रीब-क़रीब बरी कर दिया गया था। अमीर वर्ग और पादरी वर्ग दोनो ही टैक्सो से बरी थे। टैक्सों का सारा बोझ आम जनता पर और खासकर किसानो पर पड़ता था। इन गरीब दुखी अभागो को निचोकर जो धन इकट्ठा किया जाता था उससे बड़े-बड़े आलीशान महल बनाए गये और बादशाह बड़े ठाट-बाट वाले दरबार से घिरा रहता था। पेरिस के पास वर्साई तुमने देखा है, उसका तुमको खयाल होगा। वहाँ के आलीशान महल, जिनको देखने के लिए आजकल लोग जाते है, सत्रहवी सदी में फ्रास के किसानो के खून से बने थे। वर्साई एक सर्वाधिकारी और स्वेच्छाचारी राज्यतन्त्र का प्रतीक समझा जाता था, इसलिए यह ताज्जुब की बात नही है कि यही वर्साई फ्रांस की उस राज्यक्रान्ति का हरकारा बनी जिसने सारे राज्यतन्त्र को ही खतम कर दिया। लेकिन उन दिनो राज्य-क्रान्ति के दिन बहुत दूर थे। उस समय चौदहवाँ लुई बादशाह था, जो 'महान बादशाह' कहलाता था, और वह 'सूर्य' था जिसके चारों तरफ उसके दरबार के ग्रह चक्कर लगाते रहते थे। उसने बहत्तर साल के बहुत ही लम्बे समय तक, यानी सन् १६४३ से १७१५ ई० तक, राज्य किया और उसका प्रधान मत्री मैज़ारिन नामक एक दूसरा बड़ा कार्डिनल था। ऊपर-ऊपर तो बडा राग-रंग और विलास था और साहित्य, विज्ञान और कला पर शाही कृपा थी, लेकिन शान-शौकत की इस पतली चादर के नीचे बडी मुसीबत और तड़प थी। वह सुन्दर नकली बालो और गोटे के कफो और नफीस पोशाको की दुनिया थी, लेकिन जिस शरीर पर ये चीजें पहनी जाती थी उसे शायद ही कभी नहलाया जाता था, और वह मैल और गन्दगी से भरा रहता था।

हम सब पर शान-शौकत और तडक-भडक का बहुत बड़ा असर पडता है, इसलिए अगर अपने लम्बे शासन-काल में चौदहवें लुई ने योरप को खूब प्रभावित किया तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नही है। वह बादशाहो में नमूना समझा जाता था और दूसरे उसकी नकल करने की कोशिश करते थे। लेकिन यह 'महान बादशाह' आखिर था क्या? मशहूर अंग्रेज़-लेखक कार्लाइल ने लिखा है—"अपने चौदहवें लुई पर से बादशाहत का चोगा उतार दो तो सिवा एक भद्दी दो जड़ो वाली मूली के, जिसमें चाकू से बेढगा सिर बना दिया गया हो, और कुछ नही रहता।" यह बयान सख्त ज़रूर है, मगर शायद बहुत-से लोगों—क्या बादशाह और क्या प्रजा—पर लागू होता है।

चौदहवें लुई का इतिहास हमको सन् १७१५ ई०, यानी अठारहवीं सदी के शुरू, तक ले आता है। इस बीच योरप के दूसरे मुल्को में बहुत-कुछ हो गया था और इनमें से कुछ घटनाएं हमारे ध्यान देने लायक़ हैं।

निदरलैण्ड्स के स्पेन के विरुद्ध विद्रोह का हाल मैं तुमको बतला चुका हूँ। उनकी वीरतापूर्ण लड़ाई अच्छी तरह गौर करने लायक़ है। जे० एल० मोटले नामक एक अमरीकी ने स्वतंत्रता के इस संग्राम का मशहूर वर्णन लिखा है, और उसने इस इतिहास को बड़ा रोचक और हृदयाकर्षक बना दिया है। साढ़े तीन सौ वर्ष पहले योरप के इस छोटे-से कोने में जो कुछ हुआ उसके इस हृदय-द्रावक वर्णन से ज्यादा चित्ता-कर्षक कोई उपन्यास मैं नहीं जानता। इस किताब का नाम 'राइज़ ऑफ़ दि डच रिपब्लिक' है[1] और मैंने इसे जेल में पढ़ा है।

निदरलैण्ड्स में हालैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची ज़मीन में हैं। हालैण्ड का अर्थ है 'धसी हुई ज़मीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दरअसल नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल बाँध[2] और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे देश के निवासी, जहाँ निरन्तर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मज़बूत और सागर-प्रिय होते हैं और जो लोग समुद्र-यात्रा करते रहते हैं वे अक्सर तिजारती बन जाते हैं। इसलिए निदरलैण्ड्स के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और दूसरी चीज़ें तैयार करते थे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी ले जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और ख़ासकर एण्टवर्प जैसे मालदार और तिजारती शहर वहाँ खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे इन शहरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में एण्टवर्प योरप का व्यापारिक केन्द्र बन गया। कहते हैं कि उसकी मंडी में रोज़ पाँच हज़ार व्यापारी इकट्ठे होकर आपस में सौदे किया करते थे; उसके बन्दर में एक साथ ढाई हज़ार जहाज़ लंगर डाले रहते थे। रोज़मर्रा लगभग पाँच सौ जहाज़ वहाँ आते-जाते थे। इन्हीं व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियों की यह ठीक ऐसी जाति थी जो 'रिफार्मेशन' के नये धार्मिक विचारों की ओर आकर्षित हो सकती थी। यहाँ पर, और ख़ासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टेण्ट मत फैलने लगा। विरासत के संयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम और उसके बाद उसके पुत्र फ़िलिप द्वितीय को निदरलैण्ड्स का शासक बना दिया। इन दोनों में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या धार्मिक स्वतंत्रता सहन नहीं कर सकता था। फ़िलिप ने शहरों के विशेषाधिकारों को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो ज़ुल्मों और अत्याचारी शासन के लिए बदनाम हो गया है। 'इनक्विज़िशन' स्थापित हुई और एक 'ख़ूनी मजलिस' बनाई गई जिसने हज़ारों को ज़िन्दा जला दिया, या फांसी पर लटका दिया।

यह एक बड़ी लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ बयान नहीं कर सकता। जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताक़त भी लोगों में बढ़ती गई। उनमें प्रिन्स विलियम ऑफ़ ऑरेञ्ज, या 'शांत विलियम' नामक एक ऐसा महान और बुद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुकाबला एल्वा का ड्यूक नहीं कर सकता था। सन् १५६८ ई० में 'इनक्विज़िशन' ने तो, कुछ गिने चुने आदमियों को छोड़कर, निदरलैण्ड्स के सारे निवासियों को एक ही फ़ैसले में काफ़िर करार देकर मौत की सज़ा दे डाली। यह आश्चर्यजनक फ़ैसला इतिहास में बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनों में ही तीस लाख आदमियों को दण्ड दे दिया।

शुरू में तो यह लड़ाई निदरलैण्ड्स के अमीरों और स्पेन के बादशाह के बीच ही चलती मालूम पड़ी। दूसरे देशों में बादशाह और अमीरों के जो संघर्ष चल रहे थे, करीब-क़रीब उन्हीं जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीरों को ब्रुसेल्स में फांसी के तख़्ते पर चढ़ना पड़ा। इन फाँसी दिये जाने वालों में काउण्ट एग्मौंट नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तंगी हुई तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे जब व्यापारी-वर्ग की जेबों पर असर पड़ा तो वे लोग बिगड़ खड़े हुए। इसके साथ-साथ कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भी संघर्ष चल रहा था।

स्पेन एक बड़ा ज़बरदस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का पूरा घमण्ड था; उधर निदरलैण्ड्स

---

[1] यह पुस्तक हिन्दी में 'नरमेध' के नाम से 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित हो चुकी है।

[2] Dyke (डाइक)

में सिर्फ़ व्यापारियों और निकम्मे और फ़िजूल-खर्च अमीरों के कुछ सूबे थे। दोनों में कोई बराबरी न था। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मुश्किल हो गया। बार बार क़त्लेआम होते रहते थे; पूरी की पूरी आबादियां मौत के घाट उतार दी जाती थी। मनुष्यों के प्राण हरने में एल्वा और उसके सेनापति चंगेजखां और तैमूर की होड़ कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलो से भी आगे बढ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियां भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिकों से जल और थल पर तब-तक लड़ते रहते थे जब तक कि भूख की यन्त्रणा असंभव न हो जाती। स्पेन की गुलामी की अपेक्षा अपनी प्यारी से प्यारी तमाम चीजो का पूर्ण विनाश तक भी अच्छा समझकर हालैण्ड-निवासियों ने बांध तोड डाले, और स्पेन की फौजो को जलमग्न करने तथा भगा देने के लिए उत्तरी समुद्र के पानी को दाखिल कर दिया। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई वैसे-ही-वैसे उसमें क्रूरता भी आती गई और दोनों पक्ष हद से ज्यादा निर्दय हो गए। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आखरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई। लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के सैनिकों द्वारा क़त्लेआम और लूटपाट। अल्कमार को भी घेरा गया, लेकिन यह नगर बांध तोड़कर बच गया। और लीडन को जब दुश्मनो ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हजारो आदमी मर गए। लीडन के पेड़ो में एक भी हरा पत्ता बाक़ी न रहा था; लोगों ने सब खा डाले। घूरो पर जूठन के टुकड़ो के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तो तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लडे जाते थे और शहर की दीवारों पर से सूखकर कांटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालों से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेंगे लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाकी न रहेगा तो विश्वास रक्खो कि हममें से हरेक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी अत्याचारी से अपनी स्त्रियो की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए बचा रक्खेगा। अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और हमे किसी तरह की राहत न दे, तो भी हम तुम्हें भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने आप को हमेशा क़ायम रक्खेंगे। जब हमारी आखिरी घडी आ जायगी तो हम खुद अपने ही हाथो से शहर मे आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे, सब एकसाथ आग में जलकर मर जायँगे, लेकिन अपने घरो को हरगिज़ अपवित्र न होने देंगे और न अपने अधिकारो को रौंदा जाने देंगे।"

लीडन के निवासियो में ऐसी भावना थी। लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कही से सहायता की सूरत नजर नही आती थी वैसे ही उनकी निराशा भी बढती जाती थी। आखिर उन्होंने हालैण्ड की जागीरों के अपने दोस्तो को बाहर संदेश भेजा। इन जागीरो ने यह जबरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओं के हाथ में जाने देने से तो यह अच्छा है कि अपने प्यारे देश को जलमग्न कर दिया जाय। "खोये हुए देश से जलमग्न देश ही भला है।" और उन्होने घोर सकट में पड़े हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लीडन, हम तुझे सकट मे छोडने की अपेक्षा यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरो से नष्ट हो जाय।"

आखिरकार एक के बाद दूसरा 'बाध' तोड दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हालैण्ड के जहाज भोजन और सहायता लेकर आ पहुँचे। और इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर पर पाव रख कर भाग खडे हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में सन् १५७५ ई० मे लीडन का विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, जो आज तक मशहूर है।

वीरता की ऐसी कितनी ही कहानियाँ है और बीभत्स हत्याकाडो की भी है। सुन्दर एण्टवर्प में बड़ा भयकर क़त्लेआम हुआ और लूटमार हुई जिसमे आठ हजार आदमी मारे गये। इसे 'स्पेन का कोप' कहा गया था।

लेकिन इस महान संघर्ष मे हालैण्ड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलेण्ड्स के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड्स के बहुत-से अमीरो को अपनी तरफ मिला लेने में सफल हो गये और उनके द्वारा उन्हीके देशवासियो को कुचलवाया। उनको इस बात से बडी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टेण्टों से कैथलिको की संख्या बहुत ज्यादा थी। उन्होने कैथलिकों को मिलाने की कोशिश

की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-उमरा ! शर्म की बात है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की खातिर देश-द्रोह और धोखेबाज़ी में कितने नीचे गिर गये थे ; देश भले ही जहन्नुम में चला जाय !

निदरलैण्ड्स की धारा सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ़ ऑरेञ्ज ने कहा था–"निदरलैण्ड्स को कुचलने वाले निदरलैण्ड्स के ही लोग हैं। एल्वा का ड्यूक जिस बल की डींग मारता है वह अगर तुम्हारा ही–निदरलैण्ड्स के नगरों का–दिया हुआ नहीं है, तो कहाँ से आया ? उसके जहाज़, रसद, धन, हथियार, सैनिक, ये सब कहाँ से आये ? निदरलैण्ड्स के लोगों के पास से।"

इस तरह, आखिरकार, स्पेन वाले निदरलैण्ड्स के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए जो आज मोटे तौर पर बेलजियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को काबू में न ला सके। और करने की अजीब बात यह है कि लड़ाई के दौरान में, क़रीब-क़रीब उसके खतम होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फ़िलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतन्त्र अधिकारों को मजूर कर लेता। लेकिन अन्त में उनको उससे सम्बन्ध तोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। उन्होंने अपने महान् नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, प्रजातंत्र बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस ज़माने की बादशाही परम्परा इतनी ज़बरदस्त थी।

हालैण्ड में यह संघर्ष कितने ही वर्षों तक चला। सन् १६०९ ई० में कहीं जाकर हालैण्ड आज़ाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड्स में असली लड़ाई सन् १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फ़िलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ़ आरेञ्ज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथों मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस ज़माने में योग्य की नैतिकता ऐसी ही थी। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें असफल हुईं। सन् १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश सफ़ल हुई, और यह महापुरुष—जो हालैण्ड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था–मारा गया, लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्टों की भट्ठी में से निकलकर डच प्रजातन्त्र—हालैण्ड तैयार हो गया था। अत्याचारी और निरकुश शासकों के विरुद्ध खड़े होने में हरेक देश और जाति को लाभ होता है। इससे साधना प्राप्त होती है और बल बढ़ता है। बलशाली और आत्म-निर्भर हालैण्ड बहुत जल्दी एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया और बहुत दूर पूर्व तक फैल गया। बेलजियम, जो हालैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही क़ब्ज़े में रहा।

योरप की इस तस्वीर को पूरा करने के लिए अब हमें जर्मनी की तरफ देखना चाहिए। यहाँ सन् १६१८ से १६४८ ई० तक एक भयंकर गृह-युद्ध रहा, जो 'तीस साल का युद्ध' कहलाता है। यह लड़ाई कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच हुई और जर्मनी के छोटे-छोटे राजा और निर्वाचक आपस में, और सम्राट से, लड़े। और फ्रांस के कैथलिक बादशाह ने प्रोटेस्टेण्टों को शह दी, सिर्फ़ इसलिए कि यह गड़बड़ी और बढ़ जाय। अन्त में स्वीडन का बादशाह गस्टावस अडोल्फ़स–जो 'उत्तर का सिंह' कहलाता था–चढ़कर आया और उसने सम्राट को हराकर प्रोटेस्टेण्टों को बचा लिया। लेकिन जर्मनी का सत्यानाश हो चुका था। पैसे के ग़ुलाम सैनिक लुटेरे बन गए थे। उन्होंने चारों तरफ लूट-खसोट मचा रक्खी थी। यहाँ तक कि फ़ौजों के सेनापति भी सिपाहियों की तनख्वाह या खूराक के लिए पैसा न रहने पर लूटमार करने लगे। और खयाल करो कि यह सब लगातार तीस साल तक होता रहा ! हत्याकांड, विनाश और लूटमार साल-दर-साल चलते रहे। ऐसी हालत में व्यापार बिलकुल नहीं हो सकता था, और न खेतीबाड़ी ही हो सकती थी। इसलिए दिन पर दिन खाने की चीज़ें कम होती गईं और भुखमरी बढ़ने लगी। और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि डाकू बढ़ने लगे और लूटमार ज्यादा होने लगी। जर्मनी एक तरह से पेशेवर और पैसे के ग़ुलाम सिपाहियों का क्रीड़ास्थल बन गया।

आखिरकार यह लड़ाई खतम हुई–जबकि शायद लूटने के लिए कुछ भी बाक़ी न रहा। लेकिन जर्मनी को यह नुकसान पूरा करने और अपनी हालत सुधारने में बहुत लम्बा वक़्त लगा। सन् १६४८ ई० में वेस्टफ़ैलिया की सन्धि से इस गृह-युद्ध का अन्त हो गया। इससे पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् छायामात्र और शक्तिहीन परछाईं रह गया। फ्रांस ने एक बड़ा टुकड़ा, आल्सस, ले लिया, और उसे दो सौ वर्ष से

अधिक अपने क़ब्ज़े में रक्खा। बाद में उसे यह टुकड़ा फिर से नवीन जर्मनी को दे देना पड़ा। लेकिन सन् १९१४-१८ ई० के योरपीय महायुद्ध के बाद फ़्रांस ने इसे फिर ले लिया। इस तरह इस सन्धि से फ़्रांस को लाभ हुआ। लेकिन अब जर्मनी में एक दूसरी ताकत पैदा हो गई, जो आगे चलकर फ़्रांस के रास्ते का कांटा बनी। यह प्रशिया था, जिसपर 'हॉयनज़ॉलर्न' का घराना राज्य करता था।

वेस्टफ़ैलिया की सन्धि ने, अन्तिमरूप में स्वीज़रलैंण्ड और हालैण्ड के प्रजातन्त्रों को स्वीकार कर लिया।

मैंने तुमको युद्धों, हत्याकाडों, लूटमार और धार्मिक कट्टरपन की कैसी कहानी सुनाई है। लेकिन यही उस रिनेसाँ के बाद का योरप था, जबकि चेतना फूट पडी थी और कला और साहित्य की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही थी। मैंने योरप की तुलना एशिया के देशो से की है और उम नई ज़िन्दगी का ज़िक्र किया है जो उस वक़्त योरप में पैदा हो रही थी। इस नई ज़िन्दगी को कठिनाइया पार करके आगे बढते हुए हर कोई देख सकता है। नये बालक और नई व्यवस्था का जन्म बडी तकलीफों के साथ हुआ करता है। जब नीव में आर्थिक खोखलापन हो तो उसके ऊपर समाज और राजनीति दोनो डावाडोल होने लगते है। यह तो स्पष्ट है कि योरप में नया जीवन पैदा हो रहा था। लेकिन इसके चारो ओर कितना जगली आचरण है! उस ज़माने का यह उसूल था कि "झूठ बोलने की विद्या ही राज्य करने की विद्या है।" उस वक़्त का सारा वातावरण ही धोखेबाज़ियों और साज़िशों, हत्या और क्रूरता के धुए मे घुट रहा था, और ताज्जुब तो यह होता है कि लोग इसे बर्दाश्त किस तरह करते थे!

: ८७ :

इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का सिर उड़ा दिया

२९ अगस्त, १९३२

अब हम कुछ वक़्त इंग्लैड के इतिहास को देगे। अभी तक हमने ज़्यादातर इसे दरगुज़र किया है क्योंकि मध्यकालीन युग में वहाँ कोई ऐसी दिलचस्पी की बात नही हुई। यह देश फ्रास और इटली से भी पिछड़ा हुआ था। हाँ, ऑक्सफर्ड-विश्वविद्यालय बहुत पहले विद्या का केन्द्र मशहूर हो चुका था और कुछ दिन बाद केम्ब्रिज भी प्रसिद्ध हुआ। वाइक्लिफ, जिसके बारे में मै पहले लिख चुका हूँ, ऑक्सफर्ड की ही देन था।

इग्लैंडके प्रारभिक इतिहास में मुख्य दिलचस्पी का केन्द्र पार्लमेण्ट का विकास है। शुरू से ही अमीर-उमरा की यह कोशिश थी कि बादशाह के अधिकारों को सीमित कर दिया जाय। सन् १२१५ ई० में मैग्नाचार्टा बना। इसके कुछ दिन बाद पार्लमेण्ट की शुरुआत दिखलाई पड़ती है। शुरू-शुरू की ये बाते अधकचरी-सी थी। बडे-बड़े अमीर-उमरा और पादरी ही आगे चल कर लार्डसभा के रूप में संगठित हो गए। लेकिन आखिरकार सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज़ बनी वह थी एक चुनी हुई कौसिल, जिसमें योद्धा लोग छोटे-छोटे ज़मींदार और शहरो के कुछ प्रतिनिधि शामिल थे। यही चुनी हुई कौसिल विकसित होकर कामन्स सभा बन गई। ये दोनो कौंसिलें या सभायें ज़मीदारो और धनवान लोगो की थी। कॉमन्स सभा के लोग भी कुछ धनवान ज़मीदारो और व्यापारियो के प्रतिनिधि थे।

कॉमन्स सभा के हाथ में कुछ भी अधिकार नही था। वे लोग बादशाह के पास अर्ज़ियाँ भेजते थे और लोगों की शिकायतें पेश करते थे। धीरे-धीरे वे टैक्सों के मामले में भी दखल देने लगे। उनकी मर्ज़ी के बिना नए टैक्सो का लगाना या वसूल करना बहुत मुश्किल था; इसलिए बादशाह ने ऐसे टैक्स लगाने के बारे में उनकी मंज़ूरी लेने का रिवाज शुरू कर दिया। आमदनी पर अधिकार हमेशा एक बडी ताक़त होती है, इसलिए पार्लमेण्ट और खास कर कॉमन्स सभा का जैसे-जैसे यह अधिकार बढता गया वैसे ही वैसे उसकी ताक़त और उसका मान भी बढ़ते गए। कॉमन्स सभा और बादशाह में अक्सर मतभेद होने लगा। लेकिन फिर भी पार्लमेण्ट एक कमज़ोर चीज़ थी और ट्यूडर शासक, जैसा कि मै पहले बतला चुका हूँ, क़रीब-क़रीब

निरंकुश स्वेच्छाचारी राजा थे। लेकिन ट्यूडर लोग चालाक थे और वे पार्लमेण्ट से लड़ाई मोल लेना बचा जाते थे।

इंग्लैंड योरप के कठोर धार्मिक संघर्षों से बचा रहा। धार्मिक झगड़ों, दंगे-फ़िसादों और कट्टरपन की बहुत अधिकता रही, और स्त्रियों की एक निन्दनीय संख्या जिन्दा जला दी गई, क्योंकि उन्हें डायनें समझा गया था। लेकिन योरप के मुक़ाबले में इंग्लैंड में फिर भी, शान्ति रही। हैनरी अष्टम के साथ-साथ इंग्लैण्ड भी प्रोटेस्टेण्ट हो गया, यह माना गया। देश में बहुत-से कैथलिक ज़रूर थे, मगर बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट भी थे। लेकिन नया 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' कुछ-कुछ इन दोनों के बीच का था; और हालांकि वह अपने को प्रोटेस्टेण्ट कहता था मगर प्रोटेस्टेण्ट की अपेक्षा कैथलिक ज्यादा था, और सच पूछें तो वह राज्य का एक महकमा था जिसका प्रमुख खुद बादशाह था। हाँ, रोम और पोप से रिश्ता बिलकुल टूट चुका था और बहुत-से पोपलीला-विरोधी दंगे हुए। महारानी एलिज़ाबेथ (यह आठवें हैनरी की लड़की थी) के वक़्त में पूर्वी देशों और अमरीका के जो नये समुद्री रास्ते खुले और व्यापार की नई-नई गुंजाइशें हुईं उन्होंने बहुत-से लोगों को अपनी तरफ लुभाया। स्पेन और पुर्तगाल के जहाज़ियों की सफलता से मोहित होकर और धन-प्राप्ति के लालच से इंग्लैंड ने भी समुद्र का रास्ता पकड़ा। सर फ़ांसिस ड्रेक वग़ैरा शुरू में समुद्री डाकू बन गये और अमरीका से आनेवाले स्पेन के जहाज़ों को लूटने लगे। इसके बाद ड्रेक ने दुनिया का चक्कर लगाने के लिए ज़बरदस्त यात्रा की। सर वाल्टर रैले ने एटलांटिक समुद्र को पार करके उस देश के पूर्वी किनारे पर बस्ती डालने की कोशिश की जिसे आज अमरीका का संयुक्त राष्ट्र कहते हैं। अविवाहित महारानी एलिज़ाबेथ के सम्मान में इसे 'वर्जिनिया'[1] नाम दिया गया। रैले ही पहला आदमी था जो अमेरिका से तमाखू पीने का रिवाज योरप में लाया। इसके बाद स्पेनी आर्मेडा आया और इस घमंड-भरे साहस के काम की पूरी असफलता ने इंग्लैंड का हौसला बहुत बढ़ा दिया। इन बातों का बादशाह और पार्लमेण्ट के झगड़े से कोई सम्बंध नहीं है, सिवा इसके कि लोगों का ध्यान इन बातों में लग गया और वैदेशिक मामलों की तरफ बँट गया। लेकिन ट्यूडरों के ज़माने में भी भीतर-ही-भीतर आग सुलग रही थी।

एलिज़ाबेथ का ज़माना इंग्लैंड के सबसे अधिक प्रकाशमान ज़मानों में से है। एलिज़ाबेथ एक महान् रानी थी और उसके समय में इंग्लैंड में अनेक महान कर्मवीर पैदा हुए। लेकिन इस रानी और उसके साहसी योद्धाओं से भी बढ़कर थे इस पीढ़ी के कवि और नाटककार, और अमर विलियम शेक्सपीयर इन सबसे भी बड़ा है। इसके नाटक आज वास्तव में सारे संसार में मशहूर हैं, हालांकि इसके व्यक्तित्व के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। यह उस प्रतिभाशाली मंडली में से एक था जिसने अंग्रेज़ी भाषा के भंडार को अनेक बहुमूल्य रत्नों से भर दिया है, जो हमारे हृदय को प्रफुल्लित कर देते हैं। एलिज़ाबेथ के ज़माने की छोटी-छोटी गीत-कविताओं में भी एक निराला रस है जो औरों में नहीं पाया जाता। बड़ी सीधी-सादी और मीठी भाषा में ये हर्ष से फुदकती चली जाती हैं और दैनिक जीवन की बातें अपने निराले ही ढंग से कहती हैं। इस ज़माने का ज़िक्र करते हुए लिटन स्ट्राची नामक एक अंग्रेज़ समालोचक ने लिखा है कि "एलिज़ाबेथ-काल के इन उच्च व्यक्तियों की दृढ़ और भव्य भावना ने इंग्लैण्ड को एक ही चमत्कारी पीढ़ी में नाटकों की ऐसी शानदार विरासत भेंट की है जो दुनिया में आजतक बेजोड़ है।"

भारत में अकबर महान् की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, सन् १६०३ ई० में, एलिज़ाबेथ की मौत हुई। उसके बाद स्कॉटलैंड का तत्कालीन राजा गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे निकट था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैंड और स्काटलैंड का एक सम्मिलित राज्य बन गया। जिस बात को इंग्लैंड खून-खराबी से न पासका वही शान्ति-पूर्वक हो गई। जेम्स प्रथम राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमेण्ट को पसन्द नहीं करता था। वह एलिज़ाबेथ की तरह होशियार भी नहीं था और जल्दी ही पार्लमेण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज्य-काल में इंग्लैंड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टेण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमेरिका में बसने के लिए सन् १६२० ई० में 'मेफ्लावर' नामक जहाज़ से रवाना हो गये। वे जेम्स प्रथम के स्वेच्छा-

---

[1] अंग्रेज़ी में अविवाहित स्त्री को वर्जिन (Virgin) कहते हैं।

चारी तरीक़ों से सहमत नहीं थे और नये 'चर्च ऑफ़ इंग्लैंड' को नापसन्द करते थे, क्योंकि वे उसे कम प्रोटेस्टेण्ट समझते थे। इसलिए वे अपने घर और देश को छोड़ गये और अटलांटिक समुद्र के पार नये जंगली देश के लिए रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे के एक स्थान पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू प्लेमाउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही बसने वाले वहाँ पहुँचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुँच गई। अन्त में ये बस्तियाँ मिलकर अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र बन गईं। लेकिन यह तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। सन् १६२५ ई० में उसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगड़ा सामने आ गया। इसलिए सन् १६२८ ई० में पार्लमेण्ट ने उसको एक "अधिकारों का प्रार्थनापत्र" पेश किया जो इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण खरीता है। इस प्रार्थनापत्र में कहा गया था कि बादशाह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह ग़ैरकानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है। वह सत्रहवीं सदी में भी वह बात नहीं कर सकता था जो आज बीसवीं सदी में भारत का अंग्रेज़ वाइसराय कर सकता है—यानी ऑर्डिनेन्स जारी करना और उनके अनुसार लोगों को जेल में डाल देना।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमेण्ट को तोड़ दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमेण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमेण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया उसपर लोग बहुत नाराज़ थे और नई पार्लमेण्ट तो उससे लड़ाई मोल लेने का मौक़ा ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि सन् १६४२ ई० में, गृह-युद्ध शुरू हो गया जिसमें एक तरफ़ तो था बादशाह, जिसकी मदद पर बहुत से अमीर-उमरा और फ़ौज का बड़ा हिस्सा था, और दूसरी तरफ थी पार्लमेण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह लड़ाई खिंचती रही, और अन्त में पार्लमेण्ट की तरफ़ एक महान् नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा ज़बर्दस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। कार्लाइल[1] ने क्रॉमवैल के बारे में लिखा है—"युद्ध के अंधकारमय खतरों में, युद्धक्षेत्र की विकट परिस्थितियों में, और उस समय जब कि सब निराश हो जाते थे, उसके भीतर आशा एक अग्नि स्तम्भ की तरह चमकती थी।" क्रॉमवैल ने एक नई सेना का संगठन किया—इसके सैनिकों को 'लौह शरीर'[2] कहते थे—और उसे अपने खुद के अनुशासित उत्साह से भर दिया। पार्लमेण्ट की फौज के 'प्यूरिटन्स'[3] ने चार्ल्स के 'कैवेलियर्स'[4] का मुकाबला किया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमेण्ट का क़ैदी हो गया।

पार्लमेण्ट के बहुत-से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस सेना के एक अफ़सर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमेण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरों को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफाई कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख्त था और पार्लमेण्ट का गौरव बढ़ानेवाला न था। अगर पार्लमेण्ट ने बादशाह की निरकुंशता का विरोध किया तो यहाँ अब खुद उसीकी सेना ऐसी ताक़त बन गई जो उसकी क़ानूनी जल्पना की कुछ परवाह नहीं करती थी। क्रान्तियों का यही ढंग हुआ करता है।

कॉमन्स सभा के बचे हुए मेम्बरों ने—जिनको 'रम्प पार्लमेण्ट' का नाम दिया गया था—लार्ड सभा के विरोध करने पर भी चार्ल्स पर मुक़दमा चलाने का फ़ैसला कर लिया और उसे "ज़ालिम, देश-द्रोही, हत्यारा

---

[1] कार्लाइल—यह अंग्रेज़ी भाषा का बहुत बड़ा इतिहास और निबन्ध-लेखक हो गया है। अपने समय के साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारों पर उसका बड़ा भारी प्रभाव थी। यह स्कॉटलैण्ड का रहनेवाला था। इसका समय सन् १७९५ से १८८१ ई० है। इसने 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' (फ़्रांस की राज्य क्रान्ति) नामक मशहूर पुस्तक लिखी है।

[2] Ironsides

[3] इंग्लैण्ड के चर्च का एक सुधारक फ़िरक़ा।

[4] घुड़सवार।

और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सजा दे दी। सन् १६४७ ई० में इस मनुष्य का, जो उनका बादशाह रह चुका था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लदन के 'व्हाइट हॉल' में सिर उड़ा दिया गया।

बादशाह लोग भी साधारण मनुष्यों की तरह ही मरते है। इतिहास बतलाता है कि वास्तव में इनमें से बहुतों की मौत हत्या से ही हुई है। निरंकुशता और बादशाहत गुप्त हत्या और हत्या को जन्म देते है और इंग्लैण्ड के बादशाहों ने अबतक काफ़ी गुप्त हत्यायें करवाई थी। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने आपको अदालत बना लेने की हिम्मत करना, बादशाह का न्याय करना, उसे मौत की सजा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिलकुल नई और हैरत मे डालने वाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेजों ने, जो हमेशा से रूढ़िवादी और जल्दी परिवर्तन के विरोधी रहे है, इस तरह से यह उदाहरण पेश कर दिया कि एक जालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए। लेकिन यह काम सारी अग्रेज जाति का नही समझना चाहिए जितना कि क्रॉमवैल के अनुयायी 'लौह-शरीरो' का।

इस घटना से योरप के बादशाहो, सीजरो, राजाओ और छोटे-मोटे शाहों के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने दुस्साहसी हो जायँ और इंग्लैण्ड के उदाहरण पर चलने लगे तो उनका क्या हाल होगा? अगर बस चलता तो इनमें से अनेक इग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इग्लैण्ड की बागडोर उन दिनो किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली बार इंग्लैण्ड एक प्रजातंत्र बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। क्रॉमवैल करीब-क़रीब डिक्टेटर था। वह 'लार्ड प्रोटैक्टर,' यानी रक्षक स्वामी, कहलाता था। उसके कठोर और कुशल शासन मे इग्लैण्ड की ताकत बढने लगी और उसके जहाजी बेडों ने हालैंड, फ़ान्स और स्पेन के बेडो को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैण्ड योरप की प्रधान समुद्री शक्ति बन गया।

लेकिन इग्लैण्ड का यह प्रजातन्त्र ज्यादा दिन नही टिका। चार्ल्स प्रथम की मौत के बाद ग्यारह वर्ष भी न बीतने पाये कि सन् १६५८ ई० में क्रॉमवैल की मृत्यु हो गई और दो वर्ष बाद प्रजातन्त्र का भी अन्त हो गया। चार्ल्स प्रथम का पुत्र, जिसने भागकर विदेशो मे शरण ली थी, इग्लैण्ड लौट आया। उसका स्वागत किया गया और चार्ल्स द्वितीय के नाम से उसे गद्दी पर बिठाया गया। यह दूसरा चार्ल्स एक कमीना और चरित्रहीन व्यक्ति था और बादशाहत को वह केवल मौज उड़ाने का साधन समझता था। लेकिन वह चतुर इतना था कि पार्लमेण्ट का ज्यादा विरोध नही करता था। सच तो यह है कि उसे फ़ान्स के बादशाह से चोरी-छिपे धन मिलता था। क्रॉमवैल के समय में इग्लैण्ड ने योरप में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी वह गिर गई, यहा तक कि हालैण्ड का जहाजी बेडा टेम्स नदी में घुसकर अग्रेजी बेड़े को आग लगा गया।

चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसने फ़ौरन ही पार्लमेण्ट से झगड़ा ठान लिया। जेम्स दीनदार कैथलिक था और पोप की प्रभुता को इंग्लैण्ड मे फिर स्थापित करना चाहता था। लेकिन धर्म के बारे मे अंग्रेज लोगो के विचार चाहे जैसे रहे हो—और ये विचार काफी अस्पष्ट भी थे—लेकिन ज्यादातर लोग पोप और पोपलीला से बिलकुल चिढे हुए थे। इस व्यापक भावना के विरुद्ध जेम्स कुछ भी न कर सका। उलटे पार्लमेण्ट की नाराजगी मोल लेने के कारण उसे जान बचाने के लिए फ़ान्स भाग जाना पडा।

एक बार फिर पार्लमेण्ट ने बादशाह पर विजय पाई, लेकिन इस बार बिलकुल शान्ति के साथ और बिना गृह-युद्ध के। देश बिना बादशाह का हो गया था। लेकिन अब इग्लैण्ड दुबारा प्रजातन्त्र होनेवाला नहीं था। कहा जाता है कि अग्रेज अपने ऊपर एक स्वामी चाहता है इससे भी ज्यादा वह शाही शान-शौकत और तड़क-भडक से प्रेम करता है। इसलिए पार्लमेण्ट को एक नये बादशाह की तलाश हुई और वह उसे उस ऑरेञ्ज राजवश में मिल गया जिसने, सौ वर्ष पहले, स्पेन के विरुद्ध निदरलैण्ड्स के महान संग्राम का नेतृत्व करने के लिए 'विलियम दि साइलैण्ट' दिया था। इस वक़्त ऑरेञ्ज का शहजादा एक दूसरा विलियम था, जिसने अंग्रेजी राजघराने की मेरी से विवाह किया था। बस, विलियम और मेरी सन् १६८८ ई० में इंग्लैण्ड के संयुक्त शासक बना दिये गये। अब पार्लमेण्ट सर्वोपरि थी और पार्लमेण्ट में भेजे हुए प्रतिनिधियों

द्वारा जनता के हाथ में सत्ता देनेवाली इंग्लैण्ड की राज्यक्रान्ति पूरी हो चुकी थी। उसदिन से आजतक किसी भी ब्रिटिश बादशाह या बेगम की यह हिम्मत नही हुई है कि पार्लमेण्ट की सत्ता को मानने से इन्कार करे। लेकिन सीधे तौर पर विरोध या इन्कार करने के अलावा भी साजिशें करने और दबाव डालने के सैकड़ों तरीक़े हो सकते है, और कई अंग्रेज बादशाहो ने इन उपायो का सहारा लिया है।

पार्लमेण्ट सर्वोपरि बन चुकी थी। लेकिन यह पार्लमेण्ट थी क्या? यह खयाल न करना कि वह इंग्लैण्ड के लोगों का प्रतिनिधित्व करती थी। वह तो उनके एक छोटे से अंश की प्रतिनिधि थी। जैसा कि उसके नाम से जाहिर होता है, लार्ड सभा तो लार्डों या बड़े-बड़े जमीदारों और पादरियों का प्रतिनिधित्व करती थी। कॉमन्स सभा भी ऐसे धनवान लोगों की सभा थी जोकि या तो जमीन-जायदादों के मालिक थे या बड़े-बड़े व्यापारी। वोट देने का अधिकार बहुत कम लोगो को था। आज से सौ वर्ष पहले तक इंग्लैण्ड में कितने ही 'जेबी निर्वाचन क्षेत्र' थे, यानी ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जो वास्तवमें कुछ लोगो की जेबो में ही रहते थे। सारे निर्वाचन क्षेत्र में सदस्य को चुननेवाले सिर्फ एक या दो ही वोटर होते थे। कहा जाता है कि सन् १७९३ ई० में कॉमन्स सभा के ३०६ मेम्बरों का चुनाव सिर्फ १६० व्यक्तियों ने किया था। ओल्ड-सारम नाम के एक छोटे से गाँव से दो सदस्य पार्लमेण्ट मे भेजे जाते थे। इससे तुमको पता लगेगा कि अधिकांश जनता को वोट देने का अधिकार न था और पार्लमेण्ट मे उनका कोई प्रतिनिधित्व नही था। कॉमन्स सभा लोक सभा होने का कोई दावा नही कर सकती थी। वह इन नये मध्यम वर्गों की भी प्रतिनिधि नही थी जो नगरों में खड़े रहे थे। वह तो सिर्फ जमीदार वर्ग और कुछ धनी व्यापारियो की प्रतिनिधि थी। पार्लमेण्ट की सीटें बाकायदा बेची और खरीदी जाती थी और रिश्वतख़ोरी का बाजार खूब गर्म था। ये सब बाते सौ वर्ष पहले, यानी ठेठ सन् १८३२ ई० तक होती थी, जब कि बहुत आन्दोलन के बाद एक शासन-सुधार क़ानून पास हुआ और कुछ ज्यादा लोगो को वोट देने का अधिकार मिला।

हम देखते है कि बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय का मतलब था मुट्ठीभर धनवानों की विजय। असल में इंग्लैण्ड पर शासन करने वाले यही मुट्ठीभर जमीदार थे जिनमे इक्के-दुक्के व्यापारी भी शामिल थे। बाक़ी के तमाम वर्गों का, जिनसे कि लगभग सारा राष्ट्र बना हुआ था इसमे कुछ भी हाथ न था।

इसी तरह तुम्हें याद होगा कि स्पेन से घोर सघर्ष के बाद हॉलैण्ड का जो प्रजातन्त्र राज्य बना वह भी धनवानों का ही प्रजातन्त्र था।

विलियम और मेरी के बाद मेरी की बहिन इग्लैण्ड की महारानी हुई। सन् १७१४ ई० में जब इसकी मृत्यु हुई तो यह दिक्कत फिर हुई आगे कौन राजा बनाया जाय। आखिरकार पार्लमेण्ट को बादशाह चुनने के लिए जर्मनी जाना पड़ा। उन्होंने एक जर्मन को चुना, जो उस वक़्त हनोवर का शासक था, और उसे इग्लैण्ड का जार्ज प्रथम बना दिया। शायद पार्लमेण्ट ने उसे इसलिए चुना कि वह भोंदू था और जरा भी चतुर न था, और एक बेवकूफ बादशाह रखने मे कम खतरा था बनिस्बत एक ऐसा चतुर बादशाह रखने के जो पार्लमेण्ट के कामों में टाँग अड़ावे। जार्ज प्रथम अंग्रेजी तक न बोल सकता था; अंग्रेजी बादशाह अंग्रेजी भाषा से अपरिचित था। उसका पुत्र भी, जो जार्ज द्वितीय हुआ, कुछ अंग्रेजी नही जानता था। इस तरह इंग्लैण्ड में 'हनोवर का राज घराना' या हनोवर का राजवंश स्थापित हुआ जो आजतक वहाँ राज कर रहा है।[1] इसे राज्य करना नही कहा जासकता क्योकि राज्य और शासन तो पार्लमेण्ट करती है।

सोलहवी और सत्रहवी सदियों में आयर्लेण्ड और इग्लैण्ड के बीच बहुत झगड़े और सघर्ष हुए। आयर्लैण्ड को जीतने की कोशिशें और विद्रोह और हत्यायें, एलिजाबेथ और जेम्स प्रथम के शासन-काल मे बराबर होती रहीं। आयर्लेण्ड के उत्तर मे, अल्स्टर में जेम्स ने बहुत सी जमीन-जायदाद जब्त करली और स्कॉटलैण्ड से प्रोटेस्टेण्टो को लाकर उस क्षेत्र में बसा दिया। तब से ये प्रोटेस्टेण्ट प्रवासी वही रह रहे है और आयर्लैण्ड के दो टुकड़े हो गये है; आयर्लैण्ड निवासी और स्कॉटलैण्ड के प्रवासी, या रोमन कैथलिक और प्रोटैस्टेण्ट। दोनो के बीच में बड़ी कट्टर दुश्मनी रही है और इग्लैण्ड ने तो इस फूट से फ़ायदा उठाया ही

---

[1] सन् १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में हैनोवर राजवंश का नाम बदलकर विण्डसर राजवंश रख दिया गया।

है। राज करनेवाले हमेशा से ही फूट डालकर शासन करने की नीति में विश्वास रखते हैं। आजकल भी आयर्लैण्ड के सामने सबसे बड़ी समस्या अल्स्टर की है।

इंग्लैण्ड के गृह-युद्ध के जमाने में आयर्लैण्ड में अंग्रेजों की बहुत हत्यायें हुईं। क्रॉमवैल ने इसका क्रूर बदला आयर्लैण्ड के निवासियों की हत्यायें करके निकाला। इस बात को आयर्लैण्ड वाले आज तक बड़े गुस्से के साथ याद करते हैं। इसके बाद और लड़ाइयां हुईं, समझौते हुए, सन्धियां हुईं, और अंग्रेजों ने इन्हें तोड़ भी डाला—आयर्लैण्ड की यातना का यह इतिहास बड़ा लम्बा और दुःख-भरा है।

यह जानकर तुम्हें शायद दिलचस्पी होगी कि 'गुलिवर्स ट्रैवल्स'[1] का लेखक जोनाथन स्विफ्ट इसी जमाने में, यानी सन् १६६७ से १७४५ ई० में, हुआ था। इस मशहूर पुस्तक का बाल-साहित्य में बड़ा ऊँचा स्थान है, लेकिन वास्तव में वह तत्कालीन इंग्लैण्ड पर एक तीखा व्यंगोपाख्यान है। 'रॉबिन्सन क्रूसो'[2] का लेखक डेनियल डिफ़ो भी स्विफ़्ट का समकालीन था।

: ८८ :

बाबर

३ सितम्बर, १९३२

अब ज़रा भारत की तरफ़ लौट चलें। हमने योरप को काफ़ी समय दिया है और कई पत्रों में, उथल-पुथल, लड़ाई-झगड़ों और युद्धों की गहराई को जानने की और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में वहाँ क्या हो रहा था, यह समझने की कोशिश की है। मैं नहीं जानता कि योरप के इस जमाने के बारे में तुम्हारे क्या विचार हुए होंगे। तुम्हारे खयाल चाहे जो कुछ हों, पर वे ज़रूर मिश्रित होंगे, और इसमें ताज्जुब की भी कोई बात नहीं है, क्योंकि उस समय योरप एक बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश था। लगातार बर्बरता पूर्ण लड़ाइयाँ, धार्मिक कट्टरपन और क्रूरता, जिसका उदाहरण इतिहास में दूसरी जगह मिलना मुश्किल है, बादशाहों की निरंकुशता और 'दैवी अधिकार,' पतित धनिक-वर्ग, और जनता का शर्मनाक शोषण। चीन इससे सदियों आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था—वह एक सुसंस्कृत, कलामय, सहनशील और करीब-करीब शान्तिमय देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी भारत बहुत-सी बातों में चीन के समान था।

लेकिन इंग्लैण्ड का भी एक दूसरा और खुशनुमा पहलू दिखाई पड़ रहा था। आधुनिक विज्ञान की शुरुआत नज़र आरही थी और लोगों में स्वतन्त्रता की भावना ज़ोर पकड़ कर बादशाही राज्य सिंहासनों को डावांडोल कर रही थी। इनका और बहुत-सी दूसरी हलचलों का सतह के नीचे कारण पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के योरपीय देशों का तिजारती और औद्योगिक विकास था। बड़े-बड़े शहर बस रहे थे जो दूर देशों से व्यापार करनेवाले सौदागरों से भरे थे और कारीगरों की औद्योगिक प्रवृत्तियों के शोर से गूंज रहे थे। सारे पश्चिमी योरप में 'शिल्प-संघ' यानी शिल्पकारों और कारीगरों के संघ बन रहे थे। यही व्यापारी और औद्योगिक वर्ग 'बुर्जुआ' यानी नया मध्यमवर्ग कहलाये। यह वर्ग बढ़ा तो सही लेकिन इसके रास्ते में बहुत-सी राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक रुकावटें आईं। राजनैतिक और सामाजिक संगठन में सामन्तशाही के निशान अब भी बाक़ी थे। यह प्रणाली बीते हुए युग की थी। वह इस जमाने से मेल नहीं खाती थी और व्यापार और उद्योग में रुकावट भी डालती थी। सामन्त-सरदार तरह-तरह के टोल और टैक्स वसूल करते थे जिनसे व्यापारी-वर्ग को झुंझलाहट पैदा होती थी। इसलिए मध्यमवर्ग ने सामन्तों के

---

[1] 'गुलिवर्स ट्रैवल्स'—में डाक्टर गुलिवर की यात्राओं का बड़ा दिलचस्प बयान है। एक बार वह एक-एक इंच के मनुष्यों के देश में जा पहुँचा और दूसरी बार ५०–६० फ़ीट लम्बे मनुष्यों के देश में।

[2] 'राबिन्सन क्रूसो' अंग्रेजी की एक बड़ी मशहूर और दिलचस्प किताब है। इसमें एक मल्लाह की कहानी है जिसने लगभग बीस वर्ष अकेले ही एक टापू पर बिताये थे और अपने लिए सब तरह की सहूलियतें इकट्ठी कर ली थीं।

अधिकार खतम करने की कोशिश शुरू की। बादशाह भी इन सामन्ती अमीरो से नाराज था क्योंकि ये लोग उसके अधिकारों में भी दखल देना चाहते थे। इसलिए इन सामन्त सरदारों के विरुद्ध बादशाह और मध्यमवर्ग दोनों मिलकर एक हो गये और इन्होंने उनके असली प्रभाव को मिटा दिया। नतीजा यह हुआ कि बादशाह और भी ज्यादा ताक़तवर और निरंकुश हो गया।

इसी तरह यह भी महसूस किया गया कि उन दिनो पश्चिमी योरप का धार्मिक सगटन और प्रचलित धार्मिक विचार तथा व्यापार करने के ढंग भी व्यापार और उद्योग की तरक्की में रुकावट डाल रहे थे। खुद धर्म का बहुत-सी बातों में सामन्तशाही से सम्बन्ध था और जैसा कि मै तुमको बतला चुका हूँ, 'चर्च' सब से बड़ा सामन्त जमींदार था। पिछले अनेक वर्षों से कितने ही व्यक्ति और गिरोह रोमन चर्च की आलोचना करने और उसकी सत्ता को चुनौती देने के लिए पैदा होते रहे थे। लेकिन वे कुछ ज्यादा परिवर्तन न ला सके। मगर अब सारा बढता हुआ मध्यमवर्ग परिवर्तन चाहता था इसलिए सुधार का आन्दोलन बड़ा जबरदस्त बन गया।

ये सब परिवर्तन, और इनके अलावा कितने ही दूसरे परिवर्तन, जिन पर हम पहले एक साथ विचार कर चुके है, उस क्रांति के अलग-अलग पहलू और रुख थे जिसने मध्यमवर्ग को सामने ला दिया। पश्चिमी योरप के सब देशों में क़रीब-करीब यही प्रक्रिया हुई होगी, लेकिन अलग-अलग देशो में वह अलग-अलग समय में हुई। इस समय और इसके बहुत दिन बाद तक भी, औद्योगिक दृष्टि से पूर्वी योरप बहुत पिछडा हुआ था। इसलिए वहाँ कोई परिवर्तन नही हुआ।

चीन और भारत में भी शिल्प-सघ थे और शिल्पकारो और कारीगरों की एक बडी भारी सख्या थी। उद्योग-धधे योरप के मुक़ाबले में ही और अधिकतर उससे भी ज्यादा आगे बढे हुए थे। लेकिन अभी यहाँ विज्ञान का उतना विकास नही था जितना योरप में था और न यहाँ जन-स्वातंत्र्य की योरप जैसी उमग थी। दोनो देशों में धार्मिक स्वतत्रता और नगरो, गाँवो और सघो मे स्थानीय स्वतत्रता की पुरानी परम्परा चली आ रही थी। बादशाह की ताकत और निरंकुशता की लोगो को जरा भी परवाह न थी जब तक कि उनके स्थानीय मामलों में दखल न दिया जाता हो। दोनो देशो ने एक सामाजिक सगठन बना लिया था, जो बहुत दिनो से टिका हुआ था और जो योरप के ऐसे किसी भी संगठन से ज्यादा टिकाऊ था। शायद इस सगठन के टिकाऊपन और मजबूती ने ही उन्नति को रोक रक्खा था। हमने देखा है कि भारत मे फूट और गिरावट का नतीजा अन्त में यह हुआ कि उत्तरी भाग पर मुगल बाबर ने कब्जा कर लिया। मालूम होता है कि लोग स्वतत्रता के प्राचीन आर्य विचारो को बिलकुल भूल गये थे और उनमे ताबेदारी की और किसी भी शासक की अधीनता स्वीकार करने की प्रवृति हो गई थी।[1] यहाँ तक कि देश में एक नई चेतना लेकर आने वाले मुसलमान भी औरो की ही तरह पतित और ताबेदार हो गए।

इस तरह ताजगी और स्फूर्ति के उन गुणो से भरा हुआ योरप जिनका पूर्व की पुरानी सभ्यता में अभाव था, धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था। उसके निवासी संसार के कोने-कोने में फैल रहे थे। व्यापार और धन के आकर्षण ने उनके जहाजियो को अमरीका और एशिया की ओर खींच लिया था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुर्तगाल वालो ने मलक्का के अरब साम्राज्य का अन्त कर दिया था। उन्होने भारत के किनारे-किनारे और पूर्वी समुद्रो में सब जगह अपनी चौकियाँ बनाली थी। लेकिन जल्द ही उनके मसालों के व्यापार के प्रभुत्व का हॉलैण्ड, और इंग्लैंड इन दो नई ताक़तो ने मुक़ाबला करना शुरू कर दिया। पुर्तगालवाले पूर्व से खदेड दिये गये और उनका पूर्वी साम्राज्य और व्यापार नष्ट हो गया। कुछ हद तक हालैण्ड ने पुर्तगाल की जगह ले ली और बहुत-से पूर्वी टापुओं पर क़ब्जा कर लिया। सन् १६०० ई० में महारानी एलिजाबेथ ने लदन के व्यापारियो की एक कम्पनी, 'ईस्ट इडिया कम्पनी,' को भारत में तिजारत करने का फरमान दिया और दो साल बाद 'डच ईस्ट इडियन कम्पनी' बनी। इस तरह योरप का एशिया को हड़प करने का युग शुरू होता है। बहुत दिनो तक तो यह मलाया और पूर्वी टापुओ तक ही सीमित रहा। सिंग

---

[1] कोउ नृप होहु हमहिं का हानी
चेरी छांड़ि न होइहि रानी—तुलसीदास

राजाओं और सत्रहवीं सदी के बीच में राज करने वाले मंचुओं के शासन-काल में चीन योरप के लिए बहुत बलवान था। जापान तो इतना आगे बढ़ गया कि उसने सन् १६४१ ई० में सब विदेशियों को बाहर निकाल दिया और अपने देश को बाहरवालों के लिए बिलकुल बन्द कर दिया। और भारत में क्या हुआ? भारत की कहानी को हम बहुत पीछे छोड़ आये हैं इसलिए अब इस कमी को पूरा करना चाहिए। जैसा कि हम देखेंगे, नये मुग़ल ख़ानदान के शासन में भारत एक ताक़तवर राज्य-तन्त्र बन गया। योरप के हमले का उसके लिए कुछ भी ख़तरा या मौक़ा न था। लेकिन समुद्रों पर योरप का प्रभुत्व पहले ही हो चुका था।

इसलिए अब हम भारत की तरफ़ वापस आते हैं। योरप, चीन, जापान और मलेशिया में हम सत्रहवीं सदी के आख़ीर तक आ पहुँचे हैं। और अठाहरवीं सदी के किनारे पर हैं। लेकिन भारत में अभी तक हम सोलहवीं सदी के शुरू में ही हैं जब कि बाबर यहाँ आया था।

सन् १५२६ ई० में दिल्ली के कमज़ोर और तुच्छ अफ़गान सुलतान पर बाबर की विजय से भारत में एक नया ऐतिहासिक ज़माना और नया साम्राज्य—मुग़ल साम्राज्य—शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह सन् १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी ताकत और शान के थे, जबकि भारत के महान मुगल की कीर्ति सारे एशिया और योरप में फैल गई थी। इस घराने के छः महान शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और मराठे, सिख, वगैरा ने उसमें से रियासतें बाँट लीं। इनके बाद अंग्रेज आये जिन्होंने केन्द्रीय शक्ति के पतन और देश में फैली हुई गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर धीरे-धीरे अपना राज्य जमा लिया।

मैं बाबर के बारे में पहले ही कुछ कह चुका हूँ। चंगेज़ख़ाँ और तैमूर के वंश का होने की वजह से इसमें कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और सैनिक योग्यता थी। लेकिन चगेज़ के ज़माने से अब तक मंगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसंस्कृत और दिलपसंद व्यक्ति उस ज़माने में मिलना मुश्किल था। उसमें जाति-द्वेष बिलकुल न था, न धार्मिक कट्टरता थी और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और ख़ुद भी फ़ारसी का कवि था। वह फूलों और बाग़ों से प्रेम करता था और भारत की गर्मी में उसे अक्सर अपने देश मध्य एशिया की याद आ जाती थी। अपने संस्मरणों में उसने लिखा है—"फ़रगना में बनफ़्शा के फूल बड़े सुन्दर होते हैं; वहाँ तो गुलेलाला और गुलाब का ढेर है।"

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरक़न्द का शासक हुआ तब वह सिर्फ़ ग्यारह वर्ष का बालक था। यह काम आसान न था। उसके चारों तरफ़ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियाँ स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफ़ानी ज़िन्दगी में उसे अनेक ख़तरों का सामना करना पड़ा। इस पर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकांक्षा उसे आगे हांकती रही। काबुल को जीत कर वह सिंध नदी पार करके भारत में आया। उसके साथ फ़ौज तो थोड़ी-सी थी लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों योरप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफ़ग़ानों की जो बड़ी भारी फ़ौज उससे लड़ने आई वह इस छोटी-सी लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फ़ौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ और कितनी ही बार उसके भाग्य का पलड़ा डाँवाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत ख़तरे में था तो उसके सेनापतियों ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बड़ा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराब उसे बहुत प्रिय थी। लेकिन अपने जीवन में इस संकट के समय उसने शराब छोड़ देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। संयोग से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा को अन्त तक निभाया।

भारत में उसे आये चार वर्ष भी न बीते थे कि बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगड़ों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहाँ के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक शानदार राजधानी की नींव डाली और क़ुस्तुन्तुनिया

से एक मशहूर राज-मिस्त्री को बुलाया। यह वह समय था जब शानवाला सुलेमान क़ुस्तुन्तुनिया में इमारतें बनवा रहा था। सीनन एक मशहूर उस्मानी शिल्पकार था। उसने अपने प्रिय शिष्य यूसुफ़ को भारत भेजा।

बाबर ने अपने संस्मरण लिखे हैं और इस मजेदार किताब में बाबर के व्यक्तित्व की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने भारत और उसके जानवरों, फूलो, पेडो, फलों का वर्णन किया है, यहाँ तक कि मेढकों को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के खरबूजो, अगूरो और फूलो के लिए छटपटाता है। भारत-वासियों के बारे में हद दर्जे की निराशा जाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक़ तो उनके पक्ष में कोई अच्छी बात नही है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयो में फँसा रहने के कारण वह भारतवासियों को पहचान न सका और सुसंस्कृतवर्गों के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर ही रहे। शायद एक नवागन्तुक दूसरे देश के निवासियों के जीवन, और उनकी सभ्यता मे आसानी से घुलमिल नही सकता। कुछ भी हो, उसे न तो अफ़ग़ानो में—जो कुछ दिनों से भारत में राज कर रहे थे—और न ज्यादातर भारतवासियो में ही कोई तारीफ की बात नजर आई। वह एक कुशल निरीक्षक था और एक विदेशी की पक्षपात से भरी दृष्टि का खयाल रखते हुए भी उसके वर्णन से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक्त बहुत खराब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ़ बिलकुल नही गया।

बाबर ने लिखा है—"भारत का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौडा, घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण, और पश्चिम की सीमाओ पर समुद्र है। उसके उत्तर में काबुल, ग़ज़नी और क़न्धार हैं। सारे भारत की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक है कि बाबर सारे भारत को एक देश समझता था, हालाँकि जब वह यहाँ आया था तब देश कई राज्यों में बटा हुआ था। भारत की एकता की यह भावना इतिहास में शुरू से चली आ रही है।

भारत का वर्णन करते हुए बाबर लिखता है :

> "यह एक निराला ही मनोरम देश है। हमारे देशो के मुक़ाबले मे यह एक अलग ही दुनिया है। इसके पहाड़ और नदियाँ, इसके जगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी भाषा, इसकी हवा और बरसात, सब अलग ही तरह के है . सिंध को पार करते ही जो देश, पेड, पत्थर, घुमक्कड कबीले और लोगो के ढंग और रस्म-रिवाज दिखलाई पड़ते हैं वे ठेठ भारत के ही है। साँप तक दूसरी तरह के है।.......भारत के मेंढक गौर करने लायक़ है। हालाँकि ये उसी जाति के है जिस जाति के हमारे यहाँ होते है, लेकिन ये पानी की सतह पर छः सात गज तक दौड़ सकते है।"

इसके बाद वह भारत के जानवरों, फूलों, पेडो और फलो की एक सूची देता है। इसके बाद वह यहाँ के रहनेवालों का वर्णन करता है :

> "भारत के देश मे आनन्द के कोई ऐसे साधन नही है जिनके लिए इसकी तारीफ़ की जाय। यहाँ के निवासी सुरूप नही है। उन्हे मित्र मडली के आनन्द का, या दिल खोल-कर एक दूसरे से मिलने का या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी ज्ञान नही है। उनमे न तो प्रतिभा है, न दिमाग की सूझ-बूझ, न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामो का ढाचा बनाने और उनको कार्यान्वित करने की चतुरता या यान्त्रिक अविष्कार-बुद्धि, न नकशे और इमारते बनाने का हुनर या ज्ञान। उनके यहाँ न तो अच्छे घोड़े है, न अच्छा मास, न अगूर और न खरबूजे, न अच्छे फल, न बर्फ, न ठडा पानी, न बाजारो में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम न कॉलेज, न मोमबत्तियाँ, न मशालें, यहाँ तक कि शमादान भी नही है।" इस पर यह पूछने को तबियत हो उठती है कि आखिर उनके यहाँ है क्या? मालूम होता है बाबर ने ये बाते उस वक़्त लिखी होंगी जब वह शायद बिलकुल ऊब चुका होगा।

बाबर कहता है—

> "भारत की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह बहुत बड़ा देश है और यहाँ सोना

और चाँदी भरे पड़े हैं।.. ....भारत में एक सुविधा यह भी है कि यहाँ हर पेशे और व्यापार के काम करने वालों की संख्या इतनी ज्यादा है कि उसका कोई अन्त ही नहीं। किसी काम या धंधे के लिए जब चाहो तब एक समूह तैयार है जिनके यहाँ वही काम-धंधा युगों से, पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा है।"

बाबर के संस्मरणों से मैंने कुछ लम्बे उद्धरण यहाँ दिये हैं। ऐसी किताबों से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अंदाज होता है उतना उसके बारे में किसी वर्णन से नहीं।

सन् १५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर किस्सा है। उसका पुत्र हुमायूँ बीमार पड़ा और कहते हैं कि उसके प्रेम में बाबर खुद अपना जीवन भेंट चढ़ाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूँ अच्छा हो गया और इस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गए और वहाँ उसी बाग़ मे उसे दफ़नाया जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्ही के पास चला गया।

: ८६ :

अकबर

४ सितम्बर, १९३२

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफ़ग़ान सुलतान को हरा दिया और बाद में राजपूत इतिहास के एक प्रसिद्ध वीर चित्तौड के रण-बांकुरे राणा सांगा के नेतृत्व में लड़नेवाले राजपूतों को हराया जो ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायू के लिए छोड़ गया। हुमायू बहुत सुसंस्कृत और विद्वान था लेकिन अपने पिता की तरह सैनिक न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आखिर सन् १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरखां नामक अफ़ग़ान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान मुगल इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड़ की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर सन् १५४२ ई० में, उसकी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह पुत्र आगे जाकर अकबर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हुमायूँ भागकर ईरान पहुँचा और वहाँ के बादशाह शाह तहमास्प ने उसे शरण दी। इस अर्से में उत्तरी भारत में शेरखां का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पाँच वर्ष तक राज्य किया। इस थोडे से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशील व्यवस्थापक था और उसका शासन सजीव और कारगर था। अपने युद्धों के बीच भी उसने किसानो पर टैक्स नियत करने की एक नई और अच्छी लगान प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह सख्ती बरतने वाला और कठोर व्यक्ति था लेकिन भारत के सारे अफ़ग़ान शासकों में, और बहुत से अन्य शासकों में भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अक्सर कुशल स्वेच्छाचारी शासको का हाल हुआ करता है, वह खुद ही सारे शासन का कर्त्ता-धर्त्ता था, इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढांचा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूँ ने इस अव्यवस्था से फ़ायदा उठाया और सन् १५५६ ई० में वह एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नही। छः महीने बाद ही वह जीने पर से गिरकर मर गया।

शेरशाह और हुमायूँ के मक़बरों का मुक़ाबला करने से एक दिलचस्प बात मालूम होती है। अफ़ग़ान शेरशाह का मक़बरा बिहार में सहसराम में है और यह इमारत उसीकी तरह कठोर, मजबूत और शाही बनावट की है। हुमायूँ का मक़बरा दिल्ली में है। यह एक पालिशदार और मनोहर इमारत है। पत्थर

की इन इमारतों से, साम्राज्य के लिए सोलहवीं सदी के, इन दो प्रतिद्वन्द्वियों के बारे में अच्छा अन्दाज़ लगाया जा सकता है।

अकबर उस समय सिर्फ़ तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखां, जिसे खानबाबा भी कहते हैं, इसका अभिभावक और रक्षक था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस अभिभावकता से और दूसरे आदमी के इशारे पर चलने से तंग आगया और उसने राज्य शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

सन् १५५६ से १६०५ ई० तक, यानी करीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। यह ज़माना योरप में निदरलैण्ड्स के विद्रोह का और इंग्लैण्ड में शेक्सपीयर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पहिले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोलहवीं सदी का एक मुसलमान सम्राट, दोनों एक ही ढंग से और करीब-करीब एक ही आवाज़ में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खुद भारत की ही आवाज़ हो, जो उसके दो महान पुत्रों के ज़रिये बोल रही हो। अशोक के बारे में हम सिर्फ़ उतना ही जानते हैं जितना उसने खुद पत्थरों पर खुदा हुआ छोड़ा है। लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो समकालीन इतिहासकारों के लम्बे वर्णन मिलते हैं और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—खासकर जेजुइट लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की ज़ोरदार कोशिश की थी—उन्होंने भी लम्बे-चौड़े हाल लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुगल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका अधिकार फ़ौजी ताक़त के बल पर था। अकबर के राज ने मुगल खानदान की जड़ जमा दी और उसको यहीं की धरती का और पूरी तरह भारतीय दृष्टिकोण वाला बना दिया। इसीके राज्य-काल में योरप में 'महान् मुग़ल' का खिताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत स्वेच्छाचारी था और उसके अधिकारों पर कोई अंकुश लगाने वाला न था। मालूम होता है कि उस वक़्त भारत में राजा के अधिकारों पर रोक-थाम लगाने की कोई चर्चा तक नहीं थी। संयोग से अकबर एक बुद्धिमान सर्वाधिकारी था और वह भारत के लोगों की भलाई के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारत में राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा धर्मों के दावों के ऊपर सार्वजनिक भारतीय राष्ट्रीयता का आदर्श स्थापित किया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह तो सफल नहीं हुआ, लेकिन यह अचंभे की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशों को कितनी ज्यादा सफलता मिली।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली उसका सारा श्रेय उस अकेले को ही नहीं है। जब तक कि उपयुक्त समय न आगया हो और वातावरण सहायक न हो तब तक कोई भी मनुष्य महान कार्यों में सफल नहीं हो सकता। महापुरुष खुद अपना वातावरण पैदा करके ज़माने को जल्दी बदल सकता है। लेकिन महापुरुष खुद भी तो ज़माने का और तत्कालीन वातावरण का ही फल होता है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस ज़माने का फल था।

पिछले एक पत्र में मैंने तुमको बतलाया था कि जिन दो संस्कृतियों और धर्मों का इस देश में साथ आ पड़ा था उन दोनों के एकीकरण के लिए भारत में कैसी अदृश्य ताक़तें काम कर रही थीं। मैंने तुमको भवन-निर्माण की नई शैली और भारतीय भाषाओं, खासकर उर्दू या हिन्दुस्तानी, के विकास के बारे में लिखा था। और मैं तुमको रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धार्मिक गुरुओं के बारे में भी लिख चुका हूं जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के समान पहलुओं पर ज़ोर देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरों की निन्दा करके दोनों को एक-दूसरे के नज़दीक लाने की कोशिश की थी। उस समय एकीकरण की यह भावना चारों ओर फैली हुई थी। और अकबर के सूक्ष्म संवेदनशील और ग्रहणशील मस्तिष्क ने जब इस भावना को ग्रहण किया तो उसमें बहुत बड़ी प्रतिक्रिया हुई होगी। वास्तव में वह इसका मुख्य प्रतिपादक बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुँचा होगा कि उसका और राष्ट्र का बल इसी एकीकरण से बढ़ सकता है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और कुशल सेनानायक था। अशोक की

तरह वह लड़ाई से घृणा नहीं करता था। लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह दृढ़ निश्चय के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करने में जुट गया। उसने गैर-मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जज़िया, और हिन्दू-तीर्थ यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद अपना विवाह एक उच्च राजपूत वंश की लड़की से किया; बाद में उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया; और उसने ऐसी मिश्रित शादियों को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊँचे से ऊँचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को नियुक्त किया। उसके सबसे बहादुर सेनापतियों और सबसे योग्य मंत्रियों और गवर्नरों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए काबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। देखा जाय तो राजपूतों को और अपनी हिन्दू प्रजा को मनाने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओं की सद्‌भावना प्राप्त करने में सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड़ के राणा प्रताप के जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। युद्ध-क्षेत्र में हार जाने पर भी उसने अकबर का मांडलिक बनकर लाड़-प्यार का विलासी जीवन बिताने की अपेक्षा जंगल में छिपते फिरना अच्छा समझा। ज़िन्दगी भर यह अभिमानी राजपूत दिल्ली के महान् सम्राट से लड़ता रहा, और उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। अपने जीवन के अन्तकाल में उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बाकुरे राजपूत की यादगार राजपूताना की एक बहुमूल्य निधि है और इसके नाम के साथ कितनी ही गाथाएं जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ़ कर लिया और वह जनता का प्यारा हो गया। वह पारसियों और उसके दरबार में आनेवाले जेजुइट पादरियों तक के प्रति बड़ा उदार था। लेकिन इस उदारता और मुस्लिम शरियत के प्रति कुछ अनादर की भावना के कारण मुसलमान लोग उससे नाराज़ हो गये और उसके खिलाफ़ कई विद्रोह भी हुए।

मैंने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन इस तुलना से तुम कहीं भुलावे में न पड़ जाना। बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल भिन्न था। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था, और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना साम्राज्य बढ़ाने की धुन में विजय-यात्राएं करता रहा। जेजुइट लोगों ने लिखा है कि वह—

"चौकस और पारखी दिमाग़ वाला था; वह समझ का पक्का, मामलों में दूरदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणों के साथ उसमें बड़े-बड़े जोखिम के कामों को उठाने और पूरा करने की हिम्मत भी थी.....। वह बहुत-सी बातों में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने को इच्छुक रहता था; उसे न सिर्फ़ सैनिक और राजनैतिक बातों का ही बल्कि बहुत से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था.....। जो लोग उसके व्यक्तित्व पर हमला करते थे उन पर भी इस राजा की क्षमा और नम्रता की रोशनी पड़ती रहती थी। उसे क्रोध बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता था तो उसका आवेश भयंकर हो जाता था; लेकिन उसका यह क्रोध ज्यादा देर तक न टिकता था।"

याद रहे कि यह वर्णन किसी चापलूस मुसाहब का नहीं है, लेकिन एक विदेशी अजनबी का है, जिसे अकबर का निरीक्षण करने के काफ़ी मौक़े मिलते थे।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व बलशाली और फुर्तीला था और वह जंगली और खूंख़ार जानवरों के शिकार से अधिक किसी चीज़ से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना वीर था कि उसे अपनी जान तक की बिलकुल परवाह न थी। उसकी आश्चर्य-जनक शक्ति का अनुमान आगरे से अहमदाबाद की उस प्रसिद्ध यात्रा से लगाया जा सकता है जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। गुजरात में विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ राजपूताना के रेगिस्तान को पार करके साढ़े चारसौ मील की दूरी तय करके वहाँ आ धमका। यह एक असाधारण करतब था। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं है कि उस ज़माने में न तो रेलें थीं और न मोटरें।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान पुरुषों में कुछ और भी होता है; उनमें एक तरह की आकर्षण-

शक्ति होती है जो लोगों को उनकी तरफ़ खींचती है। अकबर में यह व्यक्तिगत आकर्षण-शक्ति और मोहक-शक्ति बहुत अधिक मात्रा में थीं; जेसुइट लोगों के अद्भुत वर्णन के मुताबिक़ उसकी वशीकरण आँखें "इस तरह झिलमिलाती थीं जिस तरह सूरज की रोशनी मे समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है, यदि यह व्यक्ति हमको आज तक मोहित करता हो और उसका शाही तथा पुरुषत्व-भरा स्वरूप उन ढेरों लोगों से बहुत ऊँचा दिखलाई पड़ता हो जो सिर्फ़ बादशाह हुए हैं?

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर, और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य-भारत और दक्षिण-भारत में भी उसकी विजय हुई और उसने कर वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उसकी कीर्ति को नही बढ़ाता। दुर्गावती एक वीरांगना और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकबर को कुछ नुक़सान नहीं पहुँचाया था। लेकिन महत्वाकांक्षी और साम्राज्य-लिप्सा इन छोटी-मोटी अड़चनो की बिलकुल परवाह नहीं करती। दक्षिण में भी उसकी सेनाएं अहमदनगर की प्रबन्ध-कर्त्री मशहूर चाँदबीबी से लड़ी। इस महिला में साहस और योग्यता थी और उसने युद्ध में जो लोहा लिया उसका असर मुग़ल फ़ौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने उसके अनुकूल शर्तों पर सुलह मंजूर करली। दुर्भाग्य से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फ़ौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत फिर हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारो तरफ़ बहुत से योग्य सहायक इकट्ठा कर लिये जो उसके प्रति बड़े वफ़ादार थे। इनमें मुख्य फ़ैज़ी और अबुलफ़ज़ल दो भाई थे, और एक था बीरबल जिसके बारे में अनगिनती कहानियाँ आज तक प्रचलित हैं। अकबर का अर्थ-मंत्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। तुम्हें यह जानकर अचम्भा होगा कि उन दिनो ज़मींदारी प्रथा न थी और न ज़मींदार थे, न ताल्लुक़ेदार। राज्य खुद किसानों या रैयतों से लगान वसूल करता था। यही आजकल रैयतवाड़ी प्रणाली कहलाती है। आजकल के ज़मींदार अंग्रेज़ों के बनाये हुए हैं।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियो में से था। अकबर के दरबार में एक और प्रसिद्ध आदमी था—महान गायक तानसेन, जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरू मानते हैं।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहां उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरे से पन्द्रह मील दूर फ़तहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहाँ शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। यहाँ उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक़्त के एक अंग्रेज़ यात्री के शब्दों में "लन्दन से भी ज्यादा बड़ा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का मित्र और मंत्री अबुलफ़ज़ल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतो के नक़्शे सोचते हैं और अपने दिल और दिमाग़ की सूझ को पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते हैं।"

फ़तहपुर-सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका ज़बरदस्त बुलंद दरवाज़ा और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियो में और उसके चौड़े सहनो मे एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाएं आज भी चलती मालूम होती हैं।

हमारा मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है, लेकिन जगह यह ज़रूर बहुत प्राचीन है और प्रयाग तो यहाँ रामायण के युग से चला आरहा है। इलाहाबाद का क़िला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और उसे संगठित करने में व्यस्त रहा होगा। लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और विचित्र गुण नज़र आता है। यह थी उसकी असीम ज्ञान पिपासा और सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय पर रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे प्रश्न

किये जाते थे। अलग-अलग धर्मों के लोग इबादतखाने में उसके चारों तरफ़ बैठते थे और हरेक इस महान बादशाह को अपने धर्म में शामिल करने की आशा रखता था। वे अकसर एक दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहसें सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है उसे यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी खास धर्म या फ़िरक़े ने नहीं ले रक्खा है और उसने यह घोषणा कर दी थी कि वह धर्म में सार्वभौम सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके राजकाल के इतिहास-लेखक बदायूँनी[1] ने, जो ऐसे बहुत-से मजमों में शामिल होता रहा होगा, अकबर के बारे में मजेदार बयान लिखा है, जो मैं यहाँ देना चाहूँगा। बदायूँनी खुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयों को बिलकुल नापसन्द करता था। वह लिखता है—

> "जहाँपनाह हरेक के विचार इकट्ठे करते थे, खासकर ऐसे लोगों के जो मुसलमान नहीं थे, और उनमें से जो कोई बात उनको अच्छी लगती उन्हें रख लेते और जो उनके मिजाज के खिलाफ़ और उनकी इच्छाओं के विरुद्ध जाती उन सबको त्याग देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहाँपनाह बिलकुल अलग-अलग तरह की हालतों में से और सब तरह के धार्मिक कर्मों और साम्प्रदायिक विश्वासों में से गुजरे हैं, और जो कुछ किताबों में मिल सकता है उस सबको उन्होंने चुनाव करने के उस विचित्र गुण से, जो खास उन्हींमें पाया जाता है, इकट्ठा किया है, और जिज्ञासा की उस भावना से इकट्ठा किया है, जो हर इस्लामी उसूल के खिलाफ़ है। इस तरह उनके दिल के आईने पर किन्हीं मूल सिद्धान्तों के आधार पर एक विश्वास का नकशा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पड़े हैं उन सबके फलस्वरूप उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह धीरे-धीरे यह धारणा जमती गई है कि सब धर्मों में समझदार आदमी हैं और सब कौमों में संयमी विचारक और चमत्कारी शक्तिवाले आदमी हैं। अगर कोई सच्चा ज्ञान इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सत्य किसी एक ही धर्म में कैसे सीमित हो सकता है? . . . ."

तुम्हें याद होगा कि इस ज़माने में योरप में धार्मिक मामलों में बड़ी ज़बर्दस्त असहिष्णुता फैली हुई थी। स्पेन, निदरलैण्ड्स और अन्य देशों में इनक्विज़िशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कॉलविनिस्ट दोनों एक दूसरे को सहन करना घोर पाप समझते थे।

अकबर ने वर्षों तक सब धर्मों के आचार्यों से अपनी धर्म-चर्चाएं और बहसें जारी रक्खीं, यहाँ तक कि अन्त में वे सब उकता गये और उन्होंने अकबर को अपने-अपने खास धर्म में मिला सकने की आशा छोड़ दी। जब हरेक धर्म में सत्य का कुछ न कुछ अंश था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था? जेज़ुइट लोगों के लिखे मुताबिक़ वह कहा करता था—"चूँकि हिन्दू लोग अपने सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते हैं; तो फिर हम इनमें से किसको अपनावें?" अकबर का सवाल बड़ा उपयुक्त था, लेकिन जेज़ुइट लोग इसमे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी किताब में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की सी आम गलती देखते हैं जो बुद्धि को श्रद्धा का दास बनाने में इनकार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमज़ोर दिमाग़ न पा सके उसे सत्य न स्वीकार करता हुआ वह उन बातों को अपने अपूर्ण विवेक पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे हैं।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज़्यादा नास्तिक हों उतना ही अच्छा!

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को खाली राजनैतिक निगाह से देखता था? सबके लिए एक राष्ट्रीयता ढूँढ़ निकालने के इरादे से कहीं वह भिन्न-भिन्न धर्मों को जबरदस्ती एक ही रास्ते में तो नहीं डालना चाहता था? या क्या उसकी प्रेरणाएं और उसकी खोज धार्मिक थी? मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा खयाल इधर झुकता है कि वह धार्मिक सुधारक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ ही ज़्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने सचमुच एक नये धर्म 'दीने इलाही' की घोषणा कर

---

[1] बदायूँनी—इसका पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल क़ादिर बदायूँनी (बदायूँ का रहनेवाला) था। इसने मुग़ल साम्राज्य का इतिहास लिखा है जिसके हरेक पन्ने पर इसके कट्टरपन की छाप है। यह हिन्दुओं से बहुत चिढ़ता था।

थी जिसका मुर्शिद वह खुद था। दूसरी बातों की तरह धार्मिक मामलों में भी उसके एकाधिकार को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता था और चरणों में लोटना, क़दम-बोसी वगैरा नफ़रत पैदा करने वाली बातें होती थी। यह नया धर्म चला नहीं। हुआ यह कि इसने मुसलमानों को चिढ़ा दिया।

अकबर एकाधिपत्य की तो साक्षात मूर्ति था। फिर भी यह कल्पना करने में मज़ा आता है कि उदार राजनैतिक विचारों का उस पर क्या असर हुआ होता। अगर धर्मपालन की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को अधिक राजनैतिक स्वतंत्रता क्यों नहीं? विज्ञान की तरफ़ वह ज़रूर खूब आकर्षित हुआ होता। खेद है कि ये विचार, जिन्होंने उस समय योरप के कुछ लोगों को परेशान करना शुरू कर दिया था, उस समय के भारत में प्रचलित नहीं हुए थे। छापेखानों का भी उस समय कोई उपयोग होता नज़र नहीं आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। यह जानकर तुमको सचमुच ताज्जुब होगा कि अकबर अनपढ़ था, यानी वह पढ़-लिख नहीं सकता था! लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबें पढ़वा कर सुनने का बड़ा भारी शौक़ीन था। उसकी आज्ञा से बहुत-सी संस्कृत पुस्तकों का फ़ारसी में अनुवाद किया गया था।

यह भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने की प्रथा को बन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्ध-बन्दियों को गुलाम बनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, करीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर सन् १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे में एक खूबसूरत मकबरे में दफन की हुई है।

अकबर के राज्यकाल में उत्तर भारत में और ज़्यादातर काशी में एक व्यक्ति रहा जिसका नाम युक्तप्रान्त के हरेक ग्रामीण की ज़बान पर है। वहाँ वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है जिन्होंने हिन्दी में राम-चरित-मानस या रामायण लिखी है।

: ९० :

भारत में मुग़ल साम्राज्य का पतन और अन्त

९ सितम्बर, १९३२

मेरी इच्छा होती है कि अकबर के बारे में मैं तुम्हें कुछ और बतलाऊँ लेकिन इस इच्छा को दबाना पड़ेगा। मगर पुर्तगाली पादरियों के लेखों में से कुछ और उद्धरण यहाँ देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिबों की राय से बहुत ज़्यादा महत्वपूर्ण है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ से उनको बहुत निराशा भी हुई थी। फिर भी लिखते हैं कि "वह दरअसल एक महान बादशाह था; क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जिसकी प्रजा उसे एक साथ फ़रमाबरदारी, सम्मान, प्रेम और भय की दृष्टि से देखे। यह बादशाह सब का प्यारा था, बड़े आदमियों पर सख्त, छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगों के साथ चाहे वह ऊँच हो या नीच, पड़ौसी हों या अजनबी, ईसाई हो या मुसलमान या हिन्दू—न्याय करता था; इसलिए हरेक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसी के पक्ष में है।" जेसुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशगूल है या अपनी प्रजा के लोगों को मुजरा दे रहा है तो दूसरे ही क्षण वह ऊँटों के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोड़ता हुआ या लकड़ी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नज़र आता था; और इन सब कामों को वह इतनी होशियारी से करता था मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी राजा था लेकिन वह शरीर-श्रम को अपनी शान के खिलाफ़ नहीं समझता था, जैसा कि आजकल के कुछ लोग ख़याल करते हैं।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ तीन या

चार महीने ही माँस खाता था ......। सोने के लिए वह बड़ी मुश्किल से रात के तीन घंटे निकालता था........। उसकी स्मरण-शक्ति ग़ज़ब की थी। उसके हज़ारों हाथी थे लेकिन वह सब के नाम जानता था; अपने घोड़ों के, हिरनों के और कबूतरों तक के नाम भी उसे याद थे !" इस अद्‌भुत स्मरण-शक्ति के बारे में यक़ीन करना मुश्किल है और शायद यह वर्णन कुछ बढ़ाकर भी लिखा गया हो। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका दिमाग़ अद्‌भुत था। "हालांकि वह पढ़-लिख नहीं सकता था लेकिन अपनी बादशाहत में होने वाली तमाम बातें उसे मालूम रहती थी।" और "उसकी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा" ऐसी थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही ग्रास में निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा स्वेच्छाचारी था। और, हालांकि उसने प्रजा को बहुत कुछ सुरक्षित कर दिया था और किसानों पर से करों का बोझ भी हलका कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग़ शिक्षा और तालीम के ज़रिये जनता का स्तर ऊँचा उठाने की तरफ़ नहीं गया। वह युग हर जगह स्वेच्छाचारिता का था, मगर दूसरे स्वेच्छाचारी राजाओं के मुक़ाबले में अकबर बादशाह और उसका व्यक्तित्व बड़ी तेज़ी से चमकते हैं।

हालांकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था, लेकिन भारत में मुग़ल राजघराने की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन में कुबलाईख़ाँ के युआन राजवंश की तरह, अकबर के बाद मुग़ल बादशाहों का राजवंश भारतीय बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मज़बूत बनाने के लिए जो महान कार्य किया था उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवंश उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज़्यादा राज करता रहा।

अकबर के बाद तीन और योग्य बादशाह हुए लेकिन उनमें कोई असाधारण बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़ी गन्दी छीना-झपटी होती। राजमहलों की साज़िशें और उत्तराधिकार की लड़ाइयाँ होती थीं। पुत्रों का पिताओं से विद्रोह, भाइयों का भाइयों से विद्रोह, हत्याएं और रिश्तेदारों की आँखें फोड़ी जाना—मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरंकुश शासन के साथ चलने वाली तमाम बीभत्स बातें होती थीं। शान-शौकत और तड़क-भड़क तो अतुलनीय थी। तुम्हें याद होगा कि यह वह ज़माना था जब फ़्रांस में चौदहवाँ लुई, जो 'सूर्य-तुल्य राजा' कहलाता था, राज करता था और जिसने वर्साई नगर बनवाया था और जिसका दरबार शान-शौक़तवाला था। लेकिन महान मुग़ल के ऐश्वर्य के सामने लुई की शान-शौकत फीकी पड़ जाती थी। शायद ये मुग़ल बादशाह उस ज़माने के बादशाहों में सबसे ज़्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और रोग फैल जाते थे और बेशुमार आदमियों को खा जाते थे, जबकि दूसरी तरफ़ बादशाही दरबार विलास की मौजें मारता था।

अकबर के समय की धर्मों की सहिष्णुता उसके पुत्र जहाँगीर के राज्य में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयों और हिन्दुओं पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद में, औरंगज़ेब के राज में, मन्दिरों को तोड़कर और बदनाम जज़िया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओं को जान-बूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नींव अकबर ने इतनी मेहनत से डाली थी वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एक दम भहराकर गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहाँगीर गद्दी पर बैठा जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रक्खा लेकिन शायद उसे सरकारी कामों की अपेक्षा कला तथा चित्रकारी और बाग़ों तथा फूलों में ज़्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहाँ सुन्दर चित्रशाला थी। वह हर साल कश्मीर जाता था और मेरे ख़याल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग़ इसी ने लगवाये थे। जहाँगीर की बेगम—या यों कहो कि उसकी बहुतसी बेगमों से एक—सुन्दरी नूरजहाँ थी जिसके हाथों में परदे के पीछे राज की असली सत्ता थी। ऐतमादुद्दौला की क़ब्र पर ख़ूबसूरत इमारत जहाँगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूँ तो शिल्प-कला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूँ ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आँखों को तृप्त कर सकूँ।

जहाँगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहाँ गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी सन् १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। यह फ़्रांस के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज्य में जहाँ

मुग़लों का वैभव चरमसीमा पर पहुँच गया, वहाँ उसकी गिरावट के भी बीज साफ़ नज़र आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ मशहूर तख्त-ताऊस बनाया गया। और फिर आगरे में जमना के किनारे वह सुन्दरता का स्वप्न ताजमहल बना। शायद तुम जानती हो कि यह उसकी प्यारी बेगम मुमताजमहल का मक़बरा है। शाहजहाँ ने बहुत-से ऐसे काम किये जिनसे उसकी कीर्त्ति और प्रतिष्ठा को बट्टा लगता है। वह धर्म के मामले में असहिष्णु था और जब दक्षिण में और गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा तो उसने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ भी न किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख्ती और ग़रीबी के मुक़ाबले में उसके धन और ऐश्वर्य बड़े घृणित दिखाई पड़ते हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने मनोहरता के जो चमत्कार छोड़े हैं उनके कारण शायद उसकी बहुत-सी बातें क्षमा की जा सकती हैं। इसी के समय में मुग़ल शिल्प-कला अपनी चोटी पर पहुँची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल जामा मस्जिद, और दिल्ली के महलों में दीवाने-आम और दीवाने-खास बनवाये। इन इमारतों में ऊँचे दरजे की सादगी है और इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल, सुघड़ और सुडौल हैं और उनकी सुन्दरता परियों जैसी लोकोत्तर है।

लेकिन इस लोकोत्तर सौन्दर्य के पीछे ग़रीबी की मारी हुई वह प्रजा थी जो इन महलों की क़ीमत चुकाती थी पर जिसके अधिकांश व्यक्तियों के पास रहने को मिट्टी के झोंपड़े भी न थे। निरंकुश ज़ुल्मी शासन का बोलबाला था और सम्राट या उसके बड़े नायब और सूबेदार अगर किसी से नाखुश हो जाते तो उसे खूँख्वार सज़ायें दी जाती थी। दरबार की साज़िशों में मैकियावैली के सिद्धान्तों का दौर-दौरा था। अकबर की क्षमाशीलता, सहिष्णुता और अच्छी राज्य-व्यवस्था बीती बातें हो गई थीं। घटनायें विनाश की ओर ले जा रही थीं।

इसके बाद अन्तिम महान मुग़ल औरंगज़ेब आया। उसने अपने शासन का श्रीगणेश अपने पिता को क़ैद में डालकर किया। उसने सन् १६५९ से १७०७ ई० तक अड़तालीस वर्ष राज्य किया। अपने दादा जहाँगीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहाँ की तरह शिल्प-कला से। वह कठोर सादगी पालन करने वाला साधु और कट्टर मुसलमान था, और अपने धर्म के सिवा अन्य किसी धर्म को सहन नहीं करता था। दरबार की तड़क-भड़क तो क़ायम रही पर अपने व्यक्तिगत जीवन में औरंगज़ेब सादा-मिज़ाज और सन्यासी जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओं को सताने की नीति चलाई। इरादा करके ही उसने अकबर की सब को मित्र बनाने की और एकीकरण की नीति को उलट दिया और जिस नीव पर अभी तक साम्राज्य टिका हुआ था उसे इस तरह उखाड़ डाला। उसने हिंदुओं पर जज़िया टैक्स फिर लगा दिया; जहाँ तक हो सका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये; जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के समय से इस राजवंश की सहायता की थी उन्हीं को उसने नाराज़ करके राजपूतों से लड़ाई मोल ले ली। उसने हज़ारों हिन्दू मन्दिरों को तुड़वा डाला और इस तरह अनेक सुन्दर पुरानी इमारतें धूल में मिला दी गई। जहाँ एक ओर दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके क़ब्ज़े में आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहाँ दूसरी ओर इस साम्राज्य की नीव ढीली होकर दिन-पर-दिन कमज़ोर होती जा रही थी और चारों तरफ़ दुश्मन पैदा हो रहे थे। जज़िया के विरोध में हिन्दुओं की तरफ से जो अर्ज़ी उसे पेश की गई थी उसमें लिखा था कि यह कर "न्याय का विरोधी है; उसी तरह यह अच्छी नीति से भी असंगत है क्योंकि यह देश को निर्धन कर देगा, इसके अलावा यह एक बिलकुल नई बात है और भारत के नियमों को भंग करता है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहाँपनाह के राज में बहुत से लोग साम्राज्य के खिलाफ़ हो गये हैं जिसका लाज़मी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जावेंगे क्योंकि सब जगह बेरोक-टोक बरबादी और लूट-खसोट का बाज़ार गरम हो रहा है। आपकी प्रजा पैरों तले रौंदी जाती है; आपके साम्राज्य का हरेक सूबा ग़रीब होता जा रहा है, आबादी कम हो रही है और कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं।"

आम लोगों में फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्त्तनों की भूमिका थी जो अगले पचास-साठ वर्षों में भारत में होने वाले थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद महान् मुग़ल साम्राज्य का एकदम और पूर्ण पतन इन्हीं परिवर्त्तनों में से एक था। महान परिवर्त्तनों और महान आन्दोलनों के पीछे हमेशा आर्थिक कारण

हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि योरप और चीन के बड़े-बड़े साम्राज्यों के अन्त से पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और बाद में क्रान्ति हुई। यही हाल भारत में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुग़ल साम्राज्य का अन्त उसी की अन्दरूनी कमज़ोरियों की वजह से हुआ। वह बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया। लेकिन हिन्दुओं में विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरंगज़ेब की नीति की वजह से उफ़ान पर आगई थी, उसने इस अन्त को लाने की क्रिया में बहुत सहायता पहुँचाई। परन्तु एक तरह की यह धार्मिक हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगज़ेब के राज से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसी की वजह से औरंगज़ेब इतना द्वेषपूर्ण और असहिष्णु हो गया हो। मराठे, सिक्ख, वग़ैरा इस हिन्दू जागृति के भाले की नोक थे और, जैसा कि मैं अगले पत्र में लिखूंगा, मुग़ल साम्राज्य का तख़्ता अन्त में इन्होंने ही उलट दिया। लेकिन इस प्राप्त सम्पत्ति से वे कुछ लाभ न उठा सके। जब कि ये लोग लूट के माल के लिए आपस में लड़ रहे थे, अंग्रेज़ चुपचाप और चालाकी के साथ घुस आये और उसे हथिया बैठे।

तुमको यह जानकर दिलचस्पी होगी कि जब मुग़ल सम्राट फौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था। वह एक बड़ा ज़बरदस्त मामला होता था जिसका घेरा तीस मील और आबादी क़रीब पांच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट के साथ चलने वाली फ़ौज तो होती ही थी लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैकड़ों बाज़ार होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू यानी 'लश्कर' की भाषा का विकास हुआ।

मुग़ल काल के बहुत-से छबि-चित्र अब भी मिलते हैं जिनकी चित्रकला बड़ी बारीक और नफ़ीस है। सम्राटों की तसवीरों की तो एक पूरी चित्रशाला ही मिलती है। बाबर से लगा कर औरंगज़ेब तक तमाम बादशाहों के व्यक्तित्व को ये तसवीरें बड़ी ख़ूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुग़ल सम्राट दिन में कम से कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्ज़ियाँ लिया करते थे। जब सन् १९११ ई० में अंग्रेज़ सम्राट जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये थे तो उनका भी मुजरा इसी तरह करवाया गया था। अंग्रेज़ लोग अपने आप को मुग़लों का उत्तराधिकारी समझते हैं और इसलिए वे तड़क-भड़क और बेहूदा प्रदर्शन में मुग़लों की नक़ल उतारने की कोशिश करते हैं। मैं तुमको बतला चुका हूँ कि अंग्रेज़ बादशाह को मुग़ल शासकों का ख़िताब 'कैसरे हिन्द' तक दे दिया गया है। आज भी दुनिया भर में इतनी शान-शौक़त और नुमायशी ठाठ-बाट शायद और कहीं न मिले, जितना भारत में अंग्रेज़ी वाइसराय के व्यक्तित्व के साथ लगा हुआ है।

मैंने अभी तक तुम्हें यह नहीं बतलाया है कि पिछले मुग़ल बादशाहों का विदेशियों के साथ कैसा ताल्लुक़ था। अकबर के दरबार में पुर्तगाली पादरियों पर ख़ास कृपा रहती थी और योरप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हीं के ज़रिये था। अकबर इनको योरप की सबसे ताकतवर क़ौम समझता था क्योंकि समुद्रों पर इनका प्रभुत्व था। अंग्रेज़ों का उस वक़्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उस पर हमला भी किया मगर सफलता न मिली। मुग़ल लोग समुद्र-यात्रा को पसंद नहीं करते थे और जहाज़ी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है क्योंकि उस ज़माने में पूर्व बंगाल में जहाज़ बनाने का काम ज़ोरों से चल रहा था। लेकिन ये जहाज़ ज़्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर मुक़ाबला करने की यह लाचारी मुग़ल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब समुद्री शक्तियों का समय आगया था।

जब अंग्रेज़ लोगों ने मुग़ल दरबार में आने की कोशिश की तो पुर्तगालियों को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहाँगीर के कान उनके विरुद्ध भरने में कोई कसर न उठा रक्खी। लेकिन इंग्लैंड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो सन् १६१५ ई० में किसी तरह जहाँगीर के दरबार में जा पहुँचा। उसने सम्राट से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर लीं और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की नींव जमा दी। इसी बीच अंग्रेज़ी बेड़े ने भारतीय समुद्र में पुर्तगाल के बेड़े को हरा दिया। इंग्लैंड का सितारा आसमान में ऊँचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डचों और अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों को पूर्वी समुद्रों से बाहर निकाल दिया और तुम्हें याद होगा कि मलक्का का बड़ा बन्दरगाह भी सन् १६४१ ई० में डच लोगों के हाथ आगया था। सन् १६२९ ई० में हुगली में शाहजहाँ और पुर्तगालियों के बीच युद्ध

हुआ। पुर्तगाली बाक़ायदा ग़ुलामों का व्यापार करते थे और लोगों को जबरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगालियों ने बड़ी बहादुरी से रक्षा की लेकिन मुग़लों ने हुगली पर क़ब्ज़ा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धों से थक गया। उसने साम्राज्य की होड़ से पीछा छुड़ाया; लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका क़ब्ज़ा है।

इसी दौरान में अंग्रेज़ों ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरों में, कारख़ाने खोल दिये। मद्रास की नींव भी उन्होंने ही सन् १६३९ ई० में डाली। सन् १६६२ ई० में इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन ऑफ ब्रैगेन्ज़ा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगज़ेब के राजकाल में हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय के नशे में चूर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता जा रहा है, सन् १६८५ ई० में भारत में ज़बरदस्ती अपना अधिकार बढ़ाने की कोशिश की। लेकिन उसे नुकसान उठाना पड़ा। इंग्लैंड से लड़ाई के जहाज़ दौड़े हुए आये और औरंगज़ेब के राज्य पर पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गये। लेकिन अभी मुग़लों में उनको बुरी तरह हरा देने की ताक़त थी। अंग्रेज़ों ने इससे शिक्षा ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान होगये। औरंगज़ेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुग़ल-शक्ति स्पष्ट ही छिन्न-भिन्न होरही थी, वे बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। सन् १६९० ई० में जॉब चार्नोक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनों शहरों की स्थापना अंग्रेज़ों के हाथों से हुई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेज़ों के ही साहसपूर्ण प्रयत्नों से बढ़े।

अब फ़्रांस ने भी भारत में कदम रक्खा। एक फ़्रांसीसी व्यापारी कम्पनी बनी और सन् १६६८ ई० में उसने सूरत में और कुछ अन्य जगहों में कारख़ाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर ख़रीद लिया जो पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

सन् १७०७ ई० में करीब नब्बे वर्ष की बड़ी उम्र में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई। उसकी छोड़ी हुई शानदार सम्पत्ति यानी भारत को हथियाने के लिए संघर्ष का सूत्रपात हुआ। एक तरफ़ ख़ुद उसी की अयोग्य सन्तान और उसके कुछ बड़े-बड़े सूबेदार थे; उधर मराठे और सिक्ख थे; दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दाँत लगाये हुए थे; और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी थे। बेचारे भारतवासियों की चिन्ता किसे होती?

: ९१ :

सिक्ख और मराठे

१२ सितम्बर, १९३२

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों में भारत एक अजीब पैबन्दकारी का नमूना बना रहा। सैरबीन की तरह उसके दृश्य हर घड़ी बदलते रहते थे पर वे कोई बहुत सुन्दर नहीं थे। ऐसा ज़माना लेभग्गुओं के लिए था ऐसे लोगों के लिए बड़ा उपयुक्त होता है, जो साधनों और उपायों की परवाह नहीं करते और मौके का फ़ायदा उठाने में न तो डरते हैं और न भले-बुरे का कुछ विचार करते हैं। इसलिए सारे भारत में इस तरह के मौक़ा-परस्त पैदा होगये। इन मौक़ा-परस्तों में एक तो ख़ुद भारत के ही रहने वाले थे, दूसरे वे थे जो उत्तर-पश्चिम की सीमाओं से आ रहे थे और तीसरे वे लोग थे जो अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों की तरह समुद्र पार से आये। हरेक आदमी या गिरोह अपना-अपना उल्लू सीधा करना चाहता था और अन्य सबों को भट्टी में झोंकने के लिए तैयार था। कभी-कभी दो मिलकर तीसरे को ख़तम कर देते थे लेकिन बाद में ये दोनों आपस में ही लड़ मरते थे। रियासतें हड़पने के लिए, जल्दी से मालदार बनने के लिए और लूट-मार करने के लिए जी-तोड़ कोशिशें की जा रही थीं। लूट-मार ज़्यादातर खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी के

साथ होती थी; लेकिन कभी-कभी इस पर व्यापार का पतला परदा भी डाल दिया जाता था। और इस सब के पीछे था खिसकता हुआ मुग़ल साम्राज्य, जो 'चेशायर की बिल्ली'[1] की तरह ऐसा अदृश्य हो रहा था कि उसकी मुस्कराहट भी बाक़ी न रही थी। बेचारे नाम-मात्र के बादशाह को या तो पेन्शन दे दी जाती थी या वह दूसरों का क़ैदी हो जाता था।

लेकिन ये सब उथल-पुथल और हलचल और तोड़-मरोड़ उस क्रान्ति के बाहरी लक्षण थे जो सतह के नीचे हो रही थी। पुरानी आर्थिक व्यवस्था टूट रही थी, सामन्तशाही के दिन पूरे हो गये थे और वह भी खतम हो रही थी। देश मे जो नई हालतें पैदा हो रही थी, यह उनके अनुकूल न थी। ये ही सिलसिला हम योरप में देख चुके है और व्यापारी वर्ग की तरक्की भी देख चुके हैं, जिसे स्वेच्छाचारी शासको ने रोक दिया था। सिर्फ़ इंग्लैण्ड में, और कुछ हद तक हॉलैण्ड में, बादशाहो को दबा दिया गया था। जिस समय औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा उस समय इंग्लैण्ड में वह अल्प-कालीन प्रजातन्त्र शासन था जो चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद बना। और औरंगज़ेब के ही राजकाल में जेम्स द्वितीय के भाग जाने से और सन् १६६८ ई० में पार्लमेण्ट की विजय से इंग्लैण्ड की क्रान्ति पूरी हुई। इंग्लैण्ड में जो पार्लमेण्ट-जैसी एक आधी लोक-सत्तावाली कौंसिल थी उससे इस संघर्ष में बहुत मदद मिली। वह एक ऐसी चीज़ थी जो सामन्त सरदारो के और बाद में बादशाह के खिलाफ़ खड़ी की जा सकती थी।

योरप के बहुत-से दूसरे देशों में और ही तरह की हालतें थी। फ़्रांस मे अभी तक महान् सम्राट चौदहवाँ लुई था जो औरंगज़ेब के लम्बे राजकाल भर मे उसका समकालीन रहा और उससे भी आठ वर्ष बाद मरा। वहाँ करीब-क़रीब अठारहवी सदी के अन्त तक स्वेच्छाचारी शासन जारी रहा जब कि फ्रांस की इतिहास-प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति के रूप में जबरदस्त विस्फोट हुआ। जर्मनी मे, जैसा कि हम देख चुके है, सत्रहवी सदी का ज़माना बडा भयंकर था। इसी सदी मे 'तीस साल का युद्ध' हुआ जिसने देश के टुकड़े-टुकड़े करके उसका सत्यानाश कर दिया।

अठारहवी सदी मे भारत की हालत का मुकाबला कुछ-कुछ जर्मनी की उस हालत से किया जा सकता है जो वहाँ तीस साल के युद्ध के ज़माने मे थी। लेकिन यह मुकाबला ज्यादा आगे नही बढ़ाया जा सकता। दोनो देशों मे आर्थिक ढाचा टूट रहा था और पुराने सामन्त वर्ग के लिए कोई जगह न रही थी। हालाँकि भारत में सामन्तशाही आखिरी सासें ले रही थी लेकिन उसका अन्त बहुत दिनों तक नही हुआ। और क़रीब-क़रीब नष्ट होने पर भी उसका ऊपरी रूप बना ही रहा। असल में आज दिन भी भारत में और योरप के कुछ हिस्सो में सामन्तशाही के बहुत से पुराने निशान बाक़ी है।

मुगल साम्राज्य इन्ही आर्थिक परिवर्त्तनो के कारण भंग हुआ लेकिन इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर अधिकार छीनने के लिए कोई मध्यमवर्ग मौजूद न था। इंग्लैण्ड की तरह इन वर्गों का प्रतिनिधित्व करने-वाला कोई संगठन या कौंसिल भी न थी। हद दरजे के क्रूर शासन ने आम लोगो को बहुत-कुछ चापलूस बना दिया था और स्वतन्त्रता की जो कुछ भी पुरानी भावनाए थी वे क़रीब-क़रीब विस्मृत हो चुकी थी। लेकिन, जैसाकि आगे चलकर इसी पत्र में ज़िक्र किया जायगा, कुछ-कुछ सामन्त वर्गने, कुछ-कुछ मध्यमवर्ग ने और कुछ-कुछ किसानो ने अधिकार छीनने की कोशिशें कीं और इन में से कुछ कोशिशें सफलता के नज़दीक भी पहुँच गईं। ध्यान देने की खास बात यह है कि सामंतशाही के अन्त और सत्ता ग्रहण करने योग्य मध्यमवर्ग के विकास के बीच मालूम होता है, अन्तर पड गया। जब इस तरह का अन्तर पड जाता है तो ज़रूर गड़-बड़ और उथल-पुथल होती हैं, जैसा कि जर्मनी में हुआ। यही हाल भारत में भी हुआ। छोटे-मोटे बादशाह और राजा देश पर अपना-अपना प्रभुत्व जमाने के लिए लडने लगे लेकिन वे सब एक सड़ी हुई व्यवस्था के प्रतिनिधि थे इसलिए उनकी नीव मज़बूत न थी। उनको एक नये ही वर्ग के लोगो से लड़ना पड़ा जो इंग्लैण्ड के मध्यमवर्ग के प्रतिनिधि थे और उन्ही दिनों अपने देश में विजय प्राप्त कर चुके थे। यह अंग्रेज़ी मध्यम वर्ग सामन्त वर्ग से ऊँची सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक था। वह उन नई परिस्थितियों के अनुकूल था जो संसार में पैदा हो रही थी; उसका संगठन ज्यादा अच्छा और कारगर था; उसके पास ज्यादा अच्छे हथि-

---

[1] 'एलिस इन दि वंडरलैंड' नाम की कहानी की पुस्तक में बयान की हुई एक कल्पित बिल्ली जो सदा मुस्कराती रहती थी।

यार और औज़ार थे जिनके ज़रिये वह अधिक कारगर तरीकों से लड़ सकता था; और समुद्र पर भी उसका अधिकार था। भारत के सामन्ती राजाओं का इस नई शक्ति के मुकाबले में ठहरना असम्भव था और वे एक-एक करके खतम होते गये।

इस पत्र की यह भूमिका काफ़ी लम्बी हो गई। अब हमको ज़रा पीछे चलना चाहिए। औरंगज़ेब के शासन के पिछले दिनों में जनता के जो विद्रोह हुए और हिन्दुओं में धार्मिक राष्ट्रीयता का पुनर्जागरण हुआ उनका ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्र में भी कर चुका हूँ। अब मैं इस बारे में कुछ और बतलाऊंगा। मुग़ल साम्राज्य के अलग-अलग हिस्सों में कुछ-कुछ धार्मिक रूपवाले सार्वजनिक आन्दोलन शुरू होते दिखलाई पड़ने लगे थे। कुछ समय तक तो ये आन्दोलन शान्तिमय रहे; राजनीति से इनका कोई सम्बन्ध न था। हिन्दी, मराठी, पंजाबी, वग़ैरा देशी भाषाओं में गीत और धार्मिक भजन बन जिन का प्रचार भी खूब हुआ। इन गीतों और भजनों से जनता में जागृति पैदा हो गई। लोकप्रिय धर्मोपदेशकों के पीछे बहुत से धार्मिक सम्प्रदाय बन गये। आर्थिक परस्थितियों के दबाव ने जल्द ही इन सम्प्रदायों का ध्यान राजनैतिक सवालों की तरफ़ खींचा; शासक वर्ग यानी मुग़ल साम्राज्य से संघर्ष होने लगा; नतीजा यह हुआ कि इन सम्प्रदायों पर दमन हुआ। इस दमन ने शान्तिमय धार्मिक सम्प्रदायों को सैनिक बिरादरी के रूप में बदल दिया। सिक्खों और अन्य कई सम्प्रदायों का विकास इसी तरह हुआ। मराठों का इतिहास ज्यादा पेचीदा है लेकिन वहाँ भी यही दिखलाई पड़ता है कि धर्म और राष्ट्रीयता ने मिलकर मुग़लों के खिलाफ़ तलवार उठाई। मुगल साम्राज्य का नाश अंग्रेज़ों के हाथों से नहीं हुआ बल्कि इन धार्मिक राष्ट्रीय आन्दोलन और खासकर मराठों की वजह से हुआ। इन आन्दोलनों को औरंगज़ेब की असहिष्णु नीति से क़ुदरती तौर पर बल मिला। यह भी सम्भव है कि अपने शासन के विरुद्ध इस बढ़ती हुई धार्मिक जागृति ने औरंगज़ेब को और भी कट्टर और असहिष्णु बना दिया हो।

सन् १६६९ ई० में ही मथुरा के जाट किसानों ने विद्रोह कर दिया। बार-बार उनको दबाया गया लेकिन वे तीस साल से ऊपर तक, यानी औरंगज़ेब की मृत्यु तक, बार-बार सिर उठाते रहे। याद रहे कि मथुरा आगरे के बहुत नज़दीक है, इसलिए ये विद्रोह राजधानी के पास ही हुए थे। दूसरा विद्रोह सतनामियों ने किया जो मामूली लोगों का एक हिन्दू सम्प्रदाय था। इसलिए यह भी ग़रीब आदमियों का विद्रोह था और अमीरों, हाकिमों, वग़ैरा की बगावत से बिलकुल भिन्न था। उस समय का एक मुगल अमीर इनके बारे में घृणा से लिखता है कि यह "खून के प्यासे पाजी बागियों का गिरोह था जिसमें सुनार, बढ़ई, भंगी, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल थे।" उसकी राय में ऐसे 'नीच लोगों' को अपने से ऊँचे लोगों के विरुद्ध विद्रोह करने में शर्म आनी चाहिए थी।

अब हम सिक्खों की तरफ़ आते हैं और उनके इतिहास का सिलसिला कुछ समय पहले से शुरू करेंगे। तुम्हें याद होगा कि मैंने गुरु नानक का ज़िक्र किया था। इनकी मृत्यु बाबर के भारत में आने के कुछ ही साल बाद होगई। वह उन लोगों में से थे जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम को एक ही तख्ते पर लाने की कोशिश की। इनके बाद तीन 'गुरु' और हुए जो इन्हीं की तरह शान्तिप्रिय थे और सिर्फ़ धार्मिक बातों में ही दिलचस्पी रखते थे। अकबर ने चौथे गुरु को अमृतसर के तालाब और सुनहरे मन्दिर के लिए ज़मीन दी थी। तबसे अमृतसर सिक्ख धर्म का केन्द्र बन गया है।

इसके बाद पाँचवे गुरु अर्जुनसिंह हुए जिन्होंने ग्रन्थ साहब का संकलन किया, जो वाणियों और भजनों का संग्रह है और सिक्खों का पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। एक राजनैतिक अपराध के लिए जहाँगीर ने अर्जुनसिंह को यन्त्रणाएं देकर मरवा डाला। सिक्खों के इतिहास की धड़ी बस यही से बदल गई। गुरू के साथ अन्याय और बेरहमी के इस बर्ताव ने इनमें रोष भर दिया और उन्होंने तलवारें उठालीं। छठवें गुरु हरगोविंद के समय में वे एक सैनिक बिरादरी बन गये और तब से उनकी राज-शक्ति के साथ अक्सर मुठ-भेड़ें होने लगी। गुरु हरगोविंद खुद दस साल तक जहाँगीर की कैद में रहे। नवें गुरु तेग़बहादुर औरंगज़ेब के राज-काल में हुए। औरंगज़ेब ने इनको इस्लाम कबूल करने का हुक्म दिया और इन्कार करने पर इनको क़त्ल करवा डाला। दसवें और आख़िरी गुरु गोविंदसिंह थे। उन्होंने सिक्खों को एक बलशाली सैनिक जाति बना दिया, जिसका मुख्य उद्देश्य दिल्ली के बादशाह का विरोध करना था। ये औरंगज़ेब की मृत्यु

के एक साल बाद मरे। इनके बाद से अबतक कोई गुरु न हुआ। कहते हैं कि गुरु के अधिकार अब सारी सिक्ख जाति में हैं, जो 'खालसा' यानी 'स्वीकृत' कहलाती है।

औरंगज़ेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिक्खों का विद्रोह हुआ। इसे तो दबा दिया गया लेकिन सिक्ख लोग अपना बल बढ़ाते रहे और पंजाब में अपनी स्थिति को मजबूत बनाते रहे। आगे चलकर, इस सदी के अन्त में, पंजाब में रणजीतसिंह के अधीन एक सिक्ख रियासत पैदा होनेवाली थी।

ये सब बग़ावतें तो दिक़्क़त में डालने वाली थी ही, पर मुग़ल साम्राज्य को असली ख़तरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से था। शाहजहाँ के राज्य में ही शाहजी भोंसले नाम के एक मराठा सरदार ने सर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत में और बाद में बीजापुर रियासत में हाकिम रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुग़ल साम्राज्य को थर्रा देने वाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म सन् १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू करदी और पूना के पास पहला क़िला जीत लिया। वह एक वीर सेना-नायक, छापामारों का योग्य नेता और जोखिम उठाने वाला था। उसने बहादुर और मज़बूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुतसे क़िलों पर कब्ज़ा कर लिया और औरंगज़ेब के सेनापतियों को खूब परेशान किया। सन् १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहाँ अंग्रेज़ों का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगज़ेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वतन्त्र राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो इसमें उसने अपने गौरव और मान की हानि महसूस की। उसे वहाँ क़ैद कर लिया गया लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगज़ेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड़ दी और दक्षिण के मुग़ल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी रक्षा के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ', यानी लगान का चौथा अंश, थी जिसे मराठे लोग जहाँ जाते वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की ताक़त तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमज़ोर होता गया। सन् १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़े ठाठ-बाट के साथ राजसिंहासन ग्रहण किया। सन् १६८० ई० में, उसकी मृत्यु तक वह बराबर विजय पर विजय प्राप्त करता रहा।

तुम्हें मराठा देश के केन्द्र पूना शहर में रहते कुछ समय हो गया है और तुम्हें मालूम हो गया होगा कि वहाँ के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते हैं और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का ज़िक्र मैं अभी कर चुका हूँ, उसका यह प्रतीक था। आर्थिक संकट और आम जनता की दुर्दशा ने ज़मीन तैयार कर दी थी; और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठी सन्त कवियों ने अपनी कविता और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठा लोगों को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय उनका नेतृत्व करके विजय प्राप्त कराने वाला एक तेजस्वी सेनानी पैदा हो गया।

शिवाजी के पुत्र सभाजी को मुग़लों ने यंत्रणाएं देकर मरवा डाला, लेकिन कुछ धक्कों के बाद मराठों की ताक़त फिर बढ़ने लगी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य हवा में ग़ायब होने लगा। सारे हाकिम राजधानी से अपना ताल्लुक़ तोड़कर स्वतन्त्र बन बैठे। बंगाल अलग हो गया। यही हाल अवध और रुहेलखण्ड का हुआ। दक्षिण में वज़ीर आसफ़ज़ाह ने एक राज्य क़ायम किया, जो आजकल रियासत हैदराबाद कहलाता है। मौजूदा निज़ाम आसफ़ज़ाह का वंशज है! औरंगज़ेब के मरने के बाद सत्रह वर्ष के भीतर ही साम्राज्य क़रीब-क़रीब ख़तम हो गया। लेकिन दिल्ली और आगरा में, बिना साम्राज्य के, नाममात्र के कई बादशाह एक के बाद एक गद्दी पर बैठते रहे।

जैसे-जैसे साम्राज्य कमज़ोर हुआ वैसे-ही-वैसे मराठों की ताक़त बढ़ती गई। उनका प्रधान मंत्री, जो पेशवा कहलाता था, राजा पर हावी होकर असली सत्ताधारी बन बैठा। पेशवाओं की गद्दी, जापान के शोगनों की तरह, पुश्तैनी मानी जाने लगी और राजा पीछे ढकेल दिया गया। दिल्ली का सम्राट इतना कमज़ोर हो गया कि उसने सारे दक्षिण में चौथ वसूल करने के मराठों के अधिकार को मंज़ूर कर लिया। पेशवा को इतने पर भी संतोष न हुआ और उसने गुजरात, मालवा और मध्य भारत पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। सन् १७३७ ई० में उसकी फ़ौजें ठेठ दिल्ली के फाटक पर जा पहुँचीं। ऐसा मालूम होता था कि भारत पर सिर्फ़ मराठों का ही अधिकार होनेवाला है। सारे देश में उनकी धाक थी। लेकिन सन् १७३९

ई० में उत्तर-पश्चिम की तरफ़ से अचानक एक हमला हुआ जिसने ताक़त की तराजू का पलड़ा उलट दिया और उत्तर भारत के नक़्शे को ही बदल दिया।

: ९२ :

भारत में अपने प्रतियोगियों पर अंग्रेज़ों की विजय

१३ सितम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि दिल्ली के मुग़ल साम्राज्य की हालत बहुत खराब थी। असल में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्य के लिहाज से तो उसका कोई अस्तित्व ही न था। लेकिन दिल्ली और उत्तरी भारत का इससे भी अधिक पतन होनेवाला था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, भारत में उन दिनों ले-भग्गुओं का बोलबाला था। उत्तर-पश्चिम से एक लुटेरों के राजा ने अचानक आकर धावा बोल दिया और बहुत-सी खून-खराबी और लूट-मार करके वह बेशुमार दौलत लेकर चम्पत हो गया। यह नादिरशाह था जो ईरान का शाह बन बैठा था। वह शाहजहाँ के बनवाये हुए मशहूर तख्त ताऊस को भी साथ ले गया। यह भयंकर हमला सन् १७३९ ई० में हुआ और इसने उत्तर भारत को पस्त कर दिया। नादिरशाह ने अपने राज्य की सरहद ठेठ सिन्ध नदी तक बढ़ाली। इस तरह अफ़ग़ानिस्तान भारत से अलग होगया। महाभारत और गंधार के ज़माने से लगाकर भारत के सारे इतिहास में अफ़ग़ानिस्तान का भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। लेकिन अब वह कट कर अलग जा पड़ा।

सत्रह वर्ष के भीतर ही दिल्ली पर एक और धावामार लुटेरा चढ़कर आया। यह अहमदशाह दुर्रानी था जो अफ़ग़ानिस्तान में नादिरशाह का उत्तराधिकारी था। लेकिन इन हमलों के होते हुए भी मराठों की ताक़त लगातार बढ़ती ही गई और सन् १७५८ ई० में पंजाब पर भी उनका कब्ज़ा हो गया। उन्होंने इन सब जीते हुए हिस्सों पर कोई संगठित सरकार क़ायम करने की कोशिश नहीं की। वे तो अपनी मशहूर 'चौथ' वसूल कर लेते थे और राज्य का भार वहीं के लोगों पर छोड़ देते थे। ऐसे उनको एक तरह से दिल्ली का सारा साम्राज्य विरासत में मिल गया। लेकिन इसके बाद ही एक बड़ी रुकावट सामने आई। उत्तर पश्चिम से दुर्रानी फिर चढ़ आया और उसने सन् १७६१ ई० में पानीपत के पुराने युद्ध-क्षेत्र में औरों की मदद से मराठों की एक बड़ी भारी फ़ौज को बुरी तरह हराया। अब दुर्रानी तमाम उत्तर भारत का मालिक बन बैठा और उसे रोकने वाली कोई ताकत न थी। लेकिन विजय की इस घड़ी में उसे खुद अपने ही आदमियों में झगड़े और विद्रोह का सामना करना पड़ा और वह अपने देश को लौट गया।

कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होता था कि मराठों के प्रभुत्व के दिन पूरे हो गये और उनकी कोई गिनती न रही। जो बड़ा फल वे प्राप्त करना चाहते थे वह उनके हाथ से जाता रहा। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे अपनी हालत फिर सुधार ली और वे एक बार फिर भारत में सबसे ज़बर्दस्त अन्दरूनी ताक़त बन गये। मगर इसी अर्से में, जैसा कि मैं आगे बताऊँगा, इससे भी ज़्यादा ज़बर्दस्त दूसरी शक्तियाँ प्रकट हुईं और भारत के भाग्य का निबटारा कुछ ज़माने तक के लिए हो गया। इसी समय में कई मराठे सरदार पैदा हो गये, जो पेशवा के मातहत समझे जाते थे। इनमें सबसे प्रमुख ग्वालियर का सिन्धिया था; बड़ौदा का गायकवाड़ और इन्दौर का होल्कर भी इन्हीं में से थे।

अब हमें अन्य घटनाओं पर विचार करना चाहिए जिनका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। दक्षिण भारत में इस ज़माने की प्रमुख घटना अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों का संघर्ष है। अठारहवीं सदी में योरप में इंग्लैंड और फ़्रांस की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि भारत में भी एक दूसरे से लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी योरप में दोनों देशों में बाक़ायदा सुलह होने पर भी भारत में ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ़ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करने वाले ले-भग्गू थे, जिनकी सब से बड़ी आकांक्षा थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता स्वाभाविक थी। फ़्रांसीसियों में उस

समय सब से जोरदार आदमी डुप्ले था और अंग्रेजों में क्लाइव। डुप्ले ने दो रियासतों के आपसी झगड़ों में दखल देने का फ़ायदेमन्द खेल शुरू किया; पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर दे देता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ्रांसिसियों का प्रभाव बढ़ने लगा; लेकिन अंग्रेजों ने भी बहुत जल्दी उसके तरीक़ों को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों की तरह दोनों गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक़्त ऐसी गड़बड़ें काफ़ी मिल भी जाती थीं। दक्षिण में जब कभी उत्तराधिकार के बारे में झगड़ा होता तो शायद अंग्रेज एक दावेदार की ओर फ़्रांसीसी दूसरे की तरफ़दारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (सन् १७४६–१७६१ ई०) के बाद इग्लैण्ड ने फ़ास पर विजय पाई। भारत में अंग्रेज दुस्साहसियों को अपने देश की पूरी हिमायत थी; लेकिन डुप्ले और उसके साथियों को फ़ास से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली। यह ताज्जुब की बात नहीं है। भारत में रहने वाले अंग्रेजों की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट-इंडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे और वे पार्लमेण्ट और सरकार पर प्रभाव डाल सकते थे; लेकिन फ़्रांसीसियों के ऊपर उस वक़्त पन्द्रहवाँ लुई (महान् सम्राट् चौदहवें लुई का पोता और उत्तराधिकारी) था, जो मजे के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेजों के प्रभुत्व ने भी बहुत मदद पहुंचाई। अंग्रेज और फ़ासीसी दोनों ही भारतीय सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फौजी तालीम देते थे, और चूंकि इन सिपाहियों के पास देशी फ़ौजों से अच्छे हथियार होते थे और इनका अनुशासन भी उनसे अच्छा होता था, इसलिए इनकी बड़ी माँग रहती थी।

बस, अंग्रेजों ने भारत में फ़ासीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पांडिचरी के फ़ांसीसी शहरों को बिलकुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादी ऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान साबित न बचा। इस समय से फ़ासीसियों का भारत की रंगभूमि से लोप होना जारी हो गया। हालांकि बाद में उन्हें पाँडिचरी और चन्द्रनगर फिर मिल गये और आज भी उनके कब्जे में हैं, लेकिन उनका महत्व कुछ नहीं है।

इस जमाने में अंग्रेजों और फ़ांसीसियों की युद्ध-भूमि सिर्फ़ भारत तक ही सीमित न थी। योरप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लडे। कनाडा में भी अंग्रेजों की जीत हुई। लेकिन थोड़े दिन बाद ही इग्लैण्ड अमरीका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ़ास ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अंग्रेजों से अपना बदला चुकाया। लेकिन इन सब बातों के बारे में हम आगे के किसी पत्र में विस्तार के साथ विचार करेंगे।

फ़ासीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेजों के रास्ते में और क्या रुकावटें रह गई थीं? पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निज़ाम भी था लेकिन उसकी ज्यादा बिसात नहीं थी। हाँ, दक्षिण में एक नया और ताकतवर प्रतिद्वन्दी हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बंगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिलकुल निकम्मे आदमी के क़ब्जे में था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, एक ख़याल ही ख़याल रह गया था। लेकिन काफी मजेदार बात यह है कि सन् १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार की छाया तक मिटा दी थी, अंग्रेज लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के चिन्ह-रूप विनम्रता से नजराने भेंट करते रहे। तुम्हें याद होगा कि औरंगजेब के समय में एक बार बंगाल में अंग्रेजों ने सिर उठाने की कोशिश की थी। लेकिन वे बुरी तरह परास्त हुए थे और इस पराजय ने उनका दिमाग़ इतना ठंडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालाँकि उत्तर की हालत तो मानों किसी दिलेर आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नाम का अंग्रेज, जिसकी उसके देश-वासी एक महान् साम्राज्य-निर्माता के रूप में प्रशंसा करते हैं, ऐसा ही हौसलेवाला आदमी था। अपने व्यक्तित्व और अपने कार्यों से वह इस बात का उदाहरण पेश करता है कि साम्राज्य किस तरह निर्माण किये जाते हैं। वह बड़ा दिलेर, दुस्साहसी और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाजी और धोखेबाजी से भी नहीं चूकता था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अंग्रेजों की बहुत-सी कार्रवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़ कर आया और उसने कलकत्ते पर क़ब्जा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कथित दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यों बतलाया जाता है कि नवाब के हाकिमों ने बहुत-से अंग्रेजों को रात भर एक

छोटी-सी दम घोटने वाली कोठरी में बन्द कर दिया और उनमें बहुत-से दम घुटकर मर गये। यह हरकत निस्सन्देह जंगली और बीभत्स है, लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के कथन पर निर्भर है जो ज्यादा विश्वास के योग्य नहीं माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगों का ख़याल है कि यह सारा क़िस्सा ज्यादातर झूठा है और कम से कम अत्युक्तिपूर्ण तो जरूर है।

नवाब ने कलकत्ते पर क़ब्ज़ा करके जो कामयाबी हासिल की उसका बदला क्लाइव ने ले लिया। लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वज़ीर मीरजाफर को देश-द्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज़, जिसका क़िस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढंग से काम किया। जालसाज़ी और धोखेबाज़ी के ज़रिये रास्ता साफ करके क्लाइव ने सन् १७५७ ई० में नवाब को पलासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयाँ हुआ करती हैं उनके मुकाबले में यह लड़ाई छोटी थी, और इसे तो क्लाइव ने अमल में अपनी साजिशों से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही, क़रीब-क़रीब जीत लिया था। लेकिन पलासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल के भाग्य का निपटारा कर दिया, और भारत में ब्रिटिश राज्य की शुरुआत अक्सर पलासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाज़ी की इस घृणित नींव पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण हुआ। लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य निर्माताओं का क़रीब-क़रीब यही ढंग होता है।

भाग्यचक्र के इस अचानक परिवर्त्तन ने बंगाल के दुस्साहसी और लालची अँग्रेजों का दिमाग़ आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकने वाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल के खज़ाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल खाली कर डाला। क्लाइव ने क़रीब २५ लाख रुपये नक़द खुद अपनी नज़र किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बड़ी क़ीमती जागीर भी हड़प कर ली। बाकी के सब अँग्रेज लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत के लिए बड़ी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और अविवेक तो सब मर्यादाओं को पार कर गया। अँग्रेज़ लोग बंगाल के नवाब-निर्माता बन गए और अपनी मर्ज़ी के मुआफ़िक नवाबों को बदलने लगे। हरेक परिवर्त्तन के साथ घूस और भारी-भारी नज़राने चलते थे। शासन की जिम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था; उनका काम तो था जल्दी से जल्दी धनवान बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, सन् १७६४ ई० में, अँग्रेजों ने बक्सर में एक और लड़ाई जीती जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाममात्र का बादशाह भी उनकी शरण में आ गया। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अँग्रेजों का अटल प्रभुत्व हो गया। देश में जो अपार धन वे लूट रहे थे उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीक़े निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन ज़कातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अँग्रेजों की यह पहली चोट थी।

उत्तर भारत में अँग्रेजों की स्थिति अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत तो उनके हाथ में थी लेकिन जिम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट-इंडिया कंपनी के व्यापारी लुटेरों को यह पता लगाने की ज़रूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, बेईमानी के व्यापार, और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फ़र्क है। ये वे दिन थे जब अँग्रेज लोग भारत से मालामाल होकर इंग्लैण्ड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते थे। अगर तुमने थैकरे का 'वैनिटीफ़ेयर'[1] पढ़ा है तो उसमें आये हुए ऐसे ही एक घमंडी आदमी का तुमको ख़याल होगा।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी, और अंग्रेज़ों की हड़पने की नीति, इन सब का नतीजा यह हुआ कि सन् १७७० ई० में बंगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन प्रान्तों की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी खतम हो गई। इस दिल दहलाने वाली संख्या का

---

[1] वैनिटीफ़ेयर—थैकरे का लिखा हुआ अँग्रेज़ी का एक मशहूर उपन्यास। थैकरे अँग्रेज़ी भाषा का मशहूर उपन्यासकार हो गया है।

ख़याल तो करो ! कितने लाख आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर गये ! प्रदेश पर प्रदेश उजाड़ हो गये और वहाँ जंगल पैदा हो गये जिन्होंने उपजाऊ खेतों और गाँवों को ढक दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसी ने कुछ न किया। नवाब के पास न तो ताक़त थी, न सत्ता और न प्रवृत्ति। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ताक़त और सत्ता तो थी लेकिन वे कोई ज़िम्मेदारी या सहायता की प्रवृत्ति महसूस नहीं करते थे। उनका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुज़ारी वसूल करना था और उन्होंने यह काम अपनी जेबें भरने के लिए इतनी क़ाबलियत और ख़ूबी के साथ किया कि तुम्हें ताज्जुब होगा कि भयंकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद भी उन्होंने बचे हुए लोगों से मालगुज़ारी की पूरी रकम वसूल कर ली ! असल में उन्होंने तो मालगुज़ारी से भी ज्यादा वसूली करली और सरकारी रिपोर्ट के अनुसार यह काम उन्होंने 'ज़ोर-ज़बर्दस्ती के साथ' किया। महान् विपत्ति से बचे हुए भूख से अधमरे और कम्बख्त लोगों से जो यह ज़बरदस्ती के साथ और अत्याचारपूर्ण वसूली की गई उसकी अमानुषिकता को पूरी तरह ख़याल में लाना भी मुश्किल है।

बंगाल में और फ़्रांसीसियों पर विजय-प्राप्ति पर भी दक्षिण में अंग्रेज़ों को बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। अन्तिम विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और अपमानित होना पड़ा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक सुयोग्य और ख़ूंख़ार सेनानायक था और उसने अंग्रेज़ी फ़ौजों को बार-बार हराया। सन् १७६९ ई० में उसने ठेठ मद्रास के क़िले के नीचे अपने माफ़िक़ सन्धि की शर्तें लिखवा ली। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेज़ों की राह का काँटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर के दो युद्ध और हुए तथा कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अंग्रेज़ों की छत्रछाया में राजा की गद्दी पर बिठलाया गया।

सन् १७८२ ई० मे दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेज़ों को हराया। उत्तर मे ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट उसकी मुट्ठी में था।

इसी अर्से में इंग्लैण्ड से वॉरन हेस्टिंग्स भेजा गया और वह यहाँ का पहला गवर्नर-जनरल हुआ। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी। हेस्टिंग्स भारत के अंग्रेज़ शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके शासनकाल में भी सरकारी इन्तज़ाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयों से भरा हुआ मशहूर था। हेस्टिंग्स द्वारा बहुत-सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हो चुके है। जब हेस्टिंग्स इंग्लैण्ड लौटा तो भारत के शासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उस पर आरोप लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुकदमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया। इससे पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और उसने तो सचमुच आत्महत्या ही कर ली। इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इन पर मुकदमे चलाकर इंग्लैण्ड ने अपने अन्तःकरण को संतुष्ट कर लिया, लेकिन दिल ही दिल में वह इनकी क़द्र करता था और इनकी नीति से फ़ायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था। क्लाइव और हेस्टिंग्स भले ही निन्दा के पात्र बनें, लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओं के नमूने हैं, और जब तक गुलाम क़ौमों पर ज़बरदस्ती साम्राज्य लादे जायँगे और उनको निचोड़ा जायगा, तब तक ऐसे लोग आगे आवेंगे और क़द्र हासिल करेंगे। शोषण के तरीक़े अलग-अलग युगों में भले ही बदलते रहे लेकिन भावना वही रहती है। ब्रिटिश पार्लमेंट ने क्लाइव की निन्दा भले ही करदी हो, लेकिन इन लोगों ने लंदन के ह्वाइट हाल[1] में इंडिया ऑफ़िस[2] के सामने ही, उसकी एक मूर्ति खड़ी कर रक्खी है; इंडिया ऑफ़िस के भीतर उसकी आत्मा आजतक निवास करती है और भारत में ब्रिटिश नीति को ढालती है।

हेस्टिंग्स ने अंग्रेज़ों के अंगूठे के नीचे कठपुतली के समान भारतीय राजाओं को रखने की नीति शुरू की। भारतीय रंगमंच पर जो सोने में मढ़े हुए और ख़ाली-दिमाग ढेरों महाराजा और नवाब अकड़ते फिर रहे हैं और अपने आपको घृणा का पात्र बना रहे हैं, उसका कुछ-कुछ श्रेय हमें हेस्टिंग्स को देना पड़ेगा।

भारत में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा वैसे ही वैसे मराठों, अफ़ग़ानों, सिक्खों, बर्मियों वग़ैरों

---

[1] ह्वाइट-हाल (White Hall)—लन्दन का वह भाग जिसमें सरकारी दफ़्तर हैं।

[2] इंडिया-हाउस—ब्रिटिश भारत-सचिव का दफ़्तर।

से बहुत से युद्ध हुए। लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली बात यह थी कि हालांकि ये इंग्लैण्ड के फ़ायदेके लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका ख़र्चा भारत के सिर पड़ता था। इग्लैण्ड या इंग्लैण्ड के निवासियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता था। वे तो मजे से फ़ायदा उठाते रहते थे।

याद रहे कि भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी, जो एक व्यापारी कंपनी थी, राज कर रही थी। ब्रिटिश पार्लमेंट का अधिकार बढ़ता जा रहा था, लेकिन भारत का भाग्य मुख्यतया व्यापारी लुटेरो के एक गिरोह के हाथों में था। शासन अधिकांश में व्यापार था और व्यापार अधिकाश में लूट था। इनके बीच में भेद की रेखा बड़ी बारीक थी। कंपनी अपने हिस्सेदारों को हर साल १०० फ़ी सदी, १५० फ़ी सदी और २०० फ़ी सदी से ऊपर जबरदस्त मुनाफ़े बाँटती थी। इसके अलावा भारत में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रक़में बना लेते थे, जैसा कि हम क्लाइव के मामले में देख चुके है। कंपनी के कर्मचारी व्यापारी ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्द बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत में कंपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: ९३ :

चीन का एक महान् मंचू शासक

१५ सितम्बर, १९३२

मै बिलकुल घबरा गया हूँ और मेरी समझ में नही आता कि क्या करूँ। बड़ी भयानक ख़बर यह आई है कि बापू ने अनशन करके प्राण दे देने का इरादा कर लिया है। मेरी छोटी-सी दुनिया, जिसमें उन्होने इतनी बड़ी जगह घेर रक्खी है, थरथरा रही है और टूटकर गिरने को हो रही है और मुझे चारो तरफ़ अधेरा और सुनसान नजर आरहा है। एक साल से ज्यादा हुआ तब मैंने उनको आखरी बार भारत से पश्चिम ले जाने वाले जहाज़ के डेक पर खड़े हुए देखा था और उनकी वह तसवीर रह-रह कर मेरी आंखो के आगे आजाती है। क्या उन्हे अब मै दुबारा नही देखूंगा? जब मुझे शका होगी और नेक सलाह की जरूरत होगी या जब मै मुसीबत और रज मे होऊगा और मुझे प्रेमपूर्ण तसल्ली की जरूरत होगी तब मै किसके पास जाऊगा? जब हमारा प्यारा सरदार, जिसने हमको स्फूर्ति दी है और जो हमारा रहनुमा रहा है, चला जायगा तो हम सब क्या करेगे? हाय! भारत एक बदक़िस्मत देश है जो अपने महान पुरुषो को इस तरह मरने देता है; और भारत के लोग गुलाम है और उनके दिमाग भी गुलामो के से है जो खुद आज़ादी को तो भूल बैठे हैं और जरा-जरा सी न-कुछ बातो पर झगडे-टटे करते रहते है।

मेरी तबियत लिखने को बिलकुल नही कर रही है और मैंने तो पत्रों के इस सिलसिले को खतम तक कर देने का विचार किया है। लेकिन यह एक बेवकूफ़ी की बात होगी। इस कोठरी में पड़ा-पड़ा मै क्या कर सकता हूँ, सिवाय इसके कि पढूं, लिखूं, और विचार करूँ? और जब मै उकता जाता हूँ और परेशान हो जाता हू तो तुम्हारा खयाल करने और तुमको पत्र लिखने से ज्यादा तसल्ली मुझे और किस बात में मिल सकती है? रंज और आँसू इस दुनिया में कोई अच्छे साथी नही है। बुद्ध ने कहा है कि "समुद्र मे जितना पानी है उससे भी ज्यादा आँसू बह चुके है", और यह कमबख्त दुनिया जब तक ठीक-ठिकाने पर आवेगी तब तक न मालूम कितने आँसू और बहाये जायँगे। हमारा कर्त्तव्य अभी तक हमारे सामने पड़ा है। वह बड़ा काम हमको अब भी बुला रहा है, और जब तक वह काम पूरा न हो जाय तब तक हमको या हमारे पीछे आनेवालों को चैन नही मिल सकता। इस लिए मैंने अपने मामूली दिनचर्या को जारी रखने का इरादा कर लिया है और मैं पहले की तरह तुमको पत्र लिखता रहूँगा।

मेरे आखिरी कुछ पत्र भारत के बारे में थे और जो बयान मैंने लिखा है उसका पिछला हिस्सा संतोष देने वाला नही है। भारत चारो खाने चित्त पड़ा था और हरेक लुटेरे और ले-भग्गू का शिकार हो रहा था। पूर्व में उसके महान भाई चीन की हालत इससे बहुत अच्छी थी और अब हमें चीन की तरफ़ ही चलना चाहिए।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुमको मिंग युग के खुशहाल दिनों का हाल लिखा था और यह बतलाया था कि किस तरह उसमें खराबियाँ और फूट घुस गईं और चीन के उत्तरी पड़ौसी मंचुओं ने हमला करके उसे जीत लिया। सन् १६५० ई० में आगे के वर्षों में सारे चीन में मंचू लोगों के कदम मजबूती के साथ जम गये। इस अर्द्ध-विदेशी राजवंश के मातहत चीन बहुत ताक़तवर होगया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई ताक़त लेकर आये, और जहाँ एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहाँ वे अपनी फालतू ताकत को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ अपना साम्राज्य बढ़ाने में खर्च करते थे।

नया राजवंश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ सुयोग्य शासक पैदा करता है और बाद में नालायकों से उसका खातमा हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और निपुण शासक और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। कांग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब यह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ आठ वर्ष की थी। इकसठ वर्षों तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा जो अपने जमाने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसने जो स्थान प्राप्त किया है वह न तो इस वजह से है, और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसकी निराली साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण। वह सन् १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक वह फ्रांस के महान सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन था। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अर्से तक राज्य किया, और रिकार्ड क़ायम करने की इस दौड़ में बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मारली। इन दोनो की तुलना एक दिलचस्प चीज़ है लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचा गिरानेवाली है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी क़र्जों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिलकुल कमजोर बना दिया। धार्मिक मामलो में भी वह असहिष्णु था। कांग-ही कन्फ्यूशियस का पक्का अनुयायी था लेकिन वह दूसरे धर्मों के प्रति उदार था। उसके राज्य मे, और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज्य में, मिंग संस्कृति से कोई छेड़-छाड नहीं की गई। उसका ऊँचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक्की भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे जैसेकि मिंग राजाओं के जमाने मे। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन छपाई का आविष्कार हुआ और तांबे पर खुदाई का काम जेजुइट लोगों से सीखा गया।

मंचू राजाओं की नीतिकुशलता और सफलता का भेद इस बात में था कि वे चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। चीन के विचारों और संस्कृति को अपना कर भी उन्होंने कम सभ्य मंचुओं की शक्ति और क्रियाशीलता को खोया नहीं। इस तरह से कांग-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करने वाला, सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में डूबा हुआ, और साथही कुशल सेनानायक जिसे मुल्क जीतने का जरा ज्यादा शौक था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौकीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाजा तुम उसके साहित्यिक कार्यों में से नीचे लिखी तीन रचनाओं से लगा सकती हो जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख में तैयार की गई थी।

तुम्हें याद होगा कि चीनी भाषा में चिन्ह हैं; शब्द नहीं है। कांग-ही ने चीनी भाषा का एक कोष तैयार करवाया। यह एक जबर्दस्त ग्रंथ था जिसमें चालीस हजार से ज्यादा चिन्ह थे और उनके प्रयोग बतलाने वाले कितने ही वाक्यांश थे। आजतक भी उसकी जोड का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांग-ही के उत्साह ने हमें जो एक और रचना दी, वह एक बडा भारी सचित्र विश्वकोष है जो कई सौ जिल्दों में पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रंथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमें हरेक बात का बयान था, हरेक विषय की विवेचना थी। कांग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रन्थ तांबे के उठाऊ छापों से छापा गया।

जिस तीसरे महत्वपूर्ण ग्रंथ का मैं यहाँ जिक्र करूंगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड़, यानी ऐसा कोष जिसमें शब्दों और पुस्तकों के अंशों का संग्रह और मुक़ाबला किया गया था। यह भी एक असाधारण कार्य था क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन जरूरी था। कवियो, इतिहास-लेखकों और निबन्ध-लेखकों की रचनाओं के पूरे-पूरे उद्धरण इसमें दिये गये थे।

कांग-ही ने और भी कितने ही साहित्यिक काम किये। लेकिन किसी को भी प्रभावित करने के

लिए ये तीन ही काफ़ी हैं। इनमें से किसी की भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय उस बड़ी 'ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के जिसे बनाने में कितने ही विद्वानों ने पचास वर्ष से ज्यादा मेहनत की और जो अभी कुछ वर्ष हुए पूरी हुई है।

कांग-ही ईसाई धर्म और ईसाई मिशनरियों की तरफ काफ़ी झुका हुआ था। वह विदेशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि योरप के लोग बदमाशी करते हैं और उनपर बन्दिश रखने की जरूरत है। उसे यह शक हो गया, जिसके लिए काफ़ी सबूत थे, कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ साजिश कर रहे हैं। इससे उसे ईसाई धर्म के प्रति अपना उदार रुख त्याग देना पड़ा। बाद में कैण्टन के चीनी फ़ौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली उससे उसके संदेह मजबूत हो गये। इस रिपोर्ट में बतलाया गया था कि फ़िलिपाइन और जापान में योरप की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना गहरा ताल्लुक था। इसलिए इस अफसर ने यह सिफ़ारिश की थी कि बाहरी हमलों और विदेशियों की साजिशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई धर्म के प्रचार को बन्द किया जाय।

यह रिपोर्ट सन् १७१७ ई० में पेश की गई थी। पूर्वी देशों में विदेशियों की साजिशों पर और उनकी उन नीयतों पर यह काफ़ी रोशनी डालती है, जिनकी वजह से इन देशों को विदेशी व्यापार और ईसाई धर्म के प्रचार पर पाबन्दी लगानी पड़ी। तुम्हें शायद याद होगा कि जापान में भी ऐसी ही घटना हुई थी जिसके कारण देश को दूसरों के लिए बन्द कर दिया गया था। अक्सर यह कहा जाता है कि चीनी और अन्य लोग पिछड़े हुए और अज्ञान हैं और विदेशियों से नफरत करते हैं और उनकी तिजारत के रास्ते में दिक्कतें पैदा करते हैं। पर हमने इतिहास का जो सिंहावलोकन किया है उससे तो यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि बहुत पुराने ज़माने से भारत, चीन और अन्य देशों के बीच काफी आवागमन होता था। विदेशियों या विदेशी व्यापार से नफ़रत करने का तो कोई सवाल ही न था। सच तो यह है कि बहुत वर्षों तक तो विदेशी मंडियों पर भारत का ही कब्जा रहा। जब विदेशी व्यापारियों के रिसाले खुल्लम-खुल्ला पश्चिमी योरप की ताक़तों के साम्राज्य को बढ़ाने के काम में लाये जाने लगे, तभी जाकर पूर्व में उनको सदेह की नजर से देखा जाने लगा।

कैण्टन के अफसर की रिपोर्ट पर चीन की बड़ी राज्यसभा ने विचार करके उसे मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट काग-ही ने उसके अनुसार कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

अब मैं थोड़ी देर के लिए खास चीन को छोड़कर तुम्हें एशिया के उत्तर की ओर, यानी साइबेरिया, ले जाना चाहता हूँ और यह बतलाना चाहता हूँ कि वहाँ क्या हो रहा था। साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। मैं कह चुका हूँ कि चीन का मंचू साम्राज्य बड़ा सरजोर था। इसमें मंचूरिया तो शामिल था ही, लेकिन यह मंगोलिया और उसके परे तक भी फैला हुआ था। सुनहरे क़बीले के मंगोलों को बाहर निकालकर रूस भी एक मजबूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानों की तरफ बढ़ रहा था। ये दोनों साम्राज्य अब साइबेरिया में आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेजी के साथ कमजोर होकर नष्ट होजाना इतिहास की एक अजीब घटना है। ये लोग, जिनका डंका सारे एशिया और योरप में बजता था और जिन्होंने चंगेजखाँ और उसके वंशजों के मातहत उस वक़्त की दुनिया का ज्यादातर हिस्सा जीत लिया था, अपना नाम तक खो बैठे। तैमूर के ज़माने में कुछ दिनों तक इन्होंने फिर सिर उठाया था लेकिन उसका साम्राज्य उसीके साथ खतम होगया। उसके बाद उसके वंश के कुछ लोग, जो तैमूरिया कहलाते थे, मध्य एशिया में हुकूमत करते रहे और हमको मालूम है कि उनके दरबारों में चित्रकला की एक मशहूर शैली का विकास हुआ। भारत में आने वाला बाबर तैमूरिया था। लेकिन तैमूरिया शासकों के होते हुए भी रूस से लगाकर अपनी जन्मभूमि मंगोलिया तक सारे एशिया में मंगोल जाति गिरकर अपना सारा प्रभाव खो बैठी। उसने ऐसा क्यों किया, यह कोई नहीं बतला सकता। कुछ लोगों की राय है कि आबहवा का इसमें कुछ हाथ है, दूसरे लोगों की दूसरी राय

है। जो कुछ भी हो, आज तो इन पुराने विजेताओं और आक्रमणकारियों पर खुद ही इधर-उधर से हमले हो रहे हैं।

मंगोल साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद क़रीब-क़रीब दो सौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूसवालों ने ज़मीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होंने मिंग सम्राटों से राजनैतिक सम्बन्ध क़ायम करने की कोशिश की लेकिन कामयाब न हुए। थोड़े दिन बाद ही यरमक नाम के एक रूसी डाकू ने क़ज्ज़ाक़ों का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड़ को पार किया और सिबिर के छोटे से राज्य को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना सन् १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ़ लगातार आगे ही बढ़ते गये यहाँ तक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशांत महासागर तक पहुँच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। दोनों में लड़ाई हुई जिसमें रूसवालों की हार हुई। सन् १६८९ ई० में दोनों देशों में नरखिन्स की सन्धि हुई। सरहदें तय कर दी गईं और व्यापार सम्बन्धी समझौता किया गया। योरप के एक देश के साथ चीनवालों की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया लेकिन कारवानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक़्क़ी हुई। उस ज़माने में महान् पीटर रूस का ज़ार था और वह चीन से नज़दीकी सम्बन्ध स्थापित करने का इच्छुक था। उसने काग-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद में चीन के दरबार में एक स्थायी एलची मुकर्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने ज़माने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। शायद मैं किसी पत्र में ज़िक्र कर चुका हूँ कि रोमन सम्राट मार्कस ऑरेलियस एण्टोनियस ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब सन् १६५६ ई० में हालैण्ड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार में पहुँचे तो वहाँ उन्होंने महान् मुगल के एलची देखे। ये ज़रूर शाहजहाँ के भेजे हुए होंगे।

: ६४ :

चीनी सम्राट का अंग्रेज़ बादशाह को पत्र

१६ सितम्बर, १९३२

मालूम होता है कि मंचू सम्राट असाधारण तौर पर लम्बी उम्र वाले होते थे। काग-ही का पोता शियन-लुग चौथा सम्राट हुआ। इसने भी सन् १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अर्से तक, राज्य किया। दूसरी बातों में भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी ख़ास दिलचस्पी दो बातों में थी, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक सब साहित्यिक ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी तफ़सील के साथ इनका सूचीपत्र बनाया गया। इसके लिए सूचीपत्र शब्द मौज़ूं नहीं है क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं वे सब लिखी गईं और साथ ही उन पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गईं। शाही पुस्तकालय का यह बड़ा वर्णनात्मक सूचीपत्र चार हिस्सों में था—कन्फ्यूशियन धर्म-सम्बन्धी, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

इसी ज़माने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियों और नाटकों का विकास हुआ और ये बड़े ऊँचे दर्जे तक आ पहुँचे। यह बात ध्यान देने लायक है कि उन दिनों इंग्लैण्ड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनों और चीनी कला की दूसरी मनोरम चीज़ों की योरप में माँग थी और इनकी तिजारत का तार बंध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मंचू सम्राट के ज़माने में शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के ज़माने में पहुँची थी। अंग्रेज़ी के मशहूर दिनचर्या लिखने वाले सेम्युएल पेपीज़ की डायरी में सन् १६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के

बारे में एक लिखावट है। चाय के व्यापार में बड़ी जबरदस्त तरक़्क़ी हुई और दो सौ वर्ष बाद, सन् १८६० ई० में, अकेले फूचू नाम के चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़ पौंड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरे स्थानों में भी चाय की खेती होने लगी, और जैसा कि तुमको मालूम है, आजकल भारत और लंका में चाय बहुतायत से पैदा होती है।

शियन-लुंग ने मध्य एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर क़ब्ज़ा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, सन् १७९० ई० में, नेपाल के गुरखों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इस पर शियन-लुंग ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी साम्राज्य की मातहत रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर यह विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को पार करना और गुरखों जैसी लड़ाकू जाति को, ख़ास उन्हीके घर में, हरा देना अचम्भे की बात है। सिर्फ़ बाईस वर्ष बाद, सन् १८१४ ई० में, ऐसी घटना हुई कि भारत के अंग्रेज़ों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फौज भेजी लेकिन उसे बड़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय को पार नहीं करना पड़ा था।

शियन-लुंग के शासन के आख़िरी वर्ष यानी सन् १७९६ ई० में, जो साम्राज्य सीधा उसके क़ब्ज़े में था उसमें, मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासतें थी कोरिया, अनाम, स्याम और ब्रह्मदेश। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े ख़र्चीले खेल हैं। इनमें बड़ा भारी ख़र्चा होता है और करों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा ग़रीबों पर ही पड़ता है। उस वक़्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देशभर में राज्य के विरुद्ध गुप्त समितियां कायम हो गईं। इटली की तरह चीन भी गुप्त समितियों के लिए काफी मशहूर रहा है। इनमें से कुछ के नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेतकमल समिति; दैवीन्याय समिति; श्वेत पख समिति; स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ रहा था। इन पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैण्टन तक पैर फैला रक्खे थे, इसलिए पाबन्दियाँ सबसे ज्यादा इसीको अखरती थीं। जैसा कि हम आगे के पत्रों में देखेंगे, यह ज़माना वह था जबकि औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारी जाने वाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैण्ड इसका अगुआ बन रहा था। भाप का एंजिन ईजाद हो चुका था और नये तरीक़ों और मशीनों के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ़ रही थी—ख़ासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था उसका बिकना भी ज़रूरी था, इसलिए नई-नई मण्डियाँ तलाश की जाती थीं। इंग्लैंड बड़ा ख़ुशकिस्मत था कि ठीक इसी वक्त भारत उसके क़ब्ज़े में था जिससे वह यहाँ अपने माल को ज़बरदस्ती बिकवाने का इंतज़ाम कर सकता था, जैसाकि उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए सन् १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत मंडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इंग्लैंड का बादशाह था। शियन-लुंग ने उसको दरबार में मुलाकात के लिए बुलाया और दोनों ओर से नज़राने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इनकार कर दिया। शियन-लुंग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था वह बड़ा मज़ेदार ख़रीता है और मैं उसमें से एक लम्बा हिस्सा यहाँ देता हूँ। उसमें लिखा है :—

"·····ऐ बादशाह, तू बहुत से समुद्रों की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत मंडल भेजा है जो बाइज़्ज़त तेरी अर्ज़ी लेकर आया है····। अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीज़ें भी भेंट में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्ज़ी को पढ़ा है : उसकी लिखावट की दिली भाषा से मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो निहायत क़ाबिल तारीफ़ है।·· ··

"सारी दुनिया पर राज्य करने वाला होते हुए, मेरी निगाह में केवल एक ही लक्ष्य है, यानी आदर्श शासन क़ायम रखना और राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाना;

अजीब और बेशक़ीमत चीज़ों से मुझे दिलचस्पी नही है। मुझे.....तेरे देश की बनी हुई चीज़ों की ज़रूरत नही है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे और भविष्य में इससे भी ज़्यादा श्रद्धा और राज्यभक्ति दिखलावे, ताकि तू सदा हमारे राज्यसिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के लिए आगे को शान्ति और सुख प्राप्त करे.......।

"डर से कांपते हुए आज्ञापालन कर और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मन्त्रियों ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे ज़रा सकते में आगये होंगे। लेकिन जिस ऊँची सभ्यता में स्थिर विश्वास और जिस ताक़त के बड़प्पन का पता इस जवाब से मिलता है, उसका आधार अमल में टिकाऊ न था। मंचू सरकार मजबूत दिखलाई पड़ती थी और शियन-लुग के राज्य में वह मजबूत थी भी। लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नींव को खोखली कर रही थी। जिन गुप्त समितियों का मैंने ज़िक्र किया है वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थी। असली दिक़्क़त यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्त्तनों के अनुकूल नही बनाया जारहा था। दूसरी तरफ़ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। वे बडी तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर-दिन ताक़तवर होते जाते थे। सम्राट शियन-लुग ने इग्लैंड के जार्ज तृतीय को जो बडा घमड-भरा जवाब भेजा था उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इग्लैंड और फ़्रांस ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमंड को धूल में मिला दिया।

लेकिन चीन के बारे का यह किस्सा तो मैं अपने दूसरे पत्र मे बयान करूँगा। सन् १७९६ ई० में, शियन-लुग की मृत्यु पर, हम अठारहवी सदी के लगभग अन्त तक पहुँच जाते हैं। लेकिन इस सदी के ख़तम होने से पहले अमरीका और योरप में बहुत-सी असाधारण घटनायें हो चुकी थी। असल मे योरप में होने वाले युद्धो और झगड़ो के ही कारण लगभग पच्चीस वर्ष तक चीन मे योरप का दबाव कम रहा। इसलिए अगले पत्र मे हम योरप की तरफ़ रुख करेंगे और अठारहवी सदी के शुरू से कहानी का सिलसिला शुरू करेंगे और भारत तथा चीन की घटनाओ से उसका मेल मिलावेंगे।

लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले मैं पूर्व मे रूस की बढोतरी का हाल तुमको बतलाऊँगा। रूस और चीन के बीच सन् १६८९ ई० की नरखिन्स्क की सन्धि के बाद क़रीब डेढ़-सौ वर्ष तक पूर्व में रूस का प्रभाव बढता ही गया। सन् १७२८ ई० मे वाइटस बेरिंग नाम के एक डेनमार्क निवासी कप्तान ने, जो रूस में नौकर था, एशिया और अमरीका को अलग करने वाले जलडमरूमध्य की खोज की। शायद तुम जानती हो कि यह डमरूमध्य आज भी उसके नाम पर बेरिंग का जलडमरूमध्य कहलाता है। बेरिंग समुद्र को पार करके अलास्का जा पहुँचा और उसे उसने रूसी क्षेत्र घोषित कर दिया। अलास्का समूरों[1] के लिए बहुत मशहूर है, और चूकि समूर की खालो की चीन में बडी भारी मांग थी इसलिए रूस और चीन के बीच समूर की खालों का एक ख़ास व्यापार स्थापित हो गया। अठारवी सदी के आख़ीर में समूर की खालो वग़ैरा की माँग चीन में इस कदर बढ गई कि रूस इनको कनाडा की हडसन खाडी से इंग्लैंड के रास्ते मगवाकर साइबेरिया में बैकाल झील के पास कियाख़्ता की समूर की खालो की बड़ी भारी मंडी को भेजने लगा। ये समूर की खालें कितनी ज़बरदस्त यात्रा करके आती थी!

ज़रा तब्दीली के लिए यह पत्र इस तरह के मेरे ज़्यादातर पत्रों से छोटा है। मुझे उम्मीद है कि यह परिवर्तन तुम पसन्द करोगी।

[1]समूर—अलास्का (उत्तरी अमेरिका) में एक लोमड़ी होती है जिसके बाल बहुत मुलायम होते हैं। इसकी खाल के गुलूबन्द बनते हैं जो बड़े क़ीमती होते हैं। अंग्रेज़ी में समूर के बालों को फ़र (Fur) कहते हैं।

: ६५ :

अठारहवीं सदी के योरप में विचारों की लड़ाई

१० सितम्बर, १९३२

अब हम वापस योरप की तरफ चलेंगे और उसके बदलते हुए भाग्य पर ग़ौर करेंगे। यह उन जबरदस्त परिवर्त्तनों की शुरूआत का वक़्त है जिनका असर संसार के इतिहास पर पड़ा। इन परिवर्त्तनों को समझने के लिए हमको चीजों की भीतरी तह में झांकना पड़ेगा और यह जानने की कोशिश करनी पड़ेगी कि लोगों के दिमाग में क्या-क्या आते चक्कर लगा रही थी। क्योंकि जो कुछ क्रिया हमको दिखलाई पड़ती है वह विचारों और वासनाओं, राग-द्वेषों और अन्ध-विश्वासों, आशाओं और शंकाओं की गुत्थी का नतीजा होती है; और जब तक कि हम किसी क्रिया के साथ-साथ उसके कारणों पर विचार न करें तब तक अकेले उसे समझना मुश्किल हो जाता है। लेकिन यह आसान बात नहीं है, और अगर मैं इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाओं को ढालने वाले इन कारणों और उद्देश्यों पर ठीक तौर से लिखने योग्य भी होऊँ तो भी मैं यह कभी न चाहूँगा कि इन पत्रों को और भी ज्यादा नीरस और भाररूप बना दूं। मुझे डर रहता है कि कभी-कभी किसी विषय के बारे में या किसी दृष्टिकोण के बारे में अपने जोश में मैं ज़रूरत से ज्यादा गहराई में न पहुँच जाऊँ। लेकिन मैं लाचार हूँ। तुम्हें यह बर्दाश्त करनी पड़ेगी। फिर भी हम इन कारणों की ज्यादा गहराई में नहीं जा सकते। लेकिन इनको छोड़ देना भी परले सिरे की बेवकूफी होगी; और अगर हम ऐसा करें भी तो इतिहास के आकर्षण और महत्व से महरूम रह जावेंगे।

सोलहवीं सदी में और सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में योरप में जो उथल-पुथल और हलचलें मची उनपर हमने विचार कर लिया है। सत्रहवीं सदी के बीच के समय में वेस्टफ़ेलिया की सन्धि हुई (१६४८ ई०) जिससे उस भयानक 'तीस साला युद्ध' का अन्त हो गया। एक साल बाद ही इंग्लैण्ड का गृह-युद्ध खतम हो गया और चार्ल्स प्रथम का सर उड़ा दिया गया। इसके बाद कुछ-कुछ शान्ति के दिन आये। योरप का महाद्वीप बिलकुल पस्त हो गया था। अमरीका के और दूसरी जगहों के उपनिवेशों के व्यापार से योरप में धन आने लगा जिससे कुछ राहत मिली और विभिन्न वर्गों की आपसी तनातनी कम हुई।

इंग्लैण्ड में वह शान्तिपूर्ण क्रान्ति हुई जिसने दूसरे जेम्स को निकाल बाहर किया और पार्लमेण्ट को विजयी बना दिया (१६८८ ई०)। असली लड़ाई तो पार्लमेण्ट ने चार्ल्स प्रथम के खिलाफ गृह-युद्ध में जीती थी। इस शान्तिपूर्ण क्रांति ने तो खाली उसी फ़ैसले पर मुहर लगा दी जो चालीस साल पहले तलवार के ज़ोर से हासिल हुआ था।

इस तरह इंग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कम हो गया। लेकिन योरप में, सिवाय स्वीज़रलैण्ड और हॉलैण्ड-जैसे कुछ छोटे-छोटे मुल्कों के, हालत इससे उलटी थी। वहाँ तो अभी निरकुंश और मनमौजी राजाओं का बोलबाला था और फ्रांस के महान बादशाह चौदहवें लुई को आदर्श और सर्वश्रेष्ठ मानकर उसकी नक़ल की जाती थी। योरप में सत्रहवीं सदी करीब-करीब चौदहवें लुई की ही सदी थी। योरप के राजा लोग पूरी शान-शौक़त और दौलतमन्दी और बेवकूफी के साथ स्वेच्छाचारिता के मजे उड़ा रहे थे, आगे आनेवाले बुरे दिनों की उनको कोई फिक्र न थी और न वे इंग्लैण्ड के चार्ल्स प्रथम पर जो बीती उससे ही नसीहत लेना चाहते थे। उनका दावा था कि देश की सारी ताक़त और सारी दौलत उनकी ही है और देश तो मानो उनकी निजी जागीर है। चारसौ वर्ष से ज्यादा हुए तब हालैण्ड के इरैस्मस नामक एक विद्वान ने लिखा था:—

> "बुद्धिमानों को तमाम चिड़ियों में एक ईगल ही बादशाहियत का नमूना नज़र आया है, जो न तो सुन्दर है, न सुरीला, न खाने लायक, बल्कि मांसभक्षी, भुक्खड़, सबकी घृणा का पात्र, सब की लानत का पात्र, और नुक़सान पहुँचाने की बहुत बड़ी ताक़त रखनेवाला, बल्कि नुकसान पहुँचाने की इच्छा रखने में उन सब से बढ़कर है।"

आज बादशाहों का करीब-करीब लोप हो चुका है और जो बचे है, वे कुछ पुराने ज़माने के चिन्ह मात्र हैं, उनके हाथ में कुछ भी ताक़त नहीं है। अब हम उनको दरगुज़र कर सकते है। लेकिन उनकी जगह दूसरे

और उनसे भी ज्यादा खतरनाक आदमियों ने लेली है और नये युग के इन साम्राज्यवादियों तथा लोहे और तेल और चाँदी और सोने के बादशाहों का सही प्रतीक अब भी ईगल ही है।

योरप की बादशाहतें मजबूत केन्द्रीय सत्तावाली रियासतें बन गईं। सरदार और असामी की पुरानी सामन्तशाही विचारधारा खतम हो चुकी थी या हो रही थी। देश के एक इकाई और एक हस्ती होने का नया खयाल इसकी जगह ले रहा था। रिशल्यू और मैज़ैरिन नाम के दो बहुत योग्य मन्त्रियो के समय में फ़ांस इसका अगुआ बना। इस तरह राष्ट्रीयता का और कुछ हद तक देशभक्ति का उदय हुआ। धर्म, जो अभी तक मनुष्यो के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व था, अब अपना महत्व खोने लगा और उसकी जगह नये विचारो ने ले ली, जैसा कि मैं इसी पत्र में आगे चलकर बतालाऊँगा।

सत्रहवी सदी इस कारण और भी ज्यादा महत्वपूर्ण है कि उसमें आधुनिक विज्ञान की नीव डाली गई और सारी दुनिया का व्यापार खुल गया। इस विशाल नई मडी ने कुदरती तौर पर योरप की पुरानी आर्थिक व्यवस्था" को उलट दिया और इसके बाद योरप, एशिया और अमरीका में जो कुछ भी हुआ वह तभी समझ में आसकता है जब इस नई मंडी को नजर के सामने रक्खा जाय। बाद में विज्ञान की तरक्की हुई और इसने इस संसार-व्यापी मडी की माँग को पूरा करने के साधन पैदा कर दिये।

अठारहवी सदी में उपनिवेश और साम्राज्य बढाने की दौड़ का, जो खासकर इंग्लैण्ड और फ़ांसके बीच चली, नतीजा यह हुआ कि न सिर्फ़ योरप में ही बल्कि कनाडा और, जैसाकि मै लिख चुका हूँ, भारत मे भी, युद्ध छिड़ गया। सदी के बीच में इन युद्धो के बाद फिर कुछ कम अशान्ति का जमाना आया। योरप की ऊपरी सतह शान्त और बे-हलचल नजर आने लगी। योरप के सारे शाही दरबार बहुत ही विनीत, सुसस्कृत और सभ्य महिलाओ और पुरुषो से भरे थे। लेकिन यह शान्ति सिर्फ ऊपरी सतह पर थी। भीतर ही भीतर खलबली मच रही थी और नए विचारो तथा भावना से लोगो के दिमाग़ परेशान और उथल-पुथल हो रहे थे, और दरबारो के मोहित समुदाय और ऊपर के कुछ वर्गों को छोडकर बाकी के ज्यादातर लोगो को बढती हुई गरीबी के कारण, दिन पर दिन ज्यादा मुसीबते झेलनी पड रही थी। इसलिए अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में योरप मे जो शान्ति नजर आती थी वह बड़ी धोखा देनेवाली थी; वह तो आनेवाले तूफान की सूचक थी। सन् १७८९ ई० की १४ वी जुलाई को योरप की सबसे बड़ी बादशाहत की राजधानी पेरिस में तूफान की शुरुआत हुई। इस तूफान मे यह बादशाहत और सैकडो ही अन्य पुराने और काई-खाये रिवाज और विशेष अधिकार बह गये।

इस तूफान की और बाद मे होनेवाले परिवर्तन की तैयारी फ़ांस और कुछ-कुछ योरप के दूसरे देशो मे भी, बहुत दिनो से नये विचारों के कारण हो चुकी थी। मध्य युग के आदि से अन्त तक योरप में धर्म का ही सबसे ज्यादा बोलबाला था। बाद में, रिफ़ार्मेशन के जमाने में भी यही हालत रही। हरेक सवाल पर, चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक, धार्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाता था। धर्म एक संगठित चीज था और उसका अर्थ था पोप और चर्च के दूसरे ऊँचे अफ़सरो की मर्ज़ी। समाज का संगठन बहुत कुछ ऐसा ही था, जैसा भारत में जातियो का। प्रारम्भ मे जाति का मतलब था समाज का पेशो या कामो के मुताबिक़ विभाजन। मध्ययुग में समाज के सम्बन्ध में लोगो के जो विचार थे उनकी जड मे पेशो के मुताबिक़ सामाजिक वर्गों की यही भावना थी। हरेक वर्ग मे, भारत की हरेक जाति की तरह, बराबरी की भावना थी। लेकिन किन्ही दो या ज्यादा जातियो के बीच मे विषमता थी। समाज का सारा ढाचा ही इस विषमता की नीव पर खडा था और कोई इस पर ऐतराज करनेवाला न था। इस व्यवस्था से जिनको तकलीफ होती थी उनसे कहा जाता था कि "इसका इनाम तुमको स्वर्ग में मिलेगा।" इस तरह धर्म इस अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश करता था और परलोक की बात करके लोगो का ध्यान इस तरफ़ से हटाने की कोशिश करता था। जो अमानतदारी का सिद्धान्त कहलाता है उसका भी यह धर्म प्रचार करता था, यानी यह कि धनवान आदमी एक तरह से ग़रीबो का अमानतदार था, जमीदार अपनी जमीन को काश्तकार की 'अमानत' की तरह रखता था। एक बड़ी बेतुकी स्थिति को समझाने का चर्च का यही तरीका था। इससे अमीरों का तो कुछ बिगड़ता न था पर ग़रीबो को कोई आराम न पहुँचता था। भूखे पेट में भोजन की जगह स्थानपन्न की व्याख्याओं से काम नही चल सकता।

कैथलिको और प्रोटेस्टेण्टों के कट्टर धार्मिक युद्ध, कैथलिक और काल्विन के अनुयायी दोनो की

असहिष्णुता, और इनक्विज़िशन, ये सब इस घोर धार्मिक और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के ही नतीजे थे। ज़रा इसका विचार तो करो! कहा जाता है कि योरप में ज्यादा करके प्यूरिटनो ने लाखो स्त्रियो को डायनें बतला-कर जिन्दा जला डाला। विज्ञान के नये विचारो को दबाया जाता था क्योंकि ये चर्च के दृष्टिकोण से टक्कर खाने वाले समझे जाते थे। जीवन का यह दृष्टिकोण जड़ और अचल था; प्रगति का कोई सवाल ही न था।

हम देखते हैं कि सोलहवी सदी से लगाकर आगे ये विचार धीरे-धीरे बदलते हुए प्रतीत होते हैं, विज्ञान का उदय होता है और धर्म का सर्वग्राही शिकजा ढीला पड जाता है; राजनीति और अर्थशास्त्र धर्म से अलग समझे जाते है। कहते हैं कि सत्रहवी और अठारहवी सदियो मे बुद्धिवाद की, यानी अधविश्वास के मुकाबले में तर्क की, वृद्धि होती है। यह माना जाता है कि सहिष्णुता की विजय वास्तव मे अठारहवी सदी ने ही स्थापित की। कुछ हद तक यह सही भी है। लेकिन इस विजय का असली मतलब यह था कि लोग अपने धर्म को अब उतना महत्व नही देते थे जितना पहले दिया करते थे। यह सहिष्णुता करीब-करीब उदासीनता थी। जब लोगों में किसी बात के लिए बहुत ज्यादा जोश होता है तो उस बारे मे सहनशील रहना उनके लिए दुश्वार होता है; लेकिन जब वे उस बात की पर्वाह नही करते सिर्फ तभी वे उदारता के साथ अपनी सहनशीलता का ढिढोरा पीटते हैं। उद्योगवाद और बडी मशीनो के प्रचार के साथ धर्म के प्रति और भी उदासीनता बढ़ने लगी। विज्ञान ने योरप की पुरानी रूढियो की जड ही खोखली कर दी, नये उद्योगो और नई आर्थिक व्यवस्था ने नये सवाल पैदा कर दिये, जिन्होने लोगो का ध्यान खीच लिया। इस तरह योरप में लोगो ने धार्मिक विश्वास और रूढि के सवालो पर एक दूसरे का सिर फोड़ने की आदत छोड़ दी (लेकिन पूरी तरह नही); इसके बजाय अब उनमे आर्थिक और सामाजिक मुद्दों पर सिर-फुटव्वल होने लगी।

योरप के इस धार्मिक ज़माने की तुलना आजकल के भारत से करना दिलचस्प भी है और शिक्षा-प्रद भी। प्रशसा और परिहास दोनो की दृष्टि से अक्सर यह कहा जाता है कि भारत तो धार्मिक और आध्यात्मिक देश है। उसका मुकाबला योरप से किया जाता है जो अधार्मिक और विलासी जीवन को जरूरत से ज्यादा पसन्द करनेवाला कहा जाता है। जहाँ तक भारतीय दृष्टिकोण पर धर्म का रग चढा हुआ है, वहाँतक तो वास्तव मे यह "धार्मिक" भारत सोल्हवी सदी के योरप से असाधारण रूप मे मल खाता है। अलबत्ता इस तुलना को बहुत ज्यादा नही बढाया जा सकता। लेकिन यह स्पष्ट है कि क्या तो हमारा धार्मिक विश्वास और रूढियो पर जरूरत से ज्यादा ज़ोर देना, क्या राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नो को मज़हबी फ़िरको के हितो से मिलाना, क्या हमारे साम्प्रदायिक झगडे और इसी तरह के सवाल, इन सब में वही चीज़ प्रगट हो रही है जो मध्यकालीन योरप मे थी। व्यावहारिक तथा जडवादी योरप और आध्यात्मिक तथा परलोकवादी पूर्व का तो कोई सवाल ही नही है। पश्चिम और पूर्व के बीच यह फ़र्क़ इस बात में है कि पश्चिम तो अपनी तमाम अच्छाइयो और बुराइयो के साथ उद्योग-प्रधान और मशीनो का खूब उपयोग करने वाला है और पूर्व में अभी तक उद्योग-धन्धों का कम विकास हुआ है तथा वह कृषि-प्रधान है।

योरप में सहिष्णुता और बुद्धिवाद का यह विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। शुरू-शुरू मे पुस्तको से इसे ज्यादा मदद नही मिली क्योंकि लोग ईसाई धर्म की खुल्लम-खुल्ला आलोचना करने मे डरते थे। ऐसा करने का परिणाम था कैद या और कोई सजा। एक जर्मन दार्शनिक को प्रशिया से इसलिए निकाल दिया गया था कि उसने कनफ्यूशियस की बहुत ज्यादा प्रशसा करदी थी। यह ईसाई धर्म पर आक्षेप समझा गया था। लेकिन अठारहवी सदी में, जबकि ये नये विचार अधिक स्पष्ट और व्यापक हो गये, तो इन विषयो के बारे में पुस्तकें निकलने लगी। बुद्धिवाद तथा अन्य विषयो पर उस समय का सबसे मशहूर लेखक वाल्तेयर नाम का एक फ्रांसीसी था जिसको कैद करके देश से निकाल दिया गया और जो अन्त में जिनेवा के पास फर्नी में जाकर रहा। जेल में उसे कागज और कलम-दवात नहीं दिये गये। इसलिए उसने पुस्तकों की पक्तियों के बीच-बीच में सीसे के टुकडो से कविनायें लिखी। बहुत थोड़ी उम्र में ही उसने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। वास्तव में जब उसकी असाधारण योग्यता ने लोगों को आकर्षित किया तब वह सिर्फ़ दस बरस का था। वाल्तेयर को अन्याय और कट्टरता से सख्त नफरत थी, और वह इनके विरुद्ध बहुत लडा। उसकी मशहूर पुकार थी "इस घृणित चीज़ को नष्ट कर दो।"[1] वह बड़ी उम्र तक, यानी सन् १६९४ से १७७८ ई० तक

[1] 'Ecrasez l' infame

जिया और उसने अनेकानेक किताबें लिखीं। चूँकि वह ईसाई धर्म की आलोचना करता था, इसलिए कट्टर ईसाई उससे सख्त नफ़रत करते थे। अपनी एक पुस्तक में उसने लिखा है कि "जो आदमी बिना जांच-पड़ताल किये किसी धर्म को स्वीकार कर लेता है, वह उस बैल के समान् है जो अपने कन्धे पर जुआ रखवा लेता है।" लोगों को बुद्धिवाद और नये विचारो की तरफ झुकाने में वाल्तेयर की रचनाओं का बड़ा भारी असर पड़ा। फ़र्नी मे उसका पुराना मकान अब भी बहुत लोगो के लिए एक तीर्थस्थान है।

एक और महान लेखक, जो वाल्तेयर का समकालीन लेकिन उम्र में उससे छोटा था, जीन जैक्स रूसो था। उसका जन्म जिनेवा में हुआ था और जिनेवा को उसपर बड़ा गर्व है। क्या तुमको वहाँ पर उसकी मूर्ति की याद है? धर्म और राजनीति पर रूसो के लेखों से बड़ा हो-हल्ला मच गया। लेकिन फिर भी उसके नवीन और बहुत कुछ साहसपूर्ण सामाजिक और राजनैतिक मतो ने बहुतो के दिमागो में नये विचारो और नये इरादो की आग सुलगा दी। उसके राजनैतिक विचार आजकल के जमाने के अनुकूल नही रहे हैं, लेकिन उन्होने फ़्रांस के लोगो को महान् राज्यक्रांति के लिए तैयार कराने मे बडा महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। रूसो ने राज्यक्रांति का प्रचार नहीं किया, शायद उसे किसी क्रान्ति की उम्मीद भी न थी। लेकिन उसकी पुस्तको और उसके विचारों ने लोगो के दिमाग में ऐसा बीज जरूर बो दिया जिसका फल क्रांति के रूप मे प्रकट हुआ। इसकी सबसे मशहूर पुस्तक 'सोशल काण्ट्रैक्ट' यानी 'सामाजिक अहदनामा' है और वह इस मशहूर वाक्य से शुरू होती है (मैं याददाश्त से लिख रहा हूँ): "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, लेकिन वह सब जगह जंजीरो में जकड़ा हुआ है।"[1]

रूसो एक महान शिक्षा-शास्त्री भी था और उसके सुझाये हुए शिक्षा के बहुत से नये तरीके आजकल स्कूलो में बरते जाते है।

अठारहवी सदी मे फ्रास मे वाल्तेयर और रूसो के अलावा और भी बहुत से प्रसिद्ध विचारक और लेखक हुए। मैं सिर्फ मान्तेस्क्यू[2] के नाम का जिक्र और करूँगा जिसने कई पुस्तकें लिखी। पेरिस में इसी के समय में एक विश्वकोष भी प्रकाशित हुआ जो दिदरो तथा राजनैतिक और सामाजिक विषयो के अन्य विद्वान् लेखको के लेखो से भरा था। सच तो यह है कि फ्रास दार्शनिको और विचारको से भरा हुआ नजर आता था। इतना ही नही, इनकी रचनाए भी खूब पढी जाती थी और इन्हें यह सफलता हासिल हुई कि हजारो साधारण लोग इन्हीकी तरह सोचने-विचारने लगे और इनके मतो पर चर्चा करने लगे। इस तरह फ्रास मे एक ऐसा जोरदार लोकमत पैदा हो गया जो धार्मिक असहिष्णुता और राजनैतिक तथा समाजिक विशेषाधिकारो के विरुद्ध था। लोगो पर आज़ादी की एक अस्पष्ट इच्छा का भूत-सा सवार हो गया। लेकिन अजीब बात तो यह है कि न तो जनता ही और न दार्शनिक लोग ही बादशाह से पिंड छुडाना चाहते थे। उस समय प्रजातन्त्र की भावना व्यापक नही थी, और जनता तो सिर्फ यही उम्मीद करती थी कि उसे प्लेटो के दार्शनिक बादशाह से मिलता जुलता एक आदर्श राजा मिले जो उनकी तकलीफो को दूर करे और उनको न्याय और थोड़ी बहुत स्वाधीनता दे दे। कम से कम दार्शनिको ने ऐसा ही लिखा है। इस बारे मे शक होने लगता है कि आखिर पीड़ित जनता बादशाह को कितना चाहती थी।

इग्लैण्ड मे फ़ास की तरह राजनैतिक विचारो का कोई विकास नही हुआ। कहा जाता है कि अग्रेज राजनैतिक जन्तु नही होता, लेकिन फ़ासीसी होता है। इसके अलावा सन् १६८८ ई० की क्रान्ति ने भी तनाव कुछ कम कर दिया था। लेकिन कुछ वर्ग अब भी काफ़ी विशेषाधिकारो का उपभोग कर रहे थे। नई आर्थिक परिस्थितियो ने, जिनके जिक्र जल्दी ही किसी अगले पत्र मे करूंगा, और व्यापार तथा अमरीका और भारत की उलझनों में अग्रेजो का दिमाग लगा हुआ था। जब सामाजिक तनाव बहुत बढ

---

[1] Man is born free, but is everywhere in chains.

[2] माण्टेस्क्यू—(१६८९-१७५५) फ्रांस का प्रसिद्ध विचारक, तत्ववेत्ता और इतिहासकार। १७४८ ई० में इसकी मशहूर किताब 'Esprit des Lois' प्रकाशित हुई, जिससे उसके गहरे अध्ययन का पता लगता है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि उस जमाने में भी, १८ महीने के अन्दर उसके २२ संस्करण हो गये। उसके विचारों के कारण चर्च ने उस पर जबर्दस्त आक्रमण किया था।

गया तो एक काम-चलाऊ समझौते ने विस्फोट के खतरे को दूर कर दिया। फ्रांस में इस तरह के समझौते की गुंजाइश न थी, और इसीलिए तख्ता उलट गया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में आधुनिक उपन्यास का विकास अठारहवीं सदी के बीच में हुआ। 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' और 'रॉबिन्सन क्रूसो' अठारहवी सदी के शुरू में लिखे गये थे, जैसा कि मैं पहले ही बतला चुका हूँ। इनके बाद असली उपन्यास निकले। इस वक्त इंग्लैण्ड में एक नई पाठक जनता पैदा हो गई।

अठारहवीं सदी में ही गिबन नाम के एक अंग्रेज ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] लिखा। रोमन साम्राज्य का वर्णन करते समय अपने किसी पिछले पत्र में मैं गिबन और उसकी पुस्तक का ज़िक्र कर चुका हूँ।

: ९६ :

महान् परिवर्त्तनों के पहले का योरप

२४ सितम्बर, १९३२

हमने अठारहवी सदी में योरप के, और खासकर फ्रांस के, स्त्री-पुरुषों के दिलों में जरा झाँकने की कोशिश की है। यह सिर्फ़ एक झलक रही है जिसने हमको कुछ नये विचारों को पैदा होते हुए और पुराने विचारों से टक्कर लेते हुए दिखलाया है। अभी तक हम परदे के पीछे रहे हैं, लेकिन अब हम योरप के सार्वजनिक रंगमंच के पात्रों पर निगाह डालेंगे।

फ्रांस में बुड्ढा चौदहवाँ लुई आखिरकार सन् १७१५ ई० में मरने में कामयाब हो ही गया। वह कई पीढ़ियों को पार करके जिन्दा रहा और उसके बाद उसका पोता पन्द्रहवें लुई के नाम से गद्दी पर बैठा। फिर उनसठ वर्ष का लम्बा शासन चला। इस तरह चौदहवें और पन्द्रहवें लुई, फ्रांस के इन दो सिलसिलेवार बादशाहों ने, कुल १३१ वर्ष तक राज किया! अवश्य ही यह दुनिया का एक रिकार्ड है। चीन के दो मंचू बादशाह कांग-ही और शियन-लुग, हरेक ने साठ-साठ वर्ष राज किया, लेकिन ये एक सिलसिले से नहीं हुए और इन दोनों के बीच में एक तीसरे का भी राज रहा।

असाधारण लम्बाई के अलावा पन्द्रहवें लुई का शासन खास तौर पर घृणित भ्रष्टाचार और साज़िश के लिए मशहूर है। राज्य के सारे साधन बादशाह के ऐश-आराम के लिए उपयोग होते थे। दरबारी लोग अपना उल्लू सीधा करने में रहते थे जिसमें अनाप-शनाप खर्च होता था। दरबार के जो स्त्री या पुरुष बादशाह को खुश कर लेते उनको मुफ़्त की ज़मीदारियाँ और फालतू ओहदे बख्शे जाते थे, जिनका मतलब था बिना मेहनत की आमदनी। और इन सबका भार जनता पर बराबर बढ़ता जाता था। तानाशाही, अयोग्यता, और भ्रष्टाचार, बड़े मज़े से हाथ मिलाये हुए आगे बढ़ रहे थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर सदी के खतम होते न होते वे अपने रास्ते के किनारे पर पहुँच गये और गहरी खाई में जा गिरे? ताज्जुब तो यह है कि रास्ता इतना लम्बा निकला और गिरावट इतनी देर बाद आई। पन्द्रहवाँ लुई जनता के इन्साफ़ और बदले से बच गया; इनका सामना तो उसके उत्तराधिकारी सोलहवें लुई को सन् १७७४ ई० में करना पड़ा।

अपनी अयोग्यता और गिरावट के बावजूद भी पंद्रहवें लुई को राज्य में अपनी एकमात्र सत्ता के बारे में कोई संदेह न था। वह सब कुछ था और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ करने से रोकनेवाला कोई न था। पेरिस में सन् १७७६ ई० में एक सभा के सामने बोलते हुए उसने जो शब्द कहे थे वे सुनने लायक हैं:—

> "राज्य-सत्ता पूरे तौर पर सिर्फ़ मेरे ही व्यक्तित्व में निवास करती है. . .। सिर्फ़ मुझको ही, बिना किसी का सहारा या मदद लिये, कानून बनाने का पूरा हक है। प्रजा

[1] Decline and Fall of the Roman Empire.

की शान्ति का एकमात्र स्रोत मैं ही हूँ; मैं ही उसका सबसे बड़ा रक्षक हूँ। मेरी प्रजा की मुझसे अलहदा कोई हस्ती नहीं है; राष्ट्र के अधिकार और हित, जो कुछ लोगों के दावे के मुताबिक़ बादशाह से कोई अलग चीज़ है, वे ज़रूरी तौर पर मेरे ही अधिकार और हित हैं और मेरी ही मुट्ठी में रहते हैं।"

अठारहवीं सदी के ज्यादातर समय में फ़्रांस का शासक इस तरह का था। कुछ दिनों तक तो योरप में उसका दबदबा मालूम होने लगा था। लेकिन बाद में दूसरे राजाओं और राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं से उसकी टक्कर हुई और उसे हार माननी पड़ी। फ़्रांस के कुछ पुराने प्रतियोगियों का भी योरप के रंगमंच पर कोई प्रमुख अभिनय न रहा। लेकिन उनकी जगह लेने और फ़्रांस की ताक़त को चुनौती देने वाले दूसरे पैदा हो गये। थोड़े दिन की शहंशाही शान-शौकत भुगतकर घमंडी स्पेन योरप में, और दूसरी जगहों में भी, नीचे गिर गया। लेकिन अमरीका और फ़िलिपाइन टापुओं में बड़े-बड़े उपनिवेश अब भी उसके क़ब्ज़े में थे। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग भी, जिन्होंने साम्राज्य के शिरोमणि होने का और उसके ज़रिये योरप की नेतागिरी का ठेका-सा ले रक्खा था, अब पहले जैसे महत्वपूर्ण नहीं रह गये थे। आस्ट्रिया अब साम्राज्य की अगुआ रियासत नहीं थी; एक दूसरी रियासत प्रशिया आगे बढ़ गई थी और आस्ट्रिया के समान महत्वपूर्ण बन गई थी। आस्ट्रिया की राजगद्दी के उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुए और बहुत दिनों तक मेरिया थैरैसा नाम की एक महिला ने उसे घेरे रक्खा।

तुम्हें याद होगा कि सन् १६४८ ई० की वेस्टफैलिया की सन्धि ने प्रशिया को योरप की एक महत्वपूर्ण शक्ति बना दिया था। वहाँ पर हॉहेनज़ॉलर्न का घराना राज कर रहा था और दूसरे जर्मन राजवंश, आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने, की सत्ता को चुनौती दे रहा था। छियालीस वर्ष, यानी सन् १७४० से १७८६ ई० तक, प्रशिया पर फ्रेडरिक ने राज किया जो फौजी सफलता के कारण महान् कहलाता है। योरप के दूसरे राजाओं की तरह यह भी एक स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन उसने दार्शनिक का चोगा पहन लिया था और वाल्तेयर से दोस्ती करने की कोशिश की थी। उसने एक ताक़तवर फौज तैयार कर ली थी और वह एक सफल सेनापति था। वह अपने आपको बुद्धिवादी कहता था और सुनते हैं कि वह कहा करता था कि "हरेक को यह छुट्टी रहनी चाहिए कि जिस तरह वह चाहे स्वर्ग प्राप्त करे।"

सत्रहवीं सदी से योरप में फ़्रांस की संस्कृति का बोलबाला रहा। अठारहवीं सदी के बीच के समय में तो इसने और भी ज़ोर पकड़ा और वाल्तेयर को मारे योरप में ज़बरदस्त शोहरत मिली। वास्तव में कुछ लोग तो इस सदी को 'वाल्तेयर की सदी' कहते हैं। योरप के तमाम राजदरबारों में, यहाँतक कि पिछड़े हुए सेंटपीटर्सबर्ग में भी, फ्रेंच साहित्य पढ़ा जाता था और सभ्य और शिक्षित लोग फ्रेंच भाषा में लिखना और बोलना पसन्द करते थे। मसलन प्रशिया का फ़्रेडरिक महान् क़रीब-क़रीब हमेशा फ्रेंच भाषा में ही लिखता और बोलता था। उसने तो फ्रेंच भाषा में कविता भी लिखने की कोशिश की और वाल्तेयर से प्रार्थना की कि उसे ठीक करके चमका दे।

प्रशिया के पूर्व में रूस था, जिसका एक बनने वाली बड़ी ताक़त की सूरत में बढ़ना शुरू होगया था। चीन के इतिहास की चर्चा करते वक्त हम लिख चुके हैं कि किस तरह रूस साइबेरिया को पार करके प्रशान्त महासागर तक जा पहुँचा और उसे पार करके अलास्का तक भी पहुँच गया। सत्रहवीं सदी के अन्त में रूस में महान् पीटर नामक बलशाली शासक था। रूस में परंपरा से जो पुराने मंगोली रब्त-ज़ब्त और नज़रिये चले आ रहे थे पीटर उनका अन्त करना चाहता था। वह रूस को, आजकल की भाषा में, 'वेस्टरनाइज़'* करना चाहता था। इसलिए उसने पुरानी परम्पराओं से भरी हुई पुरानी राजधानी मॉस्को को छोड़ दिया और अपने लिए एक नया शहर और नई राजधानी बसाई। यह उत्तर में नेवा नदी के किनारे और फिनलैंड की खाड़ी के मुहाने पर सेंटपीटर्सबर्ग था। यह शहर सुनहरी गुम्बज़ोंवाले मॉस्को से बिलकुल अलग तरह का था; वह ज्यादातर पश्चिमी योरप के बड़े शहरों जैसा था। पीटर्सबर्ग पश्चिमीकरण का प्रतीक बन गया और रूस योरप की राजनीति में ज्यादा हिस्सा लेने लगा। शायद तुम्हें मालूम होगा कि पीटर्स-

---

*'वेस्टरनाइज़' करना अर्थात् पश्चिम जैसा बनाना, अर्थात् पश्चिम (योरप) की सभ्यता को अपनाना।

बर्ग नाम अब नहीं रहा है। पिछले बीस वर्षों में उसका नाम दो बार बदला है। पहली बार उसका नाम बदल कर पेट्रोग्रेड किया गया और दूसरी बार लैनिनग्रेड हुआ। आज कल यही नाम चालू है।

पीटर महान ने रूस में बहुत से परिवर्तन किये। मैं यहाँ पर उनमें से एक का ज़िक्र करूँगा, जो तुम्हें दिलचस्प मालूम होगा। उसने स्त्रियों को घरों में बन्द रखने के रिवाज को, जिसे 'टैरम' कहते थे, और जो उन दिनों रूस में जारी था, ख़तम कर दिया। पीटर का ध्यान भारत की तरफ़ भी था और वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत के महत्व को समझता था। उसने अपने वसीयतनामे में लिखा है: "याद रक्खो कि भारत का व्यापार सारी दुनिया का व्यापार है; और जो उसको मुट्ठी में रख सकता है वही योरप का डिक्टेटर होगा।" भारत पर प्रभुत्व प्राप्त करने के बाद इंग्लैण्ड की शक्ति जिस तेज़ी से बढ़ी उससे पीटर के आख़िरी शब्दों की सचाई साबित हो जाती है। भारत के शोषण से इंग्लैण्ड को गौरव और धन मिला जिसने कई पीढ़ियों तक उसे संसार की सबसे बड़ी शक्ति बना दिया।

एक तरफ़ प्रशिया और आस्ट्रिया तथा दूसरी तरफ रूस के बीच में पोलैण्ड था। वह एक पिछड़ा हुआ देश था जहाँ के किसान बहुत ग़रीब थे। वहाँ कोई व्यापार और उद्योग-धन्धे न थे और न बड़े-बड़े शहर थे। उसका विधान भी अजीब-सा था जिसमें बादशाह तो चुना हुआ होता था और सत्ता सामन्ती अमीरो के हाथों में रहती थी। जैसे-जैसे आसपास के देश ताकतवर होते गये, पोलैण्ड कमज़ोर होता गया। प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया तीनो ही उसे हड़पना चाहते थे।

लेकिन वह पोलैण्ड का ही बादशाह था जिसने सन् १६८३ ई० में वियेना पर आख़िरी हमला करने-वाले तुर्कों को मार भगाया था। उस्मानी तुर्क फिर सिर न उठा सके। उनकी ताकत ख़तम हो चुकी थी और पलड़ा धीरे-धीरे पलट रहा था। आगे से वे अपना बचाव करने में ही रहे और धीरे-धीरे योरप में तुर्की साम्राज्य छोटा होने लगा। लेकिन जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे है, यानी अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध में, तुर्की दक्षिण-पूर्वी योरप का एक शक्तिशाली देश था, और उसका साम्राज्य बाल्कन की रियासतो से लगाकर हगरी के पार पोलैण्ड तक फैला हुआ था।

दक्षिण में इटली कई राज्यो में बँटा हुआ था और योरप की राजनीति मे उसकी कोई गिनती न थी। पोप का पहले वाला दबदबा नही रहा था और राजा और बादशाह उसकी इज्जत तो करते थे लेकिन राजनैतिक मामलो मे उसे पूछते भी न थे। धीरे-धीरे योरप में एक नया ढाचा, यानी बड़ी शक्तियो का ढाचा, पैदा हो रहा था। जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, केन्द्रीय सत्तावाले एक-सत्तात्मक राज्य राष्ट्रीयता की भावना के विकास में मदद दे रहे थे। लोग अपने-अपने देशो का विचार एक खास तरीक़े से करने लगे थे जो आजकल तो बहुत फैल गया है लेकिन इस ज़माने के पहले एक असाधारण बात थी। फ़्रांस, इग्लैण्ड या ब्रिटैनिया, इटैलिया और इसी तरह की दूसरी सूरतें प्रगट होने लगी थी। ये राष्ट्र के प्रतीक से मालूम होने लगे। कुछ दिन बाद, उन्नीसवी सदी में, ये शकलें लोगों के दिमाग में मूर्तिमान होने लगी और उनके दिलो पर अजीब तौर से असर डालने लगी। ये प्रतीक नई देवियाँ बन गये जिनकी वेदी पर हरेक देश-भक्त को पूजा करनी पड़ती है और जिसके नाम पर और जिसके लिए देश-भक्त लोग लड़ते हैं और एक दूसरे की हत्या करते हैं। तुम जानती हो कि 'भारत-माता' की भावना किस तरह हम लोगो को प्रेरित करती है और किस तरह लोग इस स्वर्गीय और कल्पित मूर्ति के लिए खुशी-खुशी मुसीबतें झेलते हैं और मर मिटते है। दूसरे देशो के लोग भी अपनी मातृभूमि के लिए इसी तरह की भावना महसूस करते थे। लेकिन ये सब तो बाद की बातें हैं। अभी तो मै तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि अठारहवी सदी में राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की इस भावना ने जड़ पकडी। फ्रांसीसी दार्शनिको ने इस प्रगति को बढ़ाया और फ्रांस की महान राज्य-क्रान्ति ने इस भावना पर मुहर लगा दी।

ये राष्ट्र ही 'शक्तियाँ' थे। बादशाह आते-जाते रहते थे लेकिन राष्ट्र बना रहता था। इन शक्तियों में से कुछ धीरे-धीरे दूसरी शक्तियों से ज्यादा महत्वपूर्ण बन गई। मसलन अठारहवी सदी के शुरू में फ़्रांस, इग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस निस्सन्देह 'बड़ी शक्तिया' थी। स्पेन की तरह कुछ और भी शक्तियाँ कहने को बड़ी थीं लेकिन उनका पतन हो रहा था।

इंग्लैण्ड बहुत तेज़ी के साथ दौलत में और महत्व में बढ़ रहा था। एलिज़ाबेथ के वक़्त तक वह योरप के लिहाज़ से कोई महत्व-पूर्ण देश न था और दुनिया के लिहाज़ से तो और भी कम था। उसकी

आबादी थोड़ी थी; शायद उस वक्त वह साठ लाख से ज्यादा न थी, जो आज लन्दन की आबादी से भी बहुत कम हैं। लेकिन प्यूरिटन क्रान्ति और बादशाह पर पार्लमेण्ट की विजय के बाद इंग्लैण्ड ने अपने आपको नई परिस्थितियो के मुताबिक़ बना लिया और वह आगे बढ़ने लगा। स्पेन से पिंड छुडाने के बाद हालैण्ड ने भी ऐसा ही किया।

अठारहवी सदी में अमरीका और एशिया में उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी मची। इसमें योरप की कई शक्तियों ने हिस्सा लिया मगर ख़ास प्रतियोगिता सिर्फ़ इंग्लैण्ड और फ़ास इन दोनो में ही रही। इस दौड़ में, अमेरिका में भी और भारत में भी, इंग्लैण्ड बहुत आगे हो लिया था। पंद्रहवें लुई के अयोग्य शासन में होने के अलावा फ़ास, योरप की राजनीति में बहुत ज्यादा उलझा हुआ था। सन् १७५६ से १७६३ ई० तक योरप, कनाडा और भारत में भी इन दोनों शक्तियों में तथा औरों में इस बात का निपटारा करने के लिए युद्ध हुए कि किसका प्रभुत्व हो। यह युद्ध 'सात साल का युद्ध' कहलाता है। इसका एक टुकडा हम भारत मे देख चुके हैं जिसमें फ़्रांस की हार हुई थी। कनाडा में भी इंग्लैण्ड की विजय हुई। योरप में इंग्लैण्ड ने वह नीति बरती जिसके लिए वह मशहूर हो चुका है, यानी पैसा देकर अपनी ओर से दूसरो को लड़वाना। फ़्रेडरिक महान इंग्लैण्ड का साथी था।

इस सात वर्ष के युद्ध का नतीजा इंग्लैण्ड के लिए बहुत फ़ायदेमन्द रहा। भारत और कनाडा, दोनों ही देशों में उसका कोई भी योरपीय प्रतियोगी बाक़ी न रहा। समुद्रो पर भी उसकी नौ-सेना का दबदबा क़ायम हो गया। इस तरह इंग्लैण्ड की ऐसी स्थिति हो गई कि वह अपने साम्राज्य को जमावे और बढावे और संसार की एक बड़ी शक्ति बन जाय। प्रशिया का भी महत्व बढा।

इस लड़ाई-झगड़े से योरप फिर पस्त हो गया और सारे महाद्वीप मे फिर पहले से ज्यादा शान्ति नजर आने लगी। लेकिन यह शान्ति प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस को पौलैण्ड की रियासत को हडप जाने से न रोक सकी। पौलैण्ड की ऐसी हालत न थी कि इन शक्तियो से लडता, इसलिए ये तीनो भेड़िये उस पर टूट पडे और इन्होने बार-बार उसके हिस्से बाँट कर पोलैंड के आजाद देश का अन्त कर दिया। सन् १७७२, १७९३ और १७९५ ई०, मे तीन बार बँटवारे हुए। पहले बँटवारे के बाद पोलैण्ड के लोगो ने, जो पोल कहलाते है, अपने देश को सुधारने और मजबूत बनाने के लिए जबरदस्त कोशिश की। उन्होने पार्लमेण्ट कायम की और वहाँ कला और साहित्य का उद्धार हुआ। लेकिन पौलैण्ड के चारो तरफ़ के निरकुश तानाशाहो के मुह खून लग चुका था और वे रुकनेवाले न थे। इसके अलावा पार्लमेण्टो से उनको नफरत थी। इसलिए पोल लोगो के देश-प्रेम और महान् योद्धा कोसियस्को के नेतृत्व में बहादुरी के साथ लड़ने पर भी, सन् १७९५ ई० मे योरप के नक्शे पर पोलैण्ड का निशान बाकी न रहा। उस वक्त पोलैण्ड तो मिट गया लेकिन पोल लोगो ने अपने देश-प्रेम को जीवित रक्खा और वे आज़ादी का स्वप्न फिर भी देखते रहे। एक सौ तेईस वर्ष बाद उनका स्वप्न सच्चा हुआ और योरप के महायुद्ध के बाद पोलैण्ड फिर एक स्वतन्त्र देश के रूप मे प्रकट हुआ।

मै लिख चुका हूँ कि अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे योरप मे थोड़ी-बहुत शान्ति थी। लेकिन वह ज्यादा दिन न टिक सकी, क्योकि वह ज़्यादातर ऊपरी सतह पर ही थी। उस सदी में जो बहुत-सी घटनायें हुईं उनको भी मै बतला चुका हूँ। लेकिन असल में अठारहवी सदी तीन घटनाओं, यानी तीन क्रान्तियो, के लिए मशहूर है, और इन सौ वर्षों मे योरप में और जो कुछ भी हुआ वह इन तीन घटनाओ के सामने तुच्छ मालूम होता है। ये तीनो क्रान्तियाँ इस सदी के आख़िरी पच्चीस वर्षों में हुईं। ये क्रान्तियाँ तीन स्पष्ट किस्मो की थी—राजनैतिक, औद्योगिक और सामाजिक। राजनैतिक क्रान्ति अमरीका में हुई। यह वहाँ के अंग्रेजी उपनिवेशो का विद्रोह था जिसका नतीजा यह हुआ कि 'युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका,' यानी अमरीका का संयुक्त राज्य, का स्वाधीन प्रजातन्त्र बना जो हमारे आज के ज़माने में इतना शक्तिशाली होने वाला था। औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड में शुरू हुई। वहाँ से पहले तो वह पश्चिम योरप के अन्य देशों मे फैली और फिर दूसरे देशो में। वह शान्तिमय लेकिन बहुत दूर तक प्रभाव डालने वाली क्रान्ति थी और सारी दुनिया की जिन्दगी पर जितना इसका असर पड़ा उतना इससे पहले इतिहास में लिखी हुई किसी भी घटना का नही पड़ा। इसका नतीजा हुआ भाप और बड़ी मशीन और आख़िर में उद्योगवाद की उन अनगिनती शाखाओं का आगमन, जो आज हम अपने चारो तरफ़ देख रहे है। फ़्रांस की महान क्रान्ति सामाजिक

क्रान्ति थी जिसने न केवल फ्रांस के तानाशाहों का ही अन्त कर दिया बल्कि अनेक विशेषाधिकारों को भी खतम कर दिया और नये-नये वर्गों को आगे ला दिया। इन तीनों क्रान्तियों पर हम जरा खुलासा तौर से अलग-अलग विचार करेंगे।

हम देख चुके हैं कि इन परिवर्त्तनो की शुरुआत से पहले योरप में बादशाहतों का ज़ोर था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड में पार्लमेण्टें तो थीं लेकिन उनकी बाग-डोर अमीरों और धनवानों के हाथ में थी। क़ानून बनाये जाते थे तो धनवानों के लिए और उनके माल, अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए। शिक्षा भी सिर्फ़ धनवान और विशेषाधिकार वाले वर्गों के लिए थी। असल में खुद सरकार ही इन वर्गोंके लिए थी। उस जमाने की एक सबसे बड़ी समस्या गरीबो की समस्या थी। हालाँकि ऊपर के लोगों की हालत में कुछ सुधार हुआ लेकिन गरीबो की मुसीबतें वैसी ही बनी रहीं, बल्कि ज्यादा बढ़ गईं।

अठारहवीं सदी भर में योरप के राष्ट्र गुलामो का क्रूर और हृदयहीन व्यापार करते रहे। वैसे तो योरप में गुलामी खतम हो चुकी थी, हालाँकि काश्तकार लोगों की हालत, जिन्हे असामी कहते थे, गुलामों से अच्छी न थी। लेकिन अमरीका की खोज के बाद गुलामों का पुराना व्यापार अपने सबसे अधिक निर्दय रूप में फिर चेत गया। स्पेनियों और पुर्तगालियो ने इसकी इस तरह शुरूआत की कि वे अफ़रीका के किनारों पर से हबशियो को पकड़-पकड़ कर अमरीका ले जाने लगे और उनसे खेतों में काम लेने लगे। इस घृणित व्यापार में इंग्लैण्ड ने भी भरपूर हिस्सा लिया। जगली जानवरों की तरह शिकार किये जाकर अफरीकनों के पकड़े जाने और जजीरो से कसकर अमरीका को लादे जाने की भयकर मुसीबतों का कुछ भी अन्दाजा लगाना तुम्हारे लिए या हममें से किसी के लिए बहुत मुश्किल है। हजारों तो वहाँ पहुचने से पहले ही चल बसते थे। इस दुनिया मे जितने लोगो ने मुसीबतें झेली है उनमें सबसे ज्यादा मुसीबतो का भार शायद हबशियों पर ही पडा है। उन्नीसवी सदी में गुलामी की प्रथा कानूनन मिटा दी गई और इंग्लैण्ड इस बात में अगुआ रहा। अमरीका मे इस सवाल का निपटारा करने के लिए एक गृह-युद्ध हुआ। आज अमरीका के सयुक्त राज्य में बसने वाले करोड़ों हबशी इन्ही गुलामो की सन्तान है।

मैं इस पत्र को यह बतलाकर एक अच्छे सुर मे खतम करूँगा कि इस सदी में जर्मनी और आस्ट्रिया में संगीत की बड़ी भारी तरक़्क़ी हुई। तुम जानती हो कि योरपीय सगीत के नेता जर्मन लोग हैं। इनमें से कुछ बड़े-बड़े सगीतज्ञो के नाम सत्रहवी सदी मे भी सामने आते है। दूसरे देशो की तरह ही योरप में भी सगीत क़रीब-करीब धार्मिक कृत्यो का अग था। धीरे-धीरे ये दोनो अलग होने लगे और सगीत स्वयम ही कला बन गया जिसका धर्म से कोई सम्बन्ध न रहा। मोजार्ट और बीथोवन—ये दो नाम अठारहवी सदी में रोशन होते हैं। दोनो बालगन्धर्व थे; दोनों ही प्रतिभाशाली राग-लेखक थे। यह अजीब बात है कि बीथोवन, जो शायद पश्चिम का सबसे महान् राग-लेखक माना जाता है, बिलकुल बहरा हो गया था और जिस अद्भुत सगीत की रचना उसने दूसरों के लिए की उसे वह खुद नही सुन सकता था। लेकिन उस सगीत को पकड़ने से पहले उसके हृदय ने जरूर उसे गाकर सुनाया होगा।

: ९७ :

बड़ी मशीन का आगमन

२६ सितम्बर, १९३२

अब हम उस की चर्चा करेंगे जो औद्योगिक क्रान्ति कहलाती है। इसकी शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई इसलिए इंग्लैण्ड में ही हम संक्षेप में इस पर ग़ौर करेगे। मैं इसके लिए कोई ठीक सन् नही बतला सकता क्योंकि यह परिवर्त्तन जादू की तरह किसी खास वर्ष में नही हुआ। लेकिन फिर भी वह काफ़ी तेजी के साथ हुआ और अठारहवीं सदी के बीच से लगाकर आगे के सौ वर्ष से कम समय में ही उसने जिंदगी की सूरत बदल दी। इन पत्रों में तुमने और मैंने, दोनों ने, दुनिया की शुरुआत से लगा कर हजारो वर्ष के इतिहास के

सिलसिले का सिंहावलोकन किया है और बहुत से परिवर्त्तन हमारी निगाह में आये हैं। लेकिन ये सब परिवर्त्तन, जो कभी-कभी बहुत बड़े भी हुए, लोगों की जिन्दगी और रहन-सहन के ढंग को गहराई के साथ नही बदल सके। अगर सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर भारत में अकबर के दरबार में अचानक चले आते, या अठारहवीं सदी के शुरू में इंगलैण्ड या फ़्रांस में पहुंच जाते, तो बहुत से परिवर्त्तन उनकी नजर में आते। इनमे से कुछ परिवर्त्तनों को वे पसन्द करते और कुछ को नापसन्द। लेकिन सरसरी तौर पर, कम से कम बाहर से, वे दुनिया को पहचान लेते, क्योंकि विचारों में उन्हें बहुत फ़र्क़ नहीं मालूम होता। और जहाँ तक ऊपरी बातों से ताल्लुक़ है वे अपने को बिलकुल अजनबी नहीं महसूस करते। अगर वे सफ़र करना चाहते तो घोड़े पर या घोड़ा-गाड़ी पर करते, जैसाकि अपने जमाने में किया करते थे; और सफर में वक़्त भी क़रीब-क़रीब उतना ही लगता।

लेकिन इन तीनो में से एक भी अगर हमारे जमाने की दुनिया में आजाय तो उसे बड़ा जबरदस्त अचम्भा होगा। और यह अचम्भा बहुत करके उसके लिए दर्दभरा भी हो सकता है। वह देखेगा कि आजकल लोग तेज से तेज घोड़े से भी ज्यादा तेजी के साथ, या शायद कमान से छूटे हुए तीर से भी ज्यादा तेजी के साथ, सफ़र करते है। रेल, स्टीमर, मोटर और हवाई जहाज में वे अद्भुत तेजी के साथ सारी दुनिया में दौड़ते फिरते हैं। फिर उसकी दिलचस्पी तार, टेलीफोन, बेतार के तार, छापेखानो से प्रकाशित होनेवाली अनगिनती किताबो, अखबारो, और सैकड़ो दूसरी चीजों में होगी जो सब अठारहवी सदी और उसके बाद की औद्योगिक क्रान्ति के लाये हुए उद्योग के नये तरीको के नतीजे है। सुकरात या अशोक या जूलियस सीजर इन नय तरीक़ो को पसन्द करेगे या नापसन्द, यह मै नही कह सकता, लेकिन इसमे शक नही कि वे उनको अपने जमाने के तरीक़ो से बिलकुल भिन्न पावेंगे।

औद्योगिक क्रान्ति ने दुनिया को बड़ी मशीन दी। उसने मशीन-युग या यांत्रिक युग की शुरुआत की। पहले भी मशीनें जरूर थी, लेकिन इतनी बड़ी नहीं, जितनी कि नई मशीनें। मशीन है क्या? वह इन्सान को उसके काम में मदद देनेवाला बड़ा औजार है। आदमी औजार बनानेवाला जन्तु कहा जाता है और अपनी जिन्दगी के शुरू से वह औजार बनाता रहा है और उनको अच्छा बनाने की कोशिश करता रहा है। दूसरे जानवरो पर, जिनमे-से बहुत से उससे ज्यादा ताक़तवर थे, उसका प्रभुत्व औजारों के ही कारण स्थापित हुआ था। औजार उसके हाथ का ही बढ़ा हुआ रूप है; या उसे तीसरा हाथ भी कह सकते हैं। मशीन औजार का बढ़ा हुआ रूप है। औजार और मशीन ने मनुष्य को पशुजगत-से ऊपर उठा दिया। इन्होने मनुष्य-समाज को प्रकृति की ग़ुलामी से छुड़ाया। औजार और मशीन की मदद से मनुष्य के लिए चीजे बनाना आसान हो गया। वह ज्यादा चीजे बनाने लगा और फिर भी उसे ज्यादा फ़ुरसत रहने लगी। और इसका नतीजा यह हुआ कि सभ्यता की कलाओ की और विचारो तथा विज्ञान की उन्नति हुई।

लेकिन बड़ी मशीन और उसके सब साथी निरी बरकते ही नही साबित हुए। अगर इसने सभ्यता की तरक्की में मदद दी है तो लड़ाई और बरबादी के भयकर हथियार ईजाद करके बर्बरता को बढाने में भी मदद की है। अगर इसने चीजो की बहुतायत पैदा की है तो यह बहुतायत जनता के लिए नही बल्कि कुछ थोड़े से लोगो के लिए हुई है। इसने तो दौलतमदो के ऐश-आराम और ग़रीबों की गरीबी के अन्तर को पहले से भी ज्यादा बढ़ा दिया है। यह मनुष्य का औजार और सेवक होने के बजाय उसका स्वामी बनने का दावा करने लगी है। एक तरफ़ तो इसने सहयोग, सगठन, समय की पाबन्दी वग़ैरा गुण सिखाये हैं; दूसरी तरफ़ लाखो की जिन्दगी को एक ऐसी नीरस दिनचर्या और ऐसा यान्त्रिक भार बना दिया है जिसमें जरा भी खुशी और आजादी नही है।

लेकिन मशीन से जो बुराइयाँ पैदा हुई हैं उनके लिए हम उस बेचारी को क्यो दोष दें? दोष तो मनुष्य का है जिसने उसका दुरुपयोग किया है, और समाज का है जिसने उससे पूरा फ़ायदा नही उठाया। यह तो ध्यान में भी नही आसकता कि दुनिया या कोई देश, औद्योगिक क्रान्ति से पहले के पुराने जमाने को लौट जावे; और यह बात न तो जरूरी मालूम होती है, न बुद्धिमानी की कि हम लोग कुछ बुराइयों से छुटकारा पाने के लिए उद्योगवाद की लाई हुई अनेक अच्छी चीजों को फेंक दें। चाहे जो हो, मशीन तो अब आगई और बनी रहेगी। इसलिए हमारे सामने सवाल यही है कि उद्योगवाद की लाभकारी चीजों को रखलें और

उसके साथ जो बुराइयाँ चिपक गई हैं उनसे पिंड छुड़ावे। इससे पैदा होनेवाली दौलत से हमको फ़ायदा उठाना चाहिए लेकिन इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि यह दौलत उन लोगों में समान रूप से बँट जाय जो उसे पैदा करते हैं।

इस पत्र में मेरा इरादा तुम्हें इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के बारे में कुछ बतलाने का था। लेकिन जैसी कि मेरी आदत है, मैं असली बात से अलग हट गया हूँ और उद्योगवाद के प्रभावो की विवेचना करने लगा हूँ। मैंने तुम्हारे सामने वह समस्या रख दी है जो आज लोगों को परेशान कर रही है। लेकिन आज-तक आ पहुँचने से पहले हमको पिछले कल की बातो का वर्णन करना है; उद्योगवाद के नतीजों पर विचार करने से पहले हमको यह अध्ययन करना है कि वह कब और कैसे आया। मैंने यह भूमिका इतनी लम्बी इसलिए की है कि तुमको इस क्रान्ति का महत्त्व महसूस करा सकूँ। यह कोरी राजनैतिक क्रान्ति न थी जिससे सिर पर के बादशाह और शासक बदल गये हो। यह ऐसी क्रान्ति थी जिसका असर सब वर्गों पर और असल में हर आदमी पर पड़ा। मशीन और उद्योगवाद की विजय का मतलब था मशीन पर क़ब्ज़ा रखने वाले वर्गों की विजय। जैसा कि मै बहुत पहले बता चुका हूँ, शासन वही वर्ग करता है जो पैदावार के साधनो पर क़ब्ज़ा रखता है। पुराने ज़माने मे उपज का मुख्य साधन सिर्फ़ ज़मीन थी, इसलिए जो लोग ज़मीन के मालिक यानी ज़मीदार थे, उन्ही का प्रभुत्व था। सामन्तशाही के ज़माने में भी यही हाल रहा। इसके बाद ज़मीन के अलावा दूसरी तरह का धन प्रकट हुआ और ज़मीदार वर्ग के लोगो की ताकत पैदावार के नये साधनों के मालिको में बँटनी शुरू हो गई। और अब बड़ी मशीन का आगमन होता है जिससे उस पर कब्ज़ा रखने वाले वर्ग स्वाभाविक तौर पर आगे आ जाते हैं और मालिक बन बैठते हैं।

इन पत्रो के सिलसिले में मै कई बार तुमको बतला चुका हूँ कि शहरो के बुर्जुआ यानी मध्यमवर्गों का महत्त्व किस तरह बढ़ा और किस तरह वे सामन्ती अमीरो से संघर्ष करते रहे और कही-कही कुछ हद-तक विजयी भी हुए। मैने तुमको सामन्तशाही के पतन का हाल बतलाया है और शायद तुम्हारे दिल मे यह ख़याल पैदा कर दिया है कि इस नये मध्यमवर्ग ने उसकी जगह ले ली। अगर ऐसा है तो मैं अपनी ग़लती सुधारना चाहता हूँ क्योंकि मध्यमवर्ग ने बहुत धीरे-धीरे शक्ति प्राप्त की और उसका यह उत्कर्ष इस ज़माने में नही हुआ जिसका हम ज़िक्र कर रहे हैं। फ़्रांस मे महान क्रान्ति ने और इंग्लैण्ड में इसी तरह की क्रान्ति के डर ने कही जाकर मध्यमवर्ग को ऊपर उठने का मौका दिया। इंग्लैण्ड की सन् १६८८ ई० की क्रान्ति का नतीजा यह हुआ कि पार्लमेण्ट की विजय हो गई, लेकिन तुम्हे याद होगा कि ख़ुद पार्लमेण्ट भी लोगो की एक छोटी सी संख्या की, और ख़ासकर ज़मीदारो की, प्रतिनिधि थी। शहरो के कुछ बड़े-बड़े व्यापारी उसमें भले ही घुस जाते हों, लेकिन असल मे व्यापारी वर्ग, यानी मध्यमवर्ग के लिए उसमें कोई गुंजाइश न थी।

इसलिए राजनैतिक सत्ता उन लोगो के हाथो में थी जो ज़मीदारियो के मालिक थे। इंग्लैण्ड में ऐसा ही था और दूसरे देशो में तो और भी ज़्यादा था। ज़मीदारी पिता से पुत्र को उत्तराधिकार मे मिलती थी। इसलिए राजनैतिक सत्ता ख़ुद भी एक मौरूसी अधिकार बन गई। मैं इंग्लैण्ड के 'जेबी निर्वाचन क्षेत्रों' यानी पार्लमेण्ट मे प्रतिनिधि भेजनेवाले ऐसे चुनाव-क्षेत्रो के बारे में पहले ही लिख चुका हूँ जिनमें सिर्फ़ कुछ गिने-चुने निर्वाचक होते थे। ये गिने-चुने निर्वाचक आमतौर पर किसी की मुट्ठी में होते थे और इसलिए वह चुनाव-क्षेत्र उसकी जेब में समझा जाता था। ऐसे चुनाव लाज़मी तौर पर एक तमाशा होते थे; ख़ूब रिश्वते चलती थी और वोट तथा पार्लमेण्ट की सीटें बिकती थी। उन्नतिशील मध्यम-वर्ग के कुछ दौलतमन्द लोग इस तरह से पार्लमेण्ट की सीट ख़रीद सकते थे। लेकिन जनता के लोग दोनो में से एक तरफ़ भी निगाह नही डाल सकते थे। उनको तो कोई मौरूसी विशेषाधिकार या सत्ता मिलती न थी, और ज़ाहिर है कि वे सत्ता ख़रीद भी नही सकते थे। इसलिए जब धनवान और विशेषाधिकारवाले लोग उनपर बैठकर उनको शोषते थे तो वे कर ही क्या सकते थे? पार्लमेण्ट में या पार्लमेण्ट के मेम्बरो के चुनाव में भी उनकी कोई आवाज़ न थी। अधिकारी लोग उनके बाहरी प्रदर्शनों तक से बहुत नाराज़ होते थे और इन्हें बलपूर्वक दबा दिया जाता था। वे असंगठित, कमज़ोर और असहाय थे। लेकिन जब ज़ुल्म और मुसीबतों का प्याला पूरा भर गया तो वे क़ानून और व्यवस्था को भूलकर दंगा कर बैठे। इस तरह इंग्लैण्ड में अठारहवी सदी में दंगों का बहुत ज़ोर रहा। जनता की आर्थिक हालत आम तौर पर बहुत

खराब थी। छोटे-छोटे काश्तकारों की ज़मीनें छीन कर और उन्हें बाहर निकालकर बड़े-बड़े ज़मींदार अपनी जागीरें बढ़ाने की कोशिशें कर रहे थे, जिससे यह हालत और भी बुरी होती जा रही थी। गाँवों की मुश्तरका ज़मीन भी हड़प ली जाती थी। ये सब बातें जनता की मुसीबतों को बढ़ानेवाली थीं। राजशासन में कोई आवाज़ न होने के कारण भी आम लोग नाराज़ थे और कुछ ज्यादा स्वाधीनता के लिए दबीदबी-सी माँग करते थे।

फ़्रांस में तो हालत और भी खराब थी जिसके फलस्वरूप वहाँ राज्य-क्रान्ति हो गई। इंग्लैण्ड में बादशाह का महत्व कुछ नहीं रहा था और सत्ता ज्यादा लोगों के हाथ में आ गई थी। इसके अलावा इंग्लैण्ड में फ़्रांस की तरह के राजनैतिक विचारों का विकास नहीं हुआ था। इसलिए इंग्लैण्ड एक बड़े भारी विस्फोट से बच गया और वहाँ परिवर्तन ज़रा धीरे-धीरे हुए। इसी अर्से में उद्योगवाद और नये आर्थिक ढांचे के कारण जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तनों ने इस चाल को तेज़ कर दिया।

अठारहवीं सदी में इंग्लैण्ड की यही राजनैतिक परिस्थिति थी। खासकर विदेशी कारीगरों के आ बसने से इंग्लैण्ड घरू उद्योग-धंधों में बहुत आगे बढ़ गया। योरप के धार्मिक युद्धों ने बहुत-से प्रोटेस्टेण्टों को अपने देश और घर छोड़ कर इंग्लैण्ड में शरण लेने के लिए मजबूर किया। जिस समय स्पेनवाले निदरलैण्ड्स में होनेवाले विद्रोह को कुचलने की कोशिश कर रहे थे उस समय बहुत से कारीगर निदरलैण्ड्स भाग कर इंग्लैण्ड आ गये। कहा जाता है कि इन में से तीस हज़ार इंग्लैण्ड के पूर्वी भाग में बस गये और रानी एलिज़ाबेथ ने उनको इस शर्त पर वहां बसने की आज्ञा दी कि हरेक घर में एक अंग्रेज को काम सिखाने के लिए रक्खा जाय। इससे इंग्लैण्ड को अपने कपड़ा बुनने के उद्योग को बनाने में मदद मिली। जब यह उद्योग जम गया तो अंग्रेज़ों ने निदरलैण्ड्स के बने हुए कपड़े का इंग्लैण्ड में आना रोक दिया। उधर निदरलैंड्स अभी तक अपनी आज़ादी के खूंखार युद्ध में फँसा हुआ था जिससे उसके उद्योग-धंधों को नुक़सान पहुँच रहा था। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले निदरलैण्ड्स के कपड़ों से भरे हुए जहाज़ के जहाज़ इंग्लैण्ड जाया करते थे, वहाँ बहुत जल्दी न सिर्फ़ यह बन्द हो गया—बल्कि उल्टे अंग्रेजी कपड़े निदरलैण्डस् की तरफ़ जाने लगे और इनकी मिक़दार बढ़ती ही गई।

इस तरह बेलजियम के वॉलून लोगों ने अंग्रेज़ों को कपड़ा बुनना सिखाया। बाद में फ़्रांस से प्रोटेस्टेण्ट शरणार्थी ह्यूजीनॉट लोग आये और इन्होंने अंग्रेज़ों को रेशमी कपड़ा बुनना सिखाया। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में योरप के बहुत-से होशयार कारीगर इंग्लैण्ड चले आये और अंग्रेज़ लोगों ने इनसे बहुत-से धन्धे सीखे, जैसे, कागज़, काँच, चाभी के खिलौने, तथा जेबी और दीवार की घड़ियाँ बनाना।

इस तरह इंग्लैण्ड, जो अभी तक योरप का एक पिछड़ा हुआ देश था, महत्त्वमें और धन में बढ़ने लगा। लन्दन की भी बढ़ोतरी हुई और वह सौदागरों और व्यापारियों की पनपती हुई आबादीवाला एक काफ़ी महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया। एक दिलचस्प कहानी से हमको पता लगता है कि सत्रहवीं सदी के शुरू में ही लन्दन एक बड़ा-भारी बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र था। इंग्लैण्ड का बादशाह जेम्स प्रथम जो चार्ल्स प्रथम का—जिसका कि सर उड़ा दिया गया था—पिता था, बादशाहों की तानाशाही और दैवी अधिकार को पूरी तरह माननेवाला था। वह पार्लमेण्ट को और लन्दन के इन कल के व्यापारियों को पसन्द नहीं करता था। और उसने गुस्से में आकर लन्दन के नागरिकों को अपनी राजधानी ऑक्सफ़ोर्ड ले जाने की धमकी दी। लन्दन के लॉर्ड मेयर पर इस धमकी का कुछ भी असर न हुआ और उसने कहा—"मुझे आशा है कि हिज़ मैजेस्टी हमारे लिए टेम्स नदी तो छोड़ जाने की शाही कृपा करेंगे!"

पार्लमेण्ट की मदद पर यही दौलतमंद व्यापारी वर्ग था और इसी ने चार्ल्स प्रथम के साथ होने वाली लड़ाई में उसको खूब रुपया दिया था।

इंग्लैण्ड में जो ये सब उद्योग-धन्धे पैदा हुए वे घरू-धंधे या ग्राम-उद्योग कहलाते हैं। यानी कारीगर या दस्तकार लोग आम तौर पर अपने घरों में या छोटे-छोटे गिरोहों में काम करते थे। हरेक धन्धे के दस्तकारों की 'गिल्ड' या समितियाँ होती थीं जो भारत की बहुत सी जातियों से मिलती-जुलती थीं लेकिन जिनमें इन जातियों का-सा धार्मिक तत्त्व नहीं होता था। दस्तकारियों के उस्ताद या मिस्तरी लोग शागिर्द रखते थे और उनको अपने हुनर सिखलाते थे। जुलाहों के निजी करघे होते थे, कातनेवाले निजी चरखे रखते थे। कताई का खूब प्रचार था और यह धन्धा लड़कियाँ और औरतें फ़ालतू वक़्त में करती थीं। कहीं-कहीं छोटे

छोटे कारखाने होते थे जहाँ बहुत-से करघे इकट्ठे कर लिये जाते थे और जुलाहे मिल कर काम करते थे। लेकिन हरेक बुनकर अपने करघे पर अलग ही काम करता था, और चाहे वह इस करघे पर अपने घर ही काम करता या दूसरे बुनकरों और उनके करघो के साथ किसी दूसरी जगह काम करता, इन दोनों बातो में दरअसल कोई फ़र्क़ न था। यह छोटा कारखाना बड़ी मशीनो वाले आधुनिक कारखानों से बिल्कुल भिन्न था।

उस ज़माने में उद्योग-धन्धों का यह घरू दर्जा सिर्फ़ इंग्लैण्ड में ही नही बल्कि दुनिया भर के हरेक देश में, जहाँ उद्योग-धन्धे होते थे, फूल-फल रहा था। मसलन भारत में ये घरू उद्योग-धन्धे बहुत उन्नत थे। इंग्लैण्ड में घरू उद्योग-धन्धे क़रीब-क़रीब बिलकुल ख़तम हो गये, लेकिन भारत में अब भी बहुत-से मौजूद हैं। भारत में बड़ी मशीन और घरू करघा दोनो साथ-साथ चल रहे हैं, और इन दोनों की समानता और भिन्नता की तुलना की जा सकती है। तुम जानती हो कि हम जो कपड़ा पहनते है वह खादी है। यह हाथ-कता और हाथ-बुना है, और इसलिए पूरी तरह भारत की कच्ची झोपड़ियो मे बना हुआ है

नये यांत्रिक आविष्कारो ने इंग्लैण्ड के घरू उद्योग-धन्धों की काया ही पलट दी। मशीनें आदमी का काम दिन-पर-दिन ज्यादा करने लगी और उनके ज़रिये कम मेहनत से ज्यादा माल पैदा करना आसान हो गया। ये आविष्कार अठारहवी सदी के बीच में शुरू हुए और इनका वर्णन हम अगले पत्र में करेंगे।

मैंने संक्षेप में अपने खादी आन्दोलन का ज़िक्र किया है। इसके बारे में यहाँ मै ज्यादा नही लिखना चाहता। लेकिन मैं तुमको बतला देना चाहता हूँ कि यह आन्दोलन या चरखा बड़ी मशीन से मुक़ाबला करने के लिए नही हैं। बहुत-से लोग इस ग़लती में पड जाते है और यह ख़याल करने लगते हैं कि चरखे का अर्थ है मध्य युगों को लौट जाना और मशीनो तथा उद्योगवाद के सब फलो को रद्दी समझ कर फेंक देना। यह सब ग़लत है। हमारा आन्दोलन निश्चय ही न तो उद्योगवाद के ही विरुद्ध है और न मशीनो और कारखानों के। हम तो चाहते हैं कि भारत को सबसे अच्छी चीजें मिले और जहाँ तक हो सके बहुत जल्दी मिलें। लेकिन भारत की मौजूदा हालत को, और खासकर अपने किसानो की भयकर ग़रीबी को देखते हुए, हम उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपने फालतू समय में सूत कातें। इस तरह वे न सिर्फ़ कुछ हद तक अपनी स्थिति सुधारते हैं बल्कि विदेशी कपड़े पर हमारी उस निर्भरता को भी कम करते है जिसकी वजह से हमारे देश का इतना धन बाहर जाता रहता है।

: ९८ :

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत

२७ सितम्बर, १९३२

अब मैं तुमको कुछ यान्त्रिक आविष्कारो के बारे में बतलाना चाहता हूँ, जिन की वजह से पैदावार के तरीक़ों में बडा ज़बर्दस्त फ़र्क़ पड गया। आज जो हम उनको किसी मिल या कारखाने में देखते हैं तो वे बड़े सरल मालूम पड़ते है। लेकिन पहले-पहल उनका विचार करना और उनको आविष्कार करना बड़ी मुश्किल बात थी। सबसे पहला आविष्कार सन् १७३८ ई० में हुआ जब 'के' नामक एक अंग्रेज ने कपड़ा बुनने की सरकवाँ ढरकी बनाई। इस आविष्कार से पहले बुनकर के हाथ की ढरकी का धागा लम्बे फैले हुए ताने के तारों में धीरे-धीरे पिरोया जाता था। सरकवाँ ढरकी के ज़रिये यह काम बहुत जल्दी होने लगा जिससे बुनकर दूना माल तैयार करने लगे। इसका मतलब यह हुआ कि अब बुनकर पहले से बहुत ज्यादा सूत काम में ला सकता था। सूत की एक बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में कतवारियों को बड़ी दिक़्क़त हुई और वे भी अपनी पैदावार बढ़ाने की कुछ तरकीब निकालने की कोशिश करने लगे। सन् १७६४ ई० में हारग्रीव्ज़ ने कातने की 'जेनी' का आविष्कार करके इस समस्याको कुछ-कुछ हल कर दिया। इसके बाद रिचार्ड आर्कराइट

और दूसरे लोगों ने और-और आविष्कार किये; जल-शक्ति का और बाद में भाप की शक्ति का उपयोग होने लगा। शुरू में ये सब आविष्कार सूती कपड़े के उद्योग में काम में लाये गये और सूती कारखाने या मिलें धड़ा-धड़ खड़ी होने लगीं। इसके बाद इन नये तरीक़ों को उपयोग में लानेवाला ऊनी कपड़ों का उद्योग था।

इसी अर्से में सन् १७६५ ई० में जेम्स वाट ने भाप का इंजन बनाया। यह एक बड़ी भारी घटना थी और इसका नतीजा यह हुआ कि कारखानों को चलाने में भाप का उपयोग होने लगा। इन नये कारखानों के लिए कोयले की जरूरत पड़ी इसलिए कोयले के उद्योग की तरक़्क़ी हुई। कोयले के उपयोग से लोहा गलाने के, यानी कच्चे लोहे को गला कर शुद्ध धातु अलग करने के, नये तरीक़े ईजाद हुए। इस पर लोहे का उद्योग बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। नये-नये कारखाने कोयले की खानों के पास बनाये जाने लगे क्योंकि वहाँ कोयला सस्ता पड़ता था।

इस तरह इंग्लैण्ड में तीन नये उद्योगों—कपड़ा, लोहा और कोयला—का विकास हुआ और कोयले के क्षेत्रों और दूसरी अनुकूल जगहों में कारखाने खड़े होने लगे। इंग्लैण्ड की काया ही पलट गई। हरे-हरे खुशनुमा देहातों के बजाय अब बहुत-सी जगह पर ये नये कारखाने पैदा हो गये जिनकी लम्बी-लम्बी चिमनियाँ धुआँ उगल कर आसपास अँधेरा करने लगी। कोयलो के ऊँचे टीलों और कूड़े-कचरे के ढेरो से घिरे हुए ये कार-खाने सुन्दर नही मालूम होते थे। इन कारखानो के पास बसने वाले औद्योगिक नगर भी कोई सुन्दर चीज न थे। वे तो किसी तरह खड कर लिये गये थे, क्योकि मिल-मालिको का तो असली उद्देश्य था रुपया बनाते रहना। ये नगर भद्दे, बड़े और गन्दे थे और भूखों मरते मजदूरो को मजबूरी से इन नगरो और कारखानों को भयंकर अस्वास्थकर स्थिति में रहना पडता था।

तुम्हे याद होगा कि मैं बड़े जमीदारो के द्वारा छोटे-छोटे काश्तकारों की जमीनें छीनी जाने और बेकारी के बढने के बारे में लिख चुका हूँ, जिससे इंग्लैण्ड में दगे हुए और अशान्ति पैदा हुई। शुरू-शुरू में इन नये उद्योगो ने हालत और भी खराब कर दी। खेती-बाड़ी को नुकसान पहुँचा और बेकारी बढ़ने लगी। वास्तव में जैसे ही कोई नया आविष्कार होता, वैसे ही उसका नतीजा यह होता कि हाथ के काम की जगह मशीनें ले लेती। उसका फल यह होता था कि बहुत बार मजदूर लोग नौकरी से निकाल दिये जाते थे, जिससे उनमें बहुत असन्तोष पैदा हो जाता था। इनमें से बहुत-से तो नई मशीनो से नफ़रत करने लगे और उनको तोड़ डालने की भी कोशिश करने लगे। ये लोग 'मशीन तोड़नेवाले' कहलाने लगे।

योरप में मशीन-तोडाई का एक लम्बा इतिहास है जो सोलहवी सदी से शुरू होता है जब कि जर्मनी में एक मामूली मशीन का करघा ईजाद हुआ। इटली के एक पादरी की सन् १५७९ ई० में लिखी गई एक पुरानी पुस्तक में इस करघे के बारे में लिखा है कि डैनज़िग की नगर-सभा ने "इस डर से कि यह आविष्कार सैकड़ो कारीगरो को दर-दर का भिखारी बना देगा, मशीन को नष्ट करवा दिया और आविष्कार करनेवाले को चुपचाप गला घोटकर या पानी में डुबोकर मरवा डाला!" इस आविष्कारक का इस तरह झटपट अंत कर दिये जाने पर भी सत्रहवी सदी में यह मशीन फिर प्रकट हुई और इसके कारण सारे योरप में दगे-फिसाद हुए। इसके उपयोग को रोकने के लिए कितनी ही जगह क़ानून बनाये गये और कही-कही तो बीच बाजार में सब लोगो के सामने इसमें आग लगाई गई। अगर यह मशीन जिस समय ईजाद हुई थी उसी समय उपयोग में आ जाती तो सम्भव है इसके बाद दूसरे आविष्कार होते और मशीन-युग जरा जल्दी आ जाता। लेकिन सिर्फ यही बात कि इसका उपयोग नही किया गया यह साबित करती है कि उस वक्त परिस्थितियाँ इसके अनुकूल न थीं। जब अनुकूल परिस्थिति पैदा हो गई तो इंग्लैण्ड में बहुत-से दगे-फिसाद होने पर भी मशीन की सत्ता स्थापित हो गई। मजदूरों की मशीन के प्रति नाराजगी स्वाभाविक थी। लेकिन धीरे-धीरे वे जान गये कि दोष मशीन का न था, बल्कि उस तरीक़े का था जिससे वह थोड़े-से लोगो के फायदे के लिए काम में लाई जाती थी। लेकिन अब हमको इंग्लैण्ड में मशीन और कारखानो के विकास की तरफ़ लौटना चाहिए।

नये कारखाने बहुत से घरेलू उद्योगों और घरू काम करनेवालों को खा गये। इन घरू काम करने वालों के लिए मशीन से होड़ करना सम्भव न था, इसलिए या तो उनको अपने पुराने हुनरों और धधों को छोड़कर उन्हीं कारखानों में मजदूरी तलाश करनी पड़ती थी, जिनसे वे नफ़रत करते थे, या बेकारों में

शामिल होना पड़ता था। घरेलू उद्योगों का विनाश एकदम तो नहीं हुआ, लेकिन हुआ काफी तेजी के साथ। सदी के अन्त तक, यानी क़रीब सन् १८०० ई० तक, बहुत-से बड़े-बड़े कारखाने नजर आने लगे। तीस साल बाद इंग्लैण्ड में स्टीफेन्सन के 'रॉकिट' नामक प्रसिद्ध इंजन के साथ भाप से चलनेवाली रेलें शुरू हुईं। इस तरह सारे देश में और उद्योग-धन्धों तथा जीवन के लगभग सारे कामों में मशीन दिन-पर-दिन आगे बढ़ती गईं।

यह दिलचस्प बात है कि सारे आविष्कारक, जिनमें से बहुतो का ज़िक्र मैंने नहीं किया है, दस्तकारों के वर्ग में पैदा हुए थे। इसी वर्ग में से शुरू-शुरू के बहुत से औद्योगिक नेता निकले। लेकिन उनके आविष्कारो और इनके कारण पैदा होनेवाले कारखानो के ढंग का नतीजा यह हुआ कि मालिक और मजदूर के बीच की खाई और भी ज्यादा चौड़ी हो गई। कारखाने का मजदूर मशीन का सिर्फ एक किर्रा बन गया और उन जबर्दस्त आर्थिक शक्तियों के हाथ में असहाय हो गया जिनको वह समझ तक नही सकता था; उनपर क़ाबू पाना तो दूर रहा। दस्तकार और कारीगर को सबसे पहले खटका तो तभी हुआ था जब उन्हें पता लगा कि नये कारखाने उन लोगो से प्रतियोगिता कर रहे हैं और चीजें इतनी सस्ती बनाकर बेच रहे हैं, जितनी सस्ती अपने सादे और पुराने औजारों से घर पर बनाकर बेचना उनके लिए सम्भव न था। कोई कसूर न होते हुए भी उनको अपनी छोटी-छोटी दुकानें बन्द करनी पड़ी। अगर वे अपने ही हुनर को नही चला सकते थे तो नये काम में सफल होना तो दूर की बात थी। बस, वे बेकारो की फौज मे शामिल हो गये और भूखों मरने लगे। अंग्रेजी कहावत है कि "भूख कारखानेदार का ड्रिल-सारजैण्ट' है", और इसी भूख ने आखिर इन कारीगरो को नौकरी की तलाश में नये कारखानो के दरवाजो पर ला पटका। मालिकों ने उनके प्रति कुछ भी दया नही दिखाई। उन्होंने इन्हें काम तो दिया लेकिन सिर्फ कौड़ी भर मजदूरी पर, जिसके लिए इन कम्बख्त मजदूरो को कारखानो में अपना खून पानी कर देना पडता था। औरतें और छोटे-छोटे बच्चे तक भी दम घोट देने वाली और अस्वास्थ्यकर जगहो में, दिन रात पिसते थे। यहा तक कि उनमे से बहुत से तो थकान के मारे ग़श-खाकर गिर पड़ते थे। लोग कोयले की खानो के अन्दर ठेठ नीचे सारे-सारे दिन काम करते थे और महीनो तक उनको सूरज के दर्शन न होते थे।

लेकिन यह खयाल न कर बैठना कि इन सबका कारण मालिको की क्रूरता ही थी। वे जान-बूझ कर निर्दय कभी न थे; दोष तो उस प्रणाली का था। वे तो जिस तरह हो अपना व्यापार बढाना चाहते थे और दुनिया की दूर-दूर की मंडियो को दूसरे देशो से छीनना चाहते थे, और ऐसा करने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। नये कारखानों के बनाने मे मशीनें खरीदने में और बहुत रुपया खर्च होता है। यह रुपया तभी वापस मिलता है, जब कारखाना चालू हो जाय और उसका माल बाजार में बिकने लगे। इसलिए नये कारखाने बनाने के लिए इन कारखानो के मालिको को किफायत से चलना पडता था और जब माल बिककर रुपया आ भी जाता था तो भी वे नये-नये कारखाने डालते चले जाते थे। इंग्लैण्ड में जल्दी उद्योगी-करण होने से ये लोग दुनिया के दूसरे देशो से आगे बढ़े हुए थे और वे इससे फायदा उठाना चाहते थे—और वास्तव में उन्होंने फ़ायदा उठाया भी। बस, अपना व्यापार बढाने और ज्यादा धन कमाने की बदहवास लालसा में वे उन बेचारे मजदूरों का खून चूसते थे जिनकी मेहनत उनका दौलत पैदा करने का साधन थी।

उद्योग-धन्धों का यह नया तरीक़ा बलवानो द्वारा निर्बलों के शोषण के लिए खास तौर पर अनुकूल था। सारे इतिहास में हम बलवानो द्वारा निर्बलो को शोषा जाता देखते हैं। कारखानो की प्रणाली ने इसे और भी आसान कर दिया। कानून के अनुसार गुलामी नही थी, लेकिन सच तो यह है कि भूखो मरनेवाला मज-दूर, यानी कारखाने का मजदूर गुलाम, पुराने जमाने के गुलामो से किसी तरह अच्छी हालत में न था। कानून हमेशा मालिकों का ही साथ देता था। धर्म भी उन्हीके पक्ष में था और ग़रीबो से कहता था कि इस जन्म में अपने फूटे भाग्य को बरदाश्त करो और अगले जन्म में स्वर्गीय मुआवज़े की आशा करो। अधिकारी वर्गों ने तो वास्तव में अपने सुभीते की फिलासफी बना ली थी कि समाज के लिए ग़रीबों का होना ज़रूरी है और इस-लिए कम मजदूरी देने मे कोई पाप नही है, बल्कि पुण्य है। अगर अच्छी मजदूरी दी जायगी तो ग़रीब लोग मौज

'ड्रिल-सारजैण्ट—फ़ौज को—ड्रिल—क़वायद कराने वाला अफ़सर जिसकी आज्ञा पर फ़ौज चलती है।

उड़ाने की कोशिश करेंगे और कड़ी मेहनत न करेंगे। विचार करने का यह तरीक़ा बड़ा तसल्ली देने वाला और उपयोगी था। क्योंकि कारखानेदारों और अन्य धनवान लोगों के भौतिक स्वार्थों के साथ यह बिल्कुल ठीक मेल खाता था।

इन ज़मानों का इतिहास बड़ा दिलचस्प और शिक्षाप्रद है। इससे कितनी जानकारी हासिल होती है। हम देख सकते हैं कि अर्थशास्त्र और समाज पर उत्पत्ति के इन यान्त्रिक तरीको का कितना ज़बर्दस्त असर पड़ता है। सारा सामाजिक तख्ता ही उलट जाता है, नये-नये वर्ग आगे आते हैं और अधिकार प्राप्त करते जाते हैं; कारीगरोंका वर्ग कारखानों का मज़दूरी कमानेवाला वर्ग बन जाता है। साथ-ही-साथ नई आर्थिक व्यवस्था, धर्म और नीति के बारे में भी लोगो के विचारों को नये साचे में ढाल देती हैं। मानव जनता के विश्वास उनके हितो या वर्ग भावनाओ के साथ-साथ दौड़ते हैं, और जब कानून बनाने का अधिकार उनके हाथ में आ जाता है तो वे अपने हितो की रक्षा करने के लिए कानून बनाने में खूब सावधानी रखते हैं। अलबत्ता यह सब नेकी की हर तरह की दिखावट के साथ किया जाता है और हर तरह से आश्वासन दिया जाता है कि क़ानून की तह मे सिर्फ़ मनुष्य जाति की भलाई करने का ही उद्देश्य है। हम भारतवासियो को भारत के अंग्रेज़ वाइसरॉयों और दूसरे अफसरो की ऐसी दिखावटी पवित्र भावनाओं का काफ़ी अनुभव है। हमसे हमेशा कहा जाता है कि भारत की भलाई के लिए वे लोग कितनी मेहनत करते है। लेकिन दूसरी तरफ़ वे आर्डिनेंसो और सगीनो के ज़ोर से हम पर राज करते हैं और हमारे देशवासियों के कलेजे का खून चूसते हैं। हमारे ज़मीदार लोग कहते हैं कि वे काश्तकारो से कितनी मुहब्बत रखते हैं, लेकिन उनको निचोडने और उनसे कसकर लगान वसूल करने में ज़रा भी नही हिचकते, यहांतक कि उन बेचारो के पास सिवाय भुखमरे शरीरो के और कुछ नही छोडते। हमारे पूंजीपति और बड़े-बडे मिल-मालिक मज़दूरों के प्रति अपनी सदिच्छाओ का विश्वास दिलाते है, लेकिन यह सदिच्छा अच्छी मज़दूरी या मज़दूरों के लिए अधिक सुविधाओ के रूप में प्रगट नही होती। सारे मुनाफे नये-नये महल बनवाने मे खर्च हो जाते है; मज़दूरो की कच्ची झोपडियो को सुधारने मे नही।

ताज्जुब है कि लोग अपने आपको और दूसरो को किस कदर धोखा देते है, अगर ऐसा करने में उनका हित-साधन होता हो। इसलिए हम अठारहवी सदी और उसके बाद के अंग्रेज मालिकों को मज़दूरों की हालत सुधारने की सारी कोशिशो मे अडगा डालते हुए पाते है। उन्होने कारखानों के बारे में कानून बनाये जाने और मज़दूरो के लिए अच्छे मकान बनाये जाने पर ऐतराज़ किया और यह मानने से इन्कार किया कि मुसीबत के इन कारणों को दूर करना समाज का फर्ज़ है। वे तो यह सोच कर अपनी आत्मा को सतुष्ट कर लेते थे कि केवल निकम्मे लोग ही दुःख उठाते है। कुछ भी हो, वे तो मज़दूरों को अपने-जैसा आदमी भी नही समझते थे। उन्होने 'दखल न देने'[1] की एक नई फिलासफी बनाई, यानी वे चाहते थे कि अपने व्यापार में वे जो मन में आवे सो करें और सरकार उसमें कोई दखल न दे। दूसरे देशो से पहले चीज़े बनाने के कारखाने खोलने के कारण वे उनसे आगे थे और अब तो वे सिर्फ़ यही चाहते थे कि रुपया कमाने के लिए उनको खुली छूट मिल जाय। दखल न देने का न्याय क़रीब-करीब एक दैवी मत बन गया जिसके अनुसार यह माना जाता था कि इसमें हरेक के लिए अवसर था, बशर्ते कि वह फायदा उठावे। आगे बढ़ने के लिए हरेक स्त्री-पुरुष को बाकी संसार से लड़ना पड़ता था और अगर इस लड़ाई में बहुत-से काम आ जाते थे तो इसमें हर्ज क्या था?

इन पत्रों के दौरान में मैं तुमको मनुष्यो मे आपसी सहयोग की उन्नति के बारे मे लिख चुका हूँ, जो सभ्यता का आधार रहा था। 'लेकिन दखल न देने' के न्याय और नये पूंजीवाद ने मत्स्य-न्याय[2] चालू कर दिया कार्लाइल ने इसे "शूकर-नीति" नाम दिया है। जीवन और व्यापार का यह नया नियम किसने बनाया? मज़दूरों ने तो नही। उन बेचारों की तो सुनता ही कौन था। इसके बनानेवाले तो ऊँचे वर्ग के सफल मिल-

---

[1] Laissez Faire

[2] मत्स्य-न्याय—बलवानों के द्वारा निर्बलों के नाश का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य के सिवा संसार के सब प्राणी आचरण करते हैं। जंगल में छोटे जानवरों को बड़े जानवर मार कर खा जाते हैं और उनसे बड़े उनको मार कर खा जाते हैं। इसलिए यह 'जंगल का नियम' भी कहलाता है।

मालिक थे, जो मूर्खतापूर्ण भावनाओं के नाम पर अपनी सफलता में किसी तरह का दखल नहीं चाहते थे। बस, स्वाधीनता की और व्यक्तिवाद के अधिकार की दुहाई देकर वे इसका भी विरोध करते थे कि लोगों के निजी मकानों की क़ानून के ज़ोर से सफ़ाई कराई जाय और माल में मिलावट करना रोका जाय।

मैंने अभी पूँजीवाद शब्द का प्रयोग किया है। किसी न किसी रूप में पूँजीवाद बहुत दिनों से सब देशों में चला आ रहा था, यानी संचित धन से उद्योग चलाये जाते थे। लेकिन बड़ी मशीन और उद्योग-वाद के प्रचार का नतीजा यह हुआ कि कारखानों में माल तैयार करने के लिए बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत पड़ने लगी। यह "औद्योगिक पूंजी" कहलाती थी और पूंजीवाद शब्द आजकल उस आर्थिक व्यवस्था के लिए काम में लाया जाता है, जो औद्योगिक क्रांति के बाद पैदा हुई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीपति यानी पूँजी के मालिक, कारख़ानों का नियंत्रण करते थे और मुनाफा उठाते थे। औद्योगीकरण के साथ-साथ पूँजीवाद सारी दुनिया में फैल गया सिवाय, सोवियत रूस और शायद कुछ अन्य देशों के। पूँजीवाद अपनी शुरुआत के दिनों से ही अमीर और ग़रीब के भेद पर जोर देता रहा है। उद्योग-धन्धों के यन्त्रीकरण से माल की खपत बहुत ज्यादा बढ़ गई और इसलिए धन भी खूब पैदा होने लगा। लेकिन यह नया धन एक छोटी-सी जमात की ही जेब में जाता था—यानी नये उद्योगों के मालिकों की जेबों में। मजदूर गरीब के ग़रीब ही बने रहे। इंग्लैण्ड में मजदूरों की स्थिति बहुत ही धीरे-धीरे सुधरी, और वह भी ज्यादातर भारत तथा दूसरे देशों की लूट की बदौलत, लेकिन उद्योग के मुनाफे में मजदूरों का हिस्सा बहुत कम था। औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवाद ने पैदावार की समस्या को हल कर दिया। लेकिन जो नया धन पैदा हुआ उसके बटवारे की समस्या इनसे हल न हुई। धनिकों और निर्धनों की पुरानी कशमकश सिर्फ जारी ही न रही बल्कि और भी तीव्र हो गई।

औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। यह वही समय था जबकि अंग्रेज लोग भारत और कनाडा में लड़ रहे थे। यही 'सात साल की लड़ाई' का भी समय था। इन घटनाओं का एक दूसरी पर बहुत बड़ा असर पड़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके नौकर-चाकरों (तुम्हें क्लाइव का नाम याद होगा) ने प्लासी की लड़ाई के बाद जो बेशुमार रुपया भारत से लूटा उस से इन नये उद्योग-धन्धों को चालू करने में बड़ी मदद मिली। मैं इस पत्र में पहले लिख चुका हूँ कि औद्योगीकरण शुरू-शुरू में बड़े खर्चे का काम है। इसमें जो रुपया फँस जाता है, कुछ दिन तक उससे कुछ फायदा नहीं मिलता। अगर बहुत-सा धन हाथ में न आजाय, चाहे कर्ज़े से या दूसरी तरह से, तो जब तक व्यवसाय चल न निकले और रुपया न पैदा करने लगे तब तक उसका नतीजा गरीबी और मुसीबत ही होता है। इंग्लैण्ड का यह असाधारण सौभाग्य था कि ठीक जिस वक़्त उसे अपने उद्योग-धन्धों और कारखानों को बढ़ाने के लिए बहुत अधिक रुपये की जरूरत हुई तभी यह उसे भारत से मिल गया।

इन नये कारखानों के बन जाने पर नई जरूरतें पैदा हुईं। कारखानों की बनी हुई चीजें तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत हुई। मसलन, कपड़ा बनाने के लिए रुई की जरूरत पड़ी। इससे भी ज्यादा जरूरत थी नई-नई मंडियों की, जिनमें कारखानों में तैयार किया हुआ नया माल खपाया जा सके। कारखाने पहले खोलकर इंग्लैण्ड दूसरे देशों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इस पेशक़दमी के होते हुए भी उसे ऐसी मंडियां मुश्किल से मिलती थीं जहाँ माल आसानी से खपाया जा सकता। एक बार फिर भारत ने, अपनी मर्ज़ी के बिलकुल विरुद्ध, इंग्लैण्ड की यह दिक्कत दूर कर दी। भारत में अंग्रेजों ने भारतीय उद्योग-धन्धों का सत्यानाश करने और भारत पर विलायती कपड़ा लादने के लिए सब तरह की चालबाजियों से काम लिया। इसका ज्यादा हाल मैं आगे बतलाऊँगा। यहाँ यह बात खास तौर पर ध्यान देने की है कि अंग्रेजों ने भारत पर जो क़ब्जा कर रक्खा था और उसे जबरदस्ती अपनी योजनाओं में बैठा लिया था, इससे इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति को कितनी मदद मिली।

उन्नीसवीं सदी में उद्योगवाद सारी दुनिया में फैल गया और पूँजीवादी उद्योग का दूसरे देशों में भी आम तौर पर उसी ढंग से विकास हुआ जो इंग्लैण्ड में निश्चित हो चुका था। पूँजीवाद ने लाज़मी तौर पर एक नये साम्राज्यवाद को जन्म दिया क्योंकि हर जगह तैयार माल बनाने के लिए कच्चे माल की और तैयार माल को खपाने के लिए मंडियों की माँग बढ़ने लगी। मंडियाँ और कच्चा माल प्राप्त करने का सबसे आसान तरीक़ा यही था कि उस देश पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। बस, अधिक शक्तिशाली देशों में नये उपनिवेशों के लिए आपस में जबरदस्त छीना-झपटी होने लगी। इस मामले में भी भारत पर क़ब्ज़ा होने और अपनी

समुद्री ताक़त की वजह से इंग्लैण्ड फ़ायदे में था। लेकिन साम्राज्यवाद और उसके नतीजों के बारे में मुझे आगे चलकर कुछ कहना है।

औद्योगिक क्रान्ति के आगमन से अंग्रेज़ी दुनिया पर लकाशायर के बड़े-बड़े कपड़ा बनाने वालों, और लोहे के मालिकों और खानों के मालिकों का प्रभुत्व दिन-पर-दिन बढ़ता गया।

: ९९ :

अमरीका का इंग्लैण्ड से विच्छेद

२ अक्तूबर, १९३२

अब हम अठारहवीं सदी की दूसरी महान् क्रान्ति पर विचार करेंगे—यानी अमरीकी उपनिवेशो का इग्लैण्ड से विद्रोह। यह तो खाली राजनैतिक क्रान्ति थी, जो न तो औद्योगिक क्रान्ति जैसी प्रभावपूर्ण थी, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, और न फ़ास की उस राज्यक्रान्ति की तरह थी जो इसके थोडे ही दिनों बाद होनेवाली थी और जिसने योरप की सामाजिक नीव को ही हिला डाला। लेकिन फिर भी अमरीका में होनेवाला यह राजनैतिक परिवर्तन महत्वपूर्ण था और इससे बडे-बडे नतीजे निकलने वाले थे। उस वक्त जो अमरीकी उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये थे वे आज बढकर दुनिया के सबसे शक्तिशाली मालदार और औद्योगिक दृष्टि से सबसे ज्यादा उन्नतिशील देश बन गये है।

तुम्हे 'मे-फ्लावर' जहाज़ का नाम याद है जो सन् १६२० ई० में थोडे से प्रोटेस्टेण्टों को इग्लैण्ड से अमरीका ले गया था? वे जेम्स प्रथम की तानाशाही को नापसन्द करते थे; और उसके धार्मिक विचारों को भी। इसलिए ये लोग, जो तबसे 'पिल्ग्रिम-फादर्स' कहलाते है, इग्लैण्ड की ज़मीन को हमेशा के लिए सलाम करके अटलाटिक समुद्र के पार एक नये अजनवी देश को चले गये। उनका इरादा यह था कि वहाँ ऐसा उपनिवेश कायम करे जिसमे उनको अधिक स्वतत्रता रहे। वे उत्तर मे उतरे और उस जगह का नाम उन्होने न्यू-प्लाइमाउथ रक्खा। उत्तरी अमेरिका के समुद्री किनारे के दूसरे हिस्सो में इनसे पहले भी प्रवासी लोग जा बसे थे। इनके बाद बहुत-से और लोग भी जा पहुचे और पूर्वी किनारे पर उत्तर से लगाकर दक्षिण तक बहुत-से छोटे-छोटे उपनिवेश क़ायम हो गये। वहाँ कैथलिक उपनिवेश थे; इंग्लैण्ड से आये हुए 'कैवेलियर' अमीरो के स्थापित किये हुए उपनिवेश थे, और 'क्वेकर'[1] उपनिवेश थे—पैनसिलवेनिया शहर का नाम पैन नाम के क्वेकर नेता के ऊपर ही पडा है। वहाँ डच लोग भी बसते थे, जर्मन और डेनमार्क के निवासी भी, और कुछ फ्रांसीसी भी। इनमें सभी देशो के निवासी मिले हुए थे, लेकिन सबसे ज्यादा सख्या अग्रेज़ प्रवासियों की थी। डचो ने एक शहर बसाया और उसका नाम न्यू-एमस्टर्डम रक्खा। जब बाद में यह अग्रेज़ो के हाथ में आया तो उन्होने इसका नाम बदल कर न्यू-यार्क कर दिया जो आजकल इतना मशहूर है।

अंग्रेज प्रवासी इग्लैण्ड के बादशाह और पार्लमेण्ट को मानते रहे। बहुत-से लोगों ने अपने घर इसलिए छोडे थे कि वे इग्लैण्ड में अपनी हालत से बेज़ार थे और बादशाह या पार्लमेण्ट के बहुत-से कामो को नापसन्द करते थे। लेकिन उनकी सम्बन्ध-विच्छेद करने की इच्छा बिल्कुल न थी। दक्षिण के उपनिवेश, जिनमें कैवैलियर लोग और बादशाह के समर्थकों का ज़ोर था, इग्लैण्ड से और भी ज्यादा चिपके हुए थे। ये सब उपनिवेश अपने-अपने हाल में मस्त थे और इनके हितो में कोई समानता न थी। अठारहवीं सदी तक पूर्वी किनारे पर तेरह उपनिवेश थे, और ये सब इंग्लैण्ड के मातहत थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेन का इलाक़ा। इन तेरहो उपनिवेशो में जितनी डचो या डेनमार्क वालो की या दूसरी बस्तियाँ थी वे सब इन्ही

---

[1] 'क्वेकर(Quaker)—सन् १६४९ ई० में विलियम फ़ॉक्स ने एक 'सोसाइटी ऑफ़ फ़्रेण्ड्स'(मित्र-मण्डली) क़ायम की थी जिसका उद्देश्य धर्म के ढकोसलों को छोड़ देना और शान्ति स्थापित करना था। इन लोगों का मुँह-बोला नाम 'क्वेकर' पड़ गया। अमेरिका में इस सोसाइटी का संगठन विलियम पैन ने किया था। इन लोगों का ज़बरदस्त अन्तर्राष्ट्रीय और सामाजिक प्रभाव रहा है।

में मिला ली गई थीं और अंग्रेजों के क़ब्ज़े में थी। लेकिन याद रहे कि ये सब उपनिवेश किनारे पर ही और किनारे के पास ही कुछ भीतर की तरफ़ थे। इनके परे पश्चिम में प्रशान्त महासागर तक विशाल देश फैला हुआ था जो आकार में इन तेरहों उपनिवेशो से करीब दस गुना बडा था। इन इलाकों में कोई योरपीय प्रवासी बसे हुए न थे। इनमें तो 'रेड-इण्डियनों'[1] के जुदे-जुदे क़बीले और जातियां बसती थीं और ये उन्हीं के कब्ज़े में थे। इनमें मुख्य 'आइरोकोइस थे'।

अठारहवीं सदी के बीच में, जैसा कि तुम्हे खयाल होगा, इंग्लैण्ड और फ़्रांस का संसार-व्यापी संघर्ष हुआ। यह 'सात साल का युद्ध' (सन् १७५६ से १७६३ ई० तक) कहलाता है जो सिर्फ योरप में ही नहीं बल्कि भारत और कनाडा में भी लडा गया। इग्लैण्ड की जीत हुई और फ्रास को कनाडा उसके हवाले करना पड़ा। इस तरह अमरीका से फ़्रास का टिकट कट गया और उत्तरी अमरीका के सारे उपनिवेश इंग्लैण्ड के क़ब्ज़े में आ गये। कनाडा के सिर्फ़ क्यूबेक प्रान्त मे ही कुछ फ्रांसीसी लोगों की आबादी थी, बाक़ी उपनिवेशों में अग्रेज ही ज्यादा थे। अजीब बात है कि क्यूबेक अभी तक 'ऐंग्लो-सैक्सन'[2] आबादी से घिरा हुआ फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति का एक टापू-सा है। क्यूबेक प्रान्त के सबसे बड़े शहर मॉन्ट्रील (मॉन्ट रायल का अपभ्रंश) मे, मैं समझता हूँ, इतने फ़्रेंच भाषा बोलनेवाले लोग है, जितने पेरिस के सिवा और किसी शहर में नही होंगे।

पिछले किसी पत्र में मैं गुलामो के उस व्यापार का ज़िक्र कर चुका हूँ जो योरप के देशों ने अफ़रीका से हबशी मजदूरो को पकड-धकड़ कर अमरीका लाने के लिए चला रक्खा था। यह भयानक और नृशस व्यापार ज्यादातर स्पेनियो, पुर्तगालियो और अग्रेजो के हाथ मे था। अमरीका में मजदूरो की जरूरत थी, खासकर दक्षिणी राज्यो में, जहाँ तमाखू की खेती खूब होने लगी थी। अमरीका के मूलनिवासी 'रेड इण्डियन' कहलानेवाले लोग, खाना-बदोश थे और एक जगह टिक कर रहना पसन्द नही करते थे। इसके अलावा उन्होंने गुलामों की हालत मे काम करने से भी इन्कार किया। वे झुकनेवाले न थे, तबाह हो जाना उन्होने बेहतर समझा, और बाद में वे तबाह हो भी गये। उनका करीब-क़रीब अन्त कर दिया गया और नई परिस्थितियो में वे जिन्दा न रह सके। इन लोगो मे से, जो किसी समय सारे महाद्वीप मे बसे हुए थे, आज बहुत कम बाक़ी बचे है।

चूँकि रेड-इडियन लोग तो खेतो में काम करने के लिए मजबूर नही किये जा सके, और मजदूरो की बड़ी भारी जरूरत थी, इसलिए अफरीका के कम्बख्त निवासियो को भयानक नर-आखेटो के ज़रिये पकड़ा जाता था, और जिस तरीक़े से उनको समुद्र पार भेजा जाता था, उसकी क्रूरता पर विश्वास करना कठिन है। ये अफ़रीकी हबशी वर्जिनिया, कैरोलिना और जॉर्जिया के दक्षिणी राज्यो को भेजे जाते थे जहाँ इनकी टोलियाँ बनाकर इनसे ज्यादातर तमाखू की बडी-बडी बाडियो मे काम लिया जाता था।

उत्तरी राज्यों में स्थिति इससे जुदी थी। 'मे-फ़्लावर' जहाज में आये हुए 'पिल्ग्रिम फादर्स' की पुरानी कट्टर परम्परायें अभी तक चल रही थी। वहाँ छोटे-छोटे फ़ार्म थे, दक्षिण की तरह विशाल बाड़िया न थी। इन खेतों में गुलामो की या मजदूरो की अधिक सख्या की जरूरत न थी। चूँकि नई ज़मीन की कमी न थी, इसलिए हरेक आदमी की कोशिश यही रहती थी कि अपना निजी फार्म रखकर खुद-मुख्तार बना रहे। इसलिए इन बसनेवालो में समानता की भावना बढने लगी।

इस तरह हम इन उपनिवेशो मे दो आर्थिक प्रणालियो का विकास देखते हैं; एक तो उत्तर में, जो छोटे-छोटे फार्मों और समानता के कुछ-कुछ भावों पर निर्भर थी, और दूसरी दक्षिण में, जिसका आधार बड़ी-बड़ी बाडियां और गुलामी था। रेड-इंडियनो के लिए इन दोनो में से किसी भी जगह न थी। इसलिए

---

[1] रेड-इंडियन—कोलम्बस जब हिन्दुस्तान की तलाश में निकला तो अमेरिका आ पहुँचा। वहाँ के निवासियों को देखकर उसने उनको हिन्दुस्तानी समझा और तभीसे उनको 'इंडियन' कहा जाने लगा। लेकिन जब मालूम हुआ कि ये लोग हिन्दुस्तानी न थे तो उनका तांबे जैसा रंग होने के कारण 'रेड-इंडियन' का नाम दे दिया गया। ये लोग अब भी थोड़ी-बहुत तादाद में उत्तरी अमेरिका में पाये जाते हैं।

[2] ऐंग्लो सैक्सन (Anglo-Saxon)—इंग्लैण्ड के निवासी ऐंग्लो-सैक्सन जाति के माने जाते हैं। कहते हैं कि पहले-पहल जर्मनी के सैक्सनी प्रान्त से लोग यहाँ आकर बसे थे।

ये लोग, जो इस देश के मूल निवासी थे, धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ खदेड़ दिये गये। रेड-इंडियनों के आपसी झगड़ों और आपसी फूट ने इस काम को और भी आसान कर दिया।

इंग्लैण्ड के बादशाह और बहुत-से अंग्रेज़ जमींदारों का इन उपनिवेशों में, खासकर दक्षिण में, बहुत रुपया फँसा हुआ था। वे इनसे जितना फ़ायदा हो सके, उठाने की कोशिश करते थे। सात साल के युद्ध के बाद अमरीका के उपनिवेशों से रुपया वसूल करने के लिए खास तौर पर कोशिश की गई। अंग्रेज़ी पार्लमेण्ट, जिसमें जमींदारों की ही तूती बोलती थी, उपनिवेशों के शोषण को तैयार बैठी थी और उसने बादशाह का साथ दिया। टैक्स लगा दिये गये और व्यापार पर पाबन्दियाँ लगा दी गईं। तुम्हें याद होगा कि इसी समय में भारत में भी अंग्रेज़ों ने बंगाल की गहरी लूट शुरू करदी थी और भारत के व्यापार के रास्ते में हर तरह की रुकावटें डाली गई थीं।

प्रवासी लोगों ने इन पाबन्दियों और नये टैक्सों का विरोध किया, लेकिन सात साल के युद्ध में विजय के बाद ब्रिटिश सरकार को अपनी ताक़त का इतना भरोसा हो गया था कि उसने इनके विरोध की ज़रा भी परवा न की। उधर इस सात साल के युद्ध से प्रवासियों ने भी बहुत-सी बातें सीख ली थीं। अलग-अलग उपनिवेशों या राज्यों के लोग आपस में मिले और एक दूसरे को जानने-पहचानने लगे। वे शिक्षित अंग्रेज़ी फौजों के साथ फ़ांसीसी फौजों के विरुद्ध लड़ चुके थे और इस तरह लड़ने के तरीकों और युद्ध के वीभत्स खेल से परिचित हो गये थे। इसलिए अपनी तरफ से ये प्रवासी लोग भी ऐसी बात को सीधी तरह मानने के लिए तैयार न थे जिसे वे अन्यायपूर्ण और अपने प्रति ज्यादती समझते थे।

सन् १७७३ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय जबरन उनके सिर थोपनी चाही तो मामला काबू से बाहर हो गया। ईस्ट इंडिया कम्पनी में इंग्लैण्ड के बहुत-से मालदारों के हिस्से थे, जिससे वे उसकी कमाई में दिलचस्पी रखते थे। सरकार इन्हीं लोगों की मुट्ठी में थी, और शायद सरकार के मेम्बर लोग खुद भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार में दिलचस्पी रखते थे। इसलिए सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को अमरीका चाय भेजने और वहाँ उसे बेचने की सहूलियत देकर व्यापार को मदद पहुँचाने की कोशिश की। लेकिन इससे उपनिवेशों के चाय के स्थानीय व्यापार को धक्का पहुँचा और लोग बहुत नाराज़ हुए। इसलिए इस विदेशी चाय के बायकाट का निश्चय किया गया। दिसम्बर, सन् १७७३ ई० में जब ईस्ट इंडिया कंपनी की चाय बोस्टन पर उतारी जाने लगी तो उसे रोका गया। कुछ प्रवासी लोग रेड-इंडियनों का भेष बनाकर माल के जहाज़ों पर चढ़ गये और उन्होंने चाय को समुद्र में फेंक दिया। यह काम खुल्लमखुल्ला सहानुभूति रखनेवाली एक भारी भीड़ के सामने किया गया। यह एक चुनौती थी, जिसका नतीजा यह हुआ कि बाग़ी उपनिवेशों और इंग्लैंड के बीच युद्ध ठन गया।

इतिहास की घटनायें ठीक उसी तरह दुबारा कभी नहीं होतीं, फिर भी यह अजीब बात है कि कभी-कभी वे कितनी मिलती-जुलती होती हैं। बोस्टन में सन् १७७३ ई० में चाय के समुद्र में फेंके जाने की यह घटना बड़ी मशहूर हो गई है। यह 'बोस्टन टी-पार्टी' कहलाती है। ढाई साल हुए, जब बापू ने अपनी नमक की लड़ाई और दाँडी की महान् यात्रा और नमक पर धावे शुरू किये थे तो अमरीका के बहुत-से लोगों को 'बोस्टन टी-पार्टी' का खयाल आगया था और वे इस नई 'साल्ट-पार्टी' की उससे तुलना करने लगे थे। लेकिन असल में इन दोनों में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

डेढ़ साल बाद, सन् १७७५ ई० में, इंग्लैण्ड और उसके अमरीकी उपनिवेशों के बीच युद्ध ठन गया। उपनिवेश किस बात के लिए लड़ाई लड़ रहे थे? आज़ादी के लिए नहीं, न इंग्लैण्ड से अलहदा होने के लिए यहाँ तक कि जब लड़ाई शुरू हो गई और दोनों तरफ खून बह चुका तब भी प्रवासियों के नेता, इंग्लैण्ड के जार्ज तृतीय को 'मोस्ट ग्रेशस सॉवरन' की उपाधि से संबोधन करते रहे और अपने आपको उसकी वफ़ादार प्रजा मानते रहे। यह बात बड़ी दिलचस्प है, क्योंकि ऐसी बात तुम्हें अक्सर होती हुई दिखाई देगी। हॉलैण्ड में स्पेन का फिलिप द्वितीय बादशाह कहलाता था, हालाँकि उसकी फौजों के साथ भीषण लड़ाई छिड़ी हुई थी। बहुत वर्षों की लड़ाई के बाद कहीं जाकर हॉलैण्ड को मजबूर होकर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करनी पड़ी। भारत में भी बहुत वर्षों तक शंका और हिचकिचाहट और औपनिवेशिक स्वराज्य की भावना से खिलवाड़ करने के बाद हमारी राष्ट्रीय महासभा ने पहली जनवरी सन् १९३० ई० को पूर्ण स्वराज्य के हक़ में घोषणा की। अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो, मालूम होता है, स्वतन्त्रता के विचार से घबराते हैं और

भारत में औपनिवेशिक शासन की बातचीत करते हैं। लेकिन इतिहास हमको बतलाता है और हॉलैण्ड और अमरीका के उदाहरण स्पष्ट कर देते हैं कि ऐसे संघर्ष का नतीजा सिर्फ स्वतन्त्रता ही हो सकता है।

सन् १७७४ ई० में, उपनिवेशों और इग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ने से कुछ ही दिन पहले, वाशिंगटन ने कहा था कि उत्तरी अमरीका का कोई समझदार आदमी स्वतत्रता नहीं चाहता। और यही वाशिंगटन अमरीका के प्रजातन्त्र का सबसे पहला राष्ट्रपति होने वाला था! सन् १७७४ ई० में, युद्ध छिड़ जाने के बाद, औपनिवेशिक कांग्रेस के छियालीस प्रमुख सदस्यों ने वफ़ादार प्रजा की हैसियत से बादशाह जार्ज तृतीय के पास यह प्रार्थनापत्र भेजा कि शान्ति स्थापित की जाय, 'खून की नदी' रोकी जाय। इंग्लैण्ड और उसकी अमरीकी संतान के बीच दुबारा मेल और सद्भावना कायम करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वे तो सिर्फ़ किसी तरह की औपनिवेशिक सरकार चाहते थे और वाशिंगटन के शब्दों में घोषणा करते थे कि कोई भी समझदार आदमी स्वतन्त्रता नही चाहता। यह 'ओलिव-ब्राच-पिटीशन'[1] कहलाई।

लेकिन दो साल भी न बीतने पाये थे कि इस प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर करनवालों में से पच्चीस ने एक दूसरे ही खरीते पर दस्तखत किये—वह थी 'स्वाधीनता की घोषणा।'

ज़ाहिर है कि उपनिवेशों ने कोई स्वतन्त्रता के लिए लडाई नही छेड़ी थी। उनकी शिकायतें तो टैक्सों और व्यापार पर पाबन्दियो के बारे में थी। वे लोग उनपर उनकी मर्जी के खिलाफ टैक्स लगाने के पार्लमेण्ट के अधिकार को मानने के लिए तैयार नही थे। उनकी मशहूर पुकार यह थी कि "बिना प्रतिनिधित्व के कोई टैक्स नही लगाया जा सकता"[2] क्योंकि ब्रिटिश पार्लमेण्ट में उनका प्रतिनिधित्व न था।

इन प्रवासियो के पास कोई फ़ौज तो न थी, लेकिन एक विशाल देश जरूर था, जिसमें वे जरूरत पडने पर पीछे हटकर शरण ले सकते थे। उन्होंने एक फौज तैयार की और आगे जाकर वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति हुआ। उनको कुछ सफलताए भी मिली, और फ़ास भी अपने पुराने दुश्मन इग्लैण्ड से बदला निकालने का अच्छा मौक़ा देखकर इन उपनिवेशो से मिल गया। स्पेन ने भी इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अब इग्लैण्ड का पासा हलका हो गया, लेकिन युद्ध बहुत वर्षों तक चलता रहा। सन् १७७६ ई० में उपनिवेशों का प्रसिद्ध 'स्वाधीनता का घोषणापत्र' प्रकट हुआ। सन् १७८२ ई० में युद्ध खतम हो गया और सन् १७८३ ई० में सब युद्धरत देशो ने पेरिस के शान्तिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस तरह अमरीका के ये तेरह उपनिवेश एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्र बन गये, जिनको 'यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका' यानी अमेरिका का संयुक्त राज्य नाम दिया गया। लेकिन बहुत दिनो तक इन राज्यो मे आपसी फूट बनी रही और हरेक राज्य अपने आपको करीब-करीब स्वाधीन मानता रहा। सबकी एक राष्ट्रीयता की भावना बहुत धीरे-धीरे पैदा हुई। यह एक विशाल देश था जो पश्चिम की तरफ फैलता ही जा रहा था। वर्तमान ससार का यह सबसे पहला बड़ा प्रजातन्त्र था—छोटा-सा स्वीज़रलैंड ही उस समय का दूसरा असली प्रजातन्त्र था। हॉलैण्ड प्रजातन्त्र जरूर था, लेकिन वह धनिक वर्ग के हाथ में था। इंग्लैण्ड केवल बादशाहत ही न था बल्कि वहाँ की पार्लमेण्ट एक छोटे-से धनवान जमीदार वर्ग के हाथों में थी। इस लिए यूनाइटेड स्टेट्स का प्रजातन्त्र एक नई तरह का देश था। योरप और एशिया के देशो की तरह उसका पुराना इतिहास कुछ नही था। सामन्तशाही का भी वहाँ कोई निशान न था, सिवाय दक्षिण में बाडी-प्रणाली और गुलामी के। वहाँ पुश्तैनी अमीर-उमरा न थे। इसलिए मध्यमवर्ग की तरक्की के रास्ते में कोई रुकावटे न थीं और वह तेजी के साथ बढा। स्वतन्त्रता के युद्ध के समय यहाँ की आबादी चालीस लाख से भी कम थी। दो साल पहले, सन् १९३० ई० में, यह १२ करोड़ ३० लाख के क़रीब थी।

जॉर्ज वाशिंगटन संयुक्त राज्य का पहला राष्ट्रपति हुआ। यह वर्जिनिया राज्य का एक बड़ा जमी-

---

[1] 'ओलिव-ब्रांच'—(जैतून के पेड़ की डाली) योरप में जैतून का पेड़ शान्ति का चिन्ह समझा जाता है। इसलिए जैतून के पेड़ की डाली पेश करने का मतलब होता है शान्ति का प्रस्ताव करना।

[2] No taxation without representation.

दार था। इस ज़माने के और महापुरुष, जो प्रजातन्त्र के स्थापक माने जाते हैं, टॉमस पेन, बेञ्जामिन फ्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी, टॉमस जैफ़रसन[1], जॉन ऐडम्स[2], और जेम्स मैडीसन[3] हैं। बैञ्जामिन फ्रैंकलिन तो विशेष रूप से नामी आदमी था और यह बड़ा भारी वैज्ञानिक था। बच्चों की पतगें उड़ाकर इसने यह सिद्ध कर दिया कि बादलों की कौंध और बिजली एक ही चीज़ है।

सन् १७७६ ई० की प्रजातन्त्र की घोषणा में कहा गया था कि "जन्म से सब मनुष्य बराबर हैं।" अगर विश्लेषण किया जाय तो यह बयान पूरी तौर पर सही नहीं है, क्योंकि कुछ कमज़ोर होते हैं, कुछ बलवान, कुछ दूसरों से ज्यादा चतुर और योग्य होते हैं। लेकिन इस बयान की तह में जो भावना है वह बिलकुल स्पष्ट और प्रशंसा के लायक़ है। प्रवासी लोग योरप की सामन्तशाही की असमानताओं से छुटकारा पाना चाहते थे। यह अकेली ही बहुत प्रगति की चीज़ थी। शायद 'स्वाधीनता की घोषणा' की रचना करने वालों में से बहुतों पर फ़्रांस के वाल्तेयर और रूसो तथा इनके अनुवर्ती अठारहवीं सदी के दार्शनिकों और विचारकों का असर पड़ा था।

"सब लोग जन्म से बराबर हैं"—लेकिन फिर भी वहाँ बेचारा हबशी था, एक गुलाम, जिसे कोई अधिकार न थे! उसे कौन पूछता था? विधान में उसका क्या स्थान था? उसके लिए कोई स्थान न था और अभी तक भी नहीं हो पाया है। बहुत साल बाद उत्तर और दक्षिण के राज्यों में भीषण गृह-युद्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप गुलामी की प्रथा तोड़ दी गई। लेकिन हबशियों की समस्या अमेरिका में अभी तक चली आती है।

: १०० :

बैस्ताल का पतन

७ अक्तूबर, १९३२

हम बहुत संक्षेप में अठारहवीं सदी की दो क्रान्तियों का वर्णन कर चुके हैं। इस पत्र में मैं तुमको तीसरी, यानी फ़्रांस की राज्यक्रान्ति, के बारे में कुछ बतलाऊँगा। तीनों क्रान्तियों में फ़्रांस की इस क्रान्ति ने सबसे ज्यादा हलचल पैदा की। इंग्लैण्ड में शुरू होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति व्यापक रूप से महत्वपूर्ण थी, लेकिन वह धीरे-धीरे आई और ज्यादातर लोगों की तो वह निगाह में भी न आ सकी। उस समय उसका असली महत्व किसीने महसूस नहीं किया। लेकिन इसके विपरीत फ़्रांस की राज्यक्रान्ति आश्चर्य-चकित योरप पर एकदम बिजली की तरह गिर पड़ी। योरप अभी तक बहुत-से स्वेच्छाचारी राजाओं और बादशाहों के मातहत था। पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की हस्ती मिट चुकी थी, लेकिन काग़ज़ी तौर पर वह अब भी चल रहा था और उसकी प्रेतात्मा की छाया अभी तक सारे योरप पर पड़ रही थी। बादशाहों और सम्राटों तथा दरबारों और राजमहलों की इस दुनिया में, आम जनता की गहराई में से, यह अद्भुत और भयकारक जोव निकल पड़ा जिसने सड़े हुए रीति-रिवाजों और विशेषाधिकारों की ज़रा भी परवा न की और जिसने एक बादशाह को तख़्त से उठा फेंका तो दूसरों की भी यही हालत कर डालने का डर पैदा कर दिया। फिर इसमें क्या आश्चर्य है, अगर योरप के बादशाह तथा विशेषाधिकारों वाले तमाम लोग उसी जनता के इस विद्रोह के आगे थर्राने लगे, जिसे उन्होंने इतने दिनों तक नाचीज़ समझा और कुचला था?

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी। लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी बिना कारण या बिना बहुत दिनों की तैयारी के एकाएक नहीं फूट पड़ते। हम एकाएक होनेवाले विस्फोट को देखकर ताज्जुब करते हैं; लेकिन ज़मीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताक़तें आपस में टकराया

---

[1] जैफ़रसन (Jefferson)—(१७४३–१८२६); अमेरिका का तीसरा राष्ट्रपति।

[2] एडम्स (Adams)—(१७३५–१८२६); अमेरिका का दूसरा राष्ट्रपति।

[3] मैडीसन (Madison)—(१७५१–१८३६) अमेरिका का चौथा राष्ट्रपति।

करती हैं और आगे सुलगा करती हैं। आखीर में ऊपर की पपड़ी उनको ज्यादा देर दबाकर नही रख सकती और ये ज्वालायें आकाश तक उठनेवाली विकट लपटो के साथ फूट पड़ती हैं और पिघला हुआ पत्थर पहाड़ से नीचे बहने लगता है। ठीक इसी तरह ये ताक़तें, जो आखिरकार क्रान्ति की शकल में फूटती हैं, समाज की सतह के नीचे बरसों तक खेला करती हैं। पानी गरम करने पर उबलता है, लेकिन तुम जानती हो कि खूब गर्म होने के बाद ही उसमें उबाल आता है।

भावनायें और आर्थिक परिस्थितियाँ क्रान्तियो का कारण होती हैं। बेवकूफ सत्ताधारी लोग, जिन्हें अपने विचारों से मेल न खाने वाली कोई चीज़ नज़र नही आती, यह समझते है कि क्रान्तियाँ आन्दोलनकारियों के कारण होती है। आन्दोलनकारी वे लोग होते हैं जो सामयिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट होते हैं और परिवर्त्तन चाहते हैं और उसके लिए प्रयत्न करते हैं। हरेक क्रान्ति के युग में इनकी बहुतायत होती हैं; वे तो खुद ही तत्कालीन उथल-पुथल और असन्तोष का परिणाम होते है। लेकिन हज़ारो और लाखो आदमी खाली एक आन्दोलनकारी के इशारे पर ही नही नाचने लगते है। ज्यादातर लोग सुरक्षा सबसे ज्यादा चाहते हैं; जो-कुछ उनके पास है उसे वे छिन जाने के खतरे मे नही डालना चाहते। लेकिन जब आर्थिक हालतें ऐसी हो जाती हैं कि इनकी रोज़मर्रा की मुसीबते बढती जाती हैं और जीवन एक असह्य भार हो उठता है, तो कमज़ोर से कमज़ोर भी खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाते है। तभी जाकर वे आन्दोलनकारी की आवाज़ पर कान देते हैं, जो उनको उनकी मुसीबत से निकलने का रास्ता बतलाता हुआ मालूम होता है।

अपने बहुत-से पत्रों मे मैंने जनता की मुसीबतो और किसानो के उपद्रवो का ज़िक्र किया है। एशिया और योरप के हरेक देश में किसानो के ऐसे विद्रोह हुए है जिनकी वजह से बहुत खून-खराबी और कठोर दमन हुआ है। किसानो को उनकी मुसीबतो ने क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो की ओर ज़बरदस्ती ढकेला, लेकिन आम तौर पर उनको अपने लक्ष्य का स्पष्ट भान न था। विचारो की इस अस्पष्टता, विचारधारा के इस अभाव के कारण उनकी कोशिशें अक्सर बेकार हो गईं। फ़ास की राज्यक्रान्ति में हम एक नई बात देखते हैं, कम-से-कम इतने बडे पैमाने पर, और वह है क्रान्ति करने की आर्थिक प्रेरणा के साथ विचारो का मेल। जहाँ ऐसा मेल होता है वही सच्ची क्रान्ति होती है, और सच्ची क्रान्ति जीवन और समाज की सारी रचना—राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—पर असर डालती है। अठारहवी सदी के आखिरी वर्षों में हम फ्रास में ऐसा ही होता हुआ पाते हैं।

मैं तुमको फ़ांस के बादशाहो की विलासिता अयोग्यता, और दुराचार तथा आम जनता की पीस डालनेवाली ग़रीबी के बारे मे पहले ही लिख चुका हूँ। फ़ास की जनता के हृदय मे जो उथल-पुथल मच रही थी उसका भी कुछ ज़िक्र मै कर चुका हूँ; और उन नये विचारो का भी, जिन्हें वाल्तेयर, रूसो और मौतेस्क्यू और बहुत-से अन्य लोगो ने प्रचारित किया था। इस तरह आर्थिक मुसीबत और विचारधारा का निर्माण, ये दो प्रक्रियाये साथ-साथ चल रही थी और एक-दूसरी पर क्रिया और प्रतिक्रिया कर रही थी। किसी क़ौम की विचारधारा को बनाने में बहुत समय लगता है क्योकि नये विचार धीरे-धीरे छन-छनकर लोगो के पास पहुँचते हैं, और पुरानी रूढ़ियो तथा दृष्टिकोणों को त्यागने की लोगों की तीव्र इच्छा नही होती। अक्सर ऐसा होता है कि जब तक कोई नई विचारधारा स्थापित हो, और लोग अन्त में विचारो के नये ढांचे को अपनाने मे सफल हो, तब तक खुद वे विचार ही समय से कुछ पीछे रह जाते हैं। यह दिलचस्पी की बात है कि अठारहवी सदी के फ़ांसीसी दार्शनिकों के विचार योरप के पूर्व-औद्योगिक युग के आधार पर बने हुए थे; और फिर भी करीब-क़रीब ठीक उसी समय इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति शुरू हो रही थी, जो उद्योग-धन्धो को और जीवन को इस क़दर बदल रही थी कि वास्तव में वह बहुत-से नये फ़ासीसी मतो की नींव ही खोखली कर रही थी। औद्योगिक क्रान्ति का विकास असल में बाद में हुआ और फ़ांसीसी विचारक दरअसल यह कल्पना न कर सके कि आगे क्या होनेवाला था। लेकिन फिर भी बडे-बड़े उद्योग-धन्धों के आने की वजह से उनके विचार, जिनपर फ्रास की राज्यक्रान्ति की विचारधारा ज्यादातर निर्भर थी, कुछ समयानुकूल नही रहे थे।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि फ़ांसीसी दार्शनिको के इन विचारो और सिद्धान्तों का राज्यक्रान्ति पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ा। जनता के उपद्रवों और विद्रोहो के कारनामों के बहुत-से उदाहरण पहले हो

चुके थे, अब जगी हुई जनता के आन्दोलन का, या यों कहिए कि समझ-बूझकर आगे बढ़नेवाली जनता के आन्दोलन का, निराला उदाहरण सामने आया। फ़्रांस की इस महान् राज्यक्रान्ति का महत्व इसी कारण है।

मैं बतला चुका हूँ कि सन् १७१५ ई० में पंद्रहवाँ लुई अपने पड़-दादा चौदहवें लुई का उत्तराधिकारी हुआ और इसने उनसठ वर्ष तक राज किया। कहते हैं कि वह कहा करता था—"आप मरे जग प्रलय" और इसीके अनुसार वह बर्त्ताव भी करता था। बड़े मज़े के साथ वह अपने देश को गहरे गड्ढे में गिरा रहा था। उसने इंगलैण्ड की क्रान्ति और वहाँ के बादशाह का सिर उड़ा दिये जाने की घटना से भी कुछ शिक्षा न ली। उसके बाद, सन् १७७४ ई० में उसका पोता सोलहवां लुई गद्दी पर बैठा जो बड़ा बेवकूफ और बुद्धिहीन था। उसकी रानी मेरी एन्तोइनेत आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट की बहन थी। यह भी बिलकुल बेवकूफ थी; लेकिन उसमें एक तरह की ज़िद का बल था जिससे सोलहवाँ लुई पूरी तरह उसकी मुट्ठी में था। उसमें 'बादशाहों के दैवी अधिकार' की भावना लुई से भी ज्यादा भरी हुई थी, और वह आम लोगो से घृणा करती थी। पति और पत्नी दोनों ही ने मिलकर बादशाहत की भावना को लोगों के लिए घृणापूर्ण बनाने में कोई कसर न रक्खी। राज्यक्रान्ति शुरू होने के बाद तक भी फ़्रास के लोगो का बादशाहत के बारे में कोई स्पष्ट विचार नही था, लेकिन लुई और मेरी एन्तोइनेत ने अपने कारनामो से और बेवकूफियो से प्रजातन्त्र को अनिवार्य कर दिया। लेकिन इनसे ज्यादा बुद्धिमान लोग भी कुछ नहीं कर सकते थे। ठीक इसी तरह सन् १९१७ ई० की रूसी राज्यक्रान्ति की शुरूआत के समय रूस के ज़ार और ज़ारीना ने अद्भुत बेवकूफी का बर्त्ताव किया था। यह अजीब बात है कि जैसे-जैसे संकट गहरा होता जाता है वैसे-वैसे ये लोग और भी ज्यादा बेवकूफियाँ करते जाते है और इस तरह खुद अपने ही विनाश का सामान तैयार करते है। लैटिन की एक प्रसिद्ध कहावत इन पर ठीक तरह लागू होती है—"परमात्मा जिसका नाश करना चाहता है उसको पहले पागल बना देता है" बिलकुल ऐसी ही कहावत सस्कृत मे भी है—"विनाश-काले विपरीत बुद्धि"

बादशाहत और डिक्टेटरशाही को अक्सर सैनिक कीर्त्ति का एक सहारा रहता है। जब कभी देश मे गडबड पैदा होती है तो बादशाह या सरकारी गुट्ट लोगो का ध्यान उस तरफ से हटाने के लिए बाहर के देशो में फौजी धावा मारने की ओर आकर्षित होते है। लेकिन फ़्रास मे इन फौजी किस्मत-आज़माइशो का नतीजा अच्छा नही रहा था। सात साल के युद्ध मे फ़्रास की पराजय हुई और इससे बादशाहत को धक्का पहुँचा। दिवालियापन की दिन-पर-दिन नौबत आ रही थी। अमेरिका के स्वतन्त्रता युद्ध में फ़्रास ने जो हिस्सा लिया उसमे और धन खर्च हुआ। यह सब रुपया कहाँ से आता? अमीर-उमरा और पादरियो को विशेष अधिकार मिले हुए थे। वे बहुत से टैक्सो से बरी थे और अपने विशेषाधिकारो को ज़रा भी नही छोड़ना चाहते थे। लेकिन न सिर्फ़ क़र्ज़ चुकाने के लिए बल्कि राजदरबार की फिज़ूलखर्ची के लिए भी रुपया तो वसूल होना ही चाहिए था। जनता की या आम लोगो की कौन परवा करता था? फ़्रास की राज्यक्रान्ति पर लिखनेवाले थॉमस कार्लाइल नाम के एक अंग्रेज़ लेखक ने इनका जो वर्णन किया है वह मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। तुम देखोगी कि उसकी एक निराली शैली है, लेकिन वह अपनी लेखनी से बड़े असर कारक चित्र बनाता है:

> "श्रमजीवियों पर फिर आफ़त आ रही है। दुर्भाग्य की बात है! क्योंकि इनकी सख्या दो-ढाई करोड़ है। जिनको हम एक तरह के अस्पष्ट सक्षिप्त एकता के हैवानी लेकिन धुधले, बहुत दूर के, ढेर मे इकट्ठा करके कमीन, या ज्यादा मनुष्यता से, 'जनता' कहते है। सचमुच जनता; लेकिन फिर भी यह अजीब बात है कि अगर अपनी कल्पना पर ज़ोर डालकर आप इनके साथ-साथ सारे फ़्रास में, इनकी मिट्टी की मड़ैयो में, इनकी कोठरियों और झोपड़ियो में, चलें तो मालूम होगा कि जनता सिर्फ अलग-अलग व्यक्तियो की ही बनी हुई है। इसके हरेक व्यक्ति का अपना अलग-अलग दिल है और तकलीफें हैं; वह अपनी ही खाल में खड़ा है, और अगर आप उसे नोचेंगे तो खून बहने लगेगा।"

यह वर्णन सन् १७८९ ई० के फ्रांस पर ही नहीं बल्कि सन् १९३२ ई० के भारत पर कितनी अच्छी तरह फबता है ! क्या हममें से बहुत-से लोग भारत की जनता को, बीसियो करोड़ किसानों और मजदूरों को, एक ढेर में इकट्ठा करके उन्हें एक दुखी और बेढगा जानवर नही समझते ? वे लोग लम्बे अरसे से बोझा ढोनेवाले जानवर ही रहे हैं और अब भी हैं। हम उनके साथ "सहानुभूति" दिखलाते हैं और उनकी भलाई करने की बड़ी कृपापूर्ण बातें बनाते हैं। और फिर भी हम उनका अपनी ही तरह के व्यक्ति और मानव के रूप में विचार नहीं करते। यह खूब याद रखना चाहिए कि अपनी कच्ची झोंपड़ियों में वे अलग-अलग ज़िंदगी बिताते हैं और हम सबकी ही तरह भूख और सर्दी और कष्ट महसूस करते हैं। हमारे बहुत-से राजनीतिज्ञ, जो क़ानून के पंडित हैं, विधानो वग़ैरा की बातें करते हैं लेकिन उन इन्सानों को भूल जाते हैं जिनके लिए विधान और क़ानून बनाये जाते हैं। हमारे देश की करोड़ो कच्ची झोंपड़ियों और शहरों के गन्दे मोहल्लों के निवासियो की राजनीति का अर्थ है भूखो के लिए भोजन, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान ।

सोलहवें लुई के राज में फ्रांस की यही हालत थी। उसके शासन-काल के शुरू में ही भुक्खड़ों के उपद्रव हुए। ये कई साल तक जारी रहे और फिर कुछ दिन शान्ति रही और बाद में फिर किसानों के उपद्रव हुए। दिलो में भोजन की लूट के इसी तरह के एक दंगे के दौरान में वहाँ के गवर्नर ने भुखमरे लोगों से कहा—"घास उग आई है; खेतो में जाकर उसे चरो !" हजारो आदमी भीख मांगने का पेशा करने लगे। सरकारी तौर पर यह बतलाया गया था कि सन् १७७७ ई० में फ्रांस में ग्यारह लाख भिखमंगे थे। जब हम इस ग़रीबी और कम्बख़्ती पर विचार करते है तो भारत की तसवीर किस तरह बरबस हमारे सामने आ जाती है !

किसान लोग सिर्फ़ भोजन के ही भूखे न थे, ज़मीन के भी भूखे थे। सामन्त-प्रथा में अमीर लोग ज़मीन के मालिक थे और उसकी आमदनी का ज्यादातर हिस्सा उन्हीके पेट में जाता था। किसानो के कोई सुलझे हुए विचार न थे, न उनका कोई निश्चित लक्ष्य था, लेकिन वे अपनी ज़मीन पर ख़ुदमुख़्तारी चाहते थे और उन्हें कुचलने वाली इस सामन्तप्रथा से नफ़रत करते थे। सामान्तो से, पादरियो से और (भारत का फिर ख़याल करो !) नमक-कर से उन्हे घोर नफ़रत थी जो खास तौर पर गरीबो पर पडता था।

किसानवर्ग की यह हालत थी लेकिन फिर भी बादशाह और रानी रुपये के लिए हल्ला मचाते थे। सरकार के पास खर्च के लिए ही रुपया न था, इसलिए कर्ज़ बढते चले जारहे थे। मेरी एन्तोइनेत का उपनाम "मैदम दैफ़िसित" यानी 'घाटा देवी' रख दिया गया। ज्यादा रुपया वसूल करने का कोई ढग नज़र न आता था। आखिरकार लाचार होकर सोलहवें लुई ने मई सन् १७८९ ई० में 'स्टेट्स जनरल' की बैठक बुलाई। इस सभा में अमीर, पादरी तथा साधारण लोग, इन तीन वर्गों के, जो राज्य की जागीरें कही जाती थीं, प्रतिनिधि होते थे। उसकी रचना ब्रिटिश पार्लमेण्ट से मिलती-जुलती थी जिसमें अमीरों और पादरियो का 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' और दूसरा 'हाउस ऑफ कामन्स' होता है। लेकिन इन दोनो में फर्क भी बहुत थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठकें कई सौ वर्षों से करीब-करीब नियमित रूप से होती चली आई थीं और अपने रिवाजों, क़ायदों और काम करने के तरीको के साथ वह अच्छी तरह जम चुकी थी। 'स्टेट्स जनरल' की बैठकें बहुत ही कम होती थी और उसकी कोई परम्पराए नही थी। दोनों सस्थाओं में ऊँचे वर्गों का ही प्रतिनिधित्व था; ब्रिटिश 'हाउस ऑफ कामन्स' में तो 'स्टेट्स जनरल' से भी ज्यादा था। किसान वर्ग का प्रतिनिधित्व किसी में भी न था।

४ मई सन् १७८९ ई० को वर्साई में बादशाह ने 'स्टेट्स जनरल' का उद्घाटन किया। लेकिन शीघ्र ही बादशाह को पछतावा होने लगा कि उसने इन तीनो जागीरो के प्रतिनिधियो को इकट्ठा क्यों बुलाया। तीसरी जागीर यानी 'कामन्स' या मध्यमवर्ग खुल्लम-खुल्ला विरोध करने लगा और इस बात पर जोर देने लगा कि उनकी मरज़ी के बिना कोई टैक्स नही लिया जा सकता। उसके सामने इंग्लैण्ड का उदाहरण था, जहाँ कामन्स सभा ने अपना यह अधिकार स्थापित कर लिया था। अमेरिका का ताज़ा उदाहरण भी उनके सामने था। वे इस ग़लत-फ़हमी में थे कि इंग्लैण्ड आज़ाद मुल्क था। असल में यह एक धोखा था क्योंकि इंग्लैण्ड पर दौलतमंद और ज़मींदार वर्गों का अधिकार

और शासन था। वोट देने का हक बहुत थोड़े लोगों को था जिससे खुद पार्लमेण्ट पर भी इन्हीं लोगों का इजारा था।

बहरहाल तीसरी जागीर या 'कामन्स' ने जो कुछ भी ज़रा-सी हिम्मत दिखाई वही बादशाह लुई के सहन से बाहर हो गई। उसने उनको सभा भवन से बाहर निकलवा दिया। डिप्टी लोगों की चले जाने की मंशा नहीं थी। वे तुरन्त ही नज़दीक के एक टैनिस कोर्ट पर इकट्ठे हुए और उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक एक विधान की स्थापना न कर लेंगे तब तक न टलेंगे। यह 'टैनिस कोर्ट की शपथ' कहलाती है। इसके बाद वह खतरनाक घड़ी आई जब बादशाह ने ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी चाही और खुद उसीके सिपाहियों ने उसकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। क्रान्ति में हमेशा नाज़ुक घड़ी तभी आती है जब फ़ौज, जो सरकार का खास पाया होती है, भीड़ में अपने भाइयों पर गोलियाँ चलाने से इन्कार कर देती है। लुई ने घबराकर हार मान ली और इसके बाद उसने अपनी स्वाभाविक बेवकूफ़ी से, विदेशी सैनिकों के साथ साज़िश की कि वे उसकी प्रजा पर गोलियाँ चलावें। जनता इसे सहन न कर सकी और १४ जुलाई सन् १७८९ ई० के स्मरणीय दिन उन्होंने बैस्तील[1] के पुराने जेलखाने पर क़ब्ज़ा करके कैदियों को छोड़ दिया।

बैस्तील का पतन इतिहास की एक महान घटना है। इसने क्रान्ति की शुरूआत की; यह सारे देश में जनता के उभाड़ के लिए एक आसार था; इसका अर्थ था फ़ास में पुरानी व्यवस्था; सामन्तशाही, भव्य बादशाही और विशेषाधिकार का अन्त; यह योरप के तमाम बादशाहों और सम्राटों के लिए बड़ा भयानक और भयकर अपशकुन था। जिस फ़्रांस ने शानदार बादशाहो का फैशन चलाया था वही अब एक नया फैशन चला रहा था, जिसने तमाम योरप को हैरत में डाल दिया। कुछ लोग इस कारनामे को देखकर डर से काँपने लगे। लेकिन बहुत से लोग इसमें आशा की किरण और अच्छे दिनों के लक्षण देख रहे थे। चौदहवी जुलाई आजतक फ़ास का राष्ट्रीय त्यौहार है और यह हर साल सारे देश में मनाया जाता है।

चौदहवी जुलाई को बैस्तील पेरिस की उपद्रवी भीड़ के क़ब्ज़े में आगया। लेकिन सत्ताधारी लोग इतने अन्धे होते हैं कि इस पहले दिन की यानी १३ जुलाई की शाम को वर्साई में एक शाही जलसा किया गया था। नाच और गाने के साथ बादशाह और रानी के सामने विद्रोही पैरिस पर होनेवाली भावी विजय की खुशी मे 'टोस्ट'[2] पिये गये। अजीब बात है कि योरप में बादशाहत की भावना कितनी ज़बरदस्त थी ! इस युग मे हम लोग प्रजातन्त्रो के आदी हो गये हैं और बादशाहों पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते। दुनिया के कुछ बचे-खुचे बादशाह बहुत फूंक-फूंक क़दम रखते है कि उनपर कही मुसीबत न आ जाय। फिर भी ज़्यादातर लोग बादशाहत के विचार के विरोधी हैं क्योकि यह वर्ग-भेदो को बनाये रखती है और अलगाव की तथा बड़प्पन की झूठी अकड़ की भावना को बढाती है। लेकिन अठारहवी सदी के योरप में यह बात न थी : उस समय के लोगों के लिए बिना बादशाह के देश की कल्पना करना ज़रा कठिन था। इसलिए हुआ यह कि लुई की बेवक़ूफ़ी और लोगो की मरज़ी के खिलाफ जाने की कोशिश के बावजूद भी उसे गद्दी से उतार देने की कोई चर्चा न थी। क़रीब दो साल तक लोगों ने उसको और उसकी साज़िशों को सहन किया और फ़्रांस ने बिना बादशाह के काम चलाने का फैसला तभी किया जब वह भागने की कोशिश करता हुआ पकड़ा गया।

लेकिन यह बाद की बात है। इस अर्से में 'स्टेट्स जनरल', राष्ट्रीय सभा बन गई और यह मान लिया गया कि बादशाह एक वैधानिक या नियमित राजा था, यानी ऐसा राजा जो सभा के कहने के मुताबिक़ चलता था। लेकिन वह इस बात से नफ़रत करता था, और मेरी एन्तोइनेत तो और भी ज्यादा नफ़रत करती

---

[1] बैस्तील (Bastille) पेरिस शहर के बीच में एक पुराना और बहुत मज़बूत क़िला जिसमें राजनैतिक क़ैदी बंद किये जाते थे और उनको तकलीफ़ें दी जाती थीं। पैरिस के लोगों ने इस पर हमला किया। लेकिन वे इसका कुछ भी न बिगाड़ सकते अगर क़िले के भीतर के सैनिक उनका साथ न देते।

[2] टोस्ट—शराब के प्याले हाथ में लेकर, किसी व्यक्ति या घटना के उपलक्ष में पीना 'टोस्ट' पीना कहलाता है। यह रिवाज योरप में और योरप के रहनेवालों में अब भी मनाया जाता है और आजकल अंग्रेजी सभ्यता के भक्त भारतीय लोग भी इसकी नक़ल करने लगे हैं।

थी। पैरिस के लोग भी उनसे कोई ज्यादा प्रेम नही करते थे और उनपर तरह-तरह की साज़िशें करने का शक भी करते थे। वर्साई, जहाँ राजा और रानी दरबार करते थे, पैरिस से इतनी दूर था कि राजधानी के लोग उन पर निगाह नहीं रख सकते थे। वर्साई की दावतों और विलासिता के क़िस्सो और अफ़वाहों ने भी पैरिस के भूखे लोगों को उत्तेजित कर दिया। बस, राजा और रानी पैरिस की त्यूलरीज़[1] में एक बहुत-ही अजीब जुलूस बनाकर ले आये गये।

यह पत्र निश्चित नाप से ज्यादा बढ़ चुका है। मैं क्रान्ति की कथा अपने अगले पत्र में भी जारी रक्खूँगा।

: १०१ :

फ्रांस की राज्यक्रान्ति

१० अक्तूबर, १९३२

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में लिखने में मुझे ज़रा दिक्कत मालूम होती है। इस कारण नही कि उसके लिए मसाला कम है बल्कि इसलिए कि मसाला बहुत ज्यादा है। यह क्रान्ति हैरत में डालने वाले और सदा बदलते रहनेवाले एक नाटक की तरह थी और ऐसी असाधारण घटनाओ से भरी हुई थी जो आज भी हमको मोह लेती हैं, सहमा देती हैं और थर्रा देती है। राजाओ और राजनीतिज्ञों की कूटनीतियाँ कोठरियों और खानगी कमरों में रहती है और उनपर रहस्य की चादर ढकी रहती है। बहुत-से पाप चतुराई के पर्दे में ढक जाते है और एक दूसरे की महत्वाकाक्षाओ तथा हवस की लडाई शिष्टाचार की भाषा में छिप जाती है। यहाँतक कि जब यह लड़ाई युद्ध का रूप धारण कर लेती है और इस हवस तथा महत्वाकांक्षा की खातिर हजारों नौजवान मौत के मुह मे भेज दिये जाते है, तब भी ऐसी किन्ही नीच नीयतो की अप्रिय चर्चा हमारे कानों में नहीं पड़ती। इसके बजाय हमसे तो ऐसे ऊँचे उद्देश्यो और महान हितो की बाते की जाती हैं जो भारी-से-भारी क़ुर्बानी चाहते है।

लेकिन क्रान्ति इससे बिलकुल अलग तरह की चीज़ है। उसका घर तो खेत, गली और बाज़ार है और उसके तरीक़े भोडे और गँवारू होते है। क्रान्ति करनेवालों को राजाओ और राजनीतिज्ञो की-सी शिक्षा मिली हुई नही होती। उनकी भाषा दरबारी और शिष्ट नही हुआ करती, जिसमे ढेरो साज़िशें और चाल बाज़ियें छिपी रहती हैं। उनमें कोई रहस्य की बात नही होती, न उनके दिमागो की दौड़ किसी परदे में ढकी रहती है, यहाँ तक कि उनके शरीरो पर भी ढकने को काफ़ी कपड़ा नही होता। राज्यक्रान्ति में राजनीतियाँ खाली राजाओ और पेशेवर राजनीतिज्ञो का खेल नही रह जाती। उनका ताल्लुक़ तो वास्तविक तथ्यों से होता है और उनके पीछे होता है मनुष्य-स्वभाव और भूखे लोगो का खाली पेट।

इसलिए सन् १७८९ से १७९४ ई० तक के भाग्य-निर्णायक पाँच वर्षों मे हम फ़ास में भूखी जनता की कार्रवाई देखते हैं। यही लोग डरपोक राजनीतिज्ञो को मजबूर करते हैं और उन्हीके हाथो से बादशाहत, सामन्तशाही और चर्च की रिआयतो का अन्त करवाते हैं। यही लोग खूंख़ार 'मैदम गिलोतीन'[2] को भेंट चढ़ाते हैं और जिन लोगो ने इनको पहले कुचला है और जिन लोगो पर ये अपनी नई मिली हुई आज़ादी के विरुद्ध साज़िशें करने का सन्देह करते हैं उनसे बड़ी क्रूरता के साथ बदला लेते है। यही फटे-हाल और नंगे पैरो वाले लोग कामचलाऊ हथियार लेकर अपनी राज्यक्रान्ति के पक्ष में लड़ने के लिए रणभूमि की ओर दौड़ते है और अपने विरुद्ध इकट्ठा होकर आनेवाली योरप की शिक्षित फौजो को पीछे खदेड़ देते हैं। फ़ास

---

[1] त्यूलरीज़ (Tuilleries)—पैरिस का राजमहल, जिसमें सोलहवें लुई को क़ैद किया गया था।

[2] गिलोतीन (Guikotine)—मध्यकालीन योरप में अपराधियों के सिर उड़ाने के काममें आनेवाली एक मशीन।

के ये लोग आश्चर्यजनक काम कर दिखाते हैं, लेकिन भयंकर जोर और लड़ाई-झगड़े के कुछ ही साल बाद क्रान्ति की स्फूर्ति बीत जाती है और वह अपने ही विरुद्ध उलटकर खुद अपनी ही सन्तान को खाने लगती है। और इसके बाद प्रति-क्रान्ति होती है जो क्रान्ति को हड़प कर जाती है और जिस आम जनता ने इतनी हिम्मत की थी और इतनी मुसीबतें झेलीं थी उसको दुबारा फिर 'ऊँचे' वर्गों के शासन में डाल देती है। इस प्रति-क्रान्ति में से डिक्टेटर और सम्राट नेपोलियन का उदय होता है। लेकिन न तो यह प्रति-क्रान्ति और न नेपोलियन, जनता को उसकी पुरानी जगह पर लौटा सके। क्रान्ति की मुख्य सफलताओं को कोई न मिटा सका; और उस दिन की जोशीली यादगार को, जबकि थोड़ी ही देर के लिए सही, सताये हुओं ने अपने जुये को उतार फेंका था, फ़ासीसी लोगों से और वास्तव में योरप की दूसरी जातियों से कोई न छीन सका।

क्रान्ति के शुरू के दिनों में बहुत-से दल और गिरोह प्रभुत्व के लिए लड़ रहे थे। एक तो बादशाह के हिमायती बादशाहवादी थे जो सोलहवें लुई को पूरा स्वेच्छाचारी बादशाह बनाये रखने की थोथी आशा लगा रहे थे; दूसरे मद्धिम विचारो वाले नरम लोग थे, जो विधान चाहते थे और बादशाह को एक नियन्त्रित शासक बनाकर रखने को तैयार थे; तीसरे मद्धिम विचारोंवाले प्रजातन्त्रवादी थे जो 'जिरोंदे'[1] का दल कहलाते थे; चौथे गरम प्रजातन्त्रवादी थे जो जैकोबिन[2] कहलाते थे क्योंकि वे जैकोबिन कान्वेन्ट के भवन में अपनी सभाएं किया करते थे। मुख्य दल यही थे और इन सब में और इनके अलावा भी, बहुत से हौसले-बाज़ थे। इन सब दलो और व्यक्तियों के पीछे थी फ़ास की और खासकर पैरिस की जनता जो अपने ही में के कई गुमनाम नेताओ के इशारे पर चलती थी। विदेशों में, और खासकर इंग्लैण्ड में, वे प्रवासी फ्रेंच अमीर थे जो क्रान्ति से मुह छिपाकर भाग गये थे और लगातार उसके विरुद्ध साजिशें कर रहे थे। योरप के सारे शक्तिशाली राज्य क्रान्तिकारी फ़ास के विरुद्ध एक हो रहे थे। पार्लमेण्ट वाला लेकिन उच्चवर्ग की सत्ता वाला इग्लैण्ड, और योरप के बादशाह तथा सम्राट भी आम जनता के इस अद्भुत धड़ाके से बहुत डर गये थे और इसे कुचल डालने की कोशिश में थे।

बादशाहवादियों और बादशाह ने मिलकर साजिश की, लेकिन इससे उन्होंने अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारी। नेशनल असेम्बली मे शुरू-शुरू मे जिस दल का ज़ोर था वह मद्धिम नरम लोगो का था जो कुछ-कुछ इग्लेंण्ड या अमरीका की तरह का कोई विधान चाहता था। उनका नेता था मिराबो।[3] लगभग दो वर्ष तक असेम्बली में इन्हीका ज़ोर रहा और क्रान्ति के शुरू दिनो की सफलताओं के जोश में इन्होंने कितनी ही साहसपूर्ण घोषणाए की और कुछ महत्वपूर्ण परिवर्त्तन भी किये। बैस्तील के पतन के बीस दिन बाद, ४ अगस्त सन् १७८९ ई० को, असेम्बली में एक ऐसी घटना हुई जिसका किसी को गुमान भी न था। असेम्बली मे सामन्ती अधिकारो और रिआयतो के तोड़ दिये जाने के प्रश्न पर विचार हो रहा था। उस समय फ़ास की हवा मे कुछ ऐसी तासीर थी, जो लोगो के दिमाग में चढ गई थी, यहाँतक कि सामन्ती सरदार भी कुछ देर के लिए स्वतन्त्रता की नई शराब के नशे में मतवाले हो गये थे। बड़े-बड़े अमीर और चर्च के नेता असेम्बली के भवन मे उठ खड़े हुए और अपने सामन्ती अधिकारों और रिआयतों को छोड़ने में एक दूसरे से आगे बढने लगे। यह एक हार्दिक और उदार प्रदर्शन था, हालाँकि कुछ साल तक इसका ज्यादा असर न हुआ। विशेषाधिकारी वर्ग के हृदयों मे ऐसी उदार भावनायें कभी-कभी, लेकिन बहुत ही कम, उठती हैं; या शायद यह बात हो कि उसे यह महसूस होने लगता है कि विशेषाधिकारो का अन्त तो होने वाला है ही, इसलिए बहती गगा में हाथ धोने मे ही भलाई है। थोड़े ही दिन हुए जब कि बापू ने छुआछूत को मिटाने

---

[1]जिरोंदे (Girondei)—यह फ़्रांस के एक प्रान्त का नाम है। जिरोंदे दल के नेता ज्यादातर इसी प्रान्त के निवासी थे।

[2]जैकोबिन (Jacobin)—फ़्रांस की राज्यक्रांति में भाग लेनेवाला एक शक्तिशाली राजनैतिक दल। ये लोग जेलियों की-सी टोपी पहनते थे जो 'जैकोबिन कैप' के नाम से मशहूर हो गई और क्रान्ति का चिह्न मानी जाने लगी। इस दल की स्थापना १७८९ ई० में वर्साई में हुई और रोब्सपीयरी की हार के बाद इसका अन्त हो गया।

[3]मिराबो (Mirabeau)—(१७४९-१७९१); एक फ़्रेंच राजनीतिज्ञ; (बादशाह का विरोधी) नैशनल असेम्बली का प्रधान (१७९१)।

के लिए अनशन किया था, तब भारत के सवर्ण हिन्दुओं ने इसी तरह का एक अद्भुत क़दम उठाया था और जादू की तरह सारे देश में सहानुभूति की लहर फैल गई थी। हिन्दुओं ने जिन जंजीरों में अपने बहुत-से भाइयो को जकड़ रक्खा था वे कुछ हद तक टूट गईं और हजारों दरवाजे, जो युगों से अछूतों के लिए बन्द थे, उनके लिए खुल गये।

बस, क्रान्तिकारी फ्रांस की नैशनल असेम्बली ने जोश में आकर कम-से-कम प्रस्ताव तो पास कर ही दिया कि किसानों की गुलामी, विशेषाधिकार, सामन्ती कचहरियाँ, अमीरों और पादरियों को टैक्स की छूट और उपाधियाँ, ये सब मिटा दी जायँ। यह अजीब बात है कि बादशाह तो बना रहा लेकिन अमीर वर्ग की सब उपाधियाँ छिन गईं।

तब असेम्बली ने आगे चलकर मानव अधिकारों की एक घोषणा स्वीकार की। इस मशहूर घोषणा का विचार शायद अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा से लिया गया था। लेकिन अमरीकावाली घोषणा संक्षिप्त और सरल है; फ्रांस वाली लम्बी और जरा पेचीदा है। मानव अधिकार वे अधिकार थे जो मनुष्य को समानता, स्वाधीनता और सुख प्राप्त करानेवाले माने गये थे। उस समय मानव अधिकारों की यह घोषणा बड़ी ही वीरतापूर्ण और साहसपूर्ण मालूम होती थी और बाद के लगभग सौ वर्षों तक यह योरप के नर्म विचारवालों और लोकसत्तावादियो का परवाना बनी रही। लेकिन फिर भी आज यह समयानुकूल नहीं रही और हमारे समय की किसी भी समस्या को हल नही करती। लोगों को यह पता लगाने में बहुत दिन लगे कि सिर्फ़ क़ानून की रूह से समानता और वोट देने का अधिकार सच्ची समानता, या स्वाधीनता या सच्चा सुख नही दे सकते, और यह कि जिनके हाथ मे सत्ता है उनके पास उनका शोषण करने के और भी तरीक़े हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से अब तक राजनैतिक विचारधारा बहुत आगे बढ़ गई है या बदल गई है, और शायद मानव अधिकारों की घोषणा के उन लम्बे चौड़े सिद्धान्तो को बहुत से अनुदार विचारवाले भी आज मजूर कर लेंगे। लेकिन इसका यह मतलब नही है, जैसा कि हम आसानी से देख सकते है, कि ये लोग सच्ची समानता और स्वाधीनता देने को तैयार हैं। यह घोषणा खानगी सम्पत्ति की तो वास्तव में रक्षा करती थी। बड़े-बडे अमीरों की और चर्च की जागीरें सामन्ती हकों और विशेष अधिकारो से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कारणों से ज़ब्त की गई थी। लेकिन सम्पत्ति रखने का अधिकार पवित्र और अटूट माना गया था। तुम शायद जानती हो कि आजकल के प्रगतिशील राजनैतिक विचारो के मुताबिक खानगी सम्पत्ति एक बुराई है जो, जहाँतक हो सके, मिटा दी जानी चाहिए।

मानव अधिकारो की घोषणा आज हमको शायद एक मामूली दस्तावेज़ मालूम पडे। कल के साहस-पूर्ण आदर्श अक्सर आज की एक मामूली-सी बात बन जाते है। लेकिन जिस समय इसका ऐलान किया गया था, उस समय इससे सारे योरप में खुशीकी लहर दौड गई थी और तमाम पीडितों तथा दलितों को इसमें अच्छे दिनो की सुन्दर आशा नजर आने लगी थी। लेकिन बादशाह ने इसे पसद नही किया; वह इस घोर बद-तमीज़ी से हैरत में आगया और उसने इस पर मजूरी देने से इन्कार कर दिया। वह अभी वर्साई में ही था। इसी समय यह हुआ कि पैरिस के लोगो की उपद्रवी भीड जिसके आगे स्त्रियाँ थी, वर्साई के महलों पर चढ़ आई और उसने बादशाह को न सिर्फ़ यह घोषणा ही मजूर करा ली बल्कि उसे पैरिस चले जाने के लिए भी मजबूर कर दिया। जिस अजीब जुलूस का ज़िक्र मैंने पिछले पत्र के अन्त मे किया है, वह यही था।

असेम्बली ने और भी बहुत-से उपयोगी सुधार किये। चर्च की बड़ी विशाल सम्पत्ति राज्य ने ज़ब्त कर ली। फ़्रांस का असली इलाक़ो में नया बँटवारा किया गया, और मेरा खयाल है कि यह बंटवारा आज तक चालू है। पुरानी सामन्ती कचहरियो की जगह अच्छी कानूनी अदालतें कायम की गईं। यह सब अच्छे के लिए था लेकिन इससे कुछ ज्यादा मतलब हल नही हुआ। इससे न तो ज़मीन के भूखे काश्तकारों का ज्यादा फ़ायदा हुआ और न शहरो के मामूली लोगों का, जो रोटी के भूखे थे। ऐसा मालूम होता था कि क्रान्ति की गति रोक दी गई। जैसा कि मै तुम्हें बतला चुका हूँ, जनसाधारण, काश्तकारों और शहरों के आम लोगों का असेम्बली में बिलकुल प्रतिनिधित्व न था। असेम्बली पर मध्यमवर्ग का अधिकार था जिसका नेता मिराबो था, और ज्योंही उन्हें महसूस हुआ कि उनका मतलब पूरा हो गया, त्योंही उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भरसक कोशिश की। वे तो बादशाह लुई तक से साँठ-गाँठ करने लगे और सूबों के काश्तकारों को गोलियों से भूनने लगे। उनका नेता मिराबो तो वास्तव में बादशाह का गुप्त सलाहकार ही बन गया।

जिस जनता ने बैस्तील पर हमला करके उसे जीत लिया था और जो यह सोचने लगी थी कि इस तरह उसने अपनी जंजीरें तोड़ डाली हैं, वही अब आश्चर्य के साथ देखने लगी कि क्या हो रहा है। उनकी आजादी अब भी उतनी ही दूर मालूम होती थी जितनी पहले, और नई असेम्बली उनकी गर्दन पर इसी तरह सवार थी जिस तरह पुराने जमींदार लोग।

असेम्बली में मात खाकर, क्रान्ति के केन्द्र पैरिस की जनता ने अपनी क्रान्तिकारी शक्ति के निकास का दूसरा रास्ता तलाश कर लिया। यह था पेरिस की 'कम्यून' या म्यूनिसिपैलिटी। कम्यून ही नही बल्कि कम्यून को कई प्रतिनिधि भेजने वाले शहर के हरेक हलके में एक जिन्दा संस्था थी जो जनता से सीधा सम्पर्क रखती थी। कम्यून, और खासकर हलके, क्रान्ति के झंडा-बरदार और नरम विचारो और मध्यमवर्ग की असेम्बली के प्रतिद्वन्दी बन गये।

इसी अर्से में बैस्तील के पतन की साल-गिरह आगई और १४ जुलाई को पेरिस के निवासियो ने बड़ा भारी जलसा मनाया। इसे 'फेडरेशन का जल्सा' कहा गया; और पैरिस वालों ने शहर को सजाने में दिल खोलकर मेहनत की, क्योंकि वे इस जलसे को अपना ही समझते थे।

सन् १७९० और १७९१ ई० में क्रान्ति की ऐसी हालत थी। असेम्बली का सारा क्रान्तिकारी जोश ठंडा पड़ चुका था और वह सुधार करते-करते उकता गई थी; लेकिन पेरिस के लोग अभी तक क्रान्तिकारी शक्ति से खौल रहे थे, किसान-वर्ग अभी तक भूखो की तरह जमीन की तरफ ताक रहा था। यह हालत बहुत दिनो तक नही रह सकती थी; या तो क्रान्ति आगे बढ़ती या खतम हो जाती। मद्धिम नरमदल का नेता मिरोबा सन् १७९१ ई० में मर गया। बादशाह से गुपचुप साजिशें करते रहने पर भी वह लोकप्रिय था और उसने लोगो को रोक रक्खा था। २१ जून सन् १७९१ ई० को ऐसी घटना हुई जिसने क्रान्ति के भाग्य का निबटारा कर दिया। यह था बादशाह लुई और रानी मेरी एन्तोइनेत का भेष बदल कर भाग जाना। वे किसी तरह सरहद तक पहुँच भी गये। लेकिन वर्दून के पास वेरनीस के कुछ किसानो ने उन्हें पहचान लिया और उन्हे रोक कर फिर पेरिस भेज दिया गया।

जहाँ तक पेरिस के रहनेवालो का सम्बन्ध था वहाँ तक बादशाह और रानी के इस कार्य ने उनकी किस्मत का फैसला कर दिया। अब प्रजातन्त्र की भावना खूब जोर पकड़ने लगी। लेकिन फिर भी असेम्बली और उस समय की सरकार इतने नरम विचारोवाली और जनता की भावनाओं से इतनी दूर थी कि जो लोग लुई को राजगद्दी से उतार देने की माँग करते थे उनको वे गोलियो से भूनती रही। क्रान्ति के महान नेता मारत के पीछे अधिकारी लोग बुरी तरह पड गये क्योकि उसने बादशाह को, भाग जाने के कारण, देशद्रोही कहकर उसकी निन्दा की थी। उसे पेरिस की जमीदोज नालियो में छिपना पड़ा जिस के कारण उसे एक भयकर चर्म रोग हो गया।

ताज्जुब है कि फिर भी एक साल से ज्यादा तक नाम के लिए लुई बादशाह माना जाता रहा। सितम्बर सन् १७९१ ई० में नेशनल असेम्बली का काल पूरा हो गया और उसकी जगह लेजिस्लेटिव असेम्बली ने ले ली। यह भी उसीकी तरह मद्धिम विचारो वाली थी और सिर्फ़ उँचे वर्गों की ही प्रतिनिधि थी। यह फ़ास के बढ़ते हुए जोश की प्रतिनिधि न थी। क्रान्ति का यह बुखार जनता में फैल गया और गरम प्रजातन्त्र-वादी जैकोबिन लोगो की, जो जनता के ही लोग थे, ताकत बढने लगी।

उधर योरप के शक्तिशाली राष्ट्र इन अद्भुत घटनाओ को बड़े चौकन्ने होकर देख रहे थे। थोड़े दिनों तक तो प्रशिया और आस्ट्रिया और रूस दूसरी जगह लूटमार में लगे रहे। वे पोलैण्ड के पुराने राज्य को खतम करने में लगे हुए थे; लेकिन फ़ांस में घटनायें बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ रही थी और उनका ध्यान खीच रही थी। सन् १७९२ ई० में फ़ांस का आस्ट्रिया और प्रशिया से युद्ध छिड़ गया। मैं तुम्हें यह बतला दूँ कि आस्ट्रिया इन दिनो निदरलैण्ड्स के बेलजियम वाले हिस्से पर कब्जा किये हुए था और उसकी सरहद फ़ांस से लगी हुई थी। विदेशी फ़ौजें फ़ांस के इलाके में घुस आईं और उन्होंने फ़ांस की फौजों को हरा दिया। लोगों की यह धारणा थी और जिसके लिए कारण भी था, कि बादशाह उनसे मिला हुआ है और सारे बादशाहवादियों पर दग़ाबाजी का सदेह किया जाने लगा। जैसे-जैसे उनके चारों तरफ़ खतरे बढने लगे वैसे-ही-वैसे पेरिस के लोग ज्यादा-ज्यादा भड़कने और घबराने लगे। उन्हें चारों तरफ़ भेदिये और देशद्रोही नजर आने लगे। पेरिस की क्रान्तिकारी कम्यून ने इस सकट की घड़ी मे आगे बढ़कर लाल झंडा

फहरा दिया, और यह जाहिर कर दिया कि राज-दरबार की बग़ावत के विरुद्ध जनता ने फ़ौजी क़ानून यानी मार्शल-लॉ जारी कर दिया है। उसने १० अगस्त, सन् १७९२ ई० को बादशाह के महल पर भी धावा बोल दिया। बादशाह ने अपने स्विस[1] अंग रक्षकों के हाथों जनता पर गोलियाँ चलवा दीं। लेकिन जीत आखिर जनता की ही हुई और कम्यून ने असेम्बली को मजबूर किया कि बादशाह को गद्दी से उतारकर क़ैद करे।

सब लोग जानते हैं कि आज यह लाल झंडा सब जगह मजदूरो का, समाजवाद और साम्यवाद का, झंडा है। लेकिन पहले यह जनता के विरुद्ध फौजी कानून की घोषणा का सरकारी झडा हुआ करता था। मेरा ख़याल है, लेकिन मैं निश्चय के साथ नही कह सकता, कि पैरिस कम्यून द्वारा इस झडे का उपयोग जनता की ओर से उसका सबसे पहला उपयोग था। और तभी से यह धीरे-धीरे मजदूरो का झडा बनता गया।

बादशाह का गद्दी से उतारा जाना और कैद किया जाना काफी न था। स्विस अंग-रक्षकों की उन-पर गोलियां चलाने और बहुतो को मार डालने की कार्रवाई से भडक कर और देश के दुश्मनो तथा भेदियों के प्रति भय और क्रोध से भर कर, पेरिस के लोग जिन पर सन्देह करते उनको पकड़-पकड कर जेलों मे ठूँसने लगे। गिरफ़्तार किये गये लोगो मे बहुत से जरूर दोषी थे, लेकिन बहुत से निर्दोष व्यक्तियो को भी गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिया गया। कुछ दिन बाद लोगों पर एक भयकर जुनून सवार हुआ। उन्होंने क़ैदियो को जेल से निकाल कर उनपर झूठ-मूठ का मुकदमा चलाया और उनमें से बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। ये 'सितम्बर की हत्यायें' कहलाती हैं और इनमे एक हजार से ज्यादा आदमी मार डाले गये। पैरिस की उपद्रवी भीड़ को बडे पैमाने पर रक्तपात का यह पहला ही अनुभव था। रक्त की प्यास बुझाने के लिए अभी तो और बहुत खून बहना बाकी था।

सितम्बर में ही फ्रांस की फ़ौजों को आस्ट्रिया और प्रशिया की हमला करनेवाली फौजो पर पहली विजय मिली। यह विजय वाल्मी की छोटी-सी लड़ाई मे मिली, जो छोटी तो थी लेकिन उसका नतीजा बहुत बड़ा निकला, क्योंकि उसने क्रांति को बचा लिया।

२१ सितम्बर, सन् १७९२ ई० को नैशनल कन्वेन्शन बुलाया गया। यह असेम्बली का स्थान लेने-वाली नई सभा थी। यह अपने पहले की दोनो असेम्बलियो से ज्यादा प्रगतिशील थी। लेकिन कम्यून से फिर भी पिछड़ी हुई थी। कन्वेन्शन ने पहला काम यह किया कि प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी। इसके बाद ही सोलहवें लुई का मुकदमा हुआ; उसे मौत की सजा दी गई और २१ जनवरी सन् १७९३ ई० को उसे बादशाहत के पापो का बदला अपना सिर देकर चुकाना पड़ा। उसे गिलोतीन पर चढा दिया गया, यानी गिलोतीन से उसका सिर उडा दिया गया। फ्रास की जनता अब अपना पीछे लौटने का मार्ग बन्द कर चुकी थी। उसने आखिरी कदम बढा दिया था और योरप के बादशाहो और सम्राटो को चुनौती दे दी थी। वे लोग अब पीछे नही लौट सकते थे। बादशाह के खून से सनी हुई गिलोतीन की सीढ़ियो पर से ही क्रान्ति के महान नेता दान्तन[2] ने जमा हुई भीड़ के सामने बोलते हुए इन दूसरे बादशाहो को अपनी ललकार सुनाई। उसने पुकार कर कहा—"योरप के बादशाह हमको चुनौती देना चाहेंगे, हम एक बादशाह का सिर उनके आगे फेंकते हैं!"

---

[1] स्विट्जरलैण्ड के निवासी स्विस कहलाते हैं।

[2] दान्तन (Danton)—(१७५९-१७९४); फ्रांस का एक वकील और क्रान्तिकारी नेता। 'सितम्बर की हत्याओं' का हुक्म इसी ने दिया था। रोब्सपीयर ने इसे पिछाड़ दिया और इसको गिलोतीन पर चढ़ाकर मार डाला गया।

: १०२ :

क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

१३ अक्तूबर, १९३२

बादशाह लुई का अन्त हो चुका था, लेकिन उसकी मौत से पहले ही फ़ास में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो चुका था। उसके निवासियों का खून क्रान्ति की गर्मी से भभक रहा था; उनकी नसो में सनसनी दौड़ रही थी और उनपर धधकते हुए जोश का भूत सवार था। प्रजातन्त्रवादी फ़ास तलवार खीचे खड़ा था; बाकी का योरप—'बादशाही योरप'-उसके विरूद्ध था। प्रजातन्त्रवादी फ़ांस इन निकम्मे बादशाहो और राजाओं को बतला देना चाहता था कि स्वतन्त्रता के सूरज की गरमी पाकर देशभक्त लोग किस तरह लड सकते हैं। वे लोग केवल अपनी नई मिली हुई स्वतन्त्रता के लिए ही नही, बल्कि बादशाहो और अमीरों के सताये हुए अन्य सब लोगों की स्वतन्त्रता के लिए लडने को तैयार थे। फ़ास के लोगो ने योरप के राष्ट्रो को अपना सदेश भेजकर उनसे अनुरोध किया कि वे अपने शासको के विरुद्ध उठ खड़े हों, और यह घोषणा की कि वे लोग सब देशों की जनता के दोस्त और सब बादशाही सरकारो के दुश्मन हैं। उनकी पितृभूमि[1] फ़ास स्वतन्त्रता की जननी बन गई, जिसकी वेदी पर बलिदान हो जाना आनन्द की बात थी। और इस खूखार जोश की घडी में उन्हे एक अद्भुत गीत मिल गया जिसका स्वर उनके धधकते हुए भावों से मिला हुआ था और जिसने उनको खतरों की ज़रा भी पर्वाह न करते हुए और सब बाधाओं को पार करते हुए गीत गाते-गाते रण क्षेत्र की ओर दौड़ने के लिए प्रेरित किया। यह रूजे दि लाइली का राइन की फौजो के लिए रचा हुआ युद्ध-गीत था जो तब से 'मार्साइसी'[2] कहलाता है, और आज भी फ़ांसवालों का राष्ट्रीय गीत है। फ़ासीसी भाषा के इस गीत का भावार्थ यह है:

> पितृभूमि के बच्चो, आओ!
> गौरव का दिन आया है!
> निष्ठुरता का खूनी झंडा,
> अपने सिर पर छाया है!
> सुनो रक्त के प्यासे सैनिक,
> चारों ओर दहाड़ रहे।
> गोदी के लालों, ललनाओं,
> की हत्या को उमड़ रहे।
> सैन्य सजाओ! ऐ नागरिको!
> कर में तलवारें खींचो!
> इन सबके अपवित्र रक्त से,
> अपने खेतों को सींचो!

वे लोग बादशाहों की दीर्घायु के निरर्थक गीत नही गाते थे। इसके बजाय वे मातृभूमि के पुनीत प्रेम और प्यारी स्वतन्त्रता के गाने गाते थे।

> ओ पितृभूमि के पुण्य प्रेम!
> आगे बढ़ने की राह दिखा!
> प्रतिहिंसा के प्यासे शस्त्रों,
> को तू रण में कर बल प्रदान!
> प्रिय स्वतंत्रते! तू समर बीच
> निज सेवक जन की कर रक्षा।

---

[1]योरप के लोग अपनी मातृभूमि को पितृभूमि कहते हैं।

[2]Marseillaise.

चीज़ों की बड़ी तंगी थी। न तो काफी खाना था, न कपड़े, न जूते। यहाँ तक कि हथियार भी न थे। कितनी ही जगहों के नागरिकों से फ़ौज के लिए बूट और जूते दे देने को कहा गया; देशभक्तों ने बहुत तरह की ऐसी खाने की चीजों को छोड़ दिया जिनकी कमी पड़ गई थी लेकिन जिनकी फौज के लिए जरूरत थी; कुछ लोग तो अक्सर उपवास भी करने लगे। चमड़ा, रसोई के बरतन, कढ़ाइयाँ, बाल्टियाँ, वग़ैरा, तरह-तरह की घरू काम की चीजें मांग ली गईं। पैरिस की गलियों में लुहारों की सैकड़ो भट्टियों पर हथौड़े चल रहे थे क्योंकि सारे नागरिक पुरुष और स्त्रियां हथियार तक बनाने में मदद दे रहे थे। लोग बड़ी भारी तंगी उठा रहे थे; लेकिन इसकी क्या पर्वाह थी जब उनकी पितृ भूमि फ़ास, सुन्दर फांस, फटे-हाल मगर स्वाधीनता का मुकुट पहने, खतरे में थी और दुश्मन उसके दरवाज़े पर खड़ा था? बस, फ़ांस के नौजवान उसकी रक्षा करने को दौडे और भूख-प्यास की पर्वाह न करते हुए, विजय-यात्री हुए। कार्लाइल लिखता है: "ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि राष्ट्र की सारी की सारी जनता में कुछ भी श्रद्धा का होना माना जा सके; सिवाय उन चीजो के प्रति जिन्हें वह खा सके या धर-उठा सके। जब कभी उसे कोई श्रद्धा प्राप्त हो जाती है, तो उसका इतिहास हृदय-ग्राही और ध्यान देने योग्य बन जाता है।" एक महान हेतु में यही श्रद्धा क्रान्ति के स्त्री-पुरुषों में पैदा हुई और उन स्मरणीय दिनो में उन्होंने जो इतिहास रचा और जो कुर्बानियाँ बर्दाश्त की, उनमें अब भी हमें जोश दिलाने की और हमारे खून की गति तेज़ करने की शक्ति है।

नये रँगरूटों की इन क्रान्तिकारी फौजो ने, पूरी तरह फ़ौजी तालीम न मिलने पर भी, फ़ांस की धरती पर से सब विदेशी फौजों को मार भगाया और उसके बाद निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से (बेलजियम, वग़ैरा) को भी आस्ट्रिया के चंगुल से छुडा दिया। हैप्सबर्गों ने हमेशा के लिए निदरलैण्ड्स को छोड़ दिया और वे फिर वापस न आये। योरप की शिक्षित और वेतन भोगी फ़ौजें इन क्रान्तिकारी रंगरूटो के मुकाबिले मे न ठहर सकी। शिक्षित सिपाही तनख्वाह की खातिर लडता था और बड़ी सावधानी के साथ लडता था, क्रान्तिकारी रंगरूट एक आदर्श के लिए लड़ता था और विजय के लिए भारी-से-भारी जोखिमे उठाने को तैयार था। शिक्षित सिपाही ढेर-का-ढेर सामान लादे धीरे-धीरे चलता था; रगरूट के पास लादने को कुछ सामान न था और वह तेजी के साथ चलता था। यानी क्रान्तिकारी फौजे युद्ध में एक नया ही नमूना थी और उनके लडने का ढग भी बिलकुल नया था। उन्होनें युद्ध कला के पुराने तरीको को बदल दिया और कुछ हद तक वे योरप में अगले सौ वर्षों की फौजो के लिए नमूना बन गईं। लेकिन इन फ़ौजो का असली बल इनके जोश और इनके हौसले में था। इनका नारा, और असल मे उस समय क्रान्ति का भी नारा, दान्तन के इस मशहूर वाक्य में आ जाता है: "पितृभूमि के दुश्मनो को परास्त करने के लिए हम मे दिलेरी, और भी ज्यादा दिलेरी, हमेशा दिलेरी, चाहिए।"

युद्ध फैलने लगा। समुद्री फौज के कारण इंग्लैण्ड एक ताकतवर दुश्मन साबित हुआ। प्रजा-तन्त्रवादी फ्रांस ने खुश्की पर लडने के लिए बडी भारी फौज बना ली थी लेकिन समुद्र पर वह कमज़ोर था। इग्लैण्ड ने फ़ांस के सारे बन्दरगाहों की नाकाबन्दी शुरू कर दी। फ्रास से भागे हुए लोग इग्लैण्ड से ही करोड़ो की संख्या मे जाली 'असाइनेट्स' या फ्रेंच प्रजातन्त्र के नोट धड़ा-धड़ फ़ास भेजने लगे। इस तरह उन्होने फ़ांस की मुद्रा-प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था को नष्ट करने की कोशिश की।

विदेशों के साथ यह युद्ध सबसे महत्वपूर्ण चीज़ बन गया और राष्ट्र की सारी ताक़त उसमे खर्च होने लगी। ऐसे युद्ध क्रान्तियो के लिए खतरनाक हुआ करते हैं। क्योकि ये सामाजिक समस्याओ से ध्यान हटाकर उसे विदेशी शत्रु से लड़ने की तरफ लगा देते है जिससे क्रान्ति का असली उद्देश्य घपले में पड जाता है। क्रान्ति के जोश का स्थान युद्ध का जोश ले लेता है। फ़ास में ऐसा ही हुआ और, जैसा कि हम देखेंगे, आखिरी दरजा फ़ास का यह हुआ कि वहाँ एक जबरदस्त फौजी सेनापति की डिक्टेटरशाही क़ायम हो गई।

घरू झगड़े भी साथ-साथ चल रहे थे। फ़ांस के पश्चिम में वैन्दी में कुछ तो वहाँ के काश्तकारों के नई फ़ौजों में भरती होने से इन्कार करने के कारण और कुछ बादशाहवादी नेताओ और फ़ांस से भागे हुए लोगों की कोशिशों से, किसानों का जबरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ। क्रान्ति को सम्हालने वाले और

चलाने वाले तो असल में पेरिस के नगर-वासी थे; किसान वर्ग राजधानी में तेजी से होने वाले परिवर्तनों को और उनके महत्त्व को न समझ सकने के कारण पिछड़ गये। वैन्दी का विद्रोह बड़ी क्रूरता के साथ दबा दिया गया। युद्ध में और खासकर गृह-युद्ध में लोगों की नीच-से-नीच प्रवृत्तियाँ जाग उठती हैं और दया तो दर-दर मारी फिरती है। लियों में क्रांति-विरोधी उपद्रव हुआ। इसे दबा दिया गया और किसी ने यह प्रस्ताव किया कि सज़ा के तौर पर लियों के बड़े नगर को ही नष्ट कर दिया जाय! "लियों ने स्वतन्त्रता के विरुद्ध युद्ध छेड़ा है; लियो अब नही बच सकता!" सौभाग्य से यह प्रस्ताव मंजूर नहीं किया गया, मगर फिर भी लियो को बड़ी मुसीबतें झेलनी पड़ी।

इसी अर्से में पैरिस में क्या हो रहा था? वहाँ किसका अधिकार था? नई चुनी हुई कम्यूत और उसके हलको का शहर में अभी तक बोलबाला था। नैशनल कन्वेन्शन में अधिकार के लिए विभिन्न गिरोहो में कशमकश चल रही थी जिनमे खास थे ज़िरोदिन यानी मद्धिम प्रजातन्त्रवादी और जैकोबिन यानी गरम प्रजातन्त्रवादी। जैकोबिन दल की जीत हुई और जून, सन् १७९३ ई० के शुरू में ही ज्यादातर ज़िरोदिन डिप्टी लोग कन्वेन्शन से निकाल दिये गये। कन्वेन्शन ने अब सामन्तों के अधिकारो को हमेशा के लिए उठा देने की कार्रवाई की और जो ज़मीने सामन्ती सरदारो के क़ब्ज़े मे थी वे स्थानीय कम्यूनो यानी म्युनिसिपैलिटियों को वापस लौटा दी गईं, यानी ये ज़मीनें आम जनता की सम्पत्ति हो गईं।

कन्वेन्शन ने, जिसमे अब जैकोबिन लोगो की तूती बोलती थी, दो कमेटियाँ नियुक्त की; एक तो सार्वजनिक हित की और दूसरी सार्वजनिक रक्षा की, और इनको लम्बे-चौडे अधिकार दे दिये। ये कमेटियाँ-खासकर सार्वजनिक रक्षा वाली, जल्दी ही बड़ी ताकतवर बन बैठी और लोग इनसे डरने लगे। इन्होने कन्वेन्शन को एक-एक कदम आगे हाँकना शुरू किया, यहाँ तक कि क्रान्ति आतक के गहरे गड्ढे में जा पड़ी। भय की छाया अभी तक हरेक के ऊपर पडी हुई थी, विदेशी दुश्मनो का भय, जो उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे, भेदियो और देश-द्रोहियो का भय, जिनकी सख्या बहुत थी। भय लोगों को अन्धा और हताश बना देता है, और लगातार सिर पर सवार रहनेवाले इस भय से प्रेरित होकर सितम्बर, सन् १७९३ ई० मे कन्वेन्शन ने एक भयंकर कानून पास किया जो 'संदेह-भाजन लोगों का कानून' कहलाया। जिस किसी पर सदेह होता उसकी खैर न थी, और सदेह किये जाने से कौन बच सकता था? एक महीने बाद कन्वेन्शन के बाईस ज़िरोदिन डिप्टियो पर क्रान्तिकारी अदालत के सामने मुकदमा चलाया गया और उनको फौरन मौत की सज़ा दे दी गई।

इस तरह आतंक की शुरूआत हुई। प्रतिदिन मौत की सजा पाये हुए लोगो की गिलोतीन को यात्राए होती थी, प्रतिदिन इन कुर्बानी के बकरो से भरी हुई गाडियाँ, जिन्हे 'तम्ब्रिल' कहते थे, पैरिस की गलियो के खुरो पर चू-चू करती और खड़खडाती हुई जाती थी और लोग इन अभागों को चिढ़ाते थे। कन्वेन्शन में भी अधिकारियो के गुट्ट के खिलाफ बोलना खतरनाक था, क्योकि इससे सदेह पैदा होता था और सदेह का नतीजा था मुकदमा और गिलोतीन। कन्वेन्शन की बागडोर सार्वजनिक हित और सार्वजनिक रक्षा की कमेटियो के हाथों मे थी। ये कमेटियाँ, जिनके हाथो मे जीवन और मरण का पूरा अधिकार था, अपने अधिकार दूसरो को नही बाँटना चाहती थी। इन्होने पैरिस की कम्यून पर भी ऐतराज़ किया। असल में जो इनकी हाँ में हाँ नही मिलाते थे, उन सब पर इनको ऐतराज़ था। अधिकार में लोगो को भ्रष्ट कर देने की असाधारण तासीर होती है। इसलिए इन कमेटियो ने उस कम्यून को कुचलना शुरू कर दिया जो अपने हलको के साथ क्रान्ति का आधार रही थी। पहले इन्होंने हलको को कुचला और इन सहारों को काटकर फिर कम्यून को कुचल डाला। इस तरह क्रान्ति अक्सर अपने आप को ही खा जाती है। पैरिस के हरेक हिस्से के ये हलके आम जनता को ऊँचे अधिकारियों से मिलानेवाली कड़ियाँ थे। ये वे नसें थी जिनमें होकर क्रान्ति का, उसे बल और जीवन देने वाला, लाल खून बहता था। सन् १७९४ ई० के शुरू में हलको और कम्यून के कुचल दिये जाने का अर्थ था इस जीवन देनेवाले खून का रोक दिया जाना। आगे से कन्वेन्शन और ये कमेटियाँ ऊँचे अधिकारियो का अग बन गईं, जिनका जनता से कोई सजीव सम्पर्क न था और जो आतंक के द्वारा अपनी मर्ज़ी दूसरो पर लादती थीं—जैसा कि सब अधिकार-प्राप्त लोगों का रवैया हुआ करता है। यह असली क्रान्तिकारी ज़माने के अन्त की शुरूआत थी। छः महीने तक यह आतंक और जारी रहनेवाला था और क्रान्ति लस्टम-पस्टम चलने वाली थी। लेकिन उसका अन्त तो दिखाई देने लगा था।

इन उथल-पुथल और परेशानी के दिनों में पैरिस और फ्रांस के नेता कौन थे ? बहुत-से नाम सामने आते हैं। कैमिली दीस्मूलाँ जो सन् १७८९ ई० में बैस्तील के हमले का नेता था और जिसने अन्य बहुत-से मौक़ों पर भी महत्व-पूर्ण हिस्सा लिया था। आतंक के दिनो में दयालुता की नीति का समर्थन करते हुए यह खुद गिलोतीन का शिकार हुआ। कुछ ही दिन बाद इसकी युवा पत्नी लूसिली ने भी इसका अनुसरण किया और अपने पति के बिना जीवित रहने से मौत को बेहतर समझा। कवि फैब्रे दि इग्लैंतीन सरकारी वकील फोक्विये तिनविली, जिससे सब घबराते थे; मारत, क्रान्ति का शायद सबसे महान और योग्य आदमी जिसे एक नौजवान लड़की शारलौती कॉरदे ने छुरा भोककर मार डाला; दान्तन, जिसका ज़िक्र मैं पहले भी दो बार कर चुका हूँ, जो वीर और शेरदिल था और ज़बरदस्त लोकप्रिय वक्ता था, लेकिन फिर भी उसका अन्त गिलोतीन पर हुआ; और इन सबसे ज्यादा मशहूर रोबसपीयरी, जैकोबिन दल का नेता और आतंक के दिनों में कन्वेन्शन का क़रीब-क़रीब डिक्टेटर। यह तो एक तरह से आतंक की मूर्ति ही बन गया है और लोग इसका नाम लेते हुए काँपते हैं। लेकिन इस व्यक्ति की ईमानदारी और देशभक्ति के बारे में कोई उँगली नहीं उठा सकता; लोग इसे 'निर्वाय' यानी कभी भ्रष्ट न होने वाला कहते थे। लेकिन जीवन में इतना सादगी-पसन्द होते हुए भी वह ज़रूरत से ज्यादा अहंकारी था और शायद वह यह खयाल करता था कि उससे मतभेद रखनेवाला हरेक आदमी प्रजातंत्र और क्रान्ति का द्रोही है। क्रान्ति के बहुत-से बड़े-बड़े नेता, जो इसके साथी रह चुके थे, इसीके इशारे पर गिलोतीन के घाट उतार दिये गये; यहाँतक कि वह कन्वेन्शन, जो भेड़ की तरह इसके पीछे-पीछे चल रहा था, आखिर इसके विरुद्ध खड़ा हो गया। उन्होंने इसे ज़ालिम और तानाशाह करार दिया और इसका तथा इसकी तानाशाही का अन्त कर दिया।

क्रान्ति के ये तमाम नेता नौजवान लोग थे, क्रान्तियाँ बुड्ढे आदमियों से नही हुआ करती। इनमें से अनेक महत्वपूर्ण ज़रूर थे, लेकिन इस महान नाटक में किसी का भी पार्ट, यहाँ तक कि रोबसपीयरी का भी, ज़ोरदार न रहा। क्रान्ति की घटना के सामने ये तुच्छ मालूम पडते है; क्योकि इन लोगों ने न तो क्रान्ति पैदा की थी और न उसकी बागडोर ही इनके हाथों में थी। वह तो एक ऐसा कुदरती मानवी भूकम्प था जैसे इतिहास में समय-समय पर हुआ करते हैं; और जिनको सामाजिक परिस्थितियाँ तथा वर्षों की लगातार मुसीबतें और तानाशाही धीरे-धीरे लेकिन अमिट तौर पर, तैयार करती है।

यह न समझना कि कन्वेन्शन ने लड़ने-भिड़ने और गिलोतीन पर चढाने के सिवा और कुछ न किया। सच्ची क्रान्ति से पैदा होनेवाली शक्ति हमेशा बहुत ज़ोरदार होती है। इसका बहुत-सा हिस्सा तो विदेशियों से युद्ध में खप गया था, लेकिन फिर भी बहुत-कुछ बच रहा था, और इसके द्वारा काफी रचनात्मक काम किया गया। खासकर राष्ट्रीय शिक्षा का सारा तरीक़ा ही बदल दिया गया। 'मीटर-प्रणाली' जिसे आज स्कूल के सब बच्चे सीखते हैं, इसी समय जारी की गई थी और इसने तमाम तोलो को और लम्बाई तथा आयतन के तमाम नापों को सरल कर दिया। यह प्रणाली अब दुनिया के लगभग सारे सभ्य देशों मे फैल गई है, लेकिन कट्टर-पन्थी इग्लैण्ड अभी तक गज़ो, फ़र्लांगों, पाउडो और हड्रवेटो वगैरा की पुरानी प्रणाली से चिपट रहा है। हम भारतवासियों को सेरो और मनो वग़ैरा के अलावा इन जटिल लम्बाइयो और तोलो को भी सहन करना पड़ता है।

मीटर प्रणाली के बाद यह भी होना था कि प्रजातन्त्र का एक नया कैलेंडर बने ! यह २२ सितम्बर सन् १७९२ ई० से, यानी जिस दिन प्रजातन्त्र का ऐलान हुआ उस दिन से, शुरू किया गया। सात दिन के सप्ताह की जगह दस दिन का सप्ताह कर दिया गया और दसवाँ दिन छुट्टी का रक्खा गया। महीने तो बारह ही रहे मगर उनके नाम बदल दिय गये। कवि फैब्रे ने ऋतुओं के अनुसार महीनों को बड़े

'मीटर-प्रणाली—नापों की इस प्रणाली में लम्बाई की इकाई मीटर (३९.३७ इंच) और वजन की इकाई ग्राम (क़रीब $\frac{१}{२८}$ औंस) मानी गई है। सरलता यह रक्खी गई है कि इनसे ऊपर और नीचे के सब नाप दस-दस गुणक या भाग है। जैसे १० मीटर=१ डेकामीटर, १० डेकामीटर=हेक्टोमीटर, १० हेक्टोमीटर=१ किलोमीटर; $\frac{१}{१०}$ मीटर=१ डेसी मीटर, $\frac{१}{१००}$ मीटर=१ सेंटीमीटर, $\frac{१}{१०००}$ मीटर=१ मिलीमीटर। इसी तरह ग्राम के आगे डेक, हेक्टो, किलो इत्यादि उपसर्ग लगा दिये जाते हैं।

प्यारे नये नाम दिये। बसन्त ऋतु के तीन महीनें 'जर्मिनल', 'फ्लोरीयल', 'प्रेरियल' थे; गरमी के महीने 'मेसिदोर', 'थर्मिदोर', 'फ़क्तिदोर' थे; पतझड़ के महीने 'बैन्दीमियर', 'ब्रूमेयर', 'फ़िमेयर', रक्खे गये; सरदी के 'निवूस,' 'प्लूविऊस', 'वैन्तूस', रक्खे गये। पर यह कैलेंडर प्रजातन्त्र के बाद ज्यादा दिन न चला।

कुछ दिन ईसाई धर्म के विरुद्ध एक जबरदस्त आन्दोलन हुआ और बुद्धि की पूजा तजवीज की गई। 'सत्य' के मन्दिर बनाये गये। यह आन्दोलन प्रांतों में बहुत जल्द फैल गया। सन् १७९३ ई० के नवम्बर मे पेरिस के नात्रदेम गिरजे में स्वाधीनता और बुद्धि का बड़ा भारी जलसा मनाया गया और एक सुन्दर स्त्री को बुद्धि की देवी बनाया गया। लेकिन रोबसपीयरी इन मामलों में कट्टर था। उसने इस आन्दोलन को पसन्द नही किया। दान्तन ने भी नही किया। सार्वजनिक हित की जैकोबिन कमेटी भी इसके विरुद्ध थी, इसलिए आन्दोलन के नेताओं को गिलोतीन पर चढा दिया गया। अधिकार और गिलोतीन के बीच मे कोई ठहरने की जगह न थी। स्वाधीनता और बुद्धि के जलसे का तुर्की-बतुर्की जवाब देने के लिए रोबसपीयरी ने 'सर्वशक्तिमान् सत्ता' के जलसे का आयोजन किया। कन्वेन्शन के प्रस्ताव से यह तय किया गया कि फ्रास एक 'सर्वशक्तिमान सत्ता' मे विश्वास करता है! रोमन कैथलिक मत फिर पसद पर चढ गया।

पैरिस के हलको और कम्यून के कुचले जाने के बाद हालत बडी तेजी से खराब हो रही थी। जैकोबिन लोग सर्वेसर्वा हो रहे थे; सरकार की बागडोर उनके हाथो मे थी लेकिन उनमें आपसी फूट फैल रही थी। स्वाधीनता और बुद्धि के जलसे के अगुआ हीबर्त और उसके समर्थको का गिलोतीन पर चढा दिया जाना जैकोबिन दल मे फूट का पहला बडा कारण हुआ। इसके बाद फैब्रे दि इग्लैंतीन का नम्बर आया; और जब सन् १७९४ ई० के शुरू में दान्तन, कैमिली, दीम्यूला वगैरा ने रोबसपीयरी द्वारा बेहद लोगो को गिलोतीन पर चढा दिये जाने का विरोध किया, तो इनको भी मौत के घाट उतार दिया गया। अप्रैल, सन् १७९४ ई० मे दान्तन को फुर्ती के साथ कत्ल कर दिया गया कि कही लोग रुकावट न डाल दें। इससे पैरिस की और सूबों की जनता यह समझ गई कि क्रान्ति का अन्त हो चुका। क्रान्ति का एक शेर मारा गया और अब एक सकीर्ण गुट्ट का अधिकार हो गया। शत्रुओ से जो घिरा हुआ था और जनता से जिसका सम्पर्क टूट गया था, ऐसे इस गुट्ट को चारों तरफ़ दग़ाबाज़ी नज़र आने लगी और आतक को गहरा करने के सिवा इसे अपने बचाव का कोई रास्ता न सूझा।

बस आतक का राज्य होने लगा और गिलोतीन की तरफ जाने वाली तम्बिल गाड़ियों मे इन मरने वालो की संख्या पहले से भी ज्यादा हो गई। जून मे एक नया कानून पास किया गया जो 'बाइसवी प्रेरियल' का क़ानून कहलाता है और जिसमे झूठी खबरें उडाना. लोगो को लडाना या भडकाना, सदाचार की जड काटना और जनता के ईमान को बिगाड़ना, वगैरा, जुर्मों के लिए मौत की सजा तजवीज की गई थी। जो कोई भी रोबसपीयरी और उसके ताबेदारो से मतभेद रखता वही इस क़ानून के लम्बे-चौडे जाल में फँसाया जा सकता था। झुड के झुड लोगो पर एक साथ मुकदमे चलाये जाते थे और उन्हें सजायें दे दी जाती थी। एक बार तो डेढ़ सौ लोगो पर एक साथ मामला चलाया गया जिनमें सजाये पाये हुए क़ैदी, बादशाहवादी, वगैरा, शामिल थे।

इस नये आतक का राज्य छियालिस दिन तक रहा। आखिरकार नवी थर्मिदोर यानी २७ जुलाई सन् १७९४ ई० को दबी हुई बिल्ली ने झपट्टा मारा। कन्वेन्शन अचानक रोबसपीयरी और उनके समर्थकों के विरुद्ध हो गया और 'ज़ालिम मुर्दाबाद' के नारे लगाते हुए उन्होंने इन सबको गिरफ्तार कर लिया और रोबसपीयरी को तो बोलने तक नही दिया। दूसरे दिन तम्बिल उसे भी उसी गिलोतीन पर ले गई जहाँ वह अनेको को भेज चुका था। इस तरह का फ़ांस की राज्यक्रांन्ति का अन्त हो गया।

रोबसपीयरी की मृत्यु के बाद प्रति-क्रान्ति शुरू हुई। अब मद्धिम दलवाले आगे आये और इन लोगो ने जैकोबिन लोगो को सताना और उनपर आतंक जमाना शुरू किया। लाल आतंक के बाद सफेद आतंक की बारी आई। पन्द्रह महीने बाद, अक्तूबर सन् १७९५ ई० में, कन्वेन्शन टूट गया और पाँच सदस्यों की एक 'डायरेक्टरी' सरकार बन गई। यह निश्चय ही मध्यमवर्ग की सरकार थी और इसने साधारण जनता को दबाकर रखने की कोशिश की। इस डायरेक्टरी ने फ़्रांस पर चार वर्ष से ज्यादा शासन किया और

अन्दरूनी झगड़ों के होते हुए भी प्रजातन्त्र की इतनी धाक और ताक़त थी कि वह देश के बाहर भी युद्धों में जीतती रही। उसके विरुद्ध कुछ बग़ावतें भी हुईं लेकिन वे सब दबा दी गईं। इसी तरह के एक विद्रोह को दबानेवाला प्रजातन्त्र की फ़ौज का नौजवान सेना नायक नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पैरिस के लोगों की भीड़ पर गोलियाँ चलाने की हिम्मत की और बहुतों को मार डाला। यह घटना 'छर्रों का झोंका' करके मशहूर है। जब खुद प्रजातन्त्र की पुरानी फ़ौज ही फ़ास की जनता को मारने के काम में लाई जा सकती थी तो स्पष्ट है कि क्रान्ति की छाया तक भी बाकी न रही होगी।

बस, क्रान्ति का अन्त हो गया और उसके साथ ही आदर्शवादियों के मीठे सपनों का और ग़रीबों की आशाओं का भी अन्त हो गया। लेकिन फिर भी जो बातें वह हासिल करना चाहती थी उनमें से बहुत-सी हासिल हो गईं। कोई भी प्रति-क्रान्ति अब काश्तकारों की गुलामी को वापस नहीं ला सकती थी, और बोर्बन बादशाह भी—बोर्बन फ़ांस का एक राजघराना था—जब वापस आये तो उस ज़मीन को वापस न छीन सके जो किसानवर्ग में बाँट दी गई थी। खेत में या शहर में काम करनेवाले साधारण आदमी की हालत इतनी अच्छी हो गई जितनी पहले कभी नहीं रही। सच तो यह है कि आतंक के दिनों में भी उसकी हालत क्रान्ति के पहले से अच्छी थी। आतंक उसके विरुद्ध न था, वह तो ऊँचे वर्गों के विरुद्ध था; हालाँकि आख़िरी वक्त में कुछ ग़रीब लोगों को भी मुसीबतें उठानी पड़ीं।

क्रान्ति धराशायी हो गई लेकिन प्रजातन्त्रवादी भावना योरप भर में फैल गई और उसके साथ ही उन सिद्धान्तों का भी प्रचार हुआ जिनका ऐलान 'मानव अधिकारों की घोषणा' में किया गया था।

: १०३ :

हुकूमत के ढंग

२७ अक्तूबर, १९३२

मैंने दो हफ़्तों से कुछ नहीं लिखा है। कभी-कभी मैं सुस्त हो जाता हूँ। यह खयाल कि अब मेरी इस कहानी का अन्त नज़दीक आ रहा है, मुझे ज़रा रोक देता है। हम अठारहवीं सदी के अन्त तक तो पहुँच ही चुके हैं; अब उन्नीसवीं सदी के सौ वर्षों का निरीक्षण करना बाक़ी है। फिर हमें ठेठ आज तक पहुँचने में बीसवीं सदी के ठीक बत्तीस वर्ष रह जावेंगे। लेकिन इन बचे हुए एक सौ बत्तीस वर्षों का वर्णन बड़ा लम्बा होगा। बहुत नज़दीक होने के कारण ये बहुत बड़े नज़र आते हैं और हमारे दिमाग़ों में भर जाते हैं और पहले की घटनाओं से हमको ज्यादा महत्वपूर्ण मालूम होते हैं। जो कुछ आज हम अपने चारों तरफ़ देखते हैं, उसके ज्यादातर हिस्से की जड़ें इन्हीं वर्षों के भीतर हैं, और वास्तव में पिछली सदी और उससे आगे की घटनाओं के घने जंगल में होकर तुमको ले जाना मेरे लिए आसान काम न होगा। शायद इससे मेरे जी चुराने की यही वजह हो! लेकिन मैं इस असमंजस में पड़ जाता हूँ कि जब अन्त में मनुष्य जाति की यह कहानी सन् १९३२ ई० तक आ पहुँचेगी और भूत काल वर्तमान में मिलकर भविष्य की छाया के सामने ठहर जावेगा, तब मैं क्या करूँगा? प्यारी बेटी, तब मैं तुमको क्या लिखूँगा? उस वक्त मेरे लिए क्या बहाना रहेगा कि मैं कलम लेकर बैठूँ और तुम्हारा खयाल करूँ या कल्पना करूँ कि तुम मेरे पास बैठकर बहुत से सवाल पूछ रही हो जिनका जवाब देने की मैं कोशिश करता हूँ?

फ़ांस की राज्यक्रान्ति के बारे में मैं तीन पत्र लिख चुका हूँ; फ़ांस के इतिहास के पाँच संक्षिप्त वर्षों के बारे में तीन लम्बी चिट्ठियाँ हैं। युगों की इस यात्रा के दौरान में हमने सदियों को एक-एक पग में पूरा कर दिया है और देश-देशान्तरों पर सिर्फ़ निगाह डाली है। लेकिन यहाँ फ़ांस में, सन् १७८९ से १७९४ ई० तक, हम काफ़ी देर ठहरे हैं; और फिर भी यह जानकर तुम्हें ताज्जुब होगा कि मैंने अपने वर्णन को छोटा करने की सख्त कोशिश की है क्योंकि मेरे दिमाग़ में यह विषय भरा हुआ था और मेरी लेखनी आगे दौड़ना चाहती थी। फ़ांस की राज्यक्रान्ति का ऐतिहासिक महत्व है। वह एक ऐतिहासिक काल का अन्त और दूसरे का आरम्भ बतलाती है। लेकिन उसका नाटकीय रूप हमको और भी ज्यादा आकर्षित करता

है और हम यह सबको बहुत-सी शिक्षाएं देती है। दुनिया में आज फिर उथल-पुथल हो रही है और हम लोग महान परिवर्तनों के दरवाजे पर खड़े हैं। अपने देश में भी हम क्रान्ति के समय में रह रहे हैं, फिर यह क्रान्ति चाहे कितनी ही शान्तिपूर्ण क्यों न हो। इसलिए हम फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से और उस दूसरी महान् क्रान्ति से, जो रूस में हमारे ही समय में हमारी आँखों के सामने हुई है, बहुत कुछ सीख सकते हैं। इन दोनों क्रान्तियों की तरह की जनता की सच्ची क्रान्तियाँ जीवन की कठोर वास्तविकताओं पर बड़ी तेज रोशनी डालती हैं। बिजली की चमक की तरह वे सारे दृश्य को, और खास कर अंधेरी जगहों को, प्रकाशित कर देती हैं। कम-से-कम कुछ देर के लिए अपना लक्ष्य बहुत साफ़ और आश्चर्यजनक रूप में पास दिखाई देता है। दिल में श्रद्धा और स्फूर्ति भर जाती है। शंका और हिचकिचाहट दूर हो जाती है। दूसरे नबर की चीज पर समझौता करने का कोई सवाल नहीं रहता। क्रान्ति को बनानेवाले लोग तीर की तरह सीधे लक्ष्य की ओर आगे बढते हैं और दायें-बायें नहीं देखते; और जितनी सीधी और तेज उनकी नजर होती है उतनी ही क्रान्ति आगे बढती है। लेकिन यह सिर्फ़ क्रान्ति के उत्कर्ष मे ही होता है जब कि उसके नेता पहाड़ की चोटी पर होते है और जनता पहाड़ की ढाल पर चढती है। लेकिन अफसोस ! एक वक़्त ऐसा आता है जब उनको पहाड से उतर कर नीचे की अँधेरी घाटियो मे भी आना पड़ता है। उस वक्त श्रद्धा मंद पड़ जाती है और स्फूर्ति कम हो जाती है।

सन् १७७८ ई० में वाल्तेयर, जो करीब-क़रीब जिन्दगी भर निर्वासित रहा था, मरने के लिए पैरिस लौटा। उस समय वह चौरासी वर्ष का था। पैरिस के नौजवानो को सम्बोधन कर उसने कहा था:—"नौजवान बड़े भाग्यशाली है; वे आगे महान बाते देखेंगे"। वास्तव में उन्होंने महान बातें देखी और उनमें भाग लिया क्योकि ग्यारह साल बाद ही क्रान्ति शुरू हो गई। वह जरूरत से ज्यादा प्रतीक्षा में पड़ी हुई थी। सत्रहवी सदी मे महान् बादशाह चौदहवें लुई का कहना था कि "मैं ही सबसे बड़ा हूँ;" अठारहवी सदी में उसके उत्तराधिकारी पन्द्रहवें लुई ने कहा —"मेरे बाद प्रलय हो जायगी"; और इस न्यौते के बाद सचमुच प्रलय आया जो सोलहवे लुई और उसके साथियो को बहा ले गया। पाउडर लगे नक़ली बालों और रेशमी बिरजिसो वाले अमीरो के बजाय 'सैन्सक्यूलौत्स' यानी बिना बिरजिस वाले लोग आगे आये; और फ्रांस का हरेक निवासी 'नागर' या 'नागरी' कहलाने लगा। नये प्रजातन्त्र का नारा था—"स्वाधीनता, समानता, भाईचारा" जो सारे ससार को पुकार-पुकार कर सुनाया गया।

क्रान्ति के दिनो में आतक का खूब जोर रहा। विशेष क्रान्तिकारी अदालत की नियुक्ति से लगाकर रोबसपीयरी की मृत्यु तक के सोलह से भी कम महीनो मे, लगभग चार हज़ार आदमी गिलोतीन पर चढ़ा दिये गये। यह एक बडी सख्या है, और जब यह खयाल होता है कि कितने ही निर्दोष आदमी गिलोतीन पर चढा दिये गये होंगे तो दिल को बड़ा सदमा और रंज पहुँचाता है। लेकिन फिर भी कुछ घटनायें याद रखने लायक हैं जिससे हम फ़्रांस के इस आतक का सच्चा स्वरूप समझ सकें। प्रजातन्त्र चारों तरफ़ शत्रुओं, देश-द्रोहियों और भेदियों से घिरा हुआ था और गिलोतीन पर चढाये जानेवालो में से बहुत-से लोग प्रजातन्त्र के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे जो उसके सत्यानाश की कार्रवाइयाँ कर रहे थे। आतक के अन्तिम दिनों में अपराधियो के साथ निर्दोष भी पिस गये। जब भय सवार होता है तो आँखो पर परदा पड़ जाता है और अपराधी तथा निर्दोष का भेद पहचानना कठिन होजाता है। फ़्रास के प्रजातन्त्र को एक नाजुक घड़ी में लाफ़ेयत[1] जैसे अपने बड़े-बड़े सेना-नायको के भी विरोध और दग़ाबाजी का सामना करना पड़ा, तब अगर नेता लोग घबरा गये और उन्होने अन्धाधुन्ध इधर-उधर मार-काट करनी शुरू कर दी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जैसा कि एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास में बतलाया है, यह बात भी ध्यान में रखने की है कि उस वक़्त इग्लैण्ड, अमरीका और दूसरे देशों में क्या हो रहा था। फौजदारी क़ानून खासकर सम्पत्ति की रक्षा के

[1] लाफ़ेयत (Lafayette)—(१७५७–१८३४); फ़्रांसीसी सेनापति और राजनीतिज्ञ। यह अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा था। १७८९ ई० में यह फ़्रांस की राज्यक्रान्ति का नेता था लेकिन १७९२ ई० में वहां से भाग गया। नैपोलियन के बाद यह फिर राष्ट्रीय फ़ौज का सेनापति हुआ।

बारे में, बड़ा पाशविक था और मामूली अपराधों के लिए लोग फाँसी पर चढ़ा दिये जाते थे। कहीं-कहीं अब भी सरकारी तौरपर लोगों को यंत्रणाएं दी जाती थी। वेल्स ने लिखा है कि फ्रांस में आतंक के राज्य में जितने आदमी गिलोतीन पर चढ़ाये गये उतने ही समय में इंग्लैण्ड और अमेरिका में इससे कहीं ज्यादा आदमी इसी तरह फाँसी पर चढ़ा दिये गये थे।

उन दिनों भयंकर क्रूरता और नृशंसता के साथ गुलामों का जो शिकार किया जाता था उसका फिर खयाल करो। युद्ध की और खासकर आधुनिक युद्ध की कल्पना करो जो हजारों उठते हुए नौजवानों को मटिया-मेट कर देता है। जरा और पास आकर अपने ही देश की तरफ़ देखो और हाल की घटनाओं पर विचार करो। तेरह साल हुए जब अमृतसर के जलियाँवाला बाग़ में अप्रैल की एक शाम को, बसन्त के त्यौहार के दिन, सैकड़ों लोग मार डाले गये थे और हजारों बुरी तरह घायल कर दिये गये थे। और षड्-यन्त्रों के ये सब मुक़दमें और खास अदालतें और आर्डिनेंस, लोगों को आतंकित करने और दबाने की कोशिशों के सिवा और क्या हैं? दमन और आतंक की तीव्रता हुकूमत की हौलदिली का नाप हुआ करती है। हरेक हुकूमत, चाहे वह प्रतिगामी हो या क्रान्तिवादी, विदेशी हो या स्वदेशी, आतंकवाद का सहारा तब लेती है जब उसे खुद अपनी ही हस्ती खतरे में मालूम पड़ती है। प्रतिगामी हुकूमत कुछ विशेष अधिकार वाले लोगों की ओर से जनता के विरुद्ध कारवाई करती है; क्रान्तिवादी हुकूमत जनता की तरफ से गिने-चुने विशेष अधिकार वालों के विरुद्ध करती है। क्रान्तिवादी हुकूमत ज्यादा खरी और ईमानदार होती है; वह अक्सर क्रूर और कठोर तो होती है लेकिन उसमें छल-कपट या धोखा-धडी नहीं होती। प्रतिगामी हुकूमत धोखेबाजी के वातावरण में रहती है क्योंकि वह जानती है कि अगर उसका भेद खुल गया तो वह टिक न सकेगी। वह स्वाधीनता की बात करती है और इस स्वाधीनता का यह अर्थ लगाती है कि वह खुद मनमानी करने के लिए स्वाधीन है। वह इन्साफ़ की बात करती है, जिसका मतलब होता है मौजूदा व्यवस्था को क़ायम रखना, जिसके अन्दर वह पनपती है, हालाँकि दूसरे लोग मरते है। तुर्रा यह कि वह क़ानून और शान्ति की बात करती है लेकिन इस शब्दावली की आड में गोलियाँ चलाना, मारना, कैद करना, जबान बन्द करना, वगैरा, हरेक ग़ैरकानूनी और अशान्तिपूर्ण कार्रवाई करती है। 'क़ानून और शान्ति' के नाम पर हमारे सैकड़ो भाइयो को खास अदालतो के सामने पेश करके मौत की सजा दे दी गई है। इसी के नाम पर ढाई साल पहले अप्रैल के महीने में एक दिन, पेशावर मे मशीनगनो ने हमारे सैकडों बहादुर पठान देश-भाइयो को निहत्था होने पर भी भून डाला। और इसी 'कानून और शान्ति' की दुहाई देकर ब्रिटिश हवाई फौज हमारे सीमान्त के गाँवों में और इराक में बम बरसाती है और स्त्रियों, पुरुषो और छोटे-छोटे बच्चो को अन्धाधुन्ध मार डालती है या जिन्दगीभर के लिए अपाहिज कर देती है। लोग कही हवाई जहाज़ की मार से बच न जायँ, इसके लिए किसी शैतानी दिमाग ने 'देर से फटनेवाले बम' ईजाद किये हैं जो गिरकर कोई नुक़सान नही पहुँचाते मालूम पड़ते और कुछ देर तक फटते नही हैं। गाँवो के स्त्री-पुरुष, यह सोचकर कि खतरा निकल गया, अपने घरो को वापस लौट आते हैं और थोडी ही देर बाद बम फट जाते हैं, जिससे आदमियों का और सम्पत्ति का नाश हो जाता है।

करोडो के सिर पर रोजमर्रा की भुखमरी का जो आतक सवार रहता है उसका भी खयाल करो। हम अपने चारो तरफ़ ग़रीबी देखने के आदी हो गये हैं। हम समझते हैं कि मजदूर और किसान उजड्ड लोग हैं और वे तकलीफ़ ज्यादा महसूस नही करते। अपनी आत्माओ की फटकार को शान्त करने के लिए यह तर्क कितना फ़िजूल है! मुझे बिहार में झरिया की एक कोयले की खान में जाने की बात याद है, और जमीन की सतह के बहुत नीचे, कोयले के लम्बे-लम्बे काले और अँधेरे दालानो मे स्त्रियो और पुरुषो को काम करते देखकर मुझे जो सदमा पहुँचा उसे मै कभी नही भूल सकता। लोग खानो में काम करनेवालों के लिए आठ घंटे के दिन की बातचीत करते हैं, लेकिन कुछ लोग इसका भी विरोध करते हैं और सोचते हैं कि उनसे और भी ज्यादा काम लिया जाना चाहिए। जब मै इस बहस को सुनता हूँ या पढ़ता हूँ तो मुझे अपनी उन अर्मी-दौज काले तहखानों में जाने की बात याद आजाती है जहाँ आठ मिनिट भी मेरे लिए पहाड़ होगये थे।

फ्रांस का आतंक एक भयंकर चीज़ थी। लेकिन फिर भी ग़रीबी और बेकारी के राजरोग के मुकाबिले में वह मक्खी के काटने जैसी थी। सामाजिक क्रान्ति के खर्च, चाहे वह क्रान्ति कितनी ही बड़ी

क्यों न हो, इन बुराइयों से कम होते हैं, और उस युद्ध के खर्चों से भी कम होते हैं जो मौजूदा राजनैतिक और सामाजिक प्रणाली में हमको समय-समय पर भुगतना पड़ता है। फ़्रांस की राज्यक्रान्ति का आतंक बहुत बड़ा इसलिए दिखलाई पड़ता है कि बहुत-से खिताबधारी और धनसत्तावाले लोग उसके शिकार हुए। हम लोग इन विशेष अधिकार वाले वर्गों की इज्जत करने के इतने आदी हो गये हैं कि जब ये लोग मुसीबत में होते हैं तो हमारी सहानुभूति उनकी तरफ़ हो जाती है। दूसरों की तरह ही इनके साथ भी सहानुभूति रखना अच्छा है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इन लोगों की संख्या बिलकुल कम होती है। हम इनके भले की कामना कर सकते हैं। लेकिन जिनसे असली मतलब है, वे तो जनसाधारण होते हैं, और हम थोड़ों की खातिर बहुतों को क़ुर्बान नहीं कर सकते। रूसो लिखता है—"मनुष्यजाति को बनानेवाली साधारण जनता ही है। जो जनता नहीं है वह इतनी छोटी चीज है कि उसे गिनने का भी कष्ट उठाने की जरूरत नहीं।"

इस पत्र में मैं तुमको नैपोलियन के बारे में लिखना चाहता था। लेकिन मेरा दिमाग़ भटक गया और मेरी क़लम दूसरी तरफ़ दौड़ गई और नैपोलियन पर ग़ौर करना अभी बाक़ी है। उसे हमारे दूसरे पत्र का इंतजार करना पड़ेगा।

: १०४ :

नैपोलियन

४ नवम्बर, १९३२

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति में से नैपोलियन का उदय हुआ। जिस प्रजातन्त्रवादी फ़्रांस ने योरप के बादशाहों को चुनौती दी थी और उनसे लोहा लिया था, उसने इस छोटे-से कोर्सिका निवासी के आगे घुटने टेक दिये। फ़्रांस मे उस समय एक अजीब तरह की जगली मनोहरता थी। फ़्रेंच कवि बार्बिये ने इसकी तुलना एक जगली जानवर से, सिर उठाये हुए तथा चमकदार खालवाली एक शानदार और मनमौजी घोड़ी से, की है; ऐसी घोड़ी जो सुन्दर और आवारागर्द, जीन, जोत और लगाम से जबरदस्त भड़कने वाली, जमीन पर पैर मारने वाली, और अपनी हिनहिनाहट से दुनिया को डराने वाली थी। यह शानदार घोडी कोर्सिका के इस नौजवान को सवारी देने के लिए राजी हो गई और उसने इससे बड़े-बड़े अजीब करतब करवाये। लेकिन उसने इसे सधा भी लिया और इस जगली, मनमौजी, जानवर का सारा जगलीपन और अल्हड़पन दूर कर दिया। और उसने इससे इतना फ़ायदा उठाया और इसे इतना थका दिया कि इसने उसे भी गिरा दिया और खुद भी गिर पड़ी।

तो नैपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह संसार का कोई महान पुरुष था या, जैसा कि कहा जाता है, 'भाग्य विधाता' या जबरदस्त विभूति था जिसने मानवता को बहुत-से बधनों से छुड़ाने में मदद दी? या, जैसा कि एच० जी० वेल्स वगैरा कहते है, वह खाली एक ले-भगू और विध्वसक था जिसने योरप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुकसान पहुचाया? शायद इन दोनो बातो में अतिशयोक्ति है; या दोनो में सचाई का कुछ अश है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, महानता और हीनता की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसा ही एक मिश्रण था, लेकन इस मिश्रण को बनाने में ऐसे असाधारण गुण लगे थे जो हममें से बहुतो में न मिलेंगे। उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और आश्चर्यजनक शक्ति तथा घोर महत्वाकाक्षा थी। वह बडा भारी सेनानायक था और पुराने जमाने के सिकन्दर और चंगेज जैसे सेनानियों के मुक़ाबले का युद्ध-कला का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना भी था और स्वार्थी तथा घमंडी था। उसके जीवन की प्रधान प्रेरणा किसी आदर्शके पीछे दौड़ना न थी बल्कि सिर्फ़ व्यक्तिगत सत्ता की खोज थी। उसने एक बार कहा था: "मेरी उप-पत्नी! सत्ता मेरी उप-पत्नी है! इस को वश में करने के लिए मुझे इतनी दिक़्क़त उठानी पड़ी है कि मैं न तो उसे किसीको छीनने दूगा और न अपने साथ उसे भोगने दूगा!" वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने

देखता था और सिकन्दर की विजय-यात्राएं उसके दिमाग़ में भर रही थीं। उसे योरप भी छोटा मालूम होता था। पूर्व उसे ललचा रहा था, ख़ासकर मिस्र और भारत। अपनी जीवन-यात्रा के शुरू में, जब वह सत्ताईस वर्ष का था, तब उसने कहा था : "महान साम्राज्य और ज़बरदस्त परिवर्तन सिर्फ़ पूर्व में ही हुए हैं; उस पूर्व में जहां साठ करोड़ लोग बसते हैं। योरप तो एक छोटी-सी टेकरी है !"

नैपोलियन बोनापार्ट का जन्म सन् १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था जो फ़ांस के मातहत था। उसकी रगों में फ़ांस, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ खून था। उसने फ़ांस के एक फ़ौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्यक्रान्ति के समय में वह जैकोबिन क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिन लोगों में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि वह उनके आदर्शों में विश्वास करता था। सन् १७९३ ई० में तोलों में उसे पहली विजय प्राप्त हुई। इस जगह के धनवान लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रान्ति के राज्य में उनकी सम्पत्ति न छिन जाय, सचमुच अंग्रेज़ों को बुला लिया और बाक़ी बचा हुआ फ़ांसीसी जहाज़ी बेड़ा उनके हवाले कर दिया। इस आफ़त ने और ऐसी ही अन्य आफ़तों ने नौ-उम्र जनतंत्र को ज़बरदस्त धक्का पहुचाया और हरेक फ़ालतू आदमी को, और औरतों को भी, फ़ौज में भर्ती होने का हुक्म दिया गया। नैपोलियन ने बागियो को पीस डाला और तोलों की लड़ाई में बडी उस्तादी के साथ हमला करके अंग्रेज़ों को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह सेनानायक बन गया। कुछ ही महीनो मे जब रोबसपीयरी गिलोतीन पर चढा दिया गया तो यह आफ़त में फँस गया क्योंकि इस पर रोबसपीयरी के दल का होने का सदेह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल में वह शामिल था उस दल का सिर्फ़ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नैपोलियन ! इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नैपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिन होना तो दरकिनार वह तो प्रति-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी हिचकिचाहट के आम जनता को गोलियो से भून सकता था। यह सन् १७९५ ई० का वही प्रसिद्ध 'छर्रों का झोका' था जिसका ज़िक्र मै एक पिछले पत्र मे कर चुका हूँ। उस दिन नैपोलियन ने प्रजातन्त्र को चुटैल कर दिया। दस वर्षों के भीतर ही उसने प्रजातन्त्र का अन्त कर डाला और वह फ़ांस का सम्राट बन बैठा।

सन् १७९६ ई० मे वह इटली की फौज का सेनापति हो गया और इटली के उत्तरी हिस्से पर बडा चतुराईपूर्ण धावा करके उसने सारे योरप को चकित कर दिया। फ़ास की फौजों में क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाकी था। लेकिन वे फटेहाल थी, और उनके पास न ठीक कपडे थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पाँवो में छाले पड़े हुए गिरोह को आल्पस पहाडों के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानो में पहुँचकर उनको खाना और आराम की चीजें सब मिलेंगी। दूसरी तरफ़ इटली के निवासियों को उसने स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया; वह उनको ज़ालिमों से छुड़ाने आ रहा था। लूट-खसोट की आशामयी कल्पना के साथ क्रान्तिवादी गपड़-सपड़ की यह कैसी विचित्र मिलावट थी ? इस तरह उसने फ़ांस और इटली दोनो के निवासियो की भावनाओं से बडी चालाकी के साथ फ़ायदा उठाया, चूंकि वह ख़ुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका खूब सिक्का जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रौब बढने लगा और उसकी कीर्त्ति फैलने लगी। अपनी फ़ौज में भी वह बहुत-सी बातों में साधारण सैनिको के साथ तकलीफें उठाता था और ख़तरे में उनके साथ रहता था। क्योंकि धावे में जहां कही सबसे ज्यादा ख़तरा होता वहीं वह पहुँच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश में रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लड़ाई के मैदान ही में इनाम दे देता था। अपने सैनिको के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता !—के समान था, जिसे वे प्यार से "छोटा-सा कार्पोरल" कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर बीस-पच्चीस साल का यह नवयुवक सेनानायक फ़ासीसी सैनिकों का प्राणप्यारा बन गया हो ?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके, और आस्ट्रिया को हराकर, और वेनिस के पुराने प्रजातन्त्र का अन्त करके और वहां बड़ी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके, वह एक महान विजयी वीर बन कर पैरिस लौटा। फ़ांस में उसका दबदबा क़ायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का अनुकूल समय नही आया है, इसलिए उसने एक फौज लेकर मिस्र जाने का ढंग रचा। युवावस्था से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी और अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक

विशाल साम्राज्य के सपने उसके दिमाग में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्यसागर में अंग्रेजी जहाजी बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया आ पहुँचा।

मिस्र उन दिनों तुर्की के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र में 'ममलूक'[1] लोग राज्य कर रहे थे जो सिर्फ नाम के लिए तुर्की के सुलतान के मातहत थे। क्रान्तियों और आविष्कारों ने योरप को भले ही हिला डाला हो लेकिन ये ममलूक लोग अभी तक मध्य-युगों का ही ढंग अपनाये हुए थे। कहते हैं कि जब नैपोलियन क़ाहिरा पहुँचा तो एक ममलूक सूरमा रेशम के भड़कीले कपड़े और दामिश्क का ज़िरह-बख्तर पहने घोड़े पर सवार होकर फ्रांस की फौज के सामने आया और उसके नेता को द्वन्द-युद्ध के लिए ललकारा! उस बेचारे पर बड़ी बेजा तौर पर गोलियो की बौछार की गई। जल्द ही नैपोलियन ने 'पिरैमिड्स की लड़ाई' जीती। वह नाटकीय मुद्राए बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फौज के सामने घोडे पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो! देखो, चालीस सदियाँ तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नैपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया। लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लड़ना नही जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री सेनानायक भी न थे। ठीक उन्ही दिनो भूमध्यसागर मे इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े का नायक एक असाधारण प्रतिभावाला व्यक्ति था। वह होरेशियो नैल्सन[2] था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई मे उसने फ़्रास के जहाजी बेड़ को नष्ट कर दिया। इस तरह परदेस में नैपोलियन फ्रास से बिछुड गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ़्रास पहुँच गया लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फौज' को कुर्बान कर दिया।

विजयो और कुछ सैनिक कीर्त्ति के बावजूद पूर्वी देशो का यह ज़बर्दस्त धावा असफल रहा। लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान मे रखने लायक है कि नैपोलियन अपने साथ पंडितो, विद्वानों और आचार्यों की भीड़-की-भीड, बहुत-सी किताबो और तरह-तरह के औज़ारो के साथ, मिस्र देश को ले गया था। इस मण्डली में रोज़ चर्चाए होती थी जिनमें नैपोलियन भी बराबरी की हैसियत से भाग लेता था। इन पण्डितो ने वैज्ञानिक अन्वेषण का बहुत-सा अच्छा काम किया। ग्रीक लिपि और मिस्र की चित्र-लिपि के दो भेद—इन तीन लिपियो मे खुदा हुआ एक शिलालेख प्राप्त होन से तसवीरी लिखावट की पुरानी पहेली हल हो गई। ग्रीक लिपि की सहायता से दूसरी दोनो लिपियो को पढ़ लिया गया। यह भी दिलचस्प बात है कि स्वेज़ पर नहर काटने की एक तजवीज़ मे नैपोलियन ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी।

जब नैपोलियन मिस्र मे था तो उसने ईरान के शाह और दक्षिण भारत के टीपू सुलतान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी। लेकिन इनका फल कुछ न निकला क्योंकि उसके पास समुद्री ताकत बिलकुल न थी। अन्त मे समुद्री शक्ति ने ही नैपोलियन को पछाड़ दिया, और उन्नीसवी सदी में इंग्लैण्ड को ज़बर्दस्त बनाने वाली भी समुद्री शक्ति ही थी।

मिस्र से जब नैपोलियन लौटा तो फ़्रास की हालत बहुत ख़राब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी इसलिए हरेक की आंखें नैपोलियन की तरफ लगी हुई थी। वह तो सत्ता ग्रहण करने के लिए तैयार ही बैठा था। नवंबर सन् १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नैपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को जबरदस्ती भग कर दिया, और उस समय के जिस विधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी उसका अन्त कर दिया। इस ज़बरदस्ती की राजनैतिक कार्रवाई से, जिसे

---

[1]ममलूक—तुर्की के सुल्तान अयूब के शरीर-रक्षक गुलाम जो उसकी मृत्यु (१२५१) के बाद १५१७ ई० तक मिस्र में राज करते रहे। सुल्तान सलीम प्रथम ने इनको निकाल बाहर कर दिया था लेकिन अठारहवीं सदी में इन्होंने फिर अधिकार प्राप्त कर लिया। १७९८ ई० में नैपोलियन ने इन्हें हराया और १८११ ई० में सुल्तान मुहम्मद अली ने इनका अन्त कर दिया।

[2]नैल्सन (Nelson)—(१७५८–१८०५) इंगलैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध और योग्य नौ-सेनापति इसने कई समुद्री लड़ाइयां जीती थीं और इंगलैण्ड का समुद्री गौरव बढ़ाया। वह ट्राफ़ल्गर के युद्ध में मारा गया।

'राजनैतिक चालबाजी' कहते हैं, नैपोलियन ने परिस्थिति को काबू में कर लिया। वह ऐसा इसीलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें विश्वास रखते थे। क्रान्ति का तो बहुत दिन पहले ही दिवाला निकल चुका था; लोकसत्ता का भी अब लोप हो रहा था और एक लोकप्रिय सेनानायक का डंका बज रहा था। एक नये विधान का मसविदा बनाया गया जिसमें तीन 'कौंसल' (यह शब्द प्राचीन रोम से लिया गया था) रक्खे गये लेकिन इन तीनों में प्रधान नैपोलियन था जिसे पूरे अधिकार थे। वह 'प्रथम कौंसल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया। विधान सम्बन्धी चर्चा के दौरान में किसी ने यह प्रस्ताव किया कि एक ऐसा राष्ट्रपति होना चाहिए जिसके हाथ मे कोई असली सत्ता न हो और जिसका मुख्य काम काग़ज़-पत्रों पर हस्ताक्षर करना और प्रजातन्त्र का रस्मी तौर पर प्रतिनिधित्व करना हो, जैसे आजकल वैधानिक बादशाह होते हैं या फ्रांस का राष्ट्रपति है। मगर नैपोलियन तो सत्ता चाहता था, सिर्फ शाही पोशाक नही। उसे ऐसे शाही लेकिन अधिकार-रहित राष्ट्रपति की कोई दरकार नही थी। उसने कहा—"इस मोटे सूअर को दूर करो!"

यह विधान, जिसमें नैपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरो ने उसे लगभग सर्वसम्मति से मान लिया। इस तरह फ्रांस की जनता ने इस दुराशा में कि वह उन्हे स्वतन्त्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नैपोलियन की भेंट कर दी।

लेकिन हम नैपोलियन के जीवन चरित्र की सारी बाते नहीं लिख सकते। वह तो घोर क्रियाशीलता और अधिकाधिक सत्ता की भूख से भरा पडा है। "राजनैतिक चालबाजी" के बाद पहली ही रात को, जब कि नया विधान बनने और स्वीकार होने भी न पाया था, उसने कानूनी जाब्ते का मसविदा बनाने के लिए दो कमेटियाँ नियुक्त करदी। उसकी डिक्टेटरशाही का यह पहला काम था। लम्बे वाद-विवाद के बाद, जिसमें नैपोलियन भी शामिल होता था, यह जाब्ता सन् १८०४ ई० में अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। यह "नैपोलियन कोड" (नैपोलियन का कानूनी जाब्ता) कहलाया। क्रान्ति के विचारो या आधुनिक आदर्शों के लिहाज से यह कानून प्रगतिशील न था। लेकिन यह उस समय की परिस्थितियो से जरूर आगे बढा हुआ था और सौ साल तक कई बातो मे यह सारे योरप वालो के लिए करीब-करीब नमूना बना रहा। नैपोलियन ने और भी कई तरह से शासन-व्यवस्था मे सादगी और कुशलता पैदा की। वह हरेक काम मे दखल देता था और छोटी-छोटी बातो को याद रखने की उसमें आश्चर्यजनक शक्ति थी। अपनी अद्भुत कार्यशक्ति और जानदारी से वह साथियो और मन्त्रियो को थका डालता था। उस समय का उसका एक सहयोगी उसके बारे में लिखता है "अपनी व्यवस्थित प्रवीणता के साथ राज्य करता हुआ, शासन करता हुआ और परामर्श करता हुआ, वह दिन में अठारह घटे काम करता है। जितना अन्य बादशाहो ने सौ वर्षों में राज किया होगा उससे अधिक इसने तीन वर्षों मे कर लिया है।" यह बात जरूर बढ़ाकर कही गई है, लेकिन यह सही है कि अकबर की तरह नैपोलियन की भी स्मरणशक्ति असाधारण थी और उसका दिमाग़ पूरी तरह व्यवस्थित था। वह अपने बारे में कहता था: "जब मै किसी बात को दिमाग से हटाना चाहता हूँ तो उसकी दराज बन्द कर देता हूँ और दूसरी दराज खोल देता हूँ। इन दराजो में रखी हुई चीजें कभी मिलने नही पातीं और न वे मुझे परेशान करती है। मै जब सोना चाहता हूँ सब दराज बन्द कर देता हूं और सो जाता हूँ।" वास्तव में यह देखा गया था कि लडाई होती रहती थी और वह जमीन पर लेट जाता था और आधा घटे के लगभग सो लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे समय के लिए एकाग्र होकर काम में लग जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौंसल बनाया गया था। अधिकार के जीने की दूसरी सीढी तीन साल बाद सन् १८०२ ई० में आई, जब उसने अपने-आपको जीवन भर के लिए कौंसल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ गये। प्रजातन्त्र का अन्त हो चुका था, और वह सब तरह से एक छत्र शासक बन गया था, शासक की उपाधि भले ही उसे न थी। और जब यह अनिवार्य हो गया तो उसने सन् १८०४ ई० में जनता की राय लेकर अपने आप को सम्राट घोषित कर दिया। फ्रांस में वह ही सर्वेसर्वा था लेकिन फिर भी इसमें और पुराने जमाने के स्वेच्छाचारी राजाओ मे बहुत अन्तर था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नही बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी कार्यकुशलता और जनता

में अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी पड़ी थी। और वह भी खासकर किसानों में लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा से उसके सबसे अधिक वफादार समर्थक रहे थे क्योंकि वे जानते थे कि इसी ने उनकी ज़मीनों को छिनने नहीं दिया था। नैपोलियन ने एक बार कहा था: "मैं गोल कमरो में बैठने वालों और बकवास करनेवालो की राय की क्या पर्वाह् करता हूँ! मै तो सिर्फ एक ही राय को मानता हूँ, जो किसानों की राय है।" लेकिन लगभग निरंतर चलने वाले युद्ध के लिए अपने पुत्रों को देते-देते अन्त में किसान लोग भी तंग आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा किया था, वह गिरने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट रहा और इन वर्षों में वह प्रभावोत्पादक सैनिक कार्रवाइयाँ करता हुआ और स्मरणीय लड़ाइयां जीतता हुआ योरप के सारे महाद्वीप में दौड़ता फिरा। सारा योरप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था जैसा उसके पहले और बाद में आजतक किसी का न हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई सन् १८०० ई० में हुई जब उसने अपनी फ़ौज के साथ स्वीज़रलैंड की बरफ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया), उल्म, आस्तरलित्ज़, यैना, ईलू, फ़्रीडलैंड, वैग्रम वग़ैरा उसकी जीती हुई खुश्की की मशहूर लड़ाइयो के नाम है। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस, वग़ैरा सब उसके सामने भरभरा कर गिर पड़े। स्पेन, इटली, निदरलैंड्स, राइन का कान्फेडरेशन कहलाने वाला जर्मनी का बडा हिस्सा, पोलेंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत होगये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो बहुत दिनों से नाम मात्र के लिए रह गया था, अब बिलकुल खतम हो गया।

योरप की बडी शक्तियो में से सिर्फ इंग्लेण्ड ही आफ़त से बच गया। इंग्लैण्ड को उसी समुद्र ने बचाया जो नैपोलियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा। और समुद्र से सुरक्षित रहने के कारण इंग्लैण्ड उसका सबसे ज़बरदस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मै बतला चुका हूँ कि किस तरह नैपोलियन की जीवन-यात्रा के शुरू मे ही नेल्सन ने नील नदी की लडाई मे उसके जहाज़ी बेड़े को नष्ट कर दिया था। २१ अक्तूबर, सन् १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर ट्रैफल्गर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रास और स्पेन के सम्मिलित जहाज़ी बेडो पर और भी ज़बरदस्त विजय प्राप्त की। इसी समुद्री लड़ाई के शुरू होने के पहले नेल्सन ने अपने बेडे को यह मशहूर सदेश दिया था —"इग्लेंड को आशा है कि हरेक आदमी अपना कर्त्तव्य पालन करेगा।" नेल्सन तो विजय की घडी मे मारा गया। लेकिन इस विजय ने, जिसे अंग्रेज़ लोग बड़े अभिमान से याद करते है और जिसका स्मारक लदन के ट्रैफल्गर स्क्वायर में नेल्सन स्तम्भ के रूप में बना हुआ है, नैपोलियन के इंग्लेण्ड पर धावा बोलने के स्वप्न को नष्ट कर दिया।

नैपोलियन ने योरप महाद्वीप के सारे बन्दरगाहो को इग्लेंण्ड के लिए रोक देने की आज्ञा निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी यातायात सम्बन्ध रखने की मनाही कर दी गई और 'बनियो के राष्ट्र' इग्लैण्ड को इस तरह काबू में लाने की सोची गई। उधर इग्लैण्ड ने इन बन्दरगाहो की नाका बन्दी कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य तथा अमेरिका वग़ैरा दूसरे देशो के बीच होने वाले व्यापार को रोक दिया। योरप में लगातार साज़िशें करके और नेपोलियन के शत्रुओ तथा उदासीन राज्यो में दिल खोलकर सोना बाँटकर इंग्लैण्ड ने नैपोलियन से लडाई लड़ी। इस काम में उसे योरप के कई बडे-बड़े दौलतमन्द घरानो से, खासकर रॉथ्सचाइल्ड घराने से, बडी सहायता मिली।

इग्लैण्ड ने नैपोलियन के विरुद्ध एक और भी तरीका काम में लिया, जो प्रचार का था। सग्राम का यह नया ही ढंग था, लेकिन तब से यह बहुत प्रचलित हो गया है। फ़्रांस के, और खासकर नैपोलियन के विरुद्ध अखबारो में आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकायें, समाचार-पत्रिकाएं, नये सम्राट का मखौल उडानेवाले कार्टून, और भूठी बातो से भरे हुए नकली सस्मरण, लंदन से प्रकाशित होते थे और चोरी छिपे फ्रास में दाखिल कर दियें जाते थे। अखबारो के द्वारा भूठी बातों का प्रचार आजकल की युद्ध-प्रणाली का बाक़ायदा अग बन गया है। सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के दौरान में, युद्ध में भाग लेनेवाले सब देशों की सरकारो ने बड़ी बेहयाई के साथ असाधारण से असाधारण भूठी बाते फैलाई और मालूम होता है इनको गढ़ने और प्रचार करने की कला में इग्लैण्ड आसानी से सबसे आगे रहा। उसे तो नैपोलियन के समय से अब तक एक सदी की लम्बी तालीम मिल चुकी थी। हम भारत के लोग अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह हमारे देश के बारे में सच्ची बाते दबा दी जाती हैं और यहाँ तथा इंग्लैण्ड में ऐसी भूठी बातों का प्रचार किया जाता है कि देखकर हैरत होती है।

: १०५ :

नैपोलियन का कुछ और हाल

६ नवम्बर, १९३२

पिछले पत्र में हमने नैपोलियन की कहानी जहाँ छोडी है, वहीं से सिलसिला जारी रखना चाहिए।

नैपोलियन जहाँ कही गया वही वह अपने साथ फ्रांस की राज्यक्रान्ति की कुछ बातें लेता गया और और जिन देशों को उसने जीता वहाँ के लोग उसके आने से नाखुश नही हुए। वे लोग अपने निकम्मे और अर्द्ध-सामन्ती शासकों से तग आगये थे जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नैपोलियन को बहुत सहायता मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामतशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी में तो खासतौर पर सामंतशाही का सफ़ाया हो गया। स्पेन में उसने इनक्विजिशन का अन्त कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसने अनजान में उत्तेजित किया था वही उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और अन्त में इसीने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहो और सम्राटो को नीचा दिखा सकता था लेकिन अपने विरुद्ध भड़के हुए सारे राष्ट्र को नही। इस तरह स्पेन के लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनो को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वॉन स्टीन नाम के एक महान देशभक्त के नेतृत्व में संगठित हो गये। यह नैपोलियन का घोर शत्रु हो गया। जर्मनी में स्वाधीनता का संग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे खुद नैपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री शक्ति से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह मुश्किल था कि सारा योरप एक डिक्टेटर को सहन कर लेता। या शायद खुद नैपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद मे कही थी: "मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसी पर नही है। मैं खुद ही अपना सबसे बडा दुश्मन रहा हूँ और अपने विनाशकारी दुर्भाग्य का कारण हुआ हूँ"।

इस अद्भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमजोरियाँ भी बहुत असाधारण थी। उसमे हमेशा कुछ नई नवाबी का रंग रहा और उसके दिल में यह अजीब लालसा रही कि पुराने और निकम्मे बादशाह और सम्राट उससे बराबरी का बर्ताव करे। उसने अपने भाई-बहनो को बडे भद्दे तौर पर बढाया हालाँकि वे बिलकुल नालायक़ थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था जिसने सन् १७९९ ई० की राजनैतिक चालबाजी के दौरान में एक सकट की घड़ी में नैपोलियन की सहायता की थी लेकिन जो बाद में खटपट हो जाने के कारण इटली में जाकर बस गया। दूसरे भाइयो को, जो घमडी और बेवकूफ थे, नैपोलियन ने कहीं का राजा और कही का शासक बना दिया। अपने कुटुम्ब को आगे बढाने की उसमें एक अजीब और बेहूदी धुन थी। जब उस पर मुसीबत पडी तो इनमे से करीब-क़रीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नैपोलियन को अपना राजवंश स्थापित करने की भी बडी उत्कण्ठा थी। अपने जीवन के आरम्भ में, इटली पर चढ़ाई करने और प्रसिद्ध होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दी बोहार्नाइ नामक एक सुन्दर लेकिन चचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई सतान न हुई तो नैपोलियन को बड़ी भारी निराशा हुई क्योकि उसके दिल में तो राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक़ देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालाँकि वह जोसेफाइन से प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्राड डचैस से विवाह करने की थी लेकिन ज़ार ने अनुमति नही दी। नैपोलियन भले ही लगभग सारे योरप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही खानदान में विवाह की आकांक्षा करना ज़ार की राय में उसके लिए कुछ गुस्ताखी की बात थी! तब नैपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइसी का विवाह उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और उसे बिलकुल न चाहती थी और नैपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नैपोलियन पर आफ़त आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसे बिलकुल ही भूल गई।

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह व्यक्ति जो कई बातों में अपनी पीढ़ी के लोगों से बहुत ऊँचा था,

बादशाहत के पुराने विचारों से पैदा होने वाली थोथी तड़क-भड़क का शिकार हो गया। और फिर भी बहुत बार, वह क्रान्ति की सी बातें करता था और इन निकम्मे बादशाहो का मखौल उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति की और नई व्यवस्था की जान-बूझकर उपेक्षा कर दी थी, पुरानी व्यवस्था न तो उसके अनुकूल थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनों के बीच में उसका पतन हो गया।

धीरे-धीरे सैनिक कीर्त्ति के इस जीवन-संग्राम का दुखद अन्त होता है, जो अनिवार्य था। खुद उसके ही कुछ मंत्री लोग दगाबाज हो जाते हैं और उसके विरुद्ध साजिशें करते हैं; तैलीरैंद रूस के ज़ार से मिलकर साज़िश करता है और फोशे इंग्लैण्ड से मिलकर। नैपोलियन उनकी दगाबाज़ी पकड लेता है लेकिन फिर भी, ताज्जुब है कि उनकी सिर्फ लानत-मलामत करके उन्हें मंत्रियो के पद पर रहने देता है। बर्नादोत नामक उसका एक सेनानायक उसके विरुद्ध हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई ल्यूशान के सिवा उसके कुटुम्ब के सारे लोग बदमाशियाँ करते चले जाते है और अक्सर उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ़ास में भी असंतोष बढ़ता चला जाता है और उसकी डिक्टेटरी बडी कठोर और निर्मम हो जाती है और कितने ही लोग बिना मुकदमे के जेल में डाल दिये जाते है। उसका सितारा निश्चय ही नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूखता देख कर बहुत-सी मछलियाँ उसे छोड जाती हैं। आयु अधिक न होने पर भी उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ कमज़ोर होती जाती हैं। ठेठ लडाई के बीच मे कभी-कभी उसके पेट मे वायुगोले का दर्द उठ खड़ा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। पुरानी चतुराई तो उसमे मौजूद है लेकिन अब उसकी चाल भारी पड़ गई है। वह अक्सर आगा-पीछा सोचने मे रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम होगई हैं।

सन् १८१२ ई० मे एक ज़बरदस्त फौज के साथ, वह रूस पर चढाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालो को हरा देता है और बिना अधिक विरोध के आगे बढता चला जाता है। रूस की फौजे लगातार पीछे हटती चली जाती है और लडने के लिए सामने नही आती। नैपोलियन की 'ग्रान्ड आर्मी' उनकी असफल तलाश करती-करती अन्त में मॉस्को पहुँच जाती है। ज़ार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ्रासीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनानायक, तथा दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियो का नेता बैरन वॉन स्टीन जिसे नैपोलियन ने बाग़ी घोषित कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते है। रूसी लोग दुश्मन को धुएँ से भगा देने के लिए अपने प्यारे मॉस्को नगर में ही आग लगा देते है। जब मॉस्को के जलने की खबर सेंटपीटर्सबर्ग पहुँचती है तो स्टीन, जो उस वक्त खाना खा रहा था, अपना शराब का प्याला उसके उपलक्ष मे उठाकर कहता है: "इससे तीन-चार बार पहले भी मै अपना सामान गँवा चुका हूँ। हमें ऐसी चीज़ो को फेंक देने का अभ्यासी बन जाना चाहिए। चूकि हमें मरना तो है ही, इसलिए हमको शूरता दिखानी चाहिए!"

शीतकाल का आरम्भ है। नैपोलियन जलते हुए मास्को को छोडकर फ़ास लौटने का निश्चय करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ में होकर थकी-माँदी धीरे-धीरे वापस घिसटती है। उधर रूस के कज्ज़ाक लोग, जो बराबर उसके दोनो ओर तथा पीछे-पीछे लगे हुए हैं, उसपर हमले करते है और छापे मारते हैं और पिछड़ जाने वालो को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सरदी और कज्ज़ाक लोग, दोनों मिलकर हज़ारों जानें ले लेते है। और 'ग्राण्ड आर्मी' भूतो का-सा जुलूस बन जाती है जिसमें सब लोग पैदल-पैदल, फटेहाल, पाँवो में छाले पड़े हुए और ठंड से गले हुए, थकावट से लडखड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाज़ों के साथ नैपोलियन को भी पैदल चलना पड़ता है। यह यात्रा बड़ी भयकर और हृदय-विदारक साबित होती है, और वह ज़बर्दस्त फ़ौज कम होती-होती अन्त में क़रीब-क़रीब लुप्त हो जाती है। सिर्फ़ मुट्ठी-भर लोग वापस लौट पाते है।

रूस की यह चढाई ज़बर्दस्त चोट साबित हुई। इसने फ़ास की जन-शक्ति को खतम कर दिया। और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नैपोलियन पर बुढापा-सा छागया; वह चिन्ताग्रस्त हो गया और लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। लेकिन फिर भी उसे चैन से नही बैठने दिया गया। शत्रुओं ने उसे घेर लिया और हालाँकि अभी तक वह विजयें प्राप्त करनेवाला चतुर सेनानायक था, लेकिन फंदा अब धीरे-धीरे

कसने लगा। तैलीरँद की साजिशें बढ़ने लगी और नैपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सेनाधीश तक भी उसके विरुद्ध हो गये। अन्त में उकताकर और तग आकर नैपोलियन ने अप्रेल सन् १८१४ ई० में राजगद्दी छोड़ दी।

नैपोलियन के रास्ते से हटते ही योरप के शक्तिशाली राष्ट्रों की एक बड़ी कांग्रेस योरप का नया नकशा तय करने के लिए वियेना में की गई। नैपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे से टापू ऐल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन राज्यवंश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहाँ कहीं छिपा पड़ा था वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ़ांस की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बन लोग फिर वापस आगये और उनके साथ बहुत-सी पुरानी जुल्मशाही भी वापस आगई। बैस्तील के पतन से लगाकर अबतक पच्चीस वर्ष के वीरतापूर्ण कारनामों का बस यह अंत हुआ! वियेना में बादशाह लोग और उनके मन्त्री लोग आपस में तर्क-वितर्क कर रहे थे और लड़-झगड रहे थे और जब इन बातो से वे फुरसत पाते तो मौज उड़ाते थे। उन्होने अब आराम की साँस ली। एक बड़ा भारी आतंक दूर हो गया था और वे लोग खुलकर साँस ले सकते थे। नैपोलियन के साथ विश्वासघात करनेवाला देश-द्रोही तैलीरँद बादशाहो और मन्त्रियो की इस भीड मे बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में उसने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। काग्रेस में एक दूसरा प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ मैटरनिख था जो आस्ट्रिया का वैदेशिक मन्त्री था।

एक वर्ष से कम समय में ही नैपोलियन तो ऐल्बा से तंग आगया और फ्रांस बोर्बन लोगों से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव में वहाँ से भाग निकला और २६ फरवरी, सन् १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर केन्स नामक जगह में किनारे पर आ लगा। किसानो ने बडे उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके विरुद्ध भेजी गई फौजों ने जब अपने पुराने सेनापति 'पेटिट कार्पोरल' को देखा तो वे "सम्राट जिन्दाबाद" का घोष करके उससे मिल गईं। बस, वह बडे विजयोल्लास के साथ पैरिस पहुँचा और बोर्बन बादशाह वहाँ से तुरन्त भाग गया। लेकिन योरप की बाकी सब राजधानियो में आतक और घबड़ाहट फैल गई। वियेना में, जहाँ कांग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावते एक दम खतम हो गईं। इस सर्वग्राही भय के कारण सारे बादशाह और मत्री अपने आपसी झगडो-टटो को भूल गये और उनका सारा ध्यान नैपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक ही काम की तरफ लग गया। बस, सारा योरप हथियार लेकर उसके विरुद्ध आ डटा। लेकिन फ्रास तो लडाइयो से उकता गया था। और नैपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुईसी तक छोड़ भागी थी, अब एक थका हुआ वृद्ध था। कुछ लडाइयो मे उसकी जीत हुई लेकिन अन्त मे, फ्रास में उतरने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिंगटन[1] और ब्लूशर[2] के मातहत अंग्रेज़ी और प्रशियाई फौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू मे उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लडाई मे दोनों तरफ करारा मुकाबिला था और यह बतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी। नैपोलियन की क़िस्मत बहुत बुरी निकली। उसके लिए इस लडाई मे विजय प्राप्त करना बहुत सम्भव था, लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन बाद उसे योरप की सम्मिलित शक्ति के आगे घुटने टेकने पडते। अब चूंकि वह हार चुका था इसलिए उसके बहुत-से समर्थको ने उसके विरुद्ध होकर अपनी जानें बचानी चाही। अब लडना व्यर्थ था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड दी और फ्रांस के एक बन्दरगाह में पडे हुए एक अंग्रेजी जहाज पर जाकर उसके कप्तान को यह कहकर आत्मसमर्पण कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैण्ड में बसना चाहता है।

---

[1]वेलिंगटन (Wellington)—ड्यूक आफ़ वेलिंगटन (१७६९–१८५२)। यह हिन्दुस्तानके गवर्नर लार्ड वैलज़ली का छोटा भाई आर्थर वैलज़ली था जिसने उस ज़माने में हिन्दुस्तान में भी कई लड़ाइयाँ जीती थीं। १८२८ ई० में यह इंग्लैंड का प्राइम मिनिस्टर भी था।

[2]ब्लूशर (Blucher)—(१७४२–१८१९) प्रशिया का सेनापति। इसने फ़्रांस में कई बार नेपोलियन को हराया था। इसकी मदद के बिना वेलिंगटन के लिए वाटरलू का युद्ध जीतना असम्भव था।

लेकिन अगर वह इंग्लैण्ड या योरप से उदार और शिष्ट बर्त्ताव की आशा रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत ज्यादा डरे हुए थे और ऐल्बा से उसके निकल भागने से उनकी धारणा बन गई थी कि उसे बहुत दूर और कड़े पहरे में रक्खा जाना जरूरी है। इसलिए, उसके विरोध करने पर भी उसे बन्दी घोषित कर दिया गया और कुछ साथियो के साथ दक्षिण अटलांटिक सागर के सुदूर टापू सेन्ट हेलेना में भेज दिया गया। वह "योरप का बन्दी" माना गया और कई राष्ट्रो ने सेंन्ट हेलना में उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन वास्तव में उस पर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी इग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-खासी फौज रक्खी गई। उस समय वहाँ के रूसी कमिश्नर काउन्ट बालब्रेन ने सेंन्ट हेलेना की इस एकान्त चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "संसार की वह जगह है, जो सबसे अधिक दुखभरी, सबसे ज्यादा अलग, सबसे ज्यादा अगम्य, सबसे ज्यादा सुरक्षित, हमले के लिए सबसे ज्यादा दुस्तर और बातचीत के लिए सबसे ज्यादा अकेली.... है।" इस टापू का अग्रेज गवर्नर एक बिलकुल गवार और जगली व्यक्ति था और वह नैपोलियन के साथ बडा निकृष्ट बर्त्ताव करता था। उसे टापू के सबसे अधिक अस्वास्थ्यकर भाग के एक बुरी तरह के मकान मे रक्खा गया और उस पर तथा उसके साथियो पर तरह-तरह की अपमानजनक पाबन्दियाँ लगादी गई। कभी-कभी तो उसे खाने के लिए अच्छा खाना भी पेट भरके नही मिलता था। उसे योरप में रहनेवाले मित्रो से पत्र-व्यवहार नही करने दिया जाता था, यहाँ तक कि अपने छोटे-से पुत्र से भी नही, जिसे अपनी सत्ता के दिनो मे उसने रोम के बादशाह की उपाधि दी थी। पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की खबर तक उसके पास नही पहुँचने दी जाती थी।

यह आश्चर्य की बात है कि नैपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्त्ताव किया गया। लेकिन सेन्ट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ अपनी सरकार का औजार था, और मालूम होता है कि अँग्रेज सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि इस बन्दी के साथ बुरा बर्त्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। योरप के दूसरे राष्ट्र इससे सहमत थे। नेपोलियन की माता वृद्धा होने पर भी सेन्ट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बड़ी शक्तियो ने कहा कि ऐसा नही हो सकता! नैपोलियन के साथ जो कमीना बर्त्ताव किया गया वह उस आतक का एक माप है, जो अभी तक योरप में उसके नाम से फैला हुआ था, हालाँकि उसके पर काट दिये गये थे और वह एक बहुत दूर के टापू मे अशक्त होकर पड़ा था।

साढे पाँच वर्ष तक उसने सेन्ट हेलेना मे यह जिन्दा मौत सहन की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू मे पिंजरा-बन्द होकर और रोज कमीनी जिल्लते उठाकर, इस असीम शक्ति वाले और महत्वाकाक्षी व्यक्ति ने जो कष्ट उठाये होगे, उनकी कल्पना करना कठिन नही है।

नैपोलियन मई, सन् १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की घृणा-वृत्ति उसके पीछे पडी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी कब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नैपोलियन के साथ किये गये दुर्व्यवहार और अत्याचार की खबर जैसे ही योरप पहुँची (उन दिनो खबरे बहुत देर में पहुँचा करती थी) वैसे ही उसके विरोध मे इग्लैण्ड सहित बहुत-से देशो मे शोर मच गया। इग्लैण्ड का वैदेशिक मत्री केसलरे, जो इस दुर्व्यवहार के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार था, इस कारण तथा अपनी कठोर घरू नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्महत्या कर ली।

महान और असाधारण व्यक्तियो को आँकना कठिन होता है; और इसमे कोई सन्देह नही है कि नैपोलियन अपनी तरह का एक महान और असाधारण व्यक्ति था। उसमें एक प्राकृतिक बल की तरह का एक तात्विक बल था। विचारो और कल्पनाओ से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और नि:स्वार्थ भावनाओ के मूल्यो की कदर नही करता था। वह लोगो को कीर्ति और धन देकर वश में करने और प्रभावित करने की कोशिश करता था। इसलिए जब उसका कीर्ति और सत्ता का भडार खाली हो गया, तो जिन लोगो को उसने बढाया था उन्ही को अपना बनाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श प्रेरणाए नही रही। इसलिए बहुत से उसे कमीनेपन के साथ दगा दे गये। धर्म को तो वह गरीबो और दुखियों को अपने दुर्भाग्य से संतुष्ट रखने का केवल एक साधन समझता था। ईसाई धर्म के बारे में उसने एक बार कहा था."—मैं ऐसे धर्म को कैसे स्वीकार कर सकता हूँ जो सुकरात और अफलातून की निन्दा करता है।" जब वह मिस्र में था तो उसने इस्लाम के प्रति कुछ पक्षपात इसलिए दिखलाया था, कि उसके विचार से शायद ऐसा

करने से वहाँ वह लोकप्रिय हो जाय। वह निपट अधार्मिक था लेकिन फिर भी धर्म को प्रोत्साहन देता था। क्योंकि वह इसे उस समय की सामाजिक व्यवस्था का पुश्तीवान समझता था। वह कहता था—"धर्म ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना का विचार जोड रक्खा है जो ग़रीबों को धनवानों की हत्या करने से रोकता है। धर्म का वही उपयोग है जो चेचक के टीके का। वह हमारी चमत्कारो की रुचि को सतुष्ट कर देता है और हमें नीम-हकीमों से बचाता है......। सपत्ति की असमानता के बिना समाज टहर नही सकता और सम्पत्ति की असमानता बिना धर्म के नही ठहर सकती। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पड़ोसी स्वादिष्ट भोजनों की दावत उडा रहा है, उसे सान्त्वना देने वाली एक बात तो है पारलौकिक सत्ता में आस्था और दूसरी यह धारणा कि परलोक में वस्तुओं का बटवारा दूसरे ही ढंग से होगा।" सुनते है, अपनी ताकत के घमंड में उसने कहा था—"अगर आकाश हमारे ऊपर गिरने लगे तो हम उसे अपने भालो की नोकों पर रोक लेंगे।"

उसमें महान व्यक्तियों की सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगो की स्नेहपूर्ण मित्रता प्राप्त करली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह में आकर्षण था। एक बार उसने कहा था—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है। मैंने लड़ाइयाँ अपनी आँखो से जीती हैं, हथियारो से नही।"। जिस आदमी ने सारे योरप को युद्ध में फंसा दिया उसके मुह से ये शब्द विचित्र मालूम होते है! बाद में, जब कि वह निर्वासित था, उसने कहा था कि बल-प्रयोग कोई इलाज नही है और मनुष्य की आत्मा तलवार से भी ज़ोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा अचभा किस बात पर होता है? इस बात पर कि बल-प्रयोग किसी चीज़ का संगठन करने की शक्ति नही रखता। दुनिया मे सिर्फ दो ही ताकते है—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। अन्त में जाकर आत्मा सदा तलवार पर विजय प्राप्त करेगी।" लेकिन अन्त में जाकर उसके लिए न था। वह तो जल्दी मे था, और अपनी जीवन-यात्रा के प्रारम्भ में ही उसने तलवार का मार्ग चुन लिया था; तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके पतन का कारण हुई। फिर उसका कहना था—"युद्ध अब समय की चीज़ नही है, एक दिन ऐसा आवेगा जब बिना तोपो और संगीनों के विजयें प्राप्त हो जाया करेगी।" परिस्थितियो ने उसे दबा दिया था—उसकी छलाँग भरने वाली महात्वाकाक्षा, युद्ध जीतने में आसानी, और योरप के शासको की इस कल के छोकरे के प्रति घृणा तथा भय की भावना, इन सबने उसे शान्ति के साथ जमने न दिया। रणभूमि में वह बड़ी बेपर्वाही के साथ लोगो की जानें झोंक देता था, लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि लोगो की तकलीफो को देखकर उसका दिल पसीज जाता था।

व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत सादा-मिज़ाज था और काम के सिवा कभी किसी बात मे अति नही करता था। उसकी राय मे "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खावे, वह हमेशा ज़रूरत से ज्यादा खाता है। अधिक भोजन करने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नही।" यही सादा जीवन था, जिसके कारण उसका स्वास्थ्य इतना अच्छा था और उसमें असीम कार्य-शक्ति थी। वह जब चाहता और जितना कम चाहता सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोडे पर सौ मील का सफर कर लेना उसके लिए कोई असाधारण बात न थी।

जैसे-जैसे उसकी महत्वाकाक्षा योरप के महाद्वीप को सर करती हुई आगे बढती गई वैसे-वैसे वह यह सोचने लगा कि योरप एक राज्य है, एक इकाई है, जहाँ एक कानून, और एक ही सरकार होनी चाहिए। "मैं सब राष्ट्रो को मिलाकर एक कर दूंगा।" बाद में सेन्ट हेलेना में निर्वासित किये जाने पर जब उसका दिमाग़ ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके हृदय में अधिक विशाल रूप में पैदा हुआ: "कभी-न-कभी घटना-चक्र के बल से (योरप के राष्ट्रोका) यह मेल होगा। पहला धक्का लग चुका है और मुझे तो लगता है कि मेरी प्रणाली का अन्त होने के बाद योरप में संतुलन स्थापित करने का अगर कोई मार्ग है तो वह एक राष्ट्रसंघ के द्वारा है।" सौ वर्ष से भी ज्यादा समय के बाद योरप अब भी अंधेरे में टटोल रहा है और राष्ट्र-संघ के बारे में प्रयोग कर रहा है!

उसने अपना अंतिम वसीयतनामा लिखा जिसमें अपने उस छोटे-से पुत्र के नाम एक संदेश छोड़ा, जिसे वह रोम का बादशाह कहता था और जिसके समाचार तक भी इतनी निर्दयता से उसके पास पहुँचने से रोक दिये गये थे। उसे आशा थी कि उसका पुत्र एक दिन राज करेगा इसलिए उसने उसे

उपदेश दिया था कि वह शान्ति के साथ राज करे और बल का प्रयोग कभी न करे। मैं "योरप को हथियारों के ज़ोर से भयभीत करने को मजबूर हो गया था; लेकिन आजकल का तरीका यह है कि तर्क से समझा कर यक़ीन दिलाया जाय।" लेकिन पुत्र के भाग्य में राज करना नही लिखा था। नैपोलियन की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद वह युवावस्था में ही वियेना में मर गया।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग़ में तब आये जब वह निर्वासन में था और जब उसकी अक़ल ठिकाने आ गई थी। या शायद उसने आगे के लोगो को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के दिनो में वह इतना अधिक क्रियाशील व्यक्ति था कि वह दार्शनिक नही बन सकता था। वह तो सत्ता की वेदी पर उपासना करता था; उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता से था और वह उससे गवारू तौर पर नहीं बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। उसने कहा था—"मै सत्ता से प्रेम करता हूँ, हाँ प्रेम करता हूँ, लेकिन उस तरह जैसे एक कलाकार करता है; जैसे फिड्ल[1] बजाने वाला अपनी फिड्ल से करता है ताकि उसमें से चमत्कारी राग, स्वर और स्वरलहरियां उत्पन्न करे।" लेकिन अतिशय सत्ता की लालसा ख़तरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र इसके पीछे पडते हैं उनका कभी न कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस नैपोलियन का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर बोर्बन लोग फ़ास में राज्य कर रहे थे। लेकिन यह कहा जाता है कि बोर्बन लोगों ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातो को भूले। नैपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रास उनसे तंग आ गया और उसने उन्हें उखाड़ फेंका। एक दूसरी राजसत्ता स्थापित हुई और नैपोलियन की स्मृति के प्रति सद्भावना प्रगट करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वैन्दोम स्तम्भ के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर वही रखदी गई। नैपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढापे मे अन्धी हो गई थी, कहा—"सम्राट एक बार फिर पेरिस मे आ गया है।"

: १०६ :

संसार का सिंहावलोकन

१९ नवम्बर, १९३२

इस तरह नैपोलियन दुनिया के रंगमंच से, जिस पर वह इतने दिनो से हावी हो रहा था, बिदा हुआ। इस बात को एक सदी से ज्यादा समय हो चुका है, और बहुत-से पुराने विवाद ठंडे हो चुके है। लेकिन, जैसा कि मै पहले कह चुका हूँ, नैपोलियन के बारे में अभी तक लोगो में बडा मतभेद है। अगर वह किसी अन्य तथा अधिक शान्तिपूर्ण जमाने में पैदा हुआ होता तो एक साधारण सेनानायक से ज्यादा उसकी प्रसिद्धि न हो पाती, और वह लोगो की दृष्टि मे आये बिना ही चल बसा होता। लेकिन क्रान्ति और परिवर्त्तन ने उसे आगे बढने का अवसर दिया, और उसने भी इससे पूरा लाभ उठाया। उसके पतन से और योरपीय राजनीति से हट जाने से योरपवासियो को बड़ी शान्ति मिली होगी, क्योंकि वे लोग युद्ध से उकता गये थे। पूरी एक पीढ़ी से उन्होने सच्ची शान्ति के दर्शन नही किये थे, और वे उसके लिए लालायित थे। वर्षों से उसके नाम से थर्राते रहने वाले बादशाहो और राजाओ को तो इससे जितना आराम मिला होगा उतना किसी दूसरे को नही।

हमने फ्रांस और योरप मे बहुत समय लगा दिया और अब हम उन्नीसवी सदीमें काफी दूर तक आगे बढ आये है। आओ, अब हम दुनिया पर एक सरसरी नज़र डालें और देखें कि नैपोलियन के पतन के समय उसकी क्या हालत थी।

तुम्हें याद होगा कि योरप में पुराने बादशाह लोग और उनके मन्त्रीगण वियेना की कांग्रेस में इकट्ठे

[1] फिड्ल (fiddle)—सारंगी की तरह का एक बाजा जिसे वायोलीन भी कहते हैं।

हुए थे। नैपोलियन का हौवा दूर हो गया था, और अब ये लोग अपना वही पुराना खेल खेलने और लाखों आदमियो के भाग्यों का अपनी इच्छानुसार निपटारा कर डालने के लिए स्वतन्त्र थे। न तो उन्हें इसकी कुछ परवाह थी कि लोग क्या चाहते हैं और न इस बात की कि प्राकृतिक स्थिति और भाषा के अनुसार किसी देश की सीमाएं क्या थी। रूस का ज़ार, इग्लैण्ड का प्रतिनिधि केसलरे, आस्ट्रिया का प्रतिनिधि मेटरनिख और प्रशिया इस कांग्रेस में मुख्य शक्तियाँ थीं। और हा, चतुर, हाज़िर-जवाब और लोकप्रिय तैलीरेन्द भी, जो एक समय नैपोलियन का मंत्री रह चुका था, और अब फ़ास के बोर्बन बादशाह का मत्री था। इन लोगो ने नाच और दावतो से मिली फ़ुरसत में योरप के उस नकशे को फिर नये सिरे से बदल डाला जिसे नैपोलियन ने इतना बदल दिया था।

अठारहवां बोर्बन लुई फिर फ्रांस की गद्दी पर थोप दिया गया। स्पेन मे इन्क्विजिशन फिर से जारी कर दी गई। वियेना की काग्रेस में इकट्ठे हुए बादशाह प्रजातन्त्रो को पसन्द नही करते थे, इसलिए उन्होने हालैण्ड के पुराने डच प्रजातन्त्र को फिर से स्थापित नही होने दिया। इसके बजाय उन्होने हालैण्ड और बेलजियम को मिलाकर निदरलैण्ड्स नाम का राज्य बना दिया। पोलैण्ड की फिर कोई अपनी अलग हस्ती न रही; प्रशिया, आस्ट्रिया और मुख्यतया रूस, उसे हड़प गये। वेनिस और उत्तरी इटली आस्ट्रिया को मिल गये। स्वीज़रलैण्ड और रिवेरा के बीच का एक टुकडा फ्रास का, और एक टुकडा इटली का मिलाकर सार्डीनिया की रियासत बना दी गई। मध्य-योरप मे एक अजीब और अस्पष्ट-सा जर्मन सघ था, लेकिन प्रशिया और आस्ट्रिया ही उसकी दो प्रधान शक्तिया बनी रही। इनके अलावा और भी परिवर्तन हुए। इस तरह वियेना काग्रेस के बुद्धिमानो ने यह व्यवस्था दी कि लोगो को उनकी इच्छा के विरुद्ध ज़बर्दस्ती इधर-उधर बाँट दिया, उन्हे ऐसी भाषा को बोलने के लिए मजबूर किया जो उनकी अपनी न थी, और इस तरह व्यापक तौर पर भविष्य के झगड़ो और युद्धो के बीज बोये।

सन् १८१४-१५ ई० की वियेना काग्रेस का खास विषय था बादशाहो की स्थिति को एकदम सुरक्षित बनाना। फ़ास की राज्यक्रान्ति से वे बेहद भयभीत हो गए थे, इसलिए अब मूर्खतावश वे यह खयाल बना बैठे कि हम इन नये क्रान्तिकारी विचारो का फैलना रोक सकेगे। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट और प्रशिया के बादशाह ने तो अपनी और दूसरे बादशाहो की स्थिति की रक्षा के लिए 'पवित्र मित्र-मडल' नाम का एक गुट्ट तक बना लिया था। बिलकुल ऐसा मालूम होने लगा मानो हम फिर चौदहवे और पन्द्रहवे लुई के समय में पहुँच गये है। सारे योरप मे, यहाँ तक कि इग्लैण्ड तक मे, तमाम उदार विचारों का दमन किया जाने लगा। योरप के प्रगतिशील विचारो के लोगो को यह देख कर कितनी निराशा हुई होगी कि फ़ास की राज्यक्रान्ति की घोर पीड़ा व्यर्थ गई!

योरप के पूर्व मे तुर्की बहुत कमज़ोर हो गया था। वह धीरे-धीरे पतन की ओर जा रहा था। कहने को तो मिस्र तुर्की साम्राज्य में था, लेकिन असल मे वह था अर्द्ध-स्वतत्र। सन् १८२१ ई० मे यूनान ने तुर्की शासन के विरूद्ध विद्रोह किया और आठ वर्ष के युद्ध के बाद इग्लैण्ड, फ्रास और रूस की सहायता से स्वतन्त्रता प्राप्त करली। इसी युद्ध मे अंग्रेज कवि बायरन यूनान की ओर से एक स्वय-सेवक की तरह युद्ध करता हुआ मारा गया था। उसने यूनान के बारे मे कुछ बहुत ही सुन्दर कविताए लिखी हैं, जिन्हे शायद तुम जानती भी हो।

यहाँ मै दो राजनैतिक परिवर्त्तनों का भी ज़िक्र कर दूँ, जो सन् १८३० ई० मे योरप मे हुए। बोर्बन बादशाहो के दमन और अत्याचारो से तग आकर फ़ास ने उन्हे फिर निकाल बाहर किया। लेकिन प्रजातन्त्र के बजाय एक दूसरा बादशाह बिठा दिया गया। यह था लुई फिलिप, जिसने कुछ अच्छा और किसी हद तक एक वैधानिक बादशाह की तरह बर्त्ताव किया। उसने सन् १८४८ ई० तक किसी तरह राज्य चलाया और फिर एक दूसरा तथा पहले से भी गम्भीर विस्फोट हो गया। बेलजियम में भी सन् १८३० ई० में विद्रोह हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि बेलजियम और हालैण्ड अलग-अलग हो गये। योरप की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ तो प्रजातन्त्र प्रणाली की ज़बर्दस्त विरोधी थी ही। इसलिए उन्होने एक जर्मन राजकुमार को बेलजियम की भेट किया और उसे वहाँ का बादशाह बना दिया। एक और जर्मन राजकुमार यूनान का बादशाह बना दिया गया। मालूम होता है कि जर्मनी की ढेर-सारी रियासतों में ऐसे राजकुमारो की हमेशा बहुतायत रहती थी, जो किसी गद्दी के खाली होते ही उसे सुशोभित (!) करने के लिए मिल

जाते थे। तुम्हें याद होगा कि इंग्लैण्ड का मौजूदा राजवंश जर्मनी की ही एक छोटी सी रियासत हनोवर से आया हुआ है।

सन् १८३० ई० का वर्ष योरप में तथा अन्य कई स्थानों—जर्मनी और इटली और खासकर पोलैण्ड—में विद्रोहो का वर्ष था। लेकिन बादशाहो ने इन विद्रोहों को कुचल दिया। पोलैण्ड में रूसियो ने बडी निर्दयता से दमन किया, यहाँ तक कि पोलीय भाषा का उपयोग भी रोक दिया। सन् १८३० ई० का यह साल, एक तरह से सन् १८४८ ई० का पूर्वाभास था और, जैसाकि आगे चलकर हम देखेंगे, योरप में यह क्रान्ति का वर्ष था।

इतना तो हुआ योरप के बारे में। अटलांटिक महासागर के उस पार सयुक्त राज्य अमरीका धीरे-धीरे पश्चिम की तरफ फैल रहा था। वह योरप की प्रतिस्पर्द्धाओ और युद्धों से बहुत दूर था और उसके पास असीम फालतू भूमि थी, इसलिए वह बडी तेजी से तरक्की करता हुआ योरप की बराबरी मे आता जा रहा था। उधर दक्षिण अमरीका में भी बड़े परिवर्त्तन हुए। इनका अप्रत्यक्ष कारण नैपोलियन था। जब नैपोलियन ने स्पेन को जीता और अपने एक भाई को वहाँ के सिंहासन पर बिठाया, तो दक्षिण अमरीका के स्पेनी उपनिवेशो ने विद्रोह कर दिया। विचित्र बात है कि स्पेनी राजवश के प्रति अमरीका के इन स्पेनी उपनिवेशो की राजभक्ति ही उनकी स्वतन्त्रता का कारण बनी। लेकिन यह तो एक तात्कालिक बहाना था। चाहे कुछ देर बाद ही सही, लेकिन उपनिवेशो का स्पेन से सम्बन्ध-विच्छेद होता ज़रूर; क्योंकि दक्षिण अमरीका मे सब जगह स्वतन्त्रता की भावना ज़ोर पकड रही थी। दक्षिण अमरीका की स्वाधीनता का महान नायक था साइमन बोलिवर जो 'देशोद्धारक' के नाम से मशहूर है। दक्षिण अमरीका के बोलिविया प्रजा-तन्त्र का नाम उसीके नाम पर रखा गया है। इस तरह जब नैपोलियन का पतन हुआ तब स्पेनी अमरीका स्पेन से जुदा होकर अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड रहा था। नैपोलियन के बिदा हो जाने से इस सघर्ष में कोई फर्क नही पडा और यह स्पेन की नई सरकार के विरुद्ध कई वर्षों तक चलता रहा। योरप के कुछ बादशाह अमरीकी उपनिवेशो के क्रान्तिकारियो के दमन मे अपने मित्र स्पेन के बादशाह की मदद करना चाहते थे। लेकिन सयुक्त राज्य ने इस तरह के हस्तक्षेप को बिलकुल रोक दिया। उस समय मनरो संयुक्त राज्य का प्रेसीडेण्ट था। उसने योरपीय शक्तियो को साफ़-साफ़ कह दिया कि अगर उन्होने उत्तर या दक्षिण अमरीका मे किसी भी जगह टाग अडाई तो उन्हे सयुक्त राज्य से लोहा लेना पडेगा। इस धमकी ने योरपीय शक्तियो को डरा दिया और तब से वे दक्षिण अमरीका से बहुत कुछ अलग ही रही है। योरप को दी गई मनरो की यह धमकी 'मनरो सिद्धान्त'[1] के नाम से प्रसिद्ध है। इसने दक्षिण अमेरिका के नये प्रजातन्त्रो को बहुत वर्षों तक लालची योरप के चगुल से बचाये रक्खा और उन्हे विकास करने का अवसर दिया। योरप से तो उनकी अच्छी तरह रक्षा हो गई, लेकिन खुद रक्षक—सयुक्त राज्य—से उनकी रक्षा करनेवाला कोई न था। आज उन पर सयुक्त राज्य का ही दबदबा है, और छोटे-छोटे प्रजातत्रो मे से बहुत-से तो बिलकुल उसीकी मुट्ठी मे है।

ब्राज़ील का विशाल देश पुर्त्तगाल का उपनिवेश था। स्पेन के अमरीकी उपनिवेश जिस समय स्वतन्त्र हुए लगभग उसी समय यह भी स्वतन्त्र हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि सन् १८३० ई० के आस-पास सारा दक्षिण अमरीका योरप के पजे से मुक्त हो गया। उत्तरी अमरीका में अलबत्ता कनाडा अंग्रेज़ों का उपनिवेश था।

अब हम एशिया की तरफ आते है। इस समय अंग्रेज भारत मे नि सन्देह सबसे ज़बरदस्त शक्ति बन गये थे। जिस समय योरप मे नैपोलियन के युद्धो का घमासान चल रहा था, अंग्रेज़ो ने इधर अपनी स्थिति को मज़बूत बना लिया और जावा पर भी अधिकार कर लिया। मैसूर का टीपू सुलतान परास्त किया जा चुका था, और सन् १८१९ ई० मे मराठा शक्ति भी बिलकुल उखाड फेंकी गई थी। हाँ, पजाब में रणजीतसिंह की अधीनता मे एक सिख रियासत थी। सारे भारत में अंग्रेज धीरे-धीरे घुस रहे थे और फैलते जा रहे थे। पूर्व में आसाम मिला लिया गया था, और अराकान—बरमा—भी अगला निवाला बनने वाला था।

जबकि इधर भारत में अंग्रेज़ बढ रहे थे, उधर मध्य एशिया में एक दूसरी योरपीय शक्ति रूस, आगे

[1] Munroe Doctrine.

बढ़ रहा था पूर्व में प्रशान्त महासागर तक और चीन तक तो वह पहुँच ही चुका था। अब यह मध्य एशिया की छोटी-छोटी रियासतों को कुचलता हुआ ठेठ अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक आ गया था। भारत के अंग्रेज इस रूसी दैत्य को अपने पास आते देख कर इतने डर गये कि अपनी घबराहट में, बिना रत्ती भर हीले-बहाने के ही, अफ़ग़ानिस्तान से युद्ध छेड़ बैठे। लेकिन इसमें उनको बुरी तरह मुह की खानी पड़ी।

चीन पर मञ्चू लोगो का शासन था। व्यापार और धर्म-प्रचार के नाम से आनेवाले विदेशियों की नीयत पर सन्देह करने के काफ़ी कारण होने से वे लोग इनके प्रवेश को रोकने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन विदेशी लोग चीन के दरवाजे पर चिल्लाते-पुकारते और गडबड़ी मचाते ही रहे, और अफीम के व्यापार को खासतौर पर बढ़ावा देते रहे। ईस्ट इडिया कम्पनी को ब्रिटिश-चीन के व्यापार पर एकाधिकार मिला हुआ था। चीनी सम्राट ने चीन में अफ़ीम का आना रोक दिया, लेकिन चोरी-छिपे उसका आयात जारी रहा और विदेशी लोग इस तरह अफ़ीम का गैरकानूनी व्यापार करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड से युद्ध छिड़ गया, जिसे 'अफीम का युद्ध' ठीक ही कहा जाता है, और अन्त में अंग्रेजो ने चीन के लोगों को अफ़ीम खरीदने के लिए मजबूर कर दिया।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें बतलाया था कि सन् १६३४ ई० में जापान ने अपने आपको बिल्कुल बन्द कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भी इस देश का दरवाजा सब विदेशियों के लिए बन्द था। लेकिन इसके बन्द परकोटे के अन्दर पुरानी शोगनशाही कमजोर हो रही थी और नई परिस्थितियाँ पैदा हो रही थी, जिनके कारण पुरानी प्रणाली का एकाएक अन्त होने वाला था। दक्षिण-पूर्व एशिया के सुदूर दक्षिण में योरपीय शक्तियाँ जमीनों को हड़प करती जा रही थी। फिलीपाइन द्वीप-समूह पर अभीतक स्पेनवालों का क़ब्ज़ा बना हुआ था। अंग्रेजो और डचो ने पुर्तगालियो को वहा से मार भगाया था। वियेना की कांग्रेस के बाद डचो को जावा और अन्य टापू वापस मिल गये। अंग्रेज सिगापुर और मलाया प्रायद्वीप की तरफ़ फैलते जा रहे थे। अनाम, स्याम और बर्मा अभी तक स्वतन्त्र थे, हालांकि वे मौक़े-मौके पर चीन को खिराज दिया करते थे। मोटे तौर पर वाटरलू-युद्ध से सन् १८३० ई० तक के पन्द्रह वर्षों के बीच दुनिया की राजनैतिक अवस्था इस तरह की थी। योरप निश्चित रूप से दुनिया के मालिक के रूप मे प्रकट हो रहा था; और खुद योरप में प्रतिक्रिया विजयी हो रही थी। सम्राटो और बादशाहों को, और इंग्लैण्ड की दकियानूसी पार्लमेण्ट तक की, यह धारणा हो गई थी कि उन्होने उदार विचारो को बिलकुल कुचल दिया है। उन्होंने इन विचारो को डिब्बे मे बन्द कर देने की कोशिश की। लेकिन वे असफल ही रहे, और रह-रह कर विद्रोह होने लगे।

राजनैतिक परिवर्तन सारे दृश्य पर छाये हुए मालूम होते थे। लेकिन इनसे भी कही अधिक महत्व-पूर्ण बात थी उत्पादन, वितरण और यातायात के तरीको मे क्रान्ति, जिसकी शुरूआत इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के साथ हुई। चुपचाप, लेकिन बिना किसी रोक-टोक के, यह क्रान्ति योरप और उत्तरी अमरीका मे फैल रही थी और करोडो मनुष्यो के दृष्टिकोण और ढगो को तथा विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्धो को बदल रही थी। मशीनो की खटाखट में से नये-नये विचार प्रगट होते जा रहे थे और एक नई दुनिया तैयार हो रही थी। योरप दिन पर दिन अधिक कार्य-कुशल और सग-दिल—अधिक लोभी, साम्राज्यवादी और हृदयहीन बनता जा रहा था। नैपोलियन की स्पिरिट इसमें घर कर गई मालूम होती थी। लेकिन योरप में भी ऐसे विचार पैदा हो रहे थे, जिनका भविष्य में साम्राज्यवाद से टक्कर लेना और उसे उखाड़ फेंकना निश्चित था।

इस युग का साहित्य, काव्य और सगीत भी है जो चित्त को मोहित करता है। लेकिन मैं अपनी लेखनी को अब ज्यादा दौड़ने न दूंगा। आज के लिए इसने काफ़ी काम कर लिया है।

: १०७ :

महायुद्ध से पहले के सौ वर्ष

२२ नवम्बर, १९३२

नेपोलियन का पतन सन् १८१४ ई० में हुआ, अगले वर्ष वह ऐल्बा से लौटा और फिर उसकी हार हुई; लेकिन उसका सारा ढाचा सन् १८१४ ई० में ही ढह चुका था। इसके ठीक सौ वर्ष बाद, सन् १९१४ ई० में, महायुद्ध शुरू हुआ जो लगभग सारी दुनिया में फैल गया और अपने चार वर्षों के समय में इसने भयंकर हानि और तकलीफ़ पहुँचाई। सौ वर्ष के इस युगाश पर हमें कुछ विस्तार के साथ विचार करना है। इस युगाश के आरम्भ में दुनिया की जैसी हालत थी, उसकी कुछ मोटी-मोटी बात मै तुम्हें अपने पिछले पत्र में बतला चुका हूँ। मै समझता हूँ कि अपने लिए यह मुनासिब होगा कि विभिन्न देशो मे इस सदी के अलग-अलग अंशो की जाँच करने से पहले पूरी सदी पर एक निगाह डाल ली जाय। इस तरह शायद हमें इन सौ वर्षों की मुख्य हलचलो का ज्यादा अच्छा ज्ञान हो जाय, और तब हम जगल को भी देख सकें और पेडो को भी।

तुम्हें अपने आप ही नजर आ जायगा कि सन् १८१४ से १९१४ ई० तक के ये सौ वर्ष ज्यादातर *उन्नीसवी सदी में पड़े हैं। इसलिए अगर हम इन वर्षों को उन्नीसवी सदी कह कर पुकारें तो कोई हर्ज नही है, हालाँकि यह बिलकुल सही तो न होगा।*

उन्नीसवी सदी एक मनोमोहक युगाश है। लेकिन हमारे लिए उसका अध्ययन कोई आसान काम नही है। यह एक विशाल दृश्य है, एक महान चित्र है, और चूकि हम उसके इतने नजदीक है, इसलिए वह हमें पहले की सदियों की अपेक्षा ज्यादा बडा और ज्यादा घना मालूम होता है। जब हम इस सदी को गूँथने वाले हजारो धागो को सुलझाने की कोशिश करते है, तो इसकी यह विशालता और जटिलता कभी-कभी तो हमे चकरा देती है।

यह सदी अद्भुत यात्रिक उन्नति की थी। औद्योगिक क्रान्ति के पीछे-पीछे यांत्रिक क्रान्ति आई, और मशीनें मनुष्य के जीवन में दिन पर दिन ज्यादा जरूरी होती गईं। मशीनो ने उससे बहुत ज्यादा काम कर दिखाया। जितना मनुष्य ने पहले किया था, उनसे मनुष्य के काम की मशक्कत दूर हो गई, प्राकृतिक तत्त्वो पर उसकी निर्भरता कम हुई और उसके लिए दौलत पैदा होने लगी। विज्ञान ने बहुत ज्यादा सहायता दी और यात्रा तथा यातायात के साधनो की गति तेज पर तेज होती चली गई। रेलगाडी आई और उसने घोड़ा-गाड़ियो की जगह ले ली; भाप के जहाजो ने हवा से चलने वाले जहाजो की जगह ले ली, और उसके बाद आया जबरदस्त और शानदार समुद्री जहाज जो एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को तेज गति और नियमितता के साथ जाने-आने लगा। इस सदी के अन्त मे तेल से चलनेवाली गाडियाँ आईं और मोटरकारे तमाम दुनिया में फैल गईं। और सब के बाद आया हवाई जहाज। इसी समय मनुष्य 'बिजली' नामक एक नये आश्चर्य का सचालन और उपयोग करने लगा और तार तथा टेलीफोन का उदय हुआ। इन बातो ने दुनिया का रूप बहुत बदल दिया। जैसे-जैसे यातायात के साधनो का विकास हुआ और लोग दिन पर दिन अधिक तेज गति से यात्रा करने लगे वैसे-ही-वैसे दुनिया सिकुडती हुई और छोटी-होती हुई मालूम पडने लगी। आज तो हम इन सबके आदी हो गये है और इन पर ध्यान ही नही देते। लेकिन पुरानी बातो में ये सब सुधार और परिवर्त्तन हमारे इस जगत में नये आये है; ये सब पिछले सौ वर्षों में ही आये है।

साथ ही यह सदी योरप की, या यो कहो कि पश्चिमी योरप की, और खासकर इग्लैण्ड की, सदी थी। औद्योगिक और यात्रिक क्रान्तियाँ वही शुरू हुईं और उन्नत हुईं, और इनके कारण पश्चिमी योरप अन्य देशो से बहुत आगे बढ़ गया। समुद्री शक्ति और उद्योग-धन्धों में इग्लैण्ड प्रमुख था, लेकिन पश्चिमी योरप के दूसरे देश धीरे-धीरे इसकी बराबरी पर आ पहुँचे। इस नई यांत्रिक सभ्यता के सहारे अमरीका का संयुक्तराज्य भी आगे बढ़ चला और रेलो ने उसे पश्चिम की तरफ़ प्रशान्त महासागर तक पहुँचा दिया, और इस तरह इस विशाल देश को एक राष्ट्र बना दिया। यह अपनी ही समस्याओं में और सीमा-विस्तार में इतना अधिक फंसा हुआ था कि योरप तथा बाक़ी दुनिया की झंझटों की तरफ़ ज्यादा ध्यान देने की उसे फ़ुरसत ही न थी। लेकिन योरप के किसी भी तरह के हस्तक्षेप का विरोध करने और रोकने की उसमें

काफ़ी ताकत थी। मनरो के सिद्धान्त ने, जिसके बारे में मै तुम्हें अपने पिछले पत्र में लिख चुका हूँ, दक्षिण अमरीका के प्रजातन्त्रों को योरप की लालची निगाहों से बचा लिया। इन प्रजातन्त्रों की नीव स्पेन और पुर्तगाल के लोगों ने डाली थी, इसलिए ये लैटिन प्रजातन्त्र कहाते है। ये दोनो देश, और इटली तथा फ़्रांस, लैटिन राष्ट्र कहलाते है। दूसरी तरफ़ योरप के उत्तरी देश टयूटानिक हैं; इग्लैण्ड टयूटनों[1] की एंग्लो-सेक्सन शाखा है। संयुक्त राज्य अमरीका के लोग प्रारम्भ में इसी एग्लो-सेक्सन नस्ल के थे, लेकिन बाद में तो सभी तरह के प्रवासी वहाँ जा पहुँचे।

औद्योगिक और यान्त्रिक क्षेत्र में बाक़ी दुनिया पिछड़ी हुई थी और पश्चिम की नई यान्त्रिक सभ्यता से प्रतियोगिता करने में असमर्थ थी। पुराने घरेलू-उद्योगो की बनिस्बत योरप के नये मशीन-उद्योगों से माल कही ज्यादा तेजी के साथ और भारी मिक़दार में पैदा होने लगा। लेकिन यह माल तैयार करने के लिए कच्चे माल की जरूरत थी, जो पश्चिमी योरप में अधिक नहीं मिल सकता था। साथ ही जब माल तैयार होता था, तो उसे बेचना भी जरूरी था, और इसलिए उसकी बिक्री के लिए मडियाँ जरूरी थी। इसलिए पश्चिमी योरप ऐसे मुल्को की तलाश करने लगा जो उसे कच्चा माल दे सके और उनका तैयार माल ख़रीद सकें। एशिया और अफ़रीका कमजोर थे, इसलिए योरप उनपर भूखे भेडिये की तरह टूट पड़ा। अपनी समुद्री ताक़त और उद्योग-धन्धों में पहल के कारण इग्लैण्ड साम्राज्य-प्राप्ति की दौड़ में सहज ही सबसे आगे रहा।

तुम्हें याद होगा कि गरम मसाले और अपनी जरूरत की दूसरी चीजें ख़रीदने के लिए योरप वाले पहले-पहल भारत और पूर्व-एशिया में पहुँचे थे। इस तरह पूर्व का सामान योरप मे आया और साथ ही पूर्वी करघे से बना हुआ तरह-तरह का कपडा पश्चिम मे पहुँचा। लेकिन अब मशीन के विकास से यह सिल-सिला उलटा हो गया। पश्चिमी योरप का सस्ता माल पूर्व में पहुँचने लगा और अग्रेजी माल की बिक्री को प्रोत्साहन देने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इरादा करके भारत के घरेलू उद्योग-धन्धो की हत्या कर डाली।

योरप विशाल एशिया पर जमकर बैठ गया। उत्तर में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे महाद्वीप पर रूसी साम्राज्य पसर गया। दक्षिण मे इग्लैण्ड लूट के सबसे बडे भाग भारत पर मजबूत शिकजा जमाये बैठा था। पश्चिम में तुर्की साम्राज्य तीन-तेरह हुआ जारहा था, और तुर्की का हवाला 'योरप का रोगी' कह कर दिया जाता था। नाममात्र के स्वतन्त्र ईरान पर इग्लैण्ड और रूस हावी थे। स्याम के एक छोटे से टुकडे को छोडकर सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया—बर्मा, हिन्दी-चीन, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलीपाइन, वग़ैरा—को योरप निगल चुका था। सुदूर पूर्व में योरप की सभी शक्तियाँ चीन को कुतर रही थी और उससे रिआयतों पर रिआयतें ज़बरदस्ती ऐंठी जारही थी। सिर्फ़ जापान तना हुआ खडा रहा और बराबरी की हैसियत से योरप के मुकाबिले मे डटा रहा। वह अपने एकान्त से बाहर निकल आया था और उसने आश्चर्यजनक तेजी के साथ अपने को नई परिस्थितियो के अनुकूल बना लिया था।

मिस्र के सिवा बाकी अफ़रीका बहुत पिछडा हुआ था। वह योरप का कोई जोरदार मुकाबिला नही कर सकता था, इसलिए योरप की शक्तियाँ साम्राज्य की अधी दौड़ में इसपर टूट पडी और इस विशाल महाद्वीप को बाँट कर खा गईं। इंग्लैण्ड ने मिस्र पर कब्जा कर लिया, क्योकि यह भारत के रास्ते मे था, और फिर तो भारत पर क़ब्ज़ा जमाये रखने की लालसा ब्रिटिश नीति पर हावी हो गई। सन् १८६९ ई० में स्वेज नहर खोली गई। इससे योरप और भारत के बीच का रास्ता बहुत छोटा हो गया। इस नहर के कारण इंग्लैण्ड के लिए मिस्र का मूल्य और भी बढ़ गया, क्योकि वह नहर में गड़बड कर सकता था और इस तरह भारत के समुद्री मार्ग पर उसका अधिकार था।

इस तरह, यान्त्रिक क्रान्ति के फलस्वरूप सारी दुनिया मे पूजीवादी सभ्यता फैल गई और योरप का दबदबा हर जगह कायम हो गया। इसलिए इस सदी को साम्राज्यवाद की सदी भी कह सकते हैं। लेकिन यह नया साम्राज्यवादी युग रोम और चीन, भारत और अरब, और मंगोलों के पुराने साम्राज्यवाद से बहुत भिन्न था। यह तो नये ढंग का साम्राज्य था, जो कच्चे माल और मडियों का भूखा था। नया साम्राज्यवाद

---

[1] टयूटन (Tueton)—जर्मनी की एक प्राचीन आदि-निवासी क़ौम का नाम।

नये उद्योगवाद का बच्चा था। कहा जाता था कि "झण्डे के पीछे-पीछे व्यापार चलता है" और अक्सर करके बाइबिल के पीछे-पीछे झण्डा चल रहा था। धर्म, विज्ञान, स्वदेश प्रेम, सभी का एक ही उद्देश्य के लिए दुरुपयोग किया जा रहा था, कि दुनिया की दुर्बल और औद्योगिक क्षेत्र में अधिक पिछडी हुई जातियो का शोषण करना, ताकि बड़ी-बड़ी मशीनो के स्वामी और उद्योग-धन्धो के राजा मालदार होते चले जायँ। सत्य और प्रेम के नाम की दुहाई देने वाला ईसाई धर्म-प्रचारक अक्सर साम्राज्यवाद की चौकी का काम करता था, और अगर कही उसका कुछ बिगड़ जाता, तो उसका देश इसी को वहाँ की ज़मीन हड़पने का और ज़बर्दस्ती रिआयते ऐंठने का बहाना बना लेता था।

उद्योग और सभ्यता के पूजीवादी संगठन से इस साम्राज्यवाद का उदय होना अनिवार्य था। पूँजीवाद ने ही राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र किया, और इसलिए इस सदी को तुम राष्ट्रीयता की सदी भी कह सकती हो। इस राष्ट्रीयता का अर्थ केवल स्वदेश-प्रेम नही था, बल्कि दूसरे सब देशो की घृणा था। अपनी ज़मीन के टुकडे की कीर्त्ति के गीत गाने और दूसरो की हिकारत से निन्दा करने का यही परिणाम हो सकता था कि विभिन्न देशो में आपसी झगडा और सघर्ष हो। योरप के विभिन्न देशो की औद्योगिक और साम्राज्यिक प्रतियोगिता ने हालत को और भी बिगाड़ दिया। सन् १८१४-१५ ई० की वियेना की कांग्रेस ने योरप का जो नकशा तय किया था वह विद्वेष का एक और कारण था। इस नक़शे के अनुसार कुछ जातियो को दबा दिया गया था और उन्हे ज़बर्दस्ती दूसरी जातियो की हुकूमत के नीचे रख दिया गया था। एक राष्ट्र के रूप मे पोलैण्ड का अस्तित्व नहीं रहा था। आस्ट्रिया-हगरी ठोक-पीटकर बनाया हुआ साम्राज्य था, जिसमे तरह-तरह की जातियाँ रहती थी, जो एक दूसरे से दिली नफरत रखती थी। दक्षिण-पूर्व योरप के तुर्क-साम्राज्य के बालकन प्रदेशो में बहुत-सी गैर-तुर्क जातियाँ थी। इटली के टुकडे करके बहुत-सी रियासतो मे बाँट दिया गया था, और उसका एक हिस्सा आस्ट्रिया के अधीन था। योरप के इस नकशे को बदल डालने के लिए युद्धो और क्रान्तियो के द्वारा बार-बार कोशिशे की गईं। अपने पिछले पत्र में मैंने इनमे से कुछ का ज़िक्र किया है, जो वियेना के फैसले के फौरन ही बाद हुए थे। इस सदी के उत्तरार्द्ध में इटली ने अपने उत्तरी प्रदेशो से आस्ट्रिया का और मध्य भाग से पोप का जुआ उतार फैंका और वह एक सगठित राष्ट्र बन गया। इसके थोडे ही दिनो बाद प्रशिया के नतृत्व में जर्मनी का एकीकरण हुआ। जर्मनी ने फ़ास को परास्त और अपमानित किया और उसकी सरहद के दो प्रान्त आलसस और लारेन छीन लिये, और उसी दिन से वह प्रतिहिसा और बदले का स्वप्न देखने लगा। पचास वर्ष के भीतर ही भीतर खूनी और भयकर बदला लिया जाने वाला था।

अन्य देशो से बहुत आगे बढा हुआ होने के कारण इंग्लैण्ड योरपीय देशो में सबसे अधिक भाग्यशाली था। सारी बढिया चीजें उसके कब्ज़े मे थी और वह उस समय की स्थिति से खूब सतुष्ट था। भारत नये ढग के साम्राज्य का नमूना था और ऐसा वैभवशाली देश था कि जिसके आर्थिक शोषण से सोने की नदी लगातार इग्लैण्ड को बहती रहती थी। भारत पर इग्लैण्ड की इस हुकूमत को दूसरे सब भावी साम्राज्य-निर्माता ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। वे दूसरी जगहो में भारत के नमूने का साम्राज्य बनाने की सोचने लगे। फ़ास वाले तो किसी हद तक सफल भी हो गये, जर्मनी ज़रा देर से मैदान मे आया, और उसके लिए अब कुछ भी नही बचा था। इस तरह दुनिया भर में इन योरपीय महाशक्तियों के बीच राजनैतिक तनाव पैदा हो गया। हरेक शक्ति ज्यादा-से-ज्यादा देशो को हड़प जाने की कोशिश में थी, और इसी उधेड़-बुन में लगी हुई एक शक्ति दूसरी शक्ति से टक्कर खा जाती थी। विशेषकर इंग्लैण्ड और रूस के बीच तो बराबर तना-तनी बनी रहती थी, क्योकि इग्लैण्ड के भारतीय साम्राज्य को मध्य एशिया की ओर से रूस का खतरा मालूम पड़ता था। इसलिए इंग्लैण्ड हमेशा रूस को मात देने की कोशिश करता रहता था। उन्नीसवी सदी के मध्य में, जब रूस ने तुर्की को हराकर कुस्तुन्तुनिया पर दाँत लगाये, तो इंग्लैण्ड तुर्की की मदद के लिए मैदान में उतर आया और उसने रूस को पीछे खदेड़ दिया। तुर्की से कोई खास प्रेम होने के कारण इग्लैण्ड ने ऐसा किया हो सो बात नही, बल्कि रूस का डर और भारत से हाथ धो बैठने का अन्देशा ही इसकी वजह थी।

जर्मनी, फ़ास और सयुक्त राज्य अमरीका धीरे-धीरे इग्लैण्ड के बराबर आ पहुँचे, इसलिए इग्लैण्ड का औद्योगिक नेतृत्व भी दिन-पर-दिन घटता गया। इस सदी के आखिरी दिनो में परिस्थितियाँ चरम सीमा पर पहुँच चुकी थीं। योरप की इन शक्तियो की महत्वाकांक्षाओ की पूर्ति के लिए दुनिया बहुत छोटी

थी। ये शक्तियाँ आपस में एक दूसरी से डरती थी तथा घृणा और ईर्ष्या करती थी, और इसी डर और घृणा ने उन्हें अपनी फ़ौजों और लड़ाकू जहाज़ों की संख्या बढ़ाने के लिए मजबूर किया। विनाश के इन साधनो के लिए बड़ी सरगरमी से होड शुरू हुई। दूसरे मुल्कों से लड़ने के लिए, विभिन्न देशों में एक दूसरे से मित्रताए गठने लगी, और अन्त में योरप में दो तरह के विरोधी गठ-बन्धन बन गये—एक का मुखिया था फ़ांस, जिसमें इंग्लैण्ड भी गुप्त रूप से शामिल था, और दूसरे का मुखिया बना जर्मनी। योरप एक फौजी छावनी बन गया था। उद्योग-धन्धों, व्यापार और शस्त्रास्त्रो में दिन-पर-दिन भयंकर प्रतिद्वन्द्विता बढती जा रही थी। हरेक पश्चिमी देश में धीरे-धीरे सकुचित राष्ट्रवादिता की भावना जगाई जा रही थी, ताकि जनता को गुमराह करके उसमें पड़ौसी देशवासियो के विरुद्ध घृणा पैदा की जासके और इस तरह उसे युद्ध के लिए तैयार रक्खा जा सके।

इस तरह अन्धी राष्ट्रीयता योरप के सिर पर हावी होने लगी। यह अजीब बात थी, क्योंकि यातायात के साधनो की बढ़ती हुई गति विभिन्न देशो को एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक ले आई थी तथा लोग भी बहुत अधिक संख्या मे जाने-आने लगे थे। खयाल तो यह था कि जैसे-जैसे लोग अपने पडोसियो को अधिकाधिक पहचानते जायंगे, उनकी विरोधी भावनाए कम होती जायँगी और संकुचित विचारों की जगह उनका दृष्टि-कोण व्यापक होता जायगा। कुछ हद तक ऐसा हुआ अवश्य, लेकिन इस नये औद्योगिक पूँजीवाद में समाज का समूचा ढाचा ही ऐसा था कि उसने राष्ट्र-राष्ट्र, वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति में आपसी द्वेष पैदा कर दिया।

पूर्व में भी राष्ट्रवादिता बढी। यहाँ इसका स्वरूप हुआ उन विदेशियो का प्रतिरोध करना, जो देश पर अधिकार जमाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे। प्रारम्भ मे पूर्वी देशो के सामन्ती अवशेषो ने विदेशी सत्ता का मुकाबला किया, क्योकि उन्हे अपने अधिकार छिन जाने का अन्देशा था। वे असफल रहे जैसा कि होना अनिवार्य था। अब एक तरह के धार्मिक दृष्टिकोण से रगी हुई राष्ट्रवादिता का उदय हुआ। धीरे-धीरे धर्म का यह रंग गायब हो गया और पश्चिमी ढंग की राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। जापान विदेशी हुकूमत से तो बच गया, लेकिन वहाँ एक प्रचण्ड अर्द्ध-सामन्ती राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन दिया गया।

एशिया ने तो शुरू से ही योरपीय हमलो का प्रतिरोध शुरू कर दिया था। लेकिन जब उसे योरपीय फ़ौजो के नये हथियारो की ताक़त और उपयोगिता का पता चला, तो यह प्रतिरोध ठडा पड गया। विज्ञान के विकास और यांत्रिक उन्नति ने इन योरपीय फ़ौजो को पूर्व के उस समय के किसी भी साधन से बहुत अधिक बलशाली बना दिया था। इसलिए पूर्वी देश उनके सामने अपने को बिलकुल अशक्त महसूस करने लगे और उन्होने निराश होकर योरप के सामने सिर झुका दिया। कुछ लोगो का कहना है कि पूर्व अध्यात्मवादी है और पश्चिम भौतिकतावादी। इस प्रकार का कथन बहुत भ्रम मे डालनेवाला है। अठारहवी और उन्नीसवी सदी में, जिस समय योरप आक्रमणकारी के रूप मे आया, उस समय पूर्व और पश्चिम का वास्तविक अन्तर था पूर्व की मध्यकालीन स्थिति और पश्चिम की औद्योगिक और यान्त्रिक प्रगति। भारत और दूसरे पूर्वी देश शुरू-शुरू में न केवल योरप की सैनिक कुशलता से ही, बल्कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से भी चौंधिया गये थे। इस सबके परिणाम-स्वरूप वे अपने आपको फौजी और औद्योगिक मामलो में गिरा हुआ महसूस करने लगे। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी राष्ट्रीयता की वृद्धि हुई और साथ ही विदेशी आक्रमण का विरोध करने और विदेशियो को निकाल बाहर करने की इच्छा भी बलवती हुई। बीसवी सदी के प्रारम्भ में ही एक घटना ऐसी घटी जिसका एशिया के दिमाग़ पर ज़बरदस्त असर पड़ा। यह थी ज़ार-शाही रूस का जापान द्वारा हराया जाना। छोटे से जापान ने योरप की एक सबसे बड़ी और सबसे ज़बर्दस्त शक्ति को हरा दिया, इस बात ने बहुत लोगो को अचम्भे में डाल दिया; और पूर्व के लिए तो यह अचम्भा बहुत ही आनन्ददायक था। जापान को अब विदेशी आक्रमण के विरुद्ध लडने वाले एशिया के प्रतिनिधि के रूप मे देखा जाने लगा, और उस समय तो वह सारे एशिया में बहुत लोकप्रिय हो गया। पर वास्तव में जापान एशिया का ऐसा कुछ प्रतिनिधि नही था, वह तो योरप की किसी भी शक्ति की तरह सिर्फ़ अपने ही स्वार्थ के लिए लड़ा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब जापान की जीतों की खबरें आती थी, तो मुझमे कितना जोश भर जाता था। उस समय मैं लगभग तुम्हारी ही उम्र का था।

इस तरह, जैसे-जैसे योरप का साम्राज्यवाद अधिकाधिक आक्रमणकारी होता गया, वैसे-ही-वैसे

पूर्व में उसका प्रतिकार और विरोध करने के लिए राष्ट्रीयता बढ़ती गई। पश्चिम में अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में मंगोलियन राष्ट्रों तक, तमाम एशिया में राष्ट्रीय आन्दोलनों ने जन्म लिया। इन्होंने शुरू में फूक-फूक कर और मद्धिम चाल से क़दम बढ़ाये और फिर वे अपनी मांगो में दिन-पर-दिन गरम होते गये। भारत में ये राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के जन्म और बालपन के दिन थे। एशिया का विद्रोह शुरू हो चुका था।

उन्नीसवीं सदी का हमारा सिंहावलोकन अभी पूरा होने को बहुत बाक़ी है। लेकिन यह पत्र काफी लम्बा होगया है और समाप्त होना चाहिए।

: १०८ :

उन्नीसवीं सदी की कुछ और बातें

२४ नवम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवी सदी के विशेषता देने वाले कुछ लक्षणों का और बड़ी-बड़ी मशीनो का आविष्कार होने के बाद पश्चिमी योरप के सिर पर सवार औद्योगिक पूंजीवाद से पैदा हुई बहुत-सी बातो का हाल बताया था। इन सब में पश्चिमी योरप आगे क्यों बढ गया, इसका एक कारण था उसके पास कोयले और कच्चे लोहे की खानो का होना। बड़ी-बड़ी मशीनो के बनाने और चलाने के लिए कोयला और लोहा बहुत जरूरी था।

जैसा कि हम देख चुके है, इस पूंजीवाद ने साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता को जन्म दिया। वैसे तो राष्ट्रीयता कोई नई चीज नही थी, यह पहले भी मौजूद थी लेकिन अब ज्यादा तीव्र और सकुचित होती गई। इसने एक ही साथ लोगो को एक सूत्र में बाँधा भी और जुदा-जुदा भी किया; एक ही राष्ट्रीय इकाई में रहने-वाले आपस में एक-दूसरे के अधिकाधिक नजदीक आगये, लेकिन साथ ही उन लोगों से और भी ज्यादा दूर और अलग होते गये, जो दूसरी राष्ट्रीय इकाई में रहते थे। एक तरफ हरएक मुल्क में देशभक्त की वृद्धि हुई, तो दूसरी तरफ उसके साथ ही विदेशियो के प्रति दुर्भाव और अविश्वास भी फैला। योरप के उद्योग-धन्धो मे आगे बढे हुए देश एक दूसरे को शिकारी जानवरो की तरह घूर रहे थे। इंग्लैण्ड को लूट का माल सबसे ज्यादा मिल गया था, इसलिए वह स्वभावत. ही उससे चिपका रहना चाहता था। लेकिन दूसरे देशों के, खासकर जर्मनी के, विचार से इंग्लैण्ड को हर जगह जरूरत से ज्यादा मिला हुआ था। इसलिए संघर्ष बढ़ते-बढ़ते अन्त में खुले युद्ध की नौबत आ गई। औद्योगिक पूंजीवाद का सारा ढाचा और उससे उत्पन्न साम्राज्य-वाद का परिणाम यही सघर्ष और लडाई-झगडा होता है। उनमें ऐसी परस्पर-विरोधी बातें निहित होती हैं, जिनका आपस में कभी मेल ही नही हो सकता क्योकि उनका आधार होता है लडाई-झगड़ा, होड़ और शोषण। इस तरह पूर्व में साम्राज्यवाद ने जिस राष्ट्रीयता को जन्म दिया वही उसकी कट्टर शत्रु बन गई।

लेकिन इन विरोधी बातो के बावजूद भी पूजीवादी सभ्यता ने बहुत-से लाभदायक पाठ सिखाए। इसने सगठन का पाठ पढ़ाया, क्योकि बड़ी-बड़ी मशीनें और बड़े पैमाने के उद्योग तभी चल सकते हैं जब पहले उनका खूब अच्छी तरह सगठन कर लिया जाय। इसने बड़े-बड़े कारबारों में सहयोग करना सिखाया। इसने कार्य-कुशलता और समय की पाबन्दी सिखाई।

इन गुणो के बिना बड़े कारखाने अथवा रेलें चलाना सम्भव नही है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि ये गुण खास पश्चिमी ढग के हैं और पूर्व में इनका अभाव है। लेकिन बहुत-सी दूसरी बातों की तरह इस में भी पूर्व और पश्चिम का कोई सवाल नही है। इन गुणों का विकास उद्योगवाद की वजह से हुआ है, और क्योंकि पश्चिम का औद्योगीकरण हो गया है, इसलिए उसे ये गुण प्राप्त हैं; उधर पूर्व अभीतक ज्यादातर कृषि-प्रधान है, उद्योग-प्रधान नहीं, इसलिए उसमें इनका अभाव है।

औद्योगिक पूंजीवाद ने एक और महान सेवा की। इसने यह सिखाया कि यान्त्रिक उत्पादन से यानी बड़ी-बड़ी मशीनों और कोयले और भाप की सहायता से धन किस तरह पैदा किया जा सकता है। इससे

उस पुरानी आशंका की भी जड़ कट गई कि दुनिया में सब लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के साधन काफ़ी नहीं हैं और इस कारण ग़रीबों की बहुत बड़ी संख्या हरदम बनी रहेगी। विज्ञान और मशीनों की सहायता से दुनिया की आबादी के लिए काफ़ी खाना और कपड़ा और ज़रूरत की हरेक चीज़ तैयार की जा सकती है। इस तरह उत्पादन की समस्या कम-से-कम काल्पनिक रूप में तो, हल हो गई लेकिन वह बस यहीं ठहर गई। धन का उपार्जन तो निस्सन्देह बहुतायत से होने लगा, लेकिन फिर भी ग़रीब ग़रीब ही बने रहे, बल्कि और भी ज्यादा ग़रीब हो गये। योरपीय सत्ता के आधीन पूर्वी और अफ़रीकी देशों में तो एकदम नगा और निर्लज्ज आर्थिक शोषण हो रहा था। वहाँ के अभागे निवासियों की परवाह करनेवाला कोई न था। लेकिन पश्चिमी योरप में भी ग़रीबी बनी ही रही तथा दिन पर दिन अधिक प्रत्यक्ष होती गई। कुछ समय के लिए तो बाकी दुनिया के शोषण से पश्चिमी योरप में खूब दौलत आई। इस धन का अधिकाश उच्चवर्ग के कुछेक धनिक लोगों के पास रहा; हां, उसका थोड़ा-सा हिस्सा निचुड़कर ग़रीब वर्गों के पास भी पहुँच गया, और उनके रहन-सहन का स्तर कुछ ऊंचा हो गया। आबादी भी बहुत ज्यादा बढ़ी।

लेकिन धन की यह वृद्धि और रहन-सहन के स्तर की यह उन्नति हुई एशिया, अफरीका और बिना उद्योग-धन्धोंवाले देशों के रहनेवाले शोषित लोगो के खून से ही। इस शोषण और दौलत की नदी ने कुछ अर्से के लिए पूंजीवादी की प्रणाली की परस्पर-विरोधी बातों को ढक दिया। फिर भी धनवानों और गरीबो के बीच का अन्तर बढ़ता ही गया; वे और भी दूर हो गये। ये दोनो दो भिन्न जातियाँ, दो भिन्न राष्ट्र बन गये। उन्नीसवी सदी के एक महान अंग्रेज राजनीतिज्ञ बेन्जामिन डिसरैली ने इनका वर्णन इस तरह किया है·

> ये दो जातियाँ; जिनमें कोई पारस्परिक सम्पर्क नही है, कोई सहानुभूति नही है; जो एक दूसरे की आदतों, विचारो और भावनाओं से ऐसी अपरिचित है, मानों वे अलग-अलग भू-खण्डों में रहती हो या अलग-अलग ग्रहो की निवासी हो, जो अलग-अलग तरह के जन्म और पालन से बनी हैं जिनका पोषण अलग-अलग तरह के भोजन से हुआ है, जिनके आचार-व्यवहार के ढग अलग-अलग है, और जिनका शासन भी एक समान क़ानूनों से नही होता.....ऐसी ये दो जातियाँ—धनिक और ग़रीब !"

उद्योग-धन्धों की नई परिस्थितियाँ मजदूरो की एक बड़ी संख्या को बड़े कारखानो में लाईं, और इस तरह कारखाने के मजदूरो के एक नये वर्ग का जन्म हुआ। ये लोग किसानों और खेत पर काम करने-वाले मजदूरो से बहुत सी बातो में भिन्न थे। किसान को बहुत कुछ मौसमों और वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। ये बातें उसके वश में नही हैं, और इसलिए वह सोचने लगता है कि उसकी मुसीबत और गरीबी दैवी कारणों से है। वह अन्धविश्वासी हो जाता है, आर्थिक कारणों का विचार नही करता, एक नीरस और निराश जीवन बिताने लगता है, और अपने आपको एक ऐसे निर्दय भाग्य के भरोसे छोड़ देता है, जिसे वह बदल नहीं सकता। लेकिन कारखाने का मजदूर मशीनो पर, इन्सान की बनाई हुई चीज़ पर, काम करता है, मौसमो की और वर्षा की परवाह किये बिना वह माल तैयार करता रहता है, वह धन का उत्पादन करता है, लेकिन वह देखता है कि उसका अधिकांश दूसरो के पास चला जाता है और वह ग़रीब-का-ग़रीब ही बना रहता है। कुछ हद तक वह आर्थिक नियमो को भी काम करते हुए देखता है। इसलिए वह दैवी कारणो का विचार नही करता और किसान की तरह अन्ध-विश्वासी नही होता। अपनी गरीबी के लिए वह देवी-देवताओ को दोष नही देता, वह दोषी ठहराता है समाज को या सामाजिक व्यवस्था को, और खासकर कारखाने के पूजीपति मालिक को, जो उसकी मजदूरी के मुनाफ़े का इतना बड़ा भाग हज़म कर जाता है। वह वर्ग-चेतन बन जाता है; उसे कई तरह के वर्ग दिखाई देने लगते है, और वह देखता है कि उच्च वर्ग उसके वर्ग को नोच-नोच कर खा रहे हैं। इसका परिणाम होता है असन्तोष और विद्रोह। असन्तोष की प्रारम्भिक शिकायतें अस्पष्ट और धीमी होती है; प्रारम्भिक उपद्रव अन्धे, विचार-हीन और कमजोर होते हैं और सरकार उन्हें आसानी से कुचल देती है, क्योंकि वह भी तो अब सर्वथा बड़े कारखानों और उनकी शाखा-प्रशाखाओं को चलाने वाले मध्यमवर्ग के हितों की ही प्रतिनिधि है। लेकिन पेट की आग को ज्यादा दिनों तक दबा कर रक्खा नहीं जा सकता, और जल्द ही ग़रीब मजदूर को अपने साथियों की एकता में बल का एक नया स्रोत मिल जाता है। इसलिए मजदूरो की रक्षा और उनके अधिकारों की लड़ाई के लिए ट्रेड यूनियनें (मजदूर संघ) जन्म लेती हैं। शुरू में ये संस्थाएं गुप्त रूप से काम करती हैं, क्योंकि सरकार मजदूरों

को आपस में संगठित भी नहीं होने देना चाहती। यह दिन पर दिन स्पष्ट होता जाता है कि सरकार निश्चित रूप से वर्ग विशेष की सरकार है, और हर तरह से उसी वर्ग की रक्षा करने पर तुली होती है जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है। वर्ग-विशेष के क़ानून होते हैं। धीरे-धीरे मजदूर बल प्राप्त करते जाते हैं और उनकी ट्रेड-यूनियनें ताक़तवर संस्थाएं बनती जाती हैं। अलग-अलग तरह के मजदूर देखते हैं कि सत्ताधारी शोषक वर्ग के विरुद्ध उनके हित असल में समान ही हैं। इस लिए अलग-अलग ट्रेड-यूनियनें आपस में सहयोग कर लेती हैं और एक देश के मिल-मजदूरों का एक संगठित समुदाय बन जाता है। इससे अगला कदम है अलग-अलग देशों के मजदूरों का आपस में मिल जाना, क्योंकि वे भी यह महसूस करते हैं कि उनके भी हित समान ही हैं और सबका एक ही शत्रु है। इस तरह 'दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ' का नारा उठता है, और मजदूरो के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन क़ायम होते हैं। इस बीच पूंजीवादी उद्योग भी आगे बढ़ता है और अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करता है। इस तरह जहां कहीं भी औद्योगिक पूजीवाद फूलता-फलता है, वही मजदूर वर्ग पूंजीवाद के विरोध में खड़ा हो जाता है।

मै बड़ी तेजी से आगे बढ़ गया हूँ और अब मुझे पीछे लौटना चाहिए। लेकिन उन्नीसवीं सदी की यह दुनिया, बहुत-सी परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो का जंजाल है जिन सबको नज़र में रखना मुश्किल है। मै सोचता हूँ कि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता और दौलत और गरीबी के इस अजीब मिश्रण से तुम क्या समझोगी? लेकिन जीवन खुद ही एक अजीब मिश्रण है। यह जिस रूप में है, उसी में हमें इसे मानना होता है और समझना होता है, और तब सुधारना होता है।

बेमेल बातो के इस जजाल ने योरप और अमरीका के बहुत से लोगों को सोच में डाल दिया। सदी की शुरूआत में नैपोलियन के पतन के बाद किसी योरोपीय देश में स्वतन्त्रता का नाम भी नही था। कुछ देशो में तो बादशाहो का निरकुश शासन था, और इग्लैण्ड जैसे कुछ देशों में छोटे-से अमीर वर्ग और धनिक वर्ग के हाथो में हुकूमत थी। जैसा कि मै तुम्हे बता चुका हूँ, उदार तत्वों का हर जगह दमन किया जा रहा था। लेकिन इस पर भी अमरीका और फ्रास की राज्यक्रान्तियों ने उदार-विचारकों को लोकसत्ता और राजनैतिक स्वतन्त्रता की भावनाओ का बोध करा दिया था, और वे उनके मूल्य को समझने लगे थे। वास्तव मे लोकसत्ता ही राज्य की और जनता की सब बुराइयों और तकलीफो का एकमात्र इलाज समझी जाने लगी। लोकसत्ता का आदर्श यह था कि कोई विशेषाधिकार न हों; राज्य हरेक व्यक्ति को राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिसे समान हैसियत का समझ कर बर्ताव करे। यह ठीक है कि लोग कई बातो मे एक-दूसरे से बहुत भिन्नता रखते हैं; कुछ लोग दूसरो की बनिस्बत ज्यादा मजबूत होते है, कुछ ज्यादा बुद्धिमान और कुछ ज्यादा निःस्वार्थ होते हैं। लेकिन लोकसत्ता में विश्वास रखने वालों का कहना था कि मनुष्यों में चाहे जो विभिन्नताएं हों, उनका राजनैतिक दर्जा एक ही रहना चाहिए और इसे वह प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार देकर कायम करना चाहते थे। प्रगतिशील विचारक और उदार मतवादी लोग लोकसत्ता की खूबियो में सरगर्म विश्वास रखते थे, और उसे स्थापित करने के लिए सिर तोड़ कोशिशें करते थे। अनुदार और प्रतिगामी लोगों ने उनका विरोध किया, जिससे हर जगह जबर्दस्त खीच-तान शुरू हो गई। कुछ देशो मे क्रान्तियाँ भी हो गईं। मताधिकार बढाने, अर्थात् पार्लमेण्ट के सदस्यो को चुनने का अधिकार कुछ अधिक लोगो को दिये जाने से पहले इग्लैण्ड भी गृहयुद्ध के किनारे ही खड़ा था। लेकिन धीरे-धीरे ज्यादातर जगहों में लोकसत्ता की विजय हुई, और इस सदी के अन्त तक पश्चिमी योरप और अमेरिका में अधिकांश लोगो को कम-से-कम मताधिकार तो मिल ही गया। लोकसत्ता उन्नीसवी सदी का एक महान आदर्श रही है, यहाँ तक कि इस सदी को लोकसत्ता की सदी भी कहा जा सकता है। अन्त में लोकसत्ता की विजय हुई, लेकिन जब यह उद्देश्य सिद्ध हुआ तो लोगो का इसपर से विश्वास ही उठने लगा। उन्होने देखा कि यह ग़रीबी और मुसीबतों और पूंजीवादी प्रणाली की अनेक परस्पर-विरोधी बातों का अन्त करने में असफल रही। भूख से पीड़ित मनुष्य को मताधिकार मिलने से क्या फायदा हुआ? और, अगर उसका मत या उसकी सेवाएं एक समय के भोजन की कीमत में रख दी जा सकती थीं तो उसे मिली हुई स्वतन्त्रता का क्या मूल्य था? इसलिए लोकसत्ता बदनाम हो गई, या यो कहना ठीक होगा कि राजनैतिक लोकसत्ता लोगों की निगाह में गिर गई। लेकिन यह बात उन्नीसवीं सदी के दायरे से बाहर की है।

लोकसत्ता का सम्बन्ध स्वतन्त्रता के राजनैतिक पहलू के साथ था। एकतन्त्री तथा अन्य स्वेच्छाचारी हुकूमतों के विरुद्ध यह एक प्रतिक्रिया थी। उस समय उत्पन्न होनेवाली औद्योगिक समस्याओं का अथवा ग़रीबी या वर्ग-संघर्ष का इसके पास कोई हल नहीं था। इस आशा से कि व्यक्ति निजी हित की दृष्टि से अपने को हर तरह से सुधारने की कोशिश करेगा और इस तरह समाज उन्नत हो जायगा, इसने हरेक व्यक्ति को अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने की काल्पनिक स्वाधीनता पर ज़ोर दिया। यह दख़ल न देने की नीति थी जिसके बारे में, मैं शायद अपने किसी पहले पत्र में तुम्हे लिख चुका हूँ। लेकिन व्यक्तिगत स्वाधीनता का मत असफल रहा, क्योंकि जिस आदमी को मज़दूरी पर काम करने के लिए विवश होना पड़ता हो, उसका स्वाधीन रहना बहुत दूर की बात है।

औद्योगिक पूंजीवाद की प्रणाली में बड़ी भारी दिक़्क़त यह पैदा हुई कि जो लोग काम करते और इस तरह समाज की सेवा करते थे, उन्हें बहुत कम मज़दूरी मिलती थी; सारा मुनाफ़ा मिलता था उन दूसरे लोगों को जो बिलकुल काम नही करते थे। इस तरह मुनाफ़ो का परिश्रम से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया गया था। इसका नतीजा एक तरफ़ तो हुआ परिश्रम करनेवालो का पतन और निर्धनीकरण तथा दूसरी तरफ ऐसे वर्ग का जन्म, जो उद्योग में किसी तरह का काम किये बिना या उसकी सम्पत्ति में किसी तरह की वृद्धि किये बिना ही, उसपर निर्भर करता था या यों कहो कि उसका ख़ून चूसकर पनपता था। ऐसा समझो कि एक तो किसान-वर्ग जो खेत पर काम करता है, और दूसरा ज़मीदार, जो ख़ुद खेत पर काम किये बिना ही किसानों की मेहनत का फ़ायदा उठाता है। परिश्रम के फल का यह बटवारा बिलकुल अन्यायपूर्ण था, इसपर मज़दूरों ने, सदियों से पीड़ित किसानो के स्वभाव के विरुद्ध, महसूस किया कि यह अन्यायपूर्ण है, और उसका विरोध किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, उनका यह विरोध बढता चला गया। पश्चिम के सभी उद्योग-प्रधान देशों में ये फ़र्क़ साफ़ नज़र आने लगे और विचारशील तथा लगनवाले लोग इस उलझन को सुलझाने की कोशिश करने लगे। इस तरह वह विचार-धारा पैदा हुई, जिसे समाजवाद कहा जाता है, जो पूंजीवाद की उपज है और उसकी शत्रु भी है, और जो शायद किसी दिन उसको उखाड कर उसकी जगह ले लेगा। इंग्लैण्ड में तो इसने मद्धिम रूप ले लिया, लेकिन फ़्रांस और जर्मनी में यह ज़्यादा क्रान्तिकारी था। सयुक्त राष्ट्र अमरीका में उसके विस्तार के मुक़ाबले मे आबादी कम होने की वजह से बढ़ोतरी की काफ़ी गुंजाइश थी, इसलिए पूंजीवाद के फल-स्वरूप पश्चिमी योरप में जो अन्याय हुए और जो मुसीबते फैली उनका कोप उस हद तक अमेरिका में बहुत दिनों तक नहीं प्रगट हुआ।

उन्नीसवी सदी के बीच में जर्मनी में एक व्यक्ति पैदा हुआ जो आगे चलकर समाजवाद का पैग़म्बर और समाजवाद के उस रूप का जनक माना जानेवाला था जो साम्यवाद कहलाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह केवल अस्पष्ट विचारो वाला दार्शनिक अथवा तात्विक सिद्धान्तो की चर्चा करनेवाला प्रोफेसर नही था। वह एक व्यावहारिक दार्शनिक था और उसकी योजना थी विज्ञान की पद्धति को राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में कार्यान्वित करके दुनिया की व्याधियो का इलाज खोज निकालना। उसका कहना था—"अब तक दर्शनशास्त्र का काम केवल संसार के कारणों की व्याख्या करना रहा है; साम्यवादी दर्शन का लक्ष्य होना चाहिए दुनिया को बदल देना।" ऐंजेल्स नाम के एक दूसरे व्यक्ति के सहयोग से उसने 'साम्यवादी घोषणापत्र'[1] प्रकाशित किया, जिसमें उसके सिद्धान्तो की रूप-रेखा दी गई थी। बाद में उसने जर्मन भाषा में 'पूंजी'[2] नाम का एक ज़बरदस्त ग्रंथ लिखा, जिसमें उसने वैज्ञानिक ढंग से विश्व-इतिहास की आलोचना की और यह बताया कि समाज का विकास किस दशा में हो रहा है और इस प्रक्रिया की गति किस तरह बढ़ाई जा सकती है। यहाँ मैं मार्क्स के दार्शनिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश नही करूँगा। लेकिन तुम्हें यह ज़रूर याद रखना चाहिए कि मार्क्स के इस महा-ग्रंथ का साम्यवाद के विकास पर बड़ा ज़बरदस्त असर पड़ा और आज यह साम्यवादी रूस के लिए वेद-वाक्य बन गया है।

दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक जो इस सदी के बीच के लगभग इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुई, डार्विन की 'ओरिजिन आफ स्पीशीज़'[3] थी। डार्विन प्रकृतिशास्त्री था, यानी वह प्रकृति के और विशेषतया वनस्पतियो और जीव

---

[1] Communist Manifesto by Marx and Engels.

[2] Das Capital.

[3] Origin of Species—"प्राणिवर्ग की उत्पत्ति"

जन्तुओं के निरीक्षण और अध्ययन में लगा रहता था। बहुत-से उदाहरणों की मदद से उसने यह बतलाया कि किस तरह वनस्पति और जीव-जन्तु प्रकृति में विकसित हुए, प्राकृतिक चुनाव की पद्धति से किस तरह एक वर्ग दूसरे में परिणत होगया और किस तरह जीवों के सरल रूप धीरे-धीरे अधिक जटिल बन गये। इस तरह का वैज्ञानिक तर्क संसार की तथा जीव-जन्तुओं और मनुष्य की सृष्टि के बारे में प्रचलित कुछ धार्मिक सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत था। इसलिए उस समय वैज्ञानिकों और इन धार्मिक सिद्धान्तों में विश्वास रखनेवालों के बीच एक बड़ा वाद-विवाद पैदा हो गया। तथ्यों के सम्बन्धमें असली झगड़ा इतना नहीं था, जितना व्यापक रूप से जीवन के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में। सकुचित धार्मिक दृष्टिकोण में भय, जादू-टोना और मिथ्या विश्वास की प्रधानता थी। तर्क को प्रोत्साहन नही दिया जाता था और लोगो से कहा जाता था कि जो कुछ उन्हें बतलाया जाय उसी में विश्वास करें, यह शंका न करें कि ऐसा क्यों होता है। अनेक विषय पवित्रता और धार्मिकता के रहस्यमय आवरण में लपेट दिये गये थे और उन्हें खोलने या छूने की मनाही थी। विज्ञान की पद्धतिया और भावना इससे बिलकुल भिन्न थी। विज्ञान को तो हरेक वस्तु की खोज की जिज्ञासा रहती थी, वह किसी कथन को प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं था, न किसी विषय की कथित पवित्रता से डर कर भागनेवाला था। वह हरेक वस्तु की गहराई में जाता था, मिथ्या विश्वासों को दूर भगाता था और केवल उन्हीं बातों में विश्वास करता था जो प्रयोग अथवा तर्क से सिद्ध की जा सकती हों।

इस पथराये हुए धार्मिक दृष्टिकोण के साथ सघर्ष में विज्ञान की भावना की विजय हुई। इन विषयों पर विचार करनेवाले अधिकतर लोग पहले ही शायद अठारहवी सदी से ही, बुद्धिवादी हो गये थे। तुम्हें याद होगा कि क्राति से पहले फ़्रास में दार्शनिक विचारो की लहर का मैंने तुमसे ज़िक्र किया था। लेकिन अब यह परिवर्त्तन समाज के अन्दर और भी गहरा पहुँच गया। औसत दर्जे का शिक्षित मनुष्य भी अब विज्ञान की प्रगति से प्रभावित होने लगा। वह शायद इस विषय पर बहुत गहराई से विचार नहीं करता था और न विज्ञान के सम्बन्ध में उसकी अधिक जानकारी ही थी। लेकिन फिर भी वह अपने सामने प्रगट होनेवाले आविष्कारो और खोजो की लीलाओ से स्तम्भित हुए बिना न रह सका। रेल, बिजली, तार, टेलीफ़ोन, ग्रामोफोन और ऐसी ही अनेको अन्य वस्तुए एक के बाद दूसरी निकलती रही और ये सब वैज्ञानिक पद्धति की ही सन्ताने थी। विज्ञान की विजय के रूप में उनका उत्साह से स्वागत हुआ। लोगो ने देखा कि विज्ञान ने केवल मनुष्य की ज्ञानवृद्धि ही नही की बल्कि प्रकृति पर भी मनुष्य का अधिकार अधिक कर दिया। इसमें ताज्जुब की कोई बात नही कि अन्त में विज्ञान की विजय हुई और मनुष्य जाति ने इस सर्व-शक्तिमान नये देवता के सामने भक्तिपूर्वक सिर झुका दिया। उन्नीसवी सदी के वैज्ञानिक आत्म-सन्तुष्ट तथा अहकारी हो गये और उन्होने अपनी निश्चित धारणाए बना ली। पचास वर्ष पहले के उन दिनो से अब तक विज्ञान ने बड़ी जबर्दस्त उन्नति करली है, लेकिन आज का दृष्टिकोण, उन्नीसवी सदी के उस आत्म-सतुष्ट तथा अहकार के दृष्टिकोण से बहुत भिन्न है। आज का सच्चा वैज्ञानिक महसूस करता है कि ज्ञान का महासागर विशाल तथा असीम है और हालाँकि वह इसे पार करने की कोशिश में है, फिर भी वह अपने पूर्वगामियो की अपेक्षा ज्यादा नम्र और संकोचशील है।

उन्नीसवी सदी की दूसरी विशेषता थी पश्चिम में सार्वजनिक शिक्षा की महान प्रगति। शासक वर्ग के बहुत-से लोगो ने इसका बड़े ज़ोरो से विरोध किया। उनका कहना था कि इससे जन-साधारण असन्तुष्ट, अराजक, अशिष्ट और अ-ईसाई हो जायँगे! इस तर्क के अनुसार ईसाइत का अर्थ है अज्ञान, तथा धनिको और सत्ताधारियो का स्वेच्छा-पूर्वक आज्ञा-पालन। लेकिन इस विरोध के करते हुए भी प्राइमरी स्कूल जारी हुए और सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हुआ। उन्नीसवी सदी की अन्य बहुत-सी विशेषताओ की तरह यह भी नये उद्योगवाद का ही एक परिणाम था। क्योंकि बड़े-बड़े कारखानो और बड़ी मशीनों के लिए औद्योगिक कुशलता की जरूरत थी और यह केवल शिक्षा से ही पैदा की जा सकती थी। उस समय के समाज को सब तरह के कारीगर मजदूरो की सख्त जरूरत थी; उसकी यह जरूरत सार्वजनिक शिक्षा से पूरी हुई।

प्रारम्भिक शिक्षा के इस विस्तृत प्रसार ने पढ़े-लिखे लोगों का एक बहुत बड़ा वर्ग पैदा कर दिया। ये शिक्षित तो नही कहे जा सकते थे, लेकिन पढ-लिख सकते थे, और इस तरह अखबार पढ़ने की आदत चल पड़ी। सस्ते अखबार निकले और उनका बड़ा भारी प्रचार हुआ। लोगों के दिमाग़ों पर ये जबर्दस्त असर डालने लगे। यह असर ऐसा हुआ कि ये अक्सर लोगो में ग़लतफ़हमियाँ फैला देते थे और उनकी भाव-

नाओं को पड़ोसी मुल्क के विरुद्ध उभाड़ कर युद्ध छिड़वा देते थे। लेकिन कुछ भी हो, 'प्रेस' यानी 'अखबार' एक प्रभावशाली शक्ति हो गया।

जो कुछ मैंने इस पत्र में लिखा है, वह ज्यादातर योरप पर और खासकर पश्चिमी योरप पर लागू होता है। कुछ हद तक उत्तरी अमरीका पर भी वह घटित होता है। दुनिया के बाक़ी हिस्से, जापान को छोड़कर, तमाम एशिया और अफ़रीका योरपीय नीति के मूक और पीड़ित एजेण्ट मात्र थे। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उन्नीसवी सदी योरप की सदी थी। सारा दृश्य योरपमय दिखाई देता था; योरप दुनिया के रंगमञ्च का केन्द्र बना हुआ था। पुराने जमाने में ऐसे भी लम्बे-लम्बे समय हो चुके हैं, जब कि योरप पर एशिया का प्रभुत्व था। ऐसे भी युगांश थे जब मिस्र, इराक़, भारत, चीन, यूनान, रोम अथवा अरब देश सभ्यता और उन्नति के केन्द्र थे। किन्तु पुरानी सभ्यताओं ने अपनी शक्ति खो दी और वे पथरा गईं। परिवर्तन और उन्नति के जीवनदायक तत्व उनमें से निकल गये और जीवन-शक्ति वहाँ से दूसरे मुल्कों में चली गई। अब योरप की बारी थी; और योरप इसलिए और भी ज्यादा हावी हो गया, क्योंकि यातायात के साधनों की उन्नति ने दुनिया के सब हिस्सों में सहूलियत और तेजी से पहुँचना सम्भव कर दिया था।

उन्नीसवीं सदी ने योरोपीय सभ्यता को विकसित होते हुए देखा। इसे मध्यमवर्गीय सभ्यता कहा जाता है, क्योंकि औद्योगिक पूंजीवाद से पैदा हुई मध्यमश्रेणी का ही इस पर प्रभुत्व था। मै तुम्हें इस सभ्यता की बहुत-सी परस्पर विरोधी और हानिकर बाते बतला चुका हूँ। हम भारत और एशिया के निवासियों ने खास तौर पर इन बुराइयों को देखा और उनसे नुक़सान उठाया। लेकिन कोई भी देश या जाति महानता को प्राप्त नहीं हो सकती, जबतक कि उसमे महानता का थोडा-बहुत माद्दा न हो। पश्चिमी योरप मे वह माद्दा था। योरप की प्रतिष्ठा आखिर उसकी सैनिक शक्ति पर इतनी निर्भर नही थी, जितनी उन गुणों पर, जिन्होने कि उसे महान बनाया। यहाँ सब जगह चेतना और जीवनशक्ति तथा सृजन शक्ति की प्रचुरता थी। महान कवि और लेखक, दार्शनिक और विज्ञान-वेत्ता, सगीतज्ञ और शिल्प-शास्त्री और कर्मवीर वहाँ पैदा हुए। और इसमें कोई शक नही कि इस समय पश्चिमी योरप में एक साधारण आदमी की अवस्था भी इतनी अच्छी थी जितनी पहले कभी नही रही। राजधानियो के खास शहर—लन्दन, पेरिस, बर्लिन, न्यूयार्क, दिन पर दिन बढ़ते गये; उनकी इमारतें दिन पर दिन आलीशान होती गईं, विलासिता बढती गई और विज्ञान ने मनुष्य की कड़ी मेहनत और मशक्कत को कम करनेवाले और जीवन के सुख और आनन्द में वृद्धि करने वाले हजारो उपाय ढूढ़ निकाले। समृद्ध लोगो के जीवन में मधुरता और शिष्टता आ गई और उनमें एक तरह का आत्म-संतुष्टि, आत्म-निर्भरता और नाजुक-मिजाजी पैदा हो गई। यह सभ्यता की एक सुखदायक तिपहरी या सध्या-सी प्रतीत होती है।

इस तरह उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में योरप ने सुखद तथा समृद्ध रूप धारण कर लिया था, और कम-से-कम ऊपर से ऐसा मालूम होता था कि यह मधुर संस्कृति और सभ्यता कायम रहेगी और सफलता पर सफलता प्राप्त करती जायगी। लेकिन अगर कोई इसकी सतह के नीचे झाककर देखता तो उसे एक अजीब हलचल और अनेक बुरे दृश्य दिखाई देते। क्योंकि, अधिकाश में यह समृद्ध संस्कृति योरप के केवल उच्च वर्गों के ही लिए थी और बहुत से देशो और अनेक जातियों के शोषण पर टिकी हुई थी। तुम्हे इसमें कुछ परस्पर विरोधी बातें, जिनका जिक्र मैंने किया था, और राष्ट्रीय द्वेषभाव तथा साम्राज्यवाद की भयानक और क्रूर शकल दिखाई देगी। तब तुम्हारा उन्नीसवी सदी की इस सभ्यता की स्थिरता में अथवा मनोहरता में इतना विश्वास न रहेगा। इसका ऊपरी शरीर तो काफ़ी सुन्दर था लेकिन इसके दिल में एक नासूर था; इसके स्वास्थ्य और इसकी प्रगति की तो बड़ी चर्चा थी, लेंकिन इस मध्यमवर्गीय सभ्यता के जीवन-तत्वों में पतन की दीमक लग गई थी।

सन् १९१४ ई० में एकदम घड़ा फूट गया। सवा चार वर्ष की लड़ाई के बाद योरप उसमें से बच जरूर निकला, लेंकिन ऐसे भयंकर घावों के साथ जो अभी तक भरे नही हैं। लेंकिन इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें फिर बताऊँगा।

: १०६ :

भारत में युद्ध और विद्रोह

२७ नवम्बर, १९३२

हमने उन्नीसवीं सदी का काफी लम्बा सिंहावलोकन किया है। आओ, अब हम दुनिया के कुछ हिस्सों का अधिक बारीकी से निरीक्षण करें। हम भारत से प्रारंभ करेंगे।

कुछ समय पहले मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेजों ने भारत में किस तरह अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय पाई। नैपोलियनी युद्धों के दिनों में फ्रांसीसी यहाँ से पूरी तरह उखाड़ फेंके गये थे। मराठों, मैसूर के टीपू सुल्तान और पंजाब के सिक्खों ने अंग्रेजों को कुछ समय तक तो रोके रक्खा, लेकिन वे ज्यादा दिनों तक उनका मुक़ाबला नहीं कर सके। यह स्पष्ट है कि अंग्रेज सब से ज्यादा बलशाली और साधन-सम्पन्न शक्ति थे। उनके हथियार बढ़िया थे, उनका संगठन बढ़िया था, और इन सबके ऊपर उनकी समुद्री शक्ति थी जिसका वे सहारा ले सकते थे। अगर वे हार भी जाते, जैसा कि अक्सर होता था, तो भी उन्हें उखाड़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि समुद्री रास्तों पर उनका अधिकार होने के कारण वे अन्य साधनों की मदद ले सकते थे। लेकिन देशी शक्तियों के लिए हार का बहुत बार मतलब था पूरी तबाही, जिसका कोई इलाज नहीं हो सकता था। अंग्रेज सिर्फ अधिक साधन-युक्त लड़ाके और अच्छी व्यवस्था शक्ति वाले ही न थे, बल्कि वे अपने स्थानीय प्रतिद्वन्द्वियों से कहीं ज्यादा चालाक भी थे, और उनके आपसी विरोधों से पूरा फायदा उठाते रहते थे। इसलिए ब्रिटिश शक्ति अटलता से बढ़ती गई और एक-एक करके सब प्रतिद्वन्द्वी पछाड़ डाले गए। एक को पछाड़ने में अक्सर दूसरों की भी मदद ली गई और फिर इनकी भी बारी आ गई। ताज्जुब की बात है कि भारत के ये सामन्ती सरदार उस समय कैसे अदूरदर्शी थे। बाहरी दुश्मन के खिलाफ आपस में मिलकर एक हो जाने का उन्होंने कभी खयाल तक नहीं किया। हरेक अकेले हाथों लड़ता था और हार जाता था, और यही उसका माजना था।

जैसे-जैसे अंग्रेजी सत्ता की ताकत बढ़ती गई, वह दिन पर दिन अधिक जगजू और खूंख्वार होती गई। वह बहाने से, या बिना किसी बहाने के ही, युद्ध छेड़ने लगी। ऐसे अनेक युद्ध हुए। उन सब के वर्णन देकर मैं तुम्हें उकताना नहीं चाहता। युद्ध कोई रुचिकर विषय नहीं है, और इन्हें इतिहास में जरूरत से बहुत ज्यादा महत्त्व दे दिया गया है। लेकिन अगर मैं उनके विषय में थोड़ा-बहुत भी न कहूँ तो मेरा चित्र अधूरा ही रह जायगा।

मैसूर के हैदरअली और अंग्रेजों के बीच हुए दो युद्धों का हाल मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ। इनमें हैदरअली बहुत हद तक सफल रहा। उसका पुत्र टीपू सुलतान अंग्रेजों का कट्टर दुश्मन था। उसका अन्त करने के लिए दो और युद्ध हुए, एक सन् १७९० से १७९२ ई० तक और दूसरा सन् १७९९ ई० में। टीपू लड़ता हुआ मारा गया। मैसूर शहर के पास अब भी तुम उसकी पुरानी राजधानी श्रीरंगपट्टम के खण्डहर देख सकती हो जहाँ वह दफनाया गया था।

अब अंग्रेजों की सत्ता को चुनौती देने वाले मराठे बाक़ी रह गये। पश्चिम में पेशवा था और ग्वालियर का सिन्धिया, इन्दौर का होल्कर तथा कुछ अन्य सरदार भी थे। लेकिन ग्वालियर का महादजी सिन्धिया, और पेशवा का मंत्री नाना फड़नवीस, इन दो महान राजनीतिज्ञों की मृत्यु के बाद, जो क्रमशः सन् १७९४ ई० और सन् १८०० ई० में हुई, मराठों की ताकत छिन्न-भिन्न हो गई। फिर भी मराठों ने बहुत-सी टक्करें लीं, और सन् १८१९ ई० में उनकी आखिरी पराजय के पहले, उन्होंने अंग्रेजों को कई बार हराया। मराठे सरदार एक-एक करके हराये गये; हरेक सरदार दूसरे को मदद न पहुँचाकर उसका पतन देखता रहा। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेजों की मातहती स्वीकार करके अधीन शासक बन गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने तो पहले ही विदेशी सत्ता के साथ समझौता कर लिया था।

मराठों का वर्णन समाप्त करने से पहले मैं एक नाम का और ज़िक्र कर देना चाहता हूँ, जो मध्य

भारत में काफ़ी प्रसिद्धि पा चुका है। यह नाम है अहल्याबाई का, जो सन् १७६५ से १७९५ ई० तक, यानी तीस वर्ष तक, इन्दौर की शासिका थी। जिस समय वह गद्दी पर बैठी, वह तीस वर्ष की नौजवान विधवा थी, और अपने राज्य के शासन में बड़ी खूबी से सफल रही। अलबत्ता उसने परदा कभी नहीं किया। मराठों ने कभी परदे को नहीं माना। वह खुद राज्य का कारोबार देखती थी, खुले दरबार में बैठती थी, और उसने इन्दौर को एक छोटे-से गाँव से बढ़ाकर समृद्ध शहर बना दिया। उसने युद्धों को टाला, शान्ति क़ायम रक्खी, और अपने राज्य को ऐसे समय में समृद्धिशाली बनाया, जबकि भारत का ज्यादातर हिस्सा उथल-पुथल की हालत में था। इसलिए यह ताज्जुब की बात नही है कि आज भी वह मध्य-भारत में सन्त की तरह श्रद्धा की दृष्टि से देखी जाती हो।

अन्तिम मराठा-युद्ध से कुछ ही पहले, सन् १८१४ से १८१६ ई० तक, अंग्रेजों का नैपाल से एक युद्ध हुआ था। पहाड़ी इलाक़े में उन्हें बड़ी दिक्क़तें उठानी पड़ी, लेकिन आखिर में उनकी जीत हुई और देहरादून का यह ज़िला, जहाँ पर जेल में बैठा हुआ मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, और कुमायूँ और नैनीताल, अंग्रेजी हुकूमत में आ गये। तुम्हें शायद याद होगा कि चीन के बारे में एक पत्र में मैंने तुम्हें चीन की फौज के आश्चर्यजनक कारनामों का हाल लिखा था कि वह तिब्बत को पार करके हिमालय के ऊपर होकर चली आई और गुरखों को उन्हींके घर नैपाल में हरा गई। यह घटना ब्रिटिश-नैपाल-युद्ध से सिर्फ़ बाईस बरस पहले की है। तब से नैपाल ने बाकायदा चीन की अधीनता स्वीकार करली, लेकिन मेरा ख़याल है कि अब वह बात नहीं है। नैपाल एक निराला देश है जो बहुत पिछडा हुआ, बाक़ी दुनिया से बहुत विलग लेकिन फिर भी हर तरह से चित्ताकर्षक स्थिति वाला और प्राकृतिक सम्पत्ति से भरा-पूरा है। कश्मीर और हैदराबाद की तरह यह मातहत राज्य नही है। यह स्वतन्त्र राज्य कहलाता है, लेकिन अंग्रेज़ इस बात की सावधानी रखते है कि इसकी स्वतन्त्रता सीमा के अन्दर ही रहे। और नैपाल के बहादुर और रण-बाके लोग--गुरखे--भारत की अंग्रेजी फ़ौज में भरती किये जाते हैं और उनका उपयोग भारतवासियों को दबाये रखने के लिए किया जाता है।

पूर्व में बर्मा ठेठ आसाम तक फैल गया था। इसलिए लगातार आगे बढने वाले अंग्रेजो से उसकी मुठभेड़ होना लाज़िमी था। बर्मा से तीन युद्ध हुए, और हरबार अंग्रेज़ उसका कोई-न-कोई इलाका अपने राज्य में मिलाते गये। सन् १८२४-२६ ई० में होने वाले पहले युद्ध का नतीजा हुआ आसाम का अंग्रेजो की अधीनता में आना। सन् १८५२ ई० के दूसरे युद्ध में दक्षिणी बर्मा कब्ज़े में किया गया। उत्तरी बर्मा, मण्डाले के पास की अपनी राजधानी आवा समेत, समुद्र से बिलकुल अलग कर दिया गया और दूर खुश्की पर अंग्रेजो के शिकजे में फंस गया। सन् १८८५ ई० में, बर्मा से तीसरा युद्ध हुआ, जिसमें इसका अन्त हो गया और सारे देश पर अंग्रेजों ने अपना क़ब्ज़ा कर के उसे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। लेकिन फ़र्ज़ी तौरपर बर्मा चीन का मांडलिक राज्य था और बराबर चीन को खिराज भेजता रहता था। ध्यान देने की निराली बात यह है कि बर्मा को साम्राज्य में शामिल करते समय अंग्रेज़ लोग चीन को भेजे जाने वाले इस खिराज को जारी रखने के लिए रज़ामन्द हो गये। इससे जाहिर होता है कि सन् १८८५ ई० में भी वे चीन की शक्ति से काफ़ी प्रभावित थे, हालाँकि चीन अपनी अन्दरूनी मुसीबतो में ऐसा फँसा हुआ था कि वह अपने माण्डलिक राज्य बर्मा पर हमला होते समय उसकी मदद न कर सका। अँग्रेज़ों ने सन् १८८५ ई० के बाद एक बार तो चीन को यह खिराज दिया और फिर देना बन्द कर दिया।

बर्मा के युद्ध हमें सन् १८८५ ई० तक ले आये है। मैं इन सबका वर्णन एक साथ करना चाहता था। लेकिन अब हमें दुबारा उत्तरी भारत की तरफ़ और इसी सदी के शुरू के भाग में चलना चाहिए। पंजाब में रणजीतसिंह के मातहत एक शक्तिशाली सिख राज्य क़ायम हो गया था। सदी के प्रारम्भ में ही रणजीत सिंह अमृतसर का स्वामी हुआ, और सन् १८२७ ई० के क़रीब तमाम पंजाब और कश्मीर का मालिक बन गया। सन् १८३९ ई० में उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही सिख राज्य कमज़ोर हो गया और नष्ट होने लगा। सिख लोग इस पुरानी कहावत को चरितार्थ करते हैं कि "मुसीबत में आदमी ऊँचा उठता है, और सफलता मिल जाने के बाद गिर जाता है"। जब तक सिख एक प्रताड़ित अल्पसंख्यक समुदाय थे तब तक पिछले मुग़ल बादशाहों के लिए भी उन्हें दबाना असम्भव हो गया। लेकिन राजनैतिक सफलता मिलते ही उनकी सफलता की बुनियाद ही कमज़ोर पड़ गई। सिखों और अंग्रेजो के बीच दो युद्ध हुए, पहला सन् १८४५-४६

ई० में, और दूसरा १८४८-४९ ई० में। दूसरी लड़ाई में चिलियांवाला में अंग्रेजों की करारी हार हुई। लेकिन अन्त में अंग्रेज़ पूरी तौर से विजयी हुए और पंजाब अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। क्योंकि तुम कश्मीरी हो, इसलिए तुम्हें यह जानकर दिलचस्पी होगी कि अंग्रेजों ने काश्मीर को गुलाबसिंह नामक जम्मू के एक राजा को पिचहत्तर लाख रुपए में बेचा था। गुलाबसिंह के लिए यह बढ़िया सौदा था ! इस सौदे में बेचारे कश्मीरियों की तो कुछ पूछ ही नहीं थी। कश्मीर अब अंग्रेजों की एक रक्षित रियासत है और वहाँ के वर्त्तमान महाराजा इसी गुलाबसिंह के वंशज हैं।

पंजाब के उत्तर की ओर, बल्कि उत्तर-पश्चिम की ओर, अफ़ग़ानिस्तान था, और अफ़ग़ानिस्तान के नज़दीक ही दूसरी ओर को था रूस। मध्य एशिया में रूसी साम्राज्य के विस्तार ने अंग्रेज़ों का दिल दहला दिया। उन्हें डर था कि रूस कहीं भारत पर हमला न कर बैठे। क़रीब-क़रीब उन्नीसवीं सदी भर में 'रूसी ख़तरे' की चर्चा रही। सन् १८३९ ई० के क़रीब भारत के अंग्रेजों ने अफ़ग़ानिस्तान की ओर से रत्तीभर भी छेड़-छाड़ बिना,उस पर हमला कर दिया। उस समय अफ़ग़ानिस्तान की सीमा ब्रिटिश भारत से दूर थी, और पंजाब का स्वतन्त्र सिख राज्य बीच में पड़ता था। लेकिन फिर भी सिखों को अपना मित्र बनाकर अंग्रेजों ने क़ाबुल पर धावा बोल दिया। लेकिन अफ़ग़ानों ने भी मार्के का बदला लिया। बहुतेरी बातों में अफ़ग़ान लोग चाहे कितने ही पिछड़े हुए हों, लेकिन उन्हें अपनी आज़ादी से प्रेम है, और उसकी रक्षा के लिए वे अख़ीर दम तक लड़ने को तैयार रहते हैं। और इसीलिए अफ़ग़ानिस्तान किसी भी आक्रमणकारी विदेशी सेना के लिए हमेशा 'बर्रों का छत्ता' बना रहा है। हालांकि अंग्रेजों ने काबुल पर और अफ़ग़ानिस्तान के कई हिस्सों पर कब्ज़ा कर लिया था, लेकिन एकाएक चारों तरफ विद्रोह भड़क उठे, अंग्रेज वापस खदेड़ दिये गए और सारी-की-सारी अंग्रेज़ी फौज तहस-नहस हो गई। बाद में पराजय का बदला लेने के लिए एक और ब्रिटिश हमला हुआ। अंग्रेजों ने काबुल पर कब्ज़ा करके, शहर के बड़े सायबानदार बाज़ार को बारूद से उड़ा दिया, और अंग्रेज़ी सिपाहियों ने शहर के बहुत से हिस्सों में लूटमार की और आग लगा दी। लेकिन यह साफ ज़ाहिर हो गया कि अंग्रेज़ों के लिए निरन्तर युद्ध किये बिना अफ़ग़ानिस्तान पर कब्ज़ा बनाये रखना सहज नहीं है। इसलिए वे वहाँ से वापस लौट आए।

करीब चालीस वर्ष बाद, सन् १८७८ ई० में, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर या शासक ने रूस से दोस्ती कर ली तो अंग्रेज़ फिर घबराये। बहुत हद तक इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। एक दूसरा युद्ध हुआ, अंग्रेजों ने इस देश पर हमला किया और उनकी जीत होती हुई दिखाई दे रही थी कि इतने ही में अफ़ग़ानों ने ब्रिटिश राजदूत और उसके दल को मौत के घाट उतार दिया और अंग्रेज़ी फ़ौज को हरा दिया। अंग्रेजों ने इसका थोड़ा-बहुत बदला ले लिया और फिर इस 'बर्र के छत्ते' से दूर हट गए। इसके बहुत वर्षों बाद तक अफ़-गानिस्तान की अजीब स्थिति थी। अंग्रेज उसके अमीर को अन्य विदेशी मुल्कों के साथ सीधा सम्बन्ध तो रखने नहीं देते थे, लेकिन साथ ही उसे हर साल बहुत बड़ी रकम भी देते थे। तेरह वर्ष हुए, सन् १९१९ ई० में, तीसरा अफ़ग़ान युद्ध हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप अफ़ग़ानिस्तान पूरी तरह स्वतन्त्र हो गया। लेकिन जिस ज़माने की हम इस समय चर्चा कर रहे हैं, यह बात उसके दायरे से बाहर है।

और भी कई छोटे-छोटे युद्ध हुए। इनमें से एक युद्ध, जो बहुत ही बे-ग़ैरत था, सन् १८४३ ई० में सिन्ध पर थोपा गया। वहाँ के ब्रिटिश एजेण्ट ने सिन्धियों को ख़ूब धमकाया और झगड़ा मोल लेने के लिए उकसाया और फिर उन्हें कुचल कर प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया। और इस कारगुज़ारी के लिए अंग्रेज़ी अफ़सरों को ऊपरी मुनाफ़े के तौर पर इनाम का रुपया भी बांटा गया। एजेण्ट (सर चार्ल्स नेपियर) के हिस्से की रक़म थी क़रीब सात लाख रुपए ! ऐसी हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि उस समय के भारत में सिद्धान्तहीन और दुस्साहसी अंग्रेज़ खिंचे चले आते थे।

सन् १८५६ ई० में अवध भी मिला लिया गया। इस समय अवध कु-शासन की भयंकर दशा में था। कुछ समय से यहाँ का शासन नवाब-वज़ीर कहे जाने वाले लोगों के हाथों में था। शुरू में दिल्ली के मुग़ल बादशाह ने नवाब-वज़ीर को अवध में अपना गवर्नर नियुक्त किया था। लेकिन मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद अवध स्वाधीन हो गया। पर ज़्यादा दिन के लिए नहीं। पिछले नवाब-वज़ीर बिलकुल अयोग्य और भ्रष्ट थे, और अगर वे कुछ भलाई करना भी चाहते थे, तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दस्तन्दाज़ी की वजह से कर नहीं सकते थे। उनके हाथ में कोई अधिकार बाकी नहीं रह गया था और अंग्रेज़ों को अवध के

अन्दरूनी शासन में कोई दिलचस्पी न थी। बस, अवध बरबाद हुआ, और जैसा कि अवश्यम्भावी था, अंग्रेजी राज्य का हिस्सा बन गया।

युद्धों और राज्य-विस्तारों की मैं काफ़ी ही नहीं, शायद काफ़ी से भी ज्यादा चर्चा कर चुका हूँ। लेकिन ये सब एक महान प्रक्रिया के ऊपरी संकेतमात्र थे, जो हो रही थी और जिसका जारी रहना लाज़मी था। अंग्रेज जिस समय भारत में आये, यहाँ की पुरानी आर्थिक व्यवस्था टूट चुकी थी। सामन्तशाही की दीवारें तड़कने लगी थी। यदि उस समय विदेशी लोग न भी आये होते तो भी सामन्ती व्यवस्था इस देश में ज्यादा दिन टिकने वाली न थी। योरप की तरह यहाँ भी धीरे-धीरे कोई नई व्यवस्था इसका स्थान ले लेती, जिसमें नवीन उत्पादक वर्गों के हाथो में ज्यादा सत्ता होती। लेकिन यह परिवर्तन होने से पहले ही, जबकि दरार ही पड़ी थी, अंग्रेज आ पहुँचे और बिना किसी खास दिक़्क़त के इस दरार में घुस पड़े। भारत में जिन राजाओ से वे लड़े और जिन्हें उन्होने हराया, वे बीते और अस्त होते हुए ज़माने की चीजें थी। उनके सामने कोई वास्तविक भविष्य नही था। इस तरह इन परिस्थितियों में, अंग्रेजो का सफल होना अनिवार्य था। उन्होने भारत में सामन्ती व्यवस्था का अन्त जल्दी कर दिया। लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अजीब बात है कि उन्होने ऊपरी तौर से इसे सहारा देने की कोशिश की और इस तरह भारत को नई व्यवस्था की तरफ बढ़ने में रुकावटें डाली।

इस तरह अंग्रेज भारत में एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया का कारण बन गये, जो सामन्ती भारत को नये ढंग के औद्योगिक पूंजीवादी राज्य में बदल देने वाली थी। खुद अंग्रेजो ने इस बात को नही महसूस किया; और निःसन्देह वे सब अनेक राजा लोग भी, जो इनसे लड़ें थे, इस विषय में कुछ नही जानते थे। काल के गाल में पड़ी हुई कोई भी व्यवस्था उस समय की गति-विधियों को बहुत कम देख पाती है, बहुत कम यह महसूस करती है कि उसका उद्देश्य और काम पूरा हो चुका है, और इसलिए सर्वशक्तिमान घटनाचक्र द्वारा बेइज्ज़ती से खदेड़े जाने के पहले ही उसे खूबसूरती के साथ हट जाना चाहिए। इतिहास की शिक्षा को भी वह बहुत कम समझ पाती है, और इस बात को भी बहुत कम महसूस करती है कि दुनिया उसे, किसी के शब्दो में, 'इतिहास के घूरे' पर छोड़ती हुई आगे बढ़ती चली जा रही है। इसी तरह भारत की सामन्ती व्यवस्था ने इन सब बातों को नहीं समझा और व्यर्थ ही अंग्रेजो से लड़ती रही। इसी तरह आज भारत में और पूर्व के दूसरे देशों में जमे हुए अंग्रेज भी यह नही समझते कि उनके दिन बीत चुके हैं, उनके साम्राज्य के दिन बीत चुके हैं, और दुनिया ब्रिटिश साम्राज्य को बिना तरस के 'इतिहास के घूरे' पर फेंकती हुई आगे बढ़ती जा रही है।

लेकिन भारत में प्रचलित सामन्ती व्यवस्था ने उस वक़्त, जबकि अंग्रेज लोग भारत में पैर पसार रहे थे, एक बार फिर अधिकार प्राप्त करने और विदेशियों को निकाल बाहर करने का अन्तिम प्रयत्न किया। यह था १८५७ का महान विद्रोह। देश भर में अंग्रेजो के विरुद्ध बड़ा असन्तोष और रोष था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति थी रुपया बटोरना और इसके सिवा कुछ नही करना। उसकी इस नीति ने उसके अनेक अफ़सरों के अज्ञान और लुटेरेपन के साथ मिलकर चारों तरफ घोर तबाही मचा दी। यहाँ तक की अंग्रेजों की भारतीय फ़ौज पर भी इसका असर पड़ा और कई छोटी-मोटी बगावतें हुईं। कितने ही सामन्ती सरदारो और उनके वंशजो का अपने इन नये स्वामियो से घोर विरोध स्वाभाविक था। इसलिए गुप्तरूप से एक जबरदस्त विद्रोह सगठित किया गया। यह संगठन खासतौर से उत्तर-प्रदेश के आस-पास और मध्य भारत में फैल गया, लेकिन भारत के अंग्रेज भारतवासियों के कार्यों और विचारों की ओर से इतने अन्धे रहते हैं कि सरकार को इसका गुमान तक नहीं हुआ। मालूम होता है कि कई जगहों पर एक ही साथ विद्रोह छिड़ने की तारीख मुकर्रर की गई थी। लेकिन मेरठ की भारतीय फ़ौज की कुछ टुकड़ियो ने बहुत जल्दबाजी करके १० मई सन् १८५७ ई० को ग़दर कर दिया। इस असमय के विस्फोट ने विद्रोह के नेताओं के कार्यक्रम को अस्तव्यस्त कर दिया क्योंकि इससे सरकार चौकन्नी हो गई। फिर भी यह विद्रोह तमाम उत्तर-प्रदेश और दिल्ली में और मध्यभारत तथा बिहार के कुछ हिस्सो में फैल गया। यह सिर्फ़ फ़ौजी विद्रोह नही था, बल्कि इन प्रदेशों में अंग्रेजों के विरुद्ध एक व्यापक सार्वजनिक विप्लव था। महान् मुग़ल सम्राटों के अन्तिम वंशज, कमजोर बूढ़े और कवि बहादुरशाह को कुछ लोगो ने सम्राट घोषित कर दिया। यह विद्रोह बढ़कर घृणा के पात्र विदेशी के विरुद्ध भारतीय स्वाधीनता के युद्ध में परिणत हो गया, लेकिन यह स्वाधीनता उसी पुराने

सामन्ती ढंग की थी, जिसके सिरमौर एकतन्त्री सम्राट होते थे। साधारण जनता के लिए इसमें कोई आज़ादी न थी। लेकिन फिर भी वह बहुत बड़ी संख्या में इसमें शामिल हो गई क्योंकि एक तो वह अंग्रेज़ों के आगमन को ही अपनी तबाही और ग़रीबी का कारण समझती थी, और दूसरे कई जगहों में उस पर बड़े-बड़े ज़मींदारों का प्रभाव था। धार्मिक विद्वेष ने भी लोगों को उकसाया। इस युद्ध में हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने पूरा भाग लिया।

कई महीनों तक उत्तर और मध्य भारत में अंग्रेज़ी राज्य मानो कच्चे धागे के सहारे लटका रहा। लेकिन विद्रोह की क़िस्मत का फ़ैसला ख़ुद भारतवासियों ने ही कर दिया। सिक्खों और गोरखों ने अंग्रेज़ों को मदद दी। दक्षिण में निज़ाम, उत्तर में सिन्धिया और अन्य कई रियासतें भी उनके साथ हो गईं। इन सब बर-ग़श्तियों के अलावा भी ख़ुद विद्रोह में ही असफलता के बीज मौजूद थे। वह एक पराजित पक्ष सामन्ती व्यवस्था के लिए लड़ रहा था; इसमें अच्छे नेताओं का अभाव था; इसका संगठन ठीक ढग से नही हुआ था, और हर वक़्त आपसी कलह होती रहती थी। कुछ विद्रोहियो ने अंग्रेज़ों की निर्मम हत्याए करके भी अपने पक्ष को कलंकित कर दिया। इस पाशविक बर्ताव ने स्वाभाविक रूप से भारत के अग्रेज़ो को कमर कस कर खडा कर दिया और उन्होने उसी पाशविक ढग से, बल्कि उससे भी सैकड़ो-हज़ारों गुना ज्यादा, बदला ले लिया। कहा जाता है कि कानपुर में पेशवा के वंशज नानासाहब ने सुरक्षा का वादा करके भी दग़ा करके अंग्रेज़ पुरुषो स्त्रियों और बच्चों की हत्या का हुक्म दे दिया। इस घटना से अग्रेज़ विशेष रूप से उत्तेजित होगये। इस बीभत्स दुर्घटना की याद दिलाने वाला कानपुर में एक स्मारक-कूप है।

दूर-दूर की कई जगहो पर अग्रेज़ों को जनता की भीडो ने घेर लिया। कभी-कभी तो उनके साथ अच्छा बर्त्ताव किया गया, लेकिन अक्सर-करके ख़राब। ज़बर्दस्त कठिनाइयाँ होते हुए भी वे ख़ूब लड़े और बहादुरी से लड़े। अग्रेज़ो के साहस और सहन-शक्ति का एक निराला उदाहरण लखनऊ का घेरा है जिसके साथ आउटरम और हेवलॉक के नाम जुडे हुए हैं। सन् १८५७ ई० मे दिल्ली के घेरे ने विद्रोह का पासा ही पलट दिया। इसके बाद और कई महीनो तक अग्रेज़ विद्रोह को कुचलते रहे। ऐसा करने में उन्होंने हर जगह आतंक फैला दिया। बहुत बड़ी संख्या मे लोगो को नृशंसता पूर्वक गोली से उड़ा दिया गया, बहुत-से लोगों की तोप के मुह धज्जियाँ बिखेर दी गईं और हज़ारो को सड़क के किनारे के दरख़्तों पर फाँसी चढ़ा दिया गया। कहा जाता है कि नील नामक एक अग्रेज़ सेनापति इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते भर आदमियों को फाँसी लटकाता हुआ चला गया, यहाँ तक कि सड़क के किनारो का एक भी पेड़ ऐसा न बचा जो फाँसी का झूला न बना दिया गया हो। हरे-भरे गाँव समूल नष्ट कर दिये गये। यह सब एक बहुत ही भयानक और दर्दनाक क़िस्सा है और मुझमें इस सारे कटु सत्य का बखान करने की हिम्मत नही है। अगर नाना साहब ने बर्बरता का और दग़ाबाज़ी का बर्ताव किया तो कितने ही अंग्रेज़ अफ़सर बर्बरता में उससे सैकड़ो गुना आगे बढ़ गये। अगर अफ़सरो और नेताओ के अभाव में बाग़ी सिपाहियों के गिरोह निर्दय और बीभत्स कारनामो के दोषी ठहरते है, तो अपने अफ़सरो के मातहत शिक्षित अग्रेज़ सिपाही क्रूरता और बर्बरता में उनसे कही आगे बढ़ गये थे। मै दोनों की तुलना नही करना चाहता। दोनो ही तरफ़ की बातें खेदजनक हैं, लेकिन हमारे पक्षपात-भरे इतिहास में भारतवासियों की दग़ाबाज़ी और क्रूरता का तो ख़ूब बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है, लेकिन दूसरी तरफ़ की चर्चा तक नही की गई है। यह भी याद रखने की बात है कि एक संगठित सरकार भीड़ के लोगो की तरह बर्त्ताव करने लगे तो उसकी क्रूरता के मुक़ाबले में असगठित भीड की क्रूरता कुछ भी नही है। अगर आज भी तुम अपने प्रान्त के अनेक गाँवो में घूमो, तो तुम्हें ऐसे लोग मिलेंगे जिन्हें उन बीभत्स कांडों की स्पष्ट और भयानक याद अभी तक बनी हुई है जो विद्रोह को कुचलते समय उनके ऊपर किये गये।

इस विद्रोह की भीषणताओं और उसके दमन के बीच, काले परदे पर एक उज्ज्वल नाम चमक रहा है। यह नाम है एक बीस वर्ष की बाल-विधवा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का, जो मर्दों का बाना पहनकर अंग्रेज़ो के विरुद्ध अपनी प्रजा का नेतृत्व करने के लिए मैदान में निकल आई। उसके जोश, उसकी योग्यता और उसके अदम्य साहस की बहुत-सी कहानियाँ कही जाती हैं। यहाँ तक कि जिस अंग्रेज़ सेनापति ने उसका मुक़ाबला किया था, उसने भी उसे बाग़ी नेताओं में "सबसे श्रेष्ठ और सबसे बहादुर" कहा है। वह लड़ती हुई युद्ध में काम आई।

सन् १८५७–५८ ई० का विद्रोह सामन्ती भारत की आखिरी टिमटिमाहट थी। इसने बहुत-सी बातों का अन्त कर दिया। इसने महान् मुग़लवंश का सिलसिला ख़तम कर दिया क्योंकि बहादुरशाह के दोनो पुत्रो और एक पोते को हडसन नामक एक अंग्रेज अफ़सर ने दिल्ली ले जाते समय, बिना किसी कारण या उत्तेजना के, नृशसता पूर्वक गोली से उड़ा दिया। इस तरह दुनिया के सामने अपमानित होकर तैमूर, बाबर और अकबर के वंश का सिलसिला समाप्त हो गया।

विद्रोह ने भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त कर दिया। शासन-सूत्र ब्रिटिश सरकार ने सीधा अपने हाथ में ले लिया और अंग्रेज़ी गवर्नर-जनरल अब "वाइसराय" के रूप में प्रकट हुआ। उन्नीस वर्ष बाद, सन् १८७७ ई० में इंग्लैण्ड की रानी ने, बिजैण्टियन साम्राज्य और सीज़रों की पुरानी उपाधि के भारतीय रूप 'क़ैसरे हिन्द' की उपाधि धारण की। मुग़ल खानदान अब ख़तम हो गया था। लेकिन निरंकुशता की भावना ही नही बल्कि उसके प्रतीक भी बाकी रह गये और इंग्लैण्ड में एक दूसरा महान मुग़ल बैठ गया।

: ११० :

भारतीय कारीगर की रोज़ी छिन जाती है

१ दिसम्बर, १९३२

भारत मे उन्नीसवी सदी के युद्धो का वर्णन हम समाप्त कर चुके। मुझे इस से खुशी है। अब हम इस समय की अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर विचार कर सकते है। लेकिन यह याद रखना कि इग्लैण्ड को फ़ायदा पहुँचानेवाले ये युद्ध भारत के ही खर्चे पर लड़े गये थे। अंग्रेजो ने भारतवासियों को जीतने का खर्चा उन्हीं से वसूल करने का तरीक़ा बडी सफलता के साथ बरता। अपने पडौसी बर्मियो और अफ़ग़ानो से भारतवासियों का कोई झगडा नही था लेकिन इन्हें जीते जाने की क़ीमत भी उन्होने अपनी जानें और अपना माल देकर चुकाई। इन युद्धों ने कुछ हद तक भारत को निर्धन बना दिया, क्योंकि युद्ध का मतलब ही है सम्पत्ति का नाश। जैसा कि हम सिन्ध के मामले में देख चुके है, युद्ध का मतलब जीतनेवालों को लूट का माल मिलना भी है। ऐसे ही तथा अन्य कारणो से पैदा हुई निर्धनता के बावजूद भी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के खजाने में सोने और चाँदी की नदी बहती रही, जिससे कि उसके हिस्सेदारो को भारी मुनाफ़े मिलते रहें।

मेरा खयाल है कि मै तुम्हें बतला चुका हूँ कि भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रारम्भिक दिन उन क़िस्मत आजमाने वाले व्यापारियो के दिन थे जिन्होने यहाँ तिजारत और लूटमार की अंधाधुन्धी मचा रक्खी थी। इस तरह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके कारिन्दे भारत का बेशुमार संचित धन ले गये। इसके बदले में भारत को वास्तव में कुछ भी नही मिला। मामूली तिजारत में कुछ आपसी देन-लेन हुआ करता है। लेकिन अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में, प्लासी की लडाई के बाद से, सारी दौलत एक ही तरफ़—इंग्लैण्ड—को, जाने लगी। इस तरह भारत की पुरानी सम्पत्ति का अधिकांश छिन गया, और इसने परिवर्त्तन के गाढ़े समय में इंग्लैण्ड की औद्योगिक उन्नति में मदद पहुँचाई। भारत में तिजारत और नंगी लूट पर टिका हुआ ब्रिटिश काल का यह पहला हिस्सा, मोटे तौर पर, अठारहवीं सदी की समाप्ति के साथ खतम हुआ।

ब्रिटिश राज्य काल का दूसरा हिस्सा सारी उन्नीसवीं सदी है, जिसमें भारत, इंग्लैण्ड के कारखानों को भेजे जानेवाले कच्चे माल का एक ज़बरदस्त साधन और वहाँ के तैयार माल की खपत के लिए एक मंडी बन गया। यह सब भारत की उन्नति और उसके आर्थिक विकास का खून करके किया गया था। इस सदी के पूर्वाद्ध में भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था जो एक व्यापारिक कम्पनी थी और जो रुपया पैदा करने के उद्देश्य से स्थापित हुई थी। लेकिन बाद में ब्रिटिश पार्लमेण्ट भारतीय मामलों पर दिन पर दिन ज्यादा ध्यान देने लगी। अन्त में, जैसा कि हमने पिछले पत्र में देखा है, सन् १८५७-५८ ई० के विद्रोह के बाद

ब्रिटिश सरकार ने भारत के शासन को सीधा अपने हाथ में ले लिया। लेकिन इससे बुनियादी नीति में कोई महत्त्वपूर्ण फ़र्क नहीं पड़ा, क्योंकि सरकार उसी वर्ग की प्रतिनिधि थी जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सञ्चालित करता था।

भारत और इंग्लैण्ड के आर्थिक हितो के बीच संघर्ष स्पष्ट था। चूंकि सारी सत्ता इंग्लैण्ड के हाथ में थी इसलिए इस संघर्ष का फैसला हमेशा इंग्लैण्ड के ही पक्ष में होता था। इंग्लैण्ड के औद्योगीकरण से पहले ही एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ने भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के हानिकर प्रभावों की ओर इशारा कर दिया था। यह व्यक्ति था ऐंडम स्मिथ, जिसे राजनैतिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है। 'वैल्थ आफ् नेशन्स'—यानी 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' नामक अपनी प्रसिद्ध किताब में, जो सन् १७७६ ई० में ही प्रकाशित हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ज़िक्र करते हुए, वह कहता है:—

> "चाहे किसी भी देश के लिए हो, ऐसी सरकार, जो सिर्फ़ व्यापारियो की कम्पनी से ही बनी हो, सबसे बुरी सरकार होती है।...... शासनकर्त्ता होने के नाते तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसी में है कि उसके भारतीय उपनिवेश को भेजा जानेवाला योरपीय माल वहाँ सस्ते-से-सस्ता बिके और वहाँ से लाया हुआ माल यहाँ महँगा-से-महँगा बिके। लेकिन व्यापारी की हैसियत से उसका हित इससे बिलकुल उलटी बात में है। शासक के नाते तो उसके हित बिलकुल वही होने चाहिएँ जो उसके शासित देश के है। लेकिन व्यापारियों की हैसियत से उसका हित उस देश के हितों के बिलकुल विपरीत है।"

मै तुम्हें बता चुका हूँ कि जब अंग्रेज भारत में आये, उस समय यहाँ की पुरानी सामन्ती व्यवस्था नष्ट हो रही थी। मुग़ल साम्राज्य के पतन ने भारत के कई हिस्सो में राजनैतिक अशान्ति और अराजकता पैदा कर दी थी। लेकिन फिर भी, जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्री रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है—"अठारहवीं सदी मे भारत एक बड़ा उद्योग-प्रधान और साथ ही बडा कृषि-प्रधान देश था, और भारतीय करघों का माल एशिया और योरप की मडियो मे बिकता था।" अपने इसी पत्र-व्यवहार में मै तुम्हे बतला चुका हूँ कि प्राचीन काल में विदेशी मंडियो पर भारत का कब्ज़ा था। मिस्र की चार हज़ार वर्ष पुरानी मोमियाइयाँ बढ़िया भारतीय मलमल मे लपेटी हुई मिली है। भारतीय कारीगरो की दस्तकारी पूर्व में और पश्चिम में मशहूर थी। देश का राजनैतिक पतन होने पर भी यहाँ के कारीगर अपने हाथ के हुनर को भूले नही थे। अंग्रेज़ और अन्य विदेशी व्यापारी, जो भारत मे तिजारत की तलाश मे आते थे, यहाँ पर विदेशी माल बेचने के लिए नहीं, बल्कि यहाँ की बनी हुई बढ़िया और नफ़ीस वस्तुए ख़रीद कर योरप में खूब मुनाफ़े पर बेचने के लिए ले जाने को आते थे। इस तरह शुरू में अंग्रेज व्यापारी यहाँ के कच्चे माल से नही, बल्कि यहाँ के तैयार किये हुए सामान से आकर्षित होकर यहाँ आये थे। यहाँ हुकूमत प्राप्त करने से पहले ईस्टइण्डिया कम्पनी भारत के बने सूती, ऊनी, रेशमी और ज़री के माल का बड़ा लाभदायक व्यापार करती थी। कपड़े के उद्योग में, अर्थात् सूती, रेशमी और ऊनी माल बनाने मे इस देश की कला विशेष रूप से ऊँचे दरजे को पहुँच गई थी। रमेशचन्द्र दत्त के शब्दो में—"बुनाई लोगो का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखो स्त्रियो का धन्धा था।" भारत के बने हुए कपड़े इग्लैण्ड और योरप के दूसरे हिस्सो को, और चीन, जापान, बर्मा, अरब फ़्रांस और अफ़्रीका के कुछ हिस्सों को भेजे जाते थे।

क्लाइव ने बंगाल के शहर मुर्शिदाबाद का, सन् १७५७ ई० के समय का, वर्णन करते हुए लिखा है कि यह नगर लन्दन के समान विस्तृत, घना बसा हुआ और सम्पत्तिशाली है। लेकिन फ़र्क यह है कि इस शहर के लोग लन्दन वालो से अधिक अपार ऐश्वर्य के स्वामी हैं।" यह प्लासी-युद्ध के साल की बात है जब अंग्रेज़ो के क़दम बंगाल में पूरी तरह जम पाये थे। राजनैतिक गिरावट के इस क्षण में भी बंगाल सम्पत्तिशाली और अनेक उद्योग-धन्धों से भरा-पूरा था और दुनिया के विभिन्न देशो को अपना बढ़िया कपडा भेजता रहता था। ढाका शहर अपनी नफ़ीस मलमलो के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था और इन मलमलो का विदेशी व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

मतलब यह कि इस ज़माने का भारत निरी कृषि-प्रधान और ग्राम्य अवस्था से बहुत आगे बढ़ा हुआ था। यह ठीक है कि यह देश अधिकांश में कृषि-प्रधान था, अब भी है और आगे भी बहुत दिनो तक रहेगा। लेकिन उस समय यहाँ ग्रामीण और कृषि-जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन भी विकसित हो

चुका था। इन नगरों में कारीगर और दस्तकार इकट्ठे हुए और सामूहिक रूप से माल तैयार करने की पद्धति जारी हुई, अर्थात् छोटे-छोटे कारखाने खुले जिनमें सौ या सौ से अधिक कारीगर काम करते थे। अलबत्ता इन कारखानों की तुलना बाद में आनेवाले मशीन युग के विशाल कारखानों से नहीं की जा सकती। लेकिन उद्योगवाद के आने से पहले पश्चिमी योरप में और खासकर निदरलैण्ड्स में इस तरह के अनेक छोटे-छोटे कारखाने थे।

भारत इस समय परिवर्तन की अवस्था में था। यह माल तैयार करनेवाला देश था और शहरों में एक मध्यम वर्ग तैयार हो रहा था। इन कारखानो के मालिक पूँजीपति थे, जो कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे माल तैयार करवाते थे। इसमें सन्देह नही कि समय आने पर ये लोग भी इतने शक्तिशाली हो जाते कि योरप की तरह सामन्ती वर्ग को हटाकर उसकी जगह ले लेते। लेकिन ठीक इसी समय अंग्रेज बीच में आ कूदे और भारत के उद्योग-धन्धों पर इसका घातक परिणाम पड़ा।

शुरू-शुरू में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन दिया क्योंकि इनसे वे पैसा पैदा करते थे। विदेशों में भारतीय माल की बिक्री से इंग्लैण्ड में सोना-चाँदी आता था। लेकिन इंग्लैण्ड के कारखानेदार इस प्रतियोगिता को पसन्द नहीं करते थे, इसलिए अठारहवी सदी के शुरू में उन्होने अपनी सरकार को इंग्लैण्ड में आनेवाले भारतीय माल पर चुगी लगाने पर आमादा कर दिया। कुछ भारतीय चीजों का इंग्लैण्ड में आना बिलकुल रोक दिया गया और मेरे खयाल से भारत के एक कपड़े का सार्वजनिक रूपसे पहनना एक जुर्म तक क़रार दे दिया गया था। वे लोग अपने बायकाट का क़ानून की मदद से पालन करा सकते थे। और यहाँ भारत में इन दिनो अंग्रेजी कपड़े के बायकाट की चर्चा ही किसी को जेल पहुँचा देने के लिए काफ़ी है! भारतीय माल के बायकाट की इंग्लैण्ड की यह नीति इतने ही तक रहती तो भी ज्यादा नुक-सान की बात न थी, क्योकि भारत के लिए और भी बहुत-सी मंडियाँ थी। लेकिन उस समय सयोग से ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मारफ़त इंग्लैण्ड का भारत के बहुत बड़े हिस्से पर कब्ज़ा था, इसलिए उसने अब इरादा करके भारतीय उद्योगों का गला घोट कर ब्रिटिश उद्योगोको आगे बढाने की नीति शुरू की। अब अंग्रेजी माल बिना किसी चुगी के भारत में आने लगा। यहाँ के दस्तकारों और कारीगरो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए तरह-तरह से सताया और मजबूर किया गया। यहाँ तक कि कितनी ही रवानगी चुंगियाँ, जो माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने पर चुकानी पड़ती थी, लगाकर भारतके अन्दरूनी व्यापार के हाथ-पैर काट दिये गए।

भारत का कपड़े का उद्योग इतने अच्छे ढग का था कि इंग्लैण्ड का बढ़ता हुआ मशीन उद्योग भी उससे बाज़ी न ले सका और उसकी रक्षा करने के लिए भारतीय माल पर अस्सी फ़ीसदी के क़रीब चुगी लगानी पड़ी। शुरू उन्नीसवी सदी में भारत के कुछ रेशमी और सूती कपड़े इंग्लैण्ड के बाजार में, वहाँ के बने माल से बहुत सस्ते दामो में बिका करते थे। लेकिन जब भारत में हुकूमत करनेवाली शक्ति इंग्लैण्ड भारतीय उद्योगो को कुचल डालने पर तुला हुआ था तो यह हालत ज्यादा दिन नही रह सकती थी। फिर भारत के घरेलू उद्योगो से बना हुआ माल, उन्नतिशील मशीन के उद्योग से किसी भी हालत में ज्यादा दिन मुक़ाबला नहीं कर सकता था। मशीन का उद्योग भारी मिक़दार में माल तैयार करने का बड़ा कारगर तरीका है, और इसलिए वह माल घरेलू उद्योग के माल से कही ज्यादा सस्ता पड़ता है। लेकिन इंग्लैण्ड ने ज़बरदस्ती भारतीय उद्योगों का खातमा करने में जल्दी की, और भारत को मौक़ा नही दिया कि वह धीरे-धीरे अपने आपको बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना ले।

इस तरह भारत, जो सैकड़ो वर्ष तक 'पूर्वी दुनिया का लंकाशायर' रहा था, और जो अठारहवीं सदी में योरप को बड़े पैमाने पर सूती माल देता रहता था, अब माल तैयार करनेवाले देश की हैसियत खो बैठा और ब्रिटिश माल का ग्राहक मात्र रह गया। मामूली हिसाब से मशीन भारत में आती ही, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, बल्कि मशीन से बना हुआ माल बाहर से आया। भारत से विदेशों को माल ले जाने और बदले में सोना और चाँदी लाने का जो प्रवाह चल रहा था, उसका रुख उलटा हो गया। अब विदेशी माल भारत में आने लगा। और यहाँ का सोना-चाँदी बाहर जाने लगा।

इस घातक हमले का सबसे पहला शिकार हुआ भारत का कपड़ा उद्योग। और जैसे जैसे इंग्लैण्ड में मशीनी उद्योग की तरक्क़ी होती गई वैसे-ही-वैसे भारत के अन्य उद्योग भी कपड़ा-उद्योग की राह जाने लगे।

ग्राम तौर पर किसी भी देश की सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह उस देश के उद्योगों की रक्षा करे और उन्हें प्रोत्साहन दे। मगर रक्षा और प्रोत्साहन तो दूर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ब्रिटिश उद्योगो से टक्कर लेनेवाले हरेक भारतीय उद्योग को कुचल दिया। भारत में जहाज़ बनाने का काम चौपट हो गया, धातुकार लोग अपना कारोबार न चला सके और कांच और काग़ज़ बनाने का धन्धा भी धीरे-धीरे कम हो गया।

शुरू में विदेशी माल बन्दरगाहोंवाले शहरों में और उन्ही के आस-पास के अन्दरूनी हिस्सो में पहुंचता था। जैसे-जैसे सड़के और रेलें बनती गईं, विदेशी माल दिन पर दिन देश में अन्दर पहुँचता गया, यहाँ तक कि इसने गाँवों से भी कारीगरों को निकाल बाहर किया। स्वेज़ नहर का सीधा रास्ता निकल आने से इंग्लैण्ड भारत के और भी नज़दीक हो गया। इसलिए अंग्रेजी माल यहाँ अब और भी सस्ता पड़ने लगा। इस तरह मशीनों का विदेशी माल उत्तरोत्तर अधिक आने लगा, और दूर-दूर के गाँवों तक में पहुँचने लगा। उन्नीसवी सदी भर यह सिलसिला जारी रहा, और वास्तव में कुछ हद तक, अब भी चल रहा है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों में इसमें रोक-थाम ज़रूर हुई है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

ब्रिटिश माल का, खासकर कपड़े की, इस फैलती और पसरती प्रगति ने भारत के हाथ-उद्योगों की हत्या कर दी। लेकिन एक और पहलू इससे भी ज्यादा खतरनाक था। उन लाखो कारीगरो का क्या हुआ जो बेकार कर डाले गये? उन बहुसख्यक जुलाहो और अन्य कारीगरों का क्या हुआ जो बेरोज़गार हो गये थे? इग्लैण्ड में भी जब बड़े-बड़े कारखाने खुले तो कारीगर बेकार हो गये थे। उनको सख्त मुसीबतें उठानी पडी। लेकिन उनको नये कारखानों में काम मिल गया, और इस तरह उन्होंने अपने को नई परिस्थितियो के अनुकूल बना लिया। भारत में इस तरह का कोई दूसरा उपाय नही था। यहाँ काम करने के लिए कोई कारखाने न थे। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि भारत एक अधुनिक औद्योगिक देश बन जाय और इसलिए कारखानो को प्रोत्साहन नही देते थे। इसलिए बेचारे ग़रीब, बेघर, बेरोज़गार और भूखो मरते कारीगरो को धरती की शरण लेनी पड़ी। किन्तु धरती ने भी उनका स्वागत नही किया; उसपर पहले से ही काफी आदमी थे, और अब फालतू ज़मीन नही थी। कुछ तबाह कारीगरो ने तो किसी तरह खेती का काम ले लिया, लेकिन ज्यादातर तो धरती-हीन मज़दूर बन गये और रोज़गार की तलाश में डोलने लगे। और बहुत अधिक संख्या में तो लोग भूख से तड़प-तड़प कर ही मर गये होगे। सन् १८३४ ई० में भारत के अग्रेज़ गवर्नर-जनरल ने यह रिपोर्ट की, बतलाते हैं कि—"वाणिज्य के इतिहास में ऐसी तबाही का शायद ही कोई दूसरा उदाहरण मिले। सूती कपड़ा बुननेवाले जुलाहो की हड्डियो से भारत के मैदानो पर सफ़ेदी छा गई है।"

इन जुलाहो और कारीगरो मे से ज्यादातर कस्बो और शहरो में रहते थे। अब चूंकि उनका रोज़गार जाता रहा, इसलिए उन्हे फिर धरती और गाँवो की तरफ़ लौटना पड़ा। इससे शहरो की आबादी कम होती गई और गाँवो की बढ़ती गई। दूसरे शब्दों में, भारत शहरी कम और देहाती ज्यादा हो गया। देहातीकरण का यह सिलसिला उन्नीसवी सदी भर जारी रहा, और अभी भी बन्द नही हुआ है। इस ज़माने के भारत के बारे मे यह बड़ी ही अजीब बात है। तमाम दुनिया में मशीनी उद्योग और औद्योगीकरण का असर यह हुआ कि लोग गाँवो से खिच-खिचकर शहरो मे आ गये। लेकिन भारत में इससे उलटी प्रवृत्ति हुई। शहर और क़स्बे छोटे होते गये और उजड़ गये। और दिन पर दिन ज्यादा आदमी खेती के सहारे आ पड़े तथा बड़ी कठिनता से जीवन-निर्वाह करने लगे।

मुख्य उद्योगो के साथ-साथ उनके बहुत से सहायक धन्धे भी ग़ायब होने लगे। बुनाई, रंगाई और छपाई के काम कम होते गये, हाथ-कताई बन्द हो गई और लाखों घरो से चरखा उठ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि किसान वर्ग की आय का अतिरिक्त साधन जाता रहा क्योंकि किसान परिवार के लोगों की कताई से खेती की आमदनी के अलावा ऊपर की आमदनी में मदद मिलती थी। मशीन उद्योग के शुरू होने पर यही सब कुछ पश्चिमी योरप में भी हुआ था। लेकिन वहाँ परिवर्तन स्वाभाविक तरीके पर हुआ और यदि एक व्यवस्था का अन्त हुआ तो उसी समय दूसरी नई व्यवस्था का जन्म भी हो गया। लेकिन भारत में यह परिवर्तन भीषण और अचानक हुआ। उत्पादक घरेलू उद्योगो की पुरानी व्यवस्था मार डाली गई लेकिन नई व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ; ब्रिटिश उद्योगों के हित की दृष्टि से अंग्रेज़ अधिकारियों ने ऐसा होने ही नहीं दिया।

हम देख चुके हैं कि जिस समय अंग्रेजों ने यहां हुकूमत प्राप्त की, उस समय भारत एक समृद्ध उत्पादक देश था। क़ुदरती तौर से तो दूसरी मंज़िल यही होनी चाहिए थी कि देश को औद्योगिक बनाया जाता और बड़ी-बड़ी मशीनें चालू की जाती। लेकिन ब्रिटिश नीति के फलस्वरूप भारत आगे बढ़ने के बजाय पीछे चला गया। वह तो अब उत्पादक देश तक भी न रहा, और पहले से भी ज्यादा कृषि-प्रधान हो गया।

इस तरह बेरोजगार कारीगरों और दूसरे लोगों की इतनी बड़ी संख्या का भार बेचारी अकेली खेती के सिर आ पड़ा। धरती पर भीषण बोझा पड़ गया, और फिर भी यह बराबर बढ़ता ही गया। भारत की ग़रीबी की समस्या की यही बुनियाद है और यही आधार है। हमारी अधिकतर तकलीफें इसी नीतिका परिणाम है। और जब तक यह बुनियादी समस्या हल नही हो जाती, तब तक भारतीय किसान वर्ग की और गांवों के रहनेवालों की ग़रीबी और मुसीबतो का अन्त नहीं हो सकता।

बहुत ज्यादा लोगों के पास खेती के सिवा और कोई दूसरा पेशा न होने और ज़मीन के सहारे ही लटके होने के कारण, उन्होंने अपने खेतो और अपने क़ब्ज़े की ज़मीनों को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाट डाला। गुज़ारे के लिए और अधिक ज़मीन थी ही नही। ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा, जो हर किसान परिवार के पल्ले पड़ा, इतना छोटा था कि उससे उसका अच्छी तरह जीवन-निर्वाह नही हो सकता था। सुकाल के दिनों में भी ग़रीबी और आधा-पेट भोजन की स्थिति उनके सामने खड़ी रहती थी। और अक्सर करके तो अकाल की ही हालत रहती थी। इन लोगो को ऋतुओ, प्राकृतिक शक्तियो और बरसाती हवाओ की दया पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अकाल पड़ते, भीषण रोग फैलते और लाखो को उठा ले जाते। ये लोग गाँव के सूदखोर बनिये के पास पहुँचकर उससे रुपया उधार लेते और इनका कर्ज़ दिन-पर-दिन बढ़ता जाता और उसकी अदायगी की आशा और सम्भावना दूर होती जाती और जीवन एक असहनीय भार बन जाता। भारत की आबादी के बहुत बड़े हिस्से की, उन्नीसवी सदी में अंग्रेजो की हुकूमत में यह हालत हो गई!

: १११ :

भारत में गांव, किसान और ज़मींदार

२ दिसम्बर, १९३२

मैंने अपने पिछले पत्र में भारत के प्रति अंग्रेजो की उस नीति का हाल बताया था, जिसका नतीजा हुआ यहां के घरेलू उद्योग-धन्धों की मौत और कारीगरो का खेती और गाँवो की ओर खदेड़ा जाना। जैसा कि मै बता चुका हूँ, भारत की सबसे बड़ी समस्या है धरती पर इतने ज्यादा ऐसे लोगों का अत्यधिक दबाव या भार पड़ना, जिनके पास और कोई धन्धा नही है। भारत की गरीबी का सबसे बड़ा कारण यही है। अगर ये लोग धरती से हटाकर अन्य धन-उत्पादक पेशों में लगा दिये जा सकें तो वे न सिर्फ़ देश की सम्पत्ति में वृद्धि ही करेंगे, बल्कि धरती पर दबाव बहुत कम हो जायगा और काश्तकारी भी चमक उठेगी।

अक्सर यह कहा जाता है कि धरती पर यह ज़रूरत से ज्यादा दबाव भारत की आबादी में बढ़ोतरी की वजह से है, न कि अंग्रेजों की नीति के कारण। लेकिन यह दलील सही नही है। यह सच है कि भारत की आबादी पिछले सौ वर्षों में बढ़ गई है, लेकिन और भी तो बहुत-से देशो की आबादी बढ़ी है। वास्तव में योरप में, और खासकर इंग्लैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड और जर्मनी मे, इस बढ़ोतरी का अनुपात बहुत ज्यादा रहा है। किसी देश की या सारे ससार की आबादी की बढ़ोतरी और उसके गुज़ारे का तथा जब ज़रूरत हो तब इस बढ़ोतरी को रोकने का सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मै इस जगह इस सवाल को नहीं छेड़ना चाहता, क्योकि इससे दूसरे मुद्दों में उलझन पैदा हो सकती है। लेकिन यह मैं ज़रूर साफ़ कर देना चाहता हूँ कि भारत में धरती पर दबाव पड़ने का असली कारण खेती के सिवा अन्य पेशो का अभाव होना है, न कि आबादी में बढ़ोतरी होना। भारत की मौजूदा आबादी के लिए शायद आसानी से गुञ्जाइश हो सकती है और वह फूल-फल भी

सकती है, बशर्ते कि दूसरे पेशे और उद्योग खुले हुए हों। हो सकता है कि आगे चलकर हमें आबादी की बढ़ोतरी के सवाल पर विचार करना पड़े।

आओ, अब हम भारत में ब्रिटिश नीति के दूसरे पहलुओं की जाच करें। पहले हम गांवों में चलेंगे। मैंने अक्सर तुम्हें भारत की ग्राम-पंचायतो के बारे में लिखा है और यह बताया है कि किस तरह हमलों और परिवर्तनों के बीच भी उन्होंने अपनी हस्ती को क़ायम रक्खा। अभी क़रीब सौ वर्ष पहले, सन् १८३० ई० में भारत के अंग्रेज गवर्नर सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने इन ग्राम-पंचायतोंका इस तरह वर्णन किया था—

"ग्राम-पंचायतें छोटे-छोटे प्रजातंत्र हैं; अपनी जरूरत की क़रीब-क़रीब हरेक चीज उनमें मौजूद है; और बाहरी सम्बन्धो से वे हर तरह स्वतन्त्र हैं। ऐसा मालूम होता है कि जहाँ कोई दूसरी चीज नही ठहर पाती, उनकी हस्ती क़ायम रहती है। ग्राम पचायतो का यह सघ, जिसमें हरेक पंचायत खुद एक अलग छोटी-से राज्य के समान है, उनके सुख-शान्ति से रहने और उन्हे स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का उपभोग कराने में बहुत अश तक सहायक होता है।"

वह वर्णन इस पुरानी ग्रामीण प्रणाली के लिए बड़ा अच्छा प्रमाण-पत्र है। गाँवों की हालत का यह एक बिलकुल काव्यमय चित्र है। इसमे कोई शक नही कि स्थानीय स्वतन्त्रता और स्वाधीनता, जो गाँवों को हासिल थी, एक अच्छी चीज थी, और इसके सिवा उसमे और भी कई अच्छी विशेषताएं थी। लेकिन साथ ही हमें इस प्रणाली के दोषो को भी नही भुला देना चाहिए। सारी दुनिया से विलग, अपने ही आप में सीमित ग्रामीण जीवन बिताना किसी बात की उन्नति में सहायक नही हो सकता था। उत्तरोत्तर बड़ी इकाइयो के बीच सहयोग में ही उन्नति और प्रगति है। जितना ही ज्यादा कोई व्यक्ति या समुदाय अपने आप को दूसरो से अलग और अपने ही में सीमित रखता है, उतना ही अधिक उसके अहंकारी स्वार्थी और तगदिल होते जाने का अन्देशा रहता है। शहरो के निवासियो के मुकाबले मे गाँवो के रहनेवाले अक्सर तगदिल और अन्ध-विश्वासी होते हैं। इसलिए ग्राम सस्थाए अपनी तमाम अच्छाइयो को रखते हुए भी उन्नति के केन्द्र नही बन सकती थी। बल्कि वे किसी हद तक ठेठ पुरानी और पिछड़ी हुई थी। दस्तकारियाँ और उद्योग-धन्धे तो नगरो में ही फूलते-फलते थे। हाँ, जुलाहे अवश्य बहुत बड़ी सख्या में गांवो में फैले हुए थे।

ग्रामीण समुदाय एक दूसरे से अधिक सम्पर्क रखे बिना ही अपना अलग जीवन क्यो बिताते थे, इसका असली कारण था यातायात के साधनो का अभाव। गावों को एक दूसरे से जोड़नेवाली अच्छी सड़के थी ही नही। वास्तव में अच्छी सड़कों के इस अभाव ने ही देश की केन्द्रीय सरकार के लिए गावों के मामलो में बहुत ज्यादा दखल देना कठिन बना दिया था। बड़ी नदियों के किनारो के या आस-पास के क़स्बों और गावो के बीच तो नावो के द्वारा आने-जाने का सम्बन्ध हो सकता था। लेकिन ऐसी बड़ी नदिया भी तो नही थी जो इस तरह का साधन बन सकती। यातायात के आसान साधनो की इस कमी ने अन्दरूनी व्यापार में भी रुकावट डाली।

बहुत वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ़ रुपया कमाना और अपने हिस्सेदारो में मुनाफ़ा बाँटना ही रहा। सड़को पर वह बहुत कम खर्च करती थी और शिक्षा, सफ़ाई तथा अस्पतालों वगैरा पर तो बिल्कुल खर्च नही। लेकिन बाद में जब अंग्रेजो ने कच्चा माल खरीदने और अंग्रेजी मशीनो का बना माल बेचने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, तब यातायात के बारे में उन्होने दूसरी नीति अपनाई। बढ़ते हुए विदेशी व्यापार की आवश्यकता पूरी करने के लिए भारत के समुद्रतट पर नये-नये शहर पैदा हो गये। ये शहर, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और बाद में कराची, विदेशो को भेजने के लिए रुई वग़ैरा कच्चा माल जमा करते और मशीनों का बना विदेशी माल, खासकर इंग्लैण्ड से आया हुआ, भारत में वितरण और बिक्री के लिए मंगाते थे। पश्चिम में जो लिवरपूल, मैञ्चेस्टर, बरमिंघम, शेफील्ड वग़ैरा, जैसे बड़े-बड़े औद्योगिक शहर बढ़ रहे थे, उनमें तथा इन नये शहरो में बहुत फ़र्क़ था। योरपीय शहर माल तैयार करने के बड़े-बड़े कारखानों वाले उत्पादक केन्द्र और इस माल को बाहर भेजने के बन्दरगाह थे। इधर भारत के ये नये शहर कुछ भी उत्पादन नहीं करते थे। वे तो एकमात्र विदेशी तिजारत के गोदाम और विदेशी शासन के प्रतीक थे।

मैं अभी बता आया हूँ कि अंग्रेजों की नीति के कारण भारत दिनपर दिन देहाती बनता जा रहा था

और लोग शहरों को छोड़-छोड़ कर गांवों की और धरती की तरफ़ जा रहे थे। इसके बावजूद और इस सिलसिले पर बिना कुछ असर डाले, समुद्र के किनारे ये नये शहर पैदा हो गये। यह शहर गाँवों को नहीं बल्कि छोटे शहरों और क़स्बों को मिटाकर पैदा हुए थे। देहातीकरण का आम सिलसिला चलता ही रहा।

कच्चे माल के इकट्ठा करने और विदेशी सामान के वितरण में मदद देने के लिए समुद्र के किनारे के इन नये शहरों का देश के अन्दरूनी हिस्सों से सम्बन्ध जोड़ा जाना ज़रूरी था। राजधानियों और प्रान्तों के शासन-केन्द्रों के रूप में कुछ अन्य शहर भी बन गये। इस तरह यातायात के अच्छे साधनों की ज़रूरत बहुत बढ़ गई। अब सड़कें बनाई गईं, और बाद में रेलमार्ग भी। सबसे पहला रेलमार्ग सन् १८५३ ई० में बम्बई में बनाया गया।

भारतीय उद्योग-धन्धों के नाश से पैदा होने वाली बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बनने में पुराने ग्रामीण समुदायों को बड़ी कठिनाई हुई। लेकिन जब अच्छी सड़कें और रेलमार्ग और ज्यादा बने तथा सारे देश में फैल गये, तब अन्त में गाँवों की पुरानी प्रणाली भी, जो इतने अर्से से टिकी हुई थी, टूटकर खतम हो गई। जब दुनिया उनके यहाँ पहुँच कर दरवाज़े खटखटाने लगी, तो गाँवो के छोटे-छोटे प्रजातन्त्र उससे विलग होकर न रह सके। एक गाँव में चीजों की कीमतो का असर फौरन ही दूसरे गाँवो की कीमतों पर पड़ने लगा, क्योंकि अब एक गाँव से दूसरे को चीजें आसानी से भेजी जा सकती थी। वास्तव में, जैसे-जैसे दुनिया में परस्पर याता-यात के साधन बढ़ते गये, वैसे ही संयुक्त राज्य अमरीका अथवा कनाडा के गेहूँ की क़ीमत का असर भारत के गेहूँ की क़ीमत पर पड़ने लगा। इस तरह घटनाचक्र ने भारतीय ग्रामीण प्रणाली को खींचकर अन्तर्राष्ट्रीय क़ीमतों के दायरे में ला पटका। गावो की पुरानी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई, और जब किसानो पर एक नई व्यवस्था जबरदस्ती लाद दी गई तो वे अचरज करते ही रह गये। अब यह किसान वर्ग अपने गावों की हाट के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय मंडी के लिए नाज तथा अन्य सामान तैयार करने लगा। वह ससार-व्यापी उत्पा-दन और क़ीमतों के भँवर में फंस गया और दिन पर दिन नीचे गिरता गया। पहले ज़माने में फ़सल बिगड़ जाने पर भारत में अकाल पड़ते थे, और न तो लोगों के पास जमा किया हुआ नाज होता था और न कोई ऐसे उपयुक्त साधन थे जिनसे देश के दूसरे भागों से खाद्य-सामग्री मंगवाई जा सकती। ये खाद्य-सामग्री के अकाल होते थे। लेकिन अब एक अजीब बात हुई। अब लोग इफ़रात के बीच या नाज मुहय्या होने पर भी भूखे मरने लगे। अगर अकाल के क्षेत्र में नाज मुहय्या न हो तो रेलगाड़ियों या जल्दी के अन्य साधनो द्वारा अन्य स्थानों से लाया जा सकता था। खाद्य-सामग्री तो मौजूद थी, लेकिन उसे खरीदने के लिए पैसा नही था। इस तरह अब अकाल पैसे का था, नाज का नही। इससे भी ज्यादा अजीब बात यह थी कि, जैसा मन्दी के पिछले तीन वर्षों में हमने देखा है, कभी-कभी फ़सल का बहुत ज्यादा होना ही किसान वर्ग की मुसीबत का कारण बन जाता था।

इस तरह पुरानी ग्रामीण प्रणाली खतम हो गई, और पंचायतों की हस्ती मिट गई। लेकिन हमें इसके लिए कोई ज्यादा अफ़सोस प्रगट करने की ज़रूरत नही है, क्योंकि इस प्रणाली के दिन बीत चुके थे और यह आजकल की परिस्थितियो में उपयुक्त नही थी। लेकिन यहाँ भी यह प्रणाली तो टूट गई, लेकिन नई परिस्थितियो के अनुकूल किसी नई ग्रामीण प्रणाली का जन्म नही हुआ। पुनर्निर्माण और पुनर्जीवन का यह काम अब भी हमारे करने के लिए बाकी है।

अभी तक हमने धरती पर और किसानो पर ब्रिटिश नीति के अप्रत्यक्ष परिणामों का विचार किया है। अब हम ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली नीति पर यानी उस नीति पर विचार करना है जिसका किसान पर और धरती से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोगो पर सीधा असर पड़ा। मुझे भय है कि तुम्हारे लिए यह एक पेचीदा और ज़रा रूखा विषय होगा। लेकिन हमारा देश इन ग़रीब किसानों से भरा पड़ा है, इसलिए हमें यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि उनकी क्या तकलीफ़ें हैं और किस तरह हम उनकी सेवा कर सकते हैं, और उनकी बुरी हालत को सुधार सकते हैं।

हम लोग ज़मींदारो, ताल्लुकेदारों और उनके असामियों के बारे में सुना करते हैं। असामी भी कई तरह के होते हैं, और असामियों के भी असामी होते है। मैं इन सबकी पेचीदगियों में तुम्हें नहीं ले जाना चाहता। मोटे तौर पर आजकल के ज़मींदार बिचौलिये हैं, अर्थात् उनकी स्थिति सरकार और काश्तकारों

के बीच में है। काश्तकार उनका असामी है और वह उन्हें धरती के उपयोग के बदले लगान देता है, क्योंकि धरती जमींदार की मिलकियत समझी जाती है। जमींदार इस लगान का कुछ हिस्सा मालगुजारी के रूप में अपनी जमीन के कर के तौर पर सरकार को अदा करता है। इस तरह जमीन की उपज तीन हिस्सों में बंट जाती है; एक हिस्सा जमींदार को मिलता है, दूसरा सरकार को जाता है और तीसरा जो बचता है, असामी-काश्तकार के पल्ले पड़ता है। यह खयाल न करना कि ये हिस्से सब बराबर-बराबर होते होंगे। किसान खेत पर काम करता है, और यह उसीकी मेहनत, जुताई, बुआई और दसियों तरह की दूसरी कोशिशों का नतीजा है कि जमीन से कुछ पैदा होता है। जाहिर है कि अपनी मेहनत का फल उसे मिलना चाहिए। राज्य को सारे समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से हरेक व्यक्ति के लाभ के लिए बहुत से जरूरी काम पूरे करने होते हैं। सरकार का काम है कि सारे बच्चों की शिक्षा का प्रबंध करे, अच्छी सड़कें और यातायात के दूसरे साधन बनावे, अस्पताल और सफ़ाई के महकमे रक्खे, बाग़-बग़ीचे और अजायबघर और अनेकों अन्य बातों का इन्तजाम करें। इसके लिए उसे रुपयों की जरूरत होती है और इसलिए यह मुनासिब ही है कि जमीन की पैदावार में से वह एक हिस्सा लेले। वह हिस्सा कितना होना चाहिए, यह सवाल दूसरा है। किसान जो कुछ राज्य को देता है, वह तो असल में सड़कों, शिक्षा, सार्वजनिक सफाई, वग़ैरा सरकारी सेवाओं के रूप में उसे वापस मिल जाता है या मिल जाना चाहिए। आजकल भारत की सरकार विदेशी है, और इसलिए हम उसे पसन्द नहीं करते। लेकिन ठीक तरह से सगठित और स्वतत्र देश में जनता ही राज्य होती है।

इस तरह जमीन की पैदावार के दो हिस्सो से तो हम निबट चुके—एक हिस्सा काश्तकार का और दूसरा राज्य का। तीसरा, जैसाकि हम देख चुके हैं जमींदार या बिचोलिये को मिलता है। इसको पाने या इसका हकदार होने के लिए वह क्या करता है? बिलकुल कुछ भी नहीं, या व्यवहार में कुछ नहीं। पैदावार के काम में बिना किसी तरह की मदद पहुँचाए ही वह पैदावार का एक बड़ा हिस्सा—अपना लगान—ले लेता है। इस तरह वह बग्घी का पाँचवाँ पहिया हो जाता है, जो न सिर्फ अनावश्यक ही है बल्कि एक रुकावट और जमीन पर बोझ भी है। और जाहिर है कि जो व्यक्ति इस अनावश्यक बोझ से सबसे अधिक तकलीफ़ उठाता है वह है बेचारा काश्तकार, जिसे अपनी कमाई का हिस्सा निकाल कर देना पड़ता है। यही कारण है कि बहुत-से लोगो का खयाल है कि जमीदार या ताल्लुकेदार बिलकुल अनावश्यक बिचोलिया है, और जमीदारी एक खराब प्रथा है, इसलिए बदल दी जानी चाहिए, जिससे कि यह बिचोलिया उड़ जाय। इस समय यह जमीदारी प्रथा मुख्यतया भारत के तीन प्रान्तो में, यानी बगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश मे, जारी है।

दूसरे प्रान्तों मे काश्तकार अपना लगान आमतौर पर सीधा राज्य को अदा करते हैं, कोई बिचोलिये वहाँ नही हैं। कभी-कभी ये लोग भू-स्वामी किसान कहलाते हैं; कही-कही, जैसे पंजाब में, उन्हे जमीदार कहा जाता है, लेकिन ये उत्तर प्रदेश, बंगाल और बिहार के बड़े-बड़े जमीदारों से भिन्न होते हैं।

इस लम्बी-चौड़ी व्याख्या के बाद अब मै तुम्हें बताना चाहता हूँ कि बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में पनपनेवाली यह जमींदारी प्रथा, जिसके बारे में हम इन दिनो इतना सुनते रहते हैं, भारत में एक बिलकुल नई चीज है। यह अंग्रेजो की पैदा की हुई है। उनके आने से पहले इसकी हस्ती नही थी।

पुराने जमाने में इस तरह के कोई जमींदार, ताल्लुकेदार या बिचोलिये नही होते थे। काश्तकार अपनी पैदावार का एक हिस्सा सीधा राज्य को देते रहते थे। कभी-कभी ग्राम पंचायत गाँव के काश्तकारों की तरफ़ से यह काम कर देती थी। अकबर के जमाने में उसके प्रसिद्ध अर्थ-मंत्री राजा टोडरमल ने बड़ी सावधानी से जमीन की पैमाइश करवाई थी। सरकार या राज्य काश्तकार से पैदावार का तीसरा हिस्सा लेता था, जिसे काश्तकार चाहता तो नक़दी में भी अदा कर सकता था। आमतौर पर करों का बोझ ज्यादा नही था और वे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाये गये थे। इसके बाद मुग़ल साम्राज्य के पतन का जमाना आया। केन्द्रीय शासन कमजोर हो गया और करो की वसूली ठीक-ठीक नहीं हो सकी। तब वसूली का एक नया तरीक़ा पैदा हुआ। लगान वसूल करने वाले तनख्वाह पर नहीं, बल्कि एजेण्ट के तौर पर नियुक्त किये गए, जो वसूल हुई रकम का दसवाँ हिस्सा अपने लिए रख सकते थे। इन्हें मालगुजार, या कभी-कभी जमींदार या ताल्लुक़ेदार कहा जाता था; लेकिन खयाल रहे कि इन शब्दों का तब वह अर्थ नहीं होता था, जो आज किया जाता है।

जैसे-जैसे केन्द्रीय शासन ढीला पड़ता गया, यह प्रथा भी दिन पर दिन बिगड़ती गई। हालत यहाँ तक पहुंची कि हर क्षेत्र की मालगुज़ारी का नीलाम होने लगा और सबसे ऊँची बोली लगाने वाले को यह काम मिलने लगा। इसका अर्थ यह था कि जिसे यह काम मिलता उसको बदनसीब काश्तकार से जितना चाहें उतना रुपया ऐंठने की खुली छूट रहती थी, और अपनी इस छूट का वह भरपूर उपयोग करता था। धीरे-धीरे ये मालगुज़ार मौरूसी होने लगे, क्योंकि सरकार इतनी कमज़ोर हो गई थी कि इन्हे हटा न सकी।

वास्तव में पहले-पहल बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मानी जानेवाली क़ानूनी हैसियत मुग़ल बादशाह की तरफ़ से काम करने वाले मालगुज़ार की थी। सन् १७६५ ई० में कम्पनी को दिये गए 'दीवानी' के पट्टे का यही मतलब था। इस तरह कम्पनी दिल्ली के मुग़ल बादशाह की दीवान-सी बन गई। लेकिन यह सब धोखा था। सन् १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई के बाद बंगाल में अंग्रेजों की ही तूती बोलती थी; बेचारे मुग़ल सम्राट के पास कही भी नाममात्र को या बिल्कुल अधिकार नही रहा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और उसके अफ़सर बेहद लालची थे। जैसाकि मै तुम्हें बता चुका हूँ, इन लोगों ने बंगाल का खज़ाना खाली कर डाला, और जहाँ कही भी मौक़ा लगता पैसे पर जबर्दस्ती पजा मारने में न चूकते थे। उन्होंने बंगाल और बिहार को निचोड़ डालने और ज्यादा-से-ज्यादा लगान वसूल करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे मालगुज़ारों की सृष्टि की और उनसे लगान की माँग बहुत बुरी तरह बढा दी। जमीन का लगान थोड़े ही दिनो में दुगुना हो गया और बड़ी क्रूरता से वसूल किया जाने लगा और अगर कोई वक़्त पर लगान अदा न करता तो फ़ौरन बेदखल कर दिया जाता था। मालगुज़ार अपनी तरफ से यह बेरहमी और सितमगरी काश्तकारो पर ढाते, उन पर भारी-से-भारी लगान लगा दिया जाता, और उनके पट्टे छीन लिये जाते। प्लासी की लड़ाई के बारह वर्ष में यानी दीवानी की सनद दिये जाने के चार वर्ष में ही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति से और साथ ही वर्षा न होने से बगाल और बिहार में ऐसा भयंकर अकाल पड़ा कि उसमें कुल आबादी का एक-तिहाई हिस्सा मर-खप गया। सन् १७६९-७० ई० के इस अकाल की चर्चा में एक पिछले पत्र में कर चुका हूँ, और यह भी बता चुका हूँ कि इस अकाल के होते हुए भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगान की पाई-पाई वसूल करके छोड़ी। इस बारे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफ़सरो की असाधारण मुस्तैदी का ज़िक्र खास तौर पर किये जाने के लायक है। बीसियो लाख पुरुष, स्त्री और बच्चे मर गये, पर उन्होने लाशों तक से रुपया वसूल कर लिया ताकि इग्लैण्ड के मालदारों को भारी-से-भारी मुनाफ़े बाँटे जासकें।

इस तरह अगले बीस या कुछ अधिक वर्षों तक यही सिलसिला चलता रहा। अकाल होने पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी रुपया ऐंठती रही और बगाल के सुन्दर प्रान्त को तबाह कर दिया गया। बड़े-बड़े माल-गुज़ार तक भिखारी हो गये, और सिर्फ़ इसी से इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मुसीबत के मारे काश्तकारों की क्या दुर्गति हुई होगी। हालत इतनी खराब हो गई कि खुद ईस्ट इण्डिया कम्पनी को चेतना पड़ा, और उसे सुधारने की कोशिश करनी पड़ी। उस समय का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस, जो खुद इग्लैण्ड का एक बड़ा ज़मीदार था, भारत में अंग्रेज़ी ढग के ज़मीदार पैदा करना चाहता था। पिछले कुछ अर्से से मालगुज़ार लोग ज़मीदारो की ही तरह बर्ताव कर रहे थे। कार्नवालिस ने इनके साथ समझौता करके इन्हें ही ज़मीदार मान लिया। नतीजा यह हुआ कि पहली बार भारत को यह नया बिचोलिया मिला, और बेचारे काश्तकार महज़ असामी रह गए। अंग्रेज़ों ने इन ज़मीदारो से अपना सीधा सम्बन्ध रक्खा और उन्हें अपने असामियों के साथ मनमानी करने को खुला छोड़ दिया। ज़मीदार की लूट से बेचारे किसान की रक्षा का कोई साधन न था।

बंगाल और बिहार के ज़मींदारों के साथ सन् १७९३ ई० में कार्नवालिस ने जो बन्दोबस्त किया था वह 'दायमी बन्दोबस्त' कहलाता है। 'बन्दोबस्त' शब्द का अर्थ है हरेक ज़मीदार द्वारा सरकार को दिये जाने वाले लगान की रक़म निश्चित किया जाना। बंगाल और बिहार के लिए यह बन्दोबस्त स्थायी कर दिया गया। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। बाद में जब उत्तर-पश्चिम में अवध और आगरा तक अंग्रेज़ी राज्य बढ़ गया, तब उनकी नीति बदल गई। फिर ज़मीदारों के साथ बंगाल की तरह स्थायी बन्दोबस्त न करके, अस्थायी बन्दोबस्त किया गया। यह अस्थायी बन्दोबस्त समय-समय पर, आमतौर पर

हर तीसवें साल, दुरुस्त किया जाता था और लगान की रक़म फिर नये सिरे से निश्चित की जाती थी। साधारणतया हर बन्दोबस्त में यह रक़म बढ़ती ही जाती थी।

दक्षिण में मद्रास में और उसके आसपास ज़मीदारी प्रथा रायज नहीं थी। वहाँ मौरूसी काश्तकारी थी और इसलिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सीधा किसानों से बन्दोबस्त कर लिया। लेकिन वहाँ और हर जगह, प्रचंड लालच की वजह से कम्पनी के अफ़सरों ने लगान की रक़में बहुत ऊँची निश्चित करदी और उन्हें बड़ी क्रूरता से वसूल किया गया। न देने पर फौरन बेदख़ली थी; लेकिन बेचारा किसान कहाँ जाता ? धरती पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव होने की वजह से हमेशा उसकी मांग रहती थी; इसलिए भूखों मरते आदमी किन्ही भी शर्तों पर उसे लेने को तैयार रहते थे। जब मुसीबतें झेलते-झेलते किसान और ज्यादा सहन न कर सकते तो अक्सर लड़ाई-झगड़े और किसानी दंगे हो जाया करते थे।

उन्नीसवीं सदी के लगभग बंगाल में एक नया अत्याचार शुरू हुआ। कुछ अँग्रेज नील का व्यापार करने की ग़रज़ से ज़मींदार बन बैठे। उन्होंने अपने असामियो से नील की खेती के बारे में बड़ी सख्त शर्तें की। उन्हे अपने खेतों के कुछ नियत हिस्से में नील की काश्त करने और फिर उसे प्लाण्टर्स कहाने वाले अँग्रेज़ी ज़मीदारों के हाथ एक बँधी दर पर बेचने के लिए मजबूर किया गया। यह प्रथा 'प्लाण्टेशन' प्रथा कहलाती है। असामियो पर लादी गई शर्तें इतनी सख्त थी कि उनके लिए उनको पूरा करना बहुत मुश्किल था। तब प्लाण्टर लोगो की मदद के लिए अंग्रेज़ सरकार आ पहुँची और उसने बेचारे किसानो से इन शर्तों के मुताबिक जबर्दस्ती नील की खेती कराने के लिए खास कानून बना दिये। इन कानूनो और इनके मातहत सजाओ के ज़रिये नील की खेती करने वाले असामी कुछ बातो में इन प्लाण्टरो के चाकर और ग़ुलाम हो गये। नील के कारख़ानों के कारिन्दे उनको सताते और डराते-धमकाते रहते थे, क्योंकि सरकार से सरक्षण पाकर ये अँग्रेज़ या भारतीय कारिन्दे अपने आपको बिलकुल सुरक्षित समझते थे। अक्सर, जब नील की कीमत गिर जाती, तब काश्तकार को चावल या कोई अन्य चीज़ बोने में ज्यादा फायदा रहता, लेकिन उसे ऐसा नही करने दिया जाता था। काश्तकार के लिए सख्त मुसीबत और तबाही थी। अन्त में इन ज़ुल्मों से तग आकर कीड़े ने भी करवट बदली। किसान वर्ग प्लाण्टरों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और उन्होंने एक कारखाने को लूट लिया। लेकिन वे कुचलकर दबा दिये गये।

इस पत्र मे मैंने कुछ विस्तार के साथ उन्नीसवी सदी के किसानो की हालत का एक चित्र तुम्हे दिखाने की कोशिश की है। मैंने यह समझाने की कोशिश की है कि किस तरह भारतीय किसान की बुरी हालत बिगडती चली गई; किस तरह उसके सम्पर्क में आनेवाले हर व्यक्ति ने उसे निचोड़ा; क्या लगान वसूल करने वाले ने, क्या ज़मीदार ने, क्या बनिये ने, क्या प्लाण्टर और उसके कारिन्दों ने और क्या सबसे बड़े बनिये खुद अंग्रेज़ सरकार ने--चाहे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मार्फ़त, चाहे सीधी तौर पर। क्योंकि इस सारे शोषण की जड में थी अंग्रेज़ों की वह नीति जो वे भारत में जान-बूझकर बरत रहे थे। घरेलू उद्योगो का, उनकी जगह दूसरे उद्योग जारी करने की कोशिश किये बिना ही, उजाड़ दिया जाना; बेरोज़गार कारीगर को गाँव में खदेड़ दिया जाना जिसके फलस्वरूप ज़मीन पर ज़रूरत से ज्यादा दबाव पड़ना; ज़मीदारी; नील की खेती की प्रथा; ज़मीन पर भारी टैक्स जिसके फलस्वरूप कस कर लगान लगाया जाना और क्रूरता से वसूल किया जाना; किसानों को सूदखोर बनियों की शरण में फेंकना, जिनके फौलादी पंजे से वे कभी न निकल सकें; वक़्त पर लगान या मालगुज़ारी अदा न कर सकने की हालत में बेशुमार बेदख़लियाँ; और इन सबके ऊपर पुलिस के सिपाही का, महसूल इकट्ठा करनेवाले का और ज़मीदार और कारख़ाने के कारिन्दों का सतत आतंक जिसने किसानों की रही सही भावना और आत्मा को भी नष्टप्राय कर दिया। इस सबका नतीजा अनिवार्य दुर्दशा तथा भयंकर आफत के सिवा और क्या हो सकता था ?

भयंकर अकाल पडे, जिनसे लाखों की आबादी मौत के मुह में चली गई। और अजीब बात तो यह कि जब अनाज की कमी थी और लोग उसके बिना भूखों मर रहे थे, उसी समय गेहूँ और दूसरे अनाज धनवान व्यापारियों के मुनाफ़े के लिए देश के बाहर भेजे जा रहे थे। लेकिन वास्तव में दुख की बात खाने की कमी की नहीं थी, क्योकि खाद्य-पदार्थ तो रेल के द्वारा देश के अन्य हिस्सों से भी मगाया जा सकता था, बल्कि खरीदने के साधनों के अभाव की थी। सन् १८६१ ई० में उत्तर भारत में, खासकर हमारे प्रान्त में, भारी अकाल पड़ा, और कहा जाता है कि उस अकाल-ग्रसित क्षेत्र की ८½ फीसदी आबादी मौत की भेंट हुई। पन्द्रह

वर्ष बाद, सन् १८७६ ई० में, और दो वर्ष तक, एक और भयानक अकाल उत्तरी, मध्य और दक्षिण भारत में पड़ा। उत्तर-प्रदेश की फिर सबसे ज्यादा तबाही हुई और साथ ही मध्यभारत और पंजाब के कुछ हिस्सों की भी। क़रीब एक करोड़ आदमी काल के गाल में चले गये! बीस वर्ष बाद, सन् १८९६ ई० में, लगभग इसी अभागे क्षेत्र में, भारत के इतिहास में अभूतपूर्व एक और भयंकर अकाल पड़ा। भयंकर मार ने उत्तरी और मध्य भारत की कमर तोड़ दी और उसे बिल्कुल पस्त कर दिया। सन् १९०० ई० में फिर एक और अकाल पड़ा।

इस छोटे से पैरा में मैंने तुम्हें चालीस साल के अन्दर होने वाले चार जबरदस्त अकालों का हाल बताया है। इस दर्दनाक कहानी में, जो भयानक मुसीबतें और भीषणतायें भरी हुई है, उन्हें न तो मैं बयान कर सकता हूँ, न तुम महसूस कर सकती हो। असल बात यह है कि शायद मैं यह चाहता भी नही कि तुम यह महसूस करो, क्योंकि इस महसूसियत से रोष और कटुता पैदा होगे और मैं नहीं चाहता कि इस छोटी-सी उम्र में तुम्हारे मन में कटुता पैदा हो।

तुमने उस अंग्रेज वीरांगना फ्लोरेंस नाइटिंगेल का नाम सुना है, जिसने पहले-पहल युद्ध में घायलों की सेवा-शुश्रूषा का सुव्यवस्थित संगठन किया था। बहुत पहले ही सन् १८७८ ई० में, उसने लिखा था—"हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नही-नही शायद सारी दुनिया में, सबसे ज्यादा दर्दनाक दृश्य है।" "हमारे क़ानूनो के परिणामों" की चर्चा करते हुए उसने लिखा है कि "इन्होंने दुनिया के सबसे ज्यादा उपजाऊ मुल्क में, और बहुत-सी ऐसी जगहों पर जहाँ अकाल नाम की कोई चीज ही नही है, एक पीस डालने वाली, राज रोग के समान अर्द्ध-भुखमरी की हालत" पैदा करदी।

हमारे किसानों की शंकित और हताश दृष्टिवाली धंसी हुई आखों से अधिक विषादमय दृश्य सचमुच नजर ही नहीं आसकता। हमारा किसान वर्ग इतने वर्षों से कितना बोझ उठाता चला आ रहा है! और हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हममें से जो थोड़े बहुत खुशहाल हो पाये है, उन्होने तो इस बोझ को कुछ बढ़ाया है। क्या विदेशी और क्या भारतवासी, सभी लोगो ने इस युग-पीड़ित किसान का शोषण करने की कोशिश की है और सभी इसकी पीठ पर सवारी गाँठे बैठे है। ऐसी हालत में उसकी पीठ टूट रही हो तो इसमें ताज्जुब क्या है?

लेकिन, अन्त में बहुत दिन बाद, किसान को आशा की एक किरण दिखाई दी, अच्छे दिन आने और बोझा हलका होने की धीमी-सी आवाज उसके कानो में सुनाई दी। एक छोटा-सा व्यक्ति आया जिसने उसकी आँखों में आँखें मिलाईं, उसके मुरझाये हुए दिल की तह तक पहुँचकर उसकी युग-पीडा को अनुभव किया। इसकी नजर में जादू था, स्पर्श में आग थी, आवाज में सहानुभूति और हृदय में करुणा, छलकता हुआ प्रेम और मृत्युपर्यन्त विश्वास-पात्रता थी। और जब किसानों ने, मजदूरों ने और उन सबने, जो पैरों तले रौंदे जा रहे थे, उसे देखा और उसकी आवाज सुनी, तो उनके मुर्दा दिल में जीवन जाग उठा और वे पुलकित हो उठे; उनमें एक विचित्र आशा का उदय हुआ और हर्ष के मारे वे चिल्ला उठे—"महात्मा गाधी की जय", और अपने कष्टो की घाटी से बाहर निकलने के लिए चल खडे हुए। लेकिन जो पुरानी चक्की इतने दिनों से इन्हें पीस रही थी, वह उन्हें आसानी से छोड़ने वाली नही थी। वह फिर चली, और उन्हें कुचलने के लिए उसने नये हथियार, नये क़ानून, और आर्डिनेन्स निकाले और जकड़ने के लिए नई जंजीरें तैयार की। और आगे?—यह मेरे किस्से या इतिहास का भाग नही है। यह अभी आगे आने वाले 'कल' की बात है और जब वह 'कल' 'आज' हो जायगा, तब हम सब कुछ जान जायेंगे क्या इसमें किसी को सन्देह है?

: ११२ :

ब्रिटेन ने भारत पर शासन कैसे किया

५ दिसम्बर, १९३२

उन्नीसवीं सदी के भारत के सम्बन्ध में तुम्हें मैं तीन लम्बे पत्र लिख चुका हूँ। यह एक लम्बी दास्तान है और लम्बी वेदना है, और अगर मैं इसे संक्षिप्त करदूं तो मुझे डर है कि तुम्हारे लिए उसका समझना और भी ज्यादा मुश्किल हो जायगा। दूसरे देशों या ज़मानों की बनिस्बत मैं भारत के इतिहास के इस ज़माने पर शायद ज्यादा ज़ोर दे रहा हूँ। यह अस्वाभाविक नहीं है। भारतवासी होने के नाते मेरी इसमें ज्यादा दिलचस्पी है, और इसके बारे में ज्यादा जानकारी होने की वजह से, मैं अच्छी तरह लिख भी सकता हूँ। इसके अलावा यह ज़माना हमारे लिए ऐतिहासिक दिलचस्पी से बहुत ज्यादा महत्व रखता है। जिस आधुनिक भारत को आज हम पाते हैं वह उन्नीसवीं सदी की इसी गर्भ-पीड़ा में बना और आकारवान हुआ है। इस समय भारत जैसा है, उसे अगर हमें समझना है, तो हमें उन कारणों को भी ज़रूर समझना होगा, जिन्होंने इसे बनाया या बिगाड़ा है। तभी हम समझदारी के साथ सेवा कर सकेंगे और तभी यह जान सकेंगे कि हमें क्या करना चाहिए और कौन-सा रास्ता अपनाना चाहिए।

भारत के इतिहास के इस काल का विवरण अभी मैंने समाप्त नहीं किया है। अभी तो मुझे बहुत कुछ कहना है। इन पत्रों में मैं इसके एक या अधिक पहलुओं को लूंगा और उसके सम्बन्ध में कुछ बताने की कोशिश करूंगा। हरेक पहलू पर मैं अलग-अलग चर्चा करूँगा, ताकि उसके समझने में आसानी हो। अलबत्ता तुम देखोगी कि जिन प्रगतियों और परिवर्त्तनों का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ और जिनकी चर्चा इस पत्र में और अगले पत्रों में करूँगा, वे सब कम-बढ़ एक ही साथ घटित हुए हैं, एक का दूसरे पर असर पड़ा है और इन्हींके बीच उन्नीसवीं सदी के भारत का जन्म हुआ है।

भारत में अंग्रेज़ों की इन करतूतों और काली करतूतों का हाल पढ़कर कभी-कभी तो तुम उनके द्वारा बरती जानेवाली नीति पर और उससे पैदा हुई व्यापक तबाही पर क्रोध करने लगोगी। लेकिन इस के होने में कुसूर किसका था? क्या यह सब हमारी ही कमज़ोरी और अज्ञानता का नतीजा नहीं था? कमज़ोरी और बेवक़ूफ़ी हमेशा अत्याचारी शासन को न्यौता देने वाले हुआ करते हैं। अगर अंग्रेज हमारी आपसी फूट से फायदा उठा सकते हैं, तो यह हमारी ही ग़लती है कि हम आपस में झगड़ते हैं। जुदा-जुदा दलों की ख़ुदगर्ज़ी का सहारा लेकर अगर वे हममें फूट डाल सकते हैं और यूं हमें कमज़ोर बना सकते हैं, तो ऐसा होने देना ख़ुद इस बात की निशानी है कि अंग्रेज़ हमसे ऊँचे हैं। इसलिए, अगर तुम्हें नाराज़ होना हो तो इस कमज़ोरी, अज्ञानता और आपसी लड़ाई पर नाराज़ होना, क्योंकि येही चीज़ें हमारी मुसीबतों के लिए ज़िम्मेदार हैं।

हम लोग अंग्रेज़ों के अत्याचार की बात करते हैं। लेकिन असल में यह अत्याचार है किसका? कौन इससे फायदा उठाता है? सारी अंग्रेज जाति नहीं, क्योंकि ख़ुद उस जाति में लाखों बदनसीब और पीड़ित लोग हैं। और निस्सन्देह भारतवासियों के कई छोटे-छोटे दल और वर्ग ऐसे हैं, जिन्होंने भारत के ब्रिटिश शोषण से कुछ-न-कुछ लाभ उठाया है। तब हम भेद कहाँ करें? वास्तव में यह प्रश्न व्यक्तियों का नहीं प्रणाली का है। हम एक विशाल मशीन के नीचे दबे रहे हैं, जिसने भारत के लाखों-करोड़ों को निचोड़ा और कुचला है। यह मशीन है औद्योगिक पूंजीवाद से उत्पन्न नये साम्राज्यवाद की। इस शोषण का लाभ ज्यादातर इंग्लैण्ड को जाता है, लेकिन इंग्लैण्ड में उसका लगभग सारा फ़ायदा कुछ ख़ास वर्गों को ही पहुँचता है। इसी तरह इस शोषण के लाभ का कुछ हिस्सा भारत में भी रहता है, और कुछ वर्ग उससे फ़ायदा उठाते हैं। इसलिए हमारा व्यक्तियों से या सारी अंग्रेज़ जाति से नाराज़ होना बेवक़ूफ़ी है। अगर कोई प्रणाली ग़लत है और हमें नुकसान पहुँचाती है, तो उसी को बदलना चाहिए। इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उस प्रणाली को कौन चलाता है और अक्सर भले आदमी भी किसी बुरी प्रणाली में पड़कर लाचार हो जाते हैं। दुनिया भर की नेकनीयती पर भी कोई बालू और पत्थर को अच्छे खाने में नहीं बदल सकता,

चाहे जितना कोई उन्हें पकावे। मेरे खयाल से यही बात साम्राज्यवाद और पूंजीवाद पर भी लागू होती है। इनमें सुधार हो नहीं सकता; इनका एकमात्र असली सुधार है इनको जड़ से उखाड़ फेंकना। लेकिन यह मेरी अपनी राय है। कुछ लोग इससे मतभेद रखते हैं। तुम्हें किसी बात को ज्यों का त्यों मान लेने की जरूरत नहीं। जब समय आयगा, तुम अपने आप अपने नतीजे निकाल सकोगी। लेकिन एक बात से ज्यादातर लोग सहमत हैं कि जो कुछ खराब है वह प्रणाली है, और इस लिए व्यक्तियों से खीझना बेकार है। अगर हम कोई परिवर्तन चाहते हैं, तो हमें इस प्रणाली पर हमला करके उसे बदल डालना चाहिए। इस प्रणाली के कुछ हानिकर प्रभाव हम भारत में देख चुके हैं। जब हम चीन, मिस्र और बहुत-से अन्य देशों का विचार करते हैं, तो वहां भी हम उसी प्रणाली को, पूंजीवादी साम्राज्यवाद की उसी मशीन को, काम करती हुई और लोगों का शोषण करती हुई देखते हैं।

अब हम अपनी कहानी पर आते हैं। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि जिस समय अंग्रेज भारत में आये, यहां के घरेलू उद्योगों की अवस्था बहुत उन्नत थी। उत्पादन के तरीकों की स्वाभाविक प्रगति के साथ, अगर उसमें बाहरी हस्तक्षेप न होता, तो सम्भव था कि कभी-न-कभी भारत में भी मशीनों का उद्योग आ जाता। लोहा और कोयला इस देश में मौजूद था और, जैसा कि हम इंग्लैण्ड में देख चुके हैं, इन चीजों ने नये उद्योग-वाद को बहुत मदद पहुँचाई और वास्तव में कुछ अंश में उसे जन्म दिया। अन्त में यही भारत में भी हुआ होता। राजनैतिक परिस्थितियों में गड़बड़ी के कारण सम्भव है कि इसमें कुछ देर लग जाती। लेकिन इसी बीच अंग्रेजों ने टांग अड़ा दी। ये लोग ऐसे देश और ऐसी जाति के प्रतिनिधि थे, जिसने अपने यहाँ के पुराने तरीके को बदल कर बड़ी मशीन के नये उत्पादन को अपना लिया था। इससे यह कल्पना की जा सकती थी कि ये लोग भारत में भी इसी तरह का परिवर्तन पसन्द करेंगे और यहाँ जिस वर्ग के लोगो के द्वारा इस तरह का परिवर्तन पैदा होने की सम्भवना हो उसे प्रोत्साहित भी करेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नही किया। बल्कि उन्होंने वास्तव में इससे बिलकुल उलटा ही किया। भारत को अपना सम्मानित प्रतिद्वन्द्वी मानकर उन्होंने उसके उद्योगों को नष्ट कर डाला और मशीनो के उद्योग को हर तरह से निरुत्साहित किया।

इस तरह हम भारत में एक निराली हालत पाते हैं। हम देखते हैं कि इस समय योरप में सबसे आगे बढ़े हुए ये अंग्रेज भारत में सबसे ज्यादा पिछड़े हुए और दकियानूसी वर्गों के साथ गठ-बन्धन कर रहे हैं। वे मरणोन्मुख सामन्ती वर्ग को टेका देकर खड़ा कर रहे हैं; जमीदार पैदा कर रहे है, सैकड़ों अधीन देशी राजाओं को उनकी अर्द्ध-सामन्ती रियासतों में सहारा दे रहे हैं। वे भारत में जान बूझकर सामन्तवाद को मजबूत बना रहे हैं। येही अंग्रेज योरप में मध्यमवर्ग की उस क्रांति के अगुआ थे, जिसने उनकी पार्लमेण्ट को अधिकार दिलाया था; येही उस औद्योगिक क्रान्ति में भी अगुआ थे, जिसके परिणाम-स्वरूप संसार में औद्योगिक पूँजीवाद चालू हुआ। इन बातों में अगुआ होने के कारण ही वे अपने प्रतिद्वन्दियो से कही आगे बढ़ गये और एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर पाये।

अंग्रेजों ने भारत में इस तरह का व्यवहार क्यों किया, यह समझना मुश्किल नही है। पूँजीवाद की सारी बुनियाद गर्दन-मार प्रतिद्वन्द्विता और शोषण पर है, और साम्राज्यवाद इससे आगे बढ़ी हुई अवस्था का नाम है। इसलिए हाथ में सत्ता होने के कारण अंग्रेजो ने अपने असली प्रतिद्वन्द्वियो की हत्या कर डाली, और दूसरे प्रतिद्वन्द्वियो की बढोतरी को जान-बूझकर रोक दिया। जनता से मेल बढा सकना उनके लिए सम्भव नही था, क्योंकि भारत में उनके रहने का सारा प्रयोजन ही जनता का शोषण करना था। शोषकों-शोषितों के हित कभी एक नही हो सकते। इसलिए उन्होने—अंग्रेजों ने—भारत में अभी तक मौजूद सामन्तशाही के अवशेषों की आड ली। जब अंग्रेज यहाँ आये तभी इन लोगों में असली ताकत कुछ भी बाकी नही थी; लेकिन इन्हें सहारा देकर खड़ा किया गया और देश की लूट का कुछ हिस्सा इन्हें दिया जाने लगा। लेकिन ऐसे वर्ग को, जिसकी उपयोगिता खतम हो चुकी थी, इस तरह का सहारा कुछ ही समय के लिए राहत पहुँचा सकता था; सहारे के हटते ही या तो वे अवश्य धराशायी हो जाते या फिर अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेते। अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर इस तरह की कुछ नहीं तो सात सौ छोटी-बड़ी देशी रियासतें थीं। इन बड़ी रियासतो में से हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर, वगैरा, कुछ को तुम जानती हो। लेकिन यह कौतूहल की बात है कि इन रियासतों के ज्यादातर देशी नरेश पुराने सामन्ती राजवंशों के वंशज नहीं हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह कि अधिकाश बड़े जमीदारों की कोई बहुत

प्राचीन परम्परा नहीं है। हाँ, उदयपुर के महाराणा, जो सूर्यवंशी राजपूतों में सबसे बड़े माने जाते हैं, जरूर एक ऐसे राजा हैं जो अपनी वंशावली का अज्ञात प्रागैतिहासिक काल से पिछला सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। जापान का राजा मिकाडो ही शायद एक ऐसा जीवित व्यक्ति है, जो इस बात में उनकी बराबरी कर सकता है।

अंग्रेजी हुकूमत ने धार्मिक कट्टरता को भी बढ़ावा दिया। यह बात कुछ अजीब-सी मालूम होती है, क्योंकि अंग्रेज लोग अपने को ईसाई धर्म का अनुयायी मानते थे, फिर भी उनके आगमन ने भारत में हिन्दू धर्म और इस्लाम को और भी कट्टर बना दिया। कुछ हद तक यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी, क्योंकि विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए किसी देश के धर्म और संस्कृति कठोर रूप धारण करने लगते हैं। इसी तरह से मुसलमानों के हमलों के बाद हिन्दू धर्म में कट्टरपन आगया, और जात-पात का भेद बढ़ गया। अब हिन्दू और इस्लाम दोनो ही धर्मों में इस ढंग की प्रतिक्रिया हो गई। लेकिन इसके अलावा भी, ब्रिटिश सरकार ने दोनों धर्मों के कट्टरपन्थी तत्वों को, वास्तव में जानबूझकर और अनजान में, दोनों तरह, सहायता दी। अंग्रेजों को धर्म या धर्म-परिवर्तन में कोई दिलचस्पी नही थी। वे तो हर तरह रुपया पैदा करना चाहते थे। मजहबी मामलों में किसी तरह का हस्तक्षेप करने से डरते थे, कि कही लोग गुस्से में आकर उनके विरुद्ध खड़े न हो जाय। इसलिए हस्तक्षेप की शंका तक न होने देने के लिए वे यहाँ तक आगे बढ़ गये कि देश के धर्मों की, या यो कहो कि धर्मों के ऊपरी रूप की, रक्षा और सहायता तक करने लगे। इसका नतीजा अक्सर यह हुआ कि धर्म का ऊपरी रूप तो बना रहा, लेकिन भीतर कुछ न रहा।

कट्टर-पन्थियो की नाराजगी के इस डर से सुधारों के मामले में सरकार इन्हीं लोगों का पक्ष लेने लगी। इस तरह सुधार का काम रुक गया। विदेशी सरकार के लिए कोई समाजिक सुधार करना बहुत कठिन होता है, क्योकि वह जो कुछ भी परिवर्त्तन करना चाहेगी, उसीका लोग विरोध करेंगे। हिन्दू धर्म और हिन्दू शास्त्र कई बातो मे परिवर्त्तनशील और प्रगतिशील थे; यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों में यह प्रगति बहुत धीमी रही। स्वय हिन्दू-शास्त्र अधिकांश में रिवाज ही है, और रिवाज हमेशा बदलते और पैदा होते रहते हैं। हिन्दू-शास्त्र का यह लचीलापन ब्रिटिश हुकूमत में ग़ायब होगया और उसकी जगह घोर कट्टर-पथियो की सलाह से बनाये गये कठोर कानूनी जाब्तों ने ले ली। इस तरह हिन्दू-समाज की वह धीमी प्रगति भी अब रुक गई। मुसलमानो ने तो नई परिस्थितियो का और भी ज्यादा विरोध किया। वे कूप-मडूक बन गये।

सती प्रथा को, जिसमे हिन्दू विधवा अपने पति की चिता पर जल जाती थी, मिटाने का अंग्रेज अपने को बहुत अधिक श्रेय देते हैं। कुछ हद तक वे इसके अधिकारी हैं भी, लेकिन सच तो यह है कि सरकार ने सिर्फ़ तभी क़दम उठाया जब राजा राममोहन राय के नेतृत्व में भारतीय सुधारकों ने इस प्रथा के विरुद्ध बरसों आन्दोलन किया। इससे पहले दूसरे शासको ने भी, और खासकर मराठों ने, इसे बन्द कर दिया था। गोआ में वहाँ के पुर्तगाली शासक अलबुकर्क ने इस प्रथा को उठा दिया था। अंग्रेजो ने जो इस प्रथा को बन्द किया वह भारतवासियों के आन्दोलन और ईसाई पादरियो की कोशिशों का नतीजा था। जहाँ तक मुझे याद है, धार्मिक महत्त्व का केवल यही एक सुधार है जो ब्रिटिश सरकार ने किया है।

इस तरह अंग्रेजों ने देश के सब प्रतिगामी और दकियानूसी वर्गों के साथ गंठ-बन्धन कर लिया। और उन्होंने यह कोशिश की कि भारत उनके उद्योगो के लिए कच्चा माल पैदा करने वाला बिलकुल कृषि-प्रधान देश बन जाय। भारत में कारखाने तरक्क़ी न पा सकें इसलिए उन्होंने यह किया कि भारत में मशीनों की आमद पर चुगी लगा दी! दूसरे देशो ने अपने उद्योग-धन्धो को खूब प्रोत्साहित किया। जैसा कि हम आगे देखेंगे, जापान ने औद्योगीकरण की सरपट दौड़ लगाई। लेकिन भारत में ब्रिटिश सरकार ने उसे रोके रक्खा। मशीनों पर इस चुगी के कारण, जोकि सन् १८६० ई० तक हटाई नही गई थी, भारत में कारखाना खोलने का खर्च, यहाँ पर मजदूरी कही अधिक सस्ती होने पर भी, इंग्लैण्ड से चौगुना पड़ता था। बाधा डालने की यह नीति प्रगति में देर भले ही कर सकती थी, घटनाओं के लाजिमी बहाव को नही रोक सकती थी। सदी के बीच के लगभग भारत में मशीन का उद्योग बढ़ने लगा। बंगाल में अंग्रेजी पूँजी से पटसन का उद्योग शुरू हुआ। रेलों के निकलने से उद्योग की वृद्धि में सहायता मिली और सन् १८८० ई० में बम्बई और अहमदाबाद में कपड़े की मिलें खुली जिनमें ज्यादातर भारतीय पूँजी लगी थी। इसके बाद खनिज

उद्योग की बारी आई। धीरे-धीरे होनेवाला यह औद्योगीकरण कपड़े की मिलों के सिवा, ज्यादातर अंग्रेज़ी पूंजी से हो रहा था। और यह सब कुछ हो रहा था सरकारी नीति के बावजूद भी। सरकार तो दखल न देने की नीति की दुहाई देती थी और कहती थी कि घटनाओं को अपने ढंग पर चलने दिया जाय और निजी तौर पर शुरू किये जाने वाले उद्योगों में दखल न दिया जाय। जब अठारहवीं और शुरू उन्नीसवीं सदियों में भारतीय व्यापार ब्रिटिश व्यापार का प्रतिद्वन्द्वी था, तब तो ब्रिटिश सरकार ने इंगलैण्ड में उसमें दखल देकर और उस पर भारी चुंगियाँ और प्रतिबन्ध लगा कर उसे कुचल दिया। अब सब कुछ क़ाबू कर लेने के बाद वह दखल न देने की नीति की बात कर सकती थी। लेकिन असली बात तो यह है कि वह सिर्फ़ उदासीन थी भी नहीं। बल्कि उसने तो कई भारतीय उद्योगों को, खासकर बम्बई और अहमदाबाद के बढ़ते हुए कपड़ा उद्योग को, वास्तव में निरुत्साहित किया। इन भारतीय मिलों के उत्पादन पर एक तरह का टैक्स या चुंगी लगाई गई, जिसे रूई पर आन्तरिक चुंगी का नाम दिया गया। इसका उद्देश्य था लंकाशायर के बने अंग्रेज़ी कपड़े को भारतीय कपड़े का मुक़ाबला करने में मदद पहुचाना। क़रीब-क़रीब सभी देश अपने उद्योगों की रक्षा के लिए या आमदनी बढ़ाने की ग़रज़ से विदेशी माल पर चुंगी लगाते है। लेकिन भारत में अंग्रेज़ों ने एक बहुत ही असाधारण और निराली बात की। उन्होंने खुद भारतीय माल पर ही चुगी लगा दी! जबर्दस्त आन्दोलन होने पर भी, रुई पर यह आन्तरिक चुगी कुछ वर्ष पहले तक जारी रही।

इस तरह सरकार की अडंगा-नीति के बावजूद भी भारत में धीरे-धीरे आधुनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति होती गई। भारत के धनिक वर्ग औद्योगिक विकास के लिए दिन पर दिन ज्यादा पुकार मचाते रहे। जहाँ तक मेरा खयाल है सन् १९०५ ई० में कही जाकर सरकार ने एक 'वाणिज्य और उद्योग विभाग' क़ायम किया। लेकिन फिर भी, महायुद्ध छिड़ने से पहले तक इस दिशा में उसने कुछ नही किया। औद्योगिक स्थिति की इस उन्नति ने शहरों के कारखानों में काम करने वाले औद्योगिक मजदूरो का एक वर्ग पैदा कर दिया। जमीन पर पड़ने वाला दबाव, जिसकी चर्चा मै कर चुका हूँ, और देहाती इलाको की अकालग्रस्त अवस्था, इन दोनों ने मिलकर गाँववालो को इन फ़ैक्टरियो में और बगाल और आसाम मे बढने वाले नील के खेतों में ला पटका। इस दबाव के कारण बहुत-से लोग अन्य देशो का प्रवास करने को राजी हो गये, क्योंकि वहाँ उन्हें अधिक मजदूरी मिलने की आशा दिलाई गई थी। ज्यादातर प्रवासी दक्षिण-अफरीका, फ़िजी, मॉरिशस और लंका को गये। लेकिन इस परिवर्त्तन से मजदूरो का कोई फायदा नही हुआ। कुछ देशों में इन प्रवासी भारतीयो के साथ बिलकुल गुलामो का-सा बर्ताव किया गया। आसाम के चाय के बग़ीचो के मजदूरों की हालत भी कुछ बहुत अच्छी न थी। बाद में निरुत्साहित और निराश होकर बहुतो ने चाय के बग़ीचे छोड़कर फिर अपने गाँवों को लौट जाना चाहा। लेकिन अपने गाँवों में भी उन्हें किसीने नहीं अपनाया, क्योंकि उनके लिए अब कोई ज़मीन बाक़ी नही रही थी।

कारखानो के मजदूरो को जल्दी ही मालूम हो गया कि थोड़ी-सी ज्यादा मजदूरी मिलने से उनका कुछ भला नही हुआ। शहर में हरेक चीज की क़ीमत ज्यादा देनी होती थी, और शहरों का सारा रहन-सहन ही बहुत ज्यादा खरचीला था। रहने की जो जगहें उन्हें मिलती थी, वे गन्दी, सीली, अधेरी और तंदुरुस्ती को बिगाड़ने वाली तग कोठरियाँ होती थीं। जिन हालतों में उन्हें काम करना पडता था वे भी बुरी थी। गाँवों में उन्हें अक्सर भूखों मरना पड़ता था, लेकिन धूप और ताजी हवा तो भरपूर मिल जाती थी। लेकिन कारखाने के मजदूर के लिए न तो ताजी हवा थी, न काफ़ी धूप। उनकी मजदूरी इतनी नही होती थी जो शहरी रहन-सहन के बढे हुए खर्चे को पूरा कर सके! स्त्रियों और बच्चो तक को बहुत घण्टो तक काम करना पड़ता था। गोदी के बच्चों वाली मातायें अपने बच्चों को अफ़ीम खिलाने लगी, जिससे कि वे उनके काम में रुकावट न डालें। औद्योगिक मजदूरों को जिन हालतों में कारखानों में काम करना पड़ता था वे ऐसी कष्टप्रद थी। निश्चय ही वे बहुत दुखी थे, और उनमें असंतोष बढ़ रहा था। कभी-कभी बहुत ही हताश होजाने पर वे हड़ताल भी कर देते थे। लेकिन वे बहुत ही निर्बल और कमजोर थे, इसलिए उनके पूंजीपति मालिक, जिनकी पीठ पर अक्सर सरकार का हाथ रहता था, आसानी से उन्हें कुचल देते थे। बहुत धीरे-धीरे और कड़वे अनुभवों के बाद उन्होंने सम्मिलित प्रयत्न का महत्त्व समझा। तब उन्होंने मजदूर-संघ बनाये।

यह न समझना कि यह वर्णन पिछली हालतों का है। मजदूरों की हालत में इधर कुछ सुधार

ज़रूर हुआ है, बेचारे मजदूरों के नाम मात्र के बचाव के लिए कुछ क़ानून भी बनाये गये हैं। लेकिन आज भी अगर तुम कानपुर या बम्बई या कुछ अन्य जगहों पर, जहाँ कारखाने हैं, जाकर देखो तो इन मजदूरों के घरों को देखकर तुम्हारा दिल दहल जायगा।

अपने इस पत्र में और दूसरे पिछले पत्रों में मैंने तुम्हें भारत में अंग्रेजों का और भारत में ब्रिटिश सरकार का हाल लिखा है। यह सरकार किस तरह की थी और कैसे चलती थी ? शुरू में ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी लेकिन उसकी पीठ पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट थी। सन् १८५८ ई० में महान् विद्रोह के बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने सीधा शासन सम्हाल लिया, और उसके बाद इंग्लैण्ड का बादशाह, या यू कहो कि बेगम, क्योंकि उस समय वहाँ मल्का राज करती थी, क़ैसरे-हिन्द बन गया। भारत में सबके ऊपर गवर्नर-जनरल था, जो वायसराय भी कहलाता था, और उसके नीचे अफ़सरो के दल के दल थे। भारत जैसा कि बहुत कुछ अब भी है, बड़े-बडे प्रान्तों और देशी रियासतों में बाट दिया गया था। देशी नरेशों की रियासतें मानी तो जाती थी अर्द्ध-स्वाधीन लेकिन वास्तव में वे पूरी तरह अंग्रेजों के अधीन थीं। हरेक बड़ी रियासत में एक अंग्रेज अफ़सर रहता था जो रेज़िडेण्ट कहलाता था और जो शासन पर सरसरा नियन्त्रण रखता था। अन्दरूनी सुधारो में उसे कोई दिलचस्पी न थी, और उसे इससे कोई मतलब न था कि रियासत का शासन कितना खराब या दक़ियानूसी है। उसकी दिलचस्पी तो सिर्फ़ इस बात में थी कि रियासत में ब्रिटिश सत्ता को किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा मज़बूत बनाया जाय।

भारत का क़रीब एक-तिहाई हिस्सा इन रियासतों में बँटा हुआ था। बाक़ी का दो-तिहाई हिस्सा सीधा ब्रिटिश सरकार के अधीन था। इसलिए यह दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश भारत कहलाता था। ब्रिटिश भारत के सब ऊँचे अफ़सर अंग्रेज होते थे। हाँ, उन्नीसवी सदी के अन्त में कुछेक भारतवासी इन ओहदो तक पहुँच गये। लेकिन फिर भी तमाम सत्ता और अधिकार अग्रेज़ों के ही हाथ में रहे, और अभी भी हैं। फौजी अधिकारियों को छोड कर बाक़ी के ये सब ऊँचे अफसर इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। इस तरह भारत के सारे शासन की बागडोर इसी आई० सी० एस० विभाग के हाथों में थी। एक-दूसरे के द्वारा नियुक्त किये हुए और अपने कामो के लिए जनता के प्रति कोई उत्तरदायित्व न रखनेवाले अफसरो की ऐसी सरकार नौकरशाही कहलाती है।

इस आई० सी० एस० के बारे में हम बहुत कुछ सुनते रहते है। इन लोगो का एक निराला दल बन गया है। कुछ बातो में वे बडे कार्य कुशल होते थे। वे शासन की व्यवस्था करते थे, ब्रिटिश हुकूमत को मज़बूत बनाते थे, और उसी सिलसिले में खुद भी उससे खूब फायदा उठाते थे। ब्रिटिश शासन को जमाने मे और टैक्स वसूल करने मे सहायता देनेवाले सब महकमे बडी होशियारी के साथ सगठित किये गये थे। दूसरे महकमों की उपेक्षा की जाती थी। आई० सी० एस० के अफ़सरों को न तो जनता नियुक्त करती थी और न वे उसके प्रति ज़िम्मेदार थे, इसलिए वे उन अन्य महकमो पर कोई ध्यान नही देते थे जिनका जनता से सबसे ज्यादा सबंध था। जैसा कि ऐसी हालतो में होना स्वाभाविक था, ये लोग मग़रूर और ढीठ हो गये और लोकमत को तुच्छ समझने लगे। अपने सकुचित और सीमित दृष्टिकोण के कारण ये लोग अपने-आप को दुनिया में सबसे ज्यादा अक़लमन्द समझने लगे। उनके लिए भारत के हित का मुख्य अर्थ था अपनी नौकरशाही का हित। उन्होंने एक तरह की परस्पर-प्रशसक संस्था बनाली और वे हमेशा एक-दूसरे की तारीफ करते रहते थे। अनियन्त्रित सत्ता और अधिकार का यही लाज़मी नतीजा हुआ करता है, इसलिए असल में ये इण्डियन सिविल सर्विस वाले ही भारत के मालिक थे। ब्रिटिश पार्लमेण्ट इतनी दूर थी कि इनके कामों में दखल दे नही सकती थी, और देखा जाय तो उसे दखल देने का कोई कारण भी न था, क्योंकि ये लोग उसके हितों को और ब्रिटिश उद्योग के हितों को साधते रहते थे। जहांतक भारतीय जनता के हितों का प्रश्न था, उनके प्रति उन्हें स्पष्ट रूप में प्रभावित करने का कोई रास्ता न था। वे इतने असहिष्णु हो गये थे कि अपनी मामूली से मामूली आलोचना को भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

फिर भी इण्डियन सिविल सर्विस में कुछ भले, ईमानदार और योग्य आदमी भी हुए हैं। लेकिन वे न तो उस नीति के बहाव को बदल सकते थे और न उस धारा का रुख पलट सकते थे जो भारत को अपने साथ खींचे लिये जा रही थी। आखिर ये आई० सी० एस० वाले इंग्लैण्डके उन औद्योगिक और आर्थिक हितों के एजेण्ट ही तो थे, जिनका खास प्रयोजन था भारत का शोषण करना।

जहां-जहां इसके अपने और ब्रिटिश उद्योग के हितों का मामला था, वहां तो भारत की यह नौकरशाही सरकार कार्यदक्ष हो गई। लेकिन शिक्षा, सफ़ाई, अस्पतालों और राष्ट्र को स्वस्थ तथा प्रगतिशील बनाने वाली अनेक अन्य प्रवृत्तियों की उपेक्षा की गई। वर्षों तक इन बातों का ख़याल तक नहीं किया गया। पुरानी ग्रामीण पाठशालाएं खत्म हो गईं। फिर कहीं धीरे-धीरे और बड़ी बेदिली से कुछ शुरूआत की गई। शिक्षा की शुरूआत भी उन्होंने अपनी खुद की ग़रज़ से ही की थी। तमाम ओहदों पर तो अंग्रेज़ लोग भरे हुए थे, लेकिन ज़ाहिर है कि छोटे ओहदों को और क्लर्की की जगहों को वे नहीं भर सकते थे। क्लर्कों की जगह थी, सो क्लर्कों की इस ज़रूरत को पूरी करने के ही लिए शुरू में अंग्रेज़ों ने स्कूल और कालेज खोले। तभी से, भारत में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यही रहा है; और इस शिक्षा से तैयार हुए ज्यादातर लोग सिर्फ़ क्लर्क बनने के ही योग्य हैं। लेकिन क्लर्कों की संख्या जल्दी ही सरकारी और अन्य दफ़्तरों की मांग से ज्यादा बढ़ने लगी। बहुतों को नौकरी नहीं मिली, और, इस तरह इन पढ़े-लिखे बेकारों का एक नया वर्ग बन गया। आज ऐसे ग्रेजुएटों और दूसरे शिक्षितो का एक बड़ा समुदाय मिलेगा, जिन्होंने यूनिवर्सिटियों में इतनी उम्र गुज़ारने के बाद भी कोई तिजारत या दस्तकारी नहीं सीखी। इनमें से लोग ज्यादातर कोई भी चीज़ बना या पैदा नहीं कर सकते। वे सिर्फ़ क्लर्क या सरकारी दफ़्तरों में छोटे अहलकार या वकील ही हो सकते हैं।

इस नई अंग्रेज़ी शिक्षा में बंगाल सबसे आगे बढ़ गया और इसलिए शुरू में ज्यादातर क्लर्कों की भरती बंगालियो में से हुई। सन् १८५७ ई० में तीन विश्वविद्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में खोले गये। ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि मुसलमानो ने इस नई शिक्षा को दिल से नहीं अपनाया। इसलिए क्लर्की और सरकारी नौकरियो की इस दौड़ में वे पिछड़ गये। बाद में यही उनकी शिकायत का एक कारण बन गया।

एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब सरकार ने शिक्षा की शुरूआत की तो लडकियों को बिलकुल भुला दिया गया। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है। जो शिक्षा दी जा रही थी उसका प्रयोजन था क्लर्क तैयार करना, और पुरुष क्लर्कों की ही ज़रूरत थी, और उस समय की पिछड़ी हुई सामाजिक रूढ़ियों के कारण पुरुष ही मिल भी सकते थे। इसलिए लड़कियो की पूरी तरह उपेक्षा की गई और बहुत बर्षों के बाद जाकर कहीं उनके लिए छोटी-सी शुरूआत की गई।

: ११३ :

भारत का पुनर्जागरण

७ दिसम्बर, १९३२

भारत में ब्रिटिश हुकूमत की नींव जिस तरह जमी और जिस नीति ने भारत की जनता मे गरीबी और मुसीबत पैदा कर दी, यह मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। देश में शान्ति ज़रूर आई और व्यवस्थित शासन भी आया और मुग़ल साम्राज्य के टूटने से पैदा हुई गड़बडी के बाद ये दोनों ही बातें अच्छी हुईं। चोर-डाकुओ के संगठित दलों का दमन कर दिया गया। लेकिन खेतों और कारखानों में काम करनेवाले किसानो और मज़दूरों के लिए इस शान्ति और व्यवस्था का कोई मूल्य न था, क्योंकि अब वे नई हुकूमत की भारी चक्की में पीसे जा रहे थे। लेकिन मैं तुम्हें एक बार याद दिलाऊँगा कि किसी देश पर या जाति पर—इंग्लैण्ड पर या अंग्रेज़ों पर, नाराज़ होना ठीक नहीं है; क्योंकि वे भी हमारी ही तरह परिस्थितियों के शिकार थे। इतिहास के अनुशीलन ने हमें बताया है कि जीवन प्रायः बड़ा निर्दय और कठोर होता है। इस पर उत्तेजित होना या लोगों पर खाली दोष लगाना बेवकूफ़ी है, और उससे कुछ नहीं बनता। बुद्धिमानी इसीमें है कि ग़रीबी, मुसीबत और शोषण के कारणो को समझने की और उन्हें दूर करने की कोशिश की जाय। अगर हम ऐसा नहीं करते हैं और घटना-क्रम की दौड़ में पिछड़ जाते हैं, तो लाज़िमी तौर पर मुसीबत भुगतनी पड़ती है। भारत इसी तरह पिछड़ गया। वह एक तरह से पथरा-सा गया, उसका समाज पुरानी लकीर का फ़क़ीर बन

गया, और उसकी सामाजिक व्यवस्था निश्चेष्ट और निर्जीव होकर सड़ने लगी। ऐसी हालत में भारत को मुसीबतें झेलनी पड़ीं तो उसमें अचरज की बात नहीं है। संयोग से अंग्रेज इन मुसीबतों के निमित्त बन गये। अगर वे यहाँ न होते, तो शायद कोई दूसरे लोग इसी तरहका बर्ताव करते। इसलिए हमें अंग्रेजों के दोष देने की जरूरत नहीं।

लेकिन अंग्रेजों ने भारत को एक बड़ा फ़ायदा जरूर पहुँचाया। उनके नये और स्फूर्तिवाले जीवन की टक्कर ने ही भारत को हिला दिया और उसमें राजनैतिक एकता और राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर दी। हालांकि यह धक्का कष्टदायक था, लेकिन हमारे इस प्राचीन देश और जाति में नवजीवन डालने के लिए शायद इसकी जरूरत भी थी। क्लर्क तैयार करने के इरादे से दी जाने वाली अंग्रेजी शिक्षा ने भारतवासियो को सामयिक पश्चिमी विचारो के सम्पर्क में भी ला दिया। इससे अब अंग्रेजी पढ़े-लिखो का एक नया वर्ग बनने लगा। ये लोग यद्यपि संख्या मे कम और साधारण जनता से अलग से थे, लेकिन फिर आगे चलकर नवीन राष्ट्रीय आन्दोलनो का नेतृत्व करने वाले थे। ये लोग शुरू में तो इग्लैण्ड के और अंग्रेजो के स्वाधीनता-सम्बन्धी विचारो के बड़े प्रशंसक थे। उन दिनों इग्लैण्ड में लोग स्वाधीनता और लोकतन्त्र के विषय में बड़ी चर्चाएं कर रहे थे। लेकिन ये सब बातें अस्पष्ट सी थी, और यहाँ भारत में इंग्लैण्ड केवल अपने फ़ायदे के लिए अत्याचारी शासन चला रहा था। लेकिन फिर भी कुछ आशावादिता के साथ यह उम्मीद की जाती थी कि ठीक समय आ जाने पर इग्लैण्ड भारत को आज़ादी प्रदान कर देगा।

भारत पर पश्चिमी विचारों की टक्कर का कुछ असर हिन्दू-धर्म पर भी पडा। जन-साधारण पर तो कोई प्रभाव नही हुआ बल्कि, जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुका हूँ, सरकार की नीति ने तो जानकर कट्टर-पंथियो को ही सहायता पहुँचाई। लेकिन सरकारी मुलाजिमो और पेशेवर लोगो का जो नया मध्यम वर्ग बन रहा था, उनपर असर पडा। उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ मे ही बगाल में हिन्दू-धर्म को पश्चिमी ढग पर सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया। इसमें सन्देह नही कि पुराने जमाने में हिन्दू-धर्म में अनगिनती सुधारक हो चुके है, जिनमें से कुछ का ज़िक्र तो मै इन पत्रों मे कर चुका हूँ। लेकिन इस नये प्रयत्न पर निश्चित रूप से ईसाइयत और पश्चिमी विचारो का असर था। इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान् पुरुष और महान विद्वान राजा राममोहन राय, जिनके नाम का ज़िक्र सती-प्रथा उठाने के सम्बन्ध में आ चुका है। उन्हे सस्कृत, अरबी और कई अन्य भाषाओ का अच्छा ज्ञान था, और उन्होंने विविध धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया था। वे पूजा-पाठ आदि धार्मिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के प्रतिपादक थे। उन्होने जो समाज स्थापित किया वह ब्राह्म-समाज कहलाया। जहाँ तक सख्या का सम्बन्ध है, यह एक छोटी-सी सस्था थी, और अब भी वैसी ही है, और बगाल के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही है। लेकिन बगाल के जीवन पर इसका जबर्दस्त असर पडा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनुयायी बन गया और कविवर रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत वर्षों तक इस समाज के आधार और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशव-चन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। यह पंजाब में शुरू हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होंने आर्यसमाज नाम की एक दूसरी सस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दू-धर्म में पीछे से पैदा हुई अनेक रूढियों का खण्डन किया और जात-पात के साथ युद्ध छेड़ा। इस समाज की पुकार थी, "वेदो की शरण में आओ।" हालाँकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारो से प्रभावित एक सुधारक आन्दोलन था, लेकिन तत्त्वतः यह एक उग्र आध्यात्मिक आक्रमण का आन्दोलन था। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओ के अनेक सम्प्रदायों मे सबसे ज्यादा इस्लाम के नज़दीक पहुँचता था, इस्लाम का प्रतिद्वंद्वी और विरोधी बन गया। यह रक्षात्मक तथा निश्चेष्ट हिन्दू-धर्म को एक उग्र प्रचारक धर्म में बदल देने की कोशिश थी। इसका उद्देश्य हिन्दू-धर्म का पुनरुद्धार करना था। राष्ट्रीयता का कुछ रंग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। वास्तव में इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊँचा कर रही थी। और चूँकि यह हिन्दू राष्ट्रीयता थी, अतः इसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता बन जाना कठिन हो गया।

ब्राह्म-समाज की अपेक्षा आर्यसमाज का कही अधिक व्यापक प्रचार था, खासकर पंजाब में। लेकिन

यह ज्यादातर मध्यम वर्ग के लोगों तक ही सीमित था। समाज ने शिक्षा-प्रचार का बहुत बड़ा काम किया है, और लड़के और लड़कियों दोनों ही के लिए स्कूल और कालेज खोले हैं।

इस सदी के एक और असाधारण धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहंस हुए। लेकिन वे उन महापुरुषों से बहुत भिन्न थे जिनका इस पत्र में मैंने ज़िक्र किया है। उन सबसे वह जुदा थे। उन्होंने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर ज़ोर दिया, और 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के अनेक भागों में दुर्बलों की तथा दरिद्र-नारायण की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे हैं। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं जिन्होने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या अन्य विरोधी नही थी, न आर्यसमाज की संकुचित राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू राष्ट्रीयता ही था और इसका आधार हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवी सदी में भारतमें राष्ट्रीयता की आरम्भिक लहरों का रूप धार्मिक और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद में मुसलमान स्वभावतः ही कोई भाग नही ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेज़ी शिक्षा से अपने को दूर रखने के कारण नये विचारो का उन पर कम असर हुआ और उनमें मानसिक चेतना बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियों बाद उन्होंने अपनें तंग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया, और तब हिन्दुओ की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने इस्लामी रूप धारण कर लिया। वे इस्लामी परम्पराओ और सस्कृति की ओर मुड कर देखने लगे और उन्हें यह डर हो गया कि हिन्दुओ के बहुमत के कारण कही वे इन्हें खो न बैठें। लेकिन मुसलमानों का यह आन्दोलन बहुत दिन बाद, सदी के अन्त में, प्रगट हुआ।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दोलनो के बारे में एक और मज़ेदार बात यह है कि इन्होने अपने पुराने धार्मिक विचारो और दस्तूरो को, जहाँ तक हो सका, पश्चिम से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक और राजनैतिक विचारो के अनुकूल बनाने की कोशिश की। न तो वे निर्भयता के साथ इन पुराने विचारो और दस्तूरो के सम्बन्ध में शंका करने को और उन्हे कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे विज्ञान और राजनैतिक तथा सामाजिक विचारो की अपने चारो ओर की नई दुनिया की उपेक्षा कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश करके दोनों का मेल मिलाने का प्रयत्न किया कि तमाम आधुनिक विचारों और उन्नति का स्रोत उनके प्राचीन धार्मिक ग्रन्थो में मिल सकता है। यह प्रयत्न लाज़मी तौर पर असफल होना ही था। इसने लोगो को सही विचार करने से रोक दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया को बदलने वाले नये कारणों तथा नये विचारो को समझने के बजाय वे प्राचीन प्रथाओ और परम्पराओं के बोझ से मतिहीन हो गये थे। आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हरवक्त लुक-छिपकर पीछे की तरफ़ ताकते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोड़े रहे और पीछे की तरफ़ देखता रहे, तो वह आसानी से आगे नही बढ़ सकता।

शहरो में धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखो की जमात बढ़ गई, और साथ ही साथ वकीलों, डाक्टरों, वगैरा पेशेवालो और सौदागरो तथा व्यापारियो का एक नया मध्यम वर्ग पैदा हो गया। पहले भी एक मध्यम वर्ग था, लेकिन वह ज्यादातर अंग्रेज़ो की प्रारम्भिक नीति द्वारा कुचल दिया गया। यह नया मध्यम वर्ग अंग्रेज़ी शासन का प्रत्यक्ष परिणाम था; एक तरह से ये ब्रिटिश शासन के टुकड़खोर थे। जनता की लूट में से इन लोगो को भी थोड़ा-सा हिस्सा मिल जाता था; ब्रिटिश शासक वर्ग की रकाबियों भरी मेज़ से गिरी हुई जूठन के कुछ टुकड़े ये लोग उठा लेते थे। इस वर्ग में थे देश के अंग्रेज़ी शासन-प्रबन्ध में सहायता देनेवाले छोटे-मोटे अहलकार; अदालतों की क़ानूनी कार्रवाइयो में मदद देनेवाले और मुकद्दमेबाज़ी से मालदार बननेवाले वकील-बैरिस्टर; और ब्रिटिश व्यापार और उद्योग के दलाल सौदागर जो अपने मुनाफ़े या कमीशन के लिए ब्रिटिश माल बेचते थे।

इस नये मध्यम वर्ग के इन लोगों में ज्यादातर हिन्दू थे। इसका एक कारण तो यह था कि मुसलमानों की बनिस्बत इनकी आर्थिक हालत कुछ अच्छी थी, और दूसरा था इन लोगों का अंग्रेज़ी शिक्षा को अपनाना जो सरकारी नौकरियों में और पेशों में घुसने का प्रवेश-पत्र थी। मुसलमान आमतौर पर ज्यादा ग़रीब थे। अंग्रेज़ों द्वारा यहाँ के उद्योग-धन्धों के नाश के कारण जिन जुलाहों की रोज़ी जाती रही थी उनमें ज्यादातर

मुसलमान थे। बंगाल में, जहाँ की मुस्लिम आबादी भारत के अन्य सब प्रान्तों से ज्यादा है, ये लोग ग़रीब काश्तकार और छोटे-छोटे भूमिधा थे। ज़मींदार आमतौर पर हिन्दू थे, इसी तरह गाँव का बनिया भी हिन्दू होता था, जो लोगों को सूद पर रुपया उधार देता था, और गाँव का दूकानदार होता था। इस तरह ज़मींदार और महाजन दोनों ही काश्तकार को सताने और शोषण करने की स्थिति में थे और अपनी इस स्थिति का वे पूरा फ़ायदा उठाते थे। इस तथ्य को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम तनाजे की जड़ इसीमें है।

इसी तरह उच्चवर्ण के हिन्दू, खासकर दक्षिण में, दलित कही जाने वाली जातियों का, जो ज्यादातर खेतों पर काम करती थीं, शोषण करते थे। पिछले दिनों, और खासकर बापू के उपवास के बाद से, दलित जातियों की यह समस्या बहुत ज़ोरों से हमारे सामने है। छुआछूत पर आज चारों तरफ से हमले हो रहे हैं और सैकड़ों मन्दिर और दूसरे स्थान अछूतों के लिए खोल दिये गये है। लेकिन असली बुनियादी सवाल तो आर्थिक शोषण का है, और जब तक यह दूर नहीं होता, तब तक दलित जातियाँ दलित ही रहेंगी। अछूत लोग खेतिहर चाकर रहे है जिन्हें ज़मीन का मालिक नहीं बनने दिया जाता था। और भी कितने ही अधिकारों से वे वंचित थे।

हालाँकि सारा भारत और उसके जनसमूह दिन पर दिन ग़रीब होते गये, फिर भी नये मध्यम वर्ग के मुट्ठी भर लोग कुछ हद तक खुशहाल हो गये, क्योंकि देश के आर्थिक शोषण में इनको भी हिस्सा मिलता था। वकील-बैरिस्टरो तथा अन्य पेशेवर लोगों और साहूकारों ने कुछ धन जमा कर लिया। इस धन को वे कारोबार में लगाना चाहते थे, ताकि उनको सूद की आमदनी होती रहे। बहुतों ने ग़रीबी के शिकार ज़मीदारो से ज़मीन खरीद ली और खुद उसके मालिक बन गये। दूसरे लोग अंग्रेज़ी उद्योगों की आश्चर्य-जनक सफलता देखकर भारत में भी कारखानो में रुपया लगाने की सोचने लगे। इस तरह भारतीय पूंजी इन बड़ी मशीनो के कारखानो में लगी और एक नया भारतीय औद्योगिक पूंजीपति वर्ग पैदा होने लगा। यह हुआ क़रीब पचास साल पहले, सन् १८८० ई० के बाद।

जितने ये मध्यम वर्गी लोग बढ़ते गए, उतनी ही उनकी हविस भी बढ़ती गई। उनकी इच्छा अब आगे-आगे बढने की, ज़्यादा रुपया पैदा करने की, सरकारी नौकरियो में ज़्यादा जगहें पाने की और कारखाने खोलने के लिए अधिक सहूलियतें हासिल करने की होती गई। उन्होने अंग्रेज़ो को अपने हर रास्ते मे रुकावटें डालते हुए पाया। सब ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर अंग्रेज़ो ने अपना एकाधिकार जमा रक्खा था और तमाम उद्योग-धन्धे उन्हीके फ़ायदे के लिए चलाये जा रहे थे। इसलिए उन्होने हलचल मचाई और राष्ट्रीय के नये आन्दोलन की यही से शुरूआत हुई। सन् १८५७ ई० के विद्रोह और क्रूरता से उसके दमन के बाद लोगों की कमर ऐसी टूट गई कि उनके लिए कोई भी तहरीक या उग्र आन्दोलन करना कठिन हो गया। फिर से कुछ जान आने मे उन्हें बहुत वर्ष लग गये।

लेकिन राष्ट्रीय भावनाएं जल्दी ही फैलने लगी और बगाल इसमें सबसे आगे क़दम उठा रहा था। बंगाल में नई-नई पुस्तकें निकलने लगी जिनका बगला साहित्य पर और साथ ही बगाल में राष्ट्रीयता के विकास पर ज़बर्दस्त असर पड़ा। हमारा प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' बंकिमचन्द्र चटर्जी की ऐसी ही एक बंगला पुस्तक 'आनन्द मठ' से लिया गया है। 'नील दर्पण' नामक एक बगला कविता ने भी बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। इसमें नील की खेती की प्लाण्टेशन-पद्धति से, जिसका कुछ हाल मैं तुम्हें बता चुका हूँ, बंगाल के किसानो की तबाही का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया था।

इसी बीच भारतीय पूंजीपतियो की शक्ति भी बढ़ रही थी, और वे हाथ-पैर फैलाने के लिए ज्यादा जगह माँग रहे थे। आखिरकार सन् १८८५ ई० में नये मध्यम वर्ग के इन विविध तत्वों ने मिलकर अपने दावे का समर्थन करने के लिए एक संगठन बनाने का निश्चय किया। इस तरह सन् १८८५ ई० में हमारी राष्ट्रीय महासभा, कांग्रेस, की नींव पड़ी। जैसा कि तुम और भारत का बच्चा-बच्चा अच्छी तरह जानता है, यह संस्था पिछले वर्षों में बहुत बड़ी और ताकतवर बन गई है। इसने जनता के हित को हाथ में लिया, और कुछ हद तक उनकी हिमायती बन गई। इसने भारत में अंग्रेज़ी हुकूमत के आधार को ही ग़लत क़रार दिया और उसके विरुद्ध बड़े-बड़े सार्वजनिक आन्दोलनों का नेतृत्व किया। इसने स्वतंत्रता का झंडा ऊँचा उठाया और यह आज़ादी के लिए मर्दानगी के साथ लड़ी। लेकिन यह सब कुछ बाद का इतिहास है। कांग्रेस जब

पहले पहल स्थापित हुई, तब एक बहुत ही नरम और फूंक-फूंककर क़दम रखने वाली संस्था थी जो अंग्रेज़ों के प्रति अपनी राजभक्ति का इक़रार करती थी और छोटे-छोटे सुधारों के लिए बड़ी नम्र भाषा में मांग पेश करती थी। उस समय यह धनिक मध्यमवर्ग की प्रतिनिधि थी, गरीब मध्यम वर्ग तक के लोग इसमें शामिल नहीं थे। साधारण जनता यानी किसानों और मज़दूरों का तो इससे कोई ताल्लुक़ ही नहीं था। यह मुख्यतया अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्गों के विचारों का प्रचारक थी, और इसकी सारी कार्रवाई हमारी सौतेली भाषा अंग्रेज़ी में होती थी। इसकी मांगें ज़मीदारों, भारतीय पूंजीपतियों और नौकरियों की तलाश में रहनेवाले शिक्षित बेकारों की माँगें होती थी। जनता को पीस डालने वाली ग़रीबी पर या जनता की ज़रूरतों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इसने नौकरियों के 'भारतीयकरण' की, अर्थात् सरकारी नौकरियों में अंग्रेज़ों के बजाय भारतवासियों को ज्यादा जगहें दी जाने की माँग की। इसने यह न देखा कि भारत की जो कुछ खराबी है वह उस मशीन में है जो जनता का शोषण करती है; और इसलिए इससे कोई फ़र्क़ नही पड़ता कि वह मशीन किसके अधिकार में है, भारतवासियों के या विदेशियो के। कांग्रेस की अन्य शिकायते फ़ौज और सिविल सर्विस के अंग्रेज़ी अफ़सरो के ज़बरदस्त खर्चों के बारे में और भारत से इंग्लैण्ड को जाने वाली सोने-चांदी की नदी के बारे में थी।

वह खयाल न करना कि शुरू में कांग्रेस कितनी नरम थी यह बताकर मैं उसकी आलोचना कर रहा हूँ अथवा उसके महत्त्व को कम करने की कोशिश कर रहा हूँ। मेरा यह मतलब नही है, क्योकि मेरा विश्वास है कि उन दिनो की कांग्रेस ने और उसके नेताओ ने बहुत बड़ा काम किया था। भारतीय राजनीति के कठोर तथ्यो ने इस सस्था को धीरे-धीरे, और बहुत कुछ अनिच्छा से, दिन-पर-दिन ज्यादा उग्र नीति ग्रहण करने के लिए मजबूर किया। लेकिन अपने शुरू के दिनो में वह जैसी थी उसके अलावा और कुछ हो भी नही सकती थी। उन दिनो इसके सस्थापको को आगे क़दम बढ़ाने के लिए बड़े साहस की ज़रूरत थी। आज जब भीड़ की भीड़ हमारे साथ है और इसके लिए हमारी तारीफ करती है तब बहादुरी के साथ आज़ादी की बाते करना बड़ा आसान है। लेकिन किसी महान उद्योग में मार्ग-दर्शक बनना बडा कठिन है।

पहली कांग्रेस सन् १८८५ ई० में बम्बई में हुई। बगाल के उमेशचन्द्र बनर्जी इसके पहले अध्यक्ष थे। उन शुरू दिनों के अन्य प्रमुख व्यक्तियो के नाम हैं . सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयबजी, और फ़िरोज़-शाह मेहता। लेकिन इन सबके ऊपर नज़र आने वाला नाम है दादाभाई नौरोजी का, जो 'भारत के वृद्ध पितामह' कहलाये और जिन्होंने सबसे पहले भारत के लक्ष्य के लिए 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। एक नाम मै और बताऊँगा, क्योकि कांग्रेस के पुराने सेनानियो में से आज एक मात्र वही जीवित हैं और उन्हे तुम अच्छी तरह जानती हो। वह है पण्डित मदनमोहन मालवीय[1]। पचास वर्ष से भी ज्यादा समय से वह भारत के हित में जूझ रहे है, और बुढ़ापे तथा चिन्ताओ से जर्जर हो जाने पर भी अपनी जवानी के स्वप्न को सच्चा बनाने के लिए अब भी परिश्रमशील हैं।

इस तरह कांग्रेस साल दर साल आगे बढ़ती गई, और बल प्राप्त करती गई। इससे पहले के दिनों की हिन्दू राष्ट्रीयता की तरह इसका दृष्टिकोण सकुचित नही था। फिर भी यह मुख्यतया हिन्दू ही थी। कुछ प्रमुख मुसलमान इसमें शामिल हुए, और इसके अध्यक्ष तक बने, लेकिन सामूहिक रूप से मुसलमान इससे दूर ही रहे। उस समय के एक प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ थे। उन्होने देखा कि शिक्षा की कमी ने, खासकर आधुनिक शिक्षा की कमी ने, मुसलमानो का बहुत नुक़सान किया है, और उन्हें पिछडा हुआ रक्खा है। इसलिए उन्होने यह निश्चय किया कि राजनीति में टाग अड़ाने से पहले मुसलमानों को इस शिक्षा के लिए रज़ामन्द करना चाहिए और अपनी सारी ताक़त इसी पर लगानी चाहिए। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रहने की सलाह दी, सरकार के साथ सहयोग किया और अलीगढ़ में एक बढ़िया कालेज क़ायम किया जो अब विश्वविद्यालय बन गया है। बहु-संख्यक मुसलमानों ने सर सैयद की राय मानकर अपने को कांग्रेस से अलग रक्खा। लेकिन उनकी अल्प-सख्या हमेशा कांग्रेस के साथ रही। यह याद रहे कि जब मैं बहु संख्यको या अल्प-संख्यको की चर्चा करता हूँ तो उससे मेरा मतलब उच्च मध्यम वर्ग

[1] पंडित मदन मोहन मालवीय का देहान्त १९४५ ई० में हो गया।

के अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं और मुसलमानों की बहु-संख्या या अल्प-संख्या से होता है। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही के जन-साधारण का कांग्रेस से कोई वास्ता न था, और उन दिनों इनमें से बहुतों ने तो इसका नाम तक न सुना था। निम्न मध्यम वर्गों तक पर उस समय इसका कोई असर नही हुआ था।

कांग्रेस बढ़ी, लेकिन कांग्रेस से भी तेज़ रफ़्तार से राष्ट्रीयता के विचार और आज़ादी की चाह बढ़े। सिर्फ़ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों तक परिमित होने के कारण कांग्रेस की पहुँच स्वभावतः ही सीमित थी। कुछ हद तक इसने विविध प्रान्तों को एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक लाने में और समान दृष्टिकोण बनाने में मदद दी। लेकिन इसकी पैठ जनता तक गहरी न होने के कारण इसकी ताकत कुछ नही थी। एक अन्य पत्र में मैंने तुम से एक घटना का ज़िक्र किया है, जिसने एशिया भर में भारी हलचल मचा दी थी। यह सन् १९०४-५ ई० में छोटे-से जापान की भीमकाय रूस पर विजय थी। अन्य एशियाई देशो के साथ-साथ भारत भी इससे बहुत प्रभावित हुआ, अर्थात यहाँ के अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग प्रभावित हुए और उनका आत्म-विश्वास बढ़ गया। अगर योरप के एक सबसे अधिक शक्तिशाली देश के विरुद्ध जापान सफलता पा सकता है तो भारत क्यों नही पा सकता? बहुत अर्से से भारत के लोग अंग्रेज़ो के सामने हीनता की भावना के शिकार हो रहे थे। अंग्रेज़ों की लम्बी आधीनता ने, और सन् १८५७ ई० के विद्रोह के नृशंस दमन ने, उनकी हिम्मत पस्त कर दी थी। हथियार न रखने के कानून द्वारा उन्हे हथियार रखने से रोक दिया गया था। भारत में होनेवाली हरेक बात उन्हें यह याद दिलाती थी कि वे एक पराधीन जाति हैं, एक हीन जाति है। उन्हे दी जानेवाली शिक्षा तक भी उनमें हीनता की यही भावना भरती थी। बिगाड़े हुए और झूठे इतिहास द्वारा उन्हे पढ़ाया जाता था कि भारत ऐसी भूमि है जिसमे सदा से अराजकता फैली रही है, और हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का गला काटते रहे है और अन्त मे अंग्रेजो ने ही आकर इस देश का इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था से छुटकारा दिलाया, और इसे शान्ति तथा समृद्धि प्रदान की। सचाई और इतिहास की कोई परवाह न कर योरप के लोग यह समझते और ढिंढोरा पीटते रहते थे कि सारा-का-सारा एशिया वास्तव में एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप है, और इसलिए इसे योरपीय लोगो की ही अधीनता में रहना चाहिए।

इसलिए जापान की विजय ने एशियावालो के लिए कमज़ोरी मिटाने वाली ज़बर्दस्त दवा का काम किया। भारत में हमारे बहुत से लोगो मे हीनता की जो भावना घर किये हुई थी, वह इससे कम हुई। राष्ट्रीयता के विचार, खासकर बंगाल और महाराष्ट्र में, बड़ी व्यापकता के साथ फैलने लगे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने बंगाल को जड से हिला दिया और देश भर में हलचल मचा दी। सरकार ने बंगाल के बड़े प्रान्त को (जिसमे उस समय बिहार भी शामिल था) दो हिस्सो में बाँट दिया, जिनमें एक हिस्सा पूर्वी बंगाल था। बंगाल के मध्यम वर्ग की विकासशील राष्ट्रीयता ने इस पर रोष प्रगट किया। उसे डर था कि अंग्रेज़ बंगाल के इस तरह टुकड़े करके उसे कमज़ोर करना चाहते है। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या अधिक थी, इसलिए इस बंटवारे से हिन्दू-मुस्लिम सवाल भी उठ खड़ा हुआ। बंगाल भर में एक ज़बरदस्त ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन चल पड़ा। ज़्यादातर ज़मीदार और भारतीय पूँजीपति इसमें शामिल हो गये। सबसे पहले उसी समय 'स्वदेशी' का नारा उठाया गया और इसके साथ ही ब्रिटिश माल के बहिष्कार का भी, जिससे भारतीय उद्योग और पूँजी को निःसन्देह सहायता मिली। कुछ हद तक ग्राम जनता में भी यह आन्दोलन फैल गया, और हिन्दू-धर्म से भी इसको कुछ प्रेरणा मिली। इसके साथ-साथ बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसा की विचार-धारा भी पैदा हुई और भारतीय राजनीति में पहली बार 'बम' का पदार्पण हुआ। बंगाल में आन्दोलन के एक ज्वलन्त नेता अरविन्द घोष थे। वे अभी भी मौजूद हैं, लेकिन बहुत वर्षों से फ्रांसीसी भारत के पाण्डेचरी शहर में आध्यात्मिक जीवन बिता रहे हैं।[1]

पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में भी इस समय भारी उत्तेजना फैली हुई थी, और हिन्दुत्व के ही रंग में रँगी हुई उग्र राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। वहाँ बाल गंगाधर तिलक नाम के एक महान नेता हुए जो भारत भर में लोकमान्य करके मशहूर है। तिलक एक महान् विद्वान थे; वह पूर्व की पुरातन परिपाटियो के भी उतने ही पारंगत थे जितने पश्चिम की नूतन परिपाटियों के; वह बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे; लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि वह एक महान् सार्वजनिक नेता थे। कांग्रेस के नेताओं की पहुँच अभी केवल

[1]महर्षि अरविन्द की मृत्यु दिसंबर, १९५० में हो गई।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही थी; आम जनता उन्हें नहीं जानती थी। लेकिन तिलक नव-भारत के पहले राजनैतिक नेता हुए जो जनता तक पहुँचे और जिन्होंने उससे बल प्राप्त किया। उनके वेगशाली व्यक्तित्व से दृढ़ता तथा अदम्य साहस का एक नया बल पैदा हुआ जिसने बंगाल में राष्ट्रीयता की और बलिदान की नवीन भावना से मिलकर भारतीय राजनीति का स्वरूप ही बदल दिया।

सन् १९०६, १९०७ और १९०८ ई० के इन हलचलपूर्ण दिनों में कांग्रेस क्या कर रही थी? राष्ट्रीय भावना के जागरण के इस समय में कांग्रेस के नेता राष्ट्र का नेतृत्व करने के बजाय, पीछे लटक रहे थे। उन्हें एक शान्त ढंग की राजनीति में रहने की आदत हो गई थी, जिसमें जनता का दखल नहीं था। बंगाल का धधकता हुआ उत्साह उन्हें पसन्द नहीं था और न उन्हें महाराष्ट्र का वह नवीन अदम्य जोश ही भाता था जो तिलक में मूर्त्तिमान था। 'स्वदेशी' आन्दोलन को तो उन्होंने सराहा लेकिन ब्रिटिश माल के बहिष्कार से वे हिचकते थे। कांग्रेस में अब दो दल हो गये—एक तिलक और कुछ बंगाली नेताओं के नेतृत्व में गरम दल, और दूसरा कांग्रेस के पुराने नेताओं का नरम दल। लेकिन नरम दल के सबसे प्रमुख नेता एक नवयुवक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे, जो बड़े सुयोग्य व्यक्ति थे और जिन्होंने अपना जीवन सेवा के लिए अर्पण कर दिया था। गोखले भी महाराष्ट्रीय थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी दलों को लेकर तिलक और गोखले एक दूसरे के सामने डट कर खड़े हो गये। इसका लाजमी नतीजा यह हुआ कि सन् १९०७ ई० में विच्छेद हो गया और कांग्रेस में फूट पड़ गई। नरम दलवालों का कांग्रेस पर अधिकार बना रहा, गरम दलवाले निकाल बाहर किये गए। नरम दलवाले जीत तो गये लेकिन अपनी लोकप्रियता खोकर, क्योंकि तिलक का दल ही जनता में बहुत अधिक लोकप्रिय था। कांग्रेस कमजोर हो गई, और कुछ वर्षों तक उसका प्रभाव नाम मात्र को रह गया।

और इन वर्षों में सरकार का क्या हाल था? बढ़ती हुई भारतीय राष्ट्रीयता ने उसमें क्या प्रतिक्रिया पैदा की? सरकारों के पास, किसी ऐसी दलील या माँग का, जिसे वह पसन्द नहीं करती, जवाब देने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा हुआ करता है—लाठी का प्रयोग। बस, सरकार दमन पर उतर आई, उसने लोगों को जेलों में भरना शुरू किया, प्रेस-क़ानूनों द्वारा अखबारों पर लगाम लगाई, और हरेक ऐसे व्यक्ति के पीछे, जिसे कि वह पसन्द नहीं करती थी, खुफ़िया पुलिस और जासूसों के दल के दल लगा दिये। उसी समय से सी० आई० डी० के आदमी भारत के प्रमुख राजनैतिक नेताओं के हर वक़्त के साथी बने हुए हैं; बंगाल के बहुत-से नेताओं को क़ैद की सजा दी गई। सबसे अधिक मार्के का मुक़दमा लोकमान्य तिलक का था, जिन्हे छः वर्ष की क़ैद की सजा दी गई थी, और जिन्होंने माण्डले जेल में अपनी क़ैद के दिनों में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ[1] लिखा था। लाला लाजपतराय भी बरमा निर्वासित कर दिये गये।

लेकिन दमन से बंगाल को कुचलने में सफलता नहीं मिली। इसलिए कमसे कम कुछ लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए झट-पट शासन-सुधार का एक क़दम उठाया गया। उस समय की नीति, जोकि बाद में भी रही और आज भी है, राष्ट्रवादी दलों में फूट डालने की थी। यानी नरम दलवालों को प्रोत्साहित करना और मिलाना, तथा गरम दल वालों को कुचल देना। सन् १९०८ ई० में मार्ले-मिन्टो सुधारों के नाम से प्रसिद्ध नये सुधारों की घोषणा की गई। इनसे नरम दलवालों को मिलाने में सफलता हुई और वे इन सुधारों को पाकर खुश हो गये। नेताओं के जेल में होने के कारण गरम दल वालों के हौसले टूट गये और राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर पड़ गया। लेकिन बंगाल में बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन जारी रहा, और अन्त में सफल हुआ। सन् १९११ ई० में ब्रिटिश सरकार ने बंग-भंग को फिर उलट दिया। इस विजय ने बंगालियों में नया साहस पैदा कर दिया। लेकिन सन् १९०७ ई० का आन्दोलन ठंडा पड़ चुका था, और भारत फिर राजनैतिक उदासीनता में जा पड़ा।

सन् १९११ ई० में ही यह घोषणा की गई कि दिल्ली भारत की नई राजधानी होगी। दिल्ली—बहुत-से साम्राज्यों की राजधानी और बहुत-से साम्राज्यों की क़ब्र।

---

[1] गीता रहस्य—तिलक ने यह ग्रन्थ मराठी में लिखा था, परन्तु इसका हिन्दी अनुवाद भी हो गया। इस ग्रन्थ में गीताके ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आदि पहलुओं पर बड़ी विद्वतापूर्ण व्याख्या की गई है।

सन् १९१४ ई० में, जिस समय योरप में महायुद्ध शुरू हुआ और सौ वर्ष का ज़माना खतम हुआ, भारत की हालत इस तरह की थी। महायुद्ध का भारत पर भी जबर्दस्त असर पड़ा, लेकिन उसके बारे में मैं आगे कुछ कहूँगा।

आखिरकार उन्नीसवी सदी के भारत का हाल मैंने समाप्त कर ही दिया। मैं अब तुमको आज से अठारह वर्ष पूर्व तक ले आया हूँ। अब हम भारत को छोड़ कर अगले पत्र में चीन को चलेंगे और दूसरे ढंग के साम्राज्य-वादी शोषण की जाँच करेंगे।

: ११४ :

ब्रिटेन का चीन पर ज़बर्दस्ती अफ़ीम लादना

१४ दिसम्बर, १९३२

मैंने तुम्हे काफ़ी विस्तार के साथ भारत पर औद्योगिक और यान्त्रिक क्रान्तियों का असर समझाया है और यह भी बताया है कि नये साम्राज्यवाद ने भारत में किस तरह काम किया। भारतवासी होने के कारण मै जानिबदार हूँ, इसलिए मुझे डर है कि मै पक्षपातपूर्ण नजर से देखे बिना नही रह सकता। लेकिन मैंने यही कोशिश की है, और मै चाहता हूँ कि तुम भी यही कोशिश करो कि इन सवालों पर तथ्यों की निष्पक्ष जाँच करनेवाले वैज्ञानिक की तरह विचार किया जाय, मामले के एक पक्ष को साबित करने पर तुले हुए राष्ट्र-वादी की तरह नही। राष्ट्रीयता अपनी जगह पर अच्छी चीज है, लेकिन वह अविश्वसनीय मित्र है और खत-रनाक इतिहासकार है। कितनी ही घटनाओ के बारे में वह हमें अन्धा बना देती है, और कई बार सचाई को तोड-मरोड देती है, खासकर जब उससे हमारा या हमारे देश का ताल्लुक हो। इसलिए हाल के भारतीय इतिहास पर विचार करते समय हमें सावधान रहना होगा; वरना कही ऐसा न हो जाय कि हम अपनी तमाम आफतो का दोष अंग्रेजो के सिर मढने लगें।

उन्नीसवी सदी में ब्रिटिश उद्योगपतियों और पूजीपतियो ने भारत का किस तरह शोषण किया, यह देख चुकने के बाद अब हम एशिया के दूसरे बड़े देश भारत के पुराने मित्र और राष्ट्रो में प्राचीन, चीन की तरफ चलते है। यहाँ हम पश्चिमवालो को एक दूसरे ही ढग का शोषण करते पायँगे। भारत की तरह चीन किसी योरपीय देश का उपनिवेश अथवा अधीन-राज्य नही बना। उन्नीसवी सदी के लगभग बीच तक वहाँ का केन्द्रीय शासन अपने देश को एक सूत्र में बांधे रखने के लिए काफी ताक़तवर था, इसलिए वह इससे बच गया। जैसा कि हम देख आये है, भारत इससे सौ साल से भी ज्यादा पहले, मुग़ल साम्राज्य के अन्त के साथ ही टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। चीन उन्नीसवी सदी में कमज़ोर तो हो गया, लेकिन फिर भी वह अखीर तक संगठित बना रहा, और विदेशी शक्तियो की आपसी ईर्ष्याओं ने उन्हे चीन की कमज़ोरी से बहुत ज्यादा फ़ायदा नही उठाने दिया।

चीन के बारे में आखिरी पत्र (पत्र सख्या ९४) में मैंने तुम्हें बताया था कि अंग्रेजो ने चीन के साथ अपना व्यापार बढ़ाने के लिए क्या-क्या कोशिशें की। इग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय के पत्र के उत्तर में मचू सम्राट शियन-लुग ने जो उच्चाभिमानपूर्ण और कृपापूर्ण पत्र लिखा था, उसका एक लम्बा उद्धरण मैंने तुम्हें दिया था। यह सन् १७९२ ई० की बात है। यह वर्ष तुम्हे योरप के उस समय के तूफानी दिनों की याद दिला-वेगा—यह फ़ान्सीसी क्रान्ति का ज़माना था। इसके बाद ही नैपोलियन और उसके युद्ध आये। इस पूरे ज़माने में इंग्लैण्ड को दम मारने को भी फुरसत न थी, वह जान की परवा न करके नेपोलियन से लड़ रहा था। इस तरह नैपोलियन का अन्त होने और जान में जान आने तक चीन में अपना व्यापार बढ़ाने का इंग्लैण्ड के सामने सवाल ही न था। इसके फौरन ही बाद सन् १८१६ ई० में, एक दूसरा ब्रिटिश राजदूत-मंडल चीन को भेजा गया। लेकिन दरबारी शिष्टाचार पूरा करने के बारे में कुछ कठिनाई आ पड़ने के कारण चीनी सम्राट ने ब्रिटिश राजदूत लार्ड एमहर्स्ट से मुलाक़ात करना नामंजूर कर दिया, और उसे वापस चले जाने का आदेश दिया। इस रस्म का नाम 'कोतो' था, जो एक तरह से ज़मीन पर लेटकर दण्डवत् करने के समान था। शायद तुमने 'को-तो-इंग' शब्द सुना होगा।

इसलिए यह बात यहीं खतम हो गई। इसी बीच एक नया व्यापार, यानी अफ़ीम का व्यापार, तेज़ी से बढ़ रहा था। इसे नया व्यापार कहना तो शायद ठीक न होगा, क्योंकि अफ़ीम पहले-पहल पन्द्रहवीं सदी में ही भारत से चीन पहुँच चुकी थी। पुराने ज़माने में भारत ने चीन को बहुत-सी अच्छी चीज़ें भेजी थीं। पर अफ़ीम वास्तव में एक बुरी चीज़ थी। लेकिन यह व्यापार बहुत सीमित था। उन्नीसवीं सदी में योरपीय लोगों के कारण, खासकर ब्रिटिश व्यापार का एकाधिकार प्राप्त ईस्ट इंडिया कम्पनी के कारण, यह बढ़ने लगा। कहा जाता है कि पूर्व में डच लोग मलेरिया से बचने के लिए तम्बाकू के साथ अफ़ीम मिलाकर पिया करते थे। इन्हींकी मार्फ़त चीन में भी तम्बाकू की तरह अफ़ीम पीने का रिवाज पहुँचा, लेकिन उससे भी ज्यादा हानिकर रूप में, क्योंकि यहाँ केवल अफ़ीम ही पी जाने लगी। चीनी सरकार इस आदत को छुड़ाना चाहती थी, क्योंकि लोगों पर इसका बुरा असर पड़ रहा था, और अफीम का व्यापार देश का बहुत-सा धन बाहर खींचे ले जा रहा था।

सन् १८०० ई० में चीनी सरकार ने एक शाही फ़रमान जारी करके अपने देश में किसी भी काम के लिए अफ़ीम का आना रोक दिया। लेकिन इस व्यापार से विदेशियो को बडा फ़ायदा होता था। इसलिए वे चोरी-छिपे अफ़ीम लाते रहे, और चीनी अहलकारों को रिश्वतें देकर अपना काम बनाते रहे। इस पर चीन-सरकार ने यह नियम बना दिया कि उसका कोई भी अहलकार विदेशी व्यापारियों से न मिलने पाये। किसी भी विदेशी को चीनी या मञ्चू भाषा सिखाने पर भी कठोर सज़ायें निश्चित कर दी गईं। लेकिन इन सब का कोई नतीजा नहीं निकला। अफ़ीम का व्यापार चलता ही रहा और रिश्वत और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म हो गया। सन् १८३४ ई० के बाद, जब ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार छीन कर तमाम अंग्रेज़ों के लिए यह व्यापार खोल दिया, तब तो वास्तव में हालत और भी खराब हो गई।

चोरी-छिपे ग़ैरकानूनी तौर पर अफ़ीम का लाया जाना एकदम बढ गया। तब आखिकार चीन-सरकार ने इसे रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक ईमानदार आदमी चुना गया। चोरी से आनेवाली इस अफ़ीम की रोक के लिए लिन-सी-हो को स्पेशल कमिश्नर नियुक्त किया गया और उसने फौरन ही तेज़ी और मुस्तैदी के साथ कार्रवाई की। वह दक्षिण के केण्टन नगर पहुँचा, जो इस गैर-कानूनी व्यापार का मुख्य केन्द्र था, और वहाँ के तमाम विदेशी व्यापारियो को हुक्म दिया कि जितनी भी अफीम उनके पास हो वह सब उसे सौंप दें। शुरू मे तो उन्होने इस हुक्म को मानने से इन्कार कर दिया। इसपर लिन ने इसके लिए उन्हे मजबूर किया। उसने उन्हें उनकी फैक्टरियो में बन्द कर दिया, उनके चीनी कार्यकर्ताओं और नौकरों से उनका काम छुड़वा दिया और बाहर से उनके पास रसद जाना रोक दिया। इस सख्ती और मुस्तैदी का नतीजा यह हुआ कि विदेशी व्यापारियों ने घुटने टेक दिये और अफ़ीम की बीस हज़ार पेटियाँ निकालकर उसके सामने धर दी। अफ़ीम के इस भारी ढेर को, जो निश्चय ही चोरी से भेजने के लिए इकट्ठा किया गया था, लिन ने नष्ट करवा दिया। उसने विदेशी व्यापारियों से यह भी कह दिया कि जबतक जहाज़ का कप्तान अफ़ीम न लाने का वचन न दे देगा, तबतक कोई जहाज़ केण्टन में घुसने न पायगा। यदि कोई इस वचन को तोडेगा तो चीनी सरकार जहाज़ और उसके सारे माल को ज़ब्त कर लेगी। लिन काम को पूरी तरह करने वाला आदमी था। उसने सौंपे हुए काम को अच्छी तरह कर दिखाया, लेकिन उसने यह नही सोचा कि इसके नतीजे चीन के लिए कितनी मुश्किल पैदा करने वाले थे।

नतीजे ये हुए—ब्रिटेन के साथ युद्ध छिड़ा, चीन की हार हुई, अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी, और वही अफीम जिसे चीन की सरकार रोकना चाहती थी, जबर्दस्ती चीन के हलक़ में ठूंसी गई। अफ़ीम चीन के लिए अच्छी चीज़ थी या बुरी, इस बात से कोई वास्ता न था। चीन की सरकार क्या चाहती थी, इससे भी कोई ज्यादा सरोकार न था। असली बात यह थी कि अफीम के इस ग़ैरकानूनी व्यापार से अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा भारी मुनाफ़ा होता था, और ब्रिटेन अपनी इस आमदनी का मारा जाना सहन करने को तैयार न था। कमिश्नर लिन ने जो अफ़ीम नष्ट करवादी थी, उसमें सबसे ज्यादा अंग्रेज़ व्यापारियों की थी। इसलिए राष्ट्रीय आत्मसम्मान के नाम पर अंग्रेज़ों ने सन् १८४० ई० में चीन से युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध को 'अफ़ीम का युद्ध' नाम दिया जाना ठीक ही है, क्योकि यह चीन पर अफ़ीम लादने के अधिकार के लिए लड़ा और जीता गया था।

कैण्टन और अन्य जगहों की नाकेबन्दी कर देनेवाले ब्रिटिश जहाजी बेड़े के विरुद्ध चीन का कुछ बस न चल सका। दो वर्ष बाद उसे हार माननी पड़ी और सन् १८४२ ई० में नानकिंग की सन्धि हुई, जिसके अनुसार पाँच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए, जिसका उस समय मतलब था खासकर अफ़ीम का व्यापार, खोल दिये गये। ये पाँच बन्दरगाह थे कैण्टन, शंघाई, अमॉय, निंगपो, और फ्यूचू। इन्हें 'सन्धि बन्दरगाह' कहा जाता था। कैण्टन के पास के हांग-कांग टापू पर भी अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया और, जो अफ़ीम नष्ट करदी गई थी उसके हर्जाने के तौर पर, और चीन पर जो युद्ध जबर्दस्ती डाला गया था उसके खर्चे के रूप में, उन्होंने चीन से भारी रक़म ऐंठी।

इस तरह ब्रिटेन ने अफ़ीम की विजय प्राप्त की। चीन के सम्राट ने इंग्लैण्ड की तत्कालीन महारानी विक्टोरिया से, चीन पर जबर्दस्ती लादे गये अफ़ीम के व्यापार के भयंकर परिणामो का बहुत नम्रता के साथ उल्लेख करते हुए, व्यक्तिगत अपील की। लेकिन महारानी की तरफ से कोई उत्तर न मिला। ठीक पचास वर्ष पहले इसी सम्राट के पूर्वाधिकारी शियन-लुग ने इंग्लण्ड के बादशाह के नाम इससे बिलकुल दूसरे ही ढग का पत्र लिखा था!

पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ चीन के बखेड़ो की यह शुरूआत थी। उसकी अलहदगी का अन्त हो गया। उसे विदेशी व्यापार मजूर करना पड़ा, और साथ ही मजूर करने पड़े ईसाई धर्म-प्रचारक। इन ईसाई प्रचारकों ने साम्राज्यवाद के अग्रदूत के रूप में चीन में बड़ा महत्वपूर्ण काम किया। बाद में चीन पर जो-जो मुसीबतें आईं उनका एक न एक कारण ये धर्म-प्रचारक लोग ही थे। इनका बर्त्ताव अत्यन्त धृष्टतापूर्ण और रोष दिलाने वाला होता था, लेकिन चीनी अदालतो में उनपर मुकदमा नही चलाया जा सकता था। नये सन्धि-पत्र के अनुसार पश्चिमी विदेशियो पर चीनी क़ानून और चीनी न्याय लागू नही हो सकता था। उनपर उन्हीकी अदालतो मे मुक़दमा चल सकता था। यह 'बाह्य राज्य-क्षेत्र' अधिकार कहा जाता था, जो अब भी मौजूद है, और जिसका बहुत विरोध किया जाता है। धर्म-प्रचारको ने जिन चीनियो को ईसाई बनाया, वे भी अब इस 'बाह्य राज्य क्षेत्र' के विशेषाधिकार की माँग करने लगे। वे किसी भी तरह इसके हकदार न थे; लेकिन इससे क्या होता था, क्योंकि एक बलशाली साम्राज्यवादी राष्ट्र का प्रतिनिधि वह बडा धर्म-प्रचारक उनकी पीठ पर था। इस तरह एक गाँव को दूसरे गाँव के विरुद्ध लड़वा दिया जाता; और जब गाँववालो तथा अन्य लोगो के धैर्य की सीमा टूट जाती और वे मिल कर किसी धर्म-प्रचारक पर टूट पडते और कभी-कभी उसकी हत्या कर देते, तब उसकी पीठ पर रहनेवाली साम्राज्यवादी शक्ति आ धमकती, और कसकर बदला लेती। योरपीय शक्तियों के लिए चीन मे उनके धर्म-प्रचारकों की हत्याओं से बढकर फ़ायदेमन्द घटनाएं और कोई नही हुईं। क्योकि हरेक ऐसी हत्या को वे विशेषाधिकार माँगने और ऐंठ लेने का कारण बना लेते थे।

चीन मे एक सबसे भयकर और खूनी फिसाद को खड़ा करनेवाला भी एक नया ईसाई ही था। यह ताइपिंग के दंगे के नाम से मशहूर है, जो सन् १८५० ई० के लगभग हुंग-सिन-च्वान नामक एक आधे पागल ने शुरू किया था। इस मजहबी दीवाने को असाधारण सफलता मिली। वह "मूर्ति-पूजकों को मारो" का जगी नारा लगाता हुआ सब तरफ गया और अनगिनती आदमी मारे गये। इस फिसाद ने आधे से भी ज्यादा चीन को तबाह कर दिया, और बारह साल या इसीके लगभग समय में अन्दाजन दो करोड़ आदमी इसके कारण मौत के मुह में चले गये। अलबत्ता इस फिसाद और उसके साथ होनेवाले हत्याकाण्ड के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों को या विदेशी शक्तियो को जिम्मेदार ठहराना उचित नही है। शुरू-शुरू में तो धर्म-प्रचारक लोगों ने शायद इसकी सफलता की कामना की, लेकिन बाद में उन्होंने हुंग का प्रतिवाद किया। लेकिन चीनी सरकार हमेशा यह विश्वास करती रही कि इसके जिम्मेदार धर्म-प्रचारक ही हैं। इस विश्वास से हम समझ सकते हैं कि ईसाई धर्म-प्रचारकों की करतूतो से उस समय चीनी लोग कितने नाराज थे, और बाद में भी रहे। उनके लिए धर्म-प्रचारक कोई धर्म और सद्भावना का संदेश-वाहक नहीं था, बल्कि साम्राज्यवाद का एजेण्ट था। जैसा कि किसी अंग्रेज लेखक ने कहा भी है—"चीन वालों के दिमाग़ में यह घटना-क्रम अंकित हो रहा है कि पहले धर्म-प्रचारकों का आना, फिर जंगी जहाजों की पहुँच और उसके बाद जमीन हड़पने की शुरूआत।" यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, क्योंकि चीन के बखेड़ो में धर्म-प्रचारक बहुत करके सामने आता रहता है।

यह असाधारण बात है कि एक पागल धर्मान्ध का उठाया हुआ यह फिसाद पूरी तरह दबाये जाने से पहले इतनी बड़ी सफलता हासिल कर गया। इसकी असली वजह यह थी कि चीन में पुरानी व्यवस्था टूट रही थी। मेरा खयाल है कि चीन पर जो पिछला पत्र मैंने तुम्हें लिखा था, उसमें मैंने तुम्हें वहाँ के करों के बोझ का, बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों का और बढते हुए सार्वजनिक असन्तोष का हाल बताया था। मंचू सरकार के विरुद्ध हर जगह गुप्त समितियाँ खड़ी हो रही थीं और वातावरण में फिसाद भरा हुआ था। अफ़ीम और दूसरी चीजों के विदेशी व्यापार ने हालत को और भी ज्यादा बिगाड़ दिया था। अवश्य ही चीन में पहले भी विदेशी व्यापार होता था। लेकिन इस समय हालत दूसरी थी। पश्चिम के बड़े-बड़े कल-कारखाने बड़ी तेजी से माल तैयार कर रहे थे, और वह सब-का-सब उन देशों में खप नहीं सकता था। इसलिए उन्हें बाहर की मंडियाँ तलाश करने की जरूरत पड़ी। भारत में और चीन मे मंडियों की तलाश के पीछे यही मजबूरी थी। इस विदेशी माल ने, और खासकर अफीम, ने पुरानी व्यापारिक व्यवस्था को उलट दिया, और आर्थिक गुत्थी को और भी उलझा दिया। भारत की तरह चीनी मंडियों में भी चीज़ों की कीमतों पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों का असर पडने लगा। इन सब कारणो ने लोगो के असन्तोष और मुसीबतों को और भी बढा दिया और ताईपिंग के फिसाद को बल पहुँचाया।

योरपीय शक्तियों की बढ़ती हुई गुस्ताखी और दस्तदाज़ी के इन दिनों में चीन की यही हालत थी। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं थी कि योरपीय लोगो की माँगों का मुकाबला करने मं चीन का कुछ बस न चला। इन योरपीय शक्तियो ने और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, जापान ने, चीन से विशेषाधिकार और क्षेत्र ऐंठने के लिए उसकी गड़बड़ और कठिनाइयों से पूरा-पूरा फायदा उठाया। वास्तव में चीन का भी भारत जैसा ही हाल होता, और वह भी किसी एक या अधिक योरपीय शक्ति का या जापान का अधीन राज्य या साम्राज्य हो जाता, अगर इन शक्तियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता और एक-दूसरे के प्रति ईर्षा-द्वेष न होता।

उन्नीसवीं सदी मे चीन की आर्थिक अव्यवस्था, ताइपिंग का फिसाद, ईसाई धर्म-प्रचारको की करतूतों और विदेशी आक्रमणों की इस व्यापक पृष्ठ-भूमि को बताने में मै अपने असली क़िस्से से भटक गया हूँ। लेकिन घटनाओं के विवरण को चतुराई के साथ समझने के लिए उसके बारे में कुछ-न-कुछ जानना जरूरी है; क्योंकि इतिहास की घटनाएं किसी चमत्कार की तरह एकाएक नहीं हुआ करती। विविध कारणो के फलस्वरूप ही वे घटित होती हैं। लेकिन ये कारण अक्सर स्पष्ट नही होते, वे घटनाओं की सतह के नीचे छिपे रहते हैं। चीन के मंचू शासक, जो अभी तक इतने महान् और शक्तिशाली थे, भाग्य-चक्र के इस अचानक परि-वर्तन पर अवश्य ही चकित रह गये होंगे। उन्होंने शायद यह नहीं देखा कि उनके पतन की खास वजह उनके ही अतीत में समाई हुई थी, उन्होने पश्चिम की औद्योगिक प्रगति को और चीन की आर्थिक व्यवस्था पर होनेवाले उसके विनाशकारी परिणामों को अच्छी तरह नही समझा। 'बर्बर' विदेशियो के अपने यहाँ जबर्दस्ती घुस आने से उन्हें बहुत क्रोध आया। तत्कालीन सम्राट ने विदेशियों के इस घुस आने का जिक्र करते हुए एक मजेदार पुराने चीनी मुहाविरे का प्रयोग किया था। उसने कहा कि मैं किसी आदमी को अपने बिस्तर के पास खर्राटे न लेने दूंगा! हालाँकि प्राचीन ग्रन्थों के ज्ञान और विनोद से मुसीबत के समय गभीर विश्वास और अपूर्व धैर्य की शिक्षा मिलती थी, लेकिन विदेशियो को पीछे हटाने के लिए वे काफ़ी नहीं थे।

नानकिंग की सन्धि ने ब्रिटेन के लिए चीन के दरवाज़े खोल दिये। लेकिन यह नही हो सकता था कि सारे मोटे-मोटे बेर अकेला ब्रिटेन ही हज़म कर जाय। फ्रांस और संयुक्त राज्य अमरीका भी आ धमके और उन्होंने भी चीन के साथ व्यापारिक सन्धियाँ कीं। चीन लाचार था और उसपर की जानेवाली यह ज़ोर-ज़बर्दस्ती उसके दिल में विदेशियों के लिए कोई प्रेम और आदर पैदा न कर सकी। अपने यहाँ इन 'बर्बरों' की मौजूदगी पर ही उसे बहुत क्रोध था। इधर विदेशियों का सन्तुष्ट होना भी अभी बहुत दूर की बात थी। चीन के शोषण की उनकी भूख बढ़ ही रही थी। ब्रिटेन फिर इसमें अगुवा बना।

विदेशियों के लिए यह बड़ा अनुकूल अवसर था, क्योंकि चीन ताइपिंग के फिसाद में उलझा होने के कारण कोई विरोध नही कर सकता था। इसलिए अब अंग्रेज युद्ध का कोई बहाना ढूंढने लगे। सन् १८५६ ई० में कैण्टन के चीनी वाइसराय ने एक जहाज़ के चीनी मल्लाहों को समुद्री डकैती के अपराध में गिरफ्तार कर लिया। यह जहाज चीनियो का था और इस मामले से विदेशियो का कोई सरोकार न था। लेकिन

हांगकांग-सरकार के परवाने के अनुसार उसपर ब्रिटिश झण्डा फहराया हुआ था। इत्तफ़ाक़ की बात यह थी कि उस समय तक इस परवाने की मियाद भी ख़तम हो चुकी थी। लेकिन फिर भी नदी किनारे के मेमने और भेड़िये के क़िस्से की तरह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसीको युद्ध का बहाना बना लिया।

इंग्लैण्ड से चीन को फ़ौजें भेजी गईं। ठीक इन्हीं दिनों भारत में सन् १८५७ ई० का विद्रोह शुरू होगया, और इसलिए इन सब फ़ौजों को भारत भेज दिया गया। विद्रोह के दबाये जाने तक चीन-युद्ध को इन्तज़ार करना पड़ा। सन् १८५८ ई० में यह दूसरा चीन-युद्ध शुरू हुआ। इसी बीच फ़्रांस ने भी इस युद्ध में शरीक होने का एक बहाना ढूढ निकाला; क्योंकि चीन में किसी जगह कोई फ़्रांसीसी धर्म-प्रचारक मार डाला गया था। इस तरह अंग्रेज और फ़्रासीसी चीनियो पर टूट पड़े, जो उस समय ताइपिंग के फ़िसाद में उलझे हुए थे। ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सरकारो ने रूस और अमेरिका को भी इस युद्ध में शामिल होने को उकसाया, लेकिन वे राज़ी न हुए। मगर लूट में हिस्सा बँटाने को वे बिलकुल तैयार थे! असल में कोई लड़ाई हुई ही नही, और इन चारों शक्तियो ने चीन के साथ नई सन्धि करके ज्यादा-से-ज्यादा रिआयतें ऐंठ ली। विदेशी व्यापार के लिए और ज्यादा बन्दरगाह खुल गये।

लेकिन चीन के इस दूसरे युद्ध का क़िस्सा अभी ख़तम नही हुआ है। इस नाटक का अभी एक और अंक खेला जाना बाकी था, जिसका अन्त और भी ज्यादा दुखद हुआ। जब सन्धियाँ की जाती है तो, दस्तूर के मुताबिक़ उससे ताल्लुक रखनेवाली सरकारो को उन्हें पक्का या सही करना होता है। यह तय पाया था कि एक वर्ष के अन्दर पेकिंग शहर में इन नई सन्धियों को पक्का कर दिया जाय। जब इसका समय आया तो रूसी राजदूत तो खुश्की के रास्ते सीधा पेकिंग पहुँच गया। बाकी तीनों समुद्री रास्ते से आये और उन्होने अपनी नावो को पीहो नदी में होकर पेकिंग तक लाना चाहा। उन दिनों इस शहर को ताइपिंग के फ़िसादियों से खतरा था और नदी पर क़िलेबन्दी की हुई थी। इसलिए चीन सरकार ने ब्रिटिश, फ़्रांस और अमरीका के राजदूतो से नदी के रास्ते न आकर जरा उत्तर की तरफ होकर खुश्की के रास्ते आने की प्रार्थना की। यह प्रार्थना कुछ बेजा न थी। अमरीकी राजदूत तो इसपर राज़ी होगया, लेकिन ब्रिटिश और फ़्रासीसी राजदूत नही हुए। क़िलेबन्दी होते हुए भी उन्होंने जबर्दस्ती नदी में होकर आने की कोशिश की। इसपर चीनियो ने उनपर गोलियाँ चला दी और भारी नुकसान के साथ उन्हें वापस लौटने को मजबूर किया।

मग़रूर और मदान्ध सरकारें, जो अपने सफ़र का रास्ता बदलने की चीन-सरकार की प्रार्थना तक सुनने को तैयार न थी, इसे सहन न कर सकी। बदला लेने के लिए और अधिक फ़ौजें बुला भेजी गईं। सन् १८६० ई० मे उन्होने पेकिंग के प्राचीन नगर पर धावा बोल दिया, और अपना बदला बरबादी, लूट और नगर की सबसे अधिक अद्भुत इमारत को जलाने के रूप में निकाला। यह इमारत शाही ग्रीष्म महल, यून-मिंग-यून थी, जो शीयन-लुग के शासन-काल में पूरी हुई थी। इस महल में चीन के रचित सुन्दरतम साहित्य और कला के अनमोल रत्न भरे हुए थे। कांसे की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ, चीनी मिट्टी के आश्चर्य-जनक बढ़िया बर्तन, दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तके, चित्र और हर तरह के विचित्र नमूने तथा हुनर के काम, जिनके लिए चीन एक हज़ार वर्ष से मशहूर था, इसमें रक्खे हुए थे। जाहिल और हूश अंग्रेज और फ़्रांसीसी सिपाहियों ने इन बहुमूल्य वस्तुओं को लूटा और कई दिनो तक जलती रहनेवाली भयकर होलियो में झोंककर खाक कर दिया! ऐसी हालत में हज़ारो वर्षों की संस्कृति वाले चीनी लोगो ने अगर इस वहशी-पन पर अपने हृदय में व्यथा अनुभव की और इन विध्वंसकों को केवल हत्याकारी तथा विनाशकारी बर्बर समझा तो इस में क्या आश्चर्य है? इससे उन्हें हूणो, मंगोलों और पुराने ज़माने के अन्य बहुत-से बर्बर विध्वंसकों की फिर याद हो आई होगी।

लेकिन विदेशी 'बर्बरो' को इस बात की क्या परवा थी कि चीनी उनके बारे में क्या सोचते हैं। अपने जंगी जहाज़ों और नये ढंग के युद्धास्त्रों के बीच वे अपने को सुरक्षित समझते थे। अगर सैकडों वर्षों में जमा की गईं बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तुयें नष्ट हो गईं, तो उन्हें इससे क्या मतलब था? चीन की कला और संस्कृति की उन्हें परवाह ही क्या थी? उनके शब्दों में तो—

"कुछ भी हो, हम निश्चल हैं, हम भारी तोपों वाले हैं;
चीनी बहुत हुए तो क्या, वे बिन हथियारों वाले हैं!"

: ११५ :

चीन पर मुसीबतें

२४ दिसम्बर, १९३२

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह सन् १८६० ई० में अंग्रेजों और फ़्रांसीसियों ने पेकिंग के अद्भुत ग्रीष्म-भवन को तहस-नहस कर दिया। कहा जाता है कि चीनियों ने सुलह के झण्डे की अवहेलना की, इसलिए उसकी सजा के तौर पर यह किया गया था। यह सच हो सकता है कि कुछ चीनी फ़ौजें इस तरह के अपराध की दोषी रही हों, लेकिन अंग्रेजो और फ़्रांसीसियों ने जान-बूझकर जो वहशीपन बताया, वह तो किसी की समझ मे आ ही नही सकता। कुछ नादान सिपाहियो का यह काम नहीं था, बल्कि जिम्मेदार अधिकारियोंने ही यह सब कुछ करवाया था। ऐसी बाते क्यो होती है ? अंग्रेज और फ़्रांसीसी सभ्य और सुसंस्कृत क़ौमें हैं, और कई बातों मे आधुनिक सभ्यता की अगुवा हैं। और फिर भी ये लोग, जो व्यक्तिगत जीवन में बड़े भले और विचारवान होते है, सार्वजनिक व्यवहार में और दूसरे देशों के साथ संघर्ष में अपनी सारी सभ्यता और भलमनसाहत भूल जाते है। व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहार में और दूसरे राष्ट्रों के साथ के बर्त्ताव में एक बडा अजीब भेद मालूम होता है। बच्चों, लड़कों और लड़कियो को ज्यादा स्वार्थी न बनने, दूसरों का खयाल रखने और शिष्टता का व्यवहार करने की शिक्षा दी जाती है। हमारी सारी शिक्षा का उद्देश हमें यही सबक सिखाना होता है, और कुछ हद तक हम यह सीखते भी हैं। पर जब युद्ध आते हैं, तो हम अपना पुराना सबक भूल जाते हैं और हमारी पाशविक प्रवृत्ति प्रगट हो जाती है। इस तरह भले आदमी जानवरो की तरह बर्त्ताव करने लगते हैं।

दो सजातीय राष्ट्र भी, जैसे जर्मनी और फ्रास, जब एक-दूसरे से लडते है, तब भी ऐसा ही होता है। लेकिन जब भिन्न-भिन्न जातियो के बीच लडाई होती है, एशिया और अफ़रीका की जातियों और कौमो के साथ योरपीय लोगो का मुकाबला होता है, तब हालत इससे भी बुरी हो जाती है। विभिन्न जातियाँ एक-दूसरी से परिचित नहीं होती, क्योंकि वे एक-दूसरी के लिए बन्द किताब की तरह होती है। और जहाँ अज्ञान है, वहाँ परस्पर प्रेम-भावना नही होती। जातिगत घृणा और कटुता बढती जाती है, और जब दो जातियो में लड़ाई छिड़ती है तब वह सिर्फ़ राजनैतिक युद्ध नही होता बल्कि उससे कही बदतर एक जातिगत युद्ध बन जाता है। इससे किसी हदतक यह समझ में आजाता है कि सन् १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में जो बीभत्सताएं हुईं, और एशिया तथा अफ़रीका में प्रभुत्वशाली योरपीय शक्तियो ने जो क्रूरता और वहशीपन किया, उनका क्या कारण था।

यह सब अत्यन्त खेदजनक और मूर्खतापूर्ण नजर आता है। लेकिन जहाँ एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र पर, एक जाति की दूसरी जाति पर और एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर हकूमत होती है, वहाँ असन्तोष, संघर्ष और विद्रोह, तथा शोषित राष्ट्र, जाति या वर्ग का अपने शोषणकर्त्ता से पीछा छुड़ाने का प्रयत्न होना लाजमी है। आज के हमारे समाज की जड—बुनियाद यही एक का दूसरे द्वारा शोषण है। इसीको पूंजीवाद कहते हैं और इसीसे साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई है।

उन्नीसवी सदी के बड़े बड़े कल-कारखानों ने और औद्योगिक उन्नति ने पश्चिमी योरपीय राष्ट्रों को और संयुक्त राज्य अमरीका को मालदार और बलशाली बना दिया था। वे समझने लगे थे कि वे ही दुनिया के मालिक है, और दूसरी जातियाँ उनसे बहुत हीन है और इसलिए उन्हे उनके लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए। प्रकृति की शक्तियो पर कुछ अधिकार प्राप्त हो जाने के कारण वे दूसरो के प्रति धृष्ट और घमंडी हो गये। वे इस बात को भूल गये कि सभ्य आदमी को प्रकृति पर ही नही, बल्कि खुद अपने पर भी क़ाबू करना चाहिए। इसलिए हम देखते हैं कि इस उन्नीसवीं सदी में वे प्रगतिशील जातियाँ, जो अनेक बातो में अन्य जातियो से आगे थी, अक्सर ऐसे बर्त्ताव कर बैठती थी जो पिछड़े हुए जंगली आदमी को भी शरमा दें। इससे तुम को योरपीय जातियों का एशिया और अफ़रीका में न सिर्फ़ पिछली सदी का बल्कि आज का भी बर्ताव समझने में शायद मदद मिलेगी।

यह खयाल न कर बैठना कि मै अपने से या दूसरी जातियों से योरपीय जातियों की यह तुलना

अपनी अच्छाई बताने की ग़रज से कर रहा हूँ। हर्गिज नहीं। हम सबमें बुराइयाँ मौजूद हैं; बल्कि हमारी कुछ बुराइयाँ तो काफ़ी खराब हैं; वरना हम जितने नीचे गिर गये है उतने न गिरते।

अब हम चीन वापस चलेंगे। ग्रीष्म-महल को नष्ट करके अंग्रेज और फ़ासीसी अपनी ज़बर्दस्त ताक़त का प्रदर्शन कर चुके थे। इसके बाद उन्होंने चीन को पुरानी सन्धियों को पक्की करने के लिए मजबूर किया और उससे नई-नई रिआयते ऐंठ लीं। इन सन्धियों के मुताबिक़ चीन-सरकार को शघाई में विदेशी अफसरों की मातहती में अपना एक तट-कर विभाग बनाना पड़ा। इसका नाम रक्खा गया 'शाही समुद्री तट-कर विभाग।'

इस बीच ताइपिंग का फिसाद, जिसने चीन को कमज़ोर करके विदेशी ताक़तों को पैर फैलाने का मौक़ा दिया था, चल ही रहा था। आखिरकार सन् १८६४ ई० मे चीनी गवर्नर ली-हुग-चांग ने, जो चीन का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ हो गया है, इसको पूरी तरह दबा दिया।

जब इंग्लैण्ड और फ़ास चीन पर इस तरह आतक जमाकर उससे विशेषाधिकार और रिआयते ऐंठ रहे थे, उत्तर में रूस ने शान्तिपूर्ण उपायो से ही एक मार्के की सफलता प्राप्त करली। कुछ ही वर्ष पहले कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार जमाने के लिए लालायित रूस ने योरप में तुर्की पर हमला किया था। इग्लैण्ड और फ्रास दोनो ही रूस की बढती हुई ताक़त से भयभीत थे, इसलिए वे तुर्कों से जा मिले और सन् १८५४-५६ ई० के क्रीमियन युद्ध मे उन्होने रूस को हरा दिया। पश्चिम मे हार खाकर रूस ने पूर्व पर नज़र डालनी शुरू की और उसे बड़ी सफलता मिली। शान्त उपायो से चीन को फुसलाया गया कि वह व्लाडीवोस्टक शहर और बन्दरगाह सहित समुद्र से लगा हुआ उत्तर-पूर्व का प्रान्त रूस के हवाले कर दे। रूस की इस सफलता का श्रेय एक नौजवान रूसी अफसर मुरावीफ़ को है। इस तरह तीन साल के युद्ध और पागलपन भरे विनाश के बाद भी इग्लैण्ड और फ़ास जितना फ़ायदा न उठा सके, उससे कही बहुत ज्यादा रूस ने दोस्ताना तरीको से हासिल कर लिया।

सन् १८६० ई० मे हालत इस तरह की थी। मचूवश का महान चीनी साम्राज्य, जिसका फैलाव और प्रभुत्व अठारहवी सदी के अन्त तक लगभग आधे एशिया पर छा गया था, अब दीन-हीन हो गया था। सुदूर योरप की पश्चिमी शक्तियो ने उसे पराजित और अपमानित कर दिया था। दूसरे आन्तरिक झगड़े-फिसाद ने साम्राज्य को करीब-करीब उलट दिया था। इन सब बातो ने चीन को जड से हिला दिया। जाहिर था कि हालत अच्छी नही थी, इसलिए नई परिस्थितियो का और विदेशी खतरे का सामना करने के लिए देश के पुनर्संगठन का कुछ प्रयत्न किया गया। इसलिए सन् १८६० ई० के वर्ष को, जबकि चीन ने विदेशियो के आक्रमण का मुक़ाबिला करने की तैयारी की, नवयुग का आरम्भ समझना चाहिए। चीन का पड़ौसी जापान भी इस समय इसी तरह की तैयारी में लगा हुआ था। इसलिए यह भी उसके लिए उदाहरण बन गया। चीन की बनिस्बत जापान को कही ज्यादा सफलता मिली, लेकिन कुछ देर के लिए चीन भी विदेशी शक्तियो को रोके रहा।

चीन के एक सहृदय मित्र बर्लिङ्गेम नामक अमरीका निवासी के नेतृत्व में एक चीनी प्रतिनिधि-मडल सधिवाले राष्ट्रो के यहाँ भेजा गया और इसने चीन के लिए पहले से कुछ अच्छी शर्तें हासिल करने मे सफलता प्राप्त की। सन् १८६८ ई० में चीन और अमरीका के बीच एक नई सन्धि हुई, और इसकी दिलचस्प बात यह है कि इसमे चीन सरकार ने सयुक्त राज्य अमरीका पर मेहरबानी और रिआयत के तौर पर अपने यहाँ के मजदूरों का अमरीका ले जाया जाना मंजूर कर लिया। सयुक्तराज्य अमरीका अपने पश्चिमी प्रशात राज्यो को, खासकर केलिफ़ोर्निया को बढ़ाने में लगा हुआ था और वहाँ मजदूरो की बहुत कमी थी। इसलिए उसने चीनी मजदूरों को अपने यहाँ मंगवाया। लेकिन यह एक नये झगड़े का कारण बन गया। अमरीकी लोग सस्ते चीनी मजदूरों का विरोध करने लगे, इससे दोनो सरकारों के बीच तनातनी शुरू हो गई। बाद में अमरीकी सरकार ने चीनी मजदूरो का आवास बन्द कर दिया। इस अपमानजनक बर्ताव पर चीनी जनता में बहुत रोष फैला और उन्होने अमरीकी माल का बहिष्कार कर दिया। लेकिन यह सब एक लम्बा किस्सा है, जो हमें बीसवी सदी में पहुँचा देता है। हमें उसमें जाने की जरूरत नही।

ताइपिंग का फ़िसाद अभी दब भी न पाया था कि मचू शासकों के विरुद्ध एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। यह खास चीन मे नही, बल्कि सुदूर पश्चिम में, एशिया के बीच में, तुर्किस्तान में हुआ था। यहाँ की

ज़्यादातर आबादी मुसलमानों की थी, इसलिए सन् १८६३ ई० में यहाँ के मुस्लिम कबीलों ने याकूबबेग के नेतृत्व में विद्रोह करके चीनी अधिकारियों को निकाल बाहर किया। इस स्थानीय विद्रोह में दो कारण हमारे लिए दिलचस्पी के हैं। रूस ने चीन का कुछ प्रदेश हड़प करके इससे कुछ फ़ायदा उठाने की कोशिश की। वास्तव में जब कभी चीन मुसीबत में फंसा होता तब योरपीय शक्तियों की यही खूब सधी-सधाई चालबाजी होती थी। लेकिन, यह देखकर सबको बड़ा ताज्जुब हुआ कि इस बार चीन ने रूस की कारवाई को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और आखिरकार हड़प की हुई ज़मीन उगलवा ली। इसका कारण था चीनी सेनापति त्सो-त्सुंग-तांग का मध्य एशिया में याकूबबेग के विरुद्ध असाधारण संग्राम। इस सेनापति ने बड़े इतमीनान के साथ युद्ध का संचालन किया। बाग़ियों तक पहुँचने के पहले वह साल-पर-साल बिताता हुआ, धीरे-धीरे अपनी फ़ौज आगे बढ़ाता रहा। दो बार तो उसने अपनी फ़ौज को इतने दिनों तक एक स्थान पर ठहराये रक्खा कि उसने अपने खाने के लिए अनाज बोकर फसल भी काटली! फौज के लिए रसद की समस्या हमेशा कठिन रहती है, और गोबी के रेगिस्तान को पार करते समय तो यह दुस्तर हो गई होगी। इसलिए सेनापति त्सों ने इसे निराले ढंग से हल कर लिया। इसके बाद उसने याकूबबेग को हरा दिया और विद्रोह का अन्त कर दिया। कहा जाता है कि काशगर, तुरफ़ान और यारकन्द में उसका युद्ध-कौशल सैनिक दृष्टि से अदभुत है।

मध्य एशिया में रूस के साथ सन्तोषजनक फैसला कर लेने के बाद चीनी सरकार को जल्दी ही अपने दूर तक फैले हुए लेकिन विघटित होने वाले राज्य के दूसरे हिस्से में झगड़े का सामना करना पड़ा। यह झगड़ा चीन की मातहत रियासत अनाम में हुआ। फ़ास का इसपर बहुत दिनों से दाँत था और चीन और फ़ांस के बीच लड़ाई छिड़ गई। इस बार फिर सब को आश्चर्य हुआ कि चीन ने अच्छा लोहा लिया और फ़ांस से ज़रा भी नही दबा। सन् १८८५ ई० में सन्तोषजनक सन्धि हो गई।

चीन में इस नई दृढ़ता के चिन्हो से साम्राज्यवादी शक्तियाँ काफी प्रभावित हुईं। ऐसा मालूम होने लगा कि चीन अपनी सन् १८६० ई० और इसके पहले की कमज़ोरी को दूर करके पनप रहा था। सुधारों की चर्चा चली और बहुत-से लोग यह समझने लगे कि चीन अपनी नाज़ुक हालत को पार कर गया है। इसी कारण सन् १८८६ ई० में इंग्लैण्ड ने बर्मा को अपने साम्राज्य में मिलाते समय चीन को हर दसवें साल दस्तूर के मुताबिक खिराज भेजने का वादा कर लिया।

लेकिन चीन की नाज़ुक हालत सुधरने में अभी बहुत कसर थी। अभी उसकी किस्मत में बहुत बेइज्ज़ती, मुसीबते और टूट-फूट बदी थी। उसके अन्दर की खराबी सिर्फ उसकी फौज या समुद्री बेड़े की कमज़ोरी नही थी, बल्कि कोई बहुत गहरी चीज़ थी। उसका सारा सामाजिक और आर्थिक ढाचा चूर-चूर हो रहा था। मैं बतला चुका हूँ कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में, जब मचू शासको के विरुद्ध गुप्त समितियाँ बन रही थी, चीन की हालत बहुत खराब थी। विदेशी व्यापार ने और उद्योगवादी देशो के सम्पर्क के प्रभाव ने हालत को और बिगाड़ दिया था। सन् १८६० ई० के बाद चीन में जो मज़बूती दिखाई दी, उसके पीछे असलियत कुछ नहीं थी। कुछ उत्साही अफ़सरो ने, खासकर ली हुंग-चांग ने, इधर-उधर कुछ स्थानीय सुधार किये। लेकिन ये सुधार न तो समस्या की जड़ तक पहुँच सके, न चीन को कमज़ोर बनानेवाले रोग का इलाज ही कर सके।

इन वर्षों में चीन में जो ऊपरी मज़बूती दिखाई दी, उसका मुख्य कारण यह था कि शासन की लगाम एक दृढ़ शासक के हाथ में थी। यह थी एक अनोखी महिला, सम्राज्ञी राजमाता त्ज़ू-सी। जिस समय शासन की बागडोर उसके हाथों में आई, उस समय उसकी उम्र सिर्फ़ २६ वर्ष की थी क्योंकि नाममात्र का सम्राट उसका दुध-मुंहा पुत्र था। सैंतालीस वर्ष तक उसने बड़ी मर्दानगी के साथ चीन पर शासन किया। उसने चुन-चुन कर कार्य-कुशल अफ़सर नियुक्त किये, और उनपर अपनी मर्दानगी की कुछ छाप लगा दी। इन बातों का तथा इस महिला का ही यह परिणाम था कि चीन ने इतनी बहादुराना मज़बूती दिखाई जितनी वह बहुत वर्षों से नही दिखा सका था।

लेकिन इसी अर्से में संकड़े समुद्र के उस पार जापान चमत्कार कर रहा था और परिवर्तनों के कारण बे-पहचान हुआ जा रहा था। इसलिए आओ अब हम जापान चलें।

: ११६ :

जापान वेग से आगे दौड़ता है

२७ दिसम्बर, १९३२

जापान का हाल लिखे मुझे बहुत दिन हो गये हैं। पाँच महीने हुए, मैंने तुम्हे (पत्र सं० ८१ में) बताया था कि सत्रहवी सदी में इस देश ने कैसे विचित्र ढंग से अपने आपको चारो तरफ से बन्द कर लिया था। सन् १६४१ ई० से लेकर २०० वर्ष से ऊपर तक जापानी लोग बाकी दुनिया से बिलकुल विलग होकर रहे। इन २०० वर्षों ने योरप, एशिया और अमरीका और अफरीका तक में बड़े-बड़े परिवर्तन देखे। इस ज़माने में जो हलचलकारक घटनाए हुई उनमे से कुछ का हाल मै तुम्हें बता ही चुका हूँ। लेकिन इस एकान्त-सेवी राष्ट्र में इन घटनाओं की कोई खबर नही पहुची; जापान के पुरातन-युगी सामन्ती वातावरण को छेडने वाला कोई झोंका बाहरी दुनिया से न आया। ऐसा मालूम होता था मानों समय और परिवर्तन की चाल रोक दी गई हो और सत्रहवीं सदी बीच में ही बन्दी बना दी गई हो। क्योकि यद्यपि काल का पहिया घूम रहा था लेकिन तसवीर वही ठहरी हुई मालूम देती थी। यह तसवीर थी सामन्ती जापान की जिसमें ज़मीदार वर्ग के हाथ में सत्ता थी। सम्राट के हाथ में कोई अधिकार न था, असली शासक शोगन था जो एक महान उपजाति का मुखिया होता था। भारत के क्षत्रियो की तरह वहाँ भी समूराई नाम की एक सैनिक जाति थी। सामन्ती सरदार और समूराई लोग ही शासक-वर्ग थे। विभिन्न सरदार और उपजातिया अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन किसानों और अन्य लोगों को सताने में और उनका शोषण करने में, ये सब मिल कर एक हो जाते थे।

फिर भी जापान मे शान्ति थी। लम्बे गृह-युद्धो के बाद, जिनसे देश पस्त हो गया था, वह शान्ति बडी सुखद थी। ज़बर्दस्त युद्ध-प्रिय सरदारो मे से कुछ को––दाइम्यो सरदारों को—पूरी तरह दबा दिया गया। गृह-युद्ध की तबाही को जापान धीरे-धीरे दुरुस्त करने लगा। लोगो का ध्यान अब उद्योग, कला, साहित्य और धर्म की ओर ज्यादा खिचने लगा। ईसाई-धर्म दबाया जा चुका था, अब बौद्ध-धर्म का पुनरुद्धार हुआ और बाद मे शिण्टो मत का, जो खास जापानी ढंग की पितरो की पूजा है। सामाजिक व्यवहार और सदाचार के मामलो मे चीनी ऋषि कन्फ्यूशस को आदर्श माना जाने लगा। दरबारी और अमीरो के मंडलों में कला खूब पनपी। कई बातो में मध्यकालीन योरप की-सी तसवीर सामने आगई।

परन्तु परिवर्त्तन से बचे रहना सहल काम नही। यद्यपि बाहरी सम्पर्क बन्द कर दिया गया था, लेकिन खुद जापान के अन्दर ही परिवर्त्तन काम कर रहा था, हाँ, इस परिवर्तन की गति उससे बहुत धीमी थी जो बाहरी सम्पर्क से होती। अन्य देशो की तरह यहाँ भी सामन्ती व्यवस्था आर्थिक विनाश की तरफ बढ़ने लगी। असन्तोष बढ़ गया और शासन का प्रमुख होने के कारण शोगन इसका शिकार होने लगा। शिण्टो-पूजा की उन्नति के कारण अब जनता के दिल मे सम्राट के प्रति श्रद्धा बढने लगी क्योंकि उसे सूर्य का वश-धर माना जाता था। इस तरह चारो ओर फैले हुए असन्तोषों से राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई और यही भावना, जिसकी नीव आर्थिक व्यवस्था के खंडहरो पर थी, अनिवार्य रूप में परिवर्तन लाने वाली तथा जापान को बाहरी दुनिया के लिए खोलने वाली बन जाती।

जापान से सर्म्पक स्थापित करने के लिए विदेशी शक्तियों ने बहुतेरी कोशिशें की थी, लेकिन वे सब असफल रहीं। उन्नीसवी सदी के लगभग बीच में संयुक्त राज्य अमरीका इसमें खास तौर से दिलचस्पी लेने लगा। वह इन दिनो पश्चिम में केलिफोर्निया तक फैल गया था, और सैनफ्रांसिस्को एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह बनता जा रहा था। चीन से जो नया व्यापार खुला था वह बडा आकर्षक था, किन्तु प्रशान्त महासागर को पार करना एक लम्बी यात्रा थी। इसलिए अमरीकावाले चाहते थे कि इस लम्बी यात्रा में किसी जापानी बन्दरगाह पर ठहर कर रसद ले सके। अमरीकावालो ने बार-बार जापान से सर्म्पक स्थापित करने की जो कोशिशें कीं, उनका यही कारण था।

सन् १८५३ ई० में एक अमरीकी जहाज़ी बेड़ा, अमरीका के राष्ट्रपति का पत्र लेकर जापान आया। जापानवालों ने सबसे पहले भाप से चलनेवाले इन्ही जहाज़ों को देखा। साल भर बाद शोगन दो बन्दरगाह

खोलने के लिए राजी हो गया। जब अंग्रेज़ों, रूसियों और डचो ने यह सुना तो उन्होंने भी आकर शोगन से इसी तरह सन्धियाँ की। इस तरह २१३ वर्ष बाद जापान फिर बाहरी दुनिया के लिए खुल गया।

लेकिन झगड़ा खड़ा होने वाला था। विदेशी शक्तियों के आगे शोगन ने अपने आपको सम्राट् ज़ाहिर किया था। पर अब वह लोकप्रिय नही रहा था और उसके और उसकी विदेशी सन्धियों के विरुद्ध ज़बर्दस्त आन्दोलन खड़ा हो गया। कुछ विदेशी मारे भी गये और इसका नतीजा यह हुआ कि विदेशी शक्तियों ने समुद्री हमला कर दिया। परिस्थिति दिन पर दिन खराब होती गई; अन्त में सन् १८६७ ई० में शोगन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया गया। इस तरह तोकुगावा शोगनशाही का अन्त हुआ जो तुम्हें याद हो या न हो, सन् १६०३ ई० में ईयासू से शुरू हुई थी। यही नही, शोगनशाही की सारी प्रथा ही, जो ७०० वर्षों से चली आ रही थी, खतम होगई।

नये सम्राट ने अब अपना असली अधिकार प्राप्त किया। मुत्सोहितो के नाम से उसी समय सिंहासन पर बैठने वाला यह सम्राट सिर्फ़ चौदह वर्ष का लड़का था। इसने सन् १८६७ से १९१२ ई० तक। यानी पैंतालीस वर्ष, राज्य किया। यह समय 'मेईजी', यानी ज्ञानवान शासन का युग कहलाता है। इसी सम्राट के शासन काल में जापान ने तेज़ी से उन्नति की और वह पश्चिमी देशो की नकल करके बहुत बातो में उनकी बराबरी करने लगा। एक पीढ़ी में पैदा किया हुआ यह परिवर्तन निराला है और इतिहास मे बिल्कुल अपूर्व है। जापान एक महान औद्योगिक देश हो गया और पश्चिमी राष्ट्रो के ढग का साम्राज्यवादी तथा लुटेरा राष्ट्र बन गया। उन्नति के तमाम बाहरी चिन्ह उसमे मौजूद थे। उद्योग-धन्धो में तो वह अपने उस्तादों से भी आगे बढ़ गया। उसकी आबादी तेज़ी से बढ़ने लगी। उसके जहाज़ दुनिया का चक्कर लगाने लगे। वह एक महान शक्ति बन गया जिसकी आवाज़ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में इज़्ज़त के साथ सुनी जाने लगी। लेकिन फिर भी यह ज़बरदस्त परिवर्तन राष्ट्र के हृदय में अधिक गहरा न घुस सका। परिवर्तनो को सिर्फ़ ऊपरी कहना भी गलत होगा, क्योकि ये इससे ज्यादा गहरे थे। लेकिन शासको का दृष्टिकोण वही सामन्तवादी बना रहा; वे इस सामन्ती आवरण के साथ बुनियादी सुधारों का मेल मिलाना चाहते थे। बहुत हद तक वे कामयाब से भी नजर आते थे।

जापान में इन महान परिवर्तनों के लिए जो लोग ज़िम्मेदार थे वे अमीर वर्ग के कुछ दूरदर्शी लोग थे, जो 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञ' कहलाते थे। जब जापान में विदेशी-विरोधी दगो के फलस्वरूप विदेशी जगी जहाज़ों ने बम बरसाये तो जापानियों को अपनी निस्सहाय अवस्था का भान हुआ और वे अपमान का कड़वा घूट पीकर रह गये। लेकिन अपनी क़िस्मत को कोसने और सिर पीटने के बजाय उन्होने इस हार और बेइज़्ज़ती से सबक़ सीखने का निश्चय किया। 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सुधार का एक कार्यक्रम बनाया और उस पर अमल किया।

पुरानी सामन्ती दाइम्यो प्रथा उठा दी गई। सम्राट की राजधानी क्योतो से बदल कर ज़ेदो कर दी गई, जिसका नया नाम तोक्यो (टोकियो) रक्खा गया। एक नये शासन-विधान की घोषणा की गई, जिसमे पार्लमेण्ट की दो सभाओं की योजना थी। नीचेवाली सभा का चुनाव होता था; ऊपर वाली के सदस्य नामज़द होते थे। शिक्षा, क़ानून, उद्योग, वग़ैरा करीब-क़रीब हरेक चीज़ में परिवर्तन हुए। कारखाने बने और आधुनिक ढग की थल और जल सेनाए तैयार की गई। विदेशो से विशेषज्ञ लोग बुलवाये गये और जापानी विद्यार्थियो को योरप और अमरीका भेजा गया—जैसा भारतीय लोग पहले किया करते थे उस तरह बैरिस्टर वगैरा बनने के लिए नही, बल्कि वैज्ञानिक और उद्योग-धन्धो के विशेषज्ञ बनने के लिए।

यह सब 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञो' ने सम्राट के नाम पर किया जो नई पार्लमेंट और अन्य बातों के बावजूद भी क़ानूनन जापानी साम्राज्य का एकतन्त्री शासक बना रहा। साथ ही साथ जैसे-जैसे इन सुधारो की प्रगति होती जाती थी, सम्राट-पूजा का पथ भी फैलता जाता था। यह भी एक अजीब गठजोड़ा था: एक तरफ़ तो कारखाने, आधुनिक उद्योग और पार्लमेण्टी ढग का शासन और दूसरी तरफ़ देवी सम्राट की मध्यकालीन पूजा। यह समझना मुश्किल है कि ये दोनो बाते, थोड़े समय के लिए भी, क्योकर साथ-साथ चल सकती थी। फिर भी दोनो साथ-साथ चली और आज दिन भी अलग नही हुई हैं। सम्राट के प्रति श्रद्धा की इस भावना का 'बुज़ुर्ग राजनीतिज्ञो' ने दो तरह से फायदा उठाया। उन्होने सुधारो को उन कट्टरपंथी और सामन्ती वर्गों पर लादा जो वैसे तो उनका विरोध करते लेकिन सम्राट के नाम की धाक के आगे

शिथिल हो गये। दूसरी तरफ़ उन्होंने उन उग्र प्रगतिवादी तत्वों को रोके रक्खा, जो तेज़ी से आगे बढ़कर सब तरह की सामन्तशाही से पिंड छुड़ाना चाहते थे।

उन्नीसवीं सदी के इस उत्तरार्द्ध में चीन और जापान का यह अन्तर ग़ौर करने लायक़ है। जापान तेज़ी के साथ पश्चिमी साँचे में ढलता जा रहा था और चीन, जैसाकि हम देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे, बहुत ही असाधारण कठिनाइयों में उलझता गया। ऐसा हुआ क्यों? चीन देश के विस्तार, भारी आबादी और क्षेत्रफल ने परिवर्त्तन होना कठिन बना दिया। भारत भी इसी भारी आबादी और क्षेत्रफल का शिकार है, जो ज़ाहिरा तौर पर ताक़त के सोते मालूम होते हैं। चीन का शासन भी काफी केन्द्रित नहीं था, यानी देश के हरेक हिस्से को बहुत हद तक स्थानीय शासन का अधिकार था। इसलिए केन्द्रीय सरकार के लिए देश के इन हिस्सो में हस्तक्षेप करके जापान की तरह बड़े परिवर्तन करना आसान न था। एक बात यह भी है कि चीन की महान सभ्यता हज़ारों वर्षों में बनी थी और उसके जीवन से ऐसी गुंथी हुई थी कि उसे सहज ही नहीं फेंका जा सकता था। हम भारत और चीन की फिर इस बात में तुलना कर सकते हैं। दूसरी तरफ जापान ने चीन की सभ्यता की नक़ल की थी, इसलिए वह ज्यादा आसानी से उसे छोड़कर दूसरी ग्रहण कर सकता था। चीन की कठिनाइयो का एक और कारण था योरपीय शक्तियों का निरन्तर हस्तक्षेप। चीन एक विशाल महादेश था। जापान के द्वीपों की तरह वह अपने आपको बन्द करके नही रख सकता था। उत्तर और उत्तर-पश्चिम मे इसकी सीमा रूस से लगती थी, दक्षिण-पश्चिम मे ब्रिटिश साम्राज्य था और दक्षिण में फ़ान्स बढ़ा चला आ रहा था। ये योरपीय शक्तिया चीन से महत्वपूर्ण रिआयते ऐंठने में कामयाब हो गई थी और इन्होंने अपने बड़े व्यापारिक हित बढ़ा लिये थे। इन हितों के कारण उन्हें हस्तक्षेप करने के बहुतेरे बहाने मिल जाते थे।

इस तरह जिस समय चीन अन्धे की तरह लड़खडा रहा था और अपने आप को नई परिस्थितियो के अनुकूल बनाने की असफल कोशिश कर रहा था, तब जापान तीर की तरह आगे बढा जा रहा था। फिर भी एक और अजीब बात ध्यान देने लायक़ है। जापान ने पश्चिम की मशीन और उद्योगों को तो अपना लिया, आधुनिक थल और जल सेना वाले उन्नत औद्योगिक राष्ट्र का रूप धारण कर लिया। लेकिन योरप के नये विचारो और विचार धाराओ को, व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतन्त्रता की भावना को, और जीवन और समाज के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को, उसने आसानी से नही अपनाया। भीतर से वह सामन्ती और एकतन्त्रवादी बना रहा; उस विचित्र सम्राट-पूजा से बंधा रहा जिसे संसार के अन्य देश कभी का छोड़ चुके थे। भावुकता और आत्म-त्याग से भरा हुआ जापानियो का देश-प्रेम इस सम्राट-भक्ति से बहुत नज़दीक जुडा हुआ था। राष्ट्रीयता और सम्राट-पूजा का पंथ दोनों साथ-साथ चल रहे थे। इसके विपरीत चीन ने मशीनो और उद्योगवाद को झटपट नही अपनाया। पर चीनियों ने, या कम से कम आधुनिक चीन ने, पश्चिमी विचारो तथा विचार-धाराओ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का स्वागत किया। ये विचार उन लोगो के अपने विचारो से ज्यादा भिन्न न थे। इस तरह हम देखते है कि यद्यपि आधुनिक चीन पश्चिमी सभ्यता की भावना में ज्यादा घुल-मिल गया, पर जापान उससे आगे इसलिए बढ गया कि उसने भावना की परवाह न करके पश्चिमी सभ्यता का कवच धारण कर लिया। और चूँकि जापान यह कवच धारण करके मज़बूत बन गया था इसलिए तमाम योरप ने उसकी सराहना की और उसे अपना हमजोली बना लिया। लेकिन चीन कमज़ोर था, उसके पास मशीन-गनें वग़ैरा नही थी। इसलिए योरपवालों ने उसे अपमानित किया, उसे धर्मोपदेश सुनाया और उसका शोषण किया; उसके विचारो और विचारधाराओं की तनिक भी परवाह न की।

जापान न सिर्फ़ औद्योगिक तरीक़ों में ही, बल्कि साम्राज्यवादी आक्रमण में भी योरप के क़दमों पर चला। वह योरपीय शक्तियो की लीक पर चलने वाला चेला था; बल्कि उससे भी कुछ ज्यादा। उसने तो अक्सर उनके भी कान काट लिये। उसकी असली मुश्किल यही थी कि नया उद्योगवाद पुरानी सामन्तशाही के साथ मेल नही खाता था। दो घोड़ों पर सवारी करने की कोशिश में वह आर्थिक संतुलन क़ायम न रख सका। करों के भारी बोझ के नीचे लोगों के असन्तोष की आवाज़ सुनाई देने लगी। अन्दरूनी झगड़ा रोकने के लिए उसने वही पुरानी चाल चली—युद्धों तथा विदेशों में साम्राज्यवादी हरकतों के द्वारा लोगों का ध्यान बंटा दिया। उसके नये उद्योगों ने उसे कच्चे माल और मंडियों के लिए दूसरे देशों पर नज़र

डालने के लिए मजबूर किया, जिस तरह कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैण्ड को और बाद में पश्चिमी योरप की दूसरी शक्तियों को बाहर नजर डालने तथा देश जीतने के लिए विवश किया था। उसका उत्पादन बढ़ा और आबादी की भी तेजी के साथ बढ़ोतरी हुई। खाने की चीजों और कच्चे माल की दिन पर दिन जरूरत होने लगी। ये सब उसे मिलें कहां से ? उसके सबसे नजदीकी पड़ौसी थे चीन और कोरिया। चीन में व्यापार की तो गुंजायश थी पर वह बहुत घना आबाद देश था। अलबत्ता, मंचूरिया में, जो चीनी साम्राज्य के उत्तर-पूर्वी प्रान्तों का प्रदेश था, औद्योगिक विकास और उपनिवेश स्थापित करने के लिए काफ़ी जगह थी। इसलिए भूखे जापान की नजर कोरिया और मंचूरिया पर पड़ी।

इधर पश्चिमी शक्तियां चीन से तरह तरह के विशेषाधिकार लेती जा रही थीं, बल्कि जमीन तक हड़प करने की कोशिश में थीं, इसे भी जापान ने चिन्ता की दृष्टि से देखा। उसे यह चीज बिलकुल पसन्द न थी। अगर ये शक्तियाँ उसके ठीक सामने महाद्वीप में जम जायँ तो उसकी सुरक्षा खतरे में पड़ सकती थी और कम से कम महाद्वीप पर उसकी उन्नति में तो बाधा पड़ ही सकती थी।

बाहरी दुनिया के लिए दरवाजे खोले अभी बीस वर्ष भी न हुए थे कि जापान ने चीन के प्रति आक्रमणकारी होना शुरू कर दिया। कुछ मछुओं के बारे में एक छोटा-सा झगड़ा खड़ा हो गया। इन मछुओं का जहाज नष्ट हो गया था और वे मार डाले गये थे। बस जापान को चीन से हर्जाना माँगने का मौक़ा मिल गया। पहले तो चीन ने इन्कार किया, इस पर उसे लड़ाई की धमकी दी गई। और चूँकि वह अनाम में फ़ांस के साथ युद्ध में उलझा हुआ था, उसे जापान के आगे झुकना पड़ा। यह सन् १८७४ ई० की बात है। जापान इस विजय से फूल उठा, और उसी दम इसी प्रकार की विजय और प्राप्त करने के लिए निगाह दौड़ाने लगा। कोरिया को देख कर उसके मुह में पानी आ रहा था। बस एक तुच्छ बहाने को लेकर जापान ने झगड़ा खड़ा कर दिया तथा उस पर हमला बोल दिया और उसे कुछ धनराशि देने तथा जापानी व्यापार के लिए कुछ बन्दरगाह खोलने के लिए मजबूर किया।

कोरिया बहुत अरसे से चीन का एक माडलिक राज्य था। उसको चीन की हिमायत की आशा थी, पर चीन मदद देने में असमर्थ था। जापान कहीं अपना प्रभाव बहुत ज्यादा न बढ़ा ले, इस डर से चीनी सरकार ने कोरिया को सलाह दी कि फिलहाल तो जापान के आगे झुक जाय तथा साथ ही जापान को मात देने के लिए योरपीय शक्तियों से भी सन्धियाँ कर ले। इस तरह कोरिया का फाटक दुनिया के लिए सन् १८८२ ई० में खुल गया। लेकिन जापान इतने से ही संतुष्ट होने वाला न था। चीन की कठिनाइयों का फ़ायदा उठाकर, उसने फिर कोरिया का सवाल खड़ा किया और कोरिया के ऊपर सम्मिलित प्रभुत्व के लिए चीन को मजबूर कर दिया। इसका मतलब यह हुआ कि बेचारा कोरिया चीन और जापान दोनो का मांडलिक राज्य बन गया। यह परिस्थिति तो हरेक के लिए स्पष्ट ही बहुत असन्तोषजनक थी। झगड़े की सूरत अनिवार्य थी। जापान तो झगड़ा करना ही चाहता था। बस उसने सन् १८९४ ई० में चीन पर युद्ध बोल दिया।

सन् १८९४-९५ ई० का चीन-जापान युद्ध जापान के लिए तो एक खिलवाड़-सा था। उसकी थल तथा जल सेनाए पूरे आधुनिक ढग से सज्जित और शिक्षित थी। चीनी लोग अभी तक पुराने ढग के ढीले-ढाले थे। जापान की हर तरफ विजय हुई और उसने चीन को ऐसी सन्धि करने के लिए मजबूर किया जिसके मुताबिक़ वह भी चीन से सन्धि करने वाली पश्चिमी शक्तियो का समकक्ष बन गया। कोरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया गया, पर यह तो जापानी नियंत्रण के लिए सिर्फ़ एक परदा था। मंचूरिया, पोर्ट आर्थर के साथ लाओतुंग प्रायद्वीप, फारमूसा और कई अन्य टापू भी चीन को जापान की नज़र करने पड़े।

छोटे-से जापान द्वारा चीन की इस कड़ी पराजय ने दुनिया को अचम्भे में डाल दिया। सुदूरपूर्व में एक शक्तिशाली देश के इस उत्थान को देख कर पश्चिमी शक्तियो को तो नाखुश होना ही था। चीन-जापान युद्ध के दौरान में ही, जिस वक्त जापान जीतता हुआ मालूम होता था, इन शक्तियो ने उसे आगाह कर दिया था कि यदि उसने चीन के महादेश में किसी बन्दरगाह पर क़ब्जा किया तो वे उसे न मानेंगे। इस सूचना के बावजूद भी जापान ने महत्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट आर्थर वाले लाओ-तुंग प्रायद्वीप को ले लिया। लेकिन इसे उसके क़ब्जे में नही रहने दिया गया। रूस, जर्मनी और फ़ान्स, इन तीनों बड़ी शक्तियों ने जोर दिया कि

वह इस प्रायद्वीप को वापिस दे दे और जापान को यह करना ही पड़ा; हालांकि यह उसे बहुत बुरा लगा और उसे गुस्सा भी आया। अभी वह इन तीनों का सामना करने के लिए काफ़ी बलवान न था।

लेकिन जापान ने इस अपमान को याद रक्खा। यह बात उसके दिल में खटकती रही और इसने उसे और भी बड़े संघर्ष की तैयारी के लिए मजबूर कर दिया। नौ वर्ष बाद यह संघर्ष रूस के साथ हुआ।

इधर जापान ने, चीन के ऊपर विजय प्राप्त करके अपनी स्थिति ऐसी बना ली कि वह सुदूरपूर्व का सबसे बलवान राष्ट्र बन गया। चीन की सारी कमज़ोरी प्रगट हो गई थी और पश्चिमी शक्तियों के दिल से उसका डर बिलकुल जाता रहा था। मुरदे पर या अधमरे शरीर पर टूटने वाले गिद्धों की तरह वे उस पर टूट पड़ीं और अपने-अपने लिए ज्यादा से ज्यादा छीनने की कोशिशें करने लगी। फ़्रांस, रूस, जर्मनी और इंग्लैण्ड, सभी चीनी समुद्र-तट पर बन्दरगाहों के लिए और विशेषाधिकारों के लिए छीना-झपटी करने लगे। रिआयतों के लिए गंदा और बहुत ही भद्दा झगड़ा मच गया। छोटी-से-छोटी बात भी अधिकाधिक विशेषाधिकार और रिआयतें झपटने के लिए बहाना बनाई जाने लगी। चूंकि दो ईसाई धर्म-प्रचारकों को किसी ने मार डाला, इसलिए पूर्व के शानतुग प्रायद्वीप में कियाचू को जर्मनी ने ज़बरदस्ती छीन लिया। चूंकि जर्मनी ने इस स्थान पर क़ब्ज़ा कर लिया इसलिए दूसरी शक्तियां भी लूट में अपने-अपने हिस्से के लिए ज़ोर देने लगी। जिस पोर्ट आर्थर से तीन वर्ष पहले उसने जापान को हटाया था उसको अब रूस ने ले लिया। पोर्ट आर्थर पर रूस के कब्ज़े के जवाबी दावे के तौर पर इंग्लैण्ड ने वी-हाई-वी ले लिया। फ़्रांस ने अनाम में एक बन्दरगाह और कुछ प्रदेश हड़प कर लिये। रूस ने ट्रान्स-साइबेरियन रेलवे को बढ़ाने के इरादे से उत्तरी-मंचूरिया में होकर रेल निकालने की इजाज़त भी लेली।

यह बेशर्म छीना-झपटी असाधारण चीज़ थी। इस तरह प्रदेश या रिआयतें देने में चीन को कुछ मज़ा थोड़े ही आरहा था। जहाजी बल के प्रदर्शन से और बमबारी की धमकी दिखा-दिखाकर उसे हर बार राज़ी होने के लिए मजबूर किया जाता था। इस बेहया बर्ताव को हम क्या कहें? दिनदहाड़े की लूट? डाकेज़नी? पर साम्राज्यवाद का यही तरीका है। कभी तो वह गुप्तरूप से काम करता है; कभी अपनी बदकारियों को धार्मिक भावुकता के और दूसरों की भलाई के मक्कारी-भरे दिखावे के आवरण से ढकता है। लेकिन सन् १८९८ ई० में, चीन में कोई आवरण या ढकना न था। उसका नंगा रूप अपनी सारी बदसूरती ज़ाहिर कर रहा था।

: ११७ :

जापान रूस को हराता है

२९ दिसम्बर, १९३२

पिछले पत्रों में मैं सुदूरपूर्व के बारे में लिखता आ रहा हूँ और आज भी यही क़िस्सा जारी रक्खूंगा। तुम्हें शायद ताज्जुब होगा कि मैं भूतकाल के इन लड़ाई-झगड़ों का बोझा तुम्हारे दिमाग़ पर क्यों लाद रहा हूँ। ये कोई मज़ेदार विषय नहीं है और अब गये-गुज़रे हो चुके हैं। मैं उन्हें महत्व नहीं देना चाहता। लेकिन सुदूरपूर्व में इन दिनों जो-कुछ होरहा है उसमें से अधिकांश की जड़ें इन्हीं झगड़ों में है। इसलिए आज-कल की समस्याओं को समझने के लिए इनका कुछ ज्ञान ज़रूरी है। भारत की तरह चीन भी आज दुनिया की बड़ी समस्याओं में से एक है। इस समय भी जब मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, मंचूरिया पर जापानी क़ब्ज़े के बारे में ज़ोरों से विवाद चल रहा है।

अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि सन् १८९८ ई० में चीन से विशेषाधिकार ऐंठने के लिए कैसी छीना-झपटी मची हुई थी, जिनके पीछे पश्चिमी शक्तियों के जंगी जहाजों का बल था। इन शक्तियों ने सब अच्छे-अच्छे बन्दरगाहों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और इन बन्दरगाहों के पीछे फैले हुए प्रदेशों में भी खानें खोदने, रेलें बनाने, वग़ैरा के सब प्रकार के अधिकार हासिल कर लिये थे। और फिर भी ज्यादा रिआयतों की मांग जारी थी। विदेशी सरकारें चीन में अपने "प्रभाव के दायरों" की चर्चा करने लगी।

आजकल की साम्राज्यवादी सरकारों के लिए किसी देश को बाँट खाने का यह एक नर्म तरीक़ा है। अधिकार और नियंत्रण के भी कई दर्जे हुआ करते हैं। कब्जा कर लेना तो पूर्णाधिकार है ही; संरक्षकता उससे कुछ उतरा हुआ है; 'प्रभाव का दायरा' उससे भी कम है। लेकिन इन सब का रास्ता एक ही तरफ है। एक क़दम के बाद दूसरा अपने आप उठ जाता है। वास्तव, में जैसा कि शायद हमें आगे चर्चा करने का अवसर आवे, क़ब्जा करने का तरीक़ा पुराना और क़रीब-क़रीब त्यागा हुआ है क्योंकि इससे राष्ट्रीयता का झगड़ा खड़ा हो जाता है। किसी देश पर आर्थिक नियंत्रण कर लेना और बाक़ी झंझटों में न पड़ना इससे कहीं ज्यादा सहूलियत की चीज़ है।

मतलब यह है कि चीन का बँटवारा होने ही वाला नजर आ रहा था और जापान इससे पूरी तरह सशंकित हो उठा था। चीन पर उसकी विजय का फल पश्चिमी शक्तियों के हाथ में गया हुआ दिखाई दे रहा था और जापान खिसियाना-सा होकर चीन के इस बँटवारे को देख रहा था। सब से ज्यादा गुस्सा तो उसे रूस के ऊपर आ रहा था, जिसने उसे तो पोर्ट आर्थर लेने न दिया और खुद हड़प लिया।

हाँ, एक बड़ी शक्ति ऐसी थी जिसने चीन में रिआयतो की इस छीना-झपटी में या उसके बँटवारे की जुगती में भाग नहीं लिया था। यह था अमरीका का संयुक्त राज्य। इसके अलग रहने का कारण यह नही था कि वह अन्य शक्तियों की अपेक्षा ज्यादा नेकनीयत था बल्कि बात यह थी कि वह अपने ही विशाल देश के विकास में मशगूल था। जैसे-जैसे अमेरिका का राज्य पश्चिम में प्रशात महासागर की ओर बढ़ता जाता था, विकास के लिए नये-नये क्षेत्र तैयार होते जाते थे और उसकी सारी शक्ति और सम्पत्ति इसीमें खप रही थी। यहाँ तक कि इस काम के लिए योरप की भी बहुत बडी पूजी अमरीका में लगाई जा रही थी। लेकिन उन्नीसवी सदी के अन्त में अपनी पूजी लगाने के लिए अमेरिकावाले भी बाहर नजर दौड़ाने लगे। उसकी निगाह चीन पर गई और यह देखकर उसे बुरा लगा कि शायद एक दिन उस पर कब्जा कर लेने के इरादे से योरपीय शक्तियाँ उसे "प्रभाव के दायरो" में बाँटने पर उतारू थी। इस बँटवारे में अमरीका को हिस्सा नही मिल रहा था। सो अमरीका ने चीन में "मुक्तद्वार" कहलाने वाली नीति पर ज़ोर दिया। इसका मतलब यह था कि सभी देशो को चीन में व्यापार और धधे के लिए एक-सी सुविधाए दी जायँ। दूसरी शक्तियाँ भी इस पर राजी हो गईं।

इस लगातार आतंक से चीन की सरकार बहुत भयभीत हो उठी। उसे विश्वास होगया कि पुन-र्संगठन और सुधार किये बिना गति नही है। उसने इस दिशा में प्रयत्न भी किये पर नई-नई रिआयतो की लगातार माँगो के कारण सफलता मिलने का कोई ढंग नही था। कुछ वर्षों से राजमाता त्जू-सी ने वैराग्य-सा ले लिया था। चीनी लोगो ने उसे मुसीबतो से बचाने वाली समझ कर आशा भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। सम्राट को इस वक्त कुछ षड्यन्त्र का वहम हो गया, इसलिए वह राजमाता को कैद करना चाहता था। लेकिन इस बूढ़ी महिला ने बदले में सारे अधिकार उससे छीन कर, शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जापान की तरह उसने कोई आमूल सुधारो का तो कदम नही उठाया, पर सारा ध्यान एक आधुनिक सेना सगठित करने पर लगा दिया। उसने रक्षा के लिए अन्दरूनी रक्षा सेना की स्थानीय टुकडियों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। ये स्थानीय टुकड़ियाँ अपने को "ई हो तुआन" यानी 'पवित्र एकता के दल' कहती थी। कभी-कभी वे "ई हो चुआन" अर्थात् 'पवित्र एकता की मुष्टिका' भी कहलाती थीं। बन्दरगाहो में रहने वाले कुछ योरपीय लोगो ने इसी दूसरे नाम का अनुवाद कर डाला "बाक्सर्स" यानी 'घूसेबाज़'। एक कोमल पदावली का यह भोडा अनुवाद था।

ये 'घूसेबाज़' विदेशियों के आतंक और चीन तथा चीनियो पर विदेशियों द्वारा किये गये अनगिनती अपमानो के विरुद्ध एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया का रूप थे। उन्हें बदमाशी के पुतले दिखाई देने वाले इन विदे-शियों से अगर कोई प्रेम न था तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही थी। खासकर ईसाई धर्म-प्रचारक तो उन्हें बहुत ही बुरे लगते थे, क्योंकि इन्होंने बड़ा बुरा बर्ताव किया था। और चीनी ईसाइयों को तो वे देश-द्रोही मानते थे। वे उस पुरातन चीन के प्रतिनिधि थे जो नई व्यवस्था से अपना बचाव करने का अन्तिम प्रयत्न कर रहा था। लेकिन इस तरह इस प्रयत्न के सफल होने की आशा नहीं थी।

इन देशभक्ति-पूर्ण विदेशी-विरोधी, धर्म-प्रचारक विरोधी तथा कट्टर-पन्थी लोगों का पश्चिमी लोगों के साथ रगड़ा-झगड़ा होना अनिवार्य था। लड़ाई-झगड़े हुए, एक अंग्रेज धर्म-प्रचारक मारा गया, बहुत-से

योरपीय लोग और अनेक चीनी ईसाई भी मौत के घाट उतार दिये गये। विदेशी सरकारों ने इस देशप्रेमी 'घूंसेबाज़' आन्दोलन के दमन की माँग पेश की। जो लोग हत्याओं के अपराधी थे उनको तो चीन की सरकार ने सज़ाएं दे दी, लेकिन खुद चीन में ही जन्म लेनेवाले आन्दोलन को वह इस तरह कैसे दबा सकती थी? इसी बीच 'घूंसेबाज़' आन्दोलन तेज़ी से सब तरफ़ फैल गया। विदेशी राजदूतों ने घबरा कर अपने जगी जहाज़ों से फ़ौजें बुलालीं। इससे चीनियों को और भी खयाल हो गया कि विदेशी हमला शुरू हो गया है। बस, दोनों में ठन गई। जर्मन राजदूत मारा गया और पेकिंग के विदेशी दूतावास घेर लिये गये।

'घूंसेबाज़' आन्दोलन की सहानुभूति में चीन का बहुत बड़ा भाग विदेशियो के विरुद्ध हथियार लेकर उठ खड़ा हुआ। लेकिन कुछ प्रान्तो के वाइसरायों ने किसी का पक्ष नही लिया और इस तरह विदेशी शक्तियों को मदद पहुँचाई। राजमाता की सहानुभूति निस्सन्देह इन 'घूसेबाजो' के साथ थी, लेकिन उसने खुल्लम-खुल्ला उनका साथ नही दिया। विदेशियों ने यह साबित करना चाहा कि घूंसेबाज़ केवल लुटेरे हैं। पर सच तो यह है कि सन् १९०० ई० का यह फिसाद विदेशियो के चंगुल से चीन को छुड़ाने की एक देशभक्ति-पूर्ण कोशिश थी। राबर्ट हर्ट चीन में एक बड़ा अंग्रेज अफ़सर था। वह उस समय समुद्री चुगी के महकमे का इन्सपेक्टर जेनरल था और खुद भी दूतावासो के घेरे में घिर रहा था। उसने लिखा है कि चीनियों की भावनाओ पर जुल्म करने का दोष विदेशियों पर और खास कर ईसाई धर्म-प्रचारको पर है। और यह कि यह फ़िसाद "मूल में देशभक्ति-पूर्ण था, इसका बहुत-कुछ उद्देश न्यायोचित था, इसपर कोई सवाल नहीं उठ सकता और इस बात पर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोड़ा है।"

दबे हुए चीन के यो अचानक उलट पड़ने से योरप की शक्तियाँ बहुत चिढ़ी। उनके लिए यह उचित ही था कि उन्होने पेंकिग में घिरे हुए अपने आदमियो के बचाने के लिए चटपट फ़ौजें भेजी। दूतावासों का उद्धार करने के लिए एक जर्मन सेनापति की मातहती में एक अन्तर्राष्ट्रीय फ़ौज चल पड़ी। जर्मनी के क़ैसर ने अपनी फ़ौजो को हिदायत की कि चीन में जगली हूणो की तरह व्यवहार करना। शायद इसी बात को याद करके महायुद्ध के वक़्त अंग्रेज़ लोग सब जर्मनो को हूण कहने लगे थे।

क़ैसर के आदेश का न सिर्फ़ उसीके सिपाहियो ने बल्कि मित्र-राष्ट्रो की सब सेनाओ ने पालन किया। पेंकिग को कूच करते समय रास्ते में जनता के साथ इन फ़ौजो का बर्ताव ऐसा था कि बहुतों ने तो इनके हाथों में पड़ने की बनिस्बत आत्महत्या कर लेना बेहतर समझा। उन दिनो चीनी औरतें अपने पैरो को छोटा-छोटा बनाये रखती थी, इसलिए वे आसानी से भाग नही सकती थी! इससे बहुतेरी स्त्रियों ने आत्मघात कर लिया। इस तरह मित्र-राष्ट्रो की फ़ौजो का कूच हुआ और उनके मौत, आत्महत्या और जलते हुए गाँवों की निशानी बनती गई।

इन फ़ौजों के साथ जाने वाला एक अंग्रेज़ युद्ध-सम्वाददाता लिखता है—

"ऐसी भी बातें है जिन्हें मै नही लिख सकता और जो इग्लैण्ड में नही छप सकेंगी, जो यह जता देंगी कि हमारी यह पश्चिमी सभ्यता जंगलीपन के ऊपर चढ़ा हुआ पतला खोल मात्र है। किसी भी युद्ध के बारे मे असली सच्ची बातें आज तक नही लिखी गईं। यह युद्ध भी इसका अपवाद नही होगा।"

इन सेनाओ ने पेंकिग पहुँचकर दूतावासो को घेरे से छुड़ाया। उसके बाद पेंकिग की लूट हुई, जो "पिज़ारो[1] के समय के बाद लूट-पाट का सबसे जबर्दस्त धावा" कहा जा सकता है। पेंकिग के कला-भंडार उन जगली असभ्यो के हाथो में पड़ गये, जिनको इनके मूल्य तक का ज्ञान न था। यह लिखते हुए खेद होता है कि धर्म-प्रचारको ने इस लूट-पाट मे प्रधान हिस्सा लिया। विदेशियो के झुड के झुड घरों के बाहर नोटिस चिपकाते फिरते थे कि ये घर हमारे हैं। एक घर की क़ीमती चीजें बेचकर वे दूसरे बड़े मकान की तरफ़ बढ जाते थे।

इन शक्तियों की आपसी लाग-डाँट और कुछ संयुक्त राज्य अमरीका के रुख के कारण भी, चीन का बँटवारा होने से रह गया। लेकिन उसको ज़िल्लत का हलाहल पीना पड़ा। उसपर हर तरह की बेइज्ज़-

---

[1]पिज़ारो—(१४७१–१५४१ ई०) एक स्पेनी नाविक था, जिसने दक्षिण अमेरिका के पेरू देश को जीता। वहाँ उसका जीवन हद से ज़्यादा बेरहमी के कामों में बीता। आखिर में अपने ही एक सिपाही के हाथों उसकी मौत हुई।

तियाँ लादी गईं; एक स्थायी विदेशी सेना पेकिंग में अड्डा जमाने और रेल-मार्ग का पहरा देने के लिए तैनात की गई; बहुत-से क़िले नष्ट कर दिये गये; किसी विदेशी-विरोधी सस्था की सदस्यता पर मृत्युदंड निश्चित किया गया; व्यापार सम्बन्धी नये विशेषाधिकार लिये गये और हर्जाने के तौरपर एक बड़ी भारी रक़म ऐंठी गई; और सबसे भयानक चोट यह हुई कि चीनी सरकार को मजबूर किया गया कि 'घूसेबाज़' आन्दोलन के तमाम देशभक्त नेताओं को 'बाग़ी' क़रार देकर मौत की सज़ा दे। यह था तथाकथित "पेकिंग का मसविदा" जिसपर सन् १९०१ ई० में दस्तखत हुए।

ख़ास चीन में और विशेषतया पेकिंग के आसपास जब ये घटनाएं घट रही थी, उसी समय रूसी सरकार ने इस व्यापक गड़बड़ी से फायदा उठाकर साइबेरिया होकर मंचूरिया में बहुत-सी फौजें भेज दीं। चीन लाचार था; विरोध प्रकट करने के सिवा और कर ही क्या सकता था? लेकिन हुआ यह कि अन्य शक्तियों को रूसी सरकार का इस तरह देश के एक बड़े टुकड़े को हड़प जाना बहुत अखरा। इस नये गुल के खिलने से जापान को सबसे ज्यादा चिन्ता और घबराहट हुई। बस, इन सब राष्ट्रों ने रूस को पीछे लौट जाने के लिए दबाया। और रूस की सरकार ने इस पर पारसाई-भरे दुख और अचम्भे का भाव दर्शाने का प्रयत्न किया कि उसके नेक इरादो पर भी कोई शका करे। और उसने इन शक्तियों को आश्वासन दिया कि चीन की प्रभुता के अधिकारो में हाथ डालने का उसका लेशमात्र भी इरादा नही है; मचूरिया में रूसी रेलमार्ग पर शान्ति होते ही वह अपनी फ़ौजें वहाँ से हटा लेगा। बस, सब को तसल्ली होगई, और इसमें सन्देह नही कि मित्र-राष्ट्रों ने एक दूसरे को इस अद्भुत स्वार्थ-त्याग और नेकी के लिए बधाइयाँ भी दी होगी। लेकिन फिर भी, रूसी फ़ौजें मंचूरिया में ही जमी रहीं, और ठेठ कोरिया तक फैल गईं।

मञ्चूरिया में और कोरिया तक इस तरह रूस के बढ जाने पर जापानियो को बड़ा गुस्सा आया। चुपचाप लेकिन सरगर्मी के साथ वे युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्हें याद था कि किस तरह तीन शक्तियो ने मिलकर सन् १८९५ ई० में चीन-युद्ध के बाद उन्हे पोर्ट आर्थर वापस करने के लिए मजबूर किया था। ऐसा फिर न हो सके, इसकी वे अब कोशिश करने लगे। संयोग से उन्हें इंग्लैण्ड एक ऐसी शक्ति मिल गई जिसे रूस के बढ़ने से अन्देशा था और जो उसे रोकना चाहती थी। इसलिए सन् १९०२ ई० में आग्ल-जापानी गंठ-बंधन हुआ जिसका उद्देश्य था राष्ट्रो के किसी गुट द्वारा सुदूरपूर्व में जापान या इग्लैण्ड को दबाने के प्रयत्न को रोकना। जापान अब अपने आपको सुरक्षित समझने लगा और उसने रूस की तरफ़ ज़्यादा गर्म रुख इख्तियार कर लिया। उसने माँग की कि रूसी फ़ौजें मञ्चूरिया से हटा ली जायँ। लेकिन उस समय की मूर्ख ज़ारशाही सरकार जापान को हिकारत की नजर से देखती थी और उसे यह भरोसा ही न था कि जापान लड़ने की हिम्मत करेगा।

सन् १९०४ ई० के शुरू में दोनों देशो मे युद्ध ठन गया। जापान इसके लिए बिलकुल तैयार था। अपनी सरकार के प्रचार और सम्राट-पूजा के पथ से हाँके हुए जापानी लोग देशभक्ति के जोश से भर गये। दूसरी तरफ़ रूस बिलकुल तैयार न था और उसकी एकतन्त्री सरकार बराबर अपनी प्रजा को दबाकर ही शासन चला सकती थी। डेढ सालतक युद्ध चलता रहा और तमाम एशिया, योरप और अमरीका ने जल और थल पर जापान की विजयो को देखा। उत्सर्ग के अद्भुत कारनामो और ज़बरदस्त मारकाट के बाद जापानियो के हाथ पोर्ट आर्थर लगा। योरप से रूस ने जगी जहाज़ो का एक बड़ा बेडा लम्बे समुद्री रास्ते से सुदूरपूर्व को भेजा। आधी दुनिया को पार करके, हजारो मील के सफर से थका-थकाया यह ज़बर्दस्त बेड़ा जापान के समुद्र में पहुँचा और वहाँ जापान और कोरिया के बीच के सँकड़े समुद्री रास्ते में इसे इसके जलसेना-नायक सहित जापानियों ने डुबा दिया। इस दुर्घटना में करीब-क़रीब सारा का सारा जहाज़ी बेड़ा नष्ट होगया।

हार पर हार से रूस की—ज़ारशाही रूस की—बुरी गत हो रही थी। रूस के पास ताकत का बहुत बड़ा भंडार था। क्या इसी देश ने सौ वर्ष पहले नैपोलियन को नीचा नही दिखाया था? लेकिन उस वक़्त असली रूस, यानी रूस की जनता, बोल उठी थी।

इन पत्रों के सिलसिले में मैं हमेशा रूस, इंग्लैण्ड, फ़ांस, चीन, जापान, वग़ैरा का ज़िक्र किया करता हूँ, मानों इनमें से हरेक देश कोई जीती-जागती हस्ती हो। यह मेरी एक बुरी आदत है, जो किताबों और अख़बारों से मुझमें आगई है। मेरा मतलब वास्तव में उस समय की रूसी सरकार, अंग्रेज़ी सरकार, वग़ैरा

से है। ये सरकारें एक छोटे-से गिरोह के अलावा किसीकी भी प्रतिनिधि न हों, या किसी एक वर्ग की हों, लेकिन उनको सारी जनता का प्रतिनिध कहना या समझना ठीक नही। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी सरकार, पार्लमेंट का संचालन करने वाले जमीदारों और उच्च मध्यम वर्ग के आसूदा लोगों की प्रतिनिधि कही जा सकती थी। जनता के बहुमत की शासन में कोई आवाज न थी। आज-कल भारत में कभी-कभी सुनते हैं कि भारत ने राष्ट्रसंघ में या गोलमेज परिषद में या ऐसे ही अन्य जलसे में अपना प्रतिनिधि भेजा है। यह बेहूदा बात है। ये नाम के प्रतिनिधि तब तक भारत के प्रतिनिधि नही हो सकते जब तक कि भारत की जनता उनको न चुने। उनको तो भारत-सरकार नामज़द करती है जो यद्यपि भारत-सरकार कहलाती है, पर है बृटिश सरकार का ही एक विभाग। रूस में, रूस-जापान युद्ध के समय एकतन्त्री शासन था। यह ज़ार "सारे रूस का एकतन्त्री शासक" था और यह एकतन्त्री भी ऐसा कि महामूर्ख। मजदूरो और किसानो को सेना के ज़ोर पर दबाकर रक्खा जाता था। मध्यमवर्गों तक की शासन-प्रबन्ध में कोई आवाज़ न थी। इस ज़ुल्म के विरुद्ध बहुतेरे रूसी नौजवानो ने सिर उठाया और हाथ उठाया और आज़ादी की लड़ाई में अपना जीवन कुर्बान कर दिया। बहुतेरी लड़कियों ने भी यही मार्ग अपनाया। इसलिए जब मैं कहता हूँ कि "रूस" यह कर रहा था, वह कर रहा था, जापान से लड़ रहा था, तो मेरा मतलब सिर्फ ज़ारशाही सरकार से होता है, इससे ज्यादा कुछ नही।

जपानी युद्ध और उसमें पराजय ने रूस की आम जनता पर और भी मुसीबतें ढाईं। सरकार पर दबाव डालने के लिए अक्सर कारखानो के मजदूर हड़ताल कर बैठते। २२ जनवरी सन् १९०५ ई० को हज़ारों शान्त किसान और मज़दूर एक पादरी के नेतृत्व मे, जुलूस बनाकर सरदी के महल में ज़ार के पास पहुँचे कि अपने कष्टो से कुछ छुटकारा मिलने की प्रार्थना करें। उनकी बात सुनने के बजाय ज़ार ने उन पर गोलियाँ चलवा दी। भयकर हत्याकाड मच गया, दो सौ आदमी मारे गये, और पीटर्सबर्ग की बर्फ खून से लाल हो गई। उस दिन रविवार था और तभी से इस दिन को "खूनी रविवार" कहा जाने लगा। देश में गहरी हलचल मच गई। मज़दूरों ने हड़तालें बोलदी और इसके फलस्वरूप क्रान्ति का प्रयत्न हुआ। सन् १९०५ ई० की इस क्रान्ति को ज़ार की सरकार ने बडी क्रूरता से दबा दिया। कई कारणों से हमारे लिए यह क्रान्ति बडी दिलचस्प है। बारह वर्ष बाद रूस की शकल को बदल डालनेवाली सन् १९१७ ई० की महान् क्रान्ति के लिए इसने एक तरह से रास्ता तैयार किया। और सन् १९०५ ई० की इसी असफल क्रान्ति मे क्रान्ति-कारियो ने सोवियत नामक एक नये सगठन की योजना की, जो बाद में इतना मशहूर हो गया।

जैसा कि मेरा ढग है, मैं चीन और जापान और रूस-जापान युद्ध का हाल तुम्हें बताते-बताते सन् १९०५ ई० की रूसी राज्य-क्रान्ति की तरफ बहक गया। लेकिन मचूरिया के इस युद्ध के समय रूस की पृष्ठ भूमि को समझाने के लिए ये चन्द बातें बताना ज़रूरी था। प्रधानतया इसी असफल क्रान्ति और जनता के रोष के कारण ज़ार को जापान से सन्धि करनी पड़ी।

सितम्बर सन् १९०५ ई० की पोर्ट्समाउथ की सधि से रूस-जापान के युद्ध का अन्त हुआ। पोर्ट्स-माउथ संयुक्त राज्य अमरीका में है। अमरीका के राष्ट्रपति ने दोनों पक्षों को यहा बुलाकर सन्धि-पत्र पर दस्तखत कराये। इस सन्धि से अन्त में जापान को पोर्ट आर्थर और लाओ-तुग प्रायद्वीप फिर मिल गये, जो चीन के युद्ध के बाद उसे वापस करने पडे थे। रूसियो ने जो रेलमार्ग मचूरिया मे बनाया था, उसका भी एक बड़ा हिस्सा जापान को मिला। और जापान के उत्तर में जो सैखैलीन टापू है, उसका भी आधा हिस्सा मिल गया। इसके अलावा रूस ने कोरिया के ऊपर अपने तमाम दावों को छोड़ दिया।

बस, जापान जीत गया और महान शक्तियो के सुरक्षित घेरे मे जा घुसा। ऐशियाई देश जापान की विजय का एशिया के तमाम देशों पर बड़ा गहरा असर पड़ा। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि लडकपन में मैं भी इस विजय पर खूब लहका करता था। ऐसा ही तैश एशिया के अनेक लडकों, लड़कियो और बड़ो को आया करता था। योरप की एक महान शक्ति पराजित हो गई; इसलिए एशिया योरप को अब फिर हरा सकता था जैसा कि पहले वह कई बार कर चुका था। पूर्वी देशों में राष्ट्रीयता की लहर तेज़ी से फैलने लगी और एशिया एशियावालों के लिए, यह नारा सुनाई देने लगा। लेकिन यह राष्ट्रीयता केवल पुराने ज़माने को लौट चलना या पुराने रिवाजों और विश्वासो से चिपके रहना न थी। लोगों ने देख लिया कि जापान की

विजय का कारण था उसके द्वारा योरप के नये औद्योगिक तरीक़ों का अपनाया जाना। और ये विचार तथा तरीक़े पूर्वी देशों में दिन पर दिन लोकप्रिय होते गये।

: ११८ :

चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना

३० दिसम्बर, १९३२

हम देख चुके हैं कि रूस पर जापान की विजय से एशिया की जातियाँ खुशी से कैसी फूल गईं। लेकिन इसका तुरन्त नतीजा तो यह हुआ कि आक्रमणकारी साम्राज्यवादी शक्तियों के छोटे-से दल में एक शक्ति और शामिल हो गई। इसकी पहली चोट कोरिया पर पडी। जापान के उदय का अर्थ था कोरिया का अस्त। जब से जापान ने अपना द्वार दुनिया के लिए खोला वह कोरिया को और मंचूरिया के कुछ भाग को अपना माल समझने लगा था। अलबत्ता वह इस घोषणा को तो बराबर दुहराता रहता था कि वह चीन की अखण्डता को और कोरिया की स्वाधीनता को मानेगा। साम्राज्यवादी शक्तियों का यही तरीका होता है कि वे लूटती भी जाती हैं और मक्कारी के साथ अपनी नेकनीयती का भरोसा भी दिलाती जाती है; गले भी काटती जाती हैं और जीवन की ईश्वरीय श्रेष्ठता का ढिंढोरा भी पीटती जाती हैं। बस जापान ने भी शपथपूर्वक यह घोषणा की कि वह कोरिया में दखल न देगा और साथ ही वह उसपर क़ब्ज़ा जमाने की अपनी पुरानी नीति पर भी अमल करता रहा। चीन और रूस दोनो से उसके जो युद्ध हुए थे उनका भी मुख्य लक्ष्य कोरिया और मंचूरिया ही था। वह एक-एक क़दम आगे बढता जा रहा था और अब चीन तथा रूस की पराजय से उसका रास्ता साफ़ हो गया था।

अपनी साम्राज्यवादी नीति पर चलने में जापान को कभी कोई हिचकिचाहट नही हुई। वह खुल्लम-खुल्ला हाथ मारता गया; अपनी मंशा को परदे में छिपाने तक की उसने परवाह नही की। चीन का युद्ध शुरू होने से पहले ही, सन् १८९४ ई० में कोरिया की राजधानी सिओल के राजमहल में ज़बरदस्ती घुसकर जापानियों ने वहाँ की महारानी को गद्दी से उतार कर कैद कर लिया, क्योंकि वह उनके कहे मुताबिक़ चलने को तैयार न थी। सन् १९०५ ई० में रूसी युद्ध के बाद जापान की सरकार ने कोरिया के बादशाह को अपने देश की स्वाधीनता बेच देने और जापानी सत्ता को मानने के लिए मजबूर कर दिया। लेकिन यही काफ़ी न था। पाँच बरस के अन्दर ही यह अभागा बादशाह गद्दी से उतार दिया गया और कोरिया जापानी साम्राज्य में मिला लिया गया। यह सन् १९१० ई० की बात है। तीन हज़ार वर्ष के लम्बे इतिहास के बाद कोरिया राज्य की अलग हस्ती मिट गई। जिस बादशाह को इस तरह हटाया गया था वह उस राजवश का था जो ५०० वर्ष पहले मगोलों को अपने यहाँ से खदेड़ चुका था। लेकिन कोरिया अपने बड़े भाई चीन की तरह पथरा गया था और बंधे हुए पानी की तरह सड़ गया था, और इसकी उसे यह सज़ा भुगतनी पडी।

कोरिया को फिर उसका पुराना नाम दिया गया—'चोसेन' यानी प्रात.काल की शान्ति का देश। जापानियो ने वहाँ आधुनिक सुधार भी किये, पर कोरिया के लोगो की भावना को उन्होंने निर्दयता से कुचल दिया। बहुत वर्षों तक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष चलता रहा और बहुत से उफान भी आये। सबसे महत्वपूर्ण उफ़ान सन् १९१९ ई० में आया। कोरिया के लोग, खासकर युवक और युवतियाँ, ज़बर्दस्त मुक़ाबला होते हुए भी वीरता के साथ लड़ते रहे। एक बार की बात है कि स्वाधीनता के लिए लड़नेवाली एक कोरियाई संस्था ने जब स्वाधीनता की बाक़ायदा घोषणा कर दी और जापानियो को ललकार बताई तो कहते हैं कि उन लोगों ने पुलिस को टेलीफ़ोन करके अपनी कार्रवाई की इत्तिला भी दे दी। इस तरह अपने आदर्श के लिए उन्होंने जानबूझ कर अपने आपको बलिदान कर दिया। यह शान्त और चौकस तरीक़ा जो उन्होने इख्तियार किया था बापू के बताये उपायो की गूँज-सा मालूम देता है। जापानियों ने कोरियाई लोगों का जिस तरह दमन किया, वह इतिहास का एक दुखभरा और काला अध्याय है। तुम्हें यह जान कर दिलचस्पी होगी कि कोरियाई नवयुवतियों ने, जिनमें से बहुत-सी कालेज से नई-नई निकली थीं, इस संघर्ष में प्रमुख भाग लिया।

अब चीन को लौट चलना चाहिए। 'घूंसेबाज़' आन्दोलन के दमन और सन् १९०१ ई० के पेकिंग के सन्धिपत्र के बाद हमने उसे एकाएक ही छोड़ दिया था। चीन पूरी तरह ज़लील हो चुका था। वहां सुधारों का फिर प्रयत्न किया गया। बूढ़ी राजमाता तक सोचने लगी कि कुछ-न-कुछ किया ही जाना चाहिए। रूस-जापान युद्ध के समय चीन चुपचाप खड़ा देखता रहा, हालांकि लड़ाई चीन के ही प्रदेश मंचूरिया में हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारकों के हाथ मजबूत कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी योरप, अमरीका, और जापान भेजे गये। अफ़सरों की नियुक्ति के लिए साहित्यिक परीक्षाओं का पुराना तरीक़ा उठा दिया गया। यह अजीब तरीक़ा, जो चीन का एक विशेष नमूना था, ठेठ हन् खानदान के समय से, दो हज़ार वर्ष से, चला आ रहा था। इसकी उपोयगिता तो बहुत पहले ही खतम हो चुकी थी। और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए इसका उठ जाना अच्छा ही हुआ। फिर भी अपनी तौर पर यह तरीका युगो तक एक अद्भुत चीज बना रहा। यह चीनियो के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को प्रगट करता था जो एशिया तथा योरप के बहुत-से देशों की तरह न तो सामन्ती था और न महन्ती। बल्कि इसका आधार विवेक पर था। चीनी लोग दुनिया के सब देशों के लोगो से कम धार्मिक वृत्ति वाले रहे हैं; लेकिन नैतिक और सदाचारी जीवन के अपने ढंग का वे जिस कठोरता से पालन करते रहे है उतना किसी धर्म-परायण जाति ने नही किया। उन्होने बुद्धिवादी समाज की स्थापना करने का प्रयत्न किया। लेकिन चूँकि उन्होने इसे अपने प्राचीन साहित्य के परकोटे में ही सीमित कर दिया, इससे प्रगति और आवश्यक परिवर्तन रुक गये और सड़ाद तथा पथरावट पैदा हो गई। हम भारत के लोग इस चीनी बुद्धिवाद से बहुत-कुछ सीख सकते है। क्योकि अभीतक हम लोग जात-पांत, धार्मिक रूढियों, पोप-लीला और सामन्ती विचारो के पजे में फसे हुए है। चीन के महान् ऋषि कन्फ्यूशस ने अपने देशवासियों को एक चेतावनी दी थी, जो याद रखने लायक है। "जो लोग पारलौकिक शक्तियों से सम्बन्ध रखने का ढोग रचते हो, उनके साथ कोई ताल्लुक मत रक्खो। अगर तुमने अपने देश में पारलौकिकवाद को पग जमाने दिया, तो उसका नतीजा भीषण आफत होगा।". दुर्भाग्य से हमारे देश में चोटीधारी या जटा-जूट धारी या लम्बी दाढी वाले या ऐचक-पेंचे तिलकधारी या भगवा वस्त्रधारी बहुत-से लोग ग़ैबी दूत बने फिरते है और साधारण जनता को लूटते है।

लेकिन अपने सारे पुरातन बुद्धिवाद और सस्कृति को लेकर भी चीन ने वर्त्तमान को छोड़ दिया, इसलिए मुसीबत की घड़ी में उसे उसकी ये पुरानी संस्थाए कोई लाभ न पहुँचा सकी। घटनाचक्र ने चीन के बहुत-से लोगो मे नवजीवन भर दिया और उन्हें अन्यत्र जाकर लगन पूर्वक ज्ञान-ज्योति की तलाश करने के लिए मजबूर किया। उन्होने बूढी राजमाता को भी हिला दिया, और अब वह शासन-विधान और स्वराज्य देने की बातें करने लगी और उसने विदेशो को, वहाँके शासन-विधानो का अध्ययन करने के लिए, कमीशन भी भेजे।

यो बूढी राजमाता की मातहती मे चीनी सरकार ने भी हार कर आगे क़दम बढ़ाया, लेकिन जनता इससे भी तेज़ी के साथ आगे बढ रही थी। सन् १८९४ ई० में ही, डा० सनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' स्थापित करदी थी। और चीन पर विदेशी शक्तियो ने जो अन्यायपूर्ण और एक-तरफ़ा सन्धियाँ, जिन्हे चीनी लोग "असमान सन्धियाँ" कहा करते हैं, ज़बर्दस्ती लादी थी, उनके विरोध-स्वरूप बहुत-से लोग इस समिति में शामिल होगये। यह समिति बढ़ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ़ आकर्षित होने लगे। सन् १९११ ई० मे इसका नाम बदलकर "कुओ-मिन-तांग" यानी "जनता का राष्ट्रीय दल" रक्खा गया और यह चीन की क्रान्ति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन के प्राण डा० सनयात सेन संयुक्त राज्य अमरीका को आदर्श मानते थे। वह प्रजातन्त्र चाहते थे, न कि इंग्लैण्ड का-सा वैधानिक एकतन्त्र, और जापान की-सी सम्राट-पूजा तो हर्गिज भी नही। चीनियो ने अपने सम्राटों को पूजा की चीज़ कभी नही माना, फिर उनका तत्कालीन शासक राजवंश तो 'चीनी' भी नहीं था। यह राजवंश मचू था और जनता में मचू-विरोधी भावना खूब फैली हुई थी। जनता की इस हलचल ने ही बूढ़ी राजमाता को प्रभावित किया था। लेकिन यह बूढ़ी महिला प्रस्तावित शासन-विधान की घोषणा करने के थोड़े ही दिन बाद मर गई। एक अजीब बात यह हुई कि राजमाता और इसका भतीजा सम्राट, जिसे इसने गद्दी से उतारा था, दोनों नवम्बर सन् १९०८ ई० में चौबीस घंटों के अन्दर ही मर गये। अब एक दुध-मुहां बच्चा नाम के लिए सम्राट हुआ।

अब फिर पार्लमेण्ट को बुलाने की माँग बुलन्द होने लगी। जनता की मंचू-विरोधी और एकतन्त्र-विरोधी भावना ज़ोर पकड़ने लगी। क्रान्तिकारी भी ज़ोर पकड़ने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मजबूत आदमी था जो इनका मुकाबला कर सकता था। यह बूढ़ी लोमड़ी की तरह चालाक था और संयोग से चीन की एक-मात्र आधुनिक तथा होशियार सेना, जिसका नाम "आदर्श सेना" था, उसके हाथ में थी। मंचू शासको ने बड़ी बेवक़ूफ़ी में आकर इसे चिढ़ा दिया और पद से हटा दिया और इस तरह उन्होने ऐसे एक-मात्र व्यक्ति को खो दिया जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, सन् १९११ ई० में, यांगसी की घाटी में क्रान्ति भडक उठी और शीघ्र ही मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। सन् १९१२ ई० की पहली जनवरी को इन प्रान्तो ने प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डॉ० सनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योही अपने फ़ायदे का मौका मिले, हाथ मारे। रीजेन्ट ने (जो अपने पुत्र बालक सम्राट के एवज से राज्य कर रहा था) युआन को बर्खास्त कर बाद में दुबारा बुलाया, इसका क़िस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन में हरेक बात बडी शिष्टता और नम्रता के साथ की जाती थी। जिस वक्त युआन को बर्खास्त करना ज़रूरी था तब यह घोषणा की गई थी कि उसकी टाँग में तकलीफ़ है। वास्तव में सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टाँग बिलकुल मज़े में थी और उसे बर्खास्त करने का यह सिर्फ़ औपचारिक ढंग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, सन् १९११ ई० में, जब सरकार के विरुद्ध विप्लव और विद्रोह उठ खडा हुआ, तब रीजेन्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। लेकिन युआन का इरादा तब तक जाने का नही था जबतक उसकी शर्तें मंजूर न करली जायें। उसने रीजेन्ट को जो जवाब भेजा उसमें खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोड़ना सम्भव नही, क्योकि टाँग में तकलीफ होने के कारण वह यात्रा नही कर सकता। लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंजूर करली गई तो उसकी टाँग भी अद्भुत गति से चगी हो गई।

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रान्ति नही रुक सकती थी। युआन भी इस कदर चालाक था कि दोनो में से किसी पक्ष के साथ बध कर अपनी स्थिति को खतरे मे नही डालना चाहता था। आख़िर कार उसने मचुओ को गद्दी छोड़ने की सलाह दी। इधर तो प्रजातन्त्र उनके मुकाबले मे खड़ा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड़ दिया था, इसलिए मचू शासको के लिए कुछ चारा ही न था। १२ फ़रवरी सन् १९१२ ई० को सिहासन-त्याग का फरमान निकाल दिया गया। इस प्रकार ढाई सदी से ज्यादा के स्मरणीय शासन के बाद चीन के रगमच से मचू राजवश का प्रस्थान हुआ। एक चीनी कहावत के अनुसार "उन्होंने सिंह जैसी गर्जना करते हुए प्रवेश किया और साँप की पूछ की तरह प्रस्थान किया।"

इसी १२ फ़रवरी के दिन नये प्रजातन्त्र की राजधानी नानकिंग में, जहाँ प्रथम मिंग बादशाह का मकबरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई; ऐसी रस्म जिसने पुरानी तथा नई बातों का भेद दर्शाते हुए उन्हें एक साथ ला दिया। प्रजातत्र के राष्ट्रपति सनयात सेन ने अपने मंत्रिमडल के साथ मकबरे पर जाकर पुराने तरीक़े से प्रसाद चढाया। इस मौके पर भाषण देते हुए उन्होने कहा—"हम पूर्वी एशिया के लिए प्रजातन्त्री शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे है। जो लोग कोशिश करते है उन्हें देर-अबेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त में ज़रूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह गम क्यों करें कि विजय इतनी देर से आई?"

बहुत वर्षों तक, अपने देश में और निर्वासित रह कर, सनयात सेन चीन की आज़ादी के लिए जान लड़ाते रहे, और अन्त में सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आज़ादी एक बेवफ़ा दोस्त है और सफलता प्राप्त करने से पहले उसकी पूरी क़ीमत चुकानी पडती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर बहलाती है; कठिनाइयाँ पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है; और तब कही प्राप्त होती है। चीन और डॉ० सेन की मंज़िल पूरी होने में अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षों तक इस नये प्रचातंत्र को अपने जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ा और आज इक्कीस वर्ष बाद भी, जब कि उसे बालिग़ हो जाना चाहिए था, उसका भविष्य डावाँडोल हो रहा है।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी लेकिन प्रजातन्त्र के रास्ते में युआन अभी तक अडा हुआ था। पता नहीं उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ में था और दक्षिणी भाग प्रजातन्त्र के हाथ में। शान्ति

की खातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए डॉ० सेन ने अपने को मिटा कर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया। लेकिन युआन कोई प्रजातन्त्रवादी नहीं था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फिराक़ में था। जिस प्रजातन्त्र ने उसे अपना राष्ट्रपति चुन कर सम्मानित किया था, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियों से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमेण्ट को बरखास्त कर दिया और कुओ-मिन-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डॉ० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक प्रतिपक्षी सरकार की स्थापना हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डॉ० सेन ने यथाशक्ति उद्योग किया था वही पैदा हो गई, और जिस समय महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें थी। युआन ने सम्राट बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नही हुआ और थोडे ही दिनो बाद मर गया।

: ११६ :

बृहत्तर भारत और हिन्देशिया

३१ दिसम्बर, १९३२

फिलहाल हम सुदूरपूर्व की चर्चा को उठा रखते है। उन्नीसवीं सदी में हम भारत का भी कुछ हाल देख चुके हैं, और अब पश्चिम की तरफ योरप, अमरीका और अफ़रीका को चलने का समय आ गया है। पर मै चाहता हूँ कि इस लम्बे सफर से पहले तुम जरा एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की भी एक झाँकी देख लो, ताकि हमे इसकी अब तक की जानकारी होजाय। इन देशो पर ग़ौर किये काफी समय हो चुका है। पिछले कुछ पत्रो मे मैने सरसरी तौर पर और अलग-अलग तौर पर इन देशो का मलेशिया, हिन्देशिया, पूर्वी द्वीप-समूह और बृहत्तर भारत के नामो से ज़िक्र किया है जो शायद सही भी नही है। मुझे सन्देह है कि इनमें से कोई नाम इस सारे क्षेत्र को सूचित करता है। लेकिन जब हम-तुम एक-दूसरे की बातें समझ लें, तो नामो से क्या लेना-देना ?

अगर आसानी से मिल सके तो जरा नकशे को देखो। तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्व में एक प्रायद्वीप दिखाई देगा, जिसमे बर्मा, स्याम और आजकल का फ़ासीसी हिन्दी-चीन शामिल है। ब्रह्मा और स्याम के बीच जमीन की एक लम्बी जबान-सी निकली हुई है जो अन्तिम छोर की तरफ चौडी होती गई है और जिसकी नोक पर सिंगापुर का शहर बसा हुआ है। यह मलाया प्रायद्वीप है। मलाया से लेकर आस्ट्रेलिया तक बहुत-से छोटे-बडे टापू बिखरे हुए है, जिनकी अजीब शकले हैं और जिन्हें देखकर ऐसा मालूम होता है कि ये एशिया और आस्ट्रेलिया को मिलानेवाले किसी बडे भारी पुल के खण्डहर हैं। इन्ही टापुओ का नाम पूर्वी द्वीप-समूह है। इनके उत्तर में फिलीपाइन के टापू है। किसी आधुनिक नकशे से तुम्हें मालूम हो जायगा कि बर्मा और मलाया अग्रेजो के कब्जे में हैं, हिन्दी-चीन फ़ास का है और इनके बीच में स्याम एक स्वाधीन देश है। डचो के कब्जे में हिन्देशिया, यानी सुमात्रा और जावा, तथा बोर्नियो, सेलिबीज और मलक्का के ज्यादातर हिस्से है। ये टापू मसालो के लिए मशहूर हैं और इन्होंने योरप के नाविकों को हजारो मील तूफ़ानी समुद्र को पार करके आने के लिए आकर्षित किया है। फिलीपाइन टापू अमेरिका के अधीन हैं।

पूर्वी समुद्र के इन देशो की यह मौजूदा स्थिति है। लेकिन तुम्हें याद होगा कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत-माता के सपूतो ने इन देशों में जाकर बस्तियाँ बसाई थी; कई सदियों तक इनमें बड़े-बड़े साम्राज्य फूले-फले, खूबसूरत शहर और अद्भुत इमारतें बनीं, बनिज व्यापार की तरक्की हुई और भारतीय तथा चीनी सभ्यता और संस्कृति का मेल हुआ।

इन देशों का (इनकी संख्या ७९ है) वर्णन करते हुए मैंने अपने एक पिछले पत्र में पूर्व में पुर्तगाली साम्राज्य के पतन का और ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियो के उदय का जिक्र किया था। फिलीपाइन में तबतक स्पेनियों का ही राज्य था।

अंग्रेज़ों और डचों ने मिल कर पुर्तगालियों को मार भगाया था। वे कामयाब तो हो गये, लेकिन इन विजेताओं के बीच किसी तरह का प्रेम नहीं था और वे अक्सर आपस में लड़ा करते थे। सन् १६२३ ई० में एक बार मलक्का में अम्बोयना के डच गवर्नर ने, डच-सरकार के विरुद्ध साज़िश का इलज़ाम लगाकर, ईस्ट इंडिया कम्पनी के तमाम अंग्रेज़ कर्मचारियों को गिरफ्तार करके मरवा डाला। यह थोकबन्द जल्लादी अम्बोयना का हत्याकाण्ड कहलाती है।

मैं चाहता हूँ कि तुम एक बात याद रक्खो। अपने शुरू के पत्रों में मैंने इसका जिक्र किया है। इस ज़माने में, यानी सत्रहवीं सदी के अन्दर और बाद में, योरप औद्योगिक देश न था। बाहर भेजने के लिए वहाँ बड़े पैमाने पर माल तैयार नहीं होता था। औद्योगिक क्रान्ति और बड़ी-बड़ी मशीनों के दिन अभी बहुत दूर थे। योरप की बनिस्बत एशिया ज्यादा माल तैयार और निर्यात करने वाला देश था। एशिया का जो माल योरप को जाता था, उसकी क़ीमत कुछ तो योरप के माल के रूप में और कुछ स्पेनी अमरीका से आने वाले धन से दी जाती थी। एशिया और योरप की यह तिजारत बड़े मुनाफ़े की थी। बहुत अर्से तक इसपर पुर्तगालियों का अधिकार रहा, जिससे वे मालामाल होगये। इसमें हिस्सा बँटाने के लिए ब्रिटिश और डच ईस्ट इंडिया कम्पनियाँ बनीं। लेकिन पुर्तगाली लोग इस तिजारत को अपना खास इजारा समझते थे, और उसमें किसी दूसरे को हिस्सा नही देना चाहते थे। फिलीपाइन में स्पेनियो के साथ तो उनका निभाव होता रहा, क्योंकि स्पेनियों की दिलचस्पी तिजारत की बनिस्बत धर्म-प्रचार की तरफ़ ज्यादा थी। लेकिन नई कम्पनियों की तरफ़ से आने वाले अंग्रेज़ और डच हौसलेबाजो में धर्म-कर्म कुछ न था। इसलिए बहुत जल्दी ही झपट हो गई।

पूर्व में राज्य करते हुए पुर्तगालियों को सवा-सौ से ज्यादा वर्ष हो गये थे। जिनपर उनका शासन था उनमें वे ज़रा भी लोकप्रिय न थे और चारों तरफ असन्तोष था। इंग्लैण्ड और हालैण्ड की दोनो तिजारती कम्पनियो ने इस असन्तोष से फायदा उठा लिया और इन लोगों को पुर्तगालियो से पिंड छुड़ाने में मदद दी। लेकिन पुर्तगालियो ने जैसे ही जगह खाली की, ये फौरन ही उसमें जा बैठे। भारत और हिन्देशिया के शासक होने के नाते ये यहाँ के लोगो से भारी महसूलो और दूसरी सूरतों से खिराज वसूल करते थे। इससे योरप पर ज्यादा बोझ पड़े बिना ही इन्हें अपना विदेशी व्यापार चलाने मे मदद मिलती थी। पूर्वी देशों के माल की क़ीमत अदा करने में जो बड़ी दिक्क़त योरप को पहले महसूस होती थी, वह इस तरह कम हो गई। लेकिन फिर भी, जैसा कि हम देख चुके है, इंग्लैण्ड ने रोक लगा कर और भारी चुंगियाँ लगाकर भारत के माल का अपने यहाँ आना बन्द करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रान्ति के आने तक यही हालत थी।

अंग्रेज़ो के हट जाने के कारण, हिन्देशिया में डच-ब्रिटिश झगड़ा ज्यादा न चला। अंग्रेज़ लोग भारत में उलझते जा रहे थे और उन्हे इसी से फुरसत न थी। इसलिए फिलीपाइन के सिवा, जिसपर स्पेनवालो का क़ब्ज़ा बना रहा, हिन्देशिया के टापू अकेली डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में आ गये। चूँकि स्पेनियो को तिजारत की ज्यादा परवा न थी, और न वे आगे देश-विजय की ही कोशिश में थे, इसलिए इस क्षेत्र में डचों का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहा।

भारत में अपनी हमनाम ब्रिटिश कम्पनी की तरह, डच ईस्ट इंडिया कम्पनी भी जितना हो सके धन बटोरने के लिए जम गई। डेढ़-सौ वर्ष तक इस कम्पनी ने इन टापुओं पर राज किया। जनता की बेहतरी की तरफ़ इन लोगों ने ज़रा भी ध्यान नही दिया। उसकी छाती पर सवार होकर उन्होने जितना भी सम्भव हो सका रुपया ऐंठा। जब खिराज के रूप में रुपया पैदा करना आसान था तो व्यापार एक गौण बात हो गया और मृतप्राय हो गया। यह कम्पनी बिलकुल अयोग्य थी। जो डच लोग इसमें नौकरी करने के लिए आते वे भी उसी नमूने के बेउसूले तक़दीर आज़मानेवाले होते थे जैसे भारत की ब्रिटिश कम्पनी के गुमाश्ते या कारकुन। नेकी से या बदी से धन कमाना उनका खास मतलब था। भारत में देश के साधन बहुत ज्यादा थे और बदइन्तज़ामी से होने वाला बहुत-सा नुक़सान उनसे ढक जाता था। इसके अलावा भारत में कुछ योग्य गवर्नरों ने ऊपर का शासन कार्य-कुशल बना दिया था, यद्यपि तलहटी के लोगों को वह कुचलने वाला था। खैर, तुम्हें याद होगा कि सन् १८५७ ई० के महान विद्रोह ने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त कर दिया।

डच ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यवहार दिन पर दिन खराब होता गया। आखिरकार सन् १७९८

ई० में निदरलैण्ड्स की सरकार ने पूर्वी द्वीपों की हुकूमत खुद सम्हाल ली। कुछ ही दिनों बाद योरप में नैपोलियनी युद्धों के कारण, अंग्रेज़ों ने इन टापुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया; क्योंकि हालैण्ड भी नैपोलियन के साम्राज्य का हिस्सा बन गया था। पाँच साल तक वे ब्रिटिश भारत के ही प्रान्त समझे जाते रहे और इस अरसे में वहाँ बहुत कुछ सुधार जारी किये गये। नैपोलियन का पतन होने पर पूर्वी द्वीप फिर हालैण्ड को वापस दे दिये गये। जिन पाँच बरसो में जावा का सम्बन्ध भारत की ब्रिटिश सरकार से रहा, उन दिनों टामस स्टैम्फ़र्ड रैफ़ल्स नामी एक योग्य अंग्रेज़ जावा का लेफ़्टिनेण्ट-गवर्नर था। रैफ़ल्स की रिपोर्ट थी कि डचों के औपनिवेशिक शासन का इतिहास "दग़ाबाज़ी, रिश्वत, हत्याकाड और कमीनेपन का एक अत्यन्त असाधारण वर्णन है।" अन्य हरकतों के अलावा डच अफ़सरों का एक शेवा यह भी था कि वे जावा में गुलामों के तौर पर काम करने के लिए सेलीबीज़ से आदमियों को ज़बर्दस्ती पकड़ लाते थे। इस धर-पकड़ के साथ-साथ लूट-पाट और हत्याएं भी होती थी।

निदरलैण्डस सरकार की यह सीधी हुकूमत भी कम्पनी की हुकूमत से कुछ अच्छी न थी। कई बातों में तो जनता पर और भी ज्यादा अत्याचार होने लगे। तुम्हें शायद याद होगा कि मैंने बगाल में उस नील की खेती की प्रथा के बारे में कुछ बताया था, जिसने काश्तकारो पर बडी मुसीबतें ढाईं। इसी तरह की प्रथा, बल्कि इससे भी खराब, जावा वग़ैरा में जारी की गई। कम्पनी के ज़माने में लोगों को माल देना पड़ता था। लेकिन अब "काश्तकारी प्रथा" के मुताबिक़ हर साल कुछ समय के लिए, जो किसानो के काम-काजी वक़्त का लगभग एक-तिहाई या चौथाई हिस्सा माना जाता था, उनसे ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था। व्यवहार मे तो बहुत करके किसान का लगभग पूरा ही वक्त ले लिया जाता था। डच सरकार ठेकेदारों के मारफत काम कराती थी, जिनको सरकार की तरफ़ से बिना सूद पर पेशगी रुपया दिया जाता था। ये ठेकेदार मजदूरो को बेगार में पकड कर ज़मीन से खूब फ़ायदा उठाते थे। कहा तो यो जाता था कि ज़मीन की पैदावार कुछ बँधे हुए अनुपात से सरकार, ठेकेदार और काश्तकार के बीच बाट दी जाती थी। बेचारे काश्तकारो का हिस्सा शायद सबसे कम था, मुझे ठीक मालूम नही कि कितना होता था। सरकार ने यह भी हुकुम निकाल रक्खा था कि योरप में खपने वाली कुछ चीज़ें ज़मीन के कुछ भाग में ज़रूर बोई जायँ। ये चीज़ें चाय, क़हवा, शक्कर, नील, वग़ैरा थी। जैसा कि बगाल में नील की खेती का हाल था, यहाँ भी इन चीज़ो को ज़रूर ही बोना पड़ता था, चाहे दूसरी चीज़ें बोने के मुक़ाबले में मुनाफा कम ही क्यों न होता हो।

डच सरकार खूब मुनाफ़ा उठाती थी, ठेकेदार मौज करते थे; किसान भूखे मरते थे और मुसीबत की ज़िन्दगी बिताते थे। उन्नीसवी सदी के बीच मे एक भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें बडी संख्या में लोग मौत के शिकार हुए। तब कही जाकर बेचारे किसानो के लिए कुछ करना ज़रूरी समझा गया। धीरे-धीरे उनकी हालत सुधरती गई; लेकिन बेगार की प्रथा सन् १९१६ ई० तक भी चलती रही।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में डचो नें कुछ शिक्षा-सम्बन्धी तथा अन्य सुधार जारी किये। एक नया मध्यमवर्ग पैदा हो गया और राष्ट्रीय आन्दोलन आज़ादी की माँग करने लगा। भारत की तरह यहाँ भी बहुत रुक-रुक कर कदम बढ़ाया गया और ऐसी लचर धारा सभाए क़ायम की गई जिनके हाथ में असली ताक़त कुछ भी न थी। करीब पाँच वर्ष हुए, डच हिन्देशिया में क्रान्ति हुई, जिसे क्रूरता के साथ कुचल दिया गया। लेकिन जावा और दूसरे टापुओ में आज़ादी की जो भावना जाग चुकी है वह किसी तरह की क्रूरता या अत्याचार से नही मर सकती।

डच पूर्वी द्वीप आजकल 'निदरलैण्ड्स का इंडिया' कहलाते हैं[1]। हर पंद्रहवें दिन, योरप और एशिया के ऊपर होता हुआ हवाई जहाज़ ठेठ हालैण्ड से जावा के बटेविया शहर को जाया करता है।

पूर्वी द्वीपों की कहानी की रूपरेखा मैंने समाप्त करदी है और अब मैं तुमको एशिया के भू-भाग पर ले चलना चाहता हूँ। बर्मा के बारे में अब कुछ कहना बाक़ी नही है। अक्सर यह मुल्क उत्तरी और दक्षिणी दो हिस्सों में बंटा रहा और ये दोनो आपस में लड़ते झगडते रहे। किसी समय कोई शक्तिशाली बादशाह होगया तो उसने दोनों को मिला दिया और पड़ोस के स्याम देश को जीतने की भी हिम्मत कर डाली।

---

[1] अब इनका नाम इंडोनेशिया या हिन्देशिया हो गया है और इन्हें स्वाधीनता प्राप्त हो गई है।

फिर उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों के साथ झपटें शुरू हो गईं। अपने बल के घमंड से बर्मा के बादशाह ने आसाम के ऊपर चढ़ाई करके उसे अपने राज्य में मिला लिया। भारत के अंग्रेजों के साथ बर्मा का पहला युद्ध सन् १८२४ ई० में हुआ और आसाम अंग्रेजों को मिल गया। अंग्रेजों को अब मालूम हो गया कि बर्मा की सरकार और सेना दोनों कमजोर हैं और वे सारे देश को हड़पने की इच्छा करने लगे। दूसरे और तीसरे युद्धों के लिए बेहूदा बहाने ढूंढ़ निकाले गये और सन् १८८५ ई० तक सारे देश को जीतकर ब्रिटिश भारत के साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। तब से बर्मा की क़िस्मत भारत के साथ जुड़ गई है।[1]

बर्मा के दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप में भी अंग्रेजों ने अपने पैर फैला दिये। सिंगापुर के टापू पर तो उन्होंने उन्नीसवीं सदी में ही क़ब्ज़ा कर लिया था। अपनी बढ़िया स्थिति के कारण सिंगापुर जल्द एक बढ़ता हुआ व्यापारी शहर और सुदूर पूर्व को जानेवाले जहाज़ों के ठहरने का बन्दरगाह बन गया। इस प्रायद्वीप में कुछ ऊपर मलक्का के पुराने बन्दरगाह का महत्व कम हो गया। सिंगापुर से अंग्रेज उत्तर की तरफ़ बढ़ने लगे। मलाया प्रायद्वीप में छोटी-छोटी बहुत-सी रियासतें थीं, जिनमें से ज्यादातर स्याम की मांडलिक थीं। इस सदी के अन्त तक ये तमाम रियासतें अंग्रेजों की संरक्षकता में आगईं और 'मलाया राज्यसंघ' नाम के एक संघ में शामिल कर दी गईं। कुछ रियासतों पर स्याम का जो कुछ अधिकार था वह उसे मजबूर होकर इंग्लैण्ड को दे देना पड़ा।

इस तरह स्याम योरपीय शक्तियों से घिरता जा रहा था। पश्चिम और दक्षिण में, बर्मा और मलाया में, इंग्लैण्ड का प्रभुत्व था। पूर्व की तरफ़ फ़ांस चढ़ा आरहा था और अनाम को हड़प रहा था। अनाम चीन का प्रभुत्व मानता था, लेकिन यह मानना बेकार था, जबकि चीन खुद ही कठिनाइयों में फँसा हुआ था। तुम्हें याद होगा कि मैंने चीन के बारे में हाल के किसी पत्र में तुम्हें बताया था कि जब फ़ांस वालों ने अनाम पर हमला किया, तो फ्रांस और चीन के बीच लड़ाई छिड़ गई। फ़ांस की ज़रा रोक-थाम तो हुई, लेकिन कुछ ही दिनों के लिए। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अनाम और कम्बोज को शामिल करके फ्रांस ने फ़्रांसीसी हिन्द-चीन नाम का एक बड़ा उपनिवेश बना डाला। कम्बोज, जहाँ पुराने ज़माने में शानदार अंगकोर का साम्राज्य समृद्धि प्राप्त कर चुका था, स्याम देश की एक अधीन रियासत था। फ़ांस ने स्याम को लड़ाई की धमकी देकर इसके ऊपर अपना अधिकार जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि इन देशों में, फ़ांस वालों की सारी प्रारम्भिक साज़िशें फ़्रांसीसी धर्म-प्रचारकों की मारफ़त की गई थीं। किसी कारण से एक धर्म-प्रचारक को मौत की सज़ा दी गई और इसी का हरजाना वसूल करने के लिए पहला फ़्रांसीसी हमला सन् १८५७ ई० में हुआ। फ़्रांसीसी सेना ने दक्षिण में सैगौन के बन्दरगाह पर कब्ज़ा कर लिया और यहीं से फ्रांसीसियों का अधिकार उत्तर की तरफ बढ़ता गया।

मुझे दुख है कि एशिया के इन देशों में साम्राज्यवादी प्रगति के अधम किस्सों में बहुत पुनरावृत्ति हो गई है। हरेक जगह करीब-करीब एक-सी चालें चली गईं, और करीब-करीब हर जगह उन्हें सफलता मिली। एक के बाद दूसरे देश का बयान मैंने किया है, और किसी-न-किसी योरपीय शक्ति के अधीन उसे पटक कर उसका क़िस्सा खतम किया है। इस दुर्भाग्य का शिकार होने से केवल एक देश बच गया। यह था एशिया के दक्षिण-पूर्व का स्याम देश।

सौभाग्य से स्याम इसलिए बच गया कि वह बर्मा-स्थित अंग्रेजों और हिन्द चीन-स्थित फ़्रांसीसियों के बीच में फंसा हुआ था। शायद वह इसलिए बच गया कि ये दो योरपीय प्रतिद्वन्दी उसके आजू-बाजू मौजूद थे। इसके सौभाग्य का एक कारण यह भी था कि इसका शासन-प्रबन्ध कुछ समय से सन्तोषजनक था, और अन्य बहुत-से देशों की तरह यहाँ अन्दरूनी कलह नहीं थी। लेकिन अच्छा शासन विदेशियों के हमले रोकने की कोई गारण्टी न था। बात यह थी कि इंग्लैण्ड तो बर्मा में और भारत में उलझा हुआ था और फ़ांस हिन्द-चीन में। उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों में जब ये दोनों शक्तियाँ स्याम की सीमा तक पहुँचीं, तब राज्य-विस्तार का ज़माना ही गुज़र चुका था। पूर्व में प्रतिरोध की भावना उदय हो रही थी और उपनिवेशों तथा अधीन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो रहे थे। कम्बोज के मामले पर स्याम और फ़ांस में युद्ध होने का खतरा

---

[1] बर्मा अब भारत से अलग एक स्वतंत्र देश है।

था, पर स्याम ने दब कर फ़्रांस से झगड़ा बचा लिया। पश्चिम की ओर से पर्वत-श्रेणी की एक मजबूत बाड़ स्याम की बर्मा-स्थित अंग्रेज़ों से रक्षा कर रही थी।

मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि पूर्वकाल में कम-से-कम दो बार बर्मा के बादशाहों ने स्याम पर हमला किया और उसे अपने राज्य में भी मिला लिया। अन्तिम हमले में जो सन् १७६७ ई० में हुआ, स्याम की राजधानी अयुध्या या अयोध्या (इस भारतीय नाम पर ग़ौर करो) नष्ट कर दी गई। पर थोडे ही दिन बाद जनता ने विद्रोह करके बर्मी लोगों को निकाल बाहर किया और सन् १७८२ ई० में एक नया राजवंश राम प्रथम नामक बादशाह से शुरू हुआ। आज ठीक डेढ सौ बरस बाद भी, यह राजवश स्याम में राज्य करता है और शायद सभी बादशाहो का नाम 'राम' होता है। इस नये राजवंश के राज्य में स्याम को अच्छा लेकिन बहुत कुछ पितृवत् शासन मिला। साथ ही बड़ी बुद्धिमानी से विदेशी शक्तियों से भी अच्छे सम्बन्ध पैदा करने की कोशिश की गई। विदेशी व्यापार के लिए बन्दरगाह खोल दिये गये, कुछ विदेशी शक्तियो से व्यापारी सन्धियाँ की गईं, और कुछ शासन-सम्बन्धी सुधार भी जारी किये गये। बैंकाक को नई राजधानी बनाया गया। लेकिन ये सब बातें साम्राज्यवादी भेड़ियो को दूर रखने के लिए काफ़ी न थी। इंग्लैण्ड ने मलाया में पैर पसार कर स्याम की भूमि दबा ली। फ़ास ने कम्बोज और स्याम के अन्य पूर्वी प्रदेशो पर क़ब्ज़ा कर लिया। सन् १८९६ ई० में स्याम को लेकर इंग्लैण्ड और फ़ास में मारपीट होते-होते रह गई। लेकिन, जैसा कि साम्राज्य-वादियों ने क़ायदा मान रक्खा है, इन दोनों ने आपस में समझौता कर लिया कि स्याम के राज्य का जितना हिस्सा बचा हुआ है उसे अखण्ड रहने दिया जाय। मगर साथ ही उन्होंने इसे तीन "प्रभाव-क्षेत्रो" में भी बाँट लिया। पूर्वी हिस्सा फ़ास के दायरे में आया, पश्चिमी अंग्रेज़ो के दायरे मे, और दोनो के बीच में न्यारा क्षेत्र था जिसमें दोनो अपने दात गडा सकते थे। इस तरह शपथपूर्वक स्याम की अखण्डता गारण्टी कर चुकने पर कुछ ही वर्षों के बाद फ़ास ने पूर्व की तरफ कुछ और भूमि दबा ली। और इसके एवज़ में इंग्लैण्ड को भी दक्षिण में कुछ मुआवज़ा लेना ही पडा।

इतना सब कुछ होते हुए भी, स्याम का कुछ हिस्सा योरपीय लोगो के चगुल से बच गया और एशिया के इस हिस्से में इस तरह बचा रहनेवाला यही एक देश है। योरप की आक्रमणकारी प्रवृत्ति का ज्वार अब रुक गया है और अब उसे एशिया मे ज्यादा भूमि प्राप्त होने का मौका नही रहा। वह समय जल्दी ही आने वाला है जब योरप की शक्तियो को बिस्तर-बोरिया बाँधकर एशिया से कूच कर जाना होगा।

कुछ दिन पहले तक स्याम मे स्वेच्छाचारी एकतन्त्री शासन था और कुछ सुधारो के बावजूद भी काफी सामन्तशाही थी। कुछ महीने हुए, वहाँ एक रक्तहीन राज्यक्रान्ति हुई और मालूम होता है कि ऊपरी मध्यमवर्ग आगे आ गये। एक किस्म की पार्लमेण्ट भी कायम हो गई है। राम प्रथम राजवश के बादशाह ने बुद्धिमानी से इस परिवर्तन को मंजूर कर लिया है जिससे यह राजवश बना रह गया है। इस समय स्याम में वैधानिक एकतन्त्री शासन है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के एक और देश—फिलीपाइन द्वीपो पर विचार करना रह गया है। उनका हाल भी मै इसी पत्र में लिखना चाहता था लेकिन अब समय ज्यादा हो गया है और मै थक गया हूँ, और यह पत्र भी काफ़ी लम्बा हो गया है। सन् १९३२ ई० के इस साल का यह अन्तिम पत्र है जो मैं तुम्हे लिख रहा हूँ। क्योंकि पुराने सालका क्रम पूरा हो चुका है और वह आखरी सास ले रहा है। अब से तीन घटे बाद यह साल न रहेगा और गुज़रे हुए ज़माने की एक याद बन जायगा।

: १२० :

नया साल फिर आया

नया दिन, १९३३

आज नये साल का पहला दिन है। पृथ्वी ने सूर्य की एक और परिक्रमा पूरी कर ली है। छुट्टी या त्यौहार मनाने को यह नही रुकती, महाशून्य में लगातार दौड़ती चली जाती है। इसे ज़रा परवा नही कि

मेरी सतह पर रेंगनेवाले उन असंख्य भुनगों का क्या हो रहा है जो आपस में लड़ते हैं तथा क्या नर और क्या नारियाँ मूर्खतापूर्ण घमंड में अपने आपको संसार का सार और ब्रह्माण्ड की धुरी समझते हैं। पृथ्वी अपनी सन्तान का लिहाज़ नहीं करती, लेकिन हम अपना लिहाज़ न करें, यह नहीं हो सकता। आज नये साल के दिन सम्भव है हममें से बहुत लोग जीवन यात्रा में ज़रा देर सुस्ताकर पुरानी बातें याद करने लग जायं और फिर आगे की तरफ़ देखकर आशावान बनने की कोशिश करें। इसलिए आज मैं भी गुज़री बातों को याद कर रहा हूँ। जेल में मुझे नये साल का दिन यह तीसरी बार पड़ रहा है। हाँ, कुछ महीनों के लिए मैं बाहर की दुनिया में ज़रूर रह आया हूँ। इससे भी पीछे जाने पर मुझे याद आता है कि पिछले ग्यारह वर्षों में मैंने नये साल के दिन पांच बार जेल में बिताये हैं। पता नहीं, ऐसे कितने नये-पुराने दिन इस जेल में मुझे और देखने को मिलेंगे।

जेल की भाषा में अब मैं बहुत बार का "जेल-पक्षी" बन गया हूँ और मुझे जेल के जीवन की आदत हो गई है। बाहर के मेरे काम-काजी और हलचल पूर्णतया बड़ी-बड़ी सभाओं, सार्वजनिक भाषणों और इधर उधर दौड़-भाग के जीवन में तथा जेल के जीवन में कितना विचित्र भेद है! यहां की बात जुदा है, हर तरफ शान्ति है और कोई हलचल नहीं है। मैं देर-देर तक योंही बैठा रहता हूँ; और घंटों चुप रहता हूँ। एक-एक करके दिन और सप्ताह और महीने गुज़रते चले जाते हैं और एक दूसरे में विलीन होते जाते हैं। एक का दूसरे से भेद बतानेवाली कोई चीज़ नहीं। बीता हुआ समय एक धुंधली तसवीर की तरह लगता है, जिसमें कोई भी शक्ल साफ़ नहीं दीखती। कल की याद करते ही गिरफ्तारी का दिन याद आ जाता है क्योंकि, बीच का अरसा बिलकुल कोरा है जिसमें कोई ऐसी बात ही नहीं जो दिमाग़ पर असर डालती हो। यहाँ का जीवन उस पौधे की तरह है जो एक ही जगह जमा हुआ हो और वहाँ बिना किसी टीका या तर्क-वितर्क के तथा ख़ामोशी और निश्चलता के साथ बढ़ रहा हो। कभी-कभी बाहरी दुनिया की हलचलें जेल के प्राणी को अजीब और चकरानेवाली सी लगती हैं, वे बहुत दूर की और छायाओं के खेल की तरह अवास्तविक जान पड़ती हैं। इससे हमारी दो तरह की प्रकृतियाँ बन जाती हैं—एक सक्रिय और दूसरी निष्क्रिय। जीवन के ढंग दो तरह के हो जाते हैं और डा० जेकिल तथा मि० हाइड[1] की तरह व्यक्तित्व भी दो बन जाते हैं। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन का यह क़िस्सा तुमने पढ़ा है?

समय पाकर आदमी को हर चीज़ सुहाने लगती है—यहाँ तक कि जेल की दिनचर्या और एक-रसता भी। आराम शरीर के लिए लाभदायक है और शान्ति दिमाग के लिए, इससे आदमी विचार करने लगता है। अब शायद तुम समझ जाओगी कि तुम्हें इन पत्रों को लिखने से मुझे क्या फ़ायदा हुआ है। इनकी बातें तुम्हें शायद नीरस, उकतानेवाली और व्यर्थ की लम्बी-चौड़ी लगती होंगी। लेकिन इन्होंने मेरे जेल-जीवन की शून्यता को भर दिया है और मुझे ऐसा शगल दे दिया है कि जिससे मुझे बहुत आनन्द मिला है। आज से ठीक दो वर्ष पहले नये साल के ही दिन मैंने इनको नैनी-जेल में लिखना शुरू किया था और दुबारा जेल आने पर इन्हें फिर जारी कर दिया। कभी-कभी मैंने हफ़्तों कुछ नहीं लिखा है, कभी-कभी हर रोज़ लिखा है। जब लिखने की धुन सवार होती, मैं काग़ज़ क़लम लेकर बैठ जाता और दूसरी ही दुनिया में विचरण करने लगता। तब मेरी प्यारी तुम साथी होती और जेल तथा उसके सारे कामों को मैं भूल जाता। इसलिए ये पत्र मेरे लिए ऐसे बन गये हैं मानों मैं जेल से निकलकर बाहर आ गया हूँ।

आज जो पत्र मैं तुम्हें लिख रहा हूँ उसकी संख्या १२० है और संख्या डालने का यह सिलसिला मैंने नौ ही महीने पहले बरेली जेल में शुरू किया था। मुझे हैरत है कि इतना सारा तो मैं लिख चुका हूं और मैं सोचता हूं कि जब पत्रों का यह पहाड़ बड़े ढेर की तरह तुम्हारे ऊपर गिरेगा तब तुम क्या कहोगी और

---

[1] अंग्रेज़ उपन्यासकार स्टीवेन्सन का एक मशहूर उपन्यास।

डा० जेकिल एक बहुत ही नेक विद्वान प्रोफ़ेसर था। विज्ञान के प्रयोग करते समय किसी दवा से उसके शरीर में एक बदमाश मि० हाइड की रूह घुस आई। डाक्टर को अच्छी दवा हाथ लगी। वह चाहे जब अपना रूप और प्रकृति बदल लेता। होते-होते मि० हाइड को आदत ही पड़ गई और वह बिना दवा के ही डा० जेकिल के शरीर में घुस आता। आख़िरकार मि० हाइड से छुटकारा पाना असम्भव समझकर डा० जेकिल ने आत्महत्या करली।

क्या महसूस करोगी। लेकिन इस तरह मेरा जेल से बाहर निकलना और आना-जाना तुम्हे बुरा नहीं लग सकता। प्यारी बेटी ! तुमको देखे मुझे साल महीने से ज्यादा हो गये हैं। यह समय कितना लम्बा बीता है ?

इन पत्रों में कही गई कहानी कुछ ज्यादा तबियत खुश करनेवाली नही है। इतिहास आनन्द-दायक नहीं होता। अपनी महान् और शेखीभरी प्रगति के बावजूद भी मनुष्य अभी तक एक बहुत, बुरा और स्वार्थी जीव है। फिर भी उसकी स्वार्थपरता, झगड़ालूपन और हैवानियत के लम्बे और ग़मनाक इतिहास में प्रगति की प्रकाश-किरण शायद बराबर दिखाई दे सकती है। मैं जरा आशावादी हूँ और सब बातों को आशाभरी दृष्टि से देखने का आदी हूँ। लेकिन आशावाद का यह अर्थ नहीं है कि हम अपने चारों ओर की बुराइयों से आँखें मूद लें और इस खतरे को भी न देखें कि विवेकहीन आशावाद खुद ही कही बहुत कुछ ग़लत जगह न चला जाय। क्योकि दुनिया जैसी अबतक रही है और जैसी आज भी है उससे आशावाद के लिए कुछ गुंजायश नही मिलती। आदर्शवादी के लिए और ऐसे व्यक्तिके लिए जो श्रद्धा पर अपने विश्वास नहीं बनाता, इस दुनिया में रहना कठिन है, हर तरह के सवाल यहाँ उठा करते हैं, जिनका कोई सीधा जवाब नही मिलता। हर तरह के सन्देह पैदा होते रहते है, जो आसानी से दूर नही हो पाते। दुनिया में इतनी मुसीबत और बेवक़ूफी क्यों है ? इसी पुराने प्रश्न ने हमारे देश के राजकुमार सिद्धार्थ को ढाई हजार वर्ष पहले परेशान किया था। कथा में वर्णन है कि ज्ञान का आलोक तथा बोधिसत्व प्राप्त करने से पहले यह प्रश्न बार बार उनके हृदय में उठता रहता था। कहते हैं उनका प्रश्न यह था :

"कैसे हो सकता कि ब्रह्म यह जगत बनाये
किन्तु उसे दुख और मुसीबत में रखवाये
क्योकि अगर वह सर्वशक्तिमय हो यह करता
तो वह अच्छा कभी नही माना जा सकता
और अगर वह ब्रह्म नही है सर्वशक्तिमय
तो वह ईश्वर कभी नही यह जानो निश्चय" ?

हमारे ही देश में आज़ादी की लड़ाई चल रही है; पर हमारे बहुत-से भाई उधर जरा भी ध्यान न देकर आपसी बहस और झगड़ो में लगे हुए है, वे जनता की भलाई को भूलकर अपने ही पथ या धार्मिक सम्प्रदाय के लिहाज से सोचते है। और कुछ लोग जिन्हे स्वतन्त्रता का दैवी आलोक नही दिखाई देता—

"जुल्मियो से मिल गये और हो गये बस शान्त
कर इकट्ठे दूसरो के ताज और सिद्धान्त
और चिथडे और कुछ टुकड़े मुलम्मेदार
पहन कर फिरने लगे सब लाज शर्म बिसार।"

कानून और व्यवस्था के नाम पर अत्याचारी शासन चल रहा है और उसके आगे सिर झुकाने से इन्कार करनेवालो को कुचल डालने की कोशिश कर रहा है। गजब तो यह है कि जो चीज़ कमजोरों और पीड़ितों का आश्रय होनी चाहिए वही अत्याचारियो के हाथो का हथियार हो रही है ! इस पत्र में कई उद्धरण आ चुके हैं, लेकिन एक और मै देना चाहता हूँ क्योकि वह मेरे दिल को छूता है और हमारी वर्तमान स्थिति से मेल खाता हुआ मालूम देता है। यह अठारहवी सदी के फ़्रासीसी विचारक मान्तेस्क्यू की एक किताब से लिया गया है। इस नाम का जिक्र मै शुरू के किसी पत्र में कर भी चुका हूं।

"जिस तख्ते ने सहारा देकर डूबते हुए मुसीबत के मारे लोगों को बचाया हो, उसी के द्वारा अगर उन्हें डुबा दिया जाय, तो क़ानून और न्याय का चाहे जितना रंग चढ़ाने पर भी इससे बढ़कर निर्दय अत्याचार नही हो सकता।"

यह पत्र इतना दुखभरा हो गया है कि नये दिन का पत्र कहलाने लायक़ नहीं रहा। यह बात बहुत अशोभनीय है। पर वास्तव में मैं तो दु:खी नही, और हम दु:खी हों भी क्यों ? हमें तो खुशी होनी चाहिए कि हम एक महान उद्देश्य के लिए प्रयत्न कर रहे और लड़ रहे हैं; हमें एक महान नेता मिला हुआ है जो एक परम प्रिय मित्र, एक विश्वस्त मार्गदर्शक है तथा जिसके दर्शन से हमें बल मिलता है, और जिसका स्पर्श हमें स्फूर्ति देता है। हमें पूरा विश्वास है कि सफलता हमारी प्रतीक्षा कर रही है और कभी-न-

कभी हम उसे जरूर प्राप्त कर लेंगे। अगर ये बाधाएं न होती, जिन्हें हमें पार करना है, और अगर ये लड़इयाँ न होतीं, जिन्हें हमें जीतना है, तो जीवन नीरस और बेरंग हो जाता।

प्यारी बेटी, तुम जीवन की देहली पर खड़ी हो; तुम्हें तो दुख और उदासीनता से कोई सरोकार ही नहीं होना चाहिए। तुम्हें जीवन का और जो कुछ उसमें आ पड़े उसका सामना प्रसन्न और शान्त मुद्रा के साथ करना होगा; रास्ते में आनेवाली कठिनाइयो का स्वागत करना होगा ताकि उनपर विजय पाकर आनन्द प्राप्त करो। विदा, प्यारी बेटी। हमें आशा रखनी चाहिए कि हमें सफलता प्राप्त होने में बहुत देर नहीं लगेगी।

: १२१ :

फिलीपाइन और संयुक्त राज्य अमरीका

३ जनवरी, १९३३

वर्ष के नये दिन पर कुछ इधर-उधर की बातो का जिक्र करके अब हम अपनी कहानी चालू करते हैं। अब हमें फिलीपाइन द्वीपों को लेना चाहिए ताकि एशिया के पूर्वी हिस्से की तसवीर पूरी हो जाय। इन द्वीपो की तरफ़ विशेष ध्यान देने की क्या जरूरत है? एशिया में तथा अन्यत्र और भी बहुत से टापू हैं, जिनका जिक्र भी मैं इन पत्रों के सिलसिले में नही कर रहा हूँ। बात यह है कि हम एशिया मे नये साम्राज्यवाद के विकास और पुरानी सभ्यताओ पर उसकी प्रतिक्रियाओ को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्ययन के लिए भारत का साम्राज्य एक नमूना है। चीन हमको इस औद्योगिक साम्राज्यवाद के प्रसार के एक और भिन्न किन्तु बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू का दिग्दर्शन कराता है। हिन्देशिया, हिन्द-चीन, वगैरा से भी हमें बहुत-कुछ सीखने को मिल सकता है। इसी तरह फिलीपाइन भी हमारे लिए दिलचस्पी की चीज है। यह दिलचस्पी और भी ज्यादा इसलिए बढ़ जाती है कि हम यहाँ एक नई शक्ति यानी सयुक्त राज्य अमरीका की कारगुजारियाँ देखते हैं।

हम देख चुके है कि चीन में सयुक्त राज्य अमरीका ने अन्य शक्तियो की तरह आक्रमणकारी नीति इख्तियार नहीं की थी। कई मौको पर तो उसने दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियो को रोककर चीन की मदद भी की थी। इसका कारण यह नही था कि उसे साम्राज्यवाद से नफ़रत थी, या चीन से कोई प्रेम था। असल में कुछ ऐसे अन्दरूनी तथ्य थे जिनके कारण अमरीका का योरप के देशो से मतभेद था। योरप के ये देश छोटे-से महाद्वीप में बहुत ही पास-पास सटे हुए थे और इनकी आबादी इतनी घनी थी कि पैर रखने की भी जगह न थी। इसलिए यहाँ हमेशा लडाई-झगडे और गडबडें होती रहती थी। उद्योगवाद के आगमन से इनकी आबादी तेज़ी से बढ़ी और वे दिन पर दिन इतना ज्यादा माल तैयार करने लगे कि उसकी खपत उनके घर मे नही हो सकती थी। बढ़ती हुई आबादी के लिए खूराक की जरूरत हुई, कारखानो के लिए कच्चे माल की, और तैयार माल के लिए मंडियों की। इन जरूरतो को पूरा करने की तात्कालिक आर्थिक आवश्यकता ने इन देशों को दूर-दूर देशो में जाकर साम्राज्य के लिए आपस में युद्ध करने को मजबूर किया।

ये बातें संयुक्त राज्य अमरीका पर लागू नही होती थी। इनका देश योरप के बराबर ही लम्बा-चौडा था, पर आबादी कम थी। यहाँ हर आदमी के लिए काफी गुजाइश थी। अपने देश के विशाल अविकसित क्षेत्रों के विकास में शक्तियाँ लगाने के इन लोगो को खूब मौक़े थे। जैसे-जैसे रेलें बनती गईं, ये लोग पश्चिम की तरफ़ बढ़ते चले गये, यहाँतक कि प्रशान्त महासागर के किनारे तक जा पहुँचे। अपने ही देश के इन कामों में अमरीका वाले इतने मशगूल थे कि उपनिवेश बसाने के प्रयत्न करने की न तो उन्हें प्रवृत्ति थी और न फ़ुरसत। वास्तव में एक बार तो, जैसा कि मैं पहले लिख चुका हू, उन्हे कैलीफ़ोर्निया के समुद्री किनारे पर काम करने के लिए चीन की सरकार से चीनी मजदूरो की माँग करनी पड़ी थी। यह माँग पूरी कर दी गई, लेकिन बाद में इसीकी वजह से दोनों देशों में कटुता पैदा हो गई। इस तरह अपने ही देश की चिन्ताओं में फंसे रहने के

कारण अमरीका वाले साम्राज्य की उस दौड़ से अलग रहे जिसमें योरप की सरकारें लगी हुई थीं। चीन में भी उन्होंने तभी दखल दिया जब मजबूरी ही आपड़ी, और उन्हें अन्देशा होने लगा कि दूसरी शक्तियाँ इस देश को आपस में बाँट खायंगी।

हाँ, फिलीपाइन द्वीप सीधे अमरीका के अधिकार में आगये। ये हमें अमरीका के साम्राज्यवाद की कहानी सुनाते हैं और इस कारण हमारे लिए दिलचस्पी रखते हैं। यह ख़याल न करना कि संयुक्त राज्य अमरीका का साम्राज्य फिलीपाइन द्वीपो तक ही सीमित है। ऊपरी दृष्टि से तो उसके पास सिर्फ़ यही एक साम्राज्य है। पर अन्य साम्राज्यवाद शक्तियों के अनुभवो और परेशानियो से फायदा उठाकर उसने पुराने तरीक़ो पर क़लई चढ़ा दी है। अमरीकावाले किसी देश पर क़ब्ज़ा करने की इल्लत में नही पड़ते, जैसा अंग्रेजो ने भारत पर कर रक्खा है। उनको तो सिर्फ़ आर्थिक लाभ से मतलब है, इसलिए वे दूसरे देश की सम्पत्ति को हाथ में रखने की तरकीबें करते रहते हैं। सम्पत्ति पर नियन्त्रण हो जाने से देश की जनता को और असल में फिर स्वयं उस देश को ही हाथ में रखना आसान हो जाता है। बस ज्यादा झगडे के बिना या उग्र राष्ट्रीयता से टकराये बिना वे लोग देश पर अपना काबू रखते हैं और उसकी सम्पत्ति में हिस्सेदार बन जाते हैं। इस कौशलपूर्ण उपाय को आर्थिक साम्राज्यवाद कहते है। नकशे से इसका पता नही चलता। अगर भूगोल की पुस्तक में या ऐटलस में देखो तो देश आज़ाद और स्वाधीन दिखाई देगा। पर अगर परदे को हटाकर देखो तो पता लगेगा कि यह किसी दूसरे ही देश के चगुल में है, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वहाँ के साहूकारो और बड़े-बड़े व्यवसायियो के चगुल में है। सयुक्त राज्य अमरीका के हाथ में इसी तरह का अदृश्य साम्राज्य है। इग्लैण्ड जब भारतवासियो को देश के जनतन्त्र पर अधिकार देने का दिखावा करता है तो इसकी तह मे उसका यही प्रयत्न है कि भारत में तथा अन्यत्र उसका इसी प्रकार का अदृश्य किन्तु प्रभाव पूर्ण साम्राज्य सुरक्षित रहे। यह खतरनाक चीज़ है और हमें इससे सावधान रहना चाहिए।

खैर, इस अदृश्य आर्थिक साम्राज्य पर गौर करने की अभी जरूरत नही है; क्योकि फिलीपाइन द्वीप तो दृश्य साम्राज्य का ही भाग है।

फिलीपाइन मे हमारी दिलचस्पी का एक छोटा-सा किन्तु भावुकतापूर्ण कारण और भी है। आज कल फिलीपाइन का रूप स्पेनी-अमरीकी है पर उनकी पुरानी सस्कृति की सारी पृष्ठभूमि भारतीय है। भारतीय सस्कृति सुमात्रा और जावा होती हुई वहाँ पहुँची थी तथा इसने जीवन के सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक, आदि हर पहलू पर असर डाला था। प्राचीन भारतीय पौराणिक गाथाए, कथाए तथा साहित्य के कुछ अश वहाँ पहुँचे थे। इनकी भाषा मे संस्कृत के अनेक शब्द है। इनकी कला पर भारत का प्रभाव पड़ा है तथा इनके कानूनो और दस्तकारियो पर भी। यहाँ तक कि वेष-भूषा पर भी भारत की छाप है। स्पेनियो ने अपने तीन सौ साल से अधिक के लम्बे शासन में प्राचीन भारतीय सस्कृति के इन सारे प्रमाणो को मिटाने की कोशिशें की, इससे अब बहुत कम बाक़ी बचा है।

स्पेनियो ने इन टापुओ पर सन् १५६५ ई० में ही कब्ज़ा करना शुरू कर दिया था। इस तरह ये द्वीप एशिया में योरपवालो के पैर जमने का सबसे पहला स्थान हैं। इनका शासन पुर्तगाली, डच या ब्रिटिश उपनिवेशो से बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का था। व्यापार को कोई बढ़ावा नही दिया जाता था। सरकारों का आधार धार्मिक था और अधिकारी ज्यादातर ईसाई धर्म-प्रचारक तथा पादरी हुआ करते थे। इसको "धर्म-प्रचारको का साम्राज्य" कहा गया है। जनता की हालत को सुधारने की कोई कोशिश नही की जाती थी। बद-इन्तज़ामी, अत्याचार और करो के बोझ के साथ-साथ लोगो को ज़बरदस्ती ईसाई बनाने के प्रयत्न भी किये जाते थे। ऐसी हालत में विद्रोहो का होना स्वाभाविक ही था। व्यापार के लिए बहुत-से चीनी लोग भी इन द्वीपो में आ बसे थे। ईसाई बनने से इन्कार करने पर उनकी सामूहिक हत्याए कर दी गईं। अंग्रेज और डच सौदागरों को यहाँ आने की इजाज़त नही थी—कुछ तो इसलिए कि वे स्पेनियों के दुश्मन थे, और कुछ इसलिए कि वे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे और इसलिए रोमन-कैथलिक स्पेनियो की नज़रो में काफ़िर थे।

हालतें बिगड़ती गईं, लेकिन एक अच्छा नतीजा भी निकला। इन द्वीपो के बिखरे हुए हिस्सो और समूहो में एका हो गया, और उन्नीसवी सदी में राष्ट्रीय भावना जागने लगी। इसी सदी के मध्य में विदेशी व्यापारियो के लिए इन द्वीपो के दरवाज़े खुल जाने के कारण शिक्षा और दूसरे विभागों में कुछ सुधार भी हुए और व्यापार तथा व्यवसाय की उन्नति हुई। फिलीपाइनों में भी एक मध्यमवर्ग बन गया। स्पेनियों और

फिलीपाइनों के बीच विवाह-सम्बन्ध होने के कारण बहुत से फिलीपाइनों में स्पेनी खून था। स्पेन को मातृ-भूमि के समान माना जाने लगा और स्पेनी विचारों का प्रचार होने लगा। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई और जैसे-जैसे दमन हुआ, वह क्रान्तिकारी रूप धारण करती गई। शुरू में तो स्पेन से अलग होने का कोई विचार न था। स्वराज्य की, तथा स्पेन की कमजोर और बेकार पार्लमेण्ट "कोर्टे" में कुछ प्रतिनिधित्व की, माँग की गई। यह अनोखी बात है कि किस तरह हर जगह राष्ट्रीय आन्दोलन नरमी के साथ शुरू होते हैं और लाजमी तौर पर उग्र बन जाते हैं और अन्त में विच्छेद की तथा स्वाधीनता की माँग करने लगते हैं। आजादी की दबाई हुई माँग बाद में सूद-दर-सूद के साथ पूरी करनी पड़ती है। बस, फिलीपाइन में भी यह माँग बढ़ी; इसे पूरी करने के लिए राष्ट्रीय सगठन बनाये गये और गुप्त समितियाँ भी फैली। "नौजवान फिलि-पाइनो दल" ने, जिसके नेता डा० जोस रिजल थे, इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। स्पेनी अधिकारियो ने आतंक से आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया, क्योकि मालूम होता है सरकारें केवल यही एक तरीका जानती हैं। रिजल और बहुत-से दूसरे नेताओ को सन् १८९६ ई० में मौत की सजा देकर फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

इससे मानों घास में चिनगारी पड़ गई। स्पेनी सरकार के विरुद्ध खुली बगावत भड़क उठी और फिलीपाइनों ने अपना "स्वाधीनता का घोषणा-पत्र" निकाल दिया। पूरे साल भर लड़ाई चलती रही और स्पेनी लोग बग़ावत को कुचल नही सके। तब वास्तविक सुधारों के वादे पर लड़ाई रोक दी गई। लेकिन स्पेन ने कुछ नहीं किया और सन् १८९८ ई० में बग़ावत फिर से भडक उठी।

इसी बीच किसी दूसरे मामले पर अमरीका की सरकार का स्पेन से झगडा हो गया और दोनो देशों के बीच युद्ध छिड़ गया। अप्रैल, सन् १८९८ ई० में, अमरीका के जहाजी बेड़े ने फिलीपाइन पर हमला कर दिया। बागी फिलीपाइनी नेताओ को पूरी आशा थी कि महान अमरीकी प्रजातन्त्र उनकी आजादी की हिमायत करेगा। इसलिए युद्ध में उन्होने अमरीकावालों की मदद की। उन्होने अपनी स्वाधीनता की फिर घोषणा कर दी और एक प्रजातन्त्री सरकार सगठित करली। सितम्बर, सन् १८९८ ई० में, फिलीपाइनो कांग्रेस बुलाई गई और नवम्बर के अन्त तक नया शासन-विधान बना लिया गया। लेकिन इधर जब काग्रेस में नये विधान पर बहस हो रही थी, तब उधर अमरीका स्पेन को हरा रहा था। स्पेन कमजोर था, इस लिए साल का अन्त होते-होते उसने हार मानली और युद्ध समाप्त हो गया। सन्धि की शर्तों के अनुसार स्पेन ने फिलीपाइन द्वीप अमरीका को सौंप दिये। यह उदार भेंट देने में उसे लगता ही क्या था, क्योकि फिलीपाइनी बागियों ने स्पेनी सत्ता का तो पहले ही अन्त कर दिया था।

अब संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने इन द्वीपो पर क़ब्जा करने की कार्रवाई की। फिलीपाइनो ने इसका विरोध किया और बतलाया कि द्वीपो को दूसरे को सौंपने का स्पेन को कोई अधिकार न था, क्योंकि उस वक़्त स्पेन के पास सौंपने के लिए था ही क्या। लेकिन यह विरोध व्यर्थ गया और जब वे अपनी नई जीती हुई आजादी के लिए अपने को बधाई दे ही रहे थे कि उन्हें स्पेन से भी कही अधिक शक्तिशाली सरकार से दुबारा लड़ाई छेड़नी पड़ी। साढ़े तीन वर्ष तक ये वीरता के साथ लड़ते रहे, कुछ महीनों तक तो संगठित सरकार के रूप में और इसके बाद छापा-मार युद्धक्रिया के द्वारा।

अन्त में विद्रोह दबा दिया गया और अमरीकी शासन स्थापित हुआ। बहुत-से व्यापक सुधार किये गये, खासकर शिक्षा के क्षेत्र में, लेकिन स्वाधीनता की माँग जारी रही। सन् १९१६ ई० में संयुक्त-राज्य की कांग्रेस ने 'जोन्सबिल' नाम का एक बिल पास करके एक चुनी हुई धारासभा को कुछ अधिकार हस्तान्तरित कर दिये। लेकिन अमरीकी गवर्नर-जनरल को दखल देने का अधिकार रहा और अक्सर वह इस अधिकार को काम में भी लाता रहा।

संयुक्त राज्य के विरुद्ध तो फिलीपाइन में उपद्रव नही हुए; पर फिलीपाइनों को अपनी वर्तमान परिस्थिति पर असन्तोष है और वे अपनी आन्दोलनकारी कार्रवाइयों पर तथा स्वाधीनता की माँग पर डटे हुए हैं। अमरीकी लोग सच्चे साम्राज्यवादी ढंग से उन्हें अक्सर विश्वास दिलाते रहते हैं कि वे तो फिली-पाइनों के ही फ़ायदे के लिए वहाँ बने हुए हैं और जैसे ही वे अपना काम-काज सम्हालने के योग्य हो जायंगे वैसे ही वे इन द्वीपों को छोड़ कर चले जायगे। सन् १९१६ ई० के जोन्स बिल में भी कहा गया था कि "अमरीका निवासियों का हमेशा से यही उद्देश्य रहा है, और अब भी है, कि फिलीपाइन में व्यवस्थित शासन स्थापित

होने की सूरत पैदा होते ही फिलीपाइन द्वीपों पर से अपना प्रभुत्व हटालें और उनकी स्वाधीनता स्वीकार करलें।" फिर भी, अमरीका में बहुत-से लोग मौजूद हैं जो फिलीपाइन की स्वाधीनता का खुल्लम खुल्ला विरोध करते हैं।

मैं यह लिख ही रहा हूँ कि अखबारों में खबर आ रही है कि संयुक्त राज्य की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव या ऐसी ही कोई घोषणा पास की है कि फिलीपाइन को दस साल में स्वाधीनता देदी जायगी।[1]

फिलीपाइन में संयुक्त राज्य के कुछ आर्थिक स्वार्थ हैं जिनकी रक्षा की उसे फ़िक्र है। रबर की खेती में उसका विशेष स्वार्थ है, क्योंकि यह एक ऐसी अत्यन्त जरूरी चीज़ है जो उसके यहां पैदा नहीं होती। लेकिन मेरे खयाल से इन द्वीपों पर क़ब्ज़ा रखने का असली कारण है जापान का डर। जापान फिलीपाइन के बिल्कुल नजदीक है और जापान में बढ़ती हुई आबादी की बाढ़ आ रही है। यह बिलकुल सम्भव है कि जापानी सरकार की लालचभरी दृष्टि इन द्वीपों पर पड़ रही हो। अमरीका और जापान की सरकारों के बीच किसी तरह का प्रेम-भाव भी नहीं है। इसलिए फिलीपाइन के भविष्य का प्रश्न प्रशान्त सागर की शक्तियों और उनके आपसी सम्बन्धों के बड़े प्रश्न का भाग है।

: १२२ :

तीन महाद्वीपों का संगम

१६ जनवरी, १९३३

नये साल के दिन की मेरी कामनाओं में से एक तो इतनी जल्द पूरी भी हो गई कि एक पखवाड़े पहले पत्र लिखते वक्त मुझे उसका गुमान भी न था। इतनी लम्बी प्रतीक्षा के बाद आखिर हमारी मुलाकात हुई और मैंने तुम्हे फिर देखा। तुम्हे और दूसरे लोगों को देखने की खुशी और लहर कई दिनो तक मेरे दिल में भरी रही और उसने मेरी दिनचर्या में गड़बड़ डाल दी और रोज की बातो में मुझे लापर्वाह-सा बना दिया। मुझे छुट्टियों जैसी मौज आ गई है। हमारी मुलाक़ात को चार ही दिन बीते हैं, पर कितना समय गुजर गया मालूम होता है! मै तो भविष्य की भी सोचने लग गया हूँ और इस सोच में हूँ कि हमारी अगली मुलाकात कब और कहाँ होगी।

खैर, जेल का कोई कानून मुझे अपने मन-बहलाव के खेल से नही रोक सकता और मै इन पत्रों का सिलसिला जारी रक्खूंगा।

कुछ समय से मैं तुम्हे उन्नीसवी सदी का हाल लिखता आ रहा हूँ। पहले तो मैंने तुम्हें इस सदी का साधारण सिंहावलोकन कराया जो मोटे तौर पर नेपोलियन के पतन के बाद के १०० वर्ष हैं। उसके बाद हमने कई देशों पर बारीकी से ग़ौर करना शुरू किया। भारत, फिर चीन, और जापान, और सब के बाद बृहत्तर भारत और हिन्देशिया की हमने अच्छी तरह सैर की। बारीकी के साथ इस सिंहावलोकन में हम अभी तक एशिया के एक हिस्से को ही देख सके हैं। शेष दुनिया अभी बाक़ी है। यह एक लम्बा इतिहास है और इसे सीधा तथा स्पष्ट रखना कठिन है। मुझे एक-एक करके देशों और महाद्वीपों को लेना है और उनका अलग-अलग वर्णन करना है। अलग-अलग क्षेत्रों के लिए मुझे बार-बार पीछे का हाल कहने में बार-बार उसी युग में लौटना पड़ता है और एक ही जमाने का हाल लिखना पड़ता है। इसलिए कुछ उलझन हो जाना लाज़िमी है। लेकिन तुम्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि भिन्न-भिन्न देशों में उन्नीसवी सदी की ये सारी घटनायें समकालिक थीं, यानी बहुत करके एक ही समय में हुईं। उन्होंने एक दूसरी पर असर डाला और एक की दूसरी पर प्रतिक्रिया भी होती रही। इसीलिए, किसी देश के इतिहास को अलग लेकर अध्ययन करने में धोखा हो सकता है। कुल दुनिया के इतिहास से ही हमें उन घटनाओं और बलो के महत्व का ठीक अंदाज लग सकता है,

---

[1]अमरीका ने सन् १९४६ ई० में फिलीपाइन को स्वाधीन कर दिया और अब वहां प्रजातंत्री शासन है।

जिन्होंने अतीत का निर्माण किया और उसे वर्त्तमान का रूप दिया। ये पत्र इस तरह का इतिहास पेश करने का दावा नहीं करते। यह काम मेरी ताक़त से बाहर है और इस विषय पर किताबों की भी कमी नहीं है। इन पत्रो में मैंने सिर्फ़ यह कोशिश की है कि संसार के इतिहास में तुम्हारी रुचि को जगादूं, तुम्हें उसके कुछ पहलुओं का दिग्दर्शन करा दू और प्रारम्भिक कालसे लगाकर आजतक की मानव प्रवृत्तियों के सूत्र तुम्हारे हाथ में दे दूं। पता नहीं कि मैं कहाँतक सफल हो सकूंगा। कही ऐसा न हो कि मेरी मेहनत का नतीजा तुम्हारे सामने एक गड़बड़झाला रख दे जो तुम्हे सही निर्णय पर पहुँचने में मदद देने के बजाय उलटा उलझन में डाल दे।

योरप उन्नीसवीं सदी का प्रेरक-बल था। वहाँ राष्ट्रीयता का राज्य था, और उद्योगवाद वहाँ से दुनिया के दूर-दूर कोनों में फैलकर अक्सर साम्राज्यवाद का रूप ले रहा था। इस सदी का जो संक्षिप्त अवलोकन हमने शुरू में किया था, उसमें हम यह देख चुके हैं और हमने भारत और पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद के प्रभावों का ज़रा बारीकी से अनुगमन किया है। अब फिर नज़दीक से देखने के लिए योरप की तरफ़ चलने से पहले मैं तुमको ज़रा पश्चिमी एशिया की भी सैर करा देना चाहता हूं। इस भू-भाग को मैंने बहुत अर्से से छोड़ रक्खा है, जिसका मुख्य कारण यह है कि इसके बाद के इतिहास की मुझे कुछ ज्यादा जानकारी नही है।

पूर्वी एशिया और भारत से पश्चिमी एशिया बहुत भिन्न है। बहुत ज़माना हुआ तब तो मध्य-एशिया और पूर्वकी बहुत-सी जातियों और कबीलों ने यहाँ आकर हमले किये थे। खुद तुर्क लोग इसी तरह आये थे। ईसवी सन् से पहले बौद्ध धर्म भी ठेठ एशिया कोचक तक जा पहुँचा था, लेकिन वह वहाँ जड़ जमा सका हो ऐसा नही लगता। अतीत काल में पश्चिमी एशिया की आंखें एशिया या पूर्व की अपेक्षा योरप की तरफ़ ही ज्यादा लगी रही। एक तरह से यह योरप की तरफ एशिया का झरोखा रहा है। एशिया के विभिन्न भागो में इस्लाम के प्रचार से भी पश्चिमी एशिया के दृष्टिकोण में कुछ फर्क़ नही पड़ा।

भारत, चीन और दूसरे पड़ौसी देशो ने योरप की तरफ़ इस तरह कभी नही देखा। वे एशियापन में ही लिपटे रहे। भारत और चीन के बीच नस्ल, दृष्टिकोण और संस्कृति का बडा भारी अन्तर है। चीन कभी धार्मिकता का गुलाम नही रहा, और वहाँ पुजारियो-पुरोहितो की प्रथा नही रही। भारत ने सदा से अपनी धार्मिकता पर अभिमान किया है। उसके समाज पर पण्डे-पुजारी लदे रहे है, हालाँकि बुद्धने उसे इस छाती के पत्थर से छुड़ाने के प्रयत्न भी किये। भारत और चीन मे और भी बहुत से अन्तर है; फिर भी भारत और पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के बीच अजीब एकता है। इस एकता का कारण बुद्ध-गाथाओं का सूत्र है जिसने इन देशों के निवासियों को साथ बांध रक्खा है तथा जिसने कला और साहित्य, सगीत और गीतो मे समानता की व्युत्पत्ति गूंथ दी है।

इस्लाम के साथ भारत में कुछ पश्चिमी एशियापन आगया। यह एक भिन्न संस्कृति थी; जीवनका अलग ही दृष्टिकोण था। लेकिन भारत में पश्चिमी एशियापन सीधा या अपने स्वाभाविक रूप में नही आया, जैसा कि अरबवाले भारत को विजय करते तो होता। वह आया लेकिन बहुत दिन बाद, और वह भी मध्य एशियाई जातियों की मार्फ़त, जो उसकी उपयुक्त प्रतिनिधि नही थी। तो भी इस्लाम ने भारत को पश्चिमी एशिया से जोड़ दिया और इस तरह भारत दो महान सस्कृतियों का सम्मिलन-स्थान बन गया। इस्लाम चीन में भी पहुंचा और वहाँ बहु-संख्यक लोगो ने इसे स्वीकार कर लिया, पर इसने चीन की पुरानी संस्कृति को कभी चुनौती नही दी। भारत में यह चुनौती इसलिए दी गई थी कि इस्लाम बहुत अर्से तक शासन करनेवाले वर्ग का मज़हब था। इस तरह भारत वह देश हो गया जहाँ दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के मुक़ाबले में खड़ी हुईं। मैं तुमको उन तमाम प्रयत्नो का हाल लिख ही चुका हूँ जो इस कठिन समस्या को हल करने के लिए सामञ्जस्य की तलाश में की गईं। इन प्रयत्नों में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो रही थी कि ब्रिटिश हुकूमत के रूप में एक नया खतरा, और एक नई रुकावट आ मौजूद हुई। आज इन दोनों पुरानी सस्कृतियों ने अपना पुराना उद्देश्य खो दिया है। राष्ट्रीयता और औद्योगीकरण ने दुनिया को बदल दिया है, और नई आर्थिक परिस्थितियो में ठीक बैठ सकें, उसी हद तक पुरानी सस्कृतियाँ जीवित रह सकती हैं। उनके खोखले खोल बच रहे हैं, असली तात्पर्य जाते रहे हैं। खुद इस्लाम की जन्मभूमि पश्चिमी एशिया में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। चीन और सुदूरपूर्व निरन्तर उथल-पुथल की हालत में हैं। भारत में हम खुद देख सकते हैं कि क्या हो रहा है।

पश्चिमी एशिया के बारे में लिखे इतने दिन हो गये कि अब सूत्रों को पकड़ना मुश्किल-सा हो रहा है। तुम्हें याद होगा कि मैंने बग़दाद के महान् अरब साम्राज्य का हाल बताया था, कि किस तरह तुर्कों के (ये तुर्क सेलजूक तुर्क थे, उस्मानी नहीं) हाथों इसकी मिट्टी पलीद हुई और अन्त में चंगेज़ख़ां के मंगोलो ने किस तरह इसे बिल्कुल नष्ट कर दिया। मंगोलो ने ख्वार्जम के साम्राज्य का भी अन्त कर दिया, जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था और जिसमें ईरान भी शामिल था। इसके बाद तैमूरलंग आया और कुछ दिन की सैनिक सफलता और हत्याकाण्ड के बाद ग़ायब हो गया। लेकिन पश्चिम की तरफ़ एक नया साम्राज्य उदय हुआ जो तैमूर से पराजित होने के बावजूद फैलता जा रहा था। यह साम्राज्य उस्मानी तुर्कों का था, जिन्होंने ईरानके पश्चिम में एशिया पर तथा मिस्र और दक्षिण-पूर्वी योरप के ख़ास बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया था। कई पीढ़ियों तक योरप पर इनका ख़तरा बना रहा और योरप के धार्मिक तथा अन्धविश्वासी लोगो को, जिन्होंने मध्ययुग से क़दम रक्खा ही था, ये तुर्क पापियों को सज़ा देने के लिए "ख़ुदा का क़हर" मालूम दिये।

उस्मानी शासन के अधीन पश्चिमी एशिया इतिहास से गायब हो जाता है और दुनिया की मुख्य जीवन-धारा से कटकर रुके हुए पानी की खाड़ी बन जाता है। कई सदियों तक, बल्कि हज़ारों वर्षों तक, यह योरप और एशिया के बीच राजमार्ग था और एक महाद्वीप से दूसरे को माल ले जानेवाले अनगिनती क़ाफ़िले इस हिस्से के शहरों और रेगिस्तानों को पार किया करते थे। पर तुर्कों ने व्यापार को बढ़ावा न दिया और अगर वे देना भी चाहते तो एक नये कारण के सामने लाचार थे। यह कारण था योरप और एशिया के बीच समुद्री रास्तों का विकास। समुद्र अब नया राजमार्ग बन गया और जहाज़ो ने रेगिस्तान के ऊँटों की जगह ले ली। इस परिवर्तन के कारण दुनिया में पश्चिमी एशिया का महत्व बहुत घट गया। वह अब विलग जीवन बिताने लगा। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे स्वेज़ नहर के खुल जाने से समुद्री रास्ता और भी महत्वपूर्ण हो गया। यह नहर पूर्व और पश्चिम के बीच, इन दोनो संसारो को एक-दूसरे के ज्यादा समीप लानेवाला सबसे बड़ा राजमार्ग बन गई।

अब बीसवी सदी मे हमारे देखते-ही-देखते एक और महान् परिवर्तन हो रहा है। जल और थल की पुरानी प्रतियोगिता में अब थल फिर जीत रहा है और समुद्र को दुनिया के मुख्य राजमार्ग के पद से हटा रहा है। मोटरो के आविष्कार से बडा फ़र्क पड़ गया है और हवाई जहाजो ने इसे और भी बढ़ा दिया है। व्यापार के प्राचीन मार्ग जो इतने दिनो से सूने पड़े थे, अब फिर यातायात से भर रहे हैं। हाँ, आराम की चाल चलने वाले ऊँटो की जगह अब रेगिस्तान में मोटरे दौड़ती है और सिर पर हवाई जहाज उड़ते है।

उस्मानी साम्राज्य ने तीन महाद्वीपो—एशिया, अफ़रीका और योरप—को जोड़ दिया था। पर उन्नीसवी सदी के बहुत पहले से ही यह साम्राज्य कमज़ोर पड़ गया था, और इस सदी ने इसे तीन-तेरह होते भी देख लिया। "ख़ुदा का क़हर" अब "योरप का मरीज़" हो गया। सन् १९१४–१८ ई० के महायुद्ध ने इसका अन्त ही कर दिया। और इसकी राख में से नवीन तुर्की का उदय हुआ है जो आत्म-निर्भर, बलवान और उन्नतिशील है। इसके अलावा और भी कई राज्य पैदा हो गये हैं।

मै लिख चुका हूँ कि पश्चिमी एशिया 'योरप की तरफ़ एशिया का झरोखा' है। यह भूमध्यसागर से घिरा हुआ है, जिसने एशिया, योरप और अफ़रीक़ा को एक-दूसरे से अलग भी किया है और जोड़ा भी है। पुराने ज़माने मे तो यह जोड़नेवाली कड़ी बहुत मज़बूत रही है और भूमध्यसागर के किनारे के देशो में बहुत-सी समानताएं चली आई है। योरप की सभ्यता भूमध्यसागर के प्रदेश में ही शुरू हुई थी। पुराने यूनान के उपनिवेश इन्ही तीनो महाद्वीपो के समुद्री किनारे पर बिखरे हुए थे। रोमन साम्राज्य इसी के चारो ओर फैला था। भूमध्यसागर के आस-पास ही ईसाइयत का बचपन गुज़रा है। अरब लोग अपनी संस्कृति इसी के पूर्वी तट से सिसिली को और फिर अफ़रीका के तट के ठेठ पार पश्चिम में स्पेन तक ले गये और वहाँ ७०० वर्ष जमे रहे।

अब हमें मालूम हो गया कि भूमध्यसागर के तट वाले एशिया के देशों का दक्षिणी योरप और उत्तरी अफ़रीक़ा से कैसा गहरा सम्बन्ध है। इसलिए पश्चिमी एशिया पुराने ज़माने में एशिया और दूसरे दोनों महाद्वीपों के बीच निश्चित कड़ी बन जाता है। लेकिन इस तरह की कड़ियों की अगर तलाश की जाय तो दुनिया भर मे आसानी से मिल जायँगी। संकुचित राष्ट्रीयताके कारण हम संसार की एकता और विभिन्न देशों के समान हितों की जगह अलग-अलग देशों का ज्यादा विचार करने लगे हैं।

: १२३ :

पीछे की तरफ़ एक नज़र

१९ जनवरी, १९३३

हाल ही में मैंने दो पुस्तकें पढ़ी हैं, जो मुझे बहुत पसन्द आई हैं। मेरी इच्छा थी मेरे साथ तुम भी इन पुस्तकों को पढ़ती। ये दोनों पुस्तकें पेरिस के 'म्यूज़ी गाइमे' के संचालक रेने ग्राउज़े नामक फ़ांसीसी की लिखी हुई हैं। क्या तुमने पूर्वी कला का और खासकर बौद्धकला का यह दिलकश अजायबघर देखा है ? मुझे याद नहीं पड़ता कि तुम मेरे साथ वहाँ गई थी। ग्राउज़े ने चार जिल्दों में पूर्वी यानी एशियाई सभ्यता का सिंहावलोकन लिखा है और भारत, मध्यपूर्व (यानी पश्चिमी एशिया और ईरान), चीन तथा जापान की सभ्यताओं का वर्णन एक-एक जिल्द में अलग-अलग किया है। कला-रसिक होने के कारण उसने यह पुस्तक विभिन्न कलात्मक प्रवृत्तियों के विकास के दृष्टिकोण से लिखी है और इसमें अनेक सुन्दर तसवीरें भी दी हैं। इस तरह इतिहास सीखना, बादशाहों के युद्धों संग्रामो और षड्यन्त्रों का हाल जानने से बहुत अधिक अच्छा और रोचक होता है।

अभी तक मैंने ग्राउज़े की पुस्तक की वे दो जिल्दें पढी हैं जिनमें भारत का और मध्यपूर्व का वर्णन है और इन्हें पढ़कर मेरा हृदय बहुत प्रसन्न हुआ है। मनोरम इमारतों और कलापूर्ण मूर्त्तियों और अद्भुत भित्ति-चित्रो तथा चित्रकारियों की तसवीरों ने मुझे देहरादून जेल से बहुत दूर, दूर-दूर के देशों की ओर बीते हुए ज़माने की याद दिला दी है।

बहुत दिन हुए, मैंने तुम्हें उत्तर-पश्चिम भारत[1] में सिन्ध घाटी के मोहन-जो-दडो और हड़प्पा का हाल लिखा था, जो ५००० वर्ष पहले की प्राचीन सभ्यता के खण्डहर हैं। अतीत के उन दिनों में जब मोहन-जो-दड़ो में लोग रहते थे और काम करते थे और दिल बहलाते थे, तब सभ्यता के और भी अनेक केन्द्र थे। हमारी जानकारी बहुत थोडी है; वह एशिया और मिस्र के भिन्न-भिन्न भागों में खोज निकाले गये कुछ खण्डहरों तक ही सीमित है। अगर कठोर परिश्रम के साथ और काफ़ी विस्तार में खुदाई की जाय तो ऐसे और भी अनेक खण्डहर मिल सकते हैं। लेकिन अब भी हम जानते हैं कि मिस्र की नील की घाटी में, खाल्दिया (शाम देश) में जहाँ इलाम राज्य की राजधानी सूसा थी, पूर्वी ईरान के पर्सीपोलिस में, मध्य एशिया के तुर्किस्तान में, और चीन की ह्वाग-हो या पीली नदी के किनारो पर उन दिनों एक ऊँचे दर्जे की सभ्यता थी।

यह वह ज़माना था जब ताँबा उपयोग में आना शुरू हुआ था और चिकने पत्थर का युग बीत रहा था। ऐसा मालूम होता है कि चीन से लगाकर मिस्र तक का सारा विस्तृत भूखंड विकास की एक ही श्रेणी तक पहुँच चुका था। वास्तव में यह देखकर आश्चर्य होता है कि एशिया के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई समान सभ्यता के कुछ प्रमाण मिले है जो बतलाते हैं कि सभ्यताके ये विभिन्न केन्द्र एक दूसरे से विच्छिन्न नही थे बल्कि एक का दूसरे से सम्पर्क था। खेती खूब होती थी। मवेशी पाले जाते थे और कुछ व्यापार भी होता था। लेखन-कला भी प्रगट हो चुकी थी, लेकिन ये पुरानी चित्र-लिपियां अभीतक पढ़ी नहीं जा सकी हैं। एक दूसरे से बहुत दूर-दूर क्षेत्रों में एक ही तरह के औज़ार पाये गये हैं और कला की वस्तुओं में भी विचित्र समानता है। नक़्क़ाशी किये हुए मिट्टी के बर्तन तथा तरह-तरह के गुल-बूटों वाले सुन्दर फूलदान विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं। मिट्टी के ये बर्तन इतने ज्यादा पाये गये हैं कि इस तमाम काल का ही नाम "नक़्क़ाशीदार मिट्टी के बर्तनों की सभ्यता" पड़ गया है। उस ज़माने में सोने-चाँदी के ज़ेवर, सेलखड़ी और संगमरमर के बर्तन और रुई के कपड़े तक बनते थे। मिस्र से लगाकर सिन्ध नदी की घाटी और चीन तक की इस प्राचीन सभ्यता के हरेक केन्द्र में अपनी विशेषता थी तथा हरेक स्वतन्त्ररूप से विकास कर रहा था, लेकिन फिर भी इन सबके अन्दर एक-सी तथा सम्बन्धित सभ्यता का सूत्र जुड़ा हुआ प्रतीत होता है।

यह मोटे तौर पर ५,००० वर्ष पहले की बात है। लेकिन यह स्पष्ट है कि ऐसी सभ्यता ने किसी पहली

---

[1] अब यह भाग पाकिस्तान में है।

सभ्यता से ही उन्नति की होगी, और इसके विकास में हज़ारों वर्ष लगे होंगे। नील की घाटी में और खाल्दिया में इसका प्रारम्भ और भी २,००० वर्ष पहले खोजा जा सकता है। दूसरे केन्द्र भी शायद इतने ही पुराने हैं।

ईसा से ३,००० वर्ष पहले के आरम्भिक ताम्रयुग यानी मोहन-जो-दड़ो काल की, इस एक-सी तथा विस्तृत सभ्यता से चार महान् पूर्वी सभ्यताए अलग-अलग दिशाओ में निकलीं, अलग-अलग तरह की बनीं तथा अलग-अलग रूप में विकसित हुईं। ये चारो मिस्री, इराकी, भारतीय और चीनी सभ्यतायें थीं। इसी पिछले काल में मिस्र में महान् पिरामिड[1] और गीज़ा का महान् स्फिंक्स[2] बने। इसके बाद मिस्र में थीबन-काल आया, जब ईसा से लगभग २,००० वर्ष पहले थीबन-साम्राज्य फूला-फला और अद्भुत मूर्त्तियाँ तथा भित्ति-चित्र बनाये गये। कला के पुनरुत्थान का यह महान युग था। इसी समय के आस-पास लक्सर का विशाल मन्दिर बना। तूताँखामन एक थीबन फ़रऊन[3] था, जिसका नाम तो मालूम होता है लोगों ने सुन रक्खा है पर उसके बारे में और कुछ जानकारी उन्हें नहीं है।

खाल्दिया में शक्तिशाली संगठित राज्य सुमेर और अक्कद दो प्रदेशों में बने। खाल्दिया का उर शहर मोहन-जो-दड़ो के समय में ही कला की उत्कृष्ट वस्तुएं बनाने लगा था। क़रीब ७०० वर्षों की सरदारी के बाद उर पामाल कर दिया गया। बाबीलन के लोगोने, जो सामी (यानी अरबों या यहूदियों के समान) जाति के थे, सीरिया से आकर नई हुकूमत कायम की। इस नये साम्राज्य का केन्द्र अब बाबीलन का शहर हो गया, जिसका हवाला बाइबिल में बार-बार आता है। इस ज़माने में भी साहित्य का पुनरुत्थान हुआ और महाकाव्य बनाये तथा गाये जाते थे। ऐसा माना जाता है कि सृष्टि की उत्पत्ति तथा जल-प्रलय का वर्णन करने वाले इन महाकाव्यो की कथाओ के आधार पर ही बाइबिल के शुरू के अध्याय रचे गये हैं।

बाबीलन का भी पतन हुआ और उसके कई सौ वर्ष बाद (लगभग १,००० वर्ष ईसा से पूर्व और उसके बाद) असीरिया के लोग मैदान में आये और उन्होने निनेवा को राजधानी बना कर एक नया साम्राज्य कायम किया। ये अत्यन्त असाधारण लोग थे। ये बेहद नृशंस और क्रूर थे। इनकी सारी शासन-प्रणाली आतंकवाद पर खड़ी थी और इन्होने हत्याकांड तथा विनाश के द्वारा सारे मध्य-पूर्व पर एक महान साम्राज्य का निर्माण किया। ये लोग उस ज़माने के साम्राज्यवादी थे। लेकिन ये लोग कई बातों में बहुत ही सुसंस्कृत भी थे। निनेवा में एक विशाल पुस्तकालय एकत्रित किया गया था, जिसमें तत्कालीन ज्ञान के हर विभाग की पुस्तकें थी। पर यह बताने की ज़रूरत नही कि यह पुस्तकालय काग़ज़ी नहीं था और न इसमें आजकल की पुस्तको जैसी कोई चीज़ थी। उस ज़माने की पुस्तकें मिट्टी के साँचों पर लिखी जाती थीं। निनेवा के पुराने पुस्तकालय के हज़ारो साँचे आजकल लन्दन के ब्रिटिश अजायबघर में रक्खे हुए हैं। कई तो बहुत ही वीभत्स हैं; बादशाह ने बडा सजीव वर्णन दिया है कि उसने दुश्मनों पर कैसे-कैसे ज़ुल्म किये और उनसे कैसा मज़ा लिया।

भारत में आर्य लोग मोहन-जो-दड़ो काल के बाद आये। अब तक उनके शुरू के दिनों के कोई खण्डहर या मूर्तियाँ नही मिली है। हाँ, उनके सबसे महान् स्मृति-चिह्न उनके पुराने ग्रन्थ—वेद वग़ैरा—है, जिनसे हमें भारत के मैदान में उतरनेवाले इन आनन्दी योद्धाओं के मन का भीतरी हाल मालूम होता है। इन ग्रन्थों

---

[1]पिरामिड—चौकोर शंकु के आकार के विशाल स्तूप जिनमें फ़रऊनों को दफ़नाया गया है। मिस्र में लगभग ४० पिरामिड हैं जो अहराम कहलाते हैं। सबसे बड़ा पिरामिड कूफ़ू नामक फ़रऊन का बनवाया हुआ है। इसी में बाद में उसका शव रक्खा गया था। इसका आधार ७५६ फुट लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है तथा इसकी ऊंचाई ४८१ फ़ुट है। पिरामिडों में पत्थर के बहुत बड़े बड़े टुकड़े जमे हुए हैं। कूफ़ू का पिरामिड संसार का एक आश्चर्य माना जाता है। इसके भीतर कई बड़े-बड़े कमरे हैं।

[2]स्फिंक्स—पत्थर की विशालकाय मूर्त्ति जिसका सिर तो स्त्री का-सा है, धड़ सिंह का है, जिस पर पक्षियों-के से पर हैं तथा पूंछ सांप की सी-है। यह मिस्र में पिरामिडों के ही पास है।

[3]ईसा से पूर्व छठी-सातवीं शदी में मिस्र के बादशाह फ़रऊन कहलाते थे। तूतांखामन अन्तिम फ़रऊनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी क़ब्र में इसकी ममियाई निकली है जो सोने के संदूक में बन्द थी। क़ब्र में सोने-चांदी, हाथीदांत, जवाहरात की अनेक बहुमूल्य चीजें भी मिली हैं।

में प्रकृति की अत्यन्त प्रभावशाली कविता भरी है; देवता भी प्रकृति के देवता हैं। यह स्वाभाविक ही था कि जब कला का विकास हुआ तो प्रकृति का प्रेम उसमें बहुत अधिक भाग लेता। भोपाल के पास सांची के फाटक अब तक पाये जानेवाले सबसे पुराने कलात्मक अवशेषों में से हैं। उनका समय आरम्भिक बौद्धकाल है। इन फाटकों के ऊपर फूल-पत्तों तथा जानवरो की आकृतियो की सुन्दर खुदाई से हमें इनके बनानेवाले कलाकारों के प्रकृति-प्रेम और परख का पता लगता है।

इसके बाद उत्तर-पश्चिम की ओर से यूनानी प्रभाव आया क्योंकि यह तो तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर के बाद यूनानी साम्राज्य ठेठ भारत की सरहद तक आ गया था। फिर कुशनवंश का सरहदी साम्राज्य प्रकट हुआ और इसपर भी यूनानी प्रभाव था। बुद्ध मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। वह अपने आपको देवता नहीं कहते थे, न अपनी पूजा ही कराना चाहते थे। उनका उद्देश्य उन बुराइयों से समाज का पिण्ड छुड़ाना था, जो पोपलीला के कारण उसमें घुस आई थी। वह पतितों और दीन-दुःखियो के उद्धार की कोशिश करनेवाले सुधारक थे। बनारस के पास सारनाथ अथवा इसिपत्तन में उनका जो प्रथम प्रवचन हुआ उसमें उन्होंने कहा था : "मैं अज्ञानियों को ज्ञान से तृप्त करने आया हूँ...... । जबतक कोई मनुष्य प्राणियो के हित के लिए अपने को खपा न दे परित्यक्तों को सान्त्वना न दे, तबतक वह पूर्ण नही हो सकता।......मेरा सिद्धान्त करुणा का सिद्धांत है; इसी कारण संसार के सुखी मनुष्य उसे कठिन समझते है। निर्वाण का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है। ब्राह्मण भी उसी तरह स्त्री के गर्भ से पैदा हुआ है जैसे कि चाण्डाल, जिसके लिए कि उसने मोक्ष का द्वार बन्द कर रक्खा है। जिस प्रकार हाथी नरसलो की झोंपडी को उखाड फेंकता है, उसी प्रकार तुम भी अपने विकारों का नाश कर दो।.......पापो से रक्षा का एक मात्र उपाय आर्यसत्य है।" इस प्रकार बुद्ध ने सदाचार तथा जीवन के अष्टांगिक मार्ग[1] का उपदेश किया। लेकिन गुरु के उपदेशो का गुह्य अर्थ न समझनेवाले मूर्ख शिष्यों का जैसा क़ायदा होता है, उसी तरह बुद्ध के अनुयायियो ने उनके निर्देशित आचार-व्यवहार के ऊपरी नियमों का तो पालन किया परन्तु उनका भीतरी मर्म नही समझा। उनके उपदेशो पर चलने के बजाय वे उनकी पूजा करने लगे। फिर भी बुद्ध की कोई मूर्तियाँ नही बनी, न कोई प्रतिमाएं बनाई गईं।

इसके बाद यूनान और अन्य यूनानी देशो के विचार यहाँ भी आने लगे। इन देशो में देवताओं की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ बनाकर पूजी जाती थी। भारत के उत्तर-पश्चिम में गान्धार देश मे यह प्रभाव सबसे ज्यादा था। वहाँ 'शिशु-बुद्ध' की मूर्तियाँ बनने लगीं। उनके अपने छोटे और मोहक देवता कामदेव या आगे होने वाले शिशु ईसा की भाँति, वह इटालवी भाषा का 'पवित्र शिशु' था। इस तरह बौद्ध-धर्म में मूर्तिपूजा की शुरुआत हुई और यहाँतक बढ़ी कि हरेक बौद्ध-मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति दिखाई देने लगी।

ईरान का भी प्रभाव भारतीय कला पर पड़ा। बौद्ध गाथाओ और हिन्दुओं की सम्पन्न पौराणिक कथाओं से भारत के कलाकारों को अपरिमित मसाला मिल गया। पत्थर पर खुदी हुई अथवा रगों से चित्रित इन गाथाओं तथा कथाओं को तुम आन्ध्र देश में अमरावती में, बम्बई के पास एलिफेण्टा की गुफाओ में, और एलोरा और अजन्ता में देख सकती हो। सैर के लिए ये अद्भुत स्थान है और मैं चाहता हूँ कि भारत का हरेक लड़का और लड़की इन जगहों में से कम-से-कम कुछ को तो जरूर देखे।

भारत की पौराणिक कथायें समुद्र को पार करके बृहत्तर भारत में भी जा पहुँची। जावा के बोरो-बुदुर स्थान पर सारी-की-सारी जातक बुद्ध-कथा पत्थर की दीवारो पर चित्रमाला के रूप में मिलती हैं। अंगकोरवात के खण्डहरो में बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ मौजूद हैं, जिनको देखकर हमें आठ सौ वर्ष पहले के जमाने का स्मरण हो आता है जबकि पूर्वी एशिया में यह नगर "शानदार अंगकोर" के नाम से मशहूर था। इन मूर्तियों की मुख-मुद्राएं कोमल और सजीव हैं और उनपर एक विचित्र तथा अगम्य मुस्कराहट छाई हुई है, जो "अंगकोर की मुस्कराहट" कहलाने लगी है। वहाँ की जातियो का पुराना खून बदल गया है, लेकिन वह मुस्कराहट वैसी ही बनी हुई है और उसमें रसहीनता नहीं आई है।

कला अपने काल के जीवन और सभ्यता का सच्चा दर्पण होती है। जब भारतीय सभ्यता जीवन से भरी-पूरी थी, तब यहाँ सौन्दर्य की वस्तुओं का निर्माण हुआ, कलाएं लहलहाईं और उनकी गूंज दूर-दूर के

---

[1] "आर्यसत्य" और "अष्टांगिक मार्ग" बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त है। 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित 'बुद्धवाणी' में इनका अच्छा परिचय दिया हुआ है।

देशों तक आ पहुँची। लेकिन जैसा कि तुम्हें मालूम है, बाद में जड़ता और पतन का प्रारम्भ हुआ और जैसे-जैसे देश खण्ड-खण्ड होता गया, कलाएं भी गिरती गईं। उनकी स्फूर्ति और प्राणशक्ति नष्ट होगई और उनपर जरूरत से ज्यादा बारीकियाँ लाद दी गईं—यहाँतक कि वे कुरूपता की सीमा पर पहुँच गईं। मुसलमानों के आगमन ने इन्हें हिला दिया और इस नये प्रभाव ने अनावश्यक सजावट के गिरे हुए रूप से भारतीय कला को मुक्त कर दिया। जमीन पुराने भारतीय आदर्श की ही रही, पर उसे बड़ी सादगी और कोमलता के साथ अरब और ईरान का नया जामा पहना दिया गया। पुराने जमाने में भारत के हजारों शिल्पी मिस्त्री मध्य-एशिया गये थे। अब पश्चिम-एशिया के शिल्पकार और चित्रकार भारत आये। ईरान और मध्य-एशिया में कला का महान् पुनरुत्थान हो चुका था; क़ुस्तुन्तुनिया में महान् शिल्पकारों के हाथों बड़ी-बड़ी आलीशान इमारतें बन रही थी। इटली में भी यही 'रिनैसाँ' का प्रारम्भिक काल था, जबकि वहाँ भी महान कलाकारो की एक प्रकाशमान लड़ी ने सुन्दर चित्रों और मूर्तियों का निर्माण किया था।

सीनन उस जमाने का प्रसिद्ध तुर्की शिल्पकार था और बाबर ने उसीके प्यारे शागिर्द यूसुफ़ को यहाँ बुलवाया। ईरान का महान् चित्रकार बिहज़ाद था। उसके कई शागिर्दों को बुलाकर अकबर ने अपना दरबारी चित्रकार बनाया। शिल्प और चित्रकला दोनों में ही ईरानी प्रभाव की प्रधानता नजर आने लगी। मुग़ल-भारत की इस भारतीय-मुस्लिम कला की कुछ महान इमारतों का जिक्र मैंने किसी पिछले पत्र में किया है। इन में से कितनी ही तो तुमने देखी भी हैं। इस भारतीय-ईरानी कला की सर्वोत्कृष्ट सफलता ताजमहल है। बहुतसे महान कलाकारों की मदद से यह बना। कहते हैं कि प्रधान शिल्पी उस्ताद ईसा नामक कोई तुर्क या ईरानी था और उसकी मदद के लिए कई भारतीय शिल्पी थे। खयाल किया जाता है कि कुछ योरपीय कलाकारो ने, खासकर एक इटालवी ने, भीतर की सजावट का काम किया। इतने सारे भिन्न-भिन्न महान् कलाकारों के काम करने पर भी, इस इमारत में कोई खटकनेवाली या विरोधी बात नही है। तमाम विभिन्न प्रभाव मिलकर एक आश्चर्यजनक सामञ्जस्य पैदा कर रहे हैं। ताजमहल में हजारो ही आदमियो ने काम किया है। लेकिन इसमें ईरानी तथा भारतीय, दो प्रभावो की प्रधानता है। इसीलिए ग्राउजे ने कहा है कि "भारत के शरीर में ईरान की आत्मा ने अवतार लिया है।"

: १२४ :

ईरान की पुरानी परम्पराओं की अविच्छिन्नता

२० जनवरी, १९३३

आओ, अब ईरान की तरफ चलें जिसके बारे में कहा जाता है कि इसकी आत्मा भारत में आई और ताजमहल रूपी श्रेष्ठ शरीर में प्रतिष्ठित हुई। ईरानी कला की परम्परा भी निराली है। यह परम्परा ठेठ असीरियाइयों के जमाने से, २,००० वर्ष से भी अधिक समय से बराबर चली आ रही है। राज्यों और राजवंशों और धर्मों में परिवर्तन हुए हैं, देश पर विदेशी हुकूमत भी रही है, और स्वदेशी भी, इस्लाम ने भी आकर बहुत कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये हैं, लेकिन यह परम्परा बराबर बनी रही है। हाँ, युगो के दौरान में इसमें परिवर्तन और विकास जरूर हुए हैं। परम्परा के इस प्रकार क़ायम रहने का कारण ईरानी कला का ईरान की धरती और प्राकृतिक छटा के साथ सम्बन्ध होना बताया जाता है।

पिछले पत्र में मैंने निनेवा के असीरियाई साम्राज्य का जिक्र किया है। इस साम्राज्य में ईरान भी शामिल था। ईसा से पाँच-छः सौ बरस पहले ईरानियों ने, जो आर्य थे, निनेवा पर कब्जा करके असीरियाई साम्राज्य का अन्त कर दिया। फिर इन ईरानी-आर्यों ने सिन्ध नदी के किनारे से लेकर ठेठ मिस्र तक अपने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। प्राचीन संसार पर उनका दबदबा था और यूनानी इतिहास में उनके शासक के लिए "महान बादशाह" शब्द इस्तेमाल किया गया है। इन "महान बादशाहों" में से कुछ के नाम सीरा, दारा और जरक्स हैं। तुम्हें याद होगा कि दारा और जरक्स ने यूनान को जीतने की कोशिश की और शिकस्त खाई। यह राजवंश अकामनी राजवंश कहलाता था और इसने २२० वर्ष

तक एक विशाल साम्राज्य पर शासन किया। अन्त में मक़दूनिया के सिकन्दर महान् ने इसका अन्त कर दिया।

असीरियाइयों और बाबीलनवालों के बाद ईरानियों के आने से जनता को बड़ी राहत मिली होगी। वे बड़े सभ्य और सहिष्णु शासक थे। इन्होंने भिन्न-भिन्न धर्मों और संस्कृतियों को पनपने दिया। इनके विशाल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था बहुत बढ़िया थी। यातायात की सहूलियत के लिए उम्दा सड़कों का तमाम देश में जाल-सा बिछा हुआ था। इन ईरानी-आर्यों का भारत में आनेवाले भारतीय-आर्यों से निकट का सम्बन्ध था। इनका धर्म, यानी ज़रथुस्त धर्म, प्रारम्भिक वैदिक धर्म से मिलता-जुलता था। साफ़ नज़र आता है कि दोनों का मूल स्रोत आर्यों के आदिम वासस्थान में एक ही रहा होगा, चाहे वह स्थान कहीं भी हो।

अकामनी बादशाह इमारतें बनवाने के बड़े शौक़ीन थे। अपनी राजधानी पर्सीपोलिस में उन्होंने मन्दिर नहीं बनवाये बल्कि विशाल महल बनवाये थे, जिनमें अनेक खम्भों वाले बड़े-बड़े सभा-भवन थे। इन ज़बरदस्त इमारतों की कुछ कल्पना इनके खण्डहरों से की जा सकती है। ऐसा जान पड़ता है कि अकामनीदी कला का सम्पर्क मौर्यकाल की भारतीय कला के साथ रहा। उसने इस पर अपना प्रभाव भी डाला।

सिकन्दर ने दारा महान् को हराकर अकामनी राजवंश का अन्त कर दिया। उसके बाद सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस और उसके उत्तराधिकारियों के अधीन कुछ दिनों तक यूनानियों का शासन रहा और फिर काफ़ी समय तक यूनानी प्रभाववाली अर्द्ध-विदेशी हुकूमत भी रही। इसी काल में भारत की सीमा पर बैठे हुए तथा दक्षिण में बनारस तक और उत्तर में मध्य-एशिया तक अपने पैर फैलाये हुए कुशान लोगों पर भी यूनानी असर था। भारत के पश्चिम का तमाम एशिया, सिकन्दर से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक, यानी पाँच सौ वर्षों से भी ज्यादा तक, यूनानी प्रभाव-क्षेत्र में रहा। यह प्रभाव ज्यादातर कला के क्षेत्र में था। इसने ईरान के धर्म के साथ कोई छेड़-छाड़ नहीं की और वहाँ ज़रथुस्त्र धर्म ही चलता रहा।

तीसरी सदी में ईरान में राष्ट्रीय जागृति हुई और एक नये राजवंश का अधिकार हुआ। यह सासानी राजवंश था जो उग्र राष्ट्रवादी था और पुराने अकामनी बादशाहों का उत्तराधिकारी होने का दावा करता था। जैसा कि अक्सर उग्र राष्ट्रवाद का कायदा होता है, यह वंश बहुत तंगदिल और असहिष्णु था। उसे उग्र इसलिए बनना पड़ा कि वह पश्चिम में रोम साम्राज्य तथा क़ुस्तुन्तुनिया के बिज़ैण्टीन साम्राज्य और पूर्व में बढ़े चले आनेवाले तुर्की कबीलों के बीच फँसा हुआ था। फिर भी यह राजवंश ४०० वर्ष से ज्यादा, यानी इस्लाम के ठेठ आगमन तक, किसी तरह चलता ही रहा। सासानियों के राज्य में ज़रथुस्त्रों के पुजारी वर्ग की तूती बोलती थी। शासन की बागडोर इन्हींके हाथों में थी और वे कोई विरोध बर्दाश्त नहीं करते थे। कहा जाता है कि इसी ज़माने में उनकी धर्म-पुस्तक अवेस्ता का अन्तिम संस्करण तैयार हुआ।

इस काल में भारत में गुप्त साम्राज्य फूल-फल रहा था। यह भी कुशान और बौद्ध ज़मानों के बाद होनेवाली राष्ट्रीय पुनर्जागृति थी। साहित्य और कला का पुनरोदय हुआ तथा कालिदास सरीखे कई महान संस्कृत लेखक इसी समय हुए। इस बात के बहुत संकेत मिलते हैं कि ईरान की सासानी-कला का भारत की गुप्त-कला के साथ सम्पर्क था। आज सासानी ज़माने की चित्रकारियाँ या मूर्तियाँ बाकी नहीं हैं। पर जो भी मिली हैं, वे जीवन और गति से परिपूर्ण हैं। उनमें चित्रित जानवर अजन्ता के भित्ति-चित्रों के जानवरों से मिलते हैं। मालूम होता है कि सासानी कला का प्रभाव ठेठ चीन और गोबी रेगिस्तान तक फैला हुआ था।

अपने लम्बे शासन के अन्तिम दिनों में सासानी लोग कमज़ोर पड़ गये और ईरान का रंग-ढंग बिगड़ गया। बिज़ैण्टीन साम्राज्य के साथ लम्बे युद्ध के कारण दोनों ही बिल्कुल पस्त हो गये। अपने नये मज़हब के जोश से भरी हुई अरबी फ़ौजों के लिए अब ईरान को जीत लेना मुश्किल न हुआ। सातवीं सदी के मध्य में, पैग़म्बर की मृत्यु के दस ही वर्षों के अन्दर, ईरान ख़लीफ़ा की हुकूमत में आ गया। जैसे-जैसे अरब फ़ौजें मध्य-एशिया और उत्तर-अफ़्रीका की तरफ़ फैलती गईं, वे अपने साथ सिर्फ़ एक नया मज़हब ही नहीं बल्कि एक नई और बढ़ती हुई सभ्यता भी लेती गईं। सीरिया, शाम, मिस्र, सब अरबी संस्कृति में डूब गये। अरबी भाषा उनकी भाषा हो गई। यहाँ तक कि उनका तथा अरब लोगों का खून भी मिल गया। बग़दाद, क़ाहिरा और दमिश्क अरबी सभ्यता के महान केन्द्र बन गये और इस नई सभ्यता के प्रभाव से वहाँ अनेक

भव्य इमारतें बनीं। आज भी यह देश अरबी देश कहलाते हैं और यद्यपि एक-दूसरे से अलग हैं, फिर भी वे एकता के स्वप्न देखा करते हैं।[1]

इसी तरह अरबों ने ईरान को भी जीता, पर मिस्र या सीरिया के समान वे इस देश के निवासियों को न तो मिला सके और न हजम कर सके। पुरानी आर्य नस्ल की ईरानी जाति सामी अरबों से बहुत दूर की थी। उसकी भाषा भी आर्य भाषा थी। इसलिए यह जाति जुदा रही और उनकी भाषा भी पनपती रही। तेजी से फैलनेवाले इस्लाम ने जरथुस्त्र धर्म की जगह लेली और इसे अन्त में भारत में आकर शरण लेनी पड़ी। लेकिन ईरानियों ने इस्लाम में भी अपना ही ढंग बनाये रक्खा। इस भेद के कारण इस्लाम में दो फ़िरके पैदा हो गये—शिया और सुन्नी। ईरान मुख्यतः शिया देश हो गया और आज भी है। बाक़ी इस्लामी दुनिया अधिकतर सुन्नी है।

हालाँकि अरबी सभ्यता ईरान को हजम न कर सकी, तो भी उसका उसपर जबरदस्त असर पड़ा। वहाँ भी, भारत की तरह, इस्लाम ने कला-प्रवृत्ति को नया जीवन दिया। ईरानी आदर्शों का भी अरबी कला और संस्कृति पर इतना ही असर पड़ा। रेगिस्तान की सीधी-सादी सन्तानों के घरों में ईरानी विलासिता प्रवेश कर गई और अरब के ख़लीफ़ा का दरबार अन्य शाही दरबारों की तरह तड़क-भड़क वाला और शानदार बन गया। शहंशाही बग़दाद उस समय की दुनिया का सबसे बड़ा शहर बन गया। इसके उत्तर में दजला नदी के किनारे समारा में ख़लीफाओ ने अपने वास्ते विशाल मस्जिद और महल बनवाये जिनके खडहर अभीतक मौजूद है। मस्जिद में बड़े-बडे कमरे और फव्वारोंदार आँगन थे। महल आयताकार था, जिसकी लम्बाई एक किलोमीटर[2] से भी ज्यादा थी।

नवी सदी मे बगदाद का साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। ईरान स्वाधीन हो गया। पूर्व की तरफ़ तुर्की कबीलो ने अनेक राज्य स्थापित कर लिये और अन्त में खुद ईरान पर कब्ज़ा करके वे बगदाद के नाम-मात्र के ख़लीफा पर भी हावी होगये। ग्यारहवी सदी के शुरू में महमूद गज़नवी का उदय हुआ, जिसने भारत पर हमला किया, ख़लीफा को दहला दिया और अपने लिए एक अल्पकालिक साम्राज्य भी बना लिया, जिसको सेलजूक नामी एक दूसरे तुर्की कबीले ने खत्म कर दिया। सेलजूकों ने बहुत वर्षों तक और सफलता के साथ ईसाई जिहादियों से टक्कर ली और युद्ध किया और इनका साम्राज्य डेढ़ सौ वर्ष रहा। बारहवी सदी के अन्त में एक और ही तुर्की कबीले ने सेलजूको को ईरान से निकाल बाहर किया और ख़ारज़म या खीवा की सल्तनत क़ायम की। लेकिन इसकी जिन्दगी भी थोड़े ही दिन की रही क्योकि ख़ारज़म के शाह द्वारा अपने राजदूत के अपमान से क्रोधित चंगेज़खाँ अपने मंगोलों को लेकर चढ आया, और उसने इस देश तथा इसके निवासियो को कुचल डाला।

इस छोटे-से पैरे में मैंने तुम्हें अनेक परिवर्तनों और अनेक साम्राज्यों का हाल लिख दिया है और तुम काफ़ी चकरा गई होगी। मैंने इन राजवंशो और जातियों के चढ़ाव-उतार का ज़िक्र तुम्हारे दिमाग़ पर बोझ डालने के लिए नही किया है, बल्कि यह जोर देने के लिए किया है कि किस तरह इन सबके बावजूद ईरान का जीवन और उसकी कलात्मक परम्परा अटूट बनी रही। पूर्व से एक के बाद एक तुर्की कबीले आये और बुख़ारा से इराक़ तक फैली हुई मिली-जुली ईरानी-अरबी सभ्यता के आगे सिर झुकाते गये। जो तुर्क ईरान से दूर एशिया कोचक पहुँच पाये उन्होंने अपना ढंग कायम रक्खा और अरबी संस्कृति को नही अपनाया। एशिया कोचक को तो उन्होने अपने वतन तुर्किस्तान का ही एक हिस्सा-सा बना लिया। मगर ईरान तथा उसके आस-पास के देशो में पुरानी ईरानी संस्कृति का ऐसा ज़ोर था कि इन तुर्कों को उसे मंजूर करना पड़ा और अपने आपको उसके अनुसार ढालना पडा। ईरान पर हुकूमत करनेवाले इन सभी तुर्की राज्यवंशो के समय में ईरानी कला तथा साहित्य फूलते-फलते रहे। मेरा ख़याल है कि मैं तुम्हें फारसी के कवि फिरदौसी का हाल लिख चुका हूँ, जो सुल्तान महमूद गज़नवी के समय में हुआ था। महमूद के अनुरोध से उसने ईरान का राष्ट्रीय महाकाव्य शाहनामा लिखा। इस पुस्तक के वर्णन इस्लामी ज़माने से पहले के हैं और इसका महान नायक रुस्तम है। इससे ज़ाहिर होता है कि राष्ट्रीय और परम्परागत अतीत के साथ ईरान

[1]अरब देशों के समान हितों की रक्षा के लिए अरब लीग की स्थापना हो चुकी है।

[2]किलोमीटर—मीटर प्रणाली में लम्बाई का नाप जो १,१०० गज के क़रीब होता है।

के साहित्य और कला का कैसा गहरा और अटूट सम्बन्ध था। ईरानी चित्रकला और तसवीरखों के ज्यादातर विषय शाहनामा की कहानियों से लिये गये हैं।

फिरदौसी का जन्म सन् ९३२ ई० में हुआ और मृत्यु सन् १०३२ ई० में हुई, यानी वह उस समय हुआ जब सदी बदली और ईसा के बाद दो हजार वर्ष का युग भी पूरा होगया। उसके कुछ ही दिन बाद ईरान में नैशापुर का रहने वाला ज्योतिषी-कवि उमर खय्याम हुआ जिसका नाम अंग्रेजी में उतना ही मशहूर है जितना फ़ारसी में। और उमर खय्याम के बाद शीराज का शेख सादी हुआ जो फ़ारसी के सबसे महान कवियों में गिना जाता है और जिसकी गुलिस्तां और बोस्तां पीढ़ियों से भारत के मकतबों में पढ़ने वाले लड़कों को रटनी पड़ती थीं।

मैंने महान व्यक्तियों के कुछेक नामो का ही जिक्र किया है। नामो की लम्बी सूचियां मैं नही देना चाहता। लेकिन मै चाहता हूँ कि तुम यह जरूर महसूस करो कि इन सदियो भर मे ईरान से लगाकर मध्य-एशिया में अक्षु-पार-प्रदेश[1] तक ईरानी कला तथा सस्कृति का दीपक निरन्तर बड़े उज्ज्वल प्रकाश से जलता रहा। अक्षु-पार-प्रदेश के बलख और बुखारा जैसे बड़े नगर कलात्मक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियो के केन्द्र होगये और ईरान के शहरों की होड करने लगे। बुखारा में ही दसवी सदी के अन्त मे मशहूर अरबी दार्शनिक इब्नसिना का जन्म हुआ था। दो सौ वर्ष बाद बलख में जलालुद्दीन रूमी नाम का एक और फ़ारसी कवि पैदा हुआ। यह एक महान रहस्यवादी माना जाता है और इसीने नाचनेवाले दरवेशों का पंथ चलाया था।

इस तरह युद्ध, लड़ाई-झगडो और राजनैतिक परिवर्त्तनों के बावजूद ईरानी-अरबी कला और सस्कृति जिन्दा बनी रही और साहित्य, चित्रकला तथा शिल्पकला के अनेक श्रेष्ठ नमूने पैदा करती रही। उसके बाद आफ़त आई। तेरहवी सदी में (सन् १२२० ई० के करीब) चगेजखां झपाटे के साथ आ पहुँचा और खारजम और ईरान को नष्ट कर गया। कुछ साल बाद हलाकूखां ने बगदाद को नष्ट कर दिया, और श्रेष्ठ संस्कृति के सदियो पुराने भडार नष्ट हो गये। किसी पिछले पत्र में मै लिख चुका हूँ कि किस तरह मगोलो ने मध्य-एशिया को बियाबान बना डाला, किस तरह वहाँ के आलीशान शहर खाली हो गये और वहाँ मनुष्य जीवन का नाम तक न रहा।

मध्य-एशिया इस आफ़त के बाद कभी पूरी तरह नही पनप पाया। ताज्जुब तो यही है कि जिस हद तक वह पनपा उतना भी कैसे पनपा। तुम्हें याद होगा कि चगेजखां के मरने के बाद उसका विशाल साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होगया था। ईरान में और इसके आसपास का उसका भाग हलाकूखां के हिस्से मे आया। जी भर कर तबाही करने के बाद हलाकू एक शान्त और सहनशील शासक बन कर बैठ गया और इलखान राजवश का सस्थापक हुआ। ये इलखान कुछ अरसे तक तो मगोलो का पुराना आकाश-धर्म ही मानते रहे; बाद में मुसलमान बन गये। इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पहले और बाद में भी, वे अन्य धर्मों के प्रति पूरी तरह उदार थे। चीन में उनके भाईबन्द, यानी चीन का खान महान और उसका परिवार, बौद्ध-धर्म को मानते थे। इनके साथ इलखानो का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। यहाँ तक कि दुलहिनें भी वे ठेठ चीन से मंगवाया करते थे।

ईरान और चीन के मगोलो की दोनो शाखाओं के बीच इन सम्पर्कों का कला पर काफी असर पड़ा। धीरे-धीरे चीनी प्रभाव ईरान में आ पहुँचा और वहाँ की चित्रकला मे अरबी, ईरानी और चीनी प्रभावों का एक विचित्र मेल दिखाई देता है। लेकिन फिर भी, तमाम आफतो के बावजूद, ईरानी तत्व प्रबल बना रहा। चौदहवी सदी के मध्य में ईरान ने एक और महाकवि पैदा किया। यह था हाफिज, जो आज तक भारत में भी लोकप्रिय है।

मंगोल इलखानो का शासन ज्यादा दिन न टिका। उनके रहे-सहे निशानो को अक्षु-पार-प्रदेश के समरक़न्द के एक और महान योद्धा तैमूर ने नेस्तनाबूद कर दिया। यह खूंखार और अत्यन्त क्रूर वहशी भी, जिसका हाल मैं तुम्हें लिख चुका हूँ, कलाओं का अच्छा रसिक था और एक विद्वान आदमी माना जाता है। मालूम होता है कि इसका कला-प्रेम मुख्यतया दिल्ली, शीराज, बग़दाद और दमिश्क के बड़े शहरों को उजाड़ने

---

[1] Transoxiana.

में और लूट के माल से अपनी राजधानी समरकन्द को सजाने में ही भरा था। लेकिन समरकन्द की सबसे अद्भुत और आलीशान इमारत तैमूर का मक़बरा 'गोरेअमीर' है। यह मक़बरा है भी इसके अनुकूल ही, क्योंकि इसकी श्रेष्ठ रूप-रेखा में तैमूर के रौबदार व्यक्तित्व की, दृढ़ता की और खूंखार प्रकृति की कुछ झलक है।

तैमूर ने जो विशाल प्रदेश जीते थे, वे उसके मरने के बाद एक-एक करके जाते रहे लेकिन उनकी तुलना में एक छोटी-सी रियासत, जिसमें अक्षु-पार-प्रदेश और ईरान भी शामिल थे, उसके उत्तराधिकारियों के पल्ले पड़ी। पूरे एक सौ वर्ष तक, यानी पन्द्रहवी सदीभर, इन लोगो का, जिन्हें 'तैमूरिया' कहते थे, ईरान, बुखारा और हिरात पर अधिकार रहा। और अजीब बात यह है कि एक ज़ालिम विजेता के ये वंशधर अपनी उदारता मानवता और कला-प्रेम के लिए प्रसिद्ध हुए। तैमूर का ही पुत्र शाहरुख इनमें सबसे महान हुआ है। उसने अपनी राजधानी हिरात में एक आलीशान पुस्तकालय स्थापित किया, जिसके कारण वहाँ साहित्य-प्रेमियो की भीड खिचकर आती रहती थी।

सौ वर्षों का यह तैमूरी-काल कलात्मक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियो के लिए इतना प्रसिद्ध है कि इसको 'तैमूरी पुनर्जागरण का काल' कहते है। ईरानी साहित्य का सम्पन्न विकास हुआ और अनेक सुन्दर तसवीरे चित्रित की गईं। महान चित्रकार बिहज़ाद चित्रकारी की एक नई कलम का संस्थापक था। एक दिलचस्प बात यह हुई कि फारसी के साथ-साथ तुर्की साहित्य भी तैमूरी साहित्य-गोष्ठियो में विकसित हुआ। तुम्हे याद दिला दूँ कि इटली के 'रिनैसाँ' का भी यही ज़माना था।

तैमूरी लोग तुर्क थे और उन्होने ईरानी संस्कृति को अधिकाश में मजूर कर लिया था। तुर्कों और मगोलो का प्रभुत्व होते हुए भी ईरान ने अपने विजेताओ पर अपनी ही संस्कृति की छाप बैठा दी थी। साथ ही ईरान राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए भी लड़ता रहा। धीरे-धीरे तैमूरी लोग दिन पर दिन पूर्व की ओर खदेड दिये गये, यहाँ तक कि उनकी रियासत अक्षु-पार-प्रदेश के चारों ओर सिकुडती गई। सोलहवी सदी के शुरू मे ईरानी राष्ट्रीयता की विजय हुई और तैमूरी लोग हमेशा के लिए ईरान से निकाल बाहर किये गये। सफावी नाम का एक राष्ट्रीय राजवश ईरान के तख़्त पर बैठा। इसी राज-वंश के दूसरे बादशाह तहमास्प प्रथम ने शेरशाह के डर से भारत छोड कर भागे हुए हुमायूँ को शरण दी थी।

सफावी-काल सन् १५०२ से १७२२ ई० तक, यानी दो सौ वर्ष रहा। इसे ईरानी कला का स्वर्ण-युग कहा जाता है। राजधानी इस्फहान आलीशान इमारतों से भर गया और कला का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया जो चित्रकारी के लिए ख़ास तौर पर मशहूर था। शाह अब्बास, जिसने सन् १५८७ से १६२९ ई० तक राज्य किया, इस वश का प्रमुख बादशाह हुआ है और ईरान के सबसे महान् शासकों में गिना जाता है। उसको एक तरफ से उजबको ने और दूसरी तरफ़ से उस्मानी तुर्कों ने आ दबाया। उसने दोनों को मार भगाया, एक सुदृढ राज्य का निर्माण किया, पश्चिम में तथा अन्यत्र दूरवर्ती राज्यो से सम्बन्ध स्थापित किये, और अपनी राजधानी को सुन्दर बनाने के काम जुट गया। इस्फहान मे शाह अब्बास की नगर-निर्माण योजना "उच्च श्रेणी की सात्विक और रुचि का कमाल" मानी जाती है। जो इमारतें बनाई गईं उनमें केवल रूप-सौन्दर्य और नफीस सजावट ही नही थी, बल्कि उनकी मनोहरता उनके प्रभाव को दुगना कर देती थी। जिन योरपीय यात्रियो ने उस समय ईरान को देखा उन्होने बडे प्रशंसापूर्ण वर्णन लिखे हैं।

ईरानी कला के इस स्वर्ण-युग मे शिल्पविद्या, साहित्य, चित्रकारी (भित्ति-चित्रो तथा तसवीरचो, दोनो की, सुन्दर क़ालीनें, चमकदार मिट्टी के बर्तनों और पच्चीकारी का नफीस काम, सब फूले-फले। कुछ भित्ति-चित्रों और तसवीरचों में आश्चर्यजनक लावण्य है। कला राष्ट्रीय सीमाओ को नही मानती और न उसे मानना ही चाहिए और सोलहवी तथा सत्रहवी सदियो की इस ईरानी कला को समृद्ध बनाने में अनेक प्रभावो का हाथ रहा होगा। कहते हैं, इटली का प्रभाव तो स्पष्ट है। पर इन सबके पीछे ईरान की पुरानी कलात्मक परम्परा है जो २,००० वर्षों से अटूट चली आ रही थी। ईरानी संस्कृति का दायरा सिर्फ ईरान तक ही सीमित न था। वह पश्चिम में तुर्की से लगाकर पूर्व में भारत तक के विशाल क्षेत्र में फैली। भारत के मुग़ल दरबारों में फारसी भाषा संस्कृति की भाषा मानी जाती थी। और आमतौर पर पश्चिमी एशिया में भी इसकी वही स्थिति थी जो योरप में फ़्रांसीसी भाषा को थी। ईरानी कला की पुरानी भावना आगरे के ताजमहल में अपनी अमर निशानी छोड़ गई है। बहुत कुछ इसी तरह इस कला ने पश्चिम में कुस्तुनतुनिया तक उस्मानी शिल्पकला पर भी अपनी छाप डाली है। वहाँ इस ईरानी प्रभाव की छापवाली अनेक प्रसिद्ध इमारतें बनी।

ईरान के सफ़ावी बहुत-कुछ भारत के महान् मुग़ल बादशाहों के समकालिक थे। भारत का पहला मुग़ल बादशाह बाबर समरकन्द के तैमूरी शहज़ादों में से था। जैसे-जैसे ईरानियों की ताक़त बढ़ती गई, वे तैमूरियों को पीछे हटाते गये। होते-होते अक्षु-पार-प्रदेश और अफ़ग़ानिस्तान के सिर्फ़ कुछ ही हिस्से तैमूरी शहज़ादों के हाथ में रह गये। इन छुट-पुट शहज़ादों से बाबर को बारह वर्ष की उम्र से ही लड़ना पड़ा था। वह सफल हुआ और पहले काबुल का शासक बनकर फिर भारत में आया। उस ज़माने की उच्च तैमूरी संस्कृति का अनुमान बाबर से लगाया जा सकता है, जिसके संस्मरणों के कुछ उद्धरण मैं एक पिछले पत्र में दे चुका हूँ। सफ़ावी शासकों में सबसे महान शाह अब्बास था जो अकबर और जहाँगीर का समकालिक था। इन दोनों देशों में बराबर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। अफ़ग़ानिस्तान भारतीय मुग़ल साम्राज्य का एक हिस्सा था, इसलिए बहुत अर्से तक दोनों की सरहद एक ही थी।

: १२५ :

ईरान में साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता

१२ जनवरी, १९३३

तुम्हें मुझसे शिकायत करने का अधिकार है। इतिहास के विभिन्न दालानों में कभी आगे और कभी पीछे दौड़कर मैंने तुम्हे काफ़ी गुस्सा दिला दिया है। अनेक अलग-अलग रास्तों से उन्नीसवीं सदी तक पहुँचकर मैं तुम्हें अचानक कई हजार वर्ष पीछे ले गया हूँ और मिस्र से भारत, चीन और ईरान में कूदता-फादता रहा हूँ। इससे तुम्हारी झुंझलाहट और परेशानी जरूर बढी होगी और तुम्हारा जो विरोध मुझे सुनाई-सा दे रहा है उसका मेरे पास कोई अच्छा जवाब नही है। परन्तु बात यह है कि रिने ग्राउज़े की किताबों को पढकर मेरे दिमाग़ में कई विचार-धाराए एकाएक चक्कर काटने लगीं। और उनमें से कुछ का परिचय तुम्हें कराये बिना मुझसे रहा न गया। मुझे यह भी लगा कि इन पत्रो में मैंने ईरान की उपेक्षा की है और मैं इस कमी की कुछ पूर्ति करना चाहता हूँ। अब जब हम ईरान पर विचार कर रहे है तो उसके इतिहास को आधुनिक काल तक क्यों न ले आवें?

मैंने तुम्हें ईरानी संस्कृति की पुरानी परम्पराओं तथा उच्च परिपूर्णताओं की, ईरानी कला के स्वर्ण-युग की और इसी तरह की अन्य बातें बताई हैं। उन वाक्यांशों पर फिर से गौर करने पर मालूम होता है कि भाषा कुछ लच्छेदार और ज़रा भ्रम में डालनेवाली हो गई है। इससे कोई शायद यह सोच सकता है कि सच-मुच ईरान के लोगों के लिए स्वर्ण-युग आगया था, उनकी मुसीबतें दूर हो गई थी और उनका जीवन परियों की कहानियों के लोगो का-सा सुखी हो गया था। लेकिन, दरअसल ऐसी कोई चीज़ नही हुई थी। जैसा कि बहुत हद तक आज भी है, उन दिनो कुछ मुट्ठीभर लोग संस्कृति और कला के ठेकेदार बने हुए थे। जनता का और मामूली आदमियो का उनसे कोई वास्ता नहीं था। वास्तव में जनता का जीवन सदा से ही भोजन के लिए और जीवन की अन्य आवश्यकताओ के लिए निरन्तर संघर्ष करता रहा है। इसमें तथा पशुओं के जीवन में ज्यादा फ़र्क़ नहीं रहा है। उन्हें और किसी बात के लिए वक़्त या फ़ुर्सत ही नही थी। दिन-रात यही झंझट उनकी जान के लिए काफी थी। ऐसी हालत में वे कला और संस्कृति की क्या तो फ़िक्र करते और क्या क़द्र? ईरान, चीन, भारत, इटली और योरप के अन्य देशों में कला फूली-फली, लेकिन राज-दरबारों और सम्पन्न तथा निठल्ले वर्गों के मन बहलाव की चीज़ की केवल धर्म-प्रधान कला का जनता के जीवन पर कुछ प्रभाव पड़ा।

परन्तु किसी कला-प्रेमी राज-दरबार का यह मतलब नही था कि हुकूमत भी अच्छी थी। कला और साहित्य के संरक्षक होने का अभिमान करनेवाले शासक अक्सर नालायक और ज़ालिम शासक होते थे। ईरान की समाज-व्यवस्था उस समय लगभग सभी देशों की समाज-व्यवस्था की तरह बहुत कुछ सामन्ती ढंग की थी। जोरदार बादशाह अपने सामन्तों की छोटी-मोटी लूट-खसोटें बन्द करके लोकप्रिय बन जाते थे। किसी वक़्त शासन कुछ अच्छा हो जाता था और किसी वक़्त बिल्कुल ही खराब।

जब भारत में मुग़ल शासन आखिरी साँस ले रहा था, ठीक उसी समय यानी सन् १७२५ ई० के

आसपास, सफ़ावी राजवंश का अन्त हुआ। हुस्व मामूल इस राजवंश का भी खेल खतम हो गया। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश में आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे और पुरानी व्यवस्था को उलट रहे थे। करों के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत कर दी थी और जनता में असन्तोष फैल रहा था। अफ़ग़ानों ने, जो उस समय सफ़ावियों के अधीन थे, विद्रोह खड़ा कर दिया। वे न सिर्फ़ अपने ही देश में सफल हुए, बल्कि उन्होंने इस्फ़हान पर क़ब्ज़ा करके शाह को भी गद्दी से उतार दिया। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद नादिरशाह नामक ईरानी सरदार ने अफ़ग़ानों को निकाल बाहर किया और वह खुद ही बादशाह बन बैठा। इसी नादिरशाह ने बलहीन मुग़लों के अन्तिम दिनों में भारत पर हमला किया था; इसीने दिल्लीवालों को मौत के घाट उतारा था और यही शाहजहाँ का तख्त-ताऊस और बेशुमार दौलत लूटकर ले गया था।

अठारहवीं सदी का ईरानी इतिहास गृह-युद्ध और बदलते हुए शासन और कुशासन का शोकपूर्ण खाता है।

उन्नीसवीं सदी के साथ नई आफ़तें भी आईं। योरप के बढ़ते हुए उग्र साम्राज्यवाद की ईरान के साथ भी टक्कर शुरू हुई। उत्तर में रूस का लगातार दबाव पड़ रहा था और दक्षिण में ईरान की खाड़ी की ओर से अंग्रेज बढ़े चले आ रहे थे। ईरान भारत से दूर न था। दोनों की सरहदें दिन पर दिन पास आती जा रही थी और आज तो सचमुच एक जगह पर दोनों की सरहद मिली हुई है। ईरान भारत को जाने वाले सीधे खुश्की के रास्ते में पड़ता था और भारत के समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अंग्रेजो की सारी नीति का आधार यह था कि उनका भारतीय साम्राज्य और उसको जानेवाले सारे रास्ते सुरक्षित रहे। वे किसी हालत में यह बर्दाश्त करने को तैयार न थे कि उनका ज़बर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी रूस रास्ता रोककर भारत पर घात लगाये बैठा रहे। इस कारण अंग्रेजों और रूसियों दोनों ने ईरान पर दाँत लगा रक्खे थे और दोनों उस ग़रीब को तग करते थे। वहाँ के शाह बिल्कुल नालायक़ और बेवकूफ़ थे। वे या तो उनसे बेमौक़े भिड़ कर या अपनी ही रिआया से लड़कर सदा रूस और ब्रिटेन के हाथो में खेलते रहते। अगर इन दोनों शक्तियों के बीच लाग-डाँट न होती तो ईरान कभी का या तो पूरी तरह रूस के क़ब्ज़े में चला गया होता या इग्लैण्ड के क़ब्ज़े में। या दोनो में से कोई या तो उसे अपने राज्य मे मिला लेता या मिस्र की तरह उसे अपना अधीन-राज्य बना लेता।

बीसवी सदी के शुरू में एक और कारण से भी ईरान प्रलोभन की चीज़ बन गया। वहाँ पेट्रोल मिल गया जो बहुत कीमती चीज़ थी। बूढ़े शाह को राज़ी करके साठ वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के क्षेत्रो से तेल निकालने का डार्सी नामक अंग्रेज को बहुत रियायती शर्तों पर सन् १९०१ ई० में ठेका दिलाया गया। कुछ साल बाद इस काम के लिए ऐंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई। तब से यही कम्पनी वहाँ काम कर रही है और इसने तेल के व्यवसाय से ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाया है। मुनाफ़ेका थोड़ा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देशके बाहर कम्पनी के हिस्सेदारो की जेब में ही जाता है और सबसे बड़े हिस्सेदारों में ब्रिटिश सरकार भी एक है। ईरान की वर्तमान सरकार उग्र राष्ट्रवादी है। उसे इस बात पर बड़ा ऐतराज़ है कि विदेशी लोग ईरान से नाजायज़ फ़ायदा उठायें। उसने डार्सी के साथ किया हुआ सन् १९०१ई० का साठ वर्षवाला पुराना इकरारनामा रद कर दिया जिसके मातहत ऐंग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी काम कर रही थी। ब्रिटिश सरकार इस पर बड़ी झल्लाई और उसने ईरान की सरकार को डरा-धमका कर दबाना चाहा। लेकिन वह भूल गई कि ज़माना बदल गया है और अब एशियावालो पर रौब गाँठना उतना आसान नहीं है।[1]

मगर मै तो आगे के इतिहास की बातें करने लग गया। जब साम्राज्यवाद ईरान के लिए खतरा बनने लगा और शाह दिन-दिन उसका औजार बनने लगा तो इसके फलस्वरूप राष्ट्रीयता का विकास लाज़मी तौर-पर होने लगा। एक राष्ट्रीय दल क़ायम हुआ। इस दल ने विदेशी हस्तक्षेप पर रोष प्रकट किया और शाह की निरंकुशता का भी उतने ही ज़ोर से विरोध किया। उन्होंने लोकतन्त्री विधान और आधुनिक सुधारों की माँग की। देश में कुशासन था और करों की भरमार थी। उधर रूसी और अंग्रेज बराबर दखल

---

[1]ब्रिटिश सरकार और ईरान सरकार में तेल कंपनी के राष्ट्रीयकरण के मसले को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया है और यह मामला सुरक्षा परिषद् के सामने पहुंच गया है।

दे रहे थे। प्रतिगामी शाह को जितनी बेफ़िक्री इन विदेशी सरकारों के प्रति थी उतनी अपनी उस प्रजा के प्रति नही थी जो आज़ादी के कुछ अंश की माँग कर रही थी। लोक-तन्त्री विधान की यह माँग ख़ास तौर पर नये मध्यमवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग कर रहे थे। सन् १९०४ ई० में ज़ारशाही रूस पर जापान की विजय का ईरानी राष्ट्रवादियों पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा और वे उत्साहित हो उठे। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि योरपीय शक्ति पर एक एशियाई शक्ति की विजय थी; दूसरे ज़ारशाही रूस ईरान के लिए एक आक्रमण-कारी और दुःखदाई पड़ोसी था। सन् १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति यद्यपि असफल रही और क्रूरता से कुचल दी गई, लेकिन उसने ईरानी राष्ट्रवादियो का जोश और कुछ कर गुज़रने का हौसला और भी बढा दिया। शाह पर इतने ज़ोर का दबाव पड़ा कि अनिच्छा होते हुए भी उसे सन् १९०६ ई० में लोकतन्त्री विधान के लिए राज़ी होना पड़ा। "मजलिस" नामक राष्ट्रीय धारासभा स्थापित हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति सफल हो गई।

परन्तु मुसीबत सामने खड़ी थी। शाह का अपने आपको मिटाने का कोई इरादा नही था। और रूसी तथा अंग्रेज़ ऐसे लोकतन्त्री ईरान को कभी पसन्द नही कर सकते थे जो बलशाली बनकर उनके लिए दुखदाई हो जाय। शाह में और मजलिस में झगड़ा हुआ और शाह ने सचमुच अपनी ही पार्लमेण्ट पर बमबारी कर दी। मगर सेना के सिपाही और जनता मजलिस और राष्ट्रवादियो के साथ थे और शाह को केवल रूसी सैनिकों ने ही बचाया। रूस और इगलैण्ड दोनो किसी-न-किसी बहाने से, आम तौर पर अपनी प्रजा की रक्षा का बहाना बनाकर, अपने सैनिक लाकर रख देते थे। ईरानियों को डराने-धमकाने के लिए रूसियो के पास खूखार क़ज्जाक सिपाही और इग्लैण्ड के पास भारतीय सिपाही थे, हालाकि हमारा उनसे कोई झगडा नही था।

ईरान बड़ी कठिनाइयों में था। उसके पास रुपया नही था और लोगों की हालत खराब थी। मज-लिस हालत को सुधारने की जी-तोड़ कोशिश करती थी, लेकिन उसकी ज्यादातर कोशिशे रूसी या ब्रिटिश या दोनो के विरोध के कारण बीच में ही असफल हो जाती थी। आखिरकार ईरानियो ने अमरीका से मदद माँगी और एक योग्य अमरीकी वित्त-विशेषज्ञ को अपनी आर्थिक व्यवस्था सुधारने के लिए नियुक्त किया। इसका नाम मार्गन शुस्टर था। इसने अपने काम में भरसक कोशिश की, लेकिन इसे सदा रूसी या ब्रिटिश विरोध की ठोस दीवारो से टक्कर लेनी पडती थी। अन्त में तंग आकर और निराश होकर वह ईरान छोडकर घर चला गया। बाद में शुस्टर ने एक किताब लिखी जिसमें यह बतलाया कि रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ईरान का खून किस तरह चूस रहे हैं। इस किताब का नाम "ईरान की फांसी"[1] खास मतलब रखता है और एक कहानी कहता है।

ऐसा मालूम होने लगा कि ईरानी राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व मिटनेवाला है। इस दिशा मे रूस और इंग्लैण्ड पहला क़दम उठा ही चुके थे। उन्होने इसको अपने-अपने "प्रभाव-क्षेत्रो" में बाँट लिया था। महत्व-पूर्ण केन्द्रो में उनके सिपाही तैनात थे। एक ब्रिटिश कम्पनी उसके तेल के भण्डार से लाभ उठा रही थी। ईरान बहुत ही मुसीबत की हालत में था। अगर कोई विदेशी शक्ति उसपर पूरी तरह अधिकार कर लेती तो भी इससे अच्छी हालत होती, क्योंकि उसकी कुछ ज़िम्मेदारी तो होती। ख़ैर, उसके बाद ही सन् १९१४ ई० में महायुद्ध छिड़ गया।

इस लड़ाई में ईरान ने निष्पक्षता की घोषणा की, मगर कमज़ोरों की घोषणाओ का बलवानो पर कुछ असर नही होता। ईरान की निष्पक्षता की किसी भी पक्ष ने परवाह न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझा करे, विदेशी फ़ौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस में लड़ती रही। ईरान के चारो तरफ़ युद्ध में लड़नेवाले देश थे। एक तरफ़ इंग्लैण्ड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ़ तुर्की, जिसके राज्य में उस समय इराक और अरबस्तान शामिल थे, जर्मनी का साथी था। सन् १९१८ ई० में महायुद्ध समाप्त हुआ और इसमें इंग्लैण्ड फ़ांस और उनके साथियों की जीत हुई। उस वक़्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फ़ौजों का क़ब्ज़ा था। इंग्लैण्ड, ईरान पर अपना संरक्षण घोषित करने ही वाला था, जो क़ब्ज़ा करने का मुलायम रूप था। साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और भारत तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य क़ायम

[1]The Strangling of Persia.

करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये सपने पूरे नहीं हुए। ब्रिटेन के दुर्भाग्य से रूस में जारशाही का अन्त हो गया था और उसकी जगह सोवियत रूस बन चुका था। ब्रिटेन का यह भी दुर्भाग्य रहा कि तुर्की में उसकी चालें बेकार हुईं और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रों की दाढ़ों में से बचाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओं से ईरानी राष्ट्रवादियों को मदद मिली और, ईरान नाममात्र के लिए, आज़ाद बना रहने में सफल हो गया। सन् १९२१ ई० में एक ईरानी सिपाही रिज़ाखाँ सैनिक चालबाज़ी से सामने आया। उसने फ़ौज पर क़ब्ज़ा कर लिया और फिर प्रधान मंत्री बन गया। सन् १९२५ ई० में शाह गद्दी से उतार दिया गया और विधान-परिषद् की राय से रिज़ाखाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने रिज़ाशाह पहलवी का नाम और उपाधि धारण की।

रिज़ाशाह शान्तिपूर्ण और ज़ाहिरा तौर पर लोकतन्त्री उपायों से गद्दी पर पहुँचा। मजलिस अब भी काम कर रही है और शाह निरंकुश शासक होने का दुस्साहस नहीं करता है। मगर यह स्पष्ट है कि वह एक ज़ोरदार आदमी है और ईरानी सरकार की बागडोर उसके हाथ में है। पिछले कुछ वर्षों में ईरान बहुत अधिक बदल गया है और रिज़ाशाह कई ऐसे सुधार करने पर तुला हुआ है जिनसे देश नये साँचे में ढल जाय। ज़ोरदार राष्ट्रीय पुनर्जीवन हो रहा है जिसने देश में नई जान डाल दी है। जहाँ कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थों का सम्बन्ध है, वहाँ यह नवजीवन आक्रमणकारी राष्ट्रीयता का रूप धारण कर रहा है।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि यह राष्ट्रीय नवचेतना ईरान की दो हज़ार वर्ष की सच्ची परम्परा के अनुकूल है। उसकी नज़र शुरू के दिनों की, इस्लाम से पहले की, ईरान की महानता पर लौट रही है और वह उसीसे प्रेरणा लेने की कोशिश कर रहा है। रिज़ाशाह ने अपने वंश के लिए जो 'पहलवी' नाम रक्खा है वह भी उस पुराने ज़माने की याद दिलाता है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान हैं, मगर जहाँ तक उनके देश का सवाल है वहाँ तक राष्ट्रीयता इस्लाम से भी ज्यादा ज़ोरदार बल है। एशियाभर में यही हो रहा है। योरप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले यानी उन्नीसवीं सदी में हुआ था। लेकिन आज तो वहाँ अनेक लोग राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को भी उतार फेंका हुआ मानने लगे हैं और ऐसे नये धर्मों और विश्वासों की तलाश में हैं जो मौजूदा हालतों के ज्यादा अनुकूल हों।

ईरान को पहले फ़ारस कहते थे, पर अब इसका सरकारी नाम ईरान कर दिया गया है। रिज़ाशाह ने आज्ञा निकाल दी है कि फ़ारस नाम का अब उपयोग नहीं किया जाय।

: १२६ :

क्रान्तियाँ, और ख़ासकर १८४८ की योरप की क्रान्ति

२८ जनवरी, १९३३
ईदुल-फ़ित्र

अब हमें फिर योरप चलकर उन्नीसवीं सदी में वहाँ की पेचीदा और सदा बदलती रहनेवाली तसवीर पर एक नज़र और डालनी चाहिए। दो महीने पहले के कुछ पत्रों में हम भी इस सदी का सिंहावलोकन कर चुके हैं और मैंने इसकी कुछ मुख्य विशेषतायें भी बताई थीं। उस समय मैंने जिन 'वादों' का ज़िक्र किया था उन सबको याद रखने की तुमसे आशा नहीं की जा सकती। दुबारा गिनाया जाय तो उनमें से कुछ ये थे: उद्योगवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद। मैंने तुम्हें लोकतन्त्र और विज्ञान का और यातायात के तरीकों में ज़बरदस्त क्रान्तियों का, और सार्वजनिक शिक्षा तथा उसके परिणाम का और आधुनिक अख़बारों का हाल भी बताया था। उस समय की योरपीय सभ्यता इन चीज़ों से और ऐसी ही अन्य अनेक चीज़ों से बनी थी। यह मध्यमवर्गी सभ्यता थी, जिसमें पूंजीवादी प्रणाली के मातहत औद्योगिक साधनों पर नये मध्यमवर्गों का अधिकार था। मध्यमवर्गी योरप की इस सभ्यता को सफलता पर

सफलता खिलती चली गई। यह एक चोटी से दूसरी चोटी पर बढ़ती गई और सदी का अन्त होते-होते इसने अपनी ज़बरदस्त ताक़त का सिक्का सारी दुनिया पर जमा लिया था कि इतने ही में विपत्ति आगई।

एशिया में भी हम कुछ तफ़सील के साथ इस सभ्यता को काम करती हुई देख चुके हैं। अपने बढ़ते हुए उद्योगवाद की प्रेरणा से योरप ने दूर-दूर देशों में अपने हाथ-पैर फैलाये, उन्हें हड़पने, उनपर कब्ज़ा जमाने और आमतौर पर उनमें दखल देने की कोशिश की और इन चीज़ों से फ़ायदा भी उठाया। यहाँ योरप से मेरा मतलब खास तौर पर पश्चिमी योरप से है जिसने उद्योगवाद में सबसे आगे क़दम उठाया। और बहुत दिनों तक इन सब पश्चिमी देशों का सर्वमान्य नेता था इंग्लैण्ड, जो औरों से बहुत आगे था और इस अगुआई से खूब फ़ायदा उठा रहा था।

इंग्लैण्ड और दूसरे पश्चिमी देशो मे होनेवाले ये ज़बरदस्त परिवर्त्तन सदी के शुरू में बादशाहों और सम्राटों को दिखाई नहीं दिये। जो नई ताक़तें पैदा हो रही थी उनके महत्व को उन्होंने नहीं समझा। नैपोलियन का अन्त हो जाने के बाद योरप के इन शासकों को केवल यही चिन्ता थी कि अपने आपको और सदा के लिए अपनी जमात को क़ायम रक्खें और दुनिया में निरंकुश शासन का मार्ग सुरक्षित करदें। फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति और नैपोलियन का जबर्दस्त आतक अभी उनके दिलों से पूरी तरह नही निकला था और वे अब कोई जोखिम नही उठाना चाहते थे। मै तुम्हें किसी पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि इन लोगों ने मिलकर 'पवित्र गठ-बंधन' तथा इसी प्रकार के गठ-बन्धन बना लिये थे जिनका उद्देश्य था कि "बादशाहों का दैवी अधिकार" सुरक्षित रहे, वे मनमानी करते रहें तथा जनता को सिर न उठाने दिया जाय। इस काम के लिए, जैसा कि पहले भी अक्सर हो चुका था, निरंकुश शासन और धर्म दोनों मिल बैठे। इन गठ-बन्धनों के पीछे कर्त्ता-धर्त्ता था रूस का ज़ार ऐलैग्ज़ैण्डर। उसके देश में उद्योगवाद या नई रोशनी की हवा भी नहीं पहुँच पाई थी और रूस की हालत मध्यकालीन और बहुत पिछड़ी हुई थी। बड़े-बड़े शहर बहुत कम थे, व्यवसाय का विकास नहीं हुआ था और दस्तकारियाँ भी ऊँचे दर्जे की न थीं। निरकुश शासन का दौरदौरा था। अन्य योरपीय देशों की हालते इससे भिन्न थी। ज्यों-ज्यों पश्चिम की तरफ़ बढते त्यों-त्यो मध्यमवर्ग ज्यादा दिखाई देता था। जैसा मै तुम्हे बता चुका हूँ, इग्लैण्ड में निरकुश शासन नही था। बादशाह पर पार्लमेण्ट का अंकुश था, मगर खुद पार्लमेण्ट की बागडोर मुट्ठीभर धनवानो के हाथो में थी। रूस के स्वेच्छाचारी शासक और इंग्लैण्ड के इस धनवान शासकवर्ग में बहुत बडा अन्तर था। पर दोनो में एक बात समान थी। दोनों जनता और क्रान्ति से डरते थे।

इस तरह योरप-भर में प्रतिक्रिया का बोलबाला था और जिस किसी चीज़ में उदारता की ज़रा भी झलक दिखाई देती थी वही क्रूरता के साथ कुचल दी जाती थी। सन् १९१५ ई० की वियेना-कांग्रेस के निर्णयो के अनुसार अनेक कौमें, मसलन इटली और पूर्वी योरप की कौमें, विदेशी शासन के अधीन रखदी गई थी। उन्हें बलपूर्वक दबाये रखना पड़ता था। लेकिन इस तरह की बातें बहुत दिन तक नही चल सकतीं। आगे-पीछे झगड़ा होता ही है। यह ऐसी ही बात है जैसे उबलती हुई पतीली के ढक्कन को हाथ से दबाये रखने की कोशिश करना। योरप में भी उबाल आ रहा था और बार-बार उसकी भाप बाहर फूट निकलती थी। मैं किसी पिछले पत्र में सन् १८३० ई० के उपद्रवों का ज़िक्र करते हुए बता चुका हूँ कि उस समय योरप में कई परिवर्त्तन हुए और खास तौर पर फ़्रांस में तो बूर्बनों को हमेशा के लिए निकाल दिया गया। इन उपद्रवों ने बादशाहो, सम्राटों और उनके मंत्रियों के दिल और भी ज्यादा दहला दिये और उन्होंने जनता पर दमन और अत्याचार करने में और भी ज्यादा जोर लगा दिया।

इन पत्रो के दौरान में अक्सर हमारे सामने वे महान परिवर्त्तन भी आये हैं जो विभिन्न देशों में युद्धों और क्रान्तियों के कारण हुए हैं। पुराने ज़माने के युद्ध कभी तो धार्मिक युद्ध होते थे और कभी राज्यवंशों के। अक्सर ये युद्ध एक क़ौम द्वारा दूसरी पर राजनैतिक हमले होते थे। इन सब कारणों के पीछे आमतौर पर कोई न कोई आर्थिक कारण भी होता था। मसलन मध्य-एशियाई कबीलों ने योरप और एशिया पर जितने हमले किये उनमें से ज्यादातर हमलों की वजह यह थी कि भूख ने उन्हें पश्चिम की तरफ खदेड़ दिया था। आर्थिक उन्नति भी जातियों या राष्ट्रों को ताक़तवर बना देती है और उन्हें दूसरों से अच्छी स्थिति में डाल देती है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि योरप में और अन्यत्र भी जिन्हें धार्मिक युद्ध कहा जाता था, उनकी तह में भी आर्थिक कारण काम कर रहे थे। जैसे-जैसे हम आधुनिक काल की तरफ़ आते हैं वैसे-वैसे हम

धार्मिक और राजवंशों के युद्धों को बन्द होता हुआ पाते हैं। अलबत्ता युद्ध बन्द नही होते। दुर्भाग्य से वे तो और भी ज़हरीले हो जाते हैं। मगर अब इनके कारण स्पष्ट ही राजनैतिक और आर्थिक हो जाते हैं। राजनैतिक कारणों का सम्बन्ध मुख्यतया राष्ट्रीयता से होता है; या तो एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का दबाया जाना या दो उग्र राष्ट्रीयताओं की आपसी टक्कर। यह टक्कर भी ज्यादातर आर्थिक कारणों से होती है, मसलन जब आधुनिक उद्योगवादी देश कच्चे माल और मंडियों की माँग करते हैं। इस तरह हम देखते हैं, युद्ध में आर्थिक कारणों का महत्व बढ़ता जाता है और आज तो दर असल वे ही सबसे प्रबल हैं।

क्रान्तियों में भी पिछले दिनों इसी तरह के परिवर्त्तन हुए हैं। शुरू-शुरू की क्रान्तियाँ राजमहलों की क्रान्तियाँ थीं। राज-परिवारों के लोग एक दूसरे के विरुद्ध साज़िशें करते थे, लड़ते थे और एक दूसरे की हत्याएं करते थे। या कोई तंग आई हुई प्रजा भड़क उठती थी और ज़ालिम शासक का काम तमाम कर डालती थी। या कोई महत्वाकांक्षी सिपाही फ़ौज की मदद से राजगद्दी पर क़ब्ज़ा जमा बैठता था। राजमहलों की इन अनेक क्रान्तियों का कुछ ही लोगों से सम्बन्ध होता था; आम लोगों पर न तो इनका कोई ख़ास असर पड़ता और न वे इनकी चर्चा करते थे। शासक बदल जाते मगर तरीक़ा वही बना रहता और लोगों की ज़िन्दगी वैसे ही चलती रहती जैसे पहले चलती थी। हाँ, ख़राब शासक बहुत ज़ुल्म करके असह्य बन सकता था और अच्छे शासक को लोग ज्यादा सहन कर सकते थे। मगर शासक अच्छा हो या बुरा, कोरे राजनैतिक परिवर्त्तन से आमतौर पर जनता की सामाजिक और आर्थिक हालत में फ़र्क़ नहीं पड़ता था। सामाजिक क्रान्ति की सम्भावना नही होती थी।

राष्ट्रीय क्रान्तियों के फलस्वरूप इससे ज्यादा बड़े परिवर्त्तन होते हैं। जब किसी राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र की हुकूमत होती है तो विदेशी शासकवर्ग के हाथ में सत्ता रहती है। इससे कई तरह के नुक़सान होते है, क्योंकि अधीन देश का शासन दूसरे देश के लाभ के लिए किया जाता है या ऐसे शासन से विदेशी वर्ग लाभ उठाता है। अधीन लोगों के स्वाभिमान को इससे ज़बर्दस्त ठेस पहुँचती ही है। इसके अलावा विदेशी शासक वर्ग अधीन देश के ऊँचे वर्गों के लोगो को सत्ता और अधिकार के उन ओहदों से अलग रखता है जो उन्हे मिल सकते है। सफल राष्ट्रीय क्रान्ति कम-से-कम विदेशी तत्वों को तो हटा ही देती है और देश के प्रभावशाली तत्व तुरन्त उनकी जगह ले लेते हैं। इस तरह स्वदेशी उच्चवर्ग को तो यह बड़ा फ़ायदा होता हैं कि विदेशी उच्चवर्ग हट जाता है; और देश को यह व्यापक फ़ायदा होता है कि उसका शासन दूसरे देश के हितो के लिए होना बन्द हो जाता है। हाँ, अगर राष्ट्रीय क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति न हो तो देश के नीचे के वर्गों का बहुत हित नहीं होता।

सामाजिक क्रान्ति इन अन्य क्रान्तियो से, जिनमें सिर्फ़ ऊपर-ऊपर की चीज़ों में ही परिवर्तन होता है, बिल्कुल ही भिन्न मामला है। सामाजिक क्रान्ति में भी राजनैतिक क्रान्ति तो शामिल होती ही है मगर यह राजनैतिक क्रान्ति से बहुत ज्यादा गहरी होती है, क्योंकि इससे तो समाज की बनावट ही बदल जाती है। इंग्लैण्ड की राज्य-क्रान्ति जिसने पार्लमेण्ट की सत्ता स्थापित कर दी थी, सिर्फ़ राजनैतिक क्रान्ति ही न थी; यह क्रान्ति एक हद तक सामाजिक भी थी; क्योंकि इसने उच्च मध्यम वर्ग को सत्ताधारियों के साथ ला बैठाया। इस तरह इस ऊँचे मध्यमवर्ग का राजनैतिक और सामाजिक दर्जा बढ़ गया और निम्न मध्यम वर्ग तथा जनता पर कोई ख़ास असर नही पड़ा। फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति और भी ज्यादा सामाजिक थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसने समाज की सारी व्यवस्था ही उलट दी और कुछ समय के लिए जनता के हाथ में अधिकार आ गया । आख़िरकार यहाँ भी मध्यमवर्ग की ही जीत हुई। जनता क्रान्ति में अपना हिस्सा अदा कर ही चुकी थी, अब उसे फिर अपनी पुरानी जगह पर भेज दिया गया। हाँ, विशेषाधिकारों वाले अमीर सदा के लिए जाते रहे।

यह स्पष्ट है कि ऐसी सामाजिक क्रान्तियों के परिणाम केवल राजनैतिक परिवर्त्तनो से बहुत ज्यादा गहरे होते हैं और उनका सामाजिक परिस्थितियों से निकट सम्बन्ध होता है। किसी महत्वाकांक्षी या मनचले आदमी या समुदाय का यह काम नहीं है कि वह सामाजिक क्रान्ति पैदा कर सके, जबतक कि परिस्थितियाँ ऐसी न हों जिनसे जनता उसके लिए तैयार हो। तैयार होने से मेरा मतलब यह नहीं है कि लोगों से पहले तैयार होने को कह दिया गया हो और वे इरादा करके तैयार हों। बल्कि मेरा मतलब यह है कि सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां ऐसी होती हैं कि जीवन उनके लिए असह्य भार हो जाता है और

सिवा ऐसे परिवर्तन के उन्हें चैन की या ठीक ढंग बैठाने की सूरत नजर नहीं आती। सच तो यह है कि युग-के-युग बीत गये, मगर अनगिनती लोगों का जीवन उनके लिए ऐसा ही भार बना हुआ है और ताज्जुब तो यह है कि उन्होंने इसे अबतक बर्दाश्त कैसे किया। कभी-कभी तो उन्होने विद्रोह कर दिये हैं, मुख्यतया किसानों के विद्रोह हुए हैं। और गुस्से में अन्धे और पागल होकर जो उनके हाथ पड़ गया उसीको उन्होंने तहस-नहस कर दिया है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था को बदल डालने की किसी इच्छा की चेतना इनमें नहीं थी। पर इस अज्ञान के होते हुए भी प्राचीन काल में रोम में तथा मध्यकाल में योरप में, भारत में और चीन में बार-बार तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में उथल-पुथल मची है और उनके कारण कितने ही साम्राज्यो का अन्त हो गया है।

पुराने जमाने में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन धीरे-धीरे होते थे और लम्बे अर्से तक उत्पादन के और वितरण के और माल ढोने के तरीक़े लगभग वैसे-के-वैसे बने रहते थे। इसलिए लोगो को परिवर्तन की क्रिया का भान नहीं होता था और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज-व्यवस्था अमर और अटल है। धर्म ने इस व्यवस्था तथा उसके साथ लगे हुए रीति-रिवाजो और विश्वासों के चारो ओर दैवी प्रभा-मडल बना दिया था। लोगों को इसपर इतना पक्का विश्वास जम गया था कि जब परिस्थितियां इस व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत हो गईं तब भी वे इसे बदल देने का कभी विचार नही करते थे। औद्योगिक क्रान्ति के आगमन से और उसके कारण माल ढोने के तरीक़ों में भारी परिवर्तन होने से सामाजिक परिवर्तन भी बहुत तेजी से होने लगे। नये वर्ग सामने आये और मालदार होगये। औद्योगिक मजदूरों का एक नया वर्ग पैदा हो गया जो कारीगरों और खेतों पर काम करने वाले मजदूरो से बहुत भिन्न था। इन सब बातों के लिए नई आर्थिक व्यवस्था और राजनैतिक परिवर्तनो की जरूरत हुई। पश्चिमी योरप की निराली ही असंगत अवस्था थी। समझदार समाज जब कभी परिवर्तनो की जरूरत होती है तब आवश्यक परिवर्तन कर लेता है और इस तरह बदलती हुई परिस्थितियों का पूरा फ़ायदा उठा लेता है। मगर समाजो में समझदारी नहीं होती और वे समाज को एक इकाई मान कर विचार नही करते। व्यक्ति अपनी ही और अपने ही फ़ायदे की सोचते हैं। एक-से स्वार्थ रखनेवाले वर्ग भी ऐसा ही करते हैं। अगर कोई वर्ग किसी समाज का प्रभुत्व करता है तो वह वही बना रहना और अपने से नीचे वर्गों को चूसकर फ़ायदा उठाते रहना चाहता है। अक़्लमन्दी और दूरंदेशी तक़ाजा करती है कि अन्त में अपना भला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि जिस समाज के हम अंग हैं उस सारे समाज का भला किया जाय। मगर सत्ताधारी मनुष्य या वर्ग तो जो कुछ उसे मिला हुआ है उसीको पकडे रहना चाहता है। इसका सबसे आसान तरीक़ा दूसरे वर्गों और लोगों को यह विश्वास दिलाते रहना है कि समाज की तत्कालीन व्यवस्था से अच्छी और कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती। लोगो के दिलों पर विश्वास जमाने के लिए धर्म को बीच मे घुसेड दिया जाता है; शिक्षा के द्वारा भी यही पाठ पढ़ाया जाता है। बात अचरज की है, मगर होता यहाँ तक है कि अन्त में लगभग सभी लोग इसमें पूरी तरह विश्वास करने लगते हैं और इस व्यवस्था को बदलने का विचार नही करते। इस प्रणाली से मुसीबत उठाने वाले लोग भी सचमुच यह समझ बैठते हैं कि इस व्यवस्था का बना रहना अच्छा है और उनके लिए ठोकरें और घूसे खाना और भूखो मरना ही ठीक है, भले ही दूसरे लोग गुलछर्रे उडावें।

इस तरह लोग कल्पना कर लेते हैं कि समाज-व्यवस्था अटल है और अगर ज्यादातर आदमियों को इसमें दुःख भोगना पड़ता है तो उसमें किसीका दोष नही है। दोष उनका अपना, क़िस्मत का या भाग्य का है, या उनके पिछले पापों की सजा है। समाज हमेशा रूढ़िवादी होता है, और परिवर्तन पसन्द नही करता। एक बार जिस लीक में पड जाता है उसीपर चलते रहने में उसे मजा आता है और उसे यह दृढ़ विश्वास होता है कि वह सदा उसी लकीर पर चलने को बना है। यहाँ तक कि जो व्यक्ति उसकी हालत सुधारने की इच्छा से उसे लीक छोड़कर चलने को कहते हैं, वह ज्यादातर उन्हीं को सजा देता है।

परन्तु सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ उन लोगो की मर्जी का इन्तजार नही करतीं जो समाज के बारे में कुछ नहीं सोचते या सन्तुष्ट होकर बैठे रहते हैं। परिस्थितियाँ आगे बढ़ी चली जाती हैं, भले ही लोगों के विचार जैसे के तैसे बने रहें। इन पुराने असामयिक विचारों और वास्तविकता के बीच का फ़ासला बढ़ता रहता है और यदि इस खाई को पाटकर दोनो को मिलाने का कुछ भी उपाय नही किया जाता है तो व्यवस्था तड़क जाती है और विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है। असली सामाजिक क्रान्तियाँ इसीसे होती हैं।

अगर परिस्थितियाँ ऐसी हों तो क्रान्ति हुए बिना नहीं रह सकती। यह दूसरी बात है कि दक़ियानूसी विचारों की पीछे की ओर खींच के कारण उसमें देर लग जाय। अगर परिस्थितियाँ ऐसी नही हों तो कुछ व्यक्ति चाहे वे कितना ही ज़ोर लगावे, क्रान्ति नही पैदा कर सकते। जब क्रान्ति फूट ही पड़ती है तो फिर असली परिस्थितियों को लोगो की आँखो से ढकने वाला परदा हट जाता है और वे बहुत जल्दी असलियत को समझ लेते हैं। एक बार लीक के बाहर निकलते ही वे सरपट दौड़ते हैं। यही कारण है कि क्रान्तिकारी ज़मानों में लोग ज़बरदस्त शक्ति से आगे बढ़ते हैं। इस तरह क्रान्ति रूढ़िवाद और पीछे रुके रहने का अवश्यम्भावी परिणाम होती है। अगर समाज इस मूर्खतापूर्ण भूल में न फँसे कि अटल समाज-व्यवस्था भी होती है, बल्कि हमेशा बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ चलता रहे तो सामाजिक क्रान्ति होगी ही नही। फिर तो लगातार क्रम-विकास होता चला जायगा।

पहले कोई इरादा बिना किये ही मै क्रांतियों के बारे में ज़रा विस्तार से लिख गया हूँ। यह मज़मून मुझे रुचिकर है, क्योंकि आज दुनियाभर में बेमेल बातें नज़र आ रही हैं और बहुत-से स्थानों पर समाज-व्यवस्था टूटती दिखाई दे रही है। पिछली सामाजिक क्रान्तियों के ऐसे ही पूर्व-चिन्ह रहे हैं और इस कारण सहज ही विश्वास होने लगता है कि हम भी दुनिया में होनेवाले महान परिवर्तनो के दरवाज़े पर खड़े हैं। विदेशी शासन के आधीन सब देशो की तरह भारत में भी राष्ट्रीयता और देश को विदेशी शासन से मुक्त करने की इच्छा ज़ोर पकड़ रही है। मगर यह राष्ट्रीय प्रेरणा ज़्यादातर सम्पन्न वर्गों में ही सीमित है। किसान वर्ग, मज़दूरो और अन्य लोगों को, जो हमेशा तंगी भुगतते रहते हैं, राष्ट्रीयता के इन अस्पष्ट सपनो में इतनी दिलचस्पी नही है जितनी अपने खाली पेट भरने की चिन्ता में। यह स्वाभाविक भी है। उनके लिए राष्ट्रीयता या स्वराज्य निरर्थक है, अगर उसके साथ उन्हे ज़्यादा खाने को न मिले और उनकी हालत सुधर न जाय। इसलिए आज भारत में सवाल सिर्फ राजनैतिक नही है; इससे भी ज़्यादा वह सामाजिक है।

क्रान्तियो के बारे में मेरा यह विषयान्तर लम्बा होगया। इसका कारण यह है कि जिस उन्नीसवी सदी पर मै विचार कर रहा था उसमें योरप में अनेक विद्रोह तथा अन्य उपद्रव हुए हैं। इन विद्रोहो में से अनेक विद्रोह खासकर इस सदी के पूर्वार्द्ध मे होने वाले, विदेशी हुकूमत के विरुद्ध राष्ट्रीय विप्लव थे। इसके साथ-साथ उद्योगवादी देशो में सामाजिक विद्रोह के विचार नये मज़दूरवर्ग में उसके पूंजीवादी मालिकों के साथ सघर्ष पैदा करने लगे। लोग सामाजिक क्रान्ति के लिए समझ-बूझकर विचार और कार्य करने लगे।

सन् १८४८ ई० का वर्ष योरप में क्रान्तियो का वर्ष कहलाता है। इस वर्ष कितने ही देशों में विप्लव हुए। उनमें से कुछ सफल हुए लेकिन ज़्यादातर असफल होकर खतम हो गए। पोलैण्ड, इटली, बोहेमिया और हंगरी के विप्लवों की तह में उनकी दबाई हुई राष्ट्रीयता थी। पोलैण्ड का विद्रोह प्रशिया के विरुद्ध था और बोहेमिया तथा उत्तर-इटली का आस्ट्रिया के विरुद्ध। ये सब दबा दिये गये। इन विद्रोहो मे आस्ट्रिया के विरुद्ध हंगरी का विद्रोह सबसे बडा था। इसका नेता लोजोस कोसूथ था। यह हंगरी के इतिहास का एक प्रसिद्ध देशभक्त और आज़ादी के लिए लडनेवाला हो गया है। दो वर्ष तक लोहा लेने पर भी यह विद्रोह दबा दिया गया। कुछ साल बाद हंगरी को सफलता मिली मगर इस बार उसका लड़ाई का तरीका भिन्न था, और नेता भी डीक नामक एक महान् व्यक्ति था। ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि डीक ने निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीक़ों का प्रयोग किया। १८६७ ई० में हंगरी और आस्ट्रिया ने लगभग समानता के आधार पर मिल कर हैप्सबर्ग सम्राट फ़ान्सिस जोज़फ के अधीन तथाकथित "दोहरा राज्यतंत्र" बनाया। पचास वर्ष बाद डीक के निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीक़ों की नक़ल आयर्लैण्ड वालो ने अँग्रेज़ों के विरुद्ध की। जब सन् १९२० ई० में भारत में असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ तो कुछ लोगों को डीक की लड़ाई याद आई। लेकिन इन दोनो तरीक़ो में बहुत बड़ा फ़र्क़ था।

सन् १८४८ ई० में जर्मनी में भी विद्रोह हुए, मगर वे बहुत गम्भीर नही थे। वे दबा दिये गये और कुछ सुधारो का वादा कर दिया गया। फ़्रांस में बड़ा परिवर्तन हुआ। सन् १८३० ई० में जब से बूर्बनों को निकाल दिया गया था तभी से लुई फ़िलिप की बादशाहत थी। यह अर्द्ध-वैधानिक एकतन्त्री शासक था। सन् १८४८ ई० तक लोग उससे ऊब गये और उसे गद्दी छोड़नी पड़ी। फिर प्रजातंत्र क़ायम हुआ। यह

दूसरा प्रजातंत्र कहलाया, क्योंकि पहला तो महान् क्रांति के मौक़े पर क़ायम हुआ था। इस गड़बड़ से फ़ायदा उठाकर लुई बोनापार्ट नामक नैपोलियन का एक भतीजा पैरिस में आया और स्वतन्त्रता का बड़ा हामी बन कर प्रजातन्त्र का अध्यक्ष चुन लिया गया। यह सत्ता प्राप्त करने का केवल ढोंग था। जब उसकी जड़ जम गई तो उसने फ़ौज पर भी अधिकार कर लिया और सन् १८५१ ई० में वह चाल खेली जो राजनैतिक चालबाज़ी कहलाती है। उसने अपने सिपाहियों के बल पर पैरिस पर आतंक जमाया, बहुत लोगों को गोली से उड़ा दिया और असेम्बली को आतंकित कर दिया। अगले साल वह सम्राट् बन बैठा और अपना नाम नेपोलियन तृतीय रख लिया, क्योंकि महान नेपोलियन का पुत्र नेपोलियन द्वितीय माना जाता था, यद्यपि उसने कभी राज नहीं किया। चार वर्ष से कुछ ज्यादा समय के संक्षिप्त और शानरहित जीवन यात्रा के बाद यह दूसरा प्रजातंत्र समाप्त हो गया।

इंग्लैण्ड में सन् १८४८ ई० में कोई विद्रोह तो नहीं हुआ, मगर झगड़े और उपद्रव बहुत हुए। इंग्लैण्ड का यह ढंग है कि जब सचमुच मुसीबत सामने आजाती है तो वह उसके सामने झुककर उससे बच जाता है। उसका विधान लचीला होने के कारण इसमें मदद करता है। बहुत दिनों के अभ्यास के कारण, जब और कोई रास्ता न दिखाई दे तो अंग्रेज़ कोई-न-कोई समझौता कर लेता है। इस तरीक़े से अंग्रेज़ो ने किसी न किसी तरह ऐसे बड़े-बड़े और आकस्मिक परिवर्तनों को टाल दिया है जो अधिक सख्त विधानो और कम समझौता-पसन्द लोगों वाले देशों में हुए हैं। सन् १८३२ ई० में इंग्लैण्ड में एक सुधार-बिल को लेकर बड़ी भारी हलचल मची। इस बिल में कुछ ज्यादा लोगों को पार्लमेण्ट के सदस्य चुनने का मताधिकार दिया गया था। आजकल के माप से देखें तो यह बिल बहुत नरम और निर्दोष था। मध्यम वर्ग के कुछ ज्यादा लोगों को वोट का अधिकार और दिया गया था। मज़दूरों और अन्य अधिकाश लोगो को अब भी वोट का हक़ नहीं था। मगर उन दिनो पार्लमेण्ट थोड़े-से धनवान लोगो के हाथो में थी। उन्हें अपने विशेषाधिकारो और सड़े हुए "चुनाव-क्षेत्रो" के छिन जाने का डर था जिनसे वे पार्लमेण्ट की कामन्स सभा में बिना किसी दिक़्क़त के चुन कर आजाते थे। इस कारण इन लोगों ने अपना सारा ज़ोर लगाकर सुधार-बिल का विरोध किया और कहा कि अगर यह बिल पास हो गया तो इंग्लैण्ड रसातल को चला जायगा और ससार में प्रलय हो जायगा। इंग्लैण्ड में गृह-युद्ध छिड़ने ही वाला था कि इस बिल के पक्ष में सार्वजनिक आन्दोलन ने विरोधी दल के छक्के छुड़ा दिये और वे बिल को पास कराने के लिए राज़ी हो गये। कहना न होगा कि इस बिल के पास हो जाने पर इंग्लैण्ड का अन्त नहीं हुआ और पार्लमेण्ट की बागडोर भी पहले ही की तरह धनवानो के हाथो में बनी रही। सम्पन्न मध्यमवर्ग के हाथ में कुछ ज्यादा सत्ता आ गई।

सन् १८४८ ई० के आसपास इंग्लैण्ड को एक और बड़ी हलचल ने हिला डाला। यह "अधिकार-पत्री आन्दोलन"[1] कहलाया क्योंकि इसने विभिन्न सुधारो की माँग का "सार्वजनिक अधिकार-पत्र"[2] शैतान की आंत जैसे लम्बे प्रार्थना-पत्र में पार्लमेण्ट मे पेश करने का प्रस्ताव किया था। शासकवर्गों के दिलो को खूब दहलाने के बाद यह आन्दोलन दबा दिया गया। कारखानो के मज़दूर वर्गों में बहुत दुख और असंतोष था। इसी समय मज़दूरों के बारे में कुछ क़ानून बनने लगे और उनसे मज़दूरों की हालत ज़रा सुधरी। इंग्लैण्ड अपने बढ़ते हुए व्यापार से खूब धन कमा रहा था। वह "ससार का पुतलीघर" बन रहा था। यह मुनाफ़ा ज्यादातर तो कारखानो के मालिकों को मिलता था, पर मज़दूरों तक भी उसकी कुछ बूंदें पहुँच जाती थी। इन सब कारणो से सन् १८४८ ई० में विप्लव होने से बच गया। मगर उस समय तो वह नज़दीक दिखाई दे रहा था।

अभी मैंने सन् १८४८ ई० का हाल पूरा नहीं किया है। उस साल रोम में क्या हुआ, यह बताना अभी बाक़ी है। इसे दूसरे पत्र के लिए उठा रखना पड़ेगा।

---

[1] Chartist Agitation. [2] People's Charter.

: १२७ :

इटली संयुक्त और स्वतंत्र राष्ट्र बन जाता है

३० जनवरी, १९३३
वसन्त-पंचमी

सन् १८४८ ई० के वर्णन में मैंने इटली को अखीर के लिए रख लिया था। इस वर्ष की थर्राने वाली घटनाओं में सबसे ज्यादा आकर्षक रोम की वीरत्वपूर्ण लड़ाई थी।

नैपोलियन के समय से पहले इटली छोटी-छोटी रियासतों और छुटभैय्ये राजाओ की पैबन्दकारी-सा था। कुछ अर्से के लिए नैपोलियन ने उसे संयुक्त कर दिया था। नैपोलियन के बाद उसकी फिर पहले जैसी या उससे भी बुरी हालत होगई। विजयी मित्र-राष्ट्रो ने सन् १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बड़े लिहाज़ से काम लेकर इस देश को आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके चारों ओर का बडा-सा इलाक़ा लेलिया। आस्ट्रिया के कई राजाओं को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गये। पोप ने आकर रोम और उसके आसपास की रियासतो में पोप का राज्य बना लिया। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनो सिसलियों का एक राज्य एक बूर्बन राजा के मातहत कर दिया गया। फ़्रास की सरहद के पास, उत्तर-पश्चिम में, पीडमॉण्ट और सार्डीनिया का बादशाह था। पीडमॉण्ट को छोडकर बाकी के इन सब छोटे-छोटे बादशाहो तथा राजाओं ने बडी तानाशाही का शासन किया और अपनी प्रजाओ को इतना सताया जितना कि नैपोलियन से पहले इन्होने या और किसीने नही सताया था। लेकिन नैपोलियन के हमले ने देश को हिला दिया था, नवयुवको में आज़ाद और सयुक्त इटली की भावनाए भर दी थी। शासकों के अत्याचारों के बावजूद, या और शायद उनके कारण, कई छोटे-मोटे विप्लव हुए और गुप्त समितियों का जाल बिछ गया।

शीघ्र ही वहाँ एक सरगर्म नवयुवक आगे आया जो आज़ादी के आन्दोलन का नेता मान लिया गया। यह इटली की राष्ट्रीयता का पैगम्बर ग्वीसेप मैज़िनी था। सन् १८३१ ई० में उसने 'नौजवान इटली' नामक समिति का सगठन किया जिसका उद्देश्य इटली का एक प्रजातंत्र स्थापित करना था। उसने इस उद्देश्य के लिए वर्षों तक काम किया। उसे निर्वासित भी रहना पड़ा और अकसर अपनी जान जोखिम में डालनी पड़ी। उसकी अनेक राष्ट्रीय रचनाए साहित्य के रत्न बन गई हैं। सन् १८४८ ई० में जब उत्तरी इटली मे जगह-जगह विद्रोहो की आग भडक रही थी, मैज़िनी को मौका मिल गया और वह रोम चला आया। पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियों की समिति के मातहत प्रजातन्त्र-राज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास के एक शब्द के अनुसार "त्रियमवीर" नाम दिया गया। इनमें एक मैज़िनी था। इस नवजात प्रजातत्र पर चारों तरफ से हमले होने लगे, आस्ट्रिया वालो द्वारा, नेपल्सवालो द्वारा, और यहाँ तक कि फ्रासीसियों द्वारा भी, जोकि पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए आये। रोम के प्रजातंत्र की तरफ़ से लडनेवालों का सरदार गैरीबाल्दी था। उसने आस्ट्रियावालो को रोक रक्खा, नेपल्सवालों को हरा दिया और फ़्रांसवालों को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब, स्वयसेवको की मदद से किया गया और प्रजा-तन्त्र की रक्षा में रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवको ने अपनी जानें दी। पर अन्त में एक वीरतापूर्ण संघर्ष के बाद रोम का प्रजातंत्र फ़ासीसियो से हार गया, और उन लोगों ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह सघर्ष की पहली कला का अन्त हुआ। प्रचार तथा अगले बड़े प्रयत्न की तैयारी के रूप में मैज़िनी तथा गैरीबाल्दी अपना-अपना काम भिन्न-भिन्न तरीक़ों से करते रहे। वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमें छापामार युद्ध-कला की असाधारण प्रतिभा थी। दोनों में इटली की आज़ादी और एकता की ज़बरदस्त लगन थी। इसी समय इस बड़े खेल में एक तीसरा खिलाड़ी और प्रकट हुआ। यह पीडमॉण्ट के राजा विक्टर इम्मैनुएल का प्रधानमंत्री कावूर था। उसका मुख्य लक्ष्य विक्टर इम्मैनुएल को इटली का बादशाह बनाना था। चूंकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओं को दबाने और हटाने की ज़रूरत थी, इसलिए कावूर मैज़िनी और गैरीबाल्दी के कार्यों का फ़ायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ़्रांसवालों से साज़िश की और उन्हें अपने दुश्मन आस्ट्रिया

वालों के साथ लड़ाई में फँसा दिया। उस समय फ़्रांस का शासक नैपोलियन तृतीय था। यह सन् १८५९ ई० की बात है। फ़्रांसवालो के हाथों आस्ट्रियावालों की पराजय से गैरीबाल्दी ने फ़ायदा उठाया और नैपल्स तथा सिसली के बादशाह पर बिना किसी से सलाह किये तथा अपने ही नेतृत्व में एक असाधारण फ़ौजी धावा कर दिया। गैरीबाल्दी और उसके एक हज़ार लाल कुर्तेवालो का यह मशहूर फौजी धावा था। इन लोगों ने, जिन्हें न तो सैनिक शिक्षा मिली थी और न जिनके पास ठीक हथियार और सामान थे, अपने सामने डटी हुई शिक्षित सेनाओं का मुक़ाबला किया। दुश्मन की सेना इन एक हज़ार लाल कुर्तेवालों से बहुत ज्यादा थी, लेकिन उनके जोश और जनता की सद्भावना से उन्हें विजय पर विजय प्राप्त होती गई। गैरीबाल्दी की कीर्त्ति चारों तरफ़ फैल गई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके नज़दीक पहुँचते ही फ़ौजें तितर-बितर हो जाती थी। फिर भी गैरीबाल्दी का काम मुश्किल था और कितनी ही बार वह तथा उसके स्वयंसेवक पराजय और घोर विपत्ति के किनारे पड़ जाते थे। किन्तु पराजय की घड़ियो में भी भाग्य उसका साथ देता था और पराजय को विजय में बदल देता था। जान झोंक कर साहसपूर्ण कार्य करने वालो पर भाग्य की ऐसी ही कृपा रहती है।

गैरीबाल्दी और उसके हज़ार साथी सिसली के तटपर उतरे। वहाँ से वे लड़ते-लडते धीरे धीरे इटली तक जा पहुँचे। दक्षिण इटली के गावो में होकर कूच करते हुए वह "स्वयसेवको की माँग करता जाता था और निराले ही इनाम देने की घोषणा करता था। वह कहता—चले आओ! चले आओ! जो घर में घुसा रहता है वह कायर है। मै तुम्हे थकान, तकलीफे और लडाइयाँ देने का वादा करता हूँ। परन्तु हम या तो जीतेंगे या मर मिटेंगे।" दुनिया सफलता की कद्र करती है। गैरीबाल्दी की शुरू की सफलताओ ने इटली के लोगों की राष्ट्रीयता की भावना को ऐसा उभारा कि स्वयसेवको का ताँता बँध गया और वे गैरीबाल्दी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ़ बढे। उस गीत का आशय यह है .

उखड़ गई हैं क़ब्रें
मुर्दे दूर दूर से आते उठकर।
ले तलवारें हाथों में,
औ' कीर्त्ति ध्वजा के साथ
युद्ध के लिए खड़े हो रहे प्रेतगण
अमर शहीदो के अपने,
जिनके मृत हृदयो में गर्मी
इटली का नाम रहा है भर।
आओ, दो उनका साथ!
देश के नवयुवको,
तुम चलो उन्ही के पीछे!
आओ, फहरा दो झंडा अपना
औ' बाजे जंगी अब साजो।
आ जाओ, सब लेकर ठडी फ़ौलादी तलवारे
लेकिन हो आग हृदयमें भरी हुई!
आजाओ सब लेकर
इटली की आशाओ की ज्योति भरे!
इटली से बाहर हो!
ओ परदेशी,
तू बाहर निकल
हमारे प्यारे वतन इटाली से।

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने समान होते हैं!

कावूर ने गैरीबाल्दी की सफलताओं से फ़ायदा उठाया। और इस सबका नतीजा यह हुआ कि सन् १८६१ ई० में पीडमॉण्ट का विक्टर इम्मैनुएल इटली का बादशाह हो गया। रोम पर अभी तक फ़्रान्सीसी

सैनिकों का क़ब्ज़ा था और वेनिस पर आस्ट्रियावालों का। दस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाक़ी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आखिर इटली एक सयुक्त राष्ट्र हो गया। लेकिन मैज़िनी को इससे खुशी नही हुई। उसने सारी उम्र प्रजातन्त्र के आदर्श के लिए जान लड़ाई थी और अब इटली सिर्फ़ पीडमॉण्ट के विक्टर इमैनुऐल की रियासत बन गया। यह सही है कि नया राज्य वैधानिक राज्य था और विक्टर इम्मैनुएल के राजा बनते ही तुरन्त टूरिन में इटली की पार्लमेण्ट की बैठक हुई।

इस तरह इटली का राष्ट्र फिर से विदेशी शासन से मुक्त हो गया। यह तीन आदमियो की करामात थी—मैज़िनी, गैरीबाल्दी और कावूर की। इन तीनों में से एक भी न होता तो शायद इस आज़ादी को आने में बहुत देर लगती। कई वर्ष बाद अंग्रेज़ कवि और उपन्यासकार जॉर्ज मेरिडिथ ने इसपर एक कविता लिखी थी, जिसका आशय यह है :

हमने इटैलिया को घोर पीड़ा में देखा है,
वह उठने भी न पाई थी कि उसे
फिर ज़मीन पर फेंक दिया गया,
और आज जब वह गेहूं के पके हुए खेत की तरह,
जहाँ कभी हल चलते थे,
वरदानमयी तथा सुन्दर है,
तब हमे उनकी याद आती है
जिन्होने उसके ढांचे मे जीवन की साँस फूंकी :
कावूर, मैज़िनी, गैरीबाल्दी : तीनो :
एक उसका मस्तिष्क, एक आत्मा, एक तलवार;
जिन्होंने एक प्रकाशमान उद्देश्य को लेकर
विनाशकारी आन्तरिक कलह से
उसका उद्धार किया।

मैंने तुम्हे इटली की आज़ादी की लड़ाई की मोटी-मोटी बाते और संक्षिप्त कहानी सुना दी है। यह छोटा-सा वर्णन तुम्हे मुर्दा इतिहास के अन्य अंशो की तरह लगेगा। मगर मै तुम्हे बताता हूँ कि तुम इस कहानी को सजीव कैसे बना सकती हो, और अपने दिल को इस लडाई की खुशी और वेदना से कैसे भर सकती हो। कम-से-कम मुझे तो बहुत समय पहले जब मै स्कूल का विद्यार्थी था, ऐसा ही महसूस हुआ था। मैंने यह कहानी ट्रेविलियन की तीन पुस्तको में पढी थी। वे थी 'गैरीबाल्दी और रोमन प्रजातन्त्र के लिए युद्ध',[1] 'गैरीबाल्दी और उसके हज़ार सिपाही'[2], 'गैरीबाल्दी और इटली का निर्माण'[3]।

इटली की आज़ादी की लडाई के दिनो में अंग्रेज़ जनता की सहानुभूति गैरीबाल्दी और उसके लाल-कुर्तेवालो के साथ थी और कितने ही अंग्रेज़ कवियो ने इस लडाई पर जोशीली कविताएँ लिखी थी। यह अजीब बात है कि जहाँ अंग्रेज़ों का स्वार्थ आड़े नही आता वहाँ उनकी सहानुभूति अकसर आज़ादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रो के साथ किस तरह हो जाती है! यूनान आज़ादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन को और अन्य लोगो को भेज देते है। इटली को वे सपूर्ण सद्भावनाए और प्रोत्साहन भेजते है। मगर अपने पडोसी आयर्लैण्ड या दूर के मिस्र और भारत वग़ैरा देशों में अंग्रेज़ी दूत मशीनगनें और तबाही ले जाते हैं। उस समय इटली के बारे में स्विनबर्न, मेरिडिथ और एलीज़ाबेथ बैरेट ब्राउनिंग ने बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी थी। मेरीडिथ ने तो इस विषय पर उपन्यास भी लिखे थे। मैं यहाँ स्विनबर्न की एक कविता का आशय देता हूँ जो "रोम के सामने पड़ाव"[4] के नाम से मशहूर है। यह उस समय लिखी गई थी जबकि इटली की

---

[1] Garibaldi And the Fight for the Roman Republic.
[2] Garibaldi and the Thousand.
[3] Garibaldi and the Making of Italy.
[4] The Halt Before Rome.

लड़ाई जारी थी और उसमें अनेक रुकावटें पेश आ रही थीं और उसके कई देशद्रोही विदेशी प्रभुओं का काम कर रहे थे।

तुम क्रीतदास जिस स्वामी के
वह ही देगा उपहार तुम्हें,
उपहार भला क्या दे सकती है
स्वतन्त्रता की देवि तुम्हें।
वह आश्रयहीना स्वतन्त्रता
आवास नहीं जिसका कोई
वह बिना रुकावट सीमा के
प्रेरित करती निज सेनाओं को
बढ़ने को आगे नित ही।
वे सेनाएँ खोकर
निज आँखों की निद्रा,
भूखों मरती,
औ खून बहाती चलती हैं,
निज प्राणों से आज़ादी के
बोती जाती है बीज, तथा
बढ़ती जाती है
यह इच्छा लेकर—
उनकी मिट्टी से फिर
निर्माण राष्ट्र का हो जाये,
औ आत्माएं उनकी करदें
ज्योतित उसके ही तारे को।

: १२८ :

जर्मनी का उत्थान

३१ जनवरी, १९३३

पिछले पत्र में हम योरप के एक बड़े राष्ट्र का निर्माण देख चुके है जिससे आज हम इतनी अच्छी तरह परिचित हैं। अब हमें एक और आधुनिक बड़े राष्ट्र जर्मनी का निर्माण देखना है।

समान भाषा और अन्य अनेक समान लक्षण होते हुए भी जर्मन राष्ट्र बहुत-सी छोटी-बड़ी रियासतो में बँटा हुआ था। कई सदियो तक हैप्सबर्ग वंश का आस्ट्रिया जर्मनी की प्रधान शक्ति था। बाद में प्रशिया आगे आया और इन दोनों शक्तियो में जर्मन राष्ट्र के लिए बड़ी लाग-डाँट रही। नैपोलियन ने इन दोनो को नीचा दिखाया। इसके फलस्वरूप जर्मन राष्ट्रीयता प्रबल हो गई और वही उसकी आखिरी पराजय में सहायक हुई। इस तरह इटली और जर्मनी दोनों में नैपोलियन ने अनजान में और बिना चाहे राष्ट्रीय भावना और आज़ादी के विचारो को उत्तेजना दी। नैपोलियन के ज़माने के जर्मन राष्ट्रवादियों में एक प्रमुख व्यक्ति फ़िक्टे था, वह दार्शनिक भी था और उत्कट देशभक्त भी। उसने अपने देशवासियो को जगाने का बहुत काम किया था।

नैपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी की छोटी-छोटी रियासतें बनी रही। उनका संघ बनाने की कई बार कोशिशें हुईं, मगर वे असफल हुईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनो के शासक और सरकारें संघ के मुखिया बनना चाहते थे। इस बीच में सभी उदार विचारों का खूब दमन हुआ। सन् १८३० और

१८४८ ई० में विद्रोह हुए। मगर वे दबा दिये गये। जनता का मुँह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार भी जारी किये गये।

इंग्लैण्ड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सों में कोयले और कच्चे लोहे की खानें थी। इससे वहाँ की स्थिति औद्योगिक विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी भी अपने दार्शनिकों और वैज्ञानिकों और सिपाहियों के लिए मशहूर था। वहाँ कारखाने खड़े होगये और औद्योगिक मजदूरो का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस स्थिति में, उन्नीसवी सदी के मध्य के लगभग प्रशिया में एक आदमी उठा, जो आगे चलकर बहुत दिनों तक न सिर्फ़ जर्मनी पर बल्कि योरप की राजनीति पर हावी होने वाला था। यह आदमी प्रशिया का एक जमीदार था और इसका नाम औटो वॉन बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लड़ाई के साल[1] में पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारो में कई वर्ष कूटनीतिक राजदूत का काम किया था। सन् १८६२ ई० में वह प्रशिया का प्रधान मंत्री बना और तुरन्त ही उसने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। प्रधान-मत्री बनने के एक-सप्ताह के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस जमाने की बडी समस्याए भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों से नही बल्कि लोहे और खून से हल होंगी।"

लोहा और खून! प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले ये शब्द सचमुच उसकी उस नीति के प्रतीक थे जिसे उसने दूरदेशी और कठोरता के साथ निभाया। उसे लोकतन्त्र से नफ़रत थी और वह पार्लमेण्टों और लोकप्रिय धारा-सभाओ को हिक़ारत की नजर से देखता था। वह पुराने जमाने का अवशेष मालूम होता था, मगर उसकी योग्यता और दृढता ऐसी थी कि उसने वर्तमान काल को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। उसने आधुनिक जर्मनी का निर्माण किया और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में योरप के इतिहास को अपने साँचे मे ढाला। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का जर्मनी तो पीछे रह गया और खून और लोहे वाला तथा सैनिक कुशलता वाला नया जर्मनी योरप के महाद्वीप पर हावी होने लगा। उस समय के एक प्रमुख जर्मन ने कहा था, "बिस्मार्क जर्मनी को महान बना रहा है और जर्मनो को छोटा।" जर्मनी को योरप में और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में महान शक्ति बनाने की उसकी नीति से जर्मन लोग खुश होते थे और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की चकाचौंध से वे बिस्मार्क के सब तरह के दमन को सहन कर लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ में जब बागडोर आई तब उसके दिमाग में साफ़-साफ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है, और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी। वह दृढ़ता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे अद्भुत सफलता मिली। वह जर्मनी का और जर्मनी के जरिये प्रशिया का योरप मे प्रभुत्व कायम करना चाहता था। उस समय नैपोलियन तृतीय के मातहत फ़ास योरप में सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बड़ा प्रतिद्वन्दी था। पुराने ढग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के एक पाठ की तरह यह देखकर चित्त मोहित हो जाता है कि बिस्मार्क दूसरी शक्तियो को किस तरह खेल खिलाता था और बारी-बारी से एक-एक करके उनसे कैसे निबटता था। सबसे पहली चीज जिसे करने का उसने बीडा उठाया था, यह थी कि जर्मनो के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर दिया जाय। प्रशिया और आस्ट्रिया की पुरानी लाग-डाँट जारी नहीं रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का अन्तिम निर्णय प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के बाद फ़ास की बारी थी। (यह याद रखना कि जब मै प्रशिया, आस्ट्रिया और फ़ास की बात करता हूँ तब मेरा मतलब वहाँ की सरकारो से है। ये सरकारें थोड़ी या बहुत मात्रा में निरकुश थी और वहाँ की पार्लमेण्टों के हाथ में कोई सत्ता नही थी।)

बस, बिस्मार्क ने अपनी फ़ौजी मशीन को चुपचाप मुकम्मिल कर लिया। इसी बीच में नैपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया पर हमला कर के उसे हरा दिया। इस हार के फलस्वरूप गैरीबाल्दी की दक्षिण इटली मे सैनिक कार्रवाई हुई जिसके परिणाम में इटली सदा के लिए आजाद हो गया। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थी, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया कमजोर पड़ गया। रूसी पोलैण्ड में जब राष्ट्रीय विद्रोह हुआ तो बिस्मार्क ने सचमुच जार को यह प्रस्ताव भेजा कि यदि आवश्यकता हो तो वह पोलैण्डवालो को गोली से उड़ा देने में मदद देने को तैयार है। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर योरप की किसी भावी उलझन में

[1] सन् १८१५ ई०

ज़ार की सहानुभूति प्राप्त करने का उद्देश्य इससे पूरा हो गया। फिर आस्ट्रिया से मिलकर उसने डेनमार्क को हराया और फिर शीघ्र ही उसने आस्ट्रिया की तरफ़ मुह किया। इसके लिए उसने होशियारी से फ्रांस और इटली का समर्थन प्राप्त कर लिया था। सन् १८६६ ई० में कुछ ही समय में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब उसने जर्मन नेतृत्व का सवाल तय कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि प्रशिया ही उसका नेता है तो फिर उसने बड़ी बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के साथ उदारता का बर्ताव किया जिससे कोई कटुता बाक़ी न रहे। अब प्रशिया के नेतृत्व में एक उत्तर-जर्मन सघ बनाने का रास्ता साफ होगया (आस्ट्रिया उसमें नही था)। बिस्मार्क इस सघ का चान्सलर बना। आजकल जहाँ हमारे कुछ राजनीति और कानून विशारद महीनों और वर्षों सघों और विधानो के बारे में चर्चाएं और दलीलें किया करते हैं वहाँ ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मन सघ का नया विधान पाँच घटे में लिखवा दिया था। यही विधान, इधर-उधर के कुछ संशोधनो के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का विधान बना रहा; यानी महायुद्ध के बाद सन् १८१८ ई० में जब प्रजातन्त्र स्थापित हुआ तब तक।

बिस्मार्क ने अपना पहला महान उद्देश्य प्राप्त कर लिया था। दूसरा कदम फ़ास को नीचा दिखाकर योरप में अपनी प्रभुता का दर्जा स्थापित करना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और बिना शोरगुल मचाये की। साथ-साथ वह जर्मनी की एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा और ऐसा बर्ताव करता रहा कि अन्य योरपीय शक्तिया उसकी ओर से सशकित न हो जाय। पराजित आस्ट्रिया के साथ भी ऐसा नर्म बर्ताव किया गया कि उसकी दुर्भावना प्राय: दूर हो गई। इग्लैण्ड फ़ास का ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी था और वह नैपोलियन तृतीय की महत्त्वाकाक्षा भरी योजनाओ को बडी शंका की दृष्टि से देखता था। इस कारण फ्रांस के विरुद्ध किसी भी सघर्ष मे इग्लैण्ड की सद्‌भावना प्राप्त करना बिस्मार्क के लिए कठिन नही था। जब वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार हो गया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि वास्तव में सन् १८७० ई० में नैपोलियन तृतीय ने ही प्रशिया के विरुद्ध लडाई की घोषणा की। योरप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार ही आक्रमणकारी फ़ास की बेकसूर शिकार हुई। पेरिस के लोग 'बर्लिन को! बर्लिन को!' चिल्लाने लगे और नैपोलियन तृतीय ने अपने मन मे बडे सतोष से समझ लिया कि वह शीघ्रही अपनी विजयी फौज के साथ सचमुच बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क का सधा हुआ सैनिक सगठन फ्रास की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पड़ा और उसके आगे फ़ांस की फ़ौज छिन्न-भिन्न हो गई। कुछ ही सप्ताहो में सेदान नामक स्थान पर खुद सम्राट नैपोलियन तृतीय और उसकी सेना जर्मनो के हाथो क़ैद हुई।

इस तरह नैपोलियन वश का दूसरा फ़्रांसीसी साम्राज्य समाप्त हुआ और तुरन्त ही पेरिस में प्रजातत्र शासन स्थापित हो गया। नैपोलियन तृतीय के पतन के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि अपनी दमन-नीति की वजह से वह प्रजा में अपनी लोकप्रियता बिलकुल खो चुका था। विदेशो से युद्ध करके उसने जनता का ध्यान बँटाने की कोशिश की; आफत मे फसे हुए बादशाहो और सरकारो का यह मुह लगा तरीक़ा है। नैपोलियन सफल नही हुआ। हाँ, युद्ध ने उसकी महत्वाकाक्षा का अवश्य सदा के लिए अन्त कर दिया।

पेरिस में राष्ट्र-रक्षा की सरकार बनी। उसने प्रशिया के सामने शान्ति का प्रस्ताव रक्खा, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थी कि लगभग सारी सेना का नाश हो जाने पर भी उन्हे लड़ाई जारी रखने का निर्णय करना पड़ा। जर्मन फ़ौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारो तरफ़ घेरा डाले पड़ी रही। अन्त में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये प्रजातत्र ने हार मानकर बिस्मार्क की कठोर शर्तें मजूर करली। युद्ध के हर्जाने की भारी रक़म देना क़बूल किया गया और जिस बात से फ़ास को सब से ज्यादा चोट पहुँची वह यह थी कि अलसेस तथा लॉरेन के प्रान्त दो सौ साल से अधिक फ़ांस के हिस्से रहने के बाद जर्मनी के हवाले कर देने पडे।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। सन् १८७० ई० के सितम्बर में तो नैपोलियन तृतीय के फ़ासीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और सन् १८७१ ई० की जनवरी में वर्साई के सोलहवें लुई के राजमहल के भव्य दीवानखाने में संयुक्त जर्मनी की घोषणा हुई और प्रशिया का बादशाह क़ैसर के नाम से सम्राट बना। जर्मनी के सब राजाओ और प्रतिनिधियों ने वहाँ एकत्रित होकर

अपने नये सम्राट क़ैसर को ताज़ीम दी। अब प्रशिया के हायनज़ालर्न का राजघराना एक शाही घराना बन गया और सयुक्त जर्मनी संसार की एक महान शक्ति हो गया।

इधर वर्साई में हर्ष और उत्सव मनाया जा रहा था और उधर पास ही पेरिस में शोक और विपत्ति और पूरी जलालत छाई हुई थी। अनेक आफ़तो के कारण जनता हक्की-बक्की हो रही थी और कोई सुव्यवस्थित शासन नही था। राष्ट्रपरिषद में एकतंत्रवादी बड़ी संख्या में चुनकर आगये थे और ये लोग बादशाही को फिर से स्थापित करने की साज़िशें कर रहे थे। उन्होने अपने रास्ते का काटा दूर करने के लिए राष्ट्रीय रक्षक दल के हथियार छीनने का प्रयत्न किया, क्योंकि यह दल प्रजातत्रवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकतंत्रवादी और क्रान्तिकारी तत्वों को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर से प्रतिगामिता और दमन है। इसलिए सन् १८७१ ई० के मार्च में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और पेरिस के "कम्यून" यानी पचायती राज्य की घोषणा की गई। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ़ास की महान राज्यक्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमें इससे ज्यादा और भी बहुत कुछ था। जरा अस्पष्ट रूप मे ही सही, इसमें वे समाजवादी विचारधाराएं मूर्तिमान थी जो उस समय पैदा हो चुकी थी। एक तरह से यह रूस की सोवियत प्रणाली की पूर्वज थी।

मगर सन् १८७१ ई० का यह पेरिस कम्यून थोड़े ही दिन टिका। एकतंत्रवादियो और उच्च मध्यम-वर्ग के लोगो ने आम जनता की इस बग़ावत से डर कर पेरिस के उस भाग पर घेरा डाल दिया जो कम्यून के अधिकार में था। पास ही वर्साई में और अन्य जगहो पर जर्मन सेनाएं यह सब चुपचाप देखती रही। जो फ़ासीसी सिपाही जर्मनो की कैद से छूट कर पेरिस लौटे वे अपने पुराने अफ़सरो के साथ हो गये और कम्यून के विरुद्ध लड़ने लगे थे। उन्होने कम्यून के समर्थको पर धावा बोल दिया और सन् १८७१ ई० की मई के अन्त में एक दिन उन्हे हरा कर पेरिस की सड़को पर तीस हज़ार स्त्री-पुरुषो को गोलियों से उड़ा दिया। बाद मे पचायत-पक्ष के अनेक पकड़े हुए लोगो को भी नृशसता के साथ गोलियो से मार दिया गया। इस तरह पेरिस के कम्यून का अन्त हुआ। इससे योरप में बड़ी सनसनी फैली। इस सनसनी का कारण केवल यही नही था कि पचायत का खून-खराबी के साथ दमन कर दिया गया, बल्कि यह भी था कि यह उस समय की प्रचलित प्रणाली के विरुद्ध पहला समाजवादी विद्रोह था। गरीबो ने धनवानो के विरुद्ध हथियार तो पहले भी कितनी ही बार उठाये थे, लेकिन जिस व्यवस्था के कारण वे गरीब थे उसे बदलने का उन्होने विचार नही किया था। यह कम्यून लोकतत्री तथा आर्थिक दोनों तरह का विद्रोह था और इस कारण योरप मे समाजवादी विचारधारा के विकास का यह एक निशान है। फ्रांस में कम्यून के अत्याचारपूर्ण दमन ने समाजवादी विचारो को नीचे धंसा दिया और फिर उन्हे उभरने में देर लगी।

यद्यपि कम्यून दबा दी गई, तथापि फ़ास बादशाहत के और अधिक प्रयोगो से बच गया। कुछ समय में वह निश्चय ही प्रजातंत्रवाद पर जम गया और सन् १८७५ ई० की जनवरी में वहां एक नये विधान के अन्तर्गत तीसरे प्रजातंत्र की घोषणा की गई। यह प्रजातत्र उसी समय से चला आ रहा है और अब भी मौजूद है। फ्रांस में अब भी कुछ ऐसे लोग है जो बादशाहो को चाहते है, मगर उनकी सख्या बहुत कम है और मालूम होता है कि फ़ास ने निश्चय-पूर्वक प्रजातंत्रवाद को स्वीकार कर लिया है। फ़ास का प्रजातत्र उच्च मध्यमवर्ग प्रजातत्र है और उसकी बागडोर सम्पन्न मध्यम वर्गों के हाथो में है।

फ़ास सन् १८७०-७१ ई० के जर्मन युद्ध की मार से फिर पनप गया और उसने हर्जाने की भारी रक़म भी चुका दी, लेकिन फ़ास की जनता को जिस तरह ज़लील किया गया था उससे लोगों के दिलों में गुस्सा भरा हुआ था। वे स्वाभिमानी लोग है और बातो को बहुत दिन तक याद रखते हैं। इसलिए बदले की भावना उन्हे सताने लगी। अलसेस और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हे खासतौर पर दुख था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके प्रति उदारता दिखा कर अक़्लमंदी की थी; लेकिन फ़ास के साथ उसके कठोर बर्ताव में न तो उदारता थी और न बुद्धिमानी। एक स्वाभिमानी शत्रु को नीचा दिखाने की क़ीमत देकर उसने उन लोगो की सदा हरी रहने वाली शत्रुता मोल लेली। सेदान की लड़ाई के बाद ही जब युद्ध का अन्त भी नही हुआ था कि प्रसिद्ध समाजवादी कार्ल मार्क्स ने एक घोषणा-पत्र निकालकर भविष्यवाणी की थी कि अलसेस पर क़ब्ज़ा करने के फलस्वरूप दोनो देशो के बीच जानी दुश्मनी पैदा होगी

और स्थायी शान्ति के बजाय केवल अस्थायी सन्धि रहेगी।" अन्य कई मामलों की तरह इस मामले में भी मार्क्स की भविष्यवाणी सच्ची निकली।

जर्मनी में अब "शाही दीवान" बिस्मार्क ही सर्वेसर्वा था। फिलहाल तो "खून और लोहा" की नीति सफल हो गई थी। जर्मनी ने इस नीति को स्वीकार कर लिया था और उदार विचारों की क़ीमत घट गई थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि सत्ता बादशाह के हाथ मे रहे, क्योंकि उसे लोकतन्त्र में कोई विश्वास नही था। जैसे-जैसे जर्मनी की औद्योगिक उन्नति होती जाती थी और मजदूर-वर्ग जोर पकड़ता जाता था, वैसे-वैसे यह वर्ग आमूल परिवर्तनकारी मांगें पेश करता और नई समस्या पैदा करता जा रहा था। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ वह मजदूरो की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ समाजवाद को कुचलता रहा। उसने सामाजिक उन्नति के कानून बनाकर मजदूरों को चारा डालकर अपने पक्ष में करने की या कम-से-कम उन्हे उग्र बनने से रोकने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी ने मजदूरों के लिए बुढापे की पेंशनें, बीमे और चिकित्सा सम्बन्धी तथा उनकी हालत सुधारने के क़ानून बनाकर इस दिशा में सबसे पहले क़दम बढ़ाया जबकि इंग्लैण्ड का उद्योग और मजदूर आन्दोलन जर्मनी से पुराना होते हुए भी वह इस दिशा में ज्यादा कुछ नहीं कर पाया था। इस नीति को कुछ सफलता तो मिली, लेकिन फिर भी मजदूरो का संगठन बढ़ता ही गया। उन्हे नेता भी योग्य मिले थे, जैसे फर्डीनैण्ड लासाली जो प्रतिभाशाली व्यक्ति था और जो उन्नीसवी सदी का सर्वश्रेष्ठ वक्ता माना जाता है। वह एक द्वन्द्व-युद्ध में बहुत कम उम्र में ही मर गया। इसके अलावा विलहेल्म लिबनेख्ट हुआ जो पुराना वीर लडाकू और बाग़ी था और जो गोली से मरते-मरते बचकर अच्छी उम्र तक जिन्दा रहा: उसका पुत्र कार्ल जो अभी तक स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहा था, कुछ वर्ष हुए सन् १९१८ ई० में जर्मन प्रजातन्त्र की स्थापना के समय कत्ल कर दिया गया। और कार्ल मार्क्स के बारे में मैं अगले किसी पत्र में लिखूगा। लेकिन मार्क्स का अधिकाश जीवन जर्मनी से निर्वासित रह कर बीता था।

मजदूरों के संगठन बढ़ने लगे और सन् १८७५ ई० मे सब ने मिलकर समाजवादी लोकतन्त्री दल बनाया। बिस्मार्क समाजवाद की इस बढ़ती को सहन नही कर सका। किसी ने सम्राट की हत्या का प्रयत्न किया और बिस्मार्क को समाजवादियो पर भीषण आक्रमण करने का यह अच्छा बहाना मिल गया। सन् १८७८ ई० में हर तरह की समाजवादी प्रवृत्तियो को दमन करने वाले समाजवाद-विरोधी क़ानून बनाये गये। जहाँ तक समाजवादियो का सम्बन्ध था उनके लिए एक तरह का फौजी क़ानून जारी हो गया और हजारो को देश-निकाले का या क़ैद की सजायें देदी गईं। निर्वासितो में से बहुत-से लोग अमरीका चले गये और वहाँ जाकर समाजवाद के प्रथम प्रचारक बने। समाजवादी लोकतन्त्री दल को चोट तो सख्त लगी, मगर वह मरा नही और आगे चलकर फिर जोर पकड़ गया। बिस्मार्क का आतकवाद उसे मार न सका; उलटे इसकी सफलता और भी हानिकर साबित हुई। जैसे-जैसे इस दल की ताक़त बढ़ती गई इसका सगठन बहुत विशाल हो गया। इसके पास बड़ी भारी सम्पत्ति हो गई और हजारो वैतनिक कार्यकर्त्ता हो गये। जब कोई व्यक्ति या संगठन मालदार हो जाता है तो फिर वह क्रान्तिकारी नही रहता। जर्मनी के समाजवादी लोकतन्त्री दल का भी यही हाल हुआ।

बिस्मार्क की कूटनीतिक कुशलता ने अन्त तक उसका साथ नही छोड़ा और उसने अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जबरदस्त खेल खेला। यह राजनीति उस समय भी और आज भी साजिश, जवाबी-साजिश, धोखाधड़ी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाला है और ये सब बातें छिपकर और परदे के पीछे की जाती हैं। अगर यह सब खुले तौर पर हो तो ज्यादा दिन नही टिक सकतीं। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर "त्रिदलीय गठ-बन्धन" नामक गठ-बन्धन बनाया, क्योंकि अब उसे फ़ासवालो के प्रतिशोध का भय होने लगा था। इस तरह दोनो पक्ष हथियार जमा करने, साजिशें करने और एक-दूसरे पर आँखें निकालने में लगे रहे।

सन् १८८८ ई० में सम्राट विल्हेल्म द्वितीय के नाम से एक युवक जर्मनी का क़ैसर हुआ। उसके दिमाग में यह खयाल खूब भर गया कि वह जोरदार आदमी है और बहुत जल्दी ही वह बिस्मार्क से लड़ पड़ा। इस "लोह-पुरुष दीवान" को बुढ़ापे में उसके पद से बर्खास्त कर दिया गया। इस पर उसे बहुत गुस्सा आया। आँसू पोंछने के लिए उसे 'प्रिंस' का खिताब दे दिया गया, मगर बादशाहों के बारे में उसका भ्रम दूर हो

गया और ग्लानि के मारे वह अपनी जागीर में एकान्तवास करने लगा। एक मित्र से उसने कहा था: "मैंने जब पद सम्हाला था तब मेरे पास राजभक्ति की भावनाओं का और बादशाह के प्रति श्रद्धा का बड़ा भंडार था; लेकिन अब मुझे दुःख के साथ मालूम हो रहा है कि यह भंडार दिन पर दिन खाली होता जा रहा है। मैंने तीन बादशाहों का नंगा रूप देख लिया है और यह दृश्य मुझे कुछ सुहावना नहीं लगा!"

यह बदमिजाज बूढ़ा कुछ वर्ष और जिया तथा सन् १८९८ ई० में तिरासी वर्ष की उम्र में मरा। क़ैसर के हाथों बर्खास्त होने और मौत के बाद भी उसकी छाया जर्मनी पर बनी रही और उसकी आत्मा उसके उत्तराधिकारियों को प्रेरित करती रही। मगर उसके बाद आने वाले व्यक्ति उसकी तुलना में तुच्छ थे।

: १२६ :

कुछ प्रसिद्ध लेखक

१ फ़रवरी, १९३३

कल जर्मनी के उत्थान का हाल लिखते-लिखते मुझे खयाल आया कि मैंने उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ के जर्मनी के सबसे महान व्यक्ति का कुछ भी हाल तुम्हें नहीं बताया है। यह व्यक्ति गेटे था। यह एक मशहूर लेखक था जिसकी मृत्यु की शताब्दी कुछ ही महीने हुए सारे जर्मनी में मनाई गई थी। फिर मुझे यह खयाल भी आया कि तुम्हें उस ज़माने के सभी प्रसिद्ध लेखकों का थोड़ा-थोड़ा हाल क्यों न बता दूं। मगर मेरे लिए यह खतरनाक विषय है—खतरनाक इसलिए कि इससे मेरा ही अज्ञान प्रकट होगा। सिर्फ़ प्रसिद्ध नामों की सूची दे देना तो भद्दी-सी बात रहेगी और कुछ ज्यादा कहना कठिन पड़ेगा। अंग्रेज़ी साहित्य का ही मेरा ज्ञान नही के बराबर है, फिर अन्य योरपीय साहित्यो के बारे मे तो मेरी जानकारी कुछ के अनुवादों तक ही सीमित है। तब मैं क्या करता?

इस विषय पर कुछ लिखने का विचार तो मेरे दिमाग में बैठ चुका था और मैं उससे किसी तरह पिण्ड नही छुटा सकता था। मुझे ऐसा लगा कि मै कम-से-कम तुम्हे यह दिशा तो दिखा दूँ, भले ही इस मनमोहक क्षेत्र के मार्ग में बहुत दूर तक मैं तुम्हारा साथ न दे सकूँ। बात यह है कि अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना गहरा परिचय मिलता है उतना जन-समूह की ऊपरी प्रवृत्तियो से नही। चेतना, कला और साहित्य हमें शान्त और गंभीर विचार के राज्य मे पहुँचा देते हैं जिस पर तत्कालीन वासनाओ तथा राग-द्वेषो का प्रभाव नही पड़ता। मगर आज कवि और कलाकार को भविष्य का सन्देशवाहक बहुत कम समझा जाता है और उन्हे कोई सम्मान नही दिया जाता। अगर उन्हे कुछ सम्मान मिलता भी है तो आम तौर पर उनकी मृत्यु के बाद मिलता है।

इसलिए मै तुम्हे सिर्फ़ थोड़े-से नाम बताऊँगा। इनमें से कुछ से तुम पहले ही परिचित होगी। मै उन्नीसवी सदी के शुरू के हिस्से को ही लूँगा। यह सिर्फ़ तुम्हारी भूख जगाने के लिए है। याद रहे कि योरप के कई देशो के साहित्यो में उन्नीसवी सदी की उत्कृष्ट रचनाओ के भंडार भरे हुए हैं।

असल में तो गेटे अठारहवी सदी का था, क्योंकि उसका जन्म सन् १७४९ ई० में हुआ था, मगर उसने तिरासी वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इस कारण उसने अगली सदी के तिहाई भाग को भी देखा था। उसने अपने जीवन में योरपीय इतिहास के एक सबसे अधिक तूफ़ानी ज़माने को पार किया था और अपने देश को नैपोलियन की सेनाओं द्वारा पद-दलित होते हुए देखा था। स्वयम् अपने जीवन में भी उसे बहुत दुःखों का अनुभव हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे उसने जीवन की कठिनाइयों पर आन्तरिक वशित्व प्राप्त कर लिया था तथा वह अनासक्ति और गंभीरता की उस स्थिति को पहुँच गया था कि इन चीज़ों ने उसे शान्तिप्रदान की। नैपोलियन उससे पहले-पहल उस समय मिला जब उसकी आयु साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाज़े में खड़ा था तो उसके चेहरे पर निश्चिन्तता की कुछ ऐसी झलक तथा उसके रूप में कुछ ऐसा गौरवपूर्ण ढंग था कि नैपोलियन के मुँह से निकल पड़ा: "आदमी तो यह है!" उसने कई चीज़ों में हाथ डाला और जो-कुछ किया उत्कृष्टता के साथ किया। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार और

अनेक विभिन्न विज्ञानों में रुचि रखनेवाला वैज्ञानिक था। इन सब के अलावा व्यवहार में वह एक छोटे-से जर्मन राजा के दरबार में मंत्री था! हम तो उसे सबसे अधिक एक लेखक के रूप में जानते हैं और उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक "फॉस्ट" है। उसके जीवनकाल में ही उसकी कीर्ति दूर-दूर फैल गई थी और साहित्य के अपने निजी क्षेत्र में तो उसके देशवासी उसे देवता की तरह मानने लगे थे।

गेटे का समकालीन शिलर नामक एक और व्यक्ति था जो उम्र में उससे कुछ छोटा था। यह भी एक महान कवि था। उससे भी कम उम्र का हीनरिख़ हीन था। यह जर्मन भाषा का एक और महान् तथा प्रमोदकारी कवि था। इसने बहुत ही सुन्दर गीति-काव्य लिखे हैं। गेटे, शिलर और हीन—ये तीनों ही प्राचीन यूनान की उच्च श्रेणी की संस्कृति में शराबोर थे।

जर्मनी बहुत लम्बे समय से दार्शनिको का देश करके मशहूर रहा है और मै भी तुम्हें एक-दो के नाम बता सकता हूँ, यद्यपि तुम्हें उनमें शायद ज्यादा दिलचस्पी नही मालूम होगी। जिन लोगों को इस विषय का व्यसन हो केवल उन्हीको इनके ग्रंथ पढने की कोशिश करना ठीक है, क्योकि वे बहुत गहन और कठिन हैं। फिर भी इन दार्शनिको से आनंद और उपदेश मिलता है, क्योंकि उन्होंने विचार की ज्योति जलती हुई रक्खी है और उनके द्वारा विचारधाराओं के विकास का सिलसिला समझ में आ सकता है। अठारहवी सदी का महान् जर्मन दार्शनिक इम्मैन्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक जीवित रहा। उस समय उसकी उम्र अस्सी वर्ष की थी। दर्शन के क्षेत्र में दूसरा महान नाम हेगल का है। वह काण्ट का अनुगामी था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स पर उसके विचारो का बहुत प्रभाव पडा था। यह तो दार्शनिको की बात हुई।

उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों में प्रख्यात कवि काफ़ी सख्या में पैदा हुए, ख़ासकर इग्लैण्ड मे। रूस का सबसे विख्यात राष्ट्रीय कवि पुश्किन इसी समय हुआ। एक द्वन्द्व युद्ध मे वह जवानी में ही मारा गया। फ़ास में भी कई कवि हुए, लेकिन मै सिर्फ दो के ही नामो का ज़िक्र करूँगा। एक तो विक्तर यूगो था जिसका जन्म सन् १८०२ ई० में हुआ था। इसने भी गेटे की तरह ही तिरासी वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह यह भी अपने देश में साहित्य के देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ दोनो ही रूप में उसका जीवन बड़ा परिवर्तनपूर्ण रहा। जीवन के प्रारम्भ में वह राजाओ का उग्र समर्थक तथा एक तरह से निरंकुशता का विश्वासी था। धीरे-धीरे वह एक-एक कदम बदलता गया, यहाँ तक कि सन् १८४८ ई० में वह प्रजातन्त्रवादी बन गया। जब लुई नैपोलियन अल्पजीवी द्वितीय प्रजातन्त्रका अध्यक्ष हुआ, तो उसने यूगो को प्रजातन्त्रवादी विचारो के कारण देश से निकाल दिया। सन् १८७१ ई० में विक्तर यूगो ने पेरिस के कम्यून का पक्ष लिया। कट्टरपन्थ के ठेठ दक्षिण छोर से धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप से, सरकता-सरकता वह समाजवाद के ठेठ वाम छोर पर जा पहुँचा। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ कट्टरपन्थी और प्रतिगामी बनते जाते है। लेकिन यूगो ने बिल्कुल उलटी ही बात की। मगर यहाँ तो उससे हमारा वास्ता लेखक के रूप में है। वह महान कवि, उपन्यास-लेखक और नाटककार था।

दूसरा नाम, जिसका मै तुमसे ज़िक्र करूँगा, आँरि द बालज़ैक का है। यह भी विक्तर यूगो का सम-कालीन था, मगर दोनो में बड़ा फ़र्क़ था। वह गज़ब की शक्ति रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बड़ी भारी सख्या मे उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियाँ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं; वे ही पात्र अक्सर उनमें आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों मे अपने समय के पूरे फ़ासीसी जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाना था और उनसे सारी ग्रन्थमाला का नाम "मानवता का प्रहसन"[1] रक्खा। यह कल्पना बडी महत्वाकाक्षापूर्ण थी और यद्यपि उसने कठोर तथा वर्षों तक परिश्रम किया पर जो ज़बरदस्त काम उसने उठाया था उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों में इंग्लैण्ड में तीन प्रतिभाशाली नौजवान कवियो के नाम ख़ास तौर पर सामने आते है। ये तीनो समकालीन थे और तीनों ही कम उम्र में एक-एक करके तीन साल के भीतर मर गये। ये तीनो कीट्स, शैली और बायरन थे। कीट्स को गरीबी और निरुत्साह से कठोर संघर्ष करना पड़ा और जब सन् १८२१ ई० में छब्बीस वर्ष की उम्र में रोम में उसकी मृत्यु हुई तब लोग उसे नही

[1] La Comedie Humaine.

जानते थे, यद्यपि उसने कुछ कवितायें तो बहुत ही सुन्दर लिखी थी। कीट्स मध्यमवर्ग का था, और दिलचस्प बात तो यह है कि यदि धनाभाव के कारण उसके मार्ग में बाधा हुई तो ग़रीबों के लिए कवि और लेखक बनना कितना अधिक कठिन होना चाहिए। वास्तव में केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी साहित्य के वर्तमान अध्यापक ने इस बारे में कुछ उपयुक्त बातें कही हैं :

> "यह निश्चित है कि हमारे साम्राज्य के किसी दोष के कारण इन दिनों ही नही, पिछले दो सौ वर्ष में भी निर्धन कवि को इतना भी मौका नही मिला है जितना कि एक कुत्ते को। मेरी बात पर विश्वास करो, क्योंकि मैंने दस वर्ष का बड़ा भाग कोई तीन सौ बीस प्राथमिक पाठशालाओं के निरीक्षण में बिताया है। हम लोकतंत्र की बकवास भले ही करें, मगर असल में इंग्लैण्ड में एक ग़रीब बालक को एथेन्स के किसी ग़ुलाम के लड़के से ज्यादा आशा इस बात की नहीं हो सकती कि जिस दिमाग़ी आज़ादी में महान् रचनाओं का जन्म होता है उसमें वह भी कभी बन्धन मुक्त होकर पहुँच जायगा।"

मैंने यह उद्धरण इसलिए दिया है कि हम अक्सर यह भूल जाते है कि कविता और सुन्दर रचना पर तथा आम तौर से संस्कृति पर सम्पन्नवर्गों का ही एकाधिकार होता है। गरीब के झोपड़े में काव्य और संस्कृति के लिए स्थान नही होता, ये चीज़ें भूखे पेटवालो के लिए नहीं हैं। इसलिए हमारी आजकल की संस्कृति धनिक मध्यमवर्गों के मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब बन जाती है। जब बदली हुई समाज-व्यवस्था में संस्कृति मज़दूर वर्ग के हाथ में आ जायगी तब शायद उसकी सूरत भी बहुत कुछ बदल जाय, क्योकि तब उसे संस्कृति का शौक करने के अवसर और अवकाश मिल जायगे। आज कुछ इसी तरह का परिवर्तन सोवियत रूस में हो रहा है और दुनिया उसे दिलचस्पी के साथ देख रही है।

इससे हमारे सामने यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पिछली कुछ पीढ़ियो से भारत में सांस्कृतिक गरीबी का कारण हमारे देशवासियो की अत्यन्त दरिद्रता है। जिन लोगो के पास खाने को भी नही है उनसे संस्कृति की बाते करना उनका अपमान करना है। ग़रीबी की यह मार उन गिनेचुने लोगों तक पर भी पड़ती है जो किस्मत से औरो की अपेक्षा सम्पन्न है। और इसलिए दुर्भाग्य से आज भारत के इन वर्गों में भी संस्कृति का असाधारण अभाव है। विदेशी शासन और सामाजिक अवनति के फलस्वरूप कैसी बेशुमार बुराइयाँ पैदा हो जाती है! मगर इस व्यापक ग़रीबी और रँगहीनता में भी भारत गाँधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी विभूतियाँ और संस्कृति के शानदार आदर्श पैदा कर सकता है।

मै अपने विषय से दूर भटक गया।

शैली बड़ा ही सर्वप्रिय जीव था। युवावस्था के शुरू से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर बात मे आज़ादी का हिमायती था। 'नागरिकता की आवश्यकता' पर एक निबन्ध लिखने के कारण उसे आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के कॉलेज से निकाल दिया गया था। जैसा कि कवियों के लिए खयाल किया जाता है, इसने (और कीट्स ने भी) अपना अल्पकालिक जीवन अपनी कल्पना में और उड़ान में ही रहते-रहते बिता दिया और सांसारिक कठिनाइयों की कुछ भी परवाह न की। कीट्स की मृत्यु के साल भर बाद वह इटली के समुद्र-तट के पास डूबकर मर गया। उसकी प्रसिद्ध कविताए तुम्हें मै क्या बताऊँ? तुम खुद आसानी से उनका पता लगा सकती हो। लेकिन उसकी छोटी कविताओं मे से एक तुम्हारी भेंट करूँगा। यह उसकी सर्वोत्तम रचनाओ में से तो हरगिज़ नही है, लेकिन यह हमारी मौजूदा सभ्यता मे ग़रीब मज़दूर के भीषण दुर्भाग्य को प्रगट करती है। उसका करीब-क़रीब वही बुरा हाल है जो पुराने ज़माने में ग़ुलामो का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्ष से ज्यादा हो गये है मगर फिर भी आज की परिस्थितियों पर यह लागू होती है। इसका नाम 'अराजकता का नकाब' है।

स्वतन्त्रता क्या है? —यह तो तुम
खूब बता सकते हो
है क्या चीज़ ग़ुलामी,
क्योंकि उसी का नाम
बना है नाम तुम्हारे का ही गुंजन।
यही ग़ुलामी है

कि काम तुम करते रहो मजूरी लेकर,
केवल उतनी ही बस जिससे
ग्रटके रहें तुम्हारे तनमें
प्राण तुम्हारे,
काल कोठरी के बन्दी की भांति
परिश्रम ग्रत्याचारी के हित करने।
बन जाम्रो तुम
करघे, हल, तलवार, फावड़े, उनके,
ग्रौ' जुट जाम्रो उनकी रक्षा में
उनके पोषण में,
बिना विचारे इच्छा है या नहीं तुम्हारी।
यही गुलामी है कि तुम्हारे बच्चे
भूखों मरें ग्रौर उनकी माताएं
सूख-सूख कांटा हो जावें-
देखो मेरे कहते ही कहते
जाड़े की चली हवाएं ठंडी
जिनसे मरने लगे दीन बेचारे।
तुम्हें तरसते रहना है उस भोजन को
जिसको धनवाला,
मतवाला हो फेंक रहा है
ग्रपने उन मोटे कुत्तों के ग्रागे,
जो उसकी ग्रांखों के नीचे
छक कर मस्त पड़े हैं सोते।
यही गुलामी है
जिसमें बनना है तुमको दास
ग्रात्मा से भी,
जिससे रहे न तुमको क़ाबू
ग्रपनी इच्छाग्रों पर,
ग्रौर बनो तुम वैसे
जैसा लोग दूसरे तुम्हे बनावें।
ग्रौर ग्रन्त में जब तुम
करने लगो शिकायत,
धीरे-धीरे वृथा रुदन कर,
तब ग्रत्याचारी के नौकर
तुमको ग्रौ' पत्नियों तुम्हारी को
घोड़ो के तले कुचल कर,
ग्रोस कणो की भांति
लहूकी बूंदे
देते बिछा घास पर।

बायरन ने भी ग्राजादी की प्रशंसा में सुन्दर कविताएं लिखी हैं। मगर यह ग्राजादी राष्ट्रीय है, शैली की कविता में वर्णित ग्राजादी की तरह ग्रार्थिक नहीं है। जैसा मै तुम्हे बता चुका हूं, वह शैली के दो वर्ष बाद तुर्की के विरुद्ध यूनान की स्वतंत्रता के राष्ट्रीय युद्ध में मारा गया। बायरन के व्यक्तित्व से मुझे कुछ द्वेष है मगर फिर भी मुझे उसके साथ इसलिए सहानुभूति है कि वह हैरो स्कूल ग्रौर केम्ब्रिज के ट्रिनिटी

कॉलेज में पढ़ा था जो मेरे भी स्कूल और कालेज हैं। इसे युवावस्था में ही वह ख्याति प्राप्त हो गई जो कीट्स को और शैली को नसीब नही हुई। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर बिठाया लेकिन फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी समय के आसपास दो और सुप्रसिद्ध कवि हुए। वे दोनों इस युवा त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वर्ड्सवर्थ ने सन् १७७० से १८५० ई० तक अस्सी साल की उम्र पाई। वह महान् अंग्रेजी कवियों में गिना जाता है। उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका अधिकांश काव्य निसर्ग-काव्य है। दूसरा कवि कोलरिज था। उसकी कुछ कविताएं बहुत अच्छी हैं।

उन्नीसवी सदी के शुरू में तीन प्रसिद्ध उपन्यासकार भी हुए। वाल्टर स्कॉट इनमें सबसे बड़ा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय हैं। मेरा खयाल है इनमें से कुछ तुमने पढ़े हैं। मुझे याद है कि जब मैं छोटा था तब ये उपन्यास मुझे भी पसन्द थे। मगर उम्र के साथ रुचियां भी बदल जाती हैं और अगर मैं आज उन्हें पढ़ने बैठूं तो अवश्य ऊब जाऊंगा। दूसरे दो उपन्यासकार थैकरे तथा डिकन्स थे। मेरे खयाल से दोनो स्कॉट से कही ऊँचे दर्जे के हैं। मुझे आशा है कि ये दोनों तुम्हारे मित्र होगे। थैकरे का जन्म सन् १८११ ई० में कलकत्ते में हुआ था और उसने पाँच-छः वर्ष वही बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तकों में भारतीय नवाबो का यथार्थ वर्णन दिया गया है। ये वे अंग्रेज थे जो अपार धनराशि जमा करके मोटे और लाल हो जाते थे और फिर मौज करने के लिए इंग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवी सदी के शुरू के लेखको के बारे में मैं बस इतना ही लिखना चाहता हूँ। एक बड़े विषय के लिए यह वर्णन बहुत ही तुच्छ है। इस विषय का जानकार आदमी इस बारे मे बड़े चित्ताकर्षक ढंग से लिख सकता है। वह तुम्हे उस ज़माने के सगीत और कला की भी बहुत-सी बाते अवश्य ही बता सकेगा। इसमे जानने और कहने की जरूरत है, मगर यह मेरे बस की बाते नही है। इसलिए मैं तो समझदारी के साथ ठोस ज़मीन पर ही चलूगा।

मैं इस पत्र को गेटे के 'फॉस्ट' से एक कविता देकर पूरा कर दूंगा। अलबत्ता यह जर्मन भाषा से अनुवाद है—

अफसोस है, अफ़सोस है !
तूने किया है वार दुनिया पर,
गिराया है उसे भू पर,
किया है जर्जरित और
नष्ट कर उसको,
दिया है फेंक शून्याकाश में,
मानो कुचल डाला उसे
दैवी किसी आघात ने।
ससार के इन ठीकरो को
हम उठा ले जा रहे हैं,
गीत गाते हैं
लुटी सुकुमारता के,
और उस सौन्दर्य के,
जो मार डाला है किसी ने।
ओ पुत्र पृथ्वी के महा !
निर्माण कर उसका दुबारा,
और फिर सुन्दर गुणों से युक्त
तू उसको बना दे,
और कर निर्माण उसको निज हृदय में
कर प्रतिष्ठित उच्च आसन पर उसे तू !

फिर जगा तू ज्योति जीवन की,
लगा फिर दौड़ जीवन यात्रा में,
पार कर सब विघ्न बाधा !
बज उठे लहरी स्वरों की,
सदा से भी अधिक
सुन्दर, मधुरतामय ।

: १३० :

डार्विन और विज्ञान की विजय

३ फ़रवरी, १९३३

कवियों से अब वैज्ञानिकों के पास चलें । मुझे लगता है कि कवियों को अभी तक निकम्मे जीव समझा जाता है, लेकिन वैज्ञानिक तो आज के चमत्कारी लोग हैं । उनका प्रभाव भी है और आदर भी । उन्नीसवी सदी से पहले यह बात नही थी । शुरू की सदियो में वैज्ञानिक की जान योरप में सदा जोखिम में रहती थी और कभी-कभी उसका अन्त सूली पर होता था। मै तुम्हे बता चुका हूँ कि रोम के चर्च ने ब्रूनो को किस तरह जिन्दा जला दिया था । कुछ ही वर्ष बाद, सत्रहवी सदी में गैलीलियो भी सूली के बहुत पास पहुँच गया था, क्योकि उसने यह कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारो तरफ घूमती है । वह कुफ़्र के अपराध में जला दिया जाने से इसलिए बच गया कि उसने माफी माँग ली और अपने पूर्व कथन वापस ले लिये । इस तरह योरप में चर्च की विज्ञान के साथ सदा टक्कर होती रहती थी और वह नये विचारो को दबाता रहता था । क्या योरप में और क्या अन्यत्र, संगठित धर्म के साथ विभिन्न रूढिया लगी होती हैं, जिन्हे उसके अनुयायियों को बिना सदेह और शंका के स्वीकार किया जाना माना जाता है । विज्ञान का दृष्टिकोण जुदा ही है । वह किसी बात को यूही नही मान लेता और न तो उसके कोई कट्टर सिद्धान्त होते हैं न होने ही चाहिए । विज्ञान खुले दिमाग़ की प्रवृति को प्रोत्साहन देता है और बार-बार प्रयोग करके सत्य तक पहुँचना चाहता है । धार्मिक दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण स्पष्ट ही भिन्न है और इसलिए अगर इन दोनों में अक्सर टक्कर हो जाती थी तो इसमे ताज्जुब की कोई बात नही है ।

मेरा ख़याल है कि हर युग में अलग-अलग जातियाँ विभिन्न प्रकार के प्रयोग करती रही हैं । कहा जाता है कि प्राचीन् भारत मे रसायन-शास्त्र और शल्य-चिकित्सा में काफी प्रगति हुई थी और ऐसा अनेक प्रयोगों के बाद ही हो सका होगा । पुराने यूनानियो ने भी थोडे-बहुत प्रयोग किये थे । चीनवालो के बारे में तो हाल ही में मैंने बड़ा ही आश्चर्यजनक वर्णन पढ़ा है । उसमें १.५०० वर्ष पहले के चीनी लेखको के उद्धरण देकर यह दिखाया गया है कि वे क्रम-विकास के सिद्धान्त तथा शरीर में खून के दौरे की बात से परिचित थे और चीनी जर्राह बेहोशी की दवाए सुघाते थे । मगर हमे उस समय का इतना हाल मालूम नही है कि हम कोई ठीक नतीजा निकाल सके । अगर प्राचीन सभ्यताओ ने ये उपाय खोज निकाले थे तो फिर वे आगे चलकर इन्हें भूल क्यों गई ? तथा उन्होंने और आगे उन्नति क्यो नही की ? या यह बात थी कि वे इस प्रकार की प्रगति को काफी महत्व नही देते थे ? बहुत-से दिलचस्प सवाल उठते हैं, लेकिन हमारे पास उनका जवाब देने को मसाला नही है ।

अरबों को भी प्रयोग करने का बहुत शौक़ था और मध्ययुग में योरप उनका अनुकरण करता था । मगर उनके सारे प्रयोग सच्चे वैज्ञानिक ढंग पर नही होते थे । उन्हें हमेशा पारस पत्थर की तलाश रहती थी, जिसमें मामूली धातुओ को सोना बना देने का गुण माना जाता था । लोग जटिल रासायनिक प्रयोगों में अपने जीवन बिता देते थे कि किसी तरह धातुओ को सोना मे परिवर्तन कर देने का गुर हाथ लगे । इसे कीमिया कहते थे । वे बड़ी लगन के साथ अमरत्व प्रदान करने वाले आबे-हयात की भी खोज में लगे रहते थे । क़िस्से-कहानियों के बाहर और कहीं इसका उल्लेख नहीं पाया जाता कि किसी को इस अमृत या पारस

पत्थर की प्राप्ति में सफलता मिली हो। धन, सत्ता तथा दीर्घजीवन प्राप्त करने की आशा में दरअसल यह एक तरह के जादू के साथ खिलवाड़ करना था। विज्ञान की भावना का इससे कोई वास्ता नहीं था। विज्ञान को जादू-टोने आदि से कोई सरोकार नहीं होता।

हाँ, योरप में वास्तविक वैज्ञानिक तरीक़ों का धीरे-धीरे विकास हुआ और विज्ञान के इतिहास में सब से अधिक महान गिने जाने वाले व्यक्तियों में आइज़क न्यूटन नामक एक अंग्रेज भी है, जिसका समय सन् १६४२ से १७२७ ई० तक है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण नियम की व्याख्या की, यानी यह बताया कि चीज़ें क्यों गिरती है! इसकी मदद से, और जो अन्य नियम खोजे जा चुके थे उनकी मदद से, न्यूटन ने सूर्य और ग्रहो की गतियों का भेद समझाया। छोटी-बड़ी सभी चीज़ों का उसके सिद्धान्तों से मेल बैठता हुआ दिखाई देने लगा और उसे बहुत सम्मान प्राप्त हुआ।

चर्च की कट्टरता पर विज्ञान की भावना विजयी हो रही थी। अब उसे दबा सकना या उसके साधको को ज़िन्दा जला देना सम्भव नहीं था। अनेक वैज्ञानिको ने बड़े धीरज और परिश्रम से प्रयोग जारी रक्खे और तथ्यो का तथा ज्ञान का सकलन किया यह खास तौर पर इंग्लैण्ड और फ़ांस में, और आगे चलकर जर्मनी और अमरीका में हुआ। इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान का कलेवर बढ़ता गया। तुम्हें याद होगा कि अठारहवी सदी में ही योरप के शिक्षित वर्ग में बुद्धिवाद का प्रचार हुआ था। इसी सदी में रूसो, वाल्तेयर तथा अन्य अनेक योग्य फ़ासीसी हुए थे, जिन्होनें हर विषय की रचनाओं द्वारा लोगों के दिमागो में उथल-पुथल मचा दी थी। इसी सदी के गर्भ में फ़ांस की महान् राज्य-काति की तैयारी हो रही थी। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण का वैज्ञानिक दृष्टि-बिन्दु से मेल बैठ गया और दोनो ही चर्च के कट्टर दृष्टिकोण के विरोधी थे।

मै तुम्हे यह भी बता चुका हूँ कि अन्य बातो के साथ उन्नीसवी सदी विज्ञान की सदी थी। औद्योगिक काति, यात्रिक क्रान्ति और माल ढोने के तरीकों मे आश्चर्यजनक परिवर्तन, इन सबका कारण विज्ञान था। बेशुमार कारखानो ने उत्पत्ति के साधनो को बदल दिया था; भाप से चलनेवाली रेलगाड़ियों और जहाज़ो ने दुनिया को अकस्मात छोटा बना दिया था, बिजली का तार तो और भी महान आश्चर्य था। इंग्लैण्ड के दूरवाले साम्राज्य से उसके यहाँ दौलत की नदी बहने लगी। इससे पुराने विचारो को भारी धक्का लगना स्वाभाविक था और धर्म का प्रभाव कम होने लगा। धरती पर कृषक जीवन की तुलना में कारखानों के जीवन ने लोगो को मजबूर किया कि वे धार्मिक रूढियों की अपेक्षा आर्थिक सम्बन्धो पर ज्यादा विचार करे।

उन्नीसवी सदी के बीच में, यानी सन् १८५९ ई० में, इग्लैण्ड मे एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसने कट्टरता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सघर्ष को आखिरी दर्जे पर पहुँचा दिया। यह पुस्तक चार्ल्स डार्विन की 'प्राणी वर्ग की उत्पत्ति' थी। डार्विन की गिनती बहुत बडे वैज्ञानिकों मे नहीं है; उसने जो कुछ लिखा उसमें कोई बहुत नई बात नही थी। डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-शास्त्रियो और प्रकृति-शास्त्रियो ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री एकत्रित की थी। फिर भी डार्विन का ग्रंथ युग-प्रवर्तक था। इसका व्यापक प्रभाव पड़ा और किसी अन्य वैज्ञानिक रचना की अपेक्षा इससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने मे ज्यादा मदद मिली इसने एक मानसिक भूकम्प पैदा कर दिया और डार्विन को विख्यात कर दिया।

प्रकृति-शास्त्री की हैसियत से डार्विन दक्षिण अमरीका और प्रशान्त महासागर मे इधर-उधर खूब घूमा था और उसने सामग्री तथा अनुमानो का ज़बरदस्त ज़खीरा इकट्ठा कर लिया था। इसका उपयोग करके उसने यह दिखाया कि जीवो का हरेक उपवर्ग प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा किस प्रकार बदला और विकसित हुआ है। उस समय तक बहुत लोगो की यह धारणा थी कि मनुष्य सहित प्राणियों के प्रत्येक उपवर्ग या जाति को ईश्वर ने अलग-अलग रचा है, और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रहे हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कहने का मतलब यह है कि एक प्राणी-वर्ग बदलकर दूसरा नही बन सकता। डार्विन ने ढेरो यथार्थ उदाहरण देकर साबित कर दिया कि एक वर्ग दूसरे वर्ग मे अवश्य बदलता है और विकास का यही प्राकृतिक ढंग है। ये परिवर्तन प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा होते है। अगर किसी छोटे-से परिवर्त्तन से किसी प्राणीवर्ग को कुछ भी लाभ हुआ या दूसरों के मुक़ाबले मे जीवित रहने मे मदद मिली तो वह परिवर्त्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जायगा, क्योंकि यह ज़ाहिर है कि इस परिवर्त्तित वर्ग के अधिक प्राणी जियेंगे। कुछ समय बाद इस परिवर्तित वर्ग का बाहुल्य हो जायगा और वह अन्य वर्गों का सफ़ाया कर देगा। इस तरीके से एक के बाद एक रूपान्तर तथा परिवर्तन होते चले जायेंगे और कुछ समय बाद एक लगभग नया ही वर्ग

पैदा हो जायगा। इस तरह समय पाकर प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा योग्यतमावशेष की इस प्रक्रिया के कारण बहुत-से नये-नये प्राणीवर्ग पैदा होते रहेंगे। यह नियम पौधों, जानवरों और मनुष्यों तक पर लागू होगा। इस मत के अनुसार यह सम्भव है कि आज वनस्पति तथा जानवरों के जो विभिन्न वर्ग दिखाई दे रहे हैं उन सबका कोई एक ही पूर्वज रहा होगा।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का अनुवंश'[1] प्रकाशित की जिसमें उसने यही मत मनुष्य जाति पर लागू करके दिखाया। क्रम-विकास और प्राकृतिक निर्वाचन का यह विचार अब ज्यादातर लोगों ने मान लिया है, यद्यपि ठीक उसी रूप में नही माना है जिस रूप में डार्विन और उसके अनुयायियों ने प्रतिपादित किया था। वास्तव में जानवरो की नस्ल सुधारने में तथा पौधों, फलों और फूलों के उगाने में निर्वाचन के इस नियम का व्यावहारिक प्रयोग लोगो के लिए एक साधारण चीज़ हो गया है। आजकल के अनेक इनामी जानवर और पौधे बनावटी उपायो से पैदा किये हुए नये उप-वर्ग ही तो हैं। अगर मनुष्य अपेक्षाकृत थोड़े-से समय में इस तरह के परिवर्तन तथा नये उप-वर्ग पैदा कर सकता है तो लाखों और करोड़ो वर्षों के समय में प्रकृति इस दिशा में क्या-क्या नही कर सकी होगी ? लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूज़ियम जैसे किसी प्रकृति विज्ञान सम्बन्धी संग्रहालय को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी *निरन्तर अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे हैं।*

आज ये सब बातें हमे स्वतः सिद्ध सी नज़र आती है। लेकिन सत्तर वर्ष पहले यह स्थिति नही थी। उस वक्त ज्यादातर लोगों का यही विश्वास था कि बाइबिल के वर्णन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईसा मसीह से ठीक ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी, और हरेक पेड़ और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अन्त में मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि जल-प्रलय हुआ था और नूह की नाव में सारे जानवरो के जोड़े इसलिए रक्खे गये थे कि किसी भी प्राणीवर्ग का लोप न हो जाय। ये सब बाते डार्विन के मत से मेल नहीं खाती थी। डार्विन और भूगर्भ-शास्त्री लोग जब पृथ्वी की आयु का ज़िक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के अल्पकाल के बजाय करोड़ो वर्षों की बात करते थे। इस तरह लोगो के दिमाग़ मे ज़बरदस्त खींच-तान मची हुई थी और बहुत से भले आदमियो को यह नही समझ पड़ता था कि क्या करे। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हे एक बात मानने को कहती थी और उनका विवेक दूसरी। जब मनुष्य रूढ़ियो में अन्ध-विश्वास रखते है और उन रूढियों को धक्का लगता है तो वे अपने आपको दु:खी और असहाय महसूस करते हैं और खड़े होने के लिए उन्हें कहीं ठोस धरती दिखाई नही देती। मगर जिस धक्के से हमें यथार्थ का ज्ञान हो, वह अच्छा होता है।

बस इग्लैण्ड और योरप के अन्य देशों में विज्ञान और धर्म के बीच बड़ा वाद-विवाद और सघर्ष हुआ। इसके परिणाम के बारे में तो कोई सदेह ही नही हो सकता था। उद्योग और यान्त्रिक ढुलाई की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था इस कारण विज्ञान को छोड़ा नही जा सकता था। विज्ञान की बराबर विजय होती चली गई और "प्राकृतिक निर्वाचन"[2] तथा "योग्यतमावशेष"[3]-न्याय लोगों की साधारण गपड़-सपड़ का विषय बन गये और वे इनका अर्थ पूरी तरह समझे बिना ही इन वाक्यांशो का उपयोग करने लगे।

डार्विन ने अपनी 'मनुष्य का अनुवश,' में यह बताया था कि मनुष्य और कुछ बन्दर जातियो का पूर्वज शायद एक ही रहा होगा। यह बात विकास-क्रिया की अलग-अलग सीढ़ियों के उदाहरण देकर साबित नही की जा सकती थी। इसीसे "खोई हुई कड़ी"[4] का आम मज़ाक़ चल पड़ा। और विचित्र बात यह हुई कि शासक वर्गों ने भी डार्विन के मत को तोड़-मरोड़ कर उससे अपनी सुविधा का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास हो गया कि इस मत से उनकी श्रेष्ठता का एक प्रमाण और भी मिल गया। जीवन-संग्राम में सबसे योग्य होने के कारण वे बच गये थे, इसलिए "प्राकृतिक निर्वाचन" के द्वारा वे सबके ऊपर आगये और शासकवर्ग बन गये! एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व करने के पक्ष

---

[1]The Descent of Man.

[2]Natural Selection.

[3]Survival of The Fittest–जीवन संग्राम में सबसे बलवान ही जीवित रह सकता है।

[4]Missing Link.

में यह एक बहाना बन गया। साम्राज्यवाद और गोरी जातियों की सर्वोपरिता की यह निर्णायक दलील हो गई। और पश्चिम के बहुत लोग समझने लगे कि दूसरों पर जितनी ज्यादा धौंस जमायेंगे और जितने ज्यादा क्रूर और बलवान बन कर रहेंगे, मानव-जीवन के मूल्यों के क्रम में उनका दर्जा उतना ही ऊँचा होना सम्भव है। यह दार्शनिक विचारधारा भली नहीं है। मगर इससे एशिया और अफ़रीका में पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के रवैये का रहस्य कुछ-कुछ समझ में आ जाता है।

आगे चलकर अन्य वैज्ञानिको ने डार्विन के मतो की आलोचना की है, लेकिन उसके व्यापक विचार आज भी सही माने जाते है। उसके मतो की व्यापक स्वीकृति का एक नतीजा यह हुआ कि लोगो का प्रगति के विचार में विश्वास हो गया। इस विचार का यह अर्थ था कि यह मनुष्य और समाज तथा ससारभर पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं और दिन पर दिन सुधरते जा रहे है। प्रगति की यह कल्पना केवल डार्विन के ही मत का परिणाम नही थी। वैज्ञानिक खोज की सारी प्रवृत्ति ने और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप तथा उसके बाद पैदा होने वाले परिवर्तनो ने लोगो का दिमाग़ इसके लिए तैयार कर दिया था। डार्विन के मत ने इसकी पुष्टि कर दी और लोग कल्पना करने लगे कि मानवीय पूर्णता का लक्ष्य कुछ भी हो, वे विजय पर विजय प्राप्त करते हुए अभिमान के साथ उसकी तरफ़ बढ रहे है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रगति की यह कल्पना बिल्कुल नई थी। गुज़रे हुए ज़माने में योरप, एशिया या पुरानी किसी भी सभ्यता में भी ऐसी कोई कल्पना रही हो, ऐसा नही लगता; योरप में ठेठ औद्योगिक क्रान्ति तक लोग भूतकाल को आदर्श काल मानते थे। यूनान और रोम की उत्कृष्ट रचनाओ का पुराना ज़माना बाद के ज़मानो से अधिक श्रेष्ठ, समुन्नत तथा सुसंस्कृत माना जाता था। लोग ऐसा समझने लगे थे कि मनुष्य जाति का क्रमागत ह्रास या पतन होता जा रहा है, या कम-से-कम कोई स्पष्ट परिवर्तन नही हो रहा है।

भारत में भी ह्रास की तथा विगत स्वर्णयुग की लगभग ऐसी ही धारणा है। भारतीय पुराण भी समय की गणना भौगर्भिक युगो की तरह दीर्घकालीन युगों मे करते है, परन्तु वे सतयुग के महान् युग से शुरू करके कलियुग के वर्तमान अधर्म युग पर आते हैं।

इसलिए हम देखते है मानव-प्रगति की कल्पना बिल्कुल आधुनिक है। प्राचीन इतिहास का हमें जैसा कुछ ज्ञान है उससे हमें इस कल्पना में विश्वास होता है। लेकिन हमारा ज्ञान अभी बहुत परिमित है और सम्भव है इस ज्ञान मे वृद्धि होने पर हमारा दृष्टिकोण बदल जाय। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में इस "प्रगति" की बाबत जितना उत्साह था उतना तो आज भी नही रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम-एक दूसरे को बड़े पैमाने पर नष्ट करें, तब तो ऐसी प्रगति में कुछ न कुछ खराबी है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि डार्विन के "योग्यतमावशेष"-न्याय का ज़रूरी अर्थ यह नही है कि जीवन सग्राम में श्रेष्ठतम ही अवशेष रहता है। ये सब तो पण्डितो के अनुमान है। हमारे ध्यान में रखने की बात तो सिर्फ यह है कि अचल या अपरिवर्तनशील या पतनशील समाज के पुराने और व्यापक विचार को उन्नीसवी सदी मे आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ धकेल दिया और उसकी जगह पर यह विचार फैल गया कि समाज गति-शील और परिवर्त्तनशील है। इसके साथ ही प्रगति का विचार भी पैदा हुआ। और इसमें सन्देह नही कि इस ज़माने में समाज वास्तव मे इतना बदल गया है कि उसे पहचाना नही जा सकता।

जब मैं तुम्हे डार्विन का प्राणी-वर्गों के मूल का मत बता रहा हूँ तो तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि इस विषय में एक चीनी दार्शनिक ने २,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम सोन-जेत्से था और उसने ईसा से छः सौ वर्ष पहले, बुद्धकाल के आसपास, लिखा था—

"सब प्राणी वर्गों की उत्पत्ति एक ही वर्ग से हुई है। इस अकेले मूल वर्ग में धीरे-धीरे तथा निरन्तर परिवर्तन होते गये जिसके फलस्वरूप प्राणियो के विभिन्न रूप प्रगट हुए। इन प्राणियों में तुरन्त ही विभिन्नता नही पैदा हुई थी, बल्कि इसके विपरीत उन्होंने अपनी भिन्नताए पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तनो से प्राप्त की थी।"

यह सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है और यह चकित करने वाली बात है कि यह पुराना चीनी प्राणि-शास्त्री ऐसे परिणाम पर पहुँच गया जिसकी फिर से खोज करने में संसार को ढाई हज़ार साल लग गये।

जैसे-जैसे उन्नीसवी सदी प्रगति करती गई, वैसे-वैसे परिवर्तनों की गति भी तेज़ होती गई। विज्ञान ने

चमत्कार पर चमत्कार प्रगट किये और खोज तथा आविष्कार के कभी समाप्त न होने वाले भव्य दृश्य से लोगो की आँखें चौंधिया गईं। इनमें से तार, टेलिफ़ोन, मोटर और फिर हवाई जहाज जैसे कितने ही आविष्कारों ने जनता के जीवन में महान परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सों को नापने की हिम्मत की। उसने मनुष्य की थकाने वाली मशक़्क़त कम करदी और करोड़ो का जीवन सुभीते का हो गया। विज्ञान के कारण दुनिया की और खासकर औद्योगिक देशों की, आबादी में जबरदस्त वृद्धि हो गई। साथ ही विज्ञान ने विनाश के पूरे कामिल साधन भी तैयार कर डाले। मगर इसमें विज्ञान का दोष नहीं था। इसने तो प्रकृति पर मनुष्य का क़ाबू बढ़ा दिया; मगर इस तमाम शक्ति को प्राप्त करके मनुष्य यह नही जान पाया कि अपने ऊपर काबू कैसे किया जाता है। इसलिए उसने अनुचित व्यवहार किया और विज्ञान की देन को व्यर्थ गंवा दिया। लेकिन विज्ञान की यह विजय-यात्रा जारी रही और उसने डेढ़ सौ साल के भीतर ही दुनिया की काया ऐसी पलट दी जैसी पिछले तमाम हज़ारो वर्षों में भी नही हो पाई थी। सचमुच विज्ञान ने हर दिशा मे और जीवन के हर विभाग मे ससारव्यापी क्रान्ति कर दी है।

विज्ञान की यह प्रगति अब भी चल रही है और वह पहले से भी ज्यादा तेज़ी से दौडता नजर आ रहा है। उसके लिए कोई विश्राम नही है। एक रेल-मार्ग बनता है। मगर जब तक उसके चालू होने का समय आता है तब तक वह समयानुकूल ही नही रह जाता है! एक मशीन खरीद कर खडी की जाती है कि एक-दो साल में ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज्यादा कारगर मशीनें बनने लगती है। बस, यह बेतहाशा दौड़ चलती रहती है। अब हमारे जमाने में भाप की जगह बिजली लेती जा रही है और इस तरह लगभग उतनी ही महान क्रान्ति कर रही है जितनी डेढ सौ वर्ष पहले औद्योगिक क्रान्ति से हुई थी।

विज्ञान के अनगिनती राजमार्गों और गली-कूचो मे अनगिनती वैज्ञानिक और विशेषज्ञ निरन्तर काम पर लगे हुए है। इनकी श्रेणी मे सबसे महान नाम आज ऐल्बर्ट आइन्स्टीन[1] का है जो न्यूटन के प्रसिद्ध सिद्धान्त में कुछ हद तक सशोधन करने मे सफल हुआ है।

हाल ही में विज्ञान मे इतनी जबरदस्त प्रगति हुई है और वैज्ञानिक सिद्धान्तों में इतनी बडी-बडी नई बातें जुड़ गई है तथा इतने बड़े-बड़े परिवर्तन हुए है कि खुद वैज्ञानिक भी हक्के-बक्के हो गये है। उनके हृदय की सारी पुरानी निश्चिन्तता और निश्चयपूर्वक बात कहने का सारा अभिमान नष्ट हो गये हैं। अब वे अपने परिणामो और अपनी भविष्यवाणियो के बारे में सशयशील है।

मगर यह नई बात बीसवी सदी की और हमारे अपने समय की है। उन्नीसवी सदी में पूरा आत्म-विश्वास था और विज्ञान अपनी असख्य विजयो के गर्व मे लोगो पर सवार हो गया था और उन्होने इसे देवता मानकर इसके आगे सिर झुका दिया था।

: १३१ :

लोकतंत्र की प्रगति

१० फ़रवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हे उन्नीसवी सदी में विज्ञान की प्रगति की झलक दिखाने की कोशिश की थी। अब हमें इस सदी के दूसरे पहलू—लोकतत्री विचारो के विकास—पर नजर डालनी चाहिए।

तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे अठारहवीं सदी के फ़ास में विचारधाराओ के सघर्ष का हाल बताया था। उस समय के सबसे महान विचारक और लेखक वाल्तेयर और अन्य फ़ासीसी महापुरुषों ने धर्म और

---

[1]ऐल्बर्ट आइन्स्टीन (Albert Einstein)—जर्मन वैज्ञानिक। सापेक्षवाद नामक क्रान्तिकारी वैज्ञानिक सिद्धान्त का जन्मदाता। परमाणुशक्ति का विकास इसीकी गणनाओं का फल माना जाता है। यहूदी होने के कारण हिटलर ने इसे जर्मनी से निकाल दिया था। इसने अमरीका में शरण ली।

समाज की कितनी ही पुरानी धाराओं को चुनौती दी थी और साहस के साथ नये मतों का प्रतिपादन किया था। ऐसी राजनैतिक विचार शैली उस समय मुख्यतया फ़्रांस तक ही सीमित थी। जर्मनी में भी दार्शनिक थे, मगर उनकी दिलचस्पी तत्त्वज्ञान के दुस्तर प्रश्नों में ही ज्यादा थी। इंग्लैण्ड में व्यवसाय और व्यापार बढ़ रहे थे और ज्यादातर लोगों को परिस्थितियों से मजबूर हुए बिना सोच-विचार करने का शौक़ नहीं था। हां, अठारहवीं सदीके उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में एक मार्के की पुस्तक जरूर निकली। यह ऐडम स्मिथ की 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' थी। यह पुस्तक राजनीति पर नहीं थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र पर थी। उस समय के अन्य सब विषयों की तरह यह विषय भी धर्म और नीति के साथ मिला हुआ था और इसलिए इसके बारे में बड़ा घपला था। ऐडम स्मिथ ने इस विषय का वैज्ञानिक ढग से विवेचन किया और तमाम नैतिक उलझनों की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र का संचालन करने वाले स्वाभाविक नियमो का पता लगाने की कोशिश की। जैसा कि शायद तुम जानती हो, अर्थशास्त्र इस बात की विवेचना करता है कि लोगो के या किसी समूचे देश के आय और व्यय की व्यवस्था कैसे की जाती है, वे क्या पैदा करते हैं और क्या उपभोग करते हैं, और आपस मे तथा दूसरे देशो और जातियो के साथ उनके क्या संबध हैं। ऐडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी विशेष जटिल प्रक्रियाएं कुछ निश्चित स्वाभाविक नियमो के अनुसार होती हैं और इन नियमों का उसने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया। उसका यह भी विश्वास था कि उद्योग-धन्धो के विकास के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे इन नियमो में खलल न पड़े। दखल न देने की नीति का आरम्भ यहीं से हुआ। इसका कुछ जिक्र मै पहले ही कर चुका हू। उस समय फ़ास में जो नये लोकतत्री विचार अकुरित हो रहे थे उनसे ऐडम स्मिथ की पुस्तक का कोई वास्ता न था। परन्तु मनुष्यो तथा राष्ट्रो पर प्रभाव डालने वाली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या के वैज्ञानिक निरूपण का उसका प्रयत्न जाहिर करता है कि लोग हर चीज को पुरानी धर्म-शास्त्री दृष्टि से देखना छोड़कर एक नई दिशा में जा रहे थे। ऐडम स्मिथ अर्थशास्त्र के विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है और उसने उन्नीसवी सदी के अनेक अग्रेज अर्थशास्त्रियो को प्रेरणा दी है।

अर्थशास्त्र का यह नया विज्ञान प्रोफेसरो तक तथा कुछ-सुपठित लोगो तक ही सीमित रहा। लेकिन इसी बीच नये लोकतन्त्री विचार फैल रहे थे और अमरीका तथा फ्रास की राज्य-क्रान्तियो ने उन्हें खूब ही लोकप्रिय बनाया और उनका ज़बरदस्त प्रचार किया। अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा तथा फ़ांस के अधिकारो की घोषणा के लच्छेदार शब्दो और वाक्याशो ने लोगो के दिलो में गहरी हलचल मचा दी। इनसे करोड़ो पीड़ितो और शोषितो के दिल फड़क उठे और उनके लिए ये मुक्ति का संदेश लेकर आये। दोनों घोषणाओ मे हर आदमी की स्वतन्त्रता का और समानता का और सुखी रहने के हक का उल्लेख था। इन प्राणप्रिय अधिकारो की अभिमानपूर्ण जोरदार घोषणा से ही लोगो को ये प्राप्त नहीं हो गये। आज इन घोषणाओं के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी यह कहा जा सकता है कि इन अधिकारों का उपभोग करनेवालों की संख्या नही-के बराबर है। लेकिन इन सिद्धान्तो की घोषणा ही एक असाधारण और जीवन देनेवाली बात थी।

अन्य देशों की तरह योरप में भी तथा अन्य धर्मों की तरह ईसाई धर्म में भी पुरानी धारणा यह थी कि पाप और दुःख सभी मनुष्यों को अनिवार्यरूप से भोगने पड़ते हैं। धर्म ने मानो इस ससार में दरिद्रता तथा मुसीबत को एक स्थायी और यहाँ तक कि प्रतिष्ठित आसन दे दिया था। धर्म के प्रलोभन और पुरस्कार तमाम किसी परलोक के लिए थे; यहां तो हमे यही उपदेश दिया जाता था कि सन्तोष के साथ अपने भाग्य के भोगों को बरदाश्त करते रहे और किसी मौलिक परिवर्तन के पीछे न पड़ें। दान-पुण्य, यानी गरीबों को टुकड़े डालने की वृत्ति को, प्रोत्साहित किया जाता था, मगर ग़रीबी या ग़रीबी पैदा करनेवाली प्रणाली का नाश करने की कोई कल्पना नही थी। स्वतन्त्रता और समानता के तो विचार ही चर्च और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे।

लोकतन्त्रवाद का यह तो कभी कहना नहीं था कि सब मनुष्य यथार्थ में समान हैं। वह ऐसा कह भी नही सकता था, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानताएं होती हैं: शारीरिक असमानताएं जिनके कारण ही कुछ लोग दूसरो से बलवान होते हैं; मानसिक असमानताएं, जो कुछ लोगों के दूसरों से अधिक योग्य तथा बुद्धिमान होने में दिखाई देती हैं; और नैतिक असमानताएं जो कुछ को स्वार्थी बनाती हैं और कुछ को नही। यह बिलकुल सम्भव है कि इनमें से बहुत-सी असमानताएं भिन्न-भिन्न प्रकार

के भरण-पोषण तथा शिक्षा के कारण अथवा अशिक्षा के कारण होती हों। दो समान योग्यता वाले लड़कों या लड़कियों में से एक को अच्छी शिक्षा दे दो और दूसरे को बिलकुल न दो तो कुछ वर्ष बाद दोनो में जबर्दस्त अन्तर हो जायगा। या एक को स्वास्थ्यप्रद भोजन दो और दूसरे को खराब और नाकाफी भोजन दो तो पहले की ठीक वृद्धि हो जायगी और दूसरा कमजोर रोगी और दुबला-पतला रहेगा। इसलिए भरण-पोषण, चौगिर्द, तालीम और शिक्षा मनुष्य में भारी भेद पैदा कर देते है और हो सकता है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधाएं मिलें तो असमानता आज से बहुत कम हो जाय। वास्तव में यह बहुत सम्भव है। लेकिन जहाँ तक लोकतंत्रवाद का सम्बन्ध है, वह मानता है कि यथार्थ में मनुष्य असमान होते हैं, और फिर भी वह कहता है कि हरेक मनुष्य के साथ ऐसा बर्ताव किया जाना चाहिए मानो उसका राजनैतिक और सामाजिक महत्व सब के बराबर है। यदि इस लोकतंत्री सिद्धान्त को पूरी तरह मान लें तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजो पर पहुँच जाते हैं। यहाँ हमें इनकी चर्चा करने की जरूरत नही, लेकिन इस सिद्धान्त से स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमेण्ट के लिए प्रतिनिधि के चुनाव मे हर व्यक्ति को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। वोट देने का अधिकार राजनैतिक सत्ता का प्रतीक है और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को वोट का अधिकार हो तो उसे राजनैतिक सत्ता में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। इसलिए सारी उन्नीसवी सदी में लोकतंत्रवाद की मुख्य माँग यह थी कि मताधिकार बढाया जाय। बालिग मताधिकार का अर्थ यह होता है कि हर बालिग़ व्यक्ति को वोट देने का अधिकार हो। बहुत समय तक स्त्रियो को वोट देने का अधिकार नहीं था, और बहुत दिन नही हुए जब स्त्रियो ने, खास तौर पर ब्रिटेन में, इस बारे मे जबरदस्त आन्दोलन किया था। अधिकांश उन्नत देशो में आजकल स्त्रियो और पुरुषो दोनो को बालिग़ मताधिकार प्राप्त है।

मगर विचित्र बात यह हुई कि जब ज्यादातर लोगो को वोट का अधिकार मिल गया, तब उन्हें मालूम पड़ा कि इससे उनकी हालत में कोई बडा अन्तर नही हुआ। वोट का अधिकार मिल जाने पर भी राज्य में या तो उन्हें कुछ भी सत्ता नही मिली या बहुत ही थोडी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का ? असली सत्ता तो उन लोगो के हाथो में रही जो उसकी भूख से फायदा उठा सकते थे और उसे मजबूर करके अपने फायदे का कोई भी मनचाहा काम उससे करा लेते थे। बस, वोट के अधिकार से जिस राजनैतिक सत्ता के मिलने का खयाल था वह बिना असलियत की परछाईं और आर्थिक सत्ता-रहित साबित हुई। शुरू के लोकतत्रवादियो के वे रौनकदार सपने कि मताधिकार मिलते ही समानता आजायगी, विलीन हो गये।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनों में, यानी अठारहवी सदी के अन्त और उन्नीसवी के शुरू में, लोकतंत्रवादियो में बडा जोश था। लोकतत्र सबको आज़ाद और समान नागरिक बनाने वाला था और सरकार तथा राज्य सबके सुख का उपाय करने वाला ! अठारहवी सदी के बादशाहो और सरकारो ने जैसी मनमानी चलाई थी और अपनी निरकुश सत्ता का जैसा दुरुपयोग किया था उसके विरुद्ध बड़ी प्रतिक्रिया हुई। इससे लोगों को अपनी घोषणाओ में व्यक्तियो के अधिकारो का भी ऐलान करना पड़ा। शायद अमरीका और फ़ास की घोषणाओं मे व्यक्तियो के अधिकारो के ये निरूपण जरूरत से कुछ आगे बढ़ गये थे। जटिल रचना वाले समाज में व्यक्तियो को अलग-अलग करके उन्हें पूरी आजादी दे सकना आसान नही है। ऐसे व्यक्ति और समाज के हित आपस में टकरा सकते हैं और टकराते भी है। खैर, कुछ भी हो, लोकतंत्रवाद व्यक्तियों को खूब आजादी देने का समर्थन करता है।

इंग्लैण्ड, जो अठारहवी सदी में राजनैतिक विचारो मे पिछड़ा हुआ था, अमरीका और फ्रास की राज्य-क्रान्तियों से बहुत प्रभावित हुआ। उस पर पहली प्रतिक्रिया तो इस भय की हुई कि नये लोकतंत्री विचारों से देश में सामाजिक क्रान्ति न हो जाय। शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और प्रतिगामी हो गये। फिर भी पढ़े-लिखे दिमाग़ के लोगो में नये विचार फैलते गये। टामस पेन इस ज़माने का एक आकर्षक अंग्रेज हुआ। स्वाधीनता के युद्ध के समय वह अमरीका में था और उसने अमरीकावासियों की मदद की थी। मालूम होता है कि अमरीकी लोगो का विचार पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में बदल देने में इसका भी कुछ हाथ था। इंग्लैण्ड लौटने पर उसने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समर्थन में 'मनुष्य के अधिकार' नामक पुस्तक लिखी। यह क्रान्ति

उस समय शुरू ही हुई थी। इस पुस्तक में उसने एकतंत्री शासन पर हमला किया और लोकतंत्र की हिमायत की। इसके कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे बाग़ी घोषित कर दिया और उसे भागकर फ़ास चला जाना पड़ा। पेरिस में वह बहुत जल्द राष्ट्र परिषद् का सदस्य बन गया, मगर सन् १७९३ ई० में जैकोबिन लोगो ने उसे कैद कर दिया, क्योकि उसने सोलहवें लुई के वध का विरोध किया था। पेरिस के जेलखाने में उसने 'तर्क का युग' नाम की दूसरी पुस्तक लिखी। इसमें उसने धार्मिक दृष्टिकोण की आलोचना की। रोबसपीयरी की मृत्यु के बाद उसे पेरिस जेल से छोड़ दिया गया। चूकि पेन अग्रेजी अदालतों की सीमा के बाहर था, इसलिए इस पुस्तक को छापने के अपराध में उसके अंग्रेज प्रकाशक को कैद की सजा देदी गई। ऐसी पुस्तक समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्योंकि ग़रीबो को जहाँ का तहाँ रखने के लिए धर्म जरूरी माना जाता था। पेन की पुस्तक के कई प्रकाशक जेल भेज दिये गये। इनमें स्त्रियाँ भी थी। यह दिलचस्पी की बात है कि कवि शैली ने इस सजा के विरोध में न्यायाधीश को एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवी सदी के सारे पूर्वार्द्ध मे जो लोकतत्री विचार फैले, योरप मे उनकी जन्मदाता फ़ास की राज्य-क्रान्ति थी। परिस्थितियाँ जल्दी-जल्दी बदल रही थी, फिर भी क्राति के विचार वास्तव में बने ही रहे। ये लोकतत्री विचार बादशाहो के तथा निरकुशता के विरुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया थे। इन विचारो की जड उद्योगवाद से पहले की परिस्थितियो मे थी। लेकिन भाप और बडी-बड़ी मशीनो का नया उद्योग पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह उलट रहा था। फिर भी यह अजीब बात है कि शुरू उन्नीसवी सदी के वाम-पक्षी और लोकतत्रवादी इन परिवर्तनो की उपेक्षा करते रहे और क्रान्ति तथा मानव अधिकारों की घोषणा की लच्छेदार भाषा मे ही बाते करते रहे। शायद उनके विचार मे ये परिवर्तन निरे भौतिक थे और लोकतत्र की उच्च आध्यात्मिक, नैतिक और राजनैतिक माँगो पर उनका कोई असर नही पडता था। मगर भौतिक वस्तुओ का ऐसा ढग होता है कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। यह बडी दिलचस्पी की बात है कि लोगो के लिए पुराने विचार छोडना और नये ग्रहण करना असाधारण तौर पर कठिन होता है। वे अपनी आँखो और अपने दिमागो को बन्द कर लेते है और देखने से ही इन्कार कर देते है और पुरानी बातो से उन्हे नुकसान पहुँचता हो तो उनसे चिपके रहने के लिए लडते हैं। नये विचारो को स्वीकार करने तथा अपने आपको नई परिस्थितियो मे ढालने के सिवा वे सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। कट्टरता में बडी जबरदस्त शक्ति होती है। अपने को बहुत उन्नतिशील समझने वाले वामपक्षी लोग भी अक्सर पुराने और थोथे विचारो से चिपके रहते है और बदलती हुई परिस्थितियो की तरफ से आँखें मूद लेते हैं। कोई ताज्जुब नही कि प्रगति धीमी पड जाती है और अक्सर करके वास्तविक परिस्थितिया लोगों के विचारो से बहुत पीछे रह जाती है जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी अवस्थाए पैदा हो जाती है।

इस तरह बीसियो वर्षों तक लोकतत्रवाद का काम केवल फ्रास की राज्य-क्रान्ति के विचारो और परम्पराओ को जारी रखना ही रहा। लोकतन्त्रवाद ने अपने आप को नई परिस्थितियों में नही ढाला। इसका परिणाम यह हुआ कि सदी का अन्त होते-होते वह कमज़ोर पड गया और बाद मे बीसवी सदी में तो बहुतो ने उसे अस्वीकार ही कर दिया। आज भारत मे भी हमारे अनेक प्रगतिशील राजनीतिज्ञ अभी तक फ्रास की राज्यक्रान्ति और मानव अधिकारो की बाते करते हैं, इस बात को नही महसूस करते कि तब से अब तक क्या-क्या हो चुका है।

शुरू के लोकतत्रवादियो का बुद्धिवाद की शरण मे जाना स्वाभाविक था। विचार और भाषण की स्वतत्रता की उनकी माग का कट्टरपन्थी धर्म तथा धर्म-शास्त्रवाद के साथ समझौता होना असम्भव था। इस तरह लोकतत्रवाद और विज्ञान ने मिलकर धर्मशास्त्रीय रूढियो का शिकजा ढीला किया। लोग बाइबिल की भी परीक्षा करने का साहस करने लगे मानो वह एक साधारण पुस्तक थी और ऐसी चीज नही थी जिसे बिना शका के अध-भक्ति के साथ स्वीकार कर लिया जाय। बाइबिल की इस आलोचना को 'ऊँचे दर्जे की आलोचना' कहा गया। इन आलोचको ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल अलग-अलग युगों के विभिन्न व्यक्तियो के लेखो का सग्रह है। उनका यह भी मत था कि ईसा का कोई धर्म संस्थापन करने का इरादा नही था। इस आलोचना से कितने ही पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतंत्री विचारों के कारण पुरानी धार्मिक नीवें कमज़ोर होती गईं वैसे-वैसे पुराने धर्म की जगह बिठाने के लिए एक नया दर्शन रचने के प्रयत्न किये गये। ऐसा ही एक प्रयत्न

आगस्त कौंते नामक फ़ांसीसी दार्शनिक ने किया था। इसका समय सन् १७९८ से १८५७ ई० तक है। कौंते ने महसूस किया कि पुराने धर्म-शास्त्रवाद तथा कट्टरपन्थी धर्म का समय जाता रहा, मगर उसे यह भी विश्वास हो गया कि समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता जरूर है। इसलिए उसने "मानव-धर्म"[1] का प्रस्ताव किया और उसका नाम "धनात्मकवाद"[2] रक्खा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रक्खे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नही थी; इसका आधार विज्ञान था। उन्नीसवीं सदी की अन्य सब प्रचलित विचार-धाराओं की तरह इस विचारधारा के पीछे भी मानव-जाति क़ी तरक़्क़ी की कल्पना थी। कौंते के धर्म पर कुछ गिने चुने दिमाग़ी लोगों का ही विश्वास रहा, मगर योरप के विचारो पर उसका व्यापक असर ख़ूब पडा। मानव समाज तथा संस्कृति की विवेचना करने वाले समाजशास्त्र के विज्ञान का अध्ययन इसीका प्रारम्भ किया हुआ समझना चाहिए।

अंग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (सन् १८०६-१८७३ ई०) कौंते का समकालीन था, मगर वह कौंते की मृत्यु के बहुत वर्ष बाद तक जीवित रहा। मिल पर कौंत की विवेचना तथा समाजवादी विचारो का प्रभाव पडा था। ऐडम स्मिथ की विवेचनाओं को केन्द्र मान कर राजनैतिक अर्थशास्त्र का जो पन्थ इंग्लैण्ड में बन गया था उसे मिल ने नई दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया और उसने आर्थिक विचारो में कुछ समाजवादी सिद्धान्तो का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा ख्याति "उपयोगितावाद"[3] के आचार्य के रूप में है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त नया था जो इंग्लैण्ड में चल तो कुछ समय पहले ही चुका था, मगर उसे अधिक महत्व दिया मिल ने। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसका निर्देशक तत्त्वज्ञान 'उपयोग' था। उपयोगितावादियों का मौलिक सिद्धान्त था "अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख"[4]। भलाई-बुराई की केवल यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढ़ाने वाला होता वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दु.ख बढाता वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का सगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगो के सुख में ज्यादा-से-ज्यादा वृद्धि करने की दृष्टि से होना उचित माना गया। यह दृष्टिकोण पहले वाले सबको बराबर अधिकार के लोकतत्रवादी सिद्धान्त से भिन्न था। ज्यादा-से-ज्यादा लोगो के ज्यादा-से-ज्यादा सुख के लिए थोडे से लोगो के बलिदान की या क्लेश की जरूरत हो सकती है। मै तुम्हे सिर्फ यह फ़र्क़ बता रहा हूँ, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नही। इस तरह लोकतत्र का अर्थ बहुमत के अधिकार माना जाने लगा।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लोकतत्री विचार का ज़ोरदार प्रतिपादक था। उसने "स्वतंत्रता पर"[5] नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी जो प्रसिद्ध हो गई। मैं इस पुस्तक का एक अंश यहाँ दूगा जिसमें भाषण की स्वतत्रता का तथा विचारो की स्वतत्र अभिव्यक्ति का समर्थन किया गया है :

"किसी मत की अभिव्यक्ति पर ताला लगा देने में विशिष्ट बुराई यह है कि मानव जाति उससे वंचित रह जाती है—आनेवाली सन्तान और वर्तमान पीढी भी; और उस मत के मानने वालो से भी अधिक वे लोग जो उससे मतभेद रखते हैं। यदि वह मत सही है तो लोग असत्य के स्थान पर सत्य की स्थापना करने के अवसर से वंचित रह जाते हैं; यदि गलत है तो वे लगभग उतना ही बड़ा लाभ खो देते हैं—यह लाभ है सत्य के साथ उस मत की टक्कर से पैदा होने वाला सत्य का अधिक स्पष्ट ज्ञान और सत्य की अधिक चटकीली छाप। हम यह कभी निश्चय नही कर सकते कि जिस मत का गला घोटने का हम प्रयत्न करते है वह झूठा है; और यदि हमें निश्चय भी हो तो भी उसका गला घोटना बुराई ही होगी।"

ऐसे रुख का कट्टरपन्थी धर्म या निरंकुशता के साथ समझौता नही हो सकता था। यह तो दार्शनिक का, सत्य के खोजी का, रवैया था।

मैंने तुम्हें उन्नीसवी सदी के पश्चिमी योरप के कुछ प्रमुख विचारकों के नाम बता दिये हैं ताकि

---

[1] Religion of Humanity.
[2] Positivism.
[3] Utilitarianism.
[4] Greatest happiness of the greatest number.
[5] On Liberty.

तुम्हें विचारधाराओं के विकास की दिशा का पता लग जाय और ये नाम तुम्हारे लिए विचारों की दुनिया के मार्गदर्शक चिन्ह बन जायं। मगर इन लोगो का और आम तौर पर शुरू के लोकतंत्रवादियों का, प्रभाव करीब-क़रीब दिमाग़ी वर्गों तक ही सीमित था। इन दिमाग़ी लोगो से छन कर वह कुछ हद तक अन्य लोगों में भी पहुँच गया था। यद्यपि इस लोकतन्त्री विचार-धारा का सीधा प्रभाव जनता पर बहुत मामूली पड़ा, लेकिन अप्रत्यक्ष प्रभाव खूब हुआ। मताधिकार की माँग जैसे कुछ मामलों मे तो सीधा प्रभाव भी बहुत पड़ा।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी बीतती गई वैसे-वैसे मजदूर-आन्दोलन और समाजवाद आदि अन्य आन्दोलनों और विचारों का भी विकास हुआ। इनका प्रभाव प्रचलित लोकतन्त्री धारणाओ पर पडा और वे खुद इनसे प्रभावित हुए। कुछ लोग समाजवाद को लोकतन्त्रवाद का विकल्प समझने लगे, कुछ उसे उसी का एक आवश्यक अग समझने लगे। हम देख चुके है कि लोकतन्त्रवादियो के दिमाग में स्वतन्त्रता, समानता और हरेक को सुख के समान अधिकार की धारणाए भरी हुई थी। मगर उन्होने बहुत जल्दी महसूस कर लिया कि सुख को मौलिक अधिकार मान लेने मात्र से ही वह प्राप्त नही हो जाता है। अन्य बातो के अलावा मनुष्य के लिए कुछ शारीरिक सुख की मात्रा भी जरूरी है। जो भूखा मर रहा है वह सुखी नही हो सकता। इससे यह विचार पैदा हुआ कि सुख इस बात पर निर्भर है कि धन का बँटवारा लोगो में ठीक तरह से हो। इससे हम समाजवाद मे चले जाते है; पर उसका वर्णन अगले पत्र में किया जायगा।

उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध में जहाँ-जहाँ पराधीन राष्ट्र या कौमे आज़ादी के लिए लड़ रही थी वहाँ-वहाँ लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता का मेल हो गया था। इटली का मैजिनी इस तरह के लोकतन्त्री देश-प्रेम का एक खास नमूना था। आगे चलकर इसी सदी में राष्ट्रीयता का यह लोकतन्त्री रूप धीरे-धीरे नष्ट हो गया और वह दिन पर दिन अधिक आक्रमणकारी और अधिकारवादी बनता गया। राज्य एक ऐसा देवता बन गया जिसकी पूजा करना सबके लिए लाज़िमी था।

नये उद्योगो के नेता अंग्रेज व्यापारी थे। उन्हे ऊँचे-ऊँचे लोकतंत्री सिद्धान्तों मे और जनता की स्वतन्त्रता के अधिकार में कोई ज्यादा दिलचस्पी नही थी। मगर उन्होने देख लिया कि लोगो के लिए अधिक स्वतन्त्रता व्यापार के लिए अच्छी चीज़ है। इससे मज़दूरो के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ जाता है, वे कुछ आज़ादी के स्वामी होने के इन्द्रजाल मे फस जाते हैं और अपना काम अधिक कुशलता से करने लगते हैं। औद्योगिक कार्य-कुशलता के लिए सार्वजनिक शिक्षा भी जरूरी थी। इसकी आवश्यकता को समझ कर व्यापारी और उद्योगपति परोपकार का ढोंग रच कर जनता पर इन कृपाओ की वर्षा करने को राज़ी हो गये। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इग्लैण्ड और पश्चिमी योरप में किसी-न-किसी तरह की शिक्षा का तेज़ी से प्रचार हुआ।

: १३२ :

समाजवाद का आगमन

१३ फरवरी, १९३३

मै तुम्हे लोकतन्त्रवाद की प्रगति के बारेमे लिख चुका हूँ; मगर याद रहे कि इस प्रगति के लिए कठिन लड़ाई लडनी पडी थी। किसी प्रचलित व्यवस्था मे जिन लोगो का स्वार्थ होता है, वे परिवर्तन नही चाहते और उसे रोकने के लिए सारा जोर लगा देते है। फिर भी ऐसे परिवर्तनो के बिना कोई प्रगति या सुधार नही हो सकते। किसी भी संस्था या शासन-प्रणाली को अपने से अच्छी के लिए जगह खाली करनी पड़ती है। जो लोग ऐसी प्रगति चाहते है, उन्हे पुरानी संस्था या पुराने रिवाज पर हमला करना ही पडता है। इसलिए उन्हे निरन्तर वर्तमान परिस्थितियों को अस्वीकार करना और जो लोग उनसे फायदा उठाते हैं उनके साथ सघर्ष करना आवश्यक हो जाता है। पश्चिमी योरपमें शासकवर्गों ने हर तरह की प्रगतिका कदम-कदम पर विरोध किया। इग्लैण्ड में उन्होंने हथियार तभी डाले जब देख लिया कि ऐसा न करने से हिंसात्मक क्रांति की सम्भावना है। जैसाकि मैं पहले बता चुका हूँ, उनके लिए आगे बढ़ने का दूसरा कारण नये व्यवसायी लोगों

का यह महसूस करना था कि कुछ-न-कुछ लोकतंत्र व्यापार के लिए समयानुकूल भी है और लाभ-दायक भी।

मगर मैं तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध में ये लोकतंत्री विचार मुख्यतया दिमाग़ी लोगों तक ही सीमित थे। साधारण जनता पर उद्योगवाद की बढ़ोतरी का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा था और वे ज़मीनें छोड़-छोड़कर कारखानों में जाने को विवश हुए थे। औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग बढ़ रहा था जो कारखानोंवाले भद्दे और गन्दे नगरों में भेड़-बकरियों की तरह रहता था। ये नगर ज्यादातर कोयले की खानों के आस-पास थे। इन मज़दूरों में तेज़ी के साथ परिवर्तन हो रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति का विकास हो रहा था। जो ढेरों किसान और कारीगर भूख के मारे कारखानों में आ-आकर भरती हुए थे उनसे ये मज़दूर बिलकुल भिन्न थे। जैसे इन कारखानो के खोलने में इंग्लैण्ड सबसे आगे बढ़ा हुआ था, वैसे ही औद्योगिक मज़दूरों का वर्ग भी पहले पहल इंग्लैण्ड में ही बढा। कारखानो के भीतर की हालत दिल दहलानेवाली थी और मज़दूरों के घरों या झोपडों की उससे भी बदतर। उन्हे मुसीबतें भी बहुत थी। छोटे-छोटे बच्चों और स्त्रियों को इतने घंटे काम करना पड़ता था कि आज उसपर यक़ीन नही होता। फिर भी इन कारखानों और घरो की हालत क़ानून के द्वारा सुधारने के सब प्रयत्नो का मालिकों ने डटकर विरोध किया। उनका कहना था कि यह सम्पत्ति के अधिकारो में शर्मनाक हस्तक्षेप है। खानगी मकानो की ज़बरदस्ती सफाई करवाने का उन्होने इसी आधार पर विरोध किया।

ग़रीब अंग्रेज़ मज़दूर धीमी फ़ाक़ाकशी और ज्यादा काम के बोझ से मरे जा रहे थे। नैपोलियनी युद्धो से देश चूर हो गया था और आर्थिक मन्दी फैल गई थी जिसकी मुसीबत सबसे ज्यादा मज़दूरो पर ही पडी। स्वभावतः मज़दूर अपनी रक्षा करने को और अपनी अवस्था में सुधार के लिए लडने को समितियाँ बनाना चाहते थे। पुराने ज़माने में कारीगरों और कुशल मज़दूरो की पचायतें होती थी, मगर वे बिलकुल अलग ढंग की थी। फिर भी उन पचायतो की याद ने कारखानों के मज़दूरों को अपनी समितियाँ बनाने के लिए उकसाया होगा। मगर उन्हे ऐसा नही करने दिया गया। इग्लैण्ड का शासक-वर्ग फ्रास की राज्यक्रांति से इतना डर गया था कि उन्होंने "सम्मिलन क़ानून"[1] कहलाने वाले ऐसे नियम बना दिये कि बेचारे मज़दूर अपने दु.ख-सुख की चर्चा करने के लिए इकट्ठे भी न हो सकें। तब इंग्लैण्ड में और आज भारत मे, "कानून और व्यवस्था" ने सदा मुट्ठीभर सत्ताधारियो के स्वार्थ साधने और जेबे भरने का उपयोगी कर्त्तव्य पालन किया है।

लेकिन मज़दूरों को इकट्ठा होनेसे रोकनेवाले कानूनो से मज़दूरो की अवस्था सुधरी नही। उनसे वे उलटे भड़क गये और सब आशाए छोड बैठे। उन्होने गुप्त समितियाँ बनाई, सब बातें गुप्त रखने की आपस में कसम खाई और सुनसान जगहो में आधी रात गये सभाएँ करने लगे। किसी साथी की गद्दारी पर या भेद खुल जानेपर षड्यंत्र के मुकदमें चलते और भयंकर सज़ाएँ दी जाती। कभी-कभी वे गुस्से में आकर कलो को तोड़-फोड डालते, कारखानों में आग लगा देते और अपने मालिको के कुछ खून भी कर डालते थे। अन्त में सन् १८२५ ई० में मज़दूर-संगठनो पर से पाबन्दियाँ कुछ-कुछ हटाली गई और मज़दूर-सघ बनने लग गये। ये सघ अच्छी तनख़ाह पानेवाले कुशल मज़दूरो ने बनाये। अकुशल मज़दूर लम्बे अर्से तक असंगठित ही रहे। इस तरह मज़दूर-आंदोलन की यह सूरत हो गई कि मिलकर शर्तें तय करने के उपाय द्वारा मज़दूरों की अवस्था सुधारने के लिए मज़दूर-सघ बन गये। मज़दूरो के हाथ मे कारगर हथियार तो सिर्फ़ हड़ताल करने के अधिकार का था, यानी काम बन्द कर देना और कारखाने का काम ठप्प कर देना। बेशक यह बड़ा हथियार था, मगर उनके मालिकों के हाथ में इससे भी ज्यादा शक्तिशाली हथियार यह था कि वे मज़दूरों को भूखों मारकर अपने आगे झुका सकते थे। इस तरह मज़दूरों का सघर्ष जारी रहा जिसमें उन्हें कुरबानियाँ तो बहुत करनी पडी और लाभ धीरे-धीरे हुआ। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नही था, क्योंकि उन्हें वोट देने का भी अधिकार नही मिला था। सन् १८३२ ई० के जिस महान 'सुधार बिल' का इतना कड़ा विरोध हुआ था, उससे सिर्फ सम्पन्न मध्यमवर्गों के लोगो को वोट का हक़ मिला था। मज़दूर ही नहीं, वरन् मध्यमवर्गों के लोगो को भी अभी तक वोट का अधिकार नही था।

इसी बीच मैञ्चेस्टर के कारखानेदारों में ही एक मानवता-प्रेमी व्यक्ति पैदा हुआ जिसे मज़दूरों

---

[1] Combination Acts.

की दिल-दहलानेवाली हालत देखकर बहुत दुःख हुआ। उसका नाम रॉबर्ट ओवेन था। उसने अपने निजी कारखानों में बहुत-से सुधार किये और अपने मजदूरों की हालत सुधारी। वह अपने ही मालिकवर्ग में आन्दोलन करता रहा और दलीलों द्वारा उन्हें मजदूरों के साथ अच्छा बर्ताव करने के लिए मनाने के प्रयत्न करता रहा। कुछ उसके कारण, और कुछ दूसरी हालतों से मजबूर होकर, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मजदूरों को मालिकों के लोभ और स्वार्थ-साधन से बचाने के लिए पहला क़ानून पास किया। यह सन् १८१९ ई० का 'कारखानों का क़ानून'[1] था। इस क़ानून में यह आदेश था कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चों से बारह घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाय! इस धारा से ही तुम्हे कल्पना हो जायगी कि मजदूरों को कैसी भयंकर हालतों को बर्दाश्त करना पड़ता था।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही सन् १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहले-पहल प्रयोग किया। अलबत्ता ग़रीब-अमीर के भेद को काट-छांट कर एक स्तर पर लाने का और सम्पत्ति के जहाँ तक हो सके बराबर बँटवारे का विचार नया नही था। पहले भी बहुत लोगो ने इसका प्रतिपादन किया था। प्रारम्भिक काल के समुदायों में एक तरह का साम्यवाद था ही, क्योंकि उनमें सारे समुदाय या गाँव का ज़मीन और अन्य सम्पत्ति पर सम्मिलित अधिकार होता था। इसे प्रारम्भिक साम्यवाद कहते हैं और यह भारत में तथा अनेक अन्य देशों में पाया जाता है। मगर नया समाजवाद सबको बराबर कर देने की अनिश्चित इच्छा के अलावा और भी बहुत कुछ था। यह अधिक निश्चित था और शुरू में इसका तात्पर्य उत्पादन की नई कारखाना-प्रणाली पर ही लागू होने का था। इसलिए यह औद्योगिक प्रणाली का ही बच्चा था। ओवेन का विचार यह था कि मजदूरो की सहयोग-समितियाँ बन जायँ और मजदूरों का कारखानो में हिस्सा हो जाय। उसने इग्लैण्ड और अमरीका मे नमूने के कारखाने और बस्तियां स्थापित की और उसे कमती-बढती सफलता भी मिली। मगर वह अपनी मालिक-बिरादरी के या सरकार के विचारो को नहीं बदल सका। फिर भी अपने समय में उसका प्रभाव बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक ही शब्द ऐसा चला दिया जिसने उसी समय से करोड़ो के दिलो को मोह लिया है।

इस बीच पूजीवादी उद्योग-धन्धे बराबर बढते गये, और जैसे-जैसे इन्हे सफलता पर सफलता मिलती गई वैसे-वैसे मजदूरो की समस्या भी ज़ोर पकडती गई। पूजीवाद का नतीजा यह हुआ कि उत्पादन बहुत बढ़ गया और उसकी वजह से आबादी भी जबरदस्त गति से बढी, क्योंकि अब पहले से ज्यादा आदमियों को परवरिश और खूराक मिल सकती थी। एक तरफ बड़े-बड़े व्यवसाय खड़े हो गये जिनके अलग-अलग विभागो में पेचीदा ढग का सहयोग था। दूसरी तरफ छोटे-छोटे धन्धों की प्रतियोगिता कुचलकर नष्ट कर दी गई। इग्लैण्ड में दौलत उलट पड़ी, लेकिन उसका अधिकाश नये कारखाने या रेलमार्ग या इसी प्रकार के अन्य कारोबार शुरू करने में लगाया गया। मजदूरों ने भी हड़ताले कर-करके अपनी हालते सुधारने की कोशिश की, मगर ये हड़तालें आम तौर पर बुरी तरह असफल हो जाती थी। बाद में मजदूर लोग सन् १८४० ई० के चार्टिस्ट आन्दोलन में शामिल हो गये। मै तुम्हे किसी पिछले पत्र में बता चुका हूँ कि यह आन्दोलन सन् १८४८ ई० की क्रान्ति के वर्ष मे ठंडा हो गया था।

पूजीवाद की सफलता ने लोगो की आंखें चौंधिया दी, मगर फिर भी कुछ वाम-पक्षी या प्रगतिशील विचारो वाले या मानवता-प्रेमी लोग ऐसे रह गये थे, जो पूजीवाद की गला-घोट प्रतियोगिता से और देश की बढती हुई दौलत के बावजूद उससे पैदा होने वाले मजदूरों के कष्टों से बहुत दुखी थे। इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में इस समस्या के अलग-अलग हल भी सुझाये गये। इन्ही सबका सामूहिक नाम समाजवाद, समष्टिवाद या सामाजिक लोकतन्त्रवाद है। इन सब शब्दो का अस्पष्ट-सा एक ही अर्थ है। ये सब सुधारक समान रूप से इस बात पर सहमत थे कि झगड़े की जड़ उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व और नियंत्रण का होना है। इसके बजाय यदि उद्योगो का, या कम-से-कम ज़मीन और बड़े-बड़े उद्योगों जैसे उत्पादन के मुख्य साधनों का, मालिक राज्य ही बन जाय और वही उन्हे चलावे तो मजदूरों के शोषण का खतरा न रहे। इस तरह कुछ अनिश्चित रूप में, लोग पूंजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प ढूंढने लगे। मगर पूंजीवादी व्यवस्था के पिचक जाने का कोई लक्षण नही था। वह तो दिन पर दिन मजबूत होती जा रही थी।

---

[1] Factory Act.

इन समाजवादी विचारों के चलानेवाले दिमागी लोग थे और कारखानेदारों में से रॉबर्ट ओवेन था। मजदूर-संघों के आन्दोलन का विकास कुछ समय के लिए दूसरी दिशा में चला गया और सिर्फ़ ज्यादा मजदूरी और पहले से अच्छी हालतों के लिए कोशिश करने लगा। मगर उसपर इन विचारो का स्वभावतः ही प्रभाव पड़ा और फिर उसने भी समाजवाद के विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। योरप के तीन प्रमुख औद्योगिक देश इंग्लैण्ड, फ़ांस और जर्मनी में अपने-अपने यहाँ के मजदूरवर्ग के बल और स्वभाव के अनुसार समाजवाद का विकास कुछ अलग-अलग तरह से हुआ। सारी बातो को देखते हुए अंग्रेजो का समाजवाद रूढ़िवादी था, क्रम-विकास के तरीक़ों तथा धीमी प्रगति में विश्वास करता था। अन्य योरपीय देशों का समाज-वाद अधिक वामपक्षी और क्रान्तिकारी था। अमेरिका में परिस्थितियां इससे बहुत भिन्न थीं, क्योंकि वह बड़ा लम्बा-चौड़ा देश होने के कारण वहाँ मजदूरोंकी मांग थी। इसीलिए बहुत समय तक वहाँ कोई जोर-दार मजदूर-आन्दोलन नही पनप सका।

उन्नीसवीं सदी के बीच से लगाकर आगे एक पीढी तक ब्रिटिश उद्योग संसार पर छाया रहा और कारखानो के मुनाफ़े तथा भारत और अन्य अधीन देशों के शोषण से प्राप्त धन की नदिया उसकी ओर बहती रहीं। इस विशाल धन का एक हिस्सा किसी न किसी रूप में मजदूरों तक भी पहुँच गया और उनके रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा हो गया जितना उन्होंने पहले कभी नही जाना था। खुशहाली और क्रान्ति का क्या साथ ? इसलिए ब्रिटिश मजदूरों की पुरानी क्रान्ति-भावना विलीन हो गई। ब्रिटिश छाप का समाज-वाद भी सबसे ज्यादा नरम हो गया। इसका नाम फ़ैबियनवाद पड गया क्योंकि इस नाम का एक रोमन सेनापति था जो दुश्मन से सीधी लडाई न लड़कर उसे धीरे-धीरे थका मारता था। सन् १८६७ ई० में इंग्लैण्ड में मताधिकार और भी बढ़ा दिया गया और थोडे-से शहरी मजदूरो को भी वोट का अधिकार मिल गया। मजदूर-संघ इतने सलूकदार और खुशहाल हो गये थे कि मजदूरवर्ग के वोट ब्रिटिश उदार-दल को मिलने लगे।

इधर इंग्लैण्ड अपनी खुशहाली में मस्त और बेफिक्र हो रहा था और उधर योरप तथा अन्य देशों मे लोग एक नये मत का बड़े जोश और उत्साह से समर्थन कर रहे थे। यह मत अराजकतावाद[1] कहलाता था। जो लोग इसके बारे में कुछ नही जानते वे मालूम होता है इस शब्द से ही डर जाते है। अराजकतावाद का अर्थ ऐसी समाज व्यवस्था है जिसमे जहाँ तक हो सके, कोई केन्द्रीय सरकार न हो और व्यक्तियो को खूब आजादी हो। अराजकता के आदर्श में अलौकिक ऊँचाई थी, यानी "ऐसे आदर्श राष्ट्र-समूह मे श्रद्धा, जिसका आधार परोपकार-बुद्धि, ऐक्य-भाव और दूसरे के अधिकारो का स्वेच्छापूर्वक लिहाज हो।" राज्य की तरफ से कोई बल-प्रयोग या जबरदस्ती न हो। थोरो[2] नाम के अमरीकी विचारक ने कहा है: "सरकार सबसे अच्छी वह है जो बिलकुल शासन न करे; और जब मनुष्य ऐसी सरकार के लिए तैयार हो जायँगे तब वे ऐसी ही सरकार को पसद करेंगे।"

यह आदर्श बडा बढ़िया मालूम होता है। हरेक को पूरी आजादी हो, हरेक आदमी दूसरे का लिहाज रक्खे, सब तरफ़ निःस्वार्थता का बोलबाला हो और लोग खुशी-खुशी आपस में सहयोग करे। मगर आज की चारों ओर स्वार्थ और हिंसा से भरी दुनिया इससे अभी बहुत दूर है। अराजकतावादियों की यह इच्छा कि केन्द्रीय सरकार क़तई न हो या नाम-मात्र की सरकार हो, शायद उस निरकुशता और एकतन्त्री शासन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पैदा हुई होगी जिसमें लोगो ने बहुत दिन तकलीफ़ें उठाई थी। चूँकि सरकारों ने लोगों को कुचला और सताया था, इसलिए सरकारें रहने ही न दी जाय। अराजकतावादियो को ऐसा भी लगा कि समाजवाद के कुछ रूपों में, उत्पादन के तमाम साधनो का स्वामी होने के कारण राज्य खुद ही निरंकुश बन सकता है। इसलिए अराजकतावादी लोग ऐसे समाजवादी थे जिनका स्थानीय और व्यक्ति-गत आजादी पर बहुत जोर था। उधर समाजवादियों में भी बहुत लोग अराजकतावादियों के मत को बहुत दूर के आदर्श के रूप में मानने को तैयार थे, मगर उनकी राय में कुछ समय तक समाजवाद में भी एक केन्द्रीय और मजबूत सरकार का होना जरूरी था। इस तरह, यद्यपि समाजवाद और अराजकतावाद में बहुत

---

[1] Anarchism.

[2] थोरो (Thoreou) इस विचारक के लेखों का गांधीजी पर बहुत प्रभाव पड़ा था।

काफ़ी अन्तर था, फिर भी दोनों के बहुत-से दर्जे थे जो एक दूसरे के नजदीक आते-आते थे और एक दूसरे से मिल भी जाते थे।

आधुनिक उद्योग-धंधों के कारण एक संगठित मजदूरवर्ग पैदा हुआ। अराजकतावाद का तो स्वरूप ही ऐसा था कि वह कोई सुसंगठित आन्दोलन नहीं बन सकता था। इसलिए उद्योगवादी देशो में, जहाँ मजदूर-संघ और ऐसी ही संस्थायें बढ़ रही थीं, वहाँ अराजकतावादी विचारो के फैलने की कोई संभावना नही थी। इस तरह न तो इंग्लैण्ड में और न जर्मनी में ही अराजकतावादियों की कोई गिनने लायक़ संख्या थी। लेकिन दक्षिणी और पूर्वी योरप उद्योग-धंधों में पिछड़े हुए थे, इसलिए वहाँ इन विचारों के लिए ज्यादा उपजाऊ जमीन थी। जैसे-जैसे वर्तमान उद्योगवाद का दक्षिण और पूर्व में प्रचार हुआ, वैसे-वैसे अराजकतावाद कमजोर पड़ता गया। आज यह क़रीब-क़रीब एक मुर्दा सिद्धान्त हो गया है, मगर स्पेन जैसे उद्योग-विहीन देश में आज भी कुछ हद तक इसके समर्थक पाये जाते हैं।

अराजकतावाद का आदर्श भले ही बहुत सुन्दर हो, मगर इससे न केवल जल्दी भड़कनेवाले और असन्तुष्ट लोगों को ही बल्कि ऐसे स्वार्थियों को भी आश्रय मिला जो आदर्श की आड़ में अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। और इसने एक ख़ास तरह की हिंसा को जन्म दिया जो अराजकतावाद का शब्द सुनते ही हरेक के दिमाग़ में आजाती है और जिसके कारण यह इतना बदनाम भी हो गया है। जब अराजकतावादी अपनी इच्छा के अनुसार समाज को न बदल सके, तो उन्होंने एक नये ढंग से प्रचार करने का निश्चय किया। यह "कर दिखाने का प्रचार" था, जिसका अर्थ था साहसपूर्ण उदाहरणों के द्वारा प्रभाव डालना, अत्याचारी शासन का वीरतापूर्ण कामों से विरोध करना और अपनी जान निछावर कर देना। इस भावना से अलग-अलग स्थानो पर उपद्रव किये गये। जिन लोगो ने इनमें भाग लिया उन्हें तुरन्त किसी सफलता की आशा नही थी। अपने उद्देश्य का इस नये ढंग से प्रचार करने के लिए खुशी से अपनी जान जोखिम मे डालते थे। पर ये उपद्रव दबा दिये गये और फिर अराजकतावादियो ने व्यक्तिगत आतंकवाद का आश्रय लेना शुरू कर दिया, यानी बम फेकना और बादशाहो तथा ऊंचे अधिकारियो पर गोलियाँ चलाना। स्पष्ट है कि यह मूर्खतापूर्ण हिंसा बढ़ती हुई कमजोरी और निराशा का लक्षण था। धीरे-धीरे उन्नीसवी सदी के समाप्त होते-होते अराजकतावाद का आन्दोलन बिल्कुल ठडा पड गया। बहुत से अराजकतावादी नेताओं ने बम फेकने और "कर दिखाने के प्रचार" के तरीक़ों को नापसन्द किया और उनसे अपनी असहमति भी प्रगट की।

मै तुम्हे कुछ मशहूर अराजकतावादियो के नाम बताऊँगा। मनोरजक बात यह है कि निजी व्यक्तिगत जीवनमें अधिकाश अराजकतावादी नेता असाधारणतया विनीत, आदर्शवादी और मनभावन थे। सबसे पहले के अराजकतावादी नेताओं में पीयरी प्रूधों नामक एक फ़ासीसी था जो सन् १८०९ से १८६५ ई० तक जीवित रहा। उससे उम्र मे जरा छोटा माइकेल बाकुनिन नामक रूसी रईस था। यह योरप का, और ख़ास तौर पर दक्षिण योरप मे, एक लोकप्रिय मजदूर नेता था। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया था, मगर मार्क्स के साथ भिड़न्त हो जानेके कारण उसने इसे तथा इसके अनुयायियों को संघ से निकलवा दिया। तीसरा नाम रूसी राजकुमार पीटर क्रोपाटकिन का है। यह तो हमारे अपने समय का ही है। इसने अराजकतावाद और अन्य विषयो पर कुछ बहुत ही रोचक पुस्तके लिखी हैं। चौथा और आखिरी नाम, जिसका मैं यहाँ जिक्र करूगा, इटली-निवासी एनरीको मालातेस्ता का है। इसकी आयु अस्सी वर्ष से ऊपर पहुंच चुकी है और यह उन्नीसवी सदी के महान् अराजकतावादियोंका अन्तिम अवशेष है।

मालातेस्ता के बारे में एक रोचक किस्सा कहे बिना मै नही रह सकता। इटली की एक अदालत म उसपर मुकदमा चल रहा था। सरकारी वकील ने बहस में कहा कि उस क्षेत्र के मजदूरों में मालातेस्ता का बहुत ज्यादा प्रभाव है और उसने उनका स्वभाव ही बिलकुल बदल दिया है। इससे अपराध-वृत्ति का ही अन्त हो रहा है और अपराधों की संख्या बहुत घटती जा रही है। अगर अपराध बन्द हो गये तो फिर अदालतें क्या करेंगी? इसलिए मालातेस्ता को जेल भेजा जाय! और मालातेस्ता को सचमुच छः महीने कैद की सजा दे दी गई!

दुर्भाग्यसे अराजकतावाद को हिंसा के साथ बहुत ज्यादा जोड़ दिया गया है और लोग भूल गये हैं कि यह भी एक दर्शन और एक आदर्श है जिसने अनेक प्रशंसनीय व्यक्तियों को प्रभावित किया है। आदर्श के रूप

में हमारी आजकल की अपूर्ण दुनिया से यह अब भी बहुत दूर है और इसने जो सरल उपाय बताये हैं वे हमारी आधुनिक जटिल सभ्यता के अनुकूल नही हैं।

: १३३ :

कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों की वृद्धि

१४ फ़रवरी, १९३३

उन्नीसवी सदी के बीच के आसपास योरप के मजदूर और समाजवादी संसार में एक नये और चित्ताकर्षक व्यक्तित्ववाला आदमी प्रगट हुआ। यह कार्ल मार्क्स था, जिसका नाम इन पत्रो में पहले ही आ चुका है। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म सन् १८१८ ई० में हुआ था। उसने क़ानून, इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। एक अखबार निकालने के कारण उसका जर्मनी के अधिकारियो से झगड़ा होगया। वह पेरिस चला आया जहाँ वह नये-नये लोगो के सम्पर्क मे आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढ़ी और वह समाजवादी विचारधारा का समर्थक बन गया। वही पेरिस मे फ़्रीडरिख़ ऐंजेल्स नामक एक और जर्मन से उसकी मुलाकात हुई। यह इग्लैण्ड से आकर बस गया था और वहाँ कपड़े के बढ़ते हुए उद्योग में एक धनवान कारखानेदार बन गया था। ऐंजेल्स भी वर्तमान सामाजिक स्थिति से दुखी और असन्तुष्ट था और उसका दिमाग़ चारो तरफ दीखनेवाली गरीबी और शोषण के इलाज की तलाश कर रहा था। रॉबर्ट ओवेन के सुधार-सम्बन्धी विचार और प्रयत्न उसे बहुत भाये और वह ओवेन का अनुयायी बन गया। पेरिस की यात्रा ने, जिसके फलस्वरूप कार्ल मार्क्स से उसकी पहली भेंट हुई, उसके विचारो को भी बदल दिया। तबसे मार्क्स और ऐंजेल्स गहरे दोस्त और साथी होगये। दोनो के एक-से विचार थे और दोनो एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। आयु भी दोनों की लगभग समान थी। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तकें उन्होने प्रकाशित की उनमें से ज्यादातर दोनो की सम्मिलित लिखी हुई थी।

फ़्रास की तत्कालीन सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फिलिप का ज़माना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाँ बहुत वर्ष तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की पुस्तको के पढने में डूबा रहता। उसने कठिन परिश्रम करके अपने मतो को परिपुष्ट किया और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या दार्शनिक नही था, जो बैठा-बैठा मत गढा करता हो और दुनिया की बातो से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की अस्पष्ट विचारधारा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ़-साफ़ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहाँ उसने योरप मे मज़दूरो और उनके आन्दोलन को सगठित करने मे भी क्रियात्मक और प्रमुख भाग लिया। सन् १८४८ ई० में, जो क्रान्तियो का वर्ष कहलाता है, जो घटनाए हुईं उनसे मार्क्स का हृदय स्वभावतः ही बहुत द्रवित हुआ। उसी साल उसने और ऐंजेल्स ने एक सम्मिलित घोषणापत्र प्रकाशित किया, जो बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। यह 'साम्यवादी घोषणापत्र'[1] था, जिसमें उन्होंने उन विचारो की विवेचना की जो फ़्रास की महान् राज्य-क्रान्ति की और बाद में सन् १८३० ई० और सन् १८४८ ई० के विद्रोहो की, जड़ में थे। उन्होने इस घोषणापत्र में यह भी बतलाया कि वे विचार न तो वास्तविक परिस्थितियों के लिए काफी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होंने उस समय की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकतन्त्रवादी पुकारो की आलोचना की और यह दिखाया कि जनता के लिए ये कोई अर्थ नही रखती, केवल मध्यमवर्गी राज्य पर पवित्रता का झूठा परत चढ़ा देती हैं। आगे चलकर, उन्होंने संक्षेप में समाजवाद के अपने मत का प्रतिपादन किया। और घोषणापत्र के अन्त में उन्होंने सारे मज़दूरों से इन शब्दों में अपील की:—"संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नही है सिवाय अपनी ग़ुलामी की ज़ंजीरों के, और पाने को तुम्हारे लिए संसार पड़ा है!"

यह अपील कार्रवाई करने के लिए आवाहन थी। इसके बाद मार्क्स ने अखबारों और पर्चों के ज़रिये

[1] Communist Manifesto—Marx and Engels.

निरन्तर प्रचार शुरू कर दिया और मजदूर संगठनों को एक करने की दिन-रात कोशिश करने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि उसे योरप में कोई बड़ा सकट-काल आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मजदूर उसके लिए तैयार रहें, ताकि वे उससे पूरा फ़ायदा उठा सकें। उसके समाजवादी मत के अनुसार पूंजीवादी प्रणाली में सचमुच ऐसा संकट-काल आये बिना रह ही नही सकता था। सन् १८५४ ई० में न्यूयार्क के एक अखबार में मार्क्स ने लिखा था.—

"फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि योरप में छठी शक्ति भी है जो खास-खास मौकोंपर पाँचों कथित "महान शक्तियों" पर अपनी प्रभुता रखती है और उन सबको थर्रा देती है। यह शक्ति क्रान्ति की है। बहुत दिन चुपचाप एकान्तवास करने के बाद अब संकट और भूख इसे फिर लड़ाई के मैदान में बुला रहे हैं। सिर्फ़ एक इशारे की जरूरत है। फिर तो योरप की छठी और सबसे महान शक्ति चमकता हुआ कवच पहने और हाथ में तलवार लिये हुए दुर्गा की तरह निकल पड़ेगी। यह इशारा आनेवाले योरप के युद्ध से मिल जायगा।"

योरपकी अगली क्रान्तिके बारेमे मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नही निकली। उसके लिखने के साठ साल बाद और एक संसारव्यापी युद्ध के बाद कही जाकर योरप के एक हिस्से में क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके है कि पेरिस के पंचायती राज्य के रूप में सन् १८७१ ई० में क्रान्ति की जो कोशिश हुई वह निर्दयता के साथ कुचल दी गई थी।

सन् १८६४ ई० में मार्क्स लन्दन में एक खिचडी सभा बुलाने में सफल हुआ। उसमें अनेक दलो के लोग, जो अपने को मोटे तौरपर समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। एक तरफ़ तो योरप के कई पराधीन देशो के लोकतत्रवादी और देशभक्त थे जो समाजवाद में श्रद्धा तो रखते थे पर उसे बहुत दूर की चीज समझते थे। उनकी ज्यादा दिलचस्पी तो तुरन्त राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने में थी। दूसरी तरफ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरत लडाई मोल लेना चाहते थे। सभा में मार्क्स के सिवा दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति अराजकता-वादी नेता बाकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया में कैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बाकुनिन के अनुयायी खास तौर पर दक्षिण योरप के इटली और स्पेन वग़ैरा लातीनी देशो से आये थे। इन देशो मे बडे उद्योग-धंधोका विकास नही हुआ था और वे इस दिशा मे पिछड़े हुए थे। वे बेकार दिमागी लोग और तरह-तरह के अन्य क्रान्तिकारी लोग थे जिनको तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में कोई जगह नही मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी औद्योगिक देशो से, खासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मजदूरो की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढते हुए, सगठित और कुछ खुशहाल मजदूरवर्ग का प्रतिनिधि था और बाकुनिन ग़रीब और असगठित मजदूरो का, और दिमागी और असंतुष्ट लोगो का। मार्क्स का कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने की घड़ी आवे, तब तक धीरजके साथ सगठन किया जाय और मजदूरो को उसके समाजवादी मतों का ज्ञान कराया जाय। बाकुनिन और उसके अनुयायी तुरत ही कारंवाई करने के पक्ष मे थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। "अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर समिति"[1] की स्थापना हुई। यह मजदूरों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सगठन[2] था।

तीन साल बाद, यानी सन् १८६७ में, मार्क्स का महान ग्रंथ "कैपिटल" अर्थात् 'पूजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लदन मे उसने बहुत वर्षों तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमें उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तोंका विश्लेषण करके उनकी आलोचना की और अपना समाजवादी मत विस्तार के साथ समझाया। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बातें छोड़कर निष्पक्ष और वैज्ञानिक ढंग से इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास की विवेचना की। उसने खास तौर पर बड़ी मशीनों और औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की, और क्रम-विकास, इतिहास तथा मानवसमाज में वर्गों के सघर्ष के बारे में कुछ दूर तक असर डालनेवाले नतीजे निकाले। मार्क्स का यह नया, पूर्ण स्पष्ट, और अकाट्य तर्कसम्मत समाजवाद इसीलिए "वैज्ञानिक समाजवाद" कहलाया। क्योंकि यह उस अस्पष्ट, लोकोत्तर या "आदर्शवादी" समाजवाद से भिन्न था जो अबतक प्रचलित था। मार्क्स की 'पूंजी' कोई सरल

---

[1] International Workingmen's Association.

[2] Workers' International.

पुस्तक नहीं है, मन-बहलाव की पुस्तकों में और इसमें कल्पनातीत अन्तर है। फिर भी यह उन थोड़ी-सी चुनी हुई पुस्तकों में से है जिन्होंने बहुत लोगों के विचार करने के ढंग को प्रभावित किया है, उनकी सारी विचार-धारा को ही बदल दिया है, और इस प्रकार मानव विकास पर प्रभाव डाला है।

सन् १८७१ ई० में पेरिस कम्यून की दुखद घटना हुई। इरादा करके किया गया शायद यह पहला समाजवादी विद्रोह था। इससे योरप की सरकारें भयभीत होगईं और मजदूर-आन्दोलन के प्रति उनका रुख और भी कड़ा होगया। दूसरे वर्ष मार्क्स के स्थापित किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की बैठक हुई और मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क लेजाने में सफल हुआ। मालूम होता है कि इसमे मार्क्स का मतलब यही था कि बाकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियो से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूंकि पेरिस कम्यून के कारण योरप की सरकारो को गुस्सा आ रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहाँ की अपेक्षा न्यूयार्क में ज्यादा सुरक्षित आश्रय मिलेगा। मगर सघ के लिए अपने क्रियाशील केन्द्रों से इतनी दूर रह सकना सम्भव नही था। उसकी सारी ताक़त योरप में थी और योरप में भी मजदूर-आन्दोलन के दिन बुरे बीत रहे थे। इसलिए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ का धीरे-धीरे प्राणान्त हो गया।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद योरप के समाजवादियों में, खास तौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया में, फैला जहाँ यह आम तौर पर "सामाजिक लोकतंत्र"[1] के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इंग्लैण्ड ने चाव के साथ इसे नही अपनाया। उस समय वह इतना समृद्ध था कि वहाँ किसी प्रगतिशील सामाजिक सिद्धान्त के लिए गुञ्जाइश नही थी। अंग्रेज़ी छाप के समाजवाद की प्रतिनिधि फ़ैबियन सोसायटी थी जिसका दूर भविष्य मे परिवर्तन का बड़ा नर्म कार्यक्रम था। फ़ैबियन लोगो का मजदूरो से कोई वास्ता नही था। ये तो प्रगतिशील उदार विचारों वाले दिमाग़ी लोग थे। फ़ैबियन लोगो की नीति का पता एक नामी फ़ैबियन सिडनी वेब के इस प्रसिद्ध वाक्य से लग सकता है: "परिवर्तन धीरे-धीरे अनिवार्य है।"

फ़्रांस में कम्यून के बाद समाजवाद को फिर से धीरे-धीरे पनप कर क्रियाशील ताक़त बनने में बारह वर्ष लग गये; मगर वहा इसका स्वरूप नया होगया। वह अराजकतावाद और समाजवाद दोनों का संकर था। यह 'संघवाद' कहलाता है। समाजवादी सिद्धान्त यह था कि चूंकि राज्य समूचे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उत्पादन के साधनो पर, यानी जमीन, कारखानो आदि पर उसीका स्वामित्व और नियत्रण होना चाहिए। थोड़ा-सा मतभेद इस बात पर था कि यह समाजीकरण किस हद तक हो। यह स्पष्ट है कि औज़ारो और घरेलू यत्रों जैसी बहुत-सी निजी चीजो का समाजीकरण बेहूदा-सी बात है। मगर इस बात पर समाजवादियों का एक मत था कि जिस किसी चीज़ का उपयोग दूसरो की मेहनत से निजी फायदा उठाने में किया जा सकता हो उसका समाजीकरण होना चाहिए, यानी वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियो की तरह संघवादी भी राज्य को पसन्द नही करते थे और उसके अधिकारो को सीमित कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरेक उद्योगपर उस उद्योग के मजदूरों का अपने संघ के जरिये नियत्रण रहे। कल्पना यह थी कि अलग-अलग संघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बड़ी परिषद मे भेजेंगे। यह परिषद सारे देश के मामलो को सम्हालेगी और व्यापक काम-काज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी उद्योग की भीतरी व्यवस्था में दखल देने का अधिकार न होगा। यह स्थिति पैदा करने के लिए संघवादी आम हड़ताल का प्रचार करते थे, यानी वे देश के कारोबार को ठप्प करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स के अनुयायी संघवाद से बिलकुल सहमत नहीं थे, मगर यह अनोखी बात है कि मार्क्स के मरने के बाद सघवादी उसे अपने दल का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स अब से ठीक पचास साल पहले, यानी सन् १८८३ ई० में मरा। उस समय तक इंग्लैण्ड जर्मनी और अन्य औद्योगिक देशो में ताक़तवर मजदूर संघ बन गये थे। ब्रिटिश उद्योगों के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमेरिका की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के मुकाबले में वे गिरते जा रहे थे। अलबत्ता अमेरिका के पास बड़े प्राकृतिक साधन थे जिनसे वहाँ तेजी के साथ औद्योगिक विकास होने में मदद मिली। जर्मनी में राजनैतिक निरंकुशता और औद्योगिक प्रगति का अनोखा मेल था। उस निरंकुशता में कमज़ोर और अधिकार-हीन पार्लमेण्ट का पुट भी लगा हुआ था। बिस्मार्क के शासन काल में और बाद में भी जर्मन

[1] Social Democracy.

सरकार ने उद्योग-धंधों की कई तरह से मदद की और मजदूरों की हालत अच्छी करनेवाले सामाजिक सुधार के कानून बनाकर मजदूरवर्ग को खुश करने की कोशिश की। इसी तरह अंग्रेजी उदारदल ने कुछ सामाजिक क़ानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मजदूरों की बुरी हालत कुछ अच्छी कर दी। जब-तक खुशहाली रही तब तक इस उपाय से काम चल गया और अंग्रेज मजदूर नरम और शान्त बने रहे और श्रद्धा के साथ उदारदल को वोट देते रहे। मगर सन् १८८० ई० के बाद अन्य देशो की प्रतियोगिता ने खुशहाली के लम्बे समय का अन्त कर दिया और इंग्लैण्ड में व्यापार की मन्दी शुरू होगई और मजदूरो की मजूरी की दर घट गई। इसलिए मजदूरो में फिर जागृति हुई और वायुमण्डल में क्रान्ति की भावना भर गई। इग्लैण्ड में बहुत से लोगो की निगाहे मार्क्सवाद की तरफ़ दौडने लगीं।

सन् १८८९ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ बनाने का एक और प्रयत्न किया गया। अनेक मजदूर-सघो और श्रमजीवी दलों के बल और साधन अब काफी बढ़ गये थे और उनके बहुत-से वैतनिक कर्मचारी थे। सन् १८८९ ई० में बना हुआ यह सघ "द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ"[1] कहलाता है (मेरे खयाल से इसका नाम "मजदूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ" रक्खा गया था)। यह पच्चीस वर्ष तक चला। फिर महायुद्ध इसकी परीक्षा लेने को आ गया मगर यह उस कसौटी पर खरा नही उतरा। इस सघ में बहुत लोग ऐसे भी थे जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने देशो में ऊँचे-ऊँचे पद स्वीकार कर लिये। कुछने मजदूर आन्दोलन को अपने निजी स्वार्थ का साधन बनाया और फिर उसे पीठ दिखाई। वे प्रधान मंत्री, अध्यक्ष, वगैरा बन-बनकर जीवन मे सफलता लाभ कर गये, मगर जिन लाखों आदमियों ने उन्हे आगे बढाया और उन पर भरोसा किया उन्हे इन लोगो ने मँझधार में छोड दिया। इन नेताओ में से वे तक भी जो मार्क्स के नाम की दुहाई देते थे या उग्र सघवादी थे, पार्लमेण्टो मे घुस गये या मजदूर सघों के अच्छी तनख्वाहें पाने वाले मुखिया बन बैठे। उनके लिए अपनी आराम की जगहो को जोखिम में डाल कर बिना सोचे-समझे किसी काम में हाथ डालना दिन पर दिन कठिन होगया। बस, वे ठण्डे पड गये और जिस समय मजदूर जनता ने निराश होकर क्रान्ति का झंडा उठाया और असली कार्रवाई की माँग की तब इन लोगों ने उन्हे दबा कर रखने की ही कोशिश की। युद्ध के बाद जर्मनी के सामाजिक लोकतन्त्रवादी लोग प्रजातन्त्र के अध्यक्ष और प्रधान मत्री बन गये। फ़ास मे आम हडताल का प्रचारक आग उगलने वाला सघवादी ब्रियाँ ग्यारह बार प्रधान मत्री बना और उसने अपने पुराने साथियो की हडताल को कुचला। इग्लैण्ड में रैम्ज़े मैक्डोनाल्ड अपने बनानेवाले मजदूर दल को धता बता कर प्रधान मत्री बन गया। यही हाल स्वीडन, डेनमार्क, बेलजियम और आस्ट्रिया मे हुआ। पश्चिम योरप आज ऐसे डिक्टेटरो यानी तानाशाहो और सत्ताधारियों से भरा पड़ा है जो अपने शुरू के दिनो में समाजवादी थे, मगर ज्यो-ज्यों उनकी उम्र ढलती गई त्यो-त्यों वे नरम पड़ते गये और उद्देश्य के लिए अपना पुराना जोश भूल गये। इतना ही नही, कभी-कभी तो ये लोग अपने पुराने साथियो के ही विरोध मे खडे होगये। इटली का प्रधान मत्री मुसोलिनी पुराना समाजवादी है और पोलैण्ड का सर्वेसर्वा पिल्सूदस्की भी।

मजदूर-आन्दोलन को ही क्या, स्वाधीनता के लगभग हर राष्ट्रीय आन्दोलन को नेताओ और मुख्य कार्यकर्त्ताओ की ऐसी ग़द्दारी से अक्सर नुक़सान उठाना पडा है। असफलता से ऊब कर वे कुछ समय बाद थक जाते है और शहादत का कोरा ताज उनके दिल को ज्यादा दिन नही लुभा पाता। वे शान्त हो जाते है और उनका उत्साह मन्द पड़ जाता है। कुछ लोग, जो ज्यादा महत्वाकाक्षी या ज्यादा बेउसूले होते है, दूसरे पक्ष में जा मिलते है और जिन लोगो से कल तक विरोध और लड़ाई करते थे उन्ही से व्यक्तिगत समझौता कर लेते हैं। आदमी जो कुछ करने की ठान लेता है उसके अनुकूल अपना अन्त करण बना लेना उसके लिए काफी आसान है। इस ग़द्दारी से आन्दोलन को हानि उठानी पड़ती है और उसे पीछे धक्का लगता है। जो लोग मजदूरों से लडते है और क़ौमों का दमन करते हैं वे यह बात अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए वे तरह-तरह के प्रलोभन देकर और मीठी-मीठी बातें करके व्यक्तियों को अपनी तरफ़ मिलाने की कोशिश करते है। मगर व्यक्तियो को चुन लेने से या मीठी बातों से मजदूर जनता के या आज़ादी के लिए संघर्ष करने वाले दलित राष्ट्र के कष्ट दूर नही होते। इसलिए ग़द्दारी और पीछे धक्का

[1]Second International.

लगने के बावजूद संघर्ष अपने लक्षित उद्देश्य की ओर अटल होकर चलता रहता है।

सन् १८८९ ई० में स्थापित द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्यों की सख्या और संघ की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। कुछ ही वर्ष बाद उन्होंने मालातेस्ता और उसके अराजकतावादी अनुयायियों को इस बिना पर निकाल बाहर किया कि वे पार्लमेण्टो के मताधिकार से लाभ उठाने को राजी नही थे। अन्तर्राष्ट्रीय संघ के समाजवादियों ने साबित कर दिया कि वे एक सर्वव्यापी संघर्ष में अपने पुराने साथियों का साथ देने की अपेक्षा पार्लमेण्टो में जाना ज्यादा अच्छा समझते थे। योरप में युद्ध छिड़ जाने की हालत में समाजवादियों का क्या कर्त्तव्य है, इस बारे में उन्होंने बड़ी भड़कदार घोषणाएं की। जहाँ तक काम का सम्बन्ध था, समाजवादी राष्ट्रीय सीमाओ को नही मानते थे। वे मामूली अर्थों में राष्ट्रवादी नही थे। वे कहते थे कि युद्ध का विरोध करेगे। मगर जब सन् १९१४ ई० में युद्ध छिड़ ही गया तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सारा ढांचा तहस-नहस हो गया और हर देश के समाजवादी और मजदूर दल ही नहीं, क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादी भी अन्य लोगों की तरह कट्टर राष्ट्रवादी और अन्य देशों से द्वेष करनेवाले बन गये। कुछ लोग युद्ध के विरोध मे खड़े हुए और इसके लिए उन्हे तरह-तरह की तकलीफें और लम्बी-लम्बी सजाए दी गई।

युद्ध समाप्त होने पर लेनिन ने सन् १९१९ ई० में मास्को में एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ बनाया। यह शुद्ध साम्यवादी संगठन था और इसमें माने हुए साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ[1] कहलाता है। पुराने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के बचे-खुचे लोग भी युद्ध के बाद धीरे-धीरे साथ इकट्ठे हो गये। कुछ लोग मास्को के नये सघ में मिल गये। मगर अधिकाश लोग मास्को और उसके सिद्धान्त से सख्त नफ़रत करते थे और उसे पास तक नही फटकने देना चाहते थे। उन्होने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ को फिर से जिलाया। यह भी अभी तक मौजूद है। इस तरह आजकल दो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ हैं और द्वितीय तथा तृतीय सघों के नाम से मशहूर हैं। ताज्जुब की बात यह है कि दोनो ही मार्क्स के अनुयायी होने का दावा करते हैं, मगर दोनो ही उसके विचारो का अपना-अपना अर्थ-करते है और अपने समान शत्रु पूजीवाद से भी कही अधिक घृणा आपस मे रखते हैं।

इन दोनों अन्तर्राष्ट्रीय सघों में संसार के सारे मजदूर-सघ शामिल नहीं है। बहुत-से सगठन दोनों से ही अलग हैं। अमरीका के मजदूर-सघ इसलिए अलग है कि उनमें से ज्यादातर बहुत रूढिवादी हैं। भारत के मजदूर-संघो का भी दोनो में से किसी अन्तर्राष्ट्रीय सघ से सम्बन्ध नही है।

शायद तुमने "इण्टरनैशनेल"[2] गीत का नाम सुना होगा। यह दुनिया भर के मजदूरो और समाजवादियो का माना हुआ गीत है।

: १३४ :

मार्क्सवाद

१६ फ़रवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के उन विचारो के बारे में कुछ बताने का इरादा किया था जिन्होंने योरप की साम्यवादी दुनिया में बड़ी हलचल मचा दी थी। मगर मेरा पत्र बहुत लम्बा हो गया था और मुझे यह विषय उठा रखना पडा था। मै इस विषय का विशेषज्ञ नही हूँ, इसलिए इसके बारे में लिखना मेरे लिए आसान नही है। और फिर विशेषज्ञो और पंडितों तक में भी मतभेद है। मैं तुम्हे मार्क्सवाद

---

[1] तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (Third International)—वामपक्षी साम्यवादी नेता ट्राट्स्की से मतभेद हो जाने के कारण रूस के वर्तमान सर्वेसर्वा स्टालिन ने इसे भंग कर दिया।

[2] Internationale.

की सिर्फ़ मोटी-मोटी विशेषताएं बताऊँगा और इसके मुश्किल हिस्सो को छोड़ दूगा। तुम्हारे लिए यह जोड़-जाड़कर बनाई हुई-सी चीज होगी, मगर मेरा उद्देश्य यह भी नही है कि इन पत्रो में किसी चीज की पूरी और लम्बी-चौड़ी तसवीरे दूं।

मैं कह चुका हूँ कि समाजवाद के कई प्रकार हैं। मगर एक बात में सब सहमत हैं कि इसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों यानी खानो, जमीन, कारखानों, वगैरा पर, तथा रेलो आदि वितरण के साधनों पर और बैंको आदि संस्थाओं पर राज्य का नियंत्रण हैं। कल्पना यह है कि व्यक्तियो को अपने निजी फ़ायदे के लिए इन साधनों या संस्थाओ को या दूसरो की मेहनत को निचोडने न दिया जाय। आज तो ये ज्यादातर निजी मिल्कियते है और इन्हें खूब निचोड़ा जाता है। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग तो मालामाल होकर आनन्द भोगते हैं पर सारा समाज मुसीबते उठाता है और जनता गरीब बनी रहती है। उत्पादन के इन साधनो के मालिको और अधिकारियो की भी बहुत सारी शक्ति गला-घोट प्रतियोगिता के द्वारा आपस में लड़ने में ही चली जाती है। अगर इस निजी आपसी युद्ध के बजाय समझदारी के साथ उत्पादन और खूब विचारपूर्वक वितरण की व्यवस्था की जाय तो व्यर्थ की बरबादी और प्रतियोगिता बच जाय और विभिन्न वर्गों तथा लोगो के बीच आज जो धन की घोर असमानता है वह मिट जाय। इसलिए उत्पादन, वितरण और अन्य महत्वपूर्ण प्रवृत्तियो का समाजीकरण हो जाना चाहिए यानी उन पर राज्य का, या, यू कहो कि सारी जनता का, नियन्त्रण रहे। समाजवाद की यही मूल कल्पना है।

समाजवाद मे राज्य का या सरकार का रूप क्या हो, यह सवाल बडे महत्व का होने पर भी भिन्न हैं, और अभी हमें उसकी चर्चा करने की जरूरत नही है।

समाजवाद के आदर्श की बात पर एक मत हो जाने के बाद दूसरी बात निर्णय करने की यह रह जाती है कि उसे प्राप्त कैसे किया जाय। यही से समाजवादियो मे आपसी मतभेद शुरू होता है। उनमें कई दल हैं और वे अलग-अलग रास्ते बताते हैं। मोटे तौर पर उनके दो वर्ग किये जा सकते हैं: (१) ब्रिटिश मजदूर दल और फैबियनो की तरह धीरे-धीरे परिवर्तन और क्रम-विकास चाहनेवाले दलो का यह विश्वास है कि एक-एक कदम आगे बढना चाहिए और पार्लमेण्टो के जरिये काम करना चाहिए; (२) क्रान्तिकारी दलो का पार्लमेण्टो के द्वारा नतीजे हासिल करने में विश्वास नही है। इस दूसरे वर्ग में ज्यादातर लोग मार्क्सवादी हैं।

पहले यानी क्रम-विकासवादी दलो की सख्या अब बहुत कम रह गई है। इंग्लैण्ड में भी अब इनकी ताकत कम हो रही है और इन्हे उदार दलो तथा अन्य असमाजवादी दलो से अलग करनेवाली खाई दिन पर दिन कम चौडी होती जा रही है। इसलिए अब मार्क्सवाद को ही सर्वमान्य समाजवादी सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। मगर मार्क्सवादियो में भी योरप मे दो मुख्य भेद है। एक तरफ रूसी साम्यवादी हैं और दूसरी तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया और अन्य देशो के पुराने सामाजिक लोकतन्त्रवादी है। इन दोनों में आपसी कट्टर मतभेद है। महायुद्धो के समय में और उसके बाद भी ये सामाजिक लोकतन्त्रवादी अपने दावो पर अमल नही कर सकने के कारण अपनी पुरानी प्रतिष्ठा खो बैठे। इनमें से अनेक ज्यादा जोशीले लोग तो साम्यवादियो में जा मिले है, मगर अब भी पश्चिमी योरप के विशाल मजदूर-सघों का संचालन इन्ही के हाथो मे है। रूस में अपनी सफलता के कारण साम्यवाद एक प्रगतिशील सिद्धान्त बन गया है। आज योरप में और दुनियाभर में पूंजीवाद का यही सबसे बड़ा विरोधी है।

तो फिर यह मार्क्सवाद है क्या ? यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-इच्छाओ की व्याख्या करने का एक तरीक़ा है। यह काल्पनिक सिद्धान्त भी है और व्यावहारिक क्रिया के लिए आवाहन भी। यह ऐसा दर्शनशास्त्र है जो मनुष्य-जीवन की अधिकाश प्रवृत्तियो के बारे में कुछ-न-कुछ बात बताता ही है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के मानव-इतिहास को एक बे-लचक तार्किक ढाचे में बैठाले का प्रयत्न है जिसमें भाग्य या किस्मत जैसी अटलता है। आखिर, जीवन इतना तर्क-प्रधान है या नही; और बंधे-बधाये कठोर नियमो और ढाचो पर निर्भर है या नही, यह बहुत स्पष्ट नही दिखाई देता और बहुतों को इसमें सन्देह भी है। मगर मार्क्स ने एक वैज्ञानिक की दृष्टि से पिछले इतिहास का सिंहावलोकन किया और उससे कुछ परिणाम निकाले। उसने देखा कि मनुष्य अपने आदि काल से ही जीविका उपार्जन के लिए सघर्ष करता रहा है; यह सघर्ष प्रकृति के साथ भी है और

मनुष्य-मनुष्य में भी। आदमी को भोजन और अन्य जीवन-सामग्री जुटाने का प्रयत्न करना पड़ा। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे उसके तरीक़े धीरे-धीरे बदलते गये और पेचीदा तथा उन्नत होते गये। मार्क्स के मतानुसार जीविका उपार्जन के ये तरीक़े मनुष्य के और समाज के जीवन में सभी युगो में सबसे महत्वपूर्ण चीज़ रहे हैं। इतिहास के हरेक युगाश में इन्ही की प्रधानता रही और उस युगाश की सारी प्रवृत्तियो और सारे सामाजिक सम्बन्धो पर इन्ही का प्रभाव पडा। जैसे-जैसे ये बदले वैसे-वैसे उनके कारण महान ऐतिहासिक और सामाजिक परिवर्तन हुए। इन पत्रो के दौरान में हम कुछ हद तक इन परिवर्तनों के गहरे प्रभावों को देखते आये हैं। उदाहरण के लिए, जब पहले-पहल खेती शुरू हुई तो उससे बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। घुमक्कड ख़ानाबदोश जातियाँ जगह-जगह गई और गाँव और शहर पैदा हो गये। खेती से पैदावार बढ़ी तो माल बच रहा और आबादी बढी। और जब लोगो के पास धन और अवकाश हुआ तो कलाए और दस्तकारिया पैदा हुईं। औद्योगिक क्रान्ति का एक और ऐसा ही स्पष्ट उदाहरण है जिसमें उत्पादन की बड़ी मशीनों के आविष्कार ने और भी ज़बरदस्त अन्तर पैदा कर दिया। इसी तरह के और भी बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते है।

इतिहास के किसी ख़ास समय में उत्पादन के तरीक़े उस समय के लोगो के विकास के एक निश्चित क्रम के अनुरूप होते हैं। उत्पादन की इस क्रिया के दौरान में और उसके फलस्वरूप, लोगों के बीच कुछ निश्चित सम्बन्ध कायम हो जाते हैं (जैसे वस्तुओं का लेन-देन, क्रय-विक्रय, विनिमय इत्यादि) जो उनके उत्पादन के तरीको के परिणाम भी होते है और अनुरूप भी। ये सब सम्बन्ध मिलकर समाज का आर्थिक ढाँचा बनाते है। और इसी आर्थिक आधार पर कानून, राजनीति, सामाजिक रीति-रिवाज, विचार और अन्य सब चीज़ो का निर्माण होता है। इसलिए मार्क्स के इस मत के अनुसार जैसे-जैसे उत्पादन के तरीक़े बदलते हैं वैसे-वैसे आर्थिक ढाचा भी बदलता है और उसका नतीजा यह होता है कि लोगो के विचारों, क़ानूनो, राजनीति, वग़ैरा में भी परिवर्तन होते है।

इतिहास के बारे मे मार्क्स की यह भी कल्पना थी कि वह विभिन्न वर्गों के आपसी सघर्ष का एक लेखा है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्ग-सघर्ष का ही इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते है उसी की प्रधानता रहती है। वह दूसरे वर्गो की मेहनत का अनुचित उपयोग करके उससे फ़ायदा उठाता है। जो परिश्रम करते है उन्हे अपनी मेहनत की पूरी कीमत नही मिलती। उन्हे जीवन की मामूली आवश्यकताओ के लिए भी मुश्किल से उसका ज़रा-सा हिस्सा मिलता है और बाकी का सारा फालतू हिस्सा शोषक वर्ग के पास चला जाता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फालतू धन से और भी धनवान बनता जाता है। चूँकि उत्पादन पर नियन्त्रण रखने वाले इस वर्ग का राज्य या सरकार पर भी नियन्त्रण रहता है, इसलिए इस शासक वर्ग की रक्षा करना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य हो जाता है। मार्क्स कहता है : "राज्य समूचे शासक वर्ग के काम काज की व्यवस्था करने के लिए एक कार्यकारिणी कमेटी है।" क़ानून इसी ग़रज़ से बनाये जाते है और शिक्षा, धर्म तथा अन्य उपायो से लोगो को यह विश्वास दिलाया जाता है कि इस वर्ग की प्रभुता न्यायानुकूल और स्वाभाविक है। इन उपायो द्वारा सरकार और क़ानून के वर्गीय रूप को छिपाने की हर तरह कोशिश की जाती है, ताकि दूसरे शोषित वर्ग असली हालत न जान सके और उनमें असंतोष पैदा न हो। अगर कोई व्यक्ति असतुष्ट होकर इस प्रणाली का विरोध करता है तो राज्य उसे समाज और सदाचार का शत्रु और पुराने रीति-रिवाजो को उखाड़ फेकने वाला कहकर कुचल देता है।

मगर हज़ार कोशिशें करने पर भी सदा एक ही वर्ग की प्रभुता नही बनी रह सकती। जिन उपादान कारणो से उसे यह प्रभुता प्राप्त होती है वे ही फिर उसके विरुद्ध काम करने लगते हैं। वह शासक और शोषक-वर्ग इसी कारण बना था कि उस समय उत्पादनके साधन उसके क़ब्ज़े में थे। अब जब उत्पादन के नये तरीक़े पैदा होते हैं तो उनपर नियन्त्रण करने वाले नये वर्ग आगे आ जाते हैं और वे शोषित बन कर नही रहना चाहते। नये-नये विचार मनुष्यो के दिलो मे हलचल मचा देते है; जिसे विचार-क्रान्ति कहते हैं वह होने लगती है जो पुराने विचारों और रूढियो की बेडियो को तोड़ डालती है। और फिर इस उठते हुए नये वर्ग और सत्ता से बुरी तरह चिपके रहनेवाले पुराने वर्ग के बीच में सघर्ष होता है। नये वर्ग के हाथ में आर्थिक सत्ता होती है, इसलिए उसकी जीत अनिवार्य होती है और पुराना वर्ग, इतिहास में अपना खेल पूरा करने के बाद, धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।

इस नये वर्ग की विजय राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह की होती है। यह उत्पादन के नये तरीक़ो की शानदार सफलता का प्रतीक होती है और इसके परिणामस्वरूप समाज की सारी रचना में ही परिवर्तन होने लगते हैं—नये विचार, नई राजनैतिक रचना, कानून, रीति-रिवाज, सभी चीज़ो पर असर पड़ता है। अब यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गों के लिए शोषक-वर्ग बन जाता है और फिर उन वर्गों में से कोई एक वर्ग उसे भी हटाकर उसकी जगह ले लेता है। इस तरह जब तक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा तबतक यह संघर्ष चलता रहेगा, और अवश्य चलता रहेगा। इस सघर्ष का अन्त उसी समय होगा जब वर्गों का भेद विलीन होकर सिर्फ एक ही वर्ग रह जायगा; क्योकि तब शोषण की गुजायश ही नहीं रहेगी। यह अकेला वर्ग अपना शोषण नहीं कर सकता। इसलिए, उसी समय मे सतुलन और पूर्ण सह-योग होगा; आज जैसा निरन्तर सघर्ष और प्रतियोगिता न रहेगी। और राज्य के लिए दमन का जो मुख्य काम बना हुआ है उसकी भी फिर कोई आवश्यकता नही रहेगी क्योकि दबाने के लिए कोई वर्ग ही न होगा। इस तरह धीरे-धीरे राज्य ही खुद "मुर्झा जायगा" और अराजकतावादी आदर्श भी नज़दीक आ जायगा।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस नजर से देखता था कि वह अनिवार्य वर्ग-सघर्ष की एक महान विकास-क्रिया है। अनेक बारीकियो और उदाहरणों से उसने यह सिद्ध किया कि अतीत काल में यह सब किस तरह हुआ, बड़ी-बड़ी मशीनो के आने से सामन्ती समय पूंजीवादी ज़माने मे कैसे बदल गया और सामन्त वर्गों की जगह उच्च मध्यम वर्ग कैसे आगया। उसके मत से आखिरी वर्ग-संघर्ष हमारे ही ज़माने में उच्च मध्यमवर्गों और मज़दूरो में चल रहा है। पूंजीवाद खुद इस वर्ग की शक्ति और सख्या बढा रहा है जो अन्त में पूंजीवाद को गर्क करके वर्ग-हीन समाज और समाजवाद की स्थापना करेगा।

इतिहास को इस दृष्टिकोण से देखने का तरीका, जो मार्क्स ने समझाया, "इतिहास की भौतिक व्याख्या" कहलाता है। इसे "भौतिक" इसलिए कहते हैं क्योकि यह "भाववादी" नही है। मार्क्स के समय के दार्शनिको ने "भाववादी" शब्द का एक विशेष अर्थ में बहुत अधिक प्रयोग किया था। उस समय क्रम-विकासवाद की विचारधारा लोकप्रिय हो रही थी। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि जहाँ तक प्राणी-वर्गों की उत्पत्ति और विकास का ताल्लुक है, डार्विन ने यह विचारधारा लोगो के दिमाग में जमा दी थी। मगर इससे मनुष्यो के सामाजिक सम्बन्धो की कोई व्याख्या नही हो पाती थी। कुछ दार्शनिको ने अस्पष्ट भाव-वादी कल्पनाओ के द्वारा यह समझाने की कोशिश की कि मनुष्य की प्रगति मस्तिष्क की प्रगति पर निर्भर है। मार्क्स का कहना था कि यह दृष्टिकोण ही गलत है। उसके मत से अस्पष्ट हवाई कल्पनायें और भाववाद खतरनाक है, क्योकि इस तरह लोग ऐसी हर तरह की चीज़ो की कल्पना करने लगते है जो वास्तव मे निराधार होती है। इसलिए उसने वैज्ञानिक ढग से तथ्यो की परीक्षा करना शुरू किया। "भौतिक" शब्द का यही मूल है।

मार्क्स बराबर शोषण और वर्ग-सघर्षों की चर्चा करता है। हममे से बहुतेरे अपने चारो ओर अन्याय को देख कर क्रोध और आवेश मे भर जाते हैं। पर मार्क्स के मतानुसार न तो यह बात गुस्सा करने की है और न नेक सलाह देने की। शोषण मे शोषण करनेवाले व्यक्ति का कसूर नही है। एक वर्ग पर दूसरे की प्रभुता ऐतिहासिक प्रगति का स्वाभाविक परिणाम है। समय पाकर उसकी जगह दूसरी व्यवस्था ले लेती है। अगर कोई आदमी प्रभुताधारी वर्ग का है और उस हैसियत से दूसरो का शोषण करता है तो इसमें वह कोई भयंकर पाप नही करता। वह एक पद्धति का अंग है और उसे गालियाँ देना व्यर्थ की बात है। व्यक्तियो और प्रणालियों के बीच का यह भेद हम बहुत करके भूल जाते हैं। भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अधीन है, और हम अपनी सारी ताकत लगाकर इस साम्राज्यवाद से लड रहें हैं। मगर जो अंग्रेज़ सयोग से भारत में इस प्रणाली को थामे हुए है उनका कोई क़सूर नही है। वे बेचारे तो एक बड़ी भारी मशीन के छोटे-छोटे पुर्ज़े मात्र हैं। उसकी चाल मे ज़रा भी फर्क़ लाना उनकी शक्ति के बाहर है। इसी तरह हममें से भी कुछ लोग ज़मीदारी-प्रथाको असामयिक और किसानवर्ग के लिए बहुत ज्यादा हानिकर समझ सकते हैं, क्योंकि इससे उनका भयंकर शोषण हो रहा है। मगर इसका भी यह मतलब नहीं है कि व्यक्तिगत रूप में ज़मीदारों का कोई कसूर है। पूंजीपतियों पर अक्सर शोषक होने का दोष लगाया जाता है, मगर उनकी बात भी ऐसी ही है। क़सूर सदा प्रणाली का होता है व्यक्तियों का नहीं।

मार्क्स ने वर्ग-युद्ध का प्रचार नहीं किया। उसने यह सिद्ध किया है कि असल में वर्ग-युद्ध पहले से

मौजूद है और किसी-न-किसी रूप में सदा चला आ रहा है। "पूंजी" की रचना में उसका उद्देश्य था "वर्तमान समाज की गति के आर्थिक नियम को नंगा करके दिखा देना"। और ऊपर की यह चादर हटा देने से समाज के विभिन्न वर्गों की ये भीषण लड़ाइयां सामने आगई। वर्ग-संघर्षों की तरह ये लड़ाइयां सदा जाहिर नही होती, क्योंकि प्रभुताशील वर्ग हमेशा अपने वर्गीय रूप को छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन जब तत्कालीन व्यवस्था ही खतरे मे पड़ जाती है तब यह वर्ग सारे दिखावे छोड़ देता है और उसका असली रूप जाहिर होजाता है और फिर वर्गों के बीच खुला युद्ध होने लगता है। जब यह होता है तब लोकतंत्र के रूप, और साधारण क़ानून और कायदे सब ताक में रख दिये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये वर्ग-संघर्ष ग़लतफ़हमी से या आन्दोलनकारियों की शरारत के कारण होते है। मगर इसके विपरीत ये तो समाज में अन्तर्हित होते हैं और जब लोग हितों के विरोध को अच्छी तरह समझने लगते हैं तब तो वर्ग-संघर्ष वास्तव में और भी बढ़ जाते हैं।

अब जरा मार्क्स के इस सिद्धान्त की तुलना भारत की वर्तमान परिस्थिति के साथ करें। ब्रिटिश सरकार का शुरू से यह दावा है कि भारत में उसकी हुकूमत का आधार न्याय तथा भारतवासियो की भलाई पर है। इसमें कोई सदेह नही कि पहले हमारे बहुत-से देशवासी भी यह मानते थे कि इस दावे में थोडी सी सचाई है। मगर अब, जबकि एक ज़बरदस्त सार्वजनिक आन्दोलन इस शासन को ज़ोरदार चुनौती दे रहा है, तो इसका असली रूप पूरी तरह भद्देपन और नगेपन से प्रगट होरहा है। आज कोई भी देख सकता है कि संगीनो के बल पर टिकनेवाले इस साम्राज्यवादी शोषण की असलियत क्या है। इसके ऊपर का सुनहरी सूरतों और चिकनी-चुपड़ी बातों का सारा मुलम्मा जाता रहा है। विशेष आर्डिनेंसों ने और भाषण, सम्मेलन तथा अखबारों के साधारण से साधारण अधिकारों के दमन ने देश के साधारण कानूनो और कायदो की जगह लेली है। वर्तमान सत्ता का जितना ज्यादा विरोध किया जायगा, यह दमन उतना ही बढता जायगा। जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिए गभीर खतरा बन जाता है तब भी यही होता है। यह भी आज हम अपने देश में होता हुआ देख रहे है कि किसानो और मज़दूरो को और उनके लिए काम करनेवाले कार्यकर्ताओ को अमानुषिक सजायें दी जाती है।

इस तरह इतिहास के बारे में मार्क्स का मत यह था कि समाज सदा बदलता और प्रगति करता रहता है। इसमें कोई स्थिरता नही है। यह एक गतिशील कल्पना थी। कुछ भी होता रहे, यह तो अनिवार्य रूप से आगे ही बढती है और एक तरह की सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर दूसरी आजाती है। लेकिन एक सामाजिक व्यवस्था उसी समय नष्ट होती है जब वह अपना काम पूरा कर चुकती है और उसका पूरी तरह विकास हो चुकता है। जब समाज अपनी समाई से ज्यादा बढ जाता है तब वह आसानी से पुरानी व्यवस्था के उन वस्त्रो को फाड़ फेकता है जो तग होकर उसे जकड़ने लगे थे और फिर वह नये और बड़े वस्त्र धारण कर लेता है।

मार्क्स के मत से विकास की इस महान् ऐतिहासिक प्रक्रिया में मदद करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। पहले की सब मंज़िलें तय हो चुकी। अब पूंजीवादी उच्च मध्यमवर्गी समाज और मज़दूरवर्ग का अन्तिम वर्ग-संघर्ष होरहा है। (अलबत्ता यह बात उन प्रगतिशील औद्योगिक देशो की है जहाँ पूंजीवाद का पूरा विकास हो चुका है।) अन्य देश जहाँ पूंजीवाद का विकास नही हुआ है, पिछडे हुए हैं और उनके सघर्षों का रूप कुछ मिला-जुला और भिन्न प्रकार का है। मगर वहाँ भी इस सघर्ष की कुछ-कुछ ऐसी ही सूरत है; क्योंकि संसार के देशों का आपसी सम्बन्ध दिन-दिन ज्यादा बढ़ता जारहा है। मार्क्स का कहना है कि पूजीवाद को कठिनाई पर कठिनाई और सकट पर संकट का सामना करना पड़ेगा और, चूंकि उसमें अन्दरूनी सतुलन का अभाव है, इसलिए वह अन्त में लुढ़क पड़ेगा। यह बात लिखे हुए मार्क्स को साठ वर्ष से ऊपर होगये और तबसे पूंजीवाद के लिए संकट भी बहुत आये। लेकिन अन्त होना तो दूर वह तो उनको पार कर गया, और रूस में तो अब वह बाक़ी नही रहा है, लेकिन इसके सिवा और जगह पहले से भी ज्यादा ताक़तवर हो गया है। हाँ, जिस वक़्त मै यह लिख रहा हूँ उस वक़्त दुनियाभर में पूंजीवाद बुरी तरह बीमार दिखाई देता है और डाक्टर लोग उसके अच्छा होने की सम्भावनाओं के बारे में जवाब दे रहे हैं।

कहा जाता है कि पूंजीवाद आज तक अपना जीवन लम्बाने में जो सफल हुआ है उसका एक उपादान कारण है जिसपर शायद मार्क्स ने पूरी तरह विचार नही किया। यह है पश्चिम के उद्योग-प्रधान देशो द्वारा

औपनिवेशिक साम्राज्यो का शोषण। इससे पूंजीवाद ने नया जीवन और समृद्धि प्राप्त किये, अलबत्ता उसकी क़ीमत चुकानी पड़ी उन बेचारे शोषित देशो को।

हम इस बात की बहुत बार निन्दा करते है कि मौजूदा पूंजीवाद में ग़रीब का धनवान और मजदूर का पूंजीपति शोषण करते हैं। बात सोलह आने सही है। इसलिए नही कि पूंजीवादी का क़सूर है, बल्कि इसलिए कि इस प्रणाली का आधार ही इस तरह के शोषण पर है। साथ ही हमे यह भी नही समझ लेना चाहिए कि पूंजीवाद में यह कोई नई चीज़ है। सभी पिछले युगो में सारी प्रणालियों के अन्तर्गत मजदूरों और ग़रीबों के कठोर और अटल नसीब में शोषण ही रहा है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि पूंजीवादी शोषण के बावजूद वे आज पिछले किसी भी जमाने से ज्यादा अच्छी हालत में हैं। लेकिन यह कहना नही कहने के बराबर है।

मार्क्सवाद का सबसे महान आधुनिक व्याख्याता लेनिन हुआ है। उसने इसका प्रतिपादन और इसकी व्याख्या ही नही की बल्कि उसके अनुसार आचरण भी किया। फिर भी उसने हमें यह चेतावनी दी है कि हम मार्क्सवाद को कोई ऐसा अकाट्य सिद्धान्त न मान बैठे, जिसमें उलट-फेर की गुजाइश न हो। उसे इसके तत्त्व की सचाई पर विश्वास था, मगर वह इसकी हरेक छोटी-छोटी बात को मानने और हर कही बिना सोचे-समझे लागू करने को तैयार नही था। वह हमें बताता है :—

> "हम किसी भी अर्थ में मार्क्सवाद को ऐसी चीज़ नही समझते जो सम्पूर्ण है और जिसमे कोई दोष नही निकाला जा सकता। इसके विपरीत हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह मत उस विज्ञान की केवल आधार-शिला है जिसकी समाजवादियों को हर दिशा में उन्नति करनी चाहिए, वर्ना वे जीवन की दौड में पीछे रह जायँगे। हमारे विचार मे रूसी समाजवादियो के लिए मार्क्स के मत का निष्पक्ष अध्ययन करना खास तौर पर ज़रूरी है, क्योंकि यह मत केवल व्यापक मार्गदर्शक विचार हमें देता है जो, उदाहरण के लिए फ़ास से इग्लैण्ड में, जर्मनी से फ़ास मे और रूस से जर्मनी मे अलग-अलग ढगो पर लागू किये जा सकते है।"

इस पत्र मे मैंने तुम्हे मार्क्स के मतो का कुछ हाल बताया है, मगर मैं नही जानता कि इस भानमती के पिटारे से तुम्हे कुछ फायदा होगा या नही और कोई स्पष्ट विचार मिलेंगे या नही। इन मतों को जान लेना इसलिए अच्छा है कि आज ये विशाल जन-समूहो को आन्दोलित कर रहे है और इनसे हमें अपने देश मे भी मदद मिल सकती है। रूस के महान राष्ट्र और सोवियत सघ के अन्य भागो ने मार्क्स को अपना बड़ा पैगम्बर मान लिया है और आज के कष्ट-पीड़ित संसार में बहुत लोग इलाज के लिए और प्रेरणा प्राप्त करने की सम्भावना से उसकी ओर निगाह दौड़ा रहे हैं।

मै इस पत्र को अग्रेज़ कवि टेनीसन की कुछ पक्तियों के साथ समाप्त करूँगा; जिनका आशय यह है—

> पुरानी व्यवस्था बदल कर नई के लिए जगह खाली करती है;
> और परमात्मा का काम कई तरीको से पूरा होता रहता है,
> ताकि ऐसा न हो कि एक अच्छा रिवाज दुनिया को भ्रष्ट करदे।

: १३५ :

इंग्लैण्ड में विक्टोरिया-युग

२२ फ़रवरी, १९३३

समाजवादी विचारों के विकास का वर्णन करते हुए मैंने अपने पत्रों में तुम्हे बताया है कि अग्रेज़ों का समाजवाद सबसे नर्म ढंग का रहा है। उस समय योरप में जितनी विचारधाराएं प्रचलित थी उनमें यह सबसे कम क्रांतिकारी था और यह आशा लगाये बैठा था कि धीरे-धीरे एक-एक कदम परिवर्तन होकर अच्छी हालत आ जायगी। कभी-कभी जब व्यापार बिगड़ जाता, मन्दी फैल जाती, बेकारी बढ जाती, मजदूरी घट जाती और लोगो को तकलीफ़ें होने लगती, तब इंग्लैण्ड में भी क्रान्ति की लहर उठ खड़ी होती

थी। मगर जरा हालत अच्छी हुई कि फिर जोश ठण्डा पड़ जाता। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों के विचारों की इस नर्मी का इग्लैण्ड की समृद्धि से गहरा सम्बन्ध था, क्योंकि समृद्धि और क्रांति में कोई समानता नही होती। क्रांति का अर्थ है महान परिवर्तन, और जो लोग मौजूदा हालत से बहुत-कुछ संतुष्ट होते हैं उन्हे अधिक अच्छी हालत होजाने की अनिश्चित आशा पर जोखिमभरे और उतावले साहस के काम कर बैठने की इच्छा नहीं होती।

उन्नीसवी सदी वास्तव में इंग्लैण्ड की महानता की सदी थी। अठारहवी सदी में उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशों से पहले नये कारखाने बनाकर जो अगुआई प्राप्त कर ली थी उसे उन्नीसवी सदी के अधिकांश में भी बनाये रक्खी। मैं कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारखाना था और उसमें दूर-दूर के देशों से धन की नदी बह कर आ रही थी। भारत और अन्य उपनिवेशो की लूट से उसे धन का अटूट खजाना प्राप्त हो रहा था जिससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। जिस समय योरप के क़रीब-क़रीब सभी देशों में परिवर्तन हो रहे थे, इंग्लैण्ड बिना किसी तरह की क्रान्ति के चट्टान की तरह मजबूत और ठोस नजर आ रहा था। समय-समय पर संकट की स्थितियाँ जरूर आईं, मगर वे कुछ अधिक आदमियों को वोट का अधिकार देकर टाल दी गईं। हम यह भी देख चुके हैं कि इस बीच में फ्रास में बारी-बारी से प्रजातन्त्रो और साम्राज्यों का ताँता लगा रहा; इटली में नया राष्ट्र पैदा हुआ जिसने युगो की फूट के बाद सारे प्राय-द्वीप को एक कर दिया; और जर्मनी में एक नये साम्राज्य ने जन्म लिया। बेलजियम, डेनमार्क और यूनान जैसे छोटे-छोटे देश भी बहुत-सी बातो में बदल गये। योरप के सबसे पुराने राजवंश हैप्सबर्ग की गद्दी आस्ट्रिया को फ्रास, इटली और प्रशिया ने बार-बार नीचा दिखाया। सिर्फ़ पूर्व में रूस का निरंकुश जार महान मुगल की तरह शासन कर रहा था और रूस में कोई परिवर्तन दिखाई नही दे रहा था। मगर रूस औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था और किसानो का राष्ट्र था। नये विचारों और नये उद्योगों की हवा उसे अभी तक नहीं लगी थी।

इंग्लैण्ड अपनी दौलत, अपने साम्राज्य और अपनी समुद्री शक्ति के कारण योरप पर और संसार-भर पर हावी होरहा था। वह प्रमुख राष्ट्र होगया था और उसका जाल दुनिया भर में फैला हुआ था। अमरीका का सयुक्त राज्य अभी तक अपने भीतरी झगड़ों में फँसा हुआ था और उसे दुनिया के मामलो की अपेक्षा घर की उन्नति की ज्यादा चिन्ता थी। यातायात के तरीक़ों में अद्भुत परिवर्तन हो रहे थे जिनके कारण पृथ्वी दिन पर दिन छोटी और सघन होती हुई मालूम दे रही थी। इनसे भी इंग्लैण्ड को दूर देशो पर अपना पंजा कसने में मदद मिली। इन सब परिवर्तनो के होते हुए भी इग्लैण्ड में सरकार का रूप वही बना रहा; एक वैधानिक बादशाह यानी सत्ताहीन शासक और सर्वसत्ताधारी मानी जानेवाली पार्लमेण्ट। इस पार्लमेण्ट को शुरू में मुट्ठीभर जमींदार और धनी व्यापारी चुनते थे, मगर बाद में जब-जब सकट की स्थिति पैदा हुई तब-तब आफ़त टालने के लिए इस सदी के दौरान मे अधिकाधिक लोगो को वोट का अधिकार दिया जाता रहा।

इस सदी के ज्यादातर हिस्से में विक्टोरिया इंग्लैण्ड की महारानी थी। वह जर्मनी के हनोवर घराने की थी। इस घराने ने अठारहवी सदी में ब्रिटिश राज-सिंहासन को जार्ज नाम के कई बादशाह दिये। विक्टोरिया सन् १८३७ ई० में गद्दी पर बैठी। उस समय वह १८ वर्ष की लड़की थी और उसने सदी के अन्त, यानी सन् १९०० ई०, तक तिरेसठ वर्ष राज्य किया। इग्लैण्ड में इस लम्बे जमाने को अक्सर विक्टो-रिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इसलिए महारानी विक्टोरिया ने योरप में और अन्य देशो में अनेक महान परिवर्तन देखे और पुराने मार्ग-चिन्हो को मिटता हुआ तथा नयो को उनकी जगह लेता हुआ देखा। उसने योरप की क्रांतियाँ, फ्रांस में परिवर्तन और इटली के राज्य तथा जर्मनी के साम्राज्य का उदय देखा। मृत्यु से पहले वह एक तरह से योरप की और योरप के राजाओ की दादी मानी जाने लगी थी। मगर योरप में विक्टोरिया का समकालीन एक और राजा था, जिसका भी वैसा ही इतिहास है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजघराने का सम्राट फ्रांसिस जोजेफ़ था। जब क्रांति के वर्ष सन् १८४८ ई० में वह अपने टूटे-फूटे साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तो उसकी भी उम्र अठारह वर्ष की थी। उसने अड़सठ वर्ष राज्य किया और किसी तरह आस्ट्रिया, हंगरी और अपने अधीन अन्य हिस्सों को एक सूत्र में बाँध रक्खा। लेकिन महायुद्ध ने उसका और उसके साम्राज्य का अन्त कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा भाग्यवान थी। अपने शासन-काल में उसने इंग्लैण्ड की शक्ति को बढ़ते हुए और उसके साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब वह गद्दी पर बैठी तब कनाडा में गड़बड़ थी। इस उपनिवेशमें खुली बग़ावत हो रही थी और वहाँ के अनेक निवासी इंग्लैण्ड से विलग होकर अपने पड़ौसी अमरीका के संयुक्त राज्य में मिल जाना चाहते थे। मगर इंग्लैण्ड ने अमरीका के युद्ध से सबक़ सीख लिया था और उसने तुरन्त ही कनाडा वालों को स्वशासन का बहुत कुछ अधिकार देकर संतुष्ट कर दिया। कुछ ही समय में वह बढ़ते-बढ़ते पूर्ण स्वशासित उपनिवेश बन गया। साम्राज्य में यह नये ढंग का प्रयोग था, क्योंकि आज़ादी और साम्राज्य का साथ नही हो सकता। मगर परिस्थिति से मजबूर होकर इंग्लैण्ड को ऐसा करना पड़ा, वर्ना वह कनाडा को खो बैठता। कनाडा के ज़्यादातर निवासी अंग्रेज जाति के थे, इसलिए मातृभूमि के साथ वे भावना के मज़बूत बंधन में बधे हुए थे। इधर इस नये देश में लम्बी-चौड़ी ज़मीनें बिना उपयोग पड़ी थी; और उसकी आबादी भी बहुत कम थी। इसलिए उसे अपने विकास के लिए इंग्लैण्ड के बने माल पर और अंग्रेज़ी पूँजी पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता था। इस कारण उस समय दोनों देशो के स्वार्थों में कोई विरोध नहीं था और उनके बीच में जो अजीब और नया रिश्ता क़ायम हुआ उस पर कोई ज़ोर नहीं पड़ा।

इसी सदी में आगे चलकर विदेशी अंग्रेज़ी बस्तियों को स्वराज्य देने का यह तरीका आस्ट्रेलिया में भी काम में लाया गया। जहाँ सदी के लगभग मध्यतक आस्ट्रेलिया क़ैदियो के रखने का स्थान था, सदी के अन्त में वह साम्राज्य के अन्तर्गत आज़ाद उपनिवेश बना दिया गया।

दूसरी तरफ भारत में अंग्रेजी शिकजा और भी कस दिया गया और देश-विजय के लिए युद्ध पर युद्ध करके ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य का विस्तार किया गया। भारत अंग्रेजो के पूरी तरह अधीन होगया। स्वराज की यहाँ छाया तक भी नही थी। सन् १८५७ ई० का विद्रोह कुचल दिया गया और भारत को साम्राज्य के पूरे बल का अनुभव करा दिया गया। मैं तुम्हे बता चुका हू कि इंग्लैण्ड ने विभिन्न उपायों से भारत का किस तरह शोषण किया। वास्तव में भारत ही ब्रिटेन का साम्राज्य था और मानो संसार के सामने इस तथ्य की घोषणा करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने भारत की साम्राज्ञी की उपाधि ग्रहण की। मगर भारत के अलावा दुनिया के अलग-अलग भागो में और भी कई छोटे-छोटे देश इंग्लैण्ड के अधीन थे।

इस तरह दो नमूनो के देशो से बना हुआ ब्रिटिश साम्राज्य एक अजीब भानमती का पिटारा होगया। एक तरफ तो स्वशासित देश थे जो बाद मे आज़ाद उपनिवेश होगये, और दूसरी तरफ अधीन और रक्षित देश थे। पहली तरह के देश एक तरह से एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे जो मातृदेश इंग्लैण्ड को अपना मुखिया मानते थे; दूसरी तरह के देश साफ तौर पर इस कौटुम्बिक सगठन के चाकर और गुलाम थे जिन्हे नीचा समझा जाता था, जिनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता था और जिनका शोषण किया जाता था। स्वशासित उपनिवेशो में अंग्रेज या अन्य योरपीय जातियाँ और उनकी सन्ताने रहती थी और अधीन देशो के लोग तमाम गैर-ब्रिटिश और ग़ैर-योरपीय थे। ब्रिटिश साम्राज्य के दोनो भागो का यह फ़र्क़ आजतक चला आ रहा है।

अपने धन-वैभव और साम्राज्य के कारण इंग्लैण्ड एक प्रकार से सतुष्ट शक्ति था, बिलकुल संतुष्ट तो नही था, क्योकि साम्राज्यवादी प्रवृत्ति किसी सीमान्त से सतुष्ट नही होती और सदा विस्तृत होना चाहती है। फिर भी इंग्लैण्ड को मुख्य परेशानी यह नही थी कि और ज़्यादा कैसे लिया जाय, बल्कि यह थी कि जो मिल गया है उसकी रक्षा कैसे की जाय। भारत तो उसके लिए ख़ासतौर पर सोने की चिड़िया थी जिसपर वह आख़री दम तक अधिकार रखना चाहता था। उसकी सारी वैदेशिक नीति का आधार यह था कि भारत उसके क़ब्ज़े में रहे और पूर्व के समुद्री रास्ते सुरक्षित रहें। इसी कारण उसने मिस्र में टाग अड़ाई और अन्त में उसपर अपना प्रभुत्व जमाया; इसी तरह उसने ईरान और अफ़ग़ानिस्तान में हस्तक्षेप किया। उसने बड़ी चलाकी से स्वेज नहर कम्पनी के हिस्से ख़रीद कर नहर पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

उन्नीसवी सदी के ज़्यादातर समय में योरप महाद्वीप के अधिकांश अन्य देशों की तरफ से इंग्लैण्ड को परेशानी नही रही, क्योंकि वे अपने घर के झगड़ों मे ही फसे हुए थे और अक्सर आपस में लड़ते रहते थे। इंग्लैण्ड ने योरप के एक देश को दूसरे से लड़ाकर और उनकी आपसी लाग-डाटो से लाभ उठाकर

योरप में सतुलन कायम रखने का अपना परम्परागत खेल जारी रक्खा। फ़ांस के नैपोलियन तृतीय से उसे खतरा लग रहा था, मगर वह धराशायी हो गया और फ़ास को दुबारा सम्हलने में कुछ समय लग गया। जर्मनी अभी इतना बड़ा नहीं हुआ था कि उसे खतरनाक प्रतिद्वन्दी समझा जाता। लेकिन एक देश ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देता हुआ मालूम पड़ता था और वह था ज़ारशाही रूस; जो था तो पिछड़ा हुआ मगर नक़शे पर फिर भी लम्बा-चौड़ा देश था। जैसे इंग्लैण्ड भारत में और दक्षिणी एशिया में फैल गया था, वैसे ही रूस का विस्तार उत्तरी और मध्य एशिया में हो चुका था और उसकी सरहद भारत से बहुत दूर नही थी। रूस की यह निकटता अंग्रेज़ों के लिए सदा हौवा बनी रहती थी। भारत की चर्चा करते समय मै तुम्हें अफ़-ग़ानिस्तान पर अंग्रेज़ों के हमले का और अफ़ग़ान युद्धों का हाल बतला चुका हूं। इन सबका मुख्य कारण ज़ारशाही रूस का डर था।

योरप में भी इग्लैण्ड और रूस की झडप हुई। रूस एक ऐसा अच्छा बन्दरगाह चाहता था जो बारहों महीने खुला रहे और सर्दियों में जिसका पानी जमे नही। अपने लम्बे-चौड़े प्रदेशों के बावजूद उसके सारे बन्दरगाह उत्तरी वृत्त[1] के ही आस-पास थे और वर्ष में कुछ महीने उनका पानी जमकर बर्फ़ हो जाता था जिससे वे बन्द हो जाते थे। भारत और अफ़गानिस्तान में, इसी तरह ईरान में भी, अंग्रेज लोग उसे समुद्र तक नही पहुँचने देते थे। काला सागर का मुह बास्फोरस और दर्रे-दानियाल पर तुर्की का अधिकार होने से बन्द था। वर्षों पहले रूस ने क़ुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करने की कोशिश की थी मगर तुर्कों के आगे उसकी दाल नही गली। इस समय तुर्कों का ज़ोर घट गया था और जिस चीज़ पर रूस की अर्से से लार टपक रही थी वह क़रीब-करीब हाथ में आती दिखाई दे रही थी। उसने उसे छीनने की कोशिश की। मगर इग्लैण्ड बीच में आ कूदा और बिलकुल स्वार्थपूर्ण कारणों से तुर्कों का हिमायती बन गया। सन् १८५४ ई० में क्रीमिया के युद्ध से और बाद में दूसरे युद्ध की धमकी से रूस आगे नही बढ़ने पाया।

सन् १८५४ से १८५६ ई० तक के इसी क्रीमिया युद्ध में फ्लोरेन्स नाइटिंगेल घायलो की परिचर्या के लिए वीर स्त्री स्वयं-सेविकाओ का एक दल लेकर गई थी। उस समय यह एक असाधारण काम था, क्योंकि विक्टोरिया-युग की मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ घर में ही रहनेवाली महिलाएँ थी। फ्लोरेन्स नाइटिंगेल ने उनके सामने क्रियात्मक सेवा की एक नई मिसाल रक्खी और वह बहुत-सी स्त्रियो को घर की चहारदीवारी से बाहर खीच लाई। इसलिए स्त्रियो के आन्दोलन की उन्नति में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

ब्रिटेन की सरकार का रूप वह था जिसे वैधानिक एकतत्री या "ताजधारी प्रजातत्र" कहते है। इसका अर्थ यह है कि ताज धारण करने वाले के हाथ में असली सत्ता कुछ न थी और वह पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मंत्रियो का केवल-मात्र प्रवक्ता होता था। राजनैतिक दृष्टि से वह मन्त्रियो के हाथ की कठपुतली होता था और कहा जाता था कि वह "राजनीति से परे" है। असल बात यह है कि तेज़ बुद्धि या मज़बूत इरादे वाला कोई भी आदमी सिर्फ़ कठपुतली बनकर नही रह सकता और अंग्रेज़ी बादशाहो या बेगमों को सार्वजनिक मामलो में दखल देने के बहुत अवसर मिलते हैं। आमतौर पर यह चीज़ परदे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम ही नही हो पाता या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाज़ी पर बहुत असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत खतरे में पड़ सकती है। वैधानिक राजा में जो बड़ा गुण होना आवश्यक है वह है व्यवहार-कुशलता। अगर यह उसमे है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह अनेक प्रकार से अपना असर डाल सकता है।

विधान और क़ानून के लिहाज़ से संयुक्त राज्य अमरीका के अध्यक्ष की तरह प्रजातन्त्रों के अध्यक्षो के हाथ में पार्लमेण्टवाले देशो के ताजधारी शासकों से बहुत ज्यादा सत्ता होती है। मगर अध्यक्ष जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं और राजा लम्बे समय तक बने रहते है और चुपचाप ही सही, लेकिन राजकाज पर किसी खास दिशा में लगातार असर डाल सकते हैं। बादशाह को साज़िशें करने और सामाजिक दबाव डालने के भी बहुत अवसर मिलते हैं, क्योंकि सामाजिक दुनिया में वही सर्वोपरि माना जाता है। वास्तव में शाही दरबारो का सारा वातावरण अधिकारवाद, पद-प्रतिष्ठा, उपाधियो और वर्गों का होता है और वह देशभर के लिए एक आदर्श स्थापित कर देता है। इस चीज़ का सामाजिक समानता और वर्ग-भेद

---

[1]Arctic Circle.

की समाप्ति से मेल नहीं बैठता। इसमें कोई संदेह नहीं कि इंग्लैण्ड में शाही दरबार के अस्तित्व का अंग्रेजों की मनोवृत्ति ढालने में और उनको समाज का वर्ग-भेद स्वीकार कराने में बड़ा असर पड़ा है। या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि जहाँ दुनिया के सारे बड़े-बड़े देशो से बादशाहत ग़ायब हो गई है वहाँ इंग्लैण्ड में उसके किसी तरह बच रहने का कारण यही है कि वहाँ लोगों ने ऊँचे और नीचे वर्गों के भेद को मान रक्खा है। एक पुरानी कहावत है कि "हरेक अंग्रेज लार्ड यानी सामन्त को चाहता है" और इसमें बहुत-कुछ सचाई है। योरप या अमरीका में, और शायद जापान और भारत के सिवा एशिया में भी, कही वर्ग-भेद इतने तीव्र नही है जितने इग्लैण्ड में हैं। यह ताज्जुब की बात है कि जो इग्लैण्ड गुज़रे ज़माने में राजनैतिक लोकतंत्रवाद और उद्योगवाद का अगुआ रह चुका है वह आज सामाजिक दृष्टि से इतना पिछड़ा हुआ और मौलिक रूप में इतना रूढ़िवादी है।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट "पार्लमेण्टों की जननी" कहलाती है। उसका जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण रहा है और बहुत-सी बातों में बादशाह की स्वेच्छाचारिता से लड़ने में उसने सबसे पहले कदम उठाया था। उस एकतंत्री शासन की जगह पॉर्लमेण्ट की अल्पतंत्री सत्ता आई, यानी मुट्ठीभर ज़मीदार और शासक वर्ग का शासन हुआ। फिर लोकतत्रवाद की सवारी गाजे-बाजे के साथ आई और बडी खीचतान के बाद आबादी के बहुमत को पार्लमेण्ट की कामन्स सभा के सदस्य चुनने का मताधिकार मिला। व्यवहार में इसका नतीजा वास्तविक लोकतत्री नियत्रण नही हुआ बल्कि धनवान कारखानेदारों के हाथ में पार्लमेण्ट की बागडोर आगई। लोकसत्ता के बजाय धन-सत्ता क़ायम हो गई।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने शासन और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली का विकास किया। यह दो दलो की प्रणाली कहलाती है। इन दोनो दलो में कोई ज्यादा फ़र्क नही था। उनके कोई परस्पर विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनो धनवानों के दल थे और उस समय की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल में पुराने ज़मीदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे में धनी कारखानेदारों की बहुतायत थी। मगर यह नागराज और सापराज का ही भेद था। पहले वे टोरी[1] और व्हिग[2] कहलाते थे। बाद में उन्नीसवी सदी में उसका नाम 'अनुदार' और 'उदार-दल' पड़ गया।

योरप के अन्य देशो की अवस्था भिन्न थी। वहाँ सचमुच अलग-अलग कार्यक्रमों और विचार-धाराओं वाले दल पार्लमेण्टो के भीतर और बाहर बड़ी सरगर्मी से लड़ते थे। मगर इंग्लैण्ड में तो घर कुटुम्ब-की-सी बात थी, विरोध भी एक प्रकार का सहयोग बन गया था, और दोनो दल बारी-बारी से सत्ता-धारी और विरोधी बनते रहते थे। धनवानो और गरीबों की असली मुठभेड़ और वर्ग-युद्ध पार्लमेण्ट में प्रकट नही होते थे, क्योकि दोनो बडे-बड़े दल धनवानो के दल थे। जनता के जोश को उभाड़नेवाले न तो कोई धार्मिक सवाल थे और न अन्य योरपीय देशों के-से जातीय या राष्ट्रीय सवाल थे। सदी के पिछले हिस्से में सरगर्मी का असली तत्व आया तो वह आयर्लेण्ड के राष्ट्रीय सदस्यो की तरफ़ से, क्योकि उनके लिए आयर्लेण्ड की आज़ादी एक राष्ट्रीय सवाल था।

जब ऐसे बड़े दो दल पार्लमेण्ट के लिए सदस्य खड़े करें तो स्वाधीन व्यक्तियों या छोटे-छोटे गिरोहों का चुना जाना बहुत मुश्किल होता है। लोकतन्त्र और मताधिकार के होते हुए भी बेचारे मतदाता की इस मामले में कोई सुनवाई नही होती। वह या तो दोनो में से किसी दल के उम्मीदवार के लिए वोट दे दे या घर बैठा रहे और वोट ही न दे। और दलो के सदस्यों को पार्लमेण्ट में कोई आज़ादी बाक़ी नही रहती। वे अपने-अपने दल के नेताओ की आज्ञा मानकर वोट देने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। क्योंकि इसी प्रकार वे अपने दल को सगठित बना सकते हैं और प्रतियोगी दल को हराने का बल प्राप्त कर सकते है तथा पदासीन हो सकते हैं। यह संगठन और एकरसता अपनी जगह पर निस्सन्देह अच्छी है, मगर यह वास्तविक लोकतंत्र से बहुत दूर है।

हम देखते हैं कि जिस इग्लैण्ड को अक्सर लोकतंत्री प्रगति का नमूना बताया जाता है, वहाँ भी लोकतंत्र को शानदार सफलता नहीं मिली। शासन की यह महान समस्या कि जनता अपने ऊपर शासन करने के लिए अच्छे-से-अच्छे आदमी कैसे चुने फिर भी संतोषजनक रूप में हल नही हुई। व्यवहार में

---

[1] Tory. [2] Whig.

लोकतंत्र का अर्थ यह होता है कि लोग खूब शोर मचावें और व्याख्यानबाजी करें और बेचारा मतदाता ऐसे आदमी को चुनने के लिए फुसलाया जाय जिसके बारे में वह कुछ भी नहीं जानता। आम चुनावों को खुला नीलाम कहा गया है, जिनमें सब तरह के वादे किये जाते हैं। मगर इन सब खामियों के होते हुए भी यह नामधारी या झूठा लोकतंत्र चलता रहा, क्योंकि इंग्लैण्ड सम्पन्न था और यह सम्पन्नता वहाँ की व्यवस्था को टूटने नहीं देती थी और लोगो में एक हद तक सन्तोष बनाये रखती थी।

उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड के राजनैतिक दलो के दो बड़े नेता डिज़रायली और ग्लैडस्टन थे। डिज़रायली, जो आगे चलकर बीकन्सफ़ील्ड का अर्ल हो गया, अनुदार दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधान मंत्री बना। उसके लिए यह मार्के की करामात थी, क्योंकि वह यहूदी था और उसके कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नही थे और यहूदियों को अंग्रेज लोग पसन्द भी नही करते। लेकिन सिर्फ़ योग्यता और लगन के बल पर उसने अपने विरुद्ध तास्सुब की भावना को जीत लिया और वह रास्ता चीर कर सबके आगे आ गया। वह बड़ा साम्राज्यवादी था, और विक्टोरिया को "क़ैसरे हिन्द" इसीने बनाया। ग्लैडस्टन एक पुराने धनी अंग्रेज घराने का था। वह उदारदल का नेता बन गया और वह भी कई बार प्रधान मंत्री रहा। जहाँ तक साम्राज्यवाद और विदेशी नीति का सम्बन्ध था वहाँ तक ग्लैडस्टन और डिज़रायली में कोई मौलिक अन्तर नही था। मगर डिज़रायली अपने साम्राज्यवाद की बात बेलाग कहता था; और ग्लैडस्टन, जो पूरा अंग्रेज था, असलियत को लच्छेदार बातो और नेक उपदेशों से ढक देता था। वह ऐसा प्रकट करता था, मानो जो कुछ भी वह करता था उसमें परमात्मा ही उसका मुख्य सलाहकार था। बलकान देशो में तुर्कों के अत्याचारों के विरुद्ध उसने बड़ा भारी आन्दोलन मचवाया और डिज़रायली ने केवल विरोध की खातिर तुर्कों का पक्ष लिया। असल में दोष तो तुर्कों का, और बलकान में विभिन्न क़ौमोंवाली उनकी प्रजाओ का, दोनो का ही था। वे बारी-बारी से भयकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैडस्टन ने आयर्लैण्ड के लिए स्वराज्य का भी समर्थन किया। वह सफल नही हुआ और अंग्रेज़ो का विरोध इतना प्रबल था कि खुद उदारदल के ही दो टुकड़े हो गए। एक हिस्सा अनुदार दल में जा मिला जो अब एकतावादी[1] दल कहलाने लगा क्योंकि ये लोग आयर्लैण्ड के साथ एकता का रिश्ता बनाये रखना चाहते थे।

मगर इस बारे में और विक्टोरिया-युग की अन्य घटनाओ के बारे में अगले पत्र में कुछ और बाते लिखूंगा।

: १३६ :

इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन जाता है

२३ फ़रवरी, १९३३

उन्नीसवी सदी में इंग्लैण्ड की समृद्धि का कारण उसके उद्योग-धंधे और उपनिवेशों तथा अधीन देशो का शोषण था। खास करके उसकी बढ़ती हुई दौलत का आधार चार उद्योग थे। इन्हें "बुनियादी" उद्योग कह सकते है। ये रुई, कोयला, लोहा और जहाज़-निर्माण थे। इनके चारो ओर और इससे अलग भी बेशुमार अन्य उद्योग, भारी भी और हलके भी, पैदा हो गये। बड़े-बड़े व्यवसाय-भवन और साहूकारी-भवन खड़े हो गए। अंग्रेज़ों के व्यापारी जहाज़ दुनिया के लगभग हर हिस्से में पाये जाने लगे। ये सिर्फ़ ब्रिटिश माल ही नही ले जाते थे, बल्कि दूसरे उद्योग-प्रधान देशो के बने हुए माल भी लादते थे। ये संसार भर में व्यापार-सामग्री को लाने-लेजाने के मुख्य साधन बन गये। लन्दन में लॉयड का बीमे का बड़ा दफ़्तर दुनिया की जहाज़रानी का केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगों और व्यवसायों के मालिको का प्रभुत्व था।

---

[1]Unionist.

देश में धन की बाढ़ आगई और ऊँचे तथा मध्यमवर्ग के लोग दिन पर दिन मालामाल होते गये। इस धन का कुछ हिस्सा मजदूरों को भी पहुंचा और उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो गया। धनवानों को जो इतना सारा धन मिल रहा था उसका वे क्या करते? उसे बेकार पड़ा रखना तो बेवक़ूफ़ी थी। इसलिए हर कोई उद्योग-धंधों को आगे बढ़ाने में जुट गया और ज्यादा-ज्यादा माल पैदा करके ज्यादा-से ज्यादा मुनाफ़ा बनाने लगा। इस धन का अधिकांश इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड में नये-नये कारखाने, रेलें और ऐसे ही अन्य धंधों में लग गया। कुछ समय बाद जब कारखानों की संख्या बहुत बढ़ गई और देश में उद्योग-धधो का पूरा जाल बिछ गया, तो नफ़े की दर घटना स्वाभाविक था, क्योंकि साथ-साथ प्रतियोगिता भी बढ गई थी। तब पूंजीपतियों ने पूंजी लगाने के अधिक लाभदायक क्षेत्रो की तलाश में देश से बाहर नजर दौड़ाई और उन्हें अवसर भी खूब मिल गये। दुनियाभर में रेलें बन रही थी और टेलीफ़ोन तथा टेलीग्राफ़ के तार और कारखाने डाले जा रहे थे। योरप, अमरीका, अफ़रीका और ब्रिटिश-राज्य के अधीन देशो में इस तरह के अनेक कामो में इंग्लैण्ड की फ़ालतू पूंजी खूब डाली जाने लगी। अमरीका के संयुक्त राज्य के पास प्राकृतिक साधनो की कमी नही थी, मगर वह तेजी से तरक़्क़ी कर रहा था, इस कारण उसकी रेलों वग़ैरा में बहुत-सी ब्रिटिश पूंजी खप गई। दक्षिण अमरीका में, और वहाँ भी खासकर अर्जेण्टाइना में, अँग्रेजो की बहुत बड़ी-बड़ी बाड़िया थी। कनाडा और आस्ट्रेलिया का तो निर्माण ही ब्रिटिश पूजी से हुआ। चीन मे रिआयतो के लिए जो लडाई हुई उसका कुछ हाल मै बता चुका हूँ। भारत में तो अग्रेजो का प्रभुत्व था ही। यहाँ उन्होने रेलों और दूसरे कामो के लिए अपनी मनचाही बेहिसाब शर्तों पर रुपया उधार दिया।

इस तरह इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सराफ़ा हो गया। लेकिन इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया उधार दिया जाता था तो कोई सोने, चाँदी या सिक्को की बोरियाँ भर-भर कर इग्लैण्ड से दूसरे देशो को भेजी जाती थी। आधुनिक व्यापार इस तरीक़े से नही होता, वरना लेन-देन के लिए सोने-चाँदी की ही कमी पड़ जाय। मूर्ख लोग सोने-चाँदी को बहुत ज्यादा महत्व देते हैं, मगर ये तो विनिमय के और माल को इधर-उधर पहुँचाने के साधन मात्र है। इन्हे न तो कोई खा सकता है न पहन सकता है, और न किसी अन्य उपयोग मे ला सकता है। इनके आभूषण अलबत्ता बन सकते है, मगर उनसे किसी को कोई फ़ायदा नही होता। सच्चा धन तो ऐसे माल का हाथ मे होना है, जिसका उपयोग हो सके। इसलिए जब इग्लैण्ड या ब्रिटिश पूंजीपति लोग रुपया उधार देते थे तो उसका अर्थ यह होता था कि वे किसी विदेशी उद्योग या रेल में कुछ पूजी लगाते थे, और नकद रुपए के बजाय ब्रिटिश माल भेजा जाता था। इस तरह ब्रिटिश मशीनें या रेलो का सामान दूसरे देशो को भेजा जाता था। इससे ब्रिटिश उद्योग-धधो को मदद मिलती थी और साथ ही साथ ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग को अपनी फालतू पूंजी बढ़िया मुनाफ़े पर लगाने के अवसर मिलते थे।

साहूकारी मुनाफे का धन्धा है और इग्लैण्ड ने जितना अधिक इसे अपनाया उतना ही अधिक वह मालदार बनने लगा। इससे एक बड़ा निठल्ला वर्ग पैदा होगया जो केवल इस व्यवसाय के मुनाफो और हिस्सो पर गुजर करता था। इन लोगों को किसी चीज के उत्पादन के लिए कोई काम ही नही करना पड़ता था। वे किसी रेलवे कम्पनी, चाय के बग़ीचे या अन्य व्यापारी सस्था के हिस्सेदार होते थे और उनके मुनाफ़े नियम से उनके पास पहुँचते रहते थे। इन निठल्ले अग्रेजो की बस्तियाँ फ़ेञ्च रिवीरा, इटली और स्वीजरलैण्ड जैसी आनन्ददायक जगहो में बस गईं। हाँ, इनमें से ज्यादातर लोग इग्लैण्ड में ही रहे।

जिस देश ने इस तरह इंग्लैण्ड से कर्ज लिया था वे सब उसका ब्याज या उस पर मुनाफ़ा किस तरह चुकाते थे? इसे भी वे सोना-चाँदी के रूप में नही भेज सकते थे। हर साल अदा करने को उनके पास काफ़ी सोना-चाँदी था ही नही। इसलिए वे माल की शक्ल में अदा करते थे; पक्का माल तो इतना नहीं देते थे, क्योंकि खुद इंग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशों में सबसे बढा-चढ़ा था। पर वे खाद्य पदार्थ और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहाँ से इंग्लैण्ड की ओर गेहू, चाय, क़हवा, मास, फल, शराब, रुई, ऊन, वग़ैरा की धारा निरन्तर बहती रहती थी।

दो देशों के बीच व्यवसाय का अर्थ है वस्तुओं का विनिमय। यह सम्भव नही कि एक देश खरीदता ही रहे और दूसरा बेचता ही चला जाय। ऐसा करने की कोशिश की जाय तो चुकारा सोना या चाँदी के

रूप ही में करना पड़े और वहाँ का सोना-चाँदी बहुत जल्दी निबट जाय या फिर एक-तर्फ़ा व्यापार अपने आप बन्द हो जाय। परस्पर व्यवसाय में वस्तुओं का विनिमय होता है जो अपने आप सधता रहता है; कभी एक देश का पल्ला भारी हो जाता है तो कभी दूसरे का। अगर हम उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्डके व्यापार की जाँच करें तो मालूम होगा कि सब मिला कर इंग्लैण्ड से जितना माल बाहर गया उससे ज्यादा माल उसके यहाँ आया। यानी, हालाँकि उसने भारी परिमाण में माल बाहर भेजा, फिर भी वास्तव में उसने उससे ज्यादा क़ीमत का माल मँगवाया। अन्तर इतना ही था कि उसने भेजा पक्का माल और मँगाये मुख्यतया कच्चे माल और खाद्य पदार्थ। इस तरह मालूम तो यह होता था कि उसने ख़रीदा ज्यादा और बेचा कम, और व्यापार करने का यह कोई अच्छा तरीक़ा नही नज़र आता। पर सही बात यह थी कि निर्यात के ऊपर आयात की अधिकता उसके उधार दिये हुए रुपये का मुनाफ़ा ही थी। यह वह नज़राना था जो क़र्ज़दार देश या भारत-जैसे अधीन देश उसे भेजते थे।

लगी हुई पूजी का सारा मुनाफ़ा इंग्लैण्ड नही पहुँच जाता था। उसका बहुत-सा हिस्सा क़र्ज़दार देश में रह जाता था और ब्रिटिश पूजीपति उसे फिर वही लगा देते थे। इस तरह, बिना नई पूंजी लगाये या इंग्लैण्ड से माल भेजे हुए, विदेशों में लगी हुई अंग्रेज़ो की पूंजी की रकम बढ़ती ही चली जाती थी। भारत में हमें बार-बार याद दिलाया जाता है कि रेलो, नहरों और बहुत-से अन्य कामो में अंग्रेज़ों की अपार पूजी लगी हुई है और इस हिसाब से भारत पर इंग्लैण्ड के "कर्ज़"की अपार धनराशि बताई जाती है। भारतवासी इस दावे को किसी तरह मानने को तैयार नहीं है, परन्तु यहाँ इसकी चर्चा करने की जरूरत नही। हाँ, इतना ध्यान में रखना चाहिए कि लगी हुई पूजी की इस भारी रक़म में इंग्लैण्ड से आई हुई नई पूजी अधिक नहीं है। यह तो भारत में कमाया हुआ मुनाफ़ा फिर से यही लगाया हुआ है। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि प्लासी और क्लाइव के समय में सचमुच अंग्रेज़ लोग भारत से बहुत-सा सोना और ख़ज़ाना इंग्लैण्ड ले गये थे। उसके बाद भारत के शोषण का रूप बदल गया और उतना खटकने वाला नही रहा और मुनाफो का कुछ हिस्सा इसी देश में फिर लगाया जाता रहा।

इंग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का ससार-व्यापी धन्धा चलाने का सिर्फ़ यही उपाय सम्भव है कि ब्याज का भुगतान माल के रूप में लेना मंज़ूर किया जाय। मैं तुम्हें बता चुका हूं कि वह सोना लेने पर नहीं अड़ सकता था। इसके दो महत्वपूर्ण परिणाम हुए। एक तो इंग्लैण्ड ने अपने निवासियो को खिलाने के लिए बाहर से खाद्य-पदार्थ आने की अनुमति देदी और अपने यहाँ की खेती को नष्ट हो जाने दिया। उसने बाहर बेचने के लिए अपने उद्योगो द्वारा पक्का माल तैयार करने पर सारा ज़ोर लगा दिया और अपने किसानों की दुर्दशा पर ध्यान नही दिया। अगर उसे विदेशो से सस्ता भोजन मिल सकता था तो घर में पैदा करने की झंझट की क्या जरूरत? और अगर उद्योगों से अधिक मुनाफ़ा बनाया जा सके तो खेती की परेशानी क्यो उठाई जाय? बस, इंग्लैण्ड निरा उद्योग-प्रधान देश बन गया और अपने भोजन के लिए विदेशों पर निर्भर हो गया।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि उसने "खुला व्यापार"[1] की नीति अपनाई, यानी उसके बन्दरगाहों पर दूसरे देशों से जो माल आता था उस पर वह या तो महसूल लेता ही न था या बहुत कम लेता था। चूँकि वह सबसे बढ़ा-चढ़ा औद्योगिक देश था, इसलिए पक्के माल के मामले में उसे बहुत समय तक प्रतिस्पर्धा का कोई डर नही था। इसलिए विदेशी माल पर महसूल लगाने का मतलब होता विदेशो से अपने यहाँ आने वाले भोजन और कच्चे माल पर महसूल लगाना। इससे जनता के भोजन का दाम बढ़ जाता और अपने यहाँ बनी हुई वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ जाती। इसके सिवा, अगर वह भारी महसूल लगाकर विदेशी माल को अपने यहाँ आने से रोक देता तो बाहर के क़र्ज़दार देश अपना नज़राना इंग्लैण्ड को कैसे चुकाते? वे तो माल के ही रूप में भुगतान कर सकते थे। यही कारण था कि जहाँ अन्य सब उद्योग-प्रधान देश संरक्षण-वादी थे, यानी अपने यहाँ आनेवाले विदेशी माल पर महसूल लगाकर अपने बढ़ते हुए उद्योग-धंधों की रक्षा कर रहे थे, वहाँ इंग्लैण्ड ने खुला-व्यापार की नीति ग्रहण कर रक्खी थी। संयुक्त राज्य अमरीका, फ़्रांस, जर्मनी, सब संरक्षणवादी थे।

---

[1]Free Trade.

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों की जो खेती की उपेक्षा करने, उद्योग-धंधों पर सारा जोर लगाने और बाहर से खाने की चीजें मंगाने और विदेशो के नजरानों पर मौज करने की नीति थी वह लाभदायक और मनभावन मालूम देती थी, परन्तु उसमें खतरे भी थे जो अब स्पष्ट सामने आ रहे हैं। उस नीति का आधार उद्योगो में इंग्लैण्ड की सर्वोपरिता और उसका विशाल विदेशी व्यापार था। लेकिन अगर यह सर्वोपरिता जाती रहे और साथ-साथ विदेशी व्यापार भी कम होने लगे तो ? उस हालत में वह भोजन की वस्तुओं के दाम कैसे चुकावेगा ? और अगर वह अपने भोजन की क़ीमत दे भी सका तो जब कोई शक्तिशाली शत्रु उसका रास्ता बन्द कर दे तब वह विदेशो से भोजन कैसे मगा पायगा ? पिछले महायुद्ध में वहाँ के लोगो को आधा-भूखा रहना पड़ा था, क्योंकि खाद्य पदार्थों की आमद क़रीब-करीब बन्द हो गई थी। इससे भी बड़ा खतरा यह है कि विदेशी प्रतिस्पर्धा की वजह से उसका विदेशी व्यापार दिन-दिन गिरता जा रहा है। यह प्रतिस्पर्धा उन्नीसवीं सदी के आखिरी बीस सालो में ज्यादा तीव्र होगई, क्योंकि तब अमरीका और जर्मनी विदेशी मंडियाँ ढूंढने लगे। धीरे-धीरे दूसरे देश भी उद्योग-प्रधान बन गये और इस तलाश में शामिल होगये; और अब तो क़रीब-क़रीब सारे ससार का किसी-न-किसी हद तक औद्योगीकरण हो चला है। हरेक देश की यह कोशिश है कि अपनी ज़रूरत का अधिक से अधिक सामान खुद तैयार कर ले और विदेशी माल न आने दे। भारत विदेशी कपड़े की आमद रोकना चाहता है। तब लकाशायर और विदेशी व्यापार पर निर्भर रहनेवाले अन्य ब्रिटिश उद्योग क्या करें ?

इन सवालो का जवाब देना इंग्लैण्ड के लिए मुश्किल है और उसके बुरे दिन आते दिखाई दे रहे हैं। वह कछुए की तरह हाथ-पैर सिकोड़ कर नही पड सकता और न अपना भोजन और आवश्यकता की अन्य वस्तुए पैदा करके स्वावलम्बी जीवन ही बिता सकता है। आधुनिक संसार इतना जटिल हो गया है कि यह बात सम्भव नही। और अगर वह अपनेको सबसे विलग कर भी ले तो इसमें सन्देह है कि वह अपनी बहुत ज्यादा बढी हुई आबादी के लिए काफी खाद्य-सामग्री पैदा कर सकेगा। लेकिन ये सवाल आज के हैं; उन्नीसवी सदी मे इनका कोई महत्व नही था। इसलिए इग्लैण्ड ने अपने भविष्य के साथ जुआ खेला और यह दाव लगा दिया कि उसकी सर्वोपरिता सदा बनी रहेगी। यह बडा भारी जुआ था और बाजी भी बड़ी ऊँची लगाई गई थी—यानी या तो ससार का प्रमुख राष्ट्र बनकर रहना या गिर कर खतम हो जाना। उसके लिए कोई बीच की मजिल नहीं थी। लेकिन विक्टोरिया-युग के मध्यमवर्गी अंग्रेज में न तो आत्म-विश्वास की कमी थी और न अहकार की। मुद्दत की समृद्धि और सफलता, और उद्योग तथा व्यवसाय में नेतृत्व ने उसे यह जचा दिया था कि वह बाकी की सारी मनुष्य-जाति से श्रेष्ठ है। वह सब विदेशियो को नाचीज समझने लगा। एशिया और अफरीका के लोग तो पिछड़े हुए और जंगली थे ही। वे तो इसीलिए पैदा किये गये मालूम होते थे कि पिछड़ी हुई मनुष्य जातियों पर हुकूमत करने और उन्हे सुधारने के लिए अंग्रेजो को अपनी सहज प्रतिभा का प्रयोग करने का मौका मिले। योरप के अन्य देशों के लोग भी अज्ञानी और अंधविश्वासी विदेशी थे। सभ्यता की चोटी पर बैठे हुए अंग्रेज ही श्रेष्ठता के योग्य थे। जो योरप बाकी दुनिया का सरदार था उसे पीछे लेकर बढने वाली हरावल वे ही थे। ब्रिटिश साम्राज्य एक तरह की अर्द्ध-दैवी सस्था थी जिसने ब्रिटिश जाति की महानता पर आखिरी मुहर लगा दी थी। लॉर्ड कर्ज़न ने, जो तीस वर्ष पहले भारत का वायसराय था और अपने समय का एक योग्यतम अंग्रेज था, अपनी एक पुस्तक उन लोगों को समर्पण की थी, "जो यह मानते हो कि भगवान के राज्य में ब्रिटिश साम्राज्य भलाई का ऐसा सर्व-श्रेष्ठ प्रेरक है जैसा संसार में आज तक कोई नहीं हुआ"।

विक्टोरिया-युग के अंग्रेज के बारे में यह सब जो मै लिख रहा हूँ वह ज़रा दूर से खींच कर हुई और असाधारण बात मालूम देती है और शायद तुम यह भी सोचने लगो कि मैं उसका मज़ाक़ उड़ाने की कोशिश कर रहा हूँ। यह ताज्जुब की बात है कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह का बर्ताव करे और ऐसा हैरत-भरा, अहकार-भरा और अपने मुंह मियाँ-मिट्ठूपन का रुख ग्रहण करे। लेकिन अपने को एक राष्ट्र माननेवाली जातियाँ किसी भी चीज़ पर यक़ीन कर लेंगी अगर वह उनके मिथ्याभिमान को गुदगुदानेवाली और उन्हे फ़ायदा पहुँचाने वाली हो। व्यक्तियों को अपने पड़ोसियों के प्रति ऐसा भोंडा और ओछा बर्ताव करने का कभी विचार भी नही आता, मगर राष्ट्रों को ऐसी आत्म-ग्लानि नहीं हुआ करती। दुर्भाग्य से हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे है और अपने-अपने राष्ट्रीय गुणों की शेखी बघारते फिरते हैं। थोड़े-से

फ़र्क़ के साथ विक्टोरिया-युग के अंग्रेज का नमूना लगभग सभी जगह पाया जाता है। योरप के सारे राष्ट्रो के अपने-अपने इसी तरह के राष्ट्रीय नमूने हुए हैं और ऐसे ही अमरीका और एशिया में भी।

इंग्लैण्ड और पश्चिमी योरप की समृद्धि का कारण उद्योगवाद और पूंजीवाद की उन्नति था। यह पूंजीवाद मुनाफ़ो की लगातार खोज में आगे बढ़ा जा रहा था। सफलता और मुनाफे ही वहाँ के लोगो के आराध्यदेव बन गये थे, क्योकि पूंजीवाद का धर्म या नैतिकता से कोई वास्ता नही था। यह व्यक्तियो और राष्ट्रों के बीच गला-घोट प्रतियोगिता का स्वयसिद्ध नियम था, और जो पीछे रह जाय वह जाय जहन्नुम में! विक्टोरिया-युग के लोगों को अपनी धार्मिक सहिष्णुता पर अभिमान था। उनका प्रगति और विज्ञान में विश्वास था और व्यापार और साम्राज्य में उनकी सफलता ने उनके लिए यह सिद्ध कर दिया था कि चुने हुए लोग वे ही थे जो जीवन-सग्राम में विजयी हुए। क्या डार्विन ऐसा नही कह गया था? धर्म के मामलो में उनकी सहनशीलता वास्तव में उदासीनता थी। आर.एच टॉनी नामक अग्रेज़ लेखक ने इस स्थिति का खूब अच्छा वर्णन किया है। वह कहता है कि पृथ्वी के मामलो से अलग करके ईश्वर को अपनी जगह पर बिठा दिया गया था। "स्वर्ग मे भी नियत्रित बादशाहत थी और पृथ्वी पर भी!" सम्पन्न मध्यमवर्गों की यह धारणा थी, मगर जनता को गिरजो मे जाने और धर्म पालन के लिए इस आशा से बढावा दिया जाता था कि इससे शायद उनमे क्रान्तिकारी विचार पैदा न हो पायें। धार्मिक सहिष्णुता का मतलब अन्य मामलो में सहिष्णुता नही थी। जिन बातो को बहुमत महत्व देता था उनमें ज़रा भी सहिष्णुता नही दिखाई जाती थी, और किसी भी तरह का खिचाव हो तो सहिष्णुता गायब हो जाती है। भारत में भी ब्रिटिश सरकार धर्म के मामलो में आला दर्जे की सहिष्णु है और इसे अपना एक सद्गुण बताती है। वास्तव में उसे इस बात की ज़रा भी परवा नही कि धर्म चूल्हे मे जाय। लेकिन अगर उसकी राजनीति की या उसके किसी काम की ज़रा भी आलोचना की जाय तो फौरन उसके कान खड़े होजाते हैं, और फिर उस पर कोई सहिष्णुता का दोष नही लगा सकता! जितना ज्यादा खिचाव हो वह उतनी ही नीचता पर उतर आती है, और अगर खिचाव काफ़ी बढ़ जाय तो फिर सरकार सहिष्णुता का सारा बाना उतार फेकती है और खुले तथा बेगैरत आतक पर उतर आती है। भारत में हम आज यही देख रहे है। कुछ ही दिन हुए, मैंने अखबार मे पढा था कि कुछ अग्रेज कर्मचारियो को धमकी के पत्र लिखने के अपराध मे एक लड़के को, जिसकी उम्र मुश्किल से तेरह-चौदह साल की होगी, आठ वर्ष की सख्त क़ैद की सजा दी गई है!

पूंजीवादी उद्योग के बढने से अनेक परिवर्तन पैदा हो गये। पूंजीवाद दिन पर दिन बडे पैमाने पर कार्य करने लगा। छोटे व्यवसायो की अपेक्षा बड़े व्यवसाय चलाना अधिक लाभदायक और अधिक सुचारु होता है। इसलिए उद्योगो का इकट्ठा सचालन करने वाले विशाल कपनी-सघ और व्यवसाय-सगठन बन गये और वे छोटे-छोटे स्वतत्र उत्पादको और कारखानो को हडप कर गये। व्यक्तियो के लिए स्वतत्ररूप से कार्य शुरू करने का अवसर बहुत कम रह गया, इसलिए "दखल न देने" के पुराने विचार इस नई स्थिति के सामने खडे नही रह सके। ये ज़बरदस्त कम्पनी-सघ और व्यापार-सघ सरकारो पर भी हावी होगये।

पूंजीवाद के कारण साम्राज्यवाद का एक अन्य तथा भीषण रूप पैदा हुआ। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में जैसे-जैसे उद्योग-प्रधान शक्तियो की प्रतियोगिता बढ़ने लगी, वैसे-वैसे वे मडियो और कच्चे माल की तलाश में और भी दूर-दूर क्षेत्रो की तरफ निगाहे दौडाने लगे। दुनियाभर में साम्राज्य के लिए भीषण छीना-झपटी होने लगी। एशिया में, यानी भारत, चीन, बृहत्तर भारत और ईरान में, जो कुछ हुआ उसका हाल कुछ विस्तार के साथ मे तुम्हे बता चुका हूँ। अब योरप की शक्तियाँ गिद्धो की तरह अफ़रीका पर टूट पडी और उसे आपस में बाँट लिया। यहाँ भी इंग्लैण्ड ने सबसे बडा हिस्सा लेलिया। उत्तर मे मिस्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण मे बड़े-बड़े प्रदेश उसके हाथ लगे। फ़ास भी फ़ायदे में रहा। इटली इस लूट के माल में से हिस्सा चाहता था, लेकिन ऐबीसीनिया ने उसे बुरी तरह हरा दिया और इस पर सभीको आश्चर्य हुआ। जर्मनी को भी हिस्सा मिला, पर वह सतुष्ट नही हुआ। चीखता-चिल्लाता, धमकाता, हड़प करता हुआ साम्राज्यवाद सब जगह बे-रोक-टोक बढ़ रहा था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नामी कवि रुडयार्ड किपलिंग ने "गोरों का भार"[1] के गीत गाये। फासवाले अपने सभ्यता-प्रसार के पवित्र ध्येय

की बातें करने लगे। जर्मनों को तो अपनी संस्कृति फैलाना ही था। बस, ये सभ्यता-प्रसारक, दशा-सुधारक और अन्य जातियों के भारों के वाहक, अतिशय त्याग-भावना लेकर निकल पड़े और गेंहुए, पीले, और काले लोगों की गर्दनों पर सवार होगये। और काले आदमी के भार के बारे में किसी ने गीत नही गाया।

इन तमाम लालची प्रतियोगी साम्राज्यवादों के लिए इस दुनिया में काफ़ी जगह नही थी। मण्डियों के लिए भीषण पूँजीवादी प्रेरणा हरेक देश को आगे धकेल रही थी और अक्सर इनकी आपस में मुठभेड़ें हो जाती थी। कई बार ऐसा मालूम हुआ कि इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ते-छिड़ते रह गया। मगर स्वार्थों की असली टक्कर तो अंग्रेज़ी और जर्मन उद्योगो के बीच हुई। उद्योग और जहाजरानी की दौड़ में जर्मनी ने इंग्लैण्ड को पकड लिया था और वह हर मडी में उसके मुकाबले में खडा हो रहा था। लेकिन उसने देखा कि पृथ्वीतल के सबसे अच्छे हिस्सो पर इग्लैण्ड ने पहले ही अधिकार जमा रक्खा था। जिस तरह कोई शानदार और जानदार घोड़ा लगाम खीचने पर बिगड़ उठता है, उसी तरह अन्य राष्ट्रो द्वारा रोका जाने पर जर्मनी तैश में आ रहा था और उनके साथ जबरदस्त संघर्ष की ज़ोरो से तैयारी कर रहा था। सारे योरप में भी युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं, जल और स्थल सेनायें बढ़ने लगी। विभिन्न देशो में गुट-बन्दियाँ होने लगीं, यहाँ तक कि दो हथियारबन्द दल आमने-सामने खडे नज़र आने लगे। एक तरफ़ जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की तिहरी गुटबन्दी थी और दूसरी तरफ रूस और फ्रास की दुहरी गुटबन्दी जिसके साथ इग्लैण्ड भी छिपे तौर पर चिपका हुआ था।

इसी बीच उन्नीसवीं सदी के अन्त में इंग्लैण्ड को दक्षिण अफरीका में एक छोटी-सी खानगी लडाई लडनी पडी। ट्रासवाल के बोअर प्रजातंत्र में सोने की खानें निकल आने के कारण सन् १८९९ ई० में यह युद्ध हुआ। बोअर लोग योरप की प्रमुख शक्ति के विरुद्ध तीन साल तक आश्चर्यजनक साहस और धैर्य के साथ लडे। उन्हे कुचल दिया गया और हार माननी पडी। मगर थोडे ही दिनो बाद अग्रेज़ो ने बुद्धिमानी और उदारता का काम किया कि अपने कुछ ही दिन पहले के दुश्मनो को पूर्ण स्वराज्य दे दिया। उस समय उदार दल का मन्त्रि मडल था। कुछ समय बाद सारा दक्षिण अफ़रीका ब्रिटिश साम्राज्य का स्वतन्त्र उपनिवेश बन गया।

: १३७ :

अमरीका में गृह-युद्ध

२७ फरवरी, १९३३

पुरानी दुनिया तथा उसके झगडो और षडयंत्रो ने, बादशाहो और क्रान्तियो ने, घृणा और राष्ट्रीयता के भावो ने हमारा बहुत ज्यादा समय ले लिया। अब ज़रा अटलाण्टिक महासागर को पार करके अमरीका की नई दुनिया में चल कर देखें कि योरप के लालची पंजे से छुटकारा पाने के बाद इस पर कैसी बीती। सयुक्त-राज्य पर हमें खास तौरसे ध्यान देने की जरूरत है। छोटी-सी शुरुआत से बढते-बढ़ते अन्त में आज यह सारे ससार की परिस्थिति पर छाया हुआ मालूम दे रहा है। इग्लैण्ड की स्थिति आज अभिमानपूर्ण नही रही। वह अब संसार का साहूकार नही रहा, बल्कि योरप के सारे अन्य देशो की तरह वह भी एक अभागा क़र्ज़दार देश है जिसे सयुक्तराज्य से कृपा-पूर्ण और उदारता-पूर्ण बर्ताव की भीख माँगनी पड़ रही है। साहूकार की पगड़ी अब अमरीका के सिर बँध गई है; धन की नदी उसकी ओर बह रही है; और वह आश्चर्य जनक सख्या में करोडपति पैदा कर रहा है। परन्तु दन्तकथा के मीडास की तरह उसका स्वर्ण-स्पर्श उसे अधिक आनन्द नही दे रहा है और बेशुमार करोड़पतियों के होते हुए भी आम जनता आज भी तगी और ग़रीबी भुगत रही है।

---

[1]Whiteman's Burden.

समुद्रतट के जिन तेरह राज्यों ने सन् १७७५ ई० में इंगलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था उनकी आबादी चालीस लाख से कम ही थी। आज अकेले न्यूयार्क शहर की आबादी उससे क़रीब दुगुनी है और सारे संयुक्तराज्य की साढ़े बारह करोड़ है। इस संघ में अब पहले से बहुत ज्यादा राज्य हैं और वे इस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक ठेठ प्रशान्त महासागर तक फैले हुए हैं। उन्नीसवी सदी में इस महान् देश के विस्तार और आबादी में ही नहीं बल्कि इसके आधुनिक उद्योग और व्यवसाय, धन और प्रभाव में भी वृद्धि हुई। संयुक्तराज्य को अनेक कठिनाइयों और झगड़ों का सामना करना पड़ा और योरपवालो के साथ युद्ध और उलझाव भी हुए, लेकिन इस पर पड़नेवाली सबसे बड़ी आफ़त थी उत्तर और दक्षिण के राज्यों के बीच भीषण तथा विनाशकारी गृह-युद्ध।

अमरीका के आज़ाद होने के कुछ ही साल बाद फ़ांस की राज्यक्रान्ति हुई और उसके पीछे नैपोलियन के युद्ध हुए। नैपोलियन और इंगलैण्ड दोनों एक-दूसरे के व्यवसाय को नष्ट कर देना चाहते थे और इस कोशिश में उनकी संयुक्तराज्य से मुठभेड़ होगई। अमरीका का समुद्री व्यवसाय बिलकुल चौपट होगया और इसके फलस्वरूप सन् १८१२ ई० में इंग्लैण्ड के साथ उसका दूसरा युद्ध छिड़ गया। इन दो वर्षके युद्ध का कोई खास नतीजा नहीं निकला। इस युद्ध के दौरान में, जब नेपोलियन एल्बा में ठिकाने लगा दिया गया और इंग्लैण्ड को उधर से छुट्टी मिल गई, तो अंग्रेज़ो ने किसी तरह अमरीका की राजधानी वाशिंगटन पर क़ब्ज़ा कर लिया और वहाँ की बड़ी-बड़ी सभी सरकारी इमारते जला दी। इनमें कैपिटल नामक भवन, जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन होते है; और व्हाइटहाउस, जिसमें राष्ट्रपति रहते हैं, शामिल थे। बाद में अंग्रेज़ो की पराजय होगई।

इस युद्ध से पहले ही अमरीका ने दक्षिण में एक बहुत बड़ा प्रदेश अपने इलाक़े मे मिला लिया था। यह फ़्रांस का लुइसियाना नामक पुराना उपनिवेश था। अंग्रेज़ो के समुद्री हमलों से इसकी बिलकुल रक्षा न कर सकने के कारण नैपोलियन ने इसे अमेरिका के हाथ बेच दिया था। कुछ साल बाद, सन् १८२२ ई० में, उसने स्पेन से खरीदकर फ़्लोरिडा को मिला लिया और सन् १८४८ ई० में मैक्सिको से युद्ध जीतकर कैलीफ़ोर्निया सहित कई और राज्य दक्षिण-पश्चिम मे लेलिये। इस दक्षिण-पश्चिमी भाग में अब भी बहुत-से नगरो के नाम स्पेनी हैं और उन दिनो की याद दिलाते हैं जब वहाँ स्पेनवालो का या स्पेन की भाषा बोलनेवाले मैक्सिको-निवासियो का राज्य था। सिनेमैडोम के बडे शहर लॉस ऐन्जेलीस और सैन फ्रासिस्को के नाम सभी ने सुने है।

जिस समय योरप बार-बार क्रान्तियों के और दमन के प्रयत्न कर रहा था, उसी समय सयुक्तराज्य पश्चिम की ओर फैलता जा रहा था। दमन के कारण योरप के लोग अपने-अपने देश छोडकर जा रहे थे और विशाल क्षेत्रों तथा ऊँची मज़दूरी की कहानियाँ उन्हे बड़ी संख्या मे योरप के देशो से अमरीका की तरफ़ खींच रही थी। जैसे-जैसे पश्चिम मे आबादी बढी वैसे-वैसे नये-नये राज्य बनते गये और सघ में शामिल होते गये।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के बीच शुरू से ही बड़ा भेद था। उत्तरी राज्य उद्योग-प्रधान थे और वहाँ बड़ी-बडी मशीनों वाले नये-नये उद्योग तेज़ी से बढ रहे थे; दक्षिण मे बड़ी-बड़ी बाड़ियाँ थी जिनमें गुलाम लोग मज़दूरी करते थे। गुलामी की प्रथा क़ानून से जायज़ थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नही करते थे और वहाँ उसका कोई महत्व भी न था। दक्षिण तो पूरी तरह गुलामों की मज़दूरी पर ही निर्भर था। ये गुलाम अफ़रीक़ा के हब्शी ही होते थे। गोरा एक भी गुलाम नहीं था। स्वाधीनता की घोषणा में कहा गया था कि "सब मनुष्य जन्म से समान है", पर यह बात गोरों पर ही लागू होती थी, कालों पर नही।

इन हब्शियो को अफरीका से किस तरह लाया जाता था, यह कहानी बड़ी दर्दनाक है। गुलामो का व्यापार सत्रहवी सदी के शुरू मे आरम्भ हुआ और सन् १८६३ ई० तक गुलामों की आमद नियमित रूप से जारी रही। शुरू में तो अफ़रीका के पश्चिमी समुद्र-तट से गुज़रने वाली माल-लदू नावे जब कभी आसानी से अफ़रीकी लोगों को पकड़ पाती तो उन्हें अमेरिका ले जातीं। इस समुद्र-तट का एक हिस्सा अब भी "गुलामों का तट" कहलाता है। खुद अफ़रीका के निवासियों में गुलामी का रिवाज बहुत कम था; वे केवल युद्ध-बन्दियों और क़र्ज़दारों के साथ ही गुलामों का-सा बर्ताव करते थे। अफ़रीकी लोगों को अमरीका लेजाकर गुलामों की तरह बेच देने का यह धन्धा बड़े मुनाफ़े का पाया गया। गुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें मुख्य-

तथा अंग्रेज, स्पेनी और पुर्तगाली लोगों ने व्यापार की तरह पैसा लगाया। गुलामों के व्यापार के लिए खास तरह के जहाज बनाये गये थे जिनकी छतों के बीच में दुछत्तें की कोठरियां होती थी। उनमें ये अभागे हब्शी जंजीरों से कसे हुए और दो-दो के पैरों में साथ बेड़िया डाल कर पड़े रहने को मजबूर किये जाते थे। अटलाण्टिक महासागर पार के समुद्री सफ़र में बहुत हफ्ते और कभी-कभी महीनो लग जाते थे। इन तमाम हफ़्तों और महीनों में ये हब्शी इन तंग कोठरियों में जंजीरो से बँधे पड़े रहते और हरेक को सिर्फ़ साढ़े पांच फुट लम्बी और सोलह इंच चौडी जगह दी जाती थी!

गुलामों के व्यापार की नींव पर लिवरपूल बहुत बड़ा शहर बन गया। सन् १७१३ ई० में ही जब यूट्रेस्ट की संधि हुई तो इंग्लैण्ड ने स्पेन से अफरीका और स्पेनी अमरीका के बीच गुलामों को लेजाने का विशेषाधिकार छीन लिया। इससे पहले भी इंग्लैण्ड अमरीका के अंग्रेजी प्रदेशों मे गुलाम पहुँचाया करता था। इस तरह अठारहवी सदी में अफ़रीका और अमरीका के बीच गुलामो के व्यापार को अग्रेजो की ठेकेदारी बनाने की कोशिश की गई। सन् १७३० ई० में लिवरपूल के पन्द्रह जहाज इस व्यवसाय में लगे हुए थे। यह सख्या बढ़ते-बढ़ते सन् १७९२ ई० में १३२ तक जा पहुंची। औद्योगिक क्रान्ति के शुरू के दिनो में इंग्लैण्ड के लंकाशायर प्रदेश में रुई की कताई का उद्योग बहुत उन्नति कर गया और इसके फलस्वरूप सयुक्तराज्य में गुलामो की माँग बढ़ गई। इसका कारण यह था कि लकाशायर की मिलों में खपने वाली रुई अमेरिका के दक्षिणी राज्यो की बडी-बडी कपास की बाड़ियो से आती थी। इन बाड़ियों का तेजी के साथ विस्तार हुआ, अफरीका से गुलाम भी ज्यादा आने लगे और हब्शियो की नस्ल बढ़ाने की भी हर प्रकार से कोशिश की गई! सन् १७९० ई० में सयुक्तराज्य में गुलामों की सख्या ६,९७,००० थी; सन् १८६१ ई० में यह बढ़कर ४०,००,००० हो गई।

उन्नीसवी सदी के शुरू मे ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गुलामी के विरुद्ध कड़े क़ानून पास किये। योरप और अमरीका के अन्य देशो ने भी ऐसा ही किया। लेकिन गुलामो का व्यापार इस प्रकार ग़ैर-कानूनी क़रार दिये जाने पर भी हब्शियो का अफरीका से अमरीका ले जाया जाना जारी रहा। फ़र्क़ यह हुआ कि सफर मे उनकी और भी अधिक दुर्दशा होने लगी। उन्हे चौडे-धाड़े तो ले जाया नही जा सकता था, इसलिए सरकवां टाँडो पर ऊपर-तले पटक कर लोगो की नज़रो से छिपाया जाता था। एक अमरीकन लेखक लिखता है:—"कभी-कभी भरी हुई टोबॉगन'[1] पर सवार होने वालो की तरह उन्हें एक-दूसरे के ऊपर टाँग पर टाँग रख कर लाद दिया जाता था!" इसकी पूरी भीषणता की कल्पना भी करना दुश्वार है। उन जहाजो की इतनी गन्दी हालत हो जाती थी कि चार-पाँच बार के सफ़र के बाद उन्हे रद्दी कर देना पड़ता था। मगर मुनाफ़ा बहुत ज़बरदस्त होता था और अठारहवी सदी के अन्त तथा उन्नीसवी के शुरू में, जब यह व्यापार पराकाष्ठा पर था, तो अफ़रीका के गुलामो के तट से हर वर्ष एक लाख के लगभग गुलाम ले जाये जाते थे। याद रहे कि इतने सारे गुलामो को लेजाने का यह मतलब था कि हब्शियों को पकड़ने के लिए जो छापे मारे जाते थे उनमें इनसे कही ज्यादा मौत के घाट उतार दिये जाते थे।

उन्नीसवी सदी के शुरू में या उसके आस-पास सभी बडे-बडे देशों ने इस व्यवसाय को गैर-क़ानूनी कर दिया। सयुक्तराज्य तक ने भी यही किया। हालाकि इस तरह गुलामों का व्यापार गैर-क़ानूनी होगया, मगर अमरीका में खुद ग़ुलामी जायज मानी जाती रही, यानी वहां पुराने गुलाम फिर भी गुलाम ही बने रहे। और चूंकि गुलामी जायज थी, इसलिए मनाई होने पर भी गुलामो का व्यापार जारी रहा। जब इंग्लैण्ड ने भी गुलामी-प्रथा उठा दी, तब गुलामों के व्यापार के लिए न्यूयार्क मुख्य बन्दरगाह हो गया।

यद्यपि उन्नीसवी सदी के बीच तक कितने ही वर्ष न्यूयार्क इस व्यापार का बन्दरगाह रहा, फिर भी अमरीका के उत्तरी राज्य गुलामी के विरुद्ध थे। इसके विपरीत, दक्षिणवालों को अपनी बाड़ियों में काम करने के लिए इन गुलामों की जरूरत थी। कुछ राज्यो ने गुलामी-प्रथा उठा दी और कुछ ने रहने दी। हब्शी लोग गुलामीवाले राज्यो से भाग कर बिना गुलामी के राज्यों में चले जाते थे और उनके बारे में झगड़े होते थे।

उत्तर और दक्षिण के आर्थिक हित जुदा-जुदा थे और उनके बीच सन् १८३० ई० में ही तट-करों

---

[1]टोबॉगन (Toboggan)—बर्फ पर चलने वाली बिना पहियों कि गाड़ी।

तथा चुंगी के महसूलो के मामले में कशमकश हो गई। संघ से अलग हो जाने की धमकियाँ दी गईं। राज्य अपने-अपने अधिकारो के प्रति जागरूक थे और संघ-सरकार का बहुत ज्यादा हस्तक्षेप पसन्द नही करते थे। देश में दो दल हो गये। एक राज्य की सत्ता का पक्षपाती था, दूसरा मजबूत केन्द्रीय सरकार चाहता था। इन मतभेदों के कारण उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई चौड़ी होती गई और जहाँ कहीं नये राज्य सघ में शामिल होते थे वही यह सवाल उठता था कि वे किस पक्ष का समर्थन करेंगे। बहुमत किधर होगा? उत्तर की आबादी तेजी से बढ रही थी, क्योंकि योरप से लोग आ-आकर वहाँ बस रहे थे। इससे दक्षिण के लोगों को डर हुआ कि उत्तर की बढ़ी हुई संख्या उन्हे दबा लेगी और हर सवाल पर ज्यादा वोट देकर उन्हे हरा देगी। इसलिए उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढता गया।

इसी बीच, उत्तर में गुलामी की प्रथा बिलकुल उठा देने का आन्दोलन खडा हुआ। इस आन्दोलन के समर्थको का मुख्य नेता विलियम लॉयड गैरीजन था। सन् १८३१ ई० में गैरीजन ने गुलामी-विरोधी आन्दोलन के समर्थन के लिए 'लिबरेटर' नामक एक पत्र निकाला। इसके पहले ही अक में उसने स्पष्ट कर दिया कि इस मामले में वह कोई समझौता नही करेगा और न मुलायमियत रक्खेगा। उस अक के कुछ वाक्य बहुत मशहूर हो गये हैं और मै उन्हे यहाँ दिये देता हूँ:

> "मै सत्य के समान कठोर और न्याय की तरह अटल रहूँगा। इस विषय पर मै मुलायमी से सोचना, बोलना या लिखना नही चाहता। नही! नही! जिसके घर में आग लगी हो उसे मुलायमी के साथ चिल्लाने को कहो; उसे बलात्कारी के हाथो से अपनी पत्नी को मुलायमी से छुडाने के लिए कहो, माता से कहो कि आग मे पडे हुए अपने बच्चे को धीरे-धीरे बाहर निकाले; —लेकिन इस जैसे उद्देश्य मे मुलायमी बरतने के लिए मुझ पर जोर मत डालो। मैने दृढ निश्चय कर लिया है—मै गोलमोल बात नही कहूँगा—मै क्षमा नही करूँगा,—मै तिलभर भी पीछे नही हटूँगा—और मेरी बात सुननी ही पडेगी।"

लेकिन यह वीर-वृत्ति थोडे-से लोगो तक ही सीमित थी। जो लोग गुलामी की प्रथा के विरुद्ध थे उनमें से ज्यादातर यह नही चाहते थे कि जहाँ गुलामी मौजूद है वहाँ उसमे दखल दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढता ही गया, क्योकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और तट-कर के प्रश्नो पर खास तौर पर आपस में टकराते थे।

सन् १८६० ई० में अब्राहम लिंकन सयुक्तराज्य का राष्ट्रपति चुना गया और उसका चुनाव, दक्षिणवालों के लिए विलग हो जाने का सकेत हो गया। लिंकन गुलामी का विरोधी था, मगर फिर भी उसने स्पष्ट कर दिया था कि जहाँ गुलामी पहले से मौजूद है वहाँ उसे नही छेडा जायगा। पर वह इस बात के लिए तैयार नही था कि यह नये राज्यो मे भी चालू की जाय या इसे कानूनी रूप दिया जाय। इस आश्वासन से दक्षिण का सन्तोष नही हुआ और एक-एक करके कई राज्य सघ से अलग हो गये। सयुक्तराज्य छिन्न-भिन्न हुआ चाहता था। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयकर स्थिति थी। उसने दक्षिण को राजी करने की और इस अग-भग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हें सब तरह के आश्वासन दिये कि गुलामी जारी रहने दी जायगी। उसने यहाँ तक कह दिया कि वह गुलामी को (जहाँ मौजूद है) विधान में शामिल करके उसे स्थायी रूप देने को भी तैयार था। असल में वह शान्ति की खातिर किसी भी हद तक जाने को राजी था, पर वह एक बात को मजूर नही कर सकता था, और वह थी सघ का छिन्न-भिन्न होना। किसी राज्य का सघ से अलग होने का अधिकार वह कतई मानने को तैयार नही था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें असफल रही। दक्षिण ने अलग हो जाने का फैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग भी हो गये। उनके साथ कुछ अन्य सीमावर्ती राज्यो की भी सहानुभूति थी। अलग होने वाले राज्य अपने को "सम्मिलित राज्य"[1] कहने लगे और उन्होने जैफ़र्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। सन् १८६१ ई० के अप्रैल में गृह-युद्ध छिड गया और पूरे चार वर्ष तक घिसटता रहा। इस युद्ध में अनेक भाई भाइयो से और मित्र मित्रो से लडे। जैसे-जैसे

[1] Confederated States.

युद्ध चला, दोनों तरफ़ विशाल फ़ौजें खड़ी हो गईं। उत्तर के पास अनेक सहूलियतें थीं, उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी। वह पक्का माल तैयार करने वाला और औद्योगिक क्षेत्र था, इसलिए उसके साधन बहुत ज्यादा थे और उसके यहां रेलें भी अधिक थीं। लेकिन दक्षिण के पास उससे अच्छे सैनिक और सेनापति थे—जिनमे जनरल ली खास थे। इसलिए शुरू-शुरू में सारी विजय दक्षिण के ही हाथ रही। लेकिन अन्त में दक्षिण लड़ते-लड़ते कमजोर हो गया। उत्तर की समुद्री फौज ने दक्षिण का सम्बन्ध योरप में उसकी मंडी से बिलकुल काट दिया और कपास तथा तम्बाकू का निर्यात रोक दिया। इससे दक्षिण अपंग हो गया। लेकिन इसका लंकाशायर पर भी बहुत विनाशकारी असर हुआ। वहाँ कपास न पहुँचने से बहुत सी मिलें बन्द हो गईं। लंकाशायर के मजदूर बेकार हो गये और घोर विपत्ति में पड़ गये।

इस युद्ध के बारे में अंग्रेज़ी लोकमत की आम तौर पर दक्षिणवालो के साथ सहानुभूति थी, या कम-से-कम धनिकवर्ग की राय दक्षिण के पक्ष में थी। वामपक्षी लोग उत्तर के हिमायती थे।

गृह-युद्ध का मुख्य कारण गुलामी नही था। जैसा मैं कह चुका हूँ, लिंकन अन्त तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहाँ कही मौजूद हो वहाँ वह उसे मानने को तैयार था। झगड़े की जड तो असल में दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ-कुछ परस्पर-विरोधी आर्थिक स्वार्थ थे और अन्त में लिंकन को संघ की रक्षा के लिए लड़ना पडा। युद्ध छिड़ जाने के बाद भी लिंकन ने गुलामी-प्रथा के बारे में कोई स्पष्ट घोषणा नही की, क्योंकि उसे डर था कि उत्तर मे गुलामी के अनेक समर्थक कही भड़क न जायं। हाँ, जैसे-जैसे युद्ध चलता गया वैसे-वैसे वह अधिक निश्चयात्मक होता गया। पहले उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि कांग्रेस मालिको को मुआवजा देकर गुलामो को आजाद करदे। बाद में उसने मुआवजा देने का विचार छोड़ दिया और अन्त में, सन् १८६२ ई० के सितम्बर में, उसने जो 'मुक्ति की घोषणा' निकाली उसमे यह ऐलान कर दिया कि सन् १८६३ ई० की पहली जनवरी से सरकार से बगावत करने वाले सब राज्यों के गुलाम आजाद हो जाने चाहिए। इस घोषणा के निकालने का मुख्य कारण शायद यह था कि वह युद्ध मे दक्षिण को कमजोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख गुलाम आजाद हो गये और निस्सन्देह यह आशा की गई थी कि सम्मिलित राज्यो में ये लोग बखेड़ा खडा कर देंगे।

जब दक्षिणवाले पूरी तरह पस्त हो गये तो सन १८६५ ई० में गृह-युद्ध समाप्त हुआ। वैसे तो युद्ध कभी भी भयकर चीज है, मगर गृह-युद्ध तो अक्सर और भी भयानक होता है। चार वर्ष के इस भीषण संघर्ष का बोझ सबसे ज्यादा राष्ट्रपति लिंकन पर पडा और उसका जो परिणाम निकला वह भी बहुत कुछ उसी की शान्त दृढ़ता के कारण था कि उसने सारी निराशाओं और आफतो के बावजूद भी हिम्मत नही हारी। उसे सिर्फ जीतने की ही धुन नही थी बल्कि वह चाहता था कि यह यथा-सम्भव कम से कम कटुता के साथ हो ताकि जिस संघ के खातिर वह लड रहा था वह हृदयो का सच्चा सम्मेलन हो और जबरदस्ती लादा हुआ मेल न हो। इसलिए युद्ध मे विजयी होते ही उसने पराजित दक्षिण के साथ उदारता का बर्ताव शुरू कर दिया। लेकिन युद्ध के बाद कुछ ही दिन बीते थे कि किसी सिर-फिरे ने उसे गोली से मार दिया।

अब्राहम लिंकन की गणना अमरीका के महानतम वीरो में है। उसका स्थान संसार के महान पुरुषों में भी है। उसका जन्म बहुत गरीब घर में हुआ था, उसने पाठशाला मे कोई शिक्षा नही पाई थी, जो कुछ शिक्षा उसने प्राप्त की वह ज्यादातर अपनी ही मेहनत से प्राप्त की थी। फिर भी वह उन्नति करके एक महान राज्य-शास्त्रवेत्ता और वक्ता बन गया और उसने एक महान संकट में से अपने देश की नाव को निकाल लिया।

लिंकन की मृत्यु के बाद अमरीका की कांग्रेस ने दक्षिणी गोरो के प्रति उतनी उदारता नहीं दिखाई, जितनी कि शायद लिंकन दिखाता। इन दक्षिणी गोरो को कई तरह की सजाएं दी गईं और बहुतो का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियो को नागरिकता के पूरे अधिकार देकर इस चीज़ को अमरीका के विधान में शामिल कर दिया गया। यह नियम भी बना दिया गया कि कोई राज्य किसी व्यक्ति को उसकी जाति, वर्ण या पहले की गुलामी के कारण मताधिकार से वंचित नही कर सकेगा।

हब्शी लोग अब क़ानूनी आधार पर आजाद हो गये और उन्हे वोट देने का अधिकार मिल गया। लेकिन इससे उन्हे कोई लाभ नही हुआ क्योकि उनकी आर्थिक स्थिति वैसी-की-वैसी ही रही। आजाद किये गये हब्शियो के पास कोई सम्पत्ति नही थी और उनका क्या किया जाय, यह पता लगाना एक समस्या होगई।

उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरों में जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे वहीं बने रहे और वे दक्षिण में अपने पुराने गोरे दक्षिणी मालिकों की मुट्ठी में वैसे के वैसे ही रहे आये। वे पुरानी बाड़ियों में रोजाना मजदूरों की तरह काम करते थे और जो मजूरी उनके गोरे मालिक दे देते वही उन्हें लेनी पड़ती। दक्षिणी गोरों ने आतंक द्वारा हर तरह हब्शियों को दबाये रखने के लिए अपना संगठन भी कर लिया। उन्होंने "क्यू क्लक्स क्लैन"[1] नामक एक अजीब गुप्त-सी संस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्के पहन-पहनकर हब्शियों को डराते फिरते थे और उन्हें चुनावों में वोट देने से भी रोकते थे।

पिछले पचास वर्षों में हब्शियों ने कुछ प्रगति की है। बहुतों के पास सम्पत्ति भी हो गई है और उनकी कई बढ़िया शिक्षण-संस्थाएं हैं। फिर भी निश्चित रूप में वे पराधीन जाति हैं। संयुक्तराज्य में उनकी संख्या एक करोड़ बीस लाख के क़रीब यानी सारी आबादी का क़रीब दसवाँ हिस्सा है। जहाँ कहीं उनकी संख्या थोड़ी है वहाँ उन्हें बरदाश्त कर लिया जाता है, जैसा कि उत्तर के कुछ हिस्सों में होता है। मगर ज्योंही उनकी संख्या बढ़ने लगती है त्योंही उनकी मुसीबत आ जाती है और उन्हें यह महसूस करा दिया जाता है कि उनकी हालत पुराने गुलामों से किसी भी तरह अच्छी नहीं है। होटलों, आहार-गृहों, गिरजों, कालेजों, बाग़ों, स्नान करने के समुद्री घाटों, ट्रामगाड़ियों और भण्डारों तक में, सभी जगह, उन्हें अछूतों की तरह गोरों से अलग रक्खा जाता है! रेलों में उन्हें खास डिब्बों में बैठना पड़ता है जो "जिम क्रो गाड़ियाँ"[2] कहलाती हैं। गोरों और हब्शियों के बीच विवाह-सम्बन्ध क़ानून से वर्जित हैं। वास्तव में तरह-तरह के विचित्र क़ानून हैं। अभी सन् १९२६ ई० में ही वर्जीनिया राज्य ने एक क़ानून बनाकर गोरों और कालों का एक आँगन में साथ-साथ बैठना भी रोक दिया है!

कभी-कभी गोरों और हब्शियों में भयंकर जातिगत दंगे होते हैं। दक्षिण में अक्सर "लिञ्च" करने की भीषण वारदातें होती रहती हैं; यानी किसी आदमी पर मुजरिम होने का सन्देह करके भीड़ उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्हीं वर्षों में ऐसी घटनाएं भी हुई हैं कि गोरे लोगों की भीड़ ने हब्शियों को खम्भे से बाँधकर जिन्दा जला दिया।

यों तो सारे अमरीका में ही पर खास तौर पर दक्षिणी राज्यों में हब्शियों के लिए अब भी बहुत मुसीबतें हैं। अक्सर जब मजदूरों का मिलना कठिन हो जाता है तब दक्षिण के कुछ राज्यों में निरपराध हब्शियों को किसी बनावटी जुर्म में जेल भेज दिया जाता है और फिर उन कैदी मजदूरों को खानगी ठेकेदारों को किराये पर दे दिया जाता है। यह चीज़ तो बहुत बुरी है ही, मगर इसके साथ की हालतें तो दिल दहलाने वाली हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आखिर क़ानूनी आज़ादी ही कोई बहुत बड़ी बात नहीं होती।

क्या तुमने हैरियट बीचर स्टो की 'टॉम काका की कुटिया'[3] पढ़ी है, या उसका नाम सुना है? यह पुस्तक दक्षिणी राज्यों के पुराने हब्शी गुलामों के बारे में है और इसमें उनकी दर्दनाक कहानी दी गई है। यह गृह-युद्ध से दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी और अमरीका के लोगों को गुलामी के विरुद्ध उभाड़ने में इसका बड़ा असर पड़ा था।

---

[1] क्यू क्लक्स क्लैन (Ku Klux Klan)—अमरीका के दक्षिणी राज्यों के गोरों की गुप्त समिति जो १८६५ ई० में स्थापित हुई। इसका काम हब्शियों को दंड देना था। यह १८७६ ई० में तोड़ दी गई थी परन्तु १९१५ ई० में फिर जाग उठी। फिर १९२८ ई० के बाद शान्त हो गई। इसने हब्शियों तथा कैथलिकों को बहुत आतंकित किया और अनेक हत्याएं भी कीं।

[2] Jim Crow Cars

[3] Uncle Tom's Cabin.

: १३८ :

अमरीका का अदृश्य साम्राज्य

२८ फरवरी, १९३३

गृह-युद्ध ने अमरीका के नौजवानों की जानों का भयकर संहार किया और वह कर्ज का भारी बोझ भी छोड़ गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और शक्ति से भरा था इसलिए इसकी बढ़वार जारी रही। उसके पास जबरदस्त प्राकृतिक साधन थे और खनिज पदार्थों की विशेष प्रचुरता थी। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीजें आधुनिक उद्योग और सभ्यता का आधार हैं, यहाँ विपुल परिमाण में थी। देश में जल-शक्ति का भी भडार था जिससे विद्युत-शक्ति पैदा की जा सकती थी। इस सिलसिले में नियागरा जल-प्रपात का एक उदाहरण तो तुम्हें याद आ ही जायगा। यह बहुत लम्बा-चौडा देश था, जिसकी आबादी अपेक्षाकृत कम थी और हरेक आदमी के लिए पैर पसारने की काफी जगह थी। इसलिए एक महान् उत्पादक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सुविधाए इसे उपलब्ध थी और वह इस रास्ते पर बहुत तेजी के साथ बढने लगा। सन् १८८० ई० तक पहुँचते-पहुँचते अमरीका के उद्योग विदेशी मंडियो मे ब्रिटिश उद्योगों का मुकाबला करने लग गये थे। इग्लैण्ड ने वैदेशिक व्यापार पर सौ वर्ष से अपना जो प्रभुत्व आसानी के साथ जमा रक्खा था उसे अमरीका और जर्मनी ने समाप्त कर दिया।

इस देश में बाहर से लोग धड़ाधड़ आकर बसने लगे। योरप से सब तरह के लोग आये, जैसे जर्मन, स्कॅडीनेवी, आयरिश, इटालवी, यहूदी, पोल, वगैरा। इनमे से बहुत-से तो अपने देशों में होने वाले राजनैतिक आतक से भाग कर आये थे और बहुत-से निर्वाह के अच्छे साधनों की तलाश मे। अति घनी आबादी वाले योरप ने अपनी बेशी आबादी अमरीका में भरना शुरू कर दिया। जातियो, कौमो, भाषाओ और धर्मों का यह एक असाधारण घालमेल था। योरप में ये सब अपनी-अपनी छोटी-सी दुनिया में अलग-अलग रहते थे और इनके दिल दूसरो के प्रति घृणाओं और विद्वेषो से भरे रहते थे; यहाँ वे एक ही साथ एक नये वातावरण में आ पड़े जहाँ पुरानी घृणाओ का कोई महत्व नजर नही आता था। अनिवार्य शिक्षा की एक समान प्रणाली ने इनकी राष्ट्रीय विषमताओ को घिस डाला और विभिन्न जातियो की इस खिचड़ी में से अमरीकी नमूना पैदा होने लगा। पुराने ऐंग्लो-सेक्सन वंश के लोग अपने को कुलीन समझते थे, समाज के यही अगुआ थे। इनके बाद, किन्तु इनके करीब, उन जातियो का स्थान था जो उत्तरी योरप से आई थी। उत्तरी योरप के ये लोग दक्षिण योरप से आये हुए लोगो को, खासकर इटली वालों को, नीची नजर से देखते थे और उन्हें "डेगो"[1] कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो बिल्कुल अलग थे ही। ये तमाम जातियो से नीचे समझे जाते थे और किसी भी गोरी जाति से मिलते-जुलते नही थे। पश्चिमी समुद्र के तट पर कुछ चीनी, जापानी और भारतीय आ बसे थे। ये लोग उस समय आये थे जब वहाँ मजदूरो की माँग बहुत ज्यादा थी। एशिया की ये जातियाँ भी औरो से अलग-थलग रहती थी।

रेलो और तारो के जाल चारो ओर बिछ जाने से यह विशाल देश एक सूत्र में बँध गया। पहले दिनों में यह सम्भव था, क्योकि उस समय एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने में हफ्तों और महीनो लग जाते थे। हम देख चुके है कि पुराने जमाने में एशिया और योरप में अक्सर बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, लेकिन यातायात और सवारियों की कठिनाइयों के कारण वे सब एक सूत्र में नही बँध पाये। साम्राज्य के विभिन्न भाग एक तरह से स्वाधीन होते थे और अलग-अलग अपना काम-काज करते थे, सिवाय इसके कि वे सम्राट की सर्वोपरिता को मानते थे और उसे खिराज देते थे। ये साम्राज्य असल में एक सरदार की अधीनता में विभिन्न देशो के ढीले-ढाले गुट्ट होते थे। इन में कोई समान दृष्टिकोण नहीं पाया जाता था। लेकिन अमरीका के सयुक्तराज्य में रेलो और यातायात के अन्य साधनों तथा एक-समान शिक्षा-प्रणाली के कारण अपने विभिन्न जातियो में समान दृष्टिकोण का विकास हो गया। ये अनेक जातियाँ धीरे-धीरे मिलकर एक वंश बन गईं। यह प्रक्रिया अभी तक पूरी नही हुई हैं; इसका सिलसिला अभी तक जारी है। इतने बड़े

[1] डेगो (Dago)—गेहुंआ वर्ण वाले विदेशी।

पैमाने पर जाति-सम्मिश्रण का कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में नही मिलता।

सयुक्तराज्य ने योरप के झगड़े-टंटों और योरपीय शक्तियों के षड्यन्त्रों से दूर रहने की कोशिश की और वह यह चाहता था कि योरप भी उत्तरी और दक्षिणी दोनों अमरीकाओ से दूर रहे। मैं तुम्हें "मनरो सिद्धान्त" के बारे में बता चुका हूँ। जब कुछ योरपीय शक्तियो के "पवित्र गठ-बन्धन" ने दक्षिण अमरीका में स्पेन के साम्राज्य की रक्षा करने के लिए दखल देना चाहा, तब सयुक्तराज्य के राष्ट्रपति मनरो ने इस नियम की घोषणा की थी। इस घोषणा में उसने कहा था कि सयुक्तराज्य सारे अमरीका मे किसी योरपीय शक्ति का फ़ौजी हस्तक्षेप बर्दाश्त नही करेगा। इस घोषणा ने दक्षिणी अमरीका के कम-उम्र प्रजातन्त्रो को योरप के फन्दे से बचा लिया। इसकी वजह से इंग्लैण्ड से एक बार युद्ध भी होते-होते रह गया, लेकिन अमरीका इस नीति पर आज सौ बरस से ज्यादा हुए, डटा हुआ है।

दक्षिणी अमरीका उत्तरी अमरीका से बिलकुल भिन्न था और सौ वर्ष के समय में भी इस भिन्नता में कोई कमी नही हुई। उत्तर में कनाडा दिन-दिन सयुक्तराज्य के समान बनता जा रहा है। लेकिन दक्षिणी अमरीका के प्रजातन्त्र वैसे नही बन रहे है। मैंने तुम्हे पहले बताया है कि दक्षिणी अमरीका के ये प्रजातन्त्र जिनमें मैक्सिको भी शामिल है, यद्यपि वह उत्तरी अमरीका में है—लातीनी प्रजातन्त्र कहलाते हैं। अमरीका और मैक्सिको की सरहद दो विभिन्न जातियो और संस्कृतियों को अलहदा करती है। इस सरहद के दक्षिण में मध्य-अमरीका की पतली पट्टी के उस पार और दक्षिण अमरीका के विशाल महाद्वीप भर मे जनता की भाषा स्पेनी और पुर्तगाली है। वास्तव में वहाँ स्पेनी भाषा का ही प्रभुत्व है क्योंकि मेरा ख़याल है कि पुर्तगाली सिर्फ़ ब्राज़िल मे ही बोली जाती है। दक्षिणी अमरीका के कारण ही स्पेनी भाषा आज ससार की महान भाषाओ में स्थान रखती है। लातीनी अमरीका अब भी सास्कृतिक प्रेरणा के लिए स्पेन की ही ओर देखता है। संयुक्तराज्य और कनाडा में जातीय वर्ग-भेद जितना महत्व रखते है उतना लातीनी अमरीका मे नही। स्पेनी वश के लोगो और अमरीका के मूल निवासियो, यानी रेड-इडियनो, और कुछ हद तक हब्शियो के बीच, अन्तर्जातीय विवाह-सम्बन्धो के फलस्वरूप यहाँ एक मिश्रित जाति पैदा होगई है।

सौ वर्षों की आज़ादी के बावजूद भी लातीनी अमरीका के ये प्रजातन्त्र शान्तिके साथ रहना पसन्द नही करते। समय-समय पर इन देशो मे क्रान्तियाँ और सैनिक तानाशाहियाँ होती रहती है और यहाँ की निरन्तर परिवर्तनशील राजनीति और सरकारो की प्रगति को समझना आसान नही है। दक्षिण अमरीका के तीन प्रमुख देश, अर्जेण्टाइन, ब्राज़िल और चाइल हैं। इनको ए० बी० सी० देश भी कहते है, क्योकि इनके नामो के पहले अक्षर क्रमशः ए, बी, और सी है। उत्तरी अमरीका मे मैक्सिको लातीनी-अमरीकी देशो में अग्रगण्य है।

मनरो सिद्धान्त के द्वारा सयुक्तराज्य ने लातीनी अमरीका में योरप को टाग अडाने से रोक दिया। लेकिन ज्यो-ज्यो सयुक्तराज्य खुद सम्पन्न होता गया वह अपने विस्तार के लिए बाहर नये क्षेत्रो की तलाश करने लगा। स्वभावत इनकी निगाह पहले लातीनी अमरीका पर पडी। लेकिन साम्राज्य निर्माण के पुराने तरीक़े के अनुसार इसने इनमें से किसी देश पर ज़बरदस्ती कब्ज़ा करने का प्रयत्न नही किया। इन्होने इन देशो में अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनकी मडियो पर क़ब्ज़ा कर लिया। इन्होने दक्षिण में रेलो, खानो तथा अन्य धन्धो में भी अपनी पूँजी लगादी, सरकारो को, और कभी-कभी क्रान्तियो के समय आपस में लड़नेवाले दलो को, रुपया उधार दिया। 'इन्होने' से मेरा मतलब अमेरिका के पूंजीपतियो और साहूकारो से है, लेकिन इनकी मदद पर और इनकी पीठ ठोकने वाली अमरीका की सरकार थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस रुपये के बल पर जो इन्होंने उधार दे रक्खा था, या लगा रक्खा था, मध्य और दक्षिण अमरीका की अनेक छोटी-छोटी सरकारो पर नियंत्रण करने लगे। ये साहूकार इन देशो के एक दल को धन या अस्त्र-शस्त्र ऋण रूप में देकर और दूसरे दल को न देकर क्रान्तियाँ भी करा सकते थे। इन साहूकारो और पूँजीपतियो की पीठ पर सयुक्तराज्य की ज़बरदस्त सरकार थी, फिर दक्षिणी अमरीका के छोटे और कमज़ोर देश इनका क्या बिगाड सकते थे? कभी-कभी तो संयुक्तराज्य ने शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के बहाने किसी देश के एक दल की मदद के लिए सचमुच अपने सैनिक ही भेज दिये।

इस तरह अमरीकी पूँजीपतियो ने दक्षिणी अमरीका के इन छोटे-छोटे देशो पर कारगर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। उनके बैंक, रेले, और खानें, सब इन पूँजीपतियो के हाथो में थी और अपने लाभ के लिए

वे इनका शोषण करते थे। लगी हुई पूँजियों और मुद्रा-नियंत्रण के कारण लातीनी अमरीका के बड़े-बड़े देशों में भी इनका ज़बरदस्त प्रभाव था। इसका मतलब यह हुआ कि सयुक्तराज्य ने इन देशो के धन पर या उसके बहुत बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया था। यह ग़ौर करने की चीज़ है, क्योंकि यह नये क़िस्म का साम्राज्य है—अधुनिक नमूने का साम्राज्य है। यह साम्राज्य अदृश्य और आर्थिक है और बिना कोई स्पष्ट बाहरी चिन्हों के शोषण करता है और प्रभुत्व जमाता है। दक्षिणी अमरीका के प्रजातन्त्र राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से आज़ाद और स्वाधीन हैं। नकशे पर ये बड़े विशाल देश दिखाई पड़ते है और इस बात का कोई भी निशान नही दिखाई देता कि ये किसी भी रूप में परतन्त्र है। लेकिन फिर भी इनमें से ज्यादा-तर देशो पर सयुक्तराज्य का पूरा प्रभुत्व है।

हमने अपने इतिहास की झलक में भिन्न-भिन्न युगों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के साम्राज्य देखे हैं। ठेठ शुरू में एक क़ौम की दूसरी क़ौम पर विजय का यह मतलब होता था कि विजेता लोग पराजित देश या उसके निवासियो के साथ जो चाहे सो करें। विजेता लोग देश और उसके निवासी दोनो पर कब्ज़ा कर लेते थे, यानी पराजित लोग गुलाम बन जाते थे। यही आम रिवाज था। बाइबिल मे हम पढ़ते है कि बाबीलन वाले यहूदियो को पकड कर ले गये थे क्योंकि यहूदी लोग युद्ध में हार गये थे। इस किस्म की और भी बहुत-सी मिसाले है। धीरे-धीरे इसकी जगह पर दूसरे नमूने का साम्राज्य आगया, जिसमें सिर्फ़ धरती पर कब्ज़ा कर लिया जाता था लेकिन जनता को गुलाम नही बनाया जाता था। क्योकि यह मालूम हो गया था कि टैक्स लगाकर या शोषण के अन्य तरीको से उनसे ज्यादा आसानी के साथ रुपया ऐंठा जा सकता है। हममें से ज्यादातर लोग अभी तक इसी किस्म के साम्राज्यो को जानते हैं, जैसे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य, और हम लोगो का खयाल है कि अगर अग्रेज़ो के हाथो से भारत की राजनैतिक बागडोर सचमुच निकल जाय तो भारत आज़ाद हो जायगा। लेकिन साम्राज्य का यह रूप तो खतम ही होता जा रहा है और एक अधिक उन्नत और परिपूर्ण नमूने का साम्राज्य इसकी जगह ले रहा है। सबसे नई तरह का यह साम्राज्य ज़मीन पर भी क़ब्ज़ा नहीं करता, वह तो सिर्फ देश के धन पर या धन-उत्पादक साधनो पर अपना अधिकार जमाता है। ऐसा करके वह देश का पूरा शोषण करके मुनाफा भी उठा सकता है और उस पर काफी नियत्रण भी रख सकता है और साथ ही उस देश के शासन या दमन की ज़िम्मेदारी से भी बच जाता है। अमली तौर पर देश तथा जनता दोनो पर प्रभुत्व तथा बहुत कुछ नियत्रण बना रहता है और कम-से-कम परेशानी उठानी पड़ती है।

इस तरह ज्यो-ज्यो ज़माना बीतता गया है, साम्राज्यवाद अपने को परिपूर्ण बनाता गया है, और आधुनिक ढग का साम्राज्य अदृश्य आर्थिक साम्राज्य होता है। जब गुलामी की प्रथा का अन्त हो गया और उसके बाद जब सामन्ती ढग की गुलामी मिट गई, तब लोगो का खयाल था कि मनुष्य अब आज़ाद हो जायंगे। लेकिन जल्दी ही यह मालूम होगया कि जिनके हाथो में रुपये की शक्ति है वे अब भी मनुष्यो का शोषण करते है और उनपर प्रभुत्व जमाते है। गुलाम और आसामी न रहकर लोग अब मजूरी के गुलाम होगये। उनके लिए आज़ादी फिर भी बहुत दूर रही। यही हालत देशो की भी है। लोग समझते है कि एक देश का दूसरे पर राजनैतिक प्रभुत्व ही सारा झगडा है, और अगर यह हट जाय तो आज़ादी अपने आप ही आजायगी। लेकिन यह बात इतनी सही नही दिखाई देती, क्योकि हम देखते हैं कि राजनैतिक दृष्टि से आज़ाद देश भी आर्थिक गुलामी के कारण पूरी तौर पर दूसरो की मुट्ठी मे है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तो बहुत प्रकट ही नज़र आता है। भारत पर ब्रिटेन का राजनैतिक कब्ज़ा है। इस दीखनेवाले साम्राज्य के साथ-साथ और इसके एक आवश्यक अग के रूप में ब्रिटेन का भारतवर्ष पर आर्थिक कब्ज़ा भी है। यह बिलकुल सम्भव है कि भारत पर से ब्रिटेन का यह दीखनेवाला कब्ज़ा बहुत देर-सवेर हट जाय लेकिन आर्थिक कब्ज़ा अदृश्य साम्राज्य के रूप में फिर भी बना रहे। अगर ऐसा हो जाय तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रिटेन के द्वारा भारत का शोषण जारी है।

हुकूमत करनेवाली शक्ति के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद कम-से-कम परेशानी पैदा करनेवाला प्रभुत्व है। इसके कारण उतना रोष नही पैदा होता जितना राजनैतिक प्रभुत्व के कारण, क्योंकि बहुत-से लोग इसे देख ही नही पाते। लेकिन जब चुभने लगता है,तब लोग इसके ढंगो को महसूस करने लगते है और उन में क्रोध पैदा होने लगता है। लातीनी अमरीका में आजकल सयुक्तराज्य के प्रति कोई प्रेम नही है और उत्तरी अमरीका के प्रभुत्व का विरोध करने के लिए लातीनी अमरीकी राष्ट्रो का एक ठोस संगठन बनाने के अनेक

प्रयत्न किये गए हैं। लेकिन जब तक ये राजमहलों की बार-बार क्रान्तियों की और आपसी लड़ाइयों की अपनी आदत नहीं छोड़ेंगे तब तक इनसे कुछ होना-जाना नहीं है।

संयुक्तराष्ट्र का दीखनेवाला साम्राज्य फिलीपाइन द्वीपों तक फैला हुआ है। मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र में बता चुका हूं कि अमरीका ने इन टापुओं पर स्पेन से युद्ध के बाद किस तरह क़ब्ज़ा कर लिया था। सन १८९८ ई० में, अटलांटिक सागर के क्यूबा नामक टापू के मामले को लेकर यह युद्ध शुरू हुआ था। क्यूबा स्वाधीन होगया, लेकिन नाममात्र को। क्यूबा और हेटी दोनों पर अमरीका का प्रभुत्व है।

पनामा नहर को खुले करीब बारह वर्ष होगये। यह मध्य-अमरीका की एक तंग पट्टी में है, और प्रशान्तसागर तथा अटलांटिक सागर को मिलाती है। पचास वर्ष से ज्यादा हुए, स्वेज नहर को बनानेवाले फ़र्दिनाद दे लेसेप्स[1] ने इसकी योजना बनाई थी। लेकिन वह बेचारा परेशानी में फँस गया और फिर अमरीका वालों ने इस नहर को बनाया। इन लोगों को मलेरिया और पीतज्वर के कारण बहुत कठिनाइयां उठानी पड़ी; लेकिन इन लोगों ने वहां इन बीमारियों को मिटा देने का इरादा कर लिया और ये सफल हुए। जिन-जिन जगहों पर मलेरिया के मच्छर तथा रोगों के अन्य वाहक पैदा होते थे उन सबको इन्होंने साफ कर दिया और नहर के क्षेत्र को बिलकुल स्वास्थ्य-प्रद बना दिया। यह नहर पनामा के नन्हे-से प्रजातन्त्र के अन्दर है। लेकिन संयुक्तराज्य का इस नहर पर भी नियन्त्रण है, और पनामा के छोटे-से प्रजातन्त्र पर भी। अमरीका के लिए यह नहर एक बड़ा वरदान है, वरना जहाज़ों को सारे दक्षिणी अमरीका का चक्कर लगा कर जाना पड़ता। फिर भी पनामा नहर का उतना बड़ा महत्व नहीं, जितना स्वेज़ नहर का है।

इस तरह संयुक्तराज्य दिन-दिन बलशाली और धनवान होता गया और अन्य चीज़ों के अलावा करोड़पतियों को तथा गगन-चुम्बी भवनों को पैदा करने लगा। वह बहुत-सी बातों में योरप के बराबर पहुँच गया और उससे आगे भी निकल गया। औद्योगिक दृष्टि से यह संसार का प्रमुख राष्ट्र होगया और इसके मज़दूरों के रहन-सहन का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा होगया। इस समृद्धि की वजह से उन्नीसवी सदी के इंग्लैण्ड के समान इस देश में भी समाजवादी तथा अन्य वामपक्षी मतों को कोई समर्थन नहीं मिला। कुछ अपवादों को छोड़कर अमरीका का मज़दूरवर्ग बहुत मद्धिम और पुराने विचारों वाला था। उसे अपेक्षाकृत अधिक मज़दूरी मिलती थी, इसलिए वह भविष्य की अनिश्चित बेहतरी की आशा में वर्तमान सुखों को खतरे में क्यों डालता? इस मज़दूरवर्ग में ज्यादातर इटालवी और अन्य "डेगो" लोग थे (जैसा कि उन्हें अवज्ञा के साथ पुकारा जाता था)। ये लोग कमज़ोर और असंगठित थे और नफरत की नज़र से देखे जाते थे। जिन मज़दूरों को अच्छी तनख्वाहें मिलती थीं, वे भी इन "डेगो" लोगों से अपने को अलग वर्ग का समझते थे।

अमरीका की राजनीति में दो दल बन गये: एक 'रिपब्लिकन' (जनतन्त्रवादी) और दूसरा 'डेमोक्रेटिक' (लोकतन्त्रवादी)। इंग्लैण्ड के समान, बल्कि उससे भी ज्यादा, यहां के ये दोनों दल धनिक वर्ग के प्रतिनिधि थे। इनमें सिद्धान्तों का कोई विशेष भेद नहीं था।

जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तो यहां यही हाल था और अन्त में अमरीका भी खिचकर लड़ाई के भँवर में जा पड़ा।

: १३९ :

आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच तनातनी के सात सौ वर्ष

४ मार्च, १९३३

अब हमें अटलांटिक महासागर फिर पार करके पुरानी दुनिया को वापस चलना चाहिए। जहाज़ या हवाई जहाज़ से आने वाले यात्री को सबसे पहले जो ज़मीन नज़र आती है, वह आयरलैण्ड की है।

---

[1] फ्रांसीसी इंजीनियर (१८०५–१८८४)

इसलिए हमारा पहला मुक़ाम यहीं होगा। यह हरा-भरा और सुन्दर टापू योरप के ठेठ पश्चिम में मानो अटलांटिक सागर में डुबकी लगा रहा है। यह टापू छोटा-सा है और संसार के इतिहास की मुख्य धाराओं से दूर जा पड़ा है। लेकिन यद्यपि यह नन्हा-सा है, मगर अद्भुत आकर्षण से भरा है और गत कई सदियों से इसने राष्ट्रीय आज़ादी के संघर्ष में अदम्य साहस तथा बलिदान की भावना का परिचय दिया है। एक शक्तिशाली पड़ोसी के विरुद्ध अपने इस संघर्ष में आयर्लैण्ड ने दृढ़ता और लगन का आश्चर्यजनक लेखा प्रस्तुत किया है। इस झगड़े को शुरू हुए साढ़े सात सौ वर्ष से अधिक हो गये पर यह अभी तक खतम नहीं हो पाया है।[1] हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद का क्रियात्मक रूप चीन, भारत और दूसरी जगहो में देख चुके हैं। लेकिन आयर्लैण्ड तो इसका शिकार बहुत शुरू से ही हो रहा है। फिर भी इसने इसे मर्ज़ी से कभी तसलीम नही किया और करीब-क़रीब हरेक पीढ़ी में इंग्लैण्ड के विरुद्ध बग़ावत होती रही। इस देश के अनेक वीर पुत्रों ने स्वतंत्रता के लिए लड़ते-लड़ते प्राण दे दिये, या अंग्रेज़ अफ़सरों ने उन्हें फांसी पर लटका दिया। आयरवासियों की बहुत बड़ी संख्या अपनी मातृ-भूमि को, जिसे वे हृदय से प्रेम करते थे, छोड़कर विदेशों में जा बसी। बहुत-से इंग्लैण्ड से लड़ने वाली विदेशी फौजो में भरती हो गये, ताकि उन्हें उस देश के विरुद्ध अपनी ताक़त लगाने का अवसर प्राप्त हो जो उनकी मातृभूमि को दबा रहा था और सता रहा था। आयर्लैण्ड के अनेक निर्वासित दूर-दूर देशों में फैल गये और जहाँ-कहीं वे गये अपने हृदयो में आयर्लैण्ड का टुकड़ा लेते गये।

दुःखी व्यक्तियों का तथा सताये हुए और आज़ादी के लिए छटपटाने वाले देशों का और उन सब का जो असन्तुष्ट है और जिन्हे वर्तमान स्थिति में ज़रा भी खुशी नही है, यह ढंग हुआ करता है कि वे भूतकाल की ओर देखते है और उसी मे तसल्ली ढूढते है। वे इस बीते ज़माने को बहुत अधिक सराहते हैं और अपने बीते बड़प्पन की याद करके सन्तोष पाते हैं। जब वर्तमान काल निराशा की उदासी से भरा होता है, तो भूतकाल चैन और प्रेरणा देने वाला आश्रय बन जाता है। पुरानी तकलीफें खटकती रहती हैं और लोग उनको नही भूलते। इस तरह सदा अतीत की ओर देखते रहना किसी राष्ट्र में खैरियत का चिन्ह नही होता। स्वस्थ राष्ट्र और स्वस्थ देश वर्त्तमान काल मे कर्म करते हैं और भविष्य की ओर आशा लगाये रहते हैं, लेकिन जो व्यक्ति या देश आज़ाद नही होता वह स्वस्थ भी नही रह सकता। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि वह भूतकाल की ओर देखे और उसका ध्यान कुछ कुछ अतीत मे ही पडा रहे।

इसीलिए आयर्लैण्ड अभी तक अपने भूतकाल में ही रह रहा है और आयरवासी उन बीते दिनों की स्मृति को बड़े प्यार से रक्खे हुए हैं जबकि वे आज़ाद थे। अपने देश की आज़ादी के अनेक संघर्षों और उसकी पुरानी तकलीफो की याद इनके दिलों मे ताज़ा बनी हुई है। उन्हे आज से चौदह सौ वर्ष पुराना, ईसा की छठी सदी का, ज़माना याद आता है जब आयर्लैण्ड पश्चिमी योरप के लिए विद्या का केन्द्र था और दूर-दूर के विद्यार्थी यहाँ आते थे। रोमन साम्राज्य का पतन हो चुका था और वंडाल और हूण लोग रोमन सभ्यता को चकनाचूर कर चुके थे। कहा जाता है कि उस समय आयर्लैण्ड उन देशों में से था जिन्होने योरप में सस्कृति का पुनरुद्धार होने तक संस्कृति की ज्योति जगाये रक्खी। ईसाई धर्म आयर्लैण्ड में बहुत जल्दी आया। ऐसा माना जाता है कि आयर्लैण्ड का सरक्षक—सन्त सेण्ट पैट्रिक यहाँ ईसाई मत को लाया था। आयर्लैण्ड से ही यह धर्म उत्तरी इग्लैण्ड में फैला। आयर्लैण्ड में बहुत-से मठ स्थापित हुए। भारत के पुराने आश्रमों और बौद्ध-विहारो की तरह ये भी विद्या के केन्द्र बन गये जिनमें अक्सर वृक्षो के तले पढ़ाई होती थी। उत्तरी और पश्चिमी योरप के बेदीनों में ईसाइयत के नये धर्म का प्रचार करने के लिए धर्म-प्रचारक लोग इन्ही मठो से जाते थे। इन मठों के कुछ साधुओ ने बड़ी सुन्दर हस्तलिपियाँ लिखीं और उन्हे चित्रित किया। डबलिन में अब इसी तरह की एक सुन्दर हस्तलिपि रक्खी हुई है, जिसे 'बुक आफ केल्स'[2] कहते हैं और जो शायद बारह सौ वर्ष पहले की लिखी हुई है।

छठी सदी से आगे दो-तीन सौ वर्ष के इस ज़माने को अनेक आयरवासी आयर्लैण्ड के स्वर्णयुग की

---

[1] १९३७ई० में अलस्टर के सिवा बाकी आयर्लैण्ड स्वतन्त्र प्रजातन्त्र बन गया और उसका नाम आयर (Eire) रख लिया गया।

[2] Book of Kells.

तरह मानते हैं जब गैलिक संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। शायद समय की दूरी अतीत के इन दिनों को एक आकर्षण दे देती है जिसके कारण इनकी महानता वास्तविकता से बढ़ी-चढ़ी नज़र आती है। उस समय आयर्लैण्ड अनेक कबीलों में बँटा हुआ था और ये कबीले आपस में निरन्तर लड़ा-भिडा करते थे। आपसी कलह ही भारत की तरह आयर्लैण्ड की कमज़ोरी थी। इसके बाद डेन[1] और नार्समैन[2] लोग आये और उन्होंने इंग्लैण्ड और फ़्रांस की तरह आयरवासियों को भी सताया और बडे-बडे प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। ग्यारहवीं सदी के शुरू में ब्रियान बोरूमा नामक प्रसिद्ध आयरवासी बादशाह ने डेनों को हराकर कुछ समय के लिए आयर्लैण्ड को एक सूत्र में बाँध दिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद देश के फिर टुकड़े हो गये।

तुम्हें याद होगा कि नार्मनों[3] ने विजेता विलियम के नेतृत्व में ग्यारहवी सदी में इंग्लैण्ड को जीत लिया था। इन्ही ऐंग्लो-नार्मनों ने सौ वर्ष बाद आयर्लैण्ड पर धावा किया और इन्होंने जिस भाग को जीता उसका नाम 'पेल' पड गया। शायद इसी से अंग्रेज़ी भाषा मे 'पेल के बाहर' वाक्य प्रचलित हुआ है जिसका अर्थ होता है 'किसी विशेषाधिकार वाले दायरे या सामाजिक समुदाय से बाहर'। सन् ११६९ ई० के इस ऐंग्लो-नार्मन हमले ने गैलिक सभ्यता को सख्त चोट पहुँचाई और इसी समय से आयर्लैण्ड के कबीलो के साथ करीब-करीब निरन्तर युद्ध की शुरुआत होती है। ये युद्ध, जो सैकडो वर्ष चलते रहे, नितान्त बर्बरतापूर्ण और क्रूरतापूर्ण थे। ऐंग्लो-नार्मन लोग, जिन्हे अब अंग्रेज़ कहना चाहिए, आयरवासी लोगों की, एक अर्द्ध-सभ्य जाति के समान सदा अवज्ञा करते रहे। इन दोनों में जाति-भेद तो था ही—अंग्रेज़ लोग ऐंग्लो—सैक्सन जाति के थे और आयरिश कैल्ट थे, बाद में इनमें धर्म का भी भेद पैदा हो गया—अंग्रेज और स्काच प्रोटेस्टेण्ट हो गये और आयरवासी रोमन कैथलिक धर्म के ही भक्त बने रहे। इसलिए अंग्रेज़ो और आयरवासियो के इन युद्धो में जातीय और धार्मिक युद्धो की भीषण कटुता रही। अंग्रेज़ो ने निश्चय-पूर्वक दोनों जातियो के मिलाप को रोका। एक कानून भी इस सम्बन्ध मे बना (किलकैनी का क़ानून), जिसके अनुसार अंग्रेज़ो और आयरवासियो के बीज अन्तर्जातीय विवाह-सम्बन्ध वर्जित कर दिये गये।

आयर्लैंड में एक के बाद दूसरी बगावत होती रही और हरेक को कठोर निर्दयता के साथ दबा दिया गया। आयरवासी लोग अपने विदेशी शासको और अत्याचारियो से स्वभावत ही घृणा करते थे और जब कभी इन्हें मौक़ा मिलता, या न भी मिलता, तो ये लोग बग़ावत खड़ी कर देते थे। "इग्लैण्ड की मुसीबत आयर्लैण्ड का सुअवसर है," यह पुरानी कहावत है और राजनैतिक तथा धार्मिक दोनो ही कारणो से आयर्लैण्ड अक्सर फ्रांस और स्पेन जैसे इग्लैण्ड के शत्रुओ का साथ देता था। इससे अंग्रेज़ो को बहुत क्रोध होता था और उन्हे ऐसा लगता था मानो किसी ने पीछे से कटार भोक दी। इसीलिए वे हर तरह के अत्याचारो के द्वारा बदला लेते थे।

महारानी एलिज़ाबेथ के समय (सोलहवी सदी) में, यह निश्चय किया गया कि आयर्लैण्ड के सरकश निवासियो के विरोध की कमर तोड़ने के लिए इनके बीच अंग्रेज़ ज़मीदार जमा दिये जाय, जो इन्हे दबाये रहें। इसलिए ज़मीनें ज़ब्त करली गईं और आयर्लैण्ड के पुराने ज़मीदारवर्ग की जगह विदेशी ज़मीदार बैठा-दिये गये। इस तरह आयर्लैण्ड हक़ीकत में किसानी राष्ट्र बन गया, जिसके ज़मीदार विदेशी थे। और सैकड़ो वर्ष गुज़र जाने पर भी ये ज़मीदार लोग आयरवासी लोगो के लिए विदेशी ही बने रहे।

महारानी एलिज़ाबेथ के उत्तराधिकारी जेम्स प्रथम ने आयरवासियों का हौसला तोडने की कोशिश में एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने निश्चय किया कि आयर्लैण्ड में विदेशी प्रवासियो की एक बाक़ायदा बड़ी भारी बाड़ी बना दी जाय और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयर्लैण्ड मे अल्सटर के छहो ज़िलो की लगभग सारी ज़मीन ज़ब्त करली। ज़मीनें मुफ़्त मे मिलने लगी और मौक़ापरस्तों के झुण्ड-के-झुण्ड स्काटलैण्ड और इग्लैण्ड से वहाँ पहुँच गये। इग्लैण्ड और स्काटलैण्ड से आये हुए ये लोग ज़मीनें लेकर यही

---

[1] डेन (Dane)—डेनमार्क का निवासी।

[2] नार्समैन (Norseman) नारवे-स्वीडन का निवासी।

[3] नार्मन—स्केण्डीनेविया की एक जाति जो दसवीं सदी की शुरुआत में उत्तरी फ़्रांस में आकर बस गई और जिसने वहाँ नार्मण्डी की डची का निर्माण किया। इसका मामूली अर्थ नार्मण्डी का निवासी है।

बस गये और किसानी करने लगे। उपनिवेश रखने की इस क्रिया को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद माँगी गई, और उसने इस नई "अल्सटर की बाड़ी" के लिए एक विशेष समिति ही बना डाली। इसी वजह से उत्तर का 'डैरी' नामक शहर 'लन्दनडैरी' कहलाने लगा।

इस तरह अल्सटर-आयर्लैण्ड में इंग्लैण्ड का एक क़िता बन गया और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आयरवासियों ने इस पर घोर रोष प्रकट किया। इधर ये नये अल्सटरी आयरवासियो से नफरत करते थे और उनकी अवज्ञा करते थे। आयर्लैण्ड को दो विरोधी दलो में बाटने की इंग्लैण्ड की यह साम्राज्यवादी कार्रवाई कितनी आश्चर्यजनक धूर्तता से भरी हुई थी! अल्सटर की गुत्थी तीन सौ वर्ष गुज़र जाने पर भी अभी तक नही सुलझ पाई है।

अल्सटर की इस बाड़ी की स्थापना के कुछ ही दिन बाद इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के बीच गृह-युद्ध हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ प्रोटेस्टैण्ट और प्यूरिटन थे; कैथलिक आयर्लैण्ड ने स्वभावतः बादशाह का साथ दिया, अल्सटर ने पार्लमेण्ट को मदद दी। आयरवासियों को डर था, और डर की वजह भी थी, कि प्यूरिटन लोग कैथलिक धर्म को नष्ट कर देंगे। इसलिए सन् १६४१ ई० में इन लोगो ने एक बहुत बड़ा विद्रोह खडा कर दिया। यह विद्रोह और इसका दमन पहले की अपेक्षा भी अधिक खूंखार और बर्बरतापूर्ण थे। आयरवासी कैथलिको ने प्रोटेस्टेण्टो की निर्दयता से हत्याए की थी। क्रामवेल ने इसका भीषण बदला लिया। आयरवासियो के अनेक हत्याकाड हुए, खास कर कैथलिक पादरियो के, और आयर्लैण्ड में आजतक क्रामवेल को कसक के साथ याद किया जाता है।

इस आतक और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढी बाद आयर्लैण्ड में फिर विद्रोह और गृह-युद्ध हुआ जिसकी दो घटनाए महत्वपूर्ण है, लन्दनडैरी और लिमेरिक के मुहासरे। सन् १६८८ ई० में आयरवासी कैथलिको ने अल्सटर के प्रोटेस्टेण्ट नगर लन्दनडैरीको घेर लिया। प्रोटेस्टेण्टो ने बडी वीरता से इसकी रक्षा की, हालाँकि उनके पास खाने की सामग्री नही रही थी और वे भूखो मर रहे थे। आखिर चार महीने के घेरे और कष्टो के बाद अंग्रेजी जहाज खाना और सहायता लेकर पहुचे।

सन् १६९० ई० मे लिमेरिक में बिलकुल इसका उलटा हुआ, वहाँ कैथलिक आयरवासियों को अंग्रेजो ने घेर लिया था। इस मुहासरे का वीर नायक पैट्रिक सार्सफील्ड था, जिसने अपने से बहुत अधिक बलशाली शत्रु के विरुद्ध बडी खूबी के साथ लिमेरिक की रक्षा की। इस मुहासरे में आयर्लैण्ड की स्त्रियाँ भी लडी और आयर्लैण्ड के देहात में आज तक सार्सफील्ड और उसके वीर जत्थे के गीत गैलिक भाषा मे गाये जाते है। सार्सफील्ड को अन्त में लिमेरिक को हवाले कर देना पडा, लेकिन अंग्रेजों के साथ सम्मानपूर्ण सन्धि के बाद। लिमेरिक की इस सन्धि की एक धारा यह थी कि आयरवासी कैथलिको को पूरी नागरिक और धार्मिक स्वतन्त्रता दी जायगी।

लिमेरिक की इस सन्धि को अंग्रेजो ने, या यो कहो कि आयर्लैंड में बसे हुए अंग्रेज जमीदार कुटुम्बो ने, तोड डाला। ये प्रोटेस्टेण्ट जमीदार डबलिन की अधीन पार्लमेण्ट का सचालन करते थे। लिमेरिक में दिये गये गम्भीर वादे के बावजूद भी, इन्होने कैथलिको को नागरिक या धार्मिक स्वतन्त्रता देने से इन्कार कर दिया। इसके बजाय इन्होने कैथलिको को सताने वाले और आयर्लैण्ड के ऊनी व्यापार को इरादतन नष्ट करने वाले विशेष क़ानून बना दिये। कैथलिक किसानवर्ग बेरहमी से कुचल दिया गया और जमीनो से बेदखल कर दिया गया। याद रहे कि यह कार्रवाई मुट्ठी भर विदेशी प्रोटेस्टेण्ट जमीदारो ने जनता के बहुत भारी बहुमत के विरुद्ध की थी, जो कैथलिक थी और जिसमें ज्यादातर किसानवर्ग था। लेकिन सारी सत्ता तो इन अंग्रेज जमीदारो के हाथ में थी और ये लोग अपनी जागीरो से दूर रहते थे और अपने किसानवर्ग को इन्होने अपने कारिन्दो। लगान वसूल करने वालों की बेदर्द सितमगरी पर छोड़ दिया था।

लिमेरिक की कहानी तो पुरानी है; लेकिन वचन-भंग के कारण जो क्रोध और विद्वेष पैदा हो गया था वह अभी तक शान्त नही हुआ है और आयरवासी राष्ट्रवादियो के दिमाग़ में आज भी आयर्लैण्ड में अंग्रेजों के विश्वासघात के लेखे में लिमेरिक का स्थान सब से पहला है। शर्तनामे की इस अवहेलना और धार्मिक असहिष्णुता और दमन और जमीदारों की क्रूरता के कारण उस समय अनेक आयरवासी देश छोड़ कर विदेशों को चले गये। आयर्लैण्ड के चुने-चुने नवयुवक बाहर चले गये और इंग्लैण्ड से लडने वाले किसी

भी देश की सेना में भरती हो गये। जहाँ कही अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई होती, ये आयरवासी वहाँ जरूर पहुँच जाते थे।

'गुलीवर्स ट्रैवेल्स' का लेखक जोनाथन स्विफ्ट इसी जमाने में हुआ (सन् १६६७ से १७४५ ई०)। इसने अपने देशवासियों को जो सलाह दी थी उससे अंग्रेजों के प्रति इसके रोष का कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है। "इनके कोयले को छोड़कर बाक़ी हरेक अंग्रेजी चीज जला डालो!" डबलिन में सेण्ट पैट्रिक गिर्जे में जोनाथन स्विफ़्ट की क़ब्र पर खुदा हुआ क़ब्र-लेख इससे भी ज्यादा कटुतापूर्ण है। ये क़ब्र-लेख शायद उसीका रचा हुआ है:

"यहाँ जोनाथन स्विफ़्ट
का शरीर दफ़न किया हुआ है
जो तीस वर्ष तक
इस गिरजे का डीन रहा
जहाँ पाशविक रोष
अब उसका हृदय नही जला सकता।
यात्री, जाओ, और
हो सके तो उसका अनुकरण करो
जिसने स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए
मनुष्योचित कर्त्तव्य पालन किया।"

सन् १७७४ ई० में अमरीका का स्वाधीनता-संग्राम छिड़ गया और एटलाटिक के पार अंग्रेजी फ़ौजें भेजना जरूरी होगया। इस परिवर्तन से आयर्लैण्ड में ब्रिटिश फौजें न रह गईं और उधर फ्रासीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योकि फ्रास ने भी इग्लैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। इसलिए आयरवासी कैथलिको और प्रोटेस्टेण्टो, दोनो ने रक्षा के लिए स्वयसेवक दल तैयार किया। कुछ अरसे के लिए ये लोग अपने पुराने विद्वेष भूल गये और आपसी सहयोग से इन्हें अपनी शक्ति का पता चल गया। दूसरे विद्रोह का खतरा इग्लैण्ड के सामने खड़ा होगया और, इस डर से कि कही आयर्लैण्ड भी अमरीका की तरह हाथ से न निकल जाय, इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड को स्वाधीन पार्लमेण्ट दे दी। इस तरह सैद्धान्तिक रूप में तो आयर्लैण्ड इंग्लैण्ड के शासन में नही रहा, लेकिन रहा उसी बादशाह के अधीन। और आयर्लैण्ड की पार्लमेण्ट वही पुरानी जमीदार-प्रधान संकीर्ण सभा बनी रही, जिसमें केवल प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जिसने पिछले दिनो कैथलिकों पर इतने अत्याचार किये थे। कैथलिको को अब भी अनेक प्रकार से तंग किया जाता था। सिर्फ़ इतना फर्क जरूर होगया था कि अब प्रोटेस्टेण्टो और कैथलिको के बीच अधिक सद्भावना काम करती मालूम देने लगी। इस पार्लमेण्ट का नेता हेनरी ग्रैटन, जो स्वयं प्रोटेस्टेण्ट था, यह चाहता था कि कैथलिक लोगो को कुछ अधिकार दे दे। लेकिन इसमें उसे सफलता नही मिली।

इसी बीच फ्रान्स में क्रान्ति होगई, और आयर्लैण्ड को उससे बहुत आशायें बँध गईं। अनोखी बात तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे के बहुत नजदीक आते जा रहे थे। "सयुक्त आयरनिवासी"[१] नामक एक सगठन स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि कैथलिको और प्रोटेस्टेण्टों में मेल-जोल पैदा कराया जाय और कैथलिक लोगो को मुक्ति दिलाई जाय। सरकार ने इस सगठन को पसन्द नही किया और उसे कुचल दिया। इसलिए समय-समय पर होने वाला अनिवार्य विद्रोह सन् १७९८ ई० में फिर भड़क उठा। यह पहले के विद्रोहो की तरह अल्सटर और देश के बाक़ी भाग के बीच धार्मिक लड़ाई नही थी। यह एक राष्ट्रीय विप्लव था, जिसमें कुछ हद तक कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनों शामिल थे। इस विप्लव को भी अंग्रेजो ने कुचल दिया और इसके आयरवासी नायक वुल्फ टोन को, देशद्रोही होने के अपराध में, फांसी पर लटका दिया गया।

इस तरह अब यह स्पष्ट होगया कि आयर्लैण्ड में एक स्वाधीन पार्लमेण्ट बना देने से आयरवासी लोगों की स्थिति में कोई फ़र्क़ नही आया। अंग्रेजी पार्लमेण्ट भी उस समय एक संकीर्ण और भ्रष्ट चीज थी,

---

[१] United Irishmen.

जिसका चुनाव जेबी निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा होता था और जिसकी बागडोर मुट्ठी भर ज़मींदार वर्ग तथा कुछ धनिक व्यापारियों के हाथों में थी। आयरी पार्लमेण्ट में भी यह सब दोष तो थे ही, इसके अलावा वह कैथलिकों के देश में होते हुए भी मुट्ठीभर प्रोटेस्टेण्टों के हाथो में थी। इतने पर भी ब्रिटिश सरकार ने इस आयरी पार्लमेण्ट को तोड़ देने का और आयर्लैण्ड को इग्लैण्ड के साथ जोड़ देने का निश्चय किया। आयर्लैण्ड में इस प्रस्ताव का ज़ोरों से विरोध किया गया, लेकिन डबलिन की पार्लमेण्ट के सदस्य भारी रिश्वते खाकर अपनी ही पार्लमेण्ट को खतम करने का वोट देने के लालच मे आगये। सन् १८०० ई० में "यूनियन का ऐक्ट" पास हुआ और इस तरह ग्रैटन की अल्प-जीवी पार्लमेण्ट का अन्त हो गया। उसकी जगह पर अब कुछ निर्वाचित आयरवासी सदस्य लन्दन की ब्रिटिश पार्लमेण्ट में भेजे जाने लगे।

इस भ्रष्ट आयरी पार्लमेण्ट के भग कर दिये जाने से शायद बहुत बडा नुक़सान नहीं हुआ, सिवा इसके कि सम्भव है कुछ दिन बाद यह कोई अच्छी चीज बन जाती। लेकिन यूनियन के ऐक्ट ने एक वास्तविक नुक़सान पहुँचाया और शायद वह इसी नीयत से बनाया भी गया था। यह उत्तर और दक्षिण के प्रोटेस्टेण्टो तथा कैथलिको के बीच एकता के आन्दोलन का अन्त करने में सफल हुआ। प्रोटेस्टेण्ट अल्सटर ने बाकी आयर्लैण्ड से फिर मुह मोड़ लिया और इन दोनो भागो के बीच में खाई पैदा हो गई। दोनो के बीच एक और भी अन्तर आ गया था। अल्सटर ने इग्लैण्ड के ढग पर आधुनिक उद्योगो को अपना लिया। आयर्लैण्ड का बाकी भाग कृषि-प्रधान ही बना रहा, परन्तु खराब बन्दोबस्त और लोगो के निरन्तर प्रवास के कारण खेती भी नही पनपी। इसलिए उत्तर तो उद्योग-प्रधान हो गया लेकिन दक्षिण और पूर्व, और ख़ास करके पश्चिम, औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए मध्यकालीन ही रहे आये।

यूनियन के ऐक्ट को लोगो ने चुपचाप नही मान लिया; उसके विरोध में एक छोटा-सा विद्रोह हुआ। इस असफल विद्रोह का नेता राबर्ट ऐमेट नामक एक प्रतिभावान नवयुवक था जिसका अन्त, इसके अनेक पूर्ववर्ती देशवासियो की भाति, फासी के तख्ते पर हुआ।

आयरवासी सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट की कामन्स सभा में बैठते थे, लेकिन कोई कैथलिक नही जा सकता था। कैथलिको को इग्लैण्ड में या आयर्लैण्ड मे पार्लमेण्ट मे बैठने का अधिकार नही था। ये प्रतिबन्ध सन् १८२९ ई० में हटा लिये गये और कैथलिक लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट में बैठने के अधिकारी हो गये। ये प्रतिबन्ध आयरवासी नेता डेनियल ओ'कोनेल के प्रयत्न से हटे थे, इसलिए उसे "उद्धारक" की पदवी दी गई। क्रम-क्रम से होने वाला एक और परिवर्तन यह था कि मताधिकार बढा दिया गया जिससे अधिकाधिक व्यक्तियो को वोट का अधिकार मिलता गया। चूकि आयर्लैण्ड इग्लैण्ड से मिला दिया गया था, इसलिए दोनो देशो पर समान कानून लागू होते थे। इस कारण सन् १८३२ ई० का महान सुधार बिल इग्लैण्ड के साथ-साथ आयर्लैण्ड पर भी लागू हुआ। इसी प्रकार बाद का मताधिकार बिल भी लागू हुआ और इस तरह ब्रिटिश कामन्स सभा में आयरवासी सदस्य का नमूना बदलने लगा। ज़मीदारो का प्रतिनिधि होने के बजाय अब वह कैथलिक किसानवर्ग का और आयरी राष्ट्रीयता का वकील होगया।

ग़रीबी के कारण आयर्लैण्ड के ज़मीदार-पीडित और लगान-शोषित किसानवर्ग ने आलू को ही अपने खाने की मुख्य चीज़ बना लिया था। ये बेचारे एक तरह से आलुओ पर ही गुज़ारा करते थे और आजकल के भारतीय किसानो की तरह इनके पास भी कोई जमा-पूजी नही थी; आड़े समय के लिए इनके पास कुछ नही था। ये मौत के दरवाज़े पर अपना जीवन बिताते थे और रोगो से अपनी रक्षा करने की इनमें ज़रा भी शक्ति बाकी नही रही थी। सन् १८६४ ई० में आलू की फ़सल नष्ट होगई, जिसके कारण इस देश में ज़बरदस्त अकाल पड़ गया। लेकिन अकाल के होते हुए भी ज़मींदारों ने लगान न दे सकने वाले अपने असामी किसानो को बेदखल कर दिया। आयर-निवासी बहुत बड़ी संख्या में अपना वतन छोड़कर अमेरिका चले गये, और आयर्लैण्ड क़रीब-क़रीब सुनसान हो गया। बहुत से खेत बेजुते पड़े रहे और चरागाहें बन गये।

जोती जाने वाली खेतिहर ज़मीन का भेड़ों की चरागाह में परिवर्तित होने का यह सिलसिला आयर्लैण्ड में सौ वर्ष से ऊपर, और ठेठ हमारे ज़माने तक, बराबर जारी रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि इग्लैण्ड में ऊनी कपड़ो के कारखाने बढ़ रहे थे। मशीनों का उपयोग जितना अधिक होता था, उत्पादन उतना ही बढ़ता जाता था और ऊन की उतनी ही ज्यादा ज़रूरत पड़ती थी। इसलिए आयर्लैण्ड के ज़मींदारो को बोये गये खेतों की बनिस्बत, जिनमें किसान काम करते थे, भेड़ों की चरागाहो से ज्यादा मुनाफा मिलता

था। चरागाहों में बहुत कम आदमियों की जरूरत पड़ती है, भेड़ो की देख-भाल करने वाले सिर्फ़ मुट्ठीभर आदमियो की। इसलिए खेती करने वाले मजदूर फालतू होगये और जमीदारों ने उन्हें निकाल दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में, जिसकी आबादी वास्तव में बहुत कम थी, हमेशा बहुत-से मजदूर "फ़ालतू" रहने लगे, और इस कारण आबादी घटने का सिलसिला चलता ही रहा। बस, आयर्लैण्ड "उद्योग-प्रधान" इंग्लैण्ड को कच्चा माल पहुँचाने का क्षेत्र मात्र बन गया। खेतों का चरागाहो में परिवर्त्तित होने का पुराना सिलसिला अब उलट गया है और हल को अब फिर अपना महत्व प्राप्त हो रहा है। मजे की बात यह है कि यह स्थिति इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के बीच उस व्यापारिक युद्ध का नतीजा है, जो सन् १९३२ ई० मे शुरू हुआ।

उन्नीसवी सदी के ज्यादातर हिस्से में जमीन का सवाल, यानी अनुपस्थित जमीदारो के अधीन दुखी किसानो की मुसीबतें, आयर्लैण्ड की मुख्य समस्या रही है। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने निश्चय किया कि अनिवार्य तरीक़े से सब जमीदारियाँ खरीद कर और उन्हे किसानो में बाँटकर जमीदारों को बिलकुल खतम कर दिया जाय। अलबत्ता जमीदारो को इसमें कोई नुक़सान नही उठाना पडा। उन्हे तो सरकार से अपनी जमीदारियो के पूरे दाम मिल गये। किसानो को जमीनें तो मिल गईं, लेकिन कीमत के बोझ के साथ। उन्हें यह क़ीमत एक मुश्त में नही चुकानी पड़ी, इसकी छोटी-छोटी सालाना क़िस्ते बाँध दी गई।

सन १७९८ ई० के राष्ट्रीय विद्रोह के बाद सौ वर्ष से ज्यादा तक आयर्लैण्ड में कोई बडी बगावत नही हुई। पहले की सदियों के प्रतिकूल, आयर्लैण्ड की उन्नीसवी सदी इस बार-बार होनेवाली घटना से मुक्त रही। लेकिन इसका कारण यह नही था कि लोगों में सन्तोष की भावना थी। यह तो पिछले विद्रोह की, भीषण दुष्काल की और आबादी घटने की थकावट थी। इस सदी के उत्तरार्द्ध में लोगो का ध्यान कुछ-कुछ ब्रिटिश पार्लमेण्ट की तरफ़ मुड़ा था, और उनको यह आशा बँधी थी कि उसके आयरवासी सदस्य शायद कुछ कर सकें। लेकिन बहुत-से आयरवासी ऐसे भी थे, जो बार-बार बगावत की परम्परा को जीवित रखना चाहते थे। उनका खयाल था कि केवल इसी ढग से आयर्लैण्ड की भावना तथा आत्मा को ताजा और अकलुषित रक्खा जा सकता है। अमेरिका में बसे हुए आयरवासियो ने आयर्लैण्ड की स्वाधीनता के लिए एक समिति स्थापित की। ये लोग, जिन्हे "फेनियन" कहा जाता था, आयर्लैण्ड में छोटे-छोटे विद्रोह कराया करते थे। लेकिन जनता पर इसका कोई असर नही हुआ और ये लोग बहुत जल्द कुचल दिये गये।

अब इस पत्र को मुझे समाप्त कर देना चाहिए, क्योकि यह काफ़ी लम्बा होगया है। पर आयर्लैण्ड की कहानी अभी समाप्त नही हुई है।

: १४० :

आयर्लैण्ड में होमरूल और शिनफ़ेन

९ मार्च, १९३३

इतने सशस्त्र विद्रोहो के बाद और दुष्काल तथा अन्य आफ़तो की वजह से, आयर्लैण्ड आजादी प्राप्त करने के इस ढंग से कुछ थक गया था। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में, जब ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लिए मताधिकार विस्तृत हुआ, तब अनेक राष्ट्रवादी आयरवासी कामन्स सभा के सदस्य चुने गये। जनता आशा करने लगी कि ये लोग शायद आयर्लैण्ड की आजादी के लिए कुछ कर सकें; अब वह पुराने सशस्त्र विद्रोह के तरीके के बजाय वैध कार्रवाई में भरोसा करने लगी।

उत्तरी अल्सटर और आयर्लैण्ड के बाक़ी भाग के बीच की खाई फिर चौड़ी हो गई थी। जातीय और धार्मिक भेदभाव तो चल ही रहे थे, अब इनके अलावा आर्थिक अन्तर भी और अधिक स्पष्ट होगये। इंग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड की तरह अल्सटर भी उद्योग-प्रधान बन गया था, और यहाँ के कारखानों में बहुत अधिक माल तैयार होता था। देश का बाक़ी हिस्सा कृषि-प्रधान, मध्यकालीन, जन-हीन और ग़रीब था। आयर्लैण्ड के दो भाग कर देने की इंग्लैण्ड की पुरानी नीति जरूरत से ज्यादा सफल हो गई थी; सचमुच वह इतनी सफल हुई कि बाद में खुद इंग्लैण्ड ही कोशिश करने पर भी, इस कठिनाई को पार नही कर सका।

आयर्लैण्ड की आजादी के मार्ग में अल्सटर सबसे बड़ी बाधा बन गया। सम्पन्न प्रोटेस्टेण्ट अल्सटर को डर था कि आयर्लैण्ड के आजाद होने पर धनहीन कैथलिक आयर्लैण्ड उसे गर्क कर देगा।

अब ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे और आयर्लैण्ड में दो नये शब्द प्रचलित हुए। ये दो शब्द थे "होम रूल" यानी स्वायत्त शासन। आयर्लैण्ड की मांग अब होमरूल की मांग बन गई। सात सौ वर्ष पुरानी स्वाधीनता की मांग से यह मांग बहुत कम और बहुत भिन्न थी। इसका मतलब यह था कि आयर्लैण्ड की एक मातहत पार्लमेण्ट हो जो स्थानीय मामलों का इन्तजाम करे और कुछेक महत्वपूर्ण विषयो पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट का ही अधिकार चलता रहे। अनेक आयरवासी स्वाधीनता की पुरानी मांग को इस तरह घटा दिये जाने से सहमत नही थे। लेकिन देश बग़ावत और रगड़-झगड़ से तंग आगया था, इसलिए उसने बलवे के कई असफल प्रयत्नों में भाग लेने से इन्कार कर दिया।

ब्रिटिश कामन्स सभा के आयरवासी सदस्यो में चार्ल्स स्टयुअर्ट पारनैल भी एक था। यह महसूस करके कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अनुदार और उदार दोनो दल आयर्लैण्ड की तरफ़ जरा भी ध्यान नही देते, इसने निश्चय किया कि यह शिष्टाचारी पार्लमेण्टी खेल जारी रखना इनके लिए कठिन कर दिया जाय। इसलिए कुछ अन्य आयरवासी सदस्यो की मदद से इसने लम्बे-लम्बे भाषणो तथा केवल विलम्ब करनेवाली अन्य तदबीरो से पार्लमेण्ट की कार्रवाई में अड़गे लगाना शुरू किये। अंग्रेज लोग इन चालो से बहुत झल्लाये। वे कहते थे कि ये बाते न तो पार्लमेण्ट के योग्य हैं और न शराफ़त के अनुकूल। लेकिन पारनेल के ऊपर इन आलोचनाओ का कोई असर नही हुआ। वह पार्लमेण्ट में अंग्रेजो के बनाये हुए क़ायदों के अनुसार शिष्टाचारभरा अंग्रेजी पार्लमेण्टी खेल खेलने नही आया था। वह तो आयर्लैण्ड की सेवा करने आया था; और अगर मामूली तरीको से अपना काम नही कर सकता था, तो असाधारण तरीक़ों का सहारा लेना वह अपने लिए बिलकुल न्यायोचित समझता था। कुछ भी हो, वह आयर्लैण्ड की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित करने मे तो सफल हो ही गया।

पारनैल ब्रिटिश कामन्स सभा मे आयरी होमरूल दल का नेता होगया, और यह दल दोनो पुराने ब्रिटिश दलो के लिए जी का जजाल होगया। जब कभी इन दोनो दलो का कमती-बढ़ती बराबरी का मुक़ाबला रहता था तब ये आयरवासी होमरूलवाले इधर या उधर मिल कर किसी का पलड़ा भारी कर सकते थे। इस तरह वे आयर्लैण्ड के सवाल को हमेशा लोगो की निगाह के सामने रखते थे। आखिरकार ग्लैडस्टन आयर्लैण्ड को होमरूल देने के लिए राजी होगया और उसने सन् १८८६ ई० में कामन्स सभा में होमरूल बिल पेश किया। स्वराज्य देने का यह कानून बहुत नरम था, फिर भी इसकी वजह से तूफ़ान मच गया। अनुदार दल के लोग तो इसके पूरे विरोधी थे ही; ग्लैडस्टन का दल यानी उदार दल भी इसे पसन्द नही करता था। यह दल इसी बात पर दो हिस्सो में बँट गया। एक हिस्सा तो सचमुच अनुदार दल में जा मिला और यह नया दल "एकतावादी"[1] कहलाने लगा क्योकि ये लोग आयर्लैण्ड के साथ मेल चाहते थे। होमरूल बिल पार्लमेण्ट में गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन का भी पतन होगया।

इसके सात वर्ष बाद, सन् १८९३ ई० में, जब ग्लैडस्टन की उम्र चौरासी वर्ष की थी, वह फिर प्रधान मंत्री बना। उसने दूसरी बार होमरूल बिल पेश किया और यह कामन्स सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ। लेकिन क़ानून बनने से पहले तमाम बिलो को लार्ड्स सभा में से भी गुजरना पड़ता है और लार्ड्स सभा अनुदार दल वालो और प्रगतिविरोधी लोगों से भरी थी। लार्ड सभा के सदस्यो का चुनाव नहीं होता। यह बड़े जमीदारो की एक पुश्तैनी सभा है, जिसमें कुछ पादरी भी होते हैं। इस सभा ने होमरूल बिल को, जिसे कामन्स सभा ने मजूर कर लिया था, नामंजूर कर दिया।

इस तरह पार्लमेण्टी कोशिशो से भी आयर्लैण्ड को वह चीज न मिली, जो वह चाहता था। फिर भी 'होमरूल दल' पार्लमेण्ट में इस आशा से काम करता रहा कि शायद आगे सफलता मिल जाय। कुल मिला कर इस दल पर आयर-निवासियों का विश्वास भी था। लेकिन बहुत लोग ऐसे भी थे, जिनका इन तरीक़ों पर से और ब्रिटिश पार्लमेण्ट पर से भरोसा उठ गया था। अनेक आयरवासी सकीर्ण अर्थवाली राजनीति से घृणा करने लगे थे और सास्कृतिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों में लग गये थे। बीसवीं सदी के

[1] Unionist.

प्रारम्भिक वर्षों में आयर्लैण्ड में सांस्कृतिक जागृति हुई। खासकर देश की पुरानी भाषा गैलिक को, जो पश्चिमी देहाती ज़िलो में अभीतक प्रचलित थी, फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया गया। इस गैलिक भाषा का समृद्ध साहित्य था, लेकिन सदियो की अंग्रेज़ी हुकूमत ने इसे शहरो से निकाल दिया था और यह धीरे-धीरे विलीन हो रही थी। आयरी राष्ट्रवादियो ने महसूस किया कि उनका राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा अपनी ही भाषा के माध्यम से कर सकता है। इसलिए इन लोगों ने इसे पश्चिम के गाँवों में से खोज निकालने और एक जीवित भाषा बनाने के लिए कठोर परिश्रम किया। इस उद्देश्य के लिए एक गैलिक-लीग क़ायम की गई। हर जगह और खासकर पराधीन देशो में, राष्ट्रीय आन्दोलन अपने देश की भाषा को अपना आधार बनाता है। जिस आन्दोलन की बुनियाद विदेशी भाषा पर होती है, वह न तो जनता तक पहुँच सकता है और न जड़ पकड़ सकता है। आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ी भाषा विदेशी भाषा नही रह गई थी। इस भाषा को लगभग सभी समझते और बोलते थे। गैलिक भाषा से तो इसका प्रचार निस्सन्देह अधिक था। इस पर भी आयरी राष्ट्रवादियो ने गैलिक भाषा का पुनरुत्थान आवश्यक समझा, जिससे अपनी पुरानी सभ्यता से उनका सम्बन्ध न टूटने पावे।

उस समय आयर्लैण्ड में यह भावना फैली हुई थी कि ताक़त अन्दर से आती है, बाहर से नही। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनैतिक प्रवृत्तियो के बारे में भ्रम दूर हो रहा था और इसलिए अधिक मज़बूत नींव पर राष्ट्र के निर्माण के प्रयत्न किये गये। बीसवी सदी के शुरू का यह नया आयर्लैण्ड पुराने आयर्लैण्ड से बिलकुल भिन्न था, इसलिए इस नई जागृति का असर अनेक दिशाओ मे प्रगट होने लगा—साहित्यिक और सांस्कृतिक दिशाओ मे, जैसा कि मैंने ऊपर बताया है, और आर्थिक दिशा में भी, जहाँ किसानो को सहकारिता के आधार पर सगठित करने के सफल प्रयत्न किये गये।

लेकिन इन सब के पीछे थी आज़ादी की उत्कट लालसा, और यद्यपि ऐसा मालूम होता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के आयरी राष्ट्रवादी दल मे आयरी जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। जनता समझने लग गई थी कि ये लोग कोरे राजनीतिज्ञ है, जिन्हें भाषण देने का शौक है लेकिन कुछ कर-धर सकने की सामर्थ्य नही है। पुराने फेनियनो तथा स्वाधीनता में विश्वास करने वाले अन्य लोगो का तो इन पार्लमेण्टी लोगों में और इनके होमरूल में विश्वास था ही नही। अब नया और नौजवान आयर्लैण्ड भी पार्लमेण्ट से अपना मुह मोड़ने लगा। स्वावलम्बन की भावनाएं वातावरण में भर रही थी; क्यो नही इन्हें राजनीति में भी प्रयोग किया जाय? सशस्त्र विद्रोह के विचार लोगो के दिमागो मे फिर चक्कर काटने लगे। लेकिन अमली कार्रवाई की इस इच्छा को एक नया रूप दिया गया। आर्थर ग्रिफ़िथ नामक एक नौजवान आयर-निवासी ने एक नई नीति का प्रचार शुरू कर दिया, जो "शिन फ़ेन" कहलाई। इसका अर्थ है "हम खुद"।

इन शब्दो से हमें उस नीति का पता चलता है जो इस आन्दोलन के पीछे काम कर रही थी। शिन फ़ेनी चाहते थे कि आयर्लैण्ड अपने ऊपर भरोसा करे और इंग्लैण्ड से किसी तरह की मदद या भीख न माँगे। ये लोग भीतर से राष्ट्र की शक्ति का निर्माण करना चाहते थे और गैलिक आन्दोलन और सांस्कृतिक पुन-जागृति के समर्थक थे। राजनैतिक क्षेत्र में ये उस समय चलने वाली निष्प्रयोजन पार्लमेण्टी प्रवृत्ति को नापसन्द करते थे और उससे किसी तरह की आशा नही रखते थे। साथ ही वे सशस्त्र विद्रोह भी व्यवहारिक नहीं समझते थे। ब्रिटिश सरकार से एक प्रकार के सहयोग के द्वारा ये पार्लमेण्टी कार्रवाई के बजाय "सीधी कार्रवाई" का प्रचार करते थे। आर्थर ग्रिफ़िथ ने हंगरी का उदाहरण पेश किया जहाँ एक पीढ़ी पहले निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति सफल हो चुकी थी, और इंग्लैण्ड को मजबूर करने के लिए उसने इसी प्रकार की नीति आयर्लैण्ड में भी बरती जाने का अनुरोध किया।

पिछले तेरह वर्षों में भारत में हमारे सामने असहयोग के विभिन्न रूप आये हैं और आयर्लैण्ड के इस पूर्ववर्ती उदाहरण की तुलना अपने असहयोग से करना दिलचस्प बात है। तमाम दुनिया जानती है कि हमारे आन्दोलन का आधार अहिंसा रहा है। लेकिन आयर्लैण्ड के असहयोग की ऐसी कोई बुनियाद या पृष्ठ-भूमि नहीं थी। फिर भी उस प्रस्तावित असहयोग की ताक़त शान्तिमय निष्क्रिय प्रतिरोध में ही थी। इस संघर्ष को भी बुनियादी तौर पर शान्तिपूर्ण ही रखने का विचार था।

शिन फ़ेन के विचार धीरे-धीरे आयर्लैण्ड के नौजवानों में फैलने लगे। इन विचारों की वजह से

आयर्लैण्ड में एकदम आग नहीं भड़क उठी। अब भी बहुत-से लोग ऐसे थे जिन्हें पार्लमेण्ट से आशाएं थीं, खासकर इसलिए कि सन् १९०६ ई० के चुनावों में उदार दल का फिर भारी बहुमत हो गया था। कामन्स सभा में इस बहुमत के होते हुए भी उदार दल को लार्ड्स सभा के अनुदार तथा एकतावादी दलों के साथ स्थायी बहुमत का मुक़ाबला करना पड़ता था। इसलिए इन दोनो सभाओं में बहुत जल्द संघर्ष पैदा होगया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि लार्डों की शक्ति कम कर दी गई। आर्थिक मामलों में इन की अड़ंगे-बाजी को कामन्स सभा इस तरह पार कर सकती थी कि लार्ड्स द्वारा आपत्ति किये गये बिल को अपने तीन लगातार अधिवेशनों में पास कर दे। इस तरह सन् १९११ ई० के पार्लमेण्टी कानून के जरिये उदार दलने लार्ड्स सभा के दांत तोड़ दिये। फिर भी लार्डों के हाथ में बहुत काफी ताक़त बनी रही जिससे वे कामन्स सभा के काम को रोक सकते थे और उसमें अड़ंगा लगा सकते थे।

लार्डों के अनिवार्य विरोध की उचित व्यवस्था करके उदार दल ने फिर तीसरी बार होमरूल बिल पेश किया और कामन्स सभा ने इसे सन् १९१३ ई० में पास कर दिया। जैसी कि उम्मीद थी, लार्डों ने इसको फिर नामजूर कर दिया और फिर कामन्स सभा ने इसे लगातार तीन बार पास करने की परेशानी उठाई। इस प्रकार सन् १९१४ ई० में यह बिल क़ानून बन गया और सारे आयर्लैण्ड पर, जिसमें अल्सटर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पडता था कि आयर्लैण्ड को अन्त में होमरूल मिल ही गया, लेकिन इसमे बहुत-से अगर-मगर थे! जब सन् १९१२-१३ ई० में पार्लमेण्ट होमरूल के बारे में बहस कर रही थी, तब उत्तरी आयर्लैण्ड में विचित्र घटनाए हो रही थी। अल्सटर के नेताओ ने घोषित कर दिया था कि वे होमरूल स्वीकार नही करेंगे, और अगर होमरूल का कानून पास भी हो गया तो वे उसका विरोध करेगे। वे बग़ावत की बाते करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू कर दी। यह भी कहा गया कि वे होमरूल के विरुद्ध लडने के लिए किसी विदेशी शक्ति की, तात्पर्य यह कि जर्मनी की, मदद मांगने में भी नही हिचकिचायेंगे! निस्सदेह यह स्पष्ट और निर्लज्ज राजद्रोह था। इसमे भी ज्यादा मजे की बात तो यह थी कि इग्लैण्ड के अनुदार दल के नेताओ ने बगावत के इस आन्दोलन की सराहना की और बहुतो ने इसे मदद दी। धनी अनुदार वर्गों की ओर से अल्सटर में रुपया बरसने लगा। यह प्रगट था कि "'उच्च वर्ग" कहलाने वाले या शासक-वर्ग आमतौर पर अल्सटर के साथ थे, और इन्ही वर्गों के अनेक सैनिक अफसर भी। हथियार चोरी-छिपे आने लगे और स्वयंसेवको को खुल्लमखुल्ला कवायद सिखाई जाने लगी। अल्सटर में एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई, जो समय आने पर शासन की ज़िम्मेदारी सभाल ले। ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि अल्सटर के प्रमुख विद्रोहियो मे पार्लमेण्ट का एक नामी अनुदार सदस्य एफ० ई० स्मिथ था, जो बाद में लार्ड बरकनहैड हुआ और भारत सचिव रहा और जिसने अन्य ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर भी काम किया।

इतिहास मे बगावतें नित्य-प्रति की सी घटनाए हैं और आयर्लैण्ड ने तो इनमे खासतौर से अपना पूरा हिस्सा बटा लिया है। फिर भी अल्सटर-विद्रोह की ये तैयारियां हमारे लिए खास दिलचस्पी की चीज़ हैं; क्योंकि इसे भडकाने वाला दल वही दल था जो अपने वैधानिक और रूढिवादी गुण पर अभिमान करता था। यह वही दल था जो सदा "कानून और व्यवस्था" की दुहाई देता था और इस क़ानून और व्यवस्था के तोडनेवाला को कठोर सज़ाएं देने का समर्थक था। लेकिन इसी दल के प्रमुख सदस्य खुले राज-द्रोह की बाते करते थे और सशस्त्र बगावत की तैयारी करते थे और इसके साधारण सदस्य धन की सहायता देते थे! यह भी गौर करने की दिलचस्प बात है कि बगावत की यह तजवीज़ उस पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती थी जो होमरूल बिल पर विचार कर रही थी और जिसने बाद में इसे पास किया। इस तरह इस दल ने लोकतन्त्रवाद की जड पर ही कुठाराघात किया था और इससे अंग्रेज़ लोगो की वह पुरानी शेखी मिट्टी में मिल गई थी कि वे कानून के राज में और वैधानिक कार्य-प्रणाली में विश्वास रखते हैं।

सन् १९१२-१४ ई० के अल्सटर "विद्रोह" ने इन नकली दावो और लच्छेदार बातों का पर्दा फाड फेंका और सरकार तथा आधुनिक लोकतन्त्र का असली रूप प्रगट कर दिया। जब तक "कानून और व्यवस्था" का मतलब यह था कि शासक वर्ग के विशेषाधिकारो तथा हितो की रक्षा होती रहे तब तक कानून और व्यवस्था वाछनीय थे, जहाँ तक लोकतन्त्र इन विशेषाधिकारों और हितो मे दखल नही देता था, वहाँ तक उसे बर्दाश्त किया जा सकता था। लेकिन अगर इन विशेषाधिकारो पर कोई हमला होता, तो यह वर्ग लड़ने पर

आमादा हो जाता। इस तरह "क़ानून और व्यवस्था" सिर्फ़ एक चिकना-चुपड़ा फ़िक़रा था जिसका अर्थ उनके लिए था उनके अपने स्वार्थ। इससे यह प्रगट हो गया कि ब्रिटिश सरकार व्यवहार में वर्ग-सत्ता वाली सरकार थी जिसे पार्लमेण्ट का विरोधी बहुमत भी आसानी से नहीं हिला सकता था। अगर यह बहुमत ऐसा कोई समाजवादी क़ानून पास करने की कोशिश करता, जिससे इनके विशेषाधिकारों में कमी पड़ती तो लोकतन्त्री सिद्धान्तों के बावजूद भी ये उसके विरुद्ध बग़ावत कर देते। इन बातों को ध्यान में रखना अच्छा है। क्योंकि ये बातें सब देशों पर लागू होती हैं, और यह अन्देशा है कि कपटपूर्ण फ़िक़रों और ढोल-ढमाकेदार शब्दों के माया-जाल में फँसकर कहीं हम असलियत को न भूल जायें। इस विषय में दक्षिण अमरीका के किसी प्रजातन्त्र, जहाँ अक्सर क्रान्तियां हुआ करती हैं, और इंग्लैण्ड, जहाँ एक स्थायी सरकार है, दोनों के बीच कोई मौलिक अन्तर नहीं है। स्थिरता सिर्फ़ इसीमें है कि शासक वर्गों ने अपनी जड़ इतनी मज़बूत गाड़ली है कि अभी तक कोई दूसरा वर्ग इतना ताक़तवर नहीं हुआ जो उन्हें हटा दे। सन् १९११ ई० में लार्ड सभा, जो इस वर्ग का एक क़िला थी, कमज़ोर पड़ गई। इसपर यह वर्ग घबरा गया और अल्सटर का मामला बग़ावत का एक बहाना बन गया।

भारत में "क़ानून और व्यवस्था" के मोहक शब्द तो हमारे साथ हर रोज़ और दिन में अनेक बार लगे रहते हैं। इसलिए इसका सही अर्थ समझ लेना हमारे लिए ज़रूरी है। हम यह भी याद रखलें कि हमारा एक नेक सलाहकार, यानी भारत-सचिव, अल्सटर विद्रोह का एक नेता था।

इस तरह अल्सटर हथियारों और स्वयंसेवकों के साथ बग़ावत की तैयारी करने लगा और सरकार चुपचाप देखती रही। इन तैयारियों के विरुद्ध कोई आर्डिनेन्स नहीं निकाले गये। कुछ समय बाद आयर्लैण्ड के बाक़ी हिस्से ने अल्सटर की नक़ल शुरू करदी, लेकिन होमरूल के पक्ष में, और ज़रूरत पड़ने पर अल्सटर के विरुद्ध लड़ने के लिए "राष्ट्रीय स्वयंसेवकों" का संगठन शुरू कर दिया। इस तरह आयर्लैण्ड में दो प्रतिद्वन्दी सेनाएं तैयार हो गईं। विचित्र बात तो यह है कि जिन ब्रिटिश अधिकारियों ने अल्सटर विद्रोह के स्वयंसेवकों को सशस्त्र होते हुए देखकर आँख मूंदली थी वे ही "राष्ट्रीय स्वयंसेवकों" को दबाने में बहुत अधिक चैतन्य हो गये, हालांकि ये लोग होमरूल बिल के विरुद्ध नहीं थे।

स्वयंसेवकों के इन दो संगठनों के बीच मुठभेड़ अनिवार्य मालूम होने लगी, और इसका अर्थ था गृह-युद्ध। उसी समय, सन् १९१४ ई० के अगस्त में, एक बड़ा युद्ध, यानी पहला महायुद्ध, छिड़ गया और उसके सामने बाक़ी सब चीज़ें फीकी पड़ गईं। होमरूल का बिल क़ानून ज़रूर बन गया, लेकिन उसमें यह शर्त लगादी गई थी कि युद्ध के अन्त से पहले उस पर अमल नहीं किया जाय। इस तरह होमरूल पहले की तरह बहुत दूर की चीज़ बना रहा और युद्ध का अन्त होने के पहले आयर्लैण्ड में बहुत कुछ हो गया।

मैं विभिन्न देशों की अपनी कहानी महायुद्ध की शुरुआत तक ला रहा हूँ। आयर्लैण्ड में भी हम इस मंज़िल तक पहुँच चुके हैं, इसलिए फ़िलहाल आगे नहीं बढ़ेंगे। लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले एक बात मैं तुम्हें ज़रूर बता देना चाहता हूँ। अल्सटर-विद्रोह के नेताओं को उनकी हरकतों के लिए सज़ा देने के बजाय कुछ ही दिनों बाद ये इनाम दिये गये कि वे ब्रिटिश-केबिनेट के मंत्री बनाये गये और ब्रिटिश सरकार में उन्हें ऊँचे ओहदे दिये गये।

: १४१ :

इंग्लैण्ड का मिस्र पर क़ब्ज़ा

११ मार्च, १९३३

अमरीका से हम लम्बी छलांग मार कर और अटलाण्टिक महासागर पार करके आयर्लैण्ड पहुँच गये थे। अब हमें कूदकर एक तीसरे महाद्वीप अफ़रीका में और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एक और शिकार मिस्र में पहुँचना है। मैंने अपनी कुछ पिछली चिट्ठियों में तुम्हें मिस्र के प्राचीन इतिहास की कुछ चर्चाएं की थीं। ये संक्षिप्त और बिखरी हुई थीं क्योंकि मुझे ख़ुद इस विषय की जानकारी नहीं है। पर यदि

मुझे इससे अधिक मालूम भी होता तो भी यहाँ तक आकर अब मैं प्रारम्भिक युग को वापस नहीं लौट सकता। हम आखिर उन्नीसवी सदी की अपनी कहानी लगभग समाप्त कर चुके हैं और बीसवीं सदी के दरवाज़े पर आ गये हैं और हमें यही ठहरना है। यह नही हो सकता कि हम हमेशा कभी पीछे और कभी आगे चलते रहें। इसके अलावा भी अगर मैं हरेक देश के अतीत की कहानी लिखने का प्रयत्न करू तो क्या ये पत्र कभी समाप्त हो सकेगे ?

फिर भी मैं तुम्हें यह खयाल नही करने देना चाहता कि मिस्र की कहानी कुछ है ही नहीं। मिस्र की गणना प्राचीन राष्ट्रो में है और इसका इतिहास अन्य देशो के इतिहासों से पुराना है। इसके जमाने छोटी-मोटी सदियो में नही बल्कि हजारो वर्षों के हिसाब से गिने जाते हैं। अद्भुत और विस्मयकारक प्राचीन अवशेष इसके सुदूर अतीत की याद दिलाते है। पुरातत्व सम्बन्धी खोजो के लिए मिस्र सब से प्रथम और सब से बडा क्षेत्र रहा है; और जैसे-जैसे बालू के नीचे से पत्थर, स्मारक तथा अन्य अवशेष खोदकर निकाले गए, उनसे बहुत दूर अतीत के उन दिनो की चित्ताकर्षक कहानी प्रगट होती है जबकि ये वस्तुए नई थी। खुदाई और खोज का यह सिलसिला अभी तक जारी है और मिस्र के प्राचीन इतिहास में नई-नई बातें जोडता जाता है। फिर भी हम अभी तक यह नही कह सकते कि मिस्र का इतिहास कब से और कैसे शुरू होता है। करीब सात हजार वर्ष पहले ही नील नदी की घाटी मे सभ्य लोग रहा करते थे जिनके पीछे सास्कृतिक उन्नति का लम्बा इतिहास था। ये लोग अपनी चित्रलिपि मे लिखा करते थे, वे मिट्टी के सुन्दर बर्तन और कलश और सोने तथा ताबे के बर्तन और हाथी दांत तथा सेलखडी की नक्काशीदार चीजें बनाते थे।

कहा जाता है कि जब मकदूनिया के सिकन्दर ने ईसा पूर्व चौथी सदी में मिस्र को जीता था, उससे पहले ही इकत्तीस मिस्री राजवश वहा शासन कर चुके थे। इस चार या पाँच हजार वर्ष के अत्यन्त लम्बे समय मे पुरुषो तथा स्त्रियो के कुछ अद्भुत नमूने सामने आते है जो आज भी जीते-जागते से मालूम देते है। इन नर नारियो मे है— कर्मवीर, महान भवन-निर्माणकर्ता, महान स्वप्नदर्शी और विचारक, योद्धा, निरकुश और अत्याचारी राजा, अभिमानी तथा अकडबाज़ शासक, और सुन्दर महिलाए। एक के बाद दूसरी सहस्राब्दी मे फरऊनो का लम्बा क्रम हमारे सामने से गुज़र जाता है। स्त्रियो को पूरी आज़ादी थी और कुछ स्त्रियाँ राज-सिहासन पर भी बैठी थी। इस देश में पुजारियो की सत्ता थी और मिस्री लोग हमेशा भविष्य और परलोक की चिन्ता में डूबे रहते थे। मिस्र के विशाल पिरामिड, जिनकी रचना बेगार के मजदूरो ने की थी और जिनके बनाने मे इन मजदूरो के साथ बडी बेरहमी की गई थी, एक प्रकार से फ़रऊनो के भविष्य की व्यवस्था के लिए बनाये गये थे। मोमियाइया भी लाश को भविष्य के लिए सुरक्षित रखने का ही एक ढग थी। यह सब अन्धकारमय, कठोर और आनन्दहीन जान पड़ता है। और फिर हमें आदमियों के बनावटी बाल भी मिलते हैं, क्योकि वे लोग अपने सिर मुडाया करते थे। और बच्चो के खिलौने, जैसे गुडिया, गेदे और हाथ-पैर हिलाने वाले छोटे जानवर; जिन्हे देखकर हमें एकदम पुराने मिस्रियो के जीवन के मानव पहलू की याद आ जाती है, और ऐसा मालूम होता है कि युगो को पार करके वे हमारे समीप आ गये हैं।

ईसा पूर्व छठी सदी में, यानी बुद्ध-काल के आस-पास, ईरानियो ने मिस्र को जीत लिया और इसे अपने विशाल साम्राज्य का एक प्रान्त बना दिया, जो नील नदी से सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। ये लोग अकामनी वश के बादशाह थे जिनकी राजधानी परसीपोलिस थी। इन्होने यूनान को अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, पर असफल रहे और अन्त में सिकन्दर ने इन्हे हरा दिया। ईरानियो के कठोर शासन से मुक्त करने वाले की भाति मिस्र वालो ने सिकन्दर का स्वागत किया। सिकन्दरिया नगर के रूप मे सिकन्दर यहा अपनी यादगार छोड़ गया, और यह नगर विद्या और यूनानी सस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

तुम्हे याद होगा कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य उसके सेनापतियो मे बँट गया था और मिस्र बतलीमूसी[1] के हिस्से में आया था। बतलीमूसी लोग बहुत जल्द मिस्री ढांचे में ढल गये और ईरानियो

[1] Ptolemy.

के ढंग के विपरीत उन्होंने मिस्री दस्तूरों को अपना लिया। ये लोग मिस्रियों की तरह आचार-व्यवहार करने लगे और उन्हें ऐसा मान लिया गया मानो वे फ़रऊनों की पुरानी वंश-परम्परा की ही कड़ी हैं। क्लियोपैट्रा बत्तलीमूसी वंश की अन्तिम रानी थी। इसकी मृत्यु के बाद, ईसाई सन् शुरू होने के कुछ वर्ष पहले, मिस्र रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त हो गया।

मिस्र ने रोम से बहुत पहले ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। रोमनों ने इन मिस्री ईसाइयो पर बहुत अत्याचार किया, जिससे इन्हें भागकर रेगिस्तान में छिपना पड़ा। रेगिस्तान में अनेक खुफ़िया मठ पैदा होगये और इन मठों में रहनेवाले साधुओ द्वारा किये गये चमत्कारों की आश्चर्यजनक और रहस्यपूर्ण कहानियाँ उस जमाने के ईसाई जगत् में खूब प्रचलित थी। बाद में जब सम्राट् कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया, तब ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राज्य-धर्म होगया। तब इन मिस्री ईसाइयो ने भी ग़ैर-ईसाइयो पर, यानी पुराने मिस्री धर्म को मानने वालो पर, क्रूरतापूर्ण अत्याचार करके बदला चुकाने की कोशिश की। सिकन्दरिया अब विद्या का एक मशहूर ईसाई केन्द्र होगया, लेकिन राज्य-धर्म होने पर ईसाई धर्म अनेक मत-मतान्तरों और दलो में बँट गया, जो आपस में झगड़ते रहते थे और प्रभुत्व के लिए लड़ते रहते थे। ये खूनी कलह ऐसा जान का बवाल बन गई कि आम लोग इन सारे ईसाई मत-मतान्तरो से पूरी तरह तग आ गये थे। इसलिए सातवी सदी में जब अरब लोग एक नया धर्म लेकर आये, तो जनता ने उनका स्वागत किया। मिस्र और उत्तरी अफ़रीक़ा को अरब लोगो ने इतनी आसानी से फतह कर लिया इसका एक कारण यह भी था। अब फिर ईसाइयो पर अत्याचार होने लगे और उनका बेरहमी से दमन होने लगा।

इस तरह मिस्र खलीफ़ा के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। अरबी भाषा और अरबी संस्कृति तेजी से फैल गई; यहाँतक कि पुरानी मिस्री भाषा का स्थान अरबी ने ले लिया। दो सौ वर्ष बाद, नवी सदी में, जब बगदाद की खिलाफत कमजोर हुई तो मिस्र तुर्की हाकिमो के अधीन एक अर्द्ध-स्वतत्र देश हो गया। तीन सौ वर्ष बाद क्रूसेड युद्धो का मुस्लिम वीर सलादीन मिस्र का सुल्तान बन बैठा। सलादीन के कुछ ही दिन बाद उसके एक उत्तराधिकारी ने काकेशस-क्षेत्र से बहुत-से तुर्की गुलाम लाकर उन्हे अपना सैनिक बनाया। ये गोरे गुलाम ममलूक कहलाते थे। ममलूक का अर्थ है गुलाम। ये लोग फ़ौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और बड़े सजीले जवान थे। कुछ ही वर्षों के अन्दर ये ममलूक विद्रोह कर बैठे और इन्होंने अपने ही एक आदमी को मिस्र का सुल्तान बना दिया। इस तरह मिस्र मे ममलूको का राज्य शुरू हुआ, जो ढाई सौ वर्ष रहा और अर्द्ध-स्वतन्त्र रूप में इसके बाद करीब तीन सौ वर्ष के और भी चला। इस तरह विदेशी गुलामो की इस जाति ने मिस्र पर पाँच सौ वर्ष से ज्यादा राज किया। इतिहास में यह एक अद्वितीय और निराली घटना है।

ऐसा नही हुआ कि शुरू मे आये हुए इन ममलूको की कोई पुश्तैनी जाति या वर्ग मिस्र में बन गया हो। ये तो काकेशिया की गोरी जातियो के अच्छे से अच्छे गुलामो को छाँट कर अपनी सख्या बढाते रहते थे। काकेशियाई जातियाँ आर्य है, इसलिए ममलूक भी आर्य थे। ये विदेशी लोग मिस्र की आबोहवा में पनप नही पाये और इनके कुटुम्ब कुछ पीढियो के बाद लुप्त होजाते थे। लेकिन चूकि नये-नये ममलूक आते रहते थे, इसलिए इस वर्ग की संख्या और खासतौर पर इसकी ताक़त और इसकी प्राणशक्ति कायम रही। इस तरह यद्यपि इन लोगो का कोई पुश्तैनी वर्ग नही बन पाया, फिर भी इनका एक रईस वर्ग और शासक वर्ग बन गया जो बहुत लम्बे समय तक कायम रहा।

सोलहवी सदी के शुरू मे क़ुस्तुन्तुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिस्र को फ़तह कर लिया और ममलूक सुलतान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक लोग फिर भी शासक रईस वर्ग बने रहे। बाद में जब योरप में तुर्कों की ताक़त घट गई तब कहने को तो मिस्र उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूको ने वहाँ खूब मनमानी की। अठारहवी सदी के अन्त में जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्ही ममलूको से मुठभेड़ हुई और उसने इन्हे पराजित किया। पिछले किसी पत्र में वर्णित उस ममलूक योद्धा की कहानी तुम्हे याद होगी जिसने अपना घोड़ा बढाकर फ्रांसीसी सेना के सामने जा खड़ा किया था और मध्य-युगों तथा वीर-काल की रीति के अनुसार उनके नेता को द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारा था।

अब हम उन्नीसवी सदी तक आगये। इस सदी के पूर्वार्द्ध में मिस्र पर मुहम्मदअली का प्रभुत्व रहा।

यह अलबानियाई तुर्क था और मिस्र का गवर्नर बन गया था। ये तुर्की गवर्नर "खदीव" कहलाते थे। मुहम्मदअली आधुनिक मिस्र का संस्थापक माना जाता है। पहली बात तो उसने यह की कि ममलूकों को धोखे से तलवार के घाट उतारकर उनकी शक्ति का अन्त कर दिया। यह मिस्र में एक अंग्रेजी फौज को भी हरा कर इस देश का स्वामी बन बैठा और सिर्फ नाममात्र के लिए ही तुर्की सुलतान की सत्ता को स्वीकार करता रहा। इसने नई मिस्री फ़ौज तैयार की, जिसमें देशी किसानो की भरती की गई, ममलूकों की नही। इसने कई नहरें खुदवाई और कपास की खेती को प्रोत्साहन दिया, जो भविष्य में मिस्र का मुख्य उद्योग होगया। इसने यह धमकी भी दी थी कि वह क़ुस्तुन्तुनिया के नाममात्र के स्वामी को निकालकर इस नगर पर ही अधिकार कर लेगा। लेकिन उसने ऐसा किया नही और केवल शाम देश को मिस्र में मिला लिया।

मुहम्मदअली सन् १८४९ ई० में अस्सी वर्ष की उम्र में मर गया। इसके उत्तराधिकारी पोच फ़िज़ूलखर्च और निकम्मे आदमी थे। लेकिन अगर वे ऐसे न होकर अच्छे भी होते तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बौहरो के लालच और योरपीय साम्राज्यवाद की हवस का मुक़ाबला करना कठिन होता। विदेशियो ने, खासकर अंग्रेज़ और फ़ासीसी बौहरो ने, खदीवों को ज्यादातर उनके निजी खर्च के लिए बेहद ऊचे ब्याज पर रुपया उधार दिया था और जब वक्त पर अदा न हो सका तो जगी जहाज़ उसे वसूल करने के लिए आ-धमके! अन्तर्राष्ट्रीय साज़िश की यह असाधारण कहानी है कि बौहरे और सरकारें किस प्रकार दूसरे देश को लूटने और उसपर प्रभत्व जमाने के उद्देश्य से आपस में मिली-भगत से काम करते है। अनेक खदीवो के निकम्मेपन के बावजूद भी मिस्र ने बहुत उन्नति करली थी, यहाँ तक कि प्रमुख अंग्रेजी अखबार 'टाइम्स' ने जनवरी, १८७६ ई० के एक अक में लिखा था: "मिस्र उन्नति का चमत्कारी उदाहरण है। इस देश ने सत्तर वर्ष मे इतनी प्रगति करली है, जितनी दूसरे देशो ने पाँच सौ वर्षों में की।" पर इस सब के बावजूद विदेशी बौहरे एक कौडी भी छोडने को तैयार नही हुए और यह दिखा कर कि देश दिवालियापन की तरफ दौड़ रहा है, उन्होंने विदेशों द्वारा दस्तन्दाज़ी की पुकार मचाई। विदेशी सरकारें, खासकर अंग्रेज़ी और फ़ासीसी सरकारे, तो हस्तक्षेप करने पर तुली बैठी थी। इन्हे तो सिर्फ एक बहाना चाहिए था, क्योकि मिस्र ऐसा ललचाऊ निवाला था जिसे छोडा नही जा सकता था, और फिर मिस्र भारत के रास्ते में भी पडता था।

इसी बीच स्वेज़ की नहर, जो ज़बरदस्ती बेगार लेकर और बडे नृशस तरीको से बनवाई गई थी, सन् १८६९ ई० मे खुल गई। (यह जानकर तुम्हे दिलचस्पी होगी कि ईसा से १४०० वर्ष पूर्व पुराने मिस्र राजवश के ज़माने में, इसी तरह की नहर लालसागर और भूमध्यसागर के बीच में थी!) इस नहर के खुल जाने से योरप, एशिया और आस्ट्रेलिया का सारा यातायात स्वेज़ से होकर गुज़रने लगा और इस कारण मिस्र का महत्व और भी अधिक बढ़ गया। इग्लैण्ड के लिए इस नहर पर और मिस्र पर प्रभुत्व रखना परम महत्व की चीज़ होगया क्योकि भारत और पूर्वी देशो में उसका बहुत ही गहरा स्वार्थ निहित था। सन् १८७५ ई० में इग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री डिज़रेली ने दिवालिये खदीव के स्वेज़ नहर के हिस्सो को बहुत कम कीमत पर खरीद कर एक चालाकीपूर्ण राजनैतिक चाल खेली। इन हिस्सो मे पूजी लगाना मुनाफे का कारोबार तो था ही, साथ ही इसके फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार का नहर के ऊपर बहुत काफी नियत्रण होगया। मिस्र के बचे हुए हिस्से फ़ासीसी बौहरो ने खरीद लिये, इसलिए मिस्र का नहर पर कुछ आर्थिक नियत्रण बाक़ी नही रह गया। इन हिस्सो से फ्रान्सीसियो ने और अंग्रेजो ने अपार लाभ कमाया है और साथ-ही-साथ नहर पर कब्ज़ा रखकर मिस्र की जान को अपनी मुट्ठी में दबाये रक्खा है। सन् १९३२ ई० में सिर्फ ब्रिटिश सरकार को ४० लाख पौंड के मूलधन पर इस नहर से ३५ लाख पौंड मुनाफा रहा है!

यह अनिवार्य था कि ब्रिटिश सरकार इस देश पर और ज्यादा काबू जमाने की कोशिश करती, और इसलिए सन् १८७९ ई० से इसने मिस्र के अन्दरूनी मामलो में बराबर दखल देना शुरू किया और अपने यहाँ के बौहरो के हाथ मे अधिकार दे दिया। अनेक मिस्रियो का इस पर रोष करना स्वाभाविक था और मिस्र को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त करने पर तुला हुआ एक राष्ट्रवादी दल पैदा होगया। इस दल का नेता एक नौजवान सैनिक अरबीपाशा था, जिसका जन्म एक ग़रीब मज़दूर परिवार में हुआ था और जो मिस्र की फ़ौज में मामूली सिपाही की तरह भरती हुआ था। धीरे-धीरे इसका प्रभाव बढ़ने लगा और यह मिस्र का युद्ध-मत्री होगया। इस हैसियत से इसने फ्रान्सीसी और ब्रिटिश अमलदारो के आदेश मानने से इन्कार कर दिया। विदेशियो के तानाशाही हुक्म के आगे सिर न झुकाने का जवाब इग्लैण्ड ने युद्ध से दिया और सन् १८८२

ई० में अंग्रेजी बेड़े ने सिकन्दरिया नगर पर गोलाबारी की और उसे जला दिया। इस तरह पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता घोषित करके और मिस्री सेनाओं को खुश्की पर भी हरा कर अंग्रेजों ने अब मिस्र पर पूरा दखल जमा लिया।

इस तरह मिस्र पर ब्रिटिश अधिकार की शुरुआत हुई। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की दृष्टि से, यह एक असाधारण स्थिति थी। मिस्र तुर्की राज्य का एक प्रान्त या हिस्सा था। इंग्लैण्ड से तुर्की की मित्रता मानी जाती थी, इसपर भी इंग्लैण्ड ने इत्मीनान के साथ उसके राज्य के एक हिस्से पर अधिकार जमा लिया था। उसने मिस्र में अपना एक एजेण्ट नियुक्त कर दिया। मुग़ल बादशाहो की तरह या भारत के बडे लाट के समान यह सबके ऊपर अफ़सर था, यहाँ तक कि खदीव और उसके मंत्री भी इस ब्रिटिश एजेण्ट के आगे बेबस थे। मिस्र का पहला ब्रिटिश एजेण्ट मेजर बेरिंग था जिसने मिस्र पर पच्चीस वर्ष तक शासन किया और जो बाद में लार्ड क्रोमर हो गया।। क्रोमर मिस्र का निरंकुश शासक था। इसका सबसे पहला काम यह देखना था कि विदेशी बौहरो और कर्जदाताओ को मुनाफ़ो का भुगतान करता रहे। यह भुगतान नियमित रूप से होता रहा और मिस्र की आर्थिक स्थिति की मजबूती की बडी तारीफ़ की जाने लगी। भारत की भाति मिस्र के राज-प्रबन्ध में भी कुछ चुस्ती पैदा की गई, लेकिन पच्चीस वर्ष समाप्त होने पर मिस्र का पुराना क़र्ज़ उतना ही बना रहा जितना शुरू में था। शिक्षा के लिए कुछ नही किया गया और क्रोमर ने तो एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का खोलना भी रोक दिया था। इसके दृष्टिकोण का पता इसके पत्र के एक वाक्य से चलता है, जो इसने १८९२ ई० में उस समय इंग्लैण्ड के प्रधान-मंत्री लार्ड सैलिसबरी को लिखा था: "खदीव कट्टर मिस्री बन रहा है"! किसी मिस्र-निवासी का मिस्री की तरह व्यवहार करना लार्ड क्रोमर की दृष्टि में अपराध था, जैसे किसी भारतवासी के भारतीय की तरह व्यवहार करने पर अंग्रेजो की त्योरियाँ चढ जाती हैं और वे उसे सज़ा देते हैं।

मिस्र पर अंग्रेजो का यह अधिकार फ़ासीसियो को नही सुहाता था क्योंकि इस लूट मे इन्हे कोई हिस्सा नहीं मिला था। योरप की अन्य शक्तियाँ भी इसे पसन्द नही करती थी, और यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं कि मिस्री लोग तो इसे बिलकुल ही नही चाहते थे। ब्रिटिश सरकार हरेक से यही कहती थी कि परेशानी की कोई बात नही, हम तो मिस्र में सिर्फ़ कुछ समय के लिए हैं और बहुत जल्द इस देश को छोडकर चले जायँगे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी तौर पर और बाकायदा बार-बार यह घोषणा की कि वे मिस्र को खाली कर देंगे। यह गभीर घोषणा क़रीब पचास बार या इससे ज्यादा बार की गई; यहाँ तक कि इसकी गिनती याद रखना मुश्किल है। मगर फिर भी अंग्रेज़ लोग मिस्र में जमे रहे और अभी तक बने हुए है।[1]

सन् १९०४ ई० मे अंग्रेजो ने झगडे के बहुत से मामलो मे फ़ासीसियों से समझौता कर लिया। अंग्रेज़ इस बात पर राज़ी होगये कि फ्रान्सीसी लोग मोरक्को में जो चाहे करें; इसके बदले मे फ्रान्सीसी लोग मिस्र पर ब्रिटिश आधिपत्य मानने के लिए राज़ी होगये। लेन-देन का यह आपसी सौदा अच्छा होगया, सिर्फ तुर्की से, जो अभीतक मिस्र का अधिपति माना जाता था, कोई सलाह नही ली गई; और मिस्र-निवासियो से तो पूछताछ करने का कोई सवाल ही नही था!

इस जमाने में मिस्र की एक और विशेषता यह थी कि मिस्री अदालतो को विदेशियो को पकडने या उन पर मुकदमे चलाने का अधिकार नही था। ये अदालते इस काम के योग्य नही समझी जाती थी और विदेशियो को अधिकार था कि उन पर मुकदमे उन्ही की अदालतो मे चलाये जायँ। इसलिए "अधिकार क्षेत्र के बाहर"[2] कहलाने वाली अदालते पैदा हो गई जिनमें विदेशी न्यायाधीश होते थे और जिनके हृदयो में विदेशी हितसाधन रहता था। इन में से एक बहुत कट्टर विदेशी न्यायाधीश ने इन अदालतो के बारे में लिखा है—"इन अदालतो के न्याय ने विदेशी गुट्ट की, जो देश को चूस रहा था, खूब सेवा की।" मेरा ख्याल है कि मिस्र के विदेशी निवासी ज्यादातर टैक्सों से भी बरी हो जाते थे। क्या ही मौज की स्थिति थी: टैक्स न

---

[1] अगस्त १९३६ ई० में मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई और अंग्रेजी फ़ौजें वहां से हटा ली गई।

[2] Extra-Territorial.

देने पड़ें, जिस देश में रहें वहा के क़ानूनों और वहाँ की अदालतों के दायरे से बाहर रहें, और साथ ही उस देश के शोषण की हरेक सुविधा प्राप्त हो !

इस तरह इंग्लैण्ड मिस्र पर राज करता था और उसका शोषण करता था और उसके एजेण्ट और प्रतिनिधि अपनी रेजीडेन्सियों में निरकुश बादशाहो की तरह पूरी शान शौकत और तडक-भडक से रहते थे। ऐसी हालत में स्वाभाविक था कि राष्ट्रीयता बढ़ती और सुधार के आन्दोलन जोर पकडते। उन्नीसवी सदी का सबसे महान मिस्री सुधारक जमालुद्दीन अफ़ग़ानी था। यह धार्मिक नेता था, इस्लाम को आधुनिक परिस्थितियों के साँचे में ढालकर आधुनिक बना देना चाहता था। यह प्रचार करता था कि हर तरह की प्रगति का इस्लाम के साथ मेल बिठाया जा सकता है। इस्लाम को आधुनिक रूप देने की इसकी कोशिश मूल में उसी प्रकार की थी, जैसी कोशिशें भारत में हिन्दू धर्म को आधुनिक बनाने के लिए की गई हैं। इन कोशिशों का आधार यह होता है कि कुछ खास प्राचीन आप्त वाक्यो को पकड लेना और पुराने दस्तूरो तथा रूढ़ियों के नये अर्थ लगाना और उनकी नई व्याख्या करना। इस ढग से आधुनिक ज्ञान पुराने धार्मिक ज्ञान का एक प्रकार का परिशिष्ट या भाष्य बन जाता है। किन्तु यह पद्धति वैज्ञानिक पद्धति से बिलकुल भिन्न है, क्योकि वैज्ञानिक पद्धति तो किसी पूर्व आग्रह के बिना खुल्लमखुल्ला आगे बढ़ती है। कुछ भी हो, जमालुद्दीन का प्रभाव सिर्फ़ मिस्र में ही नही बल्कि अन्य अरबी देशो में भी बहुत बढा-चढा था।

विदेशी व्यापार के विकास के साथ-साथ मिस्र मे एक नया मध्यमवर्ग पैदा होगया और यह वहाँ की नवीन राष्ट्रीयता की रीढ़ बन गया। आधुनिक मिस्री नेताओ मे सबसे महान नेता सैद जगलूलपाशा इसी वर्ग में पैदा हुआ था। मिस्र में मुख्यतया मुसलमानो की आबादी है, लेकिन वहाँ काप्ट लोग, जो ईसाई हैं, अब भी काफी सख्या मे है। ये काप्ट लोग पुराने मिस्रियो के विशुद्ध वशज है। नये मध्यमवर्ग में मुसलमान भी थे और काप्ट भी, और सौभाग्यवश इन दोनो मे वैरभाव नही था। अग्रेजो ने इन दोनो में फूट डालने की कोशिश की, लेकिन उन्हे बिलकुल सफलता नही मिली। अग्रेजों ने राष्ट्रवादी दल में भी फूट डलवाने की कोशिश की। कभी-कभी भारत की तरह मिस्र मे भी इन्हे कुछ नरम-दल वाले लोग मिल जाते थे, जो इनके साथ सहयोग करते थे। लेकिन इसके बारे मे मै तुम्हे ज्यादा बाते किसी आगे के पत्र में लिखूंगा।

जब अगस्त, सन् १९१४ ई० में महायुद्ध शुरू हुआ तब मिस्र की यही स्थिति थी। तीन महीने बाद इग्लैण्ड, फ्रास और इनके मित्र-राष्ट्रो के विरुद्ध तुर्की जर्मनी से मिल गया। इस पर इग्लैण्ड ने मिस्र को सचमुच ही ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन इसमें कुछ दिक़्क़तें पैदा होगईं और इसके बजाय मिस्र पर इग्लैण्ड की सरक्षता घोषित कर दी गई।

इतना हाल तो मिस्र का बस है। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे अफरीका का बाकी हिस्सा भी योरपीय साम्राज्यवाद का शिकार होगया। इस विशाल महाद्वीप पर जबरदस्त झपट मच गई और योरपीय शक्तियो ने इसे आपस मे बाँट लिया। ये लोग गिद्धो की तरह इस पर टूट पडे और कभी-कभी इनमे आपस मे दो-दो चोचें भी होजाती थी। कोई किसी की रोकथाम करनेवाला न था, लेकिन सन १८९६ ई० मे इटली अबिसीनिया से हार गया। अफरीका पर मुख्यतया अग्रेजो और फ्रासीसियो का क़ब्ज़ा था और कुछ हिस्से बेलजियम, इटली और पुर्तगाल के कब्ज़े में थे। जर्मनो का भी युद्ध के पहले यहाँ पौवा था। स्वाधीन राज्य केवल दो रह गये थे—पूर्व मे अबिसीनिया और पश्चिमी किनारे पर छोटा-सा लाइबीरिया। मोरक्को पर फ्रास और स्पेन का प्रभुत्व था।

इन विशाल प्रदेशो पर किस तरह कब्ज़ा किया गया, इसकी कहानी तो बहुत लम्बी और बीभत्स है और अभी वह समाप्त भी नही हुई है। इस महाद्वीप के शोषण के लिए, खासकर रबड़ निकालने के लिए, जो साधन काम मे लाये गये, वे तो इससे भी बुरे थे। कई वर्ष हुए, बेलजियमवाले कागो में किये गये अत्याचारो के समाचारो से सभ्य कहलानेवाले ससार में घृणा की लहर दौड़ गई थी। काले आदमियो का बोझ बड़ा भीषण रहा है।

जहाँ तक अफरीका के भीतरी भागो का सम्बन्ध है, उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध तक यह देश, जिसे 'अंधेरा महाद्वीप' कहा जाता है, क़रीब-क़रीब एक अज्ञात प्रदेश था। इस रहस्यपूर्ण देश का सही नकशा बनाने के लिए इसके एक छोर से दूसरे छोर तक अनेक साहसपूर्ण तथा हृदय थर्रानेवाली यात्राए की गईं।

स्काटलैण्ड का एक पादरी, डेविड लिविंग्स्टन, इस देश का सबसे महान खोजी था। वर्षों तक वह इस मुल्क में गायब रहा और बाहर की दुनिया को उसका कुछ पता न चला। इसके नाम के साथ-साथ हेनरी स्टेनली का भी नाम मशहूर है। यह पत्रकार और खोजी था जो डेविड लिविंग्स्टन की तलाश में निकला था और अन्त में इसने उसे महाद्वीप के मध्य में खोज निकाला।

: १४२ :

तुर्की "योरप का मरीज़" बन जाता है

१४ मार्च, १९३३ ई०

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके टर्की पहुँच जाना मानो एक छोटा और आसान क़दम है। उन्नीसवी सदी में योरप में उस्मानी तुर्कों का साम्राज्य धीरे-धीरे टूटता चला गया। पतन का यह सिलसिला इससे पूर्व की सदी में ही प्रारम्भ हो चुका था। शायद तुम्हें याद होगा कि मैंने वियेना के तुर्की मुहासिरे का जिक्र किया था और यह बताया था कि कुछ समय तक तुर्कों की तलवार के सामने योरप किस तरह थर्रा उठा था। पश्चिम के धर्म-परायण ईसाई तुर्कों को "खुदा का कहर" समझते थे जो ईसाई संसार को उसके पापो की सजा देने के लिए भेजा गया था। लेकिन वियेना के सिंहद्वार पर अन्तिम रूप में तुर्कों की पराजय के बाद मामला उलट गया और तब से तुर्कों को योरप में अपने बचाव की फिक्र लग गई। दक्षिण-पूर्वी योरप की अनेक क़ौमें, जिन्हें इन्होने दबा रक्खा था, इनके लिए इतने सारे कॉंटे बन गई थी। इन कौमो को हज़म करने की कोई कोशिश नही की गई; और अगर कोशिश की भी गई होती तो शायद यह सम्भव नही था क्योकि तुर्कों के कठोर शासन और राष्ट्रीयता की भावना के बीच मुठभेड होने लगी थी। उत्तर-पूर्व में ज़ारशाही रूस दिन-दिन फैलता जा रहा था और तुर्की प्रदेशो में घुसने के लिए ज़ोर लगा रहा था। वह तुर्कों का पुश्तैनी और स्थायी दुश्मन होगया और करीब दो सौ वर्ष तक उनसे समय-समय पर युद्ध करता रहा, जब तक कि ज़ार और सुलतान दोनो अपने साम्राज्यो समेत लगभग एक ही साथ खतम न हो गये।

साम्राज्यो की दृष्टि से उस्मानी साम्राज्य काफी दिनों तक कायम रहा। एशिया-कोचक में बहुत दिन बना रहने के बाद सन् १३६१ ई० में इसकी बुनियाद योरप में पडी। हालाँकि कुस्तुन्तुनियाँ सन् १४५३ ई० तक तुर्कों के हाथ में नही आया, लेकिन आस-पास का सारा प्रदेश इसके बहुत पहले ही उनके अधीन होगया था। पश्चिमी एशिया में तैमूर के अचानक भडाके ने और सन् १४०२ ई० में उसके हाथों अंगोरा में तुर्की सुल्तान की बुरी तरह पराजय ने कुस्तुनतुनिया को कुछ दिनो के लिए तुर्कों से बचा दिया। लेकिन तुर्क फिर बहुत जल्दी ज़ोर पकड गये। सन् १३६१ ई० से लगाकर हमारे ज़माने में उस्मानी साम्राज्य के अन्त तक साढे पाँच सौ से अधिक वर्ष हो गये है और यह समय काफी लम्बा है।

फिर भी मध्य-युगों के अन्त के बाद योरप में जो नई परिस्थितिया बनती जा रही थी, उनके साथ तुर्कों का बिलकुल सामञ्जस्य नही था। व्यापार और व्यवसाय बढ रहे थे और योरप के कारखानेवाले शहरो में उत्पादन की व्यवस्था बडे पैमाने पर की जा रही थी। तुर्कों को इस तरह की चीज़ के प्रति कोई आकर्षण नही था। ये तुर्क लोग जवामर्द सिपाही होते थे, सख्त लडाके और अनुशासन-पसद होते थे जो फ़ुरसत के समयों में मस्त रहते थे पर भडकने पर खूँखार और क्रूर बन जाते थे। यद्यपि ये शहरो में बस गये थे और उन्हे भव्य इमारतो से सजा देते थे, फिर भी उनमें उनका पुराना खानाबदोश ढंग कुछ बाक़ी था और वे अपने जीवन को उसी ढग पर ढालते थे। तुर्कों के अपने वतन में शायद यही ढग सब से अधिक उपयुक्त था, लेकिन योरप या एशिया-कोचक की नई परिस्थितियों से वह बिल्कुल मेल नही खाता था। तुर्कों ने अपने आप को इन नये चौगिर्दों के अनुकूल बनाना मजूर नही किया, इसलिए दोनो भिन्न प्रणालियो में बराबर मुठभेड होती रही।

उस्मानी साम्राज्य तीन महाद्वीपो—योरप, एशिया और अफ़रीका को मिलाता था; पूर्व और पश्चिम के बीच के सारे तिजारती रास्ते इसी में होकर गुज़रते थे। अगर तुर्कों में व्यापारिक रुचि होती

और इस काम के लिए आवश्यक क्षमता होती तो ये अपनी इस अनुकूल स्थिति से फ़ायदा उठा कर एक महान व्यवसायी राष्ट्र बन सकते थे। लेकिन इनमें इस तरह की कोई रुचि या क्षमता नहीं थी, और वे इस व्यापार को अनुचित तरीक़ो से रोकते थे ; शायद इसलिए कि वे दूसरो को इससे फ़ायदा उठाते हुए देखना पसन्द नही करते थे। पुराने तिजारती रास्तों का इस तरह रोक दिया जाना भी एक कारण था जिससे योरप की जहाज़ी और व्यवसायी क़ौमों को पूर्वी देशो के लिए नये रास्ते तलाश करने पर मजबूर होना पड़ा। इसी के फलस्वरूप कोलम्बस ने पश्चिम के और डायज तथा वास्कोदेगामा ने पूर्व के नये रास्ते खोज निकाले। लेकिन तुर्क लोग इन सब बातो की तरफ से बिलकुल उदासीन रहे और अपने साम्राज्य पर निरे अनुशासन और सैनिक कुशलता से शासन करते रहे। नतीजा यह हुआ उस्मानी साम्राज्य के योरपीय भाग में व्यावसायिक और धन-उत्पादक प्रवृत्तिया धीरे-धीरे खतम हो गईं। जातीय और धार्मिक संघर्ष भी कुछ हद तक इसका निमित्त था। तुर्कों और बलकान की ईसाई क़ौमो को आपसी पुरानी धार्मिक शत्रुता क्रूसेडो के समय से और उसके भी पहले से विरासत में मिली थी। नई राष्ट्रीयता के बढ़ने से यह आग और भी भड़क गई और निरन्तर झगड़े रहने लगे। उस्मानी साम्राज्य के योरपीय हिस्से किस तरह अवनति को प्राप्त होते गये इसकी एक मिसाल देता हूँ। जब यूनान सन् १८२९ ई० में तुर्कों से आज़ाद हुआ तब एथेन्स का मशहूर पुराना शहर सिर्फ़ दो हज़ार की आबादी का गाँव रह गया था। (आज सौ वर्ष बाद इस शहर की आबादी पांच लाख से ऊपर है।)

इन व्यावसायिक और धन-उत्पादक प्रवृत्तियो का गिर जाना अन्त में खुद तुर्की शासकों को हानिकर हुआ। जब साम्राज्य के हाथ-पाव दुर्बल और शिथिल पड गये, तब साम्राज्य का हृदय भी निर्बल और रोगी हो गया। वास्तव में यह ताज्जुब की बात है कि इन सब सघर्षों और कठिनाइयो के होते हुए भी यह साम्राज्य इतने दिनो तक टिका रहा।

कई सौ वर्षों तक उस्मानी सुल्तानों की मज़बूती "जानिसारियो" के कारण रही। यह तुर्की सिपाहियो की एक फ़ौजी टुकड़ी थी, जिसमें ईसाई गुलाम भरती किये जाते थे और उन्हे लड़कपन से ही बहुत साव-धानी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जाँनिसारियो से हमें मिस्र के ममलूकों की याद आ जाती है, लेकिन इन दोनो मे फ़र्क था। यद्यपि ये लोग तुर्की सेना के रत्न थे, लेकिन मिस्र के ममलूको की तरह कभी शासन-अधिकारी नही हुए। ममलूको की तरह इनकी भी कोई पुश्तैनी जाति नही बनी। ये लोग गुलाम तो थे, लेकिन कृपा-भाजन समझे जाते थे और इन्हे ऊची जगहे और ऊचे पद खास तौर पर दिये जाते थे। परन्तु इनके पुत्र आज़ाद मुसलमान बन गये और बहुत समय तक वे इस कृपा-भाजन सेना में नही रह सके क्योकि यह गुलामो ही के लिए थी। इसमें केवल नये गोरे ईसाई गुलाम ही भरती किये जाते थे। ये बाते आज कितनी असाधारण मालूम होती हैं! लेकिन याद रहे कि उस ज़माने में इस्लामी-देशो में गुलाम शब्द का ठीक वैसा ही अर्थ नही लिया जाता था जैसा आजकल लिया जाता है। गुलाम लोग अक्सर ज़ाब्ते और कानून की दृष्टि से तो गुलाम होते थे, लेकिन वे ऊचे से ऊचा पद प्राप्त कर सकते थे। तुम्हें दिल्ली के गुलाम बादशाहो का तो ध्यान होगा ही। मिस्र का सुल्तान सलादीन भी शुरू में गुलाम ही था। मालूम होता है तुर्कों का यह दृष्टिकोण था कि शासक वर्ग को ज्यादा-से-ज्यादा कार्य-कुशल बनाने के लिए उन्हे बहुत मुकम्मिल तालीम देनी चाहिए। तुर्क लोग यह जानते थे, जैसा कि हरेक शिक्षक जानता है, कि तालीम देने का सब से अच्छा समय लडकपन से कुछ साल बाद तक हुआ करता है। मुसलमान प्रजा के बच्चो को छीन लेना और उनको अपने माता-पिता से बिलकुल अलग कर देना, या गुलाम बना लेना, शायद आसान नही था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई लड़कों को पकड़ लेते थे और उन्हें सुलतान के महल के गुलामो में भरती करके बिल्कुल पूर्णता के साथ तालीम देते थे। अलबत्ता ये छोटे लड़के बड़े होकर मुसलमान हो जाते थे।

खुद सुलतान लोग भी इसी पद्धति से पाले जाते थे। सुलतानो की शादियाँ साधारण ढंग से नही होती थी। सावधानी से चुनी हुई गुलाम लड़कियाँ उनके महल में भेज दी जाती थी और वही इनके बच्चों की माँ होती थीं। अठारहवी सदी की शुरुआत तक जितने सुलतान हुए, वे सब गुलाम माताओं की ही सन्तान थे, और उन्हें उसी तरह की पूर्ण तालीम और कठोर अनुशासन से गुज़रना पड़ता था जैसे महल के किसी अन्य गुलाम को।

गुलामों के इस सावधानीभरे चुनाव में और सुल्तान से लगाकर नीचे तक उनके अनुशासन तथा खास कामों की तालीम में कुछ वैज्ञानिकता थी। इसके फलस्वरूप कुछ खास कार्यक्षेत्रों में किसी हद तक मुस्तैदी जरूर आ गई थी; नये गुलामों से निरन्तर ताजी नस्ल मिलती रहती थी जिससे कोई पुश्तैनी शासक-वर्ग नहीं बन सका। शायद इस साम्राज्य की प्रारम्भिक मजबूती इसी पद्धति पर निर्भर थी। लेकिन यह चीज़ योरपीय या एशियाई परिस्थितियों से बिलकुल मेल नहीं खाती थी। यह पद्धति सामन्त-पद्धति से बिलकुल भिन्न थी, और यह उस पद्धति से तो और भी अधिक भिन्न थी जो योरप में सामन्तशाही की जगह ले रही थी। इस पद्धति के अन्तर्गत और व्यापार तथा व्यवसाय के बहुत कुछ अभाव में, कोई असली मध्यम-वर्ग पनप न सका। सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद, जब गुलाम घरबार में वंश-परम्परा का तत्व आ गया और इस घरबार के लोगों के पुत्र उसमें बने रह कर अपने पिताओं के ही धन्धों का अनुगमन कर सकते थे, तब यह पद्धति अपनी प्रारम्भिक शुद्धता क़ायम नहीं रख सकी। अनेक अन्य तरीकों से भी यह पद्धति धीरे-धीरे ढीली पड़ गई। लेकिन पृष्ठ-भूमि तो बनी ही रही और इसके फलस्वरूप, सदियों के निकट सहवास के बावजूद भी तुर्की योरप से बिल्कुल भिन्न और उसमें बेगाना बन गया। खुद तुर्की के अन्दर ही वहा की विदेशी जातियाँ अपने-अपने क़ानूनों और समुदायों को लिए हुए एक-दूसरी से बिलकुल बिलग बनी रहीं।

इस असाधारण और पुरानी तुर्की पद्धति के बारे में मैंने तुमको इतना ज्यादा इसलिए बताया है कि यह अद्वितीय थी और इसने उस्मानी साम्राज्य के निर्माण में मदद पहुंचाई। अलबत्ता अब इसका अस्तित्व नहीं रहा है, यह इतिहास की बात हो गई है।

तुर्की के पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास निरन्तर बढ़े चले आने वाले रूसियों के विरुद्ध और अधीन क़ौमों के विद्रोहों के विरुद्ध लड़ाइयों का इतिहास है। यूनान, रूमानिया, सर्बिया, बलगारिया, मॉण्टेनिग्रो, बोसनिया, ये सब बलकानी देश थे और उस्मानी साम्राज्य के अंग थे। हम देख चुके हैं कि इग्लैण्ड, फ्रांस और रूस की मदद से सन् १८२९ ई० में यूनान उस्मानी साम्राज्य से अलग हो गया। रूस स्लाव जाति का देश है, और बलकान में बलगारिया और सर्बिया भी इसी जाति के हैं। जारशाही रूस ने यह दिखाना चाहा कि वह इन बलकानी स्लावों का रक्षक और हिमायती है। लेकिन रूस का असली प्रलोभन कुस्तुनतुनिया था और उसकी कूटनीति का सारा लक्ष्य यही था कि अन्त में साम्राज्य की यह पुरानी राजधानी कब्ज़े में आ जाय, क्योंकि जार अपने को बिज़ैण्टाइन सम्राटों का उत्तराधिकारी समझता था। सन् १७३० ई० में रूसी-तुर्की युद्धों का सिलसिला शुरू हुआ और ये युद्ध बीच-बीच में कुछ दिनों की शान्ति के अलावा, सन् १७६८, १७९२, १८०७, १८२८, १८५३, १८७७ ई० मे और अन्त में १९१४ ई० मे होते रहे। सन् १७७४ ई० में रूस ने तुर्की से क्रीमिया छीन लिया और वह काले सागर तक जा पहुँचा। लेकिन इससे कोई ज्यादा फ़ायदा नहीं हुआ; क्योंकि काला सागर तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुँह पर क़ुस्तुनतुनिया की डाट लगी है। सन १७९२ और १८०७ ई० में रूसी सीमान्त क़ुस्तुनतुनिया की तरफ बढ़ता गया और तुर्की सीमान्त पीछे हटता गया। जब यूनान का स्वाधीनता युद्ध चल रहा था और तुर्क लोग इधर फंसे हुए थे, तब जार ने उन पर हमला करके इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। अगर इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच में न पड़ जाते, तो जार ने क़ुस्तुनतुनिया पर क़ब्ज़ा कर लिया होता।

इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया ने तुर्की को रूस से क्यों बचाया? तुर्की से प्रेम होने के कारण नहीं, बल्कि रूस की प्रतिद्वन्द्विता और उसके डर की वजह से। मैं तुमको पहले बता चुका हूँ कि इग्लैण्ड और रूस के बीच एशिया में और दूसरी जगहों में, परम्परागत लागडांट थी। भारत के स्वामी होने के कारण विशेष रूप से अंग्रेज लोग ठेठ रूसी सरहद तक पहुँच गये थे और इन्हें निरन्तर यह भय सताता रहता था कि जारशाही रूस भारत का न जाने क्या कर डाले। इसलिए अंग्रेजों की यह नीति थी कि रूस के रास्ते में विघ्न डालते रहें और उसे अपनी ताक़त न बढ़ाने दें। अगर कुस्तुनतुनिया पर रूस का अधिकार हो जाता तो उसे भूमध्यसागर में एक बढ़िया बन्दरगाह मिल जाता और वह भारत के रास्ते के पास जंगी जहाज़ों का बेड़ा रख सकता था। यह बहुत बड़ा खतरा था, इसलिए इग्लैण्ड ने हर बार रूस को तुर्की को कुचल डालने से रोका। रूस को दूर रखने में आस्ट्रिया का भी स्वार्थ था। आस्ट्रिया आज नन्हा-सा देश है, लेकिन कुछ साल पहले यह बलकान प्रायद्वीप से सटा हुआ एक बड़ा साम्राज्य था और चाहता था कि जब

तुर्की छिन्न-भिन्न हो जाय तब बलकानी देशों में से यह खुद काफ़ी बड़ा हिस्सा दबा ले। इसलिए रूस का दूर रखना इसके लिए जरूरी था।

बेचारे तुर्की की बुरी हालत थी। इसके ये शक्तिशाली पड़ोसी इसी इन्तज़ार में थे कि तुर्की को कुछ हो जाय कि ये उस पर टूट पड़ें और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें। सन् १८५३ ई० में तुर्की का ज़िक्र करते हुए रूस के ज़ार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था: "हमारे हाथ में एक बीमार है—वह बहुत ज्यादा बीमार है..........। यह किसी समय अचानक हमारी गोद मे मर सकता है.....।" यह फ़िकरा मशहूर हो गया और तुर्की तब से "योरप का बीमार" कहा जाने लगा। लेकिन इस बीमार को मरते-मरते बहुत लम्बा समय लग गया।

उसी साल, सन् १८५३ ई० में, ज़ार ने इसका सफ़ाया करने की दूसरी कोशिश की। इसके फल-स्वरूप क्रीमिया का युद्ध हुआ जिसमें इंग्लैण्ड और फ्रांस ने रूस को रोक दिया। इक्कीस वर्ष बाद, सन् १८७७ ई० में, ज़ार ने फिर तुर्की पर हमला किया और उसे हरा दिया; लेकिन फिर विदेशी हस्तक्षेप की वजह से तुर्की किसी हद तक बच गया; कम-से-कम कुस्तुनतुनिया रूस के हाथ नही आया। तुर्की के भाग्य का निपटारा करने के लिए सन् १८७८ ई० में बर्लिन में एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमे बिस्मार्क शामिल था और डिज़रेली भी और योरप के कितने ही प्रमुख राजनीतिज्ञ भी। इन लोगो ने एक-दूसरे को धमकियाँ दी और एक-दूसरे के विरुद्ध साज़िशे की। मालूम होता है इंग्लैण्ड तो रूस से युद्ध छेड़ने ही वाला था कि रूस ने घुटने टेक दिये। बर्लिन की सधि के फलस्वरूप बलगारिया, सर्बिया, रूमानिया और मॉण्टेनिग्रो के बलकानी देश स्वाधीन हो गये। आस्ट्रिया ने बोसीना और हरज़ीगोविना पर कब्ज़ा कर लिया (कहने को ये तुर्की की सत्ता के ही अधीन रहे)। और कुछ हद तक तुर्की का साथ देने के बदले में ब्रिटेन ने साइप्रस का टापू उससे कमीशन के तौर पर ले लिया।

दूसरा रूसी-तुर्की युद्ध छत्तीस वर्ष बाद, सन् १९१४ ई० मे, महायुद्ध के सिलसिले मे हुआ।

इस बीच तुर्की मे बहुत परिवर्तन हो रहे थे। सन् १७७४ ई० में रूस के हाथो पूरी पराजय से तुर्कों को पहला धक्का लगा और वे महसूस करने लगे कि बाकी का योरप उनसे आगे निकला जा रहा है। सैनिक राष्ट्र होने के नाते सब से पहले इनका ध्यान फ़ौज को आधुनिक ढग पर लाने की तरफ़ गया। कुछ हद तक यह काम हुआ और सेना के नये अफसरो के ज़रिये से ही तुर्की में पश्चिमी विचार घुस आये। जैसा मैंने तुमको बताया है, तुर्की मे कोई ज्यादा मध्यमवर्ग नही था और न कोई दूसरा ही सगठित वर्ग था। सन् १८५३–५६ ई० के क्रीमियाई युद्ध के बाद तुर्की को पश्चिमी साँचे मे ढालने का वास्तविक प्रयत्न किया गया। वैधानिक ढग की सरकार के लिए आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा (जिसका उद्देश्य यह था कि सुलतान के निरंकुश शासन के बजाय लोकतन्त्री धारा सभा बने)। इस आन्दोलन का नेता मिदहतपाशा था। सन् १८७६ ई० में कुस्तुनतुनिया मे विधान की माग के लिए फ़िसाद हुए और सुलतान ने विधान देना मज़ूर कर लिया। लेकिन तुरन्त ही उसने विधान को मसूख कर दिया, क्योंकि बलगारिया मे विद्रोह हो गया और रूसियों के साथ युद्ध छिड़ गया। एक तो इस युद्ध का भारी खर्चा, दूसरे बिना किसी मौलिक आर्थिक परिवर्तन के ऊपरी तल पर सुधारो के व्यय ने तुर्की सरकार को दिवालिया बना दिया जिसके फलस्वरूप उसे पश्चिमी साहूकारों से रुपया क़र्ज़ लेना पड़ा और बदले में इन साहूकारों ने आय के एक हिस्से पर अपना अधिकार जमा लिया। इसलिए पश्चिमी सांचे में ढालने का और सुधार का यह प्रयत्न सफल नही हुआ। साम्राज्य के पुराने ढाँचे में इस नई चीज़ को बैठाना मुश्किल था।

बीसवी सदी की शुरुआत मे विधान की माँग ने फिर ज़ोर पकड़ा। पहले की तरह सैनिक अफ़सर ही सिर्फ़ एक संगठित वर्ग थे और इन्ही के अन्दर "नौजवान तुर्की दल" नामक नया दल तेज़ी से बढ़ा। "एकता और उन्नति" की गुप्त सभायें बनने लगी और जब इन्होंने फ़ौज का बहुत ज्यादा हिस्सा अपनी तरफ़ मिला लिया, तब सन् १९०८ ई० में सुलतान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह सन् १८७६ ई० का पुराना विधान फिर जारी करे। बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। तुर्क, आरमीनियाई और अन्य लोग, जो अभी तक एक-दूसरे का गला काटते थे, आपस में गले मिले और उन्होने इस नये युग के उदय पर खुशी के आँसू बहाये, जिसमें सबको बराबर माना जानेवाला था और पराधीन जातियों को पूरे अधिकार दिये जानेवाले थे। इस रक्तहीन क्रान्ति का मुख्य नायक, खूबसूरत और अभिमानी, लेकिन दिलेर और

साहसी, अनवर बे था। मुस्तफ़ा कमाल भी, जो आगे चलकर तुर्की का उद्धारक हुआ, एक प्रमुख नौजवान तुर्की नेता था; लेकिन अनवर बे के मुक़ाबले में यह पीछे था और ये दोनों एक-दूसरे को पसन्द भी नहीं करते थे।

नौजवान तुर्कों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सुलतान इन लोगों को परेशान करता रहता था। अन्त में रक्तपात हुआ ही और सुलतान गद्दी से उतार दिया गया और उसकी जगह दूसरा बैठाया गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आईं और विदेशी शक्तियों से भी झगड़े हुए। आस्ट्रिया ने तुर्की में फैली हुई इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर बोसीना और हरज़ीगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी (इन प्रदेशों पर उसने बर्लिन की सन्धि के बाद सन् १८७८ ई० में क़ब्ज़ा किया था)। इटली ने उत्तरी अफ़रीका में ट्रिपोली पर ज़बरदस्ती कब्ज़ा कर लिया और युद्ध की घोषणा करदी। तुर्क लोग कुछ कर-धर नहीं सके, क्योंकि इनके पास अच्छी जल-सेना नहीं थी और इसलिए इन्हें इटली की माँगें मंजूर करनी पड़ीं। यह होने की देर थी कि घर के पास ही एक और खतरा आ खड़ा हुआ। बलगारिया, सर्बिया, यूनान और मॉण्टीनिग्रो, जो तुर्कों को योरप से निकालने के लिए और लूट में हिस्सा बटाने के लिए उत्सुक थे, अनुकूल अवसर देखकर सगठित होगये और बलकान लीग बनाकर अक्तूबर सन् १९१२ ई० में तुर्की पर टूट पड़े। तुर्की पस्त और असंगठित था ही और वहाँ विधानवादियों तथा प्रतिगामियों के बीच सत्ता के लिए झगड़ा चल रहा था। बलकान लीग के सामने तुर्की बिलकुल चारों खाने चित हो गया और इसे बहुत भारी नुक़सान उठाना पड़ा। इस तरह पहला बलकान युद्ध कुछ ही महीनों में खतम होगया और तुर्की योरप से क़रीब पूरी तरह निकाल दिया गया; सिर्फ़ कुस्तुन्तुनिया उसके पास रह गया। तुर्की का सबसे पुराना योरपीय शहर ऐड्रियानोप्ल भी उसकी मर्ज़ी के विरुद्ध उससे छीन लिया गया।

मगर बहुत शीघ्र लूट के बँटवारे पर विजेता देश आपस मे लड पड़े और बलगारिया ने अपने पुराने साथियों पर अचानक और दगाबाजी से हमला कर दिया। खूब आपसी मारकाट हुई और गड़बड़ी से फायदा उठाने के लिए रूमानिया, जो अभीतक अलग था, इसमे शामिल होगया। नतीजा यह हुआ कि बलगारिया ने जो कुछ जीता था, खो दिया, और रूमानिया, यूनान और सर्बिया ने अपने राज्यक्षेत्र बढ़ा लिये। तुर्की को भी ऐड्रियानोप्ल वापस मिल गया। बलकान के लोगो की आपसी नफरत अचम्भे की चीज़ है। बलकान देश छोटे-छोटे हैं, लेकिन वे कितनी ही बार योरप के तूफ़ानो का केन्द्र हो चुके हैं।

नौजवान तुर्कों ने जिस सुलतान को सन् १९०९ ई० में गद्दी से उतारा था, वह बडा मज़ेदार व्यक्ति था। उसका नाम था अब्दुल हमीद द्वितीय, और वह सन् १८७६ ई० में गद्दी पर बैठा था। उसे सुधारों से या आधुनिक नवीनता से चिढ़ थी, लेकिन वह अपने ढग का योग्य आदमी था और बडी-बड़ी शक्तियो को आपस मे लड़ा देने के फ़न का उस्ताद माना जाता था। तुम्हे याद होगा कि तमाम उस्मानी सुलतान ख़लीफा, यानी इस्लाम के धार्मिक प्रमुख भी होते थे। अब्दुल हमीद ने एक अखिल-इस्लामी आन्दोलन खडा करने का प्रयत्न करके अपनी इस हैसियत का फ़ायदा उठाना चाहा! इस आन्दोलन का अभिप्राय था अन्य देशो के मुसलमानो को इसमे शामिल करना जिससे वह उनकी सहायता प्राप्त कर सके। योरप और एशिया में कई वर्षों तक इस अखिल-इस्लामवाद की कुछ चर्चा रही, लेकिन इसकी बुनियाद ठोस नही थी और महायुद्ध ने इसका बिलकुल ही अन्त कर दिया। तुर्की मे राष्ट्रवाद ने अखिल-इस्लामवाद का विरोध किया और राष्ट्रवाद दोनो में से अधिक ताक़तवर साबित हुआ।

सुलतान अब्दुल हमीद योरप में बहुत अप्रिय होगया, क्योकि लोग उसे बलगारिया, अरमीनिया और अन्य जगहो के अत्याचारो और हत्याकाण्डो का जिम्मेदार मानते थे। ग्लैडस्टन इसे "महान् हत्यारा" कहता था और इन अत्याचारो के विरुद्ध उसने इग्लैण्ड में एक बड़ा आन्दोलन चलाया था। तुर्क लोग खुद इसके राज-काल को अपने इतिहास का सबसे अंधेरा ज़माना मानते हैं। मालूम होता है बलकान तथा आरमीनिया में अत्याचारों और हत्याकाण्डो की घटनाएं दोनों ही तरफ से बार-बार होती रहती थी। बलकान की क़ौम और आरमीनियाई लोग तुर्कों की हत्याएं करने के उतने ही दोषी थे जितने तुर्क लोग उनकी हत्याओं के। सदियों के धार्मिक और जातीय विद्वेष इन लोगों के स्वभाव में ही गहरे पैठ गये थे और भीषण रूप में प्रगट होते थे। आरमीनिया पर सबसे बुरी मार पड़ी थी। अब आरमीनिया काकेशस के पास सोवियत रूसका एक प्रजातन्त्र है।

इस तरह बलकान युद्धो के बाद तुर्की बिलकुल पस्त हो गया और योरप में उसे सिर्फ़ पैर रखने भर

की जगह बाक़ी रह गई। उसके साम्राज्य का बाक़ी हिस्सा भी टूटता जा रहा था। मिस्र अलबत्ता नाम-मात्र के लिए उसका था; उस पर असली क़ब्ज़ा ब्रिटेन का था, जो उससे फ़ायदा उठा रहा था। लेकिन अन्य अरब देशो में भी राष्ट्रीय आन्दोलन के चिन्ह प्रगट होरहे थे। ऐसी स्थिति में तुर्की का हिम्मत हारना और उसकी आँखें खुल जाना आश्चर्य की बात नही थी। सन् १९०८ ई० के उसके सारे बड़े-बड़े मनसूबे मानो मिट्टी मे मिल गये। उसी समय जर्मनी इसके साथ कुछ सहानुभूति दिखलाता मालूम हुआ। जर्मनी की निगाह पूर्व की तरफ़ थी और वह सारे मध्य-पूर्व में अपने प्रभाव के काल्पनिक दृश्य देख रहा था। तुर्की भी जर्मनी की तरफ मुड़ा और दोनो के सम्पर्क बढ़ने लगे। दूसरा बलकान युद्ध समाप्त होने के सालभर बाद, सन् १९१४ ई० में, जब महायुद्ध शुरू हुआ, तब यह स्थिति थी। तुर्की के भाग्य में आराम नही था।

: १४३ :

ज़ारों का रूस

१६ मार्च, १९३३

रूस आज सोवियत देश है और इसके शासन की बागडोर किसानों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों के हाथों मे है। कुछ बातो में यह दुनिया का सबसे प्रगतिशील देश है। वास्तविक परिस्थितियाँ कुछ भी हो, यहाँ के शासन और समाज का सारा ढांचा सामाजिक समता के सिद्धान्त पर खडा है। यह आजकल की बात है। लेकिन कुछ साल पहले, और सारी उन्नीसवी सदीभर तथा उसके पूर्व, रूस योरप का सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ और प्रतिगामी देश था। यहाँ निरकुशता और तानाशाही अपने विशुद्ध रूप में फूल-फल रही थी। पश्चिमी योरप में क्रान्तियो और परिवर्तनों के होते हुए भी ज़ार लोग अभी तक बादशाहों के दैवी अधिकार के मत को बरकरार रक्खे हुए थे। यहाँ का चर्च भी, जो पुराना कट्टर यूनानी चर्च था, रोमन या प्रोटेस्टेण्ट नही, अन्य देशो के मुकाबले में ज्यादा एकाधिकारवादी था और ज़ार की सरकार का सहारा और औज़ार था। इस देश को "पवित्र रूस" कहते थे और ज़ार सबका "नन्हा गोरा पिता"[1] माना जाता था। चर्च तथा अधिकारी वर्ग इन कल्पित गाथाओ को लोगो के दिमागो को धुधला करने के लिए और आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से उनका ध्यान हटाने के लिए काम में लाते थे। इतिहास मे पवित्रता ने अजीब-अजीब साथी बनाये हैं!

इस "पवित्र रूस" का खास प्रतीक "नाउट" था और वह अक्सर "पोग्रोम" की कार्रवाइयाँ किया करता था। ज़ारशाही रूस ने दुनिया को ये दो शब्द भेंट किये हैं। 'नाउट' चाबुक को कहते थे, जिससे अर्द्ध-गुलाम किसानो को और दूसरो को सज़ा दी जाती थी और 'पोग्रोम' का मतलब था बरबादी और संगठित अत्याचार। व्यवहार में इसका मतलब था हत्याए, विशेषकर यहूदियों की हत्याए। ज़ारशाही रूस के पीछे थे साइबेरिया के लम्बे-चौडे सुनसान मैदान, जिसके नाम के साथ देश-निकाला, कैद और निराशा की स्मृतियाँ जुड़ गई हैं। ढेर के ढेर राजनैतिक क़ैदी साइबेरिया भेजे जाते थे और वहाँ निर्वासितो के बडे-बडे कैम्प और उपनिवेश पैदा होगये थे जिनके नज़दीक आत्म-हत्या करनेवालों की कब्रें होती थी। देश-निकाले और कैद की लम्बी और तनहा मियादे बर्दाश्त करना बडा मुश्किल होता है। इनके हानिकर प्रभाव से कितने ही बहादुर व्यक्तियो के दिमाग़ो और शरीरो ने जवाब दे दिया है। दुनिया से अलग रह कर और समान आशाओ वाले तथा चिन्ताओ के बोझ को हलका करने वाले मित्रों तथा साथियों से दूर रहकर जीवन बिताने के लिए मनुष्य में मानसिक दृढ़ता, शान्त तथा स्थिर आन्तरिक गम्भीरता और सहन करने की हिम्मत होनी चाहिए। मतलब यह है कि ज़ारशाही रूस ने हरेक सिर उठाने वाले को मार गिराया और आज़ादी के हर प्रयत्न को कुचल दिया। यहाँ तक कि यात्राओं को भी मुश्किल बना दिया गया था ताकि बाहर से उदार विचार न आने पावें। लेकिन आज़ादी का दमन किया जाता है तो वह सूद-दर-सूद जोड़ लेती है और जब

---

[1] Little White Father.

वह आगे बढ़ती है तो उसकी प्रगति छलांगों के रूप में होती है जिससे पुरानी गाड़ी उलट जाती है।

अपने पिछले पत्रों में हमने एशिया और योरप के विभिन्न भागों में, यानी दूर-पूर्व, मध्य एशिया, ईरान और तुर्की में, जारशाही रूस की नीतियों और प्रवृत्तियों की कुछ झलक देखी है। अब हमें इस तसवीर को जरा पूरी करनी चाहिए और इन विभिन्न प्रवृत्तियो को मुख्य विषय के साथ जोड़ना चाहिए। रूस की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि इसके हमेशा दो रुख रहे हैं; एक पश्चिम की ओर तथा दूसरा पूर्व की ओर। अपनी इसी स्थिति के कारण यह एक यूरेशियाई शक्ति है और अपने इतिहास के पिछले वर्षों में इसने बारी बारी से पूर्व और पश्चिम में ग़रज़ जाहिर की है। पश्चिम में मुह की खाने पर इसने पूर्व की ओर निगाह डाली; पूर्व में रोका जाने पर यह फिर पश्चिम की ओर लौट पड़ा।

मैंने तुम्हें बताया है कि चगेजखाँ का छोडा हुआ पुराना मंगोल साम्राज्य किस तरह छिन्न-भिन्न हो गया और मास्को के राजकुमार के नेतृत्व में रूसी राजवशियो ने सुनहरे कबीले के मगोलो को अन्त में रूस से किस तरह निकाल बाहर किया। यह सब चौदहवी सदी के अन्त में हुआ। धीरे-धीरे मास्को के राजकुमार सारे देश के निरकुश शासक बन बैठे और अपने को जार (सीजर) कहने लगे। इनका दृष्टिकोण और इनके दस्तूर ज्यादातर मंगोली ही बने रहे और पश्चिमी योरप में तथा इनमे समानता की कोई चीज नहीं थी। पश्चिमी योरप तो रूस को जगली समझता था। सन् १६८९ ई० में जार पीटर, जिसे पीटर महान् कहा जाता है, गद्दी पर बैठा। इसने रूस का रुख पश्चिम की ओर फेरने का निश्चय किया और योरपीय देशों की परिस्थितियोका अध्ययन करने के लिए वहाँ का लम्बा दौरा किया। जो कुछ उसने देखा उसमे से बहुतसी बातो की उसने नक़ल की और अपने यहाँ के नाखुश और जाहिल अमीरवर्ग पर पश्चिमी-करण के अपने विचार लाद दिये। जनता तो बहुत पिछड़ी और दबी हुई थी ही, इसलिए पीटर के सामने इस बात का कोई सवाल ही नही था कि उसके सुधारो के बारे में लोगो के क्या विचार है। पीटर ने देखा कि उसके जमाने के बडे राष्ट्रो की समुद्री ताक़त बहुत बढी-चढी है और उसने समुद्री शक्ति का महत्त्व समझा। लेकिन इतना विशाल होने पर भी रूस के पास उस समय कोई समुद्री द्वार नही था, सिवाय आर्टिक समुद्र के जो क़रीब-क़रीब बेकार था। इसलिए पीटर उत्तर-पश्चिम में बाल्टिक की ओर, और दक्षिण मे क्रीमिया की ओर बढ़ा। वह क्रीमिया तक नही पहुँच सका (उसके उत्तराधिकारी इसमें सफल हुए) पर वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक जरूर पहुँच गया। बाल्टिक समुद्र से मिलने वाली फ़िनलैण्ड की खाड़ी के तट के पास, नेवा नदी के किनारे, उसने सेण्टपीटर्सबर्ग नामक नया पश्चिमी ढग का नगर स्थापित किया। इसे अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उन पुरानी परम्पराओ को तोडने का प्रयत्न किया जो मास्को के साथ चिपकी हुई थीं। सन् १७२५ ई० में पीटर की मृत्यु हो गई।

इसके पचास-साठ वर्ष बाद, सन् १७८२ ई० में, रूस के एक दूसरे शासक ने इस देश को पश्चिमी ढंग का बनाना चाहा। यह कैथरीन द्वितीय नामक महिला थी, यह भी 'महान्' कहलाती है। यह असाधारण स्त्री थी जो दृढ़, निर्दय और योग्य थी पर जिसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत गंदी बातें मशहूर थीं। अपने पति जार को हत्या के द्वारा ठिकाने लगाकर यह सारे रूसो की स्वेच्छाचारी रानी बन बैठी और इसने चौदह वर्ष राज किया। यह सस्कृति की महान संरक्षक होने का ढोंग करती थी और इसने वाल्तेयर से दोस्ती करनी चाही, और उसके साथ पत्र-व्यवहार भी किया। इसने कुछ हद तक वर्साई के फ्रांसीसी दरबार की नक़ल की और कुछ शिक्षा-सम्बन्धी सुधार भी किये। लेकिन ये सब बातें खाली ऊपर-ऊपर और दिखावे के लिए थी। सस्कृति की नकल एकदम से नही की जा सकती, उसकी जड़ तो जमते-जमते जमती है। अगर कोई पिछड़ा हुआ राष्ट्र प्रगतिशील राष्ट्रो की सिर्फ बन्दर की तरह नक़ल करता है, तो वह असली संस्कृति के सोने और चाँदी को बदलकर मुलम्मे की चीज बना देता है। पश्चिमी योरप की सस्कृति कुछ सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर थी। पीटर और कैथरीन ने ये परिस्थितियाँ पैदा करने की कोशिश तो नहीं की, सिर्फ़ ऊपरी ढाचे की नक़ल करनी चाही। नतीजा यह हुआ कि इन परिवर्तनों का बोझ जनता पर पड़ गया और किसानों की ग़ुलामी तथा जार की निरंकुश सत्ता और भी दृढ़ हो गई।

इसलिए जार के रूप में एक रत्ती प्रगति के साथ-साथ एक मन प्रतिगामिता भी चलती थी। रूसी किसान क़रीब-क़रीब ग़ुलाम थे। वे अपनी-अपनी धरतियो से बँधे हुए थे और बिना विशेष अनुमति के उन्हे नही छोड़ सकते थे। शिक्षा जमीदार वर्ग के कुछ अफसरों और दिमाग़ी लोगों तक ही सीमित थी।

मध्यमवर्ग क़रीब-क़रीब था ही नहीं, और जनता बिलकुल अपढ़ और पिछड़ी हुई थी। पिछले ज़माने में अकसर किसानों के ख़ूनी विद्रोह हुए थे, लेकिन ये विद्रोह बहुत ज़्यादा अत्याचार की वजह से आँख मूँदकर किये गये थे और इन्हें कुचल दिया गया था। अब चोटी के लोगों में कुछ शिक्षा के कारण पश्चिमी योरप में फैले हुए कुछ विचार जनता में भी बूँद-बूँद करके पहुँच गये थे। यह फ़ांसीसी क्रान्ति और बाद में नैपोलियन का ज़माना था। तुम्हें याद होगा कि नैपोलियन के पतन के फलस्वरूप सारे योरप में प्रतिगामिता फैल गई थी, और ज़ार अलैग्ज़ेण्डर प्रथम, तमाम बादशाहों की अपनी "पवित्र गोष्ठी" के साथ, इस प्रतिगामिता का नेता था। इसका उत्तराधिकारी इससे भी बदतर था। झल्ला कर नौजवान अफ़सरों और दिमाग़ी लोगों के एक समूह ने सन् १८२५ ई० में बलवा कर दिया। ये सब के सब ज़मींदार वर्ग के थे और जनता की या फ़ौज की इनको कोई मदद न थी। ये लोग भी कुचल दिये गये। इनको "दिसम्बरी" कहते हैं, क्योंकि इनका विद्रोह सन् १८२५ ई० के दिसम्बर में हुआ था। यह विद्रोह रूस में राजनैतिक जागृति का पहला चिन्ह था। इसके पहले गुप्त राजनैतिक समितिया बनी थी, क्योंकि ज़ार की सरकार ने हर तरह की सार्वजनिक राजनैतिक प्रवृत्तियाँ रोक रक्खी थी। ये गुप्त समितियाँ जारी रही और क्रान्ति के विचार फैलते गये—खासकर दिमागी लोगों में और विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियों में।

क्रीमियाई युद्ध में पराजय के बाद रूस में कुछ सुधार किये गये और सन् १८६१ ई० में किसानों की गुलामी का अन्त हुआ। किसानों के लिए यह बहुत बड़ी चीज थी, लेकिन इससे उन्हे कुछ अधिक राहत नही मिली क्योंकि मुक्त गुलाम-किसानो को उनके गुजारे लायक जमीने नही दी गई थी। इसी बीच दिमागी लोगो में क्रान्ति के विचारों का फैलना और ज़ार की सरकार द्वारा उनका दमन, साथ-साथ चल रहे थे। इन अग्रगामी दिमागी लोगो तथा किसान वर्ग के बीच न तो कोई जोडने वाली कडी थी और न कोई ऐसी जगह जहा दोनो मिल सकते। इसलिए सन् १८७० ई० के करीब समाजवादी झुकाव वाले विद्यार्थियों ने, (इनके विचार बिलकुल अस्पष्ट और आदर्श-कल्पनामय थे) यह निश्चय किया कि अपना प्रचार किसान वर्ग तक पहुंचाया जाय, और हज़ारो विद्यार्थी गाँवों में फैल गये। किसान लोग इन विद्यार्थियों को नही जानते थे। वे इन पर अविश्वास करते थे और शका करते थे कि यह शायद किसानों की गुलामी को फिर कायम करने का षड़यन्त्र है। इसलिए इन किसानो ने इन विद्यार्थियों में से बहुतों को, जो अपनी जानपर खेलकर आये थे, गिरफ्तार करके सचमुच ज़ार की पुलिस के हवाले कर दिया! जनता से सम्पर्क मे आये बिना कोरी हवा में काम करने की कोशिश का यह एक अद्भुत उदाहरण है।

किसान वर्ग के साथ सफलता के इस नितान्त अभाव ने इन दिमागी विद्यार्थियों को बडा सदमा पहुचाया और तंग आकर तथा हताश होकर इन लोगों ने "आतंकवाद" कही जाने वाले नीति का आश्रय लिया, यानी बम फेंकना और अधिकारियों को अन्य प्रकार से मारने की कोशिश करना। यही से रूस में आतंकवाद और बम-पन्थ की शुरुआत हुई और इसी के साथ क्रान्तिवादी प्रवृत्तियों ने एक नया रूप ले लिया। बम फेंकने वालो का यह दल अपने को "बम वाला नरम दल" कहता था और इनके आतंकवादी संगठन का नाम "जनता का संकल्प" था। यह नाम अनधिकार चेष्टा था, क्योंकि जिन लोगों से इसका सम्बन्ध था उनके बहुत छोटे-छोटे दल थे।

इस तरह दृढ़-प्रतिज्ञ युवकों और युवतियों के इन छोटे दलों तथा ज़ार की सरकार के बीच नई कशमकश शुरू हुई। रूस की अनेक अधीन जातियों तथा अल्पसंख्यक कौमों के लोगों के शामिल हो जाने से क्रान्तिकारियो की सेना बढती गई। सरकार इन जातियों और अल्पसंख्यक क़ौमों को सताती थी। ये लोग अपनी मातृभाषा का प्रयोग खुल्लमखुल्ला नही कर सकते थे, और अन्य बहुत-से तरीक़ों से भी इनको ज़लील और परेशान किया जाता था। पोलैण्ड, जो उद्योग-धंधों मे रूस से आगे बढा हुआ था, रूस का सिर्फ़ एक प्रान्त बना दिया गया था और पोलैण्ड का नाम ही लगभग मिट गया था। पोली भाषा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। जब पोलैण्ड का यह हाल था तो अन्य अल्पसंख्यक क़ौमों तथा जातियों के साथ इससे भी बुरा बर्ताव किया जाता था। सन् १८६०–७० ई० में पोलैण्ड में बहुत बड़ी बग़ावत हुई जो बड़ी बेरहमी के साथ दबा दी गई। पचास हज़ार पोल साइबेरिया भेज दिये गये। यहूदियों के बराबर 'पोग्रोम' यानी कत्लेआम हुआ करते थे और उनकी बहुत बड़ी संख्या दूसरे देशों में जा बसी।

यह स्वाभाविक ही था कि अपनी-अपनी जाति पर ज़ार के इस अत्याचार से क्रोधान्ध होकर यहूदी

तथा अन्य लोग रूसी आतंकवादियों में शामिल हो गये। यह आतंकवाद, जिसे "निहिलिज्म" कहते थे, बढ़ने लगा और, जैसा कि होना ही था, इसका मुक़ाबला खूनी दमन से किया गया। राजनैतिक क़ैदियों का लम्बा तांता साइबेरिया के मैदानों में पैदल घिसटने लगा और कितने ही फांसी पर चढ़ा दिये गये। इस खतरे से बचने के लिए ज़ार की सरकार ने एक उपाय काम में लिया, जिसे उसने गैरमामूली हद तक पहुँचा दिया। उसने आतंकवादियों और क्रान्तिकारियों के दलो में उकसाने वाले गुर्गे भेज दिये। ये लोग सचमुच बमकांडों को करवाते थे और कभी-कभी खुद भी बम फेंकते थे, जिससे दूसरों को फांस सकें। इनमें एक बहुत मशहूर उकसाऊ गुर्गा अज़ेफ़ था, जो बम फेंकने वाले क्रान्तिकारियों में मुख्य था और साथ ही साथ रूसी खुफ़िया पुलिस का एक प्रधान अफ़सर भी था! इस किस्म की और भी प्रमाणित घटनाएं है, जिनमें ज़ार की खुफ़िया पुलिस के अफसरो ने दूसरो को फसाने के लिए पुलिस के गुर्गों की हैसियत से बम फेंके!

जब ये सब बातें हो रही थी, रूस का राज्य पूर्व की दिशा मे बराबर बढता जा रहा था और, जैसा मैंने तुमको बताया है, अन्त मे प्रशात सागर तक पहुँच गया था। मध्य-एशिया में यह अफ़ग़ानिस्तान की सरहद तक पहुँच गया था और दक्षिण में तुर्की सरहद को दबा रहा था। सन् १८६० ई०के बाद से दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि पश्चिमी उद्योग-धधे बढ़ने लगे। यह तरक़्क़ी सिर्फ पीटर्सबर्ग के आसपास और मास्को आदि कुछ ही क्षेत्रो तक सीमित थी। रूस का देश पूरी तरह कृषि-प्रधान ही रहा। लेकिन जो कारखाने खुले, वे बिलकुल नये ढग के थे और आमतौर पर अग्रेजो की देख-रेख में चलते थे। इसके दो नतीजे हुए। इन औद्योगिक क्षेत्रो में रूसी पूंजीवाद तेजी से बढ़ा और मजदूरवर्ग भी इतनी ही तेजी से बढ़ गया। जैसा कि अग्रेजी कारखानों में शुरू-शुरू में होता था, रूसी मजदूरों का भयकर शोषण होता था और उनसे दिन-रात काम लिया जाता था। लेकिन एक फ़र्क़ रूस मे जरूर था। अब समाजवाद और साम्य-बाद के नये विचार पैदा हो गये थे। रूसी मजदूरो का दिमाग़ ताजा था और इन विचारो को ग्रहण करने के लिए तैयार था। अग्रेज मजदूर, जिसके पीछे पुरानी परम्परायें थी, रूढिवादी बन गया था और लकीर का फकीर बना हुआ था।

ये नये विचार रूप ग्रहण करने लगे और "सामाजिक लोकतत्री मजदूर दल"[1] बना। यह मार्क्स के दार्शनिक विचारों के आधार पर बना था। इन मार्क्सवादियो ने आतकवादी कार्यों से अपना विरोध प्रगट किया। मार्क्स के सिद्धान्तो के अनुसार श्रमिकवर्ग को पहले असली कार्रवाई के लिए तैयार किया जाना जरूरी था क्योकि इसी तरह की सामूहिक कार्रवाई से वे अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकते थे। आतक-वादी तरीक़ों द्वारा व्यक्तियो को मार डालने से मजदूरवर्ग में इस तरह की क्रियात्मक चेतना नही पैदा हो सकती थी, क्योंकि लक्ष्य ज़ारशाही का विनाश था—ज़ार या उसके मत्रियो की हत्या नही।

सन् १८८० ई० के लगभग एक नौजवान, जो बाद में सारी दुनिया मे लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल का विद्यार्थी होते हुए ही क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो में हिस्सा लेता था। सन् १८८७ ई० में, जब उसकी उम्र सत्रह वर्ष की थी, उसे बड़ा भयंकर सदमा पहुचा था। उसका बडा भाई अलेग्जेण्डर, जिससे वह बहुत प्रेम करता था, आतंकवादी तरीक़े से ज़ार की हत्या की कोशिश में भाग लेने के कारण फांसी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा सदमा पहुचने पर भी लेनिन ने फिर भी कहा था कि आतकवादी तरीको से स्वतत्रता नही मिल सकती; वह तो जनता की सामूहिक कार्रवाई से ही मिलेगी। दृढ़ता के साथ और दांतों को भीच कर, यह नवयुवक अपनी पढ़ाई में लगा रहा; स्कूल की आखरी परीक्षा में बैठा और विशेषता के साथ पास हुआ। तीस वर्ष बाद होने वाली क्रान्ति का नेता और जन्मदाता ऐसी ही मिट्टी का बना हुआ था।

मार्क्स की यह धारणा थी कि श्रमिकवर्ग की जिस क्रान्ति की उसने भविष्यवाणी की थी वह जर्मनी जैसे बड़े तथा संगठित श्रमिक वर्ग वाले अत्यन्त उद्योग-प्रधान देश में शुरू होगी। रूस को तो वह इसके लिए सब से कम सम्भावना वाला स्थान समझता था क्योकि यह देश पिछड़ा हुआ और मध्यकालीन था। लेकिन रूस में उसे नवयुवकों में सच्चे अनुयायी मिल गये, जिन्होंने उसकी बातो का बड़ी लगन के साथ इस-

---

[1]Social Democratic Labour Party.

लिए अध्ययन किया, जिससे उन्हें यह पता लग जाय कि वे अपनी असहनीय स्थिति का अन्त किस प्रकार कर सकते हैं। चूंकि ज़ारशाही रूस में खुल्लमखुल्ला किसी प्रवृति का या वैध तरीक़े से कुछ करने का कोई रास्ता उनके लिए नही था, इसलिए वे मजबूर होकर इस अध्ययन में और आपसी चर्चाओं में लग गये। ये लोग बहुत बड़ी संख्या में जेलो में या साइबेरिया भेज दिये जाते थे या निर्वासित कर दिये जाते थे। जहाँ कही वे जाते, मार्क्सवाद का अध्ययन और क्रान्ति के दिन के लिए तैयारी का काम चालू रखते थे।

: १४४ :

सन् १९०५ ई० की असफल रूसी क्रान्ति

१७ मार्च, १९३३

रूसी मार्क्सवादियों को, यानी सामाजिक लोकतंत्री दल को, सन १९०३ ई० में एक संकट का सामना करना पडा। इस समय उन्हे एक ऐसे प्रश्न को सोचना और हल करना पड़ा जिसका हर ऐसे दल को कभी न कभी मुकाबला करना और हल सोचना पड़ता है जो कुछ सिद्धान्तो और निश्चित आदर्शों की बुनियाद पर क़ायम हो। सच तो यह है कि सब नर-नारियो को, जिनके कुछ सिद्धान्त और विश्वास होते है, अपने जीवन मे कितनी ही बार इस प्रकार के सकटो का सामना करना पड़ता है। सवाल यह था कि क्या वे अपने सिद्धान्तो पर पूरी तरह जमे रहे और श्रमिकवर्ग की क्रान्ति की तैयारी करे, या तत्कालीन परिस्थिति से कुछ समझौता करले और फिर भावी क्रान्ति के लिए मैदान तैयार करें ? यह सवाल पश्चिमी योरप के सब देशो में उठा था और इसके कारण हर जगह सामाजिक लोकतत्री अथवा अन्य ऐसे ही दल कमती-बढ़ती कमज़ोर पड गये थे और उनमे अन्दरूनी झगड़े पैदा हो गये थे। जर्मनी में मार्क्सवादियो ने बहादुरी के साथ पूरी रोटी के क्रान्तिकारी सिद्धान्त की घोषणा कर दी थी, लेकिन व्यवहार मे वे मुलायम पड गये और उनका रुख नर्म हो गया। फ्रास मे कितने ही प्रमुख समाजवादी अपने दलों को धता बता कर मन्त्रि-मण्डल मे मत्री बन गये। इटली, बेलजियम और दूसरी जगहो में भी यही हुआ। इंग्लैण्ड में मार्क्सवाद कमज़ोर था और वहाँ यह सवाल उठा ही नही, पर वहाँ भी मज़दूर पार्टी का एक सदस्य मंत्री बन गया।

रूस की स्थिति भिन्न थी, क्योंकि वहाँ पार्लमेण्टी कार्रवाई के लिए कोई गुंजाइश नही थी। वहाँ पार्लमेण्ट ही न थी। इतने पर भी वहा ज़ारशाही के विरुद्ध सघर्ष के "ग़ैर-कानूनी" कहे जाने वाले तरीको को छोड दिया जाने की और कुछ समय तक चुपचाप सिद्धान्तो का प्रचार चालू रक्खा जाने की संभावना थी। लेकिन इस विषय में लेनिन के विचार स्पष्ट और निश्चित थे। वह किसी तरह की कमज़ोरी के लिए या समझौते के लिए तैयार नही था, क्योकि उसे डर था कि ऐसा करने से उनके दल में अवसरवादी लोग धडाधड आ घुसेंगे। वह पश्चिमी समाजवादी दलों द्वारा अपनाये गये तरीक़ों को देख चुका था और उनसे प्रभावित नही हुआ था। जैसाकि उसने बाद में एक दूसरे सिलसिले में लिखा था, "पार्लमेण्टवादियों की चालें, जिनका पश्चिमी समाजवादी प्रयोग करते थे, अतुलित पतन कारक थीं क्योंकि इन्होंने हरेक समाजवादी दल को धीरे-धीरे छोटा-मोटा "टैमनी हाल" बना दिया है, जिसमें ऊपर चढ़ने वालों और पदों के पीछे दौड़ने वालो की भरमार है।" (टैमनीहाल न्यूयार्क में है। यह राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक प्रतीक बन गया है।) लेनिन ने इस बात की परवा नही की कि उसके साथ कितने लोग हैं, बल्कि एक बार तो उसने यहाँ तक धमकी दी थी कि वह अकेला ही लड़ेगा। लेकिन उसका आग्रह यह था कि दल में वे ही लोग लिये जायं जो पूरा साथ देने वाले हों, जो क्रान्ति के लिए सब-कुछ न्योछावर करने को तैयार हों और जिन्हें जनता की वाहवाही लूटने की चिन्ता न हो। वह क्रान्ति के विशेषज्ञों का एक संगठन तैयार करना चाहता था, जो आन्दोलन को कुशलता से आगे बढ़ा सकें। केवलमात्र सहानुभूति रखने वालों और खुशहाली के दोस्तों की उसे ज़रूरत नहीं थी।

यह ढंग अपनाना कठिन था और बहुत लोग इसे नादानी समझते थे। बहरहाल कुल मिला कर

जीत लेनिन के हाथ रही। सामाजिक लोकतंत्री दल के दो टुकड़े हो गये और 'बोलशेविकी' तथा 'मेनशेविकी' ये दो नये नाम पैदा हो गये जो तब से मशहूर हो गये है। कुछ लोगों के लिए आजकल 'बोलेशेविक' शब्द बड़ा भयंकर हो गया है, लेकिन इसका अर्थ केवल बहुमत है। 'मेनशेविक' का अर्थ अल्पमत है। सन् १९०३ ई० की इस फूट के बाद सामाजिक लोकतंत्री दल में लेनिन के साथियो का बहुमत था, इसलिए यह बोलेशेविक, यानी बहुमत-दल कहलाया। यह बात याद रखने की है कि ट्राट्स्की, जिसकी उम्र उस समय चौबीस वर्ष की थी और जो सन् १९१७ ई० की क्रान्ति में लेनिन का दाहिना हाथ बनने वाला था, मेनशेविकों की तरफ़ था।

ये चर्चाएं और वाद-विवाद रूस से बहुत दूर लन्दन में होते थे। रूसी दल की बैठक लन्दन में इसलिए करनी पड़ती थी, कि ज़ारशाही रूस में उसके लिए स्थान नहीं था और उसके अधिकतर सदस्य निर्वासित थे या साइबेरिया से भागे हुए कैदी थे।

इसी बीच खुद रूस में ही आग सुलग रही थी। राजनैतिक हड़तालें इसके संकेत थे। मजदूरों की राजनैतिक हड़ताल का अर्थ है वह हड़ताल जो आर्थिक लाभ के वास्ते, जैसे मजदूरी बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि सरकार की किसी राजनैतिक कार्रवाई का विरोध करने के लिए की गई हो। इसका अर्थ होता है मजदूरो में कुछ राजनैतिक चेतना। जैसे, अगर भारतीय कारखानों के मजदूर इसलिए हड़ताल करें कि गांधीजी गिरफ़्तार कर लिये गये या कोई अन्य असाधारण दमन हुआ, तो वह राजनैतिक हड़ताल कहलायगी। विचित्र बात तो यह है कि पश्चिमी योरप में, बलशाली ट्रेड-यूनियनों और मजदूर-संगठनों के होते हुए भी, इस क़िस्म की राजनैतिक हड़तालें बहुत कम होती थीं। यह भी हो सकता है कि ऐसी हड़तालें वहाँ इसलिएं बहुत कम होती थीं कि मजदूर नेता अपने निहित स्वार्थों के कारण ढीले पड़ गये थे। रूस में ज़ारशाही के लगातार जुल्मों से राजनैतिक पक्ष हमेशा सब से आगे रहता था। दक्षिण रूस में सन् १९०३ ई० में ही अनेक राजनैतिक हड़तालें अपने आप हो गई थी। यह जन-आन्दोलन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ, परन्तु नेताओं के अभाव में शिथिल पड़ गया।

अगले साल सुदूर पूर्व में गड़बड़ी मची। उत्तरी एशिया के मैदानों में होकर ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरियन रेलवे के लम्बे रेल-मार्ग के निर्माण का, सन् १८९४ ई० के बाद से जापान के साथ मुठभेड़ों का, और सन् १९०४–५ ई० के रूसी-जापानी युद्ध का, मैं, एक पिछले पत्र में ज़िक्र कर चुका हूँ। मैंने तुम्हें "खूनी रविवार" के बारे में भी बताया है जो २२ जनवरी सन् १९०५ ई० को हुआ था जबकि ज़ार की फ़ौज ने एक शान्त प्रदर्शन पर गोलियाँ चलाई थी। ये प्रदर्शनकारी एक पादरी के नेतृत्व में "नन्हे पिता" ज़ार के पास रोटी माँगने गये थे। इससे सारे देश में नफरत की लहर फैल गई और अनेक राजनैतिक हड़तालें हुईं। सब से अख़ीर में सारे रूस में व्यापक हड़ताल हो गई। नये ढंग की मार्क्सवादी क्रान्ति शुरू हो गई थी।

जिन श्रमिकों ने हड़तालें की थी, ख़ासकर पीटर्सबर्ग और मास्को जैसे बड़े केन्द्रों में, उन्होंने हरेक ऐसे केन्द्र में "सोवियत" नाम का नया संगठन बनाया। शुरू-शुरू में तो यह व्यापक हड़ताल का संचालन करने वाली समिति मात्र थी। ट्राट्स्की पीटर्सबर्ग की सोवियत का नेता बन गया। ज़ार की सरकार बिलकुल हकबका गई और कुछ हद तक झुक भी गई और उसने वैधानिक धारा सभा और लोकतंत्री मताधिकार देने का वादा किया। ऐसा जान पड़ा मानों निरंकुशता का गढ टूट गया हो। किसानों के पिछले विद्रोह जिसमें असफल रहे, आतंकवादी अपने बम से जिस में सफल नहीं हुए, विधानवादी उदार विचारो वाले नरम-दली लोग अपनी नपी-तुली दलीलों से जो नहीं कर सके, मजदूरों ने वह अपनी व्यापक हड़ताल से करके दिखा दिया। ज़ारशाही को अपने इतिहास में पहली बार जनता के सामने सिर झुकाना पड़ा। बाद में यह विजय खोखली साबित हुई। लेकिन फिर भी मजदूरों के लिए इसकी स्मृति अँधेरे में ज्योति के समान थी।

ज़ार ने एक वैधानिक परिषद—'डूमा'—देने का वादा किया था। 'डूमा' का अर्थ है विचार करने की जगह; पार्लमेण्ट की तरह कोरी बातें बनाने की जगह नहीं (फ्रांसीसी भाषा के 'पार्लेर' से यह शब्द बना है)। इस वादे से मद्धिम नरम दली लोगों का जोश ठण्डा पड़ गया। वे संतुष्ट हो गये। नरम दली हमेशा आसानी से संतुष्ट हो जाया करते हैं। ज़मींदार लोग क्रान्ति से डर कर कुछ सुधारों पर राज़ी होगये, जिससे खुशहाल किसानों को फ़ायदा पहुँचा। इसके बाद ज़ार की सरकार ने असली क्रान्तिकारियों का

मुक़ाबला किया और उनकी कमज़ोरी समझकर उससे पूरा फ़ायदा उठाया। एक तरफ़ भूखे मज़दूर थे, जिन्हें राजनैतिक विधानों में इतनी दिलचस्पी नहीं थी, जितनी की रोटी और ज्यादा मज़दूरी में थी, और अधिक ग़रीब किसान थे जो "हमें ज़मीन दो" का ख़तरनाक नारा उठा रहे थे। दूसरी तरफ़ क्रान्तिकारी लोग थे, जो मुख्यतया राजनैतिक पहलू को देखते थे और पश्चिमी योरपीय नमूने की पार्लमेण्ट पाने की आशा रखते थे और जनता की भावनाओं और असली मांगों के बारे में कुछ नहीं सोचते थे। बहुत-से ऊँचे दर्जे के कारीगर मज़दूर, जो ट्रेड यूनियनों में संगठित थे, क्रान्ति में शामिल होगये थे, क्योंकि वे राजनैतिक पहलू का मूल्य समझते थे। लेकिन आमतौर से शहरों और गाँवों की जनता उदासीन थी। इस पर ज़ार की सरकार ने और पुलिस ने उसी पुराने ढंग से व्यवहार किया जो तमाम निरंकुशतावादी काम में लिया करते हैं। इन्होंने फूट पैदा कराई और इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलों के विरुद्ध भड़का दिया। अभागे यहूदियों की रूसियों ने हत्या की और आरमीनियाई लोगों की तातारियों ने। क्रान्तिकारी विद्यार्थियों और अधिक ग़रीब मज़दूरों तक में भी मुठभेड़ें हुईं। देश के विभिन्न भागों में इस तरह क्रान्ति की कमर तोड़ देने के बाद सरकार ने क्रान्ति के दो तूफ़ानी केन्द्र पीटर्सबर्ग और मास्को पर हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियत आसानी से कुचल दी गई। मास्को में फौज ने क्रान्तिकारियों की मदद की, और पाँच दिन की लड़ाई के बाद ही सोवियत पूरी तरह कुचली जा सकी। इसके बाद प्रतिशोध शुरू हुआ। कहा जाता है कि सरकार ने मास्को में बिना मुकदमा चलाये एक हज़ार आदमियों को फाँसी देदी और सत्तर हज़ार को जेल भेज दिया। सारे देश में इन विभिन्न बग़ावतों के फलस्वरूप करीब चौदह हज़ार आदमी मर गये।

इस तरह पराजय और विनाश के साथ सन् १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति का अन्त हुआ। इसे सन् १९१७ ई० की सफल क्रान्ति की भूमिका कहा गया है। जनता की आन्तरिक चेतना जागृत हो सके और वह बड़े पैमाने पर कार्रवाई कर सके, इससे पहले उसे "बड़ी-बड़ी घटनाओं की शिक्षा मिलनी ज़रूरी है।" सन् १९०५ ई० की घटनाओं के रूप में बहुत भारी कीमत चुका कर जनता को यह अनुभव मिला।

ड्मा का चुनाव हुआ और मई, सन् १९०६ ई० में इसकी बैठक हुई। डूमा क्रांतिकारी जमात तो थी ही नहीं, लेकिन ज़ार की निगाह में उसके विचार बहुत ज्यादा उदार थे जिन्हें वह पसन्द नहीं करता था। इसलिए उसने ढाई महीने बाद इसे घर बैठा दिया। विद्रोह को कुचलने के बाद ज़ार को डूमा के क्रोध की कुछ परवा नहीं रह गई थी। डूमा के बरखास्त किये हुए डिपुटी, जो मध्यम-वर्गी उदार विधानवादी थे, फिनलैण्ड भाग गये। यह पीटर्सबर्ग के बहुत नज़दीक था और ज़ार की सत्ता के अधीन एक अर्द्ध-स्वाधीन देश था। इन्होंने रूसियों से अपील की कि वे डूमा के बरखास्त किये जाने के विरोध में टैक्स देने से इन्कार कर दे और जल तथा थल सेना की भर्ती को रोके। लेकिन ये डिपुटी लोग जनता के सम्पर्क में बिलकुल नहीं थे, इसलिए इनकी अपील का कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे वर्ष, सन् १९०७ ई० में, दूसरी डूमा का चुनाव हुआ। पुलिस ने उग्र विचार के उम्मीदवारों के रास्ते में हर तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके और कभी-कभी उन्हे गिरफ़्तार करने की सहज तदबीर से यह कोशिश की कि वे चुने न जायें। फिर भी डूमा ज़ार को पसन्द नहीं आई और उसने इसे भी तीन महीने बाद बरखास्त कर दिया। अब ज़ार की सरकार ने चुनाव के कानून में परिवर्तन करके तमाम अवाञ्छनीय आदमियों का चुना जाना रोकने की कर्रवाई की। यह तरकीब सफल हुई और तीसरी डूमा बड़ी प्रतिष्ठित और दकियानूसी जमात बन गई और लम्बे समय तक चली।

तुम्हें ताज्जुब होगा कि ज़ार ने इन कमज़ोर डूमाओं को बनाने की परेशानी क्यों उठाई जब कि सन् १९०५ ई० की क्रान्ति को कुचल डालने के बाद वह इतना ताक़तवर हो गया था कि मनमाने तौर पर काम चला सकता था। इसकी कुछ वजह यह थी कि वह रूस की कुछ छोटी जमातों को, मुख्यतया धनी ज़मींदारों और व्यापारियों को, सन्तुष्ट करना चाहता था। देश की स्थिति भी ख़राब थी। इसमें शक नहीं कि जनता कुचल दी गई थी, लेकिन वह झुंझलाहट और क्रोध में भरी बैठी थी। इसलिए यह मुनासिब समझा गया कि कम से कम चोटी के धनवान लोगों को तो मुट्ठी में रक्खा जाय। लेकिन इससे अधिक महत्वपूर्ण कारण योरपीय देशों पर यह छाप डालना था कि ज़ार एक उदार सम्राट् है। ज़ार के कुशासन और अत्याचार की चर्चा पश्चिमी योरप में हरेक की ज़बान पर थी। जब पहली डूमा बरखास्त

की गई थी, तब शायद ब्रिटिश उदार दल के एक सदस्य ने कामन्स सभा में चिल्ला कर कहा था—"डूमा मर गई ! डूमा जिन्दाबाद!" इससे प्रगट होता है कि डूमा के प्रति लोगों में कितनी हमदर्दी थी। साथ ही उस समय ज़ार को रुपये की, और बहुत अधिक रुपये की, ज़रूरत थी। सम्पन्न फ्रांसीसी उसे रुपया उधार देते आये थे। सच तो यह है कि ज़ार ने सन् १९०५ ई० की क्रान्ति को फ़्रासीसी क़र्ज़ की मदद से ही कुचला था। यह एक अजीब विरोधाभास था कि प्रजातंत्री फ्रास एकतंत्री रूस को क्रान्तिकारियों और आमूल-परिवर्तन वादियों को कुचलने के लिए मदद दे ! लेकिन प्रजातंत्री फ्रास का अर्थ था फ्रांसीसी साहूकार। बहरहाल दिखलावा तो क़ायम रखना ज़रूरी था और डूमा इस दिखलावे में मदद करती थी।

इस बीच योरप की और संसार की स्थिति तेज़ी के साथ बदल रही थी। जापान के हाथों रूस की पराजय के बाद इंग्लैण्ड के दिल से रूस का पहले जैसा भय जाता रहा था। हाँ, जर्मनी की शक्ल में इग्लैण्ड के लिए एक नया खतरा पैदा हो गया था; व्यवसाय में भी, और समुद्र पर भी, जिन में कि अभीतक इंग्लैण्ड का ही इजारा था। जर्मनी के डर से ही फ्रांस ने रूस को इतनी उदारता से क़र्ज़े दिये थे। जर्मनी के इस तथाकथित भय ने दो पुरातन के शत्रुओं को आपस में गले मिला दिया था। सन् १९०७ ई० में अंग्रेज़ी-रूसी सन्धि पर दस्तखत हुए, जिससे अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और अन्य जगहो में इन दोनों के झगड़े के तमाम ख़ास-ख़ास मुद्दे तय हो गये। बाद में इग्लैण्ड, फ्रास और रूस का तिहरा गुट्ट बना। बलकान में आस्ट्रिया रूस का प्रतिद्वन्द्वी था और आस्ट्रिया जर्मनी का दोस्त था। इसी तरह काग़ज़ी तौर पर इटली भी जर्मनी का दोस्त था। इस तरह इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस का तिहरा गुट्ट जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के तिहरे गुट्ट के मुकाबले में खड़ा हो गया। सेनाए लडाई की तैयारी करने लगी जब कि शान्तिप्रिय लोग गहरी नीद में सो रहे थे। उन्हें पता नही था कि भविष्य में उनपर कितनी भयकर आफत आने वाली है।

सन् १९०५ ई० के बाद, रूस के ये वर्ष प्रतिगामिता के वर्ष थे। बोलशेविकवाद और अन्य क्रान्ति-कारी तत्त्वो को पूरी तरह कुचला जा चुका था। विदेशों मे लेनिन की तरह कुछ निर्वासित बोलशेविक अपना काम धीरज के साथ कर रहे थे। वे पुस्तकें और पुस्तिकाये लिखते थे और मार्क्स के मत को बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार ढालने की कोशिश करने थे। मेनशेविको तथा बोलशेविको के बीच की खाई बढ़ती ही जाती थी। उलटी गति के इन वर्षों मे मेनशेविकवाद अधिक सामने आ गया। यद्यपि इसे अल्प-संख्यक दल कहा जाता था पर वास्तव मे उस समय इसकी ओर बहुत अधिक लोग थे। सन् १९१२ ई० से रूसी दुनिया में फिर एक नया परिवर्तन धीरे-धीरे आने लगा और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ बढने लगी और साथ-साथ बोलशेविकवाद भी बढा। सन् १९१४ ई० के मध्य में पेट्रोग्रेड का वातावरण क्रान्ति की चर्चा से भरा हुआ था और सन् १९०५ ई०की तरह बहुत-सी राजनैतिक हडतालें हुई। तुर्रा यह कि पीटर्सबर्ग की सात सदस्यों वाली बोलशेविक समिति के बारेमें बाद में यह भेद खुला कि तीन सदस्य ज़ारशाही ख़ुफ़िया विभाग में थे ! क्रान्तियाँ कैसे मसाले की बनी होती हैं ! बोलशेविको की एक छोटी-सी जमात डूमा मे भी थी और मालिनोवस्की इसका नेता था। बाद में पता चला कि यह भी पुलिस का गुर्गा था। और लेनिन इस पर भरोसा करता था।

अगस्त, सन् १९१४ ई० मे महायुद्ध शुरू हुआ और इसकी वजह से लोगो का ध्यान लड़ाइयो के मोरचो की तरफ खिच गया और लामबन्दी के कानून ने प्रधान कार्यकर्त्ताओ को सेना में खीच लिया और क्रान्तिकारी आन्दोलन ठंडा पड़ गया। युद्ध के विरोध में आवाज़ उठाने वाले बोलशेविको की सख्या बहुत कम थी और वे अत्यन्त बदनाम होगये।

अब हम अपने निश्चित स्थान पर, यानी महायुद्ध पर, आगये हैं और यही हमें रुक जाना चाहिए। लेकिन इस पत्र को समाप्त करने के पहले मै तुम्हारा ध्यान रूसी साहित्य और कला की ओर लेजाना चाहता हूँ। जैसा कि बहुत लोग जानते है, ज़ारशाही रूस ने अनेक दोषो के होने हुए भी अपनी अद्भुत नृत्य-कला को क़ायम रक्खा। रूस ने उन्नीसवी सदी में सिद्धहस्त लेखकोंकी एक श्रेणी उत्पन्न की जिन्होने महान् साहित्यिक परम्परा का निर्माण किया। लम्बे उपन्यासो और छोटी कहानियो, दोनो में इन लोगो ने आश्चर्यजनक विशेषता दिखाई। इस सदी के प्रारम्भ में बायरन, शैली और कीट्स का समसामयिक पुश्किन हुआ, जो रूसी कवियों में सबसे महान माना जाता है। उन्नीसवी सदी के उपन्यास-लेखको में गोगल, तुर्गनेव, दास्तोवेस्की और चेखोव प्रसिद्ध हैं। फिर, शायद इन सबसे महान लियो टाल्सटाय है, जिसमें केवल

उपन्यास लिखने की ही प्रतिभा नहीं थी बल्कि जो एक धार्मिक और आध्यात्मिक नेता भी हो गया और जिसका प्रभाव बहुत दूर तक फैला। यह प्रभाव सचमुच गांधीजी तक भी जा पहुँचा जो उस समय दक्षिण अफरीका में थे। ये दोनो एक-दूसरे की क़द्र करते थे और आपस मे पत्र-व्यवहार भी करते थे। अ-विरोध या अहिंसा में दृढ विश्वास इन दोनों के संयोग का बन्धन था। टाल्सटाय के मतानुसार ईसा का बुनियादी उपदेश यही था और गांधीजी ने प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों से यही नतीजा निकाला था। टाल्सटाय तो अपने दृढ विश्वासो के अनुसार जीवन बिताता हुआ पर दुनिया से विलग रह कर भविष्य-द्रष्टा ही बना रहा, पर गांधीजी ने इस नकारात्मक नजर आनेवाली चीज का दक्षिण अफरीका तथा भारत की सामूहिक समस्याओ पर क्रियात्मक प्रयोग किया।

उन्नीसवी सदी के महान रूसी लेखकों में से एक अभीतक जीवित है। इसका नाम मैक्जिम गोर्की[1] है।

: १४५ :

एक महत्त्वपूर्ण काल का अन्त

२२ मार्च, १९३३

उन्नीसवी सदी! इन सौ वर्षों ने हमें कितने लम्बे समय तक रोके रक्खा! चार महीने से, समय-समय पर, मै तुम्हे इस युगाश के बारे मे लिखता आया हूँ और अब इससे कुछ ऊब गया हूँ और जब तुम इन पत्रो को पढोगी तो शायद तुम भी ऊब जाओगी। मैंने यह बताते हुए इसका वर्णन शुरू किया था कि यह एक चित्ताकर्षक जमाना था, लेकिन कुछ समय के बाद आकर्षण तक भी फीका पड़ जाता है। सच तो यह है कि हम उन्नीसवी सदी से आगे चले गये हैं और बीसवी सदी में काफी आगे बढ आये है। सन् १९१४ ई० हमारी हद थी। इसी साल, जैसी कि कहावत है, युद्ध के भेडिये योरप पर और संसार पर टूट पड़े। इतिहास इस साल से एक नया रुख ले लेता है। यहाँ से एक महत्वपूर्ण युगाश का अन्त और दूसरे का आरम्भ होता है।

उन्नीससौ चौदह! यह साल भी तुम्हारे जन्म से पहले का है और फिर भी इसे बीते उन्नीस वर्ष से कम ही हुए है। मनुष्य के जीवन मे भी यह कोई लम्बा जमाना नही है, इतिहास की तो बात ही क्या। लेकिन इन वर्षों मे दुनिया इतनी ज्यादा बदल गई है और अब भी बदलती जा रही है कि मालूम होता है तब से एक युग बीत गया है; और सन् १९१४ई० तथा उसके पहले के साल बहुत पुराने इतिहास में चले गये है और दूर अतीत के अग बन गये है, जिसके बारे में हम पुस्तको मे पढते हैं, और जो हमारे समय से इतना भिन्न है। इन महान परिवर्तनों के बारे में मुझे आगे चलकर तुम्हे कुछ बताना है। इस समय मै तुम्हें एक चेतावनी दूगा। तुम स्कूल मे भूगोल पढ रही हो और जो भूगोल तुम पढ़ रही हो वह उस भूगोल से बिलकुल भिन्न है जो सन १९१० ई० के पहले मुझे स्कूल में पढना पड़ा था। और सम्भव कि जो भूगोल तुम आज पढ रही हो उसका वहुत सा अंश तुम्हे बहुत जल्दी भूल जाना पडे, जैसा कि मुझे भी करना पडा था। पुराने ऐतिहासिक चिन्ह, पुराने देश, युद्ध के धुएँ में विलीन होगये और उनकी जगह नये-नये देश पैदा होगये, जिनके नामो को याद रखना मुश्किल है। सैकड़ो शहरों के नाम रातो-रात बदल गये। सेण्ट पीटर्सबर्ग पैट्रोग्राड होगया और फिर लैनिनग्राड; कुस्तुन्तुनिया को अब इस्तम्बोल कहना होगा; पेकिंग अब पेइपिंग कहलाता है; और बोहेमिया का प्रैग अब चेकोस्लोवाकिया का प्राहा हो गया है।

उन्नीसवीं सदी के बारे में लिखे गये पत्रो में मैंने महाद्वीपो और देशों का जरूरी तौर पर अलग-अलग वर्णन किया है; हमने विविध पहलुओ पर और विविध आन्दोलनों पर भी अलग-अलग विचार किया है। लेकिन तुम्हें ध्यान में रखना चाहिए कि यह सब कुछ लगभग साथ-साथ होता रहा है और इतिहास सारे

---

[1] इसकी १९३६ ई० में मृत्यु हो गई।

संसार पर अपने हजारों पैरों से इकट्ठा आगे बढ़ता रहा है। विज्ञान और उद्योग, राजनीति और अर्थशास्त्र प्रचुरता और कमी, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद, लोकतंत्र और समाजवाद, डारविन और मार्क्स, मुक्ति और बन्धन, दुर्भिक्ष और महामारी, युद्ध और शान्ति, सभ्यता और बर्बरता,—इन सबका इस विचित्र बुनावट में अपना-अपना स्थान रहा और एक की दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया हुई। इसलिए यदि हम इस जमाने की या किसी अन्य जमाने की तसवीर अपने मन में बनावें तो यह तसवीर बड़ी जटिल और सैरबीन के दृश्यों की तरह निरन्तर चलती-फिरती और परिवर्तनशील होगी; हां, इस तसवीर के अनेक भाग ऐसे होंगे जिन पर गौर करना सुखदायक नही होगा।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस जमाने की मुख्य विशेषता थी बड़े पैमाने पर जल, भाफ, बिजली आदि यान्त्रिक शक्तियों के उत्पादन तथा उपयोग द्वारा पूंजीवादी उद्योग की उन्नति। संसार के भिन्न-भिन्न भागों पर इसके भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़े और ये प्रभाव प्रत्यक्ष भी थे और अप्रत्यक्ष भी। मसलन, लकाशायर में मशीनी करघों द्वारा कपड़े के उत्पादन ने दूरस्थ भारत के गावो की स्थिति उलट-पलट दी और वहा के अनेक धंधे खतम कर दिये। यह पूंजीवादी उद्योग गतिशील था। अपने इस स्वाभाविक गुण के कारण ही वह दिन पर दिन बढ़ता गया और उसकी भूख कभी नही बुझी। उसके निरालेपन का एक चिन्ह था प्राप्तेच्छा; यानी वह हमेशा इस कोशिश में रहता था कि हासिल करे और जमा करे और फिर हासिल करे। व्यक्तियों की भी यह कोशिश थी और राष्ट्रो की भी। इसलिए इस प्रणाली के अन्तर्गत बढनेवाला समाज प्राप्तेच्छु-समाज कहलाया। लक्ष्य हमेशा यही रहा कि अधिक से अधिक उत्पादन हो और इस तरह पैदा होने वाला अतिरिक्त धन नये-नये कारखानों, रेलमार्गों तथा ऐसी ही अन्य उद्योगों के निर्माण में लगता रहे और मालिकों को तो मालदार बनाता ही रहे। इस लक्ष्य-प्राप्ति की दौड़ मे अन्य सब चीजो की बलि दे दी गई। मजदूर लोग, जो उद्योगों का धन पैदा करते थे, इसका सबसे कम लाभ उठा पाते थे। और इससे पहले कि इन मजदूरों की, जिनमें स्त्रिया और बच्चे भी थे, बुरी हालत मे कुछ सुधार हुआ, इन्हे भयंकर समय में से गुजरना पड़ा। इस पूंजीवादी उद्योग के तथा उसमे लगे हुए राष्ट्रो के लाभ के लिए उपनिवेशों तथा अधीन देशो को भी बलिदान का बकरा बनाया जा रहा था और उनका शोषण किया जाता था।

इस तरह पूंजीवाद अन्धाधुन्ध और निर्दयता के साथ आगे बढता गया और उसके पदचिन्हो मे उसके मारे हुओं की लाशें बिछ गईं। लेकिन इतने पर भी उसका यह कूच विजय के उल्लास से भरी हुई प्रगति था। विज्ञान की सहायता पाकर वह अनेक बातो में सफल हुआ और इस सफलता ने संसार को चौंधिया दिया और उसके कारण पैदा होने वाले कष्टो का मानो बहुत कुछ एवज चुका दिया। संयोग से तथा सोच-समझ कर कोई योजना बनाये बिना ही उसने जीवन को सुखी बनाने वाली अनेकों चीजें पैदा कर दी। लेकिन चमकदार सतह और अच्छाइयों के नीचे बुराइयो का ढेर था। वास्तव में उससे सम्बन्ध रखने वाली सबसे निराली चीज थी उसकी पैदा की हुई विषमताए: एक ओर नितान्त गरीबी और दूसरी ओर अपार सम्पन्नता; गन्दी झोंपड़ियां और गगनचुम्बी भवन; साम्राज्य-भोगी राज्य और पराधीन शोषित उपनिवेश। योरप तो हुकूमत करने वाला महाद्वीप था और एशिया तथा अफरीका शोषित थे। इस सदी के अधिकतर भाग में अमेरिका ससार के घटनाचक्र से बाहर था, लेकिन वह तेजी से आगे बढ़ रहा था और अपार साधन जुटा रहा था। योरप में इंग्लैण्ड इस पूंजीवाद का सम्पन्न, अभिमानी तथा आत्मसतुष्ट नेता था, विशेष कर उसके साम्राज्यशाही पहलू का।

पूंजीवादी उद्योग की तीव्र गति तथा उसके लालची स्वभाव ने ही वास्तव में स्थिति को नाजुक बना दिया और विरोध तथा आन्दोलन पैदा कर दिये जिनके फलस्वरूप मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए उस पर कुछ पाबन्दियां लग गईं। प्रारम्भ के दिनो में कारखाना-प्रणाली का अर्थ था मजदूरों का भयंकर शोषण, खासकर स्त्रियो और बच्चो का। कारखानों में काम करने के लिए स्त्रियों और बच्चों को पुरुषों से ज्यादा पसन्द किया जाता था क्योंकि वे सस्ते पर मिल जाते थे और उन्हें अत्यन्त अस्वास्थकर तथा बीभत्स परिस्थितियों में कभी-कभी तो दिन भर में अट्ठारह घंटे काम करने को मजबूर किया जाता था। अन्त में राज्य ने हस्तक्षेप किया और फ़ैक्टरी कानून कहलाने वाले क़ानून पास किये जिनमें प्रतिदिन काम के घंटों की सीमा बांध दी गई और मजदूरों के लिए अच्छी हालतों पर जोर दिया गया। इन कानूनों के द्वारा स्त्रियों और बच्चों के हितों की खास तौर पर रक्षा की गई। लेकिन कारखानेदारों के जोरदार विरोध के मुक़ाबले में

इन्हें पास करने के लिए बड़ा लम्बा और कठिन संघर्ष करना पड़ा।

पूंजीवादी उद्योग का नतीजा यह भी हुआ कि समाजवादी और साम्यवादी विचार धाराएं प्रगट हुईं जिन्होंने नये उद्योग को तो मान लिया लेकिन पूंजीवाद की बुनियाद पर आपत्ति की। श्रमजीवियों के संगठन, ट्रेड-यूनियनें और मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी बने और विकसित हुए।

पूंजीवाद के कारण साम्राज्यवाद प्रगट हुआ और पूर्वी देशों की बहुत समय से स्थापित आर्थिक परि-स्थितियों पर पश्चिमी पूंजीवादी उद्योग की टक्कर ने वहां तबाही मचा दी। धीरे-धीरे इन पूर्वी देशों तक में भी पूंजीवादी उद्योग जड़ पकड़ गया और बढ़ने लगा। वहां पश्चिम के साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाले रूप में राष्ट्रवाद भी पैदा हो गया।

इस तरह पूंजीवाद ने संसार को हिला डाला, और यद्यपि इसके फलस्वरूप मनुष्यजाति को भयकर मुसीबते उठानी पड़ी, लेकिन फिर भी, कुल मिलाकर, यह एक लाभकारी प्रवृत्ति साबित हुई; कम-से-कम पश्चिम में तो हुई ही। इसके साथ जबरदस्त भौतिक प्रगति का आगमन हुआ और इसने मनुष्यजाति की खुशहाली का आदर्श एकदम ऊंचा उठा दिया। साधारण आदमी अब इतना अधिक महत्वपूर्ण हो गया जितना पहले कभी नही हुआ था। कहने को तो उसे वोट का अधिकार मिल गया था, लेकिन व्यवहार में किसी भी चीज में उसकी बात नही मानी जाती थी। हा, सिद्धान्त रूप से राज्य में उसका दर्जा ऊंचा हो गया था और इसके साथ उसके आत्म-सम्मान की भावना में भी वृद्धि हुई। अलबत्ता यह बात पश्चिमी देशों पर ही लागू होती थी जहां पूंजीवादी उद्योग ने अपनी जड़ जमा ली थी। ज्ञान का भंडार बड़ा विशाल हो गया और विज्ञान ने चमत्कार पैदा कर दिये तथा जीवन में उसके हज़ारो उपयोगो ने हरेक के लिए जीवन सुविधापूर्ण बना दिया। औषधि-विज्ञान ने, खासकर उसकी रोग-निवारक शाखा ने, तथा सार्वजनिक सफाई ने अनेको रोगो को शान्त और निर्मूल करना शुरू कर दिया जो मनुष्य के लिए अभिशाप थे। उदाहरण के लिए मलेरिया का कारण और उसके निवारण का उपाय खोज निकाले गये। और इसमें सन्देह नहीं कि यदि आवश्यक उपाय किये जाय तो यह रोग किसी क्षेत्र में निर्मूल किया जा सकता है। यह सही है कि भारत मे तथा अन्यत्र मलेरिया का अभी तक ज़ोर है और करोडो इसके शिकार होते है, पर यह विज्ञान का दोष नही है, दोष है लापरवाह सरकार का और अज्ञान जनता का।

इस सदी की शायद सब से महत्वपूर्ण विशेषता थी माल भेजने तथा यातायात के साधनों में प्रगति। रेल, भाप के जहाज़, बिजली के तार और मोटरकार ने दुनिया को बिलकुल बदल दिया और मानव जाति के लिहाज़ से उसे पहले की बनिस्बत बहुत ही भिन्न प्रकार की जगह बना दिया। दुनिया सिकुड कर छोटी हो गई और उसके निवासी एक दूसरे के अधिक नजदीक आ गये। अब वे एक दूसरे से अधिक मिल सकते थे और आपस के इस परिचय के कारण अज्ञान से पैदा होने वाली अनेक दीवारें बन गईं। समान विचारधाराए फैलने लगी जिनके कारण सारे संसार में कुछ हद तक यकसानियत पैदा होने लगी। जिस ज़माने का हम ज़िक्र कर रहे हैं उसके ठेठ अन्त में बेतार-यंत्र और उड़नकला का आगमन हुआ। अब तो ये काफ़ी साधारण चीज़ें हो गई हैं। तुम कई बार वायुयानों में उड़ी हो और तुमने बिना कुछ ध्यान दिये उनमें बैठ कर यात्राए की हैं। बेतार-यंत्र और उड्डयन का विकास बीसवी सदी की और हमारे ही समय की बात है। लोग गुब्बारो में बैठ कर तो अक्सर उड़े थे लेकिन अलिफलैला के उड़ने वाले गलीचे और भारतीय कहानियों के उड़नखटोले जैसी पुरानी पौराणिक गाथाओ और कहानियो की चीजों पर बैठ कर उड़ने वालों के सिवा हवा से भारी चीज़ पर कोई आकाश में नही उडा था। वर्तमान वायुयान की जननी हवा से भारी मशीन पर आकाश में उड़ने वालों में सब से पहले व्यक्ति दो अमरीकी भाई विल्बर राइट और ओरविली राइट थे। दिसम्बर, सन् १९०३ ई० में वे तीन सौ गज़ से भी कम उड़े, लेकिन फिर भी उन्होंने वह कर दिखाया जो पहले कभी नही हुआ था। इसके बाद उड्डयन में निरन्तर प्रगति होती रही और सन् १९०९ ई० में जब ब्लेरिओ नामक फ़ांसीसी इंग्लिश चैनल के ऊपर उड़ कर फ़्रांस से इंग्लैण्ड पहुंचा था तब जो हलचल मची थी वह मुझे अभी तक याद है। इसके कुछ ही दिन बाद मैंने पेरिस में एफिल टावर के ऊपर सब से पहला वायुयान उड़ते देखा। और कई वर्ष बाद, मई, सन् १९२७ ई० में जब चार्ल्स लिण्डबर्ग अटलाण्टिक सागर को पार करके चांदी के तीर की तरह चमचमाता हुआ आया और पेरिस के हवाई-अड्डे लाबूर्जे पर उतरा, तब तुम और मैं पेरिस में ही मौजूद थे।

ये तमाम चीजें इस जमाने के जमाखाते की है जबकि पूंजीवादी उद्योग का बोलबाला था। इस सदी में मनुष्य ने निस्सन्देह अद्भुत काम किये। इस जमाखाते की एक चीज और भी है। जैसे-जैसे लालची और हड़पखोर पूजीवाद बढ़ा, वैसे ही सहकारिता आन्दोलन के रूप में उसे रोकने का उपाय निकाला गया। माल को मिलकर खरीदने-बेचने का और मुनाफो को आपस में बाटने का लोगो का यह एक सगठन था। साधारण पूजीवादी तरीका गलाघोटू प्रतियोगिता का तरीका था जिसमें हर व्यक्ति दूसरे से आगे निकल जाने की कोशिश करता था। सहकारिता के तरीके का आधार था आपसी सहयोग। तुमने बहुत से सहकारी भडार देखे होंगे। योरप में उन्नीसवीं सदी में यह सहकारिता आन्दोलन बहुत बढ़ा। शायद सब से अधिक सफलता इसे डेनमार्क के छोटे से देश में मिली।

राजनैतिक क्षेत्र में लोकतन्त्री विचारों की वृद्धि हुई और अपनी-अपनी पार्लमेण्टों तथा धारा सभाओ के लिए वोट देने के अधिकार दिन पर दिन अधिक लोगों को मिलते गये। परन्तु यह मताधिकार पुरुषों तक ही सीमित था, और स्त्रियाँ, चाहे वे अन्य प्रकार से कितनी ही योग्य क्यों न हों, इस अधिकार के लिए काफ़ी उपयुक्त या बुद्धिमान नही समझी गई। अनेक स्त्रियों ने इसपर रोष प्रगट किया और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड में स्त्रियो ने एक जबरदस्त आन्दोलन का संगठन किया। यह स्त्री मताधिकार आन्दोलन कहलाया और जब पुरुषो ने इसे दिल्लगी समझा और इस पर कुछ ध्यान नही दिया तो मताधिकारवादी स्त्रियों ने उनका ध्यान बरबस आकर्षित करने के लिए जबरदस्ती के और हिसा तक के साधन अपनाये। लोगों का ध्यान खीचने वाले प्रदर्शनो के द्वारा ये पार्लमेण्ट की कार्रवाई में विघ्न डालती थी और ब्रिटिश मन्त्रिमडल के मन्त्रियो पर वार करती थी जिसके कारण इन मन्त्रियो को सदा पुलिस के संरक्षण में रहना पडता था। बडे पैमाने पर सगठित हिंसा भी हुई और अनेक स्त्रियाँ जेल मे डाल दी गई जहां उन्होंने भूख-हड़ताले शुरू कर दी। इस पर उन्हे छोड दिया गया लेकिन ज्योही वे चगी हुई उन्हे फिर क़ैद कर दिया गया। इस तरह की कार्रवाई की अनुमति के लिए पार्लमेण्ट ने एक विशेष कानून बनाया जिसे आम तौर पर लोग "बिल्ली और चूहे का कानून" कहते थे। मताधिकारवादी स्त्रियों की ये तरकीबें सब तरफ के लोगो का ध्यान आकर्षित करने में निस्सन्देह सफल हुई। कुछ वर्ष बाद, महायुद्ध के प्रारम्भ होने के पश्चात, स्त्रियो को वोट देने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

स्त्रियों का यह आन्दोलन, जिसे अक्सर नारीवाद आन्दोलन कहा जाता है, केवल वोट का अधिकार मागने तक ही सीमित नही था। उसकी माग थी पुरुषो के साथ हरेक बात में समानता। कुछ दिन पहले तक पश्चिम में स्त्रियो की अवस्था बहुत बुरी थी। उन्हे कोई अधिकार नही थे। कानून के अनुसार अंग्रेज स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का भी अधिकार नही था; सब पर पति का अधिकार होता था, यहाँ तक कि स्त्री की कमाई पर भी। इस तरह कानून के लिहाज से उनकी अवस्था उससे भी बदतर थी जो आज हिन्दू कानून के मातहत स्त्रियो की है, और यह तो काफी बुरी है ही। सच तो यह है कि पश्चिम में स्त्रियाँ एक पराधीन जाति थी जैसी कि अनेक बातो में आज भारतीय स्त्रिया है। मताधिकार आन्दोलन के प्रारम्भ से बहुत पहले ही स्त्रियो ने अन्य बातो में पुरुषो के समान व्यवहार की माग की थी। आख़िर सन् १८८०–९० ई० के समय में इग्लैण्ड में स्त्रियो को सम्पत्ति रखने के कुछ अधिकार दिये गये। स्त्रियों को इसमें सफलता कुछ तो इस कारण मिली कि कारखानेदार इसके पक्ष में थे। उन्होंने सोचा कि यदि स्त्रियां अपनी कमाई की स्वामिनी हो जायगी तो इससे उन्हे कारखानो में काम करने का प्रलोभन होगा।

हरेक तरफ़ हमें महान परिवर्त्तन दिखाई देते है परन्तु हुकूमतो के ढगों मे कोई परिवर्त्तन नही होता। बड़ी-बड़ी शक्तिया साजिश और दगाबाजी के उन्ही उपायो पर चलती रही जो बहुत दिन पहले फ़्लोरेन्स के मैकियावैली ने तथा उससे १८०० वर्ष पूर्व भारतीय मंत्री चाणक्य ने सुझाये थे। इनमें निरन्तर लाग-डांट चलती रहती थी और गुप्त सन्धिया तथा गुटबन्दिया होती थी और हर शक्ति दूसरी को नीचा दिखाने की कोशिश में रहती थी। जैसा कि हम देख चुके है, इस नाटक में योरप की वृत्ति क्रियाशील और उग्र थी; एशिया की निष्क्रिय। संसार की राजनीति में अमेरिका का भाग दूसरों के मुकाबले में बहुत कम था, क्योंकि उसका ध्यान अपने ही कामों में लगा हुआ था।

राष्ट्रीयता की वृद्धि के साथ-साथ इस भावना का भी विकास हुआ कि "मेरा देश, सही हो या ग़लत", और राष्ट्र ऐसी-ऐसी कार्रवाइयाँ करने में शान समझने लगे जो व्यक्तियों के लिए बुरी और अनाचारपूर्ण समझी जाती थी। इस तरह व्यक्तियों और राष्ट्रों की नैतिकता के बीच एक विचित्र विषमता पैदा हो गई। दोनों के बीच ज़बरदस्त अन्तर हो गया और व्यक्तियो के दुर्गुण ही राष्ट्रों के गुण बन गये। व्यक्तिगत रूप से पुरुषों तथा स्त्रियों के मामले में ख़ुदग़र्ज़ी, लोभ, उद्दंडता और अश्लीलता नितान्त बुरे और असहनीय समझे जाते थे। परन्तु बड़े-बड़े राष्ट्र समुदायो के मामले में देशभक्ति और देशप्रेम का सुन्दर जामा पहना कर इन्ही बातों को सराहा जाता था और प्रोत्साहन दिया जाता था। अगर राष्ट्रों के बड़े समुदाय एक दूसरे के विरुद्ध हत्या और मारकाट का आश्रय लें तो ये भी प्रशसनीय हो जाती है। एक आधुनिक लेखक ने लिखा है, और ठीक ही लिखा है, कि "सभ्यता ऐसी तरकीब बन गई है जिसके द्वारा व्यक्तियों के दुर्गुण अधिकाधिक बड़ी जातियों को सौंप दिये जाते है"।

: १४६ :

महायुद्ध का प्रारम्भ

२३ मार्च, १९३३

पिछला पत्र मैंने यह बतलाते हुए समाप्त किया था कि एक दूसरे के साथ व्यवहार करने मे राष्ट्र कितने बेईमान और अनीतिपूर्ण बन गये थे। जहाँ कही उनके लिए ऐसा करना संभव था वहा वे दूसरो के प्रति अपमानपूर्ण और असहिष्णुतापूर्ण रुख इख़्तियार करना और स्वार्थ पूर्ण हठधर्मी की नीति बरतना अपनी स्वाधीनता का लक्षण समझते थे। उनसे यह कहने वाली कोई सत्ता नही थी कि वे ठीक आचरण करे क्योंकि क्या वे स्वाधीन नही थे और क्या वे किसी के हस्तक्षेप को सहन कर सकते थे! उनके आचरण पर यदि कोई बन्धन था तो वह नतीजे का डर था। इसलिए कुछ हद तक बलवानो का आदर किया जाता था और निर्बलो को डराया-धमकाया जाता था।

यह राष्ट्रीय प्रतियोगिता वास्तव मे पूजीवादी उद्योग की वृद्धि का अनिवार्य परिणाम थी। हम देख चुके है कि मडियो और कच्चे मालो की निरन्तर बढती हुई माग ने पूजीवादी शक्तियो को किस तरह साम्राज्य के लिए दुनिया के चारों ओर दौड लगाने को मजबूर कर दिया था। उन्होने एशिया और अफरीका में दौड-भाग मचाई और जितने प्रदेश पर वे कब्ज़ा कर सकती थी उतने पर, उससे पूरा लाभ उठाने के लिए, कब्ज़ा कर लिया। जब ये साम्राज्यवादी शक्तिया सारी दुनिया पर छा गईं और पैर फैलाने को कोई जगह न रही, तो ये एक दूसरी को भेड़ियो की तरह घूरने लगी और एक दूसरी के अधिकृत देशो पर लालायित होने लगी। एशिया और अफ़रीका और योरप में इन बडी शक्तियो के बीच अक्सर मुठभेडें होती रहती थी और क्रोधाग्नि भडक उठती थी और ऐसा लगता था मानो युद्ध छिड़ने वाला है। इनमें से कुछ शक्तियाँ अन्य शक्तियों से अच्छी स्थिति मे थी और औद्योगिक अगुआई तथा विशाल साम्राज्य वाला इंग्लैण्ड इनमें सबसे अधिक सौभाग्यशाली नज़र आता था। लेकिन इंग्लैण्ड भी सतुष्ट नही था, क्योंकि जितना किसी को अधिक मिलता है उतनी ही उसकी चाह भी बढ जाती है। उसके "साम्राज्य-निर्माताओ" के दिमाग़ो में उसके साम्राज्य के लिए विस्तार की विशाल योजनाएँ चक्कर काटती रहती थी; मसलन काहिरा से उत्तमाशा अन्तरीप तक, उत्तर से दक्षिण तक अटूट फैले हुए अफ़रीकी साम्राज्य की योजनाए। उद्योग में जर्मनी तथा संयुक्तराज्य अमेरिका की प्रतियोगिता भी इंग्लैण्ड को परेशान कर रही थी। ये देश पक्का माल इंग्लैण्ड से सस्ता तैयार कर रहे थे और इस प्रकार इंग्लैण्ड की मंडियां उससे चुपचाप छीनते जा रहे थे।

जब सौभाग्यशाली इंग्लैण्ड ही सन्तुष्ट नही था तो अन्य राष्ट्र तो और भी अधिक असन्तुष्ट थे। ख़ासकर जर्मनी, जो बड़ी शक्तियों में बहुत देर में शामिल हुआ था और जिसने देखा कि सारे पके फल तो पहले ही लुट चुके है। इसने विज्ञान, शिक्षा तथा उद्योग में ज़बरदस्त प्रगति की थी और सुसज्जित सेना

तैयार कर ली थी। अपने मज़दूरों के लिए सामाजिक-सुधार क़ानूनों में भी यह इंग्लैण्ड सहित अन्य देशों से आगे था। जिस समय जर्मनी मैदान में आया उस समय यद्यपि अधिकांश दुनिया पर अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था और दूसरों के शोषण से लाभ उठाने के मार्ग सीमित हो चुके थे, फिर भी केवल कठोर परिश्रम और आत्म-अनुशासन के द्वारा जर्मनी इस औद्योगिक पूंजीवाद के युग की सब से बलवान और कार्यकुशल शक्ति बन गया। उसके व्यापारी जहाज हर बन्दरगाह में नज़र आने लगे और उसके बन्दरगाह हैम्बर्ग तथा ब्रैमन संसार के सब से बड़े बन्दरगाहो में गिने जाने लगे। जर्मनी का व्यापारिक जहाज़ी बेड़ा केवल दूर देशों को जर्मनी का माल ही नही ले जा जाता था बल्कि उसने अन्य देशों के माल ढोने के धन्धे पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था।

यह नया साम्राज्यशाही जर्मनी इस सफलता को प्राप्त करके तथा अपने बल को पूरी तरह महसूस करके यदि उन बन्दिशो पर खीझ रहा था जो उसकी आगे की वृद्धि पर लगादी गई थीं, तो इसमें आश्चर्य की बात नही है। जर्मन साम्राज्य का नेता प्रशिया था और प्रशियाई ज़मीदार तथा सैनिक वर्ग को, जिसके हाथों में सत्ता थी, नम्रता के गुण के लिए कभी किसी ने नही जाना। ये लोग सरकश थे और अपनी कठोर-हृदय सरकशी पर घमंड करते थे। हायनज़ालर्न घराने के कैसर विल्हैल्म द्वितीय के रूप में उन्हे इस उद्धत और अकड़बाज़ स्वभाव का आदर्श नेता भी मिल गया था। कैसर चारो तरफ़ घोषणा करता फिरता था कि जर्मनी ससार का नेता बनने वाला है; कि वह पृथ्वी पर अपने लिए महत्वपूर्ण स्थान चाहता है; कि उसका भविष्य समुद्र पर है; और यह कि अपनी सस्कृति दुनियाभर में फैलाना उसके जीवन का उद्देश्य है।

इससे पहले यह तमाम बातें अन्य लोग तथा अन्य राष्ट्र भी कह चुके थे। इंग्लैण्ड का "गोरे आदमी का भार" तथा फ्रांस का "सभ्यता सिखानेवाला कर्त्तव्य" जर्मनी की संस्कृतिके ही भाई-बन्द थे। इग्लैण्ड का दावा था कि समुद्रों पर उसका प्रभुत्व है, और यह सही भी था। जो दावा अनेक अग्रेज़ों ने इंग्लैण्ड के लिए किया था वही क़ैसर ने जर्मनी के लिए ज़रा भद्दे और लफ़्फाज़ी भरे ढग से कहा। फर्क इतना ही था कि इंग्लैण्ड क़ाबिज़ था और जर्मनी नहीं था। मगर इस पर भी कैसर के लफ़्फाज़ी भरे भाषणो ने अग्रेज़ों को बहुत चिढ़ा दिया। कोई अन्य राष्ट्र दुनिया मे प्रमुख राष्ट्र बनने का विचार तक करे यह ख़याल उनके लिए बहुत ही नागवार था। यह एक प्रकार का कुफ़्र था और अपने आप को प्रमुख राष्ट्र समझनेवाले इग्लैण्ड पर ज़ाहिरा आक्रमण था। और सौ वर्ष पहले ट्रैफ़ल्गर पर नैपोलियन की पराजय के बाद से तो समुद्र पर मानो इंग्लैण्ड का ही इजारा था। इसलिए इग्लैण्ड को यह बिल्कुल अनुचित मालूम होता था कि जर्मनी या कोई अन्य राष्ट्र उसकी इस स्थिति को चुनौती दे। यदि इंग्लैण्ड की समुद्री ताक़त कम हो जाय तो उसके दूर-दूर बिखरे हुए साम्राज्य का क्या होगा ?

कैसर की चुनौतिया और धमकिया तो काफ़ी बुरी थी ही, इससे भी बुरी बात यह थी कि उसने इनके बाद सचमुच अपनी जलसेना बढ़ा ली। इससे अग्रेज़ोंके मिज़ाज और औसान बिगड़ गये और वे भी अपनी जल सेना बढाने लगे। इस तरह दोनो के बीच समुद्री ताकत की दौड़ शुरू हो गई और दोनो देशों के अख़बारों ने लगातार चीख़-पुकार मचा दी जिसमे अधिकाधिक जगी जहाज़ोंकी माग की गई और राष्ट्रीय विद्वेष को भड़काया गया।

योरप में ख़तरे का यह एक प्रदेश था। बहुत-से और भी थे। फ्रांस और जर्मनी तो पुराने प्रतिद्वन्दी थे ही, और फ्रांसीसियों के हृदयों में सन् १८७० ई० की पराजय की कटु स्मृतिया कांटे की तरह चुभ रही थी तथा वे प्रतिशोध के स्वप्न देख रहे थे। बलकान के देश सदा से बारूद का ढेर थे जहां विभिन्न स्वार्थ टकरा रहे थे। पश्चिमी एशिया में अपना प्रभाव बढाने के उद्देश्य से जर्मनी ने भी तुर्की से मित्रता करना शुरू किया। बग़दाद को क़ुस्तुन्तुनिया और योरप से जोड़ने वाला एक रेलमार्ग इस शहर तक बनाने की तजवीज़ हुई। यह तजवीज़ बहुत उचित थी, लेकिन चूंकि जर्मनी इस बग़दाद रेलवे पर नियन्त्रण रखना चाहता था, इसलिए राष्ट्रीय ईर्ष्याएं जागृत हो गईं।

धीरे-धीरे युद्ध का भय सारे योरप में फैल गया और शक्तियो ने आत्म रक्षाके लिए गुट्ट बनाने चाहे। बड़ी शक्तियाँ दो गिरोहों में बँट गईं; एक तो जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का तिहरा गुट्ट और दूसरा इंग्लैण्ड फ्रांस और रूसका तिहरा मित्रतापूर्ण समझौता। इटली तिहरे गुट्ट का एक बहुत ढीला-ढाला सदस्य था और जब युद्ध हुआ तो वह सचमुच अपने वचन का भंग करके दूसरे पक्ष से आ मिला। आस्ट्रिया के साम्राज्य

के सारे अंजर-पंजर हिल रहे थे; नक़शे पर तो वह बड़ा दिखाई देता था लेकिन परस्पर-विरोधी तत्वों से भरा था, और विज्ञान, संगीत तथा कला का महान केन्द्र सुन्दर वेनिस नगर उसकी राजधानी था। मतलब यह कि व्यवहारमें तिहरे गुट्ट का अर्थ था जर्मनी। हां, परीक्षा का समय आने से पहले कोई नहीं जानता था कि इटली और आस्ट्रिया का क्या रूप होगा।

बस, योरप में भय का राज्य हो रहा था और भय बड़ी भयंकर चीज़ है। हर देश युद्ध की तैयारी करता चला आ रहा था और अस्त्र-शस्त्र से खूब लैस बन रहा था। शस्त्रीकरण की दौड़ मची हुई थी और इस प्रतियोगिता का विचित्र पहलू यह होता है कि यदि एक देश अपने युद्ध के साधनो में वृद्धि करता है तो अन्य देशों को भी वैसा करने पर मजबूर होना पडता है। हथियार, यानी तोपें, जंगी जहाज़, गोला-बारूद तथा युद्ध का अन्य सब सामान, तैयार करने वाली खानगी कम्पनियों ने सहज ही खूब मुनाफे लूटे और वे मोटी हो गईं। इससे भी अधिक उन्होने यह किया कि सचमुच युद्ध का भय फैलाना शुरू कर दिया ताकि चकमे में आकर सारे देश उनसे खूब हथियार खरीदे। हथियार बनानेवाली ये कम्पनिया बड़ी मालदार और प्रभाव वाली थी और इंग्लैण्ड फ्रास, जर्मनी तथा अन्य देशों के अनेक उच्च पदाधिकारी और मन्त्रीगण इनके हिस्सेदार थे और इसलिए इनकी श्रीवृद्धि में उनका स्वार्थ था। हथियार बनानेवाली कम्पनियों की श्रीवृद्धि तभी होती है जब युद्ध के अन्देशे हों या युद्ध हो। इसलिए अचम्भे की स्थिति यह थी कि अनेक सरकारों के मंत्रियों तथा उच्च कर्मचारियों का आर्थिक स्वार्थ इसमें था कि युद्ध हो! विभिन्न देशो द्वारा युद्ध सम्बन्धी खर्चे को बढावा देने के लिए ये कम्पनिया अन्य तरकीबे भी प्रयोग में लाती थीं। जनमत को प्रभावित करने के लिए वे अखबारो को खरीद लेती थी और अक्सर सरकारी अफसरों को रिश्वतें देती थी और जनता को भडकाने के लिए झूठी अफवाहे फैलाती थी। युद्ध सामग्री बनाने का उद्योग भी कैसी भयंकर चीज़ है जो दूसरों की मौत पर जीता है और जो युद्ध से मुनाफ़ा कमाने के लिए युद्ध की भीषणताओं को प्रोत्साहन देने में तथा पैदा करने मे ज़रा नही हिचकिचाता। इसी उद्योग ने सन् १९१४ ई० के युद्ध को जल्दी लाने में कुछ हद तक मदद पहुँचाई थी। आज भी वह यही खेल खेल रहा है।

युद्ध की इस चर्चा के दौरान में मै तुम्हे शान्ति के एक विचित्र प्रयत्न की बात बतलाना चाहता हू। और किसी ने नही बल्कि रूस के ज़ार निकोलस द्वितीय ने शक्तियो के सामने यह सुझाव रक्खा कि वे विश्व-व्यापी शान्ति का युग लाने के लिए आपस मे मिल कर बातचीत करे। यह वही ज़ार था जो अपने साम्राज्य मे प्रत्येक उदारवादी आन्दोलन को कुचल रहा था और अपने कैदियो से साइबेरिया को आबाद कर रहा था! उसका शान्ति की बात चलाना एक तरह से मज़ाक-सा लगता है। लेकिन शायद उसकी नीयत ईमानदारी की थी क्योकि उसके लिए शान्ति का मतलब था तत्कालीन परिस्थितियों का और उसकी निरकुशता का सदा के लिए बना रहना। उसके निमन्त्रण के फलस्वरूप हॉलैण्ड के हेग नगर मे सन् १८९९ तथा १९०७ ई० मे दो शान्ति सम्मेलन हुए। इनमें ज़रा भी महत्व की कोई कार्रवाई नही हुई। शान्ति एकदम आकाश से नही टपक सकती। वह तो तभी आ सकती है जब झगड़े के मूल कारण दूर कर दिये जायं।

मैंने तुम्हे बड़ी शक्तियो की लाग-डांट और आशकाओ के बारे में बहुत कुछ बतलाया है। बेचारे छोटे राष्ट्रो की उपेक्षा की जाती है, सिवा उनके जो नटखटपन करें। योरप के उत्तर में कुछ छोटे-छोटे देश हैं जो ध्यान देने योग्य हैं क्योकि ये लालची और हड़पखोर बड़ी शक्तियों से बहुत ही भिन्न हैं। ये हैं स्कैण्डिनेविया में नॉरवे तथा स्वीडन और इनके ठीक नीचे डैनमार्क। ये उत्तरी ध्रुव प्रदेश से ज्यादा दूर नही है, ठंडके कारण यहाँ का जीवन बहुत कठिन है। वे केवल छोटी-सी आबादी का ही भरण-पोषण कर सकते है। लेकिन चूकि ये घृणा, ईर्ष्या और लाग-डाँट वाली बडी शक्तियों के दायरे से बाहर हैं, इसलिए शान्तिपूर्ण जीवन बिताते हैं और अपनी शक्तियाँ सभ्य मार्गों में लगाते हैं। वहाँ विज्ञान पनपता है और श्रेष्ठ साहित्य का विकास हुआ है। नॉरवे तथा स्वीडन मिला दिये गये थे और सन् १९०५ ई० तक दोनों का एक ही राज्य बना हुआ था। लेकिन इस वर्ष में नॉरवे ने विलग होने का तथा अपना अलग अस्तित्व क़ायम रखने का निश्चय किया। इसलिए दोनो देशों ने अपने बन्धन शान्तिपूर्वक तोड़ देने का फैसला किया और तबसे दोनों अलग-अलग स्वाधीन राज्य चले आ रहे है। न तो युद्ध हुआ और न एक देश ने दूसरे पर दबाव डालने की कोशिश की। दोनो मैत्रीशील पड़ौसियो की भाति रहते चले आ रहे है।

छोटे-से डैनमार्क ने अपनी थल सेना तथा जल सेना को तोड़ कर क्या बड़े और क्या छोटे सभी देशों

के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। यह किसानी राष्ट्र है, छोटे-छोटे किसानों का देश है, जहाँ धनवान और ग़रीब में अधिक अन्तर नही है। इस समानीकरण का मुख्य कारण है वहाँ सहकारिता आन्दोलन की खूब उन्नति।

लेकिन योरप के सारे छोटे देश डैनमार्क की तरह सद्‌गुण के आदर्श नही हैं। हॉलैण्ड, जो खुद बहुत छोटा है, अभी तक हिन्देशिया (जावा, सुमात्रा, आदि) में एक बड़े साम्राज्य का स्वामी बना हुआ है। उसका पड़ौसी बैल्जियम अफ़रीका में कॉङ्गो को चूस रहा है। पर योरपीय राजनीति में इसका असली महत्व इसकी स्थिति के कारण है। यह करीब-क़रीब फ़ास और जर्मनी के बीच के मुख्य मार्ग में पड़ता है और इन दोनों देशो के बीच कोई युद्ध हो तो उसमें इसका घिसट आना लगभग अवश्यम्भावी है। तुम्हें याद होगा कि वाटरलू बैल्जियम में ब्रसैल्स के पास है। इसी कारण बैल्जियम "योरप का अखाड़ा" कहलाया करता था। प्रधान बड़ी शक्तियो ने युद्ध के समय बैल्जियम की तटस्थता के बारे में आपसी समझौता कर लिया, लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जब युद्ध सचमुच छिड़ गया तो इस क़रार और वादे की धज्जियाँ उड़ गईं।

परन्तु योरप तथा अन्य जगहों के तमाम छोटे देशो में सबसे अधिक दुखदायी देश बलकान में हैं। पीढ़ियों की अदावत और प्रतिद्वन्द्विता जिनके पीछे लगी हुई है ऐसी क़ौमों और जातियो की यह बेमेल खिचड़ी आपसी घृणा और संघर्ष से भरी हुई है। सन् १९१२-१३ ई० के बलकान युद्ध असाधारण तौर पर खूनी थे और थोड़े-से समय मे तथा छोटे-से क्षेत्र मे धन-जन की जबरदस्त हानि हुई। कहते है कि बलग़ारियों ने शरणार्थी तथा भागते हुए तुर्कों पर भीषण अत्याचार किये थे। बहुत वर्ष पहले खुद तुर्कों का लेखा भी बहुत खराब रहा था। सर्बिया (आजकल यूगोस्लाविया का एक भाग) ने भी नरहत्याओं के लिए घोर मनहूस ख्याति प्राप्त की थी। देशभक्त कहलाने वालो का गुप्त हत्याकारी दल, जिसका नाम "काला हाथ"[1] था तथा जिसके सदस्यों मे राज्य के अनेक उच्च अधिकारी शामिल थे, निराली भीषण हत्याओ के कुछ कांडों के लिए जिम्मेदार था। देश के बादशाह और बेगम, यानी बादशाह अलैग्ज़ेण्डर और महारानी द्रागा, को बेगम के भाइयो, प्रधान मंत्री तथा कुछ अन्य लोगो के साथ वीभत्सता पूर्ण तरीके से क़त्ल कर डाला गया। यह सिर्फ़ राजमहल की क्रान्ति थी और एक अन्य व्यक्ति बादशाह बना दिया गया।

इस प्रकार योरप के आकाश मे बादलो की गरज तथा बिजली की कौंध के साथ बीसवी सदी का आरम्भ हुआ और जैसे-जैसे साल बीतते गये मौसम अधिकाधिक तूफ़ानी होता गया। पेचीदगियाँ और उलझनें बढ़ती गईं और योरप का जीवन दिन पर दिन गाँठो में बँधता गया—जो गाँठे आखिर में युद्ध के ही द्वारा कटने वाली थी। सारी शक्तियाँ युद्ध की आशंका मे थी और उसके लिए सरगर्मी से तैयारियाँ कर रही थी लेकिन फिर भी शायद युद्ध के लिए उत्सुक कोई न थी। कुछ हद तक सब उससे डरती थी क्योंकि निश्चय के साथ कोई भी यह भविष्यवाणी नही कर सकता था कि युद्ध का परिणाम क्या होगा। पर फिर भी केवल भय उन्हे युद्ध की ओर ढकेल रहा था। जैसा कि मै तुम्हे बतला चुका हूँ, योरप में दो पक्ष एक दूसरे के विरुद्ध गुट्ट बना कर खड़े हुए थे। यह "शक्ति का संतुलन" कहलाता था, जो इतना सूक्ष्म था कि जरा से धक्के से बिगड़ सकता था। जापान यद्यपि योरप से बहुत दूर था और उसकी स्थानीय समस्याओ से ज्यादा वास्ता नही रखता था, मगर उसकी गुटबन्दियो मे और शक्ति के इस सतुलन मे शामिल था। क्योंकि जापान इग्लैण्ड का साथी था। इस गुटबन्दी का उद्देश्य था पूर्व में, और खास कर भारत में, इग्लैण्ड के स्वार्थों की रक्षा करना। यह गुट्ट इग्लैण्ड-रूस प्रतिद्वन्द्विता के दिनो मे बना था और अभी तक चला आ रहा था, हालाँकि अब इंग्लैण्ड और रूस एक ही तरफ़ थे। गुटबन्दियो और सतुलनों की इस योरपीय व्यवस्था से अलग रहने वाली बड़ी शक्ति केवल एक अमेरिका थी।

बस, सन् १९१४ ई० में यही स्थिति थी। तुम्हे याद होगा कि इस समय होमरूल बिल के सवाल पर आयर्लेण्ड में इग्लैण्ड को बहुत परेशानी उठानी पड़ रही थी। अल्सटर बगावत कर रहा था, उत्तर में और दक्षिण में स्वयसेवक क़वायदें कर रहे थे और आयर्लेण्ड में गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। बहुत सम्भव है जर्मन सरकार ने सोचा हो कि इंग्लैण्ड आयर्लेण्ड के झगड़े में उलझा रहेगा और अगर योरपीय युद्ध छिड़

[1] Black Hand.

जाय तो उसमें दखल नहीं देगा। लेकिन सही बात तो यह थी कि अंग्रेज सरकार गुप्त रूप से फ्रांस को वचन दे चुकी थी कि युद्ध छिड़ने पर उसका साथ देगी, लेकिन सर्वसाधारण को यह मालूम न था।

२८ जून, सन् १९१४ ई०—यही वह तारीख थी जिस दिन आग लगाने वाली चिनगारी सुलगाई गई। आर्कडयूक फ्रांसिस फ़र्दिनैन्द आस्ट्रिया की राजगद्दी का उत्तराधिकारी था। वह बलकान में बोस्निया की राजधानी सिराजिवो की यात्रा को गया था। जैसा कि मै तुम्हे बतला चुका हूँ, कुछ वर्ष पूर्व, जब 'नौजवान तुर्क' अपने सुल्तान से पिंड छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब इस बोस्निया को आस्ट्रिया ने अपने राज्य में मिला लिया था। जब आर्कडयूक अपनी पत्नी के साथ खुली गाडी में बैठकर सिराजिवो के बाजार में से गुज़र रहा था, तब उस पर गोलियाँ चलाई गई और वह तथा उसकी पत्नी दोनो मारे गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता उबल पड़ी और उन्होंने सर्बिया की सरकार पर (सर्बिया बोस्निया का पडोसी था) यह इलजाम लगाया कि उसका इस हत्या में हाथ है। सर्बिया की सरकार को तो इससे इनकार करना ही था। बहुत दिन बाद जो जाँच की गई उससे यह पता लगा है कि यद्यपि सर्बिया की सरकार हत्या के लिए ज़िम्मेदार नही थी, पर हत्या के लिए जो तैयारियाँ की गई थी उनसे वह बिल्कुल अनभिज्ञ भी नही थी। वैसे इस हत्या की ज़िम्मेदारी अधिकतर सर्बिया के "काला हाथ" नामक सगठन पर ही डाली जानी चाहिए।

कुछ तो क्रोध के कारण और ज्यादातर अपनी नीति के कारण आस्ट्रिया की सरकार ने सर्बिया के प्रति बडा उग्र रुख धारण किया। स्पष्ट है कि उसने सर्बिया को सदा के लिए नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया था और कोई बड़ा युद्ध छिड जाने पर उसे जर्मनी की ताकतवर सहायता का भरोसा था। इसलिए सर्बिया की क्षमा-याचनाए स्वीकार नही की गई और २३ जुलाई, सन १९१४ ई० को आस्ट्रिया ने सर्बिया को युद्ध का अन्तिम पैग़ाम भेज दिया। पाँच दिन बाद, २८ जुलाई को, आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

आस्ट्रिया की नीति का सचालन ज्यादातर एक घमडी और मूर्ख मत्री के हाथों में था जो युद्ध पर तुला हुआ था। बुड्ढा सम्राट फ्रांसिस जोज़फ (जो १८४८ से आस्ट्रिया की गद्दी पर बैठा हुआ था) सहमत होने के लिए फुसला लिया गया और जर्मनी से सहायता के अनमने वादे का मतलब पूरा आश्वासन लगाया गया। सही बात तो यह थी कि उस समय आस्ट्रिया के सिवा कोई भी अन्य बड़ी शक्ति युद्ध के लिए हृदय से उत्सुक नही थी। अपनी तैयारी और लडाकू प्रवृत्ति के बावजूद जर्मनी उत्सुक नहो था और कैसर विल्हैल्म द्वितीय ने तो अनमने तौर पर युद्ध को रोकने का भी प्रयत्न किया। इग्लैण्ड और फ्रास भी युद्ध के लिए उत्सुक नही थे। रूसी सरकार का अर्थ था ज़ार, जो एक कमज़ोर और मूर्ख व्यक्ति था, जो अपनी पसद के बदमाशो और मूर्खों से घिरा हुआ था और जो इनके इशारो पर कभी इधर और कभी उधर ढुलक जाता था। फिर भी करोडो का भाग्य इस व्यक्ति के हाथो में था। वह खुद तो सब बातों पर विचार करके युद्ध का विरोधी था, लेकिन उसके सलाहकारो ने उसे देरी के नतीजो से डरा दिया और सेना के तैयारीकरण के लिए राज़ी कर ही लिया। इस "तैयारीकरण" का अर्थ था सैनिको को लाम पर जाने के लिए बुलाना और रूस जैसे विशाल देश में इस कार्रवाई में समय लगता था। शायद जर्मनी के आक्रमण के भय ने रूसी तैयारीकरण मे जल्दबाज़ी पैदा कर दी। यह तैयारीकरण ३० जुलाई को हुआ और इसके समाचार ने जर्मनी को भयभीत कर दिया और उसने रूस से इसके बन्द किये जाने की माग की। लेकिन युद्ध की भीमकाय मशीन अब रुकने वाली नही थी। दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी तैयारीकरण की आज्ञा निकाल कर रूस और फ्रास के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और तुरन्त ही बैल्जियम में होकर फ्रास जाने के लिए विशाल जर्मन सेनाओ ने बैल्जियम पर धावा बोल दिया क्योंकि यह रास्ता आसान पड़ता था। बेचारे बैल्जियम ने जर्मनी का कुछ नही बिगाड़ा था, लेकिन जब राष्ट्र जीवन और मरण के लिए लड़ते हैं तो वे ऐसी तुच्छ बातो की या दिये हुए वचनों की कोई परवा नही करते। जर्मन सरकार ने बैल्जियम में होकर अपनी सेनाए भेजने की अनुमति बैल्जियम से मागी थी; इस प्रकार की अनुमति देने से कुदरती तौर पर और रोष के साथ इन्कार कर दिया गया।

बैल्जियम की तटस्थता के इस प्रकार भंग किये जाने के कारण इंग्लैण्ड में तथा अन्यत्र बड़ा हो-हल्ला मचा और इग्लैण्ड ने तो खुद जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने का इसे आधार बना लिया। सच तो यह है कि इंग्लैण्ड अपना रास्ता बहुत पहले ही चुन चुका था और बैल्जियम का सवाल उसके लिए एक आसान

बहाना बन गया। अब ऐसा लगता है कि युद्ध से पहले फ्रांसीसी सेना ने भी आवश्यकता पड़ने पर जर्मनी पर आक्रमण करने के लिए बैल्जियम में होकर अपनी फ़ौजें ले जाने की योजनाएं तैयार करली थीं। बहरहाल, जर्मनी के मुक़ाबले में, जिस पर यह दोष लगाया गया था कि उसने अपने शपथपूर्ण वादों को और सन्धियों को "रद्दी कागज़ के टुकड़े" मात्र समझा, इंग्लैण्ड ने न्याय तथा सत्य का महान त्राता और छोटे राष्ट्रों का रक्षक बनने का ढोंग रचने की कोशिश की। ४ अगस्त को आधीरात के समय इंग्लैण्ड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी लेकिन उसने यह पेशबन्दी की कि किसी दुर्घटना को रोकने के ख़याल से एक दिन पहले ही अपनी सेना, ब्रिटिश हमलावर फ़ौज, गुप्त रूप से चैनल पार भेज दी। इसलिए, जब कि दुनिया तो इसी ख़याल में थी कि इंग्लैण्ड का युद्ध में शामिल होने या न होने का सवाल अधर लटका हुआ है, तब अंग्रेज़ सैनिक योरप में पदार्पण भी कर चुके थे।

अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रांस, वगैरा सब युद्ध में फंस गये थे और छोटा-सा सर्बिया तो, जो कुछ हद तक इस विस्फोट का तात्कालिक कारण था, फंसा हुआ था ही। जर्मनी और आस्ट्रिया के साथी इटली का क्या हाल था? इटली अलग रहा, इटली खड़ा-खड़ा यह देखता रहा कि कौनसा पक्ष जीत रहा है, इटली ने सौदेबाज़ी की, और अन्त में छैः महीने बाद इटली अपने पुराने साथियों के विरुद्ध फ्रांसीसी-अंग्रेज़ी-रूसी पक्ष में निश्चय रूप से जा मिला।

इस तरह अगस्त, सन् १९१४ ई०, के शुरू के दिनों में योरप में फ़ौजों के जमाव और कूच होते रहे। ये फ़ौजें क्या थी? पुराने समय में फ़ौजों में कुछ पेशेवर सिपाही हुआ करते थे। वे स्थायी फ़ौजें होती थी। मगर फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने बड़ा भारी अन्तर पैदा कर दिया। जब क्रान्ति को विदेशी आक्रमण का ख़तरा पैदा हुआ तब साधारण नागरिकों को बड़ी संख्या में भर्ती करके फौजी तालीम दी गई। तब से ही योरप में परिमित संख्याओं वाली पेशेवर स्वेच्छासेवी सेनाओं के बजाय लामबन्दी वाली सेनाएं रखने की प्रवृत्ति हो गई—अर्थात ऐसी सेनाएं जिनमें देश के तमाम तगड़े व्यक्तियों को मजबूरन भर्ती होना पड़ता था। इसलिए तगड़े व्यक्तियों की यह व्यापक सैनिक सेवा फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की उपज थी। यह योरप भर में फैल गई और हरेक नवयुवक को दो वर्ष या अधिक समय तक शिविर में रह कर फौजी तालीम लेनी पड़ती थी और बाद में जब कभी आज्ञा दी जाती तब से उसे मजबूर होकर लाम पर जाना पड़ता था। इस तरह युद्ध में लड़ने वाली फ़ौज का अर्थ था राष्ट्र के लगभग सारे नवयुवक। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में यही स्थिति थी, और इन देशों में तैयारीकरण का अर्थ होता था इन नवयुवकों का दूर-दूर शहरों और गाँवों में अपने-अपने घरों से ज़बरदस्ती बुलाया जाना। जब युद्ध शुरू हुआ तब इंग्लैण्ड में इस प्रकार की कोई व्यापक फ़ौजी भर्ती नहीं थी। अपनी बलवान जल सेना के भरोसे वह स्थायी तथा स्वेच्छासेवी सेना बहुत कम रखता था। लेकिन युद्ध के दौरान में उसने भी अन्य देशों का अनुकरण किया और लामबन्दी यानी अनिवार्य सैनिक सेवा जारी कर दी।

इस व्यापक सैनिक सेवा का अर्थ यह था कि सारा का सारा राष्ट्र हथियारबन्द था। तैयारीकरण की आज्ञा का प्रभाव हर शहर पर, हर गाँव पर और हर कुटुम्ब पर पड़ता था। अगस्त के उन शुरू के दिनों में योरप के अधिकांश भाग में जीवन में एकदम निश्चलता आ गई थी और करोड़ों नवयुवक कभी लौटकर न आने के लिए अपने-अपने घरों को छोड़ कर लाम पर चले गये थे। हर जगह फौजों की कूच और कदमों की आवाज़, और सैनिकों के लिए हर्ष-ध्वनि, और देशभक्ति के जोश का ज़बरदस्त प्रदर्शन और हृदय के तारों का कसा जाना नज़र आते थे और रंज व फ़िक्र से कुछ बेपरवाही भी थी, क्योंकि उस समय आने वाले वर्षों की भीषणता का लोगों को ज़रा भी भान नहीं था।

इस जोश भरी देशभक्ति के प्रवाह में हर आदमी बह गया। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की पुकार मचाने वाले ख़ुद समाजवादी, और सबके शत्रु पूंजीवाद के विरुद्ध दुनिया के मज़दूरों को एक हो जाने का नारा लगाने वाले ख़ुद मार्क्सवादी तक भी उखड़ कर इस प्रवाह में जा पड़े और उत्साही देशभक्त बन कर इस पूंजीपतियों के युद्ध में शामिल हो गये। कुछ लोग अपनी जगहों पर जमे रहे, लेकिन इनसे घृणा की जाती थी और इन्हें गालियां दी जाती थी और अक्सर दंड भी दिया जाता था। अधिकतर लोग शत्रु के प्रति विद्वेष की भावना से पागल हो उठे। एक तरफ़ तो अंग्रेज़ तथा जर्मन मज़दूर एक दूसरे की जानें ले रहे थे, दूसरी तरफ़ इन दोनों देशों के तथा अन्य युद्धरत देशों के भी विद्वान लोग और वैज्ञानिक और अध्यापक

एक दूसरे को कोसते थे और एक दूसरे के सम्बन्ध में बीभत्स-से-बीभत्स क़िस्सो पर विश्वास कर लेते थे।

मतलब यह है कि युद्ध के प्रारम्भ होते ही उन्नीसवीं सदी का महत्वपूर्ण काल समाप्त हो गया। पश्चिमी सभ्यता की राजसी और शान्त प्रवाह वाली धारा अकस्मात ही युद्धके भंवर में विलीन हो गई। पुरानी दुनिया हमेशा के लिए चली गई। चार वर्ष से कुछ अधिक समय के बाद इस भंवर में से एक नई चीज़ प्रगट हुई।

: १४७ :

युद्ध की घड़ी से पूर्व का भारत

२९ मार्च, १९३३

भारत के बारे में तुम्हे पत्र लिखे मुझे बहुत समय हो गया। अब मुझे इस विषय पर वापस आने का और तुम्हे यह बतलाने का लोभ होता है कि युद्धकाल की घड़ी से पहले भारत में क्या बीत रही थी। मैंने इस लोभ के आगे सिर झुकाने का इरादा कर लिया है।

कई लम्बे पत्रो में हम उन्नीसवी सदी में भारतीय जीवन के तथा भारत मे अंग्रेज़ी राज्य के कुछ पहलुओ की पहले ही जांच कर चुके है। इस ज़माने का मुख्य पहलू यह नज़र आता है कि भारत पर अंग्रेज़ो का पंजा मज़बूत होता जाता है और उसके साथ ही देश का शोषण होता है। भारत को तिहेरी अधिकारिणी सेना ने दबोच रक्खा था—सैनिक, मुल्की और व्यवसायी। अंग्रेज़ी सैनिक बल और अंग्रेज अफसरो के मातहत भारतीय वेतन-भोगी सेना एक विदेशी अधिकारिणी सेना के रूप में काफी स्पष्ट नज़र आते थे। लेकिन इससे भी अधिक मज़बूत पंजा मुल्की अफसरो का था जो एक गैर-ज़िम्मेदार और अत्यन्त केन्द्रीभूत नौकर-शाही थी। और तीसरी, यानी व्यवसायी सेना, को इन दोनो का सहारा था और यह सबसे ज्यादा खतरनाक थी क्योकि अधिकतर शोषण इसी के द्वारा या इसके नाम पर किया जाता था और देश के शोषण का इसका ढंग इतना प्रत्यक्ष नही था जितना कि पहली दोनो सेनाओ के थे। वास्तव में बहुत समय तक, और कुछ हद तक आज भी, प्रमुख भारतवासी पहली दोनो पर बहुत अधिक आपत्ति करते थे और मालूम होता है कि तीसरी को उतना महत्व नही देते थे।

भारत में ब्रिटिश नीति का एक टिका हुआ ध्येय ऐसे निहित स्वार्थ पैदा करना था जो अंग्रेज़ो के बनाये हुए होने के कारण उन्ही के आसरे पर रहे और भारत में उनके पुश्ते बन जायें। इस तरह से सामन्ती राजाओ को मज़बूत बनाया गया, और बडे ज़मीदारों तथा ताल्लुक़ेदारो का वर्ग पैदा किया गया और यहाँ तक कि धार्मिक अ-हस्तक्षेप के नाम पर सामाजिक रूढ़िवाद को भी प्रोत्साहन दिया गया। ये तमाम निहित स्वार्थ खुद भी देश के शोषण में शरीक थे और सच तो यह है कि इस शोषण के कारण ही ये अपना अस्तित्व बनाये रख सकते थे। भारत में जो सबसे बड़ा निहित स्वार्थ पैदा किया गया वह अंग्रेज़ी पूंजी का था।

अंग्रेज राज्यनीतिज्ञ लॉर्ड सैलिस्बरी का, जो भारत मंत्री था, एक वक्तव्य अक्सर उद्धृत किया जाता है, और चूंकि वह स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालता है, इसलिए मैं उसे यहाँ देता हूँ। सन् १८७५ ई० में उसने कहा था :

> "चूंकि भारत का खून खीचना ज़रूरी है, इसलिए नश्तर उन अंगों में लगाना चाहिए जहाँ खून जमा हो रहा हो, या कम से कम काफ़ी हो; उन अंगों में नही जो खून की कमी से पहले ही कमज़ोर हैं।"

भारत पर अंग्रेज़ो के अधिकार ने और जो नीति उन्होने यहाँ बरती उसने अनेक परिणाम पैदा किये जिनमें से कुछ उनके मन लायक़ नही थे। लेकिन जब व्यक्ति तक भी अपने कर्मों के तमाम फलों को रोक नही सकते तब राष्ट्रों की तो बात ही क्या। अक्सर ऐसा होता है कि कुछ कार्रवाइयो के फलों में ऐसे नये बल भी होते है जो उन्ही कार्रवाइयों का विरोध करते हैं, उनसे लड़ते हैं और उन्हे परास्त कर देते हैं। साम्राज्यवाद से राष्ट्रीयता की उत्पत्ति होती है; पूंजीवाद से कारखानो में काम करने वाले मज़दूरो के बडे-

बटे समूह पैदा हो जाते हैं जो संगठित होकर पूंजीपति कारखानेदारों का मुकाबला करते हैं। किसी आन्दोलन का गला घोटने और किसी क़ौम को दबाने के उद्देश्य से किये गये सरकारी अत्याचारों का अक्सर यह परिणाम निकलता है कि वे सचमुच और भी मजबूत तथा दृढ़ हो जाते हैं और इस तरह अन्तिम विजय के लिए तैयार होने लगते हैं।

हम देख चुके हैं कि भारत में अंग्रेजों की औद्योगिक नीति के फलस्वरूप देहातीकरण हो गया, यानी धन्धों के अभाव में दिन पर दिन ज्यादा लोग शहर छोड़-छोड़ कर गांवों को वापस जाने लगे। खेतिहर धरती पर दबाव बढ़ गया और किसानों के पट्टे, यानी उनके खेतों और फार्मों के क्षेत्रफल, दिन पर दिन छोटे होने लगे। ज्यादातर पट्टे "ग़ैर-निर्वाह" हो गये, अर्थात वे इतने बड़े नहीं थे कि किसान को कम से कम इतना मुनाफ़ा भी दे सकें जो उसके गुजारे भर के लिये भी काफ़ी हो। लेकिन उसे कोई दूसरा चारा नहीं था; सिवा इसके कि अपनी गाडी इसी तरह चलाता रहे और दिन पर दिन ज्यादा क़र्ज़दार होता जाय। ब्रिटिश सरकार की बन्दोबस्त की नीति ने हालत और भी खराब कर दी, खास कर ताल्लुकदारी और बड़ी ज़मीदारी के इलाक़ों मे। इन इलाक़ो मे, और उन इलाको में जहाँ ज़मीन का मालिक किसान होता था, दोनों जगह सरकार को मालगुजारी अदा न करने पर या ज़मीदार को लगान न देने पर किसानों को उनके पट्टो से बेदखल कर दिया जाता था। इसके फलस्वरूप और धरती पर नये आने वालों के निरन्तर दबाव के कारण, देहाती इलाक़ों में धरती-हीन मेहनतियो का एक बड़ा वर्ग पैदा हो गया और, जैसा कि मै बतला चुका हूँ, अनेक भीषण अकाल पड गये।

बेदखलों का यह बडा वर्ग जोतने के लिए धरती का भूखा था, लेकिन धरती इतनी नहीं थी कि सबको मिल सके। जमीदारी इलाको मे ज़मीदारो ने लगान बढा कर धरती की इस बढ़ती हुई माग से फ़ायदा उठाया। काश्तकार को राहत देने के लिए कुछ काश्तकारी कानून बनाये गये जिनके द्वारा लगानो को एक निश्चित अनुपात से ज्यादा एकदम बढाये जाने पर रोक लगा दी गई। लेकिन पाबन्दियों से बचने के विभिन्न रास्ते निकाल लिये गये और तरह-तरह के गैर कानूनी 'हक़' या अबवाब वसूल किये जाने लगे। अवध की एक ताल्लुकदारी रियासत मे मुझे एक बार अलग-अलग तरह के पचास से ऊपर गैर कानूनी 'हक़' गिनाये गये थे! इनमें मुख्य नजराना था। यह एक तरह का अतिरिक्त कमीशन होता है जो काश्तकार को ठेठ शुरू में ही देना पडता है। बेचारे किसान ये तरह-तरह की लागे किस तरह अदा कर सकने है? वे तो गाँव के बोहरे बनिये से उधार लेकर ही अदा कर सकते है। जब कर्ज़ चुकाने की न तो आशा हो और न सामर्थ्य हो तो कर्ज़ लेना बेवकूफ़ी की बात है। लेकिन बेचारा किसान क्या करे! उसे कही आशा की किरन नही दिखाई देती; वह किसी भी क़ीमत पर बोने के लिए धरती चाहता है और आशा के विरुद्ध आशा करता है कि भविष्य में कुछ न कुछ हो ही जायगा। नतीजा यह होता है कि अक्सर करके इन कर्ज़ों के बावजूद भी वह ज़मीदार की मांगो को पूरा नही कर सकता और पट्टे से बेदखल कर दिया जाता है और फिर धरती-हीन मेहनतियो के वर्ग में शामिल हो जाता है।

अपनी ज़मीन का मालिक किसान और असामी काश्तकार दोनो ही, और बहुत से धरती-हीन महनतिये भी, बनिये के शिकार बन जाते है। वे कर्ज से कभी पिंड नही छुडा सकते। जब कभी वे कुछ कमाते है तो बनिये को दे देते है, लेकिन यह सब सूद मे समा जाता है और पुराना कर्ज़ ज्यो का त्यो बना रहता है। बनिये द्वारा इनकी मुडाई पर बहुत कम बन्दिशे है। इसके परिणामस्वरूप वे अर्द्ध-गुलाम की तरह हमेशा के लिए उससे बंध जाते है। बेचारा असामी काश्तकार तो एक तरह से दोहरा चाकर होता है— ज़मीदार का भी और बनिये का भी।

ज़ाहिर है कि यह चीज़ बहुत दिनो तक नही चल सकती। एक समय ऐसा आ जाता है जब किसान लोग उनसे वसूल की जाने वाली किसी भी रक़म को अदा करने मे पूरी तरह असमर्थ हो जाते हैं; बनिया उन्हे और अधिक कर्ज़ देने से इन्कार कर देता है और ज़मीदार भी कठिनाई में फस जाता है। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें गिरावट और अस्थिरता के तत्व ऊपर से ही नज़र आते हैं। सारे देश में इन दिनों जो किसानी झगड़े हुए है वे यह इशारा करते है कि यह व्यवस्था अब तड़क रही है और ज्यादा दिन ज़िन्दा नही रह सकती।

मुझे लगता है कि इस पत्र में मैं कुछ हेर-फेर के साथ उन्ही बातों को दोहरा रहा हूँ जो शायद मैं

किसी पिछले पत्र में लिख चुका हूँ। लेकिन मैं चाहता हूं कि तुम यह महसूस करो कि भारत का अर्थ है येही करोड़ों अभागे कृषि-जीवी लोग, न कि मुट्ठीभर मध्यम-वर्ग के लोग जिन्होने सारी तसवीर को ढक रक्खा है।

धरती-हीन मेहनतियों के बड़े बेदखल वर्ग के अस्तित्व ने बडे-बडे नये कारखाने डालना आसान कर दिया। ऐसे कारखाने तभी चल सकते हैं जब इस तरह के लोग काफी (वास्तव में काफ़ी से भी ज्यादा) सख्या में हो जो उजरत पर काम करने के लिए तैयार हों। जिस आदमी के पास धरती का छोटा-सा भी टुकडा है वह उसे छोड़ना नही चाहता। इसलिए कारखाना-प्रणाली के लिए धरती-हीन बेकारो की भारी सख्या आवश्यक है। और ये लोग जितने ही ज्यादा हो उतना ही कारखानेदारो के मजूरी घटाना और इन पर काबू रखना आसान हो जाता है।

जैसा कि मेरा खयाल है कि मैं तुम्हे बतला चुका हूँ, ठीक इसी समय के लगभग भारत में एक नया मध्यम-वर्ग धीरे-धीरे पैदा हुआ जिसने कारोबार में लगाने के लिए कुछ पूंजी भी जमा कर ली। बस, जब रुपया मौजूद था और मेहनतै करने वाले मौजूद थे, तब इनका नतीजा कारखानो के रूप में प्रगट हुआ। लेकिन भारत में लगाई गई पूजी अधिकाश मे विदेशी (ब्रिटिश) पूजी थी। ब्रिटिश सरकार इन कारखानों को प्रोत्साहन नही देती थी। ये उसकी इस नीति के विरुद्ध पडते थे जिसके अनुसार वह भारत को शुद्ध कृषि-प्रधान देश रखना चाहती थी जो इग्लैण्ड को कच्चे माल देता रहे और इग्लैण्ड के तैयार माल को खपाता रहे। लेकिन जो परिस्थितियां मैंने ऊपर बतलाई है वे ऐसी थी कि भारत में बडी मशीन का उत्पादन शुरू हुए बिना रह नही सकता था और ब्रिटिश सरकार उसे आसानी से रोक नही सकती थी। इसलिए सरकार की नापसदगी के बावजूद कारखाने बढने लगे। इस नापसदगी को जाहिर करने का एक तरीका यह था कि भारत मे आने वाली मशीनो पर टैक्स लगा दिया गया। दूसरा था कपास उत्पादन चुगी जो वास्तव मे भारत की सूती मिलो के उत्पादन पर टैक्स था।

शुरू-शुरू के भारतीय उद्योगपतियो में सबसे बडा जमशेदजी नसरवानजी ताता था। इसने अनेक उद्योग शुरू किये, इनमे सबसे बडा बिहार प्रान्त के साकची में ताता आयरन एन्ड स्टील कपनी था। यह कपनी सन् १९०७ ई० में शुरू हुई और सन् १९१२ ई० में काम करने लगी। लोहे का उद्योग उन उद्योगों में गिना जाता है जो "बुनियादी" उद्योग कहलाते है। आजकल लोहे पर इतनी चीजे निर्भर हैं कि जिस देश मे लोहे का उद्योग नही होता उसे बहुत कुछ दूसरो पर निर्भर रहना पडता है। ताता का लोहे का कारखाना बहुत बडा कारोबार है। साकची गाँव अब जमशेदपुर नगर हो गया है और यहाँ से थोडी दूर पर रेल का स्टेशन तातानगर कहलाता है। युद्ध काल में लोहे के कारखाने विशेष रूप से उपयोगी होते हैं क्योंकि वे युद्ध का सामान बना सकते है। ब्रिटिश सरकार के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि जब महा-युद्ध शुरू हुआ तब भारत मे ताता का कारखाना मौजूद था।

भारतीय कारखानो मे काम करने वाले मजदूरो की दशा बहुत बुरी थी। यह दशा उसी तरह की थी जैसी उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ में इग्लैण्ड के कारखानो मे थी। बेकार धरती-हीन लोगो की बहुत बडी सख्या के कारण मजूरी की दरें बहुत कम थी और काम के घटे बहुत ज्यादा थे। सन १९११ ई० में सबसे पहला व्यापक भारतीय कारखाना कानून (इडियन फैक्टरी ऐक्ट) पास हुआ। इस कानून मे भी पुरुषो के लिए दिन मे काम के बारह घटे और बच्चों के लिए छै घटे निश्चित किये गये थे।

ये कारखाने तमाम धरती-हीन मेहनतियो को नही खपा पाये। इससे इन में से बहुत से आसाम में तथा भारत के अन्य भागो में चाय आदि के बगीचो मे काम करने को चले गये। इन बगीचो मे वे जिन परिस्थितियो में काम करते थे उन्होने उन्हे, जब तक कि वे वहा रहते थे, मालिको के अर्द्ध-गुलाम बना दिया था।

गरीबी के मारे हुए क़रीब बीस लाख भारतीय मजदूर विदेशो को प्रवास कर गये। इनमें से ज्यादा-तर लंका और मलाया के बगीचो में गये। बहुत-से मारीशस टापुओ (मैडैगास्कर के पास भारत सागर में) को, ट्रिनिडाड (दक्षिण अमेरिका के उत्तरी सिरे पर) को, फ़िजी (आस्ट्रेलिया के पास) को, और दक्षिणी अफरीका को, पूर्वी अफरीका को तथा ब्रिटिश गायना (दक्षिणी अमेरिका में) को भी चले गये। इनमें से अनेक स्थानो को वे "गिरमिटिये" मजदूर बन कर गये जिसका अर्थ था कि व्यावहारिक रूप में वे अर्द्ध-गुलाम

थे। गिरमिट (अंग्रेजी ऐग्रीमेण्ट का अपभ्रंश) वह दस्तावेज होता था जिसमें इन मजदूरों के साथ किया गया शर्तनामा होता था और जिसके मातहत वे अपने मालिकों के गुलाम होते थे। इस गिरमिट प्रथा के अनेक रोमांचकारी वर्णन भारत पहुँचे, खास कर फ़िजी से, जिसके कारण यहाँ हलचल मची और यह प्रथा बन्द कर दी गई।

यहाँ तक तो किसान वर्ग, मजदूर वर्ग और प्रवासियों का वर्णन हुआ। यह भारत की दीन, मूक और बहुत दिनों से दुखी जनता थी। हल्ला मचाने वाला तो असल में नया मध्यम-वर्ग था जो एक तरह से अंग्रेजों के संसर्ग से पैदा हुआ था लेकिन फिर भी जो उनकी आलोचना करने लगा। यह बढ़ने लगा और इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढ़ा। तुम्हे याद होगा कि यह आन्दोलन सन् १९०७-८ ई० मे बड़ा जोर पकड़ गया था जब कि एक जन आन्दोलन ने बगाल को हिला दिया था और कांग्रेस, गरम तथा नरम, दो दलो में बँट गई थी। अंग्रेजों ने प्रगतिशील दल को कुचलने की और कुछ मामूली सुधारो के द्वारा नरम दल को मिलाने का प्रयत्न करने की अपनी सदा की नीति बरती। इसी समय एक नया मोहरा सामने आया—यह था मुसलमानो को अल्पसंख्यक जाति मान कर उनके साथ अलग तथा विशेष व्यवहार का राजनैतिक दावा। अब यह सबको अच्छी तरह मालूम हो चुका है कि उस समय सरकार ने भारतवासियो में फूट पैदा करने के लिए तथा राष्ट्रीयता की वृद्धि को रोकने के लिए इन मागो को प्रोत्साहन दिया।

उस समय तो ब्रिटिश सरकार अपनी नीति मे सफल हो गई। लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दबाया जा चुका था। नरम दल ने शासन में कुछ सुधारो का, जिनसे भारतवासियो को कोई अधिकार नही मिलता था, हार्दिक स्वागत किया (तत्कालीन वायसराय तथा भारत मत्री के नाम पर ये सुधार मिण्टो-मोर्ली सुधार कहलाये)। कुछ समय बाद बग-भंग की मंसूखी ने बगालियो की भावना को सतुष्ट कर दिया। सन् १९०७ ई० तथा उसके बाद का राजनैतिक आन्दोलन एक बार फिर आरामकुर्सी पर बैठ कर चर्चा करने वाले लोगो का मशगला बन गया। इसलिए, जब सन् १९१४ ई० मे युद्ध शुरू हुआ, तब देश मे सक्रिय राजनैतिक जीवन नही के बराबर था। कांग्रेस, जो केवल नरम-दलियो की प्रतिनिधि रह गई थी, हर साल अधिवेशन करती थी और कुछेक कागजी प्रस्ताव पास करने के सिवा कुछ नही करती थी। राष्ट्रीयता की धारा बहुत मन्द पड गई थी।

पश्चिम के ससर्ग से राजनैतिक क्षेत्र के अलावा अन्य प्रतिक्रियाएं भी हुईं। नये मध्यम-वर्गों के (जनता के नही) धार्मिक विचारो पर भी प्रभाव पडा, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, आदि नये आन्दोलन पैदा हुए और जात-पाँत की प्रथा ढीली होने लगी। सास्कृतिक जागृति भी हुई, खासकर बगाल मे। बगाली लेखको ने बंगला भाषा को भारत की आधुनिक भाषा में सबसे अधिक साहित्य-सम्पन्न बना दिया और बगाल ने इस युग के सबसे महान भारतवासियो में गिने जाने वाले कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया जो सौभाग्य से अभी तक हमारे बीच मौजूद है।[1] बगाल ने सर जगदीशचन्द्र बसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे महान वैज्ञानिको को भी जन्म दिया। रामानुजम और सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन दो अन्य महान भारतीय वैज्ञानिक हैं जिनके नामो का जिक्र मै यहाँ कर दू। इस प्रकार भारत विज्ञान में भी श्रेष्ठता प्राप्त कर रहा था और यह वह चीज थी जो योरप की महानता की बुनियाद थी।

एक और नाम का भी जिक्र मै यहाँ कर दू। यह नाम सर मोहम्मद इकबाल का है जो उर्दू के और खास कर फारसी के प्रतिभाशाली कवि हैं।[2] उन्होने राष्ट्रीयता पर कुछ सुन्दर कविताए लिखी हैं। दुर्भाग्य से इन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे कविता लिखना छोड़ दिया और अन्य कामों में लग गये।

जब कि युद्ध-पूर्व के वर्षों मे राजनैतिक दृष्टि से भारत शान्त अवस्था मे था, तब एक दूर देश में भारत की इज्जत के लिए वीरतापूर्ण तथा अपूर्व सघर्ष हुआ। यह दक्षिण अफरीका था जहाँ भारी सख्या में भारतीय मजदूर और कुछ भारतीय व्यापारी प्रवास करके बस गये थे। अनेको तरीक़ो से इन्हें अपमानित किया जाता था और इनकी दुर्गति की जाती थी, क्योकि वहाँ वर्ण के अहंकार का बोलबाला था। संयोग से

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु सन् १९४१ ई० में हो गई।
[2] इक़बाल की मृत्यु सन् १९३८ ई० में हुई।

एक नौजवान भारतीय बैरिस्टर को एक मुकदमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफरीका बुलाया गया। उसने अपने देशवासियो की हालत देखी जिससे वह बहुत अपमानित और दुखित हुआ। उसने यथाशक्ति उनकी सहायता करने का निश्चय किया। वर्षों तक वह चुपचाप मेहनत करता रहा; उसने अपना पेशा और घरबार छोड़ दिये और जिस मामले को उसने उठाया था उसमें वह पूरी लगन के साथ जुट गया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गाधी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा इन्हें जानता है और इनसे प्रेम करता है लेकिन उस समय दक्षिण अफरीका के बाहर इन्हें कोई नही जानता था। यकायक इनका नाम समुद्र पार से बिजली की तरह भारत में आया और लोग इनके बारे में तथा इनकी बहादुरीपूर्ण लडाई के बारे में आश्चर्य और प्रशंसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफरीका की सरकार ने वहाँ के प्रवासी भारतीयो को और भी अधिक अपमानित करने की चेष्टा की लेकिन गाधीजी के नेतृत्व में उन्होंने सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। यह काफ़ी अचम्भे की बात थी कि अपने वतन से दूर गरीब, पद-दलित और अशिक्षित मजदूरों की एक बिरादरी ने और छोटे-छोटे व्यापारियो के एक समुदाय ने ऐसा बहादुराना रुख इख्तियार किया। और इससे भी ज्यादा अचम्भे की चीज वह तरीका था जो उन्होने अपनाया, क्योकि राजनैतिक हथियार की दृष्टि से ससार के इतिहास में यह एक नवीन हथियार था। तबसे इसके बारे मे हम अक्सर सुना करते हैं। यह था गाधीजी का सत्याग्रह, जिसका अर्थ है सत्य पर अड़े रहना। इसे कभी-कभी निष्क्रिय प्रतिरोध भी कहते हैं, पर यह पर्याय ठीक नही है, क्योकि सत्याग्रह तो काफी सक्रिय होता है। यह केवल अ-प्रतिरोध भी नही है, हालाँकि अहिसा इसका आवश्यक अग है। इस अहिंसात्मक युद्ध-कला से गाधीजी ने भारत और दक्षिण अफ़रीका को हैरत मे डाल दिया और जब भारत के लोगो ने यह सुना कि दक्षिण-अफरीका में हमारे देशवासी हजारो नर-नारी खुशी-खुशी जेल चले गये तो वे अभिमान और हर्ष से पुलकित हो उठे। अपने ही देश में अपनी पराधीनता और शक्तिहीनता पर हम मन ही मन लज्जित हो गये, और अपने ही देशवासियो द्वारा दी गई इस वीरतापूर्ण चुनौती के उदाहरण ने हमारे आत्माभिमान को बढ़ा दिया। इस मुद्दे पर भारत मे एकदम राजनैतिक जागृति पैदा हो गई और दक्षिण अफरीका को ढेरो रुपया भेजा जाने लगा। गाधीजी तथा दक्षिण अफरीका की सरकार के बीच समझौता होने पर यह लडाई बन्द कर दी गई। यद्यपि उस समय भारतीय मामले की यह असन्दिग्ध विजय थी, पर भारतीयो पर अभी तक अनेक पाबन्दियाँ चली आ रही हैं और कहा जाता है कि दक्षिण अफरीका की सरकार पुराने क़रारनामे का पालन नही कर रही। प्रवासी भारतीयो का मसला अभी तक हमारे सामने है और जब तक भारत स्वतन्त्र नही हो जाता तब तक रहेगा। जब भारतवासियो की अपने देश मे ही इज्जत नही है तब अन्यत्र कैसे हो सकती है ? और जब तक कि हम अपने ही देश मे अपने पैरो पर खड़े हो कर आज़ादी प्राप्त करने में सफल नही होते तब तक प्रवासी लोगो की क्या ज्यादा सहायता कर सकते है ?

युद्ध-पूर्व के वर्षों में भारत में यही हालत हो रही थी। जब सन् १९११ ई० में इटली ने तुर्की पर आक्रमण किया तो भारत मे तुर्की के प्रति बहुत सहानुभूति उमड पडी, क्योकि तुर्की एक एशियाई और पूर्वी शक्ति माना जाता था इसलिए सारे भारतीयो की सद्भावना उसके साथ थी। भारतीय मुसलमानो पर इसका विशेष प्रभाव पडा क्योकि वे तुर्की के सुल्तान को खलीफा या अमीर-उल-मोमिनीन मानते थे। उन दिनो तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद की शुरू की हुई अखिल-इस्लामवाद की भी कुछ चर्चा चली थी। सन् १९१२ और १९१३ ई० के बलकान युद्धो ने भारतीय मुसलमानो में और भी खलबली पैदा कर दी और मित्रता तथा सद्भावना का द्योतक रूप, रैडक्रेसैन्ट मिशन नामक डाक्टरी सहायता का एक मडल, तुर्की के घायलो की सेवा के लिए भारत से भेजा गया।

इसके कुछ ही समय बाद महायुद्ध शुरू हो गया और तुर्की इसमें इग्लैण्ड के शत्रु के रूप में उलझ गया। लेकिन यह बात युद्ध के जमाने की है और मुझे यहाँ रुक जाना चाहिए।

: १४८ :

सन् १९१४-१८ ई० का महायुद्ध

इस युद्ध के बारे में मैं तुम्हें क्या लिखू, जिसे संसार-युद्ध या महायुद्ध कहा जाता है, जिसने चार वर्ष से ऊपर योरप का और एशिया और अफ़रीका के कुछ भागो का सत्यानाश किया और लाखों नौजवानों का उठती जवानी में सफाया कर दिया। मनन करने के लिए युद्ध कोई मनोरंजक विषय नही है। यह भद्दी चीज़ है, लेकिन इसकी अक्सर तारीफ़ की जाती है और इस पर खूब चमकदार रंग चढ़ाये जाते हैं। और कहा जाता है कि जैसे आग पर तपाने से सोना शुद्ध हो जाता है उसी तरह युद्ध की आग उन प्रमादी राष्ट्रों को खरा और मजबूत बना देती है जो बहुत अधिक आराम और विलासी जीवन से नाजुक और भ्रष्ट हुए होते हैं। हमारे सामने ऊँचे दर्जे के साहस और मर्म-स्पर्शी उत्सर्ग के उदाहरण पेश किये जाते है, मानो इन सद्-गुणों की जननी युद्ध ही हो।

मैंने तुम्हारे साथ इस युद्ध के कुछ कारणों की जाँच करने की कोशिश की है. किस तरह पूंजीवादी उद्योग-प्रधान देशो की लालची-वृत्ति और साम्राज्यवादी शक्तियो की प्रतिद्वन्दिताए टकराई और उनके कारण संघर्ष लाजिमी हो गया। इनमें से हर देश के उद्योगपति फायदा उठाने के लिए किस तरह अधिकाधिक अवसर और क्षेत्र चाहते थे; किस तरह साहूकार लोग खूब रुपया बनाने की धुन में थे; किस तरह युद्ध-सामग्री बनाने वाले लम्बे-चौड़े मुनाफे कमाना चाहते थे। बस, ये लोग युद्ध मे कूद पड़े, और इनके तथा इनके वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले बुजुर्ग राजनीतिज्ञो के इशारे पर राष्ट्रो के नवयुवक एक दूसरे की गरदनें मारने के लिए दौड पड़े। इन मे से बहुत अधिक नवयुवक, और तमाम सम्बन्धित देशों के आम लोग, युद्ध के परिणामी कारणो के बारे में कुछ नही जानते थे। असल मे इनका तो युद्ध से कोई सरोकार ही नही था; जय हो या पराजय, इनका तो इससे नुकसान ही होना था। यह तो धनवानो का खेल था जो लोगो के जीवन से, और ज्यादातर नवयुवको के जीवन से, खेला गया था। लेकिन जब तक आम लोग लडने के लिए तैयार न हो तब तक युद्ध नही हो सकता था। जैसा कि मै तुम्हें बतला चुका हूँ, योरप के सारे देशो मे लामबन्दी यानी अनिवार्य युद्ध-चाकरी थी, इग्लैण्ड मे यह युद्ध शुरू होने के बाद आई। लेकिन अगर कुल मिला कर सारे लोग वास्तव मे लडने की इच्छा न रखते हो तो ऐसे मामले मे ज़बरदस्ती से भी उन्हे मजबूर नही किया जा सकता।

इसलिए सारे युद्ध-रत राष्ट्रों में लोगो के जोश और देशप्रेम को मार-मार कर जगाने के लिए खूब व्यवस्थित प्रयत्न किये गये। हर पक्ष दूसरे को "आक्रमणकारी" कहता था और केवल आत्म-रक्षा के लिए लडने का बहाना करता था। जर्मनी कहता था कि उसके चारो ओर शत्रुओ ने घेरा डाल रक्खा है जो उसका गला घोटने की कोशिश कर रहे है। उसने रूस और फ्रास पर यह लाञ्छन लगाया कि इन्होने उसपर धावा बोलने में पहल की। इग्लैण्ड ने छोटे-से बैल्जियम की न्यायोचित रक्षा को अपनी कार्रवाई का आधार बनाया क्योंकि इसकी तटस्थता को जर्मनी ने बड़ी बेशर्मी से नष्ट कर दिया था। युद्ध मे उलझे हुए तमाम देशो ने अपने आपको भला समझने का रुख अपनाया और सारा दोष शत्रु के सिर मढ दिया। हर राष्ट्र के लोगो को यह यक़ीन दिलाया गया कि उनकी आज़ादी खतरे मे है और उसकी रक्षा के लिए उन्हे लडना ज़रूरी है। हर जगह युद्ध का यह वातावरण तैयार करने मे अखबारो ने खास तौर पर ज़बरदस्त हिस्सा लिया। परिणाम के लिहाज़ मे इस वातावरण का अर्थ था शत्रु देशो की जनता के प्रति घोर विद्वेष की भावना।

क्षणिक पागलपन की यह लहर इतनी ज़ोरदार थी कि यह हर चीज़ को बहाती चली गई। भीड मे जनता के मनो-विकारो को उभाडना काफी आसान था; लेकिन युद्ध मे उलझे हुए तमाम देशो के दिमाग वाले और समझ-बूझ वाले लोग, वे नर और नारी जो शान्त और स्थिर स्वभाव वाले माने जाते थे, विचारक, लेखक, अध्यापक, वैज्ञानिक,—सबके सब अपने सतुलन खो बैठे और रक्त-लिप्सा से तथा शत्रु राष्ट्रों के लोगों के प्रति विद्वेष से भर गये। पादरी लोग, धर्मवान लोग, जो शान्ति चाहने वाले लोग माने जाते हैं, सभी दूसरों के समान बल्कि उनसे भी ज्यादा, खून के प्यासे हो रहे थे। यहाँ तक कि शान्तिवादी और

समाजवादी भी पागल बन गये और अपने सिद्धान्तों को भूल गये। हाँ सभी-केवल कुछ को छोड़ कर। हर देश में ऐसे अल्पमत वालों की बहुत छोटी संख्या भी थी जिन्होंने क्षणिक पागलपन का शिकार बनने से इन्कार कर दिया और अपने आप को इस युद्ध-ज्वर से आक्रान्त नही होने दिया। उन पर ताने कसे जाते थे और उन्हें कायर कह कर पुकारा जाता था। बहुतों को तो युद्ध में भाग लेने से इन्कार करने के कारण जेलो तक में डाल दिया गया। इनमें कुछ तो समाजवादी थे, कुछ क्वेकरों की तरह धर्मवान लोग थे जो अन्त करण से युद्ध-विरोधी होते हैं।[1] यह सच ही कहा गया है कि आजकल जब युद्ध छिड़ जाता है तो उसमें फँसे हुए लोग पागल हो जाते हैं।

जैसे ही युद्ध शुरू हुआ, विभिन्न देशों की सरकारों ने उसे सत्य को दबाने का और तरह-तरह की झूठी बाते फैलाने का बहाना बना लिया। लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का भी गला घोटा गया। दूसरे पक्ष पर तो पूरी तरह परदा डाल दिया जाता था। इसलिए लोग क़िस्से का सिर्फ़ एक ही पहलू जान पाते थे, और वह भी बहुत तोड़ा-मरोडा हुआ और अक्सर बिल्कुल झूठा बयान होता था। इस तरकीब से लोगों को बेवक़ूफ़ बनाना कुछ मुश्किल नही था।

शान्ति के दिनों में भी सकीर्ण राष्ट्रवादी प्रचार ने और अखबारों की तोड़-मरोड ने लोगों को बेवक़ूफ़ बना दिया था और युद्ध के लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। खुद युद्ध की ही महिमा गाई गई थी। जर्मनी मे, या यू कहो कि प्रशिया में, युद्ध का यह यशगान कैसर से लगाकर नीचे तक के शासकों का एक निश्चित तात्विक विचार ही बन गया था। इसे न्यायोचित प्रमाणित करने के लिए विद्वतापूर्ण पुस्तकें लिखी गई थी जिनमे यह सिद्ध किया गया था कि युद्ध एक "जीवोपयोगी आवश्यकता"[2] है—अर्थात यह मानव जीवन तथा प्रगति के लिए आवश्यक है। कैसर का खब विज्ञापन होता था क्योंकि वह सदा कुछ भोडे तरीक़े से अपना आडम्बर दिखाया करता था। लेकिन इसीसे मिलते-जुलते विचार इग्लैण्ड तथा अन्य देशो के सैनिक वर्ग में और उच्च वर्ग के मडलो में फैले हुए थे। रस्किन इग्लैण्ड मे उन्नीसवी सदी के महान लेखको में गिना जाता है। वह उनमे से है जिनकी रचनाए गाधीजी को प्रिय है। निस्सन्देह उच्च विचारो वाला यह व्यक्ति अपनी एक पुस्तक मे लिखता है:

> "सक्षेप मे, मैंने पाया कि सब महान राष्ट्रो को अपने शब्दो की सत्यता और अपने विचारों का बल युद्ध मे ज्ञात हुआ, और शान्ति मे नष्ट हो गया; युद्ध ने सिखाया और शान्ति ने धोखा दिया; युद्ध ने तैयार किया और शान्ति ने भेद खोल दिया, एक शब्द में कहे तो वे युद्ध मे पैदा हुए और शान्ति मे मर गये।"

यह दिखाने के लिए कि रस्किन कितना स्पष्टवक्ता साम्राज्यवादी था, मै उसका एक और कथन यहाँ दूगा:

> "यही बात है जो उसे (इग्लैण्ड को) करनी चाहिए, वरना वह नष्ट हो जायगा; उसे उपनिवेश स्थापित करने चाहिए .....उपजाऊ बजर ज़मीन के हर टुकडे पर, जिस पर वह पैर रख सके, उसे कब्ज़ा कर लेना चाहिए और वहाँ अपने इन उपनिवेशवासियो को यह सिखाना चाहिए कि उनका पहला.. ....ध्येय है ज़मीन पर या समुद्र पर इग्लैण्ड की शक्ति को आगे बढाना।"

एक उद्धरण और भी। यह एक अंग्रेज अफसर की पुस्तक में से है जो ब्रिटिश सेना में मेजर-जनरल हो गया। यह बतलाता है कि "बिना जानबूझ कर धोखेबाज़ी के, बिना धोखेबाज़ी का व्यवहार किये या बिना धोखाधड़ी की बात के" युद्ध में विजय लगभग असम्भव है। इसके कथनानुसार कोई नागरिक जो "इन उपायो का प्रयोग करने से इन्कार करता है, अपने साथियो और मातहतो के साथ जानबूझ कर गद्दारी करता है" और "उसे केवल अत्यन्त घृणा के योग्य कायर ही कहा जा सकता है।" "नीति; अनीति—महान राष्ट्रो के लिए ये चीजें क्या है जब उनका भाग्य ही दाँव पर चढ़ रहा हो?" हर राष्ट्र को "चाहिए कि जब तक उसके प्रतिद्वन्दी पर घातक चोट न पड़ जाय तब तक आघात पर आघात करता रहे"। मै नही

---

[1] Conscientious Objectors.

[2] Biological necessity.

कह सकता कि इस सब पर रस्किन का क्या मत होता ! अलबत्ता यह कल्पना न कर बैठना कि अंग्रेजी हृदय का यह कोई अच्छा नमूना है, या यह कि क़ैसर के शब्दाडम्बर भरे भाषण एक औसत जर्मन के भावों को व्यक्त करते थे। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि ऐसे विचार रखने वाले लोग ही अक्सर सत्ताधारी होते हैं और युद्ध-काल में तो वे लगभग अनिवार्य तौर पर आगे आ जाते हैं।

आम तौर पर ऐसी स्पष्ट स्वीकारोक्तियाँ सार्वजनिक रूप में नही कही जाती और युद्ध को पवित्रता का पाखंडी चोग़ा पहना दिया जाता है। बस, उधर तो योरप में तथा अन्यत्र सैकड़ो मीलो के संग्राम-मोर्चों पर जबरदस्त नर सहार हो रहा था, इधर घर में इस हत्याकाड को न्यायोचित ठहराने के लिए और लोगों को भुलावे में डालने के लिए बड़े सुन्दर और लच्छेदार वाक्य रचे जाते थे। यह आज़ादी और इज्ज़त का युद्ध था; "युद्ध का अन्त करने के लिए युद्ध" था, लोकतन्त्र की रक्षा के लिए था; आत्म-निर्णय के लिए और छोटे राष्ट्रों की आज़ादी के लिए था; वग़ैरा, वगैरा। इसी समय में अनेक पूजीपति और उद्योगपति और युद्ध-सामग्री बनाने वाले, जो घर बैठे थे और इन लच्छेदार वाक्यो का बड़ी देशभक्ति के साथ उपयोग करके नवयुवकों को युद्ध की भट्टी में कूद पड़ने के लिए उकसाते थे, लम्बे-चौडे मुनाफ़े कमा रहे थे और करोड़पति बन रहे थे।

ज्यो-ज्यों युद्ध मास प्रति मास और वर्ष प्रति वर्ष चलता गया त्यो-त्यों अधिकाधिक देश इस में खिंचते गये। दोनों पक्ष तटस्थो को गुप्त रूप से रिश्वतो का लोभ देकर अपनी-अपनी ओर मिलाने की कोशिशें करते थे, खुले तौर पर रिश्वतो के प्रस्ताव किये जाते तो उन उच्च आदर्शों पर और लच्छेदार वाक्यो पर पानी फिर जाता जिनका शोर छतो पर से किया जाता था। इग्लैण्ड और फ्रास की रिश्वत देने की सामर्थ्य जर्मनी से बढ़ी-चढी थी, इसलिए युद्ध मे शरीक होने वाले अधिकतर तटस्थ देश अग्रेज़ी-फ्रासीसी-रूसी पक्ष में आ मिले। जर्मनी के पुराने साथी इटली के साथ मित्र-राष्ट्रो ने एक गुप्त सन्धि करली जिसमें उसे एशिया कोचक में तथा अन्यत्र प्रदेश देने का वादा किया गया, और इस तरह इन्होने उसे अपनी ओर मिला लिया। एक अन्य गुप्त सन्धि द्वारा रूसको कुस्तुन्तुनिया देने का वादा किया गया। दुनिया को आपस में बाँट लेनेका काम बड़ा मजेदार था। ये गुप्त सन्धियाँ मित्र-राष्ट्रों के राज्यनीतिज्ञो के वक्तव्यो के बिल्कुल विपरीत थी। सत्ता हाथ में आने के बाद अगर रूसी बोलशेविक इन सन्धियों को प्रकाशित न करते तो शायद किसीको इनका पता भी न चलता।

निदान एक दर्जन से कुछ ऊपर देश मित्र-राष्ट्रो के साथ हुए (अग्रेज़ी-फ्रासीसी पक्ष को मैं संक्षेप के लिए मित्र-राष्ट्र कहूंगा)। ये थे इग्लैण्ड और उसका साम्राज्य, फ्रास, रूस, इटली, सयुक्तराज्य अमेरिका, बैल्जियम, सर्बिया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल। (दो एक और भी जिनके नाम मुझे याद नही)।

जर्मन पक्ष मे जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगारिया थे। सयुक्तराज्य अमरीका तीसरे वर्ष युद्ध में शामिल हुआ। अगर अभी हम अपनी गिनती मे इसे छोड भी दें तो भी यह स्पष्ट है कि मित्र-राष्ट्रो के साधन जर्मन पक्ष के साधनो से बहुत बढ़े-चढे थे। इनके पास ज्यादा सैनिक थे, बहुत ज्यादा रुपया था, अस्त्र-शस्त्र और गोला-बारूद बनाने के ज्यादा कारखाने थे, और, इन सब के ऊपर, इनका समुद्रो पर अधिकार था जिसके कारण तटस्थ देशो के साधनो का उपयोग करना इनके लिए आसान था। इसलिए इस समुद्री ताक़त के फलस्वरूप वे अमरीका से युद्धका सामान, या खाने का सामान या कर्ज़ा प्राप्त कर सकते थे। जर्मनी और उसके साथी चारो ओर अपने शत्रुओं से घिरे हुए और किनारी-बन्द थे, और जर्मनी के साथी देश कमज़ोर थे जो ज्यादा मदद नही पहुँचा सकते थे। वे तो बहुत करके जर्मनी के बल को खर्च करने वाले थे और उसे उनको सहारा देना पड़ता था। इसलिए सूरत यह थी कि एक तरफ तो ससार के अधिकतर देश लड़ रहे थे दूसरी तरफ़ उनके मुक़ाबले में अकेला जर्मनी था। हर पहलू से यह जोड बहुत ही बे-बराबरी की थी। लेकिन फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुक़ाबले में डटा रहा और कई बार तो विजयी होते होते रह गया। हर साल यही मालूम देता था कि विजय अधर लटकी हुई है। अकेले एक राष्ट्र के लिए यह प्रयास अद्‌भुत था और यह उस शानदार सैनिक सगठन के कारण सम्भव हुआ था जो जर्मनी ने निर्माण किया था। अन्त तक, जब कि जर्मनी और उसके साथी पूरी तरह परास्त किये जा चुके थे, जर्मन सेना का संगठन वैसा का वैसा बना हुआ था और उसका बड़ा भाग विदेशी ज़मीन पर था।

मित्र-राष्ट्रों की तरफ़ लड़ाई की सबसे ज्यादा झोंक फ्रांस को उठानी पड़ी और फ्रांसीसियों ने ही अपने नवयुवकों के जीवन की जबरदस्त भेंट चढ़ाकर जर्मन सैनिक संगठन से लोहा लिया। इंग्लैण्ड द्वारा दी गई सबसे बड़ी सहायता थी जल सेना और समुद्री बल, और साथ ही कूटनीति और प्रचार भी। अपनी सेना के घमंड में भरा हुआ जर्मनी तटस्थ देशों के साथ कूटनीति में और प्रचार के अपने ढंगों में अपूर्व भोंडा-पन बरत रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि झूठी बातों के और तोड़े-मरोड़े हुए तथ्यों के अपने प्रचार की होशियारी और कमालियत में इंग्लैण्ड इस युद्ध में तमाम देशों से बाजी ले गया। लड़ाई में रूस और इटली और अन्य साथी देशों का हिस्सा इंग्लैण्ड वगैरा के मुक़ाबले में बहुत कम भी रहा और तारीफ के लायक भी नहीं रहा। लेकिन फिर भी रूस के सब देशों से ज्यादा आदमी मारे गये। युद्ध की समाप्ति से कुछ ही पहले शामिल होने वाले अमरीका ने जर्मनी को कुचलने में आखरी और निर्णयात्मक हिस्सा अदा किया।

युद्ध के प्रारम्भिक महीनों में इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच जबरदस्त तनाव था और दोनों के बीच युद्ध ठन जाने की भी चर्चा थी। यह तनाजा समुद्रों पर अमरीका की जहाजरानी में इंग्लैण्ड की दस्तन्दाज़ी से पैदा हुआ था क्योंकि इंग्लैण्ड को शका थी कि अमेरिका के जहाज जर्मनी को माल ले जाते हैं। लेकिन तुरन्त ही इंग्लैण्ड के प्रचार का सचालन करने वाली व्यवस्था ज़ोरों से काम करने लगी और अमरीका को अपनी ओर मिलाने का विशेष यत्न करने लगी। सबसे पहले अत्याचार सम्बन्धी प्रचार को हाथ में लिया गया और जर्मन सेना ने बैल्जियम में जो कुछ किया उसके भीषण किस्से प्रचारित किये गये। इसे जर्मन हूण या 'बॉश'[1] की "भयानकता" कहा गया। इनमें से कुछेक क़िस्सों की कुछ बुनियाद भी थी, मसलन लूवें[2] के विश्वविद्यालय और पुस्तकालय का नष्ट किया जाना, लेकिन अधिकतर किस्से कोरे मन-गढन्त थे। एक विस्मयकारी किस्सा वह था जिसमे कहा गया था कि जर्मन लोग लाशो का कारखाना चला रहे हैं! लेकिन दोनो पक्ष के देशो के लोगो का एक दूसरे के प्रति इतना विद्वेष था कि किसी भी बात पर यकीन करने को तैयार थे।

अंग्रेज़ो का प्रचार जिस विशाल पैमाने पर चलाया जा रहा था उसका कुछ अन्दाज़ तुम्हे इससे हो सकता है कि अमरीका के ब्रिटिश युद्ध-प्रचार विभाग में ५०० कर्मचारी और १०,००० उनके सहायक थे! यह तो सरकारी तौर पर था, इसके अलावा गैर-सरकारी तौर पर भी जबरदस्त काम हो रहा था। इस प्रचार कार्य के लिए उचित और अनुचित सब तरह के उपायो का अवलम्बन किया जाता था। स्वीडन-वासियो की सद्भावना प्राप्त करने के लिए स्वीडन के स्टॉकहोम नगर के अंग्रेज़ों ने सरकारी तौर पर एक प्रकार का सगीत भवन खोला था जिसमें मनोरंजन का स्फुट कार्यक्रम होता था!

इस प्रचार ने और जर्मनी की पनडुब्बियो की कार्रवाइयोंने, जिनके बारे में मैं आगे चल कर कुछ लिखूगा, अमरीका को मित्र-राष्ट्रो की ओर लाने में बड़ा भारी काम किया। लेकिन आखिरी निर्णयात्मक कारण तो रुपया था।

युद्ध एक खर्चीला धन्धा है, भयकर रूप से खर्चीला। यह मूल्यवान सामग्री के पहाड़-के-पहाड़ हड़प कर जाता है और उसके एवज में केवल बरबादी सामने रखता है। यह अनेक धन-उत्पादक प्रवृत्तियो को बन्द कर देता है और लोगो की शक्तिया विनाश मे केन्द्रीभूत कर देता है। यह तमाम रुपया कहाँ से आता? शुरू-शुरू में मित्र-राष्ट्रो के पक्षवालो में केवल इंग्लैण्ड और फ्रास ही आसूदा समझे जा सकते थे। ये युद्ध-व्यय का केवल अपना ही हिस्सा नही देते थे बल्कि रुपया और सामान उधार देकर अपने साथियो का भी हिस्सा अदा करते थे। कुछ समय बाद पैरिस चीं बोल गया; उसके आर्थिक साधन खतम हो गये। तब अकेले लन्दन ने युद्ध में मित्र-राष्ट्रो के पक्ष को धन की सहायता दी। युद्ध के दूसरे वर्ष के खतम होते न होते लन्दन भी चीं बोल गया। इसलिए सन् १९१६ ई० के अन्त तक फ्रास और इंग्लैण्ड दोनो की साख खतम हो गई। तब आर्थिक सहायता मागने के लिए प्रमुख राजनीतिज्ञों का एक ब्रिटिश मंडल अमरीका गया। अमरीका रुपया उधार देने को राज़ी हो गया और फिर तो मित्र-राष्ट्रों के पक्ष की ओर से युद्ध को चलाने वाला यह अमरीकी रुपया था। मित्र राष्ट्रो पर अमरीका का क़र्ज़ दिन दूना रात चौगुना

---

[1] Boche—खून का प्यासा बंगाई।

[2] Louvain—बैल्जियम का एक नगर।

बढ़ते-बढ़ते विस्मयजनक राशि तक जा पहुंचा; और ज्यों-ज्यों यह बढ़ता गया त्यों-त्यों रुपया उधार देने वाले अमरीकी बड़े बैंक और साहूकार मित्र-राष्ट्रों की विजय में अधिकाधिक स्वार्थ-रत हो गये। अगर जर्मनी मित्रराष्ट्रों को पराजित करदे तो अमरीका ने उन्हें जो भारी रक़में उधार दी थी उनका क्या होगा ? अमरीकी बौहरे की जेब पर असर पडने लगा था, और उसने इसी मुताबिक़ ढंग अपनाया। युद्ध में अमरीका के मित्र-राष्ट्रों में शामिल होने के पक्ष में भावना बलवान होने लगी और निदान अमरीका शामिल हो ही गया।

इन दिनो हम अमरीकी कर्ज़े के सवाल के बारे में बहुत कुछ सुन रहे हैं और अख़बार इससे भरे रहते हैं। यह क़र्ज़, जो इग्लैण्ड और फ्रास के गलो में चक्की के पाट की तरह लटका हुआ है और जिसे वे चुका नही सकते, युद्ध के दिनों में, अम्बार बन गया था। अगर उस समय यह रुपया नही दिया गया होता तो इनकी साख पूरी तरह ख़तम हो गई होती और अमरीका उनके साथ शामिल नही हुआ होता।

: १४६ :

महायुद्ध की गति

जब, सन् १९१४ ई० के अगस्त महीने के शुरू में, युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब सारी दुनिया की नजर बैल्जियम पर और फ्रास की उत्तरी सरहद पर थी। विशाल जर्मन सेनाए आगे बढती चली जा रही थी और अपने रास्ते मे आने वाली तमाम रुकावटो का सफाया कर रही थी। छोटे-से बैल्जियम ने कुछ देर के लिए उन्हे आगे बढ़ने से रोक दिया और इस पर क्रोधित होकर उन्होने आतंक पैदा करने वाली कार्रवाइयो से बैल्जियमवासियों को भयभीत करना चाहा। इन्ही कार्रवाइयो को मित्र-राष्ट्रो ने अपने अत्याचार वाले क़िस्सो का आधार बनाया। ये सेनाए पैरिस की ओर बढी और फ्रासीसी सेना का तो मानो उनके सामने बिस्तर गोल हो गया और छोटी-सी ब्रिटिश सेना मार भगाई गई। युद्ध छिडने के एक ही महीने के भीतर पैरिस का तो फैसला होता हुआ नजर आने लगा और फ्रासीसी सरकार तो सचमुच अपने दफ्तर और मूल्यवान वस्तुए दक्षिण में बोर्दो[1] ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनो ने तो समझा कि उन्होने युद्ध करीब-क़रीब जीत लिया। अगस्त के अन्त मे युद्ध के पश्चिमी-मोर्चे (यानी फ्रासीसी मोर्चे) पर मामले की यह स्थिति थी।

इसी दरमियान रूसी फौजे पूर्वी प्रशिया पर धावा बोल रही थी और यह प्रयत्न किया जा रहा था कि किसी तरह पश्चिमी मोर्चे से जर्मनी का ध्यान बट जाय। फ्रास और इग्लैण्ड में उस तथाकथित रूसी "सड़क कूट-इजन" पर बडी-बडी आशाये बाधी जा रही थी जो बर्लिन की तरफ बढ रहा था। लेकिन रूसी सिपाहियो के पास अच्छे और पूरे हथियार नहीं थे और उनके अफसर बिल्कुल अयोग्य थे और उनके पीछे ज़ार की भ्रष्ट सरकार थी। जर्मन लोग यकायक उन पर लौट पडे और उन्होने पूर्वी प्रशिया की झीलों और दलदलों में भीमकाय रूसी सेना को फास कर उसे बिल्कुल नष्ट कर दिया। इस ज़बरदस्त जर्मन विजय को टैननबर्ग का सग्राम कहा जाता है। इसमे भाग लेने वाले मुख्य सेनापतियो मे फॉन हिण्डनबर्ग था, जो बाद मे जर्मन प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति बना।

यह महान विजय थी, लेकिन परोक्ष रूप में इससे जर्मन सेनाओं की भारी क्षति हुई। इसे प्राप्त करने के लिए, और पूर्व मे रूसी प्रगति से कुछ डर कर, जर्मनो ने अपनी कुछ सेनाए फ़ासीसी मोर्चे से हटा कर रूसी मोर्चे पर भेज दी थी। इससे पश्चिमी मोर्चे पर पडा हुआ दबाव कुछ कम हो गया था और फ़ांसीसी सेना ने धावा मार जर्मनो को पीछे ढकेलने का एक ज़बरदस्त प्रयत्न किया। सितम्बर, सन् १९१४ ई० के शुरू में, मार्न के सग्राम में, वह जर्मनों को करीब पचास मील पीछे हटाने में सफल हो गई। पैरिस बच गया और फ़ासीसियो तथा अग्रेजो को दम लेने का कुछ समय मिल गया।

---

[1] फ्रांस के दक्षिण में एक मशहूर बन्दरगाह।

जर्मनों ने इस रक्षा-पंक्ति को तोड़ कर आगे बढ़ने का एक और प्रयत्न किया और वे क़रीब-क़रीब सफल भी हो गये थे, लेकिन उन्हें रोक दिया गया। तब दोनों ओर की सेनाए खन्दकें खोद कर उनमें जम गईं और एक नई क़िस्म की लड़ाई, यानी खन्दक युद्ध-प्रणाली, शुरू हो गई। यह एक तरह की खिंच थी, और तीन वर्ष से ऊपर, और कुछ हद तक युद्ध की लगभग समाप्ति तक, पश्चिमी मोर्चे पर यह खन्दक युद्ध-प्रणाली जारी रही और बड़ी भारी-भारी सेनाए छछून्दरो की तरह जमीन खोद कर पडी रही और एक दूसरी को बेदम करने का प्रयत्न करती रही। इस मोर्चे पर जर्मन और फ्रांसीसी सेनाओ की सख्या शुरू से ही बीसियों लाख तक पहुच गई थी। इसी मोर्चे पर छोटी-सी ब्रिटिश सेना भी तेजी से बढ़ गई, यहाँ तक कि उसकी सख्या भी लाखो में गिनी जा सकती थी।

पूर्वी या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल थी। रूसी फौजों ने आस्ट्रिया की फ़ौजो को बार-बार हराया लेकिन खुद उन्हे जर्मनो ने हमेशा हराया। इस मोर्चे पर मरने वालो और घायलो की सख्या बहुत ही बडी थी। यह न समझना कि खन्दक युद्ध-प्रणाली के कारण पश्चिमी मोर्चे पर मरने वालों की संख्या कुछ कम थी। मनुष्यो के जीवन के साथ अजीब बेपरवाही का व्यवहार किया जाता था और खन्दकी मुकामों पर बार-बार हमलो में लाखों को मरने के लिए मौत के मुह में झोक दिया जाता था, और नतीजा कुछ नही निकलता था।

युद्ध के और भी अनेक रण-क्षेत्र थे। तुर्कों ने स्वेज नहर पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया पर उन्हे पीछे हटा दिया गया। जैसा कि मै पहले बतला चुका हूं, मिस्र को दिसम्बर, सन् १९१४ ई०, में ब्रिटिश सरक्षित घोषित कर दिया गया था। तुरन्त ही इग्लैण्ड ने वहा की नई धारा सभा को स्थगित कर दिया और जिन लोगो पर सन्देह था उन्हें जेलो मे भर दिया। राष्ट्रीयता-पोषक अखबार बन्द कर दिये गये और पाच से अधिक व्यक्तियो को एक जगह मिलने पर रोक लगा दी गई। वहा जो सेन्सर-प्रणाली[1] जारी की गई थी उसे लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने "बर्बरता पूर्ण क्रूर" बतलाया था। तमाम युद्ध काल मे यह देश वास्तव मे फौजी कानून के मातहत रक्खा गया।

इग्लैण्ड ने तुर्की पर, उसके जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य के अनेक कमजोर मुकामो में हमला कर दिया. इराक मे, और, कुछ दिन बाद, फ़िलिस्तीन मे और सीरिया में। अरब देश मे अग्रेजो ने अरब लोगो की राष्ट्रीय भावना से फायदा उठाया और रुपये तथा सामान की खुले हाथ रिश्वतो की सहायता से तुर्की के विरुद्ध अरब विद्रोह का सगठन किया। अरबस्तान मे अग्रेजो के एजेण्ट कर्नल टी० ई० लारेंस का इस विद्रोह में बहुत बडा हाथ था। बाद में इसने एक रहस्यपूर्ण व्यक्ति के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त कर ली और एशिया के अनेक आन्दोलनो मे परदे के पीछे से काम किया।

लेकिन तुर्की के मर्म-स्थान पर सीधा आक्रमण फरवरी, सन् १९१५ ई०, मे हुआ, जब ब्रिटिश जहाजी बेडे ने दर्रे दानियाल मे जबरदस्ती घुसने की और इस तरह कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा करने की कोशिश की। यदि वे इसमे सफल हो गये होते तो उन्होंने युद्ध मे न केवल तुर्की का ही अन्त कर दिया होता बल्कि पश्चिमी एशिया से सारे जर्मन प्रभाव को विलग कर दिया होता। लेकिन वे असफल हुए। तुर्कों ने बड़ी वीरता से मुक़ाबला किया और, ध्यान मे रखने की दिलचस्प बात यह है कि, कमाल पाशा का इसमें बहुत बडा हाथ था। क़रीब एक साल तक अग्रेज लोग गैलीपोली मे इस प्रयत्न को चलाते रहे, भारी क्षति उठाने के बाद वे वापस लौट गये।

मित्र-राष्ट्रो ने पश्चिमी और पूर्वी अफरीका में जर्मन उपनिवेशो पर भी आक्रमण किया। ये उपनिवेश जर्मनी से बिल्कुल विलग थे और सहायता प्राप्त नही कर सकते थे। धीरे-धीरे इन्होने घुटने टेक दिये। चीन में जर्मनी के रियायती अधिकार-क्षेत्र क्याउचाउ पर जापान ने आसानी से कब्जा कर लिया। वास्तव में जापान का वक्त बडे मजे में गुजर रहा था क्योकि दूर-पूर्व में कोई लडाई-झगडा नही था। इसलिए उसने चीन को डरा-धमका कर उससे सब तरह की रियायते और विशेषाधिकार ले लिये और इस तरह मौक़े का खूब लाभ उठाने की कोशिश की।

इटली कई महीनो तक युद्ध की गति को ध्यान से देखता रहा और यह पता लगाने की कोशिश करता

---

[1] Censorship—अख़बारों पर खबरें आदि छापने का प्रतिबन्ध।

रहा कि कौनसा पक्ष जीतेगा। निदान यह निश्चय करके कि जीत मित्र-राष्ट्रों को ही मिलेगी, उसने उनकी प्रस्तावित रिश्वतें स्वीकार कर ली और एक गुप्त करारनामा तय पाया गया। मई, सन् १९१५ ई० में इटली युद्ध में मित्र-राष्ट्रों के साथ बाकायदा शामिल हो गया। दो वर्ष तक इटली और आस्ट्रिया की फ़ौजें एक दूसरी को हराने की सख्त मेहनत करती रही पर कोई नतीजा नही निकला। तब जर्मन फ़ौजें आस्ट्रिया की फ़ौजों की मदद को आ पहुंची और उनके सामने इटली की फ़ौजें ढेर हो गई। आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना लगभग वेनिस तक पहुँच गई।

अक्तूबर, सन् १९१५ ई० में, बलगारिया जर्मनी के साथ आ मिला। इसके कुछ ही दिन बाद आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना ने बलगारिया के सहयोग से सर्बिया को बिल्कुल कुचल दिया। सर्बिया के शासक को अपनी बची-खुची सेना के साथ देश छोड कर भागना पड़ा और मित्र-राष्ट्रो के जहाजो में शरण लेनी पड़ी और सर्बिया जर्मन शासन के अधीन हो गया।

बलकानी युद्धो में अपने आचरण के बाद रूमानिया अवसरवादिता के लिए खास तौर पर मशहूर हो गया था। यह भी दो वर्ष तक महायुद्ध की गतिविधि को ताकता रहा और अन्त में अगस्त सन्, १९१६ ई० में, इसने अपना भाग्य मित्र-राष्ट्रो के साथ जोड दिया। इसकी सजा भी उसे बहुत जल्दी मिल गई। जर्मन सेना उस पर टूट पड़ी और उसने सारे मुकाबले को कुचल डाला। रूमानिया भी आस्ट्रिया-जर्मनी की फ़ौजो के अधिकार में आ गया।

इस प्रकार मध्य योरपीय शक्तियां कहलाने वाले जर्मनी और आस्ट्रिया का उत्तर-पूर्व में बैल्जियम पर और फ्रांस के कुछ भाग पर तथा पोलैण्ड, सर्बिया और रूमानिया पर कब्जा हो गया। युद्ध के अनेक छोटे-छोटे रण-क्षेत्रों में विजय इनके हाथ रही। लेकिन सघर्ष का मर्म-स्थल पश्चिमी मोर्चे पर और समुद्रो पर था और वहाँ इन्हें कोई सफलता नही मिल रही थी। उस मोर्चे पर प्रतिद्वन्दी सेनाए मृत्यु के आलिंगन मे गुथी हुई पडी थी। समुद्रो पर मित्र-राष्ट्रो का एकछत्र अधिकार था। युद्ध के प्रारम्भिक दिनो में कुछ जर्मन क्रूज़र इधर-उधर घूमते फिरते थे और मित्र-राष्ट्रो की जहाज़रानी में बाधा पहुचाते थे। इनमे से एक मशहूर जहाज़ ऐमडन था जिसने मद्रास तक पर बमबारी की थी। लेकिन यह तो एक तुच्छ नोक-झोक थी जिससे इस वास्तविकता मे कोई फ़र्क़ नही पडता था कि समुद्री-रास्तो पर मित्र-राष्ट्रो का अधिकार था। और इस अधिकार की सहायता से उन्होने मध्य-योरपीय शक्तियों को बाहर से मिलने वाली तमाम भोजन सामग्री और अन्य सामान से वचित करने का प्रयत्न किया। जर्मनी और आस्ट्रिया की यह नाकाबन्दी उनके लिए भयंकर सकट हो गई क्योंकि भोजन सामग्री की बहुत कमी पड़ गई और सारी आबादी को भूखो मरने की नौबत आ गई।

उधर जर्मनी ने पनडुब्बियो के द्वारा मित्र-राष्ट्रो के जहाजो को डुबोना शुरू कर दिया। यह पनडुब्बी युद्ध-प्रणाली इतनी कारगर हुई कि इग्लैण्ड पहुचने वाली भोजन सामग्री कम पड गई और अकाल का खतरा पैदा हो गया। मई, सन् १९१५ ई०, में एक जर्मन पनडुब्बी ने अटलाण्टिक महासागर में चलने वाले बडे यात्री-जहाज 'लुसिटैनिया' को डुबो दिया और इसमें बहुत लोग डूब गये। इसमें अनेक अमरीकी यात्री भी डूब मरे और इसके कारण अमरीका में बड़ा रोष फैला।

जर्मनी ने हवा के रास्ते भी इग्लैण्ड पर आक्रमण किया। विशाल-काय ज़ैपलिन हवाई-जहाज चाँदनी रातों में लन्दन पर और गोला-बारूद के कारखानों वाले स्थानों पर बम गिराने के लिए आते थे। बाद में बम गिराने का यह काम वायुयान करने लगे; और वायुयानो की भरभराहट का सुनाई देना, हवा-मार तोपों का छूटना, और बचाव के लिए लोगों का तहखानों में और ज़मीदोज़ मुकामों में दौडना, ये सब मामूली बाते हो गई। शहरी आबादियो पर इस तरह बम गिराये जाने पर इग्लैण्ड के लोगों को बहुत रोष हुआ। उनका रोष वाजिब भी था, क्योंकि यह बडी भयानक चीज़ है। लेकिन जब अग्रेज़ी वायुयान भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में या इराक में बम गिराते हैं; और खासकर उन शैतानी आविष्कारों "देर से फटने वाले बमो" को गिराते है, तो इंग्लैण्ड में ज़रा भी रोष नही पैदा होता। यह पुलिस कार्रवाई कहलाती है, और तथाकथित शान्ति काल तक में भी की जाती है।

बस, यो महीने दर महीने युद्ध चलता रहा और उसमे मनुष्यो के प्राण इस तरह होम होने लगे जैसे दावानल में टीड़ी-दल भस्म होते हैं। और ज्यों-ज्यों यह आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों अधिक विनाशकारी और

बर्बरतापूर्ण होता गया। जर्मनों ने जहरीली गैस चलाई और शीघ्र ही दोनों पक्ष इसका उपयोग करने लगे। बमबारी के लिए वायुयानो का अधिक उपयोग होने लगा और फिर, सब से पहले ब्रिटिश पक्ष की ओर से, "टैंको" का उपयोग शुरू हुआ। ये विशालकाय यान्त्रिक दानव होते हैं जो कीडों की तरह रेंगते हुए हर चीज पर चढ जाते है। मोर्चों पर लाखो आदमी मौत के मुह में चले गये और उनके पीछे उनके वतनो में स्त्रियाँ और बच्चे भुखमरी और वस्तुओं के अभाव की यातनाए सहने लगे। नाकेबन्दी के कारण खासकर जर्मनी और आस्ट्रिया में, भयंकर भुखमरी फैल गई। यह सहनशक्ति की परीक्षा बन गई। इस कठिन परीक्षा में कौनसा पक्ष दूसरे से अधिक समय तक टिका रहेगा? क्या दोनो में से कोई सेना दूसरी को थका मारेगी? क्या जर्मनी की नाकाबन्दी उसकी हिम्मत तोड़ देगी? या क्या जर्मनों का पनडुब्बी हमला इग्लैण्ड को भूखा मार कर उसी हिम्मत और औसान को तोड देगा। हरेक देश के पीछे बलिदान और कष्ट के उदाहरणो का बड़ा भारी लेखा था। लोग ताज्जुब करते थे कि क्या यह सब भयकर बलिदान और कष्ट फिजूल के लिए हुआ था? क्या हम अपने शहीदों को भूल जायं और शत्रु के आगे घुटने टेक दें? युद्ध-पूर्व के दिन मानो दूर अतीत में चले गये थे, यहाँ तक कि लोग युद्ध के कारणो को भी भूल गये थे; नर-नारियो के दिमागो को टोंचने वाली केवल एक चीज रह गई थी—प्रतिशोध और विजय की उत्कट इच्छा।

उन शहीदो की पुकार भयकर चीज होती है जो अपने प्राण-प्रिय उद्देश्य के लिए अपने जीवन निछावर कर देते हैं। ऐसा कौन जिन्दा-दिल नर या नारी है जो इसके सामने खडा रह सके? युद्ध के इन अन्तिम वर्षों मे चारो ओर अधेरा छा रहा था और युद्ध-रत देशो के हरेक घर में रज था, और एक थकावट थी और लोगो की आँखो का परदा हट गया था; लेकिन ज्योति को ऊँची रखने के सिवा कोई क्या कर सकता था? एक ब्रिटिश अफसर मेजर मैकराय की लिखित इस हृदय द्रावक कविता को पढो और कल्पना करने की कोशिश करो कि उसकी जाति के जिन नर-नारियो ने इसे युद्ध के उन अधकारमय और उदासीनताभरे दिनो मे पढा होगा उनके दिलो पर कैसा प्रभाव पडा होगा। और यह भी याद रक्खो कि इसी प्रकार की कविताए विभिन्न देशो मे और अनेक भाषाओ में लिखी गई थी। इस कविता का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है '

हम है शहीद।
हुए कुछ दिन हम जिन्दा थे,
अनुभव उषा का थे करते,
औ' देखते लाली सूर्यास्त की,
करते थे प्रेम औ' प्रेम हम पाते थे,
और अब हम पड़े
फ्लैन्दर्ज़ रणक्षेत्र में।

शत्रुके साथ उस झगडे हमारे को
लेना उठा तुम;
लो ज्योति हम फेकते है
कपित करों से तुम्हे;
ऊँची उठाये रखना काम है तुम्हारा इसे।
यदि तुम करोगे दग़ा
हम मरने वालो से,
शान्ति नही हमको मिलेगी,
फिर चाहे उगें पोस्त के फूल
फ्लैन्दर्ज़ रणक्षेत्र में।

सन् १९१६ ई० के अन्तिम दिनों में मित्र-राष्ट्रों का पलडा भारी मालूम पड़ने लगा। उनके नये टैन्को ने पश्चिमी मोर्चे पर पहल उनके हाथ में दे दी थी; इंग्लैण्ड पर छापे मारने वाले जैपलिन हवा-जहाज़ों पर आफते आ रही थी; जर्मन पनडुब्बियों के बावजूद तटस्थ जहाज़ों पर काफ़ी भोजन सामग्री इग्लैण्ड पहुँच पा रही थी। मई, सन् १९१६ ई०, में उत्तरी सागर में एक जल सेना संग्राम (जटलैण्ड का सग्राम) हुआ

जिसमें कुल मिला कर अंग्रेज़ों की सफलता रही। इसी बीच जर्मनी की नाकेबन्दी से आस्ट्रिया-जर्मनी के लोगो को भुखमरी के आसार नज़र आने लगे थे। समय मानो मध्य-योरपीय शक्तियो के खिलाफ़ था, इसलिए चट-पट कार्रवाई की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। जर्मनी ने तो मित्र-राष्ट्रो को टटोलने के लिए सुलह के कुछ इशारे भी भेजे लेकिन उन्होने इनको बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। मित्र-राष्ट्रों की सरकारें विभिन्न देशो के आपसी बटवारे के लिए गुप्त-सन्धियो द्वारा इतनी ज्यादा बंधी हुई थी कि वे पूरी विजय से कम किसी भी चीज़ से सन्तुष्ट नही हो सकती थी। संयुक्तराज्य अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने भी सुलह कराने के कुछ असफल प्रयत्न किये थे।

इसपर जर्मन नेताओं ने अपना पनडुब्बी युद्ध घमसान बनाने का निश्चय किया ताकि इंग्लैण्ड भूखा मर कर घुटने टेक दे। जनवरी, सन् १९१७ ई०, में उन्होंने ऐलान किया कि वे कुछ समुद्रों में तटस्थ जहाज़ो को भी डुबो देगे। इसका उद्देश्य यह था कि ये तटस्थ जहाज़ इंग्लैण्ड को खाद्य-सामग्री न ले जा सकें। इस घोषणा ने अमरीका को बहुत नाराज कर दिया, वह अपने जहाज़ो का इस प्रकार डुबोया जाना बर्दाश्त नही कर सकता था। इससे उसका युद्ध मे शामिल होना अनिवार्य हो गया। वास्तव में जब जर्मन सरकार ने बिना रोक-टोक सब जहाज़ो को डुबोने के बारे मे निश्चय किया तो उसे यह बात मालूम रही होगी। शायद उन्होंने यह महसूस किया हो कि उनके लिए कोई चारा बाकी नही रहा और यह ख़तरा उठाना ज़रूरी था। या उन्होने यह समझा हो कि वैसे भी अमरीकी साहूकार मित्र-राष्ट्रो को काफी मदद दे रहे थे। जो भी हो, सयुक्तराज्य अमरीका ने अप्रैल, सन् १९१७ ई०, में युद्ध की घोषणा कर दी। ऐसे मौके पर, जब कि अन्य सब राष्ट्र थके-मादे हो रहे थे, अमरीका के, अपने अपरिमित साधनों और अपनी ताज़ा हालत को लेकर, युद्ध में उतरने से यह निश्चय हो गया कि मध्य-योरपीय शक्तिया पराजित कर दी जायगी।

लेकिन अमरीका के युद्ध में शामिल होने से पहले ही अत्यन्त महत्वपूर्ण एक और घटना घट चुकी थी। १५ मार्च, सन् १९१७ ई०, को प्रथम रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप ज़ार को गद्दी छोडनी पड गई थी। इस क्रान्ति के बारे में मै तुम्हे अलग लिखूगा। अभी तो मैं तुम्हे यह बतलाना चाहता हूँ कि इस क्रान्ति के कारण युद्ध की गति-विधि मे ज़बरदस्त फ़र्क पड गया। यह स्पष्ट हो गया कि रूस अब अगर चाहता तो भी जर्मन शक्तियो के विरुद्ध ज्यादा नही लड सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि जर्मनी पूर्वी मोर्चे की चिन्ता से बिल्कुल बरी हो गया। अब वह अपनी तमाम या अधिकाश पूर्वी सेनाओ को वहाँ से हटा कर पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हे फ्रासीसियो और अग्रेज़ो पर धावा बोलने के काम में ला सकता था। अकस्मात ही स्थिति जर्मनी के अनुकूल बन गई। अगर रूसी क्रान्ति होने के छै या सात सप्ताह पहले उसे यह बात मालूम हो गई होती तो कितना फ़र्क हो गया होता। इसका अर्थ शायद यह होता कि वह अपने पनडुब्बी युद्ध को ज़ोरदार न बनाता और शायद अमरीका तटस्थ रहता। रूस के युद्ध से बाहर निकल जाने और अमरीका के तटस्थ रहने से यह बहुत अधिक सम्भव था कि जर्मनी, अग्रेज़ी और फ्रासीसी सेनाओं को कुचल डालता। लेकिन इस हालत मे भी पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी का बल बढ़ गया और उधर जर्मन पनडुब्बियों द्वारा मित्र-राष्ट्रो के तथा तटस्थ देशो के जहाज़ो का ज़बरदस्त विनाश होने लगा।

रूसी क्रान्ति ने मानो जर्मनी को सहायता पहुँचाई। लेकिन इस पर भी यह अन्दरूनी कमज़ोरी का एक बडा भारी कारण बन गई। पहली क्रान्ति को आठ महीने भी न बीते थे कि दूसरी क्रान्ति हो गई जिसके फलस्वरूप सोवियतो और बोलशेविको के हाथ में सत्ता आ गई जिनका नारा था शान्ति। उन्होंने तमाम युद्ध-रत देशो के मजदूरो और सिपाहियो को पुकारा और शान्ति के लिए अपील की। उन्होंने बतलाया कि यह पूजीपतियो का युद्ध था और यह कि मजदूरो को चाहिए कि वे साम्राज्यवादी ध्येयो की पूर्ति के लिए अपने-आप को तोपो का निवाला न बनने दें। इनमे से कुछ आवाज़ें मोर्चों पर लडने वाले अन्य राष्ट्रों के सिपाहियो के कानो में पहुँची और इन्होने उनके दिलो पर बहुत असर किया। फ्रासीसी सेना में बग़ावतें हुईं जिन्हें अधिकारी लोग किसी तरह सिर्फ दबा ही पाये। जर्मन सिपाहियो के दिलों पर तो और भी ज्यादा असर हुआ क्योकि कितनी ही पलटनो ने तो क्रान्ति के बाद रूसी सेना से सचमुच भाईचारा स्थापित कर लिया था। जब इन पलटनो की बदली पश्चिमी मोर्चे पर की गई, तो वे यह संदेश अपने साथ ले गये और इसे अन्य पलटनो में फैलाने लगे। जर्मनी युद्ध से ऊब चुका था और उसकी हिम्मत बिल्कुल टूट गई थी,

इसलिए रूस के य बीज ऐसी ज़मीन पर पड़े जो उनके लिए पहले ही तैयार थी। इस तरह रूसी क्रान्ति ने अन्दरूनी तौर पर जर्मनी को कमज़ोर कर दिया।

लेकिन जर्मन सैनिक अधिकारी इन अशुभ-लक्षणों को देख ही नही रहे थे और मार्च, सन् १९१८ ई०, में उन्होंने सोवियत रूस को एक दबा मारने वाली और अपमानपूर्ण सन्धि स्वीकारने को विवश कर दिया। सोवियतों को इसे इसलिए स्वीकारना पड़ा कि उनके सामने दूसरा कोई चारा नहीं था और वे किसी भी क़ीमत पर सुलह चाहते थे। मार्च, सन् १९१८ ई०, में ही जर्मनो ने पश्चिमी मोर्चे पर अपना अन्तिम ज़बरदस्त हमला किया। जर्मन लोग अंग्रेज़ी-फ्रांसीसी रक्षा-पंक्ति को तोड़ कर, और इस धावे में सेनाओं को नष्ट करते हुए, आगे बढ़ गये और फिर उसी मार्न नदी तक जा पहुँचे जहाँ से साढ़े तीन वर्ष पहले उन्हें पीछे ढकेल दिया गया था। यह भगीरथ प्रयत्न था लेकिन यह आखरी था और जर्मनी का सारा बल खतम हो गया। इसी दरमियान अटलाण्टिक महासागर पार करके अमरीकी सेनाए आ गई और पिछले कटु अनुभव से लाभ उठा कर अब पश्चिमी मोर्चे पर सारे मित्र-राष्ट्रों की सेनाएं—ब्रिटिश, अमरीकी, फ्रांसीसी—एक सर्वोपरि सेनापति के अधीन रख दी गई ताकि सबके बीच पूरा-पूरा सहयोग हो सके और मिलकर प्रयत्न किया जा सके। पश्चिम में सारी मित्र-राष्ट्रीय सेना का सर्वोपरि सेनापति फ़ास के मार्शल फॉश को बनाया गया। सन् १९१८ ई० के मध्य तक निश्चय रूप से हवा का रुख बदल गया; पहल और हमला-आवरी दोनों मित्र-राष्ट्रो के हाथ में आ गई और ये जर्मनो को पीछे ढकेलते हुए आगे बढ़ने लगे। अक्तूबर तक युद्ध का अन्त नज़दीक नज़र आने लगा और विराम-सन्धि की चर्चा होने लगी।

४ नवम्बर को कील में जर्मन नौ-सेना मे बगावत हो गई और पाँच दिन बाद बर्लिन में जर्मन प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी गई। उसी दिन, यानी ९ नवम्बर को, क़ैसर विल्हैल्म द्वितीय अशोभनीय और बेग़ैरत ढग से जर्मनी छोड कर हालैण्ड भाग गया और इसके साथ ही हायनज़ॉलर्न घराने का अन्त हो गया। चीन के मचुओ की तरह "वे शेर की दहाड़ की तरह दाखिल हुए थे और साँप की पूछ की तरह ग़ायब हो गये।"

११ नवम्बर, सन् १९१८ ई०, को विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये और युद्ध का अन्त हो गया। इस विराम-सन्धि का आधार वे "चौदह शर्तें" थी जो अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने रची थी। ये शर्तें इन बातो को ध्यान मे रख कर रची गई थी : सम्बन्धित छोटे-छोटे राष्ट्रो के आत्म-निर्णय का सिद्धान्त, निरस्त्रीकरण, गुप्त कूटनीति से बचना, शक्तियों द्वारा रूस की सहायता, और राष्ट्र संघ। आगे चल कर हम देखेंगे कि विजेताओ ने इन चौदह शर्तों मे से अधिकांश को किस तरह आसानी से ताक में उठा कर रख दिया।

युद्ध समाप्त हो गया। लेकिन इग्लैण्ड के जहाज़ी बेडे ने जर्मनी की नाकेबन्दी जारी रक्खी और भूखे मरते जर्मन स्त्रियो और बच्चो के लिए भोजन सामग्री नही पहुँचने दी गई। छोटे-छोटे बच्चों तक को दड देने की घृणा और इच्छा के इस अद्भुत प्रदर्शन का प्रतिष्ठित अंग्रेज़ी राज्यनीतिज्ञों तथा जनसेवको ने, बड़े-बड़े अखबारो ने, और यहाँ तक कि तथाकथित उदार-दली पत्रो ने भी, समर्थन किया। देखा जाय तो उस समय इग्लैण्ड का प्रधान मंत्री लॉयड जॉर्ज उदार-दली था। युद्ध के सवा चार वर्षों का लेखा उन्माद-भरी पाशविकताओ और नृशसताओ से भरा है। लेकिन विराम-सन्धि के बाद जर्मनी की नाकेबन्दी का जारी रक्खा जाना ठेठ हृदय-हीन पाशविकता में शायद सबसे बढ़ा-चढ़ा है। युद्ध समाप्त हो गया था लेकिन फिर भी एक पूरा राष्ट्र भूखो मर रहा था और उसके बच्चे भूख की भयकर यातनाए उठा रहे थे और भोजन सामग्री जान बूझ कर और ज़बरदस्ती उन्हे नही पहुँचने दी जाती थी। युद्ध हमारे मस्तिष्कों को कितना विकृत कर देता है और उन्हे उन्मादपूर्ण विद्वेष से कितना भर देता है! जर्मनी के बूढ़े चैन्सलर बैथमान हॉलवैग ने कहा था : "हमारी सन्तानो पर और हमारी सन्तानो की सन्तानों पर उस नाकेबन्दी का असर रहेगा जो इग्लैण्ड ने ज़बरदस्ती हमारे विरुद्ध की थी और जिसकी चरम क्रूरता पैशाचिकता से किसी तरह कम नही है।"

एक तरफ़ तो बड़े-बडे राजनीतिज्ञ और उच्चाधिकारी इस नाकेबन्दी का समर्थन कर रहे थे, लेकिन दूसरी तरफ़ बेचारा अंग्रेज़ सिपाही, जिसने लड़ाई की मुसीबते झेली थी, इस दृश्य को बर्दाश्त नहीं कर सकता था। विराम-सन्धि के बाद राइन प्रदेश के कोलोन नगर में एक ब्रिटिश सेना डाल दी गई थी। इस सेना का कमान करने वाले अंग्रेज़ सेनापति को एक तार प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज को भेजना पड़ा था जिसमें बतलाया गया था कि "जर्मन स्त्रियों और बच्चों की यातनाओ के दृश्य का ब्रिटिश सेना पर कितना बुरा प्रभाव पड़

रहा था"। विराम-सन्धि के बाद सात महीने से ऊपर इंग्लैण्ड ने जर्मनी की यह नाकाबन्दी जारी रक्खी।

युद्ध के लम्बे वर्षों ने युद्ध-संलग्न देशों को पशु बना दिया था। इन्होंने बहुत से लोगों की नैतिक भावना नष्ट कर दी थी और बहुत-से होश-हवास वाले व्यक्तियों को आधा-बदमाश बना दिया था। लोग हिंसा के और सच्ची बातों की जानबूझ कर तोड़-मरोड़ के आदी हो गये थे, और उनके हृदयों में विद्वेष और प्रतिशोध की भावना भर गई थी।

इस युद्ध का गोशवारा क्या था ? आज तक कोई नही जानता; अभी तक तो वह तैयार ही किया जा रहा है ! मैं यहाँ कुछ आंकड़े दूंगा जिनसे तुम यह समझ सको कि आधुनिक युद्ध का क्या अर्थ होता है।

युद्ध में मृतकों और आहतों की कुल संख्या का हिसाब नीचे लिखे मुताबिक़ लगाया गया है :

ज्ञात मृतक सिपाही	१,००,००,०००
मृतक माने गये सिपाही	३०,००,०००
मृतक नागरिक	१,३०,००,०००
घायल	२,००,००,०००
बन्दी	३०,००,०००
युद्ध अनाथ	९०,००,०००
युद्ध विधवाए	५०,००,०००
शरणार्थी	१,००,००,०००

इन हैरत भरे आंकड़ों को देखो और इनके नीचे छिपी हुई मानव यातना की कल्पना करने का प्रयत्न करो। इनका जोड लगाओ : केवल मृतकों और घायलों की ही संख्या ४,६०,००,००० होती है !

और इसमे नकद कितना खर्च हुआ ? इसका हिसाब अभी तक लगाया जा रहा है ! अमरीका-वाले मित्र-राष्ट्रीय पक्ष के कुल खर्च को ४०,९९,९६,००,००० पौंड (करीब पौने छै खरब रुपये) कूतते हैं और जर्मन पक्ष के खर्च को १५,१२,२३,००,००० पौंड (करीब दो खरब रुपये)। कुल मीज़ान छप्पन अरब पौंड से ऊपर ! यह आंकड़े हमारी समझ में पूरी तरह नही आ सकते क्योंकि ये हमारे दैनिक जीवन के अनुपात से बिल्कुल परे है। ये मानो हमे खगोल-विज्ञान के आकडों की याद दिलाते हैं, जैसे सूर्य की या तारो की दूरी। इसमे आश्चर्य की कोई बात नही कि पुराने युद्ध-प्रवृत्त राष्ट्र, विजेता भी और पराजित भी, युद्ध-व्यय के कारण पैदा होने वाले नतीजो में अभी तक बुरी तरह फसे हुए हैं।

"युद्धो का अन्त करने के लिए युद्ध", और "ससार में लोकतन्त्र को निरापद बनाने के लिए युद्ध", और "छोटे-छोटे राष्ट्रो की आज़ादी कायम रखने के लिए युद्ध" और "आत्म-निर्णय" के लिए युद्ध, और व्यापक रूप मे आज़ादी और उच्च आदर्शों के लिए युद्ध, समाप्त हो गया। और इसमें विजयलक्ष्मी इग्लैण्ड, फ़्रांस, अमरीका, इटली और अनेक छोटे-छोटे पिछलग्गुओ को प्राप्त हुई (रूस अलबत्ता इनमें शामिल नही था)। इन उच्च और श्रेष्ठ आदर्शों को क्रियात्मक रूप कैसे दिया गया, यह हम आगे चलकर देखेंगे। अभी तो हम अंग्रेज़ कवि साउदे की कविता की उन पंक्तियो को याद करलें जो उसने एक अन्य और पुरानी विजय के बारे में लिखी थी। इनका हिन्दी अनुवाद यह है :

"और सब ही ने सराहा ड्यूक को
जिसने जीती थी लडाई यह बड़ी।"
"पर हुआ क्या लाभ इससे अन्त में ?"
नन्हें पीटर किन ने बस पूछा यही।
बोला वह—"यह तो बता सकता न मै,
पर विजय वह बहुत ही मशहूर थी।"

: १५० :

रूस में ज़ारशाही की आख़री सांस

७ अप्रैल, १९३३

महायुद्ध की गति के अपने वर्णन में मैंने रूसी क्रान्ति का और युद्ध पर उसके असर का जिक्र किया था। युद्ध पर इस असर के अलावा यह क्रान्ति खुद भी एक जबरदस्त घटना थी जो ससार के इतिहास मे बेजोड़ है। हालांकि अपने ढग की यह पहली ही क्रान्ति थी, मगर अब यह बहुत दिनो तक अपने नमूने की अकेली चीज़ नही रह सकती क्योंकि यह अन्य देशों के लिए एक चुनौती बन गई है और संसार भर के क्रान्तिकारियों के लिए उदाहरण बन गई है। इसलिए यह बारीकी से अध्ययन करने योग्य है। निस्सन्देह यह युद्ध का सबसे बड़ा परिणाम थी, फिर भी युद्ध मे कूदने वाली किसी भी सरकार या राजनीतिज्ञ को न तो इसका जरा भी गुमान था और न वे इसे जरा भी चाहते थे। या यह कहना ज्यादा सही होगा कि इसका जन्म रूस की उन तत्कालीन ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियो से हुआ जो युद्ध-जनित विशाल जन-हानि और कष्टो के कारण तेज़ी से चरम सीमा पर पहुँच गई थी और जिनका लैनिन सरीखे उत्कृष्ट दिमाग वाले और क्रान्ति के ऋषि ने लाभ उठाया।

असल मे तो सन् १९१७ ई० में रूस में दो क्रान्तियाँ हुईं; एक मार्च में और दूसरी नवम्बर में। या इस पूरे काल को क्रान्ति की एक धारावाही प्रक्रिया माना जा सकता है जिसमे दो बार बाढ आई।

रूस के बारे मे अपने पिछले पत्र मे मैंने सन् १९०५ ई० की क्रान्ति का जिक्र किया है जो इसी प्रकार युद्ध और पराजय के समय उठी थी। यह पाशविकता से दबा दी गई थी और ज़ार की हुकूमत सब उदारवादी विचार वालो का खुफिया विभाग द्वारा पता लगा कर कुचलती हुई अबाध निरंकुशता के अपने निश्चित मार्ग पर चलती रही। मार्क्सवादियो को, और खास कर बोलशेविको को, कुचल दिया गया और उनके सब प्रधान नर और नारियाँ या तो साइबेरिया की ताजीरी बस्तियो में थे या विदेशो में निर्वासित थे। लेकिन विदेशवासी इन मुट्ठीभर लोगो ने भी लेनिन के नेतृत्व में अपना प्रचार और अध्ययन जारी रक्खा। ये सब के सब पक्के मार्क्सवादी थे, लेकिन मार्क्स का सिद्धान्त इग्लैण्ड या जर्मनी जैसे अत्यन्त उद्योग-प्रधान देशो के लिए सोच कर निकाला गया था। रूस अभी तक मध्यकालीन और कृषि-प्रधान था; उसके बडे शहरो मे उद्योगो का हाशिया मात्र था। इसलिए लेनिन ने मार्क्सवाद की बुनियादी बातो को इसी तरह के रूस के अनुकूल ढालना शुरू किया। इस विषय पर उसने बहुत अधिक लिखा। रूसी निर्वासितो मे अनेक तर्क-वितर्क हुआ करते थे और इस प्रकार वे अपने-आप को क्रान्ति के नियमो मे प्रवीण बनाते थे। लेनिन यह मानता था कि कोई काम हो, वह विशेषज्ञो और प्रवीण लोगो के द्वारा किया जाना चाहिए, केवल जोशीले दीवानो द्वारा नही। अगर क्रान्ति का प्रयत्न किया जाने वाला था, तो लेनिन की राय थी कि लोगो को इस काम के लिए पूरी तरह तैयार किया जाना भी जरूरी था, ताकि जब कार्रवाई का समय आवे तो वे साफ तौर से सोच सके कि उन्हे क्या करना है। इसलिए, सन् १९०५ ई० के दमन के बाद के अंधियारे वर्षों का लेनिन और उसके साथियो ने अपने-आप को भावी कार्रवाई के लिए तैयार करने में उपयोग किया।

सन् १९१४ ई० में ही रूस का शहरी मजदूर वर्ग जागृत होने लगा था और दुबारा क्रान्तिकारी बन रहा था। बहुत सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। तब युद्ध शुरू हो गया और इसने लोगो का सारा ध्यान खीच लिया और सबसे ज्यादा प्रगतिशील मजदूर सिपाही बना कर मोर्चों पर भेज दिये गये। लेनिन और उसकी जमात ने शुरू से ही युद्ध का विरोध किया (अधिकतर नेता रूस से बाहर निर्वासित थे)। अन्य देशों के समाजवादियो की तरह वे इसकी धार में बह नही गये। उन्होने इसे पूजीपतियो का युद्ध बतलाया जिससे मजदूर वर्ग का कोई सरोकार नही था; अगर था तो केवल उसी हद तक जहाँ तक कि वे अपनी आजादी प्राप्त करने के लिए उसका फ़ायदा उठा सकें।

रण-क्षेत्र में रूसी सेना को भयकर क्षति उठानी पड़ी; शायद युद्ध में उलझी हुई सब सेनाओ से अधिक। एक तो वैसे ही यह माना जाता है कि सैनिक लोगों में आम तौर पर चतुरता का प्राकृतिक गुण बहुत कम

होता है, तिस पर रूसी सेनापति तो अजीब तौर पर अयोग्य थे। रूसी सिपाही, जिनके पास न तो अच्छे और पूरे हथियार थे, और अक्सर जिन्हें न तो गोली-बारूद मिलती थी और न पीछे से सहायता, लाखों की संख्या-में शत्रुदल के आगे धकेल दिये जाते थे और इस प्रकार मौत के मुह में झोंक दिये जाते थे। इसी बीच पैट्रोग्राड में, जो अब सेण्टपीटर्सबर्ग का नाम था, तथा अन्य बड़े शहरों में, जबरदस्त मुनाफाखोरी चल रही थी और सट्टेबाज लोग मालामाल बन रहे थे। ये "देश भक्त" सट्टेबाज और मुनाफ़ाखोर इसीलिए ज़ोर ज़ोर से माग करते थे कि युद्ध अन्त तक लड़ा जाय। इसमें सन्देह नही कि अगर युद्ध सदा चलता रहता तो इनके मन के चीते हो जाते! लेकिन सिपाही और मजदूर और किसान वर्ग (जो सिपाही देता था) पस्त और भूखे और असंतोषभरे हो गये थे।

ज़ार निकोलस बड़ा मूर्ख आदमी था जो अपनी पत्नी ज़ारीना के बहुत ज्यादा असर में था और यह भी उतनी ही मूर्ख पर उससे ज्यादा दृढ़ थी। इन दोनो ने अपने चारो ओर लफंगों और मूर्खों को जमा कर रक्खा था और किसी की मजाल नही थी कि इनकी आलोचना करे। मामला यहाँ तक पहुँचा कि ग्रेगरी रासपुटिन नामक एक घृणित गुंडा ज़ारीना का मुख्य कृपापात्र बन गया और ज़ारीना के ज़रिये से ज़ार का भी (रासपुटिन का अर्थ है "गन्दा कुत्ता")। रासपुटिन एक ग़रीब किसान था जो घोड़ों की चोरी के मामले में झमेले में पड़ गया था। इसने पवित्रता का बाना धारण करने का और फकीरी का लाभदायक पेशा इख़तियार करने का निश्चय किया। भारत की तरह रूस में भी पैसा कमाने का यह आसान तरीका था। उसने अपने बाल बढ़ाने शुरू किये और बालों के साथ उसकी प्रसिद्ध भी बढ़ी, यहाँ तक कि वह शाही दरबार में आ पहुँची। ज़ार और ज़ारीना का इकलौता पुत्र रोग के कारण कुछ अशक्त था और रासपुटिन ने किसी तरह ज़ारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह उसे चगा कर देगा। बस, उसकी क़िस्मत खुल गई और कुछ ही समय में वह ज़ार और ज़ारीना पर हावी हो गया और ऊँची से ऊँची नियुक्तियाँ उसी की सलाह पर की जाने लगी। उसका जीवन बड़ा ही दुराचारपूर्ण था और वह भारी-भारी रिश्वतें लेता था. लेकिन फिर भी उसने वर्षों तक अपना प्रभुत्व जमाये रक्खा।

इससे सबके दिलो मे नफ़रत पैदा हो गई। यहाँ तक कि उदारदली और अमीरवर्ग के लोग भी बड़-बड़ाने लगे और राजमहल की क्रान्ति की—यानी ज़ार को जबरदस्ती बदल डालने की—चर्चा चलने लगी। इसी बीच ज़ार निकोलस ने अपने-आप को अपनी सेना का प्रधान सेनापति बना लिया था और वह हर चीज़ को चौपट कर रहा था। सन् १९१६ ई० के अन्त से कुछ दिन पहले ज़ार के कुटुम्ब के एक व्यक्ति ने रास-पुटिन की हत्या कर डाली। उसे भोजन के लिए निमन्त्रित किया गया और कहा गया कि अपने गोली मार ले, लेकिन जब उसने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे गोली मार दी गई। इस की हत्या का लोगों ने एक बला से छुटकारा पाने के रूप मे स्वागत किया, लेकिन इसके परिणाम-स्वरूप ज़ार की ख़ुफ़िया पुलिस का अत्याचार और भी बढ़ गया।

नाज़ुक घड़ी पैदा होने लगी। अन्न का अकाल पड़ गया और पेट्रोग्राड मे भोजन के लिए दगे हो गये। और फिर, मार्च के प्रारम्भ में, मज़दूरो की घोर पीड़ा में से अप्रत्याशित और अपने-आप क्रान्ति पैदा हो गई। मार्च की ८ तारीख से लगा कर १२ तारीख तक के पाच दिनों मे इस क्रान्ति की शानदार विजय हो गई। यह कोई राजमहल का मामला नही था; न यह कोई सगठित क्रान्ति ही थी जिसकी योजना चोटी के नेताओ ने होशियारी से बनाई हो। यह तो मानो नीचे से उठी थी, सबसे अधिक पददलित मज़दूरो में से उठी थी, और बिना किसी ज़ाहिरा योजना या नेतृत्व के अधे की तरह टटोलती हुई आगे बढ़ी थी। स्थानीय बोलशेविको समेत विभिन्न क्रान्तिकारी दल भौचक रह गये और यह नही सोच सके कि किस तरह का नेतृत्व दे। जनता ने खुद ही पहले क़दम उठाया और जिस घड़ी उन्होने पेट्रोग्राड में पडे हुए सिपाहियों को अपनी ओर मिला लिया, उन्हे विजय प्राप्त हो गई। इन क्रान्तिकारी जनसमूहो को विनाश पर उतारू अव्यवस्थित भीड़ समझने की ग़लती नही करनी चाहिए, जैसे कि पहले अक्सर किसानो के दगे हुए थे। मार्च की इस क्रान्ति के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि इसमें, इतिहास में पहली बार, कारखानो के मज़दूर वर्ग ने, जिसे "सर्वहारा वर्ग" कहा गया है, नेतृत्व किया था। और यद्यपि इन मज़दूरों के साथ उस समय कोई ऊँचे दर्जे के नेता नही थे (लेनिन और अन्य नेता या तो क़ैदी थे या निर्वासित), फिर भी इन में लेनिन की जमात द्वारा तैयार किये हुए कितने ही अज्ञात कार्यकर्त्ता थे। बीसियों कारखानों के इन अज्ञात मज़दूरो ने सारे

आन्दोलन को सहारा लगा कर बल दिया और उसे निश्चित मार्गों में चलाया। यहाँ हम औद्योगिक जन-समूहों का वह रूप देखते है जो असली कार्रवाई में सामने आया, और ऐसा अन्यत्र कही भी नही हुआ। रूस तो बहुत ही अधिक कृषि-प्रधान देश था और यह कृषि-क्रिया भी मध्यकालीन ढंग पर चलाई जाती थी। समग्र रूप से देश में आधुनिक उद्योग नहीं के बराबर था; जो थोडा बहुत था वह भी कुछेक नगरों में केन्द्रित था। इन कारखानों में से अनेक पेट्रोग्राड में थे, इसलिए यहाँ औद्योगिक मजदूरो की विशाल जन-संख्या थी। मार्च की क्रान्ति पैट्रोग्राड के इन मजदूरों का और इस नगर में पड़ी हुई पलटनों का काम थी।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई देती है। नारियाँ नेतृत्व करती है और कपडे के कारखानों की मजदूरनियाँ बाहर निकल आती है और बाजारों में प्रदर्शन करती हैं। दूसरे दिन हडतालो का ज़ोर बढ़ जाता है; अनेक मजदूर भी बाहर निकल आते हैं; रोटी की पुकार मचाई जाती है और "निरंकुशता का नाश हो" के नारे लगाये जाते हैं। अधिकारी लोग प्रदर्शनकारी मजदूरो को कुचलने के लिए कज्ज़ाक़ों को भेजते है जो पहले भी सदा जारशाही के मुख्य पुश्ते रहे थे। क़ज्ज़ाक़ लोक भीड़ को धक्के मार कर तितर-बितर करते है, पर गोलियाँ नही चलाते। और मजदूर बड़ी प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि अपने सरकारी मुखड़ों के पीछे क़ज्ज़ाक़ लोग असल में उनके प्रति मैत्री भाव रखते हैं। तुरन्त ही लोगों का उत्साह बढ़ जाता है और वे कज्ज़ाको से भाईचारा बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन पुलिस से घृणा की जाती है और उन पर पत्थर फेंके जाते हैं। तीसरे दिन, १० मार्च को, क़ज्ज़ाकों के साथ भाईचारे की भावना बढती हुई नजर आती है। यहाँ तक कि यह अफवाह फैल जाती है कि लोगो पर गोलियाँ चलाने वाली पुलिस पर कज्ज़ाको ने गोलियाँ चलाई। पुलिस बाजारो से हट जाती है। मजदूर नारियाँ सिपाहियों के पास जाती है और उनसे मार्मिक अपील करती हैं, सिपाहियो की सगीने आकाश की ओर उठ जाती हैं।

अगला दिन, ११ मार्च, इतवार होता है। मजदूर लोग शहर के बीच में जमा होते है और पुलिस उन पर छिपे स्थानो से गोलियाँ चलाती है। कछ सिपाही भी लोगो पर गोलियाँ चलाते है; इस पर वे उस पलटन के बारको मे जाकर सख्त शिकायत करते है। पलटन का दिल पिघल जाता है और वह अपने गैर-कमीशनी अफ़सरो की मातहती में जनता की रक्षा के लिए निकल पड़ती है; वह पुलिस पर गोलियाँ चलाती है। पलटन को गिरफ्तार किया जाता है, पर अब मामला हाथ से निकल चुका होता है। १२ मार्च को विद्रोह अन्य पलटनो में फैल जाता है और वे अपनी रायफलें और मशीन-गनें लेकर निकल पड़ती हैं। बाजारो मे खूब गोलियाँ चलती है; लेकिन यह कहना मुश्किल था कि कौन किस पर गोलियाँ चला रहा है। फिर सिपाही और मजदूर जाकर कुछ मन्त्रियो को (बाकी भाग चुके हैं), पुलिस वालों को और खुफ़िया विभाग के कर्मचारियो को गिरफ़्तार कर लेते हैं। वे जेलो में पड़े हुए पुराने राजनैतिक बन्दियो को रिहा कर देते है।

पेट्रोग्राड मे क्रान्ति की शानदार विजय हो चुकी थी। शीघ्र ही मॉस्को ने भी उसका अनुकरण किया। गाँवो के लोग इन घटनाओ को ग़ौर से देख रहे थे। धीरे-धीरे किसान वर्ग ने नई व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, पर बिना उत्साह के। उनके लिए तो दो ही महत्वपूर्ण सवाल थे, धरती के स्वामी बनना और शान्ति के साथ रहना।

ज़ार का क्या हुआ? इन घटनापूर्ण दिनो में उस पर क्या बीत रही थी? वह पेट्रोग्राड मे नही था; वहाँ से बहुत दूर एक छोटे से नगर में था जहाँ से प्रधान सेनापति की हैसियत से वह सेनाओ का सचालन कर रहा था, ऐसा समझा जाता था। लेकिन उसका समय आ गया था और एक अति-पके फल की तरह वह बिना किसी का ध्यान खीचे टूट कर गिर पड़ा। महान बलशाली ज़ार, सारे रूसो का बडा निरंकुश शासक जिसके आगे लाखो थरतिे थे, "पवित्र रूस" का "नन्हा पिता", "इतिहास के कचरा-पात्र" में विलीन हो गया। यह अजीब बात है कि जब महान व्यवस्थाओं की नियति पूरी हो जाती है और उनकी जीवन-यात्रा सम्पूर्ण हो जाती है तो वे किस तरह ढह जाती हैं। जब ज़ार ने पैट्रोग्राड मे मजदूरो की हडतालों का और दगों का हाल सुना तो उसने फौजी शासन की घोषणा की आज्ञा दी। कमान करने वाले सेनापति ने इसे बाक़ायदा घोषित तो कर दिया, पर यह घोषणा न तो शहर में प्रचारित की गई और न चिपकाई गई क्योंकि इस काम को करने वाला ही कोई न मिला! सरकारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। ज़ार ने अब भी इन सब घटनाओ की ओर से आँखें मूद कर पेट्रोग्राड वापस जाना चाहा। रेल के मजदूरो ने

रास्ते में उसकी गाड़ी रोक ली। ज़ारीना ने, जो उस समय पेट्रोग्राड के बाहर की एक बस्ती में थी, ज़ार को एक तार भेजा। तारघर ने उस पर पेंसिल से यह लिख कर उसे लौटा दिया : "पाने वाले का पता-ठिकाना नामालूम" !

मोर्चे पर लड़ने वाले सेनापतियो ने और पैट्रोग्राड में रहने वाले उदारदली नेताओं ने इन घटनाओं से भयभीत होकर और इस टूट-फूट मे से जो कुछ बच सके बचाने की आशा करके ज़ार से राजगद्दी छोड़ देने की प्रार्थना की। ज़ार ने ऐसा ही किया और अपने एक कुटुम्बी को अपना उत्तराधिकारी नामज़द कर दिया। लेकिन अब कोई ज़ार नही होने वाला था; रोमानोफ़ का घराना, तीन सौ वर्षों के निरंकुश शासन के बाद, रूसी रंगमच से सदा के लिए प्रस्थान कर गया।

अमीर वर्ग, ज़मीदार वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और उदार दली तथा सुधारक लोग तक भी श्रमिक वर्ग के इस विस्फोट को आतक और दहशत से देख रहे थे। जब उन्होने देखा कि जिस सेना पर वे भरोसा करते थे वह भी मजदूरो से जा मिली, तो वे उनके सामने अपने-आप को असमर्थ महसूस करने लगे। अभी तक वे यह निश्चय नही कर पाये थे कि विजय किस पक्ष की होगी, क्यो कि सम्भव था कि ज़ार मोर्चे पर से सेना लेकर फिर प्रगट हो जाय और उसकी सहायता से बलवे को कुचल दे। इसलिए एक तरफ तो मजदूरो के डर ने, दूसरी तरफ़ ज़ार के डर ने और साथ ही अपनी चमडी बचाने की अत्यधिक चिन्ता ने इनकी दशा बडी दयनीय बना दी थी। उस समय एक डूमा मौजूद थी जिनमें ज़मीदार वर्ग और उच्च मध्यमवर्ग के प्रतिनिधि थे। मज़दूर भी कुछ हद तक इसे मानते थे, लेकिन इस नाज़ुक घड़ी में आगे कदम बढ़ाने या कुछ करने के बजाय उसके अध्यक्ष और सदस्य डर के मारे कांपते हुए बैठे रहे और यह निश्चय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी दरमियान सोवियत का रूप बनने लगा। मज़दूरो के प्रतिनिधियों के अलावा सिपाहियो के प्रतिनिधि भी इसमे शामिल कर दिये गये और नई सोवियत ने विशाल तौरीद[1] राजमहल के एक पक्ष पर अधिकार कर लिया जिसका कुछ भाग डूमा ने घेर रक्खा था। मज़दूरो और सिपाहियो मे अपनी विजय के कारण उत्साह भरा हुआ था। पर अब सवाल यह पैदा हुआ : इस विजय का वे क्या करें? उन्होंने सत्ता प्राप्त करली थी; उसका प्रयोग कौन करे? उन्हे यह नही सूझा कि खुद सोवियत ही यह काम कर सकती है; उन्होने यह मान लिया कि मध्यम वर्ग को ही सत्ता ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए सोवियत का एक शिष्ट-मडल पैर घसीटता डूमा के पास यह कहने के लिए गया कि वह शासन का कार्य सम्हाले। डूमा के अध्यक्ष और सदस्यों ने समझा कि ये लोग उन्हें गिरफ्तार करने आये हैं। वे नही चाहते थे कि सत्ता का भार उन पर डाला जाय; वे इससे पैदा होने वाले खतरो से डरते थे। लेकिन वे करते भी तो क्या? सोवियत शिष्ट-मडल ने आग्रह किया और इन लोगो को इन्कार करने में भी डर लगा। इसलिए बडी अनिच्छा पूर्वक और परिणामो से डरते हुए, डूमा की एक कमेटी ने सत्ता स्वीकार कर ली और बाहर की दुनिया को यह मालूम पडा कि डूमा ही क्रान्ति का नेतृत्व कर रही थी। यह कैसा अजीब गडबडघोटाला था, अगर हम किसी कहानी मे इन बातो को पढ़े तो हमें यकीन नही हो सकता कि ऐसी बातें हो सकती है। लेकिन सत्य घटनाए अक्सर कल्पित किस्सो से भी ज्यादा अद्भुत हुआ करती है।

डूमा की कमेटी ने जो काम-चलाऊ सरकार नियुक्त की वह बहुत ही कट्टरपन्थी जमात थी और उसका प्रधान मत्री एक राजवशी था। उसी इमारत के दूसरे पक्ष में सोवियत की बैठके होती थी और यह काम-चलाऊ सरकार के काम में निरन्तर हस्तक्षेप करती रहती थी। लेकिन खुद सोवियत भी शुरू में मद्धिम विचारो की थी और उसमें बोलशेविको की संख्या मुट्ठी भर थी। इस तरह एक प्रकार की दोहरी हुकूमत चल रही थी—यानी काम-चलाऊ सरकार, और सोवियत—और इन दोनों के पीछे वे क्रान्तिकारी जन-समूह थे जिन्होंने क्रान्ति को सफल बनाया था और उससे बड़ी-बड़ी आशाए बाध रक्खी थी। नई सरकार से भूखी और युद्ध-थकित जनता को जो एक मात्र मार्ग-प्रदर्शन मिला वह यह था कि जब तक जर्मनो को परास्त न कर दिया जाय तब तक उन्हें युद्ध को चलाते रहना चाहिए। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि क्या इसी चीज के लिए उन्होंने क्रान्ति की मुसीबतें झेली थी और ज़ार को निकाल बाहर किया था!

---

[1] Tauride Palace.

ठीक इसी समय, १७ अप्रैल को, लेनिन आकर प्रगट हुआ। युद्ध के शुरू से आखीर तक वह स्वीजरलैण्ड में रहा था, और जैसे ही उसने क्रान्ति का समाचार सुना, वह रूस आने के लिए छटपटाने लगा। पर वह आता कैसे ! अंग्रेज और फ्रांसीसी उसे अपने-अपने प्रदेशों में होकर गुज़रने की अनुमति नहीं देते थे, और न जर्मन तथा आस्ट्रियावासी ही। आखिरकार जर्मन सरकार खुद अपने ही मतलब से इस बात पर राज़ी हो गई कि वह एक मुहर-बन्द रेलगाडी में बैठकर स्वीजरलैण्ड की सरहद से रूसी सरहद तक जर्मनी में होकर निकल जाय। उन्हें आशा थी, और इसके लिए कारण भी जरूर था, कि लेनिन के रूस पहुचने से काम-चलाऊ सरकार और युद्ध-समर्थक दल कमज़ोर पड़ जायगे क्यों कि लेनिन युद्ध-विरोधी था और वे इसका फ़ायदा उठाना चाहते थे। उन्हें यह कल्पना नही हुई कि यह अज्ञात-सा क्रान्तिकारी अन्त में सारे योरप को और सारी दुनिया को हिला डालेगा।

लेनिन के दिमाग में न तो कोई शका थी और न अस्पष्टता। उसकी तीक्ष्ण नज़रे जनता के भाव-परिवर्तनो को पकड़ लेती थी; उसका सुलझा हुआ दिमाग़ सुविचारपूर्ण सिद्धान्तो को परिवर्तनशील परिस्थितियो में प्रयोग कर सकता था और ढाल सकता था; उसकी अनमनीय इच्छाशक्ति तात्कालिक परिणामों की परवा न करती हुई उसके सोचे हुए मार्ग को पकड़े रहती थी। जिस दिन वह पहुंचा उसी दिन उसने बोलशेविक दल को ज़ोर से झझोड डाला, उनकी अकर्मण्यता की निन्दा की, और जोश भरे वाक्यो में उन्हे बतलाया कि उनका कर्तव्य क्या था। उसका भाषण बिजली की धारा थी जो दर्द भी पहुचाती है और साथ ही जान भी डालती है। उसने कहा: "हम लोग पाखडी नही हैं, हमें अपना आधार केवल जनता की चेतना को ही बनाना चाहिए। अगर अल्पमत में रहना आवश्यक हो तो हम यही करेगे। कुछ समय के लिए नेतृत्व का स्थान ग्रहण नही करना अच्छा है, हमे अल्पमत में रहने से डरना नही चाहिए।" बस, वह अपने सिद्धान्तो पर अटल रहा और उन्हे खतरे मे डालने के लिए कभी राज़ी नही हुआ। जो क्रान्ति अभी तक नेतृत्वहीन और बिना मार्गदर्शक के अनिश्चित दिशा मे चली जा रही थी, उसे आखिर अपना नेता प्राप्त हो गया। उपयुक्त अवसर ने उपयुक्त व्यक्ति पैदा कर दिया था।

ये मतभेद क्या थे जो इस मज़िल पर बोलशेविको को मेनशेविको तथा अन्य क्रान्तिकारी धड़ो से अलग किये हुए थे ? और लेनिन के आगमन से पूर्व बोलशेविको को किस चीज़ ने अलग कर रक्खा था ? और फिर सोवियत ने अपने हाथो में सत्ता आने के बाद भी उसे पुराण-पन्थी और रूढिवादी डूमा को क्यों सौंप दिया था ? मै इन सवालो की गहराई में नही जा सकता लेकिन हमे इन पर थोड़ा सा विचार ज़रूर करना चाहिए ताकि हम सन् १९१७ ई० मे पैट्रोग्राड और रूस के निरन्तर बदलने वाले नाटक को समझ सकें।

कार्ल मार्क्स का मानव परिवर्तन और प्रगति का वाद, जो "इतिहास की भौतिक व्याख्या" कहलाता है, इस आधार पर कायम था कि ज्यूही पुराने सामाजिक रूप असामयिक बन जाते है त्यों ही नये रूप उनका स्थान ले लेते है। जैसे-जैसे यान्त्रिक उत्पादन के तरीके उन्नति करते गये वैसे-वैसे समाज का आर्थिक और राजनैतिक सगठन धीरे-धीरे उनके बराबर जा पहुंचा। जिस रास्ते से यह हुआ वह था प्रभुतावान वर्ग और शोषित वर्गों के बीच निरन्तर वर्ग-सघर्ष। इस प्रकार पश्चिमी योरप में पुराने सामन्ती वर्ग का स्थान मध्यमवर्ग ने ले लिया और अब यही इंग्लैण्ड, फ्रास, जर्मनी, वग़ैरा के राजनैतिक ढांचे का नियत्रण कर रहा है, और जिसका स्थान आगे चल कर मज़दूर वर्ग ले लेगा। रूस मे अभी तक सामन्ती वर्ग की तूती बोलती थी और पश्चिमी योरप में जिस परिवर्तन ने मध्यमवर्ग को सत्ताधारी बना दिया था, वह यहां अभी नही हुआ था। इसलिए अधिकतर मार्क्सवादियों का खयाल था कि मज़दूर प्रजातन्त्र की आखिरी मंज़िल पर पहुचने से पहले रूस को इसी मध्यमवर्गी और पार्लमेण्टरी मज़िल मे से होकर गुज़रना होगा। उनके मतानुसार यह बीच की मज़िल कूद कर पार नही की जा सकती थी। मार्च सन् १९१७ ई० की क्रान्ति से पहले खुद लेनिन ने, मध्यमवर्गी क्रान्ति लाने के लिए, ज़ार तथा ज़मीदारों के विरुद्ध किसानो के साथ सहयोग करने की (मध्यमवर्ग का विरोध न करते हुए) बिचली नीति का प्रतिपादन किया था।

इसलिए बोलशेविक और मेनशेविक और मार्क्स के मतों में विश्वास करने वाले तमाम लोग अंग्रेज़ी या फ्रांसीसी नमूने का लोकतंत्री प्रजातन्त्र बनाने के विचार में डूबे हुए थे। मज़दूरों के अग्रगण्य प्रतिनिधि भी इसे अनिवार्य समझते थे और यही कारण था कि सोवियत ने सत्ता अपने हाथों में रखने के बजाय डूमा

के पास जाकर उसे सौंप दी। जैसा कि अक्सर हम सब के साथ होता है, ये लोग अपने ही सिद्धान्तों के गुलाम बन गये थे और यह नहीं देख पाते थे कि नई स्थिति पैदा हो गई है जो भिन्न नीति की, या कम से कम पुरानी नीति को नये सांचे में ढालने की, मांग करती है। जनता नेताओं से अधिक क्रान्तिकारी थी। सोवियत का संचालन करने वाले मेनशेविक लोग तो यहाँ तक कहते थे कि मजदूर वर्ग को उस समय कोई सामाजिक प्रश्न नहीं उठाना चाहिए; उनका 'तात्कालिक कर्त्तव्य था राजनैतिक आज़ादी प्राप्त करना। बोलशेविक लोग अवसर के मुताबिक़ चल रहे थे। लेकिन अपने इन दुविधाभरे और फूक कर क़दम रखने वाले नेताओं के बावजूद भी मार्च की क्रान्ति सफल हो गई।

लेनिन के आते ही यह सब बदल गया। उसने तुरन्त ही स्थिति की नाडी पहचान ली और सच्चे नेतृत्व की प्रतिभा से मार्क्स के कार्यक्रम को उसी के मुताबिक ढाल लिया। गरीब किसान वर्ग के सहयोग से मजदूर वर्ग का शासन क़ायम करने के लिए अब खुद पूंजीवाद के विरुद्ध लडाई ठानी जाने वाली थी। बोलशेविको के तीन तात्कालिक नारे ये थे · (१) लोकतन्त्री प्रजातन्त्र, (२) जमीदारी जागीरों की जब्ती, और (३) मजदूरों से दिन में आठ घंटे काम। इन नारो ने तुरन्त ही किसान और मजदूर वर्गों के लिए संघर्ष में वास्तविकता पैदा कर दी। उनके लिए यह अस्पष्ट और थोथा आदर्श नही रहा; वह जीवन और आशा की ज्योति बन गया।

लेनिन की नीति यह थी कि बोलशेविक लोग मजदूरों के बहुमत को अपनी ओर मिलालें और इस प्रकार सोवियत पर कब्ज़ा कर लें, और फिर सोवियत कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन ले। वह तुरन्त ही दूसरी क्रान्ति के पक्ष मे नही था। उसका आग्रह था कि कामचलाऊ सरकार को उखाड़ फेंकने का समय आने से पहले मजदूरो और सोवियत के बहुमत को अपनी ओर मिला लेना ज़रूरी है। जो लोग सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे उनके प्रति उसका रुख कठोर था; उसका कहना था कि यह क्रान्ति के साथ विश्वासघात करना है। इतना ही कठोर रुख उसका उनके प्रति था जो उपयुक्त अवसर आने से पहले ही दौड कर इस सरकार को उलट देना चाहते थे। उसने कहा "कार्रवाई की घडी वह मौका नहीं है जब लक्ष्य से 'ज़रा दूर बायी ओर' पर निशाना लगाया जाय। हम उसे गुरुतर अपराध, अव्यवस्था, समझते हैं।"

बस, धीरज के साथ लेकिन अटल रूप में, अनिवार्य नियति के किसी कर्त्ता की तरह, बर्फ का यह ढला अपने अन्दर धधकती आग लिये हुए अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढा चला जा रहा था।

: १५१ :

बोलशेविक सत्ता छीन लेते हैं

९ अप्रैल, १९३३

क्रान्तिकारी ज़माने में इतिहास मानो सात-सात कोस लम्बे डग भरता हुआ आगे बढ़ता है। बाहरी तौर पर तो तेज़ी के साथ परिवर्त्तन होते ही हैं, लेकिन इनसे भी बड़ा परिवर्त्तन जनता की चेतना में होता है। पुस्तकों से वह कुछ नही सीखती, क्योकि पुस्तकी शिक्षा प्राप्त करने का उन्हे ज्यादा अवसर नही मिलता; और पुस्तकें तो अक्सर करके जितनी बाते प्रगट करती हैं उनसे ज्यादा छिपाती है। जनता तो अनुभव की कठोरतर पर अधिक सच्ची पाठशाला में शिक्षा ग्रहण करती है। क्रान्तिकाल में, सत्ता के लिए जीवन-मरण के संघर्ष में, लोगों की असली नीयतो को आम तौर पर छिपाने वाले नकली चेहरे गिर पड़ते हे, और उनके पीछे वह वास्तविकता देखी जा सकती है जो समाज का आधार होती है। इसलिए रूस में, सन् १९१७ ई० के इस नियति-सचालित वर्ष में, जनता ने, और खास कर शहरी कारखानो के उन मजदूरो ने जो क्रान्ति की जान थे, अपने पाठ घटनाओ से पढ़े और उनमें लगभग दिन प्रतिदिन परिवर्त्तन होता रहा।

न तो कहीं कोई स्थिरता थी और न समतोलता। जीवन गतिशील और परिवर्त्तनशील था और जनता तथा वर्ग अलग अलग दिशाओ मे खींचतान और रेलपेल कर रहे थे। कुछ लोग अभी तक ऐसे

भी थे जो ज़ारशाही के लौट आने की आशाएं और साजिशें कर रहे थे। पर इनका वर्ग कुछ महत्व नहीं रखता था और हम इनकी उपेक्षा कर सकते हैं। मुख्य झगड़ा तो कामचलाऊ सरकार और सोवियत के बीच पैदा हुआ; फिर भी सोवियत का बहुमत सरकार के साथ सहयोग और समझौते के पक्ष में था। जो लोग समझौते के लिए उत्सुक थे वे हुकूमत और राज्यसत्ता के अधिकारी बनाये जाने से डरते थे। सोवियत मे एक वक्ता ने कहा था : "सरकार की जगह कौन लेगा ? क्या हम ? मगर हमारे तो हाथ कांपते हैं. . .।" यह वही परिचित रोना है जो हमने भारत में भी अनेको अशक्त हाथ वालों और आतंकित हृदय वालों के मुह से सुना है। परन्तु जब उपयुक्त समय आता है तो मजबूत हाथों और बलवान हृदयो की कमी नही रहती।

दोनो पक्षो के समझौतापरस्त लोगो ने कामचलाऊ सरकार और सोवियत के बीच के झगड़े को टालने की चाहे जितनी कोशिशें की हों, परन्तु यह झगड़ा अनिवार्य था। सरकार, मित्र-राष्ट्रों को युद्ध जारी रखकर और रूस के सम्पत्तिवान वर्ग को जहाँ तक हो सके उनकी मिल्कियतो की रक्षा करके, राजी रखना चाहती थी। जनता से अधिक सम्पर्क में होने के कारण सोवियत ने उनकी सुलह की तथा किसानो के लिए धरती की माग को, और दिन में आठ घटे काम वगैरा की मजदूरो की अनेको मागो को, अनुभव कर लिया। इस तरह हुआ यह कि सरकार को तो सोवियत ने बेकार कर दिया और खुद सोवियत जनता द्वारा बेकार कर दी गई क्योंकि जनता वास्तव मे दलो और नेताओ से कहीं अधिक क्रान्तिकारी थी।

यह प्रयत्न किया गया कि सरकार सोवियत के साथ ज्यादा मिल कर चले और किरेन्स्की नामक एक वामपक्षी वकील और प्रभावशाली वक्ता सरकार का प्रमुख सदस्य बनाया गया। यह एक सर्वदली सरकार बनाने में सफल हुआ और सोवियत के बहुसंख्यक मेनशेविक दल के भी कुछ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसने जर्मनी के विरुद्ध एक जोरदार हमला शुरू करके इंग्लैण्ड और फ्रास को खुश करने का भी जी-तोड प्रयत्न किया। परन्तु यह धावा असफल रहा क्योंकि सेना और जनता अब अधिक युद्ध बिल्कुल नही चाहते थे।

इसी समय पैट्रोग्राड मे अखिल रूसी सोवियत कांग्रेसो के अधिवेशन हो रहे थे और हर अधिवेशन अपने पूर्ववर्ती अधिवेशन से अधिक उग्र होता जा रहा था। इनमें दिन पर दिन अधिक बोलशेविक चुन कर जाने लगे और दोनो महत्वपूर्ण दलों, यानी मेनशेविको और सामाजिक क्रान्तिकारियो (एक कृषक दल), का बहुमत कम होता गया। बोलशेविको का प्रभाव बढ गया, खास कर पैट्रोग्राड के मजदूरों में। सारे देश मे सोवियते स्थापित हो गई और जब तक सरकारी आज्ञाओ पर सोवियत की दस्तखती मजूरी न हो जाती तब तक वे उन्हे नही मानती थी। कामचलाऊ सरकार की कमजोरी का एक कारण यह था कि रूस में कोई मजबूत मध्यमवर्ग नही था।

इधर जब राजधानी मे सत्ता के लिए खींचातानी चल रही थी, तब उधर किसान-वर्ग ने क़ानूनों को तोडना शुरू कर दिया। जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, इन किसानो में मार्च की क्रान्ति के प्रति अधिक उत्साह नही था, पर वे उसके विरुद्ध भी नही थे। वे तो हाथ पर हाथ धरे बैठे थे और मौका देख रहे थे। लेकिन बड़ी-बडी जागीरो के जमीदारो ने, इस डर से कि कही उनकी मिल्कियते जब्त न कर ली जाय, उन्हे छोटे-छोटे पट्टो में बाट दिया और इन्हे नकली पट्टेदारों को इस ग़रज से दे दिया कि वे इन्हें इन जमींदारो की अमानत की तरह रक्खे। उन्होने अपनी बहुत सी मिल्कियते विदेशियो के नाम भी कर दीं। इस तरह उन्होने अपनी जमींदारियो को बचाने का प्रयत्न किया। किसानों ने इसे बिल्कुल पसन्द नही किया और उन्होंने सरकार से कहा कि कानूनी आज्ञा निकाल कर इस तरह जमीनो की बिक्रिया रोक दी जाय। सरकार आगा-पीछा करने लगी, वह कर ही क्या सकती थी ? वह किसी भी दल को चिढाना नही चाहती थी। तब किसानो ने खुद कार्रवाई शुरू कर दी। इसमें मोर्चों से लौटे हुए सिपाहियो ने (जो वास्तव मे किसान ही थे) प्रमुख भाग लिया। यह आन्दोलन बढता गया, यहाँ तक कि किसानों ने सामूहिक रूप में जमीनों पर क़ब्ज़ा कर लिया। जून तक इसका प्रभाव साइबेरिया के उपजाऊ मैदानो तक जा पहुंचा। साइबेरिया मे बड़े-बड़े जमीदार नही थे, इसलिए किसान वर्ग ने गिरजो और मठो की धरतियों पर कब्ज़ा कर लिया।

ध्यान मे रखने की बात यह है कि बडी-बडी जागीरो की यह जब्ती पूर्णतया किसानों की ही ओर से शुरू हुई और बोलशेविक क्रान्ति के कई महीने पहले हुई। लेनिन चाहता था कि जमीने तुरन्त ही व्यवस्थित तरीके से किसानों के नाम कर दी जाय। वह बेढंगे अराजकतापूर्ण क़ब्ज़ों का सख्त विरोधी था।

इस तरह जब बोलशेविको के हाथ में सत्ता आई, तब उन्होने देखा कि रूस दखीलकार किसानों का देश बन चुका था।

लेनिन के आगमन के ठीक एक महीने बाद एक और प्रमुख निर्वासित व्यक्ति पैट्रोग्राड लौट आया। यह ट्राट्स्की[1] था जो न्यूयार्क से वापस आया था। रास्ते में अंग्रेजो ने इसे रोक लिया था। ट्राट्स्की न तो पुराना बोलशेविक था और न अब वह मेनशेविक था। लेकिन वह बहुत जल्दी लेनिन का सहयोगी बन गया और इसने पैट्रोग्राड की सोवियत के एक अगुआ का स्थान प्राप्त कर लिया। यह महान वक्ता था, ऊंचे दर्जे का लेखक था, और मानो शक्ति से परिपूर्ण बिजली की बैटरी था। लेनिन के दल को इसने सबसे अधिक सहायता पहुँचाई। इसकी लिखी हुई आत्मकथा से एक लम्बा उद्धरण मैं यहाँ देना चाहता हूँ जिसमें उसने 'मॉडर्न सर्कस' नामक भवन की सभाओं में दिये गये अपने भाषणो का वर्णन किया है। यह लेखनकला का उत्कृष्ट नमूना तो है ही, साथ ही इसे पढकर पैट्रोग्राड में सन् १९१७ ई० के अद्भुत क्रान्तिकारी दिनो का सचेतन और सजीव चित्र हमारी आँखो के सामने आ जाता है।

> "लोगो की साँसो से और इतजारी से सरगर्म वातावरण, कभी कभी उन ललकारो और जोशभरी चीत्कारो से भडक उठता था जो मॉडर्न सर्कस की विशेषता थी। मेरे सिर पर और चारो ओर कुहनियों सीनों और सिरो की धकाधूम थी। मै मानो मानव शरीरो की किसी गर्म खोह में से बोल रहा था; जब कभी मै अपने हाथ फैलाता था वे किसी से छू जाते थे और उसके जवाब मे एक कृतज्ञतापूर्ण हरकत मुझे बतला देती थी कि इससे परेशान होने की जरूरत नही, बल्कि मुझे रुकना नही चाहिए और अपना भाषण जारी रखना चाहिए। कोई वक्ता, चाहे जितना थक गया हो, उस सरगर्म मानव भीड के बिजली जैसे तनाव से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता था। वे जानना चाहते थे, समझना चाहते थे, अपना मार्ग निश्चित करना चाहते थे। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता था मानो मैं इस भीड के, जो कि मिलकर एक सम्पूर्ण इकाई बन गई थी, कठोर कौतूहल को अपने होठो से महसूस कर रहा हूँ। तब पहले से सोची हुई सब दलीले और सब शब्द भग हो जाते थे और सहानुभूति के आग्रह पूर्ण दबाव के नीचे चले जाते थे। और फिर मेरे अन्तर्मानस मे से ऐसे अन्य शब्द और ऐसी अन्य दलीले पूरी तरतीब में निकलने लगी थी जिनका वक्ता को पहले बिल्कुल गुमान भी न था लेकिन जिनकी इन लोगों को आवश्यकता थी। ऐसे मौको पर मुझे यह महसूस होता था मानो मै बाहर के किसी वक्ता की आवाज सुन रहा हूँ, उसके विचारो के साथ दौड़ने का प्रयत्न कर रहा हूँ, और डरता जाता हूँ कि मेरी होशभरी युक्तियो की आवाज से कही वह नीद मे चलने वाले की तरह छत के किनारे पर आकर गिर न पडे।
>
> ऐसा था यह मॉडर्न सर्कस। इसकी अपनी रूपरेखाए थी—आग भरी, कोमल और उन्मत्त। दुधमुहे बच्चे मानो उन स्तनो को शान्ति के साथ चूस रहे थे जिन में से स्वीकृति-सूचक या धमकीपूर्ण पुकारें निकल रही थी। समग्र भीड़ इसी प्रकार की थी, उन दुधमुहें बच्चो जैसी जो अपने सूखे होठो से क्रान्ति के स्तनो से चिपके हुए थे। लेकिन यह बच्चा बहुत जल्दी युवावस्था को प्राप्त हो गया।"

इस तरह पैट्रोग्राड मे तथा रूस के अन्य शहरो और गाँवों में क्रान्ति का निरंतर परिवर्त्तनशील नाटक चलता रहा। दुध मुहा बच्चा युवावस्था को पहुँचा और बड़ा हो गया। युद्ध के भयकर बोझ के कारण हर जगह आर्थिक व्यवस्था टूटती नजर आ रही थी। लेकिन फिर भी मुनाफ़ेखोर युद्ध के अपने मुनाफ़े कमाये चले जा रहे थे!

कारखानों में और सोवियतो में बोलशेविको की ताक़त और उनका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ रहे

---

[1]प्रसिद्ध बोलशेविक नेता और लेखक। स्टालिन से मतभेद हो जाने के कारण यह सन् १९२९ में रूस से फिर निर्वासित कर दिया गया और अमरीका चला गया। सन् १९४० में मैक्सिको में उसकी हत्या कर दी गई।

थे। इससे चौकन्ना हो कर किरेन्स्की ने उन्हें दबा देने का निश्चय किया। पहले तो लेनिन को बदनाम करने का जबरदस्त धावा बोला गया और कहा गया कि वह जर्मनों का एजेण्ट है जो रूस को मुसीबत में फँसाने के लिए भेजा गया है। क्या वह जर्मन अधिकारियो की गुप्त रजामन्दी से जर्मनी में होकर स्वीजर-लैण्ड से नही आया? इससे मध्यमवर्गों में लेनिन बहुत अधिक बदनाम हो गया और वे उसे देशद्रोही समझने लगे। किरेन्स्की ने लेनिन की गिरफ्तारी के लिए वारण्ट निकाला, इसलिए नहीं कि वह क्रान्तिकारी था बल्कि इसलिए कि वह देशद्रोही था। खुद लेनिन तो इस आरोप को गलत साबित करने के लिए अदालत के सामने जाने को उत्सुक था; लेकिन उसके साथी राजी नही हुए और उन्होने उसे रूपोश हो जाने के लिए मजबूर किया। ट्राट्स्की भी गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन पैट्रोग्राड की सोवियत के आग्रह पर छोड दिया गया। बहुत-से अन्य बोलशेविक भी गिरफ्तार कर लिये गये; उनके अखबार बन्द कर दिये गये; जिन मजदूरो को उनका समर्थक समझा जाता था उनके हथियार छीन लिये गये। कामचलाऊ सरकार के प्रति इन मजदूरो का रुख दिन पर दिन अधिक उग्र और डरावना होता जा रहा था और उसके विरुद्ध बार-बार जबरदस्त प्रदर्शन किये जाते थे।

जब प्रति-क्रान्ति ने सिर उठाया तो इस नाटक में एक नया दृश्य सामने आया। कोर्निलोव नामक एक पुराना सेनापति कामचलाऊ सरकार सहित सारी क्रान्ति को पीस डालने के लिए एक सेना लेकर राज-धानी पर चढ आया। जैसे ही वह राजधानी के नजदीक पहुचा, उसकी सेना नौ-दो-ग्यारह हुई। वह क्रान्ति के पक्ष में जा मिली थी।

घटनाए बडी तेजी से आगे बढ रही थी। सोवियत निश्चित रूप से सरकार की प्रतिद्वन्दी बनती जा रही थी और अक्सर वह या तो सरकारी आज्ञाओ को रद कर देती थी या उनसे विपरीत हिदायतें जारी कर देती थी। अब स्मॉलनी-इन्स्टीटयूट पैट्रोग्राड मे सोवियत का केन्द्र और क्रान्ति का सदर मुकाम था। यह स्थान पहले अमीर-वर्ग की लडकियो का गैर-सरकारी स्कूल था।

लेनिन पैट्रोग्राड के बाहर की बस्ती मे आगया और बोलशेविकों ने निश्चय किया कि अब काम-चलाऊ सरकार से सत्ता छीन लेने का समय आ गया है। ट्राट्स्की को बगावत की सारी व्यवस्था करने का अधिकार सौप दिया गया और हर बात की योजना सावधानी के साथ बना ली गई कि किन महत्वपूर्ण स्थानों पर किस तरह और कब कब्जा किया जाय। बलवे के लिए नवम्बर की ७ तारीख निश्चित की गई। उस दिन सोवियतो की अखिल-रूसी काग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। यह तारीख लेनिन ने निश्चित की थी और इसके लिए उसने बडा दिलचस्प कारण बताया था। उसने कहा बतलाया, "नवम्बर की ६ तारीख को कुछ करने मे बहुत जल्दी होगी। हमें अपने बलवे का आधार अखिल-रूसी बनाना चाहिए, और ६ तारीख को काग्रेस के सब प्रतिनिधि आ नही पायेगे। दूसरी ओर, ८ नवम्बर को बहुत देर हो जायगी। इस तारीख तक काग्रेस सगठित हो जायगी और लोगो की बड़ी जमात के लिए कोई फुर्तीली और निर्णयात्मक कार्रवाई करना मुश्किल होता है। हमे ७ तारीख को, जिस दिन काग्रेस का अधिवेशन हो, अपनी कार्रवाई करनी चाहिए ताकि हम उससे कह सके, 'यह लो सत्ता! अब बतलाओ तुम इसका क्या करना चाहते हो?'" ये शब्द थे उस सुलझे दिमाग़ वाले क्रान्ति के विशेषज्ञ के जो यह खूब अच्छी तरह जानता था कि क्रान्तियो की सफलता अक्सर बहुत ही मामूली नजर आने वाली घटनाओ पर निर्भर होती है।[1]

सात नवम्बर का दिन आया और सोवियत सिपाहियों ने जाकर सरकारी इमारतो पर, खासकर तारघर, टेलीफोन घर और सरकारी बैंक जैसे घात और जुगत के स्थानो पर, कब्जा कर लिया। किसी ने कोई मुकाबला नही किया। एक ब्रिटिश एजेण्ट ने इग्लैण्ड को जो सरकारी रिपोर्ट भेजी थी उसमे उसने लिखा था, "कामचलाऊ सरकार तो मानो छू-मन्तर हो गई"।

---

[1]यह क़िस्सा कि लेनिन ने बोलशेविकों द्वारा सत्ताहरण के लिए ७ नवम्बर का दिन निश्चित किया था एक अमरीकी पत्रकार रीड ने, जो उन दिनों पैट्रोगाड में था, बयान किया है। लेकिन और लोग जो वहाँ मौजूद थे इसे नहीं मानते थे। लेनिन रूपोश था और उसे डर था कि कहीं बोलशेविक नेता जमाना साजी न कर बैठें और मौक़े को हाथ से न निकल जाने दें। इसलिए वह उन्हें निरन्तर कार्रवाई के लिए उकसाता रहता था। जब ७ तारीख़ को मामला चरम सीमा पर पहुंच गया तो यह कार्रवाई हो गई।

लेनिन इस नई सरकार का सरदार यानी अध्यक्ष बना और ट्राट्स्की विदेश-मंत्री। दूसरे दिन, ८ नवम्बर को, लेनिन स्मॉलनी इन्स्टीटयूट में कांग्रेस के अधिवेशन में गया। शाम का वक्त था। कांग्रेस ने इस नेता का जबरदस्त हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया। अमरीकी पत्रकार रीड ने, जो इस मौके पर मौजूद था, यह वर्णन किया है कि जब "महान लेनिन" मंच की ओर बढ़ा तब वह कैसा नजर आ रहा था।

"एक नाटा, गठीला व्यक्ति, जिसका उभरा हुआ और आगे निकला हुआ बड़ा-सा सिर कन्धों पर रक्खा हुआ। छोटी-छोटी आँखें, पकौड़ी-सी नाक, चौडा और भरा हुआ मुह, भारी ठुड्डी; जो अब घुटी हुई थी लेकिन जिस पर उसकी मशहूर पुरानी और भावी डाढी के रोयें उगना शुरू हो गये थे। मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए, पतलून टागो से ज्यादा लम्बी। दिल पर असर करने वाली कोई ऐसी चीज उसमें नही जिसने उसे भीड का पूजनीय देवता बनाया। एक विलक्षण लोकप्रिय नेता—केवल बौद्धिक गुणो के बल पर बना हुआ नेता; रगहीन, व्यंगहीन, सिद्धान्तो पर अडिग और निर्लिप्त, जिसमें कोई लुभाने वाली दिमागी खासियत नही—पर जिसमें गहन विचारो को सीधी-सादी भाषा में समझाने की और किसी मूर्त स्थिति का विश्लेषण करने की शक्ति। और जिसमे चतुरता के साथ उच्चतम बौद्धिक साहस का मेल।"

एक साल के भीतर यह दूसरी क्रान्ति सफल हो गई थी और अभी तक यह ग़ौर करने लायक शान्तिपूर्ण रही थी। सत्ता के हस्तान्तरित होने में बहुत कम खून-खराबी हुई। मार्च में इससे बहुत ज्यादा लड़ाई और मारकाट हुई थी। मार्च की क्रान्ति अपने आप उठी थी और असगठित थी, नवम्बर की क्रान्ति की योजना खूब सोच विचार कर बनाई गई थी। इतिहास में पहली बार गरीब से गरीब वर्ग के, और खास कर मजदूर वर्ग के, प्रतिनिधि किसी देश के शासक बने थे। लेकिन इनको इतनी आसानी से सफलता मिलने वाली नही थी। इनके चारो ओर तूफान के बादल जमा हो रहे थे और भयकर वेग के साथ इन पर फट पडने वाले थे।

लेनिन और उसकी नई बोलशेविक सरकार के सामने क्या स्थिति थी? यद्यपि रूसी सेना छिन्न-भिन्न हो गई थी और उसके लडने की कोई सम्भावना नही रही थी, फिर भी जर्मनी के साथ युद्ध जारी था, सारे देश में गडबड़ मची हुई थी और सिपाहियो तथा लुटेरों के गिरोह मनमानी करते हुए घूमते फिर रहे थे, आर्थिक ढांचा टूट चुका था; भोजन सामग्री की बहुत कमी थी और लोग भूखो मर रहे थे; चारो ओर पुरानी व्यवस्था के ठेकेदार क्रान्ति को पीस डालने की घात लगाये बैठे थे; राज्य का सगठन पूजीवादी था और अधिकतर पुराने सरकारी कर्मचारियो ने नई सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया; साहूकार लोगों ने रुपया देना बन्द कर दिया; यहाँ तक कि तारघर भी तार नही भेजता था। यह ऐसी कठिन परिस्थिति थी जो बहादुर से बहादुर का दिल दहलाने के लिए काफ़ी थी।

लेनिन और उसके साथियो ने इस गाड़ी को चलाने के लिए मिल कर ज़ोर लगाया। सबसे पहली चिन्ता उन्हें जर्मनी के साथ सुलह की थी और उन्होने तुरन्त युद्ध बन्द किये जाने का प्रबन्ध किया। दोनों देशों के प्रतिनिधि ब्रैस्ट लिटोव्स्क मे मिले। जर्मन लोग खूब अच्छी तरह जानते थे कि बोलशेविकों में लड़ने की शक्ति नही रही है, इसलिए उन्होने घमड और मूर्खता वश जबरदस्त और अपमानपूर्ण मांगें रक्खी। सुलह के लिए बहुत उत्सुक होते हुए भी बोलशेविक लोग इससे भौचक्के रह गये और उनमें से बहुतो ने इन शर्तों को ठुकरा देने की सलाह दी। लेकिन लेनिन तो किसी भी कीमत पर सुलह के पक्ष में था। कहते है कि जर्मनो ने ट्राट्स्की से, जो शान्ति सम्मेलन का एक रूसी प्रतिनिधि था, कहा कि वह एक उत्सव में शाम की पोशाक[1] पहन कर आवे। वह दुविधा में पड गया, क्या मजदूरो के प्रतिनिधि को इस प्रकार की उच्चवर्गी पोशाक पहनना शोभा की बात थी? उसने सलाह के लिए लेनिन को तार दिया और लेनिन ने तुरन्त उत्तर भेजा. "अगर सुलह कराने में मदद मिले तो लहगा पहन कर जाओ!"

इधर तो सोवियत सुलह की शर्तों पर वाद-विवाद कर रही थी, उधर जर्मनों ने पैट्रोग्राड की ओर बढना शुरू कर दिया और उन्होने अपना सुलह का प्रस्ताव पहले से भी ज्यादा सख्त कर दिया। अन्त में सोवियत ने लेनिन की सलाह मान ली और मार्च, सन् १९१८ में, ब्रैस्ट लिटोव्स्क की सन्धि पर हस्ताक्षर

---

[1] Evening Dress—योरप में हर मौक़े के लिए अलग-अलग प्रकार की पोशाकों का रिवाज है। शाम की पोशाक में पीछे की ओर लम्बा लटकता हुआ काला कोट, कलफ़दार कमीज़, काली बो, सफ़ेद पतलून और काले जूते शामिल है।

कर दिये, हालांकि वे इसे बहुत नापसन्द करते थे। इस सन्धि के द्वारा रूसी प्रदेश का एक बड़ा टुकड़ा जर्मनी ने हथिया लिया लेकिन सोवियत को तो किसी भी क़ीमत पर सुलह मंजूर करनी थी, क्योंकि लेनिन ने कह दिया था कि "सेना ने तो अपनी टांगों से (यानी युद्ध क्षेत्र से भाग कर) सुलह के पक्ष में राय दे दी है"।

सोवियत ने पहले तो महायुद्ध में फंसी हुई तमाम शक्तियों में एक व्यापक सुलह कराने का प्रयत्न किया। सत्ता पर अधिकार करने के दूसरे ही दिन उन्होंने एक सरकारी घोषणा निकाली थी जिसमें दुनिया भर के सामने सुलह का प्रस्ताव रक्खा था, और उन्होंने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि वे ज़ारशाही की तमाम गुप्त सन्धियो के अन्तर्गत दावो को छोड़ने के लिए तैयार हैं। उन्होंने कहा कि क़ुस्तुन्तुनिया तुर्कों के ही क़ब्जे में रहना चाहिए और इसके अलावा भी कोई देश किसी दूसरे देश के हिस्सो को नही हथियावे। सोवियत के प्रस्ताव का किसी ने जवाब नही दिया, क्योंकि दोनो युद्ध-रत दलो को अभी अपनी-अपनी जीत की आशा थी और दोनो युद्ध की लूट में हाथ मारना चाहते थे। इसमें शक नहीं कि यह प्रस्ताव करने में सोवियत का उद्देश्य कुछ हद तक केवल बाहरी प्रचार था। वे हर देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाही वर्ग पर असर डालना चाहते थे और दूसरे देशो में सामाजिक क्रान्तियां भड़काना चाहते थे। क्योंकि उनका उद्देश्य ससार-व्यापी क्रान्ति था; वे समझते थे कि इसी तरीके से वे खुद अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकते हैं। मै पहले ही बतला चुका हूँ कि सोवियत के इस प्रचार का फ़ासीसी और जर्मन सेनाओं पर बडा भारी असर पडा था।

ब्रैस्ट लिटोव्स्क की सन्धि को लेनिन एक अस्थायी चीज़ समझता था जो ज्यादा दिन टिकने वाली नही थी। हुआ यह कि नौ महीने बाद, ज्योही मित्र-राष्ट्रो ने पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी के दाँत खट्टे किये त्योही सोवियत ने इस सन्धि को रद कर दिया। लेनिन तो केवल यह चाहता था कि सेना के थके हुए मज़दूरों और किसानो को ज़रा आराम और दम लेने का मौका मिल जाय ताकि वे अपने-अपने घरों को वापस जा कर खुद अपनी आँखो से देख सके कि क्रान्ति ने क्या बात पैदा कर दी है। वह चाहता था कि किसान लोग महसूस करे कि ज़मीदार खतम हो गये थे और धरती के मालिक वे बन गये थे; और कारखानो के मज़दूर महसूस करे कि उनके शोषक भी खतम हो गये थे। इससे वे क्रान्ति के लाभो का मूल्य समझने लगेंगे और उनकी रक्षा के लिए उत्सुक होंगे और महसूस करेंगे कि उनके असली शत्रु कौन थे। बस, लेनिन का यही विचार था क्योंकि वह खूब जानता था कि गृह-युद्ध आने वाला है। उसकी यह नीति बाद में बड़ी शानदार सफलता के साथ सही साबित हुई। ये किसान और मज़दूर मोर्चों से अपने-अपने खेतों को और कारखानो को वापस लौटे, वे कोई बोलशेविक या समाजवादी नही थे लेकिन वे क्रान्ति के सबसे कट्टर समर्थक बन गये क्योंकि उस चीज़ को नही छोड़ना चाहते थे जो उन्हे क्रान्ति के द्वारा मिली थी।

बोलशेविक नेता इधर तो जर्मनो से किसी न किसी तरह समझौते का प्रयत्न कर रहे थे, उधर उन्होंने अन्दरूनी परिस्थितियो पर भी ध्यान देना शुरू किया। मशीनगनो और युद्ध के सामान से लैस बहुत-से भूतपूर्व सैनिक अफसर और ले-भग्गू लुटेरो का धन्धा कर रहे थे और बडे-बड़े शहरो के ठेठ बीच में मार-काट और लूटपाट मचा रहे थे। पुराने अराजकतावादी दलो के भी कुछ सदस्य थे जो सोवियतो को पसंद नही करते थे और बहुत गड़बड मचा रहे थे। सोवियत अधिकारियो ने इन धाड़ैतियो वग़ैरा का ज़ोरों से दमन किया और उन्हे खतम कर दिया।

सोवियत शासन को इससे भी बडा खतरा विभिन्न मुल्की विभागो के कर्मचारियो की ओर से पैदा हुआ जिनमें से बहुतो ने बोलशेविको के मातहत काम करने से या उन्हे किसी तरह का सहयोग देने से इन्कार कर दिया। लेनिन ने यह नियम बनाया कि "जो काम नही करेगा वह खाना भी नही खायगा"; काम नही तो खाना भी नही। इसलिए सहयोग न देने वाले सरकारी नौकरो को तुरन्त बरखास्त कर दिया गया। साहूकारों ने अपनी तिजोरिया खोलने से इन्कार किया तो वे डिनेमाइट से उड़ा दी गईं। लेकिन पुरानी व्यवस्था के सहयोग न देने वाले नौकरो के द्वारा लेनिन की अवज्ञा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तब देखने मे आया जब प्रधान सेनापति ने आज्ञापालन से इन्कार किया। उसे तुरन्त बरखास्त किया गया और पाँच मिनट के अन्दर क्राइलैन्को नामक एक नौजवान बोलशेविक लेफ्टिनेन्ट प्रधान सेनापति बना दिया गया!

इन परिवर्त्तनों के बावजूद रूस का पुराना ढांचा बहुत कुछ वैसा का वैसा बना रहा। किसी देश का

एकदम समाजीकरण आसान बात नही है, और अगर घटनाओं ने मजबूरी पैदा न कर दी होती तो सम्भव है कि रूस में परिवर्त्तन की प्रक्रिया में बहुत वर्ष लग जाते। जिस तरह किसानो ने जमीदारों को निकाल बाहर किया था उसी तरह पुराने मालिकों के प्रति क्रोध में भर कर मजदूरों ने भी अनेक जगह उन्हे निकाल बाहर किया और कारखानों पर कब्जा कर लिया। सोवियत इन कारखानो को उनके पुराने पूंजीपति मालिको को किसी हालत में वापस नहीं दे सकती थी, इसलिए उसने इन पर अधिकार कर लिया। गृह-युद्ध के समय में इन मालिकों ने कई जगह कारखानों की मशीनों को तोड़ने का प्रयत्न किया और सोवियत को फिर दखल देना पड़ा और इनकी रक्षा के लिए उन्हे अपने अधिकार मे लेना पडा। इस तरह उत्पादन के साधनो का समाजीकरण , यानी एक प्रकार का राज्य-समाजवाद या कारखानो पर राज्य का स्वामित्व, इतनी शीघ्रता से हुआ जितना मामूली स्थितियो में नही हो सकता था।

सोवियत शासन के पहले नौ महीने में रूस के लोगो के जीवन में कुछ ज्यादा अन्तर नही पडा। बोलशेविको ने आक्षेपों और गालियों तक को भी बर्दाश्त किया और बोलशेविक-विरोधी अखबार निकलते रहे। जनता आम तौर पर भूखी मर रही थी, लेकिन धनवान लोगो के पास अब भी शान-शौकत और विलास के लिए खूब पैसा था। रात्रि में चलने वाली मद्य-शालाओं मे भीड़ लगी रहती थी और घुड-दौड वग़ैरा अन्य खेलकूद होते रहते थे। बडे-बडे नगरो मे उच्चवर्गीय धनवान खूब नजर आते थे जो सोवियत सरकार के पतन की आशा में खुल्लम-खुल्ला खुशियाँ मनाते थे। ये लोग, जो पहले देशभक्ति की दुहाई देकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रखने के लिए उत्सुक थे, अब सचमुच पैट्रोग्राड पर जर्मनी की चढाई के उत्सव मना रहे थे। अपनी राजधानी पर जर्मनो का अधिकार हो जाने की सम्भावना पर ये बहुत खुश नजर आते थे। सामाजिक क्रान्ति इन्हे जितनी अधिक बुरी चीज़ मालूम होती थी उतना विदेशी प्रभुत्व का डर नही। करीब-करीब हमेशा ऐसा ही हुआ करता है, खास कर जब वर्गों का मामला होता है।

इस प्रकार जनता का जीवन बहुत करके हस्ब-मामूल चल रहा था और इस अवस्था पर बोलशेविको का आतंक तो वास्तव में था ही नही। मॉस्को का मशहूर नाटकीय भाव-नृत्य दिन रात चलता रहता था और उसमें दर्शको की खूब भीड़ रहती थी। जब पैट्रोग्राड पर जर्मनो का खतरा बढ गया था तब सोवियत सरकार मॉस्को चली गई थी और तब से मॉस्को ही उनकी राजधानी चला आ रहा था। मित्र-राष्ट्रो के राजदूत अभी तक रूस में ही थे। जब पैट्रोग्राड पर जर्मनो के अधिकार का अन्देशा पैदा हुआ तब ये लोग वहाँ से भाग गये थे और सब चहल-पहल से दूर वोलोगडा नामक एक छोटे-से देहाती नगर मे आश्रय लेकर वहाँ जम गये थे। जो बे-सिर पैर की अफवाहे इनके पास पहुचती थी उनसे ये सब वहाँ निरन्तर परेशानी और विकलता की हालत मे बैठे रहते थे। वे चिन्ताकुल होकर ट्राट्स्की से बार-बार पूछते रहते थे कि ये अफ़वाहे सच हैं या नही। इन बूढे कूटनीतिज्ञो की इस मानसिक बेचैनी से ट्राट्स्की इतना तग आ गया कि वह "वोलोगडा के इन 'एक्सैलेंन्सियो'[1] की मानसिक बेचैनी को शान्त करने के लिए "ब्रोमाइड का नुसखा" लिखने के लिए तैयार हो गया! जिन्हे हिस्टीरिया के दौरे होते है या जो जल्दी घबडा जाते है उन्हे डाक्टर लोग ब्रोमाइड दिया करते है।

ऊपर से तो जनता का जीवन हस्ब-मामूल चलता नजर आता था, मगर इस जाहिरा शान्ति के नीचे अनेक धारायें और प्रतिकूल धारायें बह रही थी। किसी को भी, यहाँ तक कि खुद बोलशेविको को भी, यह आशा नही थी कि बोलशेविक ज्यादा दिन टिक जायगे। हर आदमी साज़िशो मे लगा था। जर्मनो ने दक्षिण रूस के यूक्रेन में एक कठपुतली राज्य स्थापित कर दिया था और सुलह के बावजूद उनकी ओर से सोवियत को अन्देशा बना हुआ था। मित्र-राष्ट्र अलबत्ता जर्मनो से घृणा करते थे, पर बोलशेविको से वे उससे भी अधिक घृणा करते थे। हाँ, अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने सन् १९१८ ई० के शुरू में सोवियत कांग्रेस को हार्दिक शुभकामनाए जरूर भेजी थी। पर बाद में मालूम होता है वह पछताया और उसने अपने विचार बदल दिये। मतलब यह कि मित्र-राष्ट्र प्रति-क्रान्ति की कार्रवाइयो को चुपचाप धन से तथा अन्य प्रकार से सहायता दे रहे थे और खुद भी गुप्त रूप से उनमें भाग ले रहे थे। मॉस्को विदेशी जासूसों से भरा पड़ा था। ब्रिटिश गुप्तचर विभाग का प्रधान कार्यकर्त्ता, जो इंग्लैण्ड का उस्ताद जासूस माना जाता

[1] राजदूतों के नाम के पहले हिज़ एक्सैलेंन्सी (His Excelleney) की उपाधि लगाई जाती है।

था, सोवियत सरकार को झमेले में डालने के लिए वहाँ भेजा गया था। जिन अमीरों और उच्चवर्गीय लोगों की जमीन-जायदाद छीन ली गई थी वे मित्र-राष्ट्रों के पैसे की मदद से जनता को निरन्तर प्रति-क्रान्ति के लिए भड़का रहे थे।

सन् १९१८ ई० के मध्य में स्थिति इस प्रकार की थी। सोवियत का जीवन मानो कच्चे धागे से लटका हुआ था।

: १५२ :

सोवियतों का विजय-संघर्ष

११ अप्रैल, १९३३.

सन् १९१८ ई० के जुलाई मास में रूस की स्थिति में चौका देने वाली घटनाएं सामने आईं। बोलशेविकों के चारों ओर फैला हुआ जाल धीरे-धीरे उन्हे जकडता आ रहा था। दक्षिण में यूक्रेन की तरफ से जर्मन चढे आ रहे थे और इधर रूस मे चेकोस्लोवाकिया के अनेक पुराने युद्ध-बन्दियो को मित्र-राष्ट्र मॉस्को पर धावा बोलने के लिए उकसा रहे थे। फ्रास में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महायुद्ध अभी तक चल रहा था, लेकिन रूस मे यह अजीब दृश्य नजर आ रहा था कि मित्र-राष्ट्र और जर्मन शक्तियाँ दोनो अलग-अलग, बोलशेविको को कुचलने के एक-समान उद्देश्य को पूरा करने में जुटे हुए थे। हम यहाँ फिर देखते हैं कि वर्ग-विद्वेष का बल राष्ट्रीय विद्वेष के बल से कितना अधिक जोरदार होता है, और राष्ट्रीय विद्वेष तो काफी विषभरा और कटु होता ही है। इन शक्तियो ने रूस के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा नही की थी; उन्होंने तो सोवियत को परेशान करने के लिए बहुत से अन्य तरीके निकाल लिये थे, खास कर प्रति-क्रान्ति के नेताओ को उकसाना और उन्हे हथियारो की तथा पैसे की मदद देना। कई पुराने जारशाही सेनापति भी सोवियत के विरुद्ध रण-क्षेत्र में लड़ रहे थे।

जार और उसके कुटुम्बी पूर्वी रूस मे यूराल पर्वत श्रेणी के पास स्थानीय सोवियत की निगरानी में क़ैदी बना कर रक्खे गये थे। इस प्रदेश में चेक सैनिको के चढ आने से यह स्थानीय सोवियत डर गई, और इस सम्भावना ने कि कही भूतपूर्व जार कैद से छूट कर प्रति-क्रान्ति का जबरदस्त केन्द्र न बन जाय, उसे एकदम भयभीत कर दिया। इसलिए उन्होने कायदे-कानून को ताक़ मे रख कर जार के सारे कुटुम्ब को मौत के घाट उतार दिया। मालूम होता है कि सोवियत की केन्द्रीय कमेटी इसके लिए जिम्मेदार नही थी, और लेनिन, *अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कारणो से भूतपूर्व जार की, और मानवता के नाते उसके कुटुम्ब की,* हत्या के विरुद्ध था। लेकिन जब यह काम हो ही गया तो केन्द्रीय सरकार ने उसे न्यायोचित ठहराया। शायद इस घटना ने मित्र-राष्ट्रीय सरकारो को और भी ज्यादा बौखला दिया और उन्हे पहले से भी अधिक उग्र बना दिया।

अगस्त मे स्थिति और भी बिगड़ गई और दो घटनाओ के फलस्वरूप क्रोध, निराशा और आतक पैदा हो गये। इन मे से एक तो थी लेनिन की हत्या का प्रयत्न, और दूसरी थी उत्तरी रूस में आर्केञ्जल पर मित्रराष्ट्रों की फौज का उतरना। मॉस्को में बेतहाशा सनसनी फैल गई और सोवियत के अस्तित्व का अन्त सामने नजर आने लगा। खुद मॉस्को भी एक प्रकार से जर्मनो, चेको, प्रति-क्रान्तिकारी तत्वो आदि शत्रुओ से घिरा हुआ था। मॉस्को के इर्द-गिर्द कुछ ही जिले सोवियत के शासन मे रह गये थे, और मित्र-राष्ट्रीय सेना के उतरने से अन्त बिल्कुल निश्चित दिखाई दे रहा था। बोलशेविकों के पास कुछ अधिक सेना नही थी; ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की सन्धि को पाँच ही महीने हुए थे, और पुरानी सेना के अधिकतर सिपाही सेना छोड़-छोड़ कर खेती में जा लगे थे। खुद मॉस्को में ही षड्यन्त्रों की भरमार थी, और उच्च वर्ग के लोग सोवियतों के सम्भावित पतन पर खुले आम खुशियाँ मना रहे थे।

नौ महीने की आयु वाले इस सोवियत प्रजातंत्र की ऐसी भयंकर मुसीबतभरी दशा थी। बोल-

शेविकों को निराशा और भय ने घेर लिया, और जब इन्होंने देखा कि हर हालत में मरना ही है तो निश्चय कर लिया कि लड़ते-लड़ते ही मरना चाहिए। जैसा कि सवा सौ वर्ष पहले अल्पायु फ़ांसीसी प्रजातन्त्र ने किया था, वे चारों ओर से घिरे हुए जंगली जानवर की तरह अपने शत्रुओ पर उलट पड़े। उन्होने सहनशीलता और दया दोनों को तिलांजलि दे दी। सारे देश में फौजी क़ानून जारी कर दिया गया और सितम्बर के शुरू में केन्द्रीय सोवियत कमेटी ने "लाल आतक"[1] का ऐलान कर दिया। "तमाम देशद्रोहियो के लिए मौत, विदेशी आक्रमण-कारियों के विरुद्ध निर्मम युद्ध।" वे अन्दरूनी और बाहरी दोनों शत्रुओ से इस तरह लड़ेंगे कि पीछे हटने का नाम नही। सोवियत सारी दुनिया के मुक़ाबले में और खुद अपने प्रतिगामियों के मुक़ाबले में डटकर खड़ी हो गई। इसी समय "आक्रामक साम्यवाद" का ज़माना भी शुरू हुआ और सारा देश मानो शत्रुओं से घिरी हुई छावनी बना दिया गया। लाल सेना को सगठित करने का पूरा प्रयत्न किया गया और यह काम ट्राट्स्की के सिपुर्द किया गया।

यह सितम्बर और अक्तूबर, सन् १९१८ ई०, के लगभग की बात है जब पश्चिम मे जर्मनी की युद्ध-व्यवस्था टूट रही थी और युद्ध-विराम की चर्चा चल रही थी। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने 'चौदह सूत्र' रख दिये थे जिनके बारे में यह माना गया था कि उनमे मित्र-राष्ट्रो के सब ध्येय आ गये थे। ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि इनमें से एक सूत्र यह था कि तमाम रूसी प्रदेश पर से फ़ौजें हटाली जायगी और रूस को बड़ी शक्तियो की सहायता से आत्म-विकास करने का पूरा मौका दिया जायगा। रूस में मित्रराष्ट्रों की दस्तन्दाजी और वहां उनकी फौजों का उतरना इस सूत्र की एक निराली व्याख्या सामने ला रहे थे। बोलशेविक सरकार ने राष्ट्रपति विल्सन को एक चेतावनी भेजी जिसमे उसके चौदह सूत्रो की तीव्र आलोचना की गई थी। इस चेतावनी-पत्र में उन्होंने लिखा था: "आप पोलैण्ड, सर्बिया, बैल्जियम, आदि की स्वाधीनता की और आस्ट्रिया-हगरी के लोगो के लिए आज़ादी की माग करते है। लेकिन अजीब बात है कि आपकी मागों में हमें आयर्लैण्ड, मिस्र, भारत और फिलीपाइन द्वीपो तक की आज़ादी का कोई ज़िक्र नहीं दिखाई देता।"

११ नवम्बर, सन् १९१८ ई०, को मित्र-राष्ट्रों और जर्मन शक्तियो के बीच सुलह हो गई और युद्ध-विराम पर हस्ताक्षर हो गये। लेकिन रूस में सन् १९१९ और १९२० ई० में गृह-युद्ध जोर-शोर से लगातार चलता रहा। सोवियत ने अकेले दम शत्रुओ के झुड के झुड का मुकाबला किया। एक वक्त तो ऐसा था जब सोवियत सेना पर सत्रह विभिन्न मोर्चों पर एक साथ हमले हुए। इगलैण्ड, अमरीका, फ्रास, जापान, इटली, सर्बिया, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, बाल्टिक तटवर्त्ती राज्य, पोलैण्ड, और ढेरो प्रति-क्रान्तिकारी रूसी सेनापति, सब-के-सब सोवियत के विरुद्ध लड रहे थे और यह लडाई ठेठ साइबेरिया से लगाकर बाल्टिक समुद्र और क्रीमिया तक फैली हुई थी। बार बार ऐसा मालूम होता था कि सोवियत का अन्त होने वाला है; मॉस्को भी खतरे मे पड गया था, पैट्रोग्राड का शत्रु के आगे पतन होने ही वाला था; परन्तु सोवियत हर सकट को पार कर गई, और हर सफलता के साथ उसका आत्म-विश्वास और बल बढते गये।

प्रति-क्रान्तिकारी नेताओ में एक एडमिरल कोलचक था। वह अपने-आप को रूस का शासक कहने लगा और मित्रराष्ट्रो ने सचमुच उसे ऐसा मान भी लिया और बहुत सहायता दी। साइबेरिया मे इसने जो हरकत की उसका वर्णन उसके युद्ध-साथी जनरल ग्रेव्ज़ ने किया है जो कोलचक को मदद देने वाली अमरीकी सेना का सेनापति था। यह अमरीकी सेनापति लिखता है

> "वहा बडी भयकर हत्याएँ हुई; लेकिन जैसा कि दुनिया का विश्वास है, वे बोलशेविको ने नही की थी। जब मै यह कहता हूँ कि बोलशेविको द्वारा एक-एक मनुष्य की हत्या के मुक़ाबले मे बोलशेविक-विरोधियो ने पूर्वी साइबेरिया में सौ-सौ मनुष्यों को मौत के घाट उतारा, तो मेरे इस कथन में ज़रा भी अतिशयोक्ति नही है।"

तुम्हे यह जान कर दिलचस्पी होगी कि प्रमुख राज्यनीतिज्ञ कितनी जानकारी के बल पर महान राष्ट्रो का कारोबार चलाते हैं और युद्ध तथा सुलह करते हैं। लॉयड जॉर्ज ने, जो उस समय इंगलैण्ड का प्रधान मंत्री

---

[1] Red Terror.

था और योरप में शायद सब से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति था, ब्रिटिश कामन्स सभा में रूस के बारे में भाषण देते हुए वहां कोलचक तथा अन्य सेनापतियों का जिक्र किया था। इन्ही नामो के साथ उसने "सेनापति खारकोफ़" का भी नाम लिया था। खारकोफ़ किसी सेनापति का नाम नही बल्कि एक प्रसिद्ध शहर का नाम है, जो यूक्रेन की राजधानी है! पर प्रारम्भिक भूगोल से इतने अपरिचित होते हुए भी इन राज्य-नीतिज्ञों ने योरप के टुकड़े-टुकड़े कर ही डाले और उसका नया नक़शा बना ही डाला!

मित्र-राष्ट्रो ने रूस की भी नाकाबन्दी करदी और यह इतनी कारगर हुई कि सन् १९१९ ई० के पूरे वर्ष में रूस न तो बाहर से कुछ भी खरीद सका और न बाहर कुछ बेच सका।

इन ज़बरदस्त कठिनाइयो तथा अनेक शक्तिशाली दुश्मनो के बावजूद भी सोवियत रूस सही-सलामत रह गया और उसने शानदार विजय प्राप्त की। यह बात इतिहास की सबसे अधिक आश्चर्यकारक करतूतों मे गिनी जाती है। सोवियत यह कैसे कर पाई? इसमे कोई सन्देह नही कि यदि मित्र-राष्ट्रीय शक्तिया एक हो जाती और बोलशेविको का नाश करने पर तुल जातीं तो वे शुरू के दिनो में ऐसा कर सकती थी। जर्मनी से निबट लेने के बाद उनके पास मनमाना उपयोग करने के लिए विशाल सेनाए थी। परन्तु इन सेनाओ का हर कही उपयोग करना आसान नही था, खासकर सोवियतो के विरुद्ध। ये सब सेनाए युद्ध से थक चुकी थी और अगर इनसे विदेशों में युद्ध करने की फिर माग की जाती तो ये इन्कार कर देती। इसके अलावा मजदूरो में नवीन रूस के प्रति काफ़ी सहानुभूति थी, और मित्र-राष्ट्रीय सरकारो को डर था कि अगर वे सोवियतों के विरुद्ध युद्ध का खुला ऐलान कर देंगे तो उन्हे अपने-अपने देशो में मुसीबत का सामना करना पड़ेगा। सच तो यह है कि योरप विद्रोह के किनारे पर खड़ा मालूम दे रहा था। और तीसरे मित्र-राष्ट्रीय शक्तियो की आपसी लाग-डाट चल रही थी। सुलह होते ही उन्होंने आपस में लडना—झगडना शुरू कर दिया था। इन सब कारणो से वे बोलशेविको का अन्त करने के लिए कोई दृढ प्रयत्न नही कर सकी। इसलिए उन्होने इस काम को द्राविड़ी प्राणायाम के तरीक़े से यथाशक्ति पूरा कराने के लिए यह कोशिश की कि अपने लिए दूसरो को लड़वाया और उन्हे रुपये, हथियारो और विशेषज्ञो की सलाह की मदद दी। उन्हे विश्वास था कि सोवियते टिक नही सकेगी।

इन सब बातो से सोवियतो को निस्सन्देह मदद मिली और उन्हे अपना बल बढाने का समय मिल गया। लेकिन यह समझ लेना उनके साथ अन्याय करना होगा कि उनकी विजय बाहरी परिस्थितियो के कारण हुई। जड मे, यह रूसी जनता के आत्म-विश्वास, श्रद्धा, आत्म-त्याग और अविचल दृढ़-निश्चय की विजय थी। और इसमे चमत्कार यह था कि इन लोगो को हर जगह सुस्त, जाहिल, साहसहीन और महान प्रयत्न के अयोग्य समझा जाता था, और ठीक ही समझा जाता था। आज़ादी एक आदत है और अगर हम बहुत दिन उससे वचित रहे तो बहुत करके उसे भूल जाते हैं। इन जाहिल रूसी किसानो और मजदूरो को इस आदत का अभ्यास करने का कोई मौक़ा नही मिला था। फिर भी उन दिनों के रूसी नेतृत्व में यह गुण था कि उसने इस खराब मानव सामग्री को एक बलवान, सगठित राष्ट्र के रूप मे बदल दिया जिसे अपने उद्देश्य के प्रति श्रद्धा थी और अपनी शक्ति मे विश्वास था। कोलचक और उसके सगी-साथी पराजित हो गये, केवल बोलशेविक नेताओं की योग्यता और दृढ संकल्प के कारण नही, बल्कि इसलिए भी कि रूसी किसान ने उन्हे बर्दाश्त करने से इन्कार कर दिया। उसके लिए वे पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधि थे जो उसकी नई प्राप्त की हुई धरती को और अन्य रियायतो को छीनने के लिये आए थे। इसलिए उसने मरते दम तक इनकी रक्षा करने का निश्चय कर लिया।

मीनार की तरह अन्य सब से ऊचा और निर्विरोध प्रभुत्व जमाने वाला—ऐसा था लेनिन। रूसी जनता के लिए तो वह मानो देवता था, जो आशा और श्रद्धा का प्रतीक था, जो इतना बुद्धिमान था कि हर कठिनाई में मार्ग निकाल सकता था, और जिसे कोई भी चीज विचलित या विकल नही कर सकती थी। उसके बाद उन दिनो ट्राट्स्की का नम्बर आता था (क्यों कि अब वह रूस में बदनाम है), जो लेखक और वक्ता था, जिसे पहले का कोई सैनिक अनुभव नही था, और जो अब गृह-युद्ध और नाकेबन्दी के बीच एक बड़ी सेना संगठित करने के काम में जुट गया था। ट्राट्स्की जान पर खेलने वाला वीर था और लड़ाई में अक्सर अपनी जान खतरे में डाल देता था। जो लोग साहसहीनता या अनुशासनहीनता का परिचय देते थे उनके लिए उसके हृदय में कोई दया नही थी। गृह-युद्ध की एक नाजुक घड़ी में उसने यह आज्ञा निकाली थी:

"मैं चेतावनी देता हूं कि अगर फौज का कोई अंग बिना आज्ञा के पीछे हटेगा तो पहले उस अंग का नायक गोली से उडाया जायगा और फिर सेनापति। उनके स्थान पर वीर और जवाँमर्द सिपाही नियुक्त किये जायगे। कायर, नामर्द और ग़द्दार गोली से नही बच सकेगे। यह मैं सम्पूर्ण लाल सेना के सन्मुख शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता हू।"

और उसने अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया।

अक्तूबर सन् १९१९ ई० मे ट्राट्स्की ने जो दूसरी सैनिक आज्ञा निकाली वह भी दिलचस्प है, क्योंकि उससे जाहिर होता है कि बोलशेविक लोग जनता और पूंजीवादी सरकारो को किस प्रकार दो अलग-अलग चीजें मानने का प्रयत्न करते थे और कोरा राष्ट्रीय दृष्टिकोण कभी भी नही अपनाते थे। इस आज्ञा में कहा गया था :

"परन्तु आज भी, जब हम इग्लैण्ड के किराये के टट्टू यूदेनिश के साथ घोर युद्ध में प्रवृत्त है, मै आदेश देता हू कि तुम यह कभी मत भूलो कि इग्लैण्ड दो हैं। मुनाफा-खोरो, हिंसको, रिश्वत खोरो और खून के प्यासो के इग्लैण्ड के अलावा मजदूरो का आध्यात्मिक बल का, अन्तर्राष्ट्रीय एकता के उच्च आदर्शों का, एक इग्लैण्ड और है। हमसे जो लड रहा है वह सट्टाबाजार के सटोरियो का कमीना और बेईमान इग्लैण्ड है। मजदूरों का और जनता का इग्लैण्ड हमारे साथ है।"

जिस समय पैट्रोग्राड यूदेनिश के हाथो मे जाने ही वाला था, तब उसकी रक्षा करने के निश्चय में उस हठीलेपन का कुछ रूप नजर आता है जिसके साथ लाल सेना को लडाया जा रहा था। रक्षा समिति की आज्ञा थी कि "खून की एक बूद बाकी रहने तक भी पैट्रोग्राड की रक्षा करो, बित्ता भर भी पीछे न हटो, और शहर की गली-गली मे शत्रु का मुकाबला करो"।

महान रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की लिखता है कि लेनिन ने एक बार ट्राट्स्की के बारे मे कहा था :

"भला मुझे ऐसा अन्य व्यक्ति बतलाओ तो सही जो एक साल के भीतर ऐसी अनुकरणीय सेना सगठित करने की योग्यता दिखा दे और उसके ऊपर फिर सैनिक विशेषज्ञो का भी आदर प्राप्त कर ले। हमारे पास ऐसा व्यक्ति है। हमारे पास सब कुछ है। और चमत्कार अब भी होने बाकी हैं।"

यह लाल सेना दिन दूनी रात चौगुनी बढने लगी। दिसम्बर, सन् १९१७ ई०, में जब बोलशेविकों ने सत्ता पर अधिकार किया ही था इस सेना की सख्या ४,३५,००० थी। ब्रैस्टलिटोव्स्क की सन्धि के बाद अधिकतर सिपाही छोड कर चले गये होगे और सेना का दुबारा सगठन करना पडा होगा। सन् १९१९ ई० के मध्य तक इसकी सख्या १५,००,००० हो गई थी। एक वर्ष बाद यह ५३,००,००० की जबरदस्त सख्या तक पहुच गई थी।

सन् १९१९ ई० के अन्त तक गृह-युद्ध मे सोवियते निश्चय ही अपने विरोधियो के ऊपर हावी हो चुकी थी। परन्तु युद्ध एक साल तक और चलता रहा और इस बीच अनेक नाज़ुक घडिया आईं। सन् १९२० ई० में पोलैण्ड (जो जर्मनी की पराजय के बाद नया बना था) की रूस से खटक गई और दोनो में युद्ध छिड गया। सन १९२० ई० के अन्त तक ये सब युद्ध लगभग समाप्त हो चुके थे और रूस को आखिर कुछ शान्ति प्राप्त हुई थी।

इसी बीच अन्दरूनी कठिनाइया बढ गई थी। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और अकाल ने देश की हालत बहुत बुरी कर डाली थी। उत्पादन बहुत कम हो गया था, क्योंकि जब प्रतिद्वन्दी सेनाएं निरन्तर देश को रौंद रही हो तो न तो किसान खेत बो सकते हैं और न मजदूर कारखाने चला सकते हैं। युद्ध काल में साम्यवादी तरीका अपनाने से देश किसी तरह मुसीबतो से पार हो गया था, लेकिन हरेक व्यक्ति को अपने पेट पर कस कर पट्टी बांधनी पडी थी और अब इस सिलसिले को सहन करना कठिन हो रहा था। खेतिहर लोग अधिक उत्पादन में दिलचस्पी नही ले रहे थे, क्योंकि उनका कहना था कि उस समय जो सैनिक साम्यवाद चल रहा था उसके अन्तर्गत उनकी पैदा की हुई सारी फ़ालतू फसल को राज्य छीन लेगा, इसलिए वे मेहनत क्यो करें? एक अत्यन्त कठिन और खतरनाक परिस्थिति पैदा हो रही थी।

पैट्रोग्राड के निकट क्रॉन्सटांट में नाविकों का विद्रोह तक भी हो गया था, और खुद पैट्रोग्राड (या लेनिनग्राड) में हड़तालें हो रही थी।

लेनिन ने, जिसमें मूलभूत सिद्धान्तों को तत्कालीन परिस्थितियों में ढालने की असाधारण प्रतिभा थी, तुरन्त कार्रवाई की। उसने युद्धकालीन साम्यवाद का अन्त कर दिया और नवीन आर्थिक व्यवस्था नामक एक नई नीति चलाई। इसके द्वारा किसान को उत्पादन करने की और अपनी उपज को बेचने की अधिक आज़ादी मिल गई और कुछ खानगी व्यापार भी खोल दिया गया। कुछ हद तक यह ठेठ साम्यवादी सिद्धान्तो से परे हटना था, लेकिन लेनिन ने इसे अस्थायी तदबीर कह कर उचित ठहराया। इससे जनता को अवश्य ही बहुत राहत मिली। लेकिन शीघ्र ही रूस को एक और आफत का सामना करना पडा। यह अनावृष्टि के कारण, और उसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी रूस के लम्बे-चौड़े प्रदेश मे फसल की हानि के कारण ,पडने वाला अकाल था। यह भयकर अकाल था, इतिहास में इससे बड़ा अकाल पहले कभी नही पड़ा था, और इसमें लाखो जनता भूखी मर गई। इस अकाल से सरकार का सारा ढाचा ही टूट जाने की सम्भावना थी, क्योंकि एक तो यह वर्षों के युद्ध और नाकेबन्दी और आर्थिक व्यवस्था की गड़बड़ी के बाद ही आ पडा था, और दूसरे तब तक सोवियत सरकार को शान्ति के समय निश्चिन्त होकर काम करने का मौका नही मिला था। पर फिर भी, जिस प्रकार सोवियत पहले की आफ़तों को पार कर गई थी, उसी प्रकार इसे भी सही-सलामत पार कर गई। योरपीय सरकारों का एक सम्मेलन यह विचार करने के लिए हुआ कि अकाल का कष्ट दूर करने के लिए क्या सहायता देनी चाहिए। उन्होने घोषणा की कि वे तब तक कोई सहायता नही देंगे जब तक कि सोवियत सरकार ज़ारशाही के उन पुराने कर्ज़ों को चुकाने का वादा न करे जिन्हे उसने रद कर दिया था। साहूकारी की भावना मानवता की भावना से ज्यादा ज़ोरदार साबित हुई, और रूसी माताओं की अपने मृतप्राय बच्चो के लिए मर्मस्पर्शी अपील पर भी कोई ध्यान नही दिया गया। लेकिन संयुक्तराज्य अमरीका ने कोई शर्तें नही लगाई और बहुत सहायता पहुचाई।

जब इंग्लैण्ड तथा अन्य योरपीय देशो ने रूस के अकाल मे सहायता देने से इन्कार किया तो इसका यह मतलब नही था कि वे अन्य मामलो में सोवियत का बहिष्कार कर रहे थे। सन् १९२१ ई० के शुरू में ही एक आग्ल-रूसी व्यापारिक सधि पर हस्ताक्षर हो चुके थे और अन्य देशो ने भी इसका अनुकरण करके सोवियत के साथ व्यापारिक सन्धिया कर ली थी।

चीन, तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान, वगैरा पूर्वी देशो के प्रति सोवियत ने बडी उदार नीति का पालन किया। उन्होने पुराने ज़ारशाही विशेषाधिकार छोड दिये और बहुत मित्रतापूर्ण व्यवहार करने का प्रयत्न किया। यह चीज, तमाम पराधीन और शोषित क़ौमो के लिए आज़ादी के उनके सिद्धान्तो के अनुसार थी, लेकिन उनके लिए इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अभिप्राय था अपनी स्थिति मज़बूत बनाना। सोवियत रूस की इस उदारता से इंग्लैण्ड जैसी साम्राज्यशाही शक्तिया अक्सर खोटी स्थिति में पड जाती थी, क्योंकि पूर्वी देश जब तुलनाए करते थे तो उन्हे इंग्लैण्ड तथा अन्य शक्तिया हेच मालूम पड़ती थी।

सन् १९१९ ई० में एक और घटना हुई जिसका ज़िक्र यहा करना ज़रूरी है। यह थी साम्यवादी दल द्वारा मॉस्को मे तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना। पिछले पत्रो में मै प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सघ का ज़िक्र कर चुका हू जो अनेक वीरतापूर्ण घोषणाओ के बाद सन् १९१४ ई० का महायुद्ध छिड़ते ही टूट गया। बोलशेविको की धारणा थी कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ को स्थापित करने वाले पुराने मजदूर तथा साम्यवादी दलो ने श्रमजीवी वर्ग को धोखा दिया। इसलिए इन्होने स्पष्ट क्रान्तिकारी दृष्टिकोण वाला तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ बनाया ताकि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध और उन अवसरवादी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध भी युद्ध लडा जाय जो "मध्यम-मार्ग" की नीति के अनुगामी थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ को अक्सर "कॉमिन्टर्न"[1] भी कहा जाता है, और अनेक देशों मे प्रचार कार्य मे इसने बड़ा भारी भाग लिया है। जैसा कि इसके नाम का तात्पर्य है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन है जिसका चुनाव अनेक विभिन्न देशो के विभिन्न साम्यवादी दलों द्वारा होता है। लेकिन, चूंकि रूस ही वह देश है जहाँ साम्यवाद की शानदार विजय हुई है, इसलिए कॉमिन्टर्न में स्वभावतः रूसी प्रभाव सब से अधिक है। अलबत्ता कॉमिन्टर्न और सोवियत सरकार

[1] Comintern —यह Communist International का संक्षिप्त रूप है।

अलग-अलग चीजें हैं, हालांकि बहुत से व्यक्ति दोनों के प्रमुख पदाधिकारी हैं। चूंकि कॉमिन्टर्न बरमला तौर पर क्रान्तिकारी साम्यवाद फैलाने वाला संगठन है, इसलिए साम्राज्यशाही शक्तियां इससे बुरी तरह चिढ़ी हुई हैं और वे अपने-अपने प्रदेशों में इसकी प्रवृत्तियों को दबाने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती हैं।

युद्ध के बाद पश्चिमी योरप में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ ("श्रमजीवी और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ") भी पुनर्जीवित किया गया। बहुत हद तक द्वितीय तथा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघो का, कम से कम सिद्धान्त रूप में, एक ही ध्येय है। परन्तु दोनों की विचारधाराए और तरीके बिलकुल अलग-अलग हैं और दोनों एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। ये आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और एक दूसरे पर ऐसे आक्रमण करते हैं जैसे कि अपने बाहमी शत्रु पूंजीवाद पर भी नही करते। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ अब एक प्रतिष्ठित संगठन बन गया है और इसके सदस्य अक्सर योरपीय सरकारों के मन्त्रिमण्डलों में शामिल होते रहते हैं। तृतीय संघ क्रान्तिकारी संगठन चला आ रहा है, इसलिए यह प्रतिष्ठित नही माना जाता।

रूस के गृह-युद्ध में शुरू से अखीर तक 'लाल आतंक' और 'श्वेत आतंक' क्रूर निर्दयता में एक दूसरे से होड़ लगाते रहे, और इसमें शायद श्वेत आतंक लाल आतंक से जबरदस्त बाजी ले गया। साइबेरिया में कोलचक के अत्याचारों के बारे में अमरीकी सेनापति के वर्णन से (जो मै ऊपर दे चुका हू), तथा अन्य वर्णनो से, यही परिणाम निकलता है। लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नही हो सकता कि लाल आतंक कठोर था, और इसका फल अनेक निर्दोष व्यक्तियो को भोगना पड़ा होगा। बोलशेविको पर सब तरफ से आक्रमण हो रहे थे और वे चारो ओर षड्यन्त्रो तथा जासूसों से घिरे हुए थे, इसलिए उनकी मानसिक स्थिरता नष्ट हो गई और जरा भी सन्देह होने पर वे बड़ी कठोर सजाए देने लगे। खासकर उनकी राजनैतिक पुलिस, जो "चेका"[1] कहलाती थी, इस आतंक के लिए बहुत बदनाम थी। यह भारत मे 'सी० आई० डी०'[2] की समकक्ष थी, परन्तु इसके अधिकार बहुत बढे-चढे थे।

यह पत्र लम्बा होता जा रहा है। लेकिन इसे पूरा करने से पहले मै तुम्हें लेनिन के बारे में कुछ और बातें बतलाना चाहता हूँ। अगस्त, सन् १९१८ ई०, में जब उसकी हत्या का प्रयत्न किया गया था, तब उसे गहरे घाव लगे थे। परन्तु इनके बावजूद भी उसने कुछ विश्राम नही लिया था। वह काम के जबरदस्त बोझ को निबटाता रहा, और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि मई, सन् १९२२ ई०, में उसकी हालत गिर गई। कुछ विश्राम के बाद वह फिर काम मे लग गया, पर ज्यादा दिन के लिए नही। सन् १९२३ ई० में उसकी हालत पहले से भी अधिक गिर गई और वह फिर नही सम्हल सका। २१ जनवरी, सन् १९२४ ई०, को मॉस्को के निकट उसकी मृत्यु हो गई।

कई दिनों तक उसका शव मॉस्को में रक्खा रहा—सर्दी का मौसम था और रासायनिक मसाले लगाकर शव को वर्षों तक के लिए टिकाऊ बना दिया गया था। और जनसाधारण के प्रतिनिधि, किसान और मजदूर, नर और नारियां और बच्चे, सारे रूस से तथा साइबेरिया के दूरवर्ती मैदानों से, अपने उस परम-प्रिय साथी पर श्रद्धा की अन्तिम भेंट चढाने आये जिसने उन्हे गहरे गर्त्त मे से खींचकर बाहर निकाला था और परिपूर्ण जीवन का मार्ग दिखाया था। उन्होने मॉस्को के मनोहर 'लाल चौक' में उसके लिए एक सादा और सजावट-रहित मक़बरा बनाया। उसका शव एक काच के सन्दूक में अभी तक वहाँ रक्खा हुआ है और हर शाम को लोगो की एक बहुत लम्बी कतार खामोशी के साथ उसके पास से गुजरती है। लेनिन को मरे बहुत वर्ष नही बीते हैं, लेकिन इतने थोड़े समय में ही वह, न केवल अपने रूस में बल्कि समग्र संसार मे, एक प्रबल परम्परा का संस्थापक बन गया है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसकी महानता को चार चांद लगते जाते हैं; वह संसार के अमर-जनो की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी में गिना जाने लगा है। पैट्रोग्राड अब लेनिनग्राड हो गया है, और करीब-क़रीब हर रूसी घर में एक लेनिन कोष्ठ होता है, या लेनिन का चित्र होता है। परन्तु लेनिन जीवित है, यादगारों में या तसवीरों में नही, बल्कि अपने किये हुए जबरदस्त कार्यों में, और करोड़ों श्रम-जीवियों के हृदयों में, जो उसके उदाहरण से स्फूर्ति और अच्छे दिनों की आशा का सन्देश प्राप्त करते हैं।

---

[1] Cheka. [2] C. I. D. (Criminal Investigation Department)—अंग्रेजी राज्य का भारतीय पुलिस का खुफिया विभाग।

यह न समझना कि लेनिन कोई मानवताहीन यंत्र था जो अपने कार्य में डूबा रहता था और इसके सिवा और कोई बात नही सोचता था। वह अपने कार्य का और जीवन के उद्देश्य का अनन्य पुजारी अवश्य था, लेकिन साथ ही उसमें यह भावना लेशमात्र भी नही थी कि लोग उसकी ओर आँखें लगाये हुए हैं। वह तो एक मूर्तिमान विचार था। और इस पर भी उसमें बहुत मनुष्यता थी, और मनुष्योचित गुणों में सर्वश्रेष्ठ गुण था–दिल खोल कर हँसने की क्षमता। मॉस्को स्थित ब्रिटिश एजेण्ट लॉकहार्ट, जो सोवियत के खतरे के दिनों में वहाँ था, लिखता है कि चाहे जो हो जाय लेनिन हमेशा खुश मिजाज रहता था। इस ब्रिटिश कूट-नीतिज्ञ ने लिखा है: "अपने जीवन में मै जिन सार्वजनिक नेताओं से मिला हूँ उन सब मे सबसे अधिक स्थिर स्वभाव वाला मैंने इसी को पाया"। अपनी बातचीत में और अपने कार्य में सीधा और सच्चा, तथा लम्बी-चौडी बातो से और ढोंग से घृणा करने वाला। वह संगीत-प्रेमी था, यहाँ तक कि उसे डर लगा रहता था कि इस सगीत-प्रेम का उस पर इतना अधिक असर न हो जाय कि वह कार्य-शिथिल बन जाय।

लेनिन के एक साथी ल्यूनाशार्स्की ने, जो बहुत वर्षों तक शिक्षा-विभाग का बोलशेविक मंत्री रहा था, उसके सम्बन्ध में एक निराली बात कही थी। लेनिन द्वारा पूजीपतियो के सताये जाने की तुलना उसने ईसा द्वारा मन्दिर से सूद-खोरो के निकाल दिये जाने से की थी और कहा था: "अगर ईसा आज जीवित होता तो वह बोलशेविक होता"। अधार्मिक लोगो के लिए इस प्रकार की तुलना करना एक निराली बात है।

स्त्रियो के बारे मे लेनिन ने एक बार कहा था: "जब तक आधी आबादी रसोई घर मे गुलामी करती रहेगी, तब तक कोई राष्ट्र आज़ाद नही हो सकता।" एक दिन जब वह कुछ बच्चो को दुलार रहा था तब उसने बडे भेद की बात कही थी। उसका पुराना मित्र मैक्सिम गोर्की लिखता है कि उसने कहा था, "इनके जीवन हमारे जीवनो से अधिक आनन्दमय होगे। इन्हे उन बहुत-सी मुसीबतो का अनुभव नही करना पड़ेगा जिन्हे हम लोगो ने पार किया है। इन्हें अपने जीवनो मे इतनी अधिक क्रूरता नही देखनी पडेगी।"

इस पत्र के अन्त मे मै पूरे आर्केस्ट्रा के लिए तथा लोगो के सम्मिलित गान के लिए लिखी गई एक रचना की शब्दावली दूगा। जिन लोगो ने इसे सुना है उनका कहना है कि इसके सगीत मे सजीवता और शक्ति है और यह गीत मानो विद्रोही जनता की भावना का प्रतीक है। इस गीत का जो हिन्दी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है उसमे भी इस भावना का कुछ अश आ जाता है। यह गीत "अक्तूबर" कहलाता है और इसका अर्थ है नवम्बर, सन् १९१७ ई०, की बोलशेविक क्रान्ति। उन दिनो रूस में वह पचाग प्रचलित था जो असशोधित पचाग कहलाता है और इसमे तथा प्रचलित पश्चिमी पचाग मे तेरह दिन का अन्तर था। इस पचाग के अनुसार मार्च, सन् १९१७ ई०, की क्रान्ति फ़रवरी मे हुई और इस कारण वह फ़रवरी की क्रान्ति" कहलाती है। इसी प्रकार नवम्बर, सन् १९१७ ई०, के प्रारम्भ मे होने वाली बोलशेविक क्रान्ति "अक्तूबर की क्रान्ति" कहलाती है। अब रूस ने अपना पंचाग वदल दिया है और सशोधित पचाग ग्रहण कर लिया है। पर ये पुराने नाम अभी तक उपयोग मे आते है।

हम काम और रोटी की भीख मागने के लिए गये,
हमारे हृदय पीडा से दबे हुए थे,
कारखानो की चिमनियाँ आकाश की ओर इशारा कर रही थी,
मानो मुट्ठी बाँधने की शक्ति से रहित थके हुए हाथ हो।
हमारे दुख और हमारी पीडा के तोपो की आवाज़ से भी अधिक घोर
शब्दों ने खामोशी को भग कर दिया।
ऐ लेनिन! तू हमारे गाँठो पड़े हाथो की आकांक्षा है।
हमने समझ लिया है लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमारे
भाग्य मे है सघर्ष!
सघर्ष! संघर्ष!
तूने अन्तिम लड़ाई मे हमारा नेतृत्व किया। संघर्ष!
तूने हमें श्रमजीवियो की विजय दी।
अज्ञान और जुल्म के ऊपर इस विजय को हमसे कोई नही

छीन सकेगा।
कोई नहीं! कोई नहीं! कभी नहीं! कभी नहीं!
आओ, इस संघर्ष में हरेक जवान और वीर बन जाओ,
क्योंकि हमारी विजय का नाम अक्तूबर है।
अक्तूबर! अक्तूबर!
अक्तूबर सूर्य का संदेश वाहक है।
अक्तूबर विद्रोही सदियों का संकल्प है।
अक्तूबर! यह श्रम है, यह खुशी है, यह गीत है।
अक्तूबर! यह खेतों और यंत्रों के लिए शुभ शकुन है।
यह है नई सन्तति और लेनिन के झंडे पर लिखा हुआ नाम।

: १५३ :

जापान चीन को डराता-धमकाता है

जिस समय महायुद्ध चल रहा था, उस समय सुदूरपूर्व में कुछ घटनाए हुई जिन पर ध्यान देना जरूरी है। इसलिए अब मैं तुम्हे चीन ले चलता हूँ। चीन के बारे में अपने पिछले पत्र मे मैंने वहाँ प्रजातन्त्र की स्थापना का और उसके परिणाम स्वरूप होनेवाली गडबडो का जिक्र किया था। साम्राज्य को फिर से क़ायम करने के प्रयत्न किये गये। ये तो असफल रहे; परन्तु प्रजातन्त्र समूचे देश पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल नही हुआ, या यो कहो कि कोई भी एक सरकार इसमें सफल नही हुई। तब से अब तक कोई भी हुकूमत समूचे चीन पर निर्विरोध शासन नही कर पाई है। कुछ वर्षों तक देश में दो प्रधान सरकारे रही, एक उत्तरी और दूसरी दक्षिणी। दक्षिण में डा० सनयात-सेन और उसके राष्ट्रीय दल कुओ-मिन-तांग का प्रभुत्व था। उत्तर मे युआन शिह-काई का सैनिक प्रभुत्व था और उसके बाद सेनापतियों और सैनिकों का एक ताता लगा रहा। ये सैनिक हौसलेबाज तूशन कहलाते थे और अब भी कहलाते है, पिछले वर्षों में ये लोग चीन का अभिशाप साबित हुए है।

इस प्रकार चीन निरन्तर गडबडी की दुखद अवस्था मे, और अक्सर उत्तर तथा दक्षिण के बीच या प्रतिद्वन्दी तूशनो के बीच गृह-युद्ध की अवस्था में, रहा। साम्राज्यशाही शक्तियों के लिए साजिशे करने का, और कभी एक दल या तूशन को और कभी दूसरे को उकसा कर इस अन्दरूनी फूट से फ़ायदा उठाने की कोशिश करने का, यह बडा अच्छा मौका था। तुम्हे याद होगा कि इसी तरकीब से अंग्रेजो ने भारत मे अपना पाव जमाया था। योरपीय शक्तियों ने इस मौके का फायदा उठाया और साजिशें करना तथा एक तूशन को दूसरे के विरुद्ध लडाना शुरू किया। लेकिन शीघ्र ही उनकी खुद की परेशानियो ने और महायुद्ध ने सुदूर पूर्व में उनकी हरकतों का अन्त कर दिया।

लेकिन जापान की स्थिति इससे भिन्न थी। युद्ध का मुख्य रण-क्षेत्र बहुत दूर था, और जापान बिल्कुल बेखटके चीन में अपनी पुरानी हरकते जारी रख सकता था। वास्तव में उस समय वह ऐसा करने की पहले से बहुत अधिक अच्छी स्थिति में था क्योकि अन्य शक्तिया अन्यत्र उलझी हुई थी और उनकी दस्तन्दाजी की सम्भावना नही थी। उसने जर्मनी से युद्ध सिर्फ़ इसलिए छेडा कि उसे चीन में जर्मनी के रियायती प्रदेश क्याउ-चाउ पर कब्जा करना था और फिर भीतर की ओर आगे घुसना था।

पिछले चालीस वर्षों में जापानियो ने चीन के प्रति जो नीति बरती है, वह असाधारण तौर पर एक-सी चली आती हुई दिखाई देती है। जैसे ही उन्होंने अपनी सेना का आधुनिक ढंग पर सगठन कर लिया और अपने देश के औद्योगीकरण को तेजी से आगे बढ़ा दिया, उन्होने चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया। वे फैलने के लिए और अपने उद्योगों को बढ़ाने के लिए जगह चाहते थे। कोरिया और चीन दोनों निकट भी थे और कमजोर भी, और मानो निमन्त्रण दे रहे थे कि कोई आकर उन पर अधिकार

जमावे और उनका शोषण करे। जापानियों का पहला प्रयत्न था चीन के साथ सन् १८९४-९५ ई० का युद्ध। वे जीत तो गये पर कुछ योरपीय शक्तियों के विरोध के कारण उन्हे उतना नही मिला जितना वे चाहते थे। इसके बाद रूसके साथ सन् १९०४ ई० का जरा कठिन सघर्ष आया। इसमें भी वे जीत गये और उन्होंने कोरिया और मचूरिया में अपने पाँव मजबूती से जमा लिये। कुछ ही दिन बाद उन्होने कोरिया पर क़ब्ज़ा करके उसे जापानी साम्राज्य का हिस्सा बना लिया।

परन्तु मचूरिया चीन का ही हिस्सा बना रहा। इसमे चीन के तीन पूर्वी प्रान्त शामिल हैं और यही बात कही भी जाती है। जापानियो ने सिर्फ वहा के रूसी रियायती प्रदेशो पर अधिकार कर लिया जिसमें रूसियों का बनाया हुआ रेलमार्ग भी, जो तब तक 'चाइनीज़ ईस्टर्न रेलवे' कहलाता था, शामिल था। इस रेल-मार्ग का नाम बदल कर 'साउथ मचूरियन रेलवे' कर दिया गया। अब जापान ने मचूरिया पर अपना पजा खूब मज़बूती से जकडना शुरू कर दिया। इसी बीच रेलमार्ग ने चीन के अति घनी आबादी वाले बाकी के हिस्से से आवासियो को खीचना शुरू किया और चीनी किसानो का ताता बध गया। मचूरिया मे सोयाबीन नामक बीज खूब पैदा होता था और इसके बहुमूल्य गुणो के कारण इसके लिए सारी दुनिया की माग बढने लगी। इस बीज से अन्य वस्तुओ के अलावा एक प्रकार का तेल भी निकाला जाता है। इस सोयाबीन की खेती ने भी आवासियो को मचूरिया की ओर खीचा। इस प्रकार, इधर तो जापानी लोग मचूरिया की आर्थिक व्यवस्था पर ऊपर के सिरे से पूरा अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे थे, उधर दक्षिण से ढेर के ढेर चीनी चले आ रहे थे और वहाँ बसते जाते थे। मचूरिया के पुराने निवासी चीनी किसानो तथा दूसरे लोगो की इस बाढ मे डूब गये और सस्कृति तथा दृष्टिकोण मे खुद ही पूरे चीनी बन गये।

चीन में प्रजातत्र की स्थापना जापान को नही भाई। वह तो चीन की ताकत बढाने वाली हर चीज़ को नापसन्द करता था, और उसकी सारी कूटनीति का लक्ष्य यह था कि चीन सघटित होकर एक ही मज़बूत राज्य न बन जाय। इसलिए उसने एक तूशन की दूसरे के विरुद्ध सहायता करने में असली दिल-चस्पी ली ताकि अन्दरूनी गडबड चलती रहे।

चीन के नवजात प्रजातन्त्र के सामने बडी ज़बरदस्त समस्याएँ थी। यह केवल मृतप्राय साम्राज्यशाही सरकार से राजनैतिक सत्ता छीन लेने का ही सवाल नही था। छीनने के लिए राजनैतिक सत्ता तो कुछ थी ही नही, क्योंकि ऐसी केन्द्रीय सत्ता का कोई अस्तित्व ही नही था। केन्द्रीय सत्ता तो बनाई जाने को थी। पुराना चीन नाम मात्र का साम्राज्य था। असली रूप मे तो वह अनेक स्वशासित क्षेत्रो का समूह था जिन्हे आपस मे जोडने वाली गाठे ढीली-ढाली थी। सारे प्रान्त थोडे या बहुत स्वशासित थे, और नगर तथा गाव तक भी ऐसे ही थे। केन्द्रीय सरकार की या सम्राट की सत्ता तो स्वीकार की जाती थी पर यह सरकार स्थानीय मामलो मे दखल नही देती थी। यह "एक सत्तात्मक" कहलाने वाला राज्य नही था, यानी ऐसा राज्य नही था जिसमे सत्ता और शासन केन्द्र मे केन्द्रीभूत हो और सरकार के विभिन्न पहलुओ मे समता हो। यही वह ढीले बन्धनो वाला राज्य था (राजनैतिक दृष्टि से) जो पश्चिमी उद्योगो तथा साम्राज्य-शाही लोलुपता की टक्कर से छिन्न-भिन्न हो गया था। अब यह महसूस किया जा रहा था कि अगर चीन को सही-सलामत रहना है तो उसे मज़बूत केन्द्रीय राज्य बनना चाहिए जिसकी शासन प्रणाली में समता हो। नया प्रजातन्त्र ऐसा ही राज्य स्थापित करना चाहता था। यह चीज़ कुछ नई थी, और इसीलिए प्रजातन्त्र के सामने इसने यह एक बहुत बडी कठिनाई उपस्थित कर दी। चीन मे सडको, रेलो, आदि यातायात के उपयुक्त साधनो का अभाव राजनैतिक एकता के मार्ग में खुद ही एक ज़बरदस्त बाधा बन रहा था।

पुराने ज़माने में चीन के लोग कोरी राजनैतिक सत्ता को कोई महत्व की चीज़ नही समझते थे। उनकी समग्र शानदार सभ्यता की बुनियाद सस्कृति पर थी, और जीवन-यापन की कला सिखाने का इसका ढंग संसार भर में अद्वितीय था। वे अपनी इस पुरानी सस्कृति से इतने परिपूर्ण थे कि जब उनकी राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था टूट कर गिर पडी तब भी वे अपने पुराने सास्कृतिक ढगो से चिपके रहे। जापान ने निश्चय पूर्वक पश्चिमी उद्योगो को और पश्चिमी रंग-ढंग को अपनाया था, लेकिन दिल से वह सामन्त-वादी बना रहा। चीन सामन्तवादी नही था; उसमें बुद्धिवाद और वैज्ञानिक भावना भरी थी, और विज्ञान तथा उद्योग के क्षेत्रो में पश्चिम में होने वाली उन्नतियो को वह उत्सुकता से देख रहा था। लेकिन फिर भी वह इस तरह नही दौड पड़ा जैसे जापान दौड़ पडा था। इसमें सन्देह नही कि उसके मार्ग में अनेक

कठिनाइयां थी; जो जापान के सामने नहीं थीं। परन्तु फिर भी कोई ऐसा काम करने में उसे संकोच था जिसके परिणामस्वरूप पुरानी संस्कृति से बिल्कुल नाता टूट जाय। चीन का स्वभाव दार्शनिकों के जैसा था, और दार्शनिक लोग जल्दबाजी में कोई काम नहीं किया करते। उसके मन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी और अब भी है; क्योंकि जिन समस्याओं का उसे सामना करना पड़ा था वे केवल राजनैतिक ही नहीं थीं। वे आर्थिक और सामाजिक और मानसिक और शैक्षणिक, आदि, आदि, थी।

और फिर, चीन और भारत जैसे विशाल देशों का आकार ही कठिनाइयां पैदा करता है। ये महाद्वीप सरीखे देश हैं और इनमें कुछ-कुछ महाद्वीपो जैसा भारीपन है। हाथी जब गिरता है तो उठने में अपने शरीर के अनुसार समय लेता है; वह बिल्ली या कुत्ते की तरह उछल कर खड़ा नही हो सकता।

जब महायुद्ध शुरू हुआ तो जापान तुरन्त मित्र-राष्ट्रो के साथ शामिल हो गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उसने क्याउ–चाउ पर कब्ज़ा कर लिया और फिर चीन के भीतर की ओर शान्तुङ्ग प्रान्त की ओर बढने लगा जिसमें क्याउ-चाउ स्थित है। इसका अर्थ यह था कि जापानी लोग खास चीन पर धावा बोल रहे थे। जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई का यहाँ कोई प्रश्न नही था, क्योकि इस क्षेत्र से जर्मनी का कोई ताल्लुक़ ही नही था। चीनी सरकार ने शिष्टतापूर्वक उनसे वापस चले जाने को कहा। कैसी उद्दंडता!–यह कह कर जापानियो ने झट एक सरकारी विरोध-पत्र भेज दिया जिसमें इक्कीस मांगें गिनाई गई थी।

ये "इक्कीस मांगें" मशहूर हो गईं। मै यहा उनका वर्णन नही करूंगा। इनका अभिप्राय यह था कि तरह-तरह के अधिकार और विशेषाधिकार, खास कर मचूरिया, मगोलिया और शान्तुङ्ग प्रान्त में, जापान के हवाले कर दिये जायं। इन मागो को स्वीकार कर लेने का परिणाम यह होता कि चीन व्यावहारिक रूप में जापान का एक उपनिवेश बन जाता। उत्तरी चीन की अशक्त सरकार ने इन मागो पर आपत्ति की, पर वह शक्तिशाली जापानी सेना के सामने क्या कर सकती थी? और फिर, उत्तरी चीन की यह सरकार खुद अपनी ही जनता मे लोकप्रिय नही थी। इस पर भी इसने एक काम किया जिससे बहुत मदद मिली। इसने जापानी मांगो को प्रकाशित कर दिया। तुरन्त ही चीन में ज़बरदस्त बावैला मच गया, यहां तक कि अन्य शक्तियां, जो युद्ध में मशगूल थी, इस कार्रवाई से घबरा गईं। अमरीका ने खास तौर पर ऐतराज किया। नतीजा यह हुआ कि जापान को कुछ मागें तो वापस लेनी पडी और कुछ को नरम करना पड़ा। बाक़ी मांगो का यह हुआ कि मई, सन् १९१५ ई०, में जापान चीनी सरकार को डरा-धमका कर उन्हे मनवाने में सफल हो गया। इसके फलस्वरूप चीन में तीव्र जापान-विरोधी भावना फैल गई।

अगस्त, सन् १९१७ ई० में, युद्ध प्रारम्भ होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रों के साथ मिल गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। यह उपहास की-सी बात थी, क्यों कि चीन जर्मनी का कुछ नही बिगाड सकता था। इसमें चीन का सारा उद्देश्य यह था कि वह मित्र-राष्ट्रो के साथ अपने बिगड़े हुए सम्बन्ध को ठीक करना चाहता था और जापान के और अधिक शिकजो से अपने आपको बचाना चाहता था।

इसके कुछ ही दिन बाद, नवम्बर, सन् १९१७ ई०, की बोलशेविक क्रान्ति हो गई जिसके फलस्वरूप सारे उत्तरी एशिया में बडी भारी गडबड फैल गई। सोवियत तथा सोवियत-विरोधी फौजो का एक रण-क्षेत्र साइबेरिया था। रूसी 'श्वेत' सेनापति कोलचक सोवियत्तों के विरुद्ध साइबेरिया को अपना अड्डा बना कर लड रहा था। सोवियत की शानदार विजय से चौकन्ने होकर जापानियों ने साइबेरिया को एक बडी सेना भेजी। ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक भी वहां भेजे गये। कुछ समय के लिए साइबेरिया से और मध्य एशिया से रूसी प्रभाव गायब हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इन क्षेत्रो में रूस का इकबाल पूरी तरह खतम करने का भरसक प्रयत्न किया। मध्य एशिया के बीचों-बीच काशगर में अंग्रेज़ों ने बोलशेविक-विरोधी प्रचार के लिए एक रेडियो स्टेशन क़ायम कर दिया।

मंगोलिया में भी सोवियत तथा सोवियत–विरोधी लोगों के बीच घमासान लड़ाई हुई। सन् १९१५ ई० में ही, जब कि महायुद्ध चल रहा था, ज़ारशाही रूस की सहायता से मंगोलिया चीनी सरकार से स्वशासन का बहुत कुछ अधिकार प्राप्त करने में सफल हो गया था। सर्वोपरि सत्ता तो चीन की ही बनी रही, पर मंगोलिया के वैदेशिक सम्बन्धों के मामले में रूस को भी वहाँ कुछ बराबरी का दर्जा दे दिया गया।

यह निराली व्यवस्था थी। सोवियत क्रान्ति के बाद मंगोलिया में गृह-युद्ध हुआ जिसमें तीन वर्ष से ऊपर संघर्ष के बाद सोवियतों की जीत हुई।

महायुद्ध के बाद होने वाले शान्ति सम्मेलन के बारे में मैंने अभी तक तुम्हें कुछ नही बताया है। इसकी चर्चा मैं अगले पत्र में करूंगा। पर यहां इतना ज़िक्र कर देना चाहता हू कि इस सम्मेलन ने—बड़ी शक्तियों ने—जिनमें खास तौर से इग्लैण्ड, फ्रास और संयुक्तराज्य अमरीका को गिनना चाहिए, चीन का शान्तुङ्ग प्रान्त जापान की भेंट करना तय किया। इस प्रकार, इस युद्ध के फलस्वरूप, इन शक्तियों ने अपने साथी चीन से उसके देश का एक टुकड़ा सचमुच जापान को दिलवा दिया। इसका कारण यह था कि युद्ध के दौरान में इंग्लैण्ड, फ्रांस और जापान के बीच कोई गुप्त संन्धि हो गई थी। कारण चाहे जो रहा हो, चीन के साथ इस गन्दी चालबाजी पर चीनी जनता ने तीव्र रोष प्रकट किया और पेकिंग की सरकार को धमकी दी कि यदि उसने इस मामले में समझौता कर लिया तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी माल के सख्त बहिष्कार की भी घोषणा कर दी गई और जापान-विरोधी दंगे हुए। चीनी सरकार ने (जिससे मेरा मतलब उत्तर की पेकिंग सरकार से है, जो मुख्य सरकार थी) शान्ति की सन्धि पर सही करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद संयुक्तराज्य अमरीका के वाशिंगटन नगर में एक सम्मेलन हुआ जिसमे शान्तुङ्ग का यह प्रश्न उठाया गया। यह सम्मेलन उन सब शक्तियों का था जिनका सुदूर पूर्व के सवाल से सरोकार था, और वे अपनी जल-सेनाओ की संख्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुई थी। जहां तक चीन और जापान का सम्बन्ध था, सन् १९२२ ई० के इस वाशिंगटन सम्मेलन से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले। जापान शान्तुङ्ग वापस देने को राज़ी हो गया, और इस तरह, जिस एक सवाल ने चीनी लोगो को बुरी तरह विचलित कर रक्खा था, उसका फैसला हो गया। इन शक्तियों के बीच दो महत्वपूर्ण राज़ीनामे भी हुए।

इनमें से एक राज़ीनामा, जो अमरीका, इग्लैण्ड, जापान और फ्रास के बीच हुआ, "चार-शक्ति करार"[1] कहलाता है। इन चारो शक्तियो ने आपस मे वचन दिये कि प्रशान्त महासागर में एक दूसरे के अधिकृत स्थानो की प्रादेशिक सीमाओं का खयाल रक्खेंगे, अर्थात उन्होने वादे किये कि एक दूसरे के प्रदेशों पर अनधिकार-प्रवेश नही करेगे। दूसरा राज़ीनामा, जो "नौ-शक्ति सन्धि"[2] कहलाता है, इस सम्मेलन में शामिल होने वाली सयुक्तराज्य अमरीका, बैल्जियम, इग्लैण्ड, फ्रास, इटली, जापान, हालैण्ड, पुर्तगाल और चीन, इन नौ शक्तियो के बीच हुआ। इस सन्धि की पहली ही धारा इस प्रकार शुरू होती थी :

"चीन की प्रभुत्व-सम्पन्नता, स्वाधीनता और प्रादेशिक तथा शासन-सम्बन्धी अखंडता को मान्यता देने के लिए ....।"

स्पष्ट है कि इन दोनो राज़ीनामो का अभिप्राय भावी आक्रमणों से चीन की रक्षा करना था। इनका अभिप्राय था शक्तियो के, रियायतों की तलाश और कब्ज़ा करने के, उस खेल को रोकना जो वे अब तक खेलती आ रही थी। पश्चिमी शक्तियो को युद्धोत्तर समस्याओ से ही फ़ुरसत नही थी, इसलिए उस समय चीन में उन्हे कोई दिलचस्पी नही थी। इसीलिए उन्होने आत्म-त्याग का यह कायदा बना कर उसे पालन करने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की। जापान ने भी इसके पालन की प्रतिज्ञा की, यद्यपि यह उस निश्चित नीति से टक्कर खाता था जिसे वह बहुत वर्षों से बरत रहा था। लेकिन अधिक वर्ष बीतने न पाये थे कि यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि तमाम राज़ीनामो और प्रतिज्ञाओ के बावजूद जापान ने उलटे अपनी पुरानी नीति जारी रक्खी और चीन पर हमला कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय वचन-भग और मक्कारी का यह एक अद्भुत निर्लज्जतापूर्ण उदाहरण है। आगे चल कर जो घटनाएं हुई उनकी पृष्ठभूमि समझाने के लिए मुझे यहा वाशिंगटन सम्मेलन का ज़िक्र करना पडा।

इसी वाशिंगटन सम्मेलन के अवसर के आस-पास ही साइबेरिया से विदेशी सैनिको को अन्तिम रूप से हटा लिया गया। जापानी सबसे अखीर में हटे। इनके हटते ही स्थानीय सोवियतें तुरन्त मैदान में आ गई और रूस के सोवियत प्रजातन्त्र में शामिल हो गई।

रूसी सोवियत ने स्थापित होने के कुछ ही दिन बाद चीनी सरकार को लिखा था और उन तमाम खास विशेषाधिकारों को छोड़ने का इरादा जाहिर किया था जिनका, अन्य साम्राज्यशाही शक्तियों के समान,

---

[1]Four Power Pact. [2]Nine Power Treaty.

ज़ारशाही रूस भी उपभोग कर रहा था। एक तो साम्राज्यवाद और साम्यवाद का किसी तरह का साथ नही हो सकता, पर इसके अलावा भी, सोवियत ने पूर्वी देशों के प्रति, जिन्हें पश्चिमी शक्तियाँ बहुत समय से निचो रही थी और दबा रही थी, जानबूझ कर उदार नीति का अवलम्बन किया। सोवियत रूस के लिए यह नेक कर्तव्य पालन तो था ही, ठोस नीति भी थी, क्योंकि इससे पूर्व के कई देश उसके मित्र बन गये। खास विशेषाधिकारो को छोड़ने का रूस का प्रस्ताव बिना किसी तरह की शर्तों के था; वह बदले में कुछ नहीं चाहता था। इस पर भी चीनी सरकार रूस के साथ ताल्लुक़ बढाने में डरती थी कि कही पश्चिम की योरपीय शक्तियां नाराज़ न हो जाय। खैर, अन्त में रूसी और चीनी प्रतिनिधि एक जगह मिले और सन् १९२४ ई० में, दोनों में कुछ बातो पर राज़ीनामा हो गया। इस राज़ीनामे की खबर लगते ही फ़ासीसी, अमरीकी और जापानी सरकारो ने पेकिंग सरकार को अपना विरोध लिख भेजा और वह इतनी घबरा गई कि उसने सचमुच इस राज़ीनामे पर अपने प्रतिनिधि के हस्ताक्षर को ही मानने से इन्कार कर दिया। बेचारी पेकिंग सरकार की हालत इतनी तग हो गई थी! इस पर रूसी प्रतिनिधि ने राज़ीनामे की सारी इबारत प्रकाशित कर दी। इससे काफी सनसनी फैल गई। यह पहला ही मौका था कि शक्तियो के साथ व्यवहार में चीन के प्रति सम्मान और भलमनसाहत का बर्ताव किया गया था और उसके अधिकारो को मान्यता दी गई थी। चीनी लोग तो इस पर खुशी से उछल पडे और सरकार को इसके ऊपर सही करनी पडी। साम्राज्यशाही शक्तियो के लिए इसे नापसन्द करना स्वाभाविक था क्योकि इससे उनकी सारी पोल खुल जाती थी। रूस तो उदारता से दे रहा था पर ये अपने तमाम खास विशेषाधिकारो पर अडी हुई थी।

सोवियत सरकार ने डा० सनयात-सेन की दक्षिणी चीनी सरकार से भी बातचीत शुरू की, जिसका सदर मुक़ाम काण्टन में था, और दोनो में आपसी समझौता हो गया। करीब-करीब इस सारे ही समय में, उत्तर और दक्षिण के बीच तथा उत्तर में विभिन्न फौजी सेनापतियो के बीच, एक हलका-सा गृह-युद्ध चल रहा था। ये उत्तरी तूशन, या इनमें से महा-तूशन कहलाने वाले कुछ लोग, किसी सिद्धान्त या कार्यक्रम के लिए नही लड रहे थे; उनकी लडाई तो व्यक्तिगत अधिकार की थी। वे एक-दूसरे के साथ मिल जाते और फिर दूसरे पक्ष में जा मिलते और नये गठ-बधन बना लेते। ये निरन्तर बदलने वाले गठ-बन्धन बाहर वालों को बहुत चक्कर में डाल देते थे। ये तूशन, या सैनिक हौसले-बाज़, निजी सेनाए खडी करते थे, निजी टैक्स वसूल करते थे, और निजी युद्धो मे लगे रहते थे, और इन सब का बोझ पडता था बेचारी चिर-पीडित चीनी जनता पर। कहते है कि कुछ महा-तूशनो की पीठ पर विदेशी शक्तिया थी, खास कर जापान। शाघाई की बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियो से भी इन्हे रुपये-पैसे की मदद मिलती रहती थी।

इस अधकार के बीच दक्षिण ही एक आलोकित स्थान था जहा डा० सनयात-सेन की सरकार काम कर रही थी। इसके कुछ आदर्श थे और एक नीति थी, और यह तूशनो की कुछ हुकूमतो की तरह लुटेरो का मामला नही थी। सन् १९२४ ई० मे कुओ-मिन-तांग या जनता के दल की पहली राष्ट्रीय कांग्रेस हुई और डा० सनयात-सेन ने इसके सामने एक घोषणा-पत्र रक्खा। इस घोषणा-पत्र में उसने राष्ट्र का मार्ग-प्रदर्शन करने वाले सिद्धान्तो का निरूपण किया। यह घोषणा-पत्र और ये सिद्धान्त तब से कुओ-मिन-ताग का आधार रहे है और आज भी यह माना जाता है कि तथा-कथित राष्ट्रीय सरकार की व्यापक नीति इन्ही के अनुसार चल रही है।

मार्च सन् १९२५ ई०, मे डा० सनयात-सेन की मृत्यु हो गई। इसने अपनी जान चीन की सेवा में खपा दी थी और यह चीनी जनता का परम-प्रिय पात्र बन गया था।

: १५४ :

युद्ध-काल में भारत

१६ अप्रैल, १९३३

ब्रिटिश साम्राज्य का अंग होने के नाते भारत का तो महायुद्ध से सीधा लगाव था। परन्तु भारत में या उसके पास कोई असली रण-क्षेत्र नहीं बना। फिर भी, युद्ध ने भारत की घटनाओं पर, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूप मे, अनेक प्रकार से प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप यहाँ भारी परिवर्तन हुए। मित्रराष्ट्रो को सहायता पहुचाने के लिए यहाँ के साधनों का भरपूर कस निकाल लिया गया।

यह भारत का युद्ध नही था। जर्मन शक्तियो के विरुद्ध भारत को शिकायत का कोई कारण नही था और तुर्की के लिए तो यहा बहुत अधिक सहानुभूति थी। लेकिन इस मामले में भारत को सोचने का अधिकार नही था। वह तो इंग्लैण्ड का आश्रित देश था जिसे मजबूरन अपने स्वामी की मर्जी के अनुसार चलना पडता था। बस, इसलिए देश में घोर विरोध होते हुए भी भारतीय सिपाही तुर्कों और मिस्रियो और अन्य लोगों के विरुद्ध लडे और इसके फलस्वरूप पश्चिमी एशिया में भारत बुरी तरह बदनाम हो गया।

जैसाकि मै किसी पिछले पत्र में लिख चुका हूं, युद्ध शुरू होने के समय भारतीय राजनीति में बहुत शिथिलता आ गई थी। युद्ध शुरू होने पर तो लोगों का ध्यान राजनीति की तरफ से और भी हट गया और ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाये गये युद्ध सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्धो के कारण वास्तविक राजनैतिक हलचल कठिन हो गई। सरकारे बाकी सब को दबाने के लिए और अपनी मनमानी करने के लिए युद्ध काल को अच्छा बहाना बना लेती है। अगर कोई छूट दी जाती है तो खुद अपने आपको। अखबारो पर सेंन्सर कायम कर दिया जाता है जो सत्य का गला घोट देता है, अक्सर झूठी बाते फैलाता है और आलोचना का मुह बन्द कर देता है। हर प्रकार की राष्ट्रीय प्रवृत्ति पर रोकथाम रखने के लिए विशेष कानून और कायदे बनाये जाते हैं। सारे युद्ध-सलग्न देशो मे ऐसा ही किया गया और भारत में भी लाजिमी तौर पर यही हुआ। यहा भारत रक्षा कानून जारी किया गया। इस प्रकार युद्ध की या युद्ध से सम्बन्ध रखने वाली हर बात की सार्वजनिक आलोचना का रास्ता अच्छी तरह बन्द कर दिया गया। परन्तु इस सब के पीछे लोगो के दिलो मे तुर्की के प्रति व्यापक सहानुभूति थी और सब यह मनाते थे कि इग्लैण्ड की जर्मनी के हाथो खूब पिटाई हो। जो देश खुद बुरी तरह पिट चुके थे उनमे तो यह शक्तिहीन इच्छा स्वाभाविक ही थी। लेकिन सार्वजनिक रूप में इसका इजहार नही किया जाता था।

सार्वजनिक रूप से तो इग्लैण्ड के प्रति वफादारी की जोरदार पुकारों से आसमान गूंज रहा था। सबसे अधिक शोर मचाने वाले राजा लोग थे और उनसे कम उच्च मध्यम वर्गी लोग जिनका सरकार से ताल्लुक पडता था। मित्र-राष्ट्रो ने लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता की और छोटे-छोटे राष्ट्रो की आजादी की जो पाखडभरी दुहाइया दी उनके जाल मे कुछ हद तक मध्यमवर्ग भी फस गया। लोगो ने सोचा कि शायद यह चीज भारत पर भी लागू हो, और उन्हे आशा हुई कि उस समय मुसीबत की घडी मे इग्लैण्ड को जो सहायता दी जायगी उसका बाद मे उचित प्रतिदान मिलेगा। और फिर हर हालत में इसके सिवा कोई चारा ही नही था, और न कोई दूसरा निरापद मार्ग था; इसलिए उन्होंने रपट पडे की हरगगा में ही भलाई समझी। भारत में वफादारी के इस ऊपरी इजहार को उन दिनो इग्लैण्ड में खूब सराहा गया और अनेक प्रकार से कृतज्ञता दर्शाई गई। जिनके हाथ में सत्ता थी उनकी ओर से कहा गया कि इसके बाद इग्लैण्ड भारत को "नये दृष्टिकोण" से देखेगा। परन्तु भारत में तथा विदेशो में कुछ भारतवासी ऐसे भी थे जिन्होंने "वफा-दारी" का यह रुख नही अपनाया। अधिकांश लोगों की तरह वे चुपचाप और निष्क्रिय भी नही बैठे रहे। आयर्लैण्ड वालों के पुराने क़ौल के अनुसार उनका विश्वास था कि इग्लैण्ड की कठिनाई उनके देश के लिए सुअवसर है। खास कर जर्मनी में तथा योरप के अन्य देशों में रहने वाले कुछ भारतीय इंग्लैण्ड के शत्रुओं को मदद देने के उपाय निकालने को बर्लिन में एकत्रित हुए और इस कार्य के लिए उन्होंने एक कमेटी बनाई। जर्मन सरकार तो हर तरह की सहायता स्वीकार करने को क़ुदरती तौर पर तैयार बैठी ही थी, इसलिए उसने इन भारतीय क्रान्तिकारियों का स्वागत किया। जर्मन सरकार तथा भारतीय कमेटी, इन दोनों पक्षों के

बीच बाक़ायदा लिखित समझौता हुआ और दोनो ने इस पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार भारतीयों ने, अन्य बातों के अलावा, युद्ध में जर्मन सरकार को सहायता देने का इस शर्त पर वचन दिया कि विजय होने पर जर्मनी भारत की आजादी पर जोर देगा। इस पर इस कमेटी ने जब तक युद्ध चला तब तक जर्मनी के हित में कार्य किया। इन्होंने भारत से बाहर भेजे जाने वाले भारतीय सैनिकों में प्रचार किया और इनकी कार्र-वाइयां ठेठ अफगानिस्तान तथा भारत के सीमान्त प्रदेश तक फैल गईं। लेकिन अग्रेजों की परेशानिया खूब बढ़ा देने के सिवा वे और कुछ करने में सफल नहीं हुए। समुद्री रास्ते में भारत को हथियार भेजने के प्रयत्न को अग्रेजों ने विफल कर दिया। युद्ध में जर्मनी की पराजय से इस कमेटी का तथा इसकी अभि-लाषाओ का खुद ही अन्त हो गया।

भारत में भी क्रान्तिकारी कार्रवाई के कुछ मामले हुए और षड्यन्त्र के मुकदमो का फैसला करने के लिए विशेष अदालते नियुक्त की गईं। अनेको को फाँसी की और अनेकों को लम्बी-लम्बी कैद की सजाये दी गईं। उस समय के सजा पाये हुए कुछ लोग आज अठारह वर्ष बाद भी जेलों में पडे हुए है।

युद्ध के दौरान में अन्य देशो की तरह यहा के मुट्ठीभर लोगो ने भी खूब लम्बे-चौडे मुनाफ़े कमाये, परन्तु बहुत अधिक जनता को दिन पर दिन अधिक तंगी महसूस हुई और असन्तोष बढने लगा। मोर्चे पर भेजने के लिए आदमियो की माग बढती ही चली गई और सेना के लिए बडे ज़ोरो से भर्ती की जाने लगी। रंगरूट लाने वालो को हर तरह के प्रलोभन और इनाम दिये गये, और जमींदारो को अपने आसामी काश्त-कारों में से रंगरूटों की निश्चित सख्या देने को मजबूर किया गया। सेना तथा मजदूरों की पल्टनो के लिए आद-मियों की जबरन भर्ती के ये दबाऊ तरीके[1] पजाब में खासतौर पर इस्तेमाल किये गये। सिपाहियो की तरह और मजदूर पल्टनो के लिए विभिन्न मोर्चों पर भारत से जाने वाले आदमियो की कुल सख्या दस लाख से ऊपर पहुंच गई थी। सम्बन्धित लोगो में इन तरीको से बहुत रोष फैला, और कहते है कि युद्ध के बाद पंजाब में जो झगड़े हुए उनका एक कारण यह भी था।

पंजाब पर युद्ध का एक और तरह से भी असर पडा। बहुत-से पजाबी, और खास कर सिक्ख, सयुक्त-राज्य अमरीका के कैलिफोर्निया को और पश्चिमी कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया को प्रवास कर गये थे। जब तक अमरीका और कनाडा के अधिकारियो ने बन्द नही किया तब तक प्रवासियो का यह ताँता लगा ही रहा। इस प्रकार के आवासियो के मार्ग में बाधा डालने के लिए कनाडा की सरकार ने एक नियम बनाया कि केवल उन्हीं आवासियों को कनाडा में कदम रखने दिया जायगा जो रास्ते में बिना जहाज की बदली किये सीधे एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह को आवेगे। इसका उद्देश्य भारतीय आवासियो को रोकना था, क्योकि उन्हें चीन या जापान मे हर हालत में जहाज़ बदलने पडते थे। इस पर बाबा गुरदीत सिह नामक एक सिक्ख ने कोमागाटामारू नामक पूरा-का-पूरा जहाज़ किराये कर लिया और वह अपने साथ आवासियो की भीड़ की भीड़ कलकत्ता से ठेठ कनाडा मे वैन्कोवर को ले गया। इस तरह इसने चालाकी से कनाडा के कानून से बचत निकाल ली, पर कनाडा तो उसे किसी तरह भी अपने यहा नही रखना चाहता था, इसलिए किसी आवासी को जहाज़ से नही उतरने दिया गया। उन्हे उसी जाहाज़ से वापस भेज दिया गया और वे सब कुछ खोकर तथा क्रोध में भरे हुए भारत लौटे। कलकत्ता के पास बजबज मे पुलिस के साथ इनकी खासी झडप हुई जिसके फलस्वरूप खास कर सिक्खो मे से अनेक आदमी मारे गये। बाद में इन सिक्खो के पीछे खुफिया पुलिस लगा दी गई और सारे पजाब में इनका पीछा किया गया। इन लोगो ने भी पजाब मे रोष और असन्तोष भड़काया और कोमागाटामारू की घटना से सारे भारत मे रोष फैल गया।

युद्ध के इन दिनो मे जो कुछ हुआ उस सबकी जानकारी करना मुश्किल है, क्योकि सेन्सर के कारण अनेक प्रकार के समाचार प्रकाशित ही नही हो पाते थे, और इसलिए बे-सिर-पैर की अफवाहें उड़ा करती थी। फिर भी, यह मालूम है कि सिगापुर मे एक भारतीय पल्टन मे भारी बग़ावत हुई और अन्य अनेक स्थानों पर भी छोटे पैमाने पर गड़बड हुई।

युद्ध के लिए सिपाही देने तथा अन्य प्रकार से मदद पहुँचाने के अलावा भारत को नक़द रुपया भी मुहैय्या करना पड़ा। यह भारत की "भेट" कहलाती थी। एक अवसर पर इस प्रकार दस करोड़ पौंड

---

[1] "Press-gang" Methods.

दिये गये और बाद में इससे भी बड़ी रक़म दी गई। एक निर्धन देश से जबरन वसूल किये गये इस चन्दे को "भेंट" कहना ब्रिटिश सरकार के मसखरेपन के लिए तारीफ़ की चीज है।

यह सब जो कुछ अभी तक मैंने तुम्हे बतलाया है उसमें, जहा तक भारत का सम्बन्ध है, युद्ध के कम महत्वपूर्ण परिणामों का ही समावेश है। परन्तु युद्ध-कालीन परिस्थितियो के कारण एक बहुत अधिक मौलिक परिवर्तन पैदा हो रहा था। युद्ध के दौरान में, अन्य देशों के विदेशी व्यापार की तरह, भारत का विदेशी व्यापार भी बिल्कुल चौपट हो गया था। ब्रिटिश माल की भारी मिक़दार, जो भारत आया करती थी, अब बहुत कम हो गई। भूमध्य सागर में और अटलाण्टिक महासागर में जर्मन पनडुब्बियां जहाजों को डुबो देती थी और इन हालतो में व्यापार जारी रखना सम्भव नहीं था। इसलिए भारत को अपने लिए खुद इन्तजाम करना पड़ा और अपनी जरूरते आप पूरी करनी पड़ी। युद्ध के लिए आवश्यक हर प्रकार की वस्तुऐं भी उसे सरकार के लिए मुहैय्या करनी पड़ती थी। इसके फलस्वरूप भारतीय उद्योग-धन्धे तेज़ी से बढ़ने लगे। इनमें कपड़े और पटसन आदि के पुराने उद्योग तथा नये युद्ध-कालीन उद्योग, दोनों शामिल थे। ताता के लोहे व फौलाद के कारखानेने, जिसकी सरकार ने अभी तक उपेक्षा की थी, अब ज़बरदस्त महत्व प्राप्त कर लिया क्योकि वह युद्ध का सामान तैयार कर सकता था। अब इसका सचालन कमोवेश सरकारी नियन्त्रण में होने लगा।

इसलिए जब तक युद्ध चलता रहा तब तक भारत के अंग्रेज तथा भारतीय पूजीपति दोनों को खुला मैदान मिल गया और विदेशो से कोई प्रतियोगिता नही रही। इस अवसर का उन्होने पूरा उपयोग किया और बेचारी भारतीय जनता का पेट काट कर इससे फ़ायदा उठाया। माल की क़ीमते बढा दी गई और कल्पनातीत मुनाफे बाटे गये। परन्तु जिन मजदूरो की मेहनत से ये मुनाफे और लाभ सम्भव हुए उनकी दुखमय स्थितियो मे कोई परिवर्तन नही दिखाई दिया। उनकी मजूरिया कुछ बढी, लेकिन जीवन की आवश्यक वस्तुओ की कीमते इससे बहुत अधिक बढ़ गई, इसलिए उनकी हालत सचमुच और भी बुरी हो गई।

परन्तु पूजीपति खूब मालदार हो गये और उन्होने मुनाफो से अपार धन इकट्ठा कर लिया जिसे उन्होने फिर उद्योगो में लगाना चाहा। यह पहला मौका था जब भारतीय पूजीपति इतने जोरदार हो गये कि वे सरकार पर दबाव डालने लगे। इस दबाव के अलावा भी घटनाओ के जोर ने ब्रिटिश सरकार को युद्धकाल में भारतीय उद्योगो की मदद करने के लिए मजबूर कर दिया। देश के और अधिक औद्योगीकरण की माग के कारण विदेशो से अधिक मशीनें आयात की गई क्योकि इस प्रकार की मशीनें उस समय भारत मे नही बन सकती थी। इसलिए जहाँ पहले इंग्लैण्ड से भारत को तैयार माल आता था उसके बजाय अब अधिक मशीनें आने लगी।

इस सब के फलस्वरूप भारत के प्रति ब्रिटिश नीति में भारी परिवर्तन हो गया; सौ वर्ष पुरानी नीति छोड दी गई और उसकी जगह एक नई नीति अपनाई गई। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने को परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुसार ढाल कर अपना चेहरा पूरी तरह बदल डाला! तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हे भारत मे ब्रिटिश शासन की प्रारम्भिक अवस्थाओ का हाल बतलाया था। पहली अवस्था लूट तथा नकदी ले जाने की अठारहवी सदी की अवस्था थी। फिर दूसरी अवस्था आई जब ब्रिटिश हुकूमत की जड मजबूती से जम गई और जो ठेठ युद्ध की शुरूआत तक सौ वर्ष से ऊपर बनी रही। इसमे भारत को कच्चे माल के क्षेत्र की तरह और इग्लैण्ड के तैयार माल की मंडी बना कर रक्खा गया। यहाँ बड़े-बड़े उद्योगो के विकास को हर तरह से रोका गया और भारत की आर्थिक उन्नति नही होने दी गई। अब युद्ध-काल में तीसरी अवस्था आई जब ब्रिटिश सरकार ने भारत के बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया और यह इस तथ्य के बावजूद किया गया कि इससे कुछ हद तक इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों के हितों की हानि हुई। यह स्पष्ट है कि अगर भारतीय कपडा उद्योग को प्रोत्साहन दिया जाता है तो उसी हद तक लंकाशायर को नुक़सान पहुंचता है, क्योंकि भारत लंकाशायर का सबसे बड़ा ग्राहक रहा है। तब ब्रिटिश सरकार ने लकाशायर तथा अन्य ब्रिटिश उद्योगों के हितों की हानि करके अपनी नीति में यह परिवर्तन क्यों किया? मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण ऐसा करने के लिए उसे किसी तरह मजबूर होना पड़ा था। इस नीति परिवर्तनों के कारणों पर हम ब्यौरे के साथ विचार करलें :

साथ अधिकांश मध्यम वर्ग की सहानुभूति थी और उनके दल में अनेक बेकार दिमाग़ी लोग थे। ये दिमाग़ी लोग (जिनसे मेरा अभिप्राय केवल थोड़े-बहुत शिक्षित लोगो से है) इनके दल को कडा करते थे और क्रान्तिकारियो के दल को भी रंगरूट देते थे। नर्म और गर्म दलो के ध्येयो और आदर्शों में कोई बड़ा अन्तर नही था। दोनो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य के हामी थे, और दोनो फिलहाल आशिक स्वराज्य स्वीकार करने को तैयार थे। हां, गर्म दल वाले नर्म दल वालो से कुछ ज्यादा चाहते थे और उनकी अपेक्षा जरा ज्यादा कड़ी भाषा का उपयोग करते थे। अलबत्ता, मुट्ठीभर क्रान्तिकारी आजादी की पूरी मिकदार चाहते थे, परन्तु काग्रेस के नेताओं पर उनका कोई असर नही था। नर्म दल और गर्म दल में मौलिक अन्तर यह था कि नर्म दली लोग धन-सत्तावानो[1] तथा इनके पिछलग्गुओ का एक सम्पन्न दल थे और गर्मदली लोगो में कुछ धन-सत्ताहीन[2] लोग भी थे। और, गर्म दल के अधिक उग्र विचारो के कारण देश के युवक और युवतिया क़ुदरती तौर पर उसकी ओर आकृष्ट होते थे क्योकि इनमे अधिकाश यह समझते थे कि कार्रवाई के एवज कड़ी भाषा बोलना काफ़ी है। हा, ये बातें व्यापकरूप से दोनो ओर के तमाम व्यक्तियो पर लागू नही होती। मसलन, गर्म दल के एक योग्य तथा त्यागी नेता गोपाल कृष्ण गोखले थे जो किसी तरह भी धन-सत्तावान नही थे। सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी के सस्थापक यह ही थे। परन्तु नर्म दल या गर्म दल दोनो में किसी का भी असली धन-सत्ताहीन वर्ग से यानी मजदूरो और किसानो से, कोई ताल्लुक नही था। हा, तिलक व्यक्तिगत रूप से जनता में लोकप्रिय थे।

सन् १९१६ ई० की लखनऊ काग्रेस एक और एकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, के लिए प्रसिद्ध हो गई। कांग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार को पकड़े हुए थी, पर परिणाम में वह मुख्यतया हिन्दू सस्था थी, क्योकि उसमें हिन्दुओं का जबर्दस्त बहुमत था। युद्ध से कुछ वर्ष पहले मुस्लिम शिक्षित वर्ग ने, कुछ हद तक सरकार के बढ़ावा देने पर, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग नामक अपनी अलग जमात सगठित कर ली थी। इसका उद्देश्य मुसलमानो को काग्रेस से अलग रखना था, परन्तु शीघ्र ही वह काग्रेस की ओर बह गई और लखनऊ में दोनो के बीच भारत के भावी विधान के बारे मे समझौता हो गया। यह काग्रेस-लीग योजना कहलाई और अन्य बातो के अलावा, इसमे मुस्लिम अल्प-सख्यको के लिए स्थान सुरक्षित रखने के अनुपात, का विधान रक्खा गया। इसके बाद यह काग्रेस-लीग योजना एक सम्मिलित कार्यक्रम बन गई जो देश की माग के रूप में स्वीकार ली गई। यह मध्यमवर्ग के विचारों को व्यक्त करती थी क्योकि उस समय इन्ही लोगो का राजनीति की ओर झुकाव था। इस योजना के आधार पर हलचल जोर पकडने लगी।

मुसलमानो का झुकाव राजनीति की ओर अधिक हो गया था और काग्रेस के साथ मिल कर काम करने का कारण बहुत करके यह था कि वे अग्रेजो की तुर्की के विरुद्ध लड़ाई से खीझ उठे थे। तुर्की के साथ सहानुभूति के कारण और इस सहानुभूति का खूब जोरो से इजहार करने के कारण मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली नामक दो मुस्लिम नेताओ को युद्ध के शुरू मे ही नजरबन्द कर दिया। मौलाना अबुल कलाम आजाद अपनी रचनाओ के कारण अरब देशो मे बहुत लोकप्रिय थे और इन देशो से सम्बन्ध होने के कारण उन्हे भी नजरबन्द कर दिया गया था। इन सब बातो से मुसलमान लोग चिढ़ गये और भडक गये और वे दिन पर दिन सरकार के अधिक विरोधी बनते गये।

चूंकि भारत में स्वराज्य की माग जोर पकड़ने लगी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने तरह-तरह के वादे किये और जांच कमेटियां बैठाईं जिनसे लोगों का ध्यान बट गया। सन् १९१८ ई० की गर्मियो मे तत्कालीन भारत मंत्री और वायसराय ने एक सम्मिलित रिपोर्ट पेश की, जो इन दोनो के नामो पर मॉण्टेग्यू–चैम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट कहलाती है, और जिसमें भारत के लिए कुछ सुधारो तथा परिवर्तनो के प्रस्ताव शामिल थे। इन आजमायशी प्रस्तावों पर देश में तुरन्त ही जबर्दस्त बहस छिड़ गई। काग्रेस ने जोरो से इनका विरोध किया और उन्हें नाकाफ़ी बतलाया। उदार दल ने इनका स्वागत किया और इसी कारण उन्होने काग्रेस का साथ छोड़ दिया।

---

[1] Haves—वह वर्ग जिसके हाथ में धन और सत्ता रहती है।

[2] Have-nots—अधिकांश जनता जिसके पास धन और सत्ता और जीवन के कोई साधन नहीं हैं। ये दोनों शब्द अंग्रेजी में पारिभाषिक हो गये हैं।

जब युद्ध का अन्त हुआ उस समय भारत में यह स्थिति थी। देशभर में परिवर्तन की उत्सुकता से बाट देखी जा रही थी। राजनैतिक दबाव बढ़ रहा था। नर्म दल की कुछ-कुछ बचावभरी और प्रभावहीन कानाफूंसियों का स्थान गर्म दल की विश्वासभरी, उग्र, सीधी और लड़ाकू पुकारें ले रही थीं। परन्तु नर्म दल और गर्म दल दोनों ही राजनीति की भाषा में और शासन के ऊपरी ढांचे के बारे में बातें करते थे, उनकी पीठ के पीछे ब्रिटिश साम्राज्यवाद देश के आर्थिक जीवन पर अपना पंजा चुपचाप मजबूत किये चला आ रहा था।

: १५५ :

योरप का नया नक़्शा

२९ अप्रैल, १९३३

महायुद्ध की प्रगति पर संक्षेप में विचार करने के बाद हमने रूसी क्रान्ति की चर्चा की और उसके बाद युद्ध-काल में भारत की हालत की। अब हम फिर युद्ध का अन्त करने वाली विराम-सन्धि पर आते हैं और देखते हैं कि विजेताओं ने क्या-क्या किया। जर्मनी तो धराशायी हो चुका था। कैसर भाग गया था और प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी गई थी। जर्मन सेना को उन प्रदेशों से तो हटना ही पड़ा जिन पर उसने धावा करके अधिकार कर लिया था, बल्कि अलसास लौरेन से और ठेठ राइन नदी तक जर्मनी के कुछ भाग से भी हाथ धोना पडा। राइनलैण्ड पर, यानी कोलोन के आसपास के प्रदेश पर, मित्र-राष्ट्रों का अधिकार तय पाया गया। जर्मनी को अपने तमाम जंगी जहाज और पनडुब्बियां, जो "यू-बोट" कहलाती थीं; और हजारो भारी-भारी तोपे और हवाई जहाज और रेल के इजन और लारियां और अन्य सामान मित्र-राष्ट्रो के हवाले करने पडे।

उत्तरी फ्रांस मे काम्पीयनी के वन मे, जहा विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, एक स्मारक बना हुआ है जिस पर नीचे लिखी इबारत खुदी हुई है :

> "यहां, ११ नवम्बर, सन् १९१८ ई०, को उस जर्मन साम्राज्य का बदकारी-भरा अभिमान चूर्ण हो गया जिसे उन आज़ाद कौमो ने धराशायी किया जिन्हें उसने गुलाम बनाना चाहा था।"

कम से कम ज़ाहिरा तौर पर तो जर्मन साम्राज्य वास्तव में खतम हो गया था और प्रशियाई सैनिक मग़रूर धूल में मिल गया था। परन्तु रूसी साम्राज्य का तो इससे भी पहले अन्त हो चुका था और रोमानॉफ़ का घराना उस रंगमंच से धक्का देकर हटा दिया गया था जिस पर उसने इतने वर्षों तक दुराचार किया था। यह युद्ध एक तीसरे साम्राज्य और प्राचीन राजवंश का, यानी हैप्सबर्गों के आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य का भी मरघट साबित हुआ। परन्तु विजेताओ में अन्य साम्राज्य अभी तक बाक़ी थे, और विजय से न तो उनका घमंड कम हुआ और न उन्हें उन लोगों के अधिकारों की अधिक परवाह हुई जिन्हे उन्होंने गुलाम बना रक्खा था।

विजयी मित्र-राष्ट्रो ने सन् १९१९ ई० में पैरिस में अपना एक शान्ति सम्मेलन किया। पैरिस में इनके द्वारा दुनिया का भविष्य गढा जाने वाला था, इसलिए महीनों तक यह शहर संसार के आकर्षण का केन्द्र बना रहा। दूर-दूर से और आस-पास से हर तरह के लोग यात्रा करके यहां आये। इनमें राज्यनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ थे जो अपने-आप को सब कुछ समझ रहे थे, और कूटनीतिज्ञ, और विशेषज्ञ, और सेनाधिकारी, और साहूकार, और मुनाफ़ाखोर थे, और सब के साथ सहायकों और टाइपिस्टों और क्लर्कों की भीड़ की भीड़ थी। और पत्रकारों की तो फ़ौज की फौज थी ही। आज़ादी के संघर्ष में लगी हुई आयरी, मिस्री, अरब वग़ैरा कौमों के, तथा अन्य क़ौमों के जिनके नाम तक पहले नहीं सुने गये थे, प्रतिनिधि वहां पहुंचे। और उन क़ौमो के प्रतिनिधि भी पहुंचे जो आस्ट्रिया और तुर्की के साम्राज्यों के खण्डहरों में से अपने-अपने लिए अलग-अलग राज्य तराश लेने की फ़िराक़ में थे। और मौक़े से फ़ायदा उठाने वाले ले-भग्गू

तो ढेर के ढेर थे ही। दुनिया का नये सिरे से बंटवारा होने जा रहा था, और गिद्ध लोग इस अवसर को कभी नही चूकना चाहते थे।

शान्ति सम्मेलन से लोगों को बड़ी-बड़ी आशायें थी। लोगों को आशा थी कि युद्ध के भीषण अनुभव के बाद न्यायपूर्ण और टिकाऊ शान्ति का कोई उपाय सोच निकाला जायगा। युद्ध का जबरदस्त बोझ जनता को अभी तक पीस रहा था और श्रमजीवी वर्गों में बड़ा भारी असन्तोष फैल रहा था। जीवनोपयोगी वस्तुओं की क़ीमते बहुत अधिक चढ़ गई थी और इसके कारण जनता के कष्ट बढ़ गये थे। सन् १९१९ ई० में सिर खड़ी हुई सामाजिक क्रान्ति के अनेक लक्षण नजर आ रहे थे। रूस का उदाहरण बड़ा आकर्षक दिखाई दे रहा था।

•यह थी उस शान्ति सम्मेलन की पृष्ठ-भूमि जिसकी बैठक वर्साई के उसी भवन में हुई जहाँ अड़तालीस वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई थी। इतने विशाल सम्मेलन की कार्रवाई दिन प्रतिदिन चलना कठिन था, इसलिए उसे अनेको कमेटियों मे बांट दिया गया। इन कमेटियो की बैठके खानगी तौर पर होती थी और इनकी साज़िशें तथा खींचा-तानिया बुद्धिमानी-भरे परदे के पीछे चलती थी। सम्मेलन की बागडोर मित्र-राष्ट्रों की "दस की कौन्सिल"[1] के हाथों में थी। बाद में यह घट कर पाँच की रह गई जो "पाच बड़े"[2] कहलाते थे: यानी संयुक्तराज्य अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रास, इटली और जापान। जब जापान निकल गया तो "चार की कौन्सिल" रह गई; और अन्त में इटली के निकल जाने पर केवल "तीन बड़े" बाक़ी रह गये: अमरीका, इग्लैण्ड और फ्रांस। इन तीन देशों के प्रतिनिधि क्रमश. राष्ट्रपति विल्सन, लॉयड जॉर्ज और क्लैमैन्शो थे और दुनिया को नये सांचे मे ढालने का तथा उसके भयंकर घावों को भरने का महान कार्य इन तीनो के ऊपर आ पड़ा। यह कार्य महामानवो और देवताओ के योग्य था; और ये तीनों न तो कोई महामानव थे और न देवता। बादशाह, राज्यनीतिज्ञ, सेनापति, वग़ैरा सत्ताधीश व्यक्तियों का अखबारो वगैरा के द्वारा इतना अधिक विज्ञापन किया जाता है और उन्हे आसामन पर इतना चढ़ा दिया जाता है कि साधारण जनता को वे अक्सर विचार और कार्य के देव सरीखे दिखाई देने लगते हैं। उनके चारो ओर प्रभामण्डल-सा दिखाई देता है और अपने अज्ञान के कारण हम उनमें ऐसे अनेक गुणों की कल्पना कर लेते हैं जो उनके पास तक नही फटकते। नज़दीक़ से परिचय प्राप्त करने के बाद वे बहुत ही साधारण व्यक्ति निकल आते है। आस्ट्रिया के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था कि अगर दुनिया को यह मालूम पड़ जाय कि उस पर कितनी बुद्धिहीनता से हुकूमत की जाती है तो वह स्तब्ध होकर रह जाय। कहने का मतलब यह है कि यद्यपि ये तीनो, यानी "तीन बड़े", देखने में बड़े लगते थे, पर उनका दृष्टिकोण असाधारणरूप से सकुचित था और वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि उन्हे भूगोल का भी ज्ञान नही था!

राष्ट्रपति वुडरो विल्सन महान कीर्ति और लोकप्रियता लेकर आया था। उसने अपने भाषणों तथा सरकारी पत्रों में इतने सुन्दर तथा आदर्शपूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया था कि लोग उसे भविष्य में आने वाली आजादी का पैग़म्बर ही समझने लगे थे। इग्लैण्ड का प्रधान-मत्री लायड जॉर्ज भी लच्छेदार वाक्यों का जाल बुनने वाला व्यक्ति था, लेकिन वह अवसरवादी करके मशहूर था। "शेर" कहलाने वाला क्लैमैन्शो तो आदर्शों और ढोंग भरे वाक्यों को व्यर्थ की चीज़ समझता था। वह तो फ्रास के पुराने शत्रु जर्मनी को कुचल डालने पर, उसे हर तरह कुचलने और ज़लील करने पर, तुला बैठा था ताकि वह फिर कभी सिर न उठा सके।

बस, ये तीनो तो आपस में एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते थे और अपनी-अपनी तरफ़ खींचतान करते थे, और इन तीनों को सम्मेलन में भी तथा उसके बाहर भी दूसरे अनेक लोग खींचते और धक्के देते रहते थे। और इन सब के पीछे रूस का भूत खड़ा हुआ था। सम्मेलन में रूस का कोई प्रतिनिधि नही था और न जर्मनी का था; पर सोवियत रूस का केवल अस्तित्व ही पैरिस में जमा होने वाली तमाम पूंजीवादी शक्तियों के लिए निरन्तर चुनौती बना हुआ था।

---

[1]Council of Ten.

[2]Big Five.

अन्त में, लायड जॉर्ज की सहायता से, क्लैमैन्शो की जीत हुई। विल्सन जिन चीज़ों पर बहुत ज़ोर देता था उन में से एक चीज़ राष्ट्र-संघ मिल गई, और जब उसने अन्य सब को इस पर राज़ी करा लिया तो वह बाक़ी बहुत-सी बातों में झुक गया। कई महीनों के तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के बाद इस शान्ति सम्मेलन में आखिरकार मित्र-राष्ट्र सन्धि के एक मसौदे पर सहमत हुए, और आपस में सहमत हो जाने के बाद उन्होंने अपना हुक्मनामा सुनाने के लिए जर्मन प्रतिनिधियों को तलब किया। सन्धि का यह ४४० धाराओं वाला भारी-भरकम मसौदा इन जर्मनो पर फेंक दिया गया और उन्हें इस पर हस्ताक्षर करने का आदेश दिया गया। उनके साथ कोई तर्क नही किया गया, न उन्हें सुझाव या परिवर्तन करने का मौक़ा दिया गया। यह सन्धि-पत्र तो उन पर लादा जाने वाला था; या तो वे इस पर ज्यो-के-त्यो हस्ताक्षर कर दें या इन्कारी का नतीजा भुगतने को तैयार हो जाय। नये जर्मन प्रजातन्त्र के प्रतिनिधियो ने आपत्ति की, पर मोहलत के आखरी दिन इस 'वर्साई की सन्धि' पर हस्ताक्षर कर दिये।

आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ मित्र-राष्ट्रों ने अलग-अलग सन्धिया तय की और उन पर हस्ताक्षर किये। तुर्की-सन्धि पर यद्यपि सुल्तान सहमत हो गया था, पर कमालपाशा तथा उसके सहयोगियों के शानदार विरोध के कारण वह बीच मे ही टूट गई। लेकिन इसकी कहानी मै तुम्हे अलग बतलाया चाहता हूँ।

इन सन्धियो के कारण क्या-क्या परिवर्तन हुए? अधिकतर प्रादेशिक परिवर्त्तन पूर्वी योरप, पश्चिमी एशिया और अफरीका में हुए। अफ़रीका में मित्र-राष्ट्रों ने जर्मन उपनिवेशो को युद्ध की लूट के रूप में हड़प लिया, और सबसे बढिया टुकड़ा इंग्लैण्ड के हाथ मे आया। अफरीका के एक छोर से दूसरे छोर तक, यानी उत्तर मे मिस्र से लगाकर दक्षिण मे उत्तमाशा अन्तरीप तक, साम्राज्य की अटूट पट्टी का जो चिर-अभिलषित स्वप्न अंग्रेजो का था, उसे वे पूर्वी अफरीका मे टागानिका तथा अन्य प्रदेशों पर कब्ज़ा करके पूरा करने मे सफल हो गये।

योरप मे भारी परिवर्त्तन हुए और नकशे पर नये राज्यो की काफी सख्या पैदा हो गई। पुराने नकशे की नये नकशे से तुलना करने पर तुम्हे ये महान परिवर्त्तन देखते ही नज़र आ जायगे। इन में से कुछ परिवर्त्तन तो रूसी क्रान्ति के फल थे, क्योंकि रूस की सरहद पर निवास करने वाली अनेक क़ौमें जो खुद रूसी नही थी, सोवियत से विलग हो गईं और उन्होंने अपने-आपको स्वाधीन घोषित कर दिया। सोवियत सरकार ने आत्म-निर्णय के उनके अधिकारो को स्वीकार कर लिया और किसी तरह का विरोध नही किया। योरप के नये नकशे को देखो। एक बड़ा राज्य आस्ट्रिया-हंगरी गायब हो गया है और उसकी जगह कई छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गये है जो अक्सर अस्ट्रिया के उत्तराधिकारी राज्य कहे जाते हैं। ये हैं: आस्ट्रिया, जो अब घट कर अपने पुराने शरीर का ज़रा-सा टुकड़ा रह गया है और वीयना जैसा महान और विशाल शहर जिसकी राजधानी है; हगरी, जिसका आकार भी बहुत छोटा रह गया है; चेकोस्लोवेकिया, जिसमें पुराना बोहेमिया शामिल है, यूगोस्लोविया, जो हमारा पुराना और नागवार परिचित सर्बिया है जो इतना फैल गया है कि पहचाना नही जाता; और बाकी हिस्से रूमानिया, पोलैण्ड और इटली को चले गये हैं। यह काट-छाट बिल्कुल मुकम्मिल तौर पर की गई थी।

दूर उत्तर मे एक और नया राज्य पोलैण्ड बन गया, या यों कहो कि एक पुराना राज्य फिर प्रगट हो गया। यह प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया के प्रदेशो से घड़कर बनाया गया था। पोलैण्ड को बन्दरगाह देने के लिए एक बड़ा ही अपूर्व करतब दिखाया गया। जर्मनी के, या यो कहो कि प्रशिया के, दो भाग कर दिये गये और दोनों भागों के बीच में समुद्र तक जमीन की एक "गली' पोलैण्ड को दे दी गई। इसलिए पश्चिमी प्रशिया से पूर्वी प्रशिया जाने वाले को पोलैण्ड की इस गली को पार करना पड़ता है। इस गली के नज़दीक डैनज़िग का प्रसिद्ध शहर है। इसे आज़ाद शहर बना दिया गया है—अर्थात् न तो वह जर्मनी का है और न पोलैण्ड राज्य का। यह खुद ही एक राज्य है जो सीधा राष्ट्र-संघ के मातहत है।

पोलैण्ड के उत्तर मे लिथ्यूनिया, लैटविया, ऐस्टोनिया और फ़िनलैण्ड के बाल्टिक तटवर्ती राज्य हैं जो तमाम पुराने ज़ारशाही साम्राज्य के उत्तराधिकारी हैं। ये राज्य हैं तो छोटे-छोटे पर हरेक राज्य एक स्वतन्त्र सांस्कृतिक इकाई है और हरेक की अपनी अलग भाषा है। तुम्हें यह जान कर दिलचस्पी होगी कि लिथ्यूनिया-निवासी आर्य हैं (योरप की अनेक अन्य कौमों की तरह) और उनकी भाषा संस्कृत से बहुत

मिलती-जुलती है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है जिसे शायद भारत के बहुत-से लोग महसूस नहीं करते, परन्तु दूरस्थ क़ौमों को एक सूत्र में जोड़ने वाले बन्धन इससे हमारी समझ में बखूबी आ जाते हैं।

योरप में एक और बड़ा प्रादेशिक परिवर्तन केवल यह हुआ कि अलसास और लौरेन के प्रान्त फ्रांस को वापस मिल गये। कुछ और परिवर्तन भी हुए, लेकिन उनकी झंझट में मैं तुम्हें नहीं डालना चाहता। अब तुमने देख लिया कि इन परिवर्तनों के फलस्वरूप अनेक नये राज्य पैदा हो गये जिनमें से ज्यादातर बिल्कुल छोटे-छोटे थे। पूर्वी योरप अब बलकान जैसा बन गया, और इसलिए अक्सर यह कहा जाता है कि शान्ति सन्धियों से योरप का "बलकानीकरण" हो गया। अब पहले से बहुत अधिक सरहदें हो गई हैं, और इन ज़रा-ज़रा से राज्यों के बीच अक्सर झगड़े-टंटे रहा करते हैं। यह देखकर हैरत होती है कि ये एक दूसरे से कितनी नफ़रत करते हैं, खास कर डैन्यूब की घाटी वाले राज्य। इसकी बहुत कुछ जिम्मेदारी मित्र-राष्ट्रों पर है जिन्होंने बिल्कुल ग़लत तरीके पर योरप का बंटवारा कर डाला, और इस प्रकार अनेक नई समस्याएं पैदा कर दीं। अनेक अल्प-संख्यक क़ौमें विदेशी हुकूमतों के अधीन हैं जो उन्हें सताती रहती हैं। पोलैण्ड को ज़मीन का एक बड़ा टुकड़ा मिल गया है जो वास्तव में यूक्रेन का भाग है। इस क्षेत्र के बेचारे यूक्रेनियों का ज़बरदस्ती "पोलीकरण" करने के इरादे से उन पर हर तरह के अत्याचार किये गये हैं। यूगोस्लाविया और रूमानिया और इटली में भी इसी प्रकार विदेशी अल्पसंख्यक जातियां हैं और इनके साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया जाता है। दूसरी ओर आस्ट्रिया और हंगरी की धज्जियां उड़ा दी गई हैं और अधिकतर खुद उनके ही निवासी उनसे छीन लिये गये हैं। इन तमाम क्षेत्रों पर विदेशी अधिकार होने के फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन और लगातार रगड़े-झगड़े कुदरती तौर पर होते रहते हैं।

नक़्शे पर फिर निगाह डालो। तुम देखोगी कि फिनलैण्ड, ऐस्टोनिया, लैटविया, लिथ्यूनिया, पोलैण्ड और रूमानिया राज्यों की लड़ी के कारण रूस पश्चिमी योरप से बिल्कुल विलग हो गया है। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, इनमें से अधिकतर राज्य वर्साई की सन्धि से नहीं बने थे बल्कि सोवियत क्रान्ति के परिणाम थे। मगर फिर भी मित्र-राष्ट्रों ने इनका स्वागत किया क्योंकि ये रूस को ग़ैर-बोलशेविक योरप से पृथक करने वाली पंक्ति बन गये थे। ये बोलशेविक छूत को दूर रखने में मदद देने वाला एक 'सफ़ाई का घेरा'[1] (जिससे छूत की बीमारियों को फैलने से रोका जाता है) बन गये थे! बाल्टिक तटवर्ती ये तमाम राज्य ग़ैर-बोलशेविक हैं, अन्यथा वे अवश्य ही सोवियत संघ में शामिल हो गये होते।

पश्चिमी एशिया में पुराने तुर्की साम्राज्य के कुछ भागों पर पश्चिमी शक्तियों की लार टपकने लगी। युद्ध के दौरान में अंग्रेज़ों ने अरबस्तान, फ़िलस्तीन और सीरिया को मिला कर संयुक्त अरब बादशाहत बना देने का वादा करके अरबों को तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया था। इधर तो अरबों से यह वादा किया जा रहा था, उधर ये ही अंग्रेज इन्हीं प्रदेशों के बँटवारे की एक गुप्त सन्धि फ्रांस के साथ कर रहे थे। यह कार्रवाई इनकी शान के लिए भद्दी चीज़ थी, और इग्लैण्ड के एक प्रधान मंत्री रैम्ज़े मैकडोनल्ड ने इसे "असभ्य दोरंगी चालबाज़ी" का उदाहरण बतलाया था। लेकिन यह दस वर्ष पहले की बात है जब वह प्रधान-मंत्री नहीं था और इसलिए कभी-कभी सच्ची बात कहने की हिम्मत कर सकता था।

जब ब्रिटिश सरकार ने केवल अरबों के साथ किये हुए वादे को ही नहीं बल्कि फ्रांस के साथ की हुई गुप्त सन्धि को भी तोड़ने की कल्पना से खेलना शुरू किया तो इससे भी ज्यादा अनोखा परिणाम निकला। भारत से लगाकर मिस्र तक फैले हुए एक महान मध्य-पूर्वी साम्राज्य का, यानी उनके भारतीय साम्राज्य को अफ़रीका के अधिकृत क्षेत्रों से जोड़ने वाले एक विशाल भू-प्रदेश का, स्वप्न उनकी आँखों के आगे नाचने लगा। यह एक लुभावना और ज़बरदस्त स्वप्न था। मगर फिर भी उस समय इसका पूरा होना ज्यादा कठिन नहीं नज़र आता था। उस समय, यानी सन् १९१८ ई० में, इस सारे विशाल क्षेत्र —ईरान, इराक़, फ़िलस्तीन, अरबस्तान के कुछ भाग, मिस्र, आदि पर ब्रिटिश सैनिकों का कब्ज़ा था। ये लोग फ्रांस को सीरिया में क़दम नहीं रखने देना चाहते थे। खुद कुस्तुन्तुनिया भी अंग्रेज़ों के कब्ज़े में था। लेकिन जब सन् १९२० और १९२१ और १९२२ ई० के वर्षों का घटनाचक्र प्रकट हुआ तो यह स्वप्न विलीन हो गया। पीछे से सोवियत ने और सामने से कमालपाशा ने ब्रिटिश मंत्रियों की इन महत्वाकांक्षा पूर्ण योजनाओं का अन्त कर दिया।

---

[1]Cordon Savitaire.

परन्तु फिर भी इंग्लैण्ड पश्चिमी एशिया के ईराक़ और फ़िलस्तीन आदि बहुत बड़े भाग पर अधिकार जमाये रहा और घूस तथा अन्य उपायों से उसने अरबस्तान के घटनाचक्र पर असर डालने का प्रयत्न किया। सीरिया फ्रांसीसियों के हिस्से पड़ा। अरब देशों की राष्ट्रीयता और आज़ादी के उनके संघर्ष का हाल मैं फिर कभी लिखूंगा।

अब हमें वर्साई की सन्धि पर लौट जाना चाहिए। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी को युद्ध छेड़ने वाला अपराधी पक्ष ठहराया गया और इस प्रकार सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर कराके जर्मनो से जबरदस्ती यह इक़बाल कराया गया कि वे युद्ध के अपराधी हैं। ऐसी ज़ोर-ज़बरदस्ती के इक़बालनामों की कोई क़ीमत नही होती; वे कटुता पैदा करते है, जैसा कि इस मामले में हुआ भी।

जर्मनी को निरस्त्र होने का भी आदेश दिया गया। उसे थोड़े बहुत पुलिस कार्यों के लिए केवल छोटी-सी सेना रखने की अनुमति दी गई और अपना जहाज़ी-बेड़ा मित्र-राष्ट्रो के हवाले कर देना पड़ा। जब जर्मन बेड़ा इस प्रकार सौंप दिये जाने के लिए ले जाया जा रहा था तब उसके अफसरों और नाविकों ने अपनी ही जिम्मेदारी पर यह तय कर डाला कि अंग्रेज़ों के हवाले करने की अपेक्षा उसे डुबो देना बेहतर है। बस, जून, सन् १९१९ ई०, में स्कैपा फ़्लो की खाड़ी में, अंग्रेज़ों की निगाह के सामने, जो उसे लेने की तैयारिया कर रहे थे, सारे जर्मन बेड़े को उसीके नाविकों ने जहाज़ो में छेद करके डुबो दिया।

इसके अलावा, जर्मनी से युद्ध का हर्जाना और युद्ध के कारण मित्र-राष्ट्रों की हानियों और क्षतियों का मुआवजा भी तलब किया गया। इसे "क्षति पूर्ति की रक़म" कहा गया, और यह शब्द अनेक वर्षों तक योरप के ऊपर भूत की तरह सवार रहा। सन्धि में कोई निश्चित रकम तय नही की गई थी, पर उसमें इसके तय किये जाने का विधान रक्खा गया था। मित्र-राष्ट्रों की युद्ध-जनित हानियो को पूरा करने की यह जिम्मेदारी असाधारण भारी चीज़ थी। जर्मनी तो उस समय वैसे ही पराजित और बरबाद देश था जिसके सामने अपने ही घर का खर्च चलाने की विकट समस्याए थी। इस पर मित्र-राष्ट्रो का यह भार कन्धो पर लेना एक असम्भव कार्य था जो कभी भी पूरा नही हो सकता था। लेकिन मित्र-राष्ट्र तो घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे। वे जर्मनी से केवल अपना "एक पौंड मास"[1] ही वसूल नही करना चाहते थे, बल्कि उसके धराशायी शरीर के खून की आख़री बूद तक चूस लेना चाहते थे। इंग्लैण्ड में लॉयड जार्ज ने "कैसर को फासी दो" का नारा लगा कर चुनाव जीते थे। फ्रास में तो लोगों की भावनाए इससे भी ज्यादा कठोर थी।

सन्धि की इन तमाम धाराओं का सारा उद्देश्य यह था कि जर्मनी को हर सम्भव उपाय से बाँध दिया जाय, उसे अपाहज बना दिया जाय, और उसे फिर पनपने नही दिया जाय। इरादा यह था कि वह पीढियों तक मित्र-राष्ट्रों का आर्थिक गुलाम बना रहे और हर साल उन्हें अपार धनराशि खिराज की तरह देता रहे। जिन बुद्धिमान महा-राज्यनीतिज्ञो ने वर्साई में इस प्रतिशोध की शान्ति की नीव डाली, उनके ध्यान में इतिहास की यह स्पष्ट सिखावन नही आई कि इस प्रकार किसी महान क़ौम को लम्बे समय तक बाधे रखना असम्भव है। अब वे इस पर पछता रहे है।

अन्त में मैं राष्ट्रपति विल्सन के दिमाग की उपज उस राष्ट्र संघ का ज़िक्र करना चाहता हूं जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया को भेंट किया। यह आज़ाद और स्व-शासित राज्यों का एक संघ बनने वाला था और इसका अभिप्राय था "न्याय और सम्मान के आधार पर पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करके भावी युद्धों को रोकना और ससार के राष्ट्रों के बीच भौतिक और बौद्धिक सहयोग बढाना"। कितना प्रशंसा के योग्य है यह अभिप्राय! संघ के हर सदस्य-राज्य ने वादा किया कि जब तक शान्तिपूर्ण समझौते की सारी सम्भाव-

---

[1]शेक्सपीयर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' नामक नाटक का नायक एक व्यापारी एक यहूदी से रुपया उधार लेता है और दस्तावेज़ लिख देता है कि अगर निश्चित तारीख़ तक क़र्ज़ा न लौटा सके तो उसके बाद यहूदी को उसके शरीर का एक पौंड मांस काट लेने का अधिकार होगा। व्यापारी उस तारीख़ को रुपया नहीं दे पाता है और यहूदी अपना एक पौंड मांस मांगता है। इस पर मुक़दमा अदालत में आता है और व्यापारी की प्रेमिका वकील बनकर उसे छुड़ा लेती है। इसी कथानक के आधार पर अंग्रेज़ी में 'एक पौंड मांस' की कहावत बन गई है।

नाएं खतम न हो जांय तब तक वह किसी साथी राज्य से युद्ध नहीं छेड़ेगा, और अगर छेड़ेगा भी तो इसके बाद नौ महीने की अवधि पूरी होने पर। किसी सदस्य-राज्य द्वारा इस प्रतिज्ञा के भंग किये जाने की हालत में अन्य राज्य इसके लिए प्रतिज्ञा-बद्ध थे कि उस राज्य के साथ अपने लेन-देन के और आर्थिक सम्बन्ध विच्छेद कर दें। काग़ज पर तो यह सब बड़ा सुहावना लगता है, पर व्यवहार में मामला बिल्कुल बदल गया। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि संघ ने सिद्धान्त रूप में भी युद्ध का अन्त करने का प्रयत्न नहीं किया; उसने तो युद्ध के मार्ग में कठिनाइयां पैदा करनी चाही ताकि समय बीतने पर और मेल-जोल के प्रयत्नों से युद्ध-लिप्सा ठंडी पड़ जाय। उसने युद्ध के कारणों को भी दूर करने की कोशिश नहीं की।

संघ में एक तो असैम्बली रक्खी गई थी जिसमें तमाम सदस्य-राज्यों को प्रतिनिधित्व दिया गया था, और एक कौन्सिल रक्खी गई थी जिसमें बड़ी-बडी शक्तियो के स्थायी प्रतिनिधियों के अलावा असैम्बली द्वारा निर्वाचित कुछ और प्रतिनिधि भी आ सकते थे। संघ का एक सचिवालय रक्खा गया था जिसका सदर मुक़ाम, जैसा कि तुम्हे मालूम है, जेनेवा था। संघ की प्रवृत्तियों के अन्य विभाग भी रक्खे गये थे: अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर कार्यालय, जिसका ताल्लुक मज़दूरों सम्बन्धी मामलों से था; हेग में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत; और बौद्धिक सहयोग की एक समिति। संघ का कार्य इन सारी प्रवृत्तियों के साथ शुरू नहीं हुआ। कुछ प्रवृत्तिया बाद मे शामिल की गईं।

संघ का मूल विधान वर्साई की सन्धि में ही शामिल था। यह "राष्ट्र-संघ का शर्तनामा"[1] कहलाता है। इस शर्तनामें में यह शर्त रक्खी गई थी कि तमाम राज्य अपनी-अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कम से कम जितनी युद्ध-सामग्री की अवश्यकता हो उससे ज्यादा नही रक्खे। जर्मनी का निरस्त्रीकरण (जो लाज़िमी था) इस दिशा में पहला क़दम माना गया था; अन्य देशों का नम्बर इसके बाद आता था। इसके अलावा विधान में यह भी रक्खा गया था कि अगर कोई राज्य दूसरे पर आक्रमण करे तो उसके विरुद्ध कार्रवाई की जाय। लेकिन यह नही बतलाया गया कि आक्रमण किस हालत में माना जायगा। जब दो कौमें या दो राष्ट्र लडते हैं तो हरेक दूसरे को दोषी ठहराता है और उसे ही आक्रमणकारी बतलाता है।

संघ महत्वपूर्ण मामलों को केवल सर्व सम्मति से ही तय कर सकता था। अर्थात् यदि किसी प्रस्ताव के विरुद्ध एक भी सदस्य-राज्य ने मत दे दिया तो वह गिर जाता था। इसका अर्थ यह था कि बहुमत की धींगा-धींगी नही चल सकती थी। इसका मतलब यह भी था कि राष्ट्रीय सत्ताए पहले ही की तरह स्वाधीन और बहुत कुछ ग़ैर-ज़िम्मेदार बनी रही, संघ उनके सिर पर कोई महा-राज्य नही बन गया। इस धारा ने संघ को बहुत निर्बल कर दिया और व्यवहार में उसे एक सलाहकार सस्था मात्र बना दिया।

कोई भी स्वाधीन राज्य इस संघ में शामिल हो सकता था, पर चार देशो को निश्चय पूर्वक अलग रक्खा गया था: तीन तो पराजित शक्तिया—जर्मनी, आस्ट्रिया और तुर्की; तथा एक बोलशेविक शक्ति रूस। हां, यह धारा ज़रूर रख दी गई थी कि बाद में ये देश कुछ शर्तों पर संघ में आ सकते है। मगर निराली बात यह हुई कि भारत इस संघ का मूल सदस्य बन गया, यद्यपि यह बात उस नियम के बिल्कुल खिलाफ थी जिसके अनुसार केवल स्व-शासित राज्य ही संघ के सदस्य हो सकते थे। अलबत्ता, "भारत" से अभि-प्राय था भारत की ब्रिटिश सरकार, और इस चतुर चालबाज़ी से ब्रिटिश सरकार ने एक और प्रतिनिधि प्राप्त करने का ढंग बैठा लिया। परन्तु दूसरी ओर अमरीका ने, जो एक तरह से संघ का जन्मदाता था, इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया। अमरीकावासियो ने राष्ट्रपति विल्सन की कार्रवाइयो को तथा योरपीय साज़िशों और उलझनों को पसंद नहीं किया और अलग ही रहने का फैसला किया।

बहुत लोग संघ की ओर उत्साह से देख रहे थे और आशा लगा रहे थे कि वह आजकल की दुनिया के झगडे-फ़िसादों का अन्त कर देगा, या कम से कम उनमें बहुत कुछ कमी कर देगा, और शान्ति तथा समृद्धि का युग ले आयगा। संघ को लोकप्रिय बनाने के लिए और, कहा जाता है कि, लोगों मे चीज़ों को अन्तर्राष्ट्रीय नज़र से देखने की आदत डालने के लिए, अनेक देशों में राष्ट्र संघ समितिया स्थापित हुईं। दूसरी ओर, बहुत-से अन्य लोगों ने संघ को एक ढोंगभरा ढकोसला बतलाया जो बडी-बड़ी शक्तियों की स्वार्थभरी योजनाओं को आगे बढ़ाने की नीयत से बनाया गया था। अब तक हमें इसका कुछ व्यावहारिक अनुभव भी हो गया है

---

[1] Covenant of the League of Nations.

और शायद इसकी उपयोगिता की परीक्षा करना आसान है। संघ ने सन् १९२० ई० के साल के नये दिन से काम करना शुरू किया। अभी तक उसके जीवन के थोड़े ही दिन बीते हैं, पर इतने ही समय में उसकी बिल्कुल पोल खुल गई है। इसमें शक नहीं कि आधुनिक जीवन के विभिन्न गली-कूचों में इसने अच्छा काम किया है, और इसने राष्ट्रों को, या यों कहो कि उनकी सरकारों को, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने के लिए जो एक साथ ला बिठाया है, केवल यही तथ्य पुराने तरीको से आगे बढ़ा हुआ है। परन्तु शान्ति क़ायम रखने का, या युद्ध की संभावनाओं को ही कम करने का, अपना असली उद्देश्य प्राप्त करने में यह पूरी तरह असफल रहा है।

राष्ट्र संघ के बारे में राष्ट्रपति विल्सन का असली इरादा चाहे जो रहा हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है कि बड़ी-बड़ी शक्तियों ने, ख़ासकर इंग्लैण्ड और फ्रांसने, इसे अपना औज़ार बना लिया है। इसका ठेठ बुनियादी कार्य वर्तमान व्यवस्था को क़ायम रखना है। यह राष्ट्रो के बीच न्याय और सम्मान की डींगें तो मारता है, परन्तु यह जांच नहीं करता कि वर्तमान पारस्परिक सम्बन्धों की बुनियाद भी न्याय और सम्मान पर क़ायम है या नहीं। उसका दावा है कि वह राष्ट्रों के "घरू मामलो" में हस्तक्षेप नही करता। साम्राज्यशाही शक्तियों के अधीन देश उसके लिए घरू मामले हैं। इसलिए, जहा तक राष्ट्र सघ का ताल्लुक है, उसका यही दृष्टिकोण है कि इन शक्तियो का अपने-अपने साम्राज्यों पर सदा के लिए अधिकार बना रहे। इसके अलावा, जर्मनी तथा तुर्की से छीने हुए नये प्रदेश "आदेशों"[1] के नाम से मित्र-राष्ट्रीय शक्तियों को इनाम मे दे दिये गये। यह शब्द राष्ट्र सघ की मनोवृत्ति का नमूना है, क्योकि इसका अभिप्राय है पुराने साम्राज्य-शाही शोषण को एक सुहावना नाम देकर जारी रखना। कहा जाता है कि ये आदेश आदेशित प्रदेशो की जनता की इच्छाओ के अनुसार दिये गये थे। इनमें से बेचारी अनेक कौमो ने इन आदेशो के विरुद्ध बगावते भी की और वर्षों तक खूनी लडाइया जारी रक्खी, पर अन्त मे बमो और गोलो की मार से उन्हे झुकने को मजबूर कर दिया गया। सम्बन्धित कौमो की इच्छाए मालूम करने का यही तरीका था!

लच्छेदार शब्दो तथा वाक्यो का प्रयोग किया गया। साम्राज्यशाही शक्तिया आदेशित प्रदेशो के निवासियों की "अमानतदार" मानी गईं और संघ का काम यह देखना था कि अमानत की शर्तों का पालन हो। पर असल में इससे स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई। शक्तियो ने अपनी मनमानी की, पर ज़रा ज्यादा बगुला-भक्ति का जामा पहन लिया, और इस प्रकार भोले-भाले लोगो के अन्त करणो को शान्त कर दिया। जब किसी छोटी शक्ति ने किसी तरह का अपराध किया, तो सघ ने कडा रुख इख्तियार कर लिया और अपनी नाराज़गी की धमकी दिखाई। परन्तु जब किसी बड़ी शक्ति ने अपराध किया, तो संघ नज़र चुका कर दूर देखने लगा, या उसने अपराध की गुरुता को बिल्कुल घटा देने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार सघ में बड़ी-बडी शक्तियो का डका बजता रहा। इसके द्वारा जब-जब इनका स्वार्थ सधा तब-तब इन्होने इसका उपयोग किया, परन्तु जब कभी उसकी उपेक्षा करना अधिक लाभदायक दिखाई दिया तब इन्होने इसे ताक मे रख दिया। शायद इसमें संघ का कोई कुसूर नही था; कुसूर तो खुद उस प्रणाली का था जिसे सघ को इसलिए सहन करना पड़ता था कि वह बना ही इस ढग पर था। विभिन्न शक्तियो के बीच घोर प्रतिद्वन्दिता और प्रतियोगिता तो साम्राज्यवाद का सार ही था, क्योंकि हरेक शक्ति यथासम्भव दुनिया का शोषण करने पर उतारू थी। अगर किसी समाज के सदस्य एक दूसरे की जेबें कतरने के निरन्तर प्रयत्न करते रहें और एक दूसरे की गर्दनें काटने के लिए चाकुओं पर सान चढ़ाते रहें, तो उनके बीच अधिक सहयोग होने की संभावना नहीं रहती और न यह संभावना रहती है कि समाज कोई निराली प्रगति करेगा। इसलिए, यदि आश्रयदाताओं और धर्म-पिताओं की प्रभावशाली जमात के बावजूद भी राष्ट्र संघ पनप नही सका, तो इसमें आश्चर्य की बात नही है।

जिस समय वर्साई में सन्धि की चर्चाएं चल रही थी, तब जापान सरकार की ओर से यह प्रस्ताव रक्खा गया कि सन्धि-पत्र में जातीय समानता को स्वीकार करने वाली एक धारा रख दी जाय। परन्तु यह प्रस्ताव माना नहीं गया। लेकिन चीन में क्याउ-चाउ जापान की भेंट करके उसके आँसू पोंछ दिये गये।

[1] Mandates.

चीन जैसे एक कमज़ोर और विनम्र साथी को नुक़सान पहुँचा कर मित्र-राष्ट्रों ने अपनी उदारता दिखाई। इसी कारण चीन ने सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये।

ऐसी थी यह वर्साई की सन्धि जिसने "युद्धों का अन्त करने वाले युद्ध" का अन्त कर दिया। फिलिप स्नोडन ने, जो आगे चल कर वाइकाउण्ट स्नोडन और इंग्लैण्ड का एक मंत्री हुआ, सन्धि के बारे में निम्नलिखित विचार प्रगट किया था :

> "यह सन्धि लुटेरों, साम्राज्यवादियों और सैन्यवादियों को संतुष्ट कर देगी। परन्तु जो यह आशा लगा रहे थे कि युद्ध का अन्त होने पर शान्ति का राज हो जायगा, उनकी आशाओं पर तो इसने पाला डाल दिया। यह शान्ति की सन्धि नहीं है बल्कि दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह लोकतन्त्र के प्रति और युद्ध के शहीदों के प्रति विश्वासघात है। इस सन्धि ने मित्र-राष्ट्रों के असली उद्देश्यों को उभाड़ कर रख दिया है।"

यह सच भी है कि अपनी घृणा और घमंड और लालच में मित्र-राष्ट्र अपनी सीमा से आगे चले गये। बाद के वर्षों में जब खुद उन्हींकी मूर्खता के परिणामों में उनके ग़र्क हो जाने का खतरा पैदा हुआ तो वे पछताने लगे। पर तब तक चिड़ियां खेत को चुग चुकी थीं।

: १५६ :

युद्धोत्तर संसार

२६ अप्रैल, १९३३

अब हम अपने लम्बे सफ़र की आखिरी मंज़िल पर आ गये हैं, यानी हम वर्तमान काल की देहली पर खड़े हैं। हमें युद्धोत्तर संसार पर, यानी महायुद्ध के बाद की दुनिया पर गौर करना है। अब हम अपने ही ज़माने में हैं, जो वास्तव में तुम्हारा ही ज़माना है! यह आखिरी मंज़िल है, और समय के लिहाज़ से बहुत छोटी सी मंज़िल है, पर फिर भी कठिनाइयों से भरी हुई है। युद्ध को समाप्त हुए ठीक साढ़े चौदह वर्ष बीत गये हैं, और इतिहास के जिन लम्बे-लम्बे कालों पर हम विचार कर चुके हैं उनके मुक़ाबले में समय का यह नन्हा-सा भाग क्या चीज़ है? पर हम तो बिल्कुल इसकी रेल-पेल के बीच में हैं और इतने नज़दीक से घटनाओं के बारे में सही रायें बनाना कठिन है। न तो हमें इसकी तसवीर को दूर से देखने का सही रुख मिल सकता है और न हम शान्त-चित्त होकर निष्पक्षता से इस पर विचार कर सकते हैं, और इतिहास इन दोनों बातों का तक़ाज़ा करता है। अनेक घटनाओं के बारे में हमारे दिलों में इतनी ज्यादा हलचल है कि यह सम्भव है कि छोटी-छोटी चीज़ें हमें बड़ी दिखाई देने लगें और कुछेक वास्तविक बड़ी चीज़ों के महत्व को हम पूरी तरह न आंक सकें। सम्भव है कि हम पेड़ों के झुरमुट में ही भटकते रह जायं और सारे जंगल को न देख पा सकें।

इसके अलावा दूसरी कठिनाई यह पता लगाने में है कि घटनाओं के महत्व को कैसे नापा जाय? इस काम के लिए हम कौन से गज़ का उपयोग करें? यह तो काफ़ी स्पष्ट है कि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम चीज़ों को किस ढंग से देखते हैं। एक दृष्टिकोण से कोई घटना हमें महत्वपूर्ण लग सकती है, पर दूसरे दृष्टिकोण से वह बिल्कुल महत्वहीन और तुच्छ मालूम दे सकती है। मुझे भय है कि अब तक जितने पत्र मैंने तुम्हें लिखे हैं उनमें मैंने कुछ हद तक इस प्रश्न को टाला है; मैंने इसका उचित और स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है। इतने पर भी जो कुछ मैंने लिखा है उस पर मेरे व्यापक दृष्टिकोण का रंग चढ़ गया है। इन्हीं कालों और इन्हीं घटनाओं के बारे में कोई दूसरा लिखता तो शायद बिल्कुल दूसरी तरह से लिखता।

यहां मैं इस विवाद में नहीं पड़ना चाहता कि इतिहास के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए। पिछले वर्षों में मेरा खुद का दृष्टिकोण बहुत बदल गया है। और जिस प्रकार इस बारे में और अन्य विषयों पर मैंने अपने विचार बदले हैं, उसी प्रकार बहुत-से दूसरे लोगों ने भी बदले हैं। क्योंकि युद्ध ने हर चीज़

को और हर व्यक्ति को बुरी तरह झंझोड़ दिया है। उसने पुरानी दुनिया को बिल्कुल उलट दिया, और तब से हमारी बेचारी पुरानी दुनिया दुबारा उठ खड़ी होने की कोशिश में तकलीफ उठा रही है, पर सफल नहीं हो पाती। युद्ध ने विचारो की उस सारी प्रणाली को हिला दिया जिसके आधार पर हमारा विकास हुआ था, और हमें आधुनिक समाज तथा सभ्यता की बुनियाद में ही शका करने को मजबूर कर दिया। हमने नौजवानों के जीवन का भीषण संहार और युद्ध की झूठबाजी, हिंसा, पाशविकता और विनाश देखे और हम आश्चर्य से सोचने लगे कि कही यह सभ्यता का अन्त तो नही है। रूस में सोवियत का उदय हुआ, जो एक नई चीज थी, एक नई सामाजिक व्यवस्था थी और पुरानेपन को एक चुनौती थी। अन्य विचारधाराए भी हवा में फैल रही थी। यह विघटन का काल था, यानी पुराने विश्वास और दस्तूर टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे; यह शंका और सशय का युग था जो संक्रमण और तीव्र परिवर्तन के काल में सदा पैदा होते रहते हैं।

इन सब कारणो से हमारे लिए युद्धोत्तर काल पर इतिहास के रूप में विचार करना कुछ कठिन हो जाता है। हम विभिन्न विश्वासो और विचारों पर चर्चाए और शकाएं भले ही करें, और उनमें से किसी को सिर्फ इसलिए स्वीकार भले ही न करें कि वह पुराना कहा जाता है, परन्तु इन चीजो को हम विचारों से केवल खिलवाड़ करने का, या अपना कर्त्तव्य जानने के लिए दिमाग लड़ाने की परेशानी से बचने का, बहाना नही बना सकते। ससार के इतिहास में इस तरह के सक्रमण काल दिमाग और शरीर की क्रियाशीलता का खास तौर पर तकाजा करते है। ये ही ऐसे समय होते हैं जब जीवन की दैनिक नीरस घिस-घिस में जान पड़ जाती है और जोखिम के काम हमें पुकारते हैं, और हम सब नई व्यवस्था के निर्माण करने में अपना अपना हिस्सा अदा कर सकते हैं। ऐसे ही समयो में युवको और युवतियों ने सदा प्रधान भाग लिया है, क्योंकि ये अपने-आप को परिवर्तनशील विचारो और परिस्थितियो के अनुकूल उन लोगों की बनिस्बत ज्यादा आसानी से ढाल सकते हैं जो बूढे और सख्त हो गये है और प्रचीन विश्वासों में जम गये हैं।

इस युद्धोत्तर जमाने की जरा ब्यौरे से परीक्षा करना शायद लाभकारी होगा। पर इस पत्र मे मै इसका एक व्यापक सिहावलोकन तुम्हे कराना चाहता हूँ। नैपोलियन के पतन के बाद उन्नीसवी सदी का हमने जो सिंहावलोकन किया था वह तुम्हे याद होगा। अब सन् १८१५ ई० की वियेना की सुलह और उसके परिणामो पर बरबस हमारा ध्यान जाता है और हम उसकी तुलना सन् १९१९ ई० की वर्साई की सुलह तथा उसके परिणामों से करने लगते है। वियेना की सुलह कोई मुबारक सुलह नही थी; उसने योरप में भावी युद्धो के बीज बो दिये। अनुभव से सबक न लेकर हमारे राज्यनीतिज्ञों ने वर्साई की सुलह को उससे भी बहुत ज्यादा बुरी बना दिया, जैसा कि हम पिछले पत्र में देख चुके है। युद्धोत्तर वर्षों पर इस तथाकथित शान्ति की अधेरी छाया बहुत गहरे तौर पर छाई हुई रही है।

इन विगत चौदह वर्षों की मुख्य-मुख्य घटनाए क्या है? मेरे खयाल से महत्व मे अव्वल और सबसे अधिक ध्यान खीचने वाली घटना सोवियत संघ का उदय होना और मजबूत बनना है। इस सोवियत संघ का पूरा नाम "यूनियन ऑफ सोशलिस्ट सोवियत रिपब्लिक्स"[1] है जो सक्षेप में यू० एस० एस० आर० लिखा जाता है। अपनी हस्ती क़ायम रखने की लडाई में सोवियत रूस को जिन जबरदस्त कठिनाइयो का सामना करना पडा उनका कुछ जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। इन कठिनाइयों के बावजूद भी उसका सफल होना इस सदी का एक चमत्कार है। सोवियत व्यवस्था भूतपूर्व ज़ारशाही साम्राज्य के सारे एशियाई भाग पर, ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरिया में, और भारत की सरहद के बिल्कुल नजदीक मध्य एशिया में, फैल गई। सोवियत प्रजातंत्र तो अलग-अलग बने, पर वे सब एक सघ में संघबद्ध हो गये, और यही अब सोवियत संघ कहलाता है। यह सघ योरप और एशिया के विशाल क्षेत्र पर छाया हुआ है जिसका क्षेत्रफल सारे संसार की धरती के क्षेत्रफल का लगभग छठा भाग है। यह क्षेत्रफल बहुत बड़ा है, लेकिन बड़ापन खुद कोई अर्थ नही रखता, और रूस बहुत पिछड़ा हुआ था और साइबेरिया तथा मध्य एशिया तो उससे भी गये-बीते थे। सोवियत रूस ने दूसरा चमत्कार यह कर दिखाया कि निर्माण की भीमकाय योजनाओं के

---

[1] Union of Socialist Soviet Republics (U.S.S.R.)—समाजवादी सोवियत प्रजातंत्रों का संघ।

द्वारा इस क्षेत्र के बड़े-बड़े भागों का रूप ऐसा बदल दिया कि उन्हें पहचाना नहीं जा सकता। किसी कौम की इतनी तीव्र प्रगति का ऐसा उदाहरण लिखित इतिहास में दूसरा नही है। मध्य एशिया के सबसे ज्यादा पिछड़े हुए क्षेत्र भी इतनी तेजी के साथ आगे बढ़ गये हैं कि हम भारतवासियों को ईर्ष्या हो सकती है। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय प्रगतियां शिक्षा और उद्योग में हुई हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा रूसका औद्योगीकरण सरगर्मी और जोरों के साथ किया गया है और भीमकाय कारखाने खडे कर दिये गये हैं। इस सब का जनता पर बड़ा भारी बोझ पड़ा है जिसे आराम और आवश्यक वस्तुओं तक से वंचित रहना पड़ा है, ताकि उसकी कमाई का अधिक भाग प्रथम समाजवादी देश के निर्माण में लग जाय। किसान वर्ग पर खास तौर से ज्यादा बोझ पड़ा है।

इस प्रगतिशील और आगे बढ़ने की धुन वाले सोवियत देश तथा निरन्तर बढने वाली परेशानियों वाले पश्चिमी योरप के बीच बडा स्पष्ट अन्तर है। अपनी तमाम कठिनाइयों के बावजूद पश्चिमी योरप अभी तक रूस से बहुत ज्यादा धनवान है। अपनी सम्पन्नता के लम्बे समय में उसने बहुत काफी चर्बी जमा कर ली है जिसके आसरे वह कुछ समय तक गुज़र कर सकता है। लेकिन हर देश पर लदा हुआ क़र्ज़े का बोझ, क्षतिपूर्ति की उस रकम की समस्या जो वर्साई सन्धि के अन्तर्गत जर्मनी को अदा करनी थी, और बडी-छोटी शक्तियों की आपसी निरन्तर लाग-डांट और लड़ाई-झगडे, इन सबने बेचारे योरप को बडी मुसीबत की हालत में डाल दिया है। इस कठिनाई का हल निकालने के लिए अनवरत सम्मेलनो की बैठके होती रहती हैं, पर कोई रास्ता नही निकलता, और स्थिति दिन पर दिन बिगडती जाती है। सोवियत रूस की आज के पश्चिमी योरप से तुलना करना मानो कन्धों पर भारी बोझा ढोने वाले परन्तु जीवन और ओज से परिपूर्ण नवयुवक की ऐसे बूढ़े आदमी से तुलना करना है जिसमें कोई आशा और स्फूर्ति बाकी नही रही है, और जो गर्व के साथ, परन्तु बरबस, अपनी वर्तमान अवस्था के अन्त की ओर बढ़ा चला जा रहा है।

मालूम होता था कि युद्ध के बाद सयुक्तराज्य अमरीका योरप की इस छूत से बच गया। दस वर्ष तक उसने खूब धन कमाया। युद्धकाल में उसने साहूकारी के धन्धे से इंग्लैण्ड के नेतृत्व को धक्का देकर हटा दिया था। अब अमरीका सारी दुनिया का बोहरा बन गया था और तमाम दुनिया उसकी कर्जदार थी। आर्थिक दृष्टि से समूची दुनिया पर उसका प्रभुत्व हो गया था और सम्भव है कि दुनिया से मिलने वाले खिराज पर वह बड़े आराम से जिन्दगी बसर करता रहता, जैसा कि पहले कुछ हद तक इंग्लैण्ड ने किया था। लेकिन इसमें दो दिक्कतें थी। कर्जदार देश तंग हालत मे थे और अपने कर्ज़ों का भुगतान नकद रकम में नहीं कर सकते थे। वास्तव में अगर उनकी हालत अच्छी भी होती तो भी वे इतनी बडी-बडी रकमें नकदी के रूप में नही दे सकते थे। क़र्ज़ अदा करने की कोशिश केवल एक ही तरह की जा सकती थी कि वे माल तैयार करते और उसे अमरीका भेज देते। परन्तु अमरीका को यह विचार पसन्द नही था कि विदेशी माल उसके यहा आवे, इसलिए संरक्षण-करों की ऊंची-ऊंची दीवारें खड़ी कर दी गई जिससे इस माल के अधिक भाग का वहा आना रुक गया। फिर बेचारे कर्जदार देश क़र्ज़ किस प्रकार चुकाते ? तब एक चतुराईभरा उपाय सोच निकाला गया। अमरीका उन्हें और रुपया उधार दे ताकि वे उसका लेना ब्याज उसे अदा कर सकें! क़र्ज़ के भुगतान कराने का यह अपूर्व तरीक़ा था, क्योंकि इसका अर्थ यह था कि क़र्ज़ देने वाला रकम पर रक़म उधार देता चला जाय और क़र्ज़ बढता चला जाय। थोडे ही दिनों में यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि अधिकतर क़र्ज़दार देश कर्ज से कभी भी मुक्त नहीं हो पायेंगे। और तब अमरीका ने यकायक उधार देना बन्द कर दिया और सारा काग़ज़ी ढांचा तुरन्त ही भरभरा कर गिर पड़ा। और फिर एक बहुत ही अजीब बात हुई। अमरीका, समृद्ध अमरीका, नाक तक सोने से भरा हुआ अमरीका, अकस्मात ही असंख्य बेकार मजदूरों का देश हो गया, और उद्योग की कलें चलना बन्द हो गई, और मुफ़लिसी फैलाने लगी।

जब धनवान अमरीका पर ऐसी कड़ी चोट पडी तो यह कल्पना की जा सकती है कि योरप की क्या हालत थी। हरेक देश ने भारी-भारी संरक्षण-करों से तथा अन्य उपायों से और "स्वदेशी माल खरीदो" का आन्दोलन करके विदेशी माल का आयात रोकने की कोशिशें की। हर देश यह चाहता था कि बेचें ही बेचें, खरीदें कुछ नहीं, और खरीदें भी तो जितना हो सके उतना कम। इस तरह की चीज़ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हत्या किये बिना ज्यादा दिन नहीं चल सकती, क्योंकि व्यापार और व्यवसाय तो विनिमय पर निर्भर होते हैं। यह नीति आर्थिक राष्ट्रवाद कहलाती है। यह तमाम देशों में फैल गई और इसी प्रकार उग्र राष्ट्रवाद के

दूसरे रूप भी फैले। जब व्यापार और उद्योग मन्दे पड़ने लगे, तो हर देश की दिक़्क़तें बढ़ने लगीं, और बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों ने बाहर तो साम्राज्यशाही शोषण बढ़ा कर और घर में मज़दूरों की मजूरियां घटा कर अपने जमा-खर्च बराबर करने का प्रयत्न किया। संसार के विभिन्न भागों के शोषण की इच्छा और कोशिशें करने वाले प्रतिद्वन्दी साम्राज्यवाद आपस में दिन पर दिन ज़्यादा टकराने लगे। इधर तो राष्ट्र संघ निरस्त्रीकरण की पाखंडभरी बातें कर रहा था, और हाथ पर हाथ धरे बैठा था, उधर युद्ध का भूत सिर पर चढ़ता हुआ दिखाई दे रहा था। शक्तियां एक बार फिर उस मुठभेड़ के लिए आपस में गुटबन्दियां करने लगीं जो अनिवार्य मालूम पड़ रहा था।

मतलब यह है कि अब हम उस महान काल के अन्त के नज़दीक पहुंचते हुए मालूम होते हैं जिसमे पश्चिमी योरप तथा अमरीका में पूंजीवादी सभ्यता का राज्य रहा और बाक़ी दुनिया में उसका प्रभुत्व रहा। युद्ध के बाद के पहले दस वर्षों में ऐसा मालूम होने लगा था कि शायद पूंजीवाद फिर पनप जाय और एक और लम्बे काल के लिए जम कर खड़ा हो जाय। लेकिन इसके बाद के क़रीब तीन वर्षों ने यह सम्भावना बहुत कम कर दी है। पूंजीवादी राज्यों की आपसी प्रतिद्वन्दिता तो बढ़ते-बढ़ते खतरनाक रूप धारण कर ही रही है, पर साथ ही हर राज्य के अन्दर-अन्दर वर्गों के बीच और सरकार को चलाने वाले पूंजीवादी मालिक वर्ग तथा मज़दूरों के बीच लड़ाई-झगड़े दिन पर दिन तीव्र होते जा रहे है। ज्यों-ज्यों यह परिस्थिति बिगड़ती जाती है, मालिक वर्ग उदीयमान मज़दूर वर्ग को कुचलने का आखिरी प्रयत्न जान लड़ा कर करता है। यह प्रयत्न फासीवाद[1] का रूप धारण कर लेता है। फ़ासीवाद वहां प्रगट होता है जहां वर्गों का संघर्ष बहुत तीव्र हो गया है और मालिक-वर्ग के लिए अपनी विशेषाधिकार की स्थिति हाथ से चले जाने का खतरा पैदा हो गया है।

फासीवाद का जन्म महायुद्ध के कुछ ही दिन बाद इटली में हुआ। वहां जिस समय मज़दूर लोग काबू से बाहर हो रहे थे तब मसोलिनी के नेतृत्व मे फ़ासीवादियो ने सत्ता छीन ली, और तब से वे ही सत्तारूढ़ हैं। फासीवाद का अर्थ है नंगा अधिनायकत्व। वह लोकतंत्री प्रणालियों को खुले आम हिकारत की नजर से देखता है। फासीवादी तरीके कम या ज़्यादा तौर पर योरप के अनेक देशों में फैल गये हैं और अधिनायकत्व वहां एक बिल्कुल साधारण घटना हो गई है। सन् १९३३ ई० के शुरू में जर्मनी में भी फासीवाद की पूरी विजय हुई, जहां सन् १९१८ ई० में स्थापित नवजात प्रजातंत्र का अन्त कर दिया गया और मज़दूरों के आन्दोलन का नाश करने के लिए नितान्त पाशविक उपायों का अवलम्बन किया गया।

इस प्रकार योरप में फ़ासीवाद लोकतंत्र और समाजवादी बलों के मुक़ाबले में खड़ा हो गया और साथ ही पूंजीवादी शक्तियां एक दूसरी को घूरने लगीं और आपस में लड़ने की तैयारियां करने लगीं। और, इसके अलावा, पूंजीवाद ने एक तरफ़ बाहुल्य और दूसरी तरफ़ अभाव का बड़ा ही निराला दृश्य उपस्थित कर दिया; एक तरफ तो अन्न सड़ रहा था और फेंका भी जा रहा था और नष्ट भी किया जा रहा था, और दूसरी तरफ़ जनता भूखी मर रही थी।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान मे योरप का एक प्राचीन देश स्पेन प्रजातंत्र बन गया है और उसने अपने हैप्सबर्ग-बूर्बोन राजा को निकाल बाहर किया है। इस तरह योरप में और दुनिया में एक बादशाह और कम हो गया है।

महायुद्ध के बाद के चौदह वर्षों में जो मुख्य-मुख्य घटनाएं हुईं उनमें से तीन का ज़िक्र मैं कर चुका हूं: पहली, सोवियत यूनियन का उदय; दूसरी, अमरीका का दुनिया पर आर्थिक प्रभुत्व और उसका वर्तमान संकट; और तीसरी, योरप की गुत्थी। इस ज़माने की चौथी मुख्य घटना है पूर्वी देशों की पूरी जागृति और आज़ादी प्राप्त करने के उनके उग्र प्रयत्न। पूर्व ने अब निश्चय रूप से दुनिया की राजनीति में, प्रवेश कर लिया। इन पूर्वी राष्ट्रों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है· एक तो वे जो स्वाधीन समझे जाते है, और दूसरे वे जो किसी न किसी साम्राज्यशाही शक्ति के अधीन औपनिवेशिक देश हैं। एशिया तथा उत्तरी अफ़रीका के इन तमाम देशों में राष्ट्रीयता ज़ोर पकड़ गई है, और आज़ादी की इच्छा आग्रहपूर्ण तथा उग्र हो गई है। इन सब देशों में पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध ज़ोरदार आन्दोलन हुए हैं, और कुछ देशों में बग़ावतें तक

[1] Fascism.

हुई हैं। इनमें से अनेक देशों को अपने संघर्ष में संकट के मौक़े पर सोवियत संघ से सीधी सहायता प्राप्त हुई है, और इससे भी बहुत अधिक महत्व की बात यह है कि सोवियत संघ ने उनका नैतिक समर्थन किया है।

तुर्की का पुनर्जन्म एक ऐसे राष्ट्र का अत्यन्त उल्लेखनीय पुनर्जन्म है जो गिरा हुआ और बीता हुआ दिखाई देता था। और इसका अधिकांश श्रेय उस वीर नेता मुस्तफ़ा कमालपाशा को है जिसने उस समय भी घुटने टेकने से इन्कार कर दिया जब सब कुछ उसके विपक्ष में नज़र आ रहा था। उसने न केवल अपने देश के लिए आज़ादी प्राप्त की, बल्कि उसका आधुनीकरण करके उसे इतना बदल दिया कि उसकी शकल ही दूसरी हो गई। उसने सुल्तानियत का, और खिलाफ़त का, और स्त्रियों के परदे का, और ढेरों पुराने रिवाजों का, अन्त कर दिया। सोवियत के नैतिक और व्यावहारिक सहारे ने उसे बड़ी भारी सहायता पहुंचाई। ब्रिटिश प्रभाव से छुटकारा पाने के प्रयत्न में सोवियत ने ईरान को भी मदद दी। यहां भी रिज़ा ख़ा नामक एक दृढ़ व्यक्ति आगे आया, और आजकल यही ईरान का शासक है। इस काल में अफ़ग़ानिस्तान भी अपनी पूर्ण स्वाधीनता क़ायम करने में सफल हो गया।

खुद अरबस्तान को छोड़ कर बाक़ी अरबी देश अभी तक विदेशियों के अधीन हैं। अरबी क़ौमों की एकता की मांग अभी तक पूरी नहीं हुई है। अरब देश का अधिकतर भाग सुल्तान इब्न सऊद के मातहत स्वाधीन हो गया है। इराक़ क़ागज़ी तौर पर तो स्वाधीन है, पर असली तौर पर वह ब्रिटिश प्रभाव और नियन्त्रण के दायरे में है। फिलस्तीन और ट्रान्स-जौर्डन ब्रिटिश 'आदेश' हैं और सीरिया फ़ांसीसी 'आदेश' है। सीरिया में फ़ांसीसियों के विरुद्ध एक अपूर्व वीरतापूर्ण बग़ावत हुई और वह कुछ-कुछ सफल भी हुई। मिस्र में भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध छोटे-छोटे विद्रोह हुए और बड़ा लम्बा संघर्ष चला। यह संघर्ष अभी तक जारी है, हालांकि कहने को मिस्र स्वाधीन है, और अंग्रेज़ों का समर्थन-प्राप्त बादशाह वहां राज करता है। उत्तरी अफ़रीका के दूर पश्चिम में, मोरक्को में भी अब्दुल करीम के नेतृत्व में, वीरतापूर्ण संघर्ष हुआ। वह स्पेनियों को तो निकाल बाहर करने में सफल हो गया पर बाद में फ़ांसीसियों ने पूरा ज़ोर लगा कर उसे कुचल दिया।

एशिया और अफ़रीका में आज़ादी के ये संघर्ष ज़ाहिर करते हैं कि पूर्व के दूरस्थ देशों में नई भावना किस तरह फैल रही थी और नर-नारियों के दिलों में किस तरह घर कर रही थी। दो देशों के नाम उल्लेखनीय हैं क्योंकि उनका संसार-व्यापी महत्व है। ये चीन और भारत हैं। इनमें से एक भी देश में होने वाला कोई आमूल-चूल परिवर्तन संसार की सारी महान शक्ति व्यवस्था पर असर डालता है; संसारी राजनीति में इसके ज़बरदस्त परिणाम उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते। इसलिए चीन तथा भारत में होने वाले संघर्ष इन देशों की जनता के घरू संघर्ष न रह कर दुनिया के लिए बहुत अधिक महत्व रखते हैं। चीन की सफलता का अर्थ है एक ज़बरदस्त राज्य का उदय, जो शक्तियों के मौजूदा तथाकथित संतुलन को बिगाड़ देता है और जो साम्राज्यशाही शक्तियों द्वारा चीन के शोषण का अपने-आप अन्त कर देता है। भारत की सफलता का भी अर्थ है छिपी हुई शक्ति वाले महान राज्य का प्रगट होना, और इसका अटल अर्थ है ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त।

गत दस वर्षों के दौरान में चीन में अनेक उतार-चढ़ाव आये। कुओ-मिन-तांग और साम्यवादियों का गठ-बंधन टूट गया, और तब से आज तक चीन तुशनों तथा ऐसे ही लुटेरे सरदारों का शिकार बना हुआ है, जिन्हें अक्सर उन विदेशी स्वार्थों से सहायता मिलती रहती है जो चाहते हैं कि चीन में गड़बड़ चलती रहे। गत दो वर्षों से तो जापान ने चीन पर सचमुच चढ़ाई कर रक्खी है और कई प्रान्तों पर कब्ज़ा कर लिया है। यह ग़ैर-रस्मी युद्ध अभी तक चल रहा है। इस बीच चीन के भीतरी भाग में कई क्षेत्र साम्यवादी बन गये हैं और वहां कुछ-कुछ सोवियत के ढंग की हुकूमत क़ायम हो गई है।

भारत में विगत चौदह वर्ष बड़े घटनापूर्ण रहे हैं और इस समय में यहां उग्र लेकिन शान्तिमय राष्ट्रीयता प्रकाश में आई है। महायुद्ध के कुछ ही दिन बाद, जब महान सुधारों की बड़ी-बड़ी आशाएं बांधी जा रही थीं, हमें पंजाब में फ़ौजी क़ानून और जलियांवाला बाग़ का भीषण हत्याकांड मिला। इस पर क्रोध के फलस्वरूप, और तुर्की तथा खिलाफ़त के साथ बुरे बर्ताव पर मुसलमानों में रोष के फलस्वरूप, गांधीजी के नेतृत्व में सन् १९२०–२२ ई० का असहयोग आन्दोलन हुआ। वास्तव में, सन् १९२० ई० से ही गांधीजी भारतीय राष्ट्रीयता के ला-कलाम नेता हो गये हैं। भारत में यह गांधी युग रहा है, और अपनी नवीनता

तथा कारगरी के कारण उनके शान्तिपूर्ण विद्रोहके तरीक़ों ने दुनिया भर का ध्यान आकर्षित कर लिया है। कुछ धीमी प्रवृत्तियों तथा तैयारियो के अल्प अवकाश के बाद, सन् १९३० ई० में, जब कांग्रेस ने स्वाधीनता का ध्येय निश्चित रूप से मान लिया, तो आज़ादी की लड़ाई फिर शुरू हो गई। तब से हमारे यहा सविनय अवज्ञा और जेलों का ठसाठस भरना, और बहुत सी अन्य बातें जो तुम्हें मालूम हैं, होती रही हैं। इस बीच ब्रिटिश नीति यह रही है कि हो सके तो नाम मात्र के सुधारों से कुछ लोगो को अपनी ओर मिला लिया जाय, और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया जाय।

सन् १९३१ ई० में बर्मा में भूखे मरते किसान वर्ग का एक महान विद्रोह हुआ। इसे बड़ी क्रूरता से दबा दिया गया। जावा और हिन्देशिया में भी विद्रोह हुआ। स्याम में हलचल मची और कुछ परिवर्तन हुआ जिससे बादशाह के अधिकार सीमित कर दिये गये। फ्रांसीसी हिन्द-चीन में भी राष्ट्रीयता आगे बढ़ रही है।

मतलब यह कि सारे पूर्व में राष्ट्रीयता व्यक्त होने के लिए तड़प रही है और कहीं-कही उसमें कुछ साम्यवाद का मेल हो गया है। इन दोनो के बीच कोई उभयात्मक चीज़ नही है, सिवा इसके कि दोनो साम्राज्यवाद से एक समान घृणा करते है। सोवियत संघ के अन्तर्गत और बाहर के तमाम पूर्वी देशों के प्रति सोवियत रूस की बुद्धिमत्ता पूर्ण और उदार नीति ने गैर-साम्यवादी देशो तक में भी उसके अनेक मित्र पैदा कर दिये हैं।

हाल के वर्षों की एक और मुख्य विशेषता यह रही है कि स्त्रियाँ उन अनेक क़ानूनी, सामाजिक और रूढिगत बन्धनो से मुक्त हो गई हैं जिन्होने उन्हें जकड़ रक्खा था। पश्चिम में तो महायुद्ध ने इस चीज़ को बड़े वेग से आगे बढ़ाया। और पूर्व में भी, तुर्की से लगा कर भारत और चीन तक, स्त्रीजाति उठ कर क्रियाशील हो गई है और राष्ट्रीय तथा सामाजिक प्रवृत्तियो में वीरतापूर्ण भाग ले रही हैं।

ऐसा है यह समय जिसमें हम रह रहे है। हर रोज़ परिवर्त्तन के, और महत्वपूर्ण घटनाओं के, राष्ट्रों की आपसी रगड़-झगड़ के, पूजीवाद और समाजवाद तथा फ़ासीवाद और लोकतन्त्रवाद के बीच वैरभाव के, बढती हुई गरीबी और मुफलिसी के, समाचार सुनाई पड़ते हैं, और इन सब के ऊपर युद्ध की निरन्तर लम्बायमान परछाईं पड़ रही है।

यह इतिहास का सरगर्मी पैदा करने वाला ज़माना है, और इसमें ज़िन्दा रहना तथा हिस्सा लेना सौभाग्य की बात है, फिर चाहे वह हिस्सा देहरादून जेल का एकान्तवास ही क्यो न हो!

: १५७ :

प्रजातंत्र के लिए आयर्लैण्ड की लड़ाई

२८ अप्रैल, १९३३

अब हम हाल के वर्षों की महत्वपूर्ण घटनाओं पर कुछ अधिक ब्यौरे के साथ विचार करेंगे। मैं आयर्लैण्ड से शुरू करूगा। संसार के इतिहास तथा संसारी बलों के लिहाज़ से योरप के दूर पश्चिम का यह छोटा-सा देश वर्तमान मे कोई बड़ा महत्व नहीं रखता है। परन्तु यह वीर और अदम्य देश है, और ब्रिटिश साम्राज्य की सारी ज़बरदस्त ताक़त भी न तो इसकी आत्मा को कुचल सकी है और न इसे डरा कर सिर झुकाने को मजबूर कर सकी है।

आयर्लैण्ड के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने होमरूल बिल का ज़िक्र किया था जिसे ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने महायुद्ध शुरू होने के ठीक पहले पास किया था। अल्स्टर के प्रोटेस्टैण्ट नेताओं ने तथा इंग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया था और इसके विरुद्ध बाकायदा बग़ावत का संगठन किया गया था। इस पर, ज़रूरत पड़े तो अल्स्टर के विरुद्ध लड़ने को, दक्षिणी आयरवासियों ने भी अपने "राष्ट्रीय स्वयंसेवको" का संगठन किया था। ऐसा मालूम हो रहा था कि आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध टल नही सकता। ठीक इसी समय

महायुद्ध शुरू हो गया और लोगों का सारा ध्यान बैल्जियम और उत्तरी फ्रांस के रण-क्षेत्रों की तरफ़ बंट गया। पार्लमेण्ट में आयरी नेताओं ने युद्ध में सहायता देने की अपनी तैयारी प्रगट की, किन्तु देश इस ओर से उदासीन था और सहायता देने को ज़रा भी उत्सुक नही था। इधर अल्स्टर के "बाग़ियों" को ब्रिटिश सरकार में ऊंचे-ऊचे ओहदे दे दिये गये जिससे आयरनिवासी और भी अधिक नाराज़ हो गये।

आयर्लैण्ड में नाराज़ी बढ़ने लगी और यह भावना ज़ोर पकड़ने लगी कि इंग्लैण्ड के युद्ध में यहां के लोगों को बलिदान का बकरा न बनाया जाय। जब यह प्रस्ताव किया गया कि इंग्लैण्ड की तरह आयर्लैण्ड में भी लामबन्दी जारी की जाय और स्वस्थ शरीर वाले तमाम नौजवानों को सेना में जबरन् भर्ती किया जाय, तो सारे देश में विरोध की क्रोधाग्नि भड़क उठी। ज़रूरत पड़ने पर आयर्लैण्ड बलपूर्वक भी इसे रोकने के लिए तैयार हो गया।

सन् १९१६ ई० के ईस्टर[1] सप्ताह में डबलिन में उपद्रव हुआ और आयरी प्रजातन्त्र की घोषणा की गई। कुछ दिन की लड़ाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने इसे कुचल दिया, और बाद में इस अल्पकालिक बग़ावत में भाग लेने वाले आयर्लैण्ड के कुछ एक-से-एक वीर और होनहार नवयुवको को गोलियो से उड़ा दिया गया। यह उपद्रव, जो "ईस्टर उपद्रव" के नाम से मशहूर है, ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने वाला कोई गभीर प्रयत्न नहीं गिना जा सकता। यह तो दुनिया को केवल यह जतलाने का एक वीरतापूर्ण सकेत था कि आयर्लैण्ड अब भी प्रजातन्त्र का स्वप्न देखता था और इच्छा से ब्रिटिश प्रभुत्व स्वीकार करने को कभी तैयार नही था। दुनिया को यह सकेत देने के लिए इस उपद्रव का आयोजन करने वाले नवयुवको ने जान बूझ कर अपने प्राणों की आहुति चढा दी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार असफल होगे, पर उन्हे आशा थी कि उनकी कुरबानी बाद में फल देगी और आयर्लैण्ड को आज़ादी के नज़दीक ले जायगी।

इसी उपद्रव के दिनो के आसपास जर्मनी से आयर्लैण्ड को हथियार लाने का प्रयत्न करने वाले एक आयरवासी को अंग्रेज़ों ने गिरफ्तार कर लिया। यह व्यक्ति सर रोजर केसमैण्ट था जो बहुत वर्षों तक इंग्लैण्ड के व्यापारिक राजदूत विभाग में रह चुका था। केसमैण्ट पर लदन में मुकदमा चलाया गया और उसे मृत्यु-दड दिया गया। अदालत में अपराधी के कठघरे में खड़े होकर उसने जो बयान पढ़ा था वह विशेष रूप से मर्म-स्पर्शी और प्रभावशाली था और उसमें आयरी आत्मा के उत्कट देश प्रेम को खोल कर रख दिया गया था।

उपद्रव तो असफल रहा, पर उसकी असफलता में ही उसकी शानदार विजय थी। इसके बाद ही ब्रिटिश सरकार ने जो दमन किया, और खास कर नौजवान नेताओ के एक दल को जो गोलियो से उडा दिया, इनका आयरवासी जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। ऊपर-ऊपर तो आयर्लैण्ड शान्त नज़र आता था, लेकिन नीचे क्रोधाग्नि दहक रही थी, और शीघ्र ही यह 'शिन फ़ेन' के रूप में प्रगट हो गई। शिन फेन की विचार धारा बड़ी तेज़ी से फैलने लगी। आयर्लैण्ड के बारे में अपने पिछले पत्र में मै इस शिन फेन का ज़िक्र कर चुका हू। शुरू में तो इसे कोई सफलता नही मिली, पर अब यह दावानल की तरह फैलने लगी।

महायुद्ध समाप्त होने के बाद लदन की पार्लमेण्ट के लिए सारे ब्रिटिश द्वीप-समूह मे चुनाव हुए। आयर्लैण्ड में, शिनफेन दल ने, अग्रेज़ो के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करने वाले पुराने राष्ट्रवादियो को हरा कर, पार्लमेण्ट के बहुत अधिक स्थानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु शिन फ़ेन दल के लोगो ने चुनाव इसलिए नही जीता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अधिवेशनो में भाग लें। उनकी नीति बिल्कुल भिन्न थी; वे तो असहयोग और बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिन फ़ेन लोग लंदन की पार्लमेण्ट में नहीं गये, और उन्होने सन् १९१९ ई० में डबलिन में अपनी खुद की प्रजातंत्री धारा सभा बना डाली। उन्होंने आयरी प्रजातंत्र की घोषणा कर दी और अपनी धारा सभा का नाम "दॉइल आरन" रक्खा। *वे लोग यह मान कर चले थे कि यह अल्स्टर समेत समूचे आयर्लैण्ड के लिए है*, पर अल्स्टर वालों का इससे अलग रहना स्वाभाविक ही था। कैथलिक आयर्लैण्ड से उन्हे कोई प्रेम नही था। दॉइल आरन ने डिवैलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफ़िथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय सयोग से नवजात प्रजातंत्र के ये दोनों सरदार ब्रिटिश जेलों में थे।

---

[1] Easter week—ईसाइयों का त्यौहार जो ईसा मसीह के स्वर्गारोहण की याद में मनाया जाता है। यह सप्ताह प्रतिवर्ष २१ मार्च से २८ अप्रैल के बीच में पड़ता है।

फिर एक बहुत ही निराला संघर्ष शुरू हुआ। यह लड़ाई अपूर्व थी और आयर्लैण्ड तथा इंग्लैण्ड के बीच पिछली अनेको लड़ाइयों से बिलकुल भिन्न थी। केवल मुट्ठीभर युवक और युवतियां, अपने देशवासियों की सहानुभूति का सहारा पाकर, पराजय की कल्पनातीत संभावनाओं के विरुद्ध लड़े; उनके मुक़ाबले में एक महान और संगठित साम्राज्य खड़ा था। शिन फ़ेन का संघर्ष एक प्रकार का असहयोग था जिसमे हिंसा का कुछ पुट था। उन्होंने ब्रिटिश संस्थाओं के वहिष्कार का प्रचार किया और जहा सम्भव हुआ वहा अपनी संस्थाए स्थापित कर दी, जैसे मामूली अदालतो के स्थान पर पचायती अदालते। देहात मे पुलिस की चौकियो के विरुद्ध छापामार युद्ध का अवलम्बन किया गया। जेलों में भूख-हड़तालें करके शिन फ़ेन कैदियों ने ब्रिटिश सरकार को बहुत परेशान किया। सब से मशहूर भूख हड़ताल, जिसने आयर्लैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लार्ड मेयर टैरेन्स मैकस्विनी की हुई। जब उसे जेल में डाला गया तो उसने विश्वास के साथ कहा कि वह जेल से जरूर छूटेगा, जिन्दा नही छूटा तो मर कर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसका मृतक शरीर जेल से बाहर निकाला गया।

माइकल कॉलिन्स शिन फ़ेन बगावत के बहुत प्रमुख संगठनकर्त्ताओ में गिना जाता है। शिन फ़ेन की चतुर जुगतो ने आयर्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार को बहुत कुछ अशक्त बना दिया, और देहात के जिलों में तो उसकी हस्ती ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनो ओर हिंसा का जोर बढ़ने लगा और कई बार बदले के बदले लिये गये। आयर्लैण्ड मे लड़ने के लिए विशेष ब्रिटिश फ़ौजी दल भर्ती किया गया। इस दल के सैनिको को बड़ी ऊची-ऊची तनख्वाहें दी गई और इसमे युद्ध की सेनाओं से हाल ही मे छुट्टी पाये हुए वे तत्व थे जो बहुत खतरनाक और खूनी समझे जाते थे। अपनी वर्दियों के रग के कारण यह दल "काला औ भूरा"[1] के नाम से मशहूर हो गया। इस काले और भूरे दल ने निर्मम हत्याओं का ताण्डव नृत्य शुरू कर दिया। ये लोग शिनफ़ेनो को आतंकित करके सिर झुकाने को मजबूर करने के इरादे से सोते हुए लोगों को गोलियो से मार देते थे। पर शिन फ़ेनो ने सिर नही झुकाया और अपना छापामार युद्ध जारी रक्खा। इस पर काले और भूरे दल ने भीषण प्रतिशोध का सहारा लिया, और समूचे गाँव के गाँव तथा शहरो के बड़े भाग जला कर राख कर डाले। आयर्लैण्ड लड़ाई का विशाल मैदान बन गया जिसमें दोनों पक्ष खून-खराबी और बरबादी मे एक दूसरे से होड़ लगाने लगे। एक पक्ष की ओर तो साम्राज्य का सगठित बल था, दूसरे की ओर मुट्ठीभर लोगो का लौह निश्चय था। सन् १९१९ ई० से अक्तूबर, सन् १९२१ ई० तक, दो वर्ष यह आग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरम्यान, सन् १९२० ई० में, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने फुर्ती से नया होमरूल बिल पास कर दिया। युद्ध से पूर्व पास किया गया पुराना विधान, जिसके कारण अल्स्टर में विद्रोह की नौबत पहुंच गई थी, चुपचाप मसूख कर दिया गया। नये बिल के अनुसार आयर्लैण्ड के दो टुकड़े कर दिये गये: एक तो अल्स्टर अथवा उत्तरी आयर्लैण्ड और दूसरा देश का बाकी भाग, और दोनो के लिए अलग-अलग पार्लमेण्टें रक्खी गई। आयर्लैण्ड वैसे ही छोटा-सा देश है, इसलिए विभाजन होने पर ये दोनो भाग एक छोटे-से टापू के नन्हें-नन्हे क्षेत्र हो गये। उत्तरी भाग के लिए अल्स्टर में नई पार्लमेण्ट बना दी गई, पर दक्षिण में, यानी आयर्लैण्ड के बाकी भाग में, होमरूल कानून पर किसी ने ध्यान ही नही दिया। वे सब तो शिन फ़ेन विद्रोह में सलग्न थे।

अक्तूबर, सन् १९२१ ई० में ब्रिटिश प्रधान मंत्री लॉयड जॉज ने शिनफ़ेनो से विराम-सन्धि की अपील की ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके, और उसकी बात मान ली गई। इसमें सन्देह नहीं कि अपने विशाल साधनों द्वारा तथा सारे आयर्लैण्ड को वीरान बना कर इग्लैण्ड अन्त में शिनफ़ेनों को कुचल ही डालता, परन्तु आयर्लैण्ड में इस नीति के कारण वह अमरीका तथा अन्य देशों में बहुत बदनाम होता जा रहा था। संघर्ष जारी रखने के लिए अमरीका में रहने वाले तथा ब्रिटिश उपनिवेशो तक में रहने वाले आयरी लोगो ने आयर्लैण्ड को खूब धन भेजा। परन्तु इधर शिन फ़ेन लोग भी थक चुके थे, क्योंकि उन पर बड़ा भारी बोझ पड़ा था।

अंग्रेज तथा आयरी प्रतिनिधि लंदन में मिले, और दो महीने की चर्चा तथा तर्क-वितर्क के बाद

[1] Black and Tan.

महायुद्ध शुरू हो गया और लोगो का सारा ध्यान बैल्जियम और उत्तरी फ्रांस के रण-क्षेत्रों की तरफ़ बंट गया। पार्लमेण्ट में आयरी नेताओं ने युद्ध में सहायता देने की अपनी तैयारी प्रगट की, किन्तु देश इस ओर से उदासीन था और सहायता देने को ज़रा भी उत्सुक नही था। इधर अल्स्टर के "बागियो" को ब्रिटिश सरकार मे ऊंचे-ऊचे ओहदे दे दिये गये जिससे आयरनिवासी और भी अधिक नाराज हो गये।

आयर्लेण्ड में नाराज़ी बढ़ने लगी और यह भावना ज़ोर पकड़ने लगी कि इग्लैण्ड के युद्ध में यहां के लोगों को बलिदान का बकरा न बनाया जाय। जब यह प्रस्ताव किया गया कि इग्लैण्ड की तरह आयर्लेण्ड में भी लामबन्दी जारी की जाय और स्वस्थ शरीर वाले तमाम नौजवानों को सेना मे जबरन् भर्ती किया जाय, तो सारे देश में विरोध की क्रोधाग्नि भड़क उठी। ज़रूरत पड़ने पर आयर्लैण्ड बलपूर्वक भी इसे रोकने के लिए तैयार हो गया।

सन् १९१६ ई० के ईस्टर[1] सप्ताह में डबलिन में उपद्रव हुआ और आयरी प्रजातत्र की घोषणा की गई। कुछ दिन की लड़ाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने इसे कुचल दिया, और बाद में इस अल्पकालिक बगावत में भाग लेने वाले आयर्लैण्ड के कुछ एक-से-एक वीर और होनहार नवयुवको को गोलियो से उड़ा दिया गया। यह उपद्रव, जो "ईस्टर उपद्रव" के नाम से मशहूर है, ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने वाला कोई गंभीर प्रयत्न नहीं गिना जा सकता। यह तो दुनिया को केवल यह जतलाने का एक वीरतापूर्ण संकेत था कि आयर्लेण्ड अब भी प्रजातन्त्र का स्वप्न देखता था और इच्छा से ब्रिटिश प्रभुत्व स्वीकार करने को कभी तैयार नही था। दुनिया को यह संकेत देने के लिए इस उपद्रव का आयोजन करने वाले नवयुवको ने जान बूझ कर अपने प्राणो की आहुति चढ़ा दी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार असफल होगे, पर उन्हे आशा थी कि उनकी कुरबानी बाद में फल देगी और आयर्लैण्ड को आज़ादी के नज़दीक ले जायगी।

इसी उपद्रव के दिनों के आसपास जर्मनी से आयर्लेण्ड को हथियार लाने का प्रयत्न करने वाले एक आयरवासी को अग्रेज़ो ने गिरफ़्तार कर लिया। यह व्यक्ति सर रोजर केसमैण्ट था जो बहुत वर्षों तक इग्लैण्ड के व्यापारिक राजदूत विभाग मे रह चुका था। केसमैण्ट पर लदन में मुकदमा चलाया गया और उसे मृत्यु-दड दिया गया। अदालत में अपराधी के कठघरे में खड़े होकर उसने जो बयान पढा था वह विशेष रूप से मर्म-स्पर्शी और प्रभावशाली था और उसमे आयरी आत्मा के उत्कट देश प्रेम को खोल कर रख दिया गया था।

उपद्रव तो असफल रहा, पर उसकी असफलता मे ही उसकी शानदार विजय थी। इसके बाद ही ब्रिटिश सरकार ने जो दमन किया, और खास कर नौजवान नेताओ के एक दल को जो गोलियो से उडा दिया, इनका आयरवासी जनता पर गहरा प्रभाव पडा। ऊपर-ऊपर तो आयर्लेण्ड शान्त नज़र आता था, लेकिन नीचे क्रोधाग्नि दहक रही थी, और शीघ्र ही यह 'शिन फ़ेन' के रूप में प्रगट हो गई। शिन फेन की विचार धारा बडी तेज़ी से फैलने लगी। आयर्लेण्ड के बारे में अपने पिछले पत्र मे मैं इस शिन फेन का ज़िक्र, कर चुका हू। शुरू में तो इसे कोई सफलता नही मिली, पर अब यह दावानल की तरह फैलने लगी।

महायुद्ध समाप्त होने के बाद लदन की पार्लमेण्ट के लिए सारे ब्रिटिश द्वीप-समूह में चुनाव हुए। आयर्लेण्ड में, शिनफ़ेन दल ने, अग्रेज़ो के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करने वाले पुराने राष्ट्रवादियो को हरा कर, पार्लमेण्ट के बहुत अधिक स्थानो पर क़ब्ज़ा कर लिया। परन्तु शिन फेन दल के लोगों ने चुनाव इसलिए नही जीता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अधिवेशनो में भाग ले। उनकी नीति बिल्कुल भिन्न थी, वे तो असहयोग और बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिन फेन लोग लदन की पार्लमेण्ट में नही गये, और उन्होने सन् १९१९ ई० में डबलिन में अपनी ख़ुद की प्रजातत्री धारा सभा बना डाली। उन्होंने आयरी प्रजातत्र की घोषणा कर दी और अपनी धारा सभा का नाम "दॉइल आरन" रक्खा। वे लोग यह मान कर चले थे कि यह अल्स्टर समेत समूचे आयर्लैण्ड के लिए है, पर अल्स्टर वालों का इससे अलग रहना स्वाभाविक ही था। कैथलिक आयर्लैण्ड से उन्हें कोई प्रेम नही था। दॉइल आरन ने डिवैलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफ़िथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय सयोग से नवजात प्रजातंत्र के ये दोनो सरदार ब्रिटिश जेलों में थे।

---

[1]Easter week—ईसाइयों का त्यौहार जो ईसा मसीह के स्वर्गारोहण की याद में मनाया जाता है। यह सप्ताह प्रतिवर्ष २१ मार्च से २८ अप्रैल के बीच में पड़ता है।

फिर एक बहुत ही निराला संघर्ष शुरू हुआ। यह लड़ाई अपूर्व थी और आयर्लैण्ड तथा इंग्लैण्ड के बीच पिछली अनेको लड़ाइयों से बिलकुल भिन्न थी। केवल मुट्ठीभर युवक और युवतियां, अपने देशवासियों की सहानुभूति का सहारा पाकर, पराजय की कल्पनातीत सभावनाओ के विरुद्ध लड़े; उनके मुक़ाबले में एक महान और संगठित साम्राज्य खड़ा था। शिन फ़ेन का संघर्ष एक प्रकार का असहयोग था जिसमें हिंसा का कुछ पुट था। उन्होंने ब्रिटिश सस्थाओं के बहिष्कार का प्रचार किया और जहा सम्भव हुआ वहा अपनी संस्थाए स्थापित कर दी, जैसे मामूली अदालतो के स्थान पर पंचायती अदालते। देहात में पुलिस की चौकियों के विरुद्ध छापामार युद्ध का अवलम्बन किया गया। जेलों में भूख-हड़तालें करके शिन फेन क़ैदियो ने ब्रिटिश सरकार को बहुत परेशान किया। सब से मशहूर भूख हड़ताल, जिसने आयर्लैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लार्ड मेयर टैरेन्स मैकस्विनी की हुई। जब उसे जेल में डाला गया तो उसने विश्वास के साथ कहा कि वह जेल से ज़रूर छूटेगा, जिन्दा नही छूटा तो मर कर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसका मृतक शरीर जेल से बाहर निकाला गया।

माइकल कॉलिन्स शिन फ़ेन बगावत के बहुत प्रमुख संगठनकर्त्ताओं मे गिना जाता है। शिन फ़ेन की चतुर जुगतो ने आयर्लैण्ड मे ब्रिटिश सरकार को बहुत कुछ अशक्त बना दिया, और देहात के जिलो में तो उसकी हस्ती ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनो ओर हिंसा का ज़ोर बढ़ने लगा और कई बार अदले के बदले लिये गये। आयर्लैण्ड मे लड़ने के लिए विशेष ब्रिटिश फ़ौजी दल भर्ती किया गया। इस दल के सैनिको को बड़ी ऊची-ऊची तनख्वाहे दी गई और इसमे युद्ध की सेनाओ से हाल ही मे छुट्टी पाये हुए वे तत्व थे जो बहुत खतरनाक और खूनी समझे जाते थे। अपनी वर्दियो के रग के कारण यह दल "काला औ भूरा"[1] के नाम से मशहूर हो गया। इस काले और भूरे दल ने निर्मम हत्याओ का ताण्डव नृत्य शुरू कर दिया। ये लोग शिनफ़ेनो को आतकित करके सिर झुकाने को मजबूर करने के इरादे से सोते हुए लोगो को गोलियो से मार देते थे। पर शिन फेनो ने सिर नही झुकाया और अपना छापामार युद्ध जारी रक्खा। इस पर काले और भूरे दल ने भीषण प्रतिशोध का सहारा लिया, और समूचे गाँव के गाँव तथा शहरो के बड़े भाग जला कर राख कर डाले। आयर्लैण्ड लड़ाई का विशाल मैदान बन गया जिसमे दोनो पक्ष खून-खराबी और बरबादी में एक दूसरे से होड़ लगाने लगे। एक पक्ष की ओर तो साम्राज्य का संगठित बल था, दूसरे की ओर मुट्ठीभर लोगो का लौह निश्चय था। सन् १९१९ ई० से अक्तूबर, सन् १९२१ ई० तक, दो वर्ष यह आग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरम्यान, सन् १९२० ई० मे, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने फुर्ती से नया होमरूल बिल पास कर दिया। युद्ध से पूर्व पास किया गया पुराना विधान, जिसके कारण अल्स्टर मे विद्रोह की नौबत पहुच गई थी, चुपचाप मसूख कर दिया गया। नये बिल के अनुसार आयर्लैण्ड के दो टुकड़े कर दिये गये: एक तो अल्स्टर अथवा उत्तरी आयर्लैण्ड और दूसरा देश का बाक़ी भाग, और दोनो के लिए अलग-अलग पार्लमेण्टें रक्खी गईं। आयर्लैण्ड वैसे ही छोटा-सा देश है, इसलिए विभाजन होने पर ये दोनो भाग एक छोटे-से टापू के नन्हें-नन्हे क्षेत्र हो गये। उत्तरी भाग के लिए अल्स्टर मे नई पार्लमेण्ट बना दी गई, पर दक्षिण में, यानी आयर्लैण्ड के बाक़ी भाग में, होमरूल कानून पर किसी ने ध्यान ही नही दिया। वे सब तो शिन फ़ेन विद्रोह मे सलग्न थे।

अक्तूबर, सन् १९२१ ई० में ब्रिटिश प्रधान मंत्री लॉयड जॉज ने शिनफ़ेनो से विराम-सन्धि की अपील की ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके, और उसकी बात मान ली गई। इसमे सन्देह नही कि अपने विशाल साधनों द्वारा तथा सारे आयर्लैण्ड को वीरान बना कर इग्लैण्ड अन्त में शिनफ़ेनों को कुचल ही डालता, परन्तु आयर्लैण्ड में इस नीति के कारण वह अमरीका तथा अन्य देशो में बहुत बदनाम होता जा रहा था। संघर्ष जारी रखने के लिए अमरीका में रहने वाले तथा ब्रिटिश उपनिवेशों तक में रहने वाले आयरी लोगों ने आयर्लैण्ड को खूब धन भेजा। परन्तु इधर शिन फ़ेन लोग भी थक चुके थे, क्योंकि उन पर बड़ा भारी बोझ पड़ा था।

अंग्रेज तथा आयरी प्रतिनिधि लंदन में मिले, और दो महीने की चर्चा तथा तर्क-वितर्क के बाद

[1] Black and Tan.

दिसम्बर, सन् १९२१ ई० में एक अस्थायी समझौते पर दोनों के हस्ताक्षर हो गये। इसमें आयरी प्रजातन्त्र को तो मान्यता नहीं दी गई, परन्तु दो-एक मामलों को छोड़ कर इसमें आयर्लैण्ड को उससे कहीं अधिक आज़ादी मिल गई जितनी किसी उपनिवेश को अभी तक प्राप्त थी। इतने पर भी आयरी प्रतिनिधि इसे स्वीकार करने को राज़ी नहीं थे, और उन्होंने तभी अपनी स्वीकृति दी जब इंग्लैण्ड ने तात्कालिक और भयंकर युद्ध की धमकी की तलवार उनके सर पर चमकाई।

इस सन्धि के ऊपर आयर्लैण्ड में ज़बरदस्त खींच-तान हुई : कुछ लोग इसके समर्थक थे, अन्य लोग घोर विरोधी थे। इस सवाल पर शिन फ़ेन दलके दो टुकड़े हो गये। अन्त में जाकर डॉइल आरन ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, और "आयरिश आज़ाद राज्य" की स्थापना हुई जो आयर्लैण्ड में सरकारी तौर पर "साओर-स्टाथ आरन" कहलाता है। परन्तु इसके फलस्वरूप शिन फ़ेन दल के पुराने साथियों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। डॉइल आरन का अध्यक्ष डिवैलेरा इंग्लैण्ड के साथ सन्धि के विरुद्ध था, तथा अन्य बहुत लोग भी विरुद्ध थे; उधर माइकल कॉलिन्स तथा अन्य लोग पक्ष में थे। देश में कई महीनों तक गृह-युद्ध ज़ोरों के साथ चलता रहा, और विपक्षियों को दबाने के लिए सन्धि तथा आज़ाद राज्य के समर्थकों को ब्रिटिश फ़ौजों ने सहायता दी। प्रजातन्त्रवादियों ने माइकल कॉलिन्स को गोली से मार दिया, और इसी प्रकार प्रजातंत्रवादी नेताओं को आज़ाद राज्य के हामियों ने गोलियो से मार दिया। सारी जेलें प्रजातंत्रवादियों से भर गईं। यह सारा गृह-युद्ध और आपसी विद्वेष आयर्लैण्ड के वीरतापूर्ण स्वातंत्र्य-संग्राम का बहुत ही अधिक दुखान्त परिणाम था। जहा अंग्रेज़ो के हथियार कुन्द पड गये थे वहां उनकी नीति ने विजय पाई। एक आयरवासी दूसरे आयरवासी से लड़ रहा था, और इग्लैण्ड इस नये शुगूफे से मन ही मन संतुष्ट होता हुआ कुछ हद तक एक पक्ष को चुपचाप सहायता दे रहा था और खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा था।

गृह-युद्ध धीरे-धीरे ठंडा पड गया, पर प्रजातंत्रवादी फिर भी आज़ाद राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुए। यहाँ तक कि वे प्रजातंत्रवादी भी, जो डॉइल (आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट) में चुने गये थे उसके अधिवेशनो में उपस्थित होने से इन्कार हो गये, क्योंकि वफ़ादारी की जिस शपथ मे बादशाह का नाम आता था उसे ग्रहण करने में उन्हें आपत्ति थी। इसलिए डिवैलेरा तथा उसका दल डॉइल से दूर रहे और दूसरे आज़ाद राज्य दल ने, जिसका नेता आज़ाद राज्य का अध्यक्ष कॉस्ग्रेव था, प्रजातन्त्रवादियो को अनेक प्रकार से कुचलने का प्रयत्न किया।

आयरी आज़ाद राज्य के निर्माण से इग्लैण्ड की साम्राज्य सम्बन्धी नीति में दूर तक असर डालने वाले परिणाम पैदा हो गये। आयरी सन्धि के द्वारा आयर्लैण्ड को उससे कहीं अधिक परिमाण में स्वाधीनता मिल गई थी जितनी उस समय क़ानूनन अन्य उपनिवेशों को प्राप्त थी। ज्यो ही आयर्लैण्ड को यह मिली, त्यों ही अन्य उपनिवेशों ने भी उसे आपसे-आप प्राप्त कर लिया, और औपनिवेशिक दर्जे की कल्पना में परिवर्त्तन पैदा हो गया। इंग्लैण्ड तथा उपनिवेशों के जो कई साम्राज्य सम्मेलन हुए, उनके फलस्वरूप उपनिवेशों की अधिकाधिक स्वाधीनता की दिशा मे और भी परिवर्तन हुए। अपने ज़ोरदार प्रजातंत्रवादी आन्दोलन वाला आयर्लैण्ड हमेशा पूर्ण स्वाधीनता की ओर गाडी खीचता रहता था। बोअरों के बहुमत वाले दक्षिण अफरीका का भी यही हाल था। इस प्रकार उपनिवेशो की स्थिति बदलती और सुधरती चली गई, तथा वे राष्ट्रों के ब्रिटिश कॉमनवैल्थ में इग्लैण्ड के समकक्ष राष्ट्र माने जाने लगे। देखने-सुनने में यह बड़ा भला लगता है, और इसमें सन्देह नही कि समान राजनैतिक दर्जे की ओर यह प्रगतिशील विकास का द्योतक है। पर यह समानता जितनी कल्पना में है-उतनी व्यवहार में नही है। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश इंग्लैण्ड तथा ब्रिटिश पूजी के साथ बंधे हुए हैं, और उन पर आर्थिक दबाव डालने के बहुत से रास्ते हैं। साथ ही साथ, ज्यों-ज्यो उपनिवेशो का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उनके आर्थिक स्वार्थ इंग्लैण्ड के आर्थिक स्वार्थों से टकराने के कारण बनने लगते हैं। इस प्रकार साम्राज्य धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ता जाता है। वास्तव में साम्राज्य के टूट-फूट जाने का खतरा सिर पर सवार होने के कारण ही इंग्लैण्ड बंधनों को ढीला करने पर और उपनिवेशों के साथ बराबरी का राजनैतिक दर्जा क़बूल करने के लिए रज़ामन्द हुआ। मौक़े पर इतना आगे बढ़ कर उसने बहुत कुछ बचा लिया। लेकिन ज़्यादा दिन के लिए नहीं। उपनिवेशों को इंग्लैण्ड से अलगाने वाले बल निरन्तर काम कर रहे हैं; मुख्यतया वे आर्थिक बल हैं। और ये

बल साम्राज्य को निरन्तर कमजोर करने के कारण बन रहे हैं। इस कारण से, तथा इग्लैण्ड के निश्चित पतन के कारण से, मैंने तुम्हें लिखा था कि ब्रिटिश साम्राज्य धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है। जब एक-समान परम्परायें तथा संस्कृति और जातीय एकता के होते हुए भी उपनिवेशों का इंग्लैण्ड के साथ अधिक समय तक बंधे रहना मुश्किल है, तो फिर भारत का उसके साथ बधे रहना तो और भी ज्यादा मुश्किल होना चाहिए। क्योंकि भारत के आर्थिक हितों की तो ब्रिटिश स्वार्थों के साथ सीधी टक्कर है, और किसी एक को दूसरे के सामने झुकना ही पडेगा। इसलिए यह सम्भव नही है कि आजाद भारत इस लगाव को स्वीकार कर लेगा. क्योंकि इसका अनिवार्य परिणाम है भारत की आर्थिक नीति का इग्लैण्ड की आर्थिक नीति की ताबेदार बन जाना।

इस प्रकार ब्रिटिश कामनवैल्थ का अर्थ है राजनैतिक लिहाज से आजाद इकाइयो का समूह, परन्तु इस समूह का अभिप्राय सिर्फ़ आजाद उपनिवेशों से हैं, बेचारे पराधीन भारत से नही। परन्तु ये इकाइया अभी तक इंग्लैण्ड के आर्थिक साम्राज्य के अधीन है। आयरी सन्धि का अर्थ था ब्रिटिश पूजी द्वारा कुछ हद तक आयर्लैण्ड के शोषण का जारी रहना, और प्रजातंत्र के आन्दोलन के पीछे असली झगड़ा यही था। डिवैलेरा तथा प्रजातत्रवादी लोग ज्यादा गरीब किसानों के, निम्न मध्यमवर्गों के, और ग़रीब दिमाग़ी लोगों के, प्रतीक थे। कॉस्ग्रेव तथा आजाद राज्य वाले सम्पन्न मध्यमवर्ग के तथा सम्पन्न किसानों के प्रतिनिधि थे, और इन दोनो वर्गों के हित अग्रेजी व्यापार में थे, और अग्रेजी पूजी का हित इनमें था।

कुछ समय बाद डिवैलेरा ने अपने दांव-पेच बदलने का निश्चय किया। वह तथा उसका दल डॉइल आरन में गये और उन्होने वफादारी की शपथ भी लेली, पर साथ ही यह जाहिर कर दिया कि यह शपथ उन्होंने सिर्फ रस्म पूरी करने के लिए ली है, और अपना बहुमत होने ही वे उसे हटा देंगे। सन् १९३२ ई० के शुरू में होने वाले अगले चुनावो मे डिवैलेरा को आजाद राज्य की पार्लमेण्ट में यह बहुतम प्राप्त भी हो गया, और उसने तुरन्त ही अपने कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर दिया। प्रजातत्र के लिए लड़ाई तो अब भी चल रही थी, पर लड़ाई का ढग वदल गया था। डिवैलैरा ने वफ़ादारी की शपथ को मिटा देने का इरादा ज़ाहिर किया और ब्रिटिश सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि आगे से वह ज़मीन की वार्षिक क़िस्तें नही देगा। मेरा खयाल है कि इन वार्षिक किस्तो का ज़िक्र मै पहले कर चुका हू। जब आयर्लैण्ड की ज़मीने बडे-बड़े ज़मीदारो से ले ली गई थी तब उन्हें इनका भरपूर मुआवजा दिया गया था, और इसका रुपया हर साल उन किसानो से वसूल किया जाता था जिन्हे ये ज़मीने दी गई थी। यह सिलसिला शुरू हुए एक पीढ़ी से ज्यादा गुज़र चुकी थी, लेकिन यह अभी तक जारी था। डिवैलेरा ने कह दिया कि आगे से वह एक पाई भी न देगा।

इस पर इग्लैण्ड में फौरन ही वावेला मच गया और ब्रिटिश सरकार से झगडा ठन गया। अव्वल तो ब्रिटिश सरकार ने यह आपत्ति की कि डिवैलेरा द्वारा वफादारी की शपथ का हटाया जाना सन् १९२१ ई० की आयरी सन्धि का भग है। डिवैलेरा ने कहा कि उपनिवेशो के सम्बन्ध में की गई घोषणा के अनुसार अगर आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड समकक्ष राष्ट्र है और अगर हरेक को अपना विधान बदलने की आजादी है, तो यह स्पष्ट है कि आयर्लैण्ड को विधान में से वफादारी की शपथ को बदलने या निकाल देने का अधिकार है। इसलिए अब सन् १९२१ ई० की सन्धि का प्रश्न ही नही उठता। अगर आयर्लैण्ड को यह अधिकार नही है, तो उस हद तक वह इग्लैण्ड के अधीन है।

दूसरे, वार्षिक क़िस्तों के बन्द किये जाने पर तो ब्रिटिश सरकार ने और भी ज़ोर-शोर से आपत्ति की, और कहा कि यह अहदनामे का और कर्ज की ज़िम्मेदारी का बहुत बेहूदा प्रतिज्ञा-भंग है। डिवैलेरा ने इस बात को नही माना, और इस पर क़ानूनी तर्क-वितर्क हुआ। पर इस पचड़े में हम नही पड़ना चाहते। जब वार्षिक क़िस्तें चुकाने का समय आया और वे नही दी गई, तो इंग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के विरुद्ध एक नया युद्ध छेड़ दिया। यह आर्थिक युद्ध था। इंग्लैण्ड में आने वाले आयरी माल पर भारी संरक्षण चुंगियां लगा दी गईं; ताकि इग्लैण्ड को अपनी उपज भेजने वाले आयरी किसान बरबाद हो जांय और आयरी सरकार समझौता करने पर मजबूर हो जाय। जैसी कि इंग्लैण्ड की आदत है, उसने दूसरे पक्ष को मजबूर करने के लिए अपना सोटा घुमाया, पर इस प्रकार के तरीके अब पहले की तरह कारगर नहीं रह गये थे। आयरी सरकार ने इसके जवाब में आयर्लैण्ड आने वाले ब्रिटिश माल पर चुंगियां लगा दी। इस आर्थिक युद्ध ने

दोनों ओर के किसानों और उद्योगों को भारी क्षति पहुंचाई। परन्तु अपमानित राष्ट्रीयता और शान का खयाल दोनों में से किसी भी पक्ष के झुकने के मार्ग में बाधक बन गये।

सन् १९३३ ई० के प्रारम्भ में आयर्लैण्डमें नये चुनाव हुए, और इनमें जब डिवैलेरा पहले से भी ज्यादा सफल रहा और उसका पहले से भी ज्यादा बहुमत हो गया तो ब्रिटिश सरकार को बहुत खिजलाहट हुई। इसका अर्थ यह था कि आर्थिक शिकंजा कसने की ब्रिटिश नीति सफल नही हुई। मजेदार बात यह है कि इधर तो ब्रिटिश सरकार क़र्ज़ें न चुकाने में आयरवासियो की बदमाशी की पुकार करती है, उधर वह खुद अमरीका के क़र्ज़े नहीं चुकाना चाहती।

बस, आज डिवैलेरा आयरी सरकार का प्रमुख है और वह एक-एक पग बढ़ाता हुआ अपने देश को प्रजातत्र की ओर ले जा रहा है। वफ़ादारी की शपथ तो कभी की खतम हो गई; वार्षिक क़िस्तो का भुगतान सदा के लिए बन्द कर दिया गया है; गवर्नर-जनरल का पुराना पद भी तोड दिया गया है, और इस पद पर, जिसका अब कोई महत्व नही रह गया है, डिवैलेरा ने अपने दल के एक सदस्य को नियुक्त कर दिया है। प्रजातत्र के लिए लड़ाई चल रही है पर अब उसके ढग बदल गये है, सदियो पुराना आंग्ल-आयरी संघर्ष जारी है और आज इसने आर्थिक युद्ध का रूप ले लिया है।

आयर्लैण्ड के शीघ्र ही प्रजातत्र बन जाने की संभावना है। पर एक बडी बाधा मार्ग मे अटकी हुई है। डिवैलेरा तथा उसके दल की सबसे बड़ी इच्छा यह है कि अल्स्टर समेत एकीकृत आयर्लैण्ड, एक प्रजातंत्र बन जाय, और समूचे द्वीप की एक केन्द्रीय सरकार हो। आयर्लैण्ड इतना छोटा है कि उसके दो टुकडे नहीं किये जा सकते। डिवैलेरा के सामने महान समस्या यह है कि अल्स्टर को बाकी आयर्लैण्ड के साथ किस प्रकार जोडा जाय। जबरदस्ती से यह काम नही हो सकता। सन् १९१४ ई० में ब्रिटिश सरकार के ऐसे प्रयत्न के कारण बगावत होते होते रह गई थी। और आजाद राज्य तो अल्स्टर को मजबूर कर ही नही सकता, न ऐसा करने का उसका स्वप्न में भी कोई इरादा है। डिवैलेरा को आशा है कि वह अल्स्टर की सद्भावना प्राप्त कर लेगा और इस प्रकार दोनों को एक कर देगा। पर इस आशा में अव्यावहारिक आशावाद ज्यादा है, क्योंकि प्रोटेस्टेन्ट अल्स्टर का कैथलिक आयर्लैण्ड के प्रति घोर अविश्वास अभी तक चला आ रहा है।

टिप्पणी (सन् १९३८ ई०)—कुछ वर्ष चलनेके बाद दोनों देशो के बीच यह आर्थिक युद्ध दोनो देशो के एक आपसी राज़ीनामे के द्वारा खतम कर दिया गया। यह राज़ीनामा, जिससे सालाना किस्तो की समस्या का और रुपये-पैसे के अन्य देने-पावने का निपटारा हो गया, आयरी आजाद राज्य के लिए बहुत फायदेमन्द रहा। डिवैलेरा ने प्रजातन्त्र की ओर और भी क़दम बढाये है, तथा ब्रिटिश सरकार और ताज से अनेक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये है। आयर्लैण्ड का नाम अब 'आयर' रख दिया गया है। आयर के सामने सबसे ज्यादा ज़रूरी प्रश्न देश की एकता है, जिसमे अल्स्टर भी शामिल हो। पर अल्स्टर अभी राज़ी नहीं है।

: १५८ :

राख के ढेर से नवीन तुर्की का उदय

७ मई, १९३३

पिछले पत्र में मैं प्रजातत्र के लिए आयर्लैण्ड की वीरतापूर्ण लड़ाई का हाल लिख चुका हूं। आयर्लैण्ड और तुर्की के बीच कोई खास सम्बन्ध नहीं है, लेकिन आज मुझे नवीन तुर्की का ध्यान आ रहा है, इसलिए तुम्हें उसी के बारे मे लिखना चाहता हू। आयर्लैण्डकी ही तरह तुर्की ने भी बड़ी-बड़ी बाधाओं का आश्चर्य-जनक रूप से मुक़ाबला किया। हम देख चुके है कि महायुद्ध के परिणाम स्वरूप रूस, जर्मनी तथा आस्ट्रिया, में तीन साम्राज्य विलीन हो गये। तुर्की में हम चौथे महान साम्राज्य, यानी उस्मानी साम्राज्य, का अन्त देखते हैं। उस्मान और उसके उत्तराधिकारियों ने ६०० वर्ष पहले इस साम्राज्य की स्थापना की थी और इसका निर्माण किया था। इसलिए इनका राजवंश रूस के रोमानॉफ़ घराने से या प्रशिया और जर्मनी के हॉयन-

जॉलर्न घराने से बहुत पुराना था। ये तेरहवी सदीके प्रारम्भ के हैप्सबर्ग घराने के समसामयिक थे, और इन दोनों प्राचीन घरानो का एक साथ अन्त हुआ।

महायुद्ध में जर्मनी की पराजय से कुछ दिन पहले ही तुर्की का ढेर हो गया, और उसने मित्र-राष्ट्रों के साथ युद्ध-विराम का मामला अलग तय किया। देश लगभग छिन्न-भिन्न हो चुका था, साम्राज्य मिट गया था, और सरकार की व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक़ तथा अरबी देश तुर्की से बिल्कुल बिलग कर दिये गये थे और बहुत कुछ मित्र-राष्ट्रो के अधीन थे। खुद क़ुस्तुन्तुनिया पर भी मित्र-राष्ट्रो का कब्जा था, और विजयी पराक्रम के अभिमानी प्रतीक ब्रिटिश जंगी-जहाज बास्फ़ोरस में, इस महान शहर के सामने ही लंगर डाले पड़े थे। हर जगह अंग्रेजी, फ़ासीसी तथा इटावली सैनिक नजर आते थे, और ब्रिटिश खुफ़िया विभाग के कर्मचारी सारी जगह पर गश्त लगाते फिर रहे थे। तुर्की क़िले ढाये जा रहे थे, और बची-खुची तुर्की सेना के हथियार रखवाये जा रहे थे। नौजवान तुर्की नेता अनवर पाशा तथा तलाअत बेग अन्य देशो को भाग गये थे। सुल्तान की गद्दी पर कठपुतली खलीफ़ा वहीदुद्दीन बैठा हुआ था जो इस तबाही मे से अपने आपको बचाने पर तुला हुआ था, उसका देश भले ही चूल्हे में जाय। ब्रिटिश सरकार की पसन्द का एक और कठपुतली व्यक्ति वजीर आजम बनाया गया। तुर्की पार्लमेण्ट भग कर दी गई।

सन् १९१८ ई० के अन्त मे तथा सन् १९१९ ई० के शुरू में तुर्की के अदर इस तरह की अवस्था थी। तुर्क लोग बिल्कुल बेदम हो गये थे और उनके हौसले बिल्कुल पस्त हो चुके थे। तुम्हे याद होगा कि उन्हे कितनी भीषण मुसीबते सहनी पडी थी। महायुद्ध के चार वर्षों से पहले बलकान युद्ध हुआ था, और उससे भी पहले इटली के साथ युद्ध हुआ था, और यह सब नौजवान तुर्कों की उस क्रान्ति के बिल्कुल पीछे-पीछे लगा हुआ आया था जिसने सुल्तान अब्दुल हमीद को हटाकर पार्लमेण्ट कायम कर दी थी। तुर्कों ने हमेशा अद्भुत सहनशक्ति का परिचय दिया है, लगभग आठ साल के लगातार युद्ध ने उनकी कमर तोड़ दी; ऐसी हालत में किसी भी कौम की कमर टूट जाती। इसलिये वे सारी आशाए छोड़ बैठे और अपने-आपको बदनसीबी के हवाले करके मित्र-राष्ट्रों के फ़ैसले का इन्तजार करने लगे।

दो वर्ष पूर्व, युद्धके दौरान में, मित्र-राष्ट्रो ने इटली के साथ एक गुप्त समझौता कर लिया था जिसमें उसे स्मर्ना तथा एशिया कोचक का पश्चिमी भाग देने का वादा था। इससे पहले कागजी तौर पर कुस्तुन्तुनिया रूस को भेंट कर दिया गया था और अरबी देशो का मित्र-राष्ट्रो ने आपस में बटवारा करना तय कर लिया था। एशिया कोचक इटली को दिये जाने के बारे में इस अन्तिम गुप्त इक़रारनामे पर रूस की रजामन्दी आवश्यक थी। पर इटली के दुर्भाग्य से, ऐसा होने के पहले ही, बोलशेविको के हाथ में सत्ता आ गई। इसलिए यह इक़रारनामा मजूर नही हो पाया, जिसके कारण इटली मित्र-राष्ट्रो से बहुत कुढ़ा और नाराज हुआ।

उस समय बस यह परिस्थिति थी। मालूम होता था कि सुल्तान से लगा कर नीचे तक सारे तुर्क लोग बीत चुके हैं। "योरप का रोगी" आखिर दम तोड़ चुका था, कम से कम नजर यही आता था। लेकिन कुछ तुर्क ऐसे भी थे जो किस्मत या परिस्थिति के आगे सिर झुकाने को तैयार नही थे, भले ही उनका मुकाबला करना चाहे जितना निराशाजनक क्यो न दिखाई देता हो। कुछ समय तक तो वे चुपचाप और गुप्त रूप से अपना काम करते रहे। वे उन्ही शस्त्रागारो से हथियार और युद्ध-सामग्री इकट्ठा करते रहे जो सचमुच मित्र-राष्ट्रो के क़ब्जे मे थे, और इन्हे जहाजो में भर कर काला सागर के मार्ग से अनातोलिया (एशिया कोचक) के भीतरी भाग को रवाना करते रहे। इन गुप्त कार्यकर्ताओ मे मुस्तफ़ा कमालपाशा प्रधान था, जिसका नाम मेरे पिछले कई पत्रों में आ चुका है।

अंग्रेज लोग मुस्तफ़ा कमाल को फूटी आख भी नही देख सकते थे। वे उस पर सन्देह करते थे और उसे गिरफ्तार करना चाहते थे। सुल्तान भी, जो पूरी तरह अग्रेजो के अंगूठे के नीचे दबा हुआ था, उसे नही चाहता था। मगर उसने सोचा कि कमाल को भीतर की ओर बहुत दूर भेज देना निरापद चाल होगी, इसलिए कमालपाशा को पूर्वी अनातोलिया की सेना का इंस्पैक्टर-जनरल नियुक्त कर दिया गया। सच पूछो तो वहाँ देख-भाल करने के लिए कोई सेना ही नही थी, और असल में कमालपाशा से यह चाहा गया था कि वह तुर्की सिपाहियों से हथियार रखवाने का काम करे। कमाल के लिए यह बड़ा ही उपयुक्त अवसर था; उसने तपाक से इसे स्वीकार कर लिया और वह तुरन्त रवाना हो गया। उसका चला जाना अच्छा ही हुआ,

क्योंकि उसके रवाना होने के कुछ ही घंटे बाद सुल्तान की मति पलट गई। कमाल के भय ने यकायक उसे दबा दिया, और आधी रात गये उसने अंग्रेजों के पास खबर भेजी कि वे कमाल को रोक लें। पर चिड़िया तो उड़ चुकी थी।

कमालपाशा तथा कुछ गिने-चुने अन्य तुर्क अनातोलिया में राष्ट्रीय विरोध का संगठन करने लगे। शुरू-शुरू में वे चुपचाप और चौकस होकर चले, और वहा पड़े हुए सैनिक अफ़सरो को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। जाहिरा तौर पर तो वे सुल्तान के कारकुनो की तरह काम करते थे, पर क़ुस्तुन्तुनिया से आनेवाले आदेशों पर वे कोई ध्यान् नहीं देते थे। घटनाचक्र उनकी सहायता कर रहा था। काकेशिया में अंग्रेजो ने आर्मीनिया का प्रजातंत्र बनाया था और तुर्की के पूर्वी प्रान्त उसमें मिला देने का वादा किया था। (आज कल आर्मीनिया का प्रजातन्त्र सोवियत संघ का भाग है)। आर्मीनियाईयो और तुर्कों मे कट्टर शत्रुता थी, और बीते वर्षों में कभी एक ने और कभी दूसरे ने अनेक हत्याकाड किये थे। जब तक तुर्कों का प्रभुत्व था तब तक तो इस खूनी खेल में उनकी ही जीत होती रही, खास कर अब्दुल हमीद के राज्य में। इसलिए अब तुर्कों को आर्मीनियाइयो के अधीन रक्खे जाने का अर्थ था उनका सर्वनाश। इस तरह मरने से उन्होंने लड़ना अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी प्रान्तो के तुर्क कमालपाशा की अपीलो और जोश दिलाने वाली बातों को बड़े चाव के साथ सुनने को तैयार थे।

इसी बीच एक अन्य तथा बहुत महत्वपूर्ण घटना ने तुर्कों को जगा दिया। सन् १९१९ ई० के शुरू में इटाल्वी लोगों ने एशिया कोचक में अपने सैनिक उतार कर फ्रांस तथा इग्लैण्ड के साथ किये गये उस गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अमल में नही आ पाया था। इग्लैण्ड और फ्रास ने इसे बिल्कुल पसद नही किया; उस समय वे इटावली लोगो को बढावा नही देना चाहते थे। जब उन्हे और कुछ न सूझा तो वे इस पर राजी हो गये कि स्मर्ना पर यूनानी सैनिक क़ब्ज़ा कर ले, ताकि इटावली लोगो की पेशबन्दी हो जाय।

इस काम के लिए यूनान को क्यो पसन्द किया गया? फ्रासीसी तथा अंग्रेज सैनिक युद्ध-क्लान्त थे और बग़ावत पर उतारू थे। वे सैनिक सेवा से छुटकारा पाना चाहते थे और जितनी जल्दी हो सके घर लौट जाना चाहते थे। इधर यूनानी लोग सुप्राप्य थे, और यूनानी सरकार एशिया कोचक तथा क़ुस्तुन्तुनिया दोनों को अपने राज्य में मिलाने का और इस प्रकार पुराने बिज़ेण्टाइन साम्राज्य को पुनर्जीवित करने का स्वप्न देख रही थी। दो बडे योग्य यूनानी लॉयड जार्ज के मित्र थे, जो उस समय इग्लैण्ड का प्रधानमत्री था और मित्र-राष्ट्रो की मडली मे जिसका बहुत जोर था। इन में से एक तो यूनान का प्रधान मत्री वेनिज़ेलोस था। दूसरा सर बेसील जहरॉफ़ के नाम से प्रसिद्ध एक बड़ा रहस्यमय व्यक्ति था, हालाकि उसका मूल नाम बेसीलिओस जकरियास था। सन् १८७७ ई० में ही जबकि यह नौजवान था, यह हथियार बनाने वाली एक अंग्रेज़ी कम्पनी का बलकान राज्यो में एजेण्ट बन गया था। जब महायुद्ध खतम हुआ तब यह सारे योरप में, और शायद सारे ससार में, सबसे धनी व्यक्ति था, और बड़े-बडे राज्यनीतिज्ञ तथा सरकारे इसका आदर करने में गौरव अनुभव करते थे। इसे ऊची-ऊची अंग्रेज़ी तथा फ्रासीसी उपाधिया दी गईं, यह अनेक अख़बारों का स्वामी था; और मालूम होता था कि यह परदे के पीछे से सरकारो पर खूब प्रभाव डालता था। सर्व साधारण को उसके बारे मे कोई जानकारी नही थी, और वह सार्वजनिक प्रसिद्धि मे दूर ही रहता था। वास्तव में वह नमूने का आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार था जो अनेक देशो तथा प्रभाव-क्षेत्रो मे घरोपा अनुभव करता है और जिसके हाथो मे कुछ हद तक विविध लोकतत्री सरकारो की बागडोर रहती है। ऐसे देशो के लोग मन मे समझते हैं कि उन पर उनकी अपनी ही हुकूमत है, पर परदे के पीछे अदृश्य रूप में अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारों की सत्ता काम करती रहती है।

जहरॉफ़ इतना धनी और प्रभावशाली कैसे बन गया? उसका धन्धा था हर तरह के अस्त्र-शस्त्र बेचना, और बलकान में तो खास तौर से यह बडा मुनाफ़े का काम था। परन्तु अनेक लोगो का विश्वास है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे धन्धे में और राजनीति में बहुत मदद मिली, और बार-बार होने वाले युद्धो में उसने करोड़ो का मुनाफ़ा बटोरा, और इस प्रकार वह आज का एक रहस्यमय भीम बन गया।

इस कल्पनातीत धनी रहस्यमय व्यक्ति ने और वेनिज़ेलोस ने लॉयड जॉर्ज को इस बात पर राजी करा लिया कि यूनानी सैनिक एशिया कोचक में भेज दिये जाय। जहरॉफ़ इस कार्रवाई का पूरा खर्चा उठाने

को तैयार हो गया। उसने बिना मुनाफ़े के जो सौदे किये थे उनमें से यह भी एक था, क्योंकि लोगों का ख्याल है कि तुर्की युद्ध के लिए इसने यूनानियो को जो दस करोड़ डालर पेशगी दिये वे सब बट्टेखाते गये।

यूनानी सैनिक अंग्रेज़ी जहाज़ों में समुद्र पार करके एशिया कोचक पहुंचे और मई, सन् १९१९ ई०, में अंग्रेज़ी, फ़ासीसी और अमरीकी जगी जहाज़ों की हिफ़ाज़त में स्मर्ना पर उतरे। इन सैनिकों ने, जो तुर्की को मित्र-राष्ट्रों की 'भेंट' थे, तुरन्त ही ज़बरदस्त पैमाने पर नर-सहार और अत्याचार शुरू कर दिये। वहां आतक का ऐसा राज फैला कि युद्ध-क्लान्त संसार का कुंठित अन्तःकरण भी थर्रा उठा। ख़ुद तुर्की में तो इसका बड़ा ही बुरा असर पडा, क्योकि तुर्कों को पता लग गया कि मित्र-राष्ट्रो के हाथो उनकी कैसी बुरी हालत होती दिखाई देती है। और फिर अपने पुराने शत्रु तथा प्रजावर्ग यूनानियो द्वारा इस प्रकार मारा-काटा जाना और बर्ताव किया जाना! तुर्कों के हृदय में क्रोधाग्नि धधकने लगी, और राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। यहां तक कहा जाता है कि यद्यपि कमालपाशा इस आन्दोलन का नेता था, परन्तु स्मर्ना पर यूनानियों का कब्ज़ा इसका जन्मदाता था। अनेक तुर्की अफ़सर, जो तब तक डावाडोल थे, इस आन्दोलन में शामिल हो गये, हालाकि इसका अर्थ सुल्तान की अवहेलना करना था। क्योकि सुल्तान ने अब मुस्तफ़ा कमाल की गिरफ़्तारी का हुक्म निकाल दिया था।

सितम्बर, सन् १९१९ ई०, में अनातोलिया के सिवास नामक स्थान में चुने हुए प्रतिनिधियों की एक काग्रेस हुई। इसने विरोध के नये आन्दोलन पर स्वीकृति की मोहर लगा दी, और कमाल की अध्यक्षता में एक कार्यकारिणी कमेटी नियुक्त कर दी गई। मित्र-राष्ट्रो के साथ सुलह की न्यूनतम शर्तों का एक "राष्ट्रीय करार" भी स्वीकार किया गया। इन शर्तों का आधार पूर्ण स्वाधीनता रक्खा गया था। क़ुस्तन्तुनिया मे सुल्तान पर इसका असर पडा और वह कुछ डरा भी। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन बुलाने का वादा किया और चुनावो की आज्ञा दी। इन चुनावो मे सिवास काग्रेस के लोगो को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। कमालपाशा को कुस्तुन्तुनिया के लोगो पर विश्वास नही था, और उसने नव-निर्वाचित डिपुटियो को वहा न जाने की सलाह दी। पर वे इस पर राज़ी नही हुए और रऊफबेग के नेतृत्व मे वे इस्तम्बूल चले गये (क़ुस्तुन्तुनिया को अब मै इसी नाम से पुकारूंगा)। उनके वहाँ जाने का एक कारण यह था कि मित्र-राष्ट्रों ने घोषित कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बूल में सुल्तान की अध्यक्षता में बैठेगी तो वे उसे मान्यता दे देंगे। यद्यपि कमाल भी एक डिपुटी था, पर वह ख़ुद नही गया।

नई पार्लमेण्ट जनवरी, सन् १९२० ई०, मे इस्तम्बूल में बैठी, और उसने तुरन्त ही उस "राष्ट्रीय करार" को स्वीकार कर लिया जो सिवास काग्रेस मे रचा गया था। मित्र-राष्ट्रों के इस्तम्बूल स्थित प्रतिनिधियो को यह बात अच्छी नही लगी, और पार्लमेण्ट ने और भी जो बहुत से काम किये वे भी उन्हे अच्छे नही लगे। इसलिए छै सप्ताह बाद उन्होने अपनी वही हम्ब-मामूल और ज़रा भौंडी चालबाज़िया शुरू कर दी, जिनका मिस्र में तथा अन्यत्र कई बार प्रयोग कर चुके थे। अंग्रेज़ी सेनापति अपनी सेना लेकर इस्तम्बूल में घुस आया, उसने शहर पर कब्ज़ा कर लिया, फौजी कानून की घोषणा कर दी, रऊफ बेग सहित चालीस राष्ट्रीय डिपुटियो को गिरफ्तार कर लिया, और उन्हे देश-निकाला दे कर माल्टा भेज दिया! अंग्रेजों के इस 'नर्म' उपाय का अभिप्राय दुनिया को केवल यह ज़ाहिर करना था कि मित्र-राष्ट्रों ने "राष्ट्रीय क़रार" को नही माना था।

तुर्की मे फिर उत्तेजना फैल गई। अब यह काफी स्पष्ट हो गया कि सुल्तान अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली था। अनेक तुर्की डिपुटी लोग भाग कर अगोरा चले गये, और वहां पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान राष्ट्रीय धारासभा' रक्खा। उसने अपने को देश की सरकार घोषित कर दिया और ऐलान कर दिया कि जिस दिन से अंग्रेज़ो ने इस्तम्बूल पर क़ब्ज़ा किया उसी दिन से इस्तम्बूल की सरकार का अस्तित्व जाता रहा।

इसके जवाब में सुल्तान ने कमालपाशा को तथा अन्य लोगो को बागी घोषित कर दिया, और उनका हुक्का-पानी बद कर दिया, और उन्हें मौत की सजा का हुक्म दे दिया। इसके अलावा उसने यह भी डोंडी पिटवा दी कि अगर कोई व्यक्ति कमालपाशा तथा उसके साथियो की हत्या कर देगा तो वह धार्मिक कर्त्तव्य का पालन करेगा और उसे लोक तथा परलोक दोनों में पुण्य प्राप्त होगा। याद रहे कि सुल्तान ख़लीफ़ा, यानी अमीर-उल-मोमिनीन, भी था, और हत्या के खुले निमन्त्रण का उसका यह फ़तवा बड़ी भयंकर चीज़ था। कमाल

पाशा न सिर्फ़ ऐसा बाग़ी था जिसके पीछे सरकारी भेड़िये लगे हुए थे, बल्कि वह दीन से पथभ्रष्ट भी क़रार दिया गया था जिसे कोई भी कट्टर या धर्मान्ध व्यक्ति क़त्ल कर सकता था। सुल्तान ने राष्ट्रवादियों को कुचलने में कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खी। उसने उनके विरुद्ध जिहाद बोल दिया और उनसे लड़ने के लिए ग़ैर-सैनिकों की "ख़लीफ़ा की सेना" तैयार करवाई। मुल्लाओं वग़ैरा को उपद्रवो का आयोजन करने के लिए भेजा गया। जगह-जगह उपद्रव हुए और कुछ दिन तो तुर्की में गृह-युद्ध की आग धधकती रही। यह नगर-नगर के बीच, भाई-भाई के बीच, बड़ा कटुतापूर्ण संग्राम था, और दोनो ओर निर्दय क्रूरता का परिचय दिया गया।

इधर स्मर्ना में यूनानी लोग ऐसा व्यवहार कर रहे थे मानो वे ही देश के स्थायी स्वामी हों, और स्वामी भी बिल्कुल वहशियाना तौर के। उन्होंने उपजाऊ घाटियों को वीरान कर दिया और हज़ारों बेघर तुर्कों को वहाँ से खदेड़ दिया। तुर्कों की ओर से कोई कारगर मुक़ाबला न होने के कारण वे आगे बढ़ते चले गये।

राष्ट्रवादियों को एक दुखदायी स्थिति का सामना करना पड रहा था—घर में उनके विरुद्ध धार्मिक व्यवस्था वाला गृह-युद्ध, उधर विदेशी हमलावरों की उन पर चढाई, और सुल्तान तथा यूनानी दोनों की पीठ ठोकने वाली महान मित्र-राष्ट्रीय शक्तिया जो जर्मनी पर विजय प्राप्त करने के बाद सारी दुनिया पर हावी हो रही थी। लेकिन कमालपाशा ने अपने लोगों को यह नारा दिया कि "जीतो या मर मिटो"। एक अमरीकी ने जब उससे पूछा कि अगर राष्ट्रवादी असफल रहे तो क्या होगा, तो उसने जवाब दिया, "जो राष्ट्र जीवन और स्वाधीनताके लिए आख़री क़ुरबानियाँ करता है वह कभी असफल नही होता। असफलता का अर्थ है कि राष्ट्र मर चुका।"

मित्र-राष्ट्रो ने कम्बख़्त तुर्की के लिए जो सधि-पत्र तैयार किया था वह अगस्त, सन् १९२० ई०, में प्रकाशित कर दिया गया। यह सेवर की सन्धि कहलाई। इसने तुर्की की आज़ादी का अन्त कर दिया, स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से तुर्की को मौत की सज़ा सुना दी गई। इसके अनुसार तुर्की के सिर्फ़ टुकडे-टुकडे ही नही कर दिये गये, बल्कि खुद इस्तम्बूल तक में धरना देने और कब्ज़ा बनाये रखनेवाला एक मित्र-राष्ट्रीय कमीशन भी नियुक्त कर दिया गया। सारे देश में विषाद छा गया और प्रार्थनाओं तथा हड़ताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिन मनाया गया। उस दिन अख़बारो के पृष्ठो पर चारो ओर काली किनारिया छापी गईं। पर इससे क्या होता था, क्योकि सुलतान के प्रतिनिधि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके थे। हा, राष्ट्रवादियो ने उसे घृणा के साथ ठुकरा दिया, और सन्धि-पत्र के प्रकाशन का यह परिणाम हुआ कि उनका बल बढने लगा, और अपने देश की मिट्टी बिल्कुल खराब होने से बचाने के लिए दिन पर दिन अधिक तुर्क उनके दल में शामिल होने लगे।

परन्तु बगावत से भरे तुर्की पर इस सन्धि का अमल कौन कराता ? मित्र-राष्ट्र खुद यह काम नहीं करना चाहते थे। उन्होने अपने सेनाओ को विघटित कर दिया था, और घर मे उन्हे सेना से निकले हुए सिपाहियों तथा मजदूरो के बिगडे हुए मिज़ाज का सामना करना पड रहा था। पश्चिमी योरप के देशो में अभी तक वातावरण में विद्रोह की भावना मौजूद थी। उधर मित्र-राष्ट्रो मे आपस में ही नाइत्तफ़ाकी पैदा हो रही थी और वे युद्ध की लूट के बटवारे पर लड-झगड रहे थे। पूर्व में इंग्लैण्ड को तथा कुछ हद तक फ्रांस को एक ख़तरनाक स्थिति का सामना करना पड़ रहा था। फ्रांसीसी 'आदेश' के अधीन सीरिया में असन्तोष की आग फैल रही थी और वहां गड़बड़ की सम्भावना थी। मिस्र में खूनी उखाड-पछाड़ हो ही चुकी थी जिसे अंग्रेजों ने कुचल दिया था। भारतमें सन् १८५७ ई० के विद्रोह के बाद बगावत का पहला महान आन्दोलन तैयार हो रहा था, यद्यपि यह शान्तिपूर्ण था। यह गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग का आन्दोलन था और खिलाफ़त का सवाल तथा तुर्की के साथ किया गया बर्ताव इस आन्दोलन के मुख्य मुद्दों में था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मित्र-राष्ट्र इस स्थिति में नही थे कि खुद अपनी ही सन्धि तुर्की पर लाद सकें; न वे तुर्की राष्ट्रवादियों द्वारा इसकी खुल्लमखुल्ला अवहेलना ही सहने को तैयार थे। इसलिए उन्होंने अपने दोस्त वैनिज़ेलोस तथा ज़हरॉफ़ का सहारा ढूंढा और ये दोनो यूनान की ओर से इस काम को अंजाम देने के लिए पूरी तरह तैयार हो गये। यह किसी को आशा नहीं थी कि पस्त-हिम्मत तुर्क लोग कुछ ज्यादा परेशान करेंगे, और एशिया कोचक की लूट हथियाने लायक़ थी। इसलिए और भी ज्यादा यूनानी सैनिक

भेजे गये, और यूनानी-तुर्की युद्ध बड़े पैमाने पर छिड़ गया। सन् १९२० ई० के ग्रीष्म तथा शरद भर में विजय-लक्ष्मी ने यूनानियों का साथ दिया, और उन्होंने सामना करनेवाले तुर्कों को खदेड़ दिया। कमालपाशा और उसके साथियों के हाथ में सेना के जो बचे-खुचे टुकड़े रह गये थे, उन्हीमें से एक कारगर सेना तैयार करने के लिए उन्होंने जी तोड़ परिश्रम किया। जिस समय उन्हें सहायता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ी तभी उन्हें सहायता मिल गई, और ठीक मौक़े पर मिल गई। यानी सोवियत रूस ने हथियारों से तथा धन से उन्हें मदद पहुंचाई। क्योंकि इंग्लैण्ड को दोनों ही अपना एक-समान शत्रु मानते थे।

ज्यों-ज्यों कमाल का बल बढ़ने लगा त्यों-त्यों मित्र-राष्ट्रों के दिलों में इस संघर्ष के परिणाम के बारे में कुछ-कुछ शका होने लगी, और उन्होने पहले से अच्छी शर्तें पेश की। पर कमालियों के लिए अब भी स्वीकार करने योग्य न थी, और उन्होने इन्हें ठुकरा दिया। इस पर मित्र-राष्ट्रो ने यूनानी-तुर्की संघर्ष से अपना पिंड छुड़ाया और अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी। यूनानियों को जंजाल में फँसवा कर उन्होंने उन्हें मझधार में छोड़ दिया। यहाँ तक कि फ्रांस ने, और कुछ हद तक इटली ने भी, तुर्कों को दोस्त बनाने के गुप्त प्रयत्न किये। पर अंग्रेज अभी तक थोडे-बहुत यूनानियों की ओर थे, लेकिन ये गैर-सरकारी तौर पर।

सन् १९२१ ई० के ग्रीष्म में यूनानियों ने तुर्की की राजधानी अगोरा पर कब्जा करने का जबरदस्त प्रयास किया। वे नगर के बाद नगर पर अधिकार करते हुए अगोरा के पास तक आ पहुँचे, पर अन्त में सक़रिया नदी पर उन्हे रोक दिया गया। इस नदी के पास तीन सप्ताह तक दोनो सेनाए आपस में जूझती रही, सदियो पुराने सारे जातीय विद्वेष को लेकर निरन्तर लडती रही, और एक ने दूसरे के साथ जरा भी रहम नही किया। सहनशक्ति की यह भीषण कसौटी बन गई, तुर्क तो बस किसी तरह डटे रहे, पर यूनानियों ने घुटने टेक दिये और वे पीछे हट गये। जैसाकि उसका ढग रहा था, यूनानी सेना हर चीज को जलाती तथा नष्ट करती हुई पीछे लौटी, और उसने दो सौ मील के उपजाऊ प्रदेश को वीरान बना दिया।

सकरिया नदी के सग्राम मे तुर्कों की बस बाल-बाल जीत हुई थी। यह अन्तिम बिजय किसी तरह भी नही थी, पर फिर भी इसकी गणना आधुनिक इतिहास के निर्णयात्मक संग्रामो में की जाती है। इसके फलस्वरूप धारा का रुख ही पलट गया। पूर्व तथा पश्चिम के बीच जिन बडी-बडी टक्करो ने पिछले दो सौ से भी अधिक वर्षों में एशिया कोचक की चप्पा-चप्पा जमीन को मनुष्यो के खून से तर कर दिया है, यह सग्राम उन्ही मे एक और था।

दोनो ओर की सेनाए बेदम हो गई थी और वे फिर शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा दुबारा संगठित होने के लिए सुस्ताने लगी थी। पर कमालपाशा का सितारा निस्सन्देह बुलन्दी पर था। फ्रांसीसी सरकार ने अगोरा से सन्धि कर ली। अगोरा तथा सोवियत के बीच भी सन्धि हो गई। फ्रास द्वारा मान्यता दिये जाने से मुस्तफा कमाल को बहुत बड़ा नैतिक तथा भौतिक लाभ हुआ। इससे सीरिया की सरहद के तुर्की सैनिक यूनान के विरुद्ध लडने के लिए खाली हो गये। ब्रिटिश सरकार अभी तक कठपुतली सुल्तान को और इस्तम्बूल की निकम्मी सरकार को सहारा दे रही थी। इसलिए इस फ्रांसीसी सन्धि से उसे धक्का पहुँचा।

अगस्त, सन् १९२२ ई०, मे तुर्की सेना ने, यकायक, पर पूरी सावधानी से तैयारी के बाद, यूनानियों पर हमला बोल दिया और उन्हे आसानी से समुद्र मे धकेल दिया। आठ दिनो में यूनानी लोग १६० मील पीछे हट गये, लेकिन हटते-हटते भी उन्होने जो भी तुर्की पुरुष, स्त्री या बच्चा रास्ते में पडा उसे मार कर खूनी बदला लिया। तुर्कों ने भी कम निर्दयता नही दिखाई, और वे यूनानियो को कैदी बनाने की झंझट में नही पड़े। जो थोडे से क़ैदी उन्होने पकडे उनमे यूनानी सेना का सेनापति तथा अफ़सर थे। यूनानी सेना का अधिक भाग स्मर्ना से समुद्र के रास्ते निकल भागा पर खुद स्मर्ना शहर का बडा भाग जला डाला गया।

इस विजय के बाद कमालपाशा ने दम नही लिया और अपनी सेनाओ को लेकर इस्तम्बूल की ओर कूच कर दिया। नगर के पास चनक नामक स्थान पर अंग्रेज सैनिको ने उसे रोका और सितम्बर, सन् १९२२ ई०, मे कुछ दिनों तुर्की तथा इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना रही। पर अंग्रेजों ने तुर्की की लगभग सभी माँगों को स्वीकार कर लिया और दोनों ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये जिसमें अंग्रेजों ने सचमुच यह वादा किया कि वे थ्रेस में तब तक पड़ी हुई यूनानी फ़ौजों को तुर्की से हटवा देंगे। तुर्की के पीछे सोवियत का भूत हमेशा खड़ा दिखाई दे रहा था, इसलिए मित्र-राष्ट्र ऐसा युद्ध नहीं छेड़ना चाहते थे जिसमें रूस तुर्की की मदद पर आ जाय।

मुस्तफ़ा कमाल ने शानदार विजय प्राप्त की, और सन् १९१९ ई० के मुट्ठीभर बाग़ी अब बड़ी-बड़ी शक्तियों के प्रतिनिधियों से बराबरी की हैसियत में बात करने लगे। इस वीर दल को अनेक परिस्थितियों ने सहायता पहुँचाई थी—जैसे युद्धोत्तर प्रतिक्रिया, मित्र-राष्ट्रों में आपसी फूट, भारत तथा मिस्र में होने वाली गड़बड़ों में इंग्लैण्ड की व्यस्तता, सोवियत रूस की सहायता, अंग्रेजों द्वारा तुर्की का अपमानित किया जाना, इत्यादि। मगर इन सब के अलावा तुर्कों की शानदार विजय के कारण थे खुद उन्हींके दृढ़ संकल्प और आज़ाद होने की बलवती इच्छा, और तुर्की किसानों तथा सिपाहियों की अद्भुत सैनिक क्षमता।

लोज़ान में एक शान्ति सम्मेलन हुआ और यह कई महीनों तक खिंचता रहा। इंग्लैण्ड के अहंकारी और रोबदार प्रतिनिधि लार्ड कर्ज़न तथा कुछ-कुछ बहरे और कूट-मग्ज़ इस्मत पाशा के बीच अजीब कुश्ती हुई। इस्मत पाशा चुपचाप मुस्कराता रहता था, और जिस बात को वह नहीं सुनना चाहता था उसे अनसुनी कर देता था, जिससे कर्ज़न को तीव्र झुंझलाहट होती थी। भारत के वायसरायी ढंगों के आदी और वैसे भी बहुत घमंडी कर्ज़न ने गर्जन-तर्जन के तरीक़ों का प्रयोग किया पर बहरे और मुस्कराते इस्मत पर जूं तक नहीं रेंगी। आखिर तंग आकर कर्ज़न लौट गया और सम्मेलन भंग हो गया। सम्मेलन की बैठक बाद में फिर हुई, पर इस बार कर्ज़न के बजाय दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। "राष्ट्रीय करार" में लिखित तमाम तुर्की मांगें, सिवाय एक मांग के, मान ली गई और जुलाई, सन् १९२३ ई०, में लोज़ैन के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गये। इस बार भी सोवियत रूस के सहारे ने और मित्र-राष्ट्रों के आपसी वैमनस्य ने तुर्की की मदद की।

ग़ाज़ी, यानी विजयी, कमाल पाशा को वे सब चीजें मिल गई जिन्हें प्राप्त करना उसका उद्देश्य था। लेकिन शुरू से ही उसने यह बुद्धिमानी की थी कि अपनी मांगें कम से कम रक्खी थीं और विजय की घड़ी में भी वह उन्हीं पर जमा रहा। अरब देश, ईराक़, फ़िलस्तीन, सीरिया, वग़ैरा ग़ैर-तुर्की प्रदेशों पर तुर्की प्रभुत्व स्थापित करने का विचार उसने बिल्कुल छोड़ दिया था। वह तो यही चाहता था कि तुर्की कौम का निवास स्थान खास तुर्की आज़ाद हो जाय। वह नहीं चाहता था कि तुर्क लोग अन्य कौमों के मामलों में टांग अड़ावें, पर वह तुर्की में विदेशियों की भी कोई दस्तन्दाज़ी सहन करने को तैयार नहीं था। इस प्रकार तुर्की सघन और समान-जाति वाला देश बन गया। कुछ वर्ष बाद, यूनानियों के सुझाव पर, आबादी की अभूतपूर्व अदला-बदली हुई। अनातोलिया में बाकी बचे हुए यूनानी यूनान भेज दिये गये, और उनके बदले में यूनान में रहने वाले तुर्क बुला लिये गये। इस प्रकार लगभग पन्द्रह लाख यूनानियों की अदला-बदली हुई, और इनमें से अधिकांश कुटुम्ब पीढ़ियों से और सदियों से अनातोलिया या यूनान में रहते आये थे। यह कौमों की अजीब उखाड़-पछाड़ थी और इसने तुर्की के आर्थिक जीवन को बिल्कुल उलट-पलट दिया, क्योंकि यूनानी लोगों का वहां के व्यवसाय में खास तौर पर बड़ा-भारी भाग था। लेकिन इससे तुर्की और भी अधिक समान-जाति वाला देश बन गया, और आज शायद इसके जैसा समान-जाति वाला देश योरप या एशिया में दूसरा कोई नहीं है।

मैं लिख चुका हूँ कि लोज़ान की सन्धि के द्वारा तुर्की की एक के सिवाय सारी मांगें पूरी हो गईं। यह अपवाद इराक़ की सरहद के पास विलायत यानी मोसूल प्रान्त था। चूंकि दोनों पक्ष इसके बारे में सहमत नहीं हो सके इसलिए यह मामला राष्ट्र संघ के सुपुर्द कर दिया गया। कुछ तो तेल के सोतों के कारण, पर ज्यादातर सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण, मोसूल महत्व का प्रदेश था। मोसूल के पर्वतों पर अधिकार का अर्थ था कुछ हदतक तुर्की, ईराक तथा ईरान पर, और रूस में काकेशिया पर भी, प्रभुत्व करना। इसलिए तुर्की के लिए इसका महत्व स्पष्ट था। इंग्लैण्ड के लिए भी यह उतना ही महत्वपूर्ण था, एक तो भारत जाने वाले खुश्की और हवाई रास्तों की रक्षा के लिए, और दूसरे सोवियत रूस के विरुद्ध आक्रमण या बचाव की पंक्ति के तौर पर। नक़शा देखने से तुम्हें पता लग जायगा कि मोसूल की स्थिति कितनी महत्वपूर्ण है। इस प्रश्न पर राष्ट्र संघ ने इंग्लैण्ड के पक्ष में फ़ैसला दिया। तुर्कों ने इसे मानने से इन्कार कर दिया, और युद्ध की चर्चा फिर शुरू हो गई। ठीक उसी समय, दिसम्बर, सन् १९२५ ई०, में रूसी-तुर्की सन्धि हो गई। पर अन्त में अंगोरा की सरकार झुक गई, और मोसूल इराक़ के नये राज्य को दे दिया गया। इराक़ स्वाधीन राज्य माना जाता है, पर व्यवहार में वह अभी तक इंग्लैण्ड का रक्षित है, और उसमें अंग्रेज अफ़सरों तथा सलाहकारों की भरमार है।

मुझे याद है कि लगभग ग्यारह वर्ष पहले जब हमने यूनानियों पर मुस्तफा कमाल की महान विजय का समाचार सुना था तो हमें कितनी खुशी हुई थी। यह अगस्त, सन् १९२२ ई०, में अफ़्यूम काराहिसार का संग्राम था, जबकि उसने यूनानी मोर्चे को तोड़ दिया था और यूनानी सेना को स्मर्ना की ओर तथा समुद्र में खदेड़ दिया था। हममें से कई उस समय लखनऊ की ज़िला जेल में थे, और जो कुछ टीम-टाम हम इकट्ठी कर सके उससे अपने बारक को सजा कर हमने तुर्की की विजय का उत्सव मनाया था, और शाम को रोशनी करने का भी कुछ प्रयत्न किया था।

: १५६ :

मुस्तफ़ा कमाल अतीत से नाता तोड़ता है

८ मई, १९३३

हमने तुर्कों की पराजय के अन्धकारपूर्ण दिनो से लगाकर उनकी शानदार विजय के दिन तक उनके उतार-चढाव का क्रमावलोकन किया है, और हमने यह काफ़ी अजीब बात देखी है कि मित्र-राष्ट्रो ने, और खास कर इग्लैण्ड ने, तुर्को को दबाने तथा निर्बल करने के लिए जो उपाय अपनाये उन्हीका उन पर बिल्कुल उलटा असर हुआ, और इन उपायो ने परिणाम में राष्ट्रवादियो का बल बढा दिया तथा उन्हे अधिक शक्ति के साथ मुक़ाबला करने के लिए कटिबद्ध कर दिया। तुर्की का अग-भग करने के मित्र-राष्ट्रो के प्रयत्न, यूनानी सैनिको का स्मर्ना भेजा जाना, मार्च, सन् १९२० ई०, मे अग्रेजो की राजनैतिक चोट जबकि राष्ट्रवादी नेताओ को गिरफ्तार करके निर्वासित कर दिया गया था, राष्ट्रवादियो के विरुद्ध इग्लैण्ड द्वारा अपने कठ-पुतली सुल्तान को सहारा दिया जाना, इन सब बातो ने तुर्कों के क्रोध और जोश की आग मे घी का काम किया। किसी बहादुर कौम को अपमानित करने और कुचलने के प्रयत्न का अपरिहार्य परिणाम यही होता है।

मुस्तफ़ा कमाल और उसके साथियो को जो विजय प्राप्त हुई उसका उन्होने क्या किया? कमाल पाशा पुरानी लकीर का फ़कीर बने रहने का क़ायल नही था; वह तुर्की को बाहर-भीतर पूरी तरह बदल देना चाहता था। लेकिन विजय के बाद असीम लोकप्रियता प्राप्त कर लेने पर भी उसे बड़ी सावधानी से आगे बढना ज़रूरी था, क्योकि किसी क़ौम को लम्बी परम्परा तथा धर्म की नीव पर खड़े हुए उसके प्राचीन रिवाजो से ज़बरदस्ती हटा देना कोई आसान काम नही होता। वह सुल्तानियत और खिलाफत दोनों का अन्त करना चाहता था, पर उसके अनेक साथी उससे सहमत नही थे, और व्यापक तुर्की भावना भी शायद ऐसे परिवर्तन के विरुद्ध थी। कोई नही चाहता था कि कठपुतली सुल्तान वहीदुद्दीन एक दिन भी बना रहे। उससे लोग देशद्रोही के समान घृणा करते थे जिसने अपने देश को विदेशियो के हाथ बेच देने का प्रयत्न किया था। परन्तु बहुत-से लोग एक तरह की वैधानिक सुल्तानियत और खिलाफ़त चाहते थे जिसमें वास्तविक सत्ता राष्ट्रीय धारा सभा के हाथो में हो। पर कमालपाशा अपने उद्देश्य के साथ ऐसा कोई समझौता नही करना चाहता था, इसलिए वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

हमेशा की तरह इस बार भी अंग्रेजो ने यह अवसर दे दिया। जिस समय लोज़ान के शान्ति सम्मेलन की व्यवस्था की जा रही थी, तब ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बूल मे सुल्तान के पास उसका निमन्त्रण भेजा जिसमें सुल्तान से कहा गया था कि शान्ति की शर्तों पर बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि भेजे। साथ ही उससे यह भी प्रार्थना की गई थी कि इस निमंत्रण की खबर अगोरा पहुँचा दे। अगोरा की युद्ध जीतने वाली राष्ट्रीय सरकार के प्रति इस उपेक्षापूर्ण व्यवहार ने, और कठपुतली सुल्तान को फिर आगे ढकेलने के इस इरादी प्रयत्न ने, तुर्की में सनसनी पैदा कर दी और तुर्कों को आग-बबूला कर दिया। उन्हें शंका हो गई कि अंग्रेज तथा धोखेबाज़ सुल्तान मिलकर कोई और षड्यंत्र रच रहे हैं। मुस्तफ़ा कमाल ने इस भावना का तुरन्त फ़ायदा उठाया, और नवम्बर, सन् १९२२ ई०, में राष्ट्रीय धारासभा से सुल्तानियत को मंसूख करा डाला। पर सिर्फ़ खिलाफ़त के रूप में खिलाफ़त अब भी बाक़ी रह गई, और यह घोषणा कर दी गई कि

उसका उत्तराधिकार उस्मानी खानदान में रहेगा। इसके थोड़े ही दिन बाद भूतपूर्व सुल्तान वहीदुद्दीन के विरुद्ध घोर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। उसने खुली अदालत के सामने जाने की अपेक्षा भाग जाना बेहतर समझा, और वह एक अंग्रेजी ऐम्बुलेन्स गाड़ी में बैठ कर चोरी-छिपे भाग गया, और इसने उसे एक अंग्रेजी जंगी जहाज तक पहुँचा दिया। राष्ट्रीय धारासभा ने उसके चचेरे भाई अब्दुल मजीद अफ़दी को नया खलीफ़ा चुन लिया, जो अब सिर्फ़ रस्म के लिए अमीर-उल-मोमिनीन था, राजनैतिक सत्ता उसके हाथ में कुछ नही थी।

अगले साल, सन् १९२३ ई० में, तुर्की प्रजातन्त्र की बाकायदा घोषणा हो गई, और उसकी राजधानी अंगोरा रक्खी गई। मुस्तफा कमाल राष्ट्रपति चुना गया, और उसने सारी सत्ता अपनी मुट्ठी में कर ली जिससे वह अधिनायक बन गया। धारासभा उसके आदेशों का पालन करने लगी। अब उसने अनेक पुराने रिवाजो पर हथौडा चलाना शुरू किया। धर्म के प्रति उसके व्यवहार में ज्यादा शिष्टता नही थी। अनेक लोग, खासकर धार्मिक वृत्ति वाले भोले लोग, उसके तरीक़ो से और अधिनायकत्व से असन्तुष्ट हो उठे, और वे नये खलीफा के चारो ओर जमा हो गये। खलीफा एक ठंडा और सीधा-सादा व्यक्ति था। कमाल पाशा को यह बात जरा भी अच्छी नहीं लगी। उसने खलीफा के साथ जरा भद्दा बर्ताव किया, और वह अगला बडा क़दम उठाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

उसे यह अवसर फिर जल्दी ही मिल गया, और मिला भी बड़े अजीब ढग से। आगा खाँ तथा भारत के भूत-पूर्व न्यायाधीश अमीर अली ने लन्दन से उसके पास एक संयुक्त पत्र भेजा। उन्होने भारत के करोडो मुसलमानों की वकालत का दावा किया और खलीफा के साथ किये गये दुर्व्यवहार का विरोध किया। उन्होने अनुरोध किया कि खलीफ़ा की प्रतिष्ठा क़ायम रक्खी जाय और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय। इस पत्र की नक़लें उन्होने इस्तम्बूल के कुछ अखबारो को भेज दी, और हुआ यह कि मूल पत्र के अंगोरा पहुँचने से पहले ही उसकी नक़ल इस्तम्बूल मे प्रकाशित हो गई। इस पत्र मे भडकाने वाली कोई बात नही थी, पर कमालपाशा ने तुरन्त इसे धर-दबाया और जबरदस्त हो-हल्ला मचा दिया। जिस अवसर की वह तलाश में था वह उसे मिल गया था, और वह इससे पूरा फायदा उठाना चाहता था। बस, यह बात फैला दी गई कि तुर्कों मे फूट डालने का यह एक और अंग्रेजी षड्यंत्र था। कहा गया कि आगा खाँ अंग्रेजो का खास एजेण्ट था; वह इंग्लैण्ड में रहता था, अंग्रेजी घुडदौडों से उसका खास सरोकार था, और वह अंग्रेज राजनीतिज्ञो से खूब मिलता-जुलता था। वह कट्टर मुसलमान भी नही था, क्योंकि वह एक खास पथ का धर्म-गुरु था। इसके अलावा यह भी बतलाया गया कि महायुद्ध के दौरान में अंग्रेजो ने आगा खाँ को पूर्व के सुल्तान-खलीफा के मुक़ाबले में बराबरी के दर्जे पर खडा कर दिया था, और प्रचार आदि के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा बढा दी थी, और उसे भारतीय मुसलमानो का नेता बनाने की कोशिश की थी ताकि उन्हे मुट्ठी मे रक्खा जा सके। अगर आगा खाँ को खलीफा की इतनी चिन्ता थी तो उसने युद्धकाल मे उस समय खलीफा का समर्थन क्यों नही किया जब अंग्रेजो के विरुद्ध जिहाद का ऐलान कर दिया गया था ? उस समय तो उसने खलीफ़ा के विरुद्ध अंग्रेजो का पक्ष लिया था।

इस प्रकार कमालपाशा नें इस संयुक्त पत्र के ऊपर, जिसे उसके लेखको ने लन्दन से भेजा था, अच्छा-खासा तूफान खडा कर दिया, और आगा खाँ को लोगों की निगाह में गिरा दिया। पत्र-लेखको को यह गुमान नही था इसके ये परिणाम निकलेंगे। पत्र को प्रकाशित करने वाले बेचारे इस्तम्बूली सम्पादकों पर देशद्रोही तथा इंग्लैण्ड का एजेण्ट होने का इलजाम लगा दिया गया और उन्हे कठोर दड दिये गये। इस प्रकार भावनाओ को खूब भडकाने के बाद मार्च, सन् १९२४ ई०, में खिलाफ़त को उन्मूल करने का बिल राष्ट्रीय धारा सभा में पेश किया गया और उसी दिन पास कर दिया गया। इस प्रकार आधुनिक रगमंच से एक ऐसी संस्था का प्रस्थान हो गया जिसने इतिहास में महान अभिनय किया था। जहाँ तक तुर्की का सम्बन्ध था, कम से कम वहाँ तक तो अब कोई "अमीर-उल-मोमिनीन" नही था, क्योंकि तुर्की अब अ-साम्प्रदायिक राज्य था।

इससे कुछ दिन पहले, जब युद्ध के बाद अंग्रेजों की ओर से खिलाफत को खतरा था, तब भारत में इस पर जबरदस्त हलचल मची थी। सारे देश में खिलाफ़त कमेटियाँ बन गई थी, और अनेक हिन्दू इस हलचल में मुसलमानों के साथ हो गये थे, क्योंकि उनकी धारणा थी कि ब्रिटिश सरकार इस्लाम को हानि

पहुँचा रही है। अब, जब खुद तुर्कों ने ही इरादा करके खिलाफ़त का अन्त कर दिया, तो इस्लाम खलीफा-विहीन हो गया। कमालपाशा का यह दृढ़ मत था कि तुर्की को अरबी देशो के साथ या भारत के साथ किसी धार्मिक रिश्ते में नहीं फंसना चाहिए। अपने देश को या अपने-आप को इस्लाम का नेता बनाने की उसकी बिल्कुल इच्छा नही थी। जब भारत के तथा मिस्र के कुछ लोगों ने उससे कहा कि वह खुद खलीफ़ा बन जाय, तो उसने इन्कार कर दिया। उसकी निगाह पश्चिम की ओर योरप पर थी, और वह तुर्की का जल्दी से जल्दी पश्चिमीकरण करना चाहता था। अखिल इस्लाम-वाद के विचार का वह पूरा विरोधी था। उसका नया आदर्श था अखिल-तूरानी वाद, क्योंकि तुर्क लोग तूरानी जाति के थे। यानी, इस्लाम के विस्तृत तथा ढीले-ढाले अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श की अपेक्षा वह विशुद्ध राष्ट्रीयता के अधिक कठोर तथा सघन बन्धन को ज्यादा पसंद करता था।

मैं बतला चुका हूँ कि तुर्की अब पूरा समान-जाति वाला देश हो गया था जिसमें विदेशी तत्व नही के बराबर थे। पर इराक तथा ईरान की सीमाओं के आस-पास पूर्वी तुर्की में अब भी एक गैर-तुर्की जाति थी। यह प्राचीन कुर्द जाति थी जो ईरानी भाषा बोलती थी। ये लोग जिस कुर्दिस्तान के निवासी थे उसके टुकड़े तुर्की, ईराक, ईरान तथा मोसूल प्रदेश मे बाँट दिये गये थे। कुल तीस लाख कुर्दों मे से आधे के लगभग अब भी खास तुर्की मे बसे हुए थे। सन् १९०८ ई० के नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद यहाँ आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। वर्साई सम्मेलन में भी कुर्दों के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग रक्खी थी।

सन् १९२५ ई० मे तुर्की के कुर्दी क्षेत्र में बगावत फूट पड़ी। यह ठीक वही समय था जब मोसूल का झगडा इग्लैण्ड तथा तुर्की के बीच नाचाकी पैदा कर रहा था। मोसूल खुद एक कुर्दी क्षेत्र था जो तुर्की के उस भाग से मिला हुआ था जहाँ बगावत हो रही थी। तुर्कों के लिए इस नतीजे पर पहुँचना स्वाभाविक था कि इस बगावत के पीछे इग्लैण्ड का हाथ है, और ब्रिटिश एजेण्टो ने अधिक कट्टर कुर्दों को कमालपाशा के सुधारो के विरुद्ध भड़का दिया है। यह बतलाना सम्भव नही कि इस बगावत से ब्रिटिश एजेण्टो का कोई ताल्लुक था या नही, हालांकि यह तो जाहिर था कि उस मौके पर तुर्की में इस कुर्दी गडबड पर ब्रिटिश सरकार को खुशी हुई थी। अलबत्ता यह साफ दिखाई देता है कि इस उपद्रव में धार्मिक कट्टरता का बहुत बडा हाथ था, और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि कुर्दी राष्ट्रीयता का भी इसमे बडा हाथ था। राष्ट्रीयता का भाव शायद सबसे जोरदार था।

कमालपाशा ने तुरन्त यह हल्ला मचा दिया कि तुर्की राष्ट्र खतरे में है, क्योंकि कुर्दों की पीठ पर इग्लैण्ड है। उसने राष्ट्रीय धारा सभा से एक क़ानून पास करा लिया जिसमें लिखा गया था कि भाषणों के द्वारा या छपे साहित्य के द्वारा जनता की भावनाओं को भड़काने के लिए धर्म का उपयोग घोर देशद्रोह माना जाना चाहिए, और इस हैसियत से उसके लिए कठोर-से-कठोर दंड दिये जाने चाहिए। मस्जिदों में ऐसे धार्मिक मतवादो का पढाया जाना भी रोक दिया गया जिनसे प्रजातंत्र के प्रति वफादारी की भावनाओ के गुमराह होने की सम्भावना हो। इसके बाद उसने बिना किसी दया-माया के कुर्दों को कुचलना शुरू किया और हजारो की संख्या में उनका फैसला करने के लिए 'स्वाधीनता की विशेष अदालते' स्थापित कर दी। शेख सईद, डाक्टर फुआद, आदि अनेक कुर्दी नेता फाँसी पर लटका दिये गये। वे अपने होठों पर कुर्दिस्तान की स्वाधीनता की प्रार्थना के साथ मरे।

मतलब यह कि जो तुर्क कुछ ही दिन पहले अपनी आजादी के लिए लड रहे थे उन्होंने अपनी आजादी चाहने वाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि रक्षात्मक राष्ट्रीयता किस प्रकार आक्रमणकारी राष्ट्रीयता बन जाती है, और आजादी के लिए लडाई दूसरो पर प्रभुत्व जमाने की लडाई बन जाती है। सन् १९२९ ई० मे कुर्दों ने दूसरी बार विद्रोह किया, और कम से कम उस समय तो इसे भी फिर कुचल दिया गया। लेकिन जो कौम आजादी प्राप्त करने पर तुली हो और उसकी कीमत चुकाने को तैयार हो, उसे हमेशा के लिए कोई किस प्रकार कुचल सकता है?

इसके बाद कमालपाशा ने उन सब लोगों पर गुस्सा उतारना शुरू किया जिन्होंने राष्ट्रीय धारा-सभा में या बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। अधिनायक की सत्ता की भूख हमेशा उसके प्रयोग के साथ बढ़ती है; वह कभी नहीं बुझती; वह किसी तरह का विरोध सहन नही कर सकती। बस, कमाल

पाशा ने भी हर तरह के विरोध पर सख्त नाराजी जाहिर की, और जब एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उसकी हत्या का प्रयत्न किया तब तो मामला बिल्कुल ही बिगड़ गया। अब स्वाधीनता की अदालतें गाजी पाशा का विरोध करने वाले सब लोगों का फ़ैसला करती हुई और उन्हें सख्त सजाए देती हुई सारे तुर्की में दौरा करने लगीं। यहाँ तक कि अगर धारासभा के बड़े-से-बड़े व्यक्तियों और कमाल के पुराने राष्ट्रवादी साथियों ने भी विरोध किया तो उन्हें भी नहीं बख्शा गया। रऊफ बेग को, जिसे ब्रिटिश सरकार ने माल्टा में निर्वासित कर दिया था और जो बाद में तुर्की का प्रधान मन्त्री हुआ, उसकी अनुपस्थिति में ही सजा दे दी गई। स्वाधीनता के युद्ध में भाग लेने वाले अन्य अनेकों प्रमुख नेताओं तथा सेनापतियों को अपमानित किया गया, और सजाएं दी गईं, और कुछ को तो फाँसी पर लटका दिया गया। उन पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने कुर्दों से मिल कर, या तुर्की के पुराने शत्रु इंग्लैण्ड तक से मिलकर, राज्य की सुरक्षा के विरुद्ध साजिशें की थी।

तमाम विरोध का सफाया करके मुस्तफा कमाल अब एक-छत्र अधिनायक बन गया, और इस्मत पाशा उसका दाहिना हाथ था। उसके दिमाग में जो विचार भरे हुए थे उनमें से अब बहुतों को उसने व्यवहार में लाना शुरू किया। उसने बहुत छोटी-सी पर नमूनेदार चीज से शुरुआत की। उसने 'फ़ैज'[1] टोपी पर हमला किया, जो तुर्क की और कुछ हद तक मुसलमान की प्रतीक बन गई थी। पहले उसने होशियारी के साथ सेना से शुरुआत की। इसके बाद वह खुद हैट पहन कर बाहर निकला जिससे लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ; और अन्त में जाकर उसने फैज टोपी पहनना फौजदारी जुर्म ही क़रार दिया! सिर्फ टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना जरा नादानी की बात लगती है। बहुत अधिक महत्व की बात तो यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि सिर के ऊपर क्या रक्खा है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी चीजें बड़ी-बड़ी चीजों की प्रतीक बन जाती हैं, और सीधी-सादी फैज टोपी के द्वारा कमालपाशा ने मालूम होता है पुराने रिवाजों और कट्टरवाद पर आक्रमण किया था। इस प्रश्न को लेकर दंगे हो गये। इन्हें दबा दिया गया और दंगाइयों को कठोर दंड दिये गये।

इस पहली बाजी को जीत कर मुस्तफा कमाल ने एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने तमाम मठों और धर्म-स्थानों को बन्द कर दिया और तोड़ दिया, और उनकी सारी सम्पत्ति राज्य के लिए जब्त कर ली। जो दरवेश इनमें रहते थे उनसे कह दिया गया कि अपनी जीविका के लिए मजूरी करें। दरवेशों की खास पोशाक पर भी पाबन्दी लगा दी गई।

इससे भी पहले मुस्लिम मकतब तोड़ दिये गये थे और उनके स्थान पर राज्य के असाम्प्रदायिक स्कूल खोल दिये गये थे। तुर्की में अनेक विदेशी स्कूल और कालेज थे। इनमें दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा भी बन्द करा दी गई, और अगर किसी ने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे बन्द करा दिया गया।

कानून में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया गया। अभी तक अनेक बातों में क़ानून का आधार शरीअत[2] था। अब स्वीजरलैण्ड का जाब्ता दीवानी और इटली का जाब्ता फौजदारी और जर्मनी का जाब्ता व्यापारी पूरे के पूरे लागू कर दिये गये। इसके फलस्वरूप विवाह, उत्तराधिकार, आदि पर लागू होने वाले व्यक्तिगत क़ानून में बिल्कुल परिवर्तन हो गया। इन मामलों से सम्बन्ध रखने वाला पुराना इस्लामी कानून बदल गया। बहुविवाह की प्रथा भी बन्द कर दी गई।

पुराने धार्मिक रिवाज के विरुद्ध जाने वाला दूसरा परिवर्तन था मानव रूप के आलेखों, चित्रों और मूर्तियों की रचना को प्रोत्साहन दिया जाना। इस्लाम में यह व्यवहार शरीअत के खिलाफ़ माना जाता है। मुस्तफ़ा कमाल ने ये काम सिखाने के लिए लड़कों तथा लड़कियों की कला-शालाएं खोल दीं।

नौजवान तुर्कों के समय से ही तुर्की स्त्रियाँ आजादी के संघर्ष में खूब महत्वपूर्ण भाग लेती आई थीं। कमालपाशा की खास हार्दिक इच्छा थी कि वे सब बन्धनों से मुक्त हो जायं। एक "नारी अधिकार रक्षा समिति" बनाई गई और नौकरियों तथा धन्धों के दरवाजे स्त्रियों के लिए खोल दिये गये। सबसे

---

[1] Fez Cap—फुंदेदार लाल तुर्की टोपी जो तुर्की, मिस्र, भारत, आदि देशों के मुसलमान पहना करते हैं। मोरक्को के फ़ेज नगर में बनने के कारण इसका यह नाम पड़ा है।

[2] क़ुरान के आदर्शों तथा सिद्धान्तों के अनुसार मुसलमानों का धर्मशास्त्र।

पहले बुर्के पर ज़ोरदार धावा बोला गया और यह अद्भुत तेजी के साथ ग़ायब हो गया। स्त्रियों को तो इस बुर्के को फाड़ फेंकने का मौक़ा मिलने की देर थी। कमालपाशा ने उन्हें यह मौक़ा दिया और वे दौड़ी-दौड़ी चली आईं। उसने योरपीय ढंग के नृत्य को खूब प्रोत्साहन दिया। वह खुद तो इसका शौकीन था ही, साथ ही उसके मन में यह नारियों की मुक्ति का तथा पश्चिमी सभ्यता का प्रतीक बन गया था। हैट और नाच, प्रगति और सभ्यता के नारे बन गये! ये पश्चिम के कोई अच्छे प्रतीक नहीं थे, पर कम-से-कम ऊपरी सतह पर उनका असर पड़ा, और तुर्की ने अपनी टोपी और अपनी पोशाक और अपने जीवन का ढग बदल दिए। पर्दे में पाली-पोसी हुई स्त्रियों की सारी पीढी ने कुछ ही वर्षों मे एकदम बदल कर वकीलो, अध्यापकों, डाक्टरों और न्यायाधीशो का काम सम्हाल लिया। इस्तम्बूल के बाज़ारो मे स्त्री पुलिस भी दिखाई देती हैं! यह देखकर बडी दिलचस्पी होती है कि किस प्रकार एक चीज़ की प्रतिक्रिया दूसरी चीज़ पर होती है। लातीनी वर्णमाला के ग्रहण से तुर्की में टाइप-राइटरो का उपयोग बहुत बढ गया। इससे शीघ्र-लिपि जानने वाले टाइपिस्टो की ज़रूरत बढ़ गई, और इसका परिणाम हुआ स्त्रियो को और भी ज्यादा नौकरिया मिलना।

बच्चों को भी विविध प्रकार से प्रोत्साहन दिया गया कि वे मक्तबो के पुराने तोता-रटती नमूने बनने के बजाय अब पूरा विकास करके आत्म-निर्भर तथा सुयोग्य नागरिक बन जाय। एक बड़ी निराली सस्था "बच्चो का सप्ताह" थी। कहा जाता है कि हर साल एक हफ्ते के लिए हर सरकारी कर्मचारी के स्थान पर नाम मात्र के लिए एक-एक बच्चे को बैठा दिया जाता था और सारे राज्य का शासन बच्चे करते थे। मै नही कह सकता कि यह व्यवस्था कैसे चलती होगी, पर यह सूझ बडी चित्ताकर्षक है, और मुझे यकीन है कि कुछ बच्चे चाहे जितने नादान और अनुभवहीन क्यो न हो, उनका व्यवहार हमारे बड़ी उम्र वाले और गभीर और मोहर्रमी सूरत वाले शासको तथा सरकारी कर्मचारियो के व्यवहार से ज्यादा मूर्खता-पूर्ण नही हो सकता।

एक छोटा-सा परिवर्त्तन, पर तुर्की के शासको के नये दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण द्योतक था, सलाम करने के रिवाज का हटाया जाना। उसने स्पष्ट कह दिया कि हाथ मिलाना अभिवादन का ज्यादा सभ्य तरीका है, और भविष्य मे इसी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

इसके बाद कमालपाशा ने तुर्की भाषा पर, या यू कहो कि उसमें जिन्हें वह विदेशी तत्व मानता था उन पर, जबरदस्त हमला बोल दिया। तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी, और कमालपाशा इसे कठिन भी समझता था और विदेशी भी। मध्य एशिया मे सोवियतो के सामने भी इसी प्रकार की समस्या आई थी, क्योंकि अनेक तातारी क़ौमो की लिपिया अरबी या फारसी लिपियो से निकली हुई थी। सन् १९२४ ई० मे सोवियतो ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाकू में एक सम्मेलन बुलाया, और इसमें यह निश्चय किया गया कि मध्य एशिया की विभिन्न तातारी भाषाओ के लिए लातीनी लिपि काम में ली जाय। मतलब यह कि भाषाए तो वैसी की वैसी रही, पर वे लातीनी या रोमन अक्षरो में लिखी जाने लगी। इन भाषाओ की विशेष ध्वनियो को व्यक्त करने के लिए चिन्हो की विशेष प्रणाली सोच निकाली गई। मुस्तफ़ा कमाल इस प्रणाली की ओर आकर्षित हुआ और उसने इसे सीख लिया। उसने इसका प्रयोग तुर्की भाषा पर किया, और इसके पक्ष में उसने खुद ज़ोरदार कार्रवाई शुरू कर दी। लगभग दो वर्ष के प्रचार और सिखाई के बाद कानून के द्वारा एक तिथि निश्चित कर दी गई जिसके बाद अरबी लिपि का उपयोग वर्जित कर दिया गया, और लातानी लिपि अनिवार्य कर दी गई। अखबार, किताबें, वगैरा, हर चीज़ लातीनी लिपि मे निकालना ज़रूरी कर दिया गया। सोलह से चालीस बर्ष तक की आयु के हर व्यक्ति को लातीनी वर्णमाला सीखने के लिए स्कूल में जाना पडा। जिन सरकारी कर्मचारियो को इस लिपि का ज्ञान न हो उन्हे बरखास्त किया जा सकता था। क़ैदी लोग जब तक नई लिपि में पढना लिखना न सीख लेते तब तक उन्हें सज़ा पूरी होने पर भी जेलो से नही छोडा जाता था! अधिनायक सरासर काम कर सकता है, खास कर अगर वह लोकप्रिय भी हो। कोई भी अन्य सरकारें जनता के जीवन में इस क़दर हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सकती।

इस प्रकार तुर्की में लातीनी लिपि की जड़ जम गई, पर इसके बाद शीघ्र ही दूसरा परिवर्त्तन हो गया। यह देखा गया कि अरबी तथा फ़ारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नही लिखे जा सकते थे; उनके

विशेष उच्चारण और ध्वनि-भेद इसमें व्यक्त नहीं किये जा सकते थे। विशुद्ध तुर्की शब्द इतने उम्दा नहीं थे, वे अधिक भोंडे, अधिक सीधे और जोरदार थे, और नई लिपि में आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह फैसला किया गया कि तुर्की भाषा में से अरबी तथा फ़ारसी शब्दो को निकाल दिया जाय और उनकी जगह विशुद्ध तुर्की शब्द रक्खे जायं। इस फैसले के पीछे अलबत्ता राष्ट्रीय-कारण था। जैसा कि मैं बतला चुका हूं, कमालपाशा चाहता था कि जहा तक सम्भव हो तुर्की को अरबी तथा अन्य पूर्वी प्रभावों से विलग कर दिया जाय। अरबी तथा फ़ारसी शब्दों और मुहावरों से भरी पुरानी तुर्की भाषा शाही उस्मानी दरबार के सजधज और टीम-टाम वाले जीवन के लिए भले ही काफ़ी उपयुक्त हो, पर नवीन, स्फूर्तिवान, प्रजातंत्री तुर्की के लिए वह उपयुक्त नही समझी गई। इसलिए अरबी-फारसी के उम्दा-उम्दा शब्द छोड दिये गये, और विद्वान प्रोफ़ेसर तथा अन्य लोग किसानो की भाषा सीखने को और पुराने शुद्ध तुर्की नस्ल के शब्दो की तलाश करने को गांव-गाव घूमने लगे। यह परिवर्तन आजकल हो रहा है। उत्तरी भारत के हम लोग अगर ऐसा परिवर्तन करें तो उसका अर्थ यह होगा कि हमें लखनऊ या दिल्ली की लच्छेदार और कुछ-कुछ बनावटी हिन्दुस्तानी को छोडना होगा जो पुराने दरबारी जीवन की बची-खुची निशानी है, और उसकी जगह देहात के अनेक गवारू शब्दो को अपनाना होगा।

भाषा में इन परिवर्त्तनो के कारण नगरो और व्यक्तियो के नामों मे भी परिवर्त्तन हो गये है। जैसा कि तुम जानती हो, कुस्तुन्तुनिया अब इस्तम्बूल हो गया है, अगोरा अब अकारा है, और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की में व्यक्तियों के नाम आम तौर पर अरबी से लिये गये है,—मुस्तफ़ा कमाल भी अरबी नाम है। नवीन प्रवृत्ति शुद्ध तुर्की नाम रखने की हो गई है।

एक परिवर्त्तन, जिसके कारण बखेड़ा पैदा हो गया है, ऐसे कानून का बनाया जाना है कि इस्लामी नमाज और अज़ान[1] भी तुर्की भाषा मे हो। मुसलमान लोग हमेशा से मूल अरबी मे नमाज पढ़ते आये हैं, भारत में आज भी ऐसा ही होता है। इसलिए अनेक मौलवियो और मस्जिदो के मुल्लाओ ने महसूस किया कि यह अनुचित नवीनता है, और उन्होंने अपनी नमाज अरबी मे जारी रक्खी। पर तुर्की सरकार ने इस विरोध को भी अन्य विरोधों की भाति कुचल दिया है।

गत दस वर्षों की इन तमाम लम्बी-चौडी सामाजिक उलट-फेरों ने जनता के जीवन को बिल्कुल बदल दिया है, और पुराने रिवाजो तथा धार्मिक लगावो से विलग एक नई पीढी तैयार हो रही है। मगर महत्वपूर्ण होते हुए भी इन परिवर्त्तनो का देश के आर्थिक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव नही पडा है। शीर्ष पर कुछ छोटे-मोटे परिवर्त्तनो के सिवा इसका आधार वही बना हुआ है जो पहले था। कमालपाशा अर्थ-शास्त्री नही है, न वह ऐसे आमूल परिवर्त्तनो का समर्थक है जैसे सोवियत रूस मे हुए है। इसलिए, यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में उसका सोवियतो के साथ मित्रता का नाता है, पर आर्थिक क्षेत्र मे वह साम्यवाद से दूर ही रहता है। मालूम होता है कि उसके राजनैतिक तथा सामाजिक विचार महान फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के अध्ययन से प्राप्त किये हुए हैं।

अभी तक तुर्की में नौकरी-पेशा वर्ग को छोड़ कर कोई जोरदार मध्यमवर्ग नही है। यूनानियो तथा अन्य विदेशी तत्वो के निकाल दिये जाने से व्यवसाय की प्रवृत्ति कमजोर पड़ गई है। पर अपनी आर्थिक स्वाधीनता से हाथ धोने की अपेक्षा तुर्की सरकार राष्ट्रीय गरीबी को और धीमी औद्योगिक प्रगति को निश्चय रूप से ज्यादा अच्छा समझती है। और, चूकि उसे डर है कि तुर्की मे बडे पैमाने पर विदेशी पूजी के आ जाने से उसे अपनी आर्थिक स्वाधीनता से हाथ धोना पड़ेगा, और इसके फलस्वरूप विदेशियों द्वारा देश का शोषण होगा, इसलिए उसने विदेशी कम्पनियो को प्रोत्साहन नही दिया है। विदेशी माल पर भारी चुंगियां लगा दी गई हैं। अनेक उद्योगो का राष्ट्रीयकरण हो गया है—यानी जनता की ओर से सरकार उनकी मालिक है और उन्हे चलाती है। रेलमार्गों का निर्माण काफ़ी तेजी से हो रहा है।

खेती में कमालपाशा की ज्यादा दिलचस्पी है, क्योंकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र तथा सेना की रीढ़ रहा है। आदर्श फ़ार्म बनाये गये हैं, यान्त्रिक-हल जारी कर दिये गये है, और सहकारी समितियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

---

[1] नमाज के लिए मस्जिद में मुल्ला की बांग।

बाक़ी दुनिया की तरह तुर्की भी युद्ध के बाद की महामंदी में फंस गया था और उसे अपना जमा-खर्च बराबर करना मुश्किल हो गया था। पर वह तो मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में धीरे-धीरे तथा दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहा है, और मुस्तफा कमाल देश का सर्वोपरि नेता तथा अधिनायक बना हुआ है। उसे "अता तुर्क" यानी देश-पिता की उपाधि दी गई है, और आजकल वह इसी नाम से मशहूर है।[1]

: १६० :

भारत गांधीजी के पीछे चलता है

११ मई, १९३३

अब मैं तुम्हे भारत की हाल की घटनाओ के बारे में कुछ बतलाऊगा। बाहर की घटनाओ की अपेक्षा इनमे हमारी अधिक दिलचस्पी होना स्वाभाविक ही है, और मुझे अपने ऊपर काबू रखना पड़ेगा कि कही मै बहुत ज्यादा बारीकियो में न चला जाऊ। परन्तु हमारी व्यक्तिगत दिलचस्पी के अलावा भी, जैसा कि मै लिख चुका हू, आज भारत दुनिया की एक बड़ी समस्या है। साम्राज्यवादी प्रभुत्व का यह एक ही नमूनेदार और सबसे बढ़िया देश है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सारा ढाचा ही इस पर खड़ा है, और अग्रेजो के इस सफल उदाहरण ने अन्य देशों को भी साम्राज्यशाही हौसलेबाजी के मार्ग पर चलने के लिए लुभाया है।

भारत के बारे मे अपने पिछले पत्र मे मैने यहा होने वाले युद्ध-कालीन परिवर्तनों का, भारतीय उद्योग तथा भारतीय पूजीपति वर्ग के विकास का, और भारतीय उद्योगो के प्रति ब्रिटिश नीति मे परिवर्तन का जिक्र किया है। इग्लैण्ड पर भारत का औद्योगिक और व्यावसायिक दबाव बढता जा रहा था, और इसी प्रकार राजनैतिक दबाव भी बढ रहा था। समूचे पूर्व में राजनैतिक जागृति हो रही थी, सारी दुनिया में युद्ध के बाद उथल-पुथल और बेचैनी हो रही थी। भारत में हिंसात्मक क्रान्तिकारी प्रवृत्तिया अक्सर प्रकाश में आती रहती थी। जनता के हृदय में बड़ी-बड़ी उमगें थी। खुद ब्रिटिश सरकार भी महसूस करने लगी थी कि कुछ-न-कुछ किया जाना चाहिए। राजनैतिक क्षेत्र में उसने एक जाच की कार्रवाई की, और उसके बाद माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट मे परिवर्त्तन के कुछ सुझाव पेश किये गये। आर्थिक क्षेत्र मे उसने उदीयमान मध्यवर्ग को बहलाने के लिये टुकड़े फेंकने की कार्रवाई की, पर यह ध्यान रक्खा कि सत्ता और शोषण के गढ़ उसीके हाथों में बने रहे।

युद्ध के बाद कुछ दिनो तक व्यापार की वृद्धि हुई और काफ़ी तेजी का जमाना रहा जिसमें जबरदस्त मुनाफ़े बटोरे गये, खास कर बगाल के पटसन व्यापार मे। हिस्सेदारों को बाटे जाने वाले मुनाफ़े अक्सर सौ फ़ीसदी से भी ऊपर पहुच जाते थे। चीजों की क़ीमतें बढ़ गईं, और कुछ हद तक मजूरिया भी बढ़ी, पर कीमतों के मुकाबले में बहुत कम। कीमतो के साथ काश्तकारो द्वारा जमीदारों को दिये जानेवाले लगान भी बढ़ गये। इसके बाद मन्दी आई और व्यापार शिथिल होने लगा। औद्योगिक मजदूरों तथा कृषि-जीवियों की हालत खराब हो गई और असन्तोष तेजीके साथ बढ़ने लगा। उत्तरोत्तर कठिन परिस्थितियो के कारण कारखानो में बहुत हड़तालें होने लगी। अवध में जहां ताल्लुकेदारी प्रथा के अन्तर्गत काश्तकार वर्ग की हालत खास तौर पर खराब थी, एक जबरदस्त कृषक आन्दोलन लगभग अपने-आप ही पैदा हो गया। शिक्षित निम्न मध्यमवर्गों में बेकारी बढ़ने लगी जिसके फलस्वरूप बहुत मुसीबत फैली।

युद्धोत्तर काल के शुरू के दिनों में आर्थिक पृष्ठ-भूमि यही थी, और अगर तुम इसे ध्यान में रक्खोगी तो तुम्हे राजनैतिक घटनाचक्र को समझने में मदद मिलेगी। देश में लड़ाकू भावना फैल रही थी और

---

[1] कमाल पाशा की मृत्यु १९३८ ई० में हो गई, और उसके बाद इस्मत इनोनू तुर्की का राष्ट्रपति चुना गया।

विभिन्न रूपों में प्रगट हो रही थी। औद्योगिक श्रमिक वर्ग मजदूर संघ बना कर अपना संगठन कर रहा था और बाद में अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस के निर्माण में लग गया था। छोटे-छोटे जमींदार और मौरूसी काश्तकार सरकार से असन्तुष्ट थे और राजनैतिक कार्रवाई को समर्थक की दृष्टि से देख रहे थे। कहावत है कि चोट खाने पर कीड़ा भी उलट कर वार करता है; इसी प्रकार काश्तकार भी उलटने का प्रयत्न कर रहे थे। और मध्यमवर्ग, खासकर बेकार वर्ग, के लोग निश्चय रूप से राजनीति की ओर झुक रहे थे। और उनमें से कुछ गिने-चुने व्यक्ति क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की ओर झुक रहे थे। इन परिस्थितियों का हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, वगैरा सब पर समान रूप से असर पड़ रहा था, क्योंकि आर्थिक परिस्थितियाँ मजहबी अलगावों की कोई परवाह नहीं करतीं। पर मुसलमान लोग इसके अलावा भी तुर्की के विरुद्ध युद्ध से, और इस शका से कि ब्रिटिश सरकार जजीरत-उल-अरब कहलाने वाले मक्का, मदीना और यरूशलेम के पवित्र शहरों पर कब्जा कर लेगी, बहुत भड़के हुए थे (यरूशलेम यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों, तीनों के लिए पवित्र शहर है)।

बस, रोष से भरा, कुछ उग्र और आशापूर्ण न होते हुए भी उत्सुक भारत, युद्ध के बाद कुछ मिलने की प्रतीक्षा में था। कुछ ही महीनों के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के जिन परिणामों की उत्सुकता से बाट देखी जा रही थी, वे क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए विशेष कानून बनाने के प्रस्ताव के रूप में प्रगट हुए। अधिक आजादी के बजाय अधिक दमन होने वाला था। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर रक्खे गये थे और "रॉलट बिल" के नाम से मशहूर हुए। पर सारे देश में ये बहुत शीघ्र "काले बिल" कहलाने लगे। हर जगह, हर भारतीय ने, यहाँ तक कि उदार से उदार विचार वाले भारतीय ने भी, इन बिलों की निन्दा की। सरकार को और पुलिस को इन बिलों के द्वारा ऐसी कार्रवाइयों के बहुत ज्यादा अधिकार मिल गये थे कि जिस किसी व्यक्ति पर उन्हें नाराजी या सन्देह हो, उसे वे गिरफ्तार कर सकती थी, बिना मुकदमा चलाये जेल में डाल सकती थी, या उस पर गुप्त अदालत में मुक़दमा चला सकती थी। उस समय इन बिलों के बारे में यह बात मशहूर हो गई थी कि. न वकील न अपील, न दलील। ज्योंही इनके विरुद्ध मचने वाली दुहाई ने जोर पकड़ा, त्यों ही एक नया निमित्त, राजनैतिक क्षितिज पर एक छोटा-सा बादल, प्रगट हुआ जो तेजी के साथ बढ़ कर और फैल कर सारे भारतीय आकाश पर छा गया।

यह नया निमित्त मोहनदास करमचंद गांधी था। गांधीजी युद्धकाल में दक्षिण अफरीका से भारत लौट आये थे, और अपने साथियों को लेकर साबरमती के पास आश्रम में बस गये थे। अभी तक वह राजनीति से दूर रहे थे। उन्होंने युद्ध के लिए रंगरूटों की भर्ती में सरकार को सहायता तक दी थी। दक्षिण-अफरीका में उनकी सत्याग्रह की लड़ाई के समय से भारत में तो लोग अच्छी तरह परिचित थे ही। सन् १९१७ ई० में उन्होंने बिहार के चम्पारन जिले के निलहे गोरों के पीड़ित और पद-दलित काश्तकारों की सफलता के साथ हिमायत की थी। बाद में वह गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों के लिए लड़े थे। सन् १९१९ ई० के प्रारम्भ में वह बहुत बीमार पड़ गये। इस बीमारी से वह पूरी तरह उठने भी न पाये थे कि रॉलट बिल विरोधी हलचल देश भर में फैल गई। चारों ओर जो दुहाई मच रही थी उसमें गांधीजी ने भी अपनी आवाज शामिल कर दी।

लेकिन यह आवाज अन्य आवाजों से कुछ भिन्न थी। यह शान्त और धीमी थी, फिर भी भीड़ के शोर-गुल के ऊपर सुनाई दे सकती थी। यह कोमल और विनम्र थी, पर मालूम होता था कि उसमें कहीं फौलाद की धार छिपी हुई है। यह शिष्टतापूर्ण और मर्मस्पर्शी थी, पर फिर भी उसमें कोई कठोर और भयभीत करने वाली चीज थी। इसका हर शब्द अभिप्राय-पूर्ण था और उसमें उत्कट हार्दिक तड़प थी। शान्ति और मित्रता की भाषा के पीछे बल था, और क्रियाशीलता की कांपती हुई परछाईं थी, और असत्य के आगे सिर न झुकाने का दृढ़ निश्चय था। इस आवाज से अब हम परिचित हो चुके हैं, पिछले चौदह वर्षों में हमने इसे अनेक बार सुना है। पर सन् १९१९ ई० के फरवरी और मार्च में यह हमारे लिए नवीन थी; हम अच्छी तरह समझ नहीं पाते थे कि इसका क्या अर्थ है, पर हम पुलकित हो उठते थे। यह चीज हमारी उस कोरी निन्दा करने वाली गला-फाड़ राजनीति से बहुत भिन्न थी जिसके लम्बे-लम्बे भाषण सदा एक-सरीखे व्यर्थ और प्रभावहीन प्रस्तावों पर ही खतम हो जाते थे जिन पर कोई ध्यान नहीं देता था। यह क्रियाशीलता की राजनीति थी, कोरी बातों की नहीं।

महात्मा गांधी ने उन लोगों की सत्याग्रह सभा बनाई जो कुछ चुने हुए क़ानूनों को भंग करने के लिए और इस प्रकार जेल जाने के लिए तैयार थे। उस समय यह बिल्कुल नवीन कल्पना थी, जिस पर हममें से बहुत से तो बेताब हो गये पर बहुत से सहम गये। आज यह बहुत ही मामूली घटना हो गई है और हममें से अधिकतर के लिए तो यह जीवन का एक निश्चित और नियमित क्रम बन गया है!

अपने क़ायदे के अनुसार गांधीजी ने वायसराय को बड़ी शिष्टतापूर्ण अपील और चेतावनी भेजी। जब उन्होंने देखा कि सारे भारत द्वारा एक स्वर से विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रॉलट बिलों को क़ानून का रूप देने पर तुली हुई है, तो उन्होंने आदेश दिया कि जिस दिन ये बिल क़ानून बन जायं उससे आगे के पहले रविवार को सारे भारत में शोक का दिवस मनाया जाय, हड़ताल की जाय, सब कारोबार बन्द रक्खे जायं और सार्वजनिक सभाएं की जाय। सत्याग्रह आन्दोलन इसी दिन से शुरू किया जाने वाला था, इसलिए ६ अप्रैल, सन् १९१९ ई०, के दिन सारे देश में, हर नगर और गाव में, सत्याग्रह दिवस मनाया गया। अपने ढग का यह पहला ही अखिल-भारतीय प्रदर्शन था, जो अद्भुत रूप से प्रभावशाली रहा, और जिसमें हर तरह के लोगो ने और जातियो ने भाग लिया। हमारे जिन लोगो ने इस हड़ताल के लिए कोशिशें की थी वे इसकी सफलता पर आश्चर्य-चकित हो गये। हम शहरों के कुछ गिने-चुने लोगो के ही पास पहुंच पाये थे। पर हवा में एक नया उत्साह भर रहा था, और किसी तरह यह सदेश हमारे विशाल देश के दूर-से-दूर गावो तक में जा पहुचा। पहली ही बार देहात के लोगो ने और शहरी मजदूरों ने सार्वजनिक पैमाने पर राजनैतिक प्रदर्शन मे भाग लिया।

अप्रैल की ६ तारीख़ से एक सप्ताह पूर्व दिल्लीवालो ने तारीख़ की ग़लत-फ़हमी से इससे पूर्व के रविवार यानी ३१ मार्च को ही हडताल मना ली। वे दिन दिल्ली के हिन्दुओं और मुसलमानो मे अद्भुत भाई-चारे और सद्भावना के थे, और लोगो ने आर्यसमाज के महान नेता स्वामी श्रद्धानन्द का दिल्ली की मशहूर जामा मस्जिद मे विशाल जनसमूहो के सामने भाषण देने का निराला दृश्य देखा। ३१ मार्च को पुलिस और फौज के सिपाहियो ने बाज़ारो की विशाल भीडो को तितर-बितर करने का प्रयत्न किया और उन पर गोलिया चलाईं, जिनसे कुछ लोग मारे गये। सन्यासी के भेष मे बुलन्द और शानदार दिखाई देने वाले स्वामी श्रद्धानन्द चादनी चौक मे छाती खोल कर और बेधडक हो कर गुरखो की सगीनो के सामने खड़े हो गये। इनसे तो वे बच गये और इस घटना से भारत भर मे खुशी की लहर दौड़ गई; पर दु.ख की बात तो यह है कि इस घटना को पूरे आठ वर्ष भी नही बीते थे कि जब वे रोग-शय्या पर पड़े थे तब एक धर्मान्ध मुसलमान ने धोखे से छुरा भोक कर उन्हें मार डाला।

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह दिवस के बाद घटनाए तेज़ी के साथ दौड़ने लगी। १० अप्रैल को अमृतसर में भी उपद्रव हुआ। डा० किचलू तथा डा० सत्यपाल की गिरफ़्तारी पर शोक प्रगट करने वाली निहत्थी और सिर-नगी भीड पर फौज के सिपाहियो ने गोलिया चला दी जिनसे बहुत लोग मारे गये। इस पर भीड़ ने दफ्तरो में बैठे हुए पाच-छै निर्दोष अग्रेज़ों को मारकर और उनके बैंको की इमारतो मे आग लगाकर अपना पागलपनभरा बदला निकाला। फिर तो पजाब पर मानो परदा पड़ गया। समाचारो पर कठोर प्रतिबन्ध लगा कर उसे बाकी भारत से विलग कर दिया गया था; वहा से कोई खबर नही आने पाती थी, और लोगों के लिए इस प्रान्त मे जाना या वहा से आना बहुत मुश्किल था। वहां फ़ौजी क़ानून लगा दिया गया था, और इसकी यंत्रणा कई महीनों तक लोगो को सहनी पड़ी। धीरे-धीरे हफ़्तो और महीनों की यत्रणा-भरी उत्कण्ठा के बाद परदा उठा और लोगो को उन भीषण सत्य घटनाओं का पता लगा।

पंजाब में फ़ौजी शासन के ज़माने की भीषणताओं का ज़िक्र मैं यहा नही करूगा। अमृतसर के जलियांवाला बाग़ में १३ अप्रैल को जो हत्याकाण्ड हुआ उसे सारी दुनिया जानती है। मृत्यु के उस पिंजरे मे, जिसमें से बच निकलने का कोई रास्ता नहीं था, हज़ारो मर गये और घायल हुए। "अमृतसर" शब्द ही हत्याकाण्ड का पर्यायवाची हो गया है। यह तो बुरा था ही पर इसके अलावा सारे पजाब में और भी इससे ज्यादा शर्मनाक कारनामे हुए।

इतने वर्ष बीत जाने पर भी इस सारी पाशविकता और भयानकता को क्षमा करना कठिन है; पर फिर भी इसे समझना कठिन नही है। भारत में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वे सदा अपने आप को ज्वालामुखी के किनारे पर बैठा हुआ महसूस करते हैं। उन्होने भारत के मन को या हृदय को न तो

कभी समझा, और न कभी समझने की कोशिश की। अपनी विशाल और पेचीदा संगठित व्यवस्था पर तथा पीछे से उसे सहारा देने वाले बल पर भरोसा करते हुए वे अपनी ज़िन्दगी अलग ही बिताते रहे हैं। पर उनके इस सारे विश्वास के पीछे अज्ञात का भय सदा लगा रहता है, और डेढ़ सौ वर्ष के शासन के बावजूद भी भारत उनके लिए अज्ञात देश बना हुआ है। सन् १८५७ ई० के विद्रोह की स्मृतियां उनके दिमाग़ में अभी तक ताज़ा हैं, और वे महसूस करते हैं कि मानो वे किसी अपरिचित और शत्रुता-भरे देश में रहते हैं जो किसी भी मौक़े पर उनके विरुद्ध उलट कर उन्हें चाक कर सकता है। उनके विचार की व्यापक पृष्ठभूमि यही है। इसलिए जब उन्होंने एक विरोधपूर्ण महान आन्दोलन देशभर में उठता हुआ देखा तो, उनके मन में डर पैदा हुआ। जब अमृतसर में की गई १० अप्रैल की ख़ूनी कार्रवाइयों का समाचार लाहौर में पंजाब के उच्च सरकारी अधिकारियों के पास पहुंचा तो उनके होश बिल्कुल गुम हो गये। उन्होंने समझा कि सन् १८५७ ई० के विद्रोह की तरह यह भी बड़े पैमाने पर दूसरा ख़ूनी विद्रोह है, और सारे अंग्रेज़ लोगों की जानें ख़तरे में हैं। उन्हें ख़तरे की लाल झंडी दिखाई देने लगी, और उन्होंने आतंक जमाने का निश्चय कर लिया। जलियांवाला बाग़ और फ़ौजी क़ानून और जो कुछ इनके बाद हुआ, वे सब बात इसी मानसिक स्थिति का परिणाम थी।

भयभीत व्यक्ति के दुराचरण को भले ही कोई क्षमा न कर सके, पर वह उसे समझ सकता है, चाहे भयभीत होने का असली कारण कुछ भी न हो। पर जिस चीज़ ने भारत को और भी अधिक चकित और क्रोधित किया वह यह थी कि जिस जनरल डायर ने अमृतसर में गोलियां चलवाई थीं, और गोलियां चलवाने के बाद हज़ारों घायलों के प्रति बर्बरतापूर्ण लापरवाही दिखाई थी, उसने कई महीनों बाद अपनी इस कार्रवाई को बड़ी उद्दंडता के साथ उचित ठहराया। घायलों के बारे में उसने कहा था.—"यह मेरा काम नहीं था।" इंग्लैण्ड के कुछ लोगों ने और वहां की सरकार ने डायर की हलकी-सी आलोचना की, पर इंग्लैण्ड के शासक वर्ग का व्यापक दृष्टिकोण लार्ड सभा के उस वाद-विवाद में प्रगट हुआ जिसमें डायर पर प्रशंसाओं की बौछार की गई। इन सब बातों ने भारत की क्रोधाग्नि में आहुति का काम किया और पंजाब पर किये गये अत्याचारों से देश भर में घोर कटुता पैदा हो गई। पंजाब में सचमुच जो कुछ हुआ उसका पता लगाने के लिए सरकार और कांग्रेस दोनों ने जांच कमेटियां नियुक्त कर दी थीं। देश में उनकी रिपोर्टों की प्रतीक्षा की जा रही थी।

उस साल से १३ अप्रैल का दिन भारत के लिए 'राष्ट्रीय दिवस' बन गया है, और ६ अप्रैल से १३, अप्रैल तक के आठ दिन 'राष्ट्रीय सप्ताह' बन गये हैं। जलियांवाला बाग़ अब राजनैतिक तीर्थस्थान हो गया है। आज कल यह आकर्षक ढंग से लगाया हुआ बाग़ है और उसकी पुरानी भीषणता बहुत कुछ जाती रही है। पर स्मृति अभी तक बाक़ी है।

उस साल, सन् १९१९ ई० के दिसम्बर में, एक अजीब संयोग से कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में ही हुआ। चूंकि जांचों के नतीजों की प्रतीक्षा थी, इसलिए इस कांग्रेस में कोई महत्वपूर्ण निश्चय नहीं किये गये, पर यह ज़ाहिर हो गया कि कांग्रेस बदल गई थी। उसका रूप अब कुछ-कुछ सार्वजनिक हो गया था, और उसमें एक नवीन स्फूर्ति पैदा हो गई थी जो कुछ पुराने कांग्रेसजनों को घबरानेवाली थी। सदा की भांति अटल लोकमान्य तिलक अपने जीवन में अन्तिम बार कांग्रेस में भाग लेने आये थे, क्योंकि अगले कांग्रेस अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु होनेवाली थी। इस कांग्रेस में गांधीजी भी थे, जो जनता में लोकप्रिय हो गये थे, और कांग्रेस तथा भारतीय राजनीति पर जिनके प्रभुत्व का लम्बा ज़माना शुरु हो ही रहा था। इस कांग्रेस में सीधे जेल से छूट कर बहुत-से नेता भी आये थे जिन्हें फ़ौजी शासन के दिनों में षड्यंत्र के बदमाशी-भरे मुक़दमों में फंसा दिया गया था और लम्बी लम्बी सज़ाएं दी गई थीं, पर अब उन सज़ाओं को माफ़ करके उन्हें छोड़ दिया गया था। और मशहूर अली-बन्धु[1] भी आये थे, जो कई वर्षों की नज़रबन्दी के बाद उसी समय छोड़े गये थे।

अगले साल कांग्रेस लड़ाई में कूद पड़ी और उसने गांधीजी के असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में यह कार्यक्रम स्वीकार किया गया और बाद में नागपुर के वार्षिक अधि-

---

[1]मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली।

वेशन में इसे तसदीक़ कर दिया गया। इस संघर्ष का तरीक़ा पूर्णतया शान्तिपूर्ण, यानी अहिंसात्मक रक्खा गया था और इसका आधार यह था कि भारत के शासन और शोषण में सरकार को कोई मदद न दी जाय। इसका प्रारम्भ कुछ बहिष्कारो से होने वाला था, जैसे विदेशी सरकार के दिये हुए खिताबो, सरकारी उत्सवों आदि का, वकीलो तथा मुकदमेबाजो द्वारा अदालतो का, सरकारी स्कूलों तथा कालेजों का, और मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो के अन्तर्गत नई कौन्सिलो का, बहिष्कार। आगे चलकर इस बहिष्कार में मुल्की तथा फ़ौजी नौकरियो और टैक्सों को भी शामिल किया जानेवाला था। रचनात्मक क्षेत्र में हाथ-कताई और खद्दर पर, तथा सरकारी अदालतो के बजाय पचायती अदालतें क़ायम करने पर, ज़ोर दिया गया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओ में अस्पृश्यता निवारण इस आन्दोलन के दो और सबसे महत्वपूर्ण अंग थे।

काग्रेस ने अपना विधान भी बदल दिया, और वह कारंवाई करने में समर्थ जमात बन गई। साथ ही उसने अपनी सदस्यता का दरवाजा जनता के लिए खोल दिया।

अब तक काग्रेस जो करती चली आई थी उससे अब यह कार्यक्रम बिल्कुल ही भिन्न चीज़ था; वास्तव मे यह दुनिया में ही बिल्कुल नई चीज़ थी, क्योकि दक्षिण अफरीका के सत्याग्रह का दायरा बहुत सीमित रहा था। इसका अर्थ था कुछ लोगो द्वारा भारी कुर्बानिया, जैसे वकीलों से कहा गया था कि वे अपनी वकालत छोड़ दें, और विद्यार्थियों से कहा गया था कि सरकारी कालेजों का बहिष्कार कर दें। इसके बारे में निश्चित बात कहना मुश्किल था, क्योंकि कोई ऐसे उदाहरण ही नही थे जिनके साथ इसकी तुलना की जाती। इसलिए अगर पुराने और अनुभवी कांग्रेसी नेता आगा-पीछा सोचने लगे और शंकाशील हो गये, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही थी। काग्रेस के सबसे महान नेता लोकमान्य तिलक की मृत्यु इसके कुछ दिन पहले ही हो चुकी थी। बाकी के प्रमुख काग्रेसी नेताओं में केवल अकेले मोतीलाल नेहरू ने शुरू की मंजिलों में गाधीजी का समर्थन किया था। परन्तु साधारण काग्रेसजन के, या हर आदमी के, या जनता के रुख के बारे में कोई सन्देह न था। गाधीजी इन्हे अपने साथ बहा ले गये और उन्होने इन पर मानो जादू डाल दिया। और 'महात्मा गांधी की जय' के ऊचे नारो के साथ इन लोगो ने अहिंसात्मक असहयोग के नये आर्ष-वचन के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की। मुसलमानो में भी इसके प्रति उतना ही उत्साह था जितना दूसरों में। सच तो यह है कि अली-बन्धुओ के नेतृत्व मे खिलाफ़त कमेटी ने तो इस कार्यक्रम को काग्रेस से भी पहले स्वीकार कर लिया था। शीघ्र ही जनता के उत्साह ने और आन्दोलन की प्रारम्भिक सफलताओ ने पुराने काग्रेसी नेताओं में से अधिकाश को इस आन्दोलन मे खीच लिया।

इन पत्रो में मै इस नूतन आन्दोलन के गुण-दोषो की जांच नही कर सकता। यह सवाल इतना पेचीदा है कि मेरे बूते से बाहर है, और सिवाय गाधीजी के, जो इसके जन्मदाता हैं, शायद कोई भी इसकी सतोषजनक व्याख्या नही कर सकता। फिर भी हम को इसे एक बाहरी व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखना चाहिए, और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह इतनी शीघ्रता और सफलता से कैसे फैल गया।

मै ग़रीब जनता पर पडने वाले आर्थिक बोझ का, और विदेशी शोषण के कारण उनकी निरन्तर गिरती हुई हालत का, और मध्यमवर्गों मे बेकारी की वृद्धि का, जिक्र कर चुका हूं। इसका इलाज क्या था ? राष्ट्रीयता की वृद्धि ने लोगों का ध्यान राजनैतिक आजादी की आवश्यकता की ओर फेर दिया। आजादी केवल इसीलिए आवश्यक नही थी कि पराधीन और गुलाम बने रहना ज़लालत था, या केवल इसीलिए नही कि तिलक के कथनानुसार 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे,' बल्कि हमारी जनता की ग़रीबी के बोझ को कम करने के लिए भी आवश्यक थी। पर यह आजादी कैसे प्राप्त हो सकती थी ? जाहिर था कि चुपचाप बैठे रहने और प्रतीक्षा करते रहने से वह हमे प्राप्त होने वाली नही थी। और यह भी इतना ही स्पष्ट था कि कोरे विरोध और भीख मांगने के तरीके, जो कांग्रेस अबतक थोड़ी-बहुत सरगर्मी के साथ प्रयोग कर रही थी, किसी क़ौम के लिए केवल अशोभनीय ही नही थे, बल्कि व्यर्थ और परिणाम-शून्य भी थे। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जिसमें इस प्रकार के तरीक़े सफल हुए हों, या इनसे शासक वर्ग अथवा विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग सत्ता छोड़ने को मजबूर हुए हों। इतिहास ने तो सचमुच हमें यह बतलाया था कि जिन क़ौमों को या वर्गों को गुलाम बना लिया गया था, उन्होंने अपनी आजादी हिंसात्मक बग़ावतों या विद्रोहों के जरिये प्राप्त की थी।

भारतीय जनता के लिए सशस्त्र बग़ावत का कोई सवाल ही नहीं दिखाई देता था। हम लोग निहत्थे

कर दिये गये थे, और हममें से अधिकांश तो शस्त्र चलाना ही नहीं जानते थे। इसके अलावा हिंसात्मक संघर्ष में ब्रिटिश सरकार की या किसी भी राज्य की, संगठित शक्ति इतनी ज्यादा थी कि उसके मुकाबले में कोई चीज खड़ी नहीं की जा सकती थी। सेनाओं का बलवे करना सम्भव था, पर निहत्थे लोगों का बगावत करना और सशस्त्र सैनिक बल का मुक़ाबला करना सम्भव नहीं था। दूसरी ओर, व्यक्तिगत आतंक-वाद में, यानी अलग-अलग अफ़सरों को बम से या पिस्तौल से मार डालने में विश्वास करना दिवालियापन था। यह चीज लोगों को अनैतिकता की ओर ले जानेवाली थी, और यह ख़याल करना बेहूदा बात थी कि वह एक बलशाली संगठित सरकार को हिला सकती थी, व्यक्तियों को भले ही वह चाहे जितना भयभीत कर देती। जैसा कि मैं लिख चुका हूं। इस प्रकार का व्यक्तिगत आतंकवाद रूसी क्रान्तिकारियों तक ने भी त्याग दिया था।

तब फिर क्या रह जाता था ? रूस अपनी क्रान्ति में सफल हो गया था, और उसने श्रमजीवियों का प्रजातंत्र स्थापित कर लिया था, और उसके तरीक़े थे जनता द्वारा सामूहिक कार्रवाई जिसके साथ सेना का सहारा था। पर रूस में भी सोवियतों को तभी सफलता मिली थी जबकि युद्ध के फलस्वरूप देश तथा पुरानी सरकार एक तरह से छिन्न-भिन्न हो चुके थे, और सोवियतों का विरोध करने वाला कोई नही बचा था। इसके अलावा उस समय भारत में कोई रूस को या मार्क्सवाद को नही जानता था और न मजदूरों या किसानों की दृष्टि से कुछ सोचता ही था।

इसलिए ये सब अन्धी गलियां थी, और ज़लालतभरी गुलामगिरी की असहनीय परिस्थितियों में से निकलने का कोई मार्ग नही नजर आता था। जो लोग जरा भी सवेदनशील थे वे भयकर निराशा और लाचारी महसूस कर रहे थे। ठीक इसी मौक़े पर गांधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम देश के सामने रक्खा। आयर्लैण्ड के शिन फ़ेन की भांति इसने हमें अपने ऊपर भरोसा करना और अपनी ताकत बढाना सिखाया, और सरकार पर दबाव डालने का तो यह बहुत ही असरकारक तरीका साफ दिखाई दे रहा था। सरकार तो ज्यादातर भारतवासियों के, इच्छा या अनिच्छा से, सहयोग पर टिकी हुई थी, और अगर यह सहयोग हटा लिया जाता और बहिष्कार का प्रयोग किया जाता, तो फ़र्ज़ी तौर पर तो सरकार के सारे ढाचे को गिरा देना बिल्कुल सम्भव था। और अगर असहयोग इतनी दूर न भी पहुच पाता, तो भी इसमें तो कोई सन्देह नही था कि इससे सरकार पर जबरदस्त दबाव पड सकता था, और साथ ही जनता का बल बढ़ सकता था। असहयोग पूरी तरह शान्तिपूर्ण होनेवाला था, पर फिर भी वह कोरा अ-प्रतिरोध नही था। सत्याग्रह अन्यायपूर्ण समझी जानेवाली बातो के प्रतिरोध का निश्चित, पर अहिंसात्मक, रूप था। असल में वह शान्तिपूर्ण बगावत था, युद्धकला का सबसे अधिक सभ्य रूप था, पर फिर भी राज्य की स्थिरता के लिए ख़तरनाक था। जनता को सामूहिक रूप से क्रियाशील बनाने का यह असरकारक उपाय था, और भारत की जनता की विशिष्ट प्रकृति के अनुकूल प्रतीत होता था। हमको तो यह बडा भलामानस सिद्ध करता था और प्रतियोगी को मानो ग़लत सिद्ध कर देता था। इसने हमारा वह भय दूर कर दिया जिसके मारे हम मरे जा रहे थे, और हम इस प्रकार तन कर लोगो के सामने खडे होने लगे जैसा कि पहले कभी नही हुआ था, और अपने मन की बात पूरी तरह और साफ़-साफ़ कहने लगे। हमारे दिलों पर से मानो बडा भारी बोझ हट गया और बोलने तथा काम करने की इस आजादी ने हमारे दिलो मे आत्म-विश्वास और बल भर दिया। और, सबसे बड़ी बात यह हुई कि शान्तिपूर्ण उपायो ने बहुत हद तक उन भयकर कटुतापूर्ण जातीय तथा राष्ट्रीय विद्वेषों को नही बढ़ने दिया जो अब तक सदा से ऐसे सघर्षों के कारण पैदा होते रहे थे, और इस प्रकार अन्तिम निबटारा आसान हो गया।

इसलिए, अगर असहयोग के इस कार्यक्रम ने जिसके साथ गांधीजी का अपूर्व विशिष्ट व्यक्तित्व जुड़ा हुआ था, देश की कल्पनाशक्ति को जगा दिया और उसे आशा से भर दिया, तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं थी। यह फैलने लगा, और इसके स्पर्श से पुरानी साहसहीनता नष्ट हो गई। कांग्रेस ने देश के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तत्वों को अपनी तरफ खींच लिया और उसका बल तथा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी।

इसी बीच सुधारों की मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना के अन्तर्गत नई कौन्सिलें और धारा-सभाएं बनाई जा चुकी थी। नर्म दल ने, जो अब उदार दल कहलाने लगा था, इनका स्वागत किया था और वे उनके मातहत मन्त्रीगण या अन्य सरकारी नौकर बन गये थे। वे तो एक तरफ़ से सरकार में ही मिल गये थे, और इन्हें

जनता का कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। कांग्रेस ने इन धारा सभाओं का बहिष्कार कर दिया था, और देश में इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं था। सब की निगाहें असली संघर्ष की ओर लगी हुई थी जो इन धारा-सभाओं से बाहर नगरो में और गावो में चल रहा था। पहली ही बार अनेक काग्रेस कार्यकर्त्ता गांवों में गये, और वहां उन्होंने कांग्रेस कमेटियां स्थापित की, और ग्रामवासियों की राजनैतिक जागृति में सहायता दी।

मामला अब तूल पकड़ने लगा था, और दिसम्बर, सन् १९२१ ई० में मुठभेड़ रुक नही सकी। इंग्लैण्ड के युवराज की भारत यात्रा, जिसका काग्रेस ने बहिष्कार कर दिया था, इस मुठभेड़ का कारण बन गई। भारत भर में सामूहिक रूप से गिरफ़्तारियाँ हुईं और जेलें हजारों राजबन्दियों से भर गइ। हममें से अधिकांश को जेल के भीतर का तब पहली बार अनुभव हुआ। काग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष देशबन्धु चित्त-रजनदास भी गिरफ़्तार हो गये, और उनके स्थान पर अहमदाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता हकीम अजमल खा ने की। पर तब तक खुद गाधीजी को गिरफ्तार नहीं किया गया था। बस, आन्दोलन तरक्की करने लगा, और जो लोग गिरफ़्तारी के लिए आगे आते थे उनकी संख्या गिरफ्तार किये जाने वालो से सदा अधिक होती थी। चूकि प्रख्यात नेता और कार्यकर्त्ता जेलों मे ठूस दिये गये थे, इसलिये अनुभवहीन और कभी-कभी अवाछनीय व्यक्ति तक भी (कभी-कभी खुफिया पुलिस के एजेण्ट भी), उनकी जगह लेने लगे, और अव्यवस्था फैल गई और कुछ हिंसा भी हुई। सन् १९२२ ई० के शुरू के दिनो में उत्तर-प्रदेश में गोरखपुर के निकट चौरी-चौरा मे किसानो की भीड तथा पुलिस के बीच भिड़न्त हो गई जिसके फलस्वरूप किसानों ने पुलिस चौकी को, जिसमें कुछ सिपाही भी थे, जला डाला। इस घटना से तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं से, जिनसे जाहिर होता था कि आन्दोलन अव्यवस्थित और हिंसात्मक होता जा रहा है, गाधीजी के हृदय को बहुत चोट पहुची। इसलिए उनके सुझाव पर काग्रेस कार्य समिति ने असहयोग का कानून भंग वाला कार्यक्रम स्थगित कर दिया। इसके कुछ ही दिन बाद गाधीजी भी गिरफ्तार कर लिये गये, उन पर मुकदमा चला, और उन्हें छै साल कैद की सजा दे दी गई। यह मार्च, सन् १९२२ ई० की बात है। असहयोग आन्दोलन का पहला दौर इस प्रकार समाप्त हुआ।

: १६१ :

१९२०-३० ईस्वी में भारत की स्थिति

१४ मई १९३३

सन् १९२२ ई० में सविनय-अवज्ञा आन्दोलन स्थगित किया जाने पर असहयोग का पहला दौर समाप्त हो गया, पर इसे स्थगित किये जाने के कारण अनेक काग्रेसजनो को बडा असन्तोष हुआ। इससे बडी भारी जागृति पैदा हो गई थी और लगभग ३०,००० व्यक्ति क़ानून तोड कर जेल गये थे। क्या यह सब व्यर्थ जाने वाला था, और क्या आन्दोलन को उसका उद्देश्य प्राप्त होने से पहले ही अध-बीच में केवल इस लिए स्थगित कर देना था कि कुछ बेचारे जोशीले किसानों ने गड़बड़ कर दी थी? आजादी अभी तक बहुत दूर थी और ब्रिटिश सरकार पहले ही की तरह अपना काम कर रही थी। दिल्ली में और प्रान्तों में कानून बनाने वाली कौन्सिलें थी, पर इनके हाथ में वास्तविक सत्ता कुछ भी नही थी। कांग्रेस ने उनका बहिष्कार कर दिया था। गांधीजी जेल में थे।

अगला कदम क्या हो इसके बारे में काग्रेस के कार्यकर्त्ताओं में बहुत मतभेद था, और कांग्रेस की नीति में परिवर्त्तन की हिमायत करने के लिए 'स्वराज्य पार्टी' के नाम से एक दल बनाया गया। इनका सुझाव था कि असहयोग के बुनियादी कार्यक्रम पर तो जमा रहा जाय, पर उसकी एक मद में परिवर्तन कर दिया जाय। यानी कौन्सिलो का वहिष्कार उठा लिया जाय। इससे काग्रेस में दो दल हो गये, पर अन्त में स्वराज्यपार्टी की ही बात चली।

कांग्रेसजन कौन्सिलों में गये, और वहां उन्होंने जोरदार भाषण दिये और सरकार के खर्चे को अस्वी-कृत कर दिया। पर सरकार ने उनके प्रस्तावों और वोटो की कोई परवाह नही की, और जिस बजट को

धारा-सभा ने अस्वीकृत कर दिया था उसे वायसराय ने प्रमाणित कर दिया। कौन्सिलों में कांग्रेसजनों की इन कार्रवाइयों ने कुछ समय के लिए प्रचार का अच्छा काम किया, पर इनसे आन्दोलन की तर्ज में शिथिलता आ गई। इनका परिणाम यह हुआ कि जन-समूह से इन लोगों का सम्पर्क टूट गया, और ये लोग प्रतिगामी गुट्टों से भद्दे समझौते करने लगे।

सन् १९२०-३० ई० के इन वर्षों में जो विभिन्न बल तथा आन्दोलन भारत को आलोड़ित कर रहे थे उन्हें समझने की हमें कोशिश करनी चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम समस्या सारे प्रश्नों पर हावी हो रही थी। वैमनस्य बढ़ रहा था, और मस्जिदों के सामने बाजा बजाने के अधिकार जैसे तुच्छ प्रश्नों पर उत्तर भारत के कई स्थानों में दंगे हो गये थे। असहयोग के दिनो की अपूर्व एकता के बाद यह अजीब और आकस्मिक परिवर्तन हो गया था। यह क्यों हुआ, और उस एकता की क्या बुनियाद थी?

राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य आधार था आर्थिक तंगी और बेकारी। इसके कारण सब जमातों में एक-समान ब्रिटिश सरकार विरोधी भावना और स्वराज्य के लिए अस्पष्ट सी आकाक्षा पैदा हो गई थी, शत्रुता की यह भावना सबको जोडनेवाली कडी बन गई थी, और सब लोग मिल कर कार्य कर रहे थे, पर अलग-अलग जमातों के उद्देश्य अलग-अलग थे। हर जमात के लिए स्वराज्य अलग-अलग अर्थ रखता था—बेकार मध्यमवर्ग नौकरियों की आशा में था, किसान को आशा थी कि जमीदार की अनेक वसूलियों से उसे राहत मिलेगी। मजहबी जमातो की दृष्टि से इस प्रश्न को देखा जाय तो मुसलमान लोग सामूहिक रूप से आन्दोलन में मुख्यतया खिलाफत के कारण शामिल हुए थे। यह विशुद्ध मुस्लिम प्रश्न था जो मुसलमानों से ताल्लुक रखता था, और गैर-मुसलमानों का इससे कोई सम्बन्ध नही था। फिर भी गांधीजी ने इसे ग्रहण कर लिया था, और दूसरों पर भी इसके लिए जोर डाला था, क्योंकि विपत्तिग्रस्त भाई की सहायता करना वह अपना कर्त्तव्य समझते थे। उन्हे यह भी आशा थी कि इस प्रकार वे हिन्दुओ तथा मुसलमानों को एक-दूसरे के नजदीक ला सकेंगे। इस प्रकार मुसलमानो का व्यापक दृष्टिकोण मुस्लिम राष्ट्रीयता या मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता का था, विशुद्ध राष्ट्रीयता का नहीं। हा, उस घडी दोनो का आपसी विरोध प्रगट नहीं हो रहा था।

दूसरी ओर, हिन्दुओं की राष्ट्रीयता की कल्पना निश्चय रूपसे हिन्दू राष्ट्रीयता की कल्पना थी। इस मामले में हिन्दू राष्ट्रीयता को विशुद्ध राष्ट्रीयता से बिल्कुल अलग करना आसान नही था (मुसलमानो के मामले में ऐसा करना आसान था)। दोनो राष्ट्रीयताए आपस मे मिली हुई थी, क्योकि एक मात्र भारत ही हिन्दुओं का घर है और उनका यहां बहुमत है। इसलिए मुसलमानो की अपेक्षा हिन्दुओं का पक्के राष्ट्रीयतावादी के रूप में प्रगट होना ज्यादा आसान था, यद्यपि दोनो राष्ट्रीयता की अपनी-अपनी खास किस्म के समर्थक थे।

तीसरी ओर वह चीज थी जिसे वास्तविक या भारतीय राष्ट्रीयता कहा जा सकता था, और जो इन दोनो धार्मिक तथा साम्प्रदायिक किस्मो से बिलकुल भिन्न थी। और, सही बात तो यह है कि, यही वह क़िस्म थी जिसे इस शब्द के आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता कहा जा सकता था। इस तीसरी जमात में हिन्दू भी अवश्य थे और मुसलमान भी, और दूसरे लोग भी। राष्ट्रीयता की ये तीनो किस्में असहयोग आन्दोलन के जमाने मे, सन् १९२० से १९२२ ई० तक, मानों सयोग से साथ हो गई थी। रास्ते तो तीनो अलग-अलग थे, पर उस घडी तीनों समानान्तर चल रहे थे।

सन् १९२१ ई० के जन-आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को विल्कुल हक्का-बक्का कर दिया। हालाकि इसकी सूचना उन्हे बहुत दिन पहले मिल गई थी, पर उन्हे यह नही सूझ रहा था कि इससे किस तरह निबटना चाहिए। गिरफ्तारियो और सजाओ का हस्ब-मामूल सीधा उपाय बे-असर हो रहा था, क्योंकि काग्रेस तो यह चाहती ही थी। इसलिए उनके खुफिया विभाग ने काग्रेस को भीतर से कमजोर करने के लिए एक नई तरकीब ईजाद की। पुलिस के गुर्गे और खुफ़िया विभाग के कर्मचारी काग्रेस कमेटियो में घुस गये और हिंसा को भड़का कर गड़बड़े पैदा करने लगे। दूसरा उपाय यह ग्रहण किया गया कि साम्प्रदायिक झगड़े पैदा करने के लिए खुफिया विभाग के गुर्गे साधुओ और फकीरो के भेष में जगह-जगह भेजे गये।

यह सही है कि लोगों कि इच्छा के विरुद्ध शासन करने वाली सरकारे हमेशा इसी तरह के उपायों का अवलम्बन किया करती है। साम्राज्यशाही शक्तियों का धन्धा इन्हीं चीजों पर चलता है। इन

तरीकों का सफल होना जनता की कमज़ोरी और पिछड़े-पन का जितना द्योतक है उतना सम्बन्धित सरकार की बदकारी का नही। दूसरे लोगो में फूट डालने की, और उन्हें आपस में लड़ा देने की, और इस प्रकार उन्हें कमज़ोर कर देने तथा उनका शोषण करने की योग्यता, खुद ही बहुत अच्छी व्यवस्था का चिह्न है। यह नीति सिर्फ़ तभी सफल हो सकती है जब दूसरी ओर फूट और अलहदगियां हों। यह कहना खुले तौर पर ग़लत होगा कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पैदा की, लेकिन उसने इस समस्या को जीती-जागती रखने के और दोनों जातियों में मेल न होने देने के जो निरन्तर प्रयत्न किये उनकी उपेक्षा करना भी उतना ही ग़लत होगा।

सन् १९२२ ई० में, असहयोग आन्दोलन के स्थगित किये जाने के बाद, इस तरह के दाव-पेचों के लिए समय बहुत अनुकूल था। बिना कोई ज़ाहिरा नतीजा निकले एक कड़ी मेहनत के आन्दोलन के अकस्मात ही समाप्त होने के बाद प्रतिक्रिया हुई। तीनों विभिन्न रास्ते, जो एक दूसरे के समानान्तर चल रहे थे, अब अलग-अलग दिशाओं की ओर जाने लगे। खिलाफ़त का प्रश्न रास्ते में से हट गया था। हिन्दू और मुसलमान, दोनो जातियो के साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के दिनो के सामूहिक उत्साह से दब गये थे, फिर उठ खड़े हुए और सार्वजनिक जीवन में भाग लेने-लगे। बेकार मध्यम-वर्गी मुसलमान यह समझने लगे कि हिन्दुओ ने तमाम नौकरियो का ठेका ले रक्खा है और उनके मार्ग में बाधक बन रहे है। इसलिए उन्होने पृथक व्यवहार की और हर चीज़ में पृथक भाग की माग की। राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न मूल मे मध्यमवर्गी मामला था, और नौकरियो के पीछे झगड़ा था। पर इसका असर जन-समूह पर भी पड़ने लगा।

समग्र दृष्टि से हिन्दू जाति मुसलमानो से अधिक अच्छी हालत में थी। अंग्रेजी शिक्षा पर जल्दी ही ध्यान देने के कारण उन्होने अधिकतर सरकारी नौकरियो पर कब्ज़ा कर लिया था। हिन्दू लोग मुसलमानो से धनवान भी ज्यादा थे। गाव का बौहरा या साहूकार बनिया होता था जो छोटे-छोटे ज़मीदारो और काश्तकारों को चूसता था, और उन्हे धीरे-धीरे भिख-मगा बना कर उनकी धरती पर खुद क़ब्ज़ा कर लेता था। बनिया हिन्दू और मुसलमान काश्तकारों तथा ज़मीदारो को समान रूप से चूसता था, पर उसके द्वारा मुसलमानो का शोषण साम्प्रदायिक रूप ग्रहण कर लेता था, उन प्रान्तों में जहां खेतिहर लोग मुख्यतया मुसलमान थे। मशीन से बने माल के प्रचार ने मुसलमानों को हिन्दुओ से ज़्यादा नुकसान पहुचाया, क्योंकि मुसलमानों में दस्तकारों की सख्या हिन्दुओं से कही ज्यादा थी। इन तमाम निमित्तों ने भारत की दो मुख्य जातियो के बीच कटुता बढाई और मुस्लिम राष्ट्रीयता को, जो देश के बजाय जाति का ज्यादा लिहाज़ रखती थी, मज़बूत कर दिया।

मुस्लिम सम्प्रदायवादी नेताओ की मागे ऐसी थी कि वे भारत में सच्ची राष्ट्रीय एकता की सारी आशाओ पर पानी फेरने वाली थीं। उनसे उन्हीके साम्प्रदायिक तरीक़े पर लोहा लेने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक सगठन भी जोर पकड कर आगे आने लगे। सच्ची राष्ट्रीयता का ढोंग करने वाले ये सगठन उतने ही फिरकापरस्त और संकीर्ण थे जितने मुसलमानो के।

सामूहिक रूप से कांग्रेस इन साम्प्रदायिक सस्थाओं से दूर रही, पर व्यक्तिगत रूप से अनेक कांग्रेस-जनों पर उनका ज़हर चढ गया। विशुद्ध राष्ट्रीयतावादी लोगों ने इस साम्प्रदायिक जुनून को रोकने का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नही मिली और बड़े-बडे दगे हो गये।

इस घोटाले को ज्यादा बढ़ाने के लिए एक तीसरी तरह की फिरकेवाराना राष्ट्रीयता का, यानी सिक्ख राष्ट्रीयता का, उदय हुआ। अबतक हिन्दुओ तथा सिक्खो को अलहदा करने वाली रेखा बहुत कुछ अस्पष्ट थी। पर राष्ट्रीय जागृति ने जीवटदार सिक्खों को भी हिला दिया और वे अपनी अधिक विशिष्ट तथा अलग स्थिति बनाने की कोशिश करने लगे। इनमें अधिक संख्या भूतपूर्व सिपाहियों की थी जिन्होने इस छोटी-सी पर खूब संगठित जाति को, जो कहनी की अपेक्षा करनी की अधिक अभ्यस्त थी, ज़रा कठोर बना दिया। ज्यादातर सिक्ख पंजाब में मौरूसी किसान थे, और वे महसूस करने लगे थे कि शहरी साहूकार तथा शहरों के अन्य स्वार्थ उन्हें खा जायंगे। अपना अलग फिरका मनवाने की उनकी इच्छा के पीछे यही भावना काम कर रही थी। शुरू-शुरू में अकाली आन्दोलन धार्मिक मामलों में, या यो कहो कि गुरुद्वारो की सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करने में, दिलचस्पी लेने लगा। इसे अकाली आन्दोलन इसलिए कहते थे कि अकाली लोग सिक्खों की एक क्रियाशील और उग्र जमात थी। इसलिए इस प्रश्न पर इनकी सरकार से मुठभेड़ हुई, और अमृत-

सर के पास गुरु का बाग़ में साहस और सहनशीलता का अद्भुत दृश्य देखने में आया। पुलिस के हाथों अकाली जत्थों की बड़ी निर्दयता से पिटाई हुई, पर वे न तो कदम भर पीछे हटे और न उन्होंने पुलिस पर हाथ उठाया। अन्त में अकालियो की जीत हुई और गुरुद्वारो पर उनका अधिकार हो गया। तब वे राजनैतिक क्षेत्र में आ गये और अपने लिए हर दर्जे की मागें करने में अन्य साम्प्रदायिक फिरको की होड़ करने लगे।

विभिन्न जातियों की ये संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाएं, जिन्हें मैंने फिरकेवाराना राष्ट्रीयतायें कहा है, बड़ी दुखदाई थी। पर थी वे क़ाफ़ी स्वाभाविक। असहयोग ने भारत को पूरी तरह थरथरा दिया था, और ये फिरकेवाराना जागृतियां और हिन्दू, मुस्लिम तथा सिक्ख राष्ट्रीयताए, इस थरथराहट का पहला परिणाम थी। इनके अलावा और भी बहुत सी छोटी-छोटी जमातो ने आत्म-चेतना प्राप्त की। "दलित वर्ग" कहलानेवाली जमात इनमें खास तौर पर उल्लेखनीय है। दलित वर्ग के लोग, जिन्हे सवर्ण हिन्दुओ ने सदियों से दबा रक्खा था, ज्यादातर खेतों में काम करने वाले धरती-हीन मजदूर थे। इसलिए जब इनमें आत्म-चेतना पैदा हुई तो यह स्वाभाविक ही था कि अपनी अनेक साधन-हीनताओं से छुटकारा पाने की आकाक्षा उनके सिर पर सवार हो जाती और जिन हिन्दुओ ने उन्हे सदियो से सताया था उनके प्रति वे रोष से भर जाते।

हरेक जागृत जमात राष्ट्रीयता और देशभक्ति को अपने-अपने स्वार्थों की रोशनी मे देखने लगी। जिस तरह राष्ट्र स्वार्थी होते है, उसी तरह फिरके या जातिया भी स्वार्थी हुआ करते हैं; यह दूसरी बात है कि जातियो या राष्ट्रो के कुछ खास व्यक्ति स्वार्थ-रहित दृष्टिकोण रखते हो। बस, हर फिरका अपने हिस्से से ज्यादा चाहता था, और तनाजा अपरिहार्य हो गया। ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिक वैमनस्य बढने लगा त्यों-त्यों हर फिरके के उग्र साम्प्रदायिक नेता आगे आने लगे, क्योंकि क्रोध के आवेश मे हर फिरका उसी व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि चुनता है जो अपने फिरके की मागे सबसे ऊँची उठावे और दूसरो को सबसे ज्यादा गालियां दे। सरकार ने भी इस आपसी झगड़े को विभिन्न तरीकों से भडकाया, खास कर अधिक उग्र साम्प्रदायिक नेताओं को उकसा कर। बस, जहर फैलता चला गया, और हम ऐसे शैतानी चक्कर में फस गये जिसमें से निकलने का कोई रास्ता दिखाई नही देता था।

जिस समय भारत में ये बल और ये फूटकारक प्रवृत्तियां पैदा हो रही थी, उसी समय यरवडा जेल में गाधीजी बहुत बीमार पड गये और उन्हे आपरेशन कराना पडा। सन् १९२४ ई० के शुरू में वह जेल से छोड दिये गये। साम्प्रदायिक झगड़ों से उन्हे बहुत क्षोभ हुआ, और बाद में एक बड़े दगे ने उनेक हृदय को इतनी चोट पहुचाई कि उन्होने इक्कीस दिन का उपवास किया। शान्ति स्थापित करने के लिए अनेक "एकता" सम्मेलन हुए, पर कोई नतीजा नही निकला।

इन साम्प्रदायिक वितण्डावादो और फिरकेवाराना राष्ट्रीयताओ का परिणाम यह हुआ कि काग्रेस और कौन्सिलो की स्वाराज्य पार्टी, दोनो कमजोर पड गये। स्वराज्य का आदर्श गड्ढे मे जा पडा, क्योकि ज्यादातर लोग अपने-अपने फिरको के हितो में ही सोचने और बोलने लगे। किसी भी फिरके की तरफ़दारी से बचने का प्रयत्न करने मे काग्रेस पर चारो ओर से सम्प्रदायवादियो के हमले होने लगे। इन दिनो काग्रेस ने चुपचाप सगठन और ग्रामोद्योगो (खद्दर) वग़ैरा को अपना मुख्य कार्य बना लिया था, और इससे उसे कृषक जन-समूह से सम्पर्क बनाये रखने मे मदद मिली।

अपने देश के साम्प्रदायिक झगड़ो के बारे मे मैंने जरा विस्तार के साथ इसलिए लिखा है कि सन् १९२०-३० ई० के वर्षों में इन्होने हमारे राजनैतिक जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। लेकिन इतने पर भी हमें इनको बहुत ज्यादा महत्व नही देना चाहिए। इन्हे जरूरत से बहुत ज्यादा महत्व देने की प्रवृत्ति चल पड़ी है, और किसी हिन्दू तथा मुसलमान लड़के की हर आपसी तकरार एक साम्प्रदायिक तकरार समझी जाती है, और हर तुच्छ दगे को बड़ा भारी दर्शाया जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि भारत बहुत बड़ा देश है, और लाखों शहरो तथा गावों मे हिन्दू तथा मुसलमान आपस में बडे मेल से रहते हैं, और उनमें कोई साम्प्रदायिक झगडा नही है। साधारणतया इस तरह के झगडे कुछ गिने-चुने शहरो तक ही सीमित है, हालांकि कभी-कभी गाँवो में भी झगडा हो जाता है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि साम्प्रदायिक समस्या भारत में जड़-मूल से एक मध्यम-वर्गी समस्या है, और चूकि काग्रेस में, कौन्सिलों मे, अखबारो में, और जीवन

के हर क्षेत्र में, हमारी राजनीति पर मध्यमवर्ग हावी हो रहा है, इसलिए इसे अनुचित महत्व दे दिया जाता है। किसान वर्ग तो शोर मचाना जानता ही नही; ये लोग तो अभी हाल ही में गावो की काग्रेस कमेटियों, किसान सभाओं, वगैरा के जरिये राजनैतिक कामो में भाग लेने लगे हैं। शहरी मजदूर, खास कर बड़े-बड़े कारखानो के मजदूर, जरा ज्यादा चौकस है, और वे मजदूर सघो के रूप मे सगठित हो गये है। पर कारखानों के ये मजदूर तक भी, और इनसे भी ज्यादा किसान वर्ग, अपने पथ-प्रदर्शन के लिए मध्यमवर्गों से निकले हुए व्यक्तियो का ही मुह ताकते हैं। अब हमें इस जमाने के जन-समूह, किसान वर्ग और कारखानों के श्रम-जीवी वर्ग की हालत पर गौर करना चाहिए।

भारतीय उद्योगो की, महायुद्ध के फलस्वरूप तेजी से होने वाली वृद्धि सुलह के कुछ वर्षों बाद तक भी जारी रही। ब्रिटिश पूजी भारत में धडाधड आती रही, और नये कारखानों तथा उद्योगो को चलाने के लिए बहुत सारी नई-नई कम्पनियां दर्ज हुई। ज्यादा बडी औद्योगिक कम्पनिया खास तौर पर विदेशी पूजी के सहारे खडी की गईं, और इस प्रकार बडे पैमाने वाले उद्योगो की बाग-डोर व्यवहार मे अग्रेज पूजीपतियो के हाथ मे आ गई। कुछ वर्ष हुए यह अन्दाज लगाया गया था कि भारत में काम करने वाली कम्पनियो में से ८७ फी सदी कम्पनियो मे अग्रेजो की पूजी लगी हुई थी, और शायद यह अन्दाज भी नीचा है। इस प्रकार भारत पर इग्लैण्ड का असली आर्थिक पजा और भी मजबूत हो गया। छोटे-छोटे कस्बो को नुकसान पहुँचा कर बडे-बडे शहर पैदा हो गये, पर गावो को कोई नुकसान नही हुआ। कपडा उद्योग खास तौर पर वढ़ गया, और खनिज उद्योग भी इसी प्रकार बढा।

बढते हुए औद्योगीकरण की नई-नई समस्याओ पर विचार करने के लिए सरकार ने अनेक कमेटियाँ और कमीशन नियुक्त किये। इन्होंने सिफारिश की कि विदेशी पूजी को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। साथ ही इन्होने भारत मे ब्रिटिश औद्योगिक स्वार्थों का साधारण रूप से पक्ष लिया। भारतीय उद्योगो को सरक्षण देने के लिए एक टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया। लेकिन, जैसा कि मै बतला चुका हूँ, अनेक मामलों मे इस सरक्षण का अर्थ था भारत में ब्रिटिश पूजी का सरक्षण। मडियो में इस सरक्षित माल की क़ीमते बढ जाना स्वाभाविक था, और इसके कारण उसी हद तक जीवनोपयोगी वस्तुए भी महगी हो गई। नतीजा यह हुआ कि सरक्षण का भार जन-समूह पर, या इस माल के खरीदारो पर, पडा और कारखाने-दारो को ऐसी सुरक्षित मडी मिल गई जिसमे प्रतियोगिता या तो बिल्कुल नही रही थी, या कम हो गई थी।

कारखानो की वृद्धि के साथ-साथ कुदरती तौर पर कारखानों में मजदूरी कमाने वाले वर्ग की संख्याओं मे भी वृद्धि हुई। सन् १९२२ ई० मे ही सरकारी अन्दाज था कि भारत में इस वर्ग के लोगो की संख्या कम से कम दो करोड़ थी। देहाती क्षेत्रो के धरतीहीन बेकार मजदूर इस वर्ग में शामिल होने के लिए औद्योगिक नगरो मे आने लगे, और यहा इन्हे आम तौर पर शोषण की शर्मनाक हालतो मे रहने को मजबूर होना पडा। जो हालते इग्लैण्ड मे सौ वर्ष पहले कारखानो की प्रणाली के प्रारम्भ मे थी, वे ही अब भारत मे पैदा हो गईं—जैसे रोज़ाना काम का भयकर लम्बा समय, बहुत ही कम मजूरी, रहन-सहन की जलालत भरी और अस्वास्थ्यकर हालतें। कारखानेदार वर्ग का तो एक ही उद्देश्य था: खूब मुनाफ़े बटोर कर तेजी के ज़माने से पूरा लाभ उठाना। और कुछ वर्षों तक तो उन्होंने बड़ी सफलता के साथ यह धधा किया, और हिस्सेदारो को भारी-भारी मुनाफ़े बांटे, पर उधर मजदूरो की हालत संकट पूर्ण ही बनी रही। अपने कमाये हुए इन जबरदस्त मुनाफ़ो में मजदूरो का कोई साझा नही था, पर आगे चलकर जब तेजी के ज़माने के बाद मन्दी आई और व्यापार गिरने लगा, तो मजदूरो से कहा गया कि कम मजूरिया स्वीकार करके इस समान दुर्भाग्य में साझा बटावें।

ज्यो-ज्यों मजदूरों की सस्थाए, यानी मजदूर सघ, ज़ोर पकडते गये, त्यों-त्यों साथ ही साथ, मजदूरों के रहन-सहन और काम की बेहतर हालतो के लिए, काम के घटो में कमी के लिए और ऊँची मजूरियो के लिए, आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ता गया। कुछ तो इससे प्रभावित होकर, और कुछ श्रमजीवियो के साथ अच्छा बर्ताव किये जाने की संसार-व्यापी माग से प्रभावित होकर, सरकार ने कारखानो के मजदूरो की हालत में सुधार करने के इरादे से कई क़ानून पास किये। मै किसी पिछले पत्र में कारखाना क़ानून के पास किये जाने का ज़िक्र कर चुका हू। इसमें यह विधान था कि बारह से पन्द्रह वर्ष की आयु के बालको से दिन

भर में छै घंटे से ज्यादा काम नहीं लिया जाना चाहिए। स्त्रियों और बच्चों के रात में काम करने पर भी रोक लगा दी गई थी। वय-प्राप्त पुरुषों और स्त्रियो के लिए दिन भर में काम के ज्यादा से ज्यादा ग्यारह घंटे और सप्ताह में साठ घटे (काम का सप्ताह छै दिन का माना गया था) निश्चित कर दिये गये। बाद में होने वाले कुछ संशोधनों के साथ यह कारखाना क़ानून अभीतक लागू है।

खानों में काम करने वाले कम्बख्त मजदूरों को, खास कर ज़मीन के अन्दर कोयले की खानों में काम करने वालों को, कुछ संरक्षण देने के लिए सन् १९२३ ई० में भारतीय खान कानून पास किया गया। तेरह वर्ष से कम के बच्चों के लिए ज़मीन के अन्दर काम करने पर पाबन्दी लगा दी गई और स्त्रियां ज़मीन के अन्दर काम करती रहीं, और देखा जाय तो इनकी संख्या मजदूरों की कुल सख्या से आधी के क़रीब थी। वयस्कों के लिए छः दिन के हफ्ते में काम के ज्यादा से ज्यादा घटे इस प्रकार निश्चित किये गये : ज़मीन पर काम करने के साठ, और ज़मीन के भीतर काम करने के चौवन। दिन में ज्यादा से ज्यादा करने के घटे, मेरे खयाल से, बारह होते है। काम के घटों के ये आंकड़े मै इसलिए बता रहा हू कि तुम्हे श्रमजीवियों की हालतों का कुछ अनुमान हो जाय। पर इनकी मदद से भी तुम्हे आशिक अनुमान ही हो सकता है क्योकि पूरी जानकारी के लिए इनके अलावा और भी बहुत-सी चीज़ो का जानना ज़रूरी है, जैसे, मजूरियों की दर, रहन-सहन की हालते, वग़ैरा। यहां हम इन बातो के ब्यौरे में नही जा सकते। परन्तु यह महसूस करना भी कम बात नही है कि लड़कों तथा लड़कियो और पुरुषो तथा स्त्रियो को कारखानो में किस प्रकार ज़िन्दा भर रखने योग्य तुच्छ मजूरी पर ग्यारह-ग्यारह घंटे रोज़ काम करना पड़ता है। कारखानो में जिस तरह का एक-रस काम वे करते है वह भयंकर उदासी पैदा करने वाला होता है; उसमें कोई आनन्द नहीं होता। और जब वे बिल्कुल थके-मादे घर पहुँचते हैं, तो आम तौर पर एक पूरे कुटुम्ब को मिट्टी की छोटी-सी झोपडी मे भर जाना पड़ता है, जिसमें टट्टी-पेशाब की कोई सहूलियते नही होती।

कुछ और क़ानून भी पास किये गये, जिनसे मजदूरो को मदद मिली। सन् १९२३ ई० में कामगरों का मुआवज़ा क़ानून बना जिसके अनुसार, दुर्घटनाओं आदि के कारण चुटैल हुए मज़दूर को कुछ मुआवज़ा दिया जाना ज़रूरी था। और सन् १९२६ ई० में मज़दूर सघ कानून बनाया गया, जो मज़दूर सघों के निर्माण से और उन्हें मान्यता दिये जाने से, सम्बन्ध रखता था। इन दिनो में भारत मे मज़दूर सघ आन्दोलन ज़रा तेज़ी के साथ बढा, ख़ास कर बम्बई में। एक अखिल-भारतीय मज़दूर सघ काग्रेस बनी, पर कुछ वर्षों बाद यह दो दलो में बंट गई। महायुद्ध तथा रूसी क्रान्ति के समय से ही दुनिया भर मे श्रमजीवी वर्ग दो अलग-अलग दिशाओ में खीचा जा रहा है। एक ओर तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ (जिसका ज़िक्र मै कर चुका हू) से सम्बद्ध पुराने कट्टरपथी और नर्मदली मज़दूर संघ है; दूसरी ओर सोवियत रूस तथा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ का आकर्षण है। इसलिए हर जगह कारखानो के नर्म विचार वाले और आम तौर पर खुशहाल मज़दूर निरापदता तथा द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ की ओर झुक रहे है, और अधिक क्रान्तिकारी मज़दूर तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ की ओर। यह खीचतान भारत मे भी हुई और सन् १९२९ के अन्त में यहां भी दो दल हो गये। तभी से भारत में श्रमजीवी आन्दोलन कमज़ोर पड़ गया है।

किसान वर्ग के विषय में मैं उससे अधिक यहा कुछ नही लिख सकता जितना अपने पिछले पत्रों मे लिख चुका हू। इनकी स्थिति और भी बिगडती जा रही है और वे ऋण देने वालो के कर्ज़ों में दिन पर दिन बडी बुरी तरह फंसते जा रहे है। छोटे-छोटे ज़मीदार, मौरूसी काश्तकार और साधारण काश्तकार, सबके सब ऋण देने वाले बनिये या साहूकार के पजो में फस जाते है। चूंकि काश्तकार कर्ज़ नही चुका सकता है, इसलिए धरती धीरे-धीरे इस ऋणदाता के क़ब्ज़े में चली जाती है। और चूंकि यह ऋणदाता ज़मीदार भी होता है और साहूकार भी, इसलिए काश्तकार उसका दोहरा गुलाम बन जाता है। आम तौर पर यह बनिया ज़मींदार शहर में रहता है, और उसके तथा काश्तकार वर्ग के बीच कोई घनिष्ठ आपसी सम्पर्क नही रहता। इसका निरन्तर प्रयत्न इसी दिशा में रहता है कि भूखों-मरते किसान-वर्ग से जितना सम्भव हो सके उतना ज्यादा रुपया वसूल किया जाय। पुराना ज़मीदार, जो अपने काश्तकार-वर्ग के बीच में ही रहता था, कभी कभी उन पर दया भी दिखा सकता था; पर शहर में रहने वाला साहूकार-ज़मीदार वसूली के लिए अपने कारिन्दे भेज देता है, और ऐसी कमज़ोरी कभी नहीं दिखाता।

सरकारी कमेटियो ने कृषिजीवी वर्गों के कर्ज़ों के बारे में कितने ही सरकारी तखमीने बनाये हैं।

सन् १९३० ई० में यह अन्दाज़ लगाया गया था कि सारे भारत में (बर्मा को छोड़ कर) इन वर्गों के कुल क़र्ज़ों की रक़म की भीमकाय संख्या ८,०३,००,००,००० रुपये हैं! इसमें ज़मींदारों और खेती करने वालों दोनों के कर्ज़े शामिल हैं। मंदी के वर्षों में तथा बाद में यह संख्या बहुत ज्यादा बढ़ गई।

इस प्रकार कृषिजीवी वर्ग, छोटे-छोटे ज़मींदार और काश्तकार दोनो, दिन पर दिन गहरी दलदल में धंसते जा रहे हैं और इनके बाहर निकलने का सिवा इसके कोई रास्ता नही है कि वर्तमान भूमि प्रणाली की क्रान्तिकारी ढग से जड़ ही काट दी जाय। कर लगाने की वर्तमान व्यवस्था ऐसी है कि उसका सबसे ज्यादा बोझ उस वर्ग पर पड़ता है जो सब से ज्यादा ग़रीब है और जो उसे बर्दाश्त करने की सब से कम क्षमता रखता है। ख़र्च की बडी-बडी मदें सेना, शासन विभाग और इग्लैण्ड द्वारा वसूल की जाने वाली अन्य रकमें हैं, जिनसे जन-समूह को कोई लाभ नही पहुचता। शिक्षा पर प्रति व्यक्ति क़रीब आठ आने ख़र्च किये जाते है, जब कि इसकी तुलना में इग्लैण्ड का यह ख़र्च २ पौंड १५ शिलिग (क़रीब ४० रु०) प्रति व्यक्ति है। इस प्रकार इंग्लैण्ड में शिक्षा पर भारत से ७३½ गुना अधिक व्यय होता है।

गत वर्षों में भारत की आबादी की प्रति व्यक्ति के हिसाब से राष्ट्रीय आय का तख़मीना लगाने के प्रयत्न कई बार किये गये है। यह मुश्किल मामला है, और इन तख़मीनो में बड़ा फर्क है। सन् १८७० ई० मे दादाभाई नौरोजी ने हिसाब लगाया था कि यह २० रु० प्रति व्यक्ति है। हाल के तख़मीने ६७ रु० तक जा पहुचे हैं, और कुछ अंग्रेज़ो के लगाये हुए अधिक से अधिक अनुकूल तख़मीने भी ११६ रु० से ऊंचे नही जाते। सयुक्तराज्य अमरीका में इसके मुकाबले का आकडा १९२५ रु० है, और तब से यह बहुत ज्यादा बढ़ चुका है। इग्लैण्ड में प्रति व्यक्ति की आमदनी १,००० रु० है।[1]

: १६२ :

भारत में शान्तिपूर्ण बग़ावत

१७ मई, १९३३

भारत तथा उसके अतीत के बारे मे मैंने तुमको जितने ज्यादा पत्र लिखे है उतने किसी और देश के बारे मे नही लिखे। लेकिन भूतकाल अब वर्तमान में विलीन होता जा रहा है, और मुझे आशा है कि यह जो पत्र मै शुरू कर रहा हूं वह मेरे विवरण को आज के भारत तक ले आवेगा। मैं हाल की कुछ घटनाओं का ज़िक्र करूंगा जो हमारे दिमागों में ताज़ा बनी हुई है। उनके बारे मे लिखने का समय अभी नही आया है, क्योकि कहानी अभी अधूरी है। परन्तु सारा इतिहास वर्तमान में आकर एकदम ही रुक जाता है, और कहानी के बाकी के अध्याय भविष्य के गर्भ में छिपे पडे रहते हैं। सच पूछो तो कहानी का कोई अन्त ही नही है; वह तो निरन्तर आगे चलती रहती है।

सन् १९२७ ई० के आख़िरी दिनो में ब्रिटिश सरकार ने ऐलान किया कि शासन-व्यवस्था के ढाचे में भावी सुधारो तथा परिवर्त्तनों के सम्बन्ध में जाच करने के लिए एक कमीशन भारत भेजा जायगा। भारत के सारे राजनैतिक दलों ने इस घोषणा पर क्रोध प्रगट किया और इसे बुरा बताया। काग्रेस ने इस पर इसलिए आपत्ति की कि वह तो इस ख़याल को ही सख्त नापसन्द करती थी कि स्वराज्य की योग्यता के लिए भारत की समय-समय पर परीक्षा ली जाया करे। इस देश पर जब तक सम्भव हो तब तक क़ब्ज़ा बनाये रखने की अपनी इच्छा पर पर्दा डालने के लिए अंग्रेज़ लोग इसी वाक्य का प्रयोग करते थे। कांग्रेस ने बहुत वर्षों से अपने देश के लिए आत्म-निर्णय के उसी अधिकार का दावा किया था जिसका महायुद्ध के दौरान में मित्र-राष्ट्रो ने इतना ढिंढोरा पीटा था। और, उसने भारत पर हुकम चलाने या उसके भावी भाग्य का अन्तिम निबटारा करने के ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अधिकार को कबूल करने से इन्कार कर दिया। इन कारणों से काग्रेस ने इस नये पार्लमेण्टी कमीशन का विरोध किया। भारत के नर्म विचार वाले दलों ने

---

[1] ये आंकड़े प्रति व्यक्ति की सालाना औसत आमदनी के हैं।

इस कमीशन का अन्य कारणों से विरोध किया, जिनमें मुख्य यह था कि किसी भारतीय को इसका सदस्य नहीं बनाया गया था। यह विशुद्ध अंग्रेज़ी कमीशन था। हालांकि विरोध के कारण अलग-अलग थे, पर यह सच बात है कि नर्म से नर्म विचार के लोगों समेत भारत की क़रीब-क़रीब हर जमात ने एक-स्वर से इसकी निन्दा की और इसके बहिष्कार का समर्थन किया।

इसी समय के लगभग, दिसम्बर, सन् १९२७ ई०, मे मद्रास में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ और उसने निश्चय किया कि भारत के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता उसका लक्ष्य है। यह पहला ही मौक़ा था जब काग्रेस ने स्वाधीनता की घोषणा की। दो वर्ष बाद, लाहौर में, स्वाधीनता निश्चय रूप से कांग्रेस का ध्येय बन गई। मद्रास काग्रेस ने 'सर्वदल सम्मेलन' भी बनाया, जो थोड़े दिन क्रियाशील रह कर खतम हो गया।

अगले वर्ष, सन् १९२८ ई० में, ब्रिटिश कमीशन ने भारत मे पदार्पण किया। जैसा कि मै लिख चुका हूं, सर्वसाधारण ने इसका बहिष्कार किया, और जहा-जहा यह गया वहा-वहा इसके विरुद्ध बडे-बड़े प्रदर्शन किये गये। इसके सभापति के नाम पर इसे साइमन कमीशन कहते थे, और "साइमन लौट जाओ" का नारा भारत भर में गूंज उठा। अनेक अवसरों पर पुलिस ने प्रदर्शनकारियो पर लाठिया चलाईं, लाहौर में पुलिस ने लाला लाजपतराय तक को मारा। कुछ महीनो बाद लालाजी की मृत्यु हो गई, और डाक्टरो की राय थी कि सम्भवतया पुलिस की मार से लालाजी की मृत्यु जल्दी हो गई। इन सब बातो ने देश मे क़ुदरती तौर पर बड़ी उत्तेजना और बड़ा क्रोध पैदा कर दिये।

इस अर्से मे सर्वदल सम्मेलन विधान का मसौदा बनाने का और साम्प्रदायिक उलझन का हल ढूढ निकालने का प्रयत्न कर रहा था। इसने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमे विधान के बारे में और साम्प्रदायिक समस्या के बारे में सुझाव थे। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट कहलाती है, क्योंकि जिस कमेटी ने इसका मसौदा बनाया था उसके सभापति पडित मोतीलाल नेहरू थे।

गुजरात के बारडोली गाव के किसानों का, सरकार द्वारा मालगुज़ारी की दर में वृद्धि के विरुद्ध, महान संग्राम इस वर्ष की एक और उल्लेखनीय घटना थी। उत्तर प्रदेश की भाति गुजरात मे बड़ी-बडी ज़मींदारियों की प्रथा नही है। वहा केवल मालगुज़ार किसान है। इन किसानो ने सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में अपूर्व वीरतापूर्ण लडाई चलाई और महान विजय प्राप्त की।

दिसम्बर, सन् १९२८ ई०, की कलकत्ता काग्रेस ने नेहरू-रिपोर्ट स्वीकार कर ली, जिसमे ब्रिटिश उपनिवेशो के विधान से मिलते-जुलते विधान की सिफारिश की गई थी। काग्रेस ने इसे तो स्वीकार कर लिया, पर यह स्वीकृति अस्थायी रूप मे थी, और इसके लिए उसने एक वर्ष की अवधि निश्चित कर दी। अगर एक वर्ष के भीतर ब्रिटिश सरकार से इसके आधार पर कोई राज़ीनामा न हो, तो काग्रेस फिर स्वाधीनता की माग पर चली जायगी। इस प्रकार काग्रेस तथा देश अपरिहार्य रूप से नाज़ुक घड़ी की ओर अग्रसर हो रहे थे।

श्रमजीवी वर्ग भी बड़ा उतावला हो रहा था, और कुछ औद्योगिक केन्द्रो मे जब मजूरिया घटाने के प्रयत्न किये गये तो वहा वह सरगर्म बनने लगा। बम्बई में इनका सगठन ख़ास तौर पर बहुत अच्छा था, और यहा बडी-बड़ी हड़तालें हुईं जिनमे एक लाख से भी अधिक मज़दूरो ने भाग लिया। मज़दूरो में समाजवादी, और कुछ हद तक साम्यवादी, विचारधाराएं फैलने लगी, और इस क्रान्तिकारी उभाड से तथा श्रमजीवी वर्ग की बढती हुई ताकत से भयभीत होकर सरकार ने सन् १९२९ ई० के प्रारम्भ में यकायक बत्तीस मज़दूर नेताओ को गिरफ्तार कर लिया, और उनके विरुद्ध षड़यन्त्र का बड़ा मुक़दमा चला दिया। यह मुक़दमा दुनिया भर में "मेरठ केस" के नाम से मशहूर हो गया। लगभग चार वर्ष की अदालती सुनवाई के बाद तमाम अभियुक्तों को क़ैद की ज़बरदस्त सज़ाए दे दी गईं। और मज़े की बात यह थी कि उनमे से किसी पर भी बग़ावत की अमली कार्रवाई और शान्तिभग करने तक का अभियोग नही लगाया गया था। मालूम होता है कि उनका अपराध यह था कि वे एक ख़ास तरह का मत रखते थे और उसका प्रचार करते थे। अपील करने पर ये सज़ाए बहुत कम कर दी गईं।

एक और क़िस्म की प्रवृत्ति, जो अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी और कभी-कभी ऊपरी सतह पर भी प्रगट हो जाती थी, यह थी कि कुछ लोग क्रान्ति लाने के लिए हिंसात्मक उपायों में विश्वास करते

थे। यह प्रवृत्ति मुख्यतया बंगाल में, कुछ हद तक पंजाब में, और थोड़ी-बहुत उत्तर प्रदेश में थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के अनेक उपाय किये और षड्यन्त्रों के कितने ही मुकदमे चलाये गये। सरकार ने "बंगाल ग्रार्डिनेन्स" नामक एक विशेष क़ानून जारी किया ताकि जिस किसी पर वह सन्देह करने का इरादा करले उसे गिरफ़्तार करने और बिना मुकदमा चलाये जेल में रखने का अधिकार उसे मिल जाय। इस ग्रार्डिनेन्स के मातहत कितने ही सौ बगाली नवयुवक गिरफ़्तार करके जेलो में डाल दिये गये। ये "नज़रबन्द" कहलाते थे और उनकी क़ैद की कोई मीयाद नहीं होती थी। उल्लेख करने की मजेदार बात यह है कि जिस समय यह निराला ग्रार्डिनेन्स जारी किया गया था उस समय इग्लैण्ड मे मज़दूर सरकार शासन कर रही थी, और इस ग्रार्डिनेन्स की जिम्मेदारी उसीके ऊपर ग्राती थी।

इन क्रान्तिकारियो ने ग्रातक फैलाने की बहुत-सी कार्रवाइयां की जिनमें से अधिकाश बंगाल में हुईं। इनमे से तीन घटनाग्रो की ग्रोर लोगों का ध्यान ख़ास तौर पर ग्राकर्षित हुग्रा। पहली तो लाहौर में एक अग्रेज़ पुलिस अफ़सर पर गोली चलाने की थी जिसके बारे में ख़याल किया जाता था कि उसने साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में लाला लाजपतराय को मारा था। दूसरी भगत सिंह ग्रौर बटुकेश्वर दत्त द्वारा दिल्ली के असेम्बली भवन मे बम फेंके जाने की थी। इस बम से कोई नुकसान नही हुग्रा, और मालूम होता है कि यह केवल खूब शोर मचवाने ग्रौर देश का ध्यान ग्राकर्षित करने के इरादे से फेंका गया था। तीसरी घटना सन् १९३० ई० मे चटगाव मे उस समय के लगभग हुई जब सविनय ग्रवज्ञा ग्रान्दोलन शुरू ही हुग्रा था। यह शस्त्रागार पर साहसपूर्ण ग्रौर बड़ी तैयारी के साथ मारा गया छापा था, और कुछ सफल भी रहा। इस ग्रान्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने दिमाग मे सूझने वाली सारी तरकीबें काम मे ली। जासूस ग्रौर मुखबिर रक्खे गये, बहुत लोगों को गिरफ़्तार किया गया ग्रौर षड्यन्त्र के मुकदमे चलाये गये, लोगो को नज़रबन्द किया गया (कभी-कभी ग्रदालतों द्वारा बरी किये गये लोगों को तुरन्त फिर गिरफ़्तार करके ग्रार्डिनेन्स के मातहत नज़रबन्द बना कर रक्खा जाता था), ग्रौर पूर्व बगाल के कुछ भागो पर फौजी शासन कायम कर दिया गया था, ग्रौर लोग ग्राज्ञा-पत्रो के बिना बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे, न वे साइकिलों की सवारी कर सकते थे ग्रौर न मनचाही पोशाक बदल सकते थे। पुलिस को इत्तला न देने के जुर्म मे पूरे के पूरे नगरो ग्रौर गावो पर भारी-भारी जुर्माने लगा दिये गये थे।

सन् १९२९ ई० में लाहौर मे एक षडयन्त्र के मुकदमे के एक कैदी जतीन्द्रनाथ दास ने जेल के दुर्व्यवहार के विरोध मे भूख हड़ताल कर दी। यह नवयुवक ग्रन्त तक डटा रहा ग्रौर इस भूख हड़ताल के फलस्वरूप इकसठवे दिन उसकी मृत्यु हो गई। जतीनदास के ग्रात्मोत्सर्ग ने भारत पर गहरा प्रभाव डाला। एक ग्रौर घटना, जिसने देश को स्तब्ध ग्रौर व्यथित कर दिया, सन् १९३१ ई० के शुरू मे भगत सिंह की फासी थी।

ग्रब मैं फिर काग्रेस की राजनीति पर ग्राता हू। कलकत्ता काग्रेस ने जो एक साल की मोहलत दी थी उसका समय पूरा हो रहा था। सन् १९२९ ई० के ग्राखरी दिनो मे सरकार ने उन गभीर परिणामों को रोकने का प्रयत्न किया जिनकी सम्भावना नज़र ग्रा रही थी। उसने भारत की भावी उन्नति के बारे में एक ग्रस्पष्ट-सी घोषणा की। उस समय भी कांग्रेस ने कुछ शर्तों के साथ सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया। पर जब ये शर्तें पूरी नही हुईं तो दिसम्बर, सन् १९२९ ई०, की लाहौर काग्रेस ने लाचार होकर स्वाधीनता के पक्ष में ग्रौर उसे प्राप्त करने के लिए सघर्ष का निश्चय किया।

इस प्रकार सन् १९३० ई० का वर्ष भावी घटनाग्रों की अशुभ सम्भावना के अधियारे वातावरण में शुरू हुग्रा। सविनय ग्रवज्ञा की तैयारियां हो रही थी। धारा सभा तथा कौन्सिलो का फिर बहिष्कार कर दिया गया था ग्रौर उनके कांग्रेसी सदस्यों ने स्तीफे दे दिये थे। जनवरी की २६ तारीख को शहरों तथा गावो की ग्रनगिनती सभाग्रो में सारे देश में स्वाधीनता की विशेष शपथ ली गई। इस दिन की वर्षगांठ हर साल 'स्वाधीनता दिवस' के नाम से मनाई जाती है। मार्च मे, नमक क़ानून तोड़ने के लिए समुद्र तट पर गांधी जी की प्रसिद्ध दाडी-यात्रा हुई। अपना धावा शुरू करने के लिए उन्होने नमक कर को इसलिए चुना था कि यह कर ग़रीब लोगो पर बड़ा बोझ था, ग्रौर इसलिए ख़ास तौर पर बुरा था।

ग्रप्रैल, सन् १९३० ई०, के मध्य तक सविनय ग्रवज्ञा का संग्राम पूरे ज़ोर पर पहुंच गया था। हर जगह केवल नमक क़ानून ही नही तोड़ा गया बल्कि दूसरे क़ानून भी तोड़े गये। देश भर में शान्तिपूर्ण बग़ावत

फैल गई और उसे कुचलने के लिए नये-नये क़ानून और ऑर्डिनेन्स एक के बाद एक तेज़ी के साथ निकलने लगे। पर ये ऑर्डिनेन्स ही सविनय अवज्ञा के लक्ष्य बन गये। सामूहिक गिरफ्तारियां हुईं, और लाठियो की पशुतापूर्ण मार, और शान्तिपूर्ण भीड़ों पर गोलियां चलना, और कांग्रेस कमेटियों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया जाना, और अखबारों का मुंह बन्द किया जाना, और सेन्सर का बिठाया जाना, और मार-पीट और जेलों में सख्ती का व्यवहार,—ये सब रोजमर्रा की घटनाएं हो गईं। एक ओर तो ऑर्डिनेन्सों द्वारा शासन था, दूसरी ओर इन्हें निश्चित और व्यवस्थित ढग से तोडा जाता था। साथ-साथ विदेशी माल और अग्रेजी कपड़े का बहिष्कार भी चल रहा था। लगभग एक लाख व्यक्ति जेलो में गये, और कुछ समय के लिए भारत के इस शान्तिपूर्ण मगर दृढ़तापूर्ण संघर्ष पर दुनिया भर का ध्यान लगा रहा।

तीन हक़ीक़ते मैं तुम्हारी निगाह में लाना चाहता हू। पहली तो थी उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त की अपूर्व राजनैतिक जागृति। सघर्ष के प्रारम्भ होते ही, यानी सन् १९३० ई० के अप्रैल में, पेशावर में शान्तिपूर्ण भीड़ों पर गोलियों की जबरदस्त बौछार की गई, और पूरे वर्ष भर सीमाप्रान्त के हमारे देशवासियो ने आश्चर्यजनक परिमाण में पाशविक व्यवहार को वीरतापूर्ण दृढ़ता के साथ बर्दाश्त किया। यह चीज़ दुगनी अपूर्व थी, क्योंकि सीमान्त के लोग शान्तिप्रिय बिल्कुल नही होते, और ज़रा-सी उत्तेजना पर भड़क उठते हैं। इतने पर भी वे शान्त बने रहे। राजनैतिक क्षेत्र में नवागन्तुक पठानो जैसी कौम के लिए तुरन्त ही आगे आ जाना और ऐसा वीरतापूर्ण काम कर दिखाना आश्चर्य की और बडी प्रशंसा की बात थी।

दूसरी उल्लेखनीय हक़ीक़त, जो निश्चय ही इस महान वर्ष की सबसे प्रधान घटना थी, भारतीय नारियो की अपूर्व जागृति थी। जिस ढग से लाखो नारियो ने अपने घूघट हटा दिये और वे अपने घरो की चहार-दीवारी को छोड़ कर संघर्ष में अपने भाइयो के साथ कधे से कधा भिड़ाकर लड़ने के लिए गलियो और बाज़ारो में निकल पड़ी; वह ऐसी चीज़ थी कि जिन लोगों ने इसे नही देखा वे इस पर विश्वास नही कर सकते थे।

तीसरी उल्लेखनीय हकीकत यह थी कि ज्यो-ज्यो आन्दोलन ज़ोर पकडता गया त्यो-त्यो, जहा तक किसान-वर्ग से ताल्लुक था, आर्थिक कारण अपना असर दिखाने लगे। सन् १९३० ई० का वर्ष महान ससार-व्यापी सकट का पहला वर्ष था, और खेती की उपज की कीमते बहुत गिर गई थी। किसान वर्ग को इससे बहुत नुक़सान हुआ क्योकि उनकी आमदनी उनके उत्पादन की बिक्री पर निर्भर होती है। इसलिए कर-बन्दी का आन्दोलन उनकी मुसीबत के अनुकूल पड़ा, और स्वराज्य उनके लिए केवल दूर का राजनैतिक लक्ष्य नही रहा बल्कि तात्कालिक आर्थिक प्रश्न बन गया, और यह चीज़ ज्यादा महत्वपूर्ण थी। इस प्रकार उनके लिए इस आन्दोलन का एक नवीन और अधिक घनिष्ठ अर्थ हो गया, और ज़मीदारो तथा काश्तकारो के बीच वर्ग सघर्ष का तत्व पैदा हो गया। उत्तर प्रदेश और पश्चिमी भारत मे यह बात खास तौर पर हुई।

जब भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन ज़ोरो के साथ चल रहा था, तब समुद्र-पार लन्दन में ब्रिटिश सरकार ने बड़ी धूम-धाम और कैफियत के साथ एक गोलमेज़ परिषद बुलाई। कांग्रेस को इससे कोई वास्ता नही था। जो भारतीय उसमे शामिल होने को गये वे सब सरकार के नामज़द किये हुए थे। कठ-पुतलियो की तरह या बेजान छायामूर्त्तियो की तरह वे लन्दन के उस रगमच पर फुदकते फिरते थे, और मन में अच्छी तरह जानते थे कि असली संघर्ष तो भारत मे हो रहा है। भारतवासियो की कमज़ोरियो का प्रदर्शन करने के लिए सरकार ने साम्प्रदायिक समस्या को चर्चा का मुख्य विषय बना दिया था। उसने यह होशियारी की थी कि परिषद के लिए हद दर्जे के सम्प्रदायवादियों और प्रतिगामियो को नामज़द किया था, जिससे समझौता होने की कोई सम्भावना ही नहीं थी।

मार्च, सन् १९३१ ई०, में कांग्रेस तथा सरकार के बीच एक विराम-सन्धि या अस्थायी समझौता हुआ ताकि दोनों मिलकर आगे बातचीत कर सकें। यह 'गाधी-इर्विन समझौता' कहलाया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया, और हज़ारो सत्याग्रही कैदी छोड़ दिये गये, और ऑर्डिनेन्स उठा लिये गये।

सन् १९३१ ई० में कांग्रेस की ओर से गांधीजी गोलमेज परिषद में भाग लेने के लिए लंदन गये। इधर भारत में तीन महत्वपूर्ण समस्याएं उठ खड़ी हुईं, और कांग्रेस तथा सरकार दोनों का ध्यान उनपर अटक गया। पहली समस्या बंगाल की थी जहां आतंकवादी कार्रवाइयों को रोकने के बहाने सरकार ने

राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध सख्त धावा बोल दिया था। पहले भी ज्यादा सख्त एक नया आर्डिनेन्स जारी किया गया, और दिल्ली समझौते के बावजूद बंगाल ने नही जाना कि शान्ति क्या होती है।

दूसरी समस्या सीमाप्रान्त में थी, जहां राजनैतिक जागृति लोगो को अभी तक कारंवाई करने के लिए उत्साहित कर रही थी। खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खा के नेतृत्व में एक विशाल, अनुशासनपूर्ण, पर शान्ति-प्रिय सगठन ज़ोर पकड़ रहा था। ये 'खुदाई खिदमतगार' कहलाते थे, और इसे 'लाल कुर्ती दल' भी कहते थे, क्योंकि ये लोग लाल रग की वर्दी पहनते थे (समाजवादियों अथवा साम्यवादियो से उनका कोई सम्बन्ध नही था)। सरकार इस आन्दोलन से बहुत चिढती थी। वह इससे डरती भी थी, क्योकि वह अच्छे पठान लड़ाकू के गुणो को जानती थी।

तीसरी समस्या उत्तर प्रदेश में पैदा हुई। संसार-व्यापी मंदी और क़ीमतों के गिरने से ग़रीब किसान पर बड़ी भारी मुसीबत आ गई थी। वह लगान अदा नही कर सकता था। उसे कुछ छूटें दी गईं, पर ये काफ़ी नहीं समझी गईं। कांग्रेस ने उसकी ओर से मध्यस्थ बनने का प्रयत्न किया, पर कोई नतीजा नही निकला। जब सन् १९३१ ई० के नवम्बर मास में लगान वसूली का समय आया तो मामला तूल पकड़ गया। कांग्रेस ने इलाहाबाद ज़िले से शुरूआत की और काश्तकारो तथा ज़मीदारों दोनो को सलाह दी कि जब तक छूटो के प्रश्न का फैसला न हो जाय तब तक वे लगान और मालगुज़ारी अदा न करे। बस, सरकार ने इसकी पेशबन्दी करने के लिए उत्तर प्रदेश के लिए एक आर्डिनेन्स जारी कर दिया। यह आर्डिनेन्स बडा सख्त और विस्तृत था, जिसमें ज़िला अफसरो को हर तरह की हलचल को कुचलने के और व्यक्तियो की गति-विधि तक पर रोक लगाने के पूरे अधिकार दे दिये गये थे।

इस आर्डिनेन्स के तुरन्त बाद ही सीमाप्रान्त के लिए दो स्तब्ध करने वाले आर्डिनेन्स निकले, और वहाँ तथा उत्तर प्रदेश में प्रमुख कांग्रेस-जनो को गिरफ़्तार कर लिया गया।

बस, जब वर्ष के अन्तिम सप्ताह में गाधीजी लन्दन से असफल हो कर लौटे, तो उनके सामने यह स्थिति खड़ी थी। तीन प्रान्तो में आर्डिनेन्सो का राज्य था, और उनके कई साथी जेलो में बन्द हो चुके थे। एक ही सप्ताह के भीतर कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन की दुबारा घोषणा कर दी, और उधर सरकार ने अपनी ओर से हजारो कांग्रेस कमेटियो तथा उससे सम्बन्धित अनेक सस्थाओं को ग़ैर-कानूनी क़रार दिया।

यह सघर्ष सन् १९३० के सघर्ष से बहुत ज्यादा कठिन था। पिछले अनुभव से फ़ायदा उठा कर सरकार ने इसके लिए अपने-आपको बड़ी सावधानी से तैयार कर लिया था। कानूनी रूप का परदा और क़ानून के नियम उलट दिये गये थे, और सर्वांगीण आर्डिनेन्सो के अन्तर्गत, मुल्की अधिकारियो के मातहत देश भर मे एक तरह के फौजी शासन का बोलबाला था। राज्य के पाशविक बल का नगा नाच हो रहा था। यह परिणाम अवश्यम्भावी था, क्योकि ज्यों-ज्यो राष्ट्रीय आन्दोलन बल प्राप्त करता जाता है त्यो-त्यो वह विदेशी हुकूमत की जड़-बुनियाद को ही खतरे में डालता जाता है, और हुकूमत का प्रतिरोध भी उतना ही खूंखार बनता जाता है। अमानतदारी और सद्भावना की आडम्बर भरी बाते ताक मे रख दी जाती है और डंडा तथा सगीन विदेशी शासन को सहारा देने वाली असली थूनियो के रूप में प्रगट हो जाते हैं। क़ानून सिर्फ़ ऊपर बैठे हुए वायसराय की ही नही बल्कि हर अदना सरकारी कर्मचारी की मर्ज़ी का काम हो जाता है और वह अपनी मनमानी करने लगता है क्योकि वह खूब जानता है कि उसके ऊपर के अफ़सर उसे सहारा देंगे। खुफिया विभाग और सी० आई० डी०, ज़ारशाही रूस के ज़माने की तरह हर जगह फैल जाते हैं और उनके अधिकार बढ जाते हैं। किसी पर कोई रोक थाम नही रहती, और ज्यों-ज्यों निरंकुश अधिकार का उपयोग होता है त्यो-त्यों उसकी भूख भी बढ़ती जाती है। जो सरकार मुख्यतया अपने खुफ़िया विभाग के बल पर हुकूमत करती है, और जो देश उसके मातहत तकलीफें उठाता है, उन दोनों का बहुत जल्दी नैतिक पतन हो जाता है। क्योकि हर खुफिया विभाग साज़िश, जासूसी, मक्कारियो, आतकवाद, लोगो को भड़-काना, झूठे मामले बनाना, डरा-धमका कर रुपया ऐंठना, वग़ैरा के वातावरण में खूब मजे से फूलता-फलता है। पिछले तीन वर्षों में अदना सरकारी कर्मचारियों को और पुलिस को और सी० आई० डी० को जो अत्यधिक अधिकार दे दिये गये, और जिस तरह इनका उपयोग किया गया, उसके कारण इन विभागो के लोग उत्तरोत्तर हैवान बनते गये और उनका पतन होता गया। इनका लक्ष्य था देश में आतंक फैलाना।

मै ब्यौरे मे नही जाना चाहता। इस अवसर पर सरकार की नीति का एक मज़ेदार पहलू था संस्थाओ

तथा व्यक्तियो, दोनों की सम्पत्ति, मकानों, मोटरों, बैंकों में जमा रुपयो, वग़ैरा की व्यापक ज़ब्ती।' इसका उद्देश्य था कांग्रेस के मध्यम-वर्गी समर्थकों पर चोट करना। एक ऑर्डिनेन्स का मामूली पर निराला पहलू यह था कि माता-पिताओं तथा अभिभावकों को उनके बच्चो या पालितों के अपराधों के लिए सज़ा दी जा सकती थी!

इधर तो ये सब कुछ हो रहा था, और उधर ब्रिटिश सरकार का प्रचार विभाग दुनिया के सामने भारत की लुभावनी तसवीर खींचने में लगा हुआ था। खुद भारत में तो कोई भी अखबार, बुरा नतीजा भुगतने के डर से, सच्ची बातें छापने का साहस नही करता था—यहा तक कि गिरफ़्तार किये गये व्यक्तियो के नाम प्रकाशित करना भी जुर्म था!

लेकिन भारत के तमाम प्रतिगामी से प्रतिगामी तत्वों के साथ गठ-बन्धन करने का प्रयत्न भारत में ब्रिटिश नीति का सबसे अधिक भंडा फोड़ने वाला पहलू रहा है। आज भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य प्रगतिशील बलो से लड़ने के प्रयत्न में सामन्ती तथा परले सिरे के प्रतिगामी बलो के सहारे खड़ा है। अंग्रेजो ने अपने सहारे के लिए "निहित स्वार्थों" को संगठित करने का प्रयत्न किया है, और उन्हें यह हौवा बता कर डराया है कि अगर भारत से ब्रिटिश सत्ता उठ जायगी तो सामाजिक क्रान्ति हो जायगी। सामन्ती राजा लोग उनकी पहली रक्षा-पंक्ति है; इनके बाद ज़मीदार वर्गों की क़तार है। चतुराई भरी तिकड़में करके और कट्टर सम्प्रदायवादियो को आगे धकेल कर, उन्होने अल्पसख्यको की समस्या को भारत की आज़ादी के मार्ग में एक बाड़ बना दिया है। हाल ही मे मन्दिर-प्रवेश के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं में परले सिरे के धार्मिक कट्टरपन्थियों के साथ हर तरह की सहानुभूति और मित्रता दिखा कर बड़ा विचित्र दृश्य उपस्थित कर दिया था। ब्रिटिश सरकार हर जगह प्रतिगामिता और सकीर्ण कट्टरता और पथ-भ्रष्ट स्वार्थपरता के क्षेत्रो में अपना सहारा ढूढती रहती है।

जनता के सामूहिक सघर्ष में एक बडा लाभकारी गुण होता है। जनता को राजनीति का पाठ पढाने का यह सबसे श्रेष्ठ और शीघ्रगामी उपाय है, हालाकि यह उपाय शायद कष्टकर है। क्योकि जन समूहको "बड़ी घटनाओं के स्कूल में पाठ पढना" ज़रूरी होता है। शान्ति काल की साधारण राजनैतिक हलचले, मसलन लोकतत्री देशो के चुनाव, साधारण व्यक्ति को अक्सर भ्रम मे डाल देते है। वक्तृत्व कला से भरे भाषणों की बाढ-सी आ जाती है। हर उम्मीदवार तरह-तरह के सब्ज़ बाग़ दिखाता है, और बेचारा मतदाता या खेत में या कारखाने में या दूकान पर काम करने वाला मामूली आदमी, चक्कर मे पड़ जाता है। उसे एक दल और दूसरे दल के बीच अलहदगी की कोई स्पष्ट रेखाए नही दिखाई देती। पर जब जनता का सामूहिक संघर्ष होता है, या क्रान्ति होती है, तो वस्तुस्थिति स्पष्ट सामने आ जाती है, मानो कौधे से चमक उठी हो। संकट की ऐसी नाज़ुक घडियो में समुदाय या वर्ग या व्यक्ति अपने असली भावो को या स्वरूप को छिपा नही सकते। सचाई प्रगट ही होकर रहती है। क्रान्ति का समय केवल चरित्र-बल, साहस, सहनशक्ति और निस्वार्थता की ही कसौटी नही होता, बल्कि वह विभिन्न वर्गो और समुदायो के उन आपसी असली विरोधो को भी प्रकट कर देता है जो तब तक लुभावने और गोलमोल वाक्यो के आवरण से ढके हुए थे।

भारत मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन रहा है, वह वर्ग-सघर्ष कभी नही हुआ। और वह तो निश्चय रूप से मध्यवर्गी आन्दोलन रहा है जिससे किसान वर्ग, ने सहारा दिया है। इसलिए वह वर्गों को इस तरह पृथक नही कर सका जैसा कि वर्ग आन्दोलन ने किया होता। पर फिर भी इस राष्ट्रीय आन्दोलन में भी कुछ हद तक विभिन्न वर्गों की अलग-अलग क़तारे बन गई। इनमें से सामन्ती राजाओ, ताल्लुकेदारों, बड़े ज़मीदारो, आदि के कुछ वर्ग पूरी तरह सरकार की क़तार में चले गये। उन्होने अपने वर्ग-हित को राष्ट्रीय आज़ादी पर तरजीह दी।

कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन की वृद्धि के परिणाम स्वरूप किसान जनता कांग्रेस के साथ हो गई, और अपने अनेक भारो से छुटकारा पाने के लिए कांग्रेस की ओर देखने लगी। इससे कांग्रेस की सामर्थ्य बहुत अधिक बढ़ गई, और साथ ही उसका दृष्टिकोण भी जनतापेक्षी हो गया। नेतृत्व तो मध्यमवर्गी ही बना रहा, पर नीचे से दबाव के कारण वह मुलायम पड़ गया, और कांग्रेस दिन पर दिन कृषि-सम्बन्धी तथा सामाजिक समस्याओ में अधिक लीन होती गई। समाजवाद की ओर भी धीरे-धीरे उसका झुकाव बढ़ने लगा। कराची कांग्रेस ने सन् १९३१ ई० में मौलिक अधिकारो तथा आर्थिक कार्यक्रम का जो महत्वपूर्ण प्रस्ताव

पास किया, उससे यह चीज स्पष्ट हो गई। इस प्रस्ताव मे निर्देश था कि विधान मे कुछेक सर्वमान्य लोकतंत्री अधिकारो तथा स्वतन्त्रताओ की और अल्पसख्यक जातियो के अधिकारो की भी गारटी होनी चाहिए। इसमे यह भी कहा गया था कि मुख्य तथा बुनियादी उद्योगो और सार्वजनिक साधनो पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। स्वाधीनता के लिए सघर्ष का अर्थ अब ऐसी चीज हो गया जो राजनैतिक आजादी से बहुत ज्यादा थी, और अब इसे सामाजिक स्वरूप दे दिया गया। जनता की गरीबी और शोषण का अन्त करने का प्रश्न असली प्रश्न बन गया और स्वाधीनता इस उद्देश्य को प्राप्त करने का साधन बन गई।

जिस समय भारत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था और हजारो राजनैतिक कार्यकर्त्ता जेलो मे बन्द थे, तब ब्रिटिश सरकार ने भारत में विधान-सम्बन्धी सुधारो के बारे मे अपने प्रस्ताव पेश किये। इनमे प्रान्तीय स्व-शासन का एक सीमित रूप सुझाया गया था, और ऐसे सघ का सुझाव था जिसमे सामन्ती राजा लोगो की ही तूती बोलती। इन प्रस्तावो मे सरकार ने वे सब सरक्षण रख दिये थे जिनकी मानव चतुरता, कल्पना या रचना कर सकती है, ताकि अग्रेज लोग न सिर्फ अपना स्वार्थ साधन करते रहे, बल्कि भारत पर उनका दोहरा—सैनिक, मुल्की और व्यावसायिक—कब्जा भी मजबूत हो जाय। हर निहित स्वार्थ की पूरी तरह रक्षा की गई थी, और सबसे महत्वपूर्ण स्वार्थ, यानी इग्लैण्ड का स्वार्थ, तो बखूबी सुरक्षित कर दिया गया था। हा, मालूम होता था कि उपेक्षा की गई है तो केवल भारत के लगभग पैंतीस करोड़ निवासियो के हितो की! इन प्रस्तावो पर भारत में विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ।

बर्मा को मैंने अब तक बिल्कुल छोड़ रक्खा है, इसलिए अब उसके बारे मे कुछ लिखूगा। बर्मा के लोगो ने सन् १९३० या १९३२ ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलनो मे भाग नही लिया। परन्तु सन् १९३० तथा १९३१ ई० मे आर्थिक कष्टो के कारण उत्तर बर्मा मे किसानो का बडा भारी विद्रोह हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इस विद्रोह को बडी बर्बरता के साथ दबा दिया। अब राजनैतिक लिहाज से बर्मा को भारत से पृथक करने के प्रयत्न किये जा रहे है, ताकि अगर भारत आजादी प्राप्त कर ले तो भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा बर्मा का शोषण जारी रहे। बर्मा के तेल और इमारती लकड़ी और खनिज साधनो के कारण उसका महत्व बहुत अधिक है।

टिप्पणी (अक्तूबर १९३८):

जब साढे पाच वर्ष पहले जेल मे यह पत्र लिखा गया था तब से अब तक भारत मे अनेक परिवर्त्तन हो चुके है। उस समय सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल तो रहा था, पर उसका रूप बहुत हलका हो गया था और बहुत से काग्रेसजन जेलो मे पडे थे। अपनी हजारो कमेटियो तथा सम्बन्धित सस्थाओ सहित काग्रेस गैर-कानूनी घोषित कर दी गई थी। सन् १९३४ ई० मे काग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया और सरकार ने काग्रेस पर लगाई गई रोक उठाली। काग्रेस ने कौन्सिलो के बहिष्कार की अपनी पुरानी नीति बदल दी और केन्द्रीय धारा सभा के चुनाव लडकर उनमे काफी सफलता प्राप्त की।

सन् १९३५ ई० मे, बडी लम्बी बहस के बाद, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने भारत की हुकूमत का कानून बनाया जिसमे भारत के लिए नया विधान प्रस्तुत किया गया था। इसके अनुसार अनेको प्रतिबन्धो सहित किसी हद तक प्रान्तीय स्व-शासन का अधिकार दिया गया था, और प्रान्तो तथा देशी रियासतो का एक सघ रक्खा गया था। भारत में इस कानून का चारो ओर से विरोध हुआ, और काग्रेस ने इसे ठुकरा दिया। गवर्नरो तथा वायसराय के हाथो मे दिये गये प्रतिबन्धो और "विशेष अधिकारो" पर खास तौर से आपत्ति की गई क्योकि इनसे प्रान्तीय स्व-शासन का असली तत्व ही निकल जाता था। संघ का और भी जोरो से साथ विरोध किया गया क्योकि इसके द्वारा देशी राज्यो का स्वेच्छाचारी शासन सदा के लिए कायम रहता था, और सामन्ती तथा निरकुश सत्ता वाली इकाइयो तथा अर्द्ध-लोकतत्री प्रान्तो के बीच एक अव्यावहारिक संघ बनता था। इसको भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक उन्नति का गला घोटने का, और प्रत्यक्ष रूप से तथा सामन्ती राजा लोगो के जरिये ब्रिटिश साम्राज्यशाही का पजा मजबूत करने का, सुनिश्चित प्रयत्न समझा गया। एक साम्प्रदायिक व्यवस्था भी इस विधान का अग थी, और इससे पृथक-निर्वाचन के बहुत से क्षेत्र पैदा हो जाते थे। कुछ अल्पसंख्यक जातियो ने इसका स्वागत किया क्योकि उनको कुछ हद तक इससे फायदा पहुंचता था, पर इस बिना पर सबने इसे बुरा बताया कि यह लोकतत्री सिद्धान्तों के विरुद्ध था और प्रगति के मार्ग में रोड़ा था।

इस कानून का प्रान्तीय स्व-शासन से ताल्लुक रखने वाला भाग सन् १९३७ ई० के शुरू में लागू कर दिया गया, और इसके अनुसार सारे भारत में आम चुनाव हुए। हालांकि कांग्रेस ने इस कानून को ठुकरा दिया था, पर उसने इन चुनावों में भाग लेने का फैसला किया और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चुनाव का ज़ोरदार और व्यापक हल्ला बोल दिया। कुल में से बहुत अधिक प्रान्तो में कांग्रेस को ज़बरदस्त सफलता मिली और ज्यादातर नई प्रान्तीय धारा-सभाओ में कांग्रेस-जनो के बहुमत वाले दल बन गये। अब इस प्रश्न पर गरमा-गरम बहस हुई कि प्रान्तीय हुकूमतों में इन्हें मन्त्रियो के पद ग्रहण करने चाहिएं या नही। निदान कांग्रेस ने पदग्रहण करने का फैसला किया, पर यह स्पष्ट कर दिया कि उसने स्वाधीनता का पुराना ध्येय और पुरानी नीति का परित्याग नही किया है और पद-ग्रहण इसी नीति पर अग्रसर होने के इरादे से, तथा स्वाधीनता के सघर्ष के लिए देश को बलवान बनाने के इरादे से, स्वीकार किया है। उसने यह भी निर्देश कर दिया कि गवर्नरो को अपने विशेष-अधिकारो का प्रयोग नही करना चाहिए।

इस फैसले के परिणाम-स्वरूप इन सात प्रान्तो में कांग्रेसी मन्त्रिमडल बने—बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उडीसा, और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त। आसाम में कुछ दिन बाद कांग्रेस ने सयुक्त-मंत्रिमंडल बनाया। जिन दो प्रान्तो में गैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मडल थे वे बगाल और पजाब थे।

कांग्रेसी मन्त्रि-मडलों के निर्माण के फल स्वरूप राजनैतिक बन्दी रिहा कर दिये गये, और उन प्रान्तो में नागरिक स्वतन्त्रता पर लगी हुई पाबन्दियां हटा दी गईं। साधारण जनता ने इस परिवर्त्तन का स्वागत किया और अपनी अवस्था में शीघ्र सुधार होने की उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करने लगी। जनता में राजनैतिक चेतना तेज़ी से बढ गई और कृषक वर्ग तथा मज़दूर वर्ग के आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगे। बहुत-सी हड़ताले हुईं। मंत्रि-मडलों ने किसान-वर्ग का बोझ हलका करने के लिए कृषि-सम्बन्धी तथा कर्ज़े-सम्बन्धी कानून बनाने का काम तुरन्त हाथ में ले लिया और कारखानो के मज़दूरो की हालत सुधारने का प्रयत्न किया। उन्होंने कुछ न कुछ किया ज़रूर, पर वे जिस परिस्थिति मे थे और कानून की जिन मर्यादाओ के भीतर काम चला रहे थे, उनके अन्तर्गत किन्ही आमूल सामाजिक परिवर्तनो की चेष्टा सम्भव नही थी।

कांग्रेसी मन्त्रि-मडलो तथा गवर्नरो के बीच बार-बार रस्सा-कशिया हुई, और दो अवसरो पर तो मंत्रियों ने अपने त्यागपत्र भी पेश कर दिये। इन त्यागपत्रो की मजूरी का नतीजा यह होता कि कांग्रेस तथा ब्रिटिश सरकार के बीच गहरी मुठभेड हो जाती। सरकार यह नही चाहती थी, इसलिए मन्त्रियो का दृष्टिकोण मान लिया गया। पर फिर भी हकीकत मे स्थिति डावा-डोल है और दोनो की टक्करे अपरिहार्य है। कांग्रेस के लिए तो यह एक चलती-फिरती छाया है, और स्वाधीनता ही उसका ध्येय बना हुआ है।

अगर ब्रिटिश सरकार सघ-व्यवस्था लादने का प्रयत्न करेगी तो इसके फलस्वरूप तुरन्त ही गहरी मुठभेड हो सकती है। कट्टर विरोध के कारण अभी तक तो ऐसा नही किया गया है। कांग्रेस आज इतनी ज्यादा सामर्थ्यवान हो गई है जितनी अपने जीवन काल मे वह पहले कभी नही हुई, इसलिए इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। उसने निश्चय कर लिया है कि प्रस्तावित सघ के प्रश्न पर नही झुकेगी। कांग्रेस की माग है कि वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित विधान सभा बनाई जाय तो आज़ाद भारत के विधान की रचना करे।

भारत में साम्प्रदायिक समस्या ने फिर महत्व प्राप्त कर लिया है और इसके कारण रगड-झगड पैदा हो गई है। मगर कुछ ऐसी सम्भावना है कि आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्न सबसे आगे आ जावे और साम्प्रदायिक तथा धार्मिक भेदभावों की ओर से ध्यान हटा दें।

भारत में होने वाली सार्वजनिक जागृति देशी राज्यो में भी फैलने लगी है, और बहुत-सी रियासतों मे उत्तरदायी शासन की माग करने वाले बलशाली आन्दोलन बढ रहे हैं। बडी-बड़ी रियासतो में से मैसूर, कश्मीर और त्रावणकोर के आन्दोलन उल्लेखनीय हैं। रियासती अधिकारियो ने इन मांगों का जवाब भीषण दमन और हिंसा से दिया है, खासकर त्रावणकोर में तो यह हाल ही की बात है। इनमें से बहुत-सी अर्द्ध-सामन्ती रियासतों (मसलन कश्मीर) के शासन की बागडोर अंग्रेज़ अफसरो के हाथो में है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान में भारत अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में दिन पर दिन ज्यादा दिलचस्पी लेता रहा है और अपनी खुद की समस्या को ससार की समस्या के लिहाज़ से देखने की कोशिश करता रहा है। अबीसीनिया, स्पेन, चीन, चेकोस्लोवेकिया और फ़िलस्तीन की घटनाओं ने भारतवासियो के हृदयो पर

गहरा असर डाला है, और कांग्रेस ने अपनी विदेशी नीति का निर्माण शुरू कर दिया है। यह नीति शान्ति तथा लोकतन्त्र के समर्थन की है। वह जितना साम्राज्यवाद का विरोध करती है उतना ही फ़ासीवाद का भी।

सन् १९३७ ई० में बर्मा भारत से पृथक कर दिया गया। उसे भी एक धारा सभा दे दी गई है जो भारत की प्रान्तीय धारा-सभाओं से मिलती जुलती है।

: १६३ :

आज़ादी के लिए मिस्र की लड़ाई

२० मई, १९३३

अब हम मिस्र की चर्चा करेंगे और उदीयमान राष्ट्रीयता तथा एक साम्राज्यशाही शक्तिके बीच एक और संघर्ष की गति-विधि का निरीक्षण करेंगे। यह शक्ति भारत की तरह मिस्र में भी इंग्लैण्ड ही है। अनेक बातो में मिस्र भारत से बहुत भिन्न है, और इंग्लैण्ड को वहां अड्डा जमाये बहुत जमाना नही हुआ है। फिर भी दोनो देशो में अनेक समान 'बातें और समान सूरते है। भारत तथा मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलनो ने अलग-अलग तरीक़े अपनाये हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर आज़ादी की प्रेरणा एक-सी ही है और ध्येय भी एकसा ही है। और इन राष्ट्रीय आन्दोलनो को दबाने के प्रयत्नों में साम्राज्यवाद जिस ढग से कार्य करता है, वह भी बहुत कुछ एकसा है। हम दोनो एक दूसरे के अनुभवो से बहुत कुछ सीख सकते है। हम भारतवासियो के लिए तो यह खास नसीहत की चीज़ है क्योंकि मिस्र के उदाहरण में हम देख सकते है कि अंग्रेज़ो द्वारा "आज़ादी" के दान क्या अर्थ रखते है और उनका क्या परिणाम होता है।

सारे अरबी देशो (अरब देश, ईराक, सीरिया, फिलस्तीन) में मिस्र सब से अधिक उन्नत है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच महान राजमार्ग और स्वेज़ नहर के निर्माणके समय से ही भाप से चलनेवाले जहाज़ो-का महान व्यापारिक रास्ता रहा है। उन्नीसवी सदी के नवीन योरप के साथ इसका सम्पर्क पश्चिमी एशिया के किसी भी देश के मुकाबले में बहुत ही ज्यादा रहा है। यह एक बहुत ही विशिष्ट राष्ट्रीय इकाई है, जो अन्य अरबी देशोसे बिल्कुल भिन्न है, पर जिसका उनके साथ बहुत घनिष्ट सास्कृतिक सम्बन्ध है, क्योंकि इन सबकी भाषा परम्परायें तथा धर्म एक ही है। काहिरा के दैनिक अखबार सारे अरबी देशो में पहुचते है और वहा इनका बडा भारी प्रभाव है। इन तमाम देशो मे से मिस्र में ही पहले-पहल राष्ट्रीय आन्दोलन ने रूप ग्रहण किया, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि मिस्री राष्ट्रीयता अन्य अरबी देशो के लिए नमूना बन गई।

मिस्र के बारे मे अपने सबसे पिछले पत्र में मैंने अरबी पाशा के नेतृत्व मे सन् १८८१–८२ ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन का ज़िक्र किया था और बताया था कि इंग्लैण्ड ने इसे किस प्रकार कुचल दिया। मै शुरू के सुधारको का, जमालुद्दीन अफगानी का, और रूढिवादी इस्लाम पर नई विचारधाराओ की टक्कर का ज़िक्र भी कर चुका हू। इन सुधारको ने पुराने सिद्धान्तो का सहारा लेकर तथा धर्म से चिपकी हुई अनेक बुराइयो को हटा कर, यानी उन चीज़ो को हटा कर जो सदियो के समय मे धर्म के साथ जुड जाती है, इस्लाम का आधुनिक प्रगति के साथ सामञ्जस्य करने का प्रयत्न किया। प्रगतिशील लोगो का अगला प्रयत्न था धर्म को सामाजिक संस्थाओ से अलग करना। पुराने धर्मों का कुछ क़ायदा है कि वे हमारे दैनिक जीवन के हर पहलू को घेर लेते है और उसे नियमों के मुताबिक़ चलाते है। इस प्रकार हिन्दू धर्म ने तथा इस्लाम ने, अपने-अपने विशुद्ध धार्मिक सिद्धान्तो से बिल्कुल भिन्न, विवाह, उत्तराधिकार, दीवानी व फौजदारी कानून और वास्तव में लगभग हर बात के लिए, सामाजिक व्यवस्थाए तथा नियम निर्धारित कर दिये है। दूसरे शब्दो में, इन्होंने समाज के लिए पूरा ढाचा निर्धारित कर दिया है और उसे धर्म-सम्मत तथा धर्म-शास्त्रोक्त बता कर चिरजीवी बनाने का प्रयत्न किया है। हिन्दू धर्म तो अपनी मज़बूत वर्ण-व्यवस्था के कारण इस मामले मे हद दर्जे को पहुच गया है। किसी सामाजिक ढाचे को यो धर्म-सम्मत बता कर सदा के लिए कायम कर देने से फिर कोई परिवर्त्तन मुश्किल हो जाता है। इसलिए, अन्य देशों की भाति मिस्र के प्रगतिशील लोगो ने भी धर्म को सामाजिक व्यवस्था और संस्थाओ से अलगाने का प्रयत्न किया। उन्होने यह दलील

दी कि ये पुरानी सस्थाए, जिन्हें धर्म या रिवाज ने भूतकाल में लोगो पर लाद दिया था, उन परिस्थितियों के लिए निस्सन्देह उचित और अनुकूल थी जो धर्म शास्त्रो के समय मे विद्यमान थी। पर अब ये परिस्थितिया बहुत बदल गई थी और पुरानी सस्थाए इनके साथ मेल नही खाती थी। साधारण व्यवहार-बुद्धि हमे बतलाती है कि बैलगाड़ी के लिए बनाया गया नियम मोटर गाडी या रेलगाडी के योग्य नही हो सकता।

इन प्रगतिशील लोगो तथा सुधारको की यही दलील थी। इसके फलस्वरूप राज्य को तथा अनेक सस्थाओ को उत्तरोत्तर गैर-मजहबी बना दिया गया, अर्थात उन्हे धर्म से अलग कर दिया गया। जैसा कि हम देख चुके है, तुर्की में यह प्रक्रिया हद दर्जे तक पहुँच गई है। तुर्की प्रजातत्र का राष्ट्रपति तो अपने पद की शपथ भी खुदा के नाम पर नही लेता, अपनी ईमानदारी के नाम पर लेता है। मिस्र में मामला इस हद तक तो नही पहुँचा है, पर वहाँ तथा अन्य इस्लामी देशो मे इसी प्रकार की प्रवृत्ति काम कर रही है। तुर्की, मिस्र, सीरिया, ईरान, वगैरा के लोग आज धर्म की पुरानी बातो की बनिस्बत राष्ट्रीयता की नई बातो पर ही ज्यादा जोर देते है। शायद राष्ट्रीयकरण की इस प्रक्रिया को रोकने की भारतीय मुसलमानो ने जितनी कोशिश की है, उतनी दुनिया के मुसलमानो के किसी और बड़े समुदाय ने नही की। इसलिए भारत के मुसलमान इस्लामी देशो के अपने सहधर्मियो के मुकाबले मे बहुत ज्यादा रूढिवादी और धार्मिक रंग मे रंगे हुए हैं। यह एक विचित्र और आश्चर्यजनक तथ्य है। नई राष्ट्रीयता अक्सर करके बुर्जुवाओ, यानी पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत मध्यमवर्गों, के विकास के साथ ही साथ विकसित हुई है। भारत के मुसलमान इन बुर्जुवाओं का विकास करने मे पिछड गये है, और इस कमी ने शायद राष्ट्रीयता की ओर उनकी प्रगति में बाधा डाल दी है। यह भी सम्भव है कि भारत की एक अल्पसख्यक जाति होने के नाते उनकी भय की भावना इतना जोर पकड गई है कि वे ज्यादा रूढिवादी बन गये है, पुरानी परम्पराओ के साथ ज्यादा बध गये हैं, और नई प्रगट होने वाली धारणाओ तथा विचारधाराओ के प्रति ज्यादा शकाशील हो गये है। इसलिए लगभग एक हजार वर्ष पूर्व, जब भारत मे मुसलमानो के प्रारम्भिक हमले शुरू हुए, तब कुछ इसी प्रकार की मनोदशा के कारण ही हिन्दू लोग अपने खोलो मे घुस गये होगे और जात-पात मे खूब मजबूती के साथ जकड-बन्द जाति बन गये होगे।

उन्नीसवी सदी के आखरी पच्चीस वर्षों मे तथा इनके बाद के समय मे, विदेशी व्यापार की वृद्धि के साथ मिस्र मे एक नया मध्यमवर्ग पैदा हो गया। इस वर्ग का एक व्यक्ति सैद जगलूल था, जिसका जन्म 'फलाह' या किसान परिवार में हुआ था और जो उन्नित करके इस वर्ग मे आ गया था। जब अरबी पाशा सन् १८८१-८२ ई० में ब्रिटिश सरकार के मुकाबले मे खडा हो गया था, तब जगलूल नौजवान था और उसने अरबी पाशा के नेतृत्व में काम किया था। तब से लगा कर सन् १९२७ ई० मे अपनी मृत्यु पर्यन्त जगलूल ने मिस्र की आजादी के लिए कार्य किया, और वह मिस्र के स्वाधीनता आन्दोलन का नेता बन गया। वह मिस्र का सर्वमान्य नेता था। जिस किसान वर्ग मे उसका जन्म हुआ था उनका वह प्राण-प्यारा था, और जिन मध्यम वर्गों का वह व्यक्ति था वे उसकी पूजा करते थे। पर तथाकथित रईस-वर्ग यानी, पुराना सामन्ती वर्ग, उसे पसन्द नही करता था। वे लोग उदीयमान मध्यमवर्ग को पसन्द नही करते थे क्योकि यह देश में उनकी प्रभुता को धीरे-धीरे छीनता जा रहा था। उनकी निगाह मे जगलल कल का छोकड़ा था, और इसे एक नेता की हैसियत से और अपने वर्ग की प्रतिनिधि की हैसियत से उनके विरुद्ध सघर्ष करना जरूरी था। भारत की भांति यहा भी ब्रिटिश सरकार ने इसी सामन्ती जमीदार वर्ग मे अपना पृष्ठपोषक तलाश करने का प्रयत्न किया। असल में यह वर्ग मिस्री की अपेक्षा तुर्की अधिक था, और पुराने शासक सरदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने मिस्र में, साम्राज्यशाही के मान्य और सु-परीक्षित ढग से, किसी न किसी सामाजिक दल या राजनैतिक फिरके को अपने साथ जोड़ लेने का प्रयत्न किया, और विभिन्न वर्गों तथा फ़िरको को एक दूसरे से लडा कर देश के लोगों मे राष्ट्रीयता की एक मात्र भावना के विकास में बाधा डाल दी। भारत की तरह यहां भी अग्रेजो ने अल्पसख्यको का प्रश्न खडा करने की कोशिश की, क्योकि मिस्र में ईसाई कॉप्ट लोग अल्प सख्या में थे। पर इसमे यह सफल नही हुए। और यह सब कुछ उसी निश्चित ढग से किया गया; उनकी जबान पर आडम्बर भरे शब्द थे और यह बहाना था कि जो कुछ वे करते थे वह सब दूसरों की भलाई के लिए था। वे अपने को "मूक जनता" का "अमानतदार" बतलाते थे, और कहते थे कि

अगर "फ़िसादी" या ऐसे ही अन्य लोग, जिनका "देश के नफ़े-नुकसान से कोई वास्ता नही", गड़बड़ न करे तो सब काम ठीक हो जाय। सयोग की बात है कि भलाइया प्रदान करने की इस प्रक्रिया का बहुत करके यह रूप हुआ कि जिन लोगो की 'भलाई' की गई उनमे अनेको को गोलियो से भून दिया गया। शायद इस प्रकार उन्हें दुनिया की मुसीबतों से छुटकारा दिला दिया गया, और बहुत जल्दी स्वर्ग पहुचा दिया गया!

युद्ध काल मे शुरू से अखीर तक और बाद में भी बहुत समय तक मिस्र फौजी शासन के अधीन रहा। युद्ध के ज़माने में वहाँ एक तो बेहथियार करने का क़ानून और दूसरा अनिवार्य सैनिक भर्ती का कानून पास किये गये थे। सारे देश मे ब्रिटिश सैनिक भरे थे। युद्ध के प्रारम्भ मे ही मिस्र को ब्रिटिश सरक्षित देश करार दिया गया था।

सन् १९१८ ई० में सुलह होते ही मिस्र के राष्ट्रवादी फिर क्रियाशील हो गये, और उन्होने ब्रिटिश सरकार को तथा पेरिस के शान्ति-सम्मेलन को पेश करने के लिए मिस्र की स्वाधीनता का दावा तैयार किया। उस समय मिस्र मे कोई वास्तविक दल नही थे। 'वतनी' नामक एक राजनैतिक दल था जिसके सदस्यो की सख्या बहुत कम थी। मिस्र की स्वाधीनता की वकालत के लिए सैद ज़गलूल पाशा के नेतृत्व मे एक बडा शिष्टमडल लदन तथा पेरिस भेजे जाने का प्रस्ताव किया गया, और इस शिष्टमडल को ज़ोरदार समर्थन-प्राप्त राष्ट्रीय रूप देने के लिए देशव्यापी सगठन बनाया गया। मिस्र के महान वफ्द दल का जन्म इसी प्रकार हुआ, क्योकि 'वफ़्द' का अर्थ शिष्टमडल होता है। ब्रिटिश सरकार ने इस शिष्टमडल को लदन जाने की अनुमति नही दी और सन् १९१९ ई० के मार्च मे ज़गलूल तथा अन्य नेताओ को गिरफ्तार कर लिया।

इसके परिणाम-स्वरूप खूनी क्रान्ति भडक उठी। कुछ अग्रेज़ मारे गये, और काहिरा शहर तथा अन्य केन्द्र क्रान्तिकारी समिति के हाथो मे चले गये। अनेक स्थानो मे राष्ट्रवादियो की सार्वजनिक सुरक्षा समितियां बन गईं। इस बगावत मे विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियो ने बडा भारी भाग लिया। पर इन प्रारम्भिक सफलताओ के बाद, यह बगावत बहुत हद तक दबा दी गई, हलाकि कभी-कभी अग्रेज़ अमलदार मारे जाते रहे। मगर, यद्यपि क्रियाशील विद्रोह दब गया था, पर आन्दोलन नही कुचला जा सका। उसने अपने पैतरे बदल दिये और निष्क्रिय प्रतिरोध के दूसरे दौर मे पदार्पण किया। यह इतना सफल रहा कि ब्रिटिश सरकार मिस्र की माग पूरी करने के लिए कुछ कदम उठाने पर मजबूर हो गई। लार्ड मिलनर के नेतृत्व मे इग्लैण्ड से एक कमीशन भेजा गया। मिस्र के राष्ट्रवादियो ने इस कमीशन का बहिष्कार करने का फैसला किया, और इसमें उन्हे अपूर्व सफलता मिली। मिलनर कमीशन के बहिष्कार मे विद्यार्थियो ने फिर महत्वपूर्ण भाग लिया। इस राष्ट्रव्यापी प्रतिरोध का कमीशन पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि उसने कुछेक ऐसी सिफारिशे कर डाली जिनका असर बहुत दूर तक पडता था। ब्रिटिश सरकार ने इन सिफारिशो की परवा नही की, और मिस्र का सघर्ष सन् १९१९ ई० के शुरू से लगाकर सन् १९२२ ई० के शुरू तक, तीन साल चलता रहा। मिस्री लोग 'इस्तिक़लाल-उल-ताम' यानी पूर्ण स्वाधीनता से कम कोई चीज़ लेने को तैयार नही थे।

गिरफ्तार होने के कुछ दिन बाद, सन् १९१९ ई० मे, ज़गलूल पाशा को रिहा कर दिया गया। पर दिसम्बर, सन् १९२१ ई० मे उसे फिर गिरफ्तार कर लिया गया और देश-निकाला दे दिया गया। पर अग्रेज़ों के दृष्टिकोण के लिहाज़ से इससे स्थिति मे कोई सुधार नही हुआ, और मिस्रवासियो को शान्त करने के लिए उन्हे कुछ कार्रवाई करने को मजबूर होना पडा। हालाकि ज़गलूल कोई हठधर्मी उग्र विचारो वाला व्यक्ति नही था, पर समझौते के सब प्रयत्न विफल हो गये। सच तो यह है कि कुछ लोगो ने एक बार ज़गलूल की हत्या तक का प्रयत्न किया, क्योकि वे उस पर यह आरोप लगाते थे कि उसने अग्रेज़ो के साथ ढीले-ढाले समझौतों का प्रयत्न करके अपने देश के साथ दगा की है। पर उस समय ब्रिटिश सरकार तथा मिस्री राष्ट्रवादियो के एकमत न हो सकने के असली कारण बुनियादी थे और अब तक भी चले आते है। वे कारण उन कारणो से मिलते-जुलते है जो भारत में समझौते के बाधक हो रहे है। मिस्री लोग मिस्र मे सारे ब्रिटिश हितो की उपेक्षा नही करना चाहते थे। वे इन पर बातचीत करने के लिए, और साम्राज्यव्यापी व्यापार, सामरिक महत्व के रास्तो तथा अन्य बातो मे इग्लैण्ड के हितो की गुजायश रखने को तैयार थे। लेकिन उनका कहना था कि वे इन प्रश्नो पर बातचीत तभी करेंगे जब उनकी पूर्ण स्वाधीनता मान ली जायगी, और इन प्रश्नो का इस स्वाधीनता पर कोई बुरा असर न पडेगा। दूसरी ओर इग्लैण्ड का खयाल था कि मिस्र

को कितनी आजादी दी जाय यह तय करना उसका काम था। और यह आजादी भी इंग्लैण्ड के हितो के अनुकूल होनी चाहिए, क्योंकि इन हितों को सुरक्षित रखना सबसे पहली जरूरत थी।

इसलिए दोनों के बीच राजीनामे का कोई उभयात्मक आधार नही था। मगर ब्रिटिश सरकार ने महसूस किया कि कुछ-न-कुछ तो किया जाना लाजिमी था, इसलिए उसने २८ फरवरी, सन् १९२२ ई०, को बिना किसी राजीनामे के ही एक घोषणा कर दी। उसने बयान दिया कि भविष्य में वह मिस्र को "स्वाधीन प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य" मानेगी, मगर—और यह बडा भारी मगर था—चार बाते आगे गौर करने के लिए रख छोड़ी गई। ये थी :

१. मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के यातायात के साधनो की सुरक्षा।

२. प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विदेशी आक्रमण अथवा हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा।

३. मिस्र मे विदेशी हितों का तथा अल्प-संख्यक जातियो का सरक्षण।

४. सूदान के भविष्य का प्रश्न।

इन शर्तों की भारत की अपनी बहनो के साथ पारिवारिक समानता नजर आती है, हम इन्हे "प्रतिबन्ध" कहते है, और यहां इनका कुनबा बहुत बडा है। मिस्र ने इन शर्तों को स्वीकार नही किया, क्योंकि वैसे तो ये सीधी-सादी और निर्दोष नजर आती थी, पर इनका अर्थ यह था कि मिस्र को, न तो घरेलू मामलो में और न विदेशी मामलो में, कोई वास्तविक स्वाधीनता मिलने वाली थी। इस कारण २८ फरवरी, सन् १९२२ ई०, की घोषणा ब्रिटिश सरकार की एकतरफा कार्रवाई थी जिसे मिस्र ने नही माना। शर्तों और प्रतिबन्धों के साथ स्वाधीनतातक का भी क्या अर्थ हो सकता है, यह आगे के वर्षों मे मिस्र मे खूब अच्छी तरह प्रकट हो गया।

इस स्वाधीनता के बावजूद ब्रिटिश अफसरो की मातहती मे फौजी शासन डेढ वर्ष तक और चलता रहा। इसका अन्त तभी हुआ जब मिस्र की सरकार ने एक बरियत का कानून पास किया, यानी तमाम सरकारी कर्मचारियो द्वारा फ़ौजी शासन के जमाने मे की गई सारी गैर-कानूनी कार्रवाइयो की जिम्मेदारी से उन्हे बरी करने का कानून बनाया।

नव-स्थापित "स्वाधीन" मिस्र को अत्यन्त प्रतिगामी विधान भेंट किया गया जिसमे बादशाह के हाथो मे बड़े भारी अधिकार दे दिये गये थे। यह बादशाह फुआद था जो बेचारे मिस्रनिवासियो के सिर पर लाद दिया गया था। बादशाह फुआद तथा ब्रिटिश कर्मचारियो मे बडे मजे की पटने लगी। दोनो राष्ट्रवादियो से घृणा करते थे और जनता की आजादी के विचार का, या वास्तविक पार्लमेण्टी हुकूमत तक का, दोनो विरोध करते थे। फुआद ने अपने-आप को ही सरकार समझ लिया और अपनी खूब मनमानी की। उसने पार्लमेण्ट को भग कर दिया, और आडे में सहायता के लिए सदा प्रस्तुत ब्रिटिश सगीनो के बल पर अधिनायक की तरह शासन करने लगा।

मिस्र की स्वाधीनता की घोषणा करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने परोपकार की सबसे पहली कार्रवाई यह की कि नई व्यवस्था के अन्तर्गत जो कर्मचारी अवकाश ग्रहण करने वाले थे उनके लिए मुआवजे की विपुल रकमो का दावा पेश किया। मिस्री सरकार की हैसियत से बादशाह फ़ुआद तुरन्त राजी हो गया, और इस प्रकार ६५,००,००० पौंड की विपुल धनराशि चुका दी गई। एक ऊँचे अफ़सर को तो ८,५०० पौड तक दिये गये। और मजेदार बात यह है कि अवकाश ग्रहण करने के लिए जिन अफ़सरो को इतने भारी-भारी मुआवजे दिये गये थे, उन्ही-में से कुछ को खास प्रतिज्ञा-पत्रो के मातहत फिर रख लिया गया। यह याद रहे कि मिस्र कोई बडा देश नही है और उसकी आबादी उत्तर प्रदेश की आबादी की तिहाई से भी कम है।

मिस्र के विधान में बडे ठाठ-बाट से यह निर्देश किया गया है कि "समग्र सत्ता का उद्गम राष्ट्र है"। पर व्यवहार में, नये विधान के लागू होने के समय से ही, मिस्री पार्लमेण्ट की स्थिति बड़ी डावाडोल रही है। जहा तक मुझे मालूम है, कोई भी पार्लमेण्ट अपनी सामान्य अवधि के दिन पूरे नही कर पाई है। बादशाह फ़ुआद ने विधान को स्थगित करके बार-बार जब मन मे आया तब, उसकी हत्या की है और निरकुश एक-सत्ताधीश की तरह शासन किया है।

नई पार्लमेण्ट के प्रथम चुनाव सन् १९२३ ई० मे हुए, और जगलूल पाशा तथा उसके दल ने, जो आजकल वफ्द दल कहलाता है, देश भर में भारी बहुमत प्राप्त किया। उन्हे नब्बे फ़ी सदी वोट मिले और

उन्होने पार्लमेण्ट के २१४ स्थानो में से ११७ जीत लिये। इंग्लैण्ड को मनाने का एक और प्रयत्न किया गया, और इस काम के लिए जगलूल लन्दन भी गया। पर दोनो के दृष्टिकोणों में मेल नही हो सका, और समझौते की बातचीत कई सवालो पर टूट गई, जिनमें से एक सवाल सूदान का था। सूदान मिस्र के दक्षिण में एक देश है, मिस्र से यह बहुत भिन्न है; निवासी भी भिन्न है, और भाषा भी। नील नदी अपने ऊपरले प्रदेशो में सूदान मे होकर बहती है। ज्ञात इतिहास के प्रारम्भ से ही, यानी सात-आठ हजार वर्षों से, नील नदी मिस्र की जीवन-धारा रही है। मिस्र की सारी खेती-बाड़ी और जिन्दगी नील नदी में हर वर्ष आने वाली बाढ़ों पर निर्भर रहती आई है, जिन्होने अबीसीनिया के पठारो से खादभरा मिट्टी लाकर इस प्रकार रेगिस्तान को रसभरी और उपजाऊ धरती बना दिया है। लार्ड मिलनर (बहिष्कृत कमीशन के अध्यक्ष) ने नील नदी के विषय में लिखा है :

"यह विचार परेशानी-पैदा करनेवाला है कि इस महान नदी से पानी की नियमित रवानगी मिस्र के लिए केवल सुविधा और समृद्धि का ही नही बल्कि जीने-मरने का सवाल है, और इसे तबतक हमेशा कुछ-न-कुछ खतरो का अन्देशा बना रहना लाजिमी है जब तक कि इस नदी के उद्गम-स्थान मिस्र के अधिकार मे न हो।"

नील नदी के उद्गम-स्थान सूदान मे है; अत: मिस्र के लिए सूदान का मार्मिक महत्व है।

पहले यह माना जाता था कि सूदान पर इग्लैण्ड तथा मिस्र का सयुक्त अधिकार है। इसका नाम आग्ल-मिस्री सूदान[1] था। चूकि असल मे मिस्र पर इग्लैण्ड का शासन था इसलिए दोनो के हितो में कोई विरोध नही था, और मिस्र का बहुत-सा रुपया सूदान मे खर्च किया जाता था। वास्तव में, लार्ड कर्जन ने सन् १९२४ ई० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट में बयान दिया था कि अगर मिस्र ने सूदान के खर्च की जिम्मेदारी न उठाई होती तो सूदान दिवालिया हो गया होता। लेकिन जब अग्रेजो को आखिरकार मिस्र से अपना बिस्तर गोल करने के प्रश्न का सामना करना पडा तो उन्होने सूदान पर कब्जा बनाये रखना चाहा। दूसरी ओर, मिस्र निवासी यह महसूस करते थे कि उनका अस्तित्व सूदान मे नील नदी की ऊपरली धाराओ पर मिस्र के अधिकार पर निर्भर है। इसलिए दोनो के हितो की टक्कर हुई।

सन् १९२४ ई० मे जब सूदान के प्रश्न पर सैदद जगलूल और ब्रिटिश सरकार के बीच बातचीत चल रही थी, तब सूदानियो ने मिस्र के साथ कई ढग से अपना लगाव जाहिर किया। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हे सख्त सजा दी, और मिस्र की सरकार से कोई सलाह-मशविरा किये बिना ही जो मन में आया सो किया, हालाँकि सूदान में दोनो का सयुक्त शासन था जिसके लिए मिस्र को काफी खर्च करना पडता था।

मिस्र की स्वाधीनता की तथाकथित घोषणा में इग्लैण्ड ने विदेशी हितो के सरक्षण की एक और शर्त रक्खी थी। ये विदेशी हित क्या थे? पिछले किसी पत्र मे मै इनके बारे में लिख चुका हू। जब तुर्की साम्राज्य कमजोर हो रहा था, तब बडी-बडी शक्तियो ने उस पर तरह-तरह के विशेष नियम जबरदस्ती लाद दिये थे जिनके मातहत तुर्की मे उनके नागरिको के साथ विशेष व्यवहार की व्यवस्था थी। ये योरपीय विदेशी तुर्की मे चाहे जो अपराध करे, उनपर न तो तुर्की कानून लागू होते थे और न तुर्की अदालतो में मुकदमे चल सकते थे। उनके विरुद्ध अभियोगो की सुनवाई या तो उन्ही के देशो के राजदूतो अथवा कूटनीतिक प्रतिनिधियो के सामने हो सकती थी, या विदेशी न्यायाधीशों की अदालतो में। उन्हे और भी कई रियायतें थी, जैसे, अनेक प्रकार के करो से छूट। विदेशियो की ये विशेष और बडी कीमती रियायतें "कैपिटयुलेशन्स" यानी 'समर्पण' कहलाती थी, क्योकि वे सम्बन्धित राज्य द्वारा कुछ हद तक अपनी सत्ता का समर्पण थी। चकि तुर्की को इन्हे बर्दाश्त करना पडा, इसलिए तुर्की साम्राज्य के विभिन्न भागो को भी उन्हे मजूर करना पडा। मिस्र को, जो पूर्णतया ब्रिटिश शासन के अधीन था और जहा तुर्की का नाम मात्र को भी अधिकार नही था, इस मामले में तुर्की साम्राज्य के अग की तरह पीसा गया, और यहा ये समर्पण जबर्दस्ती लागू किये गये। इन अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियो के कारण शहरों में विदेशी व्यापारियों तथा पूजीपतियो की महत्व-पूर्ण बस्तिया पैदा हो गईं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि ये लोग उस व्यवस्था के मिटाये जाने का विरोध करते जो हर तरह से इनकी रक्षा करती थी और कोई टैक्स न देने पर भी इन्हे धनवान और

[1] Anglo-Egyptian Sudan.

मालदार बनने की छूट देती थी। ये ही वे विदेशी निहित स्वार्थ थे जिनकी रक्षा करने की ब्रिटिश सरकार ने जिम्मेदारी ली थी। मिस्र के लिए ऐसी व्यवस्था अंगीकार करना सम्भव नही था जो न केवल स्वाधीनता के ही पूर्णतया प्रतिकूल थी, बल्कि जिसके कारण उसकी आमदनी में जबर्दस्त कमी आती थी। और जब धनवान से धनवान लोग ही टैक्सो से बरी हो जाते थे, तो सामाजिक परिस्थितियो में सुधार की दिशा में बड़े पैमाने पर कुछ भी करना बिल्कुल सम्भव नही था। सीधे ब्रिटिश शासन के जमाने में, अंग्रेजो ने प्राथमिक शिक्षा, या सफ़ाई, या गांवों की हालत सुधारने के लिए, देखा जाय तो, कुछ भी नही किया था।

संयोग से तुर्की ने, जो समर्पणों का मूल निमित्त रहा था, कमालपाशा की विजय के बाद इनसे पिंड छुडाया। यहां मैं यह भी जिक्र कर दू कि चीन भी इन्ही समर्पणो से मिलती-जुलती चीज के साथ अभी तक जूझ रहा है। उन्नीसवी सदी में कुछ समय तक जापान को भी ये समर्पण बर्दाश्त करने पड़े, पर ज्यों ही वह सामर्थ्यशाली हुआ, उसने इन्हें मानने से इन्कार कर दिया।

मतलब यह कि विदेशी निहित स्वार्थों का प्रश्न इग्लैण्ड तथा मिस्र के आपसी समझौते के मार्ग मे एक और रोड़ा था। निहित स्वार्थ आजादी के मार्ग में हमेशा आड लगाया करते है।

अपनी हस्ब-मामूल उदारता के साथ ब्रिटिश सरकार ने अल्पसख्यक जातियो के हितो की रक्षा करने का भी निर्णय कर लिया था। फरवरी, सन् १९२२ ई०, की स्वाधीनता की घोषणा में यह भी एक शर्त थी। मुख्य अल्पसख्यक जाति कॉप्टो की थी। ये लोग प्राचीन मिस्रियो के वशज माने जाते है और इसलिए मिस्र की सबसे पुरानी जाति है। ये लोग ईसाई हैं, और ईसाइयत के प्रारम्भ में, जब योरप ईसाई नही हुआ था, ईसाई बन गये थे। अल्पसख्यको के प्रति ब्रिटिश सरकार ने जो बड़ी भारी कृपा दिखाई, उसके लिए उसे धन्यवाद देने के बजाय इन कॉप्टों ने बडी कृतघ्नता के साथ उससे कह दिया कि आप हमारी चिन्ता न करें। फरवरी, सन् १९२२ ई०, की ब्रिटिश घोषणा के कुछ ही समय बाद कॉप्ट लोगो ने अपनी बडी भारी सभा बुलाई और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के हित मे वे अल्पसख्यको को दिया गया सारा प्रतिनिधित्व तथा संरक्षण निछावर करते हैं"। अग्रेजो ने कॉप्टो के इस निर्णय को अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कह कर उसकी आलोचना की! मगर बुद्धिमत्तापूर्ण हो या मूर्खतापूर्ण, इस निर्णय ने अग्रेजो के अल्पसख्यको की रक्षा के दावे का अन्त कर दिया और अल्पसख्यकों का प्रश्न चर्चा का विषय नही रह गया। सच तो यह है कि आजादी के सघर्ष मे कॉप्टो ने बडा भारी हिस्सा लिया था और वफ्द दल में जगलूल पाशा के सबसे अधिक विश्वासपात्र साथियो मे कुछ कॉप्ट भी थे।

इन विरोधी दृष्टिकोणो के कारण तथा स्वार्थों की वास्तविक टक्करो के कारण, सन् १९२४ ई० मे मिस्र, जिसके प्रतिनिधि सैयद जगलूल और उसके साथी थे, तथा ब्रिटिश सरकार के बीच चलने वाली समझौते की बातचीत निष्फल हो गई। इस पर ब्रिटिश सरकार को बडा क्रोध आया। उन्हे तो मिस्र में अपनी मर्जी का काम करवाने की आदत पडी हुई थी, इसलिए काहिरा की नई पार्लमेण्ट पर तथा खास कर वफ्द दल के नेताओ पर उन्हे अत्यन्त खीझ महसूस हुई। उन्होंने वफद दल को तथा मिस्री पार्लमेण्ट को अपने साम्राज्य-शाही तरीके से नसीहत सिखाने का निश्चय किया। इसका मौका भी उन्हे जल्दी ही मिल गया, और जिस अद्‌भुत ढग से उन्होने इस मौके को झपट कर उससे फायदा उठाया, उसका वर्णन मै अगले पत्र मे करूगा। यह अपूर्व घटना, जो एक प्रकार से आधुनिक साम्राज्यवाद की कारगुजारियो को आईने की तरह उनका रूप दिखा देती है, एक अलग पत्र मे लिखने लायक है।

: १६४ :

अंग्रेज़ों की छत्रछाया में स्वाधीनता का क्या अर्थ होता है?

२२ मई, १९३३

पिछले पत्र मे मैं मिस्री सरकार के राष्ट्रवादी प्रतिनिधियो तथा ब्रिटिश सरकार के बीच सन् १९२४ ई० की समझौते की बातचीत की निष्फलता का और इस पर ब्रिटिश सरकार के क्रोध का जिक्र कर चुका

हू । इसके बाद होने वाले उल्लेखनीय माजरो का वर्णन शुरू करने से पहले मैं तुम्हे बतलाना चाहता हू कि तथाकथित स्वाधीनता के बावजूद, मिस्र में ब्रिटिश सेना का कब्ज़ा बना रहा । वहां न केवल ब्रिटिश सेना तैनात कर दी गई, बल्कि मिस्री सेना भी ब्रिटिश अधिकार मे थी, और इसका सेनापति एक अंग्रेज था जो सेना का 'सरदार' कहलाता था । पुलिस के मुख्य अफसर भी अग्रेज थे, और मिस्र मे विदेशियो की रक्षा के बहाने ब्रिटिश सरकार का वित्त, न्याय तथा आन्तरिक विभागों पर भी नियत्रण था । मतलब यह कि सरकार की हरेक मार्मिक वस्तु पर अग्रेज़ो का नियंत्रण था । मिस्री लोगो का इस बात पर ज़ोर देना स्वाभाविक था कि ब्रिटिश सरकार इस प्रकार के नियंत्रण को हटा ले ।

१९ नवम्बर, सन् १९२४ ई०, को सर ली स्टैक की, जो मिस्री सेना के सरदार के पद पर था और सूदान का गवर्नर जनरल भी था, कुछ मिस्रियों ने हत्या कर दी । इससे मिस्र मे तथा इग्लैण्ड मे अग्रेज़ो को कुदरती तौर पर सदमा पहुचा । शायद इससे भी ज्यादा सदमा मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ्द को हुआ क्योकि वे जानते थे कि इसके परिणामस्वरूप उन पर हमला होगा । और यह हमला बड़ी तेज़ी से हुआ । तीन ही दिन के भीतर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लार्ड ऐलनबी ने मिस्री सरकार को अपना आखरी शर्तनामा पेश कर दिया जिसमें नीचे लिखी मागो को तुरन्त पूरी करने को कहा गया था :

१. क्षमा-याचना की जाय;
२ अपराधियो को सज़ा दी जाय,
३ तमाम राजनैतिक प्रदर्शनो पर रोक लगा दी जाय,
४ पाच लाख पौड के हर्जाने की पूर्त्ति की जाय;
५ सूदान से सारे मिस्री सैनिको को चौबीस घटे के भीतर हटा लिया जाय;
६ सूदान मे सिंचाई के क्षेत्रो पर मिस्र के हित में जो मर्यादाए लगा दी गई थी उन्हे उठा लिया जाय,
७ मिस्र मे तमाम विदेशियो की रक्षा के जो अधिकार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया था उसका विरोध आयन्दा से खतम कर दिया जाय । इसका खास मतलब वित्त, न्याय तथा आन्तरिक विभागो पर ब्रिटिश सत्ता बनी रहने से था ।

ये सातो माँगे ज़रा ध्यान देने योग्य है । चूकि कुछ लोगो ने सर ली स्टैक की हत्या कर दी थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने, किसी तरह की जाच की सम्भावना तक न रहने देकर, तुरन्त ही समूची मिस्री सरकार के साथ यानी मिस्र की जनता के साथ, ऐसा व्यवहार किया मानो वे सब के सब हत्या के दोषी थे । इसके अलावा, इस सारे मामले से उसने खूब अच्छा माली फायदा उठाया; और सबसे महत्व की बात तो यह है कि उसने इस मौके का उपयोग करके अपने तथा मिस्री सरकार के बीच झगडे के उन सब मामलो को ज़बरदस्ती तय कर दिया जिनके बारे मे कुछ ही महीने पहले लन्दन मे होने वाली समझौते की बातचीत निष्फल हो चुकी थी । मानो केवल यही काफी नही था, इसलिए उसने यह भी जोड दिया कि तमाम राजनैतिक प्रदर्शन बन्द कर दिये जाय । इस प्रकार उसने देश के सामान्य सार्वजनिक जीवन के सिलसिले को ही रोक दिया ।

देखा जाय तो यह सब उस हत्या से पैदा होने वाला बडा अद्भुत-सा माजरा था, और एक हत्या मे से ब्रिटिश सरकार के फायदे की इतनी सारी चीज़ें निकाल लेना बडी ज़ोरदार और उपजाऊ कल्पना-शक्ति का काम था । इसे और भी अधिक कौतुकपूर्ण बनाने वाली बात यह है कि जिन दो मुख्य अफसरो को (ये नाममात्र को मिस्री सरकार के अधीन थे), यानी काहिरा की पुलिस के सरदार तथा सार्वजनिक सुरक्षा के योरपीय विभाग के डायरेक्टर-जनरल को, अपराध तथा अत्याचार रोकने के लिए खास तौर पर ज़िम्मेदार माना जा सकता था, वे दोनों अग्रेज़ थे । उन्हे किसीने भी हत्या के लिए ज़िम्मेदार नही ठहराया । परन्तु बेचारी मिस्री सरकार को, जिसने हत्या के बाद तुरन्त ही अपना सख्त रज और अफ-सोस ज़ाहिर कर दिया था, ब्रिटिश सरकार के भारी, पर भावना-रहित होकर सोचे-विचारे गये तथा लाभ-प्रद, क्रोध का नतीजा भुगतना पडा ।

मिस्री सरकार धरती तक नीचे झुक गई । ज़गलूल पाशा ने शर्तनामे की लगभग सारी बातें मान

लीं; यहा तक कि चौबीस घंटे में पांच लाख पौंड का हर्जाना भी चुका दिया। केवल सूदान के बारे में मिस्री सरकार ने कहा कि वह अपने अधिकार नही छोड़ सकती। पर लार्ड ऐलनबी के लिए यह विनीतता और क्षमा-याचना भी काफ़ी नही थी, और चूकि सूदान वाली शर्त्त नही मानी गई थी, इसलिए उसने ब्रिटिश सरकार की ओर से सिकन्दरिया के चुंगीघर पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया और इस प्रकार चुंगी की आमदनी को अपने हाथ में ले लिया। इसके अलावा, मिस्री सरकार द्वारा विरोध-प्रदर्शन के बावजूद उसने इन शर्तों को सूदान पर जबरदस्ती लागू कर दिया और सूदान को ब्रिटिश उपनिवेश बना दिया। सूदान में मिस्री सैनिकों ने विद्रोह किये, पर उन्हे हद दर्जे की सख्ती के साथ दबा दिया गया।

ब्रिटिश सरकार की इस कार्रवाई के विरोध-स्वरूप जग़लूल पाशा तथा उसकी सरकार ने तुरन्त स्तीफे दे दिये, और सन् १९२४ ई० के उसी नवम्बर महीने में बादशाह फ़ुआद ने पार्लमेण्ट को भग कर दिया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार जगलूल तथा उसके वफ्द दल को शासक के पदों से हटाने में और कम-से-कम उस समय के लिए पार्लमेण्ट का अन्त करने में सफल हुई। उसने सूदान को भी अपने राज्य में मिला लिया, और इस प्रकार सूदान में नील नदी की धाराओ पर कब्जा करके मिस्र का गला घोटने की आसानी प्राप्त कर ली।

बेचारी मिस्री पार्लमेण्ट ने "एक दुखद घटना का साम्राज्यशाही उद्देश्यों के लिए दुरुपयोग किया जाने" के विरुद्ध राष्ट्र सघ से अपील की। पर बडी-बडो शक्तियो के विरुद्ध शिकायतो को राष्ट्र सघ न देखता है न सुनता है।

इस समय से मिस्र में एक लगातार सघर्ष शुरू हो गया। इस खीचतान मे एक ओर तो सारे देश का व्यावहारिक रूप मे प्रतिनिधित्व करने वाला वफ्द दल था, और दूसरी ओर बादशाह फुआद तथा ब्रिटिश हाई कमिश्नर का गुट्ट था जिसके पीछे अन्य विदेशी तथा दरबार के टुकड-खोर थे। इस समय मे देश मे, विधान का उल्लघन करने वाला, अधिनायकशाही शासन था, और बादशाह फुआद निरकुश एक-सत्ताधीश की तरह राज कर रहा था। जब-जब पार्लमेण्ट का अधिवेशन बुलाया गया तब-तब उसने जाहिर कर दिया कि लगभग सारा देश वफ्द दल का समर्थक है, इसलिए पार्लमेण्ट को ही भग कर दिया गया। अगर फुआद को ब्रिटिश सरकार का तथा उसके अधीन सेना तथा पुलिस का सहारा न होता, तो उसे इस प्रकार की कार्रवाइया कर सकना सम्भव नही होता। "स्वाधीन" मिस्र के साथ एक तरह से भारत की किसी देशी रियासत जैसा सलूक किया जाता है जहा असली सत्ताधारी ब्रिटिश रैज़ीडेण्ट के इशारो पर काम होता है।

नवम्बर, सन् १९२४ ई०, में पार्लमेण्ट भग कर दी गई थी। मार्च, मन् १९२५ ई०, मे नई चुनी हुई पार्लमेण्ट का अधिवेशन हुआ। इसमे वफ्द दल का भारी बहुमत था, और इसने तुरन्त ही जगलूल पाशा को "चैम्बर ऑफ़ डिपुटीज"[1] का अध्यक्ष चुन लिया। यह चीज न तो अग्रेजो को पसद आई और न बादशाह फुआद को, इसलिए बस उसी दिन यह नई-नकोर, एक दिन की आयु वाली पार्लमेण्ट भग कर दी गई। इसके बाद पूरे एक वर्ष तक विधान के रहते-महते मिस्र में कोई पार्लमेण्ट नहीं रही, और फुआद ने एक अधिनायक की भाति शासन किया। हा, उसकी पीठ पर असली बल ब्रिटिश कमिश्नर का था। इस पर सारे देश ने रोष प्रगट किया, और बादशाह फुआद तथा अग्रेजो के इस गुट्ट का विरोध करने के लिए जगलूल सारे समुदायो को एक करने मे सफल हो गया। नवम्बर, सन् १९२५ ई०, मे यहा तक हुआ कि सरकारी निषेध के प्रतिकूल पार्लमेण्ट के सदस्यो की एक सभा हुई। चूकि पार्लमेण्ट भवन मे सैनिक भरे हुए थे, इसलिए सदस्यो की यह सभा दूसरी जगह की गई।

तब फुआद ने अपने महलो से केवल एक आज्ञापत्र निकाल कर सारे विधान को ही बदल डालने का प्रयत्न किया। उसका इरादा इसे और भी प्रतिगामी बनाने का था, ताकि भविष्य में पार्लमेण्टो को आसानी से नियन्त्रण में रक्खा जा सके और जगलूल दल को बाहर ही रक्खा जा सके। परन्तु इसके विरुद्ध जबरदस्त हो-हल्ला मच गया, और यह स्पष्ट हो गया कि नई व्यवस्था के अन्तर्गत चुनावो का बहिष्कार कर दिया जायगा। इस पर बादशाह फुआद को झुकना पडा और चुनाव पुरानी व्यवस्था के ही अनुसार

[1] Chamber of Deputies.

हुये। नतीजा: जगलूल के दल का भारी बहुमत, यानी इस दल की संख्या २०० और विरोधियों की संख्या १४ ! राष्ट्र पर जगलूल के प्रभाव का, तथा मिस्र क्या चाहता था इसका, इससे ज्यादा बडा सबूत नही हो सकता था। इसके बावजूद भी ब्रिटिश कमिश्नर (जो भारत का एक भूतपूर्व गवर्नर लॉर्ड लॉयड था) ने कहा कि उसे जगलूल के प्रधान मंत्री बनने पर आपत्ति है, इसलिए इसकी जगह दूसरा व्यक्ति नियुक्त किया गया। यह समझना जरा मुश्किल है कि इस मामले में अंग्रेजो को हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार था। फिर भी, नई सरकार की बागडोर बहुत कुछ जगलूल के ही दल के हाथो मे थी, और सम्हल कर चलने के प्रयत्न के बावजूद उनकी लॉर्ड लायड से अक्सर टक्करे होती रहती थी, क्योकि लॉर्ड लॉयड एक अत्यन्त शाह-मिजाज और धौस जमाने वाला व्यक्ति था, और वह मिस्र को अक्सर अंग्रेजी जंगी जहाजो की धमकियां दिया करता था।

सन् १९२७ ई० मे, इंग्लैण्ड के साथ समझौता करने का एक और प्रयत्न किया गया, पर बादशाह फुआद का बहुत मुलायम प्रधान मंत्री भी अंग्रेजों की शर्तों पर हक्का-बक्का रह गया। कागजी स्वाधीनता के परदे मे उनका असली इरादा मिस्र को इंग्लैण्ड का संरक्षित देश बनाने का था। इसलिए समझौते की बात चीत फिर निष्फल हुई।

जिस समय समझौते की ये बातचीते चल रही थी, इसी बीच २३ अगस्त, सन् १९२७ ई०, को मिस्र के महान नेता सैदद जगलूल पाशा की सत्तर वर्ष की आयु में मृत्यु हो गई। वह तो नही रहा, पर मिस्र मे उसकी स्मृति उज्ज्वल तथा बहुमूल्य विरासत के रूप मे जीवित है, और लोगो को स्फूर्ति प्रदान करती है। उसकी पत्नी, श्रीमती सफिया जगलूल, अभी जीवित है, सारा राष्ट्र उसे प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है और उसे "मादरे कौम" कह कर पुकारता है। काहिरा मे जगलूल का मकान, जो "कौम का मकान" कहलाता है, बहुत अर्से से मिस्री राष्ट्रवादियो का प्रधान केन्द्र है।

जगलूल के बाद मुस्तफा नहस पाशा वफ्द का नेता हुआ। कुछ दिन बाद, मार्च, सन् १९२८ ई०, में वह प्रधान मंत्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता तथा लोगों के हथियार रखने के अधिकार से सम्बन्ध रखने वाले कुछ साधारण-से अन्दरूनी सुधार किये। फौजी शासन के जमाने मे ब्रिटिश सरकार ने इन अधिकारो को कम कर दिया था। ज्यों ही मिस्री पार्लमेण्ट ने इस प्रश्न पर गौर करना शुरू किया, त्यो ही इंग्लैण्ड से धमकियां आई कि ऐसा नही किया जाना चाहिए। इंग्लैण्ड का इस तरह एक विशुद्ध घरू मामले मे हस्तक्षेप करना बडी विचित्र बात मालूम होती है। मगर लार्ड लॉयड ने, माने हुए पुराने ढंग के अनुसार, आखरी चेतावनी दे दी और ब्रिटिश जंगी जहाज माल्टा से सिकन्दरिया के बन्दरगाह मे आ धमके। नहस पाशा कुछ हद तक झुक गया, और इन मामलो को कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन तक के लिए स्थगित करने पर राजी हो गया।

परन्तु दूसरा अधिवेशन तो होने वाला ही न था। बादशाह फुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने ऐसी तरकीब की कि पार्लमेण्ट को भविष्य में गडबड करने का मौका ही न मिले। इन दोनो की साजिश एक अजीब रंग लाई। नहस पाशा की यह विशेष कीर्त्ति थी कि उसका चरित्र उदात्त है और वह किसी प्रलोभन मे नही फंस सकता। अकस्मात ही, एक पत्र के आधार पर (जो बाद में जाली साबित हुआ) नहस पाशा तथा वफ्द के एक कॉप्ट नेता पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाया गया। दरबारी लोगो तथा अंग्रेजो द्वारा इसके बारे में धुआंधार प्रचार किया गया। ब्रिटिश संवाद-एजेन्सियो तथा पत्र-संवाद-दाताओ ने इन झूठे अभियोगो को केवल मिस्र मे ही नही बल्कि विदेशो में भी खूब फैलाया। इस आरोप की आड लेकर बादशाह फुआद ने नहस पाशा से प्रधान मंत्री पद से त्यागपत्र देने को कहा। जब नहस पाशा ने ऐसा करने से इन्कार किया तो फुआद ने उसे बरखास्त कर दिया। अब लॉयड-फुआद साजिश का अगला कदम उठाया गया। एक आकस्मिक राजनैतिक चालबाजी की गई और बादशाह ने आज्ञापत्र जारी करके पार्लमेण्ट को स्थगित कर दिया तथा विधान को बदल दिया। विधान मे से अखबारो की आजादी तथा अन्य नागरिक स्वतन्त्रताओ सम्बन्धी धाराओ को हटा दिया गया, और अधिनायकशाही घोषित कर दी गई। इस पर इंग्लैण्ड के अखबारो ने तथा मिस्र मे रहने वाले विदेशियो ने खूब खुशियां मनाईं।

परन्तु अधिनायकशाही की घोषणा के बावजूद पार्लमेण्ट के सदस्यों ने अपनी सभा की, और नई सरकार को गैरकानूनी घोषित कर दिया। मगर लॉयड को या फुआद को इनसे कोई परेशानी नही

थी। "क़ानून और व्यवस्था" का फ़र्ज़ है प्रतिगामिता और साम्राज्यशाही को सहारा देना, इनके विरुद्ध हथियार की तरह उपयोग किया जाना नही !

सरकार ने नहस पाशा के विरुद्ध जो मुकदमा चलाया था, वह सरकारी दबाव के बावजूद धूल में मिल गया। उसके विरुद्ध लगाये गये आरोप झूठे साबित हुए। और सरकार ने आज्ञा निकाल दी कि इस मुकदमे का फ़ैसला अख़बारो में प्रकाशित न किया जाय (सरकार की निष्पक्षता और उदारता कितनी अद्भुत थी !) । मगर इस पर भी यह समाचार तुरन्त फैल गया, और हर जगह लोगो को अपार हर्ष हुआ।

अधिनायकशाही ने, जिसके पीछे लॉर्ड लॉयड तथा ब्रिटिश फ़ौजो का बल था, वफ़्द दल को, यानी वास्तव में मिस्री राष्ट्रीयता को, कुचलने और छिन्न-भिन्न करने का भरसक प्रयत्न किया। देश मे बाकायदा आतंक का राज हो गया और समाचारो पर पूरी रोक लगा दी गई। पर इस सबके बावजूद बडे-बडे राष्ट्रीय प्रदर्शन हुए जिनमें स्त्रियों ने विशेष रूप से भाग लिया। सप्ताह भर की एक हडताल हुई जिसमे वकीलों तथा अन्य लोगों ने भाग लिया, मगर समाचारो पर रोक होने के कारण अखबार इसे प्रकाशित तक नही कर सके।

इस प्रकार सन् १९२८ ई० का साल बडी खलबली और मुसीबत में बीता। साल के अन्त मे इग्लैण्ड की राजनैतिक स्थिति मे परिवर्त्तन की मिस्र मे भी तुरन्त प्रतिक्रिया हुई। वहा मजदूर दल की सरकार कायम हो गई थी, और सबसे पहली कार्रवाई इसने यह की कि लॉर्ड लायड को वापस बुला लिया जो ब्रिटिश सरकार तक के लिए नाकाबिले-बर्दाश्त हो गया था। लॉयड के हटाये जाने से कुछ समय के लिये फुआद-अंग्रेज़ गठबन्धन टूट गया। बिना अग्रेजो के सहारे फुआद एक दिन भी काम नही चला सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर सन् १९२८ ई० मे पार्लमेण्ट के नये चुनावो की अनुमति दे दी। इस बार फिर वफ्द दल ने लगभग सारी सीटों पर कब्ज़ा कर लिया।

इग्लैण्ड की मजदूर सरकार ने मिस्र के साथ समझौते की बातचीत फिर शुरू की, और इस कार्य के लिए सन् १९२९ ई० में नहस पाशा लन्दन गया। इस बार मजदूर सरकार अपनी पूर्ववर्ती सरकारो से कुछ आगे बढी और तीन शर्तों के बारे मे नहस पाशा का दृष्टिकोण मान लिया गया। लेकिन चौथी शर्त सूदान के बारे में फिर कोई राजीनामा नही हुआ, इसलिए समझौते की बातचीत भग हो गई। फिर भी इस अवसर पर पहले से बहुत अधिक बातो पर राज़ीनामा हो गया था, दोनो पक्षो मे आपसी मित्रता बनी रही, और दोनों ने फिर चर्चा चलाने के वादे किये। कुल मिला कर नहस पाशा तथा वफ्द दल के लिए यह सफलता की बात थी, और मिस्र में अंग्रेज़ तथा अन्य विदेशी व्यापारियो तथा साहूकारो को ज़रा भी अच्छी न लगी। कुछ महीने बाद, जून, सन् १९३० ई० मे बादशाह तथा पार्लमेण्ट के बीच झगडा हो गया, और नहस पाशा ने प्रधानमन्त्री के पद से स्तीफा दे दिया।

इस खाली जगह में फुआद फिर अधिनायकशाही लेकर आ कूदा---यह उसके शासन काल की तीसरी अधिनायकशाही थी। पार्लमेण्ट भग कर दी गई, वफ्द दल के अख़बार बन्द कर दिये गये, और व्यापक रूप मे यह अधिनायकशाही बडी कठोरता के साथ अपना काम करने लगी। पार्लमेण्ट की दोनो सभाओं, यानी चैम्बर तथा सीनेट, के सब सदस्यो ने महलो की सरकार की अवज्ञा की, और पार्लमेण्ट भवन मे ज़बरदस्ती घुस कर अधिवेशन कर डाला। २३ जून, सन् १९३०, ई० को उन्होने विधान के प्रति वफ़ादारी की गंभीरता पूर्वक शपथ ली और क़सम खाई कि वे अपने पूरे बल के साथ उसकी रक्षा करेगे। सारे देशमें बडे-बडे प्रदर्शन हुए। इन्हे सैनिको ने बलपूर्वक तितर-बितर कर दिया, और बहुत खून-खराबी हुई। नहस पाशा खुद भी घायल हो गया। इस प्रकार ब्रिटिश अफसरो के मातहत सैनिको तथा पुलिस के सिपाहियो ने उस अधिनायकशाही को बरकरार रक्खा जिसके प्रति बादशाह के पिछलगुए मुट्ठीभर रईसो तथा धनवानो के सिवा, सारे राष्ट्र को घोर रोष था। वफ्दियो के अलावा दूसरे लोगो तक ने, यहा तक कि भारत की तरह के नर्मदली तथा उदारदली लोगो ने भी, जो जनता की ओर से सब प्रकार की सख्त कार्रवाई के विरोध मे हल्ला मचाते थे, अधिनायकशाही के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

इसी साल, यानी सन् १९३० ई० मे, कुछ दिन बाद बादशाह ने एक नये विधान की घोषणावाला आज्ञापत्र जारी किया, जिसमे उसने पार्लमेण्ट के अधिकार ता कम कर दिये और अपने अधिकार बढा

लिये ! इस तरह की चीज करना बहुत आसान था, बस. एक घोषणापत्र जारी किया और काम हुआ, क्योंकि बादशाह के पीछे एक साम्राज्यशाही शक्ति की भयानक छाया थी ।

मिस्र के सन् १९२२ ई० से लगाकर सन् १९३० ई० तक के, इन नौ वर्षों की कहानी मैंने तुम्हे जरा ब्यौरे के साथ बतलाई है क्योंकि यह कहानी मुझे अभूतपूर्व मालूम हुई। ये वर्ष, ब्रिटिश सरकार की, फरवरी, सन् १९२२ ई० की घोषणा के अनुसार मिस्र की "स्वाधीनता" के वर्ष थे । मिस्री लोग क्या चाहते थे, इसका तो कोई सवाल ही नही था । हा, जब-जब उन्हे मौका दिया गया तब-तब उनके बहुत बडे बहुमत ने, जिसमे मुसलमान तथा कॉप्ट दोनो शामिल थे, वफ्दियो को ही चुना। मगर चूकि ये लोग विदेशियो की और खासकर अंग्रेजो की, देश का शोषण करने की ताकत को कम करना चाहते थे, इसलिए इन सारे विदेशी निहित स्वार्थों ने बल प्रयोग तथा हिंसा से, जालसाजी तथा साजिश से, हर तरह इनका विरोध किया, और अपने इशारे पर नाचनेवाला एक कठपुतली जैसा बादशाह खडा कर दिया ।

वफ्द आन्दोलन एक विशुद्ध राष्ट्रीय बुर्जुवा आन्दोलन रहा है । इसने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लडाई लड़ी है, और सामाजिक समस्याओ में हस्तक्षेप नही किया है । जब कभी पार्लमेण्ट क्रियाशील हुई, उसने शिक्षा तथा अन्य विभागो मे कुछ अच्छा काम कर दिखाया । सच तो यह है कि राष्ट्रीय संघर्ष के होते हुए भी इस अल्पकाल मे पार्लमेण्ट ने जितना किया उतना ब्रिटिश शासन इससे पूर्व के चालीस वर्षों मे भी नही कर पाया था । किसान वर्ग मे वफ्द दल की लोकप्रियता चुनावों से तथा बड़े-बडे प्रदर्शनो से जाहिर हो चुकी है । मगर फिर भी, यह आन्दोलन उस हद तक जागृति नही पैदा कर सका है जिस हद तक सामाजिक परिवर्तन के लक्ष्य वाला कोई आन्दोलन करता ।

इस पत्र को समाप्त करने से पहले मै स्त्रियो के आन्दोलन का हाल बतलाना चाहता हू । शायद खुद अरब देश को छोड कर सारे अरबी देशों मे नारियो की बडी भारी जागृति हुई है । अन्य बहुत-सी बातो की तरह इस बात मे भी ईराक या सीरिया या फिलस्तीन के मुकाबले मे मिस्र ज्यादा आगे बढा हुआ है । पर इन सब देशो मे नारियो का एक सगठित आन्दोलन है, और जुलाई, सन् १९३० ई०, मे दमिश्क मे अरब नारियो की काग्रेस का पहला अधिवेशन भी हुआ था । उन्होंने राजनैतिक मामलों की अपेक्षा सास्कृतिक तथा सामाजिक उन्नति पर ही ज्यादा जोर दिया । मिस्र की स्त्रियो का राजनीति की ओर अधिक झुकाव है । वे राजनैतिक प्रदर्शनो मे भाग लेती है, तथा उनका एक बलशाली 'नारी मताधिकार सघ' भी है । उनकी माग है कि विवाह सम्बन्धी कानून मे ऐसा सुधार किया जाय जो उनके हक मे हो, रोजगारो मे स्त्रियो को पुरुषो के समान ही सुविधाए दी जाय, वगैरा। मुसलमान तथा ईसाई नारिया आपस मे पूरा सहयोग करती है । मुह पर नकाब डालने की आदत हर जगह कम होती जा रही है, खासकर मिस्र मे । तर्की की तरह से बुर्के का लोप तो नही हुआ है, पर उसकी धज्जिया उड रही है ।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८)

सन् १९३० ई० मे मिस्र अधिनायकशाही हुकूमत के मातहत रहा जिसकी नकेल महलो से घुमाई जाती थी । सिद्धान्त रूप से तो वह "प्रभुत्व-सम्पन्न स्वाधीन राज्य" था, पर अमल मे वह एक तरह से इग्लैण्ड का उपनिवेश था, जहा काहिरा तथा सिकन्दरिया में विदेशी छावनिया पडी हुई थी, और स्वेज नहर तथा सूदान पर इग्लैण्ड का अधिकार था । ये वर्ष दुनिया भर मे महान आर्थिक मन्दी के थे, और रुई की कीमतें गिरने के कारण मिस्र को बहुत नुकसान उठाना पडा था ।

सन् १९३५ ई० मे फासीवादी इटली ने अबीसीनिया पर धावा बोल दिया, और मिस्र तथा ऊपरली नील घाटी मे ब्रिटिश हितो के लिए इस नये खतरे के फलस्वरूप, मिस्र तथा इग्लैंड के आपसी सम्बन्धो मे परिवर्तन पैदा हो गया। अब इग्लैण्ड का मकदूर नही था कि मिस्र को बगावतपूर्ण और विरोधी बनाये रक्खे, और मिस्री नेताओ को इग्लैण्ड के साथ दोस्ती की सम्भावना नजर आने लगी । पार्लमेण्ट के चुनावो में वफ्द दल की शानदार जीत हुई, और नह्हस पाशा प्रधान मत्री बना। अबीसीनिया में इटली की आक्रामक कार्रवाई के फलस्वरूप जो नया वातावरण पैदा हुआ, उसमें मिस्र तथा इग्लैण्ड ने एक दूसरे की शर्तें मान लीं, और अगस्त, सन् १९३६ ई० में एक सन्धिपत्र पर दोनों के हस्ताक्षर हो गये। शान्ति की खातिर मिस्र उन बहुत-सी बातो को छोड़ने पर राजी हो गया जिन पर वह पहले अडा हुआ था, उसने सूदान में पूर्व-स्थिति को तथा स्वेज नहर की रक्षा के इग्लैण्ड के अधिकार को मान लिया। दूसरी ओर, इंग्लैण्ड ने

काहिरा तथा सिकन्दिरिया से अपने सैनिक हटा लिये; मिली-जुली अदालतो तथा बाह्य-प्रादेशिक अधिकारों को मसूख कराने में मदद देने का और राष्ट्रसंघ में मिस्र के प्रवेश का समर्थन करने का वादा किया।

इस समझौते पर खूब खुशियां मनाई गईं, लेकिन अभी इनका कुछ समय नही आया था। शासको के बदल जाने के बावजूद भी राजदरबार वफ्द दल से नफरत करता रहा और उसके विरुद्ध साजिशें रचता रहा। पर्दे की आड़ से ब्रिटिश साम्राज्यशाही अब भी अपना काम कर रही थी। मिस्र की धरती के बहुत बड़े भाग पर मुट्ठीभर व्यक्तियों का स्वामित्व है, और राजपरिवार भी इसके जबरदस्त हिस्से का स्वामी है। ये बड़े-बड़े भू-स्वामी प्रगतिशील क़ानून बनाये जाने के तथा जनता की शक्ति में वृद्धि के घोर विरोधी हैं। इसलिए निरन्तर रगड-झगड होने लगी, और बादशाह ने नहस पाशा को उसके पद से हटा दिया तथा पार्लमेण्ट को भग कर दिया।

कुछ अर्से तक राजमहल की हुकूमत के बाद नये चुनाव हुए, और जब इनमे वफ्द दल की भारी हार हुई, तो सबको आश्चर्य हुआ। बाद मे मालूम हुआ कि यह चुनाव ज्यादातर बनावटी मामला था, और धोखेबाजी से चुनाव के झूठे नकशे तैयार किये गये थे। नहस पाशा के नेतृत्व मे वफ्द दल अब भी अत्यन्त लोकप्रिय बना हुआ है, पर आज की सरकार का संचालन, ब्रिटिश साम्राज्यशाही के सहारे राजमहल का गुट्ट करता है।

: १६५ :

पश्चिमी एशिया का राजनीति में दुबारा प्रवेश

२५ मई, १९३३

समुद्र की केवल एक ज़रा-सी पट्टी ही मिस्र तथा अफरीका को पश्चिमी एशिया से अलग करती है। अब हम इस स्वेज नहर को पार करके अरब देश, और फिलिस्तीन, और सीरिया, ईराक—इन तमाम देशो की, और इनसे कुछ परे ईरान की यात्रा करेंगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, पश्चिमी एशिया ने इतिहास में जबरदस्त हिस्सा अदा किया है, और यह अक्सर ससार के घटनाचक्र की धुरी रहा है। इसके बाद कई सदियो तक चलने वाला ऐसा जमाना आया जब राजनैतिक दृष्टि से यह पृष्ठभूमि मे चला गया। यह रुके हुए पानी की खाडी जैसा बन गया, जीवन की धारा इसके पास होकर हरहराती हुई बहती रही, पर इससे इसके शान्त तल पर हलकी-सी तरग भी पैदा नही हुई। और अब हम एक और परिवर्तन अपनी आखो से देख रहे हैं, जो मध्य-पूर्व के देशो को फिर दुनिया के गोरखधन्धे मे ला रहा है; पूर्व और पश्चिम को जोड़ने वाला राजमार्ग फिर इनमे होकर गुजरने लगा है। यह तथ्य हमारे लिये ध्यान देने योग्य है।

जब कभी मै पश्चिमी एशिया की बात सोचता हू, तो मेरे लिए भूतकाल मे अपना आपा भूल जाने की सम्भावना रहती है। मेरे मन मे पुराने दिनो की इतनी स्मृतिया भर जाती है कि उनकी मोहनी से बचना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है। मै इस आकर्षण से बचने की कोशिश करूँगा लेकिन कही तुम भूल न जाओ. इसलिए मै तुम्हें याद दिलाना चाहता हू कि दुनिया के इस भाग का इतिहास के प्रारम्भ से ही हजारो वर्षों तक बड़ा महत्व रहा है। पुराना खाल्दिया सात हजार वर्ष पूर्व इतिहास मे पदार्पण करता हैं (यह प्रदेश आज कल का इराक है)। उसके बाद बाबिलन आता है। और बाबिलन वालो के बाद क्रूर असीरियावालो का उदय होता है जिनकी महान राजधानी निनेव है। फिर इन असीरियावालो को भी धक्का देकर निकाल दिया जाता है, और ईरान से आनेवाला एक नया राजवश और एक नई क़ौम भारत की सरहद से लगाकर मिस्र तक सारे मध्य-पूर्व पर अपना सिक्का जमा लेते है। ये लोग ईरान के अकामनीद लोग थे जिनकी राजधानी पर्सिपोलिस थी। इनमे "महान बादशाह" सर और दारा और जरक्स पैदा हुए जिन्होंने छोटे-से यूनान को हड़पने की कोशिश की पर जो उसे परास्त नही कर सके। बाद मे यूनान के, या यो कहो कि मक़दूनिया के, एक सपूत सिकन्दर ने इन्हें अपनी करनी का मजा चखाया।

सिकन्दर की जीवनयात्रा में यह निराली घटना हुई कि उसने एशिया तथा योरप के इस सन्धि-स्थान में दोनों महाद्वीपो के तथाकथित "विवाह" की योजना बनाई। उसने स्वयम् ईरान के शाह की पुत्री से विवाह किया (यद्यपि पहले ही उसकी कई पत्नियां थी) और उसके हजारो अफ़सरो तथा सिपाहियो ने भी ईरानी लड़कियो से विवाह किये।

सिकन्दर के बाद कितनी सदियो तक भारत की सरहद से लगाकर मिस्र तक सारे मध्य-पूर्व में यूनानी सस्कृति की प्रधानता रही। इस जमाने में रोम की शक्ति बढ़ी और एशिया की तरफ फैली। पर सासानियो के नये ईरानी साम्राज्य तक पहुच कर इसे रुकना पड़ा। खुद रोमन साम्राज्य के ही टूट कर दो भाग हो गये—एक पश्चिमी तथा दूसरा पूर्वी-और कुस्तुन्तुनिया पूर्वी साम्राज्य की राजधानी बन गया। पश्चिमी एशिया के इन मैदानो में पूर्व और पश्चिम का पुराना सघर्ष जारी रहा, और कुस्तुन्तुनिया का बिज़ेन्टाइन साम्राज्य तथा ईरान का सासानी साम्राज्य इसके दो मुख्य प्रतिपक्षी थे। और उधर उन्ही दिनो ऊटो पर सौदागरी का सामान लादे बडे-बडे कारवां इन मैदानो को पार करके पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व आते-जाते थे, क्योकि मध्य-पूर्व उन दिनो ससार के बडे राजमार्गों मे गिना जाता था।

पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशो मे तीन महान धर्मों का जन्म हुआ था; एक यहूदा-धर्म (यानी यहूदियो का धर्म), दूसरा जरतुश्त-धर्म (आजकल के पारसियो का धर्म), और तीसरा ईसाई-धर्म। अब अरब देश के रेगिस्तान में चौथा धर्म उदय हुआ, और संसार के इस भाग में यह शीघ्र ही इन तीनो पर छा गया। इसके बाद बगदाद का अरबी साम्राज्य आया और पुराने संघर्ष ने नया रूप ले लिया—यानी एक ओर अरब लोग दूसरी ओर बिज़ेन्टीन लोग। एक लम्बे और शानदार दौर के बाद सेलजूक तुर्कों के मुकाबले में अरबी सस्कृति मन्द पड गई, और मगोल चगेज खा के उत्तराधिकारियो ने उसे सदा के लिए नष्ट कर दिया।

पर मगोलो के पश्चिम आने से पहले ही एशिया के पश्चिमी तटो पर ईसाई पश्चिम तथा मुस्लिम पूर्व के बीच भीषण सघर्ष शुरू हो चुका था। ये क्रूसेड का धर्म-युद्ध था जो बीच-बीच मे रुकता हुआ लगभग तेरहवी सदी के मध्य तक चला। यह क्रूसेड धर्म-युद्ध माना जाता था, और वास्तव मे था भी। परन्तु युद्धो के लिए धर्म एक बहाना ज्यादा था, कारण नही। उन दिनो पूर्व के लोगो के मुकाबले मे योरप के लोग पिछड़े हुए थे। योरप मे यह अन्धकार का युग था। लेकिन योरप जागने लगा था, और अधिक उन्नति तथा सस्कृतिवान पूर्व ने उसे चुम्बक की तरह खीच लिया। पूर्व की ओर इस खिचाव ने कई रूप धारण किये, और इनमें क्रूसेड सब से महत्वपूर्ण था। इन युद्धो के परिणाम स्वरूप योरप ने पश्चिमी एशियाई देशो से बहुत कुछ सीखा। उसने अनेक ललित कलाए और दस्तकारिया और विलास की आदतें सीखी; और सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि कार्य और विचार की वैज्ञानिक परिपाटी सीखी।

जिस समय मगोल लोग विनाश को अपने पीछे लेकर पश्चिमी एशिया पर टूट कर आये थे, उस समय तक क्रूसेडो का युद्ध समाप्त नही होने पाया था। पर हमे मगोलो को केवल विनाश के ही रूप मे नही देखना चाहिए। चीन से लगाकर रूस तक उनकी ज़बरदस्त आमद-रफ्त ने दूर-दूर देशो की कौमो में सम्बन्ध स्थापित कर दिया और व्यापार तथा यातायात को बढाया। उनके विशाल साम्राज्य के मातहत पुराने कारवानी रास्ते यात्रा के लिए निरापद हो गये, और इन रास्तो पर केवल सौदागर लोग ही नही, बल्कि कूटिनीतिज्ञ, धर्म-प्रचारक तथा अन्य लोग भी अपनी ज़बरदस्त यात्राओ पर जाते-आते थे। मध्य-पूर्व ससार के इन प्राचीन राजमार्गों के सीधे रास्ते मे पड़ता था· यह एशिया और योरप को जोड़ने वाली कडी थी।

तुम्हे शायद याद होगा कि मंगोलो के जमाने में ही मार्कोपोलो अपने जन्म स्थान वेनिस से सारे एशिया को पार करके चीन पहुचा था। उसकी लिखी हुई, या यो कहो कि लिखाई हुई, एक पुस्तक सयोग से हमे प्राप्त हो गई है जिसमें उसकी यात्राओ का वर्णन दिया हुआ है, और इसी कारण हम उसका नाम जानते हैं। लेकिन और भी अनेक लोगों ने इस प्रकार की लम्बी यात्राएं की होगी, और सोचा होगा कि इनके बारे मे लिखने की इल्लत कौन करे, और अगर कुछ लिखा भी होगा तो उनकी पुस्तके शायद नष्ट हो गई होंगी, क्योंकि वे दिन तो हस्तलिखित पुस्तको के थे। एक देश से दूसरे देश को आने-जाने वाले कारवा नित्य चलते रहते थे, और यद्यपि मुख्य धन्धा व्यापार था, पर कितने ही लोग धन की तथा धन प्राप्त करने के अवसर की तलाश में इनके साथ हो जाते थे। पुराने ज़माने का एक महान यात्री मार्कोपोलो की

तरह सामने आता है। यह इब्नबतूता नामक एक अरब था, जिसका जन्म चौदहवी सदी के प्रारम्भ में मोरक्को के तनजीर नगर मे हुआ था। यह मार्कोपोलो के ठीक एक पीढी बाद पैदा हुआ था। इक्कीस वर्ष की नौजवानी की उम्र में यह लम्बी-चौड़ी दुनिया मे अपनी जबरदस्त यात्रा पर निकल पड़ा। अपनी चतुर-बुद्धि और एक मुसलमान क़ाज़ी से पाई हुई शिक्षा के सिवा इसका कोई सम्बल नही था। मोरक्को से सारे उत्तरी अफरीका को पार करके यह मिस्र जा पहुंचा और वहां से अरब देश और सीरिया और ईरान गया। फिर वह अनातोलिया (तुर्की), और दक्षिणी रूस (सुनहरी कबीले के मंगोल खानो के अधीन), और कुस्तुन्तुनिया (जो अभी तक बिज़ेन्टियम की राजधानी था), और मध्य एशिया होता हुआ भारत आया। भारत को उत्तर से दक्षिण तक पार करके वह मलाबार और लका पहुचा, और फिर चीन को चला गया। वापस लौटते वक्त वह अफरीका में घूमता फिरा, और उसने सहारा के रेगिस्तान तक को पार कर डाला ! यात्रा का यह ऐसा लेखा है कि आज अनेको सुविधाओ के होते हुए भी इसका उदाहरण बहुत दुर्लभ है। इसे देखकर चौदहवी सदी के बारे में हमारी आखे आश्चर्य से खुली रह जाती है, और इससे हमे पता लगता है कि उन दिनो साधारण यात्रा की क्या हालत थी। कुछ भी हो, इब्नबतूता सदा-सर्वदा के लिए महान यात्रियो मे गिना जाना चाहिए।

इब्नबतूता की पुस्तक मे जहा-जहा वह गया वहा-वहा के निवासियो और देशो के बारे में बड़ी मजेदार बातें है। उस समय मिस्र धनवान था, क्योकि पश्चिम के साथ भारत का सारा व्यापार यही होकर गुजरता था और यह बडे मुनाफ़े का धन्धा था। इन मुनाफ़ो के कारण काहिरा, सुन्दर-सुन्दर मकबरों वाला महान शहर बन गया था। इब्नबतूता ने भारत में जात-पात का, सती का, और पान-सुपारी भेंट करने के रिवाज का वर्णन किया है। उसकी पुस्तक से हमे पता चलता है कि भारत के सौदागर विदेशी बंदरगाहो मे ज़ोरो का व्यापार करते थे, और भारतीय जहाज़ समुद्रो पर यात्राए करते थे। उसने इस पर खास तौर से ध्यान दिया है और लिखा है कि सुन्दर स्त्रिया उसने कहा-कहा देखी और उनके लिबास, इत्र-फुलेल तथा आभूषण किस-किस ढग के थे। दिल्ली शहर का वह यो वर्णन करता है कि यह "भारत की राजधानी है, एक विशाल और भव्य शहर है जिसमे सौन्दर्य के साथ मजबूती का सम्मिलन है"। यह पागल सुल्तान महमूद तुग़लक का जमाना था, जो क्रोध के आवेश मे अपनी राजधानी दिल्ली से हटा कर दक्षिण मे दौलताबाद ले गया था, और जिसने इस "विशाल तथा भव्य शहर" को "खाली, और कुछेक निवासियो के सिवा निर्जन" बना कर वीरान कर दिया था, और जो गिने-चुने लोग वहा थे वे भी बहुत समय बाद चुपचाप वहा आ बसे थे।

मैंने इब्नबतूता के बहाव में थोडा बह जाने का ढग निकाल लिया है, क्यो कि पुराने जमाने की यात्राओ की ये कहानिया मेरे लिए बडी मनमोहक है।

इस प्रकार हम देखते है कि चौदहवी सदी तक मध्य-पूर्व, अर्थात पश्चिमी एशिया, ने दुनिया के मामलो मे बडा भारी हिस्सा लिया, और यह पूर्व तथा पश्चिम को जोडने वाली मुख्य कडी था। पर अगले सौ वर्षों मे हालत बदल गई। उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा कर लिया, और वे मिस्र सहित मध्य पूर्व के इन तमाम देशो मे फैल गये। योरप तथा एशिया के बीच व्यापार को इन्होने रोकने की कोशिश की, और इसका आशिक कारण यह था कि यह व्यापार भूमध्य सागर मे उनके प्रतियोगी वियेनावासियो तथा जिनोआवासियो के हाथों मे था। पर व्यापार ने खुद ही दूसरी राह पकड ली, क्यो कि नये समुद्री रास्ते खुल गये थे और इन समुद्री रास्तो ने खुश्की के पुरानी कारवानी रास्तो का स्थान ले लिया था। इस प्रकार पश्चिमी एशिया में होकर गुजरने वाले ये खुश्की के रास्ते, जिन्होने हजारो वर्षों तक बडा अच्छा काम किया दिया था, अब बेकाम हो गये, और जिन देशों मे होकर ये गुज़रते थे उनका महत्व धीरे-धीरे लोप हो गया।

सोलहवी सदी की शुरूआत से लगाकर उन्नीसवी सदी के अन्त तक, यानी लगभग चार सौ वर्षों तक, समुद्री रास्तो का एकमात्र महत्व रहा। इन्होंने खुश्की के रास्तो को पीछे डाल दिया, खास कर उन जगहो में जहां रेलमार्ग नहीं थे, और पश्चिमी एशिया में तो रेलमार्ग थे ही नही। महायुद्ध से कुछ दिन पहले जर्मन सरकार की सहायता के बल पर, कुस्तुन्तुनिया और बग़दाद के बीच रेलमार्ग डालने की योजना बनाई गई थी। अन्य-शक्तिया यह ज़रा भी नही सहन कर सकती थी कि जर्मनी इस काम को करे, क्योकि इससे मध्य पूर्व में जर्मनी का प्रभाव बढ जाता। मगर इसी बीच महायुद्ध शुरू हो गया।

सन् १९१८ ई० में जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तब पश्चिमी योरप में इंग्लैण्ड का बोलबाला था और, जैसा कि मै बतला चुका हूं, ज़रा देर के लिए, भारत से लगाकर तुर्की तक एक महान मध्य-पूर्वी साम्राज्य के नज़्ज़ारे ब्रिटिश राज्यनीतिज्ञो की चौंधियाई हुई आंखों के आगे नाचने लगे थे। लेकिन यह तो होने वाला न था। इस स्वप्न के पूरा होने मे बोलशेविक रूस और कमालपाशा और अन्य निमित्तो ने बाधा डाल दी, लेकिन फिर भी इंग्लैण्ड बहुत कुछ भाग पर क़ब्ज़ा जमाये रहा। इराक़ और फिलस्तीन ब्रिटिश प्रभाव या नियंत्रण के अधीन बने रहे। इसलिए, यद्यपि अंग्रेज़ लोग अपनी लम्बी-चौड़ी महत्वाकांक्षाओं को पूरा नही कर सके, पर वे भारत को जाने वाले मार्गों और भारत के दरवाज़ो पर अधिकार बनाये रखने की अपनी पुरानी नीति पर टिके रहने में सफल हो गये। इसी उद्देश्य से ब्रिटिश सेनाएं युद्धकाल मे शाम तथा फ़िलस्तीन में लड़ी थी, और इसी उद्देश्य से उन्होने तुर्की के विरुद्ध अरबो के विद्रोह को भड़काया था और सहायता दी थी। यही कारण था कि युद्ध के बाद मोसल के प्रश्न पर इंग्लैण्ड और तुर्की के बीच भारी सघर्ष पैदा हो गया। और इंग्लैण्ड तथा सोवियत रूस के बीच मन-मुटावका यह एक प्रधान कारण था, क्योकि इंग्लैण्ड इस विचार को ही सख्त नापसन्द करता है कि रूस जैसी बड़ी शक्ति भारत को जाने वाली राह के किनारे की मेंड़ पर बैठी हुई ताक लगाती रहे।

जिन दो रेलमार्गों के बारे मे महायुद्ध से पहले इतना झगड़ा था--एक तो बगदाद रेलवे और दूसरी हिजाज़ रेलवे--वे अब तैयार हो गये है। बगदाद रेलवे बगदाद को भूमध्य सागर तथा योरप से जोड़ती है। हिजाज़ रेलवे अरब देश में मदीना को आलप्पो पर बगदाद रेलवे से जोड़ती है (हिजाज़ अरब देश का सबसे महत्वपूर्ण भाग है जिसमें इस्लाम के तीर्थ-स्थान मक्का और मदीना है)। इस प्रकार पश्चिमी एशिया के अनेक महत्वपूर्ण शहरो का रेलमार्गों द्वारा योरप तथा मिस्र से सम्पर्क स्थापित हो गया है, और अब वहा आसानी से पहुच सकते है। अलप्पो शहर एक महत्वपूर्ण रेलवे जकशन बनता जा रहा है क्योकि तीन महा--द्वीपो के रेलमार्ग यहा मिलने वाले हैं : पहला तो योरप से आने वाला रेलमार्ग, दूसरा बगदाद होकर एशिया से आने वाला, तीसरा काहिरा होकर अफरीका से आने वाला। एशिया और अफरीका के इन मार्गों पर नियत्रण रखने का ब्रिटिश नीति का बहुत वर्षों से लक्ष्य रहा है। बगदाद से आगे बढाया जाने पर एशियाई रेलमार्ग भारत तक भी आ सकता है। अफरीका वाले रेलमार्ग को अफरीका महाद्वीप के ठेठ आर-पार काहिरा से धुर दक्षिण में केपटाउन तक ले जाने का इरादा है। केप से काहिरा तक "पूरा-लाल" रेलमार्ग बहुत दिनो से ब्रिटिश साम्राज्यवादियो का स्वप्न रहा है, और अब जल्दी ही पूरा होने जा रहा है। "पूरा-लाल" का अर्थ यह है कि यह रेलमार्ग ठेठ ब्रिटिश प्रदेश में होकर गुजरे, क्योकि ब्रिटिश साम्राज्य ने नकशो मे लाल रग पर अपना एकाधिकार कर लिया है।

परन्तु कह नही सकते कि भविष्य मे ये सम्भावनाए पूरी होगी या नही, क्योकि मोटरकार और हवाई-जहाज़ अब रेल के करारे प्रतियोगी होते जा रहे है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने लायक है कि पश्चिमी एशिया के ये दोनो रेलमार्ग---बगदाद रेलवे और हिजाज़ रेलवे---ज्यादातर अंग्रेज़ो के अधिकार में है, और उनके नियत्रण मे भारत तक एक नया और सीधा रास्ता खोलने की ब्रिटिश नीति का उद्देश्य पूरा कर रहे है। बगदाद रेलवे का कुछ भाग सीरिया में होकर गुज़रता है, जो फ़ासीसियो के कब्ज़े में है। फ़ासीसियो पर इस निर्भरता को ब्रिटिश सरकार पसद नही करती, इसलिए वह इसकी जगह फिलस्तीन में होकर एक नया रेलमार्ग डालने का इरादा कर रही है। एक और छोटा-सा रेल मार्ग अरब देश में लाल सागर के बदरगाह जद्दा तथा मक्का के बीच बनाया जा रहा है। हर साल मक्का जाने वाले हज़ारो यात्रियो को इससे बड़ी सुविधा हो जायगी।

इतना वर्णन मैंने रेलमार्गों की उस व्यवस्था का किया है जो पश्चिमी एशिया का सारी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करती जा रही है। परन्तु यह काम पूरा होने से पहले ही इसका महत्व कुछ कम होता जा रहा है, और मोटरकार तथा हवाई जहाज़ इसे हटाकर इसकी जगह ले रहे है। मोटरकार रेगिस्तान में बड़ी आसानी से चलती है, और उन्हीं कारवानी रास्तो पर सरपट दौड़ने लगी है जिनपर चुपचाप कष्ट सहने वाला ऊंट हज़ारो वर्षों से पैर घसीटता रहा है। रेलमार्ग में बहुत खर्चा बैठता है, और उसे बनाने में समय भी बहुत लगता है। मोटर सस्ती पड़ती है और जब ज़रूरत हो तब तुरन्त ही अपना काम कर सकती है। लेकिन मामूली तौर पर मोटर-गाड़ियां तथा लारिया लम्बी दूरियां तय नहीं कर सकती; वे तो ज्यादा

से ज्यादा सौ मील के अपेक्षाकृत छोटे-छोटे क्षेत्रो मे ही इधर से उधर दौड़ सकती है।

मगर लम्बी-लम्बी दूरियो के लिए हवाई जहाज है ही, जो रेल से सस्ता भी है और बहुत ज्यादा शीघ्रगामी भी। इसमे कोई सदेह नही कि सवारिया तथा सामान ढोने के लिए हवाई जहाजों का उपयोग दिन पर दिन तेजी के साथ बढता जायगा। इस समय तक भी इस दिशा में बड़ी भारी उन्नति हो चुकी है और हवाई रास्तो पर चलने वाले भीमकाय वायुयान एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को नियमित रूप से आने-जाने लगे है। पश्चिमी एशिया फिर से इन महान हवाई रास्तो का सम्मिलन-स्थान बन गया है, और बगदाद तो इनका खास केन्द्र हो गया है। लन्दन से भारत जाने वाले 'ब्रिटिश इम्पीरियल एंयरवेज' के वायुयान बगदाद होकर जाते है, इसी प्रकार डच के० एल० एम० के एम्स्टरडम से बटाविया जाने वाले वायुयान, तथा 'एयर फ्रास' के पैरिस से हिन्द चीन जाने वाले फ्रासीसी वायुयान भी बगदाद से गुजरते है। मास्को तथा ईरान को भी बगदाद से वायुयान जाते-आते है। चीन तथा सुदूर पूर्व जाने वाले हवाई मुसाफिर को बग़दाद होकर जाना पडता है। बगदाद से वायुयान काहिरा भी जाते है, और वहा केपटाउन जाने वाले अफरीकी वायुयानो से मिलान करते है।

हवाई जहाज चलाने वाली ज्यादातर कपनिया घाटे मे चल रही है, और इनकी अपनी-अपनी सरकारें इन्हें रुपये की भरपूर सरकारी सहायता देती है, क्योकि साम्राज्यो के लिए आज हवाई-ताकत सबसे ज्यादा महत्व की चीज है। हवाई-ताकत की वृद्धि के साथ-साथ समुद्री-ताकत का महत्व बहुत कम हो गया है। इग्लैण्ड, जिसे अपनी नौ-सेना पर बडा गर्व था और जो अपने-आपको आक्रमण से सुरक्षित समझता था, अब रक्षा के लिहाज से द्वीप नही रह गया। हवाई आक्रमण से उसे उतनी ही जोखम है जितनी फ्रास या अन्य किसी देश को। इसलिए सारी बडी-बडी शक्तिया अपनी-अपनी हवाई-ताकत बढाने की धुन मे है, और समुद्र पर प्रतियोगिता का स्थान अब हवाई प्रतियोगिता ने ले लिया है। शान्ति-काल मे हर देश वायुयानो की मुसाफिरी को प्रोत्साहन और सरकारी सहायता देता है, क्योकि इसके द्वारा ट्रेनिग-प्राप्त वायुयान-चालको का दल तैयार हो जाता है, जिनका युद्ध काल में उपयोग किया जा सकता है। मुल्की उड्डयन से फौजी उड्डयन के विकास में सहायता मिलती है। इसलिए मुल्की उड्डयन का बडी तेजी से विकास हो रहा है, और योरप तथा अमरीका में हवाई यातायात के सैकडो सिलसिले चल रहे है। इस दिशा मे जो प्रगति हुई है उसमे सयुक्तराज्य अमरीका शायद सबसे आगे है। सोवियत सघ मे भी खूब प्रगति हुई है और इसके विशाल प्रदेशो मे हवाई यातायात के अनेक सिलसिले चल रहे है।

हवाई शक्ति के इस युग मे पश्चिमी एशिया ने नया महत्व प्राप्त कर लिया है। कारण यह है कि दूर-दूर देशो को जाने वाले वायुयानो का मार्ग यहीं मिलान करते है। पश्चिमी एशिया ने ससार की राजनीति मे फिर प्रवेश कर लिया है, और यह अन्तर्महाद्वीपीय घटनाचक्र की चूल बन गया है। इसका अर्थ यह भी है कि पश्चिमी एशिया बडी-बडी शक्तियो की आपसी रगड-झगड और लडाई का अखाडा बन गया, क्योकि इनकी महत्वाकाक्षाए टकराती है और हरेक शक्ति इस कोशिश मे रहती है कि दूसरी को धोखा देकर आगे निकल जाय। अगर हम यह ध्यान में रखलें, तो हम उस नीति को समझ सकते है जिसने मध्य पूर्व तथा अन्य देशो में इग्लैण्ड तथा अन्य शक्तियो की कार्रवाइयो को ढाला है।

भारत को जाने वाले इस नये मार्ग पर स्थित होने के अलावा मोसल में तेल है, और हवाई-ताकत के इस युग मे तेल का महत्व इतना ज्यादा बढ गया है जितना पहले कभी नही था। ईराक मे तेल के महत्वपूर्ण क्षेत्र है, और जैसा कि हम देख चुके है, यह अन्तर्महाद्वीपीय हवाई यात्रा प्रणाली का ठीक मर्मस्थान है। इसीलिए इराक़ पर नियत्रण रखने का अग्रेजो के लिए बडा भारी महत्व है। इरान में भी विस्तृत तेल-क्षेत्र हैं जिनमें से ऐंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी बहुत अर्से से तेल निकाल कर फायदा उठा रही है। इस कम्पनी में ब्रिटिश सरकार के भी कुछ हिस्से है। तेल तथा पेट्रोल का महत्व बढता जा रहा है, और साम्राज्यशाही नीतियों पर असर डाल रहा है। सच तो यह है कि आधुनिक साम्राज्यवाद को कभी-कभी "तेल का साम्राज्यवाद" भी कहा जाता है।[1]

---

[1] यहा तेल से अभिप्राय खनिज तेल से है जिसमें से मिट्टी का तेल, पेट्रोल वगैरा अनेक आवश्यक चीजें निकलती है। यह तेल जमीन में से निकले हुए कुओ द्वारा निकाला जाता है।

इस पत्र में हमने कुछेक उन निमित्त कारणो पर विचार किया है जिन्होंने मध्य पूर्व को नई प्रधानता दे दी है और उसे ससार की राजनीति के भंवर में दुबारा ला पटका है। लेकिन इस सबके पीछे समग्र एशियाई पूर्व की जागृति है।

: १६६ :

अरबी देश—शाम

२८ मई, १९३३

हम देख चुके है कि आम तौर पर एक ही भाषा तथा परम्पराओं वाले देशो के निवासियों के समुदायो को एक सूत्र मे बाँधने तथा मजबूत बनाने में राष्ट्रीयता कितना जोरदार बल रही है। परन्तु जहा यह राष्ट्रीयता ऐसे किसी समुदाय को एक सूत्र मे बाधती है, वहा अन्य समुदायो से उसे भिन्न बना देती है और अलग कर देती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीयता ने फ्रास को एक बलवान, सुदृढ राष्ट्रीय इकाई बना दिया है जो घनिष्ठता के सूत्र में बँधा हुआ है और बाकी दुनिया को इस प्रकार देख रहा है मानो वह कोई भिन्न चीज़ है, इसी प्रकार इसने विभिन्न जर्मन कौमो को मिला कर एक बलशाली जर्मन राष्ट्र बना दिया है। परन्तु फ्रास तथा जर्मनी का इस प्रकार अलग-अलग बध जाना ही दोनो को एक दूसरे से और भी अधिक विलग कर रहा है।

जिस देश मे कई विशिष्ट राष्ट्रीय समुदाय होते है, वहा राष्ट्रीयता अक्सर फूटकारक बल का काम करती है, जो देश को मजबूत बनाने और एक सूत्र मे बाधने के बजाय सचमुच उसे कमजोर कर देता है और उसे छिन्न-भिन्न करने लगता है। महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया-हगरी का साम्राज्य इसी प्रकार अनेक राष्ट्रीय जातियों का देश था जिनमें से दो, यानी जर्मन-आस्ट्रियाई जाति तथा हगेरियाई जाति, तो प्रभुताशाली थी और बाकी की अधीन थी। इसलिए राष्ट्रीयता की वृद्धि ने आस्ट्रिया-हगरी को निर्बल कर दिया, क्योकि उसने इनकी हरेक राष्ट्रीय जाति मे अलग-अलग नवजीवन का सचार कर दिया, और इसके साथ उनमे आजादी की आकाक्षा उत्पन्न हुई। युद्ध ने मामले को और भी नाजुक बना दिया, और जब युद्ध के फलस्वरूप पराजय हुई, तो देश छोटे-छोटे टुकडो में विभाजित हो गया, और हर राष्ट्रीय क्षेत्र एक अलग राज्य बन गया (यह विभाजन कुछ अच्छा या तर्क-सगत नही था, पर यहा हमे इसके ब्योरे मे जाने की जरूरत नही है)। दूसरी ओर, करारी हार के बावजूद भी जर्मनी के टुकड़े नही हुए। राष्ट्रीयता के जबरदस्त दबाव के कारण वह आफत के समय मे भी सघटित बना रहा।

महायुद्ध के पहले, आस्ट्रिया-हगरी की भाति तुर्की भी अनेक राष्ट्रीय जातियो का जमघट था। बलकानी जातियो के अलावा वहा अरब, आर्मीनियाई, वगैरा जातियाँ भी थी। इसलिए इस साम्राज्य मे भी राष्ट्रीयता फूटकारक बल साबित हुई। सबसे पहले बलकान देशो पर इसका प्रभाव पडा, और उन्नीसवी सदी मे आदि से अत तक तुर्की को, यूनान से शुरू करके, सब बलकान जातियो के साथ बारी-बारी से संघर्ष करना पडा। बडी शक्तियों ने, और खासकर जारशाही रूस ने, इस चेतनाशील राष्ट्रीयता से फायदा उठाने की कोशिश की और उसके साथ साठ-गाठ की। उन्होने आर्मीनियाई लोगो को उस्मानी साम्राज्य को निर्बल बनाने का तथा उस पर हथौड़े चलाने का औजार भी बनाया, और इसी कारण तुर्की सरकार तथा आर्मीनियाई लोगो में बार-बार लडाइया हुईं जिनके फलस्वरूप खूनी हत्याकांड हुए। बडी शक्तियो ने इन आर्मीनियाई लोगो को अपने स्वार्थी प्रचार का साधन बनाया और इस कार्य के लिए उनका उपयोग किया पर महायुद्ध के बाद जब इनका कोई उपयोग नही रहा, तो उन्होने इन्हें अपने भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। बाद में आर्मीनिया, जो काले सागर से लगा हुआ तुर्की के पूर्व में स्थित है, एक सोवियत प्रजातत्र बन गया और रूसी सोवियत सघ मे शामिल हो गया।

तुर्की उपनिवेशो के अरबी भागों को जागृत होने में ज्यादा समय लगा, हालाकि अरबो तथा तुर्कों के बीच कोई प्रेमभाव नही था। सबसे पहले सास्कृतिक जागृति हुई और अरबी भाषा तथा साहित्य का

पुनरुद्धार हुआ । इसका प्रारम्भ सीरिया[1] में सन् १८६० ई० के लगभग ही हो गया था, और फिर यह चीज़ मिस्र तथा अन्य अरबी भाषा-भाषी देशों में फैली । तुर्की में सन् १९०८ ई० की नौजवान तुर्क क्रान्ति तथा सुल्तान अब्दुल हमीद के पतन के बाद राजनैतिक आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगे । अरबी मुसलमानो तथा ईसाइयों दोनों में राष्ट्रवादी भावनाएं ज़ोर पकड़ने लगीं, और अरबी देशो को तुर्की शासन से आज़ाद करने तथा उन्हें एक राज्य में संगठित करने की भावना रूप ग्रहण करने लगी । यद्यपि मिस्र अरबी भाषा-भाषी देश था, पर राजनैतिक लिहाज़ से वह बहुत कुछ अलग सा था । इसलिए इस प्रस्तावित अरबी राज्य में, जिस में अरब देश, शाम, फ़िलस्तीन तथा ईराक को शामिल करना अभीष्ट था, मिस्र के सम्मिलित होने की आशा नही की गई थी । अरब लोग यह भी चाहते थे कि खलीफ़ा के पद को उस्मानी सुल्तान से हटा कर किसी अरबी राजवश में लाया जाय जिससे वे इस्लाम का धार्मिक नेतृत्व फिर प्राप्त कर सकें । इस चीज़ को भी धार्मिक क़दम की बनिस्बत राष्ट्रीय क़दम ही अधिक माना गया,—ऐसा क़दम जो अरबों के महत्व और उनकी कीर्ति को चार चांद लगाने वाला था । इसलिए सीरिया के ईसाई अरबो तक ने इस का समर्थन किया ।

इंग्लैण्ड वालों ने महायुद्ध के पहले से ही इस अरबी राष्ट्रीयतावादी आन्दोलन के साथ साठ-गाठ शुरू कर दी थी । युद्धकाल में एक महान अरबी बादशाहत के बारे में तरह-तरह के वादे किये गये, और मक्का के शरीफ हुसैन ने अपने सामने लटकी हुई इस आशा से लुभा कर अंग्रेज़ो का साथ दिया और तुर्कों के विरुद्ध अरबो की बगावत खड़ी की, कि वह एक महान शासक तथा खलीफ़ा बन जायगा । शाम की मुसलमान तथा ईसाई दोनो अरबी जातियो ने बग़ावत में शरीफ़ हुसैन का साथ दिया, और उनके अनेक नेताओ को इसकी कीमत अपनी जानें देकर चुकानी पड़ी, क्योंकि तुर्कों ने इन्हें फासी पर लटका दिया । ये लोग मई की ६ तारीख को दमिश्क और बेरूत मे फासियों पर चढ़ाये गये थे, और तब से इन राष्ट्रीय शहीदो की याद में यह दिन सीरिया में अभी तक मनाया जाता है ।

अरबो का यह विद्रोह सफल हो गया; ब्रिटिश सरकार ने धन से इस की सहायता की थी, और उसके एक छद्मवेषी भेदिये तथा खुफ़िया विभाग के एजेन्ट कर्नल लारेंन्स नामक असाधारण प्रतिभा वाले अंग्रेज़ का इसमें खास हाथ था । युद्ध के समाप्त होते-होते, तुर्कों के लगभग सारे अरबी उपनिवेश अंग्रेज़ो के अधिकार में आ गये थे । तुर्की साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था । मै तुम्हे बतला चुका हूँ कि मुस्तफ़ा कमाल का, तुर्कों की स्वाधीनता के लिए अपनी लड़ाई में, गैर-तुर्की प्रदेशो पर (कुर्दिस्तान के कुछ भाग के सिवा) कब्ज़ा जमाने का लक्ष्य कभी नही रहा । उसने खास तुर्की पर ही जमे रह कर बड़ी बुद्धिमानी की ।

इसलिए महायुद्ध के बाद इन अरबी देशो के भविष्य का निर्णय करना जरूरी हो गया । विजेता मित्र-राष्ट्रो ने, या यों कहो कि ब्रिटिश तथा फ्रासीसी सरकारो ने, ईमानदारी का ढोग रचकर इन देशो के बारे मे यह घोषणा की कि उनका उद्देश्य था "अर्से से तुर्कों के अत्याचारो से पीड़ित क़ौमो की पूर्ण तथा निश्चित रूप से मुक्ति, और ऐसी राष्ट्रीय हुकूमतो तथा शासन-तन्त्रों की स्थापना जिनकी सत्ता का स्रोत उनके मूल निवासियो की अपनी सूझ-बूझ तथा स्वतन्त्र इच्छा मे हो" । इस उच्च उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन दोनो सरकारों ने इन अरबी राज्यो के बड़े भाग का आपस में बन्दर-बाट शुरू कर दिया । फ्रास और इग्लैण्ड को, राष्ट्र सघ के आशीर्वाद के साथ, "आदेश" जारी कर दिये गये, जो साम्राज्यशाही शक्तियो का प्रदेश हड़पने का नया तरीका था । फ्रास को शाम मिला; इंग्लैण्ड को फ़िलस्तीन और इराक मिल गए । अरब देश का सब से महत्वपूर्ण भाग हिजाज़, इग्लैण्ड के, आवुर्दे मक्का के शरीफ हुसैन, के मातहत कर दिया गया । इस प्रकार एक अकेला अरबी राज्य बनाने के बावजूद, इन अरबी प्रदेशो को अलग-अलग "आदेश" के अधीन अलग-अलग क्षेत्रो में बाट दिया गया । हिजाज़ का एक राज्य अलबत्ता ऊपर से स्वाधीन था, पर वास्तव मे वह अंग्रेज़ो के अधीन था । इन बटवारो से अरब लोगो को भारी निराशा हुई और उन्होने इन्हे अटल मानने से इन्कार कर दिया । लेकिन उन्हें तो अभी और भी अचम्भे और निराशाएं देखनी बाकी थी, क्योकि इन लोगों पर अधिक आसानी से शासन करने के लिए, हर "आदेश" की मर्यादाओ के अन्तर्गत वही पुरानी साम्राज्यशाही भेदनीति बरती जाने लगी । अब इन देशों में से हरेक पर अलग-अलग ग़ौर करना आसान होगा । इसलिए सब से पहले मै फ्रासीसी "आदेश" सीरिया को लेता हू ।

---

[1] सीरिया (Syria)—इसीको शाम कहते हैं ।

सन् १९२० ई० के प्रारम्भ में शाम में, अंग्रेजों की मदद से अमीर फ़ैसल (हिजाज़ के शाह हुसैन का पुत्र) के अधीन एक अरबी हुकूमत क़ायम की गई। शामी राष्ट्रीय कांग्रेस का एक अधिवेशन हुआ और उसने संयुक्त शाम के लिए एक लोकतंत्र विधान का मसौदा स्वीकार किया। लेकिन यह तो कुछ ही महीनों का तमाशा था, क्योंकि सन् १९२० ई० के ग्रीष्म में फ्रांसीसी लोग अपनी जेब में राष्ट्र संघ का शाम सम्बन्धी "आदेश" लेकर आ धमके, और उन्होंने फैसल को निकाल बाहर किया और देश पर ज़बरदस्ती अधिकार कर लिया। सब मिला कर भी शाम एक छोटा-सा देश है, जिसकी आबादी तीस लाख से कम है। लेकिन फ्रांसीसियों के लिए यह बर्रों का छत्ता साबित हुआ, क्योंकि अब जब मुसलमान तथा ईसाई दोनों शामी अरब जातियों ने स्वाधीनता प्राप्त करने का निश्चय कर लिया था, तब वे किसी अन्य शक्ति के प्रभुत्व को आसानी से कैसे स्वीकार कर सकती थीं। बस, वहां निरन्तर झगड़ा-फसाद रहने लगा और जगह-जगह बलवे होने लगे, और सीरिया में फ्रांसीसियों का राज्य चलाने के लिए विशाल फ्रांसीसी सेना की ज़रूरत पड़ गई। तब फ्रांसीसी सरकार ने साम्राज्यशाही के हस्ब-मामूल दाव-पेंच चलाये, और देश को और भी छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित करके तथा धार्मिक व अल्पसंख्यक मतभेदों को महत्व देकर, शामी राष्ट्रीयता को निर्बल करने का प्रयत्न किया। "शासन करने के लिए फूट डालने" की यह नीति पूर्व-निश्चय के साथ अपनाई गई थी, और करीब-करीब सरकारी तौर पर ज़ाहिर कर दी गई थी।

शाम पहले ही छोटा-सा देश था; अब उसे पांच अलग-अलग राज्यों में बांट दिया गया। पश्चिमी समुद्र-तट पर, लबनान पर्वत श्रेणी के निकट, लबनान का राज्य बना दिया गया। यहां की आबादी में अधिक संख्या मैरोनाइट नामक सम्प्रदाय के ईसाइयों की थी। इन लोगों को, शामी अरबों के विरुद्ध अपनी ओर मिलाने के लिए, फ्रांसीसियों ने विशिष्ट दर्जा दे दिया।

लबनान के उत्तर में, समुद्र के ही किनारे, पहाड़ों में, जहां आलवी नामक मुसलमान कौम निवास करती थी, एक और छोटा-सा राज्य बना दिया गया। इसके भी और आगे उत्तर में अलेग्ज़ैण्ड्रेटा नामक तीसरा राज्य कायम किया गया, यह तुर्की से लगा हुआ था और इसके निवासी ज्यादातर तुर्की भाषा-भाषी लोग थे।

इस प्रकार कट-छट कर जो ख़ास शाम रह गया वह अपने सब से अधिक उपजाऊ ज़िलों से विहीन था, और इससे भी ज्यादा ख़राबी की बात यह थी कि समुद्र से उसका सम्बन्ध बिल्कुल कट गया था। हज़ारों वर्षों से शाम भूमध्य सागर के तटवर्ती महान देशों में गिना जाता था, लेकिन अब यह प्राचीन सम्बन्ध टूट गया और उसे उजाड़ मरुभूमि से नाता जोड़ना पड़ा। यही नहीं बल्कि इस बचे-खुचे शाम में से भी एक पर्वतीय टुकड़ा अलग करके जबल-उद्-द्रूज़ नामक प्रथक राज्य बना दिया गया जहां कबीलों वाली द्रूज़ कौम बसती थी।

शामवासी शुरू से ही फ्रांसीसी "आदेश" को चुपचाप सहन करने को तैयार नहीं थे। वहां मुठ-भेड़ें और बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए जिनमें अरब स्त्रियों ने भाग लिया। फ्रांसीसियों ने इनका बड़ी कठोरता से दमन किया। देश के विभाजन ने, और धार्मिक तथा अल्पसंख्यक समस्याएं खड़ी करने के पूर्व-निश्चित प्रयत्नों ने, मामला और भी नाज़ुक कर दिया, और असंतोष बढ़ने लगा। इसे दबाने के लिए फ्रांसीसियों ने, भारत में अंग्रेज़ों के ढंग पर, व्यक्तिगत तथा राजनैतिक स्वतंत्राओं पर पाबन्दियां लगा दीं, और देश भर में अपने भेदियों तथा ख़ुफ़िया विभाग के आदमियों का जाल फैला दिया। उन्होंने ऐसे "वफ़ादार" सीरिया वासियों को सरकारी ओहदों पर नियुक्त किया जिनका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था और जिन्हें उनके देशवासी आमतौर पर गद्दार समझते थे। अलबत्ता यह सब किया गया नितान्त दम्भ-पूर्ण नीयतों से, और फ्रांसीसियों ने घोषणा की कि वे "शामवासियों को राजनैतिक प्रौढ़ता और स्वाधीनता की तालीम देना अपना कर्त्तव्य" समझते हैं। इस तरह के वाक्यों से भारतवासी भी परिचित हैं।

परिस्थिति नाज़ुक होती जा रही थी, ख़ासकर जबल-उद्-द्रूज़ के लड़ाकू तथा कुछ-कुछ आदिम निवासियों में (जो हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के कबीलों से मिलते-जुलते हैं) फ्रांसीसी गवर्नर ने इन द्रूज़ों के नेताओं के साथ बड़ी गन्दी चाल खेली। उसने इन्हें निमन्त्रण दिया और फिर कैद करके बन्धक बना कर रख लिया। यह घटना सन् १९२५ ई० के ग्रीष्म में हुई, और जबल-उद्-द्रूज़ में तुरन्त बलवा फूट पड़ा। यह स्थानीय विद्रोह सारे देश में फैल गया, और शाम की आज़ादी तथा एकता के लिए व्यापक उपद्रव बन गया।

शाम की स्वाधीनता का यह युद्ध एक निराली चीज था। भारत के दो या तीन जिलो के आकार का यह छोटा-सा देश उस फ्रांस से लडने को खड़ा हो गया जो उस समय ससार की सबसे जबरदस्त फ़ौजी शक्ति था। यह तो सही है कि सीरिया के लोग विशाल तथा सुसज्जित फ्रांसीसी सेनाओ से जम कर लडाइया नही लड सकते थे, पर उन्होंने इनका देहाती इलाकों पर कब्ज़ा रखना मुश्किल कर दिया। फ्रांसीसियों के कब्ज़े में केवल बड़े-बडे नगर-थे, और इन पर भी शाम के लोग अक्सर छापे मारते रहते थे। फ्रासीसियो ने हजारो को गोलियो से भून कर और अनेको गाँवो को भस्मीभूत करके लोगो को आतकित करने का भरसक प्रयत्न किया। अक्तूबर, सन् १९२५ ई०, में दमिश्क के प्रसिद्ध पुराने शहर पर भी बम बरसाये गये और उसका बहुत-सा भाग नष्ट कर दिया गया। सारा का सारा शाम फ़ौजी-छावनी बन गया था। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह उपद्रव दो साल तक नही दबा। आखिरकार फास की जबरदस्त फौजी मशीन ने इसे कुचल दिया, परन्तु शामवासियो की महान कुर्बानिया व्यर्थ जाने वाली नही थी। उन्होंने अपनी आजादी का अधिकार सिद्ध कर दिया था, और दुनिया जान गई थी कि वे किस मसाले के बने हुए थे।

गौर करने की दिलचस्प बात यह है कि फ्रासीसियो ने तो इस उपद्रव को मजहबी रग देने की कोशिश की और ईसाइयो को द्रूज़ो से लड़ाना चाहा, पर शामवासियो ने साफ़ कह दिया कि वे तो राष्ट्रीय आजादी के लिए लड़ रहे थे, किसी धार्मिक उद्देश्य के लिए नही। उपद्रव के ठेठ शुरू मे ही द्रूज़ प्रदेश में एक कामचलाऊ सरकार स्थापित कर ली गई थी। इस सरकार ने एक घोषणा जारी की जिसमे जनता से अनुरोध किया गया था कि वह स्वाधीनता के युद्ध में योग देकर "एक तथा अखड सीरिया के लिए पूर्ण स्वाधीनता" प्राप्त करे, "विधान का मसौदा बनाने के लिए विधान सभा का स्वतन्त्र चुनाव हो, देश मे दखल जमाने वाली विदेशी सेना हटाई जाय, और सुरक्षा का ज़िम्मा लेने के लिए तथा फ्रासीसी क्रान्ति व मानव अधिकारो के सिद्धान्तो को प्रयोग में लाने के लिए एक राष्ट्रीय सेना सगठित की जाय"। मतलब यह कि फ्रासीसी सरकार और फ्रासीसी सेना ने ऐसी कौम को दबाने का प्रयत्न किया जो फ्रासीसी क्रान्ति के सिद्धान्तो के लिए तथा उसके उद्घोषित अधिकारो के लिए लड रही थी।

सन् १९१८ ई० के शुरू के दिनो में ही शाम का फौजी शासन उठा लिया गया, अखबारो पर से नियत्रण भी हटा लिया गया। बहुत से राजनैतिक बन्दी रिहा कर दिये गये। राष्ट्रवादियो की माग के अनुसार, विधान का मसौदा बनाने के लिए एक विधान सभा का आयोजन किया गया। लेकिन अलग-अलग धार्मिक निर्वाचक-वर्गों की व्यवस्था करके (जैसी आजकल भारत मे है), फ्रासीसियो ने आफत के बीज बो दिये। मुसलमानो, यूनानी कैथलिको, यूनानी कट्टर-पथी ईसाइयो और यहूदियो के लिए अलग-अलग पर-कोटे बना दिये गये और हर मतदाता को अपने ही धार्मिक समुदाय के व्यक्ति को वोट देने के लिए मजबूर किया गया। दमिश्क मे एक विचित्र और आखे खोलने वाली स्थिति पैदा हो गई। राष्ट्रवादियों का नेता प्रोटेस्टैण्ट ईसाई था। प्रोटेस्टैण्ट होने के नाते वह किसी विशेष निर्वाचक-वर्ग मे नही आता था, और इसलिए चुना ही नही जा सकता था, हालाकि वह दमिश्क के सबसे अधिक लोकप्रिय व्यक्तियो में गिना जाता था। मुसलमानों ने अपने दस स्थानो मे से एक स्थान खाली करने की तैयारी दिखाई ताकि वह प्रोटेस्टैण्टो को दिया जा सके, पर फ्रासीसी सरकार इस पर राज़ी नही हुई।

फ्रासीसियों की इन तमाम कार्रवाइयो के बावजूद विधान सभा पर राष्ट्रवादियो का कब्ज़ा हो गया, और उन्होने शाम के लिए स्वाधीन तथा पूर्ण-सत्ताधारी राज्य के विधान का मसौदा बनाया। इसके अनुसार शाम ऐसा प्रजातंत्र बनने वाला था जिसमें सारी सत्ता का स्रोत जनता थी। इस विधान मे फ्रासीसियो का या उनके "आदेश" का कही ज़िक्र भी न था। फ्रासीसियो ने इस पर अपना विरोध ज़ाहिर किया, मगर विधान सभा टस से मस न हुई, और महीनो तक खीचतान होती रही। अन्त मे फ्रासीसी हाई कमिश्नर ने सुझाव रक्खा कि इस विधान को केवल एक अन्तर्वर्त्ती धारा के साथ स्वीकार कर लिया जाय; और वह यह कि जब तक "आदेश" चलता रहे तब तक विधान की किसी धारा का ऐसा प्रयोग न किया जाय कि वह "आदेश" के मातहत फ्रांस की ज़िम्मेदारियो के खिलाफ पडे। यह कुछ गोलमोल बात थी, पर फिर भी फ्रासीसियो की तो इसमें बडी हेठी होती थी। लेकिन विधान सभा यह बात तक मानने को तैयार नही हुई। निदान, मई, सन् १९३० ई०, में फ्रांसीसी सरकार ने विधान सभा को भग कर दिया और साथ ही विधान का अपना तैयार किया हुआ मसौदा उद्घोषित कर दिया, जिसमे उसकी वह अन्तर्वर्त्ती धारा जोड दी गई थी।

इस प्रकार खास शाम जो कुछ चाहता था उसका अधिकांश प्राप्त करने में सफल हो गया। मगर न तो उसने अपनी किसी एक भी माग को समझौते की खातिर ढीली किया और न छोडा। दो चीजें रह गई थीं: एक तो "आदेश" का अन्त, जिसके साथ अन्तर्वर्त्ती धारा भी खतम हो जाती; दूसरी शाम की एकता का महत्तर प्रश्न। इनके अलावा वैसे यह विधान प्रगतिशील है, और ऐसा बनाया गया है कि देश पूर्ण स्वतन्त्र हो जाय। अपने महान विद्रोह में शामवासियों ने अपने आप को वीर और दृढ-निश्चयी लडाके सिद्ध कर दिया, और बाद में समझौते की बातचीत में भी वे उतने ही दृढ-निश्चयी और अटल बने रहे, और उन्होने पूर्ण स्वतन्त्रता की अपनी माग को ज़रा भी मुलायम या मर्यादित करने से इन्कार कर दिया।

नवम्बर, सन् १९२३ ई०, में फ्रास ने शाम के 'डिपुटियो के चैम्बर' के सामने एक सन्धि-पत्र रक्खा। इस चैम्बर में ऐसे लोग भर दिये गये थे जिनसे फ्रास का मतलब सिद्ध हो। इसमे फ्रासीसी सरकार के समर्थक नर्मदली लोगो का बहुमत था। लेकिन इस पर भी चैम्बर ने इस सन्धि-पत्र को ठुकरा दिया। इसका कारण यह था कि फ्रास एक तो इस पर अड़ा हुआ था कि शाम का पाच राज्यो मे तत्कालीन विभाजन बना रहे और दूसरे इस पर कि शाम में उसकी छावनिया, बारके, हवाई-अड्डे और सैन्य-बल कायम रहें।

टिप्पणी (अक्तूबर १९३८)

चेकोस्लोवाकिया मे नात्सियो की शानदार जीत ने, और योरप पर जर्मनी के बढते हुए प्रभाव ने तथा उपनिवेशो के लिए उसकी माग ने, ससार भर में एक नई स्थिति पैदा कर दी है। फ्रास अब बडी शक्तियो की दूसरी श्रेणी मे गिर गया है, और इतने विस्तृत समुद्रपारवर्ती साम्राज्य को अधिक समय तक नही सम्हाल सकता। फिलस्तीन की कठिन परिस्थिति के फलस्वरूप यह प्रस्ताव किया जा रहा है कि शाम और फिलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन को एक करके उनका अरबी सघ बनाया जा सकता है।

: १६७ :

फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन

२९ मई, १९३३

शाम से लगा हुआ फिलस्तीन है जिसपर ब्रिटिश सरकार को राष्ट्र सघ से "आदेश" मिला हुआ है। यह देश तो और भी छोटा है जिसकी आबादी दस लाख से भी कम है, लेकिन जो अपने पुराने इतिहास और पुरानी बातो से सम्बन्ध के कारण लोगो का ध्यान बहुत आकर्षित करता है। क्योकि यह यहूदियो तथा ईसाइयों, दोनो का तीर्थ-स्थान है, और कुछ हद तक मुसलमानो का भी है। इसके निवासी प्रधानतया मुसलमान अरब है, और वे आज़ादी की तथा सीरिया के अपने अरब-भाइयो के साथ एकता की माग करते है। लेकिन ब्रिटिश स्वार्थो ने यहा यहूदियो की विशेष अल्पसख्यक समस्या खड़ी कर दी है। ये यहूदी अग्रेज़ो का पक्ष लेते है और फिलस्तीन की आज़ादी का विरोध करते है, क्योकि उन्हे डर है कि इससे वहा अरबी शासन हो जायगा। अरब और यहूदी विरोधी दिशाओ मे ज़ोर लगा रहे है, इसलिए आपसी मुठभेड़ हो जाना लाज़िमी है। अरबो की ओर उनकी बडी सख्या है; दूसरी ओर विपुल साम्पत्तिक साधन है और यहूदी जाति का विश्व-व्यापी सगठन है। इसलिए इग्लैण्ड यहूदी धार्मिक राष्ट्रीयता को अरब राष्ट्रीयता के विरुद्ध खडी कर रहा है, और दुनियामें दिखावा यह करता है कि बीच-बचाव करने वाले की हैसियत से तथा दोनो के बीच शान्ति कायम करने के लिए उसका वहा बना रहना जरूरी है। यह वही पुराना खेल है जिसे हम साम्राज्यशाही प्रभुता के मातहत अन्य देशो मे देख चुके है; यह अनोखी बात है कि इसे बार-बार दोहराया जाता है।

यहूदी लोग बडी निराली कौम हैं। शुरू-शुरू में फिलस्तीन में इनका छोटा-सा कबीला था, या कई कबीले थे, और इनकी प्रारम्भिक कथा इञ्जील की पुरानी धर्म-पुस्तक में वर्णन की गई है। वे बडे ही अहभावी थे, और यह समझते थे कि वे 'खुदा की प्यारी कौम' है। लेकिन इस तरह के अहभाव में लगभग सभी कौमे फसी हुई है। यहूदियो को बार-बार जीता गया, दमन किया गया और गुलाम बनाया गया,

और इन्जील के अधिकृत अनुवाद में इन यहूदियों के जो गीत और विलाप दिये हुए हैं, वे अंग्रेजी भाषा की सब से सुन्दर और मर्मस्पर्शी कविताओं में गिने जाते हैं। मेरा ख़याल है कि मूल इबरानी भाषा में वे इतने ही या इससे भी अधिक सुन्दर होंगे। एक भजन की कुछ पंक्तियां मैं यहां देना चाहता हूं:

"बाबीलन के समुद्रतट पर हम बैठ गये और विलाप करने लगे : जिस समय ऐ जाइयन[1] हमें तेरी याद आई।

अपने सुरमंडलों[2] को हमने लटका दिया : उन पेड़ों पर जो वहां थे।

क्योंकि जो हमें बन्दी बना कर हांक ले गये थे वे हमसे, हमारी शोकाकुल अवस्था में, एक गीत और राग सुनना चाहते थे : हमें जाइयन का एक गीत सुनाओ।

हम प्रभु का गीत कैसे गावें : एक बिराने देश में ? ऐ यरूशलम, अगर मैं तुझे भूल जाऊं : तो मेरा दाहिना हाथ अपनी कुशलता भूल जाय।

अगर मैं तुझे याद न करूं, तो मेरी ज़बान तालू से चिपक जाय . हां, अगर हंसी-खेल में भी मैं यरूशलम का तिरस्कार करूं।"

आख़िरकार ये यहूदी संसार भर में बिखर गये। इनका न तो कोई वतन था और न कोई राष्ट्र, इसलिए जहां-जहां वे गये वहां-वहां उनके साथ नागवार और अवांछनीय परदेशियों का-सा बर्ताव किया गया। इन्हें शहरों के ख़ास मोहल्लों में, जिन्हें 'गैटो' कहते थे, दूसरों से बिल्कुल अलग बसाया गया, ताकि ये दूसरों को भ्रष्ट न कर दें। कभी-कभी तो इन्हें ख़ास तरह का लिबास पहनने को मजबूर किया जाता था। इन्हें अपमानित किया जाता था, घृणा भरे ताने सुनाये जाते थे, यन्त्रणाएं दी जाती थीं, और हत्याकांडों के द्वारा मौत के घाट उतार दिया जाता था। "यहूदी" शब्द ही एक गाली, तथा कंजूस और मक्खी-चूस बौहरे का पर्यायवाची शब्द ही बन गया। इतने पर भी यह अद्भुत कौम इस सब में से न केवल ज़िन्दा निकल आई, बल्कि अपनी जातीय तथा सांस्कृतिक विशिष्टताएं भी कायम रख सकी, और खूब फूली-फली, और इसने ढेरों महान पुरुषों को भी जन्म दिया। आज यहूदी लोगों ने वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों साहित्यकारों, साहूकारों, व्यापारियों, आदि में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है, यहां तक कि बड़े-से-बड़े समाजवादी तथा साम्यवादी भी यहूदी रहे हैं। अलबत्ता इनमें ज्यादातर लोग बहुत मालदार नहीं हैं, ये पूर्वी योरप के शहरों में भरे हुए हैं, और समय-समय पर इन्हें "पोग्रोमों" यानी हत्याकांडों का शिकार बनना पड़ता है। इन आश्रयहीन तथा देशहीन लोगोंने, ख़ासकर इनमें से गरीबों ने उस पुराने यरूशलम के स्वप्न देखना कभी नहीं छोड़ा जो उनकी कल्पना में इतना महान तथा वैभवपूर्ण दिखाई देता है जितना असलियत में वह कभी रहा ही नहीं। वे यरूशलम को ज़ाइयन कहते हैं और उसे स्वर्गभूमि की तरह मानते हैं। ज़ाइयनवाद वही पुरातन की पुकार है जो इन्हें यरूशलम तथा फिलस्तीन की ओर खींचती है।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों में इस ज़ाइयनवादी आन्दोलन ने धीरे-धीरे उपनिवेश बसाने के आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, और बहुत-से यहूदी फिलस्तीन में बसने को चले गये। इबरानी भाषा का भी पुनरुद्धार हुआ। महायुद्ध के दौरान में ब्रिटिश सेनाओं ने फ़िलस्तीन पर धावा किया, और जब वे यरूशलम की ओर कूच कर रही थीं तब ब्रिटिश सरकार ने, नवम्बर, सन् १९१७ ई०, में एक घोषणा की जो बाल्फ़ोर घोषणा कहलाती है। उन्होंने घोषित किया कि उनका इरादा फिलस्तीन में "यहूदी राष्ट्रीय वतन" स्थापित करने का है। यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी समाज की सद्भावना प्राप्त करने के लिए की गई थी, और पैसे के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण भी थी। यहूदियोंने इसका स्वागत किया। लेकिन एक छोटी-सी कमी रह गई। मालूम होता है एक ऐसे तथ्य पर ध्यान ही नहीं गया जो कम महत्वपूर्ण नहीं था। फिलस्तीन कोई वीरान जंगल या ख़ाली और जनहीन स्थान नहीं था। वह तो पहले से ही किसी दूसरों का वतन था। इसलिए ब्रिटिश सरकार का यह उदारतापूर्ण प्रस्ताव वास्तव में उन लोगों को नुकसान पहुंचानेवाला था जो फ़िलस्तीन में पहले से ही रहते आये थे। और इन लोगों ने जिनमें अरब, ग़ैर-अरब, मुसलमान, ईसाई, और वास्तव में हरेक गैर-यहूदी शामिल थे, इस घोषणा पर ज़ोरदार विरोध प्रदर्शित

---

[1] Zion or Sion—यरूशलम की एक पहाड़ी जिस पर हज़रत दाऊद का निवास-स्थान था।

[2] एक प्रकार का तारों का बाजा।

किया। यह तो वास्तव में आर्थिक प्रश्न था। इन लोगों को लगा कि यहूदी लोग तमाम प्रवृत्तियों में उनका मुकाबला करेंगे, और अपनी महान सम्पत्ति के बल पर देश के आर्थिक स्वामी बन जायगे। उन्हें भय था कि यहूदी लोग उनके मुह की रोटी और किसान वर्ग की धरती छीन लेंगे।

तभी से फिलस्तीन की कहानी अरबो और यहूदियो के बीच संघर्ष की कहानी रही है, जिसमें ब्रिटिश सरकार ने हवा के रुख के अनुसार कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लिया है, लेकिन आम तौर पर यहूदियों का समर्थन किया है। इस देश को एक स्वराज्य-सत्ता-हीन ब्रिटिश उपनिवेश माना जाता रहा है। अरबो ने ईसाइयो तथा अन्य गैर-यहूदी कौमो का समर्थन प्राप्त करके, आत्म-निर्णय के अधिकार की तथा पूर्ण आजादी की माग रक्खी है। उन्होने "आदेश" पर तथा नये आवासियो पर इस कारण से घोर आपत्ति की है कि वहा ज्यादा लोगो के लिए गुजायश ही नही है। ज्यो-ज्यों यहूदी आवासियो का ताता बध रहा है, त्यों-त्यो उनका भय तथा क्रोध भी बढता जा रहा है। अरबो ने साफ कह दिया कि है "जाइनवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद का चेरा है। जिम्मेदार जाइनवादी नेता इस पर निरन्तर जोर देते रहे है कि बलवान 'यहूदी राष्ट्रीय वतन' भारत के मार्ग पर पहरा देने के लिए अग्रेजो के लिये बहुत फायदेमन्द होगा, और केवल इस कारण होगा कि वह अरबो की राष्ट्रीय आकाक्षाओ का प्रतिरोध करनेवाला बल है।" भारत का नाम कैसी ऊट-पटाग जगहो मे उठ खडा होता है।

अरब कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग का, और उसके द्वारा बनाई जाने वाली व्यवस्थापक कौन्सिल के चुनावो के बहिष्कार का, निश्चय किया। यह बहिष्कार बडा सफल हुआ, और कौन्सिल बन ही नही सकी। एक तरह के असहयोग की नीति वर्षों चलती रही; फिर वह जरा हलकी पड गई; और कुछ समुदायो ने ब्रिटिश सरकार को आशिक सहयोग दिया। मगर इस पर भी अग्रेज लोग चुनी हुई कौन्सिल नही बनवा सके, और हाई कमिश्नर सर्व-सत्ताधारी सुल्तान की तरह हुकूमत करने लगा।

सन् १९२८ ई० मे विभिन्न अरबी फिरके अरब काग्रेस में मिल कर फिर एक हो गये, और उन्होने "अधिकार के रूप मे" लोकतत्री पार्लमेण्टी शासन-व्यवस्था की माग की। उन्होने निडर होकर यह भी कह दिया कि "फिलस्तीन की जनता मौजूदा निरकुश औपनिवेशिक शासन व्यवस्था को न तो बर्दाश्त कर सकती है और न करेगी"। अरबी राष्ट्रीयता की इस नई लहर का ध्यान देने योग्य स्वरूप था आर्थिक प्रश्नो पर जोर दिया जाना। यह हमेशा इस बात का लक्षण हुआ करता है कि लोग परिस्थिति की वास्तविकता के महत्व को दिन पर दिन ज्यादा समझते जा रहे है।

अगस्त, सन् १९२९ ई०, मे बडे भारी अरब-यहूदी दगे हुए। इनका असली सबब तो था यहूदियो की बढती हुई सम्पदा तथा सख्या के फलस्वरूप अरबो मे कटुता तथा भय का सचार, और साथ ही यहूदियो द्वारा अरबो की आजादी की माग का विरोध। लेकिन तात्कालिक कारण उस दीवार का झगडा था जो "विलाप की दीवार" कहलाती है। यह दीवार पुराने जमाने में हिरोद के मन्दिर के परकोटे का भाग थी। इसलिए यहूदियो के लिए यह पवित्र स्थान है, और वे इसे अपने उन दिनो की यादगार मानते है जब वे एक महान कौम थे। बाद मे इस स्थान पर मस्जिद बना दी गई, और यह दीवार उसी की इमारत में शामिल कर दी गई। यहूदी लोग इस दीवार के पास प्रार्थना करते है, और जोर-जोर से नौहा[1] पढते है। इसीलिए इसका नाम "विलाप की दीवार" पड गया है। अपनी एक सबसे प्रसिद्ध मस्जिद के निकट इस नौहा-गरी पर मुसलमान लोग ऐतराज करते है।

दगो के दबा दिये जाने के बाद यह सघर्ष दूसरे तरीको से चलने लगा। और अनोखी बात यह है कि अरबो को इसमें फिलस्तीन के सारे ईसाई सम्प्रदायो का समर्थन हासिल था। इसलिए मुसलमानो तथा ईसाइयो, दोनो ने एक होकर बडी-बड़ी हडताले और प्रदर्शन किये। स्त्रियो तक ने भी इस में प्रमुख भाग लिया। इससे जाहिर होता है कि असली झगडा धार्मिक नही था, बल्कि नवागन्तुको तथा पुराने निवासियो के बीच आर्थिक सघर्ष था। ब्रिटिश हुकूमत "आदेशो" के अन्तर्गत अपने कर्त्तव्यो का पालन करने में जो असमर्थ रही, और खास कर सन् १९२९ ई० के दगो को न रोक सकी, इसके लिए राष्ट्र सघ ने उसकी कड़ी आलोचना की।

---

[1] Wailing Wall. [2] इञ्जील की पुरानी धर्मपुस्तक का वह अंश जिसमें यहूदी कौमका विलाप है।

बस, फ़िलस्तीन क़रीब-क़रीब एक ब्रिटिश उपनिवेश बना हुआ है, और कुछ बातो में तो एक सम्पूर्ण उपनिवेश से भी बदतर है। और अंग्रेज लोग यहूदियों को अरबों के विरुद्ध अपना मोहरा बना कर इस हालत को बरक़रार रख रहे है। यहां अंग्रेज कर्मचारी भरे हुए है और तमाम ऊंचे ओहदो को घेरे हुए है। जैसा कि अंग्रेज़ो के सब अधीन देशो में होता आया है, यहाँ भी शिक्षा के लिए कुछ नही किया गया है, हालांकि अरब लोग इसके लिए बहुत ही उत्कण्ठित है। यहूदियो के आलीशान स्कूल और कालेज हैं, क्योकि उन्हे महान आर्थिक साधन उपलब्ध है। यहूदियों की आबादी मुसलमानो की आबादी की लगभग एक-चौथाई तक तो पहुंच ही चुकी है, और उनकी आर्थिक सामर्थ्य भी बहुत ज्यादा हैं। वे तो शायद उस दिन की आस लगाये बैठे हैं जिस दिन फिलस्तीन में उनकी कौम का बोलबाला होगा। राष्ट्रीय आज़ादी तथा लोकतन्त्री शासन के लिए अपने सघर्ष मे अरबो ने यहूदियो का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की, पर मित्रता के इस प्रस्ताव को यहूदियो ने ठुकरा दिया। उन्होने विदेशी शासक शक्ति का पक्ष लेने में ही अपना भला समझा है, और इस प्रकार बहुसख्यक जनता की आज़ादी रोक रखने मे उसे मदद पहुचाई है। इसलिए यह बहुमत जिसमें अरबो की प्रधानता है और ईसाई भी है, यहूदियो के इस रुख पर सख्त नाराज़ है।

ट्रान्स-जार्डन

फिलस्तीन से लगा हुआ, जर्दन नदी के उस पार एक और छोटा-सा राज्य है, जो अंग्रेज़ो की युद्धोत्तर रचना है। यह ट्रान्स-जार्डन कहलाता है। यह नन्हा-सा क्षेत्र रेगिस्तान की सीमा पर है और शाम तथा अरब देश के बीच में स्थित है। इस राज्य की कुल आबादी तीन लाख है, जो मद्धिम आकार के एक शहर के बराबर भी नही है। ब्रिटिश सरकार इसे आसानी से फिलस्तीन मे शामिल कर सकती थी, पर साम्राज्यशाही नीति हमेशा विभाजन को सघटन से बेहतर समझती है। इस राज्य का भारत को जाने वाले खुश्की और हवाई मार्ग में महत्वपूर्ण स्थान है। रेगिस्तान और पश्चिम में समुद्र तक फैले हुए उपजाऊ प्रदेशो के बीच यह उपयोगी सीमावर्ती राज्य भी है।

छोटा-सा होने पर भी इस राज्य मे वही घटनाक्रम चलता रहता है जो पडौस के बडे देशो में। यहा भी लोकतन्त्री पार्लमेण्ट के लिए माग है जो स्वीकार नही की जाती, प्रदर्शनो का दमन है, अखबारो पर समाचारो का प्रतिबन्ध है, नेताओ का निर्वासन है, सरकारी कार्रवाइयो का बहिष्कार है, इत्यादि, इत्यादि। अंग्रेज़ो ने अमीर अब्दुल्ला को (हिजाज़ के शाह हुसैन का दूसरा पुत्र और फैसल का भाई) बड़ी चलाकी से ट्रान्स-जार्डन का शासक बना दिया, जो पूरी तरह उनके अगूठे के नीचे कठपुतली शासक है। लेकिन वह अंग्रेजो को जनता से छिपाने वाले परदे का काम देता है। जो कुछ वहा होता है उसका ज्यादातर दोष उसी के सिर पर पडता है, और जनता उससे बुरी तरह नाराज़ होती जा रही है। अब्दुल्ला के मातहत ट्रान्स-जार्डन वास्तव में कुछ ऐसा ही है जैसे कि हमारे अनेक छोटे-छोटे देशी राज्य।

सिद्धान्त रूप से तो यह राज्य स्वाधीन है, लेकिन सन् १९२८ ई० मे अब्दुल्ला ने ब्रिटिश सरकार के साथ जिस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे, उसके अनुसार इगलैण्ड को तरह-तरह के फौजी तथा अन्य विशेषाधिकार दे दिये गये है। अंग्रेजो की छत्रछाया में नये नमूने की जो स्वाधीनता गुलज़ार होती है, उसका यह छोटे पैमाने पर एक और उदाहरण है। मुसलमान और ईसाई दोनों ही इस सन्धि से, और आम-तौर पर इस वस्तुस्थिति से, बुरी तरह नाराज़ है। सन्धि के विरुद्ध यह ज़ोरदार हलचल दबा दी गई, यहातक कि इसका समर्थन करने वाले अखबार भी बन्द कर दिये गये, और जैसा कि मै ऊपर लिख चुका हू, नेताओ को निर्वासित कर दिया गया। इस पर विरोध और भी बढ गया, और राष्ट्रीय काग्रेस ने अपना अधिवेशन करके एक राष्ट्रीय करार स्वीकार किया, और सन्धि की खुली निन्दा की। जब नये चुनावो के लिए मत-दाताओ की सूचिया बनने लगी तो कुछ लोगो के सिवा सबने इसका बहिष्कार कर दिया। मगर फिर भी अब्दुल्ला तथा ब्रिटिश सरकार ने सन्धि की दिखाऊ स्वीकृति के लिए जैसे-तैसे कुछ समर्थक जमा कर ही लिये।

सन् १९२९ ई० में फिलस्तीन में जो उपद्रव हुए उनके दौरान में ट्रान्स-जॉर्डन में भी ब्रिटिश सरकार तथा बाल्फोर घोषणा के विरुद्ध भारी प्रदर्शन हुए।

मै विभिन्न देशो में होने वाली घटनाओ के बारे में विस्तार के साथ लिखता जा रहा हू, और ये घट-नाए एक ही क़िस्से की पुनरावृत्ति दिखाई पडती हैं। ये बाते मै तुम्हे यह भान कराने को लिख रहा हू कि किस

प्रकार हम अपने-अपने देशो मे इस भ्रम मे पड जाते है कि हमे केवल राष्ट्रीय विशिष्टताओ पर जितना विचार करना है उतना उन ससार-व्यापी बलो पर नही, जिनके साथ सारे पूर्व की उदीयमान राष्ट्रीयता है, और जिसके साथ युद्ध करने के लिए साम्राज्यशाही की वही पुरानी वैज्ञानिक पद्धति है। ज्यो-ज्यो राष्ट्रीयता पनपती है और आगे बढती है, त्यो-त्यो साम्राज्यशाही के दाव-पेंच जरा बदल जाते है; जहाँ तक ऊपरी बातो का ताल्लुक है वहा तक लोगो को सन्तुष्ट करने का और झुकने का दिखावटी प्रयत्न होता है। उधर ज्यो-ज्यो यह राष्ट्रीय सघर्ष विभिन्न देशों में उन्नति करता है, त्यो-त्यों सामाजिक सघर्ष, यानी हर देश के विभिन्न वर्गों मे वर्ग-सघर्ष, भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है, और सामन्ती वर्ग, तथा कुछ हद तक सम्पत्तिशाली वर्ग, साम्राज्यशाही शक्ति का उत्तरोत्तर अधिक पक्षपाती होता जाता है।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८):

फ़िलस्तीन मे अरब राष्ट्रीयता, यहूदी जाइनवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का तिगड्डा सघर्ष जारी है, और दिन प्रतिदिन ज्यादा असाध्य होता गया है। जर्मनी में नात्सियो की शानदार सफलता ने यहूदियो की बहुत बडी सख्या को मध्य योरप से खदेड दिया, और इसलिए फिलस्तीन पर यहूदियो का बोझ बढने लगा। इसने अरबो की इन आशकाओ को तीव्र कर दिया कि वे यहूदी आवासियो की बाढ में डूब जायगे, और फिलस्तीन मे यहूदियों का प्रभुत्व हो जायगा। अरबो ने इसके विरुद्ध लडाई ठान दी, और उनमे से कुछ लोग आतकवादी कार्रवाइयो में पड गये। बाद मे कुछ उग्रतर जाइनवादियोने भी इसी ढग की कार्रवाइयो के द्वारा जैसे का तैसा बदला लिया।

अप्रैल, सन् १९३३ ई०, में फिलस्तीन के अरबो ने आम हडताल का ऐलान कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियो ने सैन्य-बल तथा प्रतिशोध के द्वारा इस हडताल को कुचलने की भरपूर कोशिश की, पर इसके बावजूद यह करीब छै महीने चली। नात्सियो के सुविख्यात नमूने की, ढेरो बन्दियो वाली, कारागार छावनिया बन गई। इस प्रयास मे असफल होने पर सरकार ने फिलस्तीन के मामलो की जाच करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा कि "आदेश" सफल नही हुआ, इसलिए वह वापस लौटा दिया जाना चाहिए। कमीशन ने सुझाव दिया कि देश को तीन क्षेत्रो मे बाट दिया जाय, सबसे बडा क्षेत्र अरबो के अधिकार में, समुद्र के पास वाला छोटा क्षेत्र यहूदियो के अधिकार में, और यरूशलम सहित तीसरा क्षेत्र सीधा अग्रेजो के अधिकार मे। बटवारे की इस योजना पर अरबो, यहूदियो, वगैरा सभी ने ऐतराज किया, लेकिन बहुत-से यहूदी इस पर अमल करने को भी तैयार हो गये। परन्तु अरबों ने साफ कह दिया कि वे इस योजना से कोई वास्ता नही रक्खेगे, और उनका राष्ट्रीय प्रतिरोध जोर पकड़ने लगा। पिछले कुछ महीनों में इस प्रतिरोध ने, ब्रिटिश शासन के उग्र बैरी एक विशाल राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ले लिया है, जो फिलस्तीन के बडे-बडे क्षेत्रो में से उसे धीरे-धीरे हटाता जा रहा है, और ये क्षेत्र अब अरब राष्ट्रीयतावादियो के अधिकार मे आ गये है। ब्रिटिश सरकार ने इस देश को दुबारा जीतने के लिए नई सेनाए भेज दी है, और आजकल वहा आतक और भय का राज हो रहा है।

दुर्भाग्य से अरब लोगो ने आतक फैलाने वाली बहुत सी कार्रवाइया कर डाली है। कुछ हद तक यहूदियो ने भी अरबो के विरुद्ध ऐसा ही किया है। उधर ब्रिटिश सरकार ने आजादी के राष्ट्रीय सघर्ष को कुचलने के इरादे से विनाश और हत्याओ की निर्मम नीति का सहारा लिया और अब भी ले रही है। आयर्लैण्ड मे "काले और भूरे" आतक के दिनो मे जिन उपायों का अवलम्बन किया गया था, उनसे भी बुरे उपाय फ़िलस्तीन मे प्रयोग किये जा रहे है, और समाचारो पर लगाये गये प्रतिबन्ध ने उन्हे दुनिया की नजरो से छिपा रक्खा है। लेकिन फिर भी जो खबरें आ रही है वे काफी बुरी है। अभी मैंने पढा है कि "मुश्तबा"[1] अरब लोग ब्रिटिश फौजी सैनिको द्वारा किस प्रकार "लोहे के पिंजरे" कहलाने वाले और कांटेदार तारो से घिरे बडे-बडे बाड़ो मे भेडो की तरह ठूस दिये जाते है। हरेक "पिंजरे" मे ५० से लगाकर ४०० तक क़ैदियो को भर दिया जाता है, और इनके कुटुम्बो के लोग इन्हे ठीक इस तरह खाना खिलाते है मानो ये पिंजरे में बन्द जानवर हो।

इस बीच सारी अरबी दुनिया मे क्रोधाग्नि भडक उठी है, और अपनी आजादी के लिए छटपटाने

---

[1] जिस पर किसी तरह का सन्देह किया जाय।

वाली क़ौम को कुचलने की इस पाशविक कार्रवाई ने पूर्व भर के मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के दिलों को समान रूप से गहरा हिला दिया है। यह सही है कि इन लोगों ने बहुत-सी गलत और आतंकवादी कार्रवाइया की हैं, लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि वे असल में राष्ट्रीय आज़ादी के लिए लड़ रहे है, और ब्रिटिश साम्राज्यशाही के बलों ने बड़ी निर्दयता के साथ उनका गला दबाया है।

बडे दुख की बात है कि अरब तथा यहूदी, दो अत्याचार-पीड़ित कौमे, आपस मे ही एक दूसरी से टकरा रही है। योरप में यहूदी लोग भीषण अग्नि-परीक्षा मे से गुज़र रहे है और वहा इनकी बड़ी भारी सख्या हर देश से दुतकारी जाकर बेवतनो की तरह मारी-मारी फिर रही है, इसलिए इनके साथ हरेक की सहानुभूति होना लाज़िमी है। फ़िलस्तीन की ओर उनके आकर्षण का कारण भी हरेक समझ सकता है। और यह भी यथार्थ बात है कि यहूदी आवासियो ने देश की उन्नति की है, वहा उद्योगो के कल-कारखाने डाले है, और रहन-सहन के दर्जों को ऊचा उठाया है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि लाज़िमी तौर पर फ़िलस्तीन एक अरबी देश है, और ऐसा ही रहेगा, और अरबो को उन्ही के बाप-दादो की ज़मीनों पर कुचला जाना और गला दबाया जाना उचित नही है। दोनो कौमो की भलाई इसी मे है कि आज़ाद फिलस्तीन मे, बिना एक दूसरी के वाजिब हितों का अपहरण किये, आपसी सहयोग के साथ रहे, और एक प्रगतिशील देश के निर्माण मे सहायक हो।

पर दुर्भाग्य की बात यह है कि भारत तथा पूर्व को जाने वाले समुद्री तथा हवाई मार्गों मे पड़ने के कारण, फ़िलस्तीन ब्रिटिश साम्राज्यशाही योजना का मार्मिक अग है, और इस योजना को फलीभूत करने के लिए अरबो तथा यहूदियों, दोनो का बेजा तरीके से उपयोग किया गया है। इसका भविष्य अनिश्चित है। विभाजन की पुरानी योजना के असफल होने की सम्भावना नज़र आ रही है, और अब अरबी देशो के बडे सघ की चर्चा चल रही है, जिनके बीच मे यहूदियो का स्व-शासित प्रदेश रहेगा। पर यह निश्चित है कि फिलस्तीन में अरबी राष्ट्रीयता कुचली नही जा सकेगी, और देश के भविष्य का निर्माण केवल अरब-यहूदी सहयोग तथा साम्राज्यशाही के उच्छेदन की पक्की नीव पर ही हो सकता है।

: १६८ :

अरब देश की मध्य-युगों से छलांग

३ जून, १९३३

मैंने तुम्हे अरबी देशो के बारे मे तो लिख दिया है, पर अरबी भाषा तथा सस्कृति के उद्गम-स्थान और इस्लाम की जन्मभूमि खुद अरब देश का अभी तक कुछ वर्णन नही किया है। यद्यपि अरबदेश अरबी सभ्यता का स्रोत रह चुका है, पर वह फिसड्डी और मध्यकालीन ही बना हुआ है, और हमारी आधुनिक सभ्यता की कसौटी के अनुसार, मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन और इराक के पडौसी अरबी देश उससे बहुत दूर आगे निकल गये है। अरबदेश बृहदाकार देश है—आकार और क्षेत्रफल मे वह भारत के दो-तिहाई के बराबर है। लेकिन इतना बडा होने पर भी आबादी इस सारे देश की सिर्फ चालीस या पचास लाख ही आकी जाती है—यानी भारत की आबादी का करीब ७०वा या ८०वाँ भाग। इससे स्पष्ट है कि यह बहुत ही बिखरा बसा हुआ है। इसका ज्यादा हिस्सा वास्तव मे रेगिस्तान है, और इसी कारण भूतकाल मे यह लोलुप ले-भग्गुओ की नज़र से बचा रह गया, और चारो ओर की दुनिया मे परिवर्तन होते हुए भी मध्यकालीन अवस्था की निशानी बना रहा, जिसमें रेलें, तार, टेलीफोन, इत्यादि कुछ भी नही है। इसके ज्यादातर निवासी घुमक्कड खानाबदोश कबीले थे, जो बद्दू कहलाते है। ये लोग "रेगिस्तान के जहाज़" कहे जाने वाले अपने तेज़ ऊटो पर बैठ कर और अपने ससार-प्रसिद्ध सुन्दर अरबी घोडो पर सवार होकर बालुकामय रेगिस्तान में एक छोर से दूसरे छोर तक यात्राए किया करते थे। इनके जीवन की व्यवस्था पितृकुल-प्रधान थी, जो हज़ार वर्ष से वैसी की वैसी चली आ रही थी। परन्तु महायुद्ध ने जिस तरह और बहुत-सी चीज़ों को बदल दिया, उसी तरह इसे भी बदल दिया।

अगर तुम नकशे को देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि अरब देश का बृहद प्रायद्वीप लाल सागर तथा ईरान की खाडी के बीच में स्थित है। इसके दक्षिण में अरब सागर है, उत्तर में फ़िलस्तीन, ट्रान्स-जॉर्डन तथा सीरियाई रेगिस्तान है; और उत्तर-पूर्व मे इराक की हरी-भरी और उपजाऊ घाटिया है। पश्चिमी किनारे पर, लाल सागर से लगा हुआ, हिजाज़ का प्रदेश है, जहा इस्लाम ने परवरिश पाई, और जिसमें मक्का तथा मदीना के पवित्र शहर और जद्दा का बन्दरगाह है जहां हर साल मक्का जाने वाले हज़ारो यात्री उतरते है। अरब देश के बीचो-बीच तथा पूर्व की ओर ईरान की खाड़ी तक नज्द फैला हुआ है। हिजाज़ तथा नज्द अरब देश के दो मुख्य भाग है। दक्षिण-पश्चिम में यमन है जो पुराने रोमन ज़माने से "अरेबिया फेलिक्स" यानी भाग्यवान, खुशहाल, अरब देश के नाम से मशहूर रहा है, क्योकि बाक़ी के ज़्यादातर बजर और रेगिस्तानी भाग के मुकाबले में यह उपजाऊ और फलदार है। इस भाग की आबादी जैसी घनी होनी चाहिए वैसी ही है। अरब देश की दक्षिण-पश्चिमी नोक के ठीक पास ही अदन हैं, जो अंग्रेज़ो के कब्ज़े में है, और जिसके बन्दर पर पूर्व से पश्चिम को जाने-आने वाले जहाज़ ठहरा करते है।

महायुद्ध के पहले लगभग समूचा देश तुर्की के अधिकाराधीन था, या यो कहो कि तुर्की की प्रभुता को सिर झुकाता था। परन्तु नज्द में अमीर इब्न सऊद धीरे-धीरे स्वाधीन शासक के रूप मे प्रगट हो रहा था और प्रदेशो को जीतता हुआ ईरान की खाड़ी की ओर बढ़ रहा था। इब्न सऊद मुसलमानों के वहाबी नामक खास सम्प्रदाय या फिरके का सरदार था जिसे अठारहवी सदी मे अब्दुल वहाब ने स्थापित किया था। यह असल में ईसाई धर्म के प्यूरिटनों की तरह इस्लाम में सुधार चाहने वालो का दल था। वहाबी लोग बहुत-सी धार्मिक रस्मो के विरोधी थे और उस पीर-पूजा के भी विरोधी थे जो पीरो-फ़क़ीरो की कब्रो और स्मारक मानी जाने वाली चीज़ो की पूजा के रूप मे मुसलमान जनता मे बहुत प्रचलित हो गई थी। वहाबी लोग इसे बुत-परस्ती[1] कहते थे, जिस प्रकार योरप के प्यूरिटन लोग सन्तो की मूर्त्तियो और यादगारो की पूजा करने वाले रोमन कैथलिको को बुत-परस्त कहा करते थे। इसलिए राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धा के अलावा वहाबी लोगों तथा अरब देश के अन्य मुसलमान फिरको के बीच मज़हबी बैर भी था।

महायुद्ध के दिनो मे अरब देश अंग्रेज़ो की साज़िशो के लिए बडी अनुकूल भूमि बन गया, और विभिन्न अरब सरदारो को रिश्वते तथा सरकारी सहायता देने मे इंग्लैण्ड का और भारत का रुपया पानी की तरह बहाया गया। उनसे तरह-तरह के वादे किये गये, और उन्हे तुर्की के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाया गया। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि आपस में लडने वाले दो प्रतिद्वन्दी सरदारो मे दोनों को अंग्रेज़ो की सरकारी सहायता मिलती रहती थी! आखिर अंग्रेज़ो ने मक्का के शरीफ हुसैन को अरब विद्रोह का झडा खड़ा करने के लिए आमादा कर ही लिया। शरीफ हुसैन का महत्व इस कारण था कि वह मुसलमानों के पैगम्बर हज़रत मोहम्मद का वशज था, और इसलिए इसकी बडी इज़्ज़त थी। ब्रिटिश सरकार ने हुसैन को संयुक्त अरब की बादशाहत देने का वादा किया।

लेकिन इब्न सऊद ज्यादा होशियार था। उसने ब्रिटिश सरकार से अपने को स्वाधीन बादशाह कबूल करवा लिया, पाच हज़ार पौड, यानी क़रीब सत्तर हज़ार रुपये की अच्छी खासी रकम माहवारी लेना स्वीकार कर लिया, और तटस्थ रहने का वचन दे दिया। इस प्रकार, जब कि दूसरे तो लड़-झगड रहे थे, उसने अपनी स्थिति सुदृढ कर ली, और कुछ हद तक इंग्लैण्ड के धन से उसे मज़बूत बना ली। उधर तुर्की के सुल्तान के विरुद्ध, जो उस समय खलीफा भी था, बग़ावत के कारण शरीफ हुसैन भारत समेत तमाम इस्लामी देशो में बदनाम होता जा रहा था। इब्न सऊद ने चुपचाप तटस्थ रहकर इन परिवर्त्तनशील परिस्थितियो से पूरा स्वार्थ-साधन किया, और धीरे-धीरे अपने लिए इस्लाम का ज़ोरदार व्यक्ति होने की ख्याति कमा ली।

अरब देश के दक्षिण मे यमन था। यमन का इमाम यानी शासक महायुद्ध के आदि से अन्त तक तुर्कों का वफादार रहा। लेकिन वह युद्ध-क्षेत्र से अलग जा पड़ा था, इसलिए कुछ कर-घर नही सकता था। तुर्की की पराजय के बाद वह स्वाधीन हो गया। अभी तक यमन एक स्वाधीन राज्य है।

जिस समय महायुद्ध का अन्त हुआ, उस समय अरब देश पर इंग्लैण्ड का प्रभुत्व था, और वह शरीफ हुसैन तथा इब्न सऊद दोनो को अपना हथियार बनाने का प्रयत्न कर रहा था। लेकिन इब्न सऊद इतना

---

[1] मूर्त्ति-पूजा।

होशियार था कि उसने अपने-आपको दूसरो के स्वार्थ का साधन नही बनने दिया। लेकिन शरीफ़ हुसैन के कुटुम्ब का वैभव अकस्मात ही पूरी तरह खिल उठा, क्योकि उसकी पीठ पर अग्रेजो का बल जो था। खुद हुसैन हिजाज़ का बादशाह बन गया; उसका एक पुत्र फ़ैसल सीरिया का शासक बना; दूसरे पुत्र अब्दुल्ला को अंग्रेजों ने ट्रान्स-जॉर्डन के छोटे-से नये राज्य का शासक बना दिया। परन्तु यह वैभव ज्यादा दिन नही टिका क्योंकि, जैसा हम देख चुके है, फ़ैसल को फ़ासीसियो ने सीरिया से निकाल बाहर किया, और हुसैन की बादशाहत इब्न सऊद के वहाबियों की बाढ़ में बह गई। फैसल को जो फिर बेकारों की मडली मे शामिल हो गया था, अग्रेजो ने ईराक़ की हुकूमत प्रदान कर दी, और वहा वह अपने संरक्षकों की कृपा के भरोसे राज करने लगा।

हिजाज़ में हुसैन की बादशाहत के अल्प समय मे अगोरा की तुर्की पार्लमेण्ट ने सन् १९२४ ई० मे खलीफ़ा के पद को ही तोड़ दिया। जब कोई खलीफा न रहा तो हुसैन बडी हौसलेबाजी से इस खाली सिंहासन पर कूद पड़ा और उसने अपने-आपको इस्लाम का खलीफ़ा घोषित कर दिया। इब्न सऊद ने देखा कि अब उसका मौक़ा आ गया है, इसलिए उसने अरब राष्ट्रीयता तथा मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता से हुसैन के विरुद्ध कार्रवाई करने का अनुरोध किया। वह एक महत्वाकाक्षी ले-भग्गू के मुकाबले मे इस्लाम के रक्षक की हैसियत से खड़ा हो गया, और होशियारी से किये गये प्रचार की बदौलत अन्य देशो के मुसलमानो की शुभ कामनाएं प्राप्त करने में भी सफल हो गया। भारत की खिलाफत कमेटी ने भी उसे अपनी शुभ कामनाए भेजी। अंग्रेजों ने हवा का रुख देख कर, और यह महसूस करके कि जिस घोडे पर उन्होंने दाव लगाया था वह जीतने वाला नही है, चुपचाप हुसैन का साथ छोड दिया। उन्होंने सरकारी सहायता देना बन्द कर दिया, और बेचारा हुसैन, जिसे इतनी आशाए दिलाई गई थी, बलशाली और चढे चले आने वाले शत्रु के आगे एक तरह से अकेला और असहाय छोड दिया गया।

कुछ ही महीनो के भीतर, अक्तूबर, सन् १९२४ ई०, मे वहाबी लोग मक्का मे घुस आये, और अपने कट्टर विश्वास के अनुसार उन्होंने कुछ मकबरे तोड डाले। इस विनाश के कारण मुस्लिम देशो मे बहुत व्याकुलता फैल गई; भारत मे भी मुसलमानो की भावनाए बहुत भडक गई। अगले साल मदीना और जद्दा भी इब्न सऊद के कब्ज़े मे आ गये और हुसैन तथा उसके परिवार को हिजाज़ से निकाल बाहर किया गया। सन् १९२६ ई० के प्रारम्भ मे इब्न सऊद ने अपने को हिजाज़ का बादशाह घोषित कर दिया। अपनी नई स्थिति को मजबूत बनाने के लिए और विदेशो की मुसलमानो की सद्‌भावनाए प्राप्त करने के लिए, उसने जून, सन् १९२६ ई०, में मक्का मे अखिल-विश्व इस्लामी काग्रेस का अधिवेशन किया, जिसमे उसने अन्य देशो के प्रतिनिधि मुसलमानो को न्यौता देकर बुलाया। मालूम होता है कि खलीफ़ा बनने की उसकी कोई इच्छा नही थी, और कम से कम उसके वहाबी मत के कारण यह सम्भावना भी नही कि ज्यादातर मुसलमान उसे खलीफा मान लेते। मिस्र का शाह फ़ुआद, जिसके राष्ट्र-विरोधी तथा स्वेच्छाचारी कारनामो की जाच हम कर चुके है, खलीफ़ा बनने को बहुत उत्सुक था, लेकिन उसे कोई भी नही चाहता था, यहा तक कि खुद मिस्र की प्रजा भी नही चाहती थी। हुसेन ने जो खलीफा की पदवी धारण कर ली थी, उसे उसने अपनी पराजय के बाद त्याग दिया।

मक्का की इस्लामी काग्रेस ने कोई महत्वपूर्ण निर्णय नही किया, और शायद किसी निर्णय पर पहुचने के अभिप्राय से वह बुलाई भी नही गई थी। यह तो इब्न सऊद ने अपनी स्थिति को, खास कर विदेशी शक्तियो के सामने, मज़बूत बनाने के लिए एक चाल खेली थी। खिलाफत कमेटी के भारतीय प्रतिनिधि, जिनमें मेरे खयाल से मौलाना मोहम्मद अली भी थे, निराश होकर और इब्न सऊद से नाराज़ होकर वापस आये। लेकिन इससे उसका कुछ नही बिगडा। उसने तो जरूरत के वक्त भारत की खिलाफत कमेटी को अपने स्वार्थ का साधन बनाया था, और अब उसे इसकी सद्‌भावना की कोई जरूरत नही रही थी।

इब्न सऊद कुछ ही दिनो मे क़रीब-क़रीब सारे अरब देश का स्वामी बन गया, सिवाय यमन के जो अपने पुराने इमाम के मातहत स्वाधीन राज्य बना रहा। दक्षिण-पश्चिम के इस कोने के अलावा वह अरब देश का एकछत्र स्वामी था। उसने नज्द के बादशाह की उपाधि धारण करली, और इस प्रकार वह दोहरा बादशाह बन गया, यानी हिजाज़ का बादशाह और नज्द का बादशाह। विदेशी शक्तियो ने उसकी स्वाधीनता को मान लिया, और उसने विदेशियों को ऐसी कोई खास रियायतें नही दी जैसी मिस्र में अभी तक है। सच तो यह है कि वे वहा शराब वगैरा मादक पेय तक नही पी सकते थे।

एक सिपाही और योद्धा के रूप में इब्न सऊद सफल हो गया था। अब उसने अपने राज्य को आधुनिक परिस्थितियो के अनुसार ढालने का ज्यादा कठिन कार्य अपने हाथ में लिया। पितृकुल-प्रधान अवस्था से छलांग मार कर वह आधुनिक संसार में आने वाला था। मालूम तो यह होता है कि इस काम में भी इब्न सऊद को भारी सफलता मिली है, और इस प्रकार उसने दुनिया को जतला दिया है कि वह एक दूरदर्शी राज्यनीतिज्ञ है।

उसकी सबसे पहली सफलता अन्दरूनी गड़बड को दबाने में हुई। कुछ ही दिनो में कारखानो तथा यात्रियो के महान रास्ते पूरी तरह निरापद हो गये। यह महान सफलता थी, और तीर्थ-यात्रियो की उस बडी सख्या ने कुदरती तौर पर इसका स्वागत किया जिसे दूर-दूर के मार्गों पर अब तक अक्सर डाकुओ का मुकाबला करना पडता था।

खानाबदोश बद्दुओ को बसा देना इससे भी ज्यादा अद्भुत सफलता थी। हिजाज को जीतने से पहले ही इब्न सऊद ने इनकी बस्तिया बसाना शरू कर दिया था, और इस प्रकार एक आधुनिक राज्य की नीव डाल दी थी। अस्थिर और घुमक्कड़ और आज़ादी-प्रिय बद्दुओ को बसाना आसान नही था, लेकिन इब्न सऊद इस काम मे बहुत कुछ सफल हो गया है। राज्य की शासन-व्यवस्था का अनेक दिशाओ मे सुधार किया गया है, और हवाई-जहाज़ और मोटरें और टेलीफोन और आधुनिक सभ्यता के बहुत से अन्य प्रतीक नज़र आने लगे है। हिजाज़ का धीरे-धीरे पर निश्चय रूप से आधुनीकरण हो रहा है। लेकिन मध्य-युगो से छलाग मार कर आजकल के जमाने मे आना कोई आसान बात नही है, क्योंकि सबसे बडी कठिनाई तो लोगो के विचारो को बदलने मे होती है। यह नई प्रगति और नया परिवर्तन बहुत-से अरब-वासियो को अच्छे नही लगे, पश्चिम की नये-नये ढग की मशीनें, उसके इजन और मोटरें और हवाई-जहाज़, उन्हे शैतान की करामातो जैसे प्रतीत हुए। उन्होने इन नवीनताओ के विरुद्ध आवाज़ उठाई, और सन् १९२९ ई० मे तो वे इब्न सऊद के विरुद्ध भडक ही उठे। इब्न सऊद ने व्यवहार-कुशलता और दलीलो से उन्हे अपनी राय का बनाने की कोशिश की, और बहुतो को तो उसने बना भी लिया। लेकिन कुछ लोग विद्रोह की कार्रवाइयो मे लगे रहे, पर इब्न सऊद ने उन्हे परास्त कर दिया।

इसके बाद इब्न सऊद के सामने एक और कठिनाई आई; लेकिन इस कठिनाई का सामना सारी दुनिया को करना पड रहा था। सन् १९३० ई० से हर जगह व्यापार मे जबरदस्त मन्दी आने लगी है। इसका सब से ज्यादा असर पश्चिम के बडे-बडे उद्योग-प्रधान देशो पर पडा है, जो इसके निरन्तर कसते हुए शिकजे मे अभी तक छटपटा रहे हैं। अरब देश का ससार के व्यापार से कोई वास्ता नही हैं, पर वहा इस मन्दी ने अपना असर दूसरे ही ढग से डाल दिया है। मक्का की महान वार्षिक तीर्थ-यात्रा (हज) से प्राप्त होने वाली आमदनी इब्न सऊद की आय का प्रधान स्रोत रहा है। विभिन्न देशो से हर साल लगभग एक लाख हाजी हज के लिए मक्का जाया करते थे। सन् १९३० ई० में यह सख्या एक दम घट कर चालीस हज़ार रह गई, और यह घटोतरी बाद के वर्षों में भी चलती रही। इसके परिणामस्वरूप देश का आर्थिक ढाचा बिल्कुल उलट गया और अरब देश के अनेकों भागो मे लोगो पर जबरदस्त मुसीबत पड़ गई। धन के अभाव ने इब्न सऊद के लिए बहुत से कामो में खर्च की तगी पैदा कर दी है, और सुधार की उसकी बहुत-सी योजनाओ को खटाई में डाल दिया है। वह विदेशियो को रियायतें देने के लिए कभी तैयार नही था, क्योंकि उसका यह डर वाजिब था कि देश के साधनों का विदेशियो द्वारा निजी स्वार्थ के लिए उपयोग, देश में उनके प्रभाव की वृद्धि का कारण बन जायगा। और इसका परिणाम होगा विदेशियो का हस्तक्षेप और देश की स्वाधीनता मे कमी आना। उसकी ये आशकाए बिल्कुल उचित थी क्योकि पराधीन औपनिवेशिक देशों को जो मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं उनमे से ज्यादातर मुसीबतें विदेशियों के निजी स्वार्थ-साधन से पैदा हुई हैं। इब्न सऊद ने घड़ा-भर आज़ादी-रहित प्रगति तथा धन-सम्पत्ति की तुलना में ग़रीबी और आज़ादी को ज्यादा अच्छा समझा।

मगर व्यापार की मन्दी के दबाव ने इब्न सऊद को अपनी नीति में थोड़ा-सा परिवर्तन करने को मजबूर कर दिया, और उसने विदेशियों को कुछ रियायतें देना शुरू किया। पर फिर भी उसने यह सावधानी रक्खी कि उसकी स्वाधीनता पर आच न आने पावे, और इसके लिए उसने शर्तें लगा दी। फ़िलहाल ये रियायतें केवल विदेशी मुसलमानों की कम्पनियो को ही दी जायगी। मसलन, सब से पहली

रियायत भारतीय मुस्लिम पूजीपतियों की एक कम्पनी को, जद्दा बन्दरगाह तथा मक्का के बीच रेलमार्ग निर्माण करने के लिए दी गई है। अरब देश के लिए यह रेलमार्ग एक जबरदस्त चीज है, क्योंकि इससे हज की वार्षिक यात्रा का रूप ही बिल्कुल बदल जाता है। हाजियों को तो इससे सुविधा होगी ही, पर अरबो के दृष्टिकोण के आधुनीकरण में भी यह बहुत बड़ा हाथ बटायेगी।

पिछले किसी पत्र में मै लिख चुका हू कि फ़िलहाल अरब में एक ही रेलमार्ग है। यह हिजाज़ रेलवे है जो मदीना को सीरिया के अलप्पो नामक स्थान पर बग़दाद रेलवे से जोडती है।

इस पत्र के शुरू में मै लिख चुका हू कि दक्षिण-पश्चिम में यमन पहले "अरेबिया फेलिक्स" कहलाता था। तथ्य तो यह है कि यह नाम दक्षिणी अरब देश के उस बड़े भाग का भी था जो करीब-करीब ईरान की खाड़ी तक फैला हुआ है। परन्तु इस क्षेत्र के लिए यह नाम बिल्कुल अनुपयुक्त है, क्योकि यह तो वीरान रेगिस्तान है। पुराने जमाने में लोग शायद इसके बारे मे ज्यादा नही जानते थे, इसीलिए यह गलती हो गई। कुछ ही दिन पहले तक यह अज्ञात प्रदेश था, जिसकी न तो कोई रूपरेखा बनाई गई थी और न नकशा खीचा गया था।

: १६६ :

इराक़ और हवाई बमबारी की ख़ूबियां

७ जून, १९३३

अब एक अरबी देश पर बिचार करना बाकी रह गया है। यह है इराक या मैसोपोटेमिया—दजला और फरात नामक दो नदियों के बीच का सम्पन्न और उपजाऊ प्रदेश; बगदाद और हारूंरशीद और अलिफ-लैला की पुरानी कहानियो की भूमि। यह ईरान तथा अरब के रेगिस्तान के बीच में स्थित है। इसके दक्षिण तट पर इसका मुख्य बन्दरगाह बसरा है, जो ईरान की खाडी मे गिरने वाली नदी के मुहाने से कुछ ऊपर हट कर है; उत्तर में इसकी सीमा तुर्की से लगी हुई है। इराक और तुर्की की सीमाएं कुर्दिस्तान मे मिलती हैं, जहा कुर्द लोग निवास करते है। इन कुर्दों की ज्यादातर सख्या आजकल तुर्की में है, और तुर्कों के विरुद्ध इनके आजादी के सघर्ष का हाल में तुम्हे बतला चुका हू। लेकिन बहुत से कुर्द ईराक मे भी है, और ये यहा की एक महत्वपूर्ण अल्पसख्यक जाति है। मोसल, जो बहुत वर्षों तक इग्लैण्ड तक तुर्की के बीच बखेड़े की जड़ रहा था, अब ईराक़ के इसी कुर्दी क्षेत्र में है, और इसका अर्थ यह है कि वह अग्रेजो के अधिकाराधीन है। मोसल के निकट असीरियाइयो के प्राचीन नगर निनेवा के खडहर है।

इराक उन देशो मे से था जिनके लिए राष्ट्रसघ ने इंग्लैण्ड को "आदेश" प्रदान किया था। राष्ट्र संघ की धर्मध्वजी भाषा मे "आदेश" का अर्थ है राष्ट्र सघ के नाम पर सभ्यता की "पवित्र धरोहर"। आशय यह था कि "आदेशित" प्रदेश के निवासी न तो इतने उन्नत थे, और न अपने निजी हितो को सम्हालने मे समर्थ थे, इसलिए बडी शक्तियो की ओर से उन्हे इसके लिए सहायता दिया जाना जरूरी था। इसके मुकाबले की कारंवाई शायद यह होगी कि गायो या हिरनो के झुड के हितो की रखवाली के लिए किसी शेर को नियुक्त किया जाय। कहा यह गया था कि ये "आदेश" सम्बन्धित जनता की इच्छा के अनुसार दिये गये थे। पश्चिमी एशिया मे तुर्की शासन से छुटकारा दिलाये हुए देशों के "आदेश" इग्लैण्ड और फ्रास के हिस्से में पड़े। जैसाकि मै बतला चुका हू, इन दोनो देशो की सरकारो ने घोषणा की थी कि उनका एक मात्र उद्देश्य था "इन क़ौमों की पूर्ण और सुनिश्चित मुक्ति........और ऐसी हुकूमतो तथा शासन-व्यवस्थाओं की स्थापना जिनकी सत्ता वहीं के निवासियो की शासन-विधान सम्बन्धी माग और स्वतन्त्र पसद से निकली हुई हो"। पिछले बारह वर्षों मे इस उच्च उद्देश्य को पूरा करने के लिए क्या-क्या कारंवाइया की गई है, उनकी कुछ झाकी हम सीरिया, फिलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन मे देख चुके हैं जहा बार-बार उपद्रव हुए, और असहयोग हुआ और बहिष्कार हुआ। उस समय लोगों की "विधान सम्बन्धी माग और स्वतन्त्र पसन्द" को बढ़ावा देने के लिए उन्हें गोलियों का शिकार बनाया गया, उनके नेताओं को देश से बाहर निकाल कर निर्वासित कर दिया

गया, उनके अखबारों का गला घोट दिया गया, उनके शहर और गाव बरबाद कर दिये गये, और अक्सर फ़ौजी शासन लागू कर दिया गया। इस तरह की घटनाएं कोई नई चीज़ नही है। जब से इतिहास लिखा जाना शुरू हुआ है तभी से साम्राज्यशाही शक्तियो ने हिंसा और विनाश और आतंक का दिल खोल कर उपयोग किया है। आधुनिक नमूने के साम्राज्यवाद की नूतन विशेषता यह है कि वह अपने आतंकवाद और स्वार्थ-साधन को "अमानतदारी" और "जनसमूह की भलाई" और "पिछड़ी हुई कौमो को स्वराज्य की तालीम" वग़ैरा के पाखडभरे शब्दो के परदे के पीछे छिपाने की कोशिश करता है। अगर वे गोलिया चलाते है और हत्याएं करते है और बरबादी करते है, तो केवल उन लोगो की भलाई के लिए जो गोलियो से मारे जाते है। सम्भव है कि यह पाखड प्रगति का लक्षण हो, क्यो कि पाखड का अर्थ है सद्‌गुणो की बड़ाई को कबूल करना, और पाखड इस बात को ज़ाहिर करता है कि चूकि सच्ची बात लोगो को पसन्द नही आती है, इसलिए उसे इस तरह के दिलासा देने वाले और झासा देने वाले शब्दो मे लपेट कर छिपा दिया जाता है। पर कुछ भी हो, यह मक्कारीभरा पाखड नग्न सत्य के मुकाबले मे बहुत बदतर मालूम होता है।

अब हमें यह देखना है कि इराक मे वहा के निवासियो की इच्छाओ को किस तरह पूरा किया गया, और इस देश ने ब्रिटिश "आदेश" के मातहत आज़ादी की ओर कैसी प्रगति की है। महायुद्ध के समय में अंग्रेज़ो ने इराक को, जो उस समय मैसोपोटेमिया कहलाता था, तुर्की के विरुद्ध युद्ध-क्रियाओं के लिए अपना अड्डा बनाया था। उन्होने इस देश को ब्रिटिश तथा भारतीय सैनिको से भर दिया। अप्रैल, सन् १९१६ ई०, में उन्होने भारी शिकस्त खाई, जब कि जनरल टाउनशैण्ड के सेनापतित्व मे लडने वाली ब्रिटिश सेना को कुतल-अमारा में तुर्कों के आगे हथियार डालने पडे। मैसोपोटेमिया के इस सारे युद्ध-कार्य में भीषण सत्यानाश और बद-इन्तज़ामी हुई, और चूकि भारत सरकार इसके लिए बहुत ज्यादा ज़िम्मेदार थी, इसलिए उसे अपनी अयोग्यता और मूर्खता की कड़ी आलोचनाएं खूब सुननी पड़ी। फिर भी, अन्त में अंग्रेज़ो के महान साधनों ने अपना असर दिखाया, और उन्होंने तुर्को को उत्तर की ओर खदेड दिया और बगदाद पर अधिकार कर लिया और बाद में वे मोसल के निकट तक जा पहुचे। महायुद्ध का अन्त होते-होते समूचा इराक अंग्रेजी सेनाओ का अधिकृत क्षेत्र बन गया।

इग्लैण्ड को इराक का जो "आदेश" प्रदान किया गया उसकी पहली प्रतिक्रिया सन १९२० ई० के आरम्भ मे प्रगट हुई। इसके विरुद्ध घोर विरोध का प्रदर्शन हुआ और इस विरोध-प्रदर्शन ने बहुत जल्दी दगे-फिसादो का रूप धारण कर लिया, और इन दगे-फिसादो ने बढते-बढते बगावत का रूप ले लिया जो सारे देश मे फैल गई।। यह अनोखा और दिलचस्प सयोग है कि सन् १९२० ई० के इस पूर्वार्द्ध में तुर्की, मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन और इराक मे क़रीब-क़रीब एक ही समय में दगे-फिसाद हुए। उन दिनो भारत में भी असहयोग आन्दोलन की चर्चा थी। इराक की बगावत आखिरकार कुचल दी गई, और इसमे भारत के सैनिको ने ज्यादातर मदद दी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही का गन्दा काम करना बहुत वर्षों से भारतीय सेना का कर्तव्य रहा है, और इसी कारण से मध्य-पूर्व मे तथा अन्यत्र हमारे देश की काफ़ी बदनामी हो गई है।

अंग्रेज़ो ने इराक की बगावत को कुछ तो बल-प्रयोग से और कुछ भविष्य मे स्वाधीनता के आश्वासनो से ठडा कर दिया। उन्होने अरबी मत्रियों की अस्थायी सरकार कायम की, लेकिन हर मंत्री के साथ एक-एक अंग्रेज सलाहकार लगा दिया जिसके हाथ में असली सत्ता थी। लेकिन ये सीधे-साधे मत्री तक भी इतने उग्र सिद्ध हुए कि अंग्रेज़ो को पसन्द न आये। ब्रिटिश सरकार की योजनाओ का यह तक़ाज़ा था कि इराक पूरी तरह उसका ताबेदार बन जाय, पर कुछ मत्रियो ने इसका समर्थन करने से इन्कार कर दिया। इसलिए अप्रैल, सन् १९२१ ई०, में ब्रिटिश सरकार ने सैयद तालिबशाह नामक एक प्रमुख मत्री को, जो मत्रियो मे सब से योग्य था, गिरफ़्तार करके देश से निकाल दिया, और इस तरह देश को स्वाधीनता के लिए तैयार करने की दिशा मे दूसरा कदम उठाया गया। सन् १९२१ ई० के ग्रीष्म में ब्रिटिश सरकार हिजाज़ के हुसैन के पुत्र फ़ैसल को पकड लाई और उसे ईराकियो को उनके भावी बादशाह के रूप मे भेट कर दिया। तुम्हे याद होगा कि फ़ैसल उन दिनो बेकार था, क्योंकि सीरिया में इसने जो दाव खेला था वह फ़ासीसी हमले के सामने बिल्कुल असफल हो गया था। अंग्रेज़ों का यह भला दोस्त था, और महायुद्ध के दौरान में इसने तुर्की के विरुद्ध अरबों के विद्रोह में प्रमुख भाग लिया था। इसलिए, ब्रिटिश योजनाओं के प्रति देशी

मंत्रियों ने अब तक जितनी तत्परता दिखाई थी, उससे ज्यादा तत्परता की इससे आशा की जाती थी। "प्रतिष्ठित" लोग, धनिक मध्यवर्ग के लोग, और अन्य प्रमुख व्यक्ति, फ़ैसल को इस शर्त पर अपना बादशाह बनाने के लिए राज़ी हो गये कि लोकतन्त्री पार्लमेण्ट वाली वैधानिक हुकूमत क़ायम की जायगी। इस मामले में उनके लिए कोई चारा तो था ही नहीं। पर वे चाहते थे कि जो पार्लमेण्ट बने वह वास्तविक हो, और चूंकि फ़ैसल तो हर हालत में बादशाह होने ही वाला था, इसलिए उन्होंने पार्लमेण्ट की यह शर्त रख दी। आम जनता की इस बारे में कोई राय नहीं ली गई। बस, अगस्त, सन् १९२१ ई०, में फ़ैसल बादशाह बन गया।

लेकिन समस्या का यह कोई हल नहीं था, क्योंकि इराक की जनता ब्रिटिश "आदेश" की कट्टर विरोधी थी, और पूर्ण स्वाधीनता तथा बाद में अन्य अरबी देशों के साथ एकीकरण चाहती थी। आन्दोलन और प्रदर्शन जारी रहे, और एक साल बाद, अगस्त, सन् १९२२ ई०, में मामला नाज़ुक हो गया। तब ब्रिटिश अधिकारियों ने इराक़ियों को स्वाधीनता का एक और पाठ पढ़ाया। ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर पर्सी कॉक्स ने बादशाह (जो उस समय बीमार पड़ा था) के अधिकारों को, और साथ ही मन्त्रियों के तथा इराक को दी गई कौन्सिल के अधिकारों को, खतम कर दिया और हुकूमत की सारी बागडोर खुद अपने हाथों में ले ली। सच तो यह है कि वह एक-छत्र अधिनायक बन गया। उसने अपनी आज्ञाओं का ज़बरदस्ती पालन करवाया, और ब्रिटिश सैन्य बल की सहायता से, और खास कर ब्रिटिश हवाई बल की सहायता से, उपद्रवों को दबा दिया। वही पुराना किस्सा, जो भिन्न-भिन्न रूपों में भारत, मिस्र, सीरिया, वगैरा में हर जगह हुआ, यहां भी दोहराया गया। राष्ट्रवादी अखबार बन्द कर दिये गये, राजनैतिक दल तोड़ दिये गये, नेताओं को निर्वासित कर दिया गया, और ब्रिटिश हवाई जहाज़ों ने अपने बमों से ब्रिटिश साम्राज्य की ज़बरदस्त ताक़त को सिद्ध कर दिया।

मगर फिर भी यह समस्या का हल नहीं था। कुछ महीनों के बाद सर पर्सी कॉक्स ने बादशाह और मन्त्रि मंडल को ज़ाहिरा तौर पर अपना काम करने की अनुमति देदी, और उन्हें इंग्लैण्ड के साथ सन्धि करने पर राज़ी करा लिया। यह आश्वासन फिर दिया गया कि इराक को स्वाधीनता प्राप्त कराने में इंग्लैण्ड उसकी मदद करेगा, और उसे राष्ट्र संघ का सदस्य भी बना लेगा। मगर इन सुन्दर और दिलासा-भरे वादों के पीछे ठोस तथ्य यह था कि इराक सरकार को इस बात पर राज़ी होने के लिए विवश किया गया कि वह शासन-व्यवस्था को अंग्रेज अफसरों की मदद से या इंग्लैण्ड के मंजूरशुदा अफसरों की मदद से चलावे। अक्तूबर, सन् १९२२ ई०, की यह सन्धि जनता की बिल्कुल उपेक्षा करके की गई थी, और उन्होंने इसे बुरी बतलाया। इन लोगों ने साफ कह दिया कि अरबी सरकार केवल ढकोसला है और असली सत्ता पहले की तरह ही अंग्रेज अधिकारियों के हाथ में है। नेताओं ने निश्चय किया कि भावी शासन-विधान का मसौदा बनाने के लिए जो राष्ट्रीय विधान सभा बुलाई जाने वाली थी उसके चुनावों का बहिष्कार किया जाय। यह असहयोग सफल हुआ और विधान सभा बुलाई ही न जा सकी। करों की वसूली में भी दंगे हुए और कठिनाइयां आईं।

साल भर से ज्यादा, सन् १९२३ ई० में आदि से अन्त तक, ये गड़बड़ियां चलती रहीं। आखिरकार, सन्धि में इराक़ के पक्ष में कुछ परिवर्तन किये गये और कुछ प्रमुख आन्दोलनकारियों को निर्वासित कर दिया गया। इससे आन्दोलन कुछ ठंडा पड़ा, और सन् १९२४ ई० के शुरू में विधान सभा के चुनाव किये जा सके। पर इस सभा ने भी ब्रिटिश सन्धि का विरोध किया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने विधान सभा पर ज़ोरदार दबाव डाला, और अन्त में एक तिहाई से कुछ अधिक सदस्यों ने सन्धि पर स्वीकृति की मोहर लगा दी, क्योंकि डिपुटियों की बड़ी संख्या इस अधिवेशन में आई तक नहीं थी।

विधान सभा ने इराक़ के लिए नये शासन-विधान का मसौदा बनाया, और काग़ज़ पर तो यह वाजिब ही मालूम देता था, क्योंकि इसमें यह तजवीज़ थी कि इराक़ वैधानिक मौरूसी बादशाहत और पार्लमेण्टी ढंग की हुकूमत वाला पूर्णसत्ताधारी और स्वाधीन आज़ाद राज्य है। लेकिन पार्लमेण्ट के दो सदनों में से एक बादशाह द्वारा नामज़द किया जाने वाला था। इस प्रकार बादशाह के हाथ में बहुत बड़ा अधिकार था, और बादशाह की पीठ पर अंग्रेज़ अफ़सर थे जो अधिकार वाले ओहदों को घेरे हुए थे। यह विधान मार्च, सन् १९२५ ई०, में लागू हुआ, और पार्लमेण्ट ने कुछ वर्षों तक अपना कर्तव्य निभाया, पर "आदेश"

के विरुद्ध विरोध-प्रदर्शन जारी रहा। मोसल के सम्बन्ध मे इग्लैण्ड तथा तुर्की के बीच वाद-विवाद पर लोगो का बहुत-सा ध्यान सिमट कर लगा रहा, क्योकि इस क्षेत्र के लिए इराक भी दावेदार था। जून, सन् १९२६ ई०, में इग्लैण्ड, इराक़ तथा तुर्की की आपसी सम्मिलित सन्धि के द्वारा यह झगडा अन्तिम रूप से तय हो गया। मोसल इराक़ को दे दिया गया, और चूकि इराक तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही की छाया मे है ही, इसलिए इस तरह से ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा हो गई।

जून १९३० ई०, मे इग्लैण्ड तथा इराक के बीच मित्रता की नई सन्धि हुई। आन्तरिक तथा विदेशी दोनो मामलो मे इराक़ की पूर्ण स्वाधीनता इस बार फिर मान ली गई। परन्तु इसमें जो प्रतिबध और अपवाद रक्खे गये थे वे ऐसे थे कि उनसे इस स्वाधीनता का रूप बदल कर छिपी हुई सरक्षकता बन जाता था। भारत को जाने वाले मार्ग की सुरक्षा के लिए, जिसे इस सन्धि में इग्लैण्ड के "यातायात के आवश्यक मार्ग" कहा गया है, इराक इग्लैण्ड को हवाई अड्डो के लिए जगहे देता है। इंग्लैण्ड मोसल में तथा अन्यत्र अपने सैनिक भी हमेशा रखता है। इराक केवल अग्रेजो को ही सैन्य-शिक्षक रख सकता है, और इराकी सैन्य सगठन में अग्रेज अफसर सलाहकारो की हैसियत से काम करेंगे। हथियार, गोला-बारूद और हवाई जहाज इग्लैण्ड से ही प्राप्त किये जायगे। यदि युद्ध छिड जाय तो शत्रु के विरुद्ध युद्ध सम्बन्धी कार्रवाइया करने के लिए देश में इग्लैण्ड को सब प्रकार की सुविधाए दी जायगी। इस प्रकार मोसल के आस-पास के सामरिक महत्व वाले क्षेत्र से इग्लैण्ड तुर्की, ईरान और अज़रबाइजान में सोवियतों पर आसानी से वार कर सकता है।

इस सन्धि के तुरन्त बाद ही सन् १९३१ ई० मे इग्लैण्ड और इराक़ के बीच एक न्याय-विभाग सम्बन्धी समझौता हुआ जिसमे इराक ने वचन दिया है वह एक ब्रिटिश न्यायिक सलाहकार, अपील की अदालत का एक अग्रेज़ अध्यक्ष, और बग़दाद, बसरा, मोसल आदि स्थानो की अदालतों के अग्रेज़ अध्यक्ष अपने यहा वैतनिक रूप मे रक्खेगा।

इन शर्तो के अलावा भी यह नज़र आता है कि इराक में अंग्रेज अफसरो ने बहुत-से ऊचे ओहदो को घेर रक्खा है। इसलिए परिणामी रूप मे यह "स्वाधीन" देश एक तरह से इग्लैण्ड का सरक्षित देश है, और इस चीज़ को पक्का करनेवाली सन् १९३० ई० की मित्रता की सन्धि पच्चीस वर्ष के लिए है।

यद्यपि पार्लमेण्ट ने सन् १९२५ ई० में नये विधान की स्वीकृति के बाद से ही अपना काम चालू कर दिया था, पर जनता ज़रा भी सन्तुष्ट नही थी, और दूरवर्ती क्षेत्रो में कभी-कभी फिसाद हो जाते थे। कुर्दी प्रदेशो मे तो ख़ास तौर पर यह बात थी। यहा बार-बार उपद्रव हुए, जिन्हे ब्रिटिश हवाई सेना ने बमबारी के तथा समूचे गावो के सत्यानाश के मुलायम व्यवहार से दबा दिया। सन् १९३० ई० की सन्धि के बाद, अग्रेज़ों की छत्रछाया मे इराक को राष्ट्र सघ का सदस्य बनाये जाने का प्रश्न उठा। परन्तु देश मे शान्ति नही थी और फ़िसाद चालू थे। यह न तो "आदेशित" शक्ति इग्लैण्ड के लिए नामवरी की बात थी और न शाह फ़ैसल की तत्कालीन सरकार के लिए। क्योकि ये विद्रोह इस बात के काफ़ी सबूत थे कि जनता उस हुकूमत से सन्तुष्ट नही थी जो ब्रिटिश सरकार ने उन पर ज़बरदस्ती थोप दी थी। इन मामलों का राष्ट्र संघ के सामने आना बहुत अवाछनीय समझा गया, इसलिए इन उपद्रवो को बल प्रयोग और आतक की कार्रवाइयो के द्वारा बन्द करने का विशेष प्रयास किया गया। इस प्रयोजन के लिए ब्रिटिश हवाई बल का उपयोग किया गया, और शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के इन प्रयत्नो का क्या नतीजा हुआ, इसका कुछ ज्ञान एक ऊचे अग्रेज़ अफ़सर के वर्णन से हो सकता है। लैफ़्टिनेन्ट कर्नल सर आर्नोल्ड विल्सन ने ८ जून सन १९३२ ई०, को लन्दन की रॉयल एशियन सोसाइटी के वार्षिकोत्सव पर दिये गये अपने व्याख्यान में ज़िक्र किया था कि किस

> "ढिठाई के साथ (जेनेवा की घोषणाओं के बावजूद) रॉयल एयर फ़ोर्स पिछले दस वर्षों से और खासकर गत छै महीनो मे, कुर्दिस्तान के निवासियो पर बमबारी करता रहा। 'टाइम्स' के विशेष सवाददाता के शब्दो में, तबाह किये गये गांव, हत्या किये गये पशु, अंग-भग किये गये स्त्रिया और बच्चे, सभ्यता की एक-समान बानगी का सबूत देते है।"

जब यह पता लगा कि गावो के लोग हवाई-जहाज के आगमन पर भाग जाते थे और छिप जाते थे, और इतने भी खिलाडी नहीं थे कि जब तक बमो से मर न जाय तब तक बमो का इन्तज़ार करते रहे, तो देर से फटनेवाले नई तरह के बमों का प्रयोग किया गया। ये बम गिरने पर नही फटते थे, बल्कि इस तरह

बंधे हुए होते थे कि कुछ देर बाद फटते थे। इस शैतानी फ़रेब का प्रयोजन यह था कि हवाई जहाजों के चले जाने पर गांव के लोग धोखे में आकर अपनी झोंपडियो में लौट आवें और फिर बम के फटने से आहत हो जाय। जो लोग मर जाते थे उनकी किस्मत एक तरह से अच्छी थी। जो अगहीन हो जाते थे, जिनके हाथ-पांव कभी-कभी कट कर जा पड़ते थे, वे बहुत ज्यादा बदक़िस्मत थे, क्योकि दूर-दूर के उन गावों में डाक्टरी सहायता की कोई व्यवस्था नहीं थी।

बस, इस तरह शान्ति और व्यवस्था फिर क़ायम कर दी गई, और ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में इराक़ ने अपने को राष्ट्र संघ के सामने पेश किया, और उसे सदस्य बना लिया गया। कहा जाता है, और यह सही भी है, कि इराक़ को "बम मार कर" राष्ट्र सघ में फैंक दिया गया।

राष्ट्र संघ का एक सदस्य-राज्य बन जाने के कारण इराक का ब्रिटिश "आदेश" खतम हो गया है। उसका स्थान अब सन् १९३० ई० की सन्धि ने ले लिया है, जिसके मातहत राज्य पर अग्रेजो का कारगर नियन्त्रण पक्का हो गया है। इस स्थिति के कारण असतोष अब भी जारी है, क्योकि इराक़ की जनता पूर्ण आज़ादी और अरबी देशों के साथ एकीकरण चाहती है। राष्ट्र सघ की सदस्यता में उनकी ज़्यादा दिलचस्पी नही है, क्योंकि पूर्व की अन्य सताई-हुई क़ौमों की तरह वे समझते हैं कि राष्ट्र सघ को तो योरप की बड़ी शक्तियो ने अपने औपनिवेशिक तथा अन्य स्वार्थों के साधनो का केवल एक औज़ार बना रक्खा है[1]।

अब हमने अरबी क़ौमों का सिंहावलोकन पूरा कर दिया है। तुमने गौर किया होगा कि महायुद्ध के बाद भारत तथा अन्य पूर्वी देशों के साथ-साथ ये सब भी राष्ट्रीयता की लहर से किस तरह बडे ज़ोरो के साथ आन्दोलित हो उठे थे। ऐसा मालूम होता था मानो सब में एक साथ बिजली की धारा प्रवाहित हो रही हो। दूसरा उल्लेखनीय स्वरूप था सबका एक ही तरह के उपायो को काम मे लेना। इनमे से बहुत से देशो मे बगावतें और हिंसात्मक उपद्रव हुए, पर धीरे-धीरे वे असहयोग तथा बहिष्कार की नीति का दिन पर दिन अधिक अवलम्बन करने लगे। इसमें कोई सन्देह नही कि प्रतिरोध के इस नये तरीके का रिवाज भारत ने ही सन् १९२० ई० में डाला, जब कि काग्रेस ने गाधीजी के नेतृत्व का अनुगमन किया। असहयोग तथा धारा सभाओ के बहिष्कार का विचार भारत से ही पूर्व के अन्य देशो में फैला है, और राष्ट्रीय आज़ादी के सघर्ष का यह एक बहु-मान्य और अक्सर काम में आने वाला तरीका बन गया है।

साम्राज्यशाही नियन्त्रण के अग्रेज़ी और फ़ासीसी तरीको के एक रोचक फर्क की ओर मै तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हू। इग्लैण्डने अपने सारे औपनिवेशिक देशो में सामन्ती, ज़मीदार, और सबसे ज़्यादा रूढ़िवादी तथा पिछडे हुए वर्गों से गठ-बन्धन करने का प्रयत्न किया। यह चीज़ हम भारत में, मिस्र में तथा अन्यत्र देख चुके है। उसने अपने औपनिवेशिक देशो में डावाडोल राजगद्दिया कायम की, और उन पर प्रतिगामी शासकोको बैठा दिया, क्योकि वह अच्छी तरह जानता था कि ये उसकी मदद करेंगे। बस, उसने मिस्र में फ़ुआद को, इराक मे फैसल को और ट्रान्स-जार्डन में अब्दुल्ला को बैठाया, और हिजाज़ में हुसैन को बिठाने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर फ्रास, खुद ही एक नमूने का बुर्जुवा देश होने के कारण औपनिवेशिक देशो के कुछ बुर्जुवा वर्गों मे, यानी उदीयमान मध्यमवर्गों मे अपना सहारा ढूढ़ने की कोशिश करता है। मसलन सीरिया में उसने सहारे के लिए ईसाई मध्यमवर्गों पर नज़र डाली। इग्लैण्ड और फ्रास दोनो ही अपने अधीन औपनिवेशिक देशो मे मुख्यतया इस नीति का अवलम्बन करते है कि अपनी विरोधी राष्ट्रीयता को फूट डालकर कमज़ोर कर देना, और अल्पसंख्यक, जातीय, तथा धार्मिक समस्याए खडी कर देना। मगर सारे पूर्व मे राष्ट्रीयता धीरे-धीरे इन भेद-भावो पर विजय प्राप्त करती जा रही है, और शायद यह चीज़ इतनी कही नही हो रही जितनी कि मध्य-पूर्व के अरबी देशो में, जहां मज़हबी फिरके समान राष्ट्रीयता के आदर्श के आगे कमज़ोर पडते जा रहे है।

ऊपर मैंने इराक़ में इग्लैण्ड के रायल एयर फोर्स की कारवाइयो का ज़िक्र किया है। गत बारह वर्षों के लगभग से ब्रिटिश सरकार की यह सुनिश्चित नीति बन गई है कि अपने अर्द्ध-औपनिवेशिक देशो में तथा-

---

[1] शाह फ़ैसल की मृत्यु सितम्बर १९३३ ई० में हो गई। इसके बाद इसका पुत्र ग़ाज़ी प्रथम गद्दी पर बैठा, जिसकी १९३९ ई० में एक दुर्घटना में प्राणान्त हो गया। इसके बाद इसका बालक पुत्र गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

कथित "पुलिस कार्य" के लिए हवाई जहाजों का उपयोग करना। जहां कुछ हद तक स्वराज्य दे दिया गया है और जहा की शासन व्यवस्था बहुत कुछ देशी हो गई है, वहा यह नीति खास तौर पर बरती जाती है। इन देशो में अब अधिकार कायम रखनेवाली सेनाए या तो रक्खी नही जाती या उन्हें बहुत कम कर दिया गया है। इसमें अनेक लाभ हैं। एक तो बहुत-सा खर्च बच जाता है, दूसरे, देश पर सैनिक अधिकार कम नज़र आने लगता है। साथ ही हवाई जहाजो तथा बमों के द्वारा स्थिति पर उनको पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार, स्वाधीन प्रदेशो में हवाई-जहाजो से बमबारी का उपयोग बहुत अधिक बढ़ गया है, और इग्लैण्ड इस तरीक़े का जितना अधिक उपयोग करता है उतना शायद दूसरी कोई शक्ति नही करती। इराक़ के बारे में तो मै बतला ही चुका हू। यही किस्सा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के लिए दोहराया जा सकता है, जहा इस तरह की बमबारी एक नियमित और नित्यप्रति की घटना हो गई है।

सम्भव है कि यह तरीका सेना भेजने के पुराने तरीके से ज्यादा सस्ता और ज्यादा जल्दी असर करनेवाला हो। पर वह तरीका है भीषण रूप से क्रूर और बीभत्स। सच तो यह है कि ऐसी किसी चीज की कल्पना करना ही कठिन है जो बम गिराने, और खासकर देर से फटनेवाले बम गिराने, और निर्दोषो तथा दोषियो की समान रूप से हत्या करने के तरीके से अधिक घृणित बर्बरतापूर्ण हो। इस तरीके से दूसरे देश पर हमला करना भी बहुत आसान हो जाता है। इसलिए इसके विरुद्ध हो-हल्ला मच गया है, और शहरी आबादियो पर हवाई आक्रमण की बर्बरता के विरुद्ध जेनेवा मे राष्ट्र संघ में बड़े प्रभावशाली भाषण दिये जाते है। सयुक्तराज्य अमरीका सहित सारे राष्ट्र इस पक्ष में थे कि हवाई बमबारी बिल्कुल बंद कर दी जाय। लेकिन इग्लैण्ड अपने उपनिवेशो मे "पुलिस कार्रवाइयो" के लिए हवाई जहाजो के उपयोग का अधिकार सुरक्षित रखने पर अडा रहा, और इस कारण राष्ट्र सघ में तथा सन् १९३३ ई० के निरस्त्रीकरण सम्मेलन मे इस बात पर कोई आपसी समझौता नही हो पाया।

: १७० :

अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ अन्य देश

८ जून, १९३३

इराक के पूर्व मे ईरान है और ईरान के पूर्व में अफ़ग़ानिस्तान स्थित है। ईरान और अफगानिस्तान दोनो भारत के पड़ोसी है, क्योकि ईरान की सरहद कई सौ मील तक (बलूचिस्तान में) भारत से लगती है, और अफगानिस्तान तथा भारत, बलूचिस्तान के ठेठ पश्चिमी सिरे से लगाकर हिन्दूकुश की उत्तरी पर्वत श्रेणी तक,—जहा भारत अपना हिमाच्छादित मस्तक मध्य-योरप के वक्षस्थल पर आराम से टिकाये हुए है और नीचे सोवियत प्रदेशो पर दृष्टिपात कर रहा है,—करीब एक हज़ार मील तक अगल-बगल स्थित है।[1] ये तीनो देश केवल पडौसी ही नही है, बल्कि आनुवंशिक लिहाज़ से भी इन मे एक ही खून है, क्योकि इन सब में आर्य नस्ल की प्रधानता है। जैसा कि हम देख चुके है, सास्कृतिक दृष्टि से विगत काल में इनमे बहुत-सी बाते एक-समान रही हैं। कुछ ही दिन पहले तक उत्तर भारत में फारसी भाषा विद्वानो की भाषा गिनी जाती थी, और यह अभी तक भी लोकप्रिय है, खासकर मुसलमानो में। अफ़ग़ानिस्तान मे तो फारसी अभी तक राज्य भाषा है, हालाकि अफ़ग़ानो की आम भाषा पश्तो है।

ईरान के बारे में जितना मै पिछले पत्रो में लिख चुका हूं, उससे ज्यादा कुछ नही लिखना चाहता। परन्तु अफगानिस्तान की हाल की घटनाओ का सक्षेप मे वर्णन करना जरूरी है। अफगान इतिहास एक तरह से भारतीय इतिहास का ही भाग है; वास्तव में बहुत वर्षों तक अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही भाग था। अलग होने के बाद से, और खास कर पिछले सौ वर्षों से ऊपर के समय में, यह रूस और इग्लैण्ड के

[1]हिन्दुस्तान के विभाजन के बाद ये सीमाएं अब पाकिस्तान में चली गई है, और ईरान तथा अफ़ग़ानिस्तान भारत के पड़ौसी नहीं रहे।

दो महान साम्राज्यों के बीच झोक झेलनेवाला राज्य रहा है। रूसी साम्राज्य तो मिट चुका है और उसकी जगह सोवियत संघ ने ले ली है, पर अफ़ग़ानिस्तान अभी तक वही पुराना झोक झेलनेवाला काम कर रहा है, जहा अंग्रेजो तथा रूसियो की सांठ-गाठें चलती रहती है, और दोनों अपना-अपना पौवा जमाने की कोशिश में रहते है। उन्नीसवी सदी में इन साजिशों ने बढकर इंग्लैण्ड तथा अफ़ग़ानिस्तान के बीच युद्ध का रूप धारण कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजो का सत्यानाश तो बहुत हुआ, पर अन्त मे उनकी प्रभुता स्थापित हो गई। अफ़ग़ान राजपरिवार के कितने ही व्यक्ति नजरबन्दो की तरह उत्तर भारत में अभी तक इधर-उधर बसे हुए हैं, और हमे अफ़ग़ानिस्तान में इग्लैण्ड की अड़गेबाजी की याद दिलाते है। यहा अंग्रेजों से मैत्री रखनेवाले अमीरों का शासन रहा, और अफगानिस्तान की विदेशी नीति तो निश्चित रूप से अंग्रेजों के नियत्रण में रक्खी गई। परन्तु ये अमीर कितने ही मैत्री-पूर्ण क्यो न हो, उन पर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता था, इसलिए ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें हर साल बड़ी-बडी रक़में सरकारी सहायता के रूप में दी जाती थी। अमीर अब्दुल रहमान, जिसका लम्बा राज्य-शासन सन् १९०१ ई० में समाप्त हुआ, इसी तरह का अमीर था। इसके बाद अमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा, और यह भी अंग्रेजो की ओर बहुत झुका हुआ था।

भारत की ब्रिटिश हुकूमत पर अफ़ग़ानिस्तान की निर्भरता का एक कारण उसकी भौगोलिक स्थिति थी। नक्शे में तुम देखोगी कि बलूचिस्तान के बीच मे आने से इसका समुद्र से लगाव कट गया है। इसलिए इसकी स्थिति उस मकान जैसी थी जिसके लिए आम रास्ते पर पहुचने का सिवाय दूसरे की जमीन पर होकर गुजरने के, कोई साधन न हो। और यह बड़ी झंझट का मामला है। अफगानिस्तान के लिए बाहरी दुनिया से सम्बन्ध स्थापित करने का सबसे आसान रास्ता भारत होकर था। अफगानिस्तान के उत्तर के रूसी प्रदेशो मे उन दिनो यातायात के अच्छे साधन नही थे। मेरा खयाल है कि हाल मे सोवियत सरकार ने रेलमार्ग डाल कर तथा हवाई और मोटर यात्रा-प्रणालियों को प्रोत्साहन देकर यातायात के साधनो का विकास किया है। बस, चूकि अफगानिस्तान के लिए भारत दुनिया का द्वार था, इसलिए ब्रिटिश सरकार उस पर कई तरह से दबाव डाल कर इस कमजोरी का फायदा उठा सकती थी। समुद्र तक प्रवेश पाने में अफगानिस्तान की यह दिक्कत, देश के सामने खडी हुई प्रधान समस्याओ मे एक समस्या है।

सन् १९१९ ई० के प्रारम्भ मे अफगान राजदरबार की साजिशें और प्रतिस्पर्द्धाएं भीतर से ऊपर निकलकर फूट पडी, और राजमहलो की दो लगातार क्रान्तिया तुर्त-फुर्त हो गई। मुझे यह ठीक तरह नही मालूम कि परदे के पीछे क्या-क्या घटनाए हुई, और इन परिवर्तनो के लिए कौन जिम्मेदार था। अमीर हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन नसरुल्ला भी बहुत जल्दी हटा दिया गया, और हबीबुल्ला का एक छोटा पुत्र अमानुल्ला अमीर बना। गद्दी पर बैठते ही उसने सन् १९१९ ई० में भारत पर एक छोटा-सा हमला कर दिया। इस हमले के लिए तात्कालिक उत्तेजना का ठीक क्या कारण था या पहले किसकी तरफ से हुई, यह मुझे नही मालूम। शायद अमानुल्ला ब्रिटिश सरकार की किसी भी प्रकार की अधीनता से सख्त नाराज था और अपने देश की पूरी स्वाधीनता स्थापित करना चाहता था। शायद उसने यह भी सोचा कि परिस्थितिया अनुकूल थी। तुम्हे याद होगा कि उन दिनो पजाब मे फ़ौजी शासन था, भारत मे सर्वत्र असन्तोष था, और खिलाफत के सवाल पर मुसलमानो की हलचल जोर पकड़ रही थी। हेतु या प्रलोभन कुछ भी रहे हो, अंग्रेजो के साथ अफगानो का युद्ध छिड़ गया। पर यह युद्ध असाधारण तौर पर अल्प-कालिक रहा, और लडाई बहुत कम हुई। सैन्यबल की दृष्टि से भारत मे अंग्रेज लोग अमानुल्ला से अलबत्ता बहुत ज्यादा ताकतवर थे मगर वे लडने की हालत मे नही थे, और कुछ मामूली वारदातो से ही वे अफ़ग़ानो के साथ राज़ीनामा करने को तैयार हो गये। परिणाम यह हुआ कि अफगानिस्तान को स्वाधीन देश मान लिया गया, और अन्य देशो के साथ विदेशी सम्बन्धो के मामले में उसका पूरा अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार अमानुल्ला ने अपना उद्देश्य सिद्ध कर लिया, और योरप तथा एशिया में हर जगह उसकी प्रतिष्ठा बढ गई। अंग्रेजो का तो उससे नाराज होना स्वाभाविक ही था।

अमानुल्ला ने अपने देश मे जो नई नीति बरती उससे लोगो का ध्यान उसकी ओर और भी आकृष्ट होने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढग पर तेजी के साथ सुधार, जिसे अफ़ग़ानिस्तान का "पश्चिमीकरण"

कहा जाता है। इस कार्य में उसकी बेगम सुरैय्या ने उसे बहुत सहायता दी। उसने योरप में कुछ शिक्षा पाई थी, और बुर्के में स्त्रियो का पर्दा उसे बहुत अलकसाता था। इस प्रकार एक पिछडे हुए देश को बहुत कम समय में बदल देने की, यानी अफ़गानो को ढकेल कर और पुराने ढर्रे में से निकाल कर नये रास्ते पर डालने की अजीब प्रक्रिया शुरू हुई। मालूम होता है कि अमानुल्ला ने मुस्तफा कमालपाशा को अपना आदर्श बनाया था, और अनेक बातो मे उसकी नकल करने की चेष्टा की, यहा तक कि अफगानो को कोट-पतलून और योरपीय टोप भी पहना दिये, और उनकी दाढिया भी मुडवा दी। पर अमानुल्ला में मुस्तफ़ा कमाल जैसी जीवट और योग्यता नही थी। मुस्तफा कमाल ने अपने विप्लवकारी सुधारो की शुरुआत करने से पहले राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपनी स्थिति पूर्णतया सुरक्षित बना ली थी। उसकी मदद पर एक कारगर और सगीन सेना थी और अपने तमाम देशवासियो पर जबरदस्त रौब था। पर अमानुल्ला इन पेशबन्दियो के बिना ही आगे बढ़ गया और उसका कार्य वहुत कठिन हो गया, क्योकि अफ़ग़ान लोग किसी भी तुर्क से वहुत ज्यादा पिछडे हुए थे।

लेकिन काम बिगड जाने पर समझदारी की बाते करना आसान होता है। अपने राज्य-शासन के शुरू के वर्षों में अमानुल्ला मानो सारी रुकावटो को पार करता चला गया। उसने अनेक अफगान लडको तथा लडकियो को शिक्षा प्राप्त करने के लिए योरप भेजा। उसने अपनी शासन-व्यवस्था मे बहुत से सुधार शुरू किये। उसने अपने पडौसी देशो तथा तुर्की के साथ सन्धियां करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति मजबूत बनाई। सोवियत रूस ने चीन से लगाकर तुर्की तक सारे पूर्वी देशों के साथ जान बूझ कर उदार तथा मित्रतापूर्ण नीति अपनाई थी, और तुर्की तथा ईरान को विदेशी पंजे से मुक्ति दिलाने में रूस की यह मैत्री-भावना और सहायता बडा भारी निमित्त कारण बनी थी। सन १९१९ ई० मे इग्लैण्ड के साथ अपने अल्प-कालिक युद्ध मे अमानुल्ला ने जिस आसानी से अपना उद्देश्य सिद्ध कर लिया था, उसका भी यह महत्वपूर्ण निमित्त कारण रही होगी। बाद के वर्षो में, सोवियत रूस, तुर्की, ईरान तथा अफगानिस्तान, इन चार शक्तियो के बीच काफी सन्धिया और आपसी कौल-करार हुए। इन सब के बीच कोई सम्मिलित सन्धि नहीं हुई, या किन्ही तीन के बीच भी नही हुई। हरेक ने बाकी तीन के साथ अलग-अलग और बहुत कुछ मिलती-जुलती सन्धिया की। इस प्रकार मध्य पूर्व मे, इन सब देशो की ताकत बढाने वाला सन्धियों का जाल-सा बिछ गया। यहा पर मै इन सन्धियो की केवल सूची, मय उनकी तारीखो के, देता हू :

तुर्की-अफगानी सन्धि	१० फरवरी,	१९२१ ई०
सोवियत-तुर्की सन्धि	१७ दिसम्बर,	१९२५ ई०
तुर्की-ईरानी सन्धि	२२ अप्रैल,	१९२६ ई०
सोवियत-अफगानी सन्धि	३१ अगस्त,	१९२६ ई०
सोवियत-ईरानी सन्धि	१ अक्तूबर,	१९२७ ई०
ईरानी-अफगानी सन्धि	२८ नवम्बर,	१९२७ ई०

ये सन्धिया सोवियत कूटनीति की शानदार जीत थी, पर मध्य-पूर्व में अग्रेजो के प्रभाव पर कुठाराघात थी। कहना न होगा कि ब्रिटिश सरकार ने इन पर घोर आपत्ति की, और अमानुल्ला की सोवियत रूस के साथ मित्रता तथा उसके प्रति झुकाव को तो खास तौर पर नापसन्द किया।

सन् १९२८ ई० के प्रारम्भ मे अमानुल्ला तथा बेगम सुरैय्या अफगानिस्तान से योरप की शानदार यात्रा को रवाना हुए। वे रोम, पैरिस, बर्लिन, लंदन, मॉस्को, आदि, योरप की अनेक राजधानियो में गये और हर जगह उनका महान स्वागत हुआ। ये तमाम देश व्यापारिक तथा राजनैतिक प्रयोजनो से अमानुल्ला की सद्भावना प्राप्त करने को उत्सुक थे। उसे बहुमूल्य उपहार भी दिये गये। पर उसने कूटनीतिज्ञ की तरह व्यवहार किया और किसी बात की हामी नही भरी। लौटते समय वह तुर्की और ईरान होता हुआ आया।

उसके लम्बे दौरे ने लोगो का ध्यान खूब आकृष्ट किया। इस दौरे ने अमानुल्ला की प्रतिष्ठा बढा दी, और दुनिया मे अफगानिस्तान का महत्व भी बहुत बढा दिया। मगर खुद अफ़गानिस्तान मे स्थिति अच्छी नही थी। अमानुल्ला ने ऐसे बडे-बड़े परिवर्तनो के बीच मे अपने देशसे बाहर जाकर भारी जोखिम उठाई थी, जो जीवन के पुराने ढर्रे को ही उलट-पुलट कर रहे थे। मुस्तफ़ा कमाल ने ऐसी जोखिम कभी नही उठाई थी।

अमानुल्ला की अनुपस्थिति के लम्बे समय में, उसके विरुद्ध कतार बांधने वाले तमाम प्रतिगामी लोग तथा बल धीरे-धीरे सामने आ गये। उसे बदनाम करने के लिए हर तरह की साज़िशें की गईं और अनगिनती अफवाहें फैलाई गईं। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिये न मालूम कहां से रुपये की मानो नदी बही चली आ रही थी। मालूम होता था कि अनेको मुल्लाओ को इस काम के लिए रुपया मिल रहा था। ये लोग देश भर में फैल गये और अमानुल्ला को काफ़िर करार देकर उसकी निन्दा करने लगे। यह दिखलाने के लिए कि बेगम सुरैय्या कितने भद्दे वस्त्र धारण करती है, उसकी हज़ारो ऐसी विचित्र तसवीरें गांव-गाव मे बाँटी गईं जिनमें वह योरपीय ढग की शाम की पोशाक या कोई ढीला-ढाला वस्त्र पहने हुए दिखाई गई थी। इस व्यापक और खर्चीले प्रचार के लिए कौन जिम्मेदार था? अफगानों के पास न तो इसके लिए पैसा था और न कभी उन्होंने यह काम सीखा था; वे तो इसके लिए केवल उपयुक्त सामग्री थे। मध्य-पूर्व में तथा योरप में आम तौर पर यह खयाल किया जाता था और कहा जाता था कि इस प्रचार के पीछे ब्रिटिश खुफिया विभाग का हाथ था। इस तरह की बातें कभी सिद्ध नही की जा सकती, और इस कार्य के साथ अग्रेजो का नाम जोड़ने के लिए कोई निश्चित प्रमाण भी प्राप्त नही हुआ था, हालाकि यह कहा जाता है कि अफगान बाग़ियो के पास अग्रेज़ी रायफलें थी। परन्तु यह तो काफी स्पष्ट है कि अफ़ग़ानिस्तान मे अमानुल्ला की ताक़त कम करने में इंग्लैण्ड का स्वार्थ था।

जिस समय इधर अफ़ग़ानिस्तान मे अमानुल्ला की जड़े खोखली की जा रही थी, उस समय वह योरप की राजधानियों में भव्य स्वागतो के मज़े ले रहा था। वह अपने सुधारो के लिए नये जोश से भरा हुआ, नये विचारों से भरा हुआ, और कमाल पाशा से, जिससे वह अगोरा मे मिला था, पहले से भी ज्यादा प्रभावित होकर, अपने देश को लौटा। वह इन सुधारो को वेग के साथ चालू करने के काम मे तुरन्त जुट गया। उसने सरदार-वर्ग की उपाधिया छीन ली, और मुल्लाओ के अधिकार कम करने का प्रयत्न किया। उसने मन्त्रियो की एक कौन्सिल के हाथ मे शासन-व्यवस्था की बागडोर भी देने की कोशिश की, और इस प्रकार खुद अपने निरकुश अधिकारो को कम कर दिया। नारियो को बन्धन-मुक्त करने का काम भी धीरे-धीरे आगे बढाया गया।

अकस्मात सुलगती हुई आग भड़क उठी, और सन् १९२८ ई० के अन्त मे बगावत की लपटें फैलने लगी। यह बगावत बच्चा सक्का नामक एक मामूली भिश्ती के नेतृत्व मे ज़ोर पकड गई और सन् १९२९ ई० में पूरी तरह सफल हो गई। अमानुल्ला और उसकी बेगम देश छोड कर भाग गये और बच्चा सक्का बादशाह बन बैठा। पाच महीने तक बच्चा सक्का काबुल में राज करता रहा, फिर अमानुल्ला के एक सेनापति तथा मन्त्री नादिर खा ने उसे हटा दिया। नादिर खा ने अपनी ही चाले खेली, और जब वह पूरी तरह सफल हो गया तो खुद ही नादिरशाह के नाम से राजगद्दी पर बैठ गया। देश मे बार-बार झगडे और उपद्रव होते रहे, लेकिन नादिरशाह बादशाह बना रहा, क्योकि इग्लैण्ड से उसकी मित्रता थी और सहायता भी मिलती थी। ब्रिटिश सरकार ने उसे बहुत बडी रकम बिना सूद के उधार दी और रायफले तथा गोली-बारूद भी भेजी। अफ़ग़ानिस्तान की डावाडोल परिस्थितियो का सबसे बडा कारण यह है कि वह दो शक्तिशाली प्रतिद्वन्दियो के बीच मे झोक झेलने वाला राज्य है।[1]

मै अफग़ानिस्तान का और पश्चिमी तथा दक्षिणी एशिया का हाल पूरा कर चुका हू। अब मैं तुम्हे एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की कुछ हालकी घटनाओ के बारे में सक्षेप में बतला कर इस पत्र को समाप्त कर दूगा।

बर्मा के पूर्व में स्याम[2] है, और दुनिया के इस भाग मे अकेला यही देश अपनी स्वाधीनता बनाये रख सका है। यह ब्रिटिश बर्मा तथा फ्रासीसी हिन्द-चीन के बीच मे भिचा हुआ है। इस देश में भारतीयता के पुराने चिन्ह भरे पडे है, और इस की परम्पराओ और सस्कृति और रीति-रिवाजो पर अभी तक पुरानी भारतीयता की छाप है। कुछ ही दिन पहले तक यहा निरकुश राजसत्ता थी, और यहा की सामाजिक स्थितियाँ मुख्यतया

---

[1]नवम्बर, १९३३ ई० में नादिरशाह की हत्या कर दी गई और उसके बाद उसका पुत्र ज़हीरशाह गद्दी पर बैठा।

[2]आजकल इसका राष्ट्रीय नाम थाई देश है।

सामन्ती थी जिसमे मध्यमवर्ग का उदय हो रहा था। मेरा खयाल है कि यहां के राजा की उपाधि बहुत करके "राम" होती थी, और यह शब्द भी हमें भारत की याद दिलाता है। यानी यहां राम प्रथम, राम द्वितीय, आदि, नाम के राजा होते रहे है। महायुद्ध के दौरान में, जब मित्र-राष्ट्रो की विजय निश्चित दिखाई देने लगी, तब यह देश मित्र-राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया, और बाद में यह राष्ट्र सघ का सदस्य बन गया।

सन् १९३२ ई० मे स्याम की राजधानी बैन्काक में एक आकस्मिक राजनैतिक उखाड-पछाड हुई और निरकुश शासन प्रणाली का अन्त हो गया, और इसके स्थान पर स्यामी लोक दल के नेतृत्व में लोकतत्री शासन की शुरूआत हो गई। लुआग प्रदीत नामक एक वकील के नेतृत्व में नौजवान स्यामी सैन्य अफसरो तथा दूसरे लोगो के दल ने राज परिवार के व्यक्तियो को और मुख्य-मुख्य मत्रियो को गिरफ्तार कर लिया, और राजा प्रजाधिपोक को एक शासन विधान मजूर करने पर विवश कर दिया। राजा के अधिकार सीमित कर दिये गये, और एक लोक सभा बनाई गई। इस परिवर्तन को जनता का समर्थन तो प्राप्त था, परन्तु यह सार्वजनिक उथल-पुथल के कारण नहीं हुआ था। यह घटना उस आकस्मिक फौजी उखाड-पछाड से मिलती-जुलती थी जिसके द्वारा नौजवान तुर्को ने सुल्तान अब्दुल हमीद के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर दिया था। राजा के तुरन्त आत्म-समर्पण से सकट तो टल गया, पर परिवर्तन के आगे झुकने की उसकी यह तत्परता सच्ची नही थी। अप्रैल, सन् १९३३ ई० मे उसने लोक सभा को एकदम भग कर दिया और लुआंग प्रदीत को निकाल दिया। दो महीने बाद फिर आकस्मिक राजनैतिक उखाड-पछाड हुई और लोक सभा पुनर्जीवित हो गई। स्याम की नई सरकार ने इग्लैण्ड के साथ कोई घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित नही किये है, बल्कि वह जापान की ओर बहुत अधिक झुकी हुई है।[1]

स्याम के पूर्व में फ्रासीसी हिन्द-चीन मे भी राष्ट्रीयता फैल रही है और जोर पकडती जा रही है। इस राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए फ्रासीसी सरकार ने षडयन्त्रो के बहुत से मुकदमे चला दिये हैं, और बहुत लोगो को कैद की लम्बी-लम्बी सजाए दे दी हैं। मार्च, सन् १९३३ ई०, में जेनेवा में होने वाले निरस्त्रीकरण सम्मेलन की एक बैठक मे फ्रासीसी प्रतिनिधि ने एक भेदभरा बयान दिया था। यह प्रतिनिधि, मोस्ये सारियो, फ्रासीसी हिन्द-चीन का खुद गवर्नर रह चुका था। उसने बतलाया कि "औपनिवेशिक अधीन देशो मे राष्ट्रीयता का विकास हो रहा है और वहा शासन-व्यवस्था चलाना दिन पर दिन अत्यन्त कठिन हो रहा है"। उसने फ्रासीसी हिन्द-चीन का उदाहरण दिया कि जिस समय वह वहा का गवर्नर था तब व्यवस्था कायम रखने के लिए १,५०० आदमी काफी थे, पर इसके मुकाबले में अब वहा १०,००० आदमियो की जरूरत पड रही थी।

अन्त में डच पूर्वी हिन्देशिया के अन्तर्गत जावा है, जो अपनी शकर और अपने रबड के लिए प्रसिद्ध हैं, और अपनी जनता के उस भीषण शोषण के लिए भी प्रसिद्ध है जो उसके डच बगीचो में हुआ करता था। भारत के साथ-साथ यहा भी राष्ट्रीयता की वृद्धि के कारण कुछ हद तक सुधार हुए है और बहुत अधिक दमन हुआ है। जावा निवासियो मे अधिकाश मुसलमान है, और महायुद्ध के दौरान मे तथा उसके बाद पश्चिमी एशिया की घटनाओ का उन पर भी असर पडा। कैण्टन में चीनी क्रान्तिकारी आन्दोलन की वृद्धि ने उनपर बहुत असर डाला, और वे भारत के असहयोग आन्दोलन की ओर भी आकर्षित हुए। सन् १९१६ ई० मे डच सरकार ने जावावासियो को वैधानिक सुधार देने का वादा किया, और बटेविया में जनता की कौन्सिल स्थापित कर दी गई। परन्तु इस के अधिकतर सदस्य नामजद थे और इसे कोई अधिकार भी नही दिये गये थे, इसलिए इसके विरुद्ध आन्दोलन जारी रहा। सन् १९२५ ई० में फिर नया शासन-विधान लागू किया गया, परन्तु इससे कुछ परिवर्तन नही हुआ, यह जनता को सतुष्ट न कर सका। जावा तथा सुमात्रा में हडतालें और दगे हुए, और सन् १९२७ ई० में डच सरकार के विरुद्ध एक बलवा हुआ। इसे बडी क्रूरता से कुचल दिया गया। पर राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा, और रचनात्मक क्षेत्र में इसने, बहुत से राष्ट्रीय स्कूल खोले, और भारत की तरह घरेलू उद्योगो तथा दस्तकारियो को प्रोत्साहित किया। आजादी के लिए सघर्ष अब भी

---

[1] अक्तूबर, १९३३ ई० में एक दक्षिण-पक्षीय उपद्रव हुआ, पर इसे दबा दिया गया और लुआंग प्रदीत सरकार का नेता बना रहा।

जारी है। संसार-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण, और भारी संरक्षण चुंगियों के द्वारा विदेशी मंडियों पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के कारण, जावा के चीनी-उद्योग को भारी क्षति पहुंची है।

सन् १९३३ ई० के शुरू में जावा के पूर्वी तट पर एक विचित्र समुद्री घटना हो गई। एक डच जंगी जहाज के नाविकों ने, वेतन में कटौती किये जाने का विरोध करने के लिए, जहाज पर कब्जा कर लिया और उसे लेकर चल दिये। उन्होने जहाज को कोई नुकसान नही पहुचाया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे तो केवल अपने वेतनो के लिए अड़ रहे थे। यह एक प्रकार की हमलावर हड़ताल थी। इस पर डच हवाई जहाजों ने इस जगी जहाज पर बम गिराये, जिससे बहुत-से नाविक मारे गये, और जहाज पर कब्जा कर लिया गया।

बस, अब हम राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यशाही के बीच टक्करो की निरन्तर पुनरावृत्ति वाले एशिया को छोड़ कर योरप की ओर चलते है, क्योकि योरप हमारा ध्यान खीच रहा है। हमने अभी तक युद्धोत्तर योरप पर गौर नही किया है। ध्यान रहे कि योरप की परिस्थितिया आज भी ससार-व्यापी परिस्थितियो की कुजी है। इसलिए मेरे कुछ आगामी पत्र योरप के ही विषय में होगे।

लेकिन अभी एशिया के भी दो भागो पर, दो विशाल प्रदेशो पर, गौर करना बाकी है · एक तो चीन और दूसरा उत्तर में सोवियत प्रदेश। इनका हम कुछ समय बाद लौट कर वर्णन करेगे।

: १७१ :

क्रान्ति, जो होते-होते रह गई

१३ जून, १९३३

जी० के० चैस्टरटन नामक प्रसिद्ध अग्रेज लेखक ने कही लिखा है कि इग्लैण्ड मे उन्नीसवी सदी की सबसे महान घटना वह क्रान्ति थी जो हुई नही। तुम्हे याद होगा कि इस सदी मे कई मौक़ो पर इग्लैण्ड क्रान्ति की ठेठ डयोढी पर पहुँच गया था, यानी वहा छोटे-छोटे बुर्जुवा वर्गों और मजदूरो की पैदा की हुई सामाजिक क्रान्ति होने ही वाली थी। मगर शासक वर्ग हमेशा ऐन मौके पर जरा झुक गये, उन्होने मताधिकार को बढाकर पार्लमेण्टी ढाचे में जनता को दिखावटी हिस्सा दे दिया, और विदेशो के साम्राज्यशाही शोषण की लूट का जरा-सा भाग भी उन्हे दे दिया, और इस प्रकार सम्भावित क्रान्ति को रोके रक्खा। अपने बढते हुए साम्राज्य और उससे वसूल होने वाले धन के बल पर उनके लिए ऐसा करना आसान था। इसलिए इग्लैण्ड में क्रान्ति तो नही हुई, पर उसकी छाया देश पर अक्सर पडती रही, और उसके भय से घटनाओ के रूप बने-बिगड़े। कहा जाता है कि इस प्रकार वह चीज, जो वास्तव में हुई ही नही, पिछली सदी की सबसे बड़ी घटना है।

इसी तरह शायद यह भी कहा जा सकता है कि पश्चिमी योरप मे युद्धोत्तर काल की सबसे बडी घटना वह क्रान्ति थी जो होते-होते रह गई। जिन परिस्थितियो ने रूस मे बोलशेविक क्रान्ति पैदा की थी, वे मध्य तथा पश्चिमी योरप के देशो में भी मौजूद थी, हालाकि थी कुछ कम अश मे। रूस, तथा पश्चिमी योरप के इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रास, आदि उद्योग-प्रधान देशों के बीच मुख्य अन्तर यह था कि रूस मे जोरदार बुर्जुवा वर्गों का अभाव था। सच तो यह है कि मार्क्स के मतवाद के अनुसार, मजदूर वर्ग की क्रान्ति की पहले इन प्रगतिशील उद्योग-प्रधान देशों में फूट पडने की सम्भावना थी, पिछडे-हुए रूस में तो हरगिज नही। पर महायुद्ध ने जारशाही के घुने हुए पुराने ढाचे को चकनाचूर कर दिया, और मजदूरो की सोवियतो ने केवल इसी कारण सत्ता छीन ली कि वहाँ ऐसा कोई प्रबल मध्यमवर्ग नही था जो आगे आकर पश्चिमी ढग की पार्लमेण्ट के जरिये से सरकार पर कब्जा करता। इसलिए, यह बडी विचित्र बात है कि रूस का यह पिछडापन ही, जो उसकी कमजोरी का कारण था, उसके लिए अधिक प्रगतिशील देशो से भी बडा क़दम बढाने का निमित्त बन गया। बोलशेविकों ने लेनिन के नेतृत्व में यह क़दम उठाया था, पर वे किसी भ्रम में नही थे। वे जानते थे कि रूस पिछड़ा-हुआ देश है और अधिक प्रगतिशील देशों के बराबर पहुँचने में उसे समय लगेगा। उन्हें आशा थी

कि श्रमिक वर्ग का प्रजातंत्र स्थापित करने का जो उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया था, उससे योरप के अन्य देशों के श्रमिक वर्गों को तत्कालीन शासन-पद्धतियो के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा मिलेगी। उन्होंने महसूस किया कि योरप की इस व्यापक सामाजिक क्रान्ति मे ही उनके जीवित रहने की एक मात्र आशा भरी है, वरना बाक़ी की पूजीवादी दुनिया रूस की नवजात सोवियत सरकार को उभरने ही न देगी।

अपनी क्रान्ति के प्रारम्भ के दिनो मे उन्होने इसी आशा और इसी विश्वास के साथ ससार के श्रमिक वर्गों के नाम अपनी अपीलें प्रचारित की थी। उन्होंने प्रदेश जीतने की तमाम साम्राज्यशाही योजनाओं की खुली निन्दा की, उन्होंने कहा कि ज़ारशाही रूस और फ्रास तथा इग्लैण्ड के बीच जो गुप्त सन्धियां हुई थी उनके आधार पर वे कोई दावा नही करेंगे, उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के ही अधिकार मे रहेगा। उन्होने पूर्वी देशो तथा ज़ारशाही साम्राज्य की सताई हुई अनेक छोटी-छोटी कौमो के सामने अत्यन्त उदार शर्तें रक्खी। और, सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी वर्ग के हित-रक्षको के रूप मे सामने आ डटे, और उन्होंने हर जगह के मजदूरो से अनुरोध किया कि वे भी उनका अनुकरण करके समाजवादी प्रजातत्र-राज्य स्थापित करें। राष्ट्रीयता का या राष्ट्र के रूप मे रूस का उनके लिए कोई महत्त्व नही था, सिवा इसके कि यह ससार का वह भाग था जहा इतिहास मे पहली बार मजदूरो की सरकार स्थापित हुई थी।

जर्मन सरकार तथा मित्र-राष्ट्रीय सरकारो ने तो बोलशेविको की अपीलो को प्रकाशित नही होने दिया, परन्तु इनकी कुछ प्रतियाँ जैसे-तैसे विभिन्न मोर्चों तथा कारखाने वाले क्षेत्रो मे जा पहुची। हर जगह उनका ज़बरदस्त असर पडा, और फ्रासीसी सेना में तो प्रकट रूप से भगदड नज़र आने लगी। जर्मन सेना तथा मज़दूरो पर तो और भी ज्यादा असर पडा। जर्मनी और आस्ट्रिया और हगरी आदि पराजित देशो मे तो बलवे और विद्रोह भी हुए, और कई महीनो तक, या साल दो साल तक, ऐसा मालूम हुआ मानो योरप एक ज़बरदस्त सामाजिक क्रान्ति की ड्योढी पर खडा है। विजेता मित्र-राष्ट्रीय देशो की हालत पराजित देशो से कुछ अच्छी थी, क्योकि सफलता ने उनमे ताज़गी पैदा कर दी थी और आशाए उत्पन्न कर दी थी (जिन्हे बाद की घटनाओ ने बिल्कुल थोथी सिद्ध कर दिया) कि वे पराजित शक्तियो से वसूल करके अपने कुछ नुकसानो को पूरा कर सकेंगे। परन्तु मित्र-राष्ट्रीय देशो तक मे भी क्रान्ति की भावना थी। वास्तव मे योरप व एशिया भर का वातावरण असतोष के धुए से भरा हुआ था, और क्रान्ति की ज्वाला अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी, और अक्सर भभक उठना चाहती थी। मगर एशिया तथा योरप में फैले हुए असतोष के प्रकारो मे और क्रान्ति पर आमादा वर्गों के प्रकारो में कुछ अन्तर था। एशिया मे पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय विद्रोहो का नेतृत्व मध्यम-वर्गों के हाथ में था, योरप में श्रमजीवी-वर्ग तत्कालीन बुर्जुवा पूजीवादी सामाजिक व्यवस्था को उलटने पर और मध्यम-वर्गों से सत्ता छीन लेने पर आमादा हो रहे थे।

परन्तु इन तमाम गडगडाहटो और भावी-लक्षणो के बावजूद, मध्यवर्ती तथा पश्चिमी योरप मे रूसी क्रान्ति की तरह की कोई क्रान्ति नही भडकी। पुराना ढाचा इतना मज़बूत था कि अपने ऊपर किये गये आक्रमणो को बर्दाश्त कर सकता था। लेकिन इन आक्रमणो ने उसे इतना कमज़ोर कर दिया और इतना भयभीत कर दिया कि सोवियत रूस की रक्षा हो गई। अगर सोवियत रूस को युद्ध के मोर्चों के पीछे से यह प्रबल सहायता न मिली होती, तो इसकी पूरी सम्भावना थी कि वह सन् १९१९ या १९२० ई० में साम्राज्यशाही शक्तियो के आगे धराशायी हो जाता।

धीरे-धीरे महायुद्ध के बाद ज्यो-ज्यो एक के बाद दूसरा साल गुज़रता गया, त्यो-त्यो कुछ हद तक गड़बडिया शान्त होती दिखाई देने लगी। एक ओर तो प्रतिगामी, रुढिवादी, बादशाहतवादी और सामन्ती ज़मीदार तथा दूसरी ओर उदार समाजवादी या सामाजिक लोकतत्रवादी,—इनके विचित्र गठ-बन्धन ने क्रान्तिकारी तत्वो को दबा दिया। वास्तव में यह अजीब गठ-बन्धन था, क्योकि सामाजिक लोकतत्रवादी मार्क्सवाद तथा श्रमजीवियो की हुकूमत में अपने विश्वास की दुहाई देते थे। इसलिए ऊपर से तो उनका आदर्श वही नज़र आता था जो सोवियतो और साम्यवादियों का था। मगर फिर भी ये सामाजिक लोक-तत्रवादी पूजीवादियो से उतना नही डरते थे जितना साम्यवादियों से, और साम्यवादियों को नष्ट करने के लिए पूजीवादियो से मिल गये। या यह भी हो सकता है कि वे पूजीवादियो से इतना डरते थे कि उनके विरुद्ध जाने का साहस नही कर सकते थे; वे शान्तिपूर्ण तथा पार्लमेण्टी उपायो से अपनी स्थिति को मजबूत

बनाने की, और इस प्रकार अज्ञात रूप से समाजवाद को लाने की उम्मीद करते थे। उनके अभिप्राय चाहे जो रहे हो, उन्होंने क्रान्तिकारी भावना को कुचलने के लिए प्रतिगामी तत्वों को मदद दी, और इस प्रकार योरप के अनेक देशों में सचमुच प्रति-क्रान्ति पैदा कर दी। लेकिन जब इस प्रति-क्रान्ति की बारी आई तो इसने इन सामाजिक लोकतन्त्री दलो को ही कुचल डाला, और नये तथा उग्र समाजवाद-विरोधी बल सत्तारूढ़ हो गये। महायुद्ध के बाद आने वाले वर्षों में योरप मे घटनाओं ने मोटे तौर पर इसी प्रकार का रूप लिया।

परन्तु कशमकश अभी खतम नही हुई है, और पूजीवाद तथा समाजवाद, इन दो प्रतिद्वन्दी बलो के बीच लड़ाई चल रही है। दोनों के बीच कोई स्थायी समझौता नही हो सकता, हालांकि दोनों के बीच स्थायी ठहराव और सन्धियां हुई है, और शायद भविष्य में भी हों। रूस तथा साम्यवाद एक सिरे पर खडे है तो पश्चिमी योरप तथा अमेरिका दूसरे सिरे पर। दोनों के बीच के उदारवादी, नर्म तथा मध्य-वर्ती दल हर जगह विलीन होते जा रहे हैं। ये कशमकश और असतोष वास्तव मे ससार भर में पूरी आर्थिक उलट-पुलट और बढ़ती हुई मुसीबत के कारण पैदा हो रहे हैं, और यह खीच-तान तब तक जारी रहेगी जब तक कि कोई संतुलन स्थापित न हो जायगा।

महायुद्ध के बाद जो अनेक अकारथ क्रान्तियाँ अब तक हुई है, उनमें जर्मनी की क्रान्ति सबसे ज्यादा दिलचस्प और भेद खोलने वाली है। इसलिए इसका कुछ हाल मैं तुम्हे बतलाऊगा। मै लिख चुका हू कि जब महायुद्ध छिडा तब योरप के तमाम देशों के समाजवादी अपने आदर्शों और वादों पर अमल करने में विचलित हो गये। वे अपने-अपने देश की हिंस्र राष्ट्रीयता में बह गये, और युद्ध की उन्मत्त रक्त-लिप्सा में समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श को भूल गये। सन् १९१४ ई० की ३० जुलाई को, जिस समय महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे, जर्मनी के सामाजिक लोकतन्त्रवादी दल के नेताओ ने हैप्सबर्गों की साम्राज्यशाही कुचेष्टाओ के लिए "जर्मन सिपाही के खून की एक भी बूद" कुर्बान किये जाने के विरुद्ध पुकार मचाई थी। (उस समय आस्ट्रिया के आर्क-ड्यूक फ्रैञ्ज-फर्दिनैन्द की हत्या के मामले पर आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच झगडा था।) मगर पाच दिन बाद इस दल ने युद्ध का समर्थन किया, और अन्य देशो के ऐसे ही अन्य दलो ने भी यही किया। यहां तक कि आस्ट्रिया के समाजवादी नेता ने तो सचमुच पोलैण्ड और सर्बिया को आस्ट्रिया के साम्राज्य में मिला लेने की बात कह डाली, और कह दिया कि यह जबरदस्ती कब्जा नही माना जायगा!

सन् १९१८ ई० के शुरु के दिनों में योरप के श्रमिकवर्ग के नाम बोलशेविको की अपीलो का जर्मन मजदूरों पर काफ़ी असर पडा, और गोली-बारूद के कारखानो मे बडी-बडी हड़ताले हुईं। इससे जर्मनी की साम्राज्यशाही सरकार के लिए गभीर स्थिति पैदा हो गई, और शायद उसका तख्ता ही उलट गया होता। मगर समाजवादी नेताओ ने हडताल कमेटियो मे शामिल होकर और हडताल को भीतर से फोड़ कर तुरन्त स्थिति को बिगड़ने से बचा लिया।

सन् १९१८ ई० की ४ नवम्बर को उत्तरी जर्मनी मे कील[1] में नौ-सेना में गदर की आग भडक उठी। जर्मन नौ-सेना के बडे-बडे जगी-जहाजो को बाहर जाने की आज्ञा दी गई थी, पर मल्लाहों और कोयला झोकने वालों ने उन्हे चलाने से इन्कार कर दिया। उन्हे दबाने के लिए जो सैनिक भेजे गये, वे भी उन्ही मे जा मिले और उनका ही समर्थन करने लगे। इन लोगो ने अफसरो को पदच्युत करके गिरफ्तार कर लिया, और मजदूरो तथा सिपाहियो की कौन्सिले (सोवियते) बन गईं। ये रूस में सोवियत क्रान्ति की पहली शुरुआत के से लक्षण थे, और यह जर्मनी भर में फैलती हुई मालूम दे रही थी। पर सामाजिक लोकतन्त्रवादी नेता तुरन्त ही कील में आ धमके, और उन्होने मल्लाहो तथा मजदूरो का ध्यान सफलता के साथ अन्य दिशाओ में बटा दिया। मगर ये मल्लाह अपने-अपने हथियार लेकर कील से चले गये और विद्रोह के बीज बोते हुए जर्मनी भर में फैल गये।

अब क्रान्तिकारी आन्दोलन फैलता जा रहा था। बवेरिया (दक्षिण जर्मनी) में प्रजातन्त्र राज्य की घोषणा हो गई। पर कैसर फिर भी अडा रहा। नवम्बर की ९ तारीख को बर्लिन में आम हड़ताल हो गई। सारे काम बन्द हो गये, पर खून-खराबी जरा भी नही हुई, क्योकि शहर की छावनी में पडी हुई सारी पल्टन

---

[1] Kiel—जर्मनी के उत्तर में महत्वपूर्ण बन्दरगाह और जर्मन जहाजी बेड़े का अड्डा। यहाँ समुद्र के उस पार तक नहर काटी गई है जो कील नहर कहलाती है।

क्रान्तिकारियों से जा मिली। पुरानी व्यवस्था ज़ाहिरा तौर पर ख़तम हो गई थी, और अब सवाल यह था कि उसकी जगह कौन सी चीज़ आवेगी। कुछ साम्यवादी नेता सोवियत या प्रजातन्त्र की घोषणा करने ही वाले थे कि एक सामाजिक लोकतन्त्रवादी नेता पार्लमेण्टी ढंग के प्रजातंत्र की घोषणा करके उनसे बाज़ी ले गया।

इस प्रकार जर्मन प्रजातन्त्र का जन्म हुआ। परन्तु यह प्रजातंत्र की छायामात्र थी, क्योंकि वास्तव में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था। सामाजिक लोकतन्त्रवादियों ने, जिन्होंने स्थिति पर क़ाबू कर रक्खा था, लगभग हर चीज़ को जैसा का तैसा रहने दिया। उन्होंने मन्त्रित्व आदि के कुछ ऊंचे पद ले लिये, लेकिन सेना, मुल्की विभाग, न्याय विभाग, और सारा शासन-तन्त्र उसी तरह चलते रहे जैसे कैसर के जमाने में चलते थे। बस, हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक के नाम के अनुसार "कैसर चला गया : सेनापति रह गए"।[1] क्रान्तिया न तो इस तरह बनती है, न बल प्राप्त करती है। असली क्रान्ति वह होती है जो राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाचे को बदल डाले ! अगर सत्ता क्रान्ति के शत्रुओ के हाथ में रह जाय तो यह आशा करना व्यर्थ है कि क्रान्ति जीवित रह जायगी। मगर जर्मनी के सामाजिक लोकतन्त्रवादियो ने ठीक यही बात की, और क्रान्ति के बैरियो को क्रान्ति को धूल मे मिलाने की तैयारी करने के पूरे मौके दे दिये।

नई सामाजिक लोकतन्त्रवादी सरकार को यह अच्छा न लगा कि कील के मल्लाह क्रान्तिकारी विचार फैलाते हुए देश भर में घूमते फिरे। उन्होने बर्लिन में इन मल्लाहो को दबाने की कोशिश की और जनवरी, सन् १९१९ ई०, के शुरू में सगीन मुठभेड हुई। इस पर जर्मन साम्यवादियो ने एक सोवियत सरकार कायम करने का प्रयत्न किया और शहर के जन समूह से सहायता का अनुरोध किया। जनता ने उन्हें कुछ सहायता दी, और उन्होने सरकारी इमारतो पर कब्ज़ा कर लिया, और जनवरी मे क़रीब एक सप्ताह तक –जो बर्लिन का "लाल सप्ताह" कहलाता है–शहर मे उन्ही का बोलबाला नज़र आता था। परन्तु जन समूह ने उनके कहे मुताबिक अच्छी तरह काम नही किया क्योंकि अधिकाश जनता चक्कर मे पड गई थी और यह नही जानती थी कि क्या करना चाहिए। बर्लिन मे सेना के सिपाही भी चक्कर मे पड गये और तटस्थ रहे। चूकि इन सिपाहियो पर भरोसा नही किया जा सकता था, इसलिए सामाजिक लोकतन्त्रवादियो ने अपने काम के लिए कुछ विशेष स्वयसेवक सैनिक भर्ती किये और इनकी सहायता से उन्होंने साम्यवादी बलवे को बिल्कुल ठडा कर दिया। लडाई बडी क्रूरता के साथ हुई और ज़रा भी दया नही दिखाई गई। लडाई ख़तम होने के कुछ दिन बाद कार्ल लीबनेख़्त और रोज़ा लुग्ज़मबुर्ग नामक दो साम्यवादी नेताओ को उनके छिपने की जगह से खोज निकाला गया और उनकी निर्मम हत्या कर दी गई। इस हत्या के कारण, और बाद मे इस हत्या के लिए ज़िम्मेदार व्यक्तियो को बरी कर दिया जाने के कारण, साम्यवादियों तथा सामाजिक लोकतन्त्रवादियो के बीच घोर वैमनस्य पैदा हो गया। कार्ल लीबनेख़्त उन्नीसवी सदी के पुराने और विख्यात समाजवादी वीर विल्हैल्म लीबनेख़्त का पुत्र था, जिसका ज़िक्र मै अपने किसी पिछले पत्र में कर चुका हू। रोज़ा लुग्ज़मबुर्ग भी पुराना कार्यकर्ता था और लेनिन का बडा दोस्त था। सयोग से लीबनेख़्त और लुग्ज़म-बुर्ग दोनो ही उस साम्यवादी बलवे के विरोधी थे जिसके परिणामस्वरूप उनकी मृत्यु हुई।

सामाजिक लोकतन्त्रवादी प्रजातन्त्र ने साम्यवादियो को कुचल दिया, और बाद मे फौरन ही वाइमार में प्रजातन्त्र के विधान का मसौदा तैयार किया गया, इसीलिए यह वाइमार विधान कहलाता है। तीन महीनो के भीतर ही प्रजातन्त्र को एक और परिवर्तन का ख़तरा पैदा हो गया, पर यह दूसरी ओर से था। प्रतिगामियों ने प्रजातन्त्र के विरुद्ध एक प्रति-क्रान्ति रच डाली और पुराने सेनापतियो ने इसमें प्रमुख भाग लिया। यह विद्रोह "काप पुत्श" कहलाता है, क्योंकि काप इसका नेता था और "पुत्श" जर्मन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है इस प्रकार का बलवा। सामाजिक लोकतन्त्रवादी सरकार बर्लिन छोडकर भाग गई, पर बर्लिन के मज़दूरो ने एकदम आम हडताल करके इस "पुत्श" को ख़तम कर दिया। इस हडताल से सारे काम बिल्कुल बन्द हो गये और बर्लिन के महान नगर का जीवन ठप्प हो गया। इन सगठित मज़दूरो के सामने काप और उसके साथियो को बर्लिन छोड़ कर भाग जाना पड़ा, और सामाजिक लोकतंत्रवादी नेता हुकूमत सम्हालने के लिए फिर लौट आये। सरकार ने साम्यवादियों के साथ जितना कठोर बर्ताव किया था, उसके विपरीत

[1]The Kaiser Goes : The Generals Remain.

काप-दली बाग़ियों के प्रति काफ़ी नरमी बरती। इनमें से बहुत-से तो अफ़सर थे जिन्हें पेन्शनें मिलती थीं पर बलवे के बावजूद इनकी पेन्शनें तक चालू रहीं।

बवेरिया में भी इसी प्रकार के प्रति-क्रान्तिकारी "पुत्श" या बलवे का आयोजन किया गया था। यह भी असफल रहा, मगर इसमें खास दिलचस्पी की बात यह है कि इसका सगठन करने वाला आस्ट्रिया का एक अदना अफ़सर हिटलर था, जो आज जर्मनी का अधिनायक है।

इस सब का नतीजा यह हुआ कि यद्यपि जर्मन प्रजातन्त्र नाम मात्र के लिए चलता रहा, पर वह दिन पर दिन कमज़ोर पड़ता गया। समाजवादियो यानी सामाजिक लोकतन्त्रवादियो और साम्यवादियो की आपसी फूट ने दोनों को निर्बल कर दिया, और प्रजातन्त्र की खुली बुराई करने वाले प्रतिगामी लोग दिन पर दिन अधिक संगठित और उग्र होते गये। बड़े-बड़े ज़मीदारो, जिन्हे जर्मनी मे "यून्कर" कहते हैं, और बड़े-बड़े पूजीपतियों ने, सरकार में जो थोड़े-बहुत समाजवादी तत्व रह गये थे उन्हे भी धीरे-धीरे बाहर धकेल दिया। वर्साई की शान्ति सन्धि से जर्मन जनता के दिलो को बड़ा धक्का लगा, और प्रतिगामियो ने अपने लाभ के लिए इसका दुरुपयोग किया। इस सन्धि की शर्तों के अनुसार जर्मनी को निरस्त्र होना पड़ा और अपनी विशाल सेना तोड़ देनी पड़ी। उसे केवल एक लाख सैनिको की छोटी-सी सेना रखने की अनुमति दी गई। नतीजा यह हुआ कि ऊपर-ऊपर तो निरस्त्रीकरण होता रहा पर वास्तव में हथियारो का विपुल भडार छिपा दिया गया। विशाल "खानगी सेनाए", यानी विभिन्न दलो के स्वयसेवक दल, खड़े हो गये। अनुदार राष्ट्रवादियो की स्वयसेवक सेना "स्टील हैल्मैट्स"[1] कहलाती थी; साम्यवादी मज़दूरो के स्वयसेवक "रैड फ्रन्ट"[2] कहलाते थे और हिटलर के अनुयायी "नात्सी"[3] सैनिक कहलाते थे।

जर्मनी के युद्धोत्तर काल के इन प्रारम्भिक वर्षों के बारे मे मैंने तुम्हे बहुत कुछ बतला दिया है, और इससे भी ज्यादा मे तुम्हें यह बतला सकता हू कि किस प्रकार क्रान्ति हवा मे मडरा रही थी और प्रति-क्रान्ति से लड़ी थी। जर्मनी के बवेरिया, सैक्सनी, आदि विभिन्न भागो मे भी बलवे हुए। इसी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती परिस्थितिया आस्ट्रिया मे चल रही थी, जो शान्ति-सन्धि के अनुसार कट-छट कर अपने पूर्व रूप का नन्हा-सा टुकड़ा रह गया था। यह छोटा-सा देश, जिसमे वियेना जैसा विशाल शहर राजधानी था, भाषा तथा सस्कृति के लिहाज़ से पूर्णतया जर्मन था। विराम सन्धि होने के दूसरे ही दिन, १२ नवबर, सन् १९१८ ई०, को यह प्रजातन्त्र राज्य बन गया था। यह जर्मनी का अग बनना चाहता था, पर मित्र-राष्ट्रीय शक्तियो ने इसकी सख्त मनाई कर दी, हालाकि यह चीज़ कुदरती तौर पर हो जानी चाहिए थी। आस्ट्रिया तथा जर्मनी के इस प्रस्तावित एकीकरण को जर्मन भाषा के "आन्शलुस"[4] शब्द से व्यक्त किया जाता है।

जर्मनी की तरह आस्ट्रिया मे भी शुरू मे सामाजिक लोकतन्त्रवादियो के हाथो मे सत्ता थी, परन्तु डर के मारे और आत्मविश्वास न होने के कारण वे बुर्जवा दलो के साथ समझौते की नीति पर चले। परिणाम-स्वरूप सामाजिक लोकतन्त्रवादी अत्यन्त निर्बल हो गये और हुकूमत दूसरे लोगो के हाथो मे चली गई। जर्मनी की तरह यहा भी खानगी सेनाए खडी हो गईं और अन्त में प्रतिगामी अधिनायकत्व स्थापित हो गया। बहुत दिनो तक वियेना के समाजवादी शहर तथा देहातो के रूढिवादी किसानों के बीच कशमकश चलती रही। वियेना की समाजवादी म्यूनिसिपल कमेटी श्रमिक वर्गों के लिए सुन्दर मकानों की तथा अन्य योजनाओं के लिए विख्यात हो गई।

हगरी में इससे बहुत पहले ही, ३ अक्तूबर, सन् १९१८ ई०, को, युद्ध समाप्त होने के पाच सप्ताह पूर्व ही, क्रान्ति भड़क उठी। नवम्बर में प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी गई। चार महीने बाद, मार्च, सन् १९१९ ई० में, दूसरी क्रान्ति हुई। यह बेलाकुन नामक एक साम्यवादी के नेतृत्व मे, जो पहले लेनिन के साथ रह चुका था, सोवियत क्रान्ति थी। यहा सोवियत सरकार क़ायम हो गई, और कुछ महीनो तक सत्ता-

---

[1] Steel Helmets—फ़ौलादी टोप।

[2] Red Front—लाल मोर्चा।

[3] Nazi—नात्सी। यह शब्द जर्मनी की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के नाम का संक्षिप्त रूप है।

[4] Anschluss—एकीकरण। यह एकीकरण मार्च, १९३८ ई० में हो गया।

रुक रही। इस पर देश के रूढ़िवादी तथा प्रतिगामी तत्वों ने अपनी सहायता के लिए रूमानिया को सेना भेजने का निमन्त्रण दिया। रूमानिया वाले बडी खुशी से वहा आये, उन्होंने बेलाकुन की सरकार को कुचलने में मदद दी, और फिर वे देश को लूटने के लिए वही जम गये। हगरी को उन्होने तभी छोड़ा जब मित्र-राष्ट्रों ने उनके विरुद्ध कार्रवाई की धमकी दी। रूमानिया वाले ज्यो ही हगरी से हटे, त्यो ही वहां के रूढ़िवादियों ने देश के तमाम उदार तथा प्रगतिशील तत्वों को आतकित करने के लिए एक खानगी सेना, या स्वयसेवको के जत्थे सगठित किये, ताकि भविष्य मे क्रान्ति के किसी भी प्रयत्न को रोका जा सके। इस प्रकार सन् १९१९ ई० में हंगरी में तथाकथित "श्वेत आतक" का जमाना शुरू हुआ, जो "युद्धोत्तर इतिहास का एक सब से अधिक रक्तरजित पृष्ठ" माना जाता है। हगरी मे अभी तक आशिक रूप में सामन्ती प्रथा है, और इन सामन्ती जमींदारो ने, युद्ध-काल मे विपुल धन राशि पैदा करने वाले पूजीपतियो से मिल कर सिर्फ साम्यवादियो को ही नही बल्कि आमतौर पर श्रमजीवियो को, और सामाजिक लोकतत्रवादियो को, और उदारदली लोगो को, और शान्तिवादियो को, और यहूदियो तक को, मारा और आतकित किया। तभी से हगरी एक प्रतिगामी अधिनायकशाही के अधीन चला आ रहा है। दिखावे के लिए एक पार्लमेण्ट भी है, पर इसका मतदान खुला है, अर्थात पार्लमेण्ट के सदस्यो का चुनाव सार्वजनिक रूप से होता है, और पुलिस तथा सेना का काम यह देखने का होता है कि अधिनायकशाही के पसन्द किये हुए लोग ही चुने जाय। राजनैतिक प्रश्नो पर किसी प्रकार की सार्वजनिक सभाए नही होने दी जाती।

इस पत्र में मैंने मध्य योरप की कुछ युद्धोत्तर घटनाओ का, तथा युद्ध से पहले मध्यवर्ती शक्तिया कहे जाने वाले देशो पर युद्ध और पराजय और रूसी क्रान्ति की प्रतिक्रिया का, जिक्र किया है। युद्ध के आश्चर्यजनक आर्थिक परिणामो का और उनके कारण पूजीवाद वर्तमान दुरवस्था को कैसे पहुच गया इसका वर्णन हमे अलग मे करना है। इस पत्र में मैंने जिन बातो के बारे मे लिखा है उनका सीधा अभिप्राय यह है कि युद्धोत्तर काल के उन दिनो मे योरप मे क्रान्ति सिर पर खडी हुई प्रतीत हो रही थी। इस वस्तुस्थिति से सोवियत रूस को मदद मिली, क्योकि अपने-अपने श्रमजीवी वर्ग पर बुरा असर पड़ने के डर से कोई भी साम्राज्यशाही शक्ति रूस पर खुले दिल से आक्रमण करने का हौसला नहीं कर सकती थी। मगर क्रान्ति हुई ही नही, सिवा इसके कि कहीं-कही उसके लिए प्रयत्न हुए जो कुचल दिये गये। इस सामाजिक क्रान्ति को कुचलने मे और रोकने में सामाजिक लोकतत्रवादियो ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया, हालाकि उनका समूचा दल ही ऐसी सामाजिक क्रान्ति की कल्पना के आधार पर बना था। मालूम होता है इन सामाजिक लोकतत्रवादियो को यह आशा या विश्वास था कि पूजीवाद अपनी-मौत मर जायगा। इसलिए, उस पर खूब जोर के साथ हमला करने के बजाय उन्होने उस वक्त तो उसे बचाने का ही काम किया। या यह भी सम्भव है कि उनके दल का विशाल और मालदार सगठन काफी आराम-तलब था और तत्कालीन व्यवस्था के साथ इतना फसा हुआ था कि सामाजिक उथल-पुथल की जोखिम नही उठाना चाहता था। उन्होने बीच के रास्ते पर चलने का प्रयत्न किया जिसका नतीजा यह हुआ कि उन्होने सारा काम बिगाड़ दिया और गाठ का भी खो दिया। जर्मनी मे हाल की घटनाओ से यह बात इतनी स्पष्ट हो गई है जितनी पहले कभी नही हुई।

इन युद्धोत्तर वर्षों पर छा जाने वाला एक और उपसर्ग था हिंसा की भावना की वृद्धि। यह विचित्र बात है कि जिस समय भारत मे अहिसा धर्म का प्रचार किया जा रहा था, उस समय लगभग सारी दुनिया में हिंसा का नगा और निर्लज्ज नृत्य हो रहा था, और उसे उच्चासन दिया जा रहा था। इसका प्रधान कारण तो युद्ध था और बाद मे विभिन्न वर्ग-स्वार्थों की आपसी टक्करे। ज्यो-ज्यो ये टक्करे अधिक स्पष्ट और गहरी होती गईं त्यो-त्यो हिसा बढी। उदारवाद तो मानो विलीन हो गया और उन्नीसवी सदी का लोकतत्र लोगो की नजरो से गिर गया। अब अधिनायको का खेल शुरू हो गया।

इस पत्र में मैंने पराजित शक्तियो का वर्णन किया है। जीतनेवाली शक्तियो को भी ऐसी ही मुसीबतें उठानी पड़ी थी, हालाकि इग्लैण्ड और फ्रास मध्य-योरप की तरह के किसी बलवे या उथल-पुथल से अछूते बच गये। इटली में बड़ी भारी उथल-पुथल हुई जिसके अद्‌भुत परिणाम निकले। इन पर अलग तौर से प्रकाश डालना उचित है।

: १७२ :

पुराने क़र्ज़े चुकाने का नया तरीक़ा

१५ जून, १९३३

महायुद्ध के बाद हम योरप, को और सच तो यह है कि कुछ हद तक सारी दुनिया को, खलबलाते हुए देग की सी हालत में पाते हैं। वर्साई की सुलह से या अन्य सन्धियों से अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। पोलों, और चेकों और बाल्टिक कौमों के आज़ाद कर दिये जाने पर योरप का जो नया नकशा बना उससे कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्याएं हल हो गईं। लेकिन साथ ही आस्ट्रिया के टाइरोल प्रदेश को इटली के अधीन और यूक्रेन के कुछ भाग को पोलैण्ड के अधीन कर दिये जाने के कारण, तथा पूर्वी योरप के अन्य प्रदेशों का असतोषजनक बटवारा किया जाने के कारण, इस नये नकशे ने नई-नई राष्ट्रीय समस्याए पैदा कर दी। पोलैण्ड के गलियारे और डैनज़िग की व्यवस्था सबसे ज्यादा निराली और खिजाने वाली थी। मध्य तथा पूर्वी योरप का, अनेक छोटे-छोटे नये राज्य बना कर, "बलकानीकरण" कर दिया गया था, जिसका अर्थ था—और ज्यादा सरहदें, चुगी की और ज्यादा चौकिया, तथा और ज्यादा क्रूर वैमनस्य।

सन् १९१९ ई० की इन सन्धियों के अलावा, रूमानिया ने उपक्रम करके बैसरेबिया पर, जो पहले दक्षिण-पश्चिमी रूस का भाग था, कब्जा कर लिया। तभी से यह मामला सोवियत रूस तथा रूमानिया के बीच झगड़े और तकरार का विषय बना हुआ है। बैसरेबिया "नीपर कूल का अलसास-लौरेन" कहलाने लगा है।

इन प्रादेशिक परिवर्तनो के प्रश्न से भी बडा प्रश्न हर्जानो का था—यानी उस रकम का जिसे पराजित जर्मनी, युद्ध के खर्चे तथा युद्ध-जनित हानियो की पूर्ति के रूप मे, विजेता मित्र-राष्टों को देने के लिए विवश किया जाने वाला था। वर्साई की सन्धि में इसके लिए कोई निश्चित रकम तय नही की गई थी, परन्तु बाद के सम्मेलनो में इन हर्जानों की जबरदस्त रकम ६,६०,००,००,००० पौंड निश्चिन की गई जो वार्षिक किस्तों में चुकाई जाने वाली थी। इस विपुल धनराशि का चुकाना किसी भी देश के लिए असम्भव था, फिर पराजित और पस्त जर्मनी के लिए तो इसे चुकाना और भी ज्यादा दुष्कर काम था। जर्मनी ने विरोध प्रदर्शित किया पर वह निष्फल हुआ, और तब कोई चारा न देख कर उसने सयुक्तराज्य अमरीका से उधार लेकर दो तीन किस्तें अदा की। उसने वक्त टालने के लिए ऐसा किया था, क्योंकि उसे सारे प्रश्न पर पुनर्विचार करवाने की आशा थी। जर्मनी तथा बहुत-से अन्य देश अच्छी नरह समझ गये थे कि उसके लिए पीढियो तक ये भारी रक़में देते चले जाना सम्भव नही था।

जर्मनी की वित्त-व्यवस्था बहुत जल्दी छिन्न-भिन्न हो गई, और सरकार के पास इनना रुपया नही रहा कि वह हर्जानो आदि के विदेशी क़र्ज़े चुका सके या अन्दरूनी खर्चे तक पूरे कर सके। दूसरे देशो की अदायगी के लिए सोना देना पडता था। इसलिए जब निश्चित तारीखो पर ये अदायगिया न हुईं तो इकरार टूट गया। इधर जर्मनी में तो सरकार नोटों के द्वारा भुगतान कर सकती थी, इसलिए उसने अधिकाधिक कागज़ी नोट छापने की युक्ति अपनाई। मगर नोट छापने से रुपया पैदा नहीं होता, सिर्फ लेन-देन की सहूलियत पैदा होती है। लोग नोटो का उपयोग इसलिए करते है कि वे जानते है कि अगर वे चाहे तो उनके बदले में सोना या चांदी ले सकते हैं। इन नोटों की साख के लिए बैंकों मे हमेशा सोने की कुछ राशि जमा रहती है, ताकि नोटों की क़ीमत न गिरने पावे। इस प्रकार कागज़ी मुद्रा से बडा उपयोगी काम पूरा होता है, क्योंकि इससे रोज़ाना लेन-देन के काम में लगनेवाला बहुत-सा सोना और चादी बच जाता है और सरकार की साख बढ़ जाती है। लेकिन अगर कोई सरकार बेहिसाब कागज़ी मुद्रा छापती चली जाय और इसकी परवा न करे कि बैंकों में कितना सोना जमा है, तो इस मुद्रा की कीमत गिर जाना अनिवार्य है। जितने ज्यादा नोट छपने है उतनी ही उनकी क़ीमत घटती जाती है, और उनके ज़रिये होने वाला लेन-देन का काम भी उतना ही कम हो जाता है। यह क्रम मुद्रा-प्रसार कहलाता है। सन् १९२२ व १९२३ ई० में जर्मनी में ठीक यही हुआ। जर्मन सरकार को अपने खर्चे चलाने के लिए ज्यादा रुपये की ज़रूरत हुई, तो उसने ज्यादा नोट छाप डाले। इसका नतीजा यह हुआ कि अन्य सब चीज़ो की कीमतें तो बढ गईं, पर पौंड, डालर या

फ्रैंक[1] के मुकाबले में जर्मनी के मार्क[1] की क़ीमत गिर गई। इसलिए सरकार को मार्क के नोट और छापने पड़े और मार्क की कीमत और भी गिरी। यह क्रम कल्पनातीत दर्जे तक पहुच गया, यहा तक कि एक डालर या पौड का मूल्य अरबो काग़ज़ी मार्क हो गया। वास्तव में काग़ज़ी मार्क की कोई कीमत ही नहीं रह गई। चिट्ठी पर लगाने के लिए एक टिकट का मूल्य दस लाख क़ागज़ी मार्क हो गया! अन्य वस्तुओं की क़ीमते भी इसी प्रकार चढ गईं और निरन्तर बदलती रहती थी।

जर्मन मुद्रा का यह प्रसार और मार्क की क़ीमत में यह हैरतभरी गिरावट अपने-आप ही नही हुई। यह तो जर्मन सरकार ने अपनी आर्थिक कठिनाइयो में से निकलने के इरादे से जानबूझ कर किया था, और बहुत हद तक इस दिशा में उसे सहायता भी मिली। क्योकि सरकार ने, म्यूनिसिपल कमेटियो ने तथा अन्य कर्ज़दारो ने जर्मनी मे अपने-अपने तमाम अन्दरूनी कर्ज़े मूल्यहीन कागज़ी मार्कों द्वारा आसानी से चुका दिये। अलबत्ता वे इस प्रकार विदेशो मे या विदेशो को क़र्ज़े नही चुका सके, क्योकि वहा उनकी कागज़ी मुद्रा को कोई भी लेने को तैयार नही था। जर्मनी में तो क़ानून के ज़ोर से लोगो को यह मुद्रा लेने के लिए मजबूर किया जा सकता था। इस प्रकार सरकार ने तथा हर कर्ज़दार ने कर्ज़ के दुखदायी बोझ से पिंड छुड़ाया। लेकिन इसके बदले मे जनता को घोर कष्ट उठाने पडे। इस मुद्रा-प्रसार के ज़माने में सब लोगो ने कष्ट सहे, पर सबसे अधिक कष्ट मध्यमवर्ग को सहने पड़े, क्योंकि इन वर्गों के ज़्यादातर लोगों को निश्चित वेतन मिलते थे या अन्य निश्चित आमदनिया होती थी। ज्यो-ज्यो मार्क की क़ीमत गिरी त्यो-त्यो ये वेतन ज़रूर बढे, पर इतने ऊंचे कभी नही हुए कि मार्क के तेज़ी से गिरते हुए मूल्य का मुकाबला करते। इस मुद्रा-प्रसार ने निम्न मध्यमवर्गों का तो करीब-क़रीब सफ़ाया ही कर दिया, और आगे के वर्षों में जर्मनी मे घटित होनेवाली उल्लेखनीय घटनाओ पर विचार करते समय यह बात हमें ध्यान में रखनी होगी। क्योकि अब इन असन्तुष्ट वर्ग-च्युत मध्यमवर्गों की ज़बरदस्त विद्रोही फ़ौज तैयार हो गई, जो क्राति की सम्भावनाओ से परिपूर्ण थी। ये लोग धीरे-धीरे उन खानगी सेनाओ मे जा मिले जो मुख्य-मुख्य दलो के साथ बढती जा रही थी, और ज़्यादातर लोग हिटलर के नये राष्ट्रीय समाजवादी दल या नात्सी दल मे जा मिले।

पुराना मार्क, जो अब किसी भी प्रयोजन के लिए बेकार हो गया था, मसूख़ कर दिया गया, और इस की जगह "रैन्टनमार्क" की नई मुद्रा प्रणाली जारी की गई। इसके साथ मुद्रा-प्रसार का कोई सम्बन्ध नही था, और इसका मूल्य वही था जो उतनी क़ीमत के सोने का। इस प्रकार अपने निम्न मध्यमवर्गों का पूरी तरह सफाया करके जर्मनी फिर स्थिर मुद्रा-प्रणाली पर लौट आया।

जर्मनी की ये आर्थिक गडबडिया महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परिणामो का कारण हुईं। मित्र-राष्ट्रों को हर्जानों की अदायगी मे चूक पड़ गई। इन हर्जानो को मित्र-राष्ट्रीय शक्तिया आपस में बाट लेती थी और सबसे बड़ा हिस्सा फ़ास को मिलता था। रूस अपना हिस्सा नही लेता था; अगर उसका कोई दावा था भी तो उसने त्याग दिया था। जब जर्मनी क़िस्त अदा करने मे चूक गया तो फ़ास और बैल्जियम ने जर्मनी के रूर क्षेत्र पर फ़ौजी क़ब्ज़ा कर लिया। वर्साई सन्धि के अन्तर्गत राइनलैण्ड पर मित्र-राष्ट्रो का पहले ही क़ब्ज़ा हो चुका था। जनवरी, सन् १९२३ ई०, में फ़ांस और बैल्जियम ने कुछ और क्षेत्र पर अधिकार कर लिया (इस कार्रवाई में इग्लैण्ड ने शामिल होने से इन्कार कर दिया था)। रूर का यह क्षेत्र राइनलैण्ड से मिला हुआ है और इसमें कोयले की प्रचुर खानें तथा कारखाने हैं। फ़ांस इस कोयले पर तथा वहा तैयार होनेवाली अन्य वस्तुओ पर क़ब्ज़ा करके अपना रुपया वसूल करना चाहता था। परन्तु यहा एक कठिनाई खड़ी हो गई। जर्मन सरकार ने निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा फ़ांसीसियों के इस कब्ज़े का विरोध करने का निश्चय किया, और उसने रूर के खान-मालिकों तथा मज़दूरो से अनुरोध किया कि वे काम बन्द कर दें और फ़ास को किसी तरह की मदद न दें। उसने खान-मालिकों तथा उद्योगपतियो को करोड़ों मार्कों की सहायता दी, ताकि काम बन्द करने के कारण उन्हे होने वाले नुक-सान पूरे हो जाय। नौ-दस महीने बाद, जो फ़ास और जर्मनी दोनों को बहुत महगे पड़े, जर्मन सरकार ने निष्क्रिय प्रतिरोध उठा लिया, और इस क्षेत्र की खानो और कारखानों को चलाने के काम में फ़ांसीसियों को सहयोग देना शुरू कर दिया। सन् १९२५ ई० में फ़ांसीसियों और बैल्जियनों ने रूर छोड़ दिया।

---

[1]Franc—फ्रांस की मुद्रा। [1]Mark—जर्मनी की मुद्रा।

रूर में जर्मनो का निष्क्रिय प्रतिरोध तो असफल हो गया था, पर इसने सिद्ध कर दिया था कि हर्जानों के सवाल पर पुनर्विचार होना, तथा अदायगी की वाजिब रकमें निश्चित किया जाना, आवश्यक था। इसलिए जल्दी-जल्दी एक के बाद दूसरे सम्मेलन हुए और कमीशन बैठे, और एक के बाद दूसरी नई-नई योजनाएं निकाली गईं। सन् १९२४ ई० मे डौज़ योजना[1] बनी, पाच साल बाद, सन् १९२९ ई० में, यग योजना आई, और तीन साल बाद तमाम सम्बन्धित पक्षों ने एक तरह से मान लिया कि भविष्य में हर्जानों की अदायगी सम्भव नहीं है। इसलिए यह सारा विचार ही रद्दी कर दिया गया।

सन् १९२४ ई० से लगा कर अगले कुछ वर्षों तक जर्मनी ने हर्जानों का नियमित रूप से भुगतान किया लेकिन जब जर्मनी के पास रुपया ही नही था और वह दिवालिया हो रहा था, तो यह भुगतान हुआ कैसे ? बस, सयुक्तराज्य अमरीका से कर्ज़ लेकर हुआ। मित्र-राष्ट्रों (इग्लैण्ड, फ्रास, इटली आदि) को अमरीका का रुपया देना था—वह रुपया जो उन्होंने युद्ध-काल में उधार लिया था; उधर जर्मनी को हर्जानों के रूप मे मित्र-राष्ट्रों का रुपया देना था। बस अमरीका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, ताकि जर्मनी मित्र-राष्ट्रों को रुपया अदा कर सके, और मित्र-राष्ट्र यही रुपया अमरीका को दे दें। यह बडी खूबसूरत तरकीब थी, और हरेक संतुष्ट दिखाई देता था ! सच तो यह है कि रुपया वसूल करने का और कोई रास्ता ही नही था। अलबत्ता क़र्ज़ लेने और उधार देने का यह सारा चक्कर एक छोटी-सी चीज़ पर निर्भर था—वह यह कि अमरीका जर्मनी को रुपया उधार देता चला जाय। अगर यह बन्द हुआ तो सारा इन्तज़ाम चौपट हुआ समझो।

क़र्ज़ देने और उधार लेने की इन क्रियाओ का अर्थ यह नही था कि सचमुच कोई नक़द रुपया दिया-लिया जाता हो। यह तो सब कागज़ी लेन-देन था। अमरीका जर्मनी के नामे एक खास रकम लिख देता था; जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रो के खाते मे उनके नामे डाल देता था; और मित्र-राष्ट्र इसी को फिर अमरीका के खाते में उसके नामे लिख देते थे। असल रुपया तो कही जाता-आता नही था, सिर्फ बही-खातो मे कुछ इन्दराज हो जाते थे। अमरीका ऐसे निर्धन हुए देशों को उधार क्यो देता चला जाता था जो पिछले कर्ज़ों का सूद तक अदा नही कर पाते थे ? अमरीका ऐसा इसलिए करता था कि इन देशो को किसी तरह अपनी गाड़ी चलाने में मदद मिल जाय और वे दिवालिया होने से बच जाय। क्योकि अमरीका को योरप के चौपट हो जाने का डर था, जिसके और तो बुरे परिणाम निकलते ही, पर जिसका अर्थ यह होता कि अमरीका का सारा लेना ही मारा जाता। इसलिए समझदार बौहरे की तरह अमरीका ने अपने क़र्ज़दारो को जिन्दा और काम चलाने योग्य बनाये रक्खा। लेकिन कुछ वर्षों बाद अमरीका निरन्तर उधार देने की इस नीति से उकता गया, और उसने इसे खतम कर दिया। बस, हर्जानो और कर्ज़ों का सारा ढाचा तुरन्त ही भहरा कर गिर पडा, और अदायगियां रुक गईं, और योरप के सारे राष्ट्र तथा अमरीका दलदल में फस गये।

इस प्रकार हर्जानों की समस्या महायुद्ध के बाद लगभग बारह वर्ष तक योरप पर छाई रही। इसके साथ ही युद्ध के क़र्ज़ों का सवाल था—यानी जर्मनी के अलावा अन्य देशो के कर्ज़ों का। जैसाकि मै महायुद्ध के बारे में अपने एक पत्र में लिख चुका हू, महायुद्ध के शुरू के दिनो मे इंग्लैण्ड और फ्रास ने युद्ध का खर्चा उठाया, और अपने साथी छोटे-छोटे राष्ट्रो को रुपया उधार दिया। फिर फ्रास के साधन खतम हो गये और वह उधार देने में असमर्थ हो गया। मगर इग्लैण्ड उधार देता रहा बाद में इंग्लैण्ड का खज़ाना भी खाली हो गया, और वह भी आगे उधार देने में असमर्थ हो गया। अकेला सयुक्तराज्य अमरीका ही उधार देनेवाला रह गया, और उसने इग्लैण्ड, फ़्रांस तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों को, अपने फ़ायदे का ध्यान रखते हुए, खूब उदारता से रुपया उधार दिया। इस प्रकार युद्ध का अन्त होने पर कुछ देशो को फ़ास का देना था; बहुत-से देश इंग्लैण्ड के क़र्ज़दार थे; और तमाम मित्र-राष्ट्रीय देशों को अमरीका को बड़ी-बड़ी रक़में देनी बाक़ी थी। अकेला अमरीका ही ऐसा देश था जिसे किसी दूसरे देश को कुछ देना नही था। उस समय वह बड़ा भारी साहू-

---

[1] Dawes Plan—इस योजना को बनाने वाला Charles Gates Dawes नामक अमरीकी अर्थ-विद् और राजनीतिज्ञ था।

कार राष्ट्र था। उसने इंग्लैण्ड की पुरानी स्थिति प्राप्त कर ली थी, और दुनिया भर का बौहरा बन गया था। कुछ आंकडों से शायद यह बात स्पष्ट हो जायगी। महायुद्ध से पहले अमरीका एक क़र्ज़दार राष्ट्र था जिसे दूसरे देशों को तीन अरब डालर चुकाने थे। लेकिन युद्ध का अन्त होते-होते यह सारा कर्ज़ा चुक गया, और उलटे अमरीका ने विपुल धनराशिया उधार दे दी थीं। सन् १९२६ ई० में अमरीका पच्चीस अरब डालर का लेनदार, साहूकार राष्ट्र बन गया था।

युद्ध के ये क़र्ज़े इंग्लैण्ड, फ़ास, इटली आदि क़र्ज़दार देशों पर ज़बरदस्त बोझ थे, क्योंकि ये सब सरकारी क़र्ज़े थे जिनके लिए सरकारे ज़िम्मेदार थी। इन देशो ने अमरीका से अपने हित में विशेष अनुकूल शर्तें प्राप्त करने की कोशिश की, और इन्हे कुछ रियायतें मिल भी गईं, पर बोझ फिर भी बना रहा। जब तक जर्मनी हर्जानो की क़िस्ते देता रहा तब तक कर्ज़दार देश इन अदायगियो को (जो वास्तव में अमरीका के ही उधार खाते की थी) अमरीका के नामे डालते रहे। पर जब हर्जानो की ये किस्ते वक्त पर न चुकाई गईं या आना बन्द हो गईं, तो कर्ज़े चुकाना भी मुश्किल हो गया। योरप के कर्ज़दार देशो ने हर्जानों तथा युद्ध-ऋणो को एक दूसरे पर निर्भर सिद्ध करने का प्रयत्न किया; उन्होंने कहा कि अगर एक की अदायगी बन्द हो जाती है तो दूसरे की भी अपने-आप बन्द हो जानी चाहिए। मगर अमरीका ने दोनो को मिलाने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि जो रुपया उसने उधार दिया था उसे वह वापस चाहता था; जर्मनी से प्राप्त होने वाले हर्जानों का सवाल बिल्कुल अलग था, क्योंकि इनकी स्थिति ही अलहदा थी। अमरीका के इस रुख पर योरप में बहुत रोष प्रगट किया गया, और उसे बहुत जली-कटी बातें सुनाई गईं। कहा गया है कि वह शाइलॉक की तरह, "आधा सेर मास" चाहता है। फ़ास में खास तौर पर यह बात कही गई कि अमरीका से जो रुपया उधार लिया गया था वह सबके समान हित के उद्योग में खर्च हुआ था, इसलिए वह साधारण कर्ज़ की तरह नही माना जाना चाहिए। उधर अमरीकावासियो को योरप मे युद्ध के बाद की प्रतिस्पर्द्धाओ और साजिशो से बडी नफ़रत हो गई थी। उन्होने देखा कि फ़ास और इंग्लैण्ड और इटली अपनी-अपनी थल सेनाओ तथा नौ-सेनाओ पर विपुल धन खर्च करते चले जा रहे थे, और छोटे-छोटे देशो को हथियार खरीदने के लिए रुपया तक उधार दे रहे थे। अगर योरप के इन देशो के पास शस्त्रास्त्रो के लिए इतना सारा रुपया था, तो अमरीकावाले उनके कर्ज़े माफ क्यो करे? अगर वे इन कर्ज़ों को माफ कर दे तो शायद यह रुपया भी शस्त्रास्त्रो मे झोक दिया जायगा। अमरीका की यही दलील थी, और वह कर्ज़ों के अपने दावो पर अडा रहा।

हर्जानो की ही तरह युद्ध-ऋणो का भी किसी तरह चुकाया जाना बहुत मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज़े या तो सोना देकर अदा किये जा सकते है, या माल देकर, या उपयोगी साधन (जैसे माल लाना-लेजाना, जहाज़रानी, तथा अन्य साधन) देकर। इन विपुल धन राशियो का सोने के रूप मे अदा किया जाना असम्भव था, इतना सोना प्राप्त ही नही हो सकता था। और माल तथा साधनो के रूप मे भारी हर्जानो तथा क़र्ज़ों दोनो की अदायगी करीब-करीब असम्भव हो गई थी, क्योकि अमरीका ने तथा योरप के देशो ने भी तटकरो के प्रतिबन्ध लगा कर विदेशी माल आना रोक दिया था। इससे एक असम्भव स्थिति पैदा हो गई, और यही असली कठिनाई थी। मगर फिर भी कोई देश न तो तटकरो के प्रतिबन्ध कम करने को तैयार था, और न अपने कर्ज़े की रक़म के बदले में माल लेने को तैयार था, क्योकि इससे देशी उद्योगो को हानि पहुचने की सम्भावना थी। यह एक विचित्र और खोटा चक्कर था।

अकेला योरप ही ऐसा महाद्वीप नही था जो सयुक्तराज्य अमरीका का कर्ज़दार था। अमरीकी बौहरो और व्यापारियो ने कनाडा तथा लातीनी अमरीका (यानी दक्षिण व मध्य अमरीका तथा मैक्सिको) में करोडो की पूंजिया लगा रक्खी थी। महायुद्ध के ज़माने मे लातीनी अमरीका के ये देश आधुनिक उद्योगो तथा मशीनो की सामर्थ्य से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। इसलिए उन्होने औद्योगिक विकास पर सारा ध्यान लगा दिया, और सयुक्त राज्य में जो धन की नदी बह रही थी, वह इस काम के लिए उत्तर से इन देशो की ओर आने लगी। इन्होने इतना रुपया उधार ले लिया कि उस पर ब्याज देना भी मुश्किल हो गया। हर जगह अधिनायक पैदा हो गये, और जब तक यह उधार-खाता चलता रहा तब तक सब काम ठीक होता रहा, उसी तरह जिस तरह कि जब तक अमरीका क़र्ज़ देता रहा तब तक जर्मनी में सब काम ठीक होता रहा। जब लातीनी अमरीका को क़र्ज़ देना बन्द कर दिया गया तो वहां भी उसी तरह दिवाला निकल गया जिस तरह योरप में निकला था।

अमरीका की लगाई हुई पूंजियों का, और लातीनी अमरीका में वे किस तेजी के साथ बढ़ीं इसका कुछ अनुमान तुम्हें देने के लिए मै यहां दो आंकड़े देता हूं। सन् १९२६ ई० में इन पूंजियों की रक़म सवा चार अरब डालर थी। तीन वर्ष बाद, सन् १९२९ ई० में, यह रक़म साढ़े पांच अरब तक पहुंच गई थी।

बस, इन युद्धोत्तर वर्षों में अमरीका असन्दिग्ध रूप से दुनिया का बौहरा बन गया। वह धनवान था, समृद्ध था, और सम्पत्ति के मारे फटा जा रहा था। उसका रौब सारे ससार पर छा गया था, और उसके निवासी योरप को, और उससे भी ज्यादा एशिया को, कुछ हिक़ारत के साथ ऐसा समझते थे मानो वे कोई सठियाए हुए बूढे और झगड़ालू महाद्वीप हों। सन् १९२०-३० ई० में समृद्धि के उस चरमोत्कर्ष के ज़माने में अमरीकी सम्पत्ति की कुछ कल्पना करने का प्रयत्न करो। सन् १९१२ से लगाकर १९२७ ई० तक के पन्द्रह वर्षों में अमरीका की कुल राष्ट्रीय सम्पत्ति १,८७,२३,९०,००,००० डालर से बढ़ कर ४,००,००,००,००,००० डालर हो गई। सन् १९२७ ई० में यहां की आबादी पौने बारह करोड़ के लगभग थी, और औसत से एक आदमी की आमदनी ३,४२८ डालर आती थी। उन्नति इतनी तेजी से हो रही है कि ये आकडे हर साल बदल जाते है। पिछले एक पत्र में, भारत तथा अन्य देशो की राष्ट्रीय आमदनियो की तुलना करते हुए, मैंने अमरीका के लिए इससे बहुत नीचा आंकड़ा दिया था। पर यह आंकड़ा राष्ट्रीय आमदनी का था, सम्पत्ति का नही, और वह भी शायद किसी पिछले वर्ष का था। ऊपर दिया हुआ सन् १९२७ ई० का आकडा अमरीका के राष्ट्रपति कूलिज के नवम्बर, सन् १९२६ ई०, में दिये हुए एक बयान के आधार पर है।

कुछ और आकड़े भी शायद तुम्हे दिलचस्प मालूम हो। ये सब सन् १९२७ ई० के है। सयुक्तराज्य अमरीका में कुटुम्बो की संख्या २,७०,००,००० थी। इनके पास १,५९,२३,६०० बिजली की रोशनीवाले घर थे, और व्यवहार में आने वाले टेलीफोनो की संख्या १,७७,८०,००० थी। यहा १,९२,३७,१७१ मोटरें चलती थी, और यह सख्या सारी दुनिया की मोटरो की ८१ प्रतिशत थी। अमरीका मोटर गाड़ियो का उत्पादन सारे संसार के उत्पादन का ८७ प्रतिशत था, पैट्रोलियम का उत्पादन ७१ प्रतिशत था, और कोयला का ४३ प्रतिशत। मजा यह है कि सयुक्तराज्य की आबादी सारी दुनिया की आबादी का केवल ६ प्रतिशत थी। इस प्रकार वहाँ की जनता के जीवन का स्तर बहुत ऊंचा था, मगर उतना ऊचा नही था जितना कि सम्भव था, क्योंकि सम्पत्ति तो कुछेक हज़ार लखपतियो और करोडपतियो के हाथो मे केन्द्रीभूत थी। ये "बड़े व्यापारी" देश पर शासन करते थे। राष्ट्रपति उनकी मर्ज़ी का चुना जाता था, कानून वे बनाते थे, और अक्सर करके क़ानूनो को तोड़ते भी थे। इन बडे व्यापारियो में ज़बरदस्त भ्रष्टाचार था, पर जब तक आम खुशहाली थी तब तक अमरीकी जनता को इसकी कोई परवाह नहीं थी।

सन् १९२०-३० ई० में अमरीका की समृद्धि के ये आकड़े मैंने कुछ तो तुम्हे यह बतलाने के लिए दिये है कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने भारत तथा चीन जैसे पिछड़े-हुए और उद्योग-विहीन देशो के मुक़ाबले में एक देश को किस उच्च शिखर पर पहुंचा दिया है; और कुछ इसलिए कि अमरीका की इस समृद्धि का बाद में वहां आने वाले संकट और पतन के मुक़ाबले मे अन्तर प्रगट हो जाय। इसका हाल मैं आगे चलकर लिखूगा।

यह सकट तो बाद में आने वाला था। ठेठ सन् १९२९ ई० तक तो ऐसा प्रतीत हुआ कि संतप्त योरप और एशिया की तकलीफ़ों से अमरीका अछूता रह गया। पराजित शक्तियों की हालत बहुत बुरी थी। जर्मनी के कष्टों का कुछ हाल मै तुम्हें बतला चुका हूं। मध्य योरप के अधिकाश छोटे-छोटे देशो की, और ख़ास कर आस्ट्रिया की, हालत तो और भी बुरी थी। आस्ट्रिया को भी मुद्रा-प्रसार की मुसीबत सहनी पडी, और पोलैण्ड को भी, और दोनों को अपनी-अपनी मुद्रा प्रणालियां बदलनी पड़ी।

परन्तु यह मुसीबत पराजित देशों तक ही सीमित नही थी। धीरे-धीरे विजेता देश तक भी इसमें फंस गये। यह तो हमेशा से माना जाता रहा था कि क़र्ज़दार होना अच्छी चीज़ नही है। परन्तु अब एक नया और अद्भुत अनुभव हुआ: वह यह कि ऋणदाता होना भी उतना ही बुरा है! क्योंकि वे विजेता शक्तियां, जो जर्मनी से हर्जानो की लेनदार थीं, इन हर्जानों के कारण महान कठिनाइयों में पड़ गईं, और इनकी वसूली के काम ने तो इन्हें और भी आफ़त में डाल दिया। इन बातों का जिक्र मैं अगले पत्र में करूंगा।

: १७३ :

रुपये का विचित्र आचरण

१६ जून, १९३३

युद्धोत्तर काल की एक सबसे अधिक उल्लेखनीय विशिष्टता है रुपये का विचित्र आचरण। युद्ध से पहले हर देश में रुपये का बहुत कुछ निश्चित मूल्य था। हर देश की निजी मुद्रा-प्रणाली थी; जैसे भारत में रुपया, इग्लैण्ड में पौंड, अमरीका में डालर, फ्रास में फ्रैन्क, जर्मनी में मार्क, रूस में रूबल, इटली में लीरा, इत्यादि, और इन मुद्राओ का आपस में स्थिर सम्बन्ध था। ये आपस में तथाकथित "अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान" के द्वारा बँधी हुई थी—यानी हर मुद्रा का सोने की कीमत के अनुसार एक निश्चित मूल्य होता था। हर देश की सीमाओं के भीतर उसकी अपनी मुद्रा ठीक काम देती थी, पर बाहर के देशो में नही। दो मुद्रा-प्रणालियो को जोड़ने वाली कडी सोना थी, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान या चुकारे सोने के लेन-देन से किये जाते थे। जब तक इन मुद्राओ के स्वर्ण मान निश्चित रहते थे, तब तक उनमे ज्यादा उतार-चढाव नही हो सकता था, क्योकि जहां तक मूल्य का सम्बन्ध है वहा तक सोना काफी स्थिर धातु है।

मगर युद्धकालीन आवश्यकताओ ने युद्ध-प्रवृत्त सरकारों को यह स्वर्ण-मान छोड़ने पर विवश कर दिया, जिससे उनकी मुद्राओं के मूल्य गिर गये। कुछ परिमाण मे मुद्रा-प्रसार भी हुआ। इससे व्यापार चलाने में तो मदद मिली पर मुद्राओ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उलट-पुलट हो गये। युद्धकाल में दुनिया दो विशाल शिविरों में बट गई थी;—एक मित्र-राष्ट्रीय शिविर और दूसरा जर्मन शिविर; और हर शिविर के भीतर आपसी सहयोग तथा सयोजन था और हर चीज युद्ध पर निछावर कर दी जाती थी। युद्ध के बाद कठिनाइया पैदा हो गईं, और बदलने वाली आर्थिक परिस्थितियो तथा राष्ट्रो के आपसी अविश्वासो का नतीजा यह हुआ कि विभिन्न मुद्रा-प्रणालिया असाधारण व्यवहार करने लगी। आजकल की सारी मुद्रा-प्रणाली ज्यादातर साख के आधार पर चलती है। बैक का नोट तथा हुंडी, दोनो रुपया देने के इकरारनामे होते है, जिन्हे वास्तविक रुपये के समान स्वीकार किया जाता है। साख विश्वास पर निर्भर रहती है, और अगर विश्वास जाता रहता है तो उसके साथ साख भी चली जाती है। युद्धोत्तर वर्षों के दौरान में मुद्रा-प्रणाली ने इतनी गडबड़ क्यो मचा दी इसका यह भी एक कारण है, क्योकि योरप की झझट-भरी परिस्थितियो ने सारे विश्वास की जड हिला दी थी। आधुनिक ससार में आपसी निर्भरता है; हर भाग का दूसरे भाग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां सदा चलती रहती है। इसका अर्थ यह है कि एक देश की गडबडियो की तुरन्त ही अन्य देशो में प्रतिक्रिया होती है। अगर जर्मन मार्क का मूल्य गिर जाय या कोई जर्मन बैंक दिवालिया हो जाय, तो लदन और पैरिस और न्यूयार्क के लोगों में भी इससे अनेक प्रकार की घबराहट हो जाना सम्भव है। इन हेतुओं के कारण तथा अन्य हेतुओ के कारण, जिनका जिक्र करके मै तुम्हे परेशान नही करना चाहता, करीब-करीब सभी देशो मे मुद्रा या रुपये की दिक्कतें पैदा हो गईं, और उद्योगो के लिहाज से जो देश जितना अधिक उन्नत था उतनी ही अधिक बार उस पर दिक्कतें आईं। क्योकि औद्योगिक प्रगति का अर्थ था अत्यन्त जटिल और भग्नशील अन्तर्राष्ट्रीय ढाचा। अलबत्ता, तिब्बत जैसे पिछड़े हुए तथा सबसे विलग प्रदेश पर मार्क या पौंड के उतार-चढावका कोई असर न होगा, पर डालर के मूल्य में गिरावट होने से जापान में तो तुरन्त घबराहट फैल जाने की सम्भावना है।

इसके अलावा हर उद्योग-प्रधान देश में विभिन्न समुदायों के स्वार्थ भी भिन्न-भिन्न थे। अर्थात, कुछ लोग सस्ता रुपया और मुद्रा-प्रसार चाहते थे (अलबत्ता वैसा अपरिमित मुद्रा-प्रसार नहीं जैसा जर्मनी में हुआ था), उधर कुछ लोग इसके बिल्कुल विपरीत मुद्रा-संकोच, यानी रुपये का ऊचा स्वर्ण-मान चाहते थे। मसलन, साहूकार, बौहरे, वगैरा रुपये के ऊँचे मूल्य के पक्ष में थे, क्योंकि उन्हें दूसरों से रुपया लेना था; और कर्जदार लोग अपने कर्जे चुकाने के लिए क़ुदरती तौर पर सस्ता रुपया चाहते थे। उद्योगपति तथा कारखानेदार लोग सस्ते रुपये के पक्ष में थे, क्योंकि आम तौर पर वे बौहरो के कर्जदार थे; और इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि सस्ता रुपया होने से विदेशों में उनके माल की बिक्री बढ़ती थी। सस्ती अंग्रेजी मुद्रा का अर्थ यह होगा कि विदेशी मंडियों में जर्मन, अमरीकी या अन्य विदेशी माल की कीमतों के मुक़ाबले

में ब्रिटिश माल की कीमत कम होगी, और इसके परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश उद्योगपति फायदे में रहेंगे और उनका माल ज्यादा बिकेगा। बस, तुम्हारे ध्यान में यह बात आ गई होगी कि अलग-अलग समुदाय अलग-अलग दिशाओं में खींच-तान कर रहे थे, और खास रस्सा-कशी उद्योगपतियों तथा बौहरों के बीच चल रही थी। मैं इस चीज को यथाशक्ति आसान रूप में लिखने की कोशिश कर रहा हूं। पर तथ्य तो यह है कि इसमें अनेक जटिल उपादान थे

फ्रास तथा इटली दोनों में मुद्रा-प्रसार था, और फ्रैंक तथा लीरा के मूल्य गिर गये थे। फ्रैंक का पुराना मूल्य यह हुआ करता था कि एक पौंड स्टर्लिंग (यह ब्रिटिश पौंड का नाम है) के २५ फ्रैंक होते थे। यह भाव गिर कर एक पौड के २७५ फ्रैन्क हो गया। बाद में एक पौंड का भाव करीब १२० फ्रैन्क निश्चित कर दिया गया।

युद्ध के बाद, जब अमरीका ने इंग्लैण्ड को सहायता देना बन्द कर दिया, तब पौंड का मूल्य कुछ गिर गया। उस समय इग्लैण्ड के सामने एक कठिनाई उपस्थित हो गई। क्या वह पौंड के मूल्य में इस कुदरती गिरावट को मजूर कर ले और पौंड का यह नया मूल्य निश्चित कर दे? इससे माल सस्ता हो जाने के कारण उद्योगो को तो मदद मिलती, पर बौहरो और साहूकारो को घाटा पहुंचता। इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह थी कि इससे लन्दन की वह स्थिति खतम हो जाती जिसके अनुसार वह सारे ससार का आर्थिक केन्द्र बना हुआ था। तब यह सम्भावना थी कि लन्दन की जगह न्यू-यार्क इस स्थिति को ग्रहण कर लेता और कर्ज़े लेने वाले लन्दन न जाकर वहा पहुंचने लगते। दूसरा विकल्प यह था कि पौंड को उसकी मूल कीमत पर ऊपर खीच लिया जाता। इससे पौंड की साख बढ जाती और लन्दन का आर्थिक नेतृत्व क़ायम रहता। परन्तु उद्योगो को हानि पहुंचती और, जैसा कि इस घटना ने सिद्ध कर दिया, और भी अनेक अवांछनीय बातें पैदा हो जातीं।

ब्रिटिश सरकार ने सन् १९२५ ई० में दूसरा रास्ता अपनाया, और पौंड का स्वर्ण-मान पहले की बराबर ऊंचा कर दिया। इस प्रकार उसने कुछ हद तक अपने उद्योगो को अपने बौहरो के हित मे निछावर कर दिया। उसके सामने जो असली मुद्दा था वह इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण था, क्योकि उसका ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व पर मार्मिक प्रभाव पडता था। अगर लन्दन ससार का आर्थिक नेतृत्व खो देता, तो साम्राज्य के विभिन्न अंग फिर उसके नेतृत्व या सहायता पर निर्भर न रहते, और साम्राज्य धीरे-धीरे विलीन हो जाता। बस, यह प्रश्न साम्राज्यशाही नीति का प्रश्न बन गया, और यह व्यापक साम्राज्यवाद अंग्रेज़ी उद्योगो तथा तात्कालिक अन्दरूनी हितो को कुर्बान करके जीत गया। तुम्हे याद होगा कि साम्राज्य-सम्बन्धी हितो ने ठीक इसी प्रकार इग्लैण्ड को, लंकाशायर तथा ब्रिटिश उद्योगो की हित-हानि करके भी, युद्ध के बाद भारत का औद्योगीकरण बढ़ाने के लिए प्रेरित किया था।

इस प्रकार अपना नेतृत्व तथा साम्राज्य बनाये रखने के लिए इग्लैण्ड ने साहसपूर्ण प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रयत्न बड़ा मंहगा पड़ा, और जिसकी असफलता मानो पूर्व-निश्चित थी। ब्रिटिश सरकार या कोई भी अन्य सरकार, आर्थिक नियति के अपरिहार्य परिणामो को रोक नही सकती थी। कुछ देर के लिए पौड ने अपना प्राचीन गौरव प्राप्त कर लिया था, लेकिन उद्योगों को दिन पर दिन ज्यादा अपग बना कर। बेकारी बढ गई, और कोयला-उद्योग पर तो खास तौर से मार पडी। पौंड का सकोचन (स्वर्ण-मान बढ़ाने की प्रक्रिया का यही नाम है) ही इसके लिए ज्यादातर जिम्मेदार था। पर कुछ अन्य कारण भी थे। हर्जानो की अदायगी के रूप मे जर्मनी से कुछ कोयला प्राप्त हुआ था, और इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी कोयले की मांग कम हो गई। इसके परिणामस्वरूप कोयले की खानों में बेकारी और भी ज्यादा बढ गई। इस प्रकार ऋण-दाता तथा विजेता देशो को यह मानना पड़ा कि पराजित देश से इस तरह का खिराज वसूल करना कोई ऐसी नियामत नही है जो बुराई से खाली हो। इंग्लैण्ड का कोयला-उद्योग भी बहुत बुरी तरह सगठित था। वह सैंकड़ो छोटी-छोटी कम्पनियो में बटा हुआ था, और योरप तथा अमरीका की बड़ी-बड़ी तथा सुसगठित सयुक्त-कम्पनियों के साथ आसानी से होड़ नही कर सकता था।

जब कोयला-उद्योग की हालत दिन पर दिन ज्यादा बिगड़ने लगी, तो खान मालिको ने अपने मजदूरो की मजूरिया घटाने का फैसला किया। खान-मजदूरो ने इस पर भीषण रोष प्रकट किया, और उन्हे अन्य देशों के मजदूरों का भी सहारा मिला। इंग्लैण्ड का सारा श्रमजीवी आन्दोलन खान-मजदूरो के हित में लड़ने

के लिए तैयार हो गया, और एक "युद्ध कौन्सिल" बना दी गई। इससे पहले खान-मजदूरों, रेल-मजदूरों तथा वाहन-मजदूरों के तीन बड़े मजदूर संघो के बीच एक प्रबल "तिहरा सगठन" बन गया था जिसमें लाखो सु-सगठित तथा सधे हुए मजदूर शामिल थे। श्रमजीवी वर्ग के इस उग्र रवैय्ये ने सरकार को काफ़ी भयभीत कर दिया, और उसने खान-मालिकों को धन की सरकारी सहायता देकर सकट को टाल दिया। यह सहायता इसलिए दी गई थी कि वे मजदूरो को पुराने दर पर मजूरी एक साल तक और देते रहे। एक जाच कमीशन भी नियुक्त किया गया। परन्तु इन सब बातो का कोई नतीजा नही निकला, और अगले साल, सन् १९२६ ई० में, जब खान-मालिको ने मजूरियाँ घटानी चाही तो संकट फिर उपस्थित हो गया। इस बार सरकार श्रमजीवी-वर्ग से लड़ने को उद्यत थी, क्योकि पिछले महीनों के अन्दर उसने हर तरह की तैयारी कर ली थी।

खान-मालिको ने खानों पर ताला-बन्दी का निश्चय किया, क्योकि खान-मजदूर मजूरियों मे कटौती के लिए राजी नहीं हुए। इससे ट्रेड यूनियन काग्रेस की पुकार पर सारे इग्लैण्ड में झटपट आम हडताल हो गई। इस पुकार का असाधारण प्रभाव हुआ, और देश भर के लगभग सारे सगठित मजदूरो ने काम बन्द कर दिया। देश का सारा कारोबार करीब-करीब ठप हो गया; रेले चलना बन्द हो गईं, अखबार नही छप सके, और ज्यादातर अन्य प्रवृत्तिया भी रुक गईं। सरकार स्वयसेवको की सहायता से किसी तरह अत्यावश्यक जनोपयोगी कारोबार चलाती रही। आम हडताल ३-४-मई की आधीरात से शुरू हुई थी। दस दिन बाद, ट्रेड यूनियन काग्रेस के नरम नेताओ ने, जो इस प्रकार की क्रान्तिकारी हडताल को बुरी समझते थे, उन्हे दिये गये किसी स्पष्ट आश्वासन का बहाना लगा कर हडताल को एक दम खोलने का आदेश दे दिया। खान-मजदूर मझधार मे छोड़ दिये गये, मगर वे कई महीनो तक लस्टम-पस्टम और थके-हारे हडताल को चलाते रहे। पर अन्त मे वे भूख से लाचार हो गये और उन्हे बुरी तरह हार खानी पड़ी। यह केवल खान-मजदूरो की ही नही बल्कि व्यापक रूप से इंग्लैण्ड के सारे मजदूरों की करारी हार थी। अनेक उद्योगो में मजूरिया घटा दी गई, कुछ उद्योगो मे काम के घटे बढा दिये गये, और श्रमजीवी-वर्ग के रहन-सहन के स्तर नीचे गिर गये। सरकार ने अपनी जीत का लाभ उठाकर मजदूर-वर्ग को निर्बल करने के, और खास तौर पर भविष्य मे आम हडनाले रोकने के, कानून बनाये। सन १९२६ ई० की यह आम हडताल मजदूर नेताओ की ढिलमिल-यकीनी और कमजोरी के कारण, और इसकी तैयारी मे उनकी कसर के कारण, असफल हुई। सच तो यह है कि उनका सारा उद्देश्य इसे टालने का था, पर जब वे ऐसा न कर सके तो उन्होने मौका पाते ही इसे खतम कर दिया। उधर सरकार इसके लिए पूरी तरह तैयार थी, और उसे मध्यमवर्गों का समर्थन भी मिल गया था।

इग्लैण्ड की आम हडताल तथा कोयला-खानो की लम्बी ताला-बन्दी ने सोवियत रूस मे बड़ी हलचल पैदा कर दी, और रूस के मजदूर सघो ने बडी-बड़ी रकमे भेजी, जो रूसी मजदूरो ने इग्लैण्ड के खान-मजदूरो की सहायता के लिए खास तौर पर चन्दा करके जमा की थी।

उस क्षण के लिए तो इग्लैण्ड का मजदूर-वर्ग कुचला जा चुका था। परन्तु गिरते हुए उद्योगो तथा बेकारी की बढोतरी की समस्या का यह कोई समाधान नही था। बेकारी के फलस्वरूप मजदूरो में व्यापक मुसीबत फैल गई; इसके फलस्वरूप राज्य पर भी भार आ पड़ा, क्योकि अनेक देशो मे बेकारी के बीमे की व्यवस्था प्रगति कर चुकी थी। यह मान लिया गया था कि अगर कोई मजदूर बिना किसी कसूर के बेकार हो जाय तो उसका भरण-पोषण करना राज्य का कर्त्तव्य था। इसलिए रजिस्ट्री-शुदा बेकारो को कुछ सहायता या खैराते, जो "डोल" कहलाती थी, बाँटी जाती थी, और इसका अर्थ यह था कि सरकार को तथा स्थानीय संस्थाओ को विपुल धनराशियाँ खर्च करनी पडती थी।

यह सब क्यों हो रहा था? उद्योगो का ह्रास क्यों हो रहा था? व्यापार की हालत क्यों गिर रही थी? बेकारी क्यो बढ रही थी? और केवल इग्लैण्ड में ही नहीं बल्कि क़रीब-क़रीब सब देशों में परिस्थितियाँ क्यों बिगड़ती जा रही थी? सम्मेलनो का ताता लगा रहा था, राज्यनीतिज्ञ तथा शासक भी स्पष्ट रूप से हालतो को सुधारने के अभिलाषी थे, पर उन्हें कोई सफलता नही मिल रही थी। यह भी नही था कि भूचाल या बाढ़ या अनावृष्टि जैसी कोई अकाल और मुसीबत पैदा करने वाली प्राकृतिक आफ़त आ पड़ी हो। दुनिया बहुत करके अपने पुराने ढंग पर ही चल रही थी। देखा जाय तो संसार में पहले से खाद्य-

सामग्री भी ज्यादा थी, कारखाने भी ज्यादा थे, और हर आवश्यक वस्तु ज्यादा थी, परन्तु इस पर भी मानव पीड़ा बढ़ गई थी। स्पष्ट था कि यह विपरीत परिणाम पैदा करने वाली कोई न कोई जड़-मूल की खराबी थी। कही न कहीं भयंकर कुव्यवस्था थी। समाजवादियों तथा साम्यवादियों का कहना था कि यह सब पूजीवाद का कुसूर था जो अपने दिन गिन रहा था। वे रूस का उदाहरण देते थे जहाँ अनेक मुसीबतो और दिक्कतों के बावजूद कम से कम बेकारी तो नही थी।

ये प्रश्न काफ़ी जटिल है, और मानव पीडाओ के इलाज के बारे में डाक्टरो तथा पंडितों में बड़ा भारी मतभेद है। फिर भी हमें उन पर गौर करना चाहिए और उनके कुछ विशेष स्वरूपो की जाँच करनी चाहिए।

सारा संसार आज एक अकेली इकाई बनता जा रहा है, और बहुत कुछ बन भी गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन, प्रवृत्तियाँ, उत्पादन, वितरण, खपत, इत्यादि सब अन्तर्राष्ट्रीय और संसार-व्यापी बनने की ओर रुजू हो रहे है और यह प्रवृत्ति बढ रही है। व्यापार, उद्योग-धन्धे, मुद्रा-प्रणाली, इत्यादि भी बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय चीजें है। विभिन्न देशों के बीच गहरा सम्बन्ध और आपसी निर्भरता है, और किसी भी देश की घटना की अन्य देशो में प्रतिक्रिया होती है। मगर इस तमाम अन्तर्राष्ट्रीयता के बावजूद हुकूमत तथा उनकी नीतियाँ संकुचित राष्ट्रीयता के रूप में ही चल रही है। वास्तव में, यह सकुचित राष्ट्रीयता युद्धोत्तर वर्षो के दौरान में और भी ज्यादा खराब और उग्र हो गई है, और आज सारी दुनिया पर हावी होने वाला निमित्त बन गई है। इसके परिणामस्वरूप संसार की वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ तथा हुकूमतो की राष्ट्रीयता-वादी नीतियो के बीच निरन्तर संघर्ष हो रहा है। यह समझ लो कि संसार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तिया मानो समुद्र की ओर बहने वाली नदी हैं, और राष्ट्रीय नीतियां मानो उसे रोकने के, उस में बाध बनाने के, उसका प्रवाह बदलने के, और यहाँ तक कि उसे उलटी दिशा मे बहाने के, प्रयत्न है। यह तो स्पष्ट है कि नदी उलटी दिशा में नही बह सकती, न उसे रोका जा सकता है। हा, यह सम्भव है कि कभी-कभी उसका प्रवाह कुछ बदल दिया जाय, या बाँध से उस में बाढ आ जाय। इसलिए आज कल की राष्ट्रीयताए नदी के सरल प्रवाह में बाधा डाल रही है, तथा बाढ और दहे और सडे पानी की नलैया पैदा कर रही है, परन्तु वे नदी की अभीष्ट प्रगति को नही रोक सकती।

व्यापारिक तथा आर्थिक क्षेत्र में इस प्रकार वह चीज़ हमारे सामने है जिसे "आर्थिक राष्ट्रीयता" कहते है। इसका अर्थ यह है कि हर देश को चाहिए कि वह जितना खरीदे उससे ज्यादा बेचे और जितना खपावे उससे ज्यादा उत्पादन करे। हर देश अपना माल बेचना चाहता है, तो फिर उसे खरीदेगा कौन ? हर तरह की बिक्री के लिए यह जरूरी है कि एक बेचने वाला हो तो दूसरा खरीदने वाला हो। सिर्फ बेचने वालो की दुनिया का होना स्पष्टतया निरर्थक बात है। पर मज़ा यह है कि आर्थिक राष्ट्रीयता का आधार यही है। हर देश विदेशी माल का आयात रोकने के लिए तटकरों की दीवारें, आर्थिक बाडे, खडी कर देता है, और साथ ही अपने विदेशी व्यापार को बढाना चाहता है। जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधुनिक ससार खड़ा हुआ है, उस में तटकरो की ये दीवारें बाधा डालती है और उसका नाश करती है। जब व्यापार शिथिल हो जाता है, तो उद्योगो को हानि पहुंचती है, और बेकारी बढने लगती है। इसका फिर यह परिणाम होता है कि विदेशी माल को रोकने के लिए भीषण प्रयत्न किये जाते है, क्योकि उसे देशी उद्योगो का बाधक माना जाता है, और सरक्षण-करों की दीवारें और भी ऊची कर दी जाती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की और भी ज्यादा क्षति होती है, और यह खोटा चक्कर चलता रहता है।

सच तो यह है कि आधुनिक उद्योग-प्रधान जगत राष्ट्रीयता की मजिल से आगे निकल गया है। माल के उत्पादन तथा वितरण की समूची व्यवस्था सरकारों तथा देशो के राष्ट्र-सम्बन्धी ढाचे में ठीक नही बैठती। भीतर के बढ़ने वाले शरीर के लिए यह खोल बहुत छोटा सिद्ध होता है, इसलिए तड़क जाता है।

व्यापार के मार्ग में ये सरक्षण-कर तथा बाधाए वास्तव में हर देश के कुछ गिने-चुने वर्गो को लाभ पहुचाते हैं, पर चूकि ये वर्ग अपने-अपने देशो में हावी होते हैं, इसलिए वे देश की नीति का निर्माण करते हैं। बस, हर देश दूसरे देश से आगे निकल जाना चाहता है, और परिणाम में सबको एक-साथ मुसीबत उठानी पड़ती है, और राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाएं तथा वैमनस्य बढ़ जाते हैं। आपसी मतभेदों को सम्मेलनो के द्वारा निबटाने के बार-बार प्रयत्न किये जाते हैं, और विभिन्न देशों के राज्यनीतिज्ञ ऊंचे से ऊंचे इरादे ज़ाहिर करते हैं, पर फिर भी सफलता उनके हाथ नहीं आती। क्या इससे तुम्हें उन प्रयत्नो का ध्यान नही आता जो

साम्प्रदायिक समस्या को, हिन्दू-मुस्लिम-सिख समस्याओं को, निबटाने के लिए भारत में बार-बार हुए हैं ? शायद दोनों ही मामलों में असफलता के कारण हैं : ग़लत धारणायें, गलत हेतु और साथ ही ग़लत उद्देश्य।

आर्थिक राष्ट्रीयता को बढावा देने वाले संरक्षण-करों, तथा सरकारी आश्रयों, सरकारी सहायताओं, रेल से माल भेजने की विशेष दरो, आदि के अन्य उपाय से केवल मिल्कियतदार और कारखानेदार वर्गों को ही लाभ होता है, क्योकि अपने देश की इन संरक्षित मंडियो का लाभ वे ही उठाते हैं। इस प्रकार सरक्षणो तथा संरक्षण-करो के अन्तर्गत निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं, और तमाम निहित स्वार्थों की भाति वे ऐसे हर परिवर्तन का घोर विरोध करते है जिससे उन्हे नुकसान पहुचने की सम्भावना हो। यह भी इसका एक हेतु है कि एक बार जारी हो जाने पर सरक्षण-कर क्यो स्थायी हो जाते है, और दुनिया मे आर्थिक राष्ट्रीयता क्यो पनपती है, बावजूद इसके कि अधिकाश लोग उसे सब के लिए हानिकर मानते है। एक बार पैदा हो जाने पर निहित स्वार्थों का अन्त करना आसान नही है, और किसी देश का इस दिशा मे अकेला आगे बढ़ना तो और भी कठिन है। अगर सारे देश सरक्षण-करो का अन्त करने पर और उन्हे बहुत कुछ घटाने पर मिल कर कार्य करने को राज़ी हो जाय तो शायद ऐसा हो भी सके। मगर फिर भी दिक्कते आवेगी, क्योकि औद्योगिक लिहाज से पिछडे हुए देशो की हानि होगी क्योंकि वे उन्नत देशो का बराबरी के दर्जे पर मुकाबला नही कर सकेगे। नये उद्योग अक्सर करके सरक्षण-करो के आश्रय मे ही पनपते है।

आर्थिक राष्ट्रीयता राष्ट्रो के आपसी व्यापार को भी कम करती और रोकती है। इस प्रकार दुनिया की मडी पर बुरा असर पडता है। हर राष्ट्र एक सरक्षित मडी वाला एकाधिकार का क्षेत्र बन जाता है; मुक्त व्यापार का अन्त हो जाता है। हर राष्ट्र के भीतर भी एकाधिकार बढ जाते है, और मुक्त तथा खुली मडिया विलीन होने लगती है। बडे-बडे कम्पनी-समूह, बडे-बडे कारखाने और बडी-बडी दूकानें, छोटे-छोटे उत्पादको और छुट-भैये दूकानदारो को चाट जाते है, और इस प्रकार प्रतियोगिता का अन्त कर देते है। अमरीका, इग्लैण्ड, जर्मनी, जापान, आदि उद्योग-प्रधान देशो में ये राष्ट्रीय एकाधिकार प्रबल-वेग से बढे, और इस प्रकार सारी सत्ता कुछ लोगों के हाथो मे केन्द्रीभूत हो गई। पैट्रोल, साबुन, रासायनिक वस्तुए, शस्त्रास्त्र, इस्पात, बैंक, तथा इसी प्रकार की अनेक अन्य चीजो में एकाधिकार स्थापित हो गये। इसका परिणाम बडा विचित्र होता है। यह सब विज्ञान की उन्नति और पूजीवाद के विकास का अपरिहार्य नतीजा है, मगर फिर भी यह इसी पूजीवाद की जड़ पर कुठाराघात करता है। क्योंकि पूजीवाद का जन्म तो जागतिक मडी और मुक्त मडी के साथ हुआ था। प्रतियोगिता पूजीवाद का प्राण थी। अगर जागतिक मडी चली जाती है, और मुक्त मडी तथा राष्ट्रीय सीमाओ मे प्रतियोगिता भी चली जाती हैं, तो समाज के इस पुराने पूजीवादी ढाचे का पेदा ही फूट जाता है। इसके स्थान पर कौन-सी व्यवस्था आवेगी यह तो दूसरी बात है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो के होते हुए पुरानी व्यवस्था ज्यादा समय तक नही टिक सकती।

विज्ञान तथा औद्योगिक उन्नति समाज की वर्तमान पद्धति से बहुत आगे निकल गये है। इनके द्वारा खाद्य पदार्थ तथा विलास की वस्तुए अपरिमित परिणाम मे तैयार होती है, और पूजीवाद की समझ में नही आता कि इनका क्या करे। कई बार तो वह सचमुच इन्हे नष्ट करने पर या इनका उत्पादन सीमित करने पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार प्रचुरता तथा निर्धनता के साथ-साथ वर्तमान रहने का अद्भुत दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। अगर पूजीवाद आधुनिक विज्ञान तथा विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगो की प्रगति के साथ नही चल सकता, तो कोई ऐसी व्यवस्था बनानी होगी जो विज्ञान के अधिक अनुकूल हो। वरना दूसरा रास्ता यह है कि विज्ञान का गला घोट दिया जाय और उसे प्रगति करने से रोक दिया जाय। मगर यह मूर्खता की बात होगी, और किसी भी हालत में इसकी तो कल्पना ही नही की जा सकती।

इसलिए, अगर आर्थिक राष्ट्रीयता, और एकाधिकार तथा राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं की बढ़ोतरी, और मरणोन्मुख पूंजीवाद के अन्य फलों के कारण सारे जगत मे मुसीबत फैल गई हो, तो इसमे आश्चर्य की बात नही है। आधुनिक साम्राज्यवाद खुद भी इसी पूजीवाद का एक रूप है, क्योंकि हर साम्राज्यशाही शक्ति दूसरी क़ौमों का शोषण करके अपनी राष्ट्रीय समस्याए सुलझाने का प्रयत्न करती है। इसके परिणामस्वरूप

साम्राज्यशाही शक्तियों के बीच प्रतिस्पर्द्धाएं तथा संघर्ष ज्यादा बढ़ जाते हैं। आज के अस्त-व्यस्त संसार में हर चीज़ संघर्ष ही उत्पन्न करती प्रतीत होती है।

मैंने यह पत्र इस जिक्र के साथ शुरू किया था कि युद्धोत्तर काल के दौरान में रुपये ने अजीब तौर पर आचरण किया। पर जब और सारी चीज़ें ही अत्यन्त असाधारण आचरण कर रही हैं, तो क्या हम रुपये को दोष दे सकते हैं?

: १७४ :

घात और प्रति-घात

पिछले दो पत्रों में मैंने आर्थिक तथा मुद्रा-प्रचलन सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया है। ये विषय बड़े रहस्यपूर्ण और दुर्बोध्य माने जाते हैं। यह सच है कि ये विषय सरल नहीं हैं, और इन्हें समझने के लिए दिमाग पर जोर देना पड़ता है, पर आखिर ये इतने भयंकर भी नहीं हैं; और इन विषयों को रहस्य का जो वातावरण घेरे हुए है उसके लिए कुछ अंश में अर्थ-शास्त्री तथा विशेषज्ञ जिम्मेदार हैं। पुराने जमाने में रहस्य के ठेकेदार धर्माध्यक्ष लोग हुआ करते थे, जो लोगों के समझ में न आने वाली पुरातन भाषा में तरह-तरह के कर्म-काण्डों तथा पूजा-पाठों के द्वारा, और अदृश्य शक्तियों से साक्षात्कार करने का ढोंग रचकर, भोली-भाली जनता को अपनी इच्छा के अनुसार नचाते थे। इन धर्माध्यक्षों की सत्ता आज बहुत कम हो गई है, और उद्योग-प्रधान देशों में तो करीब-करीब खतम ही हो गई है। पर इन धर्माध्यक्षों के स्थान पर अब विशेषज्ञ अर्थशास्त्री, बौहरे, इत्यादि पैदा हो गये हैं, जो ज्यादातर पारिभाषिक शब्दों से भरी हुई रहस्यपूर्ण भाषा में बोलते हैं जिसे समझना साधारण आदमी के लिए मुश्किल हो जाता है। इसलिए औसत दर्जे के आदमी को इन प्रश्नों का निबटारा विशेषज्ञों पर छोड़ना पड़ता है। मगर यह विशेषज्ञ, जानकर या अनजाने, शासक वर्गों के पिछलगुए बन जाते हैं और इन्हीं का हित-साधन करते हैं। और विशेषज्ञों में भी मतभेद होता है।

इसलिए अच्छा यह है कि हम सब इन आर्थिक प्रश्नों को कुछ समझने की चेष्टा करें जो आज राजनीति पर तथा अन्य सब चीज़ों पर हावी नज़र आते हैं। मानव व्यक्तियों को समुदायों तथा वर्गों में बांटने के अनेक ढंग हैं। एक सम्भव तरीका यह होगा कि इनके दो वर्ग कर दिये जायं: एक तो बहनेवाले, यानी वे लोग जिनमें अपनी कोई इच्छा-शक्ति नहीं होती और जो अपने-आप को पानी की सतह पर तिनके की तरह इधर-उधर बह जाने देते हैं, और दूसरे वह लोग जो जीवन के क्षेत्र में असरकारक भाग लेते हैं और अपने चौगिर्द को बदल देते हैं। पिछले वर्ग के लिए ज्ञान और समझ होना जरूरी है और कारगर कार्य इन्हीं के आधार पर हो सकता है। केवल सद्भावना या सदिच्छाएं काफी नहीं होतीं। जब कोई प्राकृतिक आफ़त आती है, या महामारी फैलती है, या अनावृष्टि होती है, या और कोई भी आकस्मिक मुसीबत आ पड़ती है, तो हम देखते हैं कि केवल भारत में ही नहीं बल्कि योरप में भी, कष्ट-निवारण के लिए लोग ईश्वर से प्रार्थना किया करते हैं। अगर प्रार्थना से उन्हें शान्ति मिलती है और उनमें आत्म-विश्वास तथा साहस पैदा होता है, तो यह अच्छी चीज़ है, और इस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस विचार के स्थान पर कि प्रार्थना से रोग की महामारी रुक जायगी, अब यह वैज्ञानिक धारणा बन रही है कि रोग के मूल कारणों को सफाई तथा अन्य उपायों से मिटा देना चाहिए। अगर किसी कारखाने की मशीनें चलते-चलते रुक जाती हैं या किसी मोटर-गाड़ी के टायर में पंचर हो जाता है, तो क्या किसी ने सुना है कि लोग हाथ पर हाथ धर कर बैठे जाते हों और केवल आशा करने लगते हों, या मनाने लगते हों, या प्रार्थना भी करने लगते हों कि मशीन की खराबी अपने-आप ठीक हो जाय या पंचर अपने आप जुड़ जाय? वे तो तुरन्त काम में जुट जाते हैं और मशीन को या टायर को दुरुस्त कर देते हैं, और फौरन ही मशीन काम करने लगती है या मोटर-गाड़ी मज़े से सड़क पर दौड़ने लगती है।

इसी प्रकार मानव और सामाजिक यंत्र में भी हमको सद्भावना के अतिरिक्त उसकी क्रिया और उसकी सम्भावनाओं का अच्छा ज्ञान होना जरूरी है। यह ज्ञान बहुत करके सही नही होता, क्योकि इसका सम्बन्ध मानवीय इच्छाओं और आकाक्षाओ और रुचियों और आवश्यकताओ जैसी निश्चित बातों से होता है। और जब हम सामूहिक रूप से जनता का, या समग्र रूप से समाज का, या जनता के विभिन्न वर्गों का, विचार करते हैं तो यह ज्ञान और भी ज्यादा अनिश्चित हो जाता है। परन्तु अध्ययन और अनुभव और निरीक्षण से धीरे-धीरे इस अनिश्चित ढेर में भी व्यवस्था आने लगती है, और ज्ञान बढता है, और इसके साथ-साथ अपने चौगिर्द का मुकाबला करने की हमारी क्षमता भी बढती है।

अब मैं इन युद्धोत्तर वर्षों में योरप के राजनैतिक पहलू के बारे में भी कुछ कहना चाहता हू। सब से पहली बात जो नज़र के सामने आती है वह है योरप महाद्वीप का तीन भागो मे विभाजन : एक तो युद्ध में जीतने वाले देश, दूसरे पराजित देश, और तीसरा सोवियत रूस। नारवे, स्वीडन, हालैण्ड, स्वीजरलैण्ड, आदि कुछ छोटे-छोटे देश ऐसे भी थे जो इन तीनो में से किसी विभाग में नही आते थे, परन्तु व्यापक राजनैतिक दृष्टिकोण से इनका कोई खास महत्व नही था। हा, श्रमजीवियो की हुकूमत वाला सोवियत रूस अपनी निराली हैसियत रखता था और जीतने वाली शक्तियो के लिए निरन्तर चिढन और खिजन का कारण बना हुआ था। इस चिढन का कारण रूस के शासन की वह व्यवस्था ही नही थी जो अन्य देशो के श्रमजीवियो को क्रान्ति का निमन्त्रण दे रही थी, बल्कि यह भी था कि विजयिनी शक्तिया पूर्व मे जो अनेक तरकीबें लडा रही थी, रूस उनके मार्ग मे अडंगा लगा रहा था। दूसरे देशों में हस्तक्षेप के युद्धो का जिक्र मै कर चुका हू, जिनके दौरान मे, सन् १९१९ और १९२० ई० में, अधिकतर विजयिनी शक्तियो ने सोवियत रूस को कुचलने का प्रयत्न किया था। मगर फिर भी सोवियत रूस जीवित रह गया, और योरप की साम्राज्यशाही शक्तियो को उसका अस्तित्व सहन करने को मजबूर होना पडा, मगर इसमें भी उन्होंने जहा तक हो सका सदभावना और खूबसूरती नही दिखाई। खास कर जारशाही जमाने से चली आने वाली इग्लैण्ड तथा रूस की पुरानी प्रतिस्पर्द्धा जारी रही, और कभी-कभी इसमे ऐसे खतरे और ऐसी घटनाए फूट पडती थी जिनसे युद्ध की आशका हो जाती थी। सोवियत रूस को पक्का विश्वास हो गया था कि इग्लैण्ड उसके विरुद्ध निरन्तर साजिशे कर रहा था और योरप में शक्तियो का सोवियत-विरोधी गुट्ट रचने की चेष्टा कर रहा था। कई बार तो युद्ध के हल्ले भी हो गये।

पश्चिमी तथा मध्य योरप में विजयिनी तथा पराजित शक्तियो के बीच का भेद बहुत स्पष्ट था, और फ्रास तो विजय की भावना का खास प्रतीक बना हुआ था। पराजित देश शान्ति की सन्धियों की अनेक शर्तों से कुदरती तौर पर असन्तुष्ट थे, और यद्यपि वे कुछ करने में असमर्थ थे, पर भावी परिवर्त्तनो की आशाए लगाये बैठे थे। आस्ट्रिया तथा हगरी बहुत नि.शक्त देश हो गये थे, और उनकी हालत दिन पर दिन बिगडती प्रतीत होती थी। दूसरी ओर यूगोस्लाविया सर्बिया का ही बढा हुआ रूप था, और वह बेमेल तत्वो तथा छोटी कौमो का सग्रह बना हुआ था। ये विभिन्न भाग कुछ ही वर्षो मे एक-दूसरे से तग आ गये और उनमे बिखरने की प्रवृत्ति पैदा हो गई। क्रोशिया मे (जो आजकल यूगोस्लाविया का एक प्रान्त है) स्वाधीनता का प्रबल आन्दोलन चल रहा है, और सर्बिया की सरकार इसे जोरों के साथ दमन कर रही है। पोलैण्ड का नक्शा काफी बडा हो गया है, पर उसके साम्राज्यवादी लोग ये अजीब आशाए दिल में लिये बैठे है कि पोलैण्ड दक्षिण में काले सागर तक फैल जाय और सन १७७२ ई० की उसकी पुरानी सीमा फिर कायम हो जाय। इन दिनो पोलैण्ड मे रूसी यूक्रेन का कुछ भाग शामिल है, और इसे यन्त्रणाओ, मृत्यु-दडो तथा अन्य अनेक पाशविक सजाओ के आतक-पूर्ण दौर-दौरे के द्वारा "शान्त करने" का या "पोलीकरण" का प्रयत्न किया जाता रहा है, और अब भी किया जा रहा है। ये आग के कुछेक छोटे-छोटे ढेर है जो पूर्वी योरप में सुलग रहे है। इनका महत्व इसी में है कि आग फैल जाने का खतरा है।

राजनैतिक दृष्ट से, और सैन्यबल की दृष्टि से भी, युद्धोत्तर वर्षों मे, योरप की शक्तियो में फ्रास का ही बोलबाला था। जो कुछ वह चाहता था उसका अधिकाश उसे प्रदेश के रूप में और हर्जानो की उम्मीद के रूप मे मिल गया था, लेकिन फिर भी उसे चैन नही था। उसके सिर पर भय का भयकर भूत सवार था। उसे भय था कि जर्मनी कही फिर इतना बलशाली न हो जाय कि उससे लड पड़े और शायद उसे हरा भी दे। इस भय का मुख्य कारण था जर्मनी की बहुत बड़ी जन सख्या। आकार में फ्रास जर्मनी से निश्चय ही

बड़ा है, और शायद उससे अधिक उपजाऊ भी है। फिर भी फ्रांस की आबादी ४,१०,००,००० से कम है, और यह लगभग स्थिर है। मगर जर्मनी की आबादी ६,२०,००,००० से ऊपर है, और बढ़ती जा रही है। जर्मनों के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि वे एक हमलावार और युद्ध-प्रिय कौम हैं, और एक ही पीढ़ी में फ्रांस पर दो बार चढ़ाइया कर चुके हैं।

इसलिए जर्मन प्रतिशोध का भय फ्रास के सिर पर सवार था, और उसकी समूची नीति की बुनियाद और इस नीति का संचालन करने वाली भावना "सुरक्षा" की थी; यानी जो कुछ उसे मिल गया था उसे बनाये और बचाये रखने के लिए फ्रांस की सुरक्षा। वर्साई की सुलह से जिन तमाम देशों को निराशा हुई थी उन्हें काबू में रखने के लिए फ्रासीसी सैन्य बल का प्रभुत्व था, और इस सुलह का कायम रहना फ्रास की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझा जाता था। अपनी स्थिति को और भी मजबूत बनाने के लिए फ्रास ने उन राष्ट्रों का एक गुट्ट बना लिया जिनका हित वर्साई की सन्धि के कायम रहने में था। ये देश थे : बैल्जियम, पोलैण्ड, चकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया।

इस प्रकार फ्रांस ने योरप में अपना प्रभुत्व या नेतृत्व स्थापित कर लिया। यह चीज़ इंग्लण्ड को पसद नही थी, क्योकि इंग्लैण्ड नही चाहता कि योरप में उसके सिवाय किसी और शक्ति का प्रभुत्व हो। इग्लैण्ड के दिल में फ्रास के प्रति प्रीति और मित्रता की भावना बहुत ठंडी पड गई। इग्लैण्ड के अखबारों ने फ्रास को स्वार्थी और कठोर–हृदय कहकर उसकी आलोचना की, और पुराने शत्रु जर्मनी के बारे मे मित्रतापूर्ण बातें लिखी। अंग्रेज़ लोगो ने कहा कि हमें पुरानी बातों को भूल जाना और क्षमा कर देना चाहिए, और शान्ति काल में अपने-आप को युद्ध के दिनो की स्मृतियों से विचलित नही होने देना चाहिए। ये भावनाएं कितनी प्रशसनीय थी, और अंग्रेज़ो के दृष्टिकोण से तो ये दोहरी प्रशसनीय थी, क्योकि संयोग से वे अंग्रेज़ो की नीति के साथ मेल खाती थीं। इटालवी राज्यनीतिज्ञ काउन्ट स्फोर्ज़ा ने कहा है कि यह "इग्लैण्ड के लोगों को कृपालु ईश्वर का प्रदान किया हुआ एक बहुमूल्य वरदान" है कि यदि इग्लैण्ड को कोई राजनैतिक लाभ होता हो, या ब्रिटिश सरकार को कोई कूटनीतिक कार्रवाई करनी पड़े, तो सभी वर्गों के लोग सर्वोच्च नैतिक दलीलों से उनका औचित्य सिद्ध करते है।

सन् १९२२ ई० के प्रारम्भ से ही आग्ल-फ्रांसीसी रगड-झगड योरप की राजनीति का एक स्थायी अंग बन गई है। ऊपर-ऊपर तो मुस्कराहटें और शिष्टतापूर्ण शब्द थे, और दोनो के राज्यनीतिज्ञ और प्रधान-मत्री अक्सर आपस में मिलते थे और साथ फोटो खिचवाते थे, लेकिन दोनो सरकारे अक्सर विपरीत दिशाओ में खीच-तान करती रहती थी। सन् १९२२ ई० में जब जर्मनी हर्जानो की अदायगी में चूक गया, तो उस समय इंग्लैण्ड इस पक्ष में नही था कि रूर की घाटी पर मित्र-राष्ट्र अधिकार कर लें। मगर फ्रास ने इग्लैण्ड के विरोध की परवाह न करके अपनी मर्जी का काम किया। मगर रूर पर अधिकार करने मे इग्लैण्ड ने कोई हिस्सा नही लिया।

एक और पुराना साथी इटली भी फ्रास से बिगड गया और इन देशों के बीच भी निरन्तर रगड-झगड़ रहने लगी। इसका कारण था सन् १९२२ ई० में मुसोलनी द्वारा सत्ता का अपहरण, और उसकी साम्राज्यशाही महत्वाकाक्षाएं जिनमें फ्रांस बाधा डालता था। मुसोलनी तथा फ़ासीवाद का वर्णन मैं अपने अगले पत्र में करूंगा।

युद्धोत्तर वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर भी टूट-फूट की कुछ प्रवृत्तियां प्रगट हुईं। इस प्रश्न के कुछ पहलुओ पर मैं अन्य पत्रो मे चर्चा कर चुका हूं। यहा मै केवल एक ही पहलू का ज़िक्र करूगा। आस्ट्रेलिया तथा कनाडा दोनो दिन पर दिन अमरीका के सास्कृतिक तथा आर्थिक प्रभाव के दायरे में खिचते जा रहे थे, और तीनों देश सम्मिलित रूप से जापानियो से, तथा खास कर जापानियों के आवास से घृणा करते थे। आस्ट्रेलिया को इनसे विशेष खतरा है, क्योंकि उसमें विशाल जनहीन क्षेत्र हैं, और जापान ज्यादा दूर नही है और उसकी आबादी समाई से अधिक हो गई है। इसलिए इंग्लैण्ड की जापान के साथ मित्रता को न तो ये दोनों उपनिवेश पसद करते थे और न अमरीका। इग्लैण्ड अमरीका को खुश रखना चाहता था क्योंकि साहूकार की हैसियत में तथा अन्य प्रकार से अमरीका सारी दुनिया पर हावी हो रहा था। साथ ही इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य को भी जब तक सम्भव हो तब तक चलाये रखना चाहता था। इसलिए उसने सन् १९२२ ई० में वाशिंगटन सम्मेलन में आंग्ल-जापानी मित्रता को क़ुर्बान कर दिया। चीन के बारे में

अपने पिछले पत्र में मैं इस सम्मेलन के बारे में लिख चुका हूं। इसी सम्मेलन में चार शक्तियों के समझौते तथा नौ शक्तियों की सन्धि की रचनाएं हुई थी। ये सन्धियां चीन तथा प्रशान्त महासागर के तट से सम्बन्ध रखती थी, पर सोवियत रूस को जिसका इनमें मार्मिक हित था, सम्मेलन में नही बुलाया गया, हालांकि उसने आपत्ति भी उठाई थी।

इस वाशिंगटन सम्मेलन से इग्लैण्ड की पूर्वीय नीति में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। उस समय तक तो इग्लैण्ड दूर पूर्व में, तथा आवश्यकता पड़ने पर भारत में भी, सहायता के लिए जापान पर भरोसा करता आ रहा था। पर अब दूर पूर्व के देश दुनिया के मामलो में बड़ा महत्वपूर्ण निमित्त कारण बनते जा रहे थे और विभिन्न शक्तियो के बीच स्वार्थों की टक्करें थी। चीन का उदय हो रहा था, या उदय होता प्रतीत हो रहा था, और जापान तथा अमरीका का आपसी वैरभाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। बहुत लोगो का खयाल था कि अगले महायुद्ध का मुख्य केन्द्र प्रशान्त महासागर बनेगा। जब जापान और अमरीका का प्रश्न सामने आया तो इंग्लैण्ड अमरीका के पक्षमे जा मिला, या यह कहना ज्यादा सही होगा कि उसने जापान का साथ छोड दिया। उसकी नीति निश्चय रूप से यह थी कि किसी तरह के वादों में बंधे बिना, बलशाली तथा मालदार अमरीका से मित्रता बनाये रक्खे। जापान की मित्रता का अन्त करने के बाद इग्लैण्ड दूर पूर्व के सम्भावित युद्ध की तैयारियों में लग गया। उसने सिंगापुर मे विशाल-काय तथा बहुत अधिक लागत की गोदिया बनवाई, और इस स्थान को महान जहाज़ी अड्डा बना दिया। यहा से वह हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर के बीच यातायात पर नियन्त्रण रख सकता है। वह एक ओर भारत तथा बर्मा पर और दूसरी ओर फ्रांसीसी तथा डच उपनिवेशो पर हावी रह सकता है; और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वह प्रशान्त महासागर में होनेवाली टक्कर मे कारगर हिस्सा ले सकता है, चाहे वह जापान के साथ हो या किसी अन्य शक्ति के साथ।

सन् १९२२ ई० में वाशिंगटन मे आग्ल-जापानी मित्रता के इस प्रकार भग होने से जापान का सम्बन्ध सबसे टूट गया। तब जापानियो को लाचार होकर रूस की तरफ निगाह डालनी पड़ी और वे सोवियतो के साथ अच्छे ताल्लुक पैदा करने लगे। तीन वर्ष बाद, जनवरी सन् १९२५ ई० में जापान तथा सोवियत सघ के बीच सन्धि हो गई।

युद्ध के ठीक बाद के कुछ वर्षों तक विजयिनी शक्तियो ने जर्मनी के साथ ऐसा बर्ताव किया मानो वह बिरादरी से छेका हुआ राष्ट्र हो। इन शक्तियो से ज्यादा सहानुभूति न पाकर, तथा उन्हें कुछ भयभीत करने के इरादे से, यह भी सोवियत रूस की ओर झुका और अप्रैल सन् १९२२ ई०, में इसने रूस के साथ सन्धि कर ली जो रापालो की सन्धि कहलाती है। इस सन्धि की बातचीत गुप्त रक्खी गई थी, इसलिए जब इसे प्रकाशित किया गया तो मित्र-राष्ट्रीय सरकारें हक्का-बक्का हो गईं। ब्रिटिश सरकार तो खास तौर पर घबरा गई, क्योकि इग्लैण्ड का शासक वर्ग सोवियत रूस से बुरी तरह घृणा करता था। जर्मनी के प्रति इंग्लैण्ड की नीति में परिवर्तन पैदा करनेवाला कारण वास्तव में इग्लैण्ड का यह महसूस करना था कि अगर जर्मनी के साथ अच्छा सलूक नही किया गया और उसे मनाया नही गया तो वह रूस से जा मिलेगा। अग्रेज लोग जर्मनी की कठिनाइयो के प्रति बड़ी सहानुभूति प्रदर्शित करने लगे और ग़ैर-सरकारी तौर पर अनेक प्रकार से उसकी ओर मित्रता का हाथ बढ़ाने लगे। रूर की कार्रवाई से वे बिल्कुल अलग रहे। यह सब जर्मनी से यकायक प्रेम हो जाने के कारण नही हुआ बल्कि इस इच्छा से किया गया कि जर्मनी को रूस से अलग तथा राष्ट्रो के सोवियत-विरोधी गुट्ट में बनाये रक्खा जाय। कुछ वर्षों तक यह चीज ब्रिटिश नीति का आधार-स्तम्भ रही और उन्हें सन् १९२५ ई० में लोकार्नो में सफलता भी मिल गई। लोकार्नो मे बड़ी-बड़ी शक्तियों का एक सम्मेलन हुआ, और युद्ध के बाद पहली बार विजयिनी शक्तियों तथा जर्मनी के बीच कुछ बातों पर सच्चा समझौता हुआ, और इन्हें सन्धि-पत्र का रूप दिया गया। मगर सर्वांगीण समझौता नही हुआ, हर्जानो का जबरदस्त सवाल तथा अन्य सवाल वैसे ही रह गये। हा, प्रारम्भ शुभ हो गया, और आपस में अनेक आश्वासन और वचन दिये गये, जर्मनी ने वर्साई की सन्धि के अनुसार निश्चित की गई अपनी पश्चिमी फ्रांसीसी सरहद को स्वीकार कर लिया; परन्तु पूर्वी सरहद को, जहां समुद्र तक जानेवाला पोली गलियारा था, उसने अन्तिम रूप में मजूर करने से इन्कार कर दिया, मगर यह वादा कर दिया कि इस सरहद को बदलवाने के प्रयत्नों में वह केवल शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करेगा। सन्धि में

एक शर्त यह भी थी कि अगर एक पक्ष इस समझौते को तोड़े तो बाक़ी सबका कर्त्तव्य होगा कि मिलकर उससे लड़ने को कटिबद्ध हो जायं।

लोकार्नो की सन्धि ब्रिटिश नीति की विजय थी। इससे इंग्लैण्ड कुछ हद तक फ्रांस तथा जर्मनी के आपसी झगड़ो का पंच बन गया, और जर्मनी रूस से दूर हट गया। मगर लोकार्नो का प्रधान महत्व वास्तव में यह था कि इसने पश्चिमी योरप के राष्ट्रो को एक सोवियत-विरोधी गुट्ट में ला इकट्ठा किया। इस पर रूस घबराया, और कुछ ही महीनों में उसने तुर्की के साथ गठ-बन्धन करके इसका प्रतिकार किया। इस रूसी-तुर्की सन्धि-पत्र पर दिसम्बर, सन् १९२५ ई०, में राष्ट्र सघ के मोसूल के विरुद्ध निर्णय के ठीक दो दिन बाद, हस्ताक्षर हुए थे। तुम्हे याद होगा कि यह निर्णय तुर्की के विरुद्ध था। सितम्बर, सन् १९२६ ई० में जर्मनी ने राष्ट्र सघ में प्रवेश किया, और आपस में खूब गले-मिलना और हाथ मिलाना हुआ, और राष्ट्र संघ में सबने प्रसन्नता प्रगट की और एक दूसरे को बधाइया दी।

इस प्रकार योरोपीय राष्ट्रों के बीच ये घात और प्रतिघात चलते रहे जिन पर अक्सर उनकी घरू नीतियों का प्रभाव पड़ता था। इग्लैण्ड में दिसम्बर, सन् १९२३ ई०, के आम चुनावों के फलस्वरूप अनुदार दल की हार हुई, और पार्लमेण्ट मे मज़दूर दल की पहली बार सरकार बनी, हालांकि इनका स्पष्ट बहुमत नही था। रैम्जे मैकडोनल्ड प्रधान मत्री हुआ। यह सरकार साढे नौ महीने के अल्प समय तक ही चली। मगर इस थोड़े समय मे ही उसने रूस के साथ समझौता कर लिया, और दोनो के बीच कूटनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। अनुदार दल वाले सोवियत को किसी भी प्रकार की मान्यता दिये जाने के विरुद्ध थे, और इसी साल के भीतर होनेवाले आम चुनावो में रूस का नाम बहुत सामने आया। इसका कारण यह था कि चुनावो में अनुदार दल ने एक पत्र को, जो "ज़िनोवीफ़ का पत्र" कहलाता है, अपना मात देनेवाला मोहरा बनाया। इस पत्र में इग्लैण्ड के साम्यवादियो को गुप्त रूप से क्रान्ति की तैयारी करने के लिए उकसाया गया था। ज़िनोवीफ़ सोवियत सरकार मे एक प्रमुख बोलशेविक था, उसने इस पत्र का लेखक होने से बिल्कुल इन्कार किया, और कहा कि वह ज़रूर जाली होगा। मगर फिर भी अनुदार दल वालों ने इस पत्र का पूरी तरह दुरुपयोग किया, और कुछ अश में इसकी सहायता से वे चुनाव जीतने में सफल हो गये। अब अनुदार-दली सरकार बनी जिसका प्रधान मत्री स्टैनली बाल्डविन था। इस सरकार से बार-बार कहा गया कि वह "जिनोवीफ़ के पत्र" की सचाई या झुठाई की जाच करे, मगर उसने इन्कार कर दिया। बाद मे बर्लिन में जो भेद खुले उनसे प्रगट हो गया कि यह पत्र एक "श्वेत" रूसी ने, यानी एक बोलशेविक-विरोधी रूसी प्रवासी ने, जालसाज़ी करके बनाया था। मगर इस जालसाज़ी ने इंग्लैण्ड मे अपना काम पूरा कर दिया था, और एक सरकार का अन्त करके दूसरी को ला बिठाया था। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर कितनी तुच्छ घटनाओ का असर पड जाया करता है!

इसी साल मे कुछ दिन बाद, एक आकस्मिक घटना, जो इस बार दूर पूर्व मे हुई, ब्रिटिश सरकार की भारी खिजलाहट का कारण बन गई। चीन मे एक मज़बूत सयुक्त राष्ट्रीय सरकार अकस्मात प्रगट हो गई और सोवियत सरकार के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम दिये। कई महीनो तक अग्रेज़ लोग चीन मे भारी कठिनाइयों में फसे रहे। उन्हे अपनी शान किरकिरी करवानी पडी, और बहुत-सी ऐसी बाते करनी पड़ी जो उन्हे पसन्द नही थी। और फिर, यह चीनी आन्दोलन, कुछ दिन की सफलता भोग कर, फूट के फन्दे में पड़ गया और छिन्न-भिन्न हो गया। सेनापतियो ने आन्दोलन के वामपक्षी तत्वो को मार डाला या निकाल बाहर किया, और शाङ्घाई के विदेशी बौहरो का पल्ला पकड़ना श्रेयस्कर समझा। अन्तर्राष्ट्रीय खेल में रूस की यह भारी पराजय थी और चीन में तथा अन्यत्र उसकी शान किरकिरी हो गई। मगर इंग्लैण्ड के लिए यह शानदार विजय थी, और उसने सोवियत रूस की इस पराजय को ठेठ तक पहुंचा कर इस मौके से फ़ायदा उठाना चाहा। सोवियत-विरोधी गुट्ट को सगठित करने के और रूस को चारों ओर से घेरने के प्रयत्न फिर किये गये।

सन् १९२७ ई० के मध्य में संसार के विभिन्न भागों में सोवियत रूस के विरुद्ध कारंवाइया की गईं। अप्रैल, सन् १९२७ ई०, में एक ही दिन, पैकिन में सोवियत दूतावास पर तथा शाङ्घाई में रूसी व्यापारिक प्रतिनिधि के स्थान पर छापे मारे गये। इन दोनों क्षेत्रो पर अलग-अलग चीनी सरकारों का अधिकार था, पर इस मामले में दोनों ने एक साथ कार्रवाई की। दूतावास पर छापा मारना और किसी राजदूत का

अपमान करना बहुत अनोखी चीज होती है; बहुत करके इसका अवश्यम्भावी परिणाम युद्ध ही होता है। रूसी लोगो का विश्वास था कि इग्लैण्ड तथा अन्य सोवियत-विरोधी शक्तियो ने चीनी सरकार को मजबूर करके इस प्रकार का कार्य कराया है ताकि रूस को लड़ाई करने के लिए विवश होना पडे। मगर रूस नही लड़ा। एक महीने बाद, मई, सन् १९२७ ई०, में एक और असाधारण छापा मारा गया। इस बार यह छापा लदन में रूस के एक व्यापारिक कार्यालय पर था। यह आर्कोस का छापा कहलाता है, क्योंकि आर्कोस इग्लैण्ड में रूस की एक सरकारी व्यापारिक कम्पनी का नाम था। यह भी दूसरी शक्ति का बडा भारी अपमान था, और जैसा कि इस घटना से सिद्ध हुआ, बिल्कुल अनुचित अपमान था। इसके फलस्वरूप दोनों देशो के आपसी कूटनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध तुरन्त टूट गये। अगले महीने, यानी जून में, सोवियत प्रतिनिधि की वारसा में हत्या कर दी गई। (इससे चार वर्ष पूर्व सोवियत के रोम-स्थित प्रतिनिधि की लोज़ैन मे हत्या हो चुकी थी)। इन घटनाओ ने, जो एक के बाद एक जल्दी-जल्दी हो रही थी रूसी लोगो के होश उड़ा दिये, और उन्हे साम्राज्यशाही शक्तियों द्वारा अपने ऊपर आक्रमण की पूरी सम्भावना हो गई। रूस में युद्ध की बडी आशका फैल गई, और पश्चिमी योरप के अनेक देशो के मजदूरो ने सोवियत रूस के पक्ष में, तथा सम्भावित प्रतीत होनेवाले युद्ध के विरुद्ध, प्रदर्शन किये। पर यह आशका गुजर गई, और कोई युद्ध नही छिड़ा।

सन् १९२७ ई० के ही साल मे सोवियत रूस ने बडे समारोह के साथ बोलशेविक क्रान्ति का दसवा वार्षिकोत्सव मनाया। उस समय इग्लैण्ड तथा फ्रास का रूस के प्रति बहुत वैर-भाव था, पर पूर्वी राष्ट्रो के साथ रूस की मित्रता इस घटना से सिद्ध हो गई कि इस समारोह मे ईरान, तुर्की, अफ़गानिस्तान, और मगोलिया के सरकारी प्रतिनिधि-मडलो ने भाग लिया।

इधर तो योरप मे तथा अन्यत्र ये खतरे के घटे बज रहे थे और युद्ध की तैयारिया हो रही थी, उधर निरस्त्रीकरण की भी बहुत काफी चर्चा चल रही थी। राष्ट्र सघ के इकरारनामे मे यह प्रतिपादित किया गया था कि "सघ के सदस्य मानते है कि शान्ति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय सुरक्षा का लिहाज रखते हुए राष्ट्रीय शस्त्रास्त्रो मे ज्यादा से ज्यादा कमी हो, और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को सब राष्ट्र एक समान कार्रवाई करके पालन करावें"। इस खोखले सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के अलावा उस समय राष्ट्र सघ ने और कुछ नही किया, पर उसने अपनी कौन्सिल से अनुरोध किया कि वह इस दिशा मे आवश्यक कदम उठावे। जर्मनी तथा अन्य पराजित शक्तियों को तो शान्ति सन्धियो के अन्तर्गत शस्त्रास्त्र-हीन कर ही दिया गया। विजयिनी शक्तियो ने भी आश्वासन दिया था कि इसके बाद वे भी ऐसा ही करेंगी, परन्तु बार-बार होने वाले सम्मेलनो से भी कोई ठोस नतीजा नही निकल पाया। जब हर शक्ति अपना इस प्रकार का निरस्त्रीकरण करना चाहती थी कि दूसरो की अपेक्षा वह ज्यादा ताकतवर बनी रहे, तो यह असफलता कोई आश्चर्य की बात नही थी। यह स्वाभाविक ही था कि दूसरी शक्तिया इस बात पर राजी न होती। फ्रांसीसी लोग तो हमेशा अपनी इसी माग पर अडे रहे कि निरस्त्रीकरण से पहले उनकी सुरक्षा का इन्तजाम होना चाहिए।

बड़ी शक्तियो मे से न तो अमरीका ही राष्ट्र सघ का सदस्य था और न सोवियत सघ। सोवियत रूस तो राष्ट्र सघ को वास्तव में एक प्रतिद्वन्द्वी और वैरी ठाठ और सोवियत संघ के विरुद्ध डटा हुआ पूजीवादी शक्तियों का गुट्ट समझता था। सोवियत संघ तो खुद ही राष्ट्रो का सघ माना जाता था (जैसा कि कभी-कभी ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में कहा जाता है) क्योकि इस सघ मे कितने ही प्रजातन्त्र राज्य सघटित थे। पूर्वी राष्ट्र भी राष्ट्र सघ को शका की दृष्टि से देखते थे और उसे साम्राज्यशाही शक्तियो का औजार समझते थे। यह होते हुए भी अमरीका, रूस तथा लगभग सब देश निरस्त्रीकरण के प्रश्न पर विचार करने के लिए संघ के सम्मेलनों में भाग लेते थे। सन् १९२५ ई० में राष्ट्र संघ ने एक तैयारी-करानेवाला कमीशन नियुक्त किया जिसे यह काम सौंपा गया कि निरस्त्रीकरण के एक विश्व-सम्मेलन के लिए जमीन तैयार करे। यह कमीशन, एक के बाद एक योजना पर विचार करता हुआ, सात साल तक अनवरत रूप से चलता रहा, पर कोई परिणाम नहीं निकला। सन् १९३२ ई० में विश्व-सम्मेलन का ही अधिवेशन हुआ, पर कई महीनो की बेकार बातचीत के बाद इसका नाम ही मिट गया।

अमरीका ने निरस्त्रीकरण की इन चर्चाओ में तो भाग लिया ही साथ ही योरप तथा योरप के

मामलों में उसकी दिलचस्पी भी बढ़ गई, क्योंकि ससार भर में उसकी आर्थिक स्थिति का दबदबा था। सारा योरप उसका कर्ज़दार था, और वह योरप के देशों को दुबारा एक दूसरे की गर्दनें उड़ाने से रोकना चाहता था, क्योंकि इसमें ऊंचे इरादों के अलावा यह भी ख़याल था कि अगर वे लड़ पड़े तो उसके कर्ज़ों का तथा व्यापार का क्या होगा ? जब निरस्त्रीकरण की चर्चाओं का जल्दी कोई परिणाम निकलता नही दिखाई दिया, तो फ्रासीसी तथा अमरीकी सरकारो की आपसी बातचीत के फलस्वरूप सन् १९२८ ई० में शान्ति की स्थापना में मदद पहुचाने के लिए एक नया प्रस्ताव सामने रक्खा गया। इस प्रस्ताव में युद्ध को "ग़ैर क़ानूनी" क़रार दिये जाने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया गया था। मूल सुझाव यह था कि केवल फ्रास और अमरीका के बीच इकरारनामा हो जाय, पर इसे आगे बढ़ाया गया, और अन्त में इसमें ससार के सारे राष्ट्रों को शामिल करने की बात रक्खी गई। अगस्त, सन् १९२८ ई०, में पैरिस में इस इक़रारनामे पर हस्ताक्षर हुए, इस लिए यह सन् १९२८ ई० का पैरिस क़रार कहलाता है । इसे केलॉग-ब्रियां क़रार या केवल केलॉग क़रार भी कहते हैं। केलॉग अमरीका का राज्य मंत्री था जिसने इस मामले में अगुवाई की थी, और आरिस्ताइद ब्रियाँ फ्रास का विदेश मंत्री था। यह इक़रारनामा एक छोटा-सा दस्तावेज था जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों का निपटारा करने के लिए युद्ध का आश्रय लेना बुरा बतलाया गया था, और इक़रारनामे पर हस्ताक्षर करने वालों के आपसी सम्बन्धो में युद्धनीति के त्याग को राष्ट्रीय नीति का आधार माना गया था। यह भाषा, जो एक तरह से ख़ुद इकरारनामे की ही शब्दावली है, कानो को बड़ी मधुर प्रतीत होती है, और अगर इसमे ईमानदारी की भावना होती तो युद्ध का अन्त हो जाता। लेकिन यह बहुत जल्दी प्रगट हो गया कि इन शक्तियो के मन मे कितना कपट था। फ्रास तथा इग्लैण्ड दोनो ने, और इग्लैण्ड ने विशेष रूप से, इस इकरारनामे पर हस्ताक्षर करने से पहले अनेक अपवाद रख दिये थे, जिनके कारण उनके लिए तो यह नही के बराबर हो गया था। ब्रिटिश सरकार ने इस इकरारनामे में से ऐसी तमाम युद्ध-सम्बन्धी कार्रवाइया निकाल दी थी जो उसे अपने साम्राज्य के हित मे करनी पड़े। इसका अर्थ यह था कि वह जब चाहे तब युद्ध छेड़ सकती थी। उसने अपने प्रभुत्व तथा प्रभाव के अन्तर्गत प्रदेशो पर एक प्रकार के ब्रिटिश "मनरो सिद्धान्त" की घोषणा कर दी।

इधर तो इस प्रकार सार्वजनिक रूप से युद्ध को "ग़ैर-कानूनी" क़रार दिया जा रहा था, उधर सन् १९२८ ई० मे एक गुप्त आंग्ल-फ्रासीसी नौ-सेना समझौता हो गया। इसका समाचार किसी तरह प्रगट हो गया, और इससे योरप तथा अमरीका में सनसनी फैल गई। पर्दे के पीछे असली स्थिति क्या थी, वह इससे क़ाफ़ी स्पष्ट हो गई।

सोवियत संघ ने केलॉग क़रार को मान लिया और उस पर हस्ताक्षर कर दिये। ऐसा करने मे उसका असली हेतु यह था कि इस तरह कुछ हद तक ऐसे सोवियत-विरोधी गुट्ट का निर्माण रुक जाय जो क़रार की आड़ में सोवियत पर आक्रमण करे। ब्रिटिश सरकार ने जो अपवाद रक्खे थे, वे खास तौर पर सोवियत को ही लक्ष्य करके रक्खे थे। हस्ताक्षर करते समय रूस ने इन अग्रेज़ी तथा फ्रासीसी अपवादो पर घोर आपत्ति की थी।

रूस युद्ध को टालने के लिए इतना उत्सुक था कि उसने अपने पड़ोसी पोलैण्ड, रूमानिया, ऐस्टोनिया, लैटविया, तुर्की और ईरान के साथ सन्धि का एक विशेष करार करके अतिरिक्त पेशबन्दी कर ली। यह लिट्विनोफ करार कहलाता है। केलॉग क़रार के अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बनने के छै महीने पूर्व, फरवरी सन् १९२९ ई०, में इस पर हस्ताक्षर हुए।

इस प्रकार झगडालू और विनाश-प्रवृत्त ससार को बचाने के निराशा-जनित प्रयत्न के रूप में ये क़रार और गुट-बन्दिया और सन्धिया बराबर होती रही, मानो ऊपर-ऊपर के ऐसे करारों या चेपा-चापियो से किसी भीतरी रोग का इलाज हो सकता हो। यह सन् १९२०-३० ई० का ज़माना था जब योरपीय देशों मे समाजवादियों और सामाजिक लोकतंत्रवादियों की सरकारें अक्सर बनती रहती थी। इन लोगो को ज्यों-ज्यो पद और सत्ता का चसका लगता गया त्यों-त्यो ये पूजीवादी ढांचे में अधिकाधिक विलीन होते गये। सच तो यह है कि वे पूजीवाद के सबसे बड़े हिमायती बन गये, और अक्सर करके उतने ही सरगर्म साम्राज्यवादी बन गये जितने कि कट्टर-पन्थी या प्रतिगामी लोग थे। युद्धोत्तर वर्षों के प्रारम्भ की क्रान्तिकारी उथल-पुथल के बाद योरपीय जगत कुछ हद तक ठंडा पड़ गया था। मालूम होता था कि पूंजीवाद

ने एक और जमाने तक के लिए अपने-आपको नवीन परिस्थितियो में ढाल लिया था, और किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की कहीं भी कोई तात्कालिक सम्भावना दिखाई नही देती थी।

सन् १९२९ ई० में योरप की यह परिस्थिति थी ।

: १७५ :

मुसोलिनी तथा इटली में फ़ासीवाद

२१ जून, १९३३

योरप की कथा की रूप रेखा में सन् १९२९ ई० तक ले आया हूं। पर अभी तक इसका एक महत्वपूर्ण अध्याय छूट गया है, और इसका वर्णन करने के लिए मुझे कुछ पीछे जाना पड़ेगा। यह इटली के युद्ध के बाद की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है। ये घटनाएं इसलिए इतनी महत्वपूर्ण नही है कि वे हमें बतलाती है कि इटली मे क्या हुआ, बल्कि इसलिए कि वे नये ढग की है, और दुनिया भर में प्रवृत्तियो के एक नये रूप की तथा संघर्ष की चेतावनी देती हैं। इस प्रकार इनकी विशिष्टता राष्ट्रीय ही नही है बल्कि उससे बहुत ज्यादा है। इसीलिए इन्हे मैंने एक अलग पत्र के लिए रख छोड़ा था। इसलिए इस पत्र में मैं आज के एक विशिष्ट व्यक्ति मुसोलिनी* का तथा इटली में फ़ासीवाद के उदय का ज़िक्र करूगा।

महायुद्ध के शुरू होने से पूर्व ही इटली घोर आर्थिक मुसीबत में फसा हुआ था। सन् १९११–१२ ई० मे तुर्की के साथ उसके युद्ध का अन्त उसकी विजय के साथ हुआ था, और उत्तरी अफरीका मे त्रिपोली पर उसका अधिकार होने से उसके साम्राज्यवादी लोगों को बड़ी खुशी हुई थी। मगर इस छोटे-से युद्ध से उसे अन्दरूनी तौर पर ज्यादा लाभ नही हुआ था, और न इससे उसकी आर्थिक अवस्था ही सुधरी थी। बल्कि हालत और भी बिगडती गई और, सन् १९१४ ई० में, जबकि महायुद्ध शुरू होने ही वाला था, इटली क्रान्ति के दरवाजे पर खड़ा दिखाई दे रहा था,। कारखानो मे बडी-बडी हड़ताले हुई, और मजदूरवर्ग के नरम दली समाजवादी नेताओ के प्रयत्नों ने ही मजदूरों को रोके रक्खा। ये लोग हडतालों को रोकने मे सफल हो गये। इसके बाद महायुद्ध छिड़ गया। इटली ने अपने जर्मन मित्रो का साथ देने से इन्कार कर दिया, और दोनो पक्षो को दबा कर उनसे रियायतें प्राप्त करने के लिए अपनी भौगोलिक स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। सब से ऊंची बोली बोलने वाले को अपनी सहायता अर्पण करने की यह वृत्ति शोभनीय नही थी, लेकिन राष्ट्र पूरे हृदयहीन हुआ करते है, और उनके व्यवहार का तरीका ऐसे ढग का होता है कि किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के लिए तो वह शर्म की बात समझी जाय। मित्र-राष्ट्र, यानी इंग्लैण्ड और फ्रास, ऊची रिश्वत दे सकते थे–तुरन्त नक़दी के रूप मे भी और प्रदेश देने के वादे के रूप मे भी--इसलिए मई, सन् १९१५ ई०, मे इटली मित्र-राष्ट्रो की ओर से युद्ध में शरीक हो गया। मेरा खयाल है कि मैं बाद मे की गई उस गुप्त सधि का ज़िक्र कर चुका हू जिसमें स्मर्ना तथा एशिया कोचक का कुछ टुकडा इटली के हिस्से में रक्खा गया था। परन्तु इस सन्धि पर अमल होने से पहले ही रूस में बोलशेविक क्रान्ति हो गई और यह छोटा-सा खेल बिगड़ गया। इटली की यह शिकायत थी, और पैरिस की शान्ति सधियो के बारे में कुछ असंतोष भी था, और यह भावना थी कि इटली के "अधिकारों" की उपेक्षा की गई। साम्राज्यवादियों तथा बुर्जुवाओं ने आशा लगा रक्खी थी कि नये औपनिवेशिक प्रदेशों पर क़ब्ज़ा मिलेगा और इनके शोषण से उनके देश का आर्थिक भार हलका हो जायगा।

युद्ध के बाद इटली में स्थिति बहुत बिगड़ी हुई थी, और यह देश अन्य सब मित्र-राष्ट्रीय देशो से ज्यादा शक्ति-हीन हो गया था। आर्थिक व्यवस्था टूटती हुई प्रतीत हो रही थी, और समाजवाद तथा साम्यवाद के पक्षपातियों की संख्या बढ़ रही थी। रूसी बोलशेविकों का उदाहरण तो उनके सामने था ही।

---

*बेनितो मुसोलिनी (Benito Mussolini) की अप्रैल १९४५ ई० में द्वितीय महायुद्ध के अन्त होने पर उसके विरोधियों ने हत्या कर दी।

एक ओर तो कारखानों के मजदूर थे जो आर्थिक परिस्थितियों के कष्ट सह रहे थे, दूसरी ओर उन सिपाहियो की बड़ी संख्या थी जिनकी सेनाएं तोड़ दी गई थीं और जो बेकार हो गये थे। गड़बड़ियां फैलने लगी, और मध्य-वर्गी नेताओं ने मजदूरों की बढ़ती हुई ताकत का मुकाबला करने के लिए इन सिपाहियों को संगठित करने की कोशिश की। सन् १९२० ई० के ग्रीष्म-काल में संकट उपस्थित हो गया। धातु का काम करने वाले मजदूरो के बड़े संघ ने, जिसके लगभग पाच लाख सदस्य थे, ऊंची मजूरियों की माग की। यह माग ठुकरा दी गई, और तब मजदूरो ने एक नई तरह की हड़ताल का निश्चय किया, जिसका नाम "काम रोक हड़ताल" रक्खा गया। इस हड़ताल का अभिप्राय यह था कि मजदूर लोग कारखानों में तो जाते थे, पर काम करने के बजाय ठाली बैठे रहते थे, बल्कि काम मे रुकावटें डालते थे। यह वह मजदूर-संघवादी कार्यक्रम था जिसका प्रतिपादन बहुत दिनो पहले फ्रांस के मजदूरो ने किया था। कारखानेदारों ने इस रुकावटी हड़ताल के जवाब में ताला-बन्दी का आश्रय लिया, यानी उन्होने कारखानों में ताले डाल दिये। इस पर मजदूरों ने कारखानों पर ही अधिकार कर लिया और उन्हे समाजवादी ढग पर चलाने का प्रयत्न किया।

मजदूरों की यह कार्रवाई निश्चय ही क्रान्तिकारी थी, और अगर वे इस पर डटे रहते तो *या तो सामाजिक क्रान्ति हुए बिना न रहती या उन्हे मुंहकी खानी पड़ती।* ज्यादा दिन तक कोई मध्यवर्ती स्थिति सम्भव नही थी। उस समय इटली मे समाजवादी दल का बहुत जोर था। मजदूर संघो के अलावा तीन हजार म्यूनिसिपल कमेटियो की बागडोर भी उसके हाथो मे थी, और पार्लमेण्ट में उसके सदस्यो की संख्या डेढ़-सौ, यानी सदस्यो की कुल सख्या की एक-तिहाई, थी। ऐसा जोरदार और जड़ जमा हुआ दल, जिसके पास जायदाद हो और जिसके हाथ में बहुत से सरकारी ओहदे हो, कभी क्रान्तिकारी नही हुआ करता। मगर ऐसा होने पर भी इस दल ने, अपने नरम लोगो समेत, मजदूरो द्वारा कारखानो पर क़ब्ज़ा किये जाने की कार्रवाई को स्वीकृति दे दी। पर स्वीकृति देने के सिवा इसने और कुछ नही किया। यह पीछे लौटना नही चाहता था, लेकिन उसमे आगे बढने की भी हिम्मत नही थी। इसलिए उसने न्यूनतम प्रतिरोध का मध्यम-मार्ग अपनाया, और तमाम सशयी लोगो की तरह तथा उन लोगों की तरह जो आगा-पीछा सोचते रहते है और ऐन मौके पर निश्चय नही कर पाते, इन लोगो ने भी समय का साथ छोड कर उसे आगे निकल जाने दिया। नतीजा यह हुआ कि वे कुचल दिये गये। मजदूरवर्ग के नेताओ तथा वाम-पक्षी दलो की निश्चयहीनता के कारण कारखानों पर मजदूरो का कब्ज़ा फिसफिसा कर जाता रहा।

इससे मालिक वर्गों का हौसला बहुत बढ गया। उन्होने मजदूरो तथा उनके नेताओ के बल को तोल लिया था, और देख लिया था कि वह उतना नही था जितना कि वे उसे समझते थे। इसलिए अब उन्होने श्रमजीवी आन्दोलन तथा समाजवादी दल को कुचलने की एक बदला लेने वाली योजना बनाई। उन्होने अपनी सहायता के लिए स्वयसेवको के कुछ गिरोहो की ओर विशेष ध्यान दिया जिन्हें सन् १९१० ई० मे, बैनितो मुसोलिनी ने, सेना से निकले हुए सिपाहियो को जमा करके बनाया था। ये "लड़ाकू गिरोह"[1] कहलाते थे, और इनका मुख्य काम यह था कि जब मौक़ा लगे तब समाजवादियो, वाम-पक्षियो तथा इनकी सस्थाओ पर आक्रमण करना। मसलन, कभी वे किसी समाजवादी अखबार के छापेखाने को नष्ट कर देते थे, कभी किसी ऐसी म्यूनिसिपल सस्था या सहकारी समिति पर आक्रमण करते थे, जो समाजवादियो या वाम-पक्षियो के हाथ में होती थी। बड़े-बडे उद्योगपति तथा आमतौर पर उच्च बुर्जुवा लोग, मजदूर वर्ग तथा समाजवाद के विरुद्ध अपनी लड़ाई में, इन "लड़ाकू गिरोहो" को आश्रय तथा धन की सहायता देते थे। सरकार तक भी इनकी ओर आखे मूदे रहती थी, क्योंकि वह समाजवादी दल की ताकत को नष्ट करना चाहती थी।

इन लड़ाकू गिरोहों या "फ़ासियो" को संगठित करने वाला यह बैनितो मुसोलिनी कौन था? उस समय यह नौजवान था (इसका जन्म सन् १८८३ ई० में हुआ था इसलिए आज यह ठीक पचास वर्ष का है), और इसका जीवन बहुविध तथा उछल-कूद-भरा रहा था। इसका पिता लोहार था और समाजवादी

---

[1] इटालवी भाषा में इनका नाम Fasci di combathimenti (फ़ासि दि कॉम्बैतिमेंन्ति) था। फ़ासिज्म (Fascism) यानी फ़ासीवाद शब्द इसी से निकला है।

था। इसलिए बैमिलो का लालन-पालन समाजवादी वातावरण में हुआ। जवानी के दिनों में यह सरगर्म आन्दोलनकारी था, और अपने क्रान्तिकारी प्रचार-कार्य के कारण स्वीजरलैण्ड के कई प्रान्तो से निकाला गया था। यह नरम समाजवादी नेताओ को उनकी नरमी के लिए बुरी तरह फटकारता था। राज्य के विरुद्ध बमों के उपयोग का तथा अन्य उपायो का यह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली के युद्ध के समय अधिकाश समाजवादी नेताओ ने युद्ध का समर्थन किया था। मगर मुसोलिनी का ढग दूसरा था, इसने युद्ध का विरोध किया; और कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयो के कारण उसे कुछ महीनो की जेल भी भुगतनी पड़ी थी। इसने नरम समाजवादी नेताओं की, युद्ध का समर्थन करने के लिए, कटु आलोचना की, और उन्हे समाजवादी दल से निकलवा कर रहा। यह मिलान से निकलने वाले समाजवादी दैनिक 'अवन्ती' का सम्पादक बन गया, और मजदूरों को प्रतिदिन यह सलाह देता रहा कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से करे। नरम मार्क्सवादी नेताओं ने हिंसा की इस प्रकार उत्तेजना दी जाने पर घोर आपत्ति की।

इतने ही में महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ महीनो तक तो मुसोलनी ने युद्ध का विरोध किया और तटस्थता के पक्ष में प्रचार किया। मगर फिर इसने अपने विचार यकायक बदल दिये, या विचारो को व्यक्त करने का ढग बदल दिया, और अपना यह मत उद्घोषित कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रो के साथ शरीक हो जाना चाहिए। यह समाजवादी अखबार को छोड बैठा, और एक नये अखबार का सम्पादन करने लगा जिसने इस नई नीति का प्रचार किया। इसे समाजवादी दल से निकाल दिया गया। बाद मे यह एक साधारण सिपाही की तरह सेना मे भर्ती हो गया, इटली के मोर्चे पर लड़ा, और लड़ाई में घायल हुआ।

युद्ध के बाद मुसोलनी ने अपने-आपको समाजवादी कहना बन्द कर दिया। वह न इधर का रहा न उधर का, क्योकि उसका पुराना दल उससे नफरत करता था और श्रमजीवी वर्गों मे उसका कोई असर नही था। वह शान्तिवाद तथा समाजवाद की निन्दा करने लगा, और बुर्जुवा राज्य की भी। उसने हर तरह के राज्य की निन्दा की, और अपने-आप को "व्यक्तिवादी" घोषित करके अराजकता की प्रशसा की। यह सब बाते उसी के लिखे अनुसार है। उसने यह काम किया कि मार्च, सन् १९१९ ई०, मे फासीवाद की स्थापना की, और अपने लड़ाकू दस्तो मे बेकार सिपाहियो की भर्ती शुरू कर दी। इन गिरोहो का धर्म हिंसा था, और चूकि सरकार कभी इनके मामले में हस्तक्षेप नही करती थी, इसलिए इनके हौसले और इनकी उग्रता बढती गई। शहरो मे कभी-कभी श्रमजीवी वर्गों की इनके साथ बाकायदा मुठभेड़े होती थी और वे इन्हे खदेड़ देते थे। मगर समाजवादी नेता मजदूरो के लड़ाकू जोश का विरोध करते थे और उन्हे सलाह देते थे कि फासी आतक का मुकाबला करने के लिए शान्ति तथा धैर्य-पूर्ण सतोष से काम ले। उन्हे आशा थी कि इस प्रकार फासीवाद अपने-आप पस्त हो जायगा। लेकिन इसके विपरीत फासीवादी गिरोह तो ज़ोर पकडते गये, क्योकि इन्हे धनवान लोगो से धन की सहायता मिलती थी और सरकार ने इनके मामलो मे हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया था। उधर, जन-साधारण अपनी प्रतिरोध की सारी भावना खो चुके थे। यहा तक कि फासीवादी हिंसा को रोकने के लिए मजदूरवर्ग के हथियार हड़ताल का भी प्रयोग नही किया गया।

मुसोलिनी के नेतृत्व मे फ़ासीवादियो ने दो परस्पर-विरोधी भावनाओ का मेल साध लिया। सब से पहले और सबसे आगे तो वे समाजवाद तथा साम्यवाद के शत्रु थे, और इस कारण उन्हे सम्पत्ति-स्वामी वर्गों का समर्थन प्राप्त हो गया। परन्तु मुसोलिनी तो पुराना समाजवादी आन्दोलनकारी और क्रान्तिकारी था, और उसकी जबान पर उन लोकप्रिय पूजीपति-विरोधी नारो की भरमार थी जिन्हे अनेक निर्धन वर्ग खूब पसन्द करते थे। उसने आन्दोलन का शास्त्र भी इस धधे के विशेषज्ञ साम्यवादियों से बहुत कुछ सीख लिया था। इसलिए फासीवाद एक विचित्र मिश्रण बन गया, और उसकी अलग-अलग तरह से व्याख्या की जा सकती थी। तात्विक रूप से तो यह एक पूजीवादी आन्दोलन था, पर वह अनेक ऐसे नारे लगाता था जो पूजीवाद के लिए खतरनाक थे। इस प्रकार इसने अपनी मडली मे एक रग-बिरगी भीड़ जमा कर ली। मध्यमवर्गों के लोग, और खासकर निम्न मध्यम-वर्ग के बेकार लोग, इसके आधार-स्तम्भ थे। ज्यो-ज्यो इसकी शक्ति बढ़ती गई त्यो-त्यो बेकार तथा बे-हुनर मजदूर लोग, जो मजदूर सघो में संगठित नही थे, हवा के साथ बह कर इसमें आने लगे, क्योकि सफलता से बढ़ कर सफल बनाने वाली चीज़ कोई नही होती। फासीवादियो ने दूकानदारों को कीमतें कम करने के लिए जबरदस्ती मजबूर

किया, और इस प्रकार ग़रीबों की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली। बहुत-से ले-भग्गू भी फ़ासी झंडों के नीचे जमा हो गये। मगर इस सब के बावजूद फ़ासीवाद अल्पसंख्यक आन्दोलन ही रहा।

बस, जबकि समाजवादी नेता संशय में पड़े थे और आगा-पीछा सोचते थे और आपस मे लड़ते-झगड़ते थे और उनके दल में फूट और भेद पड़ रहे थे, तब फ़ासीवादियों का बल बढ़ रहा था। नियमित सेना फ़ासीवाद की ओर बहुत झुकी हुई थी, और मुसोलिनी ने सेना के सेनापतियो को अपने पक्ष में मिला लिया था। मुसोलिनी का यह अद्भुत करतब था कि उसने ऐसे विविध और परस्पर-विरोधी तत्वों को अपनी ओर मिला लिया, और उन्हें एक सूत्र में बांधे रक्खा, और अपने दल के हर गिरोह के मन में खयाल जमा दिया कि फ़ासीवाद का उद्देश्य ख़ासतौर पर उसी का हित-साधन करना है। धनवान फ़ासीवादी मुसोलिनी को अपनी संपत्ति का रक्षक समझता था और यह समझता था कि उसके पूंजीपति-विरोधी भाषण तथा नारे केवल थोथे शब्द थे जिनका प्रयोजन जनसाधारण को उल्लू बनाना था। उधर ग़रीब फ़ासीवादी का यह विश्वास था कि यह पूंजीवाद-विरोध ही फ़ासीवाद का असली तत्व है, और बाक़ी सब बातो का एक मात्र अभिप्राय धनवान लोगों को राजी रखना है। इस प्रकार मुसोलनी एक के विरुद्ध दूसरे को चकमा देने की कोशिश करता रहता था। एक दिन वह धनवानो के पक्ष में बोलता तो दूसरे दिन ग़रीबो के पक्ष में। परन्तु तात्विक रूप में वह सम्पत्तिवान वर्गों का हामी था जो उसे धन की सहायता देते थे और जो मजदूर वर्ग तथा समाजवाद की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे, क्योकि इनकी ओर से उन्हे बहुत दिनो से खतरा था।

आखिरकार अक्तूबर, सन् १९२२ ई०, में नियमित सेना के सेनापतियो द्वारा सचालित इन फासी-वादियो के दस्तो ने रोम पर चढ़ाई कर दी। प्रधान मत्री ने, जो अब तक फासीवादियो की कार्रवाइयो को दरगुजर करता रहा था, फ़ौजी शासन की घोषणा कर दी। मगर अब समय निकल चुका था और अब खुद बादशाह तक मुसोलिनी का पक्षपाती था। उसने (बादशाह ने) फौजी शासन के आज्ञापत्र को रद्द कर दिया, अपने प्रधान मत्री का त्यागपत्र मंजूर कर लिया, और नया प्रधान मत्री बनने के लिए तथा अपना मंत्रि-मडल बनाने के लिए मुसोलिनी को आमंत्रित किया। ३० अक्तूबर, सन् १९२२ ई०, को फ़ासीवादी सेना रोम पहुच गई, और उसी दिन मुसोलिनी प्रधान-मत्री बनने के लिए रेल द्वारा मिलान से आ गया।

फ़ासीवाद पूरी तरह सफल हो गया था, और बागडोर मुसोलिनी के हाथो में आ गई थी। परन्तु इसका उद्देश्य क्या था? इसका कार्यक्रम क्या था और इसकी नीति क्या थी? महान आन्दोलनो का निर्माण करीब-करीब बिना अपवाद के, किसी स्पष्ट विचारधारा के आधार पर हुआ करता है, जो कुछ निर्धारित सिद्धान्तो के आधार पर बनती है और जिसके निश्चित ध्येय तथा कार्यक्रम होते हैं। फ़ासीवाद की निराली विशिष्टता यह थी कि उसके न तो कोई निर्धारित सिद्धान्त थे, न कोई विचारधारा थी, न उसके पीछे कोई दार्शनिक दृष्टिकोण था। हां, अगर समाजवाद, साम्यवाद तथा उदार-नीति के ख़ाली विरोध को ही दार्शनिक सिद्धान्त-समझ लिया जाय तो बात दूसरी है। सन् १९२० ई० मे, फ़ासीवादी गिरोहो के संगठन के एक वर्ष बाद, फ़ासीवादियों के सम्बन्ध में मुसोलिनी ने ऐलानिया कहा था:

> "चूंकि वे किसी तरह के निर्धारित सिद्धान्तो से बधे हुए नही हैं, इसलिए वे अबाध गति से एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं, और वह लक्ष्य है इटली की जनता की भावी भलाई।"

मगर यह तो कोई विशिष्ट नीति नहीं है, क्योंकि हर व्यक्ति यह कह सकता है कि वह अपने देश-वासियो की भलाई का समर्थन करने को तैयार है। सन् १९२२ ई० में, रोम पर चढाई के ठीक एक महीने पहले, मुसोलिनी ने कहा था: "हमारा कार्यक्रम बहुत सीधा-सादा है; हम इटली पर शासन करना चाहते हैं"।

मुसोलिनी ने इटालवी भाषा के एक विश्व-कोष में फ़ासीवाद की उत्पत्ति पर जो लेख लिखा है, उसमें उसने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। उसने लिखा है कि जब वह रोम पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हुआ था तब भविष्य के बारे में उसके दिमाग़ में कोई योजना नही थी। राजनैतिक संकट के समय कुछ करने की प्रबल इच्छा ने ही उसे इस मुहिम पर कूच करने के लिए प्रेरित किया था, और यह उसकी पिछली समाजवादी साधना का परिणाम था।

यद्यपि फ़ासीवाद तथा साम्यवाद एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं, पर कुछ प्रवृत्तिया दोनो में समान हैं। लेकिन जहां तक सिद्धान्तों का तथा विचारधारा का सम्बन्ध है, वहा तक इन दोनो में जमीन-आस्मान का फर्क है। क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, फासीवाद के कोई बुनियादी सिद्धान्त नही हैं; वह तो शून्य से शुरू होता है। इसके विपरीत, साम्यवाद या मार्क्सवाद एक जटिल आर्थिक मतवाद और इतिहास की व्याख्या है, जिसके लिए कठोरतम मानसिक अनुशासन की आवश्यकता होती है।

यद्यपि फ़ासीवाद के कोई सिद्धांत या आदर्श नहीं थे, पर उसकी हिंसा तथा आतंक की निश्चित कार्यशैली थी, और भूत काल के बारे में उसका एक खास दृष्टिकोण था जिससे हमको उसे कुछ समझने में सहायता मिलती है। उसका चिह्न रोम का एक पुराना साम्राज्यशाही चिह्न था जो रोम के सम्राटो तथा मजिस्ट्रेटों के आगे-आगे चला करता था। यह छडियों का एक बडल होता था जिसके बीच मे कुल्हाडी रहती थी[1]। फ़ासीवादी सगठन इसी पुराने रोमी नमूने के आधार पर रचा गया था, यहा तक कि नाम भी पुराने ही काम में लाये गये थे। फ़ासी सलाम[2] भी पुराना रोमी सलाम है जिसमे हाथ को उठाकर एक ओर लम्बा कर दिया जाता है। इस प्रकार फासीवादी लोग प्रेरणा के लिए साम्राज्यशाही रोम की ओर पीछे नजर डालते थे; उनका दृष्टिकोण भी साम्राज्यशाही था। उनका गुरुमत्र था "तर्क वितर्क नही-केवल आज्ञापालन"। यह मत्र शायद सेना के लिए अनूकूल हो, पर लोकतत्र के तो कभी भी अनुकूल नही है। उनका नेता मुसोलिनी "इल दयूचे"[3], यानी अधिनायक था। अपनी वर्दी के लिए उन्होंने काला कुर्ता अपनाया, और इसलिए उनका नाम "काले कुर्तो वाले" पड गया।

चूकि फासीवादियो का एक मात्र निश्चित कार्यक्रम सत्ता प्राप्त करना था, इसलिए मुसोलिनी के प्रधान मत्री बनने पर वह पूरा हो गया। तब मुसोलिनी अपने विरोधियो को कुचल कर अपनी स्थिति सुदृढ बनाने में पूरी तरह डट गया। हिसा तथा आतक की असाधारण बदमस्तियां हुई। इतिहास मे हिसा की घटनाए बहुत आम हैं; लेकिन मामूली तौर पर हिंसा का प्रयोग आवश्यकता पडने पर और वह भी बड़े दुख के साथ किया जाता है, और उसके झूठे-सच्चे कारण बताये जाते है और सफाई दी जाती है। मगर फासीवाद हिंसा के प्रति क्षमा-याचना सरीखे ऐसे किसी रुख मे विश्वास नही करता था। फासीवादी लोग तो हिसा को मानते थे और उसकी खुली तारीफ करते थे, और उनका कोई प्रतिरोध न होने पर भी इसका प्रयोग करते थे। पार्लमेण्ट के विरोधी सदस्यो को मार-पीट कर आतकित कर दिया गया, और विधान को बिल्कुल बदल देने वाला चुनाव सम्बन्धी नया कानून जबरदस्ती पास करा लिया गया। इस प्रकार मुसोलिनी के पक्ष में भारी बहुमत प्राप्त कर लिया गया।

सत्ता पर सचमुच अधिकार हो जाने पर भी तथा पुलिस और राज्यतत्र की बागडोर हाथो मे होने पर भी फासीवादियो का अपनी गैर-कानूनी हिंसा जारी रखना आश्चर्य की बात थी। मगर उन्होंने हिसा जारी रक्खी, और उनके सामने मैदान तो खाली पड़ा ही था, क्योकि राज्य की पुलिस तो हस्तक्षेप करती ही कैसे ? हत्याए की गई, यन्त्रणाए दी गईं, मार-पीट की कई, सम्पत्ति नष्ट की गई, और इन फ़ासीवादियों ने एक नये तरीके का व्यापक रूप से प्रयोग किया। वह यह था कि जो कोई उनका विरोध करने का दुस्साहस करता उसे अरडी के तेल की सेरो मात्राए पिला दी जाती थी।

सन् १९२४ ई० में गायाकोमो मैतिओती की हत्या से सारा योरप थर्रा उठा। यह एक प्रमुख समाजवादी था और पार्लमेण्ट का सदस्य था। उन दिनो जो चुनाव होकर ही चुका था उसके दौरान मे इसने पार्लमेण्ट मे अपने भाषणो मे फासीवादी तरीको की आलोचना की थी। इसके कुछ ही दिनो के भीतर उसकी हत्या कर दी गई। खानापूरी करने के लिए हत्यारो पर मुकदमे तो चलाये गये, पर वे एक तरह से बिना सजा पाये ही छूट गये। मार-पीट के परिणामस्वरूप अमेन्दोला नामक नरम-दली नेता की मृत्यु हो गई। उदार-दली भूतपूर्व प्रधानमत्री नित्ती बड़ी मुश्किल से जान बचाकर इटली से भाग गया, पर उसका मकान नष्ट कर दिया गया। ये कुछ थोड़े से उदाहरण हैं जिनकी ओर ससार का ध्यान आकर्षित हुआ, लेकिन हिंसा

---

[1] ये छड़ियां Il fasces कहलाती थीं, और Fascimo शब्द इसी से बना है।

[2] इसे Fascista कहते हैं।

[3] Il Duce.

की कार्रवाइयां तो निरंतर और व्यापक रूप से होती रहती थी। यह हिंसा दमन के क़ानूनी तरीकों से अलग थी और उनके अलावा थी। मगर यह भी केवल भावोत्तेजित भीड की हिंसा नही थी। यह तो अनुशासन पूर्ण हिसा थी जिसका प्रयोग तमाम विरोधियो के ऊपर इरादतन किया जाता था, और केवल समाजवादियो तथा साम्यवादियों पर ही नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण तथा अत्यन्त नरम उदार-दली लोगों पर भी। मुसोलिनी की आज्ञा थी कि उसके विरोधियों का जीना दुश्वार "या असम्भव" कर दिया जाय। इस आज्ञा का अक्षरश पालन किया गया। कोई दूसरा दल, कोई दूसरा सगठन, कोई दूसरी सस्था, जिन्दा न रहने पावे। हर चीज़ फ़ासी ढग की हो। सारी नौकरियां फ़ासीवादियों को ही दी जाय।

मुसोलिनी इटली का पूर्ण-सत्ताधारी अधिनायक बन बैठा। वह केवल प्रधान मत्री ही नही था, बल्कि पर-राष्ट्र विभाग, गृह विभाग, उपनिवेश विभाग, युद्ध विभाग, नौ-सेना विभाग, हवाई-सेना विभाग और श्रमविभाग का भी मत्री था! एक तरह से वह पूरा मत्रि-मडल था। बेचारा बादशाह कोने में जा बैठा। और उसका नाम भी सुनाई नही देता था। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ धकेल दी गई और अपने रूप की हलकी छाया मात्र रह गई। कार्य क्षेत्र पर "फैसिस्ट ग्रान्ड काउन्सिल" छाई हुई थी और इस कौन्सिल पर मुसोलिनी छाया हुआ था।

पर-राष्ट्रो सम्बन्धी मामलों पर मुसोलिनी के शुरू के भाषण से योरप में आश्चर्य और घबराहट फैल गई। ये भाषण असाधारण ढग के थे। शब्दाडम्बर पूर्ण, धमकियों से भरे हुए और राजनीतिज्ञो की कूटनीतिपूर्ण बातो से बिल्कुल भिन्न। मालूम होता था कि वह हमेशा लड़ने पर आमादा था। वह इटली के साम्राज्यशाही प्रारब्ध की और असंख्य इटालवी वायुयानो के आकाश मे छा जाने की बाते करता था, और कई बार तो उसने अपने पड़ौसी फ्रास को खुल्लम-खुल्ला धमकिया दी। फ्रास अवश्य ही इटली से बहुत अधिक शक्तिशाली था, मगर लडना कोई नही चाहता था, इसलिए मुसोलिनी की बहुत-सी बातो की उपेक्षा कर दी जाती थी। यद्यपि इटली राष्ट्र सघ का सदस्य था, पर मुसोलिनी ने राष्ट्र सघ को अपने व्यग तथा तिरस्कार का खास लक्ष्य बनाया, और एक बार तो उसने राष्ट्र सघ की अत्यन्त उद्दण्डता से अवहेलना की। मगर फिर भी राष्ट्र संघ ने तथा अन्य शक्तियो ने इसे सहन कर लिया।

इटली मे अनेक ऊपरी परिवर्त्तन हो गये है, और वहा हर जगह व्यवस्था तथा समय की पाबन्दी को देखकर विदेशी यात्रियो के मन पर अच्छी छाप पडती है। शाही शहर रोम को सुन्दर बनाया जा रहा है। और उसे अच्छा बनाने की अनेक लम्बी चौड़ी योजनाए हाथ मे ली गई है। मुसोलिनी की आखो के आगे नये रोमन साम्राज्य के कल्पना-चित्र नाचते रहते है।

पोप तथा इटली की सरकार के बीच जो पुराना झगडा चला आता था, वह सन् १९२९ ई० में, पोप तथा इटली की सरकार के प्रतिनिधि के बीच राज़ीनामा होने मे समाप्त हो गया। जब से, सन् १८७१ ई० मे, इटली की बादशाहत ने रोम को अपनी राजधानी बनाया था, तभी से पोप इसे मानने से या रोम पर अपनी सर्वोपरि सत्ता का दावा छोड़ने से इन्कार करता आ रहा था। इसलिए जितने भी पोप हुए वे निर्वाचित होते ही रोम में वैटिकन[1] के अपने अत्यन्त विशाल महल में, जिसमें सेण्ट पीटर का गिरजा भी शामिल है, जा बैठते थे, और कभी उससे बाहर निकल कर इटली की भूमि पर पाव नही देते थे। वे अपने आप को स्वेच्छा से क़ैदी बना लेते थे। सन् १९२९ ई० के राज़ीनामे से रोम का यह छोटा-सा वैटिकन क्षेत्र एक स्वाधीन तथा पूर्ण-सत्ताधारी राज्य मान लिया गया। पोप इस राज्य का सर्वाधिकारी शासक होता है, और इसके नागरिकों की कुल सख्या पाच सौ के लगभग है! इस राज्य की अपनी निजी अदालतें है, मुद्रा है, डाक के टिकट है, और सार्वजनिक विभाग है, और दुनिया भर में सबसे महगी छोटी-सी रेल-व्यवस्था है। अब पोप स्वेच्छा से बना हुआ क़ैदी नही रहा; कभी-कभी वह वैटिकन से बाहर निकलता है। इस सन्धि ने मुसोलिनी को कैथलिको में लोकप्रिय बना दिया। फ़ासीवादी हिंसा का गैर-क़ानूनी स्वरूप क़रीब एक साल तो खूब तेज़ रहा, और बाद में सन् १९२६ ई० तक कुछ मदा रहा। सन् १९२६

---

[1]वैटिकन (Vatican)—रोम के पास वैटिकन पहाड़ी पर बने हुए पोपों के विशाल राजभवन का नाम। सन् १३७७ ई० से यह पोपों का आवास है। इसी महल के नीचे बसा हुआ वैटिकन नगर पोपों की राजधानी और स्वतन्त्र रियासत माना जाता है।

ई० में राजनैतिक विरोधियो का मुकाबला करने के लिए "विलक्षण कानून" पास किये गये, जिन के द्वारा राज्य को जबरदस्त अधिकार मिल गये और गैर-कानूनी कार्रवाइयो की आवश्यकता नही रह गई। ये कानून उन आर्डिनेन्सो तथा आर्डिनन्सों के आधार पर रचे गये कानूनो से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे जिनकी हमारे भारत में भरमार है। इन "विलक्षण कानूनो" के अन्तर्गत अनगिनती लोगो को सजाएं दी जाती रही, उन्हे जेलो में डाला जाता रहा, तथा निर्वासित किया जाता रहा। सरकारी आकड़ों के अनुसार, नवम्बर, सन् १९२६ ई० से लगाकर अक्तूबर, सन् १९३२ ई०, तक कम से कम १०,०४४ व्यक्ति विशेष अदालतों के सामने पेश किये गये। निर्वासितो के लिए पौञ्जा, वैन्तोलीन तथा त्रेमिती[1] नामक तीन ताजरी टापू अलग नियुक्त कर दिये गये थे, और वहा की हालतें बहुत ही खराब थी।

दमन और गिरफ्तारियो का अभी तक खूब जोर चला आ रहा है, और इनसे साफ़ जाहिर है कि देश में एक गुप्त तथा क्रान्तिकारी विरोधी-दल वर्तमान है, हालाकि उसे कुचलने के सारे प्रयत्न किये गये हैं। देश पर खर्च का बोझ बढ रहा है और उसकी आर्थिक स्थिति दिन पर दिन बिगडती जा रही है।

: १७६ :

लोकतंत्र और अधिनायकशाहियां

बेनितो मुसोलिनी ने अपने-आपको इटली का अधिनायक प्रतिष्ठित करके जो मिसाल पेश की उसकी छूत मालूम होता है योरप भर मे फैल गई। उसने कहा था "योरप के हर देश मे राजगद्दिया इस इन्तजार में खाली पडी हुई है कि योग्य व्यक्ति उन पर आसीन हो जाय"। बस, अनेक देशो मे अधिनायक पैदा हो गये, और पार्लमेण्टो को या तो भग कर दिया गया या उन्हे अधिनायको की मर्जी के मुताबिक चलने को जबरदस्ती मजबूर किया गया। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण स्पेन था।

स्पेन महायुद्ध के चक्कर मे नही पडा था। उसने लड़नेवाले राष्ट्रो को माल बेच कर खूब रुपया बनाया। लेकिन उसकी निजी मुसीबतें थी और औद्योगिक लिहाज से वह बहुत पिछडा हुआ था। योरप मे उसकी महानता के वे दिन बीत चुके थे जब उसके बन्दरगाहो में अमरीकीओ का तथा पूर्व का धन उलटता था। अब योरप की महत्वपूर्ण शक्तियो में उसकी कोई गिनती नही थी। यहा एक निर्बल पार्लमेण्ट थी, जो "कोर्टे" कहलाती थी, और रोमन पादरियो का बहुत जोर था। योरप के औद्योगिक लिहाज से पिछडे हुए अन्य देशो की तरह यहा भी जर्मनी तथा इग्लैण्ड के ठोस मार्क्स-वाद और नरम समाजवाद के बजाय श्रमिक-सघवाद तथा अराजकतावाद का प्रचार हुआ। सन् १९१७ ई० में, जब बोलशेविक लोग रूस मे सत्ता के लिए सघर्ष कर रहे थे, तब स्पेन के मजदूरो तथा वामपक्षियो ने आम हड़ताल करके लोकसत्तावाला प्रजातन्त्र स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु बादशाह की सरकार तथा सेना ने इस सारे आन्दोलन को कुचल दिया, और इसके परिणाम-स्वरूप देश मे सारी सत्ता सेना के हाथो मे आ गई। बादशाह भी सेना के भरोसे कुछ और स्वतन्त्र तथा निरकुश हो गया।

फ्रास तथा स्पेन ने मोरक्को को एक तरह से दो प्रभाव-क्षेत्रो मे बाट लिया था। सन् १९२१ ई० में मोरक्को के रिफ लोगो मे अब्दुल करीम नामक एक योग्य नेता स्पेनी शासन के विरुद्ध उठ खडा हुआ। इसने बडी योग्यता तथा वीरता का परिचय दिया और स्पेनी सेना की टुकड़ियो को बार-बार पराम्त किया। इससे स्पेन मे गृह-सकट पैदा हो गया। बादशाह तथा सेना के नेता, दोनो ही विधान तथा पार्लमेण्ट का अन्त करके अधिनायकशाही स्थापित करना चाहते थे। इस बात पर तो दोनो एक मत हो गये, पर मतभेद इस पर हुआ कि अधिनायक कौन बने। बादशाह तो खुद अधिनायक या एक-तत्री शासक बनना

---

[1]Ponza, Ventolene, Tremiti—ये तीनों छोटे-छोटे टापू इटली के दक्षिणी तट के पास हैं।

चाहता था, और सेना के नेता सैनिक अधिनायकशाही चाहते थे। सितम्बर, सन् १९२३ ई०, में सेना का विद्रोह हुआ, और इसने इस मुद्दे का निर्णय सेना के पक्ष में कर दिया, और सेनापति प्राइमो डि रिवेरा अधिनायक बन गया। उसने कोर्टे (पार्लमेण्ट) को स्थगित कर दिया और खुल्लमखुल्ला हिंसा के बल पर, यानी सेना के बल पर, शासन करने लगा। मगर रिफ़ो के विरुद्ध मोरक्को का मुहिम फिर भी सफल नही हुआ, और अब्दुल करीम स्पेनियो को उद्दंडता के साथ बराबर चुनौती देता रहा। स्पेनी सरकार ने उसे अच्छी शर्तें पेश की मगर उसने इन्हे ठुकरा दिया, और वह पूर्ण स्वाधीनता की माग पर डटा रहा। सम्भव है कि स्पेनी सरकार अकेली उसे परास्त करने मे सफल न होती। पर सन् १९२५ ई० में फ्रांसीसियों ने जिनका मोरक्को मे बहुत बडा स्वार्थ था, हस्तक्षेप का निर्णय किया, और अपने विपुल साधनों का अब्दुल करीम के विरुद्ध प्रयोग किया। सन् १९२६ ई० के मध्य तक अब्दुल करीम परास्त हो चुका था, और फ्रांसीसियों के आगे आत्म-समर्पण करने के साथ उसका लम्बा तथा वीरतापूर्ण सघर्ष समाप्त हो गया था।

इन सारे वर्षों के दौरान मे स्पेन मे प्राइमो डि रिवेरा की अधिनायकशाही, सैन्यबल के तमाम स्वाभाविक लवाजमो—जैसे समाचारों पर प्रतिबन्ध, दमन, और कभी-कभी फौजी शासन आदि—के साथ बराबर चलती रही। याद रहे कि यह अधिनायकशाही मुसोलिनी की अधिनायकशाही से भिन्न थी क्योकि यह एक मात्र सेना पर अवलम्बित थी, इटली की भाति जनता के कुछ वर्गों पर नही। इसलिए ज्यो-ही सेना प्राइमो डि रिवेरा से उकता गई त्यो-ही उसका कोई सहारा बाकी नही रहा। सन् १९३०ई० के प्रारम्भ में बादशाह ने प्राइमो को बरखास्त कर दिया। उसी साल क्रान्ति भी हुई जो दबा दी गई। लेकिन प्रजातन्त्र की तथा क्रान्ति की भावना इतनी व्यापक हो गई थी कि उसे दबा कर नही रखा जा सकता था। सन् १९३१ ई० में प्रजातन्त्रवादियों ने म्यूनिसिपल चुनावों मे अपनी ताकत का परिचय दिया, और इसके कुछ ही दिन बाद बादशाह अल्फ़ोन्सो ने, यह समझ कर कि बहादुरी दिखाने मे भलाई नही है, राजगद्दी को त्याग दिया, और वह देश छोड़ कर भाग गया। स्पेन मे अस्थायी सरकार स्थापित हो गई, और यह देश जो योरप में निरकुश एक-तंत्र राज-सत्ता तथा पादरियो के शासन का प्रतीक था, योरप का सबसे कम-उम्र प्रजातन्त्र राज्य बन गया। इसने भूतपूर्व बादशाह अल्फोन्सो को कानूनी अधिकारो से वचित कर दिया और पादरियो के प्रभाव के विरुद्ध लडाई छेड दी।

लेकिन मै तो अधिनायको का वर्णन कर रहा था। इटली तथा स्पेन के अलावा जिन अन्य देशो ने लोकतंत्र पद्धति की हुकूमतो को धता बताई और अधिनायकशाहिया स्थापित कर ली उन के नाम ये है: पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूनान, बलगारिया, पुर्तगाल, हंगरी और आस्ट्रिया। पोलैण्ड मे ज़ारशाही जमाने का पुराना समाजवादी पिल्सूदस्की अधिनायक था क्योकि सेना उसके हाथो मे थी। पोली पार्लमेण्ट के सदस्यों के लिए बहुत-ही हैरत में डालनेवाली असभ्यतापूर्ण भाषा का प्रयोग करना उसने अपना धन्धा बना लिया था, और कभी-कभी तो सचमुच इन्हे गिरफ़्तार करके तुरन्त लाद दिया जाता था। यूगोस्लाविया में खुद बादशाह अलैग्ज़ैण्डर ही अधिनायक बना हुआ है। कहा जाता है कि देश के कुछ भागो में तो स्थिति और भी बिगड़ गई है, और इतना अत्याचार हो रहा है जितना तुर्कों के शासन मे भी कभी नही हुआ था।

जिन देशो का मैंने ज़िक्र किया है उन सबमे लगातार रूप मे खुल्लम-खुल्ला अधिनायकशाहिया नहीं रही है। कभी-कभी इनकी पार्लमेण्ट जाग उठती है और उन्हे काम करने दिया जाता है; जैसा कि हाल ही में बलगारिया में हुआ, कभी-कभी सत्ताधारी हुकूमत डिपुटियों के साम्यवादी सरीखे किसी गिरोह को जिसे वह पसन्द नही करती, गिरफ़्तार कर लेती है, और उन्हे ज़बरदस्ती पार्लमेण्ट से निकाल देती है, और बाकी के लोगों को जैसे-तैसे काम चलाने के लिए छोड देती है। ये देश निरन्तर या तो अधिनायकशाही के अधीन रहते हैं या उसके किनारे पर। और ज़ोर-ज़बरदस्ती के बल पर निर्भर रहने वाली व्यक्तियो अथवा छोटे-छोटे गिरोहो की इन हुकूमतो को निरन्तर दमन, विरोधियो की हत्याओ तथा गिरफ़्तारियो, समाचारो पर कठोर प्रतिबन्ध, तथा जासूसों के व्यापक जाल, का सहारा ढूढ़ना पड़ता है।

योरप के बाहर भी अधिनायकशाहियां पैदा हो गईं। तुर्की और कमालपाशा का उल्लेख मै कर ही चुका हूँ। दक्षिण अमरीका में भी अनेक अधिनायक थे, लेकिन वहाँ तो अधिनायकशाही एक पुराना दस्तूर

बन गई है, क्योंकि दक्षिण अमरीका के प्रजातन्त्र राज्यों में लोकतंत्री परम्पराओं के प्रति अच्छी भावना कभी नहीं रही है।

अधिनायकशाहियो की उपर्युक्त सूची में मैंने सोवियत सघ को शामिल नही किया है, क्योकि वहाँ की अधिनायकशाही औरो की ही तरह हृदय-हीन होते हुए भी भिन्न प्रकार की है। यह किसी व्यक्ति या छोटे गिरोह की अधिनायकशाही नही है बल्कि एक सुसगठित राजनैतिक दल की है जिसने खास तौर पर मजदूरो को अपना आधार बना रक्खा है। वे इसे "सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही"[1] कहते है। इस प्रकार ससार में तीन प्रकार की अधिनायकशाहियाँ हैं: साम्यवादी ढंग की, फासीवादी तथा सैन्य-बल की। सैन्य-बल की अधिनायकशाही कोई निराली चीज नही है, यह तो शुरू से ही चली आई है। साम्यवादी तथा फासीवादी ढगो की अधिनायकशाहियाँ इतिहास मे नई है, और हमारे समय की विशेष उपज है।

ध्यान खीचने वाली सबसे पहली चीज यह है कि ये तमाम अधिनायकशाहिया और इनके भेद, लोक-तत्र तथा पार्लमेण्टी ढग की हुकूमत के ठीक विपर्यास है। तुम्हे याद होगा कि मै यह बतला चुका हू कि उन्नीसवी सदी लोकतत्रवाद की सदी थी। यानी इस सदी मे प्रगतिशील विचारो पर फ्रासीसी राज्यक्रान्ति के मानव अधिकारो का प्रभाव था, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इनका लक्ष्य था। इसी में से योरप के अधिकतर देशो में पार्लमेण्टी ढंग की हुकूमत का विविध क्रम से विकास हुआ। आर्थिक क्षेत्र में इसके फलस्वरूप दखल न देने का मतवाद प्रचलित हुआ। बीसवी सदी मे, या यो कहो की युद्धोत्तर वर्षों मे, उन्नीसवी सदी की इस महान परम्परा का अन्त कर दिया गया, और अब औपचारिक लोकतत्र के विचार मे श्रद्धा रखने वालो की सख्या दिन पर दिन कम होती जा रही है। और लोकतत्र के इस पतन के साथ-साथ हर जगह तथाकथित उदार दलो का भी यही हाल हुआ है, और असरकारक बलो में इनकी गिनती नही रह गई है।

साम्यवाद तथा फासीवाद दोनो ही लोकतत्र के विरोधी तथा आलोचक है, हालाकि हरेक इसके लिए बिल्कुल भिन्न दलीले देता है। जो देश साम्यवादी या फासीवादी नही हैं वहा भी लोकतत्र का अब उतना आदर नही रहा जितना पहले था। पार्लमेण्ट का पुराना रूप अब नही रहा, और उसके प्रति लोगो की अधिक श्रद्धा भी नही रही। शासन विभाग के मुख्य अधिकारियो को इतने बडे अधिकार दे दिये जाते है कि अगर वे किसी कार्रवाई को जरूरी समझे तो उसे पार्लमेण्ट की पूर्व-स्वीकृति के बिना ही कर सकते है। इस का कुछ कारण तो यह है कि हम ऐसे नाजुक समय मे रह रहे है जब तत्काल कार्रवाई करना आवश्यक हो जाता है और प्रतिनिधि सभाओ के लिए हमेशा तुरन्त कार्रवाई करना असम्भव होता है। हाल ही में जर्मनी ने अपनी पार्लमेण्ट को बिल्कुल उखाड फेका है, और अब फासी शासन के निकृष्टतम रूप का परिचय दे रहा है। सयुक्तराज्य अमरीका ने तो अपने राष्ट्रपति को हमेशा से ही बहुत अधिकार दे रक्खा है, और इन दिनो यह और भी बढा दिया गया है। शायद आजकल इग्लैण्ड और फ्रास ही केवल दो ऐसे देश है जहाँ की पार्लमेण्टें जाहिरा तौर पर अब भी पहले ही की तरह अपना काम कर रही है। इनकी फासीवादी कार्रवाइया तो इनके अधीन देशो तथा उपनिवेशो में ही प्रगट होती हैं। जैसे, भारत मे ब्रिटिश फासीवाद काम कर रहा है और हिन्द चीन मे फ्रासीसियो का फासीवाद देश मे "शान्ति स्थापित कर रहा है"। लेकिन लदन और पैरिस की पार्लमेण्टें भी अब खोखली होती जा रही हैं। पिछले महोने मे ही एक प्रमुख उदार-दली अग्रेज ने कहा था:

> "हमारी प्रतिनिधि सस्था पार्लमेण्ट बडी तेजी के साथ एक ऐसे शासक गुट्ट की दी हुई हिदायतो की सपुष्टि करने वाली मशीन बनती जा रही है, जिस का चुनाव एक अधूरी और ठीक तरह काम न करने वाली चुनाव व्यवस्था के द्वारा होता है।"

इस प्रकार उन्नीसवी सदी के लोकतंत्र और पार्लमेण्टो का असर हर जगह कम होता जा रहा है। कुछ देशो में तो लोगो ने इन्हे खुल्लम-खुल्ला और भोडेपन से धता बताई है; अन्य देशो में इनका वास्तविक महत्व लुप्त हो गया है, और ये "गंभीर तथा थोथी तडक-भडक" की वस्तु बनती जा रही है। एक इतिहास-लेखक ने पार्लमेण्टो के इस पतन की तुलना उन्नीसवी सदी में बादशाहतों के पतन से की है। इस इतिहास-लेखक का कहना है कि जिस प्रकार इंग्लैण्ड मे तथा अन्यत्र बादशाह की वास्तविक सत्ता समाप्त हो गई है

---

[1] Dictatorship of the Proletariat.

और वह वैधानिक शासक बन गया है—सो भी एक प्रकार से प्रदर्शन के लिए; उसी प्रकार पार्लमेण्टे भी ऐसे अधिकार-हीन और शान-शौकतवाले प्रतीक बन जायंगी और बन रही हैं, जो बड़े तथा महत्वपूर्ण दिखाई तो देते हैं, पर जिनका अर्थ कुछ नही है।

ऐसा किस कारण हुआ है ? वह लोकतंत्र जो एक सदी से अधिक समय तक अनगिनती लोगो का आदर्श और स्फूर्तिदाता रहा, और जिसके लिए हज़ारों शहीद हो गये, अब लोगों की नज़रों से क्यो गिर गया है ? इस प्रकार के परिवर्तन बिना काफी कारणो के नही हुआ करते; वे जनता की केवल सनको तथा पसन्दो के कारण भी नही होते। जीवन की आधुनिक परिस्थितियों में कोई ऐसी चीज़ अवश्य है जो उन्नीसवी सदी के औपचारिक लोकतत्र से मेल नही खाती। यह विषय बड़ा रोचक तथा जटिल है। मै इसके ब्यौरे मे तो नही जा सकता, लेकिन दो-एक कारण तुम्हारे सामने रक्खूगा।

उपर्युक्त पैरे में मैंने लोकतंत्र के बारे में "औपचारिक" शब्द का उपयोग किया है। साम्यवादियो का कहना है कि वह असली लोकतत्र नही था; वह तो इस तथ्य को छिपाने वाला केवल लोकतत्री खोखा था कि एक वर्ग अन्य वर्गों पर शासन करता है। उनके कथनानुसार, लोकतत्र पूजीपति वर्ग की अधिनायकशाही का गिलाफ था। यह तो धन-तत्र, यानी मालदारों की हुकूमत था। जन समूह को दिया गया वोट का अधिकार, जिसकी खूब डुग्गी पीटी गई थी, उन्हें चार या पाच वर्षों में एक बार यह कहने की छूट देता है कि अमुक व्यक्ति उन पर राज करे और उनका शोषण करे, या कोई दूसरा व्यक्ति। हर हालत मे जन समूह का शासक-वर्ग के द्वारा शोषण होता है। असली लोकतत्री व्यवस्था तभी आ सकती है जब यह वर्ग-शासन तथा शोषण बन्द हो और केवल एक ही वर्ग रह जाय। मगर इस प्रकार का समाजवादी राज्य बनाने के लिए कुछ समय तक सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही आवश्यक है, ताकि आबादी के तमाम पूजीवादी तथा बुर्जुवा तत्वो को दबा कर रक्खा जा सके और उन्हे मजदूरो के राज्य के विरुद्ध साजिशे करने से रोका जा सके। रूस मे इस अधिनायकशाही का प्रयोग सोवियते करती हैं जिनमे तमाम मज़दूरो, किसानो तथा अन्य "क्रियाशील" तत्वो का प्रतिनिधित्व होता है। इस प्रकार यह ९० फी सदी या ९५ फी सदी लोगो की, बाकी के १० या ५ फी सदी लोगो पर, अधिनायकशाही हो जाती है। यह उनका काल्पनिक सिद्धान्त है। व्यवहार मे सोवियतों का नियंत्रण साम्यवादी दल के हाथो में रहता है, और इस दल की नकेल साम्यवादियो के शासक गुट्ट के हाथों मे रहती है। और जहां तक समाचारो पर प्रतिबन्ध तथा विचार व कार्य की स्वतत्रा का प्रश्न है, वहा तक यह अधिनायकशाही भी उतनी ही कठोर होती है जितनी कि कोई दूसरी। मगर चूकि यह मज़दूरो की सद्भावना पर अवलम्बित होती है, इसलिए इसे मज़दूरो को साथ लेकर चलना ज़रूरी होता है। और अन्त में जाकर किसी दूसरे वर्ग के हित के लिए मजदूरो का या किसी वर्ग का शोषण नही होता। वास्तव में कोई शोषक वर्ग ही नही रह जाता। अगर किसी तरह का शोषण होता है तो राज्य के द्वारा, सबकी भलाई के लिए। याद रखने लायक बात है कि रूस में लोकतत्री ढग की सरकार कभी रही ही नही। वह तो सन् १९१७ ई० में निरकुशता से छलाग मार कर साम्यवाद मे आ कूदा।

फासीवादी दृष्टिकोण इससे बिलकुल भिन्न है। जैसाकि मै अपने पिछले पत्र मे तुम्हे बतला चुका हूँ, यह पता लगाना आसान नहीं है कि फासीवादी सिद्धान्त क्या है, क्योंकि फासीवादियो के कोई निर्धारित सिद्धान्त होते ही नही। लेकिन वे लोकतत्र के विरोधी है, इस में कोई सदेह नही, और उनका विरोध साम्यवादियो की इस दलील पर नही है कि लोकतत्र असली चीज़ नही है बल्कि धोखा है। फासीवादी तो लोकतत्र की कल्पना के आधारभूत सिद्धान्त पर ही आपत्ति करते है, और वे अपने पूरे ज़ोर के साथ लोकतत्र को गालिया देते है। मुसोलिनी लोकतत्र को "सड़ा हुआ मुर्दा" कहता है! फासीवादी लोग व्यक्तिगत स्वतत्रता से भी इतने ही चिढते है; वे कहते है कि राज्य ही सब कुछ है, व्यक्ति की कोई गिनती नही (साम्यवादी भी व्यक्तिगत स्वतत्रताओं को कोई महत्व नही देते)। उन्नीसवी सदी के लोकतत्री उदारवाद का ऋषि मेज़िनी अगर जीवित होता तो अपने देशवासी मुसोलिनी से क्या कहता ?

केवल साम्यवादी तथा फासीवादी ही नही, बल्कि बहुत-से दूसरे लोग भी, जिन्होने वर्तमान युग की मुसीबतो पर ग़ौर किया है, इस पुराने विचार से असंतुष्ट हो गये है कि वोट का अधिकार दे देने का ही नाम लोकतत्र है। लोकतंत्र का अर्थ है साम्य, और लोक तंत्र केवल साम्य समाज मे ही फूल-फल सकता है। यह तो काफी स्पष्ट है कि हरेक को वोट का अधिकार दे देने से साम्य समाज नहीं बन जाता। बालिग़ मता-

धिकार इत्यादि के बावजूद भी आज जबरदस्त असाम्य है। इसलिए लोकतंत्र को मौक़ा देने के लिए पहले साम्य समाज बनाना आवश्यक है। इस तर्क के फलस्वरूप अन्य विभिन्न आदर्श तथा उपाय भी पैदा हो जाते हैं। मगर ये सब लोग इस बात को मानते हैं कि आज कल की पार्लमेण्टें बहुत ही असतोषजनक हैं।

अब हम फासीवाद की ज़रा और गहराई में जावेंगे और यह पता लगाने की कोशिश करेंगे कि वह है क्या। यह हिंसा पर गर्व करता है और शान्तिवाद से घृणा करता है। इटालवी विश्वकोष मे मुसोलिनी ने लिखा है:

> "फासीवाद शाश्वत शान्ति की आवश्यकता या उपयोगिता में विश्वास नही करता। इसलिए वह शान्तिवाद को ठुकराता है, क्योंकि इस में सघर्ष से पलायन तथा बलिदान के अवसर पर अपरिहार्य कायरता के अवगुण छिपे हुए है। युद्ध, और केवल युद्ध ही ऐसी चीज़ है जो मानव शक्तियो को अधिकतम खिंचाव पर उठा देता है, और जिन कौमो मे युद्ध स्वीकार करने का साहस होता है उन पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगा देता है। बाकी सब परीक्षाए नकली हैं, वे व्यक्ति के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित नही करती।"

फासीवाद कट्टर राष्ट्रीयतावादी है; साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय है। फासीवाद तो सचमुच अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है। वह तो राज्य को देवता बना देता है जिसकी वेदी पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा अधिकारो की बलि देना आवश्यकता है। अन्य सारे देश गैर हैं और शत्रुओ के समान हैं। यहूदियो को विदेशी तत्व मान कर सताया जाता है। कुछेक पूजीपति-विरोधी नारो और क्रान्तिकारी कार्य-पद्धति के बावजूद फासीवाद सम्पतिवान तथा प्रतिगामी तत्वो से मिला हुआ है।

फासीवाद के ये कुछ पुराने पहलू हैं। अगर इसके पीछे कोई दार्शनिक विचारधारा हों भी तो उसे समझना कठिन है। जैसाकि हम देख चुके हैं, इसका जन्म तो सत्ता की सीधी-सादी आकाक्षा के साथ हुआ। परन्तु सफलता प्राप्त होने पर इस के चारो ओर एक दार्शनिक विचारधारा निर्माण करने का प्रयत्न किया गया। यह दार्शनिक विचारधारा कितनी पेचीदा है इस की कुछ कल्पना तुम्हे देने को तथा तुम्हे चक्कर मे डालने को मै एक प्रमुख फासीवादी दार्शनिक की रचनाओ का एक उद्धरण यहा देता हू। इसका नाम जौवानी जैन्ताइल है और यह फासीवाद का प्रामाणिक दार्शनिक माना जाता है। यह सरकार का फासीवादी मत्री भी रहा था। जैन्ताइल लिखता है कि लोगो को, लोकतत्री मतानुसार, अपने व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत निजत्व के द्वारा आत्मानुभव की प्राप्ति का प्रयत्न नही करना चाहिए, बल्कि फासीवाद के मतानुसार जगत की आत्म-चेतना रूप पारमार्थिक अहम् की क्रियाओ के द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करना चाहिए (इसका कुछ भी अर्थ हो, पर मेरी समझ से बाहर है)। इस प्रकार इस मतवाद मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व के लिए कोई गुजायश नही है, क्योकि वास्तविक सत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता वह चीज़ है जिसे वह अपने-आप को किसी दूसरी वस्तु मे, यानी राज्य मे, विलीन करके प्राप्त करता है।

> "कुटुम्ब, राज्य, आत्मा, में विलीन तथा अवतरित हो जाने से मेरा व्यक्तित्व दमित नही होता है वरन ऊँचा उठता है, बल प्राप्त करता है और विस्तरित होता है।"

जैन्ताइल आगे लिखता है:

> "जहाँ तक कोई बल इच्छा को प्रभावित करने की क्षमता रखता है वहाँ तक वह नैतिक बल है, फिर वह उपदेश या लाठी किसी भी तर्क का प्रयोग करे।"

बस, इससे हम समझ सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार भारत में जब-कभी लाठिया चलाती है, तो वह कितना नैतिक बल खर्च कर देती है!

ये सब किसी चीज़ को उसके होने के बाद न्यायोचित सिद्ध करने के या उसकी व्याख्या करने के प्रयत्न है। यह भी कहा जाता है कि फासीवाद का उद्देश्य "सामूहिक राज्य" की स्थापना है जिसमे, मेरे खयाल से, हर व्यक्ति सबके समान हित के लिए सबके साथ मिल-जुल कर ज़ोर लगाता है। परन्तु ऐसा राज्य न तो अभी तक इटली मे प्रगट हुआ है, न किसी दूसरे देश में। इटली में पूजीवाद बहुत कुछ इसी तरह अपना काम कर रहा है जिस तरह अन्य पूजीवादी देशों में, हालाकि यहा कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

ज्यो-ज्यों फासीवाद अन्य देशो में फैलता जा रहा है, त्यो-त्यो यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि

फ़ासीवाद ऐसी भौतिक घटना नहीं है जिसका इटली से विशिष्ट सम्बन्ध हो, बल्कि वह तो ऐसी चीज़ है जो किसी भी देश में खास तरह की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर प्रगट हो जाती है। जब कभी श्रमिक वर्ग बलशाली हो जाता है और पूंजीवादी राज्य के लिए सचमुच ख़तरा बन जाता है, तब पूजीवादी राज्य क़ुदरती तौर पर अपने-आप को बचाने की कोशिश करता है। आम तौर पर श्रमिक वर्ग की ओर से यह ख़तरा भयंकर आर्थिक संकट के अवसरों पर ही पैदा होता है। जब सम्पत्ति-स्वामी और शासक वर्ग पुलिस तथा सेना का उपयोग करके साधारण लोकतंत्री उपाय से मजदूरों को नही दबा पाता, तब वह फासीवादी उपाय का आश्रय लेता है। वह उपाय यह है कि सम्पत्ति-स्वामी पूजीपति वर्ग की रक्षा के निमित्त एक लोकप्रिय जन-सामूहिक आन्दोलन खड़ा कर दिया जाता है जिसमें जन-साधारण के दिल को छूने वाले कुछ नारे रख दिये जाते हैं। इस आन्दोलन का आधार-स्तम्भ निम्न मध्यमवर्ग होता है क्योंकि इसके अधिकतर लोग बेकारी की मुसीबत में फँसे हुए होते हैं। और नारों से तथा अपनी स्थिति सुधारने की आशाओ से खिच कर, बहुत-से राजनैतिक दृष्टि से पिछडे हुए तथा असगठित मजदूर और किसान भी इस में आ मिलते हैं। इस प्रकार के आन्दोलन को बुर्जुवाओ द्वारा धन की सहायता दी जाती है क्योकि वे इससे लाभ उठाने की आशा रखते है। और यद्यपि यह हिंसा को अपना धर्म तथा रोज का धन्धा बना लेता है, पर देश की पूजीवादी सरकार बहुत हद तक जान बूझ कर इसकी उपेक्षा करती है, क्योकि यह दोनों के समान शत्रु समाजवादी श्रमिक-वर्ग से लडता है। यह फासीवादी आन्दोलन एक दल के रूप में, तथा देश का शासक बन जाने पर तो और भी ज़ोर से, मजदूर सगठनो को नष्ट कर देता है, और तमाम विरोधियो पर अपना आतक जमा देता है।

फासीवाद का उदय तब होता है जब प्रगतिशील समाजवाद तथा मोर्चा-बन्द पूजीवाद के बीच वर्ग-सघर्ष तीव्र तथा सकटापन्न हो जाते हैं। यह सामाजिक युद्ध किसी ग़लतफहमी के कारण नही होता, बल्कि हमारे वर्तमानकालीन समाज के आन्तरिक सघर्षों तथा स्वार्थों की विविधताओ के महत्व को भली प्रकार समझने के कारण होता है। इन सघर्षों को उनकी उपेक्षा करके नही सुलझाया जा सकता। और, वर्तमान व्यवस्था के कारण दुख उठाने वाले लोग स्वार्थों की इस विविधता को ज्यो-ज्यो अधिक समझते जाते हैं, त्यो-त्यो उनका रोष बढ़ता जाता है क्योकि उन्हे लगता है कि उनका उचित भाग उनसे छीना जा रहा है। सम्पत्ति-स्वामी वर्ग अपने अधिकार की वस्तुओ को छोडना नही चाहता, इसलिए सघर्ष और भी तीव्र हो जाता है। जब तक पूजीवाद लोकतंत्री संस्थाओ की कल का उपयोग अपने अधिकारो की रक्षा के लिए तथा श्रमजीवी वर्ग को दबाने के लिए कर सकता है, तब तक वह लोकतत्र को भी फूलने-फलने देता है। पर जब यह सम्भव नही रहता, तो पूजीवाद लोकतन्त्र को धता बताता है और हिंसा तथा आतक के खुले फासीवादी उपायों का सहारा लेता है।

मेरा ख़याल है कि रूस के सिवा योरप के अन्य सब देशो में फ़ासीवाद विविध परिमाणो मे मौजूद है। जर्मनी मे उसने सबसे ताज़ा सफलता प्राप्त की है। इग्लैण्ड तक मे भी शासक वर्गों में फासीवादी विचार घर कर रहे है, और भारत में तो हम इनका प्रयोग अक्सर देखते ही रहते है। आज ससार के अखाडे मे पूजीवाद के अन्तिम आश्रय फासीवाद के सामने साम्यवाद खड़ा हुआ है।

फ़ासीवाद के दूसरे पहलू कुछ भी हो, यह ससार को सताने वाली आर्थिक मुसीबतो का कोई हल तक प्रस्तुत नही करता। अपने तीव्र तथा उग्र राष्ट्रवाद के कारण यह पारस्परिक निर्भरता की जागतिक प्रवृत्ति के विरुद्ध जाता है, पूजीवाद के पतन से उत्पन्न हुई समस्याओ को और भी विकट बनाता है, तथा राष्ट्रीय कशमकश को बढ़ाता है जिसका परिणाम अक्सर युद्ध होता है।

: १७७ :

चीन में क्रान्ति तथा प्रति-क्रान्ति

२६ जून, १९३३

अब हम असन्तोषो से भरे योरप से विदा लेते हैं और इससे भी अधिक गड़बड़ियो के दूसरे प्रदेश—दूर पूर्व, चीन और जापान, चलते हैं। चीन के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने इस कम-उम्र प्रजातत्र की अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया था, जिसकी क़लम ससार की सब से प्राचीन और जानदार सस्कृति पर लगी थी। यह देश छिन्न-भिन्न होता दिखाई दे रहा था और यहां बे-उसूले युद्ध-प्रिय सरदार, तूशन और महा-तूशन ज़ोर पकड़ रहे थे। इन्हें उन साम्राज्यशाही शक्तियो से प्रोत्साहन और सहायना मिलती रहती थी जिनका स्वार्थ इसी में था कि चीन निर्बल बना रहे और उसमे अन्दरूनी फूट बनी रहे। इन तूशनो के कोई सिद्धान्त नही थे; हरेक का उद्देश्य अपनी व्यक्तिगत महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति करना था और निरन्तर चलने वाले छोटे-छोटे गृह-युद्धो में ये लोग अक्सर कभी एक पक्ष की ओर हो जाते थे कभी दूसरे की ओर। साथ ही ये अपना तथा अपनी सेनाओ का खर्च बेचारे दुखी किसान-वर्ग से वसूल करते थे। चीन के महान नेता डा० सनयात सेन द्वारा दक्षिण में कैण्टन में सगठित की हुई राष्ट्रीय सरकार का हाल भी मैं लिख चुका हू। इसने जीवन भर चीन की आज़ादी के लिए प्रयत्न किया था।

सारे देश पर विदेश साम्राज्यशाही शक्तियो के आर्थिक स्वार्थ छाये हुए थे, जो शाङ्घाई, हाग-काग, आदि बडे-बडे बन्दरगाहो में जमी बैठी थी, और चीन के सारे विदेशी व्यापार पर अधिकार किये हुए थी। डा० सन ने बिल्कुल सच कहा था कि आर्थिक दृष्टि से चीन इन साम्राज्यशाही शक्तियों का उपनिवेश है। एक ही स्वामी होना काफी बुरा होता है, अनेक स्वामियो का होना तो कभी-कभी और भी बुरा होता है। डा० सन ने अपने देश के औद्योगिक विकास के लिए तथा अपने देश की भीतरी व्यवस्था ठीक करने के लिए विदेशियो की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसे अमरीका तथा इग्लैण्ड से ख़ास तौर पर सहायता की आशा थी, पर उसकी सहायता के लिए न तो ये दोनो सामने आये, न अन्य कोई साम्राज्य-शाही शक्ति। इन सब का स्वार्थ तो चीन के शोषण में था, उसकी भलाई या बल-वृद्धि मे नही। तब सन् १९२४ ई० में डा० सन् ने सोवियत रूस की ओर निगाह डाली।

चीन के विद्यार्थियो तथा दिमागी वर्गों मे साम्यवाद गुप्त रूप से और तेज़ी के साथ ज़ोर पकड़ रहा था। सन् १९२० ई० में यहा साम्यवादी दल स्थापित किया गया था, और वह गुप्त समिति के रूप मे काम करता था क्योंकि विभिन्न सरकारो ने उसे खुल्लम-खुल्ला काम करने की अनुमति नही दी थी। डा० सन तो साम्यवाद से कोसो दूर था, वह तो मुलायम समाजवादी था, जैसाकि उसकी पुस्तक "जनता के तीन सिद्धान्त"[1] से प्रगट होता है। परन्तु चीन तथा अन्य पूर्वी देशो के प्रति सोवियत रूस के उदार तथा खरे व्यवहार का उस पर अच्छा प्रभाव पड़ा और उसने रूस के साथ मैत्री के सम्बन्ध स्थापित कर लिये। उसने कुछ रूसी सलाहकारो को वेतन देकर अपने यहा रक्खा। इनमे एक बहुत योग्य बोलशेविक बोरो-दिन के नाम से लोग सबसे ज्यादा परिचित है। बोरोदिन कैण्टन की कुओ-मिन-ताग का बल बढाने वाला स्तम्भ बन गया, और उसने परिश्रम करके राष्ट्रीय दल के ऐसे बलशाली सगठन का निर्माण किया जिसके पीछे जनसमूह का सहारा था। उसने बिल्कुल रूसी पद्धति पर कार्य करने की कोशिश नही की। उसने दल का राष्ट्रीय आधार कायम रक्खा, पर अब साम्यवादियो को कुओ-मिन-ताग के सदस्यो में भरती किया जाने लगा। इस प्रकार राष्ट्रीय कुओ-मिन-तांग तथा साम्यवादी दल के बीच एक तरह का अनौपचारिक गठ-बन्धन हो गया। कुओ-मिन-ताग के बहुत से रूढ़िवादी तथा धनिक सदस्यों को, खास कर ज़मीदारों को, साम्यवादियों के साथ यह मेल-जोल अच्छा नही लगा। उधर साम्यवादियों को भी यह चीज़ पसन्द नही थी क्योंकि इसके फलस्वरूप उन्हें अपना कार्यक्रम मन्द बनाना पड़ा और ऐसे बहुत से कामो को छोड़ना पड़ा जिन्हें वरना वे करते। यह गठ-बन्धन बहुत टिकाऊ नहीं था और, जैसा कि हम आगे चल कर

---

[1] Three Principles of the People.

देखेंगे, यह नाजुक घड़ी आने पर टूट गया और इससे चीन पर आफत का पहाड़ टूट पड़ा। दो या अधिक वर्गों को, जिनके स्वार्थ आपस में टकराते हों, एक समूह में बाधे रखना हमेशा कठिन हुआ करता है। परन्तु जितने दिन यह गठ-बन्धन रहा उतने दिन खूब फूला-फला और कुओ-मिन-ताग तथा कैण्टन सरकार का बल बढता गया। काश्तकारो के सगठनो को तथा श्रमिको के मजदूर सघो को भी बढने में सहायता दी गई और ये तेजी के साथ फैलने लगे। जनसमूह का यह समर्थन ही कैण्टन की कुओ-मिन-ताग को असली बल प्रदान करने वाला था, और इसी ने ही जमीदारों के नेताओं को भयभीत कर दिया और आगे चल कर उन्हे दल को तोड देने के लिए प्रेरित किया।

अनेक बुनियादी भेदो के होते हुए भी चीन तथा भारत की परिस्थितियो में बहुत कुछ समानता है। मूल रूप में चीन एक कृषि-प्रधान देश है जिसमे किसानो की बहुत बडी सख्या है। पूजीवादी उद्योग मुख्यतया छह-सात शहरों तक मे ही सीमित है और विदेशियो के अधिकार मे है। करोडो किसान तथा आसामी काश्तकार कर्जे के भीषण बोझ के नीचे पिसे जा रहे है। लगानो की दर बहुत ऊची है, और भारत की तरह यहा भी किसानो को मजबूरी से महीनो ठाली बैठे रहना पडता है, क्योकि उन दिनो खेतो में कोई काम नही होता। इसलिए इस फालतू समय का उपयोग करने के लिए और आमदनी बढ़ाने के लिए उन्हे घरेलू उद्योगों की आवश्यकता है। वास्तव मे ऐसे अनेक उद्योग चालू भी हो गये है। यहा बडी-बड़ी जागीरे बहुत कम हैं। अगर ऐसी कोई जागीर बन भी जाती है तो बहुत जल्दी उत्तराधिकारियो मे बट जाती है। किसानो की लगभग आधी सख्या के लोग अपने-अपने खेतो के मालिक है, बाकी आधे लोग जमींदारो के खेतो पर काम करते है। इसलिए चीन असख्य छोटे-छोटे खेतो का देश हो गया है। सैकडो वर्षो से चीनी किसानो की यह ख्याति है कि वे धरती का सारा का सारा सार निकाल लेते है। उनके पास धरती के इतने छोटे-छोटे टुकडे होते है कि उन्हे मजबूरन ऐसा करना पड़ता है। और इसीलिए वे अद्भुत सूझ-बूझ काम मे लाते हैं, और जबरदस्त मेहनत से काम करते है। उनके पास मेहनत बचाने वाले वे उपकरण नही थे जो आधुनिक खेती-बाडी को प्राप्त है, इसलिए इतनी फलप्राप्ति के लिए उन्हे इतने कठिन परिश्रम की जरूरत नही होती जितना कि उन्हे करना पडता था।

परन्तु इस सारी सूझ-बूझ और कड़ी मेहनत के बावजूद उनमे से करीब आधे लोग अपना खर्च नही चला सकते थे, और वे अपनी छोटी तथा अवरुद्ध जिन्दगी आधे पेट खाकर गुजार देते थे। भारत के असख्य किसानो का भी यही हाल है। चीनी किसान मुफ़लिसी की हालत मे रहते थे, और अकाल तथा बाढ के रूप मे आने वाली आफ़ते लाखो का सफ़ाया कर देती थी। बोरोदिन के सुझाव पर डा० सन की सरकार ने किसानो तथा मजदूरो को राहत पहुचाने वाली आज्ञाए निकाली। धरती का लगान एक-चौथाई कम कर दिया गया, मजदूरो के लिए दिन भर मे काम करने के आठ घटे और जीवन-निर्वाह योग्य मजूरी निश्चित कर दिये गये और किसानो के सघ स्थापित किये गये। यह स्वाभाविक ही था कि जनसमूह ने इन सुधारो का स्वागत किया और उनके हृदय उत्साह से भर गये। वे धड़ाधड नये सघो मे शामिल होने लगे और कैण्टन सरकार का समर्थन करने लगे।

इस प्रकार कैण्टन सरकार ने अपनी स्थिति सुदृढ बना ली और वह उत्तर के तूशनो से लोहा लेने की तैयारी करने लगी। एक सैनिक शिक्षणालय खोला गया और सेना का निर्माण किया गया। केवल कैण्टन मे ही नही बल्कि सारे चीन में, और कुछ हद तक सारे पूर्व मे, एक उल्लेखनीय नई बात यह पैदा हो गई कि धर्म-प्रधान सत्ता का स्थान धीरे-धीरे लौकिक सत्ता ने ले लिया। इस शब्द के सकुचित अर्थ मे तो चीन कभी धर्म-प्रधान देश रहा ही नही। पर अब वह भी और भी ज्यादा लौकिक बन गया। पहले शिक्षा धर्म-प्रधान हुआ करती थी, पर अब वह भी लौकिक बना दी गई। अनेक पुराने मन्दिरो का जिस तरह उपयोग किया गया उससे इस प्रक्रिया के सबसे अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण प्राप्त होते है। कैण्टन के एक प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर का आजकल पुलिस तालीम भवन की तरह उपयोग किया जा रहा है। एक और स्थान पर मन्दिरों को तोड़ कर सब्जी-मडियां बना दी गई है!

डा० सनयातसेन की मृत्यु मार्च, सन् १९२० ई०, में हो गई, परन्तु बोरोदिन की सलाह पर चलती हुई कैण्टन सरकार अपना बल बढ़ाती चली गई। कुछ ही दिन बाद कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं जिन्होने चीनी जनता के हृदयों को विदेशी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध, और खास कर अंग्रेजों के विरुद्ध, गुस्से से भर दिया।

शाङ्घाई की कपड़ा मिलों मे हड़तालें हुईं और मई, सन् १९२५ ई०, में एक प्रदर्शन में एक मजदूर मारा गया। उसकी स्मृति में एक महान सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया, और विद्यार्थियो तथा मजदूरो ने इस अवसर को साम्राज्यशाही-विरोधी प्रदर्शनो के लिए उपयोग कर लिया। एक अंग्रेज पुलिस अफसर ने अपने अधीन सिख सिपाहियो को भीड़ पर गोली चलाने की आज्ञा दी। आज्ञा यह थी कि "मारने के लिए गोली चलाओ", और कई विद्यार्थी मारे गये। इस पर सारे चीन में अंग्रेजो के विरुद्ध क्रोधाग्नि भड़क उठी, और इसके बाद की एक घटना ने तो मामला और भी बिगाड दिया। यह घटना जून, सन् १९२५ ई०, में कैण्टन के विदेशी इलाके में (जो शामीन इलाका कहलाता था) हुई, जहा चीनियो की एक भीड़ पर, जिसमें विद्यार्थियो की प्रधानता थी, मशीनगनों से गोलिया बरसाई गई और बावन व्यक्ति तो मारे गये तथा बहुत-से घायल हुए। यह घटना "शमीन का हत्याकाड" कहलाती है, और इसके लिए मुख्यतया अंग्रेजो को दोषी ठहराया गया था। कैण्टन में ब्रिटिश माल के राजनैतिक बहिष्कार की घोषणा की गई, और हागकाग का व्यापार कई महीनो तक बन्द पड़ा रहा, जिससे अंग्रेजी कम्पनियो की तथा ब्रिटिश सरकार की अपार हानि हुई। शायद तुम जानती हो कि हागकांग दक्षिण चीन में अंग्रेजों का इलाका है। यह कैण्टन के बहुत नजदीक है, और यहा से बड़ा भारी व्यापार होता है।

डा० सन की मृत्यु के बाद कैण्टन सरकार के अनुदार दक्षिण-पक्ष तथा प्रगतिशील वाम-पक्ष के बीच निरन्तर खीचतान चलने लगी। कभी एक पक्ष के हाथ में सत्ता आ जाती तो कभी दूसरे पक्ष के हाथ मे। सन् १९२६ ई० के बीच के लगभग, दक्षिण-पक्षी चागकाईशेक प्रधान सेनापति बन गया, और इसने साम्यवादियो को निकालना शुरू कर दिया। लेकिन फिर भी दोनो दल कुछ हद तक साथ-साथ काम करते रहे, यद्यपि दोनो एक-दूसरे पर भरोसा नही करते थे। इसके बाद विभिन्न तूशनो से लड़ने के लिए तथा उन्हे निकाल बाहर करने के लिए और सारे देश में एक ही राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने के लिए कैण्टन की सेना ने उत्तर की ओर कूच किया। उत्तर का यह कूच एक असाधारण चीज थी और सारी दुनिया का ध्यान इसकी ओर शीघ्र ही आकर्षित हो गया। असली लड़ाई जरा भी नही हुई और दक्षिण की सेना विजय पर विजय प्राप्त करती हुई तेजी के साथ आगे बढती गई। उत्तर चीन में फूट तो थी, पर दक्षिण वालो की असली ताकत किसानो तथा मजदूरो में उनकी लोकप्रियता के कारण थी। प्रचारको और आन्दोलनकारियो की छोटी-सी टुकडी सेना के आगे-आगे चलती थी जो किसानो तथा मजदूरो के सघ स्थापित करली जाती थीं और उन्हे समझाती थी कि कैण्टन सरकार के अधीन उन्हे क्या-क्या फायदे मिलने वाले है। इसलिए शहर-शहर और गाव-गाव मे इन आगे बढ़ने वाली सेनाओ का स्वागत होता था और उन्हे हर तरह की सहायता दी जाती थी। कैण्टन की सेनाओ के विरुद्ध जो सिपाही भेजे जाते थे वे लड़ते ही नही थे, और अक्सर सारे सामान के साथ उन्ही में जा मिलते थे। सन् १९२६ ई० के वर्ष के समाप्त होते-होते राष्ट्र-वादियो ने आधे चीन को पार कर लिया था और यागत्सी नदी पर हैन्काउ के महान शहर पर कब्जा कर लिया था। वे अपनी राजधानी को कैण्टन से उठाकर हैन्काउ मे ले आये और इसका नाम बदल कर वूहान रख दिया। उत्तर के लड़ाकू सरदारो को परास्त कर दिया गया और खदेड़ दिया गया। साम्राज्यशाही शक्तियों को जब अकस्मात ही यह भान हुआ कि एक नया और उग्र राष्ट्रीय चीन उनके सामने खड़ा हुआ समानता का दावा कर रहा है और उनकी धमकियो में नही आ रहा है, तो वे बुरी तरह खीझ उठी।

सन् १९२७ ई० के प्रारम्भ में जब राष्ट्रवादियो ने हैन्काउ में अंग्रेजी रियायती इलाक़े पर कब्ज़ा करने की कोशिश की तो चीनियो तथा अंग्रेजों के बीच झगडा पैदा हो गया। साधारण अवस्था मे चीनियो के ऐसे आक्रमणकारी रवैय्ये के फलस्वरूप युद्ध छिड़ गया होता, और ब्रिटिश सरकार ने उन्हे कुचल डाला होता, और उन पर आतंक जमा कर उनसे क्षतिपूर्त्तियां और अतिरिक्त रियायतें वसूल कर ली होती। हम देख ही चुके है कि सन् १८४० ई० के 'अफ़ीम युद्ध' के समय से लगभग सौ वर्षों तक सदा यही दस्तूर रहा था। लेकिन अब जमाना बदल गया था और नया चीन उनके मुक़ाबले में खड़ा था। बस, ब्रिटिश नीति में भी तुरन्त ही, और चीन के इतिहास में पहली बार, परिवर्तन पैदा हो गया, और चीन के प्रति उसका रुख मुलायम पड़ गया। हैन्काउ के रियायती इलाक़े का मामला एक मामूली-सी चीज था और आसानी से तय हो सकता था। मगर हैन्काउ के नज़दीक, और राष्ट्रवादियो की प्रगति के मार्ग में, शाङ्घाई का महान बन्दरगाह पड़ता था जो चीन में सब से बड़ा और सबसे अधिक सम्पन्न विदेशी रियायती इलाक़ा था। शाङ-

घाई के भविष्य में विदेशियों के जबरदस्त निहित स्वार्थों का हित फंसा हुआ था। खुद शाङ्घाई शहर, या यों कहो कि रियायती इलाक़ा, विदेशियों के क़ब्ज़े में था; और चीनी सरकार के अधिकार से क़रीब-क़रीब बाहर था। इसलिए जब राष्ट्रवादी सेनाएं शाङ्घाई के नज़दीक जा पहुची तो वहां के इन विदेशियों तथा उनकी सरकारो में बहुत चिन्ता पैदा हो गई, और उनके जगी जहाज़ तथा सैनिक तुरन्त इस बन्दरगाह पर पहुच गये। ब्रिटिश सरकार ने तो जनवरी, सन् १९२७ ई०, के प्रारम्भ में हमला करने वाला एक बड़ा सैन्य-बल खास तौर पर शाङ्घाई भेजा जिसमें कुछ भारतीय सैनिक भी थे। राष्ट्रवादी सरकार ने हैन्काउ या वूहान में अड्डा जमा लिया था। उसके सामने एक कठिन समस्या उपस्थित हो गई—आगे बढा जाय या नही, और शाङ्घाई पर अधिकार किया जाय या नही। अभी तक की आसान सफलताओ से उनके हौंसले बढ़ गये थे और उनके हृदय उत्साह से भर गये थे, और शाङ्घाई बडा ललचाने वाला माल था। दूसरी ओर हालत यह थी कि अभी तक वे पाच सौ मील से ऊपर प्रदेश पर केवल कूच-दर-कूच करते आ रहे थे और वहा अपनी स्थिति सुदृढ नही बना पाये थे। यह सम्भव था कि शाङ्घाई पर आक्रमण करने से वे विदेशी शक्तियों से भिडकर कठिनाइयो में फस जाय और अब तक उन्होने जो प्राप्त किया था वह खतरे में पड़ जाय। बोरोदिन ने सावधानी बरतने की और स्थिति को सुदृढ बनाने की सलाह दी। उसकी राय थी कि राष्ट्रवादियो को शाङ्घाई पर हाथ नही डालना चाहिए और चीन का जो दक्षिणी आधा हिस्सा उनके अधिकार मे आ चुका था उसमें अपनी स्थिति मजबूत कर लेनी चाहिए और उत्तर मे प्रचार कार्य के द्वारा जमीन तैयार करनी चाहिए। उसे आशा थी कि बहुत जल्दी, साल-डेढ-साल मे ही, समूचा चीन राष्ट्रवादियो की प्रगति का स्वागत करने को तत्पर हो जायगा। शाङ्घाई पर अधिकार करने का, पेकिंग पर चढ़ाई करने का और साम्राज्यशाही शक्तियो का मुकाबला करने का उपयुक्त समय तभी आवेगा। क्रान्तिकारी बोरोदिन ने यह सावधानीभरी सलाह इस कारण दी थी कि उसे परिस्थिति पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न निमित्त-कारणों को आकने का अनुभव था। मगर कुओ-मिन-ताग के दक्षिण-पक्षी नेताओ ने, और विशेषकर उसके प्रधान सेनापति चागकाईशेक ने, शाङ्घाई पर चढाई करने की हठ की। शाङ्घाई को लेने की इस इच्छा का असली कारण बाद मे प्रगट हुआ जब कुओ-मिन-ताग के दो टुकडे हो गए। काश्तकारो और मजदूरो के सघो की बढती हुई ताकत इन दक्षिण-पक्षी नेताओ को अच्छी नही लगती थी। बहुत-से सेनापति खुद जमीदार थे। इसलिए उन्होने दल के दो टुकडे हो जाने तथा राष्ट्रवादी हित के निर्बल पड जाने की परवाह न करके इन सघो को कुचल डालने का निश्चय किया। शाङ्घाई बडे-बडे चीनी बुर्जुवाओ का महत्वपूर्ण केन्द्र था; और इन दक्षिण-पक्षी सेनापतियो को विश्वास था कि दल के प्रगतिशील तत्वो से और खासकर साम्यवादियों स लडने के लिए उन्हे इन बुर्जवाओ से धन की तथा अन्य प्रकार की सहायता मिल जायगी। वे जानते थे कि इस प्रकार की लड़ाई मे वे शाङ्घाई के विदेशी बौहरो और उद्योगपतियो की सहायता पर भी भरोसा कर सकते थे।

बस, उन्होंने शाङ्घाई पर चढ़ाई कर दी और २२ मार्च, सन् १९२७ ई०, को शहर का चीनी भाग उनके हाथमे आ गया; विदेशी रियायती इलाकों पर उन्होने हमला नही किया। शाङ्घाई का यह पतन भी अधिक लड़ाई लड़े बिना ही हो गया। मुक़ाबला करने वाले सैनिक राष्ट्रवादियो की ओर जा मिले, और राष्ट्रवादियो का समर्थन करने के लिए शहर के मजदूरो ने जो आम हड़ताल की उससे शाङ्घाई की तत्कालीन सरकार का पतन पूरा हो गया। दो दिन बाद नानकिंग के महान नगर पर भी राष्ट्रवादियो ने अधिकार कर लिया। और तब कुओ-मिन-ताग के वाम-पक्ष तथा दक्षिण-पक्ष के बीच वह फूट पैदा हुई जिससे राष्ट्रवादियों की शानदार सफलता धूल में मिल गई और चीन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। क्रान्ति का अन्त हो गया, और अब प्रति-क्रान्ति शुरू हो गई।

चांगकाईशेक ने हैन्काउ सरकार के अनेक सदस्यो की मर्ज़ी के खिलाफ शाङ्घाई पर चढाई की थी। अब दोनों दल एक-दूसरे के विरुद्ध साजिशे करने लगे। हैन्काउ वालो ने सेना में चांग के प्रभाव की जड़ खोदने की और इस प्रकार उससे पिंड छुड़ाने की कोशिशे की, उधर चाग ने नानकिंग में मुक़ाबले की दूसरी सरकार स्थापित कर ली। ये सब घटनाए शाङ्घाई पर क़ब्ज़ा होने के कुछ ही दिनो के भीतर हो गई। हैन्काउ की अपनी ही सरकार से बग़ावत करके चांग ने अब साम्यवादियों, वाम-पक्षियो और मजदूर संघों के कार्यकर्ताओं के विरुद्ध जंग छेड़ दिया। जिन कार्यकर्ताओं की बदौलत उसने शाङ्घाई को आसानी से

जीत लिया था और जिन्होंने वहां उसका बड़े हर्ष से स्वागत किया था, उन्ही को अब उसने बीन-बीन कर कुचल डाला। बहुत लोगों को गोलियों से भून दिया गया, बहुतों के सिर उड़ा दिये गये, हजारों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। शाङ्घाई में राष्ट्रवादी जिस आजादी को लाये थे उसी को उन्होंने बहुत जल्दी खूनी आतंक में बदल दिया।

सन् १९२७ ई० के अप्रैल महीने के इन्ही दिनो में पेकिंग के सोवियत राजदूतावास पर तथा शाङ्घाई के सोवियत व्यापार-दूतावास पर एक साथ छापे मारे गये। यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था कि चागकाई-शेक उत्तर के लडाकू सरदार चाग त्सूलिन से मिल कर कार्रवाई कर रहा था, हालांकि वैसे चाग त्सूलिन के साथ उसकी लडाई समझी जाती थी। पेकिंग में भी और शाङ्घाई में भी साम्यवादियो तथा प्रगतिशील कार्यकर्त्ताओं का "सफाया" किया गया। साम्राज्यशाही शक्तियो को तो इस नई घटना से खुशी होती ही, क्योकि इससे चीनी राष्ट्रवादियो का दल छिन्न-भिन्न और कमजोर हो गया। चागकाईशेक ने शाङ्घाई में विदेशी शक्तियों के प्रतिनिधियो से सहयोग करना चाहा। तुम्हे याद होगा कि इसी समय के लगभग, मई, सन् १९२७ ई०, में ब्रिटिश सरकार ने लदन मे सोवियत के आर्कोस भवन पर छापा मारा था और फिर रूस के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था।

इस प्रकार, एक दो महीने के भीतर चीन की सारी तसवीर ही बदल गई। जो कुओ-मिन-ताग चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाला सगठित और विजयोन्मत्त दल था और सफलता की उमंग में विदेशी शक्तियो के मुकाबले में खडा था, वही अब टूट कर आपस में युद्ध करनेवाले गिरोहों में बंट गया था। और जो मजदूर और किसान उसकी जान और उसका बल बने हुए थे, उन्ही को अब सताया गया और ढूढ-ढूढ कर पकड़ लिया गया। शाङ्घाई के विदेशी स्वार्थों ने फिर सुख की सांस ली, और नवाजिश के साथ एक गिरोह के विरुद्ध दूसरे को सहायता प्रदान की। मजदूरो को चारा डाल कर फंसाने और तग करने के मजे-दार और लाभदायक खिलवाड़ के लिए यह सहायता विशेष रूप से दी गई। शाङ्घाई के कारखानों के इन मजदूरो का (वास्तव मे चीन भर के मजदूरों का) कारखानेदारो द्वारा भीषण शोषण होता था और इनके जीवन के स्तर तथा रहन-सहन के ढंग बहुत ही नीचे दर्जे के थे। मजदूर-संघ आन्दोलन से इनकी ताकत बढ़ गई थी और इस के कारण कारखानेदारो को मजबूर होकर इन्हे ऊंची मजूरिया देनी पड़ी थी। इसलिए योरपीय, जापानी या चीनी कारखानेदार मजदूर सघो को पसंद नही करते थे।

चीन मे घटनाओ ने जो पलटा खाया उसके कारण रूस में बोरोदिन की कटु आलोचना हुई और जुलाई, सन् १९२७ ई०, में वह रूस चला गया। उसके जाते ही हैन्काउ मे कुओ-मिन-तांग का वाम-पक्ष छिन्न-भिन्न हो गया। अब नानकिंग सरकार का कुओ-मिन-ताग पर पूरा कब्जा हो गया, और विशेष रूप से साम्यवादियो के विरुद्ध तथा तमाम वाम-पक्षियो और मजदूर नेताओंके विरुद्ध लड़ाई जारी रही। इस मुकाम पर जो लोग चीन से चले गये या निकाल दिये गये उनमे महान नेता सनयातसेन की आदरणीया विधवा श्रीमती सन भी थी। इसने बड़े दुःख के साथ प्रगट किया कि सैन्यवादियो तथा अन्य लोगो ने चीन की आजादी के हेतु किये गये उसके पति के महान कार्य की पीठ में छुरा भोक दिया था। तुर्रा यह है कि ये सैन्यवादी लोग डा० सन के तीन प्रसिद्ध सिद्धान्तों की दुहाई देते रहते थे। ये सिद्धान्त थे—राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और समाजिक न्याय।

चीन एक बार फिर आपस में लडने वाले लड़ाकू सरदारों तथा सेनापतियो का गोरखधन्धा बन गया। कैण्टन ने नानकिंग सरकार से सम्बन्ध तोड़ दिया और दक्षिण में अपनी अलग सरकार स्थापित कर ली। सन् १९२८ ई० में पेकिंग नानकिंग सरकार के हाथों में आ गया। इसका नाम बदल कर पेइपिंग कर दिया गया जिसका अर्थ है "उत्तरी शान्ति"। पेकिंग का अर्थ था "उत्तरी राजधानी", पर अब यह राजधानी नही रह गया था।

पेकिंग, जिसे अब हम पेइपिंग कहेंगे, के पतन के बावजूद देश के विभिन्न भागों में गृह-युद्ध चलता रहा। कैण्टन ने तो अपनी अलग सरकार बना ली थी, लेकिन उत्तर में भी विभिन्न लड़ाकू सरदारो ने बहुत कुछ अपनी मनमानी मचा रक्खी थी। ये लोग व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे से लड़ते रहते थे और कभी-कभी कुछ समय के लिए आपस में सुलह भी कर लेते थे। कहने को तो नानकिंग की तथा-कथित "राष्ट्रीय" सरकार कैण्टन के सिवा सारे चीन पर शासन करती थी, मगर बहुत से प्रदेश उसके अधिकार से बाहर थे, खास कर भीतर का

एक बड़ा क्षेत्र जहां साम्यवादी सरकार स्थापित हो गई थी। नानकिंग सरकार धन की सहायता के लिए मुख्यतया शाङ्घाई के बोहरों पर निर्भर रहती थी। विभिन्न सेनापतियों की बड़ी-बड़ी सेनाएं किसान-वर्ग पर भीषण बोझ बन रही थी। सेनाओ से निकले हुए हजारो सिपाही रोजगार की तलाश में देहातों में घूमते फिरते थे, और रोजगार न मिलने पर अक्सर डाकेजनी का आश्रय लेते थे।

दिसम्बर सन् १९२७ ई० में नानकिंग सरकार तथा सोवियत सरकार का आपसी सम्बन्ध विच्छेद हो गया, और साम्राज्यशाही शक्तियों की छत्रछाया में नानकिंग ने उग्र सोवियत-विरोधी नीति अपनाई। यदि रूस युद्ध न करने के इरादे पर डटा नही रहता तो इसके फलस्वरूप सन् १९२७ ई० में युद्ध छिड़ गया होता। सन् १९२९ ई० में चीनी सरकार, इस बार मंचूरिया में, फिर आक्रमणकारी नीति पर उतर आई। सोवियत व्यापार-दूतावास पर छापा मारा गया और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियों को बर्खास्त कर दिया गया। यह रेलवे अधिकाश मे रूस की सम्पत्ति थी, इसलिए सोवियत सरकार ने तुरन्त चीनी सरकार के विरुद्ध कार्रवाई की। कुछ महीनो तक युद्ध जैसी स्थिति चलती रही, और तब चीनी सरकार ने पुरानी व्यवस्था फिरसे क़ायम करने की रूसी माग स्वीकार कर ली।

मंचूरिया तथा उसमें होकर गुजरने वाले रेलमार्गों के कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें होती रही हैं, क्योंकि यहां बहुत-से स्वार्थ, खासकर चीनी, जापानी और रूसी स्वार्थ, टकराते हैं। पिछले दिनों, सारी दुनिया का विरोध होते हुए भी, जापान ने चीन के इन उत्तर-पूर्वी प्रान्तो पर कब्जा जमा लिया है। इसके बारे में मैं अपने अगले पत्र में लिखूगा।

ऊपर मैंने जिक्र किया है कि चीन के कुछ भागो में साम्यवादी हुकूमतें कायम हो गई थी। मालूम होता है कि सबसे पहली साम्यवादी सरकार नवम्बर, सन् १९२९ ई०, मे दक्षिण में क्वान्तुग प्रान्त के हाइफैङ्ग जिले में स्थापित हुई थी। यह "हाइफैङ्ग सोवियत प्रजातंत्र" था, जो किसानो के विविध सघों का विकसित रूप था। चीन के भीतरी हिस्सों में सोवियत इलाक़ा बढ़ने लगा, यहा तक कि सन् १९३२ ई० के मध्य तक इसमें चीन के कुल क्षेत्रफल का करीब छठा भाग सम्मिलित हो गया, जिसका क्षेत्रफल २,५०,००० वर्गमील था और जिसकी आबादी ५,००,००,००० थी। इस सरकार ने ४,००,००० सैनिको की लाल सेना तैयार कर ली, और इस सेना में लडके और लडकियो के सहायक दस्ते भी थे। नानकिंग सरकार और कैण्टन सरकार दोनों ने इन चीनी सोवियतों को कुचलने के लिए पूरा जोर लगाया, और चागकाईशेक ने बार-बार सेना लेकर उन पर चढाइया की, परन्तु ये प्रयत्न अधिक सफल नही हुए। कभी-कभी ये सोवियतें पीछे हट जाती थी, और भीतरी भागो मे दूसरी जगहो पर अपने पाव जमा लेती थी[1]।

: १७८ :

जापान सारी दुनिया का तिरस्कार करता है

२९ जून, १९३३

चीन कैसे छिन्न-भिन्न हुआ, जो क्रान्ति पहले पूरी तरह सफल हुई प्रतीत होती थी वह एकदम कैसे धराशायी हो गई और भयकर प्रति-क्रान्ति उसे कैसे हड़प कर गई, इसकी शुरू से अब तक की खेदजनक कहानी मै तुम्हे बतला चुका हूं। यह कहानी अभी पूरी नही हुई है, और बहुत कुछ बाकी है। क्रान्ति इस कारण असफल हुई कि भाव-वेतन वर्ग-हितो के आन्तरिक सघर्ष, राष्ट्रीयता के बांधनेवाले बल से अधिक जोरदार सिद्ध हुए। धनवान जमीदारो तथा अन्य स्वार्थों ने किसान तथा मजदूर जन-समूह के प्रभुत्व का खतरा उठाने की अपेक्षा राष्ट्रवादी आन्दोलन को नष्ट करना श्रेयस्कर समझा।

---

[1] चांगकाईशेक और चीनी सोवियतों के बीच संघर्ष, जापानी आक्रमण के विरुद्ध इनका आपस में मिल जाना, जापान का चीन पर हमला और उसके फलस्वरूप होने वाला युद्ध—इन सब का हाल पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट में दिया गया है।

अपनी अन्दरूनी गड़बड़ो के अलावा चीन को अब एक विदेशी शत्रु के सुनिश्चित आक्रमण का भी मुक़ाबला करना पड़ा। यह जापान था, जो चीन की कमज़ोरी का और अन्य शक्तियों के अपने झंझटों का लाभ उठाने पर तुला हुआ था।

जापान आधुनिक उद्योगवाद तथा मध्य-कालीन सामतवाद की, और पार्लमेण्टी व्यवस्था तथा एक-तन्त्र सत्ता तथा सैनिक अधिकार की खिचडी का एक अद्भुत उदाहरण था। यहा के शासक ज़मीदार तथा सैनिक वर्गों ने निश्चयपूर्वक खानदानी ढग का राज्य निर्माण करने का प्रयत्न किया है जिसमें वे खुद तो मुखिया है और सम्राट उनका सर्वोपरि अधीश्वर है। धर्म, शिक्षा, आदि हरेक चीज़ इसी क्रम में सहायता देने का साधन बनाया गया है। धार्मिक चीजो पर सरकारी नियन्त्रण है, यहा तक कि मन्दिर और धर्म-स्थान भी सरकारी नियन्त्रण मे है और पुजारियो के ओहदे सरकारी है। इस प्रकार मन्दिरो तथा पाठशालाओ के ज़रिये काम करने वाली विशाल प्रचार व्यवस्था लोगो को केवल देशभक्ति की ही शिक्षा नही देती बल्कि सम्राट की इच्छा के प्रति आज्ञापालन भी सिखाती है, क्योकि सम्राट को अर्द्ध-दैवी पुरुष माना जाता है। पुराने शौर्य का कुछ-कुछ पर्यायवाची पुराना जापानी शब्द "बुशीदो" था, जिसका अर्थ था एक प्रकार की खानदानी वफ़ादारी। इस कल्पना का विस्तार करके समूचे राज्य पर लागू कर दिया गया है, और इसके साथ सर्वोपरि सम्राट का नाता जोड़ दिया गया। सम्राट तो वास्तव मे एक प्रतीक है जिसके नाम पर शासन करने वाले बड़े-बड़े ज़मीदार तथा सैनिक वर्ग सत्ता का प्रयोग करते है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप, जापान में भी बुर्जुवाओ का उदय हुआ है, परन्तु बड़े-बडे उद्योग-पति पुराने ज़मीदार परिवारो में से ही निकले हुए हैं। इसलिए खास बुर्जवाओं के हाथ मे कोई सत्ता नही आई है। असली तौर पर तो जापान मे इतना एकाधिकार है कि कुछेक शक्तिशाली परिवारो का देश के उद्योगो पर भी अधिकार है और राजनीति पर भी।

जापान मे बौद्ध-धर्म बहुत समय से लोकप्रिय धर्म रहा है, परन्तु सिन्तोधर्म एक प्रकार से राष्ट्रीय धर्म है, और इसमे पूर्वजो की पूजा पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। इस पूजा मे भूतपूर्व सम्राटो तथा राष्ट्रवीरों की और खासकर युद्धो मे मारे गये शहीदो की पूजा शामिल है। इस प्रकार यह पूजा देश के प्रति प्रेम का तथा सिहासनारूढ सम्राट के प्रति आज्ञापालन की भावना का पाठ पढाने का एक ज़ोरदार और कारगर साधन बन गई है। जापानी लोग अपनी अद्भुत देशभक्ति के लिए तथा देश के हित में कुर्बानी करने की क्षमता के लिए विख्यात है। परन्तु इस बात को बहुत लोग नही जानते कि यह देशभक्ति बहुत ही आक्रमणकारी ढग की है और जागतिक साम्राज्य के सपने देखा करती है। सन् १९१५ ई० के लगभग जापान मे एक नया पन्थ शुरू हुआ। इसका नाम "ओमोतो-क्यो" पन्थ था और यह बड़ी तेज़ी से देश भर मे फैल गया। इस पन्थ का मुख्य शास्त्र-वचन यह था कि जापान समग्र ससार का शासक बने और सम्राट उसका सर्वोपरि अधीश्वर। इस पन्थ की ओर से कहा गया था:

> "हमारा उद्देश्य केवल यह है कि जापान के सम्राट को समग्र ससार का शासक और अधिष्ठाता बनावे, क्योकि ससार मे वही अकेला ऐसा शासक है जिसमे सबसे पहले के स्वर्गवासी पूर्वज से उत्तराधिकार मे मिली हुई आध्यात्मिक जिम्मेदारी विद्यमान है।"

जैसाकि हम देख चुके है, महायुद्ध के दौरान में जापान ने चीन को डरा-धमका कर उससे अपनी इक्कीस मागें मज़ूर कराने की कोशिश की। अमरीका तथा योरप में हो-हल्ला मच जाने के कारण उसकी सारी मागे तो पूरी नही हुई, पर फिर भी उसे बहुत कुछ मिल गया। युद्ध के बाद ज़ारशाही साम्राज्य के पतन पर जापान ने देखा कि एशिया मे अपने राज्य का विस्तार करने का यह अनुपम अवसर है। उसकी सेनाए साइबेरिया में दाखिल हो गई और उसके एजेण्ट मध्य-एशिया ने ठेठ समरकन्द और बुखारा तक जा पहुंचे। परन्तु रूस के सम्हल जाने के कारण और कुछ हदतक अमरीका के विरोध तथा अविश्वास के कारण यह दुस्साहस असफल हो गया। क्योकि यह हमेशा याद रखने की बात है कि जापान तथा सयुक्त राज्य अमरीका के बीच घोर शत्रुता है। ये एक दूसरे से बहुत नफ़रत करते हैं, और प्रशान्त महासागरके आर-पार एक-दूसरे पर आखें तरेरते रहते है। सन् १९२२ ई० के वाशिगटन सम्मेलन से जापान की महत्वाकाक्षाओ पर पानी फिर गया और अमरीकी कूटनीति की विजय हो गई। इस सम्मेलन में जापान सहित नौ शक्तियो ने चीन की अखंडता को अक्षुण्ण रखने की प्रतिज्ञाएं की, और इसका अर्थ यह था कि जापान चीन में पैर फैलाने की सारी आशाए छोड़ दे। इसी सम्मेलन में आंग्ल-जापानी मित्रता का अन्त हो गया और दूर-पूर्व में जापान

बिल्कुल अकेला रह गया। ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर में एक जबरदस्त नौ-सैनिक-अड्डा बनाना शुरू कर दिया, और यह प्रत्यक्ष रूप से जापान के लिए खतरे की चीज़ था। सन् १९२४ ई० में सयुक्तराज्य अमरीका ने जापानी-विरोधी आवासी बिल पास किया, क्योंकि वह अपने राज्य में जापानी मजदूरों को नही आने देना चाहता था। वर्ण-भेद की इस नीति पर जापान में, और कुछ हद तक सारे पूर्व में, बहुत रोष प्रगट किया गया, मगर जापान अमरीका का कुछ नही बिगाड सकता था। इसलिए जब उसने यह महसूस किया कि वह अकेला पड़ गया है और चारों ओर से शत्रुओ से घिर गया है, तो उसने रूस की तरफ़ रुख मोड़ा, और जनवरी, सन् १९२५ ई०, में रूस के साथ सन्धि कर ली।

इसी समय के भीतर जापान पर जो महान बिपत्ति आई और जिसने उसे बहुत कमजोर कर दिया, उसका हाल मै तुम्हें बतलाना चाहता हू। सन् १९२५ ई० के सितम्बर की पहली तारीख को जापान मे भयकर भूचाल आया और उसके साथ समुद्री ज्वार की लहर आई और राजधानी टाकियो के विशाल नगर में आग लग गई। यह विशाल नगर नष्ट हो गया और योकोहामा बन्दरगाह का भी यही हाल हुआ। करीब एक लाख आदमी मर गये, और बहुत भारी नुक़सान हुआ। जापानियो ने बडे साहस तथा दृढ निश्चय के साथ इस विपत्ति का मुकाबला किया, और ध्वस्त टोकियो के खण्डहरो पर नया शहर निर्माण कर लिया।

अपनी कठिनाइयो के कारण जापान ने रूस से सुलह तो कर ली थी, पर इसका यह अर्थ नही था कि वह साम्यवाद का समर्थक हो गया था। साम्यवाद का अर्थ था, सम्राट-पूजा का और सामन्तवाद का, और शासक वर्ग द्वारा जनता के शोषण का अन्त और सच तो यह है कि तत्कालीन व्यवस्था जिन चीजो को बर-क़रार रखना चाहती थी उन सबका अन्त। जापान में यह साम्यवाद जनता के बढते हुए कष्टो के कारण जोर पकड़ रहा था, क्योंकि औद्योगिक स्वार्थों द्वारा जनता का शोषण दिन पर दिन बढ रहा था। उधर आबादी भी तेजी से बढ रही थी। जापानी लोग अमरीका या कनाडा में या आस्ट्रेलिया के बजर उजाड-खडों तक में जाकर नही बस सकते थे; उनके लिए वहा जाने के दरवाजे बन्द थे। चीन नजदीक था, लेकिन वहा आबादी पहले ही बहुत ज्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मचूरिया मे जा बसे। निजी खास मुसीबतो के अलावा जापान को उद्योगवाद तथा व्यापार की मदी की उन मुसीबतो का भी मुकबला करना पडा जिन्हें सारा ससार समान रूप से भुगत रहा था। जब अन्दरूनी स्थिति ज्यादा गम्भीर होने लगी तो साम्यवादियो तथा सारे वाम-पक्षियो पर कठोर दमन-चक्र चलाया गया। सन १९२५ ई० में "शान्ति रक्षा कानून" पास किया गया, और चूकि इसकी भाषा मनोरजक है, इसलिए इस कानून की पहली धारा मै यहा उद्धृत करता हू। इसमें लिखा है·

> "जिन व्यक्तियो ने राष्ट्रीय सविधान को बदलने के उद्देश्य से, या निजी-सम्पत्ति की प्रणाली को उलटने के उद्देश्य से, कोई समिति या बिरादरी सगठित की हो, या जो व्यक्ति ऐसे सगठनो के उद्देश्य से पूरी तरह परिचित होकर उनमें शामिल हुए हो, उन्हे मृत्यु-दड से लगाकर पाच साल से ऊपर तक की कड़ी क़ैद की सजाओ से दडित किया जायगा।"

इस क़ानून की चरम कठोरता से, जो केवल साम्यवादी सुधारो का ही नही बल्कि सब प्रकारों से समाजवादी या वाम-पक्षी या वैधानिक सुधारो तक का मार्ग बन्द करती है, यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि साम्यवाद की वृद्धि से जापानी सरकार कितनी भयभीत है।

परन्तु साम्यवाद सामाजिक परिस्थितियो से उत्पन्न होनेवाले व्यापक कष्टो का परिणाम है, और जब तक ये परिस्थितिया सुधरेंगी नही तब तक दमन से कोई फल नही निकल सकता। आजकल जापान में भीषण कष्ट है। चीन तथा भारत की भाति यहा भी किसान-वर्ग कर्जों के जबरदस्त बोझ से पिसा जा रहा है। खासकर भारी सैनिक व्यय और युद्ध की आवश्यकताओं के कारण जनता पर करो का भारी बोझ है। खबरें आती रहती है कि भूख से पीड़ित किसान प्राण बचाने के लिए घास और जड़ें खा रहे है, और अपने बच्चो तक को बेच रहे है। बेकारी के कारण मध्यमवर्गों की भी बुरी हालत है, और आत्म-हत्याएं बढ़ गई है।

साम्यवाद के विरुद्ध बड़े पैमाने पर सन् १९२८ ई० के शुरू में धावा बोला गया, और एक रात में एक हजार से ज्यादा गिरफ्तारियां हुई, मगर अखबारो को इस घटना का समाचार महीने भर तक प्रकाशित

नहीं करने दिया गया। तब से हर साल पुलिस द्वारा तलाशियां और सामूहिक गिरफ्तारियां होती रहती है। अक्तूबर सन् १९३२ ई०, में पुलिस ने बहुत बड़ा छापा मारा, और २,२५० व्यक्तियो को गिरफ़्तार किया। इनमें से ज्यादातर लोग मजदूर नही थे बल्कि विद्यार्थी और अध्यापक थे। इनमें सैकडों ग्रेजुएट थे और स्त्रियां थीं। निराली बात यह नजर आती है कि जापान के अनेक धनवान युवक और युवतिया साम्यवाद की ओर आकर्षित हो रहे है। भारत तथा अन्य देशो की भांति यहा भी प्रगतिशील विचारको को चोर-डाकुओ से ज्यादा खतरनाक समझा जाता है। भारत में मेरठ के षड्यंत्र के मामले की तरह जापान में भी साम्यवादियो के कुछ मुक़दमे वर्षों तक चलते रहे हैं।

जापान की अन्दरूनी परिस्थितियों के बारे में ये सब बाते मैंने तुम्हें इसलिए बतलाई है कि जापान ने मंचूरिया मे जो साहस-पूर्ण कदम उठाया उसकी पृष्ठ-भूमि का तुम्हें अंदाज हो जाय। अब इसका कुछ हाल मै तुम्हे बतलाना चाहता हू।

पिछले पत्रों में तुमने पढा होगा कि जापान ने एशियाई भूमि पर पांव जमाने के लिए, पहले कोरिया में और फिर मचूरिया मे, लगातार कोशिशे की थी। सन् १८९४ ई० में चीन के साथ युद्ध और दस साल बाद का रूसी युद्ध, दोनो इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लड़े गये थे। जापान को सफलता प्राप्त हुई, और वह एक-एक पग आगे बढने लगा। उसने कोरिया को हडप लिया और उसे जापानी साम्राज्य का अग मात्र बना लिया। मचूरिया मे, जो चीन के तीन पूर्वी प्रान्तो का ही साधारण नाम है, पोर्ट आर्थर के आस-पास जो रूस के पट्टे पर लिये हुए और रियायती इलाके थे, वे जापान को दे दिये गये। रूस ने मचूरिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो चीनी पूर्वी रेलवे बनाई थी, उसका भी कुछ भाग जापान के अधिकार में आ गया और इसका नाम दक्षिण मचूरिया रेलवे रख दिया गया। मगर इन सब परिवर्तनो के बावजूद, समग्र रूप मे मचूरिया अभी तक चीनी सरकार के ही अधीन बना रहा और इस रेल मार्ग के कारण अब ढेर के ढेर चीनी यहा आकर बसने लगे। सच पूछो तो इन तीन उत्तर-पूर्वी प्रान्तो की ओर चीनियो का यह प्रयाण ससार के इतिहास मे सबसे बडा प्रयाण माना जाता है। सन् १९२३ से १९२९ ई० तक के सात वर्षों में पच्चीस लाख से भी अधिक चीनी लोग चीन की सीमा पार करके मचूरिया चले गये। आज कल मचूरिया की आबादी तीन करोड़ के लगभग है और इसमे ९५ प्रति शत चीनी है। इस प्रकार ये तीन प्रान्त पूरी तरह चीनी बन गये हैं। बाकी की पाच प्रति शत आबादी मे रूसी, मगोली खानाबदोश, कोरियाई और जापानी लोग है। मचूरिया के पुराने निवासी मचू लोग चीनियो मे घुल-मिल गये है और अपनी भाषा तक भूल गये हैं।

तुम्हे याद होगा कि सन् १९२२ ई० मे वाशिंगटन सम्मेलन के अवसर पर जो नौ शक्तियो की सन्धि हुई थी, उसकी बाबत मै लिख चुका हू। पश्चिमी शक्तियो के सुझाव पर यह सन्धि खास तौर से चीन में जापान की चालो को रोकने के लिए की गई थी। इन नौ की नौ शक्तियो ने (जिनमे जापान भी शामिल था) स्पष्ट रूप से और असदिग्ध रूप से "चीन की राज्य-सत्ता, स्वाधीनता और प्रादेशिक तथा शासन-सम्बन्ध अखडता का लिहाज रखने" का आपसी फैसला किया था।

कुछ वर्षो तक तो जापान ने कोई कार्रवाई नही की। मगर परदे के पीछे से वह कुछ चीनी लडाकू-सरदारो या तूशनो को धन आदि की सहायता देता रहा ताकि वे गृह-युद्ध चलाते रहे और इस प्रकार चीन को कमजोर बना द। उसने चाग त्सूलिन को खास तौर पर सहायता दी, जिसका दबदबा मचूरिया पर और दक्षिणी राष्ट्रवादियो की विजय से पहले पेकिंग तक पर छाया हुआ था। सन् १९३१ ई० मे जापानी सरकार ने मचूरिया में खुल्लम-खुल्ला आक्रमणकारी रवैय्या अपनाया। सम्भवतया, या तो इसका कारण आर्थिक सकट था, जिसने उसे बाहर के देशो में कुछ कार्रवाई करने पर मजबूर किया ताकि लोगो का ध्यान भी बंट जाय और अन्दरूनी तनाव भी कम हो जाय; या सरकार में सैन्य दल का प्रभुत्व था, या यह भावना थी कि अन्य सारी शक्तियां अपनी-अपनी मुसीबतो में और व्यापार की मन्दी के चक्कर में फंसी हुई है, और हस्तक्षेप करने की स्थिति में नही हैं। यह भी सम्भव है कि इन सब कारणो ने सम्मिलित-रूप से जापानी सरकार को इतना जोखिमभरा क़दम उठाने के लिए उकसाया हो। क्योकि इस कार्रवाई से सन् १९२२ ई० की नौ शक्तियो की सन्धि स्पष्ट रूप से भग हो गई। इससे राष्ट्र सघ का इकरारनामा भी भंग होता था, क्योकि चीन और जापान दोनो ही राष्ट्र सघ के सदस्य थे, और इस हैसियत से राष्ट्र सघ में मामला ले जाये बिना एक दूसरे पर आक्रमण नही कर सकते थे। और तीसरी बात यह है कि सन् १९२८ ई० में इससे युद्ध को ग़ैर-

कानूनी घोषित करने वाला जो पैरिस करार (या लाग करार) हुआ था, वह भी स्पष्ट रूप में भंग हो जाता था। चीन के विरुद्ध युद्ध जैसी कार्रवाइयां जारी रख कर जापान ने इन सन्धियों तथा प्रतिज्ञाओं को तोड़ दिया, और सारे ससार की अवहेलना की।

हां, जापान ने इस बात को इक़रार नही किया। उसने कुछ लचर और प्रत्यक्ष झूठा बहाना बनाया कि मचूरिया में डाकुओ तथा कुछ मामूली-सी घटनाओ के कारण उसे वहा व्यवस्था स्थापित करने के लिए और अपने हितों की रक्षा के लिए सैनिक भेजने के लिए मजबूर होना पडा है। युद्ध की खुली घोषणा नही की गई, मगर घोषणा न होने पर भी जापान ने मंचूरिया पर धावा बोल दिया था। चीनी लोगो को इस पर बड़ा क्रोध आया। चीनी सरकार ने विरोध प्रदर्शित किया और राष्ट्र सघ तथा अन्य शक्तियो के आगे फरियाद की, लेकिन किसी ने भी कोई ध्यान नही दिया। हर देश अपनी निज की मुसीबतो में फंसा हुआ था और जापान का विरोध करके नये झगडे मोल नही लेना चाहता था। यह भी सम्भव है कि कुछ शक्तियों ने, विशेषतया इंग्लैण्ड ने, जापान के साथ कोई गुप्त सांठ-गाठ कर ली हो। चीन के ग़ैर-फौजी सैनिकों ने मंचूरिया में जापानियो को काफी परेशान कर डाला। पर मजा यह है कि माना यह जाता था कि इन दोनो देशो के बीच कोई युद्ध नही है! चीन में जापानी माल के बहिष्कार का महान आन्दोलन जापान को और भी परेशान करने वाली चीज़ थी।

जनवरी, सन् १९३२ ई०, मे जापानी सेना शाङ्घाई के निकट चीन की भूमि पर एकदम उतर पडी और वहां उसने जो हत्याकाड मचाया वह आधुनिक ज़माने के सबसे अधिक वीभत्स हत्याकाडो में गिना जाता है। उसने विदेशी रियायती इलाको को तो जान बूझ कर छोड़ दिया ताकि पश्चिमी शक्तिया नाराज़ न हो जाय, और घनी आबादी वाले चीनी मोहल्लो पर आक्रमण कर दिया। शाङ्घाई के निकट एक विशाल क्षेत्र पर (शायद इसका नाम चापेइ था) बम और गोले बरसाये गये और उसे पूरी तरह विनष्ट कर दिया गया। हजारों आदमी मारे गये और असख्य आदमी बेघर-बार हो गये। याद रहे कि यह लड़ाई किसी सेना से नही थी। यह तो निर्दोष नागरिको पर बम-वर्षा थी। यह जवामर्दी की कार्रवाई जिस जापानी नौ-सेनाधीश की निगरानी मे हुई थी, उससे जब पूछा गया तो उसने कहा था कि जापान ने यह दयापूर्ण निश्चय किया है कि "नागरिकों पर यह अन्धा-धुन्ध बम-वर्षा सिर्फ दो दिन और" होनी चाहिए! लदन के टाइम्स अखबार का शाङ्घाई-स्थिति सवाददाता जापान की ओर झुका हुआ था, पर वह भी जापानियो द्वारा चीनियो के इस "विवेक-रहित हत्याकाड" (ये शब्द उसी के है) से स्तब्ध रह गया। इसलिए चीनी लोगो ने इसके बारे में क्या महसूस किया होगा उसकी कल्पना करना बहुत आसान है। सारे चीन मे घृणा-पूर्ण आतक तथा क्रोध की लहर दौड गई, और इस बर्बरतापूर्ण विदेशी हमले के सामने देश के विभिन्न लडाकू-सरदार और सरकारे अपने आपसी विद्वेषो को भूल गये या भूलते हुए प्रतीत होने लगे। जापान के विरुद्ध सयुक्त मोर्चे की चर्चा होने लगी और अन्दरूनी चीन की साम्यवादी सरकार तक भी नानकिंग सरकार को अपनी सेवाएं देने के लिए तैयार हो गई। मगर अचरज की बात है कि नानकिंग या उसके नेता चागकाई शेक ने इतने पर भी आगे बढ़ते हुए जापानी सैनिको से शाङ्घाई की रक्षा करने के लिए कोई क़दम नही उठाया। नानकिंग ने केवल इतना किया कि राष्ट्र सघ के सामने अपना विरोध पेश कर दिया। उसने तो जापानियो के विरुद्ध सयुक्त प्रतिरोध तक संगठित करने का प्रयत्न नही किया। मालूम यह होता है कि अपनी लम्बी-चौडी बातो के और देश में फैली हुई क्रोधाग्नि के बावजूद, प्रतिरोध करने की उसकी कोई इच्छा ही नही थी।

और तब दक्षिण से आई हुई एक अजीब सेना शाङ्घाई में प्रगट हुई। इसका नाम 'उन्नीसवी कूच-मार्ग सेना'[1] था। इस में कैण्टनवासी लोग थे, पर न तो यह नानकिंग सरकार की फरमाबरदार थी और न कैण्टन सरकार की। यह फटी-टूटी सी सेना थी, जिसके पास न तो लडाई का सामान था, न बड़ी तोपें थी, न अच्छी वर्दिया थी, और न चीन की कडाके की सर्दी से बचाने वाले काफी कपडे थे। इस मे चौदह तथा सोलह वर्ष की उम्रो के बहुत-से लडके भर्ती हो गये थे, कुछ की उम्र तो सिर्फ़ बारह वर्ष की थी। इस टूटी-फूटी सेना ने चागकाईशेक की आज्ञा की अवहेलना करके जापानियो से लड़ने और लोहा लेने का निश्चय किया। सन् १९३२ ई० के जनवरी मास में दो सप्ताह तक ये लोग नानकिंग सरकार की सहायता के बिना

---

[1]Nineteenth Route Army.

ही लड़ते रहे, और ये ऐसी अद्भुत वीरता से लड़े की इन्होने अपने से कहीं अधिक बलशाली और सुसज्जित जापानियों को चकित कर दिया और रोक दिया। इससे केवल जापानियों को ही नहीं बल्कि हरेक को आश्चर्य हुआ, यहां तक कि विदेशी शक्तियां तथा ख़ुद चीन की जनता भी आश्चर्य में पड़ गई। बिना किसी सहायता के दो सप्ताह लड़ने के बाद, जब चारो ओर से इस सेना पर प्रशसा की बौछार होने लगी, तब शाङघाई की रक्षा के लिए चागकाईशेक ने अपने कुछ सैनिक भेजे।

इस उन्नीसवी कूच-मार्ग सेना ने इतिहास रच डाला और यह संसार भर में विख्यात हो गई। इनके मुक़ाबले ने जापानियोंकी योजनाओ पर पानी फेर दिया। और चूंकि पश्चिमी शक्तियो को भी शाङघाई में अपने स्वार्थों की चिन्ता थी, इसलिए जापानी सैनिको को धीरे-धीरे शाङ घाई क्षेत्र से हटा लिया गया और जहाज़ो में लाद कर भेज दिया गया। यह उल्लेखनीय बात है कि इन पश्चिमी शक्तियो को अपने आर्थिक तथा अन्य स्वार्थों की जितनी अधिक चिन्ता थी उतनी चिन्ता हज़ारो को मौत के घाट उतारने वाले चापेइ जैसे अजीब हत्याकाडो की और शपथपूर्ण सन्धियो तथा अन्त र्राष्ट्रीय इकरारनामो के भग हो जाने की नही थी। राष्ट्र सघ में यह मामला बार-बार पेश किया गया, परन्तु उसने कार्रवाई स्थगित करने का हमेशा कोई न कोई बहाना ढूढ लिया। राष्ट्र सघ के लिए यह तथ्य कोई बहुत ज़रूरी कार्रवाई का मामला नही था कि सचमुच युद्ध हो रहा था और उसमें हज़ारो आदमी मारे जा चुके थे या मारे जा रहे थे। कहा यह गया कि असल में कोई युद्ध था ही नही, क्योकि सरकारी तौरपर इस युद्ध की कोई घोषणा ही नही की गई थी! राष्ट्र सघ की इस कमज़ोरी से, और अन्याय की ओर एक प्रकार से जान बूझ कर आँखे मूद लेने की नीति से, उसकी ख्याति और प्रतिष्ठा को बहुत धक्का पहुचा। देखा जाय तो कुछ बड़ी-बड़ी शक्तिया ही इसके लिए ज़िम्मेदार थी, और इग्लैण्ड ने तो राष्ट्र सघ में ख़ास तौर पर जापान की हिमायत का रवैय्या अपनाया। आख़िरकार राष्ट्र सघ ने मचूरिया के मामले की जाच करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन लार्ड लिटन की अध्यक्षता में नियुक्त किया। तमाम शक्तियो ने इसे तुरन्त मंजूर कर लिया, क्योकि इसका अर्थ यह था कि किसी भी प्रकार का निर्णय महीनो तक के लिए स्थगित हो गया। उन्होने सोचा कि मचूरिया बहुत दूर है, और कमीशन को वहा जाकर जाच करने में बहुत समय लग जायगा, और तब तक शायद सारा मामला ही ख़तम हो जाय।

जापानी लोग शाङ घाई से तो हट गये, पर अब उन्होने मंचूरिया पर ज़्यादा ध्यान दिया। उन्होने वहाँ एक कठपुतली सरकार क़ायम कर दी, और ऐलान कर दिया कि मचूरिया ने अपने आत्म-निर्णय के अधिकार का प्रयोग किया है। इस नये कठ-पुतली राज्य का नाम मंचूकुओ रक्खा गया, और चीन के पुराने मचू राजाओ के वश का एक फटे-हाल नौजवान इस नई रियासत का राजा बना दिया गया। इसमे कोई शक नही कि यह सब दिखावे के लिए ही था, और असली शासक तो जापान था। हर कोई जानता था कि अगर जापानी सेना हटा ली जाय तो मचूकुओ राज्य एक दिन में लुढ़क पडेगा।

मचूरिया में जापानियो को बहुत परेशानिया उठानी पडी, क्योकि चीनी स्वयसेवको के दस्ते उनसे निरन्तर लडते रहते थे। जापानी लोग इन दस्तो को "डाकुओ के दस्ते" कहते है। जापानियो ने स्थानीय चीनियो को सैनिक शिक्षा और लड़ाई का सामान देकर मचूकुओ की सेनाए सगठित की। मगर जब ये सेनाए इन "डाकू-दस्तो" से लडने को भेजी गई तो अपने सारे नये-से-नये सामान के साथ उन्ही मे जा मिली! इस नित्य-प्रति की युद्ध-कार्यवाही से मचूरिया का भारी नुकसान हुआ, और सोयाबीन का व्यापार नष्ट होने लगा।

महीनों की जाच के बाद लिटन कमीशन ने राष्ट्र सघ में अपनी रिपोर्ट पेश की। यह विवेकपूर्ण, संयत और न्यायिक भाषा में लिखा हुआ दस्तावेज़ था, परन्तु जापान के बिल्कुल ही ख़िलाफ़ जाता था। इससे ब्रिटिश सरकार बहुत घबराई, क्योकि वह तो जापान को बचाने पर तुली बैठी थी। इसलिए इस मामले का विचार कई महीनो के लिए फिर स्थगित कर दिया गया। लेकिन अन्त मे राष्ट्र सघ को इस सवाल पर ग़ौर करना ही पड़ा। अमरीका का रुख इग्लैण्ड के रुखसे बहुत भिन्न था, वह जापान के बहुत ज्यादा ख़िलाफ था। अमरीका ने साफ कह दिया था कि वह जापान द्वारा मचूरिया में या अन्यत्र ज़बरदस्ती किये गये किसी परिवर्तन को नही मानेगा। मगर अमरीका के इस कठोर रुख के बावजूद इंग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ्रास, इटली तथा जर्मनी ने, जापान का पक्ष लिया।

इधर तो राष्ट्र संघ में मंचूरिया के प्रश्न को टालने की भरसक कोशिश की जा रही थी, उधर जापान ने एक नई कार्रवाई कर डाली। सन् १९३३ ई० की पहली जनवरी के दिन जापानी सेना अकस्मात ठेठ चीन में जा धमकी और उसने शान-हाइ-क्वान नगर पर आक्रमण कर दिया। यह नगर चीन की बड़ी दीवार के भीतरी किनारे पर स्थित है। बड़ी-बड़ी तोपों और विध्वंसक जहाजों से गोले, और हवाई जहाजों से बम, बरसाये गये। यह सरासर नये-से-नये ढग का हमला था। शान-हाइ-क्वान जलकर ढेर हो गया, और अधिकतर नगरवासी मर गये या मरणासन्न हो गये।

आक्रमण की इस ताजा कार्रवाई से और नये दिन के हत्याकांड से राष्ट्र-संघ की नींद खुल गई, और बहुत करके छोटी-छोटी शक्तियों के आग्रह के कारण राष्ट्र-सघ ने एक प्रस्ताव द्वारा लिटन रिपोर्ट को मंजूर कर लिया और जापान की भर्त्सना की। जापान ने इसकी जरा भी परवाह नही की (क्या वह जानता नही था कि इंग्लैण्ड तथा कुछ अन्य बड़ी-बड़ी शक्तियां गुप्त रूप से उसकी पीठ ठोक रहे थे ?) और राष्ट्र संघ से किनारा किया। राष्ट्र सघ से स्तीफ़ा देकर जापान आराम से पेइपिंग की ओर बढ़ता चला गया। उसे जरा भी प्रतिरोध का सामना नही करना पडा, और जब जापानी सेना, मई, सन् १९३३ ई०, में क़रीब-क़रीब पेइपिंग के दरवाजे पर जा पहुची, तो चीन और जापान के बीच विराम-सन्धि की घोषणा कर दी गई। जापान पूरी तरह सफल हो गया था। नानकिंग सरकार ने तथा वर्तमान कुओ-मिन-ताग ने जापानियो की आक्रामक कार्रवाई के विरुद्ध जो ओछापन दिखलाया, उससे अगर चीन में उनकी लोकप्रियता को भारी धक्का लगा, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही है।

मंचूरिया के इस झगड़े के बारे में मैंने काफी बातें कह दी हैं। यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि चीन के भविष्य पर इसका असर पड़ता है। मगर इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि इससे स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्र संघ एक ढकोसला है, और जो अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाइया अन्यायपूर्ण सिद्ध हो चुकी है उनका प्रतिकार करने में बिल्कुल नपुसक और बेकार साबित हुआ है। इससे योरप की बडी शक्तियो की दुरगी नीति और साजिशो की भी कलई खुल गई है। इस खास मामले मे तो अमरीका (जो राष्ट्र सघ का सदस्य नही है) जापान के विरुद्ध कड़ा रुख इख्तियार करने को तैयार हो गया था, और ऐसा मालूम होता था कि वह जापान से भिड़ ही पड़ेगा। परन्तु उधर इग्लैण्ड तथा अन्य शक्तियो ने जापान को गुप्त रूप से जो बढावा दिया उससे अमरीका का यह रुख बे-असर हो गया, और जब अमरीका को डर हुआ कि जापान के विरुद्ध वह अकेला रह जायगा, तो वह भी अधिक सावधान हो गया। राष्ट्र सघ ने अपनी नेकनीयती दिखाने के लिए जापान की भर्त्सना तो कर दी, पर आगे कोई क़दम नही उठाया। यह तय हुआ था कि मचूकुओ के कठपुतली राज्य को राष्ट्र सघ के सदस्य मान्यता नही देंगे, परन्तु यह अ-मान्यता कोरा मजाक बन गई।

राष्ट्र संघ द्वारा जापान की निन्दा के बावजूद, इग्लैण्ड के मन्त्रीगण और राजदूत मौके-बेमौके आगे बढ़ कर जापान की कार्रवाई को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहते हैं। रूस के प्रति इग्लैण्ड का व्यवहार अजीब तौर पर इसके विपरीत नजर आता है। अप्रैल, सन् १९३३ ई०, में रूस में कुछ अग्रेज इञ्जीनियरो पर भेदिये होने के जुर्म में मामला चलाया गया। कुछ तो बरी कर दिये गये और दो को थोड़े-थोड़े दिनो की कैद की सजाएं दी गईं। इस पर इग्लैण्डवालो ने बडा वावेला मचाया, और ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड मे रूसी माल के आयात पर तुरन्त रोक लगा दी। रूस ने भी इस के जवाब में अपने यहां ब्रिटिश माल का आना बन्द कर दिया।[1]

इस प्रकार मंचूरिया तथा और भी बहुत कुछ चीन के हाथ से निकल गया, और बाकी भाग पर भी जापान का खतरा बराबर बना रहा। तिब्बत स्वाधीन था। मगोलिया सोवियत देश था जो रूसी सोवियत सघ के साथ जुड़ा हुआ था। चीन के एक और विशाल प्रान्त सिनकियाग या चीनी तुर्किस्तान में भी गड़बड़ हुई। यह तिब्बत और साइबेरिया के बीच में है। इस प्रान्त में यारक़न्द और काशगर को, कश्मीर में श्रीनगर से, लद्दाख में लेह होकर, नियमित रूप से क़ाफ़िले जाया करते हैं। इस प्रान्त के अधिकाश निवासी मुसलमान तुर्क हैं। इनका दृष्टिकोण, इनकी सस्कृति और इनके नाम तक चीनी है। परन्तु ये चीन के मुख्य

---

[1] इंग्लैण्ड और रूस का यह व्यापारिक युद्ध बाद में दोनों देशों के बीच समझौता हो जाने पर बन्द हो गया।

केन्द्र से बहुत दूर हैं, और गोबी के रेगिस्तान ने इन्हें चीन से विलग कर दिया है। सचार के साधन बहुत ही पुराने ढग के हैं। इन्हें चीन के साथ बांधने वाले बंधन ज्यादा मजबूत नही हैं, और इनमें तुर्की राष्ट्रीयता की भावना है जो समय-समय पर फूट पड़ती है। महायुद्ध के समय से ही यह विशाल प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय साजिशों का अखाड़ा बना हुआ है। इंग्लैण्ड, रूस और जापान, एक-दूसरे के विरुद्ध और चीनी सरकार के विरुद्ध जासूसी और साजिशें करते रहते हैं और यहा के प्रतिद्वन्दी सरदारो को सहायता देते रहते हैं।

सन् १९३३ ई० के प्रारम्भ में सिनकियाग में तुर्कों ने विद्रोह कर दिया; यारक़न्द और काशगर पर उनका क़ब्ज़ा हो गया, और प्रजातत्र की घोषणा कर दी गई। ब्रिटिश सरकार ने सोवियत पर इस विद्रोह को भड़काने का आरोप लगाया। उधर सोवियत ने ब्रिटिश सरकार पर खुल्लम-खुल्ला यह आरोप लगाया कि उसने मंचूकुओ की भाति चीन और रूस के बीच एक झोक झेलने वाला राज्य बनाने की नीयत से इस विद्रोह को भडकाया है। सिनकियाग मे ब्रिटिश सेना के जिस अफसर ने इस विद्रोह का सगठन किया उसका नाम तक बतला दिया गया है।

टिप्पणी—सिनकियाग का यह विद्रोह चीनी सरकार के समर्थको द्वारा दबा दिया गया। मालूम होता है कि सोवियत अधिकारियो ने भी गैर-सरकारी तौर पर इसमे कुछ सहायता दी थी। इसके फलस्वरूप मध्य एशिया में रूस की प्रतिष्ठा बहुत बढ गई और अंग्रेजों की प्रतिष्ठा गिर गई।

: १७६ :

समाजवादी सोवियत प्रजातंत्रों का संघ

७ जुलाई, १९३३

अब हम सोवियत प्रजातत्र के देश रूस की तरफ लौटते है और उसकी कहानी के सूत्र को जहां छोडा था वही से फिर पकडे लेते हैं। हम जनवरी, सन् १९२४ ई० तक आ पहुचे थे, जब कि क्रान्ति के नेता और प्रवर्त्तक लेनिन की मृत्यु हुई थी। तब से अब तक अन्य देशों के बारे मे जितने पत्र मैंने तुम्हे लिखे हैं उनमें से बहुतो मे रूस का अक्सर जिक्र आता रहा है। रूस की समस्याओ पर, या भारतीय सरहद पर, या तुर्की, ईरान आदि मध्य-एशियाई देशो पर, या दूर पूर्व के चीन और जापान पर, विचार करते समय रूस का नाम बार-बार सामने आया है। यह तथ्य तुम्हे साफ दिखाई देने लगा होगा कि एक राष्ट्र की राजनीति और अर्थ-नीति को दूसरे देशो की राजनीति और अर्थ-नीति से पृथक करना बहुत कठिन ही नही बल्कि सचमुच असम्भव है। पिछले वर्षों में राष्ट्रो के पारस्परिक-सम्बन्ध और उनकी पारस्परिक-निर्भरता बहुत ही अधिक बढ गये है, और सारा ससार कितनी ही बातो में एक इकाई बनता जा रहा है। इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय, यानी विश्व इतिहास, बन गया है, और एक देश के लिहाज से भी हम उसे तभी समझ सकते हैं जब ससार को समग्र रूप से अपनी निगाह के सामने रक्खे।

योरप और एशिया मे सोवियत सघ जिस अत्यन्त विशाल प्रदेश को घेरे हुए है वह पूजीवादी जगत से अलग खड़ा है। मगर फिर भी वह हर जगह इस दूसरे जगत के सम्पर्क में आता है और अक्सर इससे टकराता भी है। सोवियत की उदार पूर्वी नीति का, तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान को उसकी दी हुई सहायता का, चीन के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्धो का, और फिर इन सम्बन्धो के एक दम टूट जाने का जिक्र मै अपने पिछले पत्रो मे कर चुका हूं। मै इग्लैण्ड के आर्कोस छापे का और उस "जिनोवीफ पत्र" का हाल भी बतला चुका हू जो बाद मे जाली निकला, लेकिन फिर भी जिसने इग्लैण्ड के एक आम चुनाव में गड़बड़ डाल दी। अब मै तुम्हे सोवियत भूमि के बीच मे ले चलना चाहता हू, ताकि तुम उस अद्भुत और चित्ताकर्षक सामाजिक प्रयोग के विकास का अवलोकन कर सको जो कि वहां हो रहा था।

क्रान्ति के बाद, सन् १९१७ से १९२० ई० तक के पहले चार वर्ष, ढेरो शत्रुओ से क्रान्ति की रक्षा करने के लिए लडाइयां लड़ने में बीते। यह जमाना युद्ध और क्रान्ति और गृह-युद्ध और भुखमरी और मौत का रोमांचकारी और नाटकीय जमाना था, जो जन-समूह के धर्म-रक्षकों जैसे उत्साह और एक आदर्श की

रक्षा के हेतु प्रगट की गई वीरता के प्रकाश से जगमगा उठा था। इसका तत्काल कोई फल नही मिलने वाला था, परन्तु लोगों के हृदय महान आशाओं और भावी कामना-पूर्तियों से भरे हुए थे। और इनके कारण वे अपनी भीषण यातनाओं को संतोष के साथ सहन करते थे, और कुछ ही देर के लिए सही, अपने भूखे पेटों को भूल जाते थे। यह "विग्रही साम्यवाद" का ज़माना था।

इसके बाद सन् १९२१ ई० में लेनिन ने जब नई आर्थिक नीति चलाई तो ज़रा आराम लेने की फुरसत मिली। यह नीति साम्यवाद के प्रतिकूल थी; देश के बुर्जुआ तत्वों से समझौता था। मगर इसका यह अर्थ नही था कि बोलशेविक नेताओ ने अपना ध्येय बदल दिया था। इसका अभिप्राय केवल यह था कि ये लोग सुस्ताने और नया बल प्राप्त करने के लिए एक क़दम पीछे हट गये थे, ताकि बाद में वे कई क़दम फिर आगे बढ़ाने के योग्य हो जायं। बस, सोवियतों ने शान्ति के साथ उस राष्ट्र के निर्माण की ज़बरदस्त समस्या का मुकाबला किया जो बहुत कुछ नष्ट और बरबाद हो चुका था। निर्माण और रचनात्मक कार्यों के लिए उन्हे रेल के इंजनो और गाडियो, बोझा ढोनेवाली मोटर गाडियो, यान्त्रिक हलो, कारखानो का सरजाम, वग़ैरा-वग़ैरा मशीनों और सामानो की ज़रूरत पड़ी। ये चीज़ें उन्हे बाहर के देशो से खरीदनी पडती थी, पर खरीदने के लिए उनके पास पैसा नही था। इसलिए उन्होने बाहर के इन देशों में उधार खाते खोलने का प्रयत्न किया ताकि वे अपने खरीदे हुए माल की कीमत आसान किस्तो मे चुका सके। मगर उधार तो तभी मिल सकती थी जब कि देशो में आपसी बोल-चाल होती। जब वे सरकारी तौर पर एक दूसरे को मानते ही नही थे तो उधार कैसी? इसलिए रूस इस बात के लिए बड़ा उत्सुक था कि बडी शक्तियो से उसे मान्यता प्राप्त हो जाय और उनके साथ उसके कूटनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाय। परन्तु ये साम्राज्यशाही शक्तियां बोलशेविकों तथा उनके सारे कार्यों के प्रति वैरभाव रखती थी। उनके लिए साम्यवाद एक घोर घृणास्पद चीज़ थी जिसे मिटा देना ही उचित था। वास्तव मे, हस्तक्षेप के युद्धो के दौरान में उन्होने इसे मिटा डालने की भरसक कोशिश भी की थी, पर वे सफल नही हो पाई थी। ये शक्तिया चाहती तो यह थी कि सोवियत सघ से कोई वास्ता न रक्खे। परन्तु जिस सरकार के कब्ज़े में सारे पृथ्वी तल का छठा भाग हो उसकी उपेक्षा करना कठिन है। ऐसे अच्छे ग्राहक की उपेक्षा करना और भी कठिन है जो बहुत-सी कीमती मशीनें खरीदने को तैयार हो। रूस जैसे कृषि-प्रधान देश तथा जर्मनी, इंग्लैण्ड और अमरीका जैसे उद्योग-प्रधान देशो का आपसी व्यापार दोनो पक्षो के लिए लाभकारी था, क्योंकि रूस को मशीनों की आवश्यकता थी और बदले मे वह सस्ते खाद्य-पदार्थ और कच्चा माल दे सकता था।

आखिर जेबें भरने का आकर्षण साम्यवाद की घृणा से ज्यादा ज़ोरदार साबित हुआ, और करीब-क़रीब सब देशो ने सोवियत सरकार की मान्यता स्वीकार कर ली। बहुतो ने उसके साथ व्यापारिक सन्धिया भी कर ली। अकेला अमरीका ही ऐसी शक्ति था जिसने सोवियत सघ को मान्यता देने से बराबर इन्कार किया। मगर रूस और सयुक्त राज्य अमरीका के बीच व्यापार होने लगा है।[1]

इस प्रकार सोवियत रूस ने अधिकतर पूजीवाद तथा साम्राज्यशाही शक्तियो से सम्बन्ध स्थापित कर लिये, और कुछ हद तक उसने इन शक्तियो की आपसी लाग-डाट से भी लाभ उठाया। ऐसा ही उसने तब किया था जब सन् १९२२ ई० में जर्मनी ने उससे सहायता मागी थी और रापालो के सन्धि-पत्र पर दोनो ने हस्ताक्षर किये थे। मगर यह समझौता बिल्कुल डावाडोल था क्योंकि पूजीवादी तथा साम्य-वादी दो व्यवस्थाओ के बीच मौलिक विषमता थी। बोलशेविक लोग हमेशा दलित और शोषित क़ौमो को, औपनिवेशिक देशो की पराधीन क़ौमो तथा कारखाने के मज़दूरो दोनो को, अपने शोषको के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसाते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नही बल्कि कॉमिण्टर्न यानी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सघ के ज़रिये करते थे। उधर साम्राज्यशाही शक्तिया, और खास कर इग्लैण्ड, सोवियत सघ की हस्ती को ही मिटाने के लिए लगातार साज़िशें कर रही थी। इसलिए झगड़ा पैदा होना लाज़मी था। इससे बार-बार विग्रह हुआ जिसके फल-स्वरूप कूटनीतिक सम्बन्ध टूट गये और युद्ध की हवा फैलने लगी।

---

[1]सन् १९३३ ई० में अमरीका ने सोवियत संघ को मान्यता दे दी और दोनों देशों के आपसी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गये।

सन् १९२७ ई० में आर्कोस के छापे के बाद इंग्लैण्ड से सम्बन्ध-विच्छेद का जो हाल में लिख चुका हूं वह तुम्हें याद होगा । इस संघर्ष के कारण को समझना आसान है, क्योंकि इंग्लैण्ड तो प्रमुख साम्राज्यशाही शक्ति है, और सोवियत रूस ऐसी विचारधारा को व्यक्त करता है जो सारी साम्राज्यशाही की जड़ पर ही कुठाराघात करती है । परन्तु मालूम होता है कि इन दो विपक्षी देशों के बीच कोई चीज़ इससे भी ज्यादा है । यानी उस वंशानुगत और परम्परागत वैर की कोई बात है जो ज़ारशाही रूस और इंग्लैण्ड के बीच पीढ़ियों से विद्यमान थी ।

आज इंग्लैण्ड तथा अन्य पूंजीवादी देशों को सोवियत सेनाओं का इतना डर नहीं है जितना सोवियत विचारों और साम्यवादी प्रचार का । ये चीज़ें सेनाओं की तरह प्रत्यक्ष तो नहीं हैं, परन्तु इनसे कहीं अधिक प्रबल और खतरनाक हैं । इसका प्रतिकार करने के लिए रूस के विरुद्ध निरन्तर मिथ्या-पूर्ण प्रचार का आश्रय लिया जाता रहा है और सोवियत की दुष्टता के बहुत-ही हैरत-भरे किस्से फैलाये जाते हैं । इंग्लैण्ड के राज्यनीतिज्ञ सोवियत के विरुद्ध ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जैसी उन्होंने युद्ध-काल में अपने शत्रुओं के सिवा और किसी के लिए कभी प्रयोग नहीं की । सोवियत राज्यनीतिज्ञों को लार्ड बर्कनहैड ने "हत्यारों की मजलिस" और "दम्भी मेढकों की मजलिस" तक कह डाला है, और वह भी ऐसे समय में जब कि यह माना जाता है, कि दोनों देशों के बीच केवल सुलह ही नहीं है बल्कि आपसी कूटनीतिक सम्बन्ध भी है । ऐसी हालतों में यह प्रत्यक्ष है कि सोवियत संघ तथा साम्राज्यशाही शक्तियों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कभी नहीं रह सकते । दोनों के आपसी मतभेद बुनियादी हैं । महायुद्ध के विजेता और पराजित देशों में शायद मेल हो भी जाय, मगर साम्यवादियों और पूंजीवादियों में नहीं हो सकता । इन दोनों की सुलह केवल अस्थाई हो सकती है, यह तो केवल युद्ध-विराम है ।

सोवियत रूस तथा पूंजीवादी शक्तियों के बीच तकरार का बार-बार उठने वाला एक कारण था रूस द्वारा अपने विदेशी क़र्ज़ों का नाजायज़ करार दिया जाना । अब यह मुद्दा मर चुका है, क्योंकि आजकल के कठिन समय में क़रीब-करीब हर देश कर्ज़ चुकाने में गफलत कर रहा है । मगर फिर भी यह विषय समय-समय पर उठ खड़ा होता है । ज्योंही बोलशेविकों के हाथों में सत्ता आई त्योंही उन्होंने ज़ारशाही के समय में अन्य देशों से लिए हुए कर्ज़ों को रद्द कर दिया । इस नीति की घोषणा सन् १९०५ ई० की असफल क्रान्ति से पहले ही कर दी गई थी । सोवियत संघ ने अपनी इस नीति के अनुरूप चीन आदि पूर्वी देशों पर उसका जो कुछ बाकी था उसका दावा छोड़ दिया । इसके अलावा उन्होंने हर्जानों में भी कोई हिस्सा नहीं मांगा । सन् १९२२ ई० में मित्र-राष्ट्रीय सरकारों ने इन कर्ज़ों के बारे में सोवियत संघ को एक खरीता भेजा । इसके जवाब में सोवियत संघ ने उन्हें याद दिलाई की विगत काल में कितने पूंजीवादी राज्यों ने अपने कर्ज़ों और तमस्सुकों को मानने से इन्कार कर दिया था, और विदेशियों की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली थी । उसने कहा "क्रान्तियों से उत्पन्न होने वाली हुकूमतें और व्यवस्थाएं नष्ट हुकूमतों के तमस्सुकों का लिहाज़ करने के लिए बाध्य नहीं हैं ।" सोवियत सरकार ने मित्र-राष्ट्रों को खास तौर पर यह याद दिलाई कि उन्हीं में से एक राष्ट्र फ्रांस ने अपनी महान क्रान्ति के समय क्या किया था ।

> "फ्रांसीसी परिषद् ने, जिसका जायज़ उत्तराधिकारी होने का फ्रांस दावा करता है, २२ दिसम्बर, सन् १७९२ ई०, को घोषणा कर दी थी कि 'जनता की सत्ता अत्याचारियों के सन्धि-पत्रों को मानने के लिए बाध्य नहीं है' । इस घोषणा के अनुसार फ्रांस ने केवल विगत राज्य-शासनों की विदेशों के साथ की गई सन्धियों को ही नहीं फाड़ फेंका, बल्कि अपने राष्ट्रीय ऋण को भी मानने से इन्कार कर दिया ।"

यद्यपि सोवियत सरकार ने कर्ज़ों को रद्द करने का अपना औचित्य बतला दिया था, फिर भी वह अन्य शक्तियों के साथ समझौता करने के लिए इतनी उत्सुक थी कि कर्ज़ों के सवाल पर उनके साथ चर्चा करने को पूरी तरह तैयार हो गई । मगर वह इस बात पर अड़ गई कि यह चर्चा तभी हो सकती है जब विदेशी सरकारें बिना किसी शर्त के सोवियत संघ को मान्यता दे दें । तथ्य तो यह है कि सोवियत ने इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमरीका को क़र्ज़ चुकाने के बारे में अनेक आश्वासन भी दिये, मगर पूंजीवादी शक्तियों की ओर से रूस के साथ समझौता करने की कोई आतुरता नहीं दिखाई गई ।

अंग्रेज़ों के दावे के मुक़ाबले में सोवियत ने एक मज़ेदार जवाबी-दावा पेश किया था । रूस के विरुद्ध

ब्रिटिश सरकार के सरकारी और युद्ध ऋणों, रेलवे के बन्धक-पत्रों, और व्यवसायिक पूंजियों के दावों की कुल रक़म ८४,००,००,००० पौंड के लगभग थी। बोलशेविकों ने जवाबी-दावा करके इंग्लैण्ड से उस नुक़सान का हर्जाना मांगा जो रूसी गृह-युद्ध में हुआ था, क्योंकि इंग्लैण्ड और उसकी फौजों ने सोवियत के शत्रुओं को मदद दी थी। इस हर्जाने की कुल रक़म ४,०६,७२,२६,०४० पौंड आंकी गई थी, और इसमें से इंग्लैण्ड के हिस्से में २,००,००,००,००० पौंड आते थे। इस प्रकार सोवियत का यह जवाबी-दावा इंग्लैण्ड के दावे से क़रीब ढाई गुना था।

बोलशेविकों का यह जवाबी-दावा बहुत कमज़ोर भी नहीं था। उन्होंने आलाबामा नामक गश्ती-जहाज़ का मशहूर उदाहरण दिया। सन् १८५०—६० ई० के अमरीकी गृह-युद्ध के समय में इंग्लैण्ड ने यह गश्ती-जहाज़ दक्षिणी राज्यों के लिए बनाया था। यह जहाज़ गृह-युद्ध प्रारम्भ होने के बाद लिवरपूल से रवाना हुआ था, और इसने उत्तरी राज्यों के जहाज़ों को और व्यापार को बहुत काफी नुकसान पहुंचाया था। इस पर इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच युद्ध की नौबत आ गई। संयुक्त राज्य की सरकार ने दावा किया कि युद्ध-काल में इंग्लैण्ड को यह जहाज़ दक्षिणी राज्यों को सौंप देने का कोई मजाज़ नहीं था। और इस जहाज़ ने तो नुकसान किया था उस सब के मुआवज़े का संयुक्त राज्य ने दावा पेश कर दिया। यह मामला पच-फ़ैसले के सिपुर्द किया गया, और नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड को हर्जाने के तौर पर ३२,२९,१६६ पौंड अमरीका को देने पड़े।

रूसी गृह-युद्ध में इंग्लैण्ड ने जो हिस्सा लिया था वह गश्ती-जहाज़ के उस भेजे जाने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और असर-कारक था, जिसके लिए उसे भारी मुआवज़ा देना पड़ा था। सोवियत ने सरकारी तौर पर बयान दिया है कि रूस में विदेशी हस्तक्षेपों के युद्ध में १३,५०,००० आदमियों की जानें गई थीं।

रूस के पुराने कर्ज़ों के प्रश्न का अभी तक आंशिक फैसला हुआ है, मगर इतना समय बीत जाने के कारण अब इसका कोई महत्व नहीं रह गया है। उधर हम देख रहे हैं कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली जैसे महान पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देश करीब-करीब वही हरकत कर रहे हैं जिसका रूस के मामले में उन पर इतना ज़बरदस्त असर हुआ था। यह सही है कि वे अपने कर्ज़ों को मानने से इन्कार नहीं करते, और न पूंजीवादी व्यवस्था की बुनियाद को अस्वीकार करते हैं। वे तो कर्ज़ चुकाने में सिर्फ ग़फ़लत कर जाते हैं, और रुपया नहीं देते।

अन्य राष्ट्रों के प्रति सोवियत की नीति जैसे भी हो वैसे सुलह करने की थी, क्योंकि वह खोया हुआ बल प्राप्त करने के लिए समय चाहता था, और उसका सारा ध्यान अपने विशाल देश का समाजवादी ढंग पर निर्माण करने के महान कार्य में लीन था। अन्य देशों में सामाजिक क्रान्ति का निकट भविष्य में कोई आसार नहीं दिखाई देता था, इसलिए "जागतिक क्रान्ति" का विचार उस समय तो ठंडा पड़ गया था। पूर्वी देशों के प्रति रूस ने मित्रता तथा सहयोग की नीति अपनाई, यद्यपि उनका शासन पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत था। रूस और तुर्की और ईरान और अफगानिस्तान की आपसी सन्धियों के जाल का ज़िक्र मैं कर चुका हूं। महान साम्राज्यशाही शक्तियों से इन सब को समान-रूप से भय था और नफ़रत थी, और यही चीज़ इन्हें जोड़ने वाली कड़ी थी।

सन् १९२१ ई० में लेनिन ने जो नई आर्थिक नीति चलाई थी उसका अभिप्राय मध्यम-कृषक-वर्ग को समाजीकरण के पक्ष में ले आना था। धनवान किसानों को, जो "कुलक" कहलाते हैं (कुलक शब्द का अर्थ घूसा है), प्रोत्साहन नहीं दिया गया, क्योंकि वे छोटे पैमाने पर पूंजीपति थे और समाजीकरण की प्रतिक्रिया का प्रतिरोध करते थे। लेनिन ने देहाती इलाकों में बिजली पहुंचाने की भी एक विशाल योजना शुरू की, और बिजली पैदा करने की ज़बरदस्त कलें लगाई गईं। इसका प्रयोजन यह था कि किसानों को हर प्रकार की सहायता दी जाय, और देश के औद्योगीकरण का मार्ग प्रशस्त किया जाय। इन सब बातों के अलावा इसका प्रयोजन यह था कि किसानवर्ग में औद्योगिक मनोवृत्ति पैदा हो जाय और वे शहरी मज़दूरों या सर्वहारा वर्ग के अधिक निकट आ जायं। किसान लोग, जिनके गावों में बिजली का प्रकाश जगमगाने लगा और जिनकी खेती का बहुत सारा काम बिजली की शक्ति से होने लगा, अपने पुराने ढर्रों को और अन्ध-विश्वासों को छोड़ने लगे और नये ढंग से सोचने लगे। शहर तथा गांव के हितों में,

यानी नगरवासी तथा किसान के हितों में, सदा संघर्ष रहता है। शहर का मजदूर देहात से सस्ता अन्न और कच्चा माल लेना चाहता है, और कारखानों में जो सामान वह बनाता है उसकी अच्छी कीमत चाहता है। उधर किसान शहर से सस्ते औजार और कारखानो का बना अन्य समान लेना चाहता है, और अपने पैदा किये हुए अन्न तथा कच्चे माल की अच्छी कीमत चाहता है। रूस मे चार वर्षों के सिपही साम्यवाद के फलस्वरूप यह संघर्ष तीव्र होता जा रहा था। नई आर्थिक नीति अधिकतर इसी कारण से, तथा तनाव को ढीला करने के इरादे से, जारी की गई और किसानो को निजी व्यापार करने की सुविधाएं दे दी गई।

बिजलीकरण की अपनी योजना के बारे में लेनिन को इतना उत्साह था कि उसने एक गुर बनाया जो विख्यात हो गया। उसने कहा कि "सोवियत मे बिजली जोड़ दी जाय तो घनफल साम्यवाद के बराबर हो जाता है"। लेनिन की मृत्यु के बाद भी बिजलीकरण बड़ी तेज गति से होता रहा। किसान-वर्ग पर असर डालने का और खेती-बाडी के तरीको में सुधार करने का एक और उपाय था जुताई तथा अन्य कार्यों के लिए यान्त्रिक-हलो का उपयोग जारी किया जाना। ये यान्त्रिक-हल अमरीका की फोर्ड कम्पनी बना कर भेजती थी। सोवियत ने रूस में मोटरें बनाने का कारखाना खडा करने के लिए फ़ोर्ड कम्पनी को बहुत बडा ठेका भी दिया। यह कारखाना हर साल एक लाख मोटर गाडिया तक तैयार कर सकता था। इसका मुख्य काम यान्त्रिक-हल बनाना था।

सोवियत की एक और कार्रवाई, जिसके कारण विदेशी स्वार्थों से उसका संघर्ष हुआ, मिट्टी के तेल और पैट्रोल का उत्पादन और बाहर के देशों में बेचा जाना था। काकेशस प्रदेश के अजरबाइजान और जार्जिया के इलाके मे मिट्टी के तेल का विपुल भडार है। शायद यह उसी बडे तेल क्षेत्र का हिस्सा है जो ईरान, मोसूल और इराक तक फैला हुआ है। कैस्पियन सागर के तट पर बाकू दक्षिणी रूस का महान तेल-नगर है। सोवियत ने बडी-बडी तेल कम्पनियो से सस्ते भाव पर अपना मिट्टी का तेल और पैट्रोल विदेशो में बेचना शुरू कर दिया। अमरीका की स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी, ऐंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी, रॉयल डच शैल कम्पनी, आदि तेल-कम्पनिया बडी जबरदस्त हैं, और ससार भर मे मिट्टी के तेल का व्यापार इन्ही के हाथो में है। सोवियत ने जब अपना तेल इनसे सस्ते भाव पर बेचा तो इन्हे बहुत नुकसान हुआ और ये आग-बबूला हो गईं। इन्होंने रूसी तेल के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया और इसे "चुराया हुआ तेल" बतलाया, क्योंकि रूस ने काकेशस मे तेल के कुए उनके पूजीपति मालिको से छीने थे। मगर कुछ दिन बाद इन कम्पनियो ने इस "चुराये हुए तेल" के साथ समझौता कर लिया।

इस पत्र में तथा इससे पहले के पत्रो मे मैंने बार-बार "सोवियत" या "सोवियतों" का उल्लेख किया है। कभी-कभी मैंने यह भी लिखा है कि "रूस" ने यह किया या वह किया। इन शब्दो का प्रयोग मैंने जरा बेपरवाही के साथ एक ही अर्थ में किया है, और अब मै तुम्हें बतलाना चाहता हूं कि यह क्या चीज है। अलबत्ता यह तो तुम जानती ही हो कि सोवियत प्रजातत्र की घोषणा, नवम्बर सन् १९१७ ई० मे, पैट्रोग्राड में, बोलशेविक क्रान्ति के बाद की गई थी। जारशाही साम्राज्य कोई सघन राष्ट्रीय राज्य नही था। योरप और एशिया के कितने ही छोटे-छोटे पराधीन कौमी इलाको पर खास रूस का प्रभुत्व था। इन छोटे-छोटे कौमी इलाको की सख्या करीब दो सौ थी, और इनमें अत्यन्त विभिन्नता थी। जार के राज्य में इनके साथ अधीन कौमो की तरह व्यवहार किया जाता था, और इनकी भाषाओ और सस्कृतियो को भी थोड़ा-बहुत दबाया जाता था। मध्य-एशिया की पिछडी हुई कौमो की बेहतरी के लिए कुछ भी नही किया गया था। हालाकि ऐसा कोई खास इलाका नही था जिसे यहूदी लोग अपना कह सकें, फिर भी इन्हे तमाम अल्प-सख्यक जातियो से अधिक सताया जाता था, और यहूदियों के "पोग्रोम" या हत्याकांड बुरी तरह विख्यात हो गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन सताई हुई क़ौमों के अनेक लोग रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में शामिल हो गये, हालांकि उनकी मुख्य दिलचस्पी राजनैतिक क्रान्ति में थी, सामाजिक क्रान्ति में नही। सन् १९१७ ई० में, फरवरी की क्रान्ति के बाद जो अस्थाई सरकार बनी थी, उसने इन क़ौमों को अनेक आश्वासन दिये थे, पर असल में कुछ भी नही किया। उधर लेनिन ने, बोलशेविक दल के प्रारम्भ के दिनों में, क्रान्ति से बहुत समय पहले ही, इस बात पर जोर दिया था कि हर छोटी-क़ौम को आत्म-निर्णय का पूरा अधिकार दिया जाय, यहां तक कि अगर वे चाहें तो बिल्कुल अलग और स्वाधीन भी हो जायं। पुराने बोलशेविक कार्यक्रम

का यह एक अंग था। क्रान्ति के तुरन्त बाद ही बोलशेविकों ने, जिनकी अब सरकार बन गई थी, आत्म-निर्णय के इस सिद्धान्त में अपने विश्वास की दृढ़ता फिर घोषित की।

गृह-युद्ध के दौरान में जारशाही साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, और सोवियत प्रजातंत्र के अधिकार में मॉस्को तथा लेनिनग्राड के आस-पास के छोटे-से क्षेत्र थे। पश्चिमी शक्तियों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर बाल्टिक सागर के तटवर्ती फ़िनलैण्ड, लैटविया, ऐस्टोनिया, लिथ्यूनिया आदि छोटे क़ौमी प्रदेश स्वाधीन राज्य बन गये। पोलैण्ड भी इसी प्रकार स्वाधीन राज्य बन गया। जब गृह-युद्ध में रूसी सोवियत पूरी तरह सफल हो गई और विदेशी सेनाएं हट गईं तो साइबेरिया तथा मध्य एशिया में सोवियत हुकूमतें क़ायम हो गईं। इन हुकूमतों के ध्येय एक-समान थे, इसलिए इन में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाना स्वाभाविक था। सन् १९२३ ई० में इन सबने मिलकर सोवियत संघ का निर्माण कर लिया। इसका पूरा सरकारी नाम समाजवादी सोवियत प्रजातंत्रों का संघ रक्खा गया।

सन् १९२३ ई० के बाद संघ के प्रजातंत्रों की संख्या में कुछ परिवर्तन हुआ है, क्योंकि कुछ प्रजातंत्रों के दो-दो टुकड़े हो गये हैं। आजकल इस संघ में सात प्रजातंत्र हैं :

(१) रूसी समाजवादी संघीय सोवियत प्रजातंत्र
(२) श्वेत रूसी समाजवादी सोवियत प्रजातंत्र
(३) यूक्रेनी स० सो० प्र०.
(४) काकेशस-पार का समाजवादी संघीय सो० प्र०
(५) तुर्कमेनिस्तान या तुर्कमान स० सो० प्र०
(६) उज़बक स० सो० प्र०
(७) ताजिकिस्तान या ताजिक स० सो० प्र०.

मंगोलिया का भी सोवियत संघ से थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है।

इस प्रकार सोवियत संघ कई प्रजातंत्रों का संघ है। संघ में शामिल होने वाले प्रजातंत्रों में से कुछ प्रजातंत्र खुद भी संघ हैं। मसलन, रूसी स० स० सो० प्र० बारह स्वशासित प्रजातंत्रों का संघ है, और काकेशस-पार का स० सं० सो० प्रजातंत्र इन तीन प्रजातंत्रों का संघ है : अज़रबाइजान स० सो० प्र०, जार्जिया स० सो० प्र० और आर्मीनिया स० सो० प्र०। इन अनेक अन्योन्य-सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित प्रजातंत्रों के अलावा, इन प्रजातंत्रों के अन्तर्गत अनेक "राष्ट्रीय" और "स्वशासित" प्रदेश हैं। हर जगह स्वशासन का इतना अधिकार जारी रखने का उद्देश्य यह है कि हरेक छोटी क़ौम को अपनी भाषा तथा संस्कृति कायम रखने का और ज्यादा से ज्यादा आज़ादी भोगने का मौका दिया जाय। जहां तक हो सका, इस बात का प्रयत्न किया गया है कि कोई भी राष्ट्रीय या जातीय समुदाय किसी दूसरे पर अपना प्रभुत्व न जमा सके। अल्पसंख्यकों की समस्या का यह रूसी हल हमारे लिए दिलचस्पी की चीज़ है, क्योंकि हमें खुद अल्पसंख्यकों की कठिन समस्या का सामना करना पड़ रहा है। मालूम होता है कि सोवियतों की कठिनाइयां हमारी कठिनाइयों से बहुत ज्यादा थीं, क्योंकि उन्हें १८२ विभिन्न छोटी क़ौमों के मामले को सुलझाना था। इस समस्या को उन्होंने बड़ी सफलता पूर्वक हल कर लिया है। सोवियत संघ तो इस आख़िरी हद तक चला गया कि उसने हरेक पृथक क़ौम को मान्यता दे दी और उसे अपना कार्य और अपनी शिक्षा अपनी निजी भाषा में चलाने के लिए प्रोत्साहन दिया। यह सिर्फ़ विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों की जुदागाना प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने के लिए नहीं किया गया, बल्कि यह महसूस करके किया गया कि जनसाधारण की सच्ची शिक्षा और सांस्कृतिक प्रगति देशी भाषाओं के उपयोग से ही सार्थक हो सकती है। इसके जो परिणाम निकले हैं वे अद्भुत हैं।

संघ में विषमता प्रविष्ट करने की इस प्रवृत्ति के बावजूद, उसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के इतने अधिक निकट आते जा रहे हैं जितने ज़ारों की केन्द्रीभूत सरकार के अधीन रह कर कभी नहीं आये थे। कारण यह है कि सबके उद्देश्य एक-समान हैं और सबके-सब समान-हित के महान प्रयत्न में लगे हुए हैं। सिद्धान्त रूप में हर प्रजातंत्र को अधिकार है कि जब चाहे तब संघ से पृथक हो जाय। मगर ऐसी नौबत आने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि पूंजीवादी जगत के द्रोह का मुक़ाबला करने के लिए समाजवादी सोवियतों के संघ में बहुत लाभ हैं।

इस संघ का अग्रणी प्रजातंत्र लाज़िमी तौर पर रूसी प्रजातंत्र है। यह लेनिनग्राड से लगाकर साइ-

बरिया के ठठ पार तक फैला हुआ है। श्वेत रूसी स० सो० प्रजातंत्र पोलैण्ड के बाजू में है। यूक्रेन दक्षिण में काले सागर के किनारे-किनारे चला गया है; यह रूस का अन्न-भंडार है। काकेशस-पार का प्रजातंत्र, जैसा कि इसके नाम से जाहिर है, काकेशस पर्वतमाला के पार कैस्पियन सागर और काले सागर के बीच में हैं। काकेशस-पार प्रजातंत्रों में ही आर्मीनिया का प्रजातंत्र है, जो बहुत समय तक तुर्कों तथा आर्मीनियाइयों के बीभत्स हत्याकाण्डों का अखाडा रहा था। अब सोवियत प्रजातंत्र बन जाने पर यह ठडा पड़ कर शान्तिपूर्ण प्रवृत्तियो में लग गया प्रतीत होता है। कैस्पियन सागर के उस पार तुर्कमेनिस्तान, उजबकिस्तान और ताजिकिस्तान के तीन मध्य-एशियाई प्रजातंत्र हैं। उजबकिस्तान में बुखारा और समरकन्द के प्रसिद्ध शहर हैं। ताजिकिस्तान अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सरहद पर है और भारत का सबसे नजदीकी सोवियत प्रदेश है।

मध्य एशिया के साथ हमारा युगों का सम्पर्क होने के कारण मध्य एशिया के ये प्रजातंत्र हमारे लिए खास दिलचस्पी की चीज़ हैं। पिछले कुछ वर्षों में इनमें जो अद्भुत प्रगति हुई है उसके कारण हमारा मन इनकी ओर और भी ज्यादा आकर्षित होता है। ज़ारो के राज्य मे ये देश बहुत पिछडे-हुए और अन्ध-विश्वासी थे। शिक्षा का यहा नाम भी नही था और ज्यादातर स्त्रियां परदे में रहती थी। आज ये देश अनेक बातों में भारत से आगे बढ गये है।

१८०

रूस की पंच-वर्षीय योजना

९ जुलाई, १९३३

लेनिन जब तक जीवित रहा तब तक रूस का सर्वमान्य नेता वही बना रहा। उसके अन्तिम निर्णय के आगे सब सिर झुकाते थे। जब कभी आपसी झगडे होते थे, उसका फैसला सब को मानना पडता था और साम्यवादी दल के आपस मे लडने वाले धड़े फिर मिल कर एक हो जाते थे। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद अनिवार्य रूप से गड़बड़ी पैदा हो गई, क्योकि प्रतिद्वन्दी धडे और प्रतिद्वन्दी बल प्रभुत्व के लिए आपस में लडने लगे। बाहर की दुनिया के लिए, और कुछ परिमाण में रूस मे भी, लेनिन के बाद बोलशेविको में ट्राट्स्की का व्यक्तित्व ही सबसे अग्रगण्य था। अक्तूबर की क्रान्ति मे अग्र भाग लेने वाला ट्राट्स्की ही था, और ट्राट्स्की ही वह व्यक्ति था जिसने जबरदस्त कठिनाइयो का मुकाबला करके उस लाल सेना का सगठन किया था जिसने गृह-युद्ध में और विदेशियो के हस्तक्षेप के विरुद्ध शानदार विजय प्राप्त की थी। मगर फिर भी बोलशेविक दल मे ट्राट्स्की एक नवागन्तुक था, और लेनिन को छोड कर सारे पुराने बोलशेविक न तो उसे चाहते थे न उसपर भरोसा करते थे। इन पुराने बोलशेविको में से स्टालिन साम्यवादी दल का प्रधान-मन्त्री बन गया था, और इस हैसियत से रूस के सबसे प्रभावशाली और बलशाली सगठन की बागडोर इसके हाथो में थी। ट्राट्स्की और स्टालिन के बीच घोर वैमनस्य था। ये एक-दूसरे के प्रति द्वेष भाव रखते थे और दोनों में किसी तरह की भी समानता नही थी। ट्राट्स्की तेजस्वी लेखक और वक्ता था, और अपने-आपको महान सगठनकर्त्ता और क्रियाशील व्यक्ति भी सिद्ध कर चुका था। यह तीक्ष्ण-बुद्धि और प्रगल्भ था; इसे क्रान्ति की नई-नई कल्पनाए सूझा करती थी; और अपने शत्रुओ पर यह ऐसे वचनो का प्रहार करता था जो उन्हें चाबुक और बिच्छू के डक की तरह तिलमिला देते थे। इसकी तुलना में स्टालिन एक साधारण आदमी जचता था —खामोश, बे-रौब और प्रतिभाहीन। मगर यह भी महान सगठनकर्त्ता था, महान और शूर-वीर योद्धा था, और लोहे के समान दृढ इच्छा-शक्ति वाला व्यक्ति था। वास्तव मे यह "लोह पुरुष" ही कहलाने लगा है। लोग ट्राट्स्की के तो गुणो की प्रशसा करते थे, परन्तु उनके हृदयों में विश्वास भरने वाला स्टालिन ही था। इसका जन्म जॉर्जिया के एक किसान परिवार में हुआ था, इसलिए यह खुद भी जनसाधारण में से ही ऊपर उठा था। साम्यवादी दल में इन दोनो बुलन्द हस्तियो के लिए गुजायश नही थी।

स्टालिन और ट्राट्स्की का संघर्ष व्यक्तिगत तो था ही, परन्तु असल में इससे कुछ और अधिक था। क्रान्ति को उभार पर लाने के बारे में दोनों भिन्न-भिन्न नीतियों और उपायों का प्रतिपादन करते थे। क्रान्ति

से बहुत साल पहले ट्राट्स्की ने "सतत क्रान्ति" का मतवाद सोच निकाला था। इस मतवाद के अनुसार किसी अकेले देश के लिए पूर्ण समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना सम्भव नही है, चाहे उस देश की स्थिति कितनी ही अनुकूल क्यो न हो। वास्तविक समाजवाद तो जागतिक क्रान्ति के बाद ही स्थापित हो सकता है, क्योंकि किसान वर्ग का असरकारक समाजीकरण तभी सम्भव है। आर्थिक विकास के क्रम में पूजीवाद के बाद समाजवाद ही अगली ऊँची सीढी है। पूजीवादी व्यवस्था ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय होती जाती है त्यो-त्यो टूटती जाती है, जैसा कि आज हम संसार के बहुत से भागों में देख रहे हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे को केवल समाजवाद ही सफलता पूर्वक सम्हाल सकता है, इसलिए समाजवाद अपरिहार्य है। मार्क्स का यही मत था। परन्तु यदि समाजवाद का किसी एक ही देश में प्रयोग किया जाय, यानी उसका रूप अन्तर्राष्ट्रीय न होकर राष्ट्रीय ही रहे, तो इसका अर्थ होगा नीचे की आर्थिक सीढ़ी पर उतर आना। सब तरह की प्रगति, जिसमें सामाजिक प्रगति भी शामिल है, अन्तर्राष्ट्रीयता की बुनियाद पर ही हो सकती है, और इससे पीछे हटना न तो सम्भव है, न वाछनीय। इसलिए, ट्राट्स्की के मतानुसार, आर्थिक दृष्टि से किसी अलग-थलग देश में समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करना सम्भव नही था; सोवियत सघ जैसे बडे देश में भी नही। क्योंकि सोवियत को भी कितनी ही बातों के लिए पश्चिमी योरप के उद्योग-प्रधान देशो पर निर्भर रहना पडता है। यह चीज ऐसी ही है जैसे शहरो और गांवो या देहाती क्षेत्रो का आपसी सहयोग; उद्योग-प्रधान पश्चिमी देश तो मानो शहर हैं, और रूस अधिकाश में कृषि-प्रधान है। ट्राट्स्की का मत था कि राजनैतिक दृष्टि से भी कोई पृथक समाजवादी देश पूजीवादी वातावरण में अधिक समय तक जीवित नही रह सकता। ये दोनो बाते आपस में बिल्कुल असगत है, और हम देख चुके है कि इसमें कितनी अधिक सचाई है। या तो पूजीवादी देश मिल कर समाजवादी देश को कुचल डालेंगे, या पजीवादी देशो में सामाजिक क्रान्तिया हो जायगी, और हर जगह समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जायगी। हा, यह हो सकता है कि कुछ वर्षों तक दोनो एक डांवाडोल सतुलन की अवस्था में साथ-साथ चलते रहे।

मालूम होता है कि क्रान्ति के पहले और बाद मे भी सारे बोलशेविक नेताओ का बहुत हद तक यही विचार था। वे जागतिक क्रान्ति की, या कम से कम कुछ योरपीय देशो में क्रान्तियो की, बडी आतुरता के साथ प्रतीक्षा कर रहे थे। महीनो तक योरप के आकाश मे बादल गरजते रहे, मगर यह तूफान बिना वर्षा के ही टल गया। सब झगडे-टटो को छोड कर रूस अपनी नई आर्थिक नीति को चलाने में लग गया और वहां का जीवन बहुत कुछ एक-रस हो गया। इस पर ट्राट्स्की ने खतरे का बिगुल बजाया, और बतलाया कि अगर जागतिक क्रान्ति के लक्ष्य की ओर ले जाने वाली अधिक उग्र नीति का अनुसरण नही किया गया तो क्रान्ति खतरे में पड जायगी। ट्राट्स्की की इस चुनौती के फलस्वरूप ट्राट्स्की और स्टालिन के बीच जबरदस्त द्वन्द-युद्ध छिड गया, और इस सघर्ष ने साम्यवादी दल को कई वर्ष तक हिला डाला। इस सघर्ष का परिणाम यह निकला कि स्टालिन पूरी तरह विजयी हुआ, और इसका प्रधान कारण यह था कि दल की कल उसी के हाथोमें थी। ट्राट्स्की और उसके समर्थक क्रान्ति के शत्रु करार दिये गये और दल से निकाल दिये गये। ट्राट्स्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया, बाद में उसे सोवियत संघ से ही निर्वासित कर दिया गया।

स्टालिन और ट्राट्स्की के संघर्ष का तात्कालिक कारण यह हुआ कि स्टालिन ने किसानो को समाजवाद के पक्ष में झुकाने के लिए कृषि सम्बधी उग्र नीति अपनाने का प्रस्ताव किया। यह, बिना इस बात का विचार किये कि अन्य देशों मे क्या हो रहा है, रूस में समाजवादी व्यवस्था निर्माण करने का प्रयत्न था। ट्राट्स्की ने इसे अस्वीकार कर दिया और वह अपने "सतत क्रान्ति" के मतवाद पर अडा रहा। उसका कहना था कि इसके बिना किसान वर्ग का पूरा समाजीकरण नही किया जा सकता। सच तो यह है कि स्टालिन ने ट्राट्स्की के बहुत-से सुझाव अपना लिये, लेकिन उन्हें अपनाया अपने निजी ढग से, ट्राट्स्की के ढंग से नही। इस का उल्लेख करते हुए ट्राट्स्की ने अपने आत्म-चरित मे लिखा है : "राजनीति में किसी कार्य के बारे में निर्णय केवल इस बात पर नही किया जाता कि वह कार्य क्या है, बल्कि इस पर किया जाता है कि वह कार्य कैसे किया जाता है और उसे कौन करता है।"

इस प्रकार इन दो भीमों की जबरदस्त लड़ाई का अन्त हुआ, और जिस रगमंच पर ट्राट्स्की ने इतना वीरतापूर्ण और तेजस्वितापूर्ण अभिनय किया था, उसी पर से उसे ढकेल कर नीचे गिरा दिया गया। जिस सोवियत संघ के प्रधान निर्माताओं में उसकी गिनती थी, उसी को उसे छोड़ जाना पड़ा। ट्राट्स्की के

ओजस्वी व्यक्तित्व से लगभग सारे देश कांपते थे, इसलिए कोई उसे अपने यहां आने देने को तैयार नहीं था। इंग्लैण्ड ने उसे अपने देश में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी, और योरप के अधिकतर अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया। अन्त में उसे तुर्की के एक छोटे-से टापू प्रिन्किपो में आश्रय मिला जो इस्तम्बोल के समुद्र तट के पास है। यहां वह लिखने में संलग्न हो गया, और उसने 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की। स्टालिन की घृणा का भूत उसके सिर पर अभी तक सवार था, और वह बड़ी तीखी भाषा में उसकी आलोचना करता रहता था और उस पर आक्रमण करता रहता था। संसार के कुछ भागों में बाक़ायदा ट्राट्स्की-वादी दल तैयार हो गया और यह सोवियत सरकार तथा कोमिण्टर्न के सरकारी साम्यवाद के विरुद्ध डटकर खड़ा हो गया।

ट्राट्स्की से निबट लेने के बाद, स्टालिन अपनी नई कृषि-सम्बन्धी नीति का पालन करने में अद्‌भुत साहस के साथ दत्त-चित्त हो गया। उसे कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा। दिमाग़ी लोगों में मुसीबत और बेकारी फैल रही थी और मजदूरों की हड़तालें तक हो रही थीं। उसने धनवान किसानों यानी 'कुलकों' पर भारी कर लगा दिये, और इस रुपये का उपयोग देहाती सामूहिक खेती के निर्माण में लगा दिया। इस सामूहिक खेती का अर्थ था सहकारिता के आधार पर ऐसी खेती जिसमें बहुत-से किसान मिल कर काम करते थे और मुनाफा आपस में बांट लेते थे। कुलकों और अधिक धनवान किसानों ने इस नीति पर रोष प्रगट किया और वे सोवियत सरकार से बहुत नाराज़ हो गये। उन्हें डर था कि उनके ढोर और खेती के औज़ार उनके निर्धन पड़ौसियों के ढोरों और औज़ारों के साथ शामिल कर दिये जायगे, और इस आशंका से उन्होंने सचमुच अपने जानवरों को नष्ट कर दिया। जानवरों का ऐसा ज़बरदस्त सत्यानाश हुआ कि अगले साल अन्न, गोश्त और दूध-मक्खन आदि की सख्त कमी पड़ गई।

स्टालिन के लिए यह ऐसी चोट थी जिसकी उसे आशा नहीं थी, मगर वह जी कड़ा करके अपने कार्य क्रम पर अटल रहा। इतना ही नहीं, उसने तो इसे और भी बढ़ाया और उसे सारे संघ के लिए खेती-बाड़ी और उद्योग दोनों की ज़बरदस्त योजना का रूप दे दिया। इस योजना का काम नमूने के विशाल सरकारी खेतों तथा सामूहिक खेतों के द्वारा किसानों को उद्योगों के निकट लाना था; और बड़े-बड़े कारखाने तथा जल-बिजली पैदा करने के यंत्र डालना, और खानों की खुदाई कराना वग़ैरा, था। साथ ही साथ शिक्षा, विज्ञान, सहकारी क्रय-विक्रय, लाखों मजदूरों के लिए मकान बनाना और आम तौर पर उनके रहन-सहन के दर्जे को ऊंचा करना, वग़ैरा-वग़ैरा ढेरों अन्य कार्य भी हाथ में लिये जाने वाले थे। यही विख्यात "पंच-वर्षीय योजना" थी जिसे रूसी लोग अपनी भाषा में "पायातिलेट्का" कहते थे। यह बड़ा भीमकाय कार्यक्रम था, और इतना उच्चाकांक्षापूर्ण था कि किसी मालदार और प्रगतिशील देश के लिए भी एक पीढ़ी में इसे पूरा करना कठिन था। पिछड़े-हुए और निर्धन रूस का तो इसमें हाथ डालना ही हद दर्जे की मूर्खता प्रतीत होती थी।

यह पंच-वर्षीय योजना अत्यन्त ध्यान-पूर्वक विचार और जांच करने के बाद रची गई थी। वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों ने सारे देश की खोज की थी, और कार्यक्रम के एक अंग का दूसरे अंग से मेल-मिलाने की समस्या पर अनेकों विशेषज्ञों ने विचार-विनिमय किया था। क्योंकि असली कठिनाई तो यही मेल-मिलाने की थी। कोई विशाल कारखाना डालना बेसूद था अगर उसके लिए कच्चा माल प्राप्त नहीं हो सकता था। और अगर कच्चा माल सुलभ भी हुआ तो उसे कारखाने तक पहुँचाने का सवाल था। इसलिए माल ढोनेकी समस्या का हल करने के लिए रेलमार्गों का निर्माण आवश्यक था। और रेलों के लिए कोयले की ज़रूरत थी, इसलिए कोयले की खानों की खुदाई आवश्यक थी। फिर कारखानों को चलाने के लिए शक्ति चाहिए थी। यह शक्ति कारखानों में पहुंचाने के लिए बड़ी-बड़ी नदियों पर बांध बना कर जल-शक्ति से बिजली पैदा की गई, और फिर इस बिजली को तारों के द्वारा कारखानों और खेतों में, तथा रोशनी के लिए शहरों और गांवों में, पहुंचाया गया। लेकिन फिर इन सब कामों के लिए इंजीनियरों, मिस्त्रियों, और सीखे हुए मजदूरों की आवश्यकता थी, और थोड़े-से समय में बीसियों हज़ार सीखे हुए नर-नारी तैयार कर देना कोई आसान बात नहीं है। मोटर से चलने वाले यांत्रिक-हल हज़ारों की संख्या में खेतों पर भेजे जा सकते थे पर उन्हें चलाता कौन?

पंच-वर्षीय योजना के कारण जो समस्याएं उठ खड़ी हुई थीं उनकी चकराने वाली जटिलता का कुछ अन्दाज़ बताने के लिए ये थोड़े-से उदाहरण मैंने दिये हैं। अगर कहीं एक भी भूल हो जाती तो उसका असर

बड़ी दूर तक पहुंचता; सारे कार्यक्रम की शृंखला की अगर एक भी कड़ी कमज़ोर या पिछड़ी-हुई होती तो सारे क्रम में ही देर हो जाती या रुकावट पड जाती। मगर पूजीवादी देशो के मुक़ाबले में रूस को एक बड़ी भारी सुविधा थी। पूजीवादी व्यवस्था में ये सब कार्य व्यक्तिगत सूझ-बूझ और संयोग पर छोड़ दिये जाते हैं, और प्रतियोगिता के कारण बहुत-सा प्रयत्न निष्फल जाता है। विभिन्न उत्पादको अथवा विभिन्न कामो में लगे हुए मजदूरो के बीच कोई सयोजन नही होता। अगर सयोग से सयोजन होता भी है तो वह एक ही मडी में माल बेचने वालों और खरीदने वालो मे पैदा होने वाला सयोजन होता है। सक्षेप में, व्यापक पैमाने पर कोई योजना नही बनाई जाती। अलग-अलग कम्पनिया अपने भावी कार्यों की शायद योजना बनाती हों, और बनाती भी है, मगर अपनी-अपनी योजना बनाने का यह काम इस दृष्टि से होता है कि दूसरी कम्पनियो से बाजी मार ली जाय या उन्हे पछाड़ दिया जाय। राष्ट्रीय दृष्टि से इसका परिणाम योजना बनाने के कार्य से बिल्कुल विपरीत होता है; इसका अर्थ यह होता है कि अति और अभाव साथ-साथ बने रहते है। सोवियत सरकार के लिए यह सुविधा थी कि सारे सघ के तमाम विभिन्न उद्योगों और कार्यों का सचालन उसके हाथ मे था, इसलिए वह ऐसी संयोजित योजना रच सकती थी और अमल मे लाने का प्रयत्न कर सकती थी जिसमें हर कार्य को उचित स्थान मिला हुआ होता था। इसमें कोई चीज़ व्यर्थ नही जाती, हिसाब लगाने या काम करने में ग़लती होने से कुछ नुकसान भले ही हो जाय। और एकीकृत नियन्त्रण मे ये गलतिया भी इतनी जल्दी सुधारी जा सकती है जितनी जल्दी इससे विपरीत अवस्था में नही सुधारी जा सकती।

पचवर्षीय योजना का लक्ष्य यह था कि सोवियत सघ मे उद्योगवादी व्यवस्था की ठोस नीव पड़ जाय। यह इरादा नही था कि कपडा इत्यादि हरेक की जरूरत का माल बनाने के लिए कुछ कारखाने डाल दिये जायं। बाहर के देशो से मशीनें मगा कर खडी करने से यह काम बडी आसानी से हो जाता, जैसा कि भारत में किया जाता है। उपभोग्य चीजें उत्पादन करने वाले ऐसे उद्योग "हलके उद्योग" कहलाते है। ये हलके उद्योग जरूरी तौर पर लोहा और इस्पात और मशीनें बनाने आदि के "भारी उद्योगों" पर निर्भर करते हैं। ये भारी उद्योग हलके उद्योगो के लिए मशीने और सरजाम और इंजन वगैरा भी मुहैय्या करते है। सोवियत सरकार ने पच-वर्षीय योजना में दूरदर्शिता के साथ इन बुनियादी या भारी उद्योगो पर सारी शक्ति लगाने का निश्चय किया। उसने सोचा कि इस प्रकार औद्योगिक व्यवस्था की जड मज़बूती के साथ जम जायगी और बाद में हलके उद्योग चालू करना आसान हो जायगा। भारी उद्योगो से यह भी होगा कि मशीनो और युद्ध-सामग्री के लिए रूस को बाहर के देशो पर इतना निर्भर नही रहना पडेगा।

तत्कालीन परिस्थितियो मे भारी उद्योगो के पक्ष मे यही निर्णय सही मालूम होता था, परन्तु इसका अर्थ यह था कि जनता को बडा कठिन प्रयास करना था और ज़बरदस्त कष्ट सहने थे। भारी उद्योग हलके उद्योगो से खर्चीले भी बहुत ज्यादा होते है, और इन दोनो मे मार्मिक भेद यह होता है कि भारी उद्योगो से बहुत समय तक तो कोई आमदनी ही नही होती। कपडे का कारखाना खुलते ही कपडा उत्पादन करने लगता है, और इसे तुरन्त बेचा जा सकता है। उपभोग्य चीजो का उत्पादन करने वाले अन्य हलके उद्योगो की भी यही स्थिति होती है। परन्तु लोहे और इस्पात का कारखाना इस्पात की रेल-पटरियाँ और रेल के इजन तैयार तो कर देगा, किन्तु इनकी खपत या इनका उपयोग तब तक नही हो सकता जब तक कि रेलमार्ग न डाला जाय। इसमे समय लगता है, और तब तक बहुत-सा रुपया इस धन्धे में फसा रहता है, और देश का हाथ तग हो जाता है।

इस कारण ज़बरदस्त तेज़ी के साथ भारी उद्योगो के निर्माण का अर्थ रूस के लिए बडी भारी कुर्बानी का काम था। इस सारे निर्माण कार्य के लिए, बाहर के देशो से आने वाले इन तमाम मशीनो के लिए, क़ीमत देनी पडती थी, और वह भी सोने और नकदी के रूप में। इसका क्या उपाय था? सोवियत सघ की जनता ने अपने पेट पर पट्टी बाध ली और भूखा रहना मजूर किया और अपने-आपको आवश्यक वस्तुओं तक से वंचित रक्खा, ताकि बाहर के देशों को सामान की कीमत का रुपया भेजा जा सके। उन्होने अपने यहां के खाद्य-पदार्थ विदेशों को भेजे और इनकी जो कीमत मिली उससे मशीनो के दाम चुकाये। जितनी भी चीज़ें विदेशो में बिक सकती थी वे सब उन्होने भेजीं, जैसे . गेहूँ, कगनी, जौ, मक्का, तरकारियाँ, फल, अंडे, मक्खन, गोश्त, मुर्गियां, बतखें, शहद, मछलियां, खावियार, तेल, चीनी की गोलियां और चाकलेट, वग़ैरा। इन सुन्दर पदार्थों को बाहर भेजने का अर्थ यह था कि वे खुद इन चीज़ों के लिए तरसते रह जाते थे।

रूस के निवासियों को मक्खन नही मिलता था, या बहुत ही कम मिलता था, क्योकि वह मशीनो के दाम चुकाने के लिए बाहर भेजा जाता था। यही हाल बहुत-सी अन्य वस्तुओ का भी था।

पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत यह महान प्रयास सन् १९२९ ई० में प्रारम्भ हुआ। क्रान्ति की भावना एक बार फिर फैल गई; एक आदर्श की पुकार ने जनसमूह के हृदयो को आलोडित कर दिया और उन्हे अपनी सारी शक्ति इस नये सघर्ष में लगाने के लिए प्रेरित किया। यह सग्राम किसी बाहरी शत्रु या अन्दरूनी दुश्मन के विरुद्ध नही था। यह सग्राम था रूस की पिछड़ी-हुई अवस्था के विरुद्ध, पूजीवाद के अवशेषो के विरुद्ध, और रहन-सहन के नीचे दर्जों के विरुद्ध। लोगो ने काफी उत्साह से इन आगे की कुर्बानियो को बर्दाश्त किया, और वे तपस्वियो का सा कठोर जीवन व्यतीत करने लगे। उन्होंने वर्तमान को उस भविष्य पर निछावर कर दिया, जो उन्हें अपनी ओर इंगित करता प्रतीत होता था, और जिसे निर्माण करने का उन्हे गौरव और सौभाग्य मिला था।

भूतकाल मे राष्ट्रो ने अपनी सारी शक्ति समेट कर किसी एक ही महान कार्य को पूरा करने मे लगा दी है, परन्तु यह हुआ युद्ध के ही समयो में है। महायुद्ध के दौरान में जर्मनी और इग्लैण्ड और फ्रास के जीवन का एक ही हेतु था . किसी तरह युद्ध जीतना। इस हेतु के आगे बाकी सब बाते हेच थी। किन्तु सोवियत रूस ने इतिहास में यह सबसे पहला उदाहरण प्रस्तुत किया कि राष्ट्र की सारी शक्ति को समेट कर, विनाश के कार्य मे नही, बल्कि निर्माण के, और एक पिछडे-हुए देश को समाजवादी व्यवस्था के ही ढाचे में औद्योगिक दृष्टि से ऊचा उठाने के, शान्तिपूर्ण प्रयास में लगा दिया। परन्तु जनता को, और खास कर उच्च तथा मध्यम वर्गीय किसानो को, इसकी बडी भारी कीमत चुकानी पडी, और अक्सर ऐसा लगता था कि यह सारी ऊँची आकाक्षा वाली योजना ढह जायगी और शायद अपने साथ सोवियत सरकार को भी ले बैठेगी। इसपर दृढता के साथ जमे रहने के लिए असाधारण साहस की आवश्यकता थी। अनेक बोलशेविको का खयाल था कि कृषि-सम्बन्धी कार्यक्रम के कारण लोगो पर असहनीय जोर और कष्ट पड़ रहे थे, इसलिए उन्हें थोडी देर विश्राम देना चाहिए। परन्तु स्टालिन ने कभी यह नही सोचा। वह तो जी कडा करके और धैर्य के साथ डटा रहा। वह बातूनी नही था . सार्वजनिक सभाओ मे भाषण देने की उसकी आदत नही थी। ऐसा लगता था मानो वह किसी अपरिहार्य नियति की ऐसी लोह प्रतिमा हो जो अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही हो। और उसके साहस तथा दृढ निश्चय का कुछ अश साम्यवादी दल के सदस्यो मे तथा रूस के अन्य कार्यकर्त्ताओ में भी प्रवेश कर गया।

पच-वर्षीय योजना के पक्ष मे निरन्तर प्रचार के द्वारा जनता का उत्साह मन्द नही पड़ने दिया गया और लोगों को नित्य नया प्रयत्न करने के लिए हाका गया। जल-बिजली पैदा करने वाले यन्त्रो, बाँधो, पुलो, कारखानो, और सामुदायिक खेतो के निर्माण मे सर्व-साधारण ने बडा रस लिया। इजीनियरी का काम सबसे अधिक लोकप्रिय धन्धा बन गया, और अखबारो में इजीनियरो के महान कारनामो के यन्त्र-शास्त्रीय ब्यौरे भरे रहते थे। रेगिस्तान और घास के मैदान आबाद हो गये, और औद्योगिक व्यवसाय के हर स्थान के चारो ओर नये-नये नगर पैदा हो गये। नई-नई सडके, नई-नई नहरे, नई-नई रेलें जिनमे अधिकाश बिजली की रेलें थी, बनाई गई, और हवाई यातायात का विकास हुआ। रासायनिक उद्योग, सामरिक उद्योग और औज़ार उद्योग स्थापित किये गये, और सोवियत सघ यांत्रिक-हल, मोटर गाडियां, रेल के शक्तिशाली इजन, मोटर इजन, टरबाइनें और वायुयान तैयार करने लगा। लम्बे-चौडे क्षेत्रो में बिजली का जाल फैल गया, और रेडियो तो सबके साधारण उपयोग की चीज़ हो गया। बेकारी बिल्कुल गायब हो गई, क्योकि निर्माण का तथा अन्य प्रकार का इतना काम चल रहा था कि जितने भी मज़दूर मिल सकते थे वे सब काम मे लगा दिये गये। यहा तक कि अनेक इजीनियर बाहर के देशो से वहा आये और उन्हे खुशी-खुशी रख लिया गया। याद रखने की बात यह है कि यह वह ज़माना था जब कि सारे पश्चिमी योरप और अमरीका मे मन्दी फैल रही थी और वहाँ बेकारो की सख्या बहुत अधिक बढ गई थी।

पच-वर्षीय योजना का कार्य सरलता के साथ नही चला। अक्सर दिक़्कते पैदा हो जाती थी, सयोजन में कमी हो जाती थी, काम उलटे हो जाते थे, और मेहनत बेकार चली जाती थी। परन्तु इन सब बातों के बावजूद कार्य का वेग बढता गया और हमेशा अधिकाधिक कार्य की पुकार मचती रही। और तब यह नारा उठाया गया: "पंच-वर्षीय योजना चार वर्षों में पूरी होनी चाहिए", मानो इस अद्भुत कार्यक्रम के लिए

पांच वर्ष का समय भी बहुत ज्यादा था ! यह योजना क़ायदे के अनुसार ३१ दिसम्बर, सन् १९३२ ई० को, यानी चार वर्ष बाद ही, समाप्त हो गई। और फिर १ जनवरी, सन् १९३३ ई० से तुरन्त ही नई पंच-वर्षीय योजना चालू कर दी गई।

इस पंच-वर्षीय योजना के बारे में लोग अक्सर तर्क-वितर्क किया करते है; कुछ तो कहते हैं कि इसे जबरदस्त सफलता मिली और कुछ कहते है कि यह बिल्कुल असफल रही। उसमें कहां-कहा कसर रही यह बतला देना काफी आसान है, क्योंकि इससे जो आशाएं बांधी गई थी वे बहुत बातो मे पूरी नही हुई। रूस में आज अनेक बातों में बड़ा भारी विषमानुपात है, और सबसे बड़ा अभाव सीखे हुए और कुशल कर्मचारियों का है। कारखाने तो बहुत ज्यादा है, और उन्हे चलाने वाले योग्य इजीनियर कम हैं; मानो भोजनालय और पाकशालाएं तो बहुत हैं पर योग्य रसोइये कम हैं ! इसमें सन्देह नही कि ये विषमानुपात जल्दी मिट जायगे, या और कुछ नही तो कम हो जायगे। परन्तु एक चीज़ स्पष्ट है : पच-वर्षीय योजना ने रूस की बिल्कुल काया पलट कर दी है। पहले वह सामन्ती देश था, अब वह एक दम प्रगतिशील उद्योग-प्रधान देश बन गया है। यहां अद्भुत सास्कृतिक प्रगति हुई है; और यहां के सामाजिक हित के साधन, यानी सामाजिक स्वास्थ्य-रक्षा और दुर्घटना के बीमो की व्यवस्था, दुनिया भर में सबसे अधिक सर्वाङ्गीण और उन्नत है। जरूरी चीजो की तकलीफ़ और कमी के बावजूद बेकारी और भुखमरी की जो भीषण तलवार अन्य देशो के मजदूरो के सिर पर लटकी हुई है, वह रूस से गायब हो गई है। जनता में आर्थिक निश्चिन्तता की नई भावना पैदा हो गई है।

पच-वर्षीय योजना की सफलता या असफलता के बारे में तर्क-वितर्क बहुत कुछ निस्सार है। इसका सही जवाब तो सोवियत संघ की वर्तमान अवस्था से मिल जाता है। और दूसरा जवाब यह तथ्य है कि इस योजना की छाप दुनिया भर के लोगो के दिलो मे बैठ गई है। अब सब जगह "योजना-करण" की और पच-वर्षीय, दश-वर्षीय और तीन-वर्षीय, योजनाओ की चर्चा हो रही है। सोवियत ने इस शब्द में जादू भर दिया है।

: १८१ :

सोवियत संघ की कठिनाइयां, सफलताएं और असफलताएं

११ जुलाई, १९३३

सोवियत रूस की पंच-वर्षीय योजना एक भीमकाय प्रयास थी। वास्तव में यह ऐसी क्रान्ति थी जिसमें कई बड़ी-बड़ी क्रान्तिया नत्थी हो रही थी। खास तौर पर इसमें कृषि-सम्बन्धी योजना शामिल थी, जिससे पुराने ढग के छोटे पैमाने पर खेती-बाड़ी के तरीकों की जगह बडे पैमाने पर सामूहिक और यान्त्रिक खेती-बाड़ी के तरीको ने लेली थी; और औद्योगिक क्रान्ति भी इसमे शामिल थी जिससे रूस का औद्योगीकरण अत्यन्त तीव्र गति से हो गया था। परन्तु इस योजना का रोचक स्वरूप इसके पीछे काम करने वाली भावना थी, क्योंकि राजनैतिक और औद्योगिक दृष्टि से यह भावना नई थी। यह भावना विज्ञान की भावना थी, यानी सुविचारपूर्ण वैज्ञानिक तरीक़े का समाज के निर्माण में प्रयोग करने का प्रयत्न था। इससे पहले किसी अत्यन्त उन्नत देश में भी ऐसा कोई प्रयोग नही हुआ था, और विज्ञान के तरीको का मानवीय तथा सामाजिक व्यवहारो में यह प्रयोग सोवियत की योजनाओं का विशिष्ट स्वरूप था। यही कारण है कि आज सारा ससार योजनाए बनाने की बात सोच रहा है, परन्तु जब पूजीवादी व्यवस्था जैसी सामाजिक व्यवस्था का सारा आधार ही प्रतियोगिता पर और सम्पत्ति में निहित स्वार्थों के संरक्षण पर टिका हुआ है, तब कोई भी कारगर योजना बनाना कठिन है।

परन्तु, जैसा कि मै तुम्हे बतला चुका हूं, इस पंच-वर्षीय योजना के कारण बहुत मुसीबत और कठिनाइयां और उखाड़-पछाड़ पैदा हो गई। और जनता को इसकी भयंकर क़ीमत चुकानी पड़ी। अधिकतर लोगो ने तो यह क़ीमत राजी से चुकाई, और अच्छे दिनों के आने की आशा में कुछ वर्षों के लिए क़ुर्बानियां और मुसीबतें झेलना स्वीकार कर लिया; कुछ लोगों ने अनिच्छा से क़ीमत चुकाई, और केवल सोवियत

सरकार की जबरदस्ती की वजह से चुकाई। 'कुलकों' या अधिक धनवान किसानों की गिनती उन ... थी जिन्होंने सबसे अधिक नुकसान उठाया। अपने अधिक धन और विशेष प्रभाव के कारण नई योजना में इन लोगों का मेल नहीं बैठा। ये ऐसे पूंजीपति तत्त्व थे जो सामूहिक खेती की समाजवादी ढग पर उन्नति को रोकते थे। अक्सर वे इस सामूहीकरण का विरोध करते थे, कभी-कभी ये इन सामूहिक खेतियों में उन्हें भीतर से कमजोर करने के इरादे से, या उनसे बेजा व्यक्तिगत मुनाफ़े वसूल करने के इरादे से घुस जाते थे। इसलिए सोवियत सरकार ने इन्हें बुरी तरह दबोच दिया। सरकार ने उन अनेक मध्यम-वर्गी लोगो पर भी बड़ी सख्ती की जिन पर उसे यह सन्देह था कि वे उसके शत्रुओ की ओर से भेदियों का या तोड़-फोड़ का काम कर रहे हैं। इसी संदेह के कारण बहुत से इजीनियरों को सजाए दी गईं और जेलो में डाल दिया गया। मगर चूंकि हाथ मे ली हुई सैकडों बडी-बडी योजनाओ के लिए इजीनियरो की विशेष ज़रूरत थी, इसलिए इससे खुद योजना को ही धक्का पहुचा।

क़रीब-क़रीब हर जगह विषमानुपात था। ढुलाई की व्यवस्था ठीक नही थी, इसलिए कारखानो का उत्पादन और खेतो की उपज ढुलाई के साधनो की कमी के कारण महीनों पडे रहते थे, जिसकी वजह से दूसरी जगहो के काम मे गडबड़ी पड़ जाती थी। मगर सब से बड़ी कठिनाई तो सुयोग्य विशेषज्ञो और इजीनियरो की कमी की थी।

पंच-वर्षीय योजना के वर्षों के दरमियान सारी दुनिया मे, या यों कहो कि पूजीवादी व्यवस्था वाली दुनिया मे, इतनी जबरदस्त मन्दी फैल रही थी जितनी पहले कभी नही हुई। व्यापार डूब रहा था, कारखाने बन्द हो रहे थे, बेकारी खूब बढ रही थी। अन्न और कच्चे माल की क़ीमतो में गिरावट के कारण सारी दुनिया के खेतिहरो में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। सोवियत संघ में तो जबरदस्त हलचल और रोजगारी थी पर अन्य देशो में काम ठप्प हो रहा था और बेरोजगारी फैली हुई थी, इसलिए यह अन्तर बडा विचित्र दिखाई देता था। ऐसा मालूम होता था कि जागतिक मन्दी का सोवियत सघ पर कोई असर नही पडा था, क्योंकि उसकी आर्थिक व्यवस्था का आधार ही भिन्न प्रकार का था। परन्तु सोवियत सघ की मन्दी के परिणामो से बच नही पाया; ये अप्रत्यक्ष रूप में चुपचाप घुस आये और इनके कारण रूस की दिक्कतें बहुत ज्यादा बढ गईं। मै बतला चुका हू कि सोवियत रूस बाहर के देशो से मशीने खरीदता था और इनके दाम चुकाने के लिए वह अपने यहा पैदा होने वाले खाद्य-पदार्थ विदेशो में बेचता था। जब ससार की मडियो मे खाद्य-पदार्थों इत्यादि के भाव गिरे तो सोवियत को निर्यात से कम आमदनी होने लगी। मगर उसे अपनी खरीदी हुई मशीनो के दाम चुकाने के लिए काफी सोना प्राप्त करना जरूरी था, इसलिए वह दिन पर दिन अधिक खाद्य-पदार्थ का निर्यात करने लगा। इस प्रकार व्यापार की जागतिक मन्दी और भावो के गिर जाने से रूस को बहुत नुक़सान हुआ और उसके बहुत-से अनुमान उलट-पुलट हो गये। और इसके परिणामस्वरूप देश मे अनेक आवश्यक वस्तुओ की और भी ज्यादा कमी हो गई और तकलीफें बढ गईं।

एक ओर तो सारे सोवियत सघ मे खाद्य-पदार्थों की निरन्तर कमी होती जा रही थी, दूसरी ओर जनसख्या में ज़बरदस्त वृद्धि हो रही थी। तीव्र गति से होने वाली यह वृद्धि, जो कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की तुलनात्मक मद प्रगति के अनुपात से बहुत अधिक थी, सोवियत की प्रधान समस्या थी। क्रान्ति से पहले सोवियत सघ के वर्तमान प्रदेश की आबादी तेरह करोड थी। गृह-युद्ध में अपार जन हानि के बावजूद पिछले वर्षों मे जनसख्या की वृद्धि अवलोकनीय है :

१९१७ ई० में आबादी	१३,००,००,०००	थी
१९२६ ई० मे आबादी	१४,९०,००,०००	थी
१९२९ ई० में आबादी	१५,४०,००,०००	थी
१९३० ई० मे आबादी	१५,८०,००,०००	थी
१९३३ ई० में आबादी	१६,५०,००,०००	थी

(बमत का आकड़ा)

इस प्रकार पन्द्रह से कुछ ही ऊपर वर्षों में यहा की जनसंख्या में ३,५०,००,००० की वृद्धि हुई है—यानी २६ प्रतिशत वृद्धि हुई है, और यह अपूर्व बात है।

आबादी की यह वृद्धि सारे सोवियत संघ में तो हुई ही, पर शहरो में खासतौर से अधिक हुई। पुराने शहर दिन पर दिन बढ़ने लगे, और रेगिस्तानो और घास के मैदानों तक में नये-नये औद्योगिक नगर पैदा हो गये। ढेर के ढेर किसान, पंच-वर्षीय योजना के अन्तर्गत होने वाले निर्माण के भीमकाय उद्योगों से आकर्षित होकर, अपने गांवों को छोड़ कर शहरों में चले आये। सन् १९१७ ई० में एक लाख से ऊपर आबादी के ऐसे इकत्तीस शहर थे, पर सन् १९३३ ई० में इनकी सख्या पचास से ऊपर हो गई। पन्द्रह वर्षों के भीतर सोवियत ने एक सौ औद्योगिक नगर खड़े कर लिये थे। सन् १९१३से १९३२ ई० तक मॉस्को की आबादी दुगनी हो गई थी, यानी १६ लाख से ३२ लाख तक जा पहुची थी, लेनिनग्राड की आबादी १० लाख बढ़ गई, और तीस लाख की संख्या के निकट पहुच गई, काकेशस-पार के बाकू शहर की आबादी भी क़रीब दुगनी होकर ३,३४,००० से ६,६०,००० हो गई। कुल मिला कर शहरी आबादी सन् १९१३ ई० में दो करोड़ से सन् १९३२ ई० मे साढे तीन करोड़ हो गई।

जब कोई किसान शहर मे जाकर श्रमजीवी बन जाता है, तो वह अन्न उत्पादन करने वाला नही रहता जैसाकि अपने गाव में था। कारखाने के मज़दूर की हैसियत से वह मशीनो के सामान और औज़ार भले ही तैयार करता हो, परन्तु जहा तक खाद्य-पदार्थों का सम्बन्ध है अब वह केवल उपभोक्ता रह जाता है। इसलिए गावो से किसानो के इस भारी निष्क्रमण का परिणाम यह हुआ कि अन्न-उत्पादक वर्ग का रूप बदल कर अन्न-उपभोक्ता वर्ग हो गया। अन्न की समस्या को जटिल बनाने वाला यह भी एक परिणामी कारण था।

एक परिणामी कारण और भी था। देश के वृद्धिमान उद्योगो के लिए कच्चे माल की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ रही थी। मसलन कपडे के कारखानो के लिए रूई की ज़रूरत थी। इसलिए बहुत-से इलाको में अन्न की फसलो के बजाय कपास और अन्य कच्चा माल बोया जाने लगा। इससे अन्न की उपज और भी कम हो गई।

सोवियत सघ की जनसख्या मे असाधारण वृद्धि ही समृद्धि का एक अपूर्व लक्षण था। अमरीका की भांति यह वृद्धि बाहर के आवासियो के कारण नही हुई थी। इससे प्रगट होता है कि तकलीफो और असुविधाओ के होते हुए भी लोगो को भूखो मरने की नौबत नही आई थी। राशन की कड़ी व्यवस्था के द्वारा जन साधारण के लिए भोजन की परमावश्यक वस्तुए देने का इन्तज़ाम किया गया था। अनुभवी निरीक्षको का कहना है कि बहुत करके जनसख्या मे तेज़ी के साथ यह वृद्धि जनता मे आर्थिक निश्चिन्तता की भावना के कारण हुई है। अब परिवार पर बच्चो का भार नही पड़ता, क्योकि राज्य की ओर से उनके पालन-पोषण और शिक्षण का प्रबन्ध हो जाता है। सफाई तथा चिकित्सा की सुविधाओ मे वृद्धि भी आबादी बढ़ने का एक कारण है। इससे बच्चो की मृत्यु-सख्या २७ प्रतिशत से घट कर १२ प्रतिशत रह गई है। मॉस्को में, सन् १९१३ ई० मे, साधारण मृत्यु-सख्या हज़ार मे तेईस से ऊपर थी, सन् १९३१ ई० मे यह घट कर तेरह प्रति हजार हो गई।

सन् १९३१ ई० में सघ के कुछ भागो में सूखा पड़ जाने के कारण खाद्य-पदार्थो सम्बन्धी कठिनाइया और भी अधिक बढ़ गईं। सन् १९३१ और १९३२ ई० मे दूर-पूर्व मे युद्ध के खतरे भी पैदा हो गये थे, इसलिए सोवियत ने इस डर से कि अन्य पूजीवादी शक्तियो से मिल कर जापान कही हमला न कर बैठे और इससे युद्ध न छिड जाय, ज़रूरत के वक़्त के लिए सेना के लिए नाज तथा अन्य खाद्य-पदार्थों का सग्रह करना शुरू कर दिया। एक पुरानी रूसी कहावत है "डर से आंखे बडी हो जाती हैं"। यह बात कितनी सही है, चाहे तो आप इसे छोटे बच्चो पर लागू कीजिए, या जातियो और राष्ट्रो पर। चूकि साम्यवाद तथा पूजीवाद के बीच सच्ची सुलह कभी नही हो सकती और साम्राज्यशाही राष्ट्र साम्यवाद को दबाने पर बहुत अमादा हैं, और इस प्रयोजन से चालबाज़िया और साजिशें करते रहते है, इसलिए बोलशेविको के दिलो मे हरदम घबराहट बनी रहती है, और ज़रा-सी भी उत्तेजना मिलते ही वे आखें फाडकर देखने लगते हैं। बहुत बार तो उनकी इस परेशानी का कारण भी होता है। खुद अपने ही घर में उन्हे तोड़-फोड़ के या कारखानों और अन्य बड़े धन्धो को नष्ट करने के व्यापक प्रयत्नों का मुक़ाबला करना पडता है।

उन्नीस सौ बत्तीस का सन् सोवियत सघ के लिए बहुत नाज़ुक वर्ष था। बहुत-से सामुदायिक खेतो में तोड़-फोड़ की तथा सामुदायिक सम्पत्ति की चोरी की जो घटनाए हुईं उनके विरुद्ध सोवियत सरकार ने

बड़ी सख्त कार्रवाइयां की। साधारण तौर पर रूस में मृत्यु-दंड का विधान नहीं है, परन्तु प्रति-क्रान्ति के अपराधों के लिए इसे जारी कर दिया गया। सोवियत सरकार ने आज्ञा-पत्र निकाल दिया कि सामुदायिक सम्पत्ति की चोरी प्रति-क्रान्ति के बराबर का अपराध है, इसलिए इसकी सजा मौत है। क्योंकि स्टालिन कहता है: "अगर पूंजीवादियों ने निजी सम्पत्ति को पवित्र और सुरक्षित करार दिया है, और इस प्रकार अपने ही समय में पूंजीवादी व्यवस्था को मजबूत बनाने में सफलता प्राप्त कर ली है, तो हम साम्यवादियों का तो और भी अधिक धर्म हो जाता है कि सार्वजनिक सम्पत्ति को पवित्र और सुरक्षित क़रार दें, ताकि इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था के नये समाज-वादी रूपों को मजबूत बना दें।"

सोवियत सरकार ने लोगों की परेशानी दूर करने के लिए अन्य तरीक़ों से भी कार्रवाइयां की। इनमें सब से महत्वपूर्ण यह थी कि सामुदायिक तथा व्यक्तिगत खेतिहरों को अपनी फ़ालतू उपज सीधी शहरों की मंडियों में बेचने की अनुमति दे दी गई। यह चीज़ हमें कुछ हद तक उस नई आर्थिक योजना की याद दिलाती है जो सन् १९२१ ई० में विग्रहकारी साम्यवाद के ज़माने के बाद शुरू हुई थी, परन्तु उस समय के तथा आज के सोवियत संघ में बहुत फर्क है। आज वह समाजवाद के राजमार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुका है, उसका औद्योगीकरण हो गया है और उसकी खेती बहुत कुछ सामुदायिक बना दी गई है।

सन् १९२९ तथा १९३३ ई० के बीच में दो लाख सामूहिक खेतों का संगठन किया गया, और करीब पांच हज़ार सरकारी खेत भी थे। ये सरकारी खेत दूसरों के लिए नमूनों की तरह हैं, और इनमें से कुछ तो बहुत ही बड़े-बड़े हैं। इसी काल में १,२०,००० यान्त्रिक-हल चालू किये गये, और करीब दो-तिहाई किसान इन सामूहिक खेतों के सदस्य बन गये।

सहकारी संगठन की प्रवृत्ति एक और ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। उपभोक्ताओं की सहकारी समिति के सदस्यों की संख्या सन् १९२८ ई० में २,६५,००,००० थी, सन् १९३२ ई० में यह संख्या ७,५०,००,००० हो गई। इस समिति के पास थोक तथा फुटकर बिक्री-भंडारों की शृंखला संघ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, और कोने-कोने में, फैली हुई है।

सन् १९३३ ई० की पहली जनवरी को दूसरी पंच-वर्षीय योजना का प्रारम्भ हुआ। इसका उद्देश्य हलके उद्योग स्थापित करना है, जिनसे जनता के रहन-सहन का दर्जा बहुत जल्दी ऊंचा हो जायगा। यह भी आशा है कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना के कठोर परिश्रम और संकट के बाद इससे लोगों को अधिक आराम और रहन-सहन की बेहतर हालत के रूप में कुछ पुरस्कार दिया जा सकेगा। अब अधिकतर आवश्यक मशीनें खरीदने के लिए बाहर के देशों में जाने की ज़रूरत नहीं रही क्योंकि सोवियत के भारी उद्योग ये मशीनें तैयार करने लगे हैं। विदेशों में खरीदे हुए माल के दाम चुकाने के निमित्त भारी परिमाण में खाद्य-पदार्थ बाहर भेजने की इल्लत से भी अब सोवियत को राहत मिल गई है।

सन् १९३३ ई० में सामूहिक खेतों के किसानों की एक कांग्रेस में भाषण देते हुए स्टालिन ने कहा था—

> "सामूहिक खेती में लगाये गये तमाम किसानों को आसूदा-हाल बनाना हमारा सब से पहला काम है। हां, साथियो, आसूदा-हाल। . . कभी-कभी लोग कहते हैं: जब समाजवादी व्यवस्था है तो अब हम मेहनत क्यों करें? हमने पहले भी मेहनत की, अब भी मेहनत करते हैं। क्या अब समय नहीं आया है कि हम मेहनत करना छोड़ दें? . . हरगिज़ नहीं। समाजवाद का निर्माण मेहनत-मजूरी पर होता है। . . समाजवाद की मांग है कि सब लोग ईमानदारी के साथ मेहनत करें, दूसरों के लिए नहीं, धनवानों के लिए नहीं, शोषकों के लिए नहीं, बल्कि खुद अपने लिए, समाज के लिए।"

काम तो हमेशा रहेगा, और रहना ही चाहिए, मगर सम्भावना यह है कि भविष्य में वह उससे अधिक रुचिकर और हलका हो जायगा जितना कि योजना बनाने के प्रारम्भिक कष्ट-प्रद वर्षों में था। वास्तव में सोवियत संघ का मकूला ही यह है—"जो काम नहीं करेगा वह खायेगा भी नहीं"। परन्तु बोलशेविकों ने काम के साथ एक नया हेतु जोड़ दिया है: सामाजिक बेहतरी के लिए काम करने का हेतु। भूतकाल में आदर्शवादियों तथा इक्के-दुक्के व्यक्तियों ने इस हेतु से प्रेरित होकर काम किया है, किन्तु ऐसा कोई पिछला उदाहरण नहीं है जिसमें समाज ने समग्र रूप में इस हेतु को स्वीकार किया हो और उसके अनुसार

काम किया हो। पूंजीवाद का आधार ही प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ रहा है, और वह भी सदा दूसरों को नुक़सान पहुंचाकर। सोवियत संघ में अब मुनाफ़े के हेतु का स्थान सामाजिक हेतु लेता जा रहा है और, एक अमरीकी लेखक के कथनानुसार, रूस के मजदूर यह सीख रहे हैं कि "पारस्परिक निर्भरता का सिद्धान्त मान लेने पर ही दरिद्रता और भय से छुटकारा मिलता है"। हर जगह जन समूहों की छाती पर सवार रहने वाले निर्धनता तथा अनिश्चिन्तता के भीषण भय का यह निराकरण एक महान कार्य-सिद्धि है। कहते हैं कि इस निश्चिन्तता के फलस्वरूप सोवियत संघ में मानसिक रोगों का अन्त हो गया है।

बस, इस प्रकार इन कठिन परिश्रम-पूर्ण वर्षों में सोवियत संघ में हर जगह और हर बात में उन्नति हुई है। यह उन्नति कष्ट-प्रद और विषमतापूर्ण तो है, परन्तु शहरों और उद्योगो का, विशाल सामूहिक खेतो और जबरदस्त सहकारी समितियों का, व्यापार और आबादी का, और संस्कृति और विज्ञान और विद्या का भी, विस्तार तो हुआ ही है। और सब से बड़ी बात यह है कि इन वर्षों के भीतर सोवियत सघ में बाल्टिक सागर से लगाकर प्रशान्त महासागर और पामीर और मध्यएशिया के हिन्दू-कुश पर्वतो तक निवास करनेवाली अनेक भिन्न-भिन्न क़ौमों में एकता और सघटना की वृद्धि हुई है।

मुझे लोभ होता है कि सोवियत रूस में शिक्षा और विज्ञान और संस्कृति की व्यापक प्रगति के बारे मे लिखू, परन्तु मुझे अपने ऊपर लगाम लगानी पड़ेगी। मैं कुछेक इधर-उधर के ऐसे तथ्यो का जिक्र करूगा जो शायद तुम्हे रुचिकर हों। अनेक अनुभवी आलोचकों की धारणा है कि रूस की शिक्षा-प्रणाली आज ससार भर में सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक समयानुकूल है। निरक्षरता का तो एक तरह से अन्त ही हो गया है, और मध्य-एशिया के उज़बकिस्तान तथा तुर्कमेनिस्तान जैसे पिछड़े हुए इलाक़ो ने अत्यन्त आश्चर्यकारक प्रगति की है। मध्य-एशिया के इस प्रदेश में, सन् १९१३ ई० में, १२६ स्कूल थे जिन मे ६,२०० विद्यार्थी थे, वहा सन् १९३२ ई० में ६,९७५ स्कूल हो गये जिनमें सात लाख विद्यार्थी थे और इनमे एक-तिहाई से अधिक लड़किया थी। सब बच्चो के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा जारी कर दी गई है। इस अपूर्व प्रगति के महत्व को समझने के लिए तुम्हे यह बात याद रखनी चाहिये कि अभी कुछ ही दिन पहले तक ससार के इस भाग मे लड़किया परदे में रक्खी जाती थी, और उन्हे सबके सामने नही निकलने दिया जाता था। कहते है कि यह तेज प्रगति लातीनी वर्णमाला के उपयोग के कारण हुई है, क्योकि विभिन्न स्थानीय वर्णमालाओं की अपेक्षा इस वर्णमाला से प्राथमिक शिक्षा बहुत आसान हो गई है। कमाल पाशा द्वारा पुरानी अरबी वर्णमाला के स्थान पर लातीनी लिपि या वर्णमाला चालू करने के बारे में, तुम्हे याद होगा, मे जिक्र कर चुका हूं। यह सूझ, और अन्य भाषाओ के अनुकूल बनाई गई यह वर्णमाला, उसे सोवियत के प्रयोग से प्राप्त हुई थी। सन् १९२४ ई० में काकेशिया के प्रजातंत्र ने अरबी लिपि को त्याग दिया और लातीनी लिपि अपना ली। निरक्षरता दूर करने मे इससे बहुत सफलता मिली और सोवियत सघ की अन्य छोटी-छोटी क़ौमो मे से अधिकाश ने लातीनी लिपि अपना ली। इनमे चीनी, मगोल, तुर्क, तातारी, बूरियत, बश्कीर, ताजिक, तथा बहुत-सी अन्य क़ौमें शामिल है। भाषा तो स्थानीय ही रक्खी गई जो सदा से उपयोग में आती थीं, केवल लिपि बदल दी गई।

यह जान कर तुम्हें दिलचस्पी होगी कि सोवियत सघ की तमाम पाठशालाओ के दो-तिहाई से अधिक बच्चो को पाठशालाओ में ही दोपहर का गरम-गरम खाना खिलाया जाता है। कहना न होगा कि यह खाना मुफ्त दिया जाता है, और शिक्षा भी बिल्कुल नि शुल्क है। श्रमजीवियों के राज्य में तो ऐसा होना ही चाहिए।

साक्षरता की वृद्धि और शिक्षा की प्रगति के फलस्वरूप पढनेवालों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है, और रूस में जितनी पुस्तके और जितने अखबार छपते है उतने शायद किसी अन्य देश में नही छपते। ये पुस्तकें अधिकतर गभीर और गहन विषयों की होती है, अन्य देशो की भाति हलके उपन्यास नही। रूसी मजदूर को इंजीनियरी और बिजली के बारे में इतना कौतूहल है कि वह कहानी पुस्तको की अपेक्षा इन विषयों की पुस्तकें पढ़ना ज्यादा पसद करता है। परन्तु बच्चों के लिए काल्पनिक कहानियों तक की भी बडी मजेदार पुस्तकें हैं, हालांकि मेरे खयाल से कट्टर बोलशेविक लोग काल्पनिक कहानियों को अच्छी नही समझते। विज्ञान के क्षेत्र में, यानी शुद्ध विज्ञान और उसके अनेकों व्यावहारिक उपयोगों में, रूस प्रथम श्रेणी पर पहुंच चुका है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओ की अनेकों विशाल सस्थाए और प्रयोगशालाए तैयार हो गई हैं।

लेनिनग्राड में वनस्पति उद्योग की एक विशाल शाला है जिसके पास कमसे कम २८,००० विभिन्न क़िस्मों के गेहूं हैं। यह शाला वायुयानो के द्वारा चावल बोने के तरीक़ों पर प्रयोग कर रही है।

ज़ारों और उमरावों के पुराने महलों में अब जनता के लिए अजायबघर और विश्राम-गृह और स्वास्थ्य-सदन बना दिये गये हैं। लेनिनग्राड के नज़दीक एक छोटा-सा क़स्बा है जो "ज़ारको-सेलो" (ज़ार का गांव) कहलाता था क्योंकि उसमें दो शाही महल थे, और गर्मी के मौसम में ज़ार वहा रहा करता था। अब इसका नाम बदल कर "देत्स्को-सेलो" (बच्चो का गाव) रख दिया गया है, और मेरा खयाल है कि वे पुराने महल अब छोटे बच्चों और लड़के-लड़कियो के काम आते है। आज सोवियत भूमि में बच्चों और लडके-लडकियो का सबसे अधिक ध्यान रक्खा जाता है। उन्हें अच्छी-से-अच्छी वस्तुए दी जाती है, भले ही दूसरे लोगों को इनकी कमी सहनी पडे। आज की पीढ़ी उन्हीके लिए सारा परिश्रम कर रही है, क्योंकि समाजवादी और वैज्ञानिक व्यवस्थावाले राज्य के उत्तराधिकारी वे ही बननेवाले हैं, बशर्ते कि ऐसा राज्य उनके जीवनकाल में स्थापित हो जाय। मॉस्को में "माता तथा शिशु हितकारिणी केन्द्रीय शाला" एक महान संस्था है।

रूस में स्त्रियो को जितनी आज़ादी है उतनी शायद किसी अन्य देशो में नही है। साथ ही राज्य की ओर से उन्हें विशेष सरक्षण मिले हुए हैं। सारे धन्धे उनके लिए खुले हुए हैं, और स्त्री-इंजीनियरो की सख्या तो काफ़ी बडी है। सोवियत सरकार ने बोलशेविक दल की पुरानी सदस्या श्रीमती कोलनताइ को राजदूत के पद पर नियुक्त किया। अभी तक किसी सरकार ने किसी स्त्री को राजदूत नहीं बनाया था। लेनिन की विधवा-पत्नी श्रीमती क्रुप्सकाया सोवियत शिक्षा-विभाग की एक शाखा की अध्यक्षा हैं।

हर दिन और हर घडी होनेवाले इन परिवर्तनो के कारण सोवियत सघ कौतूहल उत्पन्न करने वाली भूमि बन गया है। परन्तु उसका कोई भाग इतना कौतूहल पूर्ण और चित्ताकर्षक नही है जितने कि साइबेरिया के घास के मैदान और मध्य-एशिया की प्राचीन घाटिया। ये दोनो मानवीय परिवर्तन और प्रगति की धारा से मुद्दतो से विलग थे, पर अब बडे वेग से छलाग मार कर आगे बढ रहे है। इन वेगशील परिवर्तनो की कुछ कल्पना तुम्हें देने के लिए मै ताजिकिस्तान का कुछ हाल तुम्हें बतलाना चाहता हूं। यह सोवियत संघ के शायद सबसे पिछडे हुए प्रदेशो में गिना जाता था।

ताजिकिस्तान पामीर पर्वतमाला की घाटियो में अक्षु नदी के उत्तर की ओर, अफगानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान की सरहद से लगा हुआ और भारत की सरहद के पास, स्थित है। यह बुख़ारा के अमीरो के अधिकार में था जो रूसी ज़ारो के माडलिक थे। सन् १९२० ई० में बुखारा में स्थानिक क्रान्ति हुई, अमीर को उखाड फेंका गया, और बुखारा का जनपद सोवियत प्रजातत्र स्थापित हो गया। इसके बाद ही गृह-युद्ध हो गया, और तुर्की के पुराने लोकप्रिय नेता अनवर पाशा की मृत्यु इन्ही उपद्रवो के दौरान में हुई। बुखारा के प्रजातत्र का नाम उज़बक समाजवादी सोवियत प्रजातत्र पड गया और यह सोवियत संघ का अंगभूत पूर्ण सत्ताधारी प्रजातत्र बन गया। सन् १९२५ ई० मे उज़बक प्रदेश के अन्तर्गत स्वशासित ताजिक प्रजातत्र स्थापित हुआ। सन् १९२९ ई० मे ताजिकिस्तान भी पूर्ण-सत्ताधारी प्रजातत्र बन गया, और सोवियत सघ का सातवां अगभूत राज्य हो गया।

ताजिकिस्तान ने यह गौरव तो प्राप्त कर लिया, पर यह पिछड़ा-हुआ इलाक़ा था जिसकी आबादी दस लाख से भी कम थी और जहां सचार के कुछ भी साधन नही थे; अगर रास्ते भी थे तो केवल ऊंटो की लीकें। नई शासक-व्यवस्था में सड़को, सिचाई और खेती-बाडी, उद्योगो, शिक्षा, और स्वास्थ्य-रक्षा के साधनो की उन्नति के लिए तुरन्त उपाय किये गये। मोटरो के लिए सड़कें बनाई गईं, और कपास की बुवाई शुरू की गई और सिंचाई का इन्तज़ाम होने से इसमें खूब सफलता मिली। सन् १९३१ ई० के मध्य तक कपास के ६० प्रतिशत से अधिक खेतों को सामूहिक खेत बना दिया गया, और नाज उत्पन्न करने वाले इलाक़े को भी अधिकांश सामुदायिक खेतों के रूप मे सगठित कर दिया गया। एक बिजलीघर क़ायम किया गया, और आठ कपड़ा-मिलें और तीन तेल-मिले भी डाली गईं। इस प्रदेश को उज़बकिस्तान के रास्ते सोवियत संघ की रेल प्रणाली से जोड़ने वाला रेलमार्ग बनाया गया, और मुख्य हवाई-मार्गों से सम्बन्ध स्थापित करने वाली वायुयान प्रणाली चालू की गई।

सन् १९२९ ई० मे इस सारे इलाक़े में केवल एक औषधालय था। सन् १९३१ में इकसठ अस्पताल

के आधार पर टिके हुए विचार अलग हटते गये हैं, और विज्ञान की भावना के प्रतिकूल प्रक्रियाओं और तरीक़ों का विरोध किया गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि खुराफातों और जादू-टोनों और अन्ध-विश्वासो के ऊपर विज्ञान की भावना को पूर्ण विजय प्राप्त हो गई है। यह चीज तो अभी बहुत दूर है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि विज्ञान की भावना बहुत उन्नति कर गई है और उन्नीसवीं सदी में इसने धड़ल्ले के साथ अनेक विजयें प्राप्त की है।

उद्योगों में और दैनिक जीवन में विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों के कारण जो जबरदस्त परिवर्तन उन्नीसवी सदी में हुए, उनका हाल मै लिख चुका हू। संसार का, और खासकर पश्चिमी योरप तथा उत्तरी अमरीका के तो रूप ही बिल्कुल बदल गये; इतने बदले जितने पिछले हज़ारों वर्षों में भी नही बदले। उन्नीसवी सदी में योरप की आबादी में जबरदस्त वृद्धि तो एक महान आश्चर्यकारक तथ्य है। सन् १८०० ई० में समूचे योरप की कुल आबादी अठारह करोड़ थी। यह युग-युगान्तर में धीरे-धीरे इस सख्या तक पहुची थी। लेकिन फिर यह तीर की तरह दौड़ी, और सन् १९१४ ई० में ४६ करोड हो गई। इसी समय के भीतर ही करोड़ो योरपवासी अन्य महाद्वीपो में, खास कर अमरीका में, जाकर बस गये, और इनकी संख्या हम चार करोड के लगभग आंक सकते हैं। इस प्रकार सौ वर्षों से कुछ ही अधिक समय में योरप की आबादी अठारह करोड़ से बढ कर पचास करोड हो गई। यह वृद्धि योरप के उद्योग-प्रधान देशों मे विशेष रूप से प्रगट हुई। अठारहवी सदी के प्रारम्भ में इग्लैण्ड की आबादी केवल पचास लाख थी, और यह देश योरप के सबसे दरिद्र देशो में गिना जाता था। परन्तु यह दुनिया का सबसे धनवान देश बन गया और इसकी आबादी चार करोड़ हो गई।

वैज्ञानिक जानकारी ने यह सम्भव कर दिया था कि प्रकृति की प्रक्रियाए मनुष्य के अधिक वश मे हो जायं, या यो कहो कि वह उनके रहस्य को समझ जाय, और यह वृद्धि और धन-दौलत इसी का परिणाम थी। जानकारी में बड़ी भारी वृद्धि जरूर हुई, परन्तु यह न समझ लेना कि इसके कारण विवेक-बुद्धि भी जरूरी तौर पर बढ गई है। मनुष्यो ने प्रकृति के बलो को वश में करना और अपने उपयोग मे लाना तो शुरू कर दिया, पर उन्हे इस बात की स्पष्ट कल्पना नही थी कि उनके जीवन का लक्ष्य क्या है या क्या होना चाहिए। शक्तिशाली मोटर गाड़ी एक उपयोगी और वाछनीय चीज है, परन्तु यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमें बैठ कर कहा जाना है। अगर उसका सचालन ठीक तरह न किया जाय तो सम्भव है कि वह खड्ड में जा गिरे। ब्रिटिश ऐसोसिएशन ऑफ साइन्स के अध्यक्ष ने कुछ दिन हुए कहा था . "मनुष्य ने अपने आपको तो वश में करना सीखा ही नही, और प्रकृति को अपने वश मे कर लिया।" दुनिया के अधिकतर लोग रेलो, वायुयानो, बिजली, बेतार-यत्र और विज्ञान के हजारो अन्य आविष्कारो का उपयोग करते है, पर यह कभी नही सोचते कि ये आये कहा से है। हम इन्हे स्वय-सिद्ध मान कर चलते हैं, मानो इनका उपभोग करना हमारा अधिकार है। और हमें इस बात का बड़ा अभिमान है कि हम प्रगतिशील युग में रहते है और खुद भी बहुत ज्यादा प्रगति कर चुके है। इसमें तो कोई सन्देह नही कि हमारा यह युग पिछले युगो से बहुत भिन्न है, और मेरे खयाल से यह कहना भी बिल्कुल सही है कि यह युग पिछले युगो से बहुत अधिक आगे बढा हुआ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिगत या सामुदायिक रूप में मनुष्य ने कुछ ज्यादा प्रगति कर ली है। यह कहना हद दर्जे की बेवक़ूफ़ी होगी कि चूकि इजिन का ड्राइवर इंजिन चला सकता है और अफ़लातून या सुक़रात नही चला सकते थे, इसलिए इजिन का ड्राइवर अफलातून या सुक़रात से आगे बढ़ा हुआ है या श्रेष्ठतर है। हा, यह कहना बिल्कुल सही होगा कि अफलातून के रथ की अपेक्षा आज का इजन आवागमन का अधिक उन्नत साधन है।

आजकल हम लोग बहुत-सी पुस्तकें पढ़ते हैं, पर मुझे अन्देशा है कि इनमें से अधिकाश पुस्तकें बेहूदा होती हैं। पुराने जमाने में लोग गिनी-चुनी पुस्तके पढ़ते थे, पर वे श्रेष्ठ होती थी, और इनका ज्ञान भी उन्हे बहुत अच्छा होता था। स्पिनोज़ा, जो बड़ा विद्वान और बुद्धिमान हुआ है, योरप के महानतम दार्शनिकों में गिना जाता है। यह सत्रहवी सदी में हुआ और ऐम्स्टरडम का रहने वाला था। कहते हैं कि इसके पुस्तकालय में पूरे साठ ग्रन्थ भी नहीं थे।

इसलिए हमारा यही समझने में भला है कि दुनिया में ज्ञान की जो इतनी वृद्धि हुई है उसका यह लाजिमी अर्थ नहीं है कि हम ज्यादा अच्छे बन गये हैं या ज्यादा बुद्धिमान हो गये हैं। ज्ञान का पूरा लाभ

हम तभी उठा सकते हैं जब यह सीख लें कि उसका उचित उपयोग क्या है। अपनी शक्तिशाली गाड़ी को बेतहाशा दौड़ाने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि हमें किधर जाना है। अर्थात हमें इसकी तो कुछ कल्पना होनी चाहिए कि हमारे जीवन का लक्ष्य और ध्येय क्या होना चाहिए। आज अनगिनती लोगों के दिलों में ऐसी कोई धारणा नही है, और वे इसके बारे में कभी चिन्ता ही नही करते। रहते तो वे विज्ञान के युग में है, परन्तु उनका तथा उनके कार्यों का सचालन करने वाले विचार युगो पहले के हैं। इसलिए कठिनाइयों और सघर्षों का पैदा होना स्वाभाविक है। होशियार बन्दर शायद मोटर-गाड़ी चलाना सीख जाय, पर उसके हाथ में गाड़ी दे देना निरापद नही है।

आधुनिक ज्ञान इतना पेचीदा और व्यापक है कि हैरत होती है। बीसियो हजार अन्वेषक निरन्तर खोज करते रहते है। हरेक अपने-अपने विशेष विभाग में परीक्षण करता है, हरेक अपने-अपने खित्ते में बिल खोदता जाता है और छोटे-छोटे टुकडे डाल-डाल कर ज्ञान के पर्वत को ऊँचा करता जाता है। ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि हरेक अन्वेषक को अपने-अपने सीग़े में विशेषज्ञ बनना लाजिमी होता है। अक्सर करके वह ज्ञान के दूसरे विभागो से अनभिज्ञ होता है, इसलिए यद्यपि वह ज्ञान के कुछ विभागो में बडा पंडित हो जाता है, पर बहुत-से अन्य विभागो में बिल्कुल कोरा होता है। इसलिए मानव प्रवृत्ति के समूचे क्षेत्र के प्रति बुद्धिमत्ता पूर्ण दृष्टिकोण रखना उसके लिए कठिन हो जाता है। सस्कृति शब्द के पुराने अर्थों में वह सुसंस्कृत नही माना जाता।

हाँ, ऐसे कुछ व्यक्ति अवश्य है जो इस सकुचित विशेषज्ञता से ऊपर उठ गये हैं, और खुद विशेषज्ञ होते हुए भी व्यापक दृष्टिकोण रख सकते है। युद्धो और मानस जाति के झगडे-टन्टों से अविचलित रह कर ये लोग वैज्ञानिक अनुसन्धान कर रहे है, और पिछले लगभग पन्द्रह वर्षों के अन्दर इन्होंने ज्ञान के भंडार में अपूर्व वृद्धि की है। एल्बर्ट आइन्स्टाइन नामक जर्मन यहूदी आज का सबसे महान वैज्ञानिक माना जाता है, और हिटलर की सरकार ने इसे इस कारण जर्मनी से निकाल दिया है कि वह यहूदियो को पसन्द नही करती।

आइन्स्टाइन ने गणित की जटिल क्रियायो के द्वारा भौतिक-विज्ञान के कुछ ऐसे नवीन मौलिक नियमो की खोज की है जो सारे ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते है। इनसे उसने न्यूटन के कुछ नियमों में हेर-फेर कर दिया है जो दो सौ वर्षों से असन्दिग्ध रूप में स्वीकार किये जाते रहे है। आइन्स्टाइन के मत की पुष्टि बड़े ही दिलचस्प ढग से हुई। इस मत के अनुसार प्रकाश की किरणें एक विशेष प्रकार से व्यवहार करती हैं और इसकी परीक्षा सूर्य-ग्रहण के समय की जा सकती है। जब सूर्य-ग्रहण हुआ तो यह देखा गया कि प्रकाश किरणे वास्तव मे उसी प्रकार का व्यवहार करती है। इस प्रकार गणित के तर्क से निकला हुआ परिणाम वास्तविक परीक्षण से सिद्ध हो गया।

मै इस मत की व्याख्या करने का प्रयत्न नही करूगा, क्योंकि यह अत्यन्त दुरूह है। यह सापेक्षवाद कहलाता है। ब्रह्माण्ड के बारे में गवेषणा करते समय आइन्स्टाइन को पता लगा कि काल की कल्पना तथा देश की कल्पना, दोनो पृथक रूप में लागू नही की जा सकती। इसलिए इसने दोनो का परित्याग कर दिया और एक नई कल्पना प्रस्तुत की जिस में दोनो का गठ-बन्धन कर दिया। यह देश-काल की कल्पना थी।

आइन्स्टाइन ने तो सारे ब्रह्माण्ड पर विचार किया। दूसरे सिरे पर वैज्ञानिकों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म पिंडों के बारे में अनुसधान किये। उदाहरण के लिए सुई की नोक को ले लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज है जिसे हमारी आँख बिना किसी यत्र की सहायता के देख सकती है। वैज्ञानिक तरीक़ो से सिद्ध कर दिया गया कि सुई की यह नोक एक तरह से स्वयम् ही ब्रह्माण्ड के समान है! इसमें अणु होते हैं जो एक-दूसरे के चारो ओर वेग से चक्कर काटते रहते हैं; हर अणु मे परमाणु होते है, और ये भी बिना एक-दूसरे से टकराये चक्कर लगाते रहते हैं; और हर अणु में अनेक विद्युत के कण या विद्युत-आवेश या बीज-कण और विद्युत्कण, या जो कुछ भी कहो, होते हैं, और ये भी निरन्तर अपरिमित वेग से गति करते रहते हैं। इनसे भी सूक्ष्म धन-कण और उदासीन-कण और दत-कण होते है; और यह अदाज लगाया गया है कि एक धन-कण की औसत आयु एक सेकड का अरबवाँ भाग होती है! यह सारी रचना अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण में उन ग्रहों तथा ताराओ के समान है जो आकाश में निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं। याद रखने की बात यह है कि अणु इतना सूक्ष्म होता है कि सबसे अधिक वर्धन-सामर्थ्य वाली खुर्दबीन के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। रही अणुओं और बीज-कणों और विद्युत्कणों की बात, सो इन की तो कल्पना तक भी नही की जा सकती।

परन्तु विज्ञान की शैली इतनी प्रगति कर चुकी है कि इन बीज-कणो तथा विद्युत्कणो के बारे में बहुत काफ़ी जानकारी संग्रह की जा चुकी है, और कुछ दिन हुए अणु का विघटन भी कर दिया गया है।

विज्ञान के नवीनतम मतो पर विचार करने में दिमाग़ चक्कर खाने लगता है, और उनके महत्व को समझना बड़ा कठिन हो जाता है। परन्तु मै तुम्हें इससे भी अधिक हैरत-भरी बात बतलाऊगा। तुम जानती हो कि हमारी पृथ्वी, जो हमें इतनी बड़ी दिखाई देती है, उस सूर्य का एक छोटा-सा ग्रह है जो खुद ही अत्यन्त तुच्छ तारा है। यह सारा सौर-मडल आकाश के समुद्र में केवल एक बूद के बराबर है। ब्रह्माण्ड मे दूरियाँ इतनी महान हैं कि उसके कुछ भागों से हमारी पृथ्वी तक प्रकाश को आने में हजारो और लाखों वर्ष लग जाते हैं। तात्पर्य्य यह है कि अगर हम रात में किसी तारे को देखते है तो हम उस तारे का वह रूप नही देखते जो आज है, बल्कि वह रूप देखते है जो उस समय था जब उससे चल कर आने वाली प्रकाश किरण ने अपनी लम्बी यात्रा शुरू की थी। और पता नही इस यात्रा में कितने सौ या हज़ार वर्ष लगे होगे। काल और देश के सम्बन्ध में हमारी जो कल्पना है वह इससे बडी उलझन मे पड़ जाती है, और यही कारण है कि आइन्स्टाइन का देश-काल हमें इन बातो पर गौर करने मे बहुत अधिक सहायता देता है। अगर हम देश का विचार न करें और केवल काल का विचार करें तो भूत और वर्तमान आपस मे मिल जाते है। क्योकि जिस तारे को हम देखते है वह हमारे लिए तो वर्तमान है, पर वास्तव मे हम उसके अतीत को देख रहे हैं। क्योकि हमें क्या मालूम कि जब प्रकाश की किरण उस तारे से चली थी उसके बाद शायद उसे नष्ट हुए लम्बा समय बीत चुका हो।

मै कह चुका हूँ कि हमारा सूर्य एक नगण्य-सा छोटा तारा है। इसी प्रकार के लगभग एक लाख तारे और है, तथा इन सब का समूह आकाश-गगा कहलाता है। रात में जितने तारे हमे दिखाई पडते है उनमे से अधिकाश इसी आकाश-गगा के अन्तर्गत हैं। परन्तु यत्र की सहायता के बिना आँख से हम केवल बहुत थोड़े तारों को देख पाते है। शक्तिशाली दूरबीनो के द्वारा हम बहुत अधिक तारों को देख सकते है। इस विज्ञान के विशेषज्ञो ने हिसाब लगाया है कि ब्रह्माण्ड मे तारो की ऐसी कम-से-कम एक लाख आकाश-गगाएं है।

एक आश्चर्यकारक तथ्य और भी है। कहा जाता है कि यह ब्रह्माण्ड प्रसरण-शील है। सर जेम्स जीन्स नामक गणितज्ञ ने इसकी तुलना साबुन के बबूले से की है जो फूलता जा रहा है। ब्रह्माण्ड मानो इस बबूले की झिल्ली है। और यह बबूले-नुमा ब्रह्माण्ड इतना बडा है कि प्रकाश-किरण को इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचने मे असख्य वर्ष लग जाते है।

अगर आश्चर्य-चकित होने की तुम्हारी क्षमता खतम न हुई हो, तो इस सचमुच हैरत-भरे ब्रह्माण्ड के बारे मे मै तुम्हें कुछ और भी बातें बतलाता हूँ। कैम्ब्रिज के एक सुप्रसिद्ध खगोल-शास्त्री सर आर्थर ऐडिङ्गटन का कहना है कि यह ब्रह्माण्ड धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। यह उस घडी के समान है जो बीत चुकी है, और जिसमे अगर किसी तरह दुबारा चाबी नही भरी गई तो विच्छिन्न हो जायगी। अलबत्ता इस क्रिया में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं, इसलिए हमे परेशान होने की ज़रूरत नही है।

उन्नीसवी सदी के अग्रणी विज्ञान भौतिक और रसायन थे। इनकी सहायता से प्रकृति की या बाह्य जगत की लगाम मनुष्य के हाथ मे आ गई। इसके बाद विज्ञानवेत्ता मनुष्य ने अपने भीतर दष्टि डालनी शुरू की और अपना ही अध्ययन शुरू किया। तब जीव-विज्ञान का महत्व बढा। जीव-विज्ञान में मनुष्य और पशुओ और वनस्पतियो के जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान ने इतने ही दिनो मे अद्भुत प्रगति कर ली है। इस विज्ञान के विशेषज्ञों का कहना है कि इजैक्शन लगा कर अथवा अन्य उपायों से मनुष्य के गुण या स्वभाव मे परिवर्तन उत्पन्न करना बहुत शीघ्र सम्भव हो जायगा। इस प्रकार शायद यह सम्भव हो जाय कि किसी कायर मनुष्य के स्वभाव को बदल कर उसे साहसी मनुष्य बना दिया जाय, या यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि कोई सरकार अपने आलोचको और विरोधियों से निबटने के लिए इस प्रकार उनकी प्रतिरोध की शक्ति को ही कम कर दे।

जीव-विज्ञान के बाद मनुष्य ने आगे मनोविज्ञान की सीढी पर कदम रक्खा है। इस विज्ञान मे मानव जाति के मानस का, और विचारोका, नीयतो, भयो और आकाक्षाओ का विवेचन किया जाता है। इस प्रकार विज्ञान नये-नये क्षेत्रों में धावे बोल रहा है, और हमें अपने बारे में बहुत-सी बातें बतला रहा है, और इस प्रकार हमें अपने-आपको वश में करने में सहायता दे रहा हो।

जनन-विज्ञान भी जीव-विज्ञान से आगे की सीढ़ी है। यह विज्ञान मनुष्य जाति की नस्ल के सुधार से सम्बन्ध रखता है।

यह देख कर बहुत दिलचस्पी होती है कि कुछ जीवो के अध्ययन से विज्ञान के विकास में कितनी सहायता मिली है। बेचारे मेंढक को चीर-फाड कर यह पता लगाया गया है कि स्नायु और मास-पेशियाँ किस प्रकार अपना कार्य करते हैं। अधिक-पके केलों पर बैठने वाली नन्ही-सी और नगण्य-सी मक्खी, जिसे केला-मक्खी कहते है, के द्वारा आनुवशिकता के सम्बन्ध में जितनी जानकारी प्राप्त हुई है उतनी अन्य किसी साधन से नही हुई। इस मक्खी के ध्यान-पूर्वक निरीक्षण से पता लगा है कि एक वश के गुण और स्वभाव सस्कारो के रूप में किस प्रकार अगले वश में आ जाते है। कुछ हद तक इससे यह जानने मे सहायता मिलती है कि मनुष्य-जाति में आनुवशिकता का सिद्धान्त किस प्रकार घटित होता है।

हमको बहुत-सी बातें सिखाने वाला एक और बेकार-सा जीव साधारण टिड्डा है। अमरीकी निरीक्षको ने टिड्डो का दीर्घकाल तक और ध्यानपूर्वक अध्ययन करके बतलाया है कि जानवरो में और मनुष्यो में लिंग-भेद कैसे उत्पन्न होता है। अब हम इस विषय मे बहुत-कुछ जानते हैं कि नन्हा-सा भ्रूण, ठेठ गर्भाधान के समय से ही, किस प्रकार नर या मादा बनता है, और धीरे-धीरे विकसित होकर छोटा-सा नर या मादा पशु, अथवा लड़का या लडकी बन जाता है।

चौथा उदाहरण मामूली घरेलू कुत्ते का है। हमारे ही जमाने के एक सुप्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक पावलॉफ ने ध्यान-पूर्वक कुत्तो का निरीक्षण शुरू किया, और खास तौर पर यह नोट किया कि भोजन को देखते ही उनके मुह मे पानी कब आता है। उसने कुत्ते के मुह में इस प्रकार पैदा होने वाली लार का परिमाण तक नाप लिया। भोजन को देखते ही कुत्ते के मुह में पानी आना स्वत होने वाली क्रिया होती है, जिसे "अनैच्छिक प्रतिक्रिया" कहा जाता है। छोटा बच्चा ठीक इसी प्रकार से, बिना पूर्व अनुभव के छीकता है, या जम्भाई लेता है या अगडाई लेता है।

इसके बाद पावलॉफ ने "ऐच्छिक प्रतिक्रिया" उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। अर्थात् उसने कुत्ते को एक खास सकेत पर भोजन की प्रतीक्षा करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के मानस में यह सकेत भोजन के साथ सम्बद्ध हो गया और भोजन सामने न आने पर भी उसी के समान प्रतिक्रिया उत्पन्न करने लगा।

कुत्तो तथा उनके मुख मे पैदा होने वाली लार पर किये गये इन प्रयोगो को मानव मनोविज्ञान का आधार बनाया गया है। यह सिद्ध कर दिया गया है कि शिशुकाल मे मनुष्य में किस प्रकार बहुत-सी "अनैच्छिक प्रतिक्रियाए" होती हैं, और ज्यो-ज्यो वह वय प्राप्त करता जाता है त्यो-त्यो उसमें "ऐच्छिक प्रतिक्रियाओ" का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। सच तो यह है कि हम इस ऐच्छिक प्रतिक्रिया के आधार पर ही सब कुछ सीखते है। इसी के अनुसार हमारी आदतें बनती है और हम भाषाए आदि सीखते हैं। हमारी क्रियाए हमारी प्रतिक्रियाओ से सचालित होती है, और ये प्रतिक्रियाए रुचिकर भी होती है और अरुचिकर भी। सामान्य भय का ही उदाहरण ले लो। जब कोई आदमी अपने निकट साँप को देखकर, या साँप से मिलते-जुलते रस्सी के टुकडे को देख कर, बिना सोच-विचार किये बडी तेजी से उछल पडता है, तो इसके लिए उसे पावलॉफ़ के प्रयोगों की जानकारी की आवश्यकता नही होती।

पावलॉफ के प्रयोगो ने मनोविज्ञान के सारे शास्त्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। कुछ प्रयोग तो बहुत ही रोचक हैं, परन्तु यहाँ मै इस प्रश्न की अधिक व्याख्या नहीं कर सकता। फिर भी मै यह ज़रूर बता देना चाहता हूँ कि मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान के और भी कई महत्वपूर्ण तरीक़े है।

ये कुछेक उदाहरण मैंने इसलिए दिये है कि तुम्हे वैज्ञानिक प्रयोगो के तरीको का कुछ अनुमान हो जाय। पुराने तत्ववेत्ताओ का यह तरीक़ा था कि जिन बडी-बडी बातों का विश्लेषण करना या पूरी तरह समझना आसान या सम्भव नही था, उनके बारे में वे गोल-मोल चर्चाए किया करते थे। लोग इनके विषय में तर्क-वितर्क किया करते थे, और बहुत गरम हो जाते थे, परन्तु चूकि ऐसी कोई निर्णायक कसौटी नही थी जिस पर उनके तर्क की सत्यता अथवा असत्यता की परीक्षा की जा सकती हो, इसलिए मामला सदा अधर लटका रहता था। वे परलोक की चर्चा में इतने निमग्न रहते थे कि इस संसार की सामान्य वस्तुओं का अवलोकन करना शान के खिलाफ़ समझते थे। परन्तु विज्ञान का तरीका इससे बिल्कुल उलटा है। तुच्छ

और नगण्य दिखाई देने वाले तथ्यों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाता है, और इनसे महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त होते हैं। इन परिणामों के आधार पर काल्पनिक-सिद्धान्त रचे जाते हैं, और बाद में फिर निरीक्षणों और परीक्षणों के द्वारा इन सिद्धान्तों की बार-बार जाँच की जाती है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञान कभी भूल नहीं करता। वह अक्सर रास्ता भूल जाता है, और उसे उल्टे पैरों लौटना पड़ता है। परन्तु किसी प्रश्न की विवेचना करने का सही तरीक़ा केवल वैज्ञानिक तरीक़ा ही हो सकता है। उन्नीसवीं सदी में विज्ञान में अहंकार और परिपूर्णता की जो भावना थी वह अब सारी की सारी नष्ट हो गई है। उसे अपनी सफलताओं पर गर्व है, परन्तु साथ ही वह ज्ञान के उस विस्तृत तथा प्रस्तार-शील समुद्र के आगे नत-मस्तक है जो अभी तक अनुसधान की अपेक्षा लिये पड़ा है। बुद्धिमान मनुष्य को यह भान होता है कि उसका ज्ञान कितना तुच्छ है; केवल मूर्ख मनुष्य ही यह समझता है कि वह सब कुछ जानता है। यही बात विज्ञान पर लागू होती है। वह जितनी प्रगति करता जाता है उतनी ही उसकी हठधर्मी कम होती जाती है, और जो प्रश्न उससे पूछे जाते हैं उनके उत्तर देने मे वह उतना ही अधिक सकोच करने लगता है। ऐडिङ्गटन ने लिखा है: "विज्ञान की प्रगति का माप यह नहीं है कि हम कितने प्रश्नों के उत्तर दे सकते है, बल्कि यह है कि हम कितने प्रश्न पूछ सकते है।" शायद यह सही हो, परन्तु फिर भी विज्ञान तो दिन-पर-दिन अधिक ही प्रश्नो के उत्तर देता जा रहा है, और जीवन का रहस्य समझने में हमारी सहायता कर रहा है। और अगर हम वास्तव में उससे लाभ उठाने के इच्छुक हो तो वह हमे ऐसा श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाता है जो एक वाछनीय उद्देश्य की ओर ले जाने वाला है। वह जीवन के अंधकारमय कोनो को प्रकाशमान करता है, और हमें खुराफ़ातों के गोल-मोल झमेले मे डालने के बजाय वास्तविकता के समाने खड़ा कर देता है।

: १८३ :

विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

१४ जुलाई, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें विज्ञान के नवीनतम कारनामो के अद्‌भुतालय की झाँकी कराई थी। मै नहीं कह सकता कि इस झलक से विचार और सफलता का यह साम्राज्य तुम्हारे लिए दिलचस्पी और आकर्षण का कारण होगा या नही। अगर तुम्हे इन विषयो के बारे में अधिक जानने की इच्छा हो, तो तुम आसानी से अनेक पुस्तकें तलाश कर सकती हो। परन्तु यह याद रखना कि मानव विचार सदा प्रगति करता रहता है, प्रकृति की और विश्व की समस्याओ से सदा जूझता रहता है और उन्हें समझने का प्रयत्न करता रहता है, और जो बातें मै आज तुम्हें बतला रहा हूँ वे कल ही बिल्कुल अपर्याप्त और असामयिक हो सकती हैं। मनुष्य के दिमाग़ की यह चुनौती किस प्रकार ब्रह्माण्ड के दूरतम कोनों में उड़ानें भरती हैं, और उसके रहस्यों का पता लगाने का प्रयत्न करती है, और महान से महान तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म दिखाई देने वाली वस्तुओं को पकड़ने और मापने का साहस करती है, यह देख कर मेरा मन मुग्ध हो जाता है।

यह सब "विशुद्ध" विज्ञान कहलाता है, अर्थात वह विज्ञान जिसका जीवन पर कोई सीधा या तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ता। यह प्रत्यक्ष है कि सापेक्षवाद, या 'देश-काल' की कल्पना, या ब्रह्माण्ड का आकार, इनका हमारे दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की अधिकतर कल्पनाए उच्च-श्रेणी के गणित पर निर्भर हैं, और इस अर्थ में गणित के ये जटिल तथा उच्च प्रदेश विशुद्ध विज्ञान हैं। अधिकतर लोगो को इस प्रकार के विज्ञान में ज्यादा दिलचस्पी नहीं है; वे तो दैनिक जीवन में विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं, और यह स्वाभाविक भी है। इसी व्यावहारिक विज्ञान ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा कर दिया है। सच तो यह है कि आज का जीवन विज्ञान की इन शाखा-प्रशाखाओं से ही पूरी तरह सचालित होता है और बनता-बिगड़ता है; और इनके बिना जीवन-यापन की कल्पना करना हमारे लिए कठिन है। लोग अक्सर अतीत के बीते हुए अच्छे दिनों की, या विगत स्वर्ण-युग

की, बात चलाया करते है। विगत इतिहास के कुछ जमाने निराले तौर पर चित्ताकर्षक हैं, और सम्भव है कि कुछ बातों में वे हमारे जमाने से श्रेष्ठ भी हों। परन्तु यह आकर्षण भी जितना शायद दूरी के कारण या एक खास धुधलेपन के कारण है उतना अन्य किसी वस्तु के कारण नही है। किसी युग को हम शायद इस कारण महान समझते हैं कि कुछ महान व्यक्तियों ने उसे सुशोभित किया या उसमें उनकी प्रधानता रही। इतिहास में शुरू से लगाकर अब तक साधारण जनता की अवस्था बडी शोचनीय रही है। विज्ञान ने युग-युगान्तर का उनका भार कुछ हलका किया है। अगर तुम अपने चारो ओर निगाह डालो तो देखोगी कि जिन वस्तुओ को तुम देख सकती हो उनमें से अधिकाश का विज्ञान के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध है। हम व्यावहारिक विज्ञान के साधनो द्वारा यात्रा करते है, इन्हीके द्वारा एक-दूसरे को समाचार भेजते है, हमारे भोजन की वस्तुए भी अक्सर इन्ही साधनो से तैयार होती हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती है। जो अखबार हम पढते है, या हमारी पुस्तके, या जिस कागज पर मै लिख रहा हूँ या जिस क़लम से लिख रहा हूँ, ये सब चीजें विज्ञान के साधनो के अलावा अन्य प्रकार से तैयार ही नही हो सकती। सार्वजनिक सफ़ाई और स्वास्थ्य तथा कुछ रोगों पर विजय, विज्ञान पर ही निर्भर है। आधुनिक संसार के लिए व्यावहारिक विज्ञान के बिना काम चलाना बिल्कुल असम्भव है। बाकी तमाम दलीलें छोड भी दी जाय तो एक दलील अन्तिम और निर्णायक है · विज्ञान की सहायता के बिना संसार के निवासियो को पर्याप्त भोजन नही मिल सकेगा, और आधे से अधिक लोग भर पेट भोजन न मिलने से मौत के मुह मे चले जायंगे। मै बतला चुका हूँ कि विगत सौ वर्षों मे आबादी किस तरह छलाग मार कर बढ़ गई है। यह बढी हुई आबादी तभी जीवित रह सकती है जब खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने के लिए उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए विज्ञान की सहायता ली जाय।

जब से विज्ञान ने मानव जीवन मे बड़ी-बडी मशीनो का प्रवेश कराया है, तभी से उनमे सुधार करने की प्रक्रिया निरन्तर चली आ रही है। मशीनो को अधिक कारगर और मनुष्य की मेहनत पर कम निर्भर बनाने के लिए हर साल तो क्या हर महीने अनगिनती छोटे-छोटे फेर-बदल होते रहते है। यान्त्रिककला में ये सुधार, या यत्र-शास्त्र मे यह प्रगतिया, बीसवी सदी के पिछले तीस वर्षों मे तो खास तेजी के साथ हुई है। गत वर्षों मे परिवर्तन की यह गति, जो अब भी चालू है, इतनी ज़बरदस्त रही है कि इसने उद्योगों तथा उत्पादन के साधनो मे वैसा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है जैसा कि अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति के कारण हुआ था। उत्पादन के कार्यों मे बिजली का निरन्तर बढ़ता हुआ उपयोग इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का बड़ा कारण है। इस प्रकार बीसवी सदी में, खास कर सयुक्त राज्य अमरीका में, महान वैद्युत क्रान्ति हुई है, और इसके फलस्वरूप जीवन की परिस्थितिया ही बिल्कुल बदल गई है। जिस प्रकार अठारहवी सदी की औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यत्र-युग का उदय हुआ, उसी प्रकार वैद्युत क्रान्ति के फलस्वरूप अब शक्ति-युग का प्रादुर्भाव हो रहा है। उद्योगो, रेलो तथा अन्य अनगिनती प्रयोजनो के लिए उपयोग में आने वाली विद्युत-शक्ति अब हर चीज पर हावी हो रही है। यही कारण था कि लेनिन ने बड़े दूर की बात सोच कर सारे रूस में जल-बिजली के विशाल बिजलीघर बनाने का निश्चय किया था।

अन्य सुधारो के साथ-साथ उद्योगो मे विद्युत-शक्ति के इस उपयोग के फलस्वरूप बिना अधिक खर्च के ही महान परिवर्तन हो जाता है। मसलन, बिजली से चलने वाली मशीनो में जरा-सी फेर-बदल से उत्पादन दुगना हो जाता है। इसका बहुत बड़ा कारण मानव उपादान का उत्तरोत्तर कम किया जाना है, क्योकि मनुष्य धीरे-धीरे काम करता है और कभी-कभी भूल भी कर बैठता है। इसलिए ज्यो-ज्यो मशीनो मे उन्नति होती जाती है, त्यो-त्यो उनपर काम करने वाले मजदूरो की संख्या कम होती जाती है। आज कल एक अकेला मनुष्य कुछ हत्थो को घुमा कर या बटनो को दबा कर बड़ी-बड़ी मशीनो का सचालन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि कारखानो में तैयार होने वाले माल का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ जाता है, और साथ ही कारखानो के बहुत-से मजदूर निकाल दिये जाते है, क्योकि अब उनकी जरूरत नही रहती। इसी के साथ-साथ यत्र-शास्त्र में इतनी तेजी से प्रगति हो रही है कि कोई नई मशीन कारखाने में लगने भी नही पाती कि नये सुधारो के कारण वह कुछ हद तक पुराने ढग की हो जाती है।

मजदूरों के स्थान पर मशीनों के लगाये जाने का यह सिलसिला मशीनो के प्रारम्भ काल से ही चला आ रहा है। शायद मै तुम्हे बतला चुका हू कि उन दिनो बहुत दंगे हुए थे, और क्रोधित मजदूरो ने नई मशीनें

तोड़-फोड़ डाली थी। परन्तु बाद में मालूम हुआ कि आखिरकार मशीनों के कारण अधिक लोगों को काम मिलता है। चूंकि मशीन की सहायता से मज़दूर अधिक माल तैयार कर सकता था, इसलिए उसकी मजूरी की दर ऊंची हो गई और चीज़ों की क़ीमतें गिर गईं। इससे मजदूर तथा साधारण लोग इन चीज़ों को ज्यादा खरीद सकते थे। उनके रहन-सहन के ढग भी पहले से अच्छे हो गये, और कारखानो के बने माल की मांग बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि अधिकाधिक कारखाने डाले जाने लगे, और उनमें अधिकाधिक मजदूर काम पर लगाये गये। मतलब यह कि, यद्यपि मशीनों ने हर कारखाने में मजदूरो की सख्या कम कर दी, पर समग्र रूप में पहले से भी अधिक मज़दूर काम पर लग गये, क्योंकि कारखानों की सख्या बहुत बढ गई।

यह सिलसिला मुद्दत तक चलता रहा, क्योंकि उद्योग-प्रधान देशो द्वारा पिछडे-हुए देशों की दूरवर्ती मडियों पर क़ब्ज़ा करने से इसमें सहायता मिली। मगर पिछले कुछ वर्षों में यह सिलसिला बन्द हो गया मालूम देता है। शायद वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था मे और अधिक विस्तार सम्भव नही है, और इस व्यवस्था में कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गया है। आधुनिक उद्योग "सामूहिक उत्पादन" के पीछे पडा हुआ है, परन्तु यह तभी चल सकता है जब इस प्रकार तैयार हुआ माल जनसमूह द्वारा खरीदा जाय। अगर जनता बहुत ग़रीब है या बहुत बे-रोज़गार है, तो वह इस माल को नही खरीद सकती।

परन्तु इसके बावजूद भी यान्त्रिक उन्नति निरन्तर हो रही है, और इसका नतीजा यह हो रहा है कि मशीने मज़दूरो का स्थान लेती जा रही है और बेकारो की सख्या बढा रही है। सन् १९२९ ई० से सारी दुनिया में व्यापार की भारी मदी हो रही है, परन्तु इतने पर भी यत्र-शास्त्र की उन्नति नही रुकी है। कहते है कि सन् १९२९ ई० से अब तक सयुक्त राज्य अमरीका मे इतनी यान्त्रिक उन्नति हुई है कि जो लाखो आदमी बेकार हो गये है उन्हे कभी काम पर लगाया ही नहीं जा सकता, चाहे उत्पादन सन् १९२९ ई० के बराबर ही क्यो न क़ायम रक्खा जाय।

सारे ससार में, और खास कर उन्नत उद्योग प्रधान देशो मे, बेकारी की महान समस्या उत्पन्न करने वाले और भी अनेक कारण हैं, पर यह एक बड़ा कारण है। यह एक निराली और औंधी समस्या है, क्योंकि नवीनतम मशीनो के द्वारा बहुत अधिक उत्पादन का परिणाम यह होना चाहिए कि राष्ट्र अधिक मालदार हो जाय और हरेक मनुष्य के जीवन का स्तर ऊचा उठ जाय। परन्तु इसके विपरीत इसका परिणाम हुआ है गरीबी और भयकर मुसीबत। खयाल होता है कि इस समस्या का वैज्ञानिक हल कठिन नही होगा। शायद कठिन है भी नही। परन्तु असली कठिनाई इसे वैज्ञानिक और उचित ढग पर हल करने के प्रयत्न में उपस्थित होती है। क्योकि ऐसा करने मे अनेक निहित-स्वार्थों पर चोट पडती है, और ये स्वार्थ इतने बलशाली है कि अपनी-अपनी सरकारो पर इनका पूरा नियत्रण है। इसके अलावा यह समस्या जड़ मे अन्तर्राष्ट्रीय है, और आज की राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाएं कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकलने नही देती। सोवियत रूस इसी प्रकार की समस्याओ का हल करने मे वैज्ञानिक तरीक़ो का उपयोग कर रहा है। परन्तु चूकि उसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से चलना पडता है, और बाक़ी की दुनिया पूजीवादी है तथा रूस से शत्रुता रखती है, इसलिए उसकी कठि-नाइया बहुत अधिक है। अगर यह बात न होती तो ये कठिनाइया इतनी अधिक नही होती। आज का ससार मूलत अन्तर्राष्ट्रीय है, यद्यपि उसका राजनैतिक ढाचा पिछडा हुआ है और सकीर्ण राष्ट्रीयता से भरा हुआ है। स्थायी रूप से समाजवाद तभी सफल हो सकता है जब वह अन्तर्राष्ट्रीय जागतिक समाजवाद बन जाय। समय को पीछे नही ढकेला जा सकता। इसी प्रकार आज का अन्तर्राष्ट्रीय ढाचा, अपूर्ण होते हुए भी, राष्ट्रीय अलगाव के पक्ष में दबाया नही जा सकता। राष्ट्रीयतावाद को तीव्र करने का प्रयत्न, जैसा कि फ़ासीवादियो द्वारा विभिन्न देशो मे हो रहा है, अन्त मे असफल हुए बिना नही रह सकता, क्योंकि वह आज की जागतिक अर्थ-व्यवस्था के मौलिक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के प्रतिकूल जाता है। हा, यह हो सकता है कि इस प्रकार असफल होकर वह सारी दुनिया को अपने साथ ले बैठे, और इस तथाकथित आधुनिक सभ्यता को सार्वभौम विपत्ति में फंसा दे।

इस प्रकार की विपत्ति का खतरा न तो कोई दूर की बात है और न अविचारणीय। जैसा कि हम देख रहे है, विज्ञान अपने पीछे अनेक अच्छी चीज़े लेकर आया है, परन्तु इसी विज्ञान ने युद्ध की बीभत्सता को भयंकर रूप में बढ़ा दिया है। राज्यो और सरकारो ने विशुद्ध अथवा व्यावहारिक विज्ञान की अनेक शाखाओ की उपेक्षा की है। परन्तु उन्होने विज्ञान के सामरिक पहलू की उपेक्षा नही की है, और अपने-आपको हथियारों

से लैस करने के लिए और अपना बल बढाने के लिए विज्ञान की नवीनतम व्यावहारिक-कला का पूरा उपयोग किया है। सारी स्थिति का अन्तिम विश्लेषण यह है कि अधिकाश राज्यो का सहारा पशु-बल है, और वैज्ञानिक कला इन हुकूमतों को इतना बलवान बना रही है कि वे परिणामो से बिल्कुल न डर कर जनता पर मनमाने अत्याचार कर सकती है। वह पुराना जमाना बहुत दिन हुए बीत चुका जब जनता अत्याचारी हुकूमतो के विरुद्ध उपद्रव किया करती थी, और आम रास्तो में नाकेबन्दिया करके लड़ा करती थी, जैसा कि फ्रास की महान क्रान्ति में हुआ था। अब किसी निहत्थी या हथियारबन्द भीड के लिए राज्य के सुसगठित और सुसज्जित सैन्य-बल से लडना असम्भव हो गया है। यह दूसरी बात है कि राज्य की सेना खुद ही विद्रोह कर दे, जैसा कि रूसी क्रान्ति के समय में हुआ था, परन्तु जब तक ऐसी घटना न हो, तब तक राज्य को बल से परास्त नहीं किया जा सकता। इस कारण आजादी के लिए प्रयत्नशील क़ौमो को यह जरूरत आ पड़ी है कि वे सामूहिक कार्रवाई के अन्य शान्तिपूर्ण उपायो का आश्रय लें।

इस प्रकार विज्ञान के कारण राज्यो की बागडोर गिरोहों या कुछ चुने हुए लोगो के हाथो में चली गई है, और व्यक्तिगत स्वतत्रता का तथा उन्नीसवी सदी के पुराने लोकतत्री विचारो का हनन हो रहा है। गिने-चुने लोगो की ऐसी हुकूमतो का विभिन्न राज्यो मे प्रादुर्भाव हो रहा है। कभी तो ये हुकूमतें लोकतत्र के सिद्धान्तो की महत्ता को स्वीकार करने का ढोग रचती है, और कभी उनकी खुली निन्दा करती है। विभिन्न राज्यो की ये गिने-चुने लोगो की हुकूमते आपस मे टक्कर खाती है, और राष्ट्रो मे युद्ध छिड़ जाता है। इसकी पूरी सम्भावना नजर आती है कि आज या भविष्य मे ऐसा महायुद्ध केवल इन गिने-चुने लोगो की हुकूमतो को ही नही बल्कि आधुनिक सभ्यता तक को विनष्ट कर देगा। यह भी सम्भव है कि इस युद्धाग्नि की राख में मे अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो जाय, जिसकी मार्क्सवादी दर्शन मे विश्वास रखने वाले बाट देख रहे है।

युद्ध की वीभत्स वास्तविकताओ की कल्पना करना कोई रुचिकर विषय नही है। और इसी कारण इस वास्तविकता को लच्छेदार शब्दो और उत्साहवर्द्धक बाजो और चमक-दमक वाली वर्दियो के परदे मे छिपाया जाता है। परन्तु यह जानना अवश्यक है कि आज युद्ध का क्या अर्थ है। गत महायुद्ध ने बहुतो को युद्ध की वीभत्सता का भान करा दिया। इस पर भी यह कहा जाता है कि जो अगला महायुद्ध होने वाला है उसकी तुलना मे गत महायुद्ध कुछ भी नही था। क्योकि गत कुछ वर्षों मे जहा औद्योगिक कला ने दस गुनी उन्नति कर ली है, वहा युद्ध के विज्ञान में सौ गुनी उन्नति हुई है। युद्ध अब केवल पैदल सेना के हल्लो और घुड-सवार सेना के धावो का मामला नही रह गया है। पुराने पैदल सिपाही और घुड-सवार आज युद्ध के लिए करीब-करीब उतने ही बेकार हो गये है जितने कि तीर-कमान। आज का युद्ध यात्रिक टैंकों और वायुयानो और बमो का, और खास कर पिछली दो चीजो का, मसला है। वायुयानो की गति और कार्य-क्षमता दिन पर दिन तरक्क़ी कर रही है।

अगर युद्ध छिड जाय तो यह अन्देशा है कि युद्ध-प्रवृत्त राष्ट्रो पर शत्रु के वायुयान तुरन्त आक्रमण कर देंगे। ये वायुयान युद्ध की घोषणा होते ही तुरन्त आ धमकेंगे, या शत्रु की बेखबरी से फ़ायदा उठाने के लिए युद्ध से पहले ही आ जायगे, और बडे-बडे शहरो तथा कारखानो पर घोर विस्फोटक बमो की वर्षा कर देंगे। शत्रु के कुछ वायुयान शायद नष्ट भी कर दिये जाय, परन्तु बाकी बचे हुए वायुयान शहर पर बम गिराने के लिए काफ़ी होगें। इन वायुयानो से बरसने वाले बमो मे से विषैली गैसें निकल कर चारो ओर फैल जायंगी और उस क्षेत्र भर मे छा जायगी, और जहा तक ये पहुचेंगी वहा तक के सारे जीव दम घुट कर मर जायगे। इस प्रकार नागरिक जनता का अत्यन्त क्रूरतापूर्ण और कष्टदायक तरीक़ो से बडे भारी पैमाने पर सहार किया जायगा, जिससे लोगो को असह्य यातना और मानसिक वेदना भुगतनी पड़ेंगी। और सम्भव है कि इस प्रकार की कार्रवाइयां परस्पर युद्ध-प्रवृत्त प्रतिद्वन्दी शक्तियो के बडे-बड़े शहरो में एक-साथ की जायं। अगर योरप में युद्ध हुआ तो लदन, पैरिस और बर्लिन कुछ ही दिनो या हफ्तों के अन्दर शायद सुलगते हुए खंडहरो के ढेर हो जायगे।

इससे भी ज्यादा बुरी चीज एक और है। वायुयानों द्वारा गिराये जाने वाले बमो में तरह-तरह के भीषण रोगो के जीवाणु या कीटाणु भी हो सकते है जिससे पूरे के पूरे शहरों मे इन रोगो की छूत फैल जायगी। इस प्रकार की "कीटाणु युद्ध-नीति" अन्य तरीक़ों से भी कार्यान्वित की जा सकती है· जैसे, खाद्य-पदार्थों और

पीने के पानी को रोगाणु-युक्त बना कर, या रोग-वाहक जन्तुओं का उपयोग करके। इसका उदाहरण चूहा है जो प्लेग के कीटाणुओ का वाहक होता है।

ये सारी बातें राक्षसी और अनहोनी प्रतीत होती हैं, और हैं भी ऐसी ही। कोई राक्षस तक भी ऐसा करना पसंद नही करेगा। परन्तु जब लोग पूर्णतया भयग्रस्त हो जाते हैं और जीवन-मरण की लडाई में प्रवृत्त होते हैं, तो अनहोनी घटनाएं भी हो जाती है। शत्रु देश द्वारा ऐसे अनुचित और राक्षसी उपायो के अवलम्बन का भय मात्र ही हर देश को पहला वार करने के लिए प्रेरित कर सकता है। क्योकि ये हथियार इतने भयकर है कि जो देश पहले इनका प्रयोग करेगा वह बहुत फायदे में रहेगा। भय की आंखें बड़ी होती हैं!

विषैली गैस का तो गत महायुद्ध में सचमुच व्यापक प्रयोग किया गया था, और यह बात बहुत लोगों को मालूम है कि सामरिक प्रयोजन के लिए इस गैस को तैयार करनेवाले बड़े-बडे कारखाने तमाम बडी-बडी शक्तियों के पास मौजूद है। इन सब बातो से यह परिणाम निकलता है कि अगले महायुद्ध में असली लड़ाई युद्ध के मोर्चों पर नही होगी, जहा कुछ सेनाए खन्दको में पडी-पडी आपस में लडती रहेगी, बल्कि मोर्चों के पीछे शहरों मे और नागरिक जनता के घरो में होगी। यहा तक हो सकता है कि युद्ध काल में सबसे सुरक्षित स्थान शायद लडाई का मोर्चा ही बन जाय, क्योकि वहा पर सैनिको की हवाई हमलो से और विषैली गैसो से और रोगाणुओ से रक्षा का पूरा प्रबन्ध रहेगा! परन्तु पीछे रहने वाले पुरुषो और स्त्रियो और बच्चो के लिए इस प्रकार की रक्षा का कोई प्रबन्ध नही होगा।

इस सब का परिणाम क्या होगा? क्या सार्वभौम विनाश? क्या सदियो के प्रयत्नो से निर्मित सस्कृति और सभ्यता के सुन्दर भवन का अन्त?

कोई नही जानता कि क्या होनेवाला है। भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है, उसे हम नही देख सकते। आज हम देखते है कि ससार मे दो तरह की प्रक्रियाए चल रही है। ये दोनो प्रक्रियाए प्रतिद्वन्दी तथा परस्पर विरोधी हैं। एक प्रक्रिया तो सहयोग तथा समझदारी की उन्नति की, और सभ्यता के भवन के निर्माण की है, दूसरी प्रक्रिया विनाशकारी है, प्रत्येक वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली है, मनुष्य जाति के द्वारा आत्म-हत्या का प्रयत्न है। दोनो उत्तरोत्तर तीव्र गति से दौड रही हैं, दोनो विज्ञान के हथियारो और यत्रकलाओ से अपने-आप को लैस कर रही है। दोनो मे जीत किसकी होगी?

: १८४ :

महामन्दी और जागतिक संकट

१९ जुलाई, १९३३

विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो शक्तिया सौप दी है, और मनुष्य उनका जैसा उपयोग कर रहा है, इसपर हम जितना अधिक विचार करते है उतना ही हमें आश्चर्य होता है। क्योकि आज पूजीवादी जगत की दयनीय दशा वास्तव में आश्चर्यकारक है। रेडियो के द्वारा विज्ञान हमारी आवाज़ को दूर-दूर देशों में पहुचा देता है, बेतार के टेलीफोन द्वारा हम पृथ्वी के दूसरे छोर पर बसने वाले लोगो से बात चीत करते हैं, और शीघ्र ही हम दूर-प्रेक्षण यंत्र---टेलीवीज़न---के द्वारा उन्हे देख भी सकेंगे। अपनी अद्भुत यंत्र-कला के द्वारा विज्ञान मनुष्य जाति के लिए आवश्यक सारी वस्तुए काफी परिमाण में तैयार कर सकता है, और ससार को गरीबी के प्राचीन अभिशाप से सदा के लिए छुटकारा दिला सकता है। इतिहास के उषाकाल के प्रारम्भिक दिनो से ही मनुष्य ऐसी स्वर्ग-भूमि के स्वप्न देखते आये थे जिसमें दूध-दही की नदियां बहती हो और हर वस्तु का भंडार भरा हो। और इसी कल्पना में वे अपने दैनिक जीवन के उस कठोर परिश्रम से राहत पाने का प्रयत्न करते आ रहे थे जो उन्हें दबोच रहा था और बदले में कुछ भी नही दे रहा था। वे बीते हुए स्वर्ण-युग की कल्पना करते आये थे, और आने वाले ऐसे स्वर्ग की आशा लगाये बैठे थे जिसमें कम से कम उन्हें शान्ति और सुख तो मिले। और तब विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ जिसने प्रचुरता

उत्पन्न करने के साधन उनके हाथों में दे दिये। मगर इस वास्तविक और सम्भावित प्रचुरता के बीच में भी मनुष्य जाति का अधिक भाग दुखी और नगा-भूखा बना रहा। क्या यह एक अजीब विरोधाभास नहीं है ?

हमारा वर्तमान समाज विज्ञान और उसकी प्रचुर देनो से सचमुच दुविधा में पड़ गया है। ये आपस में मेल नही खाते; पूंजीवादी ढंग के समाज में और आधुनिकतम वैज्ञानिक यंत्र-कला तथा उत्पादन के साधनों में पारस्परिक विरोध है। समाज ने उत्पादन करना तो सीख लिया है, परन्तु अपने उत्पादन का वितरण करना नही सीखा है।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद अब हम योरप और अमरीका पर फिर नजर डालते हैं। महायुद्ध के बाद के दस वर्षों में इनकी मुसीबतो और कठिनाइयों का कुछ हाल मै लिख चुका हू। पराजित देश, यानी जर्मनी तथा मध्य योरप के छोटे देश, युद्धोत्तर परिस्थितियो से बुरी तरह पिट गये, और उनकी मुद्रा-प्रणालियो के गारत होने से उनके मध्यम वर्ग बरबाद हो गये। परन्तु योरप की विजेता तथा ऋणदाता शक्तियो की हालत भी कुछ अच्छी नही थी। इनमें सारी की सारी शक्तिया अमरीका की कर्जदार थी, और इन पर घरू राष्ट्रीय ऋण भी बडा भारी था। इन दोनो कर्जों के बोझ से वे ठोकर खा रही थी और लडखडा रही थी। वे यह आशा लगाये बैठी थी कि जर्मनी से हर्जाने का रुपया मिलेगा और इससे वे कम से कम अपने विदेशी ऋण चुका सकेगी। यह आशा बहुत वाजिब नही थी, क्योंकि जर्मनी तो खुद दिवालिया हो रहा था। परन्तु यह कठिनाई इस प्रकार हल हो गई कि अमरीका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, और जर्मनी ने इग्लेण्ड, फ्रास, आदि को उन के हिस्से के हर्जाने की रकम चुकाई, और इन देशो ने इसी रकम से अपने ऊपर अमरीका के कर्जों का कुछ भाग अदा कर दिया।

इस शताब्दी मे सयुक्त राज्य अमरीका ही एक मात्र ऐसा देश था जो समृद्ध था। उसके यहां तो धन की बाढ-सी आ रही थी। इसी समृद्धि के कारण वहा के लोग बड़ी लम्बी-चौडी आशाए बाधने लगे, और सरकारी हुण्डियो तथा शेयरो का सट्टा करने लगे।

पूजीवादी जगत में आम धारणा थी कि यह आर्थिक सकट पिछली मन्दियो की भाति ही गुजर जायगा, और फिर धीरे-धीरे ससार की सारी गडबडे मिट कर समृद्धि का एक और जमाना आ जायगा। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि पूजीवाद के जीवन मे समृद्धि के बाद सकट और सकट के बाद समृद्धि का हेर-फेर रहा है। यह बहुत दिन पहले ही बतलाया जा चुका था कि यह चीज पूजीवाद के योजनाहीन और अवैज्ञानिक तरीको मे अपरिहार्य रूप मे मौजूद है। उद्योगो की उन्नति से तेजी का जमाना आया, और इससे फायदा उठाने के लिए सबने यथासम्भव अधिक से अधिक उत्पादन करना चाहा। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन खपत को पार कर गया—अर्थात जितना माल बिक सकता था उससे अधिक तैयार हो गया। ढेर का ढेर माल जमा हो गया, सकट उत्पन्न हो गया, और उद्योग फिर ढीले पड गये। कुछ समय तक अवस्था स्थिर रही, और इस समय मे इकट्ठा हुआ माल धीरे-धीरे बिक गया। और फिर उद्योग दुबारा चेत गये और समृद्धि का एक और जमाना जल्दी आ गया। सदा से यही चक्कर चलता आया था, इसलिए अधिकतर लोगो को आशा थी कि समृद्धि का जमाना कभी न कभी लौट कर आवेगा ही।

परन्तु सन् १९२९ ई० मे अचानक परिवर्तन हुआ जिसमे हालत सुधरने के बजाय बिगड़ गई। अमरीका ने जर्मनी तथा दक्षिणी अमरीका के राज्यो को रुपया उधार देना बन्द कर दिया, और उधार देने तथा कर्जों के भुगतान के कागजी ढांचे का अन्त कर दिया। यह प्रत्यक्ष बात थी कि अमरीकी पूजीपति सदा रुपया उधार देते नहीं चले जायगे, क्योकि इससे उनके कर्जदारो की देनदारी बढती ही जाती थी, और इन कर्जों का कभी भी भुगतान हो सकना असम्भव होता जाता था। अभी तक वे रुपया इसलिए उधार देते रहे थे कि उनके पास नकद धन की बहुतायत थी जो बेकार पडा हुआ था। फालतू रुपये की इस बहुतायत के कारण ही वे शेयर बाजार मे खूब सट्टेबाजी करने लगे। लोगो को सट्टेबाजी का बुखार-सा चढ़ गया, और हर आदमी जल्दी से जल्दी धनवान बनने की इच्छा करने लगा।

जर्मनी को दी जानेवाली उधार बन्द होने से तुरन्त ही संकट उपस्थित हो गया, और कुछ जर्मन बैंको का दिवाला निकल गया। धीरे-धीरे हर्जानो तथा कर्जों के भुगतान का चक्कर बन्द हो गया। दक्षिणी अमरीका की अनेक सरकारें तथा अन्य छोटे राज्य नादिहन्द होने लगे। सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति हूवर ने जब यह देखा कि लेन-देन की सारी इमारत ही ढह रही है, तो उसने जुलाई, सन् १९३१ ई०,

तक के लिए एक साल की छूट की घोषणा कर दी। इसका अभिप्राय यह था कि तमाम क़र्ज़दारों को राहत देने के लिए सरकारो के सारे आपसी कर्ज़ों का और हर्जानों का भुगतान एक साल के लिए बन्द कर दिया गया।

इसी बीच अक्तूबर, सन् १९२९ ई०, मे अमरीका मे एक उल्लेखनीय घटना हो गई। शेयर बाज़ार में सट्टेबाजी के कारण पहले तो शेयरो के भाव अजीब ऊंचे चढ गये, और बाद में एक दम नीचे गिर गये। न्यूयॉर्क के अर्थक्षेत्रो मे महान् संकट उत्पन्न हो गया, और अमरीका की समृद्धि का ज़माना बस यही खतम हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका भी उन्ही अन्य राष्ट्रों की पंक्ति में आ गया जो मन्दी के कष्ट भुगत रहे थे। व्यापार तथा उद्योग में यह मन्दी अब 'महामन्दी' बन गई, और सारे संसार पर छा गई। यह न समझ बैठना कि अमरीका का आर्थिक पतन या यह मन्दी, शेयर बाज़ार की सट्टेबाज़ी या न्यूयॉर्क के अर्थ संकट के परिणाम थे। यह तो ऊंट की पीठ पर सिर्फ़ आखिरी तिनका था। असली कारण तो बहुत गहरे थे।

ससार भर मे व्यापार घटने लगा, और चीज़ो के भाव, ख़ास कर खेती की उपज के भाव, तेज़ी से गिरने लगे। कहा जाता था कि करीब-क़रीब हर वस्तु का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो रहा था, पर वास्तव में इसका अर्थ यह था कि तैयार माल को खरीदने के लिए लोगो के पास पैसा ही नही था; यानी जितनी खपत होनी चाहिए उतनी नही हो रही थी। जब बनी हुई वस्तुओ का बिकना बन्द हो गया तो उनका ढेर जमा हो गया, और ऐसी अवस्था मे इन चीज़ो को बनानेवाले कारखानो को बन्द करना लाज़िमी हो गया। जिन चीज़ो की बिक्री ही नही थी उन्हे बनाते चले जाना कोई अर्थ नही रखता था। इसका नतीजा यह हुआ कि योरप में, अमरीका मे तथा अन्य देशो में अभूतपूर्व बेकारी बढ गई। तमाम उद्योग-प्रधान देशो पर करारी चोट पडी। जो कृषि-प्रधान देश ससार की मडियो को कारखानो के लिए कच्चा सामान भेजते थे, उनका भी यही हाल हुआ। भारत के उद्योगों को भी कुछ हानि पहुची, परन्तु कीमतो के गिरने से कृषि-जीवी वर्गो के लिए बहुत बड़ी मुसीबत पैदा हो गई। साधारण तौर पर खाद्य-पदार्थों के भाव मे यह गिरावट जनता के लिए महान वरदान होनी चाहिए थी, क्योकि लोग भोजन की वस्तुए सस्ते दामो पर खरीद सकते थे। परन्तु पूंजी-वादी व्यवस्था में दुनिया की उलटी गगा बहती है, इसलिए यह वरदान अभिशाप बन गया। किसान वर्ग को ज़मीदार का लगान या सरकारी मालगुज़ारी नकद देने पडते थे, और नकद रुपया प्राप्त करने के लिए उन्हे अपनी उपज बेचनी पड़ती थी। भाव इतने ज्यादा नीचे गिर गये थे कि कभी-कभी तो किसान लोग अपनी पैदा-वार की सारी चीज़ें बेच देने पर भी काफी रुपया इकट्ठा नही कर पाते थे। नतीजा यह होता था कि कई बार वे अपनी ज़मीन से बेदखल कर दिये जाते थे और झोंपडियो में से निकाल दिये जाते थे, और लगान वसूल करने के लिए उनके घरो का थोडा-सा सामान भी नीलाम कर दिया जाता था। इस प्रकार अन्न बहुत सस्ता होने पर भी उसे पैदा करने वाले भूखो मरते थे और उन्हें बेघर कर दिया जाता था। ससार की पारस्परिक-निर्भरता ने ही इस मन्दी को ससार-व्यापी बना दिया। मेरा ख़याल है कि केवल तिब्बत जैसा देश ही, जो बाहर की दुनिया से अलग-थलग है, इस मन्दी से बचा रहा होगा। महीने दर महीने मन्दी फैलती गई और व्यापार गिरता गया। मानो समूचे सामाजिक शरीर के अगो को धीरे-धीरे लक़वा मार रहा था और उसे अशक्त बना रहा था। व्यापार की इस गिरावट का अनुमान लगाने का सबसे अच्छा तरीका शायद यह है कि राष्ट्र-सघ द्वारा प्रकाशित किये गये व्यापार के आकडो की ही जाच की जाय। इन आकडो से पता लगेगा कि हर साल के प्रथम तीन महीनो मे कितने लाख स्वर्ण-डालर का व्यापार हुआ :

पहली तिमाही	आयात	निर्यात	कुल
१९२९	७९७२०	७३१७०	१५२८९०
१९३०	७३६४०	६५२००	१३८८४०
१९३१	५१५४०	४५३१०	९६८५०
१९३२	३४३४०	३०२७०	६४६१०
१९३३	२८२९०	२५५२०	५३८१०

ये आकड़े प्रगट करते हैं कि ससार का व्यापार किस प्रकार उत्तरोत्तर कम होता गया और सन् १९३३ ई० की पहली तिमाही मे यह चार साल पहले के व्यापार का ३५ प्रतिशत, यानी लगभग एक-तिहाई भाग रह गया।

व्यापार सम्बन्धी ये कोरे आकडे मानवता की दृष्टि से हमें क्या बतलाते हैं ? ये बतलाते हैं कि जनता के अधिकाश लोग इतने गरीब है कि जो चीजें वे तैयार करते हैं उन्हें खरीद नही सकते। ये आंकडे बतलाते है कि मजदूरो की बडी भारी सख्या बे-रोज़गार है, और सारा ससार हृदय से चाहे तो भी इन्हे रोजगार नही मिल सकता। केवल योरप और सयुक्त राज्य अमरीका मे ही तीन करोड बेकार मजदूर थे, जिनमे से तीस लाख इग्लैण्ड में और एक करोड तीस लाख अमरीका में थे। भारत में तथा एशिया के अन्य देशो में कितने बेकार लोग है यह कोई नही जानता। शायद भारत में ही इनकी संख्या योरप और अमरीका के कुल बेकारो से बहुत ज्यादा है। सारे ससार के इन अनगिनती बे-रोजगारो का और इन पर आश्रित रहनेवाले इनके परिवारो का विचार करो तो तुम्हे उस मानव यातना का कुछ अनुमान होगा जो व्यापार की इस मन्दी के कारण हुई है। योरप के बहुत-से देशो में सरकारी बीमे की प्रणाली के अन्तर्गत बेकारो के रजिस्टर में नाम दर्ज कराने वाले तमाम लोगों को गुजर खर्च दिया जाता था, सयुक्त राज्य अमरीका मे उन्हे धर्मादा [illegible] जाता था। परन्तु ये गुजारे और धर्मादे ज्यादा राहत नही दे सके। बहुतो को तो ये मिले भी नही और ये लोग भूखों मरने लगे। मध्य तथा पूर्व योरप के कुछ भागो मे तो अवस्था भीषण हो गई।

ससार के तमाम बडे-बडे उद्योग-प्रधान देशो मे अमरीका वह देश था जिसपर मन्दी का प्रहार सबसे पीछे हुआ, परन्तु इस मन्दी की प्रतिक्रिया यहा अन्य सब देशो से अधिक हुई। अमरीका के लोगो को मुद्दत तक रहने वाली व्यापारिक मन्दी और तकलीफों का अनुभव नही था। अभिमानी और धनाभिमानी, अमरीका इस चोटसे स्तम्भित हो गया। और जब बेकारो की सख्या मे उत्तरोत्तर लाखो की वृद्धि होने लगी और भूखो तथा भूख से तडपने वालो के दृश्य चारो ओर दिखाई देने लगे, तो सारे राष्ट्र की हिम्मत टूटने लगी। बैको तथा पूजी लगाने के कामो मे लोगों का विश्वास उठने लगा और वे बैको से रुपया निकाल-निकाल कर घरो मे जमा करने लगे। बैंक तो विश्वास और साख के आधार पर ही कायम रहते हैं, अगर विश्वास उठ जाता है तो बैक भी उठ जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे हजारो बैको के दिवाले निकल गये और ज्यो-ज्यो दिवाले निकलते गये त्यो-त्यो सकट भी बढने लगी और आम तौर पर स्थिति पहले से ज्यादा विकट हो गई।

हजारो बे-रोज़गार नर-नारी आवारा बन गये और रोज़गार की तलाश मे नगर-नगर मारे-मारे फिरने लगे। वे सडको पर घूमते रहते थे, रास्ते पर गुजरने वाले मोटर-यात्रियो से मिन्नतें करते थे कि उन्हे बिठा ले, और अक्सर धीमी माल-गाडियो के पायदानो पर लटक जाते थे। इस लम्बे-चौडे देश मे अकेले या छोटे-छोटे गिरोहो मे इधर से उधर भटकनेवाले लडको और लडकियों और छोटे बच्चो तक की सख्या और भी मर्मस्पर्शी थी। इधर वय-प्राप्त तथा हट्टे-कट्टे आदमी रोज़गार की प्रतीक्षा और आशा में निकम्मे बैठे हुए थे और नमूने के सरकारी कारखाने भी बन्द कर दिये गये थे। परन्तु पूजीवाद की प्रकृति ऐसी है कि ऐसे समय में कम मजूरी देकर कडी मेहनत लेने वाले अधेरे और गन्दे काम-घर जगह-जगह खुल गये, जिनमे बारह से सोलह वर्ष की आयु तक के लडके-लडकियो से नाममात्र की मजूरी पर दस-बारह घटे काम लिया जाता था। बडे लडको तथा लडकियो पर बेकारी का जो ज़बरदस्त असर पड़ा उसकी मजबूरी का फ़ायदा उठा कर कुछ कारखानेदारो ने इन जवान लडके-लडकियो से अपने मिलों और कारखानो मे खूब कस कर और देर-देर तक काम करवाया। इस प्रकार मन्दी के कारण अमरीका में बच्चों की मज़दूरी फिर शुरू हो गई, और इस बुराई को तथा अन्य बुराइयों को रोकने वाले श्रम-क़ानूनो की चौडे-धाड़े अवज्ञा की गई।

याद रहे कि अमरीका मे या ससार के अन्य देशो मे अन्न की या कारखानो के बने माल की कोई कमी नही थी। शिकायत यह थी कि ये चीजें जरूरत से ज्यादा थी, यानी उत्पादन खपत से ज्यादा था। सुप्रसिद्ध अग्रेज अर्थशास्त्री सर हेनरी स्ट्रैकोश ने कहा था कि जुलाई, सन् १९३१ ई०, मे यानी मन्दी के दूसरे वर्ष मे, ससार की मडियों में इतना माल था कि वह सवा दो वर्ष तक ससार भर के लोगो के गुजर तथा रहन-सहन का वही स्तर कायम रखने के लिए पर्याप्त था जिसके वे आदी थे, चाहे इस समय मे वे तिनका तक न हिलाते। मगर फिर भी इसी समय मे लोगों को इतनी तगी और भुखमरी भुगतनी पडी जितनी आधुनिक औद्योगिक जगत में आज तक कभी नही हुई। इधर तो यह तगी थी और उधर खाद्य-पदार्थों को सचमुच

नष्ट कर दिया गया। फसलें काटी नहीं गईं और खेतों में पड़ी-पड़ी सड़ने दी गईं, फल पेड़ों पर ही लटके छोड़ दिये गये, और कुछ वस्तुएं तो सचमुच नष्ट ही कर दी गईं। इसका केवल एक उदाहरण यहां देता हूं: जून, सन् १९३१ ई०, से लगाकर फरवरी, सन् १९३३ ई० तक ब्राज़ील में क़हवा—काफ़ी की १,४०,००,००० बोरियां नष्ट कर दी गईं। एक बोरी में क़रीब १३२ पौंड क़हवा भरा जाता है, इसलिए १,८४,८०,००,००० पौंड क़हवा इस तरह नष्ट कर दिया गया! अगर एक-एक आदमी को एक-एक पौंड कहवा भी दिया जाय, तो इतना क़हवा संसार की कुल आबादी के लिए काफ़ी होता। मगर हम जानते हैं कि कहवा पीने के लिए लालायित लाखों नर-नारी इतने गरीब हैं कि क़हवा नहीं खरीद सकते।

क़हवा के अलावा गेहूं, रुई और अन्य अनेकों वस्तुएं नष्ट की गईं। कपास, रबड़, चाय, इत्यादि की खेती पर पाबन्दियां लगाकर भविष्य में इनकी उपज कम करने के उपाय भी किये गये। विनाश की और पाबन्दियां लगाने की ये कार्रवाइयां कृषि की उपज के भाव बढ़ाने के लिए की गई थीं ताकि इन वस्तुओं की कमी से मांग पैदा हो जाय और कीमतें ऊंची चढ़ जायं। मंडी में अपनी उपज बेचने वाले किसान के लिए तो यह निस्सन्देह फ़ायदे की बात हो सकती है, लेकिन उपभोक्ता का क्या होगा? अगर आवश्यकता से कम उत्पादन होता है तो कीमतें इतनी चढ़ जाती हैं कि अधिकतर लोग चीजें नहीं खरीद सकते और तंगी भुगतते हैं। अगर आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो तो क़ीमतें इतनी गिर जाती हैं कि उद्योगों और खेतीबाड़ी के काम नहीं चल सकते और बेकारी पैदा हो जाती है। और बे-रोज़गार लोग कोई चीज़ कैसे खरीद सकते हैं, क्योंकि खरीदने के लिए उनके पास पैसा ही नहीं होता! चाहे तो अभाव हो और चाहे प्रचुरता, जनता की क़िस्मत में तो दोनों तरह से तंगी भुगतना ही बदा है।

मैं लिख चुका हूं कि मन्दी के ज़माने में अमरीका में या अन्य देशों में चीज़ों की कोई कमी नहीं थी। किसानों के पास तो कृषि की उपज थी जिसे कोई खरीदने वाला नहीं था, और शहरी लोगों के पास कारखानों का बना माल था जिसे वे बेच नहीं पाते थे। मज़ा यह है कि दोनों को एक-दूसरे के सामानों की ज़रूरत थी। मगर चूंकि दोनों तरफ़ रुपये की कमी थी, इसलिए विनिमय का सिलसिला रुक गया। और तब अत्यन्त उद्योग-प्रधान, उन्नत और पूंजीवादी व्यवस्थावाले अमरीका में लोगों ने चीज़ों की अदला-बदली का प्राचीन तरीक़ा अपनाया, जो पुराने ज़माने में मुद्रा-प्रणाली के चलन से पूर्व बरता जाता था। अमरीका में चीज़ों का लेन-देन करने वाली सैंकड़ों संस्थाएं बन गईं। जब रुपये की कमी से विनिमय की पूंजीवादी प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई, तो लोग बिना रुपये के ही काम चलाने लगे और चीज़ों की तथा काम की अदला-बदली करने लगे। इस अदला-बदली को प्रमाण-पत्र देकर सहायता करनेवाली अनेक विनिमय समितियां पैदा हो गईं। इस अदला-बदली का एक मज़ेदार उदाहरण एक डेरी वाले ने प्रस्तुत किया, जिसने एक विश्व-विद्यालय को अपने बच्चों की शिक्षा के एवज़ में दूध, मक्खन और अंडे दिये।

अन्य देशों में भी कुछ हद तक अदला-बदली की प्रणाली चालू हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयों की जटिल व्यवस्था भंग होने से राष्ट्रों के बीच वस्तुओं की अदला-बदली के भी अनेक प्रसंग आये। मसलन, इंग्लैण्ड ने स्कैण्डिनेविया की इमारती लकड़ी के बदले में कोयला दिया, कनाडा ने सोवियत को खनिज तेल के बदले में अल्यूमीनियम दिया, संयुक्त राज्य अमरीका ने ब्राज़ील को क़हवा के एवज़ में गेहूं दिया।

इस मन्दी से अमरीका के कृषकों को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा। उन्होंने अपने खेतों को रेहन रख कर बैंकों से जो रुपया उधार लिया था उसे वे चुका नहीं सके। इस पर बैंकों ने यह कोशिश की कि इन खेतों को बिकवा कर अपना रुपया वसूल करें। परन्तु कृषकों ने इसका विरोध किया, और इस प्रकार के नीलामों को रोकने के लिए संगठित होकर अपनी 'कार्रवाई समितियां' बनालीं। नतीजा यह हुआ कि इस तरह के नीलामों में कृषकों की मिल्कियतों पर बोली लगाने का किसी को साहस नहीं हुआ, और बैंकों को मजबूर होकर उनकी शर्तें माननी पड़ीं। कृषकों का यह विद्रोह अमरीका के मध्य-पश्चिमी प्रदेशों में फैल गया। यह विद्रोह इस बात को ज़ाहिर करने वाला महत्वपूर्ण संकेत था कि संकट के प्रादुर्भाव से वे कृषक, जो मुद्दत से देश के आधार-स्तम्भ थे, किस प्रकार अधिकाधिक उग्र होते जा रहे थे और उनका दृष्टिकोण किस तरह क्रान्तिकारी बनता जा रहा था। इनका यह आन्दोलन ठेठ देशी था, समाजवाद या साम्यवाद से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। आर्थिक संकट के कारण ये सम्पत्ति के अधिकारी मध्यम-वर्गीय कृषक कोरे किसान बनते जा रहे हैं जो केवल खेती करके पेट भरते हैं, और सम्पत्ति-विहीन हो गये हैं। उनके कुछ नारे ये हैं: "मानव

अधिकार क़ानूनी तथा जायदादी अधिकारों से ऊपर हैं", और "रेहन की हुई जायदाद पर सब से पहला हक़ पत्नियो और सन्तानो का है।"

संयुक्त राज्य अमरीका की परिस्थितियो की मैंने कुछ विस्तार के साथ विवेचना की है, क्योंकि अनेक बातो में अमरीका मन को मुग्ध करने वाला देश है। पूजीवादी व्यवस्था वाले देशो में यह सबसे अधिक उन्नत है, और योरप तथा एशिया की जैसी पुरानी सामन्ती जड़ें है, वैसी इसकी नही है। इसलिए यहा परिवर्तन अधिक तीव्र गति से हो सकते है। अन्य देशो की जनता को तंगी भुगतने का अधिक अनुभव हैं; परन्तु अमरीका मे इतने बड़े पैमाने पर यह एक नवीन और तलमलानेवाली घटना थी। अमरीका के बारे में मैंने जो कुछ बतलाया है उससे तुम अन्दाज लगा सकती हो कि मन्दी के जमाने मे अन्य देशों की क्या हालत थी। कुछ की हालत तो बहुत खराब थी, और कुछ की जरा अच्छी थी। समग्र रूप से मन्दी का बुरा असर कृषि-प्रधान तथा पिछड़े-हुए देशो पर इतना नही पडा जितना उन्नत उद्योग-प्रधान देशो पर। उनके पिछडेपन ने ही एक प्रकार से उन्हे बचा दिया। उनकी सबसे बडी मुसीबत कृषि की उपज के भावो का एकदम गिर जाना था जिससे किसान-वर्ग को भारी कष्ट सहना पडा। आस्ट्रेलिया, जो मुख्यतया कृषि-प्रधान देश है, इग्लैण्ड के बैंको को अपना कर्जा नही चुका सका, और कीमतो की इस गिरावट के कारण उसके दिवालिया होने की नौबत आगई। अपनी जान बचाने के लिए उसे अंग्रेज़ी बौहरो की कठोर शर्त्तों पर रजामन्द होना पडा। मन्दी के ज़माने मे सबसे अधिक फूलने-फलनेवाला और दूसरो पर प्रभुत्व करने वाला वर्ग बौहरो का ही वर्ग होता है।

दक्षिण अमरीका मे सयुक्त राज्य से उधार मिलना बन्द होने के कारण और मन्दी के कारण ऐसा आर्थिक सकट पैदा हुआ कि अधिकाश प्रजातत्र हकूमतो के, या यो कहो कि उनपर शासन करने वाले अधिनायको के, तख्ते उलट गये। सारे दक्षिण अमरीका मे अर्जेण्टाइन, ब्राज़ील और चिले, इन तीन प्रमुख देशो सहित, क्रान्तिया हुई। दक्षिण अमरीका की सारी क्रान्तियो की भाति ये क्रान्तिया भी राजमहलो के ही मामले थे, यानी इनमे केवल अधिनायको के और राज्याधिकारियो के परिवर्तन हुए। यहा जो व्यक्ति या गिरोह सेना और पुलिस पर अधिकार कर लेता है, वही देश का शासन करता है। दक्षिण अमरीका की सारी सरकारें बुरी तरह कर्ज़ों में फसी हुई थी और अधिकाश नादिहन्द हो गई थी।

: १८५ :

संकट के क्या कारण थे ?

२१ जुलाई, १९३३

महामन्दी ने दुनिया का गला दबा लिया और लगभग सारी प्रवृत्तियो का या तो दम घोट दिया या उनकी गति मन्द कर दी। अनेक स्थानो मे उद्योगो के चक्र चलना बन्द हो गये; जिन खेतो मे अन्न तथा अन्य फ़सले पैदा होती थी वे खाली और बेजुते पड़े रह गये, रबड के पेड़ो से रबड चू रहा था, पर कोई उसे समेटने वाला नही था, जो पहाडी ढाल चाय की सुपोषित झाडियो से लहलहाते थे वे झाडखड बन गये और उनकी सार-सम्हाल करनेवाला कोई न रहा। और जो लोग ये सारे काम करते थे वे बेकारो की बड़ी फ़ौज में शामिल हो गये और काम की तथा रोजगार की प्रतीक्षा करने लगे, पर उन्हे कोई काम-धन्धा नही मिलता था। निदान आश्रयहीन और बहुत कुछ हताश होकर वे भूख और तगी के मुह में जा पडे। अनेक देशों मे आत्म-हत्याओ की सख्या बहुत बढ गई।

मै कह चुका हू कि सारे उद्योगो पर मन्दी की छाया पड गई थी। लेकिन एक उद्योग बच गया था। यह युद्ध-साधनो का उद्योग था जो बिभिन्न राष्ट्रों की जल, थल और हवाई सेनाओं के लिए हथियार और युद्ध-सामग्री तैयार करता था। यह व्यापार खूब चमका और इसके हिस्सेदारों को भारी-भारी मुनाफ़े बाटे गये। मन्दी का इस पर कोई असर नही पड़ा, क्योकि यह तो राष्ट्रो की आपसी प्रतिस्पर्द्धाओ और सघर्षों की सौदेबाजी करता था, और ये दोनो चीज़ें इस सकट काल में बुरी तरह बढ गई थी।

मन्दी के प्रत्यक्ष प्रभाव से एक और विशाल प्रदेश अछूता रह गया—यह सोवियत सघ था। यहां कोई बेकारी नही थी, और पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत काम इतने ज्यादा परिश्रम से हो रहा था जितना पहले कभी नही हुआ। यह देश पूजीवादी व्यवस्था के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर था, और इसकी अर्थ व्यवस्था बिल्कुल भिन्न थी। मगर-जैसा कि मै बतला चुका हू, मन्दी का अप्रत्यक्ष प्रभाव इस पर भी पड़ा, क्योकि कृषि की जो उपज यह अन्य देशो में बेचता था उसकी कीमते गिर गई थी।

इस महामन्दी का, इस जागतिक सकट का, क्या कारण था, जो अपने ढग से लगभग उतना ही भीषण था जितना कि खुद महायुद्ध? यह पूजीवाद का सकट कहलाता है, क्योकि पूजीवाद की लम्बी-चौड़ी और जटिल व्यवस्था इसके बोझ से बुरी तरह तडक गई थी। पूजीवाद ने ऐसा व्यवहार क्यो किया? और क्या यह ऐसा अस्थायी सकट था जिसकी मार से पूजीवाद बच जायगा, या यह एक तरह से उस महान प्रणाली की अन्तिम हिचकियों का प्रारम्भ था जो इतनी मुद्दत से ससार पर छाई हुई है? ऐसे अनेक प्रश्न उठते है और हमारे मन को मोहते है, क्योकि इनके उत्तर पर मानव समाज का, और प्रसग से हमारा भी, भविष्य निर्भर है। दिसम्बर, सन् १९३२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने अमरीकी सरकार को एक खरीता भेजा जिसमे प्रार्थना की गई थी कि उसे युद्ध-ऋण से मुक्त कर दिया जाय। इस खरीते में बतलाया गया था कि किस तरह 'मर्ज़ बढता गया ज्यो-ज्यो दवा की'। इसमे लिखा था "हर जगह टैक्स बडी निर्दयतापूर्वक बढा दिये गये है और खर्च बुरी तरह कम कर दिये गये है, मगर फिर भी इलाज करने के इरादे से लगाये गये अकुशो और प्रतिबन्धो से यह मर्ज और ज्यादा बढ गया है।" आगे चलकर इसमे बतलाया गया था कि "ये नुकसान और कष्ट प्रकृति की कजूसी के कारण नही हुए है। भौतिक विज्ञान की सफलताए बढ रही है, और असली धन के उत्पादन की विपुल प्रच्छन्न शक्तिया अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान है"। दोष प्रकृति का नही था, बल्कि मनुष्य का था, और मनुष्य-जनित प्रणाली का था।

पूजीवाद की इस बीमारी का ठीक-ठीक निदान करना या इसके लिए दवा का नुसखा तजवीज करना आसान नही है। अर्थशास्त्रियो को इसका पूरा ज्ञान होना चाहिए, परन्तु उनमे मतभेद है और वे इसके अलग-अलग कारण और इलाज बतलाते है। साम्यवादी तथा समाजवादी ही ऐसे लोग नजर आते है जिनके दिमाग इस बारे मे बिल्कुल साफ है। उनका कहना है कि पूजीवादी व्यवस्था का टूट जाना उनके विचारो और मतो का औचित्य सिद्ध करता है। पूजीवाद के विशेषज्ञो ने तो साफ कबूल कर लिया कि वे चक्कर और उलझन में पड गये है। इग्लैण्ड के एक सबसे बडे और सबसे योग्य वित्तशास्त्री मॉन्टेग्यू नॉर्मन ने, जो बैक ऑफ़ इग्लैण्ड का गवर्नर है, एक सार्वजनिक समारोह मे भाषण देते हुए कहा था "यह आर्थिक समस्या मेरे बूते की बात नही है। कठिनाइया इतनी लम्बी-चौडी है, इतनी नूतन है, और इतनी अभूतपूर्व है कि इस सारे विषय पर विचार करते समय मुझे अपनी अज्ञानता और तुच्छता का भान होता है। यह समस्या इतनी बडी है कि मै इसे नही सुलझा सकता। भविष्य की बात यह है कि शायद हम इस अधेरी सुरग के दूसरे सिरे की उस ज्योति को देख सके जिसकी ओर कुछ लोग इशारा भी कर चुके है।" परन्तु यह ज्योति आकाश-दीप की भांति एक इन्द्रजाल है जो एक क्षण तो हमारे हृदयो में आशाए उत्पन्न करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण हमें निराश कर देता है। एक विख्यात अग्रेज राजनीतिज्ञ, सर ऑकलैण्ड गेड्डीस, ने कहा है "विचारवान लोगों का विश्वास है कि समाज का विघटन शुरू हो गया है। हम जानते है कि योरप में तो एक युग का ही अन्त हो रहा है।"

जर्मनी के लोग यह मानते थे कि सकट का असली कारण हर्जानो का वसूल किया जाना था, बहुत-से दूसरे लोग यह मानते थे कि यह मन्दी राष्ट्रो के आपसी तथा अन्दरूनी युद्ध-ऋणो के कारण आई, क्योकि इनका बोझा असह्य हो गया है और सारे उद्योगों का गला दबा रहा है। इस प्रकार दुनिया के कष्टो का दोष मुख्यतया महायुद्ध के सिर मढ़ा जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत था कि रुपये का विचित्र व्यवहार तथा क़ीमतो की भारी गिरावट ही सारी मुसीबत की जड़ थी, और ये चीजे सोने की कमी का परिणाम थी। और सोने की कमी एक तो इस कारण हुई कि खानो मे से संसार की आवश्यकता के अनुसार काफी सोना प्राप्त नही हुआ, और अधिकतर इस कारण हुई कि विभिन्न सरकारो ने सोना दबा कर रख लिया। कुछ दूसरे लोग कहते थे कि ये सारी मुसीबतें आर्थिक राष्ट्रीयतावाद, संरक्षण-करो तथा भारी चुगियों के कारण पैदा हुई, क्योंकि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा पड़ती है। एक और कारण यह प्रस्तुत किया गया कि

यंत्र-कला या वैज्ञानिक कला की उन्नति से मजदूरों की जरूरत कम हो गई और इस प्रकार बेकारी बढ़ गई।

इन सुझावो तथा अन्य सुझावो के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है, और सभव है कि इन सबने ही दुनिया का मिजाज बिगाड़ दिया हो। परन्तु सारा दोष किसी एक कारण के सिर या सारे कारणो के सिर मढ़ना न तो उचित है और न न्यायसगत। सच तो यह है कि इनमे से कुछ तथाकथित कारण स्वय ही इस संकट के परिणाम थे, और इनमें से हरेक ने उसे बढाने मे मदद दी। परन्तु इस मुसीबत की जड़ बहुत गहरी थी। युद्ध मे पराजय इसका कारण नही थी, क्योकि विजेता राष्ट्र खुद भी इसमे फसे हुए थे। राष्ट्रो की गरीबी भी इसका कारण नही थी, क्योकि ससार का सबसे ज्यादा धनवान देश अमरीका भी उन देशों मे से था जिन पर इस सकट का बहुत बुरा प्रभाव पडा था। इसमें कोई सन्देह नही कि इस सकट को शीघ्र लाने मे महायुद्ध एक जबरदस्त निमित्त कारण हुआ है—एक तो कर्जों के भयकर बोझ के फलस्वरूप और दूसरे, कर्जदारों मे इनके बटवारे के ढग के फलस्वरूप। एक और कारण यह भी था कि युद्ध-काल मे तथा युद्ध के बाद कुछ वर्षों में वस्तुओ की कीमते बनावटी तौर पर ऊची चढ गई थी, इसलिए सारे ढाचे का ढह जाना अनिवार्य था। लेकिन हमे इसकी गहराई में जाना चाहिए।

कहा जाता है कि आवश्यकता से अधिक उत्पादन इस मुसीबत की जड है। परन्तु यह कथन भ्रमोत्पादक है, क्योकि जब करोडो मनुष्य जीवन के लिए परमावश्यक वस्तुओ तक की तगी भुगत रहे है तो आवश्यकता से अधिक उत्पादन का सवाल ही नही उठता। भारत मे करोडो लोगो के पास तन ढकने को कपडा नही है, मगर फिर भी यह सुनाई देता है कि भारत की कपडा मिलो मे तथा खादी भडारो मे माल भरा पड़ा है, और कपडे का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो रहा है। वस्तु-स्थिति यह है कि लोगो के पास कपडा खरीदने के लिए पैसा ही नही है, न कि यह कि उन्हे कपडे की आवश्यकता नही है। जनसाधारण के पास पैसे का अभाव ही इसका कारण है। मगर पैसे के इस अभाव का यह अर्थ नही है कि दुनिया से पैसा गायब हो गया है। इसका अर्थ यह है कि दुनिया के लोगो मे पैसे का विभाजन अस्त-व्यस्त हो गया है और निरन्तर होता रहता है, अर्थात् धन के विभाजन मे असाम्य है। एक ओर तो धन का बाहुल्य है और धनपतियों को यह नही सूझ पाता कि उसका क्या उपयोग करे, वे केवल उसे बचाकर रखते जाते है, और बैंको में अपनी जमा-पूजी बढा रहे है। यह रुपया बाजार मे सामान खरीदने के काम नही आता। दूसरी ओर धन की बहुत ज्यादा कमी है, और इसके अभाव के कारण आवश्यक वस्तुए भी नही खरीदी जा सकती।

इस तरह घुमा-फिरा कर मानो यह कहा जाता है कि दुनियामें धनवान और निर्धन लोग है, हालाकि यह चीज इतनी प्रत्यक्ष है कि इसके लिए किसी दलील की जरूरत नही है। ये धनवान और निर्धन लोग इतिहास के प्रारम्भ से आजतक चले आ रहे है, फिर वर्तमान सकट के लिए इन्हे जिम्मेदार क्यो ठहराया जाता है ? मेरा ख्याल है कि पिछले किसी पत्र मे लिख चुका हू कि पूजीवादी प्रणाली की सारी प्रवृत्ति धन के विभाजन के असाम्य को बढाने की है। सामन्ती परिस्थितियो के अन्तर्गत स्थिति लगभग निश्चल थी, या बहुत धीरे-धीरे बदलती थी, परन्तु बडी-बडी मशीनों तथा जागतिक मडियो वाला पूजीवाद क्रियाशील था, और ज्यो-ज्यो व्यक्तियो अथवा गिरोहो के पास धन जमा होता गया त्यो-त्यो बडी तेजी से परिवर्तन हुए। धन के विभाजन में बढते हुए असाम्य ने, कुछ अन्य निमित्त कारणो से मिल कर, उद्योग-प्रधान देशो में मजदूर वर्ग तथा पूजीपति-वर्ग के बीच एक नया सघर्ष उत्पन्न कर दिया। इन देशो के पूजीपतियो ने मजदूर-वर्ग को पहले से ऊची मजूरियों की और रहन-सहन की पहले से अच्छी हालतो की विभिन्न रियायतें देकर खिचाव कम कर दिया; मगर ये रियायते औपनिवेशिक तथा पिछडे हुए प्रदेशो का शोषण करके दी गईं। इस प्रकार एशिया अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका और पूर्वी योरप के शोषण से पश्चिमी योरप तथा उत्तरी अमरीका के उद्योग-प्रधान देशो को धन जमा करने में तथा इसका कुछ अश अपने मजदूरों को देने में सहायता मिली। ज्यो-ज्यो नई-नई मडियाँ तलाश होती गई, त्यो-त्यो नये-नये उद्योगो का उदय हुआ या पुराने उद्योगो का विकास हुआ। साम्राज्यवाद ने इन मडियो और कच्चे माल की सरगर्म तलाश का रूप धारण कर लिया। विभिन्न उद्योग-प्रधान शक्तियो की प्रतिस्पर्द्धाओ के कारण उनके स्वार्थ आपस मे टकराने लगे। जब लगभग समूचा संसार पूजीवादी शोषण के दायरे में आ गया तो किसी शक्ति को आगे पैर फैलाने की गुजायश नही रही और शक्तियों के आपसी सघर्षों के फलस्वरूप युद्ध छिड़ गया।

ये तमाम बातें मै तुम्हें पहले ही बतला चुका हूं, लेकिन यहां इसलिए दोहरा रहा हूं कि संसार के वर्तमान संकट को समझने में तुम्हें मदद मिले। विकासशील पूजीवाद और वृद्धिशील साम्राज्यवाद के इस जमाने में पश्चिम में अनेक संकट पैदा हुए। इनका कारण यह था कि एक ओर तो पैसे को हद से ज्यादा बचाया जा रहा था, और दूसरी ओर लोगों के पास खर्च करने तक को पैसा नहीं था। मगर ये सकट टल गये, क्योकि पूजीपतियो के पास जो फ़ालतू रुपया था उसे उन्होंने पिछड़े-हुए प्रदेशों का विकास और शोषण करने में लगाया। इससे नई-नई मंडिया पैदा हो गई और माल की खपत बढ गई। साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की अन्तिम कला कहा जाता है। साधारण तौर पर शोषण का यह सिलसिला शायद तब तक जारी रहता जब तक कि समूचे ससार का औद्योगीकरण न हो गया होता। परन्तु बीच में ही कठिनाइया तथा बाधाएं उपस्थित हो गईं। मुख्य कठिनाई तो साम्राज्यशाही शक्तियों की भीषण प्रतियोगिता थी, क्योकि हरेक शक्ति अपने लिए सबसे बडा हिस्सा चाहती थी। दूसरी कठिनाई थी औपनिवेशिक देशो मे राष्ट्रीयता का उदय और औपनिवेशिक उद्योगो का विकास, जिनसे वे अपनी मडियो में अपना ही माल भेजने लगे। हम देख चुके है कि तमाम प्रक्रियाओ के फलस्वरूप युद्ध छिड गया। परन्तु युद्ध से पूजीवाद की कठिनाइया न तो हल हुईं और न हो सकती थी। सोवियत सघ का विशाल प्रदेश पूजीवादी जगत से बिलकुल बाहर निकल गया, और ऐसी मडी नही रहा जिससे अन्य शक्तियां लाभ उठा सके। पूर्व में राष्ट्रीयता अधिक उग्र रूप धारण करने लगी और औद्योगीकरण का प्रसार होने लगा। युद्ध-काल मे और उसके बाद वैज्ञानिक यंत्र-कला मे जो जबरदस्त उन्नति हुई उसने धन के असमान विभाजन में और बेकारी पैदा होने में मदद दी। युद्ध के क़र्ज़े भी एक प्रबल निमित्त हुए।

युद्ध के ये कर्जे बहुत भारी थे, और यह याद रखने की बात है कि वे किसी तरह की ठोस सम्पत्ति के रूप नही थे। यदि कोई देश रेल-मार्ग या नहरो या किसी अन्य देश-हितकारी योजना के लिए रुपया उधार लेता है तो जो रुपया वह उधार लेता है और खर्च करता है उसके बदले में उसके पास कुछ ठोस चीज़ आजाती है। वास्तव में इन योजनाओ पर जितना खर्च किया जाता है उससे कही अधिक पैदा हो जाता है। इसलिए ये योजनाए "उत्पादक योजनाए' कहलाती है। परन्तु युद्ध-काल में उधार लिया गया रुपया ऐसे किसी हेतु पर खर्च नही हुआ। यह व्यय केवल अनुत्पादक ही नही था, बल्कि विनाशक था। विपुल धनराशि खर्च की गई, और यह अपने पीछे सत्यानाश की निशानिया छोड गई। इस प्रकार ये युद्ध-ऋण विशुद्ध और निपट भार सिद्ध हुए। युद्ध-ऋण तीन प्रकार के थे. एक तो हर्जाने, जिन्हे देने के लिए पराजित देशो को बाध्य किया गया था; दूसरे सरकारो के आपसी ऋण, जो मित्र-राष्ट्रीय देशों को आपस मे, और खास कर अमरीका को, चुकाने थे; और तीसरे राष्ट्रीय ऋण, यानी वह रुपया जो हर देश ने अपने ही नागरिको से उधार लिया था।

इन तीनो प्रकार के कर्ज़ों में हरेक क़र्ज़ा अत्यन्त भारी था, परन्तु हर देश का सबसे बडा कर्ज़ा उसका राष्ट्रीय ऋण था। मसलन, युद्ध के बाद इग्लैण्ड का राष्ट्रीय-ऋण ६,५०,००,००,००० पौड की विकट सख्या तक पहुच गया था। इस ऋण का ब्याज तक चुकाना बड़ा भारी बोझ था, और इसके कारण जनता पर भारी टैक्स लगाये गये थे। जर्मनी ने तो मुद्रा-स्फीति के द्वारा, जिससे पुराने मार्क का अन्त हो गया था, अपने भारी अन्दरूनी ऋण को साफ़ कर दिया, और इस लिहाज से वह उन लोगो को नुक़सान पहुचा कर अपने भार से मुक्त हो गया जिन्होने उसे रुपया उधार दिया था। फ्रांस ने भी कुछ हद तक मुद्रा स्फीति का यही तरीका अपना कर अपने फ्रैन्क का मूल्य घटा कर असली मूल्य का पाचवा हिस्सा कर दिया, और इस प्रकार एक झटके में अपना अन्दरूनी राष्ट्रीय-ऋण पाच में से चार हिस्से कम कर दिया। मगर अन्य देशो को चुकाये जाने वाले कर्ज़ों (हर्जाने या सरकारो के आपसी ऋण) के साथ यह खेल नही खेला जा सकता था, क्योकि इनका भुगतान तो ठोस सोने के रूप में होता है।

सरकारो के इन आपसी क़र्ज़ों का एक देश द्वारा दूसरे देश को भुगतान किये जाने का अर्थ यह था कि भुगतान करनेवाले देश को उतने रुपये की हानि होती थी, और वह निर्धन होता जाता था। परन्तु अन्दरूनी राष्ट्रीय-ऋण के भुगतान से देश पर ऐसा कोई असर नही पडता था, क्योकि देश का धन देश में ही रहता था। मगर फिर भी इससे बहुत फ़र्क पड़ता था। इस प्रकार के क़र्ज़ों को चुकाने के लिए देश के सारे धनवान या धनहीन कर-दाताओ पर टैक्स लगा कर रुपया उगाहा जाता था। राज्य को रुपया उधार देकर सरकारी

हुंडिया खरीदने वाले धनवान लोग थे। इसलिए परिणाम यह हुआ कि इन धनवानों का रुपया अदा करने के लिए धनवानो तथा धनहीनो दोनो पर समानरूप से टैक्स लगाये गये। धनवान लोग तो राज्य को टैक्सों के रूप में जो रुपया देते थे वह उन्हें वापस मिल जाता था, या शायद उससे भी ज्यादा मिल जाता था, परन्तु ग़रीब लोग तो देते ही थे, बदले में उन्हें कुछ नहीं मिलता था। इसलिए धनवान तो अधिक धनवान हो गये, और निर्धन अधिक निर्धन हो गये।

योरप के कर्ज़दार देश अगर अमरीका को अपने कर्जों का कुछ हिस्सा अदा करते थे तो यह तमाम रुपया बड़े-बडे बौहरो और साहूकारो की जेबों मे जाता था। इसलिए इन युद्ध-ऋणो का परिणाम यह हुआ कि जो स्थिति पहले ही खराब थी वह और भी ज्यादा खराब हो गई, और गरीबो का पेट काट कर धनवान लोग रुपये के बोझ से खूब लद गये। ये धनवान इस रुपये को धन्धो में लगाना चाहते थे, क्योकि कोई भी व्यवसायी यह पसन्द नही करता कि उसका रुपया बेकार पडा रहे। इसलिए उन्होने इस रुपये को नये-नये कारखानों और मशीनो और अन्य व्यवसायो में इतना ज्यादा लगा दिया जितना कि आम तौर पर निर्धन हुई जनता की हालत को देखते हुए मुनासिब नही था। इसके अलावा वे शेयर बाजार में सट्टा भी करने लगे। उन्होने दिन पर दिन बडे सामूहिक पैमाने पर माल के उत्पादन का ढग बैठाया, परन्तु जब जनता के पास खरीदने के लिए पैसा ही नही था तो यह उत्पादन किस काम का था ? बस, माल का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो गया, और माल बिना बिका पडा रहा, और उद्योगो में घाटा होने लगा, और बहुत-से उद्योगो को अपना कारोबार बन्द करना पड़ा। इन घाटो से घबराकर व्यवसायियो नें उद्योगो मे रुपया लगाना बन्द कर दिया। वे उसे पकड कर बैठ गये और वह बैंको मे बेकार पड़ा रहा। इस प्रकार बेकारी व्यापक रूप में फैल गई और मन्दी ससार-व्यापी हो गई।

सकट के जो विभिन्न कारण बतलाये गये थे, उनकी मैने अलग-अलग विवेचना की है, परन्तु सही बात तो यह है कि इन सब ने मिल कर असर डाला और व्यापार की मन्दी इतनी बढा दी जितनी पहले कभी नही हुई थी। तात्विक रूप मे यह मन्दी पूजीवाद द्वारा अर्जित फ़ालतू आमदनी के असमान विभाजन का परिणाम थी। या यो कहो कि जनता के लोगो को मजूरियो और वेतनो के रूप मे इतना पैसा नही मिलता था कि वे अपनी मेहनत से पैदा किये हुए माल को खरीद सकें। तैयार चीजो का मूल्य उनकी कुल आमदनी से अधिक था। अगर यह रुपया जनता के पास होता तो इन चीजो को खरीदने के काम आता, लेकिन वह मुट्ठी भर धन-कुबेरो के पास इकट्ठा हो गया जिनकी यह समझ में नही आता था कि उसका क्या करे। यही फ़ालतू रुपया अमरीका से निकल-निकल कर कर्जों के रूप में जर्मनी और मध्य-योरप और दक्षिण अमेरिका जा पहुचा। इन्ही विदेशी कर्जों ने युद्ध-जर्जर योरप को और पूजीवादी व्यवस्था को कुछ वर्षों तक चलाये रक्खा, मगर उधर सकट भी इन्ही के कारण उत्पन्न हुआ। और इन्ही विदेशी क़र्जों ने अन्त में सारी इमारत एकदम ढा दी।

अगर पूजीवाद के सकट का यह निदान सही है, तो इसका इलाज वही हो सकता है जो आमदनियो को समान बना दे, या कम से कम इस दिशा में चले। इस काम को पूरा करने के लिए समाजवाद को अपनाना होगा, परन्तु यह सम्भावना नही है कि पूजीपति लोग ऐसा करे, जब तक कि परिस्थितिया ही उन्हे मजबूर न कर दे। पिछडे-हुए प्रदेशो के साधनो का उपयोग करने के लिए लोग-बाग सुयोजित पूजीवाद की या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-सगतो की बातें सोचते है, परन्तु इन बातो के पीछे राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाएं और ससार की मडियों के लिए साम्राज्यशाही शक्तियो का सघर्ष भीषण बनते जा रहे हैं। योजनाए किसलिए बनाना ? क्या एक को नुक़सान पहुचा कर दूसरे का फ़ायदा करने के लिए ? पूजीवाद का हेतु व्यक्तिगत लाभ है, और प्रतियोगिता उसका मूल-मत्र है, और प्रतियोगिता की योजनाए बनाने से कोई मेल नही।

समाजवादियो तथा साम्यवादियो के अलावा भी अनेक विचारवान लोग वर्तमान परिस्थितियो में पूजीवाद की क्षमता में सन्देह करने लगे है। वर्तमान मुनाफ़ा प्रणाली का ही नही बल्कि रुपया देकर माल खरीदने की मूल्य प्रणाली का ही अन्त करने के लिए कुछ लोगो ने चौंकाने वाले उपाय सुझाये हैं। ये इतने जटिल है कि यहा उनका वर्णन करना कठिन है, और इनमें से कुछ तो बिल्कुल ही बे-सिर-पैर है। मैं तो इनका ज़िक्र तुम्हे यह बतलाने के लिए कर रहा हू कि लोगो के दिमाग़ किस तरह डावाडोल हो गये है, और जो लोग ज़रा भी क्रान्तिकारी नही है वे भी क्रान्तिकारी सुझाव पेश कर रहे हैं।

जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय ने हाल ही में एक सीधा-सादा प्रस्ताव रक्खा था कि बेकारी को तुरन्त कम करने के लिए मजदूरों के काम के घटो की सीमा एक सप्ताह में चालीस घटे कर दी जाय। इसका नतीजा यह होता कि करोड़ों मजदूर काम पर और लग जाते, और उस हद तक बेकारी कम हो जाती। मजदूरो के तमाम प्रतिनिधियों ने इसका स्वागत किया, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसका विरोध किया और जर्मनी तथा जापान की सहायता से इस प्रस्ताव को खटाई में डलवा दिया। इस सारे युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संस्था में इंग्लैण्ड का लेखा बराबर प्रतिगामी रहा है।

आर्थिक सकट तथा मन्दी दोनो ससार-व्यापी है, इसलिए लोगो का खयाल हो सकता है कि इनका इलाज भी अन्तर्राष्ट्रीय जागतिक इलाज होना चाहिए। विभिन्न देशो ने आपसी सहयोग का कोई रास्ता ढूढने के प्रयत्न किये है, परन्तु अभी तक वे असफल रहे हैं। इसलिए हरेक देश ने जागतिक उपाय से हताश होकर आर्थिक राष्ट्रीयवाद में इसका राष्ट्रीय इलाज ढूढा है। उनकी दलील यह है कि जब संसार का व्यापार कम हो रहा है तो वे कम से कम अपना व्यापार तो अपने घर मे रखें और विदेशी माल अपने यहा न आने दें। चूकि निर्यात का व्यापार अनिश्चित और परिवर्तनशील होता है, इसलिए प्रत्येक देश ने अपनी घरू मडियो पर ही सारा ध्यान लगाने का प्रयत्न किया है। विदेशी माल का आयात रोकने के लिए तट-कर लगाये गये हैं या बढ़ा दिये गये है, और इनसे आयात रोकने मे सफलता भी मिली है। इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी हानि पहुंची है, क्योकि हर देश के तट-कर जागतिक व्यापार के मार्ग में रुकावट डालते हैं। योरप तथा अमरीका, और कुछ हद तक एशिया भी, इन तट-करो की ऊची दीवारो से भरे पड़े हैं। तट-करो का एक और परिणाम यह हुआ कि रहन-सहन का खर्च बढ गया क्योकि खाद्य-पदार्थों तथा जितनी अन्य वस्तुओ को सरक्षण देने के लिए तट-कर लगाये गये, उन सबकी कीमते चढ गईं। किसी वस्तु पर तट-कर लगाने से उस पर राष्ट्रीय एकाधिकार कायम हो जाता है, और विदेशी प्रतियोगिता बन्द हो जाती है या ज्यादा कठिन हो जाती है। एकाधिकार में मुनाफो का बढ जाना अनिवार्य है। तट-करो द्वारा सरक्षित उद्योग सरक्षण के फलस्वरूप बहुत लाभ उठाते हैं या यो कहो कि उनके स्वामी लाभ उठाते है। परन्तु यह लाभ बहुत करके उन लोगों को नुकसान पहुचा कर होता है जो माल खरीदते है, क्योकि चढ़े हुए दाम इन्हे ही देने पड़ते है। इस प्रकार तट-करो से गिने-चुने वर्गों को कुछ राहत मिलती है, और निहित स्वार्थ कायम हो जाते हैं, क्योकि तट-करो से मुनाफा कमाने वाले उद्योग यह चाहते है कि ये सदा बने रहे। मसलन भारत में कपड़ा-उद्योग को जापान के विरुद्ध भारी सरक्षण मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिकों का बडा लाभ हो रहा है, वरना वे जापान के मुकाबले में ठहर नही सकते थे। परन्तु अब वे अपना माल ऊचे दामो पर बेच सकते हैं। यहा चीनी-उद्योग को भी सरक्षण मिला हुआ है, जिसके फल-स्वरूप सारे भारत मे, और खास कर उत्तर प्रदेश और बिहार मे, चीनी के बहुत-से कारखाने खड़े हो गये हैं। इस प्रकार चीनी मे एक निहित स्वार्थ बन गया है, और अगर चीनी पर लगाई गई चुगिया हटा दी जाय तो इस निहित स्वार्थ को हानि पहुचे और चीनी के नये कारखानो में से बहुत-से ठप हो जायं।

दो तरह के एकाधिकारो की वृद्धि हुई। एक तो तट-करो से संरक्षित राष्ट्रो के बीच एकाधिकार, और दूसरे भीतरी एकाधिकार जिनके कारण बड़े-बड़े व्यवसाय छोटे व्यवसायो को हड़प कर गये। अलबत्ता एकाधिकारो की यह वृद्धि कोई नई प्रक्रिया नही थी। यह तो महायुद्ध के पहले से ही मुद्दत से चली आ रही थी। पर अब इसकी गति ज्यादा तेज हो गई। अनेक देशो में तट-कर भी बहुत दिनो से मौजूद थे। बड़े देशो मे इग्लैण्ड ही ऐसा था जो अब तक मुक्त व्यापार पर निर्भर रहा था और तट-करों के बिना काम चला रहा था पर अब उसे भी सरक्षण की चुगिया लगाकर अपनी पुरानी परम्परा को छोड़ना पडा, और अन्य देशो की बराबरी मे आना पड़ा। इससे उसके कुछ उद्योगो को थोडा-सा तात्कालिक लाभ हुआ।

इन सब बातों से स्थानीय और अस्थायी लाभ तो जरूर हुआ, पर समष्टि रूप मे सारे ससार की हालत और भी ज्यादा बिगड़ गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो और भी कम हुआ ही, मगर सम्पत्ति का असमान विभाजन भी कायम हो गया और बढ़ गया। इसके कारण प्रतिद्वंदी राष्ट्रों में निरन्तर सघर्ष रहने लगा और प्रत्येक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र का माल रोकने के लिए तट-करो की दीवारे खड़ी कर दीं। यह "तट कर-युद्ध" कहा जाता है। जब संसार की मंडियां कम होने लगी और दिन पर दिन अधिक संरक्षित कर दी गईं, तो इनके लिए जोरदार छीना-झपटी होने लगी, और कारखानो के मालिक अपने

मजदूरों की मजूरियो में कटौती करने पर ज़ोर देने लगे ताकि वे अन्य देशों के साथ प्रतियोगिता में ठहर सके। बस, मन्दी पैदा हो गई, और बेकारो की फौज खूब बढ गई। मजूरियो में जितनी बार कटौती की गई, मजदूरो की खरीदने की सामर्थ्य भी उतनी ही कम हो गई।

: १८६ :

नेतृत्व के लिए अमरीका और इंग्लैण्ड का झगड़ा

२५ जुलाई, १९३३

मै लिख चुका हू कि मन्दी के ज़माने में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटते-घटते सिर्फ एक-तिहाई रह गया। जनता की खरीदने की सामर्थ्य कम होने से घरू व्यापार भी कम हो गया। बेकारी बढ़ती चली गई, और इन करोडो बेकार मजदूरो को रोटी देना विभिन्न सरकारो के लिए बडा भारी बोझ हो गया। भारी-भारी टैक्सो के बावजूद भी अनेक सरकारों को अपना खर्च चलाना असम्भव-सा हो गया। उनकी आय घट गई, और किफायत तथा वेतनो मे कटौती के बावजूद उनका व्यय अधिक बना रहा। क्योकि इस व्यय का अधिकाश जल, थल और हवाई सेनाओ में, तथा भीतरी और बाहरी दोनों तरह के कर्जों के भुगतान में लगा हुआ था। राष्ट्रीय बजटो में घाटे होने लगे, यानी आय से व्यय बढ गया। इन घाटो ने सम्बन्धित देशो की आर्थिक स्थिति और भी कमज़ोर बना दी, क्योकि इन्हे या तो अधिक रुपया उधार लेकर या जमा-पूजी मे से रुपया निकाल कर ही पूरा किया जा सकता था।

साथ ही माल के ढेर अन-बिके पडे रह गये क्योकि लोगो के पास इन्हे खरीदने के लिए काफ़ी पैसा ही नही रहा। अनेक बार तो इन "फाल्तू" खाद्य-पदार्थों को सचमुच नष्ट कर दिया गया, यद्यपि अन्य स्थानो के लोगो की इनकी सख्त जरूरत थी। यह सकट और गिरावट ससार--व्यापी थे (सोवियत संघ को छोड कर), मगर फिर भी इनका अन्त करने के लिए विभिन्न राष्ट्र आपस मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग नही कर पाये। प्रत्येक देश अपनी-अपनी गुदडी सम्हाल रहा है, दूसरो से आगे बढ जाने के प्रयत्न कर रहा है, और यहा तक कि दूसरे के दुर्भाग्य से फायदा उठाने की चेष्टा कर रहा है। इस व्यक्तिगत तथा स्वार्थ-पूर्ण कार्रवाई ने, और आज़माये-गये अन्य अधूरे उपायो ने, स्थिति को अधिक बिगाडा ही है। व्यापार की इस मन्दी से बिल्कुल अलग-थलग, परन्तु इस पर काफी असर डालने वाले दो प्रधान तथ्य या प्रवृत्तियां ससार के मामलो मे विद्यमान हैं। एक तो पूजीवादी जगत की सोवियत के साथ लाग-डाट है, दूसरी आग्ल-अमरीकी लाग-डाट है।

पूजीवादी व्यवस्था के सकट ने पूजीवादी व्यवस्था वाले सारे देशो को निर्बल और निर्धन कर दिया है, और एक प्रकार से युद्ध की सभावनाए कम कर दी है। प्रत्येक देश अपने घर की हालत सुधारने मे व्यस्त है, और जोखम के कामो मे खर्च करने के लिए किसी के पास रुपया नही है। मगर विरोधाभास यह है कि इस सकट ने ही युद्ध का खतरा भी बढा दिया है, क्योकि इसके कारण राष्ट्र तथा उनकी सरकारे निराशा से पागल होती जा रही है, और जो कौमे निराशा से पागल हो जाती है वे अपनी अन्दरूनी कठिनाइयो को हल करने के लिए बाहरी युद्धो का सहारा लेती है। जब किसी देश की सत्ता, अधिनायक के या छोटे-से चुने-हुए दल के हाथो मे होती है, तब खास तौर पर ऐसा होता है। अधिनायक अपनी सत्ता छोड़ने के बजाय अपने देश को युद्ध मे झोक देता है और इस प्रकार अपने देशवासियो का ध्यान घर के झगडो से हटा देता है। इसलिए, सोवियत सघ तथा साम्यवाद के विरुद्ध 'धर्म-युद्ध' की सम्भावना सदा बनी रहती है, क्योकि आशा यह की जाती है कि इससे पूजीवादी व्यवस्था वाले बहुत-से देश आपस में मिल जायगे। मै बतला चुका हू कि सोवियत सघ पर पूजीवादी व्यवस्था के सकट का प्रत्यक्ष प्रभाव नही पड़ा था। वह तो अपनी पच-वर्षीय योजना मे इतना व्यस्त था कि सब तरह का नुकसान उठा कर भी युद्ध को टालना चाहता था।

युद्ध के बाद इग्लैण्ड और अमरीका के बीच प्रतिस्पर्द्धा अपरिहार्य थी। ये संसार की दो सबसे

बड़ी शक्तियाँ है, और दोनों ही संसार के सारे कारोबारों में अपना प्रभुत्व रखना चाहती हैं। महायुद्ध से पहले इग्लैण्ड की सर्वोपरिता निर्विवाद थी। परन्तु युद्ध ने अमरीका को संसार का सबसे धनवान और बलवान राष्ट्र बना दिया और तब उसने कुदरती तौर पर यह चाहा कि संसार में जिसे वह अपना उचित स्थान समझता है, यानी प्रमुख स्थान, उसे प्राप्त करे। उसने इरादा कर लिया कि भविष्य में इंग्लैण्ड को हर चीज पर दखल नही जमाने देगा। खुद इंग्लैण्ड ने भी महसूस कर लिया कि जमाना बदल गया है, इसलिए उसने अमरीका से मित्रता का नाता जोड कर अपने-आप को जमाने के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उसने यहा तक किया कि अमरीका को खुश करने के लिए जापान की मित्रता को धता बताई, और अमरीका को पुचकारने के लिए कई तरह से प्रेम प्रदर्शित किया। मगर इग्लैण्ड अपने विशेष स्वार्थों और अपनी विशेष स्थिति को, और खास कर अपने अर्थ-नेतृत्व को, छोड़ने के लिए तैयार नहीं था, क्योकि उसकी महानता और उसका साम्राज्य इन्ही के साथ बधे हुए थे। उधर अमरीका भी ठीक इसी अर्थ-नेतृत्व का आकांक्षी था। इसलिए दोनो देशो के बीच सघर्ष अनिवार्य था। दोनो देशो के बौहरे, जिन्हे अपनी-अपनी सरकारों का समर्थन प्राप्त था, ऊपर से तो मीठी-मीठी और लच्छेदार बातें करते थे, परन्तु भीतर-भीतर संसार के अर्थ-सम्बन्धी और औद्योगिक नेतृत्व के महान फल के लिए लड़ते थे। इस खेल मे जीत के तथा तुरुप के अधिकतर पत्ते मानो अमरीका के हाथ मे थे, और खेलने का पुराना अनुभव तथा कौशल इंग्लैण्ड के पक्ष में थे।

युद्ध-ऋणो के कारण दोनो देशो के बीच कटुता और भी बढ गई, और इग्लैण्ड के लोग अमरीका वालो को पौंड-भर मांस मांगने वाला शायलॉक कह कर गालिया देने लगे। तथ्य यह है कि इग्लैण्ड के ऊपर अमरीका का कर्ज यहा के गैर-सरकारी बौहरो का था जिन्होने युद्ध-काल में रुपया उधार दिया था या हुंडियो का भुगतान किया था। सयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने तो केवल इसके लिए जमानत दी थी। इसलिए अमरीका की सरकार के लिए इन कर्जों को बट्टे-खाते डालने का सवाल ही नही था। अगर इग्लैण्ड के ये कर्ज माफ कर दिये जाते, तो अमरीकी सरकार को चुकाने पडते, क्योकि वह इनकी जमानतदार थी। अमरीका की काग्रेस इस अतिरिक्त जिम्मेदारी को अपने ऊपर क्यों लेती, खास-कर इस सकट काल मे ?

इस प्रकार इग्लैण्ड और अमरीका के आर्थिक स्वार्थ अलग-अलग दिशाओ मे खीच-तान करने लगे, और आर्थिक स्वार्थ का खिचाव किसी भी अन्य खिचाव से ज्यादा जोरदार हुआ करता है। इन दोनों देशो के निवासियो में बहुत-सी बातो मे साम्य है, मगर फिर भी यह अपरिहार्य मुठभेड़ हो रही है जिसमें अमरीका का बल और उसके साधन दोनो बहुत बड़े है। स्वार्थों की इस टक्कर के फलस्वरूप या तो सघर्ष और भी तीव्र रूप धारण कर ले या दूसरी चीज यह हो सकती है कि इग्लैण्ड के विशेष अधिकार और प्रभाव-पूर्ण स्थिति धीरे-धीरे, परन्तु लगातार रूप में, अमरीका के हाथ में चले जाय। अग्रेजो के लिए यह कल्पना सुखकर नही है कि जिन वस्तुओ को वे अपने लिए मूल्यवान समझते हैं उनमे से अधिकाश को छोड़ दें, अपने प्राचीन गौरव तथा साम्राज्यशाही शोषण के लाभों से भी हाथ धो लें, और ससार में ऐसा हीन स्थान ग्रहण कर ले जो अमरीका की सद्भावना पर निर्भर हो। इसलिए यह सम्भव नही मालूम होता कि वे बिना लड़े घुटने टेक दें। इग्लैण्ड की वर्तमान स्थिति का यही दुखान्त दृश्य है। उसकी पुरानी शक्ति के सारे स्रोत सूखते जा रहे हैं, और भविष्य अपरिहार्य रूप में पतन की ओर सकेत कर रहा है। परन्तु अग्रेज लोग, जिन्हे सदियों से प्रभुता की टेव पड़ी हुई है, इस असाध्य स्थिति को कबूल करने के लिए तैयार नही है। वे वीरता के साथ इसके विरुद्ध लड रहे हैं, और लड़ते रहेंगे।

मैंने तुम्हे आज के संसार की दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धाए बतलाई हैं, क्योकि इनसे उन अधिकाश घटनाओं के कारण समझ में आ जाते हैं जो आजकल हो रही है। अलबत्ता अनेकों प्रतिस्पर्द्धाए सदा चलती रहती हैं; समग्र पूजीवादी और साम्राज्यवादी व्यवस्था ही प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर खड़ी हुई है।

मन्दी के जमाने मे घटनाओ के क्रम-विकास के वर्णन को हमने जहां छोड़ा था वही अब फिर चलना चाहिए। फ्रांसीसियो ने जून, सन् १९३० ई०, में राइनलैण्ड खाली कर दिया था जिससे जर्मनो को बहुत तसल्ली हुई थी। परन्तु इसमें इतनी देर कर दी गई थी कि इसे सद्भावना का लक्षण नही माना जा

सकता था। दूसरे, मन्दी के अंधकार में हर चीज़ काली नज़र आती थी। ज्यों-ज्यों व्यापार की स्थिति बिगड़ती गई, त्यों-त्यों कर्ज़दारों के पास रुपये की तंगी होती गई, और हर्जानों तथा कर्ज़ों का भुगतान करना कठिन, या असम्भव तक, होता गया। कर्ज़दारों की कठिनाई को दूर करने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक साल की छूट की घोषणा की थी। इसके बाद युद्ध-ऋणों के समूचे प्रश्न पर पुनर्विचार करने के प्रयत्न किये गये, परन्तु सयुक्त राज्य की काग्रेस ने इस पर पुनर्विचार करने से इन्कार कर दिया। फ्रांसीसी सरकार जर्मनी से प्राप्त होने वाले हर्जानों के प्रश्न पर भी इतनी ही सख्ती से अड़ी हुई थी। ब्रिटिश सरकार कर्ज़लेवा और कर्ज़दार दोनो थी। इसलिए वह इस पक्ष में थी कि हर्जानों तथा कर्ज़ों दोनो को मिटा कर हिसाब की पट्टी को साफ कर दिया जाय। परन्तु प्रत्येक देश अपने-अपने मतलब की बात सोचता था, इसलिए कोई सर्वसम्मत कार्रवाई नही हो सकी। सन् १९३१ ई० के मध्य के लगभग जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था टूट गई और बैंको के दिवाले निकल गये। इसके फलस्वरूप इग्लैण्ड में संकट पैदा हो गया और वह अपना कर्ज़ा नही चुका सका। इस देश की आर्थिक व्यवस्था भी टूटने पर आ गई। इस ख़तरे से भयभीत होकर, मज़दूर-दली सरकार को ख़ुद उसी के नेता रैम्ज़े मैकडोनल्ड ने भग कर दिया, और अब वह "राष्ट्रीय सरकार" के प्रधान के रूप में प्रगट हुआ जिसमें अनुदार दल वालो की प्रधानता थी। मगर यह राष्ट्रीय सरकार भी पौंड को नही बचा सकी। इसी समय के लगभग वेतन–कटौती के प्रश्न पर अटलाण्टिक जहाज़ी-बेड़े के अग्रेज़ मल्लाहों ने भी बग़ावत कर दी। इस शान्तिपूर्ण बग़ावत का इग्लैण्ड तथा योरप मे ज़बरदस्त असर पडा। रूस की क्रान्ति की तथा वहां के मल्लाहों की बग़ावतों की स्मृतिया लोगों के दिमागों में ताज़ा हो गई, और उनमे बोलशेविकवाद के आने का भय उत्पन्न हो गया। इग्लैण्ड के पूजी-पतियो ने किसी तरह की आफत आने से पहले ही अपनी पूजी को बचाने का फ़ैसला कर लिया, और विपुल धन-राशिया विदेशो को भेज दी। ऐसा मालूम होता है कि मालदार लोगो की देशभक्ति रुपये या निहित स्वार्थ की जोखम की आच बरदाश्त नही कर सकती।

ज्यों-ज्यो इग्लैण्ड की पूजी विदेशों मे जाने लगी, पौंड का मूल्य भी गिरने लगा, और अन्त में, २३ सितम्बर, सन् १९३१ ई०, को इग्लैण्ड को स्वर्ण-मान त्याग देना पड़ा, यानी अपना सोना बचाने के लिए उसने पौंड को सोने से अलग कर दिया। अब इसके बाद कोई व्यक्ति, जिसके पास सोने के मूल्य वाले पौंड थे, पहले की तरह उनके बदले मे सोना नही माग सकता था।

ब्रिटिश साम्राज्य तथा इग्लैण्ड की जागतिक स्थिति के लिहाज़ से पौंड का यह अवमूल्यन एक ज़बरदस्त घटना थी। इसका अर्थ था। कम से कम कुछ समय के लिए उस अर्थ-नेतृत्व का परित्याग जिसने अर्थ के मामलो मे लन्दन को संसार का केन्द्र और मुख्य नगर बना रक्खा था। इस की रक्षा करने के लिए इग्लैण्ड ने अपने उद्योगो को हानि पहुचा कर भी, सन् १९२५ ई० मे, स्वर्ण-मान को दुबारा ग्रहण किया था, और बेकारी, कोयला-मज़दूरों की हड़ताल आदि का सामना किया था। मगर यह सब व्यर्थ हुआ, और अन्य देशो की कार्रवाइयो के फलस्वरूप पौंड को सोने से ज़बरदस्ती पृथक कर दिया गया। बस, यही चीज ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त-काल के आरम्भ की द्योतक प्रतीत होने लगी, और सारे ससार मे इसका यही अर्थ लगाया गया। सितम्बर, सन् १९३१ ई०, की २३ तारीख इस ऐतिहासिक घटना को बतलाने वाली बहुत महत्वपूर्ण तारीख बन गई है।

मगर इग्लैण्ड तो डट कर लडने वाला ठहरा। और आड़े वक्त मे मदद के लिए उसके पास एक अधीन और निस्सहाय साम्राज्य भी था। बहुत करके भारत तथा मिस्र, इन दो पूरी तरह अधीन देशो से सोना खींच कर वह सकट की मार से फिर सम्हल गया। पौंड का मूल्य गिरने से उसके उद्योगों को लाभ हुआ, क्योंकि अब वह विदेशो में अपना माल सस्ते भावो पर बेच सकता था। उसका यह सम्हाला सचमुच अपूर्व था।

हर्जानो और युद्ध-ऋणो का प्रश्न फिर भी बाक़ी रह गया। यह तो प्रत्यक्ष हो गया था कि जर्मनी हर्जाने नही चुका सकता था, और वास्तव में उसने ऐसा करने से बाक़ायदा इन्कार भी कर दिया। आख़िरकार, सन् १९३२ ई० में, लोज़ान में बुलाये गये एक सम्मेलन में, हर्जानों की रक़म इस आशा और प्रतीक्षा में घटा कर नाम-मात्र की कर दी गई कि संयुक्त राज्य अमरीका भी कर्ज़ो की रक़मों को इसी प्रकार कम कर देगा। मगर अमरीका की सरकार ने कर्ज़ों को हर्जानो के साथ मिलाने से, या कर्ज़ों को बट्टे-खाते डालने से, इन्कार कर दिया। इससे गाड़ी फिर लुढ़क गई, और योरप के लोग अमरीका पर दांत पीसने लगे।

संयुक्त राज्य अमरीका की वाजिब क़िस्तों की अदायगी का समय दिसम्बर, सन् १९३२ ई०, में आया। और यद्यपि इंग्लैण्ड, फ्रांस, आदि देशों की ओर से बहुत ज़ोरदार दलीलें दी गईं, परन्तु अमरीका अपने दावे पर अड़ा ही रहा। बहुत तर्क-वितर्क के बाद इंग्लैण्ड ने अपनी किस्त चुका दी, लेकिन साथ ही कह दिया कि यह किस्त बस आखिरी थी। फ्रांस तथा कुछ अन्य देशों ने किस्तें देने से इन्कार कर दिया, और वे नादिहन्द बन गये। इसके बाद भी कोई नया समझौता नहीं हुआ, और गत मास, यानी जून, सन् १९३३ ई०, में कर्ज़े की अगली किस्त वाजिब हो गई। फ्रांस ने फिर इन्कार कर दिया। मगर इग्लैण्ड के साथ अमरीका ने उदारता का व्यवहार किया, और एक छोटी-सी रक़म साकेतिक रूप में स्वीकार कर ली। बड़े सवाल का निर्णय उसने आगे के लिए स्थगित कर दिया।[1]

जब इग्लैण्ड और फ्रांस जैसी बड़ी-बड़ी और धनवान शक्तियां, अपने-अपने आदर्शों और व्यवस्थाओं के अनुसार, अपने कर्ज़ों की ज़िम्मेदारी से बरी होने के प्रयत्न कर रही हैं, तो इस सम्बन्ध मे विचार करने की दिलचस्प बात यह है कि जब सोवियत ने सारे कर्ज़ों को रद्द कर दिया तो इन्ही देशों ने उसकी तीव्र निन्दा की। भारत में भी जब यह कहा जाता है, जैसा कि कांग्रेस की ओर से कहा भी गया है, कि भारत पर इग्लैण्ड के कर्ज़ के समूचे प्रश्न की एक निष्पक्ष अदालत द्वारा जांच होनी चाहिए, तो सरकारी क्षेत्रो मे इस "बेधर्मी" पर आश्चर्य की पुकार मच जाती है। राष्ट्र की देनदारी चुकाने के ऐसे ही प्रश्न के कारण आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड के बीच गभीर सघर्ष उत्पन्न हो गया, और दोनो के बीच व्यापारिक-युद्ध शुरू हो गया, जो अभी तक चल रहा है।

इग्लैण्ड के अर्थ-नेतृत्व का, और उसे प्राप्त करने के लिए अमरीका की दौड-धप का, और बैको के दिवालों का,* और विभिन्न देशो की अर्थ-व्यवस्थाओ के ढह जाने का, मै बार-बार ज़िक्र कर चुका हू। इस सारी गपड-सपड का अर्थ क्या है? यह सवाल तुम पूछ सकती हो, क्योकि तुम इसे समझती होगी, इसमें मुझे सन्देह है। मगर चूकि इसके बारे में मै इतनी बातें लिख-चुका हूँ, इसलिए मुझे लगता है कि इसकी कुछ विशद व्याख्या का प्रयत्न करना चाहिए। इन अर्थ-सम्बन्धी घटनाओ मे हमारी दिलचस्पी हो या न हो, परन्तु राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत दोनो दृष्टियो से इनका हमारे ऊपर बड़ा भारी प्रभाव पडता है। इसलिए जो चीज़ हमारे वर्तमान और भविष्य को ढालती है, उसे समझ लेना अच्छा है। बहुत-से लोगो के दिलो पर पूजीवादी जगत की अर्थ-व्यवस्था की रहस्यमयी क्रियाओं की ऐसी छाप बैठ गई है कि वे इसे सभीत तथा आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह उन्हें इतनी जटिल और सूक्ष्म और उलझन वाली प्रतीत होती है कि वे इसे समझने तक की चेष्टा नहीं करते, और इसे विशेषज्ञों, बौहरों, आदि के ऊपर छोड देते है। इसमें सन्देह नही कि यह जटिल और उलझनदार है, और यह आवश्यक नही है कि उलझन किसी वस्तु की अच्छाई की द्योतक हो। परन्तु फिर भी, अगर हम अपनी आज की दुनिया को समझना चाहते है, तो हमे इसका कुछ ज्ञान होना चाहिए। मै इस समूची व्यवस्था की व्याख्या करने की कोशिश नही करूगा। यह मेरे बूते से बाहर है, क्योकि मे इसका विशेषज्ञ नही हूं, बल्कि केवल नौसिखिया हूं। मै तुम्हे केवल कुछेक बातें बतलाऊगा, और मुझे आशा है कि इनसे तुम ससार की कुछ घटनाओ को, और अखबारो मे प्रकाशित होने वाले कुछ समाचारो को, होशियारी के साथ समझ सकोगी। शायद मुझे उन बातो को दोहराना पड़े जो मै पहले बतला चुका हू, मगर यदि इससे तुम्हे समझने में मदद मिले, तो मेरे दोहराने का ख़याल न करना। याद रक्खो की यह पूजीवादी व्यवस्था है जिसमे शेयरो वाली निजी कम्पनिया हैं, निजी बैंक हैं और शेयर बाज़ार हैं जहां शेयरो का लेन-देन होता है। सोवियत सघ की अर्थ और औद्योगिक व्यवस्था बिल्कुल निराली है। वहां इस तरह की कम्पनियां, या निजी बैंक या शेयर बाज़ार नही है; लगभग प्रत्येक वस्तु पर राज्य का स्वामित्व और अधिकार है, और विदेशी व्यापार मूलतः सामान की अदला-बदली के रूप में होता है।

तुम जानती हो कि प्रत्येक देश का अन्दरूनी व्यवसाय लगभग पूर्णतया हुडियो के द्वारा, और इससे कुछ कम, नोटो के द्वारा, चलता है। सोना और चांदी का, छोटी-मोटी खरीदारियो के अलावा बहुत कम

---

[1]अगले पांच वर्षों में यानी सन् १९३३ से १९३८ ई० तक इंग्लैण्ड और फ्रांस ने अमरीका के क़र्ज़ों की कोई अगली किस्त नहीं चुकाई। यहां तक कि सांकेतिक रूप में भी कुछ नहीं दिया। मालूम होता है कि यह मान लिया गया है कि कर्ज़ों की उपेक्षा की जा सकती है और उन्हें चुकाने की आवश्यकता नहीं रही।

उपयोग होता है (सोना तो वास्तव में आसानी से मिलता भी नही)। यह कागजी रुपया साख का प्रतिरूप है, और जब तक बैंकों में या सिक्के के नोट चलाने वाली अपने देश की सरकार में लोगों का विश्वास जमा रहता है तब तक यह कल्दार रुपये का काम देता रहता है। परन्तु यह कागजी मुद्रा एक देश से दूसरे देश को रुपया भेजने के काम की नही है, क्योंकि हरेक देश की अपनी निजी राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणाली होती है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का आधार सोना है, और दुर्लभ धातु होने के कारण इसका आन्तरिक मूल्य होता है। इस काम के लिए सोने के सिक्कों का या सोने के पासों का उपयोग किया जाता है। परन्तु यदि एक देश को दूसरे देश का रुपया चुकाने के लिए हर बार सचमुच सोना ही भेजना पड़े, तो जबरदस्त बवाल हो जाय, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास न होने पावे। इसके अतिरिक्त, संसार में सोने की जितनी राशि सुप्राप्य है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण या मूल्य भी सीमित हो जायगा। क्योंकि इस सीमा पर पहुंचने के बाद जब दाम चुकाने के लिए अधिक सोना नही मिल सकेगा, तो विदेशो के साथ व्यापारिक लेन-देन का काम आगे तब तक बन्द हो जायगा जब तक कि कुछ सोना निकाला न जाय और बापस न लाया जाय।

लेकिन व्यवहार में ऐसा नही होता। सन् १९२९ ई० मे ससार की स्वर्ण-मुद्रा का कुल मूल्य ग्यारह अरब डालर[1] था। इसी साल मे जो माल एक देश से दूसरे देश को भेजा गया उसका कुल मूल्य बत्तीस अरब डालर था। इसके अलावा चार अरब डालर के कर्जे विभिन्न देशों को चुकाने थे। यात्रियो का व्यय, माल का भाड़ा, प्रवासियों द्वारा अपने देश को भेजा गया रुपया, आदि अन्य विदेशी अदायगियो की कुल रकम भी चार अरब डालर के लगभग थी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की कुल रकम चालीस अरब डालर के लगभग होती थी। यह स्वर्ण-मुद्रा के कुल मूल्य की चार गुनी के लगभग थी।

ऐसी हालत मे विदेशो के साथ लेन-देन किस प्रकार होता था? आम तौर पर यह लेन-देन एक प्रकार के सहायक रुपये के रूप मे, यानी हुंडियो, विनिमय के परचो, आदि के रूप मे, होता था, जो सौदागर लोग अपने कर्जों की रसीद के तौर पर विदेशों को भेजते थे। यह व्यवसाय विनिमय का व्यवसाय करने वाले बैंको की मार्फत होता था। विनिमय बैंक विभिन्न देशो के खरीदने वालों तथा बेचने वालो के सम्पर्क में रहते है, और विनिमय के जो परचे उनके पास आते है उनके आधार पर लेन-देन का जमा-खर्च करते हैं। अगर किसी समय बैंक के पास विनिमय-परचो की कमी पड जाय, तो वे अपना भुगतान सरकारी बॉण्ड या या सरकारी ऋण या अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियो के शेयर आदि प्रचलित सिक्योरिटियो के द्वारा कर सकते हैं। ये शेयर तार की सूचना द्वारा बेचे या हस्तान्तरित किये जा सकते है, जिससे दूसरे सिरे पर तुरन्त भुगतान किया जा सकता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का असली लेन-देन केन्द्रीय विनिमय बैंको की मार्फत, व्यवसायी कागजो (हुंडिया, परचे, आदि) तथा सरकारी कागजो (सिक्योरिटिया) के द्वारा किया जाता है। व्यवसाय की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इन बैंकों को ये दोनो तरह के कागज प्रचुर परिमाण में रखने पड़ते है। वे सप्ताहिक गोशवारे प्रकाशित किया करते है, जिनमें बतलाया जाता है कि उनके पास कितना सोना तथा कितने विदेशी कागज है। मामूली तौर पर विदेशो मे भुगतान के लिए विदेशों को सोना कभी नही भेजा जाता। परन्तु अगर कभी ऐसा अवसर आ जाय कि अन्य प्रकार से भुगतान करने के बजाय सोना भेजना सस्ता पड़े, तो बैंक वाले सोने के पासे भी भेजते है।

स्वर्ण-मान वाले देशों में राष्ट्रीय मुद्रा का मूल्य सोने के आधार पर निश्चित होता था, और उसके बदले में कोई भी आदमी सोना मांग सकता था। इसलिए ये मुद्राए क़रीब-क़रीब स्थिर और परस्पर विनिमय के योग्य होती थीं, क्योंकि उनके बदले में सोना मिल सकता था। अगर कुछ अन्तर पडता था तो वह एक देश से दूसरे देश को सोना भेजने के खर्च का ही होता था, क्योंकि अगर कोई व्यवसायी देखता कि उसके देश में सोने का भाव ऊंचा है, तो वह किसी दूसरे देश से आसानी से सोना प्राप्त कर सकता था। यह स्वर्ण-मान प्रणाली कहलाती थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्रीय मुद्राए स्थिर थीं, और इस कारण उन्नीसवी सदी में, ठेठ महायुद्ध के प्रारम्भ तक, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में खूब वृद्धि हुई। आज यह प्रणाली टूट चुकी है,

---

[1] उस समय एक डालर करीब ढाई रुपये के बराबर होता था।

और परिणाम-स्वरूप मुद्रा का व्यवहार बड़ा विचित्र हो गया है, और अधिकतर राष्ट्रीय मुद्राए अस्थिर हो गई हैं।

किसी देश का निर्यात मोटे तौर पर उसके आयात के बराबर हुआ करता है। या यों कहो कि जो माल कोई देश बाहर से मंगाता है उसके दाम अपना माल बाहर भेज कर चुकाता है। परन्तु यह बात बिल्कुल सही नहीं है, क्योंकि जब आयात के माल का मूल्य निर्यात के माल के मूल्य से बढ़ जाता है, तो बहुधा एक न एक तरफ़ कुछ पोते बाकी रहता है। यह "बिलोम-बाकी"[1] कहलाता है, और उस देश को अपना हिसाब बेबाक करने के लिए कुछ भुगतान ऊपर से करना पड़ता है।

विभिन्न देशों के बीच बहने वाली माल की धारा का प्रवाह सदा एक-रूप हर्गिज़ नही होता। यह अक्सर बदलता रहता है, और उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। और जैसे-जैसे यह घटता-बढ़ता है, उसी तरह विनिमय पर्चों की मांग और आमद भी घटती-बढ़ती रहती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि किसी देश के पास ऐसे विनिमय परचों की तो प्रचुरता हो जाती है जिनकी उसे उस समय आवश्यकता नही होती; और जिस तरह के विनिमय परचों की उसे आवश्यकता होती है उनकी उसके पास कमी पड़ जाती है। उदाहरण के लिए मान लो कि फ्रास के पास जर्मनी में जर्मन मार्कों के विनिमय परचे तो ज़रूरत से ज्यादा हैं, और अमरीका का हिसाब चुकता करने के लिए विनिमय परचों की कमी है। ऐसी हालत में फ्रास जर्मनी के विनिमय परचों को तो बेचना चाहेगा और उनके बदले में अमरीका के नाम के डालर के विनिमय परचे खरीदना चाहेगा। ऐसा करने के लिए विनिमय परचों के वास्ते कोई केन्द्रीय मंडी होनी चाहिए जहां ये अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय किये जा सकें। ऐसी मंडी केवल उसी देश में हो सकती है जिसमें नीचे लिखी तीन विशेषताए हो :

१. उसका विदेशी व्यापार सब ओर व्यापक और हर प्रकार का होना चाहिए ताकि उसके पास हर प्रकार के विनिमय परचों की प्रचुर आमद हो।

२. वहा हर प्रकार की सिक्योरिटियां सुलभ होनी चाहिए, अर्थात वह पूजी की सबसे बडी मडी होनी चाहिए।

३. वहां सोने की भी सबसे बड़ी मडी होनी चाहिए, ताकि अगर विनिमय परचों तथा सिक्योरिटियो दोनों की कमी हो, तो सोना आसानी से प्राप्त हो सके।

उन्नीसवीं सदी में आदि से अन्त तक केवल इंग्लैण्ड ही ऐसा देश था जो इन तीनों शर्तोंको पूरी करता था। उद्योग के क्षेत्र में सबसे पहले पदार्पण करने के कारण, और एकाधिकार क्षेत्र के रूप में उसके पास बड़ा साम्राज्य होने के कारण, उसके विदेशी व्यापार का परिमाण ससार में सबसे अधिक बढ़ गया। अपने वृद्धिमान उद्योगों पर उसने अपनी खेती को निछावर कर दिया। उसके जहाज़ हर बन्दरगाह से सौदागरी का सामान और विनिमय परचे ले जाते थे। इस महान औद्योगिक उन्नति के कारण वह कुदरती तौर पर पूजी की सबसे बडी मंडी बन गया, और उसके पास विदेशी सिक्योरिटियो का ढेर लग गया। उसकी सहायता करने वाला एक और निमित्त यह था कि संसार के स्वर्ण-भंडार का दो-तिहाई भाग ब्रिटिश साम्राज्य में—दक्षिण अफरीका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और भारत में—मौजूद था। इनकी सोने की खानो का माल लन्दन की मंडी में तुरन्त बिक जाता था क्योंकि बैंक ऑफ़ इंग्लैण्ड इनमें निकलने वाले सारे सोने को एक निश्चित भाव पर खरीद लेता था।

इस प्रकार लन्दन का महान शहर विनिमय परचों, सिक्योरिटियों और सोने के लिए एक केन्द्रीय मंडी बन गया। यह संसार का अर्थ-सम्बन्धी मुख्य-नगर बन गया। प्रत्येक सरकार या बौहरा जो विदेशों में अपना हिसाब चुकाना चाहता था और अपने देश में इसके साधन प्राप्त नही कर सकता था, लन्दन चला आता था जहां उसे हर प्रकार के व्यवसायी और लन्दन के काग़ज़ तथा सोना भी मिल जाते थे। स्वर्ण-मूल्य वाला पौंड व्यवसाय का ठोस प्रतीक बन गया। अगर डेनमार्क या स्वीडन दक्षिण अमरीका से कुछ माल खरीदना चाहता, तो यह सौदा पौंडों में तय किया जाता, हालांकि लन्दन उस माल की शकल भी कभी नहीं देखता था।

इंग्लैण्ड के लिए यह ज़बरदस्त मुनाफ़े का सौदा था, क्योंकि सारा संसार इस सेवा के लिए उसे कुछ

[1] Adverse Balance.

पुरस्कार देता था। इसके अलावा सीधे मुनाफ़े भी थे। साथ ही विदेशी व्यापारी कम्पनियां भावी भुगतानों की दृष्टि से इग्लैण्ड के बैंकों में अपना फाल्तू रुपया या दूसरों से प्राप्त होने वाला रुपया जमा करा देती थी। ये बैंक इस जमा को अन्य ग्राहको को थोड़े-थोड़े समय के लिए उधार पर चला कर मुनाफ़ा कमाते थे। इंग्लैण्ड के बैंकों को विदेशी उद्योगपतियो के व्यवसाय की भी सारी बाते मालूम हो जाती थी। विनिमय के जो परचे इनकी मार्फत गुजरते थे, उनसे इन्हें जर्मनी के या अन्य देशो के व्यवसायियों द्वारा ली जाने वाली कीमतों का, और विदेशो मे उनके ग्राहकों के नामो तक का पता लग जाता था। यह जानकारी इग्लैण्ड के उद्योगों के लिए बहुत उपयोगी थी, क्योकि इससे वे अपने विदेशी प्रतियोगियो की काट कर सकते थे।

इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को बढ़ाने और मजबूत करने के लिए अंग्रेजी बैंकों ने दुनिया भर में शाखाएं और एजेंसिया खोल दी। बाहर के देशो को ब्रिटिश उद्योगो के प्रभाव के अन्दर लाने में सहायता करने के अलावा, ये बैंक इग्लैण्ड के दृष्टिकोण से एक और भी बहुत उपयोगी सेवा करते थे। वे तमाम मशहूर स्थानीय कम्पनियो और व्यवसायियो के बारे में पूछ-ताछ करते थे और लेखा-जोखा रखते थे। इस-लिए जब कोई स्थानीय कम्पनी विनिमय का परचा निकालती थी, तो वहा का अंग्रेजी बैंक या एजन्ट इस परचे की हैसियत जानता था, और अगर उसे बिना जोखम की समझता तो उसकी जमानत दे सकता था। यह उस परचे को "स्वीकारना" कहा जाता था, क्योकि बैंक उसपर "स्वीकार किया" शब्द लिखता था। ज्यो ही बैंक उस परचे की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता था, वह परचा आसानी से बेचा या दूसरे के नाम बेचान किया जा सकता था, क्योकि उसके पीछे बैंक की साख होती थी। इस प्रकार की जमानत या स्वीकारी के बिना किसी अज्ञात कम्पनी के विनिमय परचे को लन्दन जैसी दूरवर्ती मंडी में या अन्यत्र कोई खरीदार नही मिलते थे, क्योकि उस कम्पनी से कोई परिचित नही होता था। परचे को स्वीकारने वाला बैंक कुछ जोखम तो उठाता था परन्तु ऐसा करने से पहले वह अपनी स्थानीय शाखा के मार्फत पूरी तहकीक़ात कर लेता था। इस प्रकार "स्वीकारने" की इस प्रणाली से विनिमय परचो के बेचान मे और आम तौर पर कारोबार मे बहुत सहूलियत हो जाती थी। साथ ही ससार के व्यापार पर लन्दन का शिकजा मजबूत होता जाता था। अन्य कोई भी देश स्वीकारने का यह काम बडे पैमाने पर करने की स्थिति में नही था, क्योकि बाहर के देशों में और किसी की इतनी शाखाए ही नही थी।

इस प्रकार सौ वर्षों से ऊपर लन्दन ही संसार का वित्तीय और आर्थिक केन्द्र-नगर बना रहा, और अन्तर्राष्ट्रीय वित्त तथा व्यापार की सारी नकेल उसके हाथ मे रही। यहा रुपये की प्रचुरता थी, और इस कारण अन्य स्थानों की अपेक्षा वह अधिक सुभीते की शर्तों पर मिल सकता था। इससे सारे बौहरे खिंच कर यहा चले आते थे। बैंक ऑफ इग्लैण्ड के गवर्नर को दुनिया के कोने-कोने से व्यापार और वित्त सम्बन्धी सारी सूचना प्राप्त होती रहती थी, और वह अपनी बहियो तथा काग़ज़-पत्रो पर सरसरी नजर डाल कर यह बतला सकता था कि किसी देश की आर्थिक स्थिति कैसी है। सच तो यह है कि कभी-कभी तो उसे किसी देश की आर्थिक स्थिति का इतना पता होता था जितना उस देश की सरकार को भी नही होता था। और जिन सिक्योरिटियो को कोई विदेशी सरकार खरीदना चाहती होती, उनके क्रय-विक्रय मे छोटे-छोटे हथकण्डो के द्वारा, या अल्प-कालीन कर्जे देने की तरकीबों के द्वारा, उस विदेशी सरकार की राजनैतिक गति-विधियों पर दबाव डाला जा सकता था। साम्राज्यशाही शक्तिया दूसरो का गला दबाने के लिए जो उपाय काम में लाती है उनम यह तथाकथित ऊंचे दर्जे का "साहूकारा" सबसे कारगर उपाय था और अब भी है।

महायुद्ध से पहले दुनिया की यही हालत थी। लन्दन शहर ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र था और उसकी शक्ति और समृद्धि का प्रतीक था। परन्तु महायुद्ध के कारण अनेक परिवर्तन हो गये और पुरानी व्यवस्था उलट-पुलट हो गई। महायुद्ध का अन्त एक महान विजय के साथ हुआ, परन्तु यह विजय इंग्लैण्ड और लन्दन को बहुत मंहगी पड़ी।

युद्ध के बाद क्या-क्या हुआ इसका वर्णन मै अगले पत्र में करूंगा।

: १८७ :

डालर, पौंड और रुपया

२७ जुलाई, १९३३

महायुद्ध ने ससार के तीन टुकड़े कर दिये थे : दो टुकड़े तो युद्ध-प्रवृत्त देशों के, और तीसरा टुकड़ा तटस्थ देशों का। प्रतिद्वन्दी युद्ध-प्रवृत्त देशो के बीच किसी तरह के व्यापारिक या अन्य ठहराव बाकी नही रहे, सिवा इसके कि एक दूसरे के गुप्त-भेद का पता लगाने का व्यापार जरूर चलता रहा। और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो पूरी तरह चौपट होना ही था। समुद्रो पर अधिकार होने के कारण मित्र-राष्ट्र, तटस्थ देशों तथा उपनिवेशों के साथ कुछ व्यापार चालू रख सके, परन्तु जर्मन पन-डुब्बियो के हमले के कारण यह भी अत्यन्त सीमित हो गया था।

युद्ध-प्रवृत्त देशों ने अपने सारे साधनो को युद्ध में झोक दिया, और विपुल धन-राशिया खर्च की गई। करीब डेढ़ साल तक इंग्लैण्ड और फ्रास अपने धनहीन साथी-देशो को धन की सहायता देते रहे। इस काम के लिए दोनों ने अपने निवासियो से भी रुपया उधार लिया और अमरीका को भी हुंडिया बेची। इसके बाद फ़्रास बीत गया और दूसरों की सहायता करने में असमर्थ हो गया। इंग्लैण्ड इस भार को सवा साल तक और झेलता रहा, परन्तु मार्च, सन् १९१७ ई०, में जब वह अमरीका के पांच करोड पौंड के कर्ज़ का भुगतान नही कर सका, तो उसके भी बीत जाने की बारी आ गई। इग्लैण्ड तथा फ्रास और इनके साथी-देशो के सौभाग्य से, इस नाज़ुक घडी में, जब सब के वित्तीय साधन समाप्त हो चुके थे, अमरीका मित्र-राष्ट्रो का पक्ष लेकर युद्ध में कूद पडा। इस समय से लगाकर महायुद्ध के अन्त तक, अमरीका सब मित्र-राष्ट्रो को युद्ध के लिए आवश्यक धन देता रहा। उसने अपने ही देश वालो से "स्वतन्त्रता" तथा "विजय" नामक ऋणो के रूप मे असीम धन-राशिया उगाही, और इन्हे खुद भी खूब खुले हाथों खर्च किया और मित्र-राष्ट्रों को भी उधार दिया। इसका परिणाम जैसा कि मै तुम्हे बतला चुका हूं, यह हुआ कि युद्ध की समाप्ति तक सयुक्त राज्य अमरीका सारी दुनिया का महाजन बन गया, और सारे राष्ट्र उसके कर्जदार हो गये। युद्ध शुरू होने के समय अमरीका को योरप के पांच अरब डालर देने थे; युद्ध की समाप्ति पर योरप को अमरीका का दस अरब डालर देना हो गया।

युद्धकाल में अमरीका को केवल इतना ही अर्थ-लाभ नही हुआ। अमरीका का विदेशी व्यापार इग्लैण्ड तथा जर्मनी के विदेशी व्यापारो को घटा कर खूब बढा, और इग्लैण्ड के व्यापार का समकक्ष हो गया। अमरीका ने ससार के सारे सोने का दो-तिहाई भाग, और विदेशी सरकारो के शेयरो तथा बॉण्डो का बडा ढेर भी, इकट्ठा कर लिया।

इस प्रकार सयुक्त राज्य अमरीका की वित्तीय स्थिति सबके ऊपर छा गई। वह अपने कर्जों की अदायगी की माग करके किसी भी कर्जदार देश को असानी से दिवालिया बना सकता था। इसलिए, लन्दन ने अर्थ-जगत के केन्द्र का जो पद बहुत दिनो से ले रक्खा था, उस पर अमरीका का ईर्ष्या करना और उसे अपने लिए प्राप्त करने की इच्छा करना स्वाभाविक था। वह लन्दन का पद ससार के सबसे धनवान शहर न्यू-यॉर्क को दिलवाना चाहता था। इस प्रकार न्यू-यॉर्क तथा लन्दन के बौहरों तथा साहूकारो के बीच भीषण संघर्ष आरम्भ हो गया। दोनो की पीठ पर उनकी अपनी-अपनी सरकारें थी।

अमरीका के दबाव ने इंग्लैण्ड के पौंड को हिला दिया। बैंक ऑफ़ इग्लैण्ड अपनी मुद्रा के बदले में सोना देने में असमर्थ हो गया, और सोने की कीमत वाले पौंड का (जो अब स्वर्ण-मान से विच्छिन्न हो गया था) भाव बदलने और गिरने लगा। फ्रासीसी फ्रैंक का भाव भी गिर गया। ऐसे अस्थिर जगत में केवल अमरीकी डालर ही चट्टान की तरह मजबूत प्रतीत होता था।

यह खयाल हो सकता है कि इन परिस्थितियों में रुपये-पैसे का कारोबार और सोना, लन्दन से मुह मोड़ कर न्यू-यॉर्क चला गया होगा। मगर यह विचित्र बात है कि ऐसा नही हुआ और विदेशी विनिमय परचे तथा खानों से निकलने वाला सोना फिर भी लन्दन पहुचते रहे। इसका कारण यह नहीं था कि लोग डालर के मुकाबले में पौंड को अच्छा समझते थे, बल्कि यह था कि डालर सुलभ नहीं थे।

"स्वीकारने" की जो प्रणाली इंग्लैण्ड के बैंक अपनी शाखाओं तथा एजन्सियों की मार्फत दुनिया भर में काम में लाते थे, उसका ज़िक्र मै कर चुका हूं जो तुम्हें याद होगा। अमरीका के बैंकों की ऐसी शाखाएं अथवा विदेशी एजन्सियां नही थी, इसलिए विदेशी विनिमय परचों को "स्वीकार" कर उन्हें प्राप्त करने का ऐसा कोई साधन उन्हे उपलब्ध नही था। इस कारण इन परचों का अंग्रेज़ी बैंकों की मार्फ़त लन्दन पहुंचना स्वाभाविक था। जब यह दिक्कत सामने आई, तो अमरीका के बौहरो ने बाहर के देशो में तुरन्त शाखाएं और एजन्सियां खोलना शुरू कर दिया, और अनेक स्थानो में भव्य इमारतें खड़ी हो गईं। परन्तु फिर भी एक और कठिनाई थी। "स्वीकारने" का काम केवल ऐसे सधे हुए कर्मचारी ही कर सकते थे जिन्हे स्थानीय परिस्थितियो की और स्थानीय कारोबार की पूरी जानकारी होती। इंग्लैण्ड के बैंको ने अपने सौ वर्षों के विकास में इस प्रकार के कर्मचारी तैयार कर लिये थे, इसलिए इस मामले में जल्दी से उनके बराबर पहुँचना आसान नही था।

तब अमरीकावालों ने लन्दन का मुकाबला करने के लिए कुछ फ्रांसीसी, स्विस और डच बैंको से जुगत मिलाई, परन्तु फिर भी उन्हे अधिक सफलता नही मिली। यद्यपि फ्रास बहुत धनवान देश था, और बहुत सारी पूजी बाहर के देशों को भेजता था, परन्तु उसने विदेशी विनिमय परचो का व्यापार संगठित करने की ओर कभी ध्यान नही दिया था। लिहाज़ा न्यू-यॉर्क तथा लन्दन शहर के बीच खीच-तान जारी रही, पर कुल मिला कर लन्दन पर इसका कोई असर नही पडा। सन् १९२४ ई० में न्यू-यार्क के पक्ष म एक नया निमित्त कारण प्रगट हुआ। महान मुद्रा-स्फीति के बाद जर्मन मार्क का मूल्य स्थिर हो गया, और जो जर्मन पूजी मुद्रा-स्फीति के ज़माने मे स्वीज़रलैण्ड और हॉलैण्ड भाग गई थी (जोखम या खतरे के समय पूजी हमेशा इसी तरह भाग जाया करती है!), वह जर्मनी के बैंकों में वापस आ गई। अमरीकी वित्तीय गुट्ट मे जर्मनी के शामिल हो जाने से लन्दन की स्थिति में बहुत फर्क पड गया। क्योंकि अब लन्दन से पूछे बिना ही अमरीकी विनिमय परचो के बदले में चाहे जितने योरपीय विनिमय परचे प्राप्त किये जा सकते थे। और लन्दन की मुद्रा अभी तक अस्थिर थी, अर्थात पौड का कोई निश्चित स्वर्ण-मूल्य नही था; वह स्वर्ण-मान से विच्छिन्न था।

अब लन्दन शहर के महाजनो के कान खडे हुए। उन्होने देखा कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का सारा अच्छा कारोबार न्यू-यॉर्क तथा उसके योरपीय साथी-देशों के पास जा रहा है, और लन्दन को सिर्फ़ जूठन मिल रही है। इस चीज़ को रोकने के लिए सबसे पहले यह काम करने का था कि सोने की अपेक्षा से पौंड का मूल्य फिर निर्धारित कर दिया जाय। अर्थात पौंड का मूल्य स्थिर कर दिया जाय। इससे विनिमय का अच्छा कारोबार फिर खिंच आने की सम्भावना थी। लिहाज़ा सन १९२५ ई० में पौंड का मूल्य फिर पुराने स्तर पर स्थिर कर दिया गया। यह अंग्रेज़ी बौहरो और ऋण-दाताओ के लिए महान सफलता थी, क्योंकि पौड का मूल्य बढ़ जाने का अर्थ था उनकी आय का बढ़ जाना। पर अंग्रेज़ी उद्योगो को इससे हानि पहुंची, क्योकि बाहर के देशो मे अंग्रेज़ी माल के दाम ऊँचे हो गये, और इग्लैण्ड के उद्योगपतियो को विदेशी मडियों में अमरीका, जर्मनी, तथा अन्य औद्योगिक देशो का मुक़ाबला करना मुश्किल हो गया। मगर इग्लैण्ड ने अपनी बैक-व्यवसाय की प्रणाली पर, या यो कहो की ससार की विनिमय मडी में अपनी आर्थिक सर्वोपरिता पर, अपने उद्योगो को कुछ हद तक जान बूझकर कुर्बान कर दिया। पौंड का मान तो एक दम बढ़ गया, परन्तु तुम्हें याद होगा कि इसके परिणामस्वरूप कुछ अश मे उद्योगो को धक्का लगने के कारण इग्लैण्ड में घरू झगडे पैदा हो गये थे। वहां बेकारी बढ़ गई, और मुद्दत तक चलने वाली कोयला-मज़दूरो की हड़ताल हुई, और आम हड़ताल हुई।

पौंड का मूल्य तो स्थिर हो गया, परन्तु यही काफी नही था। ब्रिटिश सरकार को अमरीका की विपुल धनराशि चुकानी थी। यह रकम उखरत-खाते की थी, इस कारण इसके लिए किसी भी समय तक़ाज़ा किया जा सकता था। इस तरह का तकाज़ा करके अमरीका इग्लैण्ड को महान कठिनाई में डाल सकता था, और पौंड का मूल्य गिराने के लिए मजबूर कर सकता था। लिहाज़ा युद्ध-ऋणों को क़िस्तो में चुकाने[1] के बारे में अमरीका से समझौता करने के लिए प्रमुख ब्रिटिश राज्यनीतिज्ञ (जिनमें स्टैनली बाल्डविन भी था)

---

[1] यह क्रिया ऋणोंका एकीकरण Funding कहलाती है।

पीछे-पीछे न्यू-यार्क पहुंचे। योरप के सारे देश अमरीका के कर्जदार थे, अतः उचित तो यह था कि ये सब आपस में सलाह-सूद करके यथासम्भव- अच्छी से अच्छी शर्तें प्राप्त करने के लिए अमरीका के पास जाते। परन्तु ब्रिटिश सरकार पौंड को बचाने के लिए और लन्दन का आर्थिक नेतृत्व क़ायम रखने के लिए इतनी आतुर थी कि फ्रांस या इटली से सलाह करने का उसके पास समय ही नहीं था, और वह अमरीका के साथ शीघ्रता से और किसी भी भाव पर कुछ बन्दोबस्त कर लेना चाहती थी। बन्दोबस्त तो उसने कर लिया, पर इसकी उसे भारी कीमत चुकानी पड़ी, और संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा लगाई गई कड़ी शर्तें माननी पड़ी। बाद में फ्रांस और इटली ने अपने कर्जों के सम्बन्ध में अमरीका से इनसे कहीं अच्छी शर्तें प्राप्त कीं।

इन कठोर प्रयत्नों और कुर्बानियों से पौंड की और लन्दन शहर की लाज तो रह गई, परन्तु दुनिया की मंडियों में न्यू-यार्क के साथ कशमकश चलती रही। न्यू-यार्क के पास प्रचुर धन था, इसलिए वह कम सूद पर लम्बे-मीयादी कर्जे देने को तैयार हो गया, और बहुत-से देश (जिनमे कनाडा, दक्षिण अफरीका और आस्ट्रेलिया भी शामिल थे) जो पहले लन्दन के साहूकारे में रुपया उधार लिया करते थे, अब न्यू-यार्क के प्रलोभन में आ गये। लम्बी मीयाद के कर्जे देने में लन्दन न्यू-यार्क की होड नही कर सकता था, इसलिए उसने मध्य-योरप के देशों को कम मीयाद के कर्जे देने का प्रयत्न किया। कम-मीयादी कर्जों के मामले मे बोहरों के अनुभव और साख की ज्यादा क़दर होती है, और इसमे लन्दन का पलड़ा भारी था। बस, लन्दन के बैंको ने वियेना के बैंकों के साथ, और इनकी मार्फत मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी योरप (डैन्यूब तथा बलकान के प्रदेश) के बैंकों के साथ, घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लिये। न्यूयार्क भी यहा कुछ कारोबार करता रहा।

यह अर्थ-सम्बन्धी दीवानेपन का जमाना था, जब कि कुछ अश में लन्दन तथा न्यूयॉर्क की प्रतिस्पर्द्धा के कारण योरप में रुपया बहा चला आ रहा था, और करोड़-पति तथा अरब-पति इतनी तेजी से पैदा हो रहे थे कि आश्चर्य होता था। इसका उपाय बहुत सीधा-सादा था। कोई हौसलेवाला व्यक्ति इनमें से किसी देश में रेलमार्ग बनाने की या अन्य सरकारी कामो की सुविधा प्राप्त कर लेता, या दियासलाइया बनाने और बेचने के काम सरीखा कोई ठेका ले लेता। इस सुविधा या ठेके का उपभोग करने के लिए एक कम्पनी निर्माण कर ली जाती, और यह कम्पनी पूजी या शेयर बेचती। इस पूंजी या इन शेयरो के आधार पर न्यू-यॉर्क या लन्दन के बैंक अगाऊ रुपया दे देते। इस प्रकार महाजन लोग न्यूयॉर्क में दो प्रति शत ब्याज पर डालर उधार लेकर उन्हे बर्लिन में छै प्रति शत ब्याज पर या वियेना मे आठ प्रति शत ब्याज पर उठा देते। इस तरह दूसरे लोगों के रुपये का होशियारी से हेर-फेर करके ये महाजन बहुत मालदार हो गये। ईवान क्रूगर नामक एक स्वीडन-निवासी इनमें बहुत विख्यात हुआ। दियासलाइयों के ठेको के कारण यह "दियासलाई का बादशाह" मशहूर था। किसी समय क्रूगर की बडी भारी प्रतिष्ठा थी, परन्तु बाद में पता लगा कि वह पूरा ठग था, और उसने बड़ी भारी-भारी रक़मो का ग़बन किया था। जब उसकी पोल खुलने लगी तो उसने आत्म-हत्या कर ली। उस समय के और भी कई विख्यात महाजन अपने खोटे कारनामो के कारण जजाल में फस गये।

मध्य-योरप तथा पूर्वी योरप में इंग्लैण्ड तथा अमरीका की इस प्रतिस्पर्द्धा से एक लाभ हुआ। जो ढेरो रुपया यहां आया उसने, सन् १९२७ ई० को मन्दी शुरू होने से पूर्व के वर्षों में योरप का पुनरुद्धार करने में बहुत बडा भाग लिया।

इसी बीच, सन् १९२६ और १९२७ ई० में, फ्रास में भी मुद्रा-स्फीति हुई थी, और फ्रैंक का मूल्य बहुत गिर गया था। जैसे ही फ्रैंक का भाव गिरा, रुपये वाले फ्रासीसियों ने—फ्रास के हर छोटे-मोटे बुर्जुआ के पास कुछ न कुछ जमा-पूजी होती है—अपना रुपया मारा जाने के डर से विदेशों में भेज दिया। उन्होने बेशुमार विदेशी सिक्योरिटियां और विदेशी विनिमय परचे खरीद लिये। सन् १९२७ ई० में, फ्रैंक का मूल्य फिर स्थिर कर दिया गया और सोने की अपेक्षा से निर्धारित कर दिया गया। परन्तु यह नया मूल्य पुराने मूल्य का पाचवां भाग था। जिन फ्रासीसियों के पास विदेशी सिक्योरिटियां थी, वे सारे के सारे अब उन्हें फ्रैन्कों के मूल्य की वस्तुओ से बदलने के लिए उत्सुक हो गये। उनका कारोबार खूब चेता, क्योंकि जितने फ्रैन्क उनके पास शुरू में थे उनके पांच गुने अब उन्हें मिल रहे थे। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के कारण उन्हें ज़रा भी नुक़सान नहीं हुआ। हां, अगर वे फ्रैंकों को ही पकड़े बैठे रहते तो उन्हें नुक़सान उठाना पड़ता। फ्रास की

सरकार ने भी इस अवसर से लाभ उठाने का निश्चय किया। उसने ये सारे विदेशी विनिमय परचे या सिक्योरिटियां खरीद लिये और उनके बदले में फ्रैंकों के ताजा छापे हुए नोट पकडा दिये। इस प्रकार फासीसी सरकार इन विदेशी परचों और सिक्योरिटियो को हस्तगत करके एकदम खूब मालदार बन गई। वास्तव में उस समय जितने परचे और सिक्योरिटियां उसके पास थे उतने और किसी देश के पास नही थे। आर्थिक नेतृत्व के लिए इग्लैण्ड या अमरीका का प्रतियोगी बनने की न तो उसे इच्छा थी और न उसमें काफ़ी योग्यता थी। परन्तु उसकी स्थिति ऐसी हो गई कि वह दोनो पर प्रभाव डाल सकता था।

फ्रासीसी लोग बड़े चौकस होते हैं, और उनकी सरकार का भी यही हाल है। बड़े-बड़े मुनाफो की आशा में गाठ का भी गंवा देने की जोखम उठाने के बजाय वे छोटे-छोटे मुनाफे और बेफिक्री ज्यादा पसद करते हैं। लिहाजा फ्रांसीसी सरकार ने होशियारी से देख-भाल कर अपना फालतू रुपया लन्दन की विश्वसनीय कम्पनियो को कम सूद पर उधार दे दिया। मसलन, वह तो अग्रेज़ी बैको से सिर्फ़ दो प्रतिशत का सूद वसूल करती, अग्रेज़ी बैक यह रुपया जर्मन बैंको को पाच या छै प्रतिशत ब्याज पर उठाते; ये जर्मन बैक इसी रुपये को आठ या नौ प्रतिशत ब्याज पर वियेना का उधार देते, और अन्त मे यही रुपया बारह प्रतिशत ब्याज पर शायद हगरी या बलकान जा पहुचता! ज्यो-ज्यो जोखम बढती त्यो-त्यो सूद की दर भी बढती थी, परन्तु फ्रास का बैक कोई जोखम नही उठाना चाहता था और बेजोखम अग्रेज़ी बैंको से व्यवहार करता था। इस प्रकार फ्रास (अपने खरीदे हुए पौंड के विदेशी परचो के रूप में) विपुल धन राशि लन्दन मे जमा रखता था, और इससे लन्दन को न्यूयॉर्क के विरुद्ध लडने में सहायता मिली।

इसी समय में व्यापार का सकट और मन्दी बढते जा रहे थे और कृषि की उपज के भाव गिर रहे थे। सन् १९३० ई० के शरद मे गेंहू के भाव इतने दिनो तक गिरे रहे कि पूर्वी योरप के बैक अपने कर्ज़दारो से रुपया वसूल नहीं कर सके, और इस कारण वे उन पौडो तथा डालरो को नही लौटा सके जो उन्होने वियेना मे उधार लिये थे। इससे वियेना के बैंको पर आफत आ गई, और वियेना का सबसे बडा बैंक, क्रैडिट-ऐन्स्टाल्ट, दिवालिया और चौपट हो गया। इससे जर्मनी के बैक फिर हिल गये, और मार्क के पतन की सम्भावना प्रतीत होने लगी। इसके फलस्वरूप जर्मनी में अमरीका तथा इग्लैण्ड की पूजी खतरे मे पड जाती, और इसी खतरे को टालने के लिए ही राष्ट्रपति हूवर ने कर्जो तथा हर्जानो की अस्थायी छूट की घोषणा की थी। अगर उस समय हर्जानो की अदायगी का आग्रह किया जाता तो जर्मनी की अर्थ-व्यवस्था बिल्कुल चौपट हो गई होती। मगर हुआ यह कि इससे भी काम नही चला, और जर्मनी अन्य देशो को अपने खानगी कर्जे तक भी नही चुका सका। अत. इनके लिए भी उसे अस्थायी छूट देनी पडी।

इसका परिणाम यह हुआ कि इग्लैण्ड का बहुत-सा रुपया, जो कम-मीयादी कर्ज़ों के रूप में जर्मनी को दिया हुआ था, वही फस गया, यानी खटाई मे पड गया। लन्दन के बौहरों की हालत विकट हो गई, क्योकि उन्हे अपना देना चुकाना था, और वे इस भरोसे बैठे हुए थे कि जर्मनी से उनका रुपया उन्हे मिल जायगा। फ्रास और अमरीका तेरह करोड़ पौंड उधार देकर उनकी सहायता को दौड़े आये, परन्तु वक्त निकल चुका था। लन्दन के साहूकारी क्षेत्रो में घबराहट फैल गई, और जब इस प्रकार की घबराहट फैलती है तो हर आदमी बैन्क मे से अपना रुपया निकाल लेना चाहता है। इसलिए यह तेरह करोड पौड बात की बात में उड़ गये। तुम्हे याद होगा कि पौड स्वर्ण-मान से सम्बद्ध था, इसलिए जिस किसी के पास सोने के मूल्य वाला पौंड होता वह उसके बदले में सोना मांग सकता था।

ब्रिटिश सरकार, जो उस समय मजदूर-दली सरकार थी, अधिक रुपया उधार लेना चाहती थी, और उसने न्यूयॉर्क तथा पैरिस के बौहरों से बहुत चिन्ताकुल होकर कर्ज़ की याचना की। मालूम होता है कि वे कुछ खास शर्तों पर मदद करने को राज़ी हो गये। इनमें से एक शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार मज़दूरो-सम्बन्धी मामलो में और सामाजिक हित के कार्यों में किफायत करे, और शायद मजूरियों मे कटौती भी सुझाई गई थी। यह इंग्लैण्ड के घरू मामलों में विदेशी बौहरों का सीधा हस्तक्षेप था। इस स्थिति से मज़दूर सरकार के विरुद्ध अनुचित लाभ उठाया गया, और प्रधान मंत्री व मज़दूर सरकार के नेता रैम्ज़े मैक्डोनल्ड ने मज़दूर सरकार तथा अपने दल दोनों के साथ विश्वासघात किया, और मुख्यतया अनुदार दल वालों के सहारे पर दूसरी सरकार बनाई। यह "राष्ट्रीय सरकार" कहलाई, जो इस संकट का मुक़ाबला

करने के लिए रची गई थी। रैम्जे मैक्डोनल्ड की यह कार्रवाई, योरप के श्रमजीवी आन्दोलन के इतिहास में गद्दारी के सबसे अधिक उल्लेखनीय उदाहरणों में गिनी जाती है।

राष्ट्रीय सरकार पौंड की रक्षा करने के लिए बनी थी। फ्रांस तथा अमरीका ने जो कर्ज देने का वादा किया था वह उसे मिल गया, परन्तु इनकी सहायता के बावजूद भी वह पौंड को नही बचा सकी। २३ सितम्बर, सन् १९३१ ई०, को उसे स्वर्ण-मान परित्याग करने को मजबूर होना पडा और पौंड फिर अस्थिर मूल्य की मुद्रा बन गया। पौंड का भाव तेजी से गिर गया, और उसका मूल्य चौदह शिलिंग के सोने के बराबर रह गया। यानी मोटे तौर पर पहले मूल्य का दो-तिहाई रह गया।

यही वह घटना थी और वह साल था जिन्होंने दुनिया को चौकन्ना कर दिया। योरप ने इसे निकट भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का लक्षण समझा, क्योंकि इसका अर्थ था संसार की साहूकारा मंडी में लन्दन के प्रभुत्व का अन्त। ये आशाएं और आकांक्षाएं (योरप या अमरीका में ब्रिटिश साम्राज्य सबकी आँखों में खटकता है, एशिया का तो जिक्र ही क्या) कुछ असामयिक सिद्ध हुईं।

पौंड का मूल्य गिरने से उन अनेक देशो की मुद्रा-प्रणालियाँ डावाँडोल हो गईं जिन्होंने सोने के मूल्य वाले पौंड के नोटों को सोना मान कर रख छोडा था, क्योंकि उनके बदले मे कभी-भी सोना प्राप्त किया जा सकता था। अब, जब कि इन नोटों के बदले मे सोना नही मिल सकता था और उनका मूल्य तीस प्रति शत घट गया था, तो इनमें से कुछ देशों की मुद्रा के मूल्य भी गिर गये, और इग्लैण्ड ने उन्हे भी नीचे खींच कर स्वर्ण-मान परित्याग करने को मजबूर कर दिया।

फ्रास की स्थिति अब मजबूत हो गई थी, उसकी चौकस नीति लाभदायक सिद्ध हो गई थी। जहा अमरीका के और उससे भी ज्यादा इग्लैण्ड के उधार की रकमे जर्मनी मे फँस गई थी, और इन देशो को रुपये की जरूरत पड रही थी, वहां फ्रास के पास विदेशी विनिमय परचो तथा सोने के फ्रैको के रूप मे प्रचुर रुपया था। अमरीकी सरकार तथा ब्रिटिश सरकार दोनो ने फ्रास को अपने-अपने प्रेम में फँसाना चाहा, और उसे एक के विरुद्ध दूसरे का साथ देने के लिए फुसलाने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु फ्रास जरूरत से ज्यादा चौकस था, इसलिए उसने दोनो में किसी की चालों में फँसने से इन्कार कर दिया, और इस प्रकार सौदेबाजी का अवसर हाथ से निकल जाने दिया।

सन् १९३१ ई० के अन्त मे इग्लैण्ड में पार्लमेण्ट के लिए आम चुनाव हुए, और इसके परिणाम-स्वरूप "राष्ट्रीय सरकार" की भारी बहुमत से विजय हुई। वास्तव में यह विजय अनुदार दल की थी। मजदूर दल का तो करीब-करीब सफाया हो गया। इन अफवाहो से भयभीत होकर कि मजदूर सरकार उनकी पूजी जब्त कर लेगी, और शायद वेतन-कटौती पर अटलाण्टिक बेड़े के अंग्रेज मल्लाहो की अल्प-कालिक बगावत से आतंकित होकर, इग्लैण्ड के बुर्जुवा लोग सारे के सारे अनुदार-दली राष्ट्रीय सरकार के पीछे हो लिये।

पौंड का भाव गिरने के बाद जो सकट और खतरा सामने आये, उनके बावजूद तीन प्रमुख राष्ट्र अमरीका, इग्लैण्ड और फ्रास, या इन देशो के बौहरे, आपस मे सहयोग नही कर सके। हरेक अपनी अकेली चालें चलता था, और इस ताक मे रहता था कि दूसरो को हानि पहुचा कर खुद अपनी स्थिति को सुधार ले। अर्थ-नेतृत्व के लिए लडने के बजाय वे सम्मिलित होकर एक सयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय मडी कायम कर सकते थे। परन्तु हरेक ने अपने-अपने रास्ते चलना पसंद किया। बैंक आफ इग्लैण्ड लन्दन का खोया हुआ पद उसे दुबारा प्राप्त कराने की कोशिश मे लग गया, और दुनिया को चकित करके वह इस काम में बहुत कुछ सफल भी हो गया, हालांकि पौंड अभी तक स्वर्ण-मान से विलग था।

जब इग्लैण्ड ने स्वर्ण-मान से सम्बन्ध विच्छेद किया था, उस समय अन्य देशो के सरकारी बैंकों ने (ये बैंक केन्द्रीय बैंक कहलाते है) अपने पास रक्खे हुए पौंड के विनिमय परचे बेच डाले थे ताकि उनके बदले में वे सोना प्राप्त कर सकें। पौंड के ये परचे अभी तक उन्होने इसलिए रख छोडे थे कि इनके बदले में कभी-भी सोना मिल सकता था, और इसलिए ये सोना ही माने जा सकते थे। जब इन परचो की बहुत बड़ी संख्या एक-दम बेची गई तो पौंड का मूल्य तेजी के साथ तीस प्रतिशत गिर गया। इस गिरावट के प्रलोभन में आकर उन कर्जदारो ने, जिन्हें अपने कर्ज पौंड में देने थे (इन में कुछ सरकारें तथा बड़े-बड़े व्यवसायी भी शामिल थे), सोने में भुगतान किया, क्योंकि अब उन्हे तीस प्रतिशत कम देना पड़ता था। इस प्रकार बहुत सारा सोना इंग्लैण्ड में आ गया।

परन्तु इग्लैण्ड मे सोने की असली नदी तो भारत तथा मिस्र से आ रही थी। इन गरीब और पराधीन देशों को धनवान इंग्लैण्ड की सहायता करने के लिए मजबूर किया गया, और इनके भीतरी साधनों का इंग्लैण्ड की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ करने के लिए उपयोग किया गया। इस मामले मे इनसे कुछ नही पूछा गया; इग्लैण्ड की आवश्यकता के सामने इनकी इच्छाओ या हितो का मूल्य ही क्या था ?

भारत के दृष्टिकोण से बेचारे भारतीय रुपये की कहानी बडी लम्बी और दुखपूर्ण है। ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश साहूकारों के स्वार्थों की पूर्ति के लिए इसका मूल्य बार-बार बदला जाता रहा है। मुद्रा के इन मामलों का यहा मै विवेचन नही करूगा। केवल इतना बतला देना चाहता हूं कि मुद्रा के मामले में भारत मे ब्रिटिश सरकार की युद्धोत्तर कार्रवाइयो से भारत को विपुल धन राशि की हानि उठानी पड़ी। इसके बाद, सन् १९२७ ई० में, सोने के मूल्य वाले पौंड तथा सोने की अपेक्षा से रुपये का मूल्य निर्धारित करने के बारे मे भारत मे बड़ा-भारी वाद-विवाद उठ खडा हुआ (उस समय पौड स्वर्ण-मान से जुडा हुआ था)। यह "अनुपात का विवाद" कहलाया, क्योंकि सरकार तो रुपये का मूल्य एक शिलिंग छै पैन्स निश्चित करना चाहती थी, और भारतीय जनमत लगभग एक स्वर से रुपये का मूल्य एक शिलिंग चार पैन्स पर निश्चित कराना चाहता था। सवाल वही पुराना था कि रुपये को ऊंचा मूल्य देकर बोहरो और ऋण-दाताओं और पूजी वालो को लाभ पहुचाया जाय और विदेशी आयात को प्रोत्साहन दिया जाय, या उसका मूल्य गिरा कर कर्जदारो का बोझ हलका किया जाय और घरू उद्योगो तथा निर्यात को प्रोत्साहन दिया जाय। सरकार ने तो भारतीय लोकमत की परवा न करके अपनी बात रहने दी, और रुपये का मूल्य एक शिलिग छै पैन्स निर्धारित कर दिया गया। इस प्रकार कुछ लोगो के मत से रुपये के ऊचे भाव के कारण कुछ मुद्रा-सकोच हुआ। केवल इग्लैण्ड ने ही, सन् १९२५ ई० में पौड को स्वर्ण-मान पर लाकर, मुद्रा-सकोच की नीति अपनाई थी। और, जैसा कि हम देख चुके है, यह इसलिए किया गया था कि उसका वह अर्थ-नेतृत्व कायम रहे, जिसके लिए वह बहुत कुछ कुर्बानी देने को तैयार था। फ्रास, जर्मनी तथा अन्य देशो ने अपनी वित्तीय स्थिति सुधारने के लिए मुद्रा-स्फीति को ज्यादा अच्छा समझा था।

रुपये के ऊंचे मूल्य से भारत मे लगी हुई अग्रेजी पूजी का मूल्य भी बढ गया। इससे भारतीय उद्योगो पर भी बोझ पड़ा, क्योकि भारतीय सामानो के भाव कुछ बढ गये। सबसे बडी बात यह हुई कि जो किसान और जमीदार महाजनो के कर्जदार थे, उन सबका बोझ पहले से भी ज्यादा बढ गया, क्योंकि जब रुपये का मूल्य बढा तो इन कर्जों का मूल्य भी बढ गया। अठारह पैंस और सोलह पैंस का अन्तर, यानी दो पैंस, साढे-बारह प्रतिशत बढोतरी का द्योतक था। मान लो कि भारत के किसानो पर कुल क़र्जा दस अरब रुपया है; अगर इसमे साढे-बारह प्रतिशत बढोतरी हो जाती है तो कुल कर्जे में एक अरब पच्चीस करोड रुपये की विपुल राशि जुड जाती है।

रुपयो के हिसाब से तो कर्जो की रकमें वही रही जो पहले थी। परन्तु खेती की उपज के भावों के हिसाब से ये कर्जे बढ गये। रुपये का असली मूल्य यह होता कि उससे कितन गेहू, या कपडा, या अन्य वस्तुए अथवा सामान खरीदा जा सकता है। अगर रुकावट न डाली जाय तो यह मूल्य जरूरत के मुताबिक अपने आप घटता-बढता रहता है। रुपये की क्रय-शक्ति घट जाने से मुद्रा का मूल्य भी गिर जाता है। रुपये का मूल्य कृत्रिम रूप से बढाने का अर्थ होता है उसे ऐसी कृत्रिम क्रय-शक्ति देना जो वास्तव में उसमे नही होती। इसलिए किसानो को अनुभव हुआ कि अब उनकी आमदानी का पहले से अधिक भाग कर्जों तथा इनके सूद के भुगतान में चला जाता था, और उनके पास कुछ नही बचता था। इस प्रकार से एक शिलिग छै पैन्स के अनुपात के कारण भारत में मन्दी और भी बढ गई।

जब सितम्बर, सन् १९३१ ई०, में सोने के मूल्य वाले पौंड का सम्बन्ध सोने से तोड दिया गया, तो रुपये का भी सोने से सम्बन्ध टूट गया, परन्तु फिर भी रुपये को पौंड के साथ बंधा रहने दिया गया। अर्थात एक शिलिंग छैं पैंस का अनुपात तो कायम रहा, परन्तु सोने के हिसाब से रुपये का मूल्य कम हो गया। रुपये को पौंड के साथ इसलिए जुड़ा रक्खा गया कि भारत में अंग्रेजी पूजी को नुकसान न पहुँचे। क्योंकि, अगर रुपये को छेड़ा न जाता, तो उसका मूल्य कुछ ज्यादा गिर जाता और इससे पौंड वाली पूजी को हानि उठानी पड़ती। हुआ यह है कि रुपये का स्वर्ण-मूल्य कम होने से भारत मे केवल अमरीकी, जापानी, आदि ग़ैर-ब्रिटिश पूजी को नुकसान पहुचा। रुपये का सम्बन्ध पौंड के साथ जुड़ा रहने से इग्लैण्ड को एक और बड़ा

फायदा यह हुआ कि अपने उद्योगो के लिए वह जो कच्चा माल खरीदता था उसकी कीमत ब्रिटिश मुद्रा में चुकाने के लिए समर्थ हो गया। पौंड-मुद्रा का क्षेत्र जितना ही बड़ा होगा, पौंड के लिए उतना ही अच्छा होगा।

जब पौंड के साथ-साथ रुपये का मूल्य भी गिरा, तो सोने का अन्दरूनी भाव कुदरती तौर पर बढ़ गया, यानी सोना बेचने से ज्यादा रुपये मिल सकते थे। देश में जो भारी मुसीबत और तगी फैल रही थी, उससे मजबूर हो कर लोगो ने जेवर वग़ैरा के रूप में जितना भी सोना उनके पास था उसे बेच डाला, ताकि वे अपने क़र्ज़े चुकाने के लिए सोना बेच कर अधिक रुपये प्राप्त कर सकें। बस, देश भर का सोना असंख्य छोटे-छोटे रास्तों से बैंको में पहुंचने लगा, और बैंक उसे लन्दन के सर्राफ़े में बेच कर मुनाफ़ा उठाने लगे। इस प्रकार भारत का सोना निरन्तर लन्दन की ओर बहता रहा, और विपुल मात्रा में वहां जा पहुंचा। यह सिलसिला अभी तक जारी है। इसी सोने ने, तथा साथ ही मिस्र से जाने वाले सोने ने, बैंक ऑफ इग्लैण्ड तथा ब्रिटिश साहूकारे की हालत को सम्हाल लिया, और उन्हे इस योग्य बना दिया कि सितम्बर, सन् १९३१ ई०, में उन्होंने जो रकम अमरीका और फ्रांस से उधार ली थी, उसे लौटा सके।

यह एक अद्भुत तथ्य है कि जहा ससार के सबसे धनवान देशो सहित सारे देश अपना-अपना सोना बचाने की और उसे बढ़ाने की जी-तोड कोशिशें कर रहे है, वहा भारत इसके ठीक विपरीत जा रहा है। अमरीकी और फ्रासीसी सरकारो ने अपने-अपने बैको के तहखानो में सोने की बडी भारी मात्रा जमा करके दबा रक्खी है। यह विचित्र प्रक्रिया हुई है कि खानो मे सोना केवल इसलिए खोद-खोद कर निकाला जा रहा है कि बैंको के गहरे जमीदोज़ तहखानो में फिर दफना दिया जाय। ब्रिटिश उपनिवेशो सहित अनेक देशो ने सोने की निकासी पर रोक लगा दी है, अर्थात कोई भी इन देशो से बाहर सोना नही ले जा सकता। इंग्लैण्ड ने, अपना सोना सुरक्षित रखने के लिए स्वर्ण-मान से नाता तोड दिया है। परन्तु भारत ऐसा नही कर सकता, क्योकि भारत की वित्त-नीति का संचालन इंग्लैण्ड के हितो के अनुसार होता है।

अक्सर यह कहा जाता है कि भारत में लोग सोना चादी दबा कर रखते है, और कुछ थोडे-से धनवान लोगों के लिए यह बात किसी हद तक सही भी है। परन्तु जनता तो इतनी गरीब है कि सोना तो क्या कोई भी चीज़ दबा कर नही रख सकती। आसूदा कृषक वर्ग के पास अलबत्ता कुछ जेवर वग़ैरा होते है जो उनका "खज़ाना" समझे जा सकते हैं। बैक में जमा कराने की कोई सुविधा उन्हे नही है। परन्तु भारत के ये छोटे-मोटे गहने-पाते और सोने के भडार भी मन्दी तथा सोने का भाव बढने के कारण खिच कर बाहर आ गये हैं। अगर भारत मे राष्ट्रीय सरकार होती तो इस सोने को अपने देश मे ही सुरक्षित रखती, क्योकि लेन-देन का माना हुआ अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम सोना ही है।

अब हम फिर डालर के साथ पौड की लड़ाई के किस्से पर आते हैं। ऊपर लिखे तरीको से, तथा अन्य चतुराईभरी तरकीबो से, जिन का ज़िक्र मैं यहां नही करना चाहता, बैक आफ़ इग्लैण्ड ने अपनी स्थिति बहुत मजबूत कर ली। सन १९३२ ई० के शुरू के दिनों मे इस बैक का भाग्य कुछ चमका, क्योकि अमरीका का रुपया भी जर्मनी में फस जाने के कारण संयुक्त राज्य अमरीका के बैंको की हालत भी नाजुक हो गई। इस सकट काल में अमरीका के अनेक लोगो ने अपने डालर बेच दिये और पौंड के ब्याजी रुक्के खरीद लिये। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार को डालरो के ढेरो विदेशी विनिमय परचे प्राप्त हो गये जिन्हे उसने न्यूयॉर्क के सरकारी बैंक में भुनाने के लिए भेज दिया और बदले में सोना ले लिया। डालर स्वर्ण-मान से जुडा हुआ था, इसलिए उसके बदले में सोना मांगा जा सकता था। इस तरह से किसी दुर्घटना के बिना और पौंड का भाव अधिक गिरे बिना इग्लैण्ड का स्वर्ण-भंडार खूब भर गया, हालांकि पौंड का मूल्य अस्थिर तथा स्वर्ण-मान से विलग ही बना रहा। ढेरों विदेशी विनिमय परचे और सिक्योरिटियां अपने पास होने से लन्दन शहर फिर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की महान केन्द्रीय मंडी बन गया। उस समय तो न्यूयॉर्क को मुह की खानी पड़ी। इस पराजय का मुख्य कारण उसके बैंकों पर पड़ने वाला सकट था जिसमें, जैसा कि मैं पिछले किसी पत्र में लिख चुका हूं, हजारो छोटे-छोटे बैंक खत्म हो गये थे।

: १८८ :

पूंजीवादियों का संसार मिलकर प्रयत्न नहीं कर पाता है

२८ जुलाई, १९३३

वित्त-सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा और तिकडमबाजी का कितना लम्बा किस्सा मैने तुम्हे सुना डाला है, और मुझे डर है कि तुम इसे पसन्द नही करोगी ! अन्तर्राष्ट्रीय अभिसन्धियो का यह जाला इतना उलझा हुआ है कि इसे सुलझाना , या इसमें घुस जाने पर बाहर निकलना, आसान काम नही है । मैंने तो तुम्हें केवल उसी चीज की झलक-मात्र दिखाई है जो बहुत-कुछ ऊपरी सतह पर नजर आती है । दुनिया में जितनी चीजें होती हैं उनमे से अधिकांश ऊपरी सतह पर या सूरज की रोशनी में कभी नही आने पाती ।

आधुनिक संसार में बौहरों और साहूकारों का जबरदस्त हाथ है । यहा तक कि उद्योगपतियों के दिन भी बीत चुके; आज तो उद्योग, खेती-बाडी, रेलो और ढुलाई व्यवस्था की और वास्तव मे कुछ हद तक हरेक चीज की, यहा तक कि सरकार की भी, बागडोर बड़े-बडे बौहरों के हाथो में है । क्योकि ज्यो-ज्यो उद्योगों में तथा व्यापार में उन्नति हुई है, त्यों-त्यो इनके लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता पड़ती गई है, और इस धन का प्रबन्ध बैंको ने किया है । आजकल दुनिया का ज्यादातर काम उधार पर चलता है, और उधार को बढाना या घटाना और अकुश में रखना बड़े-बडे बैंको के ही हाथ मे है । उद्योगपतियो और खेतिहरो, दोनो को अपना काम चलाने के लिए रुपया उधार लेने बैंक के पास जाना पड़ता है । बौहरों के लिए उधार देने का यह धन्धा केवल मुनाफे का ही धन्धा नही है, बल्कि इससे उद्योग तथा खेतीबाड़ी पर भी धीरे-धीरे उनका अधिकार हो जाता है । उधार देने से इन्कार करके, या ऐन संकट के मौके पर अपने रुपये का तक़ाज़ा करके, ये लोग कर्ज़दार का कारोबार चौपट कर सकते है, या उसे किसी भी तरह की शर्तें मानने के लिए मजबूर कर सकते है । यह चीज देश के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, दोनो जगह लागू होती है क्योकि बडे-बड़े केन्द्रीय बैंक विभिन्न देशों की सरकारो को रुपया उधार देते है, और इस प्रकार उन्हें अपने अगूठे के नीचे रखते हैं । न्यूयार्क के बौहरे मध्य तथा दक्षिण अमरीका की कई सरकारो की नकेल इसी तरीके से अपने हाथ में रखते है ।

इन बडे-बडे बैन्को का निराला स्वरूप यह है कि ये अच्छे और बुरे दोनों तरह के जमानों में पनपते रहते हैं । अच्छे जमाने में, व्यवसाय की व्यापक समृद्धि में इन्हे भी हिस्सा मिलता हैं । इनके पास ढेरों रुपया आता है, और ये इसे खूब अच्छे सूद पर दूसरो को उधार दे देते है । मन्दी या संकटो के बुरे जमानो में ये रुपये को पकड़ कर बैठ जाते है और उसे जोखम मे नही डालते (इस प्रकार ये मन्दी को बढ़ाते हैं, क्योंकि उधार के बिना अनेक व्यवसायो का चलाना कठिन होता है) । परन्तु ये एक और तरीके से फायदा उठाते है । जमीनों, कारखानो, वगैरा, सब की कीमते गिर जाती हैं और अनेक उद्योगो के दिवाले निकल जाते है । बस, बैन्क फौरन आ जाता है और हर चीज सस्ते दामो मे खरीद लेता है ! इसलिए बौहरों का हित इसी में है कि बारी-बारी से तेजी और मन्दी के चक्र चलते रहे ।

वतमान महामन्दी के जमाने में बड़े-बडे बैंको का कारोबार बराबर अच्छा रहा है, और इन्होंने अच्छे मुनाफे बांटे है । यह सच है कि संयुक्त राज्य अमरीका के हजारों बैंको के, और आस्ट्रिया तथा जर्मनी के कुछ बडे बैंको के, दिवाले निकल गये है । लेकिन अमरीका के जिन बैंको के दिवाले निकले वे सब छोटे-छोटे बैंक थे । मालूम होता है कि अमरीका की बैंक-प्रणाली ठीक नही है । मगर फिर भी न्यू-यॉर्क के बड़े-बड़े बैंकों का कारोबार काफी अच्छा रहा है । इंग्लैण्ड के किसी बैंक का दिवाला नही निकला ।

इसलिए आज के पूंजीवादी व्यवस्था वाले संसार में असली अधिकार बौहरो के हाथों में है । लोग हमारे इस जमाने को "वित्त युग" कहते है, जो विशुद्ध "औद्योगिक युग" के बाद आया है । इन दिनों पश्चिमी देशों में, और खास कर करोड़पतियों के देश अमरीका में, करोड़पति और अरबपति बरसाती मेंढकों की तरह पैदा हो रहे हैं, और उनकी बड़ी कद्र है । परन्तु दिन पर दिन प्रत्यक्ष होता जा रहा है कि "ऊंचे दर्जे के साहूकारे" के तरीके अत्यन्त खोटे हैं, और जो तरीके डाकुओं तथा धोखेबाजों के समझे

आते हैं उनमें तथा इन तरीकों में अन्तर केवल इतना ही है कि इनका कार्य-क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। बड़ी-बड़ी ठेकेदारियां तमाम छोटे-छोटे धन्धेवालों को कुचल देती हैं, रुपया बटोरने के बड़े-बड़े कारोबार, जिन्हें कोई समझ नहीं पाता, बेचारे भोले-भाले शेयर खरीदने वालों को मूड लेते हैं। योरप और अमरीका के कुछ बड़े-से-बड़े साहूकारों का हाल ही में भंडाफोड़ हुआ है, और यह दृश्य कुछ अच्छा नही रहा है।

हम देख चुके हैं कि इंग्लैण्ड तथा अमरीका के बीच अर्थ-नेतृत्व का झगड़ा उस समय तो लन्दन शहर की विजय के साथ समाप्त हो गया था। परन्तु इस विजय से फल क्या मिला ? इस लड़ाई के बारह वर्षों के दौरान में यह फल ही धीरे-धीरे ग़ायब होता गया था। ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटता गया, त्यों-त्यों अर्थ-नेतृत्व से प्राप्त होने वाले लाभ भी कम होते गये। विनिमय परचो का अभाव हो गया और साथ ही सिक्योरिटियो के भाव भी गिर गये, और नये शेयर तथा सिक्योरिटियो का तो निकलना ही बन्द हो गया। मगर फिर भी, विशाल सार्वजनिक तथा खानगी कर्ज़ों के सूद का भुगतान वैसा का वैसा बना रहा, और कर्ज़दार देशो के लिए उनका चुकाना महा कठिन हो गया। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं था, इसलिए सोने की खपत बढ़ गई। परन्तु सोना तो निर्धन देशों से खिच-खिच कर स्थिर मुद्रा वाले धनवान देशो को चला गया था।

परन्तु जब मन्दी का ज़ोर हुआ तो अमरीका की सहायता न तो सोने तथा सम्पत्ति के सारे ढेर ने की, और न उद्योगो की नई से नई यंत्र-कला ने। रोज़गार के साधनो की जिस महान भूमि में नर-नारी दूर-दूर से खिच कर आते थे, वह अब निराशा की भूमि बन गई। बडे-बडे व्यवसायी, जो देश पर शासन करते थे, बिल्कुल भ्रष्ट निकले, और साहूकारी तथा उद्योगो के नेताओ में लोगो का विश्वास उठ गया। राष्ट्रपति हूवर, जो बडे-बड़े व्यवसायियों का मित्र था, बहुत बदनाम हो गया, और नवम्बर, सन् १९३२ ई०, में राष्ट्रपति के पद के लिए जो चुनाव हुआ, उसमें फ्रेन्कलिन रूज़वैल्ट ने उसे हरा दिया।

मार्च, सन् १९३३ ई० के शुरू के दिनों में अमरीका के बैंको पर एक और सकट आ पड़ा। इसके परिणामस्वरूप अमरीका को स्वर्ण-मान का परित्याग करना पडा, और यद्यपि अमरीका के पास सब देशो से अधिक सोना था, फिर भी उसने डालर का मूल्य गिर जाने दिया। इसका उद्देश्य यह था कि उद्योगो तथा खेती-बाड़ी के धन्धों का बोझ हलका हो जाय, और कर्ज़दारों को राहत मिले,—बैंको और महाजनो को भले ही नुकसान उठाना पड़े। अमरीका की यह कार्रवाई ब्रिटिश सरकार की उस कार्रवाई के बिल्कुल विपरीत थी जो इसने भारत में, भारतीय जनता के एक-स्वर से विरोध करने पर भी, की थी।

जून, सन् १९३३ ई०, में इस बात का एक और प्रयत्न किया गया कि जो समस्याए पूजीवादी जगत का गला दबोच रही थी, उन्हे हल करने के लिए उसमे सहयोग स्थापित किया जाय। लन्दन मे एक विश्व आर्थिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ और इसमे भाग लेने वाले प्रतिनिधियो ने "आतकित ससार" के बारे में चर्चाए की और चेतावनी निकाली कि "यदि यह सम्मेलन असफल रहा तो सारा पूजीवादी ढाचा तड़ाक से टूट जायगा"। मगर इन चेतावनियों और खतरों के बावजूद भी बड़ी-बडी शक्तिया आपस में सहयोग नही कर सकी और सब अपनी-अपनी ओर खीचने के प्रयत्न करती रही। सम्मेलन असफल हुआ, और हर देश आर्थिक राष्ट्रीयता की अपनी अलग नीति पर चलने के लिए छोड़ दिया गया।

इग्लैण्ड के लिए आत्म-निर्भर बनना असम्भव था, क्योंकि एक तो यहा ज़रूरत पूरी करने के लिए काफ़ी अन्न पैदा नही होता था, दूसरे यहा के उद्योगों के लिए कच्चा माल बाहर के देशो से आता था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने साम्राज्य के आधार पर आर्थिक राष्ट्रीयता के विकास का प्रयत्न किया, और सारे ब्रिटिश साम्राज्य को पौंड के भावों पर खड़ी हुई एक ही आर्थिक इकाई बनाने की कोशिश की। इस विचार को सामने रख कर सन् १९३२ ई० में ओटावा में ब्रिटिश साम्राज्य सम्मेलन का अधिवेशन किया गया। मगर यहां भी कठिनाइयां उपस्थित हो गई, क्योंकि कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ़रीका, इंग्लैण्ड के लाभ के लिए किसी तरह का त्याग करने के तैयार नहीं हुए। उल्टे इंग्लैण्ड को उनकी मांगें पूरी करनी पड़ी। मगर भारत को सरकारी तौर पर मजबूर करके ब्रिटिश माल को विशेष रियायतें देने के लिए राज़ी किया गया, यद्यपि भारतवासियों ने इसका कड़ा विरोध किया था। बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया है कि ओटावा का राज़ीनामा सफल नही हुआ है, और इसको लेकर

एक ओर तो उपनिवेशों तथा इंग्लैण्ड के बीच, तथा दूसरी ओर भारत और इंग्लैण्ड के बीच, काफी वैमनस्य रहा है।

इसी दरमियान साम्राज्य के उद्योगों तथा मंडियों के लिए एक नई विभीषिका खड़ी हो गई। सस्ती जापानी चीज़ों की हर जगह भरमार हो गई, और ये इतनी हद दरजे की सस्ती थी कि तट-करों की दीवारें भी इन्हें न रोक सकीं। यह सस्ताई एक तो यन' का मूल्य गिरने के कारण थी, और दूसरे इस कारण थी कि जापान के कारखानों में काम करने वाली लड़कियो को बहुत कम मजूरी दी जाती थी। इसके अलावा जापानी उद्योगों को सरकार धन की सहायता देती थी, और जापानी जहाज़ कम्पनिया माल ढोने का बहुत कम किराया वसूल करती थी। यह तथ्य भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जापानी उद्योग बड़ी कार्य-कुशलता से चलाये जाते थे; इंग्लैण्ड के अनेक पुराने उद्योगो में यह चीज़ नही थी।

जब तट-करो से जापानी माल का आना नही रुका तो उसके लिए मडिया बन्द कर दी गईं, या कोटा-प्रणाली जारी कर दी गई, जिसके अनुसार माल की एक निश्चित मात्रा आने दी जाती थी। अगर जापान का माल इस तरह अन्य देशो में पहुचने से रोक दिया गया तो जापान के ज़बरदस्त उद्योगों का क्या हाल होगा? उसकी सारी आर्थिक व्यवस्था चौपट हो जायगी, और माल पहुचाने के रास्ते तलाश करने की कोशिशो के परिणामस्वरूप आर्थिक प्रतिशोधो की और युद्धतक की नौबत आ सकती है। पूजीवाद की विनष्टकारी प्रतिस्पर्द्धा के अन्दर घटनाओं का अनिवार्य क्रम इसी प्रकार का हुआ करता है।

इसी प्रकार अगर इंग्लैण्ड की मडिया अन्य देशो के लिए बन्द कर दी जाय तो इनमें से कई देश बरबाद हो जायगे। बस, हम देखते हैं कि जितनी भी कार्रवाइया कोई देश अपने निजी तात्कालिक लाभ के लिए करता है, उससे अन्य देशो को तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आघात पहुंचता है, और परिणाम में विरोध तथा झगडा पैदा होता है।

: १८६ :

स्पेन में क्रान्ति

२९ जुलाई, १९३३

अब में तुम्हे व्यापार की मन्दी और सकट के लम्बे तथा निराशाजनक वर्णन से दूर ले चलूगा, और हाल के ज़माने की दो उल्लेखनीय घटनाओ का वर्णन करूगा। ये दो घटनाए है स्पेन में क्रान्ति और जर्मनी मे नात्सियो की पूर्ण सफलता।

स्पेन तथा पुर्तगाल योरप के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर हैं, और, जैसा कि हम देख चुके है, योरप के तथा ससार के इतिहास में इन देशो ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। साम्राज्य स्थापित करने के साहसिक प्रयत्नों में इन्होने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी, और जिस समय, उन्नीसवी सदी में, योरप औद्योगिक तथा अन्य क्षेत्रो मे उन्नति कर रहा था, ये पिछड़े-हुए तथा पादरियो के प्रभाव में बने रहे। राष्ट्रवादी स्पेन ने नैपोलियन के ऊपर शानदार विजय प्राप्त की थी, परन्तु फ्रास की क्रान्ति से प्रगट होने वाले विचारों से इसने लाभ नही उठाया। फ्रास ने तो सामन्तशाही से अपना पिड छुडा लिया और अपनी भूमि का बन्दोबस्त पूरी तरह बदल दिया, परन्तु स्पेन अर्द्ध-सामन्तशाही बना रहा। यहां अमीरों के पास बड़ी-बडी जागीरे थी और विशेष रियायतें थी। रोमन कैथलिक चर्च का केवल धार्मिक मामलो पर ही प्रभाव नही था बल्कि भूमि, व्यापार और शिक्षा के मामलो पर भी था। चर्च यहां का सब से बड़ा ज़मीदार था और विस्तृत पैमाने पर व्यापार चलाता था। शिक्षा पर तो उसका पूरा नियत्रण था।

स्पेन में सैनिक अफ़सरो की एक अलग ही जाति थी जिसे विशेष रियायतें मिली हुई थी। सेना में अफ़सरो की संख्या अन्य सिपाहियो की सख्या के अनुपात से बहुत ज्यादा थी; अर्थात सात सिपाहियो के

'Yen जापान की मुद्रा।

पीछे एक अफ़सर था। दिमाग़ी लोगों में प्रगतिशील, उदार विचारों वाले तत्व थे; और श्रमजीवी आन्दोलन, जो संघवादियों,[1] समाजवादियों तथा अराजकतावादियों में बंटा हुआ था, ज़ोर पकड़ रहा था। परन्तु असली सत्ता चर्च और सेना और अमीरों के हाथों में थी। कैटैलोनिया में तथा उत्तर के बास्क प्रदेश में स्वाधिकार चाहने वाले ज़ोरदार आन्दोलन चल रहे थे।

स्पेन तथा पुर्तगाल दोनो में करीब-करीब निरंकुश एकतन्त्री हुकूमतें थी जिनमें कमज़ोर पार्लमेण्टी सभाएं थीं। स्पेन की सभा का नाम "कोर्टे" था। सन् १८६० ई० के बाद कुछ थोड़े-से वर्षों तक स्पेन में प्रजातंत्र राज्य रहा, परन्तु यह सफल नही हुआ, और बादशाह अपनी सारी पुरानी निरंकुशता को लेकर फिर आ धमका। सन् १८९८ ई० में सयुक्त राज्य अमरीका के साथ स्पेन का जो युद्ध हुआ, उसके फल-स्वरूप स्पेन अपना अन्तिम उपनिवेश भी खो बैठा। उसका सारा उपनिवेशिक प्रदेश पड़ोस में मोरक्को के कुछ भाग में बच गया था।

पुर्तगाल के पास अफ़रीका में अब भी बड़े-बड़े उपनिवेश है, और इनके अलावा गोआ, वग़ैरा भारत के ज़रा-ज़रा से टुकड़े भी है। सन् १९१० ई० मे बादशाह को गद्दी से उतार दिया गया और पुर्तगाल में प्रजातन्त्र स्थापित हो गया। तब से यहां राजावादियो तथा वाम-पक्षियों दोनों के अनेक विद्रोह होते रहे हैं। राजावादी तो बादशाह को वापस लाने का प्रयत्न करते रहे; और वाम-पक्षी लोग अधिनायकों तथा प्रतिगामी हुकूमतों से पिंड छुडाने के प्रयत्नो में लगे रहे। मगर फिर भी प्रजातन्त्री हुकूमत किसी न किसी रूप में चली आ रही है, और इस पर अक्सर सैनिक जमात का प्रभुत्व रहा है। महायुद्ध मे पुर्तगाल ने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया, और इसमें से वह कर्ज़ का इतना भारी बोझ लेकर निकला कि उसके दिवालिया होने की नौबत आ गई। वर्तमान सरकार अत्यन्त प्रतिगामी तथा नात्सी-हितैषी है। गोआ मे सब तरह की सार्वजनिक प्रवृत्तियो का दमन किया जाता है, और नागरिक स्वतन्त्रता जैसी तो कोई चीज़ ही नही है।

महायुद्ध में स्पेन तटस्थ रहा, और इससे उसे बहुत लाभ हुआ। उसने युद्ध-रत देशो को माल भेजा जिससे औद्योगीकरण का विस्तार हुआ। युद्धोत्तर वर्षों में यहा मन्दी, बेकारी और सामाजिक गड़बड़ रही। इसी समय के लगभग, सन् १९२१ ई० में, मोरक्को में रिफ युद्ध हुआ जिसने अब्दुल करीम ने स्पेनी सेना को पूरी तरह परास्त कर दिया। परन्तु बाद मे फासीसी सेनाओ ने वहा आकर अब्दुल करीम को पूरी तरह दबा दिया, और स्पेनी मोरक्को वापस स्पेन को दिलवा दिया। मोरक्को युद्ध के दौरान में ही प्राइमो दि रिवेरा का प्रादुर्भाव हुआ और यह सन् १९२३ ई० मे विधान को स्थगित करके अधिनायक बन बैठा। यह छै साल तक बना रहा, परन्तु धीरे-धीरे इसने सेना का विश्वास खो दिया, और सन् १९२९ ई० के आर्थिक सकट के बाद इसे अपना पद छोडना पडा। उधर इस सारे समय मे बादशाह अल्फोन्सो वही जमा रहा, और प्रतिगामी गिरोहो को मदद देता रहा तथा अपनी स्थिति मज़बूत करने के प्रयत्न में लगा रहा।

स्पेन के निवासी घोर व्यक्तिवादी हैं, और इनके प्रगतिशील गिरोह आपस में अक्सर लडते रहते थे। बाकुनिन के समय से स्पेन के नये श्रमिक वर्ग पर अराजकतावादी विचारधारा का प्रभाव पड़ गया था, और अग्रेज़ी अथवा जर्मन ढग के मज़दूर सघ यहा लोकप्रिय नही हुए थे। अराजक-सघवादियो[2] ने एक बलशाली गिरोह बना लिया था और कैटैलोनिया में इनका ज्यादा ज़ोर था। उदार-लोकतन्त्रवादी, समाजवादी तथा छोटा-सा परन्तु उदीयमान साम्यवादी दल, यहा के अन्य प्रगतिशील गिरोह थे। ये सारे गिरोह प्रजातन्त्र के हामी थे। प्राइमो दि रिवेरा के अधिनायकत्व के अनुभव ने इन सारे प्रजातन्त्रवादी गिरोहों को इकट्ठा कर दिया और ये आपस में सहयोग करने लगे।

सन् १९३१ ई० के म्यूनिस्पल चुनावो में इन्हें सफलता प्राप्त हुई। इन चुनावों में प्रजातन्त्रवादियों की विजय ने सारे विरोधियो पर झाड़ू फेर दी। यह चीज़ बादशाह को (जो बोर्बन तथा हैप्सबर्ग दोनों राजवंशों का था) भयभीत करने के लिए काफी थी, और वह जल्दी से देश छोड़ कर चला गया। प्रजातन्त्र

---

[1]Syndicalits.
[2]Anarcho-syndicalists.

की घोषणा कर दी गई, और १४ अप्रैल, सन् १९३१ ई०, को अस्थायी सरकार स्थापित हो गई। यह क्रान्ति शान्तिपूर्ण क्रान्ति थी।

स्पेन की इस क्रान्ति में तथा मार्च, सन् १९१७ ई०, की प्रथम रूसी क्रान्ति में निराली समानता दिखाई देती है। रूस की ज़ारशाही सरीखी पुरानी एकतन्त्री व्यवस्था बिल्कुल जर्जर हो चुकी थी, और वह अपने विरोधियों के मुकाबले की चेष्टा किये बिना ही छिन्न-भिन्न हो गई। दोनों क्रान्तियां सामन्तशाही का सफाया करने का तथा भूमि के बन्दोबस्त को बदलने का बहुत देर से किया गया प्रयत्न थी, और इसके लिए खास दबाव गरीबी के मारे हुए किसान-वर्ग की ओर से पडा था। स्पेन मे तो चर्च का अधिकार इतना ज़बरदस्त बोझ महसूस किया जा रहा था जितना रूस मे भी नही था। दोनो क्रान्तियो से ऐसी डावांडोल हालतें पैदा हो गईं जिनमें विभिन्न वर्ग अलग-अलग दिशाओं में खीचतान कर रहे थे। दक्षिण-पक्ष तथा उग्र वाम-पक्ष, दोनों की ओर से बार-बार उपद्रव हुए। रूस मे इस अस्थिरता के कारण नवम्बर की क्रान्ति हुई; स्पेन में यह हालत अभी तक चल रही है।

स्पेन के नये सविधान के कुछ रोचक अग थे। इसमें "कोर्टे" नामक केवल एक सदन रक्खा गया है और सारे वयस्क नर-नारियो द्वारा चुनाव की व्यवस्था है। एक निराली बात यह रक्खी गई है कि राष्ट्र सघ की स्वीकृति के बिना राष्ट्रपति युद्ध की घोषणा नही कर सकता। राष्ट्र सघ मे दर्ज किये जाने वाले जितने इकरारनामों को स्पेन मान लेता है, वे सब के सब तुरन्त स्पेन के कानून बन जाते हैं, और अगर यहा कोई ऐसा निश्चित कानून बन भी चुका हो जो इनके खिलाफ पडता हो, तो वह रद हो जाता है।

नये प्रजातन्त्र की सरकार वाम-पक्षी-उदार-नीतिवादी लोकतन्त्री सरकार मानी जाती है जिसमें समाजवाद का भी कुछ पुट है। यहा का प्रधान मन्त्री तथा सरकार का दृढ निश्चयी व्यक्ति मैन्युअल अज़ाना था। इस सरकार को भूमि सम्बन्धी, चर्च सम्बन्धी तथा सेना सम्बन्धी कठिन समस्याओ का सामना करना पडा था। इनके सम्बन्ध मे कोर्टे ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कानून पास किये थे, परन्तु व्यवहार मे कुछ ज्यादा नही किया गया। मसलन कानून मे यह यवस्था थी कि कोई भी व्यक्ति या कुटुम्ब आबपाशी की ज़मीन के पच्चीस एकड से ज्यादा का मालिक नही हो सकता था, और इस ज़मीन को भी वह तभी तक रख सकता था जब तक कि उसमे खेती करता रहे। मगर अमल मे सारी बडी-बड़ी जागीरे कायम रही। हा, बादशाह की तथा कुछेक बागी सरदारो की जागीरे ज़ब्त कर ली गईं।

कोर्टे ने चर्च की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया परन्तु इस पर भी अमल नही किया गया। शिक्षा के सम्बन्ध मे चर्च पर लगाये गये कुछ प्रतिबन्धो के अलावा, उसकी आज़ादी में कोई दखल नही दिया गया। सैनिक अफसरों की कुछ रियायतें छीन ली गईं, और इनमें से बहुतो को बडी अच्छी-अच्छी पेन्शनें देकर घर बैठा दिया गया।

सन् १९३२ ई० मे कैटैलोनिया मे अराजक-सघवादियो का उपद्रव हुआ जिसे सरकार ने दबा दिया। इसी साल के अन्त मे दक्षिण-पक्ष वालो का भी एक असफल उपद्रव हुआ।

शुरू के इन वर्षों मे नवजात प्रजातन्त्र का लेखा बहुत प्रशसनीय रहा था, खास कर शिक्षा के मामले में। भूमि की समस्या को हल करने के लिए तथा मजदूरो की हालत सुधारने के लिए भी कुछ किया गया था। परन्तु भूमि के बन्दोबस्त में सुधार की गति बहुत धीमी रही है, और किसान वर्ग उससे असन्तुष्ट है। इधर निहित स्वार्थ वाले तथा प्रतिगामी तत्व अभी तक मज़बूती के साथ जमे हुए है और प्रजातन्त्र के लिए खतरा बन रहे हैं। उदारवादी सरकार ने इनके साथ नरमी का बर्ताव किया है।

टिप्पणी (नवम्बर, १९३८ ई०)

सन् १९३३ ई० के साल में स्पेन के प्रतिगामी तत्वों ने मिलकर अपनी स्थिति सुदृढ बना ली, और उस साल जो चुनाव हुए उनमें इन दक्षिण-पक्षवालों के सम्मिलित दल ने बहुमत प्राप्त कर लिया। इससे राज्यसत्ता एक प्रतिगामी सरकार के हाथों मे आगई और इस सरकार ने काश्तकारी सुधार रोक दिये, चर्च का बल बढा दिया, और पिछली सरकार ने जो कुछ किया था उसके अधिकाश पर पानी फेर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रतिगामिता का प्रतिरोध करने के लिए सारे वाम-पक्षी गिरोहो में एकता स्थापित हो गई। अक्तूबर, सन् १९३४ ई०, में सारे स्पेन में दगे हुए, परन्तु सरकार इन्हे ठडा करने में तथा वाम-पक्षियों को दबाने में सफल हो गई। लेकिन वाम-पक्षी दल अपनी जड़ जमाते रहे, और उन्होंने उदार-नीति

वादियों, समाजवादियों, अराजकतावादियों तथा साम्यवादियों का एक सम्मिलित "लोकप्रिय मोर्चा" संगठित कर लिया। फरवरी, सन् १९३६ ई० में कोर्टे के चुनावो में यह लोकप्रिय मोर्चा विजयी हुआ और एक नई सरकार स्थापित हो गई। अब ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह सरकार भूमि की समस्या को हल करने के लिए तथा चर्च के अधिकारों को कम करने के लिए जोरदार क़दम उठावेगी, और निहित स्वार्थों के प्रति इतनी नरम नही रहेगी जितनी कि पिछली उदार-दली हुकूमत रही थी। इसलिए विरोधी भावना जोर पकड़ने लगी, और प्रतिगामी दलो ने हमला करने की ठान ली। इन्होने मुसोलिनी से तथा जर्मनी के नात्सियों से सहायता प्राप्त करली।

जुलाई, सन् १९३६ ई०, में जनरल फ्रैन्को ने स्पेनी मोरक्को में मूरों की सेना की सहायता से बगावत शुरू कर दी। इस सेना को यह आश्वासन दिया गया था कि स्पेनी मोरक्को स्वाधीन कर दिया जायगा। सेना के अफसरो ने तथा अधिकतर सैनिकों ने फ्रैन्को का साथ दिया, और सरकार अरक्षित नजर आने लगी। इस पर सरकार ने जनता को आदेश दिया कि अगर लोगों को और कोई चीज उपलब्ध न हो तो घूसों से ही लड़ें। जनता ने, खासकर मैड्रिड और बार्सिलोना की जनता ने, इस आदेश का तत्परता के साथ पालन किया। सरकार तथा प्रजातन्त्र को तो आंच नही आई, परन्तु फ्रैन्को ने स्पेन के बडे-बड़े भागो पर अधिकार कर लिया।

उस समय से यह गृह-युद्ध बराबर चला आ रहा है, क्योकि फ्रैन्कों को इटली तथा जर्मनी से बहुत काफी मदद मिल रही है। उन्होने इसे बडी-बड़ी सेनाए, हवाई-जहाज और इनके चालक, तथा गोला-बारूद का सामान भेजा है। प्रजातन्त्र के पास भी सहायता के लिए विदेशी स्वयसेवक हैं, परन्तु साथ ही उसने स्पेन की एक नई शानदार सेना भी खडी कर ली है। ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी सरकारो ने कह दिया है कि वे तो अ-हस्तक्षेप की नीति का पालन करती हैं, परन्तु परिणाम में यह नीति फ्रैंकों की सहायक हो रही है।

स्पेन का यह युद्ध बीभत्सता से भरा हुआ है। फ्रैंको के उपयोग के लिए दिये गये जर्मन तथा इटालवी हवाई जहाजो द्वारा अरक्षित नगरो तथा नागरिक लोगो पर जो हवाई बमबारी की गई है उससे बेशुमार आदमी मारे गये है। मैड्रिड की रक्षा की कहानी तो विख्यात हो गई है। इन दिनो फ्रैंको ने तीन-चौथाई स्पेन पर कब्जा कर रक्खा है, परन्तु प्रजातन्त्र ने, जो सैनिक दृष्टि से बलवान है, उसे आगे बढने से अच्छी तरह रोक दिया है। प्रजातन्त्र को सबसे बडी कठिनाई खाद्य-पदार्थों के अभाव की है।

यह माना जाता है कि स्पेन का युद्ध केवल राष्ट्रीय झगडा नही है, बल्कि कोई बहुत बडी चीज है। यह लोकतन्त्र तथा फ़ासीवाद के आपसी सघर्ष का द्योतक प्रतीक बन गया है, और दुनिया के लोगो का ध्यान तथा सहानुभूति इसकी ओर आकर्षित हो रहे है।

: १६० :

जर्मनी में नात्सियों की पूरी सफलता

३१ जुलाई, १९३३

स्पेन की क्रान्ति से कुछ लोगो को अचम्भा हुआ, परन्तु वास्तव में इसमें अचम्भे की कोई बात नही थी। यह तो घटनाओं के स्वाभाविक क्रम के अनुसार हुई थी, और ध्यानपूर्वक देखने वाले जानते थे कि यह अपरिहार्य थी। बादशाह-सामन्तशाही-चर्च के पुराने ढाचे मे घुन लग चुका था, और वह बिल्कुल कमजोर हो गया था। यह आधुनिक परिस्थितियो से बिल्कुल मेल नही खाता था, लिहाजा पके फल की तरह जरा से टल्ले से नीचे गिर पड़ा। भारत में भी बीते हुए युग के ऐसे अनेक सामन्ती अवशेष अभी तक हैं; यदि विदेशी शक्ति इन्हे सहारा न लगाती रहे तो शायद ये बहुत जल्दी मिट जाय।

परन्तु जर्मनी में परिवर्तन हाल ही में हुए है वे बिल्कुल भिन्न प्रकार के हैं, और इसमें कोई सन्देह नही कि उन्होने योरप को हिला दिया है और बहुत लोगो को स्तब्ध कर दिया है। जर्मनों जैसी सुसस्कृत

तथा अत्यन्त उन्नत क़ौम का पाशविक तथा बर्बरता पूर्ण कार्रवाइयों मे सलग्न होना, हैरत में डालने वाला तजरबा है।

हिटलर तथा उसके नात्सी दल की जर्मनी में पूरी जीत हो गई है। इन्हे फ़ासीवादी कहा जाता है और इनकी विजय को प्रति-क्रान्ति की विजय माना जाता है। अर्थात् इसने सन् १९१८ ई० की जर्मन क्रान्ति पर तथा उसके परिणामों पर पानी फेर दिया है। ये सब बातें बिल्कुल सही है। हिटलरवाद में तुम्हें फ़ासीवाद के सारे मौलिक तत्व दिखाई देंगे, और साथ ही इसमें एक भीषण प्रतिक्रिया, तथा तमाम उदारनीतिवादी तत्वो पर और खासकर मजदूरो पर, वहशियाना आक्रमण भी मिलेगा। परन्तु फिर भी यह प्रतिक्रिया मात्र नही है बल्कि इससे कोई बहुत बडी चीज़ है जिसका दृष्टिकोण कुछ अधिक विस्तृत है, तथा जो जन-समूह की भावना पर इटालवी फासीवाद की अपेक्षा अधिक निर्भर है। जन-समूह की यह भावना मज़दूर-वर्ग की भावना नही है, बल्कि उस बुभुक्षित, अपहृत मध्यम-वर्ग की है जो क्रान्तिकारी बन गया है।

इटली से सम्बन्ध रखनेवाले एक पिछले पत्र मे मैंने फ़ासीवाद की विवेचना की थी, और बतलाया था कि इसका उदय तब हुआ जब आर्थिक सकट के ज़माने में पूजीवादी राज्य को सामाजिक क्राति का खतरा हो गया था। सम्पत्तिवान पूजीपति वर्ग ने निम्न मध्यम-वर्ग के मूलाधार पर जनसमूह का आन्दोलन खड़ा करके अपनी रक्षा का प्रयत्न किया, और भोले-भाले किसानो तथा मज़दूरो को फासने के लिए धोखेबाज़ पूजीवाद-विरोधी नारो का उपयोग किया। परन्तु सत्ता छीनने तथा राज्य की बागडोर हस्तगत करने के बाद वे तमाम लोकतत्री सस्थाओ को उखाड फेकते है, अपने शत्रुओं को कुचल डालते हैं, और मज़दूरो के सारे सगठनो को तो खास तौर पर नष्ट कर देते है। इस प्रकार उनके शासन का मुख्य आधार पशु-बल होता है मध्यम-वर्गी समर्थको को नये राज्य मे कुछ नौकरिया दे दी जाती है, और उद्योगों पर कुछ हद तक राज्य का नियन्त्रण कायम कर दिया जाता है।

ये तमाम चीज़े हम जर्मनी मे होती हुई पाते है, और इसकी सम्भावना भी नज़र आ रही थी। परन्तु इसके पीछे जो ज़बरदस्त प्रेरणा है, और हिटलर के साथ जो इतने सारे लोग हो लिये है, यह आश्चर्य मे डालने वाली चीज़ है।

यह नात्सी प्रति-क्रान्ति मार्च, सन् १९३३ ई० मे घटित हुई। परन्तु इस आन्दोलन की शुरूआत देखने के लिए मैं तुम्हे कुछ पीछे ले चलूगा।

सन् १९१८ ई० की जर्मन क्रान्ति धोखे की टट्टी थी, यह तो क्रान्ति थी ही नही। कैसर ने पलायन किया और प्रजातत्र घोषित कर दिया गया, परन्तु पुरानी राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था ज्यो की त्यो रही। कुछ वर्षों तक हुकूमत की बागडोर सामाजिक लोकतन्त्रवादियो के हाथो में रही। ये लोग पुराने प्रतिगामी तथा निहित स्वार्थों से बहुत डरते थे, और सदा उन्हे मनाने की कोशिश मे रहते थे। अपने दिल में इनके पीछे ज़बरदस्त बलशाली संगठन था जिसके लाखों सदस्य थे, तथा मज़दूर सघ भी इनके पीछे थे। इसके अलवा दूसरे बहुत-से लोगो की सहानुभूति भी उनके साथ थी। परन्तु प्रतिगामी तत्वो के मुक़ाबले में इनकी नीति सदा बचाव करने की रही; आक्रमणकारी रुख तो इनका केवल अपने ही उग्रवाम-पक्ष तथा साम्यवादी दल के प्रति था। इन्होंने अपने काम में इतना घोटाला किया कि अनेक समर्थको ने इनका साथ छोड दिया। इन्हे पीठ दिखाने वाले मज़दूर लोग तो साम्यवादी दल मे जा मिले, जो लाखो की सदस्यता के कारण बड़ा शक्तिशाली बन गया, और मध्यमवर्गी समर्थक इन्हे छोड़ कर प्रतिगामी दलों में शामिल हो गये। सामाजिक लोकतत्रवादियो तथा साम्यवादियो के बीच निरन्तर युद्ध चलता रहा जिसने दोनों को निर्बल कर दिया।

युद्धोत्तर वर्षों में जर्मनी मे जब महा मुद्रा-स्फीति का पदार्पण हुआ तो यहा के उद्योगपतियो तथा बड़े-बड़े ज़मीदारो ने इसका समर्थन किया। जिन ज़मीदारों पर भारी-भारी कर्ज़े थे और जिनकी जागीरें रेहन पड़ी हुई थी, उन्होने इस फूली हुई मुद्रा-प्रणाली में, जो लगभग मूल्य-हीन थी, अपने क़र्जे चुका दिये, और अपनी जागीरें फिर प्राप्त करली। बड़े-बडे कारखानेदारों ने अपनी मशीनें बढा ली, और विशाल सयुक्त-कारोबार स्थापित कर लिये। जर्मन माल इतना सस्ता हो गया कि हर मंडी में हाथों-हाथ बिकने लगा, और बेकारी मिट गई। श्रमजीवी वर्ग प्रबल मज़दूर-सघों में सगठित था, और मार्क का मूल्य गिरने पर भी

उसने अपनी मजूरियाँ कम नहीं होने दीं। मुद्रा-स्फीति की मार मध्यम-वर्ग पर पड़ी, और इसकी अवस्था बिल्कुल दरिद्र हो गई। सन् १९२३–२४ ई० का यही अपहृत वर्ग सबसे पहले हिटलर का अनुगामी बना। बैंकों के दिवालों के कारण तथा बेकारी बढ़ने के कारण ज्यों-ज्यों मन्दी ने ज़ोर पकड़ा, त्यों-त्यों अन्य बहुत लोग हिटलर के साथ होते गये। वह असन्तुष्टों का आश्रय बन गया। एक और बड़ा वर्ग जिसमें हिटलर को बहुत-से अनुयायी मिले, पुरानी सेना के अफसरो का था। यह सेना युद्ध के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तों के अनुसार भंग कर दी गई थी। इसलिए इसके हज़ारों अफ़सर बेरोज़गार हो गये थे और ठाली बैठे थे। ये उन विभिन्न खानगी सेनाओ में भरती हो गये जो उस समय पैदा हो रही थीं। एक तो नात्सी सेनाएं थीं जो "तूफानी सैनिक" कहलाती थीं, और दूसरी राष्ट्रवादियों की "फौलादी टोप" नामक सेनाएं थीं जो कैसर की वापसी का समर्थन करने वाले रूढ़िवादियों की थीं।

यह अडोल्फ़ हिटलर कौन था ? विस्मय की बात है कि सत्तारूढ होने के एक दो वर्ष पहले तक वह जर्मन नागरिक भी नही था। यह आस्ट्रिया निवासी जर्मन था जो युद्ध मे एक मामूली सैनिक बन कर लड़ा था। इसने जर्मन प्रजातंत्र के विरुद्ध एक असफल उपद्रव में भाग लिया था, और यद्यपि इसे क़ैद की सजा दी गई थी, परन्तु अधिकारियो ने नरमी का व्यवहार करके इसे छोड दिया था। तब इसने अपना "राष्ट्रीय समाजवादी" दल सगठित किया जिसका उद्देश्य सामाजिक लोकतत्रवादियों का विरोध करना था। नात्सी शब्द, राष्ट्रीय समाजवादी दल के जर्मन नाम के दो अक्षरो को मिला कर बनाया गया है। यद्यपि यह दल समाजवादी कहलाता था, परन्तु समाजवाद से इसका कोई ताल्लुक नही था। समाजवाद को लोग आम तौर पर जो चीज़ समझते हैं, हिटलर उसका जानी दुश्मन था और है[1]। नात्सी दल ने स्वस्तिक को अपना चिन्ह बनाया। यह संस्कृत का शब्द है, परन्तु स्वस्तिक का चिह्न ससार भर में प्राचीन काल से खूब प्रचलित है। तुम जानती हो कि यह चिह्न भारत मे भी बहुत प्रचलित है, और शुभ-सूचक माना जाता है। नात्सियो ने "तूफानी सैनिक" नामक लडाकू दल सगठित किया जिनकी वर्दी भूरा कुर्त्ता थी। इसलिए नात्सियों को अक्सर "भूरे कुर्त्ते" भी कहा जाता है, जिस तरह कि इटली के फासीवादी "काले कुर्ते" कहलाते है।

नात्सियों का कार्यक्रम न तो स्पष्ट था और न रचनात्मक। यह घोर राष्ट्रीयतावादी था, और जर्मनी तथा जर्मनों की महानता पर ज़ोर देता था। बाक़ी तो यह तरह-तरह की घृणामूलक भावनाओ का घालमेल था। यह वर्साई की सन्धि का विरोधी था, और उसे जर्मनी के लिए अपमानजनक मानता था। इस कारण बहुत लोग खिच कर नात्सी दल में आ मिले थे। यह कार्य-क्रम मार्क्सवाद-साम्यवाद-समाजवाद-विरोधी था तथा श्रमजीवियों के मजदूर सघों आदि के विरुद्ध था। यह यहूदी-विरोधी भी था क्योकि यहूदियों को ऐसी विजातीय नस्ल का माना जाता था जो "आर्यन" जर्मन नस्ल के ऊचे जीवनादर्शों को भ्रष्ट करनेवाली और गिराने वाली थीं। कुछ अस्पष्ट रूप मे यह पूजीवाद-विरोधी भी था, परन्तु यह विरोध मुनाफाखोरो और धनवानो को गालिया देने तक ही सीमित था। जिस समाजवाद की वह ज़रा ढीली-ढाली बातें करता था, वह केवल राज्य के कुछ नियन्त्रण तक ही था।

इन तमाम बातों के पीछे हिंसा की एक असाधारण विचारधारा थी। यही नही कि हिंसा की केवल बड़ाई की जाती हो और उसे बढावा दिया जाता हो, बल्कि यह माना जाता था कि हिंसा मनुष्य का सर्वोच्च कर्त्तव्य है। ओस्वाल्ड स्पैंग्लर नामक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इस विचारधारा का प्रतिपादक है। इसने लिखा है कि मनुष्य "बहादुर और छली और निर्दय शिकारी जानवर" है।....."आदर्श कायरता की निशानी है।"....."शिकारी जानवर चर जीवन का सर्वोच्च स्वरूप है।" वह "सहानुभूति और राज़ीनामे और और चुप्पी की दतहीन भावना" का ज़िक्र करता है, और कहता है कि "शिकारी जानवर की सारी नस्ली-भावनाओ में सबसे सच्ची भावना घृणा है।" मनुष्य को सिंह के समान होना चाहिए जो अपनी माद में अपने बराबर वाले को कभी नही रहने देता। उसे दब्बू गाय के समान नही होना चाहिए जो बाड़ो में रहती है और इधर से उधर हाकी जाती है। ऐसे मनुष्य के लिए लिए युद्ध अवश्य ही सर्वोपरि व्यापार तथा आनन्द की वस्तु होता है।

[1]तृतीय महायुद्ध में जर्मनो की हार के बाद हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

ओस्वाल्ड स्पैङ्गलर आज के सबसे बड़े विद्वानो में गिना जाता है; इसकी रचित पुस्तकों में विद्वता की अपरिमित मात्रा चकित करनेवाली है। इसकी इस सारी असीम विद्वत्ता के ये विस्मयकारी और घृणास्पद परिणाम निकले हैं। मैने इसके उद्धरण यहा इसलिए दिये है कि यह हमें हिटलरवाद के पीछे काम करने वाली मनोवृत्ति को समझने मे मदद करता है और नात्सियो के राज में होनेवाली निर्दयता तथा पाशविकता पर प्रकाश डालता है। अलबत्ता यह कल्पना नही करनी चाहिए कि प्रत्येक नात्सी के ऐसे ही विचार हैं। परन्तु नात्सियो के नेताओ तथा उग्रतत्वो के अवश्य ऐसे ही विचार हैं, और इनके अनुयायी इन्ही की नकल करते है। शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि साधारण नात्सी तो कुछ सोचता ही नही था। उसकी भावनाएं उसके अपने दुःख से और राष्ट्र के अपमान से भडक उठी थी (रूर पर फ्रासीसियो के अधिकार के कारण जर्मनी मे तीव्र रोष था), और तत्कालीन अवस्था पर वह क्रोध में भरा हुआ था। हिटलर बड़ा प्रभावशाली वक्ता है। उसने विशाल सभाओं में अपने श्रोताओं की भावनाओं को उभाड़ा, और जो कुछ हो रहा था उस सब का दोष मार्क्सवादियो तथा यहूदियो के सिर पर थोप दिया। अगर फ्रास या बाहर के अन्य देश जर्मनी के साथ बुरा बर्ताव करते थे, तो इसकी वजह से और भी अधिक लोग नात्सीदल मे शामिल हो जाते थे, क्योकि वे समझते थे कि जर्मनी के मान की रक्षा नात्सी लोग ही करेंगे। इसी प्रकार जब आर्थिक सकट ज्यादा विकट हुआ तो लोग धडाधड़ नात्सीदल में भरती होने लगे।

सरकार पर से सामाजिक लोकतन्त्रवादी दल का अधिकार बहुत जल्दी जाता रहा, और अन्य गिरोहो की आपसी लाग-डाटो के कारण, कैथलिक केन्द्र दल नामक एक और गिरोह के हाथो में सत्ता आ गई। रीख़-स्टाग (जर्मनी की पार्लमेण्ट) में कोई भी दल इतना प्रबल नही था कि दूसरो की उपेक्षा कर सकता, इसलिए चुनाव और अभिसन्धिया और दलगत पैतरेबाज़िया नित्य होती रहती थी। नात्सियो की बल-वृद्धि से सामाजिक लोकतन्त्रवादी तो इतने भयभीत हो गये कि उन्होने पूजीपतियो के केन्द्र दल का, तथा राष्ट्रपति के पद के चुनाव के लिए बूढे सेनापति फॉन हिण्डनबर्ग का, समर्थन किया। नात्सियो की बल-वृद्धि के बावजूद भी मज़दूरो के दो दल, अर्थात् सामाजिक लोकतन्त्रवादी दल तथा साम्यवादी दल, ज़ोरदार थे, और अन्त तक इनका साथ देने वाले बीसियों लाख लोग थे। परन्तु ये दोनो दल समान विपत्ति के सामने भी आपस मे सहयोग नही कर सके। सन १९१८ ई० से आगे, अपनी सत्ता के दिनो मे, सामाजिक लोकतन्त्रवादियो ने साम्यवादियो को जिन अत्याचारो का शिकार बनाया था, और सकट की हर घडी में उन्होने जिस प्रकार प्रतिगामी गिरोहो का साथ दिया था, उसकी कडवी याद साम्यवादियो के दिलों में बनी हुई थी। दूसरी ओर सामाजिक लोकतन्त्रवादी दल, जो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ मे ब्रिटिश मज़दूर दल का सहगामी था, इसी की भाति मालदार और व्यापक सगठन था, जिसके हाथ में अनेक धनवान सहायक थे। यह अपनी सलामती और अपने पद को खतरे मे डालने वाली कोई जोखम नही उठाना चाहता था। यह दल क़ानून के विरुद्ध कोई भी काम करने से, या सीधी कार्रवाई कहे जाने वाले किसी भी मामले मे फसने से, बहुत डरता था। इसने अपनी अधिकतर शक्ति साम्यवादियो से भिडने मे खर्च कर दी थी। और तुर्रा यह है कि ये दोनो दल एक-न-एक तरह के मार्क्सवादी थे।

इस प्रकार जर्मनी समानरूप से सतुलित बलो की एक हथियारबन्द छावनी बन गया, और यहां हर बार दगे होते थे और हत्याएं होती थी। नात्सियों द्वारा साम्यवादी मज़दूरो की हत्याएं विशेष रूप से होती थी। कभी-कभी मज़दूर लोग भी अपना बदला निकालते थे। हिटलर विलक्षण सफलता के साथ ऐसी बेमेल भीड़ को जोडे रहा जिस के विभिन्न तत्वो मे समान हित की कोई भी बात नही थी। यह निम्न मध्यम वर्ग का, एक ओर तो बडे-बडे उद्योगपतियो के साथ, तथा दूसरी ओर सम्पन्न किसान वर्ग के साथ विचित्र गठ-बन्धन था। उद्योगपतियो ने हिटलर को इसलिए सहायता दी तथा धन दिया कि यह समाजवाद को गालिया देता था, और बढे चले आने वाले मार्क्सवाद या साम्यवाद के विरुद्ध एक ही क़िला नज़र आता था। उधर निर्धन मध्यम-वर्ग और किसान वर्ग और कुछ मजदूर तक भी इसके पूजीपति-विरोधी नारो के कारण इसकी ओर आकर्षित हो गये।

सन् १९३३ ई० की ३० जनवरी को बूढे राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग ने (उस समय इसकी उम्र छियासी वर्ष की थी) हिटलर को चैन्सलर नियुक्त किया। जर्मनी में यह सबसे ऊचा कार्यपालक पद है जो प्रधानमत्री की बराबरी का है। नात्सियो तथा राष्ट्रवादियो के बीच गठ-बन्धन हो गया था, परन्तु यह बहुत जल्दी

प्रत्यक्ष हो गया कि सम्पूर्ण अधिकार नात्सियों के हाथों में था, और अन्य किसी की कोई गिनती नहीं थी। आम चुनावों में नात्सियों तथा इनके साथी राष्ट्रवादियों का रीखस्टाग में नाम-मात्र का बहुमत हो गया। परन्तु यदि यह बहुमत न भी होता तो भी कोई ज्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि नात्सियों ने पार्लमेण्ट में अपने विरोधियों को गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया। इस प्रकार सारे के सारे साम्यवादी सदस्य तथा बहुत-से सामाजिक लोकतंत्रवादी सदस्य रास्ते में से हटा दिये गये। ठीक इसी समय रीखस्टाग भवन में आग लग गई, और वह जल कर राख हो गया। नात्सियों ने कहा कि यह साम्यवादियों का काम था और राज्य की जड़ काटने का षडयन्त्र था। साम्यवादियों ने इसका जोरों से खडन किया। इतना ही नही उन्होंने तो नात्सी नेताओं पर आरोप लगाया कि इन्होंने साम्यवादियों पर हमला करने का बहाना ढूढ़ने के लिए खुद ही आग लगाई थी।

इसके बाद सारे जर्मनी मे नात्सियों का "भूरा आतंक" शुरू हो गया। सबसे पहले तो पार्लमेण्ट भग की गई (हालांकि इसमें नात्सियों का बहुमत था), और सारी सत्ता हिटलर तथा उसके मंत्रिमंडल के हवाले कर दी गई। ये क़ानून बना सकते थे, तथा जो मन में आवे सो कर सकते थे। प्रजातंत्र का वाइमार संविधान रद्दी की टोकरी मे डाल दिया गया, और लोकतंत्र के सारे स्वरूपो का खुला तिरस्कार किया गया। जर्मनी एक प्रकार का संघीय राज्य था; इसका भी अन्त कर दिया गया और सारी सत्ता बर्लिन में केन्द्रित कर दी गई। हर जगह अधिनायक नियुक्त कर दिये गये, और हरेक अधिनायक केवल अपने ऊपर वाले अधिनायक के प्रति जवाबदार था। और हिटलर तो अधिनायको का सरताज था ही।

इधर तो ये परिवर्तन हो रहे थे, उधर नात्सी तूफानी सैनिक सारे जर्मनी मे खुले छोड दिये गये थे। इन सैनिको ने मार-काट और आतक का रोमाचकारी वहशियाना और पाशविक ताण्डव शुरू कर दिया। यह अपने ढग की अभूतपूर्व चीज थी। आतंक की कार्रवाइया पहले भी हुई थी—मसलन 'लाल आतक', 'श्वेत आतंक', आदि—परन्तु ये तभी हुई थी जब कि किसी देश या सत्ताधारी गिरोह को गृह-युद्ध में अपने जीवन-मरण के लिए लडना पड़ा था। आतंक की कार्रवाई भयकर खतरे तथा निरन्तर भय की प्रतिक्रिया के फल स्वरूप की जाती थी। परन्तु नात्सियो के सामने ऐसा कोई खतरा नही था, न उन्हें भय का कोई कारण था। हुकूमत की बागडोर उनके हाथो में थी, और उनका सशस्त्र विरोध या प्रतिरोध करनेवाला कोई नही था। इसलिए यह 'भूरा आतक' आवेश तथा भय का परिणाम नही था, बल्कि उन सब लोगो का सुनिश्चित, नृशस और अकल्पनीय पाशविक दमन था जो नात्सियो की श्रेणी में शामिल नही होते थे।

नात्सियों के सत्तारूढ होने के समय से जो-जो अत्याचार होते आये है, तथा परदे के पीछे अभी तक होते रहते हैं, उनकी सूची देने से कोई मतलब सिद्ध नही होगा। जर्मनी में बडे विशाल पैमाने पर वहशियाना मार-पीटें, और यत्रणाए, और गोली-कांड और हत्याकाड हुए हैं, और नर तथा नारियाँ दोनो इनके शिकार बने है। बेशुमार लोगो को जेलो में या नजरबन्दी की छावनियो में डाल दिया गया है, और कहते है कि इनके साथ बडा बुरा व्यवहार किया जाता है। साम्यवादियो पर सबसे भीषण आक्रमण किया गया है, परन्तु अधिक नरम सामाजिक लोकतत्रवादियो के साथ भी कोई कमी नही की गई है। नात्सी लोग यहूदियो के तो हाथ धोकर पीछे पड़े हैं, और शान्तिवादियो, उदार-नीतिवादियों, मजदूर-सघियो, अन्तर्राष्ट्रीयता-वादियों, आदि पर भी वार कर रहे है। नात्सी लोग पुकार-पुकार कर कहते है कि यह तो मार्क्सवाद और मार्क्सवादियो को ही नही बल्कि सम्पूर्ण "वाम-पक्ष" को जड-मूल से नष्ट करने का युद्ध है। यहूदियो को तमाम पदो तथा धन्धों से भी हटाया जाना अभीष्ट है। हजारो यहूदी प्रोफ़ेसर, अध्यापक, गवैय्ये, वकील, जज, डाक्टर, और नर्सें निकाल बाहर किये गये है। यहूदी दूकानदारो का बहिष्कार कर दिया गया है, और यहूदी मजदूर कारखानों से निकाल दिये गये है। जिन पस्तको को नात्सी लोग पसन्द नही करते उनके ढेर-के-ढेर नष्ट कर दिये गये है और सरे आम होलियाँ जलाई गई हैं। तनिक भी मतभेद या आलोचना प्रगट करने वाले अखबारो का निर्ममता के साथ गला घोट दिया गया है। आतक-राज के कोई समाचार प्रकाशित नहीं होने दिये जाते और इसके बारे मे काना-फूसी तक करने वालो को सख्त सजाए दी जाती है। तमाम संगठनों तथा दलों को दबा दिया गया है, सिवा नात्सी दल के। इसे तो दबाया ही कैसे जाता? सबसे पहला वार साम्यवादी दल पर हुआ, फिर सामाजिक लोकतत्रवादी दल पर, उसके बाद कैथलिक केन्द्रीय दल का नम्बर आया, और अन्त में नात्सियों के मददगार-साथी राष्ट्रवादियों तक को भी नहीं

बख्शा गया। जर्मन मजदूरों के जबरदस्त संघ, जो मजदूरों की कई पीढ़ियों के परिश्रम और धन-सञ्चय और बलिदानों की समष्टि थे, नष्ट कर दिये गये, और उनके कोश तथा उनकी सम्पत्तियाँ जब्त कर ली गईं। केवल एक ही दल, एक ही संगठन रह सकता था—यह था नात्सी दल।

विचित्र नात्सी विचारधारा हरेक के गले में जबरदस्ती उतारी जाती है, और 'आतंक' का भय इतना छाया हुआ है कि कोई सिर तक नही उठा सकता। शिक्षा, रंग-मंच, कला, विज्ञान,—सब पर नात्सी छाप लगाई जा रही है। हिटलर का एक मुख्य अनुयायी हरमान गोयरिंग कहता है :"सच्चा जर्मन अपने रक्त से सोचता है।" एक अन्य नात्सी नेता कहता है : "विशुद्ध तर्क तथा राग-द्वेष-रहित विज्ञान के दिन बीत चुके।" बच्चों को सिखाया जाता है कि हिटलर दूसरा मसीह है, परन्तु पहले मसीह से भी महान है। नात्सी सरकार इस पक्ष में नही है कि लोगो मे, और खास कर स्त्रियो में, शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार हो। हिटलरवादियो के अनुसार नारी का स्थान घर तथा रसोई है, और उसका मुख्य काम यह है कि राज्य के लिए लड़ने वाले और प्राण देने वाले बच्चे उत्पन्न करे। एक और नात्सी नेता, डा० जोसफ गोयबल्स, जो "सार्वजनिक ज्ञान-वर्द्धन तथा प्रचार" विभाग का मत्री है, कहता है : "नारी का स्थान कुटुम्ब मे है, उसका उचित कार्य अपने देश तथा अपनी जाति के लिए बच्चे पैदा करना है। . स्त्रियो की बन्धन-मुक्ति राज्य के लिए खतरा है। जो बातें पुरुष के करने की है वह उसे पुरुष पर ही छोड देनी चाहिए।" इसी डा० गोयबल्स ने हमे यह भी बतला दिया है कि जनता के ज्ञान-वर्द्धन का उसका तरीका क्या है : "मेरा इरादा है कि अखबारो को भी उसी तरह बजाऊँ जिस तरह प्यानो बजाया जाता है।"

इस तमाम बर्बरता और पाशविकता और आग और बिजली के पीछे अपहृत मध्यम-वर्गों की तंगी और भूख पड़ी हुई थी। वास्तव मे यह रोजगारो की और रोटी की लडाई थी। यहूदी डाक्टरों, वकीलो, अध्यापकों, नर्सों, आदि को इसलिए निकाल दिया गया था कि "आर्यन" जर्मन लोग उनकी होड करने में असमर्थ थे, और उनकी सफलता को भूखी निगाहो से देखते थे, और उनके रोजगार छीनना चाहते थे। यहूदी दूकानें इसलिए बन्द कर दी गईं कि जर्मन दूकानदार उनकी प्रतिस्पर्द्धा में नही टिक सकते थे। अनेक ग़ैर-यहूदी दूकाने भी बन्द कर दी गई और उनके स्वामियो को गिरफ्तार कर लिया गया। कारण यह था कि इन पर मुनाफाखोरी का और चीजो के बेजा तौर पर ऊँचे दाम लेने का सन्देह किया जाता था। नात्सियों के समर्थक किसान लोग पूर्वी प्रशिया की बडी-बडी जागीरो पर लोलुप दृष्टि डाल रहे है, क्योकि इनका आपस में बटवारा करना चाहते है।

नात्सियो के मूल कार्यक्रम का एक दिलचस्प अग यह प्रस्ताव था कि १२,००० मार्क सालाना से अधिक वेतन किसी को न दिया जाय। यह ८,००० रु० साल या ६६६ रु० माहवारी के बराबर होता है। इस पर कहाँ तक अमल किया गया है, यह मुझे नही मालूम। चैन्सलर का वर्तमान वेतन २६,००० मार्क सालाना है (यह १,४४० रु० माहवारी के बराबर है)। यह इरादा जाहिर किया गया है कि जिन खानगी कम्पनियो को सरकारी सहायता दी जाती है उनके डायरेक्टरो या स्वामियो तक को १८,००० मार्क सालाना से अधिक वेतन नही दिया जायगा। भूतकाल में इन लोगो को विपुल धन राशियाँ दी जाती रही है। इन आँकडो की तुलना उन भारी-भरकम वेतनो से करो जो दरिद्र भारत अपने सरकारी कर्मचारियो को देता है। कराची कांग्रेस ने प्रस्ताव किया था कि वेतनो की सीमा ५०० रु० माहवारी निश्चित हो जानी चाहिए।

यह ख़याल नही कर बैठना चाहिए कि नात्सी आन्दोलन के पीछे केवल पाशविकता और आतंक ही है। हाँ, इनकी प्रधानता अवश्य है। मजदूरो के बहुत बडे भाग के अलावा, ऐसे जर्मनो की सख्या बहुत बडी है जिनके हृदयो में हिटलर के लिए निस्सन्देह बिल्कुल सच्चा उत्साह है। अगर पिछले चुनावो के आँकडो को सही माना जाय, तो मालूम होता है कि उसे ५२ प्रतिशत जनता का समर्थन प्राप्त है। और यही ५२ प्रतिशत लोग बाकी के ४८ प्रतिशत लोगो को, या इनके कुछ भाग को, आतंकित कर रहे है। इन ५२ प्रतिशत या अब इससे अधिक लोगों को लेकर हिटलर बहुत लोकप्रिय बन गया है। जो लोग जर्मनी होकर आये है वे बतलाते है कि वहाँ एक अद्भुत मनोवैज्ञानिक वातावरण पैदा हो गया है मानो धार्मिक पुनर्जागृति हुई हो। जर्मन लोग महसूस करते है कि वर्साई की सन्धि के कारण उत्पन्न होने वाले अपमान तथा दलन का लम्बा समय बीत गया है, और अब वे आजादी की साँस ले सकते है।

परन्तु जर्मनी का बाक़ी का आधा या करीब आधा भाग कुछ और ही महसूस करता है। जर्मन श्रम-

जीवी वर्ग के हृदयों में तीव्र घृणा तथा क्रोधावेश की भावनाएं भरी हुई हैं, परन्तु ये नात्सियो के भयंकर प्रतिशोध के डर से छिपी तथा दबी हुई है। इन लोगों ने सामूहिक रूप में हिंसा तथा आतंक के आगे सिर झुका दिया है, और जो चीज उन्होंने असीम परिश्रम तथा बलिदान से खड़ी की थी उस के सर्वनाश को दुःख और निराशा के साथ अपनी आंखो से देखा है। जर्मनी में पिछले कुछ महीनों में जो घटनाए हुई है, उन में यह कुछ कम अचम्भे की घटना नही है कि महान सामाजिक लोकतत्रवादी दल, प्रतिरोध की तनिक भी चेष्टा किये बिना, पूरी तरह धराशायी हो गया है। योरप में श्रमजीवी वर्ग का यह सबसे पुराना, सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा सुसंगठित दल था। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ का तो यह आधार-स्तम्भ था। मगर फिर भी इसने हर तरह के अपमान और तिरस्कार को, और अन्त में अपना अस्तित्व मिटा दिया जाने को, चुपचाप और बिना किसी तरह के विरोध-प्रदर्शन के, बर्दाश्त कर लिया (हालांकि केवल विरोध-प्रदर्शन तो बिल्कुल ही बेकार होता)। सामाजिक लोकतत्रवादी नेता पग-पग पर नात्सियो के आगे घुटने टेकते गये, और हर बार इसी आशा मे रहे कि इस तरह झुकने और अपमान सहने से उनकी कोई चीज तो कम से कम शायद बच ही जायगी। परन्तु उनका यह घुटने टेकना ही उनके विरुद्ध हथियार बना लिया गया, क्योकि नात्सियो ने मजदूरो को बतलाया कि देखो, जब खतरा सामने आया तो तुम्हारे नेता किस नीचता के साथ तुम्हें छोड़ कर भाग गये। योरप के श्रमजीवी वर्ग के सघर्ष के लम्बे इतिहास में कुछेक विजयो तथा अनेक पराजयो के उदाहरण है। किन्तु प्रतिरोध की जरा भी चेष्टा किये बिना ऐसे शर्मनाक आत्म-समर्पण का, तथा मजदूरो के हितो के साथ विश्वासघात का, दूसरा उद्धाहरण नही मिलता। साम्यवादी दल ने प्रतिरोध का प्रयत्न किया और आम हड़ताल का आदेश निकाला। परन्तु सामाजिक लोकतत्रवादी नेताओं ने उनका साथ नही दिया और हड़ताल ठडी हो गई। मजदूर आन्दोलन यद्यपि छिन्न-भिन्न हो गया है, परन्तु एक गुप्त सगठन के रूप मे अब भी काम कर रहा है, और यह सगठन काफ़ी व्यापक प्रतीत होता है। कहते है कि नात्सी गुप्तचर विभाग के बावजूद, गुप्त रूप से प्रकाशित होने वाले अखबारो की लाखो प्रतियाँ बाटी जाती थी। जर्मनी से बचकर निकल भागे हुए कुछ सामाजिक लोकतंत्रवादी नेता भी बाहर के देशो मे बैठे-बैठे गुप्त रूप से कुछ प्रचार-कार्य करने का प्रयत्न कर रहे है।

वैसे तो 'भूरे आतक' से सबसे ज्यादा नुकसान श्रमजीवी वर्ग को सहना पडा था। परन्तु ससार का जनमत यहूदियो के साथ किये गये व्यवहार पर अधिक उत्तेजित हो उठा था। योरप को वर्ग-युद्धो से कुछ पाला पडता रहता है, इसलिए यहाँ के लोगो की सहानुभूति अपने-अपने वर्ग के प्रति होती है। परन्तु यहूदियो पर जो वार किया गया था वह जातिगत आक्रमण था। यह कुछ इस तरह की चीज थी जैसी कि मध्य युगो मे हुआ करती थी, या हाल के जमाने मे, ग़ैर-सरकारी तौर पर, जारशाही रूस जैसे पिछडे-हुए देशो में हुआ करती थी। एक समूची जाति पर सरकारी तौर पर किये गये अत्याचारो से योरप तथा अमरीका के दिलो पर आघात हुआ। यह आघात इस कारण और भी बढ गया कि जर्मन यहूदियो की सूची में अनेक ससार-प्रसिद्ध व्यक्ति, प्रतिभाशील वैज्ञानिक, डाक्टर, वकील, सगीतज्ञ और लेखक थे, और इन सब के ऊपर ऐल्बर्ट आयन्स्टाइन का महान नाम था। ये लोग जर्मनी को अपना वतन समझते थे और सब जगह के लोग इन्हे जर्मन मानते थे। इनको पाकर कोई भी देश अपने को धन्य समझता, परन्तु नात्सियों के सिर पर जातीयता का ऐसा पागलपन सवार हुआ कि उन्होने इन्हे बीन-बीन कर मार भगाया। इस पर ससार भर में जबरदस्त हो-हल्ला मच गया। तब नात्सियो ने यहूदी दूकानदारो तथा पेशेवर लोगो का बहिष्कार शुरू किया। परन्तु विचित्रता यह थी कि वे इन यहूदियो में से एक को भी जर्मनी छोड़ कर नही जाने देते थे। इस नीति का केवल यही परिणाम हो सकता था कि इन्हे भूखों मार दिया जाय। दुनिया के हो-हल्ले से नात्सियों ने यहूदियो के विरुद्ध अपने प्रगट तरीक़े तो नरम कर दिये, परन्तु नीति वही बरती जा रही है।

परन्तु यहूदी-जाति यद्यपि ससार भर में बिखरी हुई है, और किसी राष्ट्र को अपना नही कह सकती, फिर भी वह इतनी निस्सहाय नही है कि बदले का बदला चुकाने के योग्य न हो। इसके हाथो में बहुत काफी कारोबार और पूजी है। इसलिए इसने चुपचाप तथा व्यर्थ का शोर मचाये बिना, जर्मन माल के बहिष्कार की घोषणा कर दी। केवल इतना ही नही बल्कि इससे भी कुछ ज्यादा किया, जैसा कि मई, सन १९३३ ई०, में न्यू-यॉर्क के एक सम्मेलन में पास किये गये प्रस्ताव द्वारा प्रगट किया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "जर्मनी में अथवा उसके किसी भाग में तैयार किये हुए, पैदा किये हुए या सुधारे

हुए सारे माल, सामग्री या उत्पादन का बहिष्कार किया जाय; सारे जर्मन जहाज़ो का, और माल तथा सवारियाँ लाने-ले जाने के साधनो का, और साथ ही जर्मनी के तमाम स्वास्थ्यकारी, मनोरजनकारी तथा अन्य प्रकार के यात्रा-स्थानों का भी, बहिष्कार किया जाय; और आम तौर पर ऐसा कोई भी कार्य न किया जाय जिससे जर्मनी की वर्तमान राज-व्यवस्था को किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता पहुँचती हो'।

बाहर के देशों मे हिटलरशाही की एक प्रतिक्रिया तो यह हुई; इस के अलावा अन्य प्रतिक्रियाए हुई जो इससे भी ज्यादा गहरा असर डालने वाली थी। नात्सी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि को खुले आम बुरी बताते आये थे, और इसमें सशोधन की माँग करते आये थे। पूर्वी सरहद के बदले जाने पर वे खास ज़ोर देते थे, क्योंकि यहाँ डैनज़िग को जाने वाली पोलैण्ड की गली की बेहदा व्यवस्था रक्खी गई है, जिसके कारण जर्मनी का एक छोटा-सा टुकड़ा बाकी देश से कट गया है। उन्होंने हथियार रखने के मामले में पूर्ण समानता की भी ज़ोर-शोर से माँग की। (तुम्हे याद होगा कि शान्ति सन्धि के अनुसार जर्मनी को बहुत-कुछ नि शस्त्र कर दिया गया था)। हिटलर के सगीन और गर्जन-तर्जन भरे भाषणों से और शस्त्रीकरण की धमकियो से योरप बिल्कुल घबरा गया। फ्रास तो खास तौर पर घबरा गया, क्योकि बलशाली जर्मनी की ओर से सबसे ज्यादा भय इसीको था। बस, कुछ दिनो तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि योरप में युद्ध छिडने ही वाला है। एकाएक इस नात्सी भय के कारण योरप में शक्तियो की नई गुटबन्दी होने लगी। फ्रास रूस के प्रति बडी मित्रता प्रदर्शित करने लगा। वर्साई की सन्धि में सशोधन के डर से पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लोवाकिया, रूमानिया, आदि सारे देश, जिन्हे इस सन्धि ने जन्म दिया था तथा लाभ पहुँचाया था, एक-दूसरे के नजदीक खिच आये, और साथ ही रूस की ओर भी ज्यादा खिच गये। आस्ट्रिया में एक विस्मयकारी परिस्थिति उत्पन्न हो गई। यहाँ डोलफस[1] नामक फ़ासी चैन्सलर का अधिकार हो चुका था परन्तु इसके फासीवाद का नमूना हिटलर के फासीवाद मे भिन्न था। आस्ट्रिया मे नात्सियों का ज़ोर है लेकिन डोलफ़स ने इनका विरोध किया है। इटली ने हिटलर की सफलता पर हर्ष प्रगट किया, परन्तु उसने हिटलर की सारी महत्वाकाक्षाओ को बढावा नही दिया। इग्लैण्ड के लोग, जो बहुत वर्षों से जर्मन-हितैषी थे, अब जर्मन-विरोधी बन गये, और यहाँ तक कि जर्मनो को फिर "हूण" कहने लगे। हिटलर का जर्मनी योरप मे सबसे बिल्कुल अलग-थलग था। यह प्रत्यक्ष था कि अगर युद्ध होता तो फ्रास की बलशाली सेना नि शस्त्र जर्मनी को कुचल डालती। इसलिए हिटलर ने अपने पैंतरे बदल दिये, और शान्ति की भाषा मे बोलने लगा। उधर मुसोलिनी ने फ्रास, इग्लैण्ड, जर्मनी तथा इटली के बीच एक चार-शक्ति क़रार का प्रस्ताव करके हिटलर की इज्जत बचाली।

इस करारनामे पर आखिर जून, सन् १९३३ ई० मे चारो शक्तियो ने हस्ताक्षर कर दिये, यद्यपि फ्रास हस्ताक्षर करने से पहले हिचकिचाया। जहाँ तक इस करार की भाषा का सम्बन्ध है, वह किसी के लिए नागवार नही है, और इसमे सिर्फ इतना ही कहा गया है कि कुछ निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे, खास कर वर्साई की सन्धि के सशोधन के किसी सुझाव के बारे मे, चारो शक्तियाँ आपस मे परामर्श किया करेंगी। मगर यह करार सोवियत-विरोधी गुट बनाने का प्रयत्न समझा जाता है। मालूम होता है कि फ्रास ने इस पर बहुत ही अनिच्छा से हस्ताक्षर किये थे। सोवियत तथा उसके पडौसी-देशों के बीच लन्दन मे, सन् १९३३ ई० की पहली जुलाई को, जो अनाक्रमण क़रार हुआ, वह शायद चार-शक्ति क़रार का परिणाम और जवाब था। ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि इस सोवियत करार के साथ फ्रास ने बड़ी सहानुभूति और सहमति प्रगट की है।

हिटलर के मौलिक कार्यक्रम का उद्देश्य यह जताना है कि वह सोवियत रूस से योरप की रक्षा करने वाला वीर है। वैसे यह कार्यक्रम जर्मन पूजीवाद का ही कार्यक्रम है। अगर जर्मनी को अधिक प्रदेश की आवश्यकता है तो वह इसे केवल पूर्वी योरप में, या सोवियत सघ से छीन कर, प्राप्त कर सकता है। मगर ऐसा करने से पहले जर्मनी का शस्त्रीकरण आवश्यक है। इसलिए उसे वर्साई की सन्धि मे इस आशय का संशोधन करना ज़रूरी है, या कम से कम यह आश्वासन प्राप्त करना ज़रूरी है कि उसकी कार्रवाई में कोई दखल नही देगा। हिटलर को इटली की सहायता का भरोसा है। अगर वह इग्लैण्ड का भी समर्थन प्राप्त

---

[1]आस्ट्रिया का अधिनायक प्रधानमंत्री। सन् १९३४ ई० में इसकी हत्या कर दी गई।

कर सके तो उसे शायद आशा है कि चार-शक्ति क़रार के अन्तर्गत होने वाली चर्चाओं में वह फ्रांस के विरोध का निराकरण कर सकेगा।

इस प्रकार हिटलर अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश में लगा हुआ है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने खुले आम यहाँ तक कह दिया है कि अगर भारत पर इंग्लैण्ड का पंजा ढीला हो गया तो आफ़त आ जायगी। उसकी सोवियत-विरोधी नीति ही ब्रिटिश सरकार के लिए एक आकर्षण है क्योंकि, जैसा कि मै बतला चुका हूँ, ब्रिटिश साम्राज्यशाही सोवियत रूस से जितनी ज्यादा चिढती है उतनी और किसी चीज़ से नही। परन्तु इंग्लैण्ड के लोगों को भी नात्सियों की कार्रवाइयो से इतनी नफ़रत हो गई है कि हिटलर-शाही को मान्यता देने के आशय वाले किसी भी प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए उन्हे राजी करने में कुछ समय लगेगा।

इस तरह से नात्सी जर्मनी योरप में तूफ़ान का एक केन्द्र बन गया है जिसके कारण "विकल-संसार" के ढेरों भय और भी बढ़ गये हैं। खुद जर्मनी में क्या होगा? क्या यह नात्सी राज चलेगा? जर्मनी में नात्सियो के प्रति बहुत अधिक घृणा और विरोध हैं, परन्तु यह भी खूब स्पष्ट है कि तमाम सगठित विरोध कुचल डाला गया है। जर्मनी में कोई दल या संगठन बाकी नही रहा है, और नात्सियो का ही बोलबाला है। मालूम होता है कि खुद नात्सियों मे ही दो दल हैं: एक दल तो पूजीवादी तत्वो तथा व्यवसायी समुदाय का है, जो दक्षिण-पक्ष में है, दूसरा दल नात्सी दल के अधिकाश साधारण सदस्यों का है जिनकी सख्या हाल ही में शामिल हुए अनेक मजदूरो के कारण बढ गई है, और यह वाम-पक्ष है। जिन लोगो ने हिटलर के आन्दोलन को क्रान्तिकारी प्रेरणा दी, उनमे पूजीवाद-विरोधी उग्र-वाम-पक्षी भावना बहुत भरी हुई थी, और बाद में इन्होंने बहुत-से समाजवादियो तथा मार्क्सवादियो को भी अपने में शरीक कर लिया। नात्सी आन्दोलन के दक्षिण-पक्ष तथा वाम-पक्ष के विचारों में कोई साम्य नही था। हिटलर की महान सफलता इसी में थी कि उसने इन दोनो को साथ बनाये रक्खा, और एक को दूसरे से भिड़ा कर अपना काम निकाला। जब तक दोनो का समान शत्रु सामने नज़र आता था, तब तक तो यह चाल चल सकती थी। परन्तु अब जबकि शत्रु कुचल दिया गया है या हज़म कर लिया गया है, दक्षिण-पक्ष तथा वाम-पक्ष के बीच सघर्ष पैदा होना अनिवार्य है।

गड़गड़ाहट तो शुरू हो भी चुकी है। वाम-पक्षी नात्सियों ने माँग की कि जब प्रथम क्रान्ति सफलता पूर्वक पूरी हो चुकी है, तो अब पूजीवाद, ज़मीदारशाही, आदि को मिटाने के लिए "द्वितीय क्रान्ति" शुरू होनी चाहिए। परन्तु हिटलर ने इस "द्वितीय क्रान्ति" का क्रूरता के साथ गला दबा देने की धमकी दे डाली है। इसलिए वह निश्चित रूप से पूंजीवादी दक्षिण-पक्ष के साथ कन्धा भिडा कर खडा हो गया है। उसके अधिकाश मुख्य-मुख्य दाहिने-हाथ ऊँचे-ऊँचे पदो पर आसीन है, और चूंकि वे आराम से अपनी-अपनी गद्दियो पर जमे हुए हैं, इसलिए परिवर्तन के लिए उत्सुक नही हैं।

हिटलरशाही का यह वर्णन बहुत लम्बा हो गया है। परन्तु याद रखना चाहिए कि नात्सियो की यह विजय और इसके परिणाम योरप तथा संसार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, और बहुत दूर तक असर डालने वाले हैं। इस में कोई सन्देह नही कि यह फ़ासीवाद है, और स्वय हिटलर में फासीवादी के सारे लक्षण मौजूद हैं। परन्तु इटालवी फ़ासीवाद इतना व्यापक तथा मौलिक-परिवर्तन-वादी नही था जितना कि नात्सी आन्दोलन है। देखना यह है कि ये मौलिक-परिवर्तन-वादी तत्व कुछ रंग लाते हैं याकि योंही कुचल दिये जाते हैं।

नात्सी आन्दोलन की वृद्धि ने कट्टर मार्क्स मत-वादियों को कुछ हद तक उलझन में डाल दिया है। इनका यह विश्वास रहा है कि केवल मजदूर-वर्ग ही सच्चा क्रान्तिकारी वर्ग है, और आर्थिक परिस्थितियाँ ज्यों-ज्यों बिगड़ती जाती हैं त्यो-त्यों यह वर्ग निम्न-मध्यम-वर्ग के असन्तुष्ट और अपहृत तत्वो को अपनी ओर खींचता जायगा, और अन्त में जाकर श्रमजीवियो की क्रान्ति पैदा कर देगा। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि जर्मनी में जो कुछ हुआ है वह इससे बिल्कुल भिन्न चीज़ है। जब संकट का समय आया तो मजदूर-वर्ग में क्रान्तिकारी भावना ही नहीं थी। बल्कि मुख्यतया अपहृत निम्न-मध्यम-वर्गों तथा अन्य असन्तुष्ट तत्वो को लेकर एक नया क्रान्तिकारी वर्ग खड़ा हो गया था। यह चीज़ कट्टर मार्क्सवाद से मेल नही खाती। परन्तु दूसरे मार्क्सवादी कहते हैं कि मार्क्सवाद को ऐसा कोई कट्टर नियम, धर्म या विश्वास नहीं समझना चाहिए जो धर्मों की तरह परम

सत्य का अधिकारपूर्वक प्रतिपादन करता हो । यह तो इतिहास का तत्वज्ञान है, इतिहास के प्रति ऐसा दृष्टिकोण है जो इतिहास की व्याख्या करता है और उसे एक शृंखला में बांधता है। यह समाजवाद या सामाजिक समता प्राप्त करने की एक कार्यप्रणाली है। विभिन्न कालो तथा विभिन्न देशो की परिवर्तनशील परिस्थितियो का मुकाबला करने के लिए मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों को अलग-अलग ढगो से प्रयोग करना आवश्यक है।

टिप्पणी (नवम्बर, १९३८ ई०)

सवा पाँच वर्ष पूर्व, जब ऊपर का पत्र लिखा गया था, तबसे ससार की राजनीति मे जितनी भी घटनाए हुई है उनमें सबसे अपूर्व घटना है हिटलर के तत्वावधान में नात्सी जर्मनी के बल और मान में वृद्धि। आज सारे योरप में हिटलर का दबदबा है, और बडी-बडी शक्तियाँ, या वे लोग जो कभी महान थे, उसके आगे सिर झुकाते है और उसकी धमकियो से कांपते हैं। बीस वर्ष पहले जर्मनी पराजित, अपमानित और पद-दलित था। मगर आज किसी सैनिक विजय या युद्ध के बिना ही हिटलर ने इसे विजयी राष्ट्र बना दिया है। वर्साई की सन्धि का अन्त हो गया है और उसका मुर्दा दफना दिया गया है।

सत्ता हस्तगत करने के बाद हिटलर का सबसे पहला काम था जर्मनी में अपने विरोधियों को कुचलना और नात्सी दल को सघटित करना। जर्मनी का "नात्सीकरण" हो जाने पर उसने नात्सी दल के सदस्यो में फैली हुई उन वाम-पक्षी प्रवृत्तियो के नष्ट करने का निश्चय किया, जो पूजीवाद-विरोधी द्वितीय क्रान्ति की प्रतीक्षा कर रही थी। सन् १९३४ ई० की ३० जून को "भूरे-कुर्तों" का दल तोड दिया गया और उसके नेताओं को गोली से उडा दिया गया। बहुत-से अन्य लोगों को भी मौत के घाट उतार दिया गया। इनमें सेनापति फॉन श्लेखर भी था, जो एक बार चैन्सलर रह चुका था।

अगस्त, सन् १९३४ ई०, में राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मृत्यु हो गई, और हिटलर उसका स्थान ग्रहण करके चैन्सलर-राष्ट्रपति बन बैठा। अब वह जर्मनी में पूर्ण-सत्ताधारी था—जर्मन जनता का "फ्यूरर" या सर्वोपरि नेता था। उस समय जर्मनी की जनता बहुत कष्ट भोग रही थी, अत. इस कष्ट को मिटाने के लिए बड़े विशाल पैमाने पर खानगी खैरातो का, करीब-करीब जबरदस्ती, आयोजन किया गया। अनिवार्य श्रमिक छावनियाँ भी कायम की गईं जिन में बेकारो से काम लिया जाता था। जिन ढेरों यहूदियो को जबरदस्ती हटा दिया गया था उनकी जगहे जर्मनी को दे दी गईं। जर्मनी की आर्थिक हालत तो नही सुधरी, उलटे पहले से भी बदतर हो गई, परन्तु बेकारी का स्वरूप मिट गया। इधर गुप्त रूप से शस्त्रीकरण चलता रहा, और जर्मनी का खौफ बढता गया।

सन् १९३५ में सारघाटी के लोगो का जनमत सग्रह हुआ और यह बहुत बडे बहुमत से जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष मे रहा। इसलिए यह प्रदेश जर्मनी में मिला दिया गया। इसी साल के मई महीने में हिटलर ने वर्साई की सन्धि की निशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं को खुले आम अनुचित क़रार दिया, और अनिवार्य सैनिक सेवा की आज्ञा निकाल दी। शस्त्रीकरण का बडा लम्बा-चौडा कार्यक्रम हाथ मे लिया गया। राष्ट्र-सघ की किसी भी शक्ति ने चू नही की, इन सबको, और खास कर फ्रास को, भय ने जकड रक्खा था। फ्रास ने सोवियत रूस के साथ मित्रता की सांठ-गाँठ कर ली। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने नात्सी जर्मनी का साथ देने में भला समझा, और जून, सन् १९३५ ई०, में उसके साथ एक जल-सेना करार पर हस्ताक्षर कर दिये।

इसके अजीब परिणाम निकले। फ्रास ने यह महसूस करके कि इग्लैण्ड उसके साथ दगा कर रहा है, इटली को संदेसे भेजे। और मुसोलिनी ने यह सोचकर कि ठीक मौका आ गया है, अबीसीनिया पर धावा बोल दिया।

मार्च, सन् १९३८ ई०, में हिटलर ने अपनी सेना के साथ आस्ट्रिया में प्रवेश किया और "आंशलूस" की, यानी आस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाने की, घोषणा कर दी। राष्ट्र-सघी शक्तियाँ इस बार भी चुप बैठी रही। नात्सियो ने आस्ट्रिया में भी उग्र तथा पाशविक यहूदी-विरोधी आक्रमण की कार्रवाई शुरू कर दी।

अब चेकोस्लोवाकिया नात्सी आक्रमण का लक्ष्य बन गया, और सूडेटनलैण्ड[1] के जर्मनो की समस्या

---

[1]सूडेटनलैण्ड चेकोस्लोवाकिया का प्रान्त था जिसमें जर्मन भाषा-भाषी लोगों का बहुमत था। हिटलर इसे जर्मनी में मिलाना चाहता था।

ने योरप को कई महीनों तक परेशान किया। ब्रिटिश नीति ने नात्सियों को बहुत सहायता दी और फ्रांस की हिम्मत नहीं थी कि इस नीति के विरुद्ध आचरण करे। नतीजा यह हुआ कि जर्मनी द्वारा तुरन्त युद्ध की धमकी दी जाने पर फ्रास ने अपने साथी चेकोस्लोवाकिया को धता बताई और इस विश्वासघात में इंग्लैण्ड भी शरीक था। जर्मनी, इग्लैण्ड, फ्रांस तथा इटली के बीच होनेवाले म्यूनिख के क़रार द्वारा २९ सितम्बर, सन् १९३८ ई०, को चेकोस्लोवाकिया के भाग्य का फ़ैसला हो गया। सूडेटनलैण्ड के प्रदेश पर तथा और भी प्रदेश पर जर्मनी ने कब्ज़ा कर लिया, और इस मौक़े से लाभ उठाकर पोलैण्ड तथा हंगरी ने भी चेकोस्लोवाकिया के कुछ हिस्सों पर कब्ज़ा जमा लिया।

इस प्रकार योरप का एक नवीन बंटवारा शुरू हो गया। इस योरप में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस दूसरे दर्जे की शक्तियाँ बनती जा रही थी, और हिटलर के तत्वावधान में नात्सी जर्मनी का विजयपूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

: १६१ :

निःशस्त्रीकरण

२ अगस्त, १९३३

लन्दन में जिस विश्व-आर्थिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था उसकी असफलता का जिक्र मैं कर चुका हूँ। इस सम्मेलन का काम बन्द कर दिया गया और इस के सदस्य अपने-अपने घर लौट गये। ईमान-दारी दिखाने को सबने आशा प्रगट की कि अधिक अनुकूल परिस्थितियों में उनके फिर मिलने की सम्भावना है।

परस्पर सहयोग के जागतिक प्रयत्न की एक और महान असफलता का उदाहरण नि शस्त्रीकरण सम्मेलन ने प्रस्तुत किया है। यह सम्मेलन राष्ट्र सघ के इकरारनामे का फल था। वर्साई की सन्धि में यह निश्चय किया गया था कि जर्मनी को (साथ ही आस्ट्रिया, हगरी, आदि अन्य पराजित शक्तियों को) नि शस्त्र किया जायगा। उसे जहाज़ी-सेना, हवाई सेना या बडी थल सेना नही रखने दी जायगी। इसके अलावा यह तज-वीज़ थी कि अन्य देश भी धीरे-धीरे नि शस्त्र होते जाय, ताकि हर देश में युद्ध के साधन घटते-घटते केवल इतने-से रह जाय जितने कि उस देश की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य हो। इस कार्यक्रम के पहले भाग पर, अर्थात् जर्मनी के नि शस्त्रीकरण पर, तुरन्त अमल कराया गया; परन्तु दूसरा भाग अर्थात सार्वदेशिक नि शस्त्रीकरण, नैतिक आशामात्र रह गया, और अब भी वैसा ही है। कार्यक्रम के इस दूसरे भाग को पूरा करने के लिए ही वर्साई की सन्धि के तेरह वर्ष बाद आखिर यह नि शस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाया गया था। परन्तु पूरे सम्मेलन के अधिवेशन से पहले, प्राथमिक कमीशनों ने इस सारे विषय की वर्षों तक छानबीन की थी।

आखिरकार सन् १९३२ ई० के प्रारम्भ में विश्व नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। यह सम्मेलन महीने दर महीने साल दर साल चलता रहा। इसमें अनेक प्रस्तावों पर विचार किया गया और उन्हे रद कर दिया गया; बेशुमार रिपोर्टें पढ़ी गईं, और लगातार वाद-विवाद चलते रहे। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन होने के बजाय यह एक प्रकार से शस्त्रीकरण सम्मेलन बन गया। आपस में किसी तरह की सहमती नहीं हो सकी, क्योंकि एक तो इस प्रश्न पर कोई भी देश व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने को तैयार नही था; दूसरे, प्रत्येक देश निःशस्त्रीकरण का यह अर्थ लगाता था कि अन्य देश तो निःशस्त्र हो जाय या अपने युद्ध-साधनों को कम कर दें, परन्तु वह अपना शस्त्र-बल बरकरार रक्खे। वैसे तो लगभग सभी देशों ने स्वार्थपूर्ण रवैय्या अपनाया, परन्तु जापान तथा इंग्लैण्ड इस मामले में सबसे आगे रहे, और इन देशों ने हरेक तरह के समझौते के मार्ग में बड़े-बड़े रोड़े अटकाये। इधर तो यह सम्मेलन चल रहा था, उधर जापान राष्ट्र-सघ को अंगूठा दिखा रहा था और मचूरिया में रक्तपात-भरा तथा आक्रमणकारी युद्ध कर रहा था; दक्षिण अमरीका के दो प्रजातंत्र राज्य आपस में लड़ रहे थे, और इंग्लैण्ड भारत के उत्तर-पश्चिमी

सीमान्त के कबीले वालों पर बराबर बम बरसा रहा था। जापान के प्रति ब्रिटिश सरकार का रुख बराबर मित्रतापूर्ण चला आ रहा था, इसलिए जब अमरीका ने चीन में जापान की आक्रमणकारी कार्रवाई का विरोध किया तो ब्रिटिश सरकार के रुख ने इस विरोध को बहुत कुछ बे-असर कर दिया।

सम्मेलन में जितने भी सुझाव रक्खे गये उन में सबसे महत्वपूर्ण तीन सुझाव सोवियत रूस, संयुक्त-राज्य अमरीका और फ्रास ने पेश किये। रूस ने सुझाव रक्खा कि युद्ध-साधनों में ५० प्रतिशत चतुर्मुखी कटौती की जानी चाहिए। अमरीका ने सब तरह के युद्ध-साधनों को एक तिहाई घटाने का सुझाव दिया। परन्तु इग्लैण्ड ने इन दोनों सुझावों का विरोध किया। उसने यह दलील दी कि वह अपनी सेनाओ को, और खास कर जहाजी सेना को, नही घटा सकता, क्योंकि इनका उपयोग केवल "पुलिस" कार्यों के लिए किया जाता था।

फ्रास जिसके दिल में जर्मनी की आक्रमणकारी कार्रवाइयों की पुरानी स्मृतियाँ बनी हुई हैं, हमेशा "सुरक्षा" पर जोर देता रहा है। यानी वह ऐसा इन्तजाम चाहता है जिससे आक्रमणकारी कार्रवाइयाँ असम्भव नही तो कठिन जरूर हो जायं। उसका सुझाव था कि राष्ट्र सघ के तत्वावधान में एक अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य-बल स्थापित किया जाय जिसका आक्रमण करने वाले के विरुद्ध प्रयोग किया जा सके; सारे राष्ट्र केवल छोटी-छोटी और कम हथियारो वाली सेनाए रक्खें; और तमाम हवाई सेनाए राष्ट्र संघ के अधीन रहे। परन्तु इस सुझाव पर यह आपत्ति की गई कि इससे सारा अधिकार उन महान शक्तियो के हाथों में चला जायगा जिनके हाथो में राष्ट्र सघ की बागडोर है, और इसका परिणाम यह होगा कि योरप पर फ्रास का प्रभुत्व हो जायगा।

आक्रमणकारी कौन होता है? यह सवाल बडा कठिन था, क्योंकि हरेक आक्रमणकारी राष्ट्र सदा यही दावा किया करता है कि वह तो अपने बचाव की कार्रवाई कर रहा है। जापान ने कभी क़बूल नही किया कि उसने मचूरिया मे आक्रमणकारी कार्रवाई की, न इटली ने अबीसीनिया मे अपनी आक्रमणकारी कार्रवाई कबूल की। महायुद्ध में हरेक राष्ट्र ने अपने शत्रु को आक्रमणकारी बतलाया। इसलिए, यदि आक्रमणकारी के विरुद्ध कार्रवाई किया जाना अभीष्ट था तो इस शब्द की कोई स्पष्ट और बिल्कुल सही परिभाषा होनी चाहिए थी। सोवियत रूस ने यह परिभाषा सुझाई कि यदि कोई राष्ट्र अपनी सरहद को पार करके दूसरे देश में सशस्त्र सेना भेज दे, या दूसरे देश के तट की नाकाबन्दी कर दे, तो वह आक्रमणकारी राष्ट्र माना जायगा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा राष्ट्र सघ की एक समिति ने भी "आक्रमणकारी" की इन्ही शब्दो में व्याख्या की। रूस तथा उसके पड़ौसी देशो के बीच जो अनाक्रमण-करार हुआ था उस मे रूस की परिभाषा मानी गई थी। इस परिभाषा पर फ्रास सहित अधिकाश बडी-छोटी शक्तियाँ सहमत हो गई। परन्तु इस परिभाषा ने जापान को बडी विकट स्थिति में डाल दिया। इग्लैण्ड ने तो इसे मानने से ही इन्कार कर दिया और यह चाहा कि मामला गोलमोल ही बना रहे। इटली ने इग्लैण्ड का समर्थन किया।

निःशस्त्रीकरण के बारे में ब्रिटिश सरकार का सुझाव इस आधार पर चलता था कि इंग्लैण्ड के लिए अपने युद्ध-साधन घटाना अवश्यक नही था; निःशस्त्र होना तो दूसरे राष्ट्रो का कर्त्तव्य था। बमबारी के मामले में सबका यही मत था कि यह कार्रवाई बिल्कुल बन्द कर दी जानी चाहिए, परन्तु इग्लैण्ड ने एक अपवाद जोड दिया: "दूर के प्रदेशो में पुलिस कार्रवाइयो के सिवा," जिसका अर्थ यह था कि उसे अपने साम्राज्य में बमबारी करने की खुली छूट रहे। यह अपवाद दूसरे राष्ट्रो को मान्य नही था, इसलिए बमबारी बन्द करने का सारा प्रस्ताव ही गिर गया।

जर्मनी के लिए अन्य शक्तियो के साथ समानता का दावा करना स्वाभाविक बात थी; या तो उसे भी दूसरो के बराबर शस्त्रास्त्र बढाने का अधिकार दिया जाय, या दूसरे भी अपने शस्त्रास्त्र घटाकर उसकी बराबरी पर आ जाय। इस दलील का कोई जबाब नही था। क्या राष्ट्र सघ के इक़रारनामे में यह नहीं कहा गया था कि जर्मनी का निःशस्त्रीकरण अन्य राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण की भूमिका थी? लेकिन जिन दिनों ये चर्चाएं चल रही थी उन्ही दिनों जर्मनी में नात्सियों के हाथों मे सत्ता आ गई। इनके आक्रमण-कारी तथा धमकी-भरे रवैय्ये ने फ्रांस को भयभीत कर दिया और इसके तथा अन्य शक्तियो के रुख को कठोर बना दिया। जर्मनी की ओर से जो दो वैकल्पिक सुझाव रक्खे गए थे उनमें से एक भी स्वीकार नही किया गया।

निःशस्त्रीकरण की कठिनाइयों को बढ़ानेवाली बेशुमार साजिशें परदे के पीछे हो रही हैं, जिनमें युद्ध सामग्री तैयार करने वाली कम्पनियों के आढ़ती एजन्टो का खास हाथ है। आधुनिक पूंजीवादी जगत में जितने उद्योग चल रहे हैं उनमें शस्त्रास्त्र तथा विनाश के उपकरण बनाने का कारोबार सब से ज्यादा मालामाल हो रहा है। ये शस्त्रास्त्र विभिन्न देशों की सरकारो के लिए तैयार किये जाते हैं, क्योंकि युद्ध तो केवल सरकारे ही लड़ा करती हैं; मगर विचित्र बात यह है कि ये शस्त्रास्त्र खानगी कम्पनियां तैयार करती हैं। इन कम्पनियों के प्रधान हिस्सेदार खूब धनवान बनते जा रहे हैं, और सरकारो के साथ इनका अक्सर घनिष्ठ सम्पर्क रहता है। इनमें से सर बसील जहरॉफ का जिक्र मै कर चुका हू। शस्त्रास्त्र बनाने वाली कम्पनियों के हिस्सों पर खूब मुनाफ़ा मिलता है और लोग अक्सर इनकी टोह में रहते है। इन कम्पनियों के हिस्सेदारों में बहुत-से व्यक्ति हैं जो सार्वजनिक जीवन मे विख्यात है।

जब युद्ध और युद्ध की तैयारिया होती हैं, तभी शस्त्रास्त्र की ये कम्पनिया मुनाफ़ा उठाती हैं। ये मौत का थोक व्यापार करती है, और जो इन्हे क़ीमत देते हैं उन सब को अपने विनाश-यन्त्र निष्पक्ष होकर बेचती हैं। जब राष्ट्र सघ चीन में आक्रमणकारी कार्रवाई करने के लिए जापान की भर्त्सना कर रहा था, तब शस्त्रास्त्र की अंग्रेजी, फांसीसी तथा अन्य कम्पनियां जापान और चीन दोनों को मजे मे हथियार बेच रही थी। यह प्रत्यक्ष है कि अगर सच्चा निःशस्त्रीकरण हो जाय तो इन कम्पनियो के दिवाले निकल जाय। इनका व्यापार खतम हो जाय। इसलिए इनके दृष्टिकोण से जो भयकर विपत्ति है, उसे रोकने का ये भरसक प्रयत्न करती है। सच तो यह है कि ये इससे भी आगे जाती है। खानगी कम्पनियो द्वारा हथियार बनाने के मामले में जाच करने के लिए राष्ट्र सघ ने जो विशेष कमीशन नियुक्त किया था, वह इस नतीजे पर पहुचा था कि ये कम्पनिया युद्ध की दहशतें पैदा करने मे, और अपने-अपने देशो को युद्ध-कारक नीतिया अपनाने के लिए उकसाने में, सक्रिय भाग लेती रही है। यह भी पता लगा कि ये कम्पनिया विभिन्न देशो के सेना-सम्बन्धी तथा नौ-सेना सम्बन्धी खर्चों के बारे मे झूठी खबरे फैलाती थी, ताकि अन्य देशों को शस्त्रास्त्र पर अपने खर्चे बढ़ाने के लिए प्रेरित कर सके। ये एक देश को दूसरे देश से भिड़ाने के प्रयत्न करती थी, और दोनों के बीच शस्त्रास्त्र की होड़ उत्पन्न करने के लिए ज़ोर लगाती थी। जनमत को प्रभावित करने के लिए ये सरकारी कर्मचारियो को रिश्वतें देती थी और अखबारों को खरीद लेती थी। और फिर ये अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियां और ठेकेदारियां स्थापित करके हथियारो वग़ैरा के दाम बढा देती थी। राष्ट्र संघ के कमीशन ने सुझाया कि शस्त्रास्त्र का खानगी तौर पर बनाया जाना बन्द कर देना चाहिए। यही बात नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन मे भी सुझाई गई थी, परन्तु यहा भी ब्रिटिश सरकार की ओर से इसका डट कर विरोध किया गया।

विभिन्न देशों की इन शस्त्रास्त्र बनाने वाली कम्पनियों मे घनिष्ट आपसी सम्बन्ध होता है। ये देश-भक्ति की भावना से अनुचित लाभ उठाती है और मौत से खिलवाड करती है। पर मजा यह है कि खुद इनकी कार्रवाइयां अन्तर्राष्ट्रीय होती है, और इन्हें "गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ" कहा जाता है। इसलिए इन लोगों का निःशस्त्रीकरण पर घोर आपत्ति करना स्वाभाविक है, और इस विषय में इन्होंने हर तरह के समझौते को रोकने का भरसक प्रयत्न किया है। इनके एजन्ट सर्वोच्च कूटनीतिक और राजनैतिक मण्डलो में विचरते हैं। इनकी कुत्सित आकृतियां जेनेवा में भी परदों के पीछे से डोरिया हिलाती हुई पकड़ी गई हैं।

इस "गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ" के साथ विविध सरकारो के जासूसी विभागो या खुफ़िया कर्मचारियो का अक्सर गहरा ताल्लुक़ होता है। प्रत्येक सरकार अन्य देशों के बारे में गुप्त बातो की जानकारी प्राप्त करने के लिए जासूसों को नौकर रखती है। कभी-कभी ये जासूस पकडे जाते हैं तो उनकी सरकारे तुरन्त कह देती हैं कि वे उनके आदमी नही हैं। इन खुफ़िया कर्मचारियो का जिक्र करते हुए आर्थर पौन्सनबी ने (जो कुछ वर्ष पहले ब्रिटिश सरकार के पर-राष्ट्र विभाग का उप-सचिव था और अब लार्ड पौन्संनबी है) मई, सन् १९२७ ई०, में कामन्स सभा में कहा था: "जब हम अपनी ऊंची नैतिकता के घोड़े पर सवार होना चाहते हैं तो हमें ईमानदारी के साथ इन तथ्यों पर विचार करना चाहिए कि जालसाजी, चोरी, मिथ्या-भाषण, घूंसखोरी, और भ्रष्टाचार संसार के *प्रत्येक वैदेशिक कार्यालय और मंत्रालय में मौजूद हैं।.... मैं कहता हूं कि यदि बाहर के देशों में हमारे प्रतिनिधि उन देशों के गुप्त कागज़-पत्रों के भेदों का पता न*

लगाते रहें तो माने हुए नैतिक आचरण-नियमों के अनुसार यह समझा जायगा कि वे अपने कर्तव्य का ठीक पालन नही कर रहे है।"

चूंकि ये खुफिया कर्मचारी खुफ़िया तौर पर काम करते है इसलिए इन पर नियन्त्रण रखना कठिन होता है। ये लोग अपने-अपने देश की वैदेशिक नीति पर बड़ा असर डालते रहते है। इनके संगठन व्यापक और प्रबल होते है। आजकल ब्रिटिश जासूसी विभाग ससार भर में सब से अधिक प्रबल है, और इसकी शाखा-प्रशाखाए सब से अधिक फैली हुई है। ऐसा उदाहरण भी मिलता है कि एक प्रसिद्ध अंग्रेज जासूस रूस मे सोवियत का उच्च सरकारी पदाधिकारी बन गया था! ब्रिटिश मन्त्रिमंडल का सदस्य सर सैम्युएल होर युद्ध काल मे रूस में ब्रिटिश जासूस विभाग तथा खुफ़िया कर्मचारियो का अधिष्ठाता था। इसने हाल ही में सब के सामने कुछ अभिमान के साथ यह बयान दिया है कि भेद मालूम करने की उसकी प्रणाली इतनी कारगर थी कि उसे रासपुटिन की हत्या की सूचना दूसरे सब लोगो से बहुत पहले मिल गई थी।

नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन के सामने असली कठिनाई यह रही है कि सारे देश दो वर्गों में बटे हुए हैं—सतुष्ट शक्तियां और असन्तुष्ट शक्तिया; प्रभुत्वशाली शक्तिया और पद-दलित शक्तिया; वर्तमान व्यवस्था को कायम रखना चाहने वाली शक्तिया और परिवर्तन चाहने वाली शक्तिया। इन दोनो के बीच कोई स्थिर सतुलन नही रह सकता, जिस प्रकार कि प्रभुताशील वर्ग तथा पद-दलित वर्ग के बीच कोई वास्तविक स्थायी सम्बन्ध नही रह सकता। समग्र रूप मे, राष्ट्र सघ प्रभुताशील शक्तियो का प्रतिनिधि है, इसलिए वह 'वर्तमान स्थिति' को क़ायम रखना चाहता है। सुरक्षा सम्बन्धी करारो तथा "आक्रमणकारी" की व्याख्या करने के प्रयत्नो का सारा अभिप्राय सामयिक परिस्थितियो को क़ायम रखना है। चाहे कुछ भी हो जाय, जिन शक्तियो के हाथो मे राष्ट्र सघ की बागडोर है, उनमें से किसी शक्ति पर "आक्रमणकारी" होने का इलज़ाम लगाना राष्ट्र सघ के लिए शायद कभी सम्भव नही होगा। वह हमेशा ऐसी तरकीबें लड़ावेगा कि दूसरे पक्ष को ही "आक्रमणकारी" घोषित किया जाय।

शान्तिवादी तथा अन्य लोग, जो युद्धो को रोकना चाहते है, सुरक्षा के इन करारों का स्वागत करते है। परन्तु ऐसा करके वे एक प्रकार से अनुचित 'वर्तमान स्थिति' को बनी रहने में मदद देते है। अगर यह बात योरप पर लागू होती है तो एशिया तथा अफरीका पर तो और भी अधिक लागू होना चाहिए, क्योंकि साम्राज्यशाही शक्तियो ने यहा के बड़े-बड़े प्रदेशो पर क़ब्ज़ा जमा लिया है। तात्पर्य यह है कि एशिया तथा अफ़रीका मे 'वर्तमान स्थिति' क़ायम रहने का अर्थ है साम्राज्यशाही शोषण का जारी रहना।

इस 'वर्तमान स्थिति' को कायम रखने के बारे मे योरप में जो गठ-बन्धन और क़ौल-क़रार हुए है, सयुक्त राज्य अमरीका अभी तक उनसे बिल्कुल अलग रहा है।

नि.शस्त्रीकरण के सारे प्रयत्नो की असफलता आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को जितनी अवास्तविक और परिहासपूर्ण सिद्ध करती है उतनी दूसरी कोई भी चीज़ नही करती। सब लोग बाते तो शान्ति की करते है, परन्तु तैयारिया युद्ध की कर रहे है।

किलॉग-ब्रियाँ करार के अनुसार युद्ध को ग़ैर-क़ानूनी चीज़ मान लिया गया है, परन्तु अब कौन तो इसे याद करता है और कौन इसकी परवा करता है?

टिप्पणी—

नि.शस्त्रीकरण सम्मेलन के सामने जर्मनी ने जो सुझाव रक्खे थे वे ठुकरा दिये गये, और अक्तूबर, सन् १९३३ ई०, में जर्मनी सम्मेलन से उठ कर चला गया, और उसने राष्ट्र सघ से भी स्तीफ़ा दे दिया। तब से वह राष्ट्र सघ में शामिल नही है। जापान ने भी मचूरिया के मसले पर राष्ट्र सघ को छोड़ दिया, और इटली ने राष्ट्र सघ को इसलिए छोड दिया कि अबीसीनिया पर उसके हमले के बारे में राष्ट्र संघ का रवैय्या उसे पसन्द नही आया। इस प्रकार तीन बडी शक्तियां राष्ट्रसघ से निकल गईं, इसलिए ऐसी परिस्थिति मे राष्ट्र सघ के तत्वावधान में नि:शस्त्रीकरण पर कोई अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय असम्भव-सा हो गया। सच तो यह है कि नि.शस्त्रीकरण के बाद ही तमाम देशों में बड़े ज़ोरो के साथ शस्त्रीकरण शुरू हो गया। जर्मनी अपनी भीमकाय सेना तथा हवाई सेना निर्माण करने में लग गया, और इग्लैण्ड, फ्रांस, अमरीका तथा अन्य देशों ने अतिरिक्त युद्ध-साधनो के लिए भारी-भारी रक़में मजूर की।

: १६२ :

राष्ट्रपति रूज़वैल्ट द्वारा उद्धार का प्रयत्न

४ अगस्त, १९३३

इस वर्णन को समाप्त करने से पहले मै चाहता हूं कि तुम संयुक्त राज्य अमरीका पर एक नज़र और डाल लो (और वर्णन के पूरे होने में अब ज्यादा देर नही लग सकती)। आजकल यहा एक महान तथा कुछ चित्ताकर्षक प्रयोग चल रहा है, और ससार की आखें इसकी ओर लगी हुई है, क्योकि इसके परिणामों पर यह निर्भर है कि भविष्य में पूंजीवाद किधर मुड़ेगा। मै दोहरा दू कि अमरीका हर तरह से ससार में सब से अधिक उन्नत देश है, और यह सब से मालदार भी है, और इसकी औद्योगिक शैली अन्य देशो से बहुत आगे बढ़ी हुई है। इसे किसी देश का कुछ देना नही है और जो कुछ भी क़र्जा है वह अपने ही नागरिको का है। इसका निर्यात-व्यापार बहुत भारी है और बढ़ रहा है, मगर यह उसके ज़बरदस्त आन्तरिक व्यापार का केवल छोटा-सा ही अंश है (क़रीब १५ प्रतिशत)। यह देश लगभग उतना ही बड़ा है जितना कि एशिया का महाद्वीप। परन्तु बड़ा भारी अन्तर यह है कि जहा योरप बहुत-से छोटे-छोटे राष्ट्रो में बटा हुआ है जिन्होने अपनी-अपनी सरहदो पर महसूल की ऊची चुगिया लगा रक्खी है, वहा संयुक्त राज्य के अपने ही प्रदेश के भीतर ऐसी कोई व्यापारिक बाधाएं नही है। इसलिए अमरीका मे विशाल आन्तरिक व्यापार की वृद्धि जितनी ज्यादा आसान थी उतनी योरप में नही थी। योरप के ग़रीबी-मारे और कर्ज़ा-लदे देशों के मुकाबले में अमरीका को ये सब अच्छाइयां प्राप्त थी। उसके पास ढेरो सोना था, ढेरो रुपया था, और ढेरो माल था।

मगर फिर भी, इन सब बातो के बावजूद, पूजीवाद के सकट ने उसे धर दबाया और उसका घमड चूर कर दिया। जिस राष्ट्र मे अपार जीवन-शक्ति और कार्य-शक्ति थी उसके सिर पर भाग्यवाद सवार हो गया। समग्र रूप से देश धनवान था, रुपया ग़ायब नही हुआ था, परन्तु इसका ढेर कुछेक स्थानो मे जमा हो गया था। न्यू-यॉर्क में करोड़ों डालर अभी तक दिखाई देते थे; जे० पीयरपॉन्ट मोर्गन नामक महान बौहरा अब भी अपने निजी विलास-सामग्री-पूर्ण बजरे में मौज करता था, जिसकी कीमत साठ लाख पौड बताई जाती थी। मगर इस पर भी न्यू-यॉर्क को इन दिनो "भूखा नगर" कहा जाता है। शिकागो जैसे नगरो की बडी-बडी म्युनिसिपैलिटिया लगभग दिवालिया हो गई है, और अपने हज़ारो कर्मचारियो के वेतन तक चुकाने में असमर्थ हैं। और वही शिकागो शहर इन दिनो "प्रगति की शताब्दी" नामक भव्य प्रदर्शिनी या "जगत मेला" लगा रहा है।

ये विषमताए केवल अमरीका तक ही सीमित नही हैं। लन्दन में भी इग्लंण्ड के उच्च वर्गों के वैभव और विलास की सर्वत्र बाढ़-सी दृष्टिगोचर होती है; हा, ग़रीबों की बस्तिया ज़रूर इसकी अपवाद हैं। अगर कोई लंकाशायर या इग्लैण्ड के उत्तरी मध्यवर्ती भागों में जाय, तो वहा उसे बेकारों की लम्बी क़तारें, और पिचकी हुई तथा सूखी हुई शकलें, और रहन-सहन की महा दुख-भरी हालतें दिखाई देंगी।

पिछले कुछ वर्षो में अमरीका में अपराधो में स्पष्ट रूप से वृद्धि हुई है, ख़ास कर "धाडा-मार" ढंग के अपराधों में। अर्थात धाड़ा-मार गिरोह मिल कर कार्रवाइया करते है और उनके मार्ग में बाधा डालने वालो को गोलियो से उड़ा देते हैं। कहते हैं जब से मादक द्रवों की बिक्री का निषेध करने वाला कानून बना है, तब से अपराध-वृत्ति बहुत बढ़ गई है। "मद्य-निषेध" कहलाने वाला यह क़ानून महायुद्ध के बाद ही पास हुआ था। यह क़ानून बनाने का कुछ कारण यह था कि बड़े-बडे कारखानेदार अपने मज़दूरो को शराब पीने से बचाना चाहते थे, ताकि वे अच्छी तरह काम कर सकें। परन्तु ये धनवान लोग खुद ही क़ानून की अवहेलना करते थे, और बाहर के देशों से नाजायज़ तरीक़े से शराबें मंगवा-मंगवा कर पीते थे। धीरे-धीरे मादक द्रवों का ज़बरदस्त नाजायज़ व्यापार खड़ा हो गया। यह "बूटलैगिंग"[1] कहलाता था और

---

[1] Boot-legging—यह शब्द boot (जूता) और leg (टांग) से मिलकर बना है। यह इस कारण प्रयोग में आया कि लोग शराब की कुप्पियां जूतों की लम्बी टांगों में छिपा कर लाया करते थे।

दो तरह से चलता था : एक तो देश के बाहर से बढ़िया शराबें और ठर्रे चोरी-छिपे लाना, दूसरे इन्हें गुप्त रूप से तैयार करना। आम तौर पर गुप्त रूप से तैयार की हुई शराब असली शराब से खराब और ज्यादा हानिकर होती थी। जिन स्थानों में ये मादक द्रव ऊंचे दाम देकर खरीदे जा सकते थे वे "स्पीक-ईज़ी" कहलाते थे, और बड़े-बड़े शहरों में ऐसे खानगी मदिरालय हज़ारों की सख्या में पैदा हो गये थे। यह सब कुछ ग़ैर क़ानूनी तो था ही, अतः इसे जारी रखने के लिए पुलिस के सिपाहियों और राजनैतिक लोगों को रिश्वतें दी जाती थी और कभी-कभी मारने की धमकियां भी दी जाती थी। क़ानून की इस व्यापक अवज्ञा के कारण धाड़ा-मारो के गिरोह के गिरोह पैदा हो गये। इस प्रकार मद्य-निषेध के परिणामस्वरूप एक ओर तो मज़दूरों की तथा देहाती जनता की भलाई हुई, परन्तु दूसरी ओर इससे बहुत बुराई फैली, और शराब का ग़ैर-कानूनी व्यापार करने वालो का ज़बरदस्त स्वार्थ पैदा हो गया। सारा देश दो दलो में बट गया—एक मद्य-निषेध के समर्थक जो "सूखे" (Drys) कहलाते थे; दूसरे इसके विरोधी जो "गीले" (Wets) कहलाते थे।

धनवानों के छोटे-छोटे बच्चो को उड़ा ले जाना और उनकी ज़िन्दगी के बदले में बड़ी-बड़ी रक़मे मागना, इन धाड़ा-मारो के सबसे ज्यादा बदनाम और दिल दहलाने वाले अपराध थे। कुछ दिन हुए लिण्डबर्ग का बच्चा इसी तरह उड़ा लिया गया था, और बड़ी नृशसता से मार डाला गया था, जिससे ससार भर में तहलका मच गया था।

इन सब बातो से, और इनके साथ व्यापार की मन्दी से और दिलो मे यह बात बैठने से कि अनेक बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी तथा व्यवसायी भ्रष्ट तथा अयोग्य थे, अमरीका के लोगो का धैर्य छूट गया था। इसलिए नवम्बर, सन् १९३२ ई०, में राष्ट्रपति के चुनाव के अवसर पर लाखो लोग इस आशा से रूज़वैल्ट के समर्थक हो गये कि वह उनके कष्ट कम कर देगा। रूज़वैल्ट "गीले" पक्ष का था और लोकतंत्री दल का आदमी था। इस दल के उम्मीदवार राष्ट्रपति बहुत कम चुने गये हैं।

भिन्न-भिन्न देशो के विशिष्ट लक्षणो को सदा ध्यान में रखते हुए उनकी तुलना करना सदा रोचक तथा लाभकारी होता है। अत. सयुक्त राज्य की हाल की घटनाओ की इंग्लैण्ड तथा जर्मनी की घटनाओ से तुलना करने का प्रलोभन होता है। सयुक्त राज्य की जर्मनी के साथ तुलना ज्यादा नज़दीकी है, क्योकि बहुत अधिक उद्योग-प्रधान होते हुए भी दोनो देशो में कृषि-जीवी लोगो की सख्या ज्यादा है। जर्मनी में किसानो की सख्या उसकी आबादी की २५ प्रतिशत है, सयुक्त राज्य में यह सख्या ४० प्रतिशत है। राष्ट्रीय नीति के ढालने मे इन किसानो का बड़ा हाथ रहता है। इंग्लैण्ड में यह बात नही है, क्योकि वहा किसानो की सख्या इतनी कम है कि उनकी उपेक्षा कर दी जाती है। हां, अब उनमें नई जान डालने की कुछ कोशिश की जा रही है।

जर्मनी में नात्सी आन्दोलन का एक प्रधान कारण यह था कि वहा अपहृत निम्न-मध्यम वर्ग के लोगो की संख्या बहुत बढ गई थी, और यह बढ़ोतरी जर्मनी की मुद्रा-स्फीति के बाद तेज़ी से हुई थी। जर्मनी में क्रान्तिकारी बनने वाला वर्ग यही था। ठीक यही वर्ग अब अमरीका में ज़ोर पकड़ रहा है; यह "सफ़ेद कालर वाला सर्वहारा वर्ग" कहलाता है, ताकि इसमें और श्रमजीवी सर्वहारा वर्ग में भेद प्रगट किया जा सके, क्योकि श्रमजीवी वर्ग सफ़ेद कालरों का उपयोग बहुत कम करता है।

तुलना की अन्य बातें ये है—मुद्रा-प्रणाली के सकट; मार्क, पौंड तथा डालर के स्वर्ण-मूल्य में गिरावट; मुद्रा-स्फीति; और बैंकों के दिवाले। इंग्लैण्ड में बैंकों के दिवाले नही निकले क्योंकि वहा छोटे बैंक बहुत कम है, और बौहरगत का सारा कारोबार कुछेक बड़े-बड़े बैंकों के हाथो में है। अन्य मामलो में इन तीनों देशों के घटना-क्रम एक-से हैं; जर्मनी में संकट सब से पहले आया, फिर इंग्लैण्ड में, और इसके बाद संयुक्त राज्य अमरीका में। नात्सियो के पृष्ठ-पोषक, सन् १९३१ ई० के चुनाव में ब्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के पृष्ठ-पोषक, और नवम्बर, सन् १९३२ ई०, के चुनाव में राष्ट्रपति रूज़वैल्ट के पृष्ठ-पोषक, तीनो देशों में लगभग एक ही समान वर्ग के लोग थे। ये निम्न-मध्यमवर्ग के लोग थे, जिनमें से बहुत-से पहले अन्य दलों में शामिल थे। परन्तु इस तुलना को बहुत आगे नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योंकि एक तो राष्ट्रीय विभिन्नताएं हैं, दूसरे इंग्लैण्ड तथा अमरीका में वैसी स्थिति अभी तक नही बनी है जैसी कि जर्मनी में है। परन्तु मुद्दे की बात यह है कि इन तीनों अत्यन्त उन्नत उद्योग-प्रधान देशों में बिल्कुल एक ही जैसे आर्थिक प्रभाव क्रिया-

शील हो रहे हैं, इसलिए इनसे उत्पन्न होने वाले परिणाम भी सम्भवतया एक ही जैसे होंगे। फ्रांस पर (तथा अन्य देशो पर) यह बात इसी हद तक लागु नहीं होती, क्योंकि फ्रांस अभी तक कृषि-प्रधान ज्यादा है और औद्योगिक दृष्टि से कम उन्नत है।

रूज़वेल्ट ने मार्च, सन् १९३३ ई०, के प्रारम्भ में राष्ट्रपति का पदग्रहण किया, और जो महामन्दी चल रही थी उसके अलावा इसे तुरन्त ही बैंकों के जबरदस्त संकट का भी सामना करना पडा। पदग्रहण के कुछ सप्ताह बाद इसने देश की स्थिति की विवेचना करते हुए कहा था कि इस समय "देश तिल-तिल करके मर रहा है"।

रूज़वेल्ट ने तात्कालिक और निश्चयात्मक कार्रवाई की। उसने कांग्रेस से बैंकों, उद्योगों तथा खेती बाड़ी के मसलों को निपटाने के अधिकार मांगे, और कांग्रेस ने भी सकट से घबरा कर तथा यह महसूस करके कि जनसाधारण की भावना रूज़वेल्ट के पक्ष में है, उसे ये अधिकार दे दिये। रूज़वेल्ट एक तरह से अधिनायक बन गया (हालांकि वह लोकतन्त्री अधिनायक था), और सब लोग उससे आशा करने लगे कि उन्हें सर्वनाश से बचाने के लिए वह कोई तात्कालिक और कारगर कार्रवाई करेगा। उसने भी बिजली की-सी तेज़ी से क़दम उठाया, और कुछ ही सप्ताहों के भीतर उसने अपनी विविध कार्रवाइयों से सारे संयुक्त राज्य को हिला दिया। साथ ही उसने लोगों में अपने प्रति और भी अधिक भरोसे की भावना पैदा कर दी।

रूज़वेल्ट ने जो अनेक निश्चय किये उनमे से कुछ ये थे:

१. उसने स्वर्ण-मान से सम्बन्ध तोड़ लिया और डालर का मूल्य गिर जाने दिया। इस प्रकार उसने कर्जदारो का बोझ हलका कर दिया। यह मुद्रा-स्फीति का क़दम था।

२. उसने धन की सहायता देकर किसानों को राहत पहुचाई, और खेतीबाड़ी को राहत देने के लिए दो अरब डालर का भारी कर्ज़ लेने की योजना जारी कराई।

३. उसने वन-विभाग के लिए और बाढ़ रोकने का काम करने के लिए ढाई लाख मज़दूरो को तुरन्त भर्ती किया। इसका उद्देश्य कुछ बेकारी कम करना भी था।

४. बेकारी कम करने के लिए उसने काग्रेस से अस्सी करोड डालर की रकम माँगी। यह उसे दे दी गई।

५. लोगों को रोज़गार देने के वास्ते निर्माण कार्यों में लगाने के लिए उसने तीन अरब डालर की विपुल धन राशि अलग रख दी। यह रकम भी उधार ली जाने वाली थी।

६. मद्य-निषेध का कानून रद्द कराने की कार्रवाई उसने जल्दी पूरी करा दी।

ये तमाम विपुल धनराशिया धनवान लोगो से उधार लेकर प्राप्त की जाने वाली थी। रूज़वेल्ट की सारी नीति यह थी, और अब भी है, कि जनता की क्रय-शक्ति बढ़ा दी जाय। क्योंकि अगर लोगो के पास रुपया होगा तो वे चीज़ें खरीदेंगे, और व्यापार की मन्दी अपने-आप कम हो जायगी। इसी लक्ष्य को सामने रख कर वह जन हितकारी निर्माण कार्यों की विशाल योजनाएं रच रहा है, जिन में मज़दूरो को काम दिया जाय और वे रुपया कमा सकें। इसी उद्देश्य से वह मज़दूरों की मजूरियां बढाने की और उनके काम के घटे कम करने की कोशिश भी कर रहा है। दिन में काम के घटे कम होने से ज्यादा लोगों को काम पर लगाया जा सकेगा।

यह रवैय्या उस रवैय्ये से बिलकुल विपरीत है जो संकट और मन्दी के ज़मानों में आम तौर पर कारखानेदारों का हुआ करता है। वे तो हमेशा मजूरियाँ घटाने की और काम के घटे बढ़ाने की कोशिश किया करते हैं, ताकि उनके उत्पादन की लागत कम बैठे। परन्तु रूज़वेल्ट का कहना है कि अगर हमें माल का सामूहिक उत्पादन फिर बढाना है, तो हमें ऊंची मजूरियो का सामूहिक वितरण करके जन-समूह को उस माल के खरीदने की क्षमता भी प्रदान करनी चाहिए।

रूज़वेल्ट की सरकार ने सोवियत रूस को भी क़र्ज़ दिया है जिससे कि वह अमरीकी रुई खरीद सके। दोनों सरकारें दोनों देशों के बीच माल की अदला-बदली की सम्भावनाओ के बारे में भी बातचीत कर रही हैं।

अभी तक अमरीका विशुद्ध पूजीवादी व्यवस्था वाला देश रहा है जिसमें प्रतियोगिता को खुली छूट है। यह वैसा राज्य है जिसे "व्यक्तिवादी" कहा जाता है। रूज़वेल्ट की नई नीति इससे मेल नहीं खाती,

क्योंकि वह तो विविध ढंगों से व्यवसाय में हस्तक्षेप कर रहा है। अर्थात् वह उद्योगो पर एक तरह से राज्य का बहुत-कुछ नियन्त्रण स्थापित कर रहा है, हालाकि वह इसे दूसरे नाम से पुकारता है। वास्तव में यह कुछ मात्रा में राजकीय समाजवाद है, जिसमें काम के घटों और श्रमिक वर्ग की दशा को कानून-कायदे के अनुसार ठीक रक्खा जाता है, उद्योगों पर नियन्त्रण किया जाता है, और "गला-घोटू प्रतियोगिता" को रोका जाता है। रूज़वैल्ट के कथनानुसार उसकी नीति यह है कि "सब मिल कर योजनाएं बनावें, और फिर उन योजनाओं को पूरी कराने का इन्तजाम करे"।

अब यह कार्य अमरीका की स्वाभाविक सरगर्मी और कार्य-शक्ति के साथ चल रहा है। बच्चों से मज़दूरी कराने की प्रथा उठा दी गई है (इस प्रयोजन से बच्चे की आयु सोलह वर्ष तक की मानी गई है)। अब यह नारा है कि मजूरी की दरें ऊची हों, वेतन ज्यादा मिले, और काम के घंटे कम हो। कहते है कि समृद्धि को ज़ोर के साथ आगे बढाने की इस चढाई के लिए समूचा देश भरती का प्रचार करने वाला विशाल विज्ञापन बन गया है। हवाई जहाज़ कारखानेदारो तथा अन्य उद्योगो के नाम अपीलें प्रचारित करते हुए इधर-उधर दौड रहे है। सब बड़े-बड़े उद्योगो पर अलग-अलग ज़ोर डाला जा रहा है कि वे ऊची मजूरिया आदि नियत करने की "नियमावलिया" तैयार करें, और इन पर अमल करने की प्रतिज्ञा करें। अगर वे समुचित नियमावली तैयार करने से इन्कार करते है, तो उन्हें हलकी-सी धमकी दी जाती है कि फिर यह काम सरकार करेगी। हरेक कारखानेदार से प्रतिज्ञापत्र भरवाया जाता है कि वह अपने कर्मचारियो की मजूरिया बढा-वेगा और उनके काम के घटे कम करेगा। जो कारखानेदार इस मामले मे आगे क़दम रक्खेंगे, उन्हे सरकार सम्मान के बिल्ले देने की तजवीज़ कर रही है। और ढील करने वालो को शर्मिन्दा करने के लिए प्रत्येक नगर के डाकखानों मे सम्मान-सूचिया रक्खी जायगी।

इन सब बातो से भावो में और व्यापार में कुछ बेहतरी हुई है। लेकिन असली बेहतरी जो साफ दिखाई देती है, व्यापार के रुख मे और व्यापारियो के हौसले में हुई है। पराजय की भावना बहुत कुछ चली गई है, और जनता के बड़े-बडे समूहो में, खास कर मध्यमवर्गों में, राष्ट्रपति रूज़वैल्ट के प्रति असीम श्रद्धा है। लोगो ने इसकी उपमा अमरीका की महान विभूति राष्ट्रपति लिकन से दे डाली है। लिंकन भी महान सकट के समय यानी गृह-युद्ध के ज़माने में, राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुआ था।

योरप तक के अनेक लोग रूज़वैल्ट की ओर देखने लगे और उन्हे आशा हो गई कि मन्दी का मुकाबला करने के लिए वह ससार का नेतृत्व ग्रहण करेगा। परन्तु विश्व आर्थिक सम्मेलन के अवसर पर अन्य देशों के प्रतिनिधि उससे नाराज़ हो गये, क्योकि उसने अपने प्रतिनिधियो को आदेश दे दिया था कि वे डालर का मूल्य सोने के भाव के अनुसार नियत करने की बात न माने, और न अन्य किसी ऐसी बात पर सहमत हो जो सयुक्त राज्य मे उसकी विशाल योजनाओ में अड़चन डालने वाली हो।

रूज़वैल्ट की नीति निश्चित रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है और वह अमरीका की दशा सुधा-रने पर तुला हुआ है। योरप की कुछ सरकारे इस नीति को पसन्द नही करती और बौहरे लोग तो खास तौर पर झल्लाये हुए हैं। ब्रिटिश सरकार रूज़वैल्ट की प्रगतिशील प्रवृत्तियो को अच्छी नही मानती। वह तो बड़े-बड़े व्यवसायो की क़द्र करती है।

मगर यह कहना पड़ेगा कि ससार के मामलो में रूज़वैल्ट जितना क्रियाशील भाग ले रहा है, उतना उसके पूर्ववर्ती राष्ट्रपति ने नही लिया। नि.शस्त्रीकरण के प्रश्न पर तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर इसने जो रुख अपनाया है वह इंग्लैण्ड के रुख से अधिक स्पष्ट और उन्नतिशील है। हिटलर को इसने जो विनम्र झिड़की दी उससे हिटलर कुछ ठंडा पड़ गया। यह सोवियत रूस से भी सम्पर्क स्थापित कर रहा है।

अमरीका में और अन्यत्र भी, आज यह महत्वपूर्ण प्रश्न पूछा जा रहा है: क्या रूज़वैल्ट सफल होगा? वह पूजीवाद की गाड़ी चालू रखने के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न कर रहा है। परन्तु इसकी सफलता का अर्थ है बड़े-बड़े व्यवसायियों की गद्दी छिन जाना, और यह सम्भव नही दिखाई देता कि ये लोग इसे चुपचाप सहन कर लेंगे। अमरीका का बड़ा व्यवसाय आधुनिक ससार का सबसे जबरदस्त निहित स्वार्थ माना जाता है, और वह केवल राष्ट्रपति रूज़वैल्ट के कहने से अपने अधिकार और विशेषाधिकार छोड़नेवाला नही है। अभी तो वह चुप बैठा है, क्योंकि लोकमत ने तथा राष्ट्रपति रूज़वैल्ट की लोकप्रियता ने उसे दबा रक्खा है।

परन्तु वह अपने अवसर की ताक में है। अगर कुछ महीनों के भीतर हालत न सुधरी तो यह खयाल किया जाता है कि लोकमत रूजवैल्ट के विरुद्ध हो जायगा, और तब ये बड़े व्यवसायी मैदान में उतर आवेंगे।

अनेक अधिकारी प्रेक्षकों की धारणा है कि रूजवैल्ट के सामने एक असम्भव कार्य है और वह कामयाब नहीं हो सकता। उसके नाकामयाब होने से बड़े व्यवसायियों की फिर जड़ बनेंगी, और इस बार शायद वे पहले से भी अधिक बलशाली हो जायं। क्योंकि तब रूजवैल्ट के राजकीय समाजवाद का साधन, बड़े व्यवसायियों के व्यक्तिगत लाभ के लिए उपयोग में लिया जायगा। अमरीका का श्रमजीवी आन्दोलन बिल्कुल कमजोर है और आसानी से कुचला जा सकता है।

टिप्पणी—

संकट पर क़ाबू पाने के लिए और पूजीवाद को नई परिस्थितियों में ढालने के लिए रूजवैल्ट का महान प्रयत्न, आंशिक रूप में सफल हो गया है, हालाकि मौलिक परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ है। हां, हालत में सुधार अवश्य हुआ है। व्यावहारिक रूप में यह प्रयत्न जनता का कष्ट मिटाने की विशाल योजनाओ पर और इस पर निर्भर था कि मजूरिया बढ़ाने तथा काम के घंटे घटाने के लिए कारखानेदारों को समझा-बुझा कर उद्योगों के मुनाफों का कुछ भाग मजदूरों को भी दिलवाया जाय। कारखानेदारो ने खासकर फोर्ड ने, इसे अपनी आजादी पर आक्रमण समझ कर इसका प्रतिरोध किया। उद्योगों तथा खेती-बाड़ी सम्बन्धी नियमावलिया बेकाम हो गईं, और अनेक हड़तालें हुईं। परन्तु अमरीका का श्रमिक वर्ग बलशाली हो गया और उसमें पहले से अधिक वर्ग-चेतना पैदा हो गई तथा एक नया उत्साह भर गया। मजदूर सघो के सदस्यों की सख्या बहुत बढ़ गई।

ज्यों-ज्यों आर्थिक हालत सुधरने लगी, बड़े-बड़े व्यवसायी अधिक उग्र हो गये और रूजवैल्ट की कार्रवाइयो का प्रतिरोध करने लगे। सर्वोच्च न्यायालय ने रूजवैल्ट के 'नैशनल रिकवरी ऐक्ट' तथा 'एग्रिकल्चरल ऐड्जस्टमेन्ट एक्ट' नामक दो मुख्य कनूनो की कारगर धाराओं को संविधान के प्रतिकूल, और इसलिए निष्प्रयोजन, घोषित कर दिया। अत. रूजवैल्ट के नये कदम के नीचे की जमीन खोखली कर दी गई।

सन् १९३६ ई० मे रूजवैल्ट दूसरी बार बहुत बडे बहुमत से राष्ट्रपति चुना गया। बडे व्यवसायों के साथ उसकी लडाई जारी है। कांग्रेस पर अब इसका प्रभुत्व नही रह गया है, उसने अनेक मामलो मे इसका विरोध किया है।

: १९३ :

पार्लमेण्टों का नाकामयाब होना

६ अगस्त, १९३३

हाल की घटनाओं की हमने कुछ ब्यौरे के साथ विवेचना की है और ऐसे बहुत-से बलों तथा प्रवृत्तियो पर विचार किया है जो हमारे आज के परिवर्तनशील संसार का रूप ढाल रहे हैं। जो तथ्य खास तौर से सामने आये हैं उनमें से दो ऐसे है जिनका जिक्र मै कर चुका हूं, परन्तु उन पर और भी विचार करना लाभदायक होगा। इनमें से एक तो युद्धोत्तर वर्षों में श्रमिक वर्ग तथा पुराने ढंग के समाजवाद की असफलता है, और दूसरा पार्लमेण्टों की नाकामयाबी और उनका ह्रास है।

मैं बतला चुका हूं कि जब सन् १९१४ ई० में महायुद्ध का डंका बजा तो संगठित श्रमिक वर्ग किस प्रकार नाकामयाब रहा और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ किस प्रकार छिन्न-भिन्न हो गया। इसका कारण युद्ध का आकस्मिक धक्का था, क्योंकि युद्ध में खूंखार राष्ट्रीय जोश भड़क उठते है, और लोगो के सिर पर क्षणिक पागलपन सवार हो जाता है। परन्तु विगत चार वर्षों के भीतर ऐसी चीज हुई है जो इससे बिल्कुल भिन्न प्रकार की है और इससे भी ज्यादा आंखें खोलनेवाली है। इन चार वर्षों में संसार में इतनी बड़ी मंदी रही है जितनी शायद पहले कभी नहीं रही। अतः इसके परिणाम-स्वरूप इन वर्षों में मजदूरों की करुणाजनक

दशा दिन पर दिन बुरी होती गई है। मगर ताज्जुब यह है कि फिर भी इसके कारण साधारणतया सब देशों के मजदूर-समूह में, और विशेषतया इंग्लैण्ड तथा अमरीका के मजदूर-समूह में, सच्चे क्रान्तिकारी भाव उत्पन्न नहीं हुए हैं।

पुराने ढंग की पूंजीवादी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूपसे टूक-टूक होती जा रही है। बाह्य रूप में, अर्थात् जहां तक बाह्य तथ्यों का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि परिस्थितियां साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था लाने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। परन्तु जिन लोगों को इसकी इच्छा होनी चाहिए थी उन्ही लोगो की बहुत बडी संख्या---यानी मजदूर लोग---क्रान्तिके लिए सचेष्ट नहीं हैं। इनसे ज्यादा क्रान्तिकारी भाव तो अमरीका के रूढ़िवादी किसानो में, और जैसा कि मै बार-बार कह चुका हूं, अधिकतर देशो के निम्न-मध्यमवर्गों में, प्रगट हो रहे हैं. जो मजदूरों की अपेक्षा बहुत ज्यादा उग्र हो गये है। यह चीज सबसे अधिक तो जर्मनी में दृष्टिगोचर हो रही है, परन्तु कुछ कम मात्रा में इग्लैण्ड, सयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य देशों में भी दिखाई दे रही हैं। स्थितियो के ये अन्तर अलग-अलग राष्ट्रीय गुण-स्वभावो के कारण है, तथा सकट के वृद्धि-क्रम में अलग-अलग दशाओं के कारण हैं।

जो श्रमिक वर्ग युद्धोत्तर वर्षों के प्रारम्भ मे इतनी उग्र तथा क्रान्तिकारी भावनाओ वाला था, वह इतना निश्चल और भाग्य के भरोसे बैठा रहनेवाला क्यों हो गया? जर्मनी का सामाजिक लोकतत्री दल बिना किसी संघर्ष के क्यों टूक-टूक हो गया, और उसने नात्सियो के हाथो अपना चकनाचूर क्यो करा डाला? इग्लैण्ड का श्रमिक वर्ग इतना नरम तथा प्रतिगामी क्यो है? और अमरीका के श्रमिक वर्ग की हालत इससे भी बुरी क्यों है? श्रमिक वर्ग के नेताओं को उनकी अयोग्यता के लिए और श्रमजीवी वर्ग के हितों के साथ विश्वासघात करने के लिए, अक्सर दोष दिया जाता है। इनमें से बहुत-से तो निस्सन्देह इस दोष के भागी हैं, और जिस तरह इन लोगों ने अपने दलो को धोखा देकर दूसरे दलों को अपना लिया है, तथा श्रमजीवी आन्दोलन को अपनी व्यक्तिगत आकाक्षाओ की पूर्त्ति की सीढी बनाया है, उसे देख कर दुख होता है। दुर्भाग्य से मानव प्रवृत्ति के प्रत्येक अग में अवसरवाद होता ही है; परन्तु जो अवसरवाद व्यक्तिगत भलाई के लिए लाखो पद-दलित तथा कष्ट-भोगी लोगो की आशाओ, आदर्शों तथा कुर्बानियो से अनुचित लाभ उठाता है, वह मानवजाति का एक सबसे महान संताप है।

नेताओं को दोष दिया जा सकता है। परन्तु आखिर नेता भी तो तत्कालीन परिस्थिति के ही फल होते हैं। कोई देश जिस तरह के शासको के लायक होता है, आमतौर पर उसी तरह के शासक उसे मिलते हैं। और किसी आन्दोलन को नेता भी वही मिलते है जो उसकी सच्ची और टूक-टूक इच्छाओं को व्यक्त करते हैं। वस्तु स्थिति यह थी कि इन साम्राज्यवादी देशो के नेता और इनके अनुयायी समाजवाद को कोई सजीव विश्वास या ऐसी चीज नही मानते थे जिसकी तुरन्त चाहना हो। इनका समाजवाद पूजीवादी व्यवस्था के साथ बहुत ज्यादा उलझ गया था और बंध गया था। औपनिवेशिक देशों के शोषण से प्राप्त होने-वाले लाभ का जरा-सा हिस्सा इन्हें मिल जाता था, और वे अपने जीवन का स्तर ऊचा करने के लिए पूजीवाद का कायम रहना आवश्यक समझते थे। समाजवाद एक दूरवर्ती आदर्श, एक स्वप्न-लोक, भविष्य की एक कल्पना बन गया, वर्तमान का विचार उसने छोड़ दिया। और स्वर्ग की पुरानी कल्पना की तरह वह भी धन की चेरी बन गया।

बस, मजदूर दल, मजदूर सघ, सामाजिक लोकतंत्रवादी, द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ, और इसी प्रकार के सारे संगठन सुधार के छोटे-छोटे प्रयत्नों में अपनी शक्ति नष्ट करते रहे; पूजीवाद के सारे ढांचे को इन्होंने साबित ही रहने दिया। अपना आदर्शवाद परित्याग करके ये प्राण-हीन तथा वास्तविक बल रहित विशाल नौकरशाही सगठन बन गये।

नवीन साम्यवादी दल की स्थिति इससे भिन्न थी। मजदूरो के लिए इसके पास एक संदेश था जो अधिक मार्मिक, अधिक हृदय-स्पर्शी था, और इसके पीछे सोवियत रूस का आकर्षक चित्र था। परन्तु इतना होने पर भी इसे तनिक भी सफलता नहीं मिली। यह योरप तथा अमरीका के श्रमिक समुदायो के हृदयों पर प्रभाव डालने में कामयाब नहीं हुआ। अचम्भे की बात है कि इंगलैण्ड और अमरीका में तो इसका जरा भी जोर नहीं था। जर्मनी तथा फ्रांस में इसका कुछ जोर था। मगर हम देखते हैं कि कम से कम जर्मनी तक में इसने अपने बल का लाभ नही उठाया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से इसकी दो महान पराजय हुई---एक तो सन्

१९२७ ई० में चीन में, दूसरी सन् १९३३ ई० में जर्मनी में। व्यापार की मन्दी, और क्रमागत संकटों और कम मजूरियों और बेकारी के इस समय के भीतर साम्यवादी दल कामयाब क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर कठिन है। कुछ लोगो का कहना है कि इसका कारण केवल यह था कि इसने ढब से काम नही किया और इसके काम के तरीक़े ग़लत थे। दूसरो की राय है कि यह दल सोवियत सरकार के साथ बहुत ज्यादा बंधा हुआ था, और इसकी नीति सोवियत से सम्बन्ध रखनेवाली राष्ट्रीय नीति थी; जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति होनी चाहिए थी वह नही थी। सम्भव है कि यह बात सही हो, किन्तु यह व्याख्या सतोषजनक नही है।

साम्यवादी दल खुद तो मजदूरो में नही पनपा, लेकिन साम्यवादी विचार बहुत लोगो में, खासकर दिमाग़ी वर्गों में फैल गये। सब जगह यहा तक कि पूजीवाद के समर्थकों में भी, एक प्रत्याशा, एक भय विद्यमान था कि संकट के फलस्वरूप किसी न किसी रूप में साम्यवाद अवश्यम्भावी है। सब लोग मानते थे कि पुराने ढग के पूजीवाद के दिन बीत चुके है। आपा-धापी की यह अर्थ-व्यवस्था, हड़पने की यह व्यक्तिगत नीति-जिसमें किसी तरह की योजना नही है, और जिसमें अप-व्यय, सघर्ष और समय-समय पर संकट होते रहते है. मिट जानी चाहिए। इसके स्थान पर आयोजित समाजवादी आर्थिक व्यवस्था या सहकारी आर्थिक व्यवस्था स्थापित होनी चाहिए। यह जरूरी नही है कि इसका अर्थ श्रमजीवी वर्ग की विजय ही हो, क्योंकि सम्पत्ति-स्वामी वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए राज्यव्यवस्था का सगठन अर्द्ध-समाजवादी ढंग पर भी किया जा सकता है। समाजवादी राज्यव्यवस्था और पूजीवादी राज्यव्यवस्था क़रीब-क़रीब एक-सी चीजें है; असली सवाल यह है कि राज्य का अधिकार किसके हाथों में है और कौन उससे लाभ उठाता है—सारा समुदाय या कोई खास सम्पत्ति-स्वामी वर्ग।

जिस समय कि दिमागी लोग इस प्रकार के तर्क-वितर्क कर रहे थे, उस समय पश्चिमी उद्योग-प्रधान देशो के निम्न-मध्यम वर्ग या अकिंचन सर्वहारा वर्ग क्रियाशील हो रहे थे। ये वर्ग कुछ अस्पष्ट रूप मे महसूस कर रहे थे कि पूजीवाद तथा पूजीपति लोग उनका शोषण करते थे। इसलिए इनके विरुद्ध उनमें कुछ क्रोध की भावना पैदा हो गई थी। परन्तु उन्हे श्रमजीवी वर्ग का तथा साम्यवादियो के हाथो में अधिकार आने का और भी अधिक डर था। पूजीपति लोग इस फ़ासीवादी लहर के साथ अक्सर समझौता कर लेते थे, क्योंकि वे समझते थे कि साम्यवाद को रोकने का दूसरा कोई उपाय नही था। धीरे-धीरे करीब सब लोग, जो साम्यवाद से डरते थे, इस फासीवाद के साथी बन गये। इस तरह जहा कही भी पूजीवाद खतरे में है, वहाँ कम या अधिक मात्रा में, फासीवाद फैलता जा रहा है, और साम्यवाद का या उसकी सम्भावना का मुकाबला कर रहा है। इन दोनो के बीच में पार्लमेण्टी हुकूमतो का कचूमर निकल रहा है।

और इससे अब हम उस दूसरे तथ्य पर आ पहुचते है जिसका उल्लेख मै इस पत्र के प्रारम्भ मे कर चुका हू, यानी पार्लमेण्टो की नाकामयाबी और उनका ह्रास। अधिनायको के बारे में, तथा पुराने ढंग के लोकतन्त्र की असफलता के बारे में मैं, अपने पिछले पत्रो मे बहुत कुछ लिख चुका हूं। यह चीज़ रूस, इटली तथा मध्य योरप में काफ़ी सामने आ चुकी है, और अब जर्मनी में भी सामने आ गई है जहा कि नात्सियो के हाथो मे सत्ता आने से पहले ही पार्लमेण्टी हुकूमत का अन्त हो गया था। सयुक्त राज्य अमेरिका में हमने देखा है कि काग्रेस ने राष्ट्रपति रूज़वैल्ट को सम्पूर्ण अधिकार किस प्रकार सौंप दिये हैं। यह प्रक्रिया फ्रास और इग्लैण्ड में भी प्रगट हो रही है, हालांकि इन दोनों देशो की लोकतत्री परम्परा सबसे पुरानी और सबसे मजबूत है। पहले हम इग्लैण्ड पर विचार करेंगे।

इग्लैण्ड का काम करने का ढंग योरप के अन्य देशों के तरीकों से बिल्कुल निराला है। इंग्लैण्ड अपने पुराने चेहरे-मोहरे बनाये रखने का प्रयत्न करता है, इसलिए वहा होने वाले परिवर्तन ज्यादा प्रत्यक्ष नही होते। साधारण तौर पर देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि पार्लमेण्ट अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रही है, परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि वह बहुत कुछ बदल चुकी है। अतीत काल में कामन्स सभा सत्ता का सीधा संचालन करती थी, इसलिए एक साधारण सदस्य भी शासन के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता था। परन्तु अब सारे बड़े-बड़े प्रश्नो का निपटारा मन्त्रिमंडल करता है या यों कहो कि सरकार करती है, और कामन्स सभा तो सिर्फ़ 'हाँ' या 'ना' कह सकती है। अलबत्ता, कामन्स सभा 'ना' कहकर सरकार को हटा सकती है, परन्तु यह इतनी कड़ी कार्रवाई है कि बहुत ही कम अमल में आती है, क्योंकि इससे बहुत-से झगड़े पैदा हो जाते हैं और नया आम चुनाव लाजिमी हो जाता है। इसलिए अगर किसी सरकार का कामन्स

सभा में बहुमत हो, तो वह जो चाहे सो कर सकती है और उसे सभा से मंजूर करवा कर क़ानून का रूप दे सकती है। इस प्रकार सत्ता धारा सभा के हाथ से निकलकर शासन-विभाग के हाथ में चली गई है, और अब भी जा ही रही है।

दूसरे आजकल पार्लमेण्ट को बहुत अधिक काम करना पड़ता है, और टेढ़े-मेढ़े सवाल बहुत अधिक उसके सामने आते रहते हैं। इसलिए यह परिपाटी बन गई है कि पार्लमेण्ट किसी प्रस्ताव या क़ानून के केवल मोटे सिद्धान्त निश्चित कर देती है, और उसकी तफ़सीलें शासन-व्यवस्था पर या इसके किसी विभाग पर छोड़ देती है। इसलिए शासन विभाग के हाथ में जबरदस्त अधिकार आ गये हैं, और आकस्मिक परिस्थिति के समय वह जो चाहे सो कर सकता है। इस प्रकार राज्य की महत्वपूर्ण कार्रवाइयों के साथ पार्लमेण्ट का सम्पर्क दिन पर दिन कम होता जा रहा है। उसके मुख्य कर्त्तव्य अब केवल ये रह गये हैं कि सरकार के प्रस्तावों, प्रश्नों तथा जाचों की आलोचना करना, और अन्त में सरकार की मोटी नीति को स्वीकृति देना। हैरल्ड जे० लास्की[1] कहता है: "हमारी सरकार शासन-विभाग की अधिनायकशाही बन गई है, जिसे पार्लमेण्ट के विद्रोह का कुछ डर रहता है।"

अगस्त, सन् १९३१ ई०, में मजदूर सरकार का आकस्मिक पतन निराले ही ढग से हुआ जिससे जाहिर हो गया कि पार्लमेण्ट इसके लिए कितनी कम जिम्मेदार थी। साधारण तौर पर इग्लैण्ड की किसी सरकार का पतन तब होता है जब कामन्स सभा में उसकी हार हो जाय। परन्तु सन् १९३१ ई० में कामन्स के सामने कोई मामला नही आया; किसी को मालूम नही था कि क्या हो रहा है; यहाँ तक कि मन्त्रिमण्डल के अधिकाश सदस्यों को भी कुछ मालूम नही था। प्रधान मंत्री रैम्ज़े मैकडोनल्ड ने अन्य दलों के नेताओ से कुछ गुप-चुप बातें की; वे लोग बादशाह के पास गये; पुराना मन्त्रिमण्डल यकायक खतम हो गया और अखबारो में नये मन्त्रिमण्डल की घोषणा कर दी गई! पुराने मंत्रिमण्डल के कुछ सदस्यो को तो पहले-पहल यह बात अखबारो से ही मालूम हुई। कार्रवाईका यह सारा ढग अभूतपूर्व और लोकतत्री परिपाटी के बिल्कुल विरुद्ध था। अन्त में कामन्स सभा ने इस पर स्वीकृति की मोहर लगा भी दी, तो इससे इस तथ्य पर कोई असर नही पड़ता। यह तो अधिनायकशाही का तरीक़ा था।

इस प्रकार रातों-रात मजदूर सरकार के आसन पर "राष्ट्रीय सरकार" बैठ गई, जिसमें अनुदार दल वालो की प्रधानता थी तथा जिसे कुछेक उदार-दली तथा मजदूर-दली लोगो ने राष्ट्रीयता का पुट दे दिया था। रैम्ज़े मैकडोनल्ड प्रधान मत्री बना रहा, हालांकि मजदूर दल ने उसे गद्दार घोषित कर दिया था और दल से निकाल दिया था। ऐसी "राष्ट्रीय" सरकारें उस समय कायम होती हैं जब यह अन्देशा हो कि दूर तक असर डालने वाले समाजवादी परिवर्तन सम्पत्ति-स्वामी वर्गों की स्थिति को डावाडोल कर देंगे या उन पर अत्यधिक बोझा डाल देंगे। इग्लैण्ड मे अगस्त सन् १९३१ ई०, में ऐसी स्थिति तब उत्पन्न हुई जब वह संकट आया जिसने बाद में पौड को स्वर्ण-मान से पृथक कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि सारे पूजीवादी बल समाजवाद के विरुद्ध संघटित हो गये। मध्यमवर्गी जनता को यह डर दिखला कर कि अगर मजदूर दल जीत गया तो उनकी सारी जमा-पूजी छिन जायगी, राष्ट्रीय सरकार ने छोटे सर्वहारा वर्ग को पूरी तरह आशंकित कर दिया, और चुनाव में अपने लिए बहुत भारी बहुमत प्राप्त कर लिया। मैकडोनल्ड तथा उसके समर्थको ने कहा कि अगर राष्ट्रीय सरकार नही आई तो साम्यवाद आवेगा।

इस प्रकार इग्लैण्ड मे भी पुराने समय की लोकतत्री व्यवस्था भग हो चुकी है, और पार्लमेण्ट का ह्रास होता जा रहा है। जिस समय जनता के आवेशो को भडकाने वाले मार्मिक मुद्दे, मसलन धार्मिक टक्करें, या राष्ट्रीय व जातीय संघर्ष ("आर्यन" जर्मन बनाम यहूदी), और इन सबके ऊपर आर्थिक संघर्ष (धन-सत्तावान तथा धन-सत्ताहीन वर्गों के बीच), सामने आते हैं, उस समय लोकतत्र का दिवाला निकल जाया करता है। तुम्हे याद होगा कि सन् १९१४ ई० में आयर्लैंड मे जब अल्स्टर तथा बाक़ी देश के बीच ऐसा ही धर्मिक-राष्ट्रीय मुद्दा उठ खडा हुआ था, उस समय अनुदार दल ने सचमुच पार्लमेण्ट का निर्णय मानने से इन्कार कर दिया था और गृह-युद्ध तक को प्रोत्साहन दिया था। अत: जब तक कोई प्रत्यक्ष लोकतत्री

---

[1] इंग्लैण्ड का सुप्रसिद्ध राजनीति-शास्त्र विशारद तथा लेखक। इसकी मृत्यु सन् १९५० ई० में हो गई।

परिपाटी सम्पत्ति-स्वामी वर्गों का मतलब सिद्ध करती है, तब तक वे उससे लाभ उठा कर अपने ही स्वार्थों की रक्षा करते हैं। परन्तु जब वह उनके मार्ग में अड़चन डालती है और उनके विशेषाधिकारों तथा स्वार्थों को चुनौती देती है, तब वे लोकतंत्री परिपाटी को धता बताते हैं और अधिनायकशाही के तरीक़े अपना लेते हैं। सम्भव है कि भविष्य में आमूल सामाजिक परिवर्तनों के पक्ष में बहुमत प्राप्त कर ले। परन्तु यदि यह बहुमत निहित स्वार्थों पर आक्रमण करेगा, तो सम्भव है कि इन स्वार्थों का उपभोग करने वाले लोग पार्ल-मेण्ट को ही धता बता दें, और उसके निर्णय के विरुद्ध विद्रोह तक भड़काने लगें, जैसा कि उन्होंने सन् १९१४ ई० में अल्स्टर के मुद्दे पर किया था।

बस, हम देखते हैं कि सम्पत्ति-स्वामी वर्ग पार्लमेण्ट तथा लोकतंत्र को केवल तभी तक वांछनीय समझते हैं जब तक कि इनके द्वारा तत्कालीन परिस्थिति क़ायम रक्खी जा सके। अलबत्ता यह सच्चा लोकतंत्र नही है; यह तो लोकतंत्र-विरोधी प्रयोजनो के लिए लोकतंत्री धारणा का दुरुपयोग है। सच्चे लोकतन्त्र को तो क़ायम रहने का अभी तक अवसर ही नही मिला है, क्योकि पूजीवादी व्यवस्था मे तथा लोकतंत्र मे मौलिक विपर्याय है। लोकतंत्र का यदि कोई अर्थ है तो वह अर्थ समता है; केवल मत देने की समता नही बल्कि आर्थिक तथा सामाजिक समता। पूजीवाद का अर्थ इससे बिल्कुल विपरीत है: इसका अर्थ है मुट्ठीभर लोगो के हाथ में आर्थिक सत्ता का रहना, और उनके द्वारा इस सत्ता का अपने निजी लाभ के लिए उपयोग किया जाना। ये लोग अपनी खुद की विशेषाधिकार वाली स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए क़ानून बनाते हैं, और जो कोई इन कानूनों को तोड़ता है, वह कानून और व्यवस्था में गड़बड़ डालने वाला और समाज द्वारा दंडनीय माना जाता है। अतः इस तरह की व्यवस्था में किसी तरह की समता नही होती, और लोगो को केवल उतनी ही स्वतन्त्रता दी जाती है जितनी कि पूजीवाद को क़ायम रखने वाले कानूनो की सीमा के अन्दर आती हो।

पूजीवाद तथा लोकतन्त्र का आपसी सघर्ष इनके साथ स्वाभाविक रूप मे जुडा हुआ है, और निरन्तर चलता रहता है। यह अक्सर भ्रमपूर्ण प्रचार और लोकतंत्र के ऐसे बाहरी स्वरूपो के परदे में छिपा रहता है जैसे पार्लमेण्टें, और बहलाने वाली वे चीजें जो सम्पत्ति-स्वामी वर्ग अन्य वर्गों के सामने फेंका करते हैं ताकि वे कुछ न कुछ सतुष्ट रहें। परन्तु एक समय ऐसा आता है जब फेंकने के लिए ये बहलानेवाली चीजें बाकी नही रहती, और तब दोनो वर्गों का आपसी संघर्ष फूटने पर आ जाता है, क्योकि अब यह सघर्ष असली चीज के लिए, यानी राज्य में आर्थिक अधिकार के लिए, होता है। जब यह अवस्था आती है तब पूजीवाद के सारे समर्थक, जो अब तक विविध दलों को आपस में लड़ाते रहे थे, अपने निहित स्वार्थों पर आने वाले इस खतरे का मुक़ाबला करने के लिए साथ मिल जाते हैं। उदारवादी तथा ऐसे ही अन्य दल मिट जाते है, और लोक-तन्त्र के स्वरूपो को उठा कर ताक में रख दिया जाता है। योरप तथा अमरीका में अब यह अवस्था पैदा हो गई है, और इस अवस्था को व्यक्त करने वाला फ़ासीवाद है जो अधिकतर देशों मे किसी न किसी रूप में सर्वोपरि बना हुआ है। श्रमजीवी वर्ग सब जगह अपना बचाव कर रहा है; पूजीवाद के बलो के इस नये और जबरदस्त संघटन का मुक़ाबला करने की ताक़त उस में नही है। मगर विचित्रता यह है कि खुद पूंजी-वादी व्यवस्था ही लड़खड़ा रही है, और अपने-आपको नये ससार के अनुकूल नही बना पा रही। यह निश्चित दिखाई देता है कि अगर यह किसी तरह बच भी जाय, तो इसका स्वरूप बिल्कुल बदला हुआ और अधिक कर्कश हो जायगा। और अवश्य ही यह इस लम्बे संघर्ष की दूसरी अवस्था होगी। क्योकि आधुनिक उद्योग और आधुनिक जीवन, चाहे ये पूजीवाद के किसी भी रूप के अन्तर्गत हों, एक प्रकार के रण-क्षेत्र हैं जहाँ सेनाएं निरन्तर आपस में भिड़ती रहती हैं।

कुछ लोगों का खयाल है कि अगर ये विभिन्न हुकूमतें थोड़े से समझदार लोगो को सौंप दी जायें तो यह तमाम झगड़ा, और सघर्ष और कष्ट मिट जायं। और यह कि इन सारी चीजों की जड में राजनैतिक व्यक्तियों तथा राजनीतिज्ञों की मूर्खता या धूर्त्तता है। वे समझते है कि यदि भले लोग केवल एकत्र हो कर जुट जांय तो तो वे दुष्टों को नैतिकता के उपदेश देकर, और उनके कार्यकलापो की भूल उन्हें बतला कर, उनका हृदय परिवर्तन कर सकते हैं। यह कल्पना बहुत भ्रमपूर्ण है, क्योंकि दोष व्यक्तियों का नहीं है बल्कि भ्रष्ट व्यवस्था का है। जब तक यह व्यवस्था क़ायम है, तब तक ये व्यक्ति अपने मौजूदा ढंग से ही आचरण करते रहेंगे। प्रभुता या विशेषाधिकारों के पदों पर बैठे हुए समुदाय—चाहे तो वे दूसरे राष्ट्र पर शासन

करने वाले विदेशी समुदाय हों और चाहे किसी राष्ट्र के अन्दरूनी आर्थिक समुदाय—अद्भुत आत्म-प्रवंचना और पाखंड के द्वारा अपना यह विश्वास जमा लेते है कि उनके विशिष्ट विशेषाधिकार उनकी योग्यता के उचित पुरस्कार है। अगर कोई इस स्थिति को मानने से इन्कार करता है तो वह उन्हें धूर्त और बदमाश और जमी-जमाई हालत को उलटने वाला प्रतीत होता है। किसी प्रभुता-प्राप्त समुदाय को यह विश्वास कराना असम्भव है कि उसके विशेषाधिकार अन्यायपूर्ण हैं, और उसे उनको त्याग देना चाहिए। अलग-अलग व्यक्तियों के दिलों में शायद कभी-कभी यह बात बैठ भी जाय, हालांकि यह बहुत कठिन है, परन्तु समुदायों के दिलों में तो कभी भी नही बैठ सकती। इसीलिए मुठभेड़ें और संघर्ष और क्रान्ति अनिवार्य तौर पर आते है और अपने साथ असीम यातना और कष्ट लाते है।

: १९४ :

संसार पर आख़िरी दृष्टि

७ अगस्त, १९३३

जब तक कलम और कागज़ और स्याही खतम न हो जाय तब तक पत्र लिखने का अन्त नही आ सकता। और संसार की घटनाओ के बारे मे लिखने का भी कोई अन्त नही है, क्योकि हमारा यह संसार लुढकता चला जा रहा है, और इसमें रहने वाले नर और नारी और बालक निरन्तर हँसते और रोते हैं, प्रेम और घृणा करते हैं, और आपस में लडते है। यह ऐसी कथा है जो आगे बढती ही चली जाती है, और जिसका कोई अन्त नही है। और आज के जिस समय में हम रह रहे है, उसमें जीवन का प्रवाह इतना तेज प्रतीत हो रहा है जितना पहले कभी नही था; इसका वेग पहले से अधिक तेज है, और एक परिवर्तन के बाद दूसरा परिवर्तन बडी शीघ्रता से आ रहे है। यह तो मेरे लिखते-लिखते ही बदल रहा है, और आज मैंने जो कुछ लिखा है वह शायद कल ही पुराना, और दूर का, और असगत हो जाय। जीवन की धारा कभी स्थिर नही रहती; यह तो बहती चली जाती है। आज की भाति कभी-कभी यह हमारी तुच्छ इच्छाओ तथा आकाक्षाओं की उपेक्षा करती हुई, हमारे तुच्छ व्यक्तित्वो का क्रूर उपहास करती हुई, और अपनी उत्ताल तरंगों पर हमें तिनके की तरह उछालती हुई, निर्दयता-पूर्वक और राक्षसी शक्ति के साथ वेग से आगे दौड़ती है। बडे वेग से दौडने वाली यह धारा पता नही किधर जा रही है—उस विशाल चट्टान की ओर जा रही है जो टकरा कर इसके हजारो टुकडे कर देगी, या किसी अपार और अज्ञेय, गंभीर और शान्त, सदा परिवर्तनशील किन्तु अविचल, समुद्र की ओर जा रही है।

जितना लिखने का मेरा इरादा था या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे मै बहुत अधिक लिख चुका हूँ। मेरी लेखनी दौड़ती चली गई है। हमने अपनी लम्बी सैर समाप्त कर दी है और अपनी आखिरी लम्बी मंजिल पूरी कर ली है। हम आज तक आ पहुँचे है और कल की ड्योढी पर इस आश्चर्य में डूबे खडे है कि जब यह कल भी समय आने पर आज बन जायगा तो इसका क्या रूप होगा। अब हमें जरा-सी देर ठहर कर संसार पर चारो ओर नजर डालनी चाहिए। सन् उन्नीस सौ तैंतीस के अगस्त मास की सातवीं तारीख को इसकी क्या हालत है?

भारत में गांधीजी को फिर गिरफ़्तार करके सजा दे दी गई है और वह वापस यरवडा जेल पहुँच गये हैं। सविनय अवज्ञा आन्दोलन फिर शुरू हो गया है, हालांकि इसका रूप सीमित है, और हमारे साथी फिर जेल जा रहे है। मेरे एक वीर और प्यारे साथी और मेरे मित्र जतीन्द्र मोहन सेन गुप्त, जिनसे पहले-पहल मेरी मुलाकात पच्चीस वर्ष हुए कैम्ब्रिज में, जब मै वहाँ भर्ती हुआ ही था, हुई थी, अभी-अभी हमें छोड कर चल दिये है। उनकी मृत्यु ब्रिटिश सरकार की कैद में हुई है। जीवन मृत्यु में विलीन हो जाता है, परन्तु भारतवासियों के जीवन को सार्थक बनाने वाला महान कार्य जारी है। भारत के अत्यन्त उमंग-भरे तथा बहुत करके अत्यन्त प्रतिभाशील हजारों सुपुत्र और सुपुत्रियाँ, जेलों में या नजरबन्दी के शिविरो में पड़े हुए, अपनी जवानी और शक्ति भारत को गुलाम बनाने वाली वर्तमान व्यवस्था से जूझने में खर्च कर रहे हैं।

यह जीवन और यह शक्ति किसी निर्माण में, रचनात्मक कार्यों में, लगाई जा सकती थीं; संसार में कितना काम करने को पड़ा है। परन्तु निर्माण से पहले विनाश होना जरूरी है, ताकि नये भवन के लिए जमीन तैयार हो जाय। किसी झोपड़ी की कच्ची दीवारों पर भव्य इमारत नही खड़ी की जा सकती। आज भारत में जो स्थिति है वह इस वास्तविकता से अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि बंगाल के कुछ भागों में लोगों को अपनी पोशाक तक भी सरकारी आज्ञा के अनुसार रखनी पडती है, और अगर कोई दूसरी तरह की पोशाक पहन ले तो जेलखाने भिजवा दिया जाता है। चटगाँव में बारह वर्ष से ऊपर की आयु के छोटे-छोटे लड़को तक को (और शायद लडकियों को भी) कही भी जाने के लिए अपने साथ शनाख्त के कार्ड लेकर चलना पड़ता है। मै नहीं जानता कि ऐसी विचित्र आज्ञा का पालन दुनिया मे किसी और जगह भी कभी कराया गया हो। शायद नात्सियो के जर्मनी में या शत्रु की सेनाओ द्वारा अधिकृत युद्ध प्रदेशो में भी ऐसा नही हुआ होगा। आज ब्रिटिश शासन के अधीन हमारे राष्ट्र की यह हालत है कि कही जाने के लिए भी परवाने की जरूरत होती है। और हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के उस पार हमारे पडौसियो पर ब्रिटिश हवाई-जहाज बम बरसाते रहते हैं।

अन्य देशों में हमारे देश-भाइयों की जरा भी इज्जत नही की जाती; कही भी उनका स्वागत नही किया जाता। और इस में आश्चर्य की कोई बात नही है, क्योंकि जब उनकी अपने ही देश मे इज्जत नही है तो दूसरी जगह कैसे हो सकती है? उन्हे दक्षिण अफरीका से निकाला जा रहा है जहाँ उनका जन्म और लालन-पालन हुआ है, और जिसके कुछ भागों को, खास कर नेटाल में, उन्होंने अपने गाढे परिश्रम से बनाया है। वर्ण-विद्वेष, जातीय घृणा, आर्थिक सघर्ष, आदि कारणो ने मिलकर दक्षिण अफ़रीका के इन भारतीयो को ऐसे परित्यक्त बना दिया है जिनका न कोई घर है और न कोई आश्रय। दक्षिण अफरीका की सघ सरकार कहती है कि उन्हें तो बस दक्षिण अफरीका को सदा के लिए छोड देने को तैयार हो जाना चाहिए। फिर उन्हे जहाजों में भर कर ब्रिटिश गायना या किसी दूसरी जगह भेज दिया जायगा, या भारत वापस भेज दिया जायगा चाहे वहाँ जा कर वे भूखों ही क्यो न मरे।

पूर्वी अफ़रीका में केनिया तथा इसके चारों ओर के प्रदेशों की रचना में भारतीयो का बहुत बडा हाथ रहा है। परन्तु अब वहाँ भी इनका रहना पसंद नही किया जाता, इसलिए नही कि अफ़रीकावासी ऐतराज करते हैं, बल्कि इसलिए कि मुट्ठीभर योरपीय बगीचोवाले ऐतराज करते है। यहाँ के अच्छे से अच्छे इलाके, यानी पठार के प्रदेश, इन बगीचोवालो के लिए सुरक्षित हैं। यहाँ न तो अफ़रीकावासी धरती के मालिक हो सकते हैं और न भारतवासी। बेचारे अफ़रीकावासियो की तो बहुत बुरी हालत है। प्रारम्भ में सारी धरती इनके कब्जे में थी और उनके निर्वाह का एक मात्र साधन थी। सरकार ने इसके बड़े-बड़े टुकड़े जब्त कर लिये, और योरपीय प्रवासियों को सौंप दिया। इस प्रकार ये प्रवासी या बगीचोंवाले आज यहाँ बडे-बडे जमींदार बन गये है। ये लोग न तो आय-कर देते हैं और न कोई अन्य उल्लेखनीय टैक्स। करो का लगभग सारा बोझ बेचारे पद-दलित अफ़रीकावासियो पर पडता है। इनसे सीधे टैक्स वसूल करना तो कठिन है क्योकि इनके पास होता ही क्या है। इसलिए इनके जीवन की कुछ आवश्यक वस्तुओ पर—मसलन आटा, कपड़ा, आदि पर—टैक्स लगा दिया गया है, ताकि जब वे इन वस्तुओ को खरीदें तो उन्हे अप्रत्यक्ष रूप से टैक्स देना पड़े। परन्तु सबसे निराला और सीधा टैक्स घर तथा व्यक्ति टैक्स था जो सोलह वर्ष की आयु से ऊपर के प्रत्येक पुरुष तथा उसके आश्रितो पर, जिन में स्त्रियाँ भी शामिल की जाती थी, लगाया जाता था। कर लगाने का नियम यह है कि लोगो की कमाई या सम्पत्ति में से टैक्स वसूल होना चाहिए। चूंकि अफ़रीका-वासी के पास और कुछ तो था नही, इसलिए उसके शरीर पर ही टैक्स लगा दिया गया! लेकिन अगर उस के पास पैसा नही था, तो वह प्रति व्यक्ति पर बारह शिलिंग सालाना का यह टैक्स किस तरह चुकाता? बस, इस टैक्स की मक्कारी इसी चीज में थी, क्योंकि इससे मजबूर होकर उसे योरपीय प्रवासियो के बगीचो में काम करके कुछ पैसा कमाना पड़ता था, और इस प्रकार टैक्स चुकाना पड़ता था। यह केवल रुपया कमाने की ही तरकीब नहीं थी बल्कि बगीचों के लिए सस्ती मजदूरी प्राप्त करने की भी थी। इसलिए अपना व्यक्ति-टैक्स चुकाने लायक मजूरी कमाने के लिए इन कम्बख्त अफ़रीकावासियों को कभी-कभी बड़ी दूर-दूर से, देश के भीतरी भागों से सात-आठ सौ मील की दूरी तय करके, तटवर्ती बगीचों में आना पड़ता है (देश के भीतर रेलमार्ग नही हैं और तट पर भी बहुत कम हैं)।

इन बेचारे शोषित अफ़रीकावासियों के बारे में मै तुम्हें बहुत सारी बातें बतला सकता हूँ। ये लोग इतना तक नहीं जानते कि बाहर की दुनिया को अपनी पुकार कैसे सुनावें। इनके कष्टों की कहानी बडी लम्बी है, और ये चुपचाप यातनाएं सह रहे हैं। अपनी अच्छी से अच्छी धरतियों से निकाले जाने पर इन्हें उन योरपीय लोगो के काश्तकारों के रूप में फिर वहीं आना पड़ता है जिन्हे ये धरती इन अफ़रीकावासियो से छीन कर मुफ़्त दे दी गई है। ये योरपीय जमीदार अर्द्ध-सामन्ती प्रभु है, और जिन प्रवृत्तियों को ये पसन्द नही करते वे तमाम दबा दी गई हैं। ये अफ़रीकावासी सुधारो की माँग करने के लिए भी कोई समिति नही बना सकते, क्योंकि किसी तरह का चन्दा इकट्ठा करने की मनाही है। एक आर्डिनेन्स के द्वारा नाच पर भी रोक लगा दी गई है, क्योंकि अफरीकावासी अपने गीतो और नृत्यो मे कभी-कभी योरपीय आचार-व्यवहारों की नक़ल उतारते थे और मजाक उडाते थे। किसान वर्ग अत्यन्त ग़रीब है, और इन लोगो को चाय या कँहवा उगाने की भी इजाज़त नही है, क्योंकि इससे योरपीय बगीचोवालो को प्रतियोगिता का अन्देशा है।

तीन साल हुए ब्रिटिश सरकार ने यह गम्भीर घोषणा की थी कि वह अफरीकावासियो की अमानतदार है, और भविष्य में इन की ज़मीनें इनसे नही छीनी जायगी। परन्तु अफरीकावासियो के दुर्भाग्य से गत वर्ष केनिया मे सोने की खान निकल आई। बस, वह गम्भीर प्रतिज्ञा भुला दी गई। योरपीय बगीचोंवाले इस ज़मीन पर टूट पडे; इन्होने अफरीकी किसानो को निकाल बाहर किया, और सोने के लिए खुदाई शुरू कर दी। अंग्रेज़ो की प्रतिज्ञाए ऐसी होती हैं। कहा यह जाता है कि अन्त में इस सारी कार्रवाई से अफरीका-वासियों का ही भला होने वाला है, और ये लोग अपनी ज़मीने छिन जाने से बहुत खुश हैं!

स्वर्ण-गर्भा भूमि में से सोना निकलवाने का पूजीवादी तरीक़ा भी अत्यन्त विचित्र है। इसके लिए लोगो को एक नियत स्थान से सचमुच दौड़ाया जाता है, और दौड लगाने वाला हरेक व्यक्ति उस इलाके के कुछ भाग पर अधिकार कर लेता है और वहाँ खुदाई शुरू कर देता है। उसके हिस्से मे आने वाले टुकड़े में ज्यादा सोना निकलता है या नही, यह उसके भाग्य पर निर्भर है। यह तरीका पूजीवाद की प्रकृति का द्योतक है। सोने की खान के बारे में निर्णय करने का सबसे अच्छा तरीका तो यह हो सकता है कि उस देश की सरकार उस पर अधिकार कर ले और सारे राज्य के लाभ के लिए उसका उपयोग करे। ताजिकिस्तान में तथा अन्यत्र सोवियत सघ की जो सोने की खानें है वहाँ वह ऐसा ही कर रहा है।

अपने इस अन्तिम सिंहावलोकन में मैंने केनिया का कुछ ज़िक्र इसलिए किया है कि इन पत्रो में हमने अफरीका को छोड़ दिया है। याद रहे कि यह बडा लम्बा-चौड़ा महाद्वीप है और इस में अफ़रीकी जातियाँ भरी पडी है जिनका विदेशी लोग सैकडों वर्षों से शोषण करते आये है और अब भी कर रहे है। ये अत्यन्त पिछडे-हुए है, परन्तु इन्हे दबा कर रक्खा गया है, और आगे बढने का मौक़ा नही दिया गया है। जहाँ कहीं इन्हे ऐसा मौका दिया गया है, जैसा कि हाल ही मे पश्चिमी तट पर स्थापित किये गये एक विश्वविद्यालय में हुआ है, वहाँ इन लोगो ने अद्भुत प्रगति की है।

पश्चिमी एशिया के देशो के बारे में तो मै काफी लिख चुका हूँ। इन देशो मे तथा मिस्र में आज़ादी का संघर्ष विविध रूपो तथा अवस्थाओ मे चल रहा है। यही बात दक्षिण-पूर्वी एशिया में, बृहत्तर भारत में, और हिन्देशिया मे—यानी स्याम, हिन्द चीन, जावा, सुमात्रा, फिलीपाइन द्वीप-समूह, आदि मे—हो रही है। स्वाधीन स्याम के सिवा बाक़ी सब जगह इस सघर्ष के दो पहलू है · एक तो विदेशियों के प्रभुत्व के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना, और दूसरे पद-दलित वर्गों की सामाजिक समता के लिए, या कम से कम आर्थिक बेहतरी के लिए, उत्कण्ठा।

एशिया के सुदूर पूर्व में भीमकाय चीन अपने आक्रान्ताओं के आगे निस्सहाय पडा है, और अन्दरूनी भेद-भावों के कारण बहुत-से टुकडों में विभक्त हो रहा है। इसका एक चेहरा तो साम्यवाद की ओर देख रहा है, और दूसरा साम्यवाद का बलपूर्वक विरोध कर रहा है। और इस बीच मे जापान लगभग अबाध गति से आगे बढता चला जा रहा है, और चीन की भूमि के बड़े-बड़े प्रदेशों पर क़ब्ज़ा जमा रहा है। परन्तु अपने इतिहास के लम्बे समय में चीन अनेक ज़बरदस्त हमलों और ख़तरो से जीता बच गया है, और इसमें ज़रा भी सन्देह नही कि वह इस जापानी हमले से भी जीता बच जायगा।

साम्राज्यशाही जापान, जो अर्द्ध-सामन्ती, सैनिकता-प्रधान, मगर फिर भी औद्योगिक क्षेत्र में अत्यन्त उन्नतिशील, और अतीत तथा वर्तमान का अजीब ताल-मेल रहा है, अपने जागतिक साम्राज्य के महत्वाकांक्षा

भरे स्वप्नों को सजो रहा है। परन्तु इन स्वप्नों के पीछे एक तो यह असलियत है कि आर्थिक ढांचा टूट कर गिर जाने का खतरा सामने खड़ा है, दूसरे जापान की उस बढ़ती हुई आबादी की भयंकर कष्टमय दशा है जिसके लिए अमरीका के तथा आस्ट्रेलिया की लम्बी-चौड़ी निर्जन भूमि के द्वार बन्द कर दिये गये हैं। और इन स्वप्नों के पूरा होने में एक जबरदस्त बाधा है आधुनिक समय के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमरीका का वैर-विरोध। एशिया में जापान के पैर पसारने के मार्ग में दूसरी जबरदस्त रुकावट सोवियत रूस है। मंचूरिया में तथा प्रशान्त महासागर के गहरे वक्षस्थल पर एक महायुद्ध की छाया अनेक दूर-दर्शी लोगों को अभी से आती हुई दिखाई दे रही है।

समूचा उत्तरी एशिया सोवियत संघ का अंग है और एक नये संसार तथा नई सामाजिक व्यवस्था के आयोजन और निर्माण में संलग्न है। यह अद्भुत बात है कि ये पिछड़े हुए देश, जो सभ्यता की दौड़ में पीछे रह गये थे और जहां एक तरह की सामन्तशाही अभी तक प्रचलित थी, आगे छलांग मार कर ऐसे दर्जे पर पहुँच गये हैं जो पश्चिम के उन्नत राष्ट्रों से भी अगाड़ी है। योरप तथा एशिया का सोवियत संघ आज खड़ा होकर पश्चिमी जगत के लड़खड़ाते हुए पूंजीवाद को चुनौती दे रहा है। जहां एक ओर व्यापार की मन्दी तथा गिरावट, और बेकारी, और बार-बार आनेवाले संकट, पूंजीवाद को चेष्टा-हीन बना रहे हैं और पुरानी व्यवस्था आखिरी सांस ले रही है, वहां दूसरी ओर सोवियत संघ आशा और क्रिया-शक्ति और उत्साह से परिपूर्ण भूमि है, और वह सामाजिक व्यवस्था की रचना तथा स्थापना में सरगर्मी से जुटा हुआ है। और यह प्रचुर नवयौवन और जीवन, और वह सफलता जो सोवियत संघ प्राप्त कर चुका है, दुनिया भर के विचारवान लोगों को प्रभावित और आकर्षित कर रहे हैं।

दूसरा विशाल क्षेत्र संयुक्त राज्य अमरीका, पूंजीवाद की असफलता का नमूना प्रस्तुत कर रहा है। चारों ओर महान कठिनाइयों, संकटों, श्रमिक हड़तालों, और अभूतपूर्व बेकारी से घिरा हुआ होने पर भी यह देश अपनी गाड़ी खींचने की और पूंजीवादी व्यवस्था को क़ायम रखने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा है। देखना है कि इस महान प्रयोग का क्या परिणाम निकलता है। परिणाम चाहे जो हो, अमरीका को जितनी सुविधाएं उपलब्ध हैं—क्या तो उसके लम्बे-चौड़े प्रदेश में, जो मानव-जीवन के लिए आवश्यक सारी वस्तुओं से भरपूर है; क्या उसके कला-कौशल सम्बन्धी साधनों में, जो संसार के किसी भी देश से अधिक प्रचुर है, और क्या उसके क्रिया-कुशल और उच्च-शिक्षण-प्राप्त निवासियों में—उन्हें कोई नहीं छीन सकता। सोवियत संघ की ही भांति संयुक्त राज्य अमरीका भी भविष्य के जागतिक मामलों में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

और लातीनी राष्ट्रों वाला दक्षिण अमरीका का विशाल महाद्वीप उत्तर अमरीका से कितना भिन्न है? उत्तर अमरीका के विपरीत यहां जातीय विद्वेष ज़रा-भी नहीं है, और विभिन्न जातियों का महान सम्मिश्रण है, जिनमें दक्षिण-योरपीय, स्पेनी, पुर्तगाली, इटालवी, हबशी, और अमरीकी महाद्वीपों की मूल-निवासी तथाकथित "रैड-इण्डियन"[1] जातियां शामिल हैं। कनाडा तथा संयुक्त राज्य में इन रैड इण्डियनों का करीब-क़रीब लोप हो गया है, परन्तु दक्षिण अमरीका में, खास कर वैनेज़ुएला में, ये काफ़ी संख्या में अभी तक पाये जाते हैं। ये लोग अधिकतर बड़े-बड़े शहरों से दूर रहते हैं। तुम्हें यह जान कर शायद ताज्जुब होगा कि बोनस एरीस तथा रियो दे जनेरो आदि कुछ दक्षिण अमरीकी शहर केवल बहुत बड़े ही नहीं हैं बल्कि बहुत सुन्दर भी हैं, और इनमें सघन वृक्षों की कतारों वाले रमणीक राजपथ हैं। आर्जेन्टिना की राजधानी बोनस एरीस की आबादी पच्चीस लाख है, और ब्राज़ील की राजधानी रियो दे जनेरो की करीब बीस लाख।

यद्यपि यहां जातियों का सम्मिश्रण है, परन्तु शासन की बागडोर गोरे अमीरों के शासक वर्ग के हाथों में है। जिस गुट्ट या गिरोह का सेना तथा पुलिस पर अधिकार होता है वही आम तौर पर शासन करता है। और, जैसा कि मैं लिख चुका हूं, ऊपर-ही-ऊपर कितनी ही बार क्रान्तियां हुई हैं। सारे के सारे दक्षिण

---

[1]अमरीकी महाद्वीपों के मूल निवासी 'रैड इण्डियन' कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि पुर्तगाल का मशहूर नाविक कोलम्बस जब भारत की खोज में निकला तो अमरीका जा पहुंचा और उसने उसे ही भारत समझ लिया। इसलिए वहां के निवासियों को इण्डियन कहा जाने लगा। बाद में जब यह ग़लती मालूम हुई तो उनका नाम 'रैड इंण्डियन' रख दिया गया, क्योंकि उनका वर्ण तांबे जैसा लाल होता है।

अमरीकी देशों में खनिज द्रव्यो के विपुल भडार मौजूद हैं, इसलिए भू-गर्भ सम्पत्ति के लिहाज़ से ये बहुत धन-वान हैं। परन्तु साथ ही ये क़र्ज़ों में डूबे हुए है, और चार वर्ष पहले ज्यों-ही संयुक्त राज्य अमरीका ने इन्हें रुपया उधार देना बन्द किया, त्यों-ही ये लाचारी-भरे झमेले में पड़ गये, और जगह-जगह क्रान्तियाँ हो गईं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण दक्षिण अमरीका के तीन मुख्य देश, आर्जेण्टिना, ब्राज़ील और चिले भी, जो ए-बी-सी'[1] देश कहलाते हैं, क्रान्तियो के शिकार हो गये।

सन् १९३२ ई० के ग्रीष्म के बाद दक्षिण अमरीका में दो छोटे-छोटे निजी युद्ध हो चुके हैं, परन्तु मंचूरिया में जापानी युद्ध की भाति इन्हे बाक़ायदा युद्ध नही माना जाता। जब से राष्ट्र सघ का इक़रारनामा, किलॉग शान्ति क़रार और अन्य क़रार हुए हैं, तब से युद्ध होते ही नही हैं। जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर धावा करता है और उसके नागरिको की हत्या करता है, तो यह "सघर्ष" कहलाता है, और चूकि क़रारो में "सघर्षों" के लिए मनाही नही है, इसलिए सब निश्चिन्त हैं! मचूरिया युद्ध के सिवा इन छोटे-छोटे युद्धो का कोई जागतिक महत्व नही है। परन्तु इनसे यह जरूर सिद्ध हो जाता है कि राष्ट्र सघ से लगा कर अनगिनती क़रारों और समझौतो तक, संसार में शान्ति स्थापित करने की समूची योजना, जिसकी खूब डींग हाँकी जाती है, कितनी कमज़ोर और निकम्मी है। राष्ट्रसघ का एक सदस्य दूसरे सदस्य पर धावा बोल देता है, और संघ लाचार बैठा देखा करता है, या झगड़े को निपटाने के निःशक्त और निपट निरर्थक प्रयत्न करता है।

ऐसा ही एक युद्ध और "संघर्ष" दक्षिण अमरीका मे, जगली प्रदेश के चाको नामक टुकड़े के लिए, बोलिविया तथा पैरग्वे के बीच चल रहा है। एक विनोदी फ़ासीसी ने कहा है: "चाको जंगल के लिए बोलिविया तथा पैरग्वे का झगड़ा मुझे एक कघे के लिए लडने वाले दो गजो की याद दिलाता है।" यह झगडा बेवक़ूफाना तो है, पर इतना बेहूदा नही है। इस लम्बे-चौडे जगली प्रदेश में मिट्टी के तेल सम्बन्धी स्वार्थ फँसे हुए हैं, और इसमें होकर बहने वाली पैरग्वे नदी बोलिविया को अटलाण्टिक महासागर से जोड़ती है। दोनो देश आपस मे राज़ीनामा करने को तैयार नही है, और अब तक हज़ारो जानें झोक चुके हैं।

दूसरी मुठभेड़, लैटीशिया नामक गाँव के लिए, कोलम्बिया और पेरू के बीच हो रही है। इस गाँव पर पेरू ने अनुचित रूप से क़ब्ज़ा कर लिया है। मेरा ख़याल है कि राष्ट्र सघ ने पेरू की कड़ी आलोचना की थी।

लातीनी अमरीका (जिसमे मैक्सिको भी शामिल है) कैथलिक धर्म का अनुयायी है। मैक्सिको में राज्य तथा कैथलिक पादरियो के बीच घमसान लडाइयाँ हुई है। स्पेन की भांति मैक्सिको की सरकार भी शिक्षा के क्षेत्र में तथा अन्य सब मामलो मे रोमन चर्च के विस्तृत अधिकारो पर अकुश लगाना चाहती थी।

दक्षिण अमरीका मे सर्वत्र स्पेनी भाषा बोली जाती है; सिवा ब्राज़ील के जिसकी राज्य-भाषा पुर्तगाली है। इतने लम्बे-चौड़े प्रदेश में प्रचार होने के कारण स्पेनी भाषा आज ससार की महान से महान भाषाओ में गिनी जाती है। यह एक ललित और झकारपूर्ण भाषा है, जिसका आधुनिक साहित्य बडा सुन्दर है, और दक्षिण अमरीका के कारण अब तो यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यापारिक भाषा भी हो गई है।

: १६५ :

युद्ध की छाया

८ अगस्त, १९३३

पिछले पत्र में हमने एशिया, अफ़रीका और दोनो अमरीका के महाद्वीपों का सरसरी तौर पर विहंगावलोकन किया है। अब योरप बाक़ी रहता है—वह योरप जिसमें झंझटें हैं और आपसी झगड़े हैं, परन्तु फिर भी जो अनेक सद्गुणों का आगार है।

इंग्लैण्ड, जो इतने दिन ससार की अग्रगामी शक्ति था, अब अपनी पुरानी प्रभुता खो चुका है, और

---

[1] ABC देश। ये तीनों देशों के नामों के पहले अक्षर हैं।

जो कुछ बचा है उसे क़ायम रखने की भरपूर कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री-ताक़त जिसके कारण वह सुरक्षित था और दूसरों के ऊपर रौब जमाता था, और जिसके सहारे वह अपना साम्राज्य बना सका था, अब पहले जैसे नही रह गई। कुछ ही दिन पूर्व, एक समय था जब कि इंग्लैण्ड का जहाज़ी-बेड़ा किन्हीं दो महान शक्तियों के सम्मिलित जहाज़ी-बेड़ों से भी बड़ा था। आज वह केवल संयुक्त राज्य अमरीका के साथ बराबरी का दावा कर सकता है, और अमरीका के पास इतने साधन हैं कि जरूरत पड़ने पर वह बड़ी शीघ्रता से इंग्लैण्ड से अधिक जहाज़ तैयार कर सकता है। मगर आज समुद्री-ताक़त से भी अधिक महत्वपूर्ण चीज़ हवाई-ताक़त है, और इस मामले में इंग्लैण्ड और भी कमज़ोर है। कई शक्तियो के पास इंग्लैण्ड से अधिक लड़ाकू-वायुयान है। व्यापार के क्षेत्र में भी उसकी सर्वोपरि स्थिति जाती रही है और इसके फिर प्राप्त होने की आशा नही है। उसका महान निर्यात व्यापार भी उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा है। ऊँचे-ऊँचे तटकरों तथा विशेष व्यापारिक सुविधाओ के द्वारा वह साम्राज्य की मडियाँ अपने माल के लिए सुरक्षित रखने के प्रयत्न कर रहा है। केवल इसी का यह अर्थ है कि उसने साम्राज्य के बाहर जागतिक व्यापार की महत्वाकांक्षी कल्पना त्याग दी है। अगर इस सीमित क्षेत्र मे उसे सफलता भी मिल जाय तो इससे उसकी पुरानी सर्वोपरि स्थिति दुबारा प्राप्त नही हो सकती। वह तो सदा के लिए हाथ से निकल गई। परन्तु साम्राज्य के भीतर यह सीमित सफलता भी कितनी है या कितने दिन टिकेगी, यह नही कहा जा सकता।

अमरीका के साथ भीषण कुश्ती के बाद भी, इंग्लैण्ड अभी तक जागतिक व्यापार का साहूकारी केन्द्र है, और लन्दन शहर इस के लिए केन्द्रीय विनिमय-स्थान है। परन्तु ज्यो-ज्यों जागतिक व्यापार घटता और लुप्त होता जा रहा है, त्यो-त्यो इस लूटी हुई चीज़ की सारी चमक-दमक और सारा महत्व भी छिनते जा रहे हैं। आर्थिक राष्ट्रीयता, संरक्षण-करों, आदि की अपनी नीतियों के कारण इंग्लैण्ड तथा अन्य देश जागतिक व्यापार की इस घटोतरी में खुद ही निमित्त बन रहे हैं। यदि जागतिक व्यापार बहुत बड़े परिमाण में बना भी रहे, और वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था क़ायम भी रहे तो भी इसमें कोई सन्देह नही कि ससार का अर्थ-सम्बन्धी नेतृत्व एक न एक दिन लन्दन के हाथ से निकल कर न्यूयॉर्क के हाथ में चला जायगा। परन्तु बहुत सम्भव ह कि इस चीज़ के होने से पहले ही पूजीवादी प्रणाली में भारी परिवर्तन हो चुकेंगे।

इंग्लैण्ड की यह ख्याति है कि वह अपने-आप को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेता है। परन्तु यह ख्याति तभी तक ठीक समझी जा सकती है जब तक कि उसके सामाजिक आधार को आघात न पहुंचे और उसके सम्पत्ति-स्वामी वर्गों की विशेष स्थिति बनी रहे। अभी तो यह देखना है कि परिस्थिति के अनुकूल बनने की यह क्षमता इंग्लैण्ड को मौलिक सामाजिक परिवर्तनो में से पार निकाल कर ले जाती है या नहीं। यह सम्भावना बहुत-ही कम है कि इस प्रकार का परिवर्तन चुपचाप और शान्ति के साथ सम्पन्न हो जायगा। सत्ता और विशेष-अधिकारो का उपभोग करने वाले, इन चीज़ो को अपनी मर्ज़ी से नही छोड़ा करते।

इसी दरम्यान इंग्लैण्ड बड़ी दुनिया से अपने साम्राज्य में सिकुड़ता आ रहा है, और इस साम्राज्य को बचाने के लिए वह इसके ढाचे मे महान परिवर्तन करने को तैयार हो गया है। यद्यपि इसके उपनिवेश ब्रिटिश वित्त-प्रणाली से अनेक रूपों में बंधे हुए हैं, परन्तु फिर भी वे कुछ हद तक स्वाधीन है। अपने विकासशील उपनिवेशो को खुश रखने के लिए इंग्लैण्ड ने बहुत कुछ त्याग किया है, परन्तु फिर भी दोनो के बीच संघर्ष खड़े होते रहे है। आस्ट्रेलिया तो हाथ-पांव समेत बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से बंधा हुआ है, और जापानी हमले के डर ने उसका इंग्लैण्ड के साथ निकट सम्बन्ध जोड़ दिया है। कनाडा के बढ़ते-हुए उद्योग इंग्लैण्ड के कुछ उद्योगो का मुक़ाबला करने लगे हैं, और उनके आगे घुटने टेकने को तैयार नही है। इसके अलावा, अपने महान पड़ौसी संयुक्त राज्य अमरीका के साथ कनाडा के अनगिनती सहचार हैं। दक्षिण अफ़रीका में साम्राज्य के प्रति कुछ अच्छे भाव नहीं है, हालांकि पुरानी कटुता अब नही रही है। आयर्लेण्ड अपने बल-बूते पर खड़ा है, और आग्ल-आयरी व्यापारिक युद्ध अभी तक चल रहा है। आयरलैण्ड के माल पर इंग्लैण्ड ने चुंगियां लगाईं तो इस अभिप्राय से थीं कि वह डर कर और जबरदस्ती मजबूर होकर घुटने टेक देगा, परन्तु इसका परिणाम उलटा हुआ। इनके कारण आयर्लेण्ड के उद्योगों और खेती-बाड़ी को बड़ी भारी उत्तेजना मिली है, और आयर्लेण्ड बहुत हद तक स्वावलम्बी तथा आत्म-निर्भर बनने में सफल हो रहा है। नये-नये कारखाने खुल गये हैं, और जिस ज़मीन पर पहले घास उगती थी वहां अब अनाज पैदा हो रहा

है। जो खाद्य-पदार्थ पहले इंग्लैण्ड को निर्यात किये जाते थे, उनका अब यहीं के लोग उपभोग करते हैं, और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा हो रहा है। डि वैलेरा ने अपनी नीति को विजयोल्लास के साथ सही सिद्ध कर दिया है, और आयर्लेंड आज इंग्लैण्ड की साम्राज्यशाही नीति के लिए कांटा बन रहा है, क्योंकि वह उग्र और उद्दंड हो रहा है, और ओटावा सरीखी सांठ-गांठों से उसका मेल बिल्कुल नही बैठ रहा।

इसलिए, अपने उपनिवेशों के साथ व्यापारिक सहयोग से इग्लैण्ड अधिक लाभ उठाने की स्थिति में नही है। हां, भारत से वह बहुत कुछ लाभ उठा सकता है, क्योकि भारत उसके लिए अभी तक बड़ी भारी मंडी बना हुआ है। परन्तु भारत की राजनैतिक परिस्थिति, और साथ ही यहां के लोगो का आर्थिक कष्ट, इंग्लैण्ड के व्यापार के लिए अनुकूल नही है। लोगों को जेलो में ठूस कर उन्हे अग्रेजी माल खरीदने को विवश नही किया जा सकता। स्टैनली बाल्डविन ने इन्ही दिनों मैञ्चैस्टर मे कहा था :

> "वे दिन लद गये जब हम भारत से अपनी बात मनवा सकते थे और कह सकते थे कि वह अपना माल कब और कहा खरीदे। व्यापार का प्रतिबन्ध सद्भावना ही थी। हम संगीन की नोक पर कपडे की फरिख्त लगा कर भारत को अपना माल कभी नही बेच सकेंगे।"

भारत की अन्दरूनी परिस्थितियों के अलावा, इंग्लैण्ड को यहां, और पूर्व के अन्य देशों में, और कुछ उपनिवेशों में, भी जापान की भीषण प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है।

इस प्रकार इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य की एक आर्थिक इकाई बना कर, जो कुछ उसके पास है उसे बचाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। इस इकाई में वह डेनमार्क या नारवे और स्वीडन जैसे अन्य ऐसे छोटे-छोटे देशों को भी जोड़ता जा रहा है जो उससे समझौता कर लेते है। घटनाओ का ठेठ तर्क-सिद्ध क्रम ही उसे यह नीति अपनाने को विवश कर रहा है ; दूसरा कोई रास्ता ही नही है। युद्ध के अवसरो पर अपनी रक्षा करने के लिए भी उसे अधिक आत्म-निर्भर बनने की ज़रूरत है। इसलिए वह अपनी कृषि का भी विकास कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रीयता की यह साम्राज्यशाही नीति कहा तक सफल होगी, यह कोई नही कह सकता। इस सफलता के मार्ग में बाधक होने वाली अनेक कठिनाइया मैंने बतलाई हैं। अगर असफलता हुई तो साम्राज्य का सारा ढाचा टूट कर गिर पडेगा, और तब अग्रेज लोगो को अपने रहन-सहन का दर्जा घटाने की समस्या का सामना करना पड़ेगा। हा, यदि वे अपनी आर्थिक व्यवस्था को बदलकर समाजवादी ढंग की बनालें तो बात दूसरी है। परन्तु इस नीति की सफलता भी खतरे से खाली नही है, क्योंकि सम्भव है इसके फलस्वरूप अनेक योरपीय देश इस कारण बरबाद हो जाय कि उनके व्यापार की निकासी काफ़ी तौर पर न हो सके। इधर इग्लैण्ड के कर्ज़दारो का दिवाला निकलने से खुद उसी की स्थिति को धक्का पहुचे बिना नही रहेगा।

जापान और अमरीका के विरुद्ध भी आर्थिक संघर्ष पैदा होने लाजिमी है। संयुक्त राज्य अमरीका के साथ तो अनेक क्षेत्रों में प्रतिस्पर्द्धा चल ही रही है। और ससार आज की स्थिति में सयुक्त राज्य तो अपने विशाल साधनो के सहारे आगे बढेगा ही, और इग्लैण्ड क्षीण होता जायगा। इस प्रक्रिया का केवल यही परिणाम हो सकता है कि इस सघर्ष में इग्लैण्ड चुपचाप पराजय स्वीकार कर ले। या यह है कि जो कुछ उसके पास है उसे बचाने का अन्तिम प्रयत्न करने के लिए वह युद्ध की जोखिम उठावे, पेश्तर इसके कि यह भी हाथ से निकल जाय, और उसमे अपने प्रतिद्वन्दियों का मुकाबला करने की सामर्थ्य भी न रहे।

इंग्लैण्ड का एक और भी प्रतिद्वन्दी सोवियत सघ है। ये दोनो आकाश-पाताल के अन्तर वाली नीतियो के आग्रही हैं। दोनों एक दूसरे को आंखें दिखा रहे हैं, और एक दूसरे के विरुद्ध सारे योरप और एशिया में साजिशें कर रहे हैं। कुछ देर तक ये दोनो शक्तियां आपस मे शान्ति भले ही बनाये रक्खें, परन्तु इनके आपसी मतभेद दूर करना बिल्कुल असम्भव है, क्योकि ये भिन्न-भिन्न आदर्शों के आग्रही हैं।

इंग्लैण्ड आज एक संतुष्ट शक्ति है क्योंकि जो कुछ उसे चाहिए वह सब उसके पास मौजूद है। उसे यह डर है कि कही यह छिन न जाय ; और यह डर वाजिब है। वह राष्ट्र सघ का अपने मतलब के लिए उपयोग करके वर्तमान स्थिति को और इसके द्वारा अपनी वर्तमान हैसियत को क़ायम रखने का भरसक प्रयत्न करता है। लेकिन घटनाओ के ज़ोर को रोकना उसके या अन्य किसी शक्ति के बस की बात नही

है। इसमें सन्देह नहीं कि आज वह बहुत ताक़तवर है, परन्तु साथ ही इसमें भी सन्देह नहीं कि साम्राज्यशाही शक्ति की दृष्टि से वह कमज़ोर और क्षीण हो रहा है। हम उसके महान साम्राज्य को अस्त होते हुए देख रहे हैं।

इंग्लैण्ड के उस पार योरप महाद्वीप में फ्रांस है। यह भी एक साम्राज्यशाही शक्ति है जिसका अफ़रीका तथा एशिया में एक महान साम्राज्य है। सैन्य-बल की दृष्टि से यह योरप का सब से बलशाली राष्ट्र है।[1] इसके पास ज़बरदस्त सेना है, और यह पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, बेल्जियम, रूमानिया, यूगोस्लाविया, आदि अन्य राष्ट्रों के गुट्ट का नेता है। मगर फिर भी यह जर्मनी की आक्रमणकारी भावना से डरता है, ख़ासकर जब से हिटलर का राज्य हुआ है। वास्तव में हिटलर ने पूंजीवादी फ्रांस तथा सोवियत रूस की एक-दूसरे के प्रति भावनाओं में विचित्र परिवर्तन पैदा कर दिया है। दोनों का एक-ही शत्रु होने के कारण ये आपस में अच्छे मित्र बन गये हैं।

जर्मनी में नात्सी आतंक अभी तक चल रहा है, और नई-नई क्रूरताओं तथा नये-नये अत्याचारों के समाचार नित्य आते रहते हैं। यह कहना असम्भव है कि ये पाशविकताएं कब तक चलती रहेंगी; इन्हे चलते हुए कितने ही महीने बीत गये, पर अभी तक इनमें कोई कमी नही है। ऐसा दमन स्थिर हुकूमत का लक्षण कभी नही हो सकता। सम्भव है कि यदि जर्मनी सैन्य-बल की दृष्टि से काफ़ी ताकतवर होता तो योरप में युद्ध कभी का छिड़ गया होता। यह युद्ध आगे भी छिड सकता है। हिटलर को यह कहने का शौक़ है कि वह साम्यवाद से बचाने वाला अन्तिम आश्रय है। शायद यह बात सही हो, क्योंकि जर्मनी में अब हिटलरशाही का स्थान लेने वाला केवल साम्यवाद ही है।

मुसोलिनी की छत्रछाया में इटली का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त रूखा, परिस्थिति के अनुसार बदलने वाला, और स्वार्थपूर्ण है। अन्य राष्ट्रो की भाति यह शान्ति और सद्भावना की दिखावटी बातें नही बनाता। वह तो युद्ध के लिए जी-जान से तैयारी कर रहा है, क्योंकि उसे पक्का विश्वास है कि एक न एक दिन युद्ध छिड़ना अनिवार्य है। साथ ही वह अपनी सामरिक स्थिति को सुरक्षित बनाने की चालें चल रहा है। फ़ासीवादी होने के कारण वह जर्मनी में फ़ासीवाद का समर्थन करता है, और हिटलर-पन्थियों से मित्रता का नाता रखता है। परन्तु उधर वह जर्मन नीति के महान लक्ष्य-आस्ट्रिया के साथ एकीकरण[2]—का विरोध करता है। ऐसे एकीकरण से जर्मनी की सरहद ठेठ इटली की सरहद से मिल जायगी, और मुसोलिनी को जर्मनी के अपने फ़ासीवादी बन्धु की यह समीपता पसन्द नही है।

मध्य योरप ऐसे छोटे-छोटे राष्ट्रों की खदबदाती-हुई खिचड़ी है जो मन्दी तथा महायुद्ध के कुफलों के पंजे में छटपटा रहे हैं, और अब हिटलर और उसके नात्सी-दल के डर के मारे जिनके होश बिल्कुल गुम हो रहे है। मध्य योरप के इन सारे देशो में, और ख़ास कर आस्ट्रिया जैसे देशो मे जहा जर्मन लोग रहते हैं, नात्सी दलो का ज़ोर बढ़ रहा है। परन्तु नात्सी-विरोधी भावना भी ज़ोर पकड़ रही है, और नतीजा यह है कि दोनो में संघर्ष हो रहे हैं। आजकल इस संघर्ष की मुख्य भूमि आस्ट्रिया बना हुआ है।

कुछ समय हुआ, शायद सन् १९३२ ई० की बात है, मध्य योरप तथा डैन्यूब प्रदेश के तीन फ्रांस-समर्थक राज्यों—चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया—ने अपना एक सघ या गुट्ट बनाया था। महायुद्ध के तस्फ़िये से इन तीनों राज्यों को लाभ हुआ था, इसलिए जो कुछ मिला था उसे ये बचाना चाहते थे। इस प्रयोजन से इन्होंने आपस में मिलकर एक गुट्ट बना लिया जो वास्तव में युद्ध के लिए गठ-बन्धन था। यह "लिट्ल आन्तान्त" अर्थात छोटे राष्ट्रो का समझौता कहलाता है। इन तीन राज्यों का यह गुट्ट योरप में एक तरह से एक नई शक्ति बन गया है जो फ्रांस-समर्थक तथा नात्सी-विरोधी है और इटली की नीति के भी विरुद्ध है।

---

[1]जर्मनी के दुबारा शस्त्रीकरण के बाद फ्रांस की यह स्थिति नहीं रही। सितम्बर १९३८ ई० के म्यूनिख क़रार के बाद फ्रांस लगभग दूसरे दर्जे की शक्ति बन गया है। मध्य योरप में इसके साथी-राष्ट्रों का गुट्ट भी टूट गया है।

[2]जर्मनी ने मार्च १९३८ ई० में आस्ट्रिया पर हमला करके उसे अपने में मिला लिया। परिस्थितियों से मजबूर होकर मुसोलिनी ने इसे मान तो लिया, परन्तु इस परिवर्तन का इटली ने कड़ा विरोध किया।

जर्मनी में नात्सियों की पूर्ण विजय इस छोटे गुट्ट तथा पोलैण्ड के लिए खतरे की घण्टी थी; क्योंकि नात्सी लोग केवल वर्साई की संन्धि को ही नही पलटवाना चाहते थे (जर्मनी के सभी लोग यह चाहते थे), बल्कि इस तरह की बातें करते थे जिनसे युद्ध की सम्भावना निकट आती हुई प्रतीत होती थी। नात्सियों की भाषा और उनके दाव-पेच इतने आक्रमणकारी और उत्तेजक थे कि आस्ट्रिया तथा हंगरी आदि राज्य, जो वर्साई की सन्धि में संशोधन कराना चाहते थे, वे तक भी भयभीत हो गये। हिटलरशाही के फलस्वरूप और इसके डर के मारे, मध्य तथा पूर्व योरप के राज्य अर्थात "लिट्ल आन्तान्त," पोलैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी, और बलकानी राज्य, जो आपस मे घोर वैमनस्य रखते थे, वे सारे एक दूसरे के अधिक निकट खिच आये। इनमें आपसी आर्थिक एकीकरण की भी चर्चा चल रही है। जब से जर्मनी में नात्सी विस्फोट हुआ है तब से ये देश, और खास कर पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया, सोवियत रूस के प्रति भी अधिक मित्रता प्रगट करने लगे हैं। कुछ सप्ताह पहले इन देशों के तथा रूस के बीच जो अनाक्रमण क़रार हुआ था, वह इसी चीज़ का फल था।*

मै लिख चुका हूं कि स्पेन में इन्ही दिनों क्रान्ति हुई है। यह जम कर नही बैठ सकता, और दूसरे युद्ध के किनारे मंडराता हुआ प्रतीत होता है। योरप में आजकल जो संघर्ष और वैमनस्य फैले हुए हैं, और राष्ट्रो के प्रतिपक्षी गुट्ट एक दूसरे पर आखें तरेर रहे हैं, इनके कारण वह हमें एक अजीब शतरज जैसा दिखाई देता है। इधर तो निःशस्त्रीकरण की अन्त-हीन चर्चाएं चल रही हैं, और उधर शस्त्रीकरण जारी है, और युद्ध तथा विनाश के भीषण अस्त्र-शस्त्र ईजाद हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भी काफ़ी चर्चा है और अनगिनती सम्मेलन बुलाये जा चुके हैं। लेकिन ये सब निरर्थक सिद्ध हुए हैं। राष्ट्र संघ खुद ही बुरी तरह असफल रहा है, और विश्व आर्थिक सम्मेलन मे मिल कर काम करने का जो अन्तिम प्रयास किया गया था वह भी सफल नही हो पाया। एक सुझाव यह है कि योरप के विभिन्न देश, या यो कहो कि रूस को निकाल कर सारा योरप, आपस में मिल कर एक प्रकार का 'योरप का संयुक्त राज्य' बना लें। यह 'अखिल-योरप" आन्दोलन कहलाता है। यह वास्तव में इस बात का प्रयत्न है कि एक तो सोवियत-विरोधी राष्ट्र-समूह बन जाय, और दूसरे इतने अधिक छोटे-छोटे राष्ट्रो के कारण जो अनगिनती कठिनाइया और उलझनें पैदा हो रही हैं वे हल हो जाय। परन्तु राष्ट्रीय वैमनस्य इतने अधिक घोर है कि ऐसे सुझाव पर कोई ध्यान नही दे सकता।

सच तो यह है कि प्रत्येक देश अन्य देशों से दूर ही दूर बहता जा रहा है। मन्दी और जागतिक संकट ने सारे देशो को आर्थिक राष्ट्रीयता के मार्ग की ओर धक्का देकर इस प्रक्रिया की गति और भी तेज़ कर दी है। हरेक देश संरक्षण-करो के ऊंचे परकोटे में बैठ गया है, और जहा तक हो सके विदेशी माल को अपने यहा न आने देने का प्रयत्न करता है। कोई भी देश सारी विदेशी वस्तुओं का आना तो रोक ही नही सकता, क्योकि प्रत्येक देश स्वावलम्बी नहीं होता—अर्थात अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएं पैदा नही कर सकता। परन्तु प्रवृत्ति यह है कि हरेक देश अपनी आवश्यकता की तमाम वस्तुए पैदा करले या तैयार करले। कुछ अत्यावश्यक वस्तुए ऐसी हो सकती हैं जिन्हें वह अपनी जलवायु के कारण पैदा न कर सकता हो। मसलन, इंग्लैण्ड कपास या पटसन या चाय या क़हवा या अन्य बहुत-सी ऐसी वस्तुएं पैदा नहीं कर सकता जिनके लिए कुछ गरम जलवायु की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह है कि भविष्य में व्यापार केवल उन्हीं देशों के बीच सीमित हो जायगा जिनकी जलवायु अलग-अलग तरह की है और जो इस कारण अलग—अलग तरह की वस्तुएं पैदा करते हैं और तैयार करते हैं। एक ही तरह की वस्तुएं तैयार करने वाले देशों के लिए एक दूसरे का माल किसी काम का नही होगा। इसलिए व्यापार उत्तर तथा दक्षिण के बीच चलेगा, पूर्व तथा पश्चिम के बीच नहीं, क्योंकि जलवायु का अन्तर उत्तर और दक्षिण के हिसाब से होता है। उष्ण-कटिबन्ध का देश सम-शीतोष्ण या शीत-प्रधान देशो से व्यापार कर सकेगा, परन्तु उष्ण-कटिबन्ध के दो देश या सम-शीतोष्ण कटिबन्ध के दो देश आपस में व्यापार नही कर सकेंगे। अलबत्ता इनके सिवा और भी निमित्त हो सकते हैं, जैसे कि किसी देश की खनिज सम्पत्ति। परन्तु मुख्य बात यह है कि उत्तर-दक्षिण का निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए लागू होगा। बाक़ी का सब व्यापार संरक्षण-करों की दीवारों से रुक जायगा।

आज यह प्रवृत्ति अपरिहार्य दिखाई देती है। जब प्रत्येक देश का पूरी तरह औद्योगीकरण हो

जाता है तो यह स्थिति औद्योगिक क्रान्ति का अन्तिम स्वरूप कहलाती है। यह सही है कि एशिया तथा अफ़रीका का औद्योगीकरण होने में अभी बहुत देर है। अफ़रीका इतना पिछड़ा-हुआ और ग़रीब है कि थोड़ा-बहुत तैयार माल भी नहीं खपा सकता। जिन तीन बड़े देशों में इस विदेशी माल की खपत जारी रहने की सम्भावना है वे भारत, चीन तथा साइबेरिया हैं। खपत की सम्भावनाओं से पूर्ण इन तीन ज़बरदस्त मण्डियों पर बाहर के उद्योग-प्रधान देशों की लालची निगाहें पड़ रही हैं। चूंकि इन देशों का अपनी मामूली मंडियों से नाता टूट गया है, इसलिए अब ये अपने फ़ालतू माल को ठिकाने लगाने के लिए और अपने लड़खड़ाते हुए पूंजीवाद को खपच्चियां लगा कर खड़ा रखने के लिए "एशिया की ओर धावा" मारने का विचार कर रहे हैं। परन्तु अब एशिया का शोषण करना इतना आसान नहीं है। कुछ तो एशियाई उद्योगों के विकास के कारण और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा के कारण। इंग्लैण्ड भारत को अपने ही माल की मंडी बनाये रखना चाहता है, परन्तु जापान और अमरीका और जर्मनी भी इसे हथियाना चाहते है। यही हाल चीन का भी है; इसके अलावा वहां की वर्तमान स्थिति बहुत डावांडोल है और यातायात के साधन भी ठीक नहीं है जिनके कारण व्यापार कठिन है। सोवियत रूस को अगर उधार मिल जाय, और उससे तुरन्त दाम न मांगे जायं, तो वह बाहर के देशों से ढेरों माल ख़रीदने को तैयार है। परन्तु कुछ समय बाद तो सोवियत संघ अपनी ज़रूरत की लगभग सारी वस्तुएं बनाने लगेगा।

विगत वर्षों में सारी प्रवृत्ति राष्ट्रों के बीच अधिकाधिक परस्पर-निर्भरता या अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर रही है। यद्यपि अलग-अलग स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य बने रहे, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय नातों तथा व्यापार का एक भीमकाय और पेचीदा ढांचा खड़ा हो गया। यह प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ी कि राष्ट्रीय राज्यो और खुद राष्ट्रीयता से ही टकराने लगी। इससे आगे का स्वाभाविक क़दम यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे का रूप समाजवादी बना दिया जाता। अपने दिन पूरे होने के बाद पूजीवाद उस स्थिति पर पहुच गया था जब कि उसे समाजवाद के लिए अपनी जगह खाली कर देनी चाहिए थी। परन्तु दुर्भाग्य से इस तरह अपने-आप कोई अपनी जगह से नही हटा करता। चूंकि सकट का और ढेर हो जाने का खतरा पूजीवाद के सिर पर आ गया, इसलिए वह अपने परकोटे में घुस गया और परस्पर-निर्भरता की ओर जाने वाली पुरानी प्रवृत्ति को उलटी दिशा में ले जाने का प्रयत्न करने लगा। आर्थिक राष्ट्रीयता इसी का फल है। परन्तु सवाल यह है कि क्या यह सफल होगी, और अगर हो भी जाय तो कितने दिन तक?

समूचा संसार आज एक अद्भुत गड़बड़-घोटाला, और संघर्षों तथा ईर्ष्या-द्वेषो की भयकर गुत्थी बना हुआ है। और नई प्रवृत्तिया इन सघर्षों के दायरे को बढ़ा ही रही हैं। प्रत्येक महाद्वीप में, प्रत्येक देश में, निर्बल और पीड़ित लोग जीवन को सुख देने वाली उन वस्तुओं में हिस्सा बांटना चाहते हैं जिनके उत्पादन में खुद उनका ही हाथ है। वे अपने उस क़र्ज़े का भुगतान मांगते हैं जिसकी मियाद बहुत दिन हुए पूरी हो चुकी है। कहीं-कही तो वे यह मांग ज़ोर-शोर से, कर्कशता से, और उद्दंडता से कर रहे हैं; कही ज़रा खामोशी से। इतने दिनों से उन्हें जिस बुरे व्यवहार और शोषण का शिकार बनाया गया है, उस पर क्रोधित और कटु होकर यदि वे कोई ऐसी कार्रवाई करे जो हमें अच्छी न लगे, तो क्या हम उन्हें दोष दे सकते हैं? उनकी उपेक्षा की गई और उन्हें नीची निगाह से देखा गया; किसी ने उन्हें शिष्टाचार सिखाने की भी परवाह नही की।

निर्बलों तथा पीड़ितो की इस उथल-पुथल से सब जगह के सम्पत्ति-स्वामी वर्ग भयभीत हो रहे हैं, और इसे दबाने के लिए दल बनाकर इकट्ठे हो रहे हैं। इस प्रकार फ़ासीवाद बढ रहा है और साम्राज्यशाही सारे विरोधियों को कुचल रही है। लोकतंत्र और जनता की भलाई तथा अमानतदारी के लच्छेदार शब्द पीछे हटते जा रहे हैं, और सम्पत्ति-स्वामी वर्गों तथा निहित स्वार्थों का नंगा शासन अधिक प्रत्यक्ष होता जा रहा है। और अनेक स्थानों पर तो इसकी पूरी जीत भी होती दिखाई दे रही है। एक कठोरतर युग, क्रूर तथा आक्रमणकारी हिंसा का युग, प्रगट हो रहा है, क्योंकि सब जगह यह लड़ाई पुरानी और नई व्यवस्थाओं के बीच जीवन-मरण की लड़ाई है। क्या योरप में क्या अमरीका में, और क्या भारत में, सब जगह ऊंचे दांव लगे हुए हैं, और पुराने राजतंत्र का भाग्य डावांडोल हो रहा है, हालांकि अभी यह भले ही मज़बूती के साथ जमा

हुआ हो। जबकि समूची साम्राज्यशाही-पूंजीवादी प्रणाली की जड़ें तक हिल गई है, और यह इस योग्य भी नही रही है कि अपने क़र्ज़े चुका सके या जो मांगें इस पर आ रही हैं उन्हें पूरी कर सके, तो आर्थिक सुधारों से आज की समस्याएं न तो निबट सकती हैं और न हल हो सकती हैं।

आज संसार पर इन राजनैतिक, आर्थिक, जातीय, आदि अनगिनती संघर्षों का बादल छाया हुआ है, और युद्ध की परछाई इनके साथ-साथ चल रही है। कहते हैं कि इन संघर्षों में सबसे महान और सबसे बुनियादी संघर्ष वह है जिसमें एक ओर तो साम्राज्यवाद और फ़ासीवाद है और दूसरी ओर साम्यवाद है। ये आज संसार भर में एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े हैं, और इनके बीच समझौते की कोई गुंजायश नही है।

सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद, संघवाद, अराजकतावाद, साम्यवाद, आदि कितने "वाद" है! और इन सबके पीछे अवसरवाद लगा हुआ है! परन्तु जो लोग आदर्शवाद चाहते है उनके लिए यह भी है; यह आदर्शवाद कोरी मानसिक उड़ानो का या बे-लगाम कल्पना का नही है, बरन एक महान मानव उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील होने का है; यह वह महान आदर्श है जिसे हम मूर्तरूप देना चाहते हैं। जॉर्ज बर्नार्ड शा ने एक जगह लिखा है:

> "जीवन में सच्चा आनन्द यही है कि मनुष्य अपने-आपको ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति में लगा दे जिसे वह प्रबल समझता हो; घूरे पर फेंक दिया जाने से पहले अपने-आपको बिल्कुल खपा दे; विकारों और शिकायतों का छोटा-सा सरगर्म और स्वार्थी ढेला बनने के बजाय और यह शिकायत करने के बजाय कि संसार उसे सुखी बनाने की ओर ध्यान नही देना चाहता, अपने-आपको प्रकृति का एक बल बना दे।"

इतिहास में प्रवेश करके हमने जो देख-भाल की है उससे हमें पता लगता है कि किस प्रकार संसार दिन पर दिन अधिक सघन होता गया है, और किस प्रकार उसके भाग नज़दीक आ-आकर परस्पर-निर्भर बन गये है। यह संसार सचमुच एक पूरी अविभाज्य इकाई बन गया है, जिसके हरेक भाग का एक-दूसरे पर असर पड़ता है। अब राष्ट्रो के अलग-अलग इतिहास होना बिल्कुल असम्भव है। हम उस अवस्था से बढ गये है, और अब तो वही इतिहास कोई उपयोगी प्रयोजन सिद्ध कर सकता है जो सारे ससार का समूचा इतिहास हो, जो तमाम राष्ट्रों से निकलने वाले सूत्रो को जोड़ता हो, और जो इन राष्ट्रो को प्रेरणा देने वाले असली बलो को तलाश करने का प्रयत्न करता हो।

विगत ज़मानो में भी, जबकि अनेक भौतिक तथा अन्य बाधाओं के कारण राष्ट्र एक-दूसरे से विलग थे, हम देख चुके है कि एक-समान अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्महाद्वीपीय बल किस प्रकार उन्हें ढालते रहते थे। इतिहास में महान व्यक्तियो का सदा महत्व रहा है, क्योकि नियति के प्रत्येक संकट में मानव एक महत्वपूर्ण निमित्त रहता है; परन्तु व्यक्तियों से भी महान वे क्रियाशील बल है जो हम को इधर-उधर धकेलते हुए, बिना देखे-भाले, और कभी-कभी तो निर्दयता के साथ, आगे बढ़ते चले जाते है।

आज हमारा यही हाल है। करोडो मानव जीवों को प्रेरित करने वाले ज़बरदस्त बल अपना काम कर रहे है, और वे भूकम्प की तरह या इसी तरह की किसी अन्य प्राकृतिक उथल-पुथल की तरह बढे चले जा रहे है। हम चाहे जितने प्रयत्न करें तो भी इन्हे नही रोक सकते। मगर फिर भी हम संसार के अपने-अपने छोटे-छोटे कोनों में इनके वेग और इनकी दिशा को कुछ पलट सकते है। हम अपने-अपने विभिन्न स्वभावों के अनुसार इनका मुक़ाबला करते हैं; कुछ तो इनसे भयभीत हो जाते है, कुछ इनका स्वागत करते हैं, कुछ इनसे जूझने का प्रयत्न करते है, कुछ लाचार होकर भाग्य के कठिन विधान के आगे सिर झुका देते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो तूफान पर सवार होने का और उसे कुछ क़ाबू में लाने का और इच्छानुसार ले जाने का प्रयत्न करते हैं। ये लोग एक प्रबल प्रक्रिया में क्रियात्मक सहयोग देने का आनन्द प्राप्त करने के लिए इस प्रयत्न में आने वाले खतरों का खुशी से सामना करते है।

इस हलचल-भरी बीसवीं सदी में, जिसका युद्धों और क्रान्तियों से भरपूर एक-तिहाई समय बीत चुका है, हमारे लिए कोई शान्ति नहीं है। फ़ासीवादियो का गुरु मुसोलिनी कहता है: "समग्र संसार क्रान्तिमय हो रहा है। घटनाएं स्वयम ही एक ज़बरदस्त बल हैं जो किसी दुर्दान्त इच्छा-शक्ति की भांति हमें आगे धकेल रहा है।" और महान साम्यवादी ट्राट्स्की भी हमें चेतावनी देता है कि इस सदी में शान्ति और सुख की बहुत अधिक आशा करना व्यर्थ है। वह कहता है: "यह स्पष्ट है कि जहां तक मनुष्य जाति को याद है

जहां तक तो बीसवीं सदी से अधिक अशान्त सदी कभी भी नहीं आई। यदि हमारे जमाने का कोई व्यक्ति अन्य सब वस्तुओं से पहले शान्ति और सुख चाहता है, तो उसे ऐसे बुरे समय में जन्म नहीं लेना चाहिए था।"

इस समय समूचा संसार प्रसव-पीड़ा में है, और युद्ध तथा क्रान्ति की गहरी परछाईं सब जगह पड़ रही है। अगर हम अपनी इस अपरिहार्य नियति से बच नहीं सकते तो हमें इसका मुकाबला किस तरह करना चाहिए ? क्या हम शुतुर-मुर्ग[1] की तरह इसके डर से अपना सिर छिपा कर बैठ जायं ? या घटनाओं को ढालने में वीरता के साथ हिस्सा लें, और जरूरत पड़े तो खतरे और जोखिमें भी उठा कर एक महान और उच्च साहसिक-कार्य का आनन्द अनुभव करें, और इस भावना का अनुभव करें कि हमारे "पद-चिह्न इतिहास के पद-चिह्नों में विलीन हो रहे हैं" ?

हम सब, या कम से कम विचारवान लोग, उत्कण्ठा के साथ उस भविष्य की ओर निहार रहे हैं जो प्रगट होता जा रहा है और वर्तमान बन रहा है। कुछ तो इसके फल की प्रतीक्षा आशा के साथ कर रहे हैं, कुछ भय के साथ। क्या भावी संसार आज से अधिक सुन्दर और सुखमय होगा, जिसमें जीवन को आनन्द प्रदान करनेवाली वस्तुओं पर केवल गिने-चुने लोगों का ही अधिकार नहीं होगा बल्कि सब लोग इनका स्वतन्त्रता से उपभोग करेंगे ? या यह संसार आज से भी अधिक कठोर होगा जिसमें भीषण और संहारकारी युद्धों के कारण आधुनिक सभ्यता के अनेक सुख-साधन नष्ट हो चुके होंगे ? यही दो अन्तिम सीमाएं हैं। इन दोनों बातों में से एक ही घटित हो सकती है। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि कोई बीच का रास्ता क़ायम हो जाय।

प्रतीक्षा करने और भविष्य की ओर निहारने के साथ-साथ हमें उस प्रकार के संसार के लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए जिस प्रकार का कि हम चाहते हैं। मनुष्य ने प्रकृति के ढंगों के आगे लाचारी से घुटने टेक कर अपनी पशु-अवस्था से प्रगति नहीं की है, बल्कि अक्सर उनकी अवज्ञा करके और मानव हित के लिए उन पर हावी होने की इच्छा करके प्रगति की है।

'आज' इस तरह का है। 'कल' का निर्माण करना तुम्हारे और तुम्हारी पीढ़ी के लोगों के हाथ में है; संसार भर के उन करोड़ों लड़कों और लड़कियों के हाथ में है जो बड़े होकर इस कल के निर्माण में भाग लेने के लिए अपने-आपको तैयार कर रहे हैं।

: १९६ :

अन्तिम पत्र

९ अगस्त, १९३३

प्यारी बेटी, हमारा काम खतम हो चुका, इस लम्बी कहानी का अन्त आ गया। अब मुझे आगे कुछ नहीं लिखना है, परन्तु कुछ धूमधाम से पूर्णाहुति देने की इच्छा मुझे एक पत्र और लिखने को प्रेरित करती है—यही अन्तिम पत्र है !

वैसे भी इस सिलसिले को समाप्त करने का समय आ गया है, क्योंकि मेरी दो वर्ष की क़ैद की मियाद पूरी होनेवाली है। आज से पूरे तैंतीस दिन बाद में रिहा हो जाऊंगा, बशर्ते कि इससे पहले ही न छोड़ दिया जाऊं, क्योंकि जेलर कभी-कभी ऐसा करने की धमकी देता रहता है। पूरे दो वर्ष अभी समाप्त नहीं हुए हैं, परन्तु जिस तरह अच्छा आचरण करने वाले सब क़ैदियों को छूट मिला करती है, उसी तरह मुझे भी अपनी सज़ा में साढ़े तीन महीने की छूट मिली है। क्योंकि मैं अच्छे आचरण वाला क़ैदी माना गया हूं, हालांकि इस श्रेय के योग्य बनने के लिए मैंने वास्तव में कुछ नहीं किया है। यों यह मेरी छठवीं सज़ा समाप्त होती

---

[1] कहते हैं कि शुतुर-मुर्ग जब किसी भय से भागते-भागते थक जाता है तो रेत में अपना सिर छिपा लेता है।

है, और मैं फिर बाहर निकल कर लम्बी-चौड़ी दुनिया में प्रवेश करूंगा। मगर किस हेतु के लिए? इससे क्या लाभ होगा, जब कि मेरे अधिकतर मित्र और साथी जेलों में पड़े है, और सारा देश मानो एक विशाल जेलखाना बना हुआ है ?

पत्रों का कितना बड़ा ढेर मैंने लिख डाला है ! और स्वदेशी काग़ज पर मैंने कितनी सारी स्वदेशी स्याही बिखेर दी है ! मेरे दिल में सवाल उठता है कि क्या इसका कोई प्रयोजन है ? क्या यह इतना सारा काग़ज और इतनी सारी स्याही तुम्हें कोई संदेश देंगे और तुम्हारे लिए रोचक होंगे ? मै जानता हूं कि तुम इसका उत्तर 'हाँ' में ही दोगी, क्योंकि तुम्हें लगेगा कि और किसी प्रकार के उत्तर से मुझे दुख पहुंचेगा, और मेरे प्रति तुम्हारा इतना झुकाव है कि तुम यह जोखम नही उठाओगी। तुम इनकी परवा करो या न करो, परन्तु इन दो लम्बे वर्षों मे दिन प्रति दिन ये पत्र लिखकर मुझे जो आनन्द मिला है, उस पर तुम्हे अप्रसन्नता नही हो सकती। जब मैं यहा आया तब सरदी का मौसम था। सरदी के बाद हमारा थोड़ा दिन का बसन्त आया जिसे ग्रीष्म की गरमी ने बहुत जल्दी मार डाला। और फिर, जब धरती झुलस गई और सूख गई, और मनुष्यो तथा पशुओ का दम घुटने लगा, तब ताजा और ठडा बरसाती पानी लेकर घटाए आईं। इसके बाद पतझड़ आया और आकाश बिल्कुल स्वच्छ तथा नीला हो गया और तीसरे पहर का समय सुहावना हो गया। वर्ष का काल-चक्र पूरा हो गया, और फिर दुबारा शुरू हो गया : सरदी, बसन्त, गर्मी और बरसात । यहां बैठे-बैठे मैंने तुम्हे पत्र लिखे है, और तुम्हे याद किया है, और ऋतुओ का परिभ्रमण निहारा है, और अपनी बारक की छत पर पड़नेवाली बरसाती बूदों की तडतड़ सुनी है:

"ओ वर्षा जल की कोमल ध्वनि,
पृथ्वी पर और छत के ऊपर !
उत्सुक और प्यासे हृदयों को,
ओ वर्षा के सगीत मधुर !"[१]

उन्नीसवी सदी के महान अंग्रेज राजनीतिज्ञ बैञ्जामिन डिज़रेली ने लिखा है "देश-निकाले तथा क़ैद की सजा पाये हुए दूसरे लोग यदि जीते निकल आवें, तो हताश हो जाते है; साहित्यिक व्यक्ति उन दिनो को अपने जीवन के सबसे मधुर दिनो में गिनता है।" यह उन्नीसवी सदी के एक प्रसिद्ध डच विज्ञान-वेत्ता तथा दार्शनिक यूगो ग्रोशिअस का जिक्र है, जिसे आजन्म क़ैद की सजा हुई थी, परन्तु जो दो वर्ष बाद निकल भागा था। इसने जेल में ये दो वर्ष दर्शन तथा साहित्य विषयो की पुस्तकें रचने में बिताये थे। अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकार जेल के पंछी रह चुके है। इनमें सबसे अधिक विख्यात दो है एक तो "डॉन क्विग्ज़ोट" का लेखक स्पेन-निवासी सर्वेण्टीज, और दूसरा "पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस" का रचयिता अंग्रेज जॉन बनियन।

मै साहित्यिक नही हूं, और न मै यह कहने को तैयार हूं कि जो अनेक वर्ष मैने जेल में बिताये हैं वे मेरे जीवन के सबसे मधुर वर्ष है। परन्तु मै यह कह सकता हू कि इन वर्षों को गुजारने मे पढाई तथा लिखाई ने मुझे विलक्षण सहायता दी है। मै साहित्यकार नही हू, और इतिहासकार भी नही हूं; तो सचमुच मै हूं क्या ? इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए कठिन है। मै बहुत-सी बातों में टाग अड़ानेवाला रहा हू; कालेज में मैंने विज्ञान शुरू किया, फिर क़ानून की परीक्षा पास की, और फिर जीवन में अन्य विविध शौक़ बढ़ाने के बाद, अन्त में जेल-यात्रा का वह पेशा अपनाया जो भारत में लोकप्रिय है और खूब प्रचलित है !

इन पत्रों में मैंने जो कुछ लिखा है, उसे तुम किसी विषय के बारे में अन्तिम प्रमाण मत मान लेना। राजनैतिक कार्यकर्ता प्रत्येक विषय पर कुछ मत प्रगट करना चाहता है, और जो कुछ वह वास्तव में जानता है उससे बहुत अधिक जानने का ढोंग करता है। उस पर सावधानी की नजर रखनी चाहिए ! मेरे ये पत्र केवल ऊपरी तौर के खाके है जिन्हें एक बारीक डोरे से जोड दिया गया है। मैं सदियो और अनेक महत्व-पूर्ण घटनाओं के ऊपर फुदकता हुआ बे-ठौर-ठिकाने घूमता रहा हू, और अगर कोई घटना मुझे रोचक लगी तो उस पर मैंने काफ़ी लम्बे समय के लिए अपना तम्बू गाड़ दिया है। इन पत्रों में तुम देखोगी कि मेरे राग

[१] फ्रांसीसी भाषा के एक पद्य का अनुवाद।

और द्वेष काफ़ी तौर पर सामने आ गये हैं, और जेल में मेरी मनोदशा भी कभी-कभी इसी तरह प्रगट हो गई है। इसलिए मैं नहीं चाहता कि तुम इन पत्रों की सारी बातों को ज्यों की त्यों मान लो; मेरे वर्णनों में सचमुच अनेक भूलें हो सकती हैं। जेल में न तो पुस्तकालय होते हैं, और न जानकारी देनेवाली पुस्तकें उपलब्ध होती हैं; इसलिए ऐतिहासिक विषयों पर क़लम चलाने के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं होता। बारह साल हुए जबसे मैंने अपनी जेल-यात्राएं शुरू की हैं, तब से जो बहुत-सी याद-दाश्तें मैंने लिख-लिख कर जमा करली हैं, उन्हीं पर मुझे अधिकतर निर्भर रहना पड़ा है। यहां मेरे पास बहुत-सी पुस्तकें आई भी हैं, पर वे आती-जाती रही हैं, क्योंकि मैं यहां कोई पुस्तकालय तो जमा कर नहीं सकता। इन पुस्तको में से मैंने निःसंकोच होकर तथ्य और विचार उड़ा लिये है; इसलिए जो कुछ मैंने लिखा है उसमें मौलिकता कुछ नहीं है। कई बार शायद तुम्हें मेरे पत्रो की बातें समझने में कठिनाई लगे; उन अंशों पर सरसरी नजर डाल लेना और ज्यादा ध्यान मत देना। कभी-कभी मेरी बड़ी उम्र भी मुझ पर हावी हो गई, और मैंने उस ढंग से लिख डाला जिस ढंग से मुझे लिखना नही चाहिए था।

मैंने तुम्हारे सामने कोरी रूपरेखा रक्खी है। यह इतिहास नही है; हमारे लम्बे अतीत की केवल उडती-हुई-सी झांकियां हैं। अगर तुम्हारी इतिहास में रुचि हो अगर तुम इतिहास की मनमोहकता को कुछ महसूस करो, तो ऐसी अनेक पुस्तकें मिल जायंगी जिनसे तुम्हें अतीत युगों के उलझे हुए सूत्रो को सुलझाने में मदद मिलेगी। परन्तु केवल पुस्तकें पढ़ने में अधिक लाभ नही होगा। यदि तुम अतीत की बाते जानना चाहती हो तो तुमको इस पर सहानुभूति के साथ और समझदारी के साथ ग़ौर करना होगा। प्राचीन काल में रहने वाले किसी व्यक्ति को समझने के लिए तुम्हे उसके चौगिर्द को समझना होगा, उन परिस्थितियो को समझना होगा जिनमें वह रहता था, और उसके दिमाग में भरे हुए विचारों को समझना होगा। यदि हम पुराने जमाने के लोगों के बारे में यह मान कर निर्णय देने लगें कि वे आजकल के जमाने मे रहते थे और हमारे ही ढग से सोचते थे, तो यह हमारे लिए बेवकूफ़ी की बात होगी। आज गुलामी का समर्थन कोई भी नही करता, मगर महान अफलातून का यह दावा था कि इसके बिना काम नहीं चल सकता। सयुक्त राज्य अमरीका में गुलामी-प्रथा को क़ायम रखने के प्रयत्न मे जो बीसियों हजार व्यक्तियों ने जानें दे दी थीं, उसे ज्यादा समय नहीं हुआ है। अतीत को हम वर्तमान जीवन की तराजुओं से नहीं तोल सकते। इसे सब खुशी से स्वीकार कर लेंगे। परन्तु वर्तमान को अतीत की तराजुओं पर तोलने पर जो इतनी ही बेहूदा आदत है, उसे सब लोग स्वीकार नहीं करेगे। विविध धर्मों ने उन विश्वासों, श्रद्धाओं तथा दस्तूरो को पत्थर की लकीर बनाने में विशेष सहायता दी है जिनका शायद इनके जन्म-युगों तथा जन्म-देशों में कुछ उपयोग रहा हो, परन्तु जो हमारे वर्तमान युग के लिए नितान्त अनुपयुक्त है।

इसलिए, अगर तुम पुराने इतिहास को सहानुभूति की दृष्टि से देखो तो उसकी सूखी हड्डियों में मास-मज्जा भर जायंगे, और तुम्हें हर युग तथा हर प्रदेश के जीते-जागते नर-नारियों और बालको का एक बडा भारी जुलूस-सा दिखाई देने लगेगा। ये नर-नारी हमसे भिन्न हैं, परन्तु फिर भी बहुत-कुछ हमारे ही जैसे हैं; इनमें हमारी ही तरहके मानव गुण और मानव दोष हैं। इतिहास कोई जादू का तमाशा नही है, परन्तु आंखें खोल कर देखनेवालों के लिए इसमें काफ़ी जादू है।

इतिहास की चित्रशाला के अनगिनती चित्र हमारे मस्तिष्क में अंकित हैं। मिस्र, बाबीलन, निनेवा, पुरानी भारतीय सभ्यताएं—आर्यों का भारत में आगमन तथा योरप और एशिया में फैलना—चीनी संस्कृति का अद्भुत लेखा—नोसास और यूनान—शाही रोम और बिज़ैण्टियम—दो महाद्वीपों के आर-पार अरबोंका विजयोल्लासपूर्ण धावा—भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण और ह्रास—अमरीका की अपरिचित 'मय' तथा 'अज़टेक' सभ्यताएं—मंगोलों की विस्तृत दिग्विजय—योरपके मध्य-कालीन युग और इनके गोथिक शैली के अपूर्व गिरजाघर—भारतमें इस्लाम का आगमन और मुग़ल साम्राज्य—पश्चिमी योरप में विद्या और कला का पुनर्जागरण—अमरीका की तथा पूर्वी समुद्री-रास्तों की खोज—पूर्व में पश्चिम की आक्रमणकारी कार्रवाईयों का प्रारम्भ—बड़े-बड़े यन्त्रो का प्रादुर्भाव और पूजीवाद का विकास—उद्योगवाद, और योरपीय प्रभुत्व तथा साम्राज्यवाद का प्रसार—और आधुनिक जगत में विज्ञान के अद्भुत चमत्कार।

बड़े-बड़े साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ है, और ये हजारों वर्षों तक विस्मृति के गर्भ में पड़े रहे हैं। पर इनके रेत के नीचे दबे हुए भग्नावशेषों को अब यत्नशील खोजियों ने फिर खोद निकाला

है। मगर अनेक विचार, अनेक आकर्षण, इन साम्राज्यों के बाद भी बच गये हैं, और इनसे अधिक मजबूत तथा अधिक स्थायी सिद्ध हुए हैं।

मेरी कोलरिज का एक गीत है जिसका अनुवाद इस प्रकार है :

"गिर गया है मिस्र का ऐश्वर्य होकर चूर-चूर
वह विचारों के महा गहरे गढ़े में है पड़ा;
हो गया यूनान का और ट्रॉय नगरी का पतन,
छिन गया है ताज वैभवपूर्ण नगरी रोम का,
और मिट्टी में मिली है शान वेनिस शहर की।
किन्तु इनके बाल-बच्चे देखते थे स्वप्न जो—
व्यर्थ-से, उड़ते-हुए-से, वास्तविकता-हीन-से,
और क्षण-भगुर जो छाया की तरह थे दीखते,
औ' हवा की भांति जो निस्सार थे लगते उन्हें,
बस वही सपने रहे हैं शेष अब तक भी वहाँ।"

बीता हुआ समय हमारे लिए अनेक उपहार छोड़ गया है; सच तो यह है कि संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, या सत्य के कुछ अंगों के ज्ञान के रूप में आज जो कुछ हमारे पास है, वह सब दूर अतीत या निकट अतीत की ही देन है। इसलिए, यदि हम अतीत के इस ऋण को स्वीकार करते हैं तो यह उचित ही है। परन्तु हमारा कर्त्तव्य या ऋण केवल अतीत के ही साथ समाप्त नही हो जाता। भविष्य के प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य है, और यह ऋण शायद उस ऋण से भी बड़ा है जो हमें अतीत को चुकाना है। क्योंकि अतीत तो बीत चुका और खतम हो गया; हम उसे बदल नहीं सकते। परन्तु भविष्य तो अभी आने वाला है, और शायद हम उसे कुछ बना सकें। यदि अतीत ने सत्य का कुछ अंश हमे दिया है, तो भविष्य के गर्भ में भी सत्य के अनेक अंग छिपे हुए है, और वह हमें उन्हें ढूढ निकालने को बुला रहा है। परन्तु अक्सर अतीत का भविष्य से द्वेष होता है, और वह हमें बहुत मजबूत शिकंजे में जकड़े रहता है, और भविष्य का सामना करने के लिए तथा इसकी ओर प्रगति करने के लिए हमें अतीत से संघर्ष करना पड़ता है।

कहा जाता है कि इतिहास हमें अनेक पाठ पढाता है; दूसरी कहावत यह भी है कि इतिहास अपने-आपको कभी नही दोहराता। ये दोनों ही बातें सही है, क्योंकि इतिहास की अन्धे होकर नक़ल करने से, या यह प्रतीक्षा करने से कि वह अपने-आप को दोहरायेगा या अचल पड़ा रहेगा, हम उससे कोई शिक्षा ग्रहण नही कर सकते। परन्तु हम इतिहास के पीछे झाँक कर और उसका सचालन करने वाले बलो को समझ कर, उससे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। मगर फिर भी हमें सीधा उत्तर शायद ही कभी प्राप्त होता है। कार्ल मार्क्स ने कहा है : "इतिहास के पास तो पुराने सवालों का उत्तर देने का केवल एक ही तरीक़ा है कि वह नये सवाल उठाता रहता है।"

पुराना जमाना श्रद्धा का, अन्धी और अ-सशय श्रद्धा का, जमाना था। पिछली शताब्दियों के अद्‌भुत मन्दिर और मस्जिदें और गिरजे कभी निर्मित नही हो सकते थे यदि कारीगरों और मिस्त्रियों और सारी जनता में असीम श्रद्धा न होती। जिन पत्थरों को उन्होंने भक्ति भाव से एक-पर-एक चुना या सुन्दर आकृतियों में काटा, वे ही इस श्रद्धा का परिचय दे रहे हैं। पुराने मन्दिरों के शिखर, पतली-पतली बुर्जियों वाली मस्जिदें, गोथिक शैली के गिरजे—जो सारे के सारे भक्ति की आश्चर्यकारक उत्कटता के साथ ऊपर को इंगित कर रहे हैं, मानो ऊपर-स्थित आकाश को पत्थर या संगमरमर के रूप में प्रार्थना अर्पित कर रहे हों—आज भी हमें रोमांचित कर देते हैं; भले ही हमारे हृदयों में उस पुरानी श्रद्धा का अभाव हो जिसके ये मूर्त-रूप हैं। उस श्रद्धा के दिन अब नही रहे हैं, और उनके साथ ही पत्थर में चमत्कार उत्पन्न करने वाला वह स्पर्श भी जाता रहा है। आजकल भी हजारों मन्दिर और मस्जिदें और गिरजें बनते रहते हैं, परन्तु इनमें उस आत्मा का अभाव है जिसने मध्य-युगों में इन्हें अनुप्राणित किया था। इनमें, तथा हमारे युग को खूब व्यक्त करने वाले व्यापारिक कार्यालयों में, कोई अन्तर नहीं है।

हमारा युग दूसरी ही तरह का है। यह भ्रान्ति-निवारण, सन्देह, अनिश्चितता और शंका का युग है। अब हम बहुत-से प्राचीन विश्वासों और दस्तूरों को स्वीकार नही कर सकते; क्या एशिया, क्या योरप और

तथा अमरीका, सब जगह लोगों की श्रद्धा इन पर से हट गई है। इस कारण हम नये मार्ग खोजते है, और सत्य के ऐसे नये स्वरूप खोजते हैं जिनकी हमारे चौगिर्द से अधिक संगति हो। हम आपस में प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद और झगड़े करते हैं, तथा अनगिनती "वादों" और दार्शनिक विचार-धाराओं को जन्म देते हैं। सुक़रात के जमाने की तरह हम लोग भी प्रश्नोत्तर के युग मे रह रहे है; परन्तु प्रश्नोत्तर की यह प्रवृत्ति एथेन्स जैसे शहर तक ही सीमित नहीं है; यह जगत-व्यापी है।

संसार के अन्याय, दुःख, पाशविकता, आदि, कभी-कभी हमें सताते है और हमारे मन को मलीन करते हैं, और हमें बाहर निकलने का रास्ता नही दिखाई देता। मैथ्यू आर्नोल्ड[1] की भांति हम अनुभव करते हैं कि इस संसार में आशा का कोई चिन्ह नही है, और हमारे लिए सिवा इसके कोई चारा नही है कि आपस में सच्चाई का व्यवहार करें :

"क्योंकि यह ससार, जो है दीखता
फैला हुआ सन्मुख हमारे, स्वप्न की दुनिया सदृश,
इतना विविध इतना मनोरम और नूतन;
पर न सचमुच हर्ष है इसमें, न सचमुच प्रेम है, न प्रकाश है,
न कही सुनिश्चितता है, अथवा शान्ति अथवा कष्ट का प्रतिकार ही है;
और हम बैठे हैं मानो तमाच्छादित भूमि पर,
जिसमें भरा है घोर कोलाहल लड़ाई और भगदड की पुकारों का,
जहाँ नादान सेनाए अन्धेरी रात में टकरा रही है।"[2]

मगर फिर भी, यदि हम ऐसा निराशापूर्ण रुख अपना लें, तो कहना होगा कि हमने जीवन से या इतिहास से समुचित शिक्षा ग्रहण नही की है। क्योंकि इतिहास हमें वृद्धि की, और उन्नति की, और मनुष्य के लिए अपरिमित प्रगति की सम्भावना की, बातें सिखाता है। जीवन अनेक सावनो और विविधताओ से परिपूर्ण है, और यद्यपि इसमे अनेक दलदलें और डाबर और कीचड़ के स्थान हैं, परन्तु दूसरी ओर इसमें महासागर और पर्वत, और हिम, और हिम-नदियां, और अद्भुत तारो-भरो रातें (खास कर जेल में !) है, और कुटुम्ब तथा मित्रो का प्रेम है, और समान उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील कार्यकर्त्ताओ का साथ है, और संगीत और पुस्तकें और विचारों का साम्राज्य है। इसलिए हमारे में से हरेक व्यक्ति को यह कहना चाहिए।

"हे प्रभो, यद्यपि रहा मैं भूमि पर, हूँ भूमि की सन्तान मैं,
किन्तु तारा-जटित नभ ने पितृवत् पाला मुझे।"

विश्व के सौन्दर्य को सराहना तथा विचार और कल्पना के जगत में विचरण करना आसान है। परन्तु इस तरह दूसरों के दुःखों से कतराने का प्रयत्न करना और इस बात की चिन्ता न करना कि दूसरो पर क्या बीतती है, न तो साहस का लक्षण है और न सहानुभूति की भावना का। विचार तभी सार्थक माना जा सकता है जब उसका फल कर्म के रूप में प्रगट हो। मनुष्य जाति के हितैषी रोम्याँ रोलाँ[3] ने कहा है : "कर्म ही विचार का अन्तिम लक्ष्य है। जो विचार कर्म की ओर प्रवृत्त न हो वह सब-का-सब निरर्थक और विश्वास-घाती है। इसलिए, यदि हम विचार के दास हैं तो हमें कर्म के भी दास होना चाहिए।"

लोग-बाग कर्म से अक्सर इसलिए कतराते हैं कि वे परिणामो से डरते है, क्योंकि कर्म का अर्थ है जोखिम और खतरा। परन्तु डर दूर से ही भयंकर दिखाई देता है; निकट से देखा जाय तो इतना बुरा नहीं होता। और बहुत बार तो भय ऐसा सुहावना साथी बन जाता है जो जिन्दगी की लज्जत और खुशी को बढ़ाता है। जीवन का साधारण क्रम कभी-कभी नीरस हो जाता है, क्योंकि हम यह सोच लेते हैं कि दुनिया की बातें अपने-आप होती रहती हैं, और उनमें मजा नही लेते। लेकिन यदि हमें जीवन की इन्ही साधारण चीजों के बिना कुछ दिन रहना पड़े, तो हम उनकी कितनी क़द्र करने लगते हैं! बहुत-से लोग ऊँचे-ऊँचे

---

[1] इंग्लैण्ड का एक प्रसिद्ध कवि जिसका Light of Asia नामक काव्य बहुत मशहूर है।

[2] मैथ्यू आर्नोल्ड रचित एक पद्य का अनुवाद।

[3] फ्रांसीसी लेखक, विचारक, तथा संगीत विद्या-विशारद। नोबल-पुरस्कार विजेता। इनकी मृत्यु १९४४ ई० में हो गई।

पर्वतों पर चढ़ते हैं, और चढ़ाई के मजे के लिए, तथा कठिनाई पार करने व खतरा उठाने से प्राप्त होने-वाली प्रफुल्लता के लिए, अपने प्राण तथा शरीर को जोखिम में डालते हैं। और, उनके चारों ओर जो खतरा मंडराता रहता है उसके कारण उनकी ग्रहण-शक्तियाँ पैनी हो जाती हे और अधर लटके हुए जीवन का मजा खूब गहरा हो जाता है।

हम सबके सामने पसन्द करने के लिए दो रास्ते है। या तो हम उन घाटियों में पड़े रहें जो दम घोटने वाले धुन्धों और कोहरों से ढकी रहती है पर जो हमें कुछ शारीरिक हिफाजत देती हैं। या हम जोखिम उठाकर तथा अपने साथियों को खतरे में डालकर ऊँचे-ऊँचे पहाडो पर चढ़ें, ताकि ऊपर की शुद्ध वायु मे साँस ले सकें, दूर-दूर के दृश्यो का आनन्द उठा सकें, और उदय होते हुए सूर्य का स्वागत कर सकें।

इस पत्र में मैंने कवियो तथा अन्य व्यक्तियो की कई उक्तियाँ तथा उनकी रचनाओ में से कई उद्धरण दिये हैं। समाप्त करने से पहले एक और देना चाहता हूँ। यह गीताञ्जलि की रवीन्द्र नाथ ठाकुर विरचित कविता या प्रार्थना है:

"स्वतन्त्रता-स्वर्ग मे पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा!
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर, स्वतंत्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें
जहाँ घरो की न भित्तियाँ ये करें जगत् खण्ड-खण्ड न्यारा;
सदैव ही सत्य के तले से जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा;
छिपे भटक कर सुबुद्धि-धारा न रूढ़ियो के दुरन्त मरु में
विशाल-विस्तृत विचार-कृति में लगे जहाँ चित्त, पा सहारा;
स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा!"[1]

प्यारी बेटी, मेरा काम पूरा हो गया और यह अन्तिम पत्र अब समाप्त होता है। अन्तिम पत्र! नही, कभी नही। मै तो तुम्हे न जाने कितने पत्र और लिखूगा। पर यह सिलसिला खतम होता है, इसलिए--

तमाम शुद!

: १९७ :

उपसंहार

अरब सागर,
१४ नवम्बर, १९३८

सवा-पाँच वर्ष हुए तब मैंने देहरादून की जिला जेल से इस क्रम-माला का अन्तिम पत्र तुम्हे लिखा था। मेरी दो वर्ष क़ैद की सजा पूरी होने वाली थी, और एकान्तवास के इस लम्बे समय में (हालाँकि मन में तो तुम हमेशा मेरे साथ रहती थी) पत्रो का जो बडा-भारी ढेर मैंने तुम्हे लिखा था, उसे मैंने उठा कर रख दिया था और हलचल तथा क्रिया से भरी बाहरी दुनिया में निकलने के लिए अपने दिमाग़ को तैयार कर लिया था। यह छुटकारा बहुत जल्दी हो गया था, पर पाँच ही महीने बाद मै दो वर्ष की दूसरी सजा भुगतने के लिए जेल के उसी परिचित चौगिर्द में फिर आ पहुँचा था। मैंने फिर लेखनी उठाई थी और इस बार एक अधिक व्यक्तिगत कहानी लिखी थी।

मैं फिर बाहर निकला, और हम-तुम दोनो को शोक उठाना पडा—ऐसा शोक जो तभी से छाया की तरह मेरे जीवन के साथ लगा हुआ है। परन्तु दुख-द्वन्द्वो के इस संसार मे, जिसे लरजाने-वाले संघर्ष हमारी पूरी ताक़त का तक़ाजा करते हैं, व्यक्तिगत आपत्तियों का कोई मूल्य नही है। बस, हम फिर जुदा हो गये; तुम पढ़ाई के साया-दार रास्तों पर चली गईं और मैं संघर्ष के शोर-गुल और हुल्लड़ में पड़ गया।

---

[1] गीताञ्जलि की कविता का यह पद्यानुवाद श्री सुधीन्द्र ने किया है।

युद्ध और कष्टों का बोझ लिए हुए पाँच वर्ष से अधिक बीत चुके हैं, और हमारे वर्तमान जगत तथा स्वप्न-जगत के बीच विषमता बढ़ती जाती है। हमारा पीछा करने वाली बुराई के द्वारा गला घोंटा जाने के कारण कभी-कभी तो आशा तक की भी साँस रुकने लगती है। मगर जिस समय मैं यह लिख रहा हूँ, मेरे सन्मुख अरब सागर अपनी पूरी शक्ति और सुन्दरता के साथ फैला हुआ है—स्वप्न की तरह शान्त और रजत चाँदनी में झिलमिल करता हुआ।

इस उपसंहार में मुझे इन पाँच वर्षों की कहानी का वर्णन करना है, क्योंकि ये पत्र अब एक नये रूप में प्रकाशित होने जा रहे हैं, और इनका प्रकाशक चाहता है कि इनमें आज तक की बातें शामिल कर दी जायं। यह कठिन कार्य है, क्योंकि इस काल में इतनी अधिक घटनाएं घटी हैं कि अगर मैं इनके बारे में लिखने बैठू और मेरे पास समय हो, तो मैं सीमा से बाहर निकल जाऊं तथा एक और पुस्तक रच डालूं। मुख्य घटनाओं का उल्लेख-मात्र भी बहुत लम्बा और भार-रूप हो जायगा। इसलिए मैं इन घटनाओं की कोरी रूप-रेखा ही तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। पिछले पत्रों में मैंने अतिरिक्त जानकारी देने वाली कुछ टिप्पणियाँ जोड़ दी हैं, और अब हम इन वर्षों का संक्षेप में सिंहावलोकन करेंगे।

अन्त के पत्रों में मैंने आधुनिक संसार की जबरदस्त प्रतिकूलताओं और प्रतिस्पर्द्धाओं की ओर, फ़ासीवाद तथा नात्सीवाद की वृद्धि की ओर, और युद्ध की आशंका की ओर, तुम्हारा ध्यान आकर्षित किया था। इन पाँच वर्षों में ये प्रतिस्पर्द्धाएं और वैर-विरोध तीव्र हो गये हैं, और यद्यपि जागतिक युद्ध अभी तक टल गया है, परन्तु अफ़रीका में, योरप में और एशिया के दूर-पूर्व में बड़े-बड़े तथा भयंकर युद्ध हो चुके है। हर वर्ष में, और कभी-कभी हर महीने में, नई-नई विग्रह-पूर्ण और आतंक-पूर्ण कार्रवाइयो की घटनाएं होती रहती हैं। संसार दिन पर दिन अधिक अव्यवस्थित हो रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अराजकतामय हो रहे है, और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के राष्ट्र संघ जैसे प्रयत्न बुरी तरह असफल होकर समाप्त हो गये हैं। निःशस्त्रीकरण की चर्चा पुरानी हो गई है, और हरेक राष्ट्र अपनी चरम सामर्थ्य से, दिन-रात, सरगर्मी के साथ शस्त्रों से सज्जित हो रहा है। संसार पर भय छाया हुआ है, और आक्रमणकारी तथा विजयोन्मत्त नात्सीवाद और फ़ासीवाद से पिटे हुए योरप का तेजी से ह्रास हो रहा है और वह बर्बरता के मार्ग पर जा रहा है।

सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध के पीछे जो मुद्दे थे, उनकी व्याख्या हम पिछले पत्रो में विस्तार के साथ कर चुके है। महायुद्ध आया और उसमें से वर्साई की सन्धि तथा राष्ट्र संघ का इक़रारनामा प्रगट हुए। परन्तु पुरानी समस्याएं हल नहीं हुई, और अनेक नई समस्याएं पैदा हो गईं, जैसे, हर्जाने, युद्ध-ऋण, निःशस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा, आर्थिक संकट, और विस्तृत बेकारी। शान्ति की समस्याओं के पीछे वे मार्मिक सामाजिक समस्याएं फिर भी बाक़ी रहीं जिन्होंने संसार के संतुलन को उलट दिया था। सोवियत संघ में नये सामाजिक बल विजयी सिद्ध हो गये थे, और जबरदस्त कठिनाइयो तथा जागतिक विरोध के बावजूद वे एक नया संसार निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्य देशों में गहरे सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे, परन्तु इन्हें निकलने का मार्ग नहीं मिलता था, और तत्कालीन राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था इनको आगे बढ़ने से रोक रही थी। उत्पादन में विस्तृत वृद्धि से संसार में सब वस्तुओं की प्रचुरता हो गई; युगो का स्वप्न सार्थक हो गया। परन्तु जिस गुलाम को सदियों से अपने बन्धन की आदत पड़ी हुई है वह आजादी से घबराता है। और मूर्ख मनुष्य-जाति अभाव की इतनी आदी हो गई है कि वह दूसरी बातें सोच ही नहीं सकती। इसलिए नई दौलत जान-बूझ कर फेंक दी जाती है, कम की जाती है, और सीमित कर दी जाती है। और बेकारी और मुसीबत वास्तव में पहले से भी ज्यादा बढ़ जाती है।

सम्मेलन पर सम्मेलन बुलाये गये, और इस आश्चर्यजनक विरोधाभास को हल करने के लिए तथा शान्ति स्थापित करने के लिए संसार भर के राष्ट्र एक जगह एकत्रित हुए। वाशिंग्टन क़रार, और लोकार्नो क़रार और किलॉग क़रार, आदि अनेक क़रार और समझौते और गठ-बन्धन हुए, परन्तु बुनियादी समस्याओं को स्पर्श तक नहीं किया गया, और क्रूर वास्तविकता का हाथ लगते ही ये समझौते और क़रार एक दम ग़ायब हो गये, और योरप के भाग्य का निबटारा करने के लिए केवल नंगी तलवार बाक़ी रह गई। वर्साई की सन्धि मर चुकी, योरप का नक़्शा फिर बदल गया है, और दुनिया का नये सिरे से बटवारा हो रहा है। युद्ध के क़र्ज़ों का प्रश्न ग़ायब हो गया है, और सबसे ज्यादा धनवान देशों ने इन्हें न चुकाने का निर्णय कर लिया है।

बस, हम सन् १९१४ ई० और उससे भी पहले के युद्ध-पूर्व युग में वापस आ जाते हैं। इस युग की

सारी समस्याएं और सारे संघर्ष बाद में होने वाली घटनाओं के कारण सौ-गुना तीव्र हो गये हैं। ह्रासशील पूंजीवाद आर्थिक राष्ट्रीयता को जन्म देता है, और बड़े-बड़े एकाधिकारो को भी बढ़ाता है। यह आक्रमणकारी और आततायी बनता जाता है, और पार्लमेण्टी ढंग के लोकतन्त्र तक को बर्दाश्त नही कर सकता। फ़ासीवाद और नात्सीवाद अपनी सारी नंगी पाशविकता के साथ उठ खड़े होते हैं, और युद्ध को ही अपनी सारी नीति का उद्देश्य और लक्ष्य बनाते हैं। इसी समय सोवियत प्रदेशों में एक महान नवीन शक्ति उदय होती है, जो पुरानी व्यवस्था के लिए लगातार चुनौती, तथा साम्राज्यवाद और फ़ासीवाद दोनों के लिए समान रूप से एक बलशाली रुकावट, बन जाती है।

हम एक क्रान्ति के युग में रह रहे हैं। यह क्रान्ति सन् १९१४ ई० में जब महायुद्ध छिड़ा था तब शुरू हुई थी, और ससार में सब जगह सघर्ष की घोर पीड़ा उत्पन्न करती हुई निरन्तर चली आ रही है। डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की फ़्रांसीसी क्रान्ति ने धीरे-धीरे राजनैतिक समता का युग आरम्भ कर दिया था, परन्तु अब समय बदल गया है, और केवल यह समता ही आज काफ़ी नहीं है। अब लोकतंत्र की सीमाएं इतनी बढानी होंगी कि इसमें आर्थिक समता का भी समावेश हो सके। यही वह क्रान्ति है जिसमें होकर हम सब गुजर रहे हैं। यह क्रान्ति आर्थिक समता स्थापित करने के लिए है, ताकि लोकतत्र पूरी तरह सार्थक हो, और हम लोग विज्ञान तथा यत्र-विद्या की उन्नति के साथ-साथ चल सकें। यह समता साम्राज्यवाद या पूजीवाद के साथ मेल नही खाती क्योंकि इनका आधार विषमता और राष्ट्र या वर्ग का शोषण है। अत इस शोषण से लाभ उठाने वाले इसका प्रतिरोध करते हैं, और जब सघर्ष ज़ोर पकडता है, तब राजनैतिक समता तथा पार्लमेण्टी लोकतंत्र की धारणा तक को धता बता दी जाती है। यही फासीवाद है जो अनेक प्रकार से हमें मध्य-युगो में वापस ले जाता है। यह 'नस्ल' के प्रभुत्व को सर्वोपरि मानता है, और स्वेच्छाचारी बादशाह के दैवी अधिकार की जगह इसमें एक सर्वसत्ताधारी नेता का दैवी अधिकार रहता है। गत पाँच वर्षों में फासीवाद की वृद्धि ने, और हर प्रकार के लोकतत्री सिद्धान्तो तथा आज़ादी व सभ्यता की धारणाओं पर इसके आक्रमण ने, आज लोकतत्र की रक्षा का प्रश्न मार्मिक बना दिया है। वर्तमान जागतिक सघर्ष एक ओर साम्यवाद व समाजवाद तथा दूसरी ओर फासीवाद के बीच नही है। यह सघर्ष तो लोकतत्र और फासीवाद के बीच है, और लोकतंत्र के सारे वास्तविक बल कन्धे भिड़ा कर फासी-विरोधी बनते जाते हैं। आज स्पेन इसका सर्वोपरि उदाहरण है।

परन्तु इस लोकतंत्र के पीछे लोकतत्र के विस्तार की कल्पना अपरिहार्य रूप में मौजूद है। और इसीके डर से सब जगह के प्रतिगामी लोग अपनी सहानुभूति और ताबेदारी फ़ासीवाद को अर्पण कर रहे हैं, हालाँकि कहने को वे लोकतत्र के भक्त बनते हैं। फ़ासीवादी शक्तियो का अभिप्राय बिल्कुल स्पष्ट है; उनके उद्देश्यों या उनकी नीति के बारे में सन्देह की कोई गुंजायश नही है। परन्तु स्थिति को नियंत्रित करने वाला निमित्त-कारण तो तथाकथित लोकतत्री शक्तियो का, और खास कर इंग्लैण्ड का, रवैय्या है। ब्रिटिश सरकार ने शुरू से अब तक एशिया, अफ़रीका और योरप में प्रतिगामी खेल खेला है, और फ़ासीवाद तथा नात्सीवाद को हर तरह प्रोत्साहन दिया है। वास्तविक लोकतत्र की वृद्धि का उसे इतना ज्यादा डर है, और फासीवाद के नेताओं के साथ उसकी इतनी अधिक वर्ग सहानुभूति है कि उसने ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा को खतरे में डाल कर भी फ़ासीवाद का समर्थन किया है। इसलिए, यदि फासीवाद ज़ोर पकड़ गया है और संसार पर हावी होने लगा है, तो इसका ज्यादातर श्रेय ब्रिटिश सरकार को दिया जाना चाहिए। संयुक्त राज्य अमरीका ने, जिसमें लोकतंत्र की भावना अधिक तीक्ष्ण है, फ़ासीवादियों की आक्रामक कार्रवाइयों को रोकने के लिए अन्य शक्तियो की ओर कई बार सहयोग का हाथ बढ़ाया, परन्तु इंग्लैण्ड ने हाथ मिलाने से इन्कार कर दिया। फ्रास तो लन्दन शहर पर तथा इंग्लैण्ड की विदेशी नीति पर इतनी बुरी तरह आश्रित हो गया है कि कोई स्वाधीन नीति पालन करने का साहस ही नही कर सकता।

श्रम सम्बन्धी मामलों में भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलनों में इंग्लैण्ड का रुख बराबर प्रतिगामी रहा है। जून, सन् १९३८ ई०, में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सस्था ने कपड़ा उद्योग के लिए सप्ताह में चालीस घटे काम का एक दस्तूरनामा स्वीकार किया था। यह चीज इंग्लैण्ड के विरोध के बावजूद हुई थी। यहाँ तक कि ब्रिटिश उपनिवेशों ने भी इंग्लैण्ड के साथ छोड़ कर अमरीका के प्रस्ताव का समर्थन किया था। परन्तु ब्रिटिश सरकार द्वारा नामज़द भारतीय प्रतिनिधि ने तो इंग्लैण्ड का ही साथ दिया। अमरीकी प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यों

ने, जिनमें कारखानेदारों के तथा सरकार के प्रतिनिधि भी शामिल थे, कहा था कि "जब तक वे जेनेवा नहीं आये थे तब तक उन्हें यह कल्पना नहीं थी कि ब्रिटिश सरकार कितनी प्रतिगामी है।" एक प्रतिनिधि ने यह भी कहा था : "इंग्लैण्ड तो प्रतिगामिता की बर्छी की नोक बन गया है।"

राष्ट्र संघ, अपनी सारी कमजोरियों के होते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा का मूर्त्त-रूप था, और उसके इक़रारनामे में आक्रामक कार्रवाइयों के लिए दंड का विधान था। जब जापान ने मंचूरिया पर धावा किया था तब राष्ट्र संघ कोई कार्रवाई करने में असमर्थ रहा (सिवा इसके कि उसने एक जांच-कमीशन नियुक्त कर दिया और बाद में इस आक्रामक कार्रवाई की निन्दा कर दी)। ब्रिटिश सरकार ने तो इस हौसलेबाजी के लिए जापान को सचमुच प्रोत्साहित किया था। और ब्रिटिश सरकार ने तभी से उचित दिशा में कुछ छोटी-छोटी 'भूलों' के सिवा राष्ट्र संघ की उपेक्षा करने तथा उसे कमजोर बनाने की नीति का अनुगमन किया है। आक्रमण की इकबालिया नीति वाले नात्सीवाद का उदय राष्ट्र संघ के लिए सीधी चुनौती था, परन्तु इग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ़्रांस ने, इस चुनौती के आगे घुटने टेक दिये, और राष्ट्र संघ को धूल में मिल जाने दिया। फ़ासीवादी शक्तियों ने राष्ट्र संघ को धता बताई—जर्मनी ने अक्तूबर, सन् १९३३ ई०, में और जापान तथा इटली ने कुछ दिन बाद। सितम्बर, सन् १९३४ ई०, में सोवियत संघ राष्ट्र संघ में शामिल हो गया, और इससे राष्ट्र संघ मे कुछ नई जान पैदा हो गई। नात्सी जर्मनी के डरों के कारण फ़्रांस ने तो सोवियत से गठ-बन्धन जोड़ लिया, मगर इग्लैण्ड ने, राष्ट्र संघ के इक़रारनामे के आधार पर भी सोवियत संघ से सहयोग करने के बजाय, जर्मनी का साथ देना ज्यादा पसंद किया। आक्रमण की प्रत्येक सफल कार्रवाई से फ़ासीवादी शक्तियों के हौसले बढ गये, और उन्हे भरोसा हो गया कि वे राष्ट्र संघ को मजे से अंगूठा दिखा सकते थे, क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि ब्रिटिश सरकार कभी उनके प्रतिकूल जाने वाली नही थी।

फ़ासीवादी शक्तियों के साथ ब्रिटिश सरकार की यह उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निकटता ही उन घटनाओं की बहुत कुछ व्याख्या कर देती है जो चीन, अबीसीनिया, स्पेन तथा मध्य योरप में हुई है। इससे हमारी समझ में आ जाता है कि जो राष्ट्र संघ मनुष्य जाति की शान्ति तथा प्रगति की इतनी आशाओं को व्यक्त करने वाला था उसकी शानदार इमारत आज खंडहर होकर क्यों पड़ी है।

हम देख चुके है मंचूरिया में जापान ने सफलता के साथ राष्ट्र संघ की कैसी अवहेलना की और वहाँ मंचूकुओ के नाम से एक कठपुतली राज्य कैसे स्थापित कर दिया। हालांकि वहाँ सेनाओं ने बाकायदा हमला किया था, पर युद्ध की कोई घोषणा नही की गई थी। वहाँ अन्दरूनी विद्रोह भड़काये गये थे, और इनका बहाना लगा कर हस्तक्षेप किया गया था। इस नई कला को बाद में इटली और नात्सी जर्मनी ने उजागर किया, और इसके साथ अभूतपूर्व पैमाने पर विदेशों में झूठा प्रचार और जोड़ दिया गया। अब युद्ध की घोषणाएं नहीं की जाती; यह तो पुराने जमाने की बात हो गई है। जैसा कि हिटलर ने सन् १९३७ ई० में नूरेम्बर्ग के अपने भाषण में कहा था : "अगर मै कभी अपने प्रतिपक्षी पर आक्रमण करना चाहूं, तो महीनो तक समझौते की बातचीत और तैयारी नही करूगा, बल्कि वैसा ही करूंगा जैसा कि हमेशा करता आया हूँ : यानी मै अंधकार में से प्रगट होकर बिजली की-सी तेजी के साथ अपने प्रतिपक्षी पर टूट पड़ूगा।"

जनवरी, सन् १९३५ ई०, में जनमत-संग्रह के बाद जर्मनी ने सार नदी के प्रदेश पर क़ब्ज़ा कर लिया। इसी साल के मई महीने में हिटलर ने वर्साई की सन्धि की नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं को मानने से सदा के लिए इन्कार कर दिया, और जर्मनों के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा की आज्ञा निकाल दी। सन्धि के इस खुले और एक-तरफ़ा भंग ने फ़्रांस को भयभीत कर दिया। परन्तु इग्लैण्ड ने मौन रह कर इस चीज को स्वीकार कर लिया। इतना ही नही, वह तो एक महीने बाद जर्मनी के साथ नौ-सेना सम्बन्धी एक गुप्त क़रार तय करके एक डग और भी आगे बढ़ गया। यह क़रार खुद भी वर्साई की सन्धि का भंग था, इसलिए इसके द्वारा खुद इंग्लैण्ड ने ही सन्धि-पत्र की उपेक्षा की। इसमें चकित करने वाली बात तो यह थी कि इंग्लैण्ड ने यह कार्रवाई अपने पुराने साथी-देश फ़्रांस से बिना पूछे ही कर डाली थी, और वह भी ठीक उस समय जब कि जर्मनी का जबरदस्त पैमाने पर शस्त्रीकरण सारे योरप के लिए खतरा बन रहा था। इस चीज से, जिसे फ़्रांस इंग्लैण्ड का विश्वासघात समझता था, उसे इतनी दहशत हुई कि वह मुसोलिनी के पास उससे समझौता करने के लिए दौड़ा, ताकि उसकी इटली वाली सरहद का खतरा तो कम हो जाय।

अबीसीनिया

इससे मुसोलिनी को वह मौक़ा मिल गया जिसकी ताक में वह बहुत दिनो से था। कितने ही वर्षों से वह अबीसीनिया पर हमले की योजना बना रहा था, पर इसलिए हिचकिचा रहा था कि उसे इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के रुख का भरोसा नही था। फ्रास तथा इटली के बीच बड़ा-भारी खिंचाव चला आ रहा था, और अक्तूबर, सन् १९३४ ई०, में यूगोस्लाविया के शाह अलैग्जैण्डर को तथा फ्रांस के विदेश-मंत्री लुई बार्थो को, मार्सेल्स में शायद किसी इटालवी गुर्गे ने मार डाला। परन्तु अब मुसोलिनी को भरोसा हो गया कि अगर वह अबीसीनिया पर हमला करेगा, तो न तो फ्रास कोई कारगर विरोध की कार्रवाई करेगा और न इंग्लैण्ड। अक्तूबर, सन् १९३५ ई०, में यह हमला ठीक उस समय शुरू हुआ जिस समय राष्ट्र संघ का अधिवेशन हो रहा था। अबीसीनिया राष्ट्र संघ का एक सदस्य-राज्य था, अतः इस हमले ने सारी दुनिया का दिल दहला दिया। राष्ट्र-संघ ने इटली को आक्रमणकारी घोषित कर दिया, और बहुत टालमटूल के बाद उस पर कुछ आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये—यानी सदस्य-राज्यों को उसके साथ बहुत-सी वस्तुओ का व्यापार करने का निषेध कर दिया। परन्तु खनिज-तेल, लोहा, इस्पात, कोयला, वग़ैरा, वास्तव में महत्वपूर्ण वस्तुएं, जिन पर युद्ध का दारोमदार था, इस सूची में शामिल नहीं की गईं। एंग्लो-ईरानियन ऑयल कम्पनी ने इटली को खनिज-तेल भेजने के लिए कसकर और समय के अलावा काम किया। प्रतिबन्धों से इटली को कुछ असुविधा तो हुई, पर उसके मार्ग में कोई बड़ी कठिनाई नही उपस्थित हुई। संयुक्त राज्य अमरीका ने खनिज-तेल पर रोक लगाने का सुझाव रक्खा था, परन्तु इंग्लैण्ड राज़ी नही हुआ।

इग्लैण्ड के विदेश-मंत्री सर सैम्युएल होर तथा फ्रांस के मंत्री मोस्यू लवाल ने अबीसीनिया का एक बडा हिस्सा इटली के हवाले कर देने के बारे में बातचीत तय कर ली, परन्तु इस पर जनता ने इतना हो-हल्ला मचाया कि सर सैम्युएल होर को स्तीफ़ा देना पड़ा। इधर अबीसीनिया वाले बड़ी वीरता से लड रहे थे, परन्तु निचाई पर उडने-वाले वायुयानो द्वारा सामूहिक बमबारी के आगे वे कुछ नही कर सकते थे। ग़ैर-सैनिको, स्त्रियो तथा बालको, घायलो की सेवा करने वालो तथा अस्पतालो पर आतिशी बम और गैस बम बरसाये गये, और अत्यन्त नृशस हत्याये की गईं। मई, सन् १९३६ ई०, मे इटालवी सेना वहाँ की राजधानी आदीस-आबाबा में दाखिल हो गई, और फिर इसने देश के बड़े प्रदेश पर अधिकार कर लिया। तब से ढाई वर्ष बीत चुके है, परन्तु दूर-दूर के क्षेत्रो में अबीसीनियावासियो का प्रतिरोध अभी तक जारी है। अबीसीनिया के पूरी तरह पराजित होने में अभी बहुत कसर है, हालांकि इग्लैण्ड और फ्रास ने इस पर इटली का क़ब्ज़ा स्वीकार कर लिया है।

अबीसीनिया की दु.खप्रद घटना ने, और राष्ट्र सघ की शक्तियो द्वारा इसके साथ विश्वासघात ने दुनिया को जाहिर कर दिया कि राष्ट्र सघ बिल्कुल अशक्त था। अब हिटलर बेख़ौफ़ हो कर इसकी अवज्ञा कर सकता था, और मार्च, सन् १९३६ ई०, मे उसने अपनी सेनाएं राइनलैण्ड के सैन्यबल-रहित इलाके में दाखिल कर दी। वर्साई की सन्धि पर यह दूसरी चोट थी।

स्पेन

सन् १९३६ ई० के वर्ष में फ़ासीवादियों ने योरप पर अपना सिक्का जमाने का एक और प्रयत्न किया। यह कदम आगे चल कर लोकतंत्र तथा आज़ादी के लिए एक मार्मिक सघर्ष बनने वाला था। हम देख चुके है कि स्पेन में दो प्रतिद्वन्दी बल प्रभुता के लिए किस प्रकार लड़े थे, और नव-स्थापित प्रजातंत्र ने पादरियों तथा अर्द्ध-सामन्ती तत्वों के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष किया था। अन्त में सारे प्रगतिशील दल एक हो गये, और इन्होंने फरवरी, सन् १९३६ ई०, में "जनता का मोर्चा" क़ायम किया। इससे पहले फ्रांस में ऐसा ही "जनता का मोर्चा" फ़ासीवाद के उन बढ़ते-हुए बलों से लोहा लेने के लिए बन चुका था जो फ्रांसीसी प्रजातंत्र को खुली चुनौती दे रहे थे, और जिन्होंने एक असफल उपद्रव भी संगठित किया था। फ्रांसीसी "जनता का मोर्चा" जनता के अपार उत्साह की ऊँची लहर पर चढ़ रहा था। चुनावो में सफल होने पर इसने अपनी सरकार बनाई जिसने मज़दूरों को राहत देने वाले कई क़ानून पास किये।

स्पेनी "जनता का मोर्चा" भी कोर्टे के चुनावों में विजयी हुआ और इसने भी अपनी सरकार बनाई।

इस मोर्चे का यह वादा था कि जो अत्यन्त आवश्यक सुधार बहुत दिन पहले ही हो जाने चाहिए थे उन्हें पूरे करेगा, और पादरियों के अधिकारोंपर अंकुश लगावेगा। इन सुधारों के डर से सारे प्रतिगामी तत्वों ने दलबन्दी कर ली और वार करने का निश्चय किया। इन्होंने इटली तथा जर्मनी से सहायता माँगी और प्राप्त की, और १८ जुलाई, सन् १९३६ ई०, को जनरल फ्रैंको ने मूरों की सेना की सहायता से विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। इस सेना को बड़े-बड़े लालच दिये गये थे। फ्रैंको को बहुत आसानी और शीघ्रता से जीत जाने की आशा थी। सेना उसकी ओर थी और दो बलशाली देश उसकी मदद पर थे। प्रजातंत्र निस्सहाय प्रतीत होता था परन्तु भीषण संकट की इस घड़ी में उसने स्पेन की जनता को अपनी आजादी की रक्षा का आदेश दिया और लोगों को हथियार बाँटे। जनता के लोगो ने इस आदेश का पालन किया, और क़रीब-क़रीब निहत्थे ही फ्रैन्को की तोपों और वायुयानों का मुक़ाबला किया। उन्होंने फ्रैन्को की सेनाओं को आगे बढ़ने से रोक दिया। लोकतंत्र की रक्षा के लिए विदेशों से स्वयसेवकों के दल के दल स्पेन में आ गये और उन्होंने एक "अन्तर्राष्ट्रीय पलटन" बना ली। इस पलटन ने ठीक ज़रूरत के मौक़े पर प्रजातंत्र की बहुमूल्य सेवा की। मगर जहाँ प्रजातंत्र की सहायता के लिए स्वयंसेवक आये, वहाँ फ्रैंको की सहायता के लिए शिक्षित इटालवी सेना बहुत बड़ी संख्या में आई। साथ ही इटली तथा जर्मनी से वायुयान और वायुयान-चालक और यंत्र-कला जानने वाले और हथियार भी आये। फ्रैंको की मदद पर इन दोनों शक्तियों के अनुभवी सैनिक अफ़सर थे; प्रजातंत्र की ओर उत्साह और साहस और उत्सर्ग थे। बाग़ी लोग बढ़ते चले गये, और नवम्बर, सन् १९३६ ई०, में मैड्रिड के दरवाज़े तक जा पहुँचे। परन्तु तब प्रजातंत्र वालों ने अपनी पूरी जान लड़ा कर इन्हें वही रोक दिया। इन लोगों का युद्ध-घोष था "नो पासेराँ", अर्थात शत्रु इससे आगे नही बढ़ेगा। और वह मैड्रिड, जिसपर प्रतिदिन वायुयानों से और जगी तोपो से गोले बरसाये जाते थे, जिसकी भव्य इमारतें खंडहर हो गई थीं, जहाँ आतिशी बमों के गिरने के कारण निरन्तर आगें लगती रहती थी, जिसकी रक्षा के लिए उसके हज़ारों वीर लाड़ले प्राण निछावर कर रहे थे,—वह मैड्रिड फिर भी अपराजित और अजेय बना रहा। बाग़ियों को मैड्रिड के किनारे पहुँचे दो वर्ष बीत चुके हैं। फिर भी वे वही रुके पड़े हैं, और "नो पासेराँ" का युद्ध-घोष उनके कानों में पड़ता रहता है। और मैड्रिड, अपनी दुखभरी और उजड़ी-हुई हालत में भी, आज़ादी के साथ अपना सिर ऊँचा उठाये हुए है, और स्पेनवासियों की गौरवपूर्ण तथा अजेय भावना का साकार-रूप बन गया है।

स्पेन का यह संघर्ष हमें समझ लेना चाहिए, क्योंकि यह केवल स्थानीय या राष्ट्रीय संघर्ष नही है बल्कि इससे बहुत-ही ज्यादा बड़ी चीज़ है। लोकतंत्री ढंग पर चुनी हुई पार्लमेण्ट के विरुद्ध विद्रोह से इसका प्रारम्भ हुआ था। साम्यवाद का और धर्म पर ख़तरे का हल्ला मचाया गया था। परन्तु "जनता के मोर्चे" के पदाधिकारियो में साम्यवादी इक्का-दुक्का ही थे, बहुत अधिक संख्या तो समाजवादियो तथा प्रजातंत्रवादियो की थी। जहाँ तक धर्म का सवाल है, प्रजातंत्र के सबसे बहादुर लड़ाके बास्क प्रान्तों के कैथलिक-सम्प्रदायी हैं। प्रजातंत्र में धार्मिक स्वतन्त्रता क़ानूनी तौर पर सुरक्षित कर दी गई है—हिटलर के जर्मनी में यह बात नही है—परन्तु भूमि पर तथा शिक्षा में चर्च के निहित स्वार्थों पर ज़रूर आपत्ति उठाई जाती है। लोकतंत्र के विरुद्ध यह विद्रोह तब हुआ जब इस बात का ख़तरा दिखाई देने लगा कि लोकतंत्री व्यवस्था ज़मीन की तथा बड़ी-बड़ी जागीरों की सामन्तशाही पर हमला बोल कर उसे ख़तम कर देगी। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, जब ऐसा होता है तब प्रतिगामी लोग यह दिक़्क़त नही उठाते कि लोकतत्री क़ायदो पर चलें या मतदाताओ को शिक्षित करने का प्रयत्न करें। वे तो हथियार उठा लेते हैं और हिंसा तथा आतंक के द्वारा जनसमूह को जबरदस्ती अपनी मर्ज़ी के अनुसार चलाने का यत्न करते है।

स्पेन में सैनिक अफ़सरों तथा पादरियों के जिस गुट्ट ने बग़ावत की थी, उसे इटली तथा जर्मनी दो फ़ासीवादी शक्तियों के रूप में बैठे-बिठाये साथी मिल गये, क्योंकि ये शक्तियाँ भूमध्य सागर को अपने अधिकार में रखने के लिए और वहाँ जहाज़ी अड्डे बनाने के लिए स्पेन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहती थीं। स्पेन की खनिज सम्पत्ति पर भी उनके दाँत थे। इसलिए यह स्पेनी युद्ध कोई गृह-युद्ध नही था, बल्कि फ्रांस को अपंग और इंग्लैण्ड को निर्बल करने के लिए और इस प्रकार योरप में फ़ासीवाद का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वास्तव में राजनैतिक चालबाज़ियों का योरपीय युद्ध था। जर्मनी और इटली के स्वार्थ कुछ हद तक टकराते थे, परन्तु इस समय तो उनकी गाड़ियाँ साथ-साथ चल रही थी।

फ़ासीवादी स्पेन फ्रांस के लिए घातक हो जायगा, और इंग्लैण्ड के भूमध्य सागर में होकर पूर्व जाने वाले, तथा उत्तमाशा अन्तरीप जाने वाले, दोनों रास्तो के लिए खतरा बन जायगा। उस हालत में जिब्राल्टर का कोई उपयोग नहीं रहेगा और स्वेज़ नहर का भी अधिक महत्व नही रह जायगा। इसलिए आशा तो यह थी कि लोकतंत्र से प्रेम होने के कारण न सही, पर कम से कम अपने निजी स्वार्थ की दृष्टि से ही, इंग्लैण्ड और फ्रांस स्पेनी सरकार को हर प्रकार की वाजिब सहायता देंगे, ताकि वह बग़ावत को दबा सके। परन्तु यहाँ भी हम देखते हैं कि सरकारें अपने राष्ट्रीय स्वार्थों तक का अहित करके वर्ग स्वार्थों से किस प्रकार हाँकी जाती हैं। ब्रिटिश सरकार ने अ-हस्तक्षेप की ऐसी तरकीब निकाली जो हमारे ज़माने का सबसे बढ़िया ढकोसला है। जर्मनी तथा इटली अ-हस्तक्षेप समिति के सदस्य हैं, परन्तु फिर भी वे बाग़ियों की खुले-आम सहायता कर रहे हैं और उन्हें वैध सरकार की तरह मान्यता दे रहे हैं। इनकी सेनाएं फ्रैन्कों की मदद के लिए भेजी जा रही है और इनके हवाबाज़ स्पेनी नगरों पर बमबारी कर रहे हैं। इस प्रकार अ-हस्तक्षेप का अर्थ यह हो गया है कि केवल बाग़ियो को ही मदद पहुँच सके। ब्रिटिश सरकार के उसकाने पर फ़ासीसी सरकार ने पिरेनीज़ की सरहद पर पहरा बैठा दिया है, और इस प्रकार स्पेनी सरकार की किसी भी प्रकार की सहायता पहुँचाना बन्द कर दिया है।

प्रजातंत्र के लिए खाद्य-पदार्थ ले जाने वाले जहाज़ों को फ्रैंको के वायुयानो या जगी जहाज़ों ने डुबो दिया है, और इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री चैम्बरलेन ने तो फ्रैन्को की इस कार्रवाई का सचमुच उचित बतलाया है। लोकतंत्र के प्रसार के डर से ब्रिटिश सरकार की यहाँ तक नौबत पहुँच गई है। कुछ ही दिन हुए उसने इटली के साथ एक समझौता तय किया है जिसके द्वारा वह फ्रैन्को को मान्यता देने में, तथा इटली को स्पेन में हस्तक्षेप करने की छूट देने में, एक क़दम और आगे बढ़ गई है। अगर स्पेनी प्रजातन्त्र इंग्लैण्ड और फ़ास के भरोसे रहा होता या इनकी सलाह पर चला होता, तो वह कभी का ख़तम हो गया होता। परन्तु अंग्रेज़ी और फ़ांसीसी नीति के बावजूद स्पेनी लोगो ने फ़ासीवाद के आगे सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। उनके लिए तो यह विदेशी हमलावरों के विरुद्ध स्वाधीनता का राष्ट्रीय सघर्ष है। यह ऐसा सघर्ष है जिसने वीर-गाथा का स्वरूप ले लिया है, और साहस तथा महान शक्ति के चमत्कारो से संसार को चकित कर दिया है। फ्रैन्को की ओर से इटालवी तथा जर्मन वायुयानों द्वारा शहरो और गावो और अ-सैनिक आबादियों पर बमों की वर्षा सबसे अधिक वीभत्स बात है।

गत दो वर्षों में स्पेनी प्रजातंत्र ने एक सुसज्जित और सुसगठित सेना तैयार कर ली है, और हाल ही में अपने सारे विदेशी स्वयसेवकों को वापस भेज दिया है। जहा फ्रैंको ने स्पेन के लगभग तीन-चौथाई भाग पर क़ब्ज़ा कर रक्खा है और मैड्रिड तथा वैलेन्शिया का कैटेलोनिया से सम्बन्ध काट दिया है, वहाँ नई प्रजातंत्री सेना ने उसे आगे बढ़ने से रोका हुआ है, और एब्रो के महान सग्राम में अपना महत्व सिद्ध कर दिया है। यह संग्राम कई महीनों से क़रीब-क़रीब लगातार चल रहा है। स्पष्ट है जब तक फ्रैन्को को बाहर के देशों की भरपूर सहायता न मिले तब तक वह इस सेना को परास्त नही कर सकता।

इस समय प्रजातंत्र के लिए सबसे बड़ी मुसीबत खाद्य-पदार्थों की कमी है, ख़ास कर सरदी के महीनो में। क्योंकि प्रजातंत्र को केवल अपनी सेना तथा अपने अधिकृत प्रदेश की साधारण आबादी के लिए ही भोजन का प्रबन्ध नही करना पड़ रहा है, बल्कि उन लाखो शरणार्थियो के लिए भी करना पड़ रहा है जो फ्रैंको की सेना द्वारा अधिकृत प्रदेशों से भाग कर वहाँ आये है।

चीन

स्पेन की दुखभरी कथा के बाद अब हम चीन की दुखभरी कथा वर्णन करेंगे।

जापान मंचूरिया में लगातार आक्रमणकारी कार्रवाइयाँ करता रहा, और जैसा कि मै बतला चुका हूँ, उसे इंग्लैण्ड की सरकारी सद्भावना प्राप्त थी। जापान की आक्रमणकारी कार्रवाइयो का मुक़ाबला करने के लिए अमरीका ने इंग्लैण्ड के साथ सहयोग करने का जो प्रस्ताव किया था, उसे इंग्लैण्ड ने ठुकरा दिया। इंग्लैण्ड ने जापान को इस तरह से बढ़ावा क्यों दिया और एक बलशाली प्रतिद्वन्दी की जड़ क्यों मज़बूत की? बात यह है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक समय से ही जापान एक तरह से इंग्लैण्ड की छत्रछाया में साम्राज्य-

शाही शक्ति के रूप में ढलता चला आया है। शुरू-शुरू में तो यह निशाना जारशाही रूस के विरुद्ध था। महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ, ये दो इंग्लैण्ड के महान प्रतिद्वन्द्वी हो गये, इसलिए जापान को सहारा देने की पुरानी नीति अब तक जारी रही, जब कि खुद जापान ही इंग्लैण्ड के महत्वपूर्ण स्वार्थों को हानि पहुँचाने लगा है। अमरीका ने सन् १९३३ ई० में सोवियत संघ को जो मान्यता दी उसका एक कारण जापान के साथ उसकी प्रतिस्पर्द्धा थी।

सन् १९३३ ई० के बाद के समय में चीन में कई सरकारें रहीं। एक तो चांगकाई शेक की राष्ट्रीय सरकार थी, जिसे बड़ी-बड़ी शक्तियों ने मान रक्खा था; दूसरी दक्षिण में कैण्टन की सरकार थी, और यह भी कुओमिनतांग की अनुयायी होने का दावा करती थी; तीसरे देश के अन्दरूनी भाग में एक बड़ा सोवियत इलाक़ा था; इनके अलावा देश के भीतर कितने ही अर्द्ध-स्वाधीन लड़ाकू सरदार थे। पेइपिंग के उत्तर में जापान चीन को बराबर कुतर रहा था। जापान के आक्रमण का मुक़ाबला करने के बजाय चांगकाई शेक ने सोवियत इलाकों को कुचलने के लिए हर साल ज़बरदस्त हमलावर सेनाएं भेजने में अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी। इन सेनाओं के अधिकतर हमले असफल रहे, और अगर ये उन इलाक़ों पर कभी क़ब्ज़ा भी कर लेती थी, तो चीनी सोवियत सेनाएं इनसे बच कर निकल जाती थीं, और भीतर की ओर जाकर जम जाती थी। चू तेह के नेतृत्व में आठवीं सेना की, चीन के एक सिरे से दूसरे तक, आठ हज़ार मील की अद्भुत यात्रा सैन्य इतिहास की सर्वश्रेष्ठ कथा बन गई है।

बस, यह संघर्ष साल दर साल चलता रहा, हालाँकि सोवियत चीन ने जापानी आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए चांगकाई शेक के साथ सहयोग करने की तत्परता भी दिखाई। सन् १९३७ ई० में जापान ने बड़े पैमाने पर हमला कर दिया, और इससे आपस में युद्ध करने वाले दल एक होकर जापान के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा खड़ा करने को मजबूर हो गये। चीन ने भी सोवियत संघ के साथ अधिक निकट सम्बन्ध स्थापित कर लिया और नवम्बर, सन् १९३७ ई०, में दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण करार पर हस्ताक्षर हो गये।

जापान को भीषण प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, और इसकी कमर तोड़ने के लिए उसने बमबारी तथा पाशविक बर्बरता के अन्य अकल्पनीय तरीक़ों द्वारा बीभत्स हत्याकांडों का सहारा लिया। परन्तु इस अग्नि-परीक्षा में चीन का एक नया राष्ट्र ढल कर तैयार हो गया और चीनी लोगों की पुरानी सुस्ती दूर भाग गई। जापानी बमबारों ने बड़े-बड़े शहरों को जला कर राख कर दिया और लाखों आदमियों को मौत के घाट उतार दिया। जापान पर इसका भारी बोझ पड़ा, और उसकी आर्थिक व्यवस्था में चकनाचूर होने के चिन्ह प्रगट होने लगे। भारत के लोगों की सहानुभूति स्वाभाविक रूप से चीन के लोगों के साथ थी, जैसी कि स्पेनी प्रजातंत्र के साथ भी थी। भारत, अमरीका तथा अन्य देशों में जापानी माल के बहिष्कार के महान आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगे।

मगर जापान के सैन्य-बल की महान कल फिर भी चीन में आगे बढ़ती गई, और जापानी सेनाओं को तंग करने के लिए चीनी लोगों ने बड़े असर-कारक तरीक़े से छापामार युद्ध के दाँव-पेचों का सहारा लिया। जापान ने शाङ्घाई और नानकिंग पर अधिकार कर लिया, परन्तु जब उसकी सेनाएं कैण्टन और हैन्काउ के समीप पहुँची तो चीनियों ने खुद ही अपने इन महान शहरों को आग लगा कर नष्ट कर दिया। जापानी सेना ने इन शहरों के जले हुए खंडहरों पर अधिकार कर लिया, जिस तरह कि नैपोलियन ने मॉस्को पर अधिकार किया था, परन्तु जापान अभी तक चीनियों के प्रतिरोध को ज़रा भी नहीं कुचल पाया है। हर नई विपत्ति के बाद यह प्रतिरोध और भी कड़ा होता जाता है।

आस्ट्रिया

अब हमें योरप लौट चलना चाहिए और आस्ट्रिया की कहानी के दुखभरे अन्त को देखना चाहिए। यह छोटा-सा प्रजातंत्र दिवालिया हो रहा था और फूट का घर बन रहा था। एक ओर से तो इसे नात्सी जर्मनी दबा रहा था और दूसरी ओर से फ़ासीवादी इटली। यद्यपि वियेना में प्रगतिशील समाजवादी म्यूनिसिपल संस्था थी, परन्तु देश में वहीं के खास नमूने के पादरीशाही फ़ासीवाद का बोल-बाला था। यहाँ का चैन्सलर (प्रधान मंत्री) डोलफ़स था जिसने मुसोलिनी का पल्ला इस भरोसे पकड़ रक्खा था कि वह नात्सी आक्रमण से उसकी रक्षा करेगा। इटली ने वर्साई की सन्धि की अवहेलना करके डोलफ़स को हथि-

यार भिजवाये, और मुसोलिनी ने उसे समाजवादियों का दमन करने की सलाह दी। डोलफ़स ने वियेना के समाजवादी मजदूरों को निरस्त्र करने का निश्चय किया, और इसके कारण फरवरी, सन् १९३४ ई०, की प्रति-क्रान्ति हो गई। वियेना में चार दिन तक लड़ाई होती रही, और मजदूरों के मशहूर भवनों पर गोले बरसाये गये जिससे वे टूट-फूट गये। डोलफस जीत तो गया, परन्तु इसकी क़ीमत उसे यह चुकानी पड़ी कि वह एकमात्र बलशाली दल, जो बाहर के आक्रमण का मुक़ाबला कर सकता था, छिन्न-भिन्न हो गया।

इस समय के बीच नात्सियों की साजिशें होती रहीं, और जून, सन् १९३४ ई०, में नात्सियों ने वियेना में डोलफ़स की हत्या कर डाली। इस राजनैतिक चोट का प्रयोजन यह था कि इसके बाद ही आस्ट्रिया पर जर्मनी की ओर से नात्सियों का हमला हो जाय। हिटलर आस्ट्रिया की सरहद के इस पार अपनी सेनाएं भेजने ही वाला था, परन्तु जब मुसोलिनी ने जर्मनों के विरुद्ध आस्ट्रिया की रक्षा करने के लिए अपने सैनिक भेजने की धमकी दी तो वह रुक गया। मुसोलिनी नहीं चाहता था कि जर्मनी आस्ट्रिया को हजम कर ले, और जर्मनी की सरहद ठेठ इटली तक आ जाय। सन् १९३५ ई० में हिटलर ने सरकारी तौर पर ऐलान कर दिया कि वह आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा नहीं करेगा या उसे जर्मनी में नहीं मिलावेगा।

परन्तु इटली ने अबीसीनिया पर जो धावा बोला था, उसने उसे निर्बल कर दिया। और चूंकि इंग्लैण्ड तथा फ़्रांस से रगड़ा-झगड़ा बढ़ता जा रहा था, इसलिए उसे हिटलर के साथ समझौता करना पड़ा। अब हिटलर को आस्ट्रिया में मनमानी करने की छूट मिल गई और नात्सी प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ने लगीं। सन् १९३८ ई० के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री चैम्बरलेन ने स्पष्ट कह दिया था कि आस्ट्रिया को बचाने के लिए इंग्लैण्ड कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसके बाद घटना-क्रम बड़ी तेज़ी से चला और जब आस्ट्रिया के चैन्सलर शुशनिग ने जनमत-संग्रह का निश्चय किया तो हिटलर ने इस पर आपत्ति की और मार्च, सन् १९३८ ई०, में आस्ट्रिया पर हमला बोल दिया। इसका कोई प्रतिरोध नहीं हुआ, और आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ एकीकरण घोषित कर दिया गया। इस प्रकार यह प्राचीन देश, जो वर्षों तक एक साम्राज्य का केन्द्र रहा था, विलीन हो गया, और योरप के नक़्शे पर से आस्ट्रिया का नाम मिट गया। यहाँ के अन्तिम चैन्सलर शुशनिग को जर्मनों ने बन्दी बना लिया, और चूंकि वह पूरी तरह नात्सियों के कहे मुताबिक चलने को राज़ी नहीं हुआ, इसलिए उस पर मुक़दमा चलाने की धमकी दी गई। अभी तक वह नात्सियों की क़ैद में है।

आस्ट्रिया में जर्मन नात्सियों के पदार्पण के बाद वहाँ के लोगों पर आतंक का जो डंडा घूमा वह जर्मनी में नात्सियों के शुरू के दिनों के आतंक से भी बुरा था। यहूदियों को बड़ी यातनाएं सहनी पड़ीं और अब भी सहनी पड़ रही हैं, और किसी समय के भव्य और सुसंस्कृत वियेना शहर में बर्बरता का राज हो रहा है, और बीभत्सता के ऊपर बीभत्सता का ढेर हो रहा है।

चेकोस्लोवाकिया

आस्ट्रिया में नात्सियों की पूरी विजय से योरप के हाथ-पैर ठंडे हो गये, परन्तु इसका सबसे ज्यादा असर चेकोस्लोवाकिया पर पड़ा, क्योंकि अब वह तीन ओर नात्सी जर्मनी से घिर गया था। बहुत-से लोगों ने सोच लिया कि इस देश पर भी हमला होने वाला है. और इसकी भूमिका के रूप में नात्सियों की साजिशें और सरहदी इलाकों में गड़बड़ भड़काने के प्रयत्न ठेठ फासीवादी ढंग पर शुरू हो गये।

चेकोस्लोवाकिया के सूडेटनलैण्ड यानी पुराने बोहेमिया में जर्मन-भाषा-भाषी लोगों की आबादी थी, और आस्ट्रिया हंगरी के साम्राज्य में इन्हीं की प्रधानता थी। ये लोग चेक राज्य की स्थापना से खुश नहीं थे, और इनकी कुछ वाजिब शिकायतें भी थीं। ये कुछ हद तक स्वशासन का अधिकार चाहते थे; जर्मनी में मिलने की इनकी कोई इच्छा नहीं थी और इनमें कुछ जर्मन ऐसे भी थे जो नात्सी राज के कट्टर विरोधी थे। बोहेमिया पहले कभी भी जर्मनी का भाग नहीं रहा था। आस्ट्रिया विलीन होने के बाद यह खयाल किया जाता था कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर हमला करेगा। इस आशंका से भयभीत होकर बहुत-से लोग स्थानीय नात्सी दल में जा मिले, ताकि पानी से पहले ही पाल बाँध लें।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से चेकोस्लोवाकिया की स्थिति मजबूत थी। यह उन्नत उद्योग-प्रधान देश था, जिसकी व्यवस्था बड़ी सुसंगठित थी, और जिसके पास बलवान और कुशल सेना थी। फ़्रांस तथा सोवियत संघ के साथ इसकी राजनैतिक मित्रता थी, और यह माना जाता था कि लड़ाई के मौक़े पर इंग्लैण्ड इसका

साथ देगा। मध्य योरप में एकमात्र यही लोकतंत्री राज्य रह गया था, इसलिए अमरीका सहित संसार भर के लोकतन्त्रवादियों की सहानुभूति इसके साथ थी। इसमें कोई सन्देह नही था कि यदि युद्ध छिड़ जाय और सारे लोकतंत्री बल साथ मिल कर जोर लगावें तो फासीवादी शक्तियो को हार खानी पड़ेगी।

सूडेटनी अल्प-सख्यकों का प्रश्न उठाया जा चुका था और यह उचित ही था कि उनकी तकलीफ़ें मिटाई जाती। मगर यह भी सच था कि चेकोस्लोवाकिया में अल्प-सख्यक जातियो के साथ जितना अच्छा बर्ताव किया जाता था उतना मध्य योरप मे किसी अल्प-संख्यक जाति के साथ नही किया जाता था। असली सवाल अल्प-सख्यकों का नही था, बल्कि हिटलर की इस आकाक्षा का था कि सारे दक्षिण-पूर्वी योरप पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो जाय और वह बल-प्रयोग से या बल-प्रयोग की धमकियों से अपनी मर्जी जबर-दस्ती पूरी करा सके।

चेक सरकार ने अल्प-संख्यकों के प्रश्न को हल करने की जी-तोड़ कोशिश की और उनकी करीब-क़रीब सारी मांगें पूरी कर दी। मगर एक माग पूरी होने नही पाती थी कि दूसरी नई और उससे भी व्यापक मांग खडी हो जाती थी, यहा तक कि राज्य को अपनी जान के ही लाले पड गये। ज़ाहिर था कि हिटलर का यह उद्देश्य था कि इस लोकतत्री राज्य का, जो उसकी राह का काटा था, अन्त कर दे। अग्रेजी नीति, इस समस्या को शान्तिपूर्ण उपाय से हल करने में मदद देने के बहाने, हिटलर के आक्रमणकारी रवैय्ये को बढ़ावा दे रही थी। ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड रुन्सीमैन को "बिचौलिया" का काम करने के लिए प्राग भेजा, परन्तु व्यवहार में इस बीच-बचाव का फल यह था कि नात्सियो की मागे पूरी करने के लिए चेक सरकार पर बराबर दबाव डाला गया। अन्त में चेक लोगों ने लॉर्ड रुन्सीमैन के ही प्रस्ताव मान लिये। ये प्रस्ताव बहुत व्यापक थे, परन्तु नात्सी लोग अब इनसे भी ज्यादा चाहते थे, और अपनी मागे ज़बरदस्ती पूरी कराने के लिए उन्होंने जर्मन सेना को कूच की आज्ञा दे दी। इस पर चैम्बरलेन ने खुद हस्तक्षेप किया। वह बर्खटेसगाडन जाकर हिटलर से मिला, और वहा उसने हिटलर की युद्ध-धमकी मान ली, जिसमें चेकोस्लो-वाकिया के कुछ बडे प्रदेश जर्मनी के हवाले कर दिये जाने की माग थी। तब इग्लैण्ड और फ्रास ने भी अपने मित्र और साथी चेकोस्लोवाकिया को अपना युद्ध-सदेश दे दिया, जिसमें कहा गया था कि वह हिटलर की शर्तें तुरन्त स्वीकार कर ले, और धमकी दी गई थी कि अगर उसने ऐसा करने से इन्कार किया तो वे उसका साथ छोड देंगे। अपने मित्रों के इस विश्वासघात से चेक लोग स्तम्भित रह गये और दहल गये। और अन्त में उनकी सरकार ने दुख और निराशा के साथ इस युद्ध-धमकी के आगे सिर झुका दिया। तब चैम्बरलेन फिर हिटलर के पास गया, जो इस बार राइन नदी तीर के गौडेसबर्ग नगर मे था, और उसने देखा कि हिटलर तो इससे भी बहुत ज्यादा चाहता था। इस पर तो चैम्बरलेन भी राजी नही हो सका, और सितम्बर, सन् १९३८ ई०, के अन्तिम सप्ताह में सारे योरप के ऊपर युद्ध की, एक जागतिक युद्ध की, काली छाया पड़ने लगी। लोग गैस से बचने के टोप लेने के लिए दौड़ पडे और हवाई हमलो से अपनी रक्षा करने के लिए बाग-बग़ीचो में खन्दक़ें खोदने लगे। चैम्बरलेन एक बार फिर हिटलर के पास गया, जो उस समय म्यूनिख में था, और मोस्यू दलादिये तथा सीन्योर मुसोलिनी भी वहा जा पहुचे। फ्रांस तथा चेकोस्लोवाकिया के साथी रूस को नहीं बुलाया गया, और जिस चेकोस्लोवाकिया के भाग्य का निपटारा होने वाला था और जो उनका साथी भी था, उससे तो सलाह तक नही ली गई। हिटलर की नई और व्यापक मांगें, जिनके पीछे तत्काल युद्ध तथा हमले की धमकी थी, एक तरह से पूरी की पूरी मान ली गईं, और सितम्बर की २९ तारीख को चारों शक्तियो ने 'म्यूनिख के समझौते' पर हस्ताक्षर कर दिये जिसमें इन मागो की पूर्ति का उल्लेख था।

उस समय तो युद्ध टल गया, और सारे देशो के लोगों में इस बला से छुटकारा पाने की बडी-भारी भावना फैल गई। परन्तु इसके बदले में जो कीमत चुकाई गई वह थी: फ्रांस और इग्लैण्ड की ग़ैरत और बेइज्ज़ती; योरप में लोकतन्त्र पर भीषण प्रहार; चेकोस्लोवाकिया का अग-भंग; शान्ति के उपकरण के रूप में राष्ट्र संघ का अन्त; और मध्य व दक्षिण-पूर्वी योरप में नात्सीवाद की धूमधाम के साथ पूर्ण विजय। और यह शान्ति भी केवल विराम-शान्ति थी जिसमें हरेक देश आने-वाले युद्ध के लिए सरगर्मी के साथ हथियार इकट्ठे कर रहा था।

म्यूनिख का समझौता योरप तथा संसार के इतिहास की दिशा बदलने वाला मोड़ था। योरप का

नया बटवारा शुरू हो गया था, और ब्रिटिश व फ़्रांसीसी सरकारें खुले तौर पर नात्सीवाद तथा फ़ासीवाद की पंक्ति में खड़ी हो गई थी। इंग्लैण्ड ने आंग्ल-इटालवी समझौते को चट-पट स्वीकृति दे दी, अर्थात उसने अबीसीनिया पर इटली का कब्ज़ा मान लिया और स्पेन में इटली को पूरी छूट दे दी। इंग्लैण्ड, फ्रास, जर्मनी तथा इटली के बीच एक चार-शक्ति करार की रूप-रेखा बनने लगी। यह रूस के विरुद्ध, और स्पेन मे तथा अन्यत्र लोकतत्री बलो के विरुद्ध, एक सम्मिलित मोर्चा था।

रूस

निराली बात यह है कि इन वर्षों तथा महीनो मे जहां एक ओर साजिशें चल रही थी और बड़ी-बड़ी शक्तियां अपने प्रतिज्ञापूर्ण वचनो को भंग कर रही थी, वहा दूसरी ओर रूस ने बराबर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियां को निभाया, शान्ति का पक्ष लिया और आक्रमण का विरोध किया, और अपने-साथी-देश चेकोस्लोवाकिया का साथ अन्त तक नही छोड़ा। परन्तु इंग्लैण्ड और फ्रास ने उसकी उपेक्षा की, और आक्रमणकारियो से मित्रता कर ली। जिस चेकोस्लोवाकिया को फ्रास और इंग्लैण्ड ने धोखा दिया था वह तक भी नात्सी परिधि मे जा पड़ा और रूस के साथ अपनी मित्रता का अन्त कर बैठा। चेकोस्लोवाकिया के टुकड़े कर दिये गये है, और भूखे गिद्धो की तरह हगरी और पोलेण्ड ने इस मौके से फ़ायदा उठाया है। अन्दरूनी तौर पर भी महान परिवर्तन हो गये है और स्लोवाकिया अब स्व-शासन की भीख माग रहा है। चेकोस्लोवाकिया के बचे-खुचे टुकडे अब क़रीब-क़रीब एक जर्मन उपनिवेश की तरह अपना काम चला रहे हैं।

इस प्रकार सोवियत सघ की विदेशी नीति को करारा धक्का लगा है। मगर फिर भी आज वह योरप तथा एशिया में फासीवाद तथा लोकतन्त्र-विरोधी बलो के मुकाबले मे एक शक्तिशाली तथा एकमात्र कारगर रुकावट बना खडा है। यद्यपि पिछले महीनो मे इंग्लैण्ड तथा फ्रास ने रूस की उपेक्षा की है मगर फिर भी आज वह एक जबरदस्त शक्ति है। पहली पच-वर्षीय योजना साधारण तौर पर सफल रही, हालाकि कुछ खास बातो मे उसे सफलता नही मिली। इनमें उल्लेखनीय बात यह है कि उसकी तैयार की हुई वस्तुएं अव्वल दर्जे की नही थी। उसके मिस्त्री नौसिखिये थे, और ढुलाई की व्यवस्था भी बहुत-करके निकम्मी सिद्ध हुई। भारी उद्योगो पर सारा ध्यान लगाने के कारण साधारण उपभोग्य वस्तुओ की कमी हो गई जिससे जनता के रहन-सहन का स्तर गिर गया। परन्तु इस योजना ने रूस का तेजी के साथ उद्योगीकरण करके और उसकी खेती का सामूहीकरण करके भावी प्रगति की नीव डाल दी। द्वितीय पच-वर्षीय योजना (सन् १९३३-३७ ई०) मे भारी उद्योगो के बजाय हलके उद्योगो पर ज़ोर दिया गया। प्रथम योजना की कमियां पूरी करना और उपभोग्य वस्तुओ का उत्पादन इसका लक्ष्य था। इससे महान प्रगति हुई, और जीवन के रहन-सहन का स्तर ऊचा हो गया, तथा बराबर ऊचा होता जा रहा है। सारे सोवियत सघ में संस्कृति तथा शिक्षा की दृष्टि से और बहुत-सी अन्य बातो में अपूर्व प्रगति हुई है। इस प्रगति को जारी रखने तथा अपनी समाजवादी आर्थिक व्यवस्था को ठोस बनाने के इरादे से रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में शान्ति की नीति का बराबर पालन किया है। राष्ट्र सघ मे वह काफ़ी निःशस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा और आक्रमण के विरुद्ध मिलकर कार्रवाई करने के लिए बराबर लडता रहा है। उसने पूजीवादी महान शक्तियो के साथ अपना मेल बैठाने का प्रयत्न किया है, और इसके फलस्वरूप साम्यवादी दलो ने अन्य प्रगतिशील दलों को साथ लेकर "जनता के मोर्चे" या "सम्मिलित मोर्चे" बनाने की कोशिशें की हैं।

इस व्यापक प्रगति तथा विकास के बावजूद, इस काल में सोवियत सघ एक कठिन अन्दरूनी सकट में होकर गुज़रा है। स्टालिन तथा ट्राट्स्की के आपसी वैर-विरोध का ज़िक्र मै कर चुका हू। तत्कालीन व्यवस्था से असन्तुष्ट कितने ही लोग धीरे-धीरे एक-दूसरे के समीप आ खिचे और कहा जाता है कि इनमें से कुछ ने तो फ़ासीवादी शक्तियो तक से मिल कर षडयन्त्र रचे। कहा जाता है कि सोवियत के गुप्त-सूचना विभाग का मुख्य-अधिकारी यागोडा तक इन लोगों से मिला हुआ था। दिसम्बर, सन् १९३४ ई०, में सोवियत सरकार का एक प्रमुख सदस्य किरकॉफ़ मार डाला गया। सरकार ने अपने प्रतिपक्षियों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की, और सन् १९३७ ई० से मुकदमो के ऐसे सिलसिले शुरू हुए जिनसे ससार-भर में बड़ा भारी वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ, क्योंकि इनमे अनेक प्रसिद्ध तथा प्रमुख व्यक्ति फंसे हुए थे। जिन लोगों

को अदालतों ने सज़ाएं दीं उनमें वे लोग थे जो ट्राट्स्की-पन्थी कहलाते थे, और दक्षिण-पक्षी नेता (राइकॉफ, टॉम्स्की, बुखारिन) थे, और ऊंचे सैनिक अफ़सर थे, जिनमें मुख्य मार्शल तूखाचेवस्की था।

इन मुक़दमों के बारे में, या इनकी निमित्त-कारण घटनाओं के बारे में कोई निश्चित राय ज़ाहिर करना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि तथ्य बहुत पेचीदा हैं और स्पष्ट नहीं हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन मुक़दमों के कारण बहुत-से लोग, जिनमें रूस के अनेक हितैषी भी हैं, विचलित हो उठे हैं, और सोवियत संघ के विरुद्ध विरोधी-भावना बढ़ गई है। घटनाओं को समीप से देखने वालों की राय है कि स्टालिन-राज के विरुद्ध एक बड़ा षड्यंत्र रचा गया था, और ये मुक़दमे सच्चे थे। यह भी साबित हो गया मालूम देता है कि इस षड्यन्त्र को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था, और लोगों की प्रतिक्रिया निश्चय रूप से स्टालिन के विरोधियों के विरुद्ध थी। मगर फिर भी जिस हद तक दमन हुआ, जिसकी चपेट में शायद बहुत-से निर्दोष व्यक्ति भी आ गये होंगे, वह भी अन्दरूनी बुराई का लक्षण था, और इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस की स्थिति को हानि पहुंची।

आर्थिक अवस्था में सुधार

व्यापार की जो महामन्दी सन् १९३० ई० में शुरू हुई थी, और जिसने पूंजीवादी जगत को कई वर्षों तक अपाहिज बना दिया था, उसकी हालत में आखिर सुधार के चिन्ह दिखाई देने लगे। अधिकतर देशों में आंशिक सुधार हुआ, इंग्लैण्ड की आर्थिक अवस्था में सुधार अन्य देशों में ज्यादा स्पष्ट था। पौंड के अवमूल्यन, संरक्षण-करों, और साम्राज्य की मंडियों तथा साधनों से पूरा लाभ उठाने के कारण, इंग्लैण्ड को बहुत मदद मिली। संरक्षण-करों और सरकारी सहायताओं, और कृषि-सम्बन्धी सुधारों, और प्रतियोगिता कम करने के लिए उत्पादकों के संगठन, आदि के द्वारा अन्दरूनी व्यापार खूब चेत गया। उत्पादन तथा सामूहिक वितरण की एक योजना बनाने का यत्न किया गया। डेनमार्क पर तथा स्कैण्डिनेविया के देशों पर ब्रिटिश माल खरीदने के लिए दबाव भी डाला गया।

यद्यपि यह सुधार काफी बड़े पैमाने पर हुआ, परन्तु इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुंची। इसलिए इसे केवल आपेक्षिक और आंशिक सुधार कहा जा सकता है। असली सुधार तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चेतने पर निर्भर होता है। यह भी याद रखना चाहिए कि इंग्लैण्ड ने अमरीका का कर्ज़ न तो चुकाया है और न वह चुकाने का इरादा रखता है। आर्थिक अवस्था में सुधार का कुछ कारण यह भी है कि अलग-अलग देशों में पूरे जोश के साथ शस्त्रीकरण के कार्यक्रम चल रहे हैं। प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि सुधार की यह हालत न तो निरापद है और न स्थिर। जनता में बेकारी अभी तक फैली हुई है।

ब्रिटिश साम्राज्य

यद्यपि फिलहाल इंग्लैण्ड आर्थिक संकट को पार कर गया है, परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य बहुत जर्जर हो गया है, और उसे छिन्न-भिन्न करने वाले राजनैतिक व आर्थिक बल दिन पर दिन ज़ोरदार होते जा रहे हैं। इंग्लैण्ड के शासक वर्ग तो साम्राज्य में अपना विश्वास, और इसके बने रहने की आशा भी खो बैठे हैं। वे अपनी अन्दरूनी समस्याओं को ही नहीं सुलझा सकते। स्वाधीनता पर तुला हुआ भारत दिन प्रति दिन मजबूत होता जाता है, छोटा-सा फिलस्तीन उन्हें हिला रहा है। पूंजीवादी जगत में इंग्लैण्ड का महान प्रतिद्वन्दी अमरीका अंग्रेज़ों के प्राधान्य को चुनौती दे रहा है, और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश सरकार फ़ासीवादी शक्तियों की ओर झुकती जाती है त्यों-त्यों वह इंग्लैण्ड से दूर हटता चला जाता है। सोवियत रूस सफलता के साथ समाजवाद की इमारत खड़ी कर रहा है जो सब तरह के साम्राज्यवाद का विरोधी है। जर्मनी तथा इटली ब्रिटिश साम्राज्य के तर माल पर लोलुप भरी नज़रें डाल रहे हैं। म्यूनिख में इंग्लैण्ड जो इनकी धमकियों के आगे झुक गया उसके कारण ये उसे द्वितीय श्रेणी की शक्ति की तरह समझने लगे हैं और उसके साथ गरूर-भरे ढंग से बात करते हैं। लोकतन्त्र का विस्तार करके और सामूहिक सुरक्षा पर जमे रहकर इंग्लैण्ड अपनी स्थिति को मजबूत बना सकता था। परन्तु ऐसा करने के बजाय उसने यह रास्ता छोड़ना और हिटलर का समर्थन करना पसन्द किया। और अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक लाचार घपले में पड़ गया है, और म्यूनिख की नीति से पैदा होने वाली अनगिनती परस्पर-विरोधी बातों में फंस गया है।

उपनिवेश

जर्मनी अब उपनिवेशो की माग कर रहा है, और हमें बतलाया जाता है कि वह एक "कुछ-नही-वाली" और "असन्तुष्ट" शक्ति है। अन्य छोटी-छोटी शक्तियो के पास जो उपनिवेश नही हैं उनका क्या होगा ? और उपनिवेशों की जनता जो वास्तव में "कुछ-नही-वाली" है, उसका क्या होगा ? यह सारा तर्क साम्राज्य-शाही व्यवस्था के बनी रहने के आधार पर किया जाता है। किसी देश की सन्तुष्टि या असन्तुष्टि वहा पालन की जानेवाली आर्थिक नीति पर निर्भर होती है, और साम्राज्यवाद के अन्तर्गत तो असन्तोष हमेशा बना रहेगा, क्योकि इसमे सदा असमता रहेगी। कहते है कि क्रान्ति से पहले ज़ारशाही रूस एक असन्तुष्ट और फैलनेवाली शक्ति था। आज रूस का प्रदेश पहले से छोटा है, परन्तु वह "सन्तुष्ट" है, क्योकि उसकी साम्राज्यशाही महत्वाकाक्षाए नही है, और वह अलग तरह की आर्थिक नीति बरत रहा है।

जर्मनी उपनिवेश मागता है, इसलिए नही कि उसे अपने वास्ते दूसरी जगह कच्चा माल नही मिल सकता, क्योकि अगर वह खरीदना चाहे तो मडिया खुली पडी है, बल्कि इसलिए कि वह इन उपनिवेशो के लोगो का अपने लाभ के लिए शोषण करना चाहता है। वह उनके माल की कीमत अपनी कम मूल्य वाली मुद्रा में यानी अप्रचलित मार्कों मे, देना चाहता है, और फिर उन्हे जर्मन माल खरीदने के लिए मजबूर करना चाहता है।

मै तुम्हे गत पाच वर्षों की मुख्य-मुख्य घटनाओ के बारे मे और उनसे उत्पन्न होने वाले परिणामो के बारे मे, लिख चुका हू। मेरी समझ मे नही आता कि कहा पर रुकू, क्योकि हर जगह उथल-पुथल और परिवर्तन और रगडे-झगडे हो रहे है, और ससार की समस्याओ का स्थानीय या राष्ट्रीय ढग पर सुलझाना तो दूर, विचार तक करना असम्भव हो रहा है। इन्हे जागतिक रूप मे ही हल करना होगा। मगर इस बीच ससार की हालत दिन पर दिन बुरी होती जा रही है और इसमे युद्ध तथा हिसा का ज़ोर हो रहा है। आधुनिक जगत का अभिमानी नेता योरप बौखला कर वापस बर्बरता की ओर जा रहा है। उसके पुराने शासक-वर्ग अशक्त हो गये है, और कठिनाइयो मे से मार्ग निकालने की या उनसे बच कर निकलने की इनमें ज़रा भी सामर्थ्य नही रही है।

म्यूनिख के समझौते ने ससार के अस्थिर सन्तुलन को उलट दिया। दक्षिण-पूर्वी योरप नात्सी शक्ति के आगे धराशायी होने लगा, और हर देश मे नात्सी साजिशें जोर पकडने लगी। योरप के ओस्लो गिरोह के छोटे-छोटे देशो (डेनमार्क, नॉरवे, स्वीडन, फिनलैण्ड, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम, और लुक्समबुर्ग) ने जब यह समझ लिया कि इग्लैण्ड की मित्रता उनके किसी काम की नही थी, तो उन्होने तटस्थ रहने की घोषणा कर दी और किसी तरह की सामूहिक ज़िम्मेदारी उठाने से इन्कार कर दिया। सुदूर पूर्व मे जापान की आक्रामक कार्रवाइया बढ गई, उसने कैण्टन जीत लिया और हागकाग मे इग्लैण्ड के स्वार्थो से उसकी मुठभेड़ हो गई। फ़िलस्तीन की परिस्थिति तेज़ी के साथ बिगडने लगी। अमरीका तथा इग्लैण्ड के आपसी सम्बन्धो में इतनी शिथिलता आ गई जितनी पहले कभी नही थी। इधर तो चैम्बरलैन फासीवादी शक्तियो की पक्ति में शामिल हो रहा था, उधर राष्ट्रपति रूज़वैल्ट नात्सीवाद के उद्देश्यो और साधनो की खुली निन्दा कर रहा था। योरप के आपसी वैर-विरोध से तथा फासीवादियो की आक्रामक कार्रवाइयो से अमरीका को इतनी नफरत हुई कि वह सबसे अलग हो गया, और साथ ही बडे विशाल पैमाने पर अपना शस्त्रीकरण करने लगा। सोवियत सघ ने भी यही किया। पश्चिम में गठ-बन्धनो तथा अन-आक्रमण करारो की उसकी नीति सफल नही हुई थी, और अब उसे शायद सबसे अलग-थलग हो जाने के लिए मजबूर होना पडे। मगर अमरीका तथा रूस दोनो यह जानते है कि आज के इस बौखलाये हुए ससार मे कोई भी अलग-थलग या तटस्थ नही रह सकता, और अगर मुठभेड़ हुई तो उसमे उनका घिसट आना अनिवार्य है। इसके लिए वे तैयारी कर रहे हैं।

अमरीका

सयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रपति रूज़वैल्ट की अन्दरूनी नीति के सामने अनेक रुकावटे आई है और सर्वोच्च न्यायालय तथा प्रतिगामी तत्व उसके मार्ग मे बाधाए डाल रहे है। हाल के चुनावो मे काग्रेस मे उसके प्रजातत्रवादी विरोधियो का ज़ोर बढ गया है। मगर फिर भी रूज़वैल्ट की व्यक्तिगत लोकप्रियता तथा अमरीकी जनता पर उसका प्रभाव ज्यो का त्यो है।

रूजवेल्ट दक्षिण अमरीका की हुकूमतों के साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने की नीति पर भी चल रहा है। मैक्सिको में खनिज-तेल के मामले में वहाँ की सरकार तथा अमरीका व इंग्लैण्ड के स्वार्थों में टक्कर हो रही है। मैक्सिको में गहरा प्रभाव डालने वाली क्रान्ति हुई है, जिससे धरती पर जनता का अधिकार स्थापित हो गया है। चर्च के तथा तेल व धरती में निहित स्वार्थों के कितने ही विशेष अधिकार और विशेष सहूलियतें छिन गई हैं, इसलिए वे इन परिवर्तनों के विरुद्ध हैं।

तुर्की

लड़ाई-झगडों की इस दुनिया में आज अकेला तुर्की ही एक शान्तिपूर्ण देश है जिसका कोई भी बाहरी शत्रु नहीं है। यूनान तथा बलकानी देशों से उसका बहुत पुराना वैर निबट गया है। सोवियत सघ तथा इंग्लैण्ड के साथ भी अच्छे सम्बन्ध हैं। अलैग्जेंड्रैटा के बारे मे फ़ांस से कुछ झगडा था। तुम्हे याद होगा कि सीरिया के 'आदेशित' प्रदेश को फ़ासीसी सरकार ने जिन पाच राज्यो मे विभक्त किया था उन्ही मे से यह एक राज्य था। अलैग्जेंड्रैटा में तुर्की आबादी की प्रधानता है, इसलिए फ़ांस ने तुर्की सरकार की दलील मान ली और इसे स्वशासित राज्य बना दिया।

इस प्रकार कमाल अतातुर्क की बुद्धिमत्तापूर्ण रहनुमाई में तुर्की अपनी जातीय तथा अन्य समस्याओं से पिंड छुड़ा कर अन्दरूनी विकास के कार्य में सलग्न हो गया। अतातुर्क ने अपने देशवासियों की उत्तम सेवा की थी, और जब नवम्बर, सन् १९३८ ई०, में उसकी मृत्यु हुई तो उसने इस सतोष के साथ प्राण त्याग किये कि उसे अपने कार्य मे अपूर्व सफलता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। इसके बाद इसका पुराना साथी सेनापति इस्मत इन्यंनू तुर्की के राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुआ।

इस्लाम

कमाल अतातुर्क ने मध्य-पूर्व मे इस्लाम के जानदार प्रेरक-बल को एक नई दिशा में मोड दिया। इस्लाम ने नया वेश धारण कर लिया और मध्यकालीन विचारो का परित्याग कर दिया, और इस प्रकार अपने को आज के ससार की पक्ति में ला खड़ा किया। मध्यपूर्व के सारे इस्लामी देशो पर अतातुर्क के उदाहरण का जबरदस्त असर पड़ा है। यहा आधुनिक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो गये हं, जिन्होंने धर्म के बजाय राष्ट्रीयता को ही अपना आधार बनाया है। यह परिणाम अभी तक भारत जैसे देशों मे इसी हद तक प्रगट नही हुआ है, क्योकि यहा की मुस्लिम आबादिया, अन्य आबादियो की भाति, साम्राज्यशाही प्रभुत्व के मातहत हैं।

संसार में लड़ाई-झगड़े

आज लड़ाई-झगडे के दो विशाल क्षेत्र योरप तथा प्रशान्त महासागर हैं। इन दोनो ही क्षेत्रो में उग्र फ़ासीवाद लोकतत्र तथा आजादी को कुचलने की और ससार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है। ससार में एक तरह का फ़ासीवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ बन गया है जो केवल खुले युद्ध ही नही कर रहा—हालाकि इन युद्धो की घोषणा नही की गई है—बल्कि हस्तक्षेप के मौके तलाश करने के लिए विभिन्न देशो में सदा साजिशे करता रहता है और झगड़े भड़काता रहता है। युद्ध और हिसा का खुले तौर पर यश-गान हो रहा है, और झूठा प्रचार अभूतपूर्व पैमाने पर किया जा रहा है। यह फासीवाद साम्यवाद-विरोधी नारो की आड़ में अपने साम्राज्यशाही इरादो को पूरा कर रहा है, हालाकि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कही भी आक्रमणकारी नही हो रहा बल्कि बहुत वर्षों से विश्व शान्ति तथा लोकतत्र का समर्थन कर रहा है। सयुक्त राज्य अमरीका में नात्सियों के षडयंत्र हुए हैं और उनपर मुक़दमे चलाये गये है। दिसम्बर, सन् १९३७ ई०, में फ़्रांस में भी प्रजातंत्र के विरुद्ध एक षडयत्र का भंडाफोड़ हुआ। इसका सगठन "नक़ाबपोश" कहलाने वाले कागुलार्दों ने जर्मनी तथा इटली से प्राप्त होनेवाले सामान और हथियारो की मदद से किया था। इन लोगों ने बम-काण्ड किये और हत्याएं की। इंग्लैण्ड में प्रभावशाली गिरोह सरकार की विदेश नीति को फ़ासीवादी दिशा में प्रेरित कर रहे है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय फ़ासीवाद केवल परले सिरे का साम्राज्यवाद ही नही है बल्कि इसने मध्य-युगों की भांति धार्मिक और जातीय वैर-विरोध पैदा कर दिये हैं। जर्मनी में कैथलिक तथा प्रोटैस्टैन्ट दोनों सम्प्रदायों

का गला दबाया जा रहा है। इसी जर्मनी में, और कुछ दिनो से इटली में भी, जाति या नस्ल की भावना को गौरवान्वित किया जा रहा है, और यहूदियो का, तथा यहूदियो से उत्पन्न लोगो तक का, ऐसी निर्मम और कुशल हिंस्र-पाशविकता से सफ़ाया किया जा रहा है, जिसके जोड का उदाहरण इतिहास में नही है। नवम्बर, सन् १९३८ ई० के शुरू में पोलैण्डवासी एक नौजवान यहूदी ने, अपनी जाति पर किये गये क्रूर-अत्याचारों से क्रोधोन्मत्त होकर पैरिस में एक जर्मन कूटनीतिज्ञ को मार डाला। यह एक व्यक्ति का काम था, परन्तु इसे कारण बना कर जर्मनी मे समूची यहूदी जाति के विरुद्ध तुरन्त ही आतंक का सरकारी और सगठित दौर शुरू कर दिया गया। देश भर के सारे यहूदी-मन्दिर जला डाले गये; यहूदियो की दूकानें को बहुत बडे पैमाने पर लूट-खसोट कर नष्ट कर दिया गया, आम रास्तो पर और घरो के भीतर यहूदी नर-नारियों पर अनगिनती पाशविक हमले किये गये। नात्सी नेताओ ने इन सब कृत्यो को न्यायोचित ठहराया, और इनके अलावा जर्मनी के यहूदियो पर आठ करोड पौंड का जुर्माना भी लाद दिया गया।

आत्म-हत्याएं हो रही है, लोग जान बचा-बचा कर भाग रहे हैं; युगो के अविस्मरणीय सताप के भार से दबे हुए दुखी, निस्सहाय और बे-घर-बार लोग बड़ी भारी सख्या मे देश छोड कर जा रहे हैं—भला इनकी यह अनन्त कतार कहा के लिए कूच कर रही है? आज दुनिया भर मे शरणार्थियो की भरमार है—यहूदी, सूडेटनलैण्ड के जर्मन समाजी लोकतत्रवादी, फ्रैन्को के अधिकृत प्रदेशो से भागे हुए स्पेनी किसान, चीनी, अबीसीनियावासी, आदि अनेक लोग शरणार्थी हो गये है। ये सब नात्सीवाद तथा फ़ासीवाद के कड़वे फल हैं। दहशत के मारे ससार का दम सूख रहा है, और इन शरणार्थियो की सहायता के लिए कितनी ही सस्थाएं स्थापित हो रही है। मगर इस पर भी इग्लैण्ड तथा फ़्रास की लोकतत्रवादी कही जाने वाली हुकूमते नात्सी-वादी जर्मनी और फ़ासीवादी इटली के साथ मित्रता और सहयोग की नीति बरत रही है। इस प्रकार वे फ़ासीवादी आतक को प्रोत्साहन दे रही है, सभ्यता और सद्-व्यवहार का सत्यानाश करने वालो के हौसले बढा रही है; और लाखो मानब प्राणियो को, जिनका कोई वतन या देश अपना कहने को नही है, शरणार्थी बनाने की कार्रवाइयो को बढावा दे रही है। यदि फासीवादी शक्तियो का आज यही आग्रह है, तो गाधी जी के कथनानुसार: "जर्मनी के साथ किसी तरह का मेल-जोल हो ही नही सकता। जो राष्ट्र न्याय और लोकतत्र के सिद्धान्तो का दावा करता है, और जो राष्ट्र इन दोनो का ऐलानिया शत्रु है, इन दोनो के बीच मेल-जोल हो ही कैसे सकता है? क्या इग्लैण्ड सशस्त्र अधिनायकशाही तथा उसके सारे परिणामो की ओर बह रहा है?"

जब इग्लैण्ड और फ्रास ही फासीवादी शक्तियो के जवाबदार तथा रक्षक बन गये, तो मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी योरप के छोटे-छोटे राज्यो का पूरी तरह फासीशाही दायरे मे पड जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। सच तो यह है कि ये राज्य तेजी के साथ उस फ़ासीवाद के माडलिक राज्य बनते जा रहे है जिसमें नात्सी जर्मनी का ही बोलबाला है। क्योंकि इटली को तो जर्मनी ने मात दे दी है और यह अब फासीवादी गुट्ट का केवल छोटा साझी रह गया है। जर्मनी तथा इटली दोनो ही औपनिवेशिक विस्तार की माग करते है, परन्तु जर्मनी का असली इरादा पूर्व की ओर, यानी यूक्रेन तथा सोवियत सघ मे, पाव फैलाने का है। और सम्भव है कि इंग्लैण्ड तथा फ्रास इस झूठी आशा में इस इरादे की पूर्ति में सहायता दे कि शायद इससे उनके खुद के अधिकृत प्रदेश उनके पास रह जाय।

दो महान देश—सोवियत सघ तथा सयुक्त राज्य अमरीका—निगाह के सामने आ रहे है। ये दोनो आधुनिक ससार के सबसे बलशाली राष्ट्र है; अपने-अपने खूब लम्बे-चौड़े प्रदेशो के भीतर करीब-क़रीब आत्म-निर्भर हैं; और क़रीब-क़रीब अजेय है।

अलग-अलग कारणों से दोनो ही फासीवाद तथा नात्सीवाद के विरुद्ध हैं। योरप में सोवियत रूस फ़ासीवाद के मार्ग में एकमात्र रुकावट है; अगर यह नष्ट हो जाय तो फ़्रास तथा इग्लैण्ड सहित सारे योरप में लोकतंत्र का बिल्कुल अन्त हो जाय। अमरीका योरप से बहुत दूर है, और इसके मामलो में न तो आसानी से हस्तक्षेप कर सकता है, और न करना चाहता है। परन्तु यदि योरप में या प्रशान्त सागर में यह हस्तक्षेप हुआ, तो अमरीका की ज़बरदस्त ताक़त कारगर तौर पर अपना असर दिखावेगी।

आज़ादी के पक्ष में भारत तथा पूर्व के उदीयमान लोकतत्रवादी देश भी है, और कुछ ब्रिटिश उप-निवेश तो ब्रिटिश सरकार से भी बहुत अधिक उन्नत विचारों के हैं। आज लोकतंत्र तथा आज़ादी जीवन-

मरण के गंभीर खतरे में पड़े हुए हैं, और यह खतरा इस कारण और भी बढ़ गया है कि इनके तथाकथित हितैषी इनकी पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। परन्तु स्पेन तथा चीन ने लोकतन्त्र की सच्ची भावना के अद्भुत तथा स्फूर्तिदायक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों देशो मे युद्ध की बीभत्सताओं के अन्दर से एक नया राष्ट्र जन्म ले रहा है, और राष्ट्रीय जीवन तथा प्रवृत्तियो के अनेक क्षेत्रो में पुनर्जीवन तथा पुनर्जागरण हो रहा है।

सन् १९३५ ई० में अबीसीनिया पर हमला हुआ; सन् १९३६ ई० में स्पेन पर आक्रमण किया गया; सन् १९३७ ई० में चीन पर दुबारा हमला किया गया; सन् १९३८ ई० में आस्ट्रिया पर हमला किया गया और योरप के नक़शे पर से उसका नाम मिटा दिया गया, और चेकोस्लोवाकिया को छिन्न-भिन्न करके एक मांडलिक राज्य बना दिया गया। हर साल आफ़तो की पूरी फ़सल तैयार होती रही है। आज हम सन् १९३९ ई० की चौखट पर खड़े हैं, इस साल में क्या होनेवाला है? हमारे लिए तथा ससार के लिए यह साल क्या लाने वाला है?

अनुक्रमणिका

अ

इ

ई

उ

ए

ऐ

ओ

औ

अं

क

ख

ग

घ

च

ज

ट

ठ

ड

ढ

त

प

फ

ब

भ

म

य

र

ल

श

स

ह

क्ष